प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास

पाषाण काल से 12वीं शताब्दी तक

उपिन्दर सिंह

पुस्तक के बारे में समीक्षाकारों की धारणा

प्राचीन भारत के अध्ययन के लिए प्रोफेसर सिंह ने अन्यतम रूप से विद्वतापूर्ण, परिपक्वता के साथ लिखा हुआ एक परिचय प्रस्तुत किया है... यह संभव है कि विविध मुद्दों पर प्रोफेसर सिंह के साथ मतभेद हों। किंतु, सच तो यह है कि यही उनके लेखन का आकर्षण है, क्योंकि ऐसे ग्रंथ की महत्ता ही क्या रह जाएगी, जब वह कक्षा में वाद-विवाद सृजित करने में सक्षम न हो?

— **दिलिप के. चक्रबर्ती**, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय

(इस पुस्तक के) असामान्य प्रारूप में केवल विवरणात्मक पाठ्य को शामिल नहीं किया गया है, बल्कि मूल स्रोतों और शोध कार्यों से प्राप्त सूचनाओं को बॉक्स के अंदर देकर मूलभूत अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है, जिन्हें विद्यार्थी अनुदेशात्मक तथा उपयोगी पाएंगे.... अधिक विस्तार से संदर्भ एवं अध्ययन के लिए वेबसाइट्स दिए गए हैं, जो वर्णन के अनुपूरक का कार्य करेंगे। अधिक विस्तार से अध्ययन की संदर्भ सूची आकर्षक है...., क्षेत्रीय इतिहासों विशेषकर दक्षिण भारत तथा क्षेत्रीय भाषाओं में स्रोतों पर पर्याप्त ध्यान रखा गया है.....

— **आर. चम्पकलक्ष्मी**, *दि हिन्दू*, 13 अक्तूबर 2008

....एक सचित्र, अनूठे रूप में प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक जो प्रस्तरयुग से 12वीं शताब्दी तक की लंबी अवधि का इतिहास प्रस्तुत करता है... अपनी बाह्याकृति और सजावट की दृष्टि से अन्यतम रूप से आकर्षक, यह देश में अपनी प्रकार की पहली पाठ्य पुस्तक है... इस पुस्तक के प्रत्येक अध्ययन में स्रोतों तथा ऐतिहासिक ज्ञान का एक आलोचनात्मक पुनर्विश्लेषण उपलब्ध है... जो विद्यार्थियों को निहित प्रक्रियाओं की कठिन प्रविधियों की समझ कराता है... अनसुलझे मुद्दों की जटिलताओं के साथ उनसे जुड़े विवाद की विस्तृत समीक्षा की गई, जिससे ऐतिहासिक ज्ञान की पुनर्रचना में विभिन्न विद्वानों के योगदानों के प्रति जागरूकता बनेगी... उपिन्दर सिंह की पुस्तक... अपने पाठकों को यह प्रशिक्षित करता है कि किस प्रकार इतिहास लिंगभेद अध्ययन, पर्यावरणीय इतिहास, मानव भूगोल, भू-दृश्य पुरातत्त्व तथा मानव पारिस्थितिकी जैसे अंतर्विषयक अध्ययनों के क्षेत्र में अपना दावा कर सकता है।

— **राजन गुरुक्कल**, *दि बुक रिव्यू*, अक्तूबर 2008

प्रोफेसर सिंह प्रारंभिक भारतीय अतीत पर एक संतुलित तथा प्रेरक पाठ्यपुस्तक प्रस्तुत करने के अपने उद्देश्य में सफल हो सकी हैं। उन्होंने इतिहासलेखन की अद्यतन प्रवृत्तियों का अनुसरण किया है तथा अपनी पुस्तक में नवीन सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य, वैज्ञानिक तकनीकों और व्यापक रूप से सृजित किए जा रहे पुरातात्त्विक तथ्यों का समावेश किया है। सामान्य रूप से उपेक्षित दक्षिण भारतीय इतिहास का भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो सका है।

— **एन. काराशीमा**, टोकियो विश्वविद्यालय

साहित्य तथा पुरातात्त्विक स्रोतों और सैद्धांतिक व्याख्यानों की गहरी समीक्षा के साथ (इस पुस्तक के द्वारा) 12वीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास के अध्ययन का एक अनन्य और प्रतीक्षित परिचय दिया गया है, जिसमें प्रायद्वीपीय भारत का भी संपूर्णता से समावेश किया गया है।

— **हरमन कुल्के**, कील विश्वविद्यालय

प्राचीन भारत पर यह पहली पुस्तक है, जिसमें विभिन्न स्तरों पर पाठ्य का निर्माण किया गया है। दस अध्यायों में प्रागऐतिहासिक काल एवं आद्य इतिहास से लेकर प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन इतिहास के संपूर्ण चित्रपट का अंकन हो सका है। संपूर्ण परिदृश्य में स्थान-स्थान पर बॉक्स के अंदर विशेष दृष्टांतों की व्याख्या की गई है, जिसमें कुछ चुने हुए विषय-वस्तुओं का संपुट है, जो अध्यायों के वृहत्तर तत्वों को सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं... सभी प्रकार की प्राचीन भारतीयों के प्रति उपिन्दर का गहरा प्रेम यह सुनिश्चित करता है कि... वे सामान्य लोगों पर से ध्यान न हटने दें, यहां तक कि उनके भोजन की आदतों या उनके पालतू जानवरों पर से। इन संपुटों तथा स्रोतों के माध्यम से न केवल प्रारंभिक भारत को जीवंत किया है, बल्कि मुख्य पाठ्य के साथ लगभग 450 सचित्र वर्णनों से उन्हें प्रकाशित भी किया है।

— **नयनजोत लाहिरी,** *इंडिया टुडे*, 11 अगस्त 2008

सचित्र उद्धरणों से परिपूर्ण और सुबोध रूपांकन के साथ यह खंड स्पष्ट रूप से नवीन मानक स्थापित करता है, जिसकी कसौटी पर भविष्य के सभी पाठ्यों को खरा उतरना पड़ेगा... प्रारंभिक भारतीय इतिहास के संदर्भ में उपिन्दर सिंह द्वारा प्रस्तुत विहंगावलोकन पुरातात्त्विक तथ्यों को इतनी दक्षता से समन्वित करता है, जैसा कि शायद किसी भी अन्य पुनरावलोकन ने न तो उपलब्ध किया है अथवा वैसा प्रयास किया है.... (सिंह के द्वारा) अनुभव की जटिलता और वैविध्य को रेखांकित किया गया है... एवं इस क्रम में एक समेकित भारतीय अतीत का, शिल्पकौशल से चित्रित पच्चीकारी कर एक सामासिक छवि प्रस्तुत की है। क्षेत्रीय नगरों की विशिष्टता, व्यावसायिक वैविध्य तथा सांस्कृतिक जटिलताओं के प्रति न्याय करने में सक्षम रही हैं, जो उनके सशक्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण का परिचायक है... उपिन्दर सिंह के इस नूतन संश्लेषण का स्थायी महत्त्व उस उपागम्यता से है, जो न केवल ऐतिहासिक विचार के उपभोक्ताओं को बल्कि उसके निर्माताओं का भी सृजन करता है।

— **कैथलीन डी. मॉरिसन,** सेमिनार, 593, जनवरी 2009

सिंह... ताज़गी भरी स्पष्टता के साथ लिखती हैं तथा सीधा संवाद करना उनका सतत् उद्देश्य होता है। इस क्रम में उनके समक्ष प्रस्तुत जटिल विषय वस्तु को वह सरलीकृत नहीं करतीं। यही इस पुस्तक का प्रमुख योगदान है... इस युग में जब अधिकांश इतिहासकार विभिन्न प्रतिस्पर्धी सिद्धांतों के बीच बंटे हुए हैं, सिंह तथ्यों और विश्लेषणों की जड़ों को पकड़े रहती हैं, तथा यह कहने की गलती कभी नहीं करतीं कि उस विषय पर उनकी बातें अंतिम रूप से सत्य होंगी।

— **रुद्रांगशु मुखर्जी,** *दि टेलीग्राफ*, 14 नवंबर 2008

... दक्षिण एशिया के अतीत का एक आकर्षक और अद्यतन वृत्तांत, आखेटक-संग्राहक वाले बोझिल जीवन की शुरुआत से लेकर पूर्व मध्ययुगीन काल तक वर्णित है। साहित्यिक और पुरातात्त्विक स्रोतों, दोनों के आधार पर यह एक वस्तुनिष्ठ विश्लेषण है... यह पुस्तक प्रत्येक स्तर के इतिहास और पुरातत्त्व के विद्यार्थियों तथा सभी शिक्षित लोगों के लिए उपयोगी है, जो दक्षिण एशिया के अतीत को जानने की इच्छा रखते हैं।

— **के. पदय्या,** डेक्कन कॉलेज, पूणे

इसकी भाषा ताजगी भरी हुई, लिंग-संवेदी और प्रत्यक्ष है। दृश्य दृष्टांतों को सावधानी से चुना गया है और उनमें से कई तो अद्‌भुत रूप से दृश्यात्मक हैं। प्राथमिक स्रोतों (दृश्य एवं पाठ्य दोनों) तक पहुंच इस पुस्तक को अत्यंत समृद्ध बनाता है। यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने प्रत्येक वाक्य पर सावधानी से मेहनत की है, ताकि एक विशद और व्यापक पाठ्य का सृजन हो सके।

— **कुमकुम रॉय,** आइ.आइ.सी. क्वार्टर्ली, ऑटम 2008

प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास

पाषाण काल से 12 वीं शताब्दी तक

उपिन्दर सिंह

अनुवादक

हितेन्द्र अनुपम

यह पुस्तक उन विद्यार्थियों को समर्पित है, जिन्हें मैंने सेंट स्टीफेंस महाविद्यालय
तथा दिल्ली विश्वविद्यालय, इतिहास विभाग, में पढ़ाया है

एडिटर–एक्विज़िशन्स: कौशल जजवाड़े
सीनियर एडिटर–प्रोडक्शन: जी.शर्मिली

अन्य स्रोतों से सामग्रियों की प्राप्ति और उनके पुनर्प्रकाशन के संदर्भ, आभार तथा अभिस्वीकृति इस पाठ्य पुस्तक की पृष्ठ संख्या 731–732 में उपलब्ध है।

ISBN 978-81-317-7474-8

प्रथम मुद्रण

प्रकाशक: पियर्सन इंडिया एजुकेशन सर्विसेज प्रा. लि., CIN: U72200TN2005PTC057128, दक्षिण भारत में पियर्सन एजुकेशन (पूर्व नाम ट्यूटर विस्टा ग्लोबल प्रा. लि.,) द्वारा प्रकाशित।

मुख्य कार्यालय: सातवीं मंजिल, नौलेज बुलेवर्ड, A-8 (A), सैक्टर-62, नोएडा 201 309, उत्तर प्रदेश, भारत
पंजीकृत कार्यालय: चतुर्थ तल, सॉफ्टवेयर ब्लॉक, एलनेट सॉफ्टवेयर सिटी, टी.एस.-140, ब्लॉक-2 & 9, राजीव गांधी सालय, तारामणी, चेन्नई 600 113, तमिलनाडु, भारत
फैक्स: 080-30461003, दूरभाष: 080-30461060
वेबसाइट: www.pearson.co.in, ई-मेल: companysecretary.india@pearson.com

टाइपसेटर: संजय कुमार, दिल्ली
मुद्रक: राहुल प्रिंट ओ'पैक

संक्षिप्त विषय सूची

विषय सूची

फोटोग्राफ, मानचित्र एवं चित्र

फोटोग्राफ (Photographs)

मानचित्र (Maps)

चित्र (Figures)

लेखिका परिचय

उपिन्दर सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में प्रोफेसर हैं। उन्होंने अपनी शिक्षा सेंट स्टीफेंस कॉलेज से ग्रहण की। बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय से उन्होंने एम.ए. तथा एम.फिल की डिग्री ग्रहण की। उन्होंने पी-एच.डी. की उपाधि मॉन्ट्रीयॉल के मैक गिल विश्वविद्यालय से प्राप्त की।

उन्होंने दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कॉलेज में 1981 से 2004 तक इतिहास विभाग में अध्यापन कार्य किया। इसके बाद से वे दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग में प्रोफेसर के रूप में अध्यापन कार्य में संलग्न हैं। प्रो. उपिन्दर सिंह के शोध का वैविध्य और उनकी विशेषज्ञता के अंतर्गत प्राचीन तथा पूर्व मध्ययुगीन अभिलेखों का मूल्यांकन, सामाजिक तथा आर्थिक इतिहास, धार्मिक संस्थान तथा उनका संरक्षण, पुरातत्त्व का इतिहास तथा प्राचीन ऐतिहासिक धरोहरों का आधुनिक इतिहास जैसे विषयों की एक लंबी सूची है। इनके शोध-पत्र राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें किंग्स, ब्राह्मण, एंड टेम्पल्स इन ओडिशा: *एन एपिग्राफिक स्टडी* (AD 300-1147); *एन्शीयन्ट दिल्ली* (1999, द्वितीय संस्करण, 2006); बच्चों के लिए एक किताब *मिस्ट्रीज ऑफ दि पास्ट: आर्कियोलॉजिकल साइट्स इन इंडिया* (2002)*; दि डिस्कवरी ऑफ एन्शीयन्ट इंडिया: अर्ली आर्कियोलॉजिस्ट्स एंड दि बिगिनिंग़ ऑफ इंडियन आर्कियोलॉजी (2004);* तथा *दिल्ली-एन्शीयन्ट हिस्ट्री* (सम्पादित, 2006) प्रमुख हैं। हाल ही में उनकी पुस्तक *दि आइडिया ऑफ एन्शीयन्ट इंडिया: एसेज़ इन रिलिजन, पॉलिटिक्स एंड आर्कियोलॉजी* (2016) प्रकाशित हुई है।

प्रो. उपिन्दर सिंह दिल्ली में अध्यापन कार्य करती हैं तथा यहीं अपने दो बच्चों एवं पति के साथ रहती हैं।

प्राक्कथन

1981 से लगभग 20 वर्षों तक लगातार मैंने सेंट स्टीफेंस कॉलेज में प्राचीन और मध्यकालीन भारत को पढ़ाया। यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य विषय था, जिसमें एक विशाल कालखंड से जुड़े कई मुद्दे और विभिन्न क्षेत्रों की व्याख्या अपेक्षित थी। सौभाग्यवश मुझे अच्छे विद्यार्थियों का सान्निध्य मिलता रहा, जिनके अन्वेषनात्मक तथा तीक्ष्ण प्रश्नों ने मुझे अपने ज्ञान और इतिहास बोध का बार-बार पुनरावलोकन करने को विवश किया। उनके साथ स्थापित हुए इस सम्बंध ने मेरी इस धारणा को विकसित किया कि अंततः शिक्षक और विद्यार्थी के बीच संवाद की गुणवत्ता ही सर्वोपरि होती है। स्नातक स्तर पर अध्यापन का अत्यधिक दबाव रहता है, जिसके साथ अन्वेक्षण और परीक्षण इत्यादि का अतिरिक्त बोझ रहता है, जिससे शोध कार्य के लिए समय नहीं मिलता। फिर भी इनके बीच मैंने अपना शोध कार्य जारी रखा तथा सामाजिक-आर्थिक इतिहास, धार्मिक संस्थानों का इतिहास, अभिलेखों का अध्ययन, पुरातत्त्व और प्राचीन ऐतिहासिक धरोहरों का आधुनिक इतिहास जैसे विषयों पर मैं शोधात्मक अध्ययन करती रही।

प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास–पाषाण काल से १२वीं शताब्दी तक, नामक यह पुस्तक एक शिक्षक तथा शोधार्थी के रूप में ग्रहण किए गए मेरे अनुभवों की परिणति है। मूलतः इसे स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के लिए एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में लिखा गया है, किंतु मेरा विश्वास है कि सामान्य पाठक वर्ग भी इससे लाभान्वित हो सकेंगे। मेरा उद्देश्य पाठक को प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत के इतिहास का परिचय देना है तथा सम्बंधित ऐतिहासिक तथ्यों को ठोस कालक्रम के दायरे में प्रस्तुत करना है। इसी क्रम में इतिहास से जुड़ी अवधारणाओं तथा शब्दावलियों की व्याख्या भी की जाएगी तथा साहित्यिक एवं भौतिक साक्ष्यों के अतिरिक्त दृश्य साक्ष्यों को नवीन शोध और अनुसंधानों के आलोक में सुधार करने का प्रयास होगा। किंतु इस पुस्तक से जुड़ी जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात शायद यह है कि इसमें उन प्रक्रियाओं की चर्चा की जा रही है, जो ऐतिहासिक ज्ञान का सृजन करते हैं तथा उन प्रक्रियाओं से जुड़े बौद्धिक गतिविधियों और प्रेरणाओं को चिन्हित करने का भी प्रयास किया जा रहा है।

इस पुस्तक को इतिहास के उपलब्ध समग्र ज्ञान के महज सारांश के रूप में प्रस्तुत करने का कोई उद्देश्य नहीं है। बल्कि यह ऐसा प्रयास है कि विद्यार्थियों को भारतीय इतिहास की सुबोध व्याख्या उपलब्ध हो सके तथा उनसे अपेक्षा रहेगी कि उनको वे सीधे ग्रहण करें। इस क्रम में इतिहास के जटिल प्रसंगों तथा संस्करणों से भी उन्हें परिचित कराना संभव हो सकेगा। जहां कहीं भी इतिहास से जुड़े अनसुलझे पहलू हैं, उन्हें यथावत रखा जा रहा है। उनको अनावश्यक रूप से भ्रामक आधारों पर सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं है। जहां बहस जारी है, उन विषयों से जुड़े सभी पक्षों को उपलब्ध कराया जा रहा है, किंतु उनके साथ मैंने अपनी समीक्षा को भी रखा है, जिससे विद्यार्थी तर्कसंगत सहमति बनाने में सक्षम हो सकें।

मैंने यह भी अनुभव किया है कि इतिहासकार और शिक्षक अपनी काफी ऊर्जा विद्यार्थियों को यह समझाने में लगा देते हैं कि क्या सोचा जाए इसके बजाए कि कैसे सोचा जाए। विद्यार्थी को दरअसल यह जानना चाहिए कि साक्ष्य और परिकल्पनाओं की किस प्रकार समीक्षा की जाए। उन्हें वह सब कुछ चिन्तन तथा आत्मावलोकन करना है, जो वे पढ़ रहे हैं अथवा जो कुछ उन्हें बताया जा रहा है। अंत में उन्हें अपनी धारणा बनानी चाहिए तथा स्वतंत्र रूप से उन्हें समझ लेना चाहिए। यह आवश्यक है कि विभिन्न विद्वानों ने जो कुछ भी ऐतिहासिक ज्ञान के पुनर्निर्माण में अपना योगदान दिया है, उनकी अभिस्वीकृति की जाए तथा इस क्रम में प्रयुक्त हुई जटिल प्रविधियों को समझा जाए। फिर भी मेरा विश्वास है कि इस पाठ्यपुस्तक के द्वारा वे स्वतंत्र रूप से निर्भीक चिंतन की ओर प्रेरित हो सकेंगे तथा वर्तमान की उपलब्ध ज्ञान की सीमाओं से परे सोचने का भी साहस कर सकेंगे।

यद्यपि यह संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप का व्यापक इतिहास है तथा वह भी केवल एक खंड में, अतः स्वभाविक है कि केवल प्रक्षेप-पथों का ही समावेश किया गया है, इस तथ्य को जानते हुए कि ये उपलब्ध अन्यान्य प्रक्षेप-पथों में से केवल कुछ ही चुने गए हैं। उदाहरण स्वरूप जब अनाज उपजाने की प्रक्रिया के प्रारंभ होने की चर्चा की गई है, तब यह सोचना स्वाभाविक होगा कि उसी दिशा में मानव-सभ्यता प्रयत्नशील हो गई होगी, किंतु

मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि ऐसा होने के बावजूद सदियों का आखेट और संग्रहण अनेकानेक मानव समुदायों के जीवन निर्वाह की प्राथमिकता बनी रही। इसी प्रकार ऐतिहासिक काल के प्रारंभिक चरण में ऐसा प्रतीत होता है कि सभी कुछ नगरीय जीवन की ओर अग्रसर होने लगा था, किंतु इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि भारतीय उपमहाद्वीप की अधिकांश जनसंख्या तब भी गांवों में रहती रहीं।

यदि कोई इतिहासकार कुछ चयनित घटनाओं को अन्य घटनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है, तब वह आंशिक रूप से एक इतिहासकार के रूप में अपने प्रशिक्षण और रूझान का परिणाम होता है, जिसके आधार पर वह महत्त्वपूर्ण लगने वाले परिवर्तनों पर अपना ध्यान केंद्रित करता है तथा उपलब्ध स्रोतों और तथ्यों की अंतर्निहित प्रकृति और अपर्याप्तताएं भी इसके लिए उत्तरदायी होती हैं। वास्तविकता तो यह है कि चाहे हम पुरातात्त्विक स्रोतों को देखें या साहित्यिक स्रोतों को हमारी जानकारी आखेटक-संग्राहक समुदायों की अपेक्षा कृषक समुदायों के विषय में अधिक होगी तथा ग्रामीण समूहों की अपेक्षा नगरीय जीवन की। कम से कम यह महत्त्वपूर्ण होता है कि हम अपने ऐतिहासिक वर्णनों के आंशिक और अपर्याप्त स्वरूप के विषय में स्वयं को सतत् रूप से सचेत करते रहें।

पूर्व इतिहास से 1200 सा.सं. के बीच की कालावधि अत्यंत विस्तृत है तथा यह असंभव होगा कि प्रत्येक विषय के सूक्ष्म से सूक्ष्म बिंदुओं पर संपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराई जा सके। इस पुस्तक की संरचना ही कुछ ऐसी है कि इस विशाल अवधि को स्थूल कालानुक्रमिक इकाईयों में विभाजित कर दिया गया है। प्राचीनतर कालों के लिए इस पुस्तक में उल्लिखित सभी रेडिया कार्बन तिथियां अंश-शोधित तिथियां हैं। अद्यतन प्रयोग में लाई जाने वाली BCE (बिफोर कॉमन ईरा) के लिए 'सामान्य संवत पूर्व' (सा.सं.पू) का, BC/ईसा पूर्व के स्थान पर प्रयोग गया है। तथा CE (कॉमन ईरा) के लिए 'सामान्य संवत' (सा.सं.) का, AD (ईसवी) के स्थान पर प्रयोग किया गया है। Circa (c.) के लिए 'लगभग' (ल.) का प्रयोग किया गया है। बुद्ध के जीवन से जुड़ी तिथियों से संबंधित विवाद की पृष्ठभूमि के बावजूद ल. 48 BCE को उनके परिनिर्वाण (परिनिब्बान) की तिथि के रूप में मान लिया गया है।

स्थूल कालानुक्रमिक इकाईयों के अधीन विविध भौगोलिक क्षेत्रों का खाका, उपलब्ध साहित्यिक तथा पुराता. त्विक साक्ष्यों के आधार पर निर्मित किया गया है, जिसके आधार पर विभिन्न क्षेत्रों की सीमा में और सीमा से बाहर जटिल ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की लड़ियों को बुनने का प्रयास है। संदर्भ में लाए गए क्षेत्रों का चयन अनिवार्य रूप से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर हुआ है तथा उपलब्ध सूचनाओं की अपर्याप्ताएं और उनके बीच के रिक्त स्थान को युवा विद्वानों के द्वारा संबोधित किया जाएगा। इस चुनौती के लिए उन्हें अभिप्रेरित करने की अपेक्षा की जा रही है।

प्रत्येक अध्याय में एक विशेष काल से जुड़े विविध पहलुओं को, उपलब्ध स्रोतों के आलोचनात्मक सर्वेक्षण के आधार पर देखने का प्रयास किया गया है। विवरणात्मक वृतांतों को प्रधान संकल्पनाएं, प्राथमिक स्रोत, विशिष्ट पक्षों से जुड़ी अन्यान्य परिचर्चा तथा विस्तृत विवरण, अद्यतन खोज तथा अनुसंधान की नवीन दिशाएं शीर्षकों से बिन्दुकित करते हुए विशेष रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐतिहासिक काल के प्रारंभ होने के बाद से अध्यायों की शुरुआत राजनीतिक इतिहास के सारांश तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं पर एक परिचर्चा से की गई है। ऐसा इसलिए नहीं किया गया है कि अनिवार्य रूप से यह इतिहास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, बल्कि इसलिए कि राजनीतिक संदर्भ और कालानुक्रम की एक मूलभूत समझ विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। राजनीतिक वृतांतों को यथासंभव राजनीतिक संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं की एक परिचर्चा के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है।

राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास को अनुक्रमिक रूप से प्रस्तुत किया गया है, जिससे एक कालानुक्रम और प्रसंगाश्रित रूप-रेखा के अधीन उनके बीच के अंर्तसम्बंध को समझा जा सके। सामाजिक इतिहास की परिचर्चा में वर्ग, जाति, लिंग-भेद तथा अधीनस्थ एवं गौण समूहों पर दृष्टि डाली गई है। विभिन्न कालों के बौद्धिक जीवन के महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में दार्शनिक विचारों का विश्लेषण हुआ है। धार्मिक संहिताओं एवं व्यवहारों को पृथक रूप में देखने का प्रयास नहीं किया गया है। मैं आशा करती हूँ कि प्राथमिक स्रोतों से लिए गए अनेक उद्धरण तथा छायाचित्र भारतीय सांस्कृतिक परंपरओं में प्रतिबिम्बित साहित्य-कला एवं वास्तुकला के सौंदर्यपरख आयामों के प्रति संवेदनशीलता जागृत करने में सहायक सिद्ध होंगी।

जहां तक संभव हो सका है, संदर्भ सूत्रों को इंगित किया गया है, जिससे रुचि रखने वाले पाठकों को प्राथमिक स्रोतों तक पहुंचने में सहायता मिल सके। अधिकांश अनुवादों को और अधिक बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से, उनका आंशिक संशोधन किया गया है। विराम चिन्ह-विधानों में भी पुस्तक की शैली से मेल कराने के उद्देश्य से कुछ परिवर्तन किए गए हैं, विशेषकर स्वरभेद चिन्हों (डाइक्रिटिक) को हटा दिया गया है। किंतु सामान्य तथा ऐतिहासिक साहित्य में इन स्वरभेद चिन्हों का उपयोग किया जाता है, इसलिए विद्यार्थियों को उनकी समझ होनी चाहिए। इसलिए पुस्तक के अंत में संस्कृत एवं तमिल के मूल पाठों की लिप्यंतरण प्रणाली उपलब्ध करायी गई है, जो परिपाटीबद्ध रूप से व्यवहार में आते रहे हैं।

यह व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए अपार संतुष्टि का विषय है कि इस पुस्तक में 400 से भी अधिक सचित्र दृष्टांतों–आरेखीय चित्रों, छवि चित्रों तथा मानचित्रों का समायोजन हो सका है, तथा जिनमें से कई ऐसे भी हैं, जिनका पहले कभी किसी प्राचीन तथा पूर्व मध्ययूगीन भारत की पुस्तक में प्रयोग नहीं हुआ है। वास्तव में कला तथा वास्तुकला के अध्ययन के लिए जिनता महत्त्व दृश्य सामग्रियों का है, उतना ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रस्तरीय औज़ारों के संदर्भ में भी है। इसलिए पुस्तक में समायोजित सचित्र दृष्टांत सहायक संदर्भों में शब्दों से कहीं अधिक संप्रेषण करने में सक्षम रहे हैं तथा अतीत पर प्रकाश डालने में अधिक स्पष्ट, बोधगम्य तथा रुचिकर सिद्ध हुए हैं।

अपने यथासंभव प्रयत्नों के पश्चात् भी, मुझे पूरी तरह ज्ञात है कि इस पुस्तक की अपनी सीमाएं हैं। उदाहरण के लिए पहले से ही पुस्तक इतनी विस्तृत हो चुकी थी कि अंतिम अध्याय में दिल्ली सल्तनत अथवा भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम का इतिहास सम्मिलित नहीं किया जा सका जो पूर्व मध्ययुगीन इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। लगभग इन्हीं कारणों से, इस काल के समृद्ध एवं विविधापूर्ण सांस्कृतिक विकास का विस्तारपूर्वक सर्वेक्षण नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। इसके स्थान पर हमने दक्षिण भारत को केंद्र में रखकर, एक संक्षिप्त विहंगावलोकन प्रस्तुत किया है। इस प्रत्याशा में कि छायाचित्रों के द्वारा विस्तृत विवरणों के अभाव को कुछ हद तक पूरा किया जा सकेगा।

इस पुस्तक के द्वारा विद्यार्थियों एवं विद्वानों को एक आधारशिला, प्रदान की जा रही है, जिसके द्वारा वे अपनी आवश्यकता एवं रुचि के आधार पर आगे अध्ययन के लिए प्रेरित हो सकेंगे। इस पुस्तक में दिए गए ऐतिहासिक वृत्तांत, केवल मेरे व्यक्तिगत अनुसंधानों पर नहीं आधारित है, बल्कि दूसरों के द्वारा किए गए अनगनित लेखन एवं अनुसंधानों पर भी आश्रित है। पुस्तक के अंत में दिए गए संदर्भ संकेतों और प्रस्तावित अध्ययनों के माध्यम से मैंने उनके योगदान के प्रति आभार व्यक्त किया है। पाठकों को इन संदर्भ संकेतों के आधार पर विभिन्न विषयों के विस्तृत अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करने का प्रयास रहा है।

इस पुस्तक की एक और विशेषता वेब निदर्शी तथ्यों से परिपूर्ण होना है, विशेषकर प्राथमिक स्रोतों और दृष्टांतों के उद्धरणों के संदर्भ में। यह एक ऐसा स्रोत है, जिसके माध्यम से पाठक सतत् रूप से सामग्रियों को अद्यतन समंजित कर सकता है। इस प्रकार का खुलापन अनिवार्य है, क्योंकि नए साक्ष्य और परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन इतिहास के अध्ययन का यह एक अन्योन्याश्रय भाग है।

मैं आशा करती हूँ कि इस पुस्तक के माध्यम से यह संप्रेश्रित हो सकेगा कि प्राचीन और पूर्व मध्ययुगीन भारत का अनुसंधान भी कितना रोचक और चुनौतीपूर्ण हो सकता है। इस इतिहास के मेरे व्यक्तिगत अन्वेषण के प्रारंभिक दौर में सेंट स्टीफेंस महाविद्यालय के विद्यार्थी और कालांतर में दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के विद्यार्थी अधिक महत्त्व रखते हैं। इसलिए यह पुस्तक उनको समर्पित है।

उपिन्दर सिंह

अभिस्वीकृति

उन अनेक व्यक्तियों के प्रति अपना अभार और धन्यवाद प्रकट करने में मुझे अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है, जिन्होंने विभिन्न माध्यमों से इस पुस्तक को पूर्ण करने में अपनी भूमिका निभायी है।

मेरी सहेली और सहकर्मी नयनजोत लाहिरी के साथ बहुत वार्ताओं के क्रम में अनेक विचार विकसित हुए। के.पी. शंकरन विचारों के अहर्निश स्रोत रहे और मैंने सदा ही उन्हें गंभीरतापूर्वक लिया जो उनके लिए भी आश्चर्य का विषय प्रतीत होता था। रजनी पलरीवाल ने समाज शास्त्रीय संकल्पनाओं और विषयों में अविलम्ब सहायता और परामर्श प्रदान किया। कई अवसरों पर संस्कृतनिष्ठ आशुतोष दयाल माथुर ने भी मेरी सहायता की। दिल्ली के बौद्धिक समुदाय के जिन अन्य सदस्यों ने विभिन्न अवधियों में विचारों और सामग्रियों से मुझे सहायता पहुंचायी उनमें टी.के.वी. सुब्रमण्यम, बी.डी. चट्टोपाध्याय, अमर फारुकी, महेश रंगराजन, बृज तन्खा, डी.ई.यू. बेकर, विजया रामस्वामी, पारुल पाण्डया धर तथा विकास कुमार वर्मा सम्मिलित हैं। महत्त्वपूर्ण दूरस्थ सहायता केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के दिलीप के. चक्रवर्ती और कॉन्कौर्डिया विश्वविद्यालय, मॉन्ट्रियॉल के लेस्ली ऑर से प्राप्त हुई। अनेक समीक्षात्मक अवसरों पर रुकुन अडवाणी से गंभीर परामर्श प्राप्त हुए। सेंट स्टीफेंस महाविद्यालय के पुस्तकालयकर्मी, सामग्रियों के एकत्रीकरण में सदा ही अत्यंत सहायक सिद्ध हुए।

हार्वर्ड–येनचिंग संस्थान से प्राप्त डैनियल इंगल्ज़ फेलोशिप (2005) के द्वारा हारर्वड के पुस्तकालयों के विशाल संसाधनों के उपयोग करने का अवसर मिल सका तथा इससे मैं विपुल लेखन प्रक्रिया को निष्पादित करने में सक्षम हो सकी। यह संस्थान एक अत्यंत जीवंत और सहृदय स्थान है और ऐसा इसलिए है कि वहां टू वाइमिंग, पीटर केली, ईलेन विथम, सूज़न एल्पर्ट, रूहौंग ली तथा अन्य शिक्षक और शिक्षकेतर सदस्य उपलब्ध थे। मैं उन सभी को धन्यवाद देती हूँ तथा मेरा पूर्ण विश्वास है कि दक्षिण एशियाई तथा पूर्व एशियाई विद्वानों के बीच अत्यावश्यक पारस्परिक सम्बंध की स्थापना के लिए येनचिंग संस्थान एक मिलन बिन्दु के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहेगा।

जब मैं हार्वर्ड में थी, एस.आर. शर्मा एवं परिमल पाटिल ने विज्ञान, दर्शन तथा धर्म के अध्ययन में समय साध्य परामर्श प्रदान किया। नीलम और दलबीर सिहाग ने मुझे अपने घर से दूर एक घर का वातावरण दिया तथा बलबीर ने बाद में कौटिल्य पर अपने रोचक विचार और लेखन से अवगत कराया। शुगॉतो बोस, आईशा जलाल, नीति नायर तथा सीमा अलवी ने मुझे अपनी मित्रता दी, जिसके कारण हार्वर्ड में बिताए गए माह शैक्षणिक दृष्टि से बहुत उपयोगी होने के अतिरिक्त आनन्दायक भी रहे।

मैं उन पाठकों को विशेष धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को पढ़ा और अपने मूल्यवान सुझावों तथा रचनात्मक आलोचनाओं से अपना योगदान दिया और जिससे मुझे पाठ्य सामग्री को विकसित करने में अन्यतम सहायता मिली–पी.एस. द्विवेदी, उमा चक्रवर्ती, नयनजोत लाहिरी, रूपेन्द्र कुमार चट्टोपाध्याय, अलोका पराशर- सेन, नैना दयाल, शोनालीका कौल, मीरा विश्वनाथन तथा मुदित त्रिवेदी। यह मेरे लिए अपार व्यक्तिगत संतुष्टि का विषय है कि इनमें से एक पी.एस. द्विवेदी मेरे भूतपूर्व शिक्षक हैं, जिन्होंने मुझमें प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रति रुचि जागृत की जब मैं सेंट स्टीफेंस महाविद्यालय में स्नातक की छात्रा थी और इनमें से चार–नैना, शोनालीका, मीरा और मुदित–मेरे भूतपूर्व विद्यार्थी हैं और अब अपनी हैसियत में युवा विद्वान भी। अपने शिक्षकों और विद्यार्थियों के साथ इस प्रकार का सम्बंध होने के कारण मैं विशेषाधिकार का अनुभव करती हूँ।

मैं उन सभी संस्थानों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के लिए छविचित्रों को प्रदान किया। इनमें सबसे प्रथम नाम भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण का आता है, जिसके द्वारा उनके छविचित्र संभाग से अनेक छविचित्रों की प्राप्ति हुई। शौवन चटर्जी, राजबीर सिंह तथा तेजा सिंह ने तत्परता के साथ बहुमूल्य सहयोग दिया तथा उन्होंने जय प्रसाद जी के द्वारा छविचित्रों के सूची-पत्रकों के जटिल अम्बार को सहर्ष अपने अवलोकन में रखा, जिन्हें हम अंतिम दिनों में उनके टेबल पर छोड़ आए थे। मैं पुरातात्त्विक सर्वेक्षण को इसीलिए भी धन्यवाद ज्ञापित करना चाहती हूँ, क्योंकि उन्होंने अपने केंद्रीय पुरावशेष संग्रह से कुछ विशिष्ट हस्तशिल्पों के छवि चित्र लेने

की अनुमति दी तथा सर्जुन प्रसाद और उनके अधीनस्थ कर्मचारियों को उस प्रक्रिया के दौरान उनके सहयोग के लिए भी धन्यवाद देती हूँ।

पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के उन पदाधिकारियों में जिन्होंने छवि चित्र सामग्री के संग्रह में सहायता की, मैं विशेष रूप से आर.एस. फोनिया, डी.वी. शर्मा, के.पी. पूनाचा, आर.एस. बिष्ट, बी.आर. मनी तथा आलोक त्रिपाठी का नाम लूंगी। मैं आशा करती हूँ कि पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के अंतर्जल पुरातात्त्विक संभाग के द्वारा प्रदत्त छवि चित्रों से युवा विद्यार्थियों में सामुद्रिक पुरातत्त्व के प्रति प्रेरणा मिल सकेगी। मैं जिथेन्द्र दास और उनके सहकर्मी, जो पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के हैदराबाद सर्किल के हैं, को भी धन्यवाद देना चाहूंगी, जिन्होंने नागार्जुनकोंडा के छविचित्र स्रोतों को उपलब्ध कराया।

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली; भारतीय संग्रहालय, कोलकाता तथा चेन्नई; मथुरा, लखनऊ, पटना और चंडीगढ़ के सरकारी संग्रहालयों के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने अनेक छवि चित्रों के उपयोग की अनुमति दी। राष्ट्रीय संग्रहालय में जे.सा.सं. डॉसन, रीता देवी शर्मा, डी.पी. शर्मा, अमरेन्द्र नाथ त्रिपाठी तथा ब्यंकटेश के. सिंह भी अत्यंत मददगार सिद्ध हुए। मैं संग्रहालय के द्वारा सिक्कों के उत्कृष्ट छवि चित्रों के उपयोग की अनुमति के लिए विशेष आभार प्रकट करती हूँ, जो इस संपूर्ण पुस्तक में बिखरे पड़े हैं।

मैं भारतीय अध्ययन के अमेरिकन संस्थान को भी धन्यवाद देना चाहूंगी, जिनके द्वारा प्रदत्त छवि चित्रों को इस पुस्तक में पुन: प्रस्तुत किया जा सका। मैं ओसाका के कन्साई विश्वविद्यालय को भी धन्यवाद देना चाहूंगी, जिन्होंने श्रावस्ती उत्खनन के छवि चित्रों को उपलब्ध कराया।

मैं अपने पुराने मित्र और छविकार आदित्य आर्य को विशेष धन्यवाद देती हूँ, जो वैसे तो किसी न किसी प्रकार से अतीत में भी मेरी पुस्तकों से जुड़े रहे, लेकिन इस पुस्तक के लिए उनका महती सहयोग मिला। पुराना किला में उनके कष्टसाध्य छविचित्रकारी का अवलोकन करना तथा उनके असामान्य परिणामों को देखना सराहनीय है, जिसने ऐतिहासिक सूचनाओं के संप्रेषण में छविचित्रों की अपार शक्ति के प्रति मुझे महती संभावनाओं से अवगत कराया। केंद्रीय पुरावशेष संग्रह से प्राप्त प्राचीन मृद्भाण्ड तथा अन्य शिल्पों के साथ-साथ प्राचीन प्रतिमाओं के उत्कृष्ट और रंगीन छवि चित्र का बड़ा हिस्सा उपलब्ध हो सका (यथा सांची, अजंता, एलोरा के छवि चित्र)। इन्हें आदित्य आर्य के द्वारा खींचा गया था। यह तथ्य कि विद्यार्थियों को सामान्य तथा असामान्य हस्त शिल्पों के उच्चकोटि छविचित्रों को उपलब्ध कराने के लिए उनकी बलवती उत्कंठा ने, इस पुस्तक को मेरी कल्पना से कहीं अधिक रूपांतरित करने का कार्य किया।

मैं बिनॉय बहल को अजंता, अल्ची तथा टबो के छविचित्रों के उपयोग की अनुमति के लिए धन्यवाद देना चाहती हूँ। मैं विशेष रूप से अल्ची और टबो के छवि चित्रों के लिए कृतज्ञ हूँ, क्योंकि मेरा मानना है कि अब उचित समय आ गया है, जब लद्दाख, लाहौल और स्पीति के असाधारण प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति विद्यार्थियों में रुचि जागृत करना संभव हो सका तथा इन क्षेत्रों में बौद्ध परम्परा की निरंतरता की महत्ता समझ में आ सकी।

बेड़ाचम्पा के गौतम डे ने चन्द्रकेतुगढ के टेराकोटा के छवि चित्रों को उपलब्ध कराने में सहायता की। मैं आशा करती हूँ कि आवश्यक लेकिन अब तक नजर अंदाज किए गए स्थलों के छविचित्र इन क्षेत्रों के प्रति चेतना जागृत कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकेंगे। भीटा, कौशाम्बी तथा हीरेबेंकल के छविचित्रों को मुदित त्रिवेदी, अंगकोरवाट के छविचित्रों को के.पी. शंकरण के द्वारा उपलब्ध कराया गया, जबकि राघव तन्खा के द्वारा ताबो बौद्धविहार के छविचित्रों को उपलब्ध कराया गया। बोस्टन विश्वविद्यालय के एम.आर. मुग़ल, जिन्होंने मोहनजोदड़ो के छविचित्रों को उपलब्ध कराने में पहल की, उन सभी को मैं धन्यवाद देती हूँ।

इस पुस्तक के सचित्र दृष्टांतों के लिए तारक शर्मा धन्यवाद के पात्र हैं; उमा भट्टाचार्य सुंदर मानचित्रों के लिए और जायकेदार बिस्कुटों के साथ की गई चर्चा-परिचर्चा के लिए धन्यवाद की पात्रा हैं; सतविन्द्र सिंह चन्ने तथा रोहित कथूरिया को आवरण के अभिकल्प एवं पुस्तक के अंतिम अभिन्यास के लिए धन्यवाद देती हूँ; पूजा शर्मा को भी धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने दक्षता और उल्लास के साथ पुस्तक के प्रारंभिक अभिन्यास का कार्य किया। रिम्ली बरुआ ने मुख्य पाठ के परिष्करण का उत्कृष्ट कार्य किया है।

पियर्सन में, सर्वप्रथम, मैं कामिनी महादेवन को धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने वर्षों पूर्व सेंट स्टीफेंस कॉलेज आकर मेरे विचारों के एक ऐसे सिलसिला को प्रेरित कर दिया, जिसकी परिणति इस पुस्तक के रूप में सामने आई है। जय प्रसाद को इस रचना में पूर्ण विश्वास था तथा उन्होंने लंबी अवधि तक इस पर कठिन परिश्रम किया, साथ ही उन्होंने अपार संयम के साथ मेरे ई-मेल और दूरभाष के द्वारा निरंतर रूप से प्रेषित सभी पृच्छाओं का निवारण किया। प्रवीण देव ने अंतिम घड़ियों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय सहयोग प्रदान किया। देबजानी दत्त, सतत् रूप से अपना सहयोग देती रहीं। इस पुस्तक के प्रकाशन में पियर्सन टीम के अनेक सदस्यों के सुझाव और सहयोग प्राप्त हुए, और मैं उन सभी को धन्यवाद देती हूँ। मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूँ कि इस प्रकार की पुस्तक

का प्रकाशन, इस मूल्य और गुणवत्ता के साथ भारत के किसी भी अन्य प्रकाशन निकाय के द्वारा नहीं किया जा सकता था।

मैं अपने पति विजय तन्खा की भूमिका को भी स्वीकार करती हूँ, जो इस परियोजना में मेरे साथ अन्यतम रूप से सदैव जुड़े रहे तथा सदा की भांति शैली और विषय-वस्तु के सम्बंध में अपना बहुमूल्य सुझाव भी दिया।

मैं अनुवादक हितेन्द्र अनुपम को अपना धन्यवाद देती हूँ, जिनकी कई वर्षों की कड़ी मेहनत व लगन के फलस्वरूप यह पुस्तक अनगिनत छात्रों तक पहुंचेगी। मैं शबनम सुरी की भी आभारी हूँ, जिन्होंने अनुवाद को बहुत ध्यान से पढ़कर महत्त्वपूर्ण मदद की। अंत में, मैं प्रदीप कुमार चौधरी को धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने पूर्ण पस्तुक को बारीकी से पढ़कर शोधकार्य व प्रूक-पठन में अनमोल योगदान दिया।

उपिन्दर सिंह

उपिन्दर सिंह

प्रोफेसर, इतिहास विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

'प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास' के पाठकों के लिए एक पथ प्रदर्शिका

भारत में अपने प्रकार की यह प्रथम पुस्तक है, जिसे प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए एक पाठ्यपुस्तक के रूप में विकसित एवं अभिकल्पित किया गया है। इसके द्वारा भारत के प्राचीन अतीत की एक अति-विशाल कालावधि को रुचिपूर्ण विवरणात्मक शैली में सुविस्तृत एवं सर्वांगीण रूप से एक साथ लाया गया है। इस पुस्तक में अंतर्निहित शैक्षणिक तत्वों के कारण इतिहास का अध्ययन एक विचारोत्प्रेरक एवं सुखद अनुभूति बन जाती है।

आपकी सहायता के लिए तथा इस पुस्तक के सर्वश्रेष्ठ उपयोग के लिए इस अंश के माध्यम से संपूर्ण पुस्तक विविध अनुभागों में बांटा गया है।

माट, मथुरा से प्राप्त कनिष्क की प्रतिमा

अभिनव परिवर्तन व पारस्परिक प्रभाव : ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं. 395

प्राचीन वस्तुओं के एक उत्साही संग्रहकर्त्ता पंडित राधाकृष्ण ने 1911 में मथुरा के नजदीक माट नाम के गांव में खेतों के बीच स्थित टोकरी टीला पर से एक असामान्य पत्थर की मूर्ति खोज निकाली। इस मूर्ति के सिर और हाथ नहीं थे फिर भी मानव आकार की इस प्रतिमा में इतना कुछ बचा था जिसके अधार पर यह कहा जा सके कि यह किसी योद्धा शासक की मूर्ति रही होगी। प्रतिमा के दाहिने हाथ में एक लंबा राजदंड और बायें हाथ में एक अलंकृत तलवार का हत्था देखा जा सकता है। प्रतिमा में प्रदर्शित व्यक्ति सामान्य वस्त्रों में था उसके कवच उसके घुटने की लंबाई तक थे। कमर में एक बेल्ट कसा था। इसके ऊपर एक अंगवस्त्र देखा जा सकता था। उसके पैर काफी बड़े थे और पैरों में भारी बूट था। उसके पैर जमीन पर दृढ़तापूर्वक जड़े हुए दिखलाई पड़ते थे। उसके व्यक्तित्व से स्थायित्व के साथ-साथ एक सतर्कता का प्रदर्शन हो रहा था। अपने जीर्ण-शीर्ण अवस्था में भी प्रतिमा दृढ़शक्ति और सत्ता का प्रतिनिधित्व कर रही थी। प्रतिमा के आधार पर ब्राह्मी लिपी में लिखा था कि यह प्रतिमा कनिष्क की है। कनिष्क कुषाण वंश का था। कुषाण वंश सामान्य संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित कई राजवंशों में से एक था।

ल.200 सा.सं.पू. से 300 सा.सं. के बीच के काल को इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सबसे पहले तो उत्तर भारत में उत्तर-पश्चिम दिशा से इतने आक्रमण हुए कि राजनीतिक सत्ता मगध क्षेत्र से पश्चिमवर्ती क्षेत्र में हस्तांतरित हो गई। इसी काल में दक्कन और सुदूर दक्षिण में पहली बार राज्य और राज्य आधारित समाज की ओर संक्रमण का अनुभव किया।[1] उपमहाद्वीप

1. के. राजन (व्यक्तिगत संवाद) तथा दिलिप के. चक्रवर्ती (2006: 312-13) का मानना है कि साक्षरता और राज्य की ओर सुदूर दक्षिण के संक्रमण के कालानुक्रम में संशोधन करने की आवश्यकता है तथा इन तिथियों को कम से कम चौथी शताब्दी सा.सं.पू. या शायद और भी पीछे ले जाने की आवश्यकता है।

◄ लाल चूना पत्थर की यक्षी, संघोल (पंजाब)

प्रत्येक अध्याय को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य के अधीन एक कालानुक्रमिक इकाई के रूप में देखा जा सकता है, जो ऐतिहासिक विषय-वस्तु के सर्वांगीण विहंगमालोकन तथा भारतीय उपमहाद्वीप के विविध भौगोलिक क्षेत्रों की रूपरेखा को प्रस्तुत करने में सक्षम है। 'अध्याय संरचना' से संपूर्ण अध्याय की रूपरेखा को समझा जा सकता है। विविध स्रोतों से संकलित एक प्रारंभिक आख्यान प्रत्येक अध्याय के लिए रोचक विषय-प्रवेश का कार्य करती है तथा अध्याय की परिचर्चा के समृद्ध कथ्य की एक लड़ी को प्रस्तुत करती है।

चौखाने

संपूर्ण पुस्तक में पांच प्रकार के चौखाने बने हुए हैं। प्रत्येक की एक पृथक भूमिका है, जो इतिहास अध्ययन तथा शिक्षण से जुड़े विविध आयामों एवं मुख्य बिंदुओं को ढूंढने तथा समझने में सहायक है।

इतिहासकारों के द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों और अवधारणाओं (जिन्हें कई बार विविध विषयों से उधार लिया जाता है) जैसे - राज्य, जनजाति, वर्ग तथा जाति के विशिष्ट और जटिल अर्थों की व्याख्या, महत्त्वपूर्ण अवधारणा के रूप में की गई है। इससे इन शब्दों और अवधारणाओं को कहीं अधिक स्पष्टता और सटीकता से उपयोग करने और इतिहास के अंतरविषयी चरित्र की बेहतर समझ विकसित करने में मदद मिलती है।

महत्त्वपूर्ण अवधारणाएं

वंश, क्लैन, जनजाति

इतिहासकारों ने प्राचीन संस्कृतियों की व्याख्या करने के क्रम में बहुत सारे समाजशास्त्रीय शब्दावलियों का एवं अवधारणाओं का प्रयोग किया है। 'किनशिप' को हम गोतीया कह सकते चलता है वह एकवंशानुगत होता है। इसके अतिरिक्त बहुवंशानुगत सम्बंध के आधार पर भी माता पक्ष से अथवा पितृ पक्ष से, दोनों पक्ष से चलने वाला वंश अथवा मातृ पक्ष से दोनों पक्ष के

प्राथमिक स्रोत

पुरातन पादप अवशेषों का विश्लेषण

पुरातन पादप अवशेषों का अध्ययन 'पुरावनस्पतिशास्त्र' कहलाता है। प्राचीन वानस्पतिक अवशेष, जो पुरातात्त्विक अवशेषों के रूप में मिलते हैं, नदियों के भूमिगत होने की प्रक्रिया या किसी स्थान पर पानी के ठहराव के कारण या जलाए तनाओं में या फलों के गुदा में पाया जाने वाला गोलाकार, कोमल उत्तक) का विश्लेषण भी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी हो सकता है।

पौधों के परागों और बीजाणुओं के अध्ययन को 'पैलिनोलॉजी' कहते हैं।

इतिहास के मूलभूत स्रोत और उनकी किस प्रकार व्याख्या की जाती है, इसकी जानकारी इतिहास को वास्तव में रोचक बनाती है। ऐतिहासिक सिद्धांतों एवं तर्कों की विवेचना और उनका मूल्यांकन प्राथमिक स्रोतों से परिचय का एक अभिन्न हिस्सा है। 'प्राथमिक स्रोत' वाले चौखाने आपको पुरातात्त्विक विवरण और दृष्टांतों, साहित्यिक स्रोतों और उनके रचियताओं के सम्बंध में रोचक जानकारी तथा अनेक प्राथमिक पाठ्यों और पुरालेखों के अनुदित उद्धरणों से परिचित कराते हैं।

अनुसंधान की दिशाएं

स्त्री की प्रतिमाएं—साधारण महिला या आराध्य देवियां

एक समय तक नवपाषाण स्थलों से प्राप्त स्त्री की सभी मृण्मूर्तियों को विद्वानों ने मातृदेवी की श्रेणी में रखा। क्योंकि सभी कृषक समाजों में उर्वराशक्ति की देवी की उपासना की मान्यता थी तथा हिन्दु धर्म के दृष्टिकोण से प्राचीन प्राप्तियों को प्रतीकात्मक निर्देशन नहीं करती थीं।

ऐसी परिस्थिति में मातृदेवी के स्थान पर इन्हें आस्था से जुड़ी स्त्री प्रतिमाओं के रूप में व्याख्यायित करना अधिक उचित होगा। ऐसे निरपेक्ष कथन के प्रयोग का यह अभिप्राय नहीं है कि

इतिहास विविध विषय-वस्तुओं पर तर्क-वितर्कों से भरा पड़ा है। इस पुस्तक के मुख्य आख्यान के बीच-बीच में हमने विशिष्ट बिन्दुओं पर विस्तार से भी चर्चा की है। 'संबंधित परिचर्चा' के आयातों के द्वारा आपको अतीत के बहुपक्षीय स्तरों की समझ में सहायता मिलेगी तथा सतही विवरणों और सामान्यीकरण से परे अधिक गहन और विस्तृत अनुसंधान करने की दिशा मिल सकेगी।

नए अनुसंधान

इसामपुर: पत्थर के औज़ार बनाने का एक केंद्र

कर्नाटक के गुलबर्गा जिले का एक गांव-इसामपुर, हुंसगी घाटी का उत्तर पश्चिम भाग, कामता-हल्ला नामक एक मॉनसूनी नदी घाटी है। यह 7,200 वर्ग मीटर में फैला पुरापाषाण युगीन स्थल है। सन् 1983 में सिंचाई परियोजना के छूरी, हस्तकुठार, क्लीवर तथा स्क्रेपर (तक्षणी) प्रमुख हैं, किंतु अधिकतर औज़ार अर्धनिर्मित अवस्था में हैं, तैयार औज़ार कम ही हैं। क्वार्टजाइट, बसाल्ट तथा चर्ट से बने औज़ारों की अधिकता है। मध्यपुरापाषाण युगीन औज़ारों की

ऐतिहासिक ज्ञान निरंतर रूप से विकसित हो रहा है। नए अनुसंधान बहुधा हमारे अतीत के समझ में आमूल-चूल परिवर्तन करने में सक्षम होते हैं। 'अद्यतन खोज' के आयातों के द्वारा हमारा सीधा ध्यान नवीन अनुसंधानों, उन खोजों से सम्बंधित व्यक्तियों तथा उन तक पहुंचने वाली परिस्थितियों एवं किस प्रकार इन खोजों ने भारत के प्रारंभिक अतीत के विषय में अपना प्रभाव डाला है, इनके प्रति हमारा प्रत्यक्ष ध्यान आकर्षित करते हैं।

अनुसंधान की नयी दिशाएं

शैलचित्र

कर्नाटक और आंध्रप्रदेश के कूपगल, पिकलीहाल और मस्की जैसे केंद्रों में ग्रेनाइट की चट्टानों पर बने अनेक शैलचित्र देखे जा सकते हैं। इनकी तिथि का निर्धारण करना तो कठिन है किन्तु मोटे तौर पर इनकी बनावट और दशा हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा सबसे प्रमुख दृश्य एक सामान्य मानवाकृति का है जिसमें से कई उन्नत लिंग स्थिति में हैं। इसके अलावा बहुत से चित्रों में समलैंगिक या द्विलैंगिक संभोग के दृश्यों का चित्रण हुआ है। ऐसे भी चित्र हैं

नवीन ऐतिहासिक अनुसंधानों की जानकारी रखना आपके लिए महत्त्वपूर्ण है, लेकिन वैसे अनुसंधान बहुधा आपकी पहुंच में नहीं होते। 'अनुसंधान की नवीन दिशाएं' वाले आयात विद्यार्थी और अनुसंधानकर्ता के बीच की दूरी को, नवीन रोचक अनुसंधानों के प्रतिदर्शी की प्रस्तुति के द्वारा, अनुसंधान की प्रविधि की व्याख्या तथा उनके निष्कर्षों की सुस्पष्ट जानकारी के द्वारा पाटने का काम करते हैं। ये इतिहास लेखन की नवीन प्रवृत्तियों से और अतीत के सतत् रूप से परिवर्तनशील ज्ञान से आपको परिचित कराते हैं।

फोटोग्राफ, मानचित्र एवं चित्र

भारत में प्रचलित पाठ्य-आधारित नीरस इतिहास लेखन से आगे बढ़कर 'प्राचीन एवं पूर्वमध्ययुगीन भारत' में 450 से अधिक सचित्र दृष्टांत हैं—मानचित्र, छविचित्र तथा आरेख, जो इतिहास को सजीव बनाते हैं। इतिहास एक रोचक अन्वेषण बन जाता है, यदि हम अपने अध्ययन को दृष्य परिस्थितियों से जोड़ सकें तथा भारतीय उप-महाद्वीप के अतीत और संस्कृति की उत्कृष्टता की सराहना कर सकें।
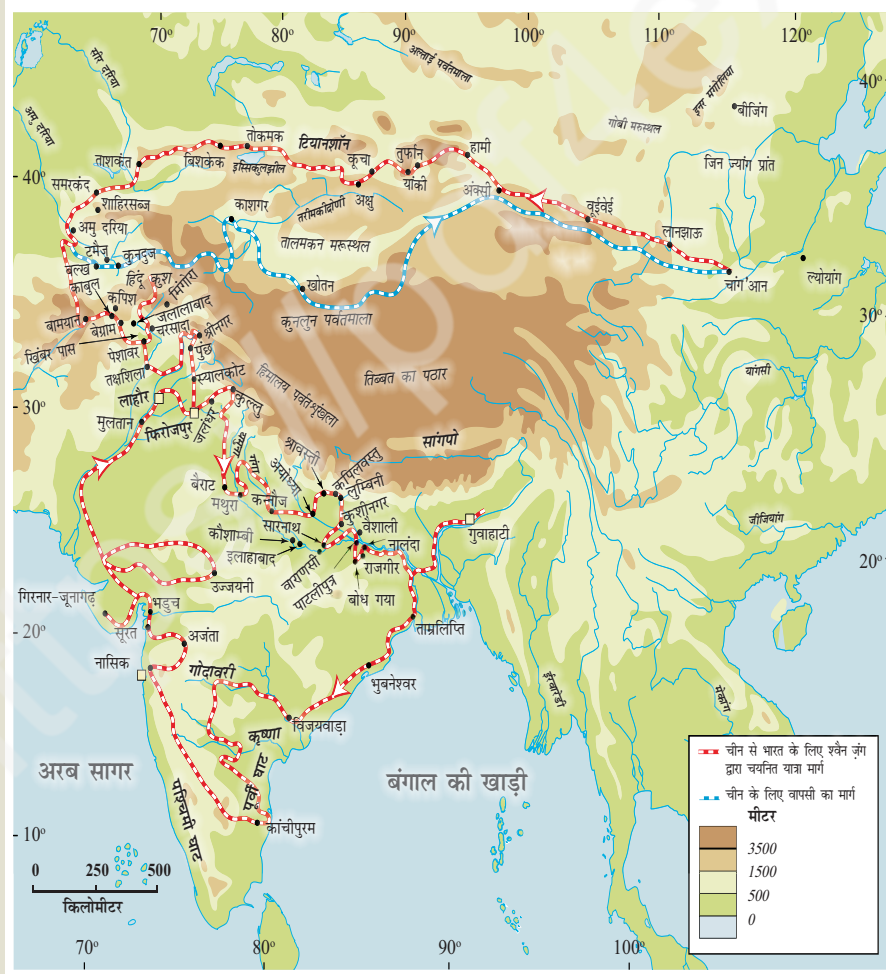
इतिहास के विद्यार्थी के लिए मानचित्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपादानों में से एक है। मानचित्रों में संकेतिका तथा शीर्षक, स्थलाकृतिक तथा उत्सेध संबंधित सूचनाओं के लिए प्रयुक्त एकाधिक रंग, सापेक्षिक दूरियों की जानकारी के लिए मापक्रम एवं अक्षांश एवं देशांतर रेखाओं के निर्देशांक, मानचित्रों में निर्दिष्ट क्षेत्रों की स्थिति को समझने में सहायक है।

350 से भी अधिक छविचित्रों के द्वारा प्रस्तरीय औज़ारों, टेराकोटा मृण्मूर्तियों, मृद्भाण्डों, सिक्कों उत्खनन स्थलों मंदिरों तथा प्रतिमाओं जैसे हस्तशिल्पों के 350 से भी अधिक छविचित्र पाठ्य को जीवंत बनाने में सक्षम हैं।

www.pearsoned.co.in/upindersingh लिंक में एक वेब सप्लीमेंट या अनुपूरक जानकारी उपलब्ध हैं, जिससे प्राथमिक स्रोतों के अंश, छविचित्र तथा परिचर्चा के बिंदुओं को अतिरिक्त सामग्रियों के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। एक वेब अनुपूरक अनुसंकेत तथा एक संक्षिप्त शीर्षक की सहायता से पाठ्य में चर्चा किए गए विषयों से सम्बंधित अनुपूरक सामग्रियों को उपलब्ध किया जा सकता है।

पुस्तक के अंत में संस्कृत तथा तमिल भाषाओं के लिए रोमन लिपि में प्रयुक्त होने वाली परिपाटीबद्ध लिप्यंतरण की प्रणाली भी प्रस्तुत की गई है।

लिप्यन्तरण तालिका

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ए	ऐ	ओ	औ	•	ः
a	ā	i	ī	u	ū	ṛ	e	ai	o	au	ṁ	ḥ

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ka	kha	ga	gha	ṅa	ca	cha	ja	jha	ña
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
ṭa	ṭha	ḍa	ḍha	ṇa	ta	tha	da	dha	na

पुस्तक के अंत में विभिन्न अध्यायों के लिए संदर्भ ग्रंथ सूची उपलब्ध करा दी गई है। यह उन जिज्ञासु पाठकों के लिए हैं, जो अधिक विस्तृत सूचनाएं अर्जित करना चाहते हैं।

हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक प्राचीन भारतीय इतिहास को पढ़ने-पढ़ाने के ढंग को रूपांतरित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान देने में सक्षम सिद्ध होगी। यह हमारा प्रयास होगा कि इस पुस्तक को सतत् रूप से विकसित किया जाता रहे, और हम अपने सभी पाठकों के सुझावों का स्वागत करेंगे। अपने सुझावों को आप hedfeedback@pearsoned.co.in पर भेज सकते हैं।

प्रस्तुतीकरण

प्रारंभिक भारतीय अतीत की अवधारणाएं

अध्याय संरचना

भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख भू-आकृतिक विभाजन

भारतीय अतीत के विभाजन की रूपरेखा

प्रारंभिक भारतीय इतिहास की बदलती व्याख्याएं

नवीन इतिहास लेखन, अलिखित इतिहास

पुराणों में अंडाकार ब्रह्माण्ड की परिकल्पना की गई है, जो उर्ध्वाधर रूप से स्वर्गलोक, मृत्युलोक तथा पाताल लोक में विभाजित है। पृथ्वी की संकल्पना एक समतल चकली के रूप में की गई है, जिसमें भू-खंड के सात सकेंद्रीय मंडलक हैं तथा जिनके बीच में क्रमशः खारा पानी, चाशनी, मद्य, घृत, दही, दुग्ध तथा शुद्ध पानी के सागरों का अस्तित्व है। जम्बुद्वीप पृथ्वी के केंद्र में स्थित है, जिसका दक्षिणी भाग भारतवर्ष कहलाता है तथा जिसके ठीक मध्य भाग से स्वर्ण मेरू पर्वत शृंखला का उदय होता है। इसके भारतवर्ष नामकरण के पीछे लगाए जाने वाली बहुत-सी अनुमानों में एक मत है कि भारत कहे जाने वाले लोग दुष्यंत और शकुंतला से उत्पन्न प्रसिद्ध पुत्र भरत की संतति है। इस प्रकार पुराणों में भूगोल और सृष्टिवर्णन का अद्भुत सम्मिश्रण देखा जा सकता है। भारतवर्ष के विषय में पौराणिक मान्यता है कि यह नौ खंडों में बंटा हुआ है, जो परस्पर समुद्रों के द्वारा पृथक होते हैं। किंतु इसके पर्वतों, नदियों तथा अन्य स्थानों – जिनमें कुछ की पहचान की जा सकती है – का उल्लेख देखकर ऐसा लगता है कि इन ग्रंथों के रचनाकार भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों से परिचित थे और इन्हें एक ही सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखते थे।

बाहरी दुनिया के लिए सिंधु नदी इस उपमहाद्वीप का प्रतिनिधित्व करती है। सिंधु का उद्गम तिब्बत के पठार में होता है तथा वहां से यह 3,200 किमी. दक्षिण-पश्चिम में उपजाऊ मैदानों से बहती हुई अरब सागर में गिरती है। 'इंडिया', 'हिंदू' तथा 'हिन्दूस्तान' जैसे शब्दों की उत्पत्ति इसी नदी के नाम से जुड़ी है। प्राचीन चीनी स्रोत इस भूमि को 'शेन-तू', ग्रीक ग्रंथों में इसे 'इंडिया' कहा गया है, जबकि फारसी अभिलेख में 'हिदू' को डेरियस के अखमनी राजा के साम्राज्य का हिस्सा माना गया है। प्रारंभिक रूप से ये सभी शब्द सिंधु नदी की निचली घाटी के लिए प्रयुक्त होते थे, किंतु कालांतर में इन शब्दों को वृहत भौगोलिक अर्थ प्राप्त होने लगे। मेगस्थनीज, जिसने चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में चंद्रगुप्त मौर्य के काल में भारत की यात्रा की थी, उसने संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के लिए 'इंडिया' शब्द का प्रयोग किया है। अरब और ईरान के स्रोतों में भारत की संपूर्ण भूमि के लिए 'हिंदुस्तान' का प्रयोग किया गया तथा यहां के निवासियों के लिए 'हिंदू' का प्रयोग हुआ।

इस प्रकार संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप को अति प्राचीन काल से एक भौगोलिक एवं सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखा जाता रहा है—जबकि भारत, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, बंगलादेश तथा श्रीलंका जैसे राष्ट्रों का अस्तित्व उसकी तुलना में अति आधुनिक है। यही कारण है कि जब भी दक्षिण एशिया के समेकित प्राचीन इतिहास का अध्ययन करना हो तब, आधुनिक राजनीतिक विभाजनों को नजरअंदाज करते हुए भारतीय उपमहाद्वीप के विविध घटकों को एक ही सांस्कृतिक पटल पर देखा जाना आवश्यक हो जाता है। भारतीय उपमहाद्वीप का इतिहास वस्तुतः इसे विभिन्न क्षेत्रों एवं अंतः क्षेत्रों के बीच हुए परस्पर संपर्क एवं समन्वय का इतिहास है, जिनके बीच मौर्य, मुगल तथा ब्रिटिश साम्राज्यों के शीर्ष बिंदुओं पर समय-समय पर राजनीतिक एकीकरण भी स्थापित किया जा सका।

भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख भू-आकृतिक संगठन

(The Main Physiographic Zones of the Subcontinent)

भारतीय उपमहाद्वीप की प्राकृतिक सीमाएं तो सुनिश्चित हैं, किंतु उसके भीतर विलक्षण पर्यावरणीय विविधताएं उपस्थित हैं। हालांकि, समान अक्षांश पर उपस्थित अन्य क्षेत्रों से यहां के मौसम की समानता देखी जा सकती है, परंतु हिमालय और पश्चिमी घाट के द्वारा यहां बहुत भिन्नता देखी जा सकती है। हिमालय जहां एक ओर उत्तर से चलने वाली बर्फीली हवाओं को रोकता है और जाड़े के मौसम में सिंधु-गंगा के मैदान की रक्षा करता है। दूसरी ओर गर्मी के मौसम में वर्षा धारण करने वाली दक्षिण-पश्चिमी मानसून हवाओं को भी अपने पार नहीं जाने देता। इस प्रकार उपमहाद्वीप के अधिकांश भू-खंड को दक्षिण-पश्चिम मानसून की वर्षा उपलब्ध होती है। केवल उत्तर-पश्चिमोत्तर भाग तथा श्रीलंका को सर्दी के महीनों में वर्षा उपलब्ध होती है।

उत्तर में हिमालय पर्वत शृंखला इस महाद्वीप का सीमाकरण करती है, जिसकी उत्पत्ति भूगर्भशास्त्रीय संदर्भ में काफी नयी मोड़दार पर्वत के रूप में देखी जाती है, जिसके निर्माण की प्रक्रिया अभी चल रही है और इसलिए यह क्षेत्र भूगर्भीय दृष्टि से स्थिर नहीं हुआ है। हिमालय को पृथक-पृथक विशिष्टताओं वाली पश्चिमी, मध्य तथा पूर्वी

◄ **भीटा (उ.प्र.) के खंड़हर**

भागों में बांटा जा सकता है। उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग में उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती प्रांत तथा बलुचिस्तान की शुष्क पठारीय भू-भाग वर्तमान के पाकिस्तान में स्थित है। हालांकि, यह क्षेत्र कृषि की दृष्टि से कुछेक नदी-घाटियों को छोड़कर कृषि के लिए उपयोगी नहीं है, लेकिन इसकी घाटियां एवं दर्रों से गुजरने वाले कई अंतर्राष्ट्रीय मार्गों के कारण यह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है, जिनके द्वारा उपमहाद्वीप पश्चिम से अतीत काल से जुड़ा रहा है।

राजस्थान के थार मरूभूमि में और अधिक शुष्क परिस्थितियां हैं जहां के अपेक्षाकृत कम ऊंचे पठार और बलुआही टिब्बे इस पूरे पठारीय क्षेत्र में देखे जा सकते हैं। उत्तर-पश्चिमी पर्वत शृंखला तथा थार मरूभूमि के क्षेत्र में सिंधु नदी से प्लावित सिंध प्रांत एक भौगोलिक अपवाद कहा जा सकता है। इस नदी का उत्तरी हिस्सा तिब्बत तथा लद्दाख में पड़ता है, जहां से अपनी अनेक सहायक नदियों के साथ यह भारत तथा पाकिस्तान के पंजाब को अति उर्वर बनाती है। सिंधु नदी के पूर्व में एक समय की महती धारा वाली घग्गर-हाकरा एक संकुचित नदी के रूप में प्रवाहित होती है।

गंगा और इसी सहायक नदियों से निर्मित उत्तर भारत का विशाल जलोढ मैदान इस महाद्वीप की दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण भौगोलिक इकाई है। मैदान का पश्चिमी हिस्सा 'दोआब' के रूप में प्रसिद्ध है (गंगा-जमुना 'दो नदियों के बीच की भूमि)। मैदान का मध्यभाग वर्तमान के पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार प्रांत का भाग है। जबकि मैदान का पूर्वी हिस्सा गंगा और ब्रह्मपुत्र का डेल्टा-आधुनिक पश्चिम बंगाल, असम और बंगलादेश का हिस्सा है। विंध्य पर्वत शृंखला उत्तर के मैदानी इलाके को प्रायद्वीप भारत से पृथक करती है, जबकि अरावली की पहाड़ियां थार मरूभूमि को मध्यभारत से पृथक करती है। मालवा का पठार अपनी दो प्रमुख नदियों नर्मदा और तापी के साथ अरावली और मध्य भारतीय पर्वत शृंखला के बीच में स्थित है।

प्रायद्वीपीय भारत एक पुरातन तथा अपेक्षाकृत भू-गर्भीय स्थायित्व की भूमि है। भारतीय प्रायद्वीप का भू-दृश्य पठारों, मैदानों तथा उर्वर नदियों और घाटियों से भरा पड़ा है। प्रायद्वीपीय भारत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा दक्कन का पठार है। प्रायद्वीपीय भारत की प्रमुख नदियां महानदी, कृष्णा, गोदावरी, पेन्नार तथा कावेरी हैं। प्रायद्वीपीय भारत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा दक्कन का पठार है, जिसका निर्माण अत्यंत प्राचीन ज्वालामुखी से बाहर आए लावा से हुआ है। पूर्वी घाट व पश्चिमी घाटों से परे समुद्र के संकीर्ण तटीय मैदानी हिस्सों का क्रमशः कोरोमंडल और मालावार-कोंकण कहते हैं। प्रायद्वीपीय भारत के सुदूर दक्षिण में नीलगीरि, अन्नामलाई व कार्डामॉम हिल अवस्थित है, जो मन्नार की खाड़ी के द्वारा श्रीलंका द्वीप से अलग होता है।

भारतीय उपमहाद्वीप के विविध भौगोलिक क्षेत्रों का अस्तित्व कभी भी पृथक इकाइयों के रूप में नहीं रहा है। मानव सभ्यता के आरंभ से ही पहाड़ों, नदियों एवं क्षेत्रों से होते हुए प्राकृतिक रूप से अथवा मानवीय प्रयासों से बने हुए मार्गों के माध्यम से इन क्षेत्रों में आदान-प्रदान होता रहा है। हिमालय को पार करने के लिए मुख्य रूप से बोलन, गोमल तथा खैबर-दर्रों का प्रयोग होता रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप को चीन, मध्य एशिया, पश्चिम एशिया तथा यूरोप से जोड़ने के लिए बहुत सारे स्थल मार्गों का जाल-सा बिछा हुआ है। भारतीय उपमहाद्वीप की 7500 किमी. की लंबी तटीय रेखा में अनादि काल से मछली पकड़ने वाले तथा नाविक समुदाय निवास करते आ रहे हैं तथा भारतीय उपमहाद्वीप का सम्बंध इन तटीय हिस्सों से हिन्द महासागर के बड़े संसार का हिस्सा रहा है, जिसमें दक्षिण पूर्व एशिया तथा फारस की खाड़ी भी सम्मिलित है।

प्राकृतिक भू-दृश्य मानव जीवन-शैली को हमेशा से प्रभावित करती रही है और यह प्रभाव किसी भी भौगोलिक क्षेत्र के निवासियों के बौद्धिक विकास के साथ-साथ उनके जीवन-शैली में भी विरूपित होता है। किसी क्षेत्र के मौसम, मिट्टी तथा प्राकृतिक संसाधन, वहां रहने वाले लोगों के जीवन-निर्वाह की शैली आवास संरचना, जनसंख्या घनत्व तथा व्यापार को बहुत प्रभावित करते हैं। किंतु, दूसरी ओर मनुष्य अपने प्रयासों से अपने पर्यावरण को रूपांतरित करने की क्षमता रखता है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य में मानवीय अतीत का अध्ययन सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों के साथ रहे अंतर्सम्बंधों के अध्ययन में सहायक होता है। हालांकि, हम जानते हैं कि पर्यावरण का अपना भी इतिहास रहा है और वर्तमान के उपमहाद्वीपीय वातावरण में अतीत की अपेक्षा बदली हुई परिस्थितियों में हुए परिवर्तन को समझा जा सकता है।

भारतीय अतीत के विभाजन की रूप रेखा

(Ways of Dividing the Indian Past)

अंग्रेजी शब्द 'हिस्ट्री' ग्रीक शब्द 'हिस्टोरिया' (अनुसंधान) से लिया गया है। इतिहास अनिवार्य रूप से एक ऐसी विधा है, जो अतीत के लोगों के अनुभवों का अनुसंधान करती है। इतिहासकारों ने अतीत का कई काल खंडों में
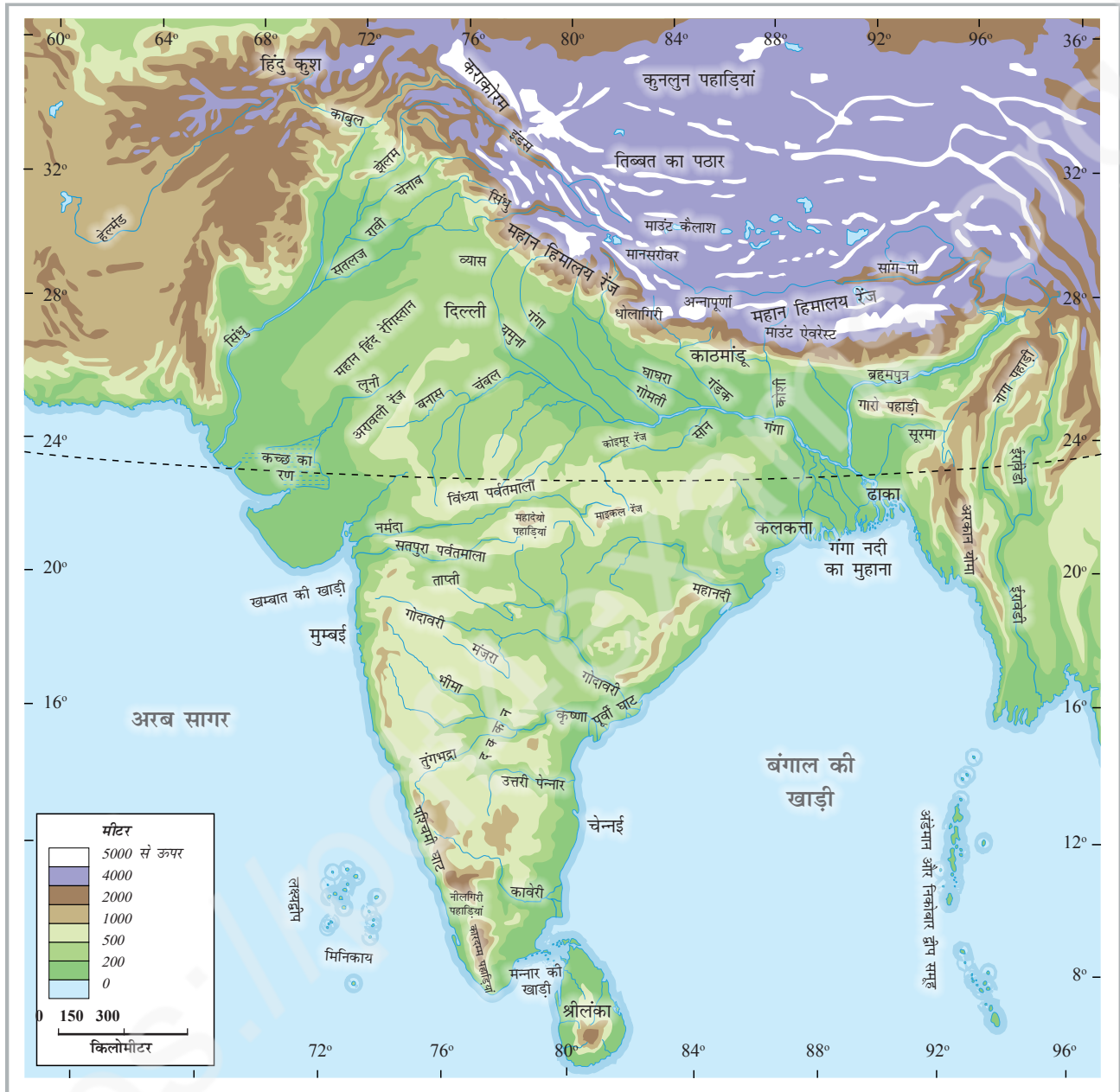
मानचित्र: **भारतीय उपमहाद्वीप का भौतिक भूगोल**

बांटने का प्रयास किया है। किंतु इस काल खंडों को अध्ययन के लिए सुविधाजनक होने के अतिरिक्त अर्थपूर्ण तथा सुसंगत भी होना चाहिए। इसके साथ ही काल विभाजन की सीमाओं से परिचित होना आवश्यक है।

बहुत समय तक इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को क्रमशः हिन्दू, मुस्लिम तथा ब्रिटिश काल में बांटा है। परंतु यह काल विभाजन त्रुटिपूर्ण है और कई दृष्टि से इस पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, क्या शासक वर्ग की धार्मिक आस्था ऐतिहासिक कालों के निर्धारण का सबसे अच्छा आधार है? प्राचीन भारत के संदर्भ में हम कब से हिन्दू काल का प्रारंभ मान सकते हैं? प्राचीन भारत के उन शासकों के काल को किस प्रकार हम ऐसा कह सकते हैं, जिन्होंने बौद्ध अथवा जैन धर्म को स्वीकार कर लिया? क्या मुस्लिम शासकों के आगमन से भारतीय समाज के अस्तित्व में कोई अभूतपूर्व परिवर्तन आया, विशेषकर के तब जब मुगल काल के शीर्ष बिन्दु को छोड़कर इनका शासन कभी भी संपूर्ण उपमहाद्वीप पर अथवा इसके अधिकांश भाग पर स्थापित नहीं हो सका?

इन्हीं कारणों से अधिकांश इतिहासकारों ने अब भारतीय इतिहास को हिन्दू, मुस्लिम ब्रिटिश काल में बांटने की अपेक्षा प्राचीन, पूर्व मध्यकालीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक काल के निरपेक्ष विभाजन की प्राथमिकता दी है। इन कालों के विभाजन की तिथियां अलग-अलग इतिहासकारों के लिए भिन्न हो सकती है, किंतु सामान्य रूप से प्रारंभ काल से लेकर छठीं शताब्दी सा.सं. तक, छठीं से 13वीं शताब्दियों तक पूर्व मध्यकाल, 13वीं-18वीं शताब्दी के बीच मध्यकाल तथा 18वीं शताब्दी से वर्तमान तक आधुनिक काल के रूप में स्वीकार किया जाता है। वर्तमान में ऐसी शब्दावली का किया जाने वाला उपयोग इतिहास को धर्म आधारित लेबल से कहीं दूर हटाकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों को तरफ ध्यान केंद्रित करता है।

मानव सभ्यता के अतीत के प्रारंभिक हिस्से या प्राचीन काल को पुनः दो भागों में बांटा गया है – प्राग्-इतिहास और इतिहास। लेखन कला के आविष्कार के पहले की एक बहुत लंबी अवधि प्राग्-इतिहास कही जाती है, जबकि अतीत का वह हिस्सा जब लेखनकला का उद्भव हुआ उसके बाद से साक्षर समाजों के अतीत का अध्ययन इतिहास कहलाता है।

एक भाषा का अभिप्राय संवाद के लिए प्रयुक्त बोले जाने वाले प्रतीकों से है, जबकि लिपि अथवा लेखन का अभिप्राय दृश्य संप्रेषण की उस व्यवस्था से है, जो विशिष्ट अर्थ तथा स्वर से जुड़े प्रतीकों का प्रयोग किसी प्रकार के सतह पर लिखकर करता है। मानव सभ्यता में भाषा का प्रयोग लिपि के विकास के बहुत पहले से होने लगा था। मेसोपोटामिया (प्राचीन ईराक) में क्यूनीफॉर्म लिपि का आविष्कार 3400 सा.सं.पू. तथा मिस्र के हायरोग्लिफ़िक्स लिपि का आविष्कार 3100 सा.सं.पू. में हो चुका था। भारतीय उपमहाद्वीप में किसी प्रकार की लिपि का प्राचीनतम प्रमाण हड़प्पा सभ्यता से जुड़ा हुआ है, जिसकी तिथि अब तक 2600 सा.सं.पू. मानी जाती रही है, किंतु अद्यतन अध्ययनों से इस तिथि को प्रायः चौथे सहस्राब्दि के दूसरे चरण तक पीछे ले जाने के प्रमाण मिल रहे हैं। मेसोपोटामिया की लिपि सामान्यतः उस काल में गिली मिट्टी के बने टैबलेट (पट्टल) पर उत्कीर्ण है, जबकि प्राचीन मिश्रवासियों ने सरकंडे से बने पेपिरस पत्रों का (शीट) का प्रयोग किया। हड़प्पावासियों की लिपि अधिकांशतः मुहर एवं मुहरबंदों पर अंकित की गई। फिर भी ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इनके लेखन से जुड़े जो प्रमाण आज हमारे पास उपलब्ध हैं, उनके अतिरिक्त इन लोगों ने ऐसी वस्तुओं का भी प्रयोग किया होगा, जो कालांतर में नष्ट हो गए। वस्तुतः लेखन कला के विकास ने मानवीय अभिव्यक्ति और संवाद की दृष्टि से एक नए युग का सूत्रपात किया। इसके द्वारा विचार एवं ज्ञान के संग्रह एवं हस्तांतरण की असीम संभावनाएं उत्पन्न हो गईं। शासक वर्ग ने लेखन का उपयोग अपनी शक्ति के विस्तार के लिए, व्यवसायी वर्ग ने व्यापारिक आदान-प्रदान का ब्यौरा करने के लिए, पुरोहित वर्ग ने अपने धार्मिक ग्रंथों के संरक्षण के लिए तथा रचनाकारों ने अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति को सदा के लिए संजो कर रखने के लिए किया। लेखन कला के विकास के पीछे अतीत के लोगों के समक्ष जो आवश्यकताएं रही होंगी–उनके विषय में हम केवल अनुमान लगा सकते हैं, किंतु विश्वभर में लेखन कला का विकास नगरों और राज्यों के उद्भव और विकास से अन्योन्याश्रय रूप से जुड़ा मालूम पड़ता है। यही कारण है कि इतिहासकार लेखन कला के उद्भव को प्राचीन संस्कृतियों के विकास के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

स्वाभाविक है कि वैसी परिस्थिति में सभी लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, लेखन की जानकारी रखने वाले लोग उनसे अधिक प्रभावी होते होंगे, जिन्हें इसकी जानकारी नहीं थी। इसके अतिरिक्त यह भी एक सच है कि लेखन कला के आविष्कार से मौखिक परंपरा के अंत होने का बोध नहीं होता है। बल्कि बहुत-सी सांस्कृतिक परंपराओं में इसका महत्त्व विशेष रूप से बना रहा, तथा पाण्डुलिपियों की लोकप्रियता के पश्चात् भी यह महत्त्व यथावत बना रहा। इन पाण्डुलिपियों का मौखिक संस्करण कई परिस्थितियों में अधिक लोकप्रिय तथा जनसुलभ माध्यम बना रहा।

इतिहासकारों के लिए लेखन की शुरुआत विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि लिखित प्रमाण इतिहास में निश्चित रूप से अधिक मान्यता है। फिर भी लिखित इतिहास मानव अतीत के एक अल्प अवधि का ही इतिहास प्रस्तुत

करता है। पूर्व इतिहास या लेखन कला के उद्‌भव के पहले का काल, पूर्व-साक्षर मानव सभ्यता के इतिहास को समझना भी हमारे लिए आवश्यक है। यह भी सच है कि लिखित स्रोत के साथ-साथ पुरातात्त्विक स्रोत का इतिहास में अपना स्थान है।

भारतीय उपमहाद्वीप के संदर्भ में लिखित परंपरा का प्रश्न कुछ जटिल हो जाता है। हड़प्पावासी साक्षर थे, किंतु उनकी लिपि को अभी तक नहीं पढ़ा जा सका है। इतिहासकार हड़प्पा के सम्बंध में अध्ययन के लिए इसका उपयोग नहीं कर सकते। दूसरा रहस्य है कि 19वीं शताब्दी सा.सं.पू. में हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद का उपयोग नश्वर माध्यमों पर करते रहे हों, किंतु 19वीं शताब्दी सा.सं.पू. से प्रायः चौथी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच किसी भी लिपि का हमारे पास कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार हड़प्पा लिपि उपमहाद्वीप की प्राचीनतम लिपि अवश्य है किंतु ब्रह्मी हमारी पढ़ी जा सकने वाली प्राचीनतम लिपि है, जो हमारे लिए चौथी सदी सा.सं.पू. से उपलब्ध है तथा दोनों लिपियों में कोई विशेष साम्य भी नहीं सिद्ध होता है।

हड़प्पा मुहर पर अंकित लिपि; मिस्त्र की चित्रलिपि; मेसोपोटामिया का कीलाक्षर

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के संदर्भ में पूर्व-इतिहास और इतिहास के बीच की सीमा रेखा खींचना कठिन है और इसलिए आद्य-इतिहास (प्रोटो-हिस्ट्री) की शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। यूरोपीय संदर्भ में प्रोटो-हिस्ट्री का अन्यथा भी प्रयोग किया गया है। वैसे समुदायों के विषय में भी इसका उपयोग किया जाता है, जो स्वयं तो लिपि का प्रयोग नहीं करते थे, किंतु उन समुदायों का संदर्भ साक्षर समुदायों की लिपि में आता रहा। भारतीय उपमहाद्वीप के लिए इसका प्रयोग हड़प्पावासियों के लिए किया गया, जो साक्षर संस्कृति तो थी, किंतु उनकी लिपि को पढ़ा नहीं जा सकता। इस शताब्दी को ल. 1500-500 सा.सं.पू. के बीच वैदिक संस्कृति के संदर्भ में भी प्रयुक्त किया गया है, जिनके साहित्य को भौतिक परंपरा में संरक्षित रखा गया है, किंतु उन्होंने किसी लिपि का प्रयोग नहीं किया। पुरातत्त्व में प्रोटो-हिस्ट्री का प्रयोग खाद्यान्न उत्पादन की शुरुआत से लेकर लौह युग के आरंभ होने तक के लंबे समय के लिए भी होता है। इस लंबे समय के अंतर्गत भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में पनपी नवपाषाण और ताम्रपाषाण संस्कृतियां भी आती हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप के विशाल भौगोलिक संदर्भ में स्वाभाविक रूप से लिपि की शुरुआत में समरूपता नहीं रही है। साक्षर हड़प्पावासियों के काल की बहुत-सी संस्कृतियां साक्षर नहीं थी। लिपि के पढ़े जाने के आधार पर उत्तरी भारत का इतिहास युग चौथी शताब्दी सा.सं.पू. माना जा सकता है। फिर भी ऐसा स्वीकार किया जाता है कि लिपि युग का प्रारंभ छठीं शताब्दी सा.सं.पू. में ही हुआ था, किंतु दो सौ वर्षों तक सामान्य रूप से नश्वर माध्यमों का उपयोग किया जाता रहा। इन शताब्दियों के शासकों तथा दार्शनिकों की सूची उत्तर-भारत के लिए उपलब्ध है। जबकि चौथी शताब्दी सा.सं.पू. में श्रीलंका के अनुराधापुर से ब्राह्मी अभिलेख मिलते हैं तथा दूसरी सदी सा.सं.पू. में तमिल-ब्राह्मी अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार चौथी तथा दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच संगम साहित्य में प्रतिबिम्बित राजनैतिक इतिहास के द्वारा दक्षिण भारत में ऐतिहासिक काल के आगमन के प्रमाण मिलते हैं। ऐसा संभव है कि जब हड़प्पा लिपि को प्रामाणिक रूप से पढ़ लिया जाएगा तब उत्तर भारत में ऐतिहासिक काल की शुरुआत तीसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. या उससे भी पहले मान लिया जा सकेगा।

प्रारंभिक भारतीय इतिहास की बदलती व्याख्याएं

(Changing Interpretations of Early Indian History)

प्राचीन तथा पूर्वमध्ययुगीन भारत के इतिहास लेखन में समय के साथ बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, जिनको बदलते हुए राजनीतिक तथा भौतिक संदर्भों के साथ समझा जा सकता है, जिनमें ऐसे परिवर्तन फलीभूत हुए। इतिहास लेखन की विभिन्न परंपराओं को अत्यंत सरलीकृत रूप में देखने की परिपाटी बन गयी है, जबकि इतिहास लेखन की सभी विधाएं एक जटिल चित्र प्रस्तुत करती हैं। किसी एक ही प्रकार की इतिहास लेखन परंपरा के अंतर्गत बहुत-सी विविधताएं देखी जा सकती है तथा जिनमें से कुछ का परस्पर विरोध के बाद भी सह-अस्तित्व

रहता है। इनमें से बहुत सारे इतिहास लेखन को किसी विशिष्ट परंपरा के अधीन सुनियोजित करना भी संभव नहीं होता है।

18वीं-19वीं शताब्दी के लेखन में यूरोपीय विद्वानों का वर्चस्व रहा, जिन्हें लोकप्रिय अर्थों में ओरिएंटलिस्ट (प्राच्यवादी) अथवा इंडोलॉजिस्ट (भारतविद) कहा जाता है, जबकि ये स्वयं को एंटीक्वेरियन (पुरातनिक) कहलाना पसंद करते हैं। इनमें से अधिकांश ईस्ट इंडिया कंपनी के और बाद में भारत के ब्रिटिश सरकार के मुलाजिम थे। सन् 1789 में एशियैटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के बनने के बाद भारतीय अतीत के विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययन में संलग्न एक उत्कृष्ट मंच मिल गया। इन भारतविदों का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान प्राचीन भारतीय पाठों के संग्रह, संपादन एवं अनुवाद से जुड़ा हुआ है। इस क्रम में अपनी सूचनाओं के लिए स्वाभाविक रूप से ये 'देसी सूचनादाताओं' पर निर्भर थे, किंतु उनके विषय में इन्होंने अधिक जिक्र करना अहम नहीं समझा। इंडोलॉजी कालांतर में ब्रिटिश साम्राज्य की परिधि से बाहर यूरोपीय विश्वविद्यालय में भी अध्ययन के विषय के रूप में स्थापित होने लगी।

प्राचीन पाठों के अध्ययन के अतिरिक्त 19वीं शताब्दी में **पुरातत्त्व,** सिक्के तथा अभिलेखों का अध्ययन, कला एवं स्थापत्य कला का अध्ययन भी होने लगा। अशोक के **ब्राह्मी** एवं **खरोष्ठी** लिपियों का पढ़ा जाना, इस दिशा में विशेष महत्त्व की घटनाएं थीं। प्राचीन सिक्कों के विश्लेषण से राजनैतिक इतिहास के निर्माण में बहुत सहायता मिली। भू-गर्भीय सर्वेक्षण विभाग के अफसरों द्वारा पूर्व ऐतिहासिक पत्थर के औज़ारों की खोज में भारतीय पूर्व इतिहास की नींव रखी गयी। सन् 1871 में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की स्थापना हुई और आने वाले वर्षों में भारतीय अतीत के भौतिक अवशेषों को खोजने और उनको विश्लेषित करने में उनकी महती भूमिका रही है।

आर.सी. मजुमदार (1888-1980) राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के एक अग्रणी इतिहासकार

18वीं-19वीं शताब्दी की इन उपलब्धियों की जड़ें अनिवार्य रूप से औपनिवेशिक उद्देश्यों से जुड़ी हुई थीं, जिनकी पुष्टि इस काल के भारत सम्बंधी लेखन के चरित्र से होने लगती है। इन लेखनों में प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के ब्राह्मणवादी स्वरूप को अधिक महत्त्व दिया गया। सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं एवं परंपराओं को पश्चिमवादी दृष्टिकोण से आंका गया। भारतीय समाज को एक गतिहीन, रुके हुए संदर्भ में देखा गया। सदियों से यहां की राजनीतिक व्यवस्थाओं को निरंकुशवाद पर आधारित बताया गया। नस्ल, धर्म एवं जातिगत संस्थाओं को एक-दूसरे से मिला दिया गया तथा प्राचीन भारत पर विदेशी प्रभाव को आवश्यकता से अधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाने का प्रयास किया गया। यही वह काल था, जब भारतीय अतीत के अध्ययन के लिए हिन्दू, मुस्लिम तथा ब्रिटिश कालों की संज्ञा दी गई।

इसी बीच 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतीय विद्वानों का एक नया वर्ग उभरकर सामने आया, जिन्होंने प्राचीन भारत के विषय में अपना आख्यान प्रस्तुत किया। दरअसल, विद्वानों की यह श्रेणी उभरते हुए राष्ट्रीय आंदोलन की उपज थी, अतः इनको राष्ट्रवादी इतिहासकारों की श्रेणी में रखा जाता है। इन इतिहासकारों ने भी पाठ्यात्मक, अभिलेखीय तथा अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों को जोड़कर प्राचीन भारतीय इतिहास के विषय में एक समृद्ध परंपरा की शुरुआत की। विशेष रूप से राजनीतिक इतिहास की पुनर्रचना में इसका अधिक योगदान रहा। दक्षिण भारत के इतिहास को भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से पहली बार जोड़ा गया तथा क्षेत्रीय राजनीतिक ईकाईयों का अध्ययन विकसित हुआ।

इन इतिहासकारों ने भारत के महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विकास के स्थानीय जड़ों को मजबूती से सिद्ध करने का प्रयास किया, जो दरअसल इनके राष्ट्रवादी लेखन के प्रति कटिबद्धता का द्योतक है। स्वर्णयुगों की तलाश पुनः इनके लेखन के इस तथ्य को दृढ़ करती है। वैदिक काल और गुप्त साम्राज्य के संदर्भ में ये बातें और स्पष्ट हो जाती हैं। इन्होंने भारत के प्राचीन गणतंत्रों और जनतांत्रिक शासन प्रणालियों के अध्ययन के द्वारा प्राच्यवादियों के उन मान्यताओं का विरोध किया कि भारत में सदा से निरंकुशवादी सरकारें रहीं हैं। हालांकि, इनके द्वारा भी भारतीय इतिहास को हिन्दू, मुस्लिम तथा ब्रिटिश कालों में बांटा गया। इसके पीछे इनका उद्देश्य था कि हिन्दू काल को गरिमामंडित किया जा सके और तुर्कों के आगमन को एक अभिशाप एवं त्रासदी के रूप में देखा जाए।

वर्ष 1950 के दशक में मार्क्सवादी इतिहास लेखन का उदय हुआ, जिनकी प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन में सबसे प्रभावशाली भूमिका रही। मार्क्सवादी

इतिहास लेखन की ही दूरगामी उपलब्धि रही कि भारतीय इतिहास को घटनाओं पर केंद्रित राजनीतिक आख्यान की परिपाटी से सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं के अध्ययन की तरफ मोड़ा जा सका, विशेषकर वर्ग विभाजन और कृषि सम्बंधों की चर्चा को यथोचित स्थान मिल सका। मार्क्सवादी इतिहास लेखन की दूसरी उपलब्धि यह रही कि सदियों से दबे-कुचले समुदायों को भी इतिहास ने अपने अध्ययन के दायरे में लिया।

किंतु मार्क्सवादी इतिहास की इन महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप एवं योगदान के बावजूद इन्होंने पश्चिमी इतिहास तथा मानवशास्त्र में प्रचलित अध्ययन के एक रेखीय प्रारूपों मापदंड को अधिक तरजीह दी। पाठ्यात्मक स्रोतों का कई बार सतही विश्लेषण करते हुए उनके तिथि निर्धारण तथा संदर्भों को गौण कर दिया गया। पुरातात्त्विक स्रोतों का उपयोग किया गया, किंतु पाठ्यात्मक स्रोतों को ही विश्लेषण के केंद्र में रखा गया। सामाजिक संरचना की जाति और लिंगभेद की अपेक्षा वर्ग विभाजन पर ज़ोर दिया गया। धर्म और संस्कृति गौण हो गए अथवा सामाजिक आर्थिक प्रक्रियाओं के प्रतिबिम्ब के रूप में स्थान पा सके।

इन इतिहास लेखन परंपराओं में महत्त्वपूर्ण भिन्नता के साथ-साथ कुछ समानताएं भी हैं - जैसे ब्राह्मणवादी संस्कृत ग्रंथों पर ज़ोर देना और पुरातात्त्विक स्रोतों की तरफ कम ध्यान देना। और इन परंपराओं के कुछ तत्त्व आज भी मौजूद हैं। प्राच्यवादी इतिहास लेखन की बहुत सारी मौलिक प्रावधानों का प्रयोग भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में अभी भी होता है जो एकाधिक दृष्टि से 'यूरोसेन्ट्रिक' (यूरोपीयन दृष्टि से देखने की आदत) हैं। दूसरी ओर प्राचीन और पूर्व मध्ययुगीन भारतीय अतीत को अभी भी राष्ट्रवादी तथा साम्प्रदायिक उद्देश्यों के प्रभाव से देखा जाता है। मार्क्सवादी इतिहास लेखन का प्रभाव कुछ हद तक अभी भी है।

विगत 50 वर्षों के ऐतिहासिक शोध से संबंधित अन्य विशेषताओं को भी चिन्हित किया जा सकता है। इस दौरान नए सैद्धांतिक संदर्भ, विज्ञान एवं तकनीकी का प्रयोग तथा लगातार उपलब्ध होते पुरातात्त्विक सूचनाओं को रेखांकित किया जा सकता है। ऐतिहासिक सूचनाओं के इस बदलते परिप्रेक्ष्य में अतीत के जीवन-निर्वाह की पद्धतियों, मानवीय अंर्तसम्बंध से सम्बद्ध ज्ञान तथा उस काल के पर्यावरण और तकनीकी के विषय में बहुत कुछ जोड़ा जा सका। पुरा पर्यावरण अध्ययनों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के बदलते पारिस्थितिकी में हुए विविध परिवर्तन और उनका मानव जीवन पर प्रभाव, ऐसे विषयों की समझ बढ़ी है। अभिलेखागार में संग्रहित सामग्री का व्यापक उपयोग हुआ है, जिनसे संस्थाओं और विचारों के विषय में विशद् विवेचना संभव हो सकी है। अब 'प्राचीन' तथा 'आधुनिक' इतिहास जैसे बड़े विभागों के बीच की दूरी सिमटने लगी है। इस दिशा में प्राचीन धरोहरों के आधुनिक इतिहास का अध्ययन करना अच्छा प्रयोग कहा जा सकता है।

डी.डी. कोसाम्बी (1907-1966) मार्क्सवादी इतिहास लेखन के एक अग्रणी इतिहासकार

इतिहासकारों (विशेषतः स्त्रियों) के एक छोटे से दल द्वारा किए गए शोधों, खासकर लिंगभेद सम्बंधों से जुड़े प्रश्नों पर किए गए शोधों ने आरंभिक भारतीय सामाजिक इतिहास की सीमाओं को बृहत रूप से बदल डाला है। ऐसे विशिष्ट इतिहास लेखन का उद्देश्य इतिहास में स्त्री के महत्त्व को मात्र पुनर्स्थापित करना नहीं है। इन्होंने समाज में 'नारी की स्थिति' के पारंपरिक चित्रण से अलग हटकर कुछ क्रांतिकारी प्रश्नों के उत्तर ढूंढने का प्रयास किया। नारीवादी इतिहासलेखन के प्रयासों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि उन्होंने लिंग भेद और वर्ग, जाति तथा राजनीतिक शक्ति पर आधारित सामाजिक वर्गीकरण के बीच सम्बंध स्थापित किया।

पूर्व मध्यकालीन इतिहास लेखन में नई दिशा के रूप में विभिन्न क्षेत्रों और उपक्षेत्रों के बदलते हुए ऐतिहासिक परिदृश्य का अध्ययन सम्मिलित है। अभिलेखीय साक्ष्यों एवं पाठ्यात्मक स्रोतों के पुनर्विश्लेषण के द्वारा राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संरचना में हुए परिवर्तन को चिन्हित किया जा सका है तथा क्षेत्रीय इतिहास लेखन परम्परा की नींव रखी गयी। कृषि सम्बंधों और राजनीतिक शक्ति के वैधानिकीकरण के बीच विशेष ध्यान दिया गया। इसी संदर्भ में पूर्वमध्ययुगीन भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों का विविधतापूर्ण ऐतिहासिक पुरावलोकन संभव हो सका है।

इतिहास लेखन के पुराने और नए सैद्धांतिक और वैचारिक धारणाओं के महत्त्व और सीमाओं का विश्लेषण प्राचीन तथा पूर्वमध्ययुगीन इतिहास की दृष्टि से दोनों का महत्त्व है।

फिर भी, भविष्य में इतिहास लेखन की दिशा उन तथ्यों पर निर्भर करेगी, जब वर्तमान में उपलब्ध इतिहास लेखन के उपादानों से इतर नए-नए प्रश्न उठाए जाएंगे और नए वैचारिक एवं सैद्धांतिक अवधारणाओं का सृजन किया जा सकेगा।

नवीन इतिहास लेखन और अलिखित इतिहास

(New Histories, Unwritten Histories)

इतिहास सिर्फ एक कथा नहीं है, बल्कि बहुत सारी कथाओं का संकलन है, जिसमें सिर्फ कुछ ही अभी तक लिखी जा सकी हैं। हमारी चुनौती यह है कि अभी तक जो लिखी जा चुकी हैं, उससे आगे कैसे बढ़ा जाए। प्राचीन दक्षिण एशिया का इतिहास वर्तमान में दो मुख्य समांतर चलने वाले स्रोतों का दर्पण है– पहला पाठ्यात्मक स्रोतों पर आधारित है और दूसरा पुरातात्त्विक स्रोतों पर आधारित है। किंतु पाठ्यात्मक और पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर किए गए विश्लेषण बहुत अलग-अलग ऐतिहासिक निष्कर्षों को जन्म देते हैं, जिससे सांस्कृतिक निरंतरता और परिवर्तन की बिल्कुल पृथक धारणाएं सामने आती हैं। सामान्यतः इतिहासकारों के द्वारा केवल उन चयनित पुरातात्त्विक स्रोतों का उपयोग किया जाता है, जो उनके द्वारा साहित्यिक स्रोतों की परिकल्पित व्याख्या को सिद्ध करने में सहायक होते हैं। दूसरी ओर पुरातत्त्वविदों के द्वारा उनके पास उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों को उनके विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में स्थापित नहीं किया जा सका है। पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों के बीच बनाए गए सम्बंध अत्यंत सरलीकृत प्रतीत होते हैं, जिनमें प्रयुक्त शोध प्रविधि की कमियों को स्पष्ट रूप से महसूस किया जा सकता है। इसलिए दोनों स्रोतों में अंतर्निहित विषमताओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। ताकि यह संभव हो सके कि पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों का समेकित रूप से प्रयोग हो अथवा कम से कम उनके बीच एक सानिध्य की स्थापना की जा सके। इतिहास की उस प्रचलित परिपाटी को बदलने की आवश्यकता है, जिसके तहत साहित्यिक स्रोतों को बहुधा स्वयं-सिद्ध मानकर स्वीकार कर लिया जाता है।

पाठ्यात्मक स्रोतों से आत्म-सिद्ध 'तथ्यों' को चुनकर निकालने की पुरानी परंपरा की जगह अब एक ऐसी विधि की जरूरत है, जो शैली, संरचना और लय के प्रति अधिक सचेत हो। विगत वर्षों में जिस गति से पुरातात्त्विक साक्ष्यों की उपलब्धता बढ़ रही है, अब ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक वृतांतों का केवल साहित्य-केंद्रित होना संभव नहीं रह सकेगा। पाठ्यात्मक स्रोतों का विश्लेषण ठोस पुरातात्त्विक साक्ष्यों के द्वारा समर्थित होना एक अनिवार्य शर्त बन जाएगी। तभी प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन संबंधित हो सकेगा। इसके द्वारा क्षेत्रीय इतिहासों से जुड़ी हुई सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को उनकी विविधताओं तथा जटिलताओं के साथ समझा जा सकेगा तथा सामान्य जनजीवन की जीवनशैली के विषय में भी अनुमान लगाना संभव हो सकेगा।

प्राचीन भारतीय इतिहासों को उपमहाद्वीप के क्षेत्रीय विविधताओं एवं समुदायों का भी प्रतिनिधित्व करना चाहिए। जहां एक ओर बड़े साम्राज्यों एवं राजघरानों का आख्यान तो हमारे पास पर्याप्त रूप से उपलब्ध है, वहीं दूसरी ओर उत्तर-पूर्वी प्रांतों का क्षेत्रीय इतिहास सामान्य अवलोकन की दृष्टि से बिल्कुल अछूता सा रहा है। ऐसे अवर्णित क्षेत्रों को इतिहास के दायरे में लाना होगा। इतिहास के दायरे को विस्तृत करने के लिए सदियों से दबे-कुचले समाजों का इतिहास भी लिखना होगा, जिसमें उपेक्षित जातियां-जनजातियां और कृषक-मजदूर जैसे समुदायों के अतीत को जोड़ना अनिवार्य है। हालांकि, ऐसा करना आसान नहीं है, क्योंकि इतिहासकारों के पास उपलब्ध सामग्री का अधिकांश हिस्सा अपेक्षाकृत समृद्ध समुदायों के द्वारा चिन्हित किया गया है, जो उनके विचार और रुचि से प्रभावित हैं। फिर भी प्राचीन भारतीय इतिहास के विवरणों में अब तक के इतिहास में स्थान पाने में वंचित लोगों के इतिहास का भी समावेश करना होगा। वृहद् समाजिक इतिहास के दायरे में लिंग-भेद, परिवार तथा गृहस्थियों से जुड़े अनुसंधानों को और आगे ले जाना होगा। परिवार, वर्ग, वर्ण और जाति जैसी संस्थाओं को वृहद् आख्यानों की दृष्टि से समझने की आवश्यकता होगी। तभी हमारी सामाजिक अस्मिता के समय के साथ बदलते स्वरों की विवेचना की जा सकेगी।

भारत की जटिल और विविध सांस्कृतिक परपंराओं पर ध्यान देना भी आवश्यक है। यह आश्चर्य का विषय है कि जहां एक ओर दक्षिण एशियाई अध्ययनों, धार्मिक अध्ययनों तथा कला इतिहास के अध्ययनों में विदेशियों ने इस दिशा में बहुत काम किया है, जबकि भारतीय इतिहास लेखन की मुख्य धारा में एक लंबे काल से इसकी उपेक्षा की गई है। भारतीय इतिहासकारों ने धार्मिक संप्रदायों एवं परंपराओं की प्रभुत्वशाली सामाजिक एवं राजनीतिक संरचनाओं की विचारधारा के रूप में चिन्हित करने का प्रयास किया है। फिर भी इस तथ्य को स्वीकार किया जाना चाहिए कि बहुत से धार्मिक संप्रदायों के विचार और व्यवहार अपने आप में ऐतिहासिक अनुसंधान के पृथक विषय बनने के योग्य हैं। यही बात भारतीय अतीत के साहित्य कला और स्थापत्य के रचनात्मक आयामों के विषय में भी खरी उतरती है।

भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास को पूर्वी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के इतिहास से भी पूर्ण रूप से पृथक कर नहीं देखा जा सकता। व्यवसायिक मार्गों के महत्त्व को समझने के अतिरिक्त एशिया के विभिन्न भागों के बीच हुए सांस्कृतिक आदान-प्रदान की जटिलताओं का भी अध्ययन किया जाना उतना ही प्रासांगिक होगा। ऐसे आदान-प्रदान के विषय में पाठ्यात्मक प्रमाण तो हैं ही, किंतु अभिलेख, मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

इतिहास और अस्मिताओं के बीच निकट सम्बंध होता है, इसलिए अतीन हमेशा से विवादास्पद धरातल रहा है। वर्तमान में भारतीय अतीत को राजनीतिक स्वार्थ एवं दुष्प्रचार के उद्देश्य से भी देखने की परिपाटी बन गई है। राजनीतिक शक्तियां स्कूलों के पाठ्यक्रम में अपने अनुकूल राजनीतिक उद्देश्यों से इतिहास की विकृत पुनर्व्याख्या करने की प्रबल चेष्टा कर रही हैं। इतिहास के विद्वतापूर्ण लेखन पर विभिन्न समुदायों के द्वारा अपनी दृष्टि से आपत्तियां की जा रही हैं। ऐसे सांप्रदायिक और असहिष्णुता के वातावरण में राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अतीत की विसंगतिपूर्ण व्याख्या एवं प्रदूषण की संभावना बहुत बढ़ गई है। ऐतिहासिक संकल्पनाओं एवं अवधारणाओं की सार्थकता प्रामाणिकता के स्थान पर राजनीतिक परिणामों को दृष्टि में रखकर आंकी जा रही है। वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन को महत्त्व देने वाले इतिहासकारों की भर्त्सना की जा रही है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इतिहास को एक ऐसे उदारवादी बौद्धिक वातावरण की अत्यावश्यकता है, जिसमें तर्क, संवाद और सभ्य बहस के प्रति सम्मान हो।

आजकल चल रही अस्मिता की राजनीति में अपनी भूमिका के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय इतिहास को अक्सर सुदूर स्थित, मुश्किल से समझ में आने वाले ऐसे विषय के रूप में देखा जाता है, जिसका हमारे समय और समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन यदि हम गौर से देखें तो हम पाते हैं कि वर्तमान के बहुत सारे सामाजिक व्यवहार, संस्थाएं और वैचारिक परिदृश्य की जड़ें उसी अतीत से जुड़ी हुई हैं। परन्तु इनसे और भी रोचक वह चीज़ें हैं, जो हमारे वर्तमान से पूर्णतया अलग हैं। इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका यह है कि वह लोगों को ऐतिहासिकता की दृष्टि से सोचना, समझना सिखा सकती है। इतिहास यह बतलाता है कि मानवीय अनुभव विविधताओं एवं जटिलताओं से ओत-प्रोत है। यह अतीत और वर्तमान के बीच निरंतरता और परिवर्तन को समझने का सेतु भी है। इन सबसे भी ऊपर इतिहास की कथाएं अपने आप में रोचक हैं एवं रोमांच से परिपूर्ण हैं। इतिहास लिखने-पढ़ने के लिए यह सत्य काफी है।

अध्याय 1

पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों की व्याख्या

अध्याय संरचना

महत्त्वाकांक्षी साहित्यकार और विद्वान एवं कश्मीर के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में जन्मे कल्हण नाम के व्यक्ति ने 1148 सा.सं. में एक ग्रंथ की रचना आरम्भ की। इनके पिता चनपक एक समय राजपरिवार से काफी निकट हुआ करते थे किन्तु कल्हण के जन्म के समय तक उनका परिवार राजकृपा से वंचित हो चुका था। कल्हण ने दो वर्षों के अथक परिश्रम के बाद पाण्डुलिपियों, शिलालेखों, सिक्कों, स्मारकों तथा स्थानीय परम्पराओं का अध्ययन किया। उन्होंने अपने परिवार के राजनीतिक अनुभव तथा अपने जीवन काल में घटित घटनाओं की विवेचना, अपने ग्रंथ में की। उनका ग्रंथ 1150 सा.सं. में पूरा हुआ जिसका नाम *राजतरंगिणी* ('राजाओं की नदी') रखा गया। ग्रंथ में आठ सर्ग थे जिन्हें तरंगों की संज्ञा दी गई। कश्मीर के प्रारम्भिक अतीत से जुड़े मिथकीय शासकों से लेकर 12वीं सदी के ऐतिहासिक शासकों का वर्णन इस ग्रंथ में है।

कल्हण की गिनती भारत के प्रथम इतिहासकार के रूप में की जाती है। *राजतरंगिणी* में उन्होंने लिखा है कि, जो व्यक्ति अतीत की घटनाओं को लिपिबद्ध करता है, उसे न्यायाधीश की तरह किसी भी पूर्वाग्रह से मुक्त होना चाहिए। किन्तु इस ग्रंथ में यथार्थ और प्रमाण के बीच भेद नहीं किया गया है, घटनाओं के कारणों की व्याख्या कई बार नियति के आधार पर की गई है। इसमें आश्चर्य नहीं है क्योंकि 12वीं सदी के कल्हण जैसे इतिहासकारों की दृष्टि तथा आज के इतिहासकारों की दृष्टि में फर्क होना स्वाभाविक है। फिर कल्हण ने स्वयं को एक दक्ष कवि के रूप में अभिव्यक्त किया है जो अतीत की घटनाओं का जीवंत चित्रण कर सकता है। उन्होंने कश्मीर की प्राकृतिक सुन्दरता का, गर्व और भावना के साथ, सजीव वर्णन किया है, जीवन चरित्रों का उल्लेख किया है तथा राजनीतिक घटनाओं का नाटकीय प्रस्तुतिकरण किया है।

वर्तमान की तरह अतीत की भी अपनी जटिलताएँ हैं, और इसे देखने का एकाधिक दृष्टिकोण भी हो सकता है। कोई भी इतिहास अपने आप में सम्पूर्ण और अंतिम इतिहास नहीं हो सकता। अतीत में जो कुछ भी हुआ उसका बिलकुल वैसा ही चित्रण करना असंभव है। इसलिए इतिहासकार का इतना ही दायित्व होता है कि वह अतीत का निकटतम चित्रण प्रस्तुत कर सके। इतिहास के विश्लेषण में उपलब्ध स्रोतों का सावधानी पूर्वक परीक्षण, नूतन साक्ष्यों की खोज तथा ऐतिहासिक आँकड़ों की व्याख्या के लिए नवीन दृष्टि और सन्दर्भों का सृजन, सभी कुछ सम्मिलित होता है। इतिहास के विश्लेषण में जहां नए-नए प्रश्न उठाए जाते हैं, वहीं पुराने प्रश्नों के नए-नए उत्तर भी ढूँढ़े जाते हैं। ज्ञान की सभी विधाओं में बहस और अस्वीकृति का बहुत महत्त्व होता है और इतिहास इसका अपवाद नहीं हो सकता।

सभी प्रकार की ऐतिहासिक व्याख्याएँ अन्ततः ऐतिहासिक स्रोतों से प्राप्त प्रमाणों पर आधारित होती हैं जिन्हें दो श्रेणियों में बांटने की परिपाटी चली आ रही है—पाठ्यात्मक और पुरातात्त्विक। एक इतिहासकार की दृष्टि से लघु अथवा बृहद्, लिखित अथवा मौखिक सभी प्रकार की रचनाएं पाठ्यात्मक श्रेणी के स्रोतों में आती हैं जबकि पुरातात्त्विक स्रोतों के अन्तर्गत सभी प्रकार के भौतिक अवशेष आते हैं। किन्तु इस प्रकार का कोई भी विभाजन अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकता। दरअसल, अतीत के सभी पाठ्यात्मक अवशेष अपनी प्रकृति से भौतिक प्रमाण की ही श्रेणी में आते हैं। दूसरी ओर पुरातात्त्विक श्रेणियों में उस प्रकार के स्रोत आते हैं जिन पर कुछ लिखा होता है, यथा—अभिलेख, सिक्के या उत्कीर्ण प्रतिमाएँ। फिर भी इनको भौतिक अवशेष तथा पाठ्यात्मक स्रोत दोनों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय तथा पूर्व मध्ययुगीन भारतीय इतिहास का निर्माण, इतिहासकारों ने किस प्रकार विभिन्न स्रोतों का उपयोग करके किया है, उसकी समझ इस पुस्तक को पढ़ने के क्रम में पाठक को होती चली जाएगी। इस अध्याय में सभी महत्त्वपूर्ण स्रोतों का एक विहंगमावलोकन प्रस्तुत किया जा रहा है, तथा उनसे जुड़ी सामान्य विशेषताओं को रेखांकित किया जा रहा है। महत्त्वपूर्ण पहलुओं को समझने तथा अतीत के झरोखों में झांकने के लिए ये अध्याय अनुकरणीय है।

◄ **प्रज्ञापरामिता की 12वीं सदी की एक पाण्डुलिपि**

इतिहास के दृष्टिकोण से प्राचीन पाठों का अध्ययन

(Reading Ancient Texts from a Historical Point of View)

सभी पाठ्यात्मक कृतियों का सम्बंध उनके अपने विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ से होता है। उस विशेष संदर्भ में ही उनका सृजन होता है अथवा उनका प्रचार-प्रसार होता है। समान्यत: कोई भी प्राचीन कृति अपने समय के सामाजिक परिवेश को प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित नहीं करती। उसमें अतीत का एक जटिल प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। ऐसी रचनाओं में से ऐतिहासिक अनुमानों को सावधानीपूर्वक संश्लेषित करना इतिहासकार का दायित्व होता है क्योंकि अधिकांशत: प्राचीन धार्मिक साहित्य सोच्चारण पाठ के लिए बनाए गए थे जिनका वाचन-श्रवण के अतिरिक्त कर्मकाण्डीय उपयोग था। मौखिक परम्परा के माध्यम से इन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता रहा। वस्तुत: ऐसी परम्परा तब भी बनी रही जब इनकी लिखित पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होने लगी थीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से किसी भी पाठ्यात्मक स्रोत को विभिन्न प्रकार से पढ़ा जा सकता है। किन्तु ऐसा करते समय कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक होता है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु रचना की तिथि का निर्णय और उसके रचनाकार की पहचान करना होता है क्योंकि अधिकांश प्राचीन रचनाओं का काल उनकी उपलब्ध पाण्डुलिपियों से कहीं अधिक पुराना होता है और अपने आप में उनका एक पृथक जीवनवृत्त होता है। समय के साथ उनमें विकास और बदलाव आता है। विकास और परिवर्तन की यह प्रक्रिया कई बार सैकड़ों वर्षों तक चलती है, तब कहीं जाकर उनको अपेक्षाकृत स्थायी रूप दिया जाता है तथा वे अपना अंतिम स्वरूप ग्रहण कर पाती हैं। किसी भी पाठ्यात्मक स्रोत को ऐतिहासिक सूचना के रूप में, उसी काल के स्रोत के रूप में देखा जा सकता है, जिस काल में उसकी रचना की गई है। किन्तु यदि रचना की अवधि बहुत लम्बी रही हो तो उसमें अन्तर्निहित तिथिक्रम के विभिन्न परतों को तथा उनमें जुड़े बाद के घटकों को चिन्हित करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करना बहुत कठिन है, क्योंकि इसके लिए रचना की भाषा-शैली और विषय वस्तु का गहन विश्लेषण करना आवश्यक है। ऐसे बहुत सारे पाठ्यात्मक स्रोतों पर गहन अन्वेषण के बाद एक आलोचनात्मक प्रकाशन अन्ततः संभव हो पाता है, जिन्हें हम आलोचनात्मक संस्करण ('क्रिटिकल एडिशन') की संज्ञा देते हैं। ऐसे आलोचनात्मक संस्करणों के साथ कुछ सहायक उपस्कर भी उपलब्ध कराए जाते हैं, जिन्हें 'क्रिटिकल एपरेटस' कहते हैं। एक आलोचनात्मक संस्करण को रचना की सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियों का अन्वेषण करने के पश्चात् ही मूल पाठ्य की पहचान संभव हो सकती है। इनके साथ उपलब्ध ग्रंथ के विभिन्न सहायक उपस्कर पाण्डुलिपियों में विद्यमान तथ्यों के अतिरिक्त टीकाकारों द्वारा वर्णित व्याख्यानों पर भी प्रकाश डालते हैं। बहुत सी प्राचीन पाण्डुलिपियों के कोई एक रचयिता नहीं रहे हैं, बल्कि इनमें अनेक लेखकों के भिन्न-भिन्न योगदान की संभावना रही है।
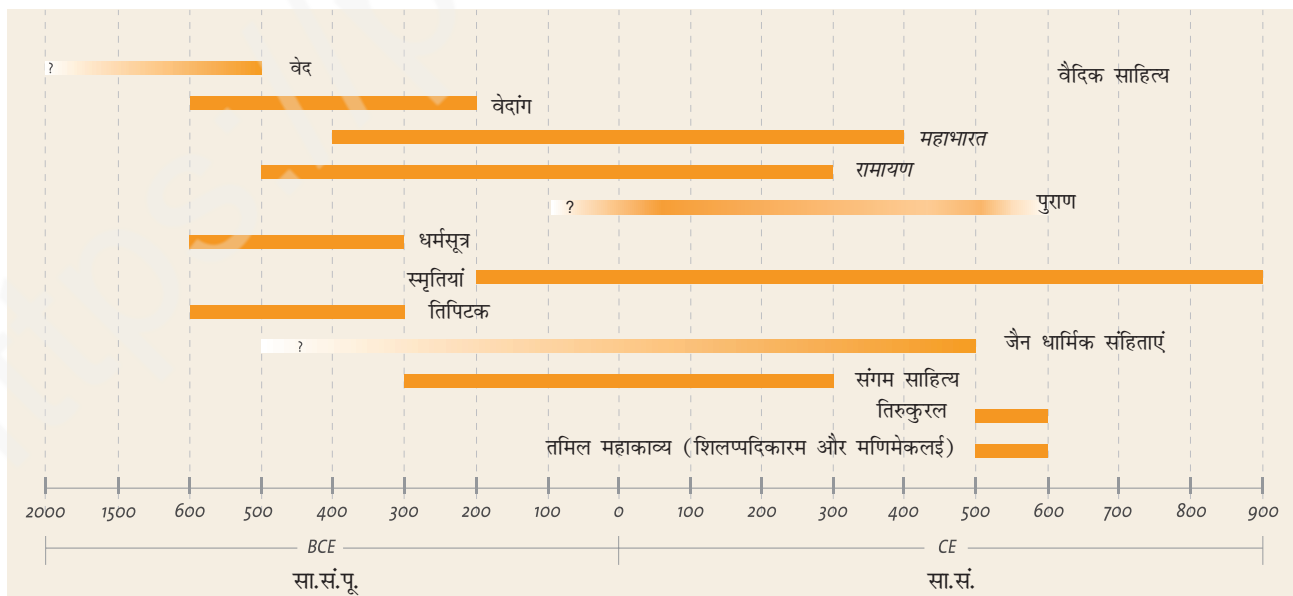
चित्र 1.1: **भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण प्राचीन पाठों का रचनाकाल**

प्राथमिक स्रोत

प्राचीन तालपत्र पाण्डुलिपियाँ

चीन में कागज का आविष्कार तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. में हो चुका था। किंतु इसकी लोकप्रियता चौथी शताब्दी में नई तकनीकों के विकसित हो जाने के बाद बढ़ी। काठ पर छपाई का काम सूई वंश (581–618 सा.सं.) के काल में शुरू हुआ तथा थांग काल (618–907 सा.सं.) में इसका अधिक प्रचलन हुआ, जबकि भारत में लेखन के लिए पारम्परिक सामग्रियों का उपयोग बहुत शताब्दियों तक जारी रहा। प्राचीन-भारत की पाण्डुलिपियाँ अधिकांशत: ताम्र-पत्रों पर लिखी गईं। यहां संक्षेप में इन पाण्डुलिपियों के निर्माण की विधि दी जा रही है जिन्हें संस्कृत में 'तालपत्र' तथा तमिल में 'ओलई' के नाम से जाना जाता है।

तालपत्र के लिए खजूर के पात्रों का प्रयोग किया जाता था, जिसे Corypha Umbraculifera (जिसे संस्कृत और तमिल में ताली कहा जाता है) or Palmyra Palm (जिसे संस्कृत में ताल और तमिल में पनई कहा जाता है) के नाम से जाना जाता है। ताड़ के पत्ते 19 × 8–9 सेंटीमीटर जबकि खजूर के पत्ते 15 × 3–4 सेंटीमीटर आकार के होते हैं। ताड़ के पत्ते अपेक्षाकृत बड़े होने के साथ-साथ अधिक दिनों तक टिकते हैं। सबसे पहले चुने हुए ताड़ के पत्ते को उचित आकार में काट लिया जाता था, फिर इसके बाएं, मध्य तथा दाहिने शीर्ष पर छेद कर दिया जाता था। इन छिद्रों में एक धागा पिरोकर पत्ते के चारों तरफ

बाँध दिया जाता था। धागे के एक छोर में गाँठ डाल दी जाती थी अथवा कोई कौड़ी या काठ का गुटका लगा दिया जाता था ताकि धागा बाहर न निकले। तालपत्र की पाण्डुलिपि को सामान्यत: काठ के एक बक्से में अथवा कभी-कभी हाथी दाँत के बने खोल में रखा जाता था।

पाण्डुलिपि को शलाका (एक नुकीली कलम की तरह की वस्तु) से पत्ते पर उत्कीर्ण किया जाता था। इसके बाद तालपत्र को विशेष वनस्पतियों से निकाले गए रस और कोपलों के बारीक चूर्ण से मिले हुए घोल में डुबा दिया जाता था जिससे उत्कीर्ण किए हुए भाग में काले रंग की लिखावट स्पष्ट हो जाती थी। लिपि पत्ते की लम्बाई के समानांतर उत्कीर्ण की जाती थी। वैसी परिस्थिति में जब पत्ते की लम्बाई अधिक होती थी या रचना छन्दों के रूप में होती थी तब शब्दों को दो या तीन उदग्र कॉलमों में सजाया जाता था। यदि पाण्डुलिपि के साथ कोई टीका भी लिखी जाती थी तब उसे सामान्य रूप से पाठ्य सामग्री के ऊपर या नीचे उत्कीर्ण किया जाता था। पाण्डुलिपि के पृष्ठों की संख्या अधिकतर ऊपर के दाहिने हाशिये में अंकित होती थी।

तालपत्र की पाण्डुलिपियों का संरक्षण सावधानीपूर्वक किया जाता था क्योंकि उच्च तापमान, दीमक, पानी, धूल और आग जैसी आपदाओं से उन्हें बचाना आवश्यक था। इसलिए पुरानी पाण्डुलिपियों की कई प्रतियाँ तैयार की जाती थीं। 19वीं शताब्दी में बढ़ते हुए छापाखानों के प्रयोग और प्रचलन में आ जाने के बाद तक तालपत्रों की परम्परा बनी रही।

आज प्राचीन तालपत्रों को सुरक्षित रखने के लिए विशेष तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। सबसे पहले इन पाण्डुलिपियों पर थाइमॉल, क्लोरोमेंट का घोल, फार्मलडिहाइड, फॉस्फीन गैस अथवा इथाइलिन ऑक्साइड जैसे कीट-नाशकों का प्रयोग किया जाता है। उसके बाद तालपत्रों को डिटर्जेंट या इथाईल अल्कोहल से साफ कर लिया जाता है। यदि कोई भाग फटा हो या क्षतिग्रस्त हो, तो उसकी मरम्मत की जाती है। इसके लिए पॉलीबिनाई एसीटेड तथा मिथाइल सेलुलोस के घोल और अत्यंत बारीक पेपर का उपयोग किया जाता है। एक बार जब मरम्मत का काम हो जाता है, तब तालपत्र को तैलीय घोल से मुलायम बनाया जाता है और सावधानीपूर्वक सूखे कपड़े से पोंछ दिया जाता है। अब इनको फिर से धागे में पिरोया जा सकता है और उपयुक्त खोल में रख दिया जाता है। भविष्य में होने वाले क्षति से बचाने के लिए इनको संभाल कर रखा जाता है।

हमारे ऐतिहासिक धरोहरों की रक्षा के लिए इन प्राचीन पाण्डुलिपियों का संरक्षण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न स्थानों पर अब भी ऐसी हजारों प्राचीन पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं, जिनका अध्ययन या प्रकाशन नहीं हो सका है। दरअसल, यह अनुमान लगाना लगभग असम्भव है कि इनमें से कितनी पाण्डुलिपियाँ नष्ट हो चुकी हैं और कितनी खोजी जानी बाकी हैं।

यद्यपि, इनमें से कई ग्रंथों के रचनाकार या संकलनकर्ता अज्ञात हैं, फिर भी उनकी पृष्ठभूमि, उनके दृष्टिकोण तथा उनके लेखन में प्रतिबिम्बित पूर्वाग्रहों (यथा—वर्ग, धर्म और लिंग) को चिन्हित करना महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त पाठ्यात्मक स्रोतों से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए जा सकते हैं, यथा—इनकी रचना किस भौगोलिक क्षेत्र में हुई? किस भौगोलिक क्षेत्र में इनका प्रचार-प्रसार हुआ? इनका प्रचार-प्रसार किनके माध्यम से हुआ तथा किस प्रकार किया गया? किस पाठक वर्ग के लिए इनका सृजन अथवा प्रचार-प्रसार किया गया? उस समय विद्यमान सामाजिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उस रचना का क्या महत्त्व था?

इस प्रकार, किसी भी पाठ्यात्मक स्रोत का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने का तात्पर्य मात्र यह नहीं हो सकता कि उसमें विद्यमान स्वप्रमाणित साक्ष्यों को वस्तुनिष्ठ रूप से प्रस्तुत कर दिया जाए, बल्कि उस स्रोत में उपस्थित सूचनाओं की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि को समझना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए, किसी काव्य अथवा नाट्य के विश्लेषण के लिए, उसके रचनाकार से जुड़ी पाठ्यात्मक बारीकियाँ और रचानाकार की कल्पनाशीलता की समझ भी ऐतिहासिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कई बार ऐसे ग्रंथों का केवल सैद्धान्तिक पक्ष होता है तथा वे अपने काल के व्याख्यात्मक पक्षों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में मिथकों एवं किंवदन्तियों के समावेश की भी प्रबल संभावना रहती है। इनका प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से इतिहास में किया जा सकता है। किन्तु दोनों के बीच का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए।

पाठ्यात्मक स्रोतों का वर्गीकरण: भाषा, शैली और विषय-वस्तु

प्राचीन तथा पूर्व मध्ययुगीन भारतीय पाठ्यात्मक स्रोतों को बहुत से आधारों पर बांटा जा सकता है, जिनमें भाषा, शैली, 'जान्र' विषय-वस्तु, रचना-काल, रचना की भाषागत श्रेणी इत्यादि प्रमुख हैं। प्राचीन भाषाओं के अध्ययन करने वाले भाषाविदों ने विश्व की भाषाओं को एकाधिक भाषा-परिवारों में समायोजित किया है। किसी एक भाषा-परिवार में स्थान पाने वाली भाषाएं आपस में संरचनात्मक दृष्टिकोण से कुछ समानताएं रखती हैं तथा इनमें बहुत सारे शब्द एक समान होते हैं। हिंदी, पंजाबी, मराठी, बांगला, असमी, गुजराती, सिंधी, उड़िया, नेपाली तथा कश्मीरी, तथा इण्डो-यूरोपियन भाषा-परिवार के सदस्य हैं। इसी परिवार की अन्य भाषाएं फारसी, ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, डच, इतालवी, स्पेनिश, आर्मेनियन, तथा यूरोप और एशिया की कई अन्य भाषाएं हैं। द्रविड़ परिवार की भाषाओं में तमिल, मलयाली, तेलुगु कन्नड़, तथा तुलु प्रमुख हैं जिन्हें दक्षिण भारत में बोला जाता है। दक्षिण भारत के बाहर बोली जाने वाली द्रविड़ भाषाएं, पाकिस्तान के बलुचिस्तान क्षेत्र में बोली जाने वाली ब्रहुई, मध्य प्रदेश की गोंडी तथा राजमहल पहाड़ी क्षेत्र में बोली जाने वाली मल्तो अपवाद के रूप में देखी जा सकती है। संथाली, खासी, मुण्डारी तथा पूर्वी भारत की कुछ अन्य भाषाएं ऑस्ट्रो-एशियाई भाषा परिवार में रखी गई हैं। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में बोली जाने वाली कुछ भाषाएं, जैसे—मणिपुरी, बोडो, गारो, तथा लुशाई, तिब्बत-बर्मा भाषा-परिवार की बोलियाँ हैं। अण्डमान द्वीप में प्रचलित अंडमानी भाषा ही एक ऐसा अपवाद है जिसे किसी भी ज्ञात भाषा-परिवार से नहीं जोड़ा जा सकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में उपलब्ध रचनाओं में प्राचीनतम वेद है जो संस्कृत भाषा में है। संस्कृत इण्डो-यूरोपियन भाषा-परिवार की इण्डो-ईरानी शाखा का अंग है। पालि और प्राकृत भी इसी परिवार की भाषाएं हैं। प्राकृत के प्रमुख संस्करणों में महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी हैं। अपभ्रंश प्राकृत की ही एक शाखा थी जो एक हजार सा.सं. तक प्रयोग में रही। द्रविड़ भाषाओं में तमिल प्राचीनतम साहित्य है, जिसके बाद कन्नड़ का स्थान आता है। आज भारत की जितनी भी प्रादेशिक भाषाएं एवं क्षेत्रीय बोलियां हैं उनका विकास ल. 1000-1500 सा.सं. के बीच में माना जा सकता है। इन सभी भाषाओं का एकाकी अस्तित्व बिल्कुल नहीं रहा है, बल्कि इनमें सदा से आदान-प्रदान एवं समन्वय का प्रचलन रहा है।

भाषाओं का अपना इतिहास है और जिनमें समय के साथ परिवर्तन भी हुआ है। कालिदास के काव्यों की संस्कृत, *ऋग्वेद* की संस्कृत से बहुत भिन्न है। पाँचवीं-चौथी सा.सं.पू. में पाणिनि ने अपने *अष्टाध्यायी* में संस्कृत भाषा को व्याकरण-सूत्रों के माध्यम से एक सुनियोजित स्वरूप प्रदान किया जिसे *क्लासिकल* या शास्त्रीय संस्कृत की संज्ञा दी गई। *अष्टाध्यायी* के बाद दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में पतंजलि ने अपने *महाभाष्य* में संस्कृत व्याकरण को और विकसित किया। प्राकृत भाषा का प्राचीनतम व्याकरण वररुचि कृत *प्राकृतप्रकाश* को माना जाता है जिसकी तिथि सुनिश्चित नहीं की जा सकी है। इसी प्रकार संगम काव्यों का प्राचीन तमिल, आधुनिक तमिल से बहुत अलग है। प्राचीनतम उपलब्ध तमिल व्याकरण *तोलकापियम* है जिसका कुछ भाग प्रारम्भिक ईस्वी में लिखा हुआ है। ऐसे व्याकरणों के माध्यम से प्राचीन भाषाओं की संरचना का ज्ञान होता है और साथ में कई बार उस काल के ऐतिहासिक सन्दर्भ भी प्रकाश में आते हैं।

प्राचीन भारतीय पाठों को धार्मिक एवं धर्मेत्तर दो श्रेणियों में बांटा जाता है। ऐसा विभाजन भ्रामक भी हो सकता है। अंग्रेजी के 'रिलिजन' (धर्म) शब्द को साम्प्रदायिक आस्था से जोड़ा गया है तथा इसके द्वारा किसी
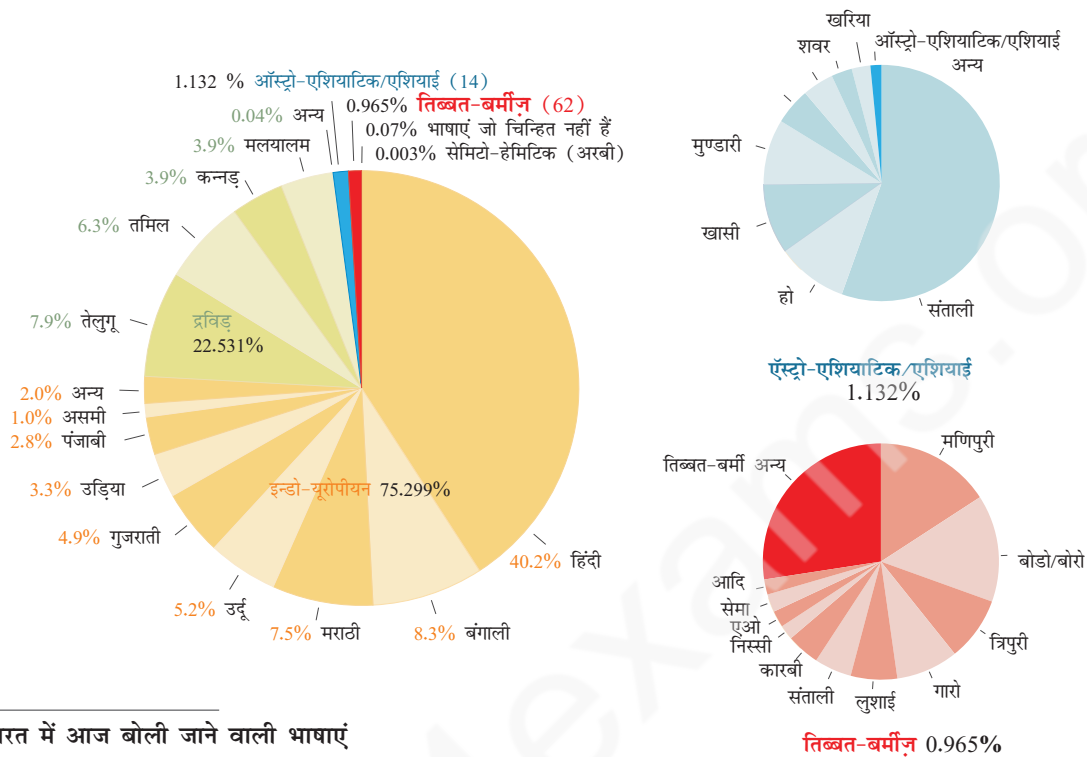
चित्र 1.2: **भारत में आज बोली जाने वाली भाषाएं**

धार्मिक पक्ष या सम्प्रदाय विशेष का बोध होता है जो अन्य पक्षों से अपनी विशिष्टताओं के कारण पूर्णतया अलग अस्तित्व रखता है। प्राचीन भारत का कोई भी शब्द ऐसे अभिप्राय का निरूपण नहीं करता। संस्कृत का 'धर्म' अथवा पालि का 'धम्म' शब्द उस तरह के आदर्श जीवन शैली के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसको वृहद् रूप से आचरण अथवा लोक व्यवहार जैसे अर्थों से भी जोड़ा जा सकता है। इसमें पूजा-पद्धति, परम्पराएँ, दर्शन और कर्मकाण्ड जैसे बहुत सारे अन्य अर्थों को भी जोड़ा जा सकता है। दरअसल, प्राचीन सामाजों में कभी भी धर्म और धर्मनिरपेक्ष को एक-दूसरे से पृथक करके देखने का प्रयास नहीं किया गया। इसलिए प्राचीन भारतीय साहित्य में भी धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष विचार अन्योन्याश्रय रूप से एक संपूर्णता के अनिवार्य अवयव रहे हैं।

इस पुस्तक में प्रचीन भारतीय तथा पूर्व मध्ययुगीन भारत के इतिहास के अध्ययन के लिए, कुछ प्रमुख उपलब्ध पाठ्यात्मक स्रोतों का वर्णन किया गया है। चूंकि इन स्रोतों का आकार सामान्यत: बहुत बड़ा रहा है, इसलिए इनमें से प्रतिनिधि अंशों का ही समावेश संभव हो सकता है। यहां प्रयास यह है, कि इतिहासकारों द्वारा अधिकांशत: उद्धृत किए जाने वाले स्रोतों के विषय में एक समझ बनायी जा सके। इनमें से अधिकांश स्रोतों का सृजन, इतिहास लेखन को दृष्टि में रखकर नहीं किया गया है। फिर भी, वर्तमान अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्राय: सभी प्रकार की प्राचीन रचनाओं का उपयोग अतीत के अध्ययन के लिए, एक स्रोत, के रूप में किया जाना संभव है।

वेद

हिन्दू परम्परा में वेदों को **'श्रुति'** की श्रेणी में रखा गया है। श्रुति का शाब्दिक अर्थ 'सुना हुआ' है। वेदों के विषय में यह मान्यता है कि ये अपौरूषेय और निरूक्त हैं जिनको ऋषियों के द्वारा आत्मसात् किया गया और जो स्वयं देवों के द्वारा उन्हें दृश्य रूप में प्राप्त हुआ, जबकि **'स्मृति'** साहित्य की श्रेणी में वेदांग, पुराण, एपिक्स, धर्म-शास्त्र और नीतिशास्त्र आते हैं।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' से हुई है जिसका अर्थ है 'जानना'। इसलिए वेद का तात्पर्य ज्ञान से है। वेद चार हैं—*ऋक्*, *साम*, *यजुर* तथा *अथर्व*। *ऋग्वेद* में, संसार की सबसे पहली काव्यात्मक रचनाएं उपलब्ध हैं जिनमें से बहुत-सी रचनाओं के दार्शनिक गाम्भीर्य की उत्कृष्टता है। प्रत्येक वेद के चार अंग हैं जिनमें से अन्तिम तीन बहुत बार एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते—**संहिता**, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

ऋग्वेद संहिता दस मण्डलों में विस्तृत 1028 सूक्तों का संकलन है। सामवेद में, 1810 सूक्त हैं जो प्रायः ऋग्वेद से सीधे लिए गए हैं। किन्तु इनको गेय बनाने के लिए लयबद्ध किया गया है। *यजुर्वेद*, कर्मकाण्ड से जुड़े तथ्यों को विस्तार से प्रस्तुत करता है। *अथर्ववेद*, सबसे नए वेद के रूप में माना जाता है, जिनमें सूक्तों के अतिरिक्त लोकप्रिय धार्मिक व्यवहारों को अधिक महत्त्व दिया गया है। **ब्राह्मण**, वेद से जुड़ी संहिताओं की व्याख्या हैं जिनमें यज्ञ से जुड़े कर्मकाण्डों की विशद् विवेचना की गयी है। आरण्यक में यज्ञ से जुड़े कर्मकाण्डों की दार्शनिक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। उपनिषदों की संख्या 108 है, जिनमें 13 को मूलभूत उपनिषदों की श्रेणी में रखा गया है। उपनिषदों में यज्ञ से जुड़े दार्शनिक विचार, शरीर, ब्रह्माण्ड, आत्मा तथा ब्रह्म की व्याख्या की गई है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत *ऋग्वेद* संहिता के दूसरे से सातवें मण्डल तक के भाग को सबसे प्राचीन माना गया है। इसके अतिरिक्त सभी वैदिक साहित्य को उत्तर वैदिक साहित्य के रूप में देखा जाता है।

वेदों की भी कई शाखाएँ हैं जो वैदिक अध्ययन और व्याख्या से जुड़े विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। जिन्हें चरण की संज्ञा दी जाती है, किन्तु शाखा और चरण में बहुत बार भेद नहीं किया जा सकता। 'शाकल शाखा' *ऋग्वेद* से जुड़ी एकमात्र जिवित शाखा है। *यजुर्वेद* को शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद दो शाखाओं में बांटा गया है। माध्यन्दिन और काण्व, शुक्ल यजुर्वेद अथवा वाजसनेय संहिता की शाखाएँ हैं। कृष्ण यजुर्वेद से जुड़ी शाखाएँ—काठक, कपिष्ठल, मैत्रायणी और तैत्तिरीय हैं। इन दोनों शाखाओं से जुड़ा मुख्य अंतर यह है कि शुक्ल यजुर्वेद की शाखा में केवल मंत्रों को स्थान मिला है, जबकि कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों के साथ उनकी व्याख्या और यज्ञ से जुड़े हुए कर्मकाण्डों का भी उल्लेख है। कौथुम, राणायनीय तथा जैमीनीय अथवा तलवकार *सामवेद* की शाखाएँ हैं। *अथर्ववेद* की शाखाएं शौनक और पैप्पलाद हैं। वेदों से जुड़े अन्य ब्राह्मणों का भी उल्लेख मिला है किन्तु अब ये उपलब्ध नहीं हैं।

वैदिक साहित्य मूलतः धार्मिक साहित्य है, जिनमें केवल संयोगवश कुछ ऐतिहासिक घटनाओं को ढूंढा जा सकता है। उदाहरण के लिए, *ऋग्वेद* संहिता के सातवें मण्डल में दस राजाओं के युद्ध का उल्लेख है जिसमें सुदास ने अपने विरूद्ध युद्ध कर रहे कई राजाओं के संघ को पराजित किया। इतिहासकारों के द्वारा, वेदों में वर्णित संस्कृति के पुनर्निमाण करने का काफी प्रयास किया गया, किन्तु ऐसा कर पाना बहुत कठिन है।

वेदों को इतिहास के स्रोत के रूप में उपयोग करने के समक्ष एक दूसरी बड़ी समस्या ऋग्वेद के तिथि निर्धारण से सम्बंधित है। *ऋग्वेद* के रचनाकाल के विषय में 6000 सा.सं.पू. से 1000 सा.सं.पू. के बीच तिथियों के अनुमान प्रस्तुत किए गए हैं। हालांकि, सामान्य रूप से इतिहासकारों ने ल. 1500–1000 सा.सं.पू. के बीच ऋग्वैदिक काल और ल. 1000–500 सा.सं.पू. के बीच उत्तरवैदिक काल के रूप में स्वीकार किया है। *ऋग्वेद* और उत्तरवैदिक रचनाओं का यह काल-निर्धारण 19वीं शताब्दी में मैक्स मूलर ने किया था।

ब्राह्मणवादी परंपरा में वैदिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है—जिस साहित्य को ब्राह्मण पुरुषों के एक विशिष्ट वर्ग ने संरक्षित रखा तथा अगली पीढ़ी को हस्तांतरित किया। ये उनकी धार्मिक आस्थाओं, व्यवहारों और दृष्टिकोणों को प्रतिबिम्बित करते हैं। इतिहास के स्रोत के रूप में इन ग्रंथों का उपयोग ईसा पूर्व की द्वितीय तथा प्रथम सहस्राब्दियों के दौरान, उत्तर पश्चिम तथा उत्तर भारत में जीवन से जुड़ी जानकारी के लिए किया जाता है, लेकिन जैसा कि हम बाद में भी देखेंगे, तिथि निर्धारण से जुड़े प्रश्नों के अतिरिक्त, सबसे अधिक समस्या वेदों में प्राप्त प्रमाणों की संपुष्टि, पुरातात्त्विक साक्ष्यों के साथ करने के दौरान सामने आती है।

वेदों से जुड़ी बहुत सारी सहायक रचनाएं 'वेदांग' कहलाती हैं, जिनका उद्देश्य वेदों के सही उच्चारण प्रयोग तथा उनकी व्याख्या करना है। इनमें शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरूक्त, कल्प और ज्योतिष प्रमुख हैं। वेदांग साहित्य का रचना काल ल. 600–200 सा.सं.पू. स्वीकार किया जाता है। यस्क के 'निरुक्त' की रचना छठीं शताब्दी सा.सं.पू. में मानी जाती है। जिसमें ऋग्वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति से जुड़ी व्याख्याएं हैं।

संस्कृत के दो 'एपिक्स': *रामायण* और *महाभारत*

संस्कृत के दो एपिक्स—*महाभारत* तथा *रामायण*, स्मृति के साथ-साथ इतिहास (परम्परागत इतिहास) की श्रेणी में आते हैं, हालांकि, *रामायण* को काव्य के रूप में भी देखा जाता है। भाषा और शैली की विशिष्टताओं के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों का सृजन किसी साझी सांस्कृतिक भूमि में ही हुआ है। *महाभारत* में वाल्मीकि तथा *रामायण* की चर्चा हुई है तथा उसमें वर्णित राम कथा वाले अंश को 'रामोपाख्यान' की संज्ञा दी गई है। दूसरी ओर *रामायण* में कुरू, हस्तिनापुर और जन्मेजय का उल्लेख है, किन्तु *महाभारत* के युद्ध की कहीं चर्चा नहीं हुई है। इस प्रकार दोनों एपिक्स एक-दूसरे के परिदृश्य से परिचित थे (विशेष रूप से इनके विकास के अन्तिम चरणों में)। *महाभारत* को लगभग ल. 400 सा.सं.पू. और ल. 400 सा.सं. के बीच में स्वरूप दिया गया तथा *रामायण* को पाँचवीं/चौथी सा.सं.पू. से तीसरी शताब्दी के बीच में रचा गया। हिल्टेबेटेल (2001: 18-20) ने अभी हाल

में अपने अध्ययन के आधार पर यह सुझाव दिया कि *महाभारत* को दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के मध्य से पहली सा.सं. के बीच कभी लिखा गया है। यह तथ्य, कि एपिक्स का रचना काल कई शताब्दियों में अथवा शायद एक सहस्राब्दी के बीच फैला हुआ है, इसलिए इतिहास में अब 'एपिक्स काल' करके कोई विशेष अवधि नहीं निर्धारित की जाती।

कुछ भी हो एपिक्स अपने रोचक और प्रभावी कथाओं एवं रचना शैली की दृष्टि से अभूतपूर्व कृतियां हैं। फिर भी इतिहास के स्रोत के रूप में इनका उपयोग करना एक कठिन कार्य है क्योंकि उनमें अन्तर्निहित कालानुक्रम को सुनिश्चित नहीं किया जा सका है। भारतीय परम्परा की दृष्टि से, राम का युग 'त्रेतायुग' कहलाता है जो द्वापर युग में हुए *महाभारत* के युद्ध से पहले का युग है। फिर भी कुछ इतिहासकारों का मानना है, कि *महाभारत* से जुड़ी घटनाएं और चरित्र *रामायण* की तुलना में अधिक प्राचीन हैं। ऐसा मानने का आधार यह भी है कि *महाभारत* की घटनाओं का केंद्र गंगा-यमुना दोआब तथा गंगा का ऊपरी मैदान है, जबकि *रामायण* की कथा में राजनीतिक गुरुत्व पूरब की ओर स्थानांतरित हो जाता है जो मध्य गंगा का मैदानी क्षेत्र है। *महाभारत* में वर्णित नारियों के सशक्त चरित्र भी यह इंगित करते हैं कि भारत के सामाजिक इतिहास का यह आरम्भिक काल होगा जब नारी की स्थिति पुरुष की तुलना में उतनी अधीनस्थ नहीं थी। *महाभारत* में वर्णित **'नियोग'** की प्रथा (जब संतानोत्पत्ति के उद्देश्य से एक पति का अपनी पत्नी पर प्राप्त वैवाहिक अधिकारों को दूसरे पुरुष के लिए हस्तांतरित किया जाता है) सामाजिक विकास की प्राचीनतर अवस्था को निर्दिष्ट करती है, जबकि *रामायण* में नारी पर अपेक्षाकृत पुरुष का अधिक नियंत्रण प्रतिबिम्बित होता है।

महाभारत में 18 पर्व हैं तथा इसके उत्तरवर्ती तथा दक्षिणवर्ती दो संस्करण उपलब्ध हैं। इसकी मूल कथा में कौरव और पाण्डव दो चचेरे भाइयों के दो कुलों के बीच की संघर्ष की कथा है, जिनके बीच कुरुक्षेत्र में एक महायुद्ध लड़ा गया। लेकिन सम्पूर्ण काव्य में ऐसे बहुत सारे कथानक और घटनाएँ हैं, जिनका मूल कथा से कोई प्रत्यक्ष सरोकार नहीं दिखता। मान्यता के अनुसार, इसकी रचना व्यास ने की किन्तु *महाभारत* जिस रूप में आज उपलब्ध है, उसकी रचना किसी एक व्यक्ति ने नहीं की। *महाभारत* सही माने में एक महाआख्यान है, जिस तथ्य की श्लाघा स्वयं *महाभारत* भी करता है। इस प्रकार एक नायक केन्द्रित मूल कथा के अतिरिक्त बहुत सारी सहायक कथाएं, उपदेश और शिक्षात्मक व्याख्याओं से ओत-प्रोत रचनाएं कालान्तर में मौलिक कथा से जुड़ती चली गईं। मृत्यु शैय्या पर पड़े भीष्म द्वारा धर्म उपदेश तथा युद्धभूमि में कृष्ण द्वारा अर्जुन को भगवद्‌गीता के रूप में दिए गए विश्वविख्यात उपदेश *महाभारत* के ही अंश हैं।

पाण्डवों और कौरवों के बीच हुए किसी युद्ध को इतिहास कभी सिद्ध नहीं कर सकता। ऐसा हो सकता है कि कोई स्थानीय स्तर पर लड़ी गई लड़ाई को कालान्तर में कवियों और चारणों ने अपनी वर्णानात्मक विलक्षणता के द्वारा एक एपिक्सात्मक स्वरूप दे दिया। कुछ इतिहासकारों तथा पुरातत्त्वविदों का मत है कि ऐसा युद्ध कभी 1000 सा.सं.पू. के आस-पास लड़ा गया होगा।

रामायण भी दक्षिण और उत्तर भारत के दो मुख्य संस्करणों में उपलब्ध है। उत्तर भारतीय संस्करण में भी पुनः उत्तर-पूर्वी, उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी तीन उपसंस्करण हैं। उत्तर भारतीय संस्करण की भाषा दक्षिण की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और उन्नत है। *रामायण* के सात काण्ड में प्रथम बालकाण्ड और अन्तिम उत्तरकाण्ड बाद में जोड़े गए हैं। मूल कथा कोशल के राजकुमार राम, उनके वन गमन, लंकाधिपत्ति रावण द्वारा सीता हरण, सीता उद्धार तथा राम के द्वारा राजधानी अयोध्या में वापसी, इन घटनाओं के इर्द-गिर्द घूमती है। रचना की शैली और उसके शब्दों का चयन इंगित करता है कि इसको किसी एक व्यक्ति ने नहीं लिखा होगा, जिसे पारम्परिक रूप से वाल्मिकी के नाम से जाना जाता है। वाल्मिकी, बालकाण्ड में उल्लिखित है कि उन्हें *रामायण* की रचना की प्रेरणा मिलती है तथा पुनः उत्तरकाण्ड में राम के द्वारा निष्कासित सीता को वे अपने आश्रम में निवास देते हैं।

अयोध्या में उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्‌भाण्ड (NPBW) काल से मानव सभ्यता के अवशेष मिलते हैं। इस काल की शुरुआत ल. 700 सा.सं.पू. मानी जाती है, परंतु अयोध्या से ल. 1300 सा.सं.पू. की तिथि प्राप्त हुई है। किन्तु *रामायण* और *महाभारत* से जुड़े पुरातात्त्विक अवशेषों के आधार पर उनकी घटनाओं या चरित्रों को ऐतिहासिक आधार नहीं दिया जा सकता है।

रामकथा की लोकप्रियता का अनुमान इस सत्य से लगाया जा सकता है कि वाल्मिकी *रामायण* (जो *रामायण* का प्राचीनतम उपलब्ध संस्करण है) से लेकर इसे अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में बार-बार लिखा गया। प्राकृत में विमलसूरि की *पौमचरियु*, ('*रामायण* का जैन संस्करण'), पालि में *दशरथ जातक* नाम से बौद्ध संस्करण, *इरामावतारम* नाम से 12वीं सदी में कम्बन रचित तमिल *रामायण*, तथा 16वीं सदी का तुलसीदास कृत *रामचरितमानस*, *रामायण* के अनेकों संस्करणों में से कुछ अधिक लोकप्रिय संस्करण हैं। रामकथा लोककथाओं के रूप में भी अनेक जगह प्रचलित है। जिनको लिपिबद्ध नहीं किया गया है। रामकथा को एशिया के दूसरे भागों में विशेष कर तिब्बत, म्यांमार, लाओस, कम्बोडिया और इण्डोनेशिया में बहुत अधिक लोकप्रियता मिली।

प्राथमिक स्रोत

महाभारत का पुरातत्त्व

महाभारत से जुड़े हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, पानीपत, तिलपत, बागपत, मथुरा और बैरात जैसे स्थानों के उत्खनन से चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW) संस्कृति से जुड़े प्रमाण मिलते हैं जिसका काल ल. 1000 सा.सं.पू. ही आंका जा सकता है। इस मृद्भाण्ड संस्कृति के अध्ययन से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यहां की सभ्यता पशुपालन और कृषि पर आधारित थी।

हस्तिनापुर से अन्य प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। *मत्स्य पुराण* और *वायु पुराण* में कहा गया है कि राजा नीचाक्षु के राज में (परिक्षित के बाद पांचवां राजा, अर्जुन का पौत्र, जो युद्ध के बाद राजा मनोनीत हुआ) के काल में गंगा में आई बाढ़ के कारण राजधानी को हस्तिनापुर से कौशाम्बी ले जाया गया था। हस्तिनापुर में हुए उत्खनन के आधार पर वहाँ पर गंगा में आई बाढ़ के प्रमाण मिलते हैं जिसके बाद कई शताब्दियों तक उस स्थान को वीरान छोड़ दिया गया था। किन्तु ऐसा कहना कठिन है कि पुराणों में इसी बाढ़ की चर्चा की गई है।

ऐसी प्रबल मान्यता है कि पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ ही वर्तमान की दिल्ली का पुराना किला है। शम्स सिराज अफीफ की 14वीं सदी में लिखी किताब *तारिख-ए-फिरुज़शाही* में लिखा है कि इन्द्रप्रस्थ किसी परगना का मुख्यालय हुआ करता था। पश्चिम दिल्ली के नारायणा गाँव से 14वीं सदी के एक अभिलेख में भी इन्द्रप्रस्थ का उल्लेख है। अबुल फजल ने 16वीं सदी में लिखी अपनी पुस्तक *आइन-ए-अकबरी* में लिखा है कि हुमायूँ का किला उसी स्थान पर बनाया गया था जहां कभी पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ अवस्थित थी। वास्तव में 19वीं सदी के अंत तक पुराने किले के भीतर 'इन्द्रप्रस्त' नाम का एक गाँव हुआ करता था।

वर्ष 1954 से 1971 के बीच पुराना किला में हुई खुदाई के दौरान चौथी शताब्दी सा.सं.पू. से 19वीं सदी के बीच की पुरातात्त्विक तहें चिन्हित की गई। किन्तु इसी क्षेत्र से चित्रित धूसर मृद्भाण्डों की कुछ प्राप्तियों से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां और प्राचीन सभ्यता का अवशेष रहा होगा। फिर भी ऐसे अवशेष का सम्बंध *महाभारत* काल से निश्चित रूप से रहा हो, ऐसी पुष्टि नहीं की जा सकती।

दरअसल पुरातत्त्व के द्वारा एपिक्स की ऐतिहासिकता को सिद्ध करना कठिन है। पुरातात्त्विक प्राप्तियों की गुणात्मक साम्यता एपिक्स में वर्णित भौतिक संस्कृति से नहीं होती। एपिक्स में चरित्रों और स्थानों को घटना-केन्द्रित काल्पनिक ताने-बाने में पिरोया गया है। दूसरी ओर पुरातत्त्व के सहारे हम उस काल की भौतिक संस्कृति की सामान्य विशेषताओं का आकलन करते हैं। इसलिए उनके आधार पर व्यक्तियों और घटनाओं का अनुमान लगाना असंभव होगा।

पुराना किला में उत्खनन कार्य प्रगति पर, 1954

प्राथमिक स्रोत

रामायण में अंतर्निहित कालानुक्रम

वर्ष 1984 में जे.एल. ब्रॉकिंगटन ने भाषा-शैली और विषय-वस्तु के सावधानी-पूर्वक अध्ययन के पश्चात *रामायण* के विकास में कालावधि और संस्कृति के पाँच चरणों को चिन्हित किया है।

चरण-I (पाँचवीं-चौथी सा.सं.पू.)—जब *रामायण* ने मौखिक हस्तांतरण के लिए अपना स्वरूप प्राप्त किया। इस समय कथा में नायक के चरित्र निर्माण पर अधिक बल दिया गया। कथा का भौगोलिक परिदृश्य भी सीमित था। भौतिक तथा सामाजिक संरचना भी अपेक्षाकृत सरल थी। इसमें प्रतिबिम्बित धार्मिक विचार पुराणों की अपेक्षा वेदों के सन्निकट थे।

चरण-II (तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. –पहली शताब्दी सा.सं.)—इस काल में कथा में नायक के चरित्र-निर्माण की अपेक्षा साहित्यिक अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाने लगा। कथा के भौगोलिक परिदृश्य का पूरब की ओर गंगा के निचले मैदान की तरफ विस्तार होने लगा। इस काल में प्रतिबिम्बित सामाजिक और आर्थिक जीवन—सामाजिक वर्गीकरण तथा नारी की अधीनस्थ अवस्था की छवि प्रकट करती है, क्योंकि स्त्री की पवित्रता पर बल दिया गया और नगरीय जीवन तथा व्यवसाय का अधिकाधिक चित्रण हुआ। राजा की शक्ति का विस्तार हुआ और युद्ध कला में भी जटिलताएँ आईं। कथा का धार्मिक महत्त्व अधिकाधिक परिलक्षित होने लगा।

चरण-III (पहली शताब्दी-तीसरी शताब्दी सा.सं.)—इस समय तक नगरीकरण का दायरा काफी बढ़ चुका था। समाज चार वर्गों में विभाजित हो चुका था। राजा, प्रजा तथा सामाजिक व्यवस्था का संरक्षक था। नारी की अधीनस्थता और भी बढ़ चुकी थी। ब्रह्मा और इन्द्र जैसे वैदिक देवता महत्त्वपूर्ण तो थे किन्तु विष्णु और शिव की अवधारणा लोकप्रिय होने लगी थी। *रामायण* के प्रथम और सप्तम काण्ड इसी काल में जोड़े गए।

चरण-IV (चौथी-बारहवीं शताब्दी सा.सं.)— कथा का धार्मिक महत्त्व भी बढ़ा और साहित्यिक अलंकरण भी ब्राह्मणों और शूद्रों अथवा अंत्यज जातियों के बीच की खाई और बढ़ गई। वैधव्य को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा और सती प्रथा को भी एक प्रकार से मान्यता मिलने लगी। दूसरे शब्दों में, स्त्री की अधीनस्थ स्थिति और भी अधिक रेखांकित हो गई। विष्णु और शिव सर्वोच्च देवताओं के रूप में लोकप्रिय हो गए तथा धार्मिक जीवन में मन्दिर तथा तीर्थाटन का महत्त्व बढ़ गया। चतुर्थ चरण में वर्णित सभी लक्षण, 12वीं शताब्दी के बाद अधिकांश रूप से स्थापित होने लगे (चरण-V)।

ब्रॉकिंगटन ने इन सांस्कृतिक परिवर्तनों के अतिरिक्त कथा के पात्रों की महत्ता में आए अन्तर को भी चिन्हित किया। उनका तर्क है कि जहां चरण-I में राम पुरुषोत्तम के रूप में आदर्श मनुष्य बने रहे, वहीं चरण-II के अन्त तक उन्हें देवत्व की अवधारणा से जोड़ा जाने लगा। चरण-III में राम द्वारा रावण पर विजय को अधर्म के ऊपर धर्म की विजय के रूप में देखा जाने लगा। हालांकि राम भक्ति की शुरुआत इस चरण तक परिलक्षित होने लगी थी, किन्तु राम को विष्णु के अवतार के रूप में IV और V चरण से मान्यता मिली।

ब्रॉकिंगटन एक नायक प्रधान महाकाव्य का धार्मिक रूपांतरण के रूप में व्याख्या करते हैं। यद्यपि, पोलॉक (1991: 52) ने इस तथ्य पर बल दिया है कि *रामायण* में राम को देवत्व आरम्भ से ही प्राप्त था।

रिचमैन (1992) ने एशिया के इन भागों में प्रचलित रामकथा का अध्ययन कर यह दिखाया है कि उसके इन क्षेत्रीय संस्करणों में, कथा के आरम्भ और अन्त, तथा कथा के चरित्र और घटनाएं काफी अलग हैं। उदाहरण के लिए, *पौमचरयु* (जैन संस्करण) में रावण का चित्रण एक हारे हुए नायक के रूप में किया गया है, जिसे राम की बजाय लक्ष्मण ने मारा था (जिसमें राम, अहिंसा जैसे जैन मान्यताओं की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित हुआ है)। रामकथा का उपयोग केवल लेखन और वाचन में नहीं हुआ है, बल्कि मूर्तिकला, चित्रकला, नाटक, नृत्य नाटिकाएँ, और अब टेलीविजन के धारावाहिकों में भी इसका लोकप्रिय निरूपण हुआ है।

इतिहास की दृष्टि से एपिक्स को एकाधिक प्रकार से देखा जा सकता है। जहां अधिकांश इतिहासकार *रामायण* से जुड़ी घटनाओं की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर बहस करते हैं, वहीं कुछ विद्वानों ने *रामायण* के विभिन्न स्तरों में निरूपित सांस्कृतिक तहों को चिन्हित करने का प्रयास किया है। *रामायण* के अध्ययन का एक दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि इसे एक विशेष ऐतिहासिक सन्दर्भ की प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाए। उदाहरण के लिए, जेम्स एल. फिट्सजेरल्ड (मित्तल और थर्सबी, 2005: 54) ने *महाभारत* के विषय में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि बौद्ध और जैन धर्म की बढ़ती लोकप्रियता तथा नन्द और मौर्य जैसे शक्तिशाली साम्राज्यों के द्वारा उनको दिए गए प्रश्रय को ब्राह्मण व्यवस्था ने एक चुनौती के रूप में देखा तथा *महाभारत* के रूप में उन्होंने उस व्यवस्था के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत की।

पुराण

'पुराण' शब्द का अर्थ है प्राचीन। मान्यता के अनुसार, पुराणों की रचना भी व्यास ने की किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि न तो इनकी रचना किसी एक काल में हुई है और ना ही किसी एक लेखक के द्वारा की गई। 18 महापुराण (मुख्य पुराण) तथा इनसे भी अधिक उपपुराण (सहायक पुराण) उपलब्ध हैं। 18 महापुराणों की श्रेणी में *विष्णु, नारद, भागवत्, गरुड़, पद्म, वराह, मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द, अग्नि, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन* और *ब्रह्म पुराण* आते हैं। पुराणों का उद्भव शायद कुछ हद तक वेदों के काल में ही हुआ होगा, किन्तु इनका संकलन चौथी-पाँचवी शताब्दी अथवा इससे भी कुछ काल बाद तक चलता रहा।

पुराणों के संबंध में पंच-लक्षणों की मान्यता है; अर्थात् उनमें पाँच विषयों की चर्चा अपेक्षित है—संसार की सृष्टि (सर्ग), पुनःसृष्टि (प्रतिसर्ग), विभिन्न मनु का युग (मनवन्तर), देवताओं और ऋषियों की वंशावली (वंश), तथा राजवंशों की सूची (वंशानुचरित)। वंशानुचरित में सूर्यवंशी और चंद्रवंशी राजाओं की सूची दी गई है। बहुत सारे पुराण इन सभी मुख्य लक्षणों की व्याख्या नहीं करते बल्कि इनके अतिरिक्त कई और का वर्णन करते हैं।

पुराणों में वर्णित काल से जुड़ी अवधारणा विलक्षण है। उनके अनुसार, कृत, त्रेता, द्वापर और कलि चार युग हैं, जिनमें प्रत्येक की अवधि सहस्त्रादिक वर्षों की है। एक महायुग में ये चारों युग व्यतीत होते हैं तथा 1,000 महायुगों का एक कल्प होता है। प्रत्येक कल्प 14 मनवन्तरों में विभाजित है, जिनमें से प्रत्येक के एक प्रतिनिधि मनु हैं। प्रत्येक युग के अन्त में सृष्टि का विनाश हो जाता है तथा दूसरे युग में पुनः सृष्टि की रचना होती है। काल के इस चक्र में धर्म का चक्रवत् विनाश और अभ्युदय होता है।

पुराणों में दी गई अधिकांश प्रारम्भिक वंशावलियाँ मिथकीय हैं। कलियुग के अन्त में दी गई वंशावलियों में कुछ ऐतिहासिकता है। मान्यता के अनुसार, कलियुग की शुरुआत *महाभारत* के युद्ध के बीस वर्ष बाद कृष्ण की मृत्यु के दिन से हुई है। पुराणों का वर्णन भविष्यात्मक है, क्योंकि व्यास का अस्तित्व द्वापर युग के अन्त और कलियुग के आरम्भ के समय माना जाता है। अन्य पुराणों के अनुसार, *भविष्य पुराण* को वंशावलियों के सम्बंध में मानक माना जाता है किन्तु इस सम्बंध में उपलब्ध सामग्री पूर्ण नहीं हैं।

वायु, ब्राह्माण्ड, ब्रह्म, हरिवंश, मत्स्य, और *विष्णु पुराणों* में प्राचीन राजनीतिक इतिहास के सम्बंध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध हैं। हालांकि, ऐसे विषयों में सभी पुराणों में मतैक्य नहीं है। इनमें हर्यंक, शैशुनाग, नंद, मौर्य, शुंग, कण्व, और आन्ध्र (सातवाहन) जैसे ऐतिहासिक वंशों की चर्चा है। पुराणों में 'नाग' से अन्त होने वाले नाम के बहुत सारे शासकों का उल्लेख है, जिन्होंने पहली शताब्दी के दौरान उत्तरी और मध्यभारत पर राज्य किया। किन्तु उनके बारे में इतिहास में और कहीं जानकारी नहीं है। चौथी-छठी शताब्दियों के गुप्त शासकों की सूची से पुराणों की वंशावलियाँ समाप्त होती हैं जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि पुराणों को लगभग इसी काल में लिपिबद्ध किया गया। किन्तु *भागवत् पुराण* को दसवीं शताब्दी में और स्कन्द पुराण को 14वीं शताब्दी में लिपिबद्ध किया गया, जिनमें प्रायः 16वीं शताब्दी तक के राजवंशों की चर्चा की गई है।

पुराणों में वर्णित पर्वत, नदियां, स्थान ऐतिहासिक भूगोल के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें शिव, विष्णु और शक्ति से जुड़े भक्ति पर आधारित सम्प्रदायों के विकास का उल्लेख किया गया है। इस भक्ति की अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण मन्दिरों, तीर्थस्थानों और व्रतोत्सवों के माध्यम से की गई है। देवासुर संग्रामों, देवताओं तथा ऋषियों से जुड़ी रोचक पौराणिक कथाएं मिलती हैं। इतिहासकारों ने इनकी व्याख्या उस समय चल रही संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जोड़कर की है। ब्राह्मणवादी परम्परा में पुराणों की एक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका थी और यह ब्राह्मणवादी सामाजिक और धार्मिक मूल्यों के वाहक थे। साथ ही साथ, यह ब्राह्मणवादी और गैर-ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक परंपराओं के बीच परस्पर संवाद और हिंदू धार्मिक आचरणों के उदय और विकास को भी प्रतिबिंबित करते हैं।

धर्मशास्त्र

संस्कृत के 'धर्म' शब्द की व्युत्पति 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है, धारण करना। किन्तु धर्म का शाब्दिक अनुवाद करके उसके समृद्ध अर्थ की सम्बंध व्याख्या नहीं की जा सकी। धर्म की अवधारणा उस तथ्य से जुड़ी हुई है कि इस ब्रह्माण्ड का संचालन कुछ नैसर्गिक नियमों के अनुसार होता है और समाज को संचालित करने वाले नैतिक नियमों का इन नैसर्गिक नियमों के साथ सामंजस्य होना आवश्यक है।

क्लासिकल ब्रह्मणवादी विचारधारा के अनुसार ऐसा माना जाता है कि धर्म समाज में रहने वाले व्यक्ति का आदर्श आचरण है। यह मानवीय जीवन के वैधानिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए धर्म का आचरण करना अनिवार्य है। मानवीय जीवन के लक्ष्य 'पुरुषार्थ' कहलाते हैं, जिन्हें धर्म (नैतिक आचरण), अर्थ (भौतिक समृद्धि), काम (दैहिक तृप्ति) तथा मोक्ष (जीवन-मृत्यु चक्र से मुक्ति) कहते हैं। अर्थ और काम को यदि धर्म के अनुरूप निर्यत्रित किया जाए तब मोक्ष की

प्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता है। धर्म की अवधारणा 'संसार' से जुड़ी है। जन्म का चक्र-जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म से एक चक्र का बोध होता है। कहा जाता है कि धर्म के आचरण से आध्यात्मिक पुण्य अर्जित होता है और जिससे अगला जन्म निर्धारित होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपना कर्तव्य पालन भी धर्म ही माना जाता है।

संस्कृत में उपलब्ध एक विशेष कोटि के ग्रंथों को *धर्मशास्त्र* की संज्ञा दी जाती है जिनमें धर्म की शास्त्रीय व्यवस्था की गई है। इन ग्रंथों को तीन समूहों में बांटा जा सकता है। इनमें से प्रथम दो धर्मसूत्र तथा स्मृति कहलाते हैं, जिसकी रचना क्रमशः ल. 600–300 सा.सं.पू. तथा ल. 200 सा.सं.पू.–900 सा.सं. की अवधि में हुई। तृतीय समूह के अन्तर्गत टीका तथा भाष्य (क्रमशः संक्षिप्त तथा बृहद् व्याख्याएँ), निबन्ध (शास्त्रों का सारांश और निष्कर्ष) तथा संग्रह (विभिन्न शास्त्रों का संकलन) को रखा गया है, जिनका रचना काल नौवीं से उन्नीसवीं शताब्दियों के बीच का है। चूँकि भाषा और शैली की दृष्टि से धर्मशास्त्र के उपरोक्त समूहों के बीच अत्यधिक समानता है, इसलिए पृथक-पृथक शास्त्रों के लिए तिथि सुनिश्चित करना कठिन है।

धर्मसूत्रों को धर्मशास्त्र के साथ-साथ वेदांग का भी अंग माना जाता है। वेदांग के अन्तर्गत कल्पसूत्र (कर्मकांडों के सूत्र) भी आते हैं, जिन्हें श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र तीन समूहों में बांटा गया है। सूत्र का शाब्दिक अर्थ धागा होता है, जो संक्षिप्त कथनों के रूप में विचार को प्रस्तुत करने की शैली है। श्रौतसूत्र वैदिक

प्राथमिक स्रोत

धर्मशास्त्र : व्यवहार और सिद्धांत

ब्राह्मण परम्परा के अन्तर्गत सिद्धांत और व्यवहार के बीच के संघर्ष को धर्मशास्त्र में देखा जा सकता है। वे समाज को चार वर्णों में तो बांटते हैं, किन्तु अनेक जातियों का भी उल्लेख करते हैं, जिनकी उत्पत्ति अन्तर्वर्णीय विवाहों के परिणामस्वरूप वर्णसंकर के रूप में बताई गई है। एक ओर अपने अपने वर्ण के धर्म का पालन करने की अनिवार्यता बतलाई जाती है तो दूसरी ओर यह भी प्रावधान रखा जाता है कि आपत की स्थिति में दूसरे वर्णों के धर्म को भी अपनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देश धर्म, जाति धर्म और कुल धर्म जैसे विभेद भी किए गए हैं। *मनुस्मृति* का संकलन ल. 200 सा.सं.पू.–ल. 200 सा.सं. के बीच हुआ है। किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार इन्हें दूसरी-तीसरी शताब्दी में लिपिबद्ध किया गया है। यहां पर *मानव धर्मशास्त्र* जो *मनुस्मृति* के रूप में अधिक जानी जाती है, के कुछ उदाहरणों का उल्लेख किया जा रहा है।

(क) *मनुस्मृति* में माँ के भाई की बेटी अथवा पिता के बहन की बेटी से विवाह करना वर्जित माना गया है। 10वीं शताब्दी में मेधातिथि की टीका में भी ऐसा ही माना गया है। किन्तु 14वीं शताब्दी में *पाराशर स्मृति* के टीकाकार माधव ने वैदिक उदाहरणों का सहारा लेते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उपरोक्त कोटि के विवाहों में कोई त्रुटि नहीं है।

(ख) *मनुस्मृति* में एक द्विज पुरुष के साथ एक शूद्र स्त्री का विवाह वर्जित माना गया है। लेकिन जहां पर सम्पत्ति के विभाजन की चर्चा की गई है, वहाँ पर एक शूद्र स्त्री तथा एक ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य पुरुष से उत्पन्न संतानों के बीच सम्पत्ति को बांटे जाने का अधिकार दिया गया है।

(ग) *मनुस्मृति* ने विधवा पुनर्विवाह की निंदा की है। लेकिन वैसी स्थिति में, जब एक स्त्री का पति गुम हो गया हो तब कुछ अवधि के बीत जाने पर उसके पुनर्विवाह का प्रावधान रखा गया है। इसके अतिरिक्त एक स्त्री तथा दो पुरुषों से उत्पन्न संतानों के उत्तराधिकार सम्बंधी अधिकार को स्वीकार किया गया है। (ऐसी संतान जिसकी माँ ने दो शादियां की हैं।)

(घ) *मनुस्मृति* में एक स्थान पर माँस भक्षण की भर्त्सना की गई है, किन्तु दूसरे स्थान पर पितरों के सम्मान में किए गए श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों को माँस परोसने की बात भी की गई है।

ऊपर दिए गए उदाहरण (क) में *मनुस्मृति* के लेखक/लेखकों तथा टीकाकार मेधातिथि ने उपरोक्त विवाह को निंदित माना है। किन्तु माधव, जिन्होंने वैसे विवाहों को वांछित माना है, वे दक्षिण भारत के थे जहां पर ऐसी शादियों की सामाजिक स्वीकृति दी गई। उदाहरण (ख) तथा (ग) में *मनुस्मृति* के लेखकों ने एक द्विज पुरुष और शूद्र स्त्री के बीच विवाह तथा विधवा पुनर्विवाह को अस्वीकार किया है। किन्तु ऐसे विवाह उनके काल में हो रहे थे, जिसके कारण उन्होंने अपने प्रावधानों में कुछ लचीलापन रखा है। इसी प्रकार उदाहरण (घ) में *मनुस्मृति* के लेखकों ने आमिष भोजन की भर्त्सना की है, लेकिन आमिष भोजन के भक्षण के यथार्थ को वे पूर्ण रूप से अस्वीकृत नहीं कर सकते।

दरअसल, धर्मशास्त्र के लेखक ऐसे सामाजिक व्यवहारों को नियंत्रित करने की चेष्टा कर रहे थे, जिनके स्वरूप बहुत विविध थे। इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित नियमों में वैसी विसंगतियाँ स्वाभाविक थीं।

कर्मकाण्ड से जुड़ा है, जिसमें कम से कम तीन प्रकार की अग्नि का उपयोग होता है। गृह्यसूत्र सरल दैनिक क्रियाओं से जुड़ा है, जिसमें एक प्रकार की ही अग्नि का उपयोग होता है। इनमें संस्कारों की विवेचना भी की गई है जो मानव जीवन से जुड़ी प्रमुख अवस्थाओं में संपन्न किए जाने वाले कर्मकाण्डों को कहते हैं, यथा—उपनयन, विवाह तथा अंत्येष्टि क्रिया। धर्मसूत्र धर्म की विवेचना करते हैं।

धर्मशास्त्रों में धर्म के तीन स्रोत माने गए हैं—'श्रुति', 'स्मृति' और 'सदाचार' अथवा 'शिष्टाचार' (सुसंस्कृत लोगों के द्वारा व्यवहृत आचार)। चूँकि वैदिक संहिताओं में आचरण सम्बंधी नियमों की कोई प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की गई है, इसलिए उपरोक्त में से धर्म के दूसरे और तीसरे स्रोत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। धर्म व्यक्ति के लिंग, आयु, वैवाहिक स्थिति, वर्ण और आश्रम पर निर्भर करता है। 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय', 'वैश्य' और 'शूद्र'— ये चार वर्ण हैं। इनमें से प्रथम तीन वर्ण को द्विज की मान्यता मिली है, क्योंकि इन वर्णों को उपनयन का अधिकार प्राप्त है, जिस संस्कार की तुलना एक द्वितीय जन्म से की जाती है। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत एक द्विज वर्ण के पुरुष के जीवन को चार आदर्श अवस्थाओं में बांटा गया है—'ब्रह्मचर्य', 'गृहस्थ', 'वानयप्रस्थ' तथा 'संन्यास'। स्त्री और शूद्रों के लिए इनका अनुसरण अपेक्षित नहीं है। चूँकि चौथा आश्रम संन्यास (संसार से स्वयं को पूर्ण रूप से पृथक कर लेना) कभी भी अनिवार्य नहीं था, इसलिए गृहस्थ आश्रम, सामाजिक जीवन की वह मुख्य अवस्था है, जिसमें प्रवेश करने की तैयारी ब्रह्मचर्य कहलाती है और जिससे स्वयं को पृथक करने की स्थिति वानयप्रस्थ कही जा सकती है। आश्रम व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था की कल्पना करती है, ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि प्राचीन भारत के लोग अपने वास्तविक जीवन में इसका अक्षरशः पालन कर रहे थे। ध्यान देने योग्य बात यह है कि, मात्र आदर्श के रूप में भी, स्त्री और शूद्र पर यह लागू नहीं था।

धर्मशास्त्रों में सामाजिक आचरण के अतिरिक्त वैसे प्रसंगों को भी नियमबद्ध किया गया है, जो दिवानी, फौजदारी तथा व्यक्तिगत कानूनों जैसे लगते हैं। लेकिन धर्मशास्त्रों में वर्णित इन नियमों को भारतीय दण्डसंहिता, भारतीय सिविल संहिता की तरह नहीं देखा जा सकता। हमारे पास ऐसा आधार नहीं है, जिनसे आकलन किया जा सके कि धर्मशास्त्र के इन नियमों का प्राचीन भारत में कितनी बाध्यता थी। धर्मशास्त्र सैद्धांतिक और निर्देशात्मक ग्रंथ हैं - इनमें ब्राह्मण धर्म-विशेषज्ञों का एक आदर्श समाज का चित्रण मिलता है।

धर्मशास्त्र में कई अंतर्विरोध दिखते हैं। इन अंतर्विरोधों में रचनाकारों के बीच में वैचारिक मतभेद देखा जा सकता है तथा परंपराओं की क्षेत्रीय भिन्नता और समय के साथ बदलते सामाजिक ढांचे व विचारों की झलक भी मिलती है। ब्राह्मणवादी परंपरा में कुछ हद तक यह विशेषता रही है कि समय के साथ बदलते हुए सामाजिक यथार्थ के अनुरूप स्वयं को बदलने का आन्तरिक लचीलापन इसने प्रदर्शित किया है।

बौद्ध ग्रंथ

प्रारम्भिक बौद्ध ग्रंथ को सामान्य दृष्टिकोण से धर्म सिद्धांत तथा धर्मसिद्धांतेतर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। किसी भी धर्म का सैद्धान्तिक संकलन उस धर्म से जुड़े मूलभूत अभिनियमों का निष्पादन करता है। विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों ने बौद्ध धर्म सिद्धांत के साहित्य को 9 अथवा 12 अंगों में तथा इनमें से कुछ ने इन्हें तीन पिटकों में बांटा है।

तिपिटक (तीन डलिया/संग्रह) के पालि, चीन और तिब्बती संस्करण हैं। थेरवाद मत की पालि *तिपिटक*, इनमें सबसे पुराना है। मगध क्षेत्र में बोली जाने वाली कई बोलियों के मिश्रण से पालि भाषा का विकास हुआ था। *तिपिटक* के तीन खण्ड हैं—सुत्त, विनय और अभिधम्म। बौद्ध सन्दर्भ में 'सुत्त' (संस्कृत में सूत्र) उन धार्मिक अभिनियमों को कहते हैं, जिन्हें बुद्ध ने स्वयं उपदेश के रूप में कहा था। *सुत्तपिटक* में बुद्ध के धार्मिक सिद्धांतों को संवाद के रूप में संकलित किया गया है। *विनयपिटक* में संघ के भिक्षु एवं भिक्षुणी के लिए बनाए गए नियमों का संग्रह किया गया है। इसमें पतिमोख (प्रतिमोक्ष) भी जुड़ा हुआ है, जिसमें संघ के अनुशासन को तोड़ने पर किए जाने वाले प्रायश्चितों की सूची दी गई है। *अभिधम्मपिटक* बाद में जोड़ा गया है। जिसमें *सुत्त पिटक* में वर्णित सिद्धांतों के सुव्यवस्थित अनुशीलन के लिए आवश्यक सूचियों के सारांश तथा प्रश्नोत्तरी का समावेश किया गया है।

तिपिटक को पुनः उपखण्डों में विभाजित किया गया है जिन्हें निकाय कहते है। निकाय बौद्ध संस्कृत परंपरा में रचित आगमों जैसे हैं, लेकिन वे एकदम समरूप नहीं हैं। सुत्त पिटक में पाँच निकाय हैं—दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर, खुद्दक। बुद्ध के पूर्व जन्मों से जुड़ी जातक कथाएं खुद्दक निकाय की पंद्रह पुस्तकों में से एक है जिनको तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी शताब्दी सा.सं. के बीच में लिपिबद्ध किया गया होगा। खुद्दक निकाय में ***धम्मपद*** (नैतिक उपदेशों का पद्यात्मक संकलन), ***थेरगाथा*** (बौद्ध भिक्षुओं के गीत) और ***थेरीगाथा*** (बौद्ध भिक्षुणियों के गीत) हैं। ***थेरीगाथा*** का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि स्त्रियों के संन्यास की अनुभूति के रूप में ये भारतीय इतिहास में उपलब्ध वैसी प्राचीनतम रचनाएं हैं, जिनको विशिष्ट रूप से स्त्री के द्वारा संकलित किया गया अथवा नारियों को इसका श्रेय दिया जा सकता है।

बौद्ध परंपरा के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के तुरन्त पश्चात्, राजगीर में बुलायी गयी प्रथम भिक्षुओं की परिषद् में और बुद्ध की मृत्यु के 100 वर्ष पश्चात् वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति में *सुत्तपिटक* और *विनयपिटक* का पाठ किया गया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के काल में बुलायी गयी तृतीय बौद्ध संगीति तक इनका संकलन जारी रहा। इस प्रकार पालि तिपिटकों का संकलन काल पाँचवी-तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. माना जा सकता है। पालि तिपिटकों को पहली शताब्दी सा.सं.पू. में श्रीलंका के शासक वत्तगामिनी की देख-रेख में पहली बार लिपिबद्ध किया गया। स्वाभाविक है तब तक इनमें काफी संशोधन किया जा चुका होगा।

पालि में संकलित धर्म सिद्धांतेतर बौद्ध साहित्य में ***मलिन्दपन्ह*** (पहली शताब्दी सा.सं.पू.-पहली शताब्दी सा.सं.) अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें इण्डो-ग्रीक शासक मिनेण्डर और बौद्ध भिक्षु नागसेन के बीच दार्शनिक बिन्दुओं पर प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। बुद्ध के उपदेशों से जुड़ी हुई पुस्तक, ***नेतिगन्ध*** या ***नेत्तिप्रकरण*** इसी काल की रचना है। पाँचवी शताब्दी में बुद्धघोष द्वारा लिखी गई तिपिटकों की व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण है। बुद्ध की जीवन कथा से सम्बंधित पहली महत्त्वपूर्ण रचना *निदानकथा* पहली शताब्दी सा.सं. में लिखी गई। श्रीलंका की पालि बौद्ध रचनाओं में *दीपवंश* (चौथी-पाँचवीं शताब्दी) तथा *महावंश* (पाँचवीं शताब्दी) ऐतिहासिक और मिथकीय विषयों का मिश्रण है जिनमें बुद्ध की जीवन कथा, बौद्ध संगीतियाँ, मौर्य सम्राट अशोक, श्रीलंका के राजवंश तथा बौद्ध धर्म का श्रीलंका में आगमन जैसे विषयों का वर्णन है।

पालि के अतिरिक्त संस्कृत अथवा बौद्ध संस्कृत (संस्कृत और प्राकृत का संयुक्त प्रयोग) में भी बौद्ध साहित्य की उत्कृष्ट परम्परा रही है। **महायान** मत के उदय के साथ बौद्ध रचनाओं के सृजन के लिए संस्कृत का उपयोग बढ़ने लगा। किन्तु सर्वस्तीवाद जैसे महानेत्तर बौद्ध संप्रदायों में भी धार्मिक सिद्धांतों का संकलन संस्कृत में हुआ है। उदाहरण के तौर पर, सर्वस्तीवाद का सिद्धांत संस्कृत में है। *महावस्तु* नामक बौद्ध ग्रंथ में महायान मत का प्रभाव है। उसमें बुद्ध के जीवन कथा का धार्मिक संस्करण उपलब्ध है। उसके अतिरिक्त संस्कृत-प्राकृत मिश्र भाषा में संघ के अभ्युदय एवं विकास की विवेचना की गई है। पहली-दूसरी शताब्दी की रचना *ललितविस्तार* में भी बुद्ध की जीवन कथा का धार्मिक संस्करण उपलब्ध है। यह रचना सर्वस्तीवाद सम्प्रदाय की होते हुए भी महायान मत से बहुत प्रभावित है। यह रचना संस्कृत तथा मिश्र संस्कृत-प्राकृत भाषा में लिखी गई। जीवन-चरित्र के धार्मिक संस्करण की इस विधा को 'हेजियोग्राफी' की संज्ञा दी गई।

संस्कृत में लिखे बौद्ध साहित्य में अश्वघोष का *बुद्धचरित* (पहली-दूसरी शताब्दी) तथा अवदान साहित्य प्रमुख हैं। नैतिक उपदेशों के साथ लिखी गई अवदान कथा की श्रेणी में *अवदान शतक* (द्वितीय शताब्दी) और *दिव्यावदान* (चतुर्थ

प्राथमिक स्रोत

बौद्ध भिक्षुणी गान

उब्बिरी के गीत

उब्बिरी श्रावस्ती की एक उपासिका (बौद्ध मत को स्वीकार करने वाली गैर-भिक्षुणी महिला) थी, जिसने निर्वाण को प्राप्त किया। उसके जीवन में महान् परिवर्तन तब आया जब उसके द्वारा अपनी जीवा नाम की बेटी की मृत्यु पर विलाप करने के दौरान उसे बुद्ध के दर्शन हुए। उब्बिरी के गीत बुद्ध और उब्बिरी के बीच के संवाद के रूप में है:

बुद्ध

माते, आप जंगलों में हे जीवा, हे जीवा कहकर प्रलाप कर कर रही है। हे उब्बिरी, आप अपने आप में लौट आइए। जीवा नाम की 84000 बेटियाँ अग्नि की चिता में जल चुकी हैं। क्या तुम उनके लिए संताप कर रही हो?

उब्बिरी

मेरे हृदय के अन्त:स्थल में एक तीर गया हुआ था, जिसको उन्होंने बाहर निकाल दिया। वह मेरी बेटी से जुड़ा दु:ख था। अब जब तीर बाहर आ चुका है तो मेरे हृदय की क्षुधा भी बुझ चुकी है। मैं बुद्ध की शरण में जाती हूँ, मैं धम्म की शरण में जाती हूँ, मैं संघ की शरण में जाती हूँ।

मित्ता के गीत

मित्ता कपिलवस्तु की एक शाक्य महिला थी। उसने अपने गीत के पहले पद्य में एक उपासिका के रूप में हुई अनुभूति को अभिव्यक्त किया है तथा दूसरे पदों में उस जीवन का वर्णन किया है, जब वह भिक्षुणी बन चुकी थी।

देवों के बीच में पुनर्जन्म लेने के लिए मैंने अनवरत उपवास रखा। दो हफ्तों तक, आठवें दिन, चौदहवें और पंद्रहवें दिन और प्रत्येक विशेष दिन सभी दिन मैंने उपवास रखा। अब मैंने अपने केश का त्याग कर दिया। मैं बौद्ध वस्त्रों को धारण करती हूँ। मैं दिवस में केवल एक बार आहार लेती हूँ। अब मैं ईश्वर बनने की कामना भी नहीं रखती। मेरा हृदय सभी चिन्ताओं से मुक्त हो चुका है।

स्रोत: मरकॉट, 1991: 81, 21

शताब्दी) प्रमुख हैं, जिनमें बुद्ध और मौर्य सम्राट अशोक से जुड़ी कथाएं संकलित हैं। पहली शताब्दी की *अष्टसहस्रिक प्रज्ञापारामिता* तथा *सद्धर्म-पुण्डरीक* में बुद्ध, बोधिसत्त्व (भविष्य में आने वाले बुद्ध) तथा महायान सिद्धांतों का वर्णन है। बाद के महायान विचारक नागार्जुन, वसुबन्धु, असंग, आर्यदेव, बुद्धपालित और दिग्नाग की रचनाएं संस्कृत में हैं। बौद्ध साहित्य, बौद्ध धर्म के इतिहास, बौद्ध सिद्धांतों, बौद्ध संगति तथा अशोक जैसे संरक्षक शासकों के वर्णन के साथ-साथ अपने समय के समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं की भी व्याख्या करने में सक्षम है। इनके द्वारा प्राचीन भारतीय अतीत को देखने के लिए एक ब्राह्मणेतर झरोखा उपलब्ध हो जाता है।

जैन ग्रंथ

जैन ग्रंथों को सामूहिक रूप से सिद्धांत अथवा आगम की संज्ञा दी जाती है। प्रारम्भिक जैन ग्रंथ अर्ध-मगधी (प्राकृत भाषा की एक पूर्वीशाखा) में उपलब्ध हैं। जैन धर्म तीसरी शताब्दी में दो शाखाओं में बंट गया—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर शाखा के धर्म सिद्धांत—12 अंग, 12 उवंग (उपांग), 10 पैन्न (प्रकीर्ण), 6 चेय सुत्त (चेद सूत्र), 4 मूल सुत्त (मूल सूत्र) में संकलित हैं। इसके अतिरिक्त *नन्दी सुत्त* (नन्दी सूत्र) तथा *अनुगोदर* (अनुयोगद्वार) जैसे अन्य संग्रह भी उपलब्ध होते हैं। जैन धर्म की दोनों शाखाओं के धार्मिक सिद्धांत पूर्णतया पृथक नहीं हैं। उदाहरण के लिए, दिगम्बर शाखा के द्वारा भी अंगों को धर्म के मौलिक स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाता है तथा उन्होंने कुछ अभिनियमों का अंगबाह्य जैसे ग्रंथों के रूप में संग्रह किया है जो श्वेताम्बर सिद्धांतों से मेल खाते हैं।

श्वेताम्बरों की मान्यता है कि अंगों का संग्रह पाटलिपुत्र में बुलाई गई एक जैन संगति में किया गया था, जबकि सम्पूर्ण जैन धर्म साहित्य को पाँचवीं-छठीं सदी में देवर्धिक्षमश्रमण की अध्यक्षता में गुजरात के वलभी नाम स्थान पर लिपिबद्ध किया गया। इन संग्रहों की कुछ सामग्रियां पाँचवीं-चौथी शताब्दी सा.सं.पू. की प्रतीत होती हैं। किन्तु मूल पाठ्य में संशोधन पाँचवीं-छठी शताब्दियों तक चलता रहा। अतः उन्हें इतिहास के स्रोत में उपयोग करने के लिए, पृथक रूप से उनके तिथि निर्धारण की आवश्यकता होगी।

धर्मेतर जैन ग्रंथ महाराष्ट्री जैसी प्राकृत भाषाओं की शाखा में तथा पहली शताब्दी के बाद संस्कृत में लिखे गए हैं। जैन धर्म के इन मौलिक ग्रंथों पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें निज्जुत्ति (निर्युक्ति), भाष्य तथा चूर्णी प्रमुख हैं जो महाराष्ट्री और प्राकृत में लिपिबद्ध हैं। पूर्वमध्युगीन जैन टीकाएँ, वृत्ति तथा अवचूर्णी संस्कृत में लिखी गई हैं। जैन पट्टावलियों में वंशावलियों की सूची है तथा थेरावलियों में जैन संतों के काल के विषय में सूक्ष्म विवेचना की गई है। किन्तु इनमें आपसी मतभेद है।

जैन पुराण (जिन्हें श्वेताम्बरों द्वारा चरित कहा जाता है), मूल रूप से जैन तीर्थंकरों की हेजियोग्राफी (संतचरित-लेखन) हैं, किन्तु इनमें बहुत सारी अतिरिक्त सामग्री भी उपलब्ध है। नौवीं शताब्दी के *आदि पुराण* में पहले जैन तीर्थंकर ऋषभ या आदिनाथ की जीवन कथा है। आठवीं शताब्दी के *हरिवंश पुराण* में कौरव, पाण्डव, कृष्ण, बलराम इत्यादि की कथाओं को जैन संस्करण में देखा जा सकता है। जिनसेन और गुणभद्र द्वारा नौवीं शताब्दी में लिखा गया *त्रिषष्ठी लक्षण महापुराण* में जैन संतों, राजाओं और नायकों की कथाएं हैं। जीवन चक्र से जुड़े कर्मकाण्डों, स्वप्नों की व्याख्या, नगर योजना, योद्धा और राजा के लिए अपेक्षित आचार जैसे विषयों के लिए पृथक अध्याय समर्पित है। हेमचन्द्र द्वारा 12वीं सदी लिखित *परिशिष्टपर्वन* में प्रारम्भिक जैन संतों के इतिहास के अलावा राजनीतिक इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है। 12वीं सदी के बाद गुजरात में लिखे गए प्रबन्धों में, जैन संतों और ऐतिहासिक चरित्रों का मिला-जुला इतिहास मिलता है। जैन कथाएं संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में उपलब्ध हैं जिनमें समकालीन संस्कृति और लोगों के दैनिक जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है। कन्नड़ में लिखे जैन साहित्य की आगे चर्चा की गई है।

जैन साहित्य के द्वारा जैन इतिहास और सिद्धांतों की विवेचना की जाती है। इनसे समकालीन भिन्नाश्रयी सम्प्रदायों के विषय में भी जानकारी मिलती है। जैन ग्रंथों से सांस्कृतिक इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर भी प्रकाश डाला जा सकता है, किन्तु बौद्ध साहित्य की अपेक्षा, अपनी प्रकृति के कारण जैन साहित्य का इतिहास के स्रोत के रूप में अब तक उपयोग नहीं किया गया है।

संगम साहित्य तथा कालांतर का तमिल साहित्य

दक्षिण भारत का प्राचीनतम साहित्य प्रारम्भिक तमिल भाषा की रचनाओं के रूप में उपलब्ध है जिन्हें संगम साहित्य के रूप में जानते हैं। सातवीं सदी की बाद की एक परंपरा में सुदूर अतीत में हुए तीन संगम (विद्वत्जनों की संगति) का वर्णन है। इनमें से पहला 4440 वर्ष पूर्व मदुरई में, दूसरा 3700 वर्ष पूर्व कपाट पुरम में और तीसरा 1850 वर्ष पूर्व पुनः मदुरई में सम्पन्न हुआ। इन किंवदंतियों को वास्तविक घटना के रूप में स्वीकार नहीं किया

जा सकता है। किन्तु रचना संग्रहों की प्रकृति से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें किसी सम्मेलन में संकलित किया गया होगा। केवल तीसरे संगम के कुछ राजाओं और कवियों की ऐतिहासिकता सिद्ध है। इस विवरण से बिलकुल अलग, एक संभावना यह बतायी जाती है कि मदुरई में पाँचवीं शताब्दी में जैन संघ का आयोजन हुआ था और संगम का मिथक, इस प्रकार की जैन संगति का एक रूपांतरण भी हो सकता है। संगम साहित्य की अपेक्षा कुछ विद्वानों ने इन्हें क्लासिकल तमिल साहित्य की संज्ञा देना अधिक तर्कसंगत माना है।

एत्तुतोकई (पद्यों का आठ संग्रह) और *पत्तुपाट्टु*(पद्यों का दस संग्रह) शीर्षक, प्रसिद्ध काव्य संग्रहों में से संगम साहित्य के अंतर्गत क्रमश: 6 और 9 पद्य संग्रह आते हैं। कुछ उपलब्ध उदाहरण तथा इनकी शैली के आधार पर इनका रचना-काल तीसरी सदी सा.सं.पू. से तीसरी शताब्दी के बीच माना जाता है। इन तमिल संग्रहों को आठवीं सदी के मध्य में लिपिबद्ध किया गया। कुछ शताब्दियों के पश्चात् इन तमिल पद्य संग्रहों का महासंग्रह या सुपर-एन्थोलॉजी के रूप में पुन: संकलन किया गया जो *एत्तुतोकई* और *पत्तुपाट्टु* के नाम से विख्यात हैं। *तोलकापियम* नामक प्रसिद्ध तमिल ग्रंथ की पहली और दूसरी पुस्तक संगम साहित्य के अंतर्गत आती है। *तोलकापियम* अनिवार्य रूप से तमिल व्याकरण की रचना है जिसमें इसके अतिरिक्त शब्द विन्यास, व्युत्पत्ति तथा पाठ्यात्मक मानकों की भी विस्तार से विवेचना की गई है।

संगम साहित्य के काव्य को दो श्रेणियों में बांटा गया है—अकम और पुरम। अकम काव्यों का मूल विषय प्रेम प्रसंग है जबकि पुरम काव्यों का विषय युद्ध है। ए.के. रामानुजन (1999) ने पुरम काव्यों को 'जन काव्य' की संज्ञा दी है जो प्रेम प्रसंगों से हटकर कई विषयों पर लिखे गए हैं, जैसे—नैतिकशास्त्र, राजनीति, समाज, शासक सभी विषयों पर। दरअसल, इन काव्यों को उन लोकगीतों तथा गाथाओं की तर्ज पर लिखा गया जिनका मौखिक, श्रुति के रूप में अनिश्चित काल से प्रचलन में रहा था। एक आकलन के अनुसार, इन पद्य संग्रहों में 30 महिलाओं सहित 473 कवियों की कुल 2381 रचनाएं हैं। इनके रचयिताओं की सामाजिक पृष्ठभूमि भी काफी विविधताओं से ओत-प्रोत है तथा उनमें शिक्षक, व्यवसायी, बढ़ई, ज्योतिषपद्, सोनार, लोहार, सैनिक, मंत्री या शासक सम्मिलित हैं।

पाँचवीं सदी के बाद बहुत सी प्रसिद्ध तमिल रचनाएं नैतिक तथा दार्शनिक उद्देश्यों से लिखी गईं। ***तिरुवल्लुवार*** की ***तिरुकुरल*** इनमें सबसे प्रसिद्ध है जिसे पाँचवीं-छठी शताब्दियों में लिखा गया। तमिल महाकाव्यों में सर्वाधिक लोकप्रिय ***शिलप्पदिकारम*** और ***मणिमेकलई*** हैं। इनका रचना काल भी पाँचवी-छठी शताब्दी माना गया है।

पूर्व मध्यकालीन तमिल साहित्य में, आलवार (वैष्णव) तथा नायनार या नायनमार (शैव) संतों की रचनाओं और उनके जीवन चरित्र का वर्चस्व रहा। वैष्णव तमिल रचनाओं का आरम्भिक लेखन पेयलवार, पुत्तलवार तथा पोइकैलवार द्वारा किया गया। 10वीं सदी में आलवार रचनाओं को नाथमुनि द्वारा संकलित किया गया जिसे *नलयिरा दिव्य प्रबन्धम* के नाम से जाना जाता है। *आलवारवैपवम* वैष्णव संतों का जीवन चरित संग्रह है। शैव भक्ति परम्परा की शुरुआत तिरूमुलार और करईकाल अम्मइयार के द्वारा की गई। नायनमार संतों के काव्य, 10वीं सदी में ही नम्बी आण्डार नम्बी के द्वारा संकलित किये गए जो 'तिरुमुरई' नाम से अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ का आधार बने। नम्बी ने ही संतों के चरित्र पर *तिरुत्तोण्डार तिरुवन्तति* नामक ग्रंथ लिखा। 12वीं सदी में शैव तमिल संतों की रचनाओं का एक और संग्रह लिखा गया—*पेरियपुराणम्।* इस श्रेणी के साहित्य में पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत का सामाजिक इतिहास भी प्रतिबिम्बित होता है।

पूर्व मध्य काल में तमिल काव्यों की एक नवीन श्रेणी का भी आविर्भाव हुआ। इनका विषय शासकों और देवताओं का प्रशस्ति गान था। इस श्रेणी के काव्य कलमपक्कम में एक रचना की अंतिम पंक्ति से ही दूसरी रचना की प्रथम पंक्ति बनती थी। 'कोवई' रचनाओं में विषय वस्तु के आधार पर पद्यों का नियोजन किया जाता था। कोवई के प्रकार की कुछ मुख्य रचनाओं में ***पंतिक्कोवई*** (छठी-सातवीं सदी) पाण्ड्य शासक नेतुमरन के सम्मान में रचित; मणिक्कवाचकर की *तिरुक्कोवइयार* (नौवीं सदी) भगवान शिव की स्तुति के लिए रचित तथा पोइयामोलिप पुलवर की *तनचईवनन कोवई* (13वीं सदी) पाण्ड्य शासक के एक सेनापति तंनचईवनन के विषय में रचित, उपलब्ध हैं। ऊला नामक लोकप्रिय रचनाएं देवताओं की प्रतिभाओं के सम्मान में निकाले गए जुलूस के दौरान स्तुति के रूप में गाई जाती हैं। 'टुटुकाव्य' कही गई रचनाएं ईश्वर या प्रेमी-प्रेयसी को दिये गए संदेश के रूप में उपलब्ध हैं। 8वीं-10वीं सदी में लिखी गई अवईयार की सुक्तियाँ और *नैतिक सूत्र* आज भी तमिल में लोकप्रिय हैं। अवईयार, इसी नाम से तीन कवयित्रियों में से दूसरी है।

रामकथा के अनेक तमिल संस्करण हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध कंबन की *इरामावतारम* है। *महाभारत* की कथाओं के भी अनेक तमिल संस्करण प्राप्त होते हैं। पूर्वमध्यकाल की व्याकरण और शब्दकोष जैसी बहुत सी अन्य तमिल रचनाएं उपलब्ध हैं।

प्राथमिक स्रोत

दो तमिल एपिक्स की कथावस्तु

उत्तर भारत के एपिक्स दक्षिण भारत में भी लोकप्रिय थे, किन्तु दक्षिण भारतीय महाकाव्यों के आख्यान *कलितोकई* और *परिपाटल* जैसी संगम तमिल रचनाओं से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

शिलप्पदिकारम (पायलों का गीत) की रचना ईलनकोवतिकल (संन्यासी राजकुमार) द्वारा की गई। इसमें 30 सर्ग हैं जिन्हें तीन खण्डों में लिपिबद्ध किया गया है। कथा का सारांश कुछ इस प्रकार है—कोवलन एक धनाढ्य व्यवसायी का बेटा था, जो अपनी पत्नी कन्नकी के साथ खुशी-खुशी पुहार में रहता था। कोवलन माधवी नाम की एक नगरवधु के प्रेम जाल में फँस गया और उसने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया। बाद में माधवी से सम्बंध विच्छेद हो जाने के बाद वह कन्नकी के पास वापस आ गया। कन्नकी ने उसका स्वागत किया और व्यापार के लिए धन एकत्र करने के लिए अपना सोने का पायल दे दिया। उनका परिवार कावुण्डी नाम की एक जैन भिक्षुणी को साथ लेकर पाण्ड्यों की राजधानी मदुरई चला गया। दुर्भाग्यवश कोवलन को रानी के पायल चुराने के आरोप में कारावास दे दिया गया, क्योंकि चोरी किया गया पायल कन्नकी के पायल के समान ही था। अंत में कोवलन को मृत्युदण्ड दे दिया गया। कन्नकी बर्बाद हो गई। बाद में कन्नकी ने अपने पायल के दूसरे जोड़े को दिखलाकर यह सिद्ध कर दिया कि रानी के पायल में मोती जड़े थे जबकि कन्नकी के पायलों में माणिक्य। राजा को एक निर्दोष को सजा देने का इतना पश्चाताप हुआ कि उसने अपने प्राण त्याग दिये। रानी भी दु:ख से मर गई। कन्नकी ने विरहाग्नि में अपना बायाँ स्तन उखाड़ डाला। मदुरई शापवश जल कर राख हो गई। कन्नकी स्वर्ग में अपने पति से जा मिली। तब से एक पतिव्रता नारी के रूप में कन्नकी की धरती पर पूजा होती है।

ज्वेलेबिल नाम के विद्वान के अनुसार, इस महाकाव्य के केंद्र में पापबोध का जटिल विवेचन है। इनके चरित्रों में मानव सुलभ हीनताएँ और अवसाद देखे जा सकते है। पायलों से जुड़ा प्रती. कात्मक विश्लेषण मुख्य है। उन नुपुरों को कन्नकी अपने अच्छे दिनों में धारण करती थी। कोवलन के जाने के बाद उसने पायल का त्याग कर दिया। पायल के कारण ही कोवलन की मृत्यु हुई। पायल ने ही सत्य का रूप धारण कर उसे निर्दोष सिद्ध किया। अंत में कन्नकी ने कोवलन से मिलन के बाद पायल का रूप धारण कर लिया। महाकाव्य का पढ़ा-लिखा संभ्रात पाठक वर्ग था, किन्तु इसमें आम आदमी के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है।

दूसरी एपिक *मणिमेकलई* के लेखक सतनार हैं तथा इसमें 30 सर्गों के अतिरिक्त एक प्रस्तावना भी है। इस महाकाव्य की कथा इस प्रकार है— राजकुमार उदयकुमार मणिमेकलई से प्रेम करता है, किन्तु मणिमेकलई को राजकुमार में अभिरुचि नहीं है क्योंकि वह एक बौद्ध भिक्षुणी बनना चाहती है। राजकुमार का ध्यान हटाने के लिए वह काया–चण्डीकाई नाम की स्त्री का रूप धर लेती है। वह मदुरई के गरीब लोगों को अपने चमत्कारी भिक्षा-पात्र से भोजन कराती है। एक बार वास्तविक काया-चण्डिकई के पति ने *मणिमेकलई* को राजकुमार के साथ देख लिया और क्रोध में आकर उसकी हत्या कर दी। इसके आरोप में *मणिमेकलई* को कैद कर बहुत-सी यातनाएँ दी जाने लगीं। जब रानी को *मणिमेकलई* के सद्चरित का अहसास हुआ तब उसने उसको मुक्त करा दिया। मणिमेकलई अंत में काँची पहुँची और वहाँ अकाल से पीड़ित लोगों को अपने चमत्कारी भिक्षा-पात्र से भोजन कराना शुरू कर दिया। उसकी बौद्ध भिक्षुणी बनने की मनोकामना अंततः पूर्ण हुई।

अपने नीरस साहित्यिक औपचारिकताओं के आलोक में, *मणिमेकलई* को *शिलप्पदिकारम* की तुलना में कमजोर माना जाता है। दूसरी ओर *मणिमेकलई* में जैन प्रभाव है जबकि *शिलप्पदिकारम* स्पष्ट रूप से बौद्ध रूझान वाला महाकाव्य है। इसके अच्छे-बुरे चरित्र बहुत सारे आयामों के साथ जीवन्त होते हैं। इन एपिक्स का आख्यान अपने महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर चमत्कृत करने वाले आलौकिक हस्तक्षेपों के साथ सामने आता है।

स्रोत: ज्वेलेबिल 1974 : 131–35, 140–42

प्रारंभिक कन्नड़ तथा तेलुगु साहित्य

पाँचवीं-छठी शताब्दी से हमें प्रारंभिक कन्नड़ साहित्य प्राप्त होता है। किन्तु कन्नड़ में उपलब्ध कवित्त पर लिखी गई सबसे पहली प्रामाणिक रचना नौवीं शताब्दी की *कविराजमार्ग* है। किन्तु इस ग्रंथ में पहले की बहुत सारी रचनाओं और उनके रचनाकारों का उल्लेख मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कन्नड़ साहित्य बहुत पहले से पल्लवित-पुष्पित होने लगा था।

कर्नाटक जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था, इसलिए स्वाभाविक है कि पूर्वमध्य काल में विकसित होने वाली कन्नड़ भाषा की अधिकांश प्रारंभिक रचनाओं पर जैन संस्कृति का प्रभाव रहा होगा। दसवीं शताब्दी के तीनों

विख्यात कवियों—पम्प, पोन्न और रन्न ने जैन पुराणों की रचना की। पम्प के द्वारा *आदि पुराण* (पहले जैन तीर्थंकर ऋषभ या आदिनाथ का जीवन चरित्र) और *विक्रमार्जुन विजय* लिखा गया। पोन्न संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं में दक्ष थे इसलिए उन्हें 'उभय-कवि-चक्रवर्ती' की उपाधि दी गई। गंग राजाओं के एक सर्वोच्च अधिकारी चावुंडराय के द्वारा *त्रिषष्ठीलक्षण महापुराण* लिखा गया, जिसमें चौबीसों जैन तीर्थंकरों का वर्णन है। 12वीं शताब्दी में नागचंद्र और अभिनव पम्प द्वारा *रामचंद्रचरित्र पुराण* लिखा गया जो रामकथा के एकाधिक जनसंस्करणों में से एक है। 12वीं शताब्दी की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाओं में नेमिनाथ की *लीलावती* का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें एक कदम्ब राजकुमार और उसके प्रेयसी की गाथा है।

दूसरी शताब्दी के अभिलेखों में प्राप्त कुछ स्थानों के नाम तेलुगु में लिखे गए हैं। किन्तु एक भाषा के रूप में तेलुगु का विकास पाँचवी-छठीं शताब्दी के बाद ही हुआ। पूर्वमध्य युग के प्रचलन के अनुरूप तेलुगु की प्रारम्भिक रचनाएं नये काव्यों के रूप में प्राप्त होती हैं। वैसे कन्नड़ साहित्य की और भी कृतियाँ होंगीं। किन्तु हमारे पास तेलुगु में उपलब्ध सबसे प्रारम्भिक रचना नन्नैय के द्वारा लिखी गयी 11वीं शताब्दी की *महाभारत* से जुड़ी रचना है जिसमें पद्य और गद्य दोनों का प्रयोग किया गया है। इसे चालुक्य राजराजनरेन्द्र के कहने पर तैयार किया गया। इस प्रकार नन्नैय ने तेलुगु काव्य परम्परा की नींव डाली और उन्हें *वागानुशसनुंडु* (बोली के निर्माता) की उपाधि दी गई है। इनकी भाषा और शैली में संस्कृत के छन्दों के अतिरिक्त प्रांजल काव्य परम्पराओं का काफी मिश्रित प्रयोग किया गया है।

नेल्लोर के एक स्थानीय शासक मनुमसिद्धि के पार्षद टिकन्न ने नन्नैय के *महाभारत* में 15 पर्व और जोड़े, और साहित्य शैली में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ लाया गया। टिकन्न ने *उत्तररामायनामु* की भी रचना की। *कुमारसंभवमु* के लेखक नन्नेचोड ने स्वयं को उरपिरू नामक स्थान का राजा कहा है। काकतीय काल तेलुगु साहित्य का परिपक्व काल माना जाता है (14वीं शताब्दी), जबकि विजयनगर के सबसे प्रसिद्ध शासक कृष्णदेव राय के काल (1509-29 सा.सं.) में तेलुगु अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

कुछ अन्य प्राचीन पाठ, जीवन-चरित और इतिहास लेख

प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे साहित्य रचनाओं का भी सृजन किया जा रहा था जो अपनी शैली, भाषा नियोजन और सौन्दर्य के लिए आज भी विख्यात हैं। इनका भी उपयोग समकालीन सांस्कृतिक इतिहास के स्रोत के रूप में इतिहासकारों द्वारा किया जाता रहा है। इस संदर्भ में अश्वघोष और भास की संस्कृत रचनाएं विशेष स्थान रखती हैं। अश्वघोष ने अपने *बुद्धचरित* को महाकाव्य की संज्ञा दी है। *सारिपुत्रप्रकरण* और *सौन्दरनंद* उनकी अन्य कृतियाँ हैं। भास के प्रसिद्ध नाट्यों में *पंचरात्र, दूतवाक्य, बालचरित* और *स्वप्नवासवदत्ता* आते हैं। किन्तु काव्य रचनाकारों में सर्वोत्कृष्ट कालिदास हैं। इन्होंने चौथी-पाँचवी शताब्दियों में *अभिज्ञान-शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय* जैसे अभूतपूर्व नाटक तथा *रघुवंश, कुमारसम्भव* और *मेघदूत* जैसे उत्कृष्ट काव्यों की रचना की। भारावि और राजशेखर जैसे रचनाकार और कवयित्री विजयंका, पूर्वमध्ययुग के प्रमुख साहित्यकार हैं।

इतिहासकारों की विशेष रुचि ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित नाटकों में रही है किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि ये साहित्य है इतिहास नहीं। सातवीं-आठवीं सदी में लिखी विशाखदत्त की कृति *मुद्राराक्षस* चाणक्य और नंद सम्राट के महामात्य राक्षस के इर्द-गिर्द घूमती है। उनकी दूसरी कृति *देवि चन्द्रगुप्त* में गुप्त सम्राट रामगुप्त का वर्णन है। पाँचवीं-छठी सदी की *पंचतंत्र* तथा 11वीं सदी की *कथासरितसागर* सर्वाधिक लोकप्रिय कहानी संग्रह हैं जिनमें पंचतंत्र की कहानियाँ रोचक होने के साथ-साथ उपदेशात्मक भी हैं।

पूर्व मध्यकाल से व्याकरण, गणित, राज्यशास्त्र, ज्योतिष, चिकित्सा, स्थापत्य और वास्तु, काव्य, नाट्य तथा दर्शन जैसे विषयों पर भी विपुल सामग्री उपलब्ध है। पाणिनि की *अष्टाध्यायी* और पंतजलि के *महाभाष्य* की अन्यत्र चर्चा की जा चुकी है। कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* प्राचीन भारत का सर्वाधिक चर्चित ग्रंथ रहा है। आर्यभट्ट की *आर्यभट्टीय* तथा वराहमिहिर की *बृहत्संहिता* खगोल शास्त्र के सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इसके अतिरिक्त *कामसूत्र* (नगरीय जीवन); *चरकसंहिता* और *सुश्रुतसंहिता* (चिकित्सा); *नाट्यशास्त्र* (नृत्य-नाट्य) तथा *शिल्पशास्त्र* (वास्तु और मूर्तिकला) जैसे विषयों पर कई कालजयी कृतियां लिखी गईं। विशिष्ट विषयों पर लिखी इन रचनाओं में बड़ी मात्रा में ऐतिहासिक सूचनाएं भी प्राप्त हो जाती हैं।

दर्शन शास्त्र पर लिखे गए ग्रंथ और उनकी टीकाओं के द्वारा उस काल की बौद्धिक अवस्था परिलिक्षित होती है। बौद्ध एवं जैन साहित्य पर पहले चर्चा की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त हिन्दू दर्शन की प्रमुख शाखाओं सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा पर बहुत सारी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। हालांकि, चार्वाक या लोकायत जैसे भौतिकवादी दर्शनों पर लिखित रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं।

प्राचीन पाठ्यात्मक स्रोतों की चर्चा करते हुए आमतौर पर ऐसे ग्रंथ छूट जाते हैं, जो किसी भी प्रमुख वर्गीकरण में नहीं समा पाते हैं। ऐसा ही एक ग्रंथ छठी से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच बंगाल में कृषि से जुड़े सभी विषयों को

समाहित करके *कृषि पराशर* नाम से लिखा गया। इस क्षेत्र में प्राचीन बंगला भाषा में *डाकरबचन* और *खानारबचन* नाम से प्रसिद्ध साहित्य भी उपलब्ध हैं। ऐसी रचनाएं सूक्तियों के रूप में लिपिबद्ध हैं जिनमें कृषि के अतिरिक्त पारिवारिक जीवन, व्याधि, ज्योतिष जैसी बहुत सारी अन्य बातों पर चर्चा की गई है।

विशेषकर पूर्वमध्य काल के राजदरबार में बहुत सारे साहित्यकारों, कवियों को राजाश्रय प्राप्त था, जिनमें से कइयों ने अपने संरक्षक राजाओं की प्रशंसा में उनकी जीवन गाथाओं की रचना की। इनमें—बाणभट्ट की *हर्षचरित* (सातवीं शताब्दी) हर्षवर्धन के विषय में, प्राकृत में वाक्पति द्वारा लिखित *गौड़वह* (आठवीं शताब्दी) कन्नौज के यशोवर्मन के बारे में, और *विक्रमांकदेवचरित* विक्रमादित्य-IV तथा अन्य चालुक्य राजाओं के विषय पर लिखी गई प्रमुख कृतियां हैं।

तमिल में लिखी राजकीय जीवन चरितों में से *नन्दिक्कलमबक्कम* (नवीं शताब्दी) पल्लव शासक नन्दिवर्मन-III की प्रशस्ति है। 11वीं शताब्दी में चेयनकोण्टार की *कलिन्कट्टुपरनी* का आधार चोल राजा कुलोतुंग तथा कलिंग राजा अनंतवर्मन चोड़गंग के बीच युद्ध का वर्णन है, जिसमें चोलों के पक्ष में लिखा गया है।

प्राथमिक स्रोत

बाणभट्ट और उसकी राजकीय आख्यायिका

बाणभट्ट का *हर्षचरित* भारत में उपलब्ध प्राचीनतम जीवन चरित है। बाणभट्ट ने अपने संरक्षक सम्राट की ओजस्वी जीवन गाथा के साथ-साथ अपने विषय में भी बहुत कुछ लिखा है। हर्ष, पुष्यभूति वंश का सम्राट था। बाण, भार्गव ब्राह्मणों की वात्सायन शाखा का ब्राह्मण था। हर्षचरित में दी गई वंशावली का आरम्भिक भाग मिथकीय प्रतीत होता है किन्तु उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिकता है।

बाण का जन्म कान्यकुब्ज क्षेत्र में अवस्थित प्रीतिकूट नामक ब्राह्मण के एक गाँव में हुआ था। उनकी माँ राजदेवी का देहांत काफी पहले हो गया तथा उनके 14 वर्ष की आयु में पिता का भी साया जाता रहा। बाण ने भर्चु नाम के एक योग्य गुरु के सानिध्य में शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। बाण का सहचर्य कवि, दार्शनिक, संत, जुआड़ी, सोनार, नर्तकी सभी प्रकार के लोगों के साथ रहा। जवानी में उनका यायावर प्रकृति का जीवन था।

बाण के अनुसार, एक बार उन्हें हर्ष के दरबार में उपस्थित होने का एक निमंत्रण पत्र मिला। दरबार में पहले से ही बाण के विषय में कानाफुसी हो रही थी। इसलिए हर्ष से उसको उचित सम्मान नहीं मिला। बाण ने स्वीकार किया कि हो सकता है, उसका प्रारम्भिक जीवन विसंगतियों से भरा हुआ हो किन्तु वह एक सम्मानित ब्राह्मण कुल से आते हैं और वर्तमान में अपनी पत्नी के साथ यथोचित जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कुछ ही दिनों में हर्ष के दरबार में बाण की ख्याति फैल गई और उन्हें श्रेष्ठ राजाश्रय प्राप्त होने लगा। बाण ने हर्ष के दरबार में ही 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' की रचना की।

बाण ने *हर्षचरित* को आख्यायिका कहा है जो इतिहास की परंपरा का अंग है। जीवन वृत्त की घटनाओं का चयन साहित्यिक है। विवरण अलंकृत भाषा में है तथा व्यंग्य का भी प्रयोग हुआ है। संस्कृत के गद्य विद्या पर बाण की पकड़ कालजयी है। अन्य राजकीय प्रशस्तियों की तरह हर्षचरित में लम्बी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। यहां उसका एक गद्यांश प्रस्तुत किया जा रहा है:

''जब राजकीय समृद्धि की देवी ने उसका आलिंगन किया, उसने उसे अपने प्रगाढ़ आलिंगन में ले लिया, अपनी भुजाओं पर उपस्थित सम्राट के चिन्हों के कारण अनिच्छा के बावजूद उसको राजगद्दी पर आरूढ़ होना पड़ा। उसने अपरिग्रह का व्रत लिया था, उसके लिए राजसुख धारदार तलवार को पकड़ने जैसा था। राजधर्म का निर्वाह करते हुए राजकीय मार्ग पर डगमगाने का निरंतर भय था। उसने सत्य की दृष्टि से अवलम्बन किया, जहां अधिकांश शासक पथच्युत हो जाते हैं। उसके द्वारा रजित होने का अभयदान प्राप्त कर ... उसके चरणों में इस प्रकार गिर पड़ता है। मानो वह दसोदिक्पालों का मूर्त रूप हो।''

कुछ विद्वानों का मन्तव्य है, कि *हर्षचरित* पूर्ण कृति नहीं है क्योंकि हर्ष का जीवन वृत्त वहीं समाप्त हो जाता है जब उसने अपनी बहन को चिता की अग्नि में आत्मदाह करने से बचा लिया तथा थानेसर और कन्नौज का दायित्व उसे लेना पड़ा। किन्तु वी.एस. पाठक ने तर्क दिया है कि यह पूर्ण कृति है क्योंकि इसमें सभी पाँच लक्षण—प्रारम्भ, प्रयास, उद्देश्य पूर्ण करने की आशा, सफल होने का दृढ़ विश्वास तथा एक उपसंहार, सभी तथ्य विद्यमान हैं। राज्यश्री हर्ष की बहन थी, लेकिन राज्यश्री की रक्षा करना प्रतीकात्मक महत्त्व भी रखता है। बाण ने हर्ष को आदर्श और अनुकरणीय सम्राट के रूप में चित्रित किया है। किन्तु जीवन कथा की घटनाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने से कुछ और बातें भी सामने आती हैं। उदाहरण स्वरूप, जहां एक ओर हर्ष और राज्यवर्धन के बीच गहरा भ्रातृत्व दिखलाया गया है वहीं उत्तराधिकार के लिए संघर्ष का भी आभास हो जाता है।

स्रोत: कॉवेल तथा थॉमस, 1993: 57; पाठक, 1966: 30-32

इसी श्रेणी में चंद-बरदाई की *पृथ्वीराजरासो* को रखा जा सकता है जो राजपूत राजा पृथ्वीराज चौहान के विषय पर ब्रजभाषा में लिखी गई है। संध्याकार नंदी के *रामचरित* में संस्कृत छन्द की एक विशेष शैली अपनाई गई है जिसमें *रामायण* की कथा और रामपाल (पाल शासक) का जीवन चरित दोनों एक साथ पढ़ा जा सकता है। यह 11वीं-12वीं शताब्दी में बंगाल में लिखी गई। 12वीं शताब्दी में हेमचन्द्र द्वारा लिखित *कुमारपालचरित* में संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग किया गया है तथा इसमें चालुक्य शासकों के साथ-साथ संस्कृत और प्राकृत भाषा के सूत्र भी पढ़े जा सकते हैं। 11वीं शताब्दी में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ-साथ फारसी इतिहास लेखन की मजबूत परम्परा की शुरुआत हुई। प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास लेखन का मुख्य उद्देश्य लेखकों के द्वारा अपनी पाठ्यात्मक क्षमता की अभिव्यक्ति करना और अपने राजकीय संरक्षकों को प्रसन्न करना ही प्रतीत होता है। इसलिए इन रचनाओं का उपयोग वर्तमान में इतिहास के स्रोत के रूप में करने के समय इन तथ्यों का ध्यान रखना जरूरी है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में 12वीं सदी के कल्हण के द्वारा लिखे गए कश्मीर के इतिहास *राजतरंगिणी* की चर्चा की गई है। कल्हण ने अपने पूर्व के इतिहासकारों का भी उल्लेख किया है। *नीलमत पुराण* के अतिरिक्त कल्हण ने 11 अन्य इतिहासकारों की रचनाओं का समावेश किया है, जिनके विषय में अन्यत्र कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन की प्रकृति

इस प्रकार हम देख चुके हैं, कि प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारतीय अतीत के अध्ययन के लिए हमारे पास बड़ी मात्रा में भिन्न-भिन्न प्रकार के समकालीन पाठ्यात्मक स्रोत उपलब्ध हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या इन रचनाओं में अतीत की स्मृति को सरंक्षित करने के उद्देश्य से इतिहास लेखन की कोई सचेतन परम्परा विद्यमान थी? रोमिला थापर (2000) ने इतिहास के दो स्वरूपों - 'अभिव्यक्त इतिहास' और 'अंतर्निहित इतिहास' के बीच उपयोगी अंतर स्पष्ट किया है। अंतर्निहित इतिहास उसे कहते हैं, जिसके अंदर से ऐतिहासिक चेतना को चुन-छांट कर निकालना पड़ता है, जैसे कि मिथक, एपिक या वंशावली, जबकि अभिव्यक्त इतिहास में एक आत्म-सचेत ऐतिहासिक चेतना एवं अधिक प्रमाण प्रतिबिंबित होते हैं। थापर ने यह भी संकेत किया है कि अंतर्निहित इतिहास लेखन अक्सर वंश-समाज से जुड़ा होता है, जबकि अभिव्यक्त इतिहास लेखन राज्य समाज से।

उत्तर वैदिक साहित्य में ऋषियों के गोत्र-प्रवर इत्यादि का वर्णन किया गया है। इस काल की कुछ रचनाओं में इतिहास के संज्ञान का अप्रत्यक्ष रूप से बोध होता है। इस श्रेणी में दान-स्तुति, गाथा तथा आख्यान आते हैं। दान-स्तुतियों में राजाओं की प्रशस्ति भी की गई है। गाथा भी, कुछ महत्त्वपूर्ण यज्ञों के दौरान राजा की स्तुति में गाई जाती थी। ब्राह्मणों तथा गृह्यसूत्रों से जुड़े कर्मकाण्ड के दौरान *नाराशंसी* वाचन होता था। आख्यान उन रचनाओं को कहते हैं जो महत्त्वपूर्ण घटनाओं के वर्णन के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। उपरोक्त रचनाएं किसी न किसी रूप में यज्ञ से सम्बन्धित थीं।

पुराणों में सन्निहित राजाओं की सूची से प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन परम्परा की अधिक पुष्टि होती है। एपिक्स को 'इतिहास' कहा गया है। इसमें किस हद तक मिथक और ऐतिहासिक तत्त्व हैं, यह विवाद का विषय है। 'सूत' तथा 'मागध' कहे जाने वाले गायकों ने ऐतिहासिक कथाओं के प्रचार-प्रसार में महती भूमिका निभाई। दक्षिण भारत में भी उनके द्वारा अपने संरक्षकों की गाथाएँ सुरक्षित रहीं। *दीपवंश* और *महावंश* मिथकीय इतिहास कोटि की रचनाएं हैं किन्तु इनमें पर्याप्त ऐतिहासिकता भी मौजूद है। बौद्ध, जैन और हिन्दू परम्पराओं में उपलब्ध धार्मिक जीवन चरितों का संकलन भी इस संदर्भ में महत्त्व रखता है।

राजकीय प्रशस्तियों में भी ऐतिहासिक तत्त्व का सम्पूर्ण लोप नहीं माना जा सकता है। राज्य के द्वारा निर्गत अभिलेखों, जिनका उद्देश्य प्रशस्ति ही रहा होगा, इनमें भी ऐतिहासिक सूचनाएं उपलब्ध हैं। *अर्थशास्त्र* तथा चीनी यात्री श्वैन ज़ंग के यात्रा-वृत्तांत में राजकीय अभिलेखागारों का उल्लेख किया गया है जो सभी भारतीय नगरों में विद्यमान थे। 11वीं सदी में अल-बरूनी की 11वीं शताब्दी की कृति *तहकीक-ए-हिंद* में, काबुल के भी शाही अभिलेखागारों की चर्चा की है। दुर्भाग्यवश, ऐसे प्राचीन अभिलेखागार अब अस्तित्त्व में नहीं हैं।

प्राचीन तथा पूर्व मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन की तुलना आधुनिक इतिहास लेखन से नहीं की जा सकती है। प्रत्येक युग में, अतीत के उन्हीं तथ्यों का चयन कर संरक्षण किया जाता है जो उनके अपने युग के आलोक में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। प्राचीन तथा आधुनिक प्रमाण की प्राथमिकताओं का एक-दूसरे से भिन्न होना स्वाभाविक है। आधुनिक इतिहासकार, किंवदंती और इतिहास में गहरा भेद देखते हैं। प्राचीन भारत की इतिहास परम्परा, धर्म और राज-दरबार के इर्द-गिर्द घूमती है। इतिहास लेखन अब अनुसंधान एवं विश्वविद्यालय और शोध के संस्थानों से जोड़ा गया है। प्राचीन पाठों में अतीत की जो समझ और प्रतिनिधित्व है, उससे आज के इतिहास लेखन की विधि तकनीक और उद्देश्य में बहुत अंतर है।

प्राथमिक स्रोत

'हिंदुओं' की लेखन कला पर अल-बरूनी की टिप्पणी

जिह्वा बोलने वाले के विचार को सुनने वाले तक पहुँचाती है, इसलिए उसकी क्रिया क्षणिक होती है। ऐसी स्थिति में श्रुति परम्परा के द्वारा अतीत की घटनाओं को अगली पीढ़ियों तक पहुँचा पाना असम्भव हो जाता, विशेष रूप से जब ऐसी दो पीढ़ियों के बीच लम्बा समयांतराल उपस्थित रहे। ऐसा कर पाना तभी सम्भव हो सका जब मानव मस्तिष्क ने लेखन कला का आविष्कार किया तथा सूचनाएं उसी प्रकार फैलने लगीं, जिस प्रकार वायु और मृतकों की आत्माएँ प्रवाहित होती हैं, इसलिए ईश्वर की स्तुति करता हूँ, जिन्होंने ऐसी सर्वश्रेष्ठ रचना की है।

प्राचीन यूनानियों की तरह हिन्दुओं को खाल पर लिखने की आदत नहीं है। सुकरात के यह पूछे जाने पर कि उन्होंने पुस्तकों की रचना क्यों नहीं की, उत्तर में उन्होंने कहा, "मैं जीवित मनुष्यों के हृदय से निकलने वाले ज्ञान को मृत भेड़ों के खाल पर हस्तांतरित नहीं करना चाहता।" इस्लाम के आरम्भिक काल में मुसलमानों में भी खाल पर लिखने का प्रचलन था। उदाहरण के रूप में, खैबर के यहूदियों एवं पैगम्बर के बीच हुई संधि तथा उनके द्वारा किसरा को लिखा गया पत्र, लिया जा सकता है। कुरान की पाण्डुलिपियाँ चिंकारा के खालों पर लिखी गई, जैसा कि तोरह की पाण्डुलिपियाँ अभी भी लिखी जाती हैं ... किर्तास (चरता) का उपयोग मिस्र में पैपिरस की छाल से निकाली जाती हैं ... कागज का निर्माण सबसे पहले चीन में शुरू हुआ। चीनी बंदियों के द्वारा कागज का उपयोग समरकन्द में शुरू हुआ और उसके बाद ये अन्य जगहों में प्रचलित हुआ, जैसी उन जगहों पर आवश्यकता पड़ी।

हिन्दुओं के देश में, दक्षिण में नारियल और खजूर के पतले वृक्ष पाए जाते हैं, जिनसे खाने योग्य फल के अलावा, लगभग एक गज लम्बे और तीन अंगुल मोटाई वाले पत्ते भी प्राप्त होते हैं। इन पत्तों को जोड़कर उनसे किताब तैयार होती है। वे इन पत्तों को ताड़ी कहते हैं तथा उन पर लिखते हैं। इन पत्तों के बीच में किताब बनाने के लिए छेद करके धागा पिरोया जाता है, जबकि मध्य और उत्तरी भारत के लोग तुज वृक्ष के छाल का उपयोग करते हैं, जो धनुष को ढकने में भी प्रयोग में आता है। यदि हम हिन्दुओं के लेखन कला या अक्षरों की बात करें, तो हमने पहले ही उल्लेख किया है कि अतीत में यह लुप्त हो गया या इसे विस्मृत कर दिया गया था। किसी ने उसकी चिंता नहीं की और जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग अनपढ़ हो गए तथा घनघोर अज्ञानता में डूब गए, और पूरी तरह से विज्ञान से विमुख हो गए। फिर पराशर के पुत्र व्यास ने 50 अक्षरों वाले वर्णाक्षरों का पुनः आविष्कार किया, जिसके लिए उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा मिली थी।

कुछ लोगों का मानना है कि आरम्भ में अक्षरों की संख्या कम थी, बाद में उनमें कुछ हद तक बढ़ोत्तरी हुई। ऐसा सम्भव है, बल्कि मैं मानता हूँ कि आवश्यक भी।

हिन्दुओं के अक्षरों की अधिक संख्या में होने के कारण की भी व्याख्या की गई है। सबसे पहले कि वे अपने प्रत्येक अक्षर को एक पृथक चिन्ह के रूप में लिखते हैं, जिसके बाद स्वर आता है, जिसे एक हमजा (विसर्ग) के द्वारा अथवा स्वर के लिए आवश्यक ध्वनि से कुछ अतिरिक्त ध्वनि के द्वारा व्यक्त किया जाता है। द्वितीयतः उनके व्यंजन एक साथ देखे जा सकते हैं जो विभिन्न भाषाओं में बिखरे रहते हैं। जिनकी ध्वनि की प्रकृति ऐसी है, जिनसे हमारी जुबान परिचित नहीं है, हम बहुत कठिनाई से उनका उच्चारण कर पाएंगे तथा उनके सजातीय युग्मों के बीच अन्तर भी नहीं कर पाएंगे।

यूनानियों की भांति हिन्दू भी बाएं से दाएँ की ओर लिखते हैं। वे एक सीधी रेखा के नीचे नहीं लिखते हैं जैसा कि अरबी लेखन में होता है। इसके विपरीत उनके द्वारा लिखे गए अक्षर सीधी रेखाओं के नीचे लिखे जाते हैं। इन रेखाओं के ऊपर केवल व्याकरण के वैसे चिन्ह लिखे जाते हैं, जिनका उपयोग उस अक्षर विशेष के उच्चारण के लिए जरूरी होता है, जिनके ऊपर उन्हें बनाया गया है...

'हिन्दुओं' की लेखन कला की विशेषताओं को बतलाने के बाद अल-बरूनी ने हिन्द भूमि में उपयोग में आने वाली विभिन्न प्रकार की लिपियों के अस्तित्व में होने की बात को स्वीकार किया—सिद्धमात्रिका, कश्मीर, वाराणसी तथा कन्नौज जैसे क्षेत्रों में प्रयोग में लाई जाने वाली सबसे लोकप्रिय लिपि; मालवा के नागर; भटिया की अर्धनागरी; सिन्ध की मालवाड़ी; कर्नाटदेश की कर्नाट; आन्ध्रदेश की आन्ध्री; द्रविड़देश की दिरवारी; लाटदेश (गुजरात) की लारी तथा पूर्वोत्तर देश की गौरी, पूर्व देश के उडुनपुर की भैक्षुकी (बौद्धों की लिपि) की चर्चा की।

स्रोत: सचाऊ, 1964: 170-73

विदेशी लेखकों के वृत्तांत

भारतीय उपमहाद्वीप कभी भी अन्य भौगोलिक क्षेत्रों से पूर्ण रूप से पृथक नहीं रहा। प्रारंभिक काल से ही व्यवसायी, यात्री, धर्मप्रवर्तक, सैनिक तथा वस्तुओं और विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। इसलिए स्वाभाविक है कि विदेशी रचनाओं में भारत का उल्लेख किया जाता था। इन रचनाओं से पता चलता है कि दूसरे भू-भाग के लोगों ने भारत को किस प्रकार देखा तथा उन्होंने अपनी रचनाओं में भारत की किन विशेषताओं का उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण समझा। इतिहासकार को वैसे कथनों के विषय में यह पता लगाना होता है कि कौन सी बातें उन्होंने सुनकर लिखा, और कौन-सी बातों को उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर लिखा। कई बार भारत के विषय में सोच-समझकर सही-सही लिखा गया और कई बार बिल्कुल त्रुटिपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया। चौथी शताब्दी सा.सं.पू. में टेसियस की *इंडिका* के द्वारा दिए गए विवरण में भारत के सम्बंध में बहुत सी कपोलकल्पित बातें लिखी गईं, जिन्हें लेखक ने ईरान में राजकीय वैद्य होते समय इकट्ठी कीं।

यूनानी स्रोतों में पाँचवीं शताब्दी सा.सं.पू. में पहली बार भारत का उल्लेख हुआ। कालान्तर में भारत के प्रति उनकी रुचि बढ़ती गई। इनमें सबसे प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में सेल्युकस निकेटर के राजदूत मेगस्थनीज की *इण्डिका* सबसे प्रसिद्ध है। यह वृत्तान्त अब लुप्त हो चुका है किन्तु बाद की यूनानी रचनाओं में इसका उद्धरण दिया जाता रहा है। द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. से द्वितीय शताब्दी सा.सं. के बीच भारत से सम्बंधित बहुत सारी यूनानी और लैटिन रचनाएं उपलब्ध हैं। इनमें एरियन, स्ट्रॉबो तथा 'प्लिनी द एल्डर' के अतिरिक्त अज्ञात लेखक की *पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी* जैसी रचनाएं प्रमुख हैं। इन रचनाओं में हिन्द महासागर के व्यापार की अधिक चर्चा की गई है।

चीन से दुर्गम स्थल मार्ग को तय कर बौद्ध ग्रंथों की प्रामाणिक पाण्डुलिपियाँ देखने, भारत के बौद्ध भिक्षुओं के दर्शन करने और बौद्ध तीर्थस्थलों तथा अध्ययन केन्द्रों को देखने के लिए प्राचीन काल से बहुत से चीनी यात्री आते रहे हैं। इनमें से सबसे प्रसिद्ध फ़ा श्यैन और श्वैन ज़ंग हैं। फ़ा श्यैन ने 399-414 सा.सं. के बीच उत्तर भारत में भ्रमण किया। श्वैन ज़ंग ने 629 सा.सं. से लेकर 10 वर्षों तक सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। यीजिंग ने सातवीं शताब्दी में 10 वर्षों तक नालन्दा महाविहार में प्रवास किया। इन बौद्ध यात्रियों के वृत्तान्तों में बौद्ध धर्म का इतिहास तो है ही, साथ-साथ अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है।

अरबों के व्यापक राजनीतिक प्रभुत्व, इस्लाम द्वारा उनका एकीकरण, नगरीय केन्द्रों का विस्तार और खलीफाओं के द्वारा दिये गए संरक्षण का एशिया और यूरोप के बौद्धिक चिन्तन और तकनीकी विकास पर कालजयी प्रभाव पड़ा। नौवीं सदी के अबासिद खलीफा अल-मामुन ने बगदाद में *बयत-अल-हिकमा* नाम की एक अकादमी की स्थापना की जहां दर्शन और विज्ञान पर यूनानी, फारसी और संस्कृत भाषाओं में उपलब्ध ग्रंथों का अरबी भाषा में अनुवाद करने का एक महत्त्वाकांक्षी प्रयोग किया गया। अरबी भाषा में सन्निहित लचीलेपन की वजह से विज्ञान एवं तकनीकी की उन्नत शब्दावली के विकास में बहुत सहायता मिली। इससे भी अधिक, अरबी प्रभुत्वशाली वर्ग की बोल-चाल की भाषा थी, जिसके कारण प्राचीन ग्रंथों का ज्ञान अब सैद्धान्तिक रूप से एक बड़े क्षेत्र में सभी के लिए उपलब्ध हो गया। विभिन्न संस्कृतियाँ अपने भौगोलिक क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र में फैलने लगीं। लोक संस्कृति के तत्त्वों का भी प्रसारण होने लगा। उदाहरण के लिए, अरबी भाषा में लिखी *कलिला-वा-दिम्ना* में भारत सहित विभिन्न जगहों की लोक कथाओं का संकलन किया गया।

आरम्भ में, अरबी विद्वानों ने यूनानी ज्ञान को बहुत तरजीह दी, किन्तु जयहानी, गर्दीज़ी और अल-बरूनी ने अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण का परिचय दिया। अबु रिहन या अल-बरूनी, ख्वारिज़्म या खीव (आधुनिक तुर्कमेनिस्तान) का रहने वाला था। इसे पूर्व मध्ययुग का सबसे चर्चित विद्वान माना जा सकता है। उसके द्वारा लिखी गई 180 पुस्तकों में से केवल 40 उपलब्ध हैं। अल-बरूनी ने भारत के प्राचीन ग्रंथों को उनकी मूल भाषाओं में पढ़ने तथा वहाँ के लोगों के विषय में प्रत्यक्ष अनुभव करने के उद्देश्य से भारत की यात्रा की। उसकी *तहकीक-ए-हिन्द* में भारतीय लिपियों, विज्ञान, भूगोल, खगोल शास्त्र, ज्योतिष, दर्शन, साहित्य, धर्म, उत्सव, कर्मकाण्ड, सामाजिक संरचना और कानून जैसे विविध विषयों पर लिखा गया है। 11वीं सदी के भारत के अध्ययन के लिए अल-बरूनी के वृत्तांत का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके अलावा उसकी सहायता से ही आधुनिक इतिहासकारों ने गुप्त काल की प्रारम्भिक तिथि का आकलन किया। *तहकीक-ए-हिन्द* के अनुसार, गुप्त-सम्वत् की शुरुआत शक-सम्वत् के 241 वर्ष बाद हुई। शक-सम्वत् 78 सा.सं. में शुरू हुआ जिससे गुप्त-सम्वत् की शुरुआत 319-20 सा.सं. स्वीकार की गई। पूर्व मध्ययुग में अरबी भाषा में बहुत सारे भौगोलिक और यात्रा वृत्तांत लिखे गए। इनमें से कुछ में जैसे सुलेमान के यात्रा वृत्तांत में भारत के विषय में लिखा गया। ऐसा उल्लेख स्वाभाविक था क्योंकि भारतीय और अरब, व्यापारी हिन्द महासागर के व्यापार में सक्रिय थे। इन वर्णनों में व्यापार के अतिरिक्त भारत के राजनीतिक इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया।

पूर्व मध्ययुगीन मध्य और पश्चिम एशिया के राजदरबारों तथा कुलीन संस्कृति की भाषा फारसी थी। अनेक फारसी रचनाओं में भारत का उल्लेख किया गया है। अज्ञात लेखक की *चचनामा* में यह वर्णन है कि किस प्रकार सातवीं

सदी के मध्य में चच नाम के ब्राह्मण ने सिन्ध की राजगद्दी पर कब्जा कर लिया तथा इस पुस्तक में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरबों द्वारा सिन्ध विजय का भी वर्णन मिलता है। फारसी की फिरदौसी रचित काव्य *शाहनामा* तथा सुविख्यात कवि सादी की रचना *गुलिस्तां* में भारत के व्यापार की यत्र-तत्र चर्चा की गई है।

भारत का आरंभिक अतीत और पुरातत्त्व

(Archaeology and the Early Indian Past)

भौतिक अवशेषों द्वारा अतीत के अध्ययन को 'पुरातत्त्व' कहते हैं। इस दृष्टि से पुरातत्त्व और इतिहास के बीच सीधा सरोकार है। विशाल राजप्रासादों और मंदिरों के भग्नावशेष से लेकर दैनिक जीवन के उपयोग में आने वाली मृद्भाण्ड के ठीकरों तक का पुरातत्त्व में महत्त्व है। पुरातत्त्व स्थापत्य संरचना, मानव निर्मित उपस्कर, पुष्प-पराग, अस्थि, मुद्रा, सिक्के, प्रतिमाएँ, अभिलेख सभी अध्ययन के विषय हैं।

इतिहासकारों, मानवशास्त्रियों और पुरातत्त्वविदों के द्वारा 'संस्कृति' की समझ के अंतर्गत मनुष्य द्वारा अधिगत व्यवहारों के वैसे सभी प्रतिमान आते हैं, उनके सोचने का ढंग, कार्य करने की शैली, जिन्हें उसने उन सामाजिक समूह से सीखा है, जिसका वह सदस्य है। पुरातत्त्व में भौतिक 'संस्कृति' के अध्ययन के लिए कुछ विशेष शब्दावलियों का प्रयोग होता है, जैसे—आर्टिफैक्ट, इण्डस्ट्री और असैम्बलेज। आर्टिफैक्ट, मानव निर्मित वहनीय वस्तु जैसे, मृद्भाण्ड तथा औज़ार इत्यादि को कहते हैं। इण्डस्ट्री का तात्पर्य है: एक ही पदार्थ के बने समान प्रकार के आर्टिफैक्ट्स (जैसे, लघु-औज़ार उद्योग, ब्लेड उद्योग तथा तक्षणी उद्योग)। किसी स्थान पर पाई गई समूची इण्डस्ट्रीज को असैम्बलेज कहते हैं। किसी क्षेत्र में जब अलग-अलग स्थानों पर समरूपी असैम्बलेज मिलती है तब उन स्थलों को एक 'पुरातात्त्विक संस्कृति' के सदस्यों के रूप में देखा जा सकता है।

भौतिक अवशेषों से मानव सभ्यता को समझने में बहुत सहायता मिलती है। इसके लिए यह पर्याप्त नहीं होता कि किसी प्रस्तर के औज़ार अथवा प्राप्त मृद्भाण्ड का वर्णन कर दिया जाए। चुनौती यह होती है कि उस औज़ार या मृद्भाण्ड से जुड़े उन लोगों के बारे में समझा जा सके, जिन्होंने उनको बनाया और उसका इस्तेमाल किया। मानव के द्वारा निर्मित प्रत्येक उपस्कर का एक विशिष्ट सांस्कृतिक सन्दर्भ होता है। इस प्रकार पुरातत्त्व के द्वारा भी संस्कृति के विविध आयामों की विवेचना की जाती है। भौतिक अवशेषों से पुनर्निर्मित की गई संस्कृति की अवधि सामान्य ऐतिहासिक घटनाओं की अपेक्षा बहुत लम्बी होती है। पुरातात्त्विक संस्कृतियाँ राजवंशों के उदय और पतन से कोई सम्बंध नहीं रखतीं।

फील्ड ऑर्कियोलॉजी का सम्बंध पुरातात्त्विक स्थल (साइट्स) के अन्वेषण और उत्खनन से सम्बंध रखता है। पुरातात्त्विक स्थल से तात्पर्य उस स्थान का होता है, जहां से प्राप्त भौतिक अवशेषों के माध्यम से मानवीय अतीत को चिन्हित किया जाता है। ऐसे पुरातात्त्विक स्थलों पर जहां बहुत लम्बी अवधि तक मानव सभ्यता मिट्टी तथा ईंटों से बने घरों में निवास करती है, टीले के रूप में विद्यमान होते हैं। संरचनाओं के पुनर्निर्माण तथा सदियों तक उन पर मलबों, वायु द्वारा लाई गई बालू का राशियों तथा तलछटों के एकत्रित होने से पुरातात्त्विक टीले बन जाते हैं।

अधिकांश पुरातात्त्विक स्थल आकस्मिक रूप से चिन्हित किए जाते हैं, हालांकि पाठ्यात्मक स्रोतों के आधार पर सावधानीपूर्वक किए गए क्षेत्रीय या स्थानीय सर्वेक्षणों के माध्यम से भी पुरातात्त्विक स्थलों को ढूँढ़ निकाला जाता है। कभी-कभी हवाई छायांकन की भी सहायता ली जाती है। भूमि में दबे हुए कुछ स्थल लौह श्लाका के प्रयोग से भी चिन्हित किए जा सकते हैं। लैण्डसैट जैसे उपग्रहों द्वारा लिए गए दूरसंवेदी चित्रों के माध्यम से भी पुरास्थलों की खोज की जा सकती है। ऐसे दूरसंवेदी छायांकन के माध्यम से प्राचीन नदियों की पुराप्रवाहों, नहरों तथा भूमि में दबी हुई पुरानी सभ्यताओं का पता लगाया जा सकता है।

पुरातात्त्विक स्रोत और साक्ष्य अनिवार्य रूप से प्राचीन लोगों की भौतिक संस्कृति का संपूर्ण चित्र उपस्थित नहीं कर पाते हैं। पुरातात्त्विक संग्रहों में आमतौर पर ऐसी चीजें शामिल होती हैं, जिन्हें या तो फेंक दिया गया था, या खो गए थे, छुप गए थे, स्मृति से बाहर हो गए थे या फिर जाने-अनजाने उस समय पीछे छोड़ दिए गए थे, जब उनका समूह कहीं और बसने जा रहा था। इसलिए उनके जीवन की समस्त भौतिक विशिष्टताएं जिवित नहीं रह सकी हैं।

पुरातात्त्विक पुनर्निर्माण, भौतिक अवशेषों की प्राप्ति के परिमाण और उनके संरक्षण की अवस्था पर निर्भर करता है। संरक्षण की स्थिति प्राकृतिक कारकों पर भी निर्भर करती है, जैसे—मौसम और मिट्टी। पत्थर और धातु से बनी हुई वस्तुएं पुरातात्त्विक दृष्टि से अधिक समय तक संरक्षित रहती हैं। प्रस्तरकालीन मानव ने हड्डी

अथवा लकड़ी से बने औज़ारों का भी प्रयोग किया होगा, किन्तु अधिकांश उपलब्ध सामग्री पत्थर के बने औज़ार ही होते हैं। उष्णकटिबंधीय क्षेत्र में भारी वर्षा, अम्लीय मिट्टी, गर्म मौसम तथा सघन वनस्पति पायी जाती है जो पुरातात्त्विक संरक्षण की दृष्टि से अनुपयुक्त होती है। बाढ़, भूकम्प, तीव्र वर्षा, ज्वालामुखी जैसे प्राकृतिक कारकों से भी पुरास्थल नष्ट हो सकते हैं, किन्तु उनसे भी अधिक भवन-निर्माण, सड़क और नहरों की खुदाई, ऐसे स्थलों को क्षति पहुँचाने में अधिक सक्षम होते हैं।

पुरास्थलों का कभी-कभी सतह के सावधानीपूर्वक सर्वेक्षण के द्वारा अध्ययन किया जाता है और कभी-कभी इसके लिए खुदाई की जाती है। पुरास्थलों का उत्खनन केवल यह देखने के लिए नहीं किया जा सकता है कि वहाँ क्या उपलब्ध है बल्कि उसके स्तर विन्यास (स्ट्रैटीग्रफी) की सम्पूर्णता में अध्ययन किया जाता है। पुरातत्त्व में स्तर विन्यास के अध्ययन के लिए आधारभूत सिद्धांत यह है कि नीचे के स्तर, प्राचीनतर संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए किसी भी पुरातात्त्विक सामग्री के स्तर विन्यास का विश्लेषण करना सबसे आवश्यक होता है। इसके लिए प्राप्त सामग्री के स्तर का शिनाख्त करना और उस स्तर से प्राप्त अन्य सामग्रियों का विश्लेषण करना सम्मिलित होता है।

उत्खनन सामान्यत: दो प्रकार से किया जाता है—(1) क्षैतिज उत्खनन तथा (2) लम्बवत् उत्खनन। क्षैतिज उत्खनन के अन्तर्गत बड़े क्षेत्र में खुदाई की जाती है (जबकि लम्बवत् उत्खनन में सीमित क्षेत्र का ऊपर से नीचे तक उत्खनन किया जाता है तथा सतर्कतापूर्ण अभिलेख, मानचित्र रेखन, छवि चित्र (फोटोग्राफी), अंकन और हस्त-कृतियों के संरक्षण की सहायता से, उत्खनन कार्य संपन्न किया जाता है। उत्खनन की प्रक्रिया में प्रत्येक सतह पर प्राप्त सामग्री नष्ट हो सकती है। उत्खनन के प्रकाशन का अभिलेखन भी महत्त्वपूर्ण है अन्यथा पुरातात्त्विक ज्ञान उन पुरातत्त्वविदों तक ही सीमित रह जाएगा जो उस उत्खनन से जुड़े हैं।

हस्तिनापुर टीला

तालिका 1.1: **हस्तिनापुर का सांस्कृतिक स्तर-विन्यास**

स्तर	तिथि	सांस्कृतिक संदर्भ संकेत
V	11वीं सदी के अंत से 15वीं सदी तक	लोहित मृद्भाण्ड (पहले युगों से भिन्न), चमकीले-मृद्भाण्ड, पुष्पीय चित्रंकनयुक्त। ईंटों का पुनः उपयोग। चार उपनस्तर चिन्हित। लौह निर्मित काँटी, तीराग्र, भालाग्र, हँसिया, हरी पत्तर इत्यादि। पार्वती और ऋषभदेव की प्रस्तर प्रतिमाएँ, मृणमूर्तियाँ, काँच की चूड़ियाँ, आदि। मध्यम चरण से बलबन (1266-87) का एक सिक्का।
स्थान परित्यक्त		
IV	प्रारंभिक दूसरी सदी सा.सं.पू. से तीसरी सदी के अंत तक	लोहित मृद्भाण्ड पर छापे हुए रूपांकन, लाल पर काले रंग के मृद्भाण्ड (ऊपरी सतह में), पक्की ईंटों के घर ($14^1/_2 \times 9 \times 2^1/_2$ इंच), फर्श के लिए वर्गाकार ईंटों ($11 \times 11 \times 4$ इंच) का प्रयोग। सात उप-स्तर चिन्हित। ताम्र निर्मित वस्तुएं। लौह उपकरण यथा काँटी, कुल्हाड़, हँसिया, तांबा। साँचे में ढली मृणमूर्तियाँ (बंसहा, बैल, इत्यादि), चक्के, बैलगाड़ी, मनौती तालाब और बोधिसत्त्व मैत्रेय की सिरविहीन मूर्ति। अंगूठी और मनके। उत्कीर्ण मृद्भाण्ड तथा एक मुहर। मथुरा के शासकों के सिक्के तथा कुषाण राजा वासुदेव के नकली सिक्के।
स्थान परित्यक्त		व्यापक अग्नि काण्ड के प्रमाण
III	प्रारंभिक छठी सदी सा.सं.पू. से तृतीया सदी सा.सं.पू.	उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (NBPW) धूसर मृद्भाण्ड तथा गैरिक मृद्भाण्ड। ईंटों और सदी सा.सं.पू. पक्की ईंटों के मकान ($17.5 \times 10 \times 2.7$ इंच)। ईंटों की नालियाँ। चूड़ियों वाले कप। लौह तीराग्र, छेनी, और हँसिया। आहत तथा अनुत्कीर्ण सिक्के। मानव और पशुओं (विशेषकर हाथियों की) मृणमूर्तियाँ। क्वार्ट्ज और करनेलियन के मनके। स्वर्ण, चालसीडोनी, ताम्र तथा कांसे से बनी अंगूठियां।
स्थान परित्यक्त		गंगा में भीषण बाढ़ के प्रमाण
II	ल. 1100-800 सा.सं.पू.	चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW), काले छापेदार मृद्भाण्ड, लाल छापेदारमृद्भाण्ड, मिट्टी के गिलावे पर बने मकान, दीवारों पर मिट्टी का लेप, फूस की छत। पकी हुई ईंट का एक टूटा रूप, ताम्र उपकरण। ऊपरी सतहों पर लौह मिट्टी से निकली राख। चर्ट और जैसपर के भार, कांच की चूड़ियाँ। पशुओं की मृणमूर्तियाँ। हड्डी की सुई। जले हुए अनाज। अश्व, सुअर, मवेशी की हड्डियाँ।
स्थान परित्यक्त		
I	1200 सा.सं.पू. से पहले	गेरूए रंग के मोटी गढ़न वाले मृद्भाण्ड (OCP)। कोई संरचना नहीं मिली। शायद इसलिए कि अध्ययन सीमित क्षेत्र में किया गया। सघन बस्तियां नहीं थीं।
प्राकृतिक मिट्टी		

नोट: हस्तिनापुर पुरातात्त्विक स्थल उत्तर प्रदेश के मेरठ जिला में पड़ता है (लाल, 1954-55)। यहां प्राप्त सांस्कृतिक स्तर चार अंतरालों को छोड़कर 1200 सा.सं. पू. से लेकर 1500 सा.सं. तक विस्तृत है। इन सांस्कृतिक स्तरों को I से V तक बांटा गया जिसे ऊपर की तालिका में नीचे से ऊपर की ओर निर्दिष्ट किया गया है। इस लम्बी कालावधि में सभ्यता के प्रमुख तथ्यों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। ऊपरी गंगा मैदान के अन्य पुरातात्त्विक स्थलों का प्रतिनिधित्व, हस्तिनापुर के स्थल के द्वारा होता है।

पुरातत्त्व के क्षेत्रीय सर्वेक्षण के अन्तर्गत वर्तमान में उत्खनन से जुड़े व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को समझने पर जोर दिया जा रहा है। पुरातत्त्वविदों के द्वारा कम क्षतिपूर्ण पुरातात्त्विक प्रविधियों का अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है जिनमें दूर संवेदी छायांकन और क्षेत्रीय सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण है। क्षेत्रीय सर्वेक्षण के अन्तर्गत सतर्कता के साथ पैदल घूमकर खोज की जाती है तथा इस क्रम में सतह पर प्राप्त पुरातात्त्विक महत्त्व की सामग्रियों का पता लगाया जाता है।

वैसे तो पुरातत्त्ववेत्ता का अध्ययन भूमि से जुड़ा रहता है, किन्तु अब सागरतल सर्वेक्षण की लोकप्रियता भी बढ़ती जा रही है। समुद्र में डुबे जहाजों का अध्ययन बहुत से देशों में किया जाने लगा है। भारत में, द्वारका के समीप समुद्र की गहराइयों में पौराणिक नगर-बन्दरगाह की खोज की गई है। सागर में छिपी सभ्यता का पता लगाने के लिए विशेष वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। साइड स्कैन विद्युतीय मापक यंत्र से समुद्रतल की

बंगरण द्वीप, लक्षद्वीपः काम पर लगा एक सामुद्रिक पुरातत्त्ववेता; प्राचीन लंगर

तस्वीरें ली जाती हैं। समुद्रतल में धातु-अभिज्ञापक यंत्र का भी प्रयोग किया जाता है। गुजरात में हुए द्वारका और बेटद्वारका के तटों पर सागरतल पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के द्वारा सुरक्षा प्राचीरों और अन्य जलमग्न अवशेषों का अध्ययन किया गया है, जिनकी तिथि 1500 सा.सं.पू. अनुमानित की गई है।

पुरातत्त्व में प्रयुक्त वैज्ञानिक तकनीक

अतीत के मानव समुदाय की जीवन पद्धति के बारे में सूचना एकत्र करने के लिए पुरातत्त्वविद अनेक प्रकार के वैज्ञानिक तकनीकों का उपयोग करते हैं। विशेषकर पुरातात्त्विक सामग्रियों के तिथि निर्धारण के लिए इनका उपयोग किया जाता है। अधिकांश तिथि निर्धारण की विधियाँ रेडियोधर्मी विघटन के सिद्धांत पर आधारित होती हैं। 'कार्बन-14' तिथि निर्धारण की विधि इनमें सबसे लोकप्रिय तथा त्रुटिहीन मानी जाती है। इसके अतिरिक्त 'उष्मादीप्ति विधि' (थर्मोल्युमिनिसेंस), पोटाशियम आर्गन विधि, इलेक्ट्रॉन घूर्णन अनुनाद विधि, यूरेनियम शृंखला विधि तथा विखण्डन-अनुक्रम विधि का भी प्रयोग होता है।

पुरातात्त्विक सामग्रियों के विश्लेषण के लिए प्रयुक्त माप-पद्धति और वैज्ञानिक अनुप्रयोगों को 'पुरातत्वमिति' या 'आर्कियोमेट्री' की संज्ञा दी गई है। मृद्भाण्ड तथा धातु की वस्तुओं के रासायनिक विश्लेषण से यह पता लगाया जा सकता है कि उनका निर्माण किस प्रकार किया गया था। धात्विक उपस्करों तथा उनके अयस्कों के बीच किये गए तुलनात्मक अध्ययन से यह पता लगता है कि उनके अयस्क का स्रोत क्या था। किसी स्थान की मिट्टी के रासायनिक विश्लेषण से उस स्थान पर संभावित मानवीय उपस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। पशुओं के मल-मूत्र उत्सर्ग की अधिकता से किसी स्थल पर नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ जाती है। महाराष्ट्र के इनामगाँव स्थित, ताम्र-पाषाण स्थल के घरों में यह पाया गया कि मकान के कमरों की अपेक्षा आँगनों की मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा अधिक थी। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मवेशियों को आँगन में रखा जाता था।

'जीवाश्म-विज्ञान' (पेलियॉन्टॉलोजी) के अंतर्गत अति प्राचीन जीवश्मों का अध्ययन किया जाता है। आण्विक जीव विज्ञान तथा डी.एन.ए अध्ययन के द्वारा मानवीय (होमिनिड) विकासानुक्रम को समझने का प्रयास जारी है। अतीत में मानव कैसा दिखलाई पड़ता था? मानवीय प्रवर्जन का क्या स्वरूप था? इन प्रश्नों का भी हल निकाला जा रहा है। हड्डियों की किसी स्थान पर उपस्थिति से उनके रसोई, कसाईखाना, औज़ार निर्माण या मृत पशुओं के ढेर के होने का अनुमान लगाया जा सकता है। पशु की हड्डियों का अध्ययन 'जन्तु सम्बंधी' (फौनल) विश्लेषण कहलाता है जिससे मुनष्य द्वारा आखेट किये जाने वाले या पालतू बनाए जाने वाले जानवरों का भी अनुमान लगाया जा सकता है। इनके बीच हड्डियों के आधार पर विभेद किया जा सकता है। कृषि कार्य या बोझ उठाने के कार्यों में प्रयुक्त पशुओं की हड्डियों के जोड़ जुड़े होते हैं। जन्तुओं के अवशेषों से पर्यावरण के विषय में भी अनुमान लगाया जा सकता है, जैसे—पुरातात्त्विक स्थल की जलवायु, वनस्पति तथा मौसम नक्षत्रों की जानकारी मिल सकती है। कभी-कभी जन्तुओं की हड्डी की उपस्थिति समुदायों के बीच सम्बंध की ओर इंगित कर सकती है। उदाहरण के लिए, समुद्री मछलियों की हड्डियों और शीपों को इनामगाँव में चिन्हित किया गया, जबकि यह स्थान समुद्र से 200 कि.मी. दूर है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका समुद्र के तटवर्ती समुदायों से सम्बंध रहा होगा।

ऐसा पाया गया है, कि मनुष्य की दन्त्य संरचना उसके जीवन निर्वाह की पद्धति और भोजन निर्माण के तरीके पर निर्भर करती है। मनुष्य की हड्डियों की ट्रेस एलिमेंट एनालिसिस और दाँतों के एनामिल का स्कैनिंग इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कॉपिक (SEM) विश्लेषण के द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि उसका भोजन क्या था और वे किस प्रकार की पोषण सम्बंधी अपूर्णता के शिकार थे। पुरा-विकृति विज्ञान या 'पुरा-रोग विज्ञान' (पैलियो-पैथैलॉजी) के द्वारा पुरामानव की हड्डियों का अध्ययन कर यह पता लगाते हैं कि उन्हें किस प्रकार का रोग या विकृति थी। मनुष्य की हड्डियों के विश्लेषण से जनसंख्या का आकार, घनत्व,

अतिरिक्त चर्चा

रेडियोकार्बन तिथि-निर्धारण

सन् 1949 में रसायनशास्त्री विलर्ड लिबी के द्वारा रेडियोकार्बन तिथि-निर्धारण विधि का आविष्कार किया गया। पुरातत्त्व में तिथि-निर्धारण के लिए इसका सबसे अधिक उपयोग होता है। वायुमण्डल में कार्बन-12 (सी-12 सामान्य कार्बन) तथा कार्बन-14 (सी-14 कार्बन का एक रेडियोधर्मी समस्थानिक) के बीच का अनुपात अपरिवर्तनशील रहता है। अंतरिक्षीय विकिरण का वायुमण्डल में विद्यमान नाइट्रोजन के साथ प्रतिक्रिया होने से कार्बन-14 का निर्माण होता है। प्रकाश संश्लेषण के दौरान वनस्पतियों के द्वारा वायुमण्डल से कार्बन डाइऑक्साईड का अवशोषण होता है। इसी प्रक्रिया के दौरान वनस्पतियों के द्वारा कार्बन-14 के अवशोषण की प्रक्रिया भी रुक जाती है जिसके पश्चात् प्रत्येक 5,730 वर्षों के बाद विद्यमान कार्बन-14 के आधे भाग का विघटन हो जाता है (जिसे कार्बन-14 का 'अर्धजीवन काल' कहते हैं)। जीवाश्म में बचे कार्बन-14 के परिमाण की गणना के द्वारा यह पता लगा सकते हैं कि उसकी मृत्यु कब हुई थी अर्थात् उसका क्या काल था। रेडियोकार्बन विधि का प्रयोग लकड़ी, काठकोयला, हड्डी अथवा शंख इत्यादि अनेक कार्बनिक सामग्रियों के तिथि निर्धारण के लिए किया जा सकता है।

तिथि-निर्धारण के लिए प्रयुक्त अन्य वैज्ञानिक विधियों की तरह कार्बन-14 पद्धति से भी यथातथ्य की अपेक्षा सन्निकटस्थ तिथि का आकलन किया जाता है। इसके तिथि निर्धारण में सम्भावित त्रुटि के लिए एक मानक विचलन का निर्धारण किया जाता है। उदाहरण के लिए, 2500 ± 100 BP (वर्तमान से पहले) का तात्पर्य है, 2600 से 2400 वर्ष BP(वर्तमान से पहले)। कभी-कभी 1950 सा.सं. को आधार वर्ष (या एक वर्ष) के रूप में मानते हैं (जब रेडियोकार्बन तिथि विधि का आविष्कार हुआ था)। न्यूनतम मानक विचलन की प्राप्ति के उद्देश्य से कभी-कभी पुरातत्ववेत्ता एकाधिक तिथियों का चयन कर उनका सामान्यीकरण करते हैं। कितनी बार रेडियोकार्बन तिथि से वास्तविक तिथि का बहुत अन्तर होता है। इसका कारण कुछ भी हो सकता है यथा नमूना का त्रुटिपूर्ण होना या प्रक्रिया सम्बंधी कोई दोष।

वैज्ञानिकों द्वारा यह भी अनुभव किया जा चुका है कि वायुमण्डल में रेडियोकार्बन का परिमाण उतना भी सुनिश्चित नहीं रहा जितना पहले माना जाता रहा है। इन्होंने वृक्ष-वलय तिथि-निर्धारण के द्वारा रेडियोकार्बन विधि की अपेक्षा अधिक शुद्ध तिथियाँ प्राप्त की हैं। इसलिए रेडियोकार्बन तिथि को कैलेन्डर तिथि में परिवर्तित करने के लिए कुछ अंशशोधन (कैलिब्रेशन) आवश्यक होता है। यहां कैलेन्डर तिथि का तात्पर्य ईसा पूर्व या ईस्वी सन् तिथियों से है। ऐसे अंशशोधन के लिए प्रयुक्त विधि में संशय होने के कारण उपरिशोधित तिथियों का ही प्रकाशन कर दिया जाता है। फिर भी कुछ परिशोधित तिथियों की तैयार की गई तालिका सामान्यतया स्वीकार की जाती है।

रेडियोकार्बन तिथि पद्धति से, हमारे प्राचीन संस्कृतियों से जुड़ी कालावधि की समझ में नाटकीय बदलाव आया है। किन्तु रेडियोकार्बन तिथियों में जो अंतर देखा जाता है, उसका मुख्य कारण है कि उनमें से कुछ तिथियाँ परिशोधन के बाद और कुछ उपरिशोधित ही प्रकाशित कर दी जाती हैं। इन सबके बाद भी रेडियोकार्बन तिथि-निर्धारण में व्यक्तिगत निर्णय और व्याख्या की गुंजाइश रह जाती है। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारे समक्ष किसी नमूने के सम्बंध में बहुत-सी रेडियोकार्बन तिथियाँ प्राप्त हों तब उनमें से किसको स्वीकार किया जाए? इसके लिए पुरातत्त्ववेत्ताओं के द्वारा मानक विचलन, सामान्यीकरण इत्यादि का प्रयोग कर एक परिशोधित रेडियोकार्बन तिथि तय कर दी जाती है। इस प्रकार पुरातत्त्वविदों को विवेक और चयन का उपयोग करना पड़ता है। पुरातत्वविदों के द्वारा की गई रेडियोकार्बन तिथि की व्याख्या उनके उस सांस्कृतिक संदर्भ के विस्तृत ज्ञान पर निर्भर करती है।

मृत्युदर, प्रजनन क्षमता तथा आयुसीमा का भी अनुमान किया जा सकता है। चूँकि पोषण के आधार पर सामाजिक अवस्था का भी अनुमान लगाया जा सकता है, इसलिए पुरुष और महिला की हड्डियों में विद्यमान पोषक तत्त्वों के विश्लेषण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि क्या समुदायों के बीच वर्ग विभाजन था या नारी-पुरुष के बीच क्या सामाजिक भेद था? किन्तु उपरोक्त वैज्ञानिक पद्धतियों में विशेष प्रकार की प्रयोगशालाओं, महँगे उपकरणों तथा प्रशिक्षित वैज्ञानिकों की आवश्यकता पड़ती है।

पर्यावरण केवल मानव जीवन की पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि वे मानवीय अनुभूति का अभिन्न अंग है। मनुष्य और प्रकृति के सम्बंध से यह तय होता है कि उस पर्यावरण में मनुष्य क्या करता है और किस प्रकार सोचता है? इसलिए अतीत में मनुष्य किस पर्यावरण में निवास कर रहा था, प्राग् इतिहास, आध इतिहास और इतिहास के लिए यह जानना बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पुरातत्त्व में भी अब मनुष्य और उसके पर्यावरण के बीच सम्बंध

तालिका 1.2: **पुरातत्त्व में प्रयुक्त कुछ तिथि-निर्धारण पद्धतियाँ**

तिथि निर्धारण पद्धति	प्रयुक्त सामग्रियां	समय-सीमा/न्यूनतम समय
कार्बन-14	कार्बनिक सामग्रियां (पुरातात्त्विक) जैसे—लकड़ी, वानस्पतिक अवशेष, हड्डी, बीज, चारकोल	पचास हजार से अस्सी हजार वर्ष पूर्व
उष्मादीप्ति (थर्मोल्युमिनिसेंस)	मृद्भाण्ड, टेराकोटा (मृणमूर्तियाँ) अकार्बनिक सामग्रियां जिन्हें 500°C से अधिक गर्म किया गया	पचास से अस्सी हजार वर्ष पूर्व से भी पहले
पोटाशियम-ऑर्गन	ज्वालामुखीय चट्टानें जो एक लाख वर्ष से अधिक पुरानी हो	सैकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व
इलेक्ट्रॉनिक चक्रण अनुनाद	हड्डी, शंख	सैंकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व
यूरेनियम श्रृंखला	कैल्शियम कार्बोनेट युक्त चट्टानें	पचास हजार से पाँच लाख वर्ष पूर्व
उपघटन (फिशन) ट्रैक	कुछ प्रकार की चट्टानें और खनिज, कांच, अभ्रक इत्यादि	तीन लाख से करोड़ों वर्ष पूर्व
पुरातत्त्वीय चुम्बक मापक	चुम्बकीय अवशेष, लावा 650°C-700°C तक तपी मिट्टी	पुरातन ढेरो टीलों के लिए, हजारों लाखों वर्ष पूर्व
एमिनो अम्ल विश्लेषण	हड्डी	एक लाख वर्ष या उससे कम
वृक्ष-वलय तिथि निर्धारण	उष्णकटिबंधीय जलवायु के बाहर स्थित वनस्पति (लकड़ी)	आठ हजार वर्ष या उससे कम
इन्फ्रारेड प्रेरित दीप्ति	निचली स्तरों के अवशेष तलछट जिनके ऊपरी अवशेषों तलछट की स्तरे पड़ी हों	इस प्रविधि का विकास प्रक्रियाधीन है, सत्रह हजार वर्ष पुरानी सामग्रियों के लिए उपयुक्त। यह कार्बन-14 से अधिक सटीक मानी जाती है।

को जानने की जिज्ञासा बढ़ती जा रही है। पर्यावरणीय पुरातत्त्व वह शाखा है जिसमें यह अध्ययन किया जाता है कि मनुष्य ने स्वयं को अपने पर्यावरण के साथ किस प्रकार ढालने का प्रयत्न किया तथा उसने किस प्रकार उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया? पुरावनस्पति विज्ञान के अंतर्गत पुष्पपराग विश्लेषण तथा अन्य सूक्ष्म वानस्पतिक अवशेषों यथा बीज, चारकोल, भू-तात्त्विक स्तर इत्यादि का अध्ययन किया जाता है।

पुरातात्त्विक सूचनाओं की व्याख्या

पुरातत्त्व में भी व्याख्या का उतना ही महत्त्व है, जितना पाठ्यात्मक स्रोतों के विश्लेषण में है। जिस प्रकार इतिहास लेखन की बदलती हुई प्रवृत्तियों को चिन्हित किया जा सकता है उसी प्रकार पुरातत्त्व के अध्ययन में भी रुझान बदलते रहते हैं। सन् 1960 के दशक में सांस्कृतिक इतिहास के मानदण्डों को नवीन पुरातत्त्व (न्यू ऑर्कियोलॉजी) तथा प्रक्रियावाद (प्रोसेसुअलिज्म) के नाम से विख्यात पुरातात्त्विक अध्ययन की एक नई प्रवृत्ति ने चुनौती दी। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत संस्कृति और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को 'साकल्यवादी' (एक समन्वित दृष्टिकोण) से देखने का प्रयास किया गया। विशेष रूप से मनुष्य का पर्यावरण और पर्यावरण के साथ मनुष्य की अनुकूलन क्षमता तथा अन्य बिन्दुओं को इसके अंतर्गत अध्ययन का प्रयास किया गया। इस दृष्टि से मानवशास्त्र से इसकी विषय-वस्तु मिलती-जुलती थी। किन्तु व्याख्या, सामान्यीकरण और सैद्धांतिकरण जैसे औपचारिक बिन्दुओं पर बहुत बल दिया गया। इसकी प्रतिक्रिया में 'उत्तर-प्रक्रियावादी अध्ययन' का प्रचलन शुरू हुआ। इस प्रवृत्ति के अध्ययन में अतीत के अत्यंत वस्तुनिष्ठ अध्ययन की सम्भावना पर प्रश्न चिन्ह लगाया जाने लगा। किन्तु इनकी भी भौतिक संस्कृति के अध्ययन की प्रवृत्ति जटिल ही मानी जाएगी। उनका मानना था कि भौतिक संस्कृति का उपयोग सामाजिक समुदायों के द्वारा केवल अपनी अभिव्यक्ति के लिए नहीं किया जाता, बल्कि बहुत बार सामाजिक सम्बंधों की वास्तविकता को छुपाने के लिए भी किया जाता है।

पुरातत्त्व के द्वारा जो इतिहास हमें प्राप्त होता है वह प्राय: अनाम इतिहास होता है, जो सांस्कृतिक प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालता है, न कि ऐतिहासिक घटनाओं पर। प्राग्ऐतिहासिक काल के अध्ययन के लिए पुरातत्त्व ही एकमात्र साधन है, जिसमें मानव सम्भयता के अतीत का अधिकांश भाग निहित है। पुरातत्त्व के द्वारा ही उन संस्कृतियों का भी अध्ययन होता है, जिनकी लिपियाँ अभी नहीं पढ़ी गईं। दुर्भाग्यवश जब पाठ्यात्मक स्रोत उपलब्ध होते हैं तब इतिहासकार पुरातत्त्व का उपयोग केवल एक द्वितीयक स्रोत के रूप में करने लगता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के समक्ष भी आज यह चुनौती है कि इसके व्यापक ऐतिहासिक आख्यानों की पुष्टि, पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर की जा सके। पुरातत्त्व के द्वारा ही मानव सभ्यता के उन पहलुओं पर भी प्रकाश डाला जा सकता है जो सामान्यता पाठ्यात्मक स्रोतों में अनछुए रहे। उदाहरण के लिए, अतीत में जीवन-निर्वाह के लिए उगाए जाने वाले वनस्पति, कृषि-उपकरण, आखेट तथा पशुपालन के लिए चयनित किए गए जन्तु–ऐसी बातें पुरातत्त्व से ही स्पष्ट

हो सकती हैं। पुरातत्त्व के द्वारा तकनीकी विकास का भी इतिहास समझा जा सकता है। विनिमय तथा व्यवसाय के लिए उपयोग किए गए मार्ग, व्यापार तथा अतीत के समुदायों के बीच अन्तर्सम्बंध-इन विषयों के अध्ययन के लिए भी पुरातत्त्व अधिक सहायक होता है।

वर्तमान में 'संज्ञानात्मक पुरातत्त्व' (कॉग्निटिव ऑर्कियोलॉजी) की लोकप्रियता बढ़ी है, जिसके अन्तर्गत विचार, आस्था और धर्म जैसे विषयों का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि, प्राचीन और पूर्व मध्यकालीन भारत के सन्दर्भ में पर्याप्त धार्मिक ग्रंथ उपलब्ध हैं, किन्तु धर्मों के मात्र पाठों पर आधारित अध्ययन के द्वारा बहुत सारे तथ्य समझे नहीं जा सकते जिनकी हमें जिज्ञासा होती है। इस दृष्टि से प्राचीन धर्मों से सम्बंधित भौतिक प्रमाण काफी महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

पुरातात्त्विक आंकड़ों को इतिहास में रूपान्तरित करने के समक्ष बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। यह आवश्यक नहीं है कि पुरातात्त्विक संस्कृति किसी भाषा-समुदाय, राजनीतिक इकाई अथवा कुल या जनजाति, जैसे किसी सामाजिक समूह से सीधा सरोकार रखती है। भौतिक संस्कृति, विशेषकर मृद्भाण्ड संस्कृति में हुए परिवर्तनों की व्याख्या करना बहुत सरल नहीं है। प्राचीन भारत के पुरातत्त्व के सम्बंध में भी इन प्रश्नों को अभी तक ठीक ढंग से सम्बोधित नहीं किया जा सका है।

नृजाति-पुरातत्त्व विज्ञान (एथ्नो-आर्कियोलॉजी)

नृ-जाति वर्णन या एथ्नोग्राफी वर्तमान की संस्कृतियों और समुदायों का अध्ययन है। नृजाति-पुरातत्त्व विज्ञान वर्तमान के समुदायों के लोकव्यवहार और जीवन-शैली का अध्ययन करता है, जिसका उद्देश्य अतीत के समुदायों से जुड़े पुरातात्त्विक प्रमाणों की व्याख्या करना होता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में अतीत की बहुत सारी परम्पराएं आज भी जीवित हैं–जिसे विशेष रूप से कृषि, पशुपालन, स्थापत्य, खान-पान और पहनावे में देखा जा सकता है। वर्तमान के हस्तशिल्पियों द्वारा प्रयुक्त तकनीक के आधार पर प्राचीन शिल्पकारों की पद्धति का अनुमान लगाया जा सकता है। शिल्प निर्माण में तकनीक के अतिरिक्त बहुत सारी अन्य प्रक्रियाएं भी जुड़ी होती हैं, जैसे— शिल्पकारों की सामाजिक संरचना, उनकी आस्थाएँ और मान्यताएँ जो उनके शिल्प से जुड़ी होती हैं, उत्पादित शिल्प का विपणन, शिल्पकारों और व्यवसायियों के बीच सम्बंध अथवा शिल्पकारों और क्रेताओं के बीच सम्बंध, ऐसे ही कुछ विषय हैं। नृजाति-पुरातत्त्व विज्ञान ऐसे प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए, वर्तमान के गुजरात के खम्बात क्षेत्र में उपरत्न (कार्नेलियन) के मनके बनाने की परम्परा जीवित है। इसके अध्ययन से हड़प्पा काल में प्रचलित मनके बनाने की प्रक्रिया का अनुमान लगाया गया तथा इस समुदाय की सामाजिक संरचना का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

इतिहास के कई रिक्त स्थानों को भरने में, एथ्नो-आर्कियोलॉजी की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। उदाहरण के लिए, पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इसके माध्यम से, प्राचीन काल में जीवन-निर्वाह और हस्त-शिल्प सम्बंधी गतिविधियों में महिलाओं की भूमिका का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। आधुनिक युग में मौजूद आखेटक-संग्राहक तथा झूम-कृषि का व्यवहार करने वाले समुदायों के अध्ययन से अतीत के उन समुदायों की गतिविधियों का अनुमान लगा सकते हैं, जो जीवन निर्वाह की समान पद्धतियों का प्रयोग कर रहे थे। इन अध्ययनों से यही पता चलता है कि जन-जातीय समुदायों का जीवन कभी एकाकीपन में नहीं बीता तथा उन महत्त्वपूर्ण सूत्रों को भी चिन्हित किया, जिनके माध्यम से लोगों ने एक समुदाय के रूप में अपना भोजन प्राप्त किया और अपनी पहचान बनाई। किंतु नृजाति-पुरातत्त्वशास्त्र के साक्ष्यों का उपयोग करने में सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। यह पुरातात्त्विक तथ्यों की व्याख्या के लिए सुझाव तथा संकेत दे सकता है, हमेशा निश्चित निष्कर्ष नहीं। वर्तमान तथा अतीत के संदर्भों की भिन्नता को हमेशा ध्यान में रखना जरूरी है।

हड़प्पा से प्राप्त कार्नेलियन के आभूषण

शोध की नई दिशाएँ

तकनीक की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

गुंदियाली और लोड़ई, गुजरात के कच्छ क्षेत्र में स्थित, कुम्हारों के दो गाँव हैं। अर्चना चोकसी ने अपने अध्ययन में तकनीक से जुड़े सामाजिक व सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की विवेचना की है तथा इस क्रम में उन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है जिन्हें पुरातत्त्वविद और इतिहासकारों को प्राचीन मृद्भाण्ड परम्परा के अध्ययन के दौरान अवश्य ध्यान में रखना चाहिए:

(1) इन दोनों गाँवों में विभिन्न आकार के पात्र प्राप्त किए गए हैं। किसी बर्तन का आकार उसके उपयोग पर निर्भर करता है। अनाज जैसी सूखी सामग्रियों को रखने के लिए बड़े मुँह वाले बर्तन का उपयोग होता है, जिससे एक हाथ आसानी से उसमें घुसाया जा सके। पानी ढोने वाले बर्तन का मुँह अपेक्षाकृत छोटा होता है, जिससे पानी कम से कम छलके। भोजन पकाने वाले बर्तनों का मुँह काफी बड़ा होता है, जिससे अन्दर की सामग्री को आसानी से मिलाया जा सके तथा ऐसे बर्तनों की मोटाई अधिक होती है, जिससे गर्म अवस्था में उनका उपयोग किया जा सके। खाने वाले पात्र पतले और खुले हुए होते हैं जिससे उनका स्थायित्व बना रहता है। इसलिए यदि पात्र के उपयोग और उसके आकार में सम्बंध को समझा जा सके तब पुरातत्त्वविद् इन स्थलों से प्राप्त बर्तन के उपयोग को समझ सकेंगे।

(2) गुंदियाली और लोड़ई में उत्पादित बर्तनों में विभिन्नता है। इसका कारण है कि गुंदियाली गाँव में अधिकांशत: कृषक, मजदूर और रोजगार करने वाले लोग बसते हैं, जबकि लोड़ई में केवल कृषक और पशुपालक निवास करते हैं। इन दोनों समुदायों की जीवन-शैली और आवश्यकताएँ अलग-अलग हैं और इसलिए वे पृथक-पृथक आकार के पात्रों का इस्तेमाल करते हैं। कुम्हार वैसे ही पात्रों का निर्माण करते हैं, जैसा कि ग्राहक की आवश्यकता होती है तथा ग्राहक की पात्र की आवश्यकता उसके पेशे, परिवार या सामाजिक स्थिति से प्रभावित होती है। किसी स्थान से प्राप्त मृद्भाण्डों की प्राप्ति से वहाँ के सामाजिक और आर्थिक संगठन का अनुमान लगाया जा सकता है।

(3) ऐसा पाया गया कि गुंदियाली और लोड़ई के कुम्हार अपने मिट्टी के बर्तनों के आकार में बदलाव लाने की ओर रुझान नहीं रखते। इनके आकार में बदलाव तभी होगा जब सामाजिक-आर्थिक दशा में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। जैसा कि नगरीय रसोईघर की आवश्यकता के अनुरूप कुछ पात्रों में बदलाव आया भी है, फिर भी इनके अलंकरण का तरीका नहीं बदला। मृत्तिका-शिल्प की प्राचीन परम्परा में निरंतरता और बदलावों को इन तथ्यों के आधार पर समझा जा सकता है।

***स्रोत*:** चोकसी 1995
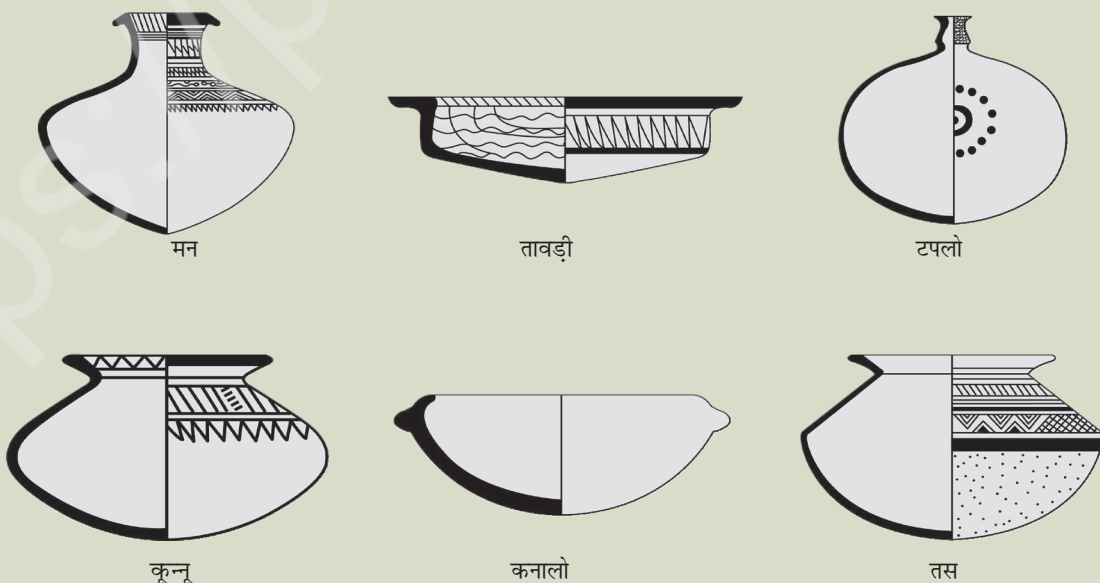
चित्र 1.3: **गुंदियाली तथा लोड़ई से प्राप्त मटके**

पुरातात्त्विक स्थलों का संरक्षण

गांवों और नगरों के विस्तार की प्रक्रियाओं से पुरातात्त्विक स्थलों पर संकट के बादल मँडराने लगे और इसलिए इन सांस्कृतिक धरोहरों का संरक्षण बहुत महत्त्व रखता है। 'सैल्वेज ऑर्कियोलाजी' या 'भ्रंशोद्धार पुरातत्त्व' विज्ञान ऐसे संकटग्रस्त स्थलों को चिन्हित करने और उनको नष्ट होने से बचाने का काम करता है। कुछ दशक पहले जब कृष्णा नदी पर नागार्जुन सागर बाँध का निर्माण हुआ तब आंध्रप्रदेश के गुंटुर जिले के नागार्जुनकोंडा पुरातात्त्विक स्थल का अधिकांश भाग जलमग्न हो गया। किन्तु ऐसा होने के पहले 1954-60 के बीच भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के योग्य अधिकारियों ने इस स्थल को न केवल चिन्हित किया बल्कि स्थल का उत्खनन और दस्तावेजीकरण भी किया। उनका दूसरा कदम स्थल के भ्रंशोद्धार की एक महती योजना को अंजाम देना था। यहां स्थित 8-9 सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संरचनाओं को सावधानीपूर्वक नागार्जुनकोंडा पहाड़ी के ऊपर विस्थापित कर दिया गया। चौदह अन्य संरचनाओं की प्रतिकृति वहाँ पर निर्मित कर दी गई। इस प्रकार के बड़े पुरातात्त्विक स्थलों के भ्रंशोद्धार की योजनाओं के अतिरिक्त पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में ऐसे असंख्य छोटे-छोटे पुरातात्त्विक महत्त्व के स्थल फैले हुए हैं जिन पर ध्यान जाना भी आवश्यक है। कम से कम इनका दस्तावेजीकरण करना तो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दरअसल, पुरातात्त्विक धरोहरों की रक्षा का दायित्व केवल सरकार अथवा भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण जैसी बड़ी संस्थाओं का ही नहीं है, बल्कि आम आदमी को इसके महत्त्व का आभास होना चाहिए जो अतीत से जोड़ने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं।

नागार्जुनकोंडा में भ्रंशेद्धार कार्य प्रगति पर

पुरालेखशास्त्र: अभिलेखों का अध्ययन (एपिग्रफी)

(Epigraphy: The Study of Inscriptions)

प्राचीन एवं पूर्वमध्यकालीन लेख

अभिलेखों या पुरालेखों तथा सिक्कों को पुरातत्त्वविज्ञान के अधीन रखा गया है, किन्तु दोनों का पृथक अस्तित्व है। अभिलेखों का अध्ययन 'पुरालेखशास्त्र' या 'एपिग्रफी' कहलाता है। अभिलेख का तात्पर्य किसी भी सतह या पटल पर उत्कीर्ण लेखन से है। यह सतह पत्थर, काठ, धातु, हाथी दाँत, ताम्र प्रतिमा, ईंट, मृद्भाण्ड, शंख इत्यादि कुछ भी हो सकता है। इसके अंतर्गत जहां एक ओर पुरालेखों की गूढ़लिपि का अर्थ निरूपण किया जाता है वहीं दूसरी ओर उनमें उपलब्ध सूचनाओं का विश्लेषण किया जाता है। पुरालेखशास्त्र में प्राचीन लिपियों का अध्ययन (पेलियोग्रफी) भी शामिल है।

भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे प्राचीन हड़प्पा लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, जबकि पढ़ी जा चुकी प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि चौथी शताब्दी सा.सं.पू. की है। मौर्य सम्राट अशोक के अभिलेख अधिकांशत: इन्हीं लिपियों में, ब्राह्मी लिपि और प्राकृत भाषा में है। अभी तक हड़प्पा लिपि और ब्राह्मी अथवा खरोष्ठी के बीच कोई सम्बंध स्थापित नहीं किया जा सका है। अत: इतनी लम्बी अवधि के बीच लेखन के अस्तित्त्व का रहस्य अनसुलझा रह गया है। वैदिक साहित्य में कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से लेखन पर कोई चर्चा नहीं की गई। फिर भी कुछ विद्वान उनके छन्द, व्याकरण और भाषा सम्बंधी शब्दावलियों अथवा उत्तरवैदिक काल के जटिल गणितीय गणनाओं के आधार पर मानते हैं कि लेखन का प्रचलन रहा होगा।

जे.एफ. फ्लीट (1847-1917), औपनिवेशिक भारत के अग्रणी पुरालेखवेत्ता

लेखन के सम्बंध में प्रचीनतम चर्चा अथवा लिखित दस्तावेजों का कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वप्रथम पालि में लिखे गए बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त होता है। जातक कथा और *विनयपिटक* इसके

डी.सी. सरकार (1907-85), एक अग्रणी पुरालेखवेत्ता और विद्वान

सबसे प्रारम्भिक प्रमाण हैं। पाणिनि की *अष्टाध्यायी* में पहली बार 'लिपि' शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्राह्मी लिपि में निर्गत अशोक के अभिलेख, इस लिपि की विकसित स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए निश्चित रूप से कुछ शताब्दी पूर्व तक इस लिपि का विकास हो चुका था। अभी हाल में श्रीलंका के अनुराधापुर से कुछ ऐसे प्रमाण लिखे हुए मिले हैं जो मौर्य काल के पूर्व की ब्राह्मी में हैं। यहां से प्राप्त चौथी शताब्दी सा.सं.पू. के मिट्टी के कुछ टूटे बर्तनों पर ब्राह्मी लिपि में कुछ नामों को उत्कीर्ण पाया गया।

लिपियाँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की हैं। लोगोग्राफिक लिपि में एक शब्द किसी लिखित प्रतीक से व्यक्त होता है। सिलेबिक लिपि में एक शब्दांश प्रतीक के द्वारा व्यक्त होता है और एल्फाबेटिक लिपि जिसमें एक स्वर या ध्वनि प्रतीक में व्यक्त की जाती है। ऐल्फाबेट में सामान्य रूप से स्वर और व्यंजनों का स्वतंत्र अस्तित्त्व होता है। किन्तु ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों की विशिष्ट स्थिति है क्योंकि इन्हें 'अर्ध-अक्षरात्मक' या 'अर्ध वर्णमालात्मक' कहा जा सकता है।

सिन्धु, स्वात और काबुल नदी घाटियों से बना भारतीय उपमहाद्वीप का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा खरोष्ठी लिपि का केंद्र रहा है जिसे प्राचीन काल में गंधार क्षेत्र के रूप में जाना जाता था। अशोक के अभिलेख के शहबाजगढ़ी और मानसेहरा संस्करण खरोष्ठी लिपि में निर्गत किये गए थे। कालांतर में खरोष्ठी लिपि का उपयोग उत्तर भारत में इन्डो-ग्रीक, इन्डो-पार्थियन और कुषाण शासकों के काल में देखा जा सकता है। गांधार क्षेत्र के बाहर मध्य एशिया के कुछ क्षेत्र में भी इस लिपि का प्रयोग मिलता है। ऐसा अनुमान है, कि दाएँ से बाएं की ओर लिखी जाने वाली इस लिपि का उद्भव उत्तरी सेमिटिक लिपि अरमेइक से हुआ था। किन्तु बाएं से दाएँ की ओर लिखी जाने वाली ब्राह्मी लिपि के उद्भव के विषय में कुछ सटीकता से नहीं कहा जा सकता है। इसके स्थानीय से लेकर अरमेइक तक के सम्बंधों पर विवाद बना हुआ है। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में मूलभूत अंतर है, अत: दोनों के एक स्रोत से उद्भव की बात मान्य नहीं है। दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि प्राय: दक्षिण एशिया की सभी लिपियों की मातृ लिपि बनी तथा इसने मध्य और दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिकांश लिपियों को प्रभावित किया।

ब्राह्मी लिपि के उत्तरोत्तर अवस्थाओं का प्रमुख राजवंशों के आधार पर नामकरण किया गया है, जैसे—अशोक कालीन ब्राह्मी, कुषाण ब्राह्मी तथा गुप्त ब्राह्मी। पुरालेख विशेषज्ञ डी.सी. सरकार ने उत्तर भारत में ब्राह्मी लिपि के इतिहास की विवेचना करते हुए इसकी तीन अवस्थाओं को चिन्हित किया है—आरम्भिक ब्राह्मी (तीसरी से पहली सदी सा.सं.पू.), मध्य ब्राह्मी (पहली सदी सा.सं.पू. से तीसरी शताब्दी तक) तथा उत्तर ब्राह्मी (चौथी से छठी सदी)। छठी शताब्दी में गुप्त ब्राह्मी ही सिद्धमातृका या कुटिल नाम की एक लिपि के रूप में विकसित हो गई। इसके प्रत्येक अक्षर का निचला दाहिना हिस्सा नुकीले कोण के रूप में लिखा जाता है। इसी काल के बाद से लिपियों का क्षेत्रीकरण भी होने लग गया।

वर्तमान उत्तर भारत की सारी लिपियाँ सिद्धमातृका से ही विकसित हुई हैं। नागरी या देवनागरी लिपि ने लगभग 1000 सा.सं. में अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया। 10वीं से 14वीं शताब्दियों के बीच गौड़ी या प्राचीन बंगला लिपि के नाम से एक पूर्वी लिपि का विकास हुआ। इसके बाद असमी, बंगला, उड़िया और मैथिली लिपियों का विकास होता चला गया (14वीं-15वीं सदी)। इसी काल में कश्मीर और इसके आस-पास के क्षेत्र में शारदा लिपि का उद्भव हुआ।

तमिल भाषा में प्राचीनतम लिपियाँ (प्राकृत के आंशिक प्रभाव से युक्त) मदुरई के आस-पास की गुफा आश्रयनियों पर उत्कीर्ण की गई हैं। इन्हें तमिल-ब्राह्मी की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि तमिल भाषा को ब्राह्मी से विकसित एक लिपि में लिखा गया है। इरावथम महादेवन (2003) ने तमिल-ब्राह्मी लिपि के विकास के दो चरणों को चिन्हित किया है—आरम्भिक, तमिल-ब्राह्मी (दूसरी सदी सा.सं.पू. से पहली सदी तक) तथा उत्तर तमिल-ब्राह्मी (दूसरी सदी से चौथी सदी सा.सं. के बीच)।

पूर्व मध्यकाल में दक्षिण की तीन लिपियों का विकास हुआ—ग्रंथ, तमिल और वट्टेलुत्तु। इनमें से प्रथम का उपयोग संस्कृत के लिए और दूसरे-तीसरे का उपयोग तमिल भाषा के लिए किया गया। तमिल लिपि सर्वप्रथम सातवीं सदी में पल्लव राज्य में उपयोग में आई। आधुनिक तेलुगु और कन्नड़ लिपियाँ सबसे पहले 14वीं-15वीं सदी में अस्तित्व में आईं। इसी समय ग्रंथ लिपि से मलयाली लिपि का भी उद्भव हुआ।

प्राचीन अभिलेखों में से कुछ में एक ही भाषा को लिखने के लिए दो अलग-अलग लिपियों का उपयोग हुआ। ऐसे सभी उदाहरण उत्तर-पश्चिम से प्राप्त हुए हैं जिनमें ब्राह्मी-खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग हुआ है। दक्षिण में पात्तदकल से चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन II के काल से लम्बे अभिलेखों का प्रचलन शुरू हुआ। इनकी भाषा संस्कृत है तथा लिपि सिद्धमातृका के अतिरिक्त प्रारंभिक तेलुगु-कन्नड़ लिपि है।

प्राचीन तथा पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों की भाषा

अशोक के अभिलेखों सहित प्राचीनतम ब्राह्मी अभिलेखों की भाषा प्राकृत है, जिसे 'मध्य इन्डो-आर्य' भाषा भी कहा जाता है। पहली से चौथी शताब्दियों के बीच अधिकांश अभिलेखों की भाषा संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है। सबसे प्रारम्भिक, पूर्ण रूप से, संस्कृत भाषा के अभिलेख पहली शताब्दी सा.सं.पू. से प्राप्त होती है, पश्चिमी क्षत्रप शासक रूद्रदामन के जूनागढ़ के अभिलेख में पहली बार संस्कृत के एक लम्बे आलेख का परिचय मिलता है। प्रायः तीसरी शताब्दी के पश्चात् उत्तर भारत के अभिलेखों के संदर्भ में संस्कृत ने प्राकृत का पूरी तरह से स्थान ले लिया।

दक्षिण भारत के दक्कन और सूदूर दक्षिण में नागार्जुनकोंडा (आंध्र प्रदेश) जैसे स्थानों में संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं के अभिलेख तीसरी और चौथी शताब्दियों से प्राप्त होने लगे। बाद में इन अभिलेखों पर संस्कृत का प्रभाव बढ़ने लगा। इस दृष्टि से चौथी-पाँचवीं शताब्दियों को संक्रमण काल माना जा सकता है, जब संस्कृत-प्राकृत के द्वि-भाषीय अभिलेख प्राप्त होते हैं। इसके बाद प्राकृत प्रायः प्रयोग से बाहर चली गई।

चौथी से छठी शताब्दियों के बीच संस्कृत संपूर्ण भारत में राजकीय अभिलेखों की भाषा के रूप में स्थापित हो गई। दरअसल, इस काल में संस्कृत न केवल भारतीय उपमहाद्वीप में, बल्कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य क्षेत्रों में भी कुलीन संस्कृति, राजनीतिक सत्ता और धार्मिक सत्ता की प्रतीक के रूप में स्थापित हो गई। उत्तर-गुप्त काल से संस्कृत के साथ-साथ बहुत सारी प्रादेशिक भाषाएं और लिपियाँ अपना समान्तर अस्तित्त्व बनाने लगीं। स्वयं संस्कृत में भी गैर-संस्कृत उद्भव वाले शब्दों के लिए आंचलिक भाषाओं का प्रयोग किया जाने लगा।

दक्षिण भारत में, प्राचीन तमिल भाषा और तमिल-ब्राह्मी लिपि का प्रयोग दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. तथा प्रारंभिक शताब्दियों से होने लगा। पल्लव काल से दक्षिण भारतीय अभिलेखों के संदर्भ में तमिल भाषा सबसे महत्त्वपूर्ण हो गयी। सातवीं शताब्दी के बाद से ही तमिल-संस्कृत भाषाओं में पल्लवों के द्वारा निर्गत द्वि-भाषीय अभिलेख प्राप्त होने लगे। ऐसे अभिलेखों में प्रारम्भिक भाग, जिसमें वंशावली इत्यादि सम्मिलित हैं, और अंतिम भाग, संस्कृत में है, जबकि भूमिदान से जुड़े भाग तमिल में हैं। चोल और पाण्ड्य राजाओं ने भी तमिल तथा संस्कृत-तमिल द्विभाषीय अभिलेख निर्गत किए। पूर्व-मध्य काल में दक्षिण भारत के मंदिरों में दान अभिलेखों के रूप में उत्कीर्ण तमिल भाषा के अनेक अभिलेखों को देखा जा सकता है।

कन्नड़ भाषा में अभिलेखों की प्राप्ति छठी-सातवीं शताब्दियों से शुरू होती है। इस काल के बाद से, कन्नड़ भाषा में बहुत सारे दान अभिलेख तथा कुछ शाही अभिलेख उत्कीर्ण किए जाने लगे। 12वीं शताब्दी में संस्कृत-कन्नड़ का एक द्वि-भाषीय अभिलेख तथा कर्नाटक के बेल्लारी जिला के कुरगोद से संस्कृत, प्राकृत तथा कन्नड़ भाषाओं का एक त्रिभाषीय अभिलेख प्राप्त हुआ। छठी शताब्दी में तेलुगु-चोल राजाओं के द्वारा अभिलेखों में तेलुगु भाषा का प्रयोग शुरू हुआ। बाद में निजी क्षेत्र में भी इस भाषा में दान अभिलेखों का प्रचलन देखा जा सकता है। मलयाली भाषा में अभिलेखों का प्रचलन 15वीं शताब्दी से शुरू हुआ। कन्नड़ से मिलती-जुलती तुलू कहलाने वाली एक द्रविड़ भाषा में भी कुछ अभिलेख कर्नाटक से प्राप्त होते हैं।

आधुनिक उत्तर भारतीय इन्डो-आर्य भाषाओं, मराठी और उड़िया में अभिलेखों की प्राप्ति 11वीं शताब्दी से शुरू होती है। हिन्दी से मिलती-जुलती आंचलिक भाषाओं में अभिलेखों का प्रचलन 13वीं शताब्दी के बाद तथा गुजराती में 15वीं शताब्दी के बाद देखा जा सकता है।

अभिलेखों का तिथि निर्धारण

अभिलेखों में सामान्यतया शासक के राज्याभिषेक के अनुसार वर्ष का उल्लेख रहता है, अथवा संवत् के अनुसार तिथि अंकित की जाती है। संवत् के अनुसार तिथियाँ, शब्दों या अंकों, अथवा दोनों में अंकित की जाती हैं। प्राचीन भारतीय कैलेण्डर में सूर्य तथा चन्द्रमा के आधार पर क्रमशः पक्ष और तिथि का उल्लेख किया जाता था। हालांकि, सप्ताह के दिनों के आधार पर भी तिथियाँ दी जाती थीं। कुछ अतिरिक्त ज्योतिषीय सूचना भी दर्ज कराई जाती थी। वर्ष तथा दिन को विधिवत् अंकित करने का प्रचलन दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से पाया जाता है। बाद के कुछ अभिलेखों में 'क्रोनोग्राम' के रूप में काल गणना किया गया। अंक के स्थान पर इनके प्रतीक के रूप में शब्दों का उपयोग किया गया, जैसे—भूमि-1 अंक के लिए; कर (हाथ)–2 के लिए; लोक (संसार)–3 के लिए; वेद–4 के लिए इत्यादि प्रतीक के रूप में प्रयोग किए गए। 142 लिखने के लिए ''भूमि–वेद–कर'' का अथवा 142 के

प्राथमिक स्रोत

गूढ़लिपियों का अर्थ निरूपण तथा अनसुलझी लिपियाँ

प्राचीन लिपियों को पढ़ने और समझने की प्रक्रिया काफी रोचक रही है, अशोक की ब्राह्मी लिपि को पढ़ने में ईस्ट इंडिया कंपनी के अनेक प्रशासक-विद्वान अफसरों ने बड़ी कड़ी मशक्कत की और ऐसा करने में उन्हें काफी समय भी लगा। इनमें जैम्स प्रिन्सेप, चार्ल्स विल्किन्स, कैप्टन ए. ट्रॉयर, डब्ल्यू. एच. मिल और जे. स्टीवेनसन प्रमुख थे। सबसे पहले इन विद्वानों ने पूर्व मध्य युगीन ब्राह्मी लिपि को पढ़ने का प्रयास किया और बाद में प्राचीनतम ब्राह्मी लिपि को पूर्ण रूप से पढ़ने का काम 1837 में जेम्स प्रिन्सेप के द्वारा संपन्न हुआ।

यद्यपि, प्रिन्सेप ने अभिलेख की लिपियों का अर्थ तो निकाल लिया, किन्तु यह रहस्य बना रहा कि इन अभिलेखों में उल्लेख किया गया शासक प्रियदर्शी कौन है। इसका उत्तर कुछ समय बाद जॉर्ज टर्नआवर के द्वारा दिया गया जो श्रीलंका सिविल सेवा में अधिकारी थे। उन्होंने पाली में लिखे ग्रंथ दीपवंश के आधार पर सम्राट अशोक के नाम को चिन्हित किया।

दरअसल, प्रिन्सेप ने खरोष्ठी लिपि को पढ़ने में भी क्रिश्चियन लासेन, चार्ल्स मेसन और सा.सं. नोरिस के साथ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। खरोष्ठी लिपि को पढ़ा जाना अपेक्षाकृत आसान था क्योंकि इन्डो-ग्रीक शासकों के द्वारा निर्गत ग्रीक (यूनानी) तथा खरोष्ठी द्वी-लिपिक सिक्के निर्गत हुए थे।

वर्तमान में, हमारे समक्ष हड़प्पा लिपि के अतिरिक्त कुछ और भी लिपियाँ उपलब्ध हैं जिनको पढ़ा नहीं जा सका है, या जिनको पढ़े जाने में काफी कठिनाई है। ऐसी लिपियों में अलकृंत ब्राह्मी के नाम से प्रसिद्ध एक लिपि भी है, जो छोटे-छोटे अभिलेखों में पूरे देश में पाई जाती है। ब्राह्मी के ही एक अन्य अलंकृत प्रकार की लिपि, जिसको शंख लिपि के नाम से जाना जाता है, भी सम्मिलित है। शंख लिपि के अभिलेख सुदूर दक्षिण को छोड़कर चौथी से आठवीं शताब्दियों के बीच संपूर्ण उपमहाद्वीप में देखे जा सकते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकृत ब्राह्मी अथवा शंख लिपि का प्रयोग केवल नाम और हस्ताक्षर के लिए किया गया है। पूर्वी भारत के चंद्रकेतुगढ़ तथा तामलुक में ब्राह्मी से मिलती-जुलती लिपि को टेराकोटा मोहरों पर देखा जा सकता है।

इसी प्रकार खरोष्ठी के सामान लिपि अफगानिस्तान में भी पाई जाती है।

खरोष्ठी लिपि

स्वर

ā ī ū e o aṃ

व्यंजन

क	ख	ग	घ	
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	
ष	श	स	ह	

खरोष्ठी लिपि

स्वर

अ	इ	उ	ए	ओ	अं
आ	ई	ऊ	ऐ		

व्यंजन

क	ख	ग	घ	न
च	छ	ज	झ	ण
ट	ठ	ड	ढ	न
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	
ष	श	स	ह	

ब्राह्मी के कुछ अक्षरों का विकास

	मौर्य (तीसरी शताब्दी सा.सं.पू.)	शुंग (दूसरी-पहली शताब्दी सा.सं.पू.)	शक/कुषाण (पहली-तीसरी शताब्दी सा.सं.)	गुप्त (चौथी-छठी शताब्दी सा.सं.)	सिद्धमातृका (7वीं-9वीं शताब्दी सा.सं.)
क					
ज					
त					
प					
य					
स					

ब्राह्मी और उससे विकसित लिपियों में 'ण' अक्षर का विकास

स्रोत: सैलोमन, 1998

चित्र 1.4: **खरोष्ठी एवं ब्राह्मी लिपि**

संबंधित परिचर्चा

प्राचीन संवत् तिथियों का आधुनिक तिथियों में रूपांतरण

सामान्य संवत् पर आधारित तिथियों में प्राचीन तिथियों का रूपान्तरण किस प्रकार किया जाता है? इसके लिए थोड़ी अंकगणित की आवश्यकता पड़ती है। सा.सं.पू. का कोई वर्ष निकालने के लिए किसी संवत् में से वर्षों को घटाना पड़ता है और सा.सं. सन् के पश्चात् का वर्ष निकालने के लिए वर्षों को जोड़ना पड़ता है, जैसे—179 विक्रम संवत् का वर्ष (58 सा.सं.पू. में शुरू हुआ) = 179 – 58 = 121 सा.सं. होगा, जबकि शक संवत् का 179 का वर्ष (78 सा.सं. से शुरू होता है) = 179 + 78 = 257 सा. सं. होगा। प्राचीन तिथियों के रूपान्तरण में कभी-कभी कुछ अंतर आता है क्योंकि सौर महीने या चंद्र महीने के आधार पर तिथियाँ बदल जाती हैं। इसके अतिरिक्त, भारतीय वर्ष जनवरी के महीने से भी नहीं शुरू होता, जैसा कि पश्चिमी कैलेण्डर के अनुसार आज प्रचलित है। अभिलेखों में 'बीत चुके' अथवा 'बीत रहे' वर्ष की कभी-कभी व्याख्या भी नहीं की रहती है। इन समस्याओं के बावजूद अभिलेखों की तिथि का प्राय: यथातथ्य अनुमान लगाने में आज हम सक्षम हैं।

लिए ''कर-वेद-भूमि'' का प्रयोग किया जा सकता है। यदि अभिलेखों में तिथि अंकित नहीं हो तब पुरातात्त्विक आधार पर एक लगभग का वर्ष तय कर दिया जाता है।

प्राचीन तथा पूर्व मध्यकालीन संवतों में 58 सा.सं.पू. का विक्रम संवत्; 78 सा.सं. का शक संवत्; 248 सा.सं. का कलचुरी-चेदी संवत्; तथा 319-20 सा.सं. का गुप्त संवत् प्रमुख हैं। केरल और उसके आस-पास के तमिलनाडु क्षेत्र में 824 सा.सं. का कोल्लम संवत् प्रचलित था। कर्नाटक के अभिलेखों में 1076 सा.सं. का चालुक्य विक्रम सवंत् लोकप्रिय हुआ। कुछ संवतों की तिथि निश्चित नहीं है, जैसे हर्ष संवत् के संबंध में 612, 619, या 648 सा.सं. के बीच मतभेद बना हुआ है। संवत् की शुरुआत अधिकांशत: शासक के राज्याभिषेक से जुड़ी होती है। उड़ीसा के गंग शासकों के संवत् में चौथी से नौवीं शताब्दी के बीच विभिन्न तिथियों का अनुमान लगाया जाता रहा है।

दान अभिलेख के साथ एक पालवंश कालीन प्रतिमा; ताम्रपत्र अभिलेख

अभिलेखों का वर्गीकरण

अभिलेखों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है, उदाहरण के लिए, किस प्रकार की सतह पर उनको उत्कीर्ण किया गया, उनकी भाषा, उनका काल तथा उनकी प्राप्ति का भौगोलिक संदर्भ क्या है? उन्हें निजी या आधिकारिक प्रकारों में भी बांट सकते हैं अर्थात् किनके द्वारा अभिलेख निर्गत किया गया? अशोक के अभिलेख आधिकारिक अभिलेख की श्रेणी में आते हैं। व्यक्तिगत लोगों तथा श्रेणियों द्वारा मंदिर, बौद्ध अथवा जैन संस्थाओं को दिये गए दान अभिलेख निजी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

अभिलेखों को उनकी विषय-वस्तु और प्रयोजन के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे दान अभिलेख या स्मृति अभिलेख। सम्राट अशोक का लुम्बिनी स्तम्भ अभिलेख राजकीय स्मृति अभिलेख का उदाहरण है क्योंकि इसे किसी विशेष घटना–अशोक द्वारा बुद्ध की जन्म-भूमि की यात्रा के समय निर्गत किया गया। भारत के विभिन्न भागों में मृत लोगों की स्मृति में पत्थरों की स्थापना की एक अति प्राचीन प्रथा चली आ रही है। ऐसे हजारों स्मृति पत्थर यत्र-तत्र पाए जाते हैं, जिनमें से कुछ पर अभिलेख भी मिलता है तथा कुछ पर केवल चित्रांकन पाया जाता है। मृतवीरों और सती स्त्रियों की स्मृति में पत्थरों को स्थापित करने की परम्परा पाई जाती है। जैन धर्म में मृत्यु प्राप्ति की पारम्परिक विधि (निराहार और निर्जल रह कर प्राणों का त्याग करना) से मरने वाले जैनियों की स्मृति में भी अभिलेख स्थापित किये गए। कोंकण क्षेत्र में उन नाविकों की स्मृति में स्मारक बनाए जाते थे जो समुद्र यात्रा के दौरान किसी घटना में वीरगति को प्राप्त हुए। स्मारक कभी-कभी पूजित भी होते हैं।

मंदिरों को दिये गए दान के सम्बंध में इनकी दीवार, प्राचीर अथवा द्वार पर दान-अभिलेख उत्कीर्ण करने की परम्परा है। गुफा आश्रयणियों में भी उनके दान का विवरण अभिलिखित

प्राथमिक स्त्रोत

मृत्यु के पत्थरों में स्मृति

पत्थर के स्मारकों तथा उत्कीर्ण अभिलेखों में जीवन और मृत्यु से जुड़ी हमारी प्राचीन मान्यताएं परिलक्षित होती हैं। आंध्र प्रदेश में ऐसे पत्थरों को 'छाया स्तंभ' कहा जाता है। नागार्जुन कोण्डा में राजा, रानी, सैनिक, मुखिया, धर्मगुरु और यहां तक कि एक शिल्पकार के लिए भी प्रस्तरीय स्मारक पाए गए हैं। चूना पत्थर से बने 12 फीट के एक छाया स्तंभ में इच्छवाकु वंश के एक परिवार की 29 महिलाओं की सूची मिलती है, जो सामुहिक रूप से चंटमूल-I नामक राजा की मृत्यु का शोक व्यक्त कर रही है। अभिलेख के ऊपर क्रमिक रूप से पांच दृश्य उत्कीर्ण हैं—सबसे नीचे राजा एक धार्मिक समारोह में दान कर रहे हैं, उसके ऊपर वे हाथी पर आसीन हैं, इसके ऊपर तीन बैठी हुई स्त्रियां शायद संगीत दे रही हैं और एक चौथी स्त्री नृत्य प्रस्तुत कर रही है, अगले दृश्य में राजा अपनी दो रानियों के साथ सिंहासनारूढ़ है तथा सबसे ऊपर का दृश्य एक भवन को दर्शाता है, जो शायद स्वर्ग भी हो सकता है।

एक शिल्पकार को समर्पित नागार्जुनकोंडा का छाया स्तंभ इतना जटिल नहीं है। इसमें मूलभूत नामक एक शिल्पकार का नाम तथा पवायत नामक उसके गृहस्थ का नाम अंकित है। उसके ऊपर केवल एक गर्दन वाला पात्र अंकित है, जो शायद उस श्रेणी का प्रतीक चिन्ह है, जिससे मूलभूत जुड़ा हुआ था।

प्रस्तरीय स्मारकों की सर्वाधिक प्राप्ति कर्नाटक से होती है। पांचवीं से 13वीं सदियों के बीच के प्राय: 2,650 वीरांगल पत्थर (नायकों की स्मृति में स्थापित पत्थर) मिले हैं। कुछ अभिलेखों में केवल इनके नाम दिए गए हैं और अन्य में इनकी मृत्यु से जुड़ी पूरी सूचना भी दी गई है। इन वीरांगल पत्थरों को समान्यत: केवल पुरुष नायकों को समर्पित किया गया किंतु सिद्धेन हल्ली और केम्बलु में एक वीरांगना और रानी का पशुयुद्ध में जीवन बलिदान के लिए वीरांगल पत्थर समर्पित है।

वीरागल पत्थर, खानपुर, कर्नाटक

कुछ प्रस्तरीय स्मारकों को अपने पालतू पशु-पक्षियों के लिए भी समर्पित किया गया है। गोल्लारहट्टी का एक अभिलेख पुनिशा नामक शिकारी कुत्ते को समर्पित है, जो जंगली सुअर से लड़ने के दौरान मारा गया था। अतकूर से भी कलि नाम के एक कुत्ते की स्मृति में अभिलेख मिला जिसकी मृत्यु जंगली सुअर से लड़ते समय हुई थी। तम्बुर से प्राप्त 12वीं सदी के एक अभिलेखीय पत्थर से पता चलता है कि यह गोआ के कदम्ब शासक के पालतू तोते की स्मृति में स्थापित किया गया। अभिलेख के अनुसार, तोते को बिल्ली खा गई और उसके शोक में राजा ने अपने प्राण त्याग दिए।

स्मारक स्तंभों की परंपरा अभी तक देश के कई हिस्से में विद्यमान है, जैसे—कर्नाटक तथा गुजरात एवं मध्य प्रदेश के कुछ जन जातीय समुदायों में। मरिया और मुरिया गोंड (बस्तर क्षेत्र, म.प्र.) में आज भी पत्थर और काठ के स्मारक बनाते हैं। इनमें से कुछ में सुंदर कारीगरी की जाती है। ऐसे स्मारक प्राय: मृत्यु के बाद जीवन की अवधारणा से जुड़े होते हैं। इनका उन समुदायों के सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्रोत: सेट्टार और सोनथेइमर, पॉस्टेल तथा कूपर 1999

किया गया है। धार्मिक प्रतिमाओं पर उनके निर्माणकर्ता के नाम अंकित किये जाते हैं। देव उपासना के लिए दीप, पुष्प, धूप इत्यादि के खर्च वहन के लिए धन दिया जाता था। इस धन राशि के ब्याज से ऐसे खर्च उठाए जाते थे। इनके सम्बंध में सारी सूचना कभी-कभी अभिलिखित होती थी।

राजकीय भूमिदान भी दान अभिलेखों की श्रेणी में विशेष महत्त्व रखते हैं। ऐसे हजारों भूमिदान सम्बंधी अभिलेख पत्थरों पर मौजूद है, परंतु अधिकांशतया ताम्रपत्र पर पाए जाते हैं। इनमें से सर्वाधिक भूमिदान अभिलेख ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थाओं को समर्पित हैं। सबसे पहले भूमिदान जिसके आधार पर उस भूमि को कर-मुक्त कर दिया गया, सातवाहन तथा क्षत्रपों के द्वारा नासिक क्षेत्र में निर्गत किये गए। नागार्जुनकोंडा के इक्ष्वाकुवंशीय राजा एहलव चान्तमूल के पाटगंडीगुडम प्लेट्स (तीसरी शताब्दी) प्राचीनतम ताम्रपत्र भूमिदान है। उत्तर भारत से प्राप्त होने वाला सबसे प्राचीन ताम्रपत्र भूमिदान कालचल शासक ईश्वररत का मिला है। पूर्व मध्य युग में ताम्रपत्र भूमिदान का प्रचलन बहुत हो गया था।

राजकीय अभिलेखों में प्रशस्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे भी प्राय: सभी राजकीय अभिलेख प्रशस्ति से शुरू होते हैं, किन्तु कुछ ऐसे अभिलेख निर्गत किये गए जिनकी प्रकृति पूर्ण रूप से प्रशस्ति कही जा सकती है। प्रशस्ति प्रकार के अभिलेखों में (पहली सदी सा.सं.पू.-पहली सदी सा.सं. तक) प्राप्त कलिंग शासक खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख और चौथी शताब्दी की समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति सबसे अधिक विख्यात हैं।

कुछ अभिलेख जलाशय निर्माण, कूप निर्माण या व्यक्तिगत लोगों द्वारा चलाए हुए खैराती भोजनालय एवं अश्वशाला से जुड़ी सूचनाएं देते हैं। गुजरात के जूनागढ़ (गिरनार) से प्राप्त ग्रेनाइट पर उत्कीर्ण राजकीय प्रयासों का वर्णन इस श्रेणी का एक अभूतपूर्व उदाहरण है। अशोक के अभिलेखों की एक प्रति के अतिरिक्त दो बहुत महत्त्वपूर्ण अभिलेख इस ग्रेनाइट पर हैं। शक शासक रूद्रदमन के द्वारा, 150 सा.सं. में निर्गत एक अभिलेख में चौथी सदी सा.सं.पू. में सुदर्शन झील नाम के एक जलाशय का चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में शुरू हुए निर्माण कार्य का उल्लेख है जो अशोक के काल में बन कर तैयार हुआ तथा द्वितीय शताब्दी में इसका जीर्णोद्धार किया गया। इसी पत्थर पर पाँचवीं शताब्दी का गुप्त शासक स्कन्धगुप्त के काल का एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है जिसमें अतिवृष्टि के कारण इस जलाशय के बाँध के टूट जाने का वर्णन है और जिसकी दो साल के प्रयासों के बाद मरम्मत की जा सकी। यह एक ऐसा रोचक अभिलेख है जिसमें किसी जलाशय के निर्माण और मरम्मत से जुड़ा 1000 साल का इतिहास उत्कीर्ण है।

इन सब के अतिरिक्त भी अनेक विविध कोटि के अभिलेख हैं जैसे तीर्थयात्रियों और आम यात्रियों द्वारा दीवारों पर लिखे गए भित्ति आलेख, मंत्र और मुहरों पर उत्कीर्ण शब्द आदि। मध्य प्रदेश के कुछ अभिलेखों में संस्कृत व्याकरण की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है। बहुत सारे 'पदचिन्ह अभिलेख' भी मिलते हैं, जिन पर उस पदचिन्ह से जुड़े आध्यात्मिक व्यक्तित्त्व या शासक का नाम अंकित होता है।

इतिहास के स्रोत के रूप में अभिलेखों का उपयोग

अभिलेखों से स्थायित्व की अवधारणा जुड़ी है, पाण्डुलिपियों की अपेक्षा ये अधिक सुरक्षित कहे जा सकते हैं। दूसरी बात यह, कि अभिलेख अपने समकालीन होते हैं तथा उसमें दी गई सूचनाओं का काल और समय दोनों चिन्हित किया जा सकता है। उनमें हुए किसी परिवर्तन को भी सरलता से चिन्हित किया जा सकता है। उत्कीर्ण अभिलेख प्राय: संक्षिप्त होते हैं किन्तु बड़ी संख्या में प्राप्त लघु अभिलेखों में भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना निहित होती है। पाठ्यात्मक स्रोत की तुलना में, जिनमें एक सैद्यांतिक परिप्रेक्ष्य मिलता है, अभिलेखों से यह प्रतिबिंबित होता है कि दरअसल लोग क्या कर रहे थे। कभी-कभी अभिलेखों की विषय-वस्तु की प्रकृति हमें अचम्भित भी कर सकती है।

राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से अभिलेखों का विशेष महत्त्व है। किसी सम्राट के द्वारा निर्गत अभिलेखों की भौगोलिक स्थिति से इसके राजनीतिक नियंत्रण की परिधि का अंदाजा लगाया जा सकता है। फिर भी अभिलेखों की प्राप्ति संयोगवश होती है, कई अभिलेख नहीं भी मिल पाते हैं। इसके अलावा कभी-कभी अभिलेख अपने मूल स्थान से स्थानांतरित हुए मिलते हैं।

प्राचीनतम शाही अभिलेखों में, राजवंशों की वंशावली प्रचलित नहीं थी, किन्तु बाद के अभिलेखों में इनका प्रयोग बढ़ा। प्रशस्ति अभिलेखों में राजवंशों का इतिहास तथा प्रमुख शासकों का राज्यकाल वर्णित होता है। राजकीय अभिलेखों में प्राय: शासक की प्रशंसा और अन्य तथ्यों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा जाता था। वंशावली में एक ही नाम के दो या अधिक शासकों के नाम, अथवा परस्पर विरोधाभास वाले तथ्यों के कारण निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है, कभी-कभी वंशावलियों में कुछ नाम छोड़ दिए जाते हैं, जैसे—स्कन्दगुप्त और रामगुप्त का उल्लेख गुप्तराजवंश की वंशावलियों में नहीं किया गया, क्योंकि बाद के शासकों से उनका सीधा उत्तराधिकार नहीं था।

एक गुर्जर-प्रतिहार अभिलेख में लिखा है कि वत्सराज ने सम्पूर्ण कर्नाटक पर विजय प्राप्त किया था, जबकि उसके समकालीन राष्ट्रकूट शासक ने अपने अभिलेखों में दर्ज किया है कि उसने वत्सराज को पराजित किया और कर्नाटक पर उनका शासन था। इसलिए जहां तक सम्भव हो सके, अभिलेख से प्राप्त सूचनाओं का अन्य स्रोत से तुलना कर लेना उचित होता है।

विशेषकर पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों को, उस काल की राजनीतिक संरचना, प्रशासनिक और कर-प्रणाली की जानकारी का मुख्य स्रोत माना जा सकता है। उनसे कृषि सम्बंधी, आवासीय व्यवस्था, कृषक-मजदूरों की स्थिति, वर्ग एवं जाति संरचना जैसे विषयों पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। अभिलेखों के विश्लेषण के लिए उनमें प्रयुक्त शब्दावली का भी अर्थ जानना जरूरी होता है, यथा—अधिकारियों के पद, वित्तीय व्यवस्था में प्रयुक्त शब्द अथवा भूमि के माप का ज्ञान, इत्यादि।

ऐसे प्राचीन दस्तावेज बहुम कम मिलते हैं, जिसमें धर्मेत्तर भूमि हस्तांतरण अथवा भूमि-विवादों की चर्चा की गई हो, परंतु जब भी कभी ऐसा दस्तावेज मिलता है, तो वह हमें तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक मुद्दों के जड़ में

एक प्राचीन नाट्यशाला, एक प्राचीन प्रेमकथा

छत्तीसगढ़ के रामगढ़ की पहाड़ियों में सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं तक हाथीपोल नाम के 180 फीट लम्बी एक प्राकृतिक सुरंग से होकर पहुँचते हैं किन्तु सुरंग की ऊँचाई ऐसी है कि एक हाथी भी उससे गुजर सकता है। दोनों गुफाओं में ब्राह्मी लिपि और प्राकृत भाषा में लिखी तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. के अभिलेख देखे जा सकते हैं।

सीताबेंगा गुफा के समक्ष पत्थर से बनी मंचों की एक श्रृंखला है जिनका आकार अर्धचन्द्राकार है और सीढ़ीनुमा व्यवस्थित है। यहां से प्राप्त दो-पंक्ति वाले अभिलेख को पढ़ना कठिन है। इसमें शायद कुछ हृदय स्पर्शी कविताओं के रचनाकारों का उल्लेख है, पूर्णमासी की रात में उत्सव के माहौल के बीच लोग संगीत की धुन पर झूम रहे थे। झूले का उत्सव चल रहा था। ऐसे अवसर पर लोग इस कवि को गले में चमेली की माला पहनाने के लिए उद्यत थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक प्राचीन नाट्यमंच रहा होगा। जहां कभी कविता पाठ या नाट्य मंचन हुआ करता था।

सीताबेंगा के दक्षिण में जोगीमारा गुफा है। यहां से एक पाँच-पंक्ति वाला अभिलेख मिला है। जिसको इस प्रकार अनुवांछित किया गया है–''सूतनुका नाम की एक देवदासी। पुरुषों में श्रेष्ठ देवदिन्न नाम का एक रूपदक्ष, उसका प्रेमी है। देवदासी का अर्थ बाद में किसी मंदिर से जुड़ी स्त्रियों के एक विशेष वर्ग का द्योतक बना, किन्तु इस पुरातन संदर्भ में यहां इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। 'रूपदक्ष' की व्याख्या एकाधिक प्रकार से की जा सकती है–ऐसा व्यक्ति जो प्रतिमा बनाने में दक्ष है, या एक लेखक है या सिक्कों से सम्बद्ध एक अधिकारी है। यहां पर स्थित चित्रांकन के आधार पर इसे एक चित्रकार भी माना जा सकता है। जोगीमारा अभिलेख का एक वैकल्पिक अनुवाद भी किया जा सकता है। ''सूतनुका नाम की एक देवदासी ने यह स्थान बालाओं के लिए बनाया है (जो शायद यहां अपनी प्रस्तुति देती थी)। देवदिन्न नाम के एक दक्ष चित्रकार ने इस गुफा में चित्रांकन किया है।'' इस प्रकार जोगीमारा अभिलेख को दो प्रकार से पढ़ा जा सकता है। पहले के आधार पर मानवीय भावों की अति संज्ञेय में अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है, जबकि दूसरे में तथ्यात्मक विवरण है।

स्रोत: भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण का वार्षिक प्रतिवेदन, 1903-04: 123-31

सीधो ले जाता है। इस प्रकार की जानकारी चोल शासक राजराज-III (1231 सा.सं.) के एक अभिलेख में स्पष्ट रूप से दी गई है। उल्लेखनीय है, कि किसी गाँव के किसानों ने विरोध किया कि उन पर नगद और अनाज के रूप में तथा अतिरिक्त श्रम के रूप में कर का बोझ इतना बढ़ा हुआ है कि अब वे कृषि को त्याग देने के लिए बाध्य हो चुके हैं। स्थानीय मंदिर में ब्राह्मण तथा गणमान्य लोगों की एक सभा बुलायी गई। राजकीय कर संग्रह को और ब्राह्मणों को दिये जाने वाले कर का पुनर्निर्धारण किया गया एवं अतिरिक्त देयश्रम पर भी निर्णय लिया गया।

अभिलेखों से धार्मिक सम्प्रदायों, संस्थाओं और क्रिया-कलापों का तिथिवार ब्योरा प्राप्त किया जा सकता है। धार्मिक संघों को प्राप्त संरक्षण के सम्बंध में सारी जानकारी दान अभिलेखों में मिल जाती है। बहुत सारे ऐसे धार्मिक मत और सम्प्रदाय, यथा— आजिविक, यक्ष और नाग सम्प्रदाय, जिनके द्वारा कोई लिखित इतिहास नहीं छोड़ा गया है, उनकी भी दान अभिलेखों से जानकारी मिल जाती है। उत्कीर्ण अभिलेखों से प्रतिमाओं और स्थापत्य संरचनाओं की तिथि भी प्राप्त की जा सकती है और इस प्रकार ये मूर्तिकला और स्थापत्य के इतिहास पर प्रकाश डालती हैं। अभिलेख, ऐतिहासिक भूगोल के भी प्रमुख स्रोत है। कपिलवस्तु (उ.प्र. के बस्ती जिला में पिपरहवा) से प्राप्त संघ की मुहरों के आधार पर

उसकी पहचान की जा सकी। अभिलेखों से भाषा-साहित्य के साथ-साथ नृत्य, नाट्य तथा संगीत पर भी अच्छी सूचना मिल जाती है, जैसे सातवीं सदी के कुडुमियमलाई अभिलेख से सप्त शास्त्रीय रागों के स्वरों की व्याख्या मिलती है। तमिलनाडु में नाट्यशास्त्र से जुड़े बहुत से अभिलेख मिलते हैं। चिदम्बरम के नटराज मंदिर के पूर्वी और पश्चिमी द्वारों के स्तम्भों पर भारत के नाट्यशास्त्र के सूत्र और 108 नृत्यभंगिमा वाली प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

इस प्रकार अभिलेख भी भौतिक संस्कृति के घटक हैं, अत: उनके सम्पूर्ण पृष्ठभूमि का परीक्षण करना लाभप्रद होता है। इसके साथ ही ये पाठ्यात्मक स्रोत की श्रेणी में भी हैं जो अपनी राजनीतिक और सामाजिक सत्ता से जुड़े होते हैं। इसलिए अभिलेख चाहे खंडित हो या संपूर्ण, एक शब्द का हो या सैकड़ों पंक्तियों का, सभी अभिलेखों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसा विश्लेषण अन्य अभिलेखों से तुलना तथा अन्य स्रोतों से पुष्टि के द्वारा भी की जाती है।

मुद्रा शास्त्र: सिक्कों का अध्ययन

(Numismatics: The Study of Coins)

आधुनिक युग में रुपया विनिमय का माध्यम है। रुपया वह साधन है जिसे वस्तु और सेवाओं के बदले स्वीकार किया जाता है, जबकि मुद्रा और सिक्के अपना विशिष्ट अर्थ रखते हैं। मुद्रा भी विनिमय का ही माध्यम है जिसे किसी सत्ता का वैधानिक अनुमोदन प्राप्त होता है। सिक्कों को धात्विक मुद्रा की संज्ञा दी जा सकती है। सिक्कों का आकार और स्वरूप निर्धारित होता है जिस पर सामान्यत: निर्गत किए जाने वाले प्राधिकरण की मुहर लग जाती है। प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते हैं, मुख्य अभिलेख वाले पहलू को चित तथा इसके पृष्ठतल को पट्ट कहते हैं। विश्व के पहले सिक्के 700 सा.सं.पू. में पश्चिम एशिया के लिडिया से प्राप्त होते हैं जो सोने और चाँदी के नैसर्गिक मिश्रण इलेक्ट्रम से बने हुए हैं।

सिक्कों के अध्ययन को 'मुद्राशास्त्र' कहते हैं जिसमें सिक्कों में प्रयुक्त धातु, सिक्के का आकार और स्वरूप, सिक्कों की 'माप-पद्धति' (मेट्रोलॉजी), निर्माण विधि अथवा उत्कीर्ण लिपि जैसे सभी पक्षों का अध्ययन होता है। ज्यादातर सिक्के पिघलाकर नष्ट कर दिए जाते हैं, या खो जाते हैं, इसका एक छोटा अंश ही मुद्रा संग्राहक या सरकारी संग्रहालयों तक पहुंच पाता है। प्राचीन सिक्के ज्यादातर आकस्मिक रूप से प्राप्त होते रहे हैं। सिक्कों की कभी-कभी ढेर के रूप में भी प्राप्ति होती है, जिसे मुद्रानिधि की संज्ञा दी जाती है। ऐसी मुद्रानिधियों की प्राप्ति मौद्रिक इतिहास की दृष्टि से अधिक महत्त्व रखती है। मुद्रा निधियों में ऐसे सिक्के मिलते हैं, जो जमीन में दब जाने या आगजनी, बाढ़ या अन्य विभीषिकाओं के कारण लोगों की पहुंच से बाहर हो गया हो तथा अब उसे प्राप्त किया गया हो।

मापविद्या (मेट्रोलॉजी) यानि सिक्कों का भार लेना और वजन के अनुसार उन्हें व्यवस्थित करना मुद्राशास्त्र का एक प्रमुख आयाम है। सिक्के जब अधिक प्रचलन में रहते हैं तो घिस जाने से उनके भार में कमी आने लगती है। मुद्राशास्त्री भार में आए अन्तर की गणना कर मुद्रानिधियों की तिथि का आकलन करते हैं। ऐसे बहुत से तरीके अपनाए जाते हैं जिनसे सिक्कों में प्रयुक्त धातु के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा ही एक सामान्य तरीका सिक्के के रंग और उसके चमकीलेपन पर आधारित है। इसके अतिरिक्त सिक्के को गिराने से उनकी प्रतिध्वनि अथवा पीटने से उनकी प्रत्यस्थता या तनाव का अध्ययन कर भी अनुमान लगाया जा सकता है। सिक्के के विशिष्ट गुरुत्व का अनुमान पानी में गिरा कर भी लगाया जाता है। धातुओं का अध्ययन कई रासायनिक अभिक्रियाओं के द्वारा भी किया जाता है। किन्तु इन प्रतिक्रियाओं से सिक्के को काफी क्षति पहुँच सकती है। अब एक्स-रे फ्लुरोसेंस स्पेक्ट्रोमेट्री (दृश्यमापक) जैसी तकनीकों का प्रयोग होने लगा है जिससे सिक्के का नुकसान भी नहीं होता और बहुत सटीक निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।

रत्ती या रती के बीज

वैसे स्थानों का जहां से बड़ी संख्या में सिक्के ढालने वाले साँचों की उपलब्धि होती है, उन्हें टकसाल नगरों के रूप में चिन्हित किया जाता है। टकसालों के अध्ययन से उनके द्वारा निर्गत सिक्कों की संख्या और उनकी तिथि की गणना की जा सकती है।

भारतीय सिक्कों का संक्षिप्त इतिहास

पाषाण कालीन मनुष्य ने सिक्कों या मुद्रा का प्रयोग नहीं किया। तब केवल वस्तु-विनिमय का प्रयोग होता था। ताम्र पाषाण कालीन संस्कृतियों में भी यही स्थिति बनी रही। उदाहरण के लिए, हड़प्पावासियों ने वस्तु-विनिमय प्रणाली के आधार पर एक विशाल व्यापार खड़ा कर लिया था। *ऋग्वेद* में निष्क, निष्क-ग्रीव (स्वर्णाभूषण) तथा हिरण्यपिण्ड (स्वर्ण पिण्ड), सुवर्ण, शतमान तथा पाद शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये सब शायद एक सुनिश्चित वजन वाली वस्तुएं हुआ करती थीं, किन्तु इन्हें पूर्ण रूप से सिक्कों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वप्रथम सिक्कों का पुरातात्त्विक प्रमाण छठी-शताब्दी सा.सं.पू. से मिलने लगता है, जिस काल में नगरीकरण और व्यापार का काफी विस्तार हुआ तथा राज्यों का उदय हुआ। *अष्टाध्यायी* तथा समकालीन बौद्ध ग्रंथों में 'काहापन'/'कार्षापण', 'निक्ख'/'निष्क', 'शतमान', 'पाद', 'विंशतिक', 'त्रिन्शतिक' तथा 'सुवर्ण'/'सुवन्न' जैसे शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है। भारतीय सिक्कों के वजन की मूल इकाई रक्तिक, रत्ती या रती कहलाती थी जिसकी तौल गुंजा के लाल-काले बीज के द्वारा की जाती है। दक्षिण भारत में सिक्कों की तौल के लिए मंजाडि और कलन्जु दो प्रकार के बीजों का उपयोग होता था। हालांकि, मुद्रा और सिक्कों के आने के बाद भी वस्तु विनिमय प्रणाली चलती रही।

भारतीय उपमहाद्वीप के प्राचीनतम सिक्के आहत सिक्के कहलाते हैं, कुछ ताम्र सिक्कों को छोड़कर ये अधिकांशतया चाँदी के होते थे। सामान्यत: ये आयताकार होते थे या कभी-कभी वर्गाकार तथा गोलाकार। इनके साँचे धातु के चादर और गोलिका के बने होते थे। प्रतीक चिन्हों को उन पर अलग से उत्कीर्ण किया जाता था। आहत सिक्के ज्यादातर अनिश्चित आकार वाले होते थे। उनके निश्चित भार को बनाए रखने के लिए किनारों को काट दिया जाता था। अधिकांश चाँदी के आहत सिक्के 32 रत्ती या 56 ग्रेन (1 ग्रेन = 64.79 मिली ग्राम, धातु मापने की एक इकाई) भार वाले होते थे। आहत सिक्कों का प्रयोग सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में पहली सदी तक होता रहा तथा प्रायद्वीपीय भार में कुछ और समय तक प्रचलन में रहा।

उत्तर भारत में प्रचलित आहत सिक्कों को इनके वजन, संख्या और प्रचलन-क्षेत्र के आधार पर चार प्रमुख श्रृंखलाओं में बांटा जा सकता है:

(1) तक्षशिला-गंधार (उत्तर-पश्चिम भारत क्षेत्र, वजनदार मानक एक आहत चिह्न)
(2) कोसल (मध्य गंगा मैदान, वजनदार, मानक बहुत आहत चिह्न)
(3) अवंति (पश्चिम भारत, कम वजनदार मानक एक आहत चिह्न), तथा
(4) मगध (मगध क्षेत्र, कम वजनदार मानक बहु आहत चिह्न) (मिचिनर, 1973)।

सिक्कों में आया बदलाव राजनीतिक परिवर्तन का द्योतक हो सकता है। जब मगध साम्राज्य का अखिल भारतीय विस्तार हुआ तब मगध श्रृंखला के सिक्के सभी स्थानों पर प्रचलित हो गए। यद्यपि, आहत सिक्कों पर किसी प्रकार का अभिलेख नहीं है, किन्तु सम्भवत: सभी सिक्के, किसी न किसी राज्यसत्ता के द्वारा निर्गत किये गए। कालान्तर में, विभिन्न नगरों और श्रेणियों के द्वारा आहत सिक्के निर्गत किये गए। इनके द्वारा निर्गत सिक्कों पर ज्यामितीय आकार, वनस्पति, जन्तु, सूर्य, पहिया तथा मनुष्य की आकृतियाँ बनी पाई जाती हैं। कुछ प्रतीक चिन्हों के राजनीतिक अथवा धार्मिक महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु इनका निश्चित उद्देश्य अज्ञात है। ज्यादातर सिक्कों पर प्राथमिक और द्वितीयक आहत चिन्ह अंकित होते हैं। द्वितीय आहत चिन्ह प्राय: बाद में छापे गए प्रतिमुहर या प्रतिचिन्ह होते हैं, जिनको अंकित करने के लिए सिक्के को तपाने की आवश्यकता नहीं होती।

मगध से चाँदी का आहत सिक्का; कौशाम्बी से प्राप्त लिपिरहित सांचे में ढला सिक्का; इन्डो-ग्रीक सम्राट डिमेट्रियस का रजत सिक्का।

आहत सिक्कों के शीघ्र पश्चात् ताँबे या ताँबे की मिश्र धातु के अनुत्कीर्ण सिक्कों का प्रचलन शुरू हुआ। सुदूर दक्षिण हिस्से को छोड़कर ऐसे सिक्के सम्पूर्ण उपमहाद्वीप से प्राप्त होते हैं। ऐसे सिक्कों की उपलब्धि सर्वव्यापी है। किन्तु अयोध्या और कौशाम्बी जैसी श्रृंखलाएं सीमित क्षेत्र में ही उपलब्ध होती हैं। ऐसे सिक्कों के निर्माण के लिए धातु को गला कर साँचे में ढाला जाता था। मिट्टी के साँचों के अतिरिक्त मध्य भारत के एरन नामक स्थान से काँस्य का बना साँचा भी मिला है। कई स्थानों पर आहत सिक्के तथा अनुत्कीर्ण सिक्के (साँचे में ढले) एक ही पुरातात्त्विक स्तर-विन्यास में साथ-साथ मिले हैं। इसके अतिरिक्त कुछ काँसे के

और कुछ चाँदी के अनुत्कीर्ण सिक्के मिलते हैं जिन्हें टकसाल में बनाया गया था। इनमें अंकित प्रतीक चिन्ह भी आहत मुद्राओं से मिलते-जुलते हैं। इस श्रेणी की अधिकांश प्राप्तियाँ तक्षशिला और उज्जैन से हुई हैं। इस प्रकार के सिक्कों का प्रचलन चौथी शताब्दी सा.सं.पू. में माना जाता है।

भारतीय सिक्कों के इतिहास में दूसरी-पहली शताब्दी सा.सं.पू. में तब महत्त्वपूर्ण मोड़ आया जब से इण्डो-ग्रीक शासकों द्वारा निर्गत सिक्कों का प्रचलन शुरू हुआ। ऐसे सिक्के साँचे में गढ़े होते थे तथा ज्यादातर गोलाकार होते थे। इनमें से अधिकांश सिक्के चाँदी के होते थे तथा केवल कुछ सिक्के ताँबा, चाँदी-ताँबा मिश्र, निकेल अथवा लीड से बने थे। इन सिक्कों पर प्रेषक राजा के नाम और तस्वीर उत्कीर्ण की गई थी। मिनेन्डर और स्ट्राटो-1 के सिक्कों में इन राजाओं को किशोरावस्था से प्रौढ़ावस्था तक के विभिन्न रूपों में दर्शाया गया है, जो इनके बृहद् काल की ओर इशारा करता है। दो राजाओं के संयुक्त अभिव्यक्ति भी सिक्कों पर देखी जा सकती है जो शायद द्वैध शासन को सिद्ध करता है। इन सिक्कों के पार्श्व भाग पर प्रायः धार्मिक स्मृति चिन्ह अंकित होते थे। इण्डो-ग्रीक शासकों ने द्वि-भाषी या द्वि-लिपि अभिलेख वाले सिक्कों को भी निर्गत किया। अग्र भाग में ग्रीक तथा पार्श्वभाग में प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। लिपि सामान्यतः खरोष्ठी (केवल कुछ की ब्राह्मी) है। इन शासकों द्वारा, निर्गत सिक्कों के प्रतीक चिन्ह को, मुद्राशास्त्री मोनोग्रैम (गुम्फाक्षर) की संज्ञा देते हैं जिनके उद्देश्य के विषय में कुछ सटीक कहना सम्भव नहीं है। बाद में शक, पार्शियन और क्षत्रपों ने इण्डो-ग्रीक सिक्कों की परम्परा का हुबहू निर्वाहन किया जिसमें द्विभाषीय तथा द्विलिपिय सिक्के भी शामिल हैं।

कुषाण शासकों के द्वारा पहली बार प्रथम से चौथी शताब्दियों के बीच बड़े पैमाने पर स्वर्ण सिक्के निर्गत किया गए। उनके द्वारा जारी किये गए चाँदी के सिक्के कम हैं। हालांकि, उन्होंने निम्नतर मूल्यों के ताँबे के सिक्के भी बड़ी संख्या में जारी किये। सिक्कों के इस काल में बढ़ते प्रचलन से मौद्रिक अर्थव्यवस्था के बढ़ते आयाम का बोध होता है। कुषाण सिक्कों पर राजा का नाम और तस्वीर देखी जा सकती है। सिक्कों के पार्श्व हिस्से में ब्राह्मण, बौद्ध, ग्रीक, रोमन देवताओं के चित्र अंकित हैं। प्रयुक्ति लिपि यूनानी है किन्तु कुछ सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि का प्रयोग पार्श्व भाग में हुआ है।

तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से चौथी शताब्दी सा.सं. के बीच जनपदों या गणराज्यों के द्वारा अपने-अपने सिक्के जारी किये गए, जो उत्तर तथा मध्य भारत के राजघरानों के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। मुद्राशास्त्रियों ने इन्हें गणराज्यीय मुद्राओं की संज्ञा दी है। ये अधिकतर ताँबा या काँस्य के हैं, फिर भी कुछ चाँदी और अत्यल्प संख्या में पोटीन (एक मिश्र धातु) में भी उपलब्ध हैं। अर्जुनायन, उद्देहिक, मालव और यौधेय जैसे गणराज्यों के सिक्के भी इनमें सम्मिलित हैं। इनमें से कई सिक्कों पर त्रिपुरी, उज्जैनी, कौशाम्बी, विदिशा एरिकिना, महिष्मती, माध्यमिक, वाराणसी और तक्षशिला जैसे नगरों के नाम हैं, जिससे अनुमान लगाया जाता है कि नगरीय प्रशासन द्वारा इन्हें जारी किया गया। निगम अंकित सिक्कों को श्रेणी संगठनों द्वारा निर्गत किया गया। तक्षशिला से प्राप्त कुछ सिक्कों पर पंच निगम लिखा है, अर्थात पाँच निगमों के द्वारा इन्हें संयुक्त रूप से जारी किया गया था।

कुषाण सम्राट वीम कैडफिसेज की स्वर्ण मुद्रा; गुप्त सम्राट कुमारगुप्त की स्वर्ण मुद्रा

दक्कन में सातवाहनों के द्वारा जारी किये गए ताँबे और चाँदी के सिक्कों के पहले भी सिक्कों का प्रचलन था। सातवाहनों के निम्नतर मूल्य वाले लीड और पोटिन के भी सिक्के जारी किये थे। अधिकतर सिक्के ठप्पे के मुहर से और कुछ साँचे के ढले हुए हैं जबकि कुछ पर दोनों तकनीकों का प्रयोग हुआ है। इनकी भाषा प्राकृत और लिपि ब्राह्मी है। मनुष्य की आकृति वाले चाँदी के कुछ सिक्कों पर द्रविड़ भाषा तथा ब्राह्मी लिपि को देखा जा सकता है। सातवाहन सिक्कों के साथ आहत सिक्कों का भी प्रचलन इस क्षेत्र में बना रहा था। पश्चिमी दक्कन में चाँदी की मुद्राओं का भी प्रचलन इस क्षेत्र में था।

पश्चिमी दक्कन में चाँदी की मुद्राओं का अत्यधिक प्रचलन था, जिसकी निश्चित रूप से वाणिज्यिक उपयोगिता रही होगी। नासिक क्षेत्र में चाँदी के सिक्कों की शुरुआत क्षत्रप शासक नहपाण के द्वारा की गई। प्रायद्वीपीय भारत में बड़ी संख्या में रोमन स्वर्ण मुद्राएं प्रचलन में थी जिनका उपयोग बड़े स्तर के विनिमय और मुद्रा भण्डारण के लिए किया गया होगा। स्थानीय स्तर पर इन रोमन मुद्राओं की प्रतिकृतियाँ भी निकाली गईं। इस प्रकार पश्चिमी दक्कन में प्रारम्भिक ईस्वी सन् में सातवाहन सिक्के, क्षत्रप सिक्के, आहत सिक्के तथा रोमन सिक्के, इन

चार प्रकार के सिक्कों का प्रचलन था। पश्चिमी दक्कन की मुद्राओं का प्रचलन पूर्वी दक्कन में भी हुआ।

प्रतीक चिन्हों के आधार पर दक्षिण भारत से प्राप्त आहत सिक्कों को विभिन्न राजवंशों के साथ जोड़ा गया है। मत्स्य अंकित मुदरई के निकट बोडिनयक्कनुर से प्राप्त मुद्रानिधि को पाण्ड्य शासकों के द्वारा निर्गत माना जाता है। हाल के वर्षों में चोल, चेर और पाण्ड्य राजाओं के राजकीय चिन्ह अंकित सिक्के बड़ी मात्रा में प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों के साक्ष्य निजि संग्रहों और सतह पर यहां-वहां पाए जाने से प्राप्त हुए हैं। किन्तु इनकी प्राप्ति पुरातात्त्विक संदर्भ में नहीं हुई है। कुछ सिक्कों पर 'वलुति' अंकित है जिन्हें पाण्ड्यों से जोड़ा गया है। कृष्णा नदी के किनारे करूर के निकट चेर शासक की तस्वीर और मक्कतोई अभिलिखित एक सिक्का मिला है। दो मछलियाँ, बाघ, तीर-धनुष जैसे चेर राजकीय चिन्हों से सुसज्जित सिक्के मिले हैं जिन पर 'कुत्तुवन कोटई' तथा 'कोल्लिपुरई' लिखा है।

गुप्त सम्राटों ने संस्कृत अभिलेख वाले उत्कृष्ट स्वर्ण मुद्राएँ निर्गत कीं। 'दीनार' के नाम से प्रसिद्ध इन सिक्कों को सम्पूर्ण उत्तर भारत से प्राप्त किया गया है। इन सिक्कों पर सैनिक वेश-भूषा में गुप्त सम्राटों को दर्शाया गया है। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त को वीणा बजाते हुए दिखलाया गया है। सिक्कों के पार्श्व भाग में राजाओं के धार्मिक आस्था के अनुरूप प्रतीक चिन्ह उत्कीर्ण हैं। स्कन्दगुप्त के शासन काल के उत्तरार्द्ध में निर्गत सिक्कों के स्वर्ण अनुपात में आई कमी को चिन्हित किया जा सकता है। गुप्तों ने चाँदी के सिक्के भी जारी किये, किन्तु ताँबों के सिक्के नहीं पाए गए हैं। पूर्वी दक्कन में सातवाहन काल के बाद इक्ष्वाकु शासकों ने तीसरी-चौथी शताब्दियों में कृष्णा नदी के निचले मैदान में ठीक वैसे ही सिक्कों को जारी किया, किन्तु ये सीसे (लेड) के बने सिक्के थे। चौथी सदी के उत्तराद्ध और पाँचवी सदी के पूर्वाद्ध में शालनकायन शासकों ने तथा पाँचवीं-सातवीं सदियों के बीच विष्णुकंडिन शासकों ने ताँबे के सिक्के जारी किये थे। तीसरी-चौथी सदी में पश्चिमी दक्कन के त्रयकूटक शासकों ने तथा छठी सदी में महाराष्ट्र क्षेत्र में कलचुरी शासकों ने चाँदी की मुद्राएँ निर्गत कीं।

पूर्व मध्यकाल के मुद्राव्यवस्था का इतिहास बहस का विषय बना हुआ है। कुछ इतिहासकार ऐसा मानते हैं कि व्यापार तथा नगरों के पतन के साथ मुद्राओं का भी प्रचलन बंद हो गया जो पुन: ग्यारहवीं सदी में शुरू हुआ। किन्तु इस कथन पर कई प्रश्न उठाए जा सकते हैं। यह सत्य है, कि इस काल के सिक्कों की गुणवत्ता में, उनके प्रकार में अथवा अभिलिखित तथ्यों में पतन हुआ। बहुत सी मुद्राओं में निर्गत करने वाली सत्ता का नाम अंकित नहीं है, किन्तु जैसाकि जॉन एस. डेयल (1990) ने अपने अध्ययन से स्पष्ट किया कि प्रचलन में रहे सिक्कों की संख्या में कोई बहुत अन्तर नहीं आया।

विभिन्न पूर्व मध्ययुगीन राजवंशों के द्वारा निम्न कोटि के मिश्रधातुओं से बने सिक्कों को जारी किया गया। गंगा के मैदानी भाग में गुर्जर-प्रतिहारों द्वारा अपधातु सिक्के निर्गत किये गए। कुछ अन्य प्रकार के सिक्के राजस्थान और गुजरात में भी चलाए गए। आठवीं-नौवीं शताब्दियों के बीच सिन्ध के अरब प्रशासकों ने चाँदी के सिक्के जारी किये। कश्मीर में चाँदी के सिक्कों के साथ मुद्रा के रूप में हुंडिका तथा कौड़ियों का भी प्रयोग होता रहा। छठी-सातवीं शताब्दियों में बंगाल के शासक शशांक के द्वारा स्वर्ण मुद्राएं जारी की गईं। किन्तु पाल और सेन शासकों के द्वारा निर्गत किसी भी मुद्रा की प्राप्ति नहीं की जा सकी है। इनके अभिलेखों में जिन मुद्राओं का उल्लेख है उनके विषय में माना जाता है कि उनकी केवल सैद्धान्तिक उपयोगिता थी। हालांकि सातवीं-तेरहवीं सदियों के मध्य बंगाल में 'हरिकेल' कहे जाने वाले सिक्कों का प्रचलन हुआ जो सामान्यत: चाँदी के थे। इस सिक्के की कई स्थानीय पूर्वी श्रृंखलाएं भी मौजूद थीं, जिसे विभिन्न इलाकों के नाम पर जारी किया गया था।

पश्चिमी दक्कन में बादामी के चालुक्यों द्वारा निर्गत सिक्कों की प्रतिकृति सिक्कों का प्रचलन पूर्व मध्यकाल में हुआ। प्रारम्भिक दौर में पूर्वी चालुक्य शासकों के द्वारा स्वर्ण और रजत मुद्राएँ निर्गत की गईं जो प्राय: 300 वर्षों के अंतराल के बाद इसी राजवंश के द्वारा आंध्रक्षेत्र में पुन: प्रयोग में लाई गईं। कल्याण के चालुक्य (आठवीं-बारहवीं सदी) तथा कलचुरी राजपूत शासकों से सम्बद्ध की जाने वाली स्वर्ण तथा रजत मुद्राओं के विषय में कुछ स्पष्ट प्रमाण नहीं दिये जा सके हैं। गोआ के कदम्ब (11वीं-12वीं सदी) शासकों

गुर्जर-प्रतिहार रजत मुद्रा; पल्लव ताम्र सिक्का

कौड़ियां

से जोड़े गए कुछ स्वर्ण मुद्राओं को बाद में पश्चिमी दक्कन के शिलाहार (11वीं सदी) शासकों का माना गया है।

सुदूर दक्षिण से प्राप्त सिंह और वृषभ के प्रतीक चिन्हों वाले सिक्के पल्लवों द्वारा निर्गत किए बताए जाते हैं। चोल शासकों के सिक्कों में बाघ का अंकन हुआ है। चोल ताम्रपत्रों में कई बार बाघ के अतिरिक्त मत्स्य (पाण्ड्य राज्य चिन्ह) तथा धनुष (चेर प्रतीक चिन्ह) भी अंकित मिलते हैं, जो इस तथ्य का द्योतक है कि चोलों के द्वारा पाण्ड्य और चेर पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया गया था। स्वर्ण, रजत और कांस्य की बहुत सी मुद्राओं पर ये तीन चिन्ह मिलते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि इनको चोलों द्वारा निर्गत किया गया था। नेल्लार जिला (आंध्र प्रदेश) के कविलयडवल्ली नाम स्थान से प्राप्त स्वर्ण मुद्राओं पर बाघ, धनुष तथा कुछ अन्य चिन्ह अंकित हैं, जिसके अग्र भाग पर 'सुंग' लिखा है, जो शायद 'सुंगदवित्र्तरुलिन' (चुंगी कर को समाप्त करने वाला) का संक्षिप्त रूप है तथा यह चोल शासक कुलात्तुंगा-1 की एक उपाधि थी। सिक्के के पार्श्व भाग पर 'काँची' अथवा 'ने' (शायद नेललुरू के लिए प्रयुक्त) का उल्लेख है जो टकसाल नगर थे। चोल शासन के अंतिम चरण में केवल चाँदी के सिक्के निर्गत किये गए। पूर्व मध्य काल में निर्गत पाण्ड्य शासकों के सिक्के अधिकांशत: श्रीलंका में पाए गए हैं। इनमें से कुछ पर वीर पाण्ड्य या सुन्दर पाण्ड्य अंकित है। लेकिन एक ही नाम के एकाधिक शासकों के होने से सिक्के उनका सटीक विवरण नहीं देते।

पूर्व मध्ययुगीन भारत के कई हिस्सों में सिक्कों के साथ-साथ कौड़ियों का प्रयोग भी चलता रहा। ओडिशा के सोहेपुर नामक स्थान से 27 कलचुरी सिक्कों के साथ 25,000 कौड़ियां प्राप्त हुई हैं। लखनऊ के बहुन्द्री गांव से 54 प्रतिहार सिक्कों के साथ 9,834 कौड़ियां प्राप्त हुई हैं। कौड़ियों का उपयोग शायद, छोटे स्तर के विनिमय के लिए किया जा रहा था अथवा वहां हो रहा था, जहां कम मूल्य वाले सिक्कों की पर्याप्त आपूर्ति नहीं हो रही थी।

इतिहास के स्त्रोत के रूप में सिक्कों का महत्त्व

प्रथम दृष्ट्या, सिक्कों के अवलोकन से अधिक ऐतिहासिक सूचना नहीं मिलती, किन्तु इनके माध्यम से बहुत सारी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। सिक्के मौद्रिक इतिहास का एक हिस्सा होते हैं जिसके अंतर्गत सिक्के जारी करने से लेकर उनके प्रचलन तक की सूचनाएं मिलती हैं। दूसरी ओर मौद्रिक इतिहास समकालीन विनिमय और व्यापार का प्रतिनिधित्व करता है। सिक्कों के अभिलेखों से भाषा और लिपि का भी ज्ञान मिलता है।

कुषाण कालीन सिक्कों के महती विस्तार क्षेत्र से तत्कालीन वाणिज्य-व्यापार की समृद्धि का बोध होता है। सातवाहन सिक्कों पर जहाज के दृश्य से समुद्र व्यापार का अनुमान लगाया जा सकता है। रोमन सिक्कों की प्राप्ति से एक सशक्त भारतीय-रोमन व्यापारिक सम्बंध को सिद्ध किया जा सकता है। श्रेणी संगठनों के द्वारा निर्गत मुद्राओं से आर्थिक व्यवस्था में इनके महत्त्व का पता चलता है। सिक्कों के आधार पर निर्गत करने वाले राज्यों की आर्थिक स्थिति का अनुमान किया जाता है। सामान्यत: सिक्कों की गुणवत्ता के आधार पर वित्तीय स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है या जैसा कि गुप्त काल के उत्तरार्द्ध में इसी आधार पर आर्थिक अवनति की सामान्य व्याख्या की जाती रही है, किन्तु डेयल (1990) जैसे विद्वानों ने इस सम्बंध में सुझाव दिया है कि कभी-कभी प्रयुक्त धातु की उपलब्धता में कमी आने और तद्नुरूप आर्थिक विनिमय की बढ़ती आवश्यकताओं का निर्वाह करने के लिए भी धातु के परिणाम में कमी की जाती है। जैसा की पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि पूर्व मध्ययुग की मौद्रिक स्थिति, उस काल के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संरचना से अन्योन्याश्रय रूप से जुड़ी हुई थी।

पूर्व मध्ययुग के सिक्कों में तिथि अंकित प्राय: नहीं हुई है। क्षत्रपों के द्वारा निर्गत सिक्के जिन पर शक् सम्वत् में तिथि अंकित है अथवा शासक के राज्य-काल अंकित कुछ गुप्त शासकों के सिक्के अपवाद समझे जा सकते हैं। किन्तु यदि सिक्कों पर प्रकाशन की तिथि अंकित है अथवा शासक के राज्य काल अंकित कुछ गुप्त शासकों द्वारा निर्गत सिक्के अपवाद समझे जा सकते हैं, किन्तु यदि सिक्कों पर प्रकाशन की तिथि अंकित नहीं भी होती है तब भी उसकी तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, मथुरा के निकट सोंख

प्राथमिक स्रोत

क्षत्रप एवं सातवाहनों के प्रतिमुद्रित सिक्के

सन् 1906 में नासिक (महाराष्ट्र) के निकट जांगलथेम्बी गांव में एक रोचक खोज की गई। यह क्षत्रप शासक नाहपन के 13,250 रजत मुद्राओं की प्राप्ति थी, जिसने दूसरी सदी में गुजरात क्षेत्र को अपने नियंत्रण में ले लिया था। इनमें से प्राय: 9,270 सिक्के प्रतिमुद्रित थे, जिन पर सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्णी के मुहर थे। सातवाहन दक्कन की प्रभुत्वशाली राजनीतिक शक्ति थी।

'प्रतिमुद्रण' या काउंटर-स्ट्राइकिंग उस प्रक्रिया को कहते हैं जब एक सत्ता के द्वारा निर्गत मुद्राओं पर किसी दूसरी सत्ता के द्वारा पुनर्मुद्रण के मूल रूप को मूलकृति (अंडर टाइप) तथा बाद के रूप को प्रतिकृति (ओवर टाइप) की संज्ञा देते हैं। यदि ऐसा पुनर्मुद्रण सतर्कता से किया जाए तब मूलकृति को देखना असंभव हो जाता है। किंतु यदि पुनर्मुद्रण एक सहज दृष्टिकोण से किया गया हो, तब कभी-कभी मूलकृति के प्रतीक चिन्हों को आसानी से देखा जा सकता है। ऐसी परिस्थितियां तभी बनती हैं, जब मुद्राओं की मूलकृति के प्रचलनकर्ता प्रतिकृति मुद्राओं के प्रचलनकर्ता के या तो पूर्वकालीन होते हैं अथवा कम से कम समकालीन होते हैं।

शैलेन्द्र भंडारे ने उपरोक्त प्रतिमुद्रण की व्याख्या करते हुए क्षत्रप तथा सातवाहन शासकों के राजनीतिक इतिहास एवं उनकी शासनावधि के विषय में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना दी है। नहपाण की रजत मुद्राएं इन्डो-ग्रीक रजत ड्रच्म की हूबहू प्रतिकृति थी। सिक्के के अग्र फलक पर उसकी तस्वीर तथा ग्रीक लिपि में एक संक्षिप्त अभिलेख था। सिक्के के पृष्ठभाग पर उसका राजकीय प्रतीक चिन्ह एक वज्रपात और तीर के अतिरिक्त ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में अभिलेख होता था। इन सिक्कों पर सभी अभिलेख प्राकृत भाषा में लिखे गए तथा नहपाण को क्षहारत वंश का 'क्षत्रप' कहा गया। गौतमीपुत्र सातकर्णी ने नहपाण के सिक्कों पर अपने प्रतीक चिन्ह मुद्रित करवाए। इन चिन्हों में धनुषाकार पहाड़ी तथा प्राकृत में लिखे उसके नाम भी सम्मिलित है। मुद्राशास्त्री इसे उज्जैन प्रतीक कहते हैं।

प्रतिमुद्रण का एक अन्य रोचक उदाहरण नाहपन के उन सिक्कों से मिलता है, जिस पर अपेक्षाकृत एक अज्ञात सातवाहन शासक शिव सतकर्णी का नाम खुदा हुआ है। ऐसे भी सिक्के मिले हैं, जो मूलत: शिव सातकर्णी द्वारा मुद्रित किए गए थे, जिनको नहपाण ने पुन: मुद्रित कराया। अत: दोनों शासकों द्वारा पुनर्मुद्रण किए जा रहे मुद्राओं के आधार पर कहा जा सकता है कि ये समकालीन राज्य थे।

सामान्यत: प्रतिमुद्रण के विषय में यह धारणा होती है कि ये राजनीतिक संघर्ष की स्थिति द्योतक है, तथा एक शासक ने किसी बिंदु पर दूसरे शासक को राजनीतिक दृष्टि से अपदस्थ किया था, ऐसा संकेत मिलता है। क्षत्रप तथा सातवाहनों के बीच का राजनीतिक संघर्ष अभिलेखों जैसे अन्य स्रोतों से भी ज्ञात होता है। किंतु इस सम्बंध में भंडारे का मानना है कि प्रतिमुद्रित सिक्के विनिमय का एक सहज माध्यम है, विशेषकर वैसी परिस्थिति में जब किसी क्षेत्र विशेष की राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण हुआ हो। सिक्कों के माध्यम से उक्त हस्तांतरण की घोषणा भी स्वत: हो जाती है। इसके अतिरिक्त पूर्व से चले आ रहे सिक्के की समरूपता भी बनी रहती है अन्यथा नई सत्ता के द्वारा निर्गत किये गए बिल्कुल नए सिक्कों की विश्वसनीयता की स्थापना में काफी समय लग सकता है।

सिक्कों का प्रयोग करने वाले लोगों के बीच ऐसे नए सिक्कों से 'आकस्मिक मौद्रिक हत्प्रभता' की स्थिति का सामना करना पड़ सकता है। इसलिए जब भी कोई नई राजनीतिक सत्ता बहाल होती थी, अपने पूर्व के सत्ता काल के सिक्कों में बहुत अधिक अंतर लाने से परहेज करती थी। शायद इसीलिए जब नासिक क्षेत्र पर नहपाण ने नियंत्रण प्राप्त किया तब उसने अपने सिक्कों में पूर्व से चले आ रहे हाथी और प्राचीर के बीच वृक्ष जैसे सातवाहन प्रतीकों को किसी न किसी रूप में बरकरार रखा। इसी प्रकार उसने जुन्नार क्षेत्र में पूर्व से प्रचलित सिक्को पर सिंह के प्रतीक को रहने दिया। किंतु एक ओर इस प्रकार की निरंतरता को बनाए रखते हुए उसने नासिक और जुन्नार क्षेत्र में अपने द्वारा निर्गत नए सिक्कों के पृष्ठ भाग में सातवाहनों के 'उज्जैन प्रतीक' चिन्ह के स्थान पर अपना वज्रपात और तीर वाला प्रतीक चिन्ह मुद्रित करवाया।

***स्रोत*:** भंडारे, 2006

नहपाण का रजत सिक्का, जिसे गौतमी पुत्र सतकर्णी के द्वारा पुनर्मुद्रित किया गया

पुरातात्त्विक स्थल को लिया जा सकता है, जहां उत्खनित सतहों की वहाँ से प्राप्त सिक्कों के आधार पर आठ स्तरों में बांटा गया है।

सिक्के राजकीय संवादों के वाहक हैं, इसलिए राजनीतिक इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से इनका अन्यतम महत्त्व होता है। साम्राज्यों के भौगोलिक विस्तार का अनुमान, सम्बद्ध सिक्कों के प्राप्ति क्षेत्र से लगाया जा सकता है, किन्तु ऐसे विश्लेषण में सावधानी बरतनी होती है, क्योंकि अपने स्वतंत्र मूल्य के कारण भी कई बार इनका प्रयोग निर्गत करने वाले राज्य के बाहर के क्षेत्रों में भी होता है। कई बार निर्गत करने वाले शासकों के परवर्ती काल में भी सिक्कों का प्रचलन जारी रहता है। इसके अतिरिक्त, एक ही क्षेत्र में कई प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन होता है, वैसी स्थिति में प्रत्येक मुद्रा के पृथक-पृथक प्रभाव क्षेत्र को चिन्हित करना कठिन हो जाता है।

फिर भी मौद्रिक प्रमाण भारत के राजनीतिक इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। विशेष रूप से 200 सा.सं.पू. से 300 सा.सं. के बीच इस कथन की अधिक सार्थकता है। अधिकांश इण्डो-ग्रीक शासकों के विषय में हमारी जानकारी सिक्कों पर ही आधारित है। सिक्कों से हमें पर्थियन, शक, क्षत्रप, कुषाण और सातवाहनों के विषय में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। पूर्वी पंजाब से लेकर बिहार प्रांत की सीमा तक हमें 'मित्र' प्रत्यय वाले 25 शासकों के सिक्के मिले हैं। उत्तर और मध्य भारत (विदिशा, एरन, पवया, मथुरा, इत्यादि) के विभिन्न स्थानों से हमें 'नाग' नामांत वाले शासकों के सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनके विषय में किसी भी अन्य स्रोत से जानकारी नहीं मिली है। सिक्कों से विशेष राजनीतिक व्यवस्थाओं की भी व्याख्या करने में सहायता मिलती है। योधेयों और मालवों द्वारा निर्गत सिक्कों में गण अंकित है जो उनके गणतांत्रिक अथवा गैर-राजतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था का परिचायक है। नगरों के नाम अंकित सिक्कों से उन नगरों की महत्ता और प्रशासनिक स्वायत्ता का बोध होता है।

कितनी बार मुद्राओं पर शासकों के केवल नाम नहीं लिखे होते हैं, बल्कि उनमें सम्बंध शासकों के जीवनवृत्त के अन्य पहलुओं की भी जानकारी मिल जाती है। उदाहरण के रूप में, चन्द्रगुप्त प्रथम के लिच्छवी राजकन्या से वैवाहिक सम्बंध की जानकारी उस उपलक्ष्य में जारी किये गए सिक्के से मिलती है। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच हुए गुप्त शासक रामगुप्त के विषय में भी हमें सिक्कों से ही सूचना मिलती है। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम के द्वारा सम्पन्न अश्वमेघ यज्ञ का उल्लेख भी सिक्कों पर प्राप्त हुआ है। जहां एक ओर समुद्रगुप्त के सैनिक परिधान में निर्गत सिक्कों से उसके, सशक्त सैन्य चरित्र का अनुमान लगाया जा सकता है, वहीं वीणा बजाते हुए सिक्कों पर उसकी तस्वीर के द्वारा, सम्राट के व्यक्तित्त्व के भावानात्मक पक्ष का उद्घाटन होता है।

विभिन्न सिक्कों पर विविध देवताओं का चित्रण किया जाता है जिससे सम्बद्ध शासक की धार्मिक प्राथमिकताओं तथा उनके द्वारा अपनायी गई राजकीय धार्मिक नीति अथवा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के इतिहास से जुड़े कई तथ्यों का पता चलता है। उदाहरण के लिए, द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. के इण्डो-ग्रीक शासक ऐगथॉक्लीज द्वारा निर्गत बलराम और कृष्ण अंकित सिक्के अफगानिस्तान के अइ-खनूम नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस क्षेत्र में उक्त धार्मिक सम्प्रदाय के प्रभाव और महत्त्व का अंदाज लगाया जा सकता है। कुषाण सिक्कों में भारत, ईरान और ग्रीको-रोमन धार्मिक परम्परा से जुड़े विभिन्न देवताओं के अंकन से इनकी उदारवादी धार्मिक नीति का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु दूसरी ओर इस तथ्य की व्याख्या ऐसे भी की जाती रही है कि अपने साम्राज्य में उपस्थित धार्मिक सम्प्रदायों की बहुलता को ध्यान में रखते हुए इन्होंने अपनी राजनैत्तिक सत्ता को वैधानिकता प्रदान कराने के उद्देश्य से ऐसी नीति का अवलम्बन किया।

निष्कर्ष

विभिन्न स्रोतों का कुशलता से किया गया विश्लेषण ही इतिहास का आधार होता है। प्राचीन तथा पूर्व मध्यकालीन भारत के संदर्भ में उपलब्ध विभिन्न पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों की अपनी पृथक-पृथक सम्भावनाएँ भी हैं और सीमाएँ भी हैं—जिनकी समझ इतिहासकारों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वास्तविकता तो यह है कि विभिन्न प्राचीन पाठों, पुरातात्त्विक स्थलों, अभिलेखों अथवा मुद्राओं के रूप में प्राप्त प्रमाणों की व्याख्या करना ऐतिहासिक विश्लेषण का अभिन्न अंग है। वैसी परिस्थिति में जहां एकाधिक स्रोत उपलब्ध होते हैं, वहाँ उनके सापेक्षिक अन्वेषण की आवश्यकता होती है। प्राचीन तथा पूर्व मध्ययुगीन भारत के विशद् ऐतिहासिक विवेचना के लिए पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों के बीच तुलनात्मक अध्ययन करना विशेष महत्त्व रखता है। किन्तु जैसा कि हम अगले अध्यायों में भी अनुभव करेंगे कि पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों की प्रकृति में कुछ ऐसे मूलभूत अन्तर मौजूद रहते हैं कि दोनों का समेकित उपयोग करना कई बार ऐतिहासिक संदर्भ में कठिन हो सकता है।

अध्याय 2

पुरापाषाण तथा मध्यपाषाण युगों के आखेटक-संग्राहक

अध्याय संरचना

मद्रास के निकट पल्लवरम में 1863 की गर्मियों के दौरान भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण के एक अधिकारी रॉबर्ट ब्रूस .फुट, अपने रूटीन कार्य में व्यस्त थे। उसी दौरान उनकी नजर एक बजरी के गड्ढे में दबे एक पत्थर पर पड़ी, जिसे उन्होंने उठा लिया। देखने मे यह सामान्य भूरे क्वार्टजाइट का टुकड़ा था, किंतु इसका एक हिस्सा छंटा हुआ था; किंतु .फुट ने उस पर मानवीय प्रयत्नों के सुनिश्चित प्रमाणों का आभास पाया। उन्होंने एक पत्थर का हस्त कुठार खोजा था, भारत में प्राप्त होने वाला यह पहला पाषाण-कालीन औज़ार था। इसके बाद .फुट ने बहुत सारे पत्थर के औज़ारों की खोज की और उनका अध्ययन किया। भारतीय पुरातत्त्व के अध्ययन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पल्लवरम का हस्त कुठार दरअसल भारत में पाई गई पहली प्राग्ऐतिहासिक औज़ार नहीं कही जा सकती। सन् 1856 में ल मेसुरिए नाम के एक रेलवे अभियन्ता ने मध्यप्रदेश के न्यागुड़ी के पास चर्ट की बनी तीराग्र को पाया था। दरअसल, इस दौरान पूर्वी बिन्ध्य क्षेत्र, जबलपुर क्षेत्र, सिंध, अन्डमान द्वीप समूह तथा बंगाल जैसे बहुत स्थानों से पूर्व ऐतिहासिक औज़ारों के प्रतिवेदन आने लगे थे। चार्ल्स लायल जैसे भूगर्भशास्त्री और जे.डी. इवान्स जैसे पुरातत्त्ववेता जिन्होंने इन खोजों में विशेष रुचि दिखलाई थी, इन्होंने अपने प्रमाणों और व्यवहारों का आदान-प्रदान अपने समकालीन यूरोपीय विद्वानों के साथ करना शुरू कर दिया था। ब्रूस ने 1868 में अपनी प्राप्तियों के विषय में विमर्श करने इंग्लैण्ड भी गये तथा 1873 में उनके द्वारा खोजे गये कुछ पूर्व ऐतिहासिक औज़ारों को वियाना की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में रखा भी गया। इन दो दशकों में भारतीय प्राग्इतिहास की आधारशिला तैयार हो गई तथा इसको अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता भी मिलने लगी।

19वीं शताब्दी से ही भारतीय उपमहाद्वीप में सैकड़ों प्राग्ऐतिहासिक स्थलों की पहचान की जा चुकी है और नवीन पद्यतियों और परिप्रेक्ष्यों ने पाषाण युग - जो मानव अतीत का सबसे लंबा हिस्सा है - के विषय में हमारी समझ को समृद्ध किया है। हमारे सूचना के स्रोतों में शवाधान, वनस्पति अवशेष, मानव एवं पशुओं के अस्थि अवशेष, संरचनात्मक अवशेष एवं शैल-चित्र शामिल हैं। लेकिन सबसे व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण स्रोत औज़ार हैं, जो ज्यादातर पत्थर के बने हैं। इन औज़ारों का निर्माण एवं उपयोग मनुष्यों ने किया था। इन औज़ारों को बनाने की कला कई सदियों तक लगातार प्रयोगों और पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान हस्तांतरण के माध्यम से विकसित हुई होगी। इन औज़ारों को बनाने में समय, ताकत, श्रम, कुशलता और धैर्य लगा होगा। इनमें से कुछ औज़ार तो इतनी खूबसूरती से बनाए गए हैं कि वे एक कलाकृति की तरह नजर आते हैं।

पत्थर के औज़ार अलग-अलग संदर्भों से प्राप्त होते हैं। वे पृथ्वी के सतह पर सतही-प्राप्ति के रूप में मिल सकते हैं या फिर बसावटी में नदी-निक्षेपों के बीच फंसे हुए या कार्यशाला-स्थली (फैक्ट्री साइट्स) यानी ऐसी जगहों पर मिल सकते हैं, जहां पत्थरों को तोड़कर ये औज़ार बनाए जाते थे। यह जानना बहुत जरूरी है कि पाए गए औज़ार एवं वस्तुएं प्राथमिक संदर्भ यानी उस स्थान से मिले हैं, जहां उन्हें बनाया या उपयोग किया गया था या उप प्राथमिक स्थल (मूल स्थान से थोड़ा हटकर) या वे द्वितीयक संदर्भ यानी ऐसे स्थलों से मिले हैं, जो मूल स्थान से बिल्कुल दूर या भिन्न स्तर पर हैं।

प्राग् इतिहासकारों के द्वारा यह जानने के लिए कि ये औज़ार किस विधि से बनाये गये थे अथवा किस काम के लिए उनका उपयोग होता था, अलग-अलग तरीके अपनाए गये हैं। कई बार उसी प्रकार के पत्थरों के औज़ार बनाकर देखा जाता है तथा कई बार उन पुरातन समुदायों का अध्ययन किया जाता है जो आज भी उस प्रकार के प्रस्तरीय उपकरणों का उपयोग कर रहे हैं। एक और विधि है जिसे माईक्रोवियर विश्लेषण कहते हैं अर्थात पत्थरों पर पाये जाने वाले निशानों का अध्ययन, क्योंकि पत्थरों के विभिन्न उपयोगों के आधार पर उनपर तद्नुरूप निशान या चिन्ह बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, पेड़ों को काटने, मांस काटने या छाल अलग करने जैसे क्रियाओं के चलते अलग-अलग निशान बनते हैं। यदि शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी से इनका सतर्कता से अवलोकन किया जाए तब यह अनुमान लगाना सम्भव हो जाता है कि किस प्रकार के उपयोग में उन औज़ारों का उत्पादन किया गया। इस प्रश्न

◄ **मध्यपाषाण-कालीन चित्र: कठोतिया, रामछजा, भीमबेटका (आभार-न्यूमेयर, 1988)**

का उत्तर देना कठिन है कि इन औज़ारों का निर्माण किसने किया होगा। फिर भी जीवन निर्वाह की गतिविधियों में पुरुषों और स्त्रियों की सक्रिय सहभागिता को देखते हुए लगता है कि औज़ार निर्माण में भी दोनों की भूमिका थी।

पाषाण युग के मानक के जीवन में इन पाषाणा औज़ारों की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी, इसलिए उनके संसार को समझने के लिए यह सबसे महत्त्वपूर्ण कुंजी है। परंतु प्रागैतिहास मात्र पत्थर के औज़ारों का वर्णन और वर्गीकरण नहीं है। यह औज़ारों एवं अन्य अवशेषों के माध्यम से प्रागैतिहासिक लोगों के जीवन पद्यति को खोज निकालने का प्रयास है।

भूवैज्ञानिक युग तथा हॉमिनिड विकास क्रम

(The Geological Ages and Hominid Evolution)

मानव हमेशा यह जताना चाहता है कि वह इस ब्रह्मांड का केंद्र है किंतु यह धारणा वैज्ञानिक दृष्टि से गलत सिद्ध हो चुकी है। दरअसल, हमारा ग्रह और इसमें निवास करने वाली असंख्य प्रजातियाँ, विकास के लिए सतत् और जटिल प्रक्रिया का एक हिस्सा है जिसमें मानव जाति अभी हाल में अस्तित्व में आई। धरती की आयु 450 करोड़ वर्ष आँकी गई है और महज 200,000 वर्ष पहले मानव जाति प्रकट हुई। 20वीं शताब्दी में प्राकृतिक विज्ञान में अभूतपूर्व विकास हुआ है, जिससे हमारी धरती के इतिहास के विषय में समझ बढ़ी है, विशेष रूप से अनुवांशिकी के माध्यम से प्रजातियों के जैविक विकास की जटिल प्रक्रियाओं का ज्ञान बढ़ा है। विगत् वर्षों में डी.एन.ए. विश्लेषण के माध्यम से मानव विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपलब्ध हुए हैं।

भूवैज्ञानिक तथा जैविक विकास के सिद्धांत की आधारशिला 19वीं सदी में रखी गई। चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन की प्रसिद्ध पुस्तक 'द ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' (1859) में नई प्रजातियों के उद्‌भव के संबंध में व्याख्या किए गए अनकूलन, प्राकृतिक चयन और योग्यतम की उत्तरजीविता के सिद्धांत अत्यन्त प्रभावशाली हुए। चार्ल्स लायल की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ जियॉलॉजी' (1830–33) में यह बतलाया गया की धरती की सतह पर अतीत में अपरदन, भूकंप और ज्वालामुखी विस्फोट से बहुत सारे परिवर्तन हुए और यह एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। इस सिद्धांत ने डार्विन को काफी प्रभावित किया। डार्विन के मानव विकास से संबंधित विचारों को टॉमस हेनरी हक्सली ने 'एविडेन्स एज़ टू मैन्स प्लेस इन नेचर' (1863) नामक पुस्तक के द्वारा और आगे बढ़ाया। इन महत्त्वपूर्ण विचारों ने धरती पर मानव की उत्पति से जुड़े सिद्धांतों में क्रांतिकारी बदलाव लाया।

हालांकि, प्रारम्भ में विकासवादी सिद्धांत को स्वीकार करना काफी कठिन था. क्योंकि यह बाइबल के उन सिद्धांतों से मेल नहीं खाता था, जिसके अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति एक दिव्य योजना के अन्तर्गत ईश्वर के द्वारा हुई थी। प्रारम्भ में यह मानना कठिन था कि, सरीसृप और कीट मनुष्य की उत्पत्ति से बहुत पहले अस्तित्व में आ चुके थे। यह भी स्वीकार करना कठिन था कि मनुष्य और चिम्पांजियों में कुछ मूलभूत समानताएं भी थीं। यह भी मानना कठिन था कि पृथ्वी की उत्पत्ति लाखों वर्ष पूर्व हो चुकी थी। दूसरी ओर विकासवादी सिद्धांत यह सुझाव दे रहा था कि प्रकृति सतत् रूप से परिवर्तनशील है और ये परिवर्तन अनवरत, अविराम चलते रहते हैं।

भौतिक एवं प्राकृतिक विज्ञान के इन विचारों का प्राग्ऐतिहासिक पुरातत्त्व पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। 19वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में आदिमानव के द्वारा निर्मित पत्थर के बहुत से औज़ार तो मिले लेकिन इनके महत्त्व को समझने के लिए आवश्यक सैद्धांतिक ढांचा उस समय अनुपस्थित था। इस संबंध में एक रोचक उदाहरण ज़ाक बूशे द पर्थ, जो 1836 में एक फ्रांसीसी अधिकारी थे, के द्वारा सौम नदी घाटी में पाए गए कुछ चकमक पत्थर के औज़ारों के विषय में की गई व्याख्या का दिया जा सकता है। उसका मानना था कि ये औज़ार विलुप्त हो चुके प्राणियों की हड्डियों के साथ मिले हैं, अत: ये उन मनुष्यों के हैं जो बाइबल में उल्लेख किए गये बाढ़ से पहले मौजूद थे। द पर्थ के कार्यों को संदेह की दृष्टि से देखा गया परंतु बाद में ह्यू फैल्क्नर तथा जोसेफ प्रेस्टविच जैसे भूगर्भशास्त्री तथा जॉन एवन्स जैसे पुरातत्त्ववेताओं ने मान्यता प्रदान की।

भूगर्भशास्त्रियों के द्वारा धरती के इतिहास को चार युगों में बांटा गया है जो धरती पर जीवन के विकास के विभिन्न क्रमों से सम्बंध रखते हैं— प्राथमिक (पेलियोजोइक), द्वितियक (मेसोजोइक), तृतियक तथा क्वाटरनरी। तृतियक तथा क्वार्टरनरी युग को संयुक्त रूप से 'सेनोजोइक' भी कहते हैं जिसका अर्थ होता है, स्तनधारियों का युग। सेनोजोइक युग को पुन: सात कालखण्डो में बांटा गया है, जिनमें से अंतिम दो क्रमश: प्लीस्टोसीन तथा होलोसीन कहे गये हैं। प्लीस्टोसीन (1.6 लाख वर्ष पहले) तथा होलासीन (दस हजार वर्ष पहले), हॉमिनिड विकास की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

तालिका 2.1: **भूगर्भशास्त्रीय युग तथा तद्नुसार जीव रूप**

महाकल्प	काल	युग	लाख वर्ष पूर्व	प्रमुख वनस्पति और जंतु
नूतन जीवी (स्तनधारियों का युग) (सेनोजोइक)	चतुर्थ काल (क्वाटरनरी)	वर्तमान युग	00.1	आधुनिक प्रजाति के जीव-जंतु
		अत्यन्त नूतन	20	पुरामानव और महाकाय स्तनधारियों का लोप
	तृतीय काल (टर्शीएरी)	अति नूतन	51	स्तनधारियों प्रजातिकरण की परिणति
		मध्यनूतन	250	
		अल्पनूतन	380	
		आदिनूतन	540	स्तनधारियों का विस्तारीकरण और आधुनिकीकरण
		पुरातन	650	
मध्यजीवी महाकल्प (मेसोजोइक)	क्रिटेशियस		1350	डाइनासार का वर्चस्व; बीजाण्डासनी स्तनधारी की उत्पत्ति, पुष्पनयुक्त पौधों का तीव्रता से विस्तार
	जुरैसिक		1800	डाइनासारों का वर्चस्व, पहले स्तनधारी और पक्षियों का प्रादुर्भाव, कीटों का बाहुल्य
	ट्रायैसिक		2250	डाइनासार और स्तनधारियों के समान सरीसृपों का उद्‌भव, उभयचरों का पूर्ण विकास
पुराजीवी महाकल्प (पेलियोजोइक)	पर्मियन		2700	उभयचरों को हटाकर प्रारंभिक सरीसृपों का वर्चस्व
	कार्बोनिफेरस		3500	कोयला के जंगलों में उभयचरों की उत्पत्ति
	डेवॉनियन		4000	मत्स्यों का वर्चस्व, पहले उभयचरों की उत्पत्ति
	साइलुरियन		4400	प्राचीन मत्स्य, वनस्पति तथा एन्थ्रोपॉड (संधिप्राद प्राणी)
	ऑर्डोविशियन		5000	पहले रीढ़धारी, जबड़ाविहीन मत्स्य, समुद्र में अकशेरूकी जीवों का वर्चस्व
	कैम्ब्रियन		6000	सभी अकशेरूकी जीवों का विकास तथा शैवालों की विविधता
पूर्व-कैम्ब्रियन			45000	धरती की उत्पत्ति, 36 लाख वर्ष पूर्व एक-कोशिकीय तथा कुछ बहु-कोशिकीय जीवों का उदय

जीवविज्ञान में विकास (एवोलूशन) का अर्थ किसी प्रजाति (स्पीशीज) की जनसंख्या में क्रमिक परिवर्तन है, जो पीड़ी दर पीड़ी होने वाली जीन आवृत्ति में बदलाव और प्राकृतिक चयन, जो पर्यावरण के साथ अनुकूलन का पक्षपात करता है, के परिणामस्वरूप होता है। कई बार नई प्रजातियों की इसी क्रम में उत्पत्ति भी हुई। जैविक विकास के अध्ययन में प्रजाति और जीनस दो प्रमुख शब्दावलियाँ है। प्रजाति का तात्पर्य वैसे जैविक समूहों से है, जिसकी भौतिक संरचना और व्यवहार आपस में बिल्कुल मेल खाती है तथा जो आपस में प्रजनन कर सकते हैं। जीनस का तात्पर्य वैसे बृह्द जैविक समूह से है जिनके अन्तर्गत आपस में समानता रखने वाली बहुत सी प्रजातियाँ सम्मिलित होती हैं। उदाहरण के लिए, कैनिस फमिलियैरिस (पालतू कुत्ते), कैनिस लुपुस (भेड़िया) तथा कैनिस ऑरियस (लोमड़ी)—ये सभी कैनिस संज्ञा वाले जीनस के अन्तर्गत आते हैं, जिसका उल्लेख शुरू में किया गया है। दूसरा शब्द प्रजाति के लिए प्रयुक्त होता है। इस संसार में आधुनिक मनुष्यों को अनेक वर्ण, चेहरे, बाल के रंग अथवा कद-काठी के आधार पर बांटा जा सकता है। किंतु जीवविज्ञान की दृष्टि से आधुनिक मनुष्य होमो सेपियन्स सेपियन्स प्रजाति के हैं, जिसमें दूसरा सेपियन्स मनुष्य की उप-प्रजाति है। होमो सेपियन्स एक लैटिन शब्द है, जिसका अर्थ है—'कल्पनाशील मानव'।

पुरा-मानवशास्त्रियों ने जीवाश्मों के साक्ष्य का उपयोग कर आदिम मानव के जैविक एवं सांस्कृतिक विकास-क्रम की मोहक कहानी के अलग-अलग हिस्सों को जोड़ने की कोशिश की है। यह कोई आसान काम नहीं है। कंकालों के अपूर्ण अवशेष के आधार पर किसी प्रजाति की पहचान करना कभी-कभी मुश्किल हो जाता है और यह हमेशा स्पष्ट नहीं होता कि यह अवशेष उस क्षेत्र के संपूर्ण आबादी का प्रतिनिधि है या नहीं। फिर भी, मानव विकास के विभिन्न चरणों को पहचाना जा सकता है। साथ ही साथ जैविक विकास के कुछ निर्णायक

मानचित्र 2.1: **पूर्व कालीन हॉमिनिड अवशेष**

संकेतक चिह्न जैसे मस्तिष्क का विस्तार (क्रेनियल क्षमता), जांघ श्रोणिय-संरचना परिवर्तन और दो पांवों पर चलने की प्रक्रिया तथा भोजन सम्बंधी व्यवहारों में बदलाव से आया दंत संरचना परिवर्तन आदि को पहचाना जा सकता है। आरंभिक मानव के सांस्कृतिक विकास क्रम में कुछ महत्त्वपूर्ण आयामों में पत्थर के औज़ारों का निर्माण, किसी प्रकार के सामाजिक संगठन का उदय, भाषा का जन्म और सांकेतिक चिंतन की क्षमता के विकास को गिना जा सकता है।

हॉमिनिड का तात्पर्य मनुष्य से मिलती-जुलती प्रजातियों से है। ज्ञात हॉमिनिड सर्वप्रथम हॉमिनिड ऑस्ट्रलोपिथेकस को माना जाता है (44 से 18 लाख वर्षों के बीच) तथा जिनके अवशेष अभी तक केवल अफ्रीका से प्राप्त हुए हैं। इनमें से पहला आर्डिपिथेकस (या ऑस्ट्रलोपिथेकस रैमिडस) सम्भवतः पॉन्गिड एप (वानर) और हॉमिनिड के किसी पूर्वज से विकसित हुआ था (44 लाख वर्ष पूर्व अफ्रीकी उप सहारा क्षेत्र)। ऐसा सम्भव है कि ऑस्ट्रलोपिथेसीन द्वारा प्राकृतिक रूप से उपलब्ध उपकरण उपयोग में लाए गए हों किंतु उन्हें औज़ारों के निर्माता के रूप में नहीं जाना जाता है। लगभग 20 लाख वर्ष पूर्व केन्या के कूबी फोरा तथा तन्जानिया के ओल्डुवाइ गॉर्ज जैसे स्थानों पर पहले होमो जेनस के प्रतिनिधि-होमो हैबिलिस का आगमन हुआ। लगभग 25 लाख वर्ष पहले इथियोपिया के हदार नामक स्थान पर पहला पत्थर का औज़ार पाया गया।

17 लाख वर्ष पूर्व पहला/पहली 'होमो इरेक्टस' (पूर्णतः उदग्र होमो) का पूर्वी अफ्रीका में आगमन हुआ। इस प्रस्थान बिन्दु से यह प्रजाति अफ्रीका, एशिया तथा यूरोप के विभिन्न भागों में फैल गई। प्रथम होमो सेपियंस 5 लाख

मूलभूत तथ्य

मानव होने का क्या तात्पर्य है?

होमो सेपियन्स नर-वानरों (प्राइमेट-सबसे विकसित स्तनधारी) की 180 प्रजातियों में से एक है। वे अन्य स्तनधारियों से पृथक हैं। ये दो पैरों पर चलते हैं (बाइपेडल)। इस वजह से हाथों की अपेक्षा इनकी टांगें अधिक लंबी होती हैं। इनकी रीढ़ की हड्डी एस. आकार की होती है, इनके हाथ परिग्राही (प्रीहेन्साइल) होते हैं अर्थात् पंजों में कसने के लिए उपयुक्त होते हैं। अपनी हाथों की उंगलियों तथा बड़े अंगूठे के जरिए ये पत्थर के औज़ार से लेकर पेंसिल तक का इस्तेमाल कर सकते हैं। इनका अंगूठा 45^{o} के कोण पर घूम सकता है। अन्य जंतुओं की तुलना में इनके जबड़े छोटे होते हैं और श्वदंत (केनाइन) बाहर की ओर नहीं निकला होता है। अधिकांश मादा जंतु 'एस्ट्रस' (कामोन्माद) चक्र के दौरान ही प्रजनन कर सकती हैं, जबकि इन मादाओं में ऐसा कोई सिमित प्रजनन काल नहीं होता है। इनके शिशु अविकसित मस्तिस्क के साथ जन्म लेते हैं (वयस्क के मस्तिष्क की अपेक्षा शिशु का 25 प्रतिशत मस्तिष्क ही विकसित होता है)। इसलिए लंबे समय तक अनिवार्य रूप से मातृत्व की आवश्यकता होती है।

हॉमिनिड विकास की कहानी एक प्रकार से मस्तिष्क के आकार के विकास की कहानी भी है और मस्तिष्क का बढ़ता आकार, स्मरण की बढ़ती क्षमता तथा तद्नुरूप अधिक समझ और जटिल व्यवहार प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ है। मस्तिष्क के बढ़ते आकार को निम्न तालिका-2.1 से समझ सकते हैं

आधुनिक मानव	- 1450 क्यूबिक सेंटीमीटर (सी.सी)
चिम्पांजी	- 393.8 सी.सी.
ऑस्ट्रलोपिथेसीन	- 507.9 सी.सी.
होमो इरेक्टस	- 973.7 सी.सी.

(मस्तिष्क के आकार को संपूर्ण शरीर के आकार के सापेक्ष देखना अधिक तर्कसंगत होता है) जैसे एक हाथी के मस्तिष्क का आकार मनुष्य के मस्तिष्क के आकार से तिगुना अधिक होता है। इसी प्रकार नर मनुष्य का मस्तिष्क मादा मनुष्य की तुलना में कुछ बड़ा होता है। फिर भी आवश्यक नहीं की सभी पुरुष सभी महिलाओं से अधिक बुद्धिमान होते हैं।

दरअसल, मनुष्य अपनी जैविक विशिष्टताओं के साथ-साथ अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के कारण श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। इसलिए आधुनिक मनुष्य के व्यवहार को प्राप्त पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। वैसे तो सभी जंतु अपने को पर्यावरण के अनुरूप ढालने की क्षमता रखते हैं किंतु मानव अपने पर्यावरण को उपयुक्त तकनीक के माध्यम से नियंत्रित भी करने की क्षमता रखता है। प्रयोगों के द्वारा यह देखा गया है कि चिम्पांजी और ओरांगुटान साधारण औज़ारों का उपयोग कर सकते हैं किंतु मनुष्य के पास आवश्यकता के अनुसार औज़ारों को सृजित करने की अन्यतम क्षमता है, तथा वह इनके लिए जरूरी कच्चे माल की तलाश में बहुत लंबी दूरी तय कर सकता है।

ऐसा संभव है कि चिंपांजी जैसे वानर परस्पर संवाद के लिए प्रतीकों का प्रयोग कर सकते हैं, किंतु मनुष्य का सामाजिक व्यवहार तथा सांस्कृतिक स्वरूप उनसे कहीं अधिक वैविध्यपूर्ण और जटिल है, जो उनकी बुद्धिमता के कारण संभव हुआ। इनके अतिरिक्त अपने निवास के लिए विशिष्ट स्थानों का चयन और निर्माण, प्रतीकात्मक सम्प्रेषण और अभिव्यक्ति, कलात्मक अभिव्यक्ति, दफनाने की विशिष्ट व्यवस्था और कर्मकांड तथा व्यक्तिगत एवं सामूहिक परिचय जैसी अद्वितीय विशेषताएं मानव प्रजाति से जुड़ी हुई हैं। कुछ पुरा-मानवशास्त्रियों का अनुमान है कि उपरोक्त विशिष्टताएं आधुनिक मनुष्य के साथ 50,000 वर्ष पूर्व से विद्यमान हैं, जबकि जैविक दृष्टि से आधुनिक मनुष्य धरती पर 200,000 वर्ष पूर्व से ही विचरण कर रहे हैं। इन मानवीय गुणों में से कुछ के लक्षण होमी सेपियंस के अतिरिक्त नियंडरथाल जैसे हॉमिनिडों में भी शायद मौजूद थे।

चित्र 2.1: **गोरिला, होमो इरेक्टस, होमो सेपियन्स के खोपड़ी की संरचना**

वर्ष पूर्व के आपस-पास प्रकट हुए थे। 130,000 वर्ष पूर्व होमो सेपियन्स नियन्डरथालेन्सिस (नियन्डरथाल) के प्रमाण पश्चिमी और मध्य एशिया तथा यूरोप से मिले है। नियन्डरथाल से होमो सेपियन्स का उद्धभव हुआ था। वे क्यों विलुप्त हो गए, यह स्पष्ट नहीं हो सका है।

अफ्रीका और यूरोप के बाहर एशिया के विभिन्न भागों में हॉमिनिड के अवशेष मिले हैं। 10 से 20 लाख वर्ष पूर्व जावा से होमो इरेक्टस के अवशेष पाए गए किंतु इससे जुड़े पत्थर के औज़ार नहीं मिले थे। बीजिंग

(चीन) के दक्षिण-पश्चिम में स्थित जौउकोउडि़यन गुफा से भी 5.8 से 2.5 लाख वर्ष पूर्व के होमो इरेक्टस के अवशेष मिले हैं। इस स्थल से 20,000 से अधिक पत्थर के औज़ार और 96 स्तनधारी प्राणियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

जैविक दृष्टि से आधुनिक मानव या होमो सेपियन्स अफ्रीका में लगभग 195,000 तथा 150,000 वर्ष पूर्व हुए और कुछ समय में अन्य सभी होमो प्रजातियों को हटाकर उनका स्थान ले लिया। इथोपिया के हिर्तो नामक स्थान से हॉमिनिड अवशेषों के साथ पत्थर के औज़ार और जानवरों की हड्डियाँ पाए गए हैं जिनकी तिथि 160,000 से 154,000 वर्ष आंकी गई है। कई ऐसे सवाल हैं, जिसका अभी भी सटीक उत्तर नहीं मिल पाया है। क्या ऐसा सम्भव है कि होमो सेपियन्स का विकास अफ्रीका में हुआ हो तथा बाद में ये एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों में फैल गए। ऐसा भी हो सकता है कि होमो इरेक्टस और पुरातन होमो सेपियंस से आधुनिक होमा सेपियंस की उत्पत्ति अलग-अलग महादेशों में लगभग साथ-साथ हुई।

अध्ययन से यह पता चलता है कि यह विकास एक सीधी रेखा में नहीं होता गया, जहां बस एक प्रजाति दूसरी प्रजाति को स्थान देते चले गए। एक ही प्रदेश में एकाधिक हॉमिनिड प्रजातियों के सह-अस्तित्व के प्रमाण भी मिले हैं। पूर्वी अफ्रीका के ओल्डुवाई गॉर्ज से होमो हैबिलिस तथा ऑस्ट्रलोपिथेकस के सह-अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। इसी प्रकार पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश में एक साथ नियन्डरथल और जैविक दृष्टि से आधुनिक मनुष्य के प्रमाण मिले हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में हॉमिनिड अवशेष

(Hominid Remains in the Indian Subcontinent)

जहां एक ओर भारतीय उपमहाद्वीप से जन्तुओं की हड्डियाँ और पत्थरों के औज़ार बहुतायत में मिलते हैं वहीं हॉमिनिड अवशेष के प्रमाण बहुत कम मिले हैं (केनेडी, 2000; चक्रवर्ती, 2006: 10-16)। अपर्याप्त अनुसंधान के कारण ही ऐसी स्थिति है।

19वीं सदी से शिवालिक हिमालय से नर-वानरों के अवशेष पाए गए हैं। इनका रोचक नामकरण किया गया है, यथा—रामापिथेकस, शिवापिथेकस तथा ब्रह्मपिथेकस, जबकि संयुक्त रूप से इनको शिवालिक के देव-वानर की संज्ञा दी गई है। रामापिथेकस प्रजाति के फॉसिल प्रमाण एशिया, अफ्रीका और यूरोप के विभिन्न भागों से भी पाए गए हैं, जिनकी तिथि 100-140 लाख वर्ष पूर्व के बीच आंकी गई है। यह काल मायोसीन से प्लायोसीन के बीच संक्रमण का काल है। एक समय में इनके विषय में माना जाता था कि ये आधुनिक मानव के प्राचीनतम पूर्वज हैं, किंतु अब इस सिद्धांत को काफी चुनौती दी जा चुकी हैं। तिथिकरण की नवीन तकनीकों और जीवाश्मों से सम्बंधित साक्ष्यों के पूनर्मूल्यांकन के आधार पर ही इनके ऊपर सवालिया निशान लगाया गया है।

दक्षिण एशिया में प्राचीन मानव के प्रमाणिक अवशेष अपेक्षाकृत रूप से काफी निकटवर्ती काल के हैं। सन् 1966 में उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान से लुई दुप्री ने एक जीवाश्म की खोज की जो नियन्डरथाल के अवशेष थे किंतु जीव विज्ञान की दृष्टि से आधुनिक मानव से मिलते-जुलते थे। साथ में पाए गए पत्थर के औज़ारों के आकलन से इनको मध्य पाषाण युग का माना गया (रेडियो कार्बन तिथि 30,000 ± 1900-1200 व.पू. (वर्तमान पूर्व) या 28, 950 ± 1960-1235 सा. सं.पू.) श्रीलंका की फा हियेन लेना, बाटाडोम्बा लेना, बेली लेना और अलू लेना (गुफा) जैसे स्थानों पर 37,000-10500 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) के बीच के आधुनिक मानव के पुरावशेष प्राप्त हुए हैं।

विगत वर्षों में मध्यभारत से हॉमिनिड फॉसिल खोजे गये हैं। सन् 1982 में होशंगाबाद से 40 कि.मी. उत्तर-पूर्व में नर्मदा के उत्तरी तट पर हथनोरा नामक गाँव से भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण के अरूण सोनकिया को कुछ हॉमिनिड अवशेषों की प्राप्ति हुई। उन्हें बलुआही बजरी में दबी एक मस्तिष्क (क्रेनियम) हड्डी तथा साथ में कुछ अन्य स्तनधारियों की हड्डियाँ तथा 'अशुलियन औज़ार' मिले। सोनकिया के अनुसार, यह 30 वर्ष की युवती का अवशेष था। जिसकी मस्तिष्क क्षमता 1155-1421 सी.सी. के बीच थी और इस आधार पर इसे विकसित होमो इरेक्टस की श्रेणी में रखा गया तथा इसे 'होमो इरेक्टस नर्मदेनसिस' नाम दिया गया। किंतु

हथनोरा से प्राप्त कपाल के एक खोल के साथ अरुण सोनाकिया

मानचित्र 2.2: **उपमहाद्वीप में हॉमिनिड अवशेषों के प्राप्ति-स्थल**

कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार, यह होमो सेपियन्स श्रेणी (प्रारम्भिक) का अवशेष है। एक तिथि गणना के आधार पर इसकी तिथि 500,000 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) आंकी गई है जो मध्य प्लीस्टोसीन का शुरुआती काल है।

सन् 1983 से 1992 के बीच नर्मदा घाटी (मध्य) क्षेत्र में भारतीय मानवशास्त्र सर्वेक्षण के द्वारा मानवीय 'फॉसिल' जीवाश्म की प्राप्ति की गहन खोज की गई। इस क्रम में सैकड़ों पुरापाषाण औज़ार और पशुओं के जीवाश्म की प्राप्ति हुई। सन् 1997 में ए.आर. सांख्यन ने हथनोरा पुरास्थल से महत्त्वपूर्ण खोज की घोषणा की। जिस स्थान से कुछ वर्ष पूर्व मानव कपाल के अंश मिले थे। इन नवीन प्राप्तियों में मध्य और पुरापाषाण-कालीन औज़ारों, पशु जीवाश्मों के साथ हॉमिनिड के कंधे की एक हड्डी भी मिली थी। इन प्राप्तियों की अनुमानित तिथि 5 लााख से 2 लाख वर्ष पूर्व आंकी जा रही थी। सांख्यन का मानना था कि हथनोरा से अलग-अलग मिले दोनों हॉमिनिड जीवाश्म एक ही महिला के थे।

सन् 2001 में केरल विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के शिक्षक पी. राजेन्द्रन को (तमिलनाडु) के विल्लुपुरम जिला के ओडई में एक शिशु का पूरा कपाल मिला। राजेद्रन एक ऐसी खाई में खुदाई कर रहे थे, जिसके ऊपरी स्तर पर सूक्ष्म पाषाण और सबसे निचले स्तर पर उच्चपुरापाषाण कालीन औज़ार मौजूद थे। करीब 6 मीटर की गहराई पर उच्चपुरापाषाण कालीन निक्षेप के ठीक नीचे लौह ऑक्साइड मिश्रित रेत और कंकड़ का कठोर पत्थर का जमा हुआ एक स्तर फैला हुआ था। उच्चपाषाण कालीन स्तर में 6 मीटर गहराई पर लौहयुक्त

कंक्रीट में यह कपाल दबा पाया गया था जिसकी तिथि 166,000 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) निर्धारित की गई (अर्थात मध्य से उच्च प्लीस्टोसीन काल)।

कुछ अन्य प्राप्त हुए हॉमिनिड अवशेषों की तिथि में अनिश्चितता है। एच.डी. सांकलिया और एस.एन. राजू द्वारा पुणे जिला के मूल-मुथा नदी के किनारे पाए गए नर तथा मादा होमो सेपियन्स के सम्बंध में यही विवाद है। वी.ए. वाकंकर द्वारा खोजे गए मध्यप्रदेश के भीमवेटका के वयस्क होमो सेपियन्स के जबड़े के विषय में भी तिथि ज्ञात नहीं की जा सकी। इस प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप से प्राप्त किये गए हॉमिनिड के पुरावशेष अत्यल्प संख्या में हैं। अत: दक्षिण एशिया में मानव विकास की कथा की अधिक संपुष्टि के लिए अभी समुचित प्रयासों की नितांत आवश्यकता है।

पुरा-जलवायु चक्र

(Palaeo-environments)

प्रागैतिहासिक काल के लोग जिस पर्यावरण में रह रहे थे, वह हमारे पर्यावरण से भिन्न था। कुछ महती परिवर्तनों ने इस उपमहाद्वीप को मौजूदा स्वरूप दिया है, जो आज से लाखों वर्ष पूर्व हुए थे। कुछ परिवर्तन तो उन दिनों हुए थे जब पृथ्वी पर मानवसम (होमीनीड) प्रजातियों का उदय भी नहीं हुआ था। कई करोड़ वर्षों पहले यह प्रायद्वीप उस विशाल भू-खंड का हिस्सा था, जिसे भूगर्भशास्त्री गोंडवाना लैंड कहते हैं। इस भू-खंड में आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका और अंटार्टिका सभी जुड़ा हुआ था। एक समय में आकर यह भूभाग खंडित हो गया और तब भारतीय भू-भाग वाला हिस्सा प्रतिवर्ष 20 से.मी. की दर से उत्तर की ओर खिसकने लगा और अंतत: एशियाई भूभाग से जाकर मिल गया। यह घटना 5 से 3.5 करोड़ वर्ष पूर्व की मानी जाती है। यह पृथ्वी के अंदरूनी परतों में भारी विवर्तनिक गतियों का परिणाम था। भारतीय भूभाग और एशियाई प्लेट की टकराहट और सतत् दबाव के कारण तिब्बत के पठार और हिमालय का उदय हुआ। हिमालय से निकली नदियां अपने साथ विशाल मात्रा में पहाड़ों से मिट्‌टी और गाद लेकर नीचे आने लगी। इसका परिणाम उत्तर के उर्वर मैदान के निर्माण के रूप में सामने आया। धरती के परतों में निर्वतन की प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है। भारतीय प्लेट एशियाई प्लेट को 5 से.मी. प्रति वर्ष की दर से ऊपर धकेल रहा है। हिमालय और तिब्बत के पठार अभी भी प्रतिवर्ष 5-10 मि.मी. की दर से ऊपर उठ रहे हैं। इसी कारण से बीच-बीच में भूकंप आते रहते हैं और उपमहाद्वीप के उत्तरी हिस्से में नदियों के मार्ग में परिवर्तन आता रहता है।

16 लाख वर्ष पूर्व से, प्लीस्टोसीन काल के शुरूआत से ही विश्वभर की जलवायु में नाटकीय परिवर्तन होने लगे। हालांकि, पूर्व प्रतिपादित चार हिमयुगों और चार अंतहिमानी कालखण्डों के सिद्धांत पर अब प्रश्न चिन्ह लगने लगा है। ठंडे और गर्म मौसम के चक्रों के आधार पर चार से अधिक का एकतिहाई हिस्सा बर्फ से ढका था और समुद्रतल का ज़बरदस्त ह्रास हो जाता था। गर्म कालखण्ड के दौरान मौसम गर्म हो जाता, बर्फ पिघल जाती और समुद्रतल उठा हुआ था। ऐसा भी माना जाता है कि उष्ण कटिबन्धीय तथा अर्ध-उष्णकटिबंधीय क्षेत्र चक्रीय रूप से शुष्क और प्लावित परिस्थितियों से गुजरते रहे। इन क्षेत्रों में प्लीस्टोसीन काल के जलवायु परिवर्तन के लय को पूरी तरह से नहीं समझा जा सका है।

भारतीय उपमहाद्वीप में प्लीस्टोसीन काल की जलवायु, व्यापक वैश्विक मौसम से प्रभावित हुई। किंतु ऐसा भी प्रतीत होता है कि कुछ क्षेत्रीय घटनाओं के भी दूरगामी प्रभाव पड़े। सुमात्रा में 75,000 वर्ष पूर्व, जिस स्थान पर आज टोबा झील विद्यमान है, एक शक्तिशाली ज्वालामुखी विस्फोट की घटना घटी। इस घटना का इस क्षेत्र की हॉमिनिड आबादी पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इस ज्वालामुखी से निकली टेफरा राख आज भी प्रायद्वीपीय भारत की कई नदी घाटियों में दबी पड़ी है। टोबा विस्फोट से पड़ने वाले भारतीय हॉमिनिड प्रजाति के प्रभाव का अध्ययन किया जा रहा है।

लगभग 10,000 वर्ष पहले होलोसीन युग (युग जो आज भी जारी है) की शुरूआत हुई। होलोसीन काल में नम जलवायु प्रभावी रही जो प्लीस्टोसीन काल के अंतिम दौर के अपेक्षाकृत शुष्क जलवायु से अधिक कही जा सकती है। इसका मतलब यह नहीं है कि पिछले 10,000 वर्षों में कोई महत्त्वपूर्ण जलवायु परिवर्तन नहीं हुआ है। इसका मतलब सिर्फ इतना है कि जितने विशाल परिवर्तन प्लीस्टोसीन काल में हुए थे, उतने बड़े परिवर्तन होलोसीन काल में नहीं हुए हैं। उत्तर प्लीस्टोसीन के मुकाबले होलोसीन की शुरुआत में जलवायु ज्यादा आर्द्र हो गया था।

पुरा-जलवायु चक्र की विशिष्टताओं का अध्ययन प्रागइतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग है। हालांकि, अभी तक उपमहाद्वीप के केवल कुछ क्षेत्रों की पुरा-जलवायु का अध्ययन किया जा सका है। ऐसा ही एक अध्ययन 1935

में एच.डी. टेरा और टी.टी. पेटरसन द्वारा सोहन नदी (पोटवार पठारीय क्षेत्र, वर्तमान पाकिस्तान) घाटी के सन्दर्भ में किया गया। इनके द्वारा क्षेत्र में बहुत पाषाण-कालीन औज़ार प्राप्त हुए। उन्होंने ऐसे पाँच पुरा-प्रवाह क्षेत्रों को चिन्हित किया तथा इनका तुलनात्मक अध्ययन कश्मीर तथा यूरोपीय हिमनद चक्रों के साथ किया। बाद में अध्ययन में प्रयुक्त, मॉडल (प्रारूप) के आधार पर नर्मदा और चेन्नई क्षेत्र से भी तुलना की गई। अध्ययन के डी. टेरा-पेटरसन प्रारूप को अब स्वीकार नहीं किया जाता फिर भी उनका अध्ययन भारतीय प्राग्इतिहास के संदर्भ में मील का एक पत्थर माना जाता है। वर्ष 1930 में इसी प्रकार का अध्ययन एल.ए. केमियाड और एम.सी. बर्किट के द्वारा आंध्रप्रदेश के पूर्वी घाट क्षेत्र में किया गया था जिसके अंतर्गत प्राग्ऐतिहासिक पत्थर के औज़ारों का स्तर विन्यास तथा उनकी अनुमानित जलवायु परिस्थितियों की तुलना की गई।

सोन नदी घाटी (उत्तरी मध्य प्रदेश) तथा बेलन नदी घाटी (दक्षिणी उत्तर प्रदेश) में हुए अध्ययन से गंगा की इन दक्षिणी सहायक नदियों के मौसम, नदी तंत्र तथा पाषाण-कालीन बस्तियों के बीच सम्बंध का अनुमान लगाया जा सका है (क्लार्क एवं विलियम्स, 1986)। प्लीस्टोसीन के अंतिम काल में यहां की जलवायु अधिक ठंडी तथा शुष्क थी। दरियाई घोड़े और घड़ियाल की हड्डियों के अवशेष बतलाते हैं कि यहां की नदियों एवं अन्य प्रवाहिकाओं में स्थायी रूप से जल उपलब्ध था। होलोसीन काल के आरम्भ से यह क्षेत्र अधिक नर्म तथा नमीयुक्त जलवायु वाला हो गया जिससे घास के मैदान कम हुए और वन प्रदेश का विस्तार हुआ। आरंभिक होलोसीन काल में मौसम प्राय: गरम और आर्द्र हो गया था, जिससे घास के मैदान कम हो रहे थे और घने जंगलों का विस्तार होने लगा था।

आज थार मरूस्थलीय क्षेत्र में प्राकृतिक रूप से सतह पर उपलब्ध जल का सर्वथा अभाव है। केवल वर्षा के दिनों में तालाब, कुँआ तथा नहरों में पानी उपलब्ध होता है। वर्ष 1985 में मिश्रा एवं राजगुरू के द्वारा थार मरूभूमि के पश्चिमी राजस्थान, विशेष रूप से डिडवाना और नागौर जिलों के अध्ययन से पता चला कि थार क्षेत्र में प्लीस्टोसीन काल का मौसम बहुत भिन्न था। प्लीस्टोसीन काल की अंतिम अवधि (25,000-13,000 वर्ष, वर्तमान से पूर्व) को छोड़ कर इस क्षेत्र में भूमिगत जल सदा मौजूद था तथा वनस्पति एवं जन्तु जीवन से यह इलाका परिपूर्ण था। यहां पाई जाने वाली खारे पानी की झीलों से सूचना मिलती है कि मध्य होलोसीन काल (6000-4000 वर्ष, वर्तमान से पूर्व) में वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती थी। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि इसी अवधि में यहां सर्वाधिक प्राग्ऐतिहासिक सभ्यता का विकास हुआ था।

भारतीय पाषाणयुग का वर्गीकरण

(Classifying the Indian Stone Age)

18-19 वीं शताब्दी में डेनमार्क के विद्वान पी.एफ. सुह्म तथा क्रिश्चियन टौम्सन ने पाषाण काल, कांस्य युग तथा लौह युग, ऐसी काल वर्गीकरण का पहली बार प्रचलन किया। जैकोब वॉरसे नाम के एक दूसरे डेनमार्क के विद्वान

तालिका 2.2: **पाषाण की प्रमुख विशेषताएं**

शब्दावली	भू-वैज्ञानिक युग	औज़ारों का भारतीय प्रकार	जीवन पद्धति/शैली
निम्न पुरापाषाण युग	निम्न प्लीस्टोसीन	कोर औज़ार जैसे हस्त कुठार क्लीवर तथा चॉपिंग औज़ार	आखेट तथा संग्रहण
मध्यपुरापाषाण युग	मध्य प्लीस्टोसीन	फ्लेक औज़ार (लेवालॉइस तकनीक से तैयार किए गए कोर द्वारा बने औज़ार)	आखेट तथा संग्रहण
उच्च पुरापाषाण युग	उच्च प्लीस्टोसीन	फ्लेक पर बने ब्लेड जैसे समांतर फलक ब्लेड और ब्युरिन	आखेट तथा संग्रहण
मध्यपाषाण युग	होलोसीन	माईक्रोलिथ या सूक्ष्म औज़ार	आखेट, संग्रहण, मछली पकड़ना तथा पशुपालन का आरम्भ
नवपाषाण युग	होलोसीन	सेल्ट चमकीले हस्त कुठार और पुरा कुठार	पशुपालन और कृषि पर आधारित खाद्यान्न उत्पादन

ने इस काल वर्गीकरण की सार्थकता को अपने उत्खननों के आधार पर सिद्ध किया। कालान्तर में, पाषाणयुग के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को भी चिन्हित किया गया। सन् 1863 में जॉन लुबॉक ने पाषाणयुग को दो भागों में विभाजित किया—पुरापाषाण काल तथा नवपाषाण काल। कुछ ही वर्षों बाद एडवर्ड लारटेट ने पुरापाषाण काल को निचला, मध्य तथा उच्च पाषाण कालों में बांटने का सुझाव दिया। उस उपविभाजन का आधार पत्थर के औज़ारों के साथ जुड़े हुए प्राणि-समूह में हुए परिवर्तनों को बनाया गया। पुरातत्त्वविदों ने धीरे-धीरे पुरापाषाण काल के अन्तर्गत औज़ारों के निर्माण और उसके कारण हुए परिवर्तनों को चिन्हित करते हुए तदनुरूप जीवनशैली में आए बदलावों को समझने का प्रयास किया। इन शब्दावलियों में मध्यपाषाण काल अपेक्षाकृत बहुत हाल में जुड़ा है।

भारतीय पाषाणकाल को भूवैज्ञानिक युग, औज़ार के प्रकार तथा तकनीक और जीवन निर्वाह की पद्धति में परिवर्तन के आधार पर पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग तथा नवपाषाण युग में बांटा गया। सामान्यत: 200,000 वर्ष पूर्व से 100,000 वर्ष के बीच निम्नपुरापाषाण युग; 100,000 वर्ष से 40,000 वर्ष के बीच मध्यपुरापाषाण युग तथा 40,000-10,000 वर्ष के बीच ऊपरीपुरापाषाण युग माना गया है, किंतु विभिन्न पुरातात्त्विक स्थलों के लिए, पृथक-पृथक तिथियाँ प्रस्तावित की गई हैं। सामान्य तौर पर पुरापाषाण संस्कृतियाँ प्लीस्टोसीन युग तथा मध्यपाषाण और नव पाषाण संस्कृतियाँ होलोसीन युग में रखी गई हैं। चार्ट के द्वारा पाषाण काल के विभिन्न तथ्यों को अत्यंत सरलीकृत ढंग से रखने का प्रयास किया गया है। दरअसल, ऐसा कोई भी विभाजन एक अत्यंत विस्तृत मानवीय अतीत की जटिलताओं को सरलीकृत ढंग से समझने का प्रयास मात्र ही है।

तालिका-2.2 में क्षेत्रीय विशिष्टता को चिन्हित नहीं किया जा सका है। इसलिए औज़ारों को ही रखा जा सका है। तालिका में जिस प्रकार सेल्ट या पुराकुठार को नवपाषाण काल से जोड़ा गया है किंतु उसका प्रयोग ऐतिहासिक युग में भी पूर्वी भारत के सन्दर्भ में होता रहा है। इसी प्रकार आखेट और खाद्यान संग्रह, पशुपालन तथा कृषि के प्रचलन के बाद भी समाप्त नहीं हुई।

फिर भी किसी समुदाय के द्वारा अतीत में कृषि और पशुपालन के उपयोग से सम्बंधित प्रमाणों को एकत्रित करने की अपेक्षा किसी समुदाय के द्वारा प्रयोग में लाए गए पत्थर के औज़ारों के विषय में समझना ज्यादा आसान है। भारतीय पाषाणयुग के सम्बंध में एकाधिक युगों की विशेषताएं आपस में मिलती-जुलती प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए, जहां एक ओर भारत में शुद्ध रूप से कुछ नवपाषाण युगीन स्थल हैं, किंतु ज्यादातर नवपाषाण तथा ताम्र युगीन तत्त्वों का मिश्रण दिखता है।

पुरापाषाण युग

(The Palaeolithic Age)

निम्न पुरापाषाण स्थल

भारतीय उपमहाद्वीप के सभी भागों से पुरापाषाण-कालीन औज़ार प्राप्त होते हैं (चक्रवर्ती, 1999: 54-75; ऑल्चिन और ऑल्चिन, 1997: 47-85) किंतु गंगा और सिन्धु के मैदानी क्षेत्र से इनकी प्राप्ति प्राय: नगण्य कही जा सकती है (उत्तर प्रदेश के कालपी को अपवाद कहा जा सकता है) सिन्ध के रोहड़ी पठार अथवा विन्ध्य पर्वत श्रृंखला के उत्तरी हिस्सों जैसे पठारीय क्षेत्र में इनकी प्राप्ति हुई है। किंतु प्रायद्वीपीय भारत में पुरापाषाण युगीन स्थलों की भरमार है (तृतीय इलाकों को छोड़कर)। ऐसा स्वाभाविक है कि इनका निवास नदियों तथा जलस्रोतों और गुफा आश्रयणियों की प्राकृतिक उपलब्धता पर निर्भर रहा होगा।

चित्र 2.2: **आघात तकनीक (परकशन तकनीक)**

ऐसे स्थलों का सुव्यवस्थित उत्खनन अभी भी अपर्याप्त है और अधिकांश प्रमाण सतहों पर पाए गए पत्थर के औज़ारों से मिले हैं। इस लिए ऐसे स्थलों से उपलब्ध जानकारी, जहां इनका स्तर विन्यास के साथ अध्ययन किया जा चुका है हमारे लिए

प्राथमिक स्रोत

विशिष्ट निम्न पुरापाषाण-कालीन औज़ार

प्रागऐतिहासिक मनुष्य के जीवन को समझने में, उनके द्वारा उपयोग में लाए गए पत्थर के औज़ार की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसलिए प्रागऐतिहासिक के विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त शब्दावलियों को समझना आवश्यक होता है, खासकर इसलिए कि कई औज़ारों के नाम बहुत भ्रामक होते हैं।

यदि एक पत्थर के टुकड़े को तोड़ा जाए तब उससे प्राप्त सबसे बड़ा टुकड़ा 'कोर' कहलाता है तथा प्राप्त किये अन्य छोटे टुकड़े 'फ्लेक' कहलाते हैं। सबसे बड़े टुकड़े से बने औज़ार कोर कहे जाते है तथा छोटे टुकड़े से बने औज़ार फ्लेक-औज़ार कहे जाते हैं। किसी चट्टान से टुकड़ों को हटाना फ्लेकिंग या फलकीकरण कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया में चट्टान पर बने चिन्ह फ्लेक-चिन्ह कहे जाते है।

एक हस्त कुठार सामान्यत: कोर औज़ार होता है। इसे द्विफलक औज़ार भी कहते है, क्योंकि इनके दोनों फलकों पर काम किया होता है। मोटे तौर पर यह त्रिकोणीय होता है। इसका एक किनारा चौड़ा और दूसरा नुकीला होता है। कुछ हस्त कुठारों के साथ हैण्डल या हत्थे का प्रावधान रहा होगा।

छोटे पत्थरों पर भी काम कर औज़ार बनाये गये थे जिसमें केवल एक किनारे से फ्लेक निकाला जाता था। शेष भाग को नहीं छुआ जाता था। चॉपिंग औज़ार कोर पत्थर तथा छोटे पत्थर दोनों से बनाए गए थे। इसमें पत्थरों से टुकड़ों को इस प्रकार निकाला जाता था कि बहुत सारे उभार बन जाते थे। चॉपर एक फलक वाला औज़ार था अर्थात इसके एक हिस्से पर ही काम किया हुआ होता था। क्लीवर अपेक्षाकृत समतल औज़ार होते थे जिन्हें चौड़े आयताकार या त्रिकोणीय फ्लेकों से बनाया जाता था। इसका एक हिस्सा चौड़ा तथा तीक्ष्ण फलक वाला होता था।

अशुलियन शब्द का प्रयोग औज़ारों के वैसे ढेर के संदर्भ में किया जाता है जिसमें हस्तकुठारों और क्लीवर औज़ारों की अपेक्षाकृत विकसित नमूने मौजूद होते हैं। यह निम्न पुरापाषाण युग के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु बाद के काल से भी ये प्राप्त होते रहे है।

स्रोत: सांकलिया (1964) 1982: 45-58
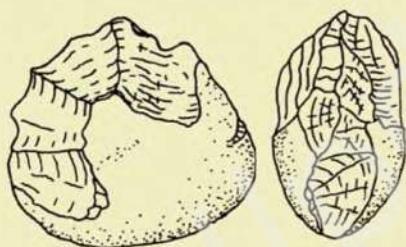
खंडक औज़ार (चौपिंग टूलस)
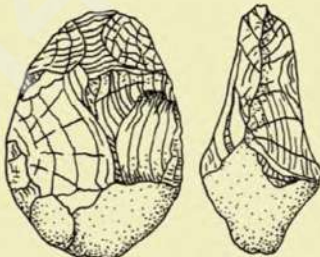
बटिया हस्तकुठार (पेबल हैंड एक्स)
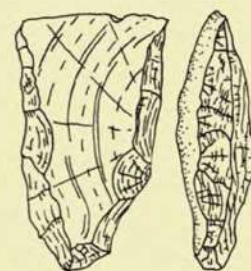
विदारणी (क्लीवर)
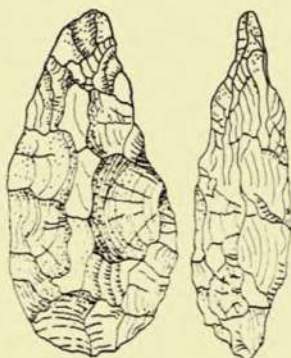
हस्त कुठार (हैंड ऐक्स)
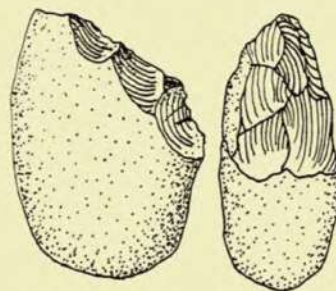
शल्कित औज़ार/खंडक (चॉपर)

चित्र 2.3: **लघु पुरापाषाण उपकरण**

मानचित्र 2.3: **प्रमुख पुरापाषाण स्थल**

महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। जिस स्तर विन्यास पर पत्थर के औज़ार उपलब्ध होते हैं (पुरापाषाण औज़ार), उनके प्लीस्टोसीन काल के जलवायु का अनुमान लगाया जा सकता है। अन्य कारकों के साथ-साथ वर्षा की मात्रा के आधार पर किसी नदी के अपरदन की क्षमता का अंदाज किया जा सकता है। बहुत से औज़ार मिट्टी में सने मिलते हैं जो सामान्यत: नमी वाली जलवायु परिस्थिति का बोध कराते हैं। बड़े पत्थरों के औज़ारों का जमाव शुष्क जलवायु परिस्थिति का द्योतक है।

अधिकांशत: प्रारम्भिक पुरापाषाण-कालीन औज़ार कोर औज़ार हैं। जो क्वार्टजाईट जैसे कठोर पत्थर के बनाए गए हैं। इनमें चॉपिंग (चीरने/काटने वाले) औज़ार, हस्तकुठार और क्लीवर प्रमुख हैं। ऐसा सम्भव है, कि औज़ारों के निर्माण के लिए चट्टानों में आग लगाकर गर्म किया जाता हो। फिर उनपर पानी डालकर ठंडा करने से वे टूट जाते थे। पुरापाषाण औज़ारों में धीरे-धीरे विकास दिखलाई पड़ता है। पहले खुरदरे औज़ार बनते थे लेकिन बाद में चिकने औज़ार बनाए जाने लगे।

भीमबेटका गुफा आश्रयणी

पोटवार की पठारियों तथा शिवालिक में सबसे अधिक पुरापाषाण औज़ारों के संदर्भ और तिथियों के साक्ष्य मिले हैं। झेलम के किनारे दीना और जलालपुर स्थानों से ब्रिटिश पुरातत्त्वविदों की एक टीम ने 15 औज़ार प्राप्त किये। 'पुरा चुम्बकीय विधि' से इनकी तिथि 700,000-500,000 वर्ष पूर्व निकाली गई। इनमें तीन हस्तकुठार और बड़े पत्थर के औज़ार का समूह (बोल्डर कॉग्लोमरेट [समुच्चय]) शामिल हैं। ये पाकिस्तान के पंजाब के रिवात नामक स्थान (रावलपिंडी के निकट) से 1983 में ब्रिटिश मिशन के पोटवार परियोजना के अंतर्गत प्राप्त हुए। इन्होनें पाकिस्तानी पुरातत्त्व सर्वेक्षण के साथ मिलकर पुराचुम्बकीय विधि से ही इन औज़ार समूहों की तिथि 20.1 लाख वर्ष पूर्व निकाली। शिवालिक के पिन्जौर क्षेत्र से 24-20 लाख वर्ष पूर्व के औज़ार गुरहा साहन और पी.एस.-57 स्थलों से प्राप्त किये गए। शिवालिक के जम्मू और हिमाचल वाले हिस्सों से भी इसी काल के औज़ार प्राप्त किये गए, जैसे जम्मू के उत्तरबेनी स्थान से 28 ± 05 लाख वर्ष पूर्व के पुरापाषाण युग खोजे गए।

राजस्थान के डिडवाना जिले से 390,000 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) के औज़ार यूरेनियम/थोरियम शृंखला तिथि प्रणाली से निर्धारित किए गए। मध्य प्रदेश के सोन घाटी से ऊष्मादीप्ति तिथि से औज़ारों की तिथि 390,000 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) आंकी गई। गुजरात की हिरण घाटी से भी यूरेनियम/थोरियम शृंखला तिथि प्रणाली से औज़ारों की काल गणना की गई। इसी तिथि से महाराष्ट्र के नेवासा से प्राप्त औज़ारों की तिथि 103,800 ± 19,800 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) और येदुरवाड़ी की तिथि 3,50,000 वर्ष व.पू. निकाली गई।

पत्थर के औज़ार जिन स्थानों पर बनाए जाते थे (फैक्ट्री साईट्स) वे कच्चे माल की आपूर्ति के काफी निकट होती होगी। ऐसे स्थानों पर बने हुए और अधूरे औज़ारों के ढेर मिलते हैं। सिन्ध क्षेत्र में रोहड़ी पठारी और सुक्कर में ऐसे निर्माण क्षेत्र मिले हैं। ऊपरी सिन्ध में ही जेरूक और माइलस्टोन 101 ऐसे स्थान हैं।

ऐसी आम धारणा बन गई है कि पुरापाषाण औज़ारों के स्थल दूर दराज के इलाकों में ही होंगे। जबकि ऐसा नहीं है, दिल्ली जैसे आधुनिक शहर भी पुरापाषाण औज़ारों के केंद्र हैं। सन् 1956 में दिल्ली रिज से चार लघु पुरापाषाण औज़ार मिले थे। (दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर के ठीक सामने) बाद में उत्तरी रिज से भी ऐसी प्राप्तियाँ हुई हैं। सन् 1983 में जे.एन.यू. कैम्पस से अशुलियन हस्तकुठार मिले। चक्रवर्ती और लाहिरी (1986) ने दक्षिणी दिल्ली और आस-पास के क्षेत्र से 43 ऐसे स्थलों को प्रकाशित किया है जिनसे लघु पुरापाषाण औज़ारों से लेकर सूक्ष्म पाषाण (माइक्रोलीथ) औज़ार तक मिले हैं। दिल्ली के दक्षिण में बदरपुर पठार के अनंगपुर के पास यमुना नदी की पुरा प्रवाहिकाओं के किनारे से हजारों अंशुलियन औज़ार पाए गए हैं। यह पत्थर के औज़ारों तथा पुरापाषाण युगीन सभ्यता का बड़ा केंद्र था।

नर्मदा घाटी से प्राप्त एक क्वार्टजाइट हस्तकुठार

राजस्थान में अजमेर से निम्न मध्य तथा उच्च पुरापाषाण-कालीन औज़ार मिले हैं तथा कुछ ऐसी प्राप्तियाँ लुनी नदी घाटी से भी प्राप्त हुई हैं। पश्चिमी राजस्थान के डिडवाना और नागौर क्षेत्र का पुरापाषाण युगीन संदर्भ में विधिवत स्तरविन्यास के अनुसार अध्ययन किया गया है। यहां निम्न तथा मध्यपुरापाषाण युगीन औज़ारों की प्राप्तियां हुई हैं। जोधपुर के निकट मोगरा पठारों में प्रस्तर औज़ारों का निर्माण केंद्र था जहां से निम्न मध्य और ऊपरी पुरापाषाण-कालीन औज़ार प्राप्त हुए हैं। मध्यपाषाण युगीन औज़ार भी यहां से मिले हैं।

गुजरात में लघु पुरापाषाण-कालीन औज़ार साबरमती, ओरसंग और कर्जन सहायिकाओं की घाटी में तथा सौराष्ट्र के भदर घाटी में मिले हैं। कोंकण तट से गोआ तक भी पुरापाषाण-कालीन तथा बाद के औज़ार मिलते हैं। महाराष्ट्र में इनकी प्राप्ति का मुख्य केंद्र वर्द्धा और वेन गंगा की घाटियाँ रही हैं। स्तरविन्यास के साथ इनका अध्ययन मूल-मुथा, गोदावरी, प्रवर तथा तापी घाटियों में किया गया है। मुथा नदी (पुणे जिला) के दत्तावाड़ी क्षेत्र से, निचले और मध्यपुरापाषाण-कालीन औज़ार प्राप्त किये गये हैं। नासिक में गोदावरी के गंगावाड़ी क्षेत्र से भी निचले पुरापाषाण-कालीन औज़ार प्राप्त किये गए हैं।

मध्य भारत में दमोह, रायसेन, नर्मदा, ऊपरी सोन तथा महानदी की घाटियों में पर्याप्त प्राग्ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। विशेष रूप से नर्मदा घाटी का अध्ययन किया जा चुका है। होशंगाबाद के निकट आदमगढ़ की पहाड़ियों से भी निचले और मध्यपुरापाषाण युगीन औज़ार मिले हैं। इनमें सबसे विख्यात भीमबेटका (रायसेन जिला, मध्य प्रदेश) की प्राप्तियाँ है। यहां से निचले पुरापाषाण काल से लेकर ऐतिहासिक युग तक निरंतर सभ्यता के प्रमाण उपलब्ध हैं।

भीमबेटका की पठारी में क्वार्टजाइट और बलुआही पत्थर का वर्चस्व है। इस स्थान पर तीन प्राकृतिक झरने और जलाशय अभी देखे जा सकते हैं। वर्तमान में 30 प्रकार की वनस्पति चिन्हित की जा चुकी है। आज हिरण, जंगली सूअर, नीलगाय, चीता, लोमड़ी, खरहा तथा सियार इत्यादि बहुतायत में पाए जाते हैं। हो सकता है कि प्राग्ऐतिहासिक काल का पर्यावरण अभी से भिन्न रहा होगा किंतु फिर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भीमबेटका पाषाण-कालीन मनुष्य को आकर्षित करती रही होगी। भीमबेटका से प्राप्त अधिकांश औज़ार पीलापन लिए क्वार्टजाइट के बने हैं, जो यहां प्रचुरता से उपलब्ध हैं। घूसर क्वार्टजाइट आस-पास में ही मिल जाते हैं। निचले पुरापाषाण काल से प्रस्तरीय पटलों से बने पाँच सतहों को चिन्हित किया गया है। हड्डी की अनुपस्थिति शायद अम्लीय मिट्टी के कारण है।

एच.डी. सांकलिया (1908-89), भारतीय पुरातत्त्व के एक पुरोधा

उत्तर प्रदेश की बेलन नदी घाटी में निचले पुरापाषाण काल से नवपाषाण काल तथा प्राग्ऐतिहासिक काल तक का स्तर विन्यास के साथ अध्ययन किया जा चुका है। बिहार में

नए अनुसंधान

इसामपुरः पत्थर के औज़ार बनाने का एक केंद्र

कर्नाटक के गुलबर्गा जिले का एक गांव-इसामपुर, हुंसगी घाटी का उत्तर पश्चिम भाग, कामता-हल्ला नामक एक मॉनसूनी नदी घाटी है। यह 7,200 वर्ग मीटर में फैला पुरापाषाण युगीन स्थल है। सन् 1983 में सिंचाई परियोजना के क्रियान्वयन के क्रम में इस स्थल की जानकारी हुई। जल स्रोत के अलावा जंतु एवं वनस्पति की प्रचूर संभावनाओं का क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त यहां की एक विशेषता यह है कि सिलिकायुक्त चूनापत्थर के स्लैब प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। इस स्थल से अशुलियन औज़ारों के प्रमाण मिलते हैं। अशुलियन श्रेणी की सामग्रियों में ज्यादातर कोर औज़ार अथवा बड़े आकार वाले फ्लेक औज़ार तथा डेबिटेज (मलवा) मिलते हैं। औज़ारों में छूरी, हस्तकुठार, क्लीवर तथा स्क्रेपर (तक्षणी) प्रमुख हैं, किंतु अधिकतर औज़ार अर्धनिर्मित अवस्था में हैं, तैयार औज़ार कम ही हैं। क्वार्टजाइट, बसाल्ट तथा चर्ट से बने औज़ारों की अधिकता है। मध्यपुरापाषाण युगीन औज़ारों की श्रेणी में अधिकांशतः चर्ट से बने फ्लेक औज़ार हैं। कोर औज़ार तथा हथौड़े भी हैं। क्वार्टजाइट तथा चूना पत्थर के भी बहुत से औज़ार हैं। तक्षणी के समान पत्थर के औज़ार बहुतायत में पाए गए हैं। औज़ारों को साधारण फ्लेक (परत) तकनीक तथा तैयार किए गए कोर दोनों विधियों से बनाया गया। इस स्थल में चार उपस्थलों को चिन्हित किया जा सकता है, जिनका आकार 300-400 वर्ग मीटर होगा, जहां पर चूना पत्थर के बहुत से स्लैब मौजूद हैं, जिससे पत्थर के औज़ार बनाए जा सकते थे। इन पथरीले स्थलों पर ही औज़ार बनाए जाते होंगे। हुंसगी-बैंचल घाटियों में इसामपुर औज़ार बनाने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा होगा। यहां से बहुत से औज़ारों पर उपलब्ध चिन्हों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस स्थल पर पुरापाषाण-कालीन मानव निवास भी कर सकते थे। इसामपुर में ऐसी सभ्यता की तिथि 500,000 से 600,000 वर्ष पूर्व आंकी गई है। अभी भी यहां चल रहे अध्ययनों से ऐसी उम्मीद की जा रही है कि हमें निचले पुरापाषाण-कालीन हॉमिनिड सभ्यता की और भी जानकारी मिलती रहेगी।

स्रोतः पदैय्या एवं अन्य, 1999-2000

चित्र 2.4: **इसामपुर के औज़ार**
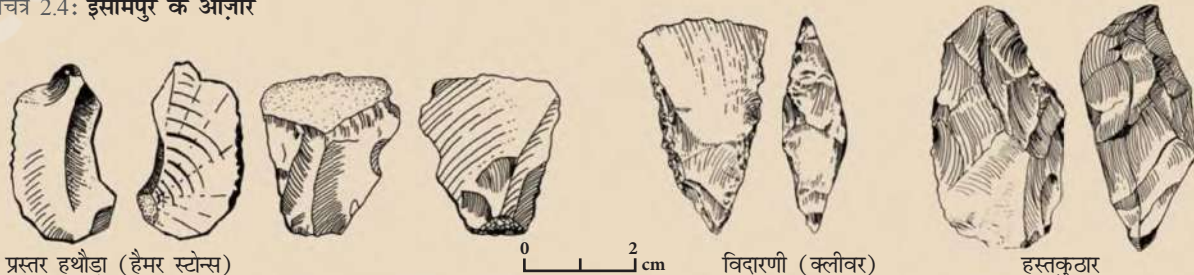
खडगपुर के जंगलों से (मुंगेर के निकट) पैसरा नामक स्थान से निचले पुरापाषाण काल का एक औज़ार निर्माण क्षेत्र अध्ययन में आया है (पंत एवं जायसवाल, 1991)। यहां से आठ खम्भों के लिए किये गए छिद्र मौजूद हैं जो फूस के छत और घर की ओर इशारा करता है।

झारखण्ड में छोटा नागपुर की नदी और घाटियों में (पश्चिम बंगाल की सीमावर्ती हिस्से) भी लघु पुरापाषाण औज़ार पाए गए हैं। उड़ीसा के विभिन्न क्षेत्रों से भी पुरापाषाण काल के तीनों भागों से प्रमाण पाए गए हैं। सम्बलपुर जिले के डारी-डुंगरी से निचले और मध्यपुरापाषाण काल के औज़ारों के प्रमाण मिले हैं। इसी प्रकार लघु पुरापाषाण युग के औज़ारों की प्राप्ति बुधबलान और ब्राह्मणी नदी की घाटियों में भी हुई है।

कुछ समय पहले तक 'मद्रासी' या दक्षिण भारत में उपलब्ध पुरापाषाण उद्योग को अन्य क्षेत्र से भिन्न माना जाता था क्योंकि पेबल (पत्थर या छोटे आकार के पत्थर के औज़ार) औज़ार नहीं पाए गए थे। किंतु कुछ दशकों से चल रहे अध्ययन में औज़ार और चॉपिंग औज़ार अन्य औज़ारों के साथ विशेषकर हस्तकुठारों के साथ निचले पुरापाषाण युगीन स्तर से प्राप्त होने लगे हैं। निम्न एवं उच्च पुरापाषाणकालीन औज़ारों का एक स्तर विन्यास क्रम कर्नाटक के मालप्रभा-घाटी और प्रभा नदी घाटी में भी पाया गया है। निम्न पुरापाषाणकालीन औज़ार हुंसगी-बैचबल एवं कृष्णा घाटियों में भी मिला है। कर्नाटक के गुलबर्गा जिले के हुंसगी नामक स्थान पर, कृष्णा नदी के सहायक नदी हुंसगी के तट पर भी निम्न पुरापाषाण कालीन औज़ार मिले हैं (पदैय्या 1982)। यहां कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जहां कुछ ही श्रेणी के औज़ार एवं वस्तुएं प्राप्त होती हैं, परंतु वे औज़ार निर्माण केंद्र अथवा शिकार क्षेत्र रहे होंगे। जिन जगहों पर ज्यादा संख्या में औज़ार मिलते हैं, वह अस्थायी शिविर स्थल रहा होगा। इसमें भी बड़े ऐसे स्थल जहां भारी मात्रा में कई प्रकार के औज़ार मिलते हैं, वे ऐसी जगह रहे होंगे, जहां लोगों ने काफी दीर्घकाल तक निवास किया होगा। हुसंगी के पुरापाषाण औज़ार चूनापत्थर, बलुआ पत्थर, क्वार्टजाइट (पदैय्या, 1982), डोलेराइट और चर्ट जैसे विविध पत्थरों से बने हैं। इनमें से कुछ पत्थर हुंसगी में स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं थे। उत्खनित क्षेत्र में एक स्थान से 63 वर्गमीटर क्षेत्र में ग्रेनाइट के ब्लॉक पाए गए हैं जो शायद से पेड़ की टहनियों, घास और पत्रों से बने आश्रयणो के रूप में प्रयोग में थे। इस प्रकार पुरापाषाण-कालीन सभ्यता की दृष्टि से हुंसगी का अपना महत्त्व रहा होगा। आजकल भी हुंसगी के आस-पास के क्षेत्र में 40 से अधिक प्रकार के खाने लायक पौधों और शिकार के लिए छोटे प्राणी पाए जाते हैं।

आंध्र प्रदेश में निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण अंदरूनी क्षेत्रों के अलावे विशाखापटनम जैसे तटीय क्षेत्र में भी प्राप्त हुआ है, जहां आज के समुद्र तल से करीब सात मीटर ऊंचे समुद्रतल से ये सम्बंधित रहे हैं। नागार्जुनकोंडा एक ऐसा स्थल है, जिसकी विस्तृत पड़ताल हो चुकी है और यहां से क्रमशः तीन पुरा-जलवायु स्तरों के चिह्न क्रमशः आर्द्र और शुष्क स्तरों के रूप में पाए गए हैं। केरल के पास घाट जिले के क्वार्टज से बने खंडक और विदारणी के अवशेष प्राप्त हुए हैं। चेन्नई के निकट गुडियम गुफाओं से निचले मध्य तथा ऊपरी पुरापाषाण युगीन औज़ारों के स्तर विन्यास के अध्ययन किए गए हैं। यहां से प्राप्त औज़ारों की अल्प संख्या तथा अन्य सम्बंधित अवशेष की अनुपस्थिति इंगित करती है कि यह एक अल्पकालीन कैम्प रहा होगा। कोर्टकल्या नदी घाटी में अत्तिरमपक्कम तमिलनाडु का सबसे समृद्ध पुरापाषाण युगीन स्थल माना जा सकता है (पप्पू व अन्य, 2003)। सबसे पहले 1863 में इस स्थान का उत्खनन किया गया था जिसमें अशुलियन औज़ारों के साथ, किसी जन्तु के पद चिन्ह की रोचक प्राप्ति भी यहां से हुई है। इसके अतिरिक्त घोड़े, नीलगाय और दरियाई घोड़े की हड्डियाँ बतलाती है कि यह नमीयुक्त रहा होगा।

मध्यपुरापाषाण युगीन स्थल

पुरापाषाण औज़ारों में समय के साथ परिवर्तन हुआ। निचले पुरापाषाण औज़ार तथा हस्तकुठारए चॉपिंग टूल्स, क्लीवर इत्यादि का बनना बंद नही हुआ लेकिन औज़ार के आकार और भार में कमी आई। इनमें से बहुत औज़ार तैयार किये गए, कोर पर बनाए जाने लगे जिसमें लेवलाइस तकनीक से बने औज़ार भी शामिल हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में मध्यपुरापाषाण औज़ार नदियों के किनारे तलछट और ग्रेवल में पाए गए हैं, जिससे जलवायु परिवर्तनों का संकेत भी प्राप्त होता है। भारतीय मध्यपुरापाषाण युग के संदर्भ में कुछ तिथि निर्धारण भी प्राप्त है। डिडवाना (राजस्थान) से दो तिथि क्रम उपलब्ध हैं — 150,000 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) तथा 144,000 वर्ष (वर्तमान से पूर्व)। हिरण घाटी (गुजरात) में यूरेनियम-थोरियम श्रृंखला विधि से 56,800 वर्ष (वर्तमान से पूर्व) की तिथि निर्धारित की गई है।

सिन्धु और झेलम नदियों के बीच पोटवार पठारियों (पाकिस्तान) से तथा पाकिस्तान के उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत के संघाओ गुफाओं से मध्यपुरापाषाण सभ्यता चिन्हित की गई है। पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के संघाओं गुफा में तीन मीटर से मोटे निक्षेप में मध्य एवं उच्च पुरापाषाणकाल के अवशेष प्राप्त हुए हैं। हजारों की

हस्तकुठार (हैंड एक्स)

दोनों तरफ से शल्कित, खंडक औज़ार (चॉपिंग टूल)

विदारणी (क्लीवर)

एक तरफ से शल्कित खंडक (पेबल टूल)

अतिरमपक्कम से प्राप्त निचले पुरापाषाण युगीन औज़ार

संख्या में पत्थर के औजारों के अलावा (मानव एवं पशुओं की) हड्डियां और अंगीठी भी मिले हैं सभी औजार क्वार्टज के बने हैं, जो आसानी से आस-पास के इलाके में मिल जाता है। कालखंड-एक के कई औजार तैयार क्रोड से काट कर निकाले गए शल्क से बनाए गए हैं एवं इनमें बड़ी संख्या में ब्युरिन (वेधक) भी प्राप्त हुए हैं।

थार क्षेत्र में मध्यपुरापाषाण अवशेष भूरे-लाल मिट्टी वाले इलाके में मिलते हैं, जो संकेत करता है कि यहां निम्नपुरापाषाण स्थलों के मुकाबले-अधिक गहन वनस्पति, अधिक जल स्रोत एवं अपेक्षाकृत अधिक ठंडा और नम जलवायु रहा होगा। लघु कार्यशाला स्थल एवं शिविर स्थल थार के कई हिस्सों में पाए गए हैं, विशेषत: नदियों और झीलों के किनारे इनके चिह्न मिलते हैं। अजमेर के बूढ़ा पुष्कर झील के ईर्द-गिर्द भी मध्यपाषाण युगीन औज़ार मिले हैं। होकरा और बरिधानी नामक स्थानों को शुष्क हो चुके प्राचीन झील के रूप में चिन्हित किया गया है और यह भी मध्यपाषाण युगीन औज़ार का प्राप्ति क्षेत्र है। विशेष रूप से जैसलमेर क्षेत्र से ऊपरी पुरापाषाण युगीन सामग्रियों के स्थान पर मध्यपाषाण युगीन सामग्रियां ही अधिक मिली हैं। अब विलुप्तप्राय हो चुकी लुनीनदी की घाटियों से भी मध्यपाषाण युगीन सामग्रियां मिली हैं। हालांकि, लुनी उद्योग के नाम से प्रसिद्ध मध्यपाषाण युगीन प्रमाण अरावली के पठारों के पूर्व और पश्चिम में अलग-अलग विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं। अरावली के पश्चिम वाले लुनी उद्योग में पत्थर के औज़ारों की अधिक विविधता देखी जा सकती है। गुजरात के मैदान के पूर्वी सीमांत पर भी मध्य और उच्च पुरापाषाण कालीन औजार मिले हैं।

मध्य तथा प्रायद्विपीय भारत के मध्यपुरापाषाण युगीन सभ्यता को नेवासा उद्योग का नाम दिया गया है, क्योंकि नेवासा नामक स्थान पर ही पहली बार एच.डी. सांकलिया ने पृथक स्तर विन्यास के सन्दर्भ में मध्यपुरापाषाण युगीन सामग्रियों को चिन्हित किया था। यहां अगेट, जैसपर तथा चैल्सेडनी जैसे उत्कृष्ट पत्थरों के बने अनेक प्रकार के खुरचनी पाए गए हैं। तापी की घाटी में स्थित पाटने से मध्य, उच्च पुरापाषाण तथा मध्यपाषाण स्तरविन्यासों के संदर्भ में औज़ार पाए गए हैं। नेवासा के पास चिकरी से मध्यपुरापाषाण युग के अवशेष मिले हैं।

गंगा नदी के मैदान में मानव सभ्यता के सर्वाधिक पुरातन अवशेष कालपी (जालौन जिला, उत्तर प्रदेश) में यमुना के दक्षिणी किनारे पर 20 मी. मोटे पहाड़ीनुमा निक्षेप के अंदर पाए गए हैं। हाथी, घोड़े और गाय की हड्डियों से मिलते-जुलते पुरावशेष यहां बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं। मध्यपुरापाषाण युग के पत्थर के औज़ार और हड्डियों से बने औज़ार दोनों ही एक साथ

वेधक (बोरर) (नेल्लोर जिला, आंध्र प्रदेश)

प्राथमिक स्रोत

लेवल्वा तकनीक

लेवल्वा तकनीक शल्कित फ्लेक औज़ार बनाने की विकसित तकनीक है। यह पेरिस के नजदीक स्थित लेवल्वा पेरे (Levallois Perret) नामक स्थल के नाम से जाना जाता है। जहां प्राग्ऐतिहासिक पत्थर के औज़ारों को बनाने के संदर्भ में इस तकनीक को पहली बार नोटिस किया गया था। इस तकनीक के अंतर्गत क्रोड से शल्क (फ्लेक) को पृथक कर के वांछित आकार देने के स्थान पर क्रोड (कोर) को ही सावधानीपूर्वक तैयार किया जाता था। इसके किनारों को काँट-छाँट कर, सतह से शल्कों को विधिपूर्वक अलग कर लिया जाता था। केंद्र से बाहर की ओर सभी दिशाओं में इन्हें अलग किया जाता था। तैयार किये गए क्रोड को पीटकर काम करने योग्य जगह बना ली जाती थी। उस बिन्दु पर सीधे या किसी दूसरे औज़ार से लम्बवत चोटों के द्वारा पीटा जाता था। इस प्रकार से पृथक किया गया शल्क अपेक्षाकृत पतला होता था, जिनका आकार सामान्य रूप से तिकोना या गोलाकार देखा गया है। शल्कों की निचली सतह साफ-सुथरी और छिछली हो जाती थी। शल्कों की ऊपरी सतह के केंद्र में दाग बन जाते थे। इसके बाद इन्हें और अधिक तैयार करने की जरूरत नहीं पड़ती थी। क्योंकि इस समय तक इनके किनारे तीक्ष्ण हो चुके होते थे। एक लेवल्वा शल्क का क्रोड लगभग कछुए के जैसा दिखलाई पड़ता है, इसलिए इन्हें कभी-कभी कच्छप क्रोड की संज्ञा भी दी जाती है।

कुछ तैयार किये गए क्रोड तकनीक भी हैं, उदाहरणत: डिसकाइड क्रोड तकनीक सबसे लोकप्रिय प्रतीत होता है। लेवल्वा तकनीक से एक बार में केवल एक शल्क तैयार किया जा सकता था, वहीं डिसकॉइड क्रोड या चक्राकार क्रोड तकनीक के द्वारा एकाधिक शल्क औज़ार तैयार किये जा सकते थे। किन्तु इस विधि से तैयार किये गए शल्कों का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता था।

स्रोत: सांकलिया, [1964], 1982: 29-30
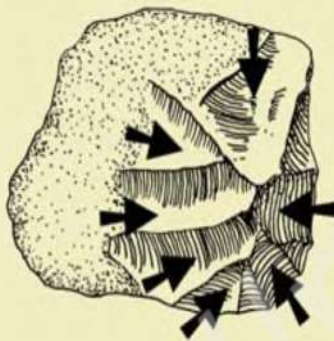
लेवल्वा क्रोड बनाने की तैयारी
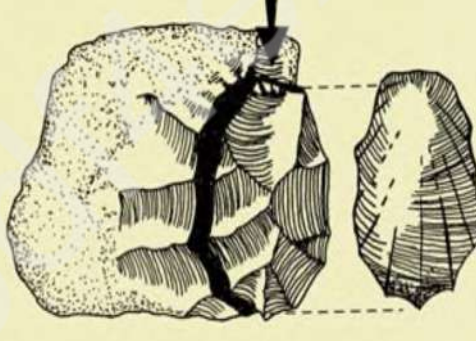
पीटने के स्थान को दिखलाने के लिए शल्क (विस्थापित) के साथ लेवल्वा क्रोड का चित्र

90^0 कोण तथा तैयार किए गए प्लेटफार्म के साथ लेवल्वा शल्क

शल्क विस्थापन के बाद 'कच्छप' या लेवल्वा कोर

चित्र 2.5: **लेवल्वा शल्क निर्माण की प्रक्रिया**

पाए गए हैं। कालपी का यह मध्यपुरापाषाण युगीन स्तर 45,000 वर्ष पूर्व का बतलाया गया है। यहां से और पूर्व की तरफ विशेषकर पश्चिम बंगाल के पश्चिमी हिस्सों से मध्य तथा उच्च पुरापाषाण अवशेष पाए गए हैं।

दक्षिण भारत में मध्यपुरापाषाण संस्कृति फ्लेक औज़ारों से चिन्हित की जाती है। विशाखापत्तनम के तटीय क्षेत्र में पत्थर के औज़ार के लिए क्वार्टजाइट चर्ट तथा क्वार्टज का प्रयोग किया गया है। अनेक स्थानों से लेवल्वा तकनीक से औज़ार बनाने के प्रमाण मिले हैं। मध्यपुरापाषाण स्तर विन्यास के सन्दर्भ में अपेक्षाकृत छोटे आकार के हस्तकुठार, क्लीवर और चौपर के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के स्क्रेपर्स भी पाए गए हैं। कुड्डप्पा जिला के नन्दीपल्ली तटीय स्थल से कार्बन-14 तिथि के आधार पर मध्यपुरापाषाण अवशेषों की तिथि 23,000 वर्ष पूर्व तय की गई है।

उच्च पुरापाषाण युगीन पुरास्थल

उच्च पुरापाषाण युगीन औज़ारों की तकनीकी उत्कृष्टता समांतर फ्लेकों वाले ब्लेडों के आधार पर रेखांकित की जाती है। ब्युरिन कोटी के औज़ारों की संख्या में भी इस काल में उल्लेखनीय वृद्धि देखी जा सकती है। औज़ार

उत्तल फलक वाली खुरचनी (स्क्रेपर) चौड़ी खुरचनी (स्क्रेपर) दांतेदार औज़ार अवतल फलक वाल खुरचनी (स्क्रेपर)

दो फलकों वाली खुरचनी (स्क्रेपर) शल्क पर क्षुरी अनुशल्कित फलक वाली अंत्य खुरचनी कोण वाली खुरचनी (स्क्रेपर) अंत्य खुरचनी

नोक वाले अग्रक (पौइंट) 0 2 cm बेधक (बोरर)

चित्र 2.6: **पुरामध्यपाषाण-कालीन औज़ार**
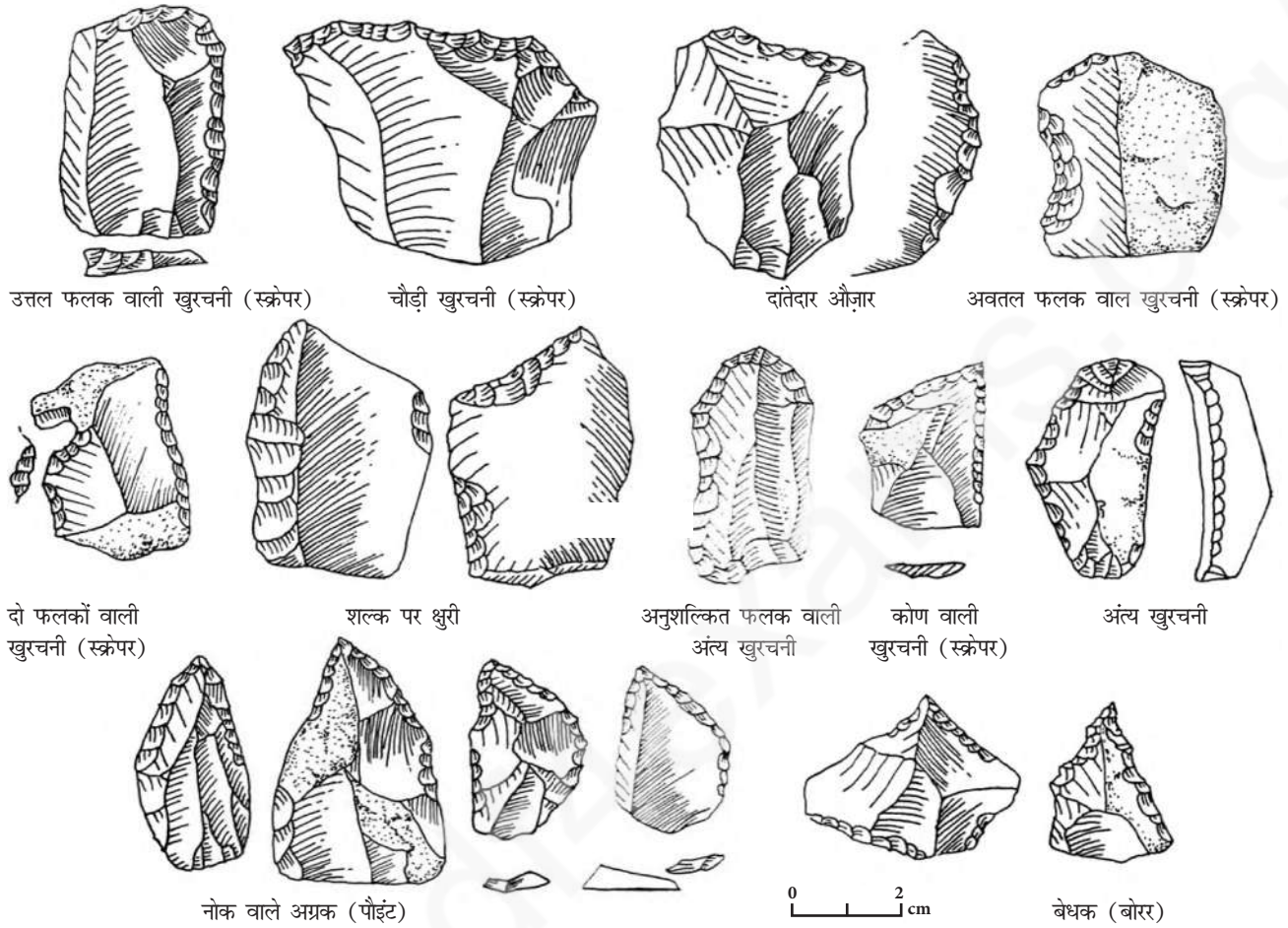
निर्माण की सामान्य दिशा अपेक्षाकृत छोटे आकार के औज़ारों के उत्पादन की ओर थी, जो दरअसल पर्यावरण में आ रहे बदलावों के प्रति मानवीय अनुकूलन की प्रवित्ति को दर्शाती है। उदाहरणस्वरूप, अध्ययनों के आधार पर अब स्पष्ट हो चुका है कि उच्च पुरापाषाण कहे जाने वाले काल में उत्तरी तथा पश्चिमी भारत के पर्यावरण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। भारी कार्यों के लिए पहले से चले आ रहे औज़ारों का भी उपयोग किया जाता रहा।

उच्च पुरापाषाण युग के स्तरविन्यास के आधार पर अब हमारे पास कुछ निश्चित तिथियाँ भी उपलब्ध है। रिवात के स्थल-55 में यह तिथि—ल. 45,000 वर्ष पूर्व है। संधाओं गुफा के संदर्भ में कार्बन-14 तिथि 41,825 ± 4120 वर्ष पूर्व से 20,660 ± 360 वर्ष पूर्व के बीच निकाली गई। सोन नदी घाटी ये यह तिथि कार्बन-14 आधार पर 12,000-10,000 वर्ष पूर्व आंकी गई है तथा मेहताखेड़ी से प्राप्त एक शुतुर्मुर्ग के अंडे से बने सामग्री की तिथि 41,900 वर्ष पूर्व ज्ञात हुई है। आंध्रप्रदेश के कुरनूल जिले की प्राप्तियों के सम्बंध में दो तिथियाँ निकाली गई हैं—19,224 वर्ष तथा 16,686 वर्ष (जो इलेक्ट्रॉन घूर्णन प्रतिध्वनि पर आधारित तिथि है)।

उत्तर पश्चिम में, संघाओ गुफा से मध्य तथा उच्च पुरापाषाण अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनमें जन्तुओं की हड्डियाँ, चूल्हे इत्यादि भी सम्मिलित हैं, जो शायद दफनाने की प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं ऊपरी सिन्ध के रोहड़ी पठार और निचले सिन्ध के माइलस्टोन 101 से भी उच्च पुरापाषाण औज़ार मिले हैं। कश्मीर में 18,000 वर्ष पूर्व से उच्च पुरापाषाण प्राप्तियाँ उपलब्ध हैं, शायद इस समय से पर्यावरण अनुकूल होने लगा था।

राजस्थान के थार क्षेत्र से उच्च पुरापाषाण प्राप्तियाँ काफी कम है, जो यहां की बढ़ती शुष्कता के कारण हो सकता है। किंतु बूढ़ा पुष्कर झील में सभ्यता के अनवरत प्रमाण मिलते रहे हैं। मध्य भारत में विन्ध्य क्षेत्र के गुफा आश्रायनी उच्च पुरापाषाण प्रमाण देते रहे हैं।

अत्तिरमपक्कम से प्राप्त खुरचनी (स्क्रेपर)

नर्मदा घाटी से प्राप्त ऊपरी पुरापाषाण युग के फलक (ब्लेड)

बेलन घाटी का उच्च पुरापाषाण संदर्भ 25,000 से 19,000 वर्ष पूर्व तथा सोन घाटी से 10,000 वर्ष पूर्व का है। बेलन घाटी में स्थित चोपनीमांडो स्थल से उच्च पुरापाषाण काल से नवपाषाण काल तक के प्रमाण मिले हैं। विन्ध्य क्षेत्र में चर्ट पत्थर बहुतायत उपलब्ध हैं, जिनका उपयोग औज़ारों के लिए अधिक हुआ है। बेलन घाटी से भेड़-बकरियों की हड्डियां मिली हैं, जबकि भेड़-बकरी स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं है। इससे अनुमान लगता है कि इन्हें उत्तर पश्चिमी क्षेत्र से लाया जाता होगा। यदि इस सुझाव को मान लिया जाए तब यह पशुपालन का एक प्राचीनतम प्रमाण कहा जा सकता है।

सोन नदी घाटी में स्थित मध्य प्रदेश के सिद्धी जिला में जी.आर. शर्मा और जे.डी. क्लार्क के नेतृत्व में पुरातत्त्वटीम ने बाघोर-1 स्थल का उत्खनन किया। बाद में इस स्थल के पास ही बाघोर-3 स्थल के औज़ारों का माइक्रोवियर (औज़ारों पर उपयोग के आधार पर बने निशान) अध्ययन किया गया (सिन्हा, 1989)। इस अधयरन से पत्थर के औजारों का विभिन्न प्रकार के उपयोगों पर प्रकाश पड़ता है। इनमें से कुछ कार्य जैसे छिद्रण, खुरचन, छीलन आदि प्राय: किसी प्रकार के शिल्पकार्य से सम्बंधित रहे होंगे। जबकि कुछ अन्य कार्य जैसे काटना, तोड़ना छेदना, कुट्टी करना आदि खाद्य प्रसंस्करण और शिकार से सम्बंधित हो सकते हैं। माइक्रोवीयर विधि के माधयम से यह पहचानने की कोशिश की गई कि कितने औजारों का उपयोग वनस्पति काटने और कितने का अन्य पदार्थों को काटने या बांस-लकड़ी काट कर आखेट के लिए औजार बनाने के काम में लाया गया था। कुछ औजारों पर कुछ इस तरह के घिसाव और पालिश के अवशेष दिखते हैं, जिससे यह संकेत मिलता है कि इनमें हत्थे भी लगाए गए थे।

प्राथमिक स्रोत

उच्च पुरापाषाण कालीन औज़ार

ब्लेड फलकों वाला एक औज़ार है, जिसकी लंबाई, इसकी चौड़ाई के दोगुने से भी अधिक होती है। ऐसे ब्लेड जिसके दोनों फलक प्राय: समांतर होते हैं, उन्हें समांतर फलकों वाला ब्लेड कहा जाता है। उत्कीर्णक या तक्षणी एक सूक्ष्म औज़ार है, जिन्हें ब्लेड पर बनाया जाता है। इसके काम करने वाले तक्षणी का प्रयोग उत्कीर्णक आजौर या हड्डी अथवा लकड़ी में छेद करने के लिए किया जाता होगा, जो पत्थर के औज़ारों में बेंट के रूप में काम में लाया जाता होगा।

स्रोत: सांकलिया, [1964], 1982: 66-68

ब्लेड (फलक)
इकधार फलक
इकधार फलक पर बने नुकीले क्षुरक
दांतेदार फलक
परिस्कृत किनारों वाले फलक
फलक पर बना दोधारी वेधक
0
2
cm
क्षुरक या खुरचनी
फलक पर बना अग्रक
उत्कीर्णक या तक्षणी
लेवल्वा अग्रक
अंत्य क्षुरक
अंगूठे के आकार का क्षुरक
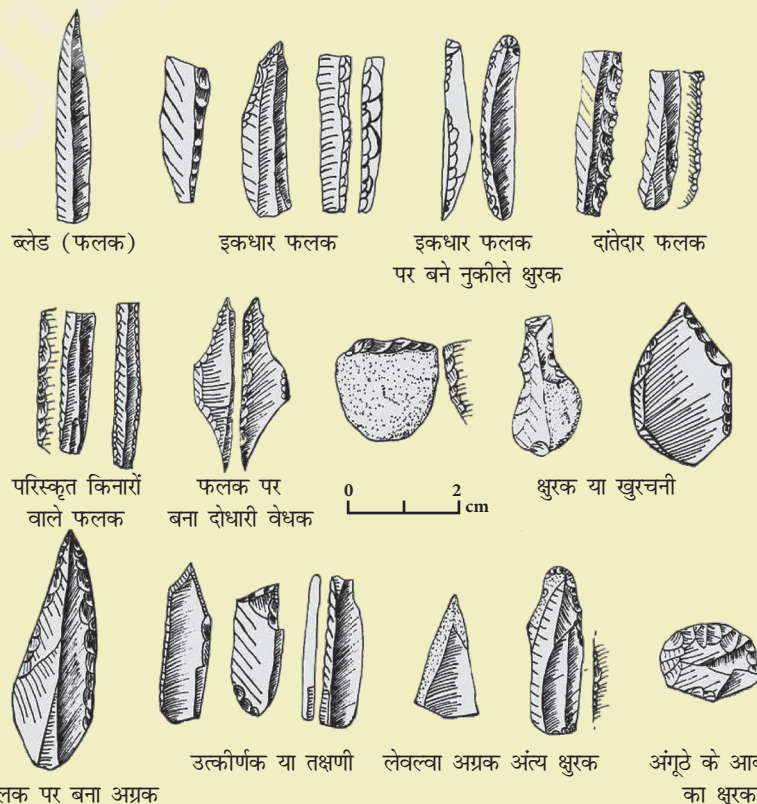
चित्र 2.7 : **उच्च पुरापाषाण कालीन औज़ार**

झारखण्ड के छोटानागपुर क्षेत्र और राजमहल पहाड़ियों के दामिन क्षेत्र भी उच्च पुरापाषाण युगीन स्थलों से परिपूर्ण हैं। इसमें मुंगेर जिला (बिहार) का पैसरा स्थल भी सम्मिलित है। पश्चिम बंगाल के विभिन्न हिस्सों में भी उच्च पुरापाषाण स्थल भरे हैं। हालांकि, असम अथवा उत्तर पूर्वी प्रदेश से उच्च पुरापाषाण स्थल प्रकाश में नहीं आए हैं किंतु बंगला देश के ललमई पहाड़ी और त्रिपुरा के अहोरा-खोवई नदी घाटियों से उच्च पुरापाषाण स्थल प्रतिवेदित हैं। उच्च पुरापाषाण-कालीन औज़ार, जैसे—ब्लेड, ब्युरिन, प्वॉइट इत्यादि यहां मिले हैं। म्यांमार के ऊपरी इड़ावड्डी घाटी से भी ऐसे औज़ार मिले हैं।

आंध्रप्रदेश के कुरनूल और मुच्छतला चिन्तामनु गवि ही सम्पूर्ण उच्च पुरापाषाण-कालीन स्थल हैं जहां से इस संदर्भ में हड्डियों से बने औज़ार मिले हैं। एक गुफा से प्राप्त औज़ारों में 90 प्रतिशत औज़ार इसी सामग्री से बने थे। यहां से चमगादड़, नील गाय, बारहसिंगा, चीतल, सांभर, जंगली सूअर, बाघ, जंगली लकड़ बग्घा, ताजे पानी की मछलियां, नेवला, भालू, कई प्रकार के हिरण और बिल्लियां, चूहे, खरहे, धूसर, लंगूर, बबून, वनघोड़, गधा, गैंडा तथा पेंगोलिन के पुरा अवशेष पाए गए हैं। इस सूची से स्पष्ट होता है कि यहां उच्चस्तर विन्यास में सघन वनस्पति और नमीयुक्त वातावरण मौजूद थे। दक्षिण आंध्रप्रदेश के चित्तूर जिला के रेनीगुटा की एक गुफा से भी उच्च पुरापाषाण औज़ार मिले हैं। प्रायद्वीपीय भारत के पूर्वी तटों में स्थित इन उच्च पुरापाषाण काल के स्थलों की तिथि 25,000 से 10,000 वर्ष पूर्व के बीच स्थित है।

मुकुट मणिपुर (पश्चिम बंगाल) से प्राप्त लक्षणी (ब्युरिन)

पुरापाषाण-कालीन कला और संप्रदाय

कला के इतिहास की शुरुआत पुरापाषाण काल से मानी जा सकती है। दूसरी ओर इस माध्यम से पुरापाषाण-कालीन जन-जीवन की झलक भी मिलती है। शैल चित्रों से पुरापाषाण-कालीन कला का प्रतिनिधित्व होता है, शैल चित्रों में 'पेट्रोग्लिफ' भी सम्मिलित है जिसका विशेष अभिप्राय ऐसी कला से है, जिसमें चट्टानों पर आकृति बनाने के लिए आवश्यकतानुसार छेनी-हथौड़ी मार कर या खुरच कर उसको किसी माध्यम से उकेरा जाता है। पुरापाषाण-कालीन कला में शैलचित्रों जैसे स्थायी माध्यम तथा प्रतिमाओं जैसी चलायमान माध्यम दोनों का ही सृजन हुआ है। ऐसे अवशेष प्रागैतिहासिक सामुदायिक जीवन के महत्त्वपूर्ण और अभिन्न अंग थे और इनमें से कुछ का निश्चित रूप से धार्मिक और किसी न किसी प्रकार का सांप्रदायिक महत्त्व भी अवश्य रहा होगा।

यूरोप, ऑस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका—इन तीनों महादेशों में पुरापाषाण युगीन कला की पर्याप्त उपलब्धि, विशेषकर शैलचित्रों के रूप में देखी जा सकती है। इन शैल चित्रों में जन्तुओं का चित्रांकन सर्वाधिक प्रचलित था, कुछ चित्र आखेट सम्बंधी कर्मकाण्ड के भी प्रतीत होते हैं। नारी स्वरूप को प्रदर्शित करती प्रतिमाओं को विद्वानों ने वीनस की संज्ञा दी है। किंतु भारत के पुरापाषाण युगीन कला की सर्वथा अनुपस्थिति कही जा सकती है। ऐसा इनके नश्वर माध्यमों के प्रयोग के कारण हो सकता है। पुरापाषाण युगीन कला को समझने के लिए कला के प्रति हमारे समझ को पुनर्विश्लेषित करने की आवश्यकता होती है।

कुछ विद्वानों का सुझाव है, कि भीमबेटका से प्राप्त एकाधिक शैलचित्र ऊपरी पुरापाषाण काल के हो सकते हैं, किंतु अभी भी यह पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो पाया है। प्रागैतिहासिक कला के तिथिकरण और व्याख्या में कई प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं। यह निश्चित करना भी बहुत मुश्किल हो जाता है कि एक वस्तु सिर्फ उपयोग में आने वाली सामान्य वस्तु भी या उसका कोई कर्मकांडीय महत्त्व भी था। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के बेलन घाटी में बहने वाले लोहाण्डा नाला के पास ऊपरी पुरापाषाण काल के स्तर से अत्यधिक जीर्ण-शीर्ण हड्डी से बना एक नक्शीदार वस्तु प्राप्त हुआ, जिसे कुछ विद्वान मातृदेवी की मूर्ति मानते हैं और कुछ बर्छी मानते हैं। इसी प्रकार कुरनूल से प्राप्त जानवर के दांत में छिद्र पाया गया है, जिसका प्रयोग शायद किसी आभूषण के रूप में किया जाता होगा। भीमबेटका से प्राप्त चैल्सेडनी की बनी तश्तरी तथा मैहर (इलाहाबाद के दक्षिण-पश्चिम) से प्राप्त चूना पत्थर की तश्तरी अश्यूलियन परिस्थिति के सन्दर्भ में प्राप्त की गई है, किंतु दोनों का उपयोग किसी औज़ार के रूप में नहीं किया गया था। पाटने से प्राप्त शुतुरमुर्ग के अण्डे के एक टुकड़े पर आड़ी-तिरछी रेखाओं के दो सेट का चित्रांकन किया हुआ पाया गया है। चार छिद्रमय मनके

सम्बंधित विमर्श

शुतुरमुर्ग के अंडों से बने मनके

शुतुरमुर्ग संसार का सबसे बड़ा पक्षी, प्राकृतिक परिदृश्य में आज केवल अफ्रीका में उपलब्ध है तथा वे भी विलुप्त होने के कगार पर हैं। किंतु ऐसा स्पष्ट प्रमाण है, कि प्लिस्टीसिन के उत्तरार्द्ध तथा होलोसीन के पूर्वार्द्ध में ये भारत सहित एशिया के विभिन्न भागों में उपलब्ध थे। शुतरमुर्ग का भोजन के लिए शिकार किया जाता होगा और उसके अंडों को भी खाया जाता होगा। इनके अंडों का आकार 127 × 103 मिमी. से लेकर 160 × 129 मिमी. तक होता होगा तथा इनके अंडों के खोल की औसत मोटाई 1.97 मिमी. होती है। इनका औसत वजन 775 ग्राम से लेकर 1618 ग्राम तक होता है। अंडे के खोल पीला सा लिए हुए सफेद रंग के होते हैं। जिन पर कहीं-कहीं काला धब्बा पाया जाता है। इसका खोल इतना कठोर होता है कि उसे तोड़ने के लिए आपको आड़ी और हथौड़ी का इस्तेमाल करना पड़ेगा। इन खोलों का उपयोग बर्तन के रूप में भी होता है।

भारत के ऊपरी पुरापाषाण-कालीन पुरातात्त्विक संदर्भ से शुतुरमुर्ग के अंडों के छिलके प्राप्त होते रहे हैं। सबसे पहले 1860 में उत्तरप्रदेश के बांदा जिले के केन नदी के किनारे इनको नोटिस किया गया। अब तक महाराष्ट्र के पाटने सहित राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र से 50 से अधिक प्राप्तियां दर्ज की जा चुकी हैं। इनकी तिथि पाटने से 25,000 वर्ष पूर्व चन्देसाल (राजस्थान) से–38900 ± 750 वर्ष पूर्व तथा 36500 ± 600 पूर्व की दो तिथियां रामनगर (मध्यप्रदेश) से 31,000 वर्ष पूर्व आंकी गई है। इनमें से केवल पाटने से प्राप्त शुतुरमुर्ग के अंडे के छिलके पर मानवनिर्मित चित्रांकन पाया गया। शुतुरमुर्ग के अंडों के छिलकों पर अन्यथा अपरदन की क्रियाओं के प्रभाव से आकृतियां बन जाती थी।

चित्र 2.8: **शुतुरमुर्ग के अलंकृत अंडों की खोलियां**

इस सामग्री के मनके और तश्तरियां भी बनाई जाती थीं। इनमें से कुछ में छिद्र भी पाए जाते हैं, जिनके जरिए उन्हें बांधा जा सकता था। भारत के प्लीस्टोसीन संदर्भ में 39,000 से 25,000 वर्ष पूर्व के बीच प्राय: 41 स्थलों से शुतुरमुर्ग के अंडों के बने मनकों का प्रमाण मिलता है। पाटने और भीमबेटका इसके विख्यात केंद्र हैं। पाटने से प्राप्त मनकों का औसत व्यास 10 मिमी. तथा भीमबेटका से प्राप्त मनकों का व्यास 6 मिमी. पाया गया है। भीमबेटका में ऐसा एक मनका एक दफनाए गए शव के गर्दन के हार से मिला है। इस हार में और भी मनके होंगे, जो अब नष्ट हो चुके हैं, किंतु शतुरमुर्ग के अंडे से बने दो मनके अभी भी सुरक्षित हैं।

इस सामग्री से मनके बनाने में जाहिर है कि विशिष्ट हस्तकौशल और सावधानी की जरूरत पड़ती होगी। जी. कुमार ने ऐसे ही एक सामग्री जो काफी घिस चुकी थी, उस पर मध्यपाषाणीय औज़ारों के द्वारा दो छिद्रयुक्त मनके बनाने का प्रयत्न किया। ऐसा करने में उन्हें 10-12 मिनट का समय लगा। जबकि आर.जी. बेदनरीक ने क्वार्टजाइट और क्वार्ट्ज औज़ारों से, इसी सामग्री से, किंतु बिल्कुल ताजे अंडे के छिद्रयुक्त मनके बनाने में 70-90 सेकंड का वक्त लिया। इन प्रयोगों से मनकों के निर्माण की विधि को समझने में काफी मदद मिलती है।

शुतुरमुर्ग के अंडों से बने मनके की संख्या बहुत कम है क्योंकि पुरापाषाण लोगों के द्वारा बनाए गए ऐसे मनकों का बहुत कम हिस्सा ही हमारे हाथ लगा है।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन मनकों का प्रतीकात्मक या कोई धार्मिक महत्त्व रहा होगा, अन्यथा उपयोग की कल्पना नहीं की जा सकती है। इनको जितनी मशक्कत से बनाया जाता था, उससे भी यही अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक तात्पर्य रहा होगा। इनके आकार और निरूपण से भी इनके भाववाचक न कि उपयोगिकतावादी, उद्देश्य का बोध होता है। शुतुरमुर्ग के अंडों से बने मनके साइबेरिया, इनर मंगोलिया, चीन और अफ्रीका से भी पाए गए हैं। स्पष्ट है, कि पुरापाषाण युगीन सभ्यता में इनका फैशन रहा होगा। दक्षिण अफ्रीका में रहने वाली बुशमेन जनजाति आज तक इनके मनके और पानी के पात्र के रूप में उपयोग करती थी।

स्रोत: बेडारिक, 1997

और शुतुर्मुग के अंडे के खोल से बना एक अधूरा मनका भी पाटने और भीमबेटका के शैलाश्रयों से मिला है और ये सभी ऊपरी पुरापाषाण संदर्भ के हैं।

कला और कर्मकांड सम्बंधी गतिविधियों का एक नाटकीय साक्ष्य भीमबेटका के गुफा III F-24 से प्राप्त हुआ है, जिसे 'ओडीटोरियम केव' या 'सभा-कक्ष गुफा' का नाम दिया गया है। इसकी तिथि निचले-मध्यपुरापाषाण युग के बीच तय की गई है। यहां 25 मीटर लम्बी एक सुरंग, तीन द्वार वाले एक कक्ष में खुलती है। कक्ष के बीच में एक वृहदाकार चट्टान स्थापित है। सुरंग के तरफ वाले चट्टान का हिस्सा समतल और लम्बवत् है। इसके ऊपर 16.8 मिमी. गहराई के सात गड्ढे हैं। इस चट्टान से कुछ ही दूरी पर एक और चट्टान रखी हुई है जिस पर उपरोक्त निशान की तरह का एक बड़ा गड्ढा है जिस पर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी धारियाँ उकेरी गई हैं। एक व्याख्या यह की गई है कि जिस चट्टान पर कप जैसे अनेक निशान बने हुए हैं, उसका उपयोग एक प्रकार के घंटे की तरह किया जाता था और घंटे को बजाने के लिए बार-बार किए गए आघात से ही उसके उपर निशान बने थे। ज्यादा संभावना इस बात की है कि इन्हें सचेत रूप से किसी महत्त्वपूर्ण प्रागैतिहासिक सामुदायिक कर्मकांड को पूरा करने के लिए बनाया गया था।

मध्य प्रदेश के बाघोर नामक स्थल से पुरापाषाण काल (9000-8000 सा.सं.पू.) की एक वेदिका के जैसी आकृति प्राप्त हुई है। यहां चूना पत्थर के मलबों से बना 85 से.मी. वाली एक वृत्ताकार चबूतरा मिला है। इस आकृति के ठीक बीच में रंगीन संकेन्द्रीय त्रिकोणों वाली एक आकृति चित्रित हुई थी, जिनमें कुछ पीलापन, लिए लाल रंग से लेकर लालपन लिए भूरे रंग का प्रयोग देखा जा सकता है। इस आकृति के दस टूटे हुए हिस्सों को पुरातत्त्वविदों ने बाद में एकत्रित किया, जिनसे एक 15 से.मी. ऊँचे, 6.5 से.मी. आधार वाले तथा 6.5 से.मी. मोटाई वाले त्रिभुज की रचना हुई। यह त्रिभुज निश्चित रूप से उस वेदिका पर रखा था। कैमूर पहाड़ियों में रहने वाले इसी क्षेत्र के कोल और बैगा जनजातीय लोग आज भी इस प्रकार के वृत्ताकार प्लेटकार्म पर त्रिभुजाकार पत्थरों की उपासना करते हैं, जिसको वे मातृदेवी प्रतीक समझते हैं।

पुरापाषाण युगीन आखेटक-संग्राहक समुदायों का लोक-जीवन

भारतीय उपमहाद्वीप में रहने वाले पुरापाषाण समुदायों का लोकजीवन उनके विशिष्ट पर्यावरण संदर्भों से प्रभावित होता था। वैसे तो लगभग आखेटक-संग्राहक समुदायों के बीच कुछ आधारभूत समानताएं परिलक्षित होती हैं। इन समुदायों का अध्ययन पुरातात्त्विक अध्ययनों से प्राप्त सूचनाओं के अतिरिक्त, एक उतने ही महत्त्वपूर्ण माध्यम से किया जाता रहा है, जिसको हम नृ जाति पुरातत्त्व विज्ञान या एथ्नोग्राफी कहते हैं जिसके अन्तर्गत उन आखेटक-संग्राहक समुदायों के लोक-जीवन का अध्ययन करते हैं, जिनका वर्तमान में अस्तित्व बना हुआ है। किंतु ऐसे तुलनात्मक अध्ययन में निष्कर्ष निकालने के लिए विवेकपूर्ण दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है।

पुरापाषाण युगीन समुदाय चट्टानों और गुफाओं के अतिरिक्त वृक्षों की टहनी, पत्तों तथा अन्य सामग्रियों से बने घरों में निवास करते थे। भीमवेटका और हुंसगी जैसे स्थानों पर मानव सभ्यता के इन सुदूर अतीत काल के अनवरत प्रमाण मिलते हैं। ऐसे स्थलों से स्थायी जीवनशैली प्रतिबिम्बित होती है। कुछ ऐसे भी स्थल मिले हें जहां अस्थायी शिविर का संकेत मिलता है। यहां लोग वर्ष के कुछ खास महीने रहते होंगे और फिर आगे बढ़ जाते होंगे। इसी तरह कुछ अन्य स्थल ऐसे मिले हैं, जो विशेष प्रकार की गतिविधियों जैसे शिकार या वध-स्थल या कार्यशाला-स्थल आदि रहे होंगे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है औज़ार के कुछ कार्यशाला-स्थल ऐसे भी रहे हैं, जिन्होंने पिछले हजारों वर्षों में विभिन्न समुदायों को अपनी ओर आकर्षित किया है।

पुरापाषाण युगीन समुदायों की सामाजिक संरचना एक प्रकार से लघु समाज के रूप में देखी जा सकती है। मानव शास्त्र में ऐसे समूह को 'बैंड सोसाइटी' कहा जाता है। यदि हम नृ जाति-पुरातत्त्व विज्ञान के आधार पर कुछ समान्तर निष्कर्ष निकालें तब ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसे समुदाय में 100 से अधिक की जनसंख्या

सम्बंधित परिचर्चा

खाद्य संसाधन—तब और अब

जन्तु और वनस्पतियों के कालिक अवशेषों के अभाव में अक्सर पुरातत्त्वविदों के द्वारा उन वर्तमान में रह रहे समुदायों से जुड़े मानव जाति विज्ञान सम्बंधी (एथ्नग्रैफिक) साक्ष्यों का सहारा लिया जाता है, जहां प्रागएतिहासिक काल में रहने वाले समुदाय निवास करते थे। कुछ पुरापाषाण-कालीन स्थलों के वृहत्तर पर्यावरणीय और आवासीय संदर्भों को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण अध्ययन-वृत्त हमारे पास उपलब्ध हैं।

के. पदैय्या रेड्डी ने हुंसगी घाटी में रहने वाले निचले पुरापाषाण संस्कृति के लोगों के आवासीय स्थिति और जीवन निर्वाह प्रणाली को समझने के लिए इस प्रकार का अध्ययन किया है। उन्होंने हुंसगी घाटी में वर्तमान में उपलब्ध आहार योग्य जंगली पौधों की 40 प्रजातियों को चिन्हित किया। इनमें विभिन्न प्रकार के फल, पत्तेदार सब्जियाँ, मशरूम, बीज और कंद इत्यादि सम्मिलित थे। आज इस घाटी में बड़े जंगली जानवर उपलब्ध नहीं हैं। गैज़ेल और ब्लैकबक (हिरण के प्रकार) अपवाद कहे जा सकते हैं। किन्तु हगरगुंडिगी के मध्यपुरापाषाण स्थल से जंगली मवेशियों की जीवाशिमत हड्डियों की प्राप्ति हुई है, जो भीमा नदी के किनारे हुंसगी से 80 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में स्थित है। हुंसगी घाटी से 8 किलोमीटर पर स्थित एक नवपाषाणकालीन स्थल कोडेकाल में हिरण की तीन प्रजातियों–बारहसिंगा, गैजेल और स्पॉटेड हिरण के अवशेषों की प्राप्ति भी हुई है। इन प्रमाणों के आधार पर सहजता से अनुमान लगाया जा सकता है कि हुंसगी घाटी में भी इस प्रकार के जानवर उपलब्ध रहे होंगें। आज भी इस घाटी में कई प्रकार के छोटे स्तनधारी, पक्षी, सरीसृप तथा पानी में रहने वाले जीव-जन्तु उपलब्ध हैं। खरहा, सूअर, पक्षियों में भाट तीत, काला तीतर, बटेर, सरीसृपों में मॉनिटर लिजार्ड, मछलियों की बहुत सी प्रजातियाँ तथा अनेक प्रकार के कीट, इनमें प्रमुख हैं। यहां रहने वाले स्थानीय समुदायों के द्वारा इन वन्य संसाधनों का आहार के लिए उपयोग किया जाता है।

हुंसगी घाटी में, वर्तमान में पाए जाने वाले वनस्पति और जन्तु, के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि इस जगह पर रहने वाली प्रागऐतिहासिक कालीन जनसंख्या, किन जंगली पौधों और जन्तुओं का अपने आहार के रूप में उपयोग करती होगी। हम निश्चित तौर पर कह सकते हैं कि उस काल में यहां सघन घास के जंगल का अस्तित्व था और जिसमें कहीं अधिक प्रकार के वनस्पति-जन्तु उपलब्ध थे। पदैय्या का मानना है कि आज भी गर्मी के शुष्क महीनों में यहां के वानस्पतिक संसाधनों में कमी आ जाती है। इसलिए प्रागऐतिहासिक काल में रहने वाले लोग अपने भोजन के लिए आखेट पर अधिक निर्भर रहते होंगे।

एम.एल.के. मूर्ति ने अपने अध्ययन में वर्तमान में रह रहे—येरूकुल, यनन्दी, चेन्चु तथा बोया जैसे आखेटक-संग्राहक जनजातियों और गोंड तथा कोण्डारेड्डी जैसे प्रारम्भिक स्तर के कृषक समुदायों को केंद्र में रखा है। आज भी ये समुदाय अपने आहार के लिए जंगली वन्य आहार, छोटे जन्तु, सरीसृप, नदीय तथा समुद्री जीव, कीट और मधु पर निर्भर करते हैं। मूर्ति ने इन लोगों के द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले खाने योग्य 80 जंगली पौधों की सूची बनाई है, जिसमें फल, बेर, कंदमूल, गुद्देदार फल तथा सब्जियाँ सम्मिलित हैं। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने प्रागऐतिहासिक आखेटक-संग्राहक, जिनसे जुड़े हुए स्थान इसी क्षेत्र में अवस्थित हैं, तथा वर्तमान में मुख्य रूप से आखेटक-संग्राहक जीवन-निर्वाह प्रणाली का व्यवहार कर रहे लोगों की जीवन शैली के बीच समरूपताओं को रेखांकित किया है। इस प्रकार वह पर्यावरण जो इस क्षेत्र में प्रागऐतिहासिक समुदायों के जीवन को आश्रय दे रहा था, वही पर्यावरण उनसे मिलती-जुलती जीवन-निर्वाह पद्धतियों को व्यवहार में जा रहे वर्तमान के समुदायों को भी आश्रय देने में सक्षम है।

स्रोतः मूर्ति, 1985; पदैय्या, 1985

नहीं होती थी। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि इनकी जीवन शैली में उतना स्थायित्व नहीं रहा होगा और इसके यायावर स्वरूप को हम स्वीकार कर सकते हैं। आखेटक-संग्राहक समुदायों में प्रायः उम्र और लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन किया जाता होगा। इनके बीच सामान्यतः कोई व्यवसायिक आदान-प्रदान नहीं होता, बल्कि परस्परता के गैर-व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर वस्तु विनिमय की व्यवस्था होती होगी। ऐसे समुदाय जिन प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करते हैं अथवा जिन पर उनकी निर्भरता होती थी, उनसे स्वामित्व की अवधारणा नहीं जुड़ी होती होगी। समुदाय के सदस्यों का आपसी व्यवहार सामान्य रूप से बल अथवा शक्ति के द्वारा नहीं संचालित होता था बल्कि परम्पराओं और रीतियों के द्वारा लोक-व्यवहार विकसित होता होगा।

आखेटक-संग्राहक समुदायों के सम्बंध में एक आम धारणा यह बनी हुई है कि वे सदा अस्तित्व के लिए संघर्ष की स्थिति में रहते हैं। ऐसा माना जा सकता है कि पुरापाषाण सभ्यता की भौतिक अपेक्षाएं

संकुचित रही होंगी। उनके पास उपलब्ध तकनीक, आखेट अथवा संग्रह किए हुए भोजन का भण्डारण करने की क्षमता भी काफी सीमित रही होगी। ऐसी स्थिति में एक बार उनके पास पर्याप्त भोजन उपलब्ध हो जाता होगा, तब उनके क्रिया-कलाप कुछ काल के लिए स्थगित हो जाते होंगे। लेकिन नृ जाति पुरातत्त्व विज्ञान में ऐसे बहुत सारे आखेटक-संग्राहक समुदायों के उदाहरण मिलते हैं जिनमें सदा अस्तित्व क्रिया-कलापों जैसे सोने, खेलने, बातचीत करने और आराम फरमाने के लिए पर्याप्त समय रहता था।

इनके सम्बंध में दूसरी प्रचलित धारणा यह भी है कि आखेटक-संग्राहक समुदाय जीवन निर्वाह के लिए अपर्याप्त संसाधनों के कारण हमेशा जूझते रहते होंगे। लेकिन आखेटक-संग्राहक जीवन शैली के अधीन मानव सभ्यता इतने लम्बे समय तक न केवल अस्तित्व में रही है बल्कि अभी तक इस जीवन शैली का अस्तित्व बना हुआ है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि ऐसी धारणाएँ ठोस आधारों पर नहीं स्थित हैं। इसके विपरीत नृ जाति-पुरातत्त्व विज्ञान के आधार पर हमारे समक्ष ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिससे यह पता चलता है कि ऐसे

मानचित्र 2.4: **कुछ पूर्वकालीन मध्यपाषाण युगीन स्थल**

प्राथमिक स्रोत

माइक्रोलीथ (सूक्ष्म पाषाण औज़ार)
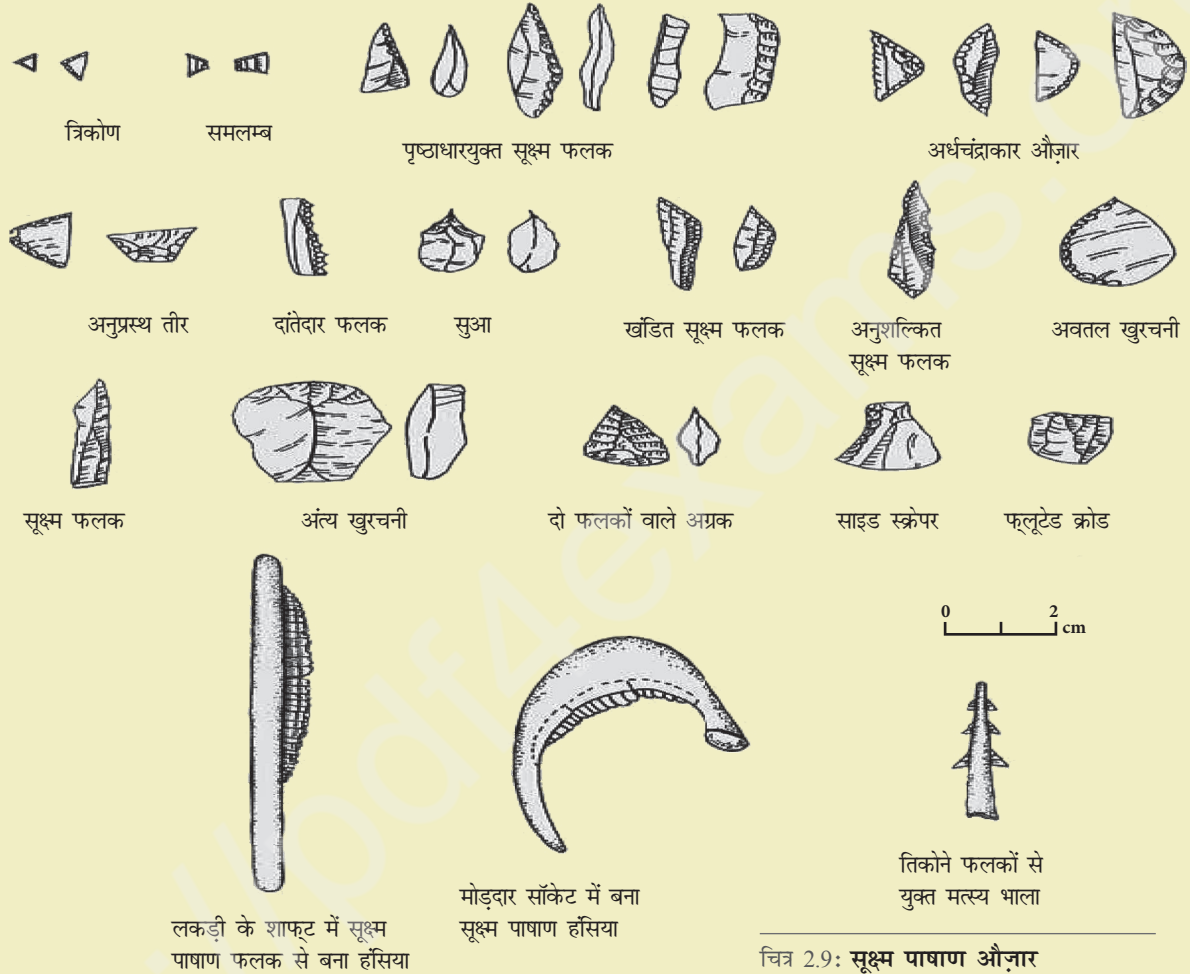
चित्र 2.9: **सूक्ष्म पाषाण औज़ार**

माइक्रोलिथ की लम्बाई 1-5 से.मी.. के बीच होती है। इन औज़ारों का निर्माण सामान्य रूप से सामान्तर फलकों वाले छोटे ब्लेडों पर क्वार्ट्जाइट, चर्ट, चैल्सेडनी, जैस्पर तथा अगेट, जैसे क्रिप्टो-क्रिस्टलाइन सीलिका पत्थरों से हुआ है। इन सूक्ष्म पाषाण औज़ारों के अन्तर्गत ब्यूरिन, प्वाईंट तथा स्क्रेपर जैसे ऊपरी पुरापाषाण काल के सूक्ष्म संस्करण भी सम्मिलित हैं। लेकिन इनके साथ सुनिश्चित ज्यामितीय आकार वाले अर्धचन्द्राकार, त्रिभुजाकार, समान्तर चतुर्भुज समलंब तथा विषम चतुर्भुज आकार वाले सूक्ष्म औज़ारों का भी निर्माण किया गया। सामान्य रूप से इन औज़ारों को ज्यामितीय तथा गैरज्यामितीय आकार वाले औज़ारों में बांटा जाता है। ऐसे सूक्ष्म औज़ार क्यों बनाए गए? इस प्रश्न का उत्तर पुरातात्विक सूचनाओं के साथ-साथ विश्व के विभिन्न भागों में रह रहे उन समुदायों का अध्ययन करने से मिल सकता है जो आज भी अपने दैनिक जीवन में इस प्रकार के औज़ारों का उपयोग करते हैं। हो सकता है कि कुछ सूक्ष्म प्रस्तरीय औज़ार सीधे इस्तेमाल में आते होंगे, लेकिन ज्यादातर इन औज़ारों का उपयोग किसी न किसी प्रकार के हत्थे के सहारे किया जाता था जो पत्थर, लकड़ी या हड्डी की बनी होती होंगी। ऐसे हत्थों के प्रमाण भी मिलते हैं। माइक्रोलीथ का प्रयोग भालाग्र, तीराग्र, छुरी, चाकू, हंसिया, इत्यादि बनाने के लिए होता था। कुछ माइक्रोलीथ की मारक क्षमता को बढ़ाने के लिए उन्हें जहर-बुझा भी बनाया जाता था। कई माइक्रोलीथ लकड़ी के बने हत्थों से जुड़े होते थे जिनका विशेषकर हंसिया के रूप में फसल काटने के लिए प्रयोग किया जाता होगा।

स्रोतः सांकलिया [1964], 1982: 69-77: मिश्रा, 1974

समुदाय अपने पास उपलब्ध सम्पूर्ण प्राकृतिक सम्भावनाओं का अत्यंत विवेकपूर्ण उपयोग करते हैं और उनमें अपने प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित करने का भाव भी मौजूद होता है।

आधुनिक आखेटक-खाद्य संग्राहक आमतौर पर अपने भोजन का काफी बड़ा हिस्सा शिकार के मुकाबले खाद्य-संग्रहण से प्राप्त करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि 'आखेटक-खाद्य संग्राहक' शब्द में आखेट पर जरूरत से ज्यादा बल विद्वानों द्वारा दिया गया है और 'संग्रहण' वाले पक्ष की अवहेलना की गई है। इस निष्कर्ष का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव जीवन निर्वाह पद्यति के अतिरिक्त पुरापाषाण समाज में स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बंधों और उत्पादक भूमिकाओं पर भी पड़ता है। ज्यादातर आधुनिक आखेटक-संग्राहक समुदायों में देखा गया है कि पुरुष आखेट करते हैं और महिलाएं संग्रह। प्रायः ऐसा ही श्रम विभाजन पुरापाषाण काल में भी मौजूद रहा होगा। परंतु यदि वनस्पति संग्रह का भोजन में अधिक बड़ा स्थान था, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि महिलाएं पुरापाषाणीय समुदायों के जीवन निर्वाह में एक अहम भूमिका का निर्वाह करती थी।

पुरापाषाण काल के कुछ नमूनों के सामाजिक, कर्मकांडीय एवं कलात्मक निहितार्थों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। आधुनिक आखेटक-संग्राहक समुदाय आज भी अपने को अपने पर्यावरण का अभिन्न हिस्सा मानते हैं। इनके इर्द-गिर्द उपलब्ध वनस्पति, जन्तु और अन्य प्राकृतिक उपादान, इनकी कल्पना, परम्परा और धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। हालांकि, आज के प्रायः सभी आखेटक-संग्राहक समुदायों का आधुनिक संसार के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बंध बनने लगा है, इसलिए पुरापाषाण युगीन समुदायों की आस्था एवं प्रतीकों का पूर्ण सादृश्य आधुनिक आखेटक-संग्राहक समुदाय के साथ नहीं माना जा सकता। लेकिन जीवन निर्वाह के एक ही सामान्य आधारों पर बने इन समुदायों के बीच बहुत सारी समानताओं को स्वीकार किया जा सकता है।

क्वार्टज ब्लेड कोर

सूक्ष्म पाषाण औज़ार

मध्यपाषाण युग
(The Mesolithic Age)

मध्य-पुरापाषाण युगीन स्थल

लगभग 10,000 वर्ष पहले प्लीस्टोसीन युग की समाप्ति और होलोसीन कहे जाने वाले युग की शुरुवात हुई। इस संक्रमण के दौरान पर्यावरण में बहुत सारे परिवर्तन हुए और भारतीय उपमहाद्वीप के कुछ क्षेत्रों के सन्दर्भ में ऐसे परिवर्तनों से जुड़े कुछ विस्तृत अध्ययन हमारे पास उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिम बंगाल के बीरभानपुर नामक पुरास्थल के मिट्टी के सैम्पल अध्ययनों से, इस क्षेत्र में शुष्कता के बढ़ते प्रभाव को देखा जा सकता है। दूसरी तरफ पश्चिम राजस्थान के डिडवाना क्षेत्र के नमक की झीलों के तलछट्ट और पुष्पपरागों के अध्ययन से उस काल में अच्छी वर्षा होने के प्रमाण मिलते हैं। पूर्वी मध्यप्रदेश के प्रारंभिक और

सम्बंधित विमर्श

मध्यपाषाण युगीन स्थलों में जानवरों की हड्डियां

कुछ महापाषाणयुगीन पुरास्थलों से जंगली एवं पालतू जानवरों की हड्डियां मिली हैं। इन हड्डियों के विषय में विद्वानों के बीच यह विवाद बना रहता है कि जन्तुओं के किन प्रजातियों की है?

बागोर (राजस्थान): यहां का मध्यपाषाण युग 5वीं-4थीं सहस्राब्दि व.पू. का माना गया है। पी.के. थॉमस ने यहां से प्राप्त पहचाने गए हड्डियों का 15.7 प्रतिशत पालतू मवेशियों तथा 64.4 प्रतिशत भेड़/बकरियों की गणना की है। किन्तु भेड़ एवं बकरियों के अवशेष में भेद करना कठिन है। इसके अलावा सूअर और जंगली सुअर 3.7 प्रतिशत, भैंस 0.8 प्रतिशत, काला हिरण तथा गजेला 4.4 प्रतिशत, बूटीदार हिरण 4.8 प्रतिशत, सांभर 4.3 प्रतिशत, खरहे 0.6 प्रतिशत, धूसर नेवला 0.8 प्रतिशत, भारतीय लोमड़ी 0.5 प्रतिशत के अलावा चूहे, कछुए और मेंढक की अन्य प्रजातियों की हड्डियां मापी गई है। डॉ. आर. साह ने पालतू प्रजातियों का विवरण तो नहीं दिया है, परन्तु उपरोक्त सूची में नदी के कछुए तथा गिरगिट की एक प्रजाति को जोड़ा है।

तिलवारा (बाड़मेर जिला, राजस्थान): वी.एन. मिश्रा के अनुसार, मध्यपाषाण युग के उत्तरार्द्ध से यहां जंगली बकरी, एक कुत्ता अथवा सियार, सूअर बूटीदार हिरण, नेवले तथा पालतू कुबड़ वाले मवेशी के प्रमाण मिले हैं। जबकि पी.के. थॉमस ने यहां से केवल मवेशी, बकरी तथा भेड़ का उल्लेख किया है।

लंघनाज (उत्तरी गुजरात): यहां मध्यपाषाण युग (2550-2185 सा.सं.पू.) के स्तर से जंगली जानवरों की हड्डियों को चिह्नित किया गया है। इनमें एक भेड़िया, नेवला, गैंडा, जंगली सूअर, चीतल, हिरण, नीलगाय और काला हिरण सम्मिलित हैं। जंगली भैंसे एवं अन्य जंगली मवेशियों की भी संभावना बतायी गयी है। वी.एन. मिश्रा का मानना है कि मध्यपाषाण काल में यहां की जलवायु शुष्क रही होगी, किन्तु दरियाई भैंसे और राइनो की उपस्थिति अलग तथ्य बयान करते हैं। इसीलिए ऐसे कहा जा सकता है कि लंघनाज के इर्द-गिर्द सवाना प्रकार की वनस्पति और कहीं-कहीं जलयुक्त दलदली भूमि की उपस्थिति रही होगी।

कनेवल (उत्तरी गुजरात): यहां से राइनो, भैंस, दो प्रकार के हिरन, नीलगाय, तथा जंगली सुअर के प्रमाण मिले हैं। पालतू बनाये गये मवेशियों, भेड़ों एवं बकरियों के हड्डियों को भी चिन्हित किया गया है। यहां से ऊंट के हड्डियों की एक रोचक प्राप्ति दर्ज की गयी है जो उनके वैसे समुदायों से सम्बंध जोड़ती है जो ऊँट का प्रयोग करते होंगे।

लोटेश्वर तथा रतनपुर (उत्तरी गुजरात): अभी हाल में इन पुरास्थलों से पालतू बनाए गए भेड़, बकरी, तथा मवेशियों की हड्डियां मिली हैं।

आदमगढ़ (मध्यप्रदेश): यहां से पालतू मवेशी, भेड़, बकरी, सूअर तथा कुत्ते की हड्डियों को प्रतिवेदन में दर्ज किया गया है। इसके अतिरिक्त हिरण, बारहसिंगा, सांभर, सूअर, खरहें, गिरगिट तथा एक प्रकार के घोड़े की प्रजाति जैसी जंगली जन्तुओं की हड्डियां मिली हैं। यहां उपलब्ध रेडियो कार्बन तिथि के आधार पर दो काल चिन्हित किए गए हैं—(1) 6000 सा.सं.पू. तथा (2) 1000 सा. सं.पू. तिथियों के इस विवाद के कारण यहां पशुपालन के प्रारम्भिक प्रमाण पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

भीमबेटका (मध्य प्रदेश): इस स्थल से पालतू मवेशियों के साथ-साथ बारहसिंगा, हिरण और गैंडा की हड्डियां मिली है। यहां चिन्हित मध्यपाषाण युगीन शैलचित्रों में जेबू के पूर्वज ***बॉसनामाडिकस*** का भी एक शैलचित्र है।

सराय नाहर राय, महादहा और दमदमा (उत्तर प्रदेश): यहां से प्राप्त जन्तुओं के प्रमाण के सम्बंधों में अलग-अलग मान्यताएं मिलती हैं। के.आर. अलुर ने यहां से जंगली मवेशी तथा भेड़, बकरी चिन्हित किया है। जबकि यू.सी. चट्टोपाध्याय के अनुसार, यहां जंगली या पालतू किसी प्रकार के भेड़-बकरी नहीं पाए गए हैं। हालांकि, पी.के. थॉमस और जोबलेकर ने तीस प्रजातियों को रेखांकित किया है। जिनमें मवेशी, गौर, बकरी, गजेला, चितल, सांभर, भौंकने वाले हिरण, मूषकहिरण, राइनों, जंगली सुअर, हिप्पो, हाथी, भेड़िया, लोमड़ी, भालू, चूहा इत्यादि सम्मिलित हैं। इनकी सूची में कोई पालतू जानवर नहीं है।

चोपनी माण्डो (उत्तर प्रदेश): यहां से जंगली मवेशी, बकरी, भेड़ इत्यादि प्रतिवेदित हैं।

स्रोत: चट्टोपाध्याय, 2002

मध्य होलोसीन काल के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय यहां का मौसम नमीयुक्त था तथा मॉनसून के महीनों में भारी वर्षा और जाड़े के महीनों में सामान्य वर्षा होती थी। इस क्षेत्र में शुष्कता का प्रभाव प्रायः 4,000-3,000 वर्ष पूर्व से बढ़ने लगा।

प्लीस्टोसीन काल के अन्त में और होलोसीन काल के शुरुआत से प्राग्ऐतिहासिक मनुष्यों द्वारा अपनाए जाने वाले औज़ारों में भी परिवर्तन हुआ। लोगो ने इस समय से अत्यन्त छोटे आकार के औज़ार बनाने शुरू किए जिन्हें माइक्रोलीथ की संज्ञा दी जाती है। पाटने जैसे पुरास्थलों से जहां पाषाण काल के प्रायः सभी युगों का स्तरविन्यास देखा जा सकता है, वहां से प्रस्तरीय औज़ारों के घटते हुए आकार का भी सहजता से अनुमान किया जा सकता है।

कभी-कभी पुरातत्त्वविदों के द्वारा पुरापाषाण-कालीन के छोटे औज़ारों, किंतु माइक्रोलिथ से बड़े आकार के औज़ारों के लिए 'एपी-पैलियोलिथिक' (उप/गौण पुरापाषाण औज़ार) की संज्ञा दी जाती है। निश्चित रूप से, औज़ारों के प्रकार में परिवर्तन बदलते हुए पर्यावरणीय प्रतिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में हुआ होगा, किंतु इन दोनों तथ्यों की सम्पुष्टि के लिए अभी तक कुछ विशेष अध्ययन नहीं किया गया है।

अनुसंधान की नयी दिशाएं

कब्र, जीवन-निर्वाह और निवासीय प्रवृत्तियां

उमेश चट्टोपाध्याय ने आखेटक-संग्राहक समुदाय के बीच मृतकों को कब्र में दफनाने की प्रथा के उद्भव और जीवन-निर्वाह तथा निवासीय प्रतिकृतियों के बीच गंगा नदी घाटी के मध्यपाषाण युगीन सन्दर्भ में अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। उनका अध्ययन सराय नाहर राय, महादहा और दमदमा से प्राप्त जन्तुओं के पुरा अवशेष और दफनाने की परम्परा पर आधारित है।

पहले किए गए अध्ययन के आधार पर सराय नाहर राय के सम्बंध में यह सुझाव दिया गया था कि यह एक मौसमी निवास स्थान था तथा गर्मी के मौसम में जल एवं खा़न के अभाव में विन्ध्य के इस क्षेत्र से लोग गंगा की घाटियों में चले आते थे। लेकिन महादहा और दमदमा के अध्यासित निक्षेप की मोटाई के आधार पर उपरोक्त सिद्धांत पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। विशेष रूप से जब इन स्थानों से स्थाई पत्थर के बने भारी चक्की का प्रमाण मिलता है, जिनका यातायात करना भी सम्भव नहीं था। इस क्षेत्र में खाद्यान के विविध स्रोत उपलब्ध थे। दमदमा में जंगली किन्तु खाने योग्य वनस्पतियों की अनेक प्रजातियाँ उपलब्ध हैं। यहां से प्राप्त जंगली जानवरों की हड्डियों से भी पता चलता है कि इनका उपयोग भोजन के रूप में किया जाता था। यहां के मध्यपाषाणीय लोग विशेष रूप से हिरणों के शौकीन थे। इसके अलावा ये कछुए और मछलियों का भी भरपूर उपयोग करते थे।

महादहा और दमदमा से हिरणों की दो ज्ञात प्रजातियों के दाँत भी मिले हैं। हिरणों की इन दो प्रजातियों के प्रसव का काल अप्रैल से जुलाई के बीच होता है। इन दाँतों के अवशेष से यह अन्दाज लगाया गया है कि किन महीनों में यहां महापाषाणीय जनसंख्या निवास करती थी।

चट्टोपाध्याय के अध्ययन के आधार पर यह पता चलता है कि महादहा और दमदमा का अधिभोग गर्मी और जाड़े दोनों मौसम में होता था। इस स्थान से चूहों की कुछ ऐसी प्रजातियों के प्रमाण मिले हैं जो अपने भोजन के लिए मनुष्य पर आश्रित होते हैं। इनकी उपस्थिति भी यह बतलाती है कि यहां सालभर खाद्य संसाधन उपलब्ध रहा होगा। इन स्थानों से मिले कब्रों के आधार पर उपरोक्त तथ्य प्रमाणित हैं। तीनों स्थानों से प्राप्त आयताकार किन्तु संकुचित कब्रों में मृतकों को लेटाकर दफनाया जाता था। दफनाए गए लोगों में पुरुषों की संख्या महिलाओं की संख्या से कहीं अधिक है और बच्चों की तो बिल्कुल कम।

मृतकों के साथ, कब्र की सामग्रियों में भिन्नता, किसी प्रकार के सामाजिक विभाजन की ओर इशारा करती है। महादहा के निवास सह कब्रिस्तान क्षेत्र से 35 गड्ढों वाले चूल्हे मिले हैं, जिनमें जली हुई मिट्टी, राख, जानवरों की हड्डी की राख इत्यादि पाए गए। शायद इनका सम्बंध दफनाने से जुड़ी किसी कर्मकाण्ड से था। चट्टोपाध्याय ने दफन किए गए मृतकों की दिशा के सम्बंध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को उजागर किया है। एकाध अपवादों को छोड़कर दमदमा में सभी कब्र पश्चिम-पूरब अथवा पूर्व-पश्चिम दिशा में बने थे। पुरातात्त्विक तथा मानवशास्त्री इस तथ्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कब्रों की दिशा सूर्यास्त अथवा सूर्योदय से सम्बंध रखती थी, जिस काल में उक्त कब्र में मृतक को दफन किया जाता था। इसके अलावा जाड़े अथवा गर्मी के मौसम के अनुरूप दिशा में संशोधन की संभावना बनती थी। सूर्य के वार्षिक परिक्रमा के आधार पर इन्होंने जो गणना की है, उससे यह संकेत मिलता है कि जाड़े और गर्मी दोनों मौसम में यहां मृतकों को दफनाया गया था और इस आधार पर भी यह कह सकते हैं कि इन स्थानों पर सालों भर लोग निवास करते थे।

मानवशास्त्रियों ने अध्ययन के आधार पर मृतकों को दफनाने के लिए निर्धारित औपचारिक भूमि और सामुदायिक रूप से उपभोग किए जाने वाले संसाधनों पर सार्वजनिक अधिकार के बीच सम्बंध स्थापित करने की चेष्टा की है। यह अधिकार मृत पूर्वजों के आधार पर, उत्तराधिकार के अधिकार से संबंध रखता है। महादहा के मध्यपाषाण युगीन कब्र उपरोक्त परिस्थिति की ओर इशारा करते हैं किन्तु वे कौन से संसाधन थे जिन पर विशेष उत्तराधिकार की गुंजाइश बनती थी? चट्टोपाध्याय का मानना है कि ऐसे उत्तराधिकार, शायद कछुआ और मछली जैसे जलीय संसाधनों से सम्बंधित था। जिनका एक ओर पौष्टिक महत्त्व था और दूसरी ओर से भोजन के लिए वहां की परिस्थितियों में अधिक विश्वसनीय स्रोत थे। गंगा घाटी में मध्यपाषाण युगीन काल में बढ़ती हुई जनसंख्या की स्थिति में संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की सम्भावना बन रही होगी। शायद इसका ही परिणाम था कि लोग विशेष समूहों का निर्माण कर रहे थे तथा उसके आधार पर पृथक-पृथक क्षेत्रों पर अधिकार बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनके ऐसे प्रयासों को ही दफनाने की प्रक्रिया और प्रतीकों का जरिया मिल रहा था।

स्रोतः चट्टोपाध्याय, 1996

चित्र 2.10: **भीमबेटका : वराह का चित्र (न्यूमेयर, 1983)**

सामान्य रूप सें मध्यपाषाण युग का प्रयोग उत्तर प्लीस्टोसीन या होलोसीन काल के आखेट-संग्राहक समुदायों द्वारा माइक्रोलीथ या सूक्ष्म पाषाण औज़ारों का उपयोग करने वाली संस्कृतियों के लिए किया गया है। किंतु अभी भी इस काल को स्पष्ट रूप से चिन्हित नहीं किया जा सका है। पाटने (महाराष्ट्र), फाहियेन लेना, बटाडोम्बा लेना, बेली लेना (श्रीलंका) जैसे पुरास्थलों से माइक्रोलीथ के प्रमाण प्लीस्टोसीन काल के उत्तरार्द्ध से मिले हैं। दरअसल, ऐसे सूक्ष्म पाषण युग का आर्थिक आधार पुरापाषाण युगीन आखेट-संग्राहक प्रणाली पर ही निर्भर था। किंतु कुछ मध्यपाषाण युगीन पुरास्थल स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार की सभ्यता के प्रमाण देते हैं। मध्यपाषाण स्थलों में वैसे तो मृद्भाण्ड अनुपस्थित थे। किंतु गुजरात के लंघनाज तथा मिर्जापुर के कैमूर क्षेत्र (उत्तर प्रदेश) से इस सन्दर्भ में मृद्भाण्डों के प्रमाण भी मिले हैं।

भारतीय मध्यपाषाण युग की दूसरी विशेषता यह कही जा सकती है कि इस काल में कई नए स्थलों पर मानव सभ्यता ने जड़े जमाई (पुरास्थलों के लिए देखे, ऑल्चिन एण्ड ऑल्चिन, 1997: 88-110; चक्रवर्ती, 1999: 98-110)। यह भौगोलिक फैलाव शायद अनुकूल वातावरण के कारण बढ़ती हुई आबादी और नवीन तकनीकों के विकास के कारण

अनुसंधान की दिशाएं

चैल्सेडनी प्राप्त करने के लिए की गई यात्राएं

मध्यपाषाण युग के बारे में यह आम धारणा बन चुकी है कि ये छोटे आकार वाले समुदायों में रहते थे और अपने इर्द-गिर्द स्थानीय रूप से उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित थे और सूक्ष्म पाषाण औज़ारों का इस्तेमाल करते थे। किन्तु हाल के अध्ययनों से यह स्पष्ट होने लगा है, कि उनका यथार्थ इससे कहीं अधिक जटिल था। पूर्वी राजस्थान के बागोर मध्यपाषाण स्थल में चैल्सेडनी की उपलब्धता के सम्बंध में गुरूचरण एस. खन्ना के अध्ययन से इस कच्चे माल की प्राप्ति के सन्दर्भ में उन समुदायों के द्वारा की गई यात्राएँ तथा विनिमय से सम्बंधित कई नए आयामों का पता चलता है। उक्त अध्ययन के कुछ प्रमुख निष्कर्ष यहां दिए गए हैं:

1. बागोर से प्राप्त सूक्ष्म पाषाण औज़ार सामान्यत: चर्ट और क्वार्टस से बने हैं। किन्तु चैल्सेडनी से बने औज़ार भी पाए गए हैं। क्वार्टस से बने औज़ारों का अनुपात कुल औज़ारों का 79 प्रतिशत तथा चर्ट से बने औज़ारों का 20 प्रतिशत और चैल्सेडनी के औज़ारों का मात्र 1 प्रतिशत है। लेकिन जब पूर्ण रूप से उपयोग में लाए गए औज़ारों का अवलोकन करेंगे तब चर्ट से बने औज़ार क्वार्टज से बने औज़ारों से अधिक हैं। चैल्सेडनी के पूर्णत: बने हुए औज़ार की संख्या भी महत्त्व रखती है क्योंकि इसका उपयोग विशेषकर ब्लेड बनाने के लिए अधिक किया गया है।
2. चैल्सेडनी, क्रीप्टोक्रीस्टलाइन श्रेणी का खनिज है जिसमें चर्ट, जैस्पर, ओपल, फ्लीन्ट, अगेट तथा कॉर्नेलियन भी आते हैं। लेकिन अन्य पत्थरों की तुलना में चैल्सेडनी में जलधारण करने की क्षमता और रेशेदार संरचना पाई जाती है। इसके इन गुणों के चलते फ्लेक बनाने में सरलता होती है। जिससे सूक्ष्म औज़ार बनाए जाते हैं। मध्यपाषाण औज़ार निर्माताओं ने इसलिए उन औज़ारों को बनाने के लिए चैल्सेडनी को प्राथमिकता दी थी।
3. चर्ट और क्वार्टस तो यहां स्थानीय रूप से उपलब्ध हैं किन्तु यहां से प्राप्त चैल्सेडनी निम्न कोटि की है। अच्छी कोटि के चैल्सेडनी की उपलब्धता बागोर के दक्षिण पूर्व में प्राय: 90 किमी. की दूरी पर दक्कन ट्रैप से है। शायद इसी क्षेत्र से मध्यपाषाण युगीन औज़ार निर्माता इसे प्राप्त करते थे।
4. इन लोगों के द्वारा दक्षिण पूर्व की दिशा में मौसम के अनुसार, विचलन करने के और भी कारण बतलाए गए हैं। बागोर, अरावली पहाड़ियों के पूरब में पड़ता है, जो वर्षा की दृष्टि से मध्यवर्ती इलाका है। मॉनसून के बाद वाले मौसम में बागोर के मध्यपाषाणीय लोग अपने मवेशियों के लिए चारागाह की तलाश में दक्षिण पूर्ववर्ती इलाकों में चले जाते थे। उस क्षेत्र से पशुपालन के प्रमाण मिले हैं।
5. बागोर के लोग दक्कन ट्रैप से चैल्सेडनी स्वयं भी ला सकते थे। किन्तु ऐसी भी सम्भावना है कि इनकी प्राप्ति दूसरे समुदायों के माध्यम से भी की जाती होगी।
6. मध्यपाषाण युग के अन्तिम चरण में ताँबे के प्रमाण मिलने लगते हैं इस इलाके में ताँबे का आगमन यहां से काफी दूरी पर स्थित आहर नामक स्थान से सम्बंध के कारण भी हुआ होगा। जहां के लोग कृषक व धातुविज्ञ मालूम पड़ते हैं।

स्रोत: खन्ना, 1993

हुआ। कुछ मध्यपाषाण पुरास्थलों के तिथि-संदर्भ हैं—भीमबेटका (6556-6177 सा.सं.पू.; 4895-4580 सा.सं.पू.), बाघोर (7416-6622 सा.सं.पू.; 4226-3991 सा.सं.पू.), बागोर (5418-4936 सा.सं.पू.; 4575-4344 सा.सं.पू.), सराय नाहर राय (9958-9059 सा.सं.पू.), पैसरा (6377-6067 सा.सं.पू.)।

आखेटक-संग्राहक स्तर से प्रारम्भिक कृषि में संक्रमण की शुरुआत, बेलन घाटी के चोपनी माण्डो नामक पुरास्थल से देखी जा सकती है (शर्मा एवं अन्य, 1980)। यहां खुदाई के दौरान 1.55 मी. मोटा अधिवासी निक्षेप प्राप्त हुआ है, जिसे तीन कालों में विभाजित किया गया है, जिसमें सबसे निचला एपी-पेलियोलिथिक तथा दूसरा एवं तीसरा स्पष्ट रूप से महापाषाणीय स्तर हैं। द्वितीय कालखंड को भी दो भागों में विभाजित किया गया है - 2ए और 2बी। 2ए में गैर-ज्यामितीय माइक्रोलीथ जैसे फलक, वेधक, खुरचनी, अग्र आदि तथा कालखण्ड 2बी से ज्यामितीय आकार वाले सूक्ष्म औज़ार मिलते हैं कालखण्ड 3 से हस्त निर्मित मृद्भाण्ड तथा उन पर रस्सी से बनाए हुए निशान के चिन्ह मिलते हैं। भेड़, बकरियां तथा अन्य मवेशियों की हड्डियाँ भी यहां से मिली हैं। इसके अलावा निहाई-हथौड़ा, सिस-सिलबट्टा (कूटने पीसने के लिए) और पत्थर के छल्ले भी पाए गए हैं। यहां जंगली मवेशियों और भेड़-बकरियों की हड्डियां भी मिली हैं। सरकंडे के निशान वाले पकी मिट्टी के टुकड़ों से यह अनुमान लगाया है कि यहां रहने वाले मध्यपाषाण युगीन चोपानी मांडों के लोग मिट्टी के गिलावे वाले टाट के घरों में रहते थे। इस काल से प्राय: 13 गोलाकार तथा अण्डाकार झोपड़ियों के चिन्ह मिले हैं। गोलाकार झोपड़ियों का औसत व्यास 3.3 मी. और अंडाकार झोपड़ियों का 4.7 x 3.3 मी. था। इन झोपड़ियों के बाहर तीन अंगीठी भी मिले हैं तथा भण्डारण के लिए बाँस और मिट्टी की बनी हुई कोठरियों के अवशेष भी मिले हैं। मध्यपाषाण काल के अन्तिम चरण में जंगली चावल के भी प्रमाण मिले हैं।

तीन खुदाई स्थल—सराय नाहर राय, महादहा और दमदमा एक-दूसरे के पास स्थित हैं। उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ का सराय-नाहर राय, गंगा के किसी पुराप्रवाहिक मार्ग से बनी, किंतु अब शुष्क हो चुकी एक गोखुर झील के किनारे अवस्थित है। यहां से ज्यामितिय सूक्ष्म पाषाण औज़ार तथा जानवरों जंगली बकरा, गैंडा, हिरण, मछली और कछुओं की हड्डियों के अवशेष मिले हैं। इनके निवास क्षेत्र की परिधि में ही 2 कब्र देखे जा सकते हैं, जिनके आकार लगभग बेलनाकार हैं। आवासीय क्षेत्र के अंदर ही बेलनाकार गढ्ढों में 11 मानव शवाधानों के चिह्न मिले हैं, जिनमें 9 पुरुष और 4 महिलाओं और 1 बच्चे का कब्र है। पुरुषों की उम्र 16-35 वर्ष और महिलाओं की 15-35 वर्ष के बीच अनुमान लगाई गई है। दफनाए गए एक कंकाल की पसलियों में एक तीर धंसा हुआ पाया गया है। एक कब्र में चार व्यक्तियों के कंकाल अवशेष एक ही कब्र के अंदर पाए गए हैं। इन कब्रों के अंदर सूक्ष्म पाषाण, पशुओं की हड्डियां और सीपीयों को रखा गया था। कंकालीय अवशेषों का एक विश्लेषण यह दिखाता है कि मोटे तौर पर इन लोगों का दंत-स्वास्थ्य अच्छा था, लेकिन कुछ लोग दंत रोग (ओस्टियो-आर्थराइटिस) से भी पीड़ित थे। रेडियो कार्बन विधि के अनुसार सराय नाहर राय के मध्यपाषाण स्तर का तिथिक्रम ल. 8400 ± 150 सा.सं.पू. निर्धारित किया गया है।

महादहा भी एक गोखुर झील के किनारे बसा हुआ है। यहां खुदाई में 60 से.मी. मोटा अधिवासीय निक्षेप प्राप्त हुआ, जिसमें निवास और बूचड़खाना अलग-अलग बने हुए थे। महादहा से चर्ट, क्वार्टज, चैल्सेडनी, क्रिस्टल तथा अगेट जैसे पत्थरों के बने सूक्ष्म पाषाण औज़ार मिले हैं, जिनकी प्राप्ति काफी दूरी पर विन्ध्य क्षेत्र से ही की गई होगी। यहां के भी निवास क्षेत्र की परिधि से प्राप्त 28 कब्रों में 30 व्यक्तियों को दफनाया गया था। दो कब्र ऐसे हैं, जिनमें स्त्री और पुरुष को साथ दफनाया गया है। इन कब्रों का आधार ढलान वाला था। कब्र में जानवरों की हड्डियां, हड्डी के बने तीराग्र और अँगूठी तथा अन्य सूक्ष्म औज़ार देखे जा सकते हैं। बूचड़ क्षेत्र से पाए गए हड्डियों में जंगली मवेशी, गैंडा, हिरण, सूअर, और कछुए का अवशेष मिला है। झील के इलाके से भी जहारों की संख्या में पशुओं की हड्डियां प्राप्त हुई हैं। महादहा के मध्यपाषाण कालीन लोग काफी लंबे थे (पुरुषों की लंबाई 1.90 मी. और स्त्रियों की 1.62-1.76 मी. तक)। उनका दंत स्वास्थ्य अच्छा था, परंतु कई आस्टियो-आर्थराइटिस से भी पीड़ित थे। कंकालीय अवशेषों में 17 पुरुषों, 7 महिलाओं और 3 बच्चों की पहचान की गई है, जिसमें 5 व्यक्ति 18 वर्ष से कम, 6 व्यक्ति 18-40 वर्ष
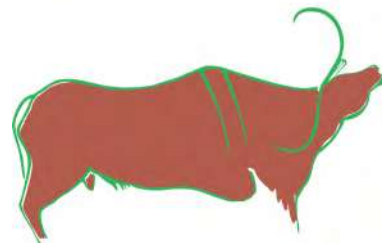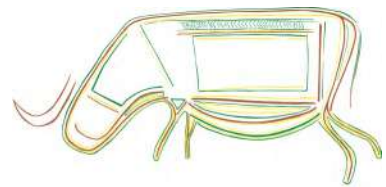
चित्र 2.11: **बहुरंगी वराह: भीमबेटका; तथा सांड, जओरा (न्यूमार, 1983)**
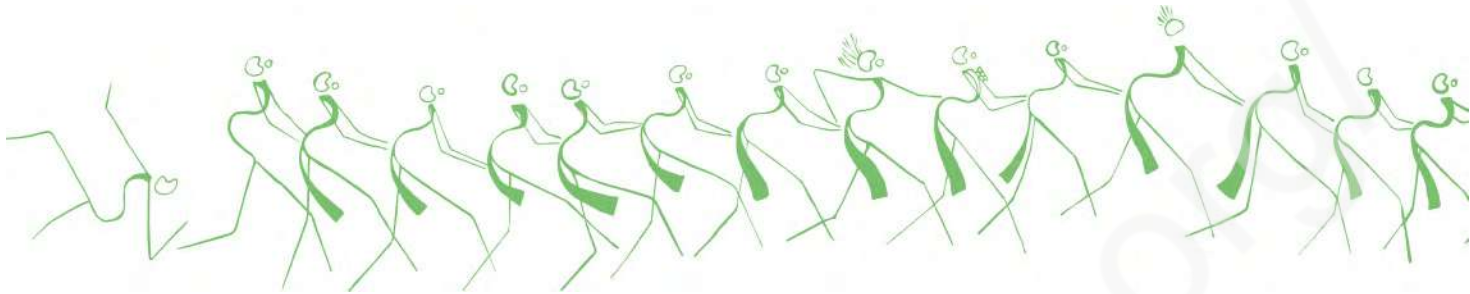
और सिर्फ एक (महिला) 40-50 वर्ष के बीच के उम्र के थे। इन आंकड़ों से उस समय की जनसंख्या के औसत जीवन काल का अनुमान लगता है।

दमदमा साई नदी की एक छोटी धारा के संगम पर स्थित है। यहां के 1.5 मी. मोटे अधिवासीय निक्षेप से उत्खननकर्ताओं को सूक्ष्म पाषाण औजार, हड्डी के बने सामान, सिल-सिलबट्टा, निहाई-हथौड़ा आदि प्राप्त हुआ है। इसके अलावा अंगीठी, आग से पके हुए फर्श, जले हुए जंगली अनाज और पशुओं की हड्डियां भी मिली हैं। कुल 41 मानव कब्रों में 4 कब्रों में एक से अधिक कंकाल मिले हैं। एक कब्र में हाथी दांत का लोकेट भी अन्य सामग्रियों के बीच पाया गया है। दमदमा की तिथि सातवीं सहस्राब्दि सां.सं.पू. के पूर्वार्द्ध में पाया गया है। यहां हाल में ही मध्यपाषाणकालीन स्तर के घरेलू धान की सूचना मिली है।

दक्षिणी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के लेखनिया नामक स्थान पर कुछ शैलाश्रयों की खुदाई हुई है, जिसमें ब्लेड/फलक एवं सूक्ष्म-पाषाण औजार मिले हैं। निक्षेप के उपरी हिस्से में धीरे-धीरे औजारों के लगातार छोटा होते जाने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई देती है। यहां कब्रों के अतिरिक्त मृद्भांड भी मिले हैं। यहां मृद्भांड पूर्व और मृद्भांड के साथ दोनों ही मध्यपाषाण चरण प्राप्त हुए हैं। दो लम्बवत् दफनाए गए कब्र भी मिले हैं, जिनमें एक मृदभांड-पूर्व और एक मृदभांड काल का है। इस स्थल के निकटवर्ती गुफा आश्रयणी बधाई खोर में दो मध्यपाषाण खण्ड चिन्हित किए गए हैं।

पैसरा (महाराष्ट्र) में 105 वर्ग मीटर का एक महापाषाण-कालीन चबूतरा चिन्हित किया गया है। सूक्ष्म पाषाण औज़ार के अलावा पास-पास बनाए गए छोटे-बड़े चूल्हे पाए गए। हालांकि, यह एक मौसमी आश्रयणीय प्रतीत होता है। दामोदर नदी घाटी में स्थित बर्दवान जिला (प. बंगाल) के बीरभानपुर पुरास्थल में स्थानीय रूप से उपलब्ध चर्ट, चैल्सेडनी और क्वार्टज के मध्यपाषाण औज़ार मिलते हैं। यह आवासीय एवं औजार निर्माण कार्यशाला स्थल दोनों ही था। अध्ययन से पता चलता है कि यहां का मध्यपाषाण युग विगतयुग की अपेक्षा शुष्कतर था।

बागोर (भीलवाड़ा, पूर्वी राजस्थान) सबसे विधिवत रूप से प्रतिवेदित मध्यपाषाण युगीन स्थल है। यह राजस्थान में भीलवाड़ा से 25 कि.मी. पश्चिम कोठारी नदी के निकट एक बालू के टीले पर बसा हुआ है। यहां पर तीन पुरातन कालों को चिन्हित किया गया है। (1) कालखण्ड-1 (5000-2800 सा.सं.पू.)-मध्यपाषाण युग (2) कालखण्ड-2 (2800-600 सा.सं.पू.)-ताम्रपाषाण युग तथा (3) कालखण्ड-3 (600-200 सा.सं.पू.)-लौह युग (लोहा के प्रमाण)। सूक्ष्म पाषाण औज़ार तीनों कालखण्डों से मिले हैं। किंतु कालखण्ड-1 से ये सर्वाधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं। ये अधिकांशतः स्थानीय रूप से प्राप्त चर्ट और क्वार्टज पत्थरों के बने हैं, तथा इनके आकार ज्यामितिय हैं, यथा — त्रिभुजाकार, समचतुर्भुजीय, इत्यादि। यहां बनी झोपड़ियों की जमीन पत्थरों के स्लैब से बनी है तथा इनके वृत्ताकार होने के भी प्रमाण मिलते हैं। कुछ पत्थर के फर्श वाले क्षेत्र में बड़े पैमाने पर पशुओं की हड्डियों के मिलने से यह अनुमान लगता है कि वहां बूचड़खाना रहा होगा। यहां सिर्फ एक ही कब्र मिला है और कब्र-सामग्री का भी कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अन्य खोजों में पत्थर के छल्ले (जिनका उपयोग सूक्ष्मपाषाण बनाने के लिए हथौड़े के तौर पर होता होगा), गेरू के टुकड़े, सिलबट्टा एवं पिसाई पत्थर आदि का उल्लेख किया जा सकता है। पशुओं की हड्डियों में जंगली मवेशी, दो तरह के हिरण,
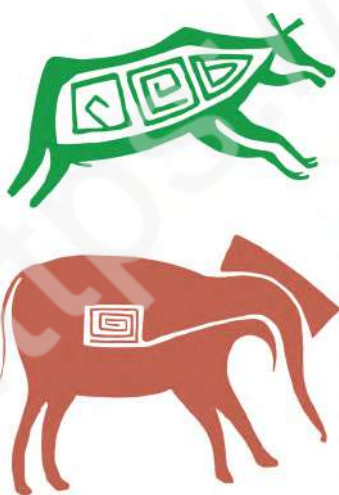
चित्र 2.12: **जानवरों के चित्र: कठौतिया, लखजोआर (न्यूमेयर, 1983)**

चित्र 2.13: **लखजोआ: नर्तक**

सुअर, लोमड़ी, चूहा, सांडा, कछुआ, मछली आदि के अतिरिक्त पालतू भेंड-बकरियों और मवेशियों आदि के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। यह भी संभावना है कि मृदभांड के जो छोटे-छोटे टुकड़े मिले हैं, वे भी मध्यपाषाण काल के ही हैं।

तापी, नर्मदा, माही तथा साबरमती की घाटियों से सूक्ष्म पाषाण औज़ार मिले। इनमें लंघराज एक महत्त्वपूर्ण केंद्र प्रतीत होता है। यहां मानव सभ्यता द्वारा व्यवसायिक निक्षेप को तीन स्तरों में बांटा गया है।, जिसका कालखण्ड-1 मध्यपाषाणयुग से जुड़ा है तथा इस स्थल से माइक्रोलीथ, कब्र, जंगली जानवरों की हड्डियाँ तथा कुछ मृद्भाण्ड के टुकड़े मिले हैं।

होसंगाबाद के निकट आदमगढ़ पहाड़ियों की चर्चा मध्य भारत के पुरापाषाण युगीन स्थल के रूप में की जा चुकी है। इस पुरातात्त्विक स्थल का ऊपरी स्तर मध्यपाषाण युगीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। जो कालांतर में नवपाषाण तथा ताम्रपाषाण संस्कृतियों का आधार बना होगा। महापाषाणी निक्षेप के उपर से 15-21 से.मी. की गहराई पर पाए गए सीप की प्राप्ति के आधार पर यहां की मध्यपाषाण संस्कृति का काल 5500 सा.सं.पू. (सी-14 विधि से) तय किया गया है। यहां इस स्तर से हजारों की संख्या में सूक्ष्मपाषाण औज़ार मिले हैं। इनको बनाने के लिए चर्ट, चैल्सेडनी, जैस्पर तथा अगेट जैसे कच्चे माल यहां से दो किमी. दूर नर्मदा के तट पर मिलते हैं। जहां ज्यमितीय सूक्ष्मपाषाण (त्रिकोण और विषम चतुर्भुज) काफी सामान्य रूप से मिलते हैं। गदा-शीर्ष, पत्थर के छल्ले और हथौड़ा-पत्थर भी मिलते हैं। जंगली जानवरों की हड्डियों में खरगोश, छिपकली, कई प्रकार के हिरण, और साही मौजूद हैं। पालतू पशुओं में मवेशी, भेंड, बकरी, कुत्ते और सूअर आदि की हड्डियों की सूचना मिलती है, परंतु इस साक्ष्य की सत्यता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। इस स्थल से मध्यपाषाण काल के स्तर से मृदभांड के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं।

सोन घाटी का बाघोर-2 पुरास्थल भी मध्य भारत के पुरापाषाणीय सन्दर्भ में वर्णित किया जा चुका है। यहां से भी महापाषाण स्तर के प्रमाण मिले हैं। औज़ारों में ज्यामितिय श्रेणी के चर्ट और चैल्सेडनी के सूक्ष्म पाषाण औज़ार प्रमुख हैं। चक्की का टुकड़ा, हथौड़ा-पत्थर, और लाल-गेरू का टुकड़ा भी मिला है। यहां से प्राप्त मध्यपाषाण सामग्रियों का 96.7 प्रतिशत अधूरे औज़ार निर्माण की कोटी में रखे जा सकते हैं। शायद यहां से इन औज़ारों को बनाकर दूसरे स्थानों पर ले जाया जाता था।

स्तंभ गर्त्तों की पूरी श्रृंखला मिली है, जिससे पांच-छह बड़े शिविर का अनुमान लगाया जा सकता है। एक सांभर हिरण के तीन खुरों की छाप भी उत्खनित निक्षेप में सुरक्षित मिला है। भीमबेटका की भी चर्चा पुरापाषाण युगीन सन्दर्भ में की जा चुकी है। भीमबेटका में धीरे-धीरे औजारों का आकार छोटा होता हुआ दिखता है। मध्यपाषाण कालीन औजारों में ब्लेड, ज्यामितीय सूक्ष्म पाषाण जैसे त्रिकोण, अर्धचंद्र, विषम चतुर्भुज आदि देखे जा सकते हैं। औज़ारों के लिए पुरापाषाण काल में जहां क्वार्टस के प्रयोग की अधिकता थी वहीं मध्यपाषाण औज़ारों के लिए चैल्सेडनी का प्रयोग होने लगा।

प्रायद्वीपीय भारत के सन्दर्भ में मुम्बई के निकट कुछ मध्यपाषाण युगीन पुरास्थल चिन्हित किए गए हैं, जो शायद उन मध्यपाषाण युगीन समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो यहां के तटीय क्षेत्र में निवास करते थे और समुद्री संसाधनों का उपयोग करते थे। दक्षिण की तरफ सूक्ष्मपाषाण ज्यादातर दूधिया-स्फटिक (क्वांट्ज) से बने हैं। महाराष्ट्र के दक्षिण में बंगलोर (कर्नाटक) के निकट जलहल्ली और कीबनहल्ली, गोवा तथा नागार्जुन कोण्डा (दक्षिण आंध्रप्रदेश) रेणीगुण्टा (चित्तुर जिला, आंध्रप्रदेश) में मिले।

इसी प्रकार प्रायद्वीपीय भारत के पूर्वी तटीय क्षेत्र से कई स्थानों पर मध्यपाषाण युगीन मछुआरे समुदायों के शिविर का अस्तित्व का पता चलता है। चेन्नई के दक्षिण हिस्से में 'टेरी' कहे जाने वाले बलुआही टीलों से तथा इसके अतिरिक्त विशाखापत्तनम के तटीय क्षेत्र में स्थित चन्द्रमपालेम पारादेशीपालेम तथा रूसीकोण्डा स्थानों से भी

मध्यपाषाण युगीन मछुआरे समुदायों के प्रमाण मिले हैं। रोचक तथ्य यह है, कि आज भी इस क्षेत्र के मछुआरे मछली पकड़ने वाले जालों को डुबाने के लिए वैसे ही सूक्ष्म पाषाण औज़ारों का उपयोग करते हैं। तटीय क्षेत्रों के अतिरिक्त इलाके के गुफाओं, शैलाश्रयों, सपाट पहाड़ी चोटियों, नदी घाटियों और झील के किनारे भी मध्यपाषाण बस्तियां मौजूद थीं।

भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों से मिले मध्यपाषाण युगीन प्रमाण से यह भी पता चलता है कि इनका सम्बंध अन्य समकालीन समुदायों के साथ भी था। सूक्ष्म पाषाण औज़ारों के निर्माण केंद्र अन्य समुदायों का मिलन बिन्दु प्रतीत होता है। अब जैसे गंगा नदी के उत्तरी और दक्षिणी दोनों हिस्सों में एक ही प्रकार के पत्थरों से बने सूक्ष्म औज़ार देखे जाते हैं, जिसमें प्रतीत होता है कि उस समय या तो वैसे पत्थरों का अथवा इन से निर्मित औज़ारों का यातायात होता था। सराय नाहर राय, महादाहा और दमदमा के लोगों को विन्ध्य क्षेत्र से औज़ारों के पत्थर लाने के लिए 75 कि.मी. की यात्रा करनी पड़ती होगी। यह स्पष्ट है, कि उत्तरी भारत के मैदानी इलाके के समाजों का सम्बंध

चित्र 2.14: **शिकार का दृश्य (लखजोआर)**

चित्र 2.15: **सूअर को आहार देने का और भोजन प्राप्त करने का दृश्य, लखजोआर (न्यूमेयर, 1983)**
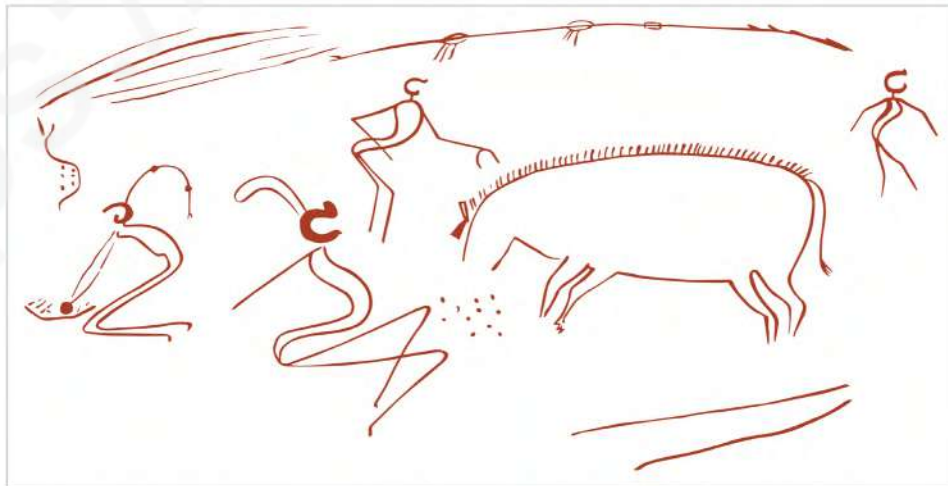
विन्ध्य क्षेत्र के समाजों के साथ था। बाद में पनप रहे कृषि समाज के लोगों से भी मध्यपाषाण स्तर के समुदायों के साथ आदान-प्रदान होता रहा है।

उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों से मध्यपाषाण युगीन समुदायों के अल्पकालिक निवास स्थलों का पता चलता है, लेकिन सराय नाहर राय, महादहा, दमदमा और चोपनीमाण्डो मध्यपाषाण लोगों के लिए अनवरत निवास भूमि बनी रही। ऐसा पुरातात्त्विक प्रमाणों के स्वरूप तथा जन्तुओं के पुरावशेषों से जुड़े विभिन्न अध्ययनों के आधार पर स्पष्ट होता है। ज्यादातर स्थानों से मिले कब्रों की दिशा पश्चिम-पूर्व या पूर्व-पश्चिम देखी गयी है और कब्रों में मृतक के साथ पायी गयी अन्य सामग्रियों का भी अवलोकन किया गया है। इन तथ्यों के आधार पर उनके द्वारा दफनाने की प्रक्रिया से जुड़े किसी न किसी प्रकार के कर्मकाण्डों का भी बोध होता है। इससे मृत्यु के बाद के जीवन के सम्बंध में, किसी न किसी प्रकार की आत्मा जुड़ी हो सकती है, यह तथ्य नृजाति-पुरातत्त्व विज्ञान से उपलब्ध कई निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है। कुछ मृतकों के शरीर के इर्द-गिर्द आभूषण की प्राप्ति उनको दफनाने के पहले किए गए श्रृंगार को दर्शाती है। इसलिए ऐसा हो सकता है कि ऐसे व्यक्ति समुदाय में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान रखते होंगे।
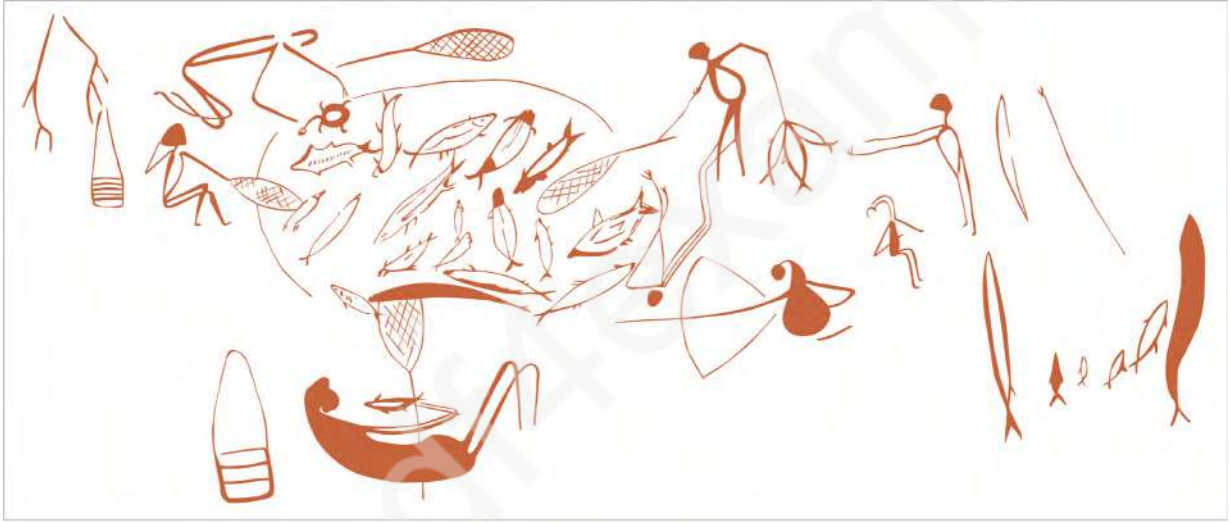
चित्र 2.16: **एक पारिवारिक दृश्यः लखजोआर (न्यूमेयर, 1983)**

मध्यपाषाण युगीन कला की उत्कृष्टता

चलायमान माध्यमों पर मध्यपाषाण युग में कला की अभिव्यक्ति प्राय: नगण्य है। राजस्थान के चन्दावती से प्राप्त चर्ट पर उत्कीर्ण ज्यामितिय डिजाइन रोचक कहे जा सकते हैं। यहां उपलब्ध सूक्ष्म पाषाण औज़ारों के कारण इन्हें मध्यपाषाण-कालीन कहा जा सकता है। हड्डी से बनी कुछ सामग्रियां भीमबेटका से भी मिली हैं। एक मनुष्य के दांत पर भी कुछ अंकित है, जिसे पुणे के डेक्कन कालेज में रखा गया है।

भारत में प्राप्त पहला शैलचित्र 1867-68 में कैमूर पहाड़ियों में स्थित सोहागीघाट (मिर्जापुर जिला, उत्तर प्रदेश और शायद विश्व के किसी क्षेत्र से प्राप्त) की खोज भारतीय पुरातात्त्विक संरक्षण के एक उप-सर्वेक्षक ए.सी. एल. कार्लायल के द्वारा की गई। आज भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से लगभग 150 मध्यपाषाण युगीन शैलचित्रों का प्रतिवेदन उपलब्ध है। मध्य भारत में इनका विशेष संकेंद्रण देखा जा सकता है। दरअसल, मध्यपाषाण काल के समुदायों को समझने में इन शैलचित्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान है तथा इनके संदर्भों में प्रत्येक स्थान का दूसरे स्थान से साम्य दर्शाया जाता है।

वर्ष 1957 में पुरातात्त्विक वी.एस. वांककर भोपाल से इटारसी के बीच रेल-यात्रा कर रहे थे जब उन्होंने भीमबेटका की श्रंलाश्रयों को पहली बार देखा। अगले स्टेशन पर ही वे ट्रेन से उतर गए। इस प्रकार विश्व प्रसिद्ध शैलचित्रों के एक केंद्र की खोज हुई। भीमबेटका सात पहाड़ियों की शृंखला में एक है। और यहां का प्राकृतिक सौन्दर्य अत्यन्त मनोरम है। यहां से प्राप्त 642 गुफा आश्रयणियों में से 400 में शैलचित्र देखे जा सकते हैं। मध्यपाषाण चित्र मध्यप्रदेश के खरवार, जओरा, कथोटिया और लखजोआर इत्यादि स्थानों से भी मिले हैं।

भीमबेटका के शैलचित्रों का अध्ययन वी.एस. वांककर के अतिरिक्त यशोधर मठपाल (1974) और अर्विन न्यूमेयर (1983) द्वारा किया गया है। मठपाल ने इन शैलचित्रों के निर्माणकाल को तीन भागों में बांटा है और पुन: उनके अंतर्गत उपकालखण्डों में। इनमें से प्रथम पांच उपकालखण्ड मध्यपाषाण से, छठा संक्रमण-कालीन और अंतिम तीन ऐतिहासिक काल को चिन्हित करते हैं। इनमें 16 रंगों का प्रयोग हुआ है, किंतु सर्वाधिक प्रयोग सफेद और लाल रंगों का हुआ है। खनिजों को पानी या जैविक द्रव्यों जैसे चर्बी, अंडे आदि के साथ मिलाकर रंग तैयार किया जाता था। लाल या गेरू रंग लौह आक्साइड तथा सफेद रंग चूनापत्थर से और हरा रंग शायद हरे चैल्सेडनी से बनाया जाता था। एक ही रंग से तथा एकाधिक रंगों से बने दोनों प्रकार के चित्रांकन उपलब्ध हैं। ब्रश का हत्था टहनियों से और ब्रश सेमल या जानवरों के फरों से बना होता होगा।

अन्य मध्यपाषाण युगीन शैलचित्रों की तरह भीमबेटका के शैलचित्रों में भी जानवरों के दृश्यों का वर्चस्व रहा। यहां प्रदर्शित जन्तुओं की 29 प्रजातियों में, हिरण, चीता, बाघ, तेंदुआ, हाथी, गैंडा, बारहसिंगा तथा गिलहरी भी है। इसके अलावा पक्षी, मछली, गिरगिट, मेंढक, केंकड़ा, बिच्छू, जैसे जीवों का भी यदा-कदा निरूपण हुआ है। वैसे तो भीमबेटका की पहाड़ियों में आज भी बहुत से जानवर विचरते हैं किंतु अब इस क्षेत्र में हाथी, गैंडा, शेर, जंगली भैंसे, गौर और काला हिरण जो मध्यपाषाण युगीन कलाकृतियों में अंकित किए गए थे वे अब लुप्त हो चुके हैं।

इसके अतिरिक्त, अन्य मध्यपाषाण शैलचित्र की तरह भीमबेटका में भी स्वतंत्र रूप से जानवरों के चित्र भी अंकित हैं और शिकार के संदर्भ में भी उनके अलग चित्र देखे जा सकते हैं। शिकार करने वाले लोग कभी अकेले और कभी समूह में तथा कई बार आभूषणों को पहने हुए दिखलाए गए हैं। इनके द्वारा लाठी, भाला, तीर, धनुष, इत्यादि का प्रयोग भी दिखलाए गए हैं। कई बार शिकारियों के साथ कुत्ते भी दिखते हैं। शिकारियों द्वारा बिछाए गए जाल और कभी जानवरों को शिकारियों के पीछे भागते हुए भी दिखाया गया है।

इनमें से कई चित्रों में वास्तविक जानवरों के स्थान पर उनके प्रतिकात्मक चित्रण किए गए है। कुछ चित्रों में जानवरों का वास्तविक चित्रण भी देखने लायक है। जानवरों के कई चित्रों का केवल रेखांकन किया गया है, और कभी-कभी उनके शरीर को अलंकरण से भरा गया है। कुछ चित्र ऐसे हैं मानो जानवरों को एक्स-रे के द्वारा देखकर उनके अंगों को दिखलाया गया है। ऐसी श्रेणी में मादा जानवरों के गृह को केंद्र में रखा गया है। शिकार के चित्रों के अतिरिक्त, जानवरों के शांत अवस्था में भी कई चित्र अंकित किए गए हैं। इसमें गर्भवती मादा जन्तु अपने बच्चों के साथ, चीता और बाघिन, चितल, हिरण अपने बच्चों के साथ चरते हुए, भैंसे, उछलते हुए खरहे और बंदर जैसी स्थितियां भी दिखलाई गई हैं। इन शैलचित्रों से एक प्रकार के गति का बोध होता है। इस चित्र में भीमबेटका का प्रसिद्ध सूअर भी है जिसका शरीर सुअर का, नाक गैंडा का, नीचला होंठ हाथी का और सिंग भैंसे का है।

भीमबेटका के मध्यपाषाण युगीन शैलचित्रों में किशोर और वृद्ध सभी आयु के पुरुष और महिलाओं का चित्रण हुआ है। पुरूषों के चित्र दीया सलाई के काठी की तरह दिखते हैं। जबकि अपेक्षाकृत महिलाओं का उभारयुक्त चित्र मिलता है। कुछ पुरुष शायद पत्तों, जानवर के खाल या वृक्षों के छाल पहने हुए हैं। पुरूषों के बाल ज्यादातर खुले हैं और महिलाओं के बंधे हुए। कुछ पुरुषों के चित्र ज्यामितिय औज़ारों से अलंकृत है, जो शायद सत्ताधारी लोग होंगे। यहां चित्रित मुखौटे पहने हुए नर्तक (जिनको प्राग्ऐतिहासकारों ने नृत्य करते हुए ओझा कहा है।) किसी प्रकार के

कर्मकाण्डों के विशेषज्ञ प्रतीत होते हैं, हथेली, मुक्के और अंगुलियों के छाप भी देंखे जा सकते हैं। जिनका आज भी प्रचलन है।

भीमबेटका के शैलचित्रों में लिंग के आधार पर किसी प्रकार का श्रम विभाजन प्रतिबिम्बित भी होता है, जहां पुरुष को आखेट दृश्यों में दिखलाया जाता है, वहीं महिलाओं को झुण्ड में भोजन करते हुए अथवा चक्की में अनाज पीसते हुए दिखाया गया है। यहां पर दिखलाए गए सब्जियों को चिन्हित नहीं किया जा सका है। इन शैलचित्रों की दूसरी ध्यान देने योग्य अनुपस्थिति मृद्भाण्डों की अंकन का है। पानी के संचार के लिए चमड़े की थैली या सुखाए गए कोहड़ों का प्रयोग होता था। कुछ दृश्य में लोगों को फल और मधु संग्रहित करते हुए दिखाया गया है। कुछ दृश्यों में कामकला का भी प्रदर्शन है। नृत्य के दृश्यों में एकाध जगह संतुलन खोकर लोगों को गिरते हुए भी देखा जा सकता है।

चित्र 2.17: **आखेटक और उसका झोला जानवरों से भरा हुआ, जओरा**

यूरोप के प्रागऐतिहासिक शैलचित्रों की प्राप्ति गुफाओं के भीतर अंधेरे और एकान्त स्थानों में देखी जाती है, जबकि भारतीय शैलचित्र खुले और रोशनी वाले भागों में बनाए जाते थे। बल्कि भारत में प्राप्त सबसे अच्छे शैलचित्र वैसे स्थानों में बने थे जो उन समुदायों के निवास स्थान से काफी हट के थे। भारत में प्राप्त बहुत सारे शैलचित्र इतने उँचे स्थानों पर बने हैं कि निश्चित रूप से उनको बनाने के लिए किसी प्रकार के सहारे या बहुत से लोगों के सहयोग की आवश्यकता पड़ी होगी। ऐसे शैलचित्रों को कर्मकाण्डीय महत्त्व वाला बताया जाता है।

चित्र 2.18: **आखेटकों का जोड़ा, भीमबेटका**

वैसे प्रागऐतिहासिक शैलचित्र भारत के अन्य बहुत से हिस्सों में मिलते हैं। पूर्वी भारत में पश्चिमी उड़ीसा के सुन्दरगढ़ और सम्बलपुर जिलों से 55 शैलचित्रों के स्थल मिले हैं। आस-पास मिलने वाले सूक्ष्म पाषाण औज़ारों की प्राप्ति के आधार पर इन्हें मध्यपाषाण युग के स्तर में चिन्हित किया गया है। लेखामोड़ा नामक स्थान पर 12 गुफा आश्रयणियों का समूह स्थित है। यह स्थल छेंगापहाड़ और गर्जनपहाड़ के जंगलों में है। एक गुफा से मध्यपाषाण से नवपाषाण तक के मानव विकास के प्रमाण मिले हैं। उड़ीसा से प्राप्त खोज की विशेषता यह है कि यहां मानव निवास स्थल पर ही शैलचित्रों की प्राप्ति हुई है। इसके अलावा यहां अमूर्त तस्वीरें अंकित हैं जिनमें प्रतिकात्मक तथा अलंकृत चित्रांकन की प्रधानता है। यद्यपि, जन्तु उपलब्ध थे परन्तु मानव यदा कदा ही उपलब्ध थे।

केरल से भी शैलचित्र और उत्कीर्ण कलाकृतियां मिली हैं। इनमें से सबसे पुराना एज्हुथु गुहा, इड्डी की जिला में चन्दन के जंगल के बीच अवस्थित है। प्रारम्भिक चरण में यहां

चित्र 2.19: **अमूर्त चित्रकला, जओरा (आभार-न्यूमेयर 1983)**

जानवरों के चित्र अंकित किए गए, मनुष्य की आकृति नहीं है। लेकिन केरल के शैलचित्रों के साथ समस्या यह है कि यहां माइक्रोलीथ नहीं मिले हैं। इसलिए मध्यपाषाण युगीन सन्दर्भ की सटीकता यहां संदेहास्पद है।

प्रश्न यह उठता है, कि प्राग्ऐतिहासिक मनुष्यों द्वारा इन शैलचित्रों को बनाने के पीछे क्या उद्धेश्य होगा? उसके बहुत सारे कारण सोचे जा सकते हैं, जैसे कि अपनी रचनात्मक जीजिविषा को अभिव्यक्ति देने के लिए, अपने बसेरों को सजाने-संवारने के लिए या कुछ दृश्य उनके जीवन से जुड़ी किसी रोचक घटना को अंकित करने के लिए। वैसे बहुत सारे दृश्य शायद उनके आखेट और प्रजनन सम्बंधी कर्मकाण्डों से सम्बद्ध लगते हैं। यह भी जानना कठिन है कि इनके रचनाकार पुरुष थे या महिला या दोनों। इन शैलचित्रों में मनुष्य और जन्तु के चित्रण के अतिरिक्त कुछ रहस्यपूर्ण रचनाओं की अभिव्यक्ति है।

मध्यप्रदेश के जवोरा गुफा आश्रयणी से प्राप्त ऐसे एक चित्र के विषय में कहा जाता है कि यह पृथ्वी, आकाश और अग्नि सर्म्बंधित धारणा की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति है, किंतु इसका अभिप्राय पूर्ण रूप से भिन्न भी हो सकता है। क्योंकि इनको बनाने वाले लोग अब उनकी व्याख्या करने के लिए नहीं है, हमें अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर ही इनकी व्याख्या करनी पड़ेगी।

निष्कर्ष

प्राग् इतिहास मानवीय अतीत के सबसे लम्बे काल का प्रतिनिधित्व करता है जिसके अन्तर्गत जैविक दृष्टि से आधुनिक मानव का विकास, उसके द्वारा पत्थर के औज़ार बनाना, जीवन निर्वाह के लिए तकनीकी रणनीति अप. नाना, सभी मानव सभ्यता के अस्तित्व के लिए महत्त्वपूर्ण चरण हैं। विशेषज्ञों के द्वारा पुरापर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य का अध्ययन, उनके लोक-जीवन को समझने के लिए अत्यंत सहायक सिद्ध हुए हैं। निचले, मध्य और ऊपरी पुरापाषाण-कालीन स्थल भारतीय उपमहाद्वीप के सभी भागों से सामने आ रहे हैं। किंतु अभी भी उनके अध्ययन का आधार मुख्य रूप से पत्थर के औज़ार ही हैं। मध्यपाषाण युगीन समुदायों के द्वारा नए पर्यावरणों का उपयोग प्रारम्भ किया गया। उनके द्वारा बनाए गए शैलचित्र उनके जीवन और रचनात्मक अभिव्यक्ति के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना देते हैं। पुरापाषाण काल और मध्यपाषाण काल की मानव सभ्यता का सामाजिक, आर्थिक आधार आखेटक-संग्राहक जीवन शैली रही है। हालांकि, कुछ स्थानों से प्राप्त हड्डियों के प्रमाण पशुपालन के प्रारंभिदौर की ओर इशारा करते हैं, किंतु पशुपालन और कृषि से जुड़ी मानव सभ्यता की अलग सांस्कृतिक अवस्था – नवपाषाण काल – से सर्म्बंधित है।

अध्याय 3

खाद्य संग्रह से खाद्य उत्पादन की ओर: नवपाषाण, नवपाषाणीय-ताम्रपाषाण और ताम्रपाषाण गांवों का उदय ल. 7000-2000 सा.सं.पू.

अध्याय संरचना

पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रांत में स्थित कच्ची का मैदान अपने शुष्क जमीन और प्रतिकूल मौसमों के कारण पहली नजर में मानवीय आवास की दृष्टि से कठिनाइयों से भरा हुआ दिखाई देता है। यहां के ऊंचे पहाड़ साल के दो महीने बर्फ से ढके रहते हैं। वर्षा का सालाना औसत 10 से.मी. पार नहीं करता और वह भी केवल जाड़ों में बारिश होती है। फिर भी यहां की नदी घाटियों में बहुत सारे समृद्ध गावं मौजूद हैं तथा सिंधु-घाटी एवं मध्य एशिया के बीच व्यापार के प्रमुख मार्ग के रूप में कार्य करते थे। यह क्षेत्र घुमंतू पशुपालकों और कृषक समुदायों से भरा है। यहां जंगली अनाज और आखेट के लिए जन्तु उपलब्ध हैं। किसानों ने मौसमी नदियों पर बांध बनाकर सिंचाई की व्यवस्था की है। यहां का प्रमुख जनात गेंहू है और इस ईलाके को बलूचिस्तान का 'अन्नभंडार' कहा जाता है। कच्ची का मैदान प्राचीन पुरातात्त्विक स्थलों की दृष्टि से भी काफी समृद्ध है।

सन् 1968 में सरदार घौस बख्श रायसीनी ने बोलन नदी के किनारे अपने शीत-कालीन आवास के बगल में, नीचे की ओर स्थित एक टीले की ओर पुरातत्त्वविदों का ध्यान आकर्षित किया। यह स्थान कच्ची जिला के मुख्य बस्ती, दधार से 10 कि.मी. दक्षिण में स्थित था। रायसीनी की सूचना के आधार पर फ्रांसीसी पुरातत्त्वविदों के एक दल ने पाकिस्तान पुरातत्त्व विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में मेहरगढ़ नामक इस स्थल की विधिवत् खुदाई 1974 में शुरु की। यह खुदाई करीब एक दशक तक चलती रही और इसके परिणामों ने उपमहाद्वीप में कृषि की शुरुआत के सम्बंध में हमारी समझ को व्यापक रूप से बदल दिया।

विश्व में खेती की शुरुआत करने वाले पहले गांवों का उदय लगभग 8000-6000 सा.सं.पू. में हुआ। पश्चिम एशिया जौ और गेहूं की खेती के आरंभिक केंद्र बने और इन्हीं इलाकों में भेड़-बकरियों के रूप में सबसे पहले पालतू बनाए गए पशुओं को भी देखा जा सकता है। जार्डन के जरिको और आईन गज़ल, ईरान के टीप-गुरान और अली कोश, तुर्की में सताल-हुयुक, और उत्तरी सीरीया में कयोनू आरंभिक नवपाषाणयुगीन गांवों के रूप में चिहि्नत किए गए हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया में थाईलैंड के स्पिरिट गुफा से भी दस विभिन्न प्रकार के पौधों जैसे- बादाम, काली मिर्च, खीरा, सुपारी, फलियों और मटरों के पौधों का प्रमाण मिलता है। वैसे यह स्पष्ट नहीं है कि ये सभी पौधे मानव द्वारा उगाए गए थे या नहीं, परंतु इतने प्रकार के पौधों की संख्या बताती है कि अब सामान्य खाद्य संग्राहक समुदाय मात्र नहीं रह गया था। मेहरगढ़ की खुदाई से गेहूं और जौ की खेती एवं भेड़-बकरियों को पालने के जो प्रमाण प्राप्त हुए हैं, इससे यह संकेत मिलता है कि बलूचिस्तान दक्षिण एशिया में प्रारंभिक कृषि विकास का तीसरा सबसे महत्त्वपूर्ण प्रक्षेत्र था। उत्तर-प्रदेश में विंध्य पर्वत के उत्तरी अंचल में धान की खेती के भी इतनी ही पुरानी तिथि प्राप्त होने की संभावना है। चूंकि प्रारंभिक कृषि प्रक्षेत्रों के बीच आपसी सम्बंध और प्रत्यक्ष संपर्क की कोई संभावना दिखाई नहीं देती, अतः इन सभी प्रक्षेत्रों को स्वायत्त विकास केंद्रों के रूप में ही देखा जाना चाहिए।

अगली कुछ सहस्राब्दियों के अंदर ही दुनिया के अन्य भागों में भी वनस्पतियों और जंतुओं को पालतू बनाने की प्रक्रिया शुरू हो गई। दक्षिणी चीन के हेमुदु से धान की खेती और भैंस, कुत्ता एवं सूअर को पालतू बनाए जाने का प्रमाण छठी सहस्राब्दि के अंत और पांचवीं सहस्राब्दि के आरंभ से मिलना शुरु हो जाता है। 5000 स.स.पू. में मैक्सिको के लोगों ने मकई, सेम, कद्दू, कुम्हड़ा, मिर्च, अवोकाडो (एक प्रकार का फल) आदि की बागवानी एवं टर्की (एक प्रकार की चिड़िया), कुत्ता और मधुमक्खी पालन करने लगे थे। इसी काल में पेरू की ऊंची पहाड़ियों में रहने वाले समुदाय भी आलू, टमाटर, सेम और कद्दू उगाने के साथ-साथ लामा एवं अलपाका जैसे जानवरों को भी पालतू बना चुके थे। अफ्रीका के उप-सहारा क्षेत्र के विभिन्न पर्यावरणीय इलाकों में मडुआ, बाजरा, धान, टेफ और रतालू की खेती के साथ-साथ भेड़-बकरी और मवेशियों को पाला जाने लगा था। इन वनस्पतियों और पशुओं का प्राथमिक पालतूकरण उन इलाकों में हुआ जहां उन प्रजातियों का प्राकृतिक अधिवास रहा था, किन्तु शीघ्र ही वहां से निकल कर वे दुनिया के विभिन्न भागों में अपने द्वितीयक अधिवासों में फैल गए।

◄ **नल से एक बर्तन, बलूचिस्तान**
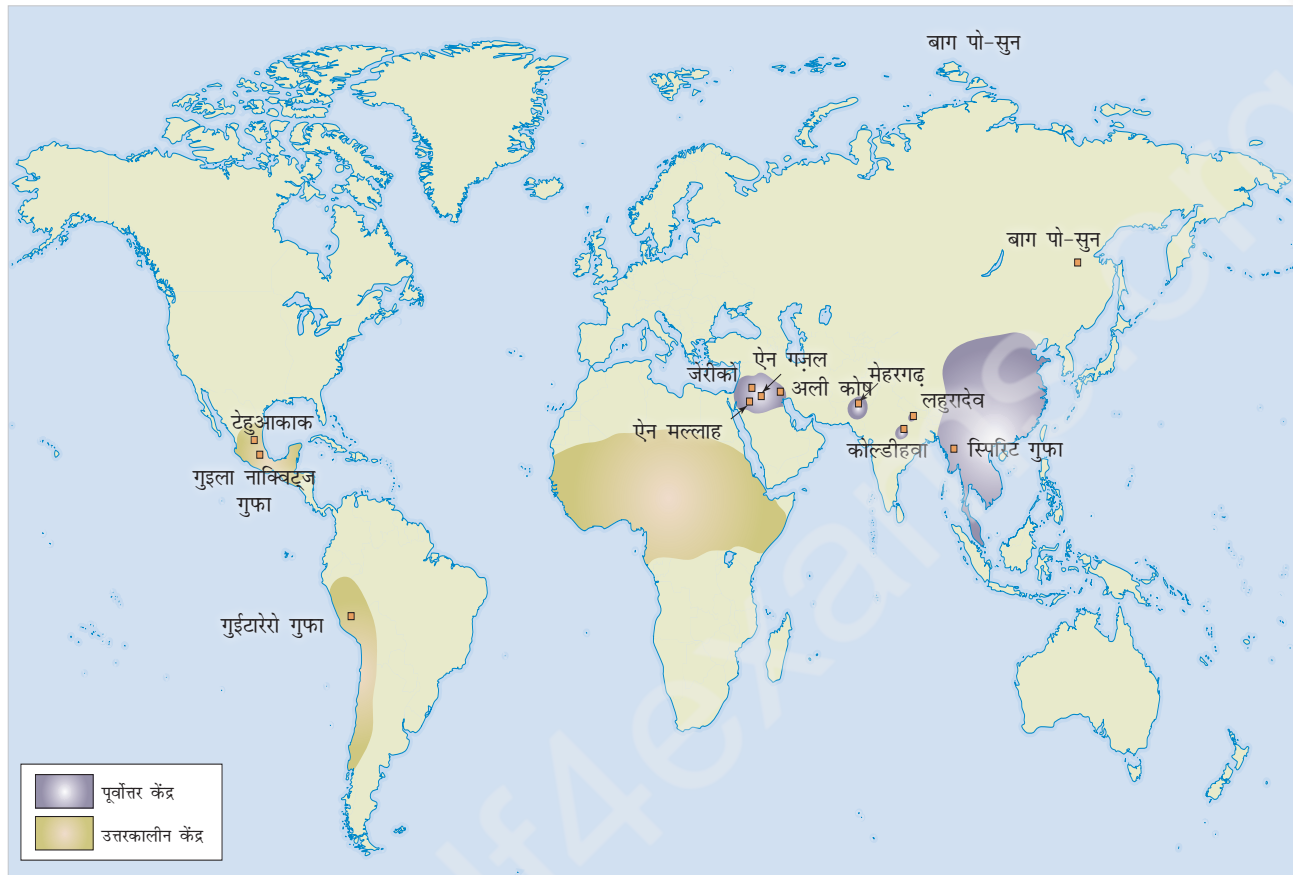
मानचित्र 3.1: **कृषि के प्रारंभिक केंद्र**

नवपाषाण युग एवं खाद्य उत्पादन की शुरुआत

(The Neolithic Age and the Beginnings of Food Production)

वनस्पतियों और पशुओं का पालतूकरण सामुदायिक प्रयोगों की लंबी श्रृंखला का परिणाम था, जिसमें सैकड़ों या शायद हजारों सालों के विस्तृत काल के दौरान पुरुषों, महिलाओं और बच्चों की कई पीढ़ियां लगी रहीं। उन लोगों के नाम हम कभी नहीं जान पाएंगे, जिन्होंने इन प्रयोगों में हिस्सा लिया और जोखिम भरे चुनावों के द्वारा खाद्य पदार्थ प्राप्त करने की रणनीति को हमेशा के लिए बदल डाला। लेकिन उन्होंने एक ऐसी प्रक्रिया की शुरुआत कर दी जो मानवजाति की सबसे बड़ी उपलब्धि बन गई। पुरातात्त्विक साक्ष्य पौधों एवं जन्तुओं के पालतूकरण के काफी परवर्ती चरण को दर्ज करते हैं, जब यह प्रक्रिया काफी प्रचलित हो चुकी थी। वैसे तो इस प्रक्रिया के आरंभिक चरणों के विस्तृत विवरण हमारी नजरों से अभी भी ओझल है, फिर भी अब यह संभव हो गया है कि विश्व के विभिन्न भागों में खाद्य-संग्रहण और आखेट की अवस्था से खाद्य उत्पादन और पालतूकरण की दिशा में संक्रमण के विविध आयामों को चित्रित किया जा सके।

कृषि और पशुपालन की शुरुआत प्रकृति में मानव के हस्तक्षेप का एक विशिष्ट स्वरूप था, एवं यह मनुष्य, पशु एवं पौधों के बीच सम्बंधों का एक नया चरण भी था। इसमें पौधों और पशुओं को उनके प्राकृतिक वास से बाहर निकाल कर, एक प्रकार से कृत्रिम वातावरण में मानव के नियंत्रण के अंतर्गत मावन के लाभ के लिए चयनित प्रजनन और पालन करना शामिल था। पौधा-संग्रह और उन्हें उगाने तथा पशुओं को पकड़ कर रख लेने एवं पशुपालन करने के बीच बहुत अंतर होता है। जब अनाज को तैयार कर पूरा का पूरा उपभोग कर लिया जाता है, तो उसे खाद्य संग्रह ही कहेंगे। लेकिन यदि अनाज तैयार कर उपभोग करने के बाद कुछ बचा कर भी रखते हैं और उचित मौसम में उसकी बुआई करते हैं तो उस चरण को पौधों के पालतूकरण या कृषि की संज्ञा दी जा

सकती है। इसी प्रकार जब जंगली पशुओं को उनके प्रकृति वास से बाहर निकाल कर उन्हें पाला एवं कृत्रिम वातावरण में प्रजनन कराया जाता है, ताकि लोगों को उससे लाभ मिल सके, तो इस चरण को पशुपालन कहा जाता है।

अब यह संभव है कि आखेट-खाद्यसंग्रह से कृषि और पशुपालन की तरफ जीवन-निर्वाह रणनीति के धीमी संक्रमण को पहचान लिया जाए। उदाहरण के लिए पौधों को उगाने की शुरुआत की सामान्य खाद्य संग्रह से जटिल खाद्य संग्रह प्रक्रिया के संक्रमण की पृष्ठभूमि में हुई। जटिल खाद्य संग्रह दरअसल जंगली पौधों के दोहन का एक विशिष्ट चरण था। इसका अगला चरण आरंभिक और नवोदित कृषि प्रक्रिया थी, जो तकनीकों में बदलाव, खाद्य पदार्थों की बेहतर उपलब्धता, जनसंख्या वृद्धि, मानव बस्तियों की संख्या और आकार में विस्तार एवं अधिक जटिल सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया के साथ जुड़ी हुई थी।

आरंभिक पशुपालन और बागवानी एवं किसी क्षेत्र में ऐसे उत्पादित खाद्य पदार्थों पर अधिकतम निर्भरता का चरण स्थापित होने के बीच प्रायः सैकड़ों या हजारों वर्षों का अंतराल रहा होगा। ऐसे समाजों के बीच भी अंतर किया जा सकता है, जो अपने खाद्य आपूर्ति का एक छोटा सा हिस्सा पशुपालन अथवा पौधों को उगा कर प्राप्त करते हो और दूसरी तरफ वे समुदाय जो इन गतिविधियों द्वारा अपने आहार का अधिकतम भाग हासिल करते हों। इन दूसरे प्रकार के समाजों को ही खाद्य उत्पादक समाज की संज्ञा दी जा सकती है। खाद्य उत्पादक समाज की एक कार्यकारी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि वैसे समाज जो अपने खाद्य आवश्यकताओं का कम से कम आधा हिस्सा, साल के कुछ महीनों के लिए सही, पशुपालन और खेती से पूरा करते हों और वे ऐसी जगह रहते हों जहां पाले जाने वाले पशु और उगाए जाने वाले पौधे अपने प्राकृतिक वास क्षेत्र तक सीमित न हों। स्वाभाविक है कि चूंकि प्राचीन समाजों के लिए ऐसा सटीक आंकड़े मौजूद नहीं होते, अतः एक समुदाय किस हद तक पशुपालन पर अपने खाद्य आपूर्ति के लिए आश्रित होता है, इसका अनुमान लगाना अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।

पाषाण युग के वर्गीकरण में, नवपाषाण काल को औज़ारों की तकनीक में नवीन प्रयोग का काल माना जाता है। खासकर घिसाईदार, पालिशदार और चोंचदार पाषाण औज़ारों के निर्माण और खाद्य उत्पादन के आरंभ से नवपाषाण काल अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। पाषाण औज़ारों में आने वाला परिवर्तन निर्वाह पद्धति में हुए परिवर्तनों से जुड़ा हुआ था। नवपाषाण काल की अन्य विशेषताओं में मृदभाण्ड का आविष्कार, अपेक्षाकृत अधिक स्थायी जीवन शैली, छोटे और आत्मनिर्भर गांवों का विकास, लिंग पर आधारित श्रम विभाजन आदि का उल्लेख किया जा सकता है। वी. गॉर्डन चाइल्ड ने 'नवपाषाण-क्रांति' की शब्दावली को गढ़ा था, ताकि इस काल में हुए बदलावों के असीम महत्त्व को रेखांकित किया जा सके। परंतु यह एक धीमी क्रांति थी, जो विभिन्न इलाकों में कई-कई बार और अलग-अलग विशेषताओं एवं परिणामों के साथ घटित हुई।

पशुपालन और कृषि की शुरुआत

(Why Domestication?)

हजारों साल तक मनुष्य आखेटक-संग्राहक जीवनशैली से संतुष्ट रहा, किन्तु क्या कारण हो सकता है कि किसी काल बिन्दु के बाद कुछ समुदायों ने कृषि और पशुपालन में रुचि दिखानी शुरू की? इस प्रश्न का सबसे पहला रचनात्मक उत्तर वी. गॉर्डन चाइल्ड (1952) ने देने का प्रयास किया। उनका मानना था कि प्लीस्टोसीन काल के अन्त में होने वाले पर्यावरणीय बदलावों ने खाद्य उत्पादन के लिए सम्भावनाएँ खड़ी कर दीं। चाइल्ड का तर्क है कि लगभग 10,000 साल पहले पश्चिम एशिया के विभिन्न भागों में शुष्क मौसम का प्रादुर्भाव होने लगा, क्योंकि गर्मी में होने वाली बरसात अब उत्तर की दिशा में होने लगी। जलवायु की शुष्कता ने मनुष्य, वनस्पति और जन्तुओं को उपलब्ध जल स्रोतों के इर्द-गिर्द एक साथ रहने के लिए मजबूर कर दिया। इनके बीच विकसित हुई निकटता के परिणाम-स्वरूप इनके बीच परस्पर निर्भरता की स्थिति उत्पन्न हो गई।

चाइल्ड के सिद्धांत को रॉबर्ट जे. ब्रेडवुड (1960) ने चुनौती दी और कहा कि केवल पर्यावरणीय परिवर्तन को कृषि के उद्भव का आधार नहीं माना जा सकता है। उसने तर्क दिया कि प्लीस्टोसीन काल के अन्तर्गत पहले भी कई बार मौसम में महत्त्वपूर्ण बदलाव आए थे, किन्तु तब कृषि की ओर संक्रमण नहीं हुआ। ब्रेडवुड का सुझाव है कि जन्तुओं और वनस्पतियों को सबसे पहले कुछ विशेष नाभिक केंद्रों (न्यूक्लीयर जोन्ज) में मानवीय नियंत्रण में लाने का प्रयास किया गया। ऐसे क्षेत्रों में पालतूकरण उस नैसर्गिक प्रक्रिया की उपज थी जो मानव के अनुभवों और अपने पर्यावरण से बेहतर परिचित होते जाने के कारण उत्पन्न हुई थी। यह सिद्धांत वास्तव में उन दबावों

अथवा लाभों की व्याख्या नहीं करता जिनके कारण पालतूकरण प्रक्रिया की शुरुआत हुई। कई आखेटक-संग्राहक समुदायों का ऐसा नृजातीय साक्ष्य उपलब्ध है कि वे अपने पर्यावरण से भली भांति परिचित और कृषि के बारे में पूरी तरह जानकार हैं, फिर भी स्वयं खेती नहीं करते। किसी समुदाय के लिए अपने जीवन शैली में व्यापक परिवर्तन लाने के लिए पर्याप्त कारण भी मौजूद होना चाहिए।

ल्यूविस आर. बिनफोर्ड (1968) ने ब्रेडवुड के सिद्धांत को इस आधार पर निरस्त कर दिया कि पुरातत्त्व विज्ञान की दृष्टि से उसका परीक्षण नहीं किया जा सकता है। बिनफोर्ड ने नृजाति-पुरातत्त्व विज्ञान के उन प्रमाणों की ओर इशारा करते हुए कहा कि जब मानव जनसंख्या और उसके पास उपलब्ध खाद्य संसाधनों के बीच स्वाभाविक तारतम्य स्थापित हो जाता है तब वैसे समुदाय जीवन-यापन के लिए भोजन के नए स्रोतों की ओर आकर्षित नहीं होते और न ही उस उद्देश्य से नई रणनीतियों की गुंजाइश को टटोलते हैं। इसके विपरीत ऐसा देखा गया है, कि वैसे समुदाय अपने प्राकृतिक संसाधनों का उसकी पूरी क्षमता से कहीं कम में ही काम चलाना पसन्द करते हैं। मनुष्य और उसके भोजन के बीच का संतुलन दो परिस्थितियों में बिगड़ सकता है: (1) पर्यावरणीय परिवर्तन के दबाव की वजह से अथवा (2) जनसंख्या वृद्धि के कारण बिनफोर्ड ने जनसंख्या पर पकड़ वाले दो प्रकार के दबावों को चिहिन्त किया है—(i) जनसंख्या पर पकड़ वाला आन्तरिक दबाव तथा (ii) जनसंख्या पर पकड़ वाला बाहरी दबाव जो उस क्षेत्र में बाहरी लोगों के आप्रवर्जन के कारण उत्पन्न हो सकता है।

बिनफोर्ड ने कृषि के उद्‌भव के पीछे जनसंख्या पर पकड़ वाले बाहरी दबाव के कारकों को रेखांकित किया है। उसके अनुसार, प्लीस्टोसीन काल के अंत में समुद्रतल में वृद्धि के कारण तटीय क्षेत्र की आबादी भीतरी भागों में बसने लगी। जिसके फलस्वरूप भीतरी क्षेत्र का मनुष्य-भोजन संतुलन प्रभावित होने लगा और अतिरिक्त खाद्यान्न की आवश्यकता ने उन्हें नई रणनीतियों को तलाशने के लिए बाध्य कर दिया। किन्तु इस सिद्धान्त के साथ भी यही समस्या बनी रही कि समुद्रतल में वृद्धि अथवा तटीय क्षेत्र से जनसंख्या के प्रव्रजन के प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके। दूसरी ओर जनसंख्या पर पड़ने वाले आन्तरिक दबाव अथवा खाद्य संकट जैसी सम्भावनाएं उस काल के छोटे मानव समुदायों और संसाधन अतिरेक की परिस्थिति में अतिश्योक्ति ही प्रतीत होता है।

केण्ट फ्लैनरी (1969) ने उन घटनाओं को चिन्हित करने के बजाय वैसी प्रतिक्रियाओं को समझने का प्रयास किया जिनसे आखेट और संग्रहण के स्थान पर कृषि और पशुपालन की शुरुआत हुई होगी। इनको समझने के लिए उसने खाद्यान्न आपूर्ति की दो भिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं को रेखांकित किया—(1) खाद्यान्न आपूर्ति की नकारात्मक प्रतिपुष्टि, जिसके अन्तर्गत भोजन और मनुष्य के बीच संतुलन बना रहता है तथा किसी परिवर्तन को निरूत्साहित किया जाता है तथा (2) खाद्यान्न आपूर्ति की सकारात्मक प्रतिपुष्टि जहां मानवीय हस्तक्षेप और प्रयासों से खाद्य संसाधनों में वास्तविक वृद्धि हो।

फ्लैनरी ने इस सम्बंध में मकई के पौधों का उदाहरण देते हुए कहा कि जब मकई को उसके प्राकृतिक परिवेश से हटाकर कृत्रिम परिस्थितियों में उगाया जाने लगा तब मकई के पौधे का आकार बढ़ा, मकई के दानों का आकार बढ़ा। इस प्रकार मकई के पौधे में आनुवांशिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप, उसके उत्पादन में अत्यधिक बढ़ोतरी होने लगी। तब इस अनुभव के आधार पर मनुष्य ने कृषि को अपनाना शुरू कर दिया। इस सिद्धान्त के द्वारा यह व्याख्या तो की जा सकती है कि किस प्रकार के लाभ को देखकर मनुष्य कृषि की ओर प्रेरित हुआ, किन्तु इसके द्वारा कृषि की दिशा में किए गए प्रारम्भिक मानवीय प्रयोगों का वर्णन नहीं किया जा सकता।

हाल के वर्षों में किए गए अध्ययनों से अब यह स्पष्ट हो चला है कि कृषि और पशुपालन का विकास पर्यावरणीय परिवर्तनों के परिपेक्ष्य में ही हुआ है, किन्तु आधुनिक अवधारणाएं चाइल्ड की अवधारणाओं से काफी भिन्न हो सकती है। जिस समय यूरोप में आखेट के लिए बड़े शिकार लुप्त होने लगे, उस समय पश्चिम एशिया में प्रारंभिक कृषि के प्रति हुए रूझान के लिए वैसी परिस्थिति नहीं बनी थी, क्योंकि पश्चिम एशिया में प्लीस्टोसीन के उत्तरार्ध और होलोसीन के पूर्वाद्ध में जंगली बकरी, मवेशी, हिरण जैसे बहुत सारे स्रोत उपलब्ध हैं। होलोसीन के आगमन के

चित्र 3.1: **टियोसिन्टे के जंगली घास से मकई का विकास; कॉब में अनाज के दानों की उत्तरोत्तर बढ़ोत्तरी और अंततः मकई के दानों को संचित करने के लिए मकई की बालियों का योग्य बनना**

साथ इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत कृषि योग्य अनुकूल जलवायु का विकास हो चुका था, क्योंकि अपेक्षाकृत शुष्क और नमीयुक्त मौसम के कारण कृषि योग्य पौधे के जंगली संस्करण का क्षेत्रीय विस्तार देखा जा सकता है। शायद पर्यावरणीय संकट की अपेक्षा पर्यावरणीय अनुकूलता प्रारम्भिक कृषि और पशुपालन के लिए अधिक उत्तरदायी थी। साक्ष्यों की सीमा को देखते हुए और साथ ही इस बात को ध्यान में रखते हुए कि दरअसल हम एक ऐसी अत्यधिक धीमी और सतत् प्रक्रिया की चर्चा कर रहे हैं, जिसकी गति और अंतर्वस्तु प्रत्येक स्थल पर निश्चित रूप से भिन्न-भिन्न रही होगी, खेती और पशुपालन की प्रक्रिया के विस्तृत विवरण तथा इन्हें अपनाने के पीछे निहित आवेगों की संपूर्ण वास्तविकता कभी भी पूरी तरह सामने नहीं आ पाएगी। यह भी याद रखना चाहिए कि सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के संदर्भ में पुरातात्त्विक स्रोत बहुत ही कम ऐसे ठोस आंकड़े उपलब्ध करा पाते हैं जो सामाजिक और राजनीतिक कारकों द्वारा अदा की गई महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं को स्पष्ट कर सकें। कृषि एवं पशुपालन की शुरुआत के लिए किसी एक विशिष्ट कारण को ढूंढने की बजाय ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह होगा कि विभिन्न भोगौलिक क्षेत्रों में धीरे-धीरे विकसित होने वाली इस पूरी प्रक्रिया को रेखांकित करने का प्रयास किया जाए। कृषि और पशुपालन की शुरुआत के विभिन्न भोगौलिक क्षेत्रों के पर्यावरण और संसाधनों में मौजूद विभिन्नताओं को देखते हुए यह काफी संभव है कि विश्व के अलग-अलग हिस्सों में ऐसे विकास के लिए अलग-अलग कारक उत्तरदायी रहे होंगे।

पुरातात्त्विक आकड़ों में पशुपालन और खाद्य उत्पादन के प्रमाण

(The Identification of Domestication and Food Production in the Archaeological Record)

जब जंगली पशुओं या पौधों को पालतू बनाया जाता है तो एक लम्बे समय के बाद उनमें बहुत सारे आकृति-मूलक परिवर्तन होने लगते हैं, जैसे पालतू पशु अपने जंगली संस्करण की अपेक्षा आकार में छोटे हो जाते हैं, किन्तु बाद में प्रजनन की कृत्रिम परिस्थितियों में फिर से उनका आकार बढ़ सकता है। मस्तिष्क के आकार की तुलना में उनके जबड़े छोटे हो जाते हैं, उनकी दंत संरचना में भी अन्तर आ जाता है, उनके सिंग आकार में छोटे हो जाते हैं, पालतू मवेशियों की माँसपेशीय संरचना तथा हड्डियों की जोड़ों में भी अन्तर देखने को मिलता है। पालतूकरण से पशुओं के बाल भी छोटे होने लगते हैं और इनके रंग में भी परिवर्तन आता है।

इस तरह के स्वरूपात्मक परिवर्तन काफी लंबे समय तक चलने के बाद ही स्पष्ट होते हैं और आरंभिक चरणों में ये स्पष्ट नहीं दिखते। उदाहरण के लिए, घोड़ों को पालतू बनाए जाने के हजारों वर्ष बाद उनमें हुए रूपात्मक बदलाव स्पष्ट हो सके, किन्तु भेड़-बकरी और मवेशियों के सन्दर्भ में यह काफी शीघ्र घटित हुआ। ऐसे परिवर्तन जब एक बार स्थायी स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं तब विशेषज्ञों के द्वारा किए गए हड्डी या दाँत के अध्ययन से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि पुरातात्त्विक स्थल से प्राप्त अवशेष जंगली पशुओं के हैं या पालतू पशुओं के। पुरातात्त्विक स्थल पर उपलब्ध पशु के अवशेष का वैज्ञानिक विश्लेषण का कार्य तब और आसान हो जाता है, जब उस स्थल पर पालतू के अतिरिक्त उसी प्रजाति के जंगली और संक्रमणकालीन अवशेष भी प्राप्त होते हैं।

पशुओं की हड्डियों के सीधा वैज्ञानिक विश्लेषण के अतिरिक्त पालतूकरण की प्रक्रिया का अनुमान लगाने के और भी तरीके होते हैं। जैसे कोई पहाड़ी बकरी के अवशेष अपने नैसर्गिक परिवेश के बाहर कहीं मैदानी इलाके में प्राप्त किए जाते हैं तब उनके पालतू बनाए जाने का अनुमान लगाया जा सकता है। अस्थि-संग्रह पुंज में उम्र और लिंग का अनुपात भी एक महत्त्वपूर्ण संकेत देता है। प्राकृतिक परिवेश में जानवरों के नर-मादा संख्या का अनुपात 1:1 होता हैं किन्तु जब उन्हें पालतू बनाया जाता है तो नर जन्तुओं को माँस के लिए कम आयु में ही मार दिया जाता है जबकि मादा पशुओं को दूध प्राप्ति या अन्य उपयोगिता के कारण उन्हें अधिक समय तक जीवित रखा जाता है। ये प्रवृतियां अस्थि संग्रह में पहचानी जा सकती हैं।

ठीक इसी प्रकार से कृषि किए जाने वाले पौधों के बीज और अनाज को पहचाना जा सकता है क्योंकि लम्बे समय तक कृषि की अवस्थाओं में रहने से पौधों में भी आकृति-मूलक परिवर्तन आने लगते हैं। जंगली जौ और गेहूँ की अपेक्षा कृषि में प्रयुक्त गेहूँ और जौ के पौधों का आकर छोटा होता है। जंगली अवस्था में इनके फल परिपक्व होते ही स्वत: फूट जाते हैं। जबकि कृषि द्वारा पैदा किए गए जौ और गेहूँ की बालियाँ फसल कटनी के द्वारा कृत्रिम रूप से निकाले जाते हैं, किन्तु ऐसे पुरातात्त्विक अध्ययन आलू या अन्य गुछ्छेदार पौधों के लिए असम्भव है। इसके अलावा बहुत से पौधे स्वप्रजनन पर आश्रित होते हैं इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि सभी पौधों में कृषि के दौरान आनुवांशिक परिवर्तन देखा जा सके। पौधों के घरेलूकरण के प्रमाण स्थल से प्राप्त अनाज एवं बीज के सतर्क विश्लेषण से प्राप्त किया जा सकता है, विशेषत: जो अनाज और बीज जलाए जाने के बाद

प्राथमिक स्रोत

पुरातन पादप अवशेषों का विश्लेषण

पुरातन पादप अवशेषों का अध्ययन 'पुरावनस्पतिशास्त्र' कहलाता है। प्राचीन वानस्पतिक अवशेष, जो पुरातात्त्विक अवशेषों के रूप में मिलते हैं, नदियों के भूमिगत होने की प्रक्रिया या किसी स्थान पर पानी के ठहराव के कारण या जलाए जाने के कारण, ये संरक्षित अवस्था में प्राप्त होते हैं। उत्खनन के दौरान बीज अथवा अनाज के दानों को हाथों में एकत्रित किया जा सकता है, किन्तु ऐसा करने से ये नष्ट भी हो सकते हैं या इनके छोटे और बारीक अवयय छूट सकते हैं।

प्लवन तकनीक विधि से कुशलतापूर्वक इनको एकत्र किया जा सकता है। प्लवन तकनीक के अंतर्गत अलग-अलग उपकरणों का प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु सभी प्रक्रियाओं का मौलिक सिद्धांत एक है। सभी में शुष्क कार्बनीकृत वानस्पतिक पदार्थों को, उनके साथ जुड़े मिटी के कणों के साथ पानी जैसे किसी तरल माध्यम में धीर-धीरे उड़ेला जाता है। ऐसा करने से अकार्बनिक पदार्थ तरल माध्यम में नीचे डूब जाते हैं और कार्बनिक बीज ऊपरी सतह पर तैरने लगते हैं, जिन्हें निकाल दिया जाता है। फिर इनको एकत्र कर सूक्ष्मदर्शी यंत्र में विश्लेषित किया जा सकता है। इससे पता चलता है कि किस प्रकार की वनस्पति या पौधे का वे प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह भी ज्ञात किया जा सकता है कि वे जंगली प्रजातियाँ हैं अथवा इन्हें उगाया गया है। वानस्पतिक अवशेष सूक्ष्म वानस्पतिक रूप में भी उपलब्ध हो सकते हैं। कुछ विशिष्ट प्रकार के हिस्सों में (जैसे जड़, तना अथवा पुष्प) सिलिका के सूक्ष्म कण पाए जा सकते हैं जिन्हें फाइटोलिथ कहा जाता है। स्थल से इनकी प्राप्ति के आधार पर यह पता लग सकता है कि उक्त पौधे की प्रजाति पालतू है या जंगली। पौधों के पैरेनकाइमा (पौधे की तनाओं में या फलों के गुदा में पाया जाने वाला गोलाकार, कोमल उत्तक) का विश्लेषण भी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी हो सकता है।

पौधों के परागों और बीजाणुओं के अध्ययन को 'पैलिनोलॉजी' कहते हैं। यह भी पुरावानस्पतिक शास्त्र की महत्त्वपूर्ण शाखा है। पुष्पीय पादपों में उपस्थित परागों की यह प्रजननात्मक निकाय है। इनका बाहरी मजबूत आवरण एक्जिन कहलाता है, जो कुछ विशेष कोटि की अवसादी मृतिका या शैलों में हजारों वर्षों तक सुरक्षित रह सकते हैं। सूक्ष्मदर्शी यंत्र के द्वारा वैज्ञानिक पराग विश्लेषण कर सकते हैं, जिसके द्वारा सम्बंधित पौधे की पहचान की जा सकती है। परागों के प्रारूप में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर विभिन्न पुरातात्त्विक स्तर-विन्यासों से जुड़े जलवायु परिवर्तन या वृक्ष उन्मूलन या कृषि के तथ्यों को रेखांकित किया जा सकता है।

आज हमारे पास और भी नए तकनीक उपलब्ध हैं, किन्तु उनका प्रयोग अभी पश्चिमी देशों में ही किया जा रहा है। उदाहरण के लिए, स्क्वॉश के बीजों अथवा मकई के दानों के सूक्ष्म टुकड़ों की तिथि, पिंड त्वरक स्पेक्ट्रोमेट्रिक तिथि निर्धारण विधि (AMS) के द्वारा निकाली जा सकती है। वनस्पति की विभिन्न प्रजातियों के क्रोमोसोम संरचना को डी.एन.ए. अध्ययन से चिन्हित किया जा सकता है। इसके द्वारा जंगली प्रजाति से नियंत्रित प्रजाति की ओर के विकासक्रम को समझा जा सकता है। यह भी पता लगाया जा सकता है कि इन नियंत्रित कृषि प्रजातियों के जंगली पूर्वज प्रजातियों का मूल स्थान कहां अवस्थित था।
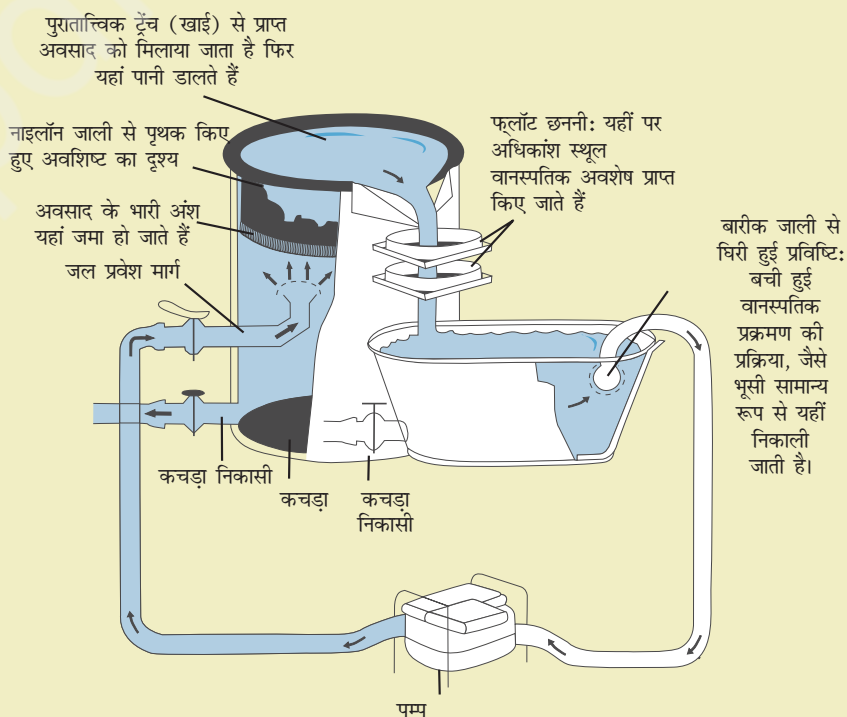
चित्र 3.2: **एक प्लवन उपकरण (फ्लोटेशन ऐपरेटस)**

कार्बनीकृत हो जाते हैं। कई अनाज के दानों अथवा बालियों के छाप मृद्भाण्ड जैसे किसी पात्र पर भी अंकित पाए जाते हैं, जिससे इसका प्रमाण प्राप्त होता है।

कृषि एवं पशुपालन का अप्रत्यक्ष प्रमाण कलात्मक अवशेषों से भी प्राप्त हो सकता है, जैसे प्राग्ऐतिहासिक मनुष्य द्वारा निर्मित शैलचित्रों के आधार पर कृषि और पशुपालन की विभिन्न अवस्थाओं को समझा जा सकता है। किन्तु चित्रों के आधार पर सटीक निष्कर्ष निकालना भ्रामक भी हो सकता है। पशुओं को पकड़ने का दृश्य शिकार भी हो सकता है, यह पशुओं को घेर कर रखने और नियमित पशुपालन का प्रतिबिम्ब भी हो सकता है। इसी तरह अनाज की दौनी करना खाद्य संग्रह से भी जुड़ा हो सकता है और कृषि की अवस्था से भी। इसी प्रकार पत्थर की चक्की या फसल काटने के लिए हँसिया जैसे उपकरणों का प्रयोग भी हो सकता है कि निश्चित रूप से कृषि के सम्बंध में सही निष्कर्ष देने में समर्थ न हो। सिलबट्टा का उपयोग जंगली अन्न पीसने और हंसिया का उपयोग जंगली फसल काटने के लिए भी हो सकता है। अत: इनके स्थान पर पुष्प पराग इत्यादि का वैज्ञानिक विश्लेषण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि सम्बंधित प्रमाण देने में अधिक समर्थ हो सकता है।

किसी समुदाय की खाद्य उत्पादन क्षमता का अनुमान लगाना कठिन और आत्मपरक है। जहां कुछ स्थलों से जीवन निर्वाह पद्धति में पशुपालन और कृषि के महत्त्वपूर्ण होने के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। वहीं कई स्थल ऐसे होते हैं, जहां अपर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। दरअसल भारतीय उपमहाद्वीप के कई स्थलों को महज कुछ विशिष्ट औज़ारों की उपस्थिति के आधार पर ही नवपाषाण काल घोषित कर दिया गया है।

भारतीय उपमहाद्वीप में खाद्यान्न उत्पादन की दिशा में संक्रमण

(The Transition to Food Production in the Indian Subcontinent)

नवपाषाण काल को सामान्यत: खाद्य उत्पादन, मृद्भाण्ड परम्परा की शुरुआत तथा अभ्रमणशील जीवनशैली के रूप में रेखांकित किया जाता है, किन्तु इस काल से जुड़े हुए वास्तविक तथ्य कहीं अधिक जटिल परिस्थितियों को प्रस्तुत करते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाण काल से जुड़ी हुई बहुत सारी विशेषताएँ दरअसल मध्यपाषाण काल से ही परिलक्षित होने लगी थीं। पिछले अध्याय में मध्यपाषाण काल से मिले मृद्भाण्ड और पशुपालन के प्रमाणों की चर्चा की जा चुकी है। दूसरी ओर ऐसे भी नवपाषाण पुरास्थल मिले हैं जहां से मृद्भाण्ड का कोई चिह्न नहीं मिलता। स्थानबद्ध अथवा अभ्रमणशील जीवन पद्धति से जुड़ा प्रश्न और भी जटिल है। हम पहले भी देख चुके हैं कि कई आखेटक-संग्राहक समुदायों के द्वारा स्थानबद्ध जीवन-परम्परा को स्वीकार किया जाने लगा था। दूसरी ओर बहुत सारे समुदाय जिन्होंने कृषि और पशुपालन की शुरुआत कर दी थी, उसके बाद भी वे भ्रमणशील बने रहे। इसलिए भ्रमणशील अथवा अभ्रमणशील जीवन के दो बिल्कुल पृथक विकल्प के रूप में देखने की अपेक्षा यह जानना बेहतर होगा कि नवपाषाणयुग के विभिन्न समुदायों ने स्थानबद्ध जीवन पद्धति को किस स्तर तक स्वीकार किया।

कृषि और पशुपालन की शुरुआत का यह कतई तात्पर्य नहीं था कि उन्होंने आखेटक-संग्राहक जीवनशैली का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया। वैसे समुदाय जो कृषि और पशुपालन में रुचि दिखा रहे थे उनके आखेट और खाद्य संग्रह के उदाहरण मौजूद हैं। इसी तरह कई समुदायों ने अपने आखेटक-संग्राहक जीवन-निर्वाह पद्धति का कभी त्याग नहीं किया और न ही कृषि अथवा पशुपालन की ओर कोई रुचि दिखलाई। लेकिन प्रस्तुत अध्याय में हम केवल वैसे समुदायों को केंद्र में रखेंगे, जिन्होंने विकल्प के रूप में कृषि और पशुपालन को स्वीकार कर लिया। भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में दिखलाई पड़ने वाली पर्यावरणीय विविधता, जो विशेष रूप से जलवायु, मिट्टी अथवा वनस्पति और जन्तुओं की उन प्रजातियों की उपलब्धता, जिनमें मानवीय नियंत्रण के अधीन पोषित होने की अधिक सम्भावनाएँ विद्यमान हों, के रूप में दिखलाई पड़ती है। उनके सन्दर्भ में कृषि और पशुपालन की ओर संक्रमण के लिए पृथक-पृथक परिस्थितियाँ देखी जा सकती हैं।

इस अध्याय का शीर्षक नवपाषाण युग के स्थान पर खाद्य उत्पादन की शुरुआत इस लिए रखा गया है क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए खाद्य उत्पादन की पद्धति में होने वाले परिवर्तनों को ही नवपाषाण युग का आधार मानते हैं इसके अतिरिक्त उपमहाद्वीप में प्रारंभिक खाद्य उत्पादक केंद्रों का इतिहास क्षेत्रीय विविधताओं से ओत-प्रोत रहा है। कुछ क्षेत्र में यथा विन्ध्यशृंखला के उत्तरी हिस्सों में नवपाषाण संस्कृतियां पूर्व से ही अस्तित्व में रहीं और मध्यपाषाण संस्कृतियों से ही प्रस्फुटित हुईं। कुछ क्षेत्र यथा उत्तरी-पश्चिम कभी भी मध्यपाषाण युग से नहीं गुजरी और इन क्षेत्रों में पनपने वाली सबसे पहली संस्कृति नवपाषाण युगीन कृषक और पशुपालन समाजों से ही शुरू हुई। हालांकि, कुछ विशुद्ध रूप से केवल नवपाषाण स्थल चिन्हित किए जा सकते हैं, किन्तु ऐसी बहुत सारी संस्कृतियाँ भी देखने को मिली जिन्हें नवपाषाण-ताम्रपाषाण की संयुक्त संस्कृति के रूप में ही देखा जा सकता है। फिर राजस्थान जैसे कुछ

क्षेत्र में पनपने वाली सबसे पहली संस्कृतियाँ न तो नवपाषाण युगीन और न ही नवपाषाण-ताम्रपाषाण युगीन कही जा सकती हैं क्योंकि यहां सभ्यता का प्रारम्भ सीधे ताम्रपाषाण संस्कृति के रूप में ही हुआ।

चूंकि यहां हम एक अत्यंत विस्तृत कलावधि की चर्चा कर रहे हैं। अतएव सांस्कृतिक विविधताओं और जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए, उपमहाद्वीप के खाद्यान्न उत्पादन करने वाले कृषक-पशुपालक समुदायों की विवेचना को तीन परस्पर संयुक्त अवधियों में बांटा गया है—कालखंड-I 7000-3000 सा.सं.पू.; कालखंड-II 3000-2000 सा.सं.पू.; तथा कालखंड-III 2000-1000 सा.सं.पू. एवं उत्तरोत्तर। पहली दो अवधियों का अध्ययन इस अध्याय में किया गया है, जबकि कालखंड-III की चर्चा अध्याय-5 में की जाएगी। वैसे पुरास्थल जिनका अति विस्तृत सांस्कृतिक अतीत रहा है, उनके केवल प्रारंभिक अवधियों की विवेचना इस अध्याय में की गई है, उत्तरार्द्ध की अवधियों का विश्लेषण अध्याय-5 में किया जाएगा। विविध भौगोलिक खंडों की, प्रारंभिक खाद्यान्न उत्पादक समुदायों में उनके कालनुक्रम, सामान्य विशेषताओं तथा विशिष्ट लक्षणों के आधार पर उस विशेष क्षेत्र के सांस्कृतिक अनुक्रम की पृष्ठभूमि में देखते हैं। (पुरास्थलों की विस्तृत जानकारी के लिए देखें—चक्रबर्ती, 1999: 177-40; ऑल्चिन और ऑल्चिन 1999: 97-127)

भारतीय उपमहाद्वीप की प्राचीनतम ग्रामीण बस्तियाँ ल. 7000-3000 सा.सं.पू

पश्चिमोत्तर क्षेत्र

बलूचिस्तान के कई स्थल अर्ध-घुमंतू पशुचारी जीवन शैली से कृषि आधारित स्थायी जीवन शैली की तरफ रूपांतरण का उदाहरण पेश करते हैं। इनमें मेहरगढ़ से प्राप्त प्रमाण सबसे पुराना एवं सशक्त माना जा सकता है (जारिज एवं अन्य)। यह स्थान कच्ची के मैदान के उत्तरी भाग में बोलन घाटी में ठीक उस जगह पर है जहां नदी बोलन दर्रे के अंदर से पहाड़ों से निकलती है। बोलन घाटी सिंधु के मैदान एवं उत्तरी बलूचिस्तान के पहाड़ी घाटियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण संपर्क सूत्र था। इस मार्ग से मनुष्य और पशुओं का आवागमन काफी प्राचीन काल से होता रहा होगा। मेहरगढ़ की खुदाइयों के करीब 200 हेक्टेयर में फैले प्राचीन बस्तियों का अवशेष प्रकाश में आया जो एक कम ऊंचाई के टीले और उनके आस-पास के क्षेत्रों में फैला हुआ है। यहां सात पुरातात्त्विक स्तर विन्यास सामने आए, जिनसे कई सहस्राब्दियों के दौरान होने वाले परिवर्तनों तथा सांस्कृतिक निरंतरता का आश्चर्यजनक प्रमाण प्राप्त हुआ है। हमारे लिए यहां प्रथम छह स्तर विन्यास या कालखंड ही प्रासंगिक है।

मेहरगढ़ के कालखंड-I और II को नवपाषाण काल ही माना जाता है, यद्यपि यहां थोड़ी मात्रा में ताम्बे के प्रयोग का प्रमाण भी मिला है। कालखंड-I को पुनः I ए और I बी के बीच बांटा गया है, जिसके अवशेष बोलन नदी के ऊंचे तट पर 11 मीटर मोटे निक्षेप के अंदर पाए गए हैं। रेडियो कार्बन तिथि निर्धारण में विसंगतियों के परिणामस्वरूप ज्यादातर तिथियां अनिश्चित हैं। इस काल से सम्बंधित अधिकतर तिथियां 6000 से 5500 वर्तमान पूर्व (व.पू.) के बीच पाई जाती हैं। एक समस्या यह है कि यद्यपि कालखंड-I अनुमानतः काफी लंबे समय तक चला होगा, फिर भी कालखंड-I ए के मध्यवर्ती स्तर के अधिकतर रेडियोकार्बन तिथि 5800 से 5530 व.पू. के आस पास ही दिखता है। इसके अतिरिक्त उत्खननकर्ता इस बात की तरफ भी संकेत करते हैं कि यहां बहुत कुछ पुराने रेडियोकार्बन तिथि 9385 ± 120 व.पू. कालखंड-II बी; और 6500 ± 80 व.पू. कालखंड-III से प्राप्त हुए हैं। इन प्रारंभिक तिथियों की श्रृंखला का एक लाभ यह है कि इसमें मेहरगढ़ के नवपाषाणी क्रम विस्तार की पूरी संरचना हमें प्राप्त हो जाती है, जो 8वीं से छठी सहस्राब्दि सा.सं.पू. काल में स्थित थी।

कालखंड-I (जिसमें 1ए और 1बी दोनों शामिल हैं) के लोग हाथ से बने कच्ची ईंटों के छोटे और आयताकार घरों में रहते थे। कालखंड-I के सबसे निचले स्तर से प्राप्त एक कमरे, जिसका आकार 2 मी. x 1.8 मी. था, के फर्श से सरकंडों की छाप और सिलबट्टा मिला है। घर की दीवार बनाने के लिए ईंटों को मानक आकार का बनाया गया था, जिसके किनारे गोल एवं ऊपरी सतहों पर ऊंगलियों के निशान थे। कुछ संरचनाओं को छोटी-छोटी इकाईयों में बांटा गया था, जो अनुमानतः अन्नभंडार रहे होंगे।

कालखंड-I के पाषाण औज़ारों में हजारों की संख्या में प्राप्त सूक्ष्मपाषाण भी शामिल हैं, जिसमें ज्यादातर ब्लेड या फलक हैं। कुछ मात्रा में घिसे हुए नवपाषाणी हस्तकुठार (सेल्ट) भी मिले हैं। लकड़ी के हत्थों में बिटुमिन की मोटी परतों के सहारे फलकों को लगाया गया था, जिनका उपयोग निश्चित रूप से हंसिए की तरह होता था। सिलबट्टों की उपस्थिति दिखाती है कि खाद्य प्रसंस्करण भी शुरू हो चुका था। पत्थर के बने कुछ बर्तन एवं अन्य सामग्रियां जैसे छिद्रमय-चकरी और आड़ी-तिरछी रेखाओं के निशान वाले कलछुल भी प्राप्त हुए हैं। हड्डियों के बने औज़ार जैसे सुई एवं सुआ आदि के साथ कच्ची मिट्टी की एक हस्तनिर्मित मृण्मूर्ति भी मिली है। मेहरगढ़ कालखंड-I मूलतः मृद्भांड विहीन चरण था। मृद्भांडों के कुछ आरंभिक प्राप्तियां I बी स्तर से हुई हैं।

कालखंड-I के लोग मृतकों को अपने घरों के बीच स्थित खुली जगह में दफनाते थे। इन शवों को अंडाकार गड्ढों में संकुचित अथवा झुकी हुई शारीरिक स्थिति में दफनाते थे। हड्डियों पर लाल गेरू का लेप लगाया जाता था, जिससे किसी प्रकार के कर्मकांड का आभास होता है। कम से कम दो कब्रों में शवों के पैर के पास बकरी के बच्चे रखे गए थे। कब्रों से मिली सामग्री में बिटुमिन से पुता टोकड़ी, खाद्य सामग्री, आभूषण जैसे पत्थरों और शंख के बने गले का हार, पाजेब, हड्यिों के गहने आदि मिले हैं। एक कब्र से ताम्बे का मनका भी मिला है। इन कब्रों से फिरोजा और लाजवर्द (लैपिस-लजुली) आदि अर्ध कीमती पत्थरों का मिलना भी महत्त्वपूर्ण है। लाजवर्द उत्तरी बलूचिस्तान की चगाई पहाड़ियों से आया होगा या फिर अफगानिस्तान से। फिरोजा पूर्वी ईरान या मध्य एशिया से आया होगा। समुद्री शंखों का सबसे निकटवर्ती स्रोत मकरान तट है, जो करीब 500 कि.मी. दूर है। कब्रों में इन वस्तुओं का पाया जाना यह दिखाता है कि मेहरगढ़ के लोग लंबी दूरी के विनिमय में भागीदार थे।

कालखंड-I बी के स्तर से 220 वर्ग मीटर में फैले एक कब्रिस्तान का साक्ष्य मिला है, जिसमें करीब 150 कब्र मौजूद हैं। अब शवाधान की प्रक्रिया पहले से अधिक विस्तृत और जटिल हो चुकी थी। कब्र के एक सिरे पर एक छोटा छेद बनाया जाता था और उसी के माध्यम से शव तथा कब्र की वस्तुओं को अंदर डाला जाता था। इस छेद को बाद में कच्ची ईंटों की दीवार बनाकर बंद किया जाता था। कुछ कब्रों में दो शवों और कुछ में द्वितीयक शवाधान का संकेत मिलता है, जिसमें मृत शरीर को पहले बाहर खुले में छोड़कर जब सिर्फ हड्डी बच जाती थी तो उसे जमा करके कब्र के अंदर डाल दिया जाता था। शवाधान प्रक्रिया में आए इन बदलावों का महत्त्व अस्पष्ट है।

मेहरगढ़ कालखंड-II की तिथि ल. 6000 से 4500 सा.स.पू. मानी गई है, जिसे ए, बी, सी. तीन उपकालखंडों में बांटा गया है। इस कालखंड में बस्तियों का आकार बढ़ने लगा था और कई कच्ची ईंटों की संरचनाएं नजर आती हैं, जिन्हें छोटे कमरों में बांटा गया था। इनमें से कुछ तो घर रहे होंगे, परन्तु कुछ का उपयोग भंडारण के लिए होता होगा। उदाहरण के लिए छोटे कमरों की दो कतारों के बीच की गली में फर्श पर जौ के दाने मिले हैं। इनका उपयोग प्रायः भंडारण के लिए किया गया था। कालखंड-I के पाषाण तथा हड्डियों के औज़ार अभी भी उपयोग में थे। सूक्ष्मपाषाणें को बिटुमिन के सहारे लकड़ी के हत्थे में जोड़कर बनाए गए दो हंसिए प्राप्त हुए हैं। पी.वॉघन द्वारा कालखंड-II ए से प्राप्त पाषाण औज़ारों के माइक्रोवेयर विश्लेषण से पता चलता है कि ज्यादातर औज़ारों का उपयोग पशुओं के मांस काटने, चमड़ा उतारने या उनके हड्डियों के सामान बनाने के उपयोग में आता था। कालखंड-II के आरंभिक काल में हस्तनिर्मित मृद्भांड की अल्पमात्र प्राप्ति हुई है और कालखंड-II सी से चाकनिर्मित मृद्भांड प्रकट हुआ है। कालखंड-II की अन्य प्राप्तियों में हाथी दांत, गेरू के टुकड़े, सिलबट्टा और कच्ची मिट्टी से बना पुरुष-धड़ प्रतिमा आदि हैं। दो कब्रों में संकुचित शवाधान दिखता है, जिसके शरीर पर लाल गेरू का लेप लगा था, परंतु उसके साथ कोई समाधि-सामग्री प्राप्त नहीं हुई है।
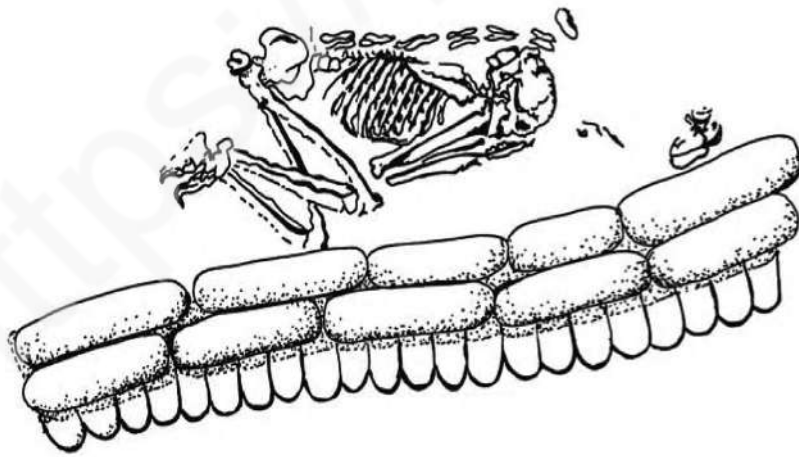
चित्र 3.3: **कब्र के सामानों के रूप में पत्थर के ब्लेड, क्रोड तथा केल्ट, मेहरगढ़, कालखंड-I**

मेहरगढ़-III का काल 5वीं सहस्राब्दि सा.सं.पू. के उत्तरार्ध में था। यहां शिल्प सम्बंधी गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के संकेत प्राप्त होते हैं, जिसमें चाक निर्मित मदृभांडों का बड़े पैमाने पर उत्पादन, चित्रांकन तथा मृद्भांड निर्माण तकनीक में नवाचार एवं सतत् सुधार के लक्षण दिखाई देते हैं। टूटे मृद्भांडों के 6 मीटर मोटे निक्षेप के ऊपरी सतह पर तीन भट्ठियों के अवशेष भी प्रकाश में आए हैं। सेलखड़ी के महीन मनकों से बने हार और पाजेब अक्सर मिलने के कारण यह भी अनुमान लगाया जाता है कि मनका निर्माण एक महत्त्वपूर्ण शिल्प के रूप में विकसित हो चुका था। लाजवर्द, फिरोजा और अगेट जैसे अर्ध-कीमती

पत्थरों के मनके भी बनाए जाते रहे थे। पकी मिट्टी और शंख के मनके भी मिलते हैं। पत्थर में छेद करने वाले सूक्ष्म बर्मों का प्रयोग शंख पर नक्काशी के लिए भी किया जाता था। पकी मिट्टी के कूबड़दार बैल भी कुछ मिले हैं। इसी तरह पकी मिट्टी के बने प्रगलन-पात्र से चिपके तांबे से धातुकर्म के प्रारंभ का संकेत भी प्राप्त होता है।

कालखंड-III में छोटे-छोटे खंडों में बंटे भंडारण क्षेत्र का संकेत भी मिलता है, जैसा कि पूर्ववर्ती चरणों में भी मौजूद था। एक विशाल कब्रिस्तान से 99 लोगों के कब्र के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो शवाधान परंपरा में एक परिवर्तन का सूचक है। सिगार के आकार वाले ईंटों से दीवारों में बने ताखे जो कालखंड-II में दिखते थे, वे अब मौजूद नहीं रहे। कुछ कंकालों के सिर ईंटों पर रखे हुए हैं। एक सामूहिक कब्र भी मिला है, जिसमें दो चाक-निर्मित और चित्रित मृद्भांड प्राप्त हुए हैं। वैसे ज्यादातर कब्रों से मृद्भांड प्राप्त नहीं होते हैं। एक अन्य कब्र में कंकाल के सिर के पास तांबा या कांसे का टुकड़ा मिला है, जो किसी मुहर का टूटा हुआ अंश प्रतीत होता है। सेलखड़ी के महीन मनकों से बने आभूषण अक्सर इन कब्रों से प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ लाजवर्द, फिरोजा, कार्नेलियन, अगेट, टेराकोटा और शंख के आभूषण भी मिलते हैं।

मेहरगढ़ के कालखंड-I से III की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां प्राप्त विशद् प्रमाणों के आधार पर इस क्षेत्र में जीवन-निर्वाह की पद्धति में आखेटक-संग्राहक से पशुपालन और स्थायी कृषि में रूपांतरण के विविध चरणों का प्राचीनतम साक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। पौधों के हजारों नमूने मेहरगढ़ उत्खनन के दौरान प्राप्त हुए हैं। इनमें गुठलियों के अतिरिक्त जले हुए अनाज तथा मिट्टी की ईंटों पर अनाजों के छाप आदि शामिल हैं। इन दिनों जौ सबसे महत्त्वपूर्ण फसल प्रतीत होता है। कालखंड-I में जौ की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रजाति छिलकाजीन छह धारी जौ (Hordeum Vulgare Nudum) था। इसके अतिरिक्त कई अन्य किस्में भी मौजूद थी – जैसे छिलकेदार छह धारी जौ (Hordeum Vulgare Vulgare), वन्य प्रजाति तथा अवन्य छिलकेदार दो धारी जौ (Hordeum vulgare spontaneum एवं Hordeum vulgare distichum) आदि। यह एक तथ्य है कि वन्य, संक्रमणकालीन और अवन्य आदि सभी प्रजातियों के जौ यहां इस स्थल से प्राप्त हुए हैं, जिससे साबित होता है कि बलूचिस्तान वन्य जौ के नैसर्गिक उत्पत्ति क्षेत्र के अंदर था और मेहरगढ़ में जौ अवन्यीकरण (खेती) से जुड़े एक विशाल नाभकीय क्षेत्र का अंग था।

इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण फसल थी गेहूं। कालखंड-I के स्तर से छिलकेदार एन्कॉर्न गेहूं (Triticum monococcum), एम्मर गेहूं (Triticum diococcum) और छिलकाहीन गेहूं (Triticum durum) आदि के दाने प्राप्त हुए हैं। परवर्ती काल में गेहूं के ज्यादातर दानें Triticum Sphaerococcum प्रजाति के पाए गए हैं। मेहरगढ़ गेहूं के नैसर्गिक उत्पत्ति क्षेत्र के अंतर्गत आता है या नहीं, यह अभी भी बहस का विषय बना हुआ है, क्योंकि इस क्षेत्र से जंगली गेहूं का स्पष्ट साक्ष्य अभी तक नहीं मिल पाया है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि मेहरगढ़ के लोगों ने इस अनाज को उगाना शुरू कर दिया था।

बेर और खजूर की गुठलियां भी कालखंड I और II से मिलने लगती हैं। कालखंड-II में जौ और गेहूं के अलावा कपास (Gossypium sp.) के बीज एक अंगीठी के अंदर से प्राप्त हुए हैं। कालखंड-III में पहले से चली आ रही प्रवृत्तियां बनी रहीं एवं साथ ही साथ खेती में कुछ विविधीकरण भी दिखाई देने लगता है। गेहूं की दो नई प्रजातियां (Triticum aestivum compactum एवं Triticum aestivum sphaerococcum) तथा जौ की एक प्रजाति (Hordeum Hexastichum) के साथ-साथ एक नया अनाज जई (Arena sp) की पहचान भी इस चरण से की गई है। गौर से देखा जाए तो अब गेहूं जौ से ज्यादा महत्त्वपूर्ण होने लगा था।

मेहरगढ़ के नवपाषाण और ताम्रपाषाण कालीन लोगों के खेती के तौर तरीकों के विषय में हमारे पास पर्याप्त जानकारी नहीं है। फिर भी ऐसा लगता है कि किसान शरद कालीन वर्षा पर निर्भर करते होंगे और आज तक प्रचलित गबरबंद की तरह की मिट्टी और पत्थर के तटबंध बनाकर पानी को अपने खेतों में ले जाते होंगे। लकड़ी के मूठ में सूक्ष्म पाषाण फलकों को बिटुमिन के सहारे चिपका कर फसल काटने के लिए हंसिए का प्रयोग होता रहा होगा।

नवपाषाणकालीन मेहरगढ़ आखेट से पशुपालक की तरफ संक्रमण का भी स्पष्ट प्रमाण देता है। कालखंड-I के निम्न स्तर से ज्यादातर जंगली जानवरों जैसे हिरण, सांभर, चीतल, गजेला, नीलगाय, बकरी, जंगली गधा, भैंस, मवेशी, सूअर एवं संभवत: हाथी की हड्डियां भी बहुतायत में मिलती हैं। परंतु इसके साथ ही घरेलू बकरियों के साक्ष्य भी मिले हैं। भेड़ों और मवेशियों के शरीर का घटता हुआ आकार यह दिखाता है कि उनके पालतूकरण की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। कालखंड-1 के अंत तक जाते-जाते गजेला एवं अन्य वन्य प्राणियों की हड्डियों की संख्या में भारी गिरावट देखी जा सकती है, जबकि पालतू मवेशियों, बकरियों और भेड़ों की हड्डियों की संख्या में काफी वृद्धि दिखाई देती है। अब मवेशी सबसे महत्त्वपूर्ण पालतू पशु बन चुके थे। कालखंड-III में मवेशी अभी भी वर्चस्व में बने रहे परन्तु भेड़ों और बकरियों की हड्डियों की संख्या में पहले से ज्यादा वृद्धि नजर आती है। रोचक बात यह भी है कि कालखंड-III में जंगली जानवरों की हड्डियों में भी बढ़ोतरी दिखाई देती है, जो एक प्रकार से आखेट में पुन: वृद्धि की तरफ संकेत करता है।

जे.आर. लुकाच के एक अध्ययन (1985) से पता चलता है कि आरंभिक काल के लोगों के दांत में दंतछिद्र की बिमारी बहुत कम थी। हो सकता है कि इस इलाके के पानी में फ्लोराइड की मात्रा अधिक होने के कारण ऐसा हो। दांतों को देखकर लगता है कि अभी भी लोग परिष्कृत खाद्य पदार्थ खा रहे थे। क्योंकि दांत खादेने (दांत दर्द को कम करने के लिए या फंसे हुए खाने के टुकड़े को निकालने के लिए) के प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं। कालखंड-III से लोगों का दंतस्वास्थ्य काफी बिगड़ने लगा था। शायद यह भोजन की बदलती हुई आदतों जैसे प्रसंस्कृत खाद्य पदार्थों के उपयोग के कारण हो रहा था।

मेहरगढ़ कालखंड-IV से प्राप्त साक्ष्यों से बस्तियों के आकार में विस्तार, कृषि एवं शिल्प में विविधीकरण तथा पहले से बेहतर और अधिक अलंकृत मृद्भांड के संकेत प्राप्त होते हैं। कालखंड-IV के मकानों का आकार भी बड़ा होने लगा था, कमरों के बीच की दीवार चौड़ी और दरवाजों में लकड़ी के चौखट लगाए जाने लगे थे। 1.10 मीटर ऊंचा एक दरवाजा (लोग निश्चित ही झुककर घुसते होंगे) एक छोटे से कमरे में खुलता मिला, जिसमें पाषाण शल्क, फलक, सिलबट्टा, मूसल और हड्डियों जैसी काफी जीजें ढूंसी हुई थीं। इस कमरे से बरामद अन्य वस्तुओं में भंडारण पात्र, टूटा हुआ नदिया (बेसिन) जिसके अंदरूनी भाग में सांप और पर्वत श्रेणी का अलंकरण बना था, सुंदर चषक, एवं अन्य सुंदर अलंकरण वाले बर्तन आदि शामिल हैं। कालखंड-IV में बहुरंगी मृद्भांड भी मिलते हैं। स्त्री मृण्मूर्तियों की एक नई शैली पहली बार प्रकट होती है, जिसका बेलनाकार शरीर, दबी हुई नाक और सटे हुए दोनों पांव बनाए गए हैं। कालखंड-IV और V के बीच मृद्भांडों के डिजाइन में समरूपता बनी रही। कालखंड-VI में कुछ परिवर्तन दिखाई देते हैं - जैसे पीपल के पत्तों वाले अलंकरण के साथ एक रक्तवर्णी मृद्भांड और अच्छी तरह से पकाया गया धूसर (ग्रे) मृद्भांड की उपस्थिति मिलती है। इसी समय समरूप मृद्भांड बलूचिस्तान के विभिन्न भागों में प्रकट होने लगते हैं, जिससे बढ़ते हुए आपसी संपर्क का संकेत मिलता है। कालखंड-VI में बर्तन पकाने की एक विशाल भट्ठी भी मिली है। इस काल की एक अन्य विशिष्टता विस्तृत केश सज्जा वाले स्त्री मृण्मूर्तियों की प्राप्ति भी है। इन मृण्मूर्तियों के पांव सटे हुए तथा स्तन बड़े हैं, और लगता है कि यह किसी प्रकार के कर्मकांड से जुड़ी थीं। कच्ची के मैदान में अनेकों पूर्वेक्षण-विहीन विशाल टीले संभवतः मेहरगढ़ के परवर्ती काल का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मेहरगढ़ से बोलन दर्रा होकर एक रास्ता क्वेटा घाटी तक जाता है, जहां कई पुरातात्त्विक स्थल हैं। आजकल इस क्षेत्र के किसान वर्षा की कमी को कुंओं और जलधाराओं से पूरा कर खेतों की सिंचाई करते हैं। किले (या किली) गुल मोहम्मद और दंब सादात इस क्षेत्र के दो सबसे महत्त्वपूर्ण उत्खनित स्थल हैं। किले गुल मोहम्मद क्वेटा शहर से लगभग 3 कि.मी. दूर हन्नाह नदी के किनारे बसा हुआ है। यहां का टीला छोटा है, जो 90 x 55 मी. का है। वाल्टर ए. फेयरसर्विस (1950) ने 3.5 वर्ग मीटर की छोटी सी जगह से 11.14 मी. की गहराई तक खुदाई की थी और प्राकृतिक मिट्टी के स्तर तक पहुंचे थे। इस खुदाई से चार कालखंडों का पता चला कि.गु.मो.-I, II, III और IV। नवपाषाण कालीन कि.गु.मो. कालखंड-I के ऊपरी स्तर से प्राप्त रेडियो कार्बन तिथि 5000-4500 सा.सं.पू. के बीच प्राप्त होता है। परंतु इस बसावट की शुरुआत 5500 सा.सं.पू. तक जा सकती है। इस चरण में मृद्भांड के प्रमाण नहीं मिलते हैं। पालतू मवेशियों, भेड़ों, बकरियों और वनगदहों की हड्डियां प्राप्त हुई हैं। अनाज के अंश नहीं मिले हैं, परंतु हंसिए के दो दांत प्राप्त हुए हैं।

किले गुल मुहम्मद के लोग आरंभिक काल में घुमंतू पशुचारी रहे होंगे, लेकिन कालखंड-I के अंतिम दिनों में भीत के घरों में रहने लगे थे, जो सरकंड़ों में मिट्टी का लेप लगाकर बनाए गए होंगे। यहां से प्राप्त सामग्रियों में सूक्ष्मपाषाण, चर्ट, जैस्पर और चैल्सेडनी के ब्लेड आदि शामिल हैं। कुछ घिसे हुए औज़ार और हड्डियों के नोक प्राप्त हुए हैं। टोकरियों के छाप वाले हस्तनिर्मित मृद्भांड पहली बार कि.गु.मो.-II में प्रकट होते हैं। कि.गु.मो.-III में चाक निर्मित मृद्भांड और 'ब्लैक ऑन रेड वेयर' पर ज्यामितीय अलंकरण आदि की उपस्थिति मिलती है। कच्ची ईंटों के बने घरों के अवशेष भी मिले हैं, जिनमें कुछ घरों की नींव पत्थर से बनी हुई हैं। तांबे की वस्तुओं का आगमन कालखंड-III में देखा जा सकता है।

कि.गु.मो.-IV का सबसे ऊपरी स्तर दंब सादात-I के आरंभिक स्तर से साम्य रखता है और उनके सांस्कृतिक अवशेषों में मोटे तौर पर समानता दिखाई देती है। कि.गु.मो.-IV और दंब सादात-I से एक अलग तरह का मृद्भांड प्राप्त हुआ है, जिसे कच्ची बेग मृद्भांड के नाम से जाना जाता है, क्योंकि पहली बार इस तरह की मिट्टी के बर्तन कच्ची बेग नामक स्थान से ही प्राप्त हुए थे। ये मृद्भांड अच्छी तरह से पके, पतले और हलके पीले रंग से रंगे बर्तन होते थे। इनकी आकृतियां ज्यादातर उथले और गहरे तश्तरियों, कटोरी और जार के रूप में मिलती हैं। इन बर्तनों पर कभी-कभी लाल और ज्यादातर काले रंग से ज्यमितीय डिजाइन कराया गया है।

दंब सादात कालखंड-II की अंशशोधित तिथि ल. 3000 सा.सं.पू. के आसपास पायी गई है। इस कालखंड में कई कमरों वाले कच्ची ईंटों से बने मकान मिलते हैं। कई मकानों की नींव चूनापत्थर के खंडों से बनाई गई है।

आजकल के तंदूरों की तरह ही रसोई के लिए अंगीठी घरों के अंदर पाई गई है। क्वेटा मृद्भांड नामक एक विशेष शैली के बर्तन मिलते हैं – जो हलके पीले रंग के मृद्भांड पर काले रंग से बने डिजाइन की विशिष्टता रखता था। इनकी आकृतियों में लहरदार या सीधे किनारे वाले जार, पायेदार जार, तथा छोटी मुंह वाली ऐसी कटोरियां जिनके मध्यवर्ती हिस्से और आधार के बीच तीखा कोण बना होता था, आदि मिलते हैं। फैज मोहम्मद धूसर भांड नामक एक और मृद्भांड यहां मौजूद था। इस श्रेणी में भी कई प्रकार की आकृतियां जैसे उथली और गहरी तश्तरियां और खुले कटोरे पाए जाते हैं, जिनपर ज्यमितीय और प्राकृतिक डिजाइन बने हुए हैं। टेराकोटा की वस्तुओं में काली धारियों वाले मवेशियों की मृण्मूर्तियां और मेहरगढ़-IV की तरह की स्त्री मृण्मूर्तियां शामिल हैं। इसके अतिरिक्त टेराकोटा के बने घरों के छोटे मॉडल, झुनझुना और मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। तांबे या कांसे से बना खंजर/छुरा, हड्डी का बना छोलनी (स्पैटुला), सिलखड़ी के बर्तन एवं अन्य कई प्रकार की सामग्री दंब सादात कालखंड-II में प्राप्त हुए हैं।

कलात पठार में स्थित अंजीरा और स्याह दंब की खुदाई बिट्रिस ड. कार्डी द्वारा की गई थी। अंजीरा की खुदाई 1948 एवं 1957 में तथा स्याह दंब की खुदाई 1957 में की गई थी। इनमें आवासन के पांच पुरातात्त्विक स्तर पाए गए। सबसे पुराना स्तर किले गुल मोहम्मद-II के समकालीन लगता है। कलात पठार में कालखंड-I अर्ध-घुमन्तु बस्तियों का लगता है, जिसमें किसी भी प्रकार के गृह-संरचना का नामों-निशान नहीं मिलता है। मृद्भांडों में चाक-निर्मित बफ वेयर (पीत मृद्भांड) भी शामिल है, जिस पर लाल रंग से कभी-कभी पुताई की गई है। चर्ट ब्लेड भी पाए गए हैं। कालखंड-II में गोल पत्थर के नींव पर मिट्टी के घर बने हैं। इस काल में लाल पुताई वाले मृद्भांड (रेड स्लिप्ड वेयर) और चमकदार धूसर मृद्भांड (बर्निश्ड ग्रे वेयर) पाए गए हैं। कालखंड-III में घरों की नींव लगभग वर्गाकार पत्थर के टुकड़ों से बनी हुई है। अब पुराने मृद्भांड की जगह टोगाऊ मृद्भांड ने ले लिया था, जिसमें लाल बर्तन के ऊपर काले रंग से डिजाइन बना होता था। मुख्य आकार खुली तश्तरियां और कटोरे हैं, जिन पर जंगली बकरे (आइबैक्स) चिड़ियों, और बकरियों की रूढ़ शैली में चित्र बर्तन के अंदर की तरफ किनारों के ठीक नीचे अंकित हैं। एक और प्रकार का मृद्भांड (जरी मृद्भांड) मिलता है, जिस पर सफेद रंग से चित्र और काले रंग से बाहरी रेखाएं बनाई गई हैं। कालखंड-IV में घरों को बनाने के लिए वर्गाकार पत्थरों को नियमित आकार में छांटा गया है और इसके मृद्भांड नाल मृद्भांड से मिलते-जुलते हैं। कलात के कालखंड-V को दंब सादात-III के समरूप पाया गया है।

मुंडीगाक अरघनदाब नदी के अब सूख चुकी एक धारा के किनारे दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान में स्थित है। जे.एम. कसाल ने 1950 और 1960 के दशकों में यहां विधिवत उत्खनन किया था। कालखंड-I (जिसे कई उपखंडों में बांटा गया है) की तिथि ल. 4000-3500 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित की गई है। आरंभिक बाशिंदे अर्ध-यायावर लगते हैं, क्योंकि आरंभिक काल में कालखंड-I के सबसे निचले स्तर पर कोई संरचनात्मक अवशेष प्राप्त नहीं हुआ है। कालखंड-I के चरण-4 में दबायी हुई मिट्टी से बने दीवार एवं दीर्घ आयताकार लघु कक्ष बनाए गए हैं। चरण-5 में धूप में सुखए ईंटों से अपेक्षाकृत बड़े कमरे आयताकार या वर्गाकार स्वरूप में बनाए जा रहे थे। खाना पकाने की अंगीठी पहले घरों के बाहर बनाई जाती थी, परंतु बाद में इसे घरों के अंदर आंगन में बनाया जाने लगा। कालखंड-I के सभी चरणों में मृद्भांड प्राप्त होते हैं, जो अधिकतर चाक-निर्मित हैं। इसके अतिरिक्त हड्डियों का बना सूआ, सेलखड़ी के बर्तन, पाषाण फलक, लाजवर्द तथा पत्थरों के मनके, आदि भी मिलते हैं। तांबे की कुछ वस्तुएं भी प्राप्त हुई हैं, जिसमें सुई और छोटा सा मुड़ा हुआ छुरा भी शामिल है। कालखंड-I के चरण-3 में कूबड़दार बैल की मृण्मूर्ति मिली है। मुंडीगाक के कालखंड-II से पौधे के अवशेष जैसे डंठलदार गेहूं (कल्ब वीट, Triticum Compactum) और बेर एवं पालतू, मवेशी, भेड़ तथा बकरियों की हड्डियां भी प्राप्त हुई हैं।

बलूचिस्तान के झोब-लोरालाई क्षेत्र में की गई खोजों से गोमल, झोब, अनामबार और थाल नदियों के मैदान में कई आरंभिक गांवों के पुरातात्त्विक स्थलों की पहचान हुई है। सूर जंगल, डाबर कोट और राणा घुंडई अनामबार घाटी में तीन महत्त्वपूर्ण स्थल मौजूद हैं। इन स्थानों पर रहने वाले लोग किसी न किसी प्रकार के सिंचाई का उपयोग अवश्य करते होंगे, नहीं तो यह समझना बहुत मुश्किल होगा कि किस प्रकार यहां जीवन निर्वाह करते होंगे। सूर जंगल का आरंभिक चरण किले गुल मोहम्मद के कालखंड-IV का समकालीन प्रतीत होता है। लोग मिट्टी के छोटे घरों में रहते थे। मवेशियों के विशाल पैमाने पर पाई गई हड्डियां पशुपालन के महत्त्व की तरफ संकेत करती हैं। सूर जंगल के कुछ मृद्भांडों पर कूबड़दार एवं कूबड़हीन मवेशियों के चित्र से अलंकरण दिखाई देता है। टेराकोटा की वस्तुओं में छोटे घरों का मॉडल भी शामिल है। उभरी हुई आंखों वाली स्त्री की मृण्मूर्तियां भी मिली हैं, जो कि झोब घाटी के अन्य समकालीन तथा कुछ परवर्ती स्थलों (जैसे परीऐनो घुंडई, मेहरगढ़-IV और दंब सादात III) से प्राप्त होती हैं। इन मृण्मूर्तियों को 'झोब-मातृदेवी' का तगमा दे दिया गया है और कुछ विद्वानों ने मान लिया है कि इनका कर्मकांडीय महत्त्व अवश्य था।

लोरालाई घाटी में राणा घुंडई की खुदाई 1930 के दशक में ब्रिगेडियर रॉस ने की थी और फिर 1950 में फेयरसर्विस ने फिर से इसकी जांच पड़ताल की। यहां पांच पुरातात्त्विक स्तर चिह्नित किए गए हैं। कालखंड-I की अंशशोधित तिथि ल. 4500-4300 सा.सं.पू. पाई गई है, जबकि कालखंड-II का आरंभिक चरण ल. 3500-3100 सा.सं.पू. के निकट प्रतीत होता है। कालखंड-I में 4 मीटर मोटा निक्षेप मौजूद है और लगता है कि अर्ध-घुमंतू समुदाय के बस्ती का प्रतिनिधित्व करता है। रहने के घरों के फर्श और अंगीठी पाए गए हैं। परंतु संरचनाओं के सुपरिभाषित अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। करीब करीब सारे मृद्भांड हस्तनिर्मित और सादे हैं। पालतू मवेशियों, भेड़ों और बकरियां की हड्डियां प्राप्त हुई हैं। घोड़े या गधे के जबड़े के चार दांत भी मिले हैं। ब्रिगेडियर रॉस जो पशु-चिकित्सक भी थे, का मानना था कि यह घोड़े के दांत थे, परंतु अन्य विद्वानों ने इससे असहमति जताई है। सूक्ष्मपाषाण फलक, अस्थि नोंक, सुई आदि अन्य वस्तुएं भी कालखंड-I में पाई गई हैं। कालखंड-II में प्रतिनिधि-मृद्भांड चाक निर्मित लाल-पीले रंग का था, जिस पर कूबड़दार सांडों और एक मामले में काले हिरण का चित्र अलंकरण के रूप में काले रंग से बनाया गया था। बर्तनों का आकार मुख्यत: कटोरी और चौड़े स्कंध वाला प्याला था, जिसमें छल्लेदार या खोखला पाया बनाया जाता था। कालखंड-III में जाकर अलंकृत मृद्भांड के शैली में कुछ परिवर्तन आया।

गोमल नदी (सिंधु की सहायक नदी) की घाटी में डेरा इस्माइल खान जिले में कई आरंभिक पुरातात्त्विक स्थल हैं। इनमें से गुमला और रहमान ढेरी की खुदाई भी हुई है। गुमला की खुदाई पेशावर विश्वविद्यालय के दल ने 1971 में की थी। यहां छह पुरातात्त्विक स्तर विन्यास चिह्नित किए गए थे, जिनमें से पहले दो यहां हमारी रुचि के हैं। कालखंड-I में बहुत ही छोटी-सी बस्ती दिखती है, जिसका आकार 0.40 हेक्टेयर के करीब था। यहां सूक्ष्मपाषाण पालतू पशुओं की हड्डियां, अंगीठी और विशाल सामुदायिक चूल्हे मिले हैं। कालखंड-I मृद्भांड-हीन काल था, कालखंड-II में मृद्भांड का आगमन हुआ। खुरदरे सतह वाले मृद्भांडों के बाद विकसित और अलंकृत मृद्भांड मिलते हैं, जिन पर ज्यमितिक आकृतियां, मवेशी, मछली आदि का चित्रण मिलता है। स्त्री मृण्मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। सूक्ष्मपाषाणों के अतिरिक्त कुछ तांबे और कांसे की वस्तुएं भी प्राप्त होती हैं। टेराकोटा से बनी वस्तुओं में चूड़ियां, छकड़े का मॉडल, पुतली, स्त्री मृण्मूर्ति, मवेशी की मूर्ति आदि मिलते हैं। गुमला के कुछ मृद्भांडों की समानता मध्य एशिया में तुर्कमिनिस्तान के कुछ स्थलों से पाई गई है।

गुमला और रहमान ढेरी के उत्तर में भी कई स्थल हैं। इनमें से एक है बन्नू घाटी में बसा हुआ शेरी खान तराकाई, जहां आरंभिक स्तर की अंशशोधित तिथि ल. 4500-3000 सा.सं.पू. के आस-पास पाई गई है। कई घरों के अवशेष मिले हैं, जिन्हें पत्थर की नींव पर कच्ची ईंट से बनाया गया था। अन्य वस्तुओं में घिसे हुए सेल्ट, सूक्ष्मपाषाण, चक्की, मूसल, पाषाण छल्ला और अस्थि औज़ार भी शामिल थे। टेरेकोटा से बनी तकली और वृषभ मृण्मूर्ति (कुछ अलंकृत भी) भी पाए गए हैं। यहां जौ की खेती के प्रमाण भी प्राप्त हैं। मवेशी, भेड़, बकरी और भैंस की हड्डियों के अलावा चूर्ण प्रवार और समुद्री सीप के अवशेष भी मिलते हैं। यहां मुख्यत: दो प्रकार के मृद्भांड मिलते हैं। पहला एक अपरिष्कृत किस्म का मृद्भांड है, जिसके ऊपरी सतह पर काले रंग का लेप एवं अंदर की सतह बर्निश्ड गुलाबी या हल्के पीले रंग की है। इसके ऊपर काले रंग से डिजाइन जैसे बकरियों के चित्र बने हुए हैं। दूसरे प्रकार के मृद्भांड के ऊपरी सतह की घिसाई करके खुरदुरा बनाया गया था और कभी कभी गर्दन के पास वाले हिस्से को बिना घिसाई के चिकना छोड़ दिया जाता था।

पाकिस्तान के पंजाब प्रांत के उत्तरी हिस्से में स्थित सराय खोला, जो पोटवार पठार के एक किनारे पर स्थित है, में चौथी सहस्राब्दि सा.सं.पू. के तिथि का नवपाषाण कालीन बस्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस स्थल की खुदाई 1968-71 के दौरान पाक्तिस्तान पुरातत्त्व विभाग ने की थी। यहां कालखंड-I में सादे हस्तनिर्मित लाल अथवा भूरे मृद्भांड मिले हैं, जिनके पेंदे पर चटाई के निशान मौजूद हैं। घिसाई एवं पॉलिश किए सेल्ट, ब्लेड, अन्य सूक्ष्मपाषाण, अस्थिनोक, आदि भी प्राप्त हुए हैं। टेराकोटा से बने खिलौने के छकड़े और पहिए भी प्राप्त हुए हैं।

उत्तरी और दक्षिणी बलूचिस्तान को जोड़ने वाले खोजदार इलाके में स्थित 5 हेक्टेयर में फैले नाल के पुरातात्त्विक स्थल की खुदाई 1925 में हुई थी। यहां बनी कुछ संरचनाओं के निर्माण में नजदीक बहने वाली नदी के गोल पत्थर का उपयोग हुआ है, जबकि कुछ संरचनाओं में पास की पहाड़ियों के काटे गए पत्थरों का उपयोग हुआ है। कई शवाधाानों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जो अधिकतर आंशिक शवाधान (पात्र में हड्डियों को रखकर दफनाना) है, परंतु कुछ जगह पूरा कंकाल रेखांकित अथवा अरेखांकित कब्रों से प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण में एक बच्चे को कच्ची ईंटों से बनाए कक्ष में दफनाया गया था एवं इसके साथ मनके की माला और स्फटिक का लटकन समाधि-सामग्री के रूप में प्राप्त हुए हैं।

नाल का विशिष्ट मृद्भांड बहुरंगी होता था और इसमें विभिन्न प्रकार की आकृतियां प्राप्त हुई हैं, जैसे तश्तरियां, छोटे मुंह वाला लोटा, चोंचदार लोटा, सीधी दीवार वाले जार, कटोरियां, चोंचदार कटोरियां (अंदर की तरफ मुड़ा
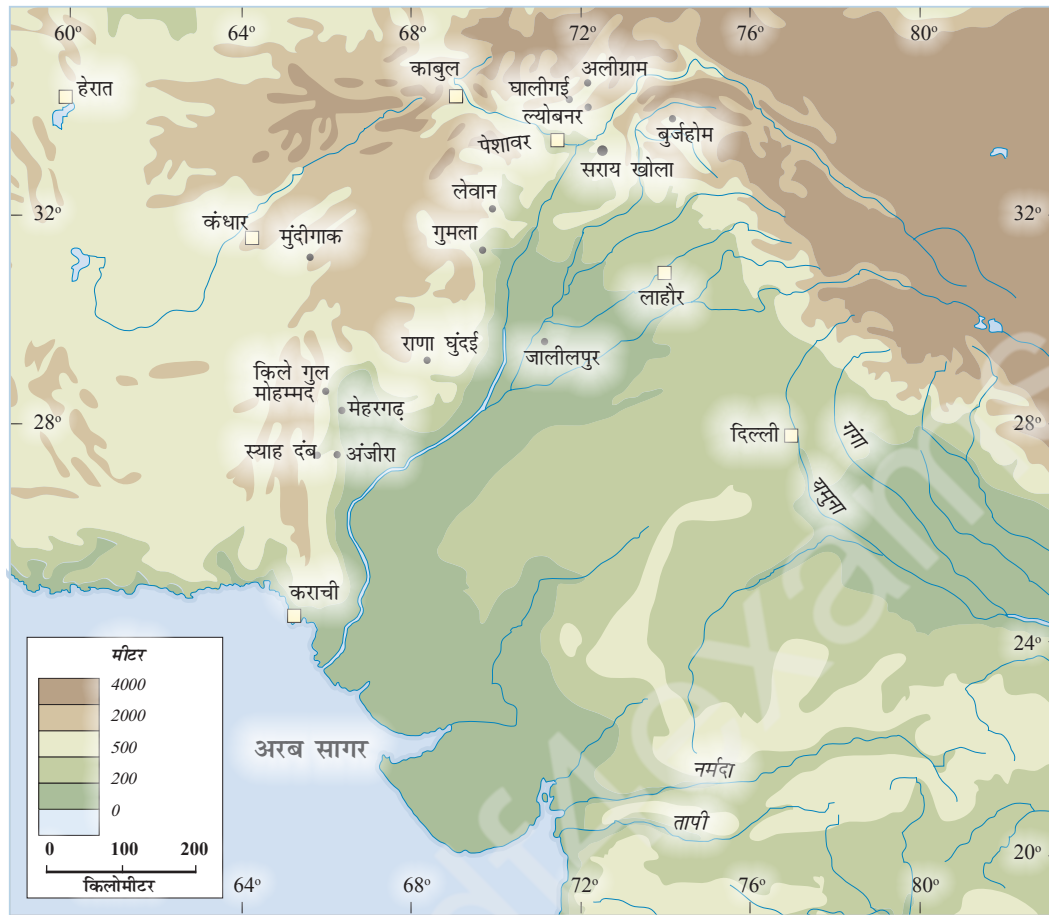
मानचित्र 3.2: **उत्तर-पश्चिम में गांवों की पूर्वकालीन व्यवस्था**

हुआ ऊपरी हिस्सा), सपाट पेंदे और सीधा किनारा वाले मुंह का गोलाकार कनस्तर आदि। ज्यमितिक और प्राकृतिक (जैसे मछली और आइबैक्स) डिजाइन नीले, लाल और पीले रंग के बर्तनों पर बनाए गए हैं। नाल में पाए गए अन्य वस्तुओं में पत्थर के गेंद, चकरी, छल्ला और सिलबट्टा, चांदी का पत्थर, अगेट, स्फटिक, कार्नेलियन, लाजवर्द, आदि के बने मनके एवं मवेशियों की मृण्मूर्तियां शामिल हैं। तांबे की कई वस्तुएं तथा तांबा, निकेल और सीसा के मिश्रधातु की बनी आड़ी भी मिली है। इस स्थल से कोई रेडियो कार्बन तिथि प्राप्त नहीं है, लेकिन नाल मृद्भांड मूलत: दंबसादात I और II एवं सियाह दंब और अंजीर के कालखंड-IV के समकालीन माना जाता है।

नाल से सम्बंधित स्थलों पर दो प्रकार के जल प्रबंधन प्रणाली दिखाई देती है। एक तो पहाड़ी ढलानों पर पत्थर की मेड़ बना कर बारिश में बहने वाली मिट्टी को रोका जाता था और बारिश खत्म होने के बाद उन सीढ़ीदार खेतों पर फसल उगायी जाती थी। दूसरी व्यवस्था यह थी कि निचले गड्ढों में भरे पानी को छोटे बांधों और नहरों के माध्यम से खेतों तक पहुंचाने की कोशिश की जाती थी।

कोलवा के इलाके में 12 हेक्टेयर का एक स्थल कुल्ली है, जिसके सिर्फ ऊपरी स्तर की खुदाई हुई है। यहां पत्थरों से बने कई कमरों वाली संरचनाएं मिली हैं। प्राप्त वस्तुओं में पत्थर की चक्की, घिसाई पत्थर, लाजवर्द, अगेट और कार्नेलियन जैसे अर्ध कीमती पत्थरों के मनके, हड्डियों की बनी चूड़ियां, तांबा, सोना और शीशे की कुछ मात्रा आदि शामिल हैं। कुल्ली के मृद्भांड अत्यधिक अलंकृत हैं। सबसे विशिष्ट प्रतीक चिह्न गोल बड़ी आंखों और लंबा खिंचे शरीर वाला वृषभ है, जिसे प्राकृतिक पृष्ठभूमि के साथ चित्रित किया जाता था। इसी तरह के अवशेष मेही, निआई बुथी, आदम बुथी, निंदोवाड़ी और एडिथ शहर से प्राप्त हुए हैं। आदम बुथी इनमें सबसे पुराना स्थल है, जिसकी तिथि 3500-3000 सा.सं.पू. निर्धारित की गई है।

बालाकोट 2.8 हेक्टेयर का स्थल है, जो मकरान तट पर दक्षिणी बलूचिस्तान में विंडर नदी के मुहाने पर स्थित है। कालखंड-I नवपाषाण बस्तियों का प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी तिथि 5वीं सहस्राब्दि से तीसरी सहस्राब्दि

चित्र 3.4: **नाल मृद्भाण्ड (हारग्रीव्स, 1929)**

सा.सं.पू. के बीच स्थित है। घर कच्ची ईंटों से बने थे। चाक निर्मित कुछ बर्तन नाल से प्राप्त मृद्भांड से मिलते हैं। सूक्ष्मपाषाण कूबड़दार वृषभ मृण्मूर्तियां, लाजवर्द, शंख एवं अन्य पत्थरों के मनके तथा टेराकोटा, शंख, और हड्डियों के बने अन्य वस्तुएं और अल्प मात्रा में तांबा प्राप्त हुआ है। यहां जौ की खेती एवं मवेशियों, भेड़ों और बकरियों के पालतूकरण के साक्ष्य भी प्राप्त हुए हैं। बालाकोट के अतिरिक्त मकरान क्षेत्र में कई अन्य आरंभिक ग्रामीण पुरातात्त्विक स्थल हैं, जिनमें मिरी कलात और शाही तंप महत्त्वपूर्ण हैं।

बहावलपुर के चोलिस्तान मरूभूमि में घग्गर-हाकरा नदी के किनारे कई आरंभिक ग्रामीण बस्तियां हैं। यह नदी सिंधु नदी से पूर्व की तरफ बहती है। यद्यपि अब यह सूख चुकी है, लेकिन बेशक एक जमाने में यह विशाल नदी रही होगी। विशिष्ट हस्तनिर्मित एवं चाकनिर्मित मृद्भांड जो इस क्षेत्र में पाए गए हैं, उनके ऊपरी स्तर पर मृद्भांड के टूटे हुए टुकड़ों को मिट्टी के लेप से चिपकाया गया है। मोटे और महीन बर्तनों पर अनेकों रेखाएं उकेरी गई हैं। चोंचदार और गोलाकार मर्तबानों के बाहरी दीवारों पर काला लेप लगाया गया है। इन मृद्भांडों को हाकरा-मृद्भांड के नाम से जाना जाता है और जिन स्थलों पर ये पाए जाते हैं उन्हें हाकरा-मृद्भांड स्थल कहा जाता है।

इस क्षेत्र में एम.आर. मुगल (1997) द्वारा किए गए शोध कार्यों से पता चलता है कि हाकरा बस्तियां कम से कम चौथी सहस्राब्दि सा.सं.पू. के मध्य तक पीछे जाती हैं। अभी तक 99 से अधिक हाकरा मृद्भांड स्थलों की पहचान की जा चुकी है। यहां 5 हेक्टेयर से भी छोटे स्थलों से लेकर 20-30 हेक्टेयर की बड़ी बस्तियां तक देखी जा सकती हैं। तकरीबन 52 प्रतिशत स्थल शिविर-स्थल लगते हैं, जबकि 45 प्रतिशत थोड़े से स्थायी बस्तियों की तरह प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ शिल्पों के विशेष केंद्र थे। हाकरा मृद्भांड स्थलों पर पाई गई वस्तुओं में सूक्ष्मपाषाण, सिलबट्टा, मवेशी-मृण्मूर्ति, शंख और टेराकोटा की चूड़ियां और तांबे के टुकड़े शामिल हैं। वलवाली नामक जगह से तांबे के टुकड़े और 32 मृण्मूर्तियां, जिनमें कूबड़दार वृषभ भी शामिल हैं, पाए गए हैं।

हाकरा मृद्भांड की प्राप्ति घग्गर-हाकरा घाटी के बाहर भी हुई है। उदाहरण के लिए रावी नदी के बाएं तट पर पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में स्थित जलीलपुर का नाम लिया जा सकता है। इस स्थल के कालखंड-1 में हाकरा-मृद्भांड के साथ कई वस्तुएं जैसे अर्ध-कीमती एवं सामान्य पत्थर, सोना और मूंगा के मनके, चर्ट ब्लेड तथा अस्थि-सुई आदि प्राप्त हुए हैं। मछली मारने के जाल को डुबाने के लिए टेराकोटा का बना मलाही गोली इस बात का संकेत करता है कि मछली मारना यहां के लोगों के जीवन निर्वाह का महत्त्वपूर्ण अंग था। भेड़, बकरियों, मवेशियों और गजेला के अस्थि-अवशेष प्राप्त हुए हैं।

रावी नदी के तट पर हड़प्पा में भी हाकरा मृद्भांड की प्राप्ति ल. 3500/3000 – 2800 सा.सं.पू. के संदर्भ में चिह्नित है (मेडो और केनोयर, 2001)। लकड़ी के खंभों और सरकंडों/भीत की दीवारों से बनी झोपड़ियों वाले एक छोटे से गांव के अवशेष की पहचान हुई है। एक जगह पर कच्ची ईंटों के ढेर मिले हैं, जिसे ईंट-भट्ठी की जगह मानी गई है। परंतु यहां ईंट से बनी कोई संरचना प्राप्त नहीं हुई है। प्राप्त अन्य सामग्रियों में मृद्भांड, पत्थर और हड्डियों के औज़ार, टेराकोटा की तकली, टूटा हुआ गले का हार, सेलखड़ी के मनके, टेराकोटा और शंख की चूड़ियां आदि पाई गयी हैं। सबसे महत्त्वूपर्ण साक्ष्य मृद्भांड के टूटे हुए ठीकरों पर पकाने से पहले दिए जाने वाले चिह्न और पकाने के बाद बनाई गयी आकृतियां हैं जो हड़प्पा-लिपि के उदय के चरण का प्रतिनिधित्व करता है।

हरियाणा के हिसार जिले में कुणाल के कालखंड-I से भी हाकरा मृद्भांड मिले हैं। आरंभिक चरण में यह स्थल बहुत छोटा (1 हेक्टेयर) था। मृद्भांड पर पीपल के पत्ते एवं बहुत ही मुड़े हुए सिंगों वाला वृषभ भी शामिल है। प्राप्त सामग्रियों में हड्डियों के औज़ार, सूक्ष्म पाषाण ब्लेड (चैल्सेडनी से बने), तांबे का मछली मारने वाला कांटा और तीर के नोंक देखे जा सकते हैं। स्तंभ-गर्त के निशान दिखाते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि लकड़ी के खंभों से टिकी भीत से बनी कोई संरचना यहां रही होगी। कुणाल से कोई रेडियो कार्बन तिथि प्राप्त नहीं हुई है।

हाल में उत्खनित एक अन्य स्थल है भीरणा जो हरियाणा के फतेहाबाद जिले में आता है (राव आदि, 2004-5)। इसका कालखंड-I ए हाकरा मृद्भांड संस्कृति से सम्बंधित है। लोग

कम गहराई के गर्त-गृहों में रहते थे, जो मिट्टी से पुते और 34 से 58 से.मी. गहराई एवं 230 से 340 से.मी. व्यास तक के होते थे। निवास के लिए बनाए गए गर्तों के अतिरिक्त, बलि देने, शिल्प कार्य और कूड़ा फेंकने के लिए भी गड्ढे बनाए गए थे। विशिष्ट हाकरा मृद्भांड के अलावा अन्य प्रकार के मृद्भांड जैसे गोटेदार मृद्भांड, खचित मृद्भांड, हल्के भूरे लेप वाले मृद्भांड, काले चमकदार मृद्भांड, हल्के पीले (बफ) मृद्भांड, द्वि वर्णी मृद्भांड, रक्त-श्याम मृद्भांड और रक्तवर्णी मद्भांड भी प्राप्त हुए हैं। यहां कई अन्य वस्तुएं जैसे लाजवर्द, जैस्पर, अगेट, कार्नेलियन आदि के मनके, टेराकोटा के सादी और रंगी चूड़ियां, बलुआ पत्थर और टेराकोटा की बनी गोलियां, कच्ची मिट्टी का बना एक तिकोना टुकड़ा, बलुआ पत्थर की चक्की और मूसल, प्रगलन-पात्र, चर्ट ब्लेड और अस्थि-नोंक आदि भी मिले हैं।

चित्र 3.5: **निन्दोवाड़ी से प्राप्त कुल्ली मृद्भाण्ड (कसाल, 1966)**

विंध्य शृंखला तथा अन्य क्षेत्र

उपरोक्त खंड में उत्तर पश्चिम के प्रारम्भिक गांवों का विस्तृत वर्णन दिया गया है क्योंकि अन्य किसी भी क्षेत्र की अपेक्षा इस क्षेत्र के बारे में हमारे पास प्रर्याप्त अध्ययन और तद्नुरूप प्रतिवेदन उपलब्ध हैं। हालांकि, इसके अतिरिक्त दक्षिण उत्तर प्रदेश में स्थित विंध्यशृंखला के सीमान्त वाले भागों में भी कृषक और पशुपालक समुदायों का आरम्भिक केंद्र रहा है। बेलन, अड़वा, सोन, रिहन्द, गंगा, लापरी तथा पैशुनी नदियों के किनारे भी 40 नवपाषाण पुरास्थलों की शिनाख्त की गई है। कोलडीहवा, महागरा, पचोह और इन्दारी जैसे स्थानों से नवपाषाण स्तर विन्यास का पुरातात्त्विक अध्ययन किया जा चुका है। इस क्षेत्र के नवपाषाण कृषि से जुड़ा एक बड़ा प्रश्न यह बना रहा है कि यहां से पाए जाने वाले प्राय: सभी स्थलों से मिले चावल, यहां की प्राकृतिक उपज है अथवा कृषि के द्वारा ये प्रजातियाँ उगायी गई हैं।

इस क्षेत्र की नवपाषाणीय संस्कृति की दूसरी विशेषता यह है कि इनका उद्भव पूर्ण रूप से स्थापित मध्यपाषाणीय संस्कृति की आधारशिला पर हुआ है। पशुपालन और धान की खेती नवपाषाणीय संस्करण है। हालांकि, चोपनीमाण्डों (बोलन घाटी) से प्राप्त हुए चावल की प्राकृतिक प्रजाति का जिक्र पिछले अध्ययन में किया जा चुका है जो मध्यपाषाणीय पुरातात्त्विक सन्दर्भ से मिले हैं। वर्तमान काल में भी यहां से चावल की जंगली प्रजातियाँ देखने को मिलती हैं। जिससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां का पर्यावरण स्वाभाविक रूप से चावल की उपज के लिए अनुकूल रहा है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में चावल की खेती प्रारम्भिक दौर से ही शुरू की जा सकी।

विंध्य घाटी के उत्तरी हिस्से में बहने वाली बेलन नदी के किनारे इलाहाबाद जिला के कोलडीहवा और महागरा, अध्ययन किए गए दो महत्त्वपूर्ण नवपाषाण केंद्र हैं। कोलडीहवा में नवपाषाण काल से लौहयुग तक के अवशेष प्राप्त हुए हैं। नवपाषाण काल के स्तर से चावल और जली हुई धान की बालियाँ मिलती रही हैं। यहां से यह पता लग चुका है कि यहां के लोग चावल की जंगली तथा कृत्रिम प्रजाति (Oryza Sativa) दोनों से ही परिचित थे। अन्य प्राप्तियों में पाषण फलक/ब्लेड, पालिशदार पाषाण से सूक्ष्मपाषाण (ज्यादातर चर्ट के बने), चक्की, सिलौटी, (कुटाई-पिन के लिए) तथा हड्डियों के औज़ार शामिल हैं। मृद्भांड हस्तनिर्मित हैं। वे तीन प्रकार के हैं - जाल या चटाई के निशान वाले मृद्भांड, सादा रंग के मृद्भांड और लाल एवं काला मृद्भांड। गहरी कटोरियां और बड़ा मर्तबान आदि मुख्य आकृतियां हैं। लाल मृद्भांड के कुछ नमूनों पर कालिख के निशान हैं, जिससे पता चलता है कि इनका उपयोग खाना पकाने के लिए किया जाता था। कोलडीहवा के नवपाषाण काल की तिथि को लेकर अभी भी एक विवाद बना हुआ है। कोलडीहवा के नवपाषाण स्तर की तिथि के सन्दर्भ में प्राप्त अंशशोधित कार्बन -14 तिथियां 7505-7033, 6190-5764, 5432-5051 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित की गई हैं। परंतु अन्य तिथियां बहुत बाद की हैं।

बेलन नदी के किनारे स्थित महागरा, मध्यपाषाणीय पुरास्थल चोपनीमाण्डों से कुछ दूरी पर स्थित एक महत्त्वपूर्ण नवपाषाण स्थल है। यहां बीस झोपड़ियों से सम्बंधित फर्श और खंभा-छिद्र चिह्नित किए गए हैं। मिट्टी के ढेर में सरकंडे और बांस के छाप यह संकेत करते हैं कि झोपड़ियों के दीवार भीत के बनाए गए थे। यहां नव-पाषाण कालीन सूक्ष्मपाषाण, फलक, सेल्ट, चक्की, मूसल और गुलेल की गोली आदि फर्श पर पड़े मिले हैं। इस स्थल से मृद्भांड, हड्डी से बना
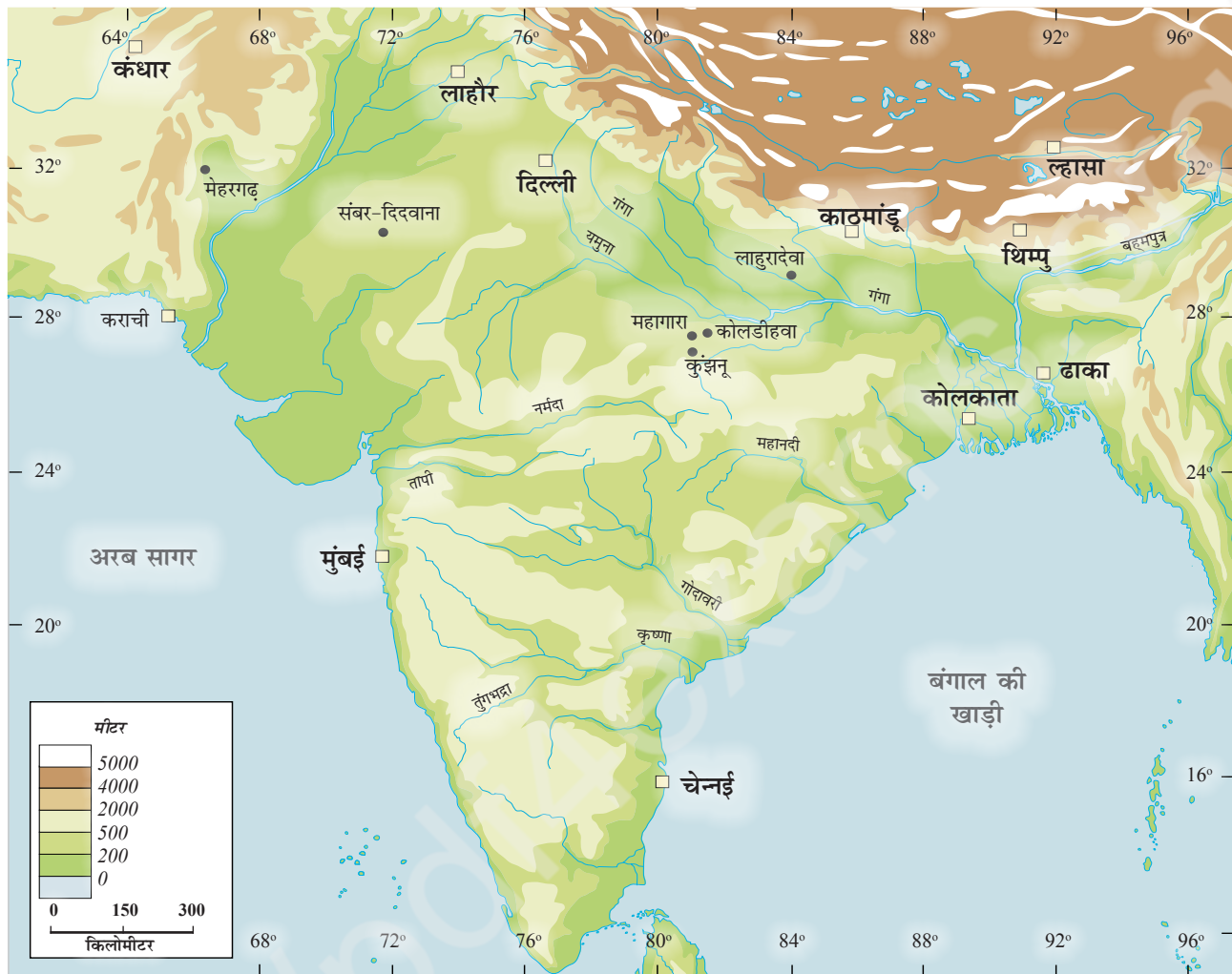
मानचित्र 3.3: **उपमहाद्वीप में कृषि के पूर्वकालीन केन्द्र**

तीर का नोक, टेराकोटा के मनके और पशुओं की हड्डियां भी प्राप्त हुई हैं। यहां से प्राप्त नवपाषाणीय अवशेषों में एक रोचक प्राप्ति गोशाला है। 12.5-7.5 मीटर के आकार वाला यह गोशाला आवासीय क्षेत्र के बिल्कुल बीच में स्थित है, गोशाला के तीन द्वार थे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यहां रखे जाने वाले मवेशियों की संख्या 40-60 थी। भेड़ और बकरियों के निशान गोशाला के बाहर विभिन्न आवासों के द्वार पर देखे जा सकते हैं। पशुओं की हड्डियों में मवेशी, भेड़, बकरी, हिरण, वनघोड़ा और जंगली सूअर के अवशेष मिले हैं, जिनमें पहले तीन पालतू व प्रजाति के हैं। यहां के मृद्भांडों पर धान की बालियों के छाप देखे जा सकते हैं। हड्डियों और वनस्पति अवशेषों से यह संकेत मिलता है कि लोग जंगली जानवरों का शिकार करते थे, जंगली वनस्पति खाद्यों का संग्रह करते थे और साथ ही साथ पौधे उगाते और पशुओं को पालते भी थे।

मध्यप्रदेश के सिद्धि जिला में सोनघाटी के कुनझुन नामक नवपाषाण स्थल, कोलडीहवा से बहुत दूरी पर स्थित नहीं है। यहां की नवपाषाणकालीन बस्ती चौथी सहस्राब्दि सा.सं.पू. तक पीछे जाती है और यहां से जंगली एवं उगाए गए धान के अवशेष प्राप्त हुए हैं। कुनझुन में बड़े स्तर पर पत्थर के औज़ारों का निर्माण किया जाता था। यहां से भी चावल की जंगली और कृत्रिम प्रजातियाँ प्राप्त हुई हैं। कुनझुन में बहुत स्थानों पर पत्थर को गर्म करने की व्यवस्था पाई गई है। जिसके द्वारा उनके फलक बनाने और रंग चढ़ाने में सहायता मिलती थी।

कोलडीहवा तथा आस-पास के पुरास्थलों को संयुक्त रूप से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्य के उत्तरी छोर के हिस्सों में चावल के कृषिकरण का एक स्वतंत्र केंद्र विकसित हुआ था। इस क्षेत्र में विकसित हुए इन केंद्रों

का विस्तार कालान्तर में गंगा के मैदानी इलाकों में होने लगा। हाल में किए गए पूर्वी उत्तर प्रदेश के संत कबीर नगर जिला के लहुरादेव नामक स्थान के उत्खनन (तिवारी एवं अन्य, 2001-02) से ऐसा अनुमान लगाया गया है। इस स्थान पर 220 व 140 मीटर का टीला तीन दिशाओं से एक झील से घिरा हुआ है। यहां नवपाषाण काल से प्रारंभिक शताब्दियों तक पाँच स्तरों का सांस्कृतिक विन्यास देखा जा सकता है। नवपाषाणकालीन कालखंड-I चरण- I ए और I बी में उपविभाजित किया गया है। चरण- I ए में रस्सी की छाप वाले लाल मृद्भांड और लाल-काले मृद्भांड पाए गए हैं। ज्यादातर मिट्टी के बर्तन हस्तनिर्मित हैं, परंतु थोड़े से नमूने चाकनिर्मित बर्तन के भी मिले हैं। मिट्टी के कुछ पके हुए टुकड़ों से लगता है कि लोग भीत के घरों में रहते थे। पौधों के अवशेष में धान तथा कुछ जंगली घासों के अंश प्राप्त हुए हैं। बर्तन के ठीकरों के अंदर धान की भूसी फंसे होने के निशान मिले हैं। यह धान उगाए गए प्रजाति का लगता है। लहुरादेव के चरण I ए की अंशशोधित तिथि 6ठी से 5वी सहस्राब्दि सा.सं.पू. के बीच स्थित की गई है।

उपरोक्त नवपाषाण क्षेत्र के अतिरिक्त, भारतीय उपमहाद्वीप के किसी भी अन्य भूभाग से आखेटक-संग्राहक से कृषि-पशुपालक स्थिति में संक्रमण के प्रमाण स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं हैं। लद्दाख के गियाक नामक स्थान से नवपाषाण प्राप्तियाँ हुई है जिसकी तिथि 4000 वर्ष पूर्व आंकी गई है, किन्तु इसके समीप स्थित कियारी नामक पुरास्थल का काल 1000 सा.सं.पू. से अधिक पुराना नहीं है।

राजस्थान के नमक वाले झीलों, मुख्य रूप से डिडवाना, लुंकरणसार तथा सांभर के पुष्प पराग अध्ययन के आधार पर ल. 7000 सा.सं.पू. के अनाजों के पराग की उपस्थिति की सूचना मिलती है। इस क्षेत्र में काष्ठ कोयला और अनाजों के पुष्प पराग मिलने के कारण जंगल की कटाई के पश्चात् कृषि के शुरू की जाने की सूचना मिलती है किन्तु उस क्षेत्र में उस काल से खाद्य उत्पादन सम्बंधित किसी भी पुरातात्विक स्थल को नहीं ढूंढ़ा जा सका है। यही स्थिति दक्षिण भारत के नीलगीरि पहाड़ियों की भी है जहां 8000 सा.सं.पू. के सन्दर्भ में अनाजों के पुष्प पराग पाए गए हैं। मध्य श्रीलंका के हॉटन मैदानी क्षेत्र में पुष्प पराग अनुसंधान के आधार पर 17,500 वर्ष पूर्व से अनाज की उपस्थिति और झूम खेती के संकेत मिले हैं। 13,000 वर्ष पूर्व से ओट/जई तथा जौ की खेती की सूचना मिलती है।

नवपाषाण, नवपाषाणी-ताम्रपाषाण तथा ताम्रपाषाण समुदाय ल. 3000-2000 सा.सं.पू.

ल. 3000-2000 सा.सं.पू. का काल नए-नए क्षेत्रों में ग्रामीण सभ्यताओं के विस्तार का काल था। यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इन ग्रामीण सभ्यताओं का अस्तित्व हड़प्पा के नगरों के साथ-साथ बना रहा अथवा दूसरे शब्दों में ये सभ्यताएं हड़प्पा के नगरीकरण काल की समकालीन सभ्यताएं थीं। हमारे पास इस काल से जुड़ी उपलब्ध सूचनाएं पिछले किसी भी काल की उपलब्ध सूचनाओं से कहीं अधिक हैं। इस काल से ही विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों की क्षेत्रीय विशिष्टताओं को चिन्हित किया जा सकता है।

उत्तर और उत्तर-पश्चिम क्षेत्र

कश्मीर की घाटी में श्रीनगर के आस-पास तथा बारामूला और अनंतनाग के बीच बहुत सारे नवपाषाण केंद्र पाए गए हैं। इनमें बुर्जहोम, गुफक्राल, हरिपरिगोम, जयदेवीउदर, ओलचीबाग, पामपुर, पंजगोम, सौमबुर, थाजीबोर, बेगगुण्ड, बजटाल, गुरहोम सांगरी तथा दामोदर प्रमुख हैं। प्लीस्टोसीन काल में कश्मीर की घाटी एक विशाल झील थी। झील की तली के इन अवशेषों को करेवा कहते हैं और सभी नवपाषाण केंद्र उनपर स्थित है।

श्रीनगर से 16 कि.मी. उत्तर पूर्व में झेलम नदी के मैदान में स्थित एक करेवा भू-स्थल पर बुर्जहोम अवस्थित है। डल-झील की दूरी यहां से केवल 2 कि. मी. है। कश्मीरी भाषा में बुर्जहोम का अर्थ होता है—'प्लेस ऑफ बर्च' यानी, भूर्जदण्ड का स्थान और यहां से मिले बर्च (भोज) वृक्षों के जले हुए अवशेष (भोज कक्षों का स्थान) से यह ज्ञात होता है कि नवपाषाण काल में यहां ऐसे वृक्ष पाए जाते थे।

नवपाषाण औज़ार, बुर्जहोम

सन् 1935 में डी. टेरा और पेटरसन के द्वारा इस स्थान को खोजा गया, जिन्होंने इसे हड़प्पा सभ्यता के एक हिस्से के रूप में देखा। वर्ष 1960-71 के बीच टी.एन. खजांची के नेतृत्व में भारतीय सर्वेक्षण ने यहां पर उत्खनन कार्य सम्पन्न किया। बुर्जहोम में चार पुरातात्त्विक स्तर विन्यास की प्राप्ति हुई जिनमें से प्रथम दो नवपाषाण और तीसरा महापाषाण (मेगालिथिक) काल से सम्बंधित था। चौथा स्तर प्रारंभिक ऐतिहासिक काल का प्राप्त हुआ है। बुर्जहोम-I की रेडियोकार्बन तिथि ल. 2920 सा.सं.पू. से पहले की आँकी गयी है।

बुर्जहोम-I की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यहां से प्राप्त गड्ढों में बनाया गया आवास है। सामान्यत: सभी आवासीय गड्ढों का आकार गोलाकार है जिनका ऊपरी भाग संकीर्ण और निचला भाग उत्तरोत्तर चौड़ा होता जाता है। बड़े आवासीय गड्ढ़े का आकार 3.96 मीटर गहरा तथा ऊपरी हिस्से में 2.74 मीटर व्यास तथा निचले हिस्से में 4.57 मीटर व्यास के आकार का है। इन गड्ढ़े वाले घरों को ऊपर से शायद चीड़ तथा बर्च की लकड़ियों से ढका जाता था। कुछ आवासीय गड्ढों में थोड़ी गहराई तक जाने के लिए सीढ़ियां भी बनी हुई थीं। इन आवासों के अतिरिक्त कुछ बड़े आकार वाले अथवा आयताकार बने गड्ढे भी प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक गड्ढा 6.4 x 7 मीटर और 1 मी. गहरा है। कुछ गड्ढ़ों के अंदर पत्थर और मिट्टी के चूल्हे भी मिले हैं। रोचक तथ्य यह है कि ऐसे वर्गाकार या आयताकार गड्ढ़े उन बस्तियों के बिल्कुल बीच में पाए जाते हैं, जबकि गोलाकार आवासीय गड्ढ़े, बस्तियों की बाहरी परिधि में पाए गए हैं। आवासीय गड्ढों के आस-पास ही भण्डारण के उद्देश्य से भी कुछ गड्ढ़े बनाए गए थे जिनका व्यास

नए खोज की दिशा

क्या बुर्जहोम के लोग गड्ढों में रहते थे?

कश्मीर के बुर्जहोम तथा गुफकराल तथा स्वात घाटी के लोबनर-3 तथा कलाको-दीरे में नवपाषाण स्तर से आवासीय क्षेत्र में बनाए गए गड्ढों की प्राप्ति हुई है। इनके विषय में सामान्य रूप से यह बताया जाता है कि नवपाषाण काल के लोग जाड़े के दिनों में इन गड्ढों में निवास करते थे। इन गड्ढों में उपस्थित सीढ़ियों, राख, चारकोल तथा मिट्टी के बर्तनों के टूटे ठिकरों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हुए यह बतलाया जाता रहा है कि इन गड्ढों में लोग निवास करते थे। कश्मीर के दु:सह सर्दियों से बचने के लिए नवपाषाण काल के लोग इन आवासीय गड्ढों का प्रयोग करते थे। जबकि गर्मी के दिनों में वे गड्ढों से बाहर भूमि की सतह पर निवास करने लगते थे।

हाल के दिनों में इस व्यवस्था की आलोचना आर.ए.सा.सं. कॉनिंघम तथा टी.एल. सदरलैण्ड जैसे विद्वानों ने ब्रिटेन के लौहयुगीन स्थलों से प्राप्त ऐसे गड्ढों के विश्लेषण के आधार पर की है। ब्रिटेन के लौहयुगीन गड्ढों के विषय में भी उनके आवासीय प्रकृति के सिद्धांत को स्वीकार किया जाता था, किन्तु बाद में कुछ विद्वानों ने इस सिद्धांत को खारिज कर दिया। पी.जे. रेनान्ड्स ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह दिखलाने का प्रयास किया कि जैसे ही उक्त गड्ढों में आग जलायी जाती है, वैसे ही उनका वातावरण सघन धुँए से भर जाता है।

यह भी तर्क दिया गया कि इन गड्ढों में अग्नि प्रज्जवलन का उद्देश्य अनिवार्य रूप से भोजन पकाने के लिए अथवा स्थान को गर्म रखने के लिए नहीं हो सकता। इसके और भी उद्देश्य हो सकते हैं यथा अग्नि को सुरक्षित रखना, व्याप्त नमी को कम करना या मिट्टी के लेप को सुखाना। इससे भी अधिक यदि इन गड्ढों की प्रकृति आवासीय होती जहां हमेशा आग का प्रयोग होता रहता, तब निश्चित रूप से उनकी दीवारों पर धुँए के काले निशान बन जाते। इस व्याख्या के विकल्प में विद्वानों ने यह विश्लेषण किया कि ब्रिटेन के लौहयुगीन गड्ढों का उपयोग भूमि के नीचे अनाजों के भण्डारण के लिए किया जाता होगा।

कॉनिंघम तथा सदरलैण्ड ने कश्मीर-स्वात के गड्ढों के विषय में भी पुनर्विचार करने का आग्रह किया है। उनका तर्क है कि बुर्जहोम में लोग सालों भर नहीं रहा करते थे। इस जगह में लोग केवल ग्रीष्म तथा बसन्त ऋतु में निवास करते थे तथा जाड़े में इस स्थान को छोड़ देते थे। फसल कट जाने के बाद अधिशेष अनाजों को इन भूमिगत गड्ढों में सील करके रख दिया जाता था। जाड़े के मौसम में लोग इस स्थान को छोड़कर निचली घाटियों और मैदानों में चले जाते थे। अगले बसन्त तक इन गड्ढों में रखा गया अनाज सुरक्षित रहता था।

हालांकि, अभी भी अधिकांश विद्वान इन गड्ढों के आवासीय प्रकृति के होने के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। किन्तु उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर ऐसा लगता है कि इन गड्ढों से जुड़े कुछ प्रमाणों की वैकल्पिक व्यवस्था भी की जा सकती है।

स्रोत: कॉनिंघम तथा सदरलैण्ड, 1997

60–91 से.मी. होता था। कुछ आवासीय गड्ढों के बाहर पत्थर के चूल्हों की उपस्थिति यह बतलाती है कि शायद गर्मी के दिनों में कुछ लोग खुले मैदानों में भी निवास करते थे।

यहां प्राप्त मृद्भाण्ड हाथ से बनाए जाते थे। इन पर पड़ा चटाई का निशान यह इंगित करता है कि उनको चटाई अथवा गलीचों के ऊपर बनाया जाता था। पाषाण औज़ारों में अंडाकार और दीर्घायताकार पाषाण हस्तकुठार (कुछ चोंचदार और पालिशदार भी) छेनी, आड़ी, घिसाई पत्थर, छल्ला और गदा-शीर्ष आदि शामिल हैं। आयताकार पत्थर के गंडासे या चाकू भी मिले हैं, जिनके भोथरे तरफ दो या ज्यादा छेद बनाए गए थे। ये संभवत: किसी किस्म का फसल काटने वाला औज़ार हो सकता है। बुर्जहोम से एक विकसित अस्थि-औज़ार उद्योग भी प्राप्त हुआ है। कई औज़ार जैसे नोंक, बर्छी, सूई (आंख और बिना आंख वाले), सूआ (प्राय: पशुओं के चमड़े की सिलाई के लिए), माले की नोंक, छुरा, छीलना आदि प्राप्त हुए हैं। बरसिंहा के सींग से भी औज़ार बनाए जाते थे। कालखंड-I से किसी कब्र की प्राप्ति नहीं हुई है, जिससे लगता है कि लोग शवाधान के लिए किसी अन्य विधि का उपयोग करते होंगे।

बुर्जहोम-II काल में लोग गड्ढों से बाहर निकलकर खुले मैदानों में आवास बनाने लगे। कुछ गड्ढों को करेवा की मिट्टी का लेप लगा दिया गया तथा उसके ऊपर लाल और गेरूए रंग का मिट्टी का लेप लगा दिया गया। नए बने आवासों की यह जमीन बन गयी। इस काल में शवों को दफनाया जाने लगा। शवों को अधिकतर आवास के भीतर या आवासीय परिसर में ही दफनाया जाता था। शवों को दफनाने के साथ-साथ द्वितीयक शवाधान की भी परम्परा थी, जिसमें अंडाकार कब्रों में हड्डियों को लाल रंग से रंगकर रखा जाता था। प्राथमिक शवाधानों में सामान्यत: शवों को लेटाकर ही दफनाया जाता था। इस काल के दफनाए गए शवों में केवल कुछ के गले में मनके की उपस्थिति देखी जा सकती है। शवों के साथ कोई भी सामान नहीं दफनाया जाता था। बुर्जहोम-2 काल कम से कम ल. 1700 सा.सं.पू. तक देखा जा सकता है।

नवपाषाण बुर्जहोम काल-2 की दूसरी विशेषता यह भी देखी गई कि कई बार शवों के साथ जंगली तथा पालतू जानवरों को भी दफनाया गया था। इन पशुओं में हिरण, भेड़िया, जंगली बकरा, नीलगाय, बर्फ का चीता और सूअर के अलावा कई पालतू पशु जैसे मवेशी, भैंस, कुत्ता, भेड़ और बकरियां शामिल हैं। पालतू कुत्तों को भी उनके मालिकों के शवों के
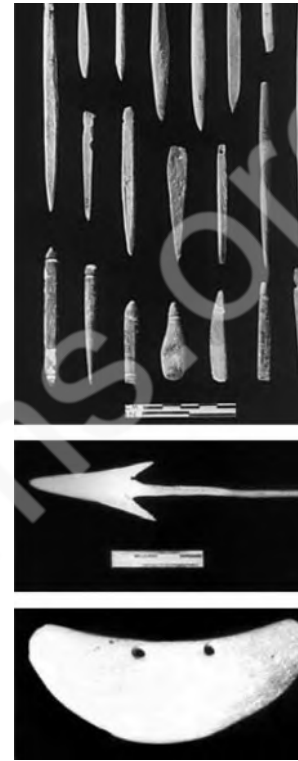
बुर्जहोम: हड्डी के औज़ार: छिद्र वाली सूई; हड्डी का तीराग्र; छिद्रयुक्त लुनेरा (हार्वेस्टर) (ऊपर से नीचे)

चित्र 3.6: **बुर्जहोम मृद्भाण्ड**

बुर्जहोमः लंबी गर्दन वाला पॉलिशदार ग्लोब्युलर जार

साथ दफनाया गया। जानवरों को दफनाने की व्यवस्था भी आवासीय क्षेत्र के भीतर ही की गई थी। एक कब्र में पाँच कुत्तों को मृगश्रृंग के साथ दफनाया गया था।

कालखंड-II के मृद्भाण्ड भी अधिकांशतः हस्तनिर्मित थे। इस काल में एक नई आकार वाला काला, चमकीला मृद्भाण्ड बनाया जाने लगा जो एक प्रकार से डीलक्स श्रेणी का मृद्भाण्ड था। मृद्भांड की आकृतियों में खोखला स्टैंड वाली तश्तरी, गोलाकार घड़े, जार, टीपनुमा बड़ा मर्तबान और छिद्रमय जार आदि देखे जा सकते हैं। काले चमकदार रंग के एक विशिष्ट शैली का पात्र भी पाया गया है, जिसकी गर्दन लंबी और किनारे लहरदार हैं, नीचे का भाग गोलाकर और गर्दन के निचले भाग पर रेखाएं उकेरी गयी हैं। इस काल में पत्थर और हड्डी दोनों के ही औज़ार उपयोग में बने रहे, जैसा कि कालखंड-I में देखा जा सकता है। परंतु इनकी संख्या पहले से बढ़ गई थी और निर्माण गुणवत्ता भी बेहतर हो गई थी। पत्थर के औज़ारों में हंसिया भी शामिल था। कालखंड-II के अंत में तांबे का तीराग्र भी मिला है। बुर्जहोम नवपाषाण औज़ारों का माइक्रोवेयर विश्लेषण (पंत 1979) दिखाता है कि औज़ारों को दोबारा आकार देकर घिसाई की गई है। कुछ हस्तकुठारों का उपयोग लकड़ी काटने और छीलने के लिए हुआ था, जबकि कुछ का उपयोग मांस काटने के लिए। पंत का अध्ययन यह भी दिखाता है कि पत्थर के छल्लों का उपयोग गदा-शीर्ष के रूप में किया जाता था।

बुर्जहोम कालखंड-II से पत्थर के दो शिलाओं पर उत्कीर्ण चित्रांकन प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक चित्र स्पष्ट नहीं है। परंतु आकृतियों से बोध होता है कि यह एक नुकीले छप्पर वाले झोपड़ी का चित्र है, जिसके दाहिने भाग में कोई पशु है, जिसकी सिर्फ पूंछ साफ तौर पर देखी जा सकती है। दूसरा उत्कीर्णन बिल्कुल स्पष्ट है। इसका आकार 48 x 27 से.मी. है, जो पत्थर के टुकड़े पर बना है। इसमें आखेट का दृश्य अंकित है। आखेट के दृश्य में विशाल श्रृंग वाले एक हिरण को शिकारी (शायद महिला) द्वारा पीछे से लम्बे भाले से मारा जा रहा है तथा दूसरा शिकारी सामने से तीर चला रहा है।

बुर्जहोम के नवपाषाण लोग मुख्य रूप से आखेट और मछली पकड़कर अपनी जीविका चलाते थे। यह पशुओं की हड्डियों, शिकार के दृश्य के चित्रण और भाले, तीर, बर्छी जैसे हथियारों की ऊंची प्रतिशत दर से भी स्पष्ट होता है। आरंभ में कृषि के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध थे और महज हंसिया, चक्की, छुरा, गदा-शीर्ष और जंगली पौधों के बीज की प्राप्ति को कृषि का अप्रत्यक्ष प्रमाण माना जा रहा था। हालांकि, हाल में, कालखंड-I तथा II के विभिन्न स्तरविन्यासों से प्राप्त वानस्पतिक अवशेषों के विश्लेषण में कृषिकृत गेहूं, यव (जौ), तथा सिरदल (लेंस कुलिनारस) के प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं।

कश्मीर का नवपाषाण काल पत्थर और हड्डी के विशेष औज़ारों, आवासीय गड्ढ़ों, फसल काटने के पत्थर के यंत्र और जानवरों के लिए पृथक कब्र के आधार पर जाना जाता है। इनमें से बहुत सी विशेषताएं मध्य एशिया और चीन की नवपाषाण परम्पराओं से मेल खाती हैं। काल-2 से चाक पर बना हुआ एक लाल घड़ा पाया गया है। जिनमें अगेट और कार्नेलियन के 950 मनके मिले हैं। इसी काल से पाए गए एक गोलाकार घड़े पर सींग वाले देवता का चित्र अंकित है जो कोटदिजि के 'प्रारंभिक हड़प्पा' चरण में लोकप्रिय था। इससे बुर्जहोम के नवपाषाण लोगों का सिन्धु क्षेत्र से सम्पर्क सिद्ध होता है।

श्रीनगर से 41 कि.मी. दक्षिण पूर्व के तराल के निकट गुफक्राल नाम का नवपाषाण केंद्र स्थित है। यहां पर नवपाषाण काल से ऐतिहासिक काल तक सभ्यता के सतत् प्रमाण मिले हैं गुफक्राल-I को पुनः गड्ढों के आकार I ए, I बी और I सी तीन उपकालखंडों में बांटा गया है। कालखंड-I बी से प्राप्त अंशशोधित रेडियाकार्बन तिथि ल. 2468-2139 सा.सं.पू. आंकी गई है। अतः उपकालखंड-I ए, ल. 3000 सा.सं.पू. से पहले का रहा होगा। उपकालखंड-I ए में बुर्जहोम के प्रकार के आवासीय गड्ढों की प्राप्ति हुई है। कालखंड-I में आवासीय गड्ढ़े बनाए गए थे, गोलाकार या अण्डाकार, जो आधार के हिस्से में चौड़े तथा ऊपरी हिस्से में संकरे होते थे, जिनकी परिधि 3.80 मी. से ऊपरी हिस्से में औसतन 1.50 मी. तक देखी गई है। बड़े आवासीय गड्ढ़े, जो प्रारंभिक चरण के रहे होंगे, वे मात्र 20 से 30 से.मी. गहरे थे। गड्ढों के चारों तरफ बने स्तंभ-छिद्र और अंगीठियों से उन स्थानों का संकेत मिल जाता है, जहां फूस और सरकंडे की संरचनाओं को खड़ा रखने के लिए लकड़ी के खंभे लगाए गए थे। घरों की आधार-भूमि पर प्रायः मिट्टी से लिपाई की गई थी ताकि पानी और बर्फ के प्रवेश को रोका जा सके।
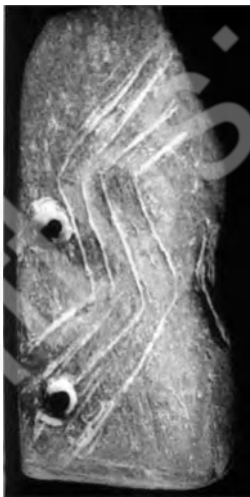
गुफक्रालः पत्थर का अलंकृत लुनेरा (हार्वेस्टर)

कालखंड-I ए के पूर्ववर्ती आवास गर्त्तों में फर्श पर लाल गेरू के लेप से प्लास्टर किया गया था। कुछ गर्त्तों को बाद में बड़ा बनाया गया और कुछ ऐसे भी आवास गर्त्त थे, जिनमें दो कक्ष मौजूद थे। आवासीय गड्ढों के इर्द-गिर्द भण्डार गड्ढ़े और चूल्हे भी देखे जा सकते हैं। इन आवासों की जमीन को मिट्टी का इनके ऊपर लाल और गेरूए रंग का लेप भी लगाया जाता था। प्रारंभिक चरण I ए में गोलाकार चूल्हे बनते थे किन्तु काल-1 ए के अन्तिम दौर में आयताकार चूल्हे बनाए जाने लगे। अब आवासीय गड्ढों के भीतर चूल्हे नहीं देखे जा सकते हैं।

गुफक्राल में उपकालखंड-I ए मृत्तिका कला विहीन प्रतीत होता है। पॉलिश किए पत्थर के औज़ार मिले हैं तथा एक पत्थर की चक्की भी, जिसके बीच के गहरे भाग में गैरिक रंग का लेप लगा है। हड्डियों और सींग के बने औज़ार मिले हैं। इनमें तीराग्र और छिद्र वाली सुई भी शामिल है। हड्डी के औज़ारों के अग्र भाग को आग में गर्म कर मजबूती प्रदान की गई है। अन्य हस्त-शिल्पों में सेलखड़ी के मनके तथा टेराकोटा की गोली का टूटा टुकड़ा भी मिला है। भेड़, बकरी, मवेशी, हिमालयन आइबेक्स (एक प्रकार की जंगली बकरी), भेड़िया तथा भालू जैसे जंगली जानवरों के हड्डी मिले हैं। पालतू भेड़-बकरियों की कुछ हड्डियां मिली हैं। गुफक्राल में लोग मुख्य रूप से आखेट पर आश्रित थे, लेकिन कुछ पशुओं को पालतू बनाने की शुरुआत भी हो चुकी थी। वनस्पति के अवशेषों में यव (जौ), गेंहू तथा दाल प्राप्त हुए हैं।

गुफक्राल के उपकालखंड-I बी में पहली बार मृद्भांड देखे गए हैं। ये हस्त-निर्मित हैं और अधिकांशत: धूसर रंग के हैं (कुछ लाल रंग के घड़े भी मिले हैं), जिनके आधार पर दरी की छाप से डिजाइन बने हुए हैं। प्रचलित मृद्भांड आकृतियों में विशाल मर्तबान, कटोरियां और छोटी नदिया आदि प्रमुख रहे हैं। आवासीय गड्ढ़े अब लुप्त हो चुके थे। उत्खनन क्षेत्र में 5-7 से.मी. मोटाई वाला मिट्टी में चूना मिला हुआ एक फर्श भी मिला है। मिट्टी और रोड़ी की एक दीवार तथा 70 से.मी. की मजबूत दीवारनुमा संरचना भी मिली है। पॉलिशदार पत्थर के औज़ार एवं हड्डियों के बने औज़ारों का प्रचलन बना रहा।

उपकालखंड-I बी में लाल हिरण, आइबेक्स, भालू, भेड़, बकरी, मवेशी तथा पक्षियों की हड्डियां मिली हैं। इनमें से कई हड्डियों पर गहरे कटे का निशान भी पाया गया है। भेड़ियों की हड्डियों में कमी और कुत्तों की हड्डियों में बढ़ोत्तरी देखी जा सकती है। पशुओं की हड्डियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि आखेट का महत्त्व बना रहा, लेकिन भेड़, बकरी और मवेशियों को पालतू बनाने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। I-ए के अनाज, I-बी में भी प्रचलित रहे, जिसमें सामान्य मटर (पाइमस अरवेंस) का समावेश हुआ। बड़े पैमाने पर चारकोल और जली लकड़ियां किसी व्यापक अग्निकांड की ओर इशारा करती हैं। I बी की रेडियोकार्बन तिथि निर्धारण से 2468-2139 सा.सं.पू. की अवधि प्राप्त होती है।

गुफक्राल I सी की तिथि ल. 1620-1300 सा.सं.पू. आंकी गई है। अत: इस कालखंड की शुरुआत ल. 2000 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित की जा सकती है। इस चरण में कूड़ा जमा करने के कई गड्ढे और ढेर देखे जा सकते हैं। चाक निर्मित मृद्भांड अब प्रकट हुए, जिनमें धूसर, चमकीले धूसर, श्यामवर्णी और रक्तवर्णी मृद्भांड भी शामिल हैं। कुछ नई आकृतियों का भी आगमन हुआ, जैसे लंबी गर्दन वाला मर्तबान, स्टैंड वाली तश्तरी जिसके नीचे आधार पर जालीदार डिजाइन बने होते थे, आदि। पत्थर की चक्की, मुग्दर और दो छेदों वाला इंसिया की प्राप्त हुए हैं। पत्थर और टेराकोटा की बनी बड़े छेदों वाली तकली के मिलने से यह अनुमान लगाया जाता है कि ऊनी कपड़ों की बुनाई शुरू हो गई थी। टेराकोटा की चूड़ियों और मृद्भांडों के टूटे हुए टुकड़ों पर आकृति-चिह्न मिलते हैं। तांबे का हेयरपिन (जूड़ा कील) भी मिला है, जिसका एक सिरा गोल मुड़ा हुआ था। इस काल में सबसे बड़ी संख्या में हड्डियों के औज़ार मिले हैं। पशुओं की हड्डियों में पालतू भेड़, बकरी, मवेशी, सूअर और कुत्तों के अवशेष शामिल हैं। इसके अतिरिक्त मछली, खरगोश, चूहे, साही और उदबिलाव की हड्डियां भी मिली हैं। चरण-1बी के सभी अनाज इस चरण में भी जारी रहे। आखेट का महत्त्व कम होने लगा था और उसी अनुपात में पशुपालन बढ़ने लगा था।

कश्मीर की नवपाषाण संस्कृति की तुलना उत्तरी पाकिस्तान की स्वात घाटी की समकालीन संस्कृति से की जा सकती है। यहां के घलीगई गुफा की तिथि ल. 3000 सा.सं.पू. आंकी गई है। यहां सबसे निम्न स्तर पर हस्तनिर्मित अपरिष्कृत मृद्भांड मिले हैं। कुछ बर्तनों पर एक प्रकार का लेप चढ़ा था और कुछ का अंदरूनी भाग चमकदार था। बट्टिकाश्म और अस्थि-नोंक भी प्राप्त हुए हैं। हालांकि, बुर्जहोम कालखंड-I के मृद्भांड से इनकी समानता है, परंतु घलीगई गुफाओं में पालिशदार पाषाण औज़ारों का अभाव देखा जा सकता है।

स्वात घाटी के प्रमुख नवपाषाण स्थलों को वहां पाए जाने वाले कब्रों के आधार पर चिन्हित किया गया है। इनमें लोएबन्र, अलीग्राम, बीरकोट घुण्डई, खेरारी, लालबटाई, तीमारगढ़, बालमबाट, कलाकोडेरे और जरीफ करूणा मुख्य हैं। ये स्थल विविध प्रकार के शव दफनाए जाने की प्रथा के कारण प्रसिद्ध हैं, जैसे संकुचित शवाधान, आंशिक शवाधान, पात्र-शवाधान, बहुल-शवाधान एवं दाह-संस्कार आदि। लोएबन्र-III और अलीग्राम ने गेंहू और जौ का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। लोएबन्र-III से धान, दाल, मटर और अंगूर का एक बीज भी प्राप्त हुआ है। लोएबन्र-III और कलाको-डेरे से गर्त्त-गृहों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनमें से कुछ के ऊपर लकड़ी और

फूस का ढांचा एवं छत भी बने हुए थे। कुछ स्थलों से प्राप्त हुए जेड के मनकों से यह पता चलता है कि इस सभ्यता के लोगों का सम्बंध मध्य एशिया के लोगों से रहा होगा।

हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में रोर, बरोली और देहरा-गोपीपुर से नवपाषाण-कालीन हस्तकुठार, छेनी और पत्थर के छल्ले बरामद हुए हैं। ये सभी शल्क-औज़ारों और खंडक-गंडासों के साथ-साथ मिले हैं, परंतु इन स्थलों की तिथियां अभी भी अनिश्चित हैं।

राजस्थान

राजस्थान, मालवा और उत्तरी दक्कन के क्षेत्र में स्थायी जीवन शैली की शुरुआत नवपाषाण के स्थान पर ताम्रपाषाण संस्कृति से जुड़ी हुई है। पूर्व के अध्याय में पूर्वी राजस्थान के बागोर की चर्चा की जा चुकी है जहां से आखेटक-संग्राहक मध्यपाषाणीय काल से सीधे ताम्रपाषाण सभ्यता और फिर लौहयुग में हुए संक्रमण के प्रमाण मिले थे। दरअसल, स्थायी ताम्रपाषाण सभ्यता ताम्र अयस्क से परिपूर्ण क्षेत्रों में ही विकसित हुई। भारत में ताम्र अयस्क राजस्थान, गुजरात और बिहार आदि कई प्रदेशों में मिलता है, परंतु सबसे समृद्ध तांबे की खानें राजस्थान में ही हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के कुछ हिस्सों में तांबे का प्रयोग 3000 सा.सं.पू. से ही शुरू हो गया था।

इस अध्याय और अगले अध्यायों में वर्णित आद्य ऐतिहासिक संस्कृतियों का नामकरण उस स्थान के नाम के आधार पर हुआ जहां यह संस्कृतियां पहली बार पहचानी गईं। कई बार पुरातात्त्विक संस्कृतियों को वहां की लोकप्रिय मृद्‌भाण्ड परम्परा के नाम से भी जाना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि वहां केवल उसी प्रकार की मृद्‌भाण्ड परम्परा देखी जा सकती है। पुरातात्त्विक संस्कृतियों को उस क्षेत्र विशेष के नाम से भी जाना जाता है, जिस क्षेत्र में उस संस्कृति से जुड़े पुरातात्त्विक स्थलों का केन्द्रीकरण हो। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उस क्षेत्र विशेष से बाहर उस संस्कृति के स्थल नहीं हैं। उदाहरण के लिए मालवा-संस्कृति के स्थल मालवा से बाहर महाराष्ट्र में भी मिलते हैं। इसी प्रकार आहार-संस्कृति के कुछ स्थल मालवा में, अपने नाभिकीय क्षेत्र के बाहर दक्षिण-पूर्व राजस्थान के इलाके में मिलते हैं। ये सभी पुरातात्त्विक
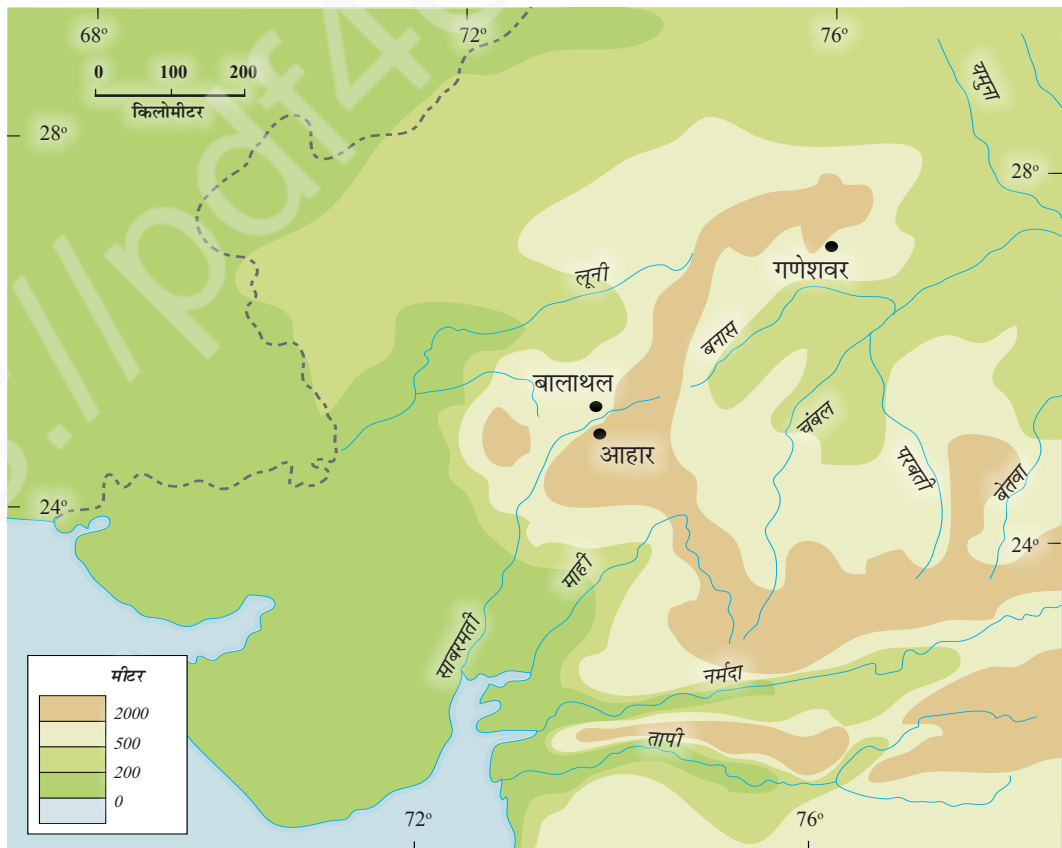
मानचित्र 3.4: **राजस्थान के तीन प्रमुख ताम्र-पाषाण युगीन स्थल**

संस्कृतियां हैं, जिनसे कई प्रकार के भौतिक अवशेष जुड़े हुए होते हैं। परंतु भौतिक संस्कृतियों के अतिरिक्त उनमें और क्या साझा था, यह व्याख्या का प्रश्न बन जाता है।

गणेश्वर-जोधपुरा संस्कृति, राजस्थान के उत्तर पूर्वी हिस्से में केन्द्रित है। इस संस्कृति से जुड़े 80 से अधिक स्थलों की खोज हो चुकी है। सर्वाधिक स्थल सिकर जिले में अवस्थित हैं लेकिन जयपुर और झुनझुनु जिलों में भी बहुत से स्थल स्थित हैं। इस संस्कृति का क्षेत्रीय केंद्रीकरण ताम्र अयस्क से जुड़े बालेश्वर और खेतड़ी जैसे स्थानों से जुड़ा हुआ है। जहां पर प्राचीन काल से ताम्बे का प्रयोग होता रहा है। इस प्रकार राजस्थान के दक्षिण पूर्वी हिस्से में विकसित हुई आहार संस्कृति इस क्षेत्र के धात्विक विकास की प्रक्रिया से महत्त्वपूर्ण रूप से जुड़ी हुई थी, जिसकी जड़ें चौथी सहस्राब्दि सा.सं.पू. तक पीछे जाती हैं।

जोधपुरा, साहिबी नदी के किनारे स्थित है जहां से पहली बार गणेश्वर-जोधपुरा संस्कृति के प्रमाण मिले। यहां विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्ड बनाए जाते थे। जिनका रंग नारंगी और लाल हुआ करता था तथा विभिन्न प्रकार के डिजाइन उत्कीर्ण होते थे। आकृतियों में पाएदार-तश्तरी विशिष्ट है, जिसके ऊपर मोटा लेप लगा रहता था। जोधपुरा से प्राप्त अंशशोधित तिथियां 3309-2709 सा.सं.पू. से 2879-2348 सा.सं.पू. के बीच की है।

बाद में जोधपुरा से मिलते जुलते मृद्भाण्ड नीम-का-थाना के निकट गणेश्वर से प्राप्त हुए। गणेश्वर से तीन सांस्कृतिक चरण रेखांकित किए गए हैं। कालखंड-I 3800 सा.सं.पू. से, कालखंड-II 2800 सा.सं.पू. से और कालखंड-III 2000 सा.सं.पू. से शुरू होता है। कालखंड-I आखेटक-संग्राहक समुदायों से जुड़ा हुआ है, जब चर्ट और क्वार्ट्ज के सूक्ष्म औज़ार बनाए जाते थे। जली हुई हड्डियां, जो प्रायः सभी की सभी जंगली पशुओं की थीं, भी पाई गई हैं। कालखंड-I के निचले स्तर में छोटे जानवरों के हड्डियों की अधिकता पाई गई है, जबकि ऊपरी स्तरों में बड़े जानवरों की हड्डियां अधिक हैं। कालखंड-II से इस क्षेत्र में धात्विक प्रयोग की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। तांबे की कुछ वस्तुएं भी मिली हैं, जिनमें पांच तीराग्र, तीन मछली मारने के कांटे, एक भालाग्र और एक सूआ है। इस काल में लोग गोलाकार झोपड़ियों में रहते थे, तथा जिनके जमीन पर कंकड़ और पत्थर के छोटे टुकड़े बिछे होते थे। यहां बहुत सारे सूक्ष्म-पाषाण और पशुओं की हड्डियां पाई गई हैं। हस्तनिर्मित और चाकनिर्मित दोनों प्रकार के मृद्भांड मिले हैं। गणेश्वर-जोधपुरा मृद्भांड का व्यापक प्रसार दिखाता है, जो कम पका हुआ अबरख मिश्रित मिट्टी से बना होता था। इसके ऊपर चमकीला लाल लेप चढ़ा होता था। अच्छी तरह गुंथे और पकाए गए मृद्भांड भी मिले हैं। कालखंड-III से मृद्भाण्डों की विविधता बढ़ी और सैंकड़ों की संख्या में ताम्बे की वस्तुएं प्राप्त होने लगीं। इनमें तीराग्र, भालाग्र, छेनी, छल्ला, चूड़ियां, गोलियां आदि अधिक प्रमुखता रखते हैं। इसी अनुपात में सूक्ष्मपाषाण और पशु-अस्थियों में ह्रास भी दिखाई देता है।

किन्तु आश्चर्य की बात यह है, कि गणेश्वर-जोधपुरा के परिप्रेक्ष्य में ताम्बे को गलाने से जुड़े कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिले हैं, किन्तु गणेश्वर जैसे 1.2-1.6 हेक्टेयर आकार वाले छोटे से केंद्र में सैंकड़ों की संख्या में मिली ताम्र वस्तुओं के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय तक यह ताम्र वस्तुओं के निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बन चुका था और जहां से ताम्बे की वस्तुओं को दूसरे क्षेत्र में रह रहे समुदायों को निर्यात भी किया जाता रहा था। गणेश्वर के कालखंड-II से प्राप्त चाक पर बने मृद्भाण्ड प्रारंभिक हड़प्पा कालीन मृद्भाण्डों से मिलते-जुलते हैं। संभवतः प्रारंभिक और परिपक्व हड़प्पाई सभ्यता के लोग गणेश्वर से तांबा प्राप्त कर रहे थे। हड़प्पाई मृद्भांड दो गणेश्वर संस्कृति स्थलों से प्राप्त हो चुके हैं। गणेश्वर से प्राप्त रिजवर्ड स्लिप मृद्भाण्ड इसके अलावा केवल हड़प्पा सभ्यता के बनावली तथा कुछ अन्य स्थानों में देखे जा सकते हैं। कुछ अन्य प्रकार के मृद्भाण्ड भी गणेश्वर में मिले हैं जो हड़प्पा सभ्यता की विशेषता रही है। गणेश्वर का दोहरे-छल्ले वाला पिन कुछ हड़प्पाई स्थलों से भी मिल चुका है। यह सब इस बात की तरफ संकेत करते हैं कि गणेश्वर और हड़प्पाई संस्कृतियों के बीच संपर्क था।

राजस्थान के दक्षिण पूर्वी हिस्से में उदयपुर और जयपुर के बीच बनास और बेड़च नदी घाटी में आहार या बनास संस्कृति के 90 स्थलों को रेखांकित किया गया है। जबकि इस संस्कृति के कुछ स्थल मध्य प्रदेश के मालवा के पठार में भी मिले हैं। आहार, गिलुन्द तथा बालाथल इन तीन स्थानों का विधिवत् उत्खनन किया जा चुका है। आहार का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण 1953-54 तथा 1961-62 में, गिलुन्द का 1959-60 तथा बालाथाल का 1994-98 के बीच किया गया। आहार संस्कृति की विशेषता कृष्ण तथा रक्तिभ मृद्भाण्ड हैं जिनपर रेखीय और सफेद बून्दों वाले डिजाइन बने हुए हैं। आहार संस्कृति के स्थल अधिकांशतः नदियों के किनारे पर मिले हैं जिनका आकार 10 हेक्टेयर के आस-पास था। हालांकि, आहार स्वयं कम से कम 11 हे. और गिलुंद 10.5 हे. का था, इस संस्कृति के अधिकांश स्थल 8-17 कि.मी. के बीच अवस्थित हैं।

आहार, उदयपुर से बाहरी हिस्से में अवस्थित है। आहार-I जो पुनः I-ए, I-बी तथा I-सी में बांटा गया है जिनकी अंशशोधित तिथियाँ क्रमशः ल. 2500 सा.सं.पू., ल. 2100 सा.सं.पू. तथा 1900 सा.सं.पू. तय की गई है। केवल कालखंड-I से निर्माण प्रक्रिया की 15 चरणों को रेखांकित किया गया है। यहां के मिट्टी के बने हुए

मानचित्र 3.5: **आहार संस्कृति के स्थल, राजस्थान**

मकानों का आधार पत्थरों से बनाया जाता था। दीवारों को मजबूती देने के लिए, बांस की बनी जालियों अथवा क्वार्ट्ज के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता था। अनुमान है कि इन घरों के छत ढलाव वाले होते थे। फर्श पर काली मिट्टी के साथ नदियों से लाए गए पीले तलछट्टों को मिलाया जाता था। कई बार नदियों से लाए गए कंकड़ों को भी बिछाया जाता था। वैसे तो कोई भी घर पूरा का पूरा प्राप्त नहीं हुआ, लेकिन यहां से प्राप्त एक मकान की लम्बाई 10.31 मीटर बतलाई गई है। बहुमुखी चूल्हों का प्रयोग यहां देखा जा सकता है। ताम्बे की अंगूठी, चूड़ियां, चाकू और कुल्हाड़ी इत्यादि मिले हैं। स्थानीय रूप से ताम्बे को गलाने की प्रक्रिया के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। पैर से चलाए जाने वाली चक्की, लाजवर्द सहित कई अर्ध-कीमती पत्थरों के मनके और सूत कातने के लिए चरखे भी पाए गए हैं। चावल के दानों के अतिरिक्त गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हिरण, मछली, कछुआ और मुर्गे की हड्डियां यहां पाई गई हैं। आहार के कालखंड-1बी में लोहे का छल्ला और कील प्राप्त हुआ है। कालखंड-1 सी में तो लोहे की वस्तुएं जैसे तीराग्र, छेनी, कील और साकेट काफी सामान्य रूप से मिलने लगते हैं। हालांकि, जिन स्तरों से ये पाए गए हैं, वे अक्षुण्ण थे या अस्तव्यस्त, यह विवाद का विषय बना हुआ है। इस बात की काफी संभावना है कि यह भारतीय उपमहाद्वीप में लोहे का प्राचीनतम साक्ष्य हो। आहार-1 बी से लोहे का उपयोग किया जाने लगा।

गिलुन्द से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रियाँ भी आहार से बिल्कुल मिलती-जुलती हैं। संरचनात्मक अवशेषों में कच्ची ईंट की बनी एक संरचना भी थी, जिसका माप 30.48 x 24.28 मीटर था। यह पकी ईंट की एक दीवार का अंग थी, जिसकी नींव पत्थर के टुकड़ों पर रखी गई थी। भंडारण-गर्त भी पाए गए हैं। प्राप्त वस्तुओं में सूक्ष्म पाषाण तांबे के टुकड़े और अर्ध-कीमती पत्थरों के मनके आदि शामिल हैं। टेराकोटा के बने खिलौने और पशुओं की मूर्तियां भी पाई गई हैं, जिनमें कूबड़दार और लंबे सींगों वाला वृषभ भी है।

बालाथल, उदयपुर जिले में ही आहार संस्कृति का दूसरा महत्त्वपूर्ण केंद्र है। बस्ती का प्रथम चरण (कालखंड-I) यहां हमारे लिए सार्थक है। इस स्थल का आकार 2 हे. के करीब था। कालखंड- I के आरंभिक चरण में भीत के बने छोटे-छोटे घरों का अस्तित्व दिखता है, जिनके फर्श को मिट्टी से लीपा गया था। इसी प्रकार मिट्टी से लिपे भंडारण गर्त भी मिले हैं। यहां के परवर्ती काल से एक विशाल मिट्टी की दीवार द्वारा की गई घेरेबन्दी का प्रमाण मिला है, जो पुरातात्त्विक टीले के बिल्कुल मध्य में अवस्थित था। इस सुरक्षा दीवार को जगह-जगह पर पत्थरों के द्वारा मजबूती दी गई थी, जो बुर्ज बनाए जाने का स्पष्ट प्रमाण है। 4.80 मीटर से 5 मीटर के बीच मोटाई वाली इस दीवार से लगभग 500 वर्गमीटर के क्षेत्र को घेरा गया था। 2-4.8 मीटर चौड़ाई वाले उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पूरब दिशा में जाने वाली एक सड़क का भी प्रमाण मिला है। इस काल के दूसरे चरण में अपेक्षाकृत बड़े वर्गाकार योजना वाले मकानों का निर्माण होने लगा था जो मिट्टी, ईंटों व पत्थरों के द्वारा प्रस्तरीय आधारशिला पर बनाए गए थे। ऐसे बहु-कक्षों वाले तीन विशाल भवनों को रेखांकित किया जा सकता है जिनमें रसोई घर और भण्डार कक्ष के अतिरिक्त दो कुम्हार के भट्ठी को भी चिन्हित किया गया है।

बालाथल से कई शैलियों के मृद्भांड प्राप्त हुए हैं। इसमें पतला-सा लाल मृद्भांड, हलका काला मृद्भांड, लाल-काला मृद्भांड, हलका पीला मृद्भांड आदि शामिल हैं। इसके अतिरिक्त एक 'रिजर्व स्लिप वेयर' भी मिला है, जिसमें बर्तन को पहले पतले लाल रंग से रंगा गया है, फिर ऊपर गहरे लाल रंग का लेप चढ़ाया गया है। उसके ऊपर कंघे जैसे किसी उपकरण से लेप के गीला रहते ही डिजाइन बनाया गया है। मोटे अपरिष्कृत मृदभंडों में रेड स्लिप वेयर (लाल लेप मृद्भांड), लाल मृद्भांड, चमकीला धूसर मृद्भांड और ब्लेड भी पाए गए हैं। तांबे की ढेर सारी वस्तुएं भी प्राप्त हुई हैं - गंडासा, चाकू, उस्तरा, छेनी, कांटेदार और नोंकदार तीराग्र आदि भी मिले हैं। हड्डियों के बने औज़ार जैसे नोंक और घिसना, पत्थर की चक्की, सिलबट्टा और हथौड़ा शीर्ष, टेराकोटा की गोली, वृषभ और मेष की मृण्मूर्ति आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं। आभूषणों में टेराकोटा, सेलखड़ी, फेयंस एवं अर्धकीमती पत्थरों जैसे अगेट, कार्नेलियन और जैस्पर के बने गले का हार सबसे प्रमुख हैं। तांबे, टेराकोटा और शंख की चूड़ियां भी मौजूद हैं।

बालाथल से बड़े पैमाने पर पशुओं की हड्डियां प्राप्त हुई हैं, जिनमें गौर, नीलगाय, चौसिंघा, काला हिरण, मुर्गा, मयूर, कछुआ, मछली और घोंघा आदि शामिल हैं। यहां से प्राप्त हड्डियों के अवशेषों का 5 प्रतिशत जंगली जानवरों का है, जबकि इनमें से 73 प्रतिशत हड्डियाँ मवेशियों की हैं। पाले गए पशुओं में मवेशी के अतिरिक्त भैंस, भेड़, बकरी और सुअर मुख्य थे। गेहूँ, जौ, बाजरे की दो प्रजातियाँ, चना, मूंग, मटर के अतिरिक्त बेर के भी प्रमाण मिले हैं। अनाजों को पत्थर के बने जातों में पीसा जाता था और तवों पर रोटियाँ पकाई जाती थी। चूल्हों का आकार अंग्रेजी अक्षर के यू से मिलता जुलता था जैसा कि आज भी यहां के गांवों में देखा जा सकता है। अंशशोधित (चौथी सहस्राब्दि सा.सं.पू. के अंतिम चरण में) तिथि निर्धारण के आधार पर, इस सभ्यता को कोटदिजि के पूर्व हड़प्पा कालीन सभ्यता अथवा उत्तर-पूर्वी राजस्थान की गणेश्वर-जोधपुरा संस्कृति के समकालीन कहा जा सकता है।

आहार संस्कृति के केंद्रों में स्टीटाइट (शैलखटी), सीप, अगेट, जैस्पर, कार्नेलियन, लापीस लाजुली, ताम्बा और काँसा से बनी बहुत सी सामग्रियों का उपयोग होता था। शंख से बने समान स्थानीय रूप से बनाए गए थे। किन्तु इनकी प्राप्ति निकटतम गुजरात के तटीय क्षेत्र से की जाती होगी। यहां प्राप्त कार्नेलियन तथा लाजव्रत के मनके, तथा इसके अतिरिक्त आहार-I सी से प्राप्त रंगपुर-प्रकार के चमकीले रक्तिम मृद्भाण्डों की प्राप्ति के आधार पर इनका सम्बंध गुजरात के हड़प्पा कालीन केंद्रों के साथ सिद्ध होता है।

मालवा क्षेत्र

मध्य भारत के विभिन्न भागों में पत्थर के पुराकुठार पाए गए हैं, जो नवपाषाणकालीन संदर्भ से सम्बंधित हो सकते है। परंतु इन साक्ष्यों का ठीक से अध्ययन नहीं किया गया है। मालवा क्षेत्र में ताम्रपाषाण युगीन कृषि-संस्कृतियों के समृद्ध प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमें कायथा संस्कृति, तत्पश्चात आहार संस्कृति और उसके बाद मालवा संस्कृति इस क्षेत्र में पुष्टित-पल्लवित हुई। कायथा संस्कृति की अंशशोधित रेडियोकार्बन तिथि तीसरी सहस्राब्दि के उत्तरार्द्ध में निश्चित की गई है। इसका नामकरण उज्जैन जिले के कायथा नामक स्थान के नाम पर किया गया है जो चम्बल नदी की सहायिका नदी कालीसिन्ध की एक सहप्रवाहिका छोटी काली सिन्ध के किनारे अवस्थित है।

कायथा संस्कृति के स्थलों पर तीन तरह के मृद्भांड मिलते हैं। कायथा संस्कृति, अपने चाक पर बने मजबूत और उत्कृष्ट मृद्भाण्डों से अपनी पहचान रखती है। इनके भूरे लेप पर, बर्तनों के केवल ऊपरी हिस्से में बैंगनी या गहरे लाल रंग के रेखीय डिजाइन पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक अपेक्षाकृत कम मोटाई वाले मृद्भाण्ड भी देखे जा सकते हैं। जिनपर लाल रंग से ज्यामितीय डिजाइन बनाए गए थे। इस कोटी में अधिकांश प्राप्ति लोटा तथा जार जैसे कुछ बर्तनों की हुई है। तीसरी कोटि में लहरदार रेखाओं के डिजाइन बने हैं जिन्हें कंघी के आकार वाले किसी सामग्री से अंकित किया गया होगा। कायथा में किया गया पुरातात्त्विक उत्खनन कार्य यहां की संस्कृति पर सीमित प्रकाश डालने में ही सक्षम है। पालतू मवेशियों तथा घोड़ों की हड्डियाँ पाई गई हैं।

चूंकि कायथा का उत्खनन सिमित स्तर का था इसलिए पूरे मकान की योजना सामने नहीं आ सकी। अनुमान लगाया जाता है, कि ये मिट्टी से बने फूस के घरों में रहते थे। पालतू मवेशियों और घोड़ों की हड्डियां यहां से प्राप्त हुई हैं और ऐसा लगता है कि यहां के लोग कछुआ खाते थे। यहां अनाज के अवशेष नहीं पाए गए हैं, बल्कि ताम्रपात्रों की तथा अन्य ताम्बे की बनी सामग्रियों की प्राप्तियाँ आकर्षक हैं। पाषाण औज़ारों में सूक्ष्मपाषाण (ब्लेड, नोंक, अर्धचंद्र) मिले हैं, जो स्थानीय रूप से उपलब्ध चैल्सेडनी से बनाए गए थे। गदा-शीर्ष या पत्थर के छल्ले का उपयोग कृषि यंत्र की तरह खेत की मिट्टी पलटने के लिए किया जाता था। कायथा संस्कृति के लोग ताम्र तकनीक में दक्ष थे। तांबे की दो ढलवा कुल्हाड़ियां, छेनी का टूटा हिस्सा और तांबे की 28 चूड़ियां दो घड़ों से प्राप्त हुए हैं। अन्य दो घड़ों से 175 मनकों वाले अगेट का हार और 160 मनको वाले कार्नेलियन का हार पाया गया है। एक घड़े से 40,000 स्टीटाइट के सूक्ष्म मनकों की धागे में पिरोई हुई माला भी पायी गयी है। ताम्बे की बनी उपरोक्त सभी सामग्रियाँ बिल्कुल आस-पास पाई गयी हैं जो शायद कोई मकान रहा होगा। ऐसा लगता है कि यहां रहने वाले लोगों ने किसी आकस्मिक परिस्थिति में अपने सामानों को छोड़कर पलायन कर दिया था।

कायथा की संस्कृति स्टीटाइट के सूक्ष्म मनको और मृद्भाण्डों के आधार पर पूर्व हड़प्पाकालीन सभ्यता से साक्ष्य रखती है। कायथा में पाई गई ताम्बे की कुल्हाड़ियां गणेश्वर से प्राप्त नमूनों जैसा ही खचित निशान प्रदर्शित करती है, जिससे लगता है कि इन्हें शायद गणेश्वर में बनाया गया था। इन सबसे आपसी संपर्क का आभास होता है, परंतु इसका ठीक-ठीक चरित्र क्या था, यह कहना मुश्किल है। लगभग 1800 सा.सं.पू. कायथा के लोगों ने इस स्थान को अचानक छोड़ दिया। लगभग 100 वर्ष बाद यहां पर दूसरी संस्कृति विकसित हुई जो आहार या बनास संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

पश्चिमी दक्कन

पश्चिमी दक्कन की प्राचीनतम कृषक संस्कृति तापी घाटी में स्थित सवालदा के नाम पर सवालदा संस्कृति के रूप में जानी जाती है। इस संस्कृति की शुरुआत तीसरी सहस्त्राब्दि सा.सं.पू. में हुई थी, तथा इस संस्कृति का विकास तापी और उत्तर महाराष्ट्र के गोदावरी नदियों के बीच हुआ था। सवालदा संस्कृति की पहचान चाक पर बने चॉकलेट रंग के मृद्भाण्डों से की जाती है। ये मृद्भांड बनावट में मोटे हैं और इन पर गहरा लेप चढ़ा रहता है। मृद्भांड की आकृतियों में ऊंची गर्दन वाला मर्तबान, तश्तरी, पायदान सहित तश्तरी, कटोरी, नदिया, छल्ला, खूंटी, बड़ा मर्तबान, कुंडीदार ढक्कन, बीकर आदि देखे जा सकते हैं। सवालदा मृद्भांड की एक विशिष्टता मोटे लेप के ऊपर बनाए गए चित्र हैं, जिसमें इन मृद्भाण्डों पर हथियार, औज़ार एवं अन्य ज्यामितिय प्रतीकों का चित्रण देखा जा सकता है।

काओथे 20 हेक्टेयर के आकार वाला सवालदा संस्कृति का दूसरा केंद्र है। 50 से.मी. मोटे निक्षेप वाली इस सभ्यता के लोगों का यह एक अल्पकालिक निवास क्षेत्र माना जाता है। घरों का आकार अंडाकार या गोलाकार होता था, जिस पर ढलवीं छत बनी होती थी। हड्डियों से बने औज़ारों के अतिरिक्त हड्डी, शंख, ओपल, कार्नेलियन और टेराकोटा के आकर्षक मनके पाए गए हैं। जंगली हिरण एवं पालतू मवेशी, भैंस, भेड़/बकरी और कुत्तों की हड्डियां चिह्नित की गई हैं। उगाए जाने वाले पौधों में बाजरे की कई प्रजातियों के अतिरिक्त चने और मूंग के अवशेष मिले हैं। यहां से प्राप्त मृद्भाण्डों पर ज्यामितिय तथा प्राकृतिक प्रतीकों के डिजाइन बनाए गए हैं।

महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में, गोदावरी की एक सहायिका प्रवर नदी के किनारे दाइमावाद अवस्थित है जहां से सवालदा संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहां पर पाए गए मिट्टी के बहुकक्षीय मकानों, चूल्हों, भण्डारण के लिए बने गड्ढे तथा जार जैसे पात्रों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक स्थायी निवास का क्षेत्र था। यहां मिले घरों में कई के सामने आंगनों के अवशेष मिले हैं। उत्खनन के दौरान सूक्ष्म पाषाण, हड्डियों और पत्थरों से बनी वस्तुएं; शंख, कार्नेलियन, सेलखड़ी और टेराकोटा के कुछ मनके आदि प्राप्त हुए हैं। यहां के एक घर से अगेट पत्थर की बनी हुई लिंग आकार की वस्तु मिली है। यहां से गेहूँ, दाल, चना इत्यादि के अवशेष पाए गए हैं।

मध्य गंगा मैदान और पूर्वी भारत

पिछले खंड में विंध्यश्रृंखला के उत्तरी हिस्से के कोलडीहवा, महासागर, कुनझुन के अतिरिक्त मध्य गंगा मैदान के लहुरादेव नामक स्थानों से खाद्य-उत्पादक संस्कृतियों की चर्चा की गई है। इसके बाद के काल में उत्तरी-पूर्वी उत्तर प्रदेश की सरयू पार मैदानी क्षेत्र से संस्कृति के अवशेष मिले हैं। यह मध्य गंगा मैदान का हिस्सा है जो दक्षिण और पश्चिम में घाघरा नदी तथा पूर्व में गंडक नदी के बीच में हिमाचल की तराई तक फैला हुआ है। इस संस्कृति का एक प्रमुख केंद्र गोरखपुर जिले के बसगांव प्रमण्डल में स्थित सोहगौरा है। यह राप्ती और आमी नदियों के संगम पर बसा था। यहां से प्राप्त पुरातात्त्विक टीले का आकार 60 हेक्टेयर है। वर्ष 1960 और 1970 के दशकों में किए गए उत्खनन के आधार पर सोहगौरा में नवपाषाण काल से मध्ययुग तक लगभग 6 सांस्कृतिक स्तरों को चिन्हित किया गया है। कालखंड-1 के अवशेषों में कम पके हुए हस्तनिर्मित, अपरिष्कृत और मध्यम से मोटी बनावट वाले मृद्भांड पाए गए हैं, जिनमें से ज्यादातर टुकड़ों के ऊपर रस्सी के निशान देखे जा सकते हैं।

उत्तरी बिहार के मैदानी क्षेत्र में नवपाषाण तथा नवपाषाण-ताम्रपाषाण काल के कई स्थल हैं, जिनमें पाँच केंद्रों, चिरांद, सेनुआर, छेछर-कुतुबपुर, मनेर तथा ताराडीह का उत्खनन किया गया है। इन सभी में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर लगता है कि तीसरी-दूसरी सहस्राब्दि सा.सं.पू. बिहार के गंगा के मैदानी हिस्से में पूर्ण विकसित कृषि पर आश्रित गांवों का विकास हो चुका था। चिरांद (सारण जिले) से प्राप्त नवपाषाण काल के मृद्भाण्डों की विविधता काफी आकर्षक है। यहां के मृद्भाण्डों को लाल तथा गेरूए रंगों से रंगा गया था, जिनके चमकीले बाहरी हिस्सों पर रेखीय और ज्यामितिय डिजाइन बनाए जाते थे। चिरांद (सारण जिले में) एक विशाल पुरातात्त्विक टीला है। प्राय: एक किलोमीटर लंबा, जो सरयू और गंगा नदियों के संगम पर अवस्थित है। 3.5 मीटर मुटाई वाले एक आवासीय स्तर का यहां उत्खनन हुआ है। यहां आवासीय स्तर के प्रमाण, तीसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. के मध्य से मिलने शुरू हो जाते हैं। क्वार्टजाइट, बसाल्ट और ग्रेनाइट पत्थर के कुल्हाड़ और हथौड़े बनाए जाते थे। चाल्केडॉनी, चर्ट, एगेट तथा जैस्पर के सूक्ष्मपाषाणीय ब्लेड और प्वाइंट बनाए जाते थे। हड्डी और कांटों के स्क्रेपर, चिजेल, सूई, हथौड़े, छिद्रक, पिन इत्यादि बनते थे। हड्डियों के आभूषण, कंघी, इत्यादि। कछुए की हड्डी तथा हाथी दांत की चूड़ियां भी बनती थीं।

नवपाषाण कालीन चिरांद में लाल, धूसर और काले मृद्भाण्ड पाए गए हैं। एक ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड भी पाया गया है। अधिकांश मृद्भाण्ड हस्त निर्मित हैं, लेकिन चाक पर बने कुछ मृद्भाण्डों के भी उदाहरण हैं।

मानचित्र 3.6: **मध्य गंगा घाटी मैदान की ग्रामीण बस्तियां**

कुछ घड़ों पर रंग (सामान्यतः लाल गैरिक) तथा सतह पर खुरचे हुए डिजाइन भी देखे गए हैं तथा वैसे डिजाइन सामान्यतः रेखीय एवं ज्यामितिय हैं। बहुत सारे धूसर घड़े पॉलिशदार (ओपदार) हैं। अनेक आकार वाले बर्तन और कटोरे मिले हैं। अगेट, कार्नेलियन, जैसपर, संगमरमर, स्टीटाइट (शेलखड़ी) तथा फायन्स (प्रकाचित पत्थर) के विभिन्न प्रकार के मनके भी प्राप्त हुए हैं। इनके आकारों में लंबे नलिकार, लंबे पीपाकार, छोटे पीपाकार, बेलनाकार, तिकोने तथा तश्तरी के आकार देखे जा सकते हैं। इनमें कुछ अधूरे ही हैं, जो निर्दिष्ट करता है कि उनका निर्माण स्थानीय तौर पर हो रहा था। तांबे की कोई वस्तु नहीं प्राप्त हुई है। मृण्मूर्तियों में कुबड़ वाले सांड़, पक्षी, तथा सर्पों का प्रतिनिधित्व हुआ है। एक छोटा छिद्रदार नाल मिला है, जिसमें काजल या कालिख का अंश था- जो शायद तम्बाकू पीने वाली नाल रही होगी। पक्की मिट्टी (टेराकोटा) की कुछ तश्तरियां मिली हैं, जिनके बीच के हिस्सों में छिद्र हैं, जो तकुआ चक्री हो सकती है।

नवपाषाण काल में चिरांद के लोग वृत्ताकार झोपड़ियों में रहते थे। घरों में चूल्हे पाए गए हैं। एक अर्ध-वृत्ताकार झोपड़ी से विशेष प्रकार के एकाधिक चूल्हों की प्राप्ति के आधार पर इसे सार्वजनिक भोजन बनाने का केंद्र माना गया है। घरों के बीच मिट्टी से बनी चाहर दीवारी भी देखी गई है। सरकंडे और बांस की छाप वाले पकी हुई मिट्टी के अवशेष से यहां के कई घरों के जल जाने के प्रमाण भी मिलते हैं। फसलों में चावल, गेहूँ, मूंग और मसूर के भी प्रमाण मिले हैं। पशु-पक्षियों की हड्डियों के अतिरिक्त मछली के कांटे भी बड़ी मात्रा में मिले हैं। नदियों से प्राप्त शंख और घोंघे भी इनके भोजन में शामिल हैं। पशुओं की हड्डियों में जंगली हाथी, गैंडा, और हिरण के अतिरिक्त पालतू मवेशियों के अवशेष मौजूद हैं। चिरांद से एक ताम्रपाषाण युगीन संस्कृति का स्तर भी पाया गया है।

पटना से बह रही गंगा के दूसरे किनारे पर बिद्दूपुर के निकट छेछर-कुतुबपुर नामक स्थान है जहां से विकसित नवपाषाणीय संस्कृति के प्रमाण मिले हैं। यहां का नवपाषाणकालीन निक्षेप तीन चरणों (ए,बी,सी) में बंटा हुआ है। यह विभाजन मृद्भांडों में आए परिवर्तन पर आधारित है। लोग भीत के बने गोलाकार झोपड़ियों में रहते थे। फर्श भी मिट्टी का ही होता था। फर्श के बीचो बीच अंगीठी बनाई जाती थी। भारी मात्रा में हड्डियों और मृगश्रृंग के बने औज़ार तथा सेलखड़ी एवं चैल्सेडनी के सूक्ष्म-मनके पाए गए हैं।

सासाराम के निकट कैमूर पहाड़ियों की तराई में कुदरा नदी के किनारे सेनुआर (सिंह, 2003) नामक नवपाषाणीय केंद्र का अध्ययन किया गया है। यहां से नवपाषाण (कालखंड-I) ताम्रपाषाण (कालखंड-II) तथा उत्तरी कृष्ण चमकीला मृद्भाण्ड संस्कृति (कालखंड-III) तथा प्रारम्भिक सा.सं. सन् की प्राप्तियाँ (कालखंड-IV), इन चारों काल के पुरातात्त्विक अवशेष मिले हैं। कालखंड-I बी की रेडियोकार्बन तिथि ल. 1770-1400 सा.सं.पू. निकाली गई है। अतः कालखंड-I ए की शुरुआत तीसरी सहस्राब्दि सा.सं.पू. के उत्तरार्ध में मानी जा सकती है। यहां हम सिर्फ कालखंड- I को देखेंगे, जिसे I ए और I बी में उपविभाजित किया गया है।

सेनुआर का कालखंड-I ए, 1.5 मीटर मोटा, नवपाषाणीय स्तर विन्यास था, जिसमें नरकुल और मिट्टी के झोपड़ियों के अवशेष मिले हैं। मृद्भाण्डों के तीन मुख्य प्रकार मिले हैं—एक लाल मृद्भाण्ड, चमकता हुआ लाल मृद्भाण्ड तथा चमकता हुआ धूसर मृद्भाण्ड एवं कुछ खुरदते मृद्भाण्ड मिले हैं तथा कुछ पर डोरी के छाप वाले डिजाइन मिले हैं। इनके आकारों में चौड़े मुँह वाला छिछला कटोरा, नालीदार कटोरा, घड़ा (घट) तथा टोंटीदार बर्तन देखे जा सकते हैं। अधिकांश मदृभाण्ड चाक पर बने थे, लेकिन हाथ के बने भी कुछ मदृभाण्ड थे। चर्ट, चैल्सेडनी (स्फटिक), अगेट (गोमेद), क्वार्ट्ज (स्फटिक) तथा क्वार्ट्जाइट के बने बहुत सारे सूक्ष्म पाषाण/सूक्ष्माश्म (छोटे फलक तथा शल्क और फलक) मिले हैं। कुछ तिकोने ओपदार कुल्हाड़ी (सेल्ट), पत्थर के मूसल, अवतल चक्की, पत्थर के हथौड़े तथा अनेक आकारों की गोफनगोलियां भी प्राप्त हुए हैं। हड्डी के बने नुकीले शल्क उपकरण (प्वाइंट) भी मिले हैं। अर्ध बहुमूल्य पत्थरों के मनके भी पाए गए हैं।

सेनुआर से प्राप्त जानवरों की हड्डियों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया गया है। पालतू जानवरों में मवेशी, भैंस, भेड़, बकरी, सुअर, बिल्ली तथा कुत्ते थे। जंगली पशुओं में नीलगाय, बारासींगा तथा चीतल थे। हड्डियों पर पाए गए जलने और कटने के निशानों से पता चलता है कि इन्हें भोजन के लिए मारा जाता था। बड़ी संख्या में घोंघो और शंखों के अवशेष से सिद्ध होता है कि उन्हें भी भोजन के लिए मारा जाता था, किंतु आश्चर्य की बात यह है कि नदी के किनारे स्थित एक स्थल होने के बावजूद यहां मछलियों की हड्डियां नहीं मिली हैं। कार्बनीकृत अनाजों के अध्ययन से पता चलता है कि यहां वर्ष में दो फसल उगाए जा रहे थे। चावल (ओरिजा सटाइवा) मुख्य फसल था, लेकिन लोग, जौ, बौना गेहूं (ट्राइटिकम स्फेरोकोक्कम्), ज्वार, बाजरा, रागी बाजरा, सिरदल घास मटर (लैथिरस सटाइनस), खेत मटर (पाइसम अरबेंस) भी उगा रहे थे।

सेनुआर के कालखंड-I बी नवपाषाण-ताम्रपाषाण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका स्तर विन्यास 2.02 मीटर मोटा है। घरों के फर्श कंकड़ और मृद्भांडों के टूटे हुए टुकड़ों को मिट्टी के साथ अच्छी तरह पीट कर बनाए गए थे।

यहां से 19 ताम्बे की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जिनमें मछली मारने का कांटा, तार, छल्ले, टूटी हुई सूई एवं अन्य टूटी हुई और अस्पष्ट उपयोग की वस्तुएं हैं। सीसे की बनी टूटी हुई शलाका भी मिली है। तार के रासायनिक विश्लेषण से पता चलता है कि यह लगभग शुद्ध तांबे की बनी हुई थी जो पास की राखा ताम्रखानों से प्राप्त किया होगा। कालखंड-1बी की वस्तुएं करीब-करीब 1ए की तरह ही हैं, परंतु मृद्भांडों में, खासकर उनके ऊपरी सतह की बनावट में स्पष्ट सुधार दिखाई देता है। यहां मिले ज्यादातर बर्तन चाकनिर्मित ही हैं, परंतु हस्तनिर्मित मृद्भांडों के कुछ टुकड़े भी मिलते हैं। बर्तनों पर महीन लेप और उच्च गुणवत्ता की चमक मौजूद है। बर्तन पकाने के बाद किया गया लाल गेरू से रंग जो पहले सिर्फ चमकीले धूसर मृद्भांड पर मिलता था - वह विधि अब चमकीले लाल मृद्भांड में भी दिखाई देने लगी थी। कुछ पात्रों पर अंगूठे एवं अंगुलियों के छाप छोड़ दिए गए हैं। यहां बने औज़ारों में अधिकांश ब्लैक बैसाल्ट पत्थरों से बने थे। मिट्टी के बने छिद्रदार तश्तरियों का उपयोग शायद तकली या चरखे में किया जाता था।

कालखंड-1 बी में पहले के मुकाबले ज्यादा पाषाण औज़ार पाए गए हैं, जिनमें ज्यादातर काले बासाल्ट से बने पालिशदार पुराकुठार (सेल्ट) भी शामिल हैं। सूक्ष्मपाषाण भी बड़ी संख्या में पाए गए हैं। औज़ारों को बनाने का कच्चा माल कालखंड-1ए वाला ही था, किंतु आकृतियों में कुछ परिवर्तन आया। शंख के आभूषणों में तिकोना लटकन भी था। अर्ध-कीमती पत्थरों जैसे अगेट, कार्नेलियन, और जैस्पर के बने तैयार और निर्माणाधीन मनके भी मिले हैं। फेयंस के पच्चीस मनके भी प्राप्त हुए हैं। टेराकोटा की सामग्रियों में मनके, मृद्भांड-चकरी, वृषभ-मृण्मूर्ति, और शायद सीटी पाये गये हैं। पकी मिट्टी की बनी कुछ चकरी बच्चों के खिलौने के पहिए हो सकते हैं। पतले छिद्र वाली चकरी कपड़ा बुनने की तकली का हिस्सा हो सकती है। कालखंड-1 के अनाज इस चरण में भी जारी रहे, साथ ही कुछ और पौधों के अवशेष-ब्रेड वीट (सामान्य गेहूं) चना, मूंग आदि मिले हैं। नवपाषाणकालीन चिरांद और सेनुआर के बीच सांस्कृतिक समानताएं भी पाई गई हैं।

पटना से कुछ दूरी पर गंगा के एक पुराने प्रवाह मार्ग के किनारे मनेर स्थित हैं। जहां से नवपाषाण कालीन प्राप्तियाँ हुई हैं। यहां 3.45 मी. गहरा नवपाषाणीय निक्षेप पाया गया है। हाथ से बने लाल मृद्भाण्ड तथा चमकीले लाल और धूसर मृद्भाण्ड यहां पाए गए हैं। लंबी गर्दन वाले बर्तन, छोटी पेंदे वाले कटोरे, ढक्कन वाले तथा छिद्रों वाले बर्तन भी पाए गए। सूक्ष्म पाषाण औज़ार, हड्डी के प्वाइंट तथा सेलखड़ी की तकली इत्यादि भी पाए गए हैं।

बिहार के बोधगया स्थित महाबोधि मन्दिर के निकट ताराडीह एक नवपाषाण युगीन केंद्र है। ताराडीह-Iए तथा ताराडीह-I बी दोनों नवपाषाण संस्कृतियों का ही प्रतिनिधित्व करती है। ताराडीह-I ए में हाथ के बने हुए लाल मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं जिनपर पतली रस्सी के छाप मिले हैं। ताराडीह-I बी से चमकीले धूसर मृद्भाण्ड मिले हैं जिनको पकाने के बाद गेरूआ रंग में रंगा गया था। अन्य वस्तुओं में नवपाषाण पुराकुठार, सूक्ष्मपाषाण और हड्डियों के औज़ार शामिल हैं। भीत के बने घर और अंगीठी के अवशेष भी देखे जा सकते हैं। मवेशी, बकरी, भैंस, सूअर, भेड़, हिरण, चिड़िया, मछली और घोंघा आदि की हड्डियां भी मौजूद हैं। वनस्पति अवशेषों में गेहूं, धान और जौ के दाने शामिल हैं।

नवपाषाणकालीन औज़ार जैसे पाषाण छल्ले, पुराकुठार, त्रिकोण एवं चतुष्कोण कुठार आदि पश्चिम बंगाल के विभिन्न हिस्सों से मिलते हैं, जिनका अभी तक विधिवत रूप से तिथि निर्धारण नहीं किया गया है। यही स्थित उड़ीसा के कुचाई जैसे स्थानों से प्राप्त नवपाषाण युगीन औज़ारों की भी है। यहां से चौड़ी खनती, छेनी, मुग्दर,

नायापुर और कुचाई से प्राप्त हस्तकुठार (सेल्ट); कुचाई से प्राप्त कंधे वाले हस्तकुठार

गदा-शीर्ष और सिलबट्टा आदि प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त लाल-भूरे रंग के मृद्भांड जिनके ऊपर लेप लगाकर खचित अलंकरण किया गया है, भी मौजूद हैं। नवपाषाणकालीन वस्तुएं जैसे चौड़ा पुराकुठार, लंबी छेनी, गोल पेंदे वाला हस्तकुठार, हथौड़ा-शीर्ष, फान आदि उड़ीसा के मयूरभंज से प्राप्त होते हैं, परंतु इनकी तिथियों और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के विषय में स्पष्टता की कमी है।

असम, मेघालय, नागालैंण्ड, अरूणाचल प्रदेश, मिजोरम तथा मणिपुर जैसे पूर्वोत्तर राज्यों के प्राग्ऐतिहासिक केंद्रों का अभी तक कुछ विशेष अध्ययन नहीं किया जा सका है। खासी-गारो, नागा और कच्छार की पहाड़ियों पर विभिन्न स्थानों से पॉलिश किए गए औज़ार मिलते हैं, किन्तु इनका सांस्कृतिक विन्यास स्तर अध्ययन अभी भी अपूर्ण है। असम के सरूतरू, दौजली हदींग तथा मारकडोला जैसे स्थानों का उत्खनन किया गया है। इस क्षेत्र में नवपाषाण काल काफी विलम्ब से शुरू हुआ, जिसकी चर्चा हम अध्याय पाँच में करेंगे।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारतीय नवपाषाण केंद्रों का तिथिक्रम स्थूल रूप से ल. 2900-1000 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित किया जाता है। किंतु कालक्रम और भौगोलिक क्षेत्र के हिसाब से इसे और उपविभाजित भी किया जा सकता है। प्राचीनतम तिथियों की श्रृंखला ल. 2900 से 2400 सा.सं.पू. के बीच स्थिर की गई है, जिसका प्रतिनिधित्व उतनूर, पल्लवोय, कोडेकाल तथा वाटगल जैसे स्थलों के द्वारा होता है। इन दक्षिण भारतीय नवपाषाण केंद्रों की चर्चा फिर से अध्याय पाँच में की गई है। जबकि प्रायद्वीपीय भारत के पुरापाषाण-कालीन तथा मध्यपाषाण-कालीन संस्कृतियों की चर्चा पूर्व के अध्याय में की जा चुकी है। हमारे पास उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर सुदूर दक्षिण के क्षेत्र में मध्यपाषाण युगीन तथा नवपाषाण युगीन सांस्कृतिक स्तर विन्यासों के बीच सम्बंध स्थापित करने के लिए पर्याप्त अध्ययन नहीं किया जा सका है।

दक्षिण पूर्वी तटीय क्षेत्र में नवपाषाण केंद्रों का अभाव आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, क्योंकि इसी क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में पुरापाषाण तथा मध्यपाषाण युगीन प्रमाणों की उपलब्धि देखी जा सकती है। पेन्नार, कृष्ण तथा गोदावरी नदियों के डेल्टाई क्षेत्र में नवपाषाण केंद्र अभी तक नहीं मिले हैं। तमिलनाडु के पौंडिचेरी स्थित नवपाषाण स्थल एक प्रकार से अपवाद के रूप में देखा जा सकता है। नदियों की अपरदन क्रिया अथवा अब तक किया गया अपर्याप्त उत्खनन इस परिस्थिति के कारण हो सकते हैं किन्तु कृष्णा घाटी के मध्य और निचले हिस्से में नवपाषाण स्थलों की बड़ी संख्या में प्राप्ति हुई है।

दक्कन के पठार के दक्षिणी हिस्से में जहां काली मिट्टी पर ग्रेनाइट पहाड़ियां खड़ी हो गई हैं वहां इन पहाड़ियों पर प्राचीनतम नवपाषाण युगीन गांव देखे जा सकते हैं। इस क्षेत्र में बहुत सारे नवपाषाण युगीन केंद्रों से राख के टीले मिले हैं। दरअसल, दक्षिण भारतीय नवपाषाण युग के अध्ययन से जुड़े विषयों में सबसे महत्त्वपूर्ण चर्चाएं राख के इन्हीं टीलों के विषय में की जाती रही हैं। इस सन्दर्भ में दो सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच का रायचूर दोआब तथा भीमा तथा कृष्णा नदियों के बीच शोरापुर दोआब को माना जा सकता है। उतनुर, कुपगल कोडेकाल तथा पल्लवोय के राख के टीलों का पुरातात्त्विक अध्ययन किया जा चुका है।

राख के टीले कहे जाने वाले स्थलों पर गोबरों के ढेर को जलाए जाने की पुनरावृति दिखलाई पड़ती है। ये दरअसल नवपाषाण युगीन मवेशियों के बाड़ों का प्रतिनिधत्व करते हैं जिनके चारो तरफ वृक्षों की टहनियों का घेरा लगाया जाता था। मध्य तथा दक्षिण भारत के आधुनिक पशुपालक भी इसी प्रकार के बाड़े में अपने मवेशियों को रखते हैं। ऐसे नवपाषाण युगीन बाड़े स्थायी बस्तियों में भी पाए जाते थे और अस्थायी शिविरों में भी बनाए जाते थे। गोबर के ढेर को वार्षिक उत्सवों के अवसर पर जला दिया जाता था अथवा वार्षिक प्रवास के अंत होने के अवसर पर स्थान छोड़ने के पहले पिछले दिनों एकत्र किए गए गोबर को जलाया जाता था। प्रायद्वीपीय भारत के पशुपालकों के बीच आज भी ऐसी प्रथा देखी जा सकती है। उनकी मान्यता है कि ऐसा करने से उनके पशुओं की रोगों से रक्षा होती है।

आन्ध्रप्रदेश के महबूबनगर जिले में स्थित उतनुर के अध्ययन से पता चलता है कि इस स्थान पर लकड़ी की घेराबन्दी वाले बाड़े कई बार बनाए गए थे तथा इनमें उतनी ही बार एकत्रित गोबर के ढेर को जलाया जाता रहा है। पशुधन के खुर के निशान राख की ढेर में मिले हैं। बाड़े की घेराबन्दी के आकार से यह अनुमान किया गया हैं कि इनमें 540-800 पशुओं को रखा जा सकता था। उतनुर से पत्थर के कुल्हड़ और चमकीले धूसर मृद्भाण्ड मिले हैं। कुछ मृद्भाण्डों को पकाने के बाद लाल गेरूए रंग से रंगा गया था। उतनुर से प्राप्त भौतिक संस्कृति अवशेष पिकलीहल ल. 2100 सा.सं.पू. तथा कोड्डेकाल से मिलते जुलते हैं।

वाटगल और बुदीहाल में विगत् दिनों जो उत्खनन कार्य हुए हैं उनमें आधुनिक पुरातात्त्विक तकनीकों का प्रयोग हुआ है। विशेषकर जन्तु और वनस्पति के अवशेषों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जा सका है। वाटगल (देवराजा एवं

सम्बंधित परिचर्चा

राख के टीलों का रहस्य

सन् 1830 और 1840 के दशकों में राख के इन टीलों के विषय में पहली बार दिलचस्पी ली जाने लगी। तब इन्हें भस्म टीलों अथवा भस्म शिविरों की संज्ञा दी गई और बहुतों ने इनके ज्वालामुखीय उत्पत्ति की परिकल्पना की। किसी राख के टीले वाले पुरातात्त्विक स्थल का पहली बार उत्खनन लगभग इसी काल में टी.जे. न्यूबोल्ड के द्वारा किया गया। इनके द्वारा कुथगल में किए गए उत्खनन के दौरान मृद्भाण्ड, पशुओं की हड्डियाँ, घर्षण पत्थर इत्यादि की प्राप्ति हुई। इन प्राप्तियों ने उन्हें आश्वस्त कर दिया कि इन टीलों का उद्भव प्राकृतिक भौगोलिक प्रक्रिया के फलस्वरूप न होकर मानव निर्मित है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भूगर्भशास्त्री-प्राग्ऐतिहासिक काल राबर्ट ब्रुस फूट ने पहली बार राख के इन ढेरों का सम्बंध नवपाषाण-कालीन संस्कृति के साथ प्रस्तावित किया। अपने बुद्धिकनामा (कुडातिनी के नाम से भी ज्ञात) स्थित स्थल के उत्खनन के आधार पर तथा राख के ढेर की सामग्री के रासायनिक विश्लेषण के आधार पर उन्होंने तर्क दिया कि राख के ये ढेर वस्तुत: अति प्रज्जवलित गाय के गोबर तथा वे नवपाषाण युगीन पशुपालक समुदायों से सम्बंधित है।

फुट के तर्क से कुछ ही लोग संतुष्ट थे। रार्बट सी. वेल. ने तर्क दिया कि राख के सभी ढेर मवेशियों के शिविर से सम्बंधित नहीं हैं बल्कि इनमें से कुछ मध्ययुगीन काल के प्रतीत होते हैं। जी. याजदनी के सुझाव कि राख के ये ढेर सोनार या लोहार के द्वारा लोहा गलाने से सम्बंधित परिकल्पना ने बहुत लोगों को प्रभावित किया।

वर्ष 1950 के दशक में राख की इन ढेरों की गुत्थी सुलझाने में रेमण्ड ऑलचिन तथा एफ.सा.सं. ज्यूनर ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। ज्यूनर ने कुडातिनी से प्राप्त राख का रासायनिक और सूक्ष्मदर्शी अध्ययन करवाया। इसके बाद कोई सन्देह नहीं बचा कि यह राख मवेशियों के गोबर से ही बने थी। ऑलचीन ने रायपुर दोआब में स्थित पिकलीहाल तथा उतनुर के राख के टीले वाले स्थान का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण किया। उतनुर के उत्खनन के आधार पर राख के टीले वाला स्थान आयताकार घेरेबन्दी के रूप में सामने आया। जिसकी व्याख्या आफलचीन ने गोशाला के रूप में की। ज्यूनर और ऑलचीन के अनुसंधानों से इतना तो अवश्य तय हो गया कि ब्रूस फूट की बातें बिल्कुल सही थी। यह भी प्रमाणित हो गया कि एकत्रित गोबर के ढेरों को कई बार जलाया गया था और उनका यह बार-बार जलाया जाना संयोग मात्र नहीं बल्कि उद्देश्यपूर्ण परिस्थितियों में ही संभव हुआ था।

इसके बावजूद बहुत सारे प्रश्न अनसुलझे रहे, यथा—क्या राख के ढेर स्वाभाविक रूप से इकट्ठे हो गए। गोबरों से बने थे या गोबर को एकत्रित किया गया था और इन्हें उसके बाद जलाया गया था? क्या इन्हें गोशालों की समय-समय पर सफाई के क्रम में जलाया जाता था अथवा इस क्रिया का कोई प्रतीकात्मक महत्त्व था? ऑलचीन ने सुझाव दिया कि भस्म और अग्नि शुद्धिकरण के लिए सम्पन्न वार्षिक कर्मकाण्ड से जुड़े थे। दूसरा प्रश्न यह था कि राख के टीलों का समकालीन बस्तियों के साथ क्या सम्बंध था? ऑचीन ने सुझाव दिया कि राख के टीलों की दो श्रेणियाँ थीं—पहली श्रेणी के अन्तर्गत राख के वैसे ढेर थे जो निकटवर्ती स्थायी बस्तियों से जुड़े थे, जैसे—कुप्पगल और गदीगानुर, तथा दुसरी श्रेणी के ढेर किसी भी बस्ती से सम्बंधित नहीं थे। जिनमें कुडातिनी और उतनुर जैसे सबसे बड़े राख के टीले भी सम्मिलित हैं। जबकि के. पडैया ने अपने द्वारा किए गए बुदिहाल के उत्खनन के पश्चात यह सुझाव दिया कि राख के टीले और बस्तियाँ दो पृथक स्थल न होकर एक दूसरे से जुड़े हुए थे। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि गोबर के ये ढेर स्वत: इकट्ठे नहीं हुए थे, बल्कि सफाई के क्रम में गोशालों और घरों से बाहर लाकर इन्हें एक जगह इकट्ठा किया गया था।

सभी दक्षिण भारतीय नवपाषाण स्थलों से राख के ऐसे टीले नहीं प्राप्त हुए हैं। आन्ध्रप्रदेश के कुड्डपह जिले में पेन्नार घाटी से मिले नवपाषाण स्थलों में राख के टीले नहीं मिले हैं। इसी प्रकार तुंगभद्रा की ऊपरी घाटी से तथा दक्षिणी कर्नाटक में राख के टीले अनुपस्थित है। पी.सी. बेंकट सुब्बैया ने कुड्डपह जिले से राख के टीले की अनुपस्थिति के विषय में जीवन-निर्वाह पद्धति की भिन्नता को कारण बतलाया है। इस क्षेत्र में पशुपालन के साथ-साथ उस काल में लोग बाजरे और दाल की खेती भी कर रहे थे। कृषि सम्बंधी गतिविधियों के महत्त्वपूर्ण होने के चलते गोबर को खाद के रूप में उपयोग में लाया जाता था और इसलिए अन्य किसी भी उद्देश्य से उसको जलाना उचित नहीं था। लेकिन इस सन्दर्भ में एक वैकल्पिक जानकारी सामने आती है कि प्राय: सभी दक्षिण भारतीय नवपाषाण केंद्रों में कृषि कार्य किया जा रहा था और उन प्रदेशों में कृषि के लिए खाद का प्रयोग आवश्यक नहीं था। ऐसी परिस्थिति में शायद गोबर और गोबर की राख का प्रयोग दीवारों के प्लास्टर करने के काम में आता होगा। लेकिन उस काल में उनके ऐसे उपयोग की तुलना वर्तमान में किए जा रहे, समतुल्य उपयोगों से नहीं की जा सकती। इसलिए दक्षिण भारतीय नवपाषाण केंद्रों में राख की टीलों की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति शायद उनके बीच विद्यमान

सांस्कृतिक परम्पराओं की विविधताओं की वजह से थी न कि मात्र उनके जीवन-निर्वाह पद्धतियों से जुड़ी थी।

दक्षिण भारतीय नवपाषाण स्थलों के राख के टीलों से युक्त अथवा राख के टीलों से वंचित केंद्रों की सापेक्षिक तिथियाँ अभी पूरी तरह से निर्धारित नहीं की गई है। इस दिशा में अनुसंधान की और आवश्यकता है तथा ऐसी अपेक्षा की जाती है ये सभी राख की टीलों के केंद्र समान प्रकार की बस्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

स्रोतः कोरीसेट्टार एवं अन्य, 2003

अन्य, 1995) उत्तरी कर्नाटक के रायचूर जिले में अवस्थित हैं। यहां से प्राप्त प्राचीनतम अंशशोधित रेडियोकार्बन तिथि 2900-2600 सा.सं.पू. निर्धारित की गई है। उस काल से लेकर पहली सहस्राब्दि सा.सं.पू. तक यहां सभ्यता के पुरातात्त्विक स्तर विन्यास प्राप्त हुए हैं। कालखंड-I के सूक्ष्म पाषाणीय उद्योगों में चर्ट तथा क्वार्ट्ज़ाइट के बने ब्लेड और अर्धचंद्र प्रमुख हैं। बैसाल्ट और डोलेराइट के बड़े फलक भी देखने को मिलते हैं।

मानचित्र 3.7: **दक्षिण भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण नवपाषाण स्थल**

वाटगल-II ए (2700-2300 सा.सं.पू.) में पत्थर के औज़ारों की विविधता काफी बढ़ी। इस काल में अनाज को संग्रहित किए जाने के लिए गड्ढों का प्रयोग किया गया है। वाटगल में सुपारी या कसैली के दो कार्बनीकृत बीज उपलब्ध हुए हैं। दक्षिण एशिया में किसी भी स्थान पर सुपारी या कसैली का यह प्राचीनतम प्रमाण है। कालखंड-IIए में चर्ट से बने सूक्ष्मपाषाणें का वर्चस्व दिखाई देता है। ज्यादातर मृद्भांड हस्तनिर्मित हैं, जबकि कुछ बर्तन धीमी चाक पर बनाए गए हैं। ये मृद्भांड ठीक से पके नहीं हैं और इनमें मोटे लाल और धूसर मृद्भांड मौजूद हैं। इसके साथ ही चमकीला धूसर मृद्भांड भी है, जिस पर पकाने के बाद लाल गेरू से रंगाई की गई है। समुद्री शंख के बने मनकों सहित और भी कई वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। शवाधानों में एक पात्र-शवाधान और दो विस्तारित शवाधान देखे जा सकते हैं, जिसे पत्थर से रेखांकित किया गया है और वहां कोई समाधि-सामग्री भी प्राप्त नहीं हुई है।

वाटगल-II बी का अंशशोधित तिथि क्रम ल. 2700-2300 सा.सं.पू. है। पूर्ववर्ती उप-चरणों की तरह, इस चरण में भी अनेकों भंडारण गर्त चिह्नित किए गए हैं। शवाधानों में पात्र-शवाधान और विस्तारित शवाधान दोनों ही मौजूद हैं, जिनके चारों तरफ पत्थर से रेखांकन किया जाता था। परंतु साथ ही एक नवीन विशेषता का भी जन्म हुआ - अब समाधि सामग्री में मृद्भांड प्राप्त होने लगे थे। वस्तुओं के प्रकार और संख्या में भी वृद्धि हुई थी। इन वस्तुओं में सूक्ष्म पाषाण और पिसाई-पत्थर, समुद्री शंख, पत्थर एवं टेराकोटा के मनके, तथा सीप का लटकन आदि भी देखे जा सकते हैं। पशुओं और मानव की मृण्मूर्तियां (एक स्त्री मृण्मूर्ति धड़) भी पाई गई है। मृद्भांडों में पूर्ववर्ती चरणों से निरंतरता दिखाई देती है, सिर्फ चाक-निर्मित मृद्भांडों में कुछ वृद्धि दिखती है। वाटगल का कालखंड-III और IV 2000 सा.सं.पू. के परवर्ती काल के हैं, और इनमें तांबा/कांसा एवं लोहे के साक्ष्य प्राप्त होने लगते हैं।

बुदिहाल (गुलबर्गा जिला, कर्नाटक) का उत्खनन 1993 में के. पदैय्या एवं उनकी टीम के द्वारा किया गया। इस उत्खनन का एक उद्देश्य इस स्थल के पर्यावरण तथा अन्य भैतिक प्रमाणों का अध्ययन करना था। यह स्थान भूरी मिट्टी से ढके हुए बलुआ पत्थर की पहाड़ी पर है। यहां 400 × 300 मीटर आकार वाले क्षेत्र में चार पृथक स्थलों को चिन्हित किया गया है। इस स्थल से पश्चिम में 4.5 हैक्टेयर क्षेत्रफल की एक भूमि से बहुत बड़ी संख्या में चार्ट पत्थर के बने औज़ार और टुकड़े पाए गए हैं। यहां पाए गए बलुआ पत्थर के बड़े टुकड़ों के आधार पर यह माना जा सकता है कि यहां पत्थर के औज़ार को निर्मित कर उनकी पॉलिश की जाती है। संभवत: यहां बनने वाले चार्ट के फलकों को शोरापुर दोआब में स्थित नवपाषाण युगीन बस्तियों या उनसे भी दूर भेजा जाता था।

बुदिहाल के मुख्य पुरातात्त्विक क्षेत्र के बिल्कुल मध्य में राख के ढेर पाए गए हैं। राख के टीले के अध्ययन से यह पता चलता है कि मवेशी बाड़े का क्षेत्र पूर्व में था और गोबर इकट्ठा करने का क्षेत्र पश्चिम में। 1.34

अनुसंधान की दिशाएं

नवपाषाण बुदिहाल में सामुदायिक भोज

बुदिहाल के आवासीय क्षेत्र के केंद्रीय समभाग में राख के टीले के दक्षिणी हिस्से में खुदाई किए गए एक ट्रेन्ज से पुरातात्त्विक दल को जमीन पर एकत्रित कंकड़ जैसी सामग्रियाँ मिलीं। रासायनिक विश्लेषण के आधार पर यह पता चला कि वह सामग्री दरअसल बारीक राख, मिट्टी, मृद्घंटों के ठीकरे, हड्डियों और चारकोल के बारीक अवयव थे जिनको पानी में मिलाकर फर्श को मजबूती प्रदान की गई थी। इस फर्श का आकार प्रारम्भ में 200-250 वर्गमीटर रहा होगा।

फर्श के ऊपर बहुत बड़ी मात्रा में हड्डियाँ बिखरी पड़ी थी। इनमें अधिकांश हड्डियाँ मवेशियों की थी, जैसे—भेड़ बकरी, भैंस और जंगली जानवरों की हड्डियाँ भी मौजूद थी। इन हड्डियों के साथ बड़ी संख्या में उपस्थित विभिन्न प्रकार के प्रस्तरीय औज़ारों से यह स्पष्ट हुआ कि यह एक बुचड़खने की भूमि थी। बलूआ पत्थर के बड़े टुकड़ों को माँस काटने के काम में लाया जाता था। हड्डियों के कुछ ऐसे औज़ार भी मिले जिनका उपयोग शायद चमड़ा अलग करने और हड्डियों के भीतर के पदार्थों को निकालने के लिए किया जाता था।

बुचड़खाने के बाहर उत्तरी हिस्से में 20.25 से.मी. चौड़े और 15-20 से.मी. गहरे तीन गड्ढे भी पाए गए हैं। इनमें राखयुक्त मिट्टी, लकड़ी के कोयले के जले टुकड़े तथा जली हुई हड्डियाँ मिली। इन गड्ढों में शायद माँस को भूना जाता था। बुचड़खाने का बड़ा आकार, राख के टीले के समीप आवासीय केंद्र में इसकी स्थिति, स्थायी फर्श की उपस्थिति बड़ी संख्या में हड्डियों एवं औज़ारों की प्राप्ति तथा समीपस्थ भोजन निर्माण का क्षेत्र—इन सभी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका उपयोग व्यक्तिगत रूप से नहीं बल्कि सामुदायिक रूप से किया जाता होगा। शायद विशेष उत्सवों के अवसर पर पशुओं के माँस को समुदाय के उपस्थित लोगों के बीच वितरित किया जाता था।

हेक्टेयर की इस बस्ती में राख के टीले के चारों ओर लगभग एक दर्जन आवासीय संरचनाओं को चिन्हित किया गया है। यहां मिले एक चबूतरे पर चर्ट के औज़ार बनाने के प्रमाण मिले हैं। चर्ट यहां से 5-6 कि.मी. उत्तर में मिलता था। इनमें से एक स्थान पर मृद्भाण्डों का भण्डारण किया जाता था। बाकी सब गोलाकार आवासीय इकाईयां थीं, जिनके निम्न ऊंचाई की दीवार गिलेव (गीली मिट्टी) पर पत्थर के टुकड़ों को जोड़ कर बनाई गई थी। गड्ढों तथा घड़ों में दफनाए गए 10 शिशुओं के शव मिले हैं। आवासीय क्षेत्र से लाल तथा धूसर मृद्भाण्ड, चर्ट के फलक, हड्डियों के औज़ार, शंख तथा अर्धमूल्यवान पत्थरों के मनके मिले हैं।

यहां की मिट्टी के विश्लेषण के दौरान बेर, चेरी तथा आँवला जैसे पौधों की जंगली प्रजातियों की शिनाख्त की गयी है। चने के कुछ उगाए गए दाने भी प्राप्त हुए हैं। पशुओं के अवशेषों में 15 पालतू और जंगली प्रजातियों की पहचान की जा सकती है। परंतु सबसे अधिक संख्या में पालतू मवेशियों की हड्डियां मिली हैं। इससे लगता है कि बुदिहाल के लोग मुख्य रूप से मवेशियों का पालन करते थे। लेकिन साथ ही साथ भेड़, बकरी, भैंस एवं कुछ पक्षियों को भी पालते थे। जंगली जानवरों में नीलगाय, कृष्ण मृग, बरसिंघा, सांडा-गिरगिट, कछुआ, पक्षी, मछली, केंकड़ा और घोंघा आदि के अवशेष मिलते हैं। यहां पर दूसरी विशेषता यह देखी गई है कि आवासीय भूमि के बीच में ही बुचड़खाना भी स्थित था जो राख के टीले के दक्षिण में पड़ता था। यहां ल. 1900-1400 सा.सं.पू. के बीच की 11 रेडियोकार्बन तिथियाँ तय की गईं। अंशशोधन के पश्चात् ल. 2180-1600 सा.सं.पू. के बीच की तिथि निकाली गई है।

बुदिहाल के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया कि वहां स्थित राख का टीला अपने समकालीन बस्ती का अभिन्न अंग था। पड्डैया ने इस सन्दर्भ में सुझाव दिया कि राख के टीले वाले स्थलों को नवपाषाण युगीन पशुपालक समुदायों की राख की ढेर वाली बस्ती कहना अधिक युक्ति संगत होगा। उनके अनुसार, राख के टीले वाले स्थल सामान्यत: पहाड़ियों पर अवस्थित थे। इनके समीप स्थायी जलस्रोत तो था किन्तु वहां की मिट्टी कृषि के योग्य नहीं थी। यहां के बाड़ों से साफ किया गया गोबर एक स्थान पर इकट्ठा किया जाता था और किसी निश्चित अवसर पर उनको जला दिया जाता था। ऐसा करना व्यवहारिक था क्योंकि उससे बस्तियों की सफाई हो जाती थी तथा लोग गोबर के कीटाणुओं के संक्रमण से पशुधन को सुरक्षित रखते थे। साथ ही आग से जंगली जावनर दूर रहते थे। एकत्रित गोबर के ढेर को जलाया जाना, अपने मवेशियों के प्रजनन क्षमता को बढ़ाने के नीमित किए जाने वाले कर्मकाण्डों से भी जुड़ा हो सकता है। कुछ राख के टीलों का बड़ा आकार का होना, इनके महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय या स्थानीय पशु मेले के केंद्र का होना बतलाता है लेकिन बुदिहाल के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के आधार पर यह सुनिश्चित नहीं किया जा सकता कि राख के टीलों के सभी केंद्रों में पूर्ण रूप से यही परिस्थिति रही होगी।

बुदिहाल से प्राप्त साक्ष्य इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे राख-टीला और दीर्घ-कालिक बस्ती स्थल के बीच परस्पर पूरक सम्बंधों का संकेत देते हैं, परंतु यह अभी तक पूरी तरह स्थापित नहीं हो पाया है कि यही स्थिति अन्य स्थलों पर भी थी या नहीं। विभिन्न स्थलों के बीच आपसी भिन्नता का अनुमान लगाना संभव है - कुछ एकाकी और स्वतंत्र स्थल रहे होंगे, जबकि कुछ अन्य जोड़े के रूप में मौजूद रहे होंगे (जैसे कुपगल, बुदिहाल, पलवाय)। कुछ बस्ती घुमंतू पशुचारी के अल्पकालिक शिविर रहे होंगे, जबकि कुछ अन्य दीर्घ कालीन बस्तियां रही होंगी।

दक्षिण भारतीय नवपाषाण केंद्रों के जीवन-निर्वाह सम्बंधी आधार के विषय में अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, दक्षिण भारत के नवयुगीन लोग स्थायी कृषक थे जो जंगलों को काटकर कृषि योग्य भूमि बनाते थे, दूसरे विचार यह है कि ये लोग थोड़ी बहुत खेती करते थे लेकिन मूलत: ये घुमन्तू पशुपालक ही थे। एक तीसरा विचार यह भी है कि वे स्थायी पशुपालक थे तथा खेती का कार्य बिल्कुल नहीं करते थे। रेमण्ड व ब्रीजेट ऑलचिन (1997: 104) के अनुसार, उतनूर तथा कुडातिनी जैसे राख के टीलों वाले केंद्र अल्पकालिक पशुपालक शिविर थे। दक्षिण भारत के नवपाषाण केंद्रों के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण से जो प्रमाण मिले हैं उसके आधार पर अल्पकालिक पशुपालक शिविरों (जिनका प्रतिनिधित्व राख के टीलों वाले प्रारम्भिक स्थल करते हैं) से स्थायी कृषक जीवन शैली की ओर संक्रमण का संकेत मिलता है। किन्तु वाटगल जैसे पुरातात्त्विक केंद्र प्राचीनतम नवपाषाण केंद्रों में से एक था, जबकि यहां राख का टीला नहीं मिला है जो यह दिखाता है कि राख-टीले वाले स्थल अनिवार्यत: सबसे पुराने नहीं थे।

पशुओं के अवशेष, वृषभ-मृण्मूर्ति और मवेशियों के आस-पास पहाड़ियों पर पाए गए निशान इस बात की गवाही देते हैं कि दक्षिणी नवपाषाण में मवेशियों को पालने का महत्त्व कितना अधिक था। मवेशी (बोस इंडिकस) की हड्डियां पशुओं के अवशेष में सर्वोपरि हैं, चाहे वह राख-टीला वाला स्थल हो या बिना राख-टीला वाला स्थल। भेड़ और बकरियों की हड्डियां भी मिलती हैं, परंतु बहुत कम मात्रा में। घोड़े (Equus) का अवशेष भी प्राप्त हुआ है, परंतु यह पता नहीं चला कि वे जंगली प्रजाति के थे या पालतू प्रजाति के। भैंस और सूअर की हड्डियां (पालतू और जंगली दोनों) कभी-कभार मिल जाती हैं। जीव-अवशेषों में इसके अतिरिक्त पालतू और जंगली मुर्गे की हड्डियां भी मिलती हैं।

अभी हाल तक दक्षिण भारतीय नवपाषाण स्तर से कृषि से सम्बंधित प्रमाण नगण्य मात्रा में उपलब्ध हुए थे। यदा-कदा जले हुए अनाजों की प्राप्ति एवं चक्की, आदि के अप्रत्यक्ष साक्ष्यों से खेती का कुछ संकेत तो मिलता है। कुछ विद्वानों ने यह मान लिया था कि यहां की मिट्टी और सूक्ष्म जलवायु इस क्षेत्र को कृषि के लिए अयोग्य बनाती है। किन्तु विगत् कुछ वर्षों में किए गए अनुसंधानों ने इस दृष्टिकोण को बिल्कुल बदल दिया है (कोरीसेट्टार एवं अन्य, 2003)। इस काल में बाजरा, इस क्षेत्र का मुख्य अनाज था। किंतु दाल के दाने और बेर की गुठली आदि भी पाए गए हैं। सुपारी के टुकड़े, जो प्राय: जंगली प्रजाति के थे, वाटगल से प्राप्त हुए हैं।

जहां तक शिल्प अथवा व्यापार से सम्बंधित गतिविधियों का प्रश्न है, हमारे पास इस क्षेत्र के कई स्थानों से मिलने वाले ताम्र अथवा कांस्य वस्तुओं के प्रमाण उपलब्ध हैं परंतु दक्षिण भारत के किसी भी स्थान से ताम्र-प्रगलन का साक्ष्य नहीं पाया गया है। यह वस्तुएं विनिमय यानी अदला-बदली के माध्यम से आई थीं या व्यापार के माध्यम से? नवपाषाणकालीन टेक्कलाकोटा से सोने की कान की बालियां पाई गई हैं और हड़प्पा सभ्यता के संदर्भ में पाया गया सोना प्राय: कोलार (कर्नाटक) से मंगाया जाता था। इससे लगता है कि शहरी हड़प्पा और दक्षिण भारत के नवपाषाणकालीन समुदायों के बीच व्यापार होता था। शंख और शंख से बने सामान वाटगल से प्राप्त हुए हैं, जो प्राय: पश्चिमी समुद्रतट के साथ आदान-प्रदान का सूचक है।

आन्ध्रप्रदेश के कुरनुल जिले में सिंगनपल्ली और रामापुरम से ताम्रपाषाण संस्कृति काल के प्रमाण मिले हैं किन्तु यहां किए गए उत्खनन का औपचारिक प्रतिवेदन अभी उपलब्ध नहीं है। रामापुरम की अंशशोधित रेडियोकार्बन तिथि ल. 2455-2041 सा.सं.पू. तय की गई थी। इस स्थल से मकानों के प्लास्टर किए फर्श (चूना मिश्रित), चाक पर बने मृद्भाण्ड (अधिकांशत: ब्लैक-ऑन-रेड), सूक्ष्म, तथा अर्ध-बहुमूल्य पत्थरों के मनके प्राप्त हुए हैं।

प्रारंभिक किसानों का जीवन
(The Life of Early Farmers)

इस अध्याय के आरंभ में हम पहले भी इस तथ्य का उल्लेख कर चुके हैं कि आखेटक-संग्राहक जीवनशैली से खाद्य-उत्पादक जीवन शैली की ओर विकास का क्रम एक-रेखीय नहीं रहा। कुछ क्षेत्रों में खाद्य उत्पादन और पशुपालन की लोकप्रियता बढ़ने के बाद भी आखेटक-संग्राहक जीवनशैली को पूरी तरह से त्याग नहीं दिया गया। बहुत से समुदायों ने तो आखेटक-संग्राहक जीवनशैली का कभी त्याग ही नहीं किया, बल्कि 21वीं शताब्दी में भी विश्व के विभिन्न हिस्सों मे ऐसे समुदाय मौजूद हैं, जिन्होंने आखेटक-संग्राहक जीवनशैली को जारी रखा। पुरातात्त्विक सामग्रियाँ भी स्पष्ट रूप से यह दर्शाती हैं कि सभी प्रारम्भिक कृषि केंद्रों में आखेटक-संग्राहक जीवन व्यवहार विद्यमान रहा था। प्रारम्भिक कृषकों और आखेटक-संग्राहक समुदायों के बीच होने वाले आदान प्रदान के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।

नवपाषाणयुग सामान्यत: स्वावलम्बी ग्राम्य समुदायों का प्रतिनिधित्व करता है जहां खाद्य उत्पादन और जनसंख्या के बीच किसी प्रकार के स्वाभाविक संतुलन का बोध होता है। मुद्दा सिर्फ खाद्य पदार्थों की मात्रात्मक उपलब्धता का भी नहीं है। खाद्य पदार्थ मानवजीवन के लिए तो अनिवार्य है ही, वह इससे अधिक भी कुछ है। दरअसल, खाद्यान का उत्पादन और उपयोग एक सामाजिक गतिविधि है। भोजन की बहुत सी वस्तुएं आतिथ्य, उपहार, व्यवसाय अथवा सामाजिक निषेध का परिचायक भी है। आहार की प्राथमिकताओं में विविधता और भोजन निर्माण की सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। बुदिहाल के नवपाषाण केंद्र से सामुदायिक स्तर पर भोजन-निर्माण तथा उत्सव का एक चित्र उभर कर सामने आता है।

हालांकि, प्रारम्भिक खाद्य उत्पादक समुदायों के सामाजिक और राजनैतिक संरचना के विषय में कुछ सामान्य जानकारी मिलती है, किन्तु ऐसा सामान्यीकरण सभी स्थलों के लिए उपयुक्त होगा, ऐसा नहीं लगता। कुछ स्थल छोटे समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका सामाजिक संगठन काफी सहज प्रतीत होता है। बड़े नवपाषाण केंद्रों से जटिलतर सामाजिक संगठन का बोध होता है। दरअसल, इन समुदायों का जीवन इनके पर्यावरण में उपलब्ध संसाधनों की संभावनाओं तथा इनके द्वारा किए गए उपयोग के स्तर पर निर्भर करता था। इनके द्वारा प्रयोग में लाए गए औज़ार, मृद्भाण्ड और आवासों की विविधता, इनकी शिल्प परम्परा और जीवनशैली की विविधताओं का द्योतक है। इनके द्वारा अपनाई गई दफनाने की प्रक्रियाओं की भिन्नता शायद इनकी बहुआयामी आस्था और धार्मिक परम्पराओं को दर्शाती है।

ऐसी भी मान्यता है कि प्राग्ऐतिहासिक आखेटक-संग्राहक समुदायों का जीवन प्रारम्भिक कृषकों की तुलना में बहुत संघर्षपूर्ण था। हालांकि, ऐसे विचारों की पहले भी आलोचना की जा चुकी है। यह भी मान लेना वस्तु स्थिति का अत्यधिक सरलीकरण करना होगा कि प्रारम्भिक कृषकों का जीवन बहुत आरामदायक रहा होगा। अल्पवृष्टि, संक्रमित फसल अथवा चूहों का उत्पात जैसी संभावनाओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।
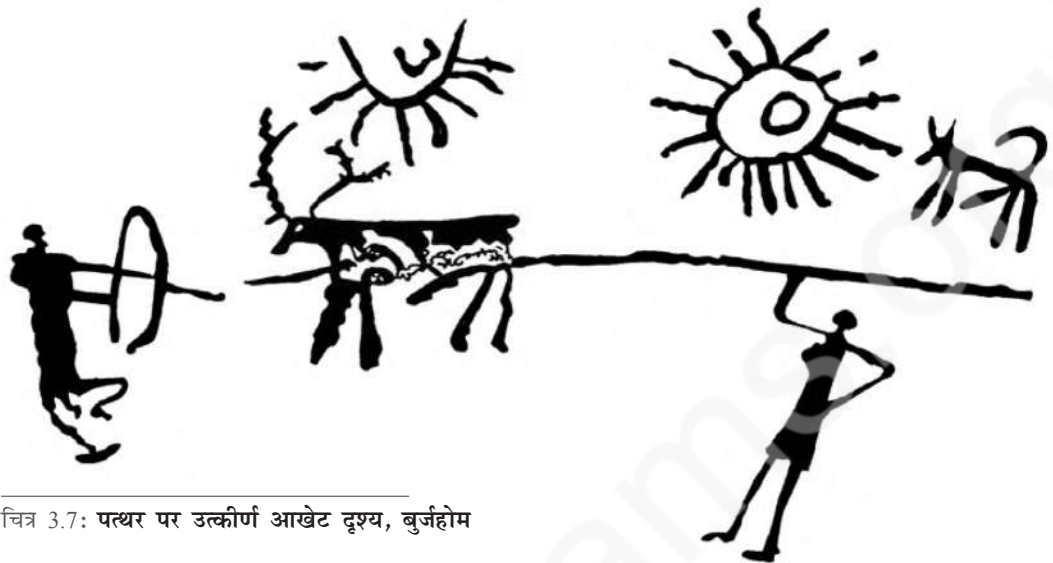
चित्र 3.7: **पत्थर पर उत्कीर्ण आखेट दृश्य, बुर्जहोम**

आखेटक-संग्राहक जीवनशैली से खाद्य-उत्पादक जीवन शैली के बीच रूपान्तरण के सम्बंध में कुछ सामान्य विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है। पहले इंगित किया जा चुका है कि जहां बहुत सारे आखेटक-संग्राहक समुदायों की जीवनशैली में स्थायित्व था वहीं बहुत से कृषक-पशुपालक समुदायों ने अपनी घुमन्तू जीवन प्रवृत्तियों का जारी रखा। वैसे इस बात पर भी मतभेद है कि स्थायी जीवन शैली कृषि की शुरुआत के बाद आई या पहले। फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि कृषि को अपनाने वाले समुदायों ने धीरे-धीरे स्थायी जीवनशैली का अनुपालन आरम्भ कर दिया है।

मानव अस्थियों के विश्लेषण के आधार पर पोषण और रोग का अध्ययन यह दिखाता है कि आखेटक-संग्राहक समुदायों का भोजन अत्यधिक प्रोटीन समृद्ध हुआ करता था, जो आरंभिक कृषक समुदायों के भोजन की तुलना में अधिक विविध, संतुलित और स्वस्थ आहार होता था। कृषकों के भोजन में अधिक कार्बोहाइड्रेट और अनाजों एवं कंद पर आधारित फसलों पर आश्रित होता था। स्थायी निवास करने वाले समुह घुमंतू समुदायों के मुकाबले संक्रामक रोगों और महामारियों के प्रति अधिक असुरक्षित थे। यह इस बात को समझने में मदद करता है कि क्यों आरंभिक कृषक समुदायों के अस्थि अवशेषों में रोगों के लक्षण काफी अधिक दिखाई देते हैं।

एक ही स्थान पर अधिक समय तक रहने के कारण इन समुदायों और उनके पर्यावरण के बीच अधिक मजबूत सम्बंध बनने लगा। स्थायी जीवनशैली और कृषि प्रेरित आहार का यह भी अर्थ हुआ कि स्त्रियों को प्रसव के दौरान झेलने वाला कष्ट कम हुआ तथा मातृत्व और शैशव जीवन कुछ सहज हुआ। आहार में कार्बोहाइड्रेट की अधिकता दो प्रसवों के बीच कम होते हुए अन्तराल को दर्शाती है। इन सब कारकों से उच्च जन्म दर का भी संकेत मिलता है। जीवनशैली के स्थायित्व से शिशु और वृद्ध का जीवन भी आसान हुआ होगा। इससे मृत्यु दर के कम होने और बढ़ते हुए जीवन की सम्भावनाओं का भी अनुमान लगाया जा सकता है। इन परिस्थितियों के बीच लम्बी कालावधि के बाद विभिन्न समुदायों की जनसंख्या में वृद्धि और उनके आयुवृत्तों में परिवर्तन देखा जा सकता है।

खाद्य उत्पादन से नए बर्तनों और नए उपादानों की आवश्यकता होने लगी थी। जीवन-निर्वाह से जुड़ी गतिविधियों में पुरुष, महिला, बच्चों और उम्रदराज लोगों की सहभागिता की प्राथमिकताएं भी बदलीं। समुदायों के खाद्य-नैतिकता में भी प्राय: बदलाव आने लगा था। आखेटक-संग्राहक समुदाय अपने लिए उतना ही भोजन जुटाता था जितना कि उनके लिए सीमित अवधि में उपभोज्य था। जबकि कृषकों के द्वारा किया गया खाद्य उत्पादन भविष्य के लिए भण्डारण की आवश्यकताओं को सृजित कर रहा था। इसके लिए लम्बी अवधि के लिए खाद्य प्रबंधन और योजनाएं बनाई जाने लगी।

ऐसा भी प्रयोगों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि वनस्पतियों के उगाए जाने के लिए स्त्री वर्ग की भूमिका अधिक रही। नृजातिवृतों के आधार पर यह पाया गया है कि उद्यानकृषि गतिविधियों में महिलाओं की भूमिका ज्यादा अहम रही है। वैसे भी आखेटक-संग्राहक समाजों में पुरुष वर्ग आखेट में और नारी वर्ग आहार संग्रह में अधिक संलिप्त रहे होंगे और इस लिए अधिक संभावना है कि कृषि से सम्बंधित प्रारम्भिक प्रयोग स्त्री के द्वारा किए गए होंगे। यह भी सम्भावना है कि मृद्‌भाण्डों की उपयोगिता—खाद्यान के

भण्डारण और उन्हें पकाने से जुड़ी थी, अतः मृद्‌भाण्डों से जुड़े प्रारम्भिक तकनीकी विकास में महिलाओं ने महती भूमिका निभायी होगी। आधुनिक कुम्हारों के अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि मिट्टी का बर्तन बनाना एक लंबी प्रक्रिया होती है, जिसे अंतिम आभार देने में कुम्हार के अपने दो हाथों से ज्यादा हाथ शामिल होते हैं। औरतें और बच्चे इन अन्य कार्यों में लगे रहते होंगे, जिसमें मिट्टी जमा करना, गीली मिट्टी तैयार करना, लकड़ी जमा करना, भट्ठी पर बर्तन ढेर लगाना और अंततः बर्तनों को रंगना। हालांकि, सभी नृजातीय अध्ययन सम्बंधी प्रमाण निष्कर्षात्मक नहीं हो सकते। किन्तु उपरोक्त सन्दर्भ में ये आकर्षक और प्रभावशाली प्रतीत होते हैं इसलिए हमारे पास यह मान लेने के लिए पर्याप्त तर्क है कि खाद्य उत्पादन अवस्था में संक्रमण के दौरान हुए महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तनों के पीछे महिलाओं का योगदान रहा है।

हालांकि, नवपाषणकाल आमतौर पर निर्वाह स्तर की गतिविधियों से सम्बंधित होता है फिर भी नवपाषाणयुग में शिल्पों का विशिष्ट कारण और लम्बी दूरी के विनिमय को दर्शाने वाले पर्याप्त प्रमाण मेहरगढ़, कुनझुन और गणेश्वर जैसे नवपाषाण केंद्रों से मिले हैं। कई नवपाषाण बस्तियों में पशुपालन, शिल्पगतिविधियों, बूचरखाना इत्यादि के लिए पृथक-पृथक खंड सुनिश्चित किए गए थे। यह समुदाय के सदस्यों के द्वारा स्थान और गतिविधियों से जुड़े उद्देश्यपूर्ण तथा सामूहिक निर्णय लेने की ओर इशारा करता है। पूर्व के खंडों मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बहुत सारे नवपाषाणीय समुदाय अपनी समकालीन नगरीय संस्कृतियों के साथ सम्बंध बनाए हुए थे।

वैसे भी जब स्थायी गावों में लोगों ने रहना प्रारम्भ किया तब आपसी सहभागिता के लिए तद्‌नुरूप सामाजिक नियमों का सृजन करना पड़ा होगा। ऐसे नए मूल्य आखेटक-संग्राहक सभ्यता के मूल्यों से काफी भिन्न रहे होंगे। प्रारम्भिक कृषक तथा पशुपालन समुदाय आयुवर्ग और लिंग पर आधारित श्रम-विभाजन के आधार पर सामाजिक परिवर्तन कर रहा था। अध्ययन किए गए नवपाषाण केंद्रों से उपलब्ध मकानों के आकार में भिन्नता और शवों के साथ दफनाए जाने वाली सामग्रियों में अन्तर के आधार पर सामाजिक श्रेणिकरण के अस्तित्व की सम्भावना दिखलाई पड़ती है। नवपाषाण युगीन केंद्रों से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर जिस प्रकार की आर्थिक गतिविधियों और जटिल हो रहे सामाजिक संरचना का अनुमान लगाया जाता है, यह कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से एक प्रभावशाली राजनैतिक नियंत्रण और संगठनात्मक व्यवस्था का अस्तित्व रहा होगा।

उपासना, आस्था, धर्म और विश्वास

(Changes in Cultic and Belief Systems)

नवपाषाण युगीन जीवनशैली में हुए परिवर्तनों के कारण लोगों की आस्था से जुड़े प्रतीकों में भी परिवर्तन दिखलाई पड़ने लगा। किन्तु इस सम्बंध में बड़ी समस्या यह है कि पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर धार्मिक अथवा उपासना सम्बंधी गतिविधियों को परिभाषित कैसे किया जाए और उन्हें पुरातात्त्विक स्रोतों में कैसे पहचाना जाए? पहले के अध्याय में हम देख चुके हैं कि पुरापाषाण युग तथा मध्यपाषाण युग की कला उस काल के जादुई धार्मिक विश्वास अथवा आखेट से जुड़े कर्मकाण्ड का प्रतिनिधित्व करती है। वनस्पति को उगाने और जानवरों को पालतू बनाने के साथ-साथ उनकी उर्वरा शक्ति अथवा प्रजनन क्षमता में वृद्धि निश्चित रूप से उन समुदायों के लिए महत्त्वपूर्ण बन चुकी होगी, जिसके लिए जादुई तथा कर्मकाण्डीय प्रक्रियाओं से उनपर नियंत्रण करने का भी प्रयास किया गया होगा। टेराकोटा की बनी नारी प्रतिमाएं नवपाषाण स्तर से, सभी महत्त्वपूर्ण केंद्रों से और विशेषकर उत्तर पश्चिमी क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। इन मृण्मूर्तियों को मातृदेवी की संज्ञा दी जाती है। उर्वरा शक्ति और प्रजनन से सम्बंधित होने के कारण इन प्रतिमाओं में लोगों की विशेष आस्था अवश्य रही होगी। लेकिन ये निश्चित रूप से कैसे कहा जा सकता है कि ऐसी प्रतिमाएं निश्चित रूप से उपासना की विषय-वस्तु रही होगी। ऐसा भी हो सकता है कि खिलौने अथवाशृंगारिक उत्पादनों के रूप में इनका प्रयोग किया जाता हो या ये कला की केवल सहज अभिव्यक्ति हों। यही स्थिति सांड़ों से जुड़ी नवपाषाण कलाकृतियों के सम्बंध में भी है। जिनकी प्राप्ति राणा घुंडई, मेहरगढ़, मुण्डीगाक, बालाकोट, गिलुंद, बालाथल अथवा चिरांद जैसे स्थलों से हुई है। इसलिए इतना सतर्क रहना आवश्यक है कि जब तक इन आकृतियों का एक व्यापक धार्मिक या उपासना सम्बंधी सन्दर्भ प्रमाणित नहीं हो जाता, इन टेराकोटा कलाओं की यथा तथ्य व्याख्या नहीं की जाए।

शव की अंत्येष्टि क्रिया का विशिष्टीकरण नवपाषाण या नवपाषाण-ताम्रपाषाण युग की शुरुआत नहीं है किन्तु निश्चित रूप से इस समय से इसका प्रचलन बहुत बढ़ गया। मृतक के शारीरिक अवशेष से जुड़ी आस्था दफनाने अथवा अंत्येष्टि क्रिया के वैविध्य से जुड़ी है। आवासीय क्षेत्र के भीतर कब्रों की उपस्थिति के सम्बंध में यह तय कर पाना कठिन है कि मृत्यु के साथ सम्मान जुड़ा था या भय अथवा दोनों। दफनाने की विधि में अन्तर और मृत शवों

अनुसंधान की दिशाएं

स्त्री की प्रतिमाएं—साधारण महिला या आराध्य देवियां

एक समय तक नवपाषाण स्थलों से प्राप्त स्त्री की सभी मृण्मूर्तियों को विद्वानों ने मातृदेवी की श्रेणी में रखा। क्योंकि सभी कृषक समाजों में उर्वराशक्ति की देवी की उपासना की मान्यता थी तथा हिन्दु धर्म के दृष्टिकोण से प्राचीन प्राप्तियों को आंका जा रहा था। लेकिन बाद में विद्वानों ने स्त्री की इन मृण्मूर्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दिया। यह स्पष्ट होने लगा कि वैसी तमाम प्रतिमाएं किसी एक सार्वजनिक विश्वास का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थीं। तथा प्राचीन युग की सभी देवियाँ, मातृत्व, उर्वराशक्ति अथवा प्रजनन क्षमता का प्रतीकात्मक निर्देशन नहीं करती थीं।

ऐसी परिस्थिति में मातृदेवी के स्थान पर इन्हें आस्था से जुड़ी स्त्री प्रतिमाओं के रूप में व्याख्यायित करना अधिक उचित होगा। ऐसे निरपेक्ष कथन के प्रयोग का यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसी सभी प्रतिमाएं धार्मिक अथवा उपासनात्मक महत्ता वाली न हों, बल्कि ऐसा सम्भव है कि इनमें से बहुत सी प्रतिमाएं दैनिक कर्मकाण्ड अथवा उपासनात्मक निष्ठा से जुड़ी थीं। फिर भी इनके सम्भावित महत्त्व या उद्देश्य का विश्लेषण कल्पना के आधार पर नहीं किया जा सकता।
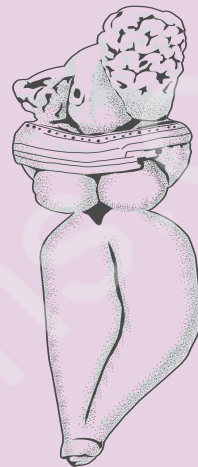
स्त्री चित्र, मेहरगढ़

को दफनाने के लिए निश्चित दिशा का चयन यह बतलाता है कि इन समुदायों में अंत्येष्टि से जुड़ी परम्पराएं विकसित हो रही थी। अनेक शवों का एक कब्र में दफनाया जाना या तो उनकी एक साथ हुई मृत्यु के कारण या अथवा सगोत्रीयता जैसे सामाजिक सम्बंध में बढ़ते हुए विश्वास के कारण था। मेहरगढ़ के कब्रों से प्राप्त शवों को दफनाने के पहले लाल गेरूए रंग से रंगा जाना भी एक प्रकार की उर्वरा सम्बंधी आस्था का द्योतक हो सकता है। बुर्जहोम से प्राप्त मनुष्य और जानवर की संयुक्त कब्र इनके बीच बन रहे नए सम्बंध को दर्शाते हैं। सरल और अपेक्षाकृत कहीं अधिक अलंकृत कब्रों से समाज के अलग-अलग श्रेणियों में प्रचलित अंत्येष्ठि सम्बंधी व्यवहार देखा जा सकता है। कब्र की अन्य सामग्रियों के साथ आहार का पाया जाना शायद मृत्यु के बाद जीवन की अवधारणा की अभिव्यक्ति थी। इसलिए अंत्येष्टि व्यवहारों में हो रहे परिवर्तन के सामाजिक महत्त्व के विषय में और भी अध्ययन किया जा सकता है।

निष्कर्ष

भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में प्रारम्भिक खाद्य-उत्पादक समाजों के उद्भव की तिथियाँ और उनके द्वारा अपने पर्यावरण के अनुकूलन से सम्बंधित विस्तृत तथ्यों के सम्बंध में काफी असमानता है। जहां बलूचिस्तान और विंध्यशृंखला के उत्तरी हिस्सों में खाद्य उत्पादन करने वाले गावों का विकास 7000-3000 सा.सं.पू. के बीच हुआ वहीं उपमहाद्वीप के अन्य हिस्से में इनका भौगोलिक विस्तार 3000-2000 सा.सं.पू. के बीच हुआ। कृषि और पशुपालन के उद्भव के परिणाम स्वरूप आखेटक-संग्राहक जीवनशैली पूरी तरह से समाप्त नहीं हो गई। इस पूरी कालावधि की विशेषता यह रही कि नवपाषाण, नवपाषाण-ताम्रपाषाण, ग्रामीण ताम्रपाषाण और नगरीय ताम्रपाषाण सभ्यताओं के बीच आदान-प्रदान होता रहा। वस्तुत: खाद्य-उत्पादन जीवन-निर्वाह की पद्धति का तात्कालिक प्रभाव तो पड़ा ही, भविष्य पर भी इसका प्रभाव पड़ने वाला था। कुछ क्षेत्रों में खाद्य उत्पादन की प्रक्रिया की शुरुआत और इससे जुड़े हुए सांस्कृतिक परिवर्तनों ने आद्य नगरीय बस्तियों और अन्तत: नगरों को जन्म दिया।

अध्याय संरचना

अध्याय 4

हड़प्पा सभ्यता
ल. 2600-1900 सा.सं.पू.

वर्ष 1826 में पंजाब के साहीवाल जिला के एक गांव में स्थित एक टीले का अवलोकन चार्ल्स मैसन नामक ईस्ट इण्डिया कम्पनी को छोड़कर निकले एक साहसिक अधिकारी ने किया। वह आश्वस्त था कि इसी स्थान पर चौथी शताब्दी सा.सं.पू. में सिकन्दर और पोरस का युद्ध लड़ा गया था। इसके कुछ वर्षों बाद एलेक्ज़ेण्डर बर्न्स नामक एक यात्री ने हड़प्पा की यात्रा की। उसने महसूस किया कि वह एक महत्त्वपूर्ण स्थल पर पहुँचा है। किन्तु उससे अधिक वह कोई जानकारी नहीं जमा कर पाया। बहुत वर्षों बाद 1850 के दशक में एलेक्ज़ेण्डर कनिंघम नामक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक सैन्य अभियन्ता ने, हड़प्पा की यात्रा पुरातत्त्व में रुचि रखने के कारण की। उसने एक सीमित उत्खनन के द्वारा कुछ प्राचीन संरचनाओं के अवशेष पाए किन्तु वह उनसे बहुत प्रभावित नहीं हो सका।

कनिंघम ने 1872 में हड़प्पा की जब दूसरी बार यात्रा की तब तक वह हाल में बनाए गए भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण का डायरेक्टर जनरल नियुक्त हो चुका था। वहां स्थित टीले रेल लाईन बिछाने वाले ठेकेदारों के द्वारा बुरी तरह प्रभावित हुए थे। जिसने कनिंघम को काफी विचलित कर दिया। कनिंघम ने वहां से पाषाण औज़ार, अतिप्राचीन मृद्भाण्डों के साथ-साथ साँड के चित्र वाला एक मोहर प्राप्त किया है जिसके नीचे कुछ विचित्र सा लिखा हुआ था। सांड के विषय में उसने कहा कि कुबड़ नहीं होने की वजह से यह एक विदेशी सील है। इस प्रकार उसने सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य से अपना मुँह मोड़ लिया।

जॉन मार्शल, डायरेक्टर जनरल, भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण, 1902-28

ऐसा लगता है कि 20वीं शताब्दी की शुरुआत में ए.एस. आई के जिन अधिकारियों ने हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का जांच-पड़ताल किया वे उन स्थलों से बहुत प्रभावित नहीं हुए। पण्डित हीरानंद शास्त्री ने अपने प्रतिवेदन में लिखा कि हड़प्पा के उत्खनन से कोई विशेष लाभ नहीं होने वाला है। डी.आर. भण्डारकर का मोहनजोदड़ो के प्रति यह विचार बना कि यह स्थल 250 वर्ष से अधिक पुरानी नहीं लगती है। फिर भी किसी तरह वर्ष 1920 में दयाराम साहनी ने हड़प्पा तथा 1921 में आर.डी. बनर्जी ने मोहनजोदड़ो का उत्खनन कार्य शुरू किया। इस खोज का वास्तविक महत्त्व महसूस करने में और कई साल लगे। सिन्धु अथवा हड़प्पा सभ्यता के खोज की औपचारिक उद्घोषणा चार्ल्स मैसन द्वारा हड़प्पा के टीलों पर भ्रमण करने और यह महसूस करने के लिए कि यह अवश्य कोई बहुत महत्त्वपूर्ण जगह है, के तकरीबन सौ सालों बाद 1924 में ए.एस.आई के डायरेक्टर जनरल जॉन मार्शल के द्वारा की गई (इस रोचक कथा के लिए देखें लाहिरी, 2005)। मार्शल के इस नाटकीय उद्घोषणा का निहितार्थ काफी व्यापक था। भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक दौर की जानकारी 2500 वर्ष पीछे खिसक चुकी थी और इसे भी मेसोपोटामिया अथवा मिस्र की प्राचीन सभ्यताओं के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया गया था।

सभ्यता और नगरीकरण: परिभाषाएं तथा निहितार्थ

(Civilization and Urbanization : Definitions and Implications)

'नगरीकरण' का अर्थ है नगरों का उद्भव। 'सभ्यता' का अभिप्राय इससे कहीं व्यापक है किन्तु यह एक ऐसे विशिष्ट सांस्कृतिक अवस्था की द्योतक है जो सामान्य रूप से नगरों और लिपियों से सम्बंधित माना जा सकता है। हालांकि, पुरातत्त्वविदों ने आकार और स्थापत्य के विकास के आधार पर कुछ नवपाषाण युगीन बस्तियों को लिपि की अनुपस्थिति में भी नगरीय दर्जा दिया है। जार्डन के जेरिको (8वीं सहस्राब्दि सा.सं.पू.) और टर्की के सताल हुयुक (7वीं सहस्राब्दि

◀ **मोहनजोदड़ो का दृश्य, सिंध (पाकिस्तान)**

सा.सं.पू) इसके उदाहरण हैं। इस बात की तरफ भी इशारा किया गया है कि मेसोअमेरिका की माया सभ्यता और ग्रीस की माइसिनियन सभ्यताओं में वास्तविक नगर मौजूद नहीं थे, जबकि पेरू की इंका सभ्यता के पास वास्तविक लेखन प्रणाली मौजूद नहीं थी। फिर भी उपरोक्त अपवादों के बावजूद नगर और लेखन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं एवं नगरीकरण और सभ्यता दोनों का पर्याय के रूप में प्रयोग होता रहा है।

नगरों को परिभाषित करने का सबसे पहला प्रयास वी. गॉर्डन चाइल्ड (1950) द्वारा किया गया। वी. गॉर्डन चाइल्ड ने नगर को सामाजिक विकास के क्रम में एक नई आर्थिक अवस्था के रूप में परिभाषित करते हुए इसे एक क्रान्ति की संज्ञा दी है। पहले की 'नवपाषाण क्रान्ति' की तरह नगरीय क्रान्ति भी न तो आकस्मिक और न ही हिंसक थी, बल्कि यह सदियों से चली आ रही सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की परिणति थी। चाइल्ड ने वैसे दस अमूर्त विशेषताओं की कल्पना की जिनके आधार पर पुरातात्त्विक विधि से प्रारम्भिक नगरों तथा उनसे प्राचीन अथवा समकालीन गॉवों के बीच अन्तर किया जा सके।

चाइल्ड के विचारों ने नगरीय समाज की मूलभूत विशेषताओं को रेखांकित करने के लिए आने वाले दिनों में एक रोचक बहस की शुरुआत कर दी। नगरीकरण के लिए प्रयुक्त क्रान्ति शब्द की कुछ विद्वानों ने आलोचना की। कुछ विद्वान यहां 'क्रांति' शब्द के उपयोग से सहमत नहीं थे क्योंकि इससे नगरीकरण अचानक और सचेत परिवर्तन का बोध होता है। इसके अतिरिक्त उनकी दस विशिष्टताएं भी उन्हें अस्पष्ट स्वरूपों की ढ़ीली-ढ़ाली गठरी दिखाई देती है और उनके अनुसार यह सापेक्षिक रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण आयामों को भी क्रमबद्ध सजा कर पेश नहीं करती। उदाहरण के लिए क्या संशलिष्ट कलात्मक शैली भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण होगी, जितनी कृषि अधिशेष या राज्य-संरचना? इसके अतिरिक्त सभी 10 विशेषताओं (जैसे ठोस या अनुमान आधारित विज्ञान) के विषय में पुरातात्त्विक आंकड़ों से निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। एक और आपत्ति यह उठाई गई है कि कुछ विशिष्टताएं जैसे विशाल भवन संरचना, विशेषीकृत शिल्प और लंबी दूरी के व्यापारों को कभी-कभी गैर-नगरीय

राखलदास बनर्जी, जिन्होंने 1921 में मोहनजोदड़ो में पहली बार उत्खनन कार्य किया

महत्त्वपूर्ण अवधारणा

चाइल्ड द्वारा निर्धारित नगरों के दस लक्षण

1. विश्व के सबसे पहले नगर गांवों से अधिक बड़े आकार तथा सघन जनसंख्या वाले थे।
2. नगरीय जनसंख्या में कुछ किसान या पशुओं की उपस्थिति संभव थी। किन्तु मुख्य रूप से उनमें निवास करने वाले लोग पूर्णकालिक शिल्पकार, व्यापारी, यातायातकर्मी, अधिकारी अथवा पुरोहित वर्ग के थे। जिनका भरण-पोषण किसानों के द्वारा किए गए अधिशेष खाद्य उत्पादन के द्वारा होता था।
3. किसानों को अपना अधिशेष उत्पादन, कर अथवा भेंट के रूप में एक शासन करने वाले वर्ग को देना पड़ता था।
4. भव्य सार्वजनिक भवनों का निर्माण नगरों का हालमार्क था तथा एक कुलीन वर्ग के हाथों में सामाजिक अधिशेष (समाज द्वारा उत्पादित अधिशेष सम्पति) का केंद्रीकरण नगरों में प्रतिबिम्बित होता था।
5. शासक वर्ग और समाज के शेष हिस्से के बीच एक विशेष प्रकार का सम्बंध था शासक वर्ग किसानों के अधिशेष उत्पादन पर निर्भर करता था। और बदले में उन्हें शान्ति, सुरक्षा, योजना और संगठन प्रदान करता था।
6. लेखन और अंकजनित संकेत, रिकार्ड रखने के इन व्यवस्थाओं के अविष्कार, प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए सहायक बने।
7. लेखन के आविष्कार के द्वारा अंकगणित, ज्यामिति, खगोल विज्ञान तथा कैलेण्डर के निर्माण जैसे व्यवहारिक विज्ञानों का अविष्कार हुआ।
8. अमूर्त विचार तथा उत्कृष्ट शैलियां कलात्मक अभिव्यक्ति पाने लगीं।
9. नगरों का तात्पर्य लम्बी दूरी के व्यापार और व्यवसाय से भी था।
10. नगरों का तात्पर्य एक ऐसे राज्य संगठन से भी था जिसका अस्तित्व एक निश्चित भूमि से जुड़ा हुआ था। सगोत्रीय सामाजिक सम्बंधों से नहीं। राज्य के द्वारा प्रदान किए गए सुरक्षा और सामाजिकों के आधार पर शिल्प विशेषज्ञों ने यातायात जीवन को छोड़कर नगरों में स्थायी जीवन व्यतीत करना शुरू कर दिया।

स्रोत: चाइल्ड (1950)

संदर्भों में भी पाया जाता है। फिर भी यदि इन दस विशेषताओं को पृथक-पृथक न लेकर सामूहिक रूप से देखा जाए तब यह मानना पड़ेगा कि चाइल्ड ने नगरीय जीवन से जुड़ी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को चिन्हित किया था।

बाद के दिनों में नगरीकरण को परिभाषित करने के सम्बंध में तीन अलग-अलग धाराएं प्रचलित हुईं। पहली धारा लिपि और लेखन, भव्य स्थापत्य या सघन जनसंख्या जैसे गुणों की पहचान करने पर केन्द्रित होती है। दूसरे के अन्तर्गत बस्ती का आकार, स्थापत्य (जैसे सुरक्षा दीवारें अथवा पत्थर-ईंटों का प्रयोग इत्यादि) और मापतौल की समरूप पैमाना जैसी ठोस विशेषताओं पर अधिक बल देती है जबकि तीसरी श्रेणी की परिभाषाएं अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त विशिष्टताओं पर केन्द्रित हैं, यथा सांस्कृतिक, जटिल, प्रभावशाली, राजनैतिक नियंत्रण, समरसता इत्यादि।

दुनिया में पहले नगरों के विकास से सम्बंधित विभिन्न प्रस्थापनाएं जो प्रस्तावित की गई हैं, उनसे यह प्रतिबिम्बित होता है कि कैसे अलग-अलग विद्वान ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के पल्लवन को अलग-अलग तरीके से समझते हैं। इस प्रकार जहां चाइल्ड ने जीवन-निर्वाह पद्धति खाद्य अधिशेष उत्पादन, ताम्र-कांस्य तकनीक, यातायात में चक्के वाले वाहनों का प्रयोग, बड़े जहाज, हल का प्रयोग, इत्यादि को महत्त्व दिया वहीं रॉबर्ट मक ऐडम्स ने सामाजिक कारकों पर और गिडियन स्खोबर्ग ने नगरों के उद्‌भव के लिए राजनैतिक कारकों को अधिक तरजीह दी।

मक ऐडम्स ने नगरों और उनके अंत:क्षेत्रों के बीच के महत्त्वपूर्ण सम्बंध को नगरीय जीवन की समझ के लिए व्याख्यायित किया (मैक सी. एडम्स, 1966 तथा मैक सी. एडम्स, 1968)। वस्तुत: नगर और गांव दो परस्पर विपरीत ध्रुव न होके वैसी स्वतंत्र और अन्तर्सम्बंधित इकाइयाँ है जों अपने व्यापक सांस्कृतिक पर्यावरण के अभिन्न घटक हैं। नगरों का विकास गांवों से होने वाले कृषि अधिशेष उत्पादन पर ही निर्भर करता है और दूसरी ओर कृषि अधिशेष उत्पादन स्वत: प्रेरित आर्थिक प्रक्रिया न होकर विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं राजनीतिक कारकों से नियंत्रित होती है। मक ऐडम्स ने नगरों द्वारा निभाए जाने वाली विभिन्न भूमिकाओं पर भी प्रकाश डाला है। नगर एक प्रकार से कृषि अधिशेष के अधिग्रहण और पुनर्वितरण के संपर्क बिंदु हुआ करते थे। वे उन नवीन सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के लिए स्थायी आधार का काम भी करते थे, जो विभिन्न लघु आर्थिक गतिविधियों में लगे विशेषज्ञों के बीच सम्बंधों को नियंत्रित करता था। नगर अधिशेषों के भंडारण और संपत्ति के संकेंद्रण का सुरक्षित केंद्र होता था। यह अभिजात वर्ग द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम पर किए जाने वाले खर्च का भी मुख्य स्थल होता था। ये अध्ययन, कलात्मक गतिविधि, दार्शनिक बहस और धार्मिक विचारों के उद्‌भव का भी केंद्र होता था।

स्खोबर्ग (1964) ने नगरों के इतिहास तथा विभिन्न साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन के बीच गहरे सम्बंध को रेखांकित करने का प्रयास किया। उनका तर्क था कि विभिन्न साम्राज्यों के सामाजिक संगठनों का संचालन तथा व्यापार और व्यवसाय के लिए आवश्यक स्थायित्व, वस्तुत: प्रभावशाली राजनैतिक नियंत्रण के द्वारा ही सम्भव है। नगरों के द्वारा संपादित कार्य और विशेषताओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि नगरों में सघन आबादी अपेक्षाकृत काफी छोटे से क्षेत्र में निवास कर सकती है जो सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। नगरों में विभिन्न विधाओं के विशेषज्ञों के बीच सम्पर्क और संवाद की समुचित व्यवस्था होती है नगरों के केंद्रों में कुलीन वर्ग निवास करता है और इसलिए राजनीतिक निर्णय और सैन्य योजनाएं वहीं बनती है। बौद्धिक तथा व्यवसायिक गतिविधियों के अतिरिक्त नगरों का कुलीन वर्ग कलात्मक अभिव्यक्ति को भी संरक्षण देता है और इस लिए वे संस्कृति और कला केंद्र के रूप में भी कार्य करने लगे।

उपरोक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त नगरीकरण के विकास के सम्बंध में जनसंख्या वृद्धि, लम्बी दूरी का व्यापार, सिंचाई तथा वर्ग-संघर्ष जैसे कारकों को भी महत्त्वपूर्ण माना गया। वास्तविकता तो यह है, कि किसी भी जटिल सांस्कृतिक व्यवस्था के उन्नयन में विभिन्न प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी और वैचारिक कारकों के बीच अन्तक्रिया देखी जा सकती है। इस प्रकार की अन्तक्रिया विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य में विकसित होती हैं। जब विश्व के प्रारम्भिक स्रोत के रूप में उपयोग में लाया जाता है तब अन्य कारकों की अपेक्षा हमारे पास नगरीकरण के तकनीकी पक्ष के विषय में ही प्रत्यक्ष जानकारी उपलब्ध हो सकती है। यह नगरीकरण के विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है।

दरअसल, नगरों का उद्‌भव ग्रामीण तथा नगरीय दोनों प्रकार के मानवीय आवास व्यवस्था के लम्बे इतिहास का एक हिस्सा है। नगरीकरण की कहानी बढ़ती हुई सांस्कृतिक जटिलता, फैलते हुए खाद्य संसाधन, तकनीकी विकास, बढ़ती हुई शिल्प की विशिष्टताएँ, सामाजिक श्रेणीकरण तथा राजनीतिक संरचना के विकास से जुड़ी हैं जिसको हम राज्य की संज्ञा दे सकते हैं।

नए अनुसंधानों के आलोक में बदलते परिप्रेक्ष्य

(Recent Discoveries and Changing Perspectives)

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खोज को 8 दशक से ऊपर हो चुके हैं और इस समयांतराल में हड़प्पा सभ्यता के बारे में हमने विस्तृत सूचना एकत्रित कर ली है। हड़प्पा सभ्यता से जुड़े कई नए स्थल ढूंढे गए। पूर्व से ज्ञात स्थलों का पुनर्उत्खनन किया गया और इन नए तथा पुराने अध्ययनों के आधार पर बहुत सारी नवीन व्याख्याएं सामने आईं। हालांकि, हमारी सूचनाओं का भण्डार भरता गया, लेकिन इस सभ्यता से जुड़े बहुत सारे पहलू अभी भी रहस्य और विवाद के दायरे में घिरे हुए हैं।

माधो सरूप वत्सः जिन्होंने 1920 और 1930 के दशकों में हड़प्पा का उत्खनन कार्य किया

हड़प्पाई सभ्यता की खोज के प्रारम्भिक वर्षों में इसके तिथि निर्धारण के लिए मैसोपोटामिया से इसका सम्बंध महत्त्वपूर्ण बना रहा, बल्कि कुछ पुरातत्त्वविदों ने (शैफर 1982 ए) दोनों सभ्यताओं के बीच तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया। इसके फलस्वरूप हड़प्पा सभ्यता के उदय और इसकी अर्थ व्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था की प्रकृति के सम्बंध में बहुत सारी भ्रांतियां बनी रहीं। विगत् दशकों में विद्वान तथा पुरातत्त्वविद् इस सभ्यता से जुड़े उपरोक्त पूर्वाग्रह के सम्बंध में काफी सचेत हो चुके हैं। प्रायः यह स्वीकार किया जा चुका है कि हड़प्पा सभ्यता को मेसोपोटामिआई दृष्टि से ने देखकर स्वतंत्र रूप से देखना चाहिए।

प्रारम्भिक दशकों की हड़प्पन अध्ययन की एक और विशेषता शहरी बस्तियों पर जोर देना था, जैसे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे नगरीय जीवन पर केन्द्रित थे। इसका कारण यह था कि सबसे पहले इन्हीं नगरों को खोजा गया तथा इनका आकार और स्थापत्य दोनों भव्य और आकर्षक संभावनाएँ प्रस्तुत कर रहा था। बाद में चोलिस्तान के लुरेवाला और गनवेरीवाला, हरियाणा के राखीगढ़ी तथा गुजरात के धोलावीरा जैसे स्थानों की खोज हुई जो हड़प्पा, मोहनजोदड़ो से भी बड़े केंद्र थे। हड़प्पा सभ्यता का अध्ययन कर रहे विद्वानों ने बाद में अपेक्षाकृत छोटे नगरों और उससे भी अधिक ग्राम्य केंद्रों पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। जिनमें अल्लाहदिनों (कराची के समीप) जैसे पाँच हेक्टेयर से भी कम आकार वाले ग्रामीण बस्तियों की खोज की तथा उनमें हड़प्पा सभ्यता के परिपक्व काल से जुड़े सभी प्रमाणों को पाया गया। यही स्थिति हरियाणा के बालू-नामक केंद्र के उत्खनन के बारे में सामने आई। हड़प्पा सभ्यता से जुड़े अनगिनत केंद्रों के पुरातात्त्विक खाका अब हमारे पास उपलब्ध हैं जिनके आधार पर नगर, उपनगर, गाँव और इनके बीच रहे सम्बंध के विषय में विस्तृत जानकारियाँ उभरकर सामने आ चुकी हैं।

हड़प्पा सभ्यता से जुड़ी दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता जो उभर कर आई है वह यह है कि जहां एक ओर इस सभ्यता से जुड़े सभी केंद्रों में कुछ सामान्य विशेषताएं देखी जा सकती हैं वहीं दूसरी ओर हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न केंद्रों में क्षेत्रीय और स्थानीय विशिष्टताएं भी परिलक्षित होती हैं। इनकी आवासीय योजना और आहारों के चयन से सम्बंधित विविधताएँ पुरातात्त्विक प्रतिवेदनों में स्पष्ट हो चुकी हैं। जैसे हड़प्पा सभ्यता में सर्वाधिक प्रचलित लाल पर काला रंग वाला मृद्भाण्ड, अल्लाहदीनो से प्राप्त कुल मृद्भाण्डों का मात्र एक प्रतिशत ही है। कालीबंगा के गढ़ वाले हिस्से के दक्षिणी भाग में स्थित अग्निकुण्ड की संज्ञा दी जाने वाली संरचनाएं, सभ्यता के किसी भी अन्य केंद्र में नहीं देखी गई। इसी प्रकार अंत्येष्टि से सम्बंधित व्यवहारों में स्थान-स्थान पर अनेक भिन्नता देखी गई, जैसे मोहनजोदड़ो की अपेक्षा हड़प्पा में शव को जलाने के बाद अस्थियों को गाड़े जाने का प्रचलन अधिक लोकप्रिय था। ये सभी तथ्य जीवन-निर्वाह पद्धति, भोजन व्यवहार, शिल्प-परम्परा, धार्मिक आस्था अथवा सामाजिक रीति रिवाजों में भौगोलिक अन्तर की उपस्थिति की ओर इशारा करते हैं।

इसी प्रकार हड़प्पा से प्राप्त बहुत सारी संरचनाओं की उपयोगिता के सम्बंध में विगत् वर्षों में नई दृष्टि डाली जा रही है। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के 'बड़े भण्डारगृहों' के विषय में उनके भण्डार के रूप में किए गए प्रयोग पर प्रश्न चिन्ह लग रहा है (फेन्ट्रेस, 1984)। इसी प्रकार लेशनिक (1968) ने लोथल के तथाकथित बंदरगाह को सिंचाई के उद्देश्य से बनाए गए डैम के रूप में देखने का प्रयास किया, हाल में यह बहुत अधिक तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। फिर भी हड़प्पा सभ्यता के सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए इन

मानचित्र 4.1: **हड़प्पा सभ्यता के प्रमुख केंद्रों का वितरण**

संरचनाओं के सम्बंध में की जा रही पुनर्व्याख्या महत्त्व रखती है। यदि बड़े भण्डारगृहों वाले सिद्धांत को स्वीकार किया जाए तो यह एक मजबूत और केंद्रीकृत राज्य की उपस्थिति का संकेत हो सकता है।

अभी हाल में अमेरिका और पाकिस्तान के संयुक्त तत्त्वाधान में किया गया, पुरातात्त्विक उत्खनन ने हड़प्पा स्थित आवासीय क्षेत्र के विषय में विस्तृत प्रतिवेदन निर्गत किया। इस सर्वेक्षण में अद्यतन वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग करते हुए हड़प्पा वासियों के सामान्य स्वास्थ्य की दशा के सम्बंध में सटीक व्याख्याएं की गई हैं। इन स्थलों पर सांस्कृतिक स्तरों और आवासीय क्षेत्रों के विभिन्न हिस्सों का पहले के मुकाबले कहीं अधिक सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया

गया है। वैज्ञानिक तकनीकों जैसे अस्थि एवं दंत अवशेषों के विश्लेषण के माध्यम से हड़प्पा के लोगों के भोजन और स्वास्थ्य के विषय में सटीक जानकारी प्राप्त हो रही है।

हड़प्पा सभ्यता से सम्बंधित विभिन्न आयामों के संदर्भ में होने वाली बहसों ने एक तरफ तो प्राचीन घटनाक्रमों के खिड़की में पुरातत्त्वशास्त्र के माध्यम से झांकने की क्षमता को उजागर किया है, तो दूसरी तरफ इस शास्त्र में व्याख्याओं की भूमिका के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। हड़प्पा सभ्यता के सभी आयामों पर विभिन्न प्रकार के सिद्धांतों की मौजूदगी दिखाई देती है। ये सभी के सभी एक जैसे स्वीकार्य नहीं हैं, प्रत्येक की सावधानीपूर्वक जांच करने की जरूरत होती है। कुछ मुद्दों पर निष्कर्ष तक पहुंचा जा सकता है, जबकि कुछ दूसरे मामलों में अपने ज्ञान की सीमाओं को स्वीकार कर लेना ही जरूरी है।

हड़प्पा, सिंधु या सिंधु सरस्वती सभ्यता?

(Harappan, Indus or Sindhu-Sarasvati Civilization?)

इस सभ्यता से जुड़े प्रारम्भिक स्थलों की खोज सिन्धु नदी और इसकी सहायक नदियों के किनारे हुई। इसलिए इस सभ्यता को सिन्धुघाटी सभ्यता या सिन्धु सभ्यता के नाम से जाना गया। आज हड़प्पा सभ्यता से जुड़े 1,022 स्थलों की जानकारी हमें प्राप्त हैं, जिनमें 406 पाकिस्तान में और 616 हिन्दुस्तान में पड़ते हैं। इनमें से 97 स्थलों पर उत्खनन कार्य सम्पन्न किया गया। हड़प्पा सभ्यता 680,000–800,000 वर्ग किलो मीटर के विशाल क्षेत्र में फैली हुई है। इस क्षेत्र के अधीन अफगानिस्तान, पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश (सभी पाकिस्तान में); जम्मू, पंजाब-हरियाणा, राजस्थान, गुजरात तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश (सभी भारत में) के बहुत बड़े हिस्से में सम्मिलित हैं। उत्तर में जम्मू जिला के माण्डा, दक्षिण में सूरत जिला में मालवाँ, पश्चिम में पाकिस्तान के मकरान तटीय प्रदेश में सुक्तागेन-दोर तथा पूरब में सहारनपुर जिला (उत्तर प्रदेश के आलमगीरपुर) इस सभ्यता की सीमाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस क्षेत्र के बाहर अफगानिस्तान के शोरतुघई में पृथक रूप से हड़प्पा सभ्यता का एक केंद्र पड़ता है।

सभ्यता के इस विस्तृत भौगोलिक विस्तार के आधार पर सिन्धु या सिन्धु घाटी सभ्यता के नामकरण पर प्रश्नचिन्ह लगना स्वाभाविक है। विगत् वर्षों में कुछ विद्वानों ने इस सभ्यता को 'सिन्धु-सरस्वती सभ्यता' का नाम देने का प्रयास किया है। क्योंकि इस सभ्यता के बड़ी संख्या में पाए गए स्थल घग्गर-हाकरा नदी के किनारे अवस्थित हैं, जिसको बहुत सारे विद्वानों ने ऋगवेद में वर्णित सरस्वती नदी के रूप में चिन्हित किया है। किन्तु इस सभ्यता के नामकरण के सम्बंध में जो आलोचनाएं सिन्धु या सिन्धु घाटी सभ्यता से जुड़ी हैं वही आलोचना सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के लिए भी वैध है क्योंकि यह सभ्यता सिन्धु अथवा घग्गर-हाकरा नदी घाटी क्षेत्रों तक सीमित नहीं थी। सभ्यता से जुड़े पहले स्थल की खोज के आधार पर किए जाने वाले नामकरण की पुरातत्त्व के शास्त्रीय परम्परा के आधार पर इसको हड़प्पा सभ्यता कहा जाना सबसे उपयुक्त मालूम पड़ता है। हड़प्पा सभ्यता कहे जाने का निश्चित रूप से यह अभिप्राय नहीं कि यह सभ्यता सबसे पहले हड़प्पा में पनपी हो अथवा इससे जुड़े सभी अन्य स्थल हड़प्पा से साम्य रखते हों, बल्कि जैसा कि पॉशल ने यह स्पष्ट सुझाव दिया है कि हड़प्पा सभ्यता की क्षेत्रीय विशिष्टताओं को रेखांकित किया जाना आवश्यक है जिनको उन्होंने डोमेन (प्रभाव क्षेत्र) की संज्ञा दी है (पोसैल, 2003: 6-7)।

समय-समय पर हड़प्पा सभ्यता से जुड़े नए स्थलों की खोज के समाचार छपते रहते हैं। ऐसा पुरातात्त्विक विशिष्टताओं का एक सामान्य रूप से स्वीकृत शिनाख्त सूची के आधार पर किया जाता है। मृद्भाण्ड सबसे लोकप्रिय शिनाख्त माना जाता है। हड़प्पा सभ्यता से जुड़े सबसे लोकप्रिय मृद्भाण्ड लाल पर काले रंग के रंगे डिजाइन वाले हैं और जिनपर अंकित ज्यादातर प्रतीक चिन्ह जाने माने हुए हैं। इसके अतिरिक्त त्रिकोण या वृत्ताकार टेराकोटा के केक, 1:2:4 के अनुपात में बने ईंट तथा कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रस्तरीय और ताम्बे की वस्तुएं भी इस सभ्यता की विशिष्ट पहचान बन चुकी हैं। जब उपरोक्त भौतिक सामग्री में से अधिकांश, किसी एक स्थान पर पाए जाते हैं तब उसे हड़प्पा सभ्यता के एक स्थल के रूप में पहचाना जा सकता हैं।

दरअसल, हड़प्पा संस्कृति को एक दीर्घकालिक जटिल सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है, जिसके कम से कम तीन चरण देखे जा सकते हैं—आरंभिक हड़प्पा सभ्यता, परिपक्व हड़प्पा या हड़प्पा सभ्यता और उत्तर हड़प्पा सभ्यता। आरंभिक हड़प्पा सभ्यता नगरीय जीवन के बीजारोपण का काल हैं तथा उत्तर हड़प्पा सभ्यता नगरीकरण के पतन का काल हैं। जिम शेफर (1992) ने नवपाषाण-ताम्रपाषाण स्तर से हड़प्पा सभ्यता के पतन के काल के बीच की संपूर्ण अवधि को सिन्धु घाटी परम्परा के रूप में वर्णित किया है। पूर्व हड़प्पा सभ्यता के लिए इन्होंने 'क्षेत्रीयकरण' का काल, परिपक्व हड़प्पा सभ्यता को 'एकीकरण' का काल तथा उत्तर हड़प्पा सभ्यता को 'स्थानीयकरण' का काल कहा है। आरंभिक हड़प्पा, हड़प्पा सभ्यता तथा हड़प्पा सभ्यता-उत्तर

के बीच के 'संक्रमण कालों' को भी पृथक रूप से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक में पूर्व हड़प्पा, हड़प्पा तथा उत्तर हड़प्पा सभ्यता का प्रयोग किया गया है और जहां केवल हड़प्पा संस्कृति या सभ्यता का उल्लेख है उसका अभिप्राय नगरीकरण काल से है।

रेडियो कार्बन तिथि निर्धारण के पहले इस सभ्यता की तिथियों को मेसोपोटामिया की सभ्यता से सम्बंधित पूर्व निर्धारित तिथियों के सन्दर्भ के आधार पर देखा जाता है। जॉन मार्शल ने हड़प्पा सभ्यता का काल इस आधार पर ल. 3250-2750 सा.सं.पू. के बीच निश्चित किया। जब मेसोपोटामिया से जुड़ी कालावधि का संशोधन हुआ तब हड़प्पा सभ्यता की तिथियों में भी तद्नुरूप संशोधन करते हुए इसे ल. 2350-2000/1900 सा.सं.पू. के बीच तय किया गया।

1950 के दशक में रेडिया कार्बन तिथि प्रणाली के आगमन के बाद अधिक वैज्ञानिक तरीके से सभ्यताओं की तिथि निर्धारित करने की संभावना उपस्थित हो गयी और अब रेडियो कार्बन तिथि प्राप्त पुरातात्त्विक स्थलों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी। वर्ष 1986-96 के बीच हड़प्पा के विभिन्न स्थलों के उत्खनन के आधार पर 70 नई रेडियोकार्बन तिथियाँ निकाली गईं, किन्तु भूगर्भीय जलस्तर में डूबे होने के कारण सभ्यता से जुड़ी प्राचीनतम तिथियों को नहीं निकाला जा सका। डी.पी. अग्रवाल (1982) ने हड़प्पा सभ्यता के केंद्रीय क्षेत्र के लिए ल. 2300-2000 सा.सं.पू. तथा इसकी परिधि में कोर क्षेत्र के बाहर 2000-1700 सा.सं.पू. की रेडियोकार्बन तिथियाँ निकालीं। किन्तु इन तिथियों का अंशशोधन नहीं किया गया। वर्तमान में अंशशोधित कार्बन-14 तिथि निर्धारण के आधार पर हड़प्पा सभ्यता के सिन्धु घाटी, घग्गर हाकरा घाटी तथा गुजरात जैसे कोर क्षेत्र के लिए 2600-1900 सा.सं.पू. की तिथि निर्धारित की गई है। रोचक बात यह है कि यह तिथि मेसोपोटामिया के सांस्कृतिक सन्दर्भ द्वारा निर्धारित तिथियों से बेहद करीब है।

हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थलों से प्राप्त असंशोधित रेडियोकार्बन तिथि के समकलन के आधार पर हड़प्पा संस्कृति के लिए क्रमश: ल. 3200-2600 सा.सं.पू. (आरंभिक हड़प्पा सभ्यता), ल. 2600-1900 सा.सं.पू. (नगरीय हड़प्पा सभ्यता) तथा ल. 1900-1300 सा.सं.पू. (उत्तर हड़प्पा सभ्यता) प्राप्त की गई हैं।

उद्भव: आरंभिक हड़प्पा चरण का महत्त्व

(Origin: The Significance of the Early Harappan Phase)

उद्भव से सम्बंधित आयाम हमेशा जटिल एवं विवादास्पद होते हैं। मोहनजोदड़ो पर दिए गए अपने प्रतिवेदन में जॉन मार्शल ने बल पूर्वक निवेदित किया कि सिन्धु सभ्यता का भारत की भूमि पर बहुत लम्बा इतिहास रहा है (चक्रवर्ती, 1984, विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण के लिए)। लेकिन दूसरी ओर हड़प्पा सभ्यता के विकास के सम्बंध में बहुत सारे विद्वानों ने 'सांस्कृतिक विसरण' के सिद्धांत को अधिक महत्त्व दिया। ई.जे.एच. मैके ने सुमेर के लोगों के आप्रवर्जन को सिन्धु सभ्यता के अभ्युदय का कारण बतलाया। दूसरी सभ्यताओं से आप्रवर्जन वाले सिद्धान्त के पक्षधरों में डी.एच. गॉर्डन, एस.एन. क्रेमर तथा मॉर्टीमर व्हीलर जैसे विद्वान भी शामिल हैं। व्हीलर के अनुसार, लोगों के स्थान पर विचारों के आगमन को महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए कहा कि हड़प्पा वासियों के समक्ष यह मॉडल उपस्थित था जिसके आधार पर उन्होंने सभ्यता की रचना की।

यह कहना बिल्कुल तर्क संगत नहीं हैं कि मिस्र अथवा हड़प्पा जैसी सभ्यताओं के कुछ समय पहले विकसित हो जाने के कारण मेसोपोटामिया की सभ्यता के आधार पर इन परवर्ती सभ्यताओं का विकास हुआ होगा। हड़प्पा और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं के बीच बहुत सी विभिन्नताएं हैं। मेसोपोटामिया की लिपि, काँस्य के उपयोग की अधिकता, आवासीय योजना तथा नहरों का व्यापक प्रयोग हड़प्पा सभ्यता से मेल नहीं खाता।

यदि हड़प्पा सभ्यता को मेसोपोटामिया सभ्यता की शाखा नहीं माना जाय तो दूसरा विकल्प क्या बचता है? वास्तविकता तो यह है कि हड़प्पा सभ्यता के विकास की कहानी 7वीं सहस्त्राब्दि सा.सं.पू. बलूचिस्तान में प्रारम्भिक कृषक समुदायों के उद्भव से जुड़ी हुई है। हड़प्पा सभ्यता के विकास के लिए नगरीकरण काल के पहले के कुछ सौ वर्ष अधिक महत्त्व रखते हैं जिसको हम पूर्व हड़प्पा या प्रारम्भिक हड़प्पा संस्कृति के नाम से जानते हैं।

अमलानंद घोष, 1965 पहले पुरातत्त्वविद् थें, जिन्होंने पूर्व हड़प्पा संस्कृति तथा नगरीय हड़प्पा संस्कृति की समानताओं को रेखांकित किया। घोष का अध्ययन पूर्व हड़प्पा काल के राजस्थान में विकसित सोठी संस्कृति पर केंद्रित था। उन्होंने सोठी के मृद्भाण्ड की समानता (ए) झोब और क्वेटा जैसे बलूची स्थलों (बी) (कालीबंगा), कोटदिजि, हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के पूर्व हड़प्पा कालीन तथा (सी) कालीबंगा और कोटदिजि के नगरीय स्तर से प्राप्त मृद्भाण्डों के साथ समानता स्थापित की और उस आधार पर सोठी संस्कृति को प्राक हड़प्पा संस्कृति का हिस्सा बताया।

सम्बंधित अवधारणाएं

विसरणवादी सिद्धांतों के साथ जुड़ी समस्याएं

19वीं और 20वीं सदियों के प्रारंभ तक इतिहासकारों एवं पुरातत्त्वविदों के बाद विसरणवादी सिद्धांतों की अत्यंत लोकप्रियता बनी रही। कृषि के उद्भव, नगर के उद्भव एवं विकास, महापाषाण संस्कृतियों के भौगोलिक वितरण अथवा विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों के बीच समरूपता की स्थापना, बल्कि यों कहें कि किसी भी घटना या परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए विसरणवादी सिद्धांतों का भरपूर प्रयोग किया गया।

विसरण या परासरण या प्रसारण, दरअसल एक सिद्धांत नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तनों के सैद्धांतिकरण का एक तरीका है। विसरणवादी तर्क की व्याख्या सामान्य रूप से इस प्रकार की जाती रही है–सबसे पहले विश्व के उस स्थान या हिस्से को चिन्हित किया जाता है, जहां उक्त सांस्कृतिक परिवर्तन पहली बार घटित हुए हों। तत्पश्चात उस स्थान या हिस्से को केंद्र में रखकर यह मान लिया जाता है कि विश्व के अन्य स्थानों और हिस्सों में उक्त परिवर्तन का विसरण या प्रसार वहीं से हुआ है। विसरण की यह प्रक्रिया कभी जनसंख्या के आप्रवर्जन या वाणिज्य अथवा आक्रमण जैसे किसी प्रकार के संपर्क या फिर किसी आकारहीन सांस्कृतिक उत्प्रेरणा के कपोलकल्पित कारकों-इनमें से किसी भी तथ्य को आधार बनाकर व्यास्थापित की जाती रही है। इसलिए स्वाभाविक है कि इस प्रकार के सिद्धांत अपने आप में त्रुटिपूर्ण तर्कों अथवा संकल्पनाओं पर आधारित होते हैं:

1. इनमें से एक संकल्पना यह है कि एक ही प्रकार की खोजों/आविष्कारों/सांस्कृतिक परिवर्तनों, चाहे वह विश्व के किसी भी हिस्से में घटित क्यों न हों, अनिवार्य रूप से एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं। जबकि कई बार ऐसा नहीं होता। जैसा कि कृषि के उद्भव के संदर्भ में हम देख चुके हैं कि कम से कम ऐसे तीन स्वतंत्र केंद्रों को चिन्हित किया जा चुका है, जहां पर प्रारम्भिक कृषि के पृथक और स्वतंत्र प्रमाण मिले हैं।
2. ऐसा देखा गया है कि विसरणवादी सिद्धांतों के अक्सर विभिन्न संस्कृतियों के बीच बाहरी समानताओं पर काफी बल दिया जाता है जबकि उनके बीच की भिन्नताओं को नजरअंदाज कर दिया जाता है। इन बाहरी समानताओं को विसरण के महत्त्वपूर्ण प्रमाणों के रूप में स्थापित करने का प्रयास होता है।
3. वैसे तो इन सभी सिद्धांतों के द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि वे उक्त परिवर्तनों की व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम हैं, किंतु वास्तविकता यह होती है कि इनके द्वारा किसी प्रकार की ठोस व्यवस्था नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, विभिन्न प्रकार की तकनीकों अथवा सांस्कृतिक रूपांतरणों को किसी भी नए क्षेत्र में सामान्य अथवा स्वचालित परिस्थितियों में प्रतिरोपित नहीं किया जा सकता और न ही उनका अभिवहन हो सकता है। इनको प्राप्त करने वाली संस्कृति के पास उनकी आवश्यकता अथवा उनकी स्वीकृति दोनों शर्तों का पूरा होना जरूरी होता है। इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की अनुकूल परिस्थितियों का होना भी आवश्यक होता है। केवल किसी दूसरे जीवन शैली की जानकारी मात्र से लोग अपने जीवन शैली को नहीं बदल लेते। जैसा कि हमने पहले के अध्याय में देखा है कि वैसे बहुत सारे आखेटक-संग्राहक समुदायों का अस्तित्व है, जो कृषि व्यवहारों के विषय में जानते जरूर हैं, किंतु स्वयं उनको व्यवहार में नहीं लाते। जैसे नगरीकरण एक अत्यंत जटिल प्रक्रिया है और नगरों की अच्छी जानकारी हो जाने के बाद भी ग्रामीण संस्कृतियां नगरीय संस्कृतियों का रूप नहीं ले लेतीं। किसी स्थान पर नगरीकरण के पहले कई प्रकार की अन्य परिस्थितियों का होना आवश्यक होता है।

फिर भी विसरणवादी सिद्धांतों की आलोचना करने का यह अभिप्राय नहीं है कि हम यह मान लें कि संस्कृतियां एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करतीं। किंतु संस्कृतियों के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए अधोलिखित तथ्यों की पुष्टि करना आवश्यक होता है:

1. सबसे पहले यह सिद्ध करना आवश्यक है कि उस संस्कृति, जिस संस्कृति से कोई दूसरी संस्कृति प्रभावित हुई हो, उक्त सांस्कृतिक परिवर्तन के पहले एक-दूसरे से किसी न किसी प्रकार से संपर्क में थीं।
2. दोनों संस्कृतियों में होने वाले उक्त सांस्कृतिक परिवर्तन के विकास का मिलता जुलता संदर्भ, स्थापित किया जा सकता है कि नहीं, तथा
3. यह भी सिद्ध किया जाना चाहिए कि किस प्रकार और क्यों उक्त तकनीक/सांस्कृतिक व्यवहार दूसरे संस्कृति के द्वारा स्वीकार की गई तथा इस प्रसारण का क्या माध्यम था।

सबसे पहले यह अध्ययन अनिवार्य रूप से मृद्भाण्डों के विश्लेषण पर आधारित था तथा सोठी और हड़प्पा के बीच सम्भावित भिन्नताओं को नजरअन्दाज कर दिया गया था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि हड़प्पा सभ्यता के विकास के पीछे सोठी संस्कृति के प्रभावों पर अनावश्यक बल दिया गया है।

इस दिशा में सबसे सार्थक अध्ययन सिन्धु घाटी क्षेत्र तथा उत्तरी बलूचिस्तान के पूर्व हड़प्पा सभ्यता स्थलों से प्राप्त विभिन्न प्रकार के प्रमाणों (जैसे मृद्भाण्ड, पाषाण औज़ार, धातु की वस्तुएं, वास्तुकला आदि) के आधार पर 1977 में एम.आर. मुगल के द्वारा किया गया। पूर्व हड़प्पा सभ्यता में आवासीय क्षेत्रों के चारों ओर सुरक्षा दीवारें बनायी जाने लगी थी। पत्थर, धातु से जुड़े शिल्प की विशिष्टताएँ और वैविध्य कहीं अधिक दृष्टिगोचर होने लगी थी। यातायात के लिए चक्के वाले वाहनों का उपयोग होने लगा था तथा सुदृढ़ व्यापारिक तंत्र के प्रमाण मिलने लगे थे। पूर्व हड़प्पा सभ्यता के लोगों के द्वारा शायद अपवाद के रूप में जेड (हरिताश्म) पत्थर को छोड़कर उन सभी कच्चे मालों का उपयोग हो रहा था जिनका उपयोग हड़प्पा के नगरीकरण काल की सभ्यता में किया गया। केवल बड़े नगरों को छोड़कर प्राय: सभी विशेषताएँ पूर्व हड़प्पा सभ्यता में परिलक्षित होने लगी थी इसलिए रफीक मुगल का विचार था कि पूर्व हड़प्पा काल वस्तुत: हड़प्पा संस्कृति के प्रारम्भिक अथवा निर्माणाधीन काल के रूप में देखा जा सकता है, इसलिए उस काल की संस्कृति को पूर्व हड़प्पा के स्थान पर प्रारम्भिक हड़प्पा संस्कृति कहना अधिक उचित होगा।

अनगिनत स्थानों से पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के दौरान प्रारम्भिक हड़प्पा संस्कृति के स्तर विन्यास का अध्ययन किया जा चुका है, जिनमें से कुछ स्थलों का विवरण मानचित्र 4.2 में दिया जा गया है। कई स्थानों के लिए प्रारम्भिक हड़प्पा स्तर से ही सभ्यता की शुरुआत हुई थी जबकि अन्य स्थानों से पहले से चल रही सांस्कृतिक निरन्तरता देखी जा सकती है। प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थानों से एक समान तिथि प्राप्त नहीं हुई है, फिर भी यह काल ल. 3200–2600 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित किया जा सकता है। प्रारम्भिक हड़प्पा काल का अध्ययन हड़प्पा सभ्यता के नगरीकरण काल के आधारशिला के रूप में तो किया जा सकता है किन्तु पृथक रूप से भी पुरातत्त्व विज्ञान में इस काल का अपना महत्त्व हैं।

बालाकोट (मकरान तट पर स्थित सोनमियानी खाड़ी का तटीय मैदान), कालखंड-II प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता है। मृद्भाण्ड चाक निर्मित और रंगी हुई थी, जिसके कुछ नमूने नाल से प्राप्त बहुरंगी मृद्भाण्ड से मिलते-जुलते थे। सूक्ष्म औज़ार, मनके, कुछ ताम्र वस्तुएं, प्रतीक के रूप में सांड की उपस्थिति, टेराकोटा, शंख, लाजवर्द, इत्यादि के प्रयोग के अतिरिक्त जौ, बेर और एकाधिक दालों की प्रजाति और मवेशी, भेड़, भैंस, खरगोश, हिरण एवं सूअर की हड्डियां यहां से मिले हैं। अधयाय 3 में बलूचिस्तान के खोजदार क्षेत्र में नाल नामक स्थल की चर्चा की जा चुकी है। नाल और आमरी से जुड़े स्थल बलूचिस्तान और सिंधु घाटी के दक्षिणी भाग में प्रारम्भिक हड़प्पा चरण का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सिंधु नदी के दाहिने किनारे से दो कि.मी. की दूरी पर सिंध प्रांत में आमरी स्थित है। इस बसावट की शुरुआत 3500 सां. सं. पू. तक पीछे जाती है। आमरी का कालखंड-I प्रारम्भिक हड़प्पा है, जिसे I ए, I बी, I सी और I डी के चार चरणों में विभाजित किया गया

प्रारम्भिक हड़प्पाकालीन मृद्भाण्ड़ों पर चित्रांकनः नाल (ऊपर); कुल्ली (दाहिने)

मानचित्र 4.2: **हड़प्पा सभ्यता के प्रारम्भिक चरण के कुछ केंद्र**

है। कालखंड-II संक्रमणकालीन चरण है और कालखंड-III परिपक्व हड़प्पा। कालखंड-I के अंदर मृद्भाण्डों की विविधता और उत्कृष्टता में धीरे-धीरे वृद्धि दिखाई देती है। कच्ची ईंटों से बनी संरचनाएं, जिसमें कभी-कभी पत्थरों का प्रयोग भी किया जाता था, मिलने लगते हैं। प्राप्त वस्तुओं में चर्ट ब्लेड, पत्थर के गेंद, हड्डियों के औज़ार तथा तांबे और कांसे के कुछ टुकड़े देखे जा सकते हैं। कालखंड-I सी में छोटे-छोटे कक्षों की कतार मौजूद है, जिनका इस्तेमाल अनाज संग्रह करने अथवा बड़े भवन के आधारशिला के रूप में किया जाता होगा। मृद्भाण्डों में कई प्रकार के चाक निर्मित बर्तनों की अधिकता है, जिस पर विभिन्न स्वरूपों में ज्यादातर ज्यामितिक डिजाइन बनाए गए थे। ये चित्र एक रंगी या बहुरंगी हैं, जिनमें भूरा, काला और गेरूरंग का इस्तेमाल किया गया है।

आमरी से 160 कि.मी. उत्तर पश्चिम में स्थित कोटदिजि सिन्धु की एक प्राचीन प्रवाह मार्ग पर स्थित है। यहां पर प्रारम्भिक तथा परिपक्व हड़प्पा स्तरों के बीच आग से जले हुए मलबे का एक स्तर भी पाया गया है। कोटदिजि-I या प्रारम्भिक हड़प्पा काल ल. 3300 सा.सं.पू. से है जहां चूना-पत्थर और मिट्टी के ईंटों से बने सुरक्षा प्राचीर के अवशेष स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। आवासीय क्षेत्र कुलीनों के गढ़ और निचले आवासीय क्षेत्र में

बंटा हुआ था। प्राप्त वस्तुओं में पत्थर, सीप और हड्डियों के बने सामान, टेराकोटा मृण्मूर्ति (जिसमें वृषभ मृण्मूर्ति शामिल है), चूड़ियां मनके और कांसे की बनी एक चूड़ी का हिस्सा शामिल है। कालखंड-I में मृद्‌भाण्डों के आकार-प्रकार में काफी विविधता है, जो ज्यादातर चाक निर्मित हैं। इन बर्तनों पर भूरे रंग की पट्टी से सजावट की गई है। यहां का विशिष्ट मृद्‌भाण्ड छोटी गर्दन वाला अंडाकारनुमा पात्र है, जिस पर 'सिंग वाले देवता', पीपल के पत्ते, मछली के शल्क आदि के डिजाइन बने हुए हैं। कोटदिजि कालखंड-I से मिलते जुलते सामान अन्य कई स्थलों से भी प्राप्त हुए हैं और उनके उन स्तरों 'कोटदिजि नुमा' स्तर का नाम दिया जाता है।

मेहरगढ़ में भी उत्खननकर्ताओं को कोटदिजि शैली के पात्रों, टेराकोटा के तिकोने, चकती के टुकड़ों, बहुत लंबे फ्लिंट ब्लेड, छिद्रमय मर्तबानों के टुकड़े दिखे, जिससे यह संकेत मिलता है कि कालाखंड-VII के अंत में इनका सिंधु घाटी के साथ संपर्क स्थापित हो चुका था। लेकिन ये संपर्क इतने घनिष्ठ नहीं थे कि वहां वास्तविक हड़प्पाई प्रभाव देखने को मिले। पास में स्थित नौशारो में प्रारम्भिक हड़प्पा से एक संक्रमणकालीन एवं फिर अंततः परिपक्व हड़प्पा चरण स्पष्ट होता है। नौशारो कालखंड-I सी (प्रारम्भिक हड़प्पा का परवर्ती भाग) से सम्बंधित मृद्‌भाण्ड मेहरगढ़ कालखंड-VII सी के समरूप था। जारिज ने यह सुझाव दिया है कि ये दोनों चरण समकालीन थे और ल. 2600-2550 सा.सं.पू. के बीच तिथिअंकित किए जा सकते हैं। (जारिज एवं अन्य, एन.डी. 87)

पश्चिमी सिन्धु घाटी में डेराजाट क्षेत्र से भी कई प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता के केंद्र मिले हैं। गोमल घाटी के गुमला के पुरातत्त्वकाल-II से कोटदिजि शैली के मृद्‌भाण्ड मिलने लगे थे। गुमला-III काल से कोटदिजि शैली के मृद्‌भाण्ड व्यापक रूप से प्रयोग में आने लगे और जिनमें 'सिंग वाले देवता' का भी अंकन किया जाने लगा। गुमला का पुरातत्त्व काल-IV नगरीय हड़प्पा काल के समकक्ष था।

गोमल घाटी के रहमानढेरी का पुरातत्त्व काल-I प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता का काल था, जिसकी प्राचीनतम तिथि ल. 3380-3040 सा.सं.पू. निर्धारित की गई है। 20 हेक्टेयर आकार वाले इस बस्ती में आयताकार आवासीय योजना, सड़कों की ग्रिड, व्यवस्था इत्यादि इसी काल में विकसित हो चुकी थी। परिपक्व हड़प्पा काल में केवल एक मजबूत सुरक्षा दीवार को जोड़ा गया। वैसे प्रारम्भिक हड़प्पा काल में भी इस बस्ती के चारों ओर मिट्टी और
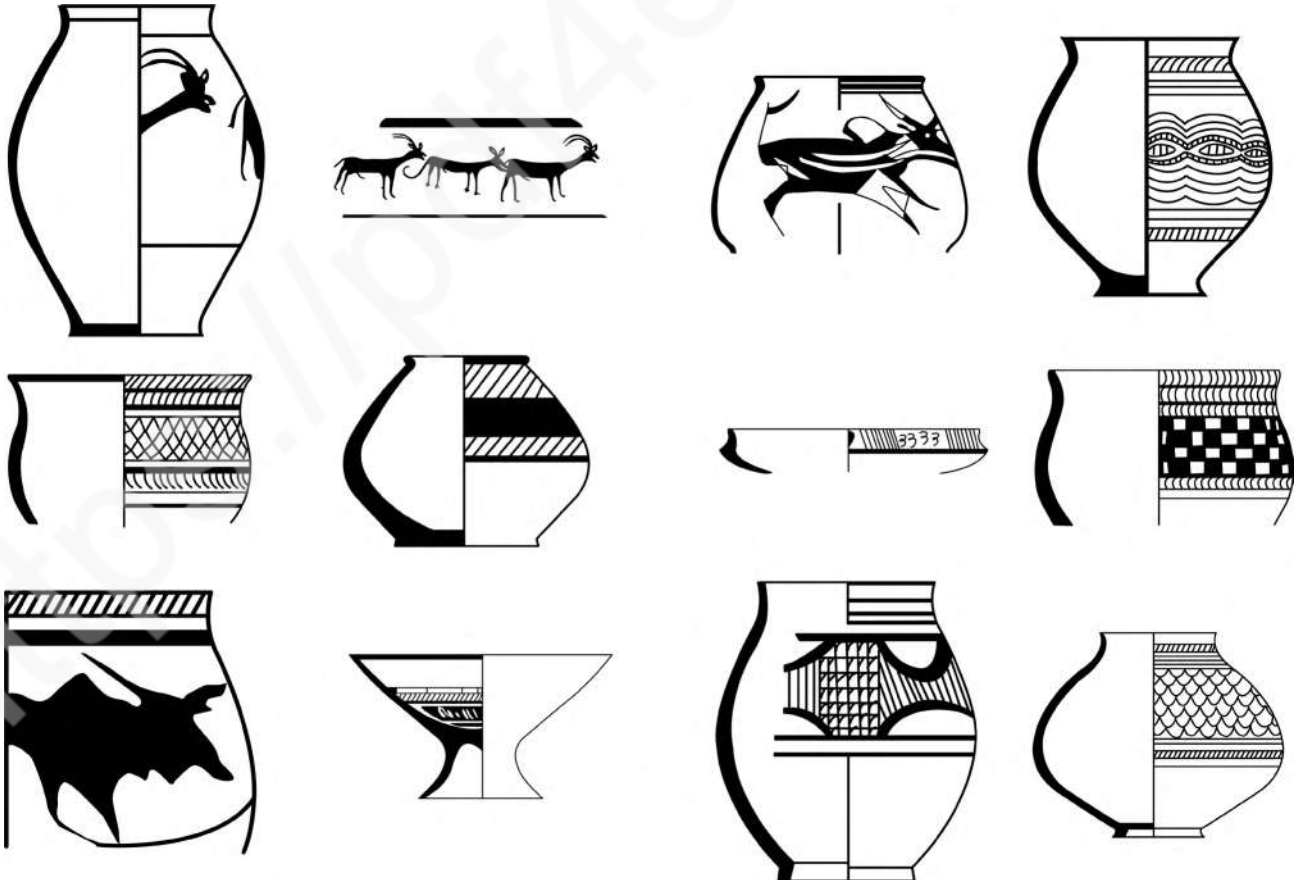
चित्र 4.1: **आमरी के मृद्‌भाण्ड**
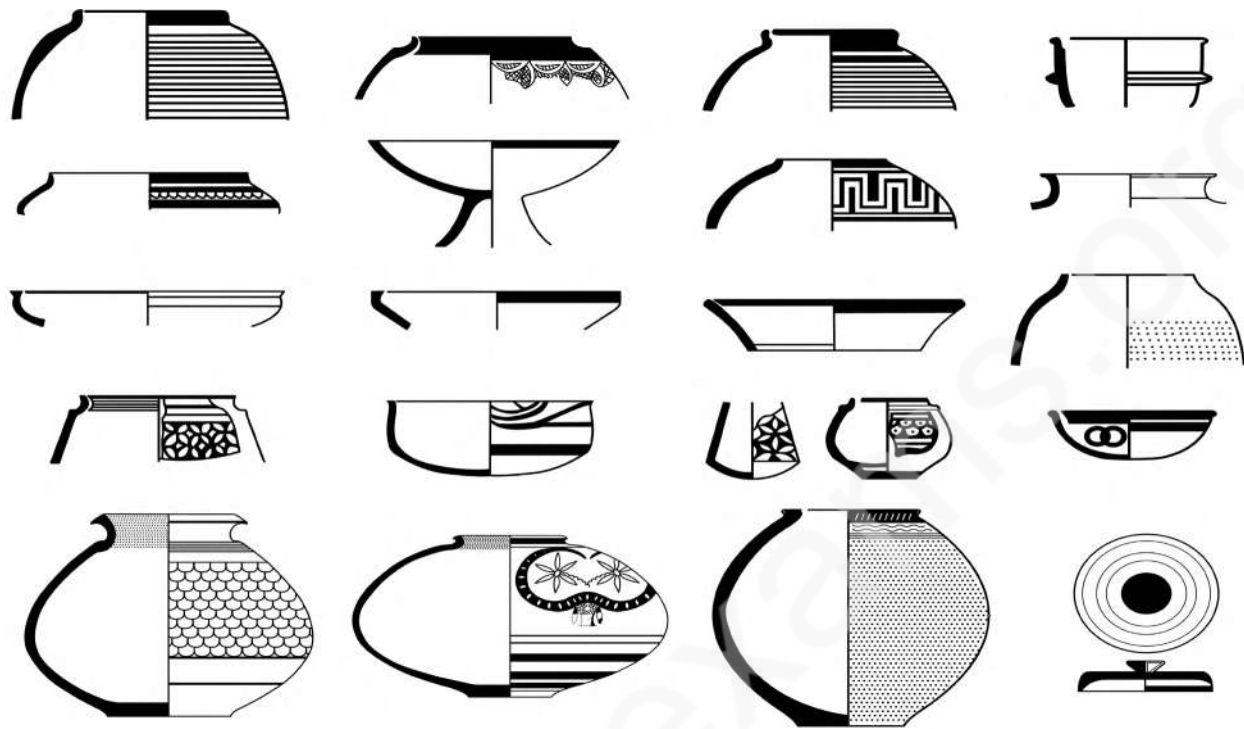
चित्र 4.2: **विभिन्न स्थलों से प्राप्त कोटदिजि शैली के मृद्भाण्ड**

मिट्टी से बनी दीवार की घेराबन्दी की जा चुकी थी। यहां से प्राप्त कोटदिजि शैली के मृद्भाण्ड पर पकाने के बाद भित्तिय आरेख बनाए गए। प्राप्त वस्तुओं में पत्थर के ब्लेड, तांबे और कांसे के औज़ार, एवं मृण्मूर्तियों का नाम लिया जा सकता है। इस स्थान पर लाजवर्द और टर्क्वाइस के मनकों की प्राप्ति अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया से सम्पर्क की सूचना देते हैं। वनस्पतिक अवशेषों में गेंहू और जौ शामिल हैं। मवेशी, भेंड और बकरियों की हड्डियां भी पहचानी जा सकी हैं

लगभग इसी प्रकार की प्राप्तियाँ बन्नू घाटी क्षेत्र के कई स्थलों से हुई हैं। लिवान नामक स्थान से तीसरी सहस्त्राब्दी के आरम्भिक भाग से प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता के संकेत मिले हैं। एक छोटे से आवासीय क्षेत्र के अतिरिक्त उत्खनन द्वारा 450 x 325 मीटर का एक ऐसा क्षेत्र मिला है, जिसमें बहुत तरह के पत्थर के औज़ार, जो निर्माण की विभिन्न अवस्था में थे, प्राप्त हुए हैं। इनमें सूक्ष्मपाषाण (ज्यादातर चर्ट) परंतु साथ ही साथ भारी पत्थर के सामान जैसे कई प्रकार की चक्की, पत्थर का गोला, लंबा-त्रिकोण पाषाण कुठार, पत्थर-छल्ला, नुकीला हथौड़ा-शीर्ष आदि, प्राप्त हुआ है। लिवान निश्चित रूप से एक फैक्टरी स्थल या कार्यशाला था जहां विभिन्न प्रकार के पत्थर के औज़ार बनाए जाते थे। इस कार्यक्षेत्र के एक हिस्से में मनका एवं मनका बनाने का सामान भी प्राप्त हुआ है। समीपस्थ तरकाई किला से भी प्रारम्भिक हड़प्पा काल के प्रमाण उपलब्ध हैं। तरकाई किला से गेहूं, जौ, सिरदल (लेंस कुलिनारिस) तथा खेत के मटर (पाइसम अरवेंस) के प्रमाण मिले हैं, तथा ऐसे प्रस्तरीय शल्कों के साक्ष्य मिले, जिनकी चमक से लगता है कि अनाज काटने के लिए इनका हंसिए की तरह प्रयोग होता होगा। मवेशी, भैंस, भेंड और बकरियों की हड्डियां भी मिली हैं।

पाकिस्तान के पंजाब प्रांत के उत्तरी हिस्से में स्थित सराय खोला का कालखंड-II प्रारम्भिक हड़प्पा स्तर है। इस कालखंड में एक संक्रमण दिखाता है, जिसमें लोग गर्त-गृहों से निकलकर कच्ची ईंटों के घरों में रहने लगे थे। यहां कोटदिजि-मृद्भाण्ड शैली की अधिकता दिखाई देती है। पत्थर की वस्तुएं भी मिली हैं, जिसमें सूक्ष्मपाषाण, सेल्ट और छेनी आदि शामिल हैं। इसके अतिरिक्त मृणमूर्तियां, टेराकोटा एवं सीप की बनी चूड़ियां, पिन, अंगूठी, शलाका आदि भी दिखती हैं।

पिछले अधयाय में पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में स्थित हड़प्पा में हाल में हुई खुदाइयों का उल्लेख किया गया था, जिससे यह संकेत प्राप्त होता है कि इस स्थल पर पहली बसावट (कालखंड-I) रावी या हाकरा चरण से सम्बंधित था। प्रारम्भिक हड़प्पा-चरण की बसावट (हड़प्पा कालखंड-II) 25 हे. में फैला था। (मेडो और

पूर्व/प्रारम्भिक हड़प्पाकालीन मृद्‌भाण्डः जगीपन, शाही थम्प

केनोयर , 2001)। इस काल में हड़प्पा से दो पुरातात्त्विक टीलों को पाया गया जो पृथक-पृथक मजबूत सुरक्षा प्राचीरों से घिरे हुए थे तथा दोनों पर मिट्टी के ईंटों के बने बड़े चबूतरे पाए गए हैं। यहां के आवासों एवं सड़कों के निर्माण में स्पष्ट रूप से एक सुनियोजित योजना का बोध होता है। मिट्टी की ईंटों की दीवारें, चूल्हे और वृत्ताकार बड़े चूल्हे भी मिले हैं। कोटदिजि शैली के मृद्‌भाण्डों की अधिकता देखी जा सकती है। इस काल में बने मृद्‌भाण्डों और मोहरों पर उत्कीर्ण लिपि तथा भार-तौल की समरूपता भी दिखलाई पड़ती है। यहां से उपलब्ध मृद्‌भाण्डों के कुछ प्रकार मृणमूर्ति त्रिकोणाकार टेराकोटा के टुकड़े, खिलौने और चूड़ियाँ हड़प्पा के नगरीकरण काल में अधिक लोकप्रिय होते चले गए।

हाकरा के मैदान के चोलीस्तान क्षेत्र में विकसित हुई प्रथम ग्राम बस्तियों का उल्लेख अध्याय-3 में किया जा चुका है। उस काल के मृद्‌भाण्ड हाकरा मृद्‌भाण्ड कहे गए हैं। इस क्षेत्र में दूसरी सभ्यता कोटदिजि शैली के मृद्‌भाण्डों के वर्चस्व से युक्त प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता की है। दरअसल, कोटदिजि श्रेणी के अधिकांश प्रारम्भिक सभ्यता के स्थल चोलिस्तान के क्षेत्र में ही केंद्रित हैं। एम.आर. मुगल के अध्ययन (1997) से स्पष्ट हुआ कि हाकरा मृद्‌भाण्ड काल के 52.5 प्रतिशत अल्पकालिक शिविरों की संख्या प्रारम्भिक हड़प्पा काल में मात्र 7.5 प्रतिशत ही रह गई। प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता से सम्बंधित स्थलों में से 60 प्रतिशत का आकार 5 हेक्टेयर से कम, 25 प्रतिशत 5-10 हेक्टेयर के बीच तथा जलवाली (22.5 हे.) और गमनवाला (27.3 हे.) जैसे बड़े स्थल इस क्षेत्र में स्थित हैं।

घग्गर नदी के तट पर स्थित कालीबंगा का कालखंड-I प्रारम्भिक हड़प्पा चरण का प्रतीत होता है, जिसकी अंशशोधित रेडियोकार्बन तिथियाँ ल. 2920-2550 सा.सं.पू. के बीच की हैं। चार हेक्टेयर वाली इस बस्ती के चारों ओर मजबूत किलाबंदी के प्रमाण हैं। मिट्टी और मिट्टी के ईंटों से बने मकानों के बीच आँगन बने हुए थे। ईंटों का मानक अनुपात 3 : 2 : 1 था। चूल्हे, अनाज संग्रह के लिए चूने से पुतवाये गए गड्ढे, पैरों से चलाए जाने वाली चक्की घरों में मौजूद थी। प्राप्त वस्तुओं में पत्थर के ब्लेड, टेराकोटा केक, सीप की चूड़ियां, सेलखड़ी की चकती, कार्नेलियन, फेयंस, सोना, चांदी और सैकड़ों की संख्या में तांबे की वस्तुएं देखी जा सकती हैं। कालखंड-I के मृद्‌भाण्ड में भारी विविधता मिलती है। कुछ पात्र तो कोटदिजि मृद्‌भाण्ड से मिलते हैं। यहां का विशिष्ट मृद्‌भाण्ड लाल अथवा गुलाबी रंग का होता था। जिसके ऊपर काला या कभी-कभी सफेद से डिजाइन बनाया जाता था। डिजाइनों में मूंछ जैसे लिपटी पट्टी, पौधे, मछली और मवेशियों के चित्रण मिलते हैं। मृद्‌भाण्डों पर बने कुछ चिह्न परिपक्व हड़प्पा काल के लिपियों से मिलते हैं। कालखंड-I से सबसे रोचक प्राप्ति इस स्थल के दक्षिणी भाग में जोते गए खेत का अवशेष है, जिसमें उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम की तरफ बने हलों के निशान सैकड़ों वर्षों पुराने अतीत से उजागर हुए हैं।

गंगा-सिंधु विभाजन रेखा के निकट कई हड़प्पाकालीन स्थल मौजूद हैं। हरियाणा के हिसार जिले में कुणाल, बनावली और राखीगढ़ी में पहले प्रारम्भिक हड़प्पा चरण और फिर उसके ऊपर परिपक्व हड़प्पा-चरण के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। कुणाल कालखंड-I ए में हाकरा मृद्‌भाण्ड प्राप्त हुआ है। कालखंड-I बी में पूर्ववर्ती चरण की विशेषताएं जारी रही, परंतु कालीबंगा-I के मृद्‌भाण्ड भी बड़े पैमाने पर मिले हैं। हड़प्पा-शैली के मजबूत लाल पात्र और मर्तबान भी पहली बार यहीं प्राप्त हुए हैं। कालखंड-I सी प्रारम्भिक और परिपक्व हड़प्पा के बीच संक्रमणकालीन चरण था। पूर्ववर्ती चरणों के घरों के नीचे की धरातल पर मानकीकृत कच्ची ईंटों (1: 2 : 3 और 1 : 2 : 4 अनुपात की ईंट) से बने घर भी मौजूद थे। सेलखड़ी के छह मुहरों के साथ एक सीप का मुहर भी मिला है, जिस पर ज्यमितिक डिजाइन बने हैं। ढेरों आभूषण, जिसमें दो चांदी के हल्के मुकुट, सोने के गहने, लैपिस लजुली, अगेट आदि अर्धकीमती पत्थरों के मनके आदि के संग्रह-पुंज कुछ घरों के अंदर से प्राप्त हुए हैं।

बनावली में प्रारम्भिक हड़प्पा काल से मिट्टी के ईंटों के घर, चूल्हे, अनाज संग्रह के लिए गड्ढे और आँगन मिलते हैं। यहां के मृद्‌भाण्ड कालीबंगा-I से प्राप्त मृद्‌भाण्डों के समान हैं। प्राप्त वस्तुओं में पाषाण फलक (ब्लेड), तांबे की वस्तुएं, सोना एवं अर्धकीमती पत्थरों के मनके, एक घनाकार चर्ट ब्लेड आदि शामिल हैं। समीपस्थ घग्गर-हाकरा के किनारे प्रारम्भिक हड़प्पा स्थलों में हरियाणा के सिसवाल और बालू तथा पंजाब के रोहिल और मसोरना प्रमुख हैं।

राखीगढ़ी के प्रारम्भिक हड़प्पा काल से योजनाबद्ध बस्तियाँ, मिट्टी के ईंटों की संरचनाएं तथा कालीबंगा-I के समान मृद्‌भाण्ड मिले हैं। यहां से प्राप्त मुहरों पर कुछ भी उत्कीर्ण नहीं हैं जबकि मृद्‌भाण्डों पर भित्तीय अभिरेख खुदे हुए हैं। उपकरणों में बिना लेख की मुहर, चिह्नों के साथ मृद्‌भाण्ड, टेराकोटा के बने पहिए, छकड़ा-गाड़ी,
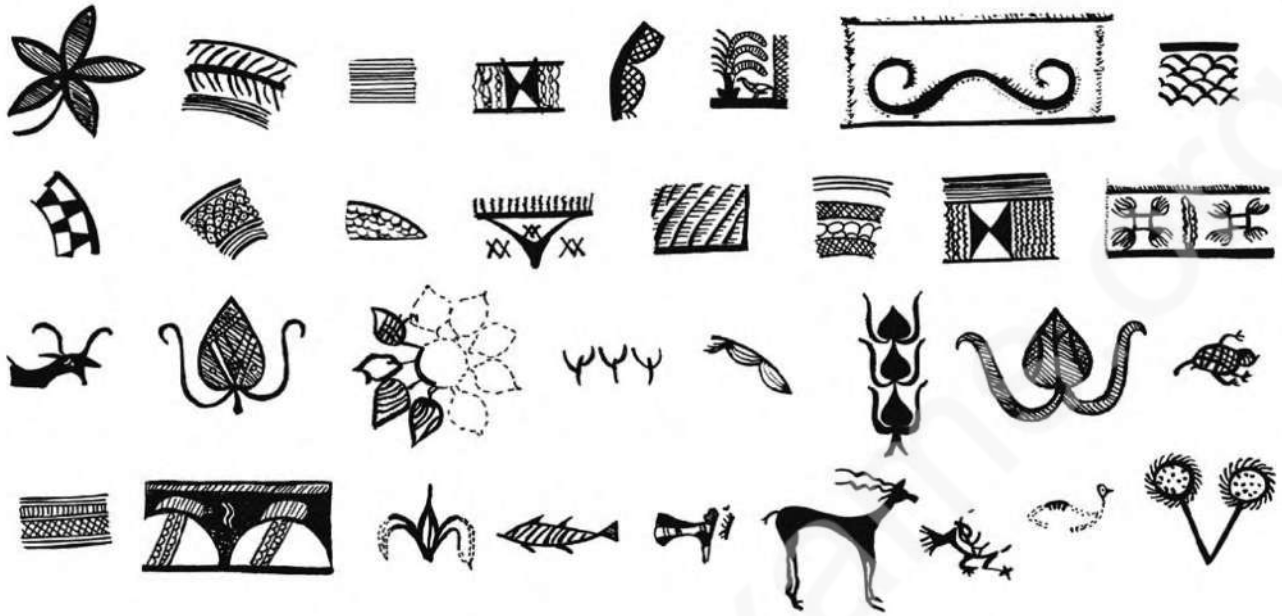
चित्र 4.3: **कालीबंगा से प्राप्त हड़प्पा मृद्भाण्डों पर अंकित प्रतीक चिन्ह**

झुनझुना, वृषभ मृण्मूर्ति, चर्ट ब्लेड, बटखरा, हड्डी से बनी सुई और मूसल आदि देखे जा सकते हैं। यहां पर एक खुले क्षेत्र से भूमि पर सजे हुए कुछ ठीकरों की उपस्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि वहां बच्चों द्वारा पिट्ठू का खेल खेला जाता था, जो आज भी भारत और पाकिस्तान के बच्चों में लोकप्रिय है।

अभी हाल में हरियाणा के फतेहाबाद जिले में स्थित भीरणा नामक स्थान का उत्खनन किया गया (राव एवं अन्य 2004-05)। यहां से भी हड़प्पा सभ्यता के विकास की रूप रेखा को पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। भीरणा-I ए हाकरा संस्कृति, I बी प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता, भीरणा-II नगरीय सभ्यता का प्रारम्भिक काल और II बी नगरीय हड़प्पा काल के रूप में रेखांकित किया गया है। भीरणा 1बी के अवशेषों में 1 : 2 : 3 मानक अनुपात वाले मिट्टी ईंट 6-7 कमरों वाला एक बड़ा भवन इत्यादि मिला है। कालीबंगा कोटि के मृद्भाण्डों के अतिरिक्त दो रंगों वाले मृद्भाण्ड तथा कई अन्य मृद्भाण्डों के प्रकार भी मिले हैं। अन्य उपकरणों में ताम्र वाणग्र, छल्ले, चूड़ियां, कार्नेलियन, जैपर, स्टीटाइट, सीप और टेराकोटा; टेराकोटा की गोलियां, लटकन, वृषभ मृण्मूर्ति, झुनझुना, केक, पहिया, किसी प्राचीन बोर्ड-गेम (चौसर जैसी) के मोहरे, टेराकोटा की सामान्य एवं विशिष्ट चूड़ियां, फेयंस की चूड़ियां, हड्डियों के बने सामान, चूनापत्थर से बनी गुलेल की गोली, कंचा, मूसल आदि उल्लेखनीय हैं। कोर्नेलियन, जैस्पर, शंख, टेराकोटा के अतिरिक्त सेलखड़ी के लेप के बने मनके यहां लोकप्रिय थे।

सौराष्ट्र के पादरी और कुन्तासी जैसे स्थानों पर भी पूर्ण रूप से विकसित प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता का अस्तित्व मिला है। कच्छ की खाड़ी में स्थित धोलावीरा से प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता के प्रमाण उपलब्ध हैं। बस्तियों के चारों तरफ बनी सुरक्षा दीवारों को पत्थरों को मिट्टी के गिलेवा से जोड़कर तैयार किया गया था और भवनों में प्रयुक्त 1 : 2 : 4 मानक अनुपात वाली मिट्टी की ईंटे, हड़प्पा कोटि के छिद्रित जार और आधार पर स्रोत वाले कोटि के मिट्टी के बर्तन, ताम्बे की वस्तुएं और टेराकोटा केक इस स्तर से बड़ी संख्या में मिलते हैं।

आरंभिक हड़प्पा तथा परिपक्व हड़प्पा चरण के बीच संबंध

(The Relationship Between the Early and Mature Harappan Phases)

यह बात तो तय है कि पूर्व हड़प्पा सभ्यता और हड़प्पा सभ्यता के बीच सांस्कृतिक निरंतरता विद्यमान थी, फिर भी समय-समय पर बाहरी प्रभावों से जुड़े कारकों को उठाया जाता रहा है। इस संबंध में सुमेरियाई सभ्यता के प्रभाव को अधिक बार सामने लाया गया। हड़प्पा के मृद्भाण्ड संस्कृति को मेसोपोटामिया और पूर्वी ईरान की मृद्भाण्ड परम्पराओं से जोड़ा जाता रहा है। लैम्बर्ग-कार्लोवस्की (1972) ने ल. 3000 सा.सं.पू. के काल में तुर्कमेनिया, सेइस्तान तथा दक्षिण

अफगानिस्तान क्षेत्रों के बीच हुए नगरीय आदान प्रदान का प्रभाव, हड़प्पा के नगरीकरण पर आरोपित करने का प्रयास किया है। शिरीन रत्नागार (1981) ने हड़प्पा सभ्यता के उत्थान और पतन के पीछे सिन्धु-मेसोपोटामिया व्यापार को प्रमुख घटक के रूप में दिखलाने का प्रयास किया है। ऐसे सिद्धांतों को किसी साक्ष्य के अभाव में स्वीकार करना मुश्किल है।

वैसे तो हड़प्पा सभ्यता के परिपक्व चरण की विशेषताओं का उद्‌भव पूर्व हड़प्पा सभ्यता के काल में ही होने लगा था। किन्तु इसके साथ ही हड़प्पा सभ्यता के सम्बंध में प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता काल के बहुत सारे क्षेत्रीय तत्त्वों का एक समेकित संस्कृति के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। ऑलचिन (ओल्चिन एवं ऑल्चिन, 1997, 163) ने इस प्रवृत्ति को 'सांस्कृतिक अभिसरण' की संज्ञा दी है। उस समय घटित हो रही सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के विषय में भी इससे कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। परिपक्व काल में दिखलाई पड़ने वाली शिल्पों की विशिष्टता से विशेषज्ञ शिल्पकारों, लम्बी दूरी के व्यापार से उन्नत व्यापारी वर्ग, नगर योजना से प्रशासकों और मजदूरों के वर्ग का बोध होता है। कुणाल और नौशारो से प्राप्त मुहरों के आधार पर व्यापारी वर्ग या कुलीन वर्ग का संकेत मिलता है। कुणाल से प्राप्त आभूषण के संग्रह से सम्पत्ति के केन्द्रीकरण के साथ-साथ कई राजनीतिक निहितार्थ भी लगाए जा सकते हैं गुजरात के पादरी, राजस्थान के कालीबंगा, कच्छ के धोलावीरा और पश्चिमी पंजाब के हड़प्पा के प्रारम्भिक हड़प्पाई स्तर से, सांकेतिक चिह्नों की प्राप्ति, जो हड़प्पाई लिपि से मिलती-जुलती है, यह दिखाता है कि हड़प्पाई लिपि की जड़ें इस चरण तक पीछे की ओर जाती हैं।

ऐसी ही गौर करने करने लायक विशिष्टता 'सिंग वाले देवता' की अनेक स्थलों पर उपस्थिति भी है। उसका चित्रण कोटदिजि से प्राप्त एक मर्तबान पर हुआ था। रहमान ढेरी के प्रारम्भिक हड़प्पाई चरण (ल. 2800, 2600 सा.सं.पू.) से प्राप्त अनेक मर्तबानों पर भी ऐसा ही चित्रण पाया गया है। कालीबंगा कालखंड -I में उसका चित्र टेराकोटा की एक चकती के एक तरफ उकेरा गया है और उसके दूसरे तरफ एक पशु के साथ एक आकृति बंधी हुई है। इस सबसे यही संकेत मिलता है कि 'सांस्कृतिक अभिसरण' की प्रक्रिया धार्मिक और संकेतिक धरातलों पर भी घटित हो रही थी।

चित्र 4.4: **टेराकोटा 'केक' और मटके पर अंकित सींगों वाले देवता, कालीबंगा, कालखंड-I**

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि सांस्कृतिक अभिसरण की यह प्रक्रिया किन कारणों से फलीभूत हुई अथवा प्रेरित हुई? प्राक्-नगरीय प्रारम्भिक हड़प्पा चरण से पूर्ण विकसित नगरीय जीवन में संक्रमण के क्या कारण थे? क्या यह अंतर-क्षेत्रीय संपर्कों में वृद्धि का परिणाम था या लंबी-दूरी के व्यापार का? मेसोपोटामिया के साथ व्यापार को एक कारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, परंतु ऐसा लगता है कि परिपक्व हड़प्पा चरण के संदर्भ में भी व्यापार के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता रहा है। प्रारम्भिक हड़प्पा काल में बढ़ते हुए क्षेत्रीय आदान-प्रदान अथवा लम्बी दूरी के व्यापार का विकास जैसे कारकों पर विवाद चलता रहा है। चक्रवर्ती (1995 बी : 44-52) ने शिल्पों की बढ़ती विशिष्टता और विशेषकर राजस्थान में ताम्र उद्योग के विकास पर अधिक बल दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिन्धु नदी घाटी क्षेत्र में सुव्यवस्थित सिंचाई तन्त्र के विकास के फलस्वरूप होने वाले कृषि क्षेत्र की उन्नति को भी महत्त्वपूर्ण कारक बताया है। हालांकि, इस सम्बंध में सशक्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। इन सबसे अधिक ऐसा प्रतीत होता है कि एक नवीन राजनीतिक नेतृत्व, सामाजिक क्षेत्र में होने वाले संगठनात्मक परिवर्तन तथा किसी प्रकार की वैचारिक प्रगति का निर्णायक योगदान रहा होगा। किन्तु ऐसी परिस्थितियों का आकलन पुरातात्त्विक सूचनाओं के आधार पर समुचित रूप से नहीं किया जा सकता।

प्रारम्भिक और परिपक्व हड़प्पाई चरणों के बीच सम्बंधों की प्रकृति के विषय में हमारी समझ में अभी भी काफी कमियां हैं। इसके साथ ही हड़प्पा, मोहनजोदड़ो जैसे स्थानों से यहां की प्राचीनतम स्तरों के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं हैं। लोथल, देशलपुर, चन्हूदड़ो, मीताथल, आलमगीरपुर और रोपड़ जैसे बहुत सारे स्थानों पर प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता से सम्बंधित कोई सूचना नहीं है, क्योंकि यहां सभ्यता की शुरुआत हड़प्पा के नगरीकरण काल से ही होती है। इसके अलावा पोटवार पठार में ऐसे बहुत सारे प्रारम्भिक हड़प्पा कालीन स्थल हैं किन्तु जहां परिपक्व हड़प्पा कालीन विकास नहीं हुआ था। चोलीस्तान क्षेत्र में चक 76, गमनवाली और संधानवालाथेर ऐसे केवल तीन स्थान हैं जहां प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता परिपक्व

हड़प्पा सभ्यता में परिवर्तित हुई या रूपांतरित हुई। इसके अतिरिक्त सिंधु नदी के निकटवर्ती किनारों पर प्रारम्भिक हड़प्पा काल से सम्बंधित कोई स्थल मौजूद नहीं है। जहां प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता और हड़प्पा सभ्यता दोनों के अवशेष मिले हैं, वहां पर भी कई प्रकार की पुरातात्त्विक विसंगतियाँ विद्यमान हैं, जैसे कोटदिजि और गुमला में इन दो स्तरों के बीच आग से जली हुई सामग्रियों का एक स्तर मौजूद है। जलने की घटनाएँ आमरी और नौशारों से भी प्रमाणित होती हैं। कालीबंगा में इन दो स्तरों के बीच विद्यमान रिक्तता का कारण भूकम्प की घटना बतलायी जाती है।

नगरीय हड़प्पा केंद्रों की सामान्य विशेषताएँ

(The General Features of Mature Harappan Settlements)

हड़प्पा सभ्यता के नगरीकरण का तात्पर्य यह नहीं था कि सम्पूर्ण हड़प्पा सभ्यता अथवा हड़प्पा सभ्यता का अधिकांश केंद्र नगरीय चरित्र वाला बन गया। सच तो यह है कि हड़प्पा सभ्यता का अधिकांश क्षेत्र ग्रामीण ही था। हड़प्पा सभ्यता के नगर भोजन और मजदूरों के लिए इन्हीं गावों पर आश्रित थे। दूसरी ओर नगरों में बनी वस्तुएं हड़प्पा के गाँवों की दिनचर्या का अंग बन गई। इस नगरीय-ग्रामीण आदान-प्रदान की उन्नत व्यवस्था के कारण छोटे-छोटे गाँवों तक हड़प्पा सभ्यता में उपयोग किए जाने वाले सभी उपादान उपलब्ध होने लगे।

प्राचीन बसावटों का ठीक ठीक आकार सुनिश्चित करना आसान नहीं है क्योंकि वे अक्सर एक से अधिक टीलों पर बसे होते थे और उनमें से कई नदी की मिट्टी के नीचे दब गए हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि हड़प्पाई स्थल अपने आकार प्रकार में कई तरह के थे, जिसमें विशाल नगरों से लेकर पशुचारी शिविरों तक शामिल थे। मोहनजोदड़ो (200 हेक्टेयर), हड़प्पा (150 हेक्टेयर), गनवेरीवाला (81.5 हेक्टेयर), राखीगढ़ी (80 हेक्टेयर) और धोलावीरा (100 हेक्टेयर) सभ्यता के सबसे बड़े केंद्र कहे जा सकते हैं। चोलिस्तान के लुरेवाला की आबादी 35,000 के लगभग आंकी गई है और उस दृष्टि से यह मोहनजोदड़ो के बराबर का नगर रहा होगा। अन्य विशाल स्थलों में (प्रायः 50 हेक्टेयर आकार वाले), सिंध में नगूर, थारोवारो दड़ो और लखुइंजो दड़ो तथा बलूचिस्तान में नोनदौरी हैं। हाल में पंजाब से कुछ अति विशाल हड़प्पा स्थलों के विषय में प्रतिवेदन आया है–ढालेवां (लगभग 150 हेक्टेयर) जो मनसा जिले में है, तथा भटिंडा जिले में गुर्नी कलां-I (144 हेक्टेयर), हसनपुर-II (लगभग 100 हेक्टेयर), लखमीरवाला (225 हेक्टेयर) तथा बगलियां डा थेह (लगभग 100 हेक्टेयर) के विषय में रिपोर्ट उपलब्ध हैं, किंतु विस्तृत जानकारी नहीं है। द्वितीयक स्तर के रूप में जुदेरजोदड़ो और कालीबंगा जैसे मध्यम आकार वाले स्थल हैं जिनका आकार 10-50 हेक्टेयर के बीच है। आमरी, लोथल, चन्हूदड़ो और रोजडी जैसे स्थलों का आकार 5-10 हेक्टेयरों के बीच है। अल्लाहदीनो, कोटदिजि, रोपड़, बालाकोट सुरकोतडा, नागेश्वर, नौशारो और गाजीशाह जैसे हड़प्पा केंद्र 1-5 हेक्टेयर आकार वाले थे। अनगिनत हड़प्पा केंद्रों का आकार इनसे भी छोटा है।

पहले ऐसा माना जाता था कि हड़प्पाई शहरों के मकान और सड़कें एक खास तरह के ग्रिड शैली में बनाए गए थे, जिसमें सड़कें उत्तर-दक्षिण एवं पूरब-पश्चिम की दिशा में बनाई गई थीं। परंतु वास्तव में मोहेनजोदड़ो में भी ऐसी आदर्श ग्रिड-प्रणाली देखने को नहीं मिलती। हड़प्पाई नगरों की सड़कें हमेशा बिलकुल सीधी नहीं होती थीं और न ही वे हमेशा 90 डिग्री के कोण पर एक दूसरे को काटती थीं। फिर भी एक निश्चित प्रकार की योजना पर आधारित, हड़प्पा नगरों का निर्माण हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसके अतिरिक्त नगर योजना का स्तर नगरों के आकार पर नहीं निर्भर करता था, यथा लोथल जैसे छोटे केंद्रों की नगर की योजना कालीबंगा से कहीं अधिक सुव्यवस्थित थी। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और कालीबंगा की नगर योजना एक जैसी थी, जबकि लोथल और सुरकोतडा में गढ़ और सामान्य आवासिय क्षेत्र पृथक-पृथक नहीं बने, जबकि धोलावीरा में गढ़ क्षेत्र के अलावा मध्यनगर और निचले नगर तीन भाग देखे जा सकते हैं।

अपेक्षाकृत बड़े नगरों और छोटे नगरों अथवा गावों में बने भवनों के बीच का मुख्य अंतर में उनमें इस्तेमाल होने वाली सामग्रियों के प्रकार एवं संयोजन में होता था। जहां गांवों में मिट्टी के ईंटों का प्रयोग होता था, वहीं शहरों में धूप में पके अथवा भट्ठी में पके ईंटों का प्रयोग होता था। गांवों में मिट्टी के गिलेवा और सरकंडे के उपयोग के साथ-साथ, कभी-कभी नाली या नींव के निर्माण में पत्थरों का प्रयोग भी किया जाता था। गुजरात के कच्छ और सौराष्ट्र के पठारी क्षेत्र में पत्थरों का व्यापक प्रयोग देखा जा सकता है। धोलावीरा के चारों तरफ की गई मजबूत किलाबंदी और उसके गढ़ क्षेत्र में पाए जाने वाले प्रस्तरीय स्तम्भ अपनी भव्यता के कारण इन्हें हड़प्पा सभ्यता के किसी भी अन्य स्थल से अलग करते हैं।

मोहनजोदड़ो: भवन की दीवारें

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मकानों की पांच मीटर से अधिक दीवारों के अवशेष अभी भी देखे जा सकते हैं जो इनकी निर्माण शैली की सुदृढ़ता को प्रमाणित करती हैं। ईंट बिछाने या जोड़ने की कई शैलियां प्रचलित थीं, जिसमें वह शैली भी शामिल है, जिसे आजकल 'इंग्लिश बांड स्टाईल' कहा जाता है। इस शैली में ईंटों को उसकी लंबाई और चौड़ाई की तरफ से बारी-बारी से ऊपर-नीचे के स्तर में जोड़ा जाता था। इससे दीवारों में अधिकतम भार सहने की क्षमता आती थी। हड़प्पाई संरचनाओं में प्रयुक्त ईंटों के आकार की समरूपता आज भी आश्चर्यचकित करते हैं जहां मकानों में सामान्यत: 7 × 14 × 28 सेन्टी मीटर के ईंटों का, वहीं नगर के प्राचीरों में 10 × 20 × 40 सेन्टीमीटर वाले ईंटों का प्रयोग हुआ। प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता के काल से ही ईंटों के आकार को मानक अनुपात में बनाया जाने लगा था जो हड़प्पा सभ्यता के काल में छोटे से बड़े सभी स्थानों पर देखा जा सकता है।

लोग विभिन्न आकार वाले मकानों में रहते थे किन्तु सभी मकानों के बीच में आंगन की सुविधा थी। घरों की दीवारें और खिड़कियाँ छोटी गलियों में खुलती थीं। मुख्य सड़कों पर खुलने वाले द्वार अपवाद के रूप में देखे जा सकते हैं। गली से आंगन में सीधा दिखाई न दे इसके लिए आंगन के दरवाजे के सामने दीवार से घेर दिया जाता था। छतों अथवा दूसरी मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियों के अवशेष मिलते हैं। मोहनजोदड़ो में बने मकानों की दीवारों की मोटाई के आधार पर कई एक दो मंजिले मकानों का अनुमान लगाया गया है। फर्श पर मिट्टी का बढ़िया प्लास्टर किया जाता था और कभी-कभी बालूका राशि भी बिछा दी जाती थी। छतों की ऊँचाई सामान्यत: 3 मीटर कही जा सकती है, लकड़ी के बीम पर सरकंडों की मिट्टी से लिपाई कर छत बनायी जाती थी।

दरवाजे और खिड़कियाँ, लकड़ी अथवा चटाई की सामग्री से बनती होंगी। मिट्टी के घरों के मॉडल मिले हैं जिनको देखकर लगता है कि दीवारों पर नक्काशी या रंगाई की जाती थी। खिड़कियों को बंद करने के लिए लकड़ी, सरकंडे या चटाई से व्यवस्था की जाती थी। इनके ऊपर जाली भी लगाई जाती थी, ताकि हवा और रोशनी आती रहे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के कुछ मकानों में सेलखड़ी और संगमरमर के कुछ स्लैबों पर नक्काशी देखी गई है। ऐसे स्लैब ईंटों के बीच फंसा कर लगाए जाते थे। बहुत से बड़े भवनों से जुड़े छोटे मकानों की उपस्थिति इनके कर्मचारी के लिए बने आवास का अनुमान कराती है। हड़प्पाई बड़े मकानों में आंतरिक कमरों में जाने के लिए गलियारे बनाए जाते थे और पुनरोद्धार कार्य समय-समय पर किया जाता था जिसके प्रमाण मिलते हैं।

स्नानागार और शौचालयों का उपयोग, यद्यपि, लोगों की दिनचर्या का अंग रहा है, फिर भी प्राचीन इतिहास की अधिकांश पुस्तकों में इनकी चर्चा नहीं मिलती है। हड़प्पा सभ्यता के इस पहलू की कुछ विस्तृत चर्चा उपलब्ध है (केनोयर, 1998: 59-60)। अनेक घरों में या घरों के समूह के लिए पृथक स्नान क्षेत्र और शौच क्षेत्र बनाए गए थे। स्नान के लिए नालियों के साथ चबूतरे, कुओं से सटे कमरों में बने थे। स्नान क्षेत्र का फर्श वस्तुत: सटी हुई ईंटों से बने थे, जो कमरे के किनारे होते थे, जिससे ढलुआ जलरूद्ध सतह सावधानीपूर्वक बनाया जा सकता था। यहां से एक छोटी नाली निकलती थी, जो घर की दीवार को छेद कर, बाहर गली में निकाली जाती थी, जिन्हें अंतत: बड़े निकासी नाले में मिला दिया जाता था।

संभवत: कुछ लोग शौच के लिए शहर की दीवार के ठीक बाहर के इलाके में भी जाते रहे होंगे, फिर भी कई स्थलों पर शौचालय बने पाए गए हैं। इसमें साधारण तरीके से जमीन में एक गड्ढे के ऊपर बना छेद की व्यवस्था से लेकर व्यापक और विस्तृत व्यवस्था बने होने के संकेत मिलते हैं। हाल में हुए उत्खनन के आधार

पर हड़प्पा के प्रायः सभी घरों से शौच स्थानों के अवशेष मिले हैं। बड़े-बड़े मिट्टी के जारों का प्रयोग कमोड के रूप में किया जाता था। ऐसे कई स्थानों पर लोटा जैसे पात्र भी साथ ही मिले हैं। ऐसे जारनुमा पात्र के पेंदे में छिद्र होता था, जहां से जल के नालियों में निकासी की व्यवस्था थी। कई बार ढाल वाली नाली को गलियों में स्थित बड़े जार से जुड़ा हुआ पाया गया। वैसे शौच व्यवहार की इस व्यवस्था में निश्चित रूप से समय-समय पर कुछ लोग सफाई का कार्य करते होंगे।

मोहनजोदड़ोः मुख्य सड़क

हड़प्पाई बसावटों की एक अन्य विशेषता अच्छी तरह बनाए गए गलियों और सड़कों के साथ-साथ सुनियोजित जल निकासी प्रणाली का निर्माण भी रहा है। सबसे छोटे कस्बों और गावों में भी नालियों की व्यवस्था योजनाबद्ध तरीके से की गई थी। रोचक बात यह है कि वर्षा के पानी की निकासी के लिए पृथक रूप से नालियां बनी थी। दो मंजिले मकानों में पानी की निकासी दीवारों के अन्दर बने पाईप के द्वारा की जाने की व्यवस्था थी, जिसका निकास गली के नाली के ठीक ऊपर होता था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में जल निकासी के पाईप टेराकोटा के बने थे। यह आग में पके ईंटों के बने गलियों की नालियों से जुड़े थे और ये नालियां नगर की दीवार के बाहर खुले खेतों में जा कर गिरती थीं। गलियों में बनी नालियां मुख्य सड़कों में बने मुख्य नालों से जुड़ती थीं। मुख्य नालों के ऊपर ईंट और पत्थरों के मेहराबनुमा स्लैब बने होते थे। ठोस वर्ज्य पदार्थों के लिए कुछ-कुछ दूरी पर आयताकार सोक-पिट बने होते थे। इनकी भी सफाई नियमित रूप से की जाती होगी, अन्यथा निकासी तंत्र के जाम हो जाने की पूरी सम्भावना थी।

हड़प्पा वालों ने पीने के पानी और नहाने की व्यवस्था वृहत स्तर पर की थी। कई प्रसिद्ध संरचनाओं में स्नानागार और इसके लिए पानी की समुचित व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। इससे अनुमान लगता है कि वे व्यक्तिगत सफाई के प्रति बहुत सचेत थे। ऐसा सम्भव है कि हड़प्पाई लोग कर्मकाण्डी अथवा धार्मिक मान्यताओं के कारण भी स्नान की व्यवस्था के विषय में काफी सजग थे। जल का स्रोत नदी, कुंआ, तालाब एवं कुंड हुआ करता था। मोहनजोदड़ो से बड़ी संख्या में कुँए प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा में कुँओं की संख्या काफी कम है, किन्तु ऐसा लगता है कि शहर के बीचो-बीच कोई बड़ा तालाब अवस्थित रहा होगा। धोलावीरा में भी कुँओं की संख्या कम है किन्तु यहां पत्थर से बने आकर्षक जलकुंड बने हुए थे।

हड़प्पा सभ्यता के नगर, उपनगर तथा ग्रामीण केंद्रों के पार्श्वचित्र

(Profiles of Some Harappan Cities, Towns and Villages)

चिन्हित किए जा चुके हड़प्पा सभ्यता के स्थलों में से अभी तक केवल कुछ का ही विधिवत पुरातात्त्विक उत्खनन किया गया है और जहाँ उत्खनन कार्य सम्भव भी हुआ है वहां केवल आंशिक भूभाग का अध्ययन हो सका है (स्थलों की विस्तृत जानकारी के लिए केनोयर, 1998; पोसैल, 2003 और लाल, 1997 को देखा जा सकता है)।

मोहनजोदड़ो सिन्ध प्रांत में सिन्धु नदी से 5 कि.मी. हटकर स्थित है। आद्य ऐतिहासिक काल में यह नदी शायद इस स्थान के बिल्कुल करीब से बहती थी। मोहनजोदड़ो से दो पुरातात्त्विक टीले मिले, पश्चिमी हिस्से वाला टीला, पूर्वी हिस्से के टीले की अपेक्षा अधिक ऊँचा किन्तु छोटे आकार का है। वर्तमान स्थल के पूरब में बहुत बड़े क्षेत्र की खुदाई अभी तक नहीं की गई है। इस स्थल का आकार तकरीबन 200 हे. होने का अनुमान लगाया गया है। फेयरसर्विस (1967) के आंकलन के अनुसार, मोहनजोदड़ो के निचले नगर में 41,250 लोग निवास कर रहे थे।

मोहनजोदड़ो का पश्चिमी टीला जमीन से 12 मीटर ऊँचा है। इसको गढ़ या सिटाडेल के नाम से जाना जाता है। इस हिस्से में बनी संरचनाएं मिट्टी और मिट्टी की ईंटों से बनाए गए कृत्रिम चबूतरे पर स्थित हैं जिसका आकार 400 × 200 मीटर हैं। इस हिस्से के चारों ओर 6 मीटर की चौड़ाई वाले दीवार को मिट्टी की ईंटों से बनाया गया था। इस दीवार के दक्षिण-पश्चिम और पश्चिमी भाग में उभार देखा जा सकता है। तथा दक्षिण-पूरब में एक मीनार पाया गया है। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि मोहनजोदड़ो के सिटाडेल के चारों तरफ दीवार कही जाने वाली आकृति का सुरक्षात्मक उद्देश्य नहीं था, बल्कि भव्यता प्रदान करने के लिए इसका कोई प्रतीकात्मक महत्त्व रहा होगा। किंतु

चित्र 4.5: **मोहनजोदड़ोः दुर्ग क्षेत्र और निचला नगर**

इन दीवारों के सुरक्षात्मक चरित्र से पूरी तरह इंकार भी नहीं किया जा सकता है।

मोहनजोदड़ो के सिटाडेल में उपस्थित संरचनाएं आज भी हड़प्पा सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने वाली सबसे लोकप्रिय संरचनाएं हैं। उत्तरी हिस्से में महास्नानागार तथाकथित सभागार और 'पुरोहितों का महाविद्यालय' अवस्थित हैं। महास्नानागार का आकार 14.5 × 7 मीटर तथा तथा अधिकतम गहराई 2.4 मीटर है इस आयताकार टैंक के उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में बहुत चौड़ी सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। टैंक की फर्श और दीवारों को ईंटों की सुव्यवस्थित संरचना पर जिप्सम के द्वारा पानी के रिसाव को पूर्ण रूप से रोक देने की व्यवस्था की गई थी। शायद यह विश्व में वॉटर प्रूफिंग का पहला उदाहरण रहा होगा। फर्श का ढलाव दक्षिण से पश्चिम की ओर है जहां से पानी को ईंट से बनी नाली में निकाला जाता था। स्नानागार के पूर्व, उत्तर और दक्षिण में ईंटों से बने स्तम्भों के अवशेष मिले हैं। इसी प्रकार की स्तंभ-श्रृंखला पश्चिम की तरफ भी अवश्य रही होगी। स्नानागार में प्रवेश के लिए दक्षिण में दो बड़े द्वार तथा उत्तर एवं पूर्व में भी एक-एक प्रवेश द्वार मिले हैं। स्नानागार के पूर्वी हिस्से में कक्षों की एक श्रृंखला मिली है जिनमें से एक में कुँआ बना हुआ था। इस स्नानागार से ठीक उत्तर में एक बड़ा भवन है जिसमें 8 कक्षों वाला एक स्नानागार भी उपस्थित है।

स्नानागार वाली सड़क पर ही दस वर्गमीटर आँगन एवं 69 × 23.4 मीटर आकार वाला एक बड़ा भवन स्थित है जिसमें तीन बरामदे हैं। स्नानागार से निकटता और इस भवन की विशालता को देखते हुए ऐसा मान लिया गया है कि यह मोहनजोदड़ो के प्रमुख पुरोहित या पुरोहितों का निवास स्थान था जिसको 'कॉलेज ऑफ प्रीस्ट' या 'पुरोहितों का महाविद्यालय' की संज्ञा दी गई।

सिटाडेल वाले हिस्से के पश्चिमी सिरे पर तथा स्नानागार के दक्षिण पश्चिम कोने पर एक भव्य संरचना है जिसको सबसे पहले हमाम के रूप में देखा गया था, किन्तु बाद में इसकी उपयोगिता एक अन्नागार के रूप में देखी जाने लगी। यहां 50 x 27 मीटर के ईंट निर्मित इस ठोस आधार को 27 वर्गाकार एवं आयताकार खंडों में बांटा

मोहनजोदड़ोः मकानों की दीवारों के बीच संकरी गली; महास्नानागार

गया है, जिसके बीच से संकरा गलियारा बना है। दो गलियारे पूरब-पश्चिम और आठ उत्तर-दक्षिण की दिशा में हैं। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण अन्नागार का बाहरी ढाँचा लकड़ी का बना हुआ था। अन्नागार के दक्षिण पश्चिम हिस्से में 4.5 मीटर चौड़ी सीढ़ियाँ बनी थीं। सीढ़ियों के नीचे एक कुँआ था तथा सीढ़ियों के ऊपर नहाने के लिए एक चबूतरा बना था। इसके उत्तर में झामा ईंट से बना चबूतरा मौजूद है, जिसकी पहचान व्हीलर ने 'लोडिंग डॉक' या लदान-प्रक्षेत्र के रूप में किया है। चूंकि इसकी खुदाई के दौरान तथाकथित अन्नागार से प्राप्त सामग्रियों का कोई रिकॉर्ड नहीं रखा जा सका अत: इसकी उपयोगिता के विषय में अभी भी कुछ निश्चित रूप से कहना उचित नहीं है। अनाज अथवा अनाजों का संग्रह करने वाले पात्रों के अभाव में कुछ विद्वान इसे अन्नागार के रूप में पहचान स्थापित करने के प्रयास पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

सिटाडेल के दक्षिणी हिस्से में 27 × 27 मीटर का लगभग एक वर्गाकार भव्य कक्ष है जो सभागार या 'असैम्बली हॉल' के नाम से जाना जाता है। यह भवन पाँच पार्श्ववीथियों या गलियारों में बंटा हुआ है।

मोहनजोदड़ो के पूर्वी हिस्से का निचला नगर 80 हेक्टेयर में फैला हुआ है जो संभवत: प्राचीर से घिरा हुआ था। । उत्तर से दक्षिण तथा पूरब से पश्चिम की ओर निचला नगर चार-चार सड़कों से बंटा हुआ है। पुन: कई उपसड़कों और गलियारों की योजनाबद्ध उपस्थिति देखी जा सकती है। मुख्य सड़कें सामान्यत: 9 मीटर चौड़ी तथा अन्य सड़के 1.5-3 मीटर चौड़ी थीं। यहां अलग-अलग आकारों के घर दिखाई देते हैं, जो संपत्ति और हैसियत के अंतर को भी प्रतिबिम्बित करता है। मोहनजोदड़ो के हिस्सों को इनके उत्खननकर्त्ताओं, जैसे एच. हारग्रीव के नाम से 'एच.आर.' अथवा के.एन. दीक्षित के नाम से 'डी.के.' इत्यादि के रूप में जाना जाता है। एच.आररु हिस्से में एक विशाल भवन से बड़ी संख्या में मुहर और तथाकथित 'प्रीस्ट किंग' की बैठी हुई प्रतिमा के टुकड़े मिले हैं, जिसके बाएं कंधे पर शाल (चादर) है। यह डी.के. क्षेत्र में 'पुरोहित सम्राट' की प्रसिद्ध प्रतिमा से मिलती जुलती है। इस भवन को एक मन्दिर अथवा किसी विशिष्ट व्यक्ति के भवन के रूप में देखा जा सकता है। एच.आर. क्षेत्र के पश्चिमी भाग में 16 मकानों की दो कतारें स्थित हैं। एक कमरे वाले इन घरों के पीछे एक स्नानागार तथा एकाध छोटे कमरे हैं। इन्हें दुकान अथवा शिल्पकारों के आवास के रूप में देखा जा सकता है। निचले नगर में ताम्बे, रंगाई, मृद्भाण्ड तथा शंख के सामान बनाने वालों के स्थान चिन्हित किए गए हैं।

जैनसेन (1989) के आकलन के अनुसार, मोहनजोदड़ो में 700 से अधिक कुएँ थे, अर्थात प्रत्येक तीन मकानों के लिए औसतन एक कुआँ था। कुओं की गहराई औसतन 10-15 मीटर थी। कुओं के ऊपरी सिरों पर रस्सी के चिन्ह देखे जा सकते हैं। मोहनजोदड़ो के ज्यादातर मकानों में या प्रत्येक कुछ मकानों के पास कम से कम एक निजी कुआं बना हुआ था। कई मुहल्लों में मुख्य सड़क के किनारे सार्वजनिक कुएं भी बने थे। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इन कुओं पर लोग जमा होकर पानी भरने के बीच आपस में खबरों का लेन-देन और आपसी बातचीत करते होंगे।

चन्हूदड़ो 4.7 हेक्टेयर में फैला एक स्थल है, जो मोहनजोदड़ो से 130 कि.मी. दक्षिण में स्थित है। आजकल नदी इस स्थान के 20 कि.मी. पश्चिम में बहती है, परंतु प्रागैतिहासिक काल में इसके करीब से बहती होगी। यहां सिर्फ एक ही टीला है, जिसके चारों तरफ कोई सुरक्षात्मक दीवार भी नहीं बनायी गयी है। कच्ची मिट्टी के ईंटों से बने चबूतरे पर कई प्रकार के संरचनाओं के अवशेष दिखाई देते हैं। कम से कम तीन सड़कों के निशान वहां मिले हैं। मुख्य सड़क 5.68 मी. चौड़ी है, जिसके दोनों तरफ ढकी हुई पक्की ईंटों से बनी नालियां मौजूद है। चन्दूहड़ो स्पष्ट रूप से शिल्प गतिविधियों का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। कुछ घरों से कई प्रकार का कच्चा माल जैसे अगेट, कार्नेलियन, ऐमथिस्ट और क्रिस्टल आदि के साथ-साथ पूर्णनिर्मित और अर्धनिर्मित मनके एवं छेद करने वाला ड्रिल आदि भी मिला है, इससे भी ज्यादा आकर्षक बात यहां मनका बनाने की कार्यशाला (फैक्टरी) का मिलना था, जहां से सेलखड़ी के बहुत सारे पूर्वनिर्मित और अर्धनिर्मित मनके प्राप्त
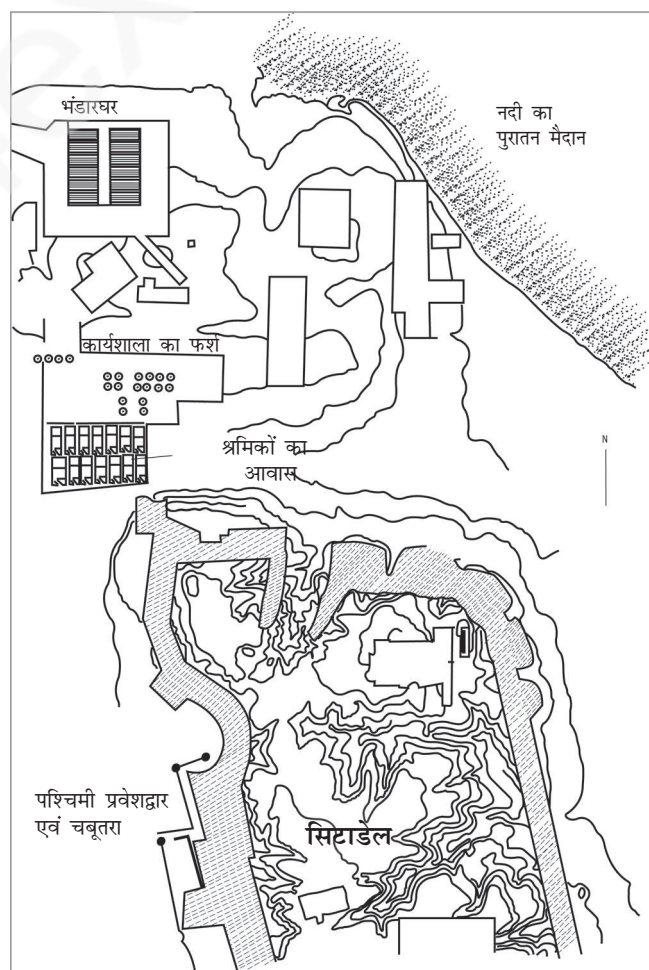
चित्र 4.6: **हड़प्पा की नगर योजना**

हुए हैं। शंख के सामान, पत्थर के बटखरे और मुहर बनाना यहां का अन्य महत्त्वपूर्ण कारोबार लगता है।

हड़प्पा का टीला 150 हे. के विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है। रावी नदी यहां से 10 कि.मी. हटकर बहती है। गढ़वाला भाग पश्चिम हिस्से में तथा निचला शहर दक्षिण-पूरब हिस्से में है। गढ़वाले टीले वे दक्षिण में परिपक्व हड़प्पा काल का एक कब्रगाह पाया गया है। आयताकार सिटाडेल उत्तर-दक्षिण में 415 मीटर तथा पूरब-पश्चिम में 195 मीटर आकार वाला है। गढ़ के चारों ओर की गई मजबूत किलेबन्दी के बीच-बीच में विशालकाय टावर और दरवाजे बने हुए हैं। अंदर की संरचनाएं एक या अधिक ऊंचे चबूतरों पर खड़े किए गए थे। गढ़ टीले के क्षतिग्रस्त स्वरूप के कारण हड़प्पा के मुख्य गढ़ का विवरण मोहनजोदड़ो के मुकाबले अपूर्ण है।

कालीबंगा: मुख्य सड़क; मकानों की दीवारें

गढ़ के उत्तरी भाग में एक टीले (टीला-एफ) पर कच्ची ईंट की दीवार से घिरे बड़ी संख्या में संरचनाएं पाई गई हैं। यह शिल्प की गतिविधियों से जुड़ा एक उत्तरी उपनगर लगता है। प्राचीर के अंदर एक खंड में कम से कम 15 इकाइयां (करीब 17 x 7 मीटर) थी; प्रत्येक के सामने एक आंगन और पिछवाड़े में एक कमरा था। बीच में गली थी जिसके दोनों ओर दो कतारों में ये बने हुए थे। इस संरचना की व्याख्या कामगारों के आवास के रूप में की गई है। इसके उत्तर में ईंट से बने 18 गोलाकार चबूतरे स्थित थे, जिनका औसत व्यास करीब 3 मी. था। ये प्राय: अनाज दौनी करने के चबूतरे रहे होंगे, जिसके बीचोंबीच लकड़ी का खंभा अनाज पीटने के लिए लगाया गया होगा। यहां से जौ की भूसी और डंठल भी पाया गया है। इस चबूतरे के उत्तर में 'अन्न भंडार' स्थित है। भंडार में 12 इकाईयां थीं, जो छह कमरों के दो कतार में सज्जित थीं। इसके बीचोंबीच मुख्य गलियारा था। प्रत्येक इकाई का आकार 15.2 x 16.1 मीटर है। ऐसा लगता है कि इसके ऊपर लकड़ी का ऊपरी ढांचा बना था, जिसमें जगह-जगह विशाल खंभों से टिकाया गया था। मोहनजोदड़ो के 'अन्न भंडार' की तरह ही यहां से भी अनाज का कोई दाना प्राप्त नहीं हुआ है। 'अन्न भंडार' के रूप में इसकी पहचान मुख्यत: रोम में पाए गए ऐसे ही ढांचों के आधार पर किया गया है।

हड़प्पा के निचले नगर (टीला ई) के दक्षिणी द्वार के अंदर एक विशाल खुली जगह है जो शायद बाजार या नगर में बाहर से आने वाले सामान के निरीक्षण करने के स्थल के रूप में उपयोग की जाती थी। शंख, अगेट और तांबे की वस्तुओं के बनाने वाले बहुत से कार्यशाला भी चिह्नित किए गए हैं। दक्षिणी द्वार के बाहर एक छोटे से टीले पर कई घर, नाली, स्नान-चबूतरा और प्राय: एक कुंआ भी मिला है। यह यात्रियों या व्यापारियों के आराम करने का स्थल रहा होगा।

कालीबंगा का नाम यहां पर स्थित पुरातात्त्विक टीले के उत्तर में पाए गए काली चूड़ियों के ढेर के आधार पर पड़ा है। यह स्थान राजस्थान के हनुमान गढ़ जिला में घग्गर नदी की शुष्क हो चुकी प्रवाहिका के किनारे स्थित है। कालीबंगा के पश्चिम में छोटा टीला (KLB-1) और पूरब में बड़ा टीला (KLB-2) मौजूद हैं। इन दोनों टीलों के बीच खुला भू-भाग है। के एल बी-I से प्रारम्भिक हड़प्पा और परिपक्व हड़प्पा सभ्यता दोनों के प्रमाण मिलते हैं। कालीबंगा में इन दो पुरातात्त्विक अवशेषों के अलावा एक तीसरा टीला भी मिला है, जहां से अग्निकुण्ड के प्रमाण मिले हैं। ऊपरी दुर्ग और निचला शहर दोनों ही दीवारों से घिरे थे।

कालीबंगा के पश्चिमी टीले का परिपक्व हड़प्पा क्षेत्र दो हिस्सों में बंटा है, जिनके दोनों सिरों पर सीढ़ियाँ देखी जा सकती हैं। दक्षिणी हिस्से में कोई घर बना हुआ नहीं था, परंतु यह कच्ची ईंट से बने चबूतरों की श्रृंखला के लिए जाना है, जिस पर मिट्टी से लिपाई किए सात गड्ढों की कतार मिली है। इनके समीप एक कुआँ और स्नान करने के लिए एक चबूतरा बना हुआ है। कालीबंगा के सिटाडेल क्षेत्र के उत्तर में बने मकानों में शायद वैसा पुरोहित वर्ग निवास करता था जो कालीबंगा के अग्निकुण्डों वाले दक्षिणी टीले से सम्बद्ध था। सिटाडेल के पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम में 200 मीटर की दूरी पर एक कब्रगाह का अवशेष मिला है। यहां शवों को लेटाकर दफनाया जाता था तथा जिसके समीप पाए गए वृत्ताकार गड्ढों में मृद्भाण्ड, कांस्यदर्पण, इत्यादि अंत्येष्टि सामग्री के रूप में गाड़ दिए जाते थे।

निचले नगर में आयताकार आवासीय योजना देखी जा सकती है जो कच्ची ईंट से बनी दीवार से घिरी थी। यहां कई सड़कों के चिह्न भी मिले हैं। यहां के बहुत सारे मकानों में वृत्ताकार अग्निकुण्ड और साथ में बना आयताकार कुण्ड पाया गया है जहां पर टेराकोटा के केक और भस्म तथा कोयला इत्यादि पाए गए हैं। कालीबंगा के निचले नगर में मोहनजोदड़ो के प्रकार की जल निकासी प्रणाली की पुष्टि नहीं होती है। व्यवस्थित जल निकासी प्रणाली के अवशेष केवल सिटाडेल क्षेत्र से मिले हैं। कालीबंगा से टेराकोटा, शंख, सेलखड़ी, इत्यादि की चूड़ियां मिली हैं। जिनसे प्रमाणित होता है कि यह चूड़ी निर्माण का एक बड़ा केंद्र था। यहां की अन्य रोचक प्राप्तियों में हाथी दाँत की बनी कंघी, ताम्बे का एक भैंस अथवा साँड तथा पत्थर का बना एक आधार वाला लिंग तथा सींग वाले देवता की टोराकोटा प्रतिमा के अवशेष मुख्य हैं।

हरियाणा के हिसार जिले में रंगोई नदी के एक शुष्क प्रवाह मार्ग पर बनावली स्थित है। यहां मिले सुरक्षा दीवारों के बीच का हिस्सा 300 × 500 मीटर है। इस स्थल से प्रारम्भिक परिपक्व तथा उत्तर हड़प्पा सभ्यताओं के अनवरत प्रमाण मिले हैं। बनावली-II परिपक्व हड़प्पा संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। यहां स्थित सिटाडेल क्षेत्र और निचले नगर के बीच एक बड़ी दीवार खड़ी है। यहां के सिटाडेल की योजना लगभग बेलनाकार है। जिसके चारों ओर अतिरिक्त सुरक्षा प्राचीर और खोदे गए खाई के प्रमाण हैं। सिटाडेल से निचले नगर में जाने के लिए कृत्रिम रूप से ऊँचा किया हुआ एक भूभाग देखा जा सकता है। मिट्टी के बने मकानों के सामने चबूतरा बना हुआ है। भट्ठी में पके ईंटों का प्रयोग केवल कुँआ, स्नान क्षेत्र तथा जल निकासी के लिए हुआ है। यहां से पाए गए एक बहुकक्षीय मकान से रसोईघर, शौचघर तथा बहुत सारी मुहरें और बटखरे मिले हैं, जो शायद किसी घनाढ्य व्यापारी का भवन रहा होगा। इसी प्रकार के एक दूसरे घर से सोना, लाजवर्द, कार्नेलियन के मनके, छोटे बटखरे इत्यादि मिले हैं जो शायद आभूषण के किसी व्यापारी का मकान रहा होगा। एक रोचक पुरातात्त्विक तथ्य यह है कि मुहरों की प्राप्ति केवल निचले नगर क्षेत्र से हुई है सिटाडेल क्षेत्र से नहीं। यहां से हल का एक टेराकोटा मॉडल भी मिला है। बनावली के बहुत सारे घरों से अग्निकुण्ड मिले हैं। कुछ अग्निकुण्डों के साथ ऐप्साईडल संरचनाएं मिली हैं जिनका कोई कर्मकाण्डीय महत्त्व रहा होगा।

राखीगढ़ी (हिसार, हरियाणा) से पांच पुरातात्त्विक टीले मिले हैं। दुर्ग-टीला के चारों तरफ कच्ची ईंटों की सुरक्षा दीवार बनाई गई थी, जिसके अंदर कई चबूतरे, ईंटों से निर्मित कुंआ, अग्निकंड, कुछ सड़कें और विभिन्न आकारों की नालियां आदि चिह्नित की गई हैं। यहां मनका बनाने की एक कार्यशाला भी मिली है, जिसमें 3000 अर्धनिर्मित मनकों के अलावा अगेट, कार्नेलियन, चैल्सिडोनी, और जैस्पर पत्थरों के कटे टुकड़ों के अवशेष, मनकों को चिकना करने के लिए घर्षण-पत्थर, पत्थरों के कटे टुकड़ों के अवशेष, मनकों को चिकना करने के लिए घर्षण-पत्थर, पत्थरों को गर्म करने के लिए अंगीठी आदि प्राप्त हुए हैं। इस

बनावली: पूर्वी द्वार; सुरक्षा प्राचीर का अनुप्रस्थ काट; ऐप्साईडल संरचनाएं (बाएं से)

लोथलः कूप और नालियां

स्थल के अन्य हिस्सों से हड्डी, हाथीदांत, बारसिंघा के सींग, तैयार और अर्धनिर्मित अस्थि शीर्ष, कंघा, सुई, खुरचनी, आदि मिले हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि यहां हाथी दांत और अस्थिनिर्मित वस्तुओं का भी शिल्पकार्य होता था। एक कब्रगाह से प्राप्त आठ शवाधानों में ईंटों से घिरे गड्ढे मिले हैं और एक में तो लकड़ी का ताबूत भी मौजूद है।

हरियाणा के भीरणा नामक पुरातात्त्विक स्थल का IIए काल नगरीय हड़प्पा सभ्यता की शुरुआत और IIबी काल पूर्ण रूप से नगरीय हड़प्पा सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है। परिपक्व हड़प्पा बस्ती को चारों तरफ से कच्ची ईंटों की विशाल दीवारों से घेरा गया था। यहां से अनेक कमरों वाले तीन भवन मिले, जिनमें से एक टीले के बिल्कुल केंद्र में स्थित था और उसमें चार कमरे थे। अन्य दोनों भवनों के बीच एक गलियारा देखा जा सकता है। एक भवन में 10 कमरे के अतिरिक्त बरामदा और आँगन भी था जिसके फर्श पर राख से युक्त टेराकोटा केक बिखरे पड़े थे। दूसरे भवन में छः कमरे, एक रसोई घर, एक मुख्य आँगन, तीन अतिरिक्त आँगन और एक खुला बरामदा मौजूद था। फर्श पर कच्ची ईंट बिछाई गई थी और ईंट से बनी दीवारों पर मिट्टी का लेप लगाया गया था। सिटाडेल के उत्तर पश्चिम में स्थित इस भवन के एक आँगन में गोलाकार तन्दूर और रसोई घर में सामान्य चूल्हा मौजूद था। एक चूल्हे के बगल में गो-वंश के किसी पशु का खोपड़ी और जली हुई हड्डियां भी मिली हैं। इस स्थल के सुरक्षा दीवारों के साथ उत्तर-दक्षिण दिशा में 4.80 मीटर चौड़ी सड़क देखी जा सकती है। यहां से पाए गए मजबूत लाल मृद्भाण्डों पर से एक पर स्त्री का चित्र अंकित था। जिसकी तुलना मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य नर्तकी से की जा सकती है।

गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र में साबरमती और इसकी सहायिका भोगबो नदीयों के बीच लोथल अवस्थित है जो समुद्रतट से 16-19 कि.मी. की दूरी पर है। किन्तु आद्य ऐतिहासिक काल में खम्भात की खाड़ी से इस स्थान पर नावों का आवागमन बना हुआ था। यह 280 × 225 मीटर आकार वाला आयताकार योजना पर बना हुआ स्थल है। इसके चारों तरफ बनाई गई दीवारें पहले मिट्टी की बनी थी, बाद में इन्हें मिट्टी के और भट्ठी में पकाए गए मिट्टी के ईंटों से पुनः बनाया गया था। दक्षिण दीवार में प्रवेश द्वार बना हुआ था। दीवार से घिरे क्षेत्र के बाहर उत्तर-पश्चिम में एक कब्रगाह था। यहां के उत्खननकर्ता एस.आर. राव ने सिटाडेल को एक्रोपॉलिश की संज्ञा दी है। जिसका अभिप्राय ऊँचाई पर बने नगर या दुर्ग से है। एक्रोपॉलिश क्षेत्र का आकार विषम चतुर्भज के समान था जिसके दक्षिणी भाग में मिट्टी के ईंटों से बने प्लेटफार्म पर संरचनाएं बनी थीं। आवासीय क्षेत्र के दक्षिण भाग में एक विशाल कार्यशाला का अवशेष देखा जा सकता है, जहां पर सामानों के पैक करने और संग्रह करने की व्यवस्था थी। यहां से प्राप्त 65 टेराकोटा की छोटी मुहरों में हड़प्पा सभ्यता के चिन्ह देखे जा सकते हैं जिनके एक पृष्ठ पर सरकंडा, चटाई, कपड़ा, मुड़ी हुई रस्सी आदि का छाप है और दूसरी तरफ हड़प्पाई मुहरों वाले चिह्न बने हैं।

मुख्य आवासीय क्षेत्र में कई बड़े भवन भी मिलते हैं जिनमें चार से छह कमरे, स्नानघर, एक विशाल आंगन और बरामदा बने हैं। कुछ घरों में अग्निवेदी भी बनी है - छोटे गड्ढों में राख और पकी मिट्टी चकती या गोला भी मिला है। कच्चे माल और अन्य सामग्रियों के आधार पर ताम्रकार अथवा मनके बनाने वाले शिल्पकारों के मकान रेखांकित किए गए हैं। लोथल स्थित पतली सड़कों में से एक को बाजार वाली गली की संज्ञा दी गई।

लोथल की सबसे बहुचर्चित प्राप्ति यहां की डॉकयार्ड की संज्ञा दी जाने वाली संरचना है जो स्थल के पूर्वी सिरे पर स्थित है। यह भी लगभग विषम चतुर्भुजीय आकार वाला जल संग्रह का क्षेत्र है। पूर्वी दीवार 212 मी. तथा पश्चिमी दीवार 215 मीटर लम्बी है जबकि उत्तरी और दक्षिणी दीवार क्रमशः 37 मीटर और 35 मीटर चौड़ी है। इस डॉकयार्ड (गोदी) में जल की अनवरत् आपूर्ति के लिए स्लुइस गेट और नहर की विशेष व्यवस्था की गई थी। इस आकृति के पश्चिमी हिस्से में स्थित मिट्टी के ईंटों से बने चबूतरे का उपयोग सामानों को उतारने-चढ़ाने के लिए किया जाता होगा। इस संरचना के सम्बंध में जलाशय होने की वैकल्पिक व्याख्या विश्वसनीय नहीं है।

लोथल का डॉकयार्ड

धोलावीराः तालाब; उत्तरी द्वार
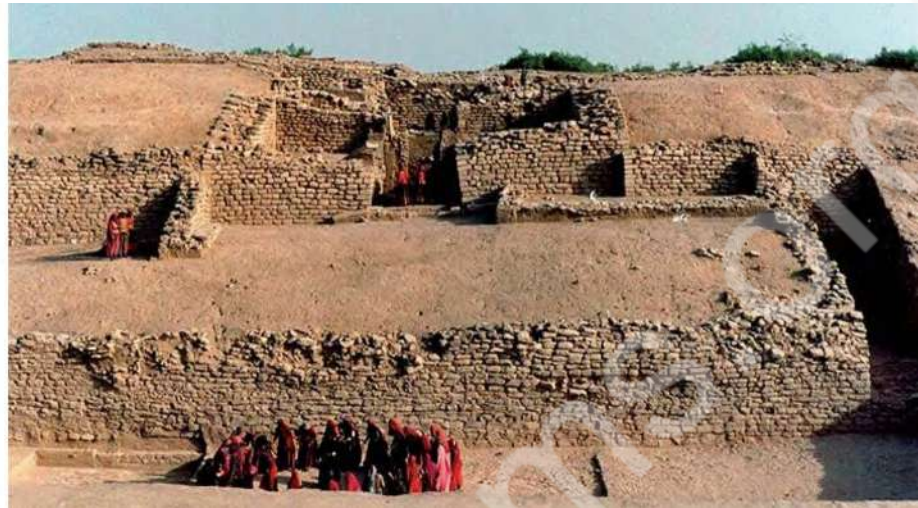
गुजरात के कच्छ के रण के कादिर द्वीप में धोलावीरा स्थित है। यहां के विषय में भी आकलन है कि आद्य ऐतिहासिक काल में रण का जलस्तर इतना ऊँचा था कि समुद्री नाव तट से चलते हुए सीधा इस स्थल तक पहुंच जाते थे। गुजरात के अन्य हड़प्पा कालीन स्थलों की तरह धोलावीरा के स्थापत्य में कच्ची ईंटों के साथ-साथ बलुआ पत्थर का भरपूर प्रयोग हुआ है। धोलावीरा की नगर योजना हड़प्पा के अन्य स्थानों से पृथक और विशिष्ट है। इस स्थान के चारों तरफ मिट्टी के ईंटों और बड़े चट्टानों के स्तम्भों से की गई किलाबन्दी के उत्तरी और दक्षिणी दीवारों के ठीक बीचों-बीच मुख्य प्रवेश द्वार अवस्थित है। धोलावीरा में बाहरी दीवार के भीतर नगर के तीन विभाजन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है—(1) दुर्ग, (2) इसके पश्चिम में बाहरी प्रांगण, तथा (3) उत्तर में मध्य नगर। तीनों की पृथक-पृथक घेराबन्दी की गई थी। काशल-बेली तथा मिडिल टाउन के बीच एक विशाल खुला क्षेत्र 'स्टेडियम' कहा गया है जिसका उपयोग विशिष्ट समारोहों के अवसर पर प्रायः किया जाता था। धोलावीरा के सुरक्षा प्राचीर के बाहर अतिरिक्त आवासिय क्षेत्र के प्रमाण मिलते हैं जो शायद इसके उपनगर रहे होंगे। उस काल में यह नगर समुद्रिक व्यापारिक मार्ग का निश्चित रूप से एक महत्त्वपूर्ण ठहराव केंद्र रहा होगा।

धोलावीरा का एक्रोपेलिश 300 × 300 मीटर का वर्गाकार क्षेत्र था जिसके चारों दीवारों के बीच में प्रवेश द्वार थे। इसके पूर्वी प्रवेश द्वार से चूना पत्थर के स्तम्भों के आधार और पॉलिश किए स्तम्भों के सतह के टुकड़े मिले हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में पत्थर पर की गई कारीगरी को मौर्यकाल से पीछे ले जाकर 3000 वर्ष पूर्व पहुंचा दिया है। धोलावीरा के उत्तरी द्वार के पास बने कक्षों में से एक में एक गिरा हुआ साईन बोर्ड या नाम पट्टिका के अवशेष मिले हैं। यह लकड़ी के तख्ते पर जिप्सम से लिखा हुआ नाम पट्ट था। लकड़ी का बोर्ड तो नष्ट हो चुका है। लेकिन जिप्सम से अंकित 37 × 25 – 27 से.मी. का प्रत्येक प्रतीक चिह्न शायद इस नगर का नाम या इसके शासक का उद्घोष करता था। गढ़ क्षेत्र में जलनिकासी की विस्तृत व्यवस्था थी और यहां के बड़े भवनों का शायद प्रशासनिक अथवा कर्मकाण्डीय महत्त्व रहा होगा।

चित्र 4.7: **धोलावीरा की नगर योजना**

धोलावीरा का मध्य नगर 360 × 250 मी. की दीवार से घिरा हुआ था जिसके चार द्वार थे। निचले शहर में ऐसे कई घरों और इलाकों के साक्ष्य मिलते हैं,
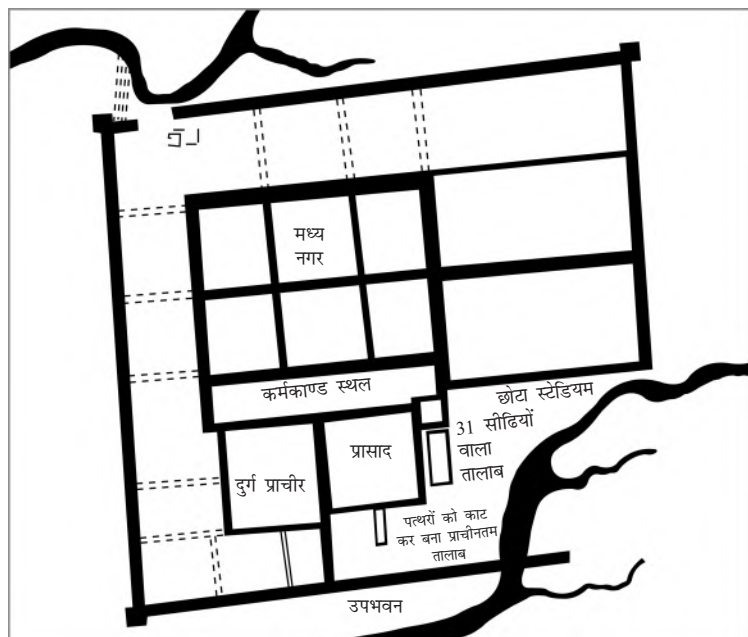
धोलावीरा का सिटाडेल : स्तम्भों के टुकड़े सहित पूर्वी द्वार; कुआं; विशाल नाली

जहां बहुत प्रकार के शिल्प सम्बंधी कार्य जैसे मनके, शंख और मिट्टी के बर्तनों का निर्माण किया जाता था। नगर प्राचीर के बाहर भी बस्तियों और कब्रों के साक्ष्य मौजूद हैं। कब्रिस्तान क्षेत्र से पत्थर के खंडों से घिरे आयताकार कब्र मिले हैं, परंतु उनके अंदर कोई कंकाल अवशेष नहीं मिला है। संभवत: ये मृतकों की स्मृति में बनाए गए स्मारक हों।

इस नगर में जल प्रबंधन तथा वॉटर हार्वेस्टिंग की आकर्षक व्यवस्था के प्रमाण देखे जा सकते हैं। इस क्षेत्र में 160 से.मी. से कम औसत वार्षिक वर्षा होती है, किन्तु यह स्थान मनहार और मंदसार दो छोटी नदियों के संगम पर बना हुआ था। इन नदियों पर डैम बनाकर जल संग्रह किया जाता था। यहां पर वर्षा के पानी का संग्रह करने के लिए सोलह से अधिक जलाशय बनाए गए थे।

अल्लाहदीनो (1.4 हे.) करांची से 40 कि.मी. पूर्व में बिना सुरक्षा दीवार के बसा हड़प्पा सभ्यता का एक छोटा सा गांव है। कच्ची ईंटों तथा पत्थर की नींव पर बने मकान पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम से पूर्व-उत्तरपूर्व की दिशा में बने थे। उत्खनित क्षेत्र के उत्तर-पूर्वी भाग में बने एक विशाल कच्ची ईंटों के चबूतरे पर कई कमरों वाला एक बड़ा भवन स्थित था, जिसका संभवत: खास महत्त्व था। एक दूसरा भवन तीन कुओं के साथ सम्बंधित है। अल्लाहदीनो के कुओं का व्यास काफी छोटा होता था और उनका मुंह सिर्फ 60-90 से.मी. रखा जाता था। प्राय: यह व्यवस्था भू-जल को द्रवचालित दबाव से ऊपर लाने के लिए किया जाता था। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि कुंओं के पानी का उपयोग निकटवर्ती खेतों की सिंचाई के लिए किया जाता था।

अल्लाहदीनो से प्राप्त वस्तुओं में बड़ी मात्रा में तांबे का सामान, मुहरें, टेराकोटा की खिलौना-गाड़ी और टेराकोटा की तिकोना चकती आदि शामिल हैं। यहां की सबसे अनोखी प्राप्ति टेराकोटा का एक ऐसा छोटा-सा मर्तबान है, जिसमें सोना, चांदी, कांसा, अगेट, कार्नेलियन आदि के जेवर भरे पड़े थे। इनमें एक लंबी पेटी या हार भी शामिल है, जिसमें कार्नेलियन के 36 लंबे मनकों के अतिरिक्त बीच में कांसे के मनके भी लगे हुए थे। साथ ही चांदी का भी एक बहु-धारी हार भी मौजूद था। एक ग्रामीण बस्ती में इतने बहुमूल्य धातुओं और रत्नों के कीमती आभूषण के मिलने से ऐसा लगता है कि हड़प्पा सभ्यता के इस गांव के कम से कम कुछ निवासी काफी समृद्ध थे।

हड़प्पाकालीन जीवन-निर्वाह पद्धतियों की विविधता

(The Diversity of the Harappan Subsistence Base)

हड़प्पा सभ्यता एक विशाल क्षेत्र के अंदर फैली हुई थी, जिसके भीतर जलोढ़ मैदान पर्वत, पठार और समुद्री तट सभी प्रकार के पर्यावरण, अस्तित्व में थे। नगरीकरण के लिए खाद्यान का अधिशेष उत्पादन, यदि आवश्यक शर्त है तो इसकी पर्याप्त सम्भावना यह सभ्यता अपने में समेटे हुए थी। यदि खाद्य संसाधन के किसी एक स्रोत का नुकसान भी हो जाता था तो उसके स्थान पर कई वैकल्पिक स्रोत उपलब्ध हो जाते थे। हालांकि, कृषि ही हड़प्पा

सभ्यता की जीवन प्रणाली का मुख्य आधार था किन्तु पशुपालन और आखेट भी लोकप्रिय थे। जहां नदीय और समुद्री भोजन उपलब्ध था वहां उनका उपयोग किया जाता था। वनस्पति के अवशेष, पशुओं की हड्डियाँ, मुहर और मृद्भाण्ड पर अंकित प्रतीक चिन्ह, औज़ार और आधुनिक युग में प्रचलित जीवन-निर्वाह प्रणालियों से तुलना आदि सभी सूचना के मुख्य स्रोत हैं।

जीवन-निर्वाह की पद्धतियाँ निश्चित रूप से उस स्थान के पर्यावरण से जुड़ी होती हैं और हड़प्पा क्षेत्र का पर्यावरण सदा से वाद-विवाद का विषय बना हुआ है। मॉर्टिमर व्हीलर और स्टुअर्ट पिगट जैसे विद्वानों ने अग्रलिखित तर्कों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हड़प्पा कालीन वातावरण उस क्षेत्र में वर्तमान की तरह शुष्क नहीं था—(1) हड़प्पा सभ्यता में पकी ईंटों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ जिसको पकाने के लिए अत्यधिक लकड़ी के ईंधन का प्रयोग किया गया होगा। अत: निश्चित रूप से सघन वनस्पति और अच्छी बरसात रही होगी। (2) पानी को इकट्ठा करने के लिए बलूचिस्तान क्षेत्र में गवरबन्दों का निर्माण भी अधिक वर्षा की स्थिति में ही किया गया था। (3) बाघ, हाथी, गैंडे इत्यादि का मोहर पर अंकन यह संकेत देता है कि विकसित वन प्रदेश और अच्छी वर्षा से युक्त पर्यावरण रहा होगा, तथा (4) नगरों में जल निकासी की प्रणाली विशेष रूप से बरसात के पानी को ध्यान में रख कर बनायी गई थी। किन्तु पहले और आखिरी बिंदु का खंडन आसानी से किया जा सकता है क्योंकि ईंटों के निमार्ण में प्रयुक्त लकड़ी की मात्रा का अनुमान लगाना संभव नहीं है। इसी तरह हड़प्पा में जल निकासी की उन्नत व्यवस्था भी अनिवार्य रूप से वर्षा के पानी के निकासी के उद्देश्य से नहीं बनी थी।

कई विद्वान यह मानते हैं कि वृहत्तर सिंधु-घाटी में हड़प्पा काल से लेकर अब तक जलवायु कमोबेश वैसी की वैसी ही बनी हुई है। हालांकि, कुछ अध्ययनों में इसके विपरीत निष्कर्ष भी सामने आए हैं। पुरा वनस्पति शास्त्री गुरदीप सिंह (1971) ने पुष्पपराग विश्लेषण के लिए राजस्थान के नमक वाले तीन झील-साँभर, डिडवाना तथा लूनकरणसार एवं पुष्कर के मीठे झील का चयन किया। इस क्रम में उन्होंने राजस्थान में ल. 8000-1500 सा.सं.पू. के बीच की वर्षा की औसत दर का अध्ययन किया। अपने निष्कर्ष में उन्होंने पाया कि जहां ल. 3000 सा.सं.पू. के लगभग में वर्षा की मात्रा में बढ़ोत्तरी हुई थी, वहीं 1800 सा.सं.पू. के लगभग में इसमें ह्रास हुआ था। हालांकि, झील लूनकरणसार (एनजेल एवं अन्य, 1999) के एक अध्ययन के दौरान यह पाया गया है कि झील 3500 सा.सं.पू. तक बिल्कुल सूख चुकी थी और हड़प्पा सभ्यता के उद्भव के बहुत पहले यहां की जलवायु शुष्क हो चुकी थी। इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि हड़प्पाकालीन जलवायु के चरित्र से सम्बंधित बहस अभी भी अर्निणित ही है।

हड़प्पा सभ्यता की परिधि विशाल होने के कारण किसानों द्वारा उगाए जाने वाले फसलों में क्षेत्रीय विविध ता का होना अत्यंत स्वाभाविक है। गेंहू मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में; जौ मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और कालिबंगा में; तथा तिल हड़प्पा में पाए गए हैं। हड़प्पा से तरबूज के बीज, मटर और खजूर के साक्ष्य भी मिले हैं। हड़प्पा कालिबंगा, लोथल और रंगपुर से चावल के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। बाजरा हड़प्पा, सुरकोतडा और शोरतुघई से मिला है। इसके अतिरिक्त हड़प्पा क्षेत्र से कपास, मेहंदी तथा अंगूर की प्राप्ति हुई है। पूर्व तथा परिपक्व हड़प्पा काल की वानस्पतिक अर्थव्यवस्था के विस्तृत साक्ष्य हमारे पास हरियाणा के बालू क्षेत्र के लिए उपलब्ध हैं (सारस्वत एवं पोखरिया, 2001-02)। शिनाख्त किए जा चुके वानस्पतिक अवशेषों में विविध प्रकार के जौ, गेहूं, चावल, चना, हरा चना, तिल, तरबूज, खजूर, अंगूर, विभिन्न प्रकार के मटर तथा अदरक के प्राचीनतम साक्ष्य हैं। इसके साथ ही यह भी आश्चर्य की बात है कि जो वनस्पति हड़प्पा काल में इसके विभिन्न क्षेत्रों में उगाए जाते थे, लगभग वही वनस्पतियाँ आज भी इन क्षेत्रों में उगायी जाती हैं।

आद्य ऐतिहासिक कृषि सम्बंधी व्यवहार का इसी कारण कुछ अनुमान हम इन क्षेत्रों के आधुनिक कृषि व्यवहारों के आधार पर कर सकते हैं। आज सिन्ध में वर्षा का वार्षिक औसत बहुत कम है, किन्तु सिन्धु नदी के द्वारा बाढ़ का पानी और तलछट यहां इकट्ठा होता है। जिसके कारण उपज के लिए गहरे हल का प्रयोग अथवा सिंचाई और अतिरिक्त खाद्य की बहुत आवश्यकता नहीं पड़ती। अनुमानत: उस समय लोग खरीफ फसल के रूप में तिल और कपास जून-जुलाई महीनों में लगाते थे। जिन्हें सितम्बर-अक्टूबर महीनों में काट लिया जाता था। गेहूँ और जौ रबी फसलों को नवम्बर में रोपा जाता था और मार्च-अप्रैल में काट लिया जाता था। आज भी गुजरात में चावल मुख्य खरीफ फसल है, जैसा हड़प्पाकाल में भी सम्भवत: रहा होगा।

प्रारम्भिक हड़प्पा कालीन कालीबंगा से हल से जुते खेतों के प्रमाण हमारे पास उपलब्ध हैं। परिपक्व हड़प्पा चरण से भी जुते खेतों के प्रमाण हमारे पास उपलब्ध हैं। नगरीय हड़प्पा काल में भी हल का

बनावली से प्राप्त टेराकोटा (पक्की मिट्टी) का हल

प्रयोग निश्चित रूप से किया जाता होगा। बहावलपुर और बनावली से प्राप्त हलों के टेराकोटा मॉडल इस यंत्र के उपयोग की अतिरिक्त पुष्टि करते हैं। चूंकि हल लकड़ी से बनाए जाते थे, शायद इसीलिए हल का नमूना हमें प्राप्त हो पाया है।

बलूचिस्तान क्षेत्र में बरसात के पानी को गवरबन्दों के सहारे आज भी किसान अपने खेतों तक पहुंचाते हैं। शौरतुघई में सिंचाई के लिए नहरों के प्रयोग के प्रमाण हमारे पास उपलब्ध हैं। फेयरसर्विस का मानना है कि अल्लाहदीनों से प्राप्त कुएं के साथ जुड़ी नालियाँ उस समय प्रयोग में आने वाली सिंचाई व्यवस्था का बोध कराती हैं। किन्तु इस सम्भावना की पुष्टि नहीं की जा सकी है। इसी प्रकार लेशनिक द्वारा की गई लोथल के तथाकथित बन्दरगाह का वास्तव में जलाशय होने की प्राक्कल्पना भी तर्कसंगत नहीं है। हड़प्पा वालों में यदि नदी घाटी क्षेत्र में नहरों की व्यवस्था की भी होगी तोभी इसे सिद्ध कर पाना आज कठिन है। हालांकि, एच.पी. फ्रैंकफोर्ट (1992) ने हरियाणा क्षेत्र में छोटे स्तर पर नहरों के एक जाल को चिन्हित किया है और इसके अतिरिक्त घग्गर-हाकरा के मैदान में पाए जाने वाले कुछ प्राचीन नहरों को हड़प्पा कालीन बताया गया है।

हड़प्पा स्थलों से वन्य पशुओं की हड्डियां प्राप्त हुई हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के हिरण, सुअर, वराह, भेड़, बकरी, गधा (?) शामिल हैं। कछुए और मछलियों की हड्डियां भी प्राप्त हुई हैं। राइनो की हड्डियां केवल आमरी में मिली हैं, लेकिन अनेक मुहरों और मृणमूर्तियों में इनको दर्शाया गया है। हाथी और ऊंट की हड्डियां बहुत कम संख्या में प्राप्त हुई हैं, लेकिन उसकी तुलना में हाथी कई मुहरों पर दर्शाए गए हैं। बाघों को अधिकतर मृणमूर्तियों में देखा जा सकता है, उसकी तुलना में तेंदुए बहुत कम हैं। खरगोश, मयूर, कबूतर, बत्तख, बंदर तथा जंगली पक्षी, मृणमूर्तियों और मृद्भाण्डों पर अंकित चित्रों में दिखलाए गए हैं। हड़प्पावासियों के तौर पर ये उपलब्ध थे।

अनुसंधान की दिशाएं

शिकारपुर से प्राप्त पशुओं की हड्डियां

शिकारपुर गुजरात के कच्छ जिले में स्थित एक छोटा सा हड़प्पा कालीन स्थल है। सन् 1987-90 के बीच गुजरात राज्य के पुरातत्त्व विभाग ने इस स्थान का सीमित उत्खनन किया। निचला स्तर प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता और ऊपरी स्तर नगरीय हड़प्पा काल का प्रतिनिधित्व करता है। जन्तुओं के अवशेष यहां से डेक्कन कॉलेज, पुणे के पुरातात्त्विक प्रयोगशाला में भेजे गए। पी.के. टॉमस, पी.पी. जॉगलेकर, आरती देशपाण्डे मुखर्जी एवं एस.जे. पावांकर ने इनके प्रारम्भिक अध्ययन के आधार पर हड़प्पा कालीन गुजरात में लोगों के जीवन-निर्वाह पद्धति से सम्बंधित कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं एकत्रित कीं।

हड्डियों की कुल संख्या 15,483 थी जिनमें से 8267 टुकड़ों की शिनाख्त की जा सकी। हड्डियों पर मिले कटे के निशान अथवा जलाए जाने के निशान से उनके वध किए जाने तथा भुने जाने का अन्दाजा किया जा सकता है। जन्तुओं की 47 प्रजातियों में से 23 स्तनधारी, 3 पक्षी, 2 सरीसृप, 5 मत्स्य, 13 घोंघे और 1 क्रशटेसी पहचाने गए। जंगली भैंस, नीलगाय, चौसिंगा, काला हिरण, गजेला अनेक प्रकार के हिरण, जंगली सूअर, जंगली गदहा, लोमड़ी, खरहा और गैंडा इनमें सम्मिलित थे। पालतू पशुओं में भैंस, भेड़/बकरी, अश्व, सूअर, और कुत्ते भी थे।

हड्डियों की कुल प्राप्ति का 85 प्रतिशत से अधिक हिस्सा पालतू पशुओं का था। प्रारम्भिक हड़प्पा काल में 77.48 प्रतिशत हड्डियाँ तथा नगरीय हड़प्पा काल में 77.84 प्रतिशत हड्डियाँ मवेशियों की थीं। हालांकि, भेड़/बकरी की हड्डियों को अलग-अलग पहचानना कठिन था लेकिन प्रारम्भिक हड़प्पा काल में 11.26 प्रतिशत और ऊपरी स्तर में 4.63 प्रतिशत इन्हें पाया गया। भैंस की हड्डियाँ प्रारम्भिक हड़प्पा काल में 4.28 प्रतिशत तथा नगरीय काल में 4.61 प्रतिशत देखी गईं। कुत्ते की हड्डियाँ केवल नगरीय हड़प्पा काल में बहुत कम (केवल 0.116 प्रतिशत), इसी काल में पाई गईं घोड़ों की हड्डियाँ 0.13 प्रतिशत चिन्हित की गई।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि शिकारपुर की जनसंख्या का महत्त्वपूर्ण आहार पालतू जानवरों का माँस था। जंगली या समुद्री जीवों का आहार दोनों स्तरों में अलग-अलग था।

पालतु जानवरों की हड्डियों तथा दाँतों के विश्लेषण से ऐसा पाया गया कि इनका वध भिन्न-भिन्न उम्र में किया गया था। मवेशी और भैंस 03-08 वर्ष के परिपक्व वय में काटे गए थे। आठ वर्ष से ऊपर किए गए इनके वध से अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका उपयोग तब तक बोझ ढोने के लिए किया जाता था। भेड़/बकरी को छह महीनों से लेकर उनकी परिपक्वता की उम्र के बीच मारा जाता था जिसका अर्थ यह है कि इनका मुख्य उपयोग इनसे माँस प्राप्त करना था।

शिकारपुर में नगरीय हड़प्पा काल के अन्तिम दौर में जंगली जानवरों का अधिक उपयोग किया जाने लगा। कृषि का पतन, वर्षा की कमी, जनसंख्या का दबाव अथवा इन सबके संयुक्त प्रभाव में शायद ऐसा परिवर्तन हुआ हो।

स्रोत: टॉमस एवं अन्य, 1995

गुजरात के तटीय स्थलों में लोगों के भोजन में प्रचूर प्रोटीन युक्त घोंगा आदि का भरपूर प्रयोग किया जा रहा था। हड़प्पा में सामुद्रिक कैटफिश के हड्डियों की प्राप्ति, इस तथ्य की ओर इशारा करती है कि तटीय समुदायों के द्वारा शायद अंत:प्रदेशीय नगरों के साथ सुखाई गई मछलियों का व्यापार किया जाता था।

हड़प्पा स्थलों से कूबड़ और बिना कूबड़ वाले मवेशियों, भैंस, भेड़ और बकरी जैसे पालतू जानवरों के अवशेषों की प्राप्तियां हुई हैं। मवेशी और भैंस सबसे महत्त्वपूर्ण पालतू जानवर थे। इनसे मांस और दूध मिलता था और बोझ उठाने वाले पशुओं के रूप में भी इनका उपयोग किया जा रहा था। बकरी और भेड़ों से मांस, ऊन, दूध तो मिलता ही था और शायद इन्हें भी नमक और अनाज ढोने के लिए इस्तेमाल किया जाता था (जैसा कि आज भी हिमालय के कुछ इलाकों में किया जाता है)। कुत्तों की मृण्मूर्तियों की प्राप्ति से इनके पालतू होने का संकेत मिलता है।

हड़प्पा में घोड़े की उपस्थिति के विषय में अभी भी बहस जारी है। जिन स्तरविन्यासों से इनकी प्राप्ति हुई तथा इनकी प्रजातियां कौन-सी थीं अभी विवाद के घेरे में है। उदाहरण के लिए, संदर्भ में आई हड्डियां आधे-गधे (इक्वस हेमिओनस खुर) अथवा पालतू घोड़े (इक्वस कबालस) के हैं, यह निश्चित कर पाना कठिन है। हड़प्पा, लोथल, सुरकोतडा, कुन्तसी और कालीबंगा से अश्व या उसी प्रजाति के अन्य जाति के अवशेष प्रतिवेदित हैं। सेन्दोर बोकोनी (1997) ने सुरकोतडा से प्राप्त तथाकथित अश्व अवशेषों में से छ: को वास्तविक अश्व बताया है। हालांकि, मेडो और पटेल (1997) इस बात को नहीं मानते। इसी प्रकार ब्रिगेडियर रौस (1946) के द्वारा राणा घुण्डई के प्रारम्भिक हड़प्पा स्तर से जो घोड़े के दांत बतलाए गए थे, उसे ज्यूनर (1963) अप्रमाणिक मानते हैं। घोड़े के विषय में यही कहना उचित है कि हड़प्पा सभ्यता में इसके अस्तित्व को पूर्ण रूप से नकारा नहीं जा सकता, फिर भी इसका उपयोग बिल्कुल सीमित रहा होगा।

हड़प्पाकालीन शिल्प और तकनीक
(Harappan Crafts and Techniques)

हड़प्पा सभ्यता पर लिखी गई प्रारम्भिक कृतियों में यहां से जुड़े भौतिक उपादानों की सादगी और अलंकरण विहीनता पर अधिक जोर दिया गया, विशेषकर जब इनकी तुलना मिस्र अथवा मेसोपोटामिया की तदनुरूप सामग्रियों से की जाती रही। किन्तु आज हड़प्पाई शिल्प और कला की तकनीकी सुदृढ़ता और सौंदर्य को सभी स्वीकार करने लगे हैं। हड़प्पा के स्थलों से व्यापक स्तर पर सार्वजनिक शिल्पों का मानकीकृत उत्पादन देखा जा सकता है। नगरीय हड़प्पा काल अपने किसी भी पूर्ववत् काल की अपेक्षा तकनीकी रूप से कहीं अधिक विकसित तथा शिल्प उत्पादन के लिए जाना जाता है। हड़प्पा के कुछ स्थल किसी विशेष शिल्प के सार्वजनिक और मानकीकृत प्रतिकृतियों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध हैं। वहीं मोहनजोदड़ो जैसे बड़े नगर अनेक प्रकार के शिल्पों के मानकीकृत पुंज उत्पादन के लिए जाने जाते हैं। हड़प्पा की बस्तियों का एक हिस्सा सामान्यत: शिल्प उत्पादन के लिए चिन्हित होता था। ब

हड़प्पाई मृतिका-कला के अन्तर्गत मिट्टी को गर्म करने की प्रक्रिया से निर्मित अनेक सामग्रियों, यथा—ईंट, टेराकोटा, इत्यादि अथवा क्रिस्टल जैसे पत्थरों को गर्म करने की प्रक्रिया से सम्बंधित फेयन्स की अनेक सामग्रियाँ बनायी जाती थीं। हड़प्पा की मृद्भाण्ड कला कुशल सार्वजनिक उत्पादन से जुड़ी हुई है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, नौशारो, चन्हुदड़ो जैसे स्थानों से मृद्भाण्ड बनाने के प्रयोग में आने वाले चूल्हों की व्यवस्था देखी गई है। हड़प्पा क्षेत्र में ब्लैक-ऑन-रेड, धूसर, बदामी तथा ब्लैक एण्ड रेड जैसे अनेक श्रेणियों के मृद्भाण्ड पाए जाते हैं। मिट्टी के बर्तनों को सामान्यत: कुम्हार की चाक पर बनाया गया है। हड़प्पा संस्कृति की सबसे मानक मृद्भाण्ड-चाक पर बना, मजबूत चमकीले लाल रंग के मिट्टी के घोल से लेपा हुआ और काले रंग के चित्रांकन और अलंकरण से सुसज्जित होता था। मृद्भाण्डों पर बहुरंगी अलंकरण नहीं होता था। लाल रंग की मिट्टी के घोल के लिए गेरू या लोहे के ऑक्साइड का उपयोग होता था जबकि काले रंग के निर्माण के लिए गहरे लाल-भूरे लौह ऑक्साइड और काले मेंगनीज का प्रयोग होता था। हड़प्पा के मृद्भाण्डों के लोकप्रिय आकारों में डिश-ऑन-स्टैण्ड (आधार पर पात्र), अंग्रेजी के एस अक्षर पर आधारित पात्र, संकीर्ण आधार वाले पात्र, बेलनाकार जार और संकीर्ण पेंदे वाला गॉबलेट (प्याले) इत्यादि प्रमुख हैं। अलंकरण के लिए सहज क्षैतिज रेखाओं से लेकर जटिल ज्यामितिय डिजाइन और चित्रात्मक प्रतीकों की विस्तृत श्रृंखला उपलब्ध हैं। मछली के शल्क, पीपल के पत्ते और एक-दूसरे को काटने वाले अनेक वृत्त जैसे डिजाइन प्रारम्भिक हड़प्पा काल से ही लोकप्रिय हो चुके थे। मानवीय आकृतियों का अंकन अपवाद के रूप में ही देखा जा सकता है। मोहनजोदड़ो के सबसे प्रारम्भिक स्तरों से एक विशेष कोटि का चमकीला धूसर मृद्भाण्ड प्राप्त होता है, जिसपर जामुनी रंग
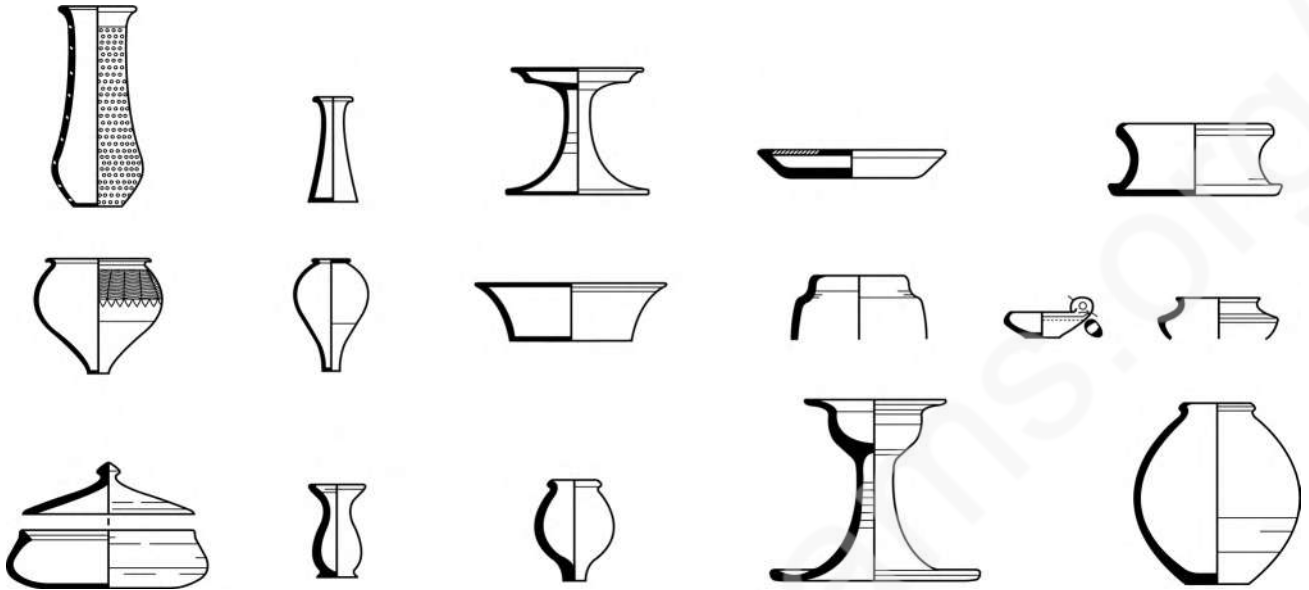
चित्र 4.8: **हड़प्पाई मृद्भाण्ड**

के लेप की विशिष्ट काँच के सामान की (ओपकारी) ग्लेजिंग की गई थी। शायद यह विश्व में ओपकारी के सम्भवत: पहले प्रमाण होंगे। हालांकि, हड़प्पा संस्कृति के सम्पूर्ण क्षेत्र से प्राप्त मृद्भाण्डों की शैली और तकनीक में समरूपता और मानकीकरण का बोध होता है, किन्तु स्थानीय विशिष्टता को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न मृद्भाण्डों के उपयोग के विषय में अनुमान लगाए गए हैं। बड़े जार का उपयोग अनाज-संग्रह या पानी रखने के लिए किया जाता था। अधिक विस्तार से रंगे और अलंकृत किए गए पात्र या तो किसी कर्मकांड में उपयोग होते होंगे या फिर धनी लोगों द्वारा उपयोग में लाए जाते होंगे। विस्तार से अलंकृत छोटे पात्रों का उपयोग पानी या कोई अन्य पेय पदार्थ पीने के लिए किया जाता होगा। छिद्रों वाले जार के उपयोग का अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। किन्तु यह सुझाव दिया गया है कि कपड़े में लपेट कर शायद मदिरा निर्माण के लिए उसका उपयोग किया जाता रहा होगा। इनका किसी प्रकार का धार्मिक उपयोग भी सम्भव है। छिछले पात्र को पकाए गए भोजन को रखने के लिए तथा समतल पात्रों का प्लेट के रूप में इस्तेमाल किया जाता होगा। भोजन पकाने के लिए कई प्रकार के पात्र मिले हैं। अधिकांशत: इनके पेंदे पर लाल या काले रंग का लेप लगा होता था तथा अतिरिक्त मजबूती प्रदान करने के लिए सनी हुई मिट्टी का घोल चिपका होता था। खाना पकाने वाले बर्तनों के कान बाहर की तरफ निकले और मोटे होते थे ताकि उनको पकड़ कर उठाया जा सके। हड़प्पा के लोगों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले बर्तनों के स्वरूप एवं विशेषताएं आज भी पारंपरिक

छिद्रयुक्त छोटा जार; बीकर; नुकीले आधार वाला पात्र; बेलनाकार पात्र

रसोइयों में देखी जा सकती है। सिरामिक पात्रों के अतिरिक्त हड़प्पा वासी धातु से बने पात्रों का भी उपयोग करते थे।

किन्तु हड़प्पा सभ्यता की एक महत्त्वपूर्ण पहचान उनके द्वारा बनाए गए टेराकोटा वस्तुओं से है। टेराकोटा के सांड, भैंस, बंदर, कुत्ते बड़ी संख्या में मिलते हैं। टेराकोटा से बने खिलौनों में ठोस पहियों वाली गाड़ियाँ भी मौजूद हैं। टेराकोटा की मानवीय आकृतियों में स्त्रियों की मूतियाँ सबसे अधिक उपलब्ध है। टेराकोटा की चूड़ियाँ भी लोकप्रिय थीं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से टेराकोटा के मुखौटे भी मिले हैं। क्वाट्र्ज को चूर कर उसमें रंग मिलाकर फेयन्स के घोल तैयार किए जाते थे। हड़प्पावासियों में फेयन्स की चूड़ियाँ, आभूषण, पात्रों की लघुप्रतिकृतियां बनायी जाती थीं। हड़प्पा के विशेष शिल्पों में स्टोनवेयर चूड़ियाँ भी आती हैं। ये लाल अथवा धूसर-काले 5.5-6 से.मी. व्यास वाली चमकीली चूड़ियाँ थीं जिनपर सामान्य रूप से कुछ लिखा जाता था।

पत्थर की कारीगरी भी एक महत्त्वपूर्ण शिल्प था। धोलावीरा से प्राप्त चमकीले पॉलिश वाले स्तम्भों के अवशेष हड़प्पावासियों के द्वारा किए गए पत्थर पर कुशल कारीगरी का

मृद्भाण्डों पर अंकित डिजाइन (ऊपर); टेराकोटा (पक्की मिट्टी): मानवाकृति, पशुओं की मृण्मूर्तियां, मुखौटा, गोलाकार (नीचे)

परिचय देती हैं। हड़प्पा के सभी स्थलों से चर्टफलकों का सार्वजनिक स्तर पर उत्पादन किया जाता था। चर्ट के ब्लेड बनाने में हुई तकनीकी प्रक्रिया को निर्देशित रिज तकनीक के नाम से जानते हैं। इनका प्रयोग चाकू और हंसिया के रूप में किया जाता था। सिंध के रोहड़ी क्षेत्र में पत्थर के बड़े खदान मिले हैं। बनी हुई पत्थर की फलकें, नगरों में आखेटक-संग्राहक समुदायों द्वारा भी मुहैया कराई जाती होंगी, किन्तु घरेलू स्तर पर भी पत्थर के औज़ार बनाने के प्रमाण मिलते हैं। अतः कुछ औज़ारों की आपूर्ति स्थानीय रूप से अवश्य कर ली जाती थी।

हड़प्पा सभ्यता ताम्बे की वस्तुओं के उत्पादन के लिए भी प्रसिद्ध है। शुद्ध ताम्बे के उपादानों के अतिरिक्त ताम्बे के आर्सेनिक टिन या निकल के मिश्र धातुओं से भी अनेक वस्तुएं बनाई जाती थीं। ताम्र-कांस्य सामग्रियों में अनेक पात्र भाले, चाकू, छोटे तलवार, तीराग्र, कुल्हाड़ी, फिशहुक, सूई, दर्पण और चूड़ियाँ सबसे मुख्य थीं। इन कुल्हाड़ों में शाफ्ट के लिए छिद्र नहीं होते थे। शायद इनके प्रयोग के लिए हत्थों की विशेष व्यवस्था थी। कांस्य मिश्रित धातुओं से बनी वस्तुओं की अपेक्षा शुद्ध तांम्बे से बने सामान कहीं अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। हालांकि, आमतौर पर चाकू, कुल्हाड़ी और छेनी जैसे औज़ार जिसके लिए अधिक मजबूत धार की जरूरत होती है, उन्हें मिश्रधातु से तैयार किया जाता था। मिश्र धातुओं का प्रयोग सभ्यता की परिपक्वता के साथ बढ़ा, जैसे मोहनजोदड़ो के निचले स्तरों से प्राप्त 6 प्रतिशत कांस्य औज़ारों की संख्या ऊपरी स्तरों में बढ़कर 23 प्रतिशत हो गई। फिर भी शुद्ध ताम्बे और मिश्र धातु के प्रयोग में अंतर के पीछे तकनीकी विकल्प की अपेक्षा सांस्कृतिक प्राथमिकता अधिक मायने रखती है।

केवल हड़प्पा में ताम्र उत्पादन के लिए 16 चूल्हे पाए गए हैं और लोथल से ताम्बे का एक कार्यशाला पाया गया है। मोहनजोदड़ो के ईंट से बने गड्ढों से बड़ी मात्रा में ताम्र ऑक्साइड पाया गया। ताम्बे के संग्रह को जमीन में गाड़ने के उदाहरणों से इस धातु के महत्त्व का पता चलता है। हड़प्पा से भी ताम्बे के औज़ार और शस्त्रों से भरे पात्र जमीन में गड़े मिले हैं। हड़प्पा से पाए गए एक ताम्र निधि में कांसा का ढक्कन वाला विशाल भोजन तैयार करने का पात्र मिला है। उसके अंदर तांबे का कई प्रकार के औज़ार और हथियार भी मौजूद थे, जैसे विभिन्न प्रकार की कुल्हाड़ी, खंजर, माले की नोंक, तीर का नोंक, छेनी और कटोरा आदि। कुछ सामान ज्यों के त्यों बिलकुल नए थे, और कुछ पुराने घिसे और उपयोग कर लिए गए थे।

हड़प्पा सभ्यता के कई स्थलों से सुंदर कारीगरी वाले सोने और चांदी के जेवर जैसे गले का हार, कंगन, झुमका, लटकन, बाली आदि पाए गए हैं। अल्लाहदीनो नामक छोटे से गांव से सोना, चांदी और अर्धकीमती पत्थरों के आभूषणों के पुंज प्राप्त हो चुके हैं। शंख से बने पात्रों पर चाँद जड़े जाने के हड़प्पा स्थलों से उदाहरण मिले हैं। लोथल से प्राप्त दो सामग्रियों में 39.1 प्रतिशत और 66.1 प्रतिशत लोहे का प्रयोग हुआ है। इन सूचनाओं से यह प्रतीत होता है कि कम से कम गुजरात स्थित हड़प्पा केंद्रों में लोहा गलाने की जानकारी थी।

मुहर या सील भी हड़प्पा सभ्यता की प्रमुख शिल्प कही जा सकती है। अधिकांश मुहर वर्गाकार या आयताकार है। वर्गाकार मुहरों की औसत फलक 2.54 से.मी. की है, जबकि 6.35 से.मी. आकार वाले मुहर भी मिले हैं। कुछ मुहरों में छिद्र बने थे जो इन्हें लटकाने या किसी अन्य प्रयोजन से बने थे। कुछ बेलनाकार और गोलाकार मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। अधिकतर मुहरों का निर्माण सेलखड़ी से हुआ था फिर भी अल्पसंख्या में चांदी, फेयंस (कांच) या कालसाइट की मुहरें भी बनी थीं। मोहनजोदड़ो से यूनिकार्न प्रतीक वाले दो मुहर चांदी के मिले तथा लोथल से तांबे और सोप स्टोन के बने कुछ मुहर मिले हैं। मुहर को तैयार करने के बाद उनपर कोई लेप लगाकर गर्म करा जाता था जिसके चलते मुहरों की सतह चमकीली और पॉलिशदार प्रतीत होती थी। मुहरों पर चित्रांकन उत्कीर्ण किया जाता था। यूनीकॉर्न की प्रसिद्ध प्रतीक के अतिरिक्त, मुहरों पर उत्कीर्ण अन्य प्रतिकों में हाथी, बाघ, बारासिंहा, मगरमच्छ, खरहे, सांड, भैंस, गैंडे मुख्य थे। इसके साथ कई बार मानवीय आकृति, संयुक्त जन्तुओं की विचित्र आकृति, वनस्पति इत्यादि भी उत्कीर्ण किए गए थे। सामान्यतः सभी मुहरों से संक्षिप्त अभिलेख प्राप्त हुए हैं। कुछ आयताकार मुहरों पर चित्र के स्थान पर केवल अभिलेख मिले हैं।

चर्ट फलक; गोटियां, ताम्र तीराग्र; हस्त-कुठार; मुहर और सीलिंग (प्रतिकृति)

संबंधित परिचर्चा

पत्थर और धातु से अभिव्यक्त एक कलाकृति

पत्थर और धातु के बने उपयोगितावादी उपादानों के अतिरिक्त इनमें कलात्मक अभिव्यक्ति भी हुई थी। ऐसी सभी कलाकृतियों का आकार सामान्यत: छोटा है, किन्तु, उच्च स्तर के मूर्तिकला का परिचय देते हैं। इनमें मोहनजोदड़ो से प्राप्त 17.78 से.मी. ऊँची पुरुष की मूर्ति, 10 से.मी. ऊँची पुरुष की हड़प्पा से प्राप्त दो मूर्तियां मोहनजोदड़ो से प्राप्त 49 × 27 × 21 से.मी. आकार वाले एक आइबेक्स (बड़े और मुड़े हुए सिंगों वाली बकरी) या बैठे हुए भेड़ की मूर्ति और धोलावीरा से मिली गिरगिट की प्रतिमा मुख्य रूप से दृष्टव्य हैं। बड़े आकार की प्रतिमा में धोलावीरा से प्राप्त एक बैठे हुए पुरुष की मूर्ति का ही दृष्टांत दिया जा सकता है।

मोहनजोदड़ो से स्त्री की दो कांस्य प्रतिमाएं मिली हैं। इनमें से एक डांसिंग गर्ल के नाम से विख्यात है। यह मूर्ति नगर के दक्षिण पश्चिम हिस्से के एक छोटे से मकान से प्राप्त हुई है। 10.8 से.मी. की यह प्रतिमा लुप्त-मोम पद्धति से बनी मालूत पड़ती है।

लुप्त-मोम पद्धति के अंतर्गत मोम का एक मॉडल तैयार कर लिया जाता है। जिसपर मिट्टी का लेप चढ़ाते हैं तथा कुछ प्रवेश छिद्र छोड़ दिए जाते हैं। गर्म करने पर मोम गल कर बाहर आ जाता है। इसमें कांस्य का घोल भर दिया जाता है तथा शिल्पकार कांस्य की प्रतिमा को अंतिम रूप दे देता है। आज भी इस पद्धति का प्रयोग भारत के कई हिस्सों में होता है।

'डांसिंग गर्ल' (नर्तकी)

जहां तक मोहनजोदड़ो की नर्तकी का प्रश्न है। यह बहुत पतली-दुबली स्त्री की प्रतिमा है जो खड़ी है तथा इसका दाहिना हाथ इसकी कमर पर है, जबकि बांया हाथ बाई जंघा पर है। घुटनें से ठीक ऊपर। इसके गले में एक हार है तथा बाएं बाजू में 24-25 चूड़ियां हैं, जबकि दाहिने बाजू में मात्र चार चूड़ियां हैं। इसके हाथ असाधारण रूप से लम्बे हैं। इसकी गर्दन हल्की पीछे की ओर झुकी है तथा देखने पर भावशून्य मुद्रा में दिखलाई पड़ती है। बाल में एक जूड़ा बना है जो कंधे पर बेहतरीन झूल रहा है। जॉन मारशल ने इसे नौटंकी वाले नाच को सोचकर डांसिंग गर्ल का नाम दिया जो हाथों को संगीत के आधार पर कमर पर और पैरों से जमीन पर थिरका रही होगी। नाम तो लोकप्रिय हो गया किन्तु हो सकता है नाचने की मुद्रा से इस प्रतिमा का कोई सम्बंध ही न हो। यदि होगा तब भी यह कोई नर्तकी तो नहीं प्रतीत होती है।

मनकों का निर्माण पूर्व की सभ्यताओं में भी लोकप्रिय रहा था, किन्तु हड़प्पा सभ्यता में मनकों के निर्माण की तकनीक और शैली में पूर्व के कालों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगति हुई। इसी समय अर्ध-बेशकीमती पत्थरों को भेद कर मनके बनाने के लिए एक नए प्रकार की बेलन के आकार वाली ड्रिल का प्रयोग शुरू हुआ। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, चान्हुदड़ो और धोलावीरा से ऐसे ड्रिल प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा वासियों में सेलखड़ी, अगेट, कार्नेलियन, लाजवर्द, शंख, टेराकोटा, स्वर्ण, रजत तथा ताम्र मनकों का प्रयोग लोकप्रिय था। हड़प्पा में बने लम्बी नली वाली बेलनाकार मनकों का महत्त्व इतना अधिक था कि इन्हें मेसोपोटामिया के शाही कब्रगाहों में भी पाया गया है। सेलखड़ी लेप को गर्म कर सूक्ष्म मनकों का भी निर्माण किया गया था। चान्हुदड़ो और लोथल से मनके बनाने के कारखाने मिले हैं।

मनके बनाने के कार्यशाला और उनके औज़ार, भट्ठियां, निर्माण के विभिन्न चरणों में स्थित मनके आदि चन्हूदड़ो और लोथल में भी पाए गए हैं। गुजरात के बगसरा से भी अर्ध-बहुमूल्य पत्थरों से मनके बनाने के स्थल की प्राप्ति हुई है। 0.30-1 से.मी. परिधि और 0.15-0.30 मी. गहराई वाले खांचों में अर्ध-मूल्यवान पत्थरों के मनकों को सुरक्षित पाया गया

लोथल से प्राप्त शंख

आभूषणः कार्नेलियन और स्वर्ण हार; टेराकोटा, तांबा और लाजवर्द के मनकों से बनी चूड़ियां; स्वर्ण से बना सर्पिल पिन; स्वर्ण और टेराकोटा से बने मनके

है। आधुनिक युग में गुजरात के मनके बनाने वाले कारीगरों के द्वारा अपनायी जा रही प्रक्रिया के अध्ययन के आधार पर हड़प्पा काल में प्रयुक्त प्रक्रिया का अनुमान लगाया गया है।

शंख और सीप से बने मनकों कंगन तथा कलात्मक सामग्रियों की प्राप्ति से शंख शिल्प का अंदाज लगाया जा सकता है। चूंड़ियां अक्सर शंख से बनाई जाती थी। चन्हूदड़ो और बालाकोट शंख के शिल्प के मुख्य केंद्र थे। गुजरात से स्थल विशेष के विशेषज्ञता का और भी प्रमाण मिलता है। नागेश्वर (जामनगर) में व्यापक सतह सर्वेक्षण और खुदाई से यह प्रकाश में आया है कि यह स्थल सिर्फ शंख-शिल्प को समर्पित था और विशेषतः चूड़ियों का निर्माण करता था। शंख से बनी चूड़ियां हड़प्पाई लोगों में लोकप्रिय थी। गुजरात प्रांत के नागेश्वर, कुंतसी, धोलावीरा, रंगपुर, लोथल और नागवाड़ा तथा बगसरा शंख-सीप से जुड़े शिल्प के हड़प्पाकालीन केंद्र थे। हड्डियों की वस्तुओं का निर्माण एक अन्य शिल्प था। हड्डियों से बने मनके, सूआ, पिन, सूई आदि बनाए जाते थे। हाथीदांत के कंघी, अलंकृत पट्ट और बेलन इत्यादि भी पाए गए हैं।

पत्थर के बटखरे, धोलावीरा

हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह माना जाता है कि वे लोग सूती तथा ऊनी वस्त्र बनाते थे। टेराकोटा मूर्तियों में अभिव्यक्त पोशाकों और परिधानों से एक अनुमान लगाया जा सकता है कि वे क्या पहनते थे। मेसोपोटामिया के लिखित स्रोतों में मेल्हुआ के अधीन एक स्थान से आयातित सूती वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त चांदी के एक जार पर लिपटे सूती कपड़े का अवशेष सुरक्षित है। तांबे के औज़ारों पर भी सूती कपड़ों और धागों के निशान पाए जाने के कई उदाहरण मिलते हैं। ताम्र दर्पण पर लिपटे सूती धागों का भी प्रमाण मिला है, और तांबे के एक मुड़े हुए उस्तरे के हत्थे पर भी यह मिला है। हाल में भी हड़प्पा से कुछ फेयंस पात्रों के भीतर सूती वस्त्र के अवशेष मिले हैं। बुनावट की समरूपता और समान मोटाई से यह अनुमान लगाया गया है कि चटखे का इस्तेमाल किया जाता था। कई प्रकार की तकली भी अनेकों हड़प्पाई स्थलों से प्राप्त हुई हैं। ऐसा अनुमान

अनुसंधान की दिशाएं

कार्नेलियन के मनकों का निर्माण

आज के विश्व के सबसे बड़े मनकों के निर्माण के केंद्रों में गुजरात का खम्बात शहर भी है। मार्क केनोयर, मेसिमों विडेल तथा कुलदीप के. भान ने यहां पर मनकों के आधुनिक निर्माणकर्ता शिल्पकारों द्वारा उपयोग में लाई जा रही तकनीकी प्रक्रिया का नृशास्त्रीय (मानवजातिक पुरातत्त्व विज्ञानी) अध्ययन किया। इस अध्ययन की पुष्टि के लिए इन्होंने दक्षिण पाकिस्तान के चान्हुदड़ो के आद्य ऐतिहासिक मनकों के निर्माण केंद्र का सहायक अध्ययन भी किया है। इन अध्ययनों के आधार पर छिद्र वाले बेलनाकार मनकों को बनाने की विधि पर प्रकाश डाला जा सकता है। कार्नेलियन अगेट पत्थर की ही लाल-नारंगी वाली प्रजाति है।

सबसे पहले कार्नेलियन के लम्बे नगों का चयन किया जाता था जिन्हें चान्हुदड़ो से गुजरात लाया जाता था। इन्हें महीनों धूप में सुखाया जाता था। फिर इन्हें छिछले तवों पर गर्म किया जाता था। इन प्रक्रियाओं के बाद नगों पर कारीगरी करना सरल हो जाता है, साथ ही इनका रंग भी और परिपक्व हो जाता था। तांबे की नोक वाले हथौड़ों के प्रयोग से पीटकर या प्रेशर फ्लेकिंग तकनीक से मनकों का प्रारम्भिक स्वरूप तैयार कर लिया जाता था। विशेषकर लम्बे नगों की कटाई-छटाई कर मनकों के लिए पृथक करते थे। इन्हें बलुआ पत्थर या क्वार्ट्जाईट पर रखकर हल्की कारीगरी की जाती थी। एक विशेष प्रकार के बेलनाकार ड्रिल के द्वारा इन मनकों में छेद बनाते थे। ड्रिल विशेष कायांतरित पत्थर का बना होता था जिसका नाम अर्नस्टाइट दिया गया है। एक कारीगर को इस विशेष ड्रिल के निर्माण में दिन भर की मशक्कत करनी पड़ती होगी। एक मनके को बनाने में अनुमानतः छह प्रकार के ड्रिलों का उपयोग किया जाता था। ड्रिल के उपयोग के दौरान घर्षण से उत्पन्न उष्मा को झेलने के लिए पानी डाला जाता होगा।

केनोयर और उनकी टीम ने यह अनुमान लगाया कि इन विशेष ड्रिलों के उपयोग के बाद भी 6 से.मी. के मनके के छिद्र बनाने के लिए कम से कम 24 घंटे या 8 घंटों के कार्य वाले तीन दिन लगते थे। मोहनजोदड़ो या अल्लाहदीनो में पाए गए मनके 6 से.मी. से 13 से.मी. के बीच के हैं। ऐसे मनकों को बनाने में 3-8 दिनों की कड़ी मेहनत लगती होगी। खम्बात के आधुनिक मनकेकार कुछ घंटों की मेहनत के बाद विश्राम ले लेते थे। मनके में छिद्र बनाने के बाद उनको पॉलिश करना भी उतने ही मेहनत का काम था।

अल्लाहदीनो से प्राप्त, चोटी के 36 मनकों को पूरी तरह तैयार करने में 480 दिनों का समय अनुमानित है। यदि एक से ज्यादा कारीगर मिलकर भी ऐसा करते होंगे तब भी एक वर्ष का समय लगता होगा। स्वाभाविक है कि ऐसे मनकों में धनाढ्य वर्ग की ही विशेष रुचि रही होगी। शायद साधारण लोगों के लिए ही कार्नेलियन की जगह टेराकोटा के लाल रंग के रंगे मनके बनाए जाते थे। मनकों के निर्माण के इस विशिष्ट उद्योग के संगठन और नियंत्रण की स्थिति को समझने के लिए उपरोक्त विद्वानों ने मनकों के कटे-छंटे टुकड़ों, तैयार उत्पादों तथा इनसे जुड़े संरचनात्मक ढांचों का भी अध्ययन किया।

रोचक सवाल यह उठता है कि चान्हुदड़ों में ही मनकों के निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रियाओं को पूरा न कर, सारी प्रक्रियाएं उन्हें गुजरात लाकर ही क्यों की जाती थीं। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह पाया गया कि मनकों के निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक समृद्ध व्यवसायी वर्ग के नियंत्रण में थी। इस तथ्य के आधार पर ही मनकों की उत्कृष्ट गुणवत्ता और अति मानकीकरण की व्यवस्था की जा सकी जो मोहनजोदड़ो के बने मनकों में नहीं पाई जाती क्योंकि यहां इसका निर्माण शायद छोटे-मोटे उद्यमियों के अधीन था।

स्रोत: केनोयर एवं अन्य, 1995

लगाया गया है कि सूती वस्त्र का निर्माण ग्रामीण कुटीर उद्योग के स्तर पर किया जाता था। हालांकि, नगरों में सूती वस्त्र के निर्माण को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। पकी मिट्टी के फर्श और अन्य वस्तुओं पर सरकंडों के छाप से पता चलता है कि टोकरी बनाने की कला और घास या मोथा से चटाई बनाने की कला की भी परंपरा दिखती है।

हड़प्पा के शिल्प उत्पादन की सबसे बड़ी विशेषता इनका मानकीकृत उत्पादन कहा जा सकता है। केनोयर (1998 : 149-50) ने सुझाव दिया है कि ऐसी वस्तुओं का उत्पादन, जिनके लिए कच्चा माल सुदूरवर्ती इलाकों से मंगाया जाता हो और जिनमें अत्यधिक जटिल तकनीकों का उपयोग होता हो (जैसे मुहर बनाना, पत्थर की चूड़ियां, बटखरे आदि) वैसे शिल्पों में राजकीय नियंत्रण उत्पादनों के उच्च मानकीकरण के लिए जिम्मेदार रहा होगा। ऐसे शिल्पों को सामाजिक-आर्थिक अथवा धार्मिक प्रणाली को बनाए रखने में भी काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता था। मृद्भाण्ड और ईंट जैसे उत्पादन के लिए जहां सरल तकनीक और स्थानीय स्तर से कच्चे

माल की आपूर्ति होती थी, वहीं पर उस स्तर के नियंत्रण का प्रयोग आवश्यक नहीं था और इस लिए उत्पादन के स्तर में भी विविधताएं देखी जा सकती हैं।

माप-तौल के उपादानों में मानक स्तर को काफी महत्त्व दिया गया। चर्ट, चैल्सेडनी, काले पत्थर इत्यादि से बने घनाकार बटखरों के सम्बंध में सम्पूर्ण हड़प्पा क्षेत्र में आश्चर्यजनक रूप से मानक आधार प्रभावशाली रहा। न्यूनतम भारों के सम्बंध में बाइनरी पद्धति के अनुपात (1:2:8:16:32:64) तथा उच्चतर भारों के लिए दशमलव पद्धति का अनुपात (160, 200, 320, 640) उपयोग में लाया जाता था। अब तक का सर्वाधिक भारी बटखरा मोहनजोदड़ो से 10.865 ग्रा. का पाया गया है। मोहनजोदड़ो से शंख का एक तराजू और लोथल से हाथीदांत का बना एक तराजू भी पाया गया है। सौराष्ट्र में पाए गए एक शंख के बने यंत्र को कोण मापने के उपयोग में शायद लाया जाता था।

किन्तु मृद्भाण्ड अथवा ईंट जैसे शिल्प क्षेत्र में दृष्टिगत उच्च स्तरीय मानकीकरण की क्या व्याख्या हो सकती है? क्या यहां भी किसी व्यापारिक निगम अथवा शासक वर्ग का केंद्रीय नियंत्रण प्रभावी था? किसी प्रकार के केंद्रीय निर्देश के अनुपालन को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था। यदि शिल्प उत्पादन में प्रत्यक्ष राजकीय या किसी प्रकार का केंद्रीय नियंत्रण नहीं भी होगा तब भी अप्रत्यक्ष रूप से कम से कम कुछ कच्चे माल के आवागमन पर और उत्पादन पर किसी न किसी प्रकार के नियंत्रण को नहीं नकारा जा सकता है। शिल्पों के मानक उत्पादन के विषय में यह भी सम्भव है कि शिल्प कला की विशेषज्ञता वंशानुगत रूप से चलते रहने से भी ऐसी परिस्थिति की कल्पना की जा सकती है। अथवा अत्यंत विकसित आंतरिक व्यापार की स्थिति में भी स्थानीय उत्पादनों के समुचित वितरण के विषय में सोचा जा सकता है। शिल्पकारों और व्यापारियों के संयुक्त श्रेणी संगठनों की भी कल्पना की जा सकती है। किन्तु इस सम्बंध में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलते हैं।

हड़प्पाकालीन व्यापार तंत्र

(Networks of Trade)

जब से हड़प्पा सभ्यता की खोज हुई तभी से हड़प्पाई-मेसोपोटामिया व्यापार के विषय में विद्वानों की रुचि बढ़ी हुई है। एक तो तब रेडियोकार्बन तिथि निर्धारण का ईजाद नहीं हुआ था सो इन व्यापारिक सम्बंधों के आधार पर ही लोग हड़प्पा संस्कृति की तिथि जानने के लिए प्रयत्नशील थे। इसके साथ ही वह समय अंत:सांस्कृतिक तुलनात्मक अध्ययन का भी युग था। किन्तु बाद में प्राय: सभी विद्वानों ने यह मानना शुरू कर दिया कि हड़प्पा मेसोपोटामिया के बीच उस प्रकार का प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बंध नहीं रहा होगा, जितना की लोग इस प्रारम्भिक दौर में अपेक्षा कर रहे थे, बल्कि फारस की खाड़ी का हड़प्पा के साथ व्यापारिक महत्त्व कहीं अधिक प्रामाणिक प्रतीत होने लगा है। किन्तु हड़प्पा के व्यापारिक महत्त्व की दृष्टि से आज कल हड़प्पा का भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से किए गए आदान-प्रदान को इन सबसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बताया जा रहा है जो हड़प्पा सभ्यता की संरचना और इसकी अद्भुत सांस्कृतिक समरूपता को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा सभ्यता में उपयोग किए गए कच्चे माल और बने हुए उत्कृष्ट उत्पादनों की विविधता और उनकी सम्पूर्ण सांस्कृतिक क्षेत्र में उपलब्धता इस आंतरिक व्यापारिक तंत्र की सार्थकता को सिद्ध करती है, स्वाभाविक है कि सिक्कों के अभाव में इस व्यापार का स्वरूप वस्तु-विनिमय पर आधारित होगा।

हड़प्पावासियों द्वारा प्रयोग में लाए गए प्रमुख कच्चे माल के स्रोतों को चिन्हित करना हड़प्पा कालीन व्यापार को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण विधि हो सकती है। इस तथ्य की जानकारी स्रोतों के संभावित क्षेत्र और हड़प्पा संस्कृति के भौतिक अवशेषों के वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा सम्भव है। किन्तु इससे बेहतर विकल्प हड़प्पा सांस्कृतिक क्षेत्र से भौगोलिक दृष्टि से निकटतम संभावित कच्चे माल के स्रोतों का विश्लेषण करना होगा। यदि आद्य ऐतिहासिक काल में इनके उपयोग के प्रमाण मिलते हैं तब ये सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे। दुर्भाग्यवश ऐसे सटीक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इन सन्निकट क्षेत्रों से प्राप्त कच्चे मालों की चर्चा सीधे 18वीं/19वीं सदी के लिखित दस्तावेजों में मिलती है। अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद इस प्रकार के प्रमाण बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

टेराकोटा की गाड़ी, हड़प्पा
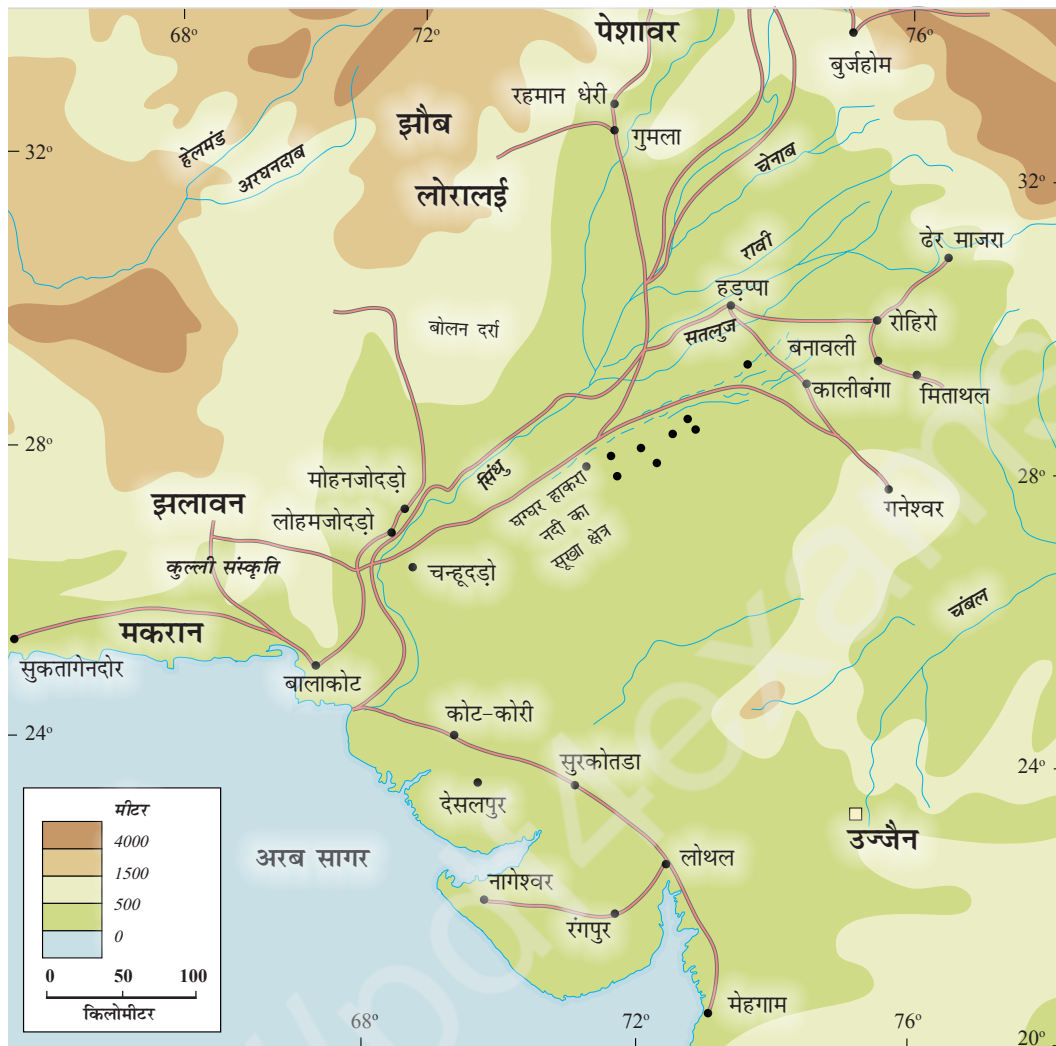
मानचित्र 4.3: **हड़प्पा के आंतरिक व्यापार मार्ग (लाहिरी से साभार, 1992)**

सुक्कुर और रोहड़ी के पठारों में चूनापत्थर के खदानों के निकट चर्ट के बने फलकों/शल्कों का पुंज उत्पादन किया जा रहा था जिससे संकेत मिलता है कि इन्हें सिन्ध क्षेत्र के हड़प्पा स्थलों में भेजा जाता था। राजस्थान के खेतरी के खानों से तांबा उपलब्ध किया जा रहा था। गनेश्वर-जोधपुरा की ताम्र उत्पादन करने वाली संस्कृतियों के हड़प्पा क्षेत्र से सम्बंध पर पहले चर्चा की जा चुकी है। हालांकि, हरियाणा के तोसम क्षेत्र में टिन उपलब्ध थे, किन्तु हड़प्पा काल में इनकी प्राप्ति सम्भवतः अफगानिस्तान और मध्य एशिया से भी की जा रही थी। कोलार में निवास कर रही नवपाषाण संस्कृतियों से हड़प्पावासी सोना प्राप्त कर सकते थे। इन नवपाषाण समुदायों के द्वारा उपयोग में लाई गई हड़प्पा संस्कृति की वस्तुओं के प्रमाण मिले हैं, विशेषकर पिकलीहाल में ऐसा स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सोने की कुछ मात्रा सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी की बालुका राशि से भी पाई जा सकती थी। मनके बनाने के लिए अर्ध-बहुमूल्य और बेशकीमती पत्थरों की अधिकांश प्राप्ति गुजरात से की जाती थी। इस सम्बंध में लाजवर्द अपवाद था क्योंकि इसे शायद अफगानिस्तान से मंगवाया जा रहा था। वैसे लाजवर्द बलुचिस्तान की चगाई पहाड़ियों में भी उपलब्ध था। अनाज और अन्य खाद्य उत्पादनों का व्यापार उस काल की नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच सक्रिय एवं जीवंत रूप से संचालित किया जा रहा था।

दो चक्कों वाली गाड़ियां यातायात की सबसे प्रमुख साधन थीं। इन गाड़ियों के कांस्य और टेराकोटा मॉडल कई स्थलों से प्राप्त हुए हैं। किसी छकड़े या गाड़ी का अवशेष तो प्राप्त नहीं हुआ है, परंतु उनके पहियों के निशान कई जगहों पर मिले हैं। पहियों के बीच दूरी तकरीबन उतनी ही लगती है जितनी आजकल इस्तेमाल होने वाली बैलगाड़ियों में। व्यापारी अपना सामान निश्चित रूप से कारवां में बैल, भेड़, बकरी और गधों पर लाद कर

लंबी दूरी तक ले जाते थे। परिपक्व हड़प्पा काल के अंतिम दिनों में ऊंट के उपयोग का भी साक्ष्य मिलने लगता है। घोड़ों का उपयोग बहुत कम लगता है। विभिन्न आकार के नावों को हड़प्पा की मुहरों पर दिखलाया गया। लोथल से नाव का मॉडल भी मिला है। नदी पर चलने वाले नावों में छोटे कक्ष बनाए जाते थे और उसके छत पर जाने के लिए सीढ़ियां बनी होती थीं। नाव के दिशा-निर्देशक के लिए ऊंची सीट बनी होती थी।

हड़प्पा के विभिन्न सांस्कृतिक उपक्षेत्रों जैसे बलूचिस्तान, सिंध, राजस्थान, चोलिस्तान, पंजाब, गुजरात और ऊपरी दोआब को कई व्यापारिक और संचार मार्ग आपस में जोड़ते थे। भौगोलिक परिदृश्य, बसावट शैली, कच्चे माल की उपलब्धता और तैयार माल के उत्पादन केंद्रों के अध्ययन द्वारा इन मार्गों को फिर से खोजा जा सकता है। लाहिरी (1992: 112-43) ने अपने अध्ययन में अनेक व्यापारिक मार्गों को रेखांकित किया है, जो इस प्रकार हैं—(1) सिन्ध और दक्षिण बलुचिस्तान, (2)तटीय सिंध और ऊपरी सिंध और सिन्धु की मध्य घाटी, (3) सिन्धु का मैदान और राजस्थान, (4) सिन्धु और हड़प्पा के उत्तर में अवस्थित क्षेत्रों के बीच, (5) सिन्धु और पूर्वी पंजाब, (6) पूर्वी पंजाब और राजस्थान, (7) सिंध और गुजरात। इनमें से कुछ मार्ग, जैसे किर्थार पहाड़ होते हुए बलुचिस्तान-सिन्ध मार्ग या चोलिस्तान होते हुए पूर्वी पंजाब से राजस्थान जाने वाला मार्ग, प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता काल से ही प्रचलन में थे। उत्तरी अफगानिस्तान, गोमल और मुल्तान तथा इनसे जुड़ा तक्षशिला जाने वाला मार्ग भी महत्त्वपूर्ण बना रहा। सिंध के आंतरिक मार्ग, सिन्ध तथा मध्य सिन्धु घाटी को जोड़ने वाले मार्ग कच्छ-कठियावाड़ होते हुए सिन्ध और बलुचिस्तान के बीच के मार्ग पहले से ही उपयोग में लाए जा रहे थे। किन्तु हड़प्पा सभ्यता के नगरीकरण काल में इन मार्गों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। गुजरात के तटीय प्रदेश में स्थित लोथल और धोलावीरा जैसे हड़प्पाकालीन केंद्र समुद्री मार्ग मकरान तटीय क्षेत्र से सम्पर्क में थे (लाहिरी, 1992) और सुतकाजेन दोर का महत्त्व इसी संदर्भ में है। मोहनजोदड़ो सिन्धु नदी के व्यापारिक मार्ग का हिस्सा था और साथ ही यह पूर्व-पश्चिम स्थल मार्ग के मिलन-बिन्दु पर था जिनसे क्वेटा घाटी और बोलन घाटी से कोटदिजि और पश्चिमी नारा को जाते थे।

हड़प्पा सभ्यता के लम्बी दूरी के व्यापार के सम्बंध में हमारी जानकारी हड़प्पाई वस्तुओं की उपमहाद्वीप के बाहर विभिन्न स्थानों से हुई इनकी प्राप्ति के द्वारा भी मिलती है। फिर हड़प्पा मेसोपोटामिया व्यापारिक सम्बंधों की चर्चा समकालीन अभिलेखीय स्रोतों में भी उपलब्ध है (देखें चक्रवर्ती 1990)। इसके अतिरिक्त निम्न क्षेत्रों से भी इसके प्रमाण मिले हैं। हड़पा और हड़प्पा से सम्बंधित कई वस्तुएं दक्षिणी तुक्रमेनिस्तान के कई स्थलों, जैसे अलतीन डीप, नगाजगा, और खापुज से मिले हैं। इन वस्तुओं में हाथीदांत का पासा, दो प्रकार के धातु निर्मित वस्तु (माले की नोंक और कलछुल), टेराकोटा लिंग, छिद्रमय मर्तबान, मनके और चांदी की मुहर शामिल हैं। अलतीन टीप से हड़प्पाई लिपि वाले एक वर्गाकार मुहर की प्राप्ति से और ठोस प्रमाण मिल गया। ईरान के कई स्थलों जैसे हिसार, शाह टीप, काल्लेह निसार, सूसा, टीप याह्या, जलालाबाद और मारलीक से भी हड़प्पाई एवं हड़प्पा से सम्बंधित उपकरण सामने आए हैं। मुख्य साक्ष्य मुहरों और कार्नेलियन मनकों (खचित और लंबा बेलनाकार, दोनों शैली) की प्राप्ति से मिलता है। अफगानिस्तान के साथ व्यापार का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण शोरतुघई के एकाकी व्यापारिक चौकी से मिला है।

फारस की खाड़ी में फैलका नामक स्थान से एक गोलाकार मुहर बहुत सालों पहले मिला था, जिस पर छोटे सिंगों वाला वृषभ और हड़प्पाई लिपि अंकित थी। हाल के वर्षों में फारस की खाड़ी के इलाके से हड़प्पा के व्यापारिक संपर्क के साक्ष्यों में काफी वृद्धि हुई है। हड़प्पाई और हड़प्पा से जुड़े व्यापारिक सामग्रियां (हाथी दांत का टुकड़ा, लिंगाकार वस्तु, गोलाकार दर्पण, हड़प्पा के लिपि और प्रतीकों वाले मुहर आदि) बहरीन द्वीप के रसाल-काला से प्राप्त हुए हैं। बाद में इस क्षेत्र से हड़प्पा के मुहर और कार्नेलियन मनके मिले। बहरीन में हमाद के निकट एक कब्रगाह से हड़प्पा के मुहर और कार्नेलियन मनके मिले। हज्जार नाम की जगह से भी इसी प्रकार की प्राप्तियां हुई हैं। हड़प्पा लिपि अंकित जार के टुकड़े भी इस क्षेत्र में बहुत स्थानों से मिले है। इनमें शायद हड़प्पा क्षेत्र से खाद्य वस्तु या इसी प्रकार के अन्य उत्पादों को मंगाया जाता होगा।

हड़प्पा वासी ओमान प्रायद्वीप से भी व्यापार कर रहे थे। उम्म अल-नर से हड़प्पा के कार्नेलियन मनके मिले हैं। यहां से वर्गाकार मुहर भी मिला है। इस इलाके में मेसर का ताम्र निर्माण केंद्र भी हड़प्पा सभ्यता के प्रभाव का बोध कराता है। ओमान से क्लोराइट के बने पात्र और मोती आयात किए जा रहे थे। ओमान से तांबा के आयात का सुझाव मान्य नहीं लगता, जब यह प्रचुर मात्रा में राजस्थान से प्राप्त किया जा सकता था। बल्कि हड़प्पा से ओमान को निर्यात किए जाने वाले मनके, चर्ट के बटखरे, हाथी दांत की बनी वस्तुएं इत्यादि के पुरातात्त्विक प्रमाण मौजूद हैं।

मेसोपोटामिया के साथ हड़प्पा के व्यापारिक संबंध के लिखित दस्तावेज और पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध हैं। सम्राट सारगन 2334-2279 सा.सं.पू. के काल के मेसोपोटामिया से प्राप्त दस्तावेजों में वहां की राजधानी अक्कड में लगे हुए

दिलमुन, मगान और मेलुहा से आए जहाजों की चर्चा है। बहरीन को दिलमुन, तथा मकरान तटीय क्षेत्र ओमान को मगान कहा गया है। जहां तक मेलुहा का प्रश्न है यह शायद मेसोपोटामिया के पूरब में पड़ने वाले क्षेत्रों के लिए प्रयुक्त एक सामान्य संज्ञा है अथवा ऐसा भी हो सकता है कि विशेष रूप से सिन्धु घाटी सभ्यता के लिए इसका प्रयोग किया जाता हो। मेसोपोटामिया के किश, लगश, निपूर तथा ऊर जैसे स्थानों से हड़प्पा के मुहर, कार्नेलियन मनके पाए गए हैं। ऊर के शाही कब्रगाह से भी कार्नेलियन के मनके मिले हैं। पश्चिम एशिया में बेलनाकार मुहर काफी प्रचलित था। इन मुहरों पर पाए जाने वाले वृषभ जैसे कुछ प्रतीकों को हड़प्पा सभ्यता से प्रेरित कहा जाता है। किन्तु हड़प्पा सभ्यता के किसी भी स्थल से मेसोपोटामिया में उपयोग किए जाने वाले मुहर नहीं प्राप्त हुए हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस सभ्यता और मेसोपोटामिया के बीच कोई प्रत्यक्ष या सीधा व्यापारिक सम्बंध नहीं था।

कार्नेलियन के मनके निश्चित रूप से पश्चिम एशिया को निर्यात किया जाने वाला एक प्रमुख हड़प्पाई उत्पाद था। कपड़े और शंख संभवतः अन्य निर्यात योग्य वस्तु थे। हाथीदांत और उससे बने सामान अफगानिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और शायद फारस की खाड़ी तक भेजा जाता था। मेसोपोटामिया के दस्तावेजों में मेलुहा से आयातित वस्तुओं में लाजवर्द, कार्नेलियन, ताम्बे और हाथी दांत की बनी वस्तुओं इत्यादि का उल्लेख है। मेसोपोटामिया से मुख्यतः मछली, अनाज, कच्चा ऊन, ऊनी कपड़े और चांदी के आयात का जिक्र है। यह संभव है कि ऊन और चांदी विशेष रूप से मेलुहा को भेजा जाता था। किन्तु इन आलेखों की कोई पुरातात्त्विक संपुष्टि नहीं की जा सकती है।

दरअसल, हड़प्पा मेसोपोटामिया व्यापारिक सम्बंध के विषय में दो बिल्कुल अलग-अलग धारणाऐं प्रचलित हैं। शिरीन रत्नागर (1981) ने दोनों के बीच व्यापारिक सम्बंध को और उसमें भी विशेषतः लाजवर्द से जुड़े व्यापार को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने तो यहां तक तर्क दिया कि हड़प्पा सभ्यता के पतन में लाजवर्द से जुड़े इस व्यापार के पतन की अहम भूमिका रही है। हालांकि, मेसोपोटामिया के कहे जाने वाले तीन प्रतीक हड़प्पा के मोहरों में अंकित किए गए हैं। सूत कातने का यंत्र, दो जन्तुओं से जूझता हुआ एक आदमी तथा एक प्रवेश
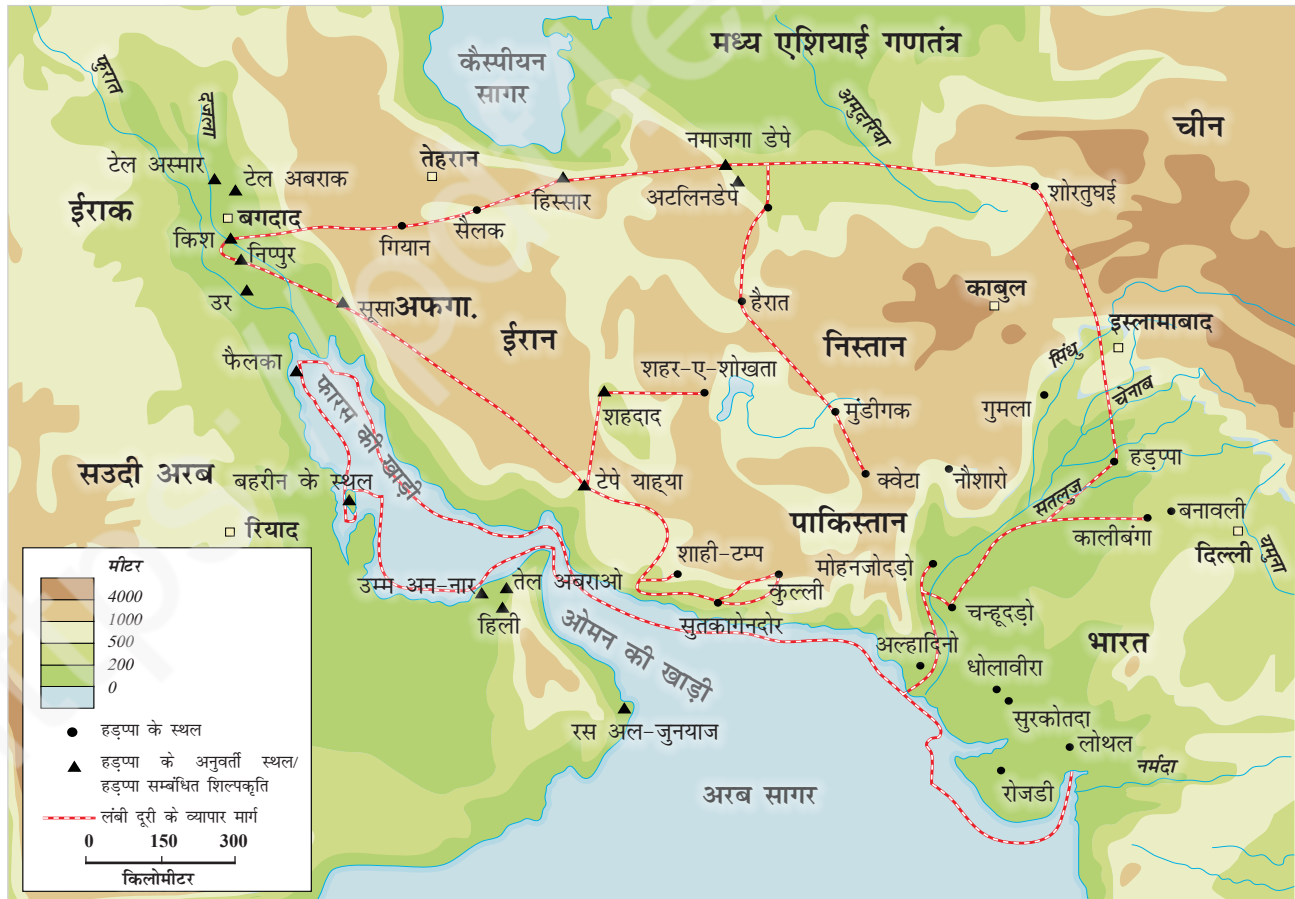
मानचित्र 4.4: **लंबी दूरी के व्यापार मार्ग**

द्वार। किन्तु न तो मेसोपोटामिया में हड़प्पा की वस्तुएं बहुतायत मिलती हैं और न ही मेसोपोटामिया की बनी वस्तुएं हड़प्पा क्षेत्र में प्राप्त हुई हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए चक्रबर्ती (1991) और शेफर (1982बी) का मानना है कि हड़प्पा और मेसोपोटामिया के बीच का व्यापार न तो सीधा था और न ही बहुत महत्त्वपूर्ण और इस व्यापार से हड़प्पा के विकास अथवा पतन को जोड़ना तो और भी तर्कसंगत नहीं मालूत पड़ता है।

हड़प्पा में लम्बी दूरी के व्यापार के माध्यम से आयातित वस्तुओं को अफगानिस्तान से शायद लाजवर्द लाया जाता था। हालांकि, बलूचिस्तान के चगाई पहाड़ियों में भी यह उपलब्ध था। जेड तो निश्चित रूप से तुर्कमेनिस्तान से ही आता था। टिन की आपूर्ति शायद फरगना और मध्य एशिया के पूर्वी कजाकिस्तान से होता था। अलंकृत क्लोराइट और हरिताश्म के बने बर्तन फारस की खाड़ी और पश्चिम एशिया में व्यापार के बहुत प्रचलित वस्तु थे जिनके कुछ टुकड़े मोहनजोदड़ो से भी प्राप्त हुए हैं। इन्हें दक्षिणी ईरान या फिर बलूचिस्तान से लाया गया होगा। हड़प्पा सभ्यता से वैसे भी पश्चिम एशिया की वस्तुएं नगण्य मात्रा में मिली हैं। फारस की खाड़ी के शैली में बना एक मुहर लोथल में सतह से प्राप्त हुआ है। मोनहजोदड़ो से प्राप्त कुछ लाजवर्द के मनके अथवा हड़प्पा के सीमेंट्री एच में पाए गए लाजवर्द के लॉकेट शायद पश्चिम एशिया से मंगाए गए थे। कालीबंगा में पाए गए कुछ बेलनाकार मुहर अपने प्रतीकों के आधार पर पश्चिम एशिया के कहे जा सकते हैं।

वैसे मेसोपोटामिया में प्रारम्भिक राजवंश-III ए (ल. 2600/2500 सा.सं.पू.) से इसिन-लरसा काल (ल. 2000/1900 सा.सं.पू.) के बीच हड़प्पा सभ्यता से आयातित सामग्रियों के कुछ पुरातात्त्विक साक्ष्य मिलते हैं, जो तकरीबन संपूर्ण परिपक्व हड़प्पा काल को आच्छादित करता है। पश्चिम एशिया के अन्य हिस्सों से भी जो प्राप्तियां हुई हैं वे भी मोटे तौर पर इसी काल की हे। निप्पुर के 14 सदी सा.सं.पू. संदर्भ से एक हड़प्पाई मुहर की खोज यह दर्शाता है मेसेपोटामिया के साथ हड़प्पा का संपर्क, कुछ कम ही सही, लेकिन उत्तर हड़प्पा काल तक बना रहा। 14वीं सदी सा.सं.पू. काल के दो हड़प्पा मुहर फैलका में मिले तथा बेट द्वारका में भी उत्तर हड़प्पा सभ्यता की एक मुहर मिली। उत्तर हड़प्पा सभ्यता की इस मुहर पर पश्चिम एशिया की मुहरों में अंकित तीन सिरों वाले एक जन्तु का अंकन है।

हड़प्पा सभ्यता से अफगानिस्तान को जोड़ने वाले मार्ग में पाए गए कुछ हड़प्पा सभ्यता के एकाकी स्थलों की चर्चा की जा चुकी है। मूलादर्रा के निकट पठानी-डम्ब; बोलन दर्रे के निकट नौशारो; गोमल घाटी में डाबरकोट, डेराजाट में गुमला और हथला एवं कलेह; निसार जैसे हड़प्पा केंद्रों की उपस्थिति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गोमल दर्रे वाला मार्ग कितना महत्त्वपूर्ण रहा होगा।

पश्चिम एशिया से हड़प्पा सभ्यता को जोड़ने वाले दो मुख्य स्थलमार्गों को रेखांकित किया गया है। पहला मार्ग उत्तरी अफगानिस्तान, उत्तरी ईरान, तुर्कमेनिस्तान और मेसोपोटामिया की ओर तथा दूसरा दक्षिणवर्ती मार्ग टीप

संबंधित परिचर्चा

शोरतुघई—अफगानिस्तान में स्थित हड़प्पा सभ्यता का केंद्र

अफगानिस्तान के उत्तर पूर्व में ऑक्सस तथा कोकचा नदियों के संगम पर दो हेक्टेयर में फैला हुआ शोरतुघई स्थित है। यहां के पुरातात्त्विक स्तर विन्यास के आधार पर चार संस्कृतियों को चिन्हित किया गया है। जिनमें काल खण्ड-1 तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध का है। इस स्तर से हड़प्पा के डिजाइनों वाले मृद्भाण्ड, टेराकोटा, खिलौने, ताम्र, कांस्य की वस्तुएं, स्वर्णमनका तथा लाजवर्द, अगेट, गोमेद, कार्नेलियन, सेलखड़ी के मनके, मनकों में छेद करने वाले ड्रिल, शंख की चूड़ियाँ तथा हड़प्पा के मानक आकार वाली मिट्टी की ईंटें, टुटे हुए जारों और बीकरों पर हड़प्पा ग्राफिटी (भित्ति-आरेख), हड़प्पा लिपि तथा राइनों प्रतीक वाला हड़प्पा का एक वर्गाकार मुहर जैसी अनेक सामग्रियां मिली हैं। हड़प्पा की इतनी सारी वस्तुओं की प्राप्ति यह संकेत देती है कि यह मात्र ऐसा स्थल नहीं था जिससे हड़प्पा सभ्यता का संपर्क रहा हो बल्कि हड़प्पा सभ्यता ही एक केंद्र था।

शोरतुघई में फ्लेक्स की बीजों से भरा एक जुता हुआ खेत मिला है। सिंचाई के लिए स्थान अनुपयुक्त था। अत: इसे ड्राई-फार्मिंग का उदाहरण कहा जा सकता है। हालांकि, यहां से 25 कि. मी. की दूरी पर कोकचा नदी से सिंचाई के लिए निकाले गए कुछ नहरों के भी साक्ष्य मिले हैं।

प्रश्न यह आता है कि हड़प्पावासी शोरतुघई में क्या कर रहे थे? निकटवर्ती खानों से लाजवर्द प्राप्त होता था, किन्तु लाजवर्द का प्रयोग हड़प्पावासियों के द्वारा सीमित मात्रा में ही किया जाता था। वैकल्पिक उत्तर यह भी हो सकता है कि समीपस्थ अफगानिस्तान और व्यापार के लिए भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

स्रोत: चक्रबर्ती, 1990: 1-2, 86-89

याह्या, जलालाबाद, कल्लेह, निसार, सूसा और ऊर होते हुए निकलता था। हालांकि, मेसोपोटामिया से व्यापार के लिए समुद्रीमार्ग को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इस समुद्री मार्ग में सुतकागेन-दोर, बालाकोट और डबरकोट प्रमुख केंद्र रहे होंगे। बालाकोट और डबरकोट उस समय समुद्र के बिल्कुल किनारे स्थित रहे होंगे। इसी प्रकार लोथल (खम्भात की खाड़ी से 10 कि.मी. दूर) और कुन्तसी (समुद्री तट से 4 कि.मी. दूर फुल्की नदी पर) धोलावीरा (कच्छ के रण में) तथा कच्छ जैसे हड़प्पा केंद्र निश्चित रूप से इस सामुद्रिक व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

यह तर्क कि हड़प्पा के लंबी दूरी के स्थल मार्ग व्यापार की मात्रा बड़ी नहीं थी, उचित प्रतीत होता है। हड़प्पा सांस्कृतिक क्षेत्र में प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से मेसोपोटामिया की तरह आभाव नहीं था। भोजन और शिल्प के लिए आवश्यक अत्यधिक कच्चे माल इसको अपनी सांस्कृतिक परिधि में ही उपलब्ध हो जाते थे। यहां की उत्कृष्ट शिल्प परम्परा और तकनीक प्रमाण हैं कि हड़प्पा वासियों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली ज्यादातर वस्तुओं के लिए यह आत्मनिर्भर था। थोड़े बहुत कच्चा माल अफगानिस्तान और मध्य एशिया से जो भी आयातित होता था वह अनिवार्य नहीं मालूम पड़ता है। इसकी आवश्यकता की बहुत कम वस्तुओं को दूर से आयात करने की जरूरत थी। फिर भी हड़प्पा का व्यापार अत्यंत संगठित, व्यवसायिक समूहों के द्वारा नियंत्रित दिखलाई पड़ता है तथा इस तंत्र में घुमन्तू नवपाषाणीय सभ्यतावासियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी नजर आती है। व्यापार पर राज्य-नियंत्रण का प्रश्न हमेशा वाद-विवाद के घेरे में है।

लेखन की प्रकृति और उसकी उपयोगिताए

(The Nature and Uses of Writing)

हड़प्पा सभ्यता में कौन सी भाषा बोली जाती थी अथवा कौन-कौन सी भाषाएं बोली जाती थीं तथा उनकी लिपि क्या थी, शायद ये प्रश्न हड़प्पा सभ्यता से जुड़े सबसे अहम रहस्यों में से है। हड़प्पा सभ्यता के विशाल सांस्कृतिक क्षेत्र में विविध भाषाओं और बोलियों के अस्तित्व में होने की संभावना बनती है। हड़प्पा की मुहरों पर पाए गए अभिलेख यहां के कुलीन शासक वर्ग की भाषा हो सकती है। विद्वानों के द्वारा द्रविड़ भाषा परिवार अथवा इण्डो आर्य भाषा परिवार से इनके सम्बंध पर विवाद चलता रहता है। किन्तु अब तक न तो हड़प्पा की भाषा पर एक मत बना है और न ही इसकी लिपि समझी जा सकी है।

हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थलों से लगभग 3700 उत्कीर्ण सामग्रियाँ अभी तक प्राप्त हो चुकी हैं (देखें महादेवन, 1977; पारपोला, 1994)। अधिंकाश अभिलेख हड़प्पा की मुहरों पर उत्कीर्ण हैं किन्तु साथ ही ताम्र, ताम्र/काँस्य वस्तुओं अथवा मृद्भाण्डों पर भी देखे जा सकते हैं। सम्पूर्ण उत्कीर्ण सामग्रियों का 50 प्रतिशत हिस्सा केवल मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुआ है जबकि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा संयुक्त रूप से 87 प्रतिशत प्राप्तियों के केंद्र हैं। अधिकांश अभिलेख अत्यंत संक्षिप्त हैं। सबसे लंबा अभिलेख 26 चिह्नों वाला है। हड़प्पा लिपि से जुड़ा रोचक तथ्य यह है कि पूर्ण रूप से विकसित लिपि का प्रमाण उपलब्ध है, इसके विकसित होने के क्रम को पृथक रूप से चिन्हित नहीं किया गया है। ऐसा शायद इसलिए भी हो सकता है कि प्रारम्भिक उत्खननों के दौरान इस ओर घ्यान नहीं दिया गया।

हड़प्पाई लिपि में प्रयुक्त 400-450 मौलिक प्रतीकों को रेखांकित किया गया है तथा यह लोगो-सिलेबिक है, जिनमें से प्रत्येक प्रतीक एक शब्द या एक शब्दांश के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि दाहिने से बाएं की ओर लिखा जाता था तथा मोहरों पर ठीक विपरीत उत्कीर्ण किया जाता था। सामान्यत: अभिलेखों के बाएं छोर पर शब्दों के अटाने का प्रयास किया गया है। लम्बे अभिलेख वुस्ट्रोफिडॉन शैली में लिखे मालूम पड़ते हैं जिसमें प्रत्येक पंक्ति विपरीत दिशाओं से प्रारम्भ होती है।

धोलावीरा का 'साइनबोर्ड'

हड़प्पाई मुहरों पर बने प्रतीक चिन्हों का उन पर उत्कीर्ण अभिलेखों से क्या सम्बंध था? लेखन की क्या उपयोगिता थी? चूंकि अधिकांश अभिलेख हड़प्पा के सील और सीलिंग
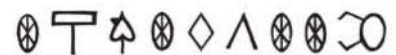
हड़प्पा मोहर; लिपि 'जार' ( ) तथा 'मार्कर' (II) चिन्ह सर्वाधिक प्रयोग में थे

(मिट्टी की नबी टेबलेट जिस पर सील की छाप लगाई गई थी) पर मिले हैं। इसलिए इनके आधार पर लेखन की उपयोगिता का अनुमान लगाया जा सकता है। वस्त्रों के कुछ अवशेषों का मुहर से जुड़ा होना ये इशारा करता है कि व्यापार की सामग्रियों को इनके द्वारा प्रामाणिकता दी जाती थी। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए ये टोकन के रूप में प्रयोग में आते थे अथवा परिचय-पत्र या ताबिज के रूप में इनका प्रयोग होता होगा। ये धनाढ्य व्यवसायी, पुरोहित, शिल्पकार का प्रतिनिधित्व कर सकते थे। अधिकांशत: इनके टूटे होने के पीछे ऐसा लगता है कि सम्बद्ध उपयोगकर्त्ताओं के द्वारा उपयोग के पश्चात् दुरुपयोग से बचने के लिए इन्हें नष्ट कर दिया जाता था। बहुत सारे सील एवं सीलिंग पर बने दृश्यों के आधार पर, इनके किसी धार्मिक या कर्मकाण्डीय उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार हड़प्पा के इन तथाकथित सीलों का अनेक उपयोग देखा जा सकता है।

सेलखड़ी, टेराकोटा और फेयंस के छोटे-छोटे गोटी पर भी लिखावट दिखाई देती है। मुहर की तरह चूंकि इनका उपयोग किसी वस्तु पर निशान उभारने के लिए नहीं किया जाता था, इसलिए इन पर मौजूद लिखावट प्रतिबिम्ब शैली में नहीं हैं। ऐसी कई वस्तुएं हड़प्पा एवं अन्य बड़े नगरों से प्राप्त हुइ है। तांबे की चौकोर गोटी जिस पर पशु चिह्नों के साथ लिखावट मौजूद हैं, मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुए हैं। जबकि हड़प्पा से कुछ टिकिया या गोटी उभरी हुई लिखावट के साथ मिली हैं। सीमित जगहों पर इनकी प्राप्ति बताता है कि इनका इस्तेमाल भी नियंत्रित ही होगा। यह बहुत रोचक है कि लघु टिकिया और तांबे की टिकिया दोनों की प्रतिकृतियां काफी मिलती है।

मृद्भाण्डों पर पाए गए अभिलेखों से उनके व्यवसायिक महत्त्व का प्रमाण मिलता है। इन अभिलेखों को मृद्भाण्डों पर पकाए जाने के पहले अथवा ग्राफिटी के रूप में पकाए जाने के बाद दोनों स्थिति में उत्कीर्ण किया जा सकता था। हो सकता है इनको मृद्भाण्डों पर अंकित करने वाले शिल्पकार साक्षर भी न हों, किन्तु निश्चित रूप से ये उन प्रतीकों को भली-भाँति पहचानते थे। मृद्भाण्डों पर इनके अंकन से शायद उपयोगकर्त्ता के नाम अथवा उसकी सामाजिक श्रेष्ठता का सम्बंध था।

अन्य कई सामग्रियों जैसे तांबे और कांसे के औज़ार, पत्थर की चूड़ियां, हड्डियों के पिन, सोने के जेवर आदि पर भी आलेख अंकित किए जाते थे। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक तांबे के पात्र में सोने की वस्तुएं भारी संख्या में मिली हैं। इनमें सूक्ष्म अभिलेखों के साथ चार जेवर भी शामिल है। ये सभी अभिलेख शायद एक ही व्यक्ति द्वारा लिखे गए थे, जिसमें संभवत: जेवर के स्वामी का नाम लिखा था। इसी तरह चूड़ियों, मनकों और हड्डियों की छड़ी जैसे अन्य व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुओं पर भी लिखावट उकेरी या रंगी जाती थी। इन लिखावटों का जादू-मंतर या धार्मिक महत्त्व भी हो सकता है।

धोलावीरा के 'साईन-बोर्ड' से उच्च स्तरीय नागरिक साक्षरता का बोध हो अथवा नहीं हो, किन्तु इससे लेखन के नागरिक बोध की संभावना तो दिखती ही है। इन सबसे अधिक सम्पूर्ण हड़प्पा सभ्यता में एक ही लिपि का प्रयोग, उच्च स्तरीय सांस्कृतिक एकीकरण की अभिव्यक्ति है। सन् 1700 सा.सं.पू. से लिपि का उपयोग का लगभग समाप्त होना, उसके नगरीय जीवन से पूर्ण रूप से जुड़े होने का प्रमाण है। साथ ही यह यह भी दिखाता है कि हड़प्पा की लिपि और लेखन कला का लोक-जीवन में पूरी तरह से प्रचार नहीं हो सका।

धार्मिक तथा अंत्येष्टि व्यवहार

(Religious and Funerary Practices)

जॉन मार्शल ने 1931 में उन मूलभूत तत्त्वों को रेखांकित किया, जिसे मोटे तौर पर 'हड़प्पाई धर्म' कहा जा सकता है। हालांकि, मार्शल की व्याख्या के कुछ आयामों – खास तौर पर हड़प्पा के साक्ष्यों में परवर्ती हिन्दू धर्म के तत्त्वों को खोजने की प्रवृत्ति की आलोचना की जा सकती है। किन्तु हड़प्पा धर्म की सभी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को चिन्हित करने में उन्होंने सफलता

पायी। वैसे भी हड़प्पा सभ्यता की लिपि नहीं पढ़े जाने के कारण उसकी आस्था और धर्म जैसे तथ्यों के विश्लेषण अनिश्चितताओं से भरे हुए हैं।

काफी समय से यह माना जाता रहा है कि हड़प्पाई धर्म में सबसे अधिक प्रमुखता मातृ देवियों को दी गई है, जो उर्वरा शक्ति अथवा प्रजनन क्षमता से जुड़ी हुई हैं। ऐसा निष्कर्ष इस आधार पर निकाला गया है कि —(1) सभी कृषक समाजों में उर्वरा शक्ति को प्राथमिकता दी गई है, (2) अन्य प्राचीन सभ्यताओं के साथ सांस्कृतिक तुलना करने के आधार पर, (3) बाद के हिन्दू धर्म में देवी-पूजा पर दिए गए बल एवं उसकी लोकप्रियता के आधार पर, और (4) हड़प्पा से प्राप्त 'मातृ देवी' कही जाने वाली टेराकोटा की मृण्मूर्तियों की बड़ी संख्या में उपलब्धि। कुछ मुहरों पर प्राप्त चित्रण भी इस संदर्भ में प्रासंगिक है। उदाहरण के लिए एक मुहर पर एक नग्न स्त्री, सिर झुकाए दोनों पैर फैलाए है और एक पौधा उसके योनि से बाहर निकल रहा है। इस चित्रण की व्याख्या शाकम्भरी यानि धारती माता के आद्य प्रारूप की तरह की गई है।

किन्तु हड़प्पा से प्राप्त इस प्रकार की सभी मातृदेवियों का उर्वराशक्ति अथवा मातृत्व से जोड़ना सम्पूर्ण परिस्थितियों का सरलीकरण करना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि सभी मृणमूर्तियों के सन्दर्भ को भी विश्लेषित करना, तभी उनको कोई धार्मिक या कर्मकाण्डीय महत्त्व दिया जा सकता है। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि सभी मृणमूर्तियां देवी की प्रतिमा नहीं हो सकती और उससे भी अधिक सभी को मातृत्व जैसी विशेषताओं के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। कुछ स्त्री मृणमूर्तियाँ सामान्य घरेलू कर्मकाण्डों से जुड़ी मालूम पड़ती हैं। बहुत सारी अन्य मूर्तियाँ, खिलौने अथवा अलंकारिक उपादान मालूम पड़ते हैं।

पंखें के आकार वाले शिरोवस्त्र के साथ स्त्री की मृण्मूर्ति

अलेक्जेण्ड्रा आर्दिलेना जैनसन (2002) ने हड़प्पा के टेराकोटा कला का अध्ययन किया और अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने स्त्री की मृण्मूर्तियों में काफी भिन्नताएं पायीं। सामान्यत: हड़प्पा के सन्दर्भ में जिन 'मातृदेवियों' की चर्चा की जाती है, उनकी आकृति काफी पतली-दुबली दिखलाई पड़ती है जो विशेष प्रकार के पंखानुमा केशसज्जा और छोटा-सा लहंगा धारण करती है। इसके शरीर पर ढेर सारे फूल और जेवर जैसे हार, बाजूबंद, चूड़ियां, पाजेब, झुमका आदि लदा होता है। कुछ मृण्मूर्तियों में सिर के दोनों तरफ प्याली या फूल जुड़ा हुआ रहता है। ऐसी कुछ मूर्तियों के सिर पर काले अवशेष पाए गए हैं जो शायद तेल जलाने से अथवा किसी प्रकार के सुगंधित धुएं को जलाने के लिए प्रयोग में आए थे। ऐसा माना जाता है कि ऐसे धार्मिक मूर्तियों का हड़प्पा के गृहस्थ जीवन में और दैनिक कर्मकाण्ड में उपयोग किया जाता होगा। यह भी आश्चर्य का विषय है कि हड़प्पा के सील, टैबलेट, मुहर अथवा प्रस्तरीय और धात्विक मूर्तिकला में इनका प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है।

कुछ मृण्मूर्तियां 'विवाहिता' और पेट निकले स्त्रियों की भी मिली हैं, जो या तो गर्भवती महिलाओं की प्रतीक थी, या फिर समृद्ध महिलाओं की। ये ज्यादातर नग्न होती थीं और शरीर पर कुछ जेवर और केश सज्जा में पगड़ी लगाए होती थीं। 'विवाहिता-प्रारूप' और 'कृशकाय-प्रारूप' दोनों तरह की स्त्री मृण्मूर्तियों में बांहों में बच्चा अवश्य दिखता है। 'विवाहिता' वाली मूर्ति स्वयं खड़ी रहती है जबकि 'कृशकाय' युवती की मूर्ति को खड़ा करने के लिए सहारे की जरूरत होती है। उसके अतिरिक्त दूसरा रोचक तथ्य यह है कि जहां एक ओर मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और बनावली जैसे स्थानों पर ऐसी मूर्तियाँ बहुसंख्यक प्राप्त हुई हैं जबकि कालीबंगा, लोथल, सुरकोतडा या मिताथाल जैसे हड़प्पा केंद्रों से ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त नहीं हुई हैं।

महिला की मृण्मूर्ति, बनावली

स्त्री मृण्मूर्ति सहित सभी प्रकार की मृण्मूर्तियां ज्यादातर टूटी हुई अवस्था में और फेंके गए ढेर से मिले हैं। कोई भी ऐसे किसी स्थान से प्राप्त नहीं हुआ है, जिसे मंदिर या पूजास्थल के रूप में देखा जा सके। मार्शल का मानना है कि इन्हे दैनिक अवस्था और व्यवहार में प्रयोग में लाया जाता था न कि इनकी पूजा किसी विशेष स्थान पर की जाती थी। इनके तोड़ दिये जाने के विषय में एक दूसरी बात यह भी हो सकती है कि एक अल्पकालिक कर्मकाण्डीय पूजन-पद्धति के अन्तर्गत इनका उपयोग किया जाता था और उसकी समाप्ति के बाद इनकी उपयोगिता निरस्त कर दी जाती थी। अभी तक इन नारी प्रतिमाओं के साथ जुड़े किसी पुरुष प्रतिमा अथवा अन्य जन्तुओं की प्रतिमा के सम्बंध पर पर्याप्त अध्ययन नहीं किया गया है।

मार्शल ने यह भी सुझाव रखा कि हड़प्पावासी एक ऐसे पुरुष देवता की पूजा भी करते थे, जिसका चित्रण मोहनजोदड़ो से प्राप्त सेलखड़ी की एक मुहर पर हुआ है। इस मुहर को आजकल 'पशुपति मुहर' के नाम से जाना जाता है। इस मुहर में एक पुरुष आकृति को भैंस के सिंग का मुकुट पहने एक मंच पर पालथी मार कर बैठा दिखाया गया है। पालथी में दोनों एड़ियां सटी हुई और अंगूठे नीचे की तरफ सटे हैं। उसके बाहर खुले हुए बांहों में चूड़ियां भरी है और तलहटी घुटनों पर टिकी है। वह चार पशुओं से घिरा है - एक हाथी, गैंडा, भैंसा और बाघ। मंच के नीचे दो बारासिंघा या जंगली बकरा खड़ा है। मार्शल का मानना था कि इस पुरुष आकृति के तीन सिर थे और वह उन्नत-शिश्न था। उसे इस देवता और परवर्ती हिंदू धर्म के शिव में आश्चर्यजनक समानता दिखाई दी, जो महायोगी और पशुपति (पशुओं का स्वामी) के नाम से जाना जाता है।

हड़प्पावासियों के प्रजनन-पंथ सम्बंधी विश्वासों का एक और आयाम लिंग और योनि के पत्थर की प्रतिकृति के रूप में पूजा भी शामिल थी। यह पुरुष और स्त्री की प्रजनन और रचनात्मक उर्जा का प्रतीक माना जाता है। जॉन मार्शल ने इन आकृतियों वाले पत्थरों का अध्ययन किया था। बहुत वर्षों बाद जॉर्ज डेल्स ने इन आकृतियों के विषय में यह मत दिया कि शायद इनका कोई भी धार्मिक महत्त्व नहीं हो सकता। इस तरह के कुछ पत्थर के छल्लों पर रेखाओं की उपस्थिति से स्थापत्य से सम्बंधित उनका उपयोग बताया गया। जिससे शायद स्तम्भों के निर्माण में उपेक्षित कोण मापा जाता था। वैकल्पिक रूप से इनकी खगोलशास्त्रीय उपयोगिता भी बतलाई गई है। मार्शल ने स्वयं भी लिंग आकार के कुछ पत्थरों का अन्योन्य उपयोग बतलाया है। हो सकता है कि डेल्स के तर्क मजबूत हों किन्तु अभी हाल में टेराकोटा से बने लिंग और योनिपीठ से मिलती जुलती वस्तुएं कालीबंगा से प्राप्त हुई हैं।

हड़प्पा के सील, सीलिंग, ताबीज़ और ताम्र टैबलेटों पर वृक्ष, छोटे वनस्पति और पशुओं के चित्रांकन में से कुछ का निश्चित रूप से धार्मिक उद्धेश्य रहा होगा। उनपर अंकित पीपल के वृक्ष आज भी पूजनीय हैं। कई बार वृक्षों के भीतर से झांकते हुए चेहरों का अंकन शायद वृक्ष के देवता को चित्रित करने का प्रयास था। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक सील पर एक कतार में खड़े सात लोगों की आकृतियां बनी हैं जो पीपल के एक वृक्ष के नीचे खड़े सींग वाली आकृति की ओर देख रहे हैं। कुछ विद्वानों ने बाद के हिन्दू धर्म के अत्यंत प्रचलित सप्तमातृका की अवधारणा से इन्हें जोड़ने का प्रयास किया है।

इसी प्रकार सील और सीलिंग पर अंकित सांड, बैल, साँप, हाथी, राइनो, बारासिंगे, घड़ियाल, बाघ इत्यादि के धार्मिक महत्त्व को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। हड़प्पा प्रतीकों में प्रसिद्ध सांड को प्राय: सभी प्राचीन

पशुपति-पुरुष, देवता या देवी

मार्शल ने हड़प्पा से प्राप्त एक सील के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि हड़प्पावासी एक देवता की उपासना करते थे, जिनकी अधिकांश विशेषताएं बाद के हिन्दू धर्म के प्रमुख देवता शिव से मिलती-जुलती हैं, किन्तु इस निष्कर्ष से जुड़े कई प्रश्न उठाए जा सकते हैं:

1. क्या इस आकृति में दिखलाए गए देवता किसी प्रामाणिक यौगिक आसन पर बैठे हैं?,
2. क्या इनके तीन शीर्ष हैं?
3. क्या ये उन्नत लिंग अवस्था में हैं?
4. क्या यह पुरुष की आकृति है?
5. कालांतर के हिन्दु धर्म में शिव से जुड़ा पशुपति रूप पालतू मवेशियों की सुरक्षा से जुड़ा है जबकि इस सील पर अंकित आकृति वन्य पशुओं के बीच में दिखलाई गई है। क्या इस अन्तर के बाद भी दोनों के बीच संबंध को सिद्ध किया जा सकता है?

इस आकृति के विषय में कई वैकल्पिक व्याख्याएँ दी जाती हैं। एम. के. धावलीकर तथा शुभांगना अत्रे (देखें अत्रे, 1985-86) का मानना है कि यह आकृति एक देवी की है-वन देवी या पशु की प्रधान देवी। किन्तु इन सभी वैकल्पिक व्याख्याओं के बावजूद मार्शल के द्वारा किया गया विश्लेषण अधिक आकर्षक और मान्य है। इस आकृति को यौगिक मुद्रा में आसीन किसी पुरुष से मिलता जुलता कहा जा सकता है। हालांकि, इसके तीन शीर्ष स्पष्ट नहीं हैं।

शिव के लोकप्रिय विशेषताओं में से कुछ तो निश्चित रूप से इस आकृति में विद्यमान हैं। यह अलग बात है कि हड़प्पावासी इसे जिस नाम से पुकारते होंगे वह हमें ज्ञात नहीं हैं वैसे भी प्रारम्भिक हड़प्पा सभ्यता काल में कालीबंगा कोटदिजि, पादरी से सिंगों वाले देवता के मृद्भाण्डों पर हुए अंकन की चर्चा की जा चुकी है। इस लिए सींग वाली आकृतियां हड़प्पा संस्कृति में नई नहीं हैं।

'पशुपति मुहर'

संबंधित परिचर्चा

कालीबंगा की 'अग्निवेदिकाएं'

कालीबंगा का सिटाडेल उत्तरी और दक्षिणी भागों में बंटा हुआ है और दक्षिणी हिस्से में पुरातत्त्वविदों ने पाँच या इससे भी अधिक मिट्टी के ईंटों के बने पृथक-पृथक प्लेटफार्म को चिन्हित किया है। प्लेटफार्म पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई है। इनमें से एक प्लेटफार्म पर 75 × 55 से.मी. के सात गड्ढों की एक कतार मिली है और सभी के ऊपर मिट्टी का प्लास्टर देखा जा सकता है। उनके अनुसार ये यज्ञवेदियाँ या अग्निकुण्ड थीं। इन गड्ढों से राख, चारकोल और आयताकार मिट्टी के टुकड़े तथा टेराकोटा केक पाए गए हैं। इन यज्ञवेदिकाओं के पश्चिम में मिट्टी के जार का एक बड़ा हिस्सा जमीन में गड़ा हुआ पाया है। जिसमें राख, चारकोल पाए गए थे। समीप में ही एक कुआँ और खुला हुआ स्नानागार बना है जो पके हुए ईंटों से बनी एक नाली से जुड़ा है। एक अन्य प्लेटफार्म से एकल अग्निकुण्ड और एक कुआँ भी पाया गया है। 1.25 × 1 मीटर के एक आयताकार ईंट के छोटे वाले गड्ढे से मवेशियों की हड्डियाँ और सींग पाए गए है जो शायद पशुबलि का स्थान रहा होगा। सिटाडेल के उत्तर में कुछ भवनों के अवशेष देखे जा सकते हैं। बी.बी. लाल का मानना है कि इन भवनों में अग्निकुण्ड से जुड़े कर्मकाण्डीय पुरोहितों का निवास स्थान था।

अग्निकुण्डों या अग्निवेदिकाओं की प्राप्ति बनावली, लोथल, आमरी, नागेश्वर और बगाड़ तथा हरियाणा के राखीगढ़ी से हुई है, किन्तु केवल कालीबंगा और बनावली से प्राप्त अग्निवेदिकाओं सामुदायिक महत्त्व की प्रतीत होती हैं। अन्य स्थानों से प्राप्त अग्निवेदिकाएँ गृहस्थ जीवन के दैनिक कर्मकाण्डों का हिस्सा मालूम पड़ती हैं। इस प्रकार स्त्री की मृण्मूर्तियों की तरह अग्निवेदिकाएँ भी हड़प्पा के केवल कुछ स्थलों से पायी गई हैं जो हड़प्पा के विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र में विद्यमान सांस्कृतिक विविधताओं का परिचायक हैं।

स्रोत: लाल: 1984

संस्कृतियों में पुरुष की प्रजनन ऊर्जा से जोड़ा गया है। इसी प्रकार बहुत सारे टेराकोटा में पहियों पर जन्तुओं की आकृति, खिलौने के अतिरिक्त धार्मिक महत्त्व के भी हो सकते हैं। हड़प्पा की एक मुहर में बहुत सारे कतारबद्ध जन्तुओं में से एक गाय अथवा बैल का भी चित्र है। नर-व्याघ्र, हस्ति-वृषभ, मेष-हस्ति-वृषभ तथा अत्यंत प्रचलित यूनिकॉर्न जैसी समेकित आकृतियां निश्चित रूप से उनके जादुई धार्मिक विश्वासों से जुड़ी होंगी। टेराकोटा, शेल, फेयन्स और धातु के टेबलेट अपने आकार के आधार पर ताबीज़ होने की संभावना रखते हैं। हड़प्पावासियों के स्वास्तिक जैसे प्रतीक आज भी सुरक्षात्मक और मांगलिक प्रयोजन से युक्त प्रतीक बने हुए है। हड़प्पा सभ्यता में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त हुए टेराकोटा के मुखौटे और कई पुतलियाँ भी उपयोग वाली टेराकोटा की प्राप्तियाँ धार्मिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक-राजनीतिक अवधारणाओं से प्रेरित मालूम पड़ती हैं।

मोहनजोदड़ो के महान स्नानागार से जुड़ी धार्मिक संभावनाओं पर पहले चर्चा की जा चुकी है। कालीबंगा के एक सील पर सींगवाले देवता के समक्ष एक पशु को खींचकर ले जाते हुए दिखलाया गया है। कुछ लोगों ने इसे पशु बलि प्रथा से जोड़ने का प्रयास किया है। कालीबंगा से ही प्राप्त एक अन्य सील पर एक स्त्री को दो पुरुष बल पूर्वक खींच रहे हैं। तथा जिनके हाथों में तलवार है। कुछ लोगों के अनुसार यह नरबलि की प्रथा का द्योतक हो सकता है। किन्तु हड़प्पा सभ्यता से जुड़ी धार्मिक आस्थाओं का सबसे आकर्षक प्रतिनिधित्व कालीबंगा के गढ़ीय टीले पर उपस्थित अग्निकुण्डों की श्रृंखला ही करती है।

हड़प्पा, कालीबंगा, लोथल, राखीगढ़ी और सुरकोतदा में पाए गए कब्रगाहों का अध्ययन किया गया है। सामान्य रूप से शवों को लिटाकर उत्तर की दिशा में इन्हें साधारण गड्ढे या ईंटों के बने कब्र में दफनाया गया है। शवों के साथ भोजन, मृद्‌भाण्ड, औज़ार और आभूषण रखा जाता था किन्तु अन्य समकालीन सभ्यताओं की अपेक्षा दफनाने की प्रक्रिया सादगी से ओत प्रोत मालूम पड़ती है। हड़प्पावासी स्पष्ट रूप से धन का उपयोग अपने जीवन काल में करने को प्राथमिकता देते थे। कालीबंगा से कुछ प्रतीकात्मक कब्र मिले हैं जिनमें शव नहीं रखा गया था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में कब्र में गाड़ी गई मृतक की हड्डियाँ पायी गई हैं। लोथल में पुरुष और स्त्री को

बाघ तथा हाथी अंकित हड़प्पा के सील (मुहर)

भी एक साथ दफनाया गया था। शवों के दाह-संस्कार के बाद अस्थियों को गाड़ने की प्रथा भी हड़प्पावासियों में प्रचलित थी।

इस प्रकार हड़प्पा-संस्कृति में जादुई आस्थाओं तथा अन्येष्टि व्यवहार का वैविध्य दिखलाई पड़ता है। हालांकि, कालान्तर में विकसित हुए हिन्दू धर्म के दृष्टिकोण से तथाकथित हड़प्पा के धर्म को देखना तर्कसंगत नहीं है, किन्तु दोनों में कुछ समानताएं विद्यमान हैं। यदि दोनों के बीच कोई मुख्य अन्तर है तो वह हड़प्पा में मन्दिर या ऐसे ही किसी देवस्थान रूप संरचना का अभाव।

हड़प्पा सभ्यता में रहने वाले लोग

(The Harappan People)

हड़प्पा के लोग कैसे दिखते थे? वे किस प्रकार के आभूषण पहनते थे? वे अपनी छुट्टियाँ किस प्रकार बिताते थे? टेराकोटा पत्थरों और कांसे की मूर्तियों से इस प्रकार के उत्तर ढूंढे जा सकते हैं। हालांकि, टेराकोटा की मूर्तियाँ या इस प्रकार की अन्य मूर्तियाँ सटीक वस्तुस्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करते। फिर भी कम से कम इनके द्वारा हड़प्पा के लोगों का एक त्रिआयामी चित्र हमारे सामने जरूर उपस्थित हो जाता है।

मानवीय मृण्मूर्ति जो हड़प्पा से प्राप्त हुए उनमें स्त्रियों के, पुरुषों के अथवा वैसे मृण्मूर्ति भी हैं जिनके लिंग का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता अथवा ऐसी भी मृण्मूर्ति हैं जो पुरुष और स्त्री दोनों के बीच की हैं। जैसे कुछ हड़प्पा की मूर्तियों के स्तन भी हैं और उनकी मूँछें हैं। इसी प्रकार कुछ पुरुषों ने स्त्रियों के वस्त्र धारण किए हुए हैं। वैसे इनके सामान्य अध्ययन से ऐसा लगता है कि हड़प्पा की स्त्रियाँ छोटे लहंगे पहनती थीं जो ऊन या सूती के बने होते होंगे। वे बहुत प्रकार की शैलियों की चोटियों गूँथती थीं और जूड़े बनाती थीं। कभी-कभी उनके सिर पर कुछ वस्त्र लपेटा हुआ दिखलाई पड़ सकता है। कुछ मूर्तियों के बालों की विशेष सज्जा यथा फूल अथवा फूल जैसे आभूषणों का दिखना यह बतलाता है कि ये औरतें समाज में या तो ऊँचा स्थान रखती थीं या ये देवियाँ हैं। औरतें बहुत प्रकार के आभूषण पहनती थीं। जिनमें-चूड़ियाँ, कमरधनी, हार इत्यादि प्रमुख हैं।

टेराकोटा: मृण्मूर्ति, गेम्स और पासा; छिद्रयुक्त पक्षी, आगे-पीछे मुंह वाला बैल/सांढ, गाड़ी

कई हड़प्पाई स्थलों से प्राप्त सुंदर आभूषणों को हम यहां याद कर सकते हैं। दूसरी ओर चूंकि पुरुषों की मूर्तियाँ केशविहीन हैं अथवा माथे पर किसी प्रकार का वस्त्र है तो यह पता लगाना कठिन है कि वे किस प्रकार की केशसज्जा करते थे। इसके अतिरिक्त बहुत सारी पुरुषों की मूर्तियाँ नग्न अवस्था में हैं इसलिए किस प्रकार के वस्त्र वे धारण करते थे। यह भी पता लगाना मुश्किल है। हालांकि, वस्त्रों के विषय में यह अंदाजा है कि वे धोतीनुमा कुछ पहनते थे और कमर के ऊपर एक शाल लपेटे रहते थे। केश सज्जा का जहां निरूपण हुआ है वहां उनके बहुत प्रकार कहे जा सकते हैं। अधिकांश पुरुष मूर्तियों में दाढ़ी के साथ दिखलाई पड़े हैं और दाढ़ियाँ भी विभिन्न प्रकार की थीं। इनमें प्रसिद्ध पुरोहित राजा की दाढ़ी का उदाहरण लिया जा सकता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि पुरुष और स्त्री के केश सज्जा और आभूषण में समानताएं भी थीं और विभिन्नताएं भी थीं।

वैसे तो प्रत्येक काल में सभी संस्कृतियों में बच्चे अपना समय खिलौनों से खेलने में व्यतीत करते थे और हड़प्पा के बच्चे इसके अपवाद नहीं थे। हड़प्पा के स्थलों से टेराकोटा के बने बहुत सारे खिलौने पाए जाते हैं। इनमें गेंद, चक्को सहित गाड़ियाँ अथवा पहियों पर बैठे जन्तु, सीटियाँ, झुनझुने, इत्यादि प्रमुख हैं। हड़प्पा के बच्चे लट्टूओं से भी खेलते थे जो अधिकांशत: टेराकोटा अथवा शंख के बने होते थे। कुछ लट्टूओं के शीर्ष पर तांम्बा जड़ा होता था। जो शायद इनके लम्बे घूमने के लिए जड़े होते थे। चौका, बरतन के सामानों की प्रतिकृतियां, छोटे पलंग तथा अन्य फर्नीचर से भी बच्चे खेलते होंगे। हड़प्पा के बहुत सारे स्थानों से टूटे हुए खपड़े या डिस्क पाये गए हैं। आज भी ऐसे मिट्टी के टुकड़ों को इकट्ठा करके बच्चे हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों में पिट्ठू नामक खेल खेला करते हैं। टेराकोटा के बने कुत्तों से लगता है कि हड़प्पावासी कुत्तों को पालते थे। कुछ मनुष्य और जन्तुओं की मूर्तियों में हास्य का पुट भी देखा जा सकता है।

अनुसंधान की दिशाएं

हड़प्पावासी कितने स्वस्थ थे?

हड़प्पा सभ्यता के प्रारम्भिक उत्खननों का केंद्र उसकी स्थापत्य और संरचना थी। किन्तु 1980 और 1990 के दशकों में पुरातात्त्विक अनुसंधान वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर किया जाने लगा। इसमें हड़प्पा स्थलों से प्राप्त मानवीय हड्डियों का विस्तृत विश्लेषण भी सम्मिलित हैं। ऐसे विश्लेषण हमें हड़प्पावासियों के स्वास्थय और पौष्टिक स्तरों का भी ज्ञान कराते हैं।

हड़प्पानगर के दक्षिणी हिस्से में सीमेट्री आर-37 स्थित है इसका पुरातात्त्विक उत्खनन जे.एम. केनोयर के नेतृत्व में चार मानव शास्त्रियों के.ए.आर. केनेडी, जॉन आर. लुकार, नेन्सी लावेल तथा ब्रायन हेमफील की सहायता से किया गया। इन्होंने हड्डियों के अवशेषों का विशेष प्रयोगशालाओं में अध्ययन किया। इस सीमेट्री से 90 नर-कंकाल चयनित किए गए, जो अधिकांश स्त्रियों के थे।
शिशु और किशोर (<16 वर्ष से कम): 15
युवा वयस्क (<17 से 34 वर्ष): 35
मध्यम आयुवाले वयस्क (35 से 55): 27
प्रौढ़ वयस्क (>55 से ज्यादा): 13

हड़प्पा से प्राप्त उपरोक्त सैम्पल के आधार पर हड़प्पावासियों के अच्छे स्वास्थ्य की कल्पना की जा सकती है। इन हड्डियों में आघात, महामारी या छुआछुत की बीमारी या न्यूप्लास्टिक बीमारियों की बहुत कम घटनाएँ पायी गईं। कुपोषण पर आधारित रिकेट्स, स्कर्वी या एनीमिया के कोई प्रमाण नहीं मिले। वैसे तीन सैम्पल ऐसे मिले जिनमें अवरूद्ध विकास का अल्पकालिक प्रभाव, शैशवावस्था में पाया गया। ऐसा कुपोषण अथवा किसी गम्भीर बीमारी के चलते हो सकता था। यहां पर दफनाए गए लोगों में जो बीमारी सबसे प्रचलित थी, वह गाँठो अथवा जोड़ों से जुड़ी थी। गर्दन की गाँठ का अर्थराइटिस लम्बे समय तक भारी बोझ उठाने की अवस्था में हो सकता था।

यहां से प्राप्त सैम्पल के दन्तीय संरचना का भी विश्लेषण किया गया और ऐसा पाया गया कि यह एक ऐसा समुदाय था जिसकी दन्तीय संरचना वर्तमान के कृषक समुदायों से मिलती-जुलती मालूम पड़ती है। इनके दांतों में एनामेल से जुड़ी अस्वस्थता अधिक संख्या में देखी गई है तथा सबसे कम दिखने वाली बीमारी दांतों के जड़ में अतिरिक्त सीमेन्टम या कैल्सियम का जमाव पाया गया है। कुल परीक्षण किए गए सैम्पलों के 43.6 प्रतिशत भाग में दाँतों में छेद देखा गया जो कृषक समुदायों की आम समस्या है। दाँतों का नष्ट होना, प्लेक या टार-टार या दांतों के साकेट के नष्ट होने की सामान्य घटनाएं पायी गई। पुरुष और महिलाओं के दांतों के नष्ट होने या एनामेल के लोप होने की घटनाओं में काफी अन्तर था। किन्तु दांतों से जुड़ी अन्य उपरोक्त समस्याएं दोनों में लगभग एक बराबर थीं।

इस प्रकार सीमेट्री आर-37 में दफनाए गए हड़प्पा वासियों की हड्डियों और दांतों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वे स्वस्थ कृषकों के समूह थे। इन सैम्पलों के क्रेनिया वाले हिस्सों के सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर इन हड़प्पावासियों की जैविक समानता उत्तर हड़प्पा सभ्यता के सीमेट्री-एच में दफनाए गए लोगों से तथा वर्तमान में इस क्षेत्र में रह रही आबादी से देखी जा सकती है। इस प्रकार नगरीय हड़प्पा काल से उत्तर हड़प्पा काल और वर्तमान की जनसंख्या के बीच जैविक समानताओं की निरन्तरता बरकरार रही है।

स्रोत: डेल्स तथा केनोयर, 1991: 191-99, 210-12

वैसे तो देवी पूजन के आधार पर सामाजिक निहितार्थी का पता लगाना काफी जटिल है। यदि हम मान भी लें कि बहुत सारी देवियों की मूर्तियों की पूजा होती थी, लेकिन क्या वास्तव में समाज की आम महिलाओं का स्थान उतना ही ऊँचा रहा होगा? टेराकोटा की मूर्तियों में औरतें कामकाज करते हुए कम दिखलायी गयी हैं। फिर भी नौशारो, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा जैसे स्थानों से कुछ गूँथते हुए अथवा चक्की पीसते हुए औरतों को दिखलाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि औरतों का खाद्यान्न प्रसंस्करण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता होगा। कुछ मूर्तियाँ प्रसवित महिलाओं की भी हो सकती हैं। हड़प्पा के एक कब्रगाह से एक स्त्री का शव बच्चे के साथ पाया गया है, जो शायद प्रसव के दौरान मृत्यु का परिणाम होगी। हड़प्पा के विभिन्न स्थलों से औरतें या तो अपने बाईं कमर पर बच्चों को लिए हुए या अपने स्तन के बिल्कुल निकट गोद में बच्चों को लिए हुए भी दिखलाई गयी हैं। नौशारो (काल-I डी) से एक विचित्र सी लगने वाली मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें एक पुरुष ने स्त्री के माथे वाले आभूषण पहनकर बच्चे को गोद लिया है। टेराकोटा में प्राय: सभी स्थानों में बच्चों की मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। यह पता लगाना कठिन है कि सभी टेराकोटा खिलौनों के रूप में उपयोग में आते थे अथवा ये संकल्पअर्पित कोई वस्तुएं थी। इन मूर्तियों के आधार पर यदि यह पता लगाया जाए कि पुरुष अथवा स्त्री के प्रति सांस्कृतिक रूझान क्या था, तो यह एक रोचक अध्ययन होगा।

हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त नर कंकालों और हड्डियों के प्रारम्भिक अध्ययनों में उनके नस्ल का पता लगाने का काफी प्रचलन था। आधुनिक अध्ययनों में उन पुराने नस्ल के आधारित अध्ययनों को महत्त्व नहीं दिया

जाता अथवा अनावश्यक नस्लवादी विभाजनों को भी नकार दिया गया है। इस संबंध में बहुत सारे प्रश्न खड़े किए गए और रोचक निष्कर्ष भी निकाले गए। ए.आर. केनेडी ने (1997) में हड़प्पा के विभिन्न स्थलों से प्राप्त कंकालों के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों में जैविक विविधताएं स्पष्ट रूप से विद्यमान थीं। रोचक बात यह है कि आज भी इन क्षेत्रों के रहने वालों में इस प्रकार की जैविक विविधताएं देखी जा सकती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आज के पंजाब में हड़प्पाकालीन पंजाब की जनसंख्या अथवा आज के सिंध में हड़प्पाकालीन सिंध की जनसंख्या के बीच समानता देखी जा सकती हैं। केनेडी ने हड़प्पावासियों के बीच मलेरिया की घटनाओं का भी पता लगाया।

पर इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि हड़प्पा समाज की संरचना का किस प्रकार विश्लेषण किया जाए। लिपि के पढ़े जाने के अभाव में पुरातात्त्विक आंकड़ों पर ही आधारित होना हमारी विवशता है। हड़प्पा के सांस्कृतिक क्षेत्र में ग्रामीण और नगरीय जीवन दोनो प्रकार के जीवन व्यतीत करने वाले लोग रहते थे। हड़प्पा समाज में कृषक, गड़ेरियों, आखेटक संग्राहक, मछुआरे, नाविक, शिल्पकार, व्यापारी, शासक, प्रशासनिक अधिकारी या पुरोहित वर्ग, ईंटों का काम करने वाले, कुंए खोदने वाले, नाव बनाने वाले, शिल्प मूर्तिकार, बाजार के विक्रेता सभी प्रकार के लोग रहते होंगे। कुछ कृषक नगरों में भी रहते होंगे जो निकटवर्ती खेतों पर खेती करते थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगरीय जनसंख्या में ऐसे प्रमाण देखे जा सकते हैं कि वहां शहरों में संग्राहक और मछुआरे वर्ग के लोग निवास करते थे। हालांकि, मेसोपोटामिया अथवा मिस्र की तरह विशुद्ध सामाजिक विभाजन हड़प्पा की संस्कृति में नहीं रहा होगा। किन्तु हड़प्पा के विभिन्न स्थलों से प्राप्त मकानों के आकार, आभूषणों के संग्रह यह तो अवश्य संकेत देते हैं कि इनकी संपत्ति अथवा सामाजिक स्तर में काफी विभिन्नताएं रही होंगी। सामान्यत: कुलीन वर्ग अथवा जमीन मालिक और समृद्धशाली व्यापारी वर्ग ऊँचा स्थान रखता होगा। इसलिए वर्ग विभाजन या सामाजिक विभिन्नता जो व्यवसाय, संपत्ति और ओहदे के आधार पर रही होगी, उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। कुछ लोगों के अनुसार हड़प्पा काल में जाति व्यवस्था का अस्तित्व था परंतु ऐसा निष्कर्ष निकालना कठिन है।

शासक और कुलीन वर्ग

(The Ruling Elite)

किसी भी समाज में राजनीतिक संगठन का तात्पर्य समाज के नेतृत्व अैर शक्ति का निष्पादन करने वाले तथ्यों से जुड़ा हुआ है। अभी तक हड़प्पा की राजनीति व्यवस्था के स्वरूप के विषय में होने वाले सभी वाद विवाद राज्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर केंद्रित हैं। हालांकि, इस दृष्टिकोण की सार्थकता पुरातात्त्विक प्रमाणों की व्याख्या अथवा राज्य के लिए दी जाने वाली परिभाषाओं पर निर्भर करती है। सांस्कृतिक समरूपता का तात्पर्य प्रत्येक स्थिति में राजनीतिक एकीकरण नहीं हो सकता। हड़प्पा सभ्यता से जुड़ा सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि क्या वहां एक राज्य था अथवा बहुत सारे राज्य थे।

अधिकांश विद्वानों का मानना है कि मेसोपोटामिया अथवा मिस्र की तुलना में हड़प्पा सभ्यता में युद्ध, संघर्ष अथवा दृढ़ शक्ति जैसे तथ्यों का सर्वथा अभाव था। हड़प्पा के स्थलों से प्राप्त उपादानों में अस्त्र-शस्त्र सबसे कम दिखलाई पड़ते हैं। टेराकोटा और फेयंस इत्यादि पर चित्रांकन के आधार पर लोगो के बीच संघर्ष को देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सभी स्थलों की किलेबंदी, दुर्ग व्यवस्था और विशेषकर धौलावीरा में प्राप्त किलेबंदी को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा संस्कृति में अंतर्निहित शक्ति के तथ्यों को बहुत कम करके आंका गया है। किसी भी इतने बड़े क्षेत्र में, इतने बड़े काल के बीच, संघर्ष का सर्वथा अभाव जैसी स्थिति को मान लेना बिलकुल अनुचित होगा।

हड़प्पा सभ्यता अस्तित्व लगभग 700 वर्ष तक रहा और इसके भौतिक अवशेषों, परंपराओं, प्रतीकों इत्यादि में इस लंबे समय के दौरान बहुत परिवर्तन नहीं देखा गया है। इसके आधार पर निश्चित रूप से राजनीतिक स्थायित्व के तत्त्वों का अनुमान लगाया जा सकता है। शायद बड़े-बड़े शहरों में शासक वर्ग निवास करता था। किन्तु इनके बीच किस प्रकार का संबंध था यह बात अभी रहस्य के दायरे में है। यही कुलीन वर्ग शायद नगरों की दीवार, सड़क, जलनिकासी व्यवस्था, सार्वजनिक भवन (जैसी सुविधाओं) पर नियंत्रण रखता था। जब हड़प्पा की लिपि पर मतैक्य स्थापित हो जाएगा तब इनके शिलों में दिखलाई पड़ने वाले अभिलेख और प्रतीकों की व्याख्या के आधार पर शायद यहां के कुलीन वर्ग या शासक वर्ग पर विशेष प्रकाश डाला जा सकेगा।

हड़प्पाई राजनीतिक संरचना पर सबसे पहले सैद्धांतिक प्रकाश स्टुअर्ट पिगट के द्वारा डाला गया, जिसे कुछ मायने में मॉर्टीमर व्हीलर के द्वारा भी स्वीकार किया गया (इनसे जुड़े विभिन्न सिद्धांतों के लिए देखें

अनुसंधान की दिशाएं

एक राज्य (स्टेट) की परिभाषा

'राज्य' (स्टेट) शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय विश्लेषणों में बहुत किया जाता रहा है। इसलिए इसके विविध निहितार्थ को समझना महत्त्वपूर्ण होगा। यहां पर इस शब्द से जुड़ी प्रचलित परिभाषाओं का जिक्र किया जा रहा है। एलमन. आर. सर्विस (1975:14) के अनुसार राज्य सिविल लॉ तथा औपचारिक सरकार का अस्तित्व बतलाती है जिनका संस्थागत अनुपालन भय अथवा दण्ड के वास्तविक प्रयोग के द्वारा करवाया जाता है। इस प्रकार दण्ड की शक्ति का आधिकारिक उपयोग राज्य के अनिवार्य तत्त्व हैं।

रोनल्ड कोहेन (1978: 69-70) ने राज्य को एक विशेष प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के रूप में देखा है जिसमें केंद्रीकृत नौकरशाही तंत्र तथा एक केंद्रीय सत्ता के द्वारा दण्ड के उपयोग का प्रभावशाली नियंत्रण रखा जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राज्य के पूर्व नायकवाद की अवस्था और राज्य के बीच अन्तर बतलाते हुए कहा है कि राज्य के पास राजनीतिक विकेंद्रीकरण की शक्तियों को चुनौती देने की क्षमता होती है।

मॉर्टन. एच. फ्राइड (1978) के द्वारा प्रतिपादित राज्य की अवधारणा, समाज के सदस्यों के द्वारा उत्पादन की आवश्यकताओं को नियंत्रित करने की तुलनात्मक क्षमता पर आधारित सामाजिक श्रेणिकरण पर बल दिया गया है। फ्राइड ने 'पुरातन राज्यों' और 'द्वितीयक राज्यों' के बीच भेद स्पष्ट करने का प्रयास किया है। एक पुरातन राज्य अपनी स्वावलम्बी प्रेरकों के आधार पर विकसित होते हैं और इनके समक्ष कोई पूर्ववर्ती प्रारूप नहीं होता है। जबकि द्वितीयक श्रेणी में वैसे राज्य आते हैं जो अपने से पूर्व के अवस्थित राज्यों के मॉडल पर तथा इन पूर्व अवस्थित राज्यों के द्वारा उद्‌भव दबावों के अधीन विकसित होते हैं।

हेनरी जे.एम. क्लेसेन और पीटर स्कालनिक (1978) के द्वारा दी गई परिभाषा में एक प्रारम्भिक राज्य को निम्न आधार पर परिभाषित किया गया है–एक केंद्रीकृत समाजिक-राजनीतिक संगठन, जिसके द्वारा एक जटिल, श्रेणिबद्ध समाज जो कम से कम दो मूलभूत उभरते हुए सामाजिक वर्गों— शासक और शासित पर नियंत्रण करता है। एक सर्वमान्य विचार-धारा पर प्रारम्भिक राज्यों को तीन श्रेणियों में बांटा गया है—(1) अविकसित प्रारम्भिक राज्य, (2) प्रारम्भिक राज्य, और (3) संक्रमणाधीन प्रारम्भिक राज्य।

राज्य का निर्माण एक धीमी प्रक्रिया है और यह सुनिश्चित रूप से कहना कठिन होता है कि किस राजनीतिक अवस्था को सुनिश्चित रूप से एक राज्य का दर्जा दिया जा सकता है। एलमन सर्विस के अनुसार संक्रमणाधीन प्रारम्भिक राज्य जो समाज तथा एक राज्य समाज के बीच की अवस्था है को 'नायकवाद' या 'नायकतंत्र' कहा जा सकता है। ऐसे राज्य में केंद्रीकरण की ओर रूझान तथा वंशानुगत अधिकार की व्यवस्था के अतिरिक्त एक प्रकार की कुलीनवादी विचारधारा का विकास तो हो चुका होता है, किन्तु दण्ड के प्रयोग के लिए नायकतंत्र का नेतृत्व ऐसी सत्ता के द्वारा किया जाता था जिसके अधीन एक औपचारिक वैधानिक शक्ति अथवा एक नौकरशाही तंत्र का अभाव होता था। वहां सामाजिक श्रेणियां थीं पर वर्ग नहीं थे।

राज्य को परिभाषित करने में सबसे बड़ी समस्या यह है कि इतिहास में राज्य व्यवस्थाओं की इतनी विविधताओं का अस्तित्व रहा कि किसी सर्वव्यापी परिभाषा का निर्धारण करना बहुत कठिन रहा। उदाहरण के लिए, फ्राइड की परिभाषा में राज्य समाजों के सामाजिक स्तरीकरण के तत्त्व पर बल दिया गया। किन्तु उसमें केंद्रीकरण पर लिखी गई बातें सभी राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं बैठती। परिभाषाओं से जुड़ी इन समस्याओं के अतिरिक्त प्रारम्भिक राज्यों की सामाजिक और राजनीतिक जटिलताओं का अनुमान पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर करना और भी कठिन है।

विगत वर्षों में किए गए अध्ययनों में राज्य के सम्बंध में दिए गए क्रमिक विकास के मॉडल और शब्दावली को चुनौती दी है, जैसे नार्मन याफी ने प्रारम्भिक राज्यों के विकास स्वरूप से जुड़ी बहुत सारी धारणाओं को चुनौती दी है। उनके अनुसार, ऐसे सभी राज्य मूलभूत से एक समान नहीं थे। इन राज्यों पर एक शक्तिशाली कुलीनवर्ग का वर्चस्व था जिनका उत्पादन, सेवा और सूचना तीनों के नियंत्रण पर एकाधिकार था अथवा इन राज्यों का विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र पर एकीकृत नियंत्रण था, ये बातें भी सही नहीं हो सकती। आधुनिक नृशास्त्रीय अध्ययनों के आधार पर इन प्रारम्भिक राज्यों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

स्रोत: क्लेसन तथा स्कालनिक, 1978; यॉफी, 2005

जैकॉबसन, 1986)। पिगट का मानना था कि हड़प्पाई राज्य एक अत्यंत केंद्रीकृत साम्राज्य था जो निरंकुश पुरोहित राजाओं के द्वारा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के जुड़वा राजधानियों से शासित हो रहे थे। ऐसा मानने के पीछे भौतिक संस्कृति की समरूपता, एक सामान्य लिपि तथा मापतौल की मानकीकृत प्रणाली है। वैसे भी मोहनजोदड़ो और हड़प्पा निश्चित रूप से, हड़प्पा के अन्य स्थलों से विशिष्ट स्थान रखते हैं। हड़प्पा सभ्यता की नगरयोजना और

भव्य सार्वजनिक निर्माण कार्य के प्रमाण एक विशेष रूप से नियंत्रित और विशिष्टीकृत श्रम शक्ति का परिचायक है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त तथाकथित बड़े-बड़े अन्नागार यह बतलाते हैं कि हड़प्पा के शासक अत्यंत उच्च स्तर का नियंत्रण रखते थे। यहां तक कि आपात स्थिति के लिए अधिशेष खाद्यान्न के भण्डार इत्यादि पर उनका पूर्ण नियंत्रण था। इनके बीच किसी भी बड़े युद्ध या संघर्ष के प्रमाण का अभाव यह बताता है कि दोनों एक ही सत्ता के द्वारा प्रशासित होते थे।

हालांकि, हड़प्पा सभ्यता के राज्य से संबंधित उपरोक्त विचार शीघ्र आलोचना के दायरे में आ गए। वॉल्टर ए. फेयरसर्विस (1967) ने यह तर्क दिया कि ना तो हड़प्पा एक विशाल साम्राज्य था और न ही एक राज्य। उनका यह तर्क पुरोहित राजाओं के प्रमाण के अभाव में अथवा दासों, सेनाओं और अन्य प्रशासनिक अधिकारियों के अभाव पर आधारित था। उनके अनुसार, मोहनजोदड़ो एक प्रकार का धार्मिक केंद्र हो सकता है। न कि प्रशासनिक केंद्र। बल्कि उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि हड़प्पा सभ्यता विशेष प्रकार के ग्राम प्रशासन के द्वारा नियंत्रित की जाती थी। हालांकि, बाद में फेयरसर्विस ने स्वयं अपने विचारों में संशोधन किया और कुछ हद तक यह स्वीकार किया कि हड़प्पा सभ्यता में केंद्रीकृत नियंत्रण और वर्ग संरचना का अस्तित्व रहा होगा। फिर भी वे यह मानते रहे कि शक्ति का प्रयोग हड़प्पा क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है। बल्कि परस्पर निर्भरता, धार्मिक आस्था, परंपराएं इनके सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए उत्तरदायी रही होंगी।

हड़प्पा सभ्यता की राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित दूसरा विचार एस.सी. मलिक (1968) के द्वारा प्रतिपादित किया गया। उनके अनुसार, अत्यंत बड़ी इमारतों का अभाव, अथवा सर्वोच्च देवताओं का अभाव यह बतलाता है कि वहां कोई बहुत शक्तिशाली केंद्रीकृत राज्य नहीं था। मलिक ने भी एलमन सर्विस की तरह यह माना कि हड़प्पा की राजनीतिक व्यवस्था नायकवाद या नायकतंत्र की स्थिति में थी जिसे नातेदारी पर आधारित समाज और नागरिक समाज के बीच के संक्रमण अवस्था के रूप में देखा जा सकता है।

इस प्रकार हड़प्पाई राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित सभी लेखन दो प्रकार के बिलकुल विपरीत धाराओं के बीच बहते हैं। रत्नागार (1991) ने हड़प्पा साम्राज्य को समझने के लिए पुरातात्त्विक प्रमाणों का अध्ययन किया और अन्य समकालीन राज्य समाजों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया। किन्तु जिम शैफर (1982) ने इस दृष्टिकोण की काफी आलोचना की। शेफर ने हड़प्पा सभ्यता में उपस्थित समरूपता के तथ्यों की ओर इशारा करते हुए कहा कि इसके पीछे आंतरिक व्यापारतंत्र की उन्नत व्यवस्था उत्तरदायी रही होगी न कि कोई केंद्रीकृत प्रशासन। उन्होंने भी प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया के किसी प्रकार के सामाजिक विभाजन के अभाव तथा शाही कब्रगाहों अथवा बड़े राजप्रासादों और मंदिरों की अनुपस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने यह भी ध्यान दिलाने का प्रयास किया

एक पुरोहित राजा?

प्राचीन मेसोपोटामिया और मिस्र के सम्राटों को पर्याप्त रूप से शैलपटों पर तथा प्रस्तरीय प्रतिमाओं में प्रदर्शित किया गया है। उनके विशाल राज प्रासाद, कब्र और भव्य मंदिरों के द्वारा उनमें निहित सत्ता का निरूपण होता है। किंतु हड़प्पा सभ्यता की स्थिति बिल्कुल अलग है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त किए गए प्रसिद्ध प्रस्तरीय प्रतिमा, जिसमें एक पुरुष के शरीर के ऊपरी हिस्से को निर्मित किया गया था, उसे 'पुरोहित-राजा' की संज्ञा दी गई है। इस व्यक्ति की भली प्रकार से संवारी गई दाढ़ी है तथा इसकी आंखें आधी बंद हैं। इसके माथे पर एक पट्टिका बनी हुई है, जिसके बीच में एक राजचिन्ह या कीरिट की पपड़ी जुड़ी हुई है। उसके दाहिने हाथ में लगभग इसी प्रकार का बाजूबंद अलंकृत है। उसके दाहिने हाथ के नीचे से बाएं कंधे पर एक वस्त्र लपेटा हुआ है, जिस पर त्रिपुष्पीय डिज़ाइन बने हुए हैं। यह जानना आज भी कठिन है कि इस प्रतिमा में से एक पुरोहित का या एक राजा का या दोनों का प्रदर्शन होता है। लगभग यही स्थिति धोलावीर से प्राप्त बैठी हुई अवस्था में एक पुरुष की प्रतिमा के विषय में भी है, जो अब काफी टूटी-फूटी अवस्था में है। हड़प्पा के विभिन्न केंद्रों से बड़े-बड़े भवनों के अवशेष जरूर मिले हैं, किंतु उनकी तुलना हमारे मन में बने हुए राज प्रासादों या महलों के चित्र से नहीं की जा सकती। फिर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मोहनजोदड़ो जैसे हड़प्पा कालीन कुछेक विशाल नगरों के दुर्गीय क्षेत्र में ऐसे भवनों का अस्तित्व था, जिनका व्यवहार आज के राजप्रासादों की तरह किया जाता होगा।

कि हड़प्पा में उपलब्ध भौतिक संसाधन सम्पूर्ण हड़प्पाक्षेत्र में देखे जा सकते हैं न कि केवल चुने हुए कुलीन क्षेत्र में। यहां तक कि छोटे से छोटे गांवों में भी सभी प्रकार के आभूषण अथवा अर्धबहुमूल्य पत्थर, सील, मुहर और लिपि के प्रमाण मिलते हैं। इससे संपत्ति के संबंध में काफी हद तक समानता के भाव का बोध होता है। गांव और नगर वासियों के बीच संपत्ति का इस प्रकार का बंटवारा किसी केंद्रीकृत साम्राज्य की स्थिति के विरूद्ध जाता है।

फिर भी किसी प्रकार के राज्य संरचना के अस्तित्व को पूरी तरह नकारना भी संभव नहीं है। यद्यपि, ऐसा संभव है कि मिस्र अथवा मेसोपोटामिया के तरह, बड़े राजप्रासाद और शाही क्षेत्र में किसी प्रकार का राज्य ही नहीं रहा हो, लेकिन एक विशिष्ट प्रकार के राज्य की उपस्थिति की कल्पना जरूर की जा सकती है। यहां की यातायात व्यवस्था, भौतिक संस्कृति में पाई जाने वाली एकरूपता, विशेषस्थलों पर शिल्प की विशेषज्ञता अथवा सार्वजनिक निर्माण के लिए श्रमशक्ति का उत्कृष्ट उपयोग शोरतुघई जैसे स्थानों पर स्थापित हड़प्पा के दूरस्थ व्यापारिक केंद्र जैसे तथ्य आर्थिक जटिलता और राज्य के अस्तित्व की ओर इशारा करते हैं। हड़प्पा सभ्यता के नगरों के 'सिटाडेल' या गढ़ क्षेत्र के प्रशासनिक स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। हम ऐसा मान सकते हैं कि हड़प्पा में केंद्रीकृत नियंत्रण तो था पर कितना और किसके द्वारा? यह प्रश्न तो बना ही रहेगा।

जैकॉबसन (1986) के अनुसार हड़प्पाई राज्य एक ऐसा प्रारम्भिक राज्य था, जिसकी निम्नलिखित विशेषताएं थीं: एक संप्रभु या संप्रभुगण जो किसी मिथकीय चरित्र से सम्बंधित और दयावान माने जाते थे; एक सैनिक तंत्र जिसमें अभी परिपक्व राज्य के वर्चस्ववादी अवयव की कमी थी; एवं क्षीण रूप से विकसित आर्थिक स्तरीकरण। पोसैल (2003: 57) के अनुसार हड़प्पाई समाज काफी अनुशासित था, जिसमें निगम तत्त्व (सामूहिक संस्थगतता) काफी मजबूत थे; हड़प्पाई लोग राजा की बजाय परिषदों द्वारा शासित होते थे। केनोयर (1998: 100) का सुझाव है कि हड़प्पाई राज्य शहरी अभिजात, जैसे व्यापारी, कर्मकांड विशेषज्ञ, एवं विभिन्न प्रकार के संसाधनों जैसे जमीन और मवेशी आदि पर नियंत्रण रखने वाले पस्पर प्रतिस्पर्धी समूहों से मिलकर बना था, जिनका अपना अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग सीमा में नियंत्रण होता था।

केनॉयर का मानना है कि वर्गाकार सील-मुहरों पर अंकित पशुओं का कुलचिन्ह या गणचिन्ह के समान प्रतीकात्मक महत्त्व रहा होगा, शायद कुछ अतिरिक्त सूचनाओं के साथ। इन पशुओं के आधार पर कम से कम 10 गणों या कुलों के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है–यूनीकॉर्न (एकश्रृंगी), कुबड़ वाले सांड, भैंस, गैंडे, बिना कुबड़ वाले सांड (छोटे सींग वाले), बकरी, बारासींगा, मगरमच्छ तथा खरगोश। यूनीकॉर्न प्रतीक प्राय: उन सभी स्थनों पर मिले हैं, जहां से सील-मुहर प्राप्त हुए हैं, जिनमें मेसोपोटामिया भी शामिल है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहरों के 60 प्रतिशत पर तथा हड़प्पा से प्राप्त 46 प्रतिशत मुहरों पर इस प्रतीक का अंकन हुआ है। प्रमुख नगरों में यूनीकार्न मुहरों की बड़ी संख्या में प्राप्ति ने रत्नागर को यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया कि यूनीकॉर्न (एकश्रृंगी) ही हड़प्पा के शासन कुलीन वर्ग का प्रतीक चिन्ह था। किंतु दूसरी ओर केनॉयर ने तर्क दिया है कि 'एकश्रृंगी कुल' शायद उस कुलीनतंत्र या व्यापारियों का प्रतिनिधित्व करता था, जो प्रशासन में कार्यकारिणी की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। बल्कि सांड, हाथी, गैंडे तथा बाघ जैसे अपेक्षाकृत कम प्रचलित प्रतीक, हड़प्पा की शक्ति संरचना के शक्तिशाली और शीर्षस्थ शासकों का प्रतिनिधित्व करते थे।

मोहनजोदड़ो, हालांकि, कई स्थितियों में अन्य स्थलों से विशिष्ट प्रतीक होता है (उदाहरण के लिए किसी भी अन्य नगर में महास्नानागार नहीं मिला है) लेकिन हड़प्पा के नगरों में राखीगढ़ी, लूरेवाला, गनवेरीवाला और धोलावीरा, काफी बड़े नगरीय केंद्र प्रतीत होते हैं। क्या ये प्रांतीय राजधानियां थीं जो किसी प्रकार के सुविकसित प्रशासनिक नियंत्रण या राजनीतिक नियंत्रण के द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे? क्या ये पृथक-पृथक राजाओं की राजधानियाँ थीं? क्या ये नगर राज्य थे? विगत कुछ दिनों से विद्वानों ने हड़प्पा राजनीतिक व्यवस्था के अत्यंत केंद्रीकृत स्वरूप के स्थान पर विकेंद्रीकरण के तत्त्वों को ढूंढना प्रारंभ किया है। फिर भी अभी यह तय करना बाकी है कि क्या हड़प्पाई साम्राज्य बहुत सारे पृथक-पृथक अंतर्सम्बंध राज्यों

यूनिकॉर्न सील (एकश्रृंगी मुहर)

का समूह था या एक प्रकार के केंद्रीय समाज का प्रतीक। हालांकि, यह संभावना भी बनी रहेगी कि हड़प्पा सभ्यता बहुत सारे राज्यों का एक समूह था तथा इन राज्यों में अलग-अलग प्रकार के राजनीतिक संगठन विद्यमान थे।

नगरीय जीवन का पतन

(The Decline of Urban Life)

एक समय ऐसा आया जब हड़प्पा नगरों के साथ सब कुछ विपरीत होने लगा। मोहनजोदड़ो में 2200 सा.सं.पू. से पतन के तत्त्व दिखलाई पड़ने लगे और 2000 सा.सं.पू. के लगभग में इस नगर का पूरी तरह से अंत हो गया। कुछ स्थानों पर नगरीय सभ्यता 1800 सा.सं.पू. तक बची रही। इस प्रकार हड़प्पा नगरों के पतन की तिथियों में अंतर है। साथ ही इस पतन के दर में भी अंतर देखा जा सकता है जहां मोहनजोदड़ो और धोलावीरा जैसे स्थानों पर क्रमिक पतन के तत्त्व दिखलाई पड़ेगे, वहीं कालीबंगा और बनावली जैसे नगरों का अंत अचानक हो गया। लाहिरी ने हड़प्पा के पतन से सम्बंधित विभिन्न सिद्धांतों का विश्लेषण किया है (देखें लाहिरी, 2000)।

हड़प्पाई नगरीय सभ्यता के पतन के विषय में जो सबसे लोकप्रिय व्याख्याएं हैं उनके विषय में सबसे कम प्रमाण उपलब्ध हैं। हड़प्पा सभ्यता को आर्य जाति के आक्रमण ने नष्ट किया। इस सिद्धांत को सबसे पहले राम प्रसाद चन्द्रा ने प्रतिपादित किया। बाद में उन्होंने अपने विचार में कुछ संशोधन किया तथा इस लाइन पर मॉर्टीमर व्हीलर ने व्याख्या को आगे बढ़ाया। व्हीलर ने तर्क दिया कि ऋग्वेद में किलों पर या गढ़ वाले नगरों पर आक्रमण किया गया। इन्द्र को पुरन्दर या किलों को नष्ट करने वाला की उपाधि दी गई। इन सभी तथ्यों का ऐतिहासिक आधार रहा होगा और हड़प्पा के नगर आर्य आक्रमण के कारण ही नष्ट हो गए। उन्होंने ऋग्वेद में उल्लिखित हरियूपिया नामक स्थान की तुलना हड़प्पा से करने का प्रयास किया। मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ नर कंकालों की प्राप्ति की ओर इशारा करते हुए व्हीलर ने कहा कि ये आर्य आक्रमण और कत्लेआम के परिणाम थे। बाद में उन्होंने भी अपने पतन संबंधी विचार में संशोधन किया और अन्य कारक, जैसे-बाढ़ या व्यापार का पतन, प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक उपयोग जैसे विषयों को भी महत्त्व देना शुरू किया। किन्तु वे अपने उस तथ्य पर अड़े रहे कि हड़प्पा के पतन का अंतिम और मुख्य कारण आर्य आक्रमण ही रहा। उनका सुझाव था कि सिमेट्री-एच संस्कृति आर्य आक्रमणकारियों का प्रतिनिधित्व करता था।

पी.वी. काणे (1995), जॉर्ज डेल्स (1964), बी.बी. लाल (1997) जैसे कई विद्वानों ने आर्य आक्रमण के सिद्धांत को नकार दिया है। सबसे पहले तो ऋग्वेद का स्वरूप धार्मिक है जिसकी तिथि भी निर्धारित होना संभव नहीं है। इसलिए केवल ऋग्वेद के आधार पर उपलब्ध प्रमाण सिद्ध नहीं किए जा सकते। अगर ऐसा कोई आक्रमण हुआ होगा तो निश्चित रूप से उसके पुरातात्त्विक प्रमाण भी अवस्थित होंगे। किन्तु हड़प्पा सभ्यता के किसी भी स्थल से किसी बड़े सैन्य संघर्ष या आक्रमण का कोई अता-पता नहीं चलता। सिमेट्री-एच में उपस्थित कंकालों के 37 समूह जो मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुए हैं, वे किसी एक सांस्कृतिक काल के नहीं हैं और इसलिए उनको किसी एक घटना से नहीं जोड़ा जा सकता। इससे भी अधिक सिटाडेल माउंड क्षेत्र में किसी भी संघर्ष या आक्रमण के कोई प्रमाण नहीं मिले हैं जहां पर इसकी संभावना सबसे अधिक बनती थी। इसके अतिरिक्त नगरीय हड़प्पा सभ्यता और सिमेट्री-एच सभ्यताओं के बीच एक और अनउपजाऊ पुरातात्त्विक स्तर-विन्यास उपलब्ध है जो व्हीलर के सिद्धांत से बिल्कुल विपरीत साक्ष्य देता है। के.ए.आर. केनेडी ने इन कब्रगाहों से प्राप्त हड्डियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। उनका मानना है कि उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में इस काल तक कहीं भी निरंतरता में कोई रूकावट नहीं सिद्ध की जा सकती है इसलिए ऐसा नहीं माना जा सकता कि कोई नई जनसंख्या या लोग इस केंद्र में उसी काल में आकर, जिनकी भौतिक बनावट पहले के लोगों से भिन्न थी ही नहीं, निवास करने लगे थे। अतः निश्चित रूप से हड़प्पा सभ्यता किसी इन्डो-आर्यन समूह या समुदाय के आक्रमण से नष्ट नहीं हुई थी।

प्राकृतिक आपदाओं और न ही ऐसी घटनाओं की कोई भूमिका लगती है, जो अचानक और एक ही बार हुई होगी। इनका हड़प्पा सभ्यता के पतन से जरूर सम्बंध रहा है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मलबे और नदियों से लाए गए तलछट के एकाधिक परतों की उपस्थिति सिंधु नदी में आई बाढ़ की ओर इशारा करती है। बाद में एम. आर. साहनी (1956), रॉबर्ट एल. राइक्स (1964) और जॉर्ज एफ. डेल्स (1968) ने मोहनजोदड़ो में बाढ़ के प्रमाणों को विवर्तनीय घटनाओं का परिणाम माना है। डेल्स के अनुसार, विवर्तनीय गतिविधियों का मुख्य केंद्र सेहवान नामक एक स्थान रहा होगा जो मोहनजोदड़ो से 90 मील पर स्थित है और यहां पर रॉक फोल्डिंग या चट्टानों में आई मोड़ के प्रमाण देखे जा सकते हैं। टेकटॉनिक (विवर्तनिक) गतिविधियों से जुड़े इस सिद्धांत के

अनुसार, इस क्षेत्र में एक विशाल प्राकृतिक बांध का निर्माण हो गया। जिसके कारण सिन्धु नदी यहां से समुद्र की ओर नहीं जा सकी। इसके चलते मोहनजोदड़ो क्षेत्र में एक विशाल झील का निर्माण हो गया। एच.टी. लैम्ब्रिक ने अपने सिद्धांत में यह कहा है कि मोहनजोदड़ो को छोड़कर सिन्धु नदी ने अपने प्रवाह की धारा बदल ली और यहां से 30 मील पूर्व हट कर बहने लगी। लैम्ब्रिक के अनुसार, यह घटना भूगर्भीयकार के कारण घटी और शायद संयोगवश भी।

यह हो सकता है कि मोहनजोदड़ो में आए अनेक बाढ़ों के कारण उसका पतन नहीं हुआ हो किन्तु सभ्यता के वैसे क्षेत्र जो घग्गर-हाकरा घाटी में थे, वैसे क्षेत्र शायद नदियों के भूमिगत हो जाने और भूमिगत रूप से ही बहने की परिघटना के कारण प्रभावित हुए। ऐसा माना जाता है कि सतलुज तथा यमुना नदियां कभी घग्गर में ही मिलती थीं। किन्तु टेकटॉनिक गतिविधियों के कारण यमुना, गंगा तंत्र में समा गई और सतलुज को सिन्धु ने अपनी ओर खींच लिया। इसलिए घग्गर को प्राप्त होने वाला जल स्रोत काफी कम हो गया। एम.आर. मुगल ने अपने अध्ययन में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि इन भूगर्भीय परिघटनाओं के बाद इस क्षेत्र में विद्यमान पुरातात्त्विक स्थलों की संख्या काफी कम होने लगी।

ऐसा विश्लेषण किया जा रहा है कि अरब सागर के तटीय क्षेत्र में, विशेषकर पश्चिम पाकिस्तान के क्षेत्र में अचानक समुद्र का स्तर ऊँचा हो गया और इस घटना के कारण भी बाढ़ की परिस्थितियाँ बढ़ीं और मिट्टी में लवण की मात्रा बढ़ने लगी। सिन्धु घाटी के तटीय क्षेत्र समुद्र स्तर में हुए परिवर्तन के कारण हो सकता है कि तटीय यातायात अथवा दूर क्षेत्रों में होने वाले सामुद्रिक व्यापार भी काफी प्रभावित हुए हों।

आद्य ऐतिहासिक काल में जलवायु का स्वरूप और उसमें भी विशेष वर्षा में होने वाले परिवर्तन इत्यादि पर होने वाले वाद-विवाद की चर्चा पहले की जा चुकी है। राजस्थान की झीलों के अध्ययन के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला गया था, उस पर गुरदीप सिंह (1971) ने यह सुझाव दिया था कि हड़प्पा सभ्यता का पतन शुष्क जलवायु से सम्बंधित है। हम यह भी जान चुके हैं कि लूनकरणसार झील में शुष्क स्थिति का आगमन हड़प्पा सभ्यता के विकास के पहले हो चुका था। इस प्रकार जलवायु और वातावरण में होने वाले परिवर्तन क्या हड़प्पा सभ्यता के पतन से सीधे अथवा परोक्ष रूप से जुड़े थे, इसकी पुष्टि नहीं कि जा सकती।

दरअसल, हड़प्पा क्षेत्र में होने वाले इन पर्यावरणीय बदलावों के पीछे वैसी स्थितियाँ भी उत्तरदायी हो सकती हैं जिनके अंतर्गत हड़प्पावासियों ने अपने पर्यावरण का उपयोग या दुरूपयोग किया हो। ऐसा सोचा जा सकता है कि हड़प्पावासी कृषि के लिए अपने प्राकृतिक संसाधनों का अथवा पशुपालन के लिए स्थापत्य या ईंटों के निर्माण के लिए अपनी प्रकृति का अत्यधिक शोषण कर रहे थे। इसके परिणामस्वरूप मिट्टी की उर्वरा शक्ति कम होने लगी, बाढ़ की घटनाएं बढ़ गयी होंगी और मिट्टी में लवण की मात्रा बढ़ी होगी। फेयर-सर्विस ने स्पष्ट रूप से अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि हड़प्पा सभ्यता का पतन वहां पर जनसंख्या और मवेशियों के बढ़ते हुए दबाव के कारण हुआ था क्योंकि इनकी बढ़ती हुई आवश्यकताएं हड़प्पा सांस्कृतिक क्षेत्र में विद्यमान संसाधनों के द्वारा पूरी नहीं की जा रही थी। ऐसा उन्होंने आधुनिक पैमाने पर किए गए जनसंख्या, भूमि, भोजन और ईंधन की आवश्यकताओं के विश्लेषण के आधार पर किया है।

शिरीन रत्नागर (1981) के द्वारा किया गया यह अनुमान कि मेसोपोटामिया के साथ लाजवर्द के व्यापार के पतन के कारण ही सभ्यता का पतन हुआ होगा। ऐसे तर्क बहुत मान्य कभी नहीं हो सकते क्योंकि लाजवर्द और मेसोपोटामिया के साथ व्यापारिक सम्बंध का महत्त्व कितना अधिक रहा होगा इसकी कल्पना व्यवहारिक रूप से नहीं कि जा सकती।

उपलब्ध पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर हम हड़प्पा सभ्यता के पतन से जुड़े राजनीतिक या सामाजिक आयामों को नहीं समझ सकते। हमारे पास जो भी प्रमाण उपलब्ध है उनके आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि हड़प्पा संस्कृति का पतन दरअसल, नगरीकरण के क्रमिक अथवा आकस्मिक पतन की कहानी है। परिपक्व हड़प्पा काल के बाद एक नगर-विहीन काल आया, जिसे उत्तर-हड़प्पा काल के नाम से जाना जाता है।

उत्तर हड़प्पा चरण का महत्त्व

(The Significance of the Late Harappan Phase)

उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल में पांच भौगोलिक क्षेत्रों को रेखांकित किया जा सकता है—सिंध; पश्चिम पंजाब और घग्गर-हाकरा; पूर्वी पंजाब और हरियाणा; गंगा-यमुना दोआब; तथा कच्छ व सौराष्ट्र। सिंध में उत्तर हड़प्पा सभ्यता

को झूकर संस्कृति के नाम से जाना जाता है। जिसके प्रमुख केंद्र झूकर, चन्हूदड़ो, तथा आमरी हैं। इस क्षेत्र में हड़प्पा सभ्यता काल से उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल के बीच संक्रमण में एक निरंतरता देखी जा सकती है। मुहरों के स्वरूप में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ। घनाकार बटखरों की संख्या में कमी आने लगी तथा लिपि का प्रयोग मृद्भाण्डों तक सीमित हो गया। मृद्भाण्डों के विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट है कि सिंध की झूकर संस्कृति एवं लोथल और रंगपुर की उत्तर हड़प्पा कालीन संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान होता रहा।

पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त में और घग्गर-हाकरा नदी घाटी में उत्तर हड़प्पा सभ्यता को सिमेट्री-एच संस्कृति के रूप में जाना जाता है। इस क्षेत्र में जहां नगरीकरण के काल में 174 केंद्र थे वहीं उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल में इनकी संख्या घटकर 50 हो गई। पूर्वी पंजाब, हरियाणा और उत्तर राजस्थान में उत्तर हड़प्पा कालीन बस्तियों का आकार काफी छोटा हो गया। उपरोक्त क्षेत्र के विपरीत गंगा यमुना दोआब में जहां परिपक्व हड़प्पा काल में मात्र 31 स्थल चिन्हित किए गए थे वहीं उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल में इस क्षेत्र में इनकी संख्या बढ़कर 130 हो गई। इन बस्तियों का आकार भी छोटा था किन्तु कृषि आधार का विविधिकरण अत्यंत आकर्षक कहा जा सकता है। इसी प्रकार कच्छ और सौराष्ट्र में उत्तर हड़प्पा सभ्यता के प्रारम्भिक काल में परिपक्व हड़प्पा काल की 18 बस्तियों के स्थान पर इनकी संख्या बढ़कर 120 हो गई।

इस प्रकार जहां एक ओर सिंध और चोलीस्तान क्षेत्र से हड़प्पा कालीन जनसंख्या में असाधारण ह्रास देखा जा सकता है वहीं दूसरी ओर पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उत्तरी राजस्थान तथा गुजरात में सघन सभ्यता का विकास देखा जा सकता है। अध्याय पांच में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है, जहां एक ओर मोहनजोदड़ो जैसे केंद्र का लोग त्याग कर रहे थे वहीं दूसरी ओर सौराष्ट्र के रोजडी जैसे केंद्रों में पुनर्निर्माण और विस्तारीकरण का कार्य बड़े पैमाने पर चल रहा था। पुरातात्त्विक आंकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हड़प्पा क्षेत्र से लोगों का पूर्व और दक्षिणवर्ती प्रव्रजन हो रहा था।

परिपक्व हड़प्पा तथा उत्तर हड़प्पा सभ्यता के केंद्रों से उपलब्ध प्रमाण के पूर्ण दृश्यालेख से नैरन्तर्य और परिवर्तन दोनों के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर हड़प्पा कालीन मृद्भाण्ड अपेक्षाकृत सादे और कम चमकीले बनने लगे, किन्तु ये अधिक मजबूत और मोटाई वाले थे। नगरीकरण काल में अत्यंत प्रचलित बीकर, छिद्रदार जार, एस अक्षर वाले जार जैसे मृद्भाण्डों का लोप हो गया। किन्तु डिश ऑन स्टैण्ड तथा अन्य आकार वाले जारों का निर्माण होता रहा। हड़प्पा के नगरीकरण से जुड़ी सभी प्रमुख तथ्य यथा लिपि, सील-मुहर, शिल्प वैशिष्ट्य तथा लम्बी दूरी के व्यापार, उत्तर हड़प्पा सभ्यता में लुप्त होने लगे, किन्तु ऐसी सभी विशेषताएँ किसी न किसी रूप में अस्तित्व में अवश्य रहीं। उत्तर हड़प्पा सभ्यता के कुछ केंद्र जैसे कुदवाला (38.1 हेक्टेयर), बेट द्वारिका, दाइमाबाद (20 हेक्टेयर) का नगरीय अस्तित्व था। लेकिन ऐसे नगरों की संख्या बहुत कम हो गई। सौराष्ट्र और उत्तरी गुजरात तथा हड़प्पा सभ्यता के पूर्वी क्षेत्रों में मृद्भाण्डों पर ग्राफिटी उत्कीर्ण किए जाते रहे। दाइमाबाद से प्राप्त एक मृद्भाण्ड के टुकड़े पर हड़प्पा लिपि के चार अक्षर पाए गए हैं। दाइमाबाद और झूकर से कुछ वृत्ताकार सील-मुहर तथा धोलावीरा के उत्तर हड़प्पाकालीन स्तर से प्रतीकांकनविहीन आयताकार सील मिले हैं। फारस की खाड़ी में प्रचलित तीन मुखों वाले जन्तु वाला एक आयताकार शंख का बना मुहर वेट द्वारिका से पाया गया है। इनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि उत्तर हड़प्पा सभ्यता का कम से कम गुजरात में फारस की खाड़ी के क्षेत्र से सम्पर्क बना हुआ था। भगवानपुरा में उत्तर हड़प्पा कालीन स्तर से उत्कृष्ट शिल्प कला के प्रमाण मिलते हैं। जिनमें से 19 टुकड़ों पर ग्राफिटी के अवशेष थे। यह पहले चर्चा की जा चुकी है कि ग्राफिटी से किसी लिपि का पूर्वानुमान भी किया जा सकता है। पंजाब और हरियाणा में उत्तर हड़प्पा सभ्यता के आभूषण, अर्धवेशकीमती पत्थरों के मनके, टेराकोटा की गाड़ियाँ, मृद्भाण्ड निर्माण में प्रयुक्त चूल्हे तथा अग्निवेदिकाओं की प्राप्ति हुई है।

किन्तु उत्तर हड़प्पा सभ्यता की जो सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है, वह है कृषि के आधार का विविधिकरण और विशाखन। बलूचिस्तान के पिरक नामक स्थल से एक साथ दो फसलों को उगाने के प्रमाण मिले हैं। यहां जाड़े में गेहूँ और जौ तथा गर्मी में चावल, बाजरा और ज्वार उगाए जाते थे। उत्तर हड़प्पा सभ्यता में कच्ची के मैदान में बड़ी-बड़ी बस्तियाँ देखी जा सकती हैं तथा इस क्षेत्र में सिंचाई की सहायता से बड़े पैमाने पर अनेक फसलों की खेती की जा रही थी। हुलास में किए गए उत्खनन से भी फसलों के आकर्षक वैविध्य का अनुमान लगाया जा सकता है। यहां चावल, जौ, गेहूं, ओट, ज्वार, बाजरा, मूंग, कुलथी, खेसारी, मडुआ, मटर, मसूर, बादाम, नारियल और कपास उगाया जा रहा था। कपास का एक जला बीज यहां प्राप्त हुआ है।

उत्तर हड़प्पा संस्कृति जहां एक ओर नगरीकरण और दूसरी तरफ फसलों के विविधीकरण के प्रमाण भी प्रस्तुत करती है। हरियाणा के भगवानपुरा, ददेरी, पंजाब के कठपालों और नागर जैसे स्थानों पर उत्तर हड़प्पा सभ्यता और चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति (PGW) के एक साथ अस्तित्व में होने के प्रमाण मिलते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी

उत्तर प्रदेश के बड़गांव और अम्बाखेड़ी जैसे स्थलों पर उत्तर हड़प्पा संस्कृति के साथ गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति (OCP) का सह-अस्तित्व देखा जा सकता है। गुजरात और उत्तर महाराष्ट्र से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर विभिन्न कारकों के कारण पड़ रहे दबावों से जनसंख्या का पूर्व और दक्षिणी दिशाओं में आप्रव्रजन हो रहा था।

निष्कर्ष

हड़प्पा सभ्यता दक्षिण एशिया की पहली नगरीय सभ्यता थी। हड़प्पा संस्कृति में नगरीकरण का विकास पूर्व हड़प्पा के अर्धनगरीय तत्त्वों के गर्भ से हुआ था। पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर आज हम इस सभ्यता के विषय में काफी कुछ जानते हैं। इनके जीवन-निर्वाह प्रणालियों का वैविध्य जीवन्त शिल्प परम्परा, बहुआयामी व्यापार तंत्र इस सभ्यता के विषय में काफी प्रभावशाली आख्यान प्रस्तुत करते हैं। किन्तु हड़प्पा लिपि के नहीं पढ़े जाने के कारण इनकी सामाजिक संरचना, धार्मिक आस्थाएं राजनैतिक नियंत्रण जैसे तथ्यों के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। हड़प्पा संस्कृति से जुड़ी सबसे रोचक बात यह है कि सम्पूर्ण क्षेत्र में सांस्कृतिक समरूपता के साथ-साथ क्षेत्रीय विशिष्टताओं का सहअस्तित्व बना रहा। बहुत सारी नवपाषाण, नवपाषाणीय-ताम्रपाषाण तथा ताम्रपाषाण संस्कृतियां हड़प्पा सभ्यता के समकालीन थी और इनमें परस्पर आदान-प्रदान होता रहा। हड़प्पा सभ्यता का आकस्मिक पतन नहीं कहा जा सकता। नगरीकरण काल के बाद उत्तर हड़प्पा काल के बीच एक संतुलन बना रहा। उत्तर हड़प्पा सभ्यता नगरीकरण के तत्त्वों के क्रमिक लोप से जुड़ा रहा, किन्तु कृषि आधार के आकर्षक विविधीकरण के द्वारा इसकी विशिष्ट पहचान भी बनती है।

अध्याय 5

पाठ्यात्मक और पुरातात्त्विक स्रोतों में प्रतिबिम्बित सांस्कृतिक संक्रमण: ल. 2000-600 सा.सं.पू.

अध्याय संरचना
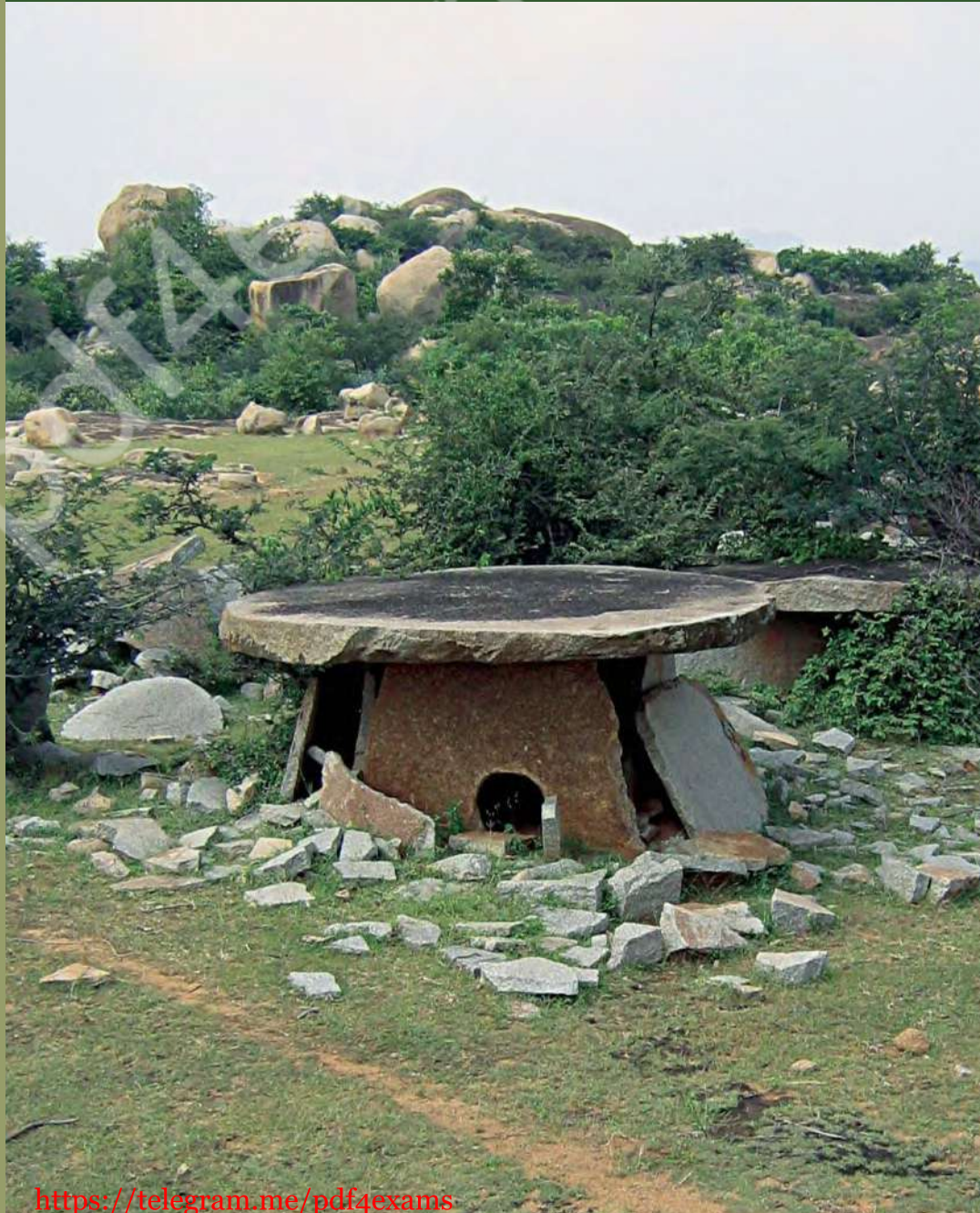
विदेह के राजा जनक ने एक बहुत विशाल यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें दूर-दूर से ब्राह्मण सम्मिलित हुए। राजा ने उपस्थित ब्राह्मणों में से श्रेष्ठ को 1000 गायें तथा गायों के सींग में बंधी 10,000 स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार में देने की घोषणा की। ऐसी घोषणा किए जाने पर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य शमश्रवा को आदेश दिया कि पुरस्कार की गायों के झुण्ड को बाँध कर घर ले चलिए। वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों में आक्रोश फैल गया और याज्ञवल्क्य का यह अहंकार एक शास्त्रार्थ में परिणत हो गया। एक-एक करके आठ प्रतिद्वंदियों ने याज्ञवल्क्य से इन्द्रियों, यज्ञ, संसार, मृत्यु के बाद के जीवन, आत्मा की प्रकृति, ब्रह्मांड, स्वर्ग एवं अन्य लोकों पर जबर्दस्त दार्शनिक वाद-विवाद किया। इन प्रतिद्वंदियों में गार्गी नाम की एक स्त्री भी थी। उसके एक प्रश्न ने याज्ञवल्क्य को जब बड़े असमंजस में डाल दिया तब क्रोधित होकर ऋषि ने उसके सर के टुकड़े हो जाने की चेतावनी दी। इस पर गार्गी पीछे तो हट गई, लेकिन अन्य बिन्दुओं पर उसका ऋषि के साथ शास्त्रार्थ का एक दूसरा दौर चला। विदग्ध नाम के अन्तिम शास्त्रार्थकर्ता को पराजय की कीमत चुकानी पड़ी। उसको मृत्यु का वरण करना पड़ा। याज्ञवल्क्य के चकाचौंध कर देने वाले उत्तरों ने सबको शांत कर दिया था।

यह घटना *बृहदारण्यक उपनिषद्* में वर्णित है। क्या इस घटना का कोई ऐतिहासिक आधार है? क्या याज्ञवल्क्य नाम के किसी ऋषि का वास्तव में कभी अस्तित्व था? क्या वैसे पितृसत्तात्मक समाज में गार्गी नाम की किसी स्त्री को गहन दार्शनिक विषयों पर शास्त्रार्थ करने का अधिकार था? क्या ऐसे दार्शनिक शास्त्रार्थ में पराजय का अर्थ मृत्युदण्ड हो सकता था? इस प्रकार के दार्शनिक या पारलौकिक विषयों में समाज का कितना बड़ा हिस्सा रुचि रखता था? ऐसे प्रश्नों का उत्तर सुनिश्चित रूप से तो नहीं दिया जा सकता, लेकिन दार्शनिक वाद-विवाद के इस नाटकीय दृश्य से उस समय के समाज के विषय में कुछ स्थूल कल्पनाएं तो की ही जा सकती हैं, जिसके शास्त्रार्थ में प्रतिभागियों की न केवल सार्वजनिक छवि बल्कि जीवन भी दांव पर लगा रहता था।

जिन रचयिताओं ने देवताओं की स्तुति में वैदिक ऋचाओं की रचना की अथवा जिन पुरोहितों ने वैदिक कर्मकाण्डों के संपादन विधि की व्याख्या की, वे इतिहासकार नहीं थे। इसलिए हमको हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि वैदिक ग्रंथों धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़ी रचनाएं हैं, इतिहास नहीं। फिर भी पुरातात्त्विक साक्ष्यों की संपुष्टि करते हुए, इनका इतिहास के स्रोत के रूप में उपयोग किया जा सकता है। दूसरी तथा पहली सहस्राब्दी सा.सं.पू. के दौरान सिन्धु घाटी, सिन्धु-गंगा की विभाजन रेखा तथा ऊपरी गंगा नदी घाटी में रहने वाले लोगों के जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं का प्रतिबिम्ब इनमें मिलता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के इस काल से जुड़ा हमारा ज्ञान पुरातात्त्विक साक्ष्यों की व्याख्या के स्थान पर प्रायः शुद्ध रूप से वैदिक ग्रंथों की व्याख्या पर निर्भर करने लगता है। कभी-कभी उन पुरातात्त्विक साक्ष्यों को रेखांकित किया जाता है जो वैदिक ग्रंथों में वर्णित तथ्यों की पुष्टि करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उपमहाद्वीप के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा हमारा ज्ञान उत्तर तथा उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों तक ही केन्द्रित रहा है। इसलिए ल. 2000-500 सा.सं.पू. के बीच निवास कर रही नवपाषाणी-ताम्रपाषाण, ताम्रपाषाण तथा प्रारम्भिक लौहयुगीन संस्कृतियों के बारे में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक प्रमाणों की सामान्यतः उपेक्षा की गई है।

इतिहासकारों के समक्ष उपलब्ध पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों की समेकित व्याख्या एक चुनौती बनी रही है। इन दोनों श्रेणियों के स्रोतों में कई बार सामंजस्य नहीं बैठता। भौतिक संस्कृति की व्याख्या के लिए पुरातात्त्विक साक्ष्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। वैदिक ग्रंथ, दार्शनिक अवधारणाओं और धार्मिक विचारों का बेहतर निष्पादन करते हैं। एक चुनौती यह भी है कि उन प्रदेशों से पुरातात्त्विक साक्ष्यों को कैसे जमा किया जाए, जहां कि कोई ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं है। ऐसे क्षेत्रों की ऐतिहासिक संभावनाओं का संपूर्ण सर्वेक्षण और विस्तार कैसे दिया जाए जहां पुरातत्त्व ही अतीत में झांकने की एकमात्र खिड़की रह जाती है।

◄ **महापाषाणी कब्र, हीरे बेन्कल (कर्नाटक)**

इस महाद्वीप के ल. 2000-500 सा.सं.पू. काल के इतिहास की जटिल पहेली को संपूर्णता में देखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्र के पुरातत्त्व आधारित छवि और ग्रंथों-एवं पुरातत्त्व आधारित छवि का तुलनात्मक अध्ययन यह समझते हुए किया जाए कि कुछ मामलों में चित्र पहेली के सभी हिस्से आपस में सटीक नहीं बैठते।

पाठ्यात्मक स्रोतों से प्राप्त परिप्रेक्ष्य

(Perspectives from Texts)

इतिहास के स्रोत के रूप में वेदों का उपयोग

वेद सरीखे, प्राचीन, विस्तृत और जटिल ग्रंथों से इतिहास के अंश निकाल लेना कोई आसान काम नहीं है। दुर्भाग्यवश, इन ग्रंथों के आलोचनात्मक संस्करण, जो प्राचीनतम हिस्सों को पहचान कर अलग करे, भी उपलब्ध नहीं हैं। 19वीं सदी के अनुवादों पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता और हाल के वर्षों में यूरोपीय या भारतीय भाषाओं में किए गए आधिकारिक अनुवाद बहुत कम हैं। काफी हद तक तो बात इस पर निर्भर करती है कि शब्दों और उक्तियों की व्याख्या किस प्रकार से की जा रही है, जिनके अर्थ एक ग्रंथ और संदर्भ से दूसरे में काफी भिन्न हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात ध्यान में रखनी पड़ती है कि वैदिक ग्रंथ लोक ग्रंथ नहीं थे। इनकी रचना, संरक्षण और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरण ब्राह्मणों के एक विशिष्ट वर्ग के द्वारा ब्राह्मणों के लिए ही किया गया था (यहां ब्राह्मण का तात्पर्य एक विशिष्ट ब्राह्मण वर्ग से है न कि ब्राह्मण श्रेणी के वैदिक ग्रंथों से)। कई शताब्दियों तक इन रचनाओं का मौखिक हस्तांतरण किया जाता रहा। इनको पहली बार कब लिपिबद्ध किया गया, इसकी तिथि भी निश्चित नहीं है। लिपिबद्ध की गई इनकी सबसे प्रारंभिक पाण्डुलिपियाँ 11वीं सदी की हैं। अधिकांश इतिहासकार *ऋग्वेद* के प्रारम्भिक हिस्से का रचनाकाल स्थूल तौर पर ल. 1200-1000 सा.सं.पू. अथवा ल. 1500-1000 सा.सं.पू. मानते हैं। यह संभव है कि *ऋग्वेद* के कुछ अंश इससे पहले भी रचित हुए हों, संभवत: ल. 2000 सा.सं.पू., में लेकिन इन तिथियों को कितना पीछे धकेला जा सकता है, उसकी भी अपनी एक सीमा है। दरअसल, *ऋग्वेद* की रचना काल से सम्बद्ध अनिश्चितता ही इतिहास के स्रोत के रूप में इनके उपयोग के समक्ष सबसे बड़ी परेशानी खड़ी करते हैं।

ऋग्वेद का 2-7 मण्डल संहिता का सबसे प्राचीन हिस्सा माना जाता है। इन्हें कुल-मंडल के रूप में जाना जाता है क्योंकि इन मण्डलों की रचना गृतसमद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज तथा वशिष्ठ के विशिष्ट कुलों को समर्पित है। 1, 8, 9 तथा 10 अपेक्षाकृत बाद में लिखा गया हिस्सा माना जाता है। उपरोक्त ऋषियों को समर्पित संहिताएं एक सुनिश्चित योजना का निदर्शन करती हैं। देवताओं, छन्दों की संख्या इत्यादि के आधार पर इनका नियोजन किया गया है। किसी एक मण्डल के अन्तर्गत ऋचाएं देवताओं के आधार पर व्यवस्थित की गई हैं। सबसे पहले अग्नि, तत्पश्चात् इन्द्र और इसी प्रकार अन्य देवताओं को समर्पित ऋचाओं का क्रम तय किया गया है। एक देवता को समर्पित ऋचा-समूह के अंदर प्रत्येक ऋचा को घटते हुए छंद-संख्या के अनुसार सजाया गया है। यदि कहीं दो ऋचाओं में समान छंद संख्या है, तो जिस छंद-वृत्त (मीटर) में अधिक अक्षर हैं, उन्हें पहले रखा गया है। कुल-मंडलों के अतिरिक्त अन्य मंडलों में भिन्न व्यावस्थ है, परन्तु उसका क्रम भी पहचाना जा सकता है।

दरअसल, उपरोक्त सुनिश्चित योजना पर निर्मित होने के कारण इनमें जोड़े गए क्षेपकों या बाद की रचनाओं को पृथक रूप से चिन्हित किया जा सकता है। वैसे पद्य-खण्ड जो संहिताओं में प्रयुक्त पूर्वनिर्धारित योजना से मेल नहीं खाते, स्पष्ट रूप से, बाद में जोड़े गए थे। बाद में जोड़े गए हिस्सों का यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उनका सृजन भी बाद में किया गया हो, हो सकता है *ऋग्वेद संहिता* में जोड़े गए ऐसे अंश अधिक पुरातन हों।

ऋग्वेद संहिता के 'परवर्ती' यानी कम पुराने मंडलों में हो सकता है कुछ उतने पुराने सूक्त भी संग्रहित हो और 'आरंभिक मंडलों' में कुछ उतने पुराने नहीं होने पर भी शामिल सूक्त हों। कभी-कभी किसी सूक्त को परवर्ती तिथि का सिर्फ इसलिए मान लिया जाता है कि उसमें व्यक्त विचार या साप्तत्व भिन्न लगता है। यद्यपि हो सकता है कि ऐसे अंतर भिन्न परिवेश में की गई रचना अथवा उस समय प्रचलित विचारों से भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण हो।

ऋचाओं का सचेत एवं सावधानीपूर्वक किया गया संयोजन *ऋग्वेद* के संकलनकर्ताओं का काम था। इन ऋचाओं की भाषा और संभवत: विषयवस्तु में संशोधन भी इसी संकलन प्रक्रिया में ल. 1000 सा.सं.पू. के

प्राथमिक स्रोत

ऋग्वेद की तिथि

ऋग्वेद की तिथि के विषय में प्राय: ल. 6000 सा.सं.पू. से लेकर 1000 सा.सं.पू. के बीच के काल का सुझाव दिया जाता रहा है।

19वीं शताब्दी के जर्मन इंडोलोजिस्ट मैक्स मूलर के द्वारा निर्धारित तिथि के अनुसार, *ऋग्वेद* संहिता का काल ल. 1200 सा.सं.पू. से 1000 सा.सं.पू. के बीच बतलाया गया है। 1200 सा.सं.पू. की तिथि तक पहुँचने के लिए उन्होंने कालांतर में लिखी गयी रचनाओं को आधार बनाया और इस क्रम में पीछे जाते हुए उन्होंने वैदिक ऋचाओं की तिथि का एक सामान्य आकलन किया। उन्होंने जिन तर्कों का उपयोग किया वे इस प्रकार से थे:

1. वेदांग और सूत्र की रचना लगभग उसी काल में की गयी जो प्रारंभिक बौद्ध काल का था। जिसके आधार पर उनकी तिथि ल. 600 से 200 सा.सं.पू. के बीच तय की गयी। इस प्रकार वैदिक ग्रंथों चूँकि बौद्ध ग्रंथों से प्राचीन है इसलिए उनकी रचना निश्चित रूप से छठी शताब्दी सा.सं.पू. के पहले की गयी।
2. ब्राह्मण ग्रंथों की विषय वस्तु और उनमें दी गयी आचार्यों की सूची के आधार पर इन ग्रंथों की रचना का काल 600 सा.सं.पू. से प्राय: 200 वर्ष पहले तय किया। इनके अनुसार, उनका काल ल. 800 से 600 सा.सं.पू. के बीच बतलाया गया।
3. वैदिक संहिता ब्राह्मण ग्रंथों से अधिक प्राचीन थी। इसके आधार पर उन्होंने ऐसा माना कि इनकी रचना ब्राह्मणों की रचना से दो सौ वर्ष पहले की गयी थी, अर्थात् ल. 1000 से 800 सा.सं.पू.।
4. वैदिक ऋचाओं को दो सौ वर्षों में लगभग तैयार किया गया होगा। इसके आधार पर उनकी तिथि 1200 सा.सं.पू. तय की गयी।

दरअसल मैक्स मूलर ने उपरोक्त तिथियों की शृंखला अपनी बात को रखने के लिए अर्थात् *ऋग्वेद* की रचना का काल निकालने के क्रम में स्थूल रूप से किया। एच.एच. विल्सन, जी. ब्यूहिलर, एच. जेकॉबी तथा मॉरिस विन्टरनिट्स जैसे अन्य इंडोलोजिस्टों ने मैक्समूलर के द्वारा 200 वर्षों के ही काल को रचनाकाल के लिए निर्धारित करने की आलोचना की और उसके औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। विन्टरनिट्स के अनुसार, *ऋग्वेद* 1200 सा.सं.पू. से भी प्राचीन था। उनके अनुसार, वैदिक ग्रंथों की रचना 2500 अथवा 2000 सा.सं.पू. में की गयी। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि इस तिथि के विषय में वे पूर्ण रूप से आश्वस्त होकर कुछ नहीं कह सकते। इस सिद्धांत के आधार पर उठायी गई आलोचना को मैक्स मूलर ने स्वीकार करते हुए यह कहा कि उनके द्वारा जो भी रचनाकाल की तिथि के विषय में कहा गया है वह केवल अवधारणात्मक और अंतरिम है।

ऋग्वेद में उद्धृत खगोल-शास्त्रीय संदर्भों के आधार पर भी इसकी तिथि निर्धारित करने का प्रयास किया गया, किन्तु इसके अलग-अलग परिणाम मिले। उदाहरण के लिए, लुडविग ने इस आधार पर कहा कि वेदों की रचना 11वीं शताब्दी सा.सं.पू. में की गई। जबकि जेकॉबी ने माना कि तीसरी सहस्राब्दि में इसकी रचना की गयी। सुभाष काक (2001) ने अपना तर्क दिया कि खगोलशास्त्रीय संदर्भों के आधार पर *ऋग्वेद* की रचना का काल 4000 से 2000 सा.सं.पू. माना जा सकता है।

बोगाज़ कोई (जो उत्तर पूर्वी सीरिया में स्थित है) से प्राप्त 1380 सा.सं.पू. के एक अभिलेख में एक हिट्टाइट शासक तथा एक मितानी शासक के बीच हुई संधि का जिक्र किया गया है। इस अभिलेख में इंद्र, मित्र, नासित्य (अथवा आश्विन), उरूवनास (वरुण) आदि देवताओं का उल्लेख किया गया है जो *ऋग्वेद* में भी प्रमुखता से उल्लिखित है। हालांकि, अधिकांश मितानी जनसंख्या हुर्रियन भाषा बोलती थी लेकिन इस अभिलेख के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनके शासकों के इंडो-आर्य नाम थे, तथा उनके देवता इंडो-आर्य देवताओं के सदृश्य थे। लगभग इसी काल की एक हिट्टाइट ग्रंथ में अश्व-प्रशिक्षण तथा रथ से जुड़े ज्ञान की चर्चा की गयी है। इस ग्रंथ की रचना किकुली नामक एक मितानी ने की थी। इस ग्रंथ में बहुत सारे तकनीकी शब्दावलियों का प्रयोग है जिनका इंडो-आर्य सम्बंध स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। किंतु इन अभिलेखों से इंडो-आर्य भाषाओं का इतिहास अथवा इंडो-आर्य देवताओं के विषय में जानकारी तो मिलती है लेकिन इससे *ऋग्वेद* की तिथि को निश्चित रूप से निर्धारित करने के लिए कोई सूचना नहीं प्राप्त की जा सकती।

इसके अतिरिक्त *ऋग्वेद* में प्रतिबिंबित भाषा और संस्कृति का बहुत स्पष्ट सम्बंध प्राचीन ईरान के *अवेस्ता* नामक ग्रंथ से कहा जा सकता है। यह *ऋग्वेद* की तिथि निर्धारण के लिए एक महत्त्वपूर्ण सुराग बन सकती थी, किन्तु दुर्भाग्यवश *अवेस्ता* की तिथि भी निश्चित नहीं है। इसके सबसे प्रारंभिक हिस्से ल. 1500 सा.सं.पू. में लिखे गए थे।

सातवीं या छठी सहस्राब्दि सा.सं.पू. के काल में *ऋग्वेद* को लिखा माना जाना स्वाभाविक रूप से स्वीकार योग्य नहीं है। इसका एक कारण तो यह है कि पुरातत्त्व में, विशेषकर भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग में,

इस काल में पाषाण युग था जबकि *ऋग्वेद* ताम्रपाषाण कालीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। तीसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. तथा प्रारंभिक दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. के बीच की तिथि (खगोल-शास्त्रीय या भाषायी संदर्भों पर आधारित) नकारी नहीं जा सकती। फिर भी *ऋग्वेद* की तिथि अभी भी एक विवाद का विषय है।

आस-पास हुए होंगे। शायद इस समय पुरोहितों का एक विशेष वर्ग इनके माध्यम से यज्ञ की प्रक्रिया को व्याख्यावित करने के लिए एक प्रामाणिक ग्रन्थ की अपेक्षा कर रहा था। *ऋग्वेद* संहिता की अन्य शाखाओं के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है। किन्तु हमारे पास आज केवल इनका शाकल संस्करण ही उपलब्ध है।

वस्तुत: वैदिक ग्रन्थों को उस क्षेत्र के इतिहास के स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, जिस क्षेत्र में इनका संकलन किया गया। *ऋग्वेद संहिता* के कुल-मंडलों का संकलन पूर्वी अफगानिस्तान और पंजाब तथा सप्तसिंधु की भूमि में किया गया। सप्तसिन्धु के अन्तर्गत सिन्धु, पंजाब की पाँच सहायक नदियां और सरस्वती आती हैं। सरस्वती को संभवत: आधुनिक घग्घर-हाकरा की पूर्वज नदी के रूप में चिन्हित किया गया है जबकि उत्तर वैदिक ग्रंथों की भौगोलिक पृष्ठभूमि सिन्धु-गंगा का विभाजन क्षेत्र और गंगा की ऊपरी नदी घाटी को रेखांकित किया जा सकता है।

वेदों की अलग-अलग व्याख्याओं के कारण हमारे पास इण्डो-आर्यों के अलग-अलग इतिहास उपलब्ध हैं। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इनमें प्रतिबिम्बित ऐतिहासिक साक्ष्यों को जोड़कर वैदिक काल का एक आदर्शवादी चित्र प्रस्तुत किया है (अल्तेकर [1938] 1991; मजुमदार एवं अन्य [1951], 1971)। बाद में इतिहासकारों के एक वर्ग ने अपनी वस्तुनिष्ठता को हिमायती बनाते हुए एक अलग प्रकार के ऐतिहासिक अथवा मानवशास्त्रीय अध्ययनों का मॉडल तैयार कर लिया (आर.एस. शर्मा 1983, थापर 1990)। हाल के वर्षों में किए गए अध्ययन पाठ्यात्मक स्रोतों की कहीं अधिक सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत करते हैं (विट्ज़ेल, 1997ए, 1997बी, आदि)। फिर भी जब हम वैदिक काल अथवा वैदिक संस्कृति की बात करते हैं तब हमें सदैव *ऋग्वेद* की तिथि निर्धारण से सम्बंधित समस्याओं को ध्यान में रखना पड़ेगा। हमें इनकी धार्मिक और अभिजातवादी प्रवृत्ति एवं इनके भौगोलिक सन्दर्भों और इनकी पुष्टि करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक साक्ष्यों को भी सामने रखना होगा।

इण्डो-आर्य कौन थे?

वैदिक ग्रंथों को इतिहास के स्रोत के रूप में उपयोग करने के साथ-साथ वैसे बहुत सारे प्रश्न भी खड़े होते हैं, विशेषकर वैसे प्रश्न जो उनके रचयिताओं से जुड़े हों अथवा उनसे, वेद जिनकी थाती रही होगी। वे कहाँ से आए थे? उनका हड़प्पा संस्कृति के साथ क्या सम्बंध था? ये विषय शुद्ध रूप से पठन-पाठन तक सीमित नहीं हैं। इनके साथ बहुत सारे राजनीतिक निहितार्थ जुड़े हुए हैं और इनका प्रयोग विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के द्वारा अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए किया जाता रहा है, औपनिवेशिक काल में भी और उसके बाद भी (ट्राउटमैन, 2005)। फिर भी इन प्रश्नों का अब तक कोई सुनिश्चित उत्तर उपलब्ध नहीं है।

19वीं और 20वीं शताब्दियों में जब यूरोपीय राष्ट्रों के द्वारा अफ्रीका और एशिया का औपनिवेशिकरण किया जा रहा था, तब विभिन्न नस्लों के प्रवर्जन और उनके बीच होने वाले आदान-प्रदान के इतिहास को बहुत महत्त्व दिया गया। कॉकेशियन, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड जैसी नस्लों में विश्व की आबादी को विभाजित करने की प्रवृत्ति बन गई थी। ऐसे अध्ययन बाहर से तो वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित प्रतीत हो रहे थे, किन्तु मूलत: उनका उद्देश्य नस्लवादी था। वे दरअसल, यूरोपीय साम्राज्यवादियों के द्वारा एशिया और अफ्रीका के लोगों पर प्रभुत्व जमाने की बौद्धिक वकालत कर रहे थे। 20वीं शताब्दी में जर्मनी के नाज़ियों द्वारा प्रचारित गोरे आर्य नस्ल की उत्कृष्टता का सिद्धान्त भी इसी प्रकार का एक मिथक था। आज मानवशास्त्रियों के द्वारा ऐसे तमाम नस्लवादी विभाजन दरकिनार कर दिए गए हैं। आजकल मानव समूहों के बीच भिन्नता को समझने के लिए अन्य सार्थक दृष्टिकोण उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद के रचनाकारों ने भी स्वयं को 'आर्य' के रूप में सम्बोधित किया है, जिसके सांस्कृतिक निहितार्थ हैं। मूल शब्द 'अर' का अभिप्राय कृषि से हो सकता है और 'आर्य' शब्द को बंधु-बांधव या गोतिया के रूप में देखा जा सकता है। इतिहासकारों और भाषाविदों के द्वारा इण्डो-यूरोपीय या इण्डो-आर्य शब्दावलियों का प्रयोग नस्ल भेद से कोई मतलब नहीं रखता। इनका प्रयोग विशेष भाषा-परिवारों के सन्दर्भ में किया जाता है। इण्डो-आर्य वैसे लोग थे, जो इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार की इण्डो-ईरानी शाखा से जुड़ी एक भाषा का प्रयोग करते थे।

प्राचीन भाषाओं के विशेषज्ञ, इतिहासकार अथवा पुरातत्त्वविदों के बीच इण्डो-यूरोपीय या इण्डो-आर्य भाषा का प्रयोग करने वाले लोगों के मूल निवास स्थान के सम्बंध में अभी भी विवाद बना हुआ है। इस सम्बंध में कई अन्य सिद्धान्त भी प्रचलित हैं (ब्रायन्ट, 2002)। इनमें तिब्बत, अफगानिस्तान, अरब सागर, कैस्पियन सागर, काला सागर, लिथुएनिया, आर्कटिक, कॉकेसस, यूरल पर्वत, वोल्गा पर्वत, दक्षिण रूस, मध्य एशियाई स्टेपी मैदान, पश्चिम

एशिया, तुर्की, स्केन्डीनेविया, फिनलैंड, स्वीडन, बाल्टिक क्षेत्र और भारत सम्मिलित हैं। सभी सिद्धांतों के पक्ष में औचित्यपूर्ण प्रमाण नहीं हैं, किन्तु कोई भी सिद्धान्त समस्याओं से अछूता नहीं है। फिर भी इनमें से सबसे अधिक माने जाने सिद्धान्त के अन्तर्गत आर्यों का मूल निवास काला सागर के उत्तर में स्थित पूर्वी यूरोप के मैदानी इलाके को माना जाता है।

हालांकि, वेदों का ईरान के साथ गहरा जुड़ाव दिखलाई पड़ता है। किन्तु इण्डो-ईरानी और इण्डो-आर्य कैसे, कब और कहाँ से एक-दूसरे से अलग हुए, इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। आज प्राय: सभी इतिहासकार भारतीय उपमहाद्वीप में किसी बड़े आर्य आक्रमण की अपेक्षा इनके छोटे-छोटे टुकड़ों में आगमन के सिद्धान्त को मानते हैं। किन्तु इनके आप्रर्वजन और आप्रर्वजन के लिए चयनित मार्गों के विषय में कोई सहमति नहीं बनी है। भारत के इण्डो-आर्य भाषाओं में पश्चिमोत्तर पर्वतीय क्षेत्र में बोली जाने वाली कई गैर संस्कृत और दरदी बोलियाँ भी सम्मिलित हैं, जो शायद प्रारम्भिक चरण में आने वाले इण्डो-आर्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अश्व और रथों के प्रयोग एवं श्रेष्ठ युद्ध तकनीक ने इन लोगों को सप्त सिन्धु के क्षेत्र में अपना वर्चस्व बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

ऋग्वैदिक संहिता में प्रतिबिम्बित वैदिक संस्कृति

इतिहासकारों ने वैदिक ग्रंथों को दो भागों में बांटा है—पूर्व और उत्तर वैदिक ग्रंथ। किन्तु विगत् अध्ययनों में यह पाया गया है कि उनका आन्तरिक तिथिक्रम कहीं अधिक जटिल है। पूर्व वैदिक ग्रंथों में *ऋग्वेद* के दूसरे से सातवें मण्डल तक का भाग आता है, जबकि *ऋग्वेद* के ही 1, 8, 9, 10 मण्डल, साम, यजुर और अथर्व वेदों की संहिताएं, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्, उत्तर वैदिक कहे गए हैं। उत्तर वैदिक हिस्से का मंत्र वाला भाग सबसे प्राचीन तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् क्रमिक रूप से बाद की रचनाएं हैं। वैदिक ग्रंथों के उपरोक्त विभागों में प्रतिबिम्बित संस्कृतियों को क्रमश: पूर्व वैदिक तथा उत्तर वैदिक संस्कृति कहा गया है। प्रमुख स्रोत सूत्रों तथा प्रारम्भिक गृह सूत्रों का काल 800-400 सा.सं.पू. [1] बतलाया गया है (पी.वी. काणे, 1941 ए)। इन ग्रन्थों की चर्चा अगले अध्यायों में की गई है।

जनजातियाँ और युद्ध

ऋग्वेद के अवलोकन से लगता है कि उस काल की जनजातियों में निरंतर युद्ध हुआ करता था। प्राय: 30 जनजाति और महत्त्वपूर्ण परिवारों के नाम उद्धृत हैं। यदु, तुर्वश, पूरु, अनु और द्रुह्यू से संयुक्त रूप से पंचजन, पंचकृष्ट्य या पंचमानुष कहे गए हैं। पुरु और भरत सबसे प्रभावशाली वैदिक जनजाति थी। शुरू में ये मित्र लगते हैं जो किसी समय के बाद एक-दूसरे से अलग हो गए। *ऋग्वेद* में पुरुओं के सबसे प्रमुख व्यक्ति त्रसदस्यु लगते हैं। दिवोदास नाम के भरतों के एक राजा का नाम भी आता है, जिसने शम्बर नाम के एक दास राजा को पराजित किया था, जिसके पहाड़ों पर दुर्ग बने थे।

ऋग्वेद की बहुत-सी ऋचाओं में देवताओं से युद्ध में जीतने के लिए प्रार्थना की गई है। दास और दस्यु से संघर्ष के बहुतेरे उद्धरण हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार, वे यहां के मूल निवासी थे, जिनका सामना इण्डो-आर्यों को करना पड़ा। किन्तु इससे अधिक सम्भावना यह है कि ये प्रारम्भिक दौर में आकर बसने वाले इण्डो-आर्य लोग ही थे। कई ऋचाओं में न केवल दासों बल्कि आर्य शत्रुओं को भी पराजित करने के लिए प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद में प्राय: 300 शब्द ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से इण्डो-यूरोपीय भाषा समूह के बाहर से लिए गए हैं। उधार लिए गए इन शब्दों के आधार पर यह सोचा जा सकता है कि ऋग्वैदिक लोगों का द्रविड़ तथा मुण्डा भाषी लोगों के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान हो रहा था। *ऋग्वेद* में चुमुरि, धुनि, पिप्रु और शम्बर जैसे जनों की चर्चा है जो निश्चित रूप से इण्डो-आर्य नाम नहीं हैं। कुछ ऐसे आर्यों के भी नाम हैं जो स्पष्ट रूप से आर्येतर प्रतीत होते हैं, जैसे-बलबूथ तथा बृवु। यह सब सांस्कृतिक आदान-प्रदान के परिचायक हैं।

ऋग्वेद संहिता के 7वें मण्डल में 'दस राजाओं का युद्ध' (दाशराज्ञ) का उल्लेख वास्तविक ऐतिहासिक घटना पर आधारित मालूम पड़ता है। इस युद्ध में दिवोदास के पौत्र भरत जन के राजा सुदास ने दस जनों के एक संघ के साथ युद्ध लड़ा। दस जनों के इस संघ में पुरु भी एक थे जो भरतों के पूर्व के सहयोगी थे। इससे पता चलता है कि इस काल में संधियाँ अस्थायी थीं। इसी युद्ध के पहले भरतों ने अपने पुरोहित विश्वामित्र के स्थान पर वशिष्ठ को नया पुरोहित नियुक्त किया। यह भी नेपथ्य में होने वाले सन्धि-विग्रहों का परिचायक है। यह महान युद्ध

1. ये तिथियाँ पी.वी. काणे (1941ए) के द्वारा अनुशंसित कालानुक्रम पर आधारित हैं। हाल के कुछ अध्ययनों में इनके तथा अन्य रचनाओं के लिए बाद की तिथियों का सुझाव दिया गया है। इन सभी पाठ्यों की तिथियां, बुद्ध के लिए अग्रसारित तिथियों पर निर्भर करती हैं, जिसके विषय में कई मतभिन्नता मौजूद हैं (देखें अध्याय 6)।

परुषनी नदी (रावी) के तट पर लड़ा गया। भरतों की जीत हुई, जिसके लिए उन्होंने नदी पर बने एक प्राकृतिक बाँध को तोड़ दिया। इस विजय के बाद उन्होंने यमुना की ओर कूच किया और इस क्रम में भेद नाम के एक स्थानीय शासक को पराजित किया। अन्ततः सुदास के नेतृत्व में भरतों ने सरस्वती के किनारे अपना निवास स्थान बनाया तथा अपनी राजनीतिक वर्चस्वता को सिद्ध करने के लिए अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया।

ऋग्वेद संहिता के प्रारम्भिक हिस्सों में राजन् या राजा शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। निश्चित रूप से उस समय राजतांत्रिक राज्य का विकास नहीं हुआ था इसलिए इस शब्द का प्रयोग राजा के स्थान पर जन के मुखिया या श्रेष्ठ व्यक्तित्व के लिए किया जाता होगा। उसका कार्य अपने जनों की रक्षा करना तथा युद्ध में विजय दिलाना था। मुखिया को गोप या गोपति भी कहा गया है, जिसके आधार पर पशुधन की वृद्धि करने और उनकी रक्षा करने में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी। राजन् के साथ युद्धों में पुरोहित भी सम्मिलित होते थे और युद्ध से जुड़े अनुष्ठानों का सम्पादन करते थे। बहुत सी वैदिक ऋचाओं में वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे राजपुरोहितों का गुणगान किया गया है। देवताओं को किए गए अर्पण को बलि कहा गया है, किन्तु बलि का उपयोग जन के सदस्यों द्वारा समय-समय पर दिए गए अपने मुखिया को भेंट के लिए भी प्रयोग हुआ है। निश्चित रूप से पराजित जनों से भी कुछ न कुछ लिया जाता था। किन्तु इस समय नियमित कर प्रणाली का विकास नहीं हुआ था।

प्राथमिक स्रोत

शस्त्रों को समर्पित ऋचाएं — *ऋग्वेद संहिता* (6.75)

अधोलिखित प्रशस्ति पुरोहितों के द्वारा या किसी सैन्य अभियान पर निकलने के पूर्व वाची जाती थी अथवा अश्वमेध यज्ञ में अश्व को छोड़े जाने के पहले योद्धाओं के समक्ष पढ़ी जाती थी। इसमें किस प्रकार एक-एक कर शस्त्रों की प्रशस्ति की गई वह रोचक है।

उसका मुख काले घने मेघ के समान है जो शस्त्र सज्जित युद्ध की गोद में जा रहा है, जाओ बिना घायल हुए जीत कर आओ, तुम्हारे कवच की शक्ति तुम्हें सुरक्षित रखे।

धनुष की शक्ति से हम गायों को जीतेंगे, धनुष से हम प्रचंड युद्धों को जीतेंगे, धनुष से शत्रुओं की सुख-शांति नष्ट हो जाएगी। धनुष हमें विश्व के सभी कोनों में विजयी बनाएगी।

धनुष खींचने के बाद कानों के पास ठीक उसी तरह ध्वनि करती है जिस प्रकार कोई स्त्री कानों में कुछ कह रही हो और अपने प्रेमी की बाहों में आलिंगनबद्ध होती है। वह स्त्री की तरह कान में कुछ कहती है और धनुष जब प्रत्यंचा चढ़ी होती है तो वह तुमको सुरक्षित रूप से युद्ध क्षेत्र में गमन कराएगी।

जिस तरह प्रेयसी प्रेमी से मिलती हैं उसी तरह धनुष और उसकी प्रत्यंचा पर चढ़ा हुआ तीर ऐसा लगता है जैसे कोई माता अपने बच्चे को गोद में बिठाए हुए है। धनुष के दोनों छोर मिलकर प्रत्यंचा के साथ इस प्रकार कार्य करें कि शत्रुओं को वह चीर कर बिखेर दे।

तीरों को रखने वाला पात्र उस पिता के समान है जिसकी बहुत सारी बेटियां हैं (तीर) तथा बहुत से पुत्र हैं (तीर)। युद्ध के मैदान में उसकी ध्वनि गूंजती है, तीरों के रखे हुए इस पात्र से ही सभी युद्धों को जीता जा सकता है।

अपने विजयी घोड़ों को चलाने वाला सारथी रथ को उधर ले जाता है जिधर उसकी इच्छा करती है। उसके लगामों की शक्ति की हम सराहना करते हैं जो सारथी के इशारे पर रथ को युद्ध के मैदान में गमन कराता है।

हिनहिनाते हुए घोड़े अपने खुरों के नीचे दुश्मनों को रौंद डालते हैं। रथ के साथ यही अश्व शत्रुओं का नाश करते हैं।

हे शस्त्र, हमारी रक्षा करें। हमारे शरीर को वज्र बना दें। सोम देवता अपना आशीर्वाद दें, आदिति हमें आश्रय दें।

हे घोड़ों पर प्रयोग में आने वाले चाबुक हमें युद्ध में हमारे अश्वों को निर्देशित करें। वह जो हाथों में उस तरह बंध जाता है जिस तरह सांप लिपट जाता है और सभी प्रकार के तीरों के आक्रमण से रक्षा करता है।

हे हाथ में बंधे हुए कवच तुम सभी दिशाओं को जानते हो, हमारी सभी विधि से रक्षा करो।

हे तीर, तुम हमारी प्रार्थनाओं की प्रेरणा से सीधे जाओ और शत्रुओं को भेदों, उनमें से कोई भी बचे नहीं।

हमने उन सभी अंगों को कवचों से ढक लिया है जिन पर लगा हुआ घाव प्राणघाती हो सकता है। सोम हमारे राजा हमें अमरत्व प्रदान करें। वरूण हमारे विजय के क्षितिज का विस्तार करें। तुम विजयी होगे तो देवता तुम्हारी सराहना करेंगे।

जो भी हमारे लिए घातक हो चाहे वो हमारे अपने लोग हो, अपरिचित लोग हों, चाहे वे जो भी हों, उनसे देवता हमारी रक्षा करें अर्थात् देवता उनका नाश करें। हमारी प्रार्थना ही हमारे अंतः का कवच है।

स्रोतः ओ फ्लेरटी, (1986: 236-38)

ऋग्वेद में 'सभा' और 'समिति' की चर्चा की गई है, किन्तु इनके कार्यों के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। सभा कुलीनों का एक अपेक्षाकृत छोटा समूह होता होगा, जबकि समिति राजन् के सभापतित्व में होने वाले बड़े सामुदायिक जमावड़े को कह सकते हैं। संसाधनों के पुनर्वितरण में इन संस्थाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रतीत होती है। ऋचाओं में जन के सदस्यों के बीच आपसी तालमेल बनाने के लिए आकांक्षा व्यक्त की गई है ('एक साथ आएँ, सहमति बनाएं तथा एक साथ बोलें')। विदथ नामक संस्था के विविध कार्य बतलाएं गए हैं। हालांकि, यह स्थानीय लोगों की एक सभा रही होगी जो उनके आवास क्षेत्र की समृद्धि के लिए कई प्रकार के सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों का निष्पादन करती थी।

जन से जुड़ी हुई कई अन्य सामाजिक-राजनीतिक इकाइयों की चर्चा *ऋग्वेद* में मिलती है, जिनमें जन, विश्, गण, ग्राम, गृह तथा कुल प्रमुख हैं। इनके सटीक अर्थों को नहीं समझा जा सकता, फिर भी जन को जनजाति से, विश् को उससे छोटे समुदाय से, गण को वंश से जोड़ा जा सकता है। उस काल में ग्राम का अर्थ पशुपालक, घुमन्तू समाज से था, जिसमें एकाधिक विस्तारित कुल सम्मिलित रहते थे। कालान्तर में यह गाँव के लिए प्रयुक्त हुआ।

महत्त्वपूर्ण अवधारणाएं

वंश, क्लैन, जनजाति

इतिहासकारों ने प्राचीन संस्कृतियों की व्याख्या करने के क्रम में बहुत सारे समाजशास्त्रीय शब्दावलियों का एवं अवधारणाओं का प्रयोग किया है। 'किनशिप' को हम गोतीया कह सकते हैं। 'किनशिप' का अभिप्राय सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से स्वीकार किए गए सम्बंधों को कहा गया है। ऐसे सम्बंध स्वाभाविक या खून के रिश्तों से जुड़े होते हैं। ऐसे सम्बंध जन्म के आधार पर अथवा वैवाहिक सम्बंध के आधार पर या गोद लेने के आधार पर बन सकते हैं। इसके अतिरिक्त भी सांस्कृतिक रूप से स्वीकार बहुत अन्य प्रकार के सम्बंध भी देखे जा सकते हैं, जैसे-उत्तर भारत में राखी के आधार पर भाई-बहन का सम्बंध और मुंह बोला भाई की प्रथा है। ऐसे सम्बंध भारतीय समाज के लिए बहुत महत्त्व रखते हैं और जैसे भारत में सभी बड़ों को चाचा-चाची, मामा-मामी, मौसा-मौसी की श्रेणी में कहा जाता है जो हो सकता है उनसे कहीं से भी सीधे रूप से सम्बंधित न हो। इसी प्रकार बहन-भाई, माताजी, बाबूजी जैसे शब्दों का प्रयोग बनाए गए सम्बंधों के लिए होता रहा।

समाज में कई प्रकार की वंश-व्यवस्था देखी जाती है। एक तो पितृपक्ष से जो वंश चलता है अथवा कुछ स्थिति में मातृपक्ष से जो वंश चलता है वह एकवंशानुगत होता है। इसके अतिरिक्त बहुवंशानुगत सम्बंध के आधार पर भी माता पक्ष से अथवा पितृ पक्ष से, दोनों पक्ष से चलने वाला वंश अथवा मातृ पक्ष से दोनों पक्ष के सम्बंधों को समान महत्त्व दिया जाता है। किन्तु पितृ पक्ष से चलने वाला वंश अथवा मातृ पक्ष से चलने वाले वंश व्यवस्था भी दोनों पक्षों के विभिन्न सम्बंधों का विशेष अवसरों पर महत्त्व देखा जा सकता है। विशेष रूप से विवाह के समय अथवा विभिन्न अनुष्ठानों के अवसर पर या उत्तराधिकारी के मामले में ऐसे सम्बंधों का महत्त्व दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए, पितृ पक्ष से चलने वाले वंश में पुत्र अथवा पुत्री अपने मातृ पक्ष के सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार माता के भाई की महत्त्वपूर्ण भूमिका अपनी बहन के बच्चों के जीवन से जुड़े विभिन्न संस्कारों में होती है।

वंश (लिनिएज) सामान्यत: किसी एक पक्ष से सम्बंधित सम्बंधियों के आधार पर ही विशेष महत्त्व रखता है। परिवार और वंश में यही अंतर है कि वंश तीन या चार पीढ़ियों के पारिवारिक सम्बंधों से जुड़ा रहता है। जब बहुत सारे वंश स्वयं को किसी एक पूर्वज, चाहे वह वास्तविक हो या मिथकीय, उस आधार पर जुड़ते हैं तब उसको एक क्लैन कहा जाता है। एक क्लैन के सदस्य अपना उद्भव किसी एक स्थान से जोड़ते हैं तथा क्लैन की सम्पत्ति अथवा क्लैन के देवता भी एक ही होते हैं। बहुत सारे क्लैनों को जोड़ने से एक जनजातीय समुदाय का निर्माण होता है।

'जनजाति' (ट्राइब) एक विवादास्पद शब्दावली है क्योंकि मानवशास्त्रियों के द्वारा जनजाति का सामान्य उपयोग आदिम जातियों के लिए किया गया है अर्थात् जो आर्थिक रूप से अविकसित क्षेत्र में निवास करते हैं अथवा जिनमें लिपि का विकास नहीं हुआ है। किन्तु विगत् वर्षों में समाजशास्त्रियों ने आदिम जाति के अर्थ को जनजाति से अलग करने का प्रयास किया है। आंद्रे बेते ([1960], 1977) के अनुसार, जनजाति की परिभाषा एक ऐसे समाज के आधार पर दी जा सकती है जो राजनीतिक, भाषाई अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बंधित हों और इनमें कोई सामाजिक श्रेणीकरण उपस्थित नहीं हो। जनजातियों के लिए इस सामान्य परिभाषा के वास्तविक धरातल पर काफी भिन्नताएं देखी जा सकती हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में इतिहासकारों ने जनजाति शब्द का प्रयोग अधिकरण राज्य के पहले के समाजों के लिए किया है। हालांकि, बहुत सारे इतिहासकारों ने इन शब्दावलियों के प्रयोग से परहेज ही रखा है।

पशुचारण, कृषि तथा अन्य व्यवसाय

ऋग्वैदिक संहिता में कई स्थानों पर अश्व, भेड़-बकरी इत्यादि की चर्चा है किन्तु गोधन का और अन्य मवेशियों का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। आर.एस. शर्मा (1983: 24) ने *ऋग्वेद* में गऊ शब्द पर आधारित अन्य शब्दों का विश्लेषण किया है। गविष्टि, गवेषण, गोषु और गव्य जैसे शब्द युद्ध के सन्दर्भ में प्रयोग किए गए हैं। इनसे पता लगता है कि अधिकांश लड़ाइयाँ पशुधन को लेकर की जाती थीं। जनों के मुखिया को जनस्य गोप कहा गया है। गोधूली (संध्या) और संगव (प्रात:काल) जैसे शब्दों को काल के लिए अथवा गव्युति और गोचर्मन जैसे शब्दों का उपयोग दूरी की नाप के लिए किया गया है। भैंस को गौरी या गवल कहा जाता था। घर की बेटी को दुहितृ (जो दूध दुहती हो) कहा गया है। जन के नायक को गोजित की उपाधि दी जाती थी। एक समृद्ध व्यक्ति गोमत (गायों का स्वामी) कहा जाता था। इन्द्र की एक उपाधि गोपति (गायों का स्वामी) भी है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि *ऋग्वेद संहिता* में पशुपालन और कृषि की सापेक्षिक महत्ता का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां पशुपालन सर्वोपरि आर्थिक आधार था, वहीं कृषि या तो द्वितीयक महत्त्व रखता था अथवा यह आर्येतर समुदायों में प्रचलित था। यद्यपि एक धार्मिक या कर्मकांडीय ग्रंथ में ऐसे शब्दों के उपयोग की आवृत्ति उनके दैनिक जीवन में इन गतिविधियों के सापेक्षिक महत्त्व का सटीक संकेतक नहीं हो सकता। शब्दों की आवृत्ति के अतिरिक्त इन उल्लेखों के सारत्व और प्रकृति का परीक्षण करना भी आवश्यक है।

आर.एन. नन्दी (1989-90) ने *ऋग्वेद* के ही विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि कृषि कार्य आर्यों के लिए भी किसी दृष्टिकोण से कम महत्त्व नहीं रखती थी। *ऋग्वेद* में वप् (बोना) तथा कृष् का बहुत बार प्रयोग हुआ है। हल के लिए फाल, लांगल तथा सिरा का प्रयोग हुआ है। अन्य औज़ारों में खनिज, दात्र, श्रृणी, परशु, कुलीश आदि का उल्लेख मिलता है। कृषि योग्य भूमि के अतिरिक्त क्षेत्र शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में भी हुआ है। ऋचाओं में उर्वर क्षेत्र के लिए अच्छी वर्षा तथा अच्छी उपज इत्यादि के लिए प्रार्थना की गई है। यव और धान्य का प्रयोग अनाज के लिए किया गया है। कुछ ऋचाओं में पुत्र-पौत्र, पशुधन, जल-स्रोत तथा उर्वर कृषि योग्य भूमि की सुरक्षा के लिए कामना की गई है। इन्द्र से उर्वर कृषि भूमि के लिए भी याचना की गई है। इन्द्र को अन्य उपाधि के अतिरिक्त फसलों का संरक्षक, उर्वरजीत (उर्वर खेतों को जीतने वाला) तथा उर्वर भूमि को अर्जित करने वाले देवता के रूप में भी उल्लेख किया गया है। बाद में क्षेत्रपति नामक देवता का आह्वान किया गया है जो स्पष्ट रूप से कृषि भूमि के संरक्षक देवता को कहा गया है। कुछ युद्ध पशुधन के साथ-साथ खेतों के लिए भी लड़े गए हैं।

ऋचाओं में योद्धा, पुरोहित, पशुपालक, कृषक, आखेटक इत्यादि का उल्लेख मिलता है। शिल्पकारों में रथ बनाने वाले, बैलगाड़ी बनाने वाले, बढ़ई, धातु के कारीगर, रंगाई करने वाले, धनुष बनाने वाले तथा चटाई बनाने वालों की चर्चा की गई है। इनमें से कुछ शिल्पकार पूर्ण रूप से अपने पेशों से जुड़े हुए लगते हैं।

ऋग्वेद में धातु से जुड़े शिल्प का उल्लेख नहीं के बराबर हुआ है, (चक्रबर्ती, 1992)। अयस् शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। इन्द्र का वज्र भी अयस् का बना हुआ था। मित्र और वरुण के रथों में अयस् के पाए बने हुए थे। इन्द्र और सोम का निवास स्थान भी अयस् का बना हुआ था। एक ऋचा में अग्नि के ओज की तुलना अयस् के धारों से की गई है। एक अन्य ऋचा में अग्नि से आह्वान किया गया है कि वे अपने उपासकों की अयस् के बने दुर्ग के समान रक्षा करें। इन्द्र को की गई एक प्रार्थना में यह माँगा गया है कि वे उपासक की बौद्धिक क्षमता को अयस् की धार के समान तीक्ष्ण बनाएँ। दस्यु लोगों के नगर अयस् के बने कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त अयस् के दुर्ग, अयस् के बने अश्व के जबड़े और अयस् के बने एक पात्र का भी उल्लेख है। *ऋग्वेद* में धातु के बने क्षुर (अस्तूरे), खाडी (शायद एक प्रकार की चूड़ी) तथा असि/स्वधीति (कुल्हाड़ी) की भी चर्चा है, किन्तु यह पता नहीं चलता कि ये किस धातु के बने थे। एक ऋचा में (4.2.17) यह कहा गया है कि अच्छे कर्म करने वाले की इस जन्म में अशुद्धियाँ उसी प्रकार शुद्ध हो जाती हैं, जिस प्रकार अयस् का शुद्धिकरण होता है। मध्यकालीन टीकाकार शायण ने इस ऋचा की व्याख्या करते हुए एक लोहार द्वारा भट्टी में तपाए गए धातु का उल्लेख किया है। *ऋग्वेद* के 9वें, 10वें मण्डलों में धम् और कर्मार शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु इनसे लोहार का स्पष्ट बोध नहीं होता।

कुछ विद्वानों ने *ऋग्वेद* में प्रयुक्त अयस् शब्द का तात्पर्य लौह निर्माण से लगाया है, किन्तु किसी भी दृष्टिकोण से अयस् और लोहे की एक होने की बात सिद्ध नहीं होती। अयस् का मतलब लोहे के अतिरिक्त ताँबा, काँसा या धातु के लिए प्रयुक्त हुआ एक सामान्य शब्द हो सकता है।

मानवशास्त्रीय अध्ययनों में सरल समाजों में प्रचलित उपहारों के आदान-प्रदान के महत्त्व पर काफी चर्चा की गई है। ऋग्वैदिक संस्कृति के अध्ययन के लिए इनका उपयोग किया जा सकता है। मार्सल मॉस ([1954], 1980)

ने उपरोक्त प्रकार के उपहारों की परम्परा पर एक उत्कृष्ट शोध किया, जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि इस प्रकार की भेंटों का आदान-प्रदान बाहर से देखने पर स्वाभाविक और ऐच्छिक प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह प्रक्रिया परम्पराओं के द्वारा नियंत्रित होती है और कई अर्थों में अनिवार्य शर्तों से जुड़ी होती है। व्यक्ति के स्थान पर एक समुदाय विशेष (कुल, क्लैन, जनजाति) अनिवार्य परम्पराओं के अधीन आपस में 'उपहारों' का आदान-प्रदान करते हैं। कई बार इस प्रकार की अदायगी में आर्थिक मूल्य महत्त्व नहीं रखता। इन प्रतीकात्मक विनिमय से अनुष्ठान, सैन्य सहायता, मनोरंजन अथवा सामाजिक शिष्टाचार जुड़े होते हैं। इस प्रकार उपहारों का विनिमय सामान्य आर्थिक विनिमय के सिद्धान्तों से परे होता है। *ऋग्वेद* में राजन् अपने जन के सदस्यों से उपहार लेता था, जिसको बलि कहा गया है। यज्ञ और अनुष्ठानों के बदले पुरोहित 'दान' और 'दक्षिणा' लेता था।

उपहारों का लेन-देन अन्य किस्म के विनिमयों के महत्त्व को समाप्त नहीं कर देता, परन्तु ऋग्वैदिक ग्रंथों में वाणिज्य और व्यापार काफी गौण प्रतीत होता है। विनिमय वस्तु पर आधारित होता था और ऐसी अर्थव्यवस्था में पशुधन सबसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक इकाई प्रतीत होता है। निष्क शब्द का प्रयोग स्वर्ण की वस्तु/हार के लिए हुआ है। सिक्कों का कहीं उल्लेख नहीं है। देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे उन्हें यात्रा के लिए प्रशस्त पथ दें और उनकी यात्रा सुरक्षित बनाएं। बैलों, खच्चरों और घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथों और गाड़ियों की चर्चा की गई है। पणि (धनी लोग) की तुलना उन कंजूस व्यापारियों से की जा सकती है जो न तो यज्ञ अनुष्ठानों में हिस्सा लेते थे, बल्कि अपने धन को दबाकर रखते थे। नऊ या नाव तथा समुद्र या महासागर की चर्चा की गई है। *ऋग्वेद* 1.116.3 में वर्णन है कि किस प्रकार आश्विनों ने महासमुद्र में भुज्य की रक्षा, 1000 पतवारों (शतऋत्र) वाले जहाज से रक्षा की। *ऋग्वेद* के 10वें मण्डल में पूर्वी और पश्चिमी महासमुद्रों का उल्लेख है। परन्तु मंडल 1 और 10 दोनों ही परवर्ती काल के हैं, इसलिए इतिहासकार इस बात पर एकमत नहीं हैं कि प्रारम्भिक वैदिक काल में लोग समुद्र से परीचित थे कि नहीं।

पण, धन, राई इत्यादि युद्ध में जीते हुए धन के नाम दिए गए हैं, जो धन का एक प्रमुख स्रोत प्रतीत होता है। ऐसे लोगों की चर्चा है जो समृद्ध थे अथवा ऐसे कुलीन लोगों की भी चर्चा है, जो विभिन्न सभाओं में आमंत्रण देने योग्य थे। इस तथ्य के आधार पर सामाजिक श्रेणीकरण का बोध होता है। राजन् और विभिन्न सभाओं की बलि के पुनर्वितरण में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी। राजन् और उसके निकट सम्बंधियों को इसका बड़ा हिस्सा मिलता होगा। मवेशियों के अतिरिक्त प्रार्थनाओं में मांगी गई अन्य वस्तुओं में घर, घोड़े, सोना, उपजाऊ खेत, मित्र, पर्याप्त खाद्य पदार्थ, संपत्ति, जेवर, रथ, यश और संतान की कामना की गई है। व्यक्तिगत संपत्ति अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई थी। भूमि के क्रय-विक्रय अथवा उनको गिरवी रखने का प्रचलन नहीं था। सामुदायिक स्वामित्व अथवा संपत्ति पर क्लैन का नियंत्रण मुख्यत: अस्तित्व में था।

परिवार श्रम विभाजन की मूलभूत इकाई था। दैनिक मजदूरी का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु *ऋग्वेद* में दास-प्रथा प्रतिबिम्बित होती है। एक दास को, पुरुष अथवा महिला, किसी प्रकार का अधिकार या सम्मान नहीं था। वह अपने स्वामी की निजी संपत्ति की तरह था, जिससे वह किसी प्रकार की भी निकृष्ट सेवा ले सकता था। युद्ध में पराजित होने अथवा ऋणी होने की अवस्था में दासता स्वीकार करनी पड़ सकती थी। दास अथवा दासी शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ में शायद सांस्कृतिक भिन्नता पर आधारित था। सामान्यत: दासों का प्रयोग गृहस्थी के नामों में किया जाता था। गर्डा लर्नर (1986) ने अपने अध्ययन में यह दिखलाया है कि विभिन्न संस्कृतियों में, पुरुषों और स्त्रियों का दासता का अनुभव बहुत भिन्न रहा है। दासियों को शारीरिक श्रम के अतिरिक्त यौन शोषण का भी सामना करना पड़ता रहा है।

यद्यपि, ऋग्वैदिक कुल-मंडल में सामाजिक श्रेणियों की भिन्नता परिलक्षित होती है, किन्तु उत्पादन और संसाधन पर नियंत्रण के आधार पर सामाजिक-आर्थिक वर्गों का विकास नहीं दिखलाई पड़ता है, किन्तु इस तथ्य के आधार पर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक समाज विषमताओं से मुक्त था। स्वामी-दास, स्त्री-पुरुष के बीच असमानता तो बिल्कुल स्पष्ट है। राजनीतिक और सामाजिक शक्ति के उच्चतम शिखर पर राजन् और न्यूनतम स्तर पर दासी को देखा जा सकता है।

ऋग्वेद में उस काल की सामाजिक अवस्था, लोगों के रहन-सहन, खान-पान, खाली समय का उपयोग करने के अलग-अलग तरीके सभी कुछ वर्णित हैं। दूध और दूध से बने विभिन्न उत्पाद, अनाज, फल-सब्जी इत्यादि का उल्लेख मिलता है। माँसाहारी भोजन अथवा कुछ देवताओं को भेड़-बकरी, बैल जैसे पशुओं की बलि चढ़ाने का भी उल्लेख मिलता है (मजुमदार एवं अन्य (1951), 1971: 396, 461), किन्तु ऐसे बहुत सारे सन्दर्भ आते हैं, जब गाय को अघ्न्य (जिसका वध नहीं किया जाता है) कहा गया है, जिससे गो-वध के प्रति अस्वीकृति दिखती है। यह विषय विवादित रहा है क्योंकि हिंदू धर्म में गाय को अति पवित्र माना जाता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इतिहास में धार्मिक और खान-पान के मामलों में विविधता और बदलाव दिखते हैं। सोमरस को दूध और अन्य अनाजों

के साथ मिलाकर सेवन करते थे। ऋग्वैदिक लोग अनाज बना सुरा नाम के नशीले पेय का भी सेवन करते थे। इसके अतिरिक्त वे सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र, मृगछाल इत्यादि पहनते थे और विविध प्रकार के आभूषणों का भी प्रयोग करते थे। वीणा, बांसुरी (वाण) तथा विविध प्रकार के ढोल, मृदंग, वाद्य यंत्र के रूप में लोकप्रिय थे। इस प्रकार संगीत और नृत्य में भी उनकी रुचि दिखलाई पड़ती हैं। नाट्य मनोरंजन का एक प्रमुख स्रोत प्रतीत होता है, साथ में रथों की दौड़, चौपड़ के रूप में जुआ भी लोकप्रिय था।

ऋग्वेद में 'वर्ण'

ऋग्वैदिक काल के मौलिक मण्डलों में 'वर्ण' का अर्थ प्रकाश या रंग कहा गया है, किन्तु कुछ प्रसंगों में आर्य और दासों को भी वर्ण से जोड़ा गया है। दास तथा दस्यु का कई बार एक साथ प्रयोग हुआ है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इन दोनों से उनका संघर्ष चलता था। *ऋग्वेद* में इनको अव्रत तथा अक्रतु कहा गया है जिसका क्रमश: अर्थ होता है जो देवताओं के विधानों को नहीं मानता हो तथा जो यज्ञ, अनुष्ठान आदि नहीं करता हो। इन्हें मृध्र-वाच भी कहा गया है। जिसका शाब्दिक अर्थ होता है, जिनकी बोली अस्पष्ट हो अथवा असम्भ्रान्त हो। एक स्थान पर पूरुओं के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे यह नहीं लगता कि अबोध्य के पर्याय के रूप में इसका प्रयोग किया गया हो। *ऋग्वेद* में तीन स्थानों पर कृष्णा-त्वच् या असीक्नि-त्वच् का प्रयोग दस्युओं के लिए हुआ है। शाब्दिक रूप से इसे काली त्वचा वाला कह सकते हैं; यह अन्योक्ति भी हो सकती है। एक स्थान पर दासों के लिए अनास: (बिना नाक या मुख वाले) का प्रयोग हुआ है, किन्तु इसका प्रसंग स्पष्ट नहीं होता।

पहले के लेखनों में दास-दस्यु का प्रयोग चिपटी नाक, काले रंग वाले भारत के आदिम जातियों के लिए होता था, जिन्हें गोरे रंग वाले आर्यों ने दक्षिण की ओर धकेल दिया। किन्तु जैसे कि पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि दास एवं दस्यु का प्रयोग इस रूप में नहीं किया जाता था। इनकी शारीरिक बनावट की भिन्नता के स्थान पर आर्यों में प्रचलित सांस्कृतिक परम्परा से भिन्न संस्कृति और धार्मिक व्यवहारों को मानने वालों के लिए किया जाता था। कुछ विद्वानों के अनुसार, दास और दस्यु अनार्य नहीं थे, बल्कि उपमहाद्वीप में प्रवेश करने वाले प्रारम्भिक इण्डो-आर्य जनजाति के लोग थे और इसलिए वैदिक आर्यों से भिन्न थे। ईरान की दहे नाम की जनजाति को दासों से तथा दह्यु नाम की जनजाति को दस्यु से जोड़ा गया है। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि आर्यों का युद्ध केवल दास और दस्यु से नहीं, बल्कि अन्य इण्डो-आर्य जनजातियों के साथ भी होता रहता था। इस क्रम में भरतों और पुरूओं के बीच 'दस राजाओं के युद्ध' के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

ऋग्वेद के कुल मंडल में 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' शब्दों का बहुत बार प्रयोग हुआ है, किन्तु कभी भी वर्ण के सन्दर्भ में नहीं। ब्राह्मण सोमरस का पान करने वाले, ऋचाओं का वाचन करने वाले एक प्रतिष्ठित समूह के लोगों को कहा जाता था। किन्तु इस समय उनको जन्म के आधार पर सदस्यता नहीं प्रदत्त थी। वैश्य और शूद्र दोनों शब्द अनुपस्थित थे। चार स्तरों में समाज का बँटवारा पहली बार *ऋग्वेद संहिता* के 10वें मण्डल के पुरुष सूक्त में देखा गया। इस आधार पर चार वर्णों पर आधारित व्यवस्था को उत्तरवैदिक काल का विकास कहा जा सकता है।

ऋग्वेद 3.44-45 में इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा गया है–हे इन्द्र! सोमरस आपको प्रिय है, आप मुझे जन के लोगों का नायक बनाएं, आप मुझे एक राजन् बनाएं, सोमरस का पान करने वाला ऋषि बनाएं या मुझको अनन्त सम्पदा का स्वामी बनाएं। इसके आधार पर ऐसा नहीं लगता कि व्यक्तिगत रूप से सामाजिक गतिशीलता किसी प्रकार से बाधित थी, क्योंकि एक व्यक्ति अपने जीवन के लिए कई प्रकार के व्यवसाय अथवा उद्देश्यों की कामना कर सकता था।

स्त्री, पुरुष और गृहस्थी

19वीं शताब्दी के समाज-धार्मिक सुधारकों ने तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दौर के राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने वैदिक काल को भारतीय नारी के स्वर्ण युग के रूप में चित्रित किया है। उनके अनुसार, वैदिक लोग देवी पूजन करते थे; विदुषियों ने *ऋग्वेद* की ऋचाएं लिखीं; नारी ऋषियों की चर्चा हुई है; विभिन्न अनुष्ठानों का वे पुरुष के साथ संपादन करती थीं; वे रथों की दौड़ में हिस्सा लेती थीं; सभा एवं अन्य सार्वजनिक अवसरों पर उनके उपस्थिति वांछनीय थी। वैदिक समाज में स्त्रियों की उच्च स्थिति का चित्रण दरअसल, औपनिवेशिक काल के अमर्यादित अवस्था के विरूद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया मालूम पड़ती है। शायद ऐसा कहने से भारतीय लोग, पाश्चात्य लोगों की अपेक्षा अपनी स्त्रियों के साथ प्राचीन काल में किए गए सद्व्यवहार के आधार पर एक दृष्टि में अधिक संभ्रान्त कहे जा सकते थे। इसके अतिरिक्त तत्कालीन भारतीय समाज में स्त्री की बुरी दशा को सुधारने के लिए इसे एक सशक्त तर्क के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता था (चक्रवर्ती, 2006)।

वर्तमान में लिंगभेद पर आधारित विश्लेषणों के अन्तर्गत पृथक रूप से स्त्रियों की स्थिति के अध्ययन से ध्यान हटा है। जेन्डर या लिंगभेद सांस्कृतिक रूप से परिभाषित स्त्री और पुरुषों के पृथक-पृथक दायित्वों का बोध कराता है। इस प्रकार के प्रारम्भिक अध्ययनों में सार्वजनिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में इनकी भूमिका को प्रमुखता दी गई तथा घर-गृहस्थी और निजी जीवन को दर किनार किया गया। किन्तु आज के अध्ययनों में इस प्रकार का निजी तथा सार्वजनिक विभाजन कृत्रिम माना जाता है। यह स्वीकार किया जाता है कि परिवार और गृहस्थी के स्तर पर भी विचारधारा और सत्ता का अस्तित्व होता है। परिवार के स्तर पर स्त्री की प्रजनन क्षमता और संभोग व्यवहार पर नियंत्रण का सम्बंध जाति वर्ग अथवा वृहद्तर राजनीतिक संरचना से सीधा सम्बंध रखता है। इन कारणों से लिंग भेद पर आधारित सम्बंध, सामाजिक इतिहास में काफी महत्त्व रखते हैं। स्त्री की अवस्था के अध्ययन के लिए पुरुषों के सापेक्ष उनके सम्बंधों को समझना जरूरी हो जाता है और यह सम्बंध वृहद्तर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सम्बंधों में अन्तर्निहित होता है।

किसी भी काल में स्त्री की स्थिति को जानने के लिए ऐसे प्रश्नों के उत्तर को ढूँढ़ना आवश्यक हो जाता है: गृहस्थी के स्तर पर स्त्री और पुरुष के बीच कैसा सम्बंध था? पितृ या मातृ पक्ष में से किस पक्ष के आधार पर वंश चलता था? सम्पत्ति और उत्तराधिकार का निर्धारण किस प्रकार होता था? समाज के आर्थिक उत्पादन में स्त्री की क्या भूमिका थी? क्या इन गतिविधियों पर अथवा अपने श्रम के लाभांश पर उनका नियंत्रण था? स्त्री के संभोग व्यवहार और प्रजनन क्षमता का किस प्रकार नियंत्रण और निर्धारण होता था? धार्मिक अथवा अनुष्ठानिक गतिविधियों में स्त्री की क्या भूमिका थी? बौद्धिक और अध्ययन क्षेत्र में उनकी कितनी पकड़ थी? राजनीतिक शक्ति की दृष्टि से क्या उनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भूमिका थी? इन सब प्रश्नों के अतिरिक्त एक बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी भी काल में कभी भी शोषणात्मक प्रणाली और नियंत्रण का प्रभाव सम्पूर्ण नहीं था। किसी भी काल में स्त्री की स्थिति उतनी निरीह नहीं थी जितना कि चित्रण करने का प्रयत्न किया जाता है। हर काल में स्त्री के पास पर्याप्त सामाजिक स्थान उपलब्ध था, वे अलग-अलग भूमिकाओं का निर्वाह करती थीं और इतिहास के सक्रिय कारकों के रूप में उसका अस्तित्व था। हालांकि, उनके इतिहास में निभायी गयी भूमिका पर इतिहास की दृष्टि से अभी भी विश्लेषणात्मक शोध उपलब्ध नहीं हैं।

वैदिक काल की जिन स्त्रियों की चर्चा की जाती रही है वे सम्भवत: कुलीन वर्ग की थीं। आम नारियों के विषय को प्राय: नजरअंदाज किया गया है। यदि *ऋग्वेद* में देवी पूजन का उल्लेख है भी, तो पुरुष देवताओं की अपेक्षा उनका द्वितीयक महत्त्व पता चलता है। वैसे भी यदि स्त्रीत्व को देवत्व की दृष्टि से देखा भी जाए, उसका कदापि यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि इसके आधार पर स्वाभाविक रूप से एक वास्तविक नारी को उसके अनुरूप सामाजिक शक्ति प्राप्त थी। 1000 से अधिक ऋचाओं में से *ऋग्वेद* की केवल 12-15 ऋचाओं की रचना का श्रेय स्त्री रचनाकारों को जाता है और यही स्थिति नारी ऋषियों की भी है। *ऋग्वेद* में किसी भी स्त्री पुरोहित की चर्चा नहीं की गई है। यज्ञ-अनुष्ठानों में उनकी सहभागिता सदैव पत्नी के रूप में पति के सान्निध्य में रही थी। स्वतंत्र रूप से दान देने या लेने में उनकी भूमिका का कहीं उल्लेख नहीं है। एक वैदिक गृहस्थ स्पष्ट रूप से पितृ सत्तात्मक थी और वंशानुक्रम का आधार पैतृक था। भौतिक संसाधनों पर भी नारी का नियंत्रण अपेक्षाकृत सीमित था। सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के द्वारा उनका संभोग व्यवहार उनकी उर्वरा शक्ति नियंत्रित होती थी और यह समुचित सामाजिक व्यवहार माना जाता था।

प्रारम्भिक वैदिक ग्रंथों में गृहस्थी के लिए दुरोण, क्षिति, दम, पस्त्य, गय तथा गृह का प्रयोग हुआ है, जो शायद अलग-अलग प्रकार के गृहस्थियों के लिए प्रयुक्त हुई थीं। ऋग्वैदिक ऋचाओं में पुत्रों के लिए कामना की गई है, पुत्रियों के लिए नहीं तथा पुत्र विहीनता को निकृष्ट माना गया है। *ऋग्वेद* में **एकल विवाह, बहुपत्नी विवाह तथा बहुपति विवाह** का उल्लेख है। संस्कारों के अध्ययन से पता चलता है कि विवाह मासिक धर्म के शुरू होने के बाद ही होता था। स्त्रियों को स्वयंवर का भी अधिकार था। पति की मृत्यु के बाद या उसके लुप्त हो जाने की अवस्था में पुनर्विवाह किया जा सकता था। अब्याहता स्त्रियों का भी उल्लेख है, जिसमें ऋग्वैदिक रचनाकार घोषा का उदाहरण लिया जा सकता है। *ऋग्वेद* 7.55.5-8 में प्रार्थना मिलती है कि किस प्रकार भागकर शादी करने के लिए एक पुरुष अपनी प्रेयसी के भाइयों, कुत्तों एवं अन्य सम्बंधियों को गहरी नींद में सुलाकर अपनी प्रेयसी को लेकर भाग जाने की याजना कर रहा है।

दरअसल, पुरुष की प्रधानता और स्त्री की द्वितीयक स्थिति सभी ज्ञात ऐतिहासिक समाजों की विशेषता रही है। केवल उनके अनुपात में भिन्नता देखी जा सकती है जो सम्बद्ध समाजों की संरचना में अन्तर्निहित होता है। उत्तरवैदिक ग्रंथों और ऋग्वैदिक कुल मंडल में प्रतिबिम्बित स्थितियों की तुलना से ऐसा लगता है कि ऋग्वैदिक समाज में उतनी रूढ़िवादिता या हठधर्मिता नहीं थी, जितनी बाद में विकसित होती चली गई। फिर भी ऋग्वैदिक समाज में लिंग भेद और कुलीनता पर आधारित विषमताएं तो मौजूद थी हीं।

महत्त्वपूर्ण अवधारणाएं

परिवार व गृहस्थी

विभिन्न व्यक्तियों के लिए 'परिवार' का अर्थ अलग-अलग हो सकता है। यदि आप किसी व्यक्ति से पूछें कि आपके परिवार में कितने सदस्य हैं? तो हो सकता है कि वह अपने बच्चों तथा माता-पिता का नाम ले। दूसरे से पूछें तो इनके साथ-साथ वह अपने मृत अथवा जीवित दादा-दादी अथवा परदादा-परदादी का नाम ले। किसी अन्य व्यक्ति से पूछे तो हो सकता है कि वह अपने चाचा-चाची, चचेरे भाई-बहन, भतीजे-भतीजी इत्यादि का भी नाम ले। जैसा कि ए.एम. शाह ([1964], 1928: 15) ने कहा है कि परिवार को निम्नलिखित संदर्भों में रेखांकित किया जा सकता है:

1. गृहस्थी जिसमें एक छत के नीचे रहने वाले सभी लोग आते हैं, यथा— माता-पिता, बच्चे और उस गृहस्थी के अन्य कर्मचारी भी,
2. माता-पिता और उनके बच्चे, चाहे वे एक साथ रह रहे हों या अलग-अलग।
3. वैसे सभी सदस्य जो जन्म के आधार पर अथवा वैवाहिक सम्बंधों के द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए हों,
4. वैसे लोग जो किसी एक पूर्वज का अपने को वंशज मानते हैं,
5. वैसे सदस्य जो सम्पत्ति के आधार पर विशेषकर भूमि संपत्ति के आधार पर जुड़े हुए हो।
6. एक आनुष्ठानिक इकाई उदाहरण के लिए वैसे सदस्य जो अपने मृत पूर्वजों के श्राद्ध कर्म में सम्मिलित रहने का अधिकार रखते हों।

परिवार की परिभाषाएं सम्पत्ति के आधार पर अथवा श्राद्ध कर्म जैसे अनुष्ठानों के आधार पर निश्चित रूप से नहीं दी जा सकती क्योंकि हो सकता है कि बहुत सारे समुदायों में श्राद्ध कर्म उपरोक्त विधि से संपन्न नहीं किये जाते हों।

चूँकि परिवार शब्द के बहुत से अभिप्राय हो सकते हैं इसलिए समाजशास्त्रियों ने इसको रेखांकित करने के लिए विशिष्ट शब्दावलियों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, मौलिक परिवार या एकल परिवार का सम्बंध वैसे परिवार से है जिसमें विवाहित दंपत्ति के अतिरिक्त उनके बच्चे रहते हों जो या तो साथ-साथ रह रहे हों या अलग-अलग। एक विस्तारित परिवार के अंतर्गत दो या दो से अधिक एकल परिवार संयुक्त रूप से आते हैं। ऐसे विस्तारित परिवार पितृ पक्ष पर आधारित संयुक्त परिवार भी हो सकते हैं जिसमें पिता के घर में उनके लड़के और उनके परिवार रहते हैं। सामान्यत: ऐसा पितृ पक्ष पर आधारित वंश व्यवस्था वाले परिवारों में देखा जाता है। हालांकि, मातृ पक्ष पर आधारित वंश व्यवस्था से जुड़े संयुक्त परिवार भी हो सकते हैं। इसलिए बहुत बार संयुक्त परिवार अथवा विस्तारित परिवार अथवा एक क्लैन के बीच विभाजन रेखा खींचना कठिन हो जाता है।

एक 'गृहस्थी' (हाउस्होल्ड) को चिन्हित करना आसान है, क्योंकि एक गृहस्थी के अंतर्गत वैसे सदस्य होते हैं जो एक ही आवास में रहते हैं। एक गृहस्थी के सदस्य विभिन्न आर्थिक गतिविधियों का निष्पादन करते हैं। कुछ घर में कुछ घर के बाहर रह कर। एक गृहस्थी के सदस्य ही दरअसल जीवन से जुड़े कटु और मधुर भाव और अनुभव को एक-दूसरे से बांटते हैं। वंशानुगत दृष्टि से अथवा वैवाहिक सम्बंध के आधार पर कई गृहस्थियाँ एक-दूसरे से सम्बंधित होती हैं। विवाह वैसी संस्था है जिसके द्वारा एक दंपत्ति को संभोग करने का अधिकार मिलता है और उनके बच्चों को वैधता मिलती है। कई बार विवाह और गृहस्थी में तालमेल नहीं भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, केरल के कुछ ऐसे मातृपक्ष पर आधारित परिवार हैं जिनमें पति, पत्नी के साथ नहीं रहता बल्कि उसके घर में कभी-कभी आता जाता है।

परिवार को वंश के आधार पर, आवास के आधार पर, सदस्यता के आधार पर अथवा दंपत्तियों की संख्या के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में बांटा जा सकता है। मातृ पक्ष अथवा पितृ पक्ष पर आधारित वंश व्यवस्था की चर्चा पहले की जा चुकी है। बहुत सारे परिवारों में मातृ पक्ष तथा पितृ पक्ष दोनों के सम्बंधों को बराबर का महत्त्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए, कई अमेरिकी अथवा यूरोपीय समाजों में बच्चे अपने पिता का उपनाम तो लेते हैं, किंतु संपत्ति के अधिकार के मामले में अथवा निकट सम्बंध रखने में वे माता अथवा पिता के परिवारों में बहुत भेदभाव नहीं रखते।

पितृ पक्ष पर अथवा मातृ पक्ष पर आधारित वंश व्यवस्था की तुलना मातृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक संरचना से नहीं की जा सकती। पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अर्थ वैसे समाजों से है जिनमें पुरुषों की प्रधानता रहती है और परिवार पर उनका वर्चस्व रहता है। जबकि मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अंतर्गत औरतों के हाथ में परिवार की सत्ता निहित रहती है। हमारे समय में भी और पहले भी मातृपक्ष पर आधारित वंश व्यवस्था वाले बहुत सारे समाज देखे जा सकते हैं किन्तु ऐसा कोई भी ज्ञात समाज पहले अथवा वर्तमान में नहीं सुना गया है जो मातृसत्तात्मक हो।

बहुत सारे परिवारों में पत्नी विवाह के बाद अपने पति के पिता के घर अथवा दादा के घर चली जाती है। ऐसे परिवारों को पितृनिवासी परिवार कह सकते हैं। वैसे परिवार जिसमें पति शादी के बाद अपनी पत्नी की माता के परिवार में रहता हो उसे मातृनिवासी परिवार कह सकते हैं। जैसा कि केरल के नायर अथवा मेघालय के खासी समाजों में देखा जा सकता है।

ऐसे भी परिवार होते हैं जिनमें उपरोक्त दोनों व्यवस्था नहीं देखी जाती है। उदाहरण के लिए, लक्षद्वीप में अथवा मध्य केरल में कुछ ऐसे समाज हैं जिनमें शादी के बाद पति अपने घर में और पत्नी अपने घर में निवास करते हैं।

दंपत्तियों की संख्या के आधार पर भी परिवारों को बांटा जा सकता है। 'एकल-विवाह' व्यवस्था के अंतर्गत एक समय में एक पत्नी अथवा एक पति एक साथ रहते हैं। दूसरी ओर 'बहुल-विवाह' प्रणाली के अंतर्गत एक ही समय में एक पति के साथ कई पत्नियां अथवा एक पत्नी के साथ कई पति हो सकते हैं। बहुल-विवाह दो प्रकार के होते हैं—बहु दंपत्ति प्रणाली में एक पति के साथ कई पत्नियां जबकि बहुपति प्रथा में एक पत्नी के कई पति होते हैं। बहु पत्नी प्रथा में एक पत्नी बहुत बार विवाह तो एक ही पति से करती है किन्तु विवाह के बाद घर के सभी भाइयों का उस पर अधिकार देखा जाता है। वे उनकी गृहिणी के रूप में अथवा संभोग के लिए भी रिश्ता बना सकती हैं।

इस प्रकार परिवार अथवा गृहस्थी के कई प्रकार के अध्ययन समाजशास्त्र में किए जाते हैं और भारतीय उपमहाद्वीप में ऐसे विविध उदाहरण देखने को मिलते हैं। इसी विविधता के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि प्राचीनकाल में भी ऐसी ही विविधता रही होगी।

धर्म, देवताओं के लिए यज्ञ और अनुष्ठान

ऋग्वेद में एक धार्मिक कुलीन वर्ग की आस्था और अनुष्ठानिक व्यवहार एवं आध्यात्मिक आस्था प्रतिबिम्बित होती है जो ईरान के समकालीन ग्रन्थ *अवेस्ता* से आश्चर्यजनक सादृश्य रखता है। किन्तु *ऋग्वेद* में निरुपित धार्मिक व्यवहारों में पर्याप्त वैविध्य भी देखने को मिलता है। एक वर्ग इन्द्र की पूजा नहीं करता, तो दास और दस्यु भी वैदिक देवताओं के प्रति आदर नहीं रखते और न ही वैदिक यज्ञ अनुष्ठानों में उनकी आस्था दिखती है।

ऋग्वेद में ब्रह्मांड को देव लोक, पृथ्वी लोक और अन्तरिक्ष लोक में बांटा गया। 'देव' शब्द का मूलार्थ चमक या तेज होता है। कुछ देवताओं को असुर भी कहा गया है। प्रारम्भ में यह शब्द किसी शक्तिशाली अस्तित्व के लिए प्रयोग में आता था, किन्तु बाद में यह अनार्यों और वेद विरोधी लोगों के लिए प्रयोग होने लगा। *ऋग्वेद* में कहा गया है कि धरती, मध्यक्षेत्र ओर आकाश से जुड़े 33 देवता हैं, किन्तु इससे कहीं ज्यादा संख्या में देवताओं का उल्लेख है। यह सही है कि कुछ देवताओं को अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु उनकी यह महत्ता बदलती रहती है। देवताओं के महत्त्व के आधार पर कोई निश्चित क्रम नहीं है। किसी ऋचा में जिस भी देवता का उद्‌बोधन किया गया है उस ऋचा के लिए वही सर्वोच्च है। मैक्स मूलर ने इस स्थिति को 'हीनोथेइज़्म' या 'कैथीनोथेइज़्म' की संज्ञा दी है। *ऋग्वेद* एक ओर गंधर्व और अप्सराओं की चर्चा करता है तो दूसरी ओर राक्षस, यातुधान (जादू-टोना से जुड़े ओझा) और पिशाचों का अस्तित्व बतलाता है। सृष्टि के सम्बंध में अलग-अलग विचार दिखलाई पड़ते हैं।

देवताओं की पूजा, स्तुति और अनुष्ठानों के द्वारा की जाती थी। वैदिक यज्ञ सामान्य घरेलू जीवन से आध्यात्मिक परिधि में परिवर्तन का बोध कराता है। देवताओं को शक्तिशाली परंतु ज्यादातर हितकारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यज्ञ के द्वारा देवताओं के साथ सीधा सम्पर्क जुड़ता है। यज्ञों का आयोजन यजमान के घर में अथवा उनके लिए विशेष रूप से निर्धारित स्थल पर किया जाता है। इस प्रक्रिया में दूध, घी, अनाज इत्यादि की आहुति अग्नि में मंत्रोच्चारण के साथ दी जाती थी। कुछ यज्ञों में पशुओं की बलि भी दी जाती थी। यह माना जाता था कि अग्नि में दी गई आहुति दरअसल देवताओं द्वारा प्राप्त की जा रही है। इन आहुतियों का एक भाग पुरोहितों द्वारा भी खाया जाता था। ऋग्वैदिक यज्ञों के द्वारा यजमान की लम्बी आयु, समृद्धि, अच्छे स्वास्थ्य और पुत्र इत्यादि की कामना की जाती थी।

कुछ यज्ञ दैनिक घरेलू जीवन के हिस्से थे, जबकि अन्य यज्ञों का विशेषज्ञों के अधीन संचालन होता था। *ऋग्वेद* में यज्ञ से जुड़े सात प्रकार के पुरोहितों की चर्चा है, जिनमें होतृ, अध्वर्यु, अग्नीध, मैत्रवरुण, पोतृ, नेष्ट्री और ब्राह्मणों की भूमिकाओं का स्पष्ट संकेत मिलता है। *ऋग्वेद* में मन्दिरों अथवा देवताओं की प्रतिमा का उल्लेख नहीं हैं जो बाद के हिन्दू धर्म का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गया।

ऋग्वेद के धर्म को 'प्राकृतिक बहुदेववाद' कहा जा सकता है, जिसमें देवता विभिन्न प्राकृतिक परिघटनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अग्नि, सूर्य एवं उषा इस श्रेणी के देवता हैं, जबकि बहुत से देवताओं का वर्णन प्रकृति से अधिक व्यापक क्षेत्र का संकेत देता है। उदाहरण के लिए, इन्द्र मूल रूप से वर्षा और वज्र से जुड़े थे। किन्तु धीरे-धीरे इन्द्र के व्यक्तित्व के साथ बहुत सारी अन्योन्य शक्तियों को जोड़ा गया। देवताओं की आकृति की तुलना मनुष्य की आकृति के सदृश्य ही की गई। उनकी शारीरिक बनावट, वस्त्र और अस्त्र-शस्त्र की अलग-अलग व्याख्या की गई है। किंतु बहुत से देवताओं के गुण एक-दूसरे से मिलते जुलते भी हैं।

ऋग्वेद में सर्वाधिक महत्त्व इन्द्र को दिया गया है। ऋचाओं में उनके आकर्षक व्यक्तित्व, शक्ति, युद्धकला तथा उनके वज्र का वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा आर्यों को युद्धों में सफलता मिली। उन्हें उदार (मघवन) और सोमरस

का प्रिय बताया गया है। त्वष्ट्रि को इन्द्र का पिता कहा गया है। इन्द्राणी उनकी पत्नी हैं और मरुत उनके मित्र। वल, अरबुद और विश्वरूप जैसे असुरों का उसने नाश किया। उनके साथ जुड़ा सबसे महत्त्वपूर्ण मिथक सर्प-दानव वृत्र पर विजय से सम्बंधित है। इस युद्ध में इन्द्र सोम के द्वारा अभिरक्षित और मारुतों के सहयोगी कहे गए हैं। अपने वज्र की सहायता से उसने वृत्र नामक राक्षस का नाश किया और उसके द्वारा बाधित जल के प्रवाह को मुक्त किया। बहुत से विद्वान इन्द्र और वृत्र के संघर्ष को एक प्रकार का सृष्टि-मिथक मानते हैं, जिमसें वृत्र को अव्यवस्था का प्रतीक माना गया है।

अग्नि, *ऋग्वेद* के दूसरे प्रमुख देव हैं और कई बार इनको इन्द्र के सहयोगी के रूप में चित्रित किया गया है। दाह संस्कार की अग्नि और वासना की अग्नि जैसे अनेक रूपों में अग्नि को दिखलाया गया है। इनमें हवन की अग्नि श्रेष्ठ है जो व्यक्ति और देवताओं के बीच सीधा सम्पर्क कराती है। सोमरस के देवता सोम की चर्चा भी सामान्य रूप से इन्द्र और अग्नि के साथ होती रही है। सोम, रचनाकारों को उनकी कृति के लिए प्रेरित करते हैं तथा सम्पूर्ण धरती और उसके लोगों पर राज करते हैं। बाद के दिनों में सोम को चन्द्रमा के पर्याय के रूप में देखा जाने लगा।

ऋग्वेद में वर्णित वरुण और मित्र, आदित्य कहे जाने वाले आठ देवताओं के समूह के सदस्य हैं। वरुण को राजत्व और सार्वभौमिक सत्ता तथा क्षेत्र (धर्म निरपेक्ष शक्ति) के रूप में भी चित्रित किया गया। अपने बंधन पाश

प्राथमिक स्रोत

इंद्र को समर्पित ऋचाएं–*ऋग्वेद* 2.12

अधोलिखित ऋचाओं में इन्द्र की प्रशंसा की गयी है, उनके व्यक्तित्व से जुड़े विभिन्न पहलुओं का वर्णन किया गया है तथा उनसे जुड़े मिथकों की चर्चा की गयी है:

जिस देवता को जन्म के क्षण ही अंत: ज्ञान प्राप्त हो चुका हो, जिस देवता ने अन्य सभी देवताओं की अपने विचारों की शक्ति से रक्षा की, जिनके श्वासों की उष्मा से दोनों लोक कांपते हैं और जिनके पुरुषत्व की महानता सर्वविदित है, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

जिन्होंने फटती हुई धरती को सहारा दिया, जिन्होंने कंपित होते हुए पहाड़ों को खड़ा किया, जिन्होंने आकाश को अपने में समेट लिया और जो स्वयं आकाश के रूप में विस्तृत हो गए। जिन्होंने आकाश का सृजन किया, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

जिन्होंने सर्प का वध किया, जिन्होंने सप्त सिंधुओं को मार्ग दिया। जो वाल के बंधन से गायों को मुक्त कराकर वापस लाए, जिन्होंने दो पत्थरों के बीच अग्नि को जन्म दिया, जो युद्धों से प्राप्त बलि के विजेता हैं, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

जिन्होंने सभी परिवर्तनों को अंजाम दिया, जिन्होंने दासों को धूल-धूसरित किया। जिन्होंने शत्रुओं की सम्पत्ति को उसी तरह जीत लिया, जिस तरह एक जुआरी जुए में जीतता है, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

जिनके विषय में लोग पूछते हैं कि वे कहां हैं? अथवा वैसे अज्ञानी जन पूछते हैं कि क्या उनका अस्तित्व है? जो शत्रुओं की सम्पत्ति को धूल में मिला देते हैं जिस तरह एक जुआरी जुए में धन को—उनमें विश्वास करें, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

जो लाचारों और बीमारों को प्रेरणा देते हैं, जो विप्र ब्राह्मणों की विपत्ति के समय रक्षा करते हैं, जो उनकी सहायता करते हैं जो पत्थरों से पीस कर सोम रस बनाते हैं और स्वयं जिनके ओंठ उसका पान करने के लिए श्रेष्ठ हैं, हे मेरे जन, वही इन्द्र हैं।

वे जिनकी युद्ध में आमने-सामने खड़ी दोनों सेनाएं जिनका आह्वान करती हैं, वे इस पार हो या उस तरफ हो तथा जिनका आह्वान अलग-अलग एक ही रथ पर सवार दो व्यक्ति सदैव करते हैं, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

वे जिनकी सहायता के बिना कोई जीत नहीं सकता, जिनको लोग युद्ध के दौरान सहायता के लिए पुकारते हैं, जो सभी वस्तुओं के आदर्श हैं, जो अचल चीजों को भी कंपित करते हैं, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

जिनके समक्ष धरती और आकाश दोनों नतमस्तक हो जाते हैं, जिनके श्वासों की उष्मा से पर्वत थर्राते हैं जो सोमरस का पान करने वाले के नाम से जाने जाते हैं जिनके हाथों में वज्र है, बिजलियों को धारण करने वाली हथेली वाले, हे मेरे जन वही इन्द्र हैं।

हे इंद्र! आप सोम रस का पान करने वाले अत्यंत भव्य देव हैं। आप सबसे अधिक वास्तविक और यथार्थ हैं, हम जब तक रहें, तब तक आपके प्रिय बने रहें। इस यज्ञ सभा में उपस्थित हम सभी लोग आपकी स्तुति करें।

स्रोत: ओ फ्लेहर्टी, 1986: 160-62

में बाँधकर वे पापकर्मियों को सजा भी देते हैं। सूक्तों में उनके नेत्र और स्वर्णिम लबादा का उल्लेख है, लेकिन उनके शारीरिक रंग-रूप का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता है। वरुण को माया से भी जोड़ा गया है जो सृष्टि को आकार देती है। वह सर्वविदित, सर्वदर्शी ईश्वर के रूप में चित्रित हुए हैं जो यह जानता है कि कौन क्या सोच रहा है।

सूर्य द्यौ के पुत्र हैं, जो अपने रथ पर गमन करते हुए अंधकार का नाश कराते हैं। सफेद अश्व और गरुड़ को उनका वाहन बतलाया गया है। वायु तेज हवाओं का देवता है। आश्विन, युद्ध और प्रजनन से जुड़े जुड़वाँ देवता हैं। *ऋग्वेद* में कहीं-कहीं विष्णु की भी चर्चा की गई है। विष्णु एक हितकारी देवता है और उसके बहुत सारे गुण इन्द्र से मिलते-जुलते हैं। *ऋग्वेद* में विष्णु द्वारा तीन पग में विश्व को नाप लेने की कहानी भी है, जिन्होंने तीन कदमों में सम्पूर्ण ब्रह्मांड को लांघ दिया।

रुद्र का आह्‌वान करने वाली ऋचाएं कम ही हैं, किन्तु उनकी अतुलनीय विनाशकारी क्षमता का पता चलता है। रुद्र भय उत्पन्न करने वाला देवता है। उसे दूसरे देवताओं की तरह बलि नहीं दी जाती – उसे खाद्य पदार्थ का गोला बनाकर उसी तरह अर्पित किया जाता था, जिस पर आत्माओं को तृप्त करने के लिए चढ़ाए जाते थे। मरुत भी रुद्र के ही पुत्र हैं जो वर्षा और तूफान का सृजन करते हैं तथा आकाश में अश्वचालित रथों पर गमन करते हैं।

ऋग्वेद में उषा का उल्लेख 300 बार किया गया है, जबकि 20 ऋचाएं उनको पृथक रूप से समर्पित हैं। पौ फटने के समय से यह जुड़ी है। यह तिमिर पर प्रकाश के विजय के प्रतीक हैं तथा अपने श्रद्धालुओं को सम्पत्ति प्रदान करती हैं। अदिति, आदित्यों की माता और *ऋग्वेद* की प्रमुख देवी हैं। यह बीमारी और अनिष्ट से मुक्ति

अतिरिक्त परिचर्चा

सोम का पौधा और सोमरस

ऋग्वेद में सोम का एक पौधा भी है, उस पौधे से निकाला हुआ रस भी है और एक देवता का नाम भी है। सोम की *अवेस्ता* के होम से तुलना की गयी है। *ऋग्वेद* में सोम एक दैव पेय के रूप में वर्णित है, जिसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति होती है और बहुत सारी ऋचाएं इसकी नशे की तीव्र प्रकृति के विषय में रची गयी हैं। यह देवताओं का पेय है। इन्द्र इसके लिए विशेष रुचि रखते हैं।

मनुष्य के लिए सोमरस में भौतिक तथा मनः स्थिति को परिवर्तित करने और उसकी रचनात्मक क्षमता को तीक्ष्ण करने की शक्ति है। इसके वर्णन में यह भी सम्मिलित है कि युद्ध में यह बल प्रदान करता है। रात्रि में यह लोगों को सतर्क तथा जागरूक रखता है तथा कवियों को इससे ऋचाओं की रचना करने में प्रेरणा मिलती है। ऐसे वर्णन से लगता है कि सोम रस का तंत्रिकातंत्र पर विशेष प्रभाव पड़ता था और एक विशेष प्रकार का चमत्कृत कर देने वाला नशा इसमें मौजूद था। किंतु एक समय के बाद सोम का पौधा मिलना शायद कठिन हो गया और इसके विकल्पों को लोगों ने तलाशना शुरू किया।

सोम रस को पीस कर पेय पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करना वैदिक अनुष्ठानों का महत्त्वपूर्ण अंग प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि सोम रस को किसी छाल पर रखकर पत्थरों से पीसा जाता होगा तत्पश्चात् देवताओं को अर्पित करने के पहले इसे भेड़ के ऊन से छाना भी जाता था। कभी-कभी सोम रस को दूध या पानी के साथ मिलाकर भी पीते होंगे।

आज सोम के पौधे के सम्बंध में सौ प्रकार के पौधों को चिन्हित किया जाता है। केन्नाइबस सटाइबा (भांग), पनाक्स जिनसेंग सी.ए.एम. (जिनसेंग), पेगानम हरमाला एल. (सीरीयन रि्यू), पपावर सॉम्नीफेरम एल. (अफीम, पोस्त), तथा अमानिता मस्केरिटा (फ्लाई खुंभी, एक प्रकार का कुकुरमुत्ता, जिसमें भ्रांतिजनक गुण विद्यमान होता है), जैसे पौधों से इसको शिनाख्त किया जाता रहा है। कभी भांग, अफीम, जिनसेंग अथवा एक प्रकार के मशरूम में जिनमें नशा होता है इत्यादि से इसको जोड़ते हैं। हालांकि, इफिड्रा प्रजाति के पौधों की तुलना सोम रस से सबसे अधिक की जा सकती है। इफिड्रा प्रजाति के पौधे एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों में मिलते हैं। इनके पत्ते नहीं होते किन्तु ये भारत में प्रायः नहीं पाया जाता। पारसी समुदाय में होम के रूप में इसी पौधे को स्वीकार किया जाता है और बहुत प्राचीन काल से इसे आयुर्वेद की एक दवा के रूप में उपयोग में लाया जाता है। इफिड्रा में इफिड्रिम पाया जाता है जिसका नशीला प्रभाव होता है। अध्ययनों से यह पता चलता है इफिड्रा के प्रभाव से रक्त चाप बढ़ता है, हृदय की मांसपेशी में संकुचन होता है, नाड़ी की गति धीमी होती है, उपापचय की गति को बढ़ाता है, श्वासों की गति को बढ़ाता है, शुरू में मधुमेह को बढ़ाता है किन्तु बाद में मधुमेह को घटाता है। इससे अनिद्रा भी होती है। कभी-कभी कंपन भी होता है और पुतलियों के आकार में भी परिवर्तन होता है। हालांकि, ऐसा भी हो सकता है कि सोम रस में एक से अधिक पौधों का प्रयोग किया जाता होगा।

स्रोतः नाइबर्ग, 1997

दिलाने वाली देवी हैं। मातृ शक्ति के रूप में ये धरती और गाय से भी जुड़ी हैं। सीनीवली, संतान का आशीर्वाद देने वाली देवी हैं। पृथ्वी को भी देवी माना गया है, किन्तु उनका उल्लेख अधिकांशतः द्यौ के साथ किया जाता है। *ऋग्वेद* में वाक् (स्वर), इडा (आहुति में दिए जाने वाले दूध और घी) तथा सरस्वती (इस नाम की नदी) की भी देवियों के रूप में गणना की गई है। इस प्रकार उषा को छोड़कर *ऋग्वेद* में देवियों का स्थान गौण है।

ऋग्वेद में देवता, मनुष्य और देवतुल्य अस्तित्वों से सम्बंधित कई किंवदन्तियाँ भी हैं। *ऋग्वेद* 10.95 में राजा परूरव और उर्वशी नामक जल अप्सरा के बीच का संवाद दिया गया है। परूरव, उर्वशी से विनती करता है कि हे प्रियतमा! अपने हृदय और बुद्धि को फिर से मेरे साथ जोड़ दो। किन्तु उर्वशी इंकार करते हुए कहती है कि तुम्हारे इन शब्दों का मेरे लिए क्या अर्थ है? उषा की पहली किरण की तरह मैंने तुमको छोड़ दिया है। हे परूरव! अब अपने घर चले जाओ। वायु की तरह मुझको भी रोक पाना कठिन है। परूरव और उर्वशी से जुड़ी यह कथा कालांतर की रचनाओं में काफी लोकप्रिय हुई। किन्तु इस काल में शायद ऐसे संवादों का प्रयोग अनुष्ठानों के दौरान किया जाता था।

प्राचीन ईरान में 'अश' की अवधारणा के समतुल्य ऋत का प्रयोग हुआ है। यह ब्रह्मांडीय व्यवस्था का द्योतक है और इसी आधार पर यज्ञ की व्यवस्था और मनुष्यों की नैतिकता का परिचायक भी।

कुछ ऋचाओं में वरुण और मित्र को 'ऋत' के संरक्षक देवताओं के रूप में दिखलाया गया है। *ऋग्वेद* के 10वें मण्डल में यमी अपने भाई यम से प्रजनन के उद्देश्य से संभोग की विनती करती है। यम यह कह कर उसकी बात को ठुकरा देता है कि यह ऋत के विपरीत होगा और मित्र तथा वरुण के आदेशों का उल्लंघन। बाद में यम को सूर्य के ज्येष्ठ पुत्र, प्रथम अमर पुरुष तथा मृत्युलोक के राजा के रूप में दिखलाया गया।

जहां तक अंत्येष्टि व्यवहारों का प्रश्न है, *ऋग्वेद* काल में दाह-संस्कार और दफनाने की दोहरी प्रक्रिया साथ-साथ प्रचलित थी। जीवन शक्ति (असु) तथा मनस, जिसके बाद भी अस्तित्व नहीं मिटता - ऐसे विचार हैं। स्वर्ग और नरक दोनों की कल्पना मिलती है। ऐसे विषय उत्तर वैदिक काल में अधिक विकसित होने लगे।

उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

दैनिक जीवन से जुड़े पहलू

ऋग्वेद संहिता की तुलना में उत्तर वैदिक ग्रंथों के द्वारा एक जटिलतर राजनीतिक संगठन, सामाजिक जीवन और विस्तृत आर्थिक गतिविधियों की दिशा में विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। कृषि का महत्त्व निश्चित रूप से बहुत बढ़ गया। यव (जौ), गोधूम (गेहूँ) तथा व्रीहि (चावल) के लोकप्रिय प्रचलन के साथ-साथ रोपनी, जुताई, कटाई और दबनी जैसे कृषि कार्यों का सर्वव्यापी वर्णन देखने को मिलता है। *अथर्ववेद* में फसल को रोगग्रस्त होने से बचाने के लिए अथवा सूखे की स्थिति को दूर भगाने के लिए बहुत सारे मंत्र-अनुष्ठान की चर्चा की जाने लगी। इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक कालीन लोग कृषि की प्रगति के लिए कितने प्रयत्नशील रहे होंगे। जमीन अभी भी विस्तारित परिवारों के हाथ में थी। ऐसे कुलों का सामूहिक अधिकार भूमि पर समझा जा सकता है। निजी भूमि या संपत्ति की अवधारणा देखने को नहीं मिलती। एक बड़ी गृहस्थी श्रम विभाजन की मूलभूत इकाई थी। कृषि कार्यों में दास-दासियों का उपयोग नहीं देखा जाता तथा बनिहारों (मजदूरी के आधार पर रखे गए कृषक) के लिए कोई शब्द नहीं है।

ऋग्वेद के उत्तरवैदिक कालीन माने जाने वाले मण्डलों में 'दान स्तुतियाँ' संकलित हैं जिनमें उन राजनों का वर्णन है जिन्होंने विभिन्न पुरोहितों को बड़े-बड़े दान दिए। दान की इन वस्तुओं में गायें, अश्व, रथ, स्वर्ण, कीमती वस्त्र और दासी प्रमुख रूप से दी जाती थीं। दान स्तुतियों से समाज में महत्त्व दी जानी वाली वस्तुओं के साथ-साथ राजन् वर्ग के हाथों में धन का केंद्रीकरण और राजन् एवं पुरोहित वर्गों के बीच आदान-प्रदान को समझा जा सकता है। उत्तर वैदिक ग्रंथों में ही पहली बार भूमि दान के सन्दर्भ भी आते हैं, किन्तु इस काल में भूमिदान से जुड़े व्यवहार में उभयमुखता (दोहरपन) दिखता है। *ऐत्तरेय ब्राह्मण* में यह सुझाव दिया गया है कि राज्याभिषेक करने वाले ब्राह्मण को 1000 स्वर्ण के टुकड़े, एक बड़ा खेत और पर्याप्त गायों को दक्षिणा के रूप में दिया जाना चाहिए, किन्तु इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि एक बार जब राजा विश्वकर्मा भौवन ने अपने ब्राह्मण पुरोहित कश्यप को दक्षिणा के रूप में भूमि देने की इच्छा जतायी तब स्वयं धरती की देवी ने उसके समक्ष प्रकट होकर कहा कि किसी भी परिस्थिति में धरती का दान नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार की एक और कहानी *शतपथ ब्राह्मण* में भी सर्वमेध यज्ञ के सन्दर्भ में उद्धृत की गई है।

भारतीय उपमहाद्वीप में लोहे के उपयोग का सर्वप्रथम पाठ्यात्मक सन्दर्भ उत्तरवैदिक ग्रंथों में ही मिलता है। 'कृष्ण अयस्' या 'श्याम अयस्' (काली धातु) का उल्लेख यजुर्वेद और अथर्ववेद में किया गया है जो निश्चित रूप से लोहा

ही है। कृषि में लोहे के उपयोग को अप्रत्यक्ष रूप से बहुत बार दिखलाया गया है। कृष्ण *यजुर्वेद* की *तैत्तिरीय संहिता* (5.2.5) में 6 या 12 बैलों द्वारा चलाए जाने वाले हलों का उल्लेख है। इतने भारी हल निश्चित रूप से लोहे के ही बने होंगे। *अथर्ववेद* (10.6.2-3) में हल से तैयार किए गए एक ताबीज का उल्लेख किया गया है, जो निश्चित रूप से किसी लौहार के द्वारा ही तैयार किया गया होगा। *शतपथ ब्राह्मण* (13-2.2.16-19) में अश्वमेध में उपयोग होने वाले उपकरणों की चर्चा करते हुए लोहे को कृषि कार्य से जोड़ा गया है। इसी ग्रन्थ के (13-3.4.5) में इस धातु का सम्बंध प्रजा से बतलाया गया है।

ल. 600-200 सा.सं.पू. के बीच के प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में लोहे के अनेक सन्दर्भ आए हैं। *सुत्तनिपात* में अयस् से बने अन्य उपादानों की चर्चा की गई है। इसी पुस्तक में एक स्थान पर दिनभर धूप में तप चुके हल को पानी में डालने से हुई प्रतिक्रियाओं का साहित्यिक चित्रण किया गया है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में अयोविकार 'कुशी' शब्द का अनुवाद 'लोहे का हल' किया गया है। इन उद्धरणों से लगता है कि ल. 1000 सा.सं.पू. से 500 सा.सं.पू. के बीच सिन्धु गंगा विभाजन क्षेत्र से लेकर, ऊपरी और मध्यगंगा नदी घाटी में कृषि के क्षेत्र में लोहे का उपयोग प्रचलित हो चुका था।

उत्तरवैदिक ग्रंथों में बढ़ई, रथकार, धातु-शिल्प विशेषज्ञ, चर्मकार, कुम्हार जैसे अनेक शिल्प विशेषज्ञों की चर्चा की गई है। *तैत्तिरीय संहिता* (3.4) तथा *वाजसनेयी संहिता*-30 में पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन मिलता है, जिसमें द्वारपाल, सुत, लोहार, ज्योतिषी, धनुष बनाने वाले, लकड़हारे, बढ़ई, स्वर्णकार, टोकरी बनाने वाले, महावत इत्यादि की सूची दी गई है। इस काल के अन्य ग्रन्थों में वैद्य, धोबी, आखेटक, बहेलिया, नाविक, हज्जाम, रसोईया, दूत इत्यादि की चर्चा की गई है। बैलगाड़ी यातायात का सबसे लोकप्रिय साधन प्रतीत होता है। हाथी, घोड़ों के अतिरिक्त युद्ध में रथों का उपयोग होता था। नावों का उल्लेख किया गया है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि नावों का उपयोग नदी में किया जाता था या समुद्री यात्रा के लिए, व्यापार की सीमा का भी पता नहीं चलता। वस्तु-विनिमय सर्वाधिक प्रचलित थी और सिक्कों के किसी निश्चित उपयोग की जानकारी नहीं मिलती है। किन्तु इस काल के प्रायः अन्तिम दौर में लिखे जाने वाले ग्रन्थों में, जैसे *तैत्तिरीय आरण्यक* में 'नगर' शब्द का उपयोग शहर के अर्थ में ही किया गया है।

यद्यपि इस काल से सम्बंधित सिर्फ दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथ ही समय की मार झेल पाए हैं, फिर भी इनमें आए उल्लेखों से ज्ञान की अन्य शाखाओं का भी पता चलता है। *छान्दोग्य उपनिषद्* (7.1.2) में दी गई अध्ययन के विषयों की एक सूची के अनुसार, वेद, इतिहास, पुराण, ब्रह्मविद्या, व्याकरण, राशि (गणित), निधि (तिथिक्रम) वाकोवाक्य (भाषा और बोलियाँ), एकायन (नैतिक शास्त्र), खगोलशास्त्र सैन्य विज्ञान, सर्प विज्ञान, दैव (दिव्य ज्ञान) इत्यादि की चर्चा है। गुरु-शिष्य परम्परा और मौखिक माध्यम से शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया गया है। *शतपथ ब्राह्मण* में उपनयन संस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा ब्रह्मचर्य धारण करने और अध्ययन जीवन प्रारम्भ करने का वर्णन है, किन्तु किसी प्रकार की शिक्षण पद्धति कुलीन वर्ग के पुरुष समाज तक ही सीमित दिखलाई पड़ती है।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में उल्लिखित मनोरंजन के साधन करीब करीब वही हैं, जो *ऋग्वेद* के कुल-मंडलों में वर्णित हैं। इनसे पता चलता है कि रथ दौड़ और चौसर, नृत्य-संगीत, वीणा और बाँसुरीवादन, ढोल, मृदंग इत्यादि लोकप्रिय थे। *वाजसनेयी संहिता* के पुरुषमेध के वर्णन के सन्दर्भ में शैलुष का उल्लेख है जो शायद नृत्य या अभिनय से सम्बंधित पात्र रहा होगा। *यजुर्वेद* में वंश-नर्तिन (बाँस पर करतब दिखाने वाले नट) की चर्चा है।

लोगों में घी मिश्रित चावल या जौ से बना 'अपूप' नामक खाद्य लोकप्रिय मालूम पड़ता है। इसी प्रकार दूध, जल, दही या घी में किसी अनाज को सान कर बनाया गया ओदन भी प्रचलित था। माँसाहारी भोजन की भी चर्चा है। करम्भ अनाज विशेषकर जौ, तिल एवं अन्य अनाज से बने खीर को कहते थे। जौ से यवागु नामक लपसी या दलिया बनाया जाता था। दूध से बनी सामग्री जैसे दही, मक्खन, छाछ आदि भी खाए जाते थे। मांस कुछ विशेष अवसरों पर ही जैसे विशिष्ट अतिथि के आगमन पर खाया जाता था। सुरा नाम की मदिरा लोकप्रिय थी। शायद इस समय तक सोमरस का बनना कठिन हो गया था। इसलिए वैकल्पिक नशे का प्रचलन होने लगा था।

लोग सूती वस्त्र पहनते थे। 'ऊर्ण-सूत्र' या ऊन से बने कपड़े भी लोग पहनते थे। ऊन को प्रायः भेड़ या बकरी के बालों से बनाया जाता था। चमड़े के बने चप्पल और पगड़ी का भी उपयोग किया जाने लगा था। 'निष्क' नाम के आभूषण को गले में पहना जाता था। अन्य आभूषण और विभिन्न प्रकार के शंखों का शायद ताबीज के रूप में अनिष्ट को दूर रखने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों में कई बार 'प्रकाश' का उल्लेख हुआ है–जो या तो एक धातु का आभूषण था या धातु का बना दर्पण।

राजतंत्र का उदय

समकालीन युद्धों की चर्चा, ऋग्वैदिक और उत्तरवैदिक दोनों कालों के ग्रंथों की प्रमुखता रही। *ऋग्वेद संहिता* के पहले मण्डल में 20 राजाओं के एक युद्ध का सन्दर्भ आता है, जिसमें 60,099 योद्धाओं ने हिस्सा लिया। यदि

हम उपरोक्त संख्या को शब्दश: नहीं भी लें तो भी यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि राजनीतिक इकाइयों में परिवर्तन हो रहा था। छठीं शताब्दी सा.सं.पू. के उत्तरी भारत के राजनीतिक मानचित्र को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि एकाधिक राजनीतिक प्रणालियाँ अस्तित्व में थीं, जैसे—राज्य, गण या संघ तथा जनजातीय नायकतंत्र। छठीं शताब्दी के इस राजनीतिक परिदृश्य की रूपरेखा 1000-600 सा.सं.पू. के बीच ही तैयार हुई थी। जहां एक ओर उत्तरवैदिक काल के कुछ समुदायों ने अपने जनजातीय चरित्र के अस्तित्व को बनाए रखा। वहीं दूसरी ओर कुछ समुदायों का विकास राज्य की दिशा में होने लगा। इस काल में कई जनजातीय राजनीतिक इकाईयों के एक साथ मिल जाने से भी, उनका रूपांतरण बड़ी इकाईयों में होने लगा। पूरु और भरतों के मिलने से शक्तिशाली कुरुओं का जन्म हुआ। तुर्वष और क्रीवियों के मिलने से पांचालों का। कुरु और पांचालों के बीच संघीय सम्बंध प्रतीत होते हैं।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में वंशगत जनजातीय इकाईयों का क्षेत्रीय राज्यों में रूपांतरण प्रतिबिम्बित होता है। फिर भी अधिकांश इतिहासकारों का मानना है कि यह रुपांतरण, प्रक्रिया में थी, पूर्ण नहीं हुई थी। उत्तर वैदिक ग्रंथों का अन्तिम चरण छठीं शताब्दी सा.सं.पू. तक माना जाता है, जिस काल में अन्य स्रोतों के आधार पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्रीय राज्य इस समय तक अपने पूर्ण अस्तित्व में आ चुके थे। इसलिए यह कहना कि राज्य का उदय उत्तरवैदिक काल के बाद हुआ न कि उत्तरवैदिक काल के अन्तिम चरण में एक अनावश्यक विवाद है। विट्जेल (1995) का मानना है कि कुरुओं का उदय भारत के प्रथम राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। उनका यह भी सुझाव है कि पुरु राजा परीक्षित और उनके ब्राह्मण पुरोहितों के द्वारा वैदिक रचनाओं का पहली बार विधिवत संकलन किया गया। शायद ऐसा करना श्रौत अनुष्ठानों के साथ-साथ नए पुरोहित वर्ग के उदय के अनुरूप अनिवार्य हो रहा था।

जैसा कि अध्याय-4 में हम लोग देख चुके हैं कि स्वतंत्र राज्यों के निर्माण को जटिल राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं की परिणति के रूप में देखा जा सकता है। राजतंत्रात्मक राज्य का उदय कई संघर्षों, युद्धों, समझौतों एवं सन्धियों का परिणाम होता है। राजतंत्र के अन्तर्गत् एक राजा के हाथ में सभी राजनीतिक शक्तियाँ केंद्रीभूत हो जाती हैं। स्वाभाविक है, कि राजन् का उदय, सत्ता के कई दावेदारों से संघर्ष, प्रतिद्वंदी शक्तियों के दमन तथा आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण जैसी कई गतिविधियों की समेकित परिणाम कही जा सकती है। राजतंत्र के साथ-साथ कुछ ऐसे समाज भी थे जहां गणतंत्रात्मक संगठनों का भी अस्तित्व बना रहा, जहां राजनीतिक शक्ति सभाओं में निहित थी, राजा में नहीं।

उत्तर वैदिक काल का राजन् भी ऋग्वैदिक राजा की तरह युद्धों का नेतृत्व करता है, किन्तु अब वह अपनी प्रजा के सम्पूर्ण निवास क्षेत्र और विशेष रूप से ब्राह्मणों का संरक्षक भी है। वह सामाजिक व्यवस्था का संस्थापक तथा 'राष्ट्र' का पालनहार भी है। इस काल में हालांकि, राष्ट्र का कोई निश्चित क्षेत्रीय सीमाकरण पूर्ण नहीं हुआ था। वंशानुगत राजतंत्र का विकास हो रहा था। *शतपथ* और *ऐत्तरेय ब्राह्मणों* में दश-पुरुष राज्य या दस पीढ़ियों वाले राजतंत्र का उल्लेख है। राजन् के चुनाव की प्रक्रिया का भी सन्दर्भ आता है (जैसे *अथर्ववेद* 1.9, 3.4)। किन्तु अधिक संभावना यह है कि राजा के चुनाव का उदाहरण उनके वंशानुगत उत्तराधिकार के अनुमोदन के सन्दर्भ में दिया गया होगा। सबसे रोचक सन्दर्भ श्रृंजयों के द्वारा अपने राजा दुष्तरितु पौम्सायन को राजगद्दी से पदच्युत करने की घटना का है, यद्यपि कि जिसकी दस पीढ़ियाँ उस समय तक लगातार राज कर चुकीं थीं। इसे स्थापित नियम के एक अपवाद के रूप में भी देखा जा सकता है। उत्तर वैदिक काल में ऐसी कर्मकाण्डीय व्यवस्था का सृजन किया गया, जिसके आधार पर राजन को उसके बन्धु-बांधव एवं प्रजाओं में सर्वोपरि सिद्ध किया जा सके। साम्राज्य अथवा सम्राट जैसे शब्दों के संदर्भ को केवल कुछ-एक शासकों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के रूप में देखा जा सकता है।

राजतंत्र के उद्‌भव के साथ, उसको वैधानिकता प्रदान करने वाली विचारधाराओं का भी विकास होने लगा। इस संस्था को दैविक सिद्धान्तों से जोड़ने की भी शुरुआत हो गई थी। *ऐतरेय ब्राह्मण* (1.1.14) में एक प्रसंग है कि एक बार जब देवतागण, दानवों द्वारा पराजित हो गए, तब उन्होंने यह अनुभव किया कि उनकी हार इस वजह से हुई कि उनके कोई राजा नहीं थे। इसलिए उन्होंने अपने राजा का चुनाव किया और दानवों को पराजित कर दिया। इसी ग्रन्थ में (8.4.12) उल्लेख है कि प्रजापति के नेतृत्व में देवताओं ने इन्द्र को देवताओं का राजा बनाने का निश्चय किया, क्योंकि वे सभी देवताओं में सर्वाधिक योग्य और शक्तिशाली थे।

उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में राजा और देवताओं में निकट सम्बंध दिखलाने का प्रयास किया गया है। *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार, वाजपेय और राजसूय यज्ञों को संपन्न करने के बाद राजन् प्रजापति के तुल्य हो जाता है। प्रजापति के प्रत्यक्ष रूप होने के कारण, वह एक होते हुए भी अनेक का स्वामी बन जाता है। हालांकि, इन प्रसंगों को राजन के पद को गरिमा मण्डित करने के उद्देश्य के रूप में समझा जाना चाहिए, राजत्व के दैविक सिद्धांत के रूप में नहीं और न ही उनका उद्देश्य राजन को उपास्य पद देने का रहा होगा।

राजन् को सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता के रूप में स्थापित करने के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती उसको अपने जन और कुल के लोगों पर श्रेष्ठता सिद्ध करने की थी। यह कार्य राजसूय और वाजपेय यज्ञ जैसे विस्तृत कर्मकाण्डीय और भव्य अनुष्ठानिक आयोजनों के माध्यम से राजन् के चारों ओर एक कृत्रिम आभामण्डल बनाकर किया गया। जहां पहले उपरोक्त यज्ञों से जुड़े रथ प्रतिस्पर्धा या चौसर के खेल से यह तय होता था कि राजन् बनने के योग्य कौन है? अब ये केवल अनुष्ठानिक औपचारिकता मात्र बन गए और अनिवार्य रूप से राजन् का इन सबमें विजयी होना पूर्व निर्धारित हो गया।

उत्पादन की शक्तियों पर राजन् के नियंत्रण को मजबूत करने का दूसरा स्रोत बलि नामक कर हो गया जो शुरू में राजन् को गायों और अनाजों के रूप में भेंट किया जाता था, अब इसका स्वरूप अनिवार्यता और बाध्यता की दिशा में तैयार होने लगा। *शतपथ ब्राह्मण* (1.3.2.15) के अनुसार, वैश्य को बलि देना इसलिए आवश्यक है कि वह क्षत्रिय के वश (नियंत्रण) में होता है। इसलिए माँगे जाने पर उसे, अपने द्वारा संग्रहित वस्तुओं को दे देना चाहिए। राजन् को कई बार विशामत्ता भी कहा गया है, जिसका अर्थ शायद यह हुआ कि वह प्रजा का उपभोग करने वाला है, किन्तु इस काल तक राजन् द्वारा बलि का उपार्जन स्पष्ट रूप से परिभाषित कर-प्रणाली के रूप में नहीं विकसित हुआ था।

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में भी सभा और समिति का उल्लेख होता रहा, जैसे *शतपथ ब्राह्मण* (4.1.4.1-6) में राजन् यह प्रार्थना करता है कि समिति और सभा, प्रजापति की दोनों पुत्रियाँ, संयुक्त रूप से मेरी सहायता करें। किन्तु निश्चित रूप से जिस अनुपात में राजतंत्र की शक्ति बढ़ती गई उसी अनुपात में ऐसे लोकतांत्रिक संस्थाओं की शक्ति घटती गई होगी।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में राजन् और पुरोहित के बीच गहरा सम्बंध दिखलाया गया है। पुरोहित का शाब्दिक अर्थ होता है, 'जिसे आगे किया जाए' (राजन् के द्वारा)। इनके सम्बंध की तुलना धरती और स्वर्ग के बीच सम्बंध

अतिरिक्त परिचर्चा

रत्न अर्पित करने का अनुष्ठान

'रत्नहविंषी' अथवा रत्न अर्पित करने का अनुष्ठान दरअसल राजसूय यज्ञ का एक हिस्सा था। इसके अन्तर्गत् राजन् को अलग-अलग दिन किसी रत्निनों में से किसी के घर जाना पड़ता था तथा देवताओं के लिए आहुति भी देनी पड़ती थी। हालांकि, रत्निनों की सूची के नामों और क्रम में अलग-अलग ग्रंथों में अन्तर पाया जाता है, किन्तु मुख्य रूप से उनकी सूची इस प्रकार से है:

1. ब्राह्मण या पुरोहित (जो सामान्यत: सभी सूचियों में सबसे ऊपर आते हैं)।
2. राजन् (कुलीन वर्ग)।
3. महिषी (मुख्य रानी)।
4. पर्वरिक्ति (रानी जिसका परित्याग कर दिया गया हो, अमंगल को दूर करने के लिए उसके पास जाना जरूरी था)।
5. सेनानी (सेनापति)।
6. सुत (रथ को चलाने वाला) या भांट।
7. ग्रामणी (गांव का मुखिया)।
8. क्षत्री (शाही क्षेत्र का धारण करने वाला)।
9. संग्रहितृ (रथ को चलाने वाला, कोश का स्वामी अथवा राजन् को दिए जाने वाले भाग–बलि का संग्रहकर्त्ता)।
10. भागदूघ (भाग को दुहने वाला, भोजन का वितरण करने वाला, या शायद उपज में से राजा के भाग का संग्रह करने वाला)।
11. अक्षवाप (पासा फेंकने वाला शायद एक ऐसा कर्मी जो चौसर या पासा से जुड़ा हो या जो हिसाब-किताब का लेखा रखता हो)।
12. गोविकर्त्तन (मुख्य आखेटक)।
13. तक्षण (बढ़ई)।
14. रथकार (रथ बनाने वाला)।
15. पालागल (पालकी ढोने वाला)।
16. स्थपति (शायद एक स्थानीय न्यायधीश या मुखिया)।

रत्नहविंषी अनुष्ठान के द्वारा राजन् की इन रत्नियों पर निर्भरता और उनके महत्त्व का पता चलता है। इन रत्निनों में से कुछ तो निश्चित रूप से राजन् के करीबी रिश्तेदार रहे होंगे जबकि कुछ अन्य रत्निन उसके खानदान के बाहर से भी रहे होंगे। इन अनुष्ठान के आधार पर उत्तर वैदिक राजनीति के संक्रमणात्मक प्रकृति का पता चलता है। यह एक ऐसी राजनीति थी, जब जनजातीय सम्बंधों का भी महत्त्व था और दूसरी ओर एक सैन्य और प्रशासनिक ढांचा भी तैयार हो रहा था।

रोचक तथ्य यह है कि ब्राह्मणों में ऐसा भी कहा गया है कि रत्निनों में से कुछ की स्थिति ब्राह्मणों और क्षत्रिय से नीचे थी। इसलिए ऐसा विधान था कि राजन् के इस अनुष्ठान के तुरंत बाद दो और भी अनुष्ठान करने पड़ते थे जिनके द्वारा इन अयोग्य व्यक्तियों से उत्सव के दौरान बनाए गए सम्बंधों के पाप से मुक्ति मिल सके।

स्रोत: शर्मा 1959, 1996; 143-58

से की गई है। हालांकि, राजन् की संस्था को 'स्त्रैण' और 'द्वितीयक' स्वरूप के रूप में वर्णित किया गया है (कुमारस्वामी [1942, 1993])। पुरोहित के पद की महत्ता राजसूय यज्ञ की पूर्णाहुति के अवसर पर स्पष्ट हो जाती है, जब पुरोहित राजन् को उपस्थित जनों के समक्ष परिचय कराता है 'यह व्यक्ति आपका राजा है। सोम हम ब्राह्मणों के राजा हैं।' (*शतपथ ब्राह्मण* 5.3.12, 4.1.3)। इस समय प्रशासनिक तंत्र भी अपनी प्रारंभिक अवस्था में प्रतीत होता है।

कुमकुम रॉय (1994बी) ने राजतंत्रीय व्यवस्था के उद्भव, वर्ण व्यवस्था तथा गृहस्थियों की सामाजिक संरचना के बीच निकट का सम्बंध बतलाया है। राजन् के द्वारा वृहत् श्रौत अनुष्ठानों के आयोजन से अपने अधीनस्थ लोगों की उत्पादन और प्रजनन क्षमताओं पर नियंत्रण के प्रयासों को वैधानिकता प्रदान करता है। जिस प्रकार घरेलू यज्ञ-अनुष्ठानों के संपादन से गृहपति को अपने विस्तारित परिवार के उत्पादन और प्रजनन क्षमताओं पर नियंत्रण की वैधानिकता मिलती है। ब्राह्मण ग्रंथों में सामाजिक व्यवस्था के संरक्षक के रूप में राजन् की प्रस्तुति राजनीतिक और घरेलू व्यवस्थाओं के बीच के सम्बंधों को मान्यता प्रदान करती है।

वर्ण व्यवस्था

हालांकि, नातेदारी सम्बंध अभी भी काफी महत्त्वपूर्ण बने हुए थे, फिर भी उत्तर वैदिक ग्रंथों से एक ऐसे वर्गीय संरचना के उदय का संकेत मिलने लगता है, जिसमें विभिन्न सामाजिक समूहों की उत्पादक संसाधनों पर अलग-अलग सीमा में पहुंच दिखाई देती है। दरअसल, वर्ण व्यवस्था ऐसा ही सैद्धांतिक आधार था जो उत्तर वैदिक काल में उभर रहे 'सामाजिक श्रेणीकरण' को कहीं न कहीं से न्याय संगत सिद्ध कर सकता था। वर्ग विभाजन के औचित्य को कुलीन वर्गों के दृष्टिकोण से सिद्ध करना ही वर्ण व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। उक्त चार वर्णों के सदस्यों की कुछ आधारभूत विशेषताएं इस व्यवस्था में परिलक्षित होती हैं जो स्वाभाविक रूप से उनके समाज में ऊँचे स्थान को तर्क संगत ठहराता है। बाद में वर्ण-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक श्रेणीकरण ब्राह्मणवादी व्यवस्था के सामाजिक पक्ष का मुख्य प्रतिनिधि बन गया और धर्मशास्त्रों में चारों वर्णों के द्वारा किये जाने वाले कार्य एवं दायित्व को परिभाषित करने में लग गया।

ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल पुरुषसूक्त में पहली बार यह उल्लेख किया गया कि ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र ये चार सामाजिक वर्ग हैं। इस सूक्त में वर्ण शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया गया। सामान्य तौर पर ये चार सामाजिक श्रेणियों को परिभाषित करता था। जिनकी उत्पत्ति पुरुष के एक महान यज्ञ में आहुति दिए जाने के क्रम में हुई। पुरुष का शरीर चार वर्णों में विभाजित होना, दूसरे शब्दों में यह निर्दिष्ट करता है कि सैद्धांतिक दृष्टि से एक ही संपूर्णता के ये अलग-अलग अवयव थे। इस व्यवस्था में ब्राह्मण सबसे ऊपर और शूद्र सबसे नीचे अवस्थित थे। दूसरी बात यह है कि वर्णों की उत्पत्ति, धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा जैसे प्राकृतिक तत्वों के साथ हुई, वह यह सिद्ध करने का प्रयास था कि यह एक स्वाभाविक और पारलौकिक प्रक्रिया का ही एक अंग है न कि कृत्रिम। जैसा कि ब्रायन. के. स्मिथ (1994) ने बतलाया है कि वर्ण व्यवस्था केवल सामाजिक वर्गीकरण के लिए नहीं बल्कि ईश्वर अथवा प्राकृतिक संसार के विभाजन से भी जोड़ दी गयी।

आरंभ में उच्च वर्णों के सापेक्षिक क्रम को लेकर कुछ अस्पष्टता बनी रही। इसलिए *पंचविंश ब्राह्मण* (13, 4, 17) में इंद्र को वर्णों की उत्पत्ति कर्त्ता के रूप में दिखलाया गया है और राजन्य को ब्राह्मणों से पहले तथा ब्राह्मणों के बाद वैश्य को रखा गया है। *शतपथ ब्राह्मण* (13.8.3.11) में भी क्षत्रिय को पहला स्थान दिया गया है, किन्तु *शतपथ ब्राह्मण* (1.1.4.12) में यह व्यवस्था कुछ भिन्न प्रकार से दी गयी है। इसमें प्रथम ब्राह्मण तत्पश्चात् वैश्य, राजन्य वर्ग और शूद्र को दिखलाया गया है। बाद के धर्मसूत्रों में वह वर्ण व्यवस्था सुनिश्चित रूप से परिभाषित की गयी जिसको हम आज भी जानते हैं।

ब्राह्मण और क्षत्रिय के बीच निकट का सम्बंध तो दिखलाया गया है लेकिन इनके सम्बंधों के बीच कुछ जटिलताएं भी परिलक्षित होती हैं। उत्तर वैदिक ग्रंथों में राजन् के संदर्भ में पुरोहित की महत्ता को बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाया गया है। यह भी बतलाया गया है कि राजन्य और ब्राह्मणों के कम से कम एक वर्ग के साथ अत्यंत घनिष्ठ सम्बंध है। दूसरी ओर मित्र और वरुण के बीच एक संघर्षात्मक प्रवृत्ति यह दिखलाने का प्रतीकात्मक प्रयास है कि क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णों के बीच किसी प्रकार का संघर्ष अवश्य चल रहा था। मित्र ब्रह्म का और वरुण क्षत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। बाद में उपनिषदों में प्रतिबिंबित दर्शन को भी एक प्रकार से ब्राह्मणों की सर्वोच्च स्थिति को क्षत्रिय वर्ग के द्वारा दी गयी चुनौती के रूप में देखा गया है।

वर्णों में से पहले तीन वर्ण द्विज कहलाते हैं जिसका अर्थ होता है पुन: जन्म लेना। द्विजों को ही उपनयन संस्कार का अधिकार प्राप्त था। उपनयन संस्कार के बाद ही अग्न्याधेय का अधिकार प्राप्त होता था, जो पवित्र यज्ञों के सम्पादन का अधिकार दिलाता था। अग्न्याधेय यज्ञों के अधिकार के द्वारा ही एक गृहस्थ जीवन के

प्राथमिक स्रोत

पुरुष सूक्त (*ऋग्वेद* 10.90)

पुरुष के हजार सिर हैं, एक हजार आंखें हैं, एक हजार पाँव हैं, वह धरती में सम्पूर्ण रूप से विस्तृत है और उसकी दस अंगुलियां धरती से परे भी हैं।

वह पुरुष ही है जो है, जो कुछ भी था और जो कुछ भी होगा। वह अमरत्व का अधिपति है, जब उसका भोजन के द्वारा विस्तार होता है, उसकी महानता ऐसी है।

पुरुष इन सबसे कहीं अधिक है। सभी जीव उसके एक-चौथाई में आते हैं। उसका तीन-चौथाई हिस्सा स्वर्ग है जो अमर है।

पुरुष का तीन चौथाई हिस्सा ऊपर रहता है जबकि एक चौथाई हिस्सा सदैव यहां विद्यमान रहता है। इसी से वह सभी दिशाओं में विस्तार करता है। जो भक्षण करते हैं और भोजन नहीं करते।

उसी से विराज (आद्यशक्ति) का जन्म हुआ और विराज के माध्यम से पुरुष की उत्पत्ति हुई। जब उसका जन्म हुआ तब उसने धरती के आगे और पीछे विस्तार किया।

देवताओं ने पुरुष यज्ञ किया और इस यज्ञ में वसंत ऋतु थी। ग्रीष्म ऋतु इंधन और पतझड़ ऋतु हवि थे।

उन्होंने पुरुष का अभिषेक किया और यज्ञ का जन्म हुआ। सबसे पहले कुश घास की सृष्टि हुई और उसके साथ ही देवताओं, साध्यों (अर्थदेवता) तथा ऋषियों की उत्पत्ति हुई।

उस यज्ञ में सभी कुछ अर्पित कर दिया गया। और उससे पिघले हुए घी के द्वारा उन सभी जन्तुओं की उत्पत्ति हुई जो आकाश में, वनों में और गांवों में रहते हैं।

जिस यज्ञ में सभी कुछ अर्पित कर दिया गया, उस यज्ञ से ही ऋचाओं की उत्पत्ति हुई, छन्द का जन्म हुआ और मंत्रों का भी उद्‌भव हुआ।

अश्व उसी से उत्पन्न हुए और वैसे सभी-जन्तु जिनके दांत दो पंक्तियों में है उनका जन्म हुआ। गायों का जन्म हुआ। भेड़ और बकरियों का भी जन्म हुआ।

जब उन्होंने पुरुष को विभाजित किया तो उनके विभिन्न अंगों को कैसे बांटा? उसके मुख को क्या कहा, उसकी दोनों भुजाओं को क्या कहा, उसकी जंघाओं और पैरों को क्या कहा?

उसके मुख ही ब्राह्मण बने, उसकी भुजाओं से राजन्य बने, उसकी जंघाओं से वैश्य तथा उसके पैरों से शूद्रों का जन्म हुआ।

उसके मस्तिष्क से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, उसकी आंखों से सूर्य का जन्म हुआ। इन्द्र और अग्नि उसके मुख से प्रकट हुए और उसकी श्वासों से वायु का जन्म हुआ।

उसकी नाभि से ब्रह्माण्ड का मध्य भाग उभर कर सामने आया। उसके सिर से आकाश का विस्तार हुआ। उसके दोनों पैरों से ही धरती की सृष्टि हुई तथा उसके कानों से आकाश का विस्तार हुआ। इस प्रकार उन्होंने इस संसार को व्यवस्थित किया।

***स्रोत*:** ओ. फ्लेहर्टी, 1986: 29-32

अनुष्ठानों को सम्पादित किया जा सकता था। *ऐतरेय ब्राह्मण* (8.36.4) में कहा गया है कि राजसूय यज्ञ के द्वारा चार वर्णों को अग्रोलिखित गुणों की प्राप्ति होती है—ब्राह्मण को तेजस्, क्षत्रिय को वीर्य, वैश्य को प्रजाति या प्रजनन क्षमता, और शूद्र को प्रतिष्ठा या स्थायित्व। बाद के श्रौत सूत्रों में विस्तृत रूप से सोम यज्ञ अथवा अग्न्याधेय के संपादन के विषय में विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न नियमों का उल्लेख किया गया।

ब्राह्मण की समाज में उच्च स्थिति, उनके यज्ञों पर अधिकार और उनके ज्ञान पर अधिकार के आधार पर तय की गयी थी। विशेष रूप से वेदों के अध्ययन के अधिकार के आधार पर। *ऐतरेय ब्राह्मण* (33.4) में यह प्रसंग आया है कि जब वरुण देवता को यह बतलाया गया कि राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र के स्थान पर एक ब्राह्मण की बलि दी जा रही है तब उनका कथन था कि 'एक ब्राह्मण निश्चित रूप से किसी क्षत्रिय की जगह अधिक उपयुक्त है।' *शतपथ ब्राह्मण* (11.5.7.1) में ब्राह्मणों के कुछ विशेष लक्षणों को बतलाया गया है। ब्राह्मण को समाज में सम्मान, भेंट-उपहार ग्रहण करने का अधिकार, किसी के द्वारा भी सताए नहीं जाने का अधिकार और किसी प्रकार से पीटे नहीं जाने का अधिकार दिया गया था। क्षत्रिय या राजन्य वर्ग, शक्ति से और शासन तथा युद्ध से जुड़ गया। वैश्य, भौतिक समृद्धि से तथा पशु उत्पादन, कृषि इत्यादि से जुड़ गया। सोम यज्ञ में जो प्रार्थना की जाती है उसमें ब्रह्म, क्षत्र और विश ये सुरक्षा की बात कही जाती है। किन्तु तीनों वर्णों के यजमानों को अलग-अलग उद्देश्य के लिए यज्ञ कराया जाता है, उदाहरण के लिए, ब्राह्मण के द्वारा किये गये यज्ञ का वर्चस्, राजन्य वर्ग का इंद्रिय और वैश्य वर्ग का पशु और अन्य से।

वर्ण के सोपाणिक व्यवस्था में शूद्रों को प्रारंभ से ही सबसे निचला स्थान दे दिया गया। शूद्र अपने से ऊँचे तीनों वर्णों के लिए सेवा का कार्य करने का दायित्व रखता है। शूद्र को वैदिक यज्ञ कराने का अधिकार नहीं दिया गया।

एक दीक्षित के द्वारा शूद्र का देखा तक जाना अन्योचित मान लिया गया। *ऐतरेय ब्राह्मण* 35.3 के अनुसार, अन्य की इच्छा के अनुसार एक शूद्र का वध किया जा सकता है तथा पीटा जा सकता है (यथा काम वध)।

हालांकि, उत्तर वैदिक समाज में शूद्रों से भी नीची श्रेणी में कुछ समुदाय आते थे। दास और दासी, दान-स्तुतियों में दान की सामग्री के अंतर्गत् आते थे। किन्तु फिर भी एक दासी स्त्री से उत्पन्न संतानों के द्वारा समाज में ऊँचे ओहदे को प्राप्त करने की छूट भी दी गयी थी। उदाहरण के लिए, *ऋग्वेद* के पहले मंडल में कक्षिवन का संदर्भ आता है जो दीर्घतमस ऋषि तथा अंग की रानी की एक दासी के द्वारा उत्पन्न पुत्र था। इसी प्रकार कवश ऐलुश को वैदिक ऋचाओं का रचनाकार कहा गया है (दसवां मंडल) जो एक दासी का पुत्र था, लेकिन ये सभी अपवाद प्रतीत होते हैं।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में अस्पृश्यता का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु चण्डाल जैसे सामाजिक समुदायों को कुलीन वर्गों के द्वारा घृणा की दृष्टि से जरूर देखा जाता था। *छान्दोग्य उपनिषद्* और *तैत्तिरीय* तथा *शतपथ ब्राह्मणों* में पुरुषमेध यज्ञ के सन्दर्भ में चण्डालों की बलि देने का उल्लेख है। इनके विषय में यह भी कहा गया है कि ये वायु को समर्पित थे। हालांकि, वायु को चण्डालों से जोड़ने का कुछ विद्वानों ने यह अर्थ लगाया है कि ये ज्यादातर कब्रिस्तान के निकट शवदाह क्षेत्र के निकट रहते थे, इसलिए ऐसा कहा गया है, किन्तु ये तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। *छान्दोग्य उपनिषद्* 5.10.7 के अनुसार, जो इस जन्म में सत्कर्म करेगा, वह अगले जन्म में ब्राह्मण, वैश्य या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होगा और जो इस जन्म में दुष्कर्म करेगा उसका जन्म अगली बार एक कुत्ते, सूअर या चण्डाल के रूप में हो सकता है।

शतपथ ब्राह्मण (1.4.1.10) में एक कथा कही गयी है जिसके अनुसार, विदेघ माथव जो मूल रूप से सरस्वती के किनारे रहते थे, उन्होंने सदानीरा (गंडक) नदी को पार किया। इस क्रम में उनके पुरोहित गौतम रघुगण थे और इनकी अगवानी अग्नि वैष्वानर कर रहे थे। इतिहासकारों ने इस कथा की व्याख्या इस प्रकार की है कि यह इंडो-आर्य लोगों के पूर्ववर्त्ती प्रवर्जन की प्रक्रिया को दर्शाता है जिन्होंने जंगलों को काटकर पूर्वी भारत में कृषि की शुरुआत की। एक दूसरे प्रकार की व्याख्या यह भी की गयी है कि उत्तर-पश्चिमी मूल के होने के कारण विदेह के राजा को सामाजिक सम्मान की प्राप्ति के लिए और अपनी सत्ता को वैधानिकता देने के लिए इस प्रकार के संदर्भ से जोड़ा गया है, क्योंकि अग्नि और ब्राह्मण यज्ञ अनुष्ठानों के द्वारा इस क्षेत्र में उनको निश्चित रूप से सम्मान मिला होगा।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में एक सामाजिक, आदान-प्रदान, संघर्ष और आपसी समायोजन की एक प्रक्रिया प्रतिबिंबित होती है। *ऐतरेय ब्राह्मण* (33.6) के अनुसार, जब पचास पुत्रों ने शुनःशेप (देवव्रत) को पुत्र के रूप में नहीं स्वीकार किया तब विश्वामित्र ने उन लोगों को श्राप दिया कि वे आन्ध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद तथा मुतिब बन जाएं। दूसरे शब्दों में यह एक प्रकार का प्रयास था कि कुछ बाहर के लोगों को ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था में कम से कम कुछ स्थान उपलब्ध कराया जा सके। ऐसा भी प्रतीत होता है कि कुछ गैर इंडो-आर्य समुदायों को वर्ण व्यवस्था में स्थान दिया गया। हालांकि, उन्हें काफी निचले सोपाणिक स्तर पर रखा गया। एक मत के अनुसार, शूद्र भी मूलतः गैर इंडो-आर्य समुदायों के लोग थे जो उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में निवास करते थे। बाद में इनको चार वर्णों में स्थान दिया गया। (शर्मा [1958, 1980.34-35]) हालांकि, सभी जनजातीय समुदाय को वर्ण व्यवस्था में नहीं मिला लिया गया। इनको, केवल इनके अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया। उत्तर वैदिक ग्रंथों में किरात और निषाद जैसे वनवासियों का उल्लेख आता है। म्लेच्छ की अवधारणा की शुरुआत इसी काल में हुई। म्लेच्छ को बाद में जनजातीय समुदायों और विदेश से आने वाले लोगों से जोड़ दिया गया जो ब्राह्मण परंपरा के लिए बिल्कुल नये थे (पराशर, 1991)।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में गंगा नदी घाटी के ऊपरी क्षेत्र के समाज का प्रतिबिंब मिलता है। यद्यपि, सामाजिक श्रेणीकरण की प्रक्रिया जटिल हो रही थी फिर भी व्यवसायों के चयन में काफी स्वतंत्रता देखी जा सकती है। *ऋग्वेद* 9.112.3 के अनुसार, एक कवि कह रहा है कि मैं ऋचाओं की रचना करता हूँ, मेरे पिता एक वैद्य हैं, मेरी माता पत्थरों में अनाजों को पीसती हैं, हम लोग विभिन्न व्यवसायों के माध्यम से अर्थोपार्जन करना चाहते हैं।

गृहस्थी और लिंगभेद

गृहस्थी उत्तर वैदिक काल की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। इसका महत्त्व केवल एक घर के सदस्य के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य के प्रमुख इकाई के रूप में था। किसी भी गृहस्थी के कर्त्ता के द्वारा किये जाने वाले दैनिक यज्ञ अनुष्ठानों के माध्यम से उसका नियंत्रण सम्पूर्ण गृहस्थी के उत्पादन और प्रजनन क्षमता पर बना रहता था (रॉय 1994बी)। गृह का स्वामी गृहपति कहलाता था। एक वैध पत्नी के साथ ही विवाहित पुरुष किसी भी यज्ञ का यजमान बन सकता था। इस प्रकार विवाह भी पितृ सत्तात्मक परिवार के वंश को आगे बढ़ाने के लिए अत्यंत आवश्यक था। जिस प्रकार पिता और पुत्र में प्रभुत्व और अधीनता का सम्बंध रहता है, उसी

प्रकार का सम्बंध लगभग पति और पत्नी के बीच भी बन गया। अब स्त्री को ज्यादातर पुरुष के साथ विभिन्न सम्बंधों के द्वारा जोड़ दिया गया। स्त्री, योषा और जाया जैसे शब्द पत्नीत्व या मातृत्व से जुड़े हुए थे। गृहपति जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण गृहस्थी के उत्पादन संसाधनों पर नियंत्रण रखता था तथा अपनी पत्नी की प्रजनन क्षमता पर भी उसी का नियंत्रण था। गृहस्थी में प्रभुता और अधीनता के सम्बंध को सैद्धांतिक रूप से यज्ञ-अनुष्ठानों के द्वारा वैधानिकता प्रदान की गयी थी। घर की गृहस्थी की उत्पादन क्षमता पिता के बाद उसके पुत्र को हस्तांतरित हो जाती थी। अग्न्याधेय जैसे अनुष्ठानों से पितृ पक्ष के पूर्वजों के साथ सम्बंध बना रहता था।

गृह्यसूत्रों के अनुसार, जिनमें से सबसे प्रारंभिक गृहसूत्र उत्तर वैदिक काल के हैं, आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा की गयी है (इसको अगले अध्याय में विस्तार से देखेंगे)। अपहरण के द्वारा विवाह अथवा स्त्री को अपना वर चुनने का अधिकार या स्वयंवर विवाह जैसे विवाह भी उनमें आते हैं। बहु पत्नीत्व की प्रधानता थी। बहुपतित्व की प्रथा अत्यंत सीमित थी। राजाओं की कई पत्नियाँ होती थी। *ऐतरेय ब्राह्मण* (3.5.3.47) में कहा गया है कि एक व्यक्ति अनेक पत्नियों को रख सकता है जबकि एक स्त्री के लिए एक ही पति पर्याप्त होता है। *मैत्रायणी संहिता* में बतलाया गया है कि मनु की दस पत्नियां थीं। एक स्त्री का विवाह एक पुरुष से ही नहीं बल्कि संपूर्ण परिवार से होता था। *ऋग्वेद* अथवा *अथर्ववेद* में विधवा के उसके देवर के साथ विवाह के प्रसंग आते हैं।

सूर्यसूक्त जो *ऋग्वेद* के दसवें मंडल में है (10.85), में विवाह संस्कार से जुड़ी जटिल अनुष्ठानों का दृश्य देखने को मिलता है। इस सूक्त के अनुसार, एक कन्या एक साथ घर की धरोहर भी हो सकती है और विनाश की संभावना से युक्त एक अपरिचिता भी। विवाह के संस्कार में कन्या, वर के अतिरिक्त बिल्कुल निकटवर्ती परिवार के सदस्यों की अधिक भूमिका होती थी। *अथर्ववेद* 14.1-2 में पुरोहित की भूमिका को इसलिए महत्त्वपूर्ण माना गया है कि वह आने वाली बहुत सी विनाशकारी संभावनाओं का दमन करता है और अपने मंत्रों के द्वारा और नयी गृहस्थी में उसका पूरी तरह से समावेश कराता है।

नारी को कई स्थान पर उत्तर वैदिक ग्रंथों में काफी ऊँचा दिखलाया गया है। उदाहरण के लिए, *शतपथ ब्राह्मण* (5.2.1.10) के अनुसार, पत्नी के बिना पति अधूरा होता है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (6.4.17) में पुत्री की प्राप्ति के लिए अनुष्ठानों की चर्चा की गयी है किन्तु इसके साथ-साथ दूसरी ओर स्त्रियों को वेद अध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया गया। श्रौत यज्ञों में पत्नियों की भूमिका तो थी, किन्तु स्वतंत्र रूप से वह इन अनुष्ठानों को नहीं कर सकती थी। बाद के ग्रंथों में ऐसा भी प्रसंग आया है जब पत्नी के स्थान पर स्वर्ण या कुश से बने उसके पुतले का उपयोग करके यज्ञ, हवन आदि किया जा सकता था। निश्चित रूप से अधिकांश संस्कारों में उनकी आवश्यकता को नहीं दिखाया गया। ऐसे मामलों में किसी भी वर्ण में स्त्री की स्थिति लगभग शूद्र के समान होने लगी थी। बाद के धर्मशास्त्रों के जैसे स्त्री और शूद्रों को एक ही स्तर पर दिखाया है (देखें *शतपथ ब्राह्मण* 14.1.1.31)।

उत्तर वैदिक काल से ही देखा गया है कि मासिक धर्म के रक्त को प्रदूषण से जोड़ दिया गया (स्मिथ, 1991)। मासिक धर्म के दौरान स्त्री किसी भी यज्ञ में या पवित्र अनुष्ठान में भाग नहीं ले सकती थी। या तो यज्ञ अनुष्ठान की तिथि को आगे बढ़ाया जा सकता था या उसके बिना ही उसे संपादित किया जा सकता था। *तैत्तिरीय संहिता* के अनुसार, तो एक मासिक धर्म के दौरान एक स्त्री से बात करना, उसके निकट बैठना, उसके द्वारा बनाये गये भोजन को ग्रहण करना भी प्रदूषण का कारण है। एक प्रसंग आता है कि इंद्र ने जब त्वष्ट्रि नामक देवता के पुत्र विश्वरूप की हत्या कर दी तो एक ब्राह्मण को मारने के बाद उसके रक्त का एक तिहाई हिस्सा स्त्री को दे दिया गया जो मासिक धर्म के रूप में प्रत्येक स्त्री को झेलना पड़ता है (*तैत्तिरीय संहिता* 2.5.1)।

इस प्रकार सामान्य रूप से एक स्त्री को घरेलू जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया गया। *शतपथ ब्राह्मण* (10.5.2.9) के अनुसार, एक अच्छी स्त्री वह है जो अपने पति को संतुष्ट करती है। पुत्रों को उत्पन्न करती है तथा अपने पति को पलटकर कभी जवाब नहीं देती। इसी ग्रंथ में (4.42.3) स्त्री को न तो स्वयं पर अधिकार है और न ही उत्तराधिकार। *अथर्ववेद* (1.14.3) के अनुसार, अविवाहिता का जीवन विपत्ति का स्रोत है और *ऐतरेय ब्राह्मण* (7.15) के अनुसार, पुत्रियों के जन्म को अपशकुन बतलाया गया है जबकि पुत्र को परिवार के उद्धारक के रूप में दिखलाया गया है। बहुत सारी ऋचाओं में पुत्र की कामना की गयी है। पुंसावन संस्कार के द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिए अनुष्ठान किया जाता था। *अथर्ववेद* में कुछ ऐसे मंत्र हैं जिनके विषय में मान्यता थी कि यह पुत्री युक्त भ्रूण को पुत्रयुक्त भ्रूण में बदल देने की क्षमता रखते हैं। *मैत्रायणी संहिता* (4.7.4) के अनुसार, ''केवल पुरुष ही सभा में जा सकते हैं, नारी नहीं''। स्त्री उपहार की वस्तु भी बन गयी थी। ऐसे कई संदर्भ आते हैं जब ऋषियों को जीतने के लिए राजाओं ने स्त्रियों को उपहार के स्वरूप उनको भेंट किया है। केवल एक अवसर ऐसा था जब स्त्री का महत्त्व अधिक दिखलाया गया है जब एक ब्रह्मचारी बाहर निकलता था तो पहली बार वह भिक्षाटन अपनी माता से या गुरुपत्नी से प्राप्त करता था। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण में वृद्धि और राजसत्ता का उदय स्त्रियों के अधिकाधिक अधीनीकरण के साथ ही साथ हो रहा था।

उत्तर वैदिक ग्रंथों में महिलाओं के कार्यों का उल्लेख किया गया है, जैसे—पशुओं को चराना, दूध दुहना, पानी लाना। 'वयितृ' या 'शिरी' महिला बुनकर को कहते थे। पेशस्करी महिला कसीदाकार को कहते थे। 'विदलकरी' बांस में काम करने वाली महिलाओं को कहते थे। 'राजयितृ' कपड़ों में रंग करने वाली महिलाओं को कहते थे तथा 'उपलप्रक्षिणी' अनाज पिसने वाली महिला को कहते थे। *शतपथ ब्राह्मण* में बतलाया गया है कि महिलाएं ऊन का काम भी करती थीं। अपला, *ऋग्वेद* (8.80) के अनुसार, अपने पिता के खेतों की देखभाल किया करती थी। विश्पला (*ऋग्वेद* 1.112.10 तथा 1.116.5), एक योद्धा स्त्री जिसने युद्ध में अपना एक पैर खोया था और मुद्गलिनी और वध्रीमति जैसी योद्धा महिलाओं की भी चर्चा की गयी है। गार्गी और मैत्रेयी जैसी कुछ महिलाओं ने उपनिषद् के ऋषियों के साथ शास्त्रार्थ भी किया।

धर्म, अनुष्ठान और दर्शन

उत्तर वैदिक ग्रंथों में सृष्टि के सम्बंध में विभिन्न प्रकार के विचार रखे गये हैं। पुरुष सूक्त के अनुसार, एक सृष्टि एक यज्ञ का परिणाम है। दूसरी ऋचाओं में सृष्टि के सम्बंध में कहा गया है कि वह हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुई है। विश्वकर्मा (10.81) से जुड़ी एक ऋचा के अनुसार, सृष्टिकर्ता देव एक शिल्पकार के समान है। वह पहला यज्ञकर्ता भी है और यज्ञ का होम भी *ऋग्वेद संहिता* के दसवें मंडल में संग्रहित नाश्दिय ऋचा में सृष्टि के रहस्यों से जुड़े सबसे जटिल दार्शनिक विचार देखे जा सकते हैं।

ऋग्वेद संहिता के मूल खंडों में कुछ देवताओं को एक साथ ही यज्ञ-अनुष्ठानों के दौरान बुलाया जाता था। इन ग्रंथों के अंतिम भाग में सभी देवताओं के बीच सम्बंध को बतलाया गया है। *ऋग्वेद* में ऐसी चालीस ऋचाएं हैं जो विश्व देवों अर्थात् सभी देवताओं को समर्पित हैं। कुछ ऋचाओं में ऐसा कहा गया है कि एक ही दिव्य अस्तित्व के विभिन्न देवता, अभिव्यक्तियां हैं। *ऋग्वेद* 1.164 के अनुसार, अग्नि, इंद्र और वायु अलग-अलग नाम है किन्तु मूलतः वे एक ही हैं जिनके विषय में अलग-अलग ब्राह्मण भिन्न प्रकार से व्यर्थ करते हैं (एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति)।

ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित यज्ञ अनुष्ठान

वैदिक ब्राह्मण ग्रंथों में जो यज्ञ से जुड़े कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की चर्चा की गयी है वे धीरे-धीरे काफी जटिल और खर्चीले होते गए। यज्ञ को इस संसार की सृष्टि का आधार बताया गया है और ऐसी मान्यता बनती गई कि यज्ञ के सही-सही नियमित निष्पादन करने से यह संसार और जीवन सुरक्षित रहेगा। हालांकि, कुछ यज्ञों में केवल एक पुरोहित की आवश्यकता पड़ती थी, किन्तु ऐसे अत्यंत विस्तृत यज्ञों की भी चर्चा है जिनमें अनुष्ठानिक विशेषज्ञों की बड़ी संख्या की आवश्यकता पड़ती होगी। इसलिए ब्राह्मणों के लिए प्रजापति सबसे सर्वोच्च देवता हैं क्योंकि वो यज्ञ अनुष्ठान के अधिष्ठात्री देव हैं।

प्राथमिक स्रोत

नासदीय ऋचा (ऋग्वेद 10.129)

उस समय न तो अस्तित्व विहीनता थी और न ही कोई अस्तित्व था, न तो कोई ब्रह्माण्ड था और न तो उसके परे कोई आकाश ही था। फिर किसने परिवर्तित किया, कहां हुआ, किसकी संरक्षण में हुआ, क्या वहां जल था, जिसकी गहराई को नापा नहीं जा सकता?

उस समय न तो मृत्यु थी और न ही अमरत्व था। दिवा और रात्रि को पृथक करने वाले कोई चिन्ह भी नहीं थे, तब उसने वायुविहीन श्वास ली, अपने स्पंदन से उसके अतिरिक्त वहां कुछ भी नहीं था।

अंधकार भी अंधकार को छिपाए हुए था। प्रारंभ में सब कुछ जलमग्न था। जीवन शक्ति शून्यता से ढकी हुई थी जो एक उष्मा से जागृत हुई।

उसमें पहली बार इच्छा जगी, वही बुद्धि के पहले बीज थे, विवेकवान कवि हृदय ने अस्तित्व विहीनता के भीतर छिपे उस अस्तित्व को पहचाना।

उसकी जड़ें फैली हुई थीं, क्या उसके कुछ नीचे था? क्या उसके कुछ ऊपर था? बीजरोपण करने वाले वे थे, वहां शक्तियां थीं, उसके नीचे स्पंदन था जो ऊपर की ओर हलचल कर रहा था।

किंतु कौन जानता है ऐसा कौन दावा कर सकता है, उसकी रचना कब हुई, उसकी उत्पत्ति कब हुई? ब्रह्माण्ड की सृष्टि के साथ ही देवता आए, फिर कौन बतला सकता है कि उनका उदय कब हुआ। कब सृष्टि हुई?

शायद यह घटना स्वयं हुई, अथवा शायद वह हुई ही नहीं। सबसे ऊँचे स्वर्ग से जो नीचे देख रहा है, केवल वही जानता है अथवा शायद वह भी नहीं जानता।

स्रोत: (ओ फ्लेहर्टी, 1986.25-26)

अतिरिक्त परिचर्चा

यज्ञ क्षेत्र की रंगभूमि

विस्तृत श्रौत (वैदिक) यज्ञों के अंतर्गत् तीन प्रकार की अग्नियों का प्रयोग होता था। गार्हपत्य अग्नि, आहवनीय अग्नि तथा दक्षिणाग्नि। इन विशेष अग्नियों को प्रज्वलित करने के लिए विशेष प्रकार की वेदियां बनाई जाती थीं। गार्हपत्य अग्नि के लिए वृत्ताकार, आहवनीय अग्नि के लिए वर्गाकार और दक्षिणाग्नि के लिए अर्ध चन्द्राकार वेदियां बनायी जाती थीं।

यज्ञ में अग्नियों की अवस्थिति तथा अन्य सभी बातें पूर्व निर्धारित होती थीं। गार्हपत्य अग्नि की दिशा पश्चिम में, दक्षिणाग्नि की दिशा दक्षिण में तथा आहवनीय अग्नि की दिशा पूर्व में होती थी। सर्वप्रथम गार्हपत्य अग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता था और इसी अग्नि से अन्य दो अग्नियों को प्रज्ज्वलित किया जाता था। यज्ञ की सम्पूर्ण वेदी वस्तुत: एक आयताकार क्षेत्र होता था जिसका मध्य भाग लम्बत् दिशा में थोड़ा संकीर्ण होता था। यह वेदी गार्हपत्य अग्नि और आहवनीय अग्नि के बीच में अवस्थित होती थी। वेदी को पवित्र दूबों से ढका जाता था और उस यज्ञ में उपयोग आने वाली सभी सामग्रियां यहीं पर व्यवस्थित की जाती थीं।

होतृ *ऋग्वेद* के पुरोहित होते थे जो ऋचाओं का वाचन करते थे। अधवर्यु यर्जुवेद के पुरोहित होते थे और विभिन्न अनुष्ठानों का निष्पादन करते थे तथा उद्गात्रि सामवेद के पुरोहित होते थे, जो साम गान करते थे तथा ब्राह्मणों की स्थिति भी पूर्व निर्धारित होती थी, यजमान तथा उसकी पत्नी के बैठने का स्थान भी सुनिश्चित होता था।
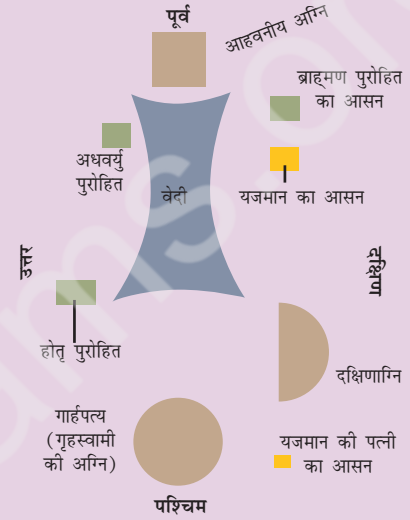
चित्र 5.1: **यज्ञ क्षेत्र का आरेख**

अग्निहोत्र नामक यज्ञ दैनिक रूप से संपादित किया जाने वाला एक घरेलू यज्ञ था, जो सभी द्विजों के घर में सुबह और शाम किया जाता था। इस यज्ञ के अंतर्गत् अग्नि देवता को दूध तथा अन्य सामग्रियां होम् के रूप में चढ़ायी जाती थीं। पृथक रूप से अमावस्या और पूर्णिमा तथा अन्य पूज्य तिथियों पर, तीनों ऋतुओं के प्रारंभ में विशेष यज्ञों का आयोजन किया जाता था। ऐसा माना जा सकता है कि जो बहुत विशाल यज्ञों का आयोजन होता था, वैसे अनुष्ठान के यजमान को यज्ञ के पहले दीक्षित होना पड़ता था और कई प्रकार के नियमों को पालन करना पड़ता था। यज्ञ के अनुष्ठान में दक्षिणा एक आवश्यक हिस्सा थी और जैसे-जैसे यज्ञों में जटिलताएं बढ़ती गयीं, दक्षिणा का अनुपात भी बढ़ता गया।

राजतंत्र के विकास के साथ बहुत सारे जटिल यज्ञ कर्मकाण्डों को भी जोड़ा गया। वाजपेय यज्ञ में समृद्धि और शक्ति की प्राप्ति के लिए अनुष्ठानों का आयोजन होता था तथा इससे बहुत सारे प्रजनन क्षमता से जुड़े अनुष्ठान भी जोड़ दिये गए थे। इसमें एक औपचारिक, एक अनुष्ठानिक रथदौड़ होती थी जिसमें राजन् अपने बंधु-बांधवों के विरुद्ध रथों की दौड़ में विजयी होता था। अश्वमेध यज्ञ में सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान किया जाता था और इस यज्ञ में भी कई अतिरिक्त प्रजनन सम्बंधी अनुष्ठानों को जोड़ दिया गया था। राजसूय यज्ञ राजाभिषेक के अनुष्ठान को कहते हैं। इसमें भी बहुत सारे कृषि की उर्वरा शक्ति और प्रजनन क्षमता से जुड़े अनुष्ठान सम्मिलित थे। इसमें एक अवसर पर राजन् अपने बंधु-बांधवों के पशुधन का हरण करता था। दूसरे अवसर पर वह चौसर के खेल में उनमें विजयी होता था। ये सब प्रतीकात्मक स्तर पर किये जाते थे। राजसूय यज्ञ से जुड़ी यह मान्यता थी कि इस सृष्टि के निर्माण और अंत के चक्रीय प्रक्रिया के केंद्र में राजन् खड़ा है (हिस्टेरमैन, 1957)।

उपनिषद्

'उपनिषद्' का शाब्दिक अर्थ होता है किसी के निकट बैठना। सामान्यत: यह माना जाता रहा है कि गुरू के समक्ष शिष्य बैठते थे, इससे उपनिषद् की संज्ञा दी गयी। वैकल्पिक रूप से ऐसा भी हो सकता है कि उपनिषद् में निरंतर उपमा अथवा तुलना जैसे अलंकारों का उपयोग किया गया है इसलिए उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। उपनिषदों में जो ज्ञान प्रतिबिंबित होता है वह सामान्य स्तर का ज्ञान नहीं था, क्योंकि जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने की अवधारणा इसमें विस्तारपूर्वक उल्लिखित है और यह कुछ चयनित छात्रों को ही बतलाया जा सकता

था, आम आदमी को नहीं। इस तरह की अवधारणाओं को समझाना कठिन तो है ही, इनको समझना इससे कहीं और अधिक कठिन है। उस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान का साक्षात्कार, शास्त्रार्थों, विमर्शों, कथाओं, उपमा, अलंकारों इत्यादि के प्रयोग के द्वारा समझने-समझाने का प्रयास किया जाता रहा।

सबसे प्राचीन उपनिषद् गद्यात्मक हैं। बाद के उपनिषद् पद्यात्मक हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्* और *छान्दोग्य उपनिषद्* सबसे प्रारंभिक उपनिषद्ों में आते हैं। उपनिषद् और आरण्यक एक ही प्रकार की विषय वस्तु की चर्चा करते हैं इसलिए कई बार दोनों कोटियों के ग्रंथों के बीच भिन्नता दिखलाना संभव नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए *बृहदारण्यक उपनिषद्* को एक ओर *आरण्यक* भी कहा जाता है, दूसरी ओर उपनिषद् भी। प्रारंभिक उपनिषदों का काल ल. 1000-500 सा.सं.पू. माना जाता है और बाद के उपनिषद् उससे कहीं बाद के काल के हैं। उपनिषद् के इन ग्रंथों में उन विचारों और व्यवहारों को पहली बार स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली जो आज भारतीय दर्शन अथवा हिंदू धर्म की आधारशिलाएं हैं। इनमें कर्म, पुनर्जन्म, शाश्वत सत्य जैसी अवधारणाएं आती हैं। उपनिषदों में योग और ध्यान की भी चर्चा की गयी है।

दरअसल, उपनिषदों की रचना उत्तर भारत के विभिन्न भागों में कई शताब्दियों में की गयी। इसलिए यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि इसे एकल व्यवस्थित विचार की अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता। उपनिषद्ों में बहुत से विषयों की चर्चा की गयी है किन्तु दो आधारभूत विषय हैं—आत्मा और ब्रह्म। आत्मा और ब्रह्म के बीच के अंतर्सम्बंध और इनकी व्याख्या उपनिषदों के केंद्र में रही हैं।

ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति 'बृह्' मूल अक्षर से हुई है जिसका अर्थ होता है दृढ़ होना, स्थायी होना। *ऋग्वेद* में ब्रह्म का उल्लेख तो है किन्तु आत्मा का नहीं। ब्रह्म के द्वारा भौतिक समृद्धि प्राप्त होती है और ब्रह्म ही वह शाश्वत जीवनदायिनी शक्ति है जो सभी जीवों में अभिव्यक्ति पाती है। ब्रह्म को व्यक्त करने के लिए उपनिषद् में अलग-अलग विचारों का प्रयोग किया गया है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ब्रह्म जैसे गूढ़ तथ्य को समझाना उपनिषदों के लिए भी कठिन रहा होगा। *केन उपनिषद्* (2.1) के अनुसार, स्वयं देवता भी ब्रह्म को समझ नहीं सकते और वैसे लोग अज्ञानी हैं जो ऐसा मानते हैं कि वे ब्रह्म को समझते हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्*' (3.1.1) के अनुसार, ब्रह्म वह है जिससे सभी जीवों की उत्पत्ति हुई है, सभी जीवों का पालन होता है और जिसमें सभी जीव अंत में विलीन हो जाते हैं। ब्रह्म शास्वत् है और इस ब्रह्मांड का अमर सत्य है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (3.8.11) में एक प्रसंग आता है कि ऋषि याज्ञवल्क्य

प्राथमिक स्रोत

उद्दालक आरूणि के अनुसार, आत्मा

छान्दाग्य उपनिषद् में अधोलिखित कथा उद्धृत की गयी है—एक दिन उद्दालक आरूणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को आदेश देते हैं कि अब वह ब्रह्मचर्य जीवन का वरण करे और अध्ययन का कार्य करे क्योंकि अब तक उनका परिवार केवल कहने को ब्राह्मण है, किसी ने भी अध्ययन के लिए स्वयं को समर्पित नहीं किया है। श्वेतकेतु उनके आदेशानुसार ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने के लिए बारह वर्ष की आयु में घर से बाहर निकल पड़ता है। चौबीस वर्ष की आयु में जब वह घर लौटता है, उस समय तक उसने सभी वेदों का अध्ययन कर लिया है, किन्तु इसके कारण अब उसका सिर घमंड से चूर हो चुका है, उसके पिता उद्दालक आरूणि उसकी इस मन: स्थिति को समझते हैं। वे श्वेतकेतु को भिन्न-भिन्न विषयों पर ज्ञान देते हैं और अपने पुत्र को यह अनुभव कराते हैं कि वह कितना कम जानता है। पिता और पुत्र के बीच छान्दोग्य उपनिषद् (6.13.3) में उद्धृत यह संवाद है उद्दालक आत्मा के स्वरूप को समझाने के लिए श्वेतकेतु के समक्ष जिस उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग करते हैं वह अद्वितीय है। यहां पर प्रस्तुत संवाद में पहले उद्दालक का कथन है, जो पिता भी है, और उसके बाद बीच-बीच में पुत्र उसका उत्तर दे रहा है।

बरगद का एक फल लाओ।
वह यहां है आर्य।
इसे काटो,
इसे मैंने काट दिया है आर्य।
उसमें तुम क्या देखते हो।

मैं इन सूक्ष्म बीजों को देख रहा हूँ आर्य।
अब उनमें से एक को निकालो और उसको भी काटो।
मैंने उसको काट दिया है आर्य,
अब तुम क्या देखते हो?
कुछ भी नहीं आर्य।

तब उद्लक कहते हैं:

"पुत्र, जिसे तुम नहीं देख रहे हो वही सबसे उत्कृष्ट और सर्वोच्च सत्य है। इस विशाल बरगद के वृक्ष का यही वास्तविक अस्तित्व है। मेरा विश्वास करो पुत्र यह जो सत्य है वह पूरे ब्रह्माण्ड का सार तत्व है, यही आत्मा है और वही तुम हो श्वेतकेतु।"

स्रोत: ओलिवेल, 1998: 255

अपनी पत्नी गार्गी से इस शाश्वत ब्रह्म के विषय में कहते हैं कि वह सब कुछ देखता है किन्तु उसे देखा नहीं जा सकता। *मुण्डक उपनिषद्* (1.1.7) के अनुसार, जिस प्रकार एक मकड़ा अपने चारों ओर जाल बुनता है, जिस प्रकार धरती पर वनस्पति उगते हैं अथवा शरीर पर बाल अपने आप बढ़ते हैं, उसी प्रकार यह संसार उस शाश्वत ब्रह्म की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। बाद के उपनिषद्दों में ब्रह्म की तुलना ईश्वर से की जाने लगी।

दूसरी ओर ब्रह्म यदि इस ब्रह्मांड में व्याप्त शाश्वत सत्य को कहते हैं तो आत्मा उसी शाश्वत सत्य का व्यक्तिगत स्वरूप है अर्थात् आत्मा किसी व्यक्ति के अंदर निवास करने वाला शाश्वत सत्य है। उपनिषद्दों में आत्मा की बहुत सारी व्याख्या उपलब्ध है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (3.7.23) के अनुसार, आत्मा वह है जो सब कुछ देखता है पर उसे देखा नहीं जा सकता, जो सब कुछ सुनता है किन्तु उसको सुना नहीं जा सकता, जो सब कुछ समझता है, किन्तु उसको समझा नहीं जा सकता, जो सब कुछ जानता है लेकिन उसे जाना नहीं जा सकता। *छान्दोग्य उपनिषद्* (3.14.2-3) के अनुसार, आत्मा हृदय की गहराई में अवस्थित है। वह चावल, जौ या सरसों के दाने से भी छोटा है अथवा बाजरे के दाने या बाजरे के छिलके से भी छोटा है। किन्तु दूसरी ओर आत्मा सम्पूर्ण धरती में व्याप्त है। सम्पूर्ण आकाश और सभी भुवनों को जोड़कर भी आत्मा को समेटा नहीं जा सकता।

इसी प्रकार *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में 'माया' शब्द का उल्लेख आया है। कुछ विद्वानों में यह मतभेद है कि इस तरह की अवधारणाएं प्रारंभिक उपनिषद्दों में आयी थी। माया को अधिकतर भ्रामक बतलाया गया है, किन्तु इसकी व्याख्या अन्य प्रकार से भी की गई है। माया को कभी अविद्या से भी जोड़ते हैं। माया वह गुण है, जिसके कारण व्यक्ति ब्रह्म को नहीं समझ सकता अथवा माया ही ईश्वर की रचनात्मक शक्ति है।

उपनिषद्दों के पहले ब्राह्मणों में भी जीवन-मृत्यु चक्र और पुनर्जन्म की अवधारणाएं आयी हैं। *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार, वैसे लोग जो यज्ञ-अनुष्ठानों को विधिवत् रूप से सम्पादित नहीं करते उनका पुनर्जन्म होता है और फिर से उनकी मृत्यु होती है। उसके अनुसार, भौतिक समृद्धि केवल उन्हीं को प्राप्त होती है जो इन यज्ञों का निष्पादन करते हैं और इसी ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि वैसे व्यक्ति को जो अच्छे सत्कर्म करते हैं उन्हें दो प्रकार की अग्नियों से मृत्यु के बाद गुजरना पड़ता है, जबकि सत्कर्म नहीं करने वाले लोग उस अग्नि के धुएं में ही विलीन हो जाते हैं। एक व्यक्ति का जन्म होता है और फिर उसकी मृत्यु होती है और वह अपने उस जन्म में किये गये पाप या पुण्य का भागीदार बनता है। कुछ उपनिषद्दों में आत्मा के एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करने की प्रक्रिया की व्याख्या की गयी है। मृत्यु और पुनर्जन्म अविद्या से जुड़ा हुआ है। इच्छाओं से जुड़ा हुआ है और जीवन-मृत्यु और पुनर्जन्म के इस चक्र से मुक्ति केवल ज्ञान के द्वारा हो सकती है। उपनिषद्दों के अनुसार, तीन लोक हैं—एक मृत्युलोक, जिसमें मनुष्य निवास करते हैं, दूसरा पितृलोक, जिसमें पूर्वज रहते हैं तथा तीसरा स्वर्गलोक जहां देवता निवास करते हैं। जो जन्म लेता है वो मृत्यु के बाद पितृ लोक को प्राप्त करता है जबकि वैसे लोग जो अमरत्व को प्राप्त करते हैं वे देवलोक में जाते हैं।

कुल मिलाकर उपनिषद् के विचारों का मुख्य उद्देश्य है ब्रह्म का साक्षात्कार करना। मोक्ष और मुक्ति का अर्थ है इस संसार के चक्र से ज्ञान के द्वारा मुक्ति पाना। ज्ञान केवल बौद्धिक प्रयासों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह एक प्रकार का साक्षात्कार है जो किसी के अंतः के आध्यात्मिक प्रेरणाओं से ही संभव हो पाता है और ऐसा रूपान्तरण एकाएक होता है। बाद के उपनिषद्दों में जिनमें *श्वेताश्वतर* प्रमुख है, यौगिक क्रियाओं पर बल देते हैं। उनके अनुसार, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग भी आवश्यक है, किन्तु दूसरी ओर उपनिषद्दों में यह भी सुझाव दिया गया है कि केवल यज्ञ-अनुष्ठान करने से और नैतिकता का आचरण बरतने से मूल उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। *छान्दोग्य उपनिषद्* (3.8.11) के अनुसार, एक प्रसंग में *याज्ञवल्क्य* अपनी पत्नी गार्गी से कहते हैं कि, यद्यपि, कोई मनुष्य नित्य यज्ञ-अनुष्ठानों में अपना समय व्यतीत करें अथवा हजारों साल वह तपस्या करे तब भी उसे कुछ भी हासिल नहीं हो सकता। किन्तु इसी ग्रंथ में (2.23.1) के अनुसार, वे लोग जो यज्ञ-अनुष्ठान इत्यादि का विधिवत् सम्पादन करते हैं, जो वेदों का पाठ करते हैं, जो दान इत्यादि देते हैं, जो तप करते हैं अथवा जो ब्रह्मचर्य का जीवन गुरुकुल में बिताते हैं और वेदों का अध्ययन करते हैं, वैसे व्यक्तियों को इस संसार के सभी पुण्य प्राप्त होते हैं। एक व्यक्ति जिसे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह अमरत्व को प्राप्त कर सकता है।

बाद में उपनिषद् में विचारों की अनेक प्रकार से व्याख्याएं की जाने लगीं। इन व्याख्याओं को हम वेदान्त के रूप में जानते हैं। इन्हें ही उत्तर मीमांसा भी कहा गया है। ऐसे कथन कि 'तत् त्वम् असि' (तुम वह हो), 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) अथवा 'ब्रह्म-आत्मा-ऐक्यम्' (ब्रह्म और आत्मा की एकता) की भी अलग-अलग व्याख्या की जा सकती है। *भगवद्गीता* में उपनिषद् के सभी दर्शनों को मिलाकर एक सुव्यस्थित सैद्धांतिक रूप दिया गया। उपनिषद्दों की सबसे प्रभावशाली व्याख्या 9वीं शताब्दी के विचारक शंकर ने दी। शंकर की व्याख्या को अद्वैत वेदांत के नाम से जाना जाता है। उनके अनुसार, ब्रह्म केवल एक है, और वही सत्य है। उपनिषद्दों में जहां एक ओर इस

ब्रह्मांड सत्य को ब्रह्म से जोड़ा गया है वहीं दूसरी ओर यह बताया गया है कि ब्रह्म वह ईश्वर है जो इस संसार पर नियंत्रण रखता है। उपनिषद् के विचारों में जो विविधताएं और जटिलताएं हैं वह आश्चर्य की बात नहीं है और इसलिए बाद के विचारकों ने उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्याएं की हैं।

एक विचारधारा के अनुसार, उपनिषदों में यज्ञबलि प्रथा का विरोध या ब्राह्मणवादी परंपरा का विरोध अभिव्यक्त किया गया है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* के अनुसार, यज्ञों के करने से पितृ लोक में जा सकते हैं जबकि ज्ञान की प्राप्ति के बाद देवलोक को प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद् के ज्ञान को कई बार क्षत्रिय और राजन् वर्ग से जोड़ा गया है। ऐसा उपनिषदों में कई बार उल्लेख आया है कि ब्राह्मणों ने अजातशत्रु, अश्वपति, प्रवाहन जैसे राजाओं से ज्ञान अर्जित किया था। *छान्दोग्य उपनिषद्* 1.8-9 के अनुसार, प्रवाहन ने उद्दालक आरूणि को कहा कि ज्ञान कभी भी ब्राह्मणों की थाती नहीं रही है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* 3-4 में याज्ञवल्क्य के विचारों का खण्डन कई ब्राह्मणों ने किया किन्तु इनको राजा जनक के द्वारा काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उपनिषद् वैदिक ग्रंथों का एक अंग है, जो श्रुति समझे जाते हैं। प्रारंभिक वैदिक ग्रंथों और उपनिषदों में घनिष्ठ सम्बंध है। उपनिषद् यज्ञ बलि या अनुष्ठानों की आलोचना नहीं करते बल्कि इनको एक नया स्वरूप प्रदान करते हैं। इनकी नयी परिभाषाएं रखते हैं। अनुष्ठानों को उपनिषदों में प्रतीकात्मक रूप से उपमा अलंकारों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। आत्मा और ब्रह्म के बीच अनुष्ठानों और यज्ञों के द्वारा सम्बंध बनता है किन्तु ज्ञान के द्वारा इस प्रतीकात्मक सम्बंध को समझा जा सकता है। इसलिए उपनिषदों के अनुसार,

प्राथमिक स्रोत

विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए *अथर्ववेद* के मंत्र

एक स्त्री का प्रेम जीतने के लिए (*अथर्ववेद* 6.9):

जिस तरह लताएं वृक्ष को अपने आलिंगन में जकड़कर बांध लेती हैं, उसी तरह मुझको भी आलिंगनबद्ध करो, मेरी प्रेयसी बनो और हमसे अलग मत हो।

जिस तरह एक चील अपने शिकार को दबोचने के क्रम में सूर्य की ओर अपने पंख फड़फड़ाता है उसी तरह मेरे हृदय में तुम भी फैलो। मेरी प्रेयसी बनो और हमसे अलग मत हो।

जिस तरह सूर्य एक ही दिन में धरती और आकाश की परिक्रमा करता है, उसी तरह तुम मेरे हृदय की परिक्रमा करो, मेरी प्रेयसी बनो और हमसे अलग मत हो।

ज्वर के लिए (*अथर्ववेद* 5.22):

अग्नि ज्वर को यहां से दूर भगाएं, और वैसे ही सोम रस को पीसने वाले पत्थर, वरूण की शुद्ध इच्छा शक्ति तथा अग्नि वेदिका में प्रज्वलित हुई। अग्नि की हवि की लकड़ियां सभी शत्रुओं का नाश करे।

हे अग्नि जिस प्रकार आप अपने में समाहित सभी कुछ को जलाकर पीला करते हैं, उनका भक्षण करते हैं, उसी प्रकार आपके प्रभाव से यह ज्वर सरलता से भाग जाएगा, उन्हें नीचे भगाएं।

सभी शक्तियों को धारण करने वाली हे जड़ी-बूटियां, झुर्रियों वाले इस ज्वर को और झुर्रियों की इस पुत्री को जो लाल चूर्ण के समान है, नीचे फेंके।

नयी जगह पर आप आश्वस्त नहीं हैं। हालांकि, आप ताकतवर हैं, किन्तु हम पर दया करे, ज्वर को अपना सही स्थान मिल जाएगा, वो बहलिक (उत्तर पश्चिम में रहने वाले लोग) के पास चले जाएंगे।

इतनी ठंडक और फिर भी इतनी जलन, आप हमको खांसी से आक्रान्त कर देते हैं, आपका चरित्र काफी भयावह है, हे ज्वर! हमको अपने से मुक्ति दें।

अपने साथ, अपने सम्बंधियों को जैसी लम्बी चलने वाली कमजोरी अथवा खांसी, तेज चलने वाली सांसें फिर से वापस न आएं। जहां आप गए हैं वहीं चले जाएं। हे ज्वर! हम आपसे प्रार्थना करते हैं।

हे ज्वर! आप अपने भाई जो लम्बी कमजोरी है, आप अपनी बहन जो जानलेवा खांसी है, अपने चचेरे भाई खुज़ली सभी के साथ चले जाएं और दूसरे लोगों के साथ रहें।

ऐसा ज्वर जो तीन दिनों बाद लौट आता है तथा तीन दिनों के बाद समाप्त भी हो जाता है अथवा ऐसा ज्वर जो पतझड़ ज्वर कहलाता है जो बहुत दिनों तक रहता है जिसमें बाहर से ठंड लगती है, अंदर से शरीर जलता है अथवा ग्रीष्म का ज्वर अथवा वर्षा ऋतु का ज्वर सभी को दूर करें।

गंधार और मूजवंत के लोगों के पास अथवा अंग और मगध के लोगों के पास हम ज्वर को भेज रहे हैं। जिस तरह एक संवाद वाहक एक अच्छी चीजों को वहां ले जाता है।

स्रोत: रनू, 1971: 23-24

अनुष्ठानों के प्रतीकात्मक महत्त्व को समझने के लिए ज्ञान का साक्षात्कार अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। उन अनुष्ठानों को करने की अपेक्षा एक उदाहरण अश्वमेध यज्ञ का दिया जा सकता है जिसका वर्णन *बृहदारण्यक उपनिषद्* में इस प्रकार किया गया है कि अश्व का सिर उषा है, उसकी आंखें सूर्य हैं, उसकी सांसें वायु हैं और उसका मुख अग्नि है। अब इस प्रकार अश्वमेध यज्ञ को उपनिषदों ने एक नया आयाम और एक नया अर्थ प्रदान किया। उपनिषदों में कभी भी यज्ञ, अनुष्ठान इत्यादि को तिरस्कृत नहीं किया गया। केवल अनुष्ठानों के क्रियान्वयन की अपेक्षा उनसे जुड़े प्रतीकात्मक ज्ञान पर अधिक महत्त्व दिया गया।

जनसामान्य का धार्मिक व्यवहार

ब्राह्मण, उपनिषद् अथवा आरण्यक श्रेणी के ग्रन्थ कभी भी जन सामान्य की धार्मिक आस्थाओं और उनके व्यवहारों को अभिव्यक्त नहीं करते, बल्कि अथर्ववेद में मंत्रों और अन्य विधियों की चर्चा की गयी है जिनसे भौतिक समृद्धि, संतान, संतानों की प्राप्ति, स्वास्थ्य इत्यादि को अर्जित किया जा सकता है। इनका सरोकार आम आदमी से रहा होगा। *अथर्ववेद* में जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक संस्कारों की व्याख्या की गयी है और सस्कारों के विधिवत् अनुपालन को बतलाया गया है। हालांकि, यह वेदों में अंतिम वेद है फिर भी भाषा और शैली, विचारों और व्यवहारों की दृष्टि से इसमें निष्पादित तथ्य अति प्राचीन रहे होंगे और यह जन मानस और लोक व्यवहार से जुड़ा हुआ ग्रंथ प्रतीत होता है।

ल. 2000-500 सा.सं.पू. के बीच भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों का पुरातात्त्विक विवरण

(Archeaological Profiles of Different Regions of the Subcontinent, c 2000-500 BCE)

अब हम ग्रंथों से पुरातत्त्व की ओर बढ़ते हैं। अध्याय के अग्रलिखित खण्ड में पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर उपरोक्त काल में परिलक्षित सांस्कृतिक विन्यासों का अध्ययन प्रस्तुत है। प्रस्तुत विमर्श का प्रारम्भ उसी बिन्दु से किया जा रहा है, जहां अध्याय-3 तथा 4 का अन्त किया गया था। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण विवेचना को दो हिस्सों में बांटा गया है—(1) नवपाषाणी-ताम्रपाषाण एवं ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ तथा (2) प्रारम्भिक लौहयुगीन संस्कृतियाँ। उपमहाद्वीप के कुछ क्षेत्रों और स्थलों को किसी भी अन्य कारण की अपेक्षा केंद्र में रखा गया है, क्योंकि उनके सम्बंध में पर्याप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध हैं। किन्तु एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस सम्पूर्ण अवधि में आखेटक-संग्राहक समुदायों का निश्चित रूप से अस्तित्व बना रहा होगा तथा इनके और कृषक-पशुपालक समुदायों के बीच सार्थक सम्बंध निरंतर बने रहे होंगे।

नवपाषाणीय–ताम्रपाषाण तथा ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ

उत्तर पश्चिम और उत्तरी क्षेत्र

जैसा कि अध्याय-4 में, चर्चा की जा चुकी है कि उत्तर पश्चिम में परिपक्व हड़प्पा संस्कृति के बाद उत्तर हड़प्पा संस्कृति का विकास हुआ था, जिसको सिन्ध में 'झूकर संस्कृति' तथा पंजाब में 'सिमेट्री-एच संस्कृति' की संज्ञा दी गई है। इस काल में मुख्य परिवर्तन यही हुआ कि हड़प्पा संस्कृति के नगरीकरण के तत्व पूर्ण रूप से गौण हो गए। झूकर संस्कृति की जानकारी झूकर, चन्हूदड़ो तथा आमरी के पुरातात्त्विक उत्खनन से मिली है। परिपक्व हड़प्पा संस्कृति की मृद्भाण्ड परम्परा सीमित रूप से विद्यमान रही। घनाकार बटखरे और मातृदेवी की प्रतिमाएं प्रायः नगण्य रूप से मिलने लगीं। आयताकार हड़प्पा सील मुहरों की जगह वृत्ताकार सील मुहरों ने ले लीं। लिपि का प्रदर्शन केवल मृद्भाण्डों के ठीकरों में देखा जा सकता है।

अन्य स्थानों के अतिरिक्त सीमेट्री-एच संस्कृति हड़प्पा में भी देखने को मिलती है। यहां सीमेट्री-एच संस्कृति के निम्न स्तर पर कब्रों में ज्यादातर विस्तारित शवाधान (एक्सटेंडेड बरियल) मौजूद हैं। इनके मृदभांडों में पूर्ववर्ती स्तरों से कुछ समानता दिखती है, परंतु कुछ नए आकार और डिजाइन के मृदभांड भी मिलते हैं। उपरी स्तर पर अस्थि-कलश में संग्रहित अस्थियों का बंडल मिला है। बहावलपुर के इलाके में एम.आर. मुगल द्वारा किए गए अध्ययनों से सीमेट्री-एच काल में बसावटों की संख्या, आवृत्ति और प्रकृति में परिवर्तन का संकेत प्राप्त होता है। हालांकि, कुछ बसावट (जैसे कुडवाल 31.1 हे., एवं चार स्थल - लुरेवाला, लुंडेवाली-II, गामूवाला थेर और शाहीवाला - 15-20 हे. के बीच) अपेक्षाकृत बड़े हैं, लेकिन ज्यादातर स्थल 5 हे. के नीचे और छोटे हैं।

सिमेट्री-H मृद्भाण्डों पर मिथकीय प्रतीक चिन्ह

सिमेट्री-एच अस्थि कलशों पर प्राकृतिक आरेख गढ़े गए (पत्ते, वृक्ष, तारें), किंतु इनके अतिरिक्त एक रोचक शृंखला भी प्राप्त होती है, जिन पर मिथकीय प्रतीक चिन्ह अंकित हैं। इनमें कुछ पर मनुष्य के साथ वाले मयूर मध्य भाग में बने हैं तथा गाय/बैल भी जिनके सींग पर पादप के समान कुछ चिपका होता है। एक दृश्य में दो लंबे सींगों वाले पशु हैं, जो परस्पर आमने सामने हैं। इनको लंबे बालों वाला एक पुरुष पकड़े हुए है। एक कुत्ता भय से एक पशु के पीछे छुपा हुआ है।

इन दृश्यों की अलग-अलग व्याख्याएं की गई हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें वेदों में वर्णित मृत्यु तथा मृत्यु के बाद के जीवन से जोड़ने का प्रयास किया है। फिर इस प्रकार की सभी व्याख्याएं मात्र कल्पना है।

चित्र 5.2: **सिमेट्री-एच मृद्भाण्डों की बनावट**

नगरीकरण काल के बहुत सारे हड़प्पा स्थलों को पूर्ण रूप से त्याग दिया गया, किन्तु उत्तर हड़प्पा संस्कृति की स्थापना बिल्कुल नए केंद्रों पर की गई। जहां इस क्षेत्र में परिपक्व हड़प्पा काल में 174 केंद्र अवस्थित थे, वहीं इनकी संख्या घटकर 50 के लगभग हो गई। विशेष औज़ार अथवा व्यवसायों से जुड़े केंद्रों के स्थान पर एक ही स्थान पर बहुआयामी शिल्प और व्यवसायों को विकसित किया गया। इस प्रकार आवासीय क्षेत्र ही शिल्प उत्पादन का क्षेत्र भी बन गया। अल्पकालिक निवास स्थलों की संख्या में वृद्धि स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इस क्षेत्र में परिपक्व संस्कृति का अवसान, हकरा नदी के शुष्कीकरण की प्रक्रिया से जुड़ा प्रतीत होता है।

हिन्दुकुश पर्वत के दोनों ओर पेशावर से चित्राल क्षेत्र के बीच में एक विशिष्ट संस्कृति को रेखांकित किया गया है, जिसे गंधार की कब्र संस्कृति कहते हैं। कार्बन-14 के आधार पर यह संस्कृति ल. 1710-200 सा.सं.पू. के बीच विकसित हुई। इस संस्कृति से जुड़े प्रमुख स्थलों में लोबनर, अलीग्राम, बीरकोट घुण्डई, खेरारी, तीमारगढ़, लाल बटाई, कलाकोदीरे, बालमबाट और ज़रीफकरूणा हैं। शवों को लगभग बेलनाकार गड्ढों में दफनाया जाता था। दफनाने के बाद इन गड्ढों को पत्थर के तख्तों से ढक दिया जाता था। कब्र के गड्ढे के दो भाग होते थे। एक बहृत्तर गड्ढे के अंदर एक और गड्ढा खोदा जाता था। ऊपरी गड्ढे को मिट्टी और काठ कोयले से भरा जाता था। इसके ऊपर चारों तरफ से पत्थर से घेर दिया जाता था। यहां तीन तरह के शवाधान दिखाई देते हैं - संकुचित शवाधान, दाह संस्कार के बाद शवाधान जिसमें अस्थिकलश शामिल हैं और आंशिक शवाधान। एकल और बहुल दोनों तरह के शवाधान मिलते हैं। इसी संस्कृति से जुड़े कटेलाई नामक स्थान से दो कब्र ऐसे मिले हैं, जिनमें मालिक के साथ उनके घोड़ों को दफनाया गया था। कब्र की सामग्रियों में विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्डों (जैसे भारी मात्रा में सादा, हलका पीला-लाल या धूसर मृदभांड जो कई प्रकार के आकारों जैसे लंबी सुराही, पाएदार प्याले, खुले मुंह वाले चषक, आदि) के अतिरिक्त कभी-कभी स्त्री की मृण्मूर्तियाँ भी मिलती हैं, जिनके स्तनों पर गोटेदार कलाकृति की गई थी। कटेलाई के एक अन्य कब्र से घोड़े का एक काँस्य मॉडल मिला है। इस संस्कृति में लोहे का प्रयोग प्राय: नगण्य था।

चित्र 5.3: **गांधार कब्र संस्कृति में शवों को दफनाने का दृश्य, लोएबन्र**

घालीगई गुफाओं से गंधार की कब्र संस्कृति के प्रारम्भिक, मध्य और अन्तिम चरण को स्पष्ट रूप से चिन्हित किया जा सकता है (क्रमश: V, VI, VII)। इस संस्कृति के प्रारम्भिक चरण में अधिकांश कब्र

मानचित्र 5.1: **भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख नवपाषाण-ताम्रपाषाण स्थल**

पहाड़ियों की ढाल पर अवस्थित हैं। कब्रों पर पत्थर के तख्तों को उदग्र एवं क्षैतिज रूप में व्यवस्थित किया गया है। शवाधान की अपेक्षा दाह-संस्कार के पश्चात् अंत्येष्टि क्रिया को प्राथमिकता दी गई है। प्रमुख संरचनाओं में आयताकार पाषाणीय भवनों को चिन्हित किया जा सकता है। चाक पर बने मिट्टी के बर्तनों के अलावा अनगिनत ताम्र-काँस्य सामग्रियाँ मिली हैं। इस संस्कृति के मध्यम चरण में (VI) अंत्येष्टि क्रिया के अंतर्गत् अस्थि कलश को दफनाने की जगह शवाधान को प्राथमिकता दी गई थी। मृद्भाण्ड के स्वरूप में उत्कृष्ट परिवर्तन देखा जा सकता है। ताम्बे का प्रयोग पहले की तरह होता रहा। गंधार की कब्र संस्कृति के अन्तिम चरण (VII) में लाल मृद्भाण्ड और टेराकोटा की मानवीय मृण्मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं। लोहे के प्रयोग की शुरुआत इसी काल में हुई। गंधार की कब्र संस्कृति के कालखंड-V-VII के मृदभांडों और मध्य एशिया की समकालीन मृदभांड संस्कृतियों में काफी समानताएं देखी गईं।

कश्मीर के बुर्जहोम और गुफ्क्राल जैसे स्थानों पर नवपाषाण काल के तुरन्त बाद महापाषाण काल-II का प्रादुर्भाव हुआ। महापाषाण या मेगालिथ चट्टानों से बने तख्तों की बड़ी संरचनाओं को कहते हैं। बुर्जहोम में विशाल 'मेनहिर'

(लम्बे एकल पत्थर) तथा महापाषाणीय वृत्ताकार संरचना पायी गयी है। पूर्व से विद्यमान धूसर या काले चमकीले मृद्भाण्डों का स्थान साधारण लाल मृद्भाण्डों ने ले लिया। यहां से कुछ धातु की सामग्रियाँ कम उपलब्ध हुई हैं।

गुफ्क्राल के मेगालिथिक काल-II से गिरे हुए मेनहिरों को पाया गया है। बसावट की परत 50-60 से.मी. मोटी है। इस स्थान पर अवस्थित आवासीय क्षेत्र का फर्श समान रूप से 10 सेण्टीमीटर मोटाई वाला, बना हुआ था। फर्श के बीच-बीच में व्यर्थ सामग्रियों के विसर्जन के लिए गड्ढे बनाए गए थे, जिनमें टूटे हुए मृद्भाण्ड और जन्तुओं की हड्डियाँ पायी गयी हैं। नवपाषाण काल-I के प्रायः सभी मृद्भाण्ड जैसे चमकीला धूसर भांड, कंकरीला लाल मृदभांड, मोटा फीका लाल मृदभांड आदि मौजूद हैं, परंतु चाक निर्मित मृदभांड और फीका लाल मृदभांड सबसे अधिक संख्या में मौजूद हैं, जो महापाषाण काल में भी देखे जा सकते हैं। यहां बड़ी संख्या में पूर्ण निर्मित और अर्ध निर्मित पत्थर के छल्ले भी पाए गए हैं। ताम्बे, लकड़ी और हड्डियों से बनी सामग्रियों जैसे तांब की नोंक, लकड़ी से बना मनका, मूसल, चरखा, सूआ और लघु-पात्र आदि की प्रचुरता है। हड्डी से बने औज़ारों की संख्या में गिरावट आती है परन्तु इसमें कई प्रकार के नए प्रयोग देखने को मिलते हैं। भेड़/बकरी, के 'टिबिया' से बने औज़ार पहली बार प्रयोग में देखे गए। महापाषाणीय काल के अन्तिम चरण में चावल उगाया जाने लगा। मवेशियों की अपेक्षा भेड़-बकरियों की हड्डियाँ अधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं। महापाषाणीय गुफ्क्राल लोहे के प्रारंभिक उपयोग से जुड़ा है।

लद्दाख के कियारी से ठीक वैसी ही हस्तनिर्मित मृदभांड की प्राप्ति हुई है, जैसा कि बुर्जहोम कालखंड- से मिला है। संरचनात्मक अवशेषों में तंदूर पाए गए हैं। पत्थर के बने उपकरण जैसे पैर से चलाए जाने वाली चक्की, सिलबट्टा, घोंटनी आदि भी प्राप्त हुए हैं। पालतू मवेशी, भेड़ और बकरियों की हड्डियां भी मौजूद हैं। कियारी से प्राप्त अंशशोधित तिथि 1000+ सा.सं.पू. की है (चक्रवर्ती, 1999 : 207)।

उत्तराखण्ड के हिमालय क्षेत्र में स्थित अल्मोड़ा में 'डॉलमेन', 'केर्न', 'मेनहिर' तथा 'सिस्ट' सभी प्रकार की महापाषाणीय कब्र व्यवस्था देखी जा सकती है (महापाषाणीय कब्रों के उक्त प्रकारों की व्याख्या अगले खण्ड में की गई है)। यहां के सिस्ट प्रकार के महापाषाणीय कब्रों में लाल, धूसर और काले घड़े, टोटीं वाले (स्पाउटेड) लोटे के अतिरिक्त अश्वों के कब्र भी जुड़े हैं।

सिन्धु-गंगा विभाजन रेखा, ऊपरी गंगा नदी घाटी तथा दोआब क्षेत्र

उत्तर हड़प्पा चरण

यमुना और सतलुज नदियों के बीच में उत्तरी हड़प्पा चरण से जुड़ी 563 बस्तियों को चिन्हित किया गया है। अधिकांश स्थलों का आकार 5 हेक्टेयर से कम है। संघोल (लुधियाना जिला, पंजाब) में इस काल से मिट्टी के फर्श, चूल्हे, मिट्टी के ईंटों की संरचनाएं, भण्डारण के लिए बनाए गए गड्ढे तथा अग्निवेदिकाएं मिली हैं। इस काल के एक-दूसरे स्थल, दधेरी में मिट्टी के घरों को मिट्टी के ऊँचे प्लेटफार्म पर बनाया गया था। यहां पाई गई सामग्रियों में ताम्बे और टेराकोटा की बनी वस्तुओं के अतिरिक्त बड़ी मात्रा में कार्नेलियन और लाजवर्द के मनके पाए गए हैं। हरियाणा के बनावली में मिट्टी के घरों के अतिरिक्त कई प्रकार के उपकरणों जैसे फेयंस के जेवर, अर्ध कीमती पत्थरों के मनके और तांबा, टेराकोटा और कच्ची मिट्टी की बनी सामग्रियां आदि के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं।

उत्तर हड़प्पा स्तर से प्राप्त मृद्भाण्ड, भोरगढ़, दिल्ली

संघोल में ल. 1900-1400 सा.सं.पू. के बीच के काल के उत्तर हड़प्पा संस्कृति से जुड़ी प्राप्तियों में वनस्पतियों की विविध प्रजातियों की प्राप्तियाँ हुई हैं (सारस्वत, 1996-97) । पुरा-वनस्पतिक अवशेषों के विश्लेषण से सारस्वत ने छिलकादार जौ, छिलकाहीन जौ, बौना गेंहू, सामान्य गेंहू, ज्वार, बाजरा, खेसारी, मटर, चना, कुलथी, मसूर, बरसीम, कंगनी, तीसी और तिल की पहचान की है। इनमें सेम (हायासिन्ध बीन), अंगूर, संतरे, करौंदा, आँवला के अतिरिक्त पॉपी (अफीम) के बीज भी पाए गए हैं। इसी काल के मोहराना

आधुनिक अनुसंधान

सनौली का कब्रगाह

बागपत जिला (उत्तर प्रदेश) के सनौली में हुए उत्खननों से एक बहुत विशाल उत्तर हड़प्पा कालीन सिमेट्री (कब्रगाह) की प्राप्ति हुई है। इस उत्खनन कार्य का संचालन डी.वी. शर्मा और उनकी टीम ने किया। हालांकि, इसके उत्खनन कर्त्ता इस कब्रगाह को परिपक्व हड़प्पा काल का ही मानते हैं। इस स्थल में चारों ओर गन्ने के सघन खेत थे इसलिए पूरे क्षेत्र का आकार पता लगाना कठिन था। वर्तमान में यमुना नदी यहां से 6 किलो मीटर पश्चिम में बहती है किन्तु आद्य ऐतिहासिक काल में यह नजदीक से बहती होगी। सनौली के अवशेषों का काल ल. 2200-1800 सा.सं.पू. तय किया गया है और परिपक्व हड़प्पा काल अथवा उत्तर हड़प्पा काल के अन्य स्थलों से इसका स्पष्ट सादृश्य देखा जा सकता है। लेकिन इस कब्रगाह की अपनी ही विशिष्टताएं हैं।

अभी तक 116 कब्रों को खोदा जा चुका है। सभी शव उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व दिशा में लेटा कर गाड़े गए थे। इनमें से 52 शवों को लेटाकर दफनाया गया था इसके अतिरिक्त 35 द्वितीयक कब्रगाह थे और 29 कब्रों में कोई भी मानवीय अवशेष नहीं दिखलाई पड़े। इस आधार पर इनको प्रतीकात्मक कब्रगाह माना जा रहा है। एक जुड़वां कब्रगाह (कब्र 27) पाया गया जिनमें तीस-पैंतीस साल के दो पुरुषों का शव रखा हुआ था। कब्र की अन्य वस्तुओं में फ्लास्क के आकार के बर्तन ओर कुछ रिमविहीन पात्र शवों के शीर्ष के पास पाए गए। कब्र के बीच में हड़प्पा सभ्यता के प्रसिद्ध पात्र (डिश ऑन स्टैंड) पाया गया है। एक लम्बा स्टीटाइट का मनका और एक सफेद बैंड वाला अगेट का मनका भी पाया गया है। इस कब्र से केवल एक माथे की खोपड़ी पाई गयी है। तीन शवों वाला एक कब्र (कब्र 69) भी पाया गया है जिसके साथ दो अस्थि कलश भी पाए गए हैं। यह द्वितीयक कब्र का उदाहरण है। यहां भी उल्टा करके एक माथे की खोपड़ी पाई गयी है। किन्तु सामान्य रूप से खोपड़ी का अनुपस्थित होना शायद इनकी मृत्यु की असाधारण परिस्थितियों का द्योतक हैं। इस कब्र में 21 मृद्भाण्ड के टुकड़े पाए गये हैं जिसमें तीन डिश-ऑन-स्टैंड कोटि के पात्र तथा दो मटके पाए गये हैं। जिनके ऊपरी भाग में बैल के सिर का आकार बना हुआ था।

एक प्रतीकात्मक कब्र (कब्र 28) के ऊपरी हिस्से में दो मशरूम आकार के डिश-ऑन-स्टैंड पात्र पाए गए हैं। वायलिन के आकार का एक तांबे का पात्र पाया गया है जिसमें 28 बिल्कुल पतले ताम्र चादर पाए गए हैं। जो छह पंक्तियों में सजे हुए थे। कब्रगाह के पूर्वी हिस्से में पकी हुई ईंटों की एक दीवार भी पायी गई है। एक अन्य प्रतीकात्मक कब्र (कब्र 106) में स्टीटाइट (सेलखड़ी) से बनी कुछ आकृतियां पायी गयी हैं जो मानव आकार के पुतले प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण कब्रगाह के लगभग बीच में मिट्टी को खोदकर गड्ढा बनाया गया है शायद जिसमें शवों का दाह-संस्कार किया जाता था।

इस प्रकार इन कब्रों में तांबे, स्वर्ण आभूषण, कंगन, मनके, स्टीटाइट और

कांच की बहुत सारी सामग्री भी मिली है। एक कब्र में ताबें का बना एक तलवार मिला है। यहां की प्राप्तियों से ऐसा भी अनुमान लगता है कि यहां पर पशुओं की बलि की प्रथा भी जुड़ी हुई थी।

सनौली के कब्रगाह में पाएदार तश्तरी श्रेणी के पात्र महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से जो मशरूम के आकार का डिश-ऑन-स्टैंड पात्र पाया गया है वह किसी भी अन्य हड़प्पा स्थल से नहीं मिलता है। सामान्यत: कब्र की सभी सामग्रियां या तो शव के सिर के पास रखी गई थी, या उनके कमर के पास, या कभी-कभी उनके पैरों के नजदीक। एक कब्र में एक पात्र में बकरे का सिर भी पाया गया है जो शायद शव के साथ अर्पित किया गया था।

एस.आर. वालिम्बे ने यहां से पाए गए चालीस शवों की हड्डियों का अध्ययन किया जिनमें दस पुरुष और सात महिलाओं की हड्डियाँ थीं। अन्य सत्रह शवों के लिंग का पता नहीं लगाया जा सका। इन कब्रों में पांच बच्चों के शव का अध्ययन किया गया उनमें से एक दो साल, दो तीन-पांच साल के तथा दो लगभग दस साल के थे। छ: किशोरों के शव भी पाए गए। इस प्रकार के विशाल और अद्भुत कब्रगाह का जुड़ाव निश्चित रूप से किसी बहुत विशाल आवासीय क्षेत्र से रहा होगा। हालांकि, ऐसे आवासीय स्थल का पता नहीं लगाया जा सका है।

स्रोत: डी.वी. शर्मा एवं अन्य, 2005-06

नामक स्थान से छिलकादार और छिलकाहीन छह धारी जौ, बौना गेंहू, डंठलदार गेंहू, मसूर और अंगूर के अवशेष पाए गए हैं।

दोआब क्षेत्र में ताम्र पाषाण सांस्कृतिक परिदृश्य चार क्रमों में चिन्हित किया जा सकता है—(1) उत्तर हड़प्पा चरण, (2) गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति (ओसीपी), (3) ताम्र संग्रह (कॉपर होर्ड) संस्कृति और 4. ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड (बीआरडब्ल्यू) संस्कृति। उपरोक्त संस्कृतियों का विस्तार कई बार दोआब क्षेत्र के बाहर भी देखा जा सकता है। दोआब क्षेत्र में उत्तर हड़प्पा संस्कृति से जुड़े 70 स्थल चिन्हित किए गए हैं, जिनमें से अधिकांश यमुना की सहायक नदियों–हिंडन, कृष्णि, काठनाला तथा मशकरा के किनारे पाए गए हैं। ऐसे अधिकांश स्थल काफी छोटे आकार के हैं। दो स्थलों के बीच की सामान्य दूरी 8-12 कि.मी. है। प्रमुख रूप से तीन स्थलों का अध्ययन किया गया है—मेरठ जिला के आलमगीरपुर और सहारनपुर जिला में हुलास और बड़गाँव। हुलास में उत्तर हड़प्पा संस्कृति ल. 2000-1000 सा.सं.पू. के बीच विद्यमान थी।

किन्तु दोआब क्षेत्र के उत्तर हड़प्पा स्थलों से संरचनात्मक प्रमाणों की अनुपलब्धता है। कुछ प्रमुख संरचनाओं में हुलास के मिट्टी की ईंटों से बनी आयताकार संरचनाएं आती हैं। बाद में इन मिट्टी के घरों के भीतर 2 या 3 वृत्ताकार झोपड़ियाँ भी बनायी जाने लगीं, शायद जिनका उपयोग अन्नागार के रूप में किया जाता होगा। अन्तिम चरण में इन्हीं संरचनाओं में पांच बड़े चूल्हे बनाए गए थे। हुलास और आलमगीरपुर से इस काल में भट्टे में पक्की ईंटों का प्रयोग भी शुरू हुआ। दोआब क्षेत्र में उत्तर हड़प्पा काल में हाथ और चाक दोनों पर मृद्भाण्ड बनाए जाते थे। सामान्य कोटि के और उत्कृष्ट कोटि के मृद्भाण्ड बनते थे। मृद्भाण्डों पर लाल रंग का लेप और ज्यामितिय और प्राकृतिक डिजाइन काले रंग से बनाए जाते थे। कुछ मिट्टी के बर्तनों पर उकेर कर डिजाइन बनाया गया है। इन स्थलों पर प्राप्त अन्य उपकरणों में चर्ट ब्लेड, पत्थर की ओखली-मूसल, हड्डी का नोंक आदि शामिल हैं। आलमगीरपुर और बड़गाँव से ताँबे की कुछ वस्तुएं मिली हैं। टेराकोटा की चूड़ियाँ और मनके यहां की विशेषता थी। प्राप्त गहनों में टेराकोटा, कार्नेलियन और सेलखड़ी की चूड़ियां; टेराकोटा, सेलखड़ी, अगेट, कार्नेलियन और फेयंस के बने मनके आदि देखे जा सकते हैं। टेराकोटे के पहियों वाले खिलौने और तिकोने चकती भी बनते थे।

परिपक्व हड़प्पा चरण में इस क्षेत्र में जौ और गेहूँ की खेती होती थी, जो उत्तर हड़प्पा चरण में भी देखी जा सकती है। हुलास और उन नामक स्थानों पर चावल की भुस्सी पाई गई है। हुलास से प्राप्त कृषि किए जाने वाली फसलों की सूची आकर्षक है। वनस्पतिक अवशेषों में - धान, जौ, बौना गेंहू, सामान्य गेंहू (ब्रेड वीट), डंठलदार गेंहूं, जई, ज्वार, रागी (मडुआ), मसूर, मटर, कुलथी, मूंग, चना, लोबिया (टूटा हुआ), कपास, अंडी, बादाम, अखरोट, फलों और जंगली घासों के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर हड़प्पा काल में दोआब क्षेत्र में समृद्ध कृषक समुदाय निवास करते थे।

गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति

गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति की खोज पहली बार 1950-51 में पश्चिम उत्तर प्रदेश के बिसौली (बदायूँ जिला) तथा राजपुर परसु (बिजनौर जिला) नामक स्थलों पर की गई। यह एक सामान्य कोटि का मृद्भाण्ड है, जिन्हें चाक पर बनाया जाता था। इन पर गहरे लाल रंग का लेप तथा काले रंग की कलाकृतियाँ देखी जा सकती हैं। कुछ ठिकरों पर पकाए जाने के बाद उत्कीर्ण की गई ग्राफिटी को भी देखा जा सकता है। इस श्रेणी के मृद्भाण्डों का यह नाम इसलिए पड़ा कि इनको हाथों से रगड़ने से गैरिक रंग ऊंगलियों में लग जाता है। यह या तो पानी के
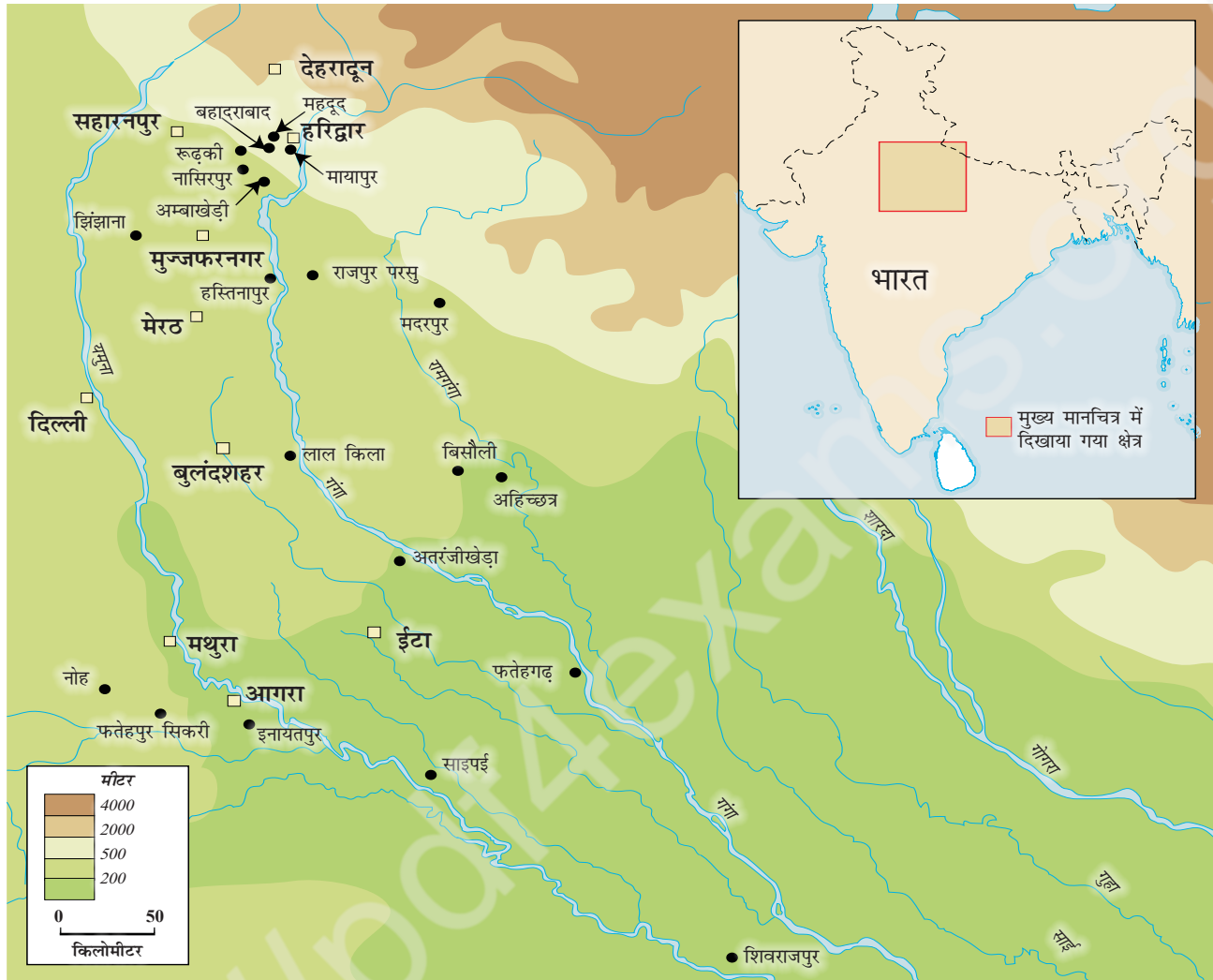
मानचित्र 5.2: **गैरिक मृद्भाण्ड स्थल**

अंदर रहने के कारण हुआ होगा या फिर हवा या भट्ठी में ठीक से न पकने के कारण होता होगा। हो सकता है यह कच्चा रंग इन सब कारणों का मिलाजुला परिणाम हो।

गैरिक मृद्भाण्ड सम्पूर्ण दोआब क्षेत्र में पाए जाते हैं, किन्तु पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सहारनपुर, मुज्जफरनगर, मेरठ और बुलन्दशहर में इनका विशेष केंद्रीकरण है। केवल सहारनपुर जिले से 80 गैरिक मृद्भाण्ड स्थल पाए गए हैं। उपरोक्त क्षेत्र के बाहर उत्तर प्रदेश के हरिद्वार के निकट बहादराबाद से लेकर राजस्थान के नोह और जोधपुरा तक उत्तर से दक्षिण में इनका विस्तार देखा जा सकता है। पूरब से पश्चिम, ये जालंधर के निकट कठपालों से लेकर बरेली के निकट अहिच्छत्र तक पाए गए हैं। ऐसा अनुमान है कि राजस्थान में गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति दोआब की अपेक्षा अधिक पुरानी है।

हस्तिनापुर, अहिच्छत्र और झिनझाना में गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति और चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के बीच पुरातात्त्विक रिक्तता का काल है जबकि अतरंजीखेड़ा और नोह जैसे स्थलों पर ओसीपी सांस्कृतिक स्तर के तुरन्त बाद ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड और तत्पश्चात् चित्रित धूसर मृद्भाण्डका सांस्कृतिक स्तर देखा जा सकता है। बड़गाँव और अम्बाखेरी जैसे कुछ स्थानों पर उत्तर हड़प्पा संस्कृति और गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति को साथ-साथ देखा जा सकता है। अभी भी कुछ पुरात्वविदों का मानना है कि ओसीपी, उत्तर हड़प्पा मृद्भाण्ड संस्कृति का ही एक फूहड़ संस्करण है। जबकि अन्य विद्वानों का मानना है कि यह एक स्वतंत्र मृद्भाण्ड परम्परा थी जो कुछ स्थानों पर हड़प्पा मृद्भाण्ड संस्कृति के द्वारा प्रभावित हुई। दरअसल, गैरिक मृद्भाण्ड परम्परा को दो श्रेणियों में
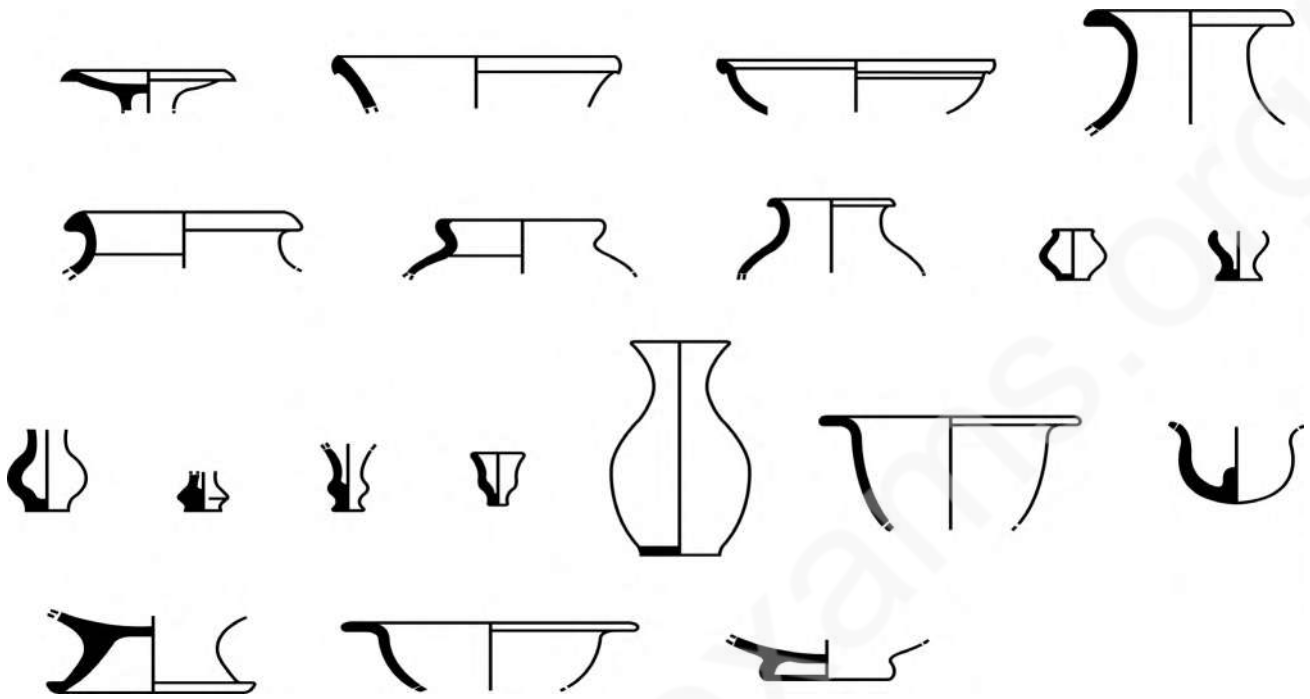
चित्र 5.4: **अंबाखेड़ी से प्राप्त गैरिक मृद्भाण्ड**

बांटा जा सकता है—(1) पश्चिमी संस्करण–जोधपुरा, सिसवाल, मिताथल, घारा, अम्बाखेरी और बड़गाँव जैसे स्थल, जो हड़प्पा मृद्भाण्ड परम्परा से प्रभावित थे और (2) पूर्वी संस्करण—लाल किला, अतरंजीखेड़ा, साइपई जैसे स्थल जहां हड़प्पा संस्कृति का प्रभाव इन मृद्भाण्डों पर नहीं देखा जा सकता।

गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति के विधिवत् रूप से उत्खनित स्थलों में लालकिला (बुलन्दशहर जिला), बहादराबाद और अम्बाखेड़ी (सहारनपुर जिला), अतरंजीखेड़ा (एटा जिला), अहिच्छत्र (बरेली जिला) तथा साइपई (इटावा जिला) हैं। गैरिक मृदभांड निक्षेप आमतौर पर उथला है, जिसकी मोटाई 0.5 मी. से 1.5 मी. के बीच देखी जा सकती है। इस मृद्भाण्ड संस्कृति से जुड़े प्रायः सभी स्थल 200-300 वर्गमीटर आकार के हैं। लालकिला का आकार 632 वर्गमीटर है जो शायद सबसे बड़ा होगा। सहारनपुर जिले में दो स्थलों के बीच औसत दूरी 4-6 कि.मी. और ऊपरी गंगा घाटी के अन्य हिस्सों में 5-8 कि.मी. है।

निक्षेप के अस्तव्यस्त स्वरूप और उत्खनन में अपेक्षाकृत छोटा क्षेत्र लिए जाने के कारण ज्यादातर गैरिक मृदभांड स्थलों पर बहुत ही कम संरचनात्मक अवशेष प्राप्त हुए हैं। लाल किला, अतरंजीखेड़ा, दौलतपुर और जोधपुरा से भीत के बने घरों के कुछ अवेशष प्राप्त हुए हैं। थोड़े बहुत कच्ची और पकी हुई ईंटें भी प्राप्त हुई हैं। अतरंजखेड़ी में लोग मिट्टी के घरों में रहते थे, जिनके ढांचों में बबूल, सीसो, साल, औंर चीड़ की लकड़ी के खंभों का प्रयोग किया जाता था। कच्चा कुंआ भी एक पाया गया है। जोधपुरा में कच्ची ईंटों को मिट्टी के गिलेवा से जोड़कर दीवार बनाई गई थी। लाल किला निश्चित रूप से एक महत्त्वपूर्ण बसावट रहा होगा, क्योंकि इसका आकार, संरचना और प्राप्त उपकरणों के प्रकार इस दिशा में संकेत करते हैं। कुछ भीत के बने आयताकार संरचनाओं के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जिनके फर्श मिट्टी के बने थे। संरचना को बनाने में कुछ खंभे और कच्ची ईंटों को गिलेवा पर जोड़कर तैयार दीवार का उपयोग किया गया है। संभव है कि ऐसे गड्ढे जिसमें अंदर से ईंटें नहीं लगाई गई थी वे कुंआ का काम करते थे।

गैरिक मृदभांड स्थलों पर मृदभांड के अतिरिक्त अन्य उपकरण बहुत कम मिलते हैं। पत्थर की वस्तुओं में चक्की और मनके मिलते हैं। लाल किला से हड्डियों के औज़ार मिले हैं। कई स्थलों पर थोड़े बहुत तांबे के सामान भी मिल जाते हैं। अतरंजीखेड़ा से तांबे का एक टुकड़ा और टेराकोटा के प्रगलन-पात्र का टूटा हुआ हिस्सा, जिसमें तांबे के कण सटे हुए थे, भी मिला है। साइपई में हुक लगा भाले का नोंक और बर्छी प्राप्त हुआ है। लाल किला से पांच तांबे के सामान मिले हैं - दो लटकन, एक मनका, एक तीर का नोंक और एक टूटा हुआ पुराकुठार। इस स्थल से प्राप्त टेराकोटा वस्तुओं में मानवाकार और पशु मृण्मूर्ति, पहिये, चूड़ियां,

गोला, टिकिया, प्रगलन पात्र, चकरी, मनके, सिलबट्टा, चक्की और खेल के मोहरे आदि देखे जा सकते हैं। अंबाखेड़ी से कूबड़दार वृषभ की मृण्मूर्ति मिली है। लाल किले के मृदभाडों में एक ऐसा पात्र मिला है, जिस पर अर्ध-प्राकृतिक कूबड़दार वृषभ बना है, जिसके सींग घुमावदार हैं।

गैरिक मृदभांड स्थलों पर रहने वाले लोग अपना खाद्य पदार्थ कृषि, पशुपालन और आखेट से प्राप्त करते थे। लाल किला से प्राप्त वनस्पतिक अवशेषों में गेंहू, जौ और चावल की पहचान की गई है। अतरंजीखेड़ा से चावल, जौ, चना और खेसारी प्राप्त हुआ है। इससे यह संकेत मिलता है कि लोग साल में दो बार फसल उगाते थे – गर्मी में धान और जाड़े में जौ और फलीदार फसल। साइपई में चूना पत्थर से बने ओखली, मूसल, चक्की, सिलबट्टा आदि पाया गया है और पालतू मवेशियों की हड्डियां भी मिली हैं। लाल किला में फर्श पर पशुओं के संपूर्ण कंकाल प्राप्त हुए हैं। वहां गोलाकार अग्निकुंड और साथ ही साथ मवेशी, भैंस, बकरी, भेड़, सूअर, कुत्ता, घोड़ा और जंगली हिरण की जली हुई हड्डियां भी दिखती हैं। कई हड्डियों पर कटे का निशान है, जिसका अर्थ है कि इन्हें मांस प्राप्त करने के लिए मारा गया था।

अतरंजीखेड़ा, लालकिला, झिनझिना में थर्मोल्यूमिनिसेन्स (ताप-संदीप्ति) तिथि निर्धारण के आधार पर गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति का काल 2650-1180 सा.सं.पू. के बीच तय किया गया है। गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति परिपक्व हड़प्पा संस्कृति के अन्तिम चरण और उत्तर हड़प्पा संस्कृति के समकालीन थी तथा इन संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान हुआ करता था।

ताम्र संग्रह संस्कृति

सन् 1822 सा.सं. में कानपुर जिले के विठूर से तांबे की एक काँटेदार बर्छी मिली। तब से अब तक भारत के विभिन्न स्थानों से 1300 से अधिक इसी श्रेणी के ताम्र उपकरण मिले हैं। चूंकि अधिकांशतः ये संग्रह में मिले हैं, इसलिए पुरात्वविदों ने इनको 'ताम्र संग्रह' या 'कॉपर होर्ड्स' की संज्ञा दी है।

ऊपरी गंगा नदी घाटी से बंगाल और उड़ीसा के बीच प्रायः 90 स्थलों से ताम्र संग्रहों की प्राप्ति हुई है। हालांकि, हरियाणा, राजस्थान और मध्य-प्रदेश के अतिरिक्त कुछ ताम्र संग्रह, गुजरात, केरल, कर्नाटक तथा तमिलनाडु में भी

शिशुपालगढ़ और हस्तिनापुर में प्राप्त ताम्र की कांटेदार बर्छी
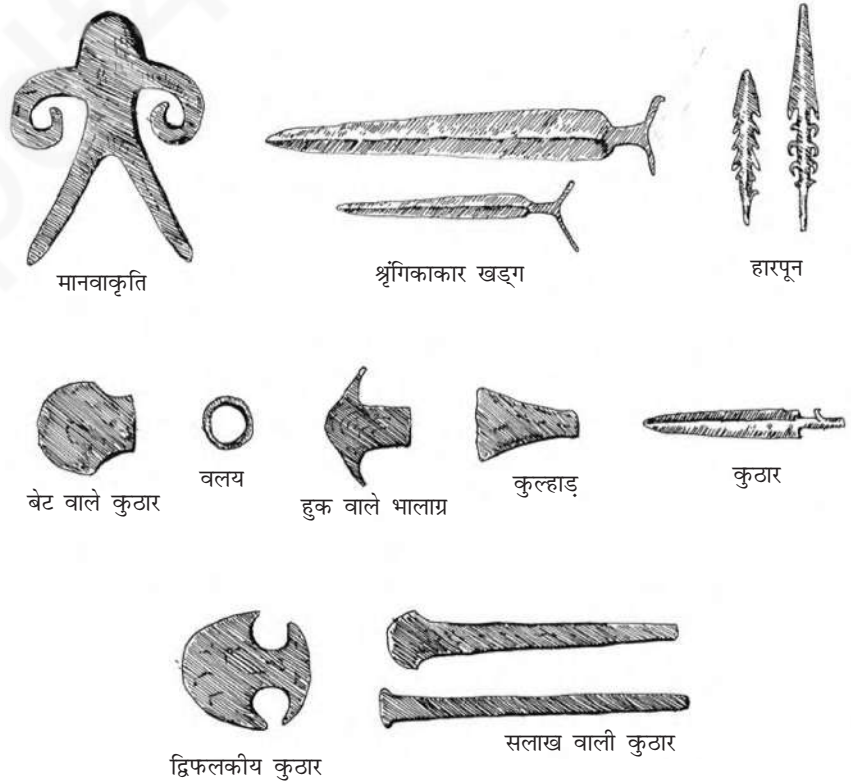
चित्र 5.5: **ताम्र से निर्मित वस्तुएं**
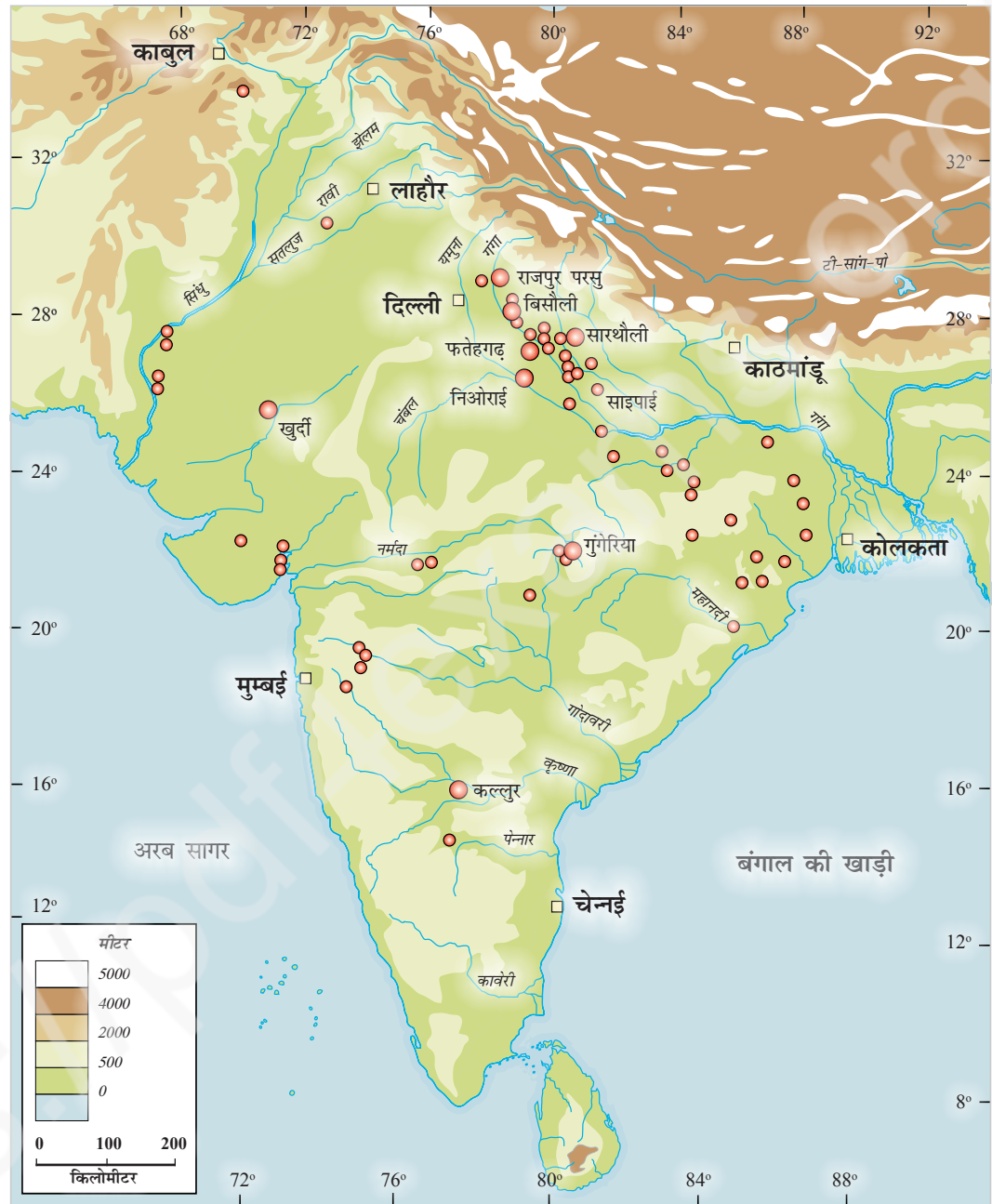
मानचित्र 5.3: **ताम्र संग्रह स्थल**

मिले हैं। फिर भी उत्तर प्रदेश का दोआब क्षेत्र इस संस्कृति का केंद्र कहा जा सकता है। एक सामान्य ताम्र संग्रह केंद्र से 1-47 के बीच ताम्र वस्तुएं मिलती हैं, किन्तु मध्यप्रदेश के गुंगेरिया नामक स्थान पर एक ही ताम्रसंग्रह से 424 ताम्र वस्तुओं की प्राप्ति हुई है, जिनका सम्मिलित भार 200 किलोग्राम से ऊपर है। इस संग्रह के साथ 102 चाँदी की वस्तुएं भी मिली हैं। चूंकि ताम्र संग्रहों की अधिकांश प्राप्तियाँ आकस्मिक परिस्थितियों में हुई हैं, इसलिए उपयुक्त सांस्कृतिक स्तर विन्यास के अभाव में इनके तिथि निर्धारण में काफी कठिनाई होती है। ऐसा लगता है कि बिहार और पश्चिम बंगाल के ताम्र संग्रह ऐतिहासिक काल के हैं। ऐसी परिस्थिति में इटावा जिला के साइपई नामक केंद्र में जहां ताम्र संग्रह की प्राप्ति गैरिक मृद्भाण्ड स्तर की खुदाई के दौरान हुई थी, विशेष महत्त्व रखती है।

अन्यान्य परिचर्चा

तांबे की बनी मानव आकृतियाँ

ताम्र संग्रहों में सबसे रहस्यमय उपादान तांबे की बनी मानव आकृतियाँ है। यह एक बड़े आकार की वस्तु है जिसकी लंबाई 25 से 45 से.मी. और चौड़ाई 30 से 43 से.मी और वजन लगभग पांच किलो तक पाया जाता है। प्रत्येक मानवाकृति की लंबाई उसकी चौड़ाई से अधिक है। केवल बिसौली से प्राप्त उदाहरण अपवाद है। ऐसी आकृतियों में जो हाथ है, वो थोड़े अंदर की ओर मुड़े हुए हैं और इनका ऊपरी हिस्सा धारदार है। इनके पैर काफी फैले हुए हैं। इनके हाथ सिर की अपेक्षा पतले हैं, सिर को पीटकर मोटा बनाया गया।

2001 में 31 तांबे की मानव आकृतियां एक साथ पायी गयीं (मदरपुर, मुरादाबाद जिला, उत्तर प्रदेश) यह उत्खनन कार्य डी. वी. शर्मा एवं अन्य 2001-02 के द्वारा किया गया। ईंट बनाने के लिए मिट्टी की खुदाई करते समय इनको पाया गया। सभी ताम्र मानवकृतियां स्वस्थाने (इन सिटू) मिली हैं, जिनको एक के ऊपर एक सजा कर रखा गया था। इस बड़ी संख्या में इसके पहले कभी भी इतनी ताम्र मानवाकृतियाँ नहीं पायी गयी थी। इससे भी रोचक तथ्य यह है कि सभी ताम्र मानवाकृतियों का आकार एक समान नहीं है और इनमें से कुछ ताम्र मानवाकृतियां ऐसी हैं जो और कहीं भी नहीं पायी गयीं। जिस स्तर विन्यास में यह ताम्र मानवाकृतियों का संग्रह पाया गया उससे गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति (OCP) के अन्य उपादान भी प्राप्त हुए। मदनपुर एक ऐसा स्थान प्रतीत होता है जो ताम्र मानवाकृतियों के निर्माण का एक केंद्र रहा होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि इन ताम्र मानवाकृतियों का क्या उपयोग था?

एक सुझाव यह है कि ये अस्त्र के रूप में प्रयोग में आते थे। डी. पी. अग्रवाल के अनुसार, जब इनको फेंका जाता है तो इनमें आघूर्णक प्रतीपगामी प्रभाव (बूमरैंग) की तरह का प्रभाव देखा गया है। और शायद इनका प्रयोग पक्षी को मारने के लिए किया जाता होगा। किंतु यह सुझाव काफी मानने लायक नहीं है क्योंकि इतने मशक्कत से किसी उपादान को इतने छोटे कार्य के लिए क्यों बनाया जाएगा। जबकि यह काम अन्य अस्त्रों से भी किया जा सकता था। ताम्र मानवाकृतियों के अलग-अलग आकार भी इस सिद्धांत के विरूद्ध जाते हैं। एक दूसरा वैकल्पिक सुझाव यह हो सकता है कि इनका कोई धार्मिक या आनुष्ठानिक महत्त्व रहा होगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मानवाकृतियां जो इस ताम्र मानवाकृतियों से मिलती जुलती हैं, उत्तरी भारत के कई हिस्सों में शनि देवता के रूप में आज भी उनका पूजन किया जाता है।

ताम्रसंग्रहों में विभिन्न प्रकार के भालाग्र, काँटेदार बर्छी, एंटिना वाले तलवार और ताम्र मानवाकृतियाँ सम्मिलित हैं। इनमें से प्राय: सभी को आखेट से जुड़े उपकरणों के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि, ताम्र संग्रहों से प्राप्त वस्तुओं के बीच भौगोलिक आधार पर काफी विविधताएं देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, बिहार, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा जैसे पूर्वी ताम्र संग्रह केंद्रों में विभिन्न प्रकार के भालाग्र और कुल्हाड़ की प्रमुखता है। जबकि उत्तर प्रदेश और हरियाणा के ताम्र संग्रह केंद्रों से ताम्र मानवाकृतियाँ, एंटिना वाले तलवार, काँटेदार बर्छियाँ इत्यादि की अधिकता देखी जा सकती है। राजस्थान के स्थलों से ज्यादातर चौड़ा और लंबा पुराकुठार मिलता है।

हड़प्पा के ताम्र वस्तुओं और ताम्र संग्रह संस्कृति की वस्तुओं के बीच तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी निर्माण तकनीक और प्रकारों के बीच काफी भिन्नता थी। ताम्र संग्रह से प्राप्त वस्तुओं में से प्राय: 46 प्रतिशत वस्तुओं में 7 प्रतिशत तक आर्सेनिक का मिश्रण पाया गया है। जबकि हड़प्पा से प्राप्त ताम्र उपादानों

ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्डः घड़ा, मध्यपाषाण काल, मास्की (कर्नाटक)

में आर्सेनिक मिश्रित सामग्रियों की मात्रा मात्र 8 प्रतिशत है। अभी हाल ही में सनौली नामक स्थान पर ताम्र संग्रह श्रेणी के दो एंटिना वाले तलवार उत्तर हड़प्पा स्तर से प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक ही प्राप्ति कब्र से हुई है, जिस पर ताम्बे पर चदरा भी लगा हुआ था।

मध्य तीसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. से द्वितीय सहस्राब्दी सा.सं.पू. के बीच ऊपरी गंगा नदी घाटी से ताम्र संग्रहों के प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में यह क्षेत्र ताम्र निर्माण की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में उभरा। ताम्र संग्रह संस्कृति का विस्तार हरियाणा, गुजरात, मध्यप्रदेश, दक्कन, केरल और तमिलनाडु तक हुआ। यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि ताम्र संग्रह के ये केंद्र इस काल में स्वतंत्र रूप से विकसित हुए अथवा ये उत्तरी-पूर्वी राजस्थान जैसे प्राचीन ताम्र निर्माण केंद्रों के प्रभाव में ही विकसित हुए।

दोआब क्षेत्र में काला और लाल मृद्भाण्ड (ब्लैक एण्ड रेड वेयर, BRW) संस्कृति का विकास

ब्लैक एण्ड रेड वेयर (BRW) संस्कृति का अस्तित्व कई पुरातात्त्विक स्थलों में अन्य मृद्भाण्ड परम्पराओं के साथ-साथ देखा जा सकता है। किन्तु पहली बार 1960 के दशक में दोआब क्षेत्र के अतरंजीखेड़ा के उत्खनन के दौरान एक स्वतंत्र काला और लाल मृद्भाण्ड पुरातात्त्विक स्तर के अस्तित्व का पता चला। काला और लाल मृद्भाण्ड (BRW) संस्कृति गेरुए मृद्भाण्ड (OCP) तथा चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW) स्तरों के बीच मौजूद थी। बाद में इसी प्रकार का स्तरक्रम राजस्थान के नोह एवं जोधपुरा में भी चिन्हित किया गया। कुछ पुरातत्त्वविदों का मानना है कि दोआब और राजस्थान के काला-लाल मृदभांड संस्कृतियों के बीच कोई न कोई सम्बंध है, परंतु अन्य इससे असहमत हैं।

अतरंजीखेड़ा के काला-लाल मृदभांड स्तर से पत्थर और धातु का कोई सामान नहीं मिला है। यहां से सिर्फ पत्थरों के टुकडे, बेकार हो चुके शल्क, क्वार्ट्ज के बट्टिकाश्म, चैल्सेडनी, अगेट और कार्नेलियन आदि मिले हैं। तीन मनके (कार्नेलियन, शंख और तांबा) और हड्डियों से बने कंघे का टुकड़ा भी मिला है। नोह के काला-लाल मृदभांड स्तर से आकारहीन लोहे का टुकड़ा, टेराकोटा का मनका और हड्डी का नोक प्राप्त हुआ है।

यह माना जाता है कि अतरंजीखेड़ा के गेरुए मृद्भाण्ड (ओसीपी) स्तर से चावल, जौ, चना, खेसारी इत्यादि की खेती के प्रमाण मिले हैं और काला-लाल मृद्भाण्ड काल में भी इनकी खेती की जाती रही होगी। काला-लाल मृदभांड स्तर से चावल और मूँग के भी प्रमाण मिले हैं।

पश्चिमी भारत

अध्याय तीन में जब गनेश्वर-जोधपुरा संस्कृतियों के प्रारंभिक चरण की चर्चा की जा रही थी जो उत्तर पूर्वी राजस्थान में अवस्थित हैं तब गनेश्वर और जोधपुरा को विशेष रूप से वर्णित किया गया था। आहार/बनास संस्कृति दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के प्रारंभिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है और यह आहार-गिलुन्द बालाथल जैसे स्थलों में अध्ययन की गयी है। राजस्थान इस काल में भी तांबे की कारीगरी के लिए मशहूर रहा जो बाद की शताब्दियों तक फलती-फूलती रही।

गणेश्वर के कालखंड-III की तिथि ल. 2000 सा.सं.पू. के बाद से निर्धारित की गयी है। इस काल में यहां पर मृद्भाण्डों की कई श्रेणियां देखी जा सकती हैं। सैकड़ों की संख्या में तांबे की वस्तुएं यहां से प्राप्त हुई हैं। गणेश्वर निश्चित रूप से तांबे के उत्पादन का महत्त्वपूर्ण केंद्र बना रहा। हालांकि, कालखंड-II की अपेक्षा सूक्ष्म औज़ार और पशुओं की हड्डियां कम मात्रा में मिली है जिससे यह संकेत मिलता है कि यहां की रहने वाली आबादी आखेट पर कम निर्भर हो रहीं थी।

आहार के कालखंड-I को तीन उपकालखंडों में विभाजित करते हैं। I ए 2500 सा.सं.पू. से I बी 2100 सा.सं.पू. से तथा I सी 1900 सा.सं.पू. से कालखंड Iए की चर्चा अध्याय तीन में की जा चुकी है। यहां पर हम कालखंड I बी तथा I सी की चर्चा करेंगे। जहां तक मृद्भाण्डों का प्रश्न है, कालखंड I ए, II बी तथा I सी तीनों कालखंडों में ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड प्रचलित रहे, केवल इनके प्रकार और स्वरूप के अनुपात में परिवर्तन हुआ।

प्राथमिक स्रोत

काले और लाल मृद्भाण्ड (ब्लैक एण्ड रेड वेयर, BRW)

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है काले और लाल मृद्भाण्ड (बीआरडब्ल्यू) जैसे मृद्भाण्डों को इंगित करते हैं जो लाल और काले दोनों होते थे। बहुत बार ये दोनों रंग मृद्भाण्ड के एक ही सतह पर देखे जा सकते थे, अथवा एक पूरी सतह काली और लाल हो सकती थी। काले और लाल मृद्भाण्ड को लाल-पर-काला मृद्भाण्ड जो शुद्ध रूप से हड़प्पा मृद्भाण्ड का प्रतिनिधित्व करता है, के समान नहीं मानना चाहिए। काला और लाल मृद्भाण्ड में आंतरिक और बाहरी सतह लाल हुआ करती थी। और सतह के ऊपर काले रंग के डिजाइन पेंट किए जाते थे।

काले और लाल मृद्भाण्ड के पात्र अंदर से काले और बाहर से लाल होते थे। शायद ऐसा पात्रों को उलटकर पकाने की प्रक्रिया से संभव होता था। जब पात्र को गर्म किया जाता था तो उसका बाहरी हिस्सा ऑक्सीजन की अवस्था के कारण लाल हो जाता था। जबकि भीतरी हिस्सा अवकरण के कारण काला हो जाता था। एक दूसरी संभावना यह है कि इन पात्रों को दो बार गर्म किया जाता था, अर्थात् पहले उनको पकाकर लाल कर दिया जाता था और फिर उनको पुन: गर्म करने से उनकी सतह काली हो जाती थी या इसके विपरीत स्थिति होती होगी। ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों से प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, चिरांद, पिक्लीहल जैसे नवपाषाणीय केंद्रों से, पूर्व हड़प्पा काल के लोथल से, तथा गुजरात के बहुत सारे परिपक्व हड़प्पा काल के केंद्रों से यथा लोथल, सुरकोतदा, रंगपुर, रोजड़ी तथा देसलपुर इसके अतिरिक्त ताम्र पाषाण केंद्रों से विशेष रूप से मध्य और निचली गंगा नदी घाटी में यथा चिरांद, पांडु राजर ढिबी जैसे केंद्रों से आहार/बनास संस्कृति (आहार, गिलुन्द, मालवा संस्कृति (नवदाटोली, इनामगांव), कायथा संस्कृति (कायथा) तथा जोर्वे संस्कृति (चंदोली), लौहयुगीन चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW) केंद्रों से यथा अतरंजीखेड़ा, हस्तिनापुर इत्यादि से दक्षिण भारत के महापाषाणीय केंद्रों से यथा ब्रह्मगिरी नागार्जुन कोंडा इत्यादि स्थानों से तथा प्रारंभिक ऐतिहासिक स्तर से भी ऐसे मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। अतरंजीखेड़ा जैसे दोआब के कुछ केंद्रों में तथा राजस्थान के नोह में गैरिक मृद्भाण्ड (OCP) संस्कृतियों और चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW) कि बीच काला और लाल मृदभांड का स्तर पाया गया है।

ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड (BRW) सभी एक जैसे नहीं हैं। इनके बनाने की तकनीक, इनकी बनावट और आकार में काफी विविधताएं हैं। जो विभिन्न भौगोलिक स्थिति और कालक्रम के आधार पर अलग-अलग देखी जा सकती हैं। इस तथ्य से एक बात तो तय है कि ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड (BRW) किसी एक मृद्भाण्ड संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करता न ही किसी एक समुदाय अथवा शिल्पकार वर्ग या उपभोक्ता वर्ग से जुड़ा हुआ है, न ही विभिन्न स्थलों और केंद्रों से प्राप्त ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड के उदाहरणों में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन क्षेत्रों के बीच किसी प्रकार की सांस्कृतिक समरूपता थी अथवा इनके बीच ठोस सांस्कृतिक सम्बंध था। इसलिए जरूरी है कि जब हम ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड की बात भारतीय पुरातत्त्व के सम्बंध में करते हैं तब उनकी प्राप्ति की विशिष्ट भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थिति का हवाला देना भी जरूरी होता है।

ब्लैक-एंड-रेड वेयर (BRW) मृद्भाण्डों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जब मृद्भाण्डों के बाहरी समरूपता के आधार पर हम कोई ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाल रहे हों तो काफी सावधानी बरतनी होगी।

स्रोत: एच.एन. सिंह, 1979

उदाहरण के लिए, कालखंड I ए में ज्यादातर ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड, उत्तल पात्रों तथा लाल मृद्भाण्डों तथा धूसर मृद्भाण्डों के रूप में मौजूद रहे, जबकि कालखंड I बी में ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड की निरंतरता बनी रही। लेकिन उससे कहीं अधिक धूसर मृद्भाण्ड और लाल मृद्भाण्ड प्रचलित हो गए। परंतु पीलाभ या पीलाभ लेप वाले मृदभांड अनुपस्थित रहे। कालखंड I सी में गहरे कीलाकार प्याले जैसे ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड पात्रों के अतिरिक्त एक अत्यंत चमकीले लाल मृद्भाण्डों की शुरुआत देखी जा सकती है।

आहार के I बी से प्राप्त वस्तुओं में क्वार्ट्ज़ के ब्लैड, अगेट, काल्साइट, कार्नेलियन, फायन्स जैस्पर, सिस्ट इत्यादि के मनके, स्टेटाइट और टेराकोटा की वस्तुएं इत्यादि प्रमुखता से पाए जाने लगे। टेराकोटा की कई अन्य वस्तुएं जैसे कर्णफूल, देह-घसना, मनौती-कुंड, प्रगलन-पात्र, पास, चूड़ी, पाइप, लटकन, स्तूपिका-कलश, मानव एवं पशु मृण्मूर्ति (वृषभ, घोड़े, प्राय: हाथी) आदि भी मिलते हैं। तांबे के बने सामानों में छल्ला, चूड़ी, शलाका, पुराकुठार और छुरी देखे जा सकते हैं। कालखंड-Iसी में सूक्ष्म पाषाण की विदारणी और वेधक, कार्नेलियन, क्रिस्टल, शीशा, जैस्पर, लाजवर्द, सिस्ट, शंख और टेराकोटा के मनके पाए गए हैं। इनके साथ-साथ टेराकोटा

का बना देह-घसना, कर्णफूल, मनौती-कुंड, प्रगलन-पात्र, वृषभ एवं हस्ति मृण्मूर्ति, लटकन, ढक्कन, चूड़ी, गोला और पाइप भी मौजूद हैं। तांबे की वस्तुओं में छल्ला और शलाका देखे जा सकते हैं।

आहार से प्राप्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि यहां पर चावल और बाजरे की खेती को प्रमुखता मिलती लगी थी। कालखंड I बी में ऐसा लगता है कि पहले और बाद के काल की अपेक्षा ज्यादा सघन आबादी इस क्षेत्र में निवास करने लगी थी और इन समुदायों का सम्बंध आहार क्षेत्र के बाहर बागोर जैसे इलाकों में रहने वाले मध्यपाषाणीय आखेटक संग्राहक समुदायों के साथ था।

आहार संस्कृति चित्तौड़गढ़ के निकट पुरानी मर्मी में भी दिखलायी पड़ती है जो बालाथल नामक पुरातात्त्विक स्थल के बहुत पास है। बसावट के चार स्तरों से पाए गए कुल 545 पशु हड्डियों का विश्लेषण किया गया है, जिसमें मवेशी, भेड़, भैंस, कृष्णमृग, चीतल और मुर्गा की पहचान हुई है। यहां से ताजे पानी के दो तरह के घोंघे के कवच मिले हैं। यहां से प्राप्त पशुओं की हड्डियों के आधार पर हम ऐसा कह सकते हैं कि यहां के लोग मुख्यतः पशुपालक थे और मवेशियों और भैंसों पर इनकी निर्भरता अधिक प्रतीत होती है। आखेट के अतिरिक्त कुछ संख्या में भेड़-बकरियों के पालन का भी प्रमाण मिलता है।

अरावली (राजस्थान) पहाड़ियों में बहुत सारे महापाषाणीय स्थलों का भी पता चलता है। इनमें खेड़ा, सतमास और दाउसा प्रमुख हैं। इनकी तिथियों के बारे में अभी अध्ययन सीमित हैं। लेकिन यहां पर सबसे प्रमुख केर्न शैली के महापाषाण पाए जाते हैं।

गुजरात में परिपक्व हड़प्पा काल के तुरंत बाद उत्तर हड़प्पा काल के प्रमाण मिलते हैं। जैसा कि अध्याय चार में भी कहा जा चुका है कि कच्छ और सौराष्ट्र में पुरातात्त्विक स्थलों की संख्या इसकाल में काफी बढ़ गयी। परिपक्व हड़प्पा चरण में इनकी संख्या अठारह थी और उत्तर हड़प्पा काल में एक सौ बीस।

गुजरात के उत्तर हड़प्पा स्थलों को दो भागों में बांटा जा सकता है: पहले के अंतर्गत लोथल ख, रोजड़ी, बाबरकोट तथा पादरी जैसे स्थल आते हैं जो अपने अत्यंत चमकीले लाल मृद्भाण्डों को उपकालखंड-V में रेखांकित करते हैं। इस समय परिपक्व हड़प्पा चरण में जैस्पर और चैल्सेडनी का प्रयोग होता था जबकि इस समय लंबे चर्ट के बने ब्लेडों का प्रयोग देखा जा सकता है। जैस्पर और कार्नेलियन के मनकों ने दो द्विकोणीय टेराकोटा मनकों को स्थान दे दिया और घनाकार चर्ट और एगेट के बने बटखरों का प्रयोग शुरू हो गया। इस काल में तांबे का प्रयोग कम हो गया था। हड़प्पा लिपि के साथ आयताकार सेलखड़ी के मुहर इस काल में भी पाए गए, लेकिन उन पर पशुओं के प्रतीक नहीं बने हुए थे। रोजड़ी I ए, रंगपुर II बी तथा II सी भी उत्तर हड़प्पा चरण का प्रतिनिधित्व करते हैं।

रोजड़ी का पुरातात्त्विक स्थल सात हेक्टेयर में फैला हुआ है। यहां का मुख्य आवासीय क्षेत्र पत्थर के बने दीवारों से तीन दिशाओं से घिरा हुआ था, जबकि पूर्वी भाग से भद्र नदी बहती थी। पश्चिमी दीवार से एक मजबूत प्रवेश द्वार बना हुआ था। यहां से धातु के बने बहुत सारे औज़ार और वस्तुएं पायी गई हैं। धातु के वस्तुओं में कुठार, बेलनाकार पुराकुठार, चूड़ियां, छल्ले, मछली-कांटा, तार के टुकड़े, और पिन देखे जा सकते हैं। वनस्पतिक अवशेषों में बाजरा, जौ, सरसों, खेसारी, मसूर, तीसी, मटर, सेम, चना, बेर और कई प्रकार के जंगली पौधे प्राप्त हुए हैं। यहां पर जड़ी-बूटी और अन्य चिकित्सीय वनस्पति तथा कुछ विशेष प्रकार के घास जो शायद मवेशियों के चारे के रूप में प्रयोग होते थे इत्यादि पाए गए। बाबरकोट नामक उत्तर हड़प्पा स्थल 2.7 हेक्टेयर आकार का है, इसके चारों ओर भी पत्थर का एक सुरक्षा प्राचीर बना हुआ था।

प्रभास पाटन-II (सोमनाथ पाटन, जूनागढ़ जिला) हिरन नदी के निारे अवस्थित है, इस स्थल के अध्ययन को भी दो कालों में बांटा जा सकता है। उत्तर हड़प्पा काल के पहले भाग में चमकीले लाल रंग के मृद्भाण्ड नहीं पाए जाते थे जबकि इसके दूसरे कालखंड में चमकीले लाल रंग के मृद्भाण्ड की अधिकता देखी जा सकती है। यहां से पत्थर की बनी संरचनाओं में से एक को गोदाम कहा जा सकता है। यहां से प्राप्त होने वाली वस्तुओं में स्टिटाइट के सील-मुहर, ताबीज, फेयंस के मनके और घनाकार चौठ के ब्लैड पाए गए हैं। तांबे की बनी वस्तुओं में मनके तथा चैल्सेडनी, कार्नेलियन, गोमेद के मनके पाए गए तथा एक सोने का आभूषण भी पाया गया।

जामनगर जिला (गुजरात) में स्थित द्वारका से सामुद्रिक पुरातत्त्व के द्वारा यहां पर डूबी हुई एक बस्ती के अवशेष पाए गए हैं। इन अवशेषों में उस स्थल के चारों ओर बनी पत्थर की दीवार और उस पत्थर की बनी एक जेटी भी पायी गयी है। पत्थर के लंगर और इस क्षेत्र में इस काल से जुड़े प्रमुख चमकीले लाल मृद्भाण्ड भी पाए गए हैं। बेट द्वारका की टापू से भी इसी प्रकार की प्राप्ति हुई है। यह भी एक डूबा हुआ पुरातात्त्विक स्थल है। यहां की बस्ती 4 x 0.5 किलोमीटर आकार की थी जो इस बस्ती के किनारे बनाये गये दीवारों के अवशेष से पता चलता है। यहां से हड़प्पा के मुहर भी प्राप्त हुआ है जिस पर तीन सिरों वाला एक पशु बना हुआ है। यहां से चमकीले लाल मृद्भाण्ड, ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड तथा एक ऐसा जार भी मिला है जिस पर हड़प्पा लिपि में लिखा हुआ है। यहीं से ताम्र

शिल्पकार के द्वारा प्रयोग में लाने वाला एक सांचा और कुछ शंख की चूड़ियां भी मिली हैं। थामोल्यूमिन्सेन्स तिथि के अनुसार, बेट द्वारिका की तिथि 1570 सा.सं.पू. निर्धारित की गयी है और यह उत्तर हड़प्पा स्थल माना जाता है।

उत्तरी गुजरात के रूपेण नदी घाटी में भी कई उत्तर हड़प्पाई स्थल मिले हैं लेकिन यहां पर भी चमकीले लाल मृद्भाण्ड सहित और चमकीले लाल मृद्भाण्ड के पहले के काल देखे जा सकते हैं। यह बस्ती पुराने बलुआही टीले पर बनी हुई थी और शायद इसके काफी निकट जल का स्रोत रहा होगा। हालांकि, इस क्षेत्र से प्राप्त पुरातात्त्विक स्तर की मोटाई के आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि ये अल्पकालिक कैंप क्षेत्र थे जो पशुपालकों के द्वारा वर्ष में कुछ समय के लिए प्रयोग में आते होंगे।

खम्बात की खाड़ी में स्थित कनेवाल (खेड़ा जिला) से भी हमें काफी जानकारी मिलती है। यहां पर झोपड़ियां बनी हुई थीं जिनके फर्श भली प्रकार से पत्थरों को चूरकर बनाए गए थे। यहां से बेलनाकार टेराकोटा का केक और कई प्रकार के अर्धकीमती मनके, शंख और टेराकोटा के मनके तथा टेराकोटा के कई अन्य चीजें मिली हैं। यहां के मृद्भाण्डों में चमकीले लाल मृद्भाण्ड भी मिले हैं। यहां से प्राप्त मृद्भाण्डों में से कुछ पर हड़प्पा लिपि की ग्राफटी भी प्राप्त होती है। इससे लगता है कि इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों में साक्षरता रही होगी।

द्वारकाः समुद्र नारायण मंदिर के निकट गोता लगाते हुए सामुद्रिक पुरातत्त्ववेता; जल विमग्न संरचना की माप लेते हुए गोताखोर; अंतर ज्वार-भाटा क्षेत्र में स्थित एक वृत्ताकार संरचना

मध्य गंगा नदी घाटी क्षेत्र

मध्य गंगा नदी घाटी क्षेत्र में बड़ी संख्या में आद्य ऐतिहासिक स्थल अवस्थित हैं, विशेष रूप से सरयूपार क्षेत्र में। गोरखपुर जिला (उत्तर प्रदेश) में सरयू (घाघरा) नदी के उत्तरी किनारे पर इमलीडीह के पूरब में 30 कि.मी. दूर, नरहन अवस्थित है (पुरुषोत्तम सिंह, 1994)। इस स्थान पर किए गए उत्खनन के दौरान, दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. से लेकर 7वीं शताब्दी सा.सं. तक के पुरातात्त्विक स्तर-विन्यास प्राप्त हुए हैं। नरहन (जिले नरहन संस्कृति की संज्ञा दी गई है) के कालखंड-I की तिथि 1300-700 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित की गई है। यहां स्तंभगर्ता और चूल्हों के साथ नरकुल और मिट्टी के मकानों के अवशेष मिले हैं। मृद्भाण्डों में एक सफेद रंग वाला ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड, सफेद रंग वाले काली चिकनी मिट्टी के घोल वाले मृद्भाण्ड, लाल चिकनी मिट्टी के घोल वाले मृद्भाण्ड तथा सामान्य लाल मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। अन्य हस्तकृतियों में, हड्डियों के अग्रक, मृद्भाण्ड तश्तरियां, पक्की मिट्टी (टेराकोटा) के मनके, कूंची और गेंद; एक पाषाणीय पॉलिशदार हस्तकुठार मिले हैं। ताम्र वस्तुओं में एक छल्ला और बंसी काटा प्राप्त हुआ है। इन उपादानों का तथा बाद में मिले उपादानों का जो हाल में रासायनिक विश्लेषण किय गया, उनसे यह संकेत मलता है कि प्रयुक्त तांबे में अल्पमात्रा में टिन मिला हुआ था। धातु शिल्पकारों को मिश्र धातु बनाने, धातुओं के अमितापन और मुल्लमा चढ़ाने, उनका आकार देने के लिए सांचे का प्रयोग करने का ज्ञान था। बिहार के राखा खानों (माइंस) से ताम्र अयस्क प्राप्त हो रहा था।

नरहन से वानस्पतिक अवशेषों की विलक्षण श्रृंखला प्राप्त हुई हैं। कालखंड-I के अवशेषों में उगाए गए चावल (ओरिजा सटाइवा), छिलके वाले तथा छह धारी जौ (हॉरडियम वल्गेयर), तीन प्रकार के गेहूं (ट्राइटिकम कॉम्पैक्टम, टी. एस्टीवम, तथा टी. कॉम्पैक्टम), मटर, मूंग, चना तथा खेसारी मिले हैं। तिलहन में सरसों और अल्सी प्राप्त हुए हैं। कटहल के बीज भी मिले थे। महुआ, साल, इमली, सागवान, सिरिश, बबूल, शहतूत, गनियारी, नक्स वोमिका, तुलसी (होली बेसिल), आम, कटहल तथा बांस के टुकड़े भी चिन्हित किए गए है। पशुओं की हड्डियों के अवशेषों में कुबड़ वाले मवेशियों, भेड़/बकरी, जंगली हिरण या बारासींगा, घोड़े तथा मछलियों के अवशेष शामिल हैं। एक रोचक प्राप्ति के रूप में मिट्टी के एक ढेले पर बंसीकाटा और धागे के मिले छाप को कहा जा सकता है। लोहे

के जंग की उपस्थिति यह इंगित करती है कि उक्त बंसीकाटा, लोहे का ही बना होगा, जबकि धागे के एक सूक्ष्म हिस्से के अवशेष के विश्लेषण से पता चला है कि वह रेमी (बोहमेरिया नीविया) का बना धागा था, जो एक मजबूत, जल-निरोधक सूत होता है। लोहे के दो टुकड़े (13 से.मी. लंबा एक छड़ तथा एक विच्छिन्न टुकड़ा), कालखंड-I स्तर-विन्यास के ऊपरी भाग से प्राप्त हुए हैं। नरहन संस्कृति की इन विशेषताओं को सरयू के दक्षिण में स्थित स्थलों सहित मध्य गंगा नदी घाटी में स्थित अनेक स्थलों पर दोहराया गया है।

खैराडीह का कालखंड-I, ब्लैक-एंड-रेड (BRW) मृद्भाण्ड तथा अन्य सम्बंधित मृतभाण्डों से चिन्हित किया जाता है। अंशशोधित तिथियां, 1395-848 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित की गई है। गंगा के समीप राजघाट में चिकनी मिट्टी के घोल वाले काले मृद्भाण्ड मिले हैं। मिर्जापुर के दक्षिण के इलाके में अनेक ब्लैक-एंड-रेड (BRW) स्थलों में कर्मनासा नदी पर राजा कर्ण का टीला भी शामिल हैं। कालखंड-I में ब्लैक-एंड रेड मृद्भाण्ड, सूक्ष्मपाषाणीय अपखंड, मिट्टी की एक गोफन गोली, शंख, पकी मिट्टी (टेराकोटा) के मनके और तश्तरियां, हड्डी के अग्रक और तीराग्र प्राप्त हुए हैं। चावल, जौ (यव), रागी, भूरे चकते वाला बाजरा, सिरदल, मटर, खेसारी, तथा मूंग को चिन्हित किया गया है। प्राय: 1300 सा.सं.पू. से कालखंड-II शुरू हुआ, जिसमें लोहा के प्रमाण मिले हैं।

कुवाना नदी के तट पर इमलीडीह खुर्द नाम का पुरातात्त्विक स्थल है। यहां कालखंड-I, नरहन संस्कृति से पूर्व का है, जो 1300 सा.सं.पू. के लगभग शुरू होता है। यहां पर हस्त निर्मित, खुरदरा, सूत या दरी की छाप वाला एक लाल मृद्भाण्ड मिला है, जिसमें गोलाकार कटोरे, पादपीठ आधार वाले कटोरे, फैली अंवठ वाले घट, हांडी के समान तथा टोंटीदार बर्तन मिले हैं। वहां नरकुल और मिट्टी के घरों के अवशेष, भण्डारण के लिए बना एक गड्ढा (1.95 मी. की व्यास वाला), एक वृत्ताकार कोष्ठ के समान संरचना (लगभग 85 से.मी. व्यास वाली) तथा चुल्हे, भी प्राप्त हुए हैं। हस्तनिर्मित वस्तुओं में गोमेद, फायन्स तथा पकी मिट्टी (टेराकोटा) के मनके, सेलखड़ी (स्टीटाइट) के कुछ सूक्ष्म मनके, हड्डियों के बने अग्रक और मृद्भाण्ड तश्तरियां शामिल हैं। पशुओं के अवशेषों में पालतू मवेशी, भेड़/बकरी तथा सुअर की हड्डियां मिली हैं। इनमें मवेशियों की हड्डियां सर्वाधिक हैं, जिनपर कटे के निशान मिले हैं। मीठे पानी के कछुए, मछलियां, घोंघा (मोलस्क) के अवशेष भी मिले हैं। वनस्पति अवशेषों का परिमाणा व्यापक है, जिसमें चावल, जौ, रोटी वाला आटा, बौना गेहूं, जोवार, बाजरा (पर्ल मिलेट), सिरदल, मूंग, मटर, सरसों, तीसी शामिल हैं। जंगली बेर, आंवला तथा अंगूर जैसे फलों के बीच भी मिले हैं। साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि सरयू पार के मैदानी इलाकों में वर्ष में दो फसलों पर आधारित कृषि का प्रचलन दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. के मध्यकाल से शुरू हो चुका था।

इमलीडीह का कालखंड-II, नरहन संस्कृति के समकालीन है, जिसकी तिथि 1300-800 सा.सं.पू. निर्धारित की गई है। इस अवधि की संरचनात्मक गतिविधियां कम से कम मिट्टी की बनी उत्तरोत्तर बनी फर्श की दो परतों तथा अनेक स्तंभ गर्तों और चूल्हों के द्वारा रेखांकित की जा सकती है। बिल्कुल नरहन के समान सफेद रंग से रंगे हुए ब्लैक-एंड-रेड (BRW) मृद्भाण्ड यहां प्राप्त हुए हैं। अन्य हस्कृतियों में हड्डियों से बने अग्रक, मृद्भाण्ड तश्तरियां, पकी मिट्टी (टेराकोटा) के मनके, एक ताम्र तीराग्र, दो ताम्र मनके तथा कुछ पकी मिट्टी की वैसी सामग्रियां मिली हैं, जो किसी अज्ञात वस्तु की पादांग हो सकती हैं, जिनका संभवत: किसी प्रकार के अनुष्ठानिक उपयोग किया जाता था। वानस्पतिक अवशेषों में चावल, जौ, गेहूं, कोदो, बाजरा, सिरदल, चना, मूंग तथा आंवला के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के खरपतवार और जंगली पौधों की प्रजातियां मिली हैं। पशुओं के अवशेषों में पालतू मवेशियों, बकरी/भेड़, घोड़े और कुत्तों की हड्डियां मिली हैं। जंगली जानवरों के वराह, पाढ़ा, चीतल तथा बारासींगा की हड्यिों के अवशेष मिले हैं। चूर्ण प्रवार (मोलस्क) को छोड़कर कालखंड-I में प्राप्त होने वाले जलीय जंतुओं के सभी अवशेष कालखंड-II से भी प्राप्त हुए हैं।

मिर्जापुर जिला के 40 हेक्टेयर वाले अगियाबीर नामक पुरातात्त्विक स्थल के उत्खनन के दौरान यहां नरहन संस्कृति काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक का लंबा सांस्कृतिक विन्यास प्राप्त हुआ है। कालखंड-I (नरहन संस्कृति काल) के मृद्भाण्डों के मुख्य प्रकारों में ब्लैक-एंड-रेड (BRW) मृद्भाण्ड, चिकनी मिट्टी के घोल के लेप वाले काले मृद्भाण्ड तथा लाल मृद्भाण्ड शामिल हैं। ये मृद्भाण्ड, नरहन संस्कृति से प्राप्त मृद्भाण्ड थोड़े ही भिन्न थे। लोग नरकुल और मिट्टी की बनी झोपड़ियों में रहते थे, तथा यहां अनाज के भंडारण के लिए बने दो कोष्ठागार भी मिले हैं। यहां बड़ी संख्या में मनके मिले हैं, विशेष रूप से गोमेद (अगेट) के बने। मनके बनाने की एक कार्यशाला को भी चिन्हित किया गया है। फायन्स (अस्फटिक) से बनी सामग्रियां, सूक्ष्म पाषाणीय औज़ार, पकी मिट्टी (टेराकोटा) के मनके, हड्डियों से बने अग्रक, पकी मिट्टी (टेराकोटा) की तश्तरियां, एक ताम्र बंसी कांटा तथा एक मिट्टी का दीपक या धूपदानी भी मिले हैं। अग्नि भट्टियों में मिली पशुओं की जली हड्डियों से इनके भोजन-व्यवहार का अनुमान लगाया जा सकता है। अगियाबीर के कालखंड-II को उतरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड

(NBP) के पूर्व के लौह युक्त काल के रूप में रेखांकित किया गया है। लोहे और तांबे की बनी वस्तुओं को इस पुरातात्त्विक स्थल की विशेषताएं कहा जा सकता है।

विंध्य के उत्तरी छोर पर इलाहाबाद, बांदा, वाराणसी तथा मिर्जापुर जिलों में अर्थात उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी हिस्से में, अनेक महापाषाणीय स्थल चिन्हित किए गए हैं। इनके ककोरिया, जंग महल और कोटिया शामिल हैं। महापाषाणों में मुख्य रूप से संगौरा शवाधान (केर्न) तथा पाषाण-वृत्त मिले हैं। कुछ कब्रों से आंशिक शवाधान के प्रमाण मिले हैं। अन्य कब्रों में पशुओं को भी दफनाया गया है। कोटिया के कुछ कब्रों से नर-कंकालों के अवशेष मिले हैं। किंतु तीन कब्रों से पालतू भेड़, सूअर तथा मवेशी के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन पर मिले कटे के निशान से पता चलता है कि दफनाने से पहले इनका वध किया गया था। इस क्षेत्र के कई महापाषाणों से किसी प्रकार के कंकाली अवशेषों की प्राप्ति नहीं हुई हैं, तथा इनमें से कई मृतकों की स्मृति में बनाए गए थे।

ककोरिया का वासस्थान स्थल, चन्द्रप्रभा नदी के दोनों किनारों पर अवस्थित है, जो एक पहाड़ी के आधार में बने महापाषाणीय कब्रगाह के ठीक उत्तर-पश्चिम में पड़ता है। वासस्थान तथा कब्र स्थलों से प्राप्त मृद्भाण्डों में ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड (BRW), चिकनी मिट्टी के घोल के लेप वाले काले मृद्भाण्ड तथा लाल मृद्भाण्ड शामिल हैं। इनमें से अधिकांश चाक पर बने मृद्भाण्ड हैं, तथा मुख्य आकारों में बर्तन, कटोरे, छिद्रदार भाण्ड, दक्कन, पदांगयुक्त कप तथा अध्याहार्य एवं गोलाकार जार कहे जा सकते हैं। गोमेद (अगेट), चैल्सेडनी (किल्च स्फटिक) और चर्ट के बने सूक्ष्मपाषाणीय औज़ार बड़ी संख्या में पाए गए हैं। पकी मिट्टी (टेराकोटा) तथा अर्धबहुमूल्य पत्थरों के बने मनके, गोफन गोलियां, पत्थर की चक्की, तथा तांबे की कुछ वस्तुएं भी मिली हैं।

भारत के अन्य हिस्सों के विपरीत दक्षिणी उत्तर प्रदेश के अधिकांश महापाषाण, लौह युग के पूर्व के हैं। बेलन नदी घाटी में अवस्थित कोटिया एक अपवाद है। यहां से लोहे के अनेक औज़ार मिले हैं, जिनमें एक भालाग्र, दो हंसिए, एक तीराग्र तथा एक बसूला शामिल थे। इनसे उनके उच्च धातुकर्म तकनीक का अंदाजा लगाया जा सकता है। कोटिया के मृद्भाण्डों में ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड (BRW), लाल मृद्भाण्ड, चिकनी मिट्टी के घोल के लेप वाले काले मृद्भाण्ड तथा एक सुस्त, खुरदरा काला या धूसर मृद्भाण्ड शामिल था। सभी मृदभाण्डों की स्थूल बनावट की जा सकती है। बैल, भेड़ तथा सूअर जैसे पालतू जानवरों की हड्डियों के अवशेष बड़ी संख्या में मिले हैं, कुछ पर कटे के निशान भी थे।

ककोरिया के लौह-पूर्व के युग के लिए दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. (या इससे भी पहले) से 7वीं शताब्दी सा.सं. के बीच की तिथियां प्रस्तावित की गई हैं। जंग महल के महापाषाणों की अनुमानित तिथि पहली सहस्राब्दी सा.सं.पू. के शुरुआत में तय की गई है, जबकि कोटिया की तिथि 800 सा.सं.पू. तथा 300 सा.सं.पू. के बीच की निर्धारित की गई है।

पूर्वी भारत

पूर्वी भारत के चिरांद और सेनुआर जैसे पुरातात्त्विक स्थलों के प्रारंभिक सभ्यताओं की चर्चा अध्याय तीन में की जा चुकी है। दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. के बाद भी इन स्थलों पर संस्कृति की निरंतरता बनी रही। चिरांद में ताम्रपाषाण युग बहुत मायने में नवपाषाण युग का ही विस्तार कहा जा सकता है। हालांकि, इस काल में ब्लैक-एंड-रेड (BRW) मृद्भाण्डों की प्रमुखता रही। कालखंड II में ही पहली बार तांबे का प्रयोग शुरू हुआ और इसी काल खंड के अंतिम चरण में लोहे का उपयोग भी शुरू हो गया। कालखंड II की सबसे पुरानी अंशशोधित तिथि 1936-1683 सा.सं.पू. के बीच की निकाली गयी है।

सेनुआर का कालखंड II नवपाषाण—ताम्रपाषाण संस्कृति का काल है। इस कालखंड में ही तांबे के साक्ष्य मिलने लगे। यहां से मिले 2.02 मीटर मोटाई वाले निक्षपे के अन्वेषण से यह पता चलता है कि पूर्व के काल की विशेषताएं इस काल में ही जारी रही। नई विशेषताओं में—एक बंसी कांटा, तार का एक टुकड़ा, सूई तथा एक अनिश्चित वस्तु, कही जा सकती है। शीशे/कांच की छड़ का एक टुकड़ा भी मिला है। वानस्पतिक अवशेषों में गेहूं, कोदो बाजरा (पसुपेलम स्क्रॉबाइक्यूलेटम) चना, हरा चना तथा बूंट (डोलीकोस बाइलोरस) प्राप्त हुए हैं। पूर्व के काल की तुलना में पशुओं के प्राप्त अवशेषों की संख्या में बढ़ोतरी हुई।

छोटानागपुर पठार (झारखंड) के सिंहभूम जिले के बारूडीह नामक स्थान से सूक्ष्म पाषाण औज़ार के साथ लोहे के स्लैग और चाक पर बने मृद्भाण्डों के खाद्य मिले हैं जो नवपाषाण स्तर से है। लोहे की वस्तुओं में एक हसिया भी है। इस स्थान की सबसे प्रारंभिक रेडियो कार्बन तिथि 1401-837 सा.सं.पू. के बीच की है।

बिहार और पश्चिम बंगाल के बीच इस काल में सांस्कृतिक समानता देखी जा सकती है। पश्चिम बंगाल में 65 से अधिक ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड स्थल मिले हैं इन स्थलों को आकार की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा

सकता है—(1) 0.5 से 2 एकड़ के बीच, (2) 4 से 5 एकड़ तथा (3) 8 से 9 एकड़। ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड संस्कृति का काल इस क्षेत्र में दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. से शुरू होता है। लेकिन समस्या यह है कि ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड स्थल 400 सा.सं.पू. तक देखे जा सकते है जो लगभग 1000 साल तक विस्तृत है। निश्चित रूप से ये अलग-अलग सांस्कृतिक कालों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसलिए तिथि के विषय में और अधिक अध्ययन की संभावना बनती है।

बंगाल के ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड स्थलों के बीच ऊपरी तौर पर प्राय: समानता देखी जा सकती है। इनके मृद्भाण्ड पत्थर के औज़ार, अर्ध कीमती पत्थरों के बने मनके और सीमित मात्रा में तांबे की वस्तुओं के आधार पर हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। निश्चित रूप से चावल इस काल में इस क्षेत्र की सबसे प्रमुख फसल थी। इस क्षेत्र में मैदानी इलाके के किसान छोटा नागपुर पठार के आखेटक-संग्राहक समुदायों से काफी आदान-प्रदान करते थे। छोटा नागपुर का क्षेत्र पत्थर और धातु विशेषकर तांबे और टिन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण था। बहुत सारे ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड स्थलों में लोहे का उपयोग होता था लेकिन ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड संस्कृति के अंतिम चरण में लोहा एक प्रमुख उद्योग के रूप में प्रचलित हुआ।

पश्चिम बंगाल के अजेय नदी के किनारे स्थित पांडु राजार ढिबी एक महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल है, यहां के कालखंड-I के असंशोधित काल की तिथि ल. 1500 सा.सं.पू. के बाद की है। यहां से कोई भी धातु की वस्तु प्राप्त नहीं हुई। लेकिन शायद ऐसा विधिवत् उत्खनन के अभाव में हो सकता है। ताम्रपाषाणकाल खंड II में कुछ मात्रा में तांबे की वस्तुएं मिलने लगीं। इसी काल से लोहे के भालाग्र और लोहे के स्लैग भी मिले हैं। यहां के ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्डों पर सफेद रंग का डिजाइन देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कई अन्य प्रकार के मृद्भाण्ड भी पाये गये हैं, जिनमें चिकनी मिट्टी के घोल के लेप वाले काले मृद्भाण्ड और एक धुसर/पांडु लेप वाला मृद्भाण्ड शामिल है। पालतु मवेशी, भैंस, बकरी तथा हिरण साथ में सांभर, मछली, कछुए और पक्षी जैसे पशुओं की हड्डियों के अवशेष मिले हैं।

दामोदर नदी घाटी के भरतपुर नामक स्थल के कालखंड-I से तांबे की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं जो ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्डों की संस्कृति से जुड़ी हुई हैं। साथ में सूक्ष्मपाषाण औज़ार, नवपाषाण कुल्हाड़ी (सेल्ट), पकी मिट्टी (स्टी. टाइट) के मनके भी मिले हैं। यहां की अंशशोधित तिथि 1735-1417 सा.सं.पू. निर्धारित की गयी है। महिषादल (कोपई नदी घाटी) में विशेष प्रकार के घरों की टेराकोटा ग्रंथिकाओ वाले के फर्श, टेराकोटा की वस्तुएं यथा चूड़ियां, टेराकोटा के लिंग और तांबे के कुल्हाड़ इत्यादि मिले हैं। अधिकांश संस्कृति ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड के इर्द-गिर्द घूमती है। यहां पर एक गड्ढे में चावल के जले हुए अवशेष मिले हैं जिससे लगता है इसमें चावल का भंडारण किया जाता था। महिषादल की अंशशोधित तिथि 1619-1415 सा.सं.पू. के बीच की है।

उड़ीसा में सतही खोजों के दौरान बहुत सारे नवपाषाणीय औज़ार मिलते हैं। लेकिन इनके स्तर विन्यास और तिथि निर्धारण की दिशा में बहुत अध्ययन नहीं किया गया है। उड़ीसा के नवपाषाण स्थलों में मयूरभंज जिला का कुचाई प्रमुख है। यहां पर चावल की खेती की जाने लगी थी जो बैदिपुर स्थल में प्रमाणित होती है। ढेंकानल जिले के संकरगंज से ल. 800 सा.सं.पू. के लगभग नवपाषाणीय कुल्हाड़ और कई तांबे की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। अभी हाल के उत्खनन में नवपाषाणीय कुल्हाड़ बनाने का केंद्र पाया गया जो उड़ीसा के सुंदरगढ़ जिला के सुलभडीही नामक स्थान से मिला (बेहेरा 1991-92)।

उड़ीसा के मंदाकिनी नदी पर स्थित गोलबई सासन नामक स्थान में नवपाषाण कालखंड-I से फर्श तथा स्तंभ गर्तों के प्रमाण मिलते हैं। यहां लाल और धूसर हस्तनिर्मित मृदभांड मिलते हैं, जिसके ऊपर रस्सी और कछुए के खोल का निशान मिलता है। कुछेक नक्काशी किए हड्डियों के टुकड़े भी मिले हैं। यहां का कालखंड-II ए ताम्रपाषाण संस्कृति का है। यहां पर वृत्ताकार झोपड़ियां जिनका व्यास 3.9 से 7.9 मीटर होता था, पाए गए हैं। इनमें चूल्हे तथा स्तंभ गर्त इत्यादि भी देखे जा सकते हैं। हाथ से बने तथा चाक पर बने मृद्भाण्ड भी पाए गए हैं। इनमें ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड तथा लाल मृद्भाण्ड और काले मृद्भाण्ड, चॉकलेट और भूरे मृद्भाण्ड, इत्यादि भी पाये गये हैं। यहां की तांबे की बनी वस्तुओं में अंगूठी, चूड़ी, बंसली, बंसीकांटा, इत्यादि देखे जा सकते हैं। पालिश किये गये पत्थर के औज़ारों में कुल्हाड़, बसूली पुराकुठार, इत्यादि प्रमुख हैं। हड्डी से बनी वस्तुओं में हथियार और जेवर (जैसे कर्णफूल और लटकन आदि) मिलते हैं। साथ ही साथ चरखा, गोली, भोंडा-सी बनी मानव मृण्मूर्ति, आदि भी देखी जा सकती हैं। यहां अन्य वस्तुओं में मानवीय मृण्मूर्तियां भी मिली है। कालखंड-II ए की सभी विशेषताएं कालखंड-II बी में भी देखी जा सकती हैं। केवल II बी कालखंड में लोहे के एक कुल्हाड़ की आकृति की प्राप्ति हुई है। कालखंड II ए और II बी की वनस्पतियों में चावल, मूंग, कुरथी इत्यादि प्रमुख है। प्राणी अवशेष में मवेशी, बकरी, हिरण और हाथी की हड्डियां मिली हैं। गोलबई सासन की तिथि दूसरी सहस्राब्दी 2000 सा.सं.पू. के लगभग की है।

उत्तर-पूर्वी भारत

असम, अरूणाचल प्रदेश, मेघालय, त्रिपुरा, नागालैंड, मणिपुर एवं मिजोरम के उत्तरी पूर्वी भारतीय राज्य पुरातात्त्विक दृष्टिकोण से संभावनाओं से भरे हुए क्षेत्र हैं। किन्तु इन क्षेत्रों में अभी विधिवत् उत्खनन का अभाव है। नव पाषाण कालीन प्राप्तियां गारो, कचार और नागा पहाड़ियों में बहुत हद तक सतही खोजों में ही मिली है। उत्खनन किये गये कुछ स्थलों से जो प्राप्तियां हुई हैं, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

गुवाहाटी के 25 कि.मी. दक्षिण पूर्व में स्थित सरूतरू के उत्खनन के दौरान कुल्हाड़ जैसी सामग्रियां मिली हैं। यहां से प्राप्त मृद्भाण्डों में भूरे और धूसर मृद्भाण्ड मिले हैं जिन पर रस्सी के निशान देखे जा सकते हैं। हालांकि, सरूतरू का नवपाषाण काल बहुत हाल का है, प्रायः प्रारंभिक शताब्दियों का। मरकडोला नामक स्थान में भी 1 मीटर मोटा निक्षेप एवं नव पाषाण कालीन प्राप्तियां हुई हैं। इनमें काउलिन मिट्टी से बने उत्कृष्ट मिट्टी के बर्तन पाये गए हैं। गुवाहाटी के ही निकट अंबारी नामक स्थान से ऐसी ही बारीक उत्कृष्ट मृद्भाण्ड पायी गयी है जिनकी तिथि सातवीं से बारहवीं शताब्दियों के बीच तय की जाती है।

कचार पहाड़ियों में स्थित दाउजली हाडिंग में 45 से.मी. मोटे निक्षपे नवपाषाण कालीन प्राप्तियों के अंतर्गत लकड़ी के बने कुल्हाड़ों के अवशेष एवं पत्थरों के कुल्हाड़ छेनी, खनती, सिलबट्टा, ओखली, मूसल एवं अन्य सामग्रियां मिली हैं। हाथ के बने मृद्भाण्डों पर लाल रंग का मुहर देखा जा सकता है। सेलबलगिरी नामक स्थान से जो रौंगरम् नदी के तट पर है, सूक्ष्म पाषाण औज़ार मिले हैं और यहां पर भी नवपाषाण कालीन आबादी बड़ी संख्या में निवास करती थी। 60 से.मी. मोटे निक्षेप में नवपाषाण औज़ार के अतिरिक्त हाथ के बने हुए भूरे रंग के मृद्भाण्ड पाये गये हैं।

नागालैंड में ऐसे स्थानों के उत्खनन भी हुए हैं। मणिपुर के नापचिक नामक स्थान से प्राप्त हाथ के बने हुए मृद्भाण्डों की तिथि 1650 ± 350 सा.सं.पू. तय की गयी है। यहां पर पत्थर के अन्य औज़ार भी प्राप्त हुए हैं जिनमें पॉलिश किये गये कुल्हाड़ पाषाण गंडासा, विदारणी, शक्ल, छुरा, सिलबट्टा आदि प्रमुख हैं।

नवपाषाण कालीन औज़ार मेघालय के भी कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। सेलबालगिरी में छोटे पैमाने पर एक उत्खनन किया गया था। पन्थोरलांग्थेन नामक स्थान में 1 मी. मोटा निक्षेप तथा एक समृद्ध नवपाषाण कालीन बस्ती के अवशेष मिलते हैं। इस निक्षेप से नवपाषाणकालीन, कुठार, छेनी, आड़ी, नोंक, ब्लेड और विदारणी भी मिली है। हालांकि, यह स्थान नवपाषाणकालीन औज़ारों का उद्योग केंद्र भी प्रतीत होता है।

उत्तर-पश्चिम भारत से प्राप्त पत्थर के औज़ार अथवा हाथ के बने मृद्भाण्ड बहुत बाद के भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, कनायी गांव, सुरक्षित वन क्षेत्र जो डिबरूगढ़ जिला में स्थित है, से प्राप्त नवपाषाण कालीन स्तर छठीं शताब्दी ईसवी का मालूम पड़ता है। फिर भी इस क्षेत्र में नवपाषाण-ताम्रपाषाण कालीन स्तरों की खुदाई एवं विधिवत् तिथिक्रम करना अभी बाकी है। इस क्षेत्र से प्राप्त औज़ारों और मृद्भाण्डों की प्रकृति पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया की संस्कृति से मिलती-जुलती बतायी जाती है। परंतु अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मध्य भारत से प्राप्त सांस्कृतिक स्तर विन्यास

मालवा के उत्तरी-पश्चिमी हिस्से में कई स्थानों से उत्तर हड़प्पा कालीन मृद्भाण्डो की प्राप्तियां हुई है। इनमें सिहोनिया, खुदाई और बस्सैया (चंबल नदी की सहायिका आसन नदी के किनारे) जैसे स्थल प्रमुख हैं। उत्तर हड़प्पा मृद्भाण्डो में मृद्भाण्डो की प्राप्ति मंदसौर जिले के मनौति नामक स्थान से भी हुई है। हालांकि, ऐसे स्थलों के विषय में विस्तृत जानकारी हमारे पास अभी उपलब्ध नहीं है। लेकिन कायथा, आहार और मालवा संस्कृतियों (धावलीकर 1979 ए) के विषय में हमारे पास पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है। इनमें से कायथा संस्कृति की चर्चा हम अध्याय तीन में कर चुके हैं। वर्तमान खंड में हम आहार और मालवा पर अध्ययन को केंद्रित रखेंगे।

आहार संस्कृति

जैसा कि अध्याय तीन में चर्चा की जा चुकी है कि आहार संस्कृति राजस्थान के दक्षिण पूर्वी हिस्से में फली-फूली और मध्य भारत के मालवा क्षेत्र तक इसका विस्तार हुआ था। आहार संस्कृति चंबल नदी के कई स्थलों के अतिरिक्त मुख्य रूप से कायथा से चिन्हित की जाती है। आहार संस्कृति की विशेषता यहां की चाक पर बनी ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड है, जिन पर सफेद रंग का डिजाइन रंगा जाता था। ऐसे मृद्भाण्डों के कई प्रकार पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त लाल लेप वाले मृद्भाण्ड और लाल के अतिरिक्त गेरुआ, चाकलेट, भूरे रंगों के मृद्भाण्ड भी पाए गए हैं। ये सभी काफी चमकीले थे और इनको पकाया गया था। खुरदुरा हस्तनिर्मित लाल एवं धूसर मृदभांड भी प्राप्त हुए हैं।

यहां से प्राप्त अन्य सामग्रियों में छोटे बेलनाकार मनके के बने हार प्रमुख हैं। राजस्थान की आहार संस्कृति में पत्थर के औज़ार और सामग्रियां कम मात्रा में प्राप्त हुई हैं लेकिन आहार संस्कृति के कायथा से फलक आकार के औज़ारों का उद्योग चिन्हित किया गया है। आहार संस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता यहां की टेराकोटा से बनी सामग्रियां है। यहां के टेराकोटा के बैल काफी प्रसिद्ध है। टेराकोटा की ऐसी मूर्तियां काफी बारीक एवं उत्कृष्ट मिट्टी से बनायी गयी थीं, जिनको सामान्य रूप से उच्च तापक्रम पर पकाया गया था। यहां से प्राप्त सांड की मूर्तियों में उनके कूबड़ और उनके सींग काफी स्पष्ट हैं। यहां से छोटे सींगों वाले एक बैल की प्राप्ति किसी आधार पर बनायी गयी थी जो काफी रोचक है। हो सकता है कि इसका कोई अनुष्ठानिक महत्त्व हो।

यहां के लोग छोटे-छोटे मिट्टी के घरों में रहते थे जिन पर मिट्टी का मोटा गिलावा चढ़ाया गया था। कहीं-कहीं घरों के फर्श, मलबा और गिट्टी को पीट कर बनाया गया है। आहार संस्कृति के अंतिम चरण में कायथा में बड़े स्तर पर किसी अग्निकांड या दुर्घटना के प्रमाण मिलते हैं।

मालवा संस्कृति

मालवा संस्कृति आहार संस्कृति की उत्तराधिकारी संस्कृति थी। पश्चिमी नीमड़ जिले के नवदाटोली का स्थल नर्मदा के दक्षिणी किनारों पर है और इस संस्कृति का सबसे बड़ा केंद्र है। इस स्थल से जुड़े अंशशोधित क्रम 2000 से 1750 सा.सं.पू. तय किये गये हैं। मालवा संस्कृति के अन्य स्थलों में प्रमुख माहेश्वर (नीमड़ जिला), नागदा (उज्जैन जिला) और एरेन (सागर जिला) हैं। खड़गांव जिला, मध्यप्रदेश के चिचली नामक स्थान में हुए हाल के उत्खननों से भी इस संस्कृति के स्तर प्राप्त हुए हैं। हालांकि, इस चिचली में आहार, मालवा, जोर्वे तथा प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की सामग्रियां भी प्राप्त हुई हैं।

मालवा मृद्भाण्ड की जो सबसे बड़ी विशेषता है कि ये ज्यादातर सामान्य कोटि के मृद्भाण्ड हैं और इन पर नारंगी रंग का लेप चढ़ा होता है। मालवा मृद्भाण्डों के पात्रों के ऊपरी हिस्से पर काले या गहरे भूरे रंग के डिजाइन भी बने होते हैं। इन मृद्भाण्डों में सबसे प्रमुख लोटा के आकार के पात्र हैं। लोटा के अतिरिक्त उत्तल सतह वाले पात्र, टोटी वाले पात्र और आधार वाले अर्ध-अंडाकार पात्र भी पाए जाते हैं। मालवा के मृद्भाण्डों पर प्राय: छ: सौ से अधिक प्रकार के प्रतीक देखे जा सकते हैं। इनमें अधिकांश ज्यामितीय होते हैं और कुछ प्राकृतिक। वनस्पति और पशुओं तथा मानवीय आकृतियों को भी इन मृद्भाण्डों पर अंकित किया गया है। इन चित्रांकनों में कृष्णमृग, वृषभ, हिरण, मयूर, सूअर, बाघ, तेंदूआ, लोमड़ी, कछुआ, मरगमच्छ और कई प्रकार के कीट-पतंग दिखते हैं।

नवदाटोली के आवासी क्षेत्र का अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि इसमें कोई विशेष नगर-योजना का प्रयोग नहीं किया गया था। मकान बेतरतीब ढंग से बने हुए थे जिनके बीच में कहीं-कहीं गलियां निकाली गयी थीं। ज्यादातर घर वृत्ताकार होते थे और झोपड़ीनुमा होते थे जिनके फर्श चूने के द्वारा प्लास्टर किये गये होते थे। घरों की छतों, जो प्राय: शंकुकार होते थे, को लकड़ी के बने खंभों से सपोर्ट मिलता था। दीवारें काफी कम ऊंची होती थी, कभी-कभी दीवारों का अभाव भी देखा जा सकता है। बांस के परदे पर गीली मिट्टी का मोटा लेप लगाया जाता था। वृत्ताकार घरों का व्यास 1 मी. से 4.5 मी. तक होता था। आयताकार घर 5-6 मी. लंबे होते थे। इन घरों के अंदर चूल्हा और मर्तबान पाए गए हैं। इनमें पाये जाने वाला छत कभी-कभी इतना नीचे चला जाता था कि वह जमीन को छूने लगता था। नागदा चंबल नदी के किनारे स्थित एक स्थल है, वहां से मिट्टी की ईंटो की बनी संरचनाएं मिली हैं। एरन में एक विशाल मिट्टी का सुरक्षा प्राचीर मिला है जिसके किनारे खाई भी बनाई गयी थी।

मालवा संस्कृति के स्थलों की दूसरी विशेषता यह है कि यहां पत्थर के सामग्री के स्थान पर तांबे की वस्तुएं अधिक पायी गयी हैं। शायद इस क्षेत्र में तांबे का अभाव था। 23,000 सूक्ष्म पाषाणीय औज़ार से अधिक नवदाटोली के उत्खननों से प्राप्त हुए हैं (सांकलिया एवं अन्य, 1958)। इनमें से अधिकांश सूक्ष्म औज़ार चैल्सेडनी के बने हुए हैं। केवल कुछ सामग्रियां कारनेलियन, अगेट, जैस्पर और क्वार्ट्ज की बनी हुई हैं। इन उत्खननों को नजदीक से देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये उपादान नवदाटोली के घरेलू उद्योग के रूप में बनायी जाती थी। कुछ औज़ारों में हत्था लगा था, कुछ को हाथ से सीधे-पकड़ कर उपयोग किया जाता था। पत्थर के कई उपकरण जैसे पांव से चलाए जाने वाले चक्की, सान-पत्थर, हथौड़ा-शीर्ष, गदा-शीर्ष और बटखरे मिले हैं। तांबे की सामग्रियों में सपाट कुठार, तार का छल्ला, मनके, चूड़ियां, मछली का कांटा, छेनी, नहपनी, कांटी, टूटा हुआ तलवार आदि महत्त्वपूर्ण हैं। नवदाटोली से प्राप्त कुल्हाड़ों में वैसे चिन्ह पाए गए हैं जो गनेश्वर (गुजरात) के स्थल से समानता रखती है। तांबे के कुछ वस्तुओं के विश्लेषण से टिन और सीसा के साथ मिलाकर मिश्रधातु बनाने की बात सामने आयी है। नावदाटोली से भी सेलखड़ी, चैल्सेडनी, शीशा, जौचर, लाजवर्द और शंख के मनके बरामद हुए हैं। यहां पशुओं की मृण्मूर्तियां और तकली भी मिला है। वनस्पतिक अवशेषों में गेंहू, जौ, तीसी, चना, मूंग, मसूर, आंवला, बेर और खेसारी देखा जा सकता है। प्राणि अवशेषों में जंगली हिरण और पालतू मवेशी, भेड़, बकरी और सूअर की हड्डियां मौजूद हैं।

मालवा संस्कृति के उत्खनन के आधार पर यहां के धार्मिक और अनुष्ठानिक गतिविधियों का भी कुछ अंदाज लगाया जा सकता है। नवदाटोली से $2.3 \times 1.92 \times 1.35$ मीटर का एक गड्ढा पाया गया जो एक मकान के बीच में अवस्थित था और इस संस्कृति के प्रारंभिक चरण का प्रतीक होता है। इस गड्ढे के किनारे प्लास्टर किये हुये थे। कुछ लकड़ियां इन गड्ढों में पायी गयी हैं और जले हुए लकड़ियों के चार खम्भें चारों कोणों में स्थित थे। इस गड्ढे को अग्निवेदिका के रूप में चिन्हित किया जा सकता है जहां यज्ञ का सम्पादन किया जाता था। इसी प्रकार की दूसरी रोचक प्राप्ति नवदाटोली में हुई जब एक बड़ा भंडारण के उद्देश्य से बनाया गया मर्तबान प्राप्त हुआ। इसके ऊपर दाईं ओर स्त्री की आकृति अंकित थी। हो सकता है यह धर्म से जुड़ा हुआ हो। और बांई ओर एक बड़े मगरमच्छ या गिरगिट की आकृति बनी हुई है और इनके पीछे एक मंदिरनुमा आकृति है। यह मंदिर लगता है गिरगिट के समान किसी सम्बंधी प्रतीक के लिए बना हुआ था। चार मंदिरों की आकृतियां चार हिस्सों में पायी गयी है और चार को एथलिक पैटर्न (गोटेदार डिजाइन) से अलंकृत किया गया था। मर्तबान के दूसरे हिस्से में कछुआ के साथ देवस्थल बना हुआ है। महाराष्ट्र के प्रकाश नामक पुरातात्त्विक स्थल से भी मालवा संस्कृति के स्तर में भी कछुए की आकृति का शंख से बना एक ताबीज भी मिला था। एक टोटीदार पात्र के ऊपर लहराते हुए बालों वाले एक पुरुष की आकृति बनी है, जो नवदाटोली से प्राप्त हुई है। इसकी कुछ विद्वानों ने रुद्र के आदिम रूप से तुलना की है।

मानचित्र 5.4: **मालवा और दक्कन के प्रमुख ताम्र-पाषाणयुगीन पुरास्थल**

मालवा संस्कृति के कई स्थलों से वृषभों की आकृतियाँ भी मिलती हैं। दंगवाड़ा के उत्खनन से वृषभ, वृक्ष, सर्प तथा मातृदेवियों की उपासना का संकेत मिलता है। यहां से भी यज्ञ-वेदिकाओं के अवशेष मिले हैं। मालवा संस्कृति में शवों को घरों के नीचे ही दफनाया जाता था और शवों को उत्तर-पश्चिम दिशा में रखा जाता था। इंदौर के आजादपुर नामक स्थल से घर के फर्श के नीचे दफनाए गए एक शिशु (बच्चे) का शव मिला है। इनके पैरों को मृत्यु के बाद काट दिया गया था। एक धारदार ब्लेड तथा एक टेराकोटा की बनी छोटी तख्ती इनके सिर के पास रखी जाती थी।

दक्कन के ताम्रपाषाण कालीन कृषक

उत्तर हड़प्पा संस्कृति तथा मालवा की संस्कृतियाँ

दायमाबाद से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर यह सिद्ध हुआ कि उत्तर हड़प्पा संस्कृति दक्कन तक फैली हुई थी। इस क्षेत्र में अन्य स्थलों में सामान्य रूप से ताम्रपाषाण कालीन सांस्कृतिक स्तर विन्यास के अंतर्गत सवालदा संस्कृति के बाद क्रमशः मालवा और जोर्वे संस्कृतियां पुष्पित-पल्लवित हुई, (धावलीकर, 1979 बी) सवालदा संस्कृति के विषय में अध्याय तीन में चर्चा की जा चुकी है। यहां हम उत्तर हड़प्पाकालीन सभ्यता की चर्चा करेंगे और विशेष रूप से मालवा और जोर्वे संस्कृति की, जिसमें स्थलों की दृष्टि से दाइमाबाद और इनामगांव पर हमारा अध्ययन केन्द्रित रहेगा। क्योंकि इन स्थलों से असाधारण रूप से विस्तृत उत्खनन, पुरातात्त्विक उत्खनन के प्रतिवेदन हमारे पास उपलब्ध हैं और प्रारंभिक ताम्रपाषाण कालीन कृषकों के जीवन के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है जो दक्कन के क्षेत्र में रहते थे।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि मालवा संस्कृति का विस्तार मध्य भारत से लेकर दक्कन तक हुआ था। दक्कन में मालवा संस्कृति का केंद्र तापी नदी घाटी कहा जा सकता है। हालांकि, प्रवर, गोदावरी और भीमा नदी घाटी में भी मालवा संस्कृति के कई स्थल देखे जा सकते हैं। मालवा मृद्भाण्ड जो दक्कन से प्राप्त हुए हैं, उनमें मध्य भारत के मालवा संस्कृति के मृद्भाण्डों की अपेक्षा कुछ विभिन्नता भी स्पष्ट रूप से चिन्हित किये जा सकते हैं। यहां के मृद्भाण्ड काफी बारीक मिट्टी के बने हुए थे और इन मृद्भाण्डों को काफी उच्च तापमान पर समान रूप से अधिक देर तक पकाया गया था। दक्कन में हाथ से बने हुए लाल और धूसर मृद्भाण्ड भी प्राप्त होते हैं जिनमें दक्षिण भारत के नवपाषाणीय संस्कृति से जुड़े मृद्भाण्डों से अधिक समानता देखी जा सकती है। मालवा संस्कृति के महत्त्वपूर्ण स्थलों में इनामगांव, दाइमाबाद और प्रकाश को ले सकते हैं।

हड्डी निर्मित चाकू, दाइमाबाद

दाइमाबाद (अहमदनगर जिला, महाराष्ट्र) आज एक वीरान गांव है जो प्रवर नदी पर स्थित है। प्रवर नदी गोदावरी नदी की सहायिका है। 1976-79 के बीच भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की एक टीम ने एस.ए. शालि के निर्देशन में यहां पर खुदाई का कार्य किया था। इस महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल के ताम्रपाषाण संस्कृति का विशद् प्रतिवेदन हमारे पास उपलब्ध है। यहां का कालखंड-I (2300-2200 सा.सं.पू.) का है जो 'सवालदा संस्कृति' से जुड़ा है। कालखंड-II (2300/2200-1800 सा.सं.पू.) तय किया गया है जो 'उत्तर हड़प्पा संस्कृति' का काल है तथा कालखंड-III (1800-1600 सा.सं.पू.) के बीच की संस्कृति को 'दाइमाबाद संस्कृति' के नाम से जाना जाता है। कालखंड-IV (1600-1400 सा.सं.पू.) के बीच के काल में यहां 'मालवा संस्कृति' तथा कालखंड-V (1400-1000 सा.सं.पू.) 'जोर्वे संस्कृति' का काल था (शालि, 1986)।

दाइमाबाद का कालखंड-II उत्तर हड़प्पाई है। इस काल में यहां के पुरातात्त्विक स्थलों के अध्ययन से यह पता चलता है कि यहां आवासीय क्षेत्र का विस्तार हुआ और यह बीस हेक्टेयर में फैला हुआ था। इस नदी के दोनों ओर आवासीय क्षेत्र अवस्थित था और जिनके चारों तरफ काली मिट्टी की दीवार खड़ी की गई थी। इस काल का सबसे बड़ा घर 6.3 × 6 मी. आकार का था। इसके अतिरिक्त यहां के कब्रों में शवों को लेटाकर दफनाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि शवों को दफनाने के पहले उनको सरकण्डे वाले वनस्पति या किसी अन्य वनस्पति से ढका जाता था। यहां का मुख्य मृद्भाण्ड लाल मृद्भाण्ड है जिस पर रेखीय

और ज्यामितिय डिजाइन काले रंग से रंगे जाते थे। इन मृद्भाण्डों में पाएदार तश्तरी, पाएदार कटोरी तथा अन्य कई प्रकार के पात्र सम्मिलित हैं। लाल मृद्भाण्ड के अतिरिक्त पका हुआ धूसर मृद्भाण्ड भी महत्त्वपूर्ण है तथा दो रंगों वाला एक तीसरी कोटि का मृद्भाण्ड भी यहां से पाया जाता है। यहां पर हड़प्पा लिपि में अंकित दो बटन के आकार के सील मुहर मिले हैं और चार मृद्भाण्ड के ठिकरों पर भी हड़प्पा लिपि उत्कीर्ण की गयी थी। यहां तांबे के धातुमल की उपस्थिति यह बतलाती है कि यहां पर तांबे को गलाकर काम किया जाता था। वनस्पतिक अवशेषों में बाजरा, चना और मूंग शामिल हैं, जो सभी कालखंड-1 में भी उपस्थित थे। कुलची पहली बार अपनी उपस्थिति प्रदर्शित करती है।

दाइमाबाद में ऐसा लगता है कि कालखंड-II के बाद लगभग 50-60 वर्षों के लिए बस्ती नहीं थी जिसकी पुनः शुरुआत कालखंड-III से हुई जिसे हम दाइमाबाद संस्कृति के रूप में जानते हैं। दाइमाबाद कालखंड-III के मुख्य मृद्भाण्ड ब्लैक-ऑन-क्रीम मृद्भाण्ड कहलाते हैं। यहां पर हाथी दांत की बनी बहुत सारी सामग्रियां भी मिली हैं। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मपाषाण ब्लेड (फलक), हड्डी के औज़ार, मनके और हाथी के एक संपूर्ण नक्शीदार दांत भी मिला है। तांबा गलाने के लिए एक विशेष प्रकार की भट्टी (फर्नेस) को भी देखा जा सकता है। यहां पर तीन अलग-अलग प्रकार के कब्रगाह पाये गये हैं- एक तो गड्ढे वाले कब्रगाह, दूसरा दाह-संस्कार के बाद अस्थि को कलश में रखकर दफनाने की प्रक्रिया और तीसरा प्रतीकात्मक कब्रगाह। वनस्पति के प्रकारों में लोबिया पहली बार मिले हैं।

दाइमाबाद का कालखंड-IV मालवा संस्कृति से जुड़ा हुआ है। इस समय, लोग काफी आराम से, बड़े-बड़े खुले स्थानों में निवास करने लगे थे। उनके घर वर्गाकार संरचना वाले होते थे और जिनकी दीवारों पर मिट्टी से प्लास्टर किया होता था। इस कालखंड से तांबे बनाने के कार्यशाला इत्यादि से प्रतीत होता है कि तांबा का उद्योग यहां महत्त्वपूर्ण रहा होगा। इस काल में अग्निवेदिकाएं पायी गयी हैं जो निश्चित रूप से धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़ी प्रथा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अग्निवेदिकाओं से जुड़ा एक आवासीय संरचना का अवशेष पाया गया है जिसका अर्धवृत् आकार के मंदिर के होने की संभावनाएं व्यक्त की गयी हैं और यहां से बलि प्रथा के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। यहां से प्राप्त सोलह कब्रगाहों में गड्ढे वाले कब्रगाह और अस्थि कलश को दफनाने वाले दो प्रकार के कब्रगाह पाये गये हैं। किसी रेशेदार पौधे की टहनी गड्ढों के तल में बिछाई गई थी। कालखंड-IV के उपकरणों में सूक्ष्म पाषाण ब्लेड, तांबे की वस्तुएं, फेयंस के मनके और टेराकोटा तथा हड्डी की वस्तुएं देखी जा सकती है। वनस्पतिक अवशेषों में जौ, तीन तरह के गेंहू, रागी (मडुआ), मसूर, दालें और बेर मिलते हैं। सुगंध बेल का उपयोग इत्र बनाने के लिए प्रायः किया जाने लगा था।

इसके अतिरिक्त इनामगांव पुणे जिले में मीमा की एक सहायक नदी घोड के घाट पर अवस्थित है। महाराष्ट्र के ताम्रपाषाण संस्कृति से जुड़े किसी भी स्थल की तुलना में इनामगांव में सबसे विस्तृत और विशद् उत्खनन कार्य दक्कन कॉलेज पूणे के द्वारा एम.के. धावलीकर, एच.डी. सांकलिया और जेड.डी. अंसारी के नेतृत्व में किया गया, जिन्हें 1968 से 1983 के बीच बारह सत्रों में संपादित किया गया था। परिणामस्वरूप यहां पर रहने वाले किसानों के जीवन के विषय में प्राप्त जानकारी का विस्तृत रूप से विश्लेषण संभव हो सका है। कालखंड-I (1600-1400 सा.सं.पू.) मालवा संस्कृति का है। कालखंड-II (1400-1000 सा.सं.पू.) प्रारंभिक जोर्वे संस्कृति का है। कालखंड-III (1000-700 सा.सं.पू.) जोर्वे संस्कृति के अंतिम चरण का है। यहां पर हम कालखंड-I पर विशेष ध्यान देंगे जिसका अध्ययन धावलिकर एवं अन्य ने 1988 में किया था।

इनामगांव में 134 घरों को खुदाई में चिन्हित किया गया है जिनमें से 32 घर कालखंड-I के हैं और उनमें से 28 घर आयताकार संरचना वाले हैं, एक घर वृत्ताकार और तीन गर्त गृह थे। आयताकार घरों की दीवारों के कोने गोल किये गये थे और निश्चित रूप से इनके छत कोणीय रहे होंगे। यहां पर गांव में रहने वाले लोग आज भी उसी प्रकार के घरों में रहते हैं। घर काफी फैला हुआ होता था। सामान्यतः इसका आकार 8 × 5 मी. देखा गया है। यहां पर अर्धगोलाकार चूल्हे घर में देखे जा सकते हैं। कभी-कभी कुछ घरों में आंगन में भी चूल्हा पाया जाता है। शायद यहां मांसाहारी भोजन के लिए अलग व्यवस्था की जाती थी। यहां पर भंडारण के लिए दो प्रकार की संरचनाएं पायी जाती हैं—एक तो जमीन के ऊपर और दूसरी जमीन को खोदकर नीचे में की गयी व्यवस्था। भंडारण घर के बाहर और भीतर दोनों किया जाता है।

दक्कन के प्रारंभिक ताम्रपाषाण कालीन कृषक मुख्य रूप से कृषि पर आहार के लिए निर्भर करते थे लेकिन आखेट एवं मछली पकड़ना भी लोकप्रिय था। यहां पर मुख्य फसल जौ प्रतीत होता है क्योंकि यह क्षेत्र वर्षा की दृष्टि से अल्प वृष्टि का क्षेत्र था और गेहू के फसल के लिए अधिक पानी की आवश्यकता पड़ती है। इनामगांव से प्राप्त प्राणि अवशेषों में कूबड़दार मवेशी, भैंस, बकरी, भेड़, कुत्ता और सूअर जैसे पालतू पशुओं की हड्डियां प्राप्त हुई हैं। जंगली पशुओं में सांबर, चीतल, कृष्णमृग, खरगोश और नेवला तथा कई प्रकार के चिड़ियों, सरीसृपों मछलियों और घोंघा के अवशेष भी मिले हैं।

कालखंड-I (सवालदा संस्कृति) सवालदा मृद्भाण्ड

कालखंड-II (उत्तर हड़प्पा संस्कृति) धूसर मृद्भाण्ड; उत्तर हड़प्पाई ठीकरे

कालखंड-IV (मालवा संस्कृति) छिछला सतह वाला कटोरा

कालखंड-V (जोर्वे संस्कृति) टोटीदार घट

कालखंड-II (दाइमाबाद संस्कृति) लंबी गर्दन वाला घड़ा

विभिन्न कालखंडों के मृद्भाण्ड, दाईमाबाद

यहां पर पत्थर और तांबे दोनों प्रकार के औज़ार पाये जाते हैं जो मालवा संस्कृति के विभिन्न जगहों पर पाये गये औज़ारों से मिलते जुलते हैं। चैल्सेडनी तथा अगेट का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। पॉलिश किये गये पत्थर के कुल्हाड़ काफी कम पाये गये हैं। इन औज़ारों का माइक्रोवेयर विश्लेषण और अध्ययन करने से यह पता चलता है कि इनका उपयोग फसल काटने के लिए, मांस काटने के लिए, छालों को अलग करने के लिए एवं हड्डियों पर काम करने के लिए किया जाता था। तांबों की वस्तुओं में छुरी, मछली पकड़ने के कुछ औज़ार कुल्हाड़, चूड़ियां, मनके, इत्यादि पाये जाते हैं। इनामगांव में बहुत सारे मनके और आभूषण, टेराकोटा, जैस्पर, हाथी के दांत और कारनेलियन के बने हुये थे। हालांकि, शंख, स्टीटाइट, फायंस, एमेजोनाइट, सोना और कॉलसाइट के भी आभूषण पाये जाते हैं। जैस्पर और कारनेलियन जैसे अर्धबहुमूल्य पत्थर यहां स्थानीय रूप से प्राप्त होते थे। जबकि अन्य सभी सामग्रियां बहुत दूर से लाई जाती थीं। इनामगांव में शंख की बनी वस्तुएं यहां से निकटतम दूरी 200 कि.मी. से लायी जाती थी, जो एक सामुद्रिक क्षेत्र था।

कालखंड-I में इनामगांव में गड्ढे और अस्थि कलश कोटि वाले कब्रों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि कालखंड-I में सिर्फ बच्चों के कब्र मिलते हैं। तीनों कालखंडों में बच्चों की गड्ढों में दो अस्थि कलशों में इस तरह दफनाया जाता था कि दोनों के मुंह आपस क्षैतिज रूप से सटे रहें। इनमें कई कब्रों में स्त्री की मूर्तियां भी पायी जाती हैं, जिनके संदर्भ और विशेषताओं से लगता है कि इनका कोई न कोई कर्मकांडीय महत्त्व रहा होगा। प्रायः बाद के जीवन के प्रति इनकी आस्था बढ़ी होगी। इसके साथ-साथ इन कब्रों की सामग्रियों में वृषभ की मूर्तियां भी मिलती हैं जिससे लगता है कि इन पशुओं की उपासना की जाती थी।

इनामगांवः कालखंड-I (मालवा काल)

अतिरिक्त परिचर्चा

दाइमाबाद की कांस्य मूर्तियां

सन् 1974 में छब्बू लक्ष्मण भील दाइमाबाद गांव में झाड़ियों को साफ कर रहा था और तब उसे धातु की बहुत सारी सामग्रियों का एक संग्रह दिखलायी पड़ा। उसने पड़ोसी गांव लड़गांव के मुखिया ने इसकी सूचना पुलिस को दे दी। बाद में भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण विभाग ने जिला अधिकारियों से इन सामग्रियों को प्राप्त कर लिया। इस संग्रह के अंतर्गत् चार वस्तुएं थीं:

1. एक आदमी (16 से.मी. ऊँचाई वाला) दो पहियों वाले एक रथ को चला रहा था। रथ का आकार 45 से.मी. लम्बा और 16 से.मी. चौड़ा था। यह रथ एक लम्बे डंडे के सहारे दो बैलों से जुड़ा हुआ था जो तांबे के दो आधारों पर खड़े थे। रथ के गार्ड वाले हिस्से के मुख्य पोल के नीचे एक कुत्ते की आकृति थी, वह आदमी रथ के गार्ड के क्षैतिज तार को अपने बायें हाथ से। तथा उसके दाहिने हाथ में एक लम्बी छड़ी थी जो दोनों ओर मुड़ी हुई थी। मनुष्य की आकृति का विशेषकर पेट और छाती का हिस्सा कुछ लम्बवत् था। उसकी ऊपरी ठुड्डी और निचले ओंठ थोड़े उभरे हुए थे। उसकी नाक छोटी थी, आँखें काफी खुली हुई थी और भौहें तिरछी थी। उसके बाल घुंघराले थे और बालों के बीच में जूड़ा बँधा हुआ था। जो उसके कंधे पर झूल रहा था। उसके घुटने थोड़े मुड़े हुए थे। उसके शिश्न पर चार नाग फन फैलाए हुए बने हुए थे।
2. एक भैंस (31 से.मी. ऊँचा, 25 से.मी. लंबा) जो ठोस पहियों पर बने चार पायो वाले एक आधार पर खड़ा था।
3. एक हाथी 25 से.मी से लंबा उपरोक्त प्रकार के आधार पर (27 से.मी. लंबा) खड़ा हुआ था, इसके पहियों की धुरी थी, किंतु चार पहिए लुप्त थे।
4. गैंडा (25 से.मी. लंबाई तथा 19 से.मी. ऊंचाई वाले) चार ठोस पहियों के धूरी पर खड़ा है।

कांस्य की बनी इन सामग्रियों का सम्मिलित भार 60 किलो था। इन प्रतिमाओं से उस काल की शिल्पकला और प्रतिमाओं को गढ़ने की तकनीक के उच्च स्तर का पता लगा। रासायनिक विश्लेषण के आधार पर यह पाया गया है कि कांसे में टिन की कुछ मात्रा मिली हुई थी। शुरू में इस संग्रह का विधिवत् उत्खनन नहीं किया गया किन्तु बाद में किये गए विधिवत् उत्खनन के द्वारा यह पता लगा कि यह स्थल उत्तर हड़प्पा काल से जुड़ा हुआ है। इन सामग्रियों की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं दिखलाई पड़ती है। इसलिए अधिक संभावना है कि इसका कोई धार्मिक या अनुष्ठानिक महत्त्व रहा होगा। यह सभी प्रतिमाएँ पहियों पर हैं जिससे यह पता चलता है कि शायद ये किसी जुलूस का हिस्सा बनते होंगे।

एस.ए. शालि ने उक्त मानव आकृति की तुलना भगवान शिव से की है जो पशुपति भी हैं लेकिन यह अनुमान बहुत तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार की धातु की प्रतिमाएँ भारत के किसी भी भाग से नहीं मिलती हैं। दाइमाबाद की प्रतिमाएँ आज भी एक रहस्य बनी हुई हैं।

स्रोत: शालि, 1986: 477–79
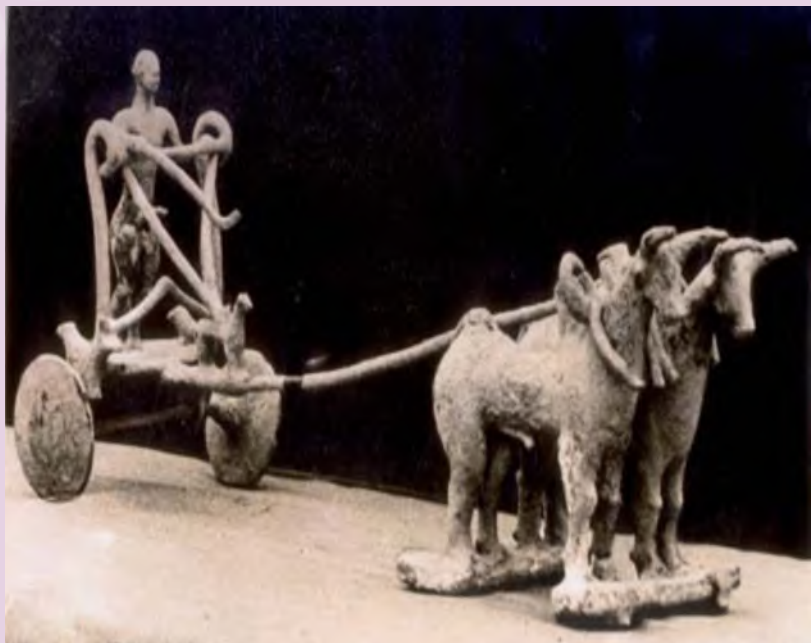
दक्कन की जोर्वे संस्कृति

जोर्वे संस्कृति पहली बार जोर्वे नामक स्थान पर पायी गयी, किन्तु बाद में यह पाया गया कि जोर्वे संस्कृति एक लम्बे-चौड़े क्षेत्र में फैली हुई थी जिसमें लगभग पूरा आधुनिक महाराष्ट्र सम्मिलित था। केवल तटीय कोंकण जिले को छोड़कर इस संस्कृति का केंद्र प्रवर और गोदावरी की नदी घाटियाँ थीं। किंतु इसकी परिधि उत्तर में तापी नदी, दक्षिण में कृष्णा नदी के बीच फैली हुई थी। इस संस्कृति से जुड़े प्रमुख उत्खनित स्थलों में दाइमाबाद, इनामगांव, थियूर, सोनगांव, चन्दोली, बहाल, प्रकाश, जोर्वे और नेवासा जैसे स्थल हैं। तापी नदी घाटी में स्थित प्रकाश जोर्वे संस्कृति का सबसे विशाल आकार वाला स्थल है, जबकि गोदावरी नदी घाटी में दाइमाबाद और भीमानदी घाटी में इनामगांव इसके सबसे बड़े स्थल हैं। इन तीनों स्थलों का आकार 20 हेक्टेयर से ज्यादा विस्तृत था। ये सभी स्थल स्थायी कृषक गांवो का प्रतिनिधित्व करते हैं। जोर्वे, बहाल और नेवासा मध्यम आकार की बस्तियां थीं किन्तु जोर्वे संस्कृति के अन्य स्थल छोटे आकार के थे, जो 1-2 हेक्टेयर के बीच के थे। इस श्रेणी में बल्कि बौर गोटखिल, दो स्थलों का नाम लिया जा सकता है जो मुख्यत: कृषि और पशुपालन से जुड़ी हुई बस्तियां मालूम पड़ती हैं, जो अनुकूल मौसमों में उपयोग की जाती थीं। जबकि गरमल भी एक अस्थायी 'कैंप-साइट' मालूम पड़ता है जो चैल्सेडनी के स्रोत के बिल्कुल करीब था। इन सभी बिन्दुओं से यह स्पष्ट होता है कि जोर्वे संस्कृति के स्थलों में एक आवासीय श्रेणीकरण का अस्तित्व था। नेवासा, चन्दोली, सोनगांव से प्राप्त कार्बन-14 तिथियां इनको ल. 1300-1000 सा.सं.पू. के बीच लाकर खड़ा करती हैं। इनामगांव में प्रारंभिक जोर्वे संस्कृति का काल ल. 1400-1000 सा.सं.पू. था जबकि जोर्वे संस्कृति के अंतिम चरण का काल ल. 1000-700 सा.सं.पू. तय किया गया है।

जोर्वे संस्कृति के मृद्भाण्ड काफी बारीक, अच्छी प्रकार से पके हुए और अपने आकार और डिजाइन की दृष्टि से काफी समृद्ध थे। यहां से प्राप्त लोटे जैसे पात्रों में चमकीले नारंगी रंग के डिजाइन देखे जा सकते हैं जो ज्यादातर ज्यामितीय आकारों में थे। डिजाइन का रंग काले से किया जाता था। कई प्रकार के उत्तल पात्र, टोटीदार जार, ऊंची गर्दन वाले जार यहां पर पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त एक निम्न कोटि के लाल और धूसर मृद्भाण्ड भी पाये गये जो हाथ के बने हुए मालूम पड़ते हैं। लाल और धूसर रंग के अंडाकार दीपक भी पाए गए हैं। इनामगांव में बर्तन पकाने की एक भट्ठी की भी पहचान की गई है।

दाइमाबाद का कालखंड-V जोर्वे संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। इस काल में इस स्थल का आकार 30 हेक्टेयर में फैला हुआ था। यहां पर इसके चारों ओर बुर्जों के साथ बने हुए सुरक्षा प्राचीर के अवशेष देखे जा सकते हैं जो मिट्टी के बने हुए थे। यहां पर एक कसाईखाना भी मिला है। कुम्हार का घर, मनके बनाने वाले का घर, व्यवसायों के घर भी रेखांकित किये गये हैं। प्राय: अण्डाकार संरचना का अवशेष पाया गया है, जहां तक पहुंचने के लिए मार्ग को गोबर से लीपा जाता था। यहां पर इस स्थल से कुछ ऐसे पात्र भी मिले हैं जिसमें तांबे की कुछ सामग्रियाँ थीं, जो शायद किसी धार्मिक उद्देश्य से अर्पित की जाती होंगी। इसके अतिरिक्त इन पात्रों में कई आकार वाले पत्थर और मवेशियों की हड्डियां भी मिली हैं, यहां से टेराकोटा का एक बेलनाकार सील भी प्राप्त हुआ है जिसमें एक रथ या घोड़े से चलने वाली गाड़ी का चित्रण किया गया है। नरकंकालों के दांतों के विश्लेषण से दांत में छिद्र, उपरी परत के क्षय और दांत पर मैल जमा होने के संकेत मिलते हैं। शिशु-स्कर्वी का एक दृष्टांत भी मिलता है। यहां पर 48 कब्रगाहों को चिन्हित किया गया जिनमें 44 अस्थि कलश गाड़े गये थे। तीन कब्रों में शवों को लेटाकर गाड़ा गया था। दाइमाबाद से प्राप्त कब्रों में एक विशेषता यह देखी गयी कि उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल के एक कब्र को छोड़कर सभी कब्रों में किशोरावस्था में या शैशवावस्था में मृतक को गाड़ा गया था। इस काल की फसल सूची कमोवेश वही है, जो पिछले काल में थी, लेकिन कुछ फसल नए भी जुड़ गए थे। उदाहरण के लिए तीन नए प्रकार के बाजरों (कोदो, कंगनी और ज्वार) को देखा जा सकता है।
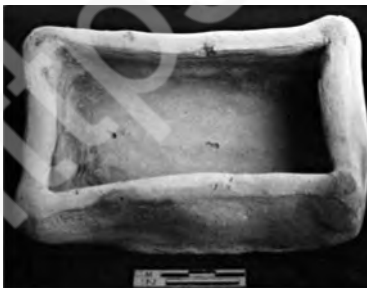
कालखंड-II (प्रारंभिक जोर्वे काल) टेराकोटा दीप (नीचे)

इनामगांव के कालखंड-II (प्रारंभिक जोर्वे) संस्कृति और कालखंड-III (परिपक्व जोर्वे) संस्कृति में आयताकार संरचना वाले घरों के अवशेष मिले हैं जो मालवा संस्कृति के कालखंड-I से मिलते जुलते हैं। यह तथ्य कि सभी घर प्राय: पंक्तिबद्ध रूप से बने हुए थे, जिसके सामने खुली जगह होती थी (शायद एक गली या सड़क होती थी) इंगित करता

काल-I (ताम्रपाषाण)
ल.1700-1300 सा.सं.पू.

काल-II (एन.बी.पी.डब्ल्यू काल)
ल. 700-100 सा.सं.पू.

काल-III मध्य दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. -
छठीं शताब्दी सा.सं. के अंत तक

काल-IV 6-11 शताब्दी सा.सं.

0 2 cm

विभिन्न काल से मृद्भाण्ड, प्रकाश

है कि इनका निर्माण किसी योजना के तहत किया गया था। घरों में अग्निकुंड जैसे गड्ढे पाये गये हैं जिसके तल पर एक पत्थर लगा होता था जो मिट्टी से सना होता था और शायद किसी पकाने वाले बर्तन को इस पर रखा जाता था। यहां के घरों के आंगनों की मिट्टी में पाये गये नाइट्रोजन की अधिक मात्रा बताती है कि यहां पशुओं को बांधा जाता था।

विभिन्न घरों के परीक्षण से यह अनुमान लगाया जाता है कि किस प्रकार के लोग इनमें रहते थे। उदाहरण के लिए, कुम्हार, लोहार, चूना बनाने वाले, कर्मकार, मनका बनाने वाले शिल्पकार, हाथी के दांत का काम करने वाले शिल्पकार आवासीय क्षेत्र के पश्चिमी हिस्से में रहते थे, जबकि कृषक और अपेक्षाकृत कुलीन वर्ग के लोग आवासीय क्षेत्र के मध्य भाग में रहते थे। कालखंड-II की एक पांच कमरे वाली संरचना प्राप्त हुई है जो पूरे आवासीय क्षेत्र के बीच में स्थित थी। हो सकता है कि ये यहां के मुखिया या नगरपति का निवास होगा। इस संरचना के ठीक बगल में अन्नागार अवस्थित था। कालखंड-III में इस श्रेणी के लोग आवासीय क्षेत्र के उत्तरी हिस्से में रहने लगे जो नदी से बिल्कुल जुड़ा हुआ था। एक और संरचना को चिन्हित किया गया है जो या तो अन्नागार अथवा एक मंदिर का हो सकता है जहां पर अग्नि की पूजा की जाती थी। इतने सारे लोक निर्माण के कार्य निश्चित रूप से सामुदायिक प्रयासों के द्वारा बनाए गए होंगे क्योंकि ऐसी संरचनाओं में पत्थर के द्वारा बंधे बांध भी देखे जा सकते हैं जो बाढ़ से आवासीय क्षेत्र को बचाने के लिए और पानी के भंडारण के लिए उपयोग में आता होगा। सिंचाई के लिए बहुत सारे नहर भी चिन्हित किए गए हैं। यहां के आवासीय क्षेत्र की योजना और कब्रगाहों के अध्ययन से एक प्रकार की श्रेणी सामाजिक व्यवस्था का संकेत मिलता है।

इनामगांव में जीवन निर्वाह का आधार खेती, आखेट और मछली पकड़ना था। यहां अनाज के दानों में जौ, गेंहू, मसूर, कुलथी, खेसारी, बेर और थोड़ा बहुत चावल का अंश प्राप्त हुआ है। जौ ही मुख्य फसल था और उसके बाद गेंहू का स्थान था। पालतू पशुओं में मवेशी, भैंस, बकरी, भेड़, सूअर और घोड़ा (घोड़ा दुर्लभ है

काल - III काल (अंतिम चरण) मृद्‌भाण्ड (इनामगांव)

जो कालखंड-II के आखिरी दिनों में दिखता है) यदि प्रमुख हैं। मवेशी पालतू पशुओं में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। लोग हिरण जैसे जानवरों का शिकार भी करते थे। कालखंड-I में ज्ञात पशुओं की सूची में अब घोड़े, गधे और बारासींगा नए जुड़ गए थे। मछली मारने का कांटा मिलने से संकेत मिलता है कि ये लोग मछली भी पकड़ते थे।

कालखंड-II प्रारंभिक जोर्वे सभ्यता का काल इनामगांव में एक समृद्धशाली काल था। इस समय कृषि और पशुपालन की महत्ता काफी बढ़ने लगी थीं, सिंचाई का उपयोग जाड़े में उगाई जाने वाले गेहूँ, मटर, जौ, कुलथी, बेर तथा अल्प मात्रा में चावल मिले हैं। इस समय जनसंख्या में भी वृद्धि के संकेत मिलते हैं जबकि जोर्वे सभ्यता का अंतिम चरण इनामगांव कालखंड-III उत्पादन क्षमता की दृष्टि से परिवर्तन का काल मालूम पड़ता है क्योंकि जाड़े में उगाए जाने वाले गेंहू और मटर जैसी फसलों के संकेत मिलने बंद हो जाते हैं और जौ, चना जैसी फसलों का उपयोग बढ़ा हुआ मालूम पड़ता है। लोग आखेट और कंदमूल इत्यादि वनस्पति के संग्रहण पर अधिक आश्रित होने लगे थे।

जोर्वे संस्कृति के सभी स्थलों से विभिन्न उपादानों का संयोजन काफी समृद्ध है। चैल्सेडनी और गोमेद जैसे सिलिका पत्थरों का अधिक प्रयोग शल्क और फलक (ब्लेड) बनाने के लिए किया जाता था। पॉलिश किये गये पत्थर के कुल्हड़ डोलेराट के बनते थे। आभूषणों में चैल्सेडनी, अगेट, करनेलियन और जैस्पर का प्रयोग होता था। दाइमाबाद में सोना, मनकों के आकार में मिला है जबकि इनामगांव में कान के आभूषण के रूप में। इनामगांव में कुम्हार भट्ठी और चूना-भट्ठी की भी पहचान की गई है। तांबे का प्रयोग इन स्थलों पर कम हुआ था फिर भी कुछ मात्रा में तांबे के बने कुल्हाड़, तक्षणी, छुरी, चूड़ियां, मनके मिलते हैं। ताम्र अयस्क के लिए बने एक भट्टी की भी प्राप्ति हुई है।

अतिरिक्त परिचर्चा

आहार, पौष्टिकता और स्वास्थ्य—इनामगांव

वैज्ञानिकों ने 165 मानवीय हड्डियों के नमूने को इनामगांव के कब्रों से इकट्ठा किया। उनका उद्देश्य था कि इनामगांव के लोगों के जीवन निर्वाह, उनकी आयु, सामाजिक परिस्थिति अथवा समय के साथ बदलने वाले आहार व्यवहार इत्यादि का अनुसंधान किया जा सके, उनका परिधि निष्कर्ष इस प्रकार है:

1. प्रारंभिक जोर्वे काल के लोगों के आहार में कृषि के माध्यम से उत्पादित सामग्रियों की मात्रा ज्यादा थी। इसके अतिरिक्त वे दूध और दूध से बनी वस्तुओं और मांस का भी प्रयोग करते थे।
2. जोर्वे काल के अंतिम चरण में लोगों का आहार मांसाहारी भोजन, मछली और वे स्थानीय रूप से एकत्रित वनस्पति पर निर्भर करने लगे।
3. इनामगांव के कब्र सामान्यत: उनके घरों के फर्श के नीचे तथा कभी-कभी आंगनों में बनाए जाते थे। इनामगांव के टीले के बीच में स्थित बड़े वर्गाकार मकानों से जो हड्डियां मिलीं उनके आहार में पौष्टिक तत्व की मात्रा अधिक पायी गयी। उनकी अपेक्षा इन वर्गाकार घरों के परिधि में स्थित वृत्ताकार झोपड़ियों में रहने वाले लोगों के आहार में पौष्टिक तत्व कम थे। इस प्रकार की पौष्टिकता में पाया जाने वाला अंतर उनकी सामाजिक, वर्ग-विभाजन की ओर संकेत करता है।
4. किसी भी काल में पुरुष या महिला के आहार-व्यवहार में कोई भिन्नता नहीं देखने को मिली।
5. उपरोक्त परिवर्तन, जोर्वे काल के अंतिम चरण में हुए कृषि से अध ॅ-घुमंतू जीवन-शैली की ओर रूपांतरण की दिशा में संकेत करता है।
6. मानवीय हड्डियों के सूक्ष्मदर्शी यंत्र के द्वारा किये गये विश्लेषण के आधार पर यह पाया गया कि बच्चों में स्कर्वी का रोग होता था और यदा-कदा उनके हड्डियों और जोडों में बिमारी और टूटन भी देखी गयी।
7. इनामगांव के लोगों का दंतीय स्वास्थ्य अच्छा पाया गया। हालांकि, दांत में केविटी और उनके एनामल में किसी प्रकार का रोग नहीं देखा गया, किन्तु ऐसा पाया गया कि जीवन के प्रारंभिक चरण में ही बहुत लोगों की दांत चले गये थे।

स्रोत: वी.डी. गोकटे और अनुपमा क्षीरसागर

संदर्भ: धावलीकर एवं अन्य, 1988, भाग-1, खण्ड-2: 991-98

अन्यान्य परिचर्चा

शीशविहीन देवियां

इनामगांव और नेवासा से पक्की और कच्ची दोनों प्रकार की मिट्‌टी की बनी स्त्रियों की अनेक मूर्तियां पायी गयी हैं। इनमें से कुछ प्रतिमाएं शीशविहीन हैं। ऐसा लगता है कि ये मूर्तियां उर्वरा शक्ति से जुड़ी हुई देवी की प्रतिमाएं रही होंगी।

इनामगांव के एक घर के फर्श के नीचे कालखण्ड-II (प्रारंभिक जोर्वे काल) से एक रोचक प्राप्ति हुई है। वहां पर एक स्त्री की प्रतिमा पायी गयी जो एक प्रकार के खोल में थी। इस खोल में एक शीशविहीन स्त्री की प्रतिमा और एक वृषभ की मूर्ति भी थी। ऐसे खोलों वाली सभी प्रतिमाएं कच्ची मिट्‌टी की बनी हुई थीं जिसका शायद यह अर्थ हुआ कि इनका शायद अस्थायी प्रयोग होता होगा। शीशविहीन प्रतिमा के उदर में एक छिद्र बना हुआ है और वृषभ की पीठ पर भी एक छिद्र बना हुआ है। जब इन दोनों छिद्रों में एक छड़ी डाली गयी तब ऐसी प्रतिमा बनी कि स्त्री उस वृषभ की पीठ पर बैठी हुई थी। तथ्य यह है कि मकान के फर्श के नीचे इनको गाड़ा गया था इसका अभिप्राय शायद यह है कि इनका घरेलू अनुष्ठान में महत्त्व रहा होगा। ऐसा संभव है कि शीशविहीन प्रतिमाएं प्रजनन शक्ति, मातृत्व अथवा शिशु कल्याण जैसी अवधारणाओं से जुड़ी होंगी।

स्रोतः धावलीकर एवं अन्य 1988, भाग-1, खण्ड 1.571-79

चित्र 5.6: **इनामगांव की छोटी मूर्तियां**

विनिमय के लिए उपयोग में लाये जाने वाले यातायात के मार्गों के प्रमाण इनामगांव के जोर्वे संस्कृति में देखे जा सकते हैं। सोना और हाथी दांत कर्नाटक से, जबकि शंख सौराष्ट्र तट से, एमेजोनाइट गुजरात के राजपीपल से लाया जाता होगा। यहां काफी नजदीक से चालकोपाइराइट और तांबा उपलब्ध था। फिर भी तांबा को राजस्थान से और गुजरात के अमरेली जिले से भी लाया जाता होगा। हेमेटाइट और समुद्री मछली, समुद्री शंख इत्यादि कोंकण तट से और लोबिया ऊपरी घोड नदी घाटी से प्राप्त किये जाते थे। ये दोनों क्षेत्र आखेटक-संग्राहक समुदायों के द्वारा बसे हुए थे। जिनके साथ ताम्रपाषाण कालीन कृषकों का सम्बंध था। ताम्रपाषाण संस्कृति के कृषक इन समुदायों को मनके और मृद्भाण्ड देते थे। जोर्वे संस्कृति क्षेत्र के अंतर्गत् इनामगांव और दाइमाबाद मृद्भाण्ड के निर्माण के लिए विशेष रूप से मुख्य स्थल मालूम पड़ते हैं।

मध्य भारत के नवदाटोली से जोर्वे मृद्भाण्डों की प्राप्ति तथा कर्नाटक के टी. नरसीपुर से भी इनकी प्राप्ति यह इंगित करती है कि जोर्वे संस्कृति के लोगों का सम्बंध उत्तरी कर्नाटक के नवपाषाणीय कृषकों से तथा मध्यभारत के ताम्रपाषाण संस्कृति वाले समुदायों से बना हुआ था। गुजरात के उत्तर हड़प्पा सभ्यता के लोग जो काफी चमकीले लाल मृद्भाण्ड का उपयोग करते थे उनसे भी इस संस्कृति का सम्बंध था। हालांकि, इस आदान-प्रदान के विषय में बहुत कुछ अभी नहीं कहा जा सकता।

जोर्वे संस्कृति में अधिकांश कब्र आवास के फर्श के नीचे में बने होते थे और कभी-कभी इन्हें आंगनों में खोदा जाता था। एक दूसरी विशेषता यह देखी गयी कि व्यस्कों के शवों के पैर को जानबूझकर काटकर अलग कर दिया जाता था। शायद ऐसी मान्यता रही हो कि उनकी आत्मा उसी घर में रहे, कहीं बाहर नहीं जा सके। इनामगांव में एक विशेष प्रकार की अस्थि को दफनाने की घटना देखी गयी जो पांच कमरे वाले भवन के आंगन में पाया गया। यह अस्थि कब्र कालखंड-II और III के बीच के संक्रमण काल का है जिसकी तिथि 1000 सा.सं.पू. निर्धारित की गयी

कालखंड-III (उत्तर जोर्वे काल) टेराकोटा की मूर्ति, इनामगांव

है। शव को जिस पात्र में रखा गया वह कच्ची मिट्टी का बना हुआ था और जिसके चार पांव वाले आधार थे। इस जार की ऊँचाई 80 से.मी. तथा चौड़ाई 50 से.मी. थी और इस जार के ऊपर पालों वाले एक नाव का चित्र बनाया गया था। इस जार का एक हिस्सा ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई स्त्री के पेट का निचला हिस्सा हो, इसके अंदर एक पुरुष का कंकाल मिला है जिसकी मरने के समय उम्र चालीस वर्ष रही होगी जिसको उसी तरह से व्यवस्थित किया गया है जैसे भ्रूण में कोई शिशु अपने हाथों से घुटने को मोड़ कर रखता है। उसकी हड्डियाँ उसकी छाती पर दबी हुई थी, जबकि अन्य कब्रों की तरह इस शव के पैर नहीं काटे गये थे। इसी जार के बगल में इसी प्रकार का एक और कब्र पाया गया किन्तु जिसके जार भी चार पांव वाले थे। किन्तु इस जार में कोई भी शव के अवशेष नहीं प्राप्त हुए। हो सकता है कि यह एक प्रतीकात्मक कब्र हो, जिस व्यक्ति की शव की प्राप्ति नहीं हुई हो या वह व्यक्ति युद्ध में मारा गया होगा और लौटकर नहीं आ सका होगा। यहां कि परिस्थिति को देखने से ऐसा लगता है कि ये दोनों कब्र किसी दो महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों या शासन करने वाले नायकों की दो पीढ़ियों से जुड़े हुए हों।

अभी हाल में महाराष्ट्र के पुणे जिले में भीमा नदी के तट पर वालकी नामक स्थान पर जोर्वे संस्कृति की प्राप्ति हुई है। यहां पर 106 संरचनाओं को चिन्हित किया गया है। अधिकांश घर वृत्ताकार होते थे और पांच या छः के समूह में एक साथ अवस्थित होते थे। इनके फर्श की मिट्टी में उपस्थित नाइट्रोजन की मात्रा से मवेशियों के निवास स्थान होने का पता चलता है। कुछ फर्श का उपयोग खलिहान के तौर पर भी किया जाता होगा। यहां वृत्ताकार गड्ढे भी थे जिसको चूने से प्लास्टर किया गया था और आधार को भी प्लास्टर किया गया था। इन झोपड़ीनुमा संरचनाओं की दीवारें नहीं थी इसलिए निश्चित रूप से इनका उपयोग बरसात के दौरान नहीं किया जाता होगा। इनके बीच में कुछ बड़े वर्गाकार या आयताकार झोपड़ीनुमा घर भी देखे जा सकते हैं, जिनमें कम ऊँचाई वाली दीवार मौजूद थी और आवासीय क्षेत्र के बीच में ये अवस्थित थे। इनमें साल भर निवास किया जा सकता था। एक्सरे डिफेक्शन विश्लेषण के आधार पर इनामगांव के मृद्भाण्डो से यह पता चलता है कि इन्हें वालकी में बनाया जाता था जो इनामगांव से 27 किमी. की दूरी पर स्थित था। वालकी इनामगांव का एक सेटेलाइट गांव मालूम पड़ता है जो कृषि और पशुपालन से जुड़ा हुआ था (शिंदे, 1994, 171)।

उत्तरी दक्कन में ल. 1000 सा.सं.पू. के लगभग में जोर्वे संस्कृति के स्थलों का अचानक पतन हो गया किन्तु इनामगांव में सभ्यता बरकरार रही जो ल. 700 सा.सं.पू. तक चली। इसके विषय में कई प्रकार के सिद्धांत दिए गए हैं जिसमें एक के अनुसार, इस काल में वातावरण की शुष्कता बढ़ी जिसके कारण खाद्यान्न की उपलब्धि में कमी आ गयी। किन्तु दूसरे सिद्धांत के अनुसार, यहां से प्राप्त जली हुई संरचनाओं के साक्ष्य मिले हैं और जो किसी प्रकार की दुर्घटना की ओर इशारा करते हैं। इनामगांव में जोर्वे सभ्यता के अंतिम दौर में प्राप्त मृद्भाण्ड जोर्वे सभ्यता के प्रारंभिक दौर के उत्कृष्ट मृद्भाण्ड तथा खुले बड़े घरों की उपस्थिति की तुलना में एक विपरीत स्थिति का संकेत देते हैं। इससे पता चलता है कि इस समय तक किसी प्रकार से पतन की अवस्था आने लगी थी और समृद्धि समाप्त हो चुकी थी। हाल के हुए अध्ययनों के आधार पर भीमा नदी घाटी के जोर्वे संस्कृति के अंतिम चरण के शेरेवाड़ी, पिम्पलसुति तथा तालेगांव जैसे स्थलों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनका सम्बंध दक्कन के उत्तरवर्त्ती-महापाषाणीय संस्कृति तथा कालांतर के प्रारंभिक इतिहास काल की सभ्यताओं के साथ था, किन्तु विभिन्न कालों में इस प्रकार के सम्बंधों को स्पष्ट नहीं हो सका।

दक्षिण भारत के नवपाषाण-ताम्रपाषाण संस्कृति के स्थल

कर्नाटक, तमिलनाडु और आंध्रप्रदेश के प्रारंभिक नवपाषाण स्थल की चर्चा अध्याय तीन में की जा चुकी है। वहीं पर आंध्रप्रदेश के कुरनूल जिले में ताम्रपाषाण युग के शुरुआत का भी संदर्भ दिया गया था। यहां पर उस बिन्दु से आगे का वृत्तांत प्रस्तुत है।

उत्तनुर, वाट्गल और बुदिहाल दक्षिण भारत में नवपाषाण काल के प्रारंभिक चरण के स्थल थे। दूसरे स्तर में नवपाषाण काल पहले के स्थलों के अतिरिक्त कुछ नए स्थलों पर भी देखा जा सकता है। वाट्गल की बस्ती दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. तक विद्यमान रही। यहां का कालखंड-III

2000 सा.सं.पू. के बाद के काल को दर्शाता है। इस स्तर से तीन कब्र और कई बड़े भंडारण गर्त मिले हैं। प्राप्त उपकरणों में लाल-काला मृदभांड के टुकड़े, अगेट के मनके, सेलखड़ी के बने कान की नक्काशीदार बाली, मानव एवं पशु मृण्मूर्ति, छह तांबा/कांसा के सामान और तीन लोहे के सामान मिले हैं, जो संभवतः परवर्ती काल के रहे होंगे। कुलथी और मडुआ (रागी) इस काल के नए फसल थे। कालखंड-IV 1500 सा.सं.पू. के बाद के काल का प्रतिनिधित्व करता है। कालखंड-IV में टेराकोटा की प्रतिमाएं लाजवर्द डोलेराइट, ताम्र, कांस्य के मनके, इत्यादि प्राप्त हुए। इस काल में पहले की अपेक्षा कम मृण्मूर्तियां प्राप्त होती हैं। इस काल में महापाषाणीय संस्कृति के तीन प्रकार के कब्र देखे जा सकते हैं। इनमें से एक में लोहे की बनी छुरी भी मिली है और सोने से लिपटे चांदी के एक तार की प्राप्ति हुई है तथा कई प्रकार के मृद्भाण्ड चार बड़े चट्टानों के चारों ओर फैले हुए देखे जा सकते हैं। शिशुओं के अस्थि-कलश एवं विस्तारित शवाधान दोनों देखे जा सकते हैं।

मोटे तौर पर 2100-1700 सा.सं.पू. के बीच के दक्षिण भारत के नवपाषाण-ताम्रपाषाण संस्कृति के द्वितीय चरण के मुख्य स्थलों में संगनकल्लु, पिक्लीहाल, ब्रह्मागिरी, मास्की, तेक्कलकोटा और हल्लूर को कहा जा सकता है। ये सभी बस्तियां ज्यादातर ग्रेनाइट के पठारियों के ऊपर बसी थीं। यहां पर लोग समान प्रकार के वृत्ताकार भीत की झोपड़ियों में रहते थे। इनके द्वारा प्रयोग किए जाने वाले पत्थर के औज़ारों में विभिन्न प्रकार के ब्लेड (फलक) और ब्रेकिल्ट (कुल्हाड़) देखे जा सकते हैं। किन्तु तांबे और कांसे की वस्तुएं भी यहां मिली है। कर्नाटक क्षेत्र सोने की खादानों के लिए जाना जाता है इसलिए तक्कलकोटा में सोने की वस्तुओं की प्राप्ति कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। जहां तक मृद्भाण्डो का प्रश्न है वो पहले से चले आ रहे इस क्षेत्र के नवपाषाण कालीन मृद्भाण्डो से बहुत अलग नहीं हैं। किन्तु कुछ नये प्रकार के मिट्टी के बर्तन भी मिले हैं, जिनमें छिद्रदार और टोटीदार पात्र भी सम्मिलित हैं। इस काल में उनका उपयोग शुरू हुआ। एक दूसरी विशेषता यह रही कि इन पात्रों के बाहरी हिस्से पर कुछ कारीगरी की जाती थी। यहां कब्र में शवों को लेटाकर दफनाया जाता था और कब्र की सामग्रियों में पत्थर के औज़ार और मृद्भाण्ड भी सम्मिलित थे। शिशुओं को कलश के अंदर दफनाया जाता था।

इन्हीं स्थलों में तीसरा चरण भी देखा जा सकता है। नवपाषाण-ताम्रपाषाण संस्कृति के इस तीसरे चरण में भी पत्थर के औज़ारों का प्रयोग होता रहा किन्तु तांबे और कांसे के उपकरणों जैसे छेनी और सपाट कुठार का उपयोग काफी बढ़ गया। मृद्भाण्डों की दृष्टि से धूसर मृद्भाण्ड जिनके सतह कुछ अधिक मजबूत होते थे और ये चाक पर बने होते थे, जिन पर बैंगनी रंग रंगा जाता था, इनका प्रयोग शुरू हुआ। इन स्थलों से प्राप्त रेडियो कार्बन विधि द्वारा तीसरे चरण की तिथियां ल. 1500-1050 सा.सं.पू. के बीच की निकाली गयी हैं। इन सभी स्थलों के ऊपरी स्तर महापाषाणीय संस्कृति से जुड़े हुए मालूम पड़ते हैं।

वेल्लारी जिले में स्थित संगनकलू नामक स्थल के नवपाषाण कालीन प्रारंभिक चरण मृत्तिकाकला और तांबे की उपस्थिति से वंचित थे, किंतु इसके बाद के चरण में तांबे के उपकरण और चाक पर बने मृद्भाण्ड पाए जाने लगे। दोनों चरणों में पालिश किये गये पत्थर के औज़ार, सूक्ष्म पाषाणीय औज़ार, हड्डी के बने (अग्रक) और तक्षणी मौजूद हैं। नवपाषाण-ताम्रपाषाण चरण के मृद्भाण्डो में ब्लैक ऑन रेड मृद्भाण्ड, पके हुए धूसर और भूरे मृद्भाण्ड प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त एक निम्नकोटि के काले मृद्भाण्ड भी देखे जा सकते हैं। टेराकोटा की मूर्तियों में बैल, पक्षी, मवेशी इत्यादि को चिन्हित किया जा सकता है। मवेशी, भेड़ बकरी और कुत्ते की हड्डियों की यहां पहचान की गई है। संगनकलू का नवपाषाण काल 2000 सा.सं.पू. के लगभग में शुरू होता है।

चित्रदुर्ग क्षेत्र में स्थित ब्रह्मागिरी में नवपाषाण कालखंड-Iए में झोपड़ियों के अवशेष मिले हैं जो पत्थरों, बांस अथवा लकड़ी के खंभों पर टिके हुए थे। यहां से भी पॉलिश किए हुए पत्थर के औज़ार, सूक्ष्म पाषाणीय ब्लेड, धूसर मृद्भाण्ड (अधिकांशतः हाथ के बने हुए) पाए गए हैं। तांबे और कांसे का उपयोग कालखंड-Iबी से शुरू होता है। वयस्कों को लिटा कर और बच्चों को जार में डालकर दफनाया जाता था।

पिकलीहल में निचले स्तर में वृत्ताकार झोपड़ों के फर्श, नवपाषाणीय औज़ार और माइक्रोलिथ (सूक्ष्मपाषाणीय) ब्लेड पाये गये हैं। यहां के मृद्भाण्ड ज्यादातर धूसर अथवा पकाए गये धूसर

नवपाषाणीय सेल्ट, ब्रह्मगिरि

मानचित्र 5.5: **दक्षिण भारत की कुछ नवपाषाण-ताम्रपाषाण बस्तियां**

मृद्भाण्ड कोटि के थे। इसके साथ काले, लाल, भूरे मृद्भाण्ड भी देखे जा सकते हैं जिसमें से कुछ पर लाल, गेरुए अथवा बैंगनी रंग के डिजाइन बने थे। टेराकोटा मूर्तियों में मानवाकार आकृतियों के अतिरिक्त पशु-पक्षी इत्यादि बनाये जाते थे। पालतू मवेशी, बकरी और भेड़ की हड्डियां भी मिली हैं। ऊपरी नवपाषाणीय स्तर से आयताकार झोपड़ीनुमा संरचनाओं के अवशेष देखे जा सकते हैं जिनमें से एक के भीतर चूल्हा और पैर से चलाए जाने वाला चक्की भी पाया गया। तांबे का एक पात्र और धीमे चले चाक पर बने कुछ मृद्भाण्ड के ठीकरे भी मिले हैं। नए प्रकार के मृद्भाण्डो में रंगे हुए ब्लैक ऑन रेड मृद्भाण्ड तथा एक हरा मृद्भाण्ड भी पाया गया है। कारनेलियन, शंख, मैग्नेसाइट के मनके भी प्राप्त हुए है।

मास्की का कालखंड-I नवपाषाणी-ताम्रपाषाण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। यहां से भी पॉलिश किये हुये पत्थर के औज़ार सूक्ष्म पाषाणीय ब्लेड, तांबे के छड़ के टुकड़े इत्यादि मिले हैं। यहां कार्नेलियन, अगेट, अमेथिस्ट, चैल्सेडनी, शंख, मूंगा, शीशा और लेप के बने मनके प्राप्त हुए हैं। मृदभांडों में फीका लाल मृदभांड और गुलाबी-पीला मृदभांड शामिल हैं। कुछ टुकड़े लाल-पर-काला चित्रित मृदभांड और फीका धूसर मृदभांड के भी मिले हैं, जिसे पर उकेर कर डिजाइन बनाया गया है। पशुओं के प्राप्त हड्डियों में कूबड़-हीन छोटे सींग वाले वृषभ, भैंस, भेड़ और बकरियों के संकेत मिलते हैं। इस क्षेत्र में चट्टानों पर आकृतियां बनाने और शैलचित्रों के दृष्टांत भी मिलते हैं

टेक्लकोटा (वेल्लारी जिला) में प्रारंभिक नवपाषाणीय काल से हाथ के बने हुए धूसर मृद्भाण्ड पाये गये हैं जिनमें दोनों प्रकारों को देखा जा सकता है—सादे तथा पकाये हुये। कुछ मृद्भाण्डो पर काले, बैंगनी रंग का डिजाइन भी देखा गया है। दूसरे चरण में ब्लैक-एंड-रेड तथा भूरे मृद्भाण्ड की प्राप्ति होने लगी। दोनों चरणों में सूक्ष्मपाषाणीय औज़ारों का प्रयोग हुआ और तांबे तथा सोने के उपादान मिले। संरचनाओं के अवशेषों के आधार पर प्रतीत होता है कि ये लोग वृत्ताकार झोपड़ियों में रहते थे जिनके नुकीले छत हुआ करते थे। अस्थि कलशों में विस्तारित एवं आंशिक शवाधानों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। कुलकी और लोबिया के जले बीज भी पहचाने गए हैं। पशुओं की हड्डियों में मवेशी, भेड़ और कछुआ आदि शामिल है। इस स्थल की अशंशोधित तिथि 2100-1800 सा.सं.पू. पायी गयी है।

हल्लूर तुंगभद्रा नदी के तट पर धारवार क्षेत्र में स्थित है, यहां का कालखंड-I नवपाषाणकालीन है जिसको प्रारंभिक व अंतिम दो चरणों में बांटा गया है। पहले चरण में हाथ के बने सादे और पके हुए दोनों प्रकार के धूसर

मृद्भाण्ड की प्राप्ति हुई है। दूसरे चरण में ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड उपलब्ध होने लगे। तांबे का मछली कांटा, क्वार्ट्ज, शंख इत्यादि की वस्तुएं, दुहरी धार वाले कुल्हाड़ इत्यादि पाये गये। इसके अतिरिक्त सेलखड़ी, क्वार्ट्ज, हड्डी और शंख के मनके मिले हैं। एक स्थल से अस्थि कलश-युग्म भी प्राप्त हुआ है। द्वितीय चरण में घोड़े की हड्डियों के आने के साथ इस स्थल पर प्राप्त पशुओं की हड्डियों में मवेशी, भेड़ और बकरी की उपस्थिति दिखती है। हल्लूर का कालखंड-I ल. 2000 तथा 1400 सा.सं.पू. के बीच का है।

दक्षिण भारत के नवपाषाण-ताम्रपाषाण संस्कृतियों में पशुपालन, कृषि और आखेट तीनों के द्वारा जीवन निर्वाह करने के प्रमाण मिलते हैं। कुलथी और रागी टेक्कलकोटा तथा हल्लूर से प्राप्त हुए हैं। पियमपल्ली से भी कुलथी

अनुसंधान की नयी दिशाएं

शैलचित्र

कर्नाटक और आंध्रप्रदेश के कूपगल, पिकलीहाल और मस्की जैसे केंद्रों में ग्रेनाइट की चट्टानों पर बने अनेक शैलचित्र देखे जा सकते हैं। इनकी तिथि का निर्धारण करना तो कठिन है किन्तु मोटे तौर पर इनकी बनावट और दशा जैसे तथ्यों के आधार पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें से कुछ चित्र मध्यपाषाणीय काल के हैं तथा कुछ नवपाषाण-ताम्रपाषाण काल के हैं। जबकि कुछ चित्र बहुत बाद के काल के हैं। इनमें से अधिकांश चित्रों को सूखे रंगों से चट्टानों की सतह पर बनाया गया है जिसे क्रेआॅनिंग कहते हैं। चट्टान को हल्का खुरचकर और शायद हथौड़े इत्यादि के सहारे भी कुछ प्रतीक बनाये गये हैं। इन सभी शैलचित्रों में मवेशियों के चित्रों का वर्चस्व देखा जा सकता है।

कूपगल (वेलारी जिला, कर्नाटक) दरअसल, ग्रेनाइट की पहाड़ी पर स्थित है जिसको स्थानीय रूप से हिरेक गुड्डा या बड़ा पहाड़ कहते हैं। इन पहाड़ियों में सैकड़ों शैलचित्र पाये गये हैं जिनमें से अधिकांश पत्थरों को खुरच कर बनाया गया है और इनकी तिथि नवपाषाण काल से आधुनिक काल तक के बीच की तय की गयी है। कूबड़ वाले मवेशी (जिनके लंबे सींग थे) में इनकी प्रधानता देखी जाती है। ऐसे मवेशी को प्रायः अकेले दिखाया गया है, कभी-कभी इन्हें जोड़ों में दिखलाया गया है। कुछ चित्रों में ऐसे मवेशी के ऊपर मानवाकृतियां भी बैठी दिखायी पड़ती हैं और कभी-कभी ऐसे मवेशी चारों ओर से तीर और धनुष लिए, लोगों से घिरे हुए दिखलायी पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा सबसे प्रमुख दृश्य एक सामान्य मानवाकृति का है जिसमें से कई उन्नत लिंग स्थिति में हैं। इसके अलावा बहुत से चित्रों में समलैंगिक या द्विलैंगिक संभोग के दृश्यों का चित्रण हुआ है। ऐसे भी चित्र हैं जिनमें बहुत से लोग शृंखला बद्ध होकर नृत्य की प्रस्तुति कर रहे हैं। हाथी, बाघ, हिरन, भैंस, पक्षी, पद्चिन्ह तथा कुछ अन्य डिजाइन भी मिले हैं। लेकिन इनकी संख्या कम है। सामान्यतः ऐसे सभी शैलचित्र छोटे और सरल दिखलायी पड़ते हैं। जटिल दृश्य कम ही देखने को मिलते हैं।

एन. बोईविन ने कूपगल शैलचित्रों का अध्ययन किया और ऐसा पाया कि इन शैलचित्रों को कुछ ऐसे स्थानों पर बनाया गया था जहां पर बनाने वाले का अथवा उनको देखने वालों का जाना काफी कठिन रहा होगा। बोरविन का मानना है कि ये शैलचित्र पुरुषार्थ अथवा पुरुष कामशक्ति को दर्शाते हैं और पुरुष तथा मवेशियों के बीच सम्बंध को दिखलाते हैं। ऐसा हो सकता है कि मवेशी चराने वाले किशोर अवस्था के लोगों के द्वारा यह चित्र बनाए गए हैं। कूपगल वैसे भी पत्थरों की प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र है और उस काल में यह पत्थरों का औज़ार बनाने का एक बड़ा केंद्र रहा होगा। ऐसी भी संभावना व्यक्त की गयी है कि ये शैलचित्र उन लोगों के द्वारा बनायी गयी जो समय-समय पर पत्थरों की कटाई के लिए आते थे। शायद इन शैलचित्रों को बनाना अथवा उनको देखना उनके किसी कर्मकाण्डीय गतिविधि का हिस्सा रहा होगा जिसमें पत्थरों से संगीत निकालने की भी प्रथा थी। यहां पाये जाने वाले डोलाराइट के बड़े टुकड़े को ग्रेनाइट पत्थरों के द्वारा टकराए जाने पर उनकी गहरी ध्वनि निकलती है। बोईविन का सुझाव है कि इन शैलचित्रों को एकाकीपन में देखना उचित नहीं है बल्कि उनके संपूर्ण भौतिक और सामाजिक परिदृश्य का भी अनुमान लगाना आवश्यक है। ध्यान देने योग्य है कि कूपगल की पहाड़ियों के ठीक नीचे नवपाषाण काल के राख वाले टीले भी पाए गए हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि आज के जनजातीय संदर्भ में भी शैलचित्र सामुदायिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बने हुए हैं। पत्थरों को खुरच कर आज भी कलाकृतियां की जाती हैं। इन शैल कलाओं में मवेशी आज भी प्रमुख विषय रहते हैं। केवल उनके इन चित्रों की शैलियां बदल गयी हैं।

स्रोतः बोईविन, 2004

कालखंड-I (सा.सं.पू. का दूसरा सहस्राब्दि) नवपाषाण घटकों के ठीकरे

कालखंड-II (सा.सं.पू. का पहला सहस्राब्दि) महापाषाणीय ब्लैक एंड रेड मृद्‌भाण्ड

कालखंड-III (पहली-तीसरी शताब्दी) सामान्य कोटि के धूसर मृद्‌भाण्ड; गेरूआ-पॉलीशदार रंगी मृद्‌भाण्ड

कालखंड-IV (मध्ययुगीन) चमकदार भूरे मृद्‌भाण्ड; उत्कीर्ण किए गए डिजाइन वाले धूसर मृद्‌भाण्ड
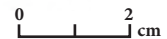
मास्की से प्राप्त विभिन्न अवधियों के मृद्‌भाण्ड

और मूंग मिला है। लगभग इन क्षेत्रों में आज भी यही फसल मुख्य रूप से उगाए जाते हैं। नवपाषाण-ताम्रपाषाण कृषक शायद पठारों के ढलान पर कृषि किया करते थे। इन सभी स्थलों पर भारी संख्या में पशुओं की हड्डियां पायी गयी हैं, जिन पर कटे होने का निशान मौजूद है। इससे इन क्षेत्रों में पशुपालन के महत्त्व का पता चलता है। यहां इन क्षेत्रों से प्राप्त शैल चित्रों में बहुत प्रकार के पशुओं को दिखलाया गया है। इनमें मस्की से प्राप्त कूबड़ वाले मवेशी के चित्र दृष्टांत के रूप में दिये जा सकते हैं। हाल में प्राप्त मध्यपाषाणीय और नवपाषाणीय शैलचित्रों में कूबड़ वाले मवेशी, बैल, सांड, प्रतिवेदित किये गये हैं। विशेष रूप से अनंतपुर जिला, आंध्रप्रदेश के बूदागवि नामक शैल चित्रों का दृष्टांत यहां दिया जा सकता है।

दक्षिण भारत के नवपाषाणीय स्थलों के जीवन-निर्वाह पद्धति के विषय में अभी हाल में किये गये पुनर्विश्लेषण कर्नाटक और आंध्रप्रदेश क्षेत्र के सात नवपाषाण कालीन स्थलों से प्राप्त वनस्पति और पशुओं के अवशेषों के आधार पर किया गया है (कोरिसेट्टार एवं अन्य 2001)। इन सात स्थलों में हल्लूर, संगनाकल्लु, हिरेगुडा, तेक्कलकोटा, कुरूगोडु, हट्टीबेलागल्लू तथा वेलपुमादुगु को चुना गया। विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट हुआ कि मवेशी ही मुख्य रूप से पाले जाते थे। भेड़ और बकरियों का महत्त्व कम था। भैंस की भी हड्डियां प्राप्त हुई हैं। लेकिन यह नहीं पता चलता है कि भैंस जंगली हैं या पालतू; मुर्गा पालन की शुरुआत के संकेत भी मिलते हैं। मारे गए जंगली जानवरों में बारहसींगा, हिरण और सूअर पाए गए हैं। कभी-कभी मछली और घोंघे जैसे पानी के जंतु ऐसे स्थलों से भी मिले हैं, जो नदियों से थोड़ी दूरी पर है। मवेशियों की हड्डियों की माप से पता चलता है कि दक्षिणी नवपाषाण काल के लोगों द्वारा पाले जाने वाले मवेशियों का आकार मध्यम से भारी मध्यम होता था। इस स्तर में खरीफ या गर्मी की फसलों की प्रमुखता थी जिसमें छोटे बाजरे, मूंग, कुलथी इत्यादि प्रमुख फसल थी। इसके अतिरिक्त कुछ मात्रा में गेहूं, जौ, लोबिया, अरहर, बाजरा भी उगाया जाता था। गेहूं और जौ निश्चित रूप से जाड़े की फसल थी। कंदमूल और फलों का उपयोग भी शुष्क मौसमों में किया जाता था। इन स्थलों से यह भी पता चला कि साल भर लोग यहां पर निवास करते थे।

तांबे से लोहे की ओर—उपमहाद्वीप की प्रारंभिक लौह युगीन संस्कृतियाँ

संपूर्ण विश्व में ताम्र-कांस्य युग के बाद लौह युग का प्रारंभ हुआ। किन्तु तांबे से लोहे की इस संक्रमण से जुड़े कई प्रश्न उठाए जाते हैं। पहला कि क्या लोहे को गलाने की प्रक्रिया एक आकस्मिक घटना थी अथवा तांबे को गलाने की प्रक्रिया से सम्बंधित एक विशेष प्रकार का प्रयोग था? दूसरा कि क्या लोहे को गलाने का काम या लोहे के उपकरण तैयार करने का काम उस काल के ताम्रकारों के तकनीकी क्षमता के अंतर्गत् आता था अथवा लोहे के उपकरणों का निर्माण एक प्रकार का बहुत बड़ा तकनीकी उछाल था? फिर यह भी प्रश्न उठता है कि जब तांबे और कांसे का प्रयोग कई शताब्दियों तक होता रहा, तो कुछ समुदायों ने लोहे के उपकरणों का उपयोग क्यों शुरू किया?

इन प्रश्नों से जुड़े कई तकनीकी पहलू हैं। तांबा जहां 1083^{0}C पर गलता है वहीं लोहे को गलाने के लिए काफी ऊँचे तापमान 1534^{0}C की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए निश्चित रूप से लोहे को गलाने के लिए वैसे भट्टी की आवश्यकता होती है जिसमें बहुत ऊंचे तापमान को लंबे समय तक बरकरार रखा जा सके। दूसरी ओर लोहे के अयस्क अपने साथ कई प्रकार की अशुद्धियों को रखते हैं जो तांबे के अयस्क में नहीं मिलती इसलिए लोहे को सफलतापूर्वक गलाने के लिए कई प्रकार के आवश्यक शर्तों को पूरा करना पड़ता है। सबसे पहले 1250 ^{0}C का तापमान एक भट्टी में उत्पन्न करना होता है जो लोहे के अयस्क से अवांछित अशुद्धियों को दूर करने के लिए आवश्यक होता है। फिर फर्नेश में हवा की वेगवान परिस्थिति की आवश्यकता होती है जिसके लिए लगातार ईंधन की जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त फ्लक्स के उपयोग में भी काफी बारीकियों की आवश्यकता पड़ती है। फ्लक्स एक प्रकार की सामग्री को कहते हैं जो लोहे को गलाने में सहायता पहुंचाता है और यह फ्लक्स गले हुए अयस्क में मिलाया जाता है। इसी फ्लक्स में लौह अयस्क से जुड़ी अशुद्धियां सट जाती हैं जो बाद में अलग कर ली जाती हैं। स्टील के उत्पादन के लिए लोहे को कार्बन की उपस्थिति में गर्म किया जाता है। इस तकनीक को 'कार्बराइजेशन' कहते हैं। कार्बराइजेशन की प्रक्रिया में दक्षता भी लोहे के व्यापक उपयोग के पहले एक आवश्यक शर्त रही होगी।

लोथल, मोहनजोदड़ो, पीराक, अल्लाहदीनो, आहार और गुफ्क्राल जैसे स्थलों पर ताम्रपाषाण कालीन स्तरों से लोहे के कई टुकड़े और उपकरण प्राप्त हुए हैं जिनसे यह पता चलता है कि निश्चित रूप से कुछ ताम्रपाषाण कालीन समुदायों को लौह अयस्क से लोहा गलाने का काम आता था। हो सकता है कि शुरू के दौर में तांबे को भट्ठी में गलाने के दौरान काफी उच्च तापमान उपलब्ध हो जाने की परिस्थिति में अचानक कभी-कभी लोहे को गलाने का काम भी हो गया होगा। ऐसा तब हुआ होगा जब तांबे के अयस्क के साथ आयरन ऑक्साइड मौजूद रहा होगा या फिर हेमाटाइट फ्लक्स का उपयोग तांबे के अयस्कों को गलाने में किया जाता होगा, किन्तु यह परिस्थिति केवल प्रारंभिक, प्रायोगिक दौर की व्याख्या करती है। लोहे के बड़े पैमाने पर उपयोग के लिए आवश्यक तकनीकी दक्षता एक धीमी गति से विकसित हुई प्रक्रिया मालूम पड़ती है।

तांबे के अयस्क लोहे के अयस्क की तरह सभी जगह उपलब्ध नहीं थे। इसलिए जब लंबे व्यापार की परिस्थितियों का ह्रास होने लगा तो निश्चित रूप से तांबे की जगह लोहे के प्रयोग को प्राथमिकता दी जाने लगी। ऐसा तब संभव हुआ जब लोहे को गलाने के लिए और लोहे के उपकरण बनाने के लिए आवश्यक तकनीकी ज्ञान को सफलतापूर्वक दक्ष कर लिया गया और लोगों ने तांबे अथवा कांसे के स्थान पर लोहे की विशिष्टता को भली प्रकार से समझ लिया होगा क्योंकि लोहा इन धातुओं की अपेक्षा कहीं अधिक मजबूत और स्थायी धातु है।

किन्तु एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि लोहे की तकनीक की शुरुआत लौह युग की शुरुआत एक नहीं कहीं जा सकती। किसी स्थल पर लोहे की कुछ वस्तुओं की प्राप्ति और लोहे के उपकरणों के व्यापक उपयोग में भेद करना आवश्यक है। किन्तु यह विभाजन किस प्रकार से किया जा सकता है? यह बिल्कुल सरल है क्योंकि ऐसे स्थानों पर लोहे के बने हुए उपकरणों की मात्रा काफी अधिक दिखलाई पड़ती है जो अन्य उपकरणों और अन्य धातुओं के प्रयोग से तुलना करने पर पता चल जाता है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि किस काल में लोगों ने अपने दैनिक जीवन में लोहे का उपयोग करना आराम से शुरू कर दिया। विशेष रूप से कृषक समाजों को चिन्हित करना आवश्यक है जिन्होंने पहली बार कृषि से सम्बंधित प्रक्रियाओं के लिए लोहे से बने हुए हलों, हसियों या अन्य उपकरणों का उपयोग शुरू कर दिया। इसी काल को हम लोग लौह युग की शुरुआत मान सकते हैं।

चक्रबर्ती (1992: 33) ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि औद्योगिक अवस्था के पूर्व की अवस्था में उपयोग में लाए जाने वाले लौह अयस्क उपमहाद्वीप के सभी भागों में पाए जाते थे, केवल जलोढ़ नदी घाटी क्षेत्रों को छोड़कर। उत्तर वैदिक कालीन पाठ्यात्मक स्रोतों से (जिसकी चर्चा हम इस अध्याय के पूर्व के भागों में कर चुके हैं) हमें यह पता चलता है कि सिंधु-गंगा विभाजन क्षेत्र तथा ऊपरी नदी घाटी में 1000-500 सा.सं.पू. के बीच में लोहे की जानकारी होने लगी थी और लोहे का उपयोग कृषि के क्षेत्र में किया जाने लगा था। उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में लोहे की तकनीक की शुरुआत और लौह युग से सम्बंधित कई प्रकार के पुरातात्त्विक साक्ष्य हमारे पास उपलब्ध हैं, किन्तु

मानचित्र 5.6: **उपमहाद्वीप में लोहे की शुरुआती प्राप्ति**

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर उन स्थलों के विषय में बहुत विशेष जानकारी नहीं है, जहां पर लोहे को गलाया जाता था या लोहे के उपकरण बनाए जाते थे।

उपमहाद्वीप में प्रारंभिक दौर में लगभग छः ऐसे क्षेत्रों को रेखांकित किया जा सकता है जहां लोहे का उपयोग शुरू हुआ है। ये हैं—(1) उत्तर-पश्चिम में बलूचिस्तान (2) गंगा-सिंधु विभाजन क्षेत्र तथा ऊपरी गंगा नदी घाटी (3) राजस्थान (4) पूर्वी भारत (5) मालवा तथा मध्य भारत तथा (6) विदर्भ तथा दक्कन और दक्षिण भारत। ये सभी केंद्र लौह अयस्क के स्रोत के बिल्कुल निकट थे और इन क्षेत्रों में औद्योगिक उपयोग के पहले की परिस्थिति में लोहे को गलाने की प्रक्रिया के प्रमाण उपलब्ध हैं। इतिहासकारों में यह भ्रांति पहले व्याप्त थी कि लौह तकनीक की शुरुआत भारतीय उपमहाद्वीप में इंडो-आर्य लोगों के द्वारा शुरू की गई, जबकि चक्रवर्ती के विश्लेषण से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ऐसे कोई भी प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं कि लौह तकनीक का ज्ञान भारतीय उपमहाद्वीप में पश्चिम एशिया या किसी अन्य क्षेत्र के प्रभाव से शुरू हुआ। मध्य भारत और दक्षिण भारत में लोहे का उपयोग निश्चित रूप से उत्तर-पश्चिम या गंगा नदी घाटी क्षेत्र से पहले शुरू हुआ और अधिकांश क्षेत्र में लोहे का उपयोग 800 सा.सं.पू. के लगभग में शुरू हो गया था, किन्तु हाल में हुए कुछ अनुसंधानों से यह तिथि उत्तर प्रदेश के कुछ स्थलों के संदर्भ में काफी पीछे चली जाती है।

अधोलिखित खंड में हम भारतीय उपमहाद्वीप के उन क्षेत्रों का वर्णन करेंगे जहां पर प्रारंभिक लौह युग के प्रमाण मिले हैं। कुछ क्षेत्रों को यहां छोड़ दिया गया है क्योंकि या तो इन क्षेत्रों का इस दिशा में विशेष अध्ययन नहीं हुआ है अथवा उन क्षेत्रों में लोहे का उपयोग काफी देर से शुरू हुआ। उदाहरण के लिए, असम, उड़ीसा और गुजरात में ऐतिहासिक काल के पहले लोहे के उपयोग के कोई साक्ष्य नहीं मिले हैं, पंजाब के मैदान और सिंध की स्थिति भी स्पष्ट नहीं है।

भारतीय महापाषाणों से जुड़े तथ्यों का अवलोकन

इस अध्याय के पहले के खंडों में महापाषाणों की चर्चा की गयी है, लेकिन यहां पर हम प्रायद्विपीय भारत में लौह तकनीक की शुरुआत के संदर्भ में महापाषाणों का अध्ययन करेंगे। 'महापाषाण' शब्द ग्रीक 'मेगास' अर्थात् बड़ा और 'लिथोस' अर्थात् पत्थर से जुड़कर बना है। महापाषाण के अंतर्गत् बहुत प्रकार के स्मारक सम्मिलित हैं किन्तु इन सबमें एक समानता यह है कि सभी बड़े और अच्छी प्रकार से तराशे गए पत्थर के टुकड़ों से बने हैं। यूरोप, एशिया और अफ्रीका, दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका के विभिन्न भागों में महापाषाणों की प्राप्ति होती रही है। भारतीय उपमहाद्वीप में ये विशेषकर सुदूर दक्षिण भारत में दक्कन के अलावा विंध्य और अरावली के क्षेत्र में तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में पाए गए हैं। महापाषाणों को लगाने की परंपरा आज भी असम के खासियों अथवा छोटा नागपुर के मुंडाओं में देखी जा सकती है।

'महापाषाण संस्कृति' का सम्बंध उन महापाषाणों से है जो आवासीय क्षेत्र से जुड़े हुए हैं और जिनके सांस्कृतिक अवशेष हमारे पास संदर्भ में आते रहे हैं। एक समय था जब महापाषाण संस्कृति को एक स्वतंत्र और विशिष्ट प्रकार की संस्कृति के रूप में वर्णित किया जाता रहा। किन्तु अब वैसी धारणा नहीं रही दरअसल, सांस्कृतिक अवशेषों के आधार पर महापाषाणों की संस्कृति को बहुवचन में 'महापाषाणीय संस्कृतियों' की संज्ञा दी जाती है न कि एकवचन में 'महापाषाण संस्कृति'। महापाषाण संस्कृति एक प्रकार के दफनाने की शैली से जुड़ी हुई संस्कृति है जो विभिन्न स्थानों पर लंबे समय तक प्रचलन में रही। इस प्रकार के दफनाने की प्रथा की शुरुआत नवपाषाण-ताम्रपाषाण संदर्भ में ही शुरू हो गयी थी। उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत के नवपाषाण-ताम्रपाषाण स्थलों में गड्ढों अथवा विशाल पात्रों में शवों को दफनाया जाता था और वाट्गल में कम से कम दो ऐसे कब्रों के ऊपर पत्थर रखे हुए थे। इनामगांव के जोर्वे संस्कृति काल के ताम्र-पाषाण कालीन ऊपरी स्तरों में भी इस प्रकार के कब्र मिले हैं। महापाषाण के कक्ष कब्र को केवल एक नये प्रकार के प्रचलन के रूप में देखा जा सकता है।

महापाषाण मुख्यत: तीन प्रकार हो सकते हैं: कक्ष वाले (चेम्बर) कब्र से जुड़े महापाषाण, बिना कक्ष वाले कब्रों से जुड़े महापाषाण तथा वैसे महापाषाण जो किसी प्रकार के कब्रों से नहीं जुड़े हुए हैं (सुन्दर, 1975: 331-40)। कक्ष वाले कब्रों में दो या चार उद्रग पत्थरों के स्लैब रखे होते हैं जिन्हें 'ऑर्थोस्टैट्स' कहा जाता है और इनके ऊपर एक क्षैतिज पत्थर का स्लैब रखा होता है जिन्हें 'कैप्सटोन' कहते हैं। यदि इस प्रकार का कक्ष जमीन के नीचे बना होता है तो इसको सिस्ट कहते हैं। यदि इस प्रकार का कब्र आंशिक रूप से जमीन के भीतर बना होता है तो इसे 'डॉलमेनॉयड' सिस्ट (ताबूत) सिस्ट कहते हैं। इस प्रकार के महापाषाण से जुड़े कब्र जमीन से ऊपर बने होते हैं तो इन्हें 'डॉलमेन' कहते हैं। कक्ष वाले कब्रों पर व्यवस्थित ऑर्थोस्टेट्स स्लैबों में एक छिद्र बना होता है जिसे 'पोर्टहोल' कहा जाता है। इस प्रकार के कक्ष तक पहुंचने के लिए कई बार मार्ग भी बने होते हैं। कक्ष वाले महापाषाण कब्रों को कई बार कई भागों में सीधे खड़े स्लैबों के द्वारा बांट दिया जाता है जिन्हें 'ट्रांसेप्ट' कहते हैं। कक्ष वाले कब्रों में प्रमुख हैं टोपीकाल (टोपी वाले पत्थर) तथा कुडईकाल (छाते वाले पत्थर)। ऐसे कक्ष वाले कब्र केरल और कर्नाटक में पाए गए हैं। टोपीकाल वाले कब्रों में जार के अंदर शवों को रखकर जमीन के भीतर गड्ढे में दफनाया जाता था। और एक उत्तल या वृत्ताकार कैप्सटोन के द्वारा ढक दिया जाता था। जबकि कुडईकाल वाले महापाषाण कब्रों में चार को ऐसे कक्षों में रखा जाता था जिनके ऊपर चार आर्थोस्टेट्स स्लैब रखे जाते थे और एक अर्धगोलाकार कैप्सटोन रखा जाता था।

टोपीकाल, कोचीन: सन्नुर के डोलमेनॉयड सिस्ट में स्थित ताबूतदार महापाषाणीय कब्र
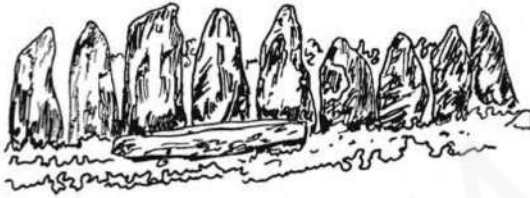
दूसरी ओर बिना कक्ष वाले कब्रों के भी तीन प्रकार देखे गये हैं—ये हैं गड्ढे वाले कब्र, जार वाले कब्र तथा ताबूतदार (सार्कोफेगस) कब्र। गड्ढे वाले कब्रों में शवों को एक गड्ढे
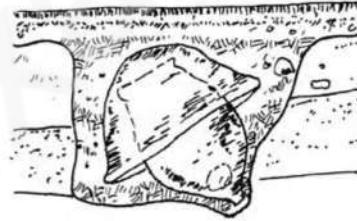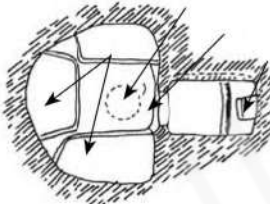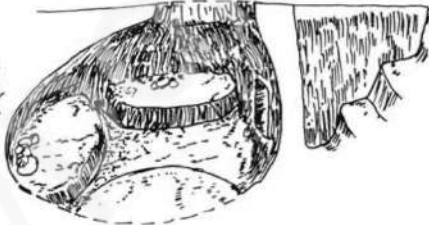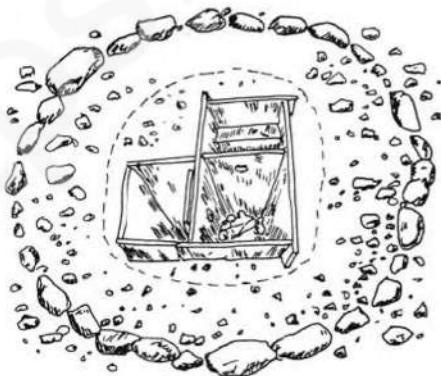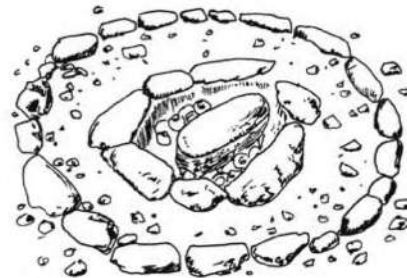
चित्र 5.7: **विभिन्न प्रकार के महापाषाणीय अवशेष (द्वारा घोष, 1989)**

के भीतर दफनाया जाता था। यदि किसी गड्ढे वाले कब्र के चारों ओर पत्थरों की गोलाकार संरचना देखी जाती है तो इसे 'पिट सर्कल' कहा जाता है। यदि इस प्रकार के कब्र के ऊपर बड़े-बड़े पत्थरों को एक के ऊपर एक करके रखा जाता है तो इसे 'केयर्न' कहा जाता है। यदि पत्थरों के वृत्ताकार व्यवस्था और पत्थरों को एक के ऊपर एक रखने की व्यवस्था दोनों एक साथ देखी जाती है तो ऐसे कब्रों को 'केयर्न स्टोन सर्कल' कहते हैं। इस प्रकार के गड्ढे वाले कब्र के ऊपर एक बड़ा सीधा खड़ा पत्थर का स्लैब रखा होता है जिसे 'मेनहिर' कहते हैं। एक सार्कोफेगस (पाषाण ताबूत) कब्र के अंतर्गत टेराकोटा के बने पात्र के भीतर शवों को रखा जाता था। जार में शवों को रखने के बाद उनको एक बड़े पत्थर के स्लैब से ढक दिया जाता था। जार वाले तथा सार्कोफेगस कब्रों के साथ महापाषाण अधिकांशतः जुड़े होते हैं। यदि इनके साथ पत्थर नहीं भी लगा हो तो ऐसे कब्र अधिकतर पत्थरों को काटकर गुफाओं में बनाए गए थे, किन्तु महापाषाण कब्रों से नहीं जुड़े हुए थे। इनमें से कुछ महापाषाण ज्यादातर ज्यामितीय व्यवस्था में पृथक रूप से भी स्थापित किये गये थे। इस तरह की संरचनाएं महापाषाणीय परंपरा के अंतर्गत ही आती है। किन्तु इसके महत्त्व के बारे में बहुत कुछ अंदाजा नहीं लगाया जा सका है।

वस्तुतः महापाषाणों के आकार और भौतिक लक्षणों की व्याख्या करना आसान है। किन्तु उनसे जुड़े विश्वासों तथा आस्थाओं की व्याख्या करना काफी कठिन है। फिर भी यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने इन महापाषाणों को स्थापित किया, ये उनकी संस्कृति के विभिन्न अंग थे, इसके अलावा नवपाषाण-ताम्रपाषाण कब्रों की तुलना में ये ज्यादातर आवासीय क्षेत्र से काफी पृथक स्थापित किए जाते थे। इस प्रकार के जीवित और मृत लोगों के आवास को पृथक करने के पीछे, सामाजिक संगठन में हुए परिवर्तनों का कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है। कई बार महापाषाण कब्रों को बार-बार इस्तेमाल किया गया है लेकिन ऐसी भी कब्र हैं जिनमें एक साथ अनेक शवों को दफनाया गया जो यह इंगित करता है कि उनकी मृत्यु एक साथ हुई होगी या इन्होंने किसी प्रकार की अनुष्ठानिक आत्महत्या की होगी। महापाषाण कब्रों में अस्त्र-शस्त्र, मृद्भाण्ड और आभूषण की उपस्थिति उनके निर्माण कर्त्ताओं में मृत्यु के बाद के जीवन के प्रति आस्था की ओर इशारा करती है। कुछ महापाषाण स्थल तो निश्चित रूप से कब्रगाह हैं जबकि कुछ महापाषाण स्थल केवल मृतकों के स्मारक के रूप में भी प्रयोग में लाये गए होंगे।

पहले के खंडों में विंध्य क्षेत्रों में जिन महापाषाणों की चर्चा की गयी है वे ताम्रपाषाण संदर्भ के हैं और लौह युग के पहले के हैं लेकिन प्रायःद्विपीय भारत की महापाषाण संस्कृतियाँ ज्यादातर लोहे के उपयोग से जुड़ी हुई हैं। सभी महापाषाणी संस्कृतियां समकालीन नहीं हैं। कुछ महापाषाण संस्कृतियां 1300 सा.सं.पू. की हैं। कुछ प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की हैं जबकि आदिचनल्लुर में प्राप्त रेडियो कार्बन तिथि के अनुसार महापाषाण की
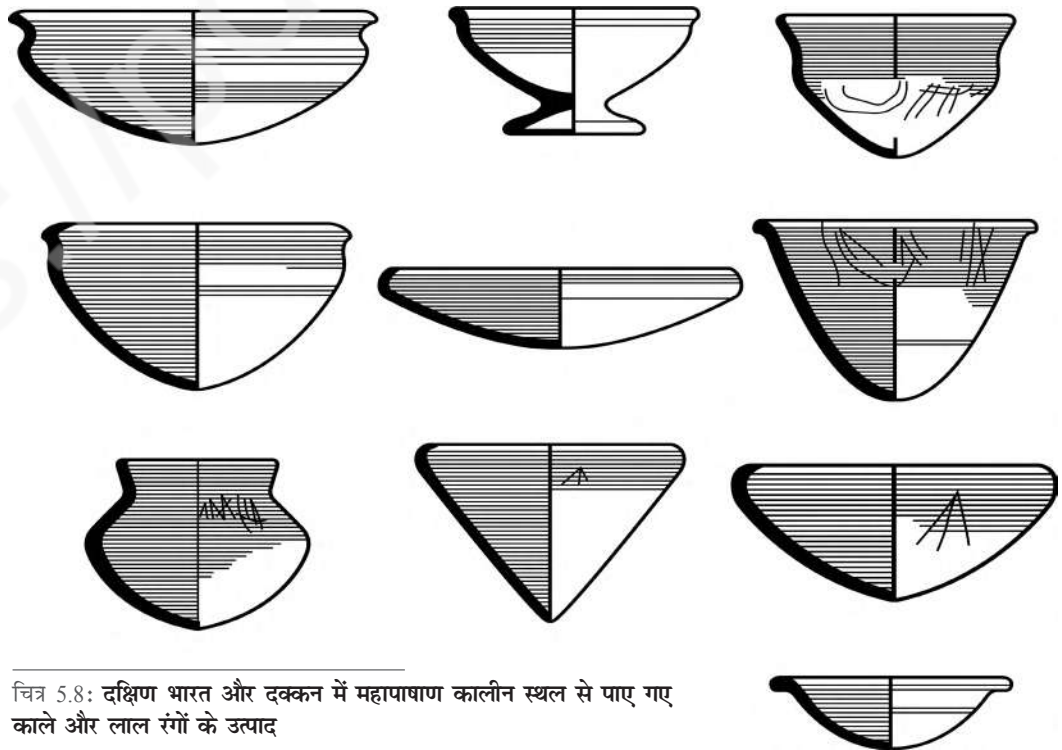
चित्र 5.8: **दक्षिण भारत और दक्कन में महापाषाण कालीन स्थल से पाए गए काले और लाल रंगों के उत्पाद**

तिथि 12 शताब्दी तय की गयी है। इस प्रकार इनके विस्तृत क्षेत्र और विभिन्न तिथियों के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए महापाषाणों को किसी एकल स्वतंत्र संस्कृति का अंग न मानते हुए कई प्रकार की महापाषाणीय संस्कृतियों के रूप में देखा जाना चाहिए।

उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र

बलूचिस्तान के केर्ण कब्रगाह वाले स्थलों से विभिन्न प्रकार के लोहे के उपकरण और अस्त्र-शस्त्र प्राप्त हुए हैं। इन स्थलों में डम्बकोह, जिवान्री, गत्ती, नसीराबाद, जंगिया, मुगल घुंडई और बिशेजर्द प्रमुख है। हालांकि, इन कब्रों की तिथि के विषय में स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने इसकी तिथि ल. 1100 और 500 सा. सं.पू. के बीच की बतलायी है। लेकिन हो सकता है कि ये कब्र काफी बाद के हों।

बलूचिस्तान के कच्ची मैदान के पिराक नामक स्थल के स्तर-VI से कुछ मात्रा में लोहे की प्राप्ति हुई लेकिन इस स्थल के IV और III स्तरों से काफी बड़ी संख्या में लोहे की सामग्रियां प्राप्त हुईं। इन सामग्रियों में मुख्यत: तीराग्र लोहे के बने हुए थे। इस स्थल पर एक लोहार की भट्ठी भी मिला जिससे यह पता चलता है कि इसी स्थान पर लोहे की सामग्रियां बनाई जाती थीं। मृदभांड और पाषाण ब्लेड शैली में ताम्रपाषाणी स्तर और लौहयुक्त स्तरों के बीच एक मूल सांस्कृतिक निरंतरता दिखाई देती है। मृद्भाण्डों की दृष्टि से इस स्थल पर ताम्रपाषाण काल और लौहयुक्त प्रारंभिक स्तर लगभग एक प्रतीत होते हैं लेकिन बाद के स्तर में एक नये प्रकार के धूसर या काले मृद्भाण्ड कोटि के बर्तन प्राप्त हुए हैं। स्तर-IV से कुछ कक्षों के अवशेष मिले हैं। इनके दरवाजों में लकड़ी के लिंटेल देखे जा सकते हैं। स्तर-III के घरों को लगता है कि फिर से बनाया गया था लेकिन इस स्तर में पहले की अपेक्षा चूल्हे और अन्य भौतिक संस्कृति के उपादानों की संख्या बढ़ते हुए शिल्प गतिविधियों की ओर इशारा करती है। विभिन्न कक्षों वाले डिजाइन के टेराकोटा मुहरों और आड़ी-तिरछी रेखाओं तथा गोलाकार चिह्नों से सुसज्जित मनकों की प्राप्ति भी हुई है। बड़े पैमाने पर हड्डियों के अग्रक, जो ज्यादातर बरसींगा के सींग से बने हैं, प्राप्त हुए हैं। इन पर दोनों तरफ छोटे-छोटे छल्लों की आकृतियां बनी हुई हैं। पिराक से प्राप्त लोहे की प्रारंभिक तिथि 1000 से 800 सा.सं.पू. के बीच की तय की गयी है।

हम लोगों ने पहले गंधार की कब्र संस्कृति की चर्चा की थी जो पाकिस्तान के नॉर्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रोविन्स के घलिघई गुफा के संदर्भ में वर्णित की गयी थी। गंधार की कब्र संस्कृति के कालखंड-VII से लोहे के उपयोग की शुरुआत को देखा जा सकता है जिसकी तिथि 1000 सा.सं.पू. के लगभग तय की जा सकती है। इन क्षेत्रों में भी प्रारंभिक ताम्र-पाषाण काल और प्रारंभिक लोहे के उपयोग की शुरुआत का समय लगभग एक ही प्रतीत होता है। लोहे की वस्तुओं में मालाग्र, बाणाग्र, कांटी, पिन, छल्ले, कांटा और कुल्हाड़ी देखे जा सकते हैं। तीमारगढ़ के एक कब्र से एक वस्तु मिली है, जो घोड़े के रास में लगने वाला लोहे का छल्ला प्रतीत होता है।

सरायखोला नामक स्थल में कालखंड-III से लोहे के उपयोग की शुरुआत देखी जा सकती है जिसकी तिथि 1000-500 सा.सं.पू. के बीच में तय की जा सकती है। यहां से प्राप्त वस्तुओं में दो छल्ले, एक छड़ और हार में लगाने के लोहे से बना हुक शामिल है। ये सभी वस्तुएं पहली सहस्राब्दि सा.सं.पू. के पूर्वार्ध का लगता है।

गुफक्राल (कश्मीर) के महापाषाण संस्कृति स्तर से 1000 सा.सं.पू. के लगभग लोहे के उपयोग के प्रमाण मिलने लगे हैं किन्तु इस स्थान पर लोहे का बड़े पैमाने पर उपयोग कालखंड-III में शुरू हुआ जो प्रारंभिक ऐतिहासिक काल है।

कुमाऊं गढ़वाल क्षेत्र वैसे भी धातु और खनिज की दृष्टि से समृद्ध है। यहां राम, गंगा नदी घाटी क्षेत्र के उल्लेनी नामक स्थल में लोहे के कई उपकरण सामग्रियां और स्लैग के ढेर मिले हैं। यह कुमाऊं के अल्मोड़ा जिला में स्थित है। उलेनी निश्चित रूप से लोहा गलाने का और लोहे के उपकरण बनाने का एक स्थल रहा होगा, जिसकी सी14 अंशशोधित तिथि 1022-826 सा.सं.पू. तय की गयी है।

सिंधु गंगा विभाजन क्षेत्र तथा ऊपरी नदी घाटी चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति

घग्घर, हाकरा क्षेत्र (भगवानपुरा सहित) तथा बीकानेर क्षेत्र में किसी भी चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW) स्थल से लोहे की प्राप्ति नहीं हुई है। किन्तु जखेड़ा और कौशाम्बी तथा राजस्थान में नोह जैसे स्थलों से चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के पहले ब्लैक-एंड-रेड वेयर (BRW) स्तर से ही लोहे की प्राप्ति हुई है। जबकि गंगा-यमुना दोआब में लोहे का सम्बंध निश्चित रूप से चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति से जुड़ा हुआ है।

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति सबसे पहले अहिच्छत्र (बरेली जिला) में 1940 के दशक में खोजी गयी। लेकिन इसकी पूरी महत्ता को हस्तिनापुर में बी.बी. लाल के द्वारा 1954-55 में किये गये उत्खनन के बाद ही समझा जा सका। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति भी काफी विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है। हिमालय के तराई वाले

भाग से मध्य भारत में मालवा के पठारों तक दूसरी ओर बहावलपुर क्षेत्र (पाकिस्तान) से इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) के निकट कौशाम्बी तक। मैदानी क्षेत्र के अतिरिक्त यह काशीपुर, थपली और पुरोला जैसे कुमांयू, गढ़वाल के पहाड़ी क्षेत्र में भी फैली हुई थी। वैशाली (बिहार), लखियोपुर (सिंध), उज्जैन (मध्यप्रदेश) में भी इस संस्कृति के प्रमाण मिले हैं किन्तु इस संस्कृति का मुख्य केंद्र सिंधु-गंगा विभाजन क्षेत्र सतलज नदी घाटी क्षेत्र, ऊपरी गंगा का मैदानी क्षेत्र रहा है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति का तिथिक्रम 1100 से 500-400 सा.सं.पू. के बीच में निश्चित किया जाता रहा है। उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में इस संस्कृति का काल गंगा नदी घाटी के क्षेत्र में इस संस्कृति के काल के पहले का है। इस प्रकार इसके व्यापक भौगोलिक वितरण और लंबी विस्तृत अवधि के कारण स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर इस प्रकार की संस्कृति में मृद्भाण्डो की विविधता स्वाभाविक है। गंगा नदी घाटी में चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति ठीक उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (NBPW) संस्कृति के बाद का काल है जिसकी शुरुआत सिंगवेरपुर में 700 सा.सं.पू. के लगभग हो गयी थी। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के स्थलों के अध्ययन से एक प्रारंभिक नगरीय जीवन का प्रतिबिंब मिलता है।

हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, अहिच्छत्र, मथुरा, काम्पिल्य, जोधपुरा, जखेड़ा कौशाम्बी, भगवानपुरा, अल्लाहपुर, नोह तथा श्रावस्ती इन सभी स्थलों से इस संस्कृति के महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। चित्रित धूसर मृदभांड चार तरह से स्तर-संदर्भों से प्राप्त होता है। पहला रोपड़, संघोल (पंजाब), दौलतपुर (हरियाणा) तथा आलमगीरपुर और हुलास (पश्चिमी उत्तर प्रदेश) जैसे स्थलों पर चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के पहले उत्तर हड़प्पा सांस्कृतिक स्तर था तथा बीच में केवल एक स्तरीय रिक्तता देखी जा सकती है। दूसरा दधेरि, कटपलाओं और नागर (पंजाब) तथा भगवानपुरा (हरियाणा) जैसे दूसरे स्थलों पर चित्रित धूसर मृद्भाण्ड सभ्यता और उत्तर हड़प्पा सभ्यता एक साथ देखी जा सकती है। तीसरा हस्तिनापुर और अहिच्छत्र (उत्तर प्रदेश में स्थित) स्थलों पर इस संस्कृति के पहले गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति (OCP) के प्रमाण उपलब्ध हैं तथा इनके बीच में एक स्तरीय रिक्तता उपस्थित है। और चौथा अतरंजिखेड़ा (उत्तर प्रदेश), नोह तथा जोधपुरा (राजस्थान) जैसे इलाकों में उत्तर में चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के पहले ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड संस्कृति का काल था, तथा बीच में एक स्तरीय रिक्तता
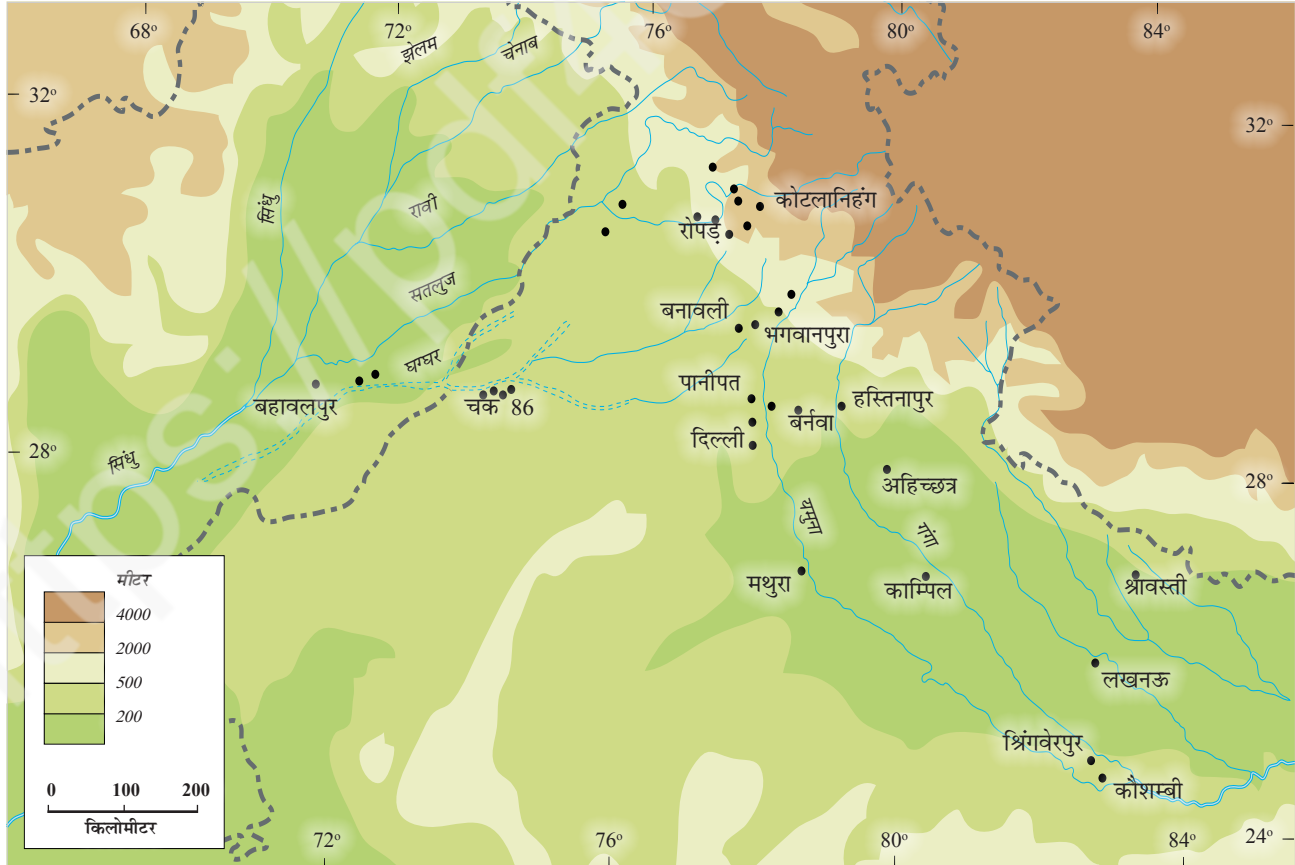
मानचित्र 5.7: **कुछ चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्थल**

देखी जा सकती है। इन क्षेत्रों में चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति का ऊपरी स्तर उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड (NBP) संस्कृति से जुड़ा हुआ है।

ज्यादातर इस संस्कृति से जुड़े आवास, मिट्टी के गिलावे पर बने झोपड़े एवं अन्य प्रकार के छोटे घरों से पहचाने जाते हैं। हस्तिनापुर से कच्ची ईंटों की संरचना ही अधिक मात्रा में प्राप्त हुई है, किन्तु जखेरा में बड़े पके हुए ईंटों का प्रयोग शायद अनुष्ठानिक उद्देश्यों के लिए किया जाने लगा था। भगवानपुरा में पकी ईंटों का बना एक 13 कक्षों वाला बड़ा भवन भी मिला है। लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि इसका निर्माण चित्रित धूसर मृदभांड काल में हुआ था या उसके पहले उत्तर-हड़प्पा चरण में। यहां के पत्थर, टेराकोटा और हड्डियों की बनी कई वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। हस्तिनापुर से चर्ट और जैस्पर के बने बटखरे भी मिले हैं।

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के काल में जखेड़ा को निश्चित रूप से चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति का एक अर्धनगरीय या उपनगरीय केंद्र माना जा सकता है। यहां पर 60 मीटर लंबा एक पानी वाले नहर का साक्ष्य मिला है जो किसी नदी को बांधकर बनाया गया था। इससे पता चलता है कि यहां पर जल प्रबंधन की विकसित प्रणालियों का उपयोग किया जा रहा था। बहुत सारे चूल्हों वाले घर, सड़क, गली, जिन पर मृद्भाण्डों के टुकड़े बिछे हुए थे तथा एक उबड़-खाबड़, मिट्टी की ईंट का बना प्लेटफार्म पाया गया जिस पर एक अग्निकुंड भी अवस्थित है। इन अग्निकुंडों में से एक के ऊपर टेराकोटा की एक फन काढ़े हुए सांप की प्रतिमा है एक हस्तनिर्मित मृण्मूर्ति तथा कुछ पात्र इत्यादि भी पाये गये हैं। वर्गाकार या गोलाकार अन्न भंडारण के लिए घानी भी पाए गए जिससे संकेत मिलता है कि इस क्षेत्र में खाद्यान्न का अधिशेष उत्पादन किया जा रहा था। जखेड़ा के सम्पन्न उपादानों में सोने एवं तांबे के आभूषण भी हैं। 106 मनकों वाले अर्धकीमती पत्थरों के भी आभूषण मिले हैं। विभिन्न प्रकार के ताम्र-सामग्रियों के अतिरिक्त ज्यामितीय आकार के पत्थर के टुकड़े और हाथी दांत की वस्तुएं भी पायी गयीं। यहां से बड़ी संख्या में लोहे की वस्तुएं मिली हैं जिनमें हंसिया या फाल जैसे कृषि उपकरण भी सम्मिलित हैं।

चित्रित धूसर भांड संस्कृति में जीवन निर्वाह का आधार चावल, गेहूँ, और जौ की कृषि थी। लोग साल में दो प्रकार की फसलों को उगा रहे थे। हालांकि, सिंचाई की सुविधाओं के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है फिर भी अतरंजीखेड़ा में कच्चे कुओं के रूप में कुछ गोलाकार गड्ढों को पाया गया है। आज भी इस में रहने वाले लोग अपने खेतों की सिंचाई के लिए इस प्रकार के कुएं का उपयोग करते हैं। पशुपालन बड़े पैमाने पर किया जा रहा था। चित्रित धूसर मृदभांड स्थलों से मवेशी, भेड़ और सूअर की हड्डियां प्राप्त हुई हैं। इनमें से कई आग में जले हुए हैं और कईयों पर काटे जाने का निशान मौजूद है। मछली के कांटों और मछली मारने के हुक मिलने से मछली पकड़ने का संकेत भी मिलता है। हस्तिनापुर से घोड़ों की हड्डियां भी प्राप्त हुई हैं।

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड से प्राप्त लोहे की सामग्रियों में से अधिकांश आखेट या युद्ध से जुड़ी हुई सामग्रियां हैं, जैसे—ब्लेड, तीराग्र, भालाग्र, छुरा, भाला इत्यादि। जखेडा के चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति कालखंड-IIबी से भी लोहे के बने हुए कृषि सम्बंधित उपकरण बड़ी मात्रा में पाए गए हैं। अतरंजीखेड़ा में भी पी.जी.डब्ल्यू स्तर से लोहे की बहुत सामग्रियां पायी गयी हैं। जिनमें जखेड़ा के लोहे की कृषि उपकरणों को सम्मिलित कर लेने पर ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में उस काल में एक लोहा उद्योग फल-फूल रहा था।

अतरंजीखेड़ा के पी.जी.डब्ल्यू स्तर से प्राप्त लोहे के उपकरणों के रासायनिक विश्लेषणों से पता चलता है कि ये पिटवां लोहा के बने हुए थे और लोहे को कार्बराइज करने की प्रक्रिया का प्रयोग भी किया जा रहा था। इसके लिए इन उपकरणों को नीचे तापमान पर चारकोल के नीचे लंबे समय तक रखा जाता होगा। आयरन स्लैग के टुकड़ों और अन्य लोहे के टुकड़ों की सामग्रियों का अध्ययन और विश्लेषण करने से यह पता चला कि लौह अयस्कों की प्राप्ति आगरा और ग्वालियर के बीच के पठारी क्षेत्र में स्थित लौहयुक्त चट्टानों से की जा रही थी। यही इस क्षेत्र में लोहे के उद्योग के लिए कच्चे माल का काम कर रहे थे। कुछ अध्ययनों के द्वारा चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के आवासीय संरचनाओं का अंदाज लगाया जा सका है।

प्राथमिक स्रोत

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड या पेंटेड ग्रे वेयर (PGW)

बहुत ही बारीक चिकनी और रंगीन कोटि के मृद्भांड हैं। इनका रंग सिल्वर ग्रे से बैटल्सिप ग्रे के बीच पाया गया है। ये बहुत ही उच्च कोटि की मिट्टी से बनाए गए हैं। इन पर सामान्यत: सरल ज्यामितीय पैटर्न बने हैं जिनको काले रंग से बनाया गया है।

इनके रंग की उत्कृष्टता और समरूपता इस बात की ओर संकेत करती है कि इसको पकाने की तकनीक भी काफी उच्चस्तरीय रही होगी। इनको बनाने के क्रम में काफी उच्च तापमान एक लंबे समय तक रखा जाता होगा। इसके विकल्प में यह भी कहा जाता है कि ये पात्र धूसर रंग में इसलिए परिवर्तित हो जाते थे क्योंकि इनको बनाने वाली मिट्टी में काले रंग का फेरसआक्साइड अच्छी मात्रा में उपलब्ध था। शायद इनको तेजी से चलते हुए कुम्हार के चाक पर बनाया जाता था और जिसके कारण इनकी सतह अंडे के छिलके की मोटाई की हो जाती थी, उतनी बारीक। एक बार जब ये सूख जाते थे तब इन्हें फिर से चाक पर घुमाया जाता था। तत्पश्चात् इनकी सतह को खुरचनी के माध्यम से चिकना किया जाता था। शायद किसी प्रकार के लेप के द्वारा भी इनकी सतह को अधिक चिकना रखने में मदद मिलती थी। कुछ ऐसे पी.जी.डब्ल्यू. मृद्भांडों के बीच का हिस्सा लाल रंग का है जो शायद स्थानीय मिट्टी के बने होने के कारण दिखता है।

ज्यामितीय डिजाइनों को काले या गहरे चाकलेटी भूरे रंग से रंगा जाता था। बहुत सारी रेखाओं को चित्रित करने के लिए उपयुक्त ब्रश का प्रयोग होता था। वृत्त, बूंदे, स्वास्तिक, सकेंद्रीय वृत्त इत्यादि की प्रमुखता है। पुरुषीय डिजाइन या सूर्य जैसे प्रतीक या अन्य प्राकृतिक डिजाइन कम ही देखने को मिलेंगे। राजस्थान के कुछ स्थलों से ऐसे मृद्भांडो पर मुहर पाया गया है या कभी-कभी इनको खरोंचकर कुछ डिजाइन बनाए गये हैं।

चित्रित धूसर मृद्भांड कोटि के पात्रों के आकार सीमित हैं। ज्यादातर खुले मुंह वाले पात्र और लोटा इत्यादि बनाए गए थे।

इनके विषय में कहा जा सकता है ये डीलक्स श्रेणी के मृद्भांड थे और केवल समृद्ध लोगों के द्वारा ही उपयोग में लाए जाते होंगे। जिन-जिन स्थानों से इनकी प्राप्ति हुई है वहां अन्य मृद्भांडो की तुलना में ये तीन से दस प्रतिशत की मात्रा में ही उपलब्ध हैं। इनके साथ अधिकतर सामान्य धूसर मृद्भांड, ब्लैक-एंड-रेड मृद्भांड अथवा ब्लैक स्लीप वाले मृद्भांड पाए गए हैं। इस प्रकार के पात्रों का उपयोग दिनचर्या के खाना पकाने इत्यादि में शायद नहीं होता होगा।

स्रोत: त्रिपाठी, 2002

चित्र 5.9: **चित्रित धूसर मृद्भाण्ड**

मक्खन लाल ने 1984 में कानपुर जिला उत्तर प्रदेश में 46 चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के स्थलों का अध्ययन किया। इन बसावटों में 26 का आकार 1 हेक्टेयर से कम, 14 का 1 से 1.99 हेक्टेरयर, 2 का 2 से 2.9 हेक्टेयर, 3 का 3 से 3.99 हेक्टेयर और सिर्फ 1 का 4 से 4.99 हेक्टेयर के बीच पाया गया है। ऐसा भी पाया गया कि जो स्थल नदी के निकट थे, बड़े थे और नदी से दूर वाले पी.जी.डब्ल्यू स्थलों का आकार छोटा था। दो पी.जी.डब्ल्यू स्थलों के बीच की सामान्य दूरी 10-14 कि.मी. के बीच थी। एरडोजी ने 1988 में इलाहाबाद जिले के उन स्थलों का अध्ययन किया जिनकी तिथि 1000 सा.सं.पू. से 300 सा.सं. के बीच निकाली गयी है। यहां पर दो आकार के बसावट क्षेत्र थे। पंद्रह बसावटों का आकार 0.42 से 2.80 हेक्टेयर था जबकि इनका सामान्य आकार 1.72 हेक्टेयर था। कौशाम्बी एक ऐसा स्थल था जिसका आकार 10 हेक्टेयर से अधिक था जो निश्चित रूप से अन्य स्थलों से कहीं बड़ा था। ऐसा माना जाता है कि चूंकि कौशाम्बी में पाए जाने वाली मिट्टी और यहां की भू-संरचना खराब होने के बावजूद विंध्य से प्राप्त होने वाले खनिज और कच्चे माल की निकटता के कारण एक प्रमुख केंद्र के रूप में उभरकर सामने आया होगा। यहां पर प्रति हेक्टैयर 160 जनसंख्या घनत्व आंका गया। रांटसी के अनुमान के अनुसार, यहां के गांवों में 60 से 450 लोग निवास करते थे। उत्तरी हरियाणा में भी इसी प्रकार के दो बसावट श्रेणियों को चिन्हित किया गया है। यहां पर किये गए 42 पी.जी.डब्ल्यू. स्थलों के अध्ययन से यह पता चला कि इनमें से एक स्थल 9.6 हेक्टेयर का था, जबकि बाकी कोई भी 4.3 हेक्टेयर से बड़े आकार का नहीं था। मुगल ने बहावलपुर क्षेत्र में पी.जी.डब्ल्यू. स्थलों का अध्ययन किया है। इनमें से 14 स्थल का आकार 0.5 से 13.7 हेक्टेयर के बीच था। सतवाली एक अपवाद था जिसका आकार 13.7 हेक्टेयर था अन्यथा सभी 5 हेक्टेयर से नीचे आकार वाले स्थल थे।

विभिन्न स्थानों से प्राप्त कुछ चित्रित धूसर मृद्भाण्ड के ठीकरे

राजस्थान में मिले साक्ष्य

भरतपुर के निकट अवस्थित नोह नामक स्थल पर सांस्कृतिक स्तर विन्यास की दृष्टि से बिल्कुल उसी तरह की विशेषताएं देखी जा सकती है, जो निकटवर्ती ऊपरी गंगा नदी घाटी में देखी गयी थी। कालखंड-I गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति का काल है। कालखंड-II ब्लैक-एंड-रेड वेयर का काल है। कालखंड-II से आकार विहीन बहुत सारे लोहे के टुकड़े मिलने लगते हैं। कालखंड-III के पी.जी.डब्ल्यू स्तर से अस्त्र-शस्त्र और लोहे के कुल्हाड़, शाकेट इत्यादि प्राप्त हुए हैं।

पी.जी.डब्ल्यू स्तर का दूसरा स्थल जोधपुरा, पूर्वी राजस्थान में पड़ता है। यहां पर कुछ विशेष प्रकार के लोहा गलाने के फर्नेस पाए गए हैं। जिसमें शायद अवकरण प्रक्रिया के द्वारा लोहे को गलाया जाता था और फिर उसे खुले फर्नेस में रखकर पुनः गर्म किया जाता था। तब उसको लोहे के उपकरण बनाने के लिए बगल में रखे प्लेटफार्म पर पीटा जाता था।

सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य दक्षिण पूर्वी राजस्थान के आहार नामक स्थान से प्राप्त होते हैं। यहां पर ताम्र-पाषाण स्तर को तीन कालखंड में बांटा गया है और लोहा स्तर 1बी और 1सी से प्राप्त होने लगे थे। कालखंड-Iबी में तीराग्र और लोहे के स्लैब देखे जा सकते हैं। कालखंड-Iसी में चार तीराग्र, दो तक्षणी, एक बडी कांटी, एक शांकेट, लोहे के बने पाए गए। अंशशोधित तिथियों के अनुसार, लौहयुक्त ताम्रपाषाण सांस्कृतिक स्तर आहार में दूसरी सहस्राब्दि सा.सं.पू. के पहले दो सौ वर्षों के दौरान देखा गया है। कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं भी हों किंतु देखा जाए तो भारतीय उपमहाद्वीप में आहार जैसे स्थलों पर सबसे पहले लोहे के प्रमाण पाए गए हैं।

मध्य गंगा नदी घाटी मैदान और निचली नदी घाटी का मैदान

विगत् गिने हुए अध्ययनों से जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनके अनुसार, मध्य गंगा नदी घाटी में द्वितीय सहस्राब्दी सा.सं.पू. के लगभग में लोहे की तकनीक की शुरुआत का बोध होता है। ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड संस्कृति के स्तर लखनऊ के निकट दादूपुर नामक स्थल से प्राप्त अंशशोधित रेडियो कार्बन तिथि के अनुसार, यह धातु इस स्थान पर 1700 सा.सं.पू. में पहली बार प्रयोग में आई। किन्तु मल्हार नामक स्थल का कालखंड-II 2000 सा.सं.पू. निर्धारित किया गया है और राजा नल का किला (पीरियड II) जो ऊपरी बेला नदी घाटी में स्थित है यहां लोहे के उपयोग की शुरुआत 1300 सा.सं.पू. निर्धारित की गयी है। इलाहाबाद के निकट झूसी (कालखंड-I बी) की तिथि भी 1300 सा.सं.पू. निर्धारित है।

किन्तु इन केंद्रों के अतिरिक्त मध्य गंगा नदी घाटी में, उदाहरण के लिए, गंवेरिया में लोहा, काले मिट्टी के घोल वाले बर्तनों का उपयोग के साथ शुरू हुआ। कोल्डिहवा में लौह युक्त स्तर की शुरुआत ताम्रपाषाण काल की समाप्ति के ठीक बाद दिखता है। यहां से प्राप्त लोहे के उपकरणों में कुल्हाड़, तीराग्र इत्यादि है। साथ में लोहे के स्लैग भी पाए गए हैं। पंचोह नामक स्थान में लोहे के कुछ टुकड़े पाए गए जो हाथ के बने सादे मृद्भाण्ड, सूक्ष्म पाषाण औज़ार और छोटे नवपाषाणीय कुल्हाड़ जैसी वस्तुओं से अपने स्तर विन्यास में जुड़े हुए थे।

नरहन, सरयू नदी के तट पर स्थित है, यहां पर लोहे के उपयोग की शुरुआत कालखंड-I (ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड (BRW) काल) से शुरू होता है किन्तु गुणवत्ता और संख्या की दृष्टि से कालखंड-II जो काले घोल वाले मिट्टी के लेप से बने बर्तनों की संस्कृति से जुड़ा हुआ है, से शुरू होता है। कालखंड-II के दौरान तीराग्रो और अन्य अस्त्र-शस्त्रों में विविधता बढ़ गई थी। यहां शीशा, अगेट और टेराकोटा के मनके; टेराकोटा के गेंद और थपली टेराकोटा और हड्डी के बने पासा; शीशे की चूड़ियां; हड्डी से बना हार का लटकन; दो स्त्री मृण्मूर्तियां, और दो पशु मृण्मूर्तियां (प्रायः वृषभ या नील गाय) पाए गए। टेराकोटा और कांच जैसे वस्तु से बने प्रगलन-पात्र, धातु-कर्म या औषधि-विज्ञान से जुड़ा हुआ होगा। तांबे की बनी वस्तुओं में काजल लगाने की सलाई, नहरनी, चूड़ियां और मछली पकड़ने का कांटा आदि देखे जा सकते हैं। लोहे की वस्तुओं में तीराग्र, भालाग्र, तक्षणी और कांटियां पायी जाती हैं। कार्बराइज्ड चावल, जौ और मटर के जले हुए अवशेषों से पता चलता है कि यहां कालखंड-I से कृषि परंपरा की स्थायी शुरुआत हो चुकी थी। बाद में केवल सीसो, जामुन जैसे नई वनस्पतियों को देखा गया। नरहन के कालखंड-II की तिथि 800-600 सा.सं.पू. तय की गयी है।

बिहार और बंगाल में लोहे की वस्तुओं की पहली उपस्थिति काला-लाल मृदभांड स्थलों के संदर्भ में चिरांद, सोनपुर, ताराडीह, बहिरि, महिषदल और भरतपुर से प्राप्त होते हैं और इनकी तिथि पहली सहस्राब्दि सा.सं.पू. के पहले तीन सदियों में रखी जा सकती है। कई स्थलों पर ताम्रपाषाणी काला-लाल मृदभांड चरण से आरंभिक लौह काला-लाल मृदभांड चरण के बीच प्रत्यक्ष सांस्कृतिक निरंतरता दिखाई देती है। दूसरी तरफ महिषादल (कोपाई नदी के तट पर) में आरंभिक लौह वस्तुएं सूक्ष्मपाषाणों के साथ और बारूडीह में लोहा नवपाषाणों के साथ ही मिलता है।

पश्चिम बंगाल में अजेय नदी घाटी क्षेत्र में स्थित पांडु राजा ढ़िबी की चर्चा पहले की जा चुकी है, जहां ताम्रपाषाण स्तर से लोहे के उपकरण प्राप्त हुए थे। बाहिरि और मंगलकोट जैसे स्थल भी अजेय नदी घाटी में स्थित हैं। बाहिरि का कालखंड-I 1112-803 सा.सं.पू. के बाद का है। इस काल में झोपड़ियाँ बनने लगी थीं और जिनके फर्श को मिट्टी से लीपा जाता था। ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड संस्कृति का वर्चस्व था और यहां पर लौह के अयस्क और स्लैग बड़ी मात्रा में इस स्तर से उपलब्ध हुए है। एक तांबे का तार भी मिला है जिसके परीक्षण से पता लगा कि इसमें 10 प्रतिशत दूसरी धातु को मिश्रित किया गया है। मंगलकोट का कालखंड-I बाहरी के समकालीन है। यहां पर भी गोबर से लीपे हुए मिट्टी की दीवारों के अवशेष पाए गए है। यहां से प्राप्त अन्य अवशेषों में काफी कलात्मक, मानवीय टेराकोटा प्रतिमाएं और टेराकोटा के बने मनके, चूड़ी, बाल, मछली पकड़ने के जाल के उपकरण इत्यादि मिले हैं। यहां से विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म पाषाणीय औज़ार और हड्डी के औज़ार भी मिले हैं, तांबे की चूड़ियां यहां विशेष रूप से देखने को मिलती हैं। लोहे की वस्तुओं में अग्रक, भालाग्र, छुरी तथा धातुमल और फूलन की उपस्थिति देखी जा सकती है।

मध्य भारत

चंबल नदी घाटी में स्थित नागदा और बीना नदी के तट पर स्थित ऐरन के ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड के स्तर से लोहा मिला है। ताम्रपाषाण काल से लेकर प्रारंभिक लौह युग के बीच एक सांस्कृतिक निरंतरता देखी जा सकती है।

नागदा का कालखंड-I मालवा संस्कृति से जुड़ा हुआ है। कुछ पुरातात्त्विक स्तरीय रिक्तता के बाद इस स्थान को फिर से बसाया गया। कालखंड-II ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड का काल है। हालांकि, पहले से चली आ रही मृद्भाण्ड परंपरा इस काल में बनी रही और सूक्ष्म पाषाण औज़ार इस काल में भी बनते रहे। लोहे के बने उपकरण जैसे दोहरी धार वाला कटार, कुल्हाड़ का शॉकेट, कुल्हाड़, कांटी, चम्मच, तीराग्र, भालाग्र, छुरी, हंसिया, इत्यादि भी पाया जाने लगा। इस समय लाल और क्रीम रंग का मृद्भाण्ड पाया जाता है जिस पर अधिकांशतः ज्यामितीय डिजाइन काले रंग से बनाए जाते थे। ऐरेन में भी कालखंड-I मालवा संस्कृति का है, कालखंड-II ए ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड का है जो लोहे की शुरुआत से जुड़ा हुआ है। उज्जैन में भी लोहे के उपकरण, ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड संस्कृति के स्तर से मिलने लगे। यहां भी तीराग्र, भालाग्र, छुरी और फावड़ा इत्यादि मिलता है।

मालवा संस्कृति के तुरंत बाद ब्लैक-एंड-रेड मृद्‌भाण्ड संस्कृति लोहे की शुरुआत से जानी जाती है। इसकी तिथि ल. 1300 सा.सं.पू. तय की गई है। कार्बन-14 तिथि निर्धारण के अनुसार, यही तिथि एरेन के ताम्रपाषाण स्तर से भी मेल खाती है।

मध्यप्रदेश में लोहे से जुड़े हुए बहुत सारे महापाषाण स्थल भी पाए गए हैं। महापाषाण स्थलों में धनोरा, सोनाभीर, कढ़ीभंडारी, चिराचोरी, मजगहन, सोरारा, कब्रहाटा ओर संकनपली, तिम्मेलवाड़ा, हंडागुडा और नेलकांकेर प्रमुख हैं।

दक्कन क्षेत्र

दक्कन में लोहे के उपकरणों की प्राप्ति भी ब्लैक-एंड-रेड मृद्‌भाण्ड स्तर से ही हुई है, किन्तु इनमें से बहुत सारे केंद्र महापाषाण संस्कृति के केंद्र भी थे। जोर्वे संस्कृति से इन स्थलों के बीच के सम्बंधों को भली प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सका था। जोर्वे संस्कृति से जुड़े स्थल लगभग 4-5 शताब्दियों तक इस क्षेत्र में खाली रहे होंगे। पांचवीं शताब्दी सामान्य संवत पूर्व से फिर से जिनको बसाया गया। जबकि अन्य स्थलों से जोर्वे संस्कृति काल से लेकर लौह युग की शुरुआत तक में एक सांस्कृतिक निरंतरता देखी जा सकती है।

नागदा के समान ही सांस्कृतिक स्तर विन्यास प्रकाश नामक स्थल में भी पाए गए हैं। सबसे पहले मालवा संस्कृति का स्तर जिसके बाद कुछ समय तक की पुरातात्त्विक रिक्तता और ब्लैक-एंड-रेड सांस्कृतिक स्तर जिसमें लोहे के उपयोग की शुरुआत और इसके बाद उत्तर कृष्णामार्जित मृद्‌भाण्ड संस्कृति स्तर यहां भी देखा जा सकता है। ब्लैक-एंड-रेड स्तर से पाए जाने वाले लोहे के उपकरण जो प्रकाश में पाए गए उनमें भी प्रमुख रूप से तीराग्र, कुल्हाड़, क्षुरिका, हंसिया, क्लैम्प (शिकंजा), भालाग्र और एक प्रकार का लोहे का छल्ला (फेरूल) और कांटियां पाई गई है। बाहल नामक स्थान से भी इसी प्रकार के साक्ष्य मिले हैं।

बहुत सारे महापाषाणीय कब्रगाह महाराष्ट्र के आवासीय केंद्रों के साथ देखे जा सकते हैं जो लोहे की शुरुआत से जुड़े हुए थे। इस कोटि के केंद्रों में तकलघाट-खापा, नायकुंड, महूरझारी, भागिमोहारी, बोरगांव, रंजाला, पिंपलसूति और जूनापानी प्रमुख हैं। नायकुंड से प्राप्त अवशेषों के अंशशोधित तिथियों के आधार पर 800-420 सा.सं.पू. तथा 785-410 सा.सं.पू. के दो कालखंड निर्धारित किये गए हैं। इन महापाषाण केंद्रों से जुड़ी हुई बस्तियां कृषक समुदायों की प्रतीत होती हैं। जौ, चावल और अन्य अनाज नायकुंड के घरों के फर्श पर पाये गये हैं। तांबे और लोहे के काफी उपकरण यहां से उपलब्ध होते हैं। लोहे की वस्तुओं में कड़छुल, कांटी, खंजर, बाणाग्र, छुरा, छेनी, नुकीला छड़, दो धारी आरी, ब्लेड, छड़, मछली-कांटा, चूड़ी, नहरनी-कनखोदनी, त्रिशूल, भालाग्र, तलवार और कराही आदि पाए गए हैं। नायकुंड में लोहे का बना हल्का कुदाल भी पाया गया है और यहां से लोहे को गलाने और लोहे के उपकरणों के निर्माण के भी प्रमाण देखे जा सकते हैं। लोहार के भट्‌ठी से जुड़ा हुआ टेराकोटा का एक पाइप पाया गया है। लौह अयस्क यहां से एक कि.मी. दूर एक नाले में पाया गया है। महूरझारी भी उस काल का मनके बनाने का एक प्रमुख निर्माण केंद्र प्रतीत होता है। यहां के कब्रों में रखी हुई वस्तुओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहां पर महापाषाण संस्कृति के काल से प्रारंभिक ऐतिहासिक काल तक मनके बनाने के केंद्र के रूप में निरंतरता इस स्थल की बनी रही (मोहंती, 1999)।

महुरझाड़ी और नायकुंड के प्राय: प्रत्येक महापाषाणी पाषाण-वृत से लोहे की बूटी और तांबे के आभूषणों से सजे घोड़ो के अवशेष प्राप्त हुए हैं। महुरझाड़ी के एक कब्र से एक घोड़े का संपूर्ण कंकाल प्राप्त हुआ है, जिस पर कटे का निशान यह संकेत करता है कि इसकी बलि दी गई थी और तब एक मनुष्य के साथ दफना दिया गया था। इसके अतिरिक्त भी दो और नाटकीय शवाधान दिखाई देते हैं - एक में एक व्यस्क पुरुष का अवशेष है, जिसका मुंह खुला हुआ है और गर्दन के ठीक नीचे एक तीर बुरी तरह अंदर धंसा हुआ है। दूसरे कब्र में एक व्यस्क मनुष्य के शरीर का सिर्फ उपरी हिस्सा है और उसके सीने पर तांबे के मूठ वाला लोहे का खंजर रखा हुआ है। इस प्रकार के कब्र वहां की योद्धा परंपरा का जोर शोर से उद्‌घोष करते हैं।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत में लोहे के उपयोग की शुरुआत नवपाषाण और महापाषाण सांस्कृतिक स्तरों से संयुक्त रूप से प्राप्त होती है। दक्षिण भारत में महापाषाण संस्कृति विस्तृत रूप से फैली हुई थी। तमिलनाडु में आदिचनल्लुर, अमृतमंगलम, कुन्नटूर, सनुर, वासुदेवनल्लुर, टेनकासी, कोरकई, कायल, कलुगुमलाई, पेरूमलमलाई, पुडुक्कोटई, तिरूक्कमपुलियार, तथा ओडुगट्टूर जैसे केंद्र महत्त्वपूर्ण थे। केरल में पुलिमट्टु, टेंगक्कल, सेनकोट्टा मुथुकर, पेरिया कनाल, माचड़, पजयन्नुर तथा मंगडु प्रमुख थे। माचड और पजयन्नुर से प्राप्त उपकरणों के आधार पर यहां की तिथि दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी शताब्दी

सामान्य संवत के बीच निर्धारित की गयी है। मनगडू केरल के कोल्लम जिला में पड़ता है जो एक महत्त्वपूर्ण महापाषाण संस्कृति का केंद्र था और यहां पर संस्कृति के प्रमाण 1000–100 सा.सं.पू. के बीच लगातार मिले हैं। कर्नाटक के प्रमुख महापाषाण संस्कृति के केंद्रों में ब्रह्मगिरी, मास्की, हनामसागर, टेरडल-हलिनगली, टी. नरसीपुर और हल्लूर हैं। हल्लूर की कार्बन 14 तिथि 1000 सा.सं.पू. तय की गयी है। कुमारनहल्ली में थर्मोल्यूमिनिसेंस तिथि निर्धारण के आधार पर इस संस्कृति का काल 1300–1200 सा.सं.पू. निर्धारित किया गया है। आंध्रप्रदेश में कदंबपुर, नागार्जुनकोंडा, यलेश्वरम्, गल्लापल्ली, ताड़पत्री, मीरापुरम और अमरावती महापाषाण केंद्र थे। महापाषाण केंद्रों को ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड संस्कृति से जोड़कर श्रीलंका में भी देखा जा सकता है। महापाषाण संस्कृति के विविध प्रकारों के आधार पर कुछ क्षेत्रों को चिन्हित किया जा सकता है जैसे कोडईकाल और टोपीकाल को केरल और कर्नाटक से तथा मेनहिर महापाषाण को केरल, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक से जोड़कर देखा जा सकता है।

पहले के पुरातत्त्वविदों के द्वारा महापाषाण संस्कृति में पशुपालक समुदायों का वर्चस्व माना जाता था जो घूमंतु जीवन व्यतीत करते थे, किन्तु सुदूर दक्षिण से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर अब यह स्पष्ट हाने लगा है कि प्रारंभिक लौह युग से जुड़े समुदाय कृषि, आखेट, मछली पकड़ना और पशुपालन के मिले-जुले जीवन-निर्वाह पद्धतियों का अनुपालन कर रहे थे। इन केंद्रों से शिल्पकला की समृद्ध परंपरा भी प्रदर्शित होती है। महापाषाण केंद्रों से जुड़े आवासीय क्षेत्रों में अब स्पष्ट होने लगा है कि ये लोग स्थायी जीवन व्यतीत करते थे।

यहां लोग अनाज, बाजरा और दालें उगाते थे। कुलथी, मूंग और प्राय: रागी के जले हुए दाने पैयमपल्ली से प्राप्त हुए हैं। कुर्ग और खाप (कर्नाटक) से धान की भूसी और हल्लूर से जले हुए रागी का अंश भी मिला है। कुन्तूर (तमिलनाडु) के एक कब्र से चावल के दानों का अंश मिला है। स्वभावत: विभिन्न इलाकों के बीच उगाए जाने वाले फसलों की विविधता दिखाई देती है। कुछ महापाषाणी स्थलों से अनाज कूटने-पीसने के उपकरण भी मिलते हैं। केरल के माचड़ नामक स्थान में एक ताबूत (सिष्ट) में महापाषाण केंद्र से ग्रेनाइट की चक्की मिली है। के. राजन (2003) ने पुड्डूकोटई क्षेत्र (तमिलनाडु) में महापाषाण केंद्रों का अध्ययन किया है और यह पाया कि ऐसे पाषाण स्थल अधिकांशत: सिंचाई के लिए बने पोखरों से जुड़े हुए थे, जो ज्यादातर वर्षा या छोटी जल धाराओं पर आश्रित थे। यह महज संयोग नहीं था।

महापाषाण केंद्रों में प्रचलित जीवन निर्वाह की शैलियों का शैलचित्रों और मृण्मूर्तियों के आधार पर भी अनुमान लगाया जा सकता है। मरयूर और अट्टल (केरल) में आखेट के बहुत

ब्रह्मागिरि: गवाक्ष/छिद्रित पत्थर के साथ एक कक्ष वाला कब्र (ऊपर); कक्ष का निकटवर्ती दृश्य (नीचे)

सारे दृश्य शैलचित्रों में देखे जा सकते हैं। कर्नाटक के हीरेबेंकल में भी आखेट दृश्यों का वर्चस्व है। यहां पर उपलब्ध कुछ शैलचित्रों में लोग समूह में नृत्य करते हुए भी दिखलाए गए हैं। आखेट दृश्यों में मोरनी, मयूर, हिरण तथा बारासींगों तथा समूह नृत्यों का अंकन देखने को मिलता है। पालतू और जंगली दोनों प्रकार के पशुओं की हड्डियां अक्सर प्राप्त होती हैं, जिससे शिकार और पशुपालन दोनों के संकेत प्राप्त होते हैं। पालतू पशुओं में गाय, भेड़, कुत्ता और घोड़ा देखे जा सकते हैं, परंतु सबसे ज्यादा महत्त्व मवेशियों का था। इस अर्थ में पूर्ववर्ती नवपाषाण-ताम्रपाषाण चरणों से अभी तक जीवन निर्वाह पद्धतियों की निरंतरता बनी हुई थी। तमिलनाडु के कुछ महापाषाणीय कब्रों से मछली-कांटें भी प्राप्त हुए हैं।

दक्षिण भारत के महापाषाणी स्थलों से एक पूर्ण से विशेषीकृत शिल्प परंपरा का भी साक्ष्य प्राप्त होता है। दक्षिणी क्षेत्र में ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड की संस्कृति की परंपरा काफी विकसित मालूम पड़ती है। इन मृद्भाण्डों पर पक्षी, पशुओं के चित्र विशेष रूप से अलंकृत किये गये थे जो शायद उत्सव या अनुष्ठान से जुड़े हुए बर्तन मालूम पड़ते हैं। मनके बनाए जाने की भी परंपरा थी। कब्रों से जुड़ी वस्तुओं में मनके और अन्य सामग्रियां प्रमुख हैं। यहां से तांबे और कांसे के बर्तन और उपकरण पाए गए हैं। कुछ चांदी और सोने के आभूषण भी पाए गए हैं।

अन्यान्य परिचर्चा

महापाषाण मानव आकृतियों का रहस्य

प्रायः दो दशक पहले तमिलनाडु के चंगमतालुम में मोत्तुर नामक स्थान पर एक विशाल मानव आकृतिय प्रतिमा पायी गयी। यह पत्थर की मानवाकृति तीन संकेंद्रीय पत्थर के वृत्ताकार व्यवस्था का एक हिस्सा थी। इसमें पत्थरों की बनी बाहरी दो वृत्त पत्थर के स्लैब्स से बने थे जबकि पत्थर की यह मानवाकृति सबसे भीतरी वृत्त में स्थित थी, और दक्षिण की ओर रूख किए हुए थी। लगभग इसको जमीन में 75 सेमी. गाड़कर खड़ा किया गया था और छोटे-छोटे पत्थरों के टुकड़ों के द्वारा इसको अतिरिक्त सहारा दिया गया था।

यह मानवाकृति 3.25 मीटर चौड़ी और 3.25 मीटर लंबी थी। इसके दोनों हाथ मुड़े हुए थे और जिनकी लंबाई 0.92 मीटर थी। गर्दन और सिर वाला हिस्सा एक अर्धवृत्ताकार आकृति के रूप में था, जिसके नीचे कंधों को देखा जा सकता था। पैर के स्थान पर एक आधारशिला बनी हुई थी जिससे यह प्रतीत होता था कि प्रतिमा किसी बैठे हुए मनुष्य की है। इसी तरह की एक दूसरी मानवाकृति कुछ वर्षों पहले तमिलनाडु के विलुपुरम तालुक्क के उदयारनट्टम नामक स्थान से भी मिली। यह प्रतिमा तीन मीटर ऊँची और एक मीटर गोलाई लिये हुये थी। यह मानवाकृति भी पत्थरों के वृत्ताकार व्यवस्था का एक हिस्सा थी जो दरअसल पत्थर के कब्र थे। कंधों के ऊपर इस प्रतिमा में एक त्रिभुजाकार आकृति निकाली गई थी जो सिर के समान देखने में प्रभाव डालती थी।

स्थानीय मान्यता ऐसी प्रतिमाओं के विषय में रोचक कथाओं को कहती है। एक कथा के अनुसार, बहुत वर्षों पहले जब वलियारों को (पिग्मी जाति के लोग) यह पता चला कि वहां अग्नि की वर्षा होने वाली है तो उन्होंने दक्षिण की ओर पलायन करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने देवता से आग्रह किया कि वो भी उनके साथ चले किन्तु उनके देवता ने इंकार कर दिया। इसलिए उन्होंने अपने देवता को उस स्थान पर छोड़ दिया। किन्तु उसके सिर को अपने साथ लेकर भाग गए। इसलिए ऐसी प्रतिमा शीशविहीन प्रतीत होती है। दक्षिण में मध्य गोदावरी नदी घाटी से लेकर तमिलनाडु की पहाड़ियों के बीच लगभग पंद्रह ऐसे केंद्र मिले हैं जहां से इस प्रकार की प्रस्तरीय मानवाकृतियां प्राप्त हुई हैं। इन स्थानों में कपेरलागुरू (गोदावरी के निकट), अमबल वायल (केरल), मिडीमल्ला (चित्तूर) तथा कुमति (वेल्लारी जिला, आंध्र प्रदेश) प्रमुख हैं। एगुवाकन्तला चेरुवू (चित्तूर जिला आंध्र प्रदेश) में तीन पाषाणीय मानवाकृतियां एक साथ मिली हैं। एक पूरब की ओर स्थित है जिसमें एक गड्ढा भी बना हुआ है। इन मानवाकृतियों के सिर तो हैं लेकिन हाथ नहीं हैं और ऐसी मूर्तियां उत्तरी आंध्र प्रदेश से विशेषकर गोदावरी नदी के दक्षिणी तट पर टोटिगुट्टा और डोंगाटोगु नाम के स्थानों में मिली हैं।

अब वास्तव में इन पाषाणीय मानवाकृतियों का क्या महत्त्व रहा होगा अथवा वे किसकी प्रतीक थीं ऐसा कहना कठिन है लेकिन ऐसी प्रतिमाएं ज्यादातर महापाषाणीय कब्रगाहों या समाधियों से जुड़ी हुई पायी गयी हैं। ऐसा माना जाता है कि ये पितृपूजा से सम्बंधित थे।

स्रोत: राजन, 1998 ए

महापाषाण केंद्रों में लोहे की बनी वस्तुएं अन्य किसी भी धातु की बनी वस्तुओं से अधिक मात्रा में देखी जा सकती हैं। लोहे के उपकरण, लोहे के बर्तन, लोहे के अस्त्र-शस्त्र तथा शिल्प से जुड़े अन्य औज़ारों के अतिरिक्त लोहे का उपयोग कृषि से जुड़े उपकरणों के लिए भी होने लगा था। लोहे के उपकरणों में बर्तन, हथियार (बाणाग्र, मालाग्र, तलवार, छुरी आदि), बढ़ईगिरी के औज़ार (आरी, छेनी, कुल्हाड़ी) और खेती के औज़ार (हंसिया, खनती, फाल) के मिलने से दैनिक जीवन में धातुओं के व्यापक उपयोग का संकेत प्राप्त होता है। इससे पता चलता है कि महापाषाण संस्कृति के लोगों के दैनिक जीवन में लोहे का उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाने लगा था। अन्य धातुओं की प्राप्ति ज्यादातर कब्र से जुड़े अंत्येष्टि अनुष्ठानों से सम्बंद्ध प्रतीत होती है।

धातु के उपकरणों के निर्माण में विभिन्न प्रकार के धातु विज्ञान की तकनीकों का उपयोग किया जाता था। कुछ तांबे और कांसे से बनी वस्तुएं सांचे में भी ढली हुई पायी गयी हैं और अन्य वस्तुओं को हथौड़े से आकार दिया गया था। कुछ समुदाय धातुओं के मिश्रण के तकनीक की जानकारी रखते थे। पाजयन्नुर और माचड़ महापाषाणीय सिस्ट (ताबूत), ब्रह्मगिरि नामक केरल के महापाषाण केंद्रों का अध्ययन (मेहता और जॉर्ज, 1978) से यह पाया गया कि लोहे के बने उपकरणों में दूसरे किसी भी मिश्र धातु की उपस्थिति नहीं थी। अपेक्षाकृत ये काफी शुद्ध लोहे के बने हुए थे। इन दोनों स्थानों से प्राप्त अधिकांश धातु की सामग्री के लिए पहले धातु के पतले चादर तैयार किए जाते थे, जिनको बाद में पीटकर आकार दे दिया जाता था। केवल कुछ उपकरणों के निर्माण के लिए साँचे का प्रयोग देखा जा सकता है। पैयमपल्ली (कर्नाटक) में स्थानीय स्तर पर लोहे को गलाने का कार्य किया जाता था।

महापाषाण संस्कृति के कई केंद्रों में सिर्फ उत्पादन की विकसित परिस्थिति को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि ये यातायात मार्गों से जुड़े हुए थे। बहुत सारे महापाषाण संस्कृति से जुड़े बसावट प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के व्यापारिक मार्गों पर अवस्थित हैं। अंतर्क्षेत्रीय व्यापार भी जरूर विकसित अवस्था में रहा होगा क्योंकि बहुत सारे धातु और अर्धकीमती पत्थर यहां स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं थे। कुडातिनी (बेलारी जिला) में हुए हाल के उत्खननों में कुछ नवपाषाण-प्रारंभिक लौहयुगीन ताबूतों वाले कब्रगाहों को बहुत अच्छे संरक्षण की अवस्था में देखा जा सकता है (मुश्रिफ एवं अन्य, 2002-03)। यह एक द्वितीयक शवाधान था। इसके ताबूत और आप-पास फैले पात्रों में एक ही व्यक्ति का अवशेष रखा हुआ था, जो प्रायः या 6 या 7 साल का मृत शिशु था। कोडुमनल में महापाषाणीय संस्कृति की तिथि तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से पहली शताब्दी सा.सं.पू. के बीच की है जो तमिलनाडु के इरोड जिले में पड़ता है। इस केंद्र से कुछ नयी विशेषताएं सामने आती हैं। यहां पर उपलब्ध एक महापाषाणीय सिस्ट कब्रगाह में एक हिरन को दफनाया गया था और साथ में कारनेलियन के मनके, एक तलवार और एक कुल्हाड़ भी रखे गए थे। ऐसा लगता है कि ताबूत (सिस्ट) कोटि के कब्रगाहों में इतना स्थान जरूर छोड़ा जाता था कि वे अन्य अनुष्ठानों को छोड़े गए छिद्र के माध्यम से पूरा कर सकें। ऐसे कब्र पात्रों में, शव पेटिकाओं के ऊपर तमिल-ब्राह्मी के प्रारंभिक स्वरूप समाधि-सामग्रियों पर तमिल-ब्राह्मी लिपि में अंकित कुछ चिह्न की प्राप्ति कोडुमनल से एक महत्त्वपूर्ण खोज कही जा सकती है। (राजन, 1998 बी)।

कुछ महापाषाणी कब्रों से यह पता चलता है कि इन कब्रिस्तानों का उपयोग कई सदियों तक किया जाता रहा। परंतु ऐसा लगता है कि एक कब्र को एक पीढ़ी के अंदर एक या दो बार से ज्यादा प्रयोग नहीं किया जाता था। इनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह शायद किसी छोटे-कुलीन वर्ग का कब्रगाह होगा जिससे सामाजिक श्रेणीकरण का पता चलता है। पहले के नवपाषाण-ताम्रपाषाण कालीन कब्रगाहों की अपेक्षा महापाषाण संस्कृति के कब्रों में छोटे बच्चों और किशोरों के शव कम दफनाएं गए थे। इन स्तरों में अधिकांशतः व्यस्क पुरुषों को दफनाया गया है।

महापाषाणीय सिस्ट (ताबूत), ब्रह्मागिरि

महापाषाण संस्कृति से जुड़े केंद्रों की दूसरी विशेषता यह है कि इन क्षेत्रों के निकटवर्ती इलाकों में शैलचित्रों की एक समृद्ध परंपरा विकसित हुई थी। इन शैलचित्रों में युद्ध के दृश्य, पशुओं के दृश्य, आखेट के दृश्यों का वर्चस्व था। मल्लापदी (तिरूपटूर तालुक, तमिलनाडु) एक महापाषाणीय संस्कृति का आवासीय क्षेत्र था। यहां की गुफा आश्रयनियों में जो शैलचित्र बने थे, वे सफेद चीनी मिट्टी (काओलिन) से बनाए गए थे। इनमें से एक दृश्य में दो अश्वारोही को

बड़े बल्लों के साथ दिखलाया गया है। एक दृश्य में एक मानवीय आकृति दोनों हाथों को ऊपर उठाए हुए है और हाथ में एक छड़ी या कोई अस्त्र, औज़ार पकड़े हुए है। पैयमपल्ली के चित्रों में युद्ध के दृश्यों के साथ-साथ नृत्य करते हुए दृश्य, अश्वारोही, पशु-पक्षी और वनस्पति एवं सूर्य के प्रतीक को चित्रित किया गया है। इस तरह के शैल चित्रों के द्वारा महापाषाण संस्कृतियों के सामुदायिक जीवन के बारे में बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

ऐसा लगता है कि महापाषाण संस्कृति के लोग सामुदायिक जीवन और प्रयासों में विश्वास रखते थे। क्योंकि महापाषाण कब्रगाहों का या अन्य प्रकार के महापाषाणों का निर्माण भी एक सामुदायिक प्रयास का परिणाम रहा होगा। इन महापाषाण केंद्रों में बहुत सारे अनुष्ठान किये जाते थे जो उनके सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के केंद्र में थे। आधुनिक युग के महापाषाण बनाने वाले समुदायों में भी आज तक सामुदायिक भोज, उधार का आदान-प्रदान और मित्रता की संधियों का औपचारिक प्रबंध इत्यादि देखा जा सकता है।

लौह-तकनीक का प्रभाव

किसी तकनीक की शुरुआत होने, उस तकनीक में दक्षता प्राप्त करने और अंततः उसके महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखलाई पड़ने लगने के बीच अक्सर लंबे समयांतराल का अनुभव होता है। दूसरी सहस्राब्दी सा.सं.पू. में ऐसे कुछ पुरातात्त्विक स्थल थे जहाँ लोहे के कुछ उपकरण देखे गए। 1000-800 सा.सं.पू. के बीच प्रायः उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में इस धातु का धड़ल्ले से उपयोग होने लगा। 800-500 सा.सं.पू. के बीच उपमहाद्वीप के प्रायः सभी क्षेत्रों में लोहे का बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगा। गंगा नदी घाटी सहित उपमहाद्वीप के सभी क्षेत्र इस काल में लौहयुग में प्रवेश कर चुके थे। केवल कुछ हिस्सों में लौहयुग की शुरुआत काफी देर से हुई।

प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में लौह तकनीक के विकास के प्रभाव से जुड़ा विवाद दशकों तक चला (साहू, 2006)। इस विवाद के केंद्र में दो पक्ष महत्त्वपूर्ण रहे हैं—(1) इतिहास पर किसी तकनीक के प्रभाव से जुड़ा प्रश्न, जिसका दायरा सामान्य रूप से अधिक विकसित है, तथा (2) उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग समयावधि से जुड़े लोहे के उपयोग के साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्यों की प्राप्ति से जुड़ा प्रश्न। इस विवाद में पहली सहस्राब्दी सा.सं.पू. के समय से गंगा नदी घाटी ही केंद्र में रहा है। इस संदर्भ में दी गई विभिन्न संकल्पनाएं रोचक तो थीं किन्तु पुरातात्त्विक प्रमाणों के अभाव में उन्हें दरकिनार कर दिया गया। उदाहरण के लिए डी.डी. कोसाम्बी का मानना था कि इण्डो-आर्य लोगों के पूर्ववर्ती गमन का उद्देश्य दक्षिण बिहार के लौह अयस्कों पर नियंत्रण करना था तथा प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में मगध का उत्कर्ष इसलिए हुआ कि दक्षिण बिहार के लौह अयस्क स्रोतों पर लगभग उनका पूर्ण एकाधिकार था। किन्तु भारतीय उपमहाद्वीप के प्रायः सभी हिस्सों में लौह अयस्क उपलब्ध हैं। इसलिए इस संकल्पना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतरंजीखेड़ा में जहां से प्राचीनतम लौह उपयोग के प्रमाण मिले हैं, वहां लोहे बनाने के लिए कच्चे माल की प्राप्ति आगरा और ग्वालियर के बीच के पहाड़ियों से होती थी न कि बिहार से।

आर.एस. शर्मा का मानना था कि गंगा घाटी के घने जंगलों को लोहे के बने कुल्हाड़ों से साफ किया जा सका तथा इस क्षेत्र में कृषि का विस्तार लोहे के बने हलों से संभव हो सका। लोहे के बने कृषि उपकरणों के प्रयोग से अधिशेष कृषि उत्पादन सम्भव हो सका। लौह युग ने जिस सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य को सृजित किया, बौद्ध धर्म सहित अन्य समकालीन दार्शनिक गतिविधियाँ उसी परिप्रेक्ष्य की उपज थीं। इन परिकल्पनाओं पर प्रश्न उठाए गए। ए. घोष और निहाररंजन रे जैसे विद्वानों का मानना है कि गंगा नदी घाटी क्षेत्र के सघन वनों को जलाकर ही साफ किया जा सकता है। उनके अनुसार, लौह तकनीक के प्रयोग का प्रभाव आकस्मिक नहीं था, यह क्रमिक रूप से प्रतिफलित हुआ। इसका प्रभाव एन.बी.पी.डब्ल्यू. काल के दौरान ही दृष्टिगोचर होने लगा था जो नगरीकरण की प्रक्रिया का भी एक महत्त्वपूर्ण चरण था। इसके साथ ही पहली सहस्राब्दी सा.सं.पू. के दौरान गंगा घाटी क्षेत्र के ऐतिहासिक रूपांतरण में सामाजिक-राजनीतिक कारकों की महती भूमिका थी। मक्खन लाल ने अपने अध्ययन में स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पुरातात्त्विक दृष्टि से बड़े पैमाने पर जंगल की कटाई लोहे के कुल्हाड़ों से अथवा कृषि अधिशेष उत्पादन के लिए लोहे के कृषि उपकरणों को सौंप देना निराधार है। उनका तर्क है कि पी.जी.डब्ल्यू. स्तर में उपलब्ध लोहे के उपयोग के साक्ष्य और एन.बी.पी.डब्ल्यू. (उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड) स्तर में उपलब्ध लोहे के साक्ष्य में बहुत भिन्नता नहीं है, न ही लौह उत्पादन का तकनीकी ज्ञान, कृषि अधिशेष उत्पादन अथवा नगरीकरण के लिए आवश्यक शर्त है, न ही उस काल में बिहार में उपलब्ध लौह अयस्कों के उपयोग शुरू किये जाने के प्रमाण मौजूद हैं। बल्कि 16वीं 17वीं शताब्दियों तक गंगा का मैदान सघन वनों का प्रदेश रहा है।

इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि इतिहास में तकनीक की महती भूमिका रही है। किन्तु उपरोक्त ऐतिहासिक अवधारणाओं में तकनीक के अलावा अन्य महत्त्वपूर्ण कारकों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो गया है कि गंगा नदी घाटी के कई हिस्सों में लौह तकनीक का उपयोग दूसरी सहस्राब्दी सा. सं.पू. से ही शुरू हो गया था। इस क्षेत्र में ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड अथवा चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल से ही प्रारम्भिक लोहे के उपयोग के प्रमाण मिलने लगे थे। लोहे का उपयोग और इस तकनीक का सामाजिक-आर्थिक

प्रभाव उत्तरोत्तर शताब्दियों में बढ़ता गया जो लोहे की बनी वस्तुओं की बढ़ती संख्या और उनके प्रकारों की बढ़ती विविधता में प्रतिबिम्बित होता है। निश्चित रूप से कृषि के विस्तार के दौरान जंगलों को काटा गया होगा किन्तु इस क्षेत्र में सघन वनस्पति के प्रमाण मिलते रहे। केवल औपनिवेशिक काल में जाकर काफी बड़े पैमाने पर जंगलों को काटा गया, जब रेलवे लाइन का विस्तारीकरण होने लगा। जनसंख्या में बढ़ोतरी होने लगी और विशेष रूप में कृषि के वाणिज्यीकरण के चलते वनों के अत्याधिक उन्मूलन को देखा गया (विलियम्स, 2003: 346-69)।

राजन गुरूक्कल ([1981], 2006) के अनुसार, लोहे के हल का प्रयोग सिंचित कृषि क्षेत्र में ही अधिक हुआ। उनके अनुसार, लोहे के उपयोग के ज्ञान के बाद भी, तमिलकम क्षेत्र में युद्ध और लूट-पाट की सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि के कारण कृषि का विकास बाधित रहा। इस प्रकार लौह युग के प्रारंभिक चरण से जुड़े विवादों को सहज रूप से केवल तकनीकी नियतत्ववाद के सिद्धांत से नहीं समझा जा सकता है। विभिन्न क्षेत्रों तथा उप-क्षेत्रों के लिए उपलब्ध पुरातात्त्विक सूचनाओं का विशद् विश्लेषण करने पर तकनीकी स्तर में परिवर्तन और इतिहास के बीच उपस्थित जटिल सम्बंध को रेखांकित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए सुदूर दक्षिण में लोहे के प्रारंभिक प्रमाण से वहाँ विशेष सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण नहीं हुआ।

पाठ्यात्मक स्त्रोतों की पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा संपुष्टि की समस्या

(The Problem of Correlating Literary and Archaeological Evidence)

सन् 2000-500 सा.सं.पू. के बीच उपलब्ध पाठ्यात्मक स्त्रोतों की इस काल के पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा संपुष्टि से जुड़ा विवाद मुख्यत: वैदिक संस्कृति और हड़प्पा संस्कृति के बीच सम्बंध के इर्द-गिर्द घूमता रहा है। इसकी अपेक्षा संगम ग्रंथों और दक्षिण भारत की महापाषाण संस्कृति के बीच सम्बंध को लेकर चलने वाली बहस कम विवादपूर्ण है।

वैदिक ग्रंथों और उत्तर भारत की हड़प्पा एवं उत्तर हड़प्पा संस्कृतियों से जुड़े पुरातात्त्विक प्रमाणों को जोड़ने का बहुत प्रयास किया गया है। इण्डो-आर्य (जिनको हम उनके ग्रंथों के माध्यम से जानते हैं) तथा हड़प्पा सभ्यता (जिसके विषय में हम पुरातात्त्विक साक्ष्यों के माध्यम से जानते हैं) के बीच सम्बंध स्थापित करना स्वाभाविक रूप से जटिल है। कुछ विद्वानों का मानना था कि हड़प्पा सभ्यता के विनाश के पीछे वैदिक आर्यों का हाथ था तो कुछ विद्वान उत्तर हड़प्पा संस्कृति तथा इण्डो-आर्य लोगों के आप्रवर्जन की परिघटनाओं को समकालीन प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि इंडो-आर्यों का भारत में कहीं बाहर से आगमन हुआ ही नहीं था और हड़प्पा सभ्यता दरअसल वैदिक आर्यों की संस्कृति का ही प्रतिनिधित्व करता है। पाठ्यात्मक स्त्रोतों की पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा संपुष्टि किये जाने के समक्ष सबसे बड़ी समस्या है कि दोनों की प्रकृति एक-दूसरे से पूर्णत: पृथक है। हम यह भी नहीं जान सके हैं कि हड़प्पावासी कौन-सी भाषा बोलते थे तथा हड़प्पा की लिपि नहीं पढ़े जाने के कारण, हड़प्पा केंद्रों को ग्रंथों में वर्णित भाषा, संस्कृति या जनजातीय समूहों से जोड़ पाना निश्चित रूप से बहुत कठिन है।

केनिथ केनेडी (1997) ने अपने द्वारा किये गये नरकंकालों के विश्लेषण के आधार पर यह पाया कि उत्तर-पश्चिम के लोगों की भौतिक विशिष्टताओं में दो कालावधि में परिवर्तन हुआ—पहला परिवर्तन 6000-4500 सा.सं.पू. के बीच ओर बाद में 800 सा.सं.पू. के बाद। हड़प्पा सभ्यता के पतन के तुरंत बाद उत्तर-पश्चिम की जनसंख्या में भी कोई परिवर्तन नहीं रेखांकित किया गया, न ही उस समय जिस समय इण्डो-आर्य लोगों ने भारत में प्रवेश किया। कोई आक्रमण की घटना के प्रमाण नहीं मिले और न ही कभी किसी बड़े पैमाने पर हुए आप्रवर्जन के ही साक्ष्य मिले हैं। उनके छोटी-छोटी टुकड़ियों में प्रवेश करने की ही संभावना व्यक्त की जा सकती है।

इण्डो-आर्यों को पुरातत्त्व के माध्यम से चिन्हित करने की बहुत कोशिश की गई है। जैसा कि हमने अध्याय 4 में चर्चा की थी कि पुरातत्त्वविदों ने 'सीमेट्री-एच' को इण्डो-आर्य लोगों से जुड़ा बतलाया है। कुछ विद्वानों ने चन्हुदड़ो के उत्तर-नगरीय काल में विदेशी तत्त्वों के जनसंख्या में प्रवेश की बात कही है (जबकि एम.आर. मुगल, इस स्थल पर अबाधित सांस्कृतिक निरंतरता पर बल देते आए हैं)। अंत्येष्टि व्यवहारों में दृष्टिगत परिवर्तनों को अथवा अग्निपूजा की शुरुआत के प्रमाणों को तथा गंधार की कब्र संस्कृति में अश्वों की उपस्थिति को, आर्यों के आगमन के लिए साक्ष्य बताया गया है। ताम्रसंग्रहों के विषय में भी उनके प्रारंभिक इण्डो-आर्य समुदायों, हड़प्पा के विस्थापित लोगों अथवा दोआब क्षेत्र के आर्यों वह्ले पूर्व रहने वाले लोगों से जुड़े होने की बात कही गई है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति को कालावधि तथा भौगोलिक स्थिति के आधार पर उत्तर वैदिक संस्कृति से जुड़ा हुआ बतलाया गया है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के प्राप्तिक्षेत्रों को *महाभारत* की घटनाओं से भी जोड़ने का

प्रयास किया गया है। इसी प्रकार राजस्थान, मध्यभारत और दक्कन की ताम्रपाषाणकालीन संस्कृतियों को पूर्व-आर्य, आर्य या गैर-वैदिक अप्रवासियों से जुड़े होने का अलग-अलग तर्क दिया गया है। इन तमाम अंतर्सम्बन्धों के बीच कई इतिहासकार उत्तर वैदिक संस्कृति और चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के अंतर्सम्बंध को मानते हैं।

किन्तु इस प्रकार के अंतर्सम्बन्धों की स्थापना के प्रयासों से जुड़े कुछ मौलिक प्रश्नों पर विचार करना जरूरी है—किस आधार पर ऐतिहासिक रूप से ज्ञात समुदायों का सम्बंध भौतिक संस्कृति और उसमें भी विशेष रूप से मृद्भाण्डों के साथ स्थापित कर सकते हैं? मृद्भाण्ड संस्कृतियों को भाषा समूहों, जनजातीय या राजनीतिक ईकाइयों से चिन्हित करना अत्यन्त कठिन है। बहुत बार शिल्प परंपरा में परिवर्तन नए व्यापारिक सम्बंधों के प्रभाव से भी हो सकता हैं जिसका नए समुदायों के आप्रवर्जन से शायद कोई मतलब रहा ही नहीं हो। इसलिए आवश्यक यह है कि मृद्भाण्ड संस्कृति के प्रमाणों के आधार पर, ऐतिहासिक निष्कर्षों को निकालने के लिए इतिहासकारों और पुरातत्त्वविदों को निरंतरता और परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए, व्याख्या की एक स्पष्ट प्रविधि और प्रारूप का निर्माण करना अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

निष्कर्ष

सन् 2000-500 सा.सं.पू. के बीच के लिए उपलब्ध पाठ्यात्मक स्रोतों और पुरातात्त्विक प्रमाणों की व्याख्या के आधार पर विविध सांस्कृतिक परिदृश्यों का पता चलता है। इन शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग सभी हिस्सों में ताम्रपाषाणयुग से लौह युग में संक्रमण हुआ। इतिहासकारों ने वैदिक ग्रंथों को आधार बनाकर उत्तर-पश्चिम तथा ऊपरी गंगा घाटी में हुए ऐतिहासिक परिवर्तनों की एक रूपरेखा तैयार की है। पुरातत्त्व के आधार पर इस क्षेत्र के लिए और उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के लिए लोगों के दैनिक जीवन से जुड़े बहुत-से पहलुओं को रेखांकित किया जा सका है। उपलब्ध साक्ष्य यह बतलाते हैं कि इस काल से स्थायी कृषि आधार का निर्माण हो चुका था और साल में दो फसलों को उगाना अथवा पशुपालन इत्यादि का भी समुचित उपयोग लोग करने लगे थे। आवासीय श्रेणीकरण का द्विस्तरीय स्वरूप देखा जा सकता है। छोटे और मध्यम आकार की बस्तियों के बीच कुछ बहुत बड़े आकार वाले आवासीय क्षेत्रों का विकास हो चुका था जिनमें सघन आबादी को आश्रय देने की क्षमता थी। इनमें से कुछ केंद्रों के चारों ओर प्राचीर के अवशेष देखे जा सकते हैं। अत्यधिक क्षेत्रों में शिल्प उत्पादन के विशिष्ट केंद्रों के उदय और लोहे की तकनीक का प्रचलन देखा जा सकता है। अंतर्क्षेत्रीय वाणिज्य अथवा लम्बी दूरी के व्यापार के साक्ष्य मिलते हैं। इस प्रकार इस काल में बढ़ती हुई सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं का अनुमान लगाया जा सकता है। दक्कन के इनामगांव से प्राप्त पुरातात्त्विक प्रमाण जहां एक ओर मुखिया तंत्र के स्तर की सामाजिक-राजनीतिक परम्परा की ओर संकेत देते हैं वहीं उत्तर वैदिक ग्रंथों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गंगा घाटी में जनजातीय व्यवस्था से क्षेत्रीय राज्यों के निर्माण की ओर संक्रमण हो रहा था। इस काल के अंतिम चरण में उत्तर भारत नगरीकरण के प्रवेशाद्वार पर खड़ा था।

अध्याय संरचना

अध्याय 6

ल. 600-300 सा.सं.पू. में उत्तर भारत: शहर, सम्राट और परिव्राजकों का युग

बुद्ध और आनंद कुशीनारा के बाहर स्थित उपवन में पहुँचे। वे एक लम्बी यात्रा के बाद काफी थक चुके थे। दोनों ने बहुत से विषयों पर बात की, किन्तु अचानक यह वार्तालाप बुद्ध की संभावी मृत्यु की ओर बढ़ने लगा। बुद्ध ने आनंद को यह निर्देश दिया कि उनकी अस्थियों को वही सम्मान मिलना चाहिए जो सम्राटों के सम्राट को मिलता है। शिष्य ने उनसे आग्रह किया कि वे कुशीनारा में अपने प्राण न त्यागें। इस छोटे से अज्ञात नगर में जहाँ पर मिट्टी के झोंपड़े बने हुए हैं और दूर जंगलों में स्थित हैं, यह बुद्ध के अंतिम प्राण के उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता। बहुत सारे बड़े-बड़े नगर हैं, चंपा, श्रावस्ती, राजगीर, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी। आनंद ने तर्क दिया कि ये बड़े नगर इस सम्मान के लिए उपयुक्त हो सकते हैं।

बुद्ध ने आनंद के सभी तर्कों को दरकिनार कर दिया। उन्होंने कहा कि बहुत पहले कुशीनारा एक महान नगर था, जिसका नाम कुशावती था। वह महासुदस्सन नामक राजा की राजधानी थी। इसका आकार बारह योजन पूर्व से पश्चिम में तथा सात योजन उत्तर से दक्षिण में फैला हुआ था। इसकी सड़कों पर भीड़ लगी रहती थी। चारों ओर समृद्धि फैली हुई थी। रात और दिन इस नगर में हाथी, घोड़े, रथ, नगाड़े और अन्य संगीत की ध्वनि गूंजती रहती थी। सभी लोग "खाओ, पीओ और मौज से रहो", ऐसी स्थिति में थे। कुशावती, अलकनंदा से कम नहीं था जो देवताओं का शाही नगर है। इसलिए बुद्ध के अंतिम प्राण के लिए यही जगह सबसे उपयुक्त हो सकती है।

बुद्ध और आनंद के बीच हुए इस वार्तालाप की चर्चा *दीघ निकाय* के 'महापरिनिब्बान सुत्त' में की गयी है। गंगा नदी घाटी छठी शताब्दी सा.सं.पू. में दार्शनिक जिज्ञासुओं की भूमि थी। इसके साथ-साथ यहां पर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिवर्तनों की धाराएं भी बह रही थीं। दरअसल, ये परिवर्तन अध्याय-5 में वर्णित उन प्रक्रियाओं की एक पराकाष्ठा के रूप में देखे जा सकते हैं जो उस समय शुरू हुए थे।

जहाँ एक ओर 600 सा.सं.पू. को उत्तरी भारत में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की शुरुआत के रूप में देख सकते हैं वहीं दूसरी ओर उसके पहले की शताब्दियों से शुरू हुई उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की सातत्यक के रूप में भी देख सकते हैं जो धीरे-धीरे प्रगति कर रही थी। बुद्ध की मृत्यु की तिथि के विषय में एक लंबी बहस चलती रही है। इस घटना को बौद्ध परंपरा में 'परिनिब्बान' के रूप में जानते हैं। उस काल के ऐतिहासिक राजवंशों या वैदिक साहित्य के बाद की रचनाओं और उनमें प्रतिबिंबित ऐतिहासिक परिवर्तनों के केन्द्र में इस तिथि का अभूतपूर्व महत्त्व है। *दीपवंश* और *महावंश* के अनुसार, अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध के परिनिब्बान के 218 वर्ष बाद संपन्न हुआ था, इस आधार पर ऐसा तर्क दिया गया कि बुद्ध की मृत्यु 544-543 सा.सं.पू. में हुई थी। इस तिथि को विद्वानों ने 'असंशोधित दीर्घकालानुक्रम' की संज्ञा दी है। दक्षिण और दक्षिण पूर्वी एशिया के थेरवाद मतावलंबी इस तिथि को ही बुद्ध शासन या बुद्ध संवत् की शुरुआत मानते हैं। इस अपरिष्कृत दीर्घकालानुक्रम को बाद में अशोक के राज्याभिषेक की तिथि में संशोधन करके परिष्कृत दीर्घकालानुक्रम की तिथि प्रस्तावित की गयी जिसके अनुसार, बुद्ध की मृत्यु 486 और 477 सा.सं.पू. कभी घटित हुई थी। बुद्ध की मृत्यु के आधार पर प्रस्ताविक एक दूसरी कालगणना लघुकालानुक्रम, संस्कृत और चीनी स्रोतों पर आधारित हैं जिनके अनुसार, बुद्ध की मृत्यु के सौ वर्षों बाद अशोक का राज्याभिषेक हुआ था। तदनुसार, परिनिब्बान की तिथि ल. 368 सा.सं.पू. तय की गयी। हाल में बुद्ध की मृत्यु की तिथि का प्रश्न पुनः अनुसंधान के दायरे में आया और पालि इतिहासों में दिए गए 'वृद्धों की सूची' के अनुसार, परिनिब्बान की तिथि को 400 से 350 सा.सं.पू. के बीच माना गया (बेचर्ट-1991, 1995)।

ऐसा माना जाता है कि बुद्ध की आयु 80 वर्ष थी, इसलिए उनकी मृत्यु की तिथि जिस भी उपरोक्त गणना के आधार पर तय की जाएगी वह सातवीं, छठी या पांचवी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच उनका जन्म माना जाएगा। अधिकांश भारतीय विद्वान ल. 480 सा.सं.पू. को बुद्ध के परिनिब्बान की तिथि के रूप में स्वीकार करते हैं। जबकि पश्चिम विद्वान इस तिथि को काफी बाद का मानते हैं। इस संदर्भ में अशोक के लघु शिलालेख-I (अहरोरा संस्करण) पर यदि गौर करें (नारायण, 1993) तो इस अभिलेख में ऐसा लिखा हुआ है कि 256 वर्ष बीते जब बुद्ध की मृत्यु हुई और यह अभिलेख जारी किया गया। अशोक के राज्याभिषेक की तिथि 264 सा.सं.पू. है और यह अभिलेख

◄ **चांदी के आहत सिक्के**

उसके शासन के अंतिम दिनों का है (227 सा.सं.पू.)। हालांकि, अधिकांश लघु शिलालेखों को अशोक के शासन काल के प्रारंभिक दौर में ही निर्गत किया गया था। इस आधार पर परिनिब्बान की तिथि 483 सा.सं.पू. (256 + 227 सा.सं.पू.) तय कर सकते हैं, इसलिए सामान्य रूप में 480 सा.सं.पू. को ही हम लोग परिनिब्बान की तिथि के रूप में तब तक स्वीकार करते रहेंगे, यदि उसके पहले नहीं तो, जब तक कि यह सिद्ध नहीं हो जाता कि बुद्ध की मृत्यु उसके पहले हुई थी। इस आधार पर प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की रचनाओं की तिथि और उनकी घटनाओं की तिथि को संशोधित किया जा सकेगा।

स्रोत-समीक्षा: पाठ और पुरातत्त्व

(The Sources: Literary and Archaeological)

वर्ष 600–300 सा.सं.पू. के बीच की अवधि में, पहली बार ऐसी परिस्थितियां बनी जब पुरातात्त्विक साक्ष्यों और साहित्यिक स्रोतों के बीच तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। जैसा कि अध्याय एक में चर्चा की जा चुकी है कि पालि धर्म-सूत्रों को स्वतंत्र रूप से इतिहास के एकल स्रोत की तरह नहीं देखा जा सकता है। *सुत्तपिटक* के पहले चार ग्रंथ '*दीघनिकाय*', '*मज्झिमनिकाय*', '*संयुत्तनिकाय*' और '*अंगुत्तरनिकाय*' तथा सम्पूर्ण '*विनयपिटक*' का संकलन पांचवी से तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच हुआ। '*सुत्तनिपात*' भी इसी काल का संकलन है। जहां तक इन धर्म सूत्रों के रचनाक्षेत्र का प्रश्न है तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये मध्य गंगा नदी घाटी (आधुनिक बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश) में लिखी गयी थी।

बहुत से इतिहासकार *खुद्दकनिकाय* के पंद्रह खंडों में से एक खंड को मौर्योत्तर कालों के स्रोत के रूप में उपयोग में लाते हैं। किन्तु जातक कथाओं का संकलन तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच का है, किन्तु हो सकता है कि जातक कथाओं में बहुत सारी कृतियां पहले के काल को प्रतिबिंबित करती हों, फिर भी इसे उक्त काल के संदर्भ में ही स्रोत के रूप में प्रयोग करना उचित होगा। इस अध्याय में हम लोग राजनीतिक आख्यान एवं अन्य समकालीन स्रोतों के बिन्दुओं की पुष्टि के लिए इनका प्रयोग करेंगे।

दूसरी ओर ब्राह्मण परंपरा के साहित्य में सबसे प्रमुख पुराणों का स्थान है जो इस काल के राजवंशों के इतिहास के सम्बंध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध कराते हैं। पुराणों के राजाओं की सूची के अंतिम खंड के नाम ऐतिहासिकता के आधार पर हैं। फिर भी उनमें कई तरह की समस्याएं हैं। पुराण एक-दूसरे से कई जगह भिन्नता प्रकट करते हैं। कई बार एक राजवंश के शासकों के नाम इधर-उधर डाले जाते हैं और कई बार अलग-अलग राजवंशों के नाम एक-दूसरे से मिल जाते हैं। कभी-कभी उत्तराधिकारी शासकों को तत्कालीन शासन के रूप में दिखलाया जाता है और कभी-कभी उस राजवंश के अधीनस्थ किसी सम्बंधित राजवंश को मुख्य धारा के राजवंश की सूची में ही डाल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ राजाओं के नाम जो अन्य पुरातात्त्विक स्रोतों में उपलब्ध हैं, उनके नाम का इस सूची में अभाव देखा जा सकता है।

इसके अलावा संस्कृत के दो महाकाव्य *रामायण* और *महाभारत* अपने जटिल कालानुक्रम और कथा के कारण किसी विशिष्ट काल के स्रोत के रूप में नहीं इस्तेमाल किये जा सकते। उनका उपयोग उस काल के सामान्य सांस्कृतिक प्रचलन अथवा अन्य सामाजिक व्यवहारों के संदर्भ में ही किया जा सकता है।

दूसरी ओर गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र धर्मशास्त्र साहित्य की सबसे प्रारंभिक कृतियां हैं। काणे ([1941 बी], 1974: xi-xii) के अनुसार, गौतम, आपस्तंब, बौधायन और वशिष्ठ के धर्मसूत्र ल. 600–300 सा.सं.पू. के बीच के हैं। जबकि ऑलिवेल ([2000], 2003: 10) के अुनसार, इनका काल तीसरे-दूसरे शताब्दी सा.सं.पू. के बीच तय किया गया है। उन्होंने वशिष्ठ के धर्मसूत्र को इनकी परवर्ती रचना में रखा है। यहां पर हम काणे के द्वारा दिए गए तिथि क्रम को स्वीकार करते हैं। धर्मशास्त्र के विशिष्ट रचना क्षेत्र का पता लगाना काफी मुश्किल है लेकिन मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इनकी रचना उत्तर भारत में की गयी थी। लेकिन आपस्तंब का धर्मसूत्र दक्षिण में लिखा हुआ प्रतीत होता है। धर्मसूत्रों के अतिरिक्त मुख्य श्रोत सूत्र जो आपस्तंब, अश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, शांख्यायन, लाट्यायन, द्राह्यायन और सत्यसाध के द्वारा लिखे गये थे, ल. 800–400 सा.सं.पू. के बीच बताए गए हैं। काणे के ही अनुसार, प्रारंभिक गृह्यसूत्र (जैसे अश्वालायन, आपस्तंब, शांख्यायन, गोभिल, पारस्कर, कथक और मानव) का रचनाकाल भी लगभग यही तय किया जाता है। ये निर्देशात्मक रचनाएं हैं इसलिए इनको सामान्य सामाजिक व्यवहारों के प्रतिबिंब के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आपस में भी इनकी विचारधाराओं में काफी अंतर स्पष्ट हो जाता है। इन रचनाओं को सम्मिलित रूप से ऐसा कहा जा सकता है कि ये विविध प्रकार के सामाजिक व्यवहारों के ब्राह्मण परंपरा के अनुसार, नियम-परिनियम के अंतर्गत बांधने के उद्देश्य से लिखी गयी थीं।

प्राथमिक स्रोत

पाणिनि और उनका *अष्टाध्यायी*

पाणिनि एक गोत्रीय नाम प्रतीत होता है। पाणिनि पांचवी या चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में रहने वाले एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उनका *अष्टाध्यायी* संस्कृत व्याकरण पर उपलब्ध सबसे प्रारंभिक ग्रंथ है और अपने काल के एक अद्वितीय बौद्धिक उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करता है। संस्कृत के व्याकरण के नियमों को 3996 सूत्रों में लिपिबद्ध किया गया है। ये सूत्र काफी संक्षिप्त और काफी सटीक कथनों के रूप में लिखे गये हैं। इसके बावजूद इन सूत्रों की व्याख्या काफी महत्त्व रखती है।

पाणिनि ने दरअसल अपने समय में अवस्थित संस्कृत के सभी व्याकरण के नियमों को एक साथ संकलित भी किया। उनकी यह कृति संस्कृत भाषा और साहित्य के इतिहास में एक मानदंड के रूप में स्थापित हो गयी। ये वैदिक संस्कृत से आधुनिक संस्कृत के बीच संक्रमण का भी प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृत के प्रारंभिक व्याकरणीयों में, अपने-अपने व्याकरण के नियमों के आधार पर पृथक-पृथक व्यवस्था बनाने की परिपाटी रही होगी, किन्तु पाणिनि के द्वारा स्थापित संस्कृत व्याकरण की परिपाटी सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। पाणिनि ने उन सभी को पूर्ण रूप से गौण बना दिया। पाणिनि के व्याकरण को गुरूकुल पद्धति में शिक्षकों के द्वारा विद्यार्थियों को सैकड़ों वर्षों तक मौखिक प्रशिक्षण के रूप में हस्तांतरित किया जाता रहा।

पाणिनि को चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के कात्यायन अथवा दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के पातंजलि के पूर्व का सबसे दिदिप्तमान व्यक्तित्व माना जाता है। इन दोनों ने अपनी कृतियों में पाणिनि को भगवान कह कर संबोधित किया है। पतंजलि, पाणिनि के विषय में कहते हैं कि वह एक महान शिक्षक थे और *अष्टाध्यायी* 'महत्-सहस्त्र-उद्य' अर्थात् ज्ञान का महासागर सिद्ध हुआ। पातंजलि ने आगे कहा है कि पाणिनि के काल में संस्कृत के विद्यार्थी व्याकरण के अध्ययन की दिशा में ध्यान नहीं दे रहे थे। पाणिनि ने अपनी कृति के आधार पर उनकी इस प्रवृत्ति को बिल्कुल बदल दिया। उनकी *अष्टाध्यायी* विशेष रूप से युवा विद्यार्थियों में अत्यंत लोकप्रिय रही। कुछ विद्वानों का मानना है कि पाणिनि एक कवि भी थे, लेकिन इस दिशा में अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं।

पाणिनि के निजी जीवन के बारे में बहुत कुछ नहीं पता है। वैसे वे एक ब्राह्मण थे और शलातुर नामक स्थान के निवासी थे जो गंधार क्षेत्र में पड़ता है। चीनी यात्री श्वैन ज़ंग ने शालातुर की यात्रा सातवीं शताब्दी सा.सं. में की थी। श्वैन ज़ंग ने अपने वृत्तांत में लिखा है कि वहां उस शहर में पाणिनि की एक प्रतिमा स्थापित थी तथा वहां के सभी बच्चे संस्कृत व्याकरण का अध्ययन करते थे और पाणिनि को अत्यंत सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पुरातत्त्वविज्ञ एलेक्जेंडर कनिंघम ने प्राचीन शालातुर को लाहुर नामक आधुनिक शहर से चिन्हित किया है जो उत्तर-पश्चिम के ओहिन्द नामक स्थान से चार मील उत्तर पश्चिम में स्थित है। यह स्थान काबुल और सिंधु नदियों के संगम स्थल के बिल्कुल निकट है।

श्वैन ज़ंग (हवेनसांग) ने पाणिनि के विषय में चली आ रही कुछ अन्य किवदंतियों की भी चर्चा की है जो सातवीं शताब्दी में भी प्रचलित थे। उनके जीवन से जुड़ी ऐसी कई कथाएं बाद के स्रोतों में संकलित हैं। नवीं शताब्दी में लिखी गयी 'मंजुश्रीमूलकल्प' में यह संदर्भ आता है कि पाणिनि का सम्बंध पाटलिपुत्र के नंद राजाओं से था। दसवीं शताब्दी के लेखक राजशेखर के अनुसार, पाटलिपुत्र में परीक्षकों का एक बोर्ड बैठता था और इस संस्था के समक्ष पाणिनि जैसे वैयाकरण को भी प्रस्तुत होना पड़ता था। ग्यारहवीं शताब्दी के सोमदेव रचित *कथासरितसागर* और क्षेमेन्द्र की वृहत *कथामंजरी* में भी इस महान् वैयाकरण से जुड़ी कुछ कथाएं मिलती हैं जो गुनाढ्य की *बृहत्तकथा'* से ली गयी थी। इनके अनुसार, पाणिनि वर्षा नामक शिक्षक के शिष्य थे। कथा इस प्रकार से है कि पाणिनि काफी मंद गति से अध्ययन करते थे और अन्य विद्यार्थीयों की अपेक्षा पठन-पाठन में पीछे रहा करते थे। किन्तु एक समय के बाद पाणिनि हिमालय में तप करने चले गए। स्वयं शिव ने प्रसन्न होकर उनको आशीर्वाद दिया और एक नयी व्याकरण व्यवस्था को उन्हें समर्पित किया।

अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण की एक कृति है लेकिन इस क्रम में पाणिनि ने अपने समय के कई स्थानों, लोगों, उनकी परंपराओं, संस्थाओं, सिक्कों, माप-तौल की पद्धति, लोगों की आस्था और आध्यात्मिक व्यवहार के विषय में भी काफी कुछ उल्लेख किया है। इसलिए इतिहासकारों ने *अष्टाध्यायी* को पाचवीं/चौथी ईसा पूर्व की सूचनाओं के लिए एक स्रोत के रूप में भी प्रयोग किया है।

स्रोतः अग्रवाल, 1953

उपरोक्त श्रेणी के साहित्य के अतिरिक्त जैन साहित्य भी उपलब्ध है और इनका भी उपयोग ऐतिहासिक स्रोत के रूप में किया जा सकता है। इनमें जैन धर्म सूत्र के अतिरिक्त *भगवतीसूत्र* और *परिशिष्टपर्वन* जैसी रचनाएं भी हैं। जब हम बौद्ध, पुराण तथा जैन साहित्य की आपस में तुलना करेंगे, तब ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें दिए गए

प्राथमिक स्रोत

नॉर्दन ब्लैक पॉलिश्ड वेयर (NBPW) या उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड

मृद्भाण्ड का यह नाम भ्रमित करने वाला है क्योंकि न तो ऐसे मृद्भाण्ड केवल उत्तर भारत में पाए जाते हैं, न तो ऐसे मृद्भाण्ड सदैव काले रंग के होते हैं और न ही यह प्रत्येक स्थिति में पॉलिश किये हुये होते हैं। उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड दरअसल चाक पर बने डीलक्स मृद्भाण्ड हैं जो अत्यंत उच्च कोटि की मिट्टी को पकाकर बनाए गए थे। यह एक बारीक मृद्भाण्ड भी है, जिसकी मोटाई कभी-कभी मात्र 1.5 मिलीमीटर देखी गयी है। काले रंग के साथ-साथ ऐसे मृद्भाण्ड अन्य रंगों में भी पाए जाते हैं। पात्र के आकारों में सीधे, उद्रग, उत्तल; ऊपर की ओर संकरे; नालीदार किनारे तथा सतह वाले; अंदर की ओर मुड़े कोर वाले बर्तन; घुण्डीदार ढक्कन वाले बर्तन; तीक्ष्ण नौतली मर्तबान और हांडी; तथा घंटों/घड़ों की लघु प्रतिकृतियां पाई गई हैं।

इन मृद्भाण्डों की बाहरी सतह काफी चमकीली होती है। ऐसी चमक किस प्रकार प्राप्त की गयी होगी इसके विषय में कह पाना कठिन है। एक सिद्धांत के अनुसार, इन मृद्भाण्डों को पकाने के पहले लौह अयस्क से जुड़े कुछ अन्य तत्त्वों को इनमें मिलाया जाता था और काला रंग इन पात्रों को पकाने के क्रम में प्राप्त किया जाता था जो अपचायक की स्थिति में पकाए जाते थे। दूसरा सिद्धांत यह है कि इनकी चमकदार सतह के लिए किसी प्रकार वनस्पति के रस या तेल इत्यादि को मृद्भाण्डों के ऊपर लेप करके पकाया जाता था और इससे ऐसी चमक प्राप्त की जाती थी। बाद के अध्ययन में यह भी संभावना व्यक्त की गई कि चुंबकीय लौह ऑक्साइडों के द्वारा इन मृद्भाण्डों को काला चमकदार स्वरूप प्रदान किया जाता था और इनकी चमक के लिए विशेष रूप से गीले से भी अधिक घुले हुए मिट्टी को जिसमें हेमेटाइट मिला होता था और कुछ अन्य प्राकृतिक क्षारीय पदार्थों के संयोग से पात्रों पर लेप दिया जाता था तथा इन्हें अवकरण की अवस्था में पकाया जाता था, इससे ऐसी चमक प्राप्त होती थी।

उत्तर-कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड ज्यादातर बिना रंगे हुए पाए गए हैं लेकिन कभी-कभी इन पर कुछ डिजाइन रंग करके बनाए जाते थे। ज्यादातर पीले अथवा हल्के सिन्दुरी रंग का प्रयोग होता था। इन मृद्भाण्डों को पहली बार उन्नीसवीं शताब्दी में तक्षशिला में पाया गया। सन् 1913 में तक्षशिला की इन प्राप्तियों के बाद गंगा नदी घाटी और उसके बाहर भी ऐसे मृद्भाण्ड बड़ी संख्या में पाए जाने लगे। लगभग 1500 स्थलों से, तक्षशिला से लेकर तामलुक (बंगाल) तक ऐसे मृद्भाण्डों की प्राप्ति हुई है। हालांकि, इन मृद्भाण्डों को अधिक संख्या में पंजाब, हरियाणा, बिहार, उत्तर राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में पाया गया है। पंजाब में रोपड़, हरियाणा में राजा कर्ण का किला और दौलतपुर, राजस्थान में बैराट, नोह तथा जोधपुरा, उत्तर प्रदेश में हस्तिनापुर, अतरंजिखेड़ा, कौशाम्बी और श्रावस्ती, बिहार में वैशाली और पटना। हरियाणा, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड का काल चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल के पहले का है। जबकि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड के पहले ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड का काल देखा जा सकता है।
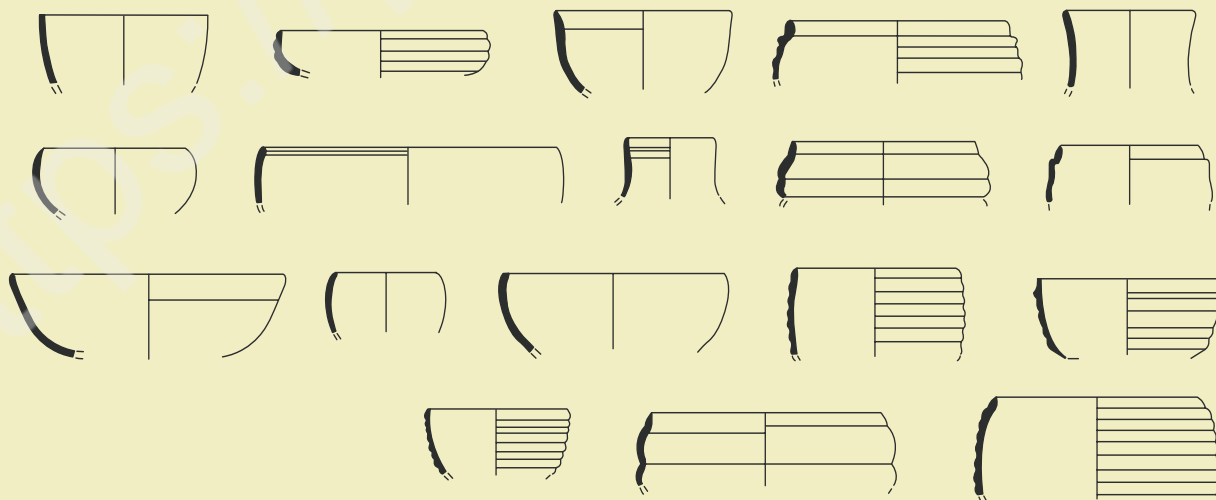
चित्र 6.1: **उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड**

राजवंशों के इतिहास में काफी मतभेद था। भारतीय स्रोतों के अतिरिक्त यूनानी और लैटिन भाषाओं में सिकंदर के सैन्य अभियानों से जुड़े वृत्तांतों के अंतर्गत् एरियन, कर्टियस रुफस, डियोडोरस सिसिलस, प्लूटार्क तथा जस्टिन की रचनाएं हैं। हालांकि, ये सभी वृत्तांत विशेष घटना के बहुत बाद में लिखी गयी थीं, किन्तु 327-26 सा.सं.पू. के दौरान हुए सिकंदर के भारत पर आक्रमण के दौरान उत्तर-पश्चिम की राजनीतिक परिस्थिति को दिखाने में वे सक्षम हैं। दरअसल, ग्रीको रोमन संसार में सिकंदर के जीवन चरित्र और अभियान को किवदंति के रूप में देखा जाने लगा था।

ल. 600-300 सा.सं.पू. के कालखंड से भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास की पुनर्रचना के लिए पुरातत्त्व का महत्त्व काफी बढ़ जाता है। उत्तर भारत में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति NBPW (एन.बी.पी.डब्ल्यू.) का वर्चस्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। NBPW संस्कृति का काल 700-200-100 सा.सं.पू. के बीच का है जिसको अध्ययन की सुविधा के लिए पुन: दो सांस्कृतिक कालों में बांटा जा सकता है—प्रारंभिक NBPW संस्कृति काल (700-300 सा.सं.पू.) तथा उत्तर NBPW काल (300-100 सा.सं.पू.)। इस अध्याय में हम लोग विशेष रूप से प्रारंभिक NBPW काल की चर्चा करेंगे। अयोध्या से प्राप्त रेडियो कार्बन तिथिक्रम के अनुसार, NBPW संस्कृति का काल 1000 सा.सं.पू. के लगभग से ही देखा जा सकता है। NBPW सांस्कृतिक स्थलों से आहत् सिक्के सबसे मुख्य विशेषता के रूप में देखे जा सकते हैं जो भारतीय उपमहाद्वीप में मुद्रा के प्रयोग का सबसे प्रारंभिक साक्ष्य है।

सोलह महाजनपद

(The 16 Great States)

उत्तर वैदिक ग्रंथ, एपिक्स तथा पुराणों में बहुत सारे पुरातन राजाओं तथा राजवंशों का उल्लेख किया गया है। किन्तु राजनीतिक इतिहास के स्रोतों के रूप में इनका उपयोग करना कठिन है। इसकी चर्चा हम पहले अध्याय एक में कर चुके हैं कि छठीं शताब्दी सा.सं.पू. के पहले के काल के लिए इन नामों का तुलनात्मक अध्ययन हम किसी अन्य स्रोत से नहीं कर सकते। महाकाव्य और पुराणों के प्रारंभिक भाग में उद्धृत राजवंशों के वंशानुक्रम स्पष्ट रूप से मिथकीय हैं। किन्तु बाद के काल में संकलित किये गये हिस्सों में दिए गए नामों का ऐतिहासिक आधार है किन्तु इनकी ऐतिहासिकता भी संदिग्ध बनी हुई है। उदाहरण के लिए, मान्यता के अनुसार, परीक्षित महाभारत के युद्ध के बाद कुरुओं के राजा बने। उनके पुत्र जन्मेजय अथवा विदेह के राजा जनक ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं, 9वीं शताब्दी से 7वी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच में जिनका अस्तित्व था। छठीं शताब्दी सा.सं.पू. के बाद उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होने लगता है। राजाओं और धार्मिक शिक्षकों की चर्चा कई साहित्यक अथवा धार्मिक स्रोतों में की गयी है, और इनको ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में चिन्हित किया भी जा सकता है।

उत्तर-पश्चिम भारत में गंधार से लेकर पूर्वी भारत में अंग तक राज्यों का उदय हुआ और छठी-पांचवी शताब्दी सा.सं.पू. में ही विभिन्न प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक संरचनाओं में परिवर्तन भी आया। यह प्रक्रिया मालवा क्षेत्र के अतिरिक्त विंध्य पर्वत श्रृंखला के दक्षिण में भी चल रही थी। इसका पता हमें सोलह महाजन पदों की सूची में अस्सक या अश्मक महाजनपद से चलता है जो उत्तरी गोदावरी नदी घाटी में अवस्थित था। राज्य और नगरों का उदय दक्षिण भारत में भी हुआ किन्तु कुछ शताब्दियों के बाद।[1]

बौद्ध और जैन स्रोतों मे सोलह महाजनपदों की चर्चा विस्तृत रूप में की गयी है, जो छठीं शताब्दी सा.सं.पू. में अस्तित्व में आए। जनपद का अर्थ यह भी होता है कि वैसा क्षेत्र जहां नगरीय और ग्रामीण क्षेत्र दोनों उसकी परिधि में अवस्थित हो, तथा उनमें लोग निवास करते हों। इन महाजनपदों के अतिरिक्त छोटे-छोटे राज्यों या जनजातीय राजनीतिक तंत्रों का भी अस्तित्व अवश्य रहा। *अंगुत्तरनिकाय* में महाजनपदों की सूची इस प्रकार से दी गयी है—काशी, कोसल, अंग, मगध, वज्जि या वृज्जि, मल्ल, चेतिय (चेदी), वंश (वत्स), कुरु, पंचाल, मच्छ (मत्स्य), शूरसेन, अस्सक (अश्मक), अवंति, गंधार तथा कंबोज।[2] *महावस्तु* में भी इसी प्रकार की एक सूची है किन्तु इसमें गंधार और कंबोज के स्थान पर उत्तर-पश्चिमी तथा मध्य भारत में क्रमश: शिबी (पंजाब में) तथा दशर्न (मध्य भारत में) वर्णित है। ऊपर की सूची से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ नाम पालि में हैं और जो संस्कृत कोष में दिए गए हैं। किन्तु जिन नामों का उल्लेख कोष में नहीं किया गया है, वैसे नाम पालि और संस्कृत में एक जैसे हैं। *भगवती सूत्र* में एक भिन्न प्रकार की सूची मौजूद है, जिसके अनुसार, सोलह महाजनपदों में अंग

1. दक्षिण भारत में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की शुरुआत तीसरी शताब्दी में मानते हैं। लेकिन के. राजन (व्यक्तिगत साक्षात्कार) ने पुरातात्त्विक और पुरालेखीय साक्ष्यों के आधार पर तर्क दिया है, जिसके आधार पर इस तिथि को चौथी शताब्दी सा.सं.पू. या उससे भी पहले माना जाना चाहिए।

2. इस सूची में दिए गए नाम पालि में हैं। उनके संस्कृत शब्द कोष में दिए गए हैं। कुछ नाम पालि और संस्कृत में एक हैं।

विभिन्न स्थलों से प्राप्त उत्तरी कृष्ण चमकीले मृद्भाण्ड

बंग (वंग), मगह (मगध), मलय, मालव, अच्छ, वच्छ (वत्स), कोच्च, लाढ़, (लता या रारोढ़), पधा (पांड्य या पौंड्र), वज्जि (वृज्जि) मोलि (मल्ल), काशी (कासी), कोसल, अवह तथा संभुत्तर।[3] इनमें से उपरोक्त बौद्ध और जैन सूचियों में से कुछ नाम तो दोनों में एक समान हैं, किन्तु भगवती सूत्र में दी गयी सूची बौद्ध स्रोतों में दी गयी सूची से कम विश्वसनीय है।

महाजनपदों की सूची में उन दो प्रकार के राज्य सम्मिलित हैं—राजतांत्रिक राज्य तथा गैर-राजतांत्रिक गण अथवा संघ। गण संघ एक साथ प्रयोग में आता है *अष्टाध्यायी* तथा *मज्झिम निकाय* में राजनीतिक दृष्टि से इन्हें एक ही माना गया है तथा इस अध्याय में भी इनको एक जैसा ही समझा जा रहा है। गण तथा संघ का अनुवाद गणतंत्र के रूप में करना भ्रामक हो सकता है। ये दरअसल अल्पतंत्रीय गणतंत्र कहे जा सकते हैं जिनमें शक्ति कुलीन वर्ग के एक समूह के हाथों में रहती थी। छठीं शताब्दी सा.सं.पू. में सबसे शक्तिशाली महाजनपद मगध, कोसल, वत्स और अवंति थे। इन महाजनपदों के बीच सम्बंध बनता और बिगड़ता रहता था। इनमें युद्ध, मैत्री, संधि सभी प्रकार के उतार चढ़ाव देखे जा सकते हैं। इनके बीच के अंर्तसम्बंध का एक प्रमुख आधार वैवाहिक संधियां भी थीं। लेकिन राजनीतिक महत्त्वकांक्षाओं के समक्ष कई बार ऐसी संधियां कोई मायने नहीं रखती थीं। विभिन्न प्रकार के साहित्यिक स्रोतों में निहित सूचना के आधार पर इनके राजनीतिक इतिहास को रेखांकित किया जा सकता है। (रायचौधरी [1923], 2000: 85-210)।

काशी का राज्य उत्तर में वरूणा और दक्षिण में असि नदियों के बीच स्थित था, जिनके नाम पर इनकी राजधानी वाराणसी कही गयी, (आधुनिक बनारस) जो गंगा के तट पर स्थित है। जातक कथाओं में काशी के कई राजाओं का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने राजनीतिक सर्वोच्चता की प्राप्ति के लिए प्रयास किया। इन कथाओं में काशी और कोसल के बीच चले लंबे संघर्ष का भी वर्णन निकलता है। काशी को कभी-कभी अंग और मगध के साथ भी संघर्ष करना पड़ा। किन्तु एक समय काशी उत्तर भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य था। कालांतर में जिसे कोसल राज्य में मिला लिया गया।

कोसल का शक्तिशाली राज्य पूरब में सदानीरा (गंडक) नदी, पश्चिम में गोमती तथा दक्षिण में सर्पिका या स्यानडिक (साईं) नदी तथा उत्तर में नेपाल की पहाड़ियों से घिरा हुआ था। सरयू नदी इस राज्य को उत्तरी और दक्षिणी हिस्से में विभाजित करती थी। श्रावस्ती (आधुनिक साहेत-माहेत) उत्तरी कोसल की राजधानी थी तथा कुशावती दक्षिणी कोसल की राजधानी थी। साकेत और अयोध्या इस राज्य के दो प्रमुख नगर थे। जिनकी राजनीतिक सहभागिता आशय रही होगी। इसके अतिरिक्त सेतव्य, उपकठ, तथा कितागिरी अन्य छोटे नगर थे। कोसल अपने राजनीतिक विकास के क्रम में काशी को भी सम्मिलित कर लिया। एक समय में इसकी शक्ति कपिलवस्तु के शाक्यों पर भी थी तथा केशपुत्र के कलामों पर भी। प्रसेनजित जब कोसल का राजा था। तब वह बुद्ध का समकालीन था और पालि स्रोतों में उसकी कई बार चर्चा की गयी है। कोसल और मगध के बीच वैवाहिक

3. इस सूची में प्राकृत नाम पहले दिया गया है, तत्पश्चात् कोष्ठ में उन्हीं के संस्कृत नाम दिए गए हैं, जहां दोनों में भिन्नता है।

काशी, कोसल और मगध में प्राप्त चांदी के चिन्हित सिक्के

संधियां हुई थी क्योंकि प्रसेनजित और मगध के सम्राट बिम्बिसार के बीच ऐसा ही सम्बंध था, किन्तु बिम्बिसार की मृत्यु के बाद दोनों राज्यों के बीच घमासन युद्ध हुआ।

अंग के राज्य को आधुनिक बिहार के भागलपुर और मुगेंर जिले से जाना जा सकता है। गंगा इसके उत्तर में अवस्थित थी। चंपा नदी (जिसको चंदन नदी से चिन्हित कर सकते है) के द्वारा यह मगध के राज्य से अलग होता था जो उसके पश्चिम में स्थित थी। उसकी राजधानी चंपा कभी मालिनी भी कहलाती थी जो छठीं शताब्दी सा.सं.पू. के सबसे महान नगरों में एक था। यह गंगा और चंपा नदियों के संगम पर स्थित था और आधुनिक भागलपुर के एक गांव चंपानगर में चंपापुरा से इसको चिन्हित किया जाता है। चंपा उस काल के वाणिज्यक मार्ग पर स्थित एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी था। यहां के व्यापारियों का सम्बंध स्वर्णभूमि (संभवत: दक्षिण पूर्वी एशिया) के साथ भी बतलाया जाता है।

मगध राज्य का केन्द्र आधुनिक पटना और गया जिलों को कहा जा सकता है। यह गंगा, सोन, और चंपा नदियों के द्वारा उत्तर में, पश्चिम में तथा पूर्व में क्रमश: घिरा हुआ था। जबकि इसके दक्षिण में विंध्य पर्वत श्रृंखला के कुछ अंश अवस्थित थे। इसकी राजधानी पहले गिरिव्रज या राजगृह (आधुनिक राजगीर) थी। पुराणों ने मगध के राजाओं की जो सूची दी है, उसकी शुरुआत बृहद्रथ से शुरू होती है। यह राजवंश छठीं शताब्दी सा.सं. में समाप्त हो चुका था और इसके बाद हर्यंक का राज्य हुआ। मगध के इतिहास को एक दूसरे अध्याय में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

गंगा नदी के उत्तर में नेपाल की पहाड़ियों के बीच विस्तृत वज्जि का गणसंघ था। इसे आठ या नौ कुलों का एक संघ माना जाता है। ऐसा मानने का आधार बुद्ध घोष की *सुमंगलविलासिनी* में उद्‌धृत वज्जियों के अट्‌ठकुलिक हैं। अष्टकुलिक वैशाली की एक वैधानिक संस्था थी, किन्तु अष्टकुलिक हो सकता है कि वैशाली के आठ प्रमुख परिवारों का एक समूह रहा हो। इनमें से सबसे मुख्य वज्जि, लिच्छवि, विदेह, नय/ज्ञात्रिक थे। इसके अलावा उल्लेख में आए, उग्र, भोग, कौरव, ऐच्छवक इत्यादि के विषय में बहुत जानकारी उपलब्ध नहीं है। वैशाली लिच्छवियों की भी राजधानी थी और साथ में वज्जि संघ की भी राजधानी थी जिसको उत्तरी बिहार के बसाढ़ से चिन्हित किया गया है। बौद्ध स्रोतों में लिच्छिवियों का बहुत वर्णन मिलता है। इनका कोसल और मल्लव के साथ बढ़िया सम्बंध था, किंतु इनका संघर्ष मगध के साथ हुआ। जैन स्रोतों के अनुसार, नौ लिच्छवियों के एक संगठन का उल्लेख मिलता है जिनके साथ नौ मल्ल तथा काशी और कोसल के अठारह कुल भी जुड़े हुए थे। विदेह की राजधानी मिथिला को आधुनिक जनकपुर (नेपाल) से चिन्हित किया गया है। ज्ञात्रिक कुंडपुर और गोलग क्षेत्रों में निवास करते थे, जो आधुनिक वैशाली के निकट स्थित गांव हैं। महावीर इसी संघ के थे। वज्जि गणसंघ के शासक चेतक त्रिशला (महावीर की माँ) के भाई थे और मगध के राजा बिम्बिसार की पत्नी चेल्लना के पिता भी।

मल्ल गणतंत्र वज्जियों के पश्चिम में स्थित था और ये नौ कुलों का एक समूह था। इसके दो राजनीतिक केन्द्र थे—कुशीनारा और पावा। कुशीनारा को गंडक के किनारे एक कासिया नामक छोटी-सी बस्ती से चिन्हित किया जाता है जो गोरखपुर से 77 कि.मी. पूर्व में स्थित है तथा पावा को पदसेना गांव से जो कासिया के उत्तर-पूर्व में 26 कि.मी. पर स्थित है। मल्ल के विषय में कहा जाता है कि प्रारंभिक दौर में यह एक राज्य था। हालांकि, बीच-बीच में इनके संघर्षों की भी चर्चा हुई है।

चेदि का राज्य मध्य भारत के बुंदेलखंड क्षेत्र के उत्तरी भाग में स्थित था। इसकी राजधानी सोट्‌ठीवतीनगर शायद शूक्तिमती या शूक्तिसह्वय ही थी, जिसकी चर्चा *महाभारत* में हुई है। वत्स या वंश गंगा नदी के दक्षिण में अवस्थित था जो अपने उत्कृष्ट सूती वस्त्रों के लिए जाना जाता था। इसकी
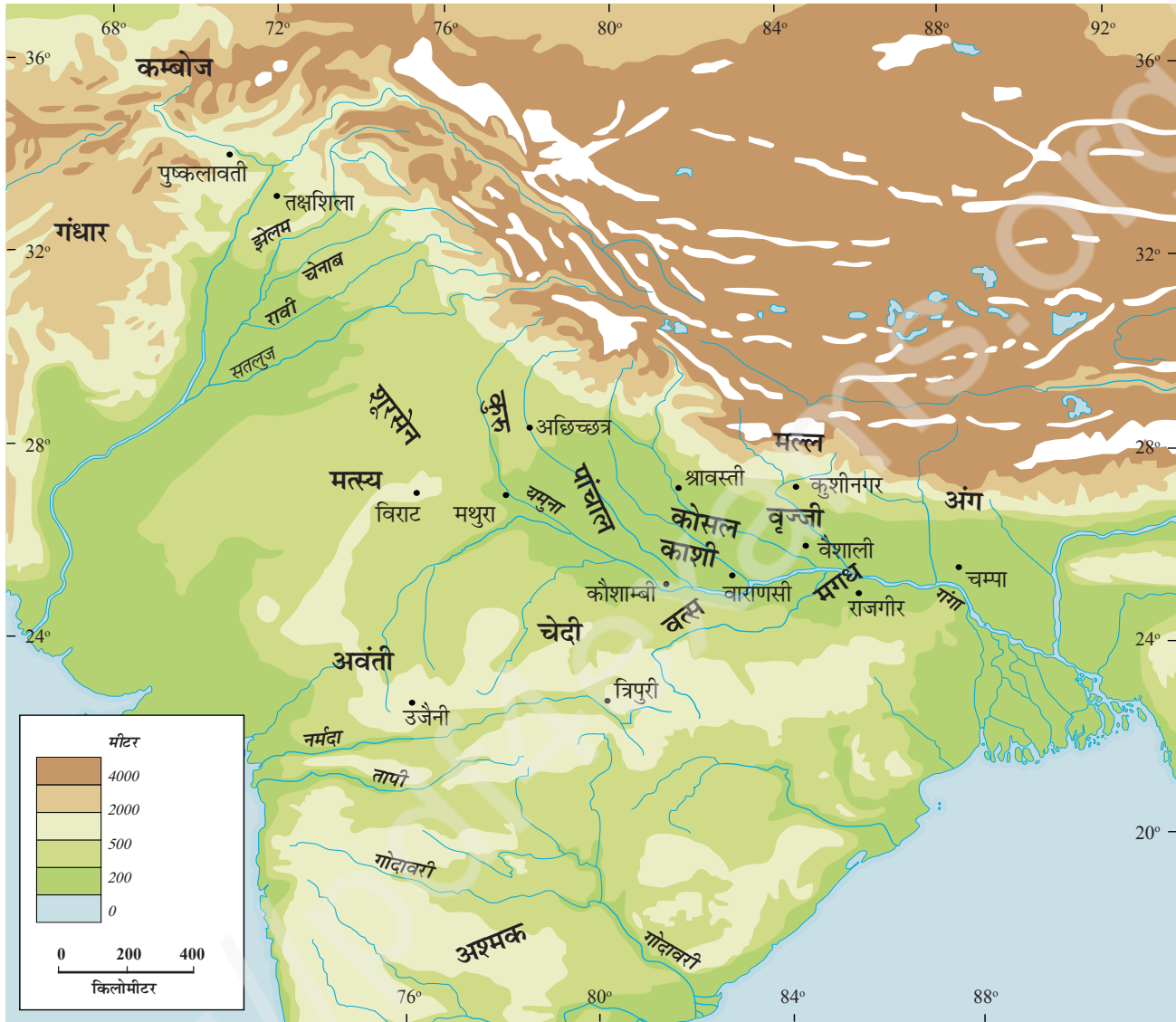
मानचित्र 6.1: **उत्तरी कृष्ण माजित मृद्भाण्ड के विभिन्न स्थल**

राजधानी कौशाम्बी यमुना के दाहिने तट पर स्थित कोशम नामक गांव से चिन्हित की जाती है। वत्स के राजा उदयन और अवंती के राजा प्रद्योत के संघर्ष से जुड़े किवदंतियां काफी लोकप्रिय हैं और इनमें उदयन और वासवदत्ता जो प्रद्योत की बेटी थी के बीच प्रेम-प्रसंग और विवाह की चर्चा है। उदयन ने अंग और मगध के राजपरिवारों के साथ भी वैवाहिक संधियां की थी। कालांतर में उदयन तीन संस्कृत नाट्यों के नायक के रूप में प्रसिद्ध हुआ—भाष्य के *स्वपनवासवदत्त*, हर्ष के *रत्नावली* और *प्रियदर्शिका* में।

बौद्ध परंपरा के अनुसार, कुरु का राज्य युधित्थिल गोत्र या युधिष्ठिर के परिवार के राजाओं के द्वारा शासित था, जिसकी राजधानी (इंदपत्त) इन्द्रप्रस्थ थी। बुद्ध के समय कुरु एक छोटा-सा राज्य था जिसके मुखिया का नाम कोरव्य था। जैन स्रोत *उत्तराध्यायन सूत्र* में कुरु के राजा ईशुकर की चर्चा की गयी है जो ईशुकर नामक नगर से ही शासन करता था। कुरुओं ने यादवों, भोज और पांचालों के साथ वैवाहिक सम्बंध रखे थे। बुद्ध के समय तक कुरु एक छोटा-सा राज्य था जो बाद में एक गणसंघ में परिवर्तित हो गया।

पांचाल के अंतर्गत मध्य गंगा-यमुना दोआब का क्षेत्र और रूहेलखंड का क्षेत्र आता है जो गंगा नदी के द्वारा दो हिस्सों में बंटा हुआ था। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र

गंधार के चिन्हित सिक्के

अन्यान्य परिचर्चा

तक्षशिला की खोज

एलेक्जेंडर कनिंघम (1814-93)

प्राचीन भारतीय नगरों में से बहुत सारे नगरों की शिनाख्त उन्नीसवीं शताब्दी में की गई, जो सामान्यत: प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोक में संभव हो सका। इस दिशा में किए गए प्रयासों का श्रेय मुख्य रूप से एलेक्जेंडर कनिंघम नाम के एक पुरातत्त्वविद् को जाता है जो 1871 में भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के पहले डायरेक्टर जनरल नियुक्त हुए थे। बाकी लोगों की तरह कनिंघम ने भी ग्रीको रोमन वृत्तांतों, चीन यात्रा वृत्तांतों जैसे श्वैन ज़ंग और फ़ा श्यैन के वृत्तांतों तथा अन्य साहित्यिक स्रोतों के आधार पर इन नगरीय केन्द्रों का पता लगाने का प्रयास किया। किन्तु अन्य लोगों से अलग कनिंघम ने अपने द्वारा एकत्रित इन जानकारियों की पुष्टि के लिए फिल्ड सर्वे या स्थल के प्रत्यक्ष सर्वेक्षण का मार्ग अपनाया। कनिंघम को आयोरनोस, तक्षशिक्षा, सांगल, सुघन, अहिच्छत्र, बैराट, संकिसा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, पद्मावती, वैशाली और नालंदा जैसे प्रसिद्ध केंद्रों को खोजने का श्रेय जाता है। कनिंघम ने सबसे पहले प्राचीन तक्षशिला को मनिक्याला नामक स्थान से चिन्हित किया, किन्तु 1863-64 में जब उन्होंने शाह-ढेरी का उत्खनन किया तब उन्हें विश्वास हो गया कि तक्षशिला का वास्तविक स्थान यही था। उनके व्यक्तिगत अनुभव इस प्रकार से लिखे गए हैं।

अभी तक तक्षशिला के प्रसिद्ध नगर की अवस्थिति अज्ञात थी, इसका कारण यह था कि प्लिनी ने इसके विषय में जो दूरी की जानकारी दी थी वह गलत थी। इसके साथ शाह-ढेरी और इसके इर्द-गिर्द पड़े हुए पुरातात्त्विक सामग्रियों के विषय में कोई अध्ययन नहीं किया गया था। प्लिनी के वृत्तांत की उपलब्ध सभी पांडुलिपियों में तक्षशिला को पेरूकोलाइटस या हस्तनगर से साठ माइल (रोमन माइल) अथवा 55 माइल (इंग्लिश माइल) बताया गया था जिसके आधार पर इसकी अवस्थिति हारो नदी के किनारे होनी चाहिए थी और हसन अब्दल नामक स्थान के पश्चिम में। इस स्थान की दूरी सिंधु नदी से दो दिनों में तय की जा सकती थी। लेकिन चीनी तीर्थ यात्रियों के द्वारा दिए गए वृत्तांत के आधार पर यह स्थान सिंधु के पूर्व में स्थित था और वहां से इसकी दूरी तीन दिनों में तय की जा सकती थी। इस आधार पर यह काला-का-सराय के आसपास होना चाहिए था। यह काला-का-सराय मुगल बादशाहों को उत्तर-पश्चिम जाने के क्रम में तीसरा गन्तव्य स्थान बनाया गया था और अभी भी सिंधु से इस ओर जाने में यह तीसरा पड़ाव होता है चाहे वो सेना के लिए हो अथवा व्यक्तिगत यात्रियों के लिए। अब जब श्वैन ज़ंग ने चीन लौटकर तक्षशिला के तीन दिवसीय यात्रा का वर्णन किया जबकि वह लदे हुए हाथियों के साथ लौटा था, तब उत्खंड जो सिंधु के निकट है अथवा आधुनिक ओ-हिन्द, निश्चित रूप से उतनी ही दूरी पर ही होना चाहिए था जितना कि वर्तमान में काला-का-सराय पहुंचने में लगता है। यह स्थान छ: ढेरी के निकट है और काला-का-सराय के उत्तर-पूर्व में एक मील पर स्थित है। इस स्थान पर पहुंचकर मैंने पाया कि यहां 55 से कम स्तूप नहीं थे जिसमें दो काफी बड़े थे और मनिक्याला टोपे (स्तूप) के ही आकार के थे। यहां 28 विहार पाए गए और नौ मंदिरों को भी मैंने देखा। शाह-ढेरी से ओ-हिन्द की दूरी 36 माइल है और ओ-हिन्द से हस्तनगर की दूरी 38 माइल है। इस प्रकार कुल मिलाकर 74 माइल होता है जो प्लिनी के द्वारा पेयूक्योलोटिस से तक्षशिक्षा के बीच बतलायी गयी दूरी से 19 माइल अधिक है। इस अंतर को दूर करने के लिए मेरा सुझाव है कि प्लिनी का 60 माइल LX, 80 माइल या LXXX पढ़ना चाहिए जो 73 अंग्रेजी माइल के बराबर होता है। इस प्रकार केवल आधे माइल का फर्क आता है।

इस गणना के अनुसार, कनिंघम ने अपनी उपरोक्त सुझावों के बाद तक्षशिला के इतिहास के विषय में विमर्श किया है और वहां उपस्थित पुरातात्त्विक टीलों का विस्तृत ब्यौरा भी दिया है जिसमें भीर, हथियल, सिरकप, कच्चा-कोट, बाबरखाना और सिरसुख जैसे स्थानों की चर्चा की गयी है।

उनके अनुसार, अपने इस वृत्तांत का अंत करते हुए मैं शाह-ढेरी के विस्तृत पुरातात्त्विक स्थल के विषय में कहना चाहूंगा कि इसको ही मैंने यूनानियों के द्वारा वर्णित तक्षशिला के रूप में चिन्हित करने का प्रयास किया है। मैं यह भी कहना चाहूंगा कि श्वैन ज़ंग के द्वारा बताए गये दूरियों के आधार पर मेरे द्वारा चिन्हित तक्षशिला से मैं पूरी तरह से आश्वस्त हूं। अब श्वैन ज़ंग द्वारा वर्णित स्थानों के नामों को मैं हसनअब्दल और बाउटीपिण्ड कहूँगा। इन स्थानों से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रियों को तक्षशिला के मुख्य नगरीय केन्द्र के पश्चिमी उपनगर के रूप में मैं वर्णित करता हूं क्योंकि प्राचीन तक्षशिला ही प्राचीन पंजाब की राजधानी भी थी।

स्रोत: कनिंघम, 1871: 111-35

थी, जिसको बरेली जिले (उत्तर प्रदेश) के रामनगर से चिन्हित किया जाता है तथा दक्षिण पांचाल की राजधानी काम्पिल्य थी जिसको फरूखाबाद जिला (उत्तर प्रदेश) के काम्पिल्य से चिन्हित किया जाता है। कानिकुज या कन्नौज इसी राज्य में अवस्थित था। बहुत सारे प्राचीन ग्रंथों में चूलानी ब्रह्मदत्त नामक राजा का उल्लेख है। अर्थशास्त्र के अनुसार, पांचाल राज्य भी बाद में एक संघ में परिणत हो गया।

मत्स्य का राज्य राजस्थान के जयपुर क्षेत्र में स्थित था जो अलवर और भरतपुर तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी विराट नगर थी जिसको आधुनिक वैराट से चिन्हित करते हैं जो इस राज्य के संस्थापक विराट के नाम पर रखा गया था। बौद्ध स्रोतों के अनुसार, मत्स्यों और शूरसेनों को जोड़ कर देखा गया है।

शूरसेनों की राजधानी मथुरा थी जो यमुना नदी पर स्थित थी। बौद्ध परंपरा के अनुसार, अवंती पुत्र शूरसेनों का शासक था और बुद्ध का एक अनुयायी भी। इस शासक का नाम अवंतीपुत्र होने से ऐसा लगता है कि शूरसेन और अवंती के बीच वैवाहिक संधि हुई थी। महाभारत और पुराणों में मथुरा क्षेत्र के यदु या यादव राजाओं की चर्चा की गयी है। इनमें ही वृषणी शासक भी हुए।

अष्टाध्यायी, मार्कण्डेय पुराण तथा बृहत्तसंहिता जैसे ग्रंथों में यूनानी स्रोतों के अनुसार, अस्सक (अश्मक/अश्वक) का राज्य उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में स्थित था। जबकि बौद्ध स्रोतों के अनुसार, अस्सक गोदावरी नदी के तट पर स्थित था। इसकी राजधानी पोटक/पोदन या पोटली थी जिसको आधुनिक बोधन से चिन्हित किया जाता है। गोदावरी नदी अस्सक को अपने सटे हुए राज्य मूलक या अलका से अलग करती थी जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान या आधुनिक पैठान के रूप में चिन्हित की गई है। जातक कथाओं के अनुसार, किसी बिन्दु पर अस्सक काशी के अधीन आ गया तथा किसी समय अस्सकों ने पूर्वी भारत के कलिंग के साथ एक युद्ध में विजय भी पाई।

मालवा के क्षेत्र में अवंती स्थित है जिसे विंध्य पर्वत श्रृंखला उत्तरी और दक्षिणी हिस्से में विभाजित करती थी। इसके दो प्रमुख नगर–महिषमति या (आधुनिक माहेश्वर) तथा उज्जैनी (आधुनिक उज्जैन) दोनों राजधानियों के रूप में उद्धृत किये गये हैं। इन दो नगरों का महत्त्व इसलिए अधिक था क्योंकि ये उत्तर भारत के एक ओर दक्कन से और पश्चिमी समुद्री तट के बंदरगाहों से जोड़ने वाले व्यापारिक मार्ग पर अवस्थित थे। प्रद्योत, अवंती का एक प्रसिद्ध शासक था जिसके समय में अवंती का वत्स, मगध और कोसल के साथ संघर्ष चला।

गंधार के अंतर्गत पाकिस्तान का आधुनिक पेशावर और रावलपिंडी जिला और काश्मीर की घाटी आती थी। उसकी राजधानी तक्षशिला थी जो अध्ययन और व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था। पुक्कुसती या पुश्करसरिन नामक शासक ने छठीं शताब्दी सा.सं. के मध्य में इस क्षेत्र पर शासन किया। उसके मगध के साथ अच्छे सम्बंध थे और उसने अवंती को युद्ध में पराजित किया था। अखमनिड शासक डेरियस के बेहेस्तुन अभिलेख में यह चर्चा की गयी है कि गंधार को ईरान के शासकों ने छठीं शताब्दी सा.सं.पू. के अंतिम चरण में अपने नियंत्रण में ले लिया।

प्राचीन ग्रंथों और अभिलेखों के अनुसार, कंबोज का राज्य गंधार से जुड़ा हुआ था। कंबोज के क्षेत्र में रजौड़ी और नॉर्थ वेस्ट फ्रंटियर प्रोविन्स के हाजड़ा जिला आते थे और शायद ये काफिरीस्तान तक फैला हुआ था। छठीं शताब्दी सा.सं.पू. में कंबोज एक राजतंत्र था किन्तु *अर्थशास्त्र* ने इसको एक संघ के रूप में देखा है।

गण अथवा संघ

(The Ganas or Sanghas)

प्राचीन भारतीय ग्रंथ, राज्यों एवं गण अथवा संघों की राजनीतिक संरचना और स्वरूप के बीच के अंतर को स्वीकार करते हैं। वज्जि और मल्ल महाजनपदों में से दो महाजनपद संघ थे। बौद्ध स्रोतों में कपिलवस्तु के शाक्यों, देवदह और रामग्राम के कोलिय, अलकप्प के बुलि, केसपुत्त के कलाम, पिप्हलीवन के मोरिया, और भर्ग या भग्ग जिनकी राजधानी सुंसुमार पहाड़ी पर स्थित थी की चर्चा करते हैं। यह संयोग नहीं हो सकता कि सभी गण विशेष रूप से जो राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे, वे पूर्वी भारत में हिमालय के तराई वाले हिस्से में अवस्थित थे जबकि सभी प्रमुख राज्य गंगा नदी घाटी के मैदानी हिस्सों में अवस्थित थे।

गणों के विषय में यह आसानी से कहा जा सकता है कि ये प्रारंभिक जन्मजातीय संगठनों के उत्तराधिकारी थे, फिर भी पूर्व में उपस्थित जनजातीय राजनीतिक संगठनों की अपेक्षा इनकी संरचनाएं काफी जटिल थी। कुछ गण या संघ का निर्माण राज्यों के उत्कर्ष के संदर्भ में हुए छोटे राज्यों के दमन के क्रम में हुआ। उदाहरण के लिए, विदेह प्रारंभिक अवस्था में एक राज्य था किन्तु बाद में छठीं शताब्दी सा.सं. के लगभग में यह गण के रूप में परिणत हो गया। कुरु भी इस समय तक राज्य था, किन्तु बाद की शताब्दियों में यह गण में परिणत हो गया। गणों के दो प्रकार रेखांकित किये जा सकते हैं—एक जिसमें एक ही कुल का वर्चस्व था जैसे शाक्य एवं कोलिय

अथवा दूसरे श्रेणी में वैसे संघ जो कई कुलों के समूह थे जैसे वज्जि या यादव। गण संघों के अस्तित्व में इन घटकों के पृथक-पृथक राजनीतिक अस्तित्व का बोध होता है।

शाक्य स्वयं को ईक्ष्वाकु या सूर्य वंश के उत्तराधिकारी मानते थे। इनका राज्य पूर्व में रोहिणी नदी, पश्चिम में तथा दक्षिण में भी राप्ती नदी, जबकि उत्तर में हिमालय पर्वत से घिरा हुआ था। कपिलवस्तु की उपस्थिति के विषय में अभी भी भेद बना हुआ है, कुछ विद्वान तिलौराकोट को कपिलवस्तु मानते हैं, जबकि अधिक तर्क संगत रूप से पिपहरवा गनवरिया को इसका सही स्थान माना जा सकता है। शाक्यों के विषय में स्वाभाविक रूप से बौद्ध स्रोतों में काफी बातें कही गयी है क्योंकि बुद्ध इसी कुल के थे। शाक्यों का वैवाहिक सम्बद्ध कोसल के राजघरानों से भी था। बौद्ध स्रोतों में शाक्य सभाओं का वर्णन मिलता है जिसमें संधि, विग्रह, शांतिवार्ता, युद्ध जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा की जाती थी।

रामग्राम के कोलिय शाक्यों के पूर्व में अवस्थित थे। रोहिनी नदी इस क्षेत्र को दो भागों में बांटती थी। शाक्य और कोलिय में सम्बंध बतलाया जाता है। भर्ग या भग्ग संघ की स्थिति विंध्य क्षेत्र में थी जो लगभग यमुना और सोन नदियों के बीच में पड़ती है। ये वत्सों के अधीन थे। अन्य गणों और संघों के विषय में काफी कम जानकारी प्राप्त है।

के.पी. जयसवाल (1943) के अनुसार, राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने गणों और संघों के विषय में जो प्रारंभिक अध्ययन किया उनमें इनके गणतांत्रिक प्रणाली की विशेषताओं को आवश्यकता से अधिक बढ़ा-चढ़ा कर लिखा। इनकी तुलना ग्रीस, यूनान, और रोम के गणतंत्रो से तथा आधुनिक प्रजातांत्रिक संस्थाओं से की गयी लेकिन ऐसा इसलिए शायद किया जा रहा था कि वे पश्चिमी विद्वानों को नकार रहे थे जिन्होंने प्राचीन राज्यों के विषय में निरंकुश शासन व्यवस्था और प्रणाली पर जोर दिया था। किन्तु जे.पी. शर्मा (1968) जैसे बाद के विद्वानों ने इस विषय में तर्क संगत निष्कर्ष को निकालने का प्रयास किया है।

इन राजनीतिक संगठनों में एक प्रकार का कोरपोरेट तत्त्व अवश्य दिखलायी पड़ता है। *अर्थशास्त्र* जो इस समय के बाद की रचना है उसमें एक चक्रवर्त्ती के विषय में कहा गया है कि जब गण या संघ को जीतना हो तो उसे विशेष रणनीतियों का सहारा लेना पड़ेगा। क्योंकि इनका संगठन अलग प्रकार का था, इसलिए राजतंत्रों को पराजित करने के लिए अपनायी गयी रणनीतियां इन पर लागू नहीं होंगी। कौटिल्य की नीतियां इस संदर्भ में गण संघों में अंत: कलह की ओर अधिक ध्यान आकृष्ट कराती हैं।

फिर भी निश्चित रूप से प्राचीन भारतीय गण अथवा संघ आधुनिक प्रजातंत्र की तरह नहीं थे। शक्ति एक कुलीन तंत्र के हाथों में निहित रहती थी जो उस क्षेत्र के शक्तिशाली क्षत्रिय परिवारों का समूह था। किसी एक

अन्यान्य परिचर्चा

शाक्य और कोसल के बीच संघर्ष

बौद्ध स्रोतों में एक कथा प्रचलित है, जिसमें यह वर्णन किया गया है कि कोसल और शाक्यों के बीच किस प्रकार प्रसेनजीत के विरूद्ध किए गए षड्यंत्र के कारण दोनों का सम्बंध बिगड़ गया। कथा इस प्रकार है कि कोसल का राजा प्रसेनजीत बुद्ध का हिमायती था और इसलिए उसके मन में यह विचार आया कि वह शाक्यों के वंश में अपना विवाह करे जिससे कि बुद्ध आते थे। उसने शाक्यों से अपनी राजकुमारियों में से एक को उसकी पत्नी बनाने का आग्रह किया। शाक्यों को अपने वंश पर बहुत घमण्ड था। इसलिए वे अपनी औरतों में से किसी एक को प्रसेनजीत को सौंपने को बिल्कुल तैयार न थे। किन्तु प्रसेनजीत की शक्ति से वे इतने भयभीत थे कि उसको इन्कार नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने एक षड्यंत्र रचा—वासवखत्तीय जो शाक्यों के एक मुखिया महानमन की एक दासी के साथ उत्पन्न कन्या थी, उसको सौंप दिया। माता की तरफ से उसके निम्न मूल को उन्होंने छिपा लिया। इस विवाह से विदुदभ और वजिरा नाम से एक पुत्र और पुत्री का जन्म हुआ। विदुदभ ने जब एक बार अपने मातामह के घर की यात्रा की तब उसे ज्ञात हुआ कि उसकी माता की पृष्ठभूमि क्या थी। यह समाचार प्रसेनजीत को भी मिला। अपने छले जाने का ज्ञान हो जाने के बाद उसने तुरन्त ही अपने पत्नी और पुत्र को बहिष्कृत कर दिया। बुद्ध ने बाद में प्रसेनजीत को समझाया कि किसी पुत्र की पहचान समाज में उसके पिता के द्वारा होती है, न कि माँ के द्वारा। इस प्रकार बुद्ध की मध्यस्थता से विदुदभ को ही गद्दी का उत्तराधिकार मिला। उसने अपने पिता के विरुद्ध किए गए षड्यंत्र के प्रतिशोध में शाक्यों को नष्ट कर दिया।

निश्चित रूप से इस कहानी की ऐतिहासिकता को सिद्ध कर पाना असंभव है, किन्तु कालांतर के बौद्ध परम्परा में कोसल के द्वारा शाक्यों का संहार एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग बन गया। बहुत सारे स्तूपों में इस कथा का दृश्य उनकी प्रतिमाओं में देखा जा सकता है।

वंशानुक्रम पर आधारित राजा की बात नहीं की जाती है इसके बदले गणपति, गणज्येष्ठ, गणराज या संघमुखिया की चर्चा की जाती है जो एक कुलीन तंत्र के प्रतिनिधियों की सभा का प्रतिनिधित्व या नेतृत्व करता था। ये एक सभागार में एकत्रित होकर सभा करते थे। इन गणों अथवा संघों की कार्यपालिका की प्रभावी शक्ति अथवा राजनीतिक बंधन की दिनचर्या एक छोटे समूह में केंद्रित थी। यही स्थिति यूनानी गणतंत्र की भी थी जिसकी भारतीय गणों के साथ काफी तुलना की गयी है। राजनीतिक व्यवस्था की दृष्टि से, गणों को सभा के द्वारा संचालित प्रशासन और सभा के भीतर एक कुलीन तंत्र के द्वारा संचालित के बीच के समझौते के रूप में देखा जा सकता है।

बाद के साहित्य में लिच्छवियों की बहुत चर्चा की गयी है, उदाहरण के लिए, एकपन्न जातक में कहा गया है कि लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी, वहां हमेशा 7707 राजाओं के द्वारा राज्य चलाया जाता था। इतनी संख्या में उप राजा, सेनापति और भंडागारिक (कोष के अधिकारी) भी कार्यरत रहते थे। 'चूल कलिंग जातक' में भी लिच्छवियों के शासन की बागडोर को 7707 राज्य परिवारों के हाथ में बतलाया गया है, किन्तु इसमें यह भी कहा गया है कि ये आपस में सदैव मतभेद की स्थिति में रहते थे। दूसरी ओर, *महावस्तु* वैशाली में 168,000 राजाओं के रहने की बात करता है।

साहित्य में वर्णित इस तरह के सांख्यिकी को सहज ही स्वीकार करना संभव तो नहीं है, किन्तु इससे यह संकेत अवश्य मिलता है कि लिच्छवियों की एक बड़ी सभा होती थी। जिसमें उस क्षेत्र के सभी प्रमुख क्षत्रिय परिवार का प्रतिनिधित्व होता था, जो स्वयं को राजा कहलाना पसंद करते थे। ये सामान्यतः वसंत ऋतु के दौरान साल में एक बार एकत्रित होते थे और महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा करते थे तथा इसी दौरान अपने लिए नेतृत्व का भी चयन करते थे। प्रजाओं के विषय में कहा जा सकता है कि वे राजाओं के ज्येष्ठ पुत्र हुआ करते होंगे। लिच्छवियों के इसी प्रकार के सभा के दौरान वैशाली की नगर वधु आम्रपाली को सम्मानित करने का प्रसिद्ध प्रसंग आता है। ऐसा भी उल्लेख मिलता है की भद्रशाल जातक में उद्धृत पवित्र तालाब में सभी राजा इस सभा में बैठने के पहले स्नान करते थे। इस लिच्छवी सभा के पास सर्वोच्च सत्ता तो अवश्य थी, क्योंकि ये मृत्यु दंड, निष्कासन जैसे दंड को क्रियान्वित कर सकते थे। दयनंदिनी का प्रशासन एक नौ सदस्यों वाली छोटी समिति के द्वारा चलाया जाता था जो लिच्छवियों की बड़ी सभा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। इन सभाओं में स्त्रियों का प्रतिनिधत्व नहीं था।

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध संघ इन्हीं गण अथवा संघों की प्रणाली पर कार्य करते थे। विशेष रूप से बौद्ध संघ लिच्छवियों की व्यवस्था से प्रभावित प्रतीत होता है। फिर भी प्रकृति की भिन्नता के कारण स्वाभाविक रूप से इनमें समानता देखी जा सकती है, किन्तु इन दोनों को बिल्कुल एक जैसा नहीं माना जा सकता है। संथागार में सभा के पहले, उनका एक प्रकार का प्रोटोकॉल तय किया जाता था, फिर लोगों की बैठने की व्यवस्था पद के अनुरूप होती थी। मतदान, शलाका कहे जाने वाले लकड़ी के टुकड़ों से की जाती थी। मतदान एकत्र करने वाले अधिकारी को शलाका-गहपक कहा जाता था। गणपूर्ति (कोरम) का दायित्व गण-पूरक का होता था, जो महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिए आवश्यक माना जाता था।

गणों के विषय में बौद्ध और जैन ग्रंथों में, ब्राह्मण ग्रंथों की तुलना में अधिक चर्चा की गई है। जहां ब्राह्मण सामाजिक और राजनीतिक आदर्श राजतंत्र को केन्द्र में रखता था, क्योंकि राजा के विहीन मत्स्य न्याय की स्थिति की वे सदैव चर्चा करते हैं। राजतंत्र और कुलीन तंत्र अथवा संघो की राजनीतिक व्यवस्था में आंतरिक सत्ता का समीकरण अलग-अलग था (रूबेन [1966], 1969)। हो सकता है कि गणों में ब्राह्मण अथवा पुरोहितों को वैसा सम्मान नहीं मिलता हो जैसा कि राजतंत्र में उन्हें प्राप्त था। क्योंकि गण या संघ में ब्राह्मणों को दी जानेवाली भूमि अथवा अन्य दान की चर्चा शायद ही देखने को मिलेगी। 'अम्बट्ठ सुत्त' (*दीघनिकाय* में संकलित) में यह चर्चा की गयी है कि जब अम्बट्ठ नामक ब्राह्मण कपिलवस्तु गया था तब शाक्यों की सभा ने उसकी खिल्ली उड़ाई थी और उसका सम्मान नहीं किया था।

क्षत्रियों की वर्चस्व गण और संघ में बना रहता था और इनमें भी ब्राह्मणों, किसानों, शिल्पकारों, कर्मकारों अथवा दासों को स्थान दिया गया था जो राजनीतिक दृष्टि से तथा साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निचली श्रेणी में व्यवस्थित थे। क्षेत्रियों के अतिरिक्त इस श्रेणी के लोगों को अपने कुलों के नाम रखने का शायद अधिकार नहीं था और शायद न ही इनकी राजनीतिक सहभागिता प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, शाक्य क्षेत्र में रहने वाले हज्जाम जिसका नाम उपालि था और मल्ल क्षेत्र में रहने वाला लोहार चुण्ड कभी भी कुलीन तंत्र का हिस्सा नहीं था और न ही सभाओं में ये सम्मिलित हुए थे।

उस समय के राजतंत्रो ने मजबूत सैन्य संगठन खड़ा कर लिया था और निश्चित रूप से इनकी स्थायी सेना हुआ करती थी, जो राज्य के द्वारा संचालित होती थी। इस तरह का सैन्य संगठन गणों में शायद उपलब्ध नहीं था। लिच्छवियों की सेना शक्तिशाली जरूर थी, लेकिन जिस समय युद्ध नहीं चलता था उस समय ये लोग शायद खेती या अन्य व्यवसाय से जुड़ जाते थे।

प्राथमिक स्रोत

वस्सकार के द्वारा वज्जियों को पराजित करने के लिए बुद्ध से मांगी गयी सलाह

महापरिनिब्बान सुत्त का प्रारंभ अधोलिखित प्रसंग से होता है जिसमें गण संघों की अतिसंवेदनशीलता के अव्यय परिलक्षित होते हैं।

ऐसा मैंने सुना है एक बार महात्मा (बुद्ध) राजगीर के वृद्धकूट पर्वत पर निवास कर रहे थे। इस समय वैदही पुत्र अजातशत्रु जो मगध का राजा था, ने वज्जियों पर आक्रमण करने का मन बना लिया था, उसने स्वयं से कहा कि "मैं वज्जियों पर आक्रमण करूंगा, चाहे वे कितने भी शक्तिशाली क्यों न हो, मैं इन वज्जियों को समूल नष्ट कर दूंगा। मैं इन वज्जियों का नाश कर दूंगा।" इसलिए उसने अपने ब्राह्मण मंत्री वस्सकार को बुलाया और कहा कि आप महात्मा के पास जाएं और मेरे प्रतिनिधि के रूप में उनके चरणों का नमन करे और उनसे आग्रह पूर्वक पूछें कि क्या वे शांति पूर्वक स्वस्थ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। तब उन्हें कहें कि मैं वज्जियों पर आक्रमण करके उनका विनाश कर देना चाहता हूँ, उसके बाद ध्यानपूर्वक उनकी बातों को सुनें तथा जो कुछ भी उनके शब्द हों उसको सतर्कतापूर्वक स्मरण कर मेरे पास लौट कर आएं और ठीक उसी प्रकार मुझको दुहराएं क्योंकि बुद्ध जन कभी भी असत्य नहीं बोलते।

वस्सकार अपने अनेक रथों के साथ वृद्धकूट पर्वत के निकट जा पहुंचा, वहां उसने अपने रथों को छोड़ दिया और पैदल ही बुद्ध के पास जाने लगा। बुद्ध के निकट पहुंच कर उसने बुद्ध का सादरपूर्वक अभिवादन किया और काफी सम्मानीय ढंग से उनके निकट बैठकर उनको राजा का संदेश सुनाया। उस समय बुद्ध के पीछे उनके शिष्य आनंद खड़े होकर उनको पंखा झेल रहे थे। बुद्ध ने उनसे पूछा कि क्या उन्होंने सुना है कि वज्जि के लोग समय-समय पर सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करते हैं। आनंद ने उत्तर दिया कि जी हाँ उन्होंने ऐसा सुना है। बुद्ध ने कहा कि आनंद, जब तक, वज्जि इस तरह एक साथ मिल जुल कर रहेंगे, एक साथ उठेंगे और एक साथ सहमति से अपने कार्यों को करेंगे, जैसा कि पहले से उनके बीच स्थापित परंपरा है, वो सब कुछ वैसा ही करते रहेंगे। उसमें कोई भी कटौती नहीं करेंगे, वज्जियों की प्राचीन संस्थाओं के अनुरूप वे कार्य करते रहेंगे, जब तक वे वज्जियों के बुजुर्ग लोगों को आदर तथा सम्मान भाव से देखते रहेंगे और उनकी सहायता करेंगे, ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझेंगे, अपने वचन पर खड़े उतरेंगे, जब तक वे अपनी औरतों और लड़कियों का अपहरण नहीं करेंगे, जब तक वज्जि क्षेत्र के नगरों और गांवों में स्थित मंदिरों को उसी प्रकार सहायता प्रदान करते रहेंगे तथा अर्पण करते रहेंगे, जिस प्रकार पहले से होता चला आ रहा है, जब तक वे अर्हन्तो को पूरा आदर सम्मान और सुरक्षा प्रदान करेंगे, (अर्हन्त वैसे लोगों को कहा गया है जिन्होने ज्ञान की प्राप्ति कर ली है), जब तक दूर प्रदेशों से अर्हन्त आकर उनके क्षेत्र में सुख पूर्वक निवास करते रहेंगे, जब तक वे इस प्रकार की परिस्थितियों का अनुपालन करेंगे, वज्जियों का कभी भी पतन नहीं होगा, बल्कि उनकी समृद्धि बढ़ेगी।

बुद्ध ने फिर वस्सकार को संबोधित करते हुए कहा कि हे ब्राह्मण! एक बार मैं वैशाली के सारंडार मंदिर में निवास कर रहा था, मैंने वज्जियों के कल्याण के लिए उपरोक्त परिस्थितियों को फिर से दोहराया और उनको कहा कि जब तक उनके बीच इन कल्याणकारी परिस्थितियों का अस्तित्व रहेगा, मैं समझता हूँ कि उनका कभी भी पतन नहीं होगा बल्कि वे और भी समृद्ध शाली बनेंगे।

ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि तब हमको यह मान लेना चाहिए कि उपरोक्त बतलायी गयी सात कल्याणकारी परिस्थितियों में से यदि किसी एक भी परिस्थिति का अस्तित्व वज्जियों के बीच बना रहेगा तब तक उनको कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। इसलिए हे गौतम, वज्जियों को मगध के राजा किसी युद्ध में नहीं बल्कि कूटनीति के सहारे और उनके बीच के सौहार्द्र को तोड़ने के बाद ही जीत सकते हैं। हे गौतम, अब हम लोगों को जाना चाहिए क्योंकि हम लोग बहुत सारे अन्य कार्यों में व्यस्त हैं।

हे ब्राह्मण, आप जैसा सबसे उचित समझे, यह बुद्ध का उत्तर था और तब वस्सकार अत्यंत उत्साहित और प्रसन्न होकर उठ खड़े हुए और महात्मा से उन्होंने विदा ली।

वस्सकार ने इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त कर लिया था और वज्जियों को हराने के लिए वह इसके अनुरूप रणनीति तैयार करने में जुट गया।

स्रोतः रीस डेविड्ज (1910, 1951: 78-81)

इन दोनों राजनीतिक व्यवस्थाओं में भूमि के स्वामित्व का प्रश्न भी अलग-अलग दृष्टि से देखा जा सकता है। क्षत्रिय कुलीन तंत्र, गणों में रहने वाले सबसे बड़े भूमिपति भी हुआ करते थे। वॉल्टर रूबेन ([1966], 1969) के अनुसार, इन कुलीन परिवारों का भूमि पर अधिकार था और व्यक्तिगत स्वामित्व के अधीन भूमि का प्रचलन था। लिच्छवियों के द्वारा इस सम्बंध में एक कहानी प्रचलित है। इसके अनुसार, लिच्छवियों के क्षेत्र में अम्बपाली

नाम की एक अत्यंत सुंदर स्त्री रहती थी, जिसे विवाह करने का अधिकार नहीं था, बल्कि सभी लिच्छवी पुरुष उसको प्राप्त कर सकते थे। इस कथा के आधार पर हम उनके भूमि सम्बंधो के बारे में भी कुछ कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

गणों या संघों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता संवाद और परस्पर वार्तालाप के द्वारा प्रशासन था। दूसरी ओर शायद यही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी भी रही होगी, क्योंकि आंतरिक मतभेद हमेशा बना रहता था। विशेष रूप से जब राजतंत्रों के द्वारा आक्रमण की स्थिति बनती होगी, तब यह मतभेद और भी उजागर हो जाता होगा। *ललितविस्तार* में यह वर्णन है कि संभावी बुद्ध स्वर्ग में प्रतीक्षारत थे कि उनका अब धरती पर जन्म होगा। प्रश्न यह उठाया गया कि किस कुल में उनका जन्म होना चाहिए? अन्य देवता गण और बोधिसत्वों ने इस पर विचार किया और वैशाली के लिच्छवियों में उनके जन्म के प्रस्ताव को उन्होंने ठुकरा दिया। उन्होंने कहा कि यहां के लोग आपस में भली प्रकार बातचीत नहीं करते, ये धर्म का अनुसरण नहीं करते और सामाजिक श्रेणी या उम्र का ख्याल नहीं रखते। किसी के अनुयायी नहीं बनते। सभी सोचते हैं कि मैं राजा हूं। मैं राजा हूं। इसी प्रकार *अर्थशास्त्र* में कहा गया है कि संघ तब तक अविजित रहेगा, जब तक उनमें आपसी सौहार्द्र बना रहेगा। संघ को आत्म नियंत्रण में रहने की सलाह दी गयी है और आपसी भेद-भाव को भूलकर एक संधि की अवस्था को कायम करने की भी सलाह दी गयी है।

अष्टाध्यायी में भी क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ, हस्तिनायन, प्रकन्व, मद्र, मधुमंत, अप्रित, वसति, भग्ग, शिबी, आश्वायन, अश्वकायन, इत्यादि गणों का उल्लेख किया गया। कुछ बाद के संदर्भों में मथुरा क्षेत्र में वृष्णि, अंधक तथा अन्य सहयोगी जनजातियों के एक संघ की चर्चा की गई है। वासुदेव कृष्ण का वर्णन संघ-मुख्यि के रूप में किया गया है। *महाभारत* में भी इन गैर राजतांत्रिक राज्यों की चर्चा की गयी है। मेगास्थनीज की *इंडिका* और सिकन्दर के आक्रमण से जुड़े अन्य यूनानी वृत्तांतों में भी इनका उल्लेख है।

यौधेय, मालव, उदेहिक और आर्जुनायन जैसे गणों के नाम प्रारंभिक शताब्दियों के सिक्के में देखे जा सकते हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख उस समय के अभिलेखों में भी हुआ है। चौथी शताब्दी सा.सं. में चन्द्रगुप्त-I ने लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया था और इस विवाह के उपलक्ष्य में स्वर्ण सिक्के निर्गत करवाए थे। समुद्रगुप्त को लिच्छवियों के नाती के रूप में अभिलेखों में कहा गया है। निश्चित रूप से लिच्छवि उस काल तक ऐसी राजनीतिक शक्ति रही होगी, जिसके साथ वैवाहिक सम्बंध बनाया जा सकता था, जो सम्मान की बात रही होगी। यह भी प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के सैन्य अभियानों के दौरान बहुत सारे गणों का नाश हो गया और यदि पूर्ण रूप से इनका लोप नहीं भी हुआ हो तो ये निश्चित रूप से राजनीतिक महत्त्वहीनता की स्थिति में चले गए। प्राचीन भारत में गणों का इतिहास 1000 वर्षों का है। विभिन्न राजतंत्रों के हाथों में वे पराजित होते चले गए। इसका कारण उनके प्रशासन व्यवस्था की दुर्बलता और सैन्य संगठन में कमी के कारण माना जा सकता है। जबकि दूसरी ओर राजतांत्रिक राज्यों की राजनीतिक महत्त्वकांक्षा, चक्रवर्ती सम्राट तथा सर्वभौम जैसी शब्दावलियों के लोकप्रिय प्रयोग के रूप में देखी जा सकती है। चक्रवर्ती राजा की महत्त्वाकांक्षा जम्बूद्वीप पर शासन करने की थी अर्थात सम्पूर्ण उपमहाद्वीप पर। बहुत वर्षों बाद मगध ने इस राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को एक यर्थाथ में बदलने का कार्य किया।

राजनीतिक संघर्ष और मगध साम्राज्य का उदय

(Political Conflicts and the Growth of the Magadhan Empire)

मगध की राजनीतिक सर्वोच्चता की प्राप्ति को पुराण, बौद्ध एवं जैन स्रोतों में उपलब्ध सूचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा फिर से रेखांकित किया जा सकता है। इन स्रोतों में दी गयी राजवंशों की सूचियां एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। बौद्ध एवं जैन परंपरा आपस में इस बात की होड़ में प्रतीत होते हैं कि उस काल के महान शासक उनके धर्म के अनुयायी थे जबकि पुराणों में वैसे शासकों के प्रति द्वेष का भाव देखा जा सकता है जो इन सम्प्रदायों का समर्थन करते थे। इस काल का राजनीतिक आख्यान उत्तराधिकार के संघर्ष, षड्यंत्र, हत्या की राजनीति और राजनीतिक संघर्षों से ओत-प्रोत है। राजनीतिक संघर्षों के अतिरिक्त जन, जमीन और संसाधन के लिए भी संघर्ष हो रहे थे। जो राज्य विजित हुए उनकी सेनाएं मजबूत थीं और ऐसा इसलिए था कि उनकी राजनीतिक नीतियां और प्रशासनिक नियंत्रण अधिक प्रभावशाली थे।

मगध के राजनीतिक सर्वोच्चता की दिशा में सबसे पहले बिम्बिसार का नाम लिया जा सकता है। *महावंश* के एक कथन के अनुसार, बिम्बिसार का उसके पिता ने पंद्रह वर्ष की आयु में राज्याभिषेक कर दिया। इससे परोक्ष रूप से यह पता चलता है कि वह अपने राजवंश का संस्थापक नहीं था। बौद्ध स्रोतों ने बिम्बिसार के साथ 'सैनिक'

अन्यान्य परिचर्चा

मगध के प्रारंभिक राजवंशों का कालानुक्रम

वैसे तो प्रारम्भिक राजवंशों के राजाओं के राज्यकाल से जुड़ी सटीक तिथियों का निर्धारण कर पाना काफी कठिन है, फिर भी हर्यंक, शैशुनाग और नंद वशों के लिए अधोलिखित कालानुक्रम प्रस्तावित हैं:

बिम्बिसार	545-493 सा.सं.पू.
अजातशत्रु	493-462 सा.सं.पू.
हर्यंक वंश के अन्य चार उत्तराधिकारी	462-430/413 सा.सं.पू.
शिशुनाग और उनके उत्तराधिकारी	430/413-364 सा.सं.पू.
नंद वंश	364/345-324 सा.सं.

उपरोक्त वंशों से जुड़ी तिथियों की गणना के लिए विभिन्न राजाओं के राज्यकाल की पृथक-पृथक उपविधियों के अतिरिक्त इनके वंशीय क्रियाकलाप को बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति की तिथि के सापेक्ष तुलनात्मक अध्ययन को आधार बनाया गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार, बुद्ध की मृत्यु अजातशत्रु के राज्याभिषेक के 8वें वर्ष में हुई थी। किंतु पहले भी यह चर्चा की जा चुकी है कि बुद्ध की मृत्यु की तिथि को लेकर कभी भी सर्वसम्मति नहीं बन सकी। हर्यंक, शैशुनाग और नंद वंशों के कालानुक्रम इस अनुमान पर आधारित हैं कि बुद्ध की मृत्यु 486 सा.सं.पू. के आसपास हुई थी। यदि परिनिब्बान की यह तिथि 378 सा.सं.पू.-348 सा.सं.पू. के बीच निर्धारित की जाती है, तब उपरोक्त सभी तिथियां उसके अनुरूप संशोधित करनी पड़ेगी। हालांकि, इस वक्त हमको प्राचीन कालानुक्रम को अस्वीकृत करने की कोई आवश्यकता नहीं महसूस होती क्योंकि एक संभावित वंशानुक्रम उस आधार पर कम से कम तैयार हो जाता है।

या 'श्रेणिक' शब्द का प्रयोग किया है जिससे लगता है कि प्रारंभिक दौर में वह सेनापति रहा होगा, शायद वज्जियों का। किन्तु *महावंश* में ऐसा कोई भी संदर्भ नहीं है जो इस बात को सिद्ध कर सके। अश्वघोष के *बुद्धचरित* में बिम्बिसार हर्यंक कुल का एक सदस्य था।

दूसरे बौद्ध ग्रंथ *महावग्ग* में चर्चा है कि बिम्बिसार की पांच सौ पत्नियां थीं। हमें इस बात की जानकारी है कि बिम्बिसार के द्वारा की गयी वैवाहिक संधियों के कारण मगध शक्तिशाली हो सका। उसने कोसल के शासक प्रसेनजित की बहन महाकोसला से विवाह किया था। इस विवाह में उसे काशी का एक गांव दहेज में दिया गया था। उसने विदेह राजकुमारी खेमा के साथ भी विवाह किया था जो मध्य पंजाब के मद्र शासक की बेटी थी।

बिम्बिसार की पहली राजधानी गिरिव्राज थी जो आधुनिक राजगीर है, उसने अंग के विरूद्ध एक सैन्य अभियान का नेतृत्व किया और वहां के शासक ब्रह्मदत्त के द्वारा अपने पिता की हार का प्रतिशोध लिया। यह अभियान सफल था। अंग को मगध में मिला लिया गया। कुनिक (अजातशत्रु) को चंपा का गवर्नर नियुक्त किया गया। अवंती के राज प्रद्योत के बीमार पड़ने पर बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को भेजा था और इससे दोनों के बीच के घनिष्ठ सम्बंध को देखा जा सकता है।

महावग्ग में यह वर्णन किया गया है कि बिम्बिसार का एक विशाल साम्राज्य था जिसमें हजारों समृद्ध गांव अवस्थित थे। बौद्ध स्रोतों के अनुसार, गांवों का प्रशासन ग्रामक के अधीन एक सभा के द्वारा संचालित होता था। इनमें महामात्र श्रेणी के उच्चाधिकारियों की भी चर्चा की गयी है जिनमें कार्यपालिका, न्यायपालिका की शक्ति के अलावा सैन्य शक्तियां भी निहित थीं। बिम्बिसार के व्यक्तिगत अधिकारियों में सोना कोलीविश का नाम भी आता है, उसके अलावा सुमन नाम के एक मालाकार की भी चर्चा है जो रोज उसे बेली के फूल दिया करता था। उसके कोलिय नामक एक मंत्री और कुम्भाघोसक नाम के कोषाधिकारी और जीवक नाम के वैद्य का भी उल्लेख आता है। राजा को 'सेनिय' कहा गया है जिससे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि वह स्थायी तौर पर एक बड़े सैन्य-संगठन को अपने अधीन रखता था और राजकीय कोष के द्वारा उनको वेतन दिया जाता था। इस प्रकार बिम्बिसार के काल से ही युद्ध काल में गठित की जाने वाली सेना के प्रचलन का लोप होने लगा था।

जैन स्रोतों के अनुसार, बिम्बिसार महावीर का अनुयायी था। *उत्तराध्ययन सूत्र* के अनुसार, बिम्बिसार ने अपनी पत्नियों, सम्बंधियों एवं प्रचारकों के साथ महावीर की शरण ली। बौद्ध स्रोत दूसरी तरफ यह बतलाते हैं कि बिम्बिसार बुद्ध का अनुयायी था। *सुत्तनिपात* के अनुसार, बिम्बिसार ने गौतम से उनके ज्ञान प्राप्ति के सात वर्ष पहले मुलाकात की थी, दूसरी बार उसकी भेंट बुद्ध से राजगीर में हुई जब बुद्ध वहां अपने अनेक शिष्यों के साथ मगध की राजधानी आए थे। बिम्बिसार ने उस अवसर पर उनकी शिक्षाओं को स्वीकार कर लिया और बौद्ध भिक्षुओं को अपने राजप्रासाद में बढ़िया भोजन कराया। इस अवसर पर 'वेलुवन' नामक एक बगीचे को उसने संघ को दान में भी दिया। एक-दूसरे अवसर पर बिम्बिसार ने अपने प्रसिद्ध वैद्य जीवक को बुद्ध एवं उनके शिष्यों का इलाज करने के लिए भेजा था। राजा

की पत्नी खेमा भी बौद्ध धर्म से प्रभावित थी। *विनयपिटक* में बनाए गए बहुत सारे नियम-परिनियमों के बारे में यह कहा जाता है कि वह बुद्ध को बिम्बिसार के द्वारा दिए गए सुझाव के आधार पर बनाए गए थे जिनमें बौद्ध भिक्षुओं को फलों का सेवन, बरसात के दौरान एक स्थान पर प्रवास तथा कई अन्य बातें कही जाती हैं। एक बार जब बुद्ध को गंगा नदी पार कराने के लिए वहां के नाविक ने इंकार कर दिया, तब बुद्ध ने गंगा को पार कराने के लिए किसी भी भिक्षु से शुल्क नहीं लेने का प्रावधान स्थापित कर दिया। इस प्रकार की कथाओं का कोई निश्चित ऐतिहासिक आधार तो नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक बौद्ध परंपरा में बिम्बिसार एक महत्त्वपूर्ण शासक था।

बौद्ध स्रोतों के अनुसार, बिम्बिसार की मृत्यु उसके पुत्र कुनिक के हाथों हुई जो बाद में अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐसा भी कहा जाता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त के उकसाने पर की थी। बाद में अजातशत्रु ने बुद्ध के समक्ष अपने इस जघन्य पाप का प्रायश्चित किया दूसरी ओर जैन स्रोतों के अनुसार, अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या नहीं की बल्कि उसे बंदी बनाकर स्वयं राजगद्दी पर जा बैठा। इस दौरान चेलना नाम की रानी ने कारागार में अपने पति के प्रति जो सेवा भक्ति दिखलाई उससे द्रवित होकर अजातशत्रु कारागार के फाटक को तोड़कर अपने पिता से गले मिलने के लिए उद्धत हुआ। उसी समय बिम्बिसार ने अपने संभावित हत्या की प्रत्याशा में जहर खाकर स्वयं को मार डाला।

अजातशत्रु के अधीन भी मगध का सतत् विस्तार होता रहा। इस क्रम में मगध का कोसल के साथ संघर्ष महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। प्रसेनजित कोसल का शासक था वह अजातशत्रु के द्वारा पिता की हत्या किए जाने से अत्यंत क्रुद्ध था। इसका कारण यह था कि बिम्बिसार की एक पत्नी महाकोसला थी जो प्रसेनजित की बहन थी और इस घटना के बाद उसकी बहन की शीघ्र मृत्यु हो गयी। प्रसेनजित ने काशी गांव को वापस ले लिया जो उसने अपनी बहन को दहेज में दिया था। उसके बाद कोसल और मगध के बीच युद्ध हुआ। प्रसेनजित की हार हुई

अजातशत्रु की बुद्ध से भेंट

प्राचीन भारत के धार्मिक संप्रदायों के विकास में राजकीय संरक्षण का विशेष योगदान रहा है। बौद्ध परंपरा में या बौद्ध धर्म में, बौद्ध धर्म के इतिहास में अजातशत्रु का बुद्ध से मिलना एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। यह घटना द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के एक उभारदार दृश्यांकन में दिखलायी गयी है। जो मध्य भारत में स्थित भरहुत स्तूप के पश्चिमी द्वार के रेलिंग स्तंभ पर अवस्थित है।

इस दृश्य का पहला भाग पैनल के बायीं ओर निचले हिस्से में उत्कीर्ण किया गया है, जो यह दिखलाता है कि एक शाही जुलूस जा रहा है जिसकी अगुवानी हाथी पर सवार राजा कर रहे हैं। उनकी रानियां उनके बाद अन्य हाथियों पर हैं। राजा के इस दृश्य के दायीं ओर एक दूसरा चित्र अंकित है जिसमें राजा को हाथी से उतरते हुए दिखलाया गया है और वह दो आमों के वृक्षों के नीचे खड़ा है और उसका दाहिना हाथ ऊपर उठा हुआ है, मानो वह कुछ उद्‌बोधन कर रहा हो। तीसरे दृश्य में, जो पीछे की बायीं ओर है राजा अपनी रानियों के साथ करबद्ध होकर आदरपूर्वक खड़े हैं और अंतिम दृश्य जो ऊपरी हिस्से के दायीं ओर है, वहां राजा बुद्ध के प्रतीक उनके पद्‌चिह्नों का नमन कर रहे हैं।

हम जानते हैं कि यह दृश्य अजातशत्रु के द्वारा बुद्ध से की गयी भेंट का है क्योंकि इस पैनल के बगल में एक प्राकृत अभिलेख है। 'अजातशत्रु भगवतो वन्दते' अर्थात् अजातशत्रु भगवान (बुद्ध) की वंदना कर रहे हैं।

और उसे राजधानी छोड़कर भागना पड़ा। एक अन्य युद्ध में अजातशत्रु को भी पकड़ लिया गया था, किन्तु उसे जीवन दान दे दिया गया। संधि विग्रह के दौरान काशी अजातशत्रु को लौटा दिया गया और उसका वजिरा नाम की कोसल राजकुमारी के साथ विवाह भी कर दिया गया। प्रसेनजित इस हार के तुरंत बाद षड्यंत्र के तहत अपदस्थ कर दिया गया। वह अजातशत्रु के पास राजगीर के निकट सहायता के लिए पहुंचा किन्तु नगर के द्वार के बाहर ही उसकी मृत्यु हो गयी। अजातशत्रु की सफलताओं में लिच्छवियों पर विजय को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

बौद्ध स्रोत के अनुसार, लिच्छवियों ने ही इस संघर्ष के लिए मगध को उकसाया था। इसके पीछे कारण बतलाया जा सकता है कि लिच्छवियों ने गंगा के तट पर किसी पहाड़ी की तराई में रत्नों की खान को अजातशत्रु को देने का वादा किया था जिससे वे मुकर गए। जबकि जैन स्रोत के अनुसार, इस संघर्ष की शुरुआत अजातशत्रु की सौतेले भाइयों हल्ला और वेहल्ला के द्वारा 'सेयनाग' ('सेचक' क्योंकि उस हाथी की आदत थी कि वह दरबार की स्त्रियों पर अपने सूंड से जल का छिड़काव करता था) नामक एक विशेष हाथी को देने से इंकार करने के कारण हुआ। इसके अलावा उनके पास अठारह लड़ियों वाला मोतियों का एक मूल्यवान हार था, जिसे बिम्बिसार ने उनको दिया था। इसे लेकर राजकुमारियां वैशाली अपने नाना के घर चली गयी और इन दो मूल्यवान वस्तुओं को भी अपने साथ लेते गयीं। इन्हीं के कारण युद्ध की शुरुआत हुई। ऐसा लगता है कि लिच्छवियों के इस संघर्ष में अन्य गणों ने भी उसका साथ दिया और शायद कोसल भी लिच्छवियों के पक्ष में लड़ा था।

लिच्छवियों की शक्ति उस समय पराकाष्ठा पर थी। अजातशत्रु यह समझता था कि वह अपने मंत्री वस्सकार को एक विशेष गुप्त अभियान के तहत वहां भेजकर लिच्छवियों के सामाजिक सौहार्द्र में षड्यंत्र के द्वारा फूट डाल दे। यह रणनीति सफल रही। बौद्ध स्रोतों के अनुसार, अजातशात्रु ने बाद में लिच्छवियों पर आक्रमण कर दिया। उस समय कहा जाता है कि लिच्छवि के राजपरिवार आपस में इस बात को तय करने में व्यस्त थे कि अजातशत्रु से किस प्रकार वैशाली की सुरक्षा की जा सके। जैन ग्रंथों में कहा गया है कि अजातशत्रु के पास युद्ध के लिए दो विशेष प्रकार के उपकरण थे—एक के द्वारा पत्थरों के बड़े टुकड़ों को शत्रुओं के ऊपर फेंका जाता था और दूसरे उपकरण के अंतर्गत एक ऐसा रथ था जिसके चारों ओर अस्त्र-शस्त्र निकले होते थे और शत्रु सेना में ये खलबली मचा देते थे। लिच्छवियों के विरूद्ध आक्रमण को प्रभावशाली बनाने के लिए ही अजातशत्रु ने गंगा के तट पर पाटलीग्राम नामक स्थान पर दुर्गों का निर्माण किया। बाद में यह पाटलिपुत्र महानगर के रूप में प्रसिद्ध हुआ। अजातशत्रु और लिच्छवियों के बीच का यह संघर्ष लंबा चला और इसका काल 484-468 सा.सं.पू. के बीच बतलाया जाता है। अंत में मगध की विजय हुई। अजातशत्रु ने अवंती के चंड प्रद्योत को भी पराजित किया।

जैसा कि बिम्बिसार के बारे में कहा जाता है, अजातशत्रु को भी महावीर का अनुयायी बताया जाता है और बौद्ध स्रोतों में उसे बुद्ध का अनुयायी। जैन ग्रंथ यह वर्णन करते हैं कि राजा वैशाली और चंपा में महावीर के साथ मिले थे और वे महावीर की शिक्षा से अत्यंत प्रभावित थे। बौद्ध ग्रंथों में अजातशत्रु को बुद्ध के समक्ष जाकर अपने पितृहन्ता होने का प्रायश्चित करते हुए दिखलाया गया है।

बुद्ध की मृत्यु के बाद अजातशत्रु कुशीनारा गया, वहां से उसने बुद्ध की अस्थियों को अपने साथ लाया क्योंकि बुद्ध एक क्षत्रिय थे। राजगीर में उसने बुद्ध की अस्थियों के ऊपर एक स्तूप का निर्माण करवाया तथा कई बौद्ध विहारों तथा राजगीर के आस-पास बौद्ध विहारों का जीर्णोद्धार किया। बौद्ध स्रोतों में यह भी कहा गया है कि अजातशत्रु के काल में ही पहली बौद्ध संगीति राजगीर में बुलाई गयी। यह संगीति बुद्ध की मृत्यु के तुरंत पश्चात् प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा संबोधित की गयी।

बौद्ध स्रोतों में यह भी कहा गया है कि अजातशत्रु के बाद चार शासक और हुए और सभी पितृहन्ता कहे गये हैं। इन चार शासकों ने संयुक्त रूप से छप्पन वर्षों तक शासन किया। बौद्ध ग्रंथ यह भी बतलाते हैं कि अजातशत्रु के तुरंत बाद उदयभद्र गद्दी पर बैठा। जैन ग्रंथों में उदयभद्र को उदयन भी कहा गया है। पुराणों में उदयन के पहले दर्शक नामक एक राजा का नाम भी आता है। उदयन को पितृहन्ता नहीं बतलाते हुए जैन स्रोत उसे एक पितृभक्त के रूप में चित्रित करते हैं। जिसने राजा बनने के पहले पिता के प्रतिनिधि के रूप में चंपा में शासन किया था। उसी ने बाद में पाटलिपुत्र नगर की स्थापना भी की। उसे एक जैन अनुयायी बताया जाता है जो जैन परंपरा के अनुरूप कई दिनों तक व्रत एवं उपवास में रहता था। जैन स्रोत के अनुसार, उदयन की हत्या अवंती के राजा के द्वारा भेजे गए एक पेशेवर हत्यारे के द्वारा की गयी जब वह ध्यान पूर्वक किसी धर्म उपदेश को सुन रहा था। पुराणों के अनुसार, उदयन के बाद नंदिवर्धन और महानंदन मगध का शासक बना। बौद्ध स्रोतों में इस सूची में अनिरूद्ध, मुंडा और नागदर्शक के नाम आते हैं।

मगध के लोगों ने बिम्बिसार, अजातशत्रु के राजवंश को अपदस्थ कर दिया और आमात्यों में से एक शिशुनाग को राजद्दी पर बैठाया। शिशुनाग ने वैशाली को अपनी दूसरी राजधानी बनायी। *महावंशटीका* के अनुसार, वह वैशाली के एक लिच्छवी राजा का पुत्र था। उसने अवंती के प्रद्योत के राजवंश को समाप्त कर दिया।

वत्स और कोसल के राजतंत्रों को भी उसने मगध में मिलाया। शिशुनाग का पुत्र कालशोक था जो पुराणों में काकवर्ण के नाम से प्रसिद्ध है। उसके ही काल में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र बनी और इस काल में दूसरी बौद्ध संगीति वैशाली में बुलायी गयी। शैशुनाग राजवंश का खूनी अंत हुआ। नंद राजवंश की स्थापना इस हत्या कांड के बाद की गयी।

पुराणों के अनुसार, नंद राजवंश का संस्थापक महापदमनंद था जबकि बौद्ध स्रोत में उसका नाम उग्रसेन बतलाते है। जैन ग्रंथ *परिशिष्टपर्वन* के अनुसार, पहला नंद शासक हज्जाम का एक बेटा था जो एक गणिका से उत्पन्न हुआ था। यूनानी लेखक क्यूरिटस के अनुसार, वह एक हजाम था, जिसका प्रेम प्रसंग एक रानी के साथ चल रहा था। उसी के कहने पर उसने राजा की हत्या कर दी। पुराणों में महापद्मनंद को शैशुनाग वंश के एक राजा की शुद्र स्त्री से उत्पन्न पुत्र बतलाया गया है। इसलिए नंद राजाओं को पुराणों में अधार्मिक की श्रेणी में रखा गया है। बौद्ध ग्रंथों में नंद वंश को 'अज्ञात कुल' (जिसका वंश ज्ञात न हो) कहा गया है। *महावंशटीका* के अनुसार, उग्रसेन एक ऐसा व्यक्ति था जो सीमांत प्रदेश के डकैतों के हाथों में पड़ गया और बाद में उनका नेता बना और इसी क्रम में उसने अनेक सैन्य अभियानों को सम्पन्न किया।

पुराण, बौद्ध और जैन परंपराओं में यह समान रूप से स्वीकार किया गया है कि नौ नंद राजा हुए। हालांकि, पुराणों में यह कहा गया है कि एक राजा पिता था और बाकी आठ उसके पुत्र थे। जबकि बौद्ध स्रोतों में इन सभी को आठ भाइयों के रूप में बतलाया गया है। पुराणों में केवल महापद्मनंद और उसके एक पुत्र सुकल्प की चर्चा की गयी। *महाबोधिवंश* के अनुसार, इन नौ राजाओं की सूची इस प्रकार है—उग्रसेन, पांडुक, पांडुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविशनक, दाससिद्धक, कैवर्त तथा धनानंद।

पुराणों में महापद्मनंद को 'एकराट' (सार्वभौमिक शक्ति से संपन्न) या 'सर्वक्षत्रान्तक' या 'क्षत्रियों को समूल नष्ट करने वाला' के रूप में चित्रित किया गया है। नंदो के द्वारा कलिंग पर किये गये सैन्य अभियान की चर्चा खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में देखी जा सकती है जिसके अनुसार, नंद नामक राजा ने एक जैन मंदिर पर आक्रमण करके वहां से एक जैन मूर्ति को उठाकर मगध ले गया। नौ नंद डेहरा (नानदेड़) को लेकर जो गोदावरी के किनारे स्थित है, कुछ विद्वानों का मानना है कि ये नंदो के अधीन था और इस प्रकार नंदों का शासन दक्कन तक बतलाया जाता है। विंध्य पर्वत शृंखला के दक्षिण में नंद शासन का विस्तार हालांकि, अन्य स्रोतों के द्वारा समर्थित नहीं है।

सिकंदर के आक्रमण के समय मगध का शासक धननंद था। यूनानी स्रोतों में उसका नाम एग्रैम्रीज या जैन्ड्रैमीज कहा गया है (जो शायद औग्र सेना या उग्रसेन के पुत्र का यूनानीकरण होगा)। उसे प्रासी (प्राच्य या पूर्वी लोगों) का शासक बतलाया गया है, और जिसका शासन निचली गंगा नदी घाटी पर था। कर्टियस के अनुसार, उसकी सेना में बीस हजार घुड़सवार, दो सौ हजार पैदाल सेना, दो हजार रथ सेना तथा तीन हजार हाथी थे। अन्य यूनानी स्रोत में 4,000 या 6,000 हाथियों की सेना की चर्चा की गयी है। ये भी एक बढ़ा-चढ़ा कर दी गयी सांख्यिकी हो सकती है, लेकिन निश्चित रूप से यूनानियों के अनुसार, नंद की सेना अत्यंत शक्तिशाली थी। बाद के भारतीय स्रोतों में धननंद के समृद्धि की चर्चा की गयी है उसे लालची और शोषणकारी बताया गया है। जिसके कारण उसकी लोकप्रियता बिलकुल खत्म हो चुकी थी।

जैन स्रोतों में नंदो के बहुत सारे उन मंत्रियों की चर्चा गयी है जौ जैन धर्मावलंबी थे। कालपक पहले नंद शासक का मंत्री था। कथा के अनुसार, वह उस पद पर जाने को तैयार नहीं था। लेकिन राजा के द्वारा अपनायी गयी आक्रामक विस्तारवादी नीति से प्रभावित होकर उसने इस पद को स्वीकार कर लिया। जैन ग्रंथो के अनुसार, नंदो के अधीन मंत्री पद वंशानुगत था। शाकातल की मृत्यु के बाद, जो नवे नंद शासक का मंत्री था, उसके पुत्र स्थूलभद्र को मंत्री बनाया गया, जिसने इस पद को अस्वीकार करते हुए एक जैन भिक्षु बनना स्वीकार कर लिया। बाद में स्थूलभद्र के भाई श्रीयक ने इस पद का स्वीकार किया।

नंद शासकों ने हर्यंक और शैशुनाग राजवंशो की स्थापना की। आधारशिला पर मगध को उत्तर भारत के शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में स्थापित कर दिया। मगध के राजनीतिक सफलता के विषय में बहुत सारी बातें कही गयी हैं। जिनमें इसकी भौगोलिक परिस्थिति को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मगध की पहली राजधानी राजगीर पांच पहाड़ियों से घिरी हुई थी और इसकी नयी राजधानी पाटलिपुत्र गंगा और सोन के संगम स्थल पर अवस्थित थी। इसके अतिरिक्त दक्षिण में सोन, उत्तर में गंडक और गोगरा के बीच स्थित होने के कारण मगध का महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों के साथ सम्बंध था। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि मगध में कभी ब्राह्मणवादी परंपरा का वर्चस्व नहीं रहा। इस कारण इसको शक्तिशाली बनने में काफी सहायता मिली। किन्तु इस तरह के कारकों का उस काल में राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व तय करना कठिन है।

कोसाम्बी ([1956] 1998: 158) के अनुसार, मगध का लौह अयस्क के स्रोतों पर एकाधिकार था। जिसके कारण मगध की साम्राज्यवादी और विस्तारवादी नीति सफल हो सकी। जैसा कि हम अध्याय-5 में भी चर्चा कर

चुके हैं कि मगध का किसी प्रकार से लौह अयस्कों पर एकाधिकार नहीं माना जा सकता और ऐसा भी प्रतीत होता है कि दक्षिण बिहार से प्राप्त होने वाले लौह अयस्कों का उपयोग काफी बाद के काल से शुरू हुआ। किन्तु निश्चित रूप से मगध के पास उपजाऊ भूमि थी। उसके पास सघन वन की लकड़ियां थी। वनो में हाथियों की प्राप्ति होती थी। छोटानागपुर का क्षेत्र उनके अधीन प्रतीत होता है जो खनिज, संसाधनों से परिपूर्ण था।

दूसरी ओर मगध के योग्य शासकों ने सफल सैन्य अभियानों के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण वैवाहिक संधियां भी की जिनके कारण साम्राज्य निर्माण में काफी सहायता मिली। मगध को इन शताब्दियों में जो सैन्य सफलताएं मिलीं और उसके कारण विस्तृत संसाधनों पर जो उनका नियंत्रण बना उसी आधार पर मगध की शक्तिशाली सेना का आधार रखा गया। उनके प्रशासनिक, राजस्व अथवा सैन्य संगठन के बारे में हमें बहुत विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है।

ईरान और मेसीडोनिया का आक्रमण

(The Persian and Macedonian Invasions)

छठीं शताब्दी सा.सं.पू. में ईरान का साम्राज्य भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश तक फैला हुआ था। अखमिनिड शासक कुरूश या साइरस (558-529 सा.सं.पू.) ने हिन्दु कुश पर्वत के दक्षिण पूर्व में स्थित, कपिशा को एक सैन्य अभियान में नष्ट कर दिया था।

यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस का कहना है कि 'इंडिया' (सिंधु नदी घाटी) ईरान के साम्राज्य का बीसवां और सबसे समृद्धशाली सत्रपी (प्रांत) था। दारावयुश या डेरियस-I (522-486 सा.सं.पू.) के बेहिस्तुन अभिलेख में कहा गया है कि ईरान के साम्राज्य के अंतर्गत गंधार, हरवती (अरकोसिया जिसमें दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान तथा उत्तर-पूर्वी अफगानिस्तान के कुछ हिस्से पड़ते थे) तथा मका (शायद ईरान और बलूचिस्तान का मकरान तट) सम्मिलित था। हमादान अभिलेख में हिदुस या हिंदुओं की चर्चा की गयी है जो सिंधु नदी घाटी प्रदेश के निवासी थे। डेरियस के पेरेसपोलिस और नख्श-ए-रूस्तम अभिलेखो में भी ईरान की प्रजा के अंतर्गत हिंदुओं और गान्धारों को भी रखा गया है। इस शासक ने स्कीलक्स के नेतृत्व में जहाजों के एक बेड़ा को सिंधु नदी के मुहाने की खोज करने के लिए भेजा था।

डेरियस के उत्तराधिकारी और पुत्र छायरस या जर्क्सीज 486-465 सा.सं.पू. ने भी गंधार और हिंदू प्रदेश को अपने अधीन रखा। उसकी सेना में गंधार और 'इंडिया' के सैनिक भी भर्ती थे। जेरेक्सस ने अपने साम्राज्य के एक विद्रोही प्रदेश का दमन किया जहां पर दैवों ने शरण ली थी। इसके विषय में गंधार क्षेत्र की कल्पना की जा सकती है किन्तु ईरान का यह साम्राज्य जर्क्सीज की मृत्यु के बाद समाप्त हो गया। किन्तु गंधार और 'इंडियन्स' इरान के साम्राज्य की प्रजा बने रहे। आर्टजर्क्सीज-II (405-359 सा.सं.पू.) और डेरियस-III (336-330 सा.सं.पू.) के काल तक भारतीय सैनिक ईरान की सेना में भर्ती होते रहे।

इन राजनीतिक प्रभावों के अलावा ईरान के राजनीतिक वर्चस्व का भारत पर जो सबसे स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, वह है खरोष्ठी लिपि की शुरुआत। यह अरमाइक लिपि से निकली हुई थी और ईरान के साम्राज्य की राजकीय लिपि थी। कुछ इतिहासकारों के अनुसार, ईरान के साम्राज्य का सांस्कृतिक प्रभाव मौर्यो के प्रशासन और कला पर भी पड़ा। किन्तु यह कहना कुछ अतिश्योक्ति भी है।

सन् 327-326 सा.सं.पू. में जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया। उस समय तक भारतीय प्रांतो पर ईरान के साम्राज्य का नाममात्र प्रभाव रह गया होगा। यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर के आक्रमणों के वृत्तांत बढ़ा-चढ़ा कर लिखे हैं। उसने सबसे पहले डेरियस के नेतृत्व में ईरान की सेना को हरा कर ईरान के साम्राज्य के पूर्वी प्रांतो की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया। उसने अफगानिस्तान में उपमहाद्वीप के अभियानों के पहले, दुर्गों की एक श्रृंखला स्थापित की। यूनानी स्त्रोतों के अनुसार, उस समय उत्तर-पश्चिमी हिस्से में बहुत सारे छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व था। कुछ युद्ध काफी लंबे चले जिनमें स्टेस नामक दुर्ग, असाकिनोइ नामक दुर्ग इत्यादि की चर्चा हुई है। असाकिनोई की सेना का नेतृत्व पूर्व के राजा की माँ ने किया था। यूनानी इतिहासकारों ने औरनस नामक दुर्ग के किलेबंदी के विषय में काफी कुछ लिखा है, क्योंकि इस किले के विषय में मान्यता थी कि स्वयं हेराक्लीस (कृष्ण) भी इस किले को ध्वस्त नहीं कर सकते थे।

सन् 326 सा.सं.पू. में सिकन्दर की सेना ने सिंधु नदी को पार किया। उस समय तक्षशिला का शासक आम्भी था। उसने सिकंदर को अपना समर्थन दिया। पुरू (पौरव या पोरस) जिसका राज्य झेलम और चिनाब नदियों के बीच में था उसने सिकंदर का प्रतिरोध किया, किन्तु अंत में उसकी हार हुई। झेलम के बाद सिकंदर ने व्यास की

प्राथमिक स्रोत

मल्ल के किले पर आक्रमण

यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर महान के जीवन और सैन्य उपलब्धियों के काफी जीवंत और विस्तृत वृतांत संकलित किए हैं। एरियन के *एनाबेसिस ऑफ एलेक्जेन्डर* जो पहली–दूसरी शताब्दियों में लिखा गया, सिकंदर के राज्यारोहण से लेकर उसकी मृत्यु तक के बीच का विवरण देता है। इस क्रम में उसके भारतीय अभियानों का भी चित्रण किया गया है। एरियन कहता है कि उसने अपनी सूचनाएं कसान्ड्रिया के एरिस्टोब्यूलस तथा लागूस के पुत्र टॉलमी के लेखनों से एकत्रित की है जो बाद में मिस्र का राजा बना। इन दोनो व्यक्तियों ने सिकन्दर के अभियानों में उसका साथ दिया था। एरियन के द्वारा किया गया मल्ल के किले पर सिकंदर द्वारा आक्रमण, इस प्रकार वर्णित है।

उस समय यह पाया गया कि वह किला अभी भी शत्रु सेनाओं के नियंत्रण में है और जिनमें से बहुत सारी सेनानी सिकन्दर के आक्रमण का प्रत्युत्तर देने को बिल्कुल तैयार है तब मेसिडोनिया की सेना में से कुछ लोगों ने सुरक्षा प्राचीर को तोड़ कर घुसने का प्रयास किया। जबकि कुछ अन्य मेसिडोनियाई सैनिकों ने सुरक्षा प्राचीर पर सीढ़ियां लगा दीं। वे लोग वैसा ही कर रहे थे जैसा उन्हें उपयुक्त लग रहा था। सिकन्दर ने देखा कि सेना की जो टुकड़ी सीढ़ियां लगा रही थी, वह काफी धीमी गति से कार्य कर रही थी। गुस्से में उसने एक व्यक्ति से सीढ़ी छिन ली और स्वयं उसको उठाकर सुरक्षा प्राचीर पर लगाने लगा। उसके बाद वह अपने ढाल के सहारे सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। सिकन्दर के बाद प्यूकएस्टास ऊपर चढ़ा। यह वह व्यक्ति था जो उस पवित्र ढाल को अपने हाथों में रखे हुए था जिसे सिकन्दर ने ट्रोय के एथेना के मंदिर से प्राप्त किया था और उस ढाल को सिकन्दर सदैव अपने साथ युद्धों में रखा करता था। प्यूक्एस्टास के बाद सीढ़ियों पर चढ़ने वाला व्यक्ति लियानेट्स था जो सिकंदर का सबसे विश्वासी अंग रक्षक था। तत्पश्चात् सीढ़ियों पर चढ़ने वाला एब्रियस था जिसे अपनी विशिष्ट सैन्य सेवाओं के कारण दुगुनी वेतन दी जाती थी। अब राजा सुरक्षा प्राचीर के बिल्कुल निकट जा पहुंचा था और अपनी ढालों के सहारे वह नीचे देख रहा था। वह अपने ढालों को आगे किए हुए था। उस स्थान पर खड़े भारतीय सैनिकों को वह अपने ढालों से पीछे ढकेल रहा था और उस हिस्से को अपनी सेना के प्रवेश के लिए साफ कर रहा था। दूसरे हाथ से वह शत्रु सैनिकों को तलवार से कत्ल भी कर रहा था। ढालों के साथ उसके खड़े सुरक्षाकर्मी इस आतुरता में कि वे राजा की सुरक्षा करें, उन्होंने उस सीढ़ी को ही तोड़ डाला जिसपर वे खड़े थे। इस प्रकार जो लोग उस सीढ़ी पर सवार थे, वे सभी गिर गये और उस ओर से सुरक्षा प्राचीर पर चढ़ना बिल्कुल असंभव हो गया। इस अवसर पर सिकन्दर सुरक्षा प्राचीर पर जा कर खड़ा हो गया और चारों ओर से उसपर निकटवर्ती टावरों से आक्रमण होने लगा। क्योंकि कोई भी भारतीय भय से उसके बिल्कुल निकट नहीं आ रहा था। वह नगर में स्थित लोगों के द्वारा बहुत कम दूरी से फेंके गये बरछों को भी झेल रहा था क्योंकि सुरक्षा प्राचीर के ठीक सटे हुए मिट्टी का टीला तैयार हो गया था। जिसपर लोग चढ़कर सिकंदर पर आक्रमण कर रहे थे। सिकंदर अपने अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति से पूर्णत: परिचित था और सिकन्दर की बहादुरी से लोग हैरान थे। उसने सोचा कि यदि वह उस स्थान पर बहुत देर तक टिका रह जाएगा तो वह आने वाले खतरों से घिर जाएगा और कुछ भी करने लायक नहीं बचेगा। लेकिन उसने यह भी सोचा कि किसी प्रकार वह किले में उतर जाता है तो शायद वह भारतीयों को अपने आक्रमण से आतंकित और अचंभित कर देगा। यदि ऐसा नहीं हो सका तब केवल खतरा मंडराते रहेगा इसलिए उसने किले में उतरने का निश्चय किया क्योंकि वह चाहता था कि उसके मरने के बहुत समय बाद भी लोग उसे याद रखें कि सिकंदर कभी भयग्रस्त नहीं हुआ और एक अभूतपूर्व शौर्यपूर्वक युद्ध करते हुए वह मारा गया। इस प्रकार का निश्चय कर के वह सीढ़ियों से सुरक्षा प्राचीर के नीचे उतर गया और किले में प्रवेश कर गया।

स्रोत: सा.सं.आइ. रॉबसन, संदर्भ आर.सी. मजूमदार (1960, 1981: 68-69)

ओर प्रस्थान किया किन्तु उस समय उसकी अपनी सेना ने उसके आगे के अभियानों का विरोध करना शुरू कर दिया क्योंकि वे वर्षों के युद्ध के बाद थक चुके थे और घर लौट जाना चाहते थे। सिकंदर को झेलम वापस आना पड़ा और इसके बाद उसने सिंधु डेल्टा क्षेत्र से होते हुए वापस जाना तय किया। अपने द्वारा जीती गयी इस क्षेत्र के प्रदेशों को उसने पोरस, अम्भि और अभिसर के हाथो में सौंप दिया। पंजाब प्रांत के पश्चिम में अवस्थित हिस्से को उसने अपने क्षत्रपों (गवर्नर) के हाथों सौंप दिया अथवा इन स्थायी हिस्सों में मेसिडोनियाई सैन्य छावनी को स्थापित कर दिया। लौटने के मार्ग में उसे मलोई (मालव), आक्सीड्रकाई (श्रुद्रक), सिबई (शिबी), अगालसोई

इत्यादि गणों का सामना करना पड़ा। अंत में सिंधु नदी के डेल्टा तक पहुंच सका और वहां से अपने स्थल मार्ग लेकर जिड्रोसिया होते हुए बेबिलोन की ओर प्रस्थान किया। दो वर्षों बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीय उपमहाद्वीप का उत्तरी पश्चिमी किनारा प्रभावित हुआ किन्तु इसका कोई बहुत दूरगामी प्रभाव नहीं दिखलायी पड़ता है। यह सही है कि उत्तर-पश्चिम में सेल्यूसिड राज्यों की स्थापना हुई जिसमें बौकेफल, निकाइया तथा कई एलक्जेंड्रिया में यूनानी बस्तियां बस गयीं। हाल में सिकंदर के आक्रमण के पुन: विश्लेषण से यह पता चलता है कि सिकंदर के आक्रमण और उसके पश्चात् उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में यूनानियों के प्रभाव को केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से देखना उचित नहीं है। बल्कि इसके वृहत्तर सांस्कृतिक और वाणिज्यिक प्रभावों का अवलोकन अधिक आवश्यक है। इससे भारत, फारस की खाड़ी और भू-मध्य सागर के बीच एक व्यापारिक सम्बंध स्थापित हुआ (रे, 2003: 166-67)। इस प्रकार जो यूनानी और रोमन इतिहास हमारे पास उपलब्ध है, उसके अतिरिक्त पुरातत्त्व अभिलेख और सिक्कों का भी विश्लेषण करना उतना ही जरूरी है।

भूमि और कृषि का विस्तार

(Land and Agrarian Expansion)

पाठ्यात्मक स्रोतों में उपलब्ध साक्ष्यों तथा प्रारम्भिक उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्‌माण्ड (NBPW) केन्द्रों से एकत्रित प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ल. 600-300 सा.सं.पू. के बीच के काल में गंगा नदी घाटी क्षेत्र में गाँवों की संख्या और आकार में अभूतपूर्व बढ़ोतरी हुई और साथ ही साथ इस क्षेत्र की ग्रामीण जनसंख्या में भी वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, मक्खन लाल (1984) ने इस अवधि के लिए कानपुर जिला के अध्ययन में यह पाया कि इस दौरान जहां PGW के 46 तथा BRW के केवल 9 स्थल थे। वहाँ NBPW संस्कृति के 99 स्थल मौजूद थे।

प्रारंभिक बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के ग्रामीण बस्तियों की चर्चा की गई है (वाग्ले, 1966: 13-16)। *विनयपिटक* की माने तो 1, 2, 3 अथवा 4 कुटियों वाले गाँव भी होते थे। यहां शायद कुटी से तात्पर्य वैसे उपग्रामों से है, जिसमें एक बड़े भवन के इर्द-गिर्द कई छोटे-छोटे घर अवस्थित होते थे। इसलिए गाम से तात्पर्य एक छोटे गाँव से लेकर स्थाई अथवा अस्थायी सभी प्रकार की बस्तियों से है। जिनमें आरामिक ग्राम (बागीचे के रखवाले), वड्ढकी ग्राम (बढ़ई का गाँव), लोनकार ग्राम (नमक बनाने वालों का गाँव) अनेक प्रकार के गाँव सम्मिलित हैं। इनसे यह पता चलता है कि वैसे गाँवों में रहने वाले अधिकांश लोग सम्बद्ध व्यवसाय से जुड़े हुए थे। गाँव के मुखिया को गमिक या गाम-गमनि कहा जाता था।

दरअसल, उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार की अर्थव्यवस्था का आधार, कई शताब्दियों से बन रहा था। बौद्ध धर्म ग्रन्थों में दी गई कृषि महत्त्व वाली उपमाओं से भी गंगा नदी घाटी में होने वाले कृषि के विकास को समझा जा सकता है। ऐसा कहा जाता है कि बौद्ध भिक्षुओं को मॉनसून के महीने में किसी एक ही स्थान पर प्रवास करने का प्रावधान इसलिए रखा गया कि बुद्ध को बहुत सारे किसानों ने यह शिकायत की थी कि बरसात के दिनों में बौद्ध भिक्षुओं के उनके खेतों में चलने से लगाए गए बीज नष्ट हो जाते हैं। लोग पशुपालन भी करते थे। किन्तु सम्पत्ति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार के रूप में इस काल तक कृषि स्पष्ट रूप से स्थापित हो चुकी थी। इस काल में नगरीय केन्द्रों का काफी अभूतपूर्व विकास केवल इस वजह से हो सका, क्योंकि पर्याप्त मात्रा में कृषि का अधिशेष उत्पादन किया जा रहा था। गंगा नदी घाटी में चावल की खेती को कृषि का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष कहा जा सकता है।

अध्याय-5 में उन सभी तथ्यों पर प्रकाश डाला जा चुका है, जिसमें कृषि क्षेत्र के विस्तार, अधिशेष, कृषि उत्पादन अथवा नगरीय केन्द्रों के विकास में लोहे की कितनी अहम भूमिका थी, जिसपर पुरातत्त्वविदों और इतिहासकारों के बीच लम्बी बहस चली आ रही है। दरअसल, लौह तकनीक पहली सहस्त्राब्दी सा.सं.पू. में उपस्थित बहुत सारे ऐतिहासिक परिवर्तनों के कारकों में से एक था। इस समय तक निश्चित रूप से गंगा घाटी में कृषि के क्षेत्र में लोहे का उपयोग हो रहा था। चित्रित धूसर मृद्‌भाण्ड संस्कृति स्तर की अपेक्षा उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्‌भाण्ड संस्कृति स्तर में लोहे के उपकरण और अन्य उपादानों की संख्या में काफी वृद्धि देखी जा सकती है।

लोगों के पास उपलब्ध कृषि योग्य भूमि के आकार में बहुत भिन्नता थी। छोटे स्तर के कृषकों के द्वारा भी अपने खेती के लिए संयुक्त परिवार के श्रम का उपयोग किया जाता था। दूसरी ओर विशाल खेतों के भू-स्वामियों का भी अस्तित्व था। उदाहरण के लिए, एकनल्ला गाँव के ब्राह्मण काशी भारद्वाज के विषय में चर्चा की गई है। जिसके खेत 500 हलों के द्वारा जोते जाते थे। मगध और कोसल में ब्राह्मण गाँवों का उल्लेख मिलता है, जहां ब्राह्मण भूमिपतियों का वर्चस्व था। इनमें से कुछ गाँव **'ब्रह्मदेय'**, अनुदान के रूप में मिले भी हो सकते हैं। केवल

एक ही गांव का ऐसा उल्लेख (*संयुत्तनिकाय* में) मिलता है, जहां बुद्ध को भिक्षा देने से मना कर दिया गया था और संयोगवश वह पंचशाला नामक एक ब्राह्मण गाँव था।

खेतों की खरीद-बिक्री और दान के अनेक सन्दर्भों से यह प्रमाणित हो जाता है कि निजी सम्पति के रूप में भूमि की अवधारणा का विकास हो चुका था। उदाहरण स्वरूप श्रावस्ती के एक धनाढ्य गहपति अनाथपिंडक ने राजकुमार जेतकुमार से जेतवन का क्रय किया, ताकि वह उसे संघ को दान में दे सके। संघ को दिए जाने वाले अधिकांश भूमिदान बगीचों या वनों के रूप में होते थे। विनयपिटक के अनुसार, संघ को दिया गया भूमिदान आराम कहलाता था, जिनमें पुष्पाराम और फलाराम प्रमुख थे। *अंगुत्तरनिकाय* में तो स्पष्ट रूप से संघ के द्वारा कृषि योग्य भूमि के अधिग्रहण को निषिद्ध बतलाया गया है। *दीघनिकाय* के अग्गन्नसुत्त में एक रोचक प्रसंग आता है, जिसमें राजतंत्र के उदय को धान के खेतों से जुड़े विवादों से जुड़ा हुआ बतलाया गया है।

दीघ और *मज्झिम निकायों* में ऐसे एकाधिक सन्दर्भ आते हैं, जहां बिम्बिसार और पसेंदि (प्रसेनजीत) के द्वारा ब्राह्मणों एवं संघ को भूमि दान में दी गई थी। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि कम से कम कुछ भूमि पर राजा का प्रत्यक्ष अधिकार रहा होगा। वन, खदान और बंजर भूमि भी शायद राज्य के अधिकार में थे। दरअसल, राज्य की दृष्टि से भूमि ही राजस्व का सर्वप्रमुख स्रोत था। भूमि पर लगाए गए करों की विविधता का भी अनुमान लगाया जा सकता है। धर्मशास्त्रों में सामान्य रूप से उपज का 1/6वाँ हिस्सा राज्य के कर के रूप में अपेक्षित था। किन्तु *गौतम धर्मसूत्र* (10.24) में कृषकों द्वारा राजा को देय कर उपज का 1/10वाँ, 1/8वाँ या 1/6वाँ हिस्सा हो सकता है।

बौद्ध स्रोतों में गृहस्थी एवं खेतों में काम करने वाले दास-दासी, कर्मकारों और पोरिसों का बहुधा उल्लेख मिलता है। दास और दासियों की चर्चा पहले के स्रोतों में भी मिलती है। कर्मकार का उल्लेख नया है जो शायद मजदूरी पर खटने वाले श्रमिकों के लिए किया जा रहा था। बड़े-बड़े खेतों के स्वामियों को आवश्यक श्रम की पूर्ति गृहस्थी में उपलब्ध श्रम के द्वारा नहीं की जा सकती थी। इसलिए स्वाभाविक रूप से भाड़े पर मजदूरों को बुलाना एक प्रकार से अनिवार्यता बन चुकी थी। श्रमिकों के लिए कभी-कभी दास-कर्मकार जैसे संयुक्त शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। *अष्टाध्यायी* में वेतन और वैतनिक (वेतनभोगी) का संदर्भ आता है।

गांवों से नगर की ओरः अतरंजीखेड़ा का एक उदाहरण

(From Village to Town: The Example of Atranjikhera)

अतरंजीखेड़ा (एटा जिला, उत्तर प्रदेश) में उत्खनन के द्वारा गांव से शहर की ओर के संक्रमण और इस दौरान रहने वाले लोगों के दैनिक जीवन के सम्बंध में बहुत महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुई हैं (गौड़-1983)। अतरंजीखेड़ा गंगा की एक सहायिका काली नदी के तट पर स्थित है। इस स्थान पर चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (कालखंड-III) तथा उसके बाद के उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (NBPW) (कालखंड-IV) के बीच सहअस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने NBPW स्तर को चार खंडों में विभाजित किया है—ल.14 तिथि क्रम के अनुसार, और दूसरे स्थलों के चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के अवलोकन के आधार पर कालखंड-IV ए 600-500 सा.सं.पू., कालखंड-IV बी 500-350 सा.सं.पू., कालखंड-IV सी 350-200 सा.सं.पू. तथा कालखंड-IV डी 200-50 सा.सं.पू. निर्धारित किया गया है। हम लोग यहां कालखंड-IV ए तथा IV बी पर अधिक केंद्रित करेंगे।

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड के अवशेष कालखंड-IV में कम होने लगे और NBPW मृद्भाण्डों की संख्या बढ़ने लगी। अतरंजीखेड़ा के NBPW या चित्रित धूसर मृद्भाण्डों की बाहरी सतह ही इस कोटि के मृद्भाण्डों का सही प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि इनकी भीतरी सतह धूसर रंग की होती थी, शायद इनके बाहरी सतह पर लौह युक्त किसी लेप का प्रयोग किया जाता था। कालखंड-IV डी के चित्रित धूसर मृद्भाण्ड आकार और अच्छी बनावट के कारण जाने जाते हैं। इस काल में बस्तियों के आकार में बढ़ोतरी हुई। स्पष्ट रूप से नगरीकरण के प्रारंभिक प्रमाण देखे जा सकते हैं। इस काल के अवशेषों से यह पता चलता है कि किस प्रकार मिट्टी के घरों की सरंचनाओं के स्थान पर मिट्टी की पकायी गयी ईंटों की बनी संरचनाओं की स्थापना की जाने लगी। IV ए के विभिन्न स्तरों से प्राप्त घरों में चूल्हे पकाने वाले बर्तन, गोलाकार अग्निकुंड, कच्ची नालियां, मिट्टी के दो खंडों में बंटे दीवार इत्यादि देखे जा सकते हैं। यहां से प्राप्त एक अग्नि कुंड में से लोहे के स्लैग (धातुमल) मिले हैं और साथ में लोहे के बने दो तीराग्र और एक भालाग्र भी मिला है। इसलिए यह प्रतीत होता है कि यह लोहा गलाने और लोहे के उपकरण बनाने का एक 'वर्कशाप' रहा होगा। कालखंड-IV बी में बाढ़ के द्वारा क्षति के कुछ प्रमाण मिले हैं। इसके कारण लोगों ने मिट्टी के विशाल बांध बनाने शुरू कर दिए थे, जिससे भविष्य में होने वाली बाढ़ की घटनाओं से उनकी सुरक्षा हो सके। कालखंड-IV ए और IV बी दोनों में टेराकोटा की बनी नालियां भी मिली

तालिका 6.1: **अतरंजीखेड़ा काल-IV (NBPW कालखंड) में लोहे के सामान**

वस्तुएं	VI A	VI B	VI C	VI D	TOTAL
तीराग्र	10	9	8	3	30
भालाग्र	16	6	1	1	24
स्तम्भ	3	1	1	–	5
हंसिया	2	–	1	1	4
भुजरोध	1	–	–	–	1
हल	–	1	–	–	1
कुदाल	1	–	–	–	1
खुरपी	–	1	–	–	1
चिमटा	–	1	–	–	1
शिकंजा	29	4	2	4	39
वलय बंधक	1	2	1	–	4
शिकंजे का सॉकेट	1	2	–	1	4
सिलाई तार	–	1	1	1	3
काबला (बोल्ट)	–	–	1	–	1
साहुल	–	–	3	1	4
कांटी	22	13	17	21	73
छड़	6	2	2	2	12
हुक	11	3	1	3	18
वेधक	13	5	–	–	18
काटने वाली छुरी	1	–	–	–	1
गंड़ासा/खंडक	–	–	10	–	10
नली (पाइप)	–	2	10	–	3
खुरचनी	–	2	1	–	3
छेनी (तक्षणी)	11	2	1	–	14
कुल्हाड़ी	1	–	–	–	1
छुरी	6	3	3	1	13
ढक्कन	–	–	1	–	1
तवा (चक्रिका)	–	1	–	–	1
चूड़ी	2	1	–		3
(धातुमल) स्लैग	1	4	6	4	15
अनिश्चित सामग्री	9	13	8	7	37
कुल	**147**	**79**	**70**	**50**	**346**

हैं तथा एक कच्चा कुँआ भी मिला है। इस दौरान बनी संरचनाओं में मिट्टी की ईंटों का प्रयोग होता था। मिट्टी की ईंटों अथवा पकाए गए मिट्टी की ईंटों की बनी संरचनाओं की शुरुआत प्रारंभिक NBPW स्तर में हुई जो बाद के काल में और बढ़ती चली गयी।

कालखंड-IV ए तथा IV बी से प्राप्त बड़ी मात्रा में उपादानों के अंतर्गत इस स्थल से प्राप्त प्राचीनतम टेराकोटा की बनी वस्तुएं भी सम्मिलित हैं। टेराकोटा की वस्तुओं में मानव आकृतियां, चूड़ियां, जूतें और मछली पकड़ने के जाल में उपयोग में प्रयुक्त भार प्रमुख हैं। टेराकोटा के बने कुछ खिलौनों के अतिरिक्त अनुष्ठानिक उपयोग में शायद लाए जाने वाले पात्र भी बड़ी मात्रा में देखे जा सकते हैं। टेराकोटा के बने मनकों के नए आकार और डिजाइन भी यहां उपलब्ध होते हैं। कपड़ों पर शायद डिजाइन छापने के लिए दो टेराकोटा के ब्लॉक भी मिले हैं। किसी गृहस्थी के दैनिक जीवन में व्यवहार में लाए जाने वाले कर्म कांडों के लिए प्रयुक्त छोटे-छोटे पानी के टैंक भी मिले हैं। अगेट, कारनेलियन जैसे अर्धमूल्यवान पत्थरों के मनकों की प्राप्ति से यह पता चलता है कि चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति की कुछ परंपराएं इस काल तक बनी रही, लेकिन इनके आकार में जरूर परिवर्तन हुए।

कालखंड-IV ए से सिक्कों की प्राप्ति नहीं हुई है, किन्तु कालखंड-IV बी के अंतिम चरण से दो सिक्के मिले हैं, एक चांदी का आहत् सिक्का और एक तांबे का अनुत्कीर्ण सिक्का। आहत् सिक्के के अग्र भाग में सूर्य, छः हाथों वाले प्रतीक और पहाड़ी-पर-मयूर, लौह कार्यशाला (?) इत्यादि मिले हैं। तांबे के सिक्के में एक छोटा वर्ग बना था और इसके पृष्ठ भाग पर एक वर्ग के अंदर चार अर्धवृत्त देखे जा सकते हैं।

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्तर से कुल मिलाकर 38 तांबे के उपादान प्राप्त हुए हैं जिनमें से 13 कालखंड-ए, 21 कालखंड-बी, 25 कालखंड-बी और 29 कालखंड-डी के हैं। तांबे की बनी वस्तुओं में कजरौटे, पिन, चूड़ी, कान के आभूषण, मनके, सॉकेट, बटखरे, ट्यूब इत्यादि मिले हैं। कुछ तांबे की वस्तुओं को स्पष्ट रूप से समझा नहीं जा सकता है। इस काल में से 338 लोहे की वस्तुएं मिली हैं जिनमें से 37 वस्तुओं को पहचाना नहीं जा सका है। कालखंड-III में जो भी लोहे की वस्तुओं का उपयोग होता था, उन्हें कालखंड-IV में प्रयोग में लाया गया। केवल 16 नए प्रकार के उपकरण देखे जा सकते हैं। लोहे के बने कृषि में उपयोग आने वाले उपकरण पहली बार चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल में मिले हैं। घरों की दीवार को बनाने के लिए लोहे के साहुल पाए गए हैं। लोहे के युद्ध सम्बंधी अस्त्र-शस्त्र की प्राप्ति से यह पता चलता है कि आखेट और युद्ध इस काल में महत्त्वपूर्ण रहे होंगे। लोहार और बढ़ई के उपकरणों से इन शिल्पों का महत्त्व पता चलता है।

एस.के. चौधरी ने अतरंजीखेड़ा की वनस्पतियों के अवशेषों का विश्लेषण किया और इसके द्वारा कई महत्त्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त कीं (गौड़-1983)। गैरिक मृद्भाण्ड और ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड कालों में चावल, जौ, चना और खेसारी के प्रमाण मिले थे। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्तर से गेहूँ के भी प्रमाण मिलने लगे तथा इसी काल में वनस्पतियों के ढेर भी मिले जिनसे पता चलता है कि अनाज का अधिशेष उत्पादन प्रारंभ हो चुका था। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्तर से चावल, गेहूं, जौ तथा उड़द नामक नए दाल के प्रमाण भी मिले हैं। लकड़ियों में देवदार, बाँस, फरास इत्यादि पाए गए। इनमें से देवदार जैसी लकड़ियां हिमालय से लायी जाती थीं, जिनसे यह पता चलता है कि अतरंजीखेड़ा का हिमालय क्षेत्र से सम्बंध रहा होगा।

इस अतरंजीखेड़ा से वनस्पति के अतिरिक्त पशुओं की हड्डियों का भी विश्लेषण किया गया। NBPW स्तर से पालतू मवेशियों, भैंसों, कुत्ते, भेड़, बकरी, सूअर के अवशेष मिले हैं। ऐसे स्पष्ट प्रमाण मिले हैं कि विशेषकर आहार की दृष्टि से पशुओं का वध किया गया था। किन्तु मवेशियों की हड्डियां अन्य किसी भी प्रकार के जानवरों से अधिक मिली हैं। हो सकता है कि मवेशियों के मांस इनके आहार में मुख्य रूप से प्रयोग

में लाए जाते थे। प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में वर्णित वैरंज या वेरंज नामक स्थान को अतरंजीखेड़ा से चिन्हित किया गया है, किंतु यह शिनाख्त, पुख्ता साक्ष्यों पर आधारित नहीं है।

नगरीय जीवन का उदय

(The Emergence of City Life)

छठीं शताब्दी सा.सं.पू. का उत्तर भारत गांवों से भरा हुआ था और इन्हीं गांवों और उन गांवों से सटे हुए जंगलों के बीच में स्पष्ट रूप से नगरीय संरचनाएं और स्थापत्य दिखलायी पड़ने लगे और नगरीय बस्तियों का विकास

अन्यान्य परिचर्चा

वनों से जुड़ी आस्थाएं

जैसे-जैसे कृषि और नगरीकरण का विकास होता गया, वनों का आकार भी उसी अनुपात में घटता गया। यह एक तरह के प्रकृति और संस्कृति के बीच का उभरता हुआ सम्बंध का परिणाम था। रोमिला थापर ने ग्राम (आवासीय क्षेत्र) तथा अरण्य (वनीय प्रदेश) के बीच के जटिल सम्बंध की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जो प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रतिबिंबित है। इन लेखनों एवं प्राचीन धारणाओं के अनुसार, यह पता चलता है कि वन की उपयोगिता के सम्बंध में लोग अनभिज्ञ नहीं थे और वे इस बात से भी चिंतित थे कि वे धीरे-धीरे प्रकृति से दूर होते जा रहे थे।

वेदों में ग्राम तथा अरण्य को एक-दूसरे के विपरीतार्थक अर्थ में प्रयोग किया गया है। ग्राम का सम्बंध व्यवस्था और ज्ञात से है जबकि वन का सम्बंध अव्यवस्था और अज्ञात से है। वनीय प्रदेश में जो लोग रहते हैं वे भी अन्य लोगों से अलग दिखलाये गये हैं। जंगलों में रहने वाले लोग विचित्र अथवा असम्भ्रांत कहे गये हैं। जैसे-जैसे नगरीकरण की प्रक्रिया जोर पकड़ती गयी, वनवासियों का चित्रण वैसे-वैसे सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों के रूप में किया जाने लगा।

महाभारत और *रामायण* में वनों को वैसा स्थान बतलाया गया है जहां पर इन महाकाव्यों के मुख्य नायकों ने अपने जीवन का लंबा काल गुजारा है। इसलिए शायद इन महाकाव्यों में वनों के प्रति कुछ सहानुभूति दिखलायी गई है। किन्तु ग्राम और अरण्य के बीच के अंतर को उसी प्रकार बरकरार रखा गया है जो इन महाकाव्यों के नायक-नायिकाएं निर्वासित जीवन जीते हुए इन वनीय प्रदेशों में निवास करते रहे। उन्होंने इन पात्रों को वहां जंगल में रहने वाले मूल निवासियों से अलग दिखलाया है जो जंगली जानवरों के शिकार और कन्द मूल पर अपने जीवन-यापन करते थे। वनों के नष्ट होने के भी कुछ नाटकीय प्रसंग इन महाकाव्यों में देखने को मिलते हैं। *महाभारत* में दुष्यंत के आखेटों के दौरान किस प्रकार वृक्षों और पशुओं को नष्ट कर दिया जाता था यह चित्रित किया गया है।

कृष्ण और अर्जुन के द्वारा पांडवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ की स्थापना के पहले किस प्रकार खाण्डव वन को जलाया गया, उसका भी अभूतपूर्व चित्रण देखने को मिलता है। इस प्रकार की घटनाओं के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव सभ्यता जंगलों पर नियंत्रण कर रही थी और उनको अपने अधीन कर रही थी। महाकाव्यों में प्रतिबिम्बित कुछ किवंदतियों के द्वारा जंगल में रहने वाले लोगों के प्रति घृणा का भाव भी झलकता है। उदाहरण के लिए, एक प्रसंग आता है कि पृथु धरती के पहले राजा हुए, उनके पूर्वज वेन के विषय में कहा गया है कि अपने कुकृत्यों के कारण ब्राह्मणों ने उनको कुश घास के प्रयोग से मार डाला। उनकी दाईं जंघा को मथने से एक नाटा काला आदमी उत्पन्न हुआ जिसको उन्होंने निषाद् कहा और शीघ्र ही उसको वनों में रहने के लिए भेज दिया। फिर उन्होंने वेन के दाएं हाथ को मथा और उससे एक लंबा, गोरा, सुंदर व्यक्तित्व का राजा उत्पन्न हुआ जिसका नाम उन्होंने पृथु रखा। वैसे भी जंगलों में संतों और तपस्वियों का निवास क्षेत्र था और कुछ संस्कृत ग्रंथों में वन में स्थित आश्रमों के अत्यंत सौंदर्यपूर्ण जीवन का चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए, कालिदास की *अभिज्ञानशाकुंतल* में उसकी नायिका शकुन्तला के विषय में यह वर्णन किया गया है कि वह किस प्रकार वन के वृक्षों और पशुओं के साथ प्रेम करती थी। किन्तु जंगलों को धीरे-धीरे बड़े स्तर पर नष्ट किया जाने लगा और यह विनाश आधुनिक काल में सबसे अधिक स्पष्ट हो जाता है। हालांकि, जंगलों का नाश तो हुआ लेकिन वनीय जीवन की अमिट छाप भारतीय सभ्यता में दिखलायी पड़ती है। विभिन्न प्रकार के वृक्षों को, देवताओं, संतों और अच्छी आत्माओं से जोड़ा जाता है और यह भारतीय लोक जीवन की विशेष परंपरा बन चुकी है। वृक्षों का पूजन शायद प्रजनन शक्ति की पूजा करने वाले समुदायों में अधिक प्रच. लित है और आज भी लोकप्रिय स्तर पर, स्थानीय स्तर पर धार्मिक जीवन का चाहे वे नगरीय हो या ग्रामीण, ये अभिन्न अंग बने हुए हैं।

स्रोत: थापर (1991, 2007)

होने लगा। चक्रवर्ती (2006: 315) ने नगरीकरण की इस प्रक्रिया की शुरुआत को 800 सा.सं.पू. से शुरू बतलाया है। दक्षिण भारत का जहां तक प्रश्न है वहां कोडुमनल नामक स्थल महत्त्वपूर्ण है। यहां पर तमिल-ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण भित्ती-आरेख (ग्राफिटी) मृद्भाण्डों के चित्र मिले हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। के. राजन (व्यक्तिगत संवाद) का मानना है कि तमिलनाडु में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की शुरुआत 400 सा.सं.पू. से ही हो गयी थी इसलिए इस सम्बंध में तिथियों के पुनःसंशोधन की आवश्यकता है। चक्रवर्ती (2006: 345) के अनुसार, कोडुमनल से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तमिलनाडु में नगरीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत को 500 सा.सं.पू. से माना जा सकता है। हालांकि, इस अध्याय में हम अभी उत्तरी भारत की अधिक चर्चा करेंगे।

नगरों के अलग-अलग परिचय थे। वे राजनीतिक नियंत्रण के केन्द्र के रूप में शिल्प उत्पादन के लिए अथवा व्यापार के लिए और कभी-कभी इन तीनों के लिए उपयोग में लाए जाते थे। सामान्य संवत की प्रारंभिक शताब्दियों में ही उत्तरी भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी। इस दृष्टि से इसे उत्तर भारत के लिए द्वितीय नगरीकरण का काल भी कहते हैं। इस प्रक्रिया का आधार मजबूत कृषि व्यवस्था और सुनिश्चित खाद्यान्न अधिशेष का उत्पादन था। इन बस्तियों में जनसंख्या का आकार काफी बढ़ गया। शिल्प विशिष्टिकरण, व्यापार और मुद्रा प्रणाली के प्रारंभिक उपयोग के कारण एक प्रकार की जटिल सामाजिक परिस्थिति का प्रार्दुभाव हुआ। राजनीतिक नियंत्रण ने इस प्रक्रिया में भरपूर सहयोग दिया होगा।

पालि स्रोतों में विभिन्न प्रकार की नगरीय बस्तियों की सूचना मिलती है (वाग्ले, 1996: 23-29; सराओं [1990], 2007)। पुर का तात्पर्य नगर से था जिसके चारों ओर सुरक्षा प्राचीर बने होते थे। नगर का तात्पर्य दुर्ग से था। निगम, बाजार वाले शहर को कहते थे जो गांव और नगर के बीच की चट्टी को कह सकते हैं। अपने आकार और सामाजिक जटिलता के कारण इन्हें वाणिज्य गतिविधियों से जोड़ा जाता है। राजधानी के अतिरिक्त छोटे नगर भी होते थे, जिनको नगरक कहा गया है। महानगर बड़े शहर को कहते थे। चंपा, श्रावस्ती, राजगृह, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी महानगरों की श्रेणी में आते थे। इस काल के साहित्य में नगरों की दीवारों, बड़े-बड़े द्वारों और नगर के चहल-पहल की बहुत चर्चा की गयी है।

प्रारंभिक ऐतिहासिक नगरों के पाठ्यात्मक और पुरातात्त्विक संदर्भ

(Archaeological and Literary Profiles of Early Historical Cities)

प्रारंभिक ऐतिहासिक नगरों के विषय में हमारे पास जो पुरातात्त्विक सूचनाएं उपलब्ध हैं वह आद्य ऐतिहासिक हड़प्पा कालीन नगरों की तुलना में काफी कम हैं। कश्मीर, पंजाब, सिंध और उत्तर-पूर्वी राज्यों में इस दिशा में उत्खनन कार्य काफी निम्न स्तर का रहा है। तक्षशिला और भिट जैसे कुछ प्रमुख केन्द्रों को छोड़ दें तो इस क्षेत्र में बड़े स्तर पर पुरातात्त्विक उत्खनन हुए ही नहीं हैं। बहुत सारे प्रारंभिक, ऐतिहासिक नगरीय केन्द्र पहले की शताब्दियों से लगातार बसे हुए थे। कुछ केन्द्रों में आज तक निरंतर सभ्यता बनी रही है इसलिए इनके प्रारंभिक स्तरों का अध्ययन काफी कठिन है। इन केंद्रों पर जो सीमित उत्खनन कार्य किये भी गए हैं वे अपर्याप्त और अधूरे हैं। इनसे सम्बंधित रेडियो कार्बन तिथियां भी काफी कम मात्रा में उपलब्ध हैं। अधिकांश पुरातात्त्विक प्रतिवेदनों में प्रारंभिक मध्य तथा अंतिम चरण के NBPW स्तरों में भेद नहीं किया गया है। ये सामान्य रूप से ल. 700-100 सा.सं.पू. के बीच का प्रारूप प्रस्तुत करते हैं और विशेष रूप से प्रारंभिक NBPW स्तर की सूचनाएं काफी कम मात्रा में उपलब्ध कराते हैं। फिर भी इन नवीन नगरीय संरचनाओं के विषय में साहित्यिक और पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर काफी स्पष्ट चित्र सामने आता है।

साहित्य में वर्णित लगभग सभी प्रमुख नगरों को चिन्हित किया जा चुका है, फिर भी कुछ नगरीय केन्द्र अभी तक नहीं खोजे जा सके हैं। यह रोचक तथ्य है कि पुरातत्त्व, साहित्यों में वर्णित इन बड़े-बड़े नगरों के अस्तित्व की पुष्टि करता है। हालांकि, पुरातात्त्विक अनुसंधानों से जो भी सूचनाएं प्राप्त हुई हैं अथवा इनके सम्बंध में जो भी प्रतिवेदन प्रकाशित किए गए हैं वो साहित्यिक परंपरा की तुलना में थोड़ा निम्नतर चित्र प्रस्तुत करते हैं, फिर भी पुरातात्त्विक प्रमाणों और उपलब्ध साहित्यिक सूचनाओं के आधार पर प्रारंभिक ऐतिहासिक नगरों के इतिहास की पुनः रचना की जा सकती है (दिलीप के चक्रवर्ती 2001: 171-262; 2006: 322-48)। इन नगरों के बीच व्यापारिक मार्गों के द्वारा संपर्क बना हुआ था।

ऐसे नगर केवल एक विशेष प्रकार की बस्तियां नहीं थीं। ये राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक महत्त्व के केन्द्र थे। साहित्यों में इनके विषय में काफी आकर्षक बातें कही गयी हैं, किन्तु इन ग्रंथों में दी गयी सूचनाएं काफी भिन्नता रखती हैं (चट्टोपाध्याय [1997], 2003)। विभिन्न क्षेत्रों और युगों के लेखकों के लिए नगर का अर्थ अलग-अलग रहा है। कभी-कभी इसे स्थान की आदर्श संरचना के रूप में पेश किया गया है, तो कभी ऐसी नैतिक

और सामाजिक संरचना के रूप में, जिसमें राजा का केंद्रीय स्थान हो। इससे अनुमान लगता है कि नगरों को 'मिलन बिंदु' के रूप में देखा जाता था। यह संभव है कि इन नगरों के विषय में साहित्यिक स्रोतों से बहुत-सी विशिष्टताओं को संकलित किया सकता है, जिनमें नगरों की विविधता को चट्टोपाध्याय के शब्दों में 'नगरों की नगरीयता' के रूप में वर्णित किया है।

उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र

उत्तर-पश्चिम के दो बड़े नगर चारसद्दा और तक्षशिला हिन्दू कुश पर्वतमाला के पार जाने वाले व्यापारिक मार्गों के केन्द्रों में पड़ते थे। खैबर दर्रे के अतिरिक्त बहुत सारे अन्य मार्ग भी थे जिनमें से एक काबुल नदी घाटी के साथ-साथ जाता था। एक-दूसरे महत्त्वपूर्ण मार्ग के द्वारा तक्षशिला से कश्मीर जुड़ता था और यही मार्ग आगे मध्य एशिया की ओर जाता था। पांचवीं शताब्दी सा.सं.पू. में उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र अखमनी शासकों के नियंत्रण में था और बाद में यह क्षेत्र सिकन्दर के प्रभाव में आया। जरसाद ही प्राचीन पुष्कलावती नगर था। ऐसी मान्यता है कि इस नगर की स्थापना राम के भाई भरत के पुत्र पुष्कर के द्वारा की गयी थी। यूनानी वृत्तांतों में इस नगर को पियूषलावटिस और प्रोक्लेस कहा गया है। एरियन के कथनानुसार इस नगर ने सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह किया था और इसलिए बाद में यहां पर मेसिडोनियाई सेना का एक कैंप लगा दिया गया था। हेफेस्टियन ने इस विद्रोह को दबाया था। जरसाद के बालाहिसार स्थित पुरातात्त्विक टीले के उत्खनन के दौरान 600 सा.सं.पू. के काल के अवशेष मिले हैं। चौथी शताब्दी सा.सं.पू. तक इस नगर के चारों ओर मिट्टी के सुरक्षा प्राचीर और गड्ढे बने हुए थे।

प्राचीन तक्षशिला एक अत्यंत प्रमुख नगर था जो अफगानिस्तान और मध्य एशिया को जाने वाले स्थल मार्गों पर पड़ता था और यह नगर सिंधु नदी के द्वारा अरब सागर में स्थित सामुद्रिक मार्गों से भी जुड़ा हुआ था। महाकाव्यों के अनुसार, इसी स्थान पर जन्मेजय ने प्रसिद्ध नाग यज्ञ करवाया था। बौद्ध, जैन और यूनानी स्रोतों में इस नगर की काफी चर्चा हुई है। इस स्थान पर किये गये पुरातात्त्विक उत्खननों के दौरान तीन प्रमुख बस्तियों को रेखांकित किया गया है जो भीर, सिरकप और सिरसुख के नाम से जाने जाते हैं। भीर का टीला इस नगर की प्राचीनतम बस्ती है जहां छठी-पांचवीं शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. तक के अवशेष मिले हैं। इस स्थल के प्रारंभिक स्तर कालखंड-IV से चमकीले लाल मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। जो इस क्षेत्र में और भी प्राचीन काल से प्रयोग में चले आ रहे थे। इसके अतिरिक्त धूसर और काले मृद्भाण्डों का एक नया प्रकार भी प्राप्त हुआ है जिसमें विशिष्ट आकार के कम गहराई वाले और अधिक गहराई वाले पात्र पाए गए हैं। इनको NBPW या उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डों की स्थानीय नकल माना जाता है। यहां से चांदी के बने हुए आहत् सिक्के और अन्य कई प्रकार के सिक्के भी मिले हैं किन्तु भीर के टीले से प्राप्त सूचनाएं तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. के बाद की विस्तृत सूचना उपलब्ध कराती है।

सिंधु गंगा विभाजन क्षेत्र, ऊपरी गंगा नदी घाटी क्षेत्र और दोआब क्षेत्र

उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति की प्राप्ति नैनीताल जिले के काशीपुर नामक स्थल से हुई है। यह उत्तराखण्ड का कुमाऊं क्षेत्र है लेकिन यहां के उत्खनन सम्बंधी विस्तृत जानकारी नहीं उपलब्ध है। सिंधु-गंगा विभाजन क्षेत्र में रोपड़ का कालखंड-III जो शिवालिक हिमालय के तराई भाग में पड़ता है यहां से ल. 600-200 सा.सं.पू. के बीच उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इसी से मिलते जुलते मृद्भाण्ड हरियाणा के हिसार जिले के अमरोहा तथा कुरूक्षेत्र के निकट कर्ण का किला से भी प्राप्त हुए हैं।

दिल्ली के पुराने किले में किए गए उत्खनन के दौरान, जिसे स्थानीय मान्यता के अनुसार, इन्द्रप्रस्थ का क्षेत्र माना जाता है, उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति की प्राप्ति चौथी-तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच मिली है। इसमें लोग मिट्टी के ईंटों के मकान और भट्ठी में पकाए गए ईंटों के मकान में रहा करते थे। मिट्टी के लेप वाले एक घर से बहुत सारे चूल्हों की प्राप्ति हुई है। इन घरों में जल निकासी की व्यवस्था के लिए नालियां बनी थीं। यहां से टेराकोटा के छल्लेदार कुँए भी मिले हैं जिनका व्यास 75 से.मी. के लगभग देखा गया है और ऐसा माना जाता है कि उन्हें सोख्ता की तरह इस्तेमाल भी किया जाता था। यहां से टेराकोटा की बनी पशुओं और मानवों की मूर्तियां, रिंग स्टोन की एक प्रतिमा का एक टुकड़ा, टेराकोटा का बना एक घुड़सवार, एक मिट्टी की मोहर, छोटी अंगूठियां और अगेट का एक डिस्क (चक्र) भी मिला है। NBPW में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डो में से एक पर, पात्र के भीतरी सतह पर हाथी अंकित देखा जा सकता है। टेराकोटा के और भी दो सील (मुहर) मिले हैं जिसपर स्वतिरखित और सेइनकार नामक दो व्यक्तियों का नाम उत्कीर्ण हैं।

ऊपरी गंगा नदी घाटी में मेरठ जिले के हस्तिनापुर को एक महत्त्वपूर्ण NBPW स्थल के रूप में देखते हैं क्योंकि यहां से सम्बंधित एक पूर्ण प्रतिवेदन पुरातात्त्विक रिपोर्ट हमारे पास उपलब्ध है (लाल, 1954-55)। महाकाव्यों और पुराणों में यह उद्धृत है कि कुरुओं की राजधानी पहले हस्तिनापुर थी और बाढ़ के बाद इसे कौशाम्बी में
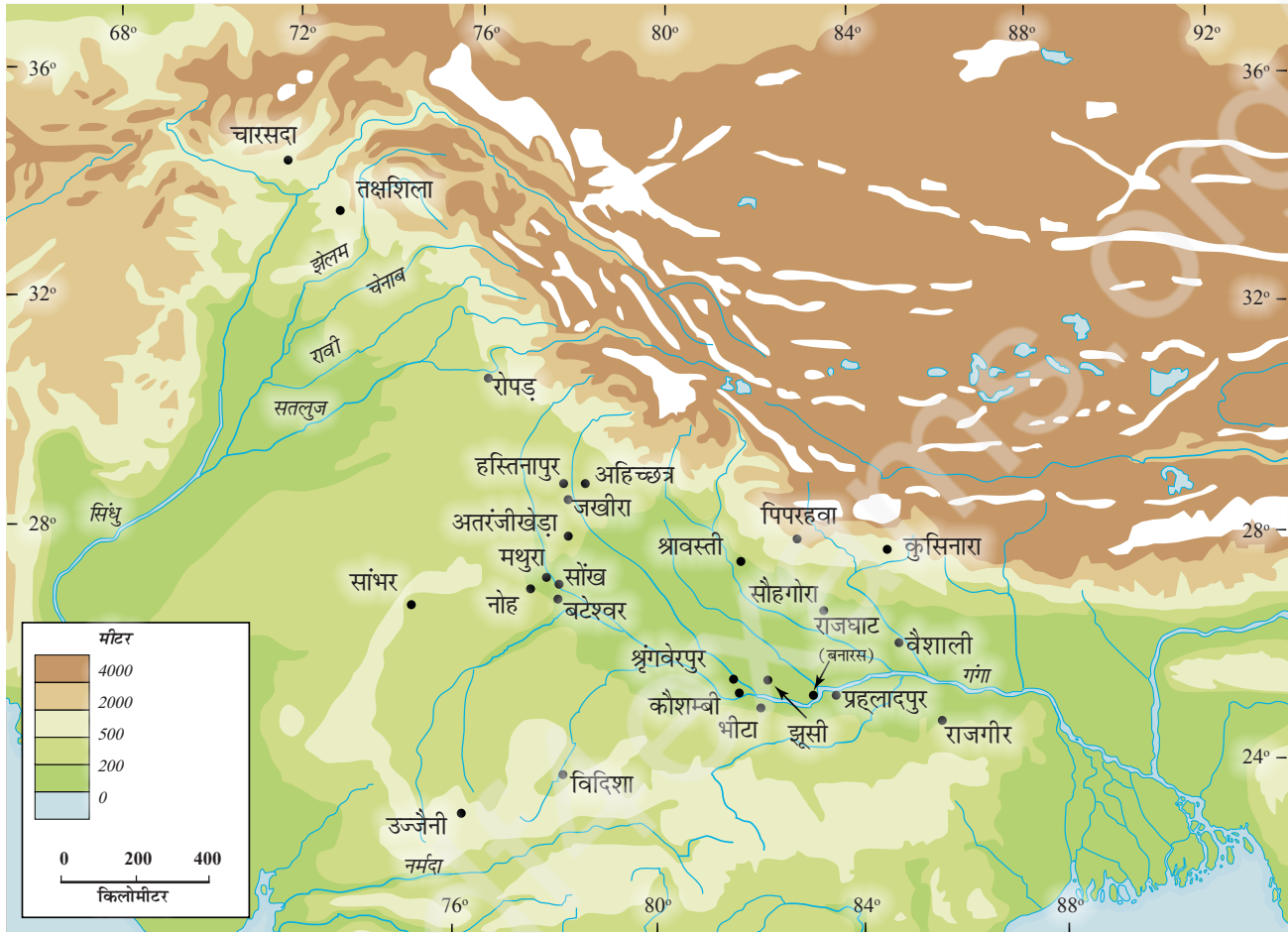
मानचित्र 6.2: **उत्तर और मध्य भारत के कुछ प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के नगर**

स्थांतरित कर दिया गया। जैन परंपरा के अनुसार, हस्तिनापुर जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का जन्म स्थल था और महावीर इस स्थान पर बहुधा जाया करते थे। हस्तिनापुर कालखंड-III उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति का काल है जिसे ल. 600-200 सा.सं.पू. के बीच आंका गया है। इस काल से मिली बस्ती की संरचनाओं के आधार पर इसे योजनाबद्ध तरीके से बना हुआ माना जाता है। यहां पर पकी हुई ईंटों की संरचनाएं और टेराकोटा के छल्लेदार कुएं उपलब्ध हैं।

प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के प्रमुख नगरों में मथुरा का स्थान आता है। महाभारत और पुराणों में इस स्थान को यादव वंशो से जोड़ा गया जिनमें वृष्णी भी एक कुल था जिसमें कृष्ण का जन्म हुआ था। यह नगर गंगा के उर्वर मैदानों के द्वार पर स्थित है और उत्तरापथ का एक प्रमुख केन्द्र है क्योंकि यहां से उत्तरापथ दक्षिणवर्त्ती दिशा में मालवा की ओर जाता था और एक मार्ग पश्चिमी तट की ओर। मथुरा नगर के उत्तर में यमुना के निकट अंबरीश टीला को मथुरा के सांस्कृतिक स्तर विन्यास में कालखंड-I से जोड़ा गया है। इस स्थान पर चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के दौरान ग्रामीण बस्तियों के उदय के प्रमाण मिले हैं। मथुरा से दक्षिण-पश्चिम की ओर 25 कि.मी. की दूरी पर सोंख स्थित है। सोंख का कालखंड-I चित्रित धूसर मृद्भाण्ड और ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड से चिन्हित किया जाता है जिसकी तिथि 800-400 सा.सं.पू. तय की गयी है। इस समय की कोई भी संरचनात्मक अवशेषों की उपलब्धतता नहीं है किन्तु स्तंभगर्त के चिह्न और सुरक्षा प्राचीर के अवशेष प्राप्त होते हैं, जो बस्ती को प्रायः चारों ओर से घेरते थे (हार्टेल, 1993)।

काम्पिल्य दक्षिण पांचालों की राजधानी थी और फरूखाबाद जिला उत्तर प्रदेश के काम्पिल्य नामक स्थान को इस प्राचीन नगर से जोड़ा जाता है। यहां पर किए गए सीमित उत्खननों के आधार पर चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के काल से लेकर कालांतर तक की संस्कृतियों के लगातार अवशेष मिले हैं। बरेली जिले के अहिच्छत्र

से भी उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड स्तर से अवशेष मिले हैं लेकिन यहां से प्राप्त सभी व्यवस्थित जानकारी हमारे पास दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के बाद से उपलब्ध है।

रामायण में राम के समय में कोसल की राजधानी के रूप में वर्णित अयोध्या के अवशेष का विस्तार क्षेत्र चार-पांच कि.मी. आंका गया है। प्रारंभिक उत्खननों के दौरान यहां से प्रारंभिक उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति के अवशेष मिले हैं। विभिन्न प्रकार के उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डों के अतिरिक्त यहां से धूसर मृद्भाण्ड भी मिले हैं जिन पर काले रंग के रेखीय डिजाइन पाए जाते हैं। यहां के घर मिट्टी के गिलावे पर बने थे। पकी हुई ईंटों की कोई संरचना नहीं मिली है। लोहे और तांबे की कई सामग्रियां मिली हैं। हाल में किए गए 2002-03 के दौरान उत्खननों से NBPW स्तर के बहुत सारे उपादान मिले हैं। टेराकोटा की बनी संरचनाओं में अनुष्ठानिक कुंड बटखरे, डिस्क, डिस्क पर बने पहिए और एक टूटे हुआ पशु की प्रतिमा मिली है। इसके अतिरिक्त लोहे की बनी एक टूटी छूरी, शीशे के मनके और हड्डी के नोकदार शिल्पकृति भी मिले हैं। यहां पर बटन के आकार के हल्के नीले रंग के शीशे के दो टुकड़े मिले हैं जो शायद पहले किसी अंगूठी में संजोए गए थे। इन पर 'शिधे' शब्द उत्कीर्ण हैं जो तीसरी शताब्दी के ब्राह्मी लिपि में लिखा गया था। इस बात की पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि यहां से प्राप्त अवशेषों के अंशशोधित रेडियोकार्बन तिथियों के अनुसार, NBPW स्तर का काल 1000 सा.सं.पू. से ही शुरू हो जाता है।

काल I, III, IV स्तर के उत्खनित खंड से प्राप्त एम्बेडेड जार, हस्तिनापुर

वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी और यह दक्कन, गंगा नदी घाटी और उत्तर-पश्चिम को जोड़ने वाले व्यापार मार्ग का एक प्रमुख केंद्र था। यह वर्तमान के कोशम नामक गांव से जोड़ा जाता है। यहां पर किये गए उत्खनन के आधार पर कालखंड-I चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्तर; कालखंड-II ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड स्तर तथा कालखंड-III उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड स्तर से जुड़ा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि 1025 सा.सं.पू. के काल से ही काफी मजबूत सुरक्षा प्राचीरों का निर्माण हो चुका था लेकिन अन्य स्रोतों के आधार पर इसका काल ल. 600 सा.सं.पू. से पहले नहीं आंका जा सकता। पाली ग्रंथों में वर्णित प्रसिद्ध घोषितारम-विहार कौशाम्बी में ही स्थित था। परवर्ती काल से घोषितारम उत्कीर्ण, जुड़े मोहरों की बहुत सारे संघ से प्राप्ति इस नगर को उस विहार से जोड़ती है।

इलाहाबाद जिले के शृंगवेरपुर के उत्खनन से यहां उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड स्तर का काल ल. 700 सा.सं.पू. आंका गया है। यहां पर किए गए उत्खनन एक तालाब और उससे जुड़ी संरचनाओं के इर्द-गिर्द केंद्रित थे। जो प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में बना था। इसके पहले के पुरातात्त्विक स्तरों के विषय में बहुत जानकारी उपलब्ध नहीं है। *रामायण* में शृंगवेरपुर ही वह स्थान है जहां ऋष्यशृंग ऋषि का आश्रम था और राम ने गंगा नदी को पार कर यही से अपना वानप्रस्थ जीवन प्रारंभ किया था।

मध्य और निचली गंगा नदी घाटी

बनारस के उत्तर पूर्व में स्थित राजघाट को प्राचीन वाराणसी नगर के रूप में चिन्हित किया गया है। यह नगर अपने उत्कृष्ट वस्त्र उद्योग के कारण जाना जाता था। यह उत्तरी भारत के व्यापार मार्गों का एक प्रमुख केन्द्र था। यहां से पांच-छह स्तरों की सांस्कृतिक विन्यास उपलब्ध हैं। कालखंड-I ल. 800-200 सा.सं.पू. के बीच का है, जिसे तीन उपकाल खंडों में बांटा गया है। उपकाल खंड-I ए से लोहे की वस्तुएं, ब्लैक एंड रेड तथा अन्य कोटि के मृद्भाण्ड मिले हैं, कालखंड-I बी से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति का काल शुरू होता है। यहां की संरचनाओं में घरों के फर्श पकायी हुई मिट्टी के बने हुए थे। यहां पर वैसे गड्ढे पाये गये हैं जिनमें टेराकोटा के छल्ले देखे जा सकते हैं। सम्पूर्ण क्षेत्र को एक सुरक्षा प्राचीर से घेरा गया था, जो शायद प्रारंभिक NBPW स्तर का है।

उत्तर प्रदेश के गोंडा और बहराइच जिलों के सीमा पर स्थित सहेत और महेत नामक स्थान को कोसल की राजधानी श्रावस्ती के रूप में चिन्हित किया है। यह भी उत्तरापथ पर स्थित एक प्रमुख केन्द्र था। महेत का इलाका मुख्य नगर से तथा साहेत का इलाका जेतवन नामक प्राचीन बौद्ध विहार के रूप में रेखांकित किया गया है। बौद्ध परंपरा के अनुसार, जेतवन नामक महाविहार का क्षेत्र अनथपिंडिक के द्वारा संघ को दान में दिया गया था। नगर के चारों ओर बनी सुरक्षा प्राचीर तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. की है।

काल-I (पूर्व-1200 सा.सं.पू.) गेरूआ मृद्भाण्ड

काल-II (ल.1100-800 सा.सं.पू.) चित्रित मृद्भाण्ड तथा साथ के लाल मृद्भाण्ड

काल-III (छठीं-तीसरी शताब्दी सा.सं.पू.) उत्तरी कृष्ण चमकीले मृद्भाण्ड तथा साथ के अन्य मिट्टी के बर्तन

कालखंड-IV (द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. से तृतीय शताब्दी ईसवी) छापे तथा उकेरे हुए मृद्भाण्ड

कालखंड-V (ग्यारहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी) चमकीले मृद्भाण्ड

0 2 cm

विभिन्न काल स्तरों से प्राप्त मिट्टी के बर्तन, हस्तिनापुर

पूर्वी हिस्से की उत्खनित किलेबंदी, कौशाम्बी

उत्तरी उत्तर प्रदेश के बस्ती जिला में दो पुरातात्त्विक स्थान गंवरिया और पिपरहवा स्थित हैं। इन केन्द्रों का उत्खनन कार्य के.एम. श्रीवास्तव के नेतृत्व में भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के द्वारा किया गया और इस सर्वेक्षण के माध्यम से लंबे समय से चली आ रही प्राचीन कपिलवस्तु से जुड़े विवादों को सुलझाया जा सकता है (श्रीवास्तव, 1996)। कपिलवस्तु महाविहार अंकित कई मुहर पिपरहवा से प्राप्त हुए हैं। विहारों, चैत्यों के अतिरिक्त बुद्ध के अवशेषों पर निर्मित शाक्यों द्वारा प्रसिद्ध स्तूप भी खोजे जा चुके हैं। गंवरिया ही वस्तुतः कपिलवस्तु नगर था। यहां के पुरातात्त्विक सतह को चार उपखंडों में बांटा गया है। कालखंड-I 800-600 सा.सं.पू. में पॉलिश किए गए काले मृद्भाण्ड, उत्कृष्ट धूसर मृद्भाण्ड और लाल मृद्भाण्ड मिले हैं। कालखंड-II 600-200 सा.सं.पू. NBPW स्तर हैं। कालखंड-III और IV 200 सा.सं.पू. से 200 सा.सं. के बीच का काल है। यहां कालखंड-I में लोग मिट्टी के घरों में रहते थे, जिनकी छतों को लकड़ी के खंभों के सहारे खड़ा किया जाता था। पकी हुई ईंटों की बनी संरचनाएं कालखंड-II से बननी शुरू हुई। इसके पहले नेपाल की तराई में स्थित बगल के तिलौराकोट नामक स्थान को ही कपिलवस्तु के रूप में जाना जाता था। यहां कालखंड-I NBPW स्तर के अवशेष तथा टेराकोटा के छल्लेदार कुएं पाए गए हैं।

बिहार के मुजफ्फरपुर जिला में स्थित बसार को प्राचीन वैशाली के रूप में चिन्हित किया गया है। यह लिच्छवियों और वज्जि गण संघ की राजधानी थी। वैशाली मगध से नेपाल के तराई जाने वाले मार्ग पर स्थित था। बौद्ध स्रोतों में इस नगर के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। जैन परंपरा के अनुसार, यहां महावीर का जन्म स्थान था और पुराणों ने इसे वीसल नामक शासक का नगर बतलाया है। राजा वीसल का गढ़ कहे जाने वाले पुरातात्त्विक टीले से पुराने दुर्ग के अवशेष मिले हैं। खोरन पोखर नाम के एक तालाब को लिच्छवियों के राज्याभिषेक से जुड़े प्रसिद्ध तालाब के रूप में माना जा सकता है। यहां से प्राप्त अवशेषों में बहुत से पांचवी-चौथी शताब्दी सा.सं.पू. के हैं। मिट्टी के बने एक स्तूप को बाद में ईंटों से बनाया गया था। यह उक्त तालाब के उत्तर-पश्चिम में अवस्थित है। ऐसा संभव है कि इस स्तूप के भीतरी मिट्टी वाला हिस्सा वास्तव में लिच्छवियों के द्वारा बुद्ध के अवशेषों पर बनाया गया होगा।

पटना के दक्षिण-पूर्व में 40 मील दूर राजगीर अवस्थित है। प्राचीन राजगृह मगध की पहली राजधानी थी। यह स्थान पैठान से मध्य गंगा नदी घाटी तक जाने वाले महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग पर स्थित था। इस नगर को भी बुद्ध और महावीर दोनों से जोड़ा गया है। यहां पर वे पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों में बौद्ध ग्रंथों तथा व्हेन-सांग के वृत्तांतों में वर्णित स्थलों को खोजने की दृष्टि से किये गये हैं। यहां पर दो नगरों को रेखांकित किया गया है—प्राचीन राजगृह तथा नवीन राजगृह। प्राचीन राजगृह पांच पहाड़ियों के बीच स्थित था, जिसके चारों ओर दोहरे पत्थर के सुरक्षा प्राचीर बने हुए थे। नवीन राजगृह भी पत्थर के दीवारों से घिरा हुआ था जो प्राचीन राजगृह के उत्तर में स्थित था। प्राचीन राजगृह के चारों ओर बना सुरक्षा प्राचीर 25-30 मील तक फैला हुआ था। पाठ्यात्मक स्रोतों के अनुसार, यह सुरक्षा प्राचीर बिम्बिसार के काल में (छठीं शताब्दी सा.सं.पू.) बनाया गया था। नवीन राजगृह का निर्माण शायद अजातशत्रु (पांचवी शताब्दी सा.सं.पू.) के काल में हुआ था जिसके चारों ओर दोहरे प्रस्तरीय प्राचीर बने हुए हैं।

विनयपिटक में कहा गया है कि बुद्ध ने पाटलिपुत्र के विषय में यह भविष्यवाणी की थी कि यह एक महान नगर के रूप में उभर कर आएगा, किन्तु इसे सदैव आग, पानी और आंतरिक कलह का खतरा बना रहेगा। कुम्रहार और बुलंदीबाग (पटना) नगर में हुई उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड स्तर के सर्वेक्षणों से प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की संरचनाओं के अस्तित्व का पता चलता है। किन्तु इस स्थान के सबसे पहले के पुरातात्त्विक स्थल को नहीं
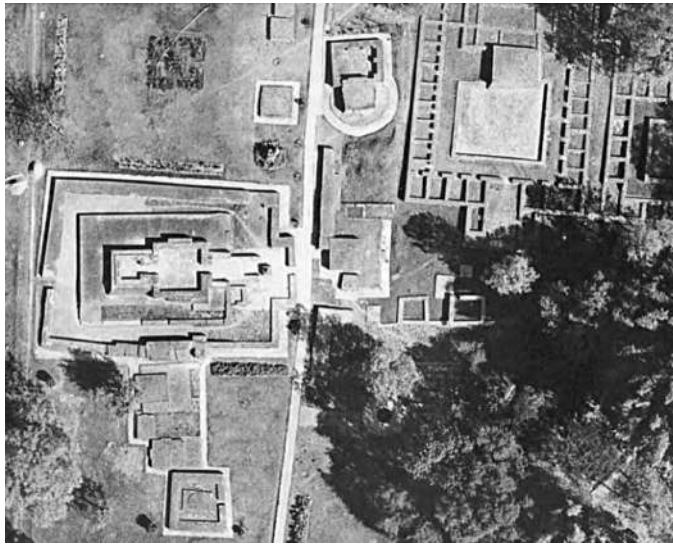
खोजा जा सका है। प्राचीन चंपा, अंग की राजधानी थी जो चंपा नगर और चंपापुर गांवों से चिन्हित की जाती है। ये गांव दक्षिण बिहार के भागलपुर शहर से 5 कि.मी. पश्चिम में स्थित है। यहां से प्राप्त NBPW स्तर के अवशेषों में सुरक्षा प्राचीर के अवशेष और उनके चारों तरफ किए गए गड्ढे प्रमुख हैं।

चन्द्रकेतुगढ़ और तामलुक जैसे कई महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल निचली गंगा नदी घाटी में अवस्थित हैं। किन्तु इस क्षेत्र के प्रारंभिक सभ्यता स्तर के विषय में बहुत कुछ नहीं खोजा जा सका है। वरिबट्टेश्वर में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति स्तर को असंशोधित तिथि निर्धारण के अनुसार, 500 सा.सं.पू. का माना गया है। महास्थानगढ़ की प्राचीनता भी इसी काल से जोड़ी जाती है। इस प्रकार बंगाल में NBPW स्तर महाजनपद काल से ही रेखांकित किया गया है (चक्रवर्ती, 2006: 324)।

श्रावस्ती: मठों और टीलों की खुदाई

पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक प्रारूप जो उपलब्ध है वे विभिन्न क्षेत्रों के विषय में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड से जुड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारी हमें देते हैं। एरदोसी (1988) ने उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले का पुरातात्त्विक अध्ययन किया जो वत्स महाजनपद के क्षेत्र में पड़ता था। अध्ययन के प्रारंभिक चरण में एरोडोजी ने कालखंड-II के पुरातात्त्विक स्तर को 600-350 सा.सं.पू. के बीच का माना। बाद में ल. 14 तिथियों के मिलने के अनुसार, इन्होंने प्रारंभिक NBPW स्तर और अंतिम चरण के NBPW स्तर को अलग अलग बांटा। प्रारंभिक NBPW स्तर का काल 550-400 सा.सं.पू. तथा मध्य और अंतिम चरण के NBPW स्तर का काल 400-100 सा.सं.पू. तय किया गया। प्रारंभिक NBPW स्तर में आवासीय क्षेत्र में आश्चर्यजनक विस्तार/वृद्धि होने के प्रमाण उपलब्ध हैं, जिससे तदनुरूप बढ़ती हुई जनसंख्या का भी अनुमान किया जा सकता है। कौशाम्बी, (वत्स की राजधानी) चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल से ही इस क्षेत्र की सबसे बड़ी बस्ती बन चुकी थी। प्रारंभिक NBPW काल में इसका आकार 500 हेक्टेयर तक फैला हुआ था। जिसके चारों ओर मिट्टी के गिलावों पर बने सुरक्षा प्राचीर के अवशेष देखे जा सकते हैं। एरदोसी द्वारा बस्तियों की चार श्रेणियां चिहि्नत की गई हैं। इसकी दूसरी श्रेणी के अंतर्गत कारा और शृंगवेरपुर जैसे स्थान आते हैं जो 12 हेक्टेयर में फैले हुए थे। इन नगरों को अपनी उत्पादन गतिविधियों के कारण जाना जाता है। इसके बाद तृतीय श्रेणी पर 6-7 हेक्टेयर के आकार वाले बस्तियों को रखा गया। ये अपेक्षाकृत छोटी बस्तियां थीं, जहां शिल्प उत्पादन और लौह अयस्क एवं लोहे की वस्तुओं के निर्माण से जुड़े शिल्प इत्यादि प्रमुख रूप से किये जाते थे। सबसे निचली श्रेणी की बस्तियों के अंतर्गत 16 केन्द्रों को चिन्हित किया गया है, जिनका आकार 0.42 से 2 हेक्टेयर के बीच था। ये बस्तियां किसानों और गड़ेरियों की थीं। किन्तु कुछ शताब्दियों के बाद ही एक 3-5 हेक्टेयर वाली पांचवे आवासीय श्रेणी का भी विकास होने लगा। बाद के काल में भीट (19 हेक्टेयर) और झूसी (30 हेक्टेयर से भी अधिक) जैसे बड़े और द्वितीय श्रेणी की बस्तियों का विकास हुआ। सामान्य रूप से ग्रामीण बस्तियों का उत्तरोत्तर विकास होता गया। जो अब नदियों के किनारे सीमित नहीं थे। इनका विस्तार अन्य हिस्सों में भी होने लगा था।

एस.बी. सिंह (1979) ने ऊपरी गंगा नदी घाटी में स्थित पांचाल क्षेत्र का अध्ययन किया। इनके अध्ययन से भी चार स्तर वाले आवासीय संरचनाओं को रेखांकित किया गया किन्तु इन्होंने प्रारंभिक मध्य और उत्तर NBPW स्तरों को पृथक रूप से नहीं चिन्हित किया है। पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र थी जो इलाके का सबसे बड़ा स्थल है। तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. तक यह एक विशाल दुर्गीय नगर में परिणत हो चुका था, इसका आकार 180 हेक्टेयर से अधिक था। अतरंजीखेड़ा 64 हेक्टेयर आकार वाला द्वितीय स्तर का स्थल था। यहां से शिल्प उत्पादन, व्यापार तथा विस्तृत कृषि आधार के प्रमाण मिलते हैं। जखेड़ा 8 हेक्टेयर आकार वाला स्थल था, जबकि अन्य स्थलों को गांवों के रूप में देखा गया है। जिनका आकार सामान्य रूप से 4 हेक्टेयर के लगभग था।

मक्खनलाल के अध्ययन (1984: 66-80) से एक दूसरे प्रकार का चित्र उभर कर सामने आता है। इस अध्ययन के अनुसार, कानपुर जिला में NBPW स्तर की 99 बस्ती अवस्थित थे। जबकि इसके पहले के चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्तर में केवल 46 बस्ती थीं। इस क्षेत्र में कोई बहुत बड़े नगर का प्रमाण नहीं मिला है। यहां के सबसे बड़े आवासीय क्षेत्र 8.75 हेक्टेयर के थे जबकि अन्य 98 स्थल का आकार 0.5 से 5 हेक्टेयर के बीच था। NBPW काल में आवासीय क्षेत्र का आकार 1.41 हेक्टेयर हुआ जबकि NBPW काल में स्थलों का सामान्य आकार 1.16 हेक्टेयर आंका गया है। मक्खन लाल ने गंगा यमुना दोआब में जनसंख्या के विषय में इस प्रकार से अनुमान लगाया है—गैरिक मृद्भाण्ड काल में 52,000; चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल में 16,300; उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड काल में 426,000 तथा दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी शताब्दी सा.सं. के बीच 900,000। सभी पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों से एक सामान्य अनुमान यह लगाया जा सकता है कि ग्रामीण संस्कृति विकसित हो चुकी थी और जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो रही थी।

मध्य भारत तथा दक्कन क्षेत्र

वैसे तो इस अध्याय में चर्चा का मुख्य केन्द्र उत्तरी भारत है किन्तु ल. 600-300 सा.सं.पू. के बीच में हुए अन्य क्षेत्रों के नगरीय विकास के प्रमाणों की भी चर्चा की जा सकती है। मध्य भारत में नर्मदा घाटी स्थित जबलपुर के निकट त्रिपुरी और सागर के निकट ऐराकिना (एरन), शायद छेदि राज्य के अंग थे। त्रिपुरी में सभ्यता के अवशेष दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से मिलते हैं, किन्तु इस स्थान का रूपांतरण नगर में कब हुआ यह ज्ञात नहीं है जबकि एरन में भी सभ्यता की शुरुआत दूसरी शताब्दी सहस्राब्दी से हो चुकी थी। लेकिन यह संभवत: मौर्य काल में एक नगर के रूप में परिणत हुआ।

उज्जैनी या आधुनिक उज्जैन, शिप्रा नदी के तट पर है जो चंबल नदी की एक सहायक नदी है। यह अवंति की राजधानी थी और एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र भी क्योंकि यहां से उत्तरी पथ दो भागों में बंट जाता था, एक दक्षिणवर्ती दिशा में तथा दूसरा पश्चिमवर्ती दिशा में। यहां से भी आवासीय स्तरों को चार कालखंडों में बांटा गया है। कालखंड-I ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड स्तर का है, किन्तु कुछ चित्रित धूसर मृद्भाण्ड के ठीकरे भी प्राप्त हुए हैं। इसकी तिथि ल. 750-500 सा.सं.पू. के बीच तय की गयी है। अन्य उपादानों में टेराकोटा के चरखे, हड्डियों के तीराग्र-भालाग्र, लोहे के बने खंडक और छुरियां इत्यादि प्रमुख हैं। इस स्थल के चारों ओर भी विशाल सुरक्षा प्राचीर के अवशेष देखे जा सकते हैं जिसके बाहरी हिस्से में गड्ढा खोदा गया था। कालखंड II के मृद्भाण्डों में ब्लैक स्लिप्ड वेयर के अतिरिक्त ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड और उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड मिले हैं। इस समय मिट्टी के गिलावे पर बने घर, मिट्टी के ईंटों, पत्थर के टुकड़ों और पकाई गयी ईंटों से बनी संरचनाएं भी मिलने लगीं। यहां पर पकी हुई ईंटों से बना एक विशाल जलकुंड देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कई टेराकोटा के छल्ले वाले कुएं भी मिलते हैं। यहां से लोहा गलाने के लिए एक भट्ठी तथा लोहार की एक कार्यशाला भी मिली है। पत्थर के मनके, लोहे की वस्तुएं इत्यादि बड़ी संख्या में मिली हैं।

उत्खनन कार्य प्रगति पर (ऊपर); सेलखड़ी की ब्राह्मी लिपियुक्त स्मृति मंजूषा (नीचे)

विभिन्न कालस्तरों के मृद्‌भाण्ड, अहिच्छत्र

कालखंड-II से प्राप्त वस्तुओं में आहत सिक्के और लोहे की बनी वस्तुएं प्रमुख हैं। टेराकोटा, हाथी दांत और तांबे की बहुत सारी वस्तुएं भी मिली हैं।

मध्य प्रदेश के रायसिन जिला में बेसनगर ही प्राचीन विदिशा नगर था। यह भी मालवा क्षेत्र से गुजरने वाले प्रमुख व्यापारिक मार्गों का केन्द्र था। यहां पर मिले सुरक्षा प्राचीर के अवशेष दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के हैं। प्रारंभिक NBPW स्तर से ब्लैक एंड रेड मृद्‌भाण्ड लोहे की वस्तुएं और आहत सिक्के इत्यादि मिले हैं।

दक्कन में आश्मक का राज्य अवस्थित था जो गोदावरी क्षेत्र में पड़ता है। यह सोलह महाजनपदों में से एक था। पैठन या प्राचीन प्रतिष्ठान प्रारंभिक ऐतिहासिक काल का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। इसी क्षेत्र में पड़ने वाले नासिक में प्रारंभिक ऐतिहासिक सभ्यता ल. 400 सा.सं.पू. से शुरू हो गयी थी। यहां बेन गंगा घाटी में स्थित पौनि से एक स्तूप के प्रारंभिक मिट्टी के भीतरी हिस्से का अवशेष मिला है। तेरना नदी के किनारे आधुनिक तेर को अब तगारा के नाम से जाना जाता है। यह प्राचीन काल में एक प्रमुख बाजार हुआ करता था, यहां कालखंड-I NBPW से शुरू होता है। नागपुर जिला में स्थित आदम में 10 हेक्टेयर वाला एक पुरातात्त्विक स्थल है, जिसके चारों ओर मिट्टी के बने सुरक्षा प्राचीर और पूर्वी द्वार को चिन्हित किया जा सकता है। कालखंड-III में यह सुरक्षा प्राचीर बना था जिसकी तिथि 1000-500 सा.सं.पू. निर्धारित की गयी है। कालांतर में इस सुरक्षा प्राचीर को पत्थरों के द्वारा और मजबूती दी गयी थी। नर्मदा के दक्षिणी किनारे पर नागल नामक केंद्र स्थित है जिसके ठीक विपरीत दिशा में प्राचीन भरूकच्छ (भड़ौच) स्थित है। सबसे प्रसिद्ध स्थान होते हुए भी इसका सबसे कम पुरातात्त्विक सर्वेक्षण किया गया है। यहां पर मिलने वाले प्रमाण छठीं शताब्दी सा.सं.पू. के हैं जिनमें मृद्‌भाण्ड हड्डी और लोहे के बने कई प्रकार के उपादान प्रमुख हैं।

नगरों की गतिविधियां: शिल्प श्रेणी, संगठन और मुद्रा प्रणाली

(Urban Occupations, Crafts, Guilds, and Money)

प्राचीन बौद्ध स्रोतों में ग्रामीण तथा नगरीय शिल्पों की लम्बी सूची दी गयी है (वाग्ले, 1966: 134-58)। इनमें कृषक, पशुपालन, व्यवसाय के अतिरिक्त धोबी, हजाम, दर्जी, रंगाई करने वाले और रसोइए सभी व्यवसायों की चर्चा है। राजा

के द्वारा विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञों को बहाल किया जाता था, इनमें युद्धजीवी या योद्धा प्रमुख थे। पैदल योद्धा, धनुष बाण वाले योद्धा, घुड़सवार, हाथी पर युद्ध करने वाले तथा रथ चलाने वाले सिद्धस्थ सभी थे। राजा की सेवा में महामाच्च, रत्थिक, पेत्तनिक, थापति, हत्तीरोह, राजभट, बंधनगारिक, दास-दासी और कई प्रकार के दैनिक मजदूरी पर रखे जाने वाले कर्मकार सम्मिलित थे।

नगरीय व्यवसायों में वैद्य, शल्कत (शैल्य चिकित्सक) तथा लेखाकार भी सम्मिलित थे। मुद्रा विनिमय और गणना ही नगरीय व्यवसाय में आता था। नट (कलाकार या रंगकर्मी), नटक (नर्तक), शोकजयिक (जादूगर), लांघिक (नट), कुंभथुनिक (नगाड़ा बजाने वाले), इक्खानिक (महिला भविष्यवक्ता) इत्यादि की भी चर्चा की गयी है। उस समय लगने वाले मेले को समाज कहा जाता था। गणिका यानी सुसंस्कृत नगरवधू और वेशी अथवा सामान्य वेश्या का उल्लेख भी किया गया है।

पालि स्रोतों में विभिन्न प्रकार के शिल्पों की चर्चा की गयी है। इनको बनाने वाले शिल्पकार नगरों में रहते थे और इनके द्वारा उत्पादित शिल्प के ग्राहक सामान्य रूप से शहरी लोग थे। इनमें यानकार, दंतकार (हाथी दांत की वस्तु बनाने वाले), कर्मकार (धातु का काम करने वाले), स्वर्णकार, कोशीयकार (रेशम का काम करने वाले), पालकण्ड (बढ़ई), सूचीकार (सुई बनाने वाले), नलकार और मालाकार तथा कुम्भकार प्रमुख हैं। इनमें से बहुत सारे शिल्प विशेषज्ञों का समूह नगरों के हाशिए पर अपनी पृथक बस्तियों में निवास करता था। जातक कथाओं से मिली सूचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमें से कुछ शिल्पों का स्थानीयकरण हो चुका था और विशेष गांव से जुड़े शिल्प विशेषज्ञों के समुदायों की चर्चा भी की गयी है। सामान्यतः शिल्प व्यवसायों का व्यवसाय वंशानुगत था। ल. 600-300 सा.सं.पू. के बीच ये सभी परिवर्तन दिखलायी पड़ने लगे थे।

गौतम धर्मसूत्र में कृषि, व्यापार, पशुपालन, सूद पर कर्ज देने वाले जैसे व्यवसायों से वैश्यों को जोड़ा गया है। यह भी कहा गया है कि कृषक, व्यवसाय, पशुपालन, सूदखोर और शिल्पकार सभी समुदायों को अपने स्वतंत्र नियम-परिनियम बनाने का अधिकार था जो उनके व्यवसाय से जुड़ा होता था। राजा को यह सलाह दी गयी कि विभिन्न व्यवसायों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों पर अपने वैधानिक नियम दे सकते हैं। इन सभी बातों में एक प्रकार के निगम जैसी अवधारणा के प्रचलन का बोध होता है। बौद्ध ग्रंथों में श्रेणी संगठनों के उद्भव की सीधी सूचनाएं मिलने लगी थीं। श्रेणी, निगम, पुग, व्रत ''' और संघ जैसी शब्दावलियों का प्रयोग प्राचीन भारतीय ग्रंथों में लोकप्रिय हो चला था। ये विभिन्न प्रकार के कॉरपोरेट संगठन थे जिनमें श्रेणी संगठन भी सम्मिलित था। विनयपिटक में श्रावस्ती के युगों (श्रेणी संगठनों) की चर्चा की गयी है जो वहां पर रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों को नियमित रूप से रसद प्रदान करते थे। जातक कथाओं में श्रेणी संगठनों और उनकी गतिविधियों से जुड़ी और बहुत सी बातें कही गयी हैं। जातकों में अठारह श्रेणी संगठनों का उल्लेख मिलता है जिनके मुखिया राजा के साथ प्रत्यक्ष सीधे सम्बंध में थे।

मुद्रा प्रणाली का अभ्युदय और सिक्कों का प्रचलन नगरीकरण का एक महत्त्वपूर्ण आयाम था। पालि ग्रंथों में पहली बार कहापण, निक्ख, कम्स, पाद, मासक, काकनिक के रूप में सिक्कों की चर्चा की गयी है। साहित्यिक स्रोतों की पुष्टि आहत् सिक्कों की प्राप्ति से पुरातत्त्व के द्वारा की गयी है। आहत् सिक्के विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुए हैं जो चांदी के बने हुए थे। हालांकि, सिक्कों का प्रचलन का यह अभिप्राय नहीं है कि वस्तु विनिमय प्रणाली समाप्त हो गयी, किन्तु सिक्कों के प्रचलन से आर्थिक विनिमय के क्षेत्र में गुणात्मक परिवर्तन आया और इसका व्यापार पर, विशेष कर लंबी दूरी के व्यापार पर, गहरा प्रभाव पड़ने वाला था। इससे सूद पर धन देने की प्रथा को भी सहायता मिली। पालि ग्रंथों में सूद से जुड़े व्यवसाय, उधार से जुड़े वित्तीय उपकरण, लोगों के द्वारा अपनी संपत्ति को गिरवी रखने की घटना और यहां तक कि अपनी पत्नी और बच्चों को भी उधार न चुकाने की स्थिति में गिरवी रखने की घटना तथा दिवालियापन का उल्लेख अलग-अलग स्थानों पर मिलता है। बौद्ध संघ में वैसे लोगों का प्रवेश निषेध था जब तक कि अपने ऋण को चुका नहीं लेते थे। इसके साथ-साथ भौतिक समृद्धि की सूचना उपभोक्ता सामग्रियों के बढ़ते प्रकारों के उल्लेख से भी मिलती है। रोचक तथ्य यह है कि उपभोक्ता संस्कृति संसाधन संपन्न लोगों के लिए थीं और उसी के समान्तर भौतिक समृद्धि का त्याग करने वाले सिद्धांतों का प्रचलन उतनी ही अनुपात में बढ़ रहा था।

विभिन्न कालस्तरों से उत्खनित ईंट वाली संरचनाएं, उज्जैन

गहपति और सेट्ठी: नगरों में नए कुलीन वर्ग का उदय

प्रारंभिक पालि साहित्यों में जिस सामाजिक शब्दावली का प्रयोग होता है, उसके आधार पर होने वाले आर्थिक, सामाजिक परिवर्तनों को समझा जा सकता है जो ल. 600–300 सा.सं.पू. के बीच उत्तरी भारत में घटित हो रहे थे। पुराने शब्दों को नया अर्थ मिल रहा था और नये शब्दावलियों को सृजित किया जा रहा था। साहित्यिक स्रोतों से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि सामाजिक, आर्थिक वर्गों का अभ्युदय हो रहा था, जिनके पास संपत्ति सामाजिक स्तर और उत्पादन पर नियंत्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण श्रेणीकरण देखा जा सकता है।

वैदिक ग्रंथों में गृहपति का उल्लेख एक परिवार के मुखिया के रूप में किया गया था। पालि ग्रंथों में इसके लिए गिहि, गहट्ठ, तथा अज्झवसति का प्रयोग किया गया है और गहपति अथवा गृहपति का अर्थ इस समय बदल गया। (चक्रवर्ती, 1987: 65–95)। उमा चक्रवर्ती ने सुझाव दिया कि अब गहपति शब्द का प्रयोग घर के मुखिया के साथ-साथ धनाढ्य भूमिपति और कृषि संपत्ति के उत्पादन कर्त्ताओं के लिए होने लगा था। समाज के तीन श्रेणियों की चर्चा होती है। क्षत्रिय, ब्राह्मण और गहपति जो तीनों अलग-अलग क्षेत्रों से आते थे। *अंगुत्तर निकाय* के अनुसार, क्षत्रिय शक्ति और क्षेत्र से सम्बंधित हैं और भूमि उनका आदर्श है। ब्राह्मण मंत्र और यज्ञ से जुड़े हैं, ब्रह्मलोक जिनका आदर्श है, जबकि गहपति कृषि और शिल्प से जुड़े हैं, तथा स्वयं के परिणाम की पूर्ति अथवा उससे मिलने वाला मुनाफा ही उनका आदर्श है। ब्राह्मण गहपतियों का भी उल्लेख है जो ब्राह्मण गांवों में निवास करते थे। गहपतियों के राजनीतिक महत्त्व का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि एक चक्कवत्ती सम्राट के सात धरोहरों में उसकी गिनती होती थी।

सेट्ठी संस्कृत शब्द श्रेष्ठिन् का पालि रूप है और पालि ग्रंथों में इन्हें धनाढ्य व्यवसाय तथा व्यापार और सूद के व्यवसाय से जुड़ा हुआ बतलाया गया है। राजगृह तथा वाराणसी जैसे महानगरों में अत्यंत धनाढ्य सेट्ठियों का उल्लेख मिलता है। महावग्ग में सोनकोलविस नामक एक श्रेष्ठि पुत्र का उल्लेख है। जब इस युवा ने बौद्ध भिक्षु के रूप में खाली पांव जमीन पर चलना शुरू किया तो उससे रक्त निकल आया क्योंकि इसका लालन-पालन एक अत्यंत विलासितापूर्ण वातावरण में हुआ था। बौद्ध संघ की जीवन की कठिनाइयों को देखते हुए उसे इसके विषय में पुन:निर्णय लेने के लिए बाध्य किया। कहा गया है कि बुद्ध ने इस समस्या का समाधान निकाला और बौद्ध भिक्षुओं को जूते पहनने की अनुमति मिल गयी।

इस प्रकार बौद्ध स्रोतों के अनुसार, सेट्ठी नगरीय समुदाय का एक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण सदस्य था, जिसके राजाओं के साथ घनिष्ठ सम्बंध थे, यह भी रोचक तथ्य है कि पालि स्रोतों में गहपति और श्रेष्ठी को विशिष्ट अर्थों में देखा गया है। इन शब्दों को कभी एक-दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं किया गया। उदाहरण के लिए अनाथपिंडक को हमेशा गहपति के रूप में उद्धृत किया गया है। इसलिए सेट्ठी-गहपति जैसे संयुक्त शब्दों का अभिप्राय एक-सा नहीं था। दरअसल, ये ऐसे व्यक्ति के विषय में वर्णन करते हैं जिनका नगरीय और ग्रामीण दोनों आधार था। एक ओर इनका नियंत्रण भूमि पर भी था और व्यापार पर भी। इसका अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि प्रसिद्ध वैद्य जीवक के मरीजों में न केवल राजन् वर्ग था बल्कि बड़े-बड़े सेट्ठी-गहपति भी उसकी देखरेख में रहा करते थे और ये जीवक को चिकित्सा शुल्क के रूप में हजारों कहापण दिया करते थे।

व्यापार और व्यापारी

(Trade and Traders)

बौद्ध ग्रंथों में यात्रा करने वाले लोगों में बुद्ध और उनके अनुयायी, दूसरे सम्प्रदायों के गुरू-शिष्य, शिक्षक-विद्यार्थी, व्यवसायी, राजा और सेनाओं को दिखलाया गया है। सहजता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये सभी लोग लगभग एक ही मार्गों से यात्रा कर रहे थे और इनके यात्रा वृत्तान्तों पर उस समय के यातायात के साधन, व्यापार मार्ग और व्यापार इत्यादि के विषय में अनुमान किया जा सकता है। व्यापार मार्गों और व्यापारिक आदान-प्रदान के विषय में पुरातात्त्विक प्रमाण भी महत्त्वपूर्ण हैं। उस काल के दो प्रमुख अंतर क्षेत्रीय महामार्गों में 'उत्तरापथ' और 'दक्षिणापथ' दोनों का नाम आता है। कभी-कभी इन क्षेत्रों के लिए भी इनका प्रयोग होता है। वास्तव में इन व्यापारिक मार्गों का इतिहास कई शताब्दियों का है।

उत्तरापथ उत्तरी भारत का महान अंतर क्षेत्रीय व्यापार मार्ग था। यह उत्तर पश्चिम से लेकर सिंधु गंगा मैदानों से होता हुआ बंगाल की खाड़ी में स्थित ताम्रलिप्ति के बंदरगाह तक जाता था। *अष्टाध्यायी* में इस मार्ग पर स्थित विभिन्न जनपदों का उल्लेख किया गया है। *विनयपिटक* और जातक कथाओं के उद्धरणों के आधार पर भी इस व्यापारिक मार्ग की विस्तृत जानकारी ली जा सकती है। उत्तरापथ को उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सों

में बांटा जा सकता है (लाहिरी, 1992: 367-77)। उत्तरी हिस्सा लाहौर, जालंधर, सहारनपुर से होते हुए गंगा नदी के मैदान बिजनौर तक जाता था और वहां से यह गोरखपुर होते हुए बिहार और बंगाल की ओर जाता था। इस मार्ग का दक्षिणी हिस्सा लाहौर, रायविंड, भटिंडा, दिल्ली, कानपुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, लखनऊ और इलाहाबाद को जोड़ता था, जहां से यह मार्ग पाटलिपुत्र और राजगृह की ओर चला जाता था। उत्तरापथ को एक मार्ग राजस्थान (जो खनिज और धातु का प्रमुख स्रोत था) से जोड़ता था, दूसरा मार्ग सिंध से और एक अन्य उपमार्ग उड़ीसा के तटीय क्षेत्र से।

नयनजोत लाहिरी (1992: 370-71) के विश्लेषण से यह पता चलता है कि साहित्यिक स्रोतों के तथ्यों की पुष्टि पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी होती है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के वितरण के आधार पर उत्तरी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में, चोलिस्तान से लेकर ऊपरी गंगा, नजदीक के मैदानी हिस्सों तक भौतिक संस्कृति और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में एक समरूपता देखी जा सकती है। उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति के स्तर में उत्तरापथ के सम्पूर्ण विस्तार को पुरातात्त्विक दृष्टि से सिद्ध किया जा सकता है। उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड के विस्तार के आधार पर अंतर्क्षेत्रीय आदान-प्रदान का विस्तार समझा जा सकता है। अफगानिस्तान और मध्य एशिया के स्थलों से प्राप्त लाजावर्द (लापीस लाजुली) उत्तर पश्चिम के स्वात घाटी से लेकर बंगाल के वर्धमान जिले तक पाए जाते हैं। चांदी की प्राप्ति भी शायद इसी क्षेत्र से होती थी। वैसे राजस्थान में भी यह उपलब्ध था, इससे सिक्के बनाए जाते थे और यह सम्पूर्ण उत्तरापथ में हर जगह से प्राप्त किया जा सकता है। जमुनिया और टोपाज जैसे अर्धमूल्यवान पत्थर राजमहल, सिंहभूम और ढालभूम क्षेत्र से (झारखंड) प्राप्त किये जाते थे और ये ऊपरी और मध्य गंगा नदी घाटी में सभी जगह पाए जाते हैं। निचली और मध्य गंगा नदी घाटी में शंखों की प्राप्ति पूर्वी तटीय क्षेत्रों से की जाती थी।

दरअसल, उत्तरापथ एक स्थलीय और नदीय संयुक्त मार्ग था। बौद्ध स्रोतों में गंगा नदी के द्वारा व्यवसायों और उत्पादन के आदन-प्रदान का भरपूर उल्लेख मिलता है। गंगा नदी तथा इसकी प्रमुख सहायिकाएं यमुना, यमुना-घाघरा, सरयू में सभी जगह चित्रित धूसर मृद्भाण्ड और उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड पाये जाते हैं। इससे पता चलता है कि नदीय व्यापार मार्ग कितना उपयोगी और महत्त्वपूर्ण रहा होगा। *अष्टाध्यायी* और जातकों में फेरी के समान नावों की चर्चा की गयी है। फिर भी नदीय व्यापार मार्ग की अपेक्षा स्थलीय मार्ग को प्राथमिकता दी जाती थी, कारवां में चलने वाले व्यापारी और बौद्ध भिक्षुओं की लंबी पैदल यात्राओं का उल्लेख इसी बात का साक्षी है।

दक्षिणापथ दक्षिण का महान व्यापार मार्ग था जिसकी चर्चा *अर्थशास्त्र* में भी की गयी है, किन्तु महत्त्वपूर्ण रूप से इसका उपयोग प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से ही शुरू हो गया था। यह मगध के पाटलिपुत्र से गोदावरी पर स्थित प्रतिष्ठान तक जाता था। यह मार्ग पश्चिमी तटीय क्षेत्र में स्थित बंदरगाहों से भी जुड़ा हुआ था। वैसे तो बौद्ध ग्रंथों में और *महाभारत* तथा *रामायण* में विंध्य पर्वत शृंखला के दक्षिण हिस्से में पड़ने वाले स्थानों की बहुत चर्चा मिलती है। लेकिन ऐसा लगता है कि ये सभी स्रोत उत्तरी भारत के परिप्रेक्ष्य में लिखे गये थे। इसलिए दक्षिण के मार्गों की जानकारी अस्पष्ट है। बौद्ध रचनाओं में वैसे व्यापारियों की चर्चा है जो पाटलिपुत्र और कौशाम्बी में प्रतिष्ठान तक जाते थे। सुत्तनिपात में कोसल के एक शिक्षक बावरी की कथा दी गयी है, जो गोदावरी पर स्थित आस्सक या अश्मक में एक कुटिया में रहता था जिसने अपने अनुयायियों को बुद्ध से भेंट करने के लिए भेजा था। उसके शिष्यों ने प्रतिष्ठान (पैठान), उज्जैनी, विदिशा होते हुए श्रावस्ती की यात्रा की। प्रसिद्ध वैद्य जीवक ने अपने अवंती जाने के क्रम में दक्षिणापथ का सहारा लिया था। दक्षिण की पुरातात्त्विक पुष्टि मालवा क्षेत्र में पाए गए चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति और मध्य भारत तथा दक्षिण दक्कन में पाए गए उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डों से होती है। गंगा नदी घाटी में विंध्य पर्वत शृंखला क्षेत्र से लोहा, तांबा और कई प्रकार के पत्थर मंगाए जाते थे। इन संसाधनों का यातायात दक्षिणा पथ के उत्तरी हिस्से के द्वारा किया जाता था। बाद के शताब्दियों में इस मार्ग पर व्यापार और आदान-प्रदान का परिमाण काफी बढ़ गया।

बौद्ध ग्रंथों में वैसे कारवां व्यापारियों की चर्चा है जो 1000 बैलगाड़ियों में एक जनपद से दूसरे जनपद की यात्रा करते थे और इस यात्रा के क्षेत्र में मरूभूमि का क्षेत्र भी पड़ता था। कारवां व्यापारियों को शुल्क और अंतर्राजकीय कर भी देने पड़ते थे। कस्टम के अधिकारियों को कम्मिक कहा जाता था जो विभिन्न उत्पादों पर कर लगाया करते थे। शुल्क की चोरी करने वालों का सामान जब्त कर लिया जाता था। इसके अतिरिक्त राहगीरों और व्यापारियों को लूटने का भी उदाहरण मौजूद है। व्यापारियों और भिक्षुओं को, जो दो बड़े महानगरों के बीच सड़क यातायात का प्रयोग करते थे, उन्हें भी कभी-कभार लूटा जाता था। इन यात्रियों के जान-माल की सुरक्षा की जिम्मेवारी जिन राजकीय अधिकारियों को दी जाती थीं उन्हें राजभट कहा जाता था।

आंतरिक व्यापार मार्ग बाह्य व्यापार मार्गों से जुड़े हुए थे, जिसके द्वारा उपमहाद्वीप और इसके बाहर के क्षेत्रों के बीच सम्बंध बनता था। तक्षशिला और उत्तरी अफगानिस्तान तथा ईरान को जोड़ने वाले स्थल मार्ग

महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि इनके सहारे चांदी, सोना, लाजावर्द और जेड जैसे बहुमूल्य सामानों का यातायात होता था। भारत और मेसोपाटामिया के बीच अच्छी लकड़ी के व्यापार के लिए लंबी दूरी के स्थल मार्ग से जुड़े होने की संभावना है। नवपाषाण काल से ही मध्य एशिया के मार्ग महत्त्वपूर्ण हो चुके थे। बोलन दर्रा से होते हुए उत्तरी अफगानिस्तान की ओर जाने वाला मार्ग भी महत्त्वपूर्ण था। तक्षशिला और चारसद्दा जैसे महानगर इन व्यापार मार्गों के केंद्र में पड़ते थे। ऐसे बाह्य मार्ग जो उत्तरी पश्चिमी भारत से जुड़ते थे इनका उपयोग न केवल व्यापारियों ने किया बल्कि बाद में ईरान और मेसीडोनिया की सेनाओं ने भी किया। बंगाल में म्याँमार जाने वाला मार्ग भी शायद महत्त्वपूर्ण था। म्याँमार में जेड की प्राप्ति की संभावना बनती है।

पालि स्रोतों में समुद्री यात्रा और सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख अंगुत्तर निकाय में मिलता है कि समुद्री व्यापारियों के द्वारा एक विशेष प्रकार के पक्षी का उपयोग किया जाता था जो समुद्र से भूमि को चिन्हित करने में सक्षम थे। पश्चिम एशिया के साथ सामुद्रिक मार्ग का भी उल्लेख मिलता है। जातक कथाओं में ऐसे बहुत
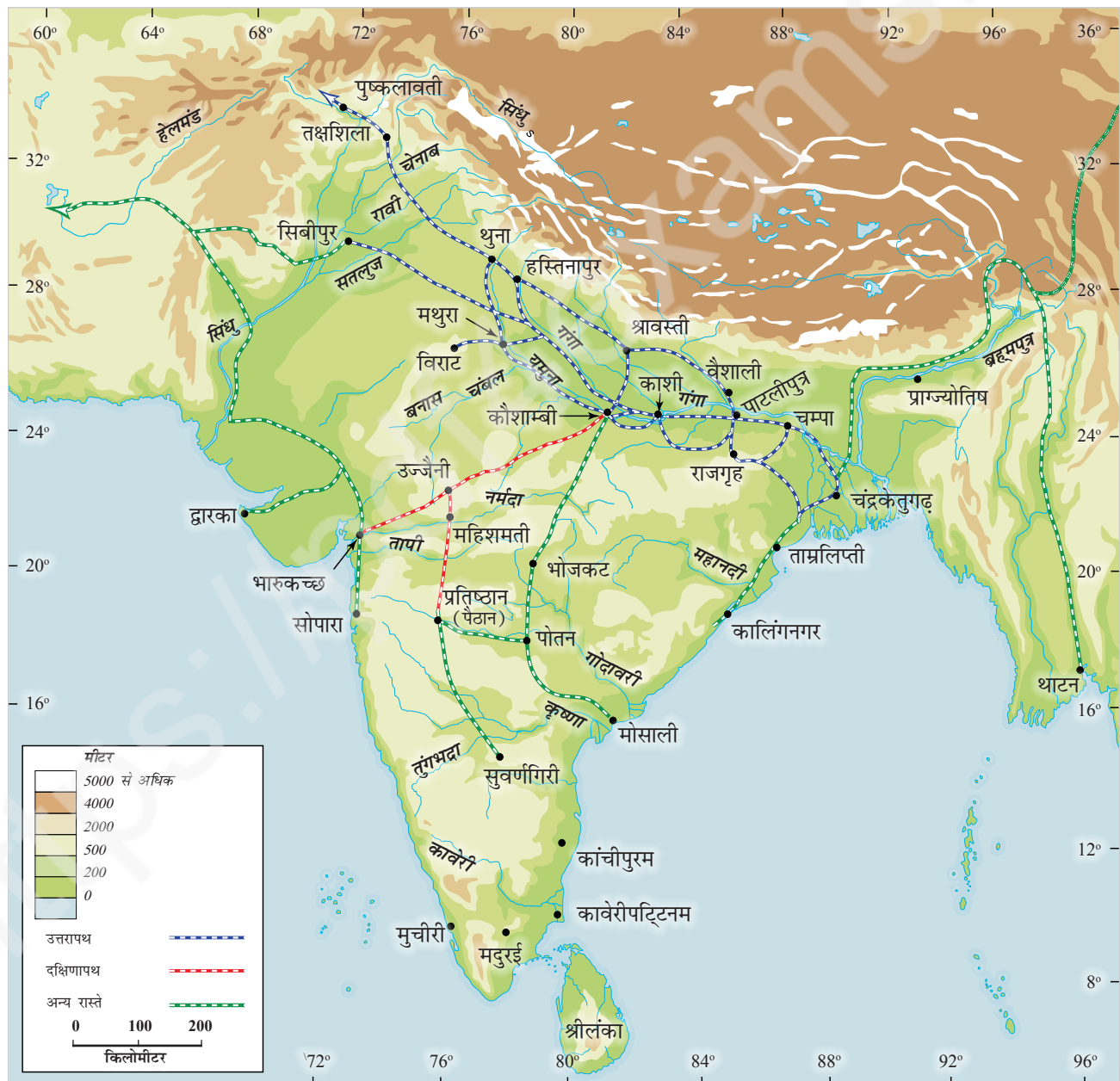
मानचित्र 6.3: **प्रारंभिक ऐतिहासिक भारत के प्रमुख व्यापारिक मार्ग**

सारे उद्धरण हैं जिनमें समुद्री यात्राओं की चर्चा मिलती है। चंदन की लकड़ी और मोती शायद ऐसी सामग्रियां थीं जिनका निर्यात पूर्वी और पश्चिमी तटीय क्षेत्र में पश्चिम एशिया और भूमध्यसागर क्षेत्र में किया जाता था। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से ही दक्षिण पूर्वी एशिया के साथ सामुद्रिक व्यापार प्रारंभ हो गया था। व्यापार के विस्तार के कारण ही व्यापारी वर्ग का उदय एक महत्त्वपूर्ण नगरीय घटक के रूप में हुआ। यही कारण है कि शायद बौद्ध स्रोतों में आर्थिक समृद्धि के कारण वाणिज्य या व्यापार को उच्च श्रेणी के व्यवसाय में रखा गया।

वर्ग, नातेदारी, वर्ण और जाति

(Class, Kinship, Varna and Caste)

छठीं शताब्दी सा.सं.पू. से उत्तर भारत में सामाजिक-आर्थिक वर्गों के उदय के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। बौद्ध स्रोतों में सामाजिक परिस्थिति और संपत्ति के आधार पर भेद की काफी सूचनाएं दी गयी हैं। उनमें दलित लोगों के विषय में भी कहा गया है जो अत्यंत गरीब थे। महाभोज कुल, दलिद्द कुल; सधन, अधन; दुगत, सुगत जैसे शब्दों से धनाढ्य और गरीब लोगों के बीच की गयी श्रेणियां इंगित की गयी है। समाज में बढ़ रहे इन विभेदों के मूल में उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण में भिन्नता थी विशेषकर भूमि के स्वामित्व से जुड़ी। किन्तु इन सामाजिक, आर्थिक वर्गों के विकसित होने के बावजूद कुल और गोत्र से जुड़े सम्बंध महत्त्वपूर्ण बने रहे और बाद में इस आधार पर सम्बंधित समुदायों ने जाति का रूप ग्रहण किया। ऐसे सम्बंधों को नाति या नातिकुलानि जैसे शब्दों से समझा जा सकता है जो परिवार से निश्चित रूप से कहीं बड़ा समुदाय था। नातक वैसे सम्बंधियों को कहते थे जो पितृ पक्ष अथवा मातृ पक्ष से जुड़े हुए हों। कुल का प्रयोग पितृपक्ष से जुड़े वंशानुगत सम्बंधों के आधार के लिए होता था। समान परिवारों के अस्तित्व की महत्ता इस तथ्य से आंकी जा सकती है कि जहां एक ओर बौद्ध भिक्षु पारिवारिक सम्बंधों से मुक्त माने जाते थे। वहीं संघ के नियमों ने उन्हें इस सम्बंध में कुछ छूट दे रखी थी। उदाहरण के लिए, बरसात के दिनों में जब वे एक जगह केंद्रित रहते थे, जिस प्रवास को 'वस्सावास' कहा गया है उस समय वे अपने परिवार के सदस्यों के साथ कुछ सम्बंध रख सकते थे। उन्हें युद्ध की भूमि में जाने का आदेश तो नहीं था, लेकिन वे अपने परिवार के बीमार या मृत्यु के करीब पहुंच सकते थे और सदस्यों से मिलने जाया करते थे। महाप्रजापति, गौतमी और आनंद बुद्ध के ही सम्बंधी थे। नारी के संघ में प्रवेश के प्रश्न पर तथा इनके प्रभाव के आगे शायद बुद्ध को भी झुकना पड़ा। फिर वही बौद्ध संघों ने बौद्ध भिक्षुओं के बीच भाईचारे का सम्बंध अथवा बौद्ध, बौद्ध भिक्षुणियों के बीच बहनों जैसे सम्बंध विकसित करने में सफलता पायी जो सामान्य पारिवारिक सम्बंधों की जटिलता से परे था और व्यवस्थित था। किन्तु फिर भी बौद्ध संघ में पारंपरिक पारिवारिक सम्बंध को पूरी तरह से विस्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, जिससे अंदाज लगाया जा सकता है कि उस काल में ऐसे सामाजिक सम्बंध का कितना अधिक महत्त्व रहा होगा।

दूसरी ओर ब्राह्मणवादी व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था सामाजिक चर्चा के केंद्र में थी। वर्ण आदर्श रूप से एक अंत:विवाही संस्था थी जिसके बाहर विवाह करने की सामान्यत: अनुमति नहीं दी गयी थी, किन्तु इस काल के धर्मशास्त्रों ने कुछ अंत:-वर्णीय विवाहों का अनुमोदन किया है। विशेष रूप से उच्च वर्ण के पुरुष और निम्न वर्ण की महिला के बीच हुए विवाहों का। ऐसे विवाहों को अनुलोम विवाह की संज्ञा दी गयी है। इसके अतिरिक्त उच्च वर्ण की स्त्री और निम्न वर्ण के पुरुष के बीच हुए विवाह को प्रतिलोम विवाह कहा गया और इन्हें सामाजिक स्वीकारोक्ति नहीं दी गयी। एक ब्राह्मण स्त्री और एक शुद्र पुरुष के बीच हुए प्रतिलोम विवाह को सबसे हेय दृष्टि से देखा गया फिर भी इन ग्रंथों में चूंकि ऐसे अंतर वर्ण विवाहों का उल्लेख है जिससे स्पष्ट पता चलता है कि ऐसे विवाह सम्बंध बनाए जा रहे थे और वर्ण काफी प्रभावी रूप से अंत:वैवाहिक समुदाय नहीं रह गया था।

इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में वर्ण तथा उनसे जुड़े अपेक्षित व्यवसायों के बीच सिद्धांत एवं व्यवहार के अंतर को भी स्वीकार करता है और इसे आपद् धर्म के सिद्धांत से समझा जा सकता है। जब तक परिस्थितियां अनुकूल हों, चार वर्णों के लोगों को अपने-अपने वर्णों के व्यवसाय एवं धर्म का पालन करना चाहिए। ब्राह्मण के लिए वेदों का अध्ययन, अध्यापन, यज्ञों का निष्पादन और यजमानों से दक्षिणा ग्रहण, ये कार्य हैं। क्षत्रियों के लिए अध्ययन, अध्यापन, यज्ञों का संपादन ब्राह्मणों को दक्षिणा तथा विशेष रूप से लोगों की रक्षा करना अपेक्षित है। वैश्यों के लिए ऊपर की तीनों गतिविधियां प्रस्तावित हैं, किंतु उसके आदर्श व्यवसाय कृषि, पशुपालन, व्यापार और सूद पर धन देना है। शूद्रों से अपेक्षित है कि वे ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा कर अपना जीवन यापन करें।

यद्यपि धर्मशास्त्रों में यह स्वीकार किया जाने लगा कि विपरीत परिस्थितियों में और आपदा की स्थिति में जब एक व्यक्ति अपने वर्ण के लिए अपेक्षित व्यवसाय को छोड़कर दूसरे किसी व्यवसायों को अपनाने के लिए बाध्य होता है तो वस्तुत: उस वर्ण के लिए निषिद्ध भी है। तब इसे ही आपद्धर्म कहा गया है। धर्मशास्त्र में भी इसके

लिए कोई आपत्ति नहीं उठायी गयी है। इसके अलावा वर्ण-व्यवस्था ने विवाह और व्यवसाय के सम्बंध में जो भी रियायतें दी हैं, वह भी इसी दिशा में उनके द्वारा किये जा रहे प्रभावी प्रयासों के व्यावहारिक पक्ष को दिखलाता है। वास्तविकता यह है कि वर्ण-धर्म के सामान्य प्रयासों को दिखलाता है तथा वर्ण-धर्म के सामान्य नियमों का पालन नहीं किया जा रहा था।

बौद्ध और जैन परंपराओं ने भी वर्ण व्यवस्था को सैद्धांतिक रूप से स्वीकार किया, किन्तु जिस प्रकार का धार्मिक अनुमोदन ब्राह्मणवादी परंपरा में वर्ण व्यवस्था को दिया गया, वह इन सम्प्रदायों में अनुपस्थित था। इन परंपराओं में वर्ण व्यवस्था को लोगों के द्वारा सृजित एक संस्था के रूप में देखा जाता था जो उनके नैसर्गिक गुणों और वांछित व्यवसाय के अनुकूल थे। बौद्ध और जैन संप्रदायों ने वर्ण व्यवस्था में क्षत्रिय को ब्राह्मणों से ऊँचा स्थान दिया।

ब्राह्मणवादी परंपरा में गोत्र सामाजिक परिचय का एक महत्त्वपूर्ण साधन बना। बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध ने ब्राह्मणों को सदैव उनके गोत्र के साथ संबोधित किया है। गैर ब्राह्मण लोगों ने भी गोत्र का उपयोग करना शुरू किया। बुद्ध को कई बार गोतम या गौतम कहा गया जो उनका गोत्र नाम था। इसके अलावा महावीर कश्यप गोत्र के माने जाते हैं। हो सकता है कि बौद्ध और जैन संप्रदायों के द्वारा यह ब्राह्मणों के साथ बराबर का स्तर बनाने की दिशा में किया जा रहा प्रयास हो या यह भी हो सकता है कि बहुत सारे गैर ब्राह्मणों ने ब्राह्मण से जुड़े गोत्रों को कृत्रिम रूप से अधिगृहीत कर लिया हो।

वर्ण वैसे भी सामाजिक परिचय के आधार के रूप में अप्रसांगिक नहीं था, किंतु फिर भी अब वह दूसरे महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था जाति के साथ इस दिशा में प्रतिस्पर्धा करने की स्थिति में था। धर्म सूत्रों ने जातियों की उत्पत्ति के विषय में यह व्याख्या करना प्रारंभ किया कि ये वर्ण-संकर के सिद्धांत से उद्धृत हुए हैं। इस सिद्धांत

प्राथमिक स्रोत

आपद्धर्म या विपत्ति काल में अपनाए जाने योग्य व्यवसाय

गौतम धर्मसूत्र (7) ने बुरे वक्त में वर्ण धर्म के सीमित अतिक्रमण के विषय में अपनी बातें रखी है। ध्यान देने योग्य बात है कि अधोलिखित आपद्धर्म की चर्चा ब्राह्मणों को केन्द्र में रखकर की गयी है। विभिन्न वर्णों के लिए शास्त्र सम्मत् आपद्धर्म इस प्रकार कहे गये हैं:

एक ब्राह्मण किसी गैर ब्राह्मण से भी वेद की शिक्षा ले सकता है। वह उसके पीछे चल सकता है। वह उसका सम्मान कर सकता है। किंतु एक बार जब वह उसके अधीन अध्ययन कर लेता है तब ब्राह्मण को उस व्यक्ति से अधिक सम्मान मिलना चाहिए।

विपत्ति के समय एक व्यक्ति पठन-पाठन का कार्य कर सकता है। यज्ञों का सम्पादन कर सकता है वह किसी भी वर्ग से मिले हुए भेंट को स्वीकार कर सकता है। उपरोक्त तीनों कार्य को क्रमशः निम्नतर सम्मान की अवस्था में रखा गया है। जब ये कार्य भी उपलब्ध न हो तब एक ब्राह्मण किसी क्षत्रिय के धर्म का भी पालन कर सकता है और यदि वह भी उपलब्ध न हो तब वह किसी वैश्य के व्यवसाय का भी पालन कर सकता है।

किन्तु यह भी कहा गया है कि निम्नलिखित वस्तुओं में व्यापार नहीं किया जा सकता है, जैसे—सुगंधित वस्तु, मौसमी वस्तु, पका हुआ भोजन, शीशम के बीज, लिनन के कपड़े, छाल, लाल रंग के रंगे हुए कपड़े, या कपड़ों की धुलाई, दूध या दूध से बनी वस्तुएं, जड़ या मूल, फल, फूल, दवा, मधु, मांस, घास, पानी, विष, पशुवध; किसी भी परिस्थिति में मनुष्य बांझ गायें, कलोर और प्रसूता गाय का व्यापार नहीं किया जा सकता। कुछ अन्य स्रोतों के अनुसार, निम्न वस्तुओं में भी व्यवसाय नहीं किया जा सकता है, जैसे—चावल, जौ, बकरी, भेड़, अश्व, बैल, दूध देने वाली गाय या सांड। मौसमी वस्तुओं से मौसमी वस्तुओं का अथवा पशुओं से पशुओं के बीच का भी वस्तु विनिमय वर्जित है, लेकिन नमक, भोजन और शीशम बीजों का वस्तु विनिमय वर्जित नहीं है। यदि आवश्यकता पड़े तो तैयार भोजन के बदले उसी मात्रा में कच्चे अनाज का आदान-प्रदान किया जा सकता है। यदि उपरोक्त किसी भी परिस्थिति की संभावना न हो तब ब्राह्मण किसी भी व्यवसाय को अपना सकता है केवल शूद्र के व्यवसाय को छोड़कर।

कुछ शास्त्रों में तो यह भी अनुमति दे दी गयी है कि यदि जीवन-मृत्यु का प्रश्न हो तो शूद्र के भी व्यवसाय को अपनाया जा सकता है। फिर भी एक ब्राह्मण को वैसे वर्ग के साथ मिलने-जुलने से निषेध कर दिया है जो निषिद्ध आहार का सेवन करते हैं। जब मृत्यु-जीवन का प्रश्न हो तो एक ब्राह्मण क्षत्रिय की तरह शस्त्र उठा सकता है अथवा एक व्यवसायी की तरह व्यापार कर सकता है।

स्रोतः ऑलिवेल ([2000], 2003: 137)

के अनुसार, जातियों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार के अंत:वर्णीय विवाहों का परिणाम थी। इस प्रकार धर्मशास्त्र परंपराओं ने एक ओर वर्ण सिद्धांत को बचाकर रखने में सफलता पायी और दूसरी ओर जातियों के अस्तित्व के विषय में अपनी मौलिक व्याख्या भी प्रस्तुत की। हालांकि, इस काल में यह नहीं कहा जा सकता कि अंत:वर्णीय या अंत:जातीय विवाह काफी सख्ती से पालन किये जा रहे थे और न ही भोजन सम्बंधी सामुदायिक नियम पूरी तरह स्थापित हुए थे। किंतु जाति व्यवस्था की शुरुआत छठीं शताब्दी सा.सं.पू. से ही रेखांकित की जा सकती है।

कई बार प्राचीन ग्रंथों में वर्ण, जाति और कुल जैसे शब्दों को एक-दूसरे के स्थान पर उपयोग में लाया गया है किंतु फिर भी इनके अपने विशिष्ट अभिप्राय थे। वर्ण व्यवस्था का अपना महत्त्व था और ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे शब्दों की सामाजिक स्तरीकरण में विशेष भूमिका थी। किंतु फिर भी पालि स्रोतों में जहां ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विषय में तो काफी उल्लेख मिलता है किंतु वैश्यों और शूद्रों का बहुत ही कम। इन वर्णों से जुड़े लोगों को सामान्यत: उनके विशिष्ट व्यवसायों के माध्यम से संबोधित किया जाता है जो कुल और जाति से अधिक संसर्गीय थी। सैद्धांतिक रूप से वैश्य अथवा शूद्र वर्ण के अंतर्गत आने वाले लोग अपने विशिष्ट व्यवसाय के कारण जाने जाते थे जो पुन: उनके कुल और जाति से संबद्ध था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण एक सैद्धांतिक प्रतिरूप था और जो समाज के ऊपरी लोगों से अधिक संबंद्ध था, अन्यथा समाज के अन्य वर्गों के लोगों का परिचय उनके व्यवसाय, उनके कुल अथवा जाति से जाना जाता था। हाल्ब फांस (991: 350-52) का मानना है कि वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था का आद्य प्रारूप था और इन दोनों के बीच का अंतर्सम्बंध 'परासरण' का कहा जा सकता है अथवा दोनों एक-दूसरे के क्षेत्र में परस्पर अतिक्रमण कर रहे थे क्योंकि प्राचीन भारतीय शास्त्रीय ग्रंथों में इनके बीच कोई सुनिश्चित विभेद करने का कभी प्रयास नहीं किया गया।

जाति शब्द 'कास्ट' के रूप में अनुदित होता है जो मूलत: पुर्त्तगाली शब्द कास्टास (Castas) से लिया गया है। कास्टास का सम्बंध जंतु और वनस्पति की प्रजातियों से है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग जनजाति कुल, नस्ल या वंश के लिए भी किया जा सकता है। इसका प्रयोग सबसे पहले भारतीय समाज का वर्णन करने के क्रम में सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में पश्चिमी तट पर आने वाले पुर्तगाली व्यापारियों ने किया था। दरअसल, जाति के सम्बंध में की जाने वाली व्याख्या काफी विविधतापूर्ण है फिर भी मोटे तौर पर इनको दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है (क्विग्ली [1999], 2002: 2-3)। पहली श्रेणी की व्याख्या के अंर्तगत इनके भौतिकवादी स्वरूप को प्रमुखता दी गयी है। इस श्रेणी की व्याख्या के अनुसार, जाति की अवधारणा का उपयोग भौतिकवादी असमानताओं को छिपाने के लिए अथवा उनको औचित्यपूर्ण ठहराने के लिए किया गया और इसके लिए शुचिता और प्रदूषण जैसे सामाजिक उपकरणों का प्रयोग हुआ। दूसरी श्रेणी की व्याख्याओं को आदर्श मूलक कह सकते हैं क्योंकि इनके अनुसार, जाति धार्मिक एवं सांस्कृतिक विचारों की एक उत्पत्ति है जो शुचिता ओर प्रदूषण से वास्तव में जुड़ी हुई हैं।

एक अन्य व्याख्या के अनुसार, जाति और राजनीतिक परिवर्तनों को जोड़ने का प्रयास किया गया है फिर भी यह रेखांकित करना काफी कठिन होगा कि पहली बार जातियों का उदय किस प्रकार हुआ। इनको कई प्रकार के कारकों की संयुक्त क्रियाशीलता का उत्पाद कहा जा सकता है—(1) शिल्प और व्यवसायों की वंशानुगत प्रकृति, (2) विभिन्न प्रकार के जनजातीय समूहों का वृहत्तर ब्राह्मणवादी संरचना में समावेश, (3) एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें उच्च कुल में जन्म लेने को प्राथमिकता दी जा रही थी तथा जिसका सामाजिक श्रेणीकरण विवाह से सम्बंधित नियमों और अंत:विवाह के नियमों से संचालित हो रहा था। (जायसवाल [1998], 2000: 13-14]) इसके अतिरिक्त इस काल के सामाजिक विविधताएं क्षेत्रीय और व्यावसायिक भिन्नताओं के द्वारा भी प्रभावित हो रही थीं। बंटे हुए सामाजिक अस्तित्व के लिए ये कारक भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे।

धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित वर्ण संकर का सिद्धांत एक प्रकार से आवश्यक प्रतीत होता है, जब विभिन्न समूहों को वृहत्तर सामाजिक संरचना के अंतर्गत किसी प्रकार से स्थान दिलाने की बाध्यता रही हो। पालि स्रोतों में भी उक्कट्ट जाति या उच्च जाति तथा हीन जाति की चर्चा की जाती रही है। ब्राह्मणों और क्षत्रिय को उच्च जातियों में रखा गया जबकि चंडाल, वेन, नेसद, रथकार, पुक्कुस (मेहतर) जैसी जातियों को हीन जाति कहा गया। निश्चित रूप से ये ग्रंथ जाति को व्यवसाय से जोड़ रहे थे और यह बतलाने का प्रयास कर रहे थे कि विभिन्न जातियों की सामाजिक स्थिति एक-दूसरे से काफी अलग है।

'अस्पृश्य' शब्द का प्रयोग पहली बार *विष्णुधर्मसूत्र* में मिलता है जिसका रचनाकाल पहली से तीसरी शताब्दियों के बीच माना जाता है। पहली बार अस्पृश्य शब्द को एक ऐसे सामाजिक समूह के लिए प्रयोग किया जा रहा था जो जन्म के आधार पर स्थायी रूप से अस्पृश्य घोषित किया गया हो, लेकिन अस्पृश्यता एक सामाजिक व्यवहार के रूप में निश्चित रूप से इसके कहीं पहले से चली आ रही थी और समाज का यह तबका शोषित और सामाजिक परिधि के हाशिए पर कहा जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण अवधारणाएं

वर्ण और जाति

ब्राह्मणवादी परंपरा की प्रभुता का सबसे अभूतपूर्व प्रतीक यह है कि आज भी अधिकांश लोग ऐसा मानते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज सदियों तक चार वर्णों में विभाजित था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और वे आज भी वर्ण को ही जाति का आधार मानते हैं, किंतु ऐसा था नहीं। वर्ण और जाति दोनों वंशानुगत सामाजिक श्रेणी विभाजन हैं और इन दोनों में एक प्रकार का सम्बंध सिद्ध हुआ, किंतु किसी भी समय यह एक ही परंपरा का हिस्सा नहीं रही। इन दोनों के बीच में काफी भिन्नताएं हैं और उनके स्वरूप और प्रकृति में भी काफी अंतर है जो समय के साथ-साथ बदलता चला गया, जो कि अधोलिखित है:

1. वर्णों की संख्या चार है (अथवा पाँच जब अंग्रेजों को एक श्रेणी माना जाता है) जबकि जातियों की संख्या और उपजातियों की संख्या इतनी अधिक है कि उनको निश्चित रूप से गिन पाना संभव नहीं है और आज भी इनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है।
2. वर्ण और जाति दोनों श्रेणीबद्ध विभाजन है, किन्तु वर्णों की सोपाणिक व्यवस्था बिल्कुल सुनिश्चित है, जबकि जातियों के सोपाणिक स्तरीकरण में परिवर्तन के काफी तथ्य विद्यमान हैं जो एक सीमा के भीतर हमेशा दिखलायी पड़ते हैं। ब्राह्मणवादी परंपरा के अंतर्गत ब्राह्मण इस सोपाणिक श्रेणीकरण के सबसे शीर्ष पर और शूद्र सबसे निचले स्थान पर स्थित हैं। बौद्ध परंपरा में क्षत्रिय ब्राह्मणों के ऊपर आते हैं, ब्राह्मण दूसरे स्थान पर आते हैं। फिर भी इनकी व्यवस्था सुनिश्चित है, किंतु जातियों के विषय में इस तरह की सुनिश्चित श्रेणीकरण की सोपाणिक व्यवस्था कभी भी नहीं देखा जाना प्रायः असंभव है। जाति की सोपाणिक श्रेणीकरण व्यवस्था में भी, हालांकि, ब्राह्मणों को हमेशा सबसे ऊपर स्थान पर रखा गया है और सबसे निचली श्रेणी में अस्पृश्य श्रेणी के लोग आते हैं, किन्तु इन दोनों शीर्षस्थ और सबसे निचले वर्गों के बीच की श्रेणियों में काफी परिवर्तन होते रहते हैं। क्षेत्रीय और स्थानीय दृष्टिकोण से जातियों का स्तर काफी परिवर्तित होता रहता है और यह कई तथ्यों पर निर्भर करता है, जैसे–किसी जाति के पास या उसके हाथों में कितनी भूमि है, उसकी सम्पत्ति कैसी है, उसकी राजनीतिक या सैन्य शक्ति का स्तर क्या है? इसलिए जातिगत विभाजन या श्रेणीकरण हमेशा विवाद का विषय रहा है और ब्राह्मणों और अंत्यजों और अपृश्यों में भी काफी भिन्नताएं देखने को मिलती हैं। अभी हाल के दिनों में कई जातियों ने अपनी जाति को इस श्रेणीकरण व्यवस्था में ऊँचा उठाने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया को समाजशास्त्र में 'संस्कृतिकरण' की संज्ञा दी गयी है। हालांकि, कुछ जातियां समय के साथ अपने इस सोपान में नीचे भी उतरी हैं। किसी जाति को ऊपर उठने के लिए उच्च जाति के व्यवहारों को अपनाना पड़ता है, जैसे–शाकाहारी भोजन, अपनी औरतों को घर में रखना, अपने व्यवसाय को बदल देना इत्यादि।
3. वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत केवल उच्च वर्णों में कुछ निश्चित प्रकार के शुद्र समुदाय के साथ सामाजिक सम्बंध बनाया या भोजन प्राप्त करना वर्जित था। लेकिन जाति व्यवस्था के अंतर्गत सहभोजिता का नियम बहुत सख्ती से पालन किया जाता है और यह पूर्ण रूप से परिभाषित होता है। यह सहभोजिता के नियम अनुष्ठानिक शुचिता और प्रदूषण के आधार पर तय किये गये हैं।
4. वर्णों में अंतवर्णीय विवाह वर्जित नहीं होते हैं, क्योंकि अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह के उदाहरण हमें कई बार देखने को मिलते हैं और ब्राह्मण शास्त्रों ने इनकी औपचारिक अनुमति भी दी है, किंतु जाति व्यवस्था के अंतर्गत अंतर्जातीय विवाह पूर्ण रूप से वर्जित होता है। हालांकि, कभी-कभी इन वैवाहिक नियमों को तोड़ा जाता है और उन्हें स्वीकृति भी मिलती है। लेकिन यह सामान्य नियम नहीं है।
5. वर्ण से जुड़े व्यवसाय भी निश्चित नहीं हैं जबकि प्रारंभिक चरण में कम से कम जातियों के व्यवसाय सुनिश्चित थे और कुछ व्यवसाय सब के लिए खुले हुए थे, किंतु कुछ व्यवसाय जाति विशेष के लिए बिल्कुल सुरक्षित कहे जा सकते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत जन्म की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है।

दरअसल, वर्ण और जाति एक-दूसरे से तब जुड़ गये जब कुछ जातियों ने अपने को एक विशेष वर्ण से जोड़ने का प्रयास किया। जाति और वर्ण व्यवस्थाओं को जोड़ने का मुख्य उद्देश्य यह था कि जाति व्यवस्था को उसी आधार पर ब्राह्मणवादी परंपरा के अंतर्गत शास्त्रीय मान्यता प्राप्त हो सकती थी। बहुत शताब्दियों तक ऐसा होता रहा कि वैसे वंशों ने जिन्हें राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो गयी, उन्होंने स्वयं को क्षत्रिय घोषित कर दिया। इससे भी पता चलता है कि वर्ण व्यवस्था एक प्रकार का मानकीय आदर्श था और वर्ण व्यवस्था का मुख्य

सामाजिक उद्देश्य यह था कि यह जाति व्यवस्था के लिए एक संदर्भ बिंदु के रूप में स्थापित हो गया। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से ही उत्तरी भारत में वर्ण की अपेक्षा जाति ही किसी व्यक्ति के सामाजिक पहचान अथवा सहभोजिता के नियमों में उसका स्थान, विवाह और व्यवसाय जैसे तथ्यों को निर्धारित करती थी।

वर्ण और जाति में अंतर को समझने के लिए वर्ण शब्द का अनुवाद नहीं किया जाना चाहिए। जाति को दूसरी ओर अनुवाद के रूप में काष्ट या सबकाष्ट में देखा जा सकता है। यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि सामाजिक संस्थाएं निरंतर परिवर्तित होती रहती हैं, विकसित होती रहती हैं। वर्ण और जाति व्यवस्थाओं का मुख्य महत्त्व तभी है जब यह समय के साथ बदलती गयी। इसलिए प्राचीन व्यवस्था की जाति व्यवस्था की प्रकृति आधुनिक युग के जाति व्यवस्था या जाति संरचना से काफी भिन्न थी।

प्रारंभिक धर्म शास्त्रों में चंडालों को शूद्र की श्रेणी में रखा गया, किंतु इसके कुछ ही समय बाद दोनों के बीच में काफी भेद देखने को मिलता है। स्मृतिकारों में यह विवाद बना रहा कि किन-किन समुदायों को अस्पृश्य श्रेणी में रखा जाए। चंडाल की अस्पृश्यता को सभी स्वीकार करते हैं। *आपस्तंब धर्मसूत्र* में यह व्याख्या की गयी है कि पूर्व जन्म में किये गए कुकर्मों के परिणामस्वरूप चंडाल में जन्म होता है। इसके अनुसार, एक ब्राह्मण जिसने स्वर्ण की चोरी की हो अथवा जिसने दूसरे ब्राह्मण की हत्या की हो, उनका पुनर्जन्म चंडाल के रूप में होता है, जबकि *बौधायन*, *गौतम* और *वशिष्ठ धर्मसूत्रों* में शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न संतान से चंडाल का जन्म माना गया है जो प्रतिलोम कोटि के विवाहों में सबसे घृणित कहा गया है। इन सभी उदाहरणों में चंडालों के हीन सामाजिक स्थिति का बोध होता है।

धर्मसूत्रों में चंडालों की तुलना श्वान और कौओं से की गयी है। उनसे आकस्मिक रूप से किया गया संपर्क भी प्रदूषणकारी कहा गया है। *आपस्तंब धर्मसूत्र* (2.1.2.8-9) में कहा गया है कि यदि कोई चंडाल का स्पर्श कर देता है तो उसे तुरंत पानी में कूद जाना चाहिए। यदि कोई चंडाल से बात कर लेता है तो उसे तुरंत एक ब्राह्मण से वार्तालाप कर लेना चाहिए, यदि कोई चंडाल को देख लेता है तो उसे तुरंत बाद सूर्य, चन्द्रमा, सितारों जैसे आकशीय पिण्डों को देख लेना चाहिए। जबकि इनकी तुलना में हीन समझे जाने वाले कुछ अन्य सामाजिक वर्गों के संपर्क को इतना अधिक घृणित नहीं माना जाता था। ऐसे समूह को अंत्यज कहा गया है जिनसे संपर्क में आने के प्रायश्चित स्वरूप शुद्धिकरण की उतनी विधियां नहीं प्रस्तावित हैं। ऐसा हो जाने पर मात्र स्पर्श किये हुए अंग को धो लेने से अथवा जल का आचमन करने से भी काम चल सकता था। गौतम (16,23,19) के अनुसार, यदि गांव में किसी शव या चंडाल की उपस्थिति हो, तो किसी व्यक्ति को वेद का पाठ नहीं करना चाहिए। धर्मसूत्रों में चंडाल स्त्रियों के साथ संभोग करने के लिए कठिन प्रायश्चित और दंड का प्रावधान रखा गया था।

इस काल के पाठ्यात्मक स्रोतों में पुरुष अथवा नारी दास दासियों का संदर्भ काफी कम मिलता है। दिग्धनिकाय में एक जगह कहा गया है कि दास का स्वयं पर अधिकार नहीं होता वे दूसरे पर आश्रित होते हैं और अपनी इच्छा के अनुसार, कहीं जा नहीं सकते। *विनयपिटक* में तीन प्रकार के दासों की चर्चा है—(1) अंतोजातको, शायद वैसी संतानें जो किसी दासी से उत्पन्न हुए हों, (2) धनक्कितो, ऐसे दास जिन्हें धन के द्वारा जिनका क्रय किया गया हो, (3) कर-मर-अनितो अथवा वैसे दास जिन्हें दूसरे देश से लाया गया हो। *दीघनिकाय* में एक चौथे प्रकार के दास का उल्लेख है, जिसे 'समम् दासवयम् उपगतो' या जो स्वयं दास बना हो, कहा गया है। दासत्व से मुक्ति के भी संदर्भ आते हैं। बौद्ध संघ में प्रवेश के लिए यह महत्त्वपूर्ण नियम था कि वैसे दास संघ में प्रवेश नहीं पा सकते जिनको उनके स्वामी ने मुक्ति नहीं दी है।

इस काल के साहित्यिक स्रोतों के कुलीनवर्ग के प्रति पूर्वाग्रहों को देखते हुए तय कर पाना काफी कठिन है कि चंडालों अथवा दासों ने किस प्रकार अपने शोषण और अधिनस्थता के विरूद्ध प्रतिकार किया। चक्रवर्ती (1987: 27) ने दो उदाहरणों की चर्चा की है जो ऐसे प्रतिकार या विरोध को अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करते हैं। ये उदाहरण बौद्ध धर्म सूत्र से लिए गए हैं। *विनयपिटक* में दास कर्मकारों के द्वारा अपने स्वामी शाक्यों की स्त्रियों पर जंगल में किए गए हमले की चर्चा है। दूसरी कथा में दासी काली और उसकी स्वामिनी गहपत्नी वैदेही की घटना है। यह कथा *मज्झिमनिकाय* से ली गयी है। वैदेही एक अत्यंत शालीन स्वभाव की गृहपत्नी थी। काली भी काफी

आज्ञाकारिणी और कर्मठ सेविका थी। काली का यह मानना था कि उसकी स्वामिनी इसलिए इतनी शालीन है क्योंकि उसके स्वयं का आचरण उसके अनुकूल है। इसलिए उसने अपनी स्वामिनी वैदेही की परीक्षा लेने का निश्चय किया। वह देर से उठने लगी और कई बार अपनी स्वामिनी की बातों की अनदेखी करने लगी, ऐसा उसने तीन दिनों तक किया। वैदेही इसको सहन नहीं कर सकी और अंत में वह क्रोधित होकर काली पर टूट पड़ी। काली का मानना इस प्रकार सही था।

इस प्रकार के सामाजिक संघर्ष अथवा प्रतिद्वंदिता की स्थिति जो उस काल के प्राचीन भारतीय पाठों में प्रतिबिंबित होती है, इनका अनुभव किया जा सकता है, लेकिन इससे कहीं अधिक कठिन कार्य यह जानना है कि ऐसे हाशिए पर रहने वाले सामाजिक समूह या दलित या शोषित समूह किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे, उनका क्या स्वर था, उनके कैसे विचार थे इत्यादि? इसका स्पष्ट कारण यह है कि सामाजिक अधीनस्थता अथवा समाज के हाशिए पर रहने वाले लोगों को साहित्यिक संस्कृति से पृथक करके ही रखा जाता है। इसलिए इतिहासकारों की यह महती भूमिका होनी चाहिए कि ये उपलब्ध साहित्यिक निहितार्थों को समझें और हाशिए पर रहने वाले लोगों के जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं को उजागर करें जो कुलीन समाज के अंग नहीं थे।

लिंग भेद, परिवार और गृहस्थी

(Gender, Family and Household)

किसी भी काल के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों को उस काल में हो रहे परिवार और गृहस्थी के स्तर पर होने वाले परिवर्तनों के आधार पर समझा जा सकता है। बदलते हुए समय की मांग नए आदर्शों और नैतिकता के शर्तों की थी। स्त्री की कामुकता और उसकी प्रजनन क्षमता पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिए इसलिए आवश्यक हो रहा था इसलिए उस काल के धर्मशास्त्र संपत्ति के पैतृक उत्तराधिकार को पूर्ण मान्यता दे रहे थे और अंतर्जातीय वैवाहिक संरचना पर आधारित समाज को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। इसलिए परिवार में और घर-गृहस्थी में पितृसत्तात्मक प्रकृति को मजबूत करना और स्त्री की शुचिता तथा इससे जुड़े विवाह नियमों पर बल देना इस प्रकार के नियंत्रण के प्रयास के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

बौद्ध और जैन सूत्रों में संघ के सदस्यों के अतिरिक्त उपासकों और गृहस्थों के लिए भी आदर्श आचरण की प्रस्तावना की गयी है। किंतु फिर भी ब्राह्मण धर्मसूत्र और गृहसूत्रों में सामाजिक मूल्यों और व्यवहारों को पहली बार व्यवस्थित एवं परिभाषित करने का प्रयास किया गया। इसमें आश्चर्य नहीं है क्योंकि ब्राह्मणवादी व्यवस्था में गृहस्थ आश्रम का केंद्रीय महत्त्व था। जब हम ब्राह्मण अथवा बौद्ध किसी भी प्रकार के धर्मसूत्रों का अध्ययन करते हैं तो हमें यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि उनमें प्रतिबिंबित आदर्श परिस्थिति और उस समय व्याप्त वास्तविक परिस्थिति के बीच क्या भेद था। इसके लिए धर्मसूत्रों के वाक्यों के बीच के निहितार्थ को समझना जरूरी होता है।

एक गृहस्थी के अंतर्गत एक दंपत्ति के अतिरिक्त उस परिवार के अविवाहित बच्चे, विवाहित पुत्र और उनके परिवार, पति के माता-पिता, दास और परिचारक सभी कुछ सम्मिलित थे। गृहस्थी के लिए प्रयोग में आने वाले प्रमुख शब्दों में कुटुंब, घर या कुल सबसे लोकप्रिय हैं। कुलपति परिवार का मुखिया होता था। कुल पुत्र का अभिप्राय कनिष्ठ पुरुष सदस्यों से था। कृषि पर आधारित गृहस्थी में घरेलू परिश्रम अथवा दासों का उपयोग कम ही होता था।

एक गृहस्थ के जीवन में विवाह केंद्रीय संस्था के रूप में कार्य करती थी। बौद्ध स्रोतों में भी उस तरह के विवाह को सर्वाधिक मान्यता मिली जिसमें विवाह वर-वधू के माता-पिता के द्वारा तय किया जाता था और शादी के अवसर पर दोनों काफी युवा और शुचितापूर्ण होते थे। 'अहव' का अर्थ वधू के परिवार के द्वारा वधू को ले जाना और 'विवाह' का अर्थ वर के परिवार के द्वारा वधू को वर के घर ले जाने को कहते हैं। यह तय कर पाना कठिन है कि अहव और विवाह दो अलग-अलग उत्सवों को कहा गया है अथवा एक ही संस्कार के दो नाम है। *विनयपिटक* में दस प्रकार के सम्बंधों की चर्चा की गयी है—(1) जब एक स्त्री को धन के द्वारा खरीदा जाता हो धनक्खित, (2) जब अपनी इच्छा से कोई स्त्री एक पुरुष के साथ रहती हो (छन्दवासिनी), (3) जब एक पुरुष उसको धन देता हो (भोगवासिन), (4) जब एक पुरुष उसको कपड़े देता हो (पटवासिनी), (5) जब जल के द्वारा आचमन संस्कार किया गया हो (ओदपत्तकनी), (6) जब वह अपने केश सज्जा को खोल लेती हो (ओभत्तचुंबत), (7) जब वह एक स्त्री दास हो (दासीनाम), (8) जब वह एक परिचारिका हो (कामकरी), (9) जब वह अस्थायी रूप से किसी पुरुष के साथ रह रही हो (मुहुत्तिक), और

(10) जब किसी युद्ध में उसका हरण कर लिया गया हो (धजाहत)। उपरोक्त सम्बंधों में से छन्दवासिनी को छोड़कर अन्य सभी सम्बंधों में किसी न किसी प्रकार का वित्तीय विनिमय या पहले से ही स्त्री के अधीनस्थ स्थान का बोध होता है। उपरोक्त सम्बंधों में से ओदपत्तकिनी तथा ओभत्तचुंबत कोटि के सम्बंध किसी प्रकार के उत्सव की ओर इशारा करते हैं (वाग्ले, 1966: 96-98)।

धर्मसूत्रों में आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा की गयी है—ब्रह्म, देव, आर्ष, प्रजापत्य, गंधर्व, असुर, राक्षस तथा पैशाच। स्मृतियों में इन प्रकारों को और विस्तारपूर्वक कहा गया है। ब्रह्म विवाह के अंतर्गत वधू के पिता संपूर्ण सम्मान के साथ साज-सज्जा और गहनों के साथ वेदों के ज्ञाता और अच्छे आचरण वाले किसी पुरुष को अपनी पुत्री सौंपता है। दैव विवाह के अंतर्गत भी उपरोक्त प्रकार के सम्मान के साथ पिता अपनी पुत्री को किसी यज्ञ के संपादन करने के बाद दक्षिणा के रूप में दान में देता है। इस प्रकार का विवाह केवल ब्राह्मणों के लिए प्रस्तावित था। आर्ष विवाह के अंतर्गत पिता अपनी पुत्री को दान में देता है जिसके बदले वह मवेशियों का एक जोड़ा (एक गाय और एक बैल) अथवा इस प्रकार के मवेशियों के दो जोड़े वधू पक्ष से लेता है, लेकिन वह अपनी पुत्री को बेचता नहीं है। प्रजापत्य विवाह के अंतर्गत पिता अपनी पुत्री को वर को यह कहते हुए कन्यादान करता है कि जाओ तुम दोनों मिलकर धार्मिक दायित्वों का निर्वहन करो और उसके बाद वह वर को मधुपर्क जैसे उत्सवों के अंतर्गत सम्मानित करता है। असुर विवाह के अंतर्गत एक पिता अपनी पुत्री को वर के हाथों में सौंप देता है जिसके बदले में वह पर्याप्त मात्रा में संपत्ति लेता है जिसके द्वारा वधू के परिवार और सम्बंधियों को संतुष्ट किया जा सके। गंधर्व विवाह के अंतर्गत वर और वधू के बीच विवाह के पहले प्रेम सम्बंध और आपसी सहमति होती है। राक्षस विवाह के अंतर्गत एक स्त्री को बलपूर्वक उसके घर से अपहरित कर लिया जाता है तथा इस क्रम में उसके सम्बंधियों को मार दिया जाता है या पीटा जाता है। पैशाच विवाह के अंतर्गत एक पुरुष वैसी स्त्री के साथ संभोग करता है जब वह सुषुप्ता अवस्था में हो या नशे की अवस्था में हो अथवा सही मानसिक स्थिति में नहीं हो। उपरोक्त विवाह के प्रकारों को उनकी वैधता के आधार पर ऊपर से नीचे की ओर रखा गया है तथा इनमें से सभी विवाहों को स्मृतिकारों ने स्वीकार भी नहीं किया है। ब्रह्म विवाह जहां श्रेष्ठ विवाह था, पैशाच सबसे निचली कोटि का विवाह था। दरअसल अंतिम तीन कोटि को विवाह की श्रेणी में रखा ही नहीं जाता था। इनके अंतर्गत वैसी परिस्थिति आ जाने के बाद विवाह के द्वारा उस परिस्थिति को सम्मानजनक बनाने का प्रयास किया जाता था। धर्मसूत्र में विवाहों के इस प्रकार वर्गीकरण से यह पता चलता है कि कई प्रकार के व्यवहार समाज में प्रचलित थे जिनमें दहेज और स्त्री मूल्य दोनों सम्मिलित था।

प्रारंभिक धर्मसूत्रों में यह सुझाव दिया गया कि लड़कियों की शादी उनके मासिक धर्म के शुरू होने के तुरंत बाद हो जानी चाहिए। *गौतम धर्मसूत्र* (18.20-23) पुनः कहता है कि लड़की का वैसा पिता पाप का भागीदार होता है जो लड़की के मासिक धर्म के हो जाने के तीन महीने तक उसका विवाह नहीं कर देता और इस समय के बाद से लड़की को स्वयं शादी कर लेनी चाहिए। *बौधायन धर्मसूत्र* (4.1.12) का सुझाव है कि लड़की के पिता को अपनी पुत्री की शादी किसी अयोग्य पुरुष के साथ भी कर देनी चाहिए, यदि लड़की का मासिक धर्म शुरू हो गया है।

प्रायः सभी गृह्यसूत्रों का प्रारंभ विवाह संस्कारों के साथ ही शुरू होता है। हालांकि, विवाह संस्कार से जुड़े रीति-रिवाजों में काफी भिन्नता है। यहां तक कि *ऋग्वेद* में जोड़े हुए एक बाद की ऋचा विवाह सूक्त को फिर से व्यवस्थित किया गया और उनमें से सभी का उपयोग नहीं किया गया (राय, 1994 ए)। विवाह संस्कारों के वर्णन के द्वारा पति-पत्नी के अतिरिक्त दोनों कुलों के बीच बनाए जा रहे सम्बंधों की विस्तृत परिचर्चा की गयी है। विवाह संस्कार के अंतर्गत वर-वधू का एक पत्थर पर चढ़ना, विशेष प्रकार से वर द्वारा वधू का हाथ पकड़ा जाना अथवा वर के द्वारा कन्या को ध्रुवतारा की ओर इंगित करते हुए दिखलाना, इन सभी के कई निहितार्थ हैं। इस समय के बाद से पुराहितों के द्वारा विवाह संस्कार में केंद्रीय भूमिका निभायी जाने लगी जो वधू पक्ष के घर में संपादित किया जाता था। पति और पत्नी के बीच विभिन्न सम्बंधों की व्याख्या की गयी जिसमें परस्पर सहयोग और मित्रवत् सम्बंध, शारीरिक सम्बंध तथा प्रजनन गतिविधियों के अतिरिक्त पति के अधीनस्थ पत्नी के स्थान को सुनिश्चित किया गया है। *आपस्तंब गृह्यसूत्र* (1.2.15) में कहा गया कि विवाह संस्कार के दौरान स्त्रियों के द्वारा बनाए गए व्यवहारों को स्वीकार करना चाहिए। हालांकि, इन व्यवहारों को व्याख्यायित नहीं किया गया किंतु ये इतने महत्त्वपूर्ण अवश्य रहे होंगे जिनको गृहसूत्र में स्थान दिया गया।

विवाह संस्कार के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में विभिन्न प्रकार के दैनिक रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों की व्याख्या भी की गयी तथा ब्राह्मणों के महत्त्व को इस क्रम में और दृढ़ता से स्थापित कर दिया गया। गृहपति तथा गृहअग्नि के बीच एक प्रतीकात्मक सम्बंध को महत्त्व दिया गया। प्रारंभिक धर्मसूत्रों में विधवा पुनःर्विवाह को स्वीकार नहीं किया गया किंतु यह स्वीकार किया गया कि यदि कोई पति अपनी पत्नी को छोड़कर चला जाता है तो कितने दिनों बाद वह दूसरा विवाह कर सकती है। गौतम और बौधायन दोनों ने 'पौनरभव' अर्थात्

एक स्त्री के द्वारा पुर्नविवाह करने के बाद उत्पन्न हुई संतान को संपत्ति ग्रहण करने योग्य संतानों की सूची में रखा। नियोग के प्रति प्रारंभिक स्मृतिकारों के द्वारा लिया गया दृष्टिकोण अस्पष्ट है। हालांकि, एक विधवा के द्वारा अपने देवर या किसी अन्य पुरुष के संसर्ग में आकर पुत्रों को जन्म देना एक प्राचीन व्यवहार था। गौतम ने नियोग के द्वारा उत्पन्न पुत्रों को संपत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार किया है, दूसरी ओर बौधायन (2.2.40) के अनुसार, पुत्र उसी का होता है जिसने बीजारोपण किया अर्थात् उस पुरुष का और इसलिए स्त्री को अपने पति के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति के साथ शारीरिक सम्बंध बनाने के संबंध में सचेत रहना चाहिए। दरअसल, बौधायन ने नियोग से उत्पन्न संतानों को वैधानिक उत्तराधिकारी के रूप में नहीं स्वीकार किया है।

अनुष्ठानों को परिभाषित और पुनर्परिभाषित करने की प्रक्रिया पंचमहायज्ञों पर दी जाने वाली विशेष महत्त्व के द्वारा दिखलायी पड़ती है (काणे [1941], 1974: 696-704])। इनकी चर्चा पहली बार उत्तर वैदिक ग्रंथों में की गयी थी, किंतु बाद में कम से कम ब्राह्मणों के लिए इनको अनिवार्य बताया गया। इन पांच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ (वेदों का अध्ययन), पितृयज्ञ (पूर्वजों को दिये जाने वाली हवि), दैवयज्ञ (पवित्र अग्नि में दी जाने वाली हवि), भूतयज्ञ (सभी जनों के लिए दी जाने वाली हवि) तथा मनुष्य (अतिथियों का सत्कार) आते हैं। श्रौत अनुष्ठानों के विपरीत एक गृहस्थ के द्वारा इन यज्ञों का संपादन बिना पुरोहित के हस्तक्षेप के किया जाता था। बाद के धर्मशास्त्रों में, इन पंचमहायज्ञों की महत्ता बतलाते हुए कहा गया कि ये अनजाने में किसी जीव को पहुंचाए गए कष्ट या उसकी मृत्यु के प्रायश्चित के रूप में की जानी चाहिए, जैसे—चूल्हे में, जाते में, झाड़ू देने के क्रम में या दैनिक दिनचर्या के अन्य गतिविधियों के द्वारा जो आहत हुए हैं। रोचक तथ्य यह है कि ये महायज्ञ दरअसल बिल्कुल सामान्य गतिविधियां थी। यज्ञ की केवल उनको उपमा दी गयी थी।

धर्मशास्त्रों में विवाह, उत्तराधिकार, प्रदूषण तथा श्राद्ध के सम्बंध में जो नियम बनाए गए उनमें 'सपिंड' सम्बंधियों को विशेष स्थान दिया गया। सभी ब्राह्मण ग्रंथ सपिंड सम्बंधियों के बीच विवाह का निषेध करते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रकार का निषेध सभी वर्णों पर समान रूप से लागू होता है यहां तक कि शूद्रों पर भी, काणे [1941], 1974: 52-58) ने सपिंड संबंध शब्द के विषय में यह बतलाया है कि बाद के धर्मशास्त्रों में इसकी व्याख्या अलग प्रकार से की गयी है। सपिंड का शाब्दिक अर्थ होता है कि शरीर के अव्यव एक ही पिंड से उत्पन्न हुए हो। पिता-पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र सभी सपिंड सम्बंधी हुए क्योंकि पिता का पिंड सभी में हस्तांतरित होता गया, किन्तु पुत्र का सपिंड सम्बंध माता के पक्ष से भी हो जाता है क्योंकि माता में पिंड का जो अंश आता है वह अपने पितृ पक्ष से आता है। इसी आधार पर अपने माता के पिता, माता की बहन, माता के भाई से भी सपिंड सम्बंध होता है। यहां तक कि पति और पत्नी के बीच भी सपिंड सम्बंध होता है क्योंकि दोनों के पिंडों के अंश उनके पुत्र के शरीर में जाते हैं। अपने भाई की पत्नियों के साथ भी सपिंड सम्बंध होता है क्योंकि उनके द्वारा जनित पुत्र में उनके पतियों का पिंड का अंश रहता है और सभी भाई एक ही पिंड के अंश से बने होते हैं। इसलिए एक पूर्व निर्धारित पीढ़ियों की संख्या तक सपिंड सम्बंधियों में विवाह नहीं किया जा सकता। सपिंड सम्बंधियों के अंतर्गत याज्ञवल्क्य ने मातृ पक्ष के पांच पीढ़ी पूर्व और पांच पीढ़ी बाद के सम्बंधियों को तथा पितृपक्ष के सात पीढ़ी पूर्व और सात पीढ़ी बाद के सम्बंधियों को इसके अंतर्गत रखा है। किंतु भिन्न-भिन्न धर्मशास्त्र के रचयिताओं में सपिंड सम्बंधों और इसके अनुसार, विवाह की अनुमति के सम्बंध में अलग-अलग विचार दिए गए हैं।

आपस्तंब धर्मसूत्र (1.7.21.8) में स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है कि अपने माता-पिता के माताओं और बहनों तथा उनके द्वारा उत्पन्न संतानों के साथ शारीरिक सम्बंध स्थापित करना जघन्य अपराध है। इस सूत्र के आधार पर एक पुरुष द्वारा ममेरी बहन या फुफेरी बहन से शादी करना बिल्कुल वर्जित हो जाता है। किंतु इसी ग्रंथ में एक अन्य स्थान पर (1.19-26) कहा गया है कि दक्षिण भारत में ममेरी तथा फुफेरी बहनों के साथ विवाह करना पुरानी परंपरा रही है। बौधायन कहते हैं कि दक्षिण भारत के बाहर किसी अन्य क्षेत्र में इस प्रकार के वैवाहिक सम्बंध बनाना अपराध है, किंतु दूसरी ओर वे दक्षिण भारत में इस प्रथा का मौन समर्थन करते हैं। अन्य स्मृतिकारों ने भी ममेरी तथा फुफेरी भाई-बहनों का विवाह भी वर्जित रखा है और उनके द्वारा किसी भी भौगोलिक क्षेत्र को यह छूट नहीं दी गयी है। चाहे वे उनके परंपरागत पृष्ठभूमि में आते हों या नहीं। इन सभी तथ्यों से यह दृष्टिगोचर होता है कि अलग-अलग क्षेत्रों में वैवाहिक संस्कार से जुड़ी अलग-अलग प्रचलन थे और स्मृतिकारों के बीच भी इनके सम्बंध में कोई मतैक्य नहीं थे।

इस समय के साहित्य में एक पत्नी विवाह और बहुपत्नी विवाह दोनों तरह के विवाहों की चर्चा की गयी है। *वशिष्ठ धर्मसूत्र* (1.24) के अनुसार, एक ब्राह्मण तीन पत्नियां रख सकता है। *दीघनिकाय*-II में महागोविंद की एक कथा दी हुई है जिसके आधार पर उस काल में तलाक और पुनर्विवाह सम्बंधी कुछ बातों का अनुमान लगाया जा सकता है। जब उसने इस संसार को त्यागने का निश्चय किया तो उसने अपनी चालीस पत्नियों को दूसरे पुरुष को देने का भी निर्णय किया। उसने केवल यह शर्त रखी कि ऐसा अगर उसकी पत्नियां चाहें तो

सम्बंधित परिचर्चा

गृह्यसूत्रों के अनुसार, विवाह संस्कार

गृह्यसूत्रों में विवाह से जुड़े विभिन्न अनुष्ठान एवं कर्मकाण्डों के क्रम और व्याख्या में थोड़े बहुत अन्तर देखे जा सकते हैं। किंतु मोटे तौर पर गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार का जो वर्णन उपलब्ध है, वह अधोलिखित है:

1. सूर्य जब उत्तरायण में हों तथा शुक्ल पक्ष हो, तब किसी मंगलकारी दिन और मुहूर्त का चयन कर विवाह की तिथि निश्चित की जानी चाहिए।
2. होने वाले दूल्हे के द्वारा होने वाली दुल्हिन के घर पर एक ब्राह्मण के द्वारा यह संदेश भेजा जाता है कि उसे यह सम्बंध स्वीकार्य है। दोनों पक्षों के सम्बंधियों के द्वारा तब इस सम्बंध को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया जाता है।
3. होने वाली दुल्हिन को विशेष प्रकार के लेप, उबटन आदि से नहलाया जाता है तथा वह अपने केशों को धोती है।
4. होने वाला वर अग्नि को प्रज्वलित करता है और उसमें कई प्रकार की आहुतियों को अर्पण करता है।
5. कन्यादान की रस्म के अन्तर्गत इसमें भाग लेने वाले सभी लोग अग्नि के चारों ओर बैठ जाते हैं। कन्या का पिता इस वैवाहिक बंधन को मौखिक रूप से अंतिम स्वीकृति देता है। उपहारों का आदान-प्रदान किया जाता है।
6. मधुपर्क संस्कार के अन्तर्गत वर को सम्मानपूर्वक आसन दिया जाता है, उसके पाँव धोए जाते हैं तथा मधुमिश्रित एक द्रव्य उसको दिया जाता है। तत्पश्चात् माँसाहारी अथवा शाकाहारी पकवान उसको परोसे जाते हैं।
7. हस्तग्रभ/पाणिग्रहण के अंतर्गत सबसे पहले अग्नि को प्रज्वलित कर उसमें उपयुक्त हवि दी जाती है तब वर कन्या का हाथ पकड़ कर कहता है कि 'मैं तुम्हारे हाथों को सुख के लिए ग्रहण करता हूँ' ऐसा मानना है कि अलग-अलग तरीके से वर द्वारा कन्या के हाथ पकड़ने से आने वाली संतति का लिंग प्रभावित होता है।
8. लाजहोम के अंतर्गत कन्या शम्मी के पत्तों के साथ मिले हुए, भुने हुए अनाजों का तीन बार अर्पण करती है। इस दौरान वर उचित मंत्रों का पाठ करता है।
9. उसके बाद कन्या अथवा कन्या-वर दोनों को स्थायित्व के प्रतीक के रूप में एक मजबूत पत्थर पर चढ़ाया जाता है।
10. अग्नि परिणयन के अन्तर्गत वर कन्या को लेकर अग्नि के फेरे लगाता है और कहता है कि मैं स्वर्ग हूँ, तुम धरती हो, आओ हम दोनों विवाह बंधन में बंध जाएँ, संतति उत्पन्न करें, एक-दूसरे के साथ प्रेम-पूर्वक स्थिर चित्त के साथ उज्जवल रूप से 100 वर्षों तक साथ-साथ रहें। (उपरोक्त 8, 9 तथा 10वें को एक के बाद एक कर तीन बार दोहराया जाता है)।
11. सप्तपदी के अंतर्गत सात फेरे लिए जाते हैं। अग्नि के उत्तर में चावल रखा होता है जिस पर वर कन्या को प्रत्येक फेरे की शुरुआत में चढ़ाता है तथा प्रत्येक फेरे की शुरुआत में कन्या का दाहिना पैर आगे होता है। वर कहता है कि तुम पहला फेरा स्फूर्ति के लिए लो, दूसरा फेरा शक्ति के लिए, तीसरा समृद्धि के लिए, चौथा सुख के लिए, पाँचवा संतति के लिए, छठां ऋतुओं के लिए और सातवें के द्वारा तुम मेरी संगिनी बन जाओ। तुम मेरे प्रति समर्पित रहो, हम दोनों अनेक पुत्र उत्पन्न करें जो दीर्घायु हों। अब वर और कन्या के ऊपर जल छींटा जाता है। वर ब्राह्मणों को और कन्या के पिता को उपहार देता है। तत्पश्चात् विवाहित दंपत्ति गृहस्थी की अग्नि को साथ में लेकर वर के घर के लिए विदा होते हैं।

प्राय: सभी ग्रंथों में सप्तपदी के साथ ही विवाह संस्कार का समापन हो जाता है। वर के घर पहुँचने के बाद नवविवा. हित दंपत्ति को कुछ अन्य संस्कार करने पड़ते हैं, जिनमें ध्रुवारुण्धति दर्शन प्रमुख हैं। वर कन्या को ध्रुव तारा की ओर इंगित करते हुए उसी प्रकार स्थायी और दृढ़ रहने को कहता है। कुछ ग्रंथों के अनुसार, विवाह का यही अन्तिम संस्कार होता है।

स्रोत: आप्ते, 1978: 117-28; काणे [1941बी], 1974: 527-40

वह कर सकता है किंतु उसकी पत्नियों ने ऐसा करने से मना कर दिया और वे सभी उसके साथ जीवन का परित्याग करके बौद्ध संघ में जाकर शरण ली। *विनयपिटक*-IV में एक लिच्छवि पुरुष ने संघ के अन्य सदस्यों के साथ मशहूर किया कि वह अपनी पत्नी को मृत्यु दंड देना चाहता था क्योंकि उसने परपुरुष गमन का अपराध किया था। सामान्यत: सभी विवाहों के बाद वधू वर के घर में निवास करती थी।

प्रारंभिक गृह्यसूत्रों में एक परिवार के आपसी सम्बंध के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। गृहपति, गृहस्थी की इकाई के केंद्र में और गृहस्वामी होता था। एक परिवार संतानोत्पत्ति के लिए अनिवार्य था और उसके सदस्यों के द्वारा अपने पूर्वजों के ऋण को चुकाने के लिए भी उसकी अनिवार्यता थी। जया एस. त्यागी

(2002) ने अपने अध्ययन में दिखलाया है कि एक पत्नी के पास रचनात्मक और विध्वंसात्मक दोनों क्षमताएं मौजूद मानी जाती थीं। वह गृहस्थी की दृष्टि से प्रजा (संतति), पशु और पति का नाश करने वाली हो सकती है। दूसरी ओर वह 'जाया' अर्थात् जो अपने पति की संतति को जन्म देने वाली मानी जाती है।

इस काल के धर्मसूत्रों में मत विभाजन है कि पत्नी को घरेलू अनुष्ठानों के निष्पादन का अधिकार है अथवा नहीं। कुछ गृह्यसूत्र ऐसा मानते हैं कि सुबह और शाम को की जाने वाली संध्या पूजा जिसमें घर की अग्नि में होम दिया जाता है उसका निष्पादन नारी के द्वारा किया जा सकता है, किंतु किसी बड़े अनुष्ठान में या यज्ञ में वह स्वतंत्र रूप से यजमान की तरह कार्य नहीं कर सकती है। एक पत्नी की मृत्यु के बाद उसके जीवित पति को यह आदेश दिया गया है कि वह घर की अग्नि से उसका दाह संस्कार करे। जब वह पुनर्विवाह करता है तो घर की अग्नि का फिर से संधान किया जाता है। *अश्वलायन गृह्यसूत्र* जैसे कुछ ग्रंथों में कहा गया है कि जब उसके पति का देहांत होता है तो पत्नी को पति की चिता पर बैठना चाहिए और वहां से उसे उसके देवर के द्वारा या अन्य पुरुष सम्बंधियों के द्वारा उठा लेना चाहिए। इससे पहले कि अग्नि जलायी जाए। यह प्रतीत होगा कि वह पति के साथ उसके दूसरे लोक में भी रहने की इच्छा रखती है। अथर्ववेद में भी कुछ इससे मिलते-जुलते व्यवहार का उल्लेख किया है, किंतु फिर भी विधवा को जीवित रहने का अधिकार दिया गया।

भूमि में निजी स्वामित्व के विकास का परिवार की संरचना पर भी असर पड़ने वाला था। अब भू-संपदा के उत्तराधिकार का प्रश्न प्रमुख हो गया और यह उत्तराधिकार पितृपक्ष में नीचे की पीढ़ियों को हस्तांतरित किया जाने लगा। बौद्ध स्रोतों में यह सुझाव दिया गया है कि माता और पिता दोनों की संपत्ति को उनके पुत्रों में बांट देना चाहिए। यदि उनका कोई पुत्र न हो तब संपत्ति को निकटतम सम्बंधी को देना चाहिए अथवा उसे राज्य के द्वारा अधिगृहीत कर लेना चाहिए। *विनयपिटक* में एक प्रसंग आता है जब सुदिन्न कलंदक की माता उससे यह आग्रह करती है कि बौद्ध भिक्षु होते हुए भी वह उसे एक उत्तराधिकारी प्रदान करे। ऐसा नहीं करने पर उसकी संपत्ति लिच्छवियों के द्वारा अधिगृहीत कर ली जाएगी। *संयुत्तनिकाय* में सेट्ठी-गहपति वर्ग के कई लोगों की संपत्ति को उनकी मृत्यु के बाद पुरुष उत्तराधिकारी के अभाव में राजा प्रसेनजित के द्वारा अधिगृहीत कर लिया गया। पत्नियों और पुत्रियों को मृत व्यक्ति के संपत्ति के उत्तराधिकार से वंचित रखा गया। कुछ बौद्ध स्रोतों में ऐसा भी संदर्भ आता है जब पिता अपने जीवन काल में ही अपनी संपत्ति को अपने किसी पुत्र अथवा अपने किसी निकट के सम्बंधी को सौंप देता है।

काणे ([1946], 1973: 700-36) ने धर्मशास्त्रों में उत्तराधिकार के सम्बंध में विशेष रूप से स्त्रियों के उत्तराधिकार के सम्बंध में दिए गए विचारों का विश्लेषण किया है। सामान्य रूप से पुरुष उत्तराधिकारियों को और विशेष रूप से पुत्रों को सभी स्थिति में प्राथमिकता मिली है। *बौधायन धर्मसूत्र* के अनुसार, एक व्यक्ति के भाई उसके पुत्र, उसके पौत्र और उसके प्रपौत्र जो एक ही पत्नी और एक ही वर्ण के हों उत्तराधिकार के सम्बंध में एक विशेषाधिकार रखने वाले समूह के रूप में बतलाए गए हैं। *आपस्तंब धर्मसूत्र* (2.6.14.2) में कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति की संपत्ति का उत्तराधिकार किसी पुत्र को नहीं मिल सकता है तो उसे सबसे नजदीकी सपिंड सम्बंधी को दिया जाना चाहिए। इस सूत्र में पुत्री के उत्तराधिकार की बात तो की गयी है लेकिन पत्नी को संभावी उत्तराधिकारी नहीं स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर *गौतम* (28.19) का मानना है कि यदि कोई व्यक्ति उत्तराधिकारी से वंचित होकर मृत्यु को प्राप्त होता है तो उसकी संपत्ति को उसके सपिंड, संगोत्र या पत्नी को दिया जाना चाहिए। सामान्य रूप से गौतम के सूत्र में पुत्री का अधिकार पत्नी के बाद स्वीकार किया गया है। बाद के धर्मशास्त्रों में पत्नी को सामान्यतः पति की संपत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में वंचित रखा गया है, अथवा यह शर्त रखी गयी है कि ऐसा दावा करने के पहले उसे अपनी शुचिता को सिद्ध करना होगा।

संपत्ति की 'स्त्री धन' नाम की एक ऐसी कोटि भी थी जिसको स्मृतिकारों ने स्त्री के अधिकार के रूप में स्वीकार किया। स्त्री धन का शाब्दिक अर्थ तो स्त्री का धन है ही लेकिन स्मृतियों में स्त्री धन को एक विशेष प्रकार के चल संपत्ति के विषय में देखा गया है जो किसी स्त्री को उसके जीवन काल में विभिन्न अवसरों पर दिया जाता था। इसके अंतर्गत विवाह के समय पिता के द्वारा दिए गए आभूषण, वस्त्र, घरेलू सामान तथा अन्य अवसरों पर पिता अथवा भाइयों के द्वारा दिए गए उपहार सम्मिलित होते थे। फिर भी धर्मशास्त्रकारों में स्त्री धन के स्थायी संपत्ति के स्वरूप के विषय में सदैव मतविभाजन बना रहा। सामान्य रूप से वे स्वीकार करते हैं कि स्त्री धन का कोई भी रूप माता के बाद उसकी पुत्री को दिया जाना चाहिए (काणे [1946], 1973: 770-802)।

गृहस्थी की बढ़ती हुई पितृसत्तात्मक प्रकृति की दृष्टि से यह आश्चर्य नहीं कि पुत्रों को पुत्रियों के स्थान पर दी जाने वाली प्राथमिकता यथावत बनी रही। एक पुत्र अपने पिता के अंत्येष्टि संस्कार के लिए अपने पितृऋण को चुकाने के लिए तथा वंश परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। *दीघनिकाय* में भी ऐसी ही बातें कही गयी हैं कि माता-पिता पुत्र की आकांक्षा रखते हैं क्योंकि वे परिवार की संपत्ति में बढ़ोतरी करते

हैं, उनके द्वारा परिवार का वंश आगे बढ़ता है। वे पिता की संपत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं और अपने पितरों को तर्पण देते हैं। *विनयपिटक* में उल्लेख है कि कुछ लोग बुद्ध को कई परिवारों को पुत्र विहीन रखने का दोषी मानते थे क्योंकि उन्होंने सन्यास धर्म को प्रोत्साहित किया था, किंतु *संयुत्तनिकाय* (1) में बुद्ध के द्वारा प्रसेनजित को सांत्वना दी गयी है, जब पुत्री के जन्म के कारण वह दुखित था। उन्होंने कहा कि एक पुत्री, हे राजन् संतान के रूप में एक पुत्र से भी कहीं बेहतर सिद्ध हो सकती है, क्योंकि हो सकता है कि वह बड़ी होकर काफी शालीन और सद्गुणों से युक्त हो। वह अपनी सास का सम्मान करेगी और अपने पति के प्रति वफादार रहेगी। उसके द्वारा उत्पन्न किया गया पुत्र महान् कार्यों को करने वाला हो सकता है। दरअसल, बुद्ध के इन वाक्यों में उस काल के स्त्रीत्व से जुड़े सभी आदर्श सम्मिलित हैं। इसके साथ-साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उस काल में बहुत सारे बौद्ध संघ के अतिरिक्त कई अन्य संघ थे जिन्होंने गृहस्थ जीवन के विकल्प के रूप में पुरुष और स्त्री दोनों के लिए सन्यास जीवन का एक नया मार्ग खोल दिया था।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सामाजिक व्यवहार क्षेत्र स्थान और समुदाय विशेष के आधार पर अनेक विविधताओं से ओत-प्रोत था। अध्याय एक में हम चर्चा कर चुके हैं कि धर्मशास्त्रों ने धर्म के तीन स्रोतों को रेखांकित किया है—श्रुति, स्मृति ओर सदाचार अथवा शिष्टाचार। *बौधायन धर्मसूत्र* (1.1.1.2) दरअसल, दक्षिण और उत्तर भारत के अलग-अलग सामाजिक व्यवहारों और मान्यताओं की पुष्टि करता है। दक्षिण के विशेष परंपराओं में द्विजों के अतिरिक्त अन्य श्रेणी के लोगों के साथ भोजन करना अपनी पत्नी के साथ भोजन करना, बासी भोजन करना अथवा ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों में विवाह होना इत्यादि स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। जबकि उत्तरी क्षेत्र से जुड़े हुए कुछ रोचक सामाजिक व्यवहारों में उनका व्यापार करना, मदिरापान करना, ऊपर और नीचे के जबड़े युक्त जानवरों की खरीद बिक्री करना, अस्त्र-शस्त्र का व्यापार करना अथवा समुद्री यात्राएं करना सम्मिलित हैं। इस ग्रंथ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि परंपराएं और सामाजिक व्यवहार क्षेत्र के अनुसार, अलग-अलग हो सकती हैं, किंतु जिन क्षेत्रों में ऐसे व्यवहारों का प्रचलन नहीं हैं उन क्षेत्रों में इस प्रकार के सामाजिक व्यवहारों का निषेध होना चाहिए। लेकिन इसी ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि गौतम इन अलग-अलग व्यवहारों को अस्वीकृत करते हैं जो दक्षिणावर्त्ती या उत्तरावर्त्ती लोगों के द्वारा व्यवहार में लाया जाता है, किंतु वो शिष्टों या ज्ञानी ब्राह्मणों की परंपरा के अनुरूप नहीं है, इसलिए किसी भी स्थान पर ऐसे व्यवहारों का निषेध किया जाना चाहिए। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इन ग्रंथों में जिन व्यवहारों और आदर्शमूलक तथ्यों की विवेचना की गयी है, वे समाज के ऊपरी वर्गों के लिए अधिक मान्य हैं। उदाहरण के लिए, धर्मशास्त्र में वर्णित संस्कारों के विषय से शूद्रों को बिल्कुल पृथक रखा गया है।

अपरिग्रह धर्म और यति परंपराएं

(The Renunciatory Tradition)

वह युग जहां एक ओर नगरीय संस्कृति और विलासिता का युग था, जहां रहने वाला समाज वर्ग और जातियों में विभक्त था। वही युग, दूसरी ओर सन्यास परंपरा का भी युग था जिसके हिमायती भौतिक सुख-सुविधाओं और सामाजिक सम्बंधों को त्याग देने की शिक्षा दे रहे थे। ऐसे अपरिग्रहमार्गी 'परिव्राजक', 'श्रमण' या 'भिक्षु' जैसे शब्दों से संबोधित किये जा रहे थे। ये वैसे लोग थे जिन्होंने अपने घरों को छोड़कर यायावर जीवन स्वीकार कर लिया था और जो गृहस्थों द्वारा दिये गए भोजन और भिक्षा पर आश्रित थे।

अपरिग्रहमार्ग या तपस की अवधारणा कोई नई ऊपज नहीं थी। यद्यपि, वैदिक मान्यताओं के केंद्र में गृहस्थ आश्रम ही था, किंतु वैदिक साहित्य में वानप्रस्थी, तापसी, योगी, यति, वैरागी, मुनि, वैखानस और सन्यासी शब्दों का प्रयोग होता था। सभी से सन्यास या सांसारिक बंधन से मुक्ति का आशय जुड़ा था (भगत, 1976)। इसके अतिरिक्त यद्यपि, यज्ञ-अनुष्ठानों में विवाहित गृहस्थों की केंद्रीय भूमिका थी, किंतु उपनिषदों में निहित ज्ञान की खोज में इनकी भूमिका अप्रासंगिक थी।

प्रारंभिक धर्मसूत्रों में पहली बार चार आश्रमों का समुचित वर्णन मिलता है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ (आंशिक परित्याग) तथा सन्यास (पूर्ण परित्यागी)। ऑलिवेल ने आश्रमों के अपने द्वारा किये गए अध्ययन (1993) में पाया कि प्रारंभ में इन चार आश्रमों को चार वैकल्पिन जीवन शैलियों के रूप में देखा जाता था जिसे एक स्नातक (वैदिक शिक्षा पूर्ण करने वाला व्यक्ति) अपनी इच्छानुसार चयनित कर सकता था। ओलिवेले का मानना है कि इस सिद्धांत की संकल्पना करने वाले लोग, प्रारंभिक उपनिषदों में कर्मकाण्डीय परंपरा का विरोध करने वाली विचारधारा से प्रभावित थे और ब्रह्मचर्य के प्रति जिनका सम्मान था और जो व्यक्तिगत चयन की स्वतंत्रता के पक्षधर थे।

आश्रमों की वैधता और उनके सापेक्षिक महत्त्व के विषय में प्रारंभिक धर्मसूत्रों में मतभेद दिखलाई पड़ता है। *गौतम* और *बौधायन धर्मसूत्रों* ने आश्रम व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रूख अपनाया है। गौतम ने आश्रम व्यवस्था को दूसरों के द्वारा प्रतिपादित विचार के रूप में देखने का प्रयास किया है। वह कहते हैं कि एक युवक को अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद शीघ्र ही गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर जाना चाहिए, क्योंकि यही वेदों के द्वारा सुझाया गया है। बौधायन धर्मसूत्र ने चार आश्रमों के सिद्धांत को कपिल नाम के एक दुरात्मा के द्वारा सुझाए गए सिद्धांत के रूप में बतलाया है। उसमें विवाह, संतानोत्पत्ति और यज्ञ-अनुष्ठानों की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। यद्यपि, *आपस्तंब धर्मसूत्र* में आश्रम व्यवस्था को स्वीकार तो कर लिया किंतु ब्रह्मचर्य आश्रम को गृहस्थ आश्रम से अधिक श्रेष्ठ कहा और सभी आश्रमों के समान महत्त्व पर बल दिया। तीसरे और चौथे आश्रम में प्रवेश करने की उम्र को लेकर भी विवाद बना रहा।

स्मृतियों में आश्रम व्यवस्था को एक द्विज पुरुष के द्वारा अपनाए जाने वाले जीवन के चार क्रमिक चरणों के रूप में देखा गया। सांसारिक बंधनों से मुक्ति, यद्यपि, सन्यास आश्रम का हिस्सा थी किंतु परित्याग की यह अवधारणा बौद्ध अथवा जैन धर्मों द्वारा प्रतिपादित सन्यास परंपरा से बहुत भिन्न कही जा सकती है, क्योंकि इन ब्राह्मणेतर परंपराओं में सन्यास की अवधि सम्पूर्ण जीवन के लिए प्रस्तावित थी और व्यस्कों को इस जीवन को स्वीकार करने के लिए एक शीघ्रता दिखलाई जा रही थी। उनका मानना था कि ज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति के लिए ऐसी जीवन शैली को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह मार्ग इन परंपराओं में सभी वर्ग, जाति और लिंग के लिए खुला था। इसके साथ ही मार्ग में एकाकी प्रवेश नहीं था बल्कि सन्यासियों के संघ में प्रवेश का प्रावधान था।

गृहस्थ और अपरिग्रहमार्गी, समाज और समाजेत्तर दो बिल्कुल पृथक संसारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बौद्ध और जैन परंपराओं में इनके बीच का सम्बंध परस्पर विरोध का भी है और अन्योन्याश्रयता का भी। संघ में रहने वाले लोग अपने भोजन और अन्य भौतिक आवश्यकताओं के लिए गृहस्थों पर आश्रित थे। गृहस्थों को इसके बदले में उनसे शिक्षा और ज्ञान मिलता था। इस प्रकार गृहस्थों और अपरिग्रहमार्गियों का बिल्कुल अलग किंतु सम्बंधित संसार था। छठी-पाँचवी सदी सा.सं.पू. को बुद्ध और महावीर के युग के रूप में ही जानते हैं। राय भी यही है कि इस काल में ये दोनों सबसे प्रभावशाली विचारक हुए जिनकी कालांतर तक प्रासंगिकता बनी रही, किंतु इस युग में बहुत सारे अन्य विचारक और दार्शनिक भी हुए, जो अस्तित्व की गुत्थी को सुलझाने का अलग-अलग नुस्खा दे रहे थे, किंतु न तो उनका दर्शन और न ही उनसे जुड़ा कोई ग्रंथ बचा रहा। इनके विषय में हमारी जानकारी उनके अधिक सफल प्रतिद्वंदी जैन और बौद्ध मतों के ग्रंथों से उनकी यत्र-तत्र की गई आलोचनाओं के रूप में हमारे पास उपलब्ध है। श्रमण सिद्धांतों में उपस्थित समानता अथवा विभिन्न मतों के प्रणेताओं के बीच हुए वाद-विवाद की कथाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आपस में इनके बीच संवाद हो रहा था। उनके निकटवर्ती नागार्जुन पहाड़ियों में अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ के द्वारा दिये गये दान अभिलेख आजीविक मतावलम्बियों को समर्पित हैं। अशोक के सातवें स्तम्भ-अभिलेख में धम्म महामात्र काडर के अफसरों का विभिन्न सम्प्रदायों से जुड़ी समस्याओं का समाधान करने का आदेश दिया गया है। इनमें आजीविक भी सम्मिलित हैं। मौर्य काल आजीविक मत की पराकाष्ठा का काल मालूम पड़ता है, किंतु इनका जिक्र पूर्व मध्यकाल तक विभिन्न रूपों में किया जाता रहा जिनका उद्धरण विभिन्न जैन और बौद्ध ग्रंथों में यत्र-तत्र दिया जाता रहा है।

बौद्ध ग्रंथों में पूरन कस्सप नाम के एक आचार्य का वर्णन मिलता है जिन्होंने नैतिक और अनैतिक कर्मों के बीच के भेद को मिटा दिया तथा यह मानने से अस्वीकार कर दिया कि कर्मों का कोई परिणाम होता है। उन्होंने शिक्षा दी कि न तो आत्म-नियंत्रण, ईमानदारी जैसे गुणों का कोई पुण्य मिलता है और न ही हत्या, चोरी या झूठ बोलने से कोई पाप की भागीदारी होती है। अजित केशकम्बलिन ने पूर्ण भौतिकवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार, कर्मों का पुण्य या पाप के रूप में कोई भी संचित फल नहीं मिलता। शरीर के पाँचों तत्त्व मरने के बाद तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं तथा पुनर्जन्म नहीं होता। उनकी शिक्षा के इस भौतिकतावादी पक्ष के कारण ही उन्हें बाद के चर्वक दर्शन से जोड़ दिया जाता है। पकुध कच्चायन ने उपदेश दिया कि क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर जैसे तत्त्व, सुख-दुख और जीवन सभी पूर्व निर्धारित हैं जिनमें कोई परिवर्तन नहीं होता और वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। मानवीय कर्म का कोई परिणाम नहीं होता, यदि कोई धारदार छुरी से किसी की गर्दन भी उतार देता है तो वास्तव में वह प्राण नहीं लेता, क्योंकि तलवार की धार केवल सात तत्त्वों के बीच से गुजर सकती है। संजय बेलट्ठीपुत्त के विषय में कहा गया है वे किसी चीज के बारे में इतना अनिश्चयी थे कि उनको कुलबुलाने वाले सर्पमीन की संज्ञा दे दी गई थी। *दीघनिकाय* में उनके द्वारा दिये गये किसी प्रश्न के उत्तर के सम्बंध में इस प्रकार वर्णन किया गया है। 'यदि तुम मुझसे पूछते हो कि क्या कोई दूसरा संसार भी है, और यदि मैं मानता हूँ कि हाँ दूसरा संसार हो सकता है तब मैं तुमसे वैसा ही कह दूँगा। किंतु वह नहीं होता जो मैंने कहा है। मैं नहीं कहता कि वैसा होता है। मैं यह भी नहीं कहता कि इसके अन्यथा भी कुछ है। मैं यह भी नहीं कहता कि वैसा नहीं है, मैं ऐसा भी नहीं कहता कि वैसा नहीं है।'

सम्बंधित परिचर्चा

सामन्नफल सुत्त

बौद्ध साहित्य में अपने संप्रदाय से भिन्न संप्रदायों को 'अन्य तित्थिय' (पंथ) से संबोधित किया गया है। 'तित्थिय' शब्द 'तीर्थंकर' से जुड़ा है, जिसका प्रयोग जैन धर्म में भी किया जाता है। *दीघनिकाय* के सामन्नफल सुत्त में संसार का परित्याग करने वाले व्यक्तियों को प्राप्य फल की चर्चा करने के क्रम में गौतम बुद्ध के समकालीन अन्य प्रभावशाली धर्मनायकों की सूची दी गई है।

इस सुत्त में एक प्रसंग आता है कि एक बार मगध का राजा, अजातशत्रु चाँदनी रात में अपने राजप्रासाद के प्रांगण में अनेक मंत्रियों के साथ बैठ कर वार्तालाप कर रहा था। उसने अपने मंत्रियों से पूछा कि ऐसा कौन-सा ब्राह्मण या महात्मा है जो उसके हृदय की जिज्ञासुओं को पूरी तरह से संतुष्ट कर सकता है। उसके मंत्रियों ने पूरन कस्सप, मक्खली गोसाल, अजित केशकम्बलिन, पकुध काच्चायन, संजय बेलट्ठीपुत्त तथा निगंथ नातपुत्त (महावीर) जैसे प्रभावशाली लोगों का नाम सुझाया। उन्होंने कहा कि ये सभी चिर-पब्बजितो (गृहत्यागी), तित्थकरो (संप्रदायों की स्थापना करने वाले), गनचरिओ (अपने अनुयायियों के नायक) हैं, किंतु किसी भी सुझाव से अजातशत्रु पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं हो सका।

उसी समय बुद्ध सैकड़ों भिक्षुओं के साथ राजगीर के निकट जीवक के आम के बगीचे में ठहरे हुए थे। अजातशत्रु के राजवैद्य जीवक ने अजातशत्रु से बुद्ध से मिलने का आग्रह किया। अजातशत्रु ने आग्रह को स्वीकार करते हुए सभी को लेकर बुद्ध के समक्ष जाने का निश्चय किया। वहाँ पहुँचकर अजातशत्रु ने बुद्ध से यह प्रश्न किया कि सांसारिक व्यवसायों और कार्यों का फल तो स्पष्ट है किंतु संसार का परित्याग करने वाले जीवन का क्या फल मिलता है? उसने यह भी कहा कि इस प्रश्न का अभी तक किसी ने तर्कसंगत उत्तर नहीं दिया है, जबकि उसने यह प्रश्न अनेक लोगों के समक्ष रखा है।

बुद्ध ने अजातशत्रु से आग्रह किया कि अन्य लोगों के द्वारा दिए गए सभी उत्तर को वे बुद्ध के समक्ष दुहराएँ। राजा ने वैसा ही किया। अजातशत्रु ने जब छः संप्रदायों के प्रणेताओं के समक्ष यह प्रश्न रखा और जिसका उत्तर उन लोगों ने अपने-अपने अनुसार, दिया। इसी क्रम में हमें इन धार्मिक संप्रदायों से जुड़ी बहुत सारी विचारधाराओं की जानकारी मिलती है। अजातशत्रु के वृत्तान्त के बाद बुद्ध ने इस विषय पर एक उपदेश दिया। इस उपदेश ने अजातशत्रु की जिज्ञासा को पूरी तरह से संतुष्ट कर दिया। उक्त सुत्त के अतिरिक्त भी अन्य बौद्ध सूक्तों के माध्यम से हमें समकालीन दार्शनिक विचारधाराओं की जानकारी मिलती है। 'ब्रह्मजाल सुत्त' में संसार, आत्मा, कारणत्व, अस्तित्व और मृत्यु जैसे विषयों पर 62 दार्शनिक दृष्टिकोणों का वर्णन मिलता है। 'स्थानंग' नामक एक जैन ग्रंथ में भी उस काल के कई दार्शनिक सिद्धांत देखने को मिलते हैं।

इन वृत्तान्तों में उस काल की विभिन्न विचारधाराओं के बीच चल रही एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा का भी आभास होता है। उस समय ऐसा प्रचलन था कि यदि किसी विषय पर किए गए शास्त्रार्थ में कोई हार जाए तो उसे विजेता संप्रदाय को स्वीकार कर लेना पड़ता था। ऐसे बहुत सारे बौद्ध-भिक्षुओं के उदाहरण हैं, जिन्होंने इसी प्रक्रिया के अधीन बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु सरिपुत्त और महामोगलान बौद्ध संघ से जुड़ने के पहले संजय बेलट्ठीपुत्त के अनुयायी थे।

स्रोत: रीस डेविड्स, 1899: 65-95

आजीविक

(The Ajivikas)

आजीविक सम्प्रदाय अत्याधिक पुरातन मालूम पड़ता है। इसके सबसे प्रसिद्ध विचारक मक्खली गोसाल के पूर्व रहे कई सूत्रधारों की चर्चा की गई है। बौद्ध ग्रंथों में पूरन कस्सप और पकुध काच्चायन की भी चर्चा गोसाल के साथ ही की गई है। ए.एल. बाशम ([1951], 2003) ने इसके सम्बंध में बिखरी हुई सूचनाओं को एकत्रित कर उन्हें समझने का प्रयास किया है।

जैन और बौद्ध ग्रंथों में मक्खली गोसाल के जन्म और खानदान के बारे में कहा गया है किंतु उनके नाम की व्याख्या का उद्देश्य उनको निम्नतर सामाजिक श्रेणी से जोड़ने के लिए किया है। इसलिए ऐसे प्रयासों की कोई ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। जैनों के भगवती सूत्र के अनुसार, उनके पिता एक मंखा थे (शायद धार्मिक चित्रों की प्रदर्शनी करने वाला या धार्मिक गीत गाने वाला) और इसलिए उनका नाम मंखली पड़ा। उनकी माता का नाम भद्दा कहा गया है (माँ के लिए यह नाम बहुत सारी जैन कथाओं में आता है)। उनके माता-पिता

ने उनका नाम गोसाल इसलिए रख दिया क्योंकि उनका जन्म सरावन नाम के गाँव के एक गोशाला में हुआ था। उनको जन्म देने के लिए गाँव में उन्हें कोई स्थान उपलब्ध नहीं हो सकता था। सामन्नफल सुत्त पर बुद्धघोष के द्वारा लिखी गई टीका में भी मक्खली के एक गोशाला में हुए जन्म की कहानी है, किंतु इसमें यह भी जोड़ दिया गया है कि वे एक दास थे। *भगवती सूत्र* के अनुसार, मक्खली ने शुरू में अपने पिता के व्यवसाय को ही स्वीकार किया और हाथों में चित्रों को लेकर वे घूमते थे। जैन ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि वे महावीर के शिष्य थे और उनके साथ बरसों तक यत्र-तत्र विचरण भी किया। इन कथाओं में मक्खली को हेय दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है, जो लोलुप प्रवृत्ति के थे और जिन्हें हर समय पिटाई खानी पड़ती थी, जो महावीर से ज्ञान की तुलना में अत्यन्त निम्न कोटि के थे।

नियति की अवधारणा, आजीविक दर्शन के केंद्र में थी, जिसके द्वारा अंततः सभी कुछ निर्धारित होता है। इस अतिवादी पूर्व निर्धारण के सिद्धांत में मानवीय प्रयासों को बहुत महत्त्व नहीं दिया गया था। वे कर्म और पुनर्जन्म को स्वीकार तो करते थे, किंतु इनमें मानवीय हस्तक्षेप की कोई भूमिका नहीं थी क्योंकि आत्मा का मार्ग हजारों वर्षों के लिए पूर्व निर्धारित रहता है।

आजीविक सम्प्रदाय से जुड़ी स्थायी सभाएं होती थीं जहां इनके अनुष्ठान एवं उपदेश इत्यादि सामुदायिक रूप से आयोजित की जाती थी। आजीविकारों का अपना धर्मसूत्र भी रहा होगा। आजीविक मतावलम्बी कठिन तपश्चर्य में विश्वास करते थे। उनके द्वारा अत्यन्त अल्प मात्रा में आहार लेने की मान्यता थी (हालांकि, बौद्ध स्रोत उन पर यह आरोप लगाते हैं कि वे छिपाकर भोजन कर लिया करते थे)। उन्होंने भी अहिंसा पर बल दिया किंतु निश्चित रूप से जैनियों की तुलना में कम, क्योंकि भगवती सूत्र के अनुसार, उन्हें मांसाहारी भोजन की अनुमति थी। उनका सम्पूर्ण नग्नता में विश्वास था, किंतु जैन ग्रंथों में उन पर आरोप लगाया गया है कि ब्रह्मचर्य का वे उल्लंघन करते थे।

आजीविक सम्प्रदाय में वर्ग या जाति के आधार पर कोई विभाजन नहीं किया जाता था, क्योंकि इस सम्प्रदाय के मुनि और जनसामान्य समाज के सभी तबकों से आते थे। उदाहरण के लिए, सम्राट बिम्बिसार के कुछ रिश्तेदार क्षत्रिय थे। पाण्डुपुत्त नाम के मुनि, एक रथकार के पुत्र थे (सामाजिक हलाहल सोपान के निचली श्रेणी से)। मक्खली गोसाल के द्वारा श्रावस्ती में आजीविक मत के मुख्य केंद्र के रूप में हालाहला नाम की एक कुम्हारिन के घर का उपयोग किया जाता था। कोसल के राजा प्रसेनजित भी आजीविका सम्प्रदाय के एक संरक्षक थे। राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त नगरीय व्यवसायी समुदाय, आजीविक परम्परा के प्रमुख सदस्य थें।

सच तो यह है कि निश्चित रूप से बौद्ध और जैन ग्रंथों में आजीविकों की घोर आलोचना इसलिए की गई क्योंकि इन्हें सशक्त प्रतिद्वंदी के रूप में देखा जाता था। *अंगुत्तरनिकाय* में बुद्ध, मक्खली गोसाल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह एक मूर्ख व्यक्ति है और किसी भी अन्य व्यक्ति से अधिक ईश्वर और मनुष्य के दुःख का वे कारण बने हैं। वह ऐसे मछुआरे के समान है जो नदी के मुहाने पर अपने जाल बिछाकर अधिक से अधिक मछलियों को पकड़ता है और उन्हें नष्ट कर देता है। स्पष्ट रूप से अन्य श्रमण सम्प्रदायों में से बौद्ध धर्म, आजीविका को ही सर्वाधिक निकृष्ट सिद्ध करने के प्रति सचेष्ट था। जैन ग्रंथों में भी आजीविका मत के प्रति प्रतिद्वंदिता और संघर्ष परिलक्षित होता है। *भगवती सूत्र* में मक्खली गोसाल और महावीर के बीच हुए हिंसक संघर्ष का उल्लेख मिलता है। गोसाल ने तीर्थंकर को अपनी शक्तियों से नाश करने का असफल प्रयास किया।

फिर भी आजीविक मत का प्रभाव आने वाली शताब्दियों में भी बना रहा। *महावंश* की मानें तो इसका प्रभाव दक्षिण भारत और श्रीलंका में भी देखा जा सकता है। *दिव्यावदान* में आर्यों के राजदरबार में एक आजीविक भविष्यवक्ता की कथा दी गई है जिसने अशोक के चमत्कारी भविष्य की घोषणा की थी। बराबर पहाड़ियों में अशोक ने कुछ गुफाओं को आजीविका सम्प्रदाय को दान में दी थी जिसका उल्लेख अभिलिखित है।

प्रारंभिक बौद्ध धर्म

(Early Buddhism)

बुद्ध की जीवनी

पालि के धर्मसूत्रों में बुद्ध को 32 महापुरुष के लक्षणों से युक्त, एक असाधारण पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। उनका नाम तथागत भी है अर्थात् जैसे आए थे (तथा) वैसे ही गए (गत) और स्वयं को जीवन-मृत्यु, पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त कर लिया। इस अध्याय के शुरू में चर्चा की जा चुकी है कि बुद्ध से तिथियों के सम्बंध

में काफी मतभेद बना रहा है। *सुत्त* और *विनयपिटकों* में उनके पवित्र जीवनचरित्र का उल्लेख किया गया है। किंतु प्रारंभिक ईसवी सन् की सदियों में लिखे गए *ललितविस्तार, महावस्तु, बुद्धचरित* और *निदानकथा* जैसे बाद के ग्रंथों में इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। बुद्ध के इन पवित्र जीवनचरितों में से इतिहास सम्मत सामग्रियों को पृथक कर पाना काफी कठिन है क्योंकि इनमें बुद्ध के जीवन को इस प्रकार के आख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उनसे जुड़ी घटनाओं की व्याख्या विशेष महत्त्ववाली घटनाओं की श्रृंखला के रूप में बौद्ध धर्मावलंबियों के लिए की जा सके। इनका उद्देश्य उन्हें सशक्त प्रभावोत्पादक घटनाओं के रूप में दिखलाना था। हो सकता है इनमें से कुछ घटनाओं का ऐतिहासिक आधार रहा हो, अन्य मिथकीय हैं और कुछ अर्ध-ऐतिहासिक तथा अर्ध-मिथकीय हो सकती हैं।

बुद्ध का जन्म सिद्धार्थ के रूप में हुआ था, जो शाक्यों के मुखिया शुद्धोधन के पुत्र थे तथा कपिलवस्तु से उनका राज्य चलता था। उनकी माता का नाम माया था, जिन्होंने लुम्बिनी के एक उपवन में बुद्ध को जन्म दिया, जो इस उद्देश्य से अपने मायके जा रही थी। बुद्ध को जन्म देने के कुछ दिनों बाद उनका देहावसान हो गया। कथा के अनुसार, उनके जन्म के कुछ समय बाद ही उनके शरीर पर महापुरुषों के 32 लक्षणों का दर्शन किया गया। बौद्ध मान्यता के अनुसार, महापुरुषों की दो श्रेणियां हो सकती हैं—वह जो संसार पर विजय पाता है और वह जो संसार का परित्याग करता है। शुद्धोधन ने यत्नपूर्वक अपने पुत्र को संसार की सभी बाधाओं और पीड़ा से अलग रखा, ताकि वह संसार से विरक्त न हो। इसके लिए विलास और आनंद का एक अतिकृत्रिम वातावरण तैयार किया गया। यशोधरा नामक एक युवती से सिद्धार्थ ने विवाह किया और उनका राहुल नाम का एक पुत्र हुआ।

बुद्ध के धार्मिक जीवनी में ऐसा वर्णन है कि जब वे 29 वर्ष की उम्र के थे तब उन्होंने चार ऐसी घटनाएं देखीं, जिनसे उनके जीवन की यथास्थिति बिल्कुल ध्वस्त हो गई। इनमें से पहले तीन दृश्यों के द्वारा उन्हें जीवन से जुड़े तीन कटु सत्यों का एहसास हुआ जो अवश्यंभावी थे—(1) वृद्धावस्था, (2) शारीरिक व्याधि और (3) मृत्यु। उनको दिखलाई पड़ने वाले चौथे दृश्य में मनुष्य जीवन की तीनों अवश्यंभावी परिघटनाओं का समाधान नजर आया। सिद्धार्थ ने अपने घर और परिवार का परित्याग कर दिया और छः वर्षों तक सत्य की खोज में भटकना शुरू कर दिया। इस क्रम में उनकी मुलाकात कई दार्शनिक गुरूओं से हुई किंतु उनके उपदेश सिद्धार्थ को संतुष्ट न कर सके। तब पाँच अन्य सहमार्गियों के साथ उन्होंने घोर तप और साधना प्रारंभ की। उनका शरीर जर्जर हो गया। उन्हें यह अनुभूति हुई कि आगे बढ़ने के पहले उन्हें अपने शरीर को फिर से स्वस्थ करना पड़ेगा और चित्त में स्थिरता लानी पड़ेगी। अन्य सहमार्गियों ने यह कहकर उनका साथ छोड़ दिया कि सिद्धार्थ ने परिस्थितियों से समझौता कर लिया है। सुजाता नाम की एक युवती ने उन्हें खाने को खीर दी। स्वस्थ होने के पश्चात् एक बार फिर बुद्ध पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ गए, किंतु इस बार उन्होंने निश्चय कर लिया था कि जब तक उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाएगी तब तक वहीं बैठे रहेंगे। यहां पर कुछ ग्रंथों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका उन्नयन ध्यान और साधना के द्वारा ज्ञान प्राप्ति के क्रमिक स्तरों की ओर हुआ होगा। अन्य ग्रन्थों में सिद्धार्थ के इस प्रयास के दौरान 'मारा' के द्वारा किए गए दुष्प्रयासों का वर्णन मिलता है जिसने बुद्ध को अपने मार्ग से डिगाने का भरपूर किंतु असफल प्रयास किया। सिद्धार्थ को अन्ततः ज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्हें बुद्ध की संज्ञा दी गई।

आने वाले सात सप्ताहों तक बुद्ध उसी स्थान पर बैठे रहे। अपने द्वारा प्राप्त किए गए असाधारण अनुभवों को वे स्वयं में समेटकर रख लेने का मन बना चुके थे। बौद्ध मान्यता यह है कि स्वयं ब्रह्मा ने तीन बार बुद्ध से प्रार्थना की कि वे अपने ज्ञान के प्रकाश को आगे आकर विश्व में फैलाएं। बुद्ध ने अपना पहला उपदेश उनको त्याग कर चले गए पाँच सन्यासियों को बनारस के निकट मृगवन नामक स्थान पर दिया। इस उपदेश में दुःख से निवृत्ति का मार्ग बतलाया। इस घटना को 'धम्मचक्क पवत्तन' के नाम से जानते हैं। उनके पाँचों प्रारंभिक शिष्यों को शीघ्र ही ज्ञान की प्राप्ति हो गई और वे सब अरहत बने। बुद्ध ने चार दशकों तक अपने सिद्धान्त की घूम-घूमकर शिक्षा दी। उन्होंने भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए एक संगठन की स्थापना की, जिसे संघ कहा गया। अंत में 80 वर्ष की आयु में कुशीनारा (आधुनिक कसिया) में उनकी मृत्यु हुई।

बुद्ध की शिक्षा

बौद्ध और जैन धर्म दार्शनिक विचारधाराएं थीं या धर्म? हम इन्हें धर्म के रूप में देख सकते हैं, लेकिन उन प्रारंभिक परिस्थितियों में वे धर्म या संप्रदाय नहीं थे, जैसा कि हम धर्म या संप्रदाय को आज समझते हैं। इन्हें मार्ग या जीवनशैली के रूप में कहा जा सकता है, जिनमें एक व्यक्ति के रूपांतरण की संभावनाएं निहित थीं। उन मार्गों में सामान्य दर्शन से वृहत्तर संभावनाएं थीं क्योंकि वे मुक्ति के मार्ग से जुड़े थे (जन्म-मृत्यु और पुनर्जन्म से मुक्ति का मार्ग)। बुद्ध की शिक्षाओं ने संघ और जनसामान्य दोनों को संबोधित किया, बल्कि दोनों वर्ग को दी जाने वाली शिक्षाएं कई बार इन पृथक वर्गों में भेद नहीं करतीं। इस सिद्धान्त के केन्द्र में चार 'अरिय सच्चानि' थे—(1) दुःख है, (2) दुःख का कारण है (समुदय), (3) दुःख से मुक्ति मिल सकती है (निरोध) और (4) मुक्ति

का मार्ग अट्ठांगिक (अष्टांगिक) मार्ग में निहित हैं। इस मार्ग में ज्ञान आचरण, ध्यान और साधना बहुत प्रकार की गतिविधियां एक-दूसरे से जुड़ी बतलायी गई हैं, जैसे—सम्यक दर्शन, सम्यक उद्देश्य, सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, सम्यक व्यवसाय, सम्यक प्रयास, सम्यक चित्त और सम्यक ध्यान इन्हें मुख्य माना गया है। चित्त की स्थिरता और अन्तर्दृष्टि के लिए बौद्ध धर्म में साधना को बहुत महत्त्व दिया गया, किन्तु ध्यान और साधना के सम्बंध में विशिष्ट क्षमताओं की विवेचना कालान्तर में लिखे गए बौद्ध ग्रन्थों में विकसित हुईं। बुद्ध के द्वारा बतलाए गए मार्ग को अक्सर मध्य मार्ग की संज्ञा दी जाती है जो अत्यधिक लिप्तता अथवा अत्यधिक संयम दोनों को नकारता है।

दु:ख और दु:ख से मुक्ति ही बुद्ध के सिद्धान्त का आधार है। बुद्ध ने 'सब्बम् दु:खम्' कहा अर्थात् दु:ख सब ओर व्याप्त हैं। इसको घोर निराशावादी या अतियथार्थवादी दर्शन के रूप में देखा जा सकता है। दु:ख का अर्थ एक व्यक्ति के द्वारा अनुभव की गई वास्तविक पीड़ा और निराशा तक सीमित नहीं था, बल्कि वैसा अनुभव करने की तमाम संभावनाएं दु:ख के दायरे में आती थीं। सुख अस्थायी और क्षणभंगुर होता है, क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किए जाने अथवा इन्द्रियों को किसी प्रकार से तुष्ट करने की वास्तविक क्रियाओं पर आश्रित होता है। तृष्णा, मोह, लिप्तता, लोलुपता, अहंकार, घृणा ओर अनभिज्ञता जैसी मानवीय प्रवृत्तियों को दु:ख का कारण कहा गया। दु:ख के कारण और निदान में तृष्णा की भूमिका को सर्वोपरि बतलाया गया। बुद्ध की शिक्षाओं में इन सभी बातों को अस्तित्व की क्षणभंगुरता (अनिच्च) से जोड़ा गया। अनिच्छा के एकाधिक स्वरूपों को चिन्हित किया गया। एक व्यक्ति के जीवन से बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु को रोकने के लिए ब्रह्माण्ड में कोई शक्ति नहीं है। इससे भी गंभीर स्तर पर 'मैं' या 'अहम्' को क्षणिक चेतना के उत्तरवर्त्ती व सदा परिवर्तित होने वाले अनुभवों की श्रृंखला के रूप में देखा गया। इसकी व्याख्या के लिए नदी की उपमा दी गई। नदी हमेशा एक समान दिखलाई पड़ती है, किंतु नदी के जल के तत्त्व निरन्तर प्रवाहमान होते हैं, हर क्षण उनका परिवर्तन होता रहता है। मिलिन्दपन्ह के अनुसार, एक आदमी के नाम के पीछे जटिल और परिवर्तनशील व्यक्तित्व विद्यमान रहता है। जैसे कि रथ प्रत्यक्ष रूप से एक सम्पूर्ण रथ प्रतीत होता है, लेकिन इसके कई घटकों से मिलकर इसकी सम्पूर्णता बनती है। इसलिए अहम् या मैं, को स्थायी और अपरिवर्तनशील मान लेना जैसे किसी अपरिवर्तनशील, स्थायी, शाश्वत्, सत्य की स्वीकारोक्ति को नकारना भी था। चैतन्य अस्तित्व के दो विभागों को चिन्हित किया गया।

नाम, (चित्त तथा बुद्धि) और रूप (शरीर और अन्य भौतिक विशेषताएँ)। नाम को पुन: वेदना (अनुभूति), सन्न (संज्ञा), संखार (अनुभूति और स्पर्श से उत्पन्न ज्ञान) और विन्नान (चैतन्य अवस्था)। नाम के इन चार उपभागों के साथ रूप मिलकर 'पंचखन्द' कहलाते हैं। मैं या अहम् का निर्माण मन और बुद्धि की इन्हीं अवस्थाओं की अभिव्यक्ति हैं।

बुद्ध की शिक्षा की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा 'पटिच्च-सम्मुपाद' या 'आश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त' है। इसके द्वारा एक ओर सभी घटनाओं की व्याख्या दी जा सकती थी और साथ में दु:ख की भी। इस सिद्धांत का वर्णन करने के लिए 12 निदानों वाले एक पहिए का उदाहरण दिया गया— अनभिज्ञता (अविज्ज), स्वरूप (संखार), चेतना (विन्नान), नाम-रूप, छ: इन्द्रियां (सलायतन), स्पर्श (फस्स), भावना (वेदना), तृष्णा (तनहा), मोह (उपादान), होना (भाव), जन्म (जाति) तथा जन्म-मृत्यु (जरा-मरण)। निदानों को भूत, वर्तमान और भविष्य के आधार पर तीन समूहों में बांटा गया। इस प्रकार पटिच्च-सम्मुपाद के आधार पर यह व्याख्या की गई कि पुनर्जन्म, अनभिज्ञता और अज्ञान के कारण होता है।

बुद्ध की शिक्षा का उद्देश्य निब्बान की प्राप्ति थी। निब्बान कोई स्थान नहीं होता, बल्कि एक अनुभूति है जिसको इसी जीवन में हासिल किया जा सकता है। बुद्ध को निर्वाण की अनुभूति हुई और उनके कुछ शिष्यों को भी। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ होता है उन्मूलन करना, समूल नष्ट हो जाना और यहां निर्वाण का अभिप्राय तृष्णा, माया, रागद्वेष, अनभिज्ञता और अहंकार का समूल नष्ट हो जाना है। विमोख, विमुत्ति और अरहत्त का भी प्रयोग कभी-कभी किसी अवस्था के लिए किया जाता है। इन सभी के साथ स्वतंत्रता, आत्म-नियंत्रण और मुक्ति निहित है। निर्वाण का अर्थ जीवन-चक्र, मृत्यु और पुनर्जन्म से है न कि केवल मृत्यु से है। बुद्ध के सदृश्य किसी जीवन-मुक्त की मृत्यु को परिनिब्बान कहा जाता है। बुद्ध ने संसार की अवधारणा को स्वीकार किया किन्तु आत्मा की पृथक अवधारणा के विषय में कुछ नहीं कहा। ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि तब किसके देहान्तरण की बात की जा रही है? एक व्याख्या यह है कि बुद्ध ने चरित्र और व्यक्तित्व के रूपांतरण की बात की है।

दूसरी संभावना यह व्यक्त की जाती है कि जिस प्रकार एक दीपक की लौ से दूसरे दीपक को जलाया जाता है, बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, चैतन्य अस्तित्व मृत्यु के साथ सूक्ष्म तत्त्व में विलीन नहीं हो जाता, बल्कि किसी दूसरे काल में, दूसरे स्थान पर नए समीकरणों के साथ उसका पुनर्प्रकटीकरण होता है। *मिलिन्दपन्ह* (पहली शताब्दी सा.सं.) में दी गई उपमा में इस बात को अच्छी तरह से समझाया गया है—जिस तरह दूध ही दही, मक्खन और घी का रूप ले लेता है, उसी प्रकार इस चैतन्य अस्तित्व का देहान्तरण न तो उसी रूप में होता है और न ही किसी दूसरे रूप में।

एक बौद्ध ब्रह्माण्ड की संकल्पना के अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रकार के संसार होते हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन का अस्तित्व होता है। इनमें से किसी भी रूप में कोई जन्म ले सकता है। विभिन्न प्रकार के जीवन का सम्बंध कर्म से है। ब्राह्मण विचारधारा के अनुसार, कर्म का सम्बंध आनुष्ठानिक क्रिया-कलापों से है। जबकि बुद्ध की शिक्षा में कर्म का अभिप्राय कायिक, वाचिक ओर मानसिक उद्देश्यों से है। किसी भी जीवन में किए गए कर्मों का संचित प्रतिफल पुनर्जन्म के रूप में होता है। बुद्ध ने संघ के सदस्य और सामान्य उपासक दोनों वर्ग के लिए नैतिक आचरण का संविधान तैयार किया। एक बौद्ध-भिक्षु अथवा भिक्षुणी के लिए ये सब बातें वर्जित कर दी गईं—जीवन को नष्ट करना, चोरी, वासनात्मक गतिविधि, मिथ्यावादिता, अवचेतन की स्थिति को उत्पन्न करने वाला कोई भी मादक पदार्थ, मध्याह्न के बाद भोजन, मनोरंजन, सुगंधी और आभूषण, विलासिता पूर्ण शयन, सोना-चाँदी अथवा मुद्रा का स्पर्श। इनमें से पहली पाँच वर्जनाएं सामान्य उपासकों से भी अपेक्षित थीं, किंतु इनके लिए ब्रह्मचर्य के स्थान पर सतीत्व और शुचिता महत्त्वपूर्ण माना गया। शुचिता की व्याख्या वासनात्मक क्रिया से सम्बंधित तो थी ही किंतु साथ-साथ कामुक विचार और इच्छा के रूप में भी की गई।

इस प्रकार बुद्ध की शिक्षाओं में तृष्णा और वासना से अलग होने पर विशेष बल दिया गया। बौद्ध धर्म की अहिंसा की अवधारणा के अन्तर्गत ब्राह्मणों में प्रचलित बलि प्रथा की कटु आलोचना भी सम्मिलित थी। भिक्षु और भिक्षुणी किसी जीव के प्रति हिंसा नहीं कर सकते थे। उनसे अपेक्षा थी कि वे उन जल स्रोतों के पानी का इस्तेमाल न करें जिनमें सूक्ष्म जीव रहते हैं। किंतु अहिंसा पर दिए गए इस विशेष महत्त्व के बावजूद भिक्षुओं द्वारा मांसाहार को

प्राथमिक स्रोत

बेड़े की उपमा

मज्झिमनिकाय (1.134-35) में बुद्ध ने यह बतलाने के लिए कि अभीष्ट आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए, धम्म एक निमित्त या साधन मात्र है, समुद्र को पार करने के लिए उपयोग में लाए जाने वाले बेड़े की उपमा का सहारा लिया है। उनके अनुसार, एक बार ध्येय की प्राप्ति हो जाने के बाद प्रयुक्त माध्यम का कोई उपयोग नहीं रह जाता है।

यह कुछ इस प्रकार से है कि एक बार एक व्यक्ति बहुत लंबी यात्रा पर निकल पड़ा। मार्ग में उसे एक ऐसी नदी मिल सकती है, जिसमें बहुत भयानक बाढ़ आयी हो। नदी का निकटवर्ती किनारा भयाक्रान्त करने वाला और खतरनाक मालूम पड़ सकता है। जबकि दूर वाला किनारा सुरक्षित दिखलाई पड़ रहा है। नदी को पार करने के लिए न तो कोई नाव है और ना पुल। वह आदमी ऐसा सोच सकता है कि इस विशाल नदी में बाढ़ आयी हुयी है। निकटवर्ती किनारा भयाक्रान्त करने वाला और खतरनाक है। दूर वाला किनारा सुरक्षित और खतरों से मुक्त है, किंतु इस किनारे से उस किनारे तक पहुँचने के लिए कोई नाव या पुल नहीं है। क्यों नहीं मैं कुछ घासों, टहनियों और लतरों को इकट्ठा करके एक बेड़ा बना लूँ, फिर उस बेड़े के सहारे अपने हाथ-पैर मारकर सुरक्षित उस किनारे पहुँच जाऊँ? इसके बाद वह व्यक्ति घासों, टहनियों और लतरों को बाँधकर एक बेड़ा बनाता है, फिर उस बेड़े के सहारे, अपने हाथ-पैर मारकर दूर वाले सुरक्षित किनारे पर पहुँच जाता है। एक बार सुरक्षित किनारे पर पहुँच जाने के बाद उस व्यक्ति के मन में यह आ सकता है कि यह बेड़ा मेरे लिए बहुत उपयोगी है। इस बेड़े के सहारे अपने हाथ-पैर मारकर मैं सुरक्षित किनारे पर पहुँच सका हूँ। क्यों नहीं अब मैं इस बेड़े को अपने माथे पर रखकर या पीठ पर टाँगकर, जैसा भी ठीक हो, आगे चलूँ?

हे भिक्षुगण!

आप इस विषय में क्या सोचते हैं? यदि वह व्यक्ति उस बेड़े के साथ ऐसा करे तो क्या उचित होगा? भिक्षुओं ने एक स्वर में कहा- कदापि नहीं! तब वह व्यक्ति उस बेड़े के साथ क्या करें, जो उचित हो? उस व्यक्ति द्वारा सुरक्षित किनारे पर पहुँच जाने के बाद, उसके मन में आ सकता है कि यह बेड़ा मेरे लिए बहुत उपयोगी है। इस बेड़े के सहारे, अपने हाथ-पैर मारकर मैंने नदी को पार किया और सुरक्षित किनारे पर पहुँच सका। अब मैं इस बेड़े को इस किनारे पर छोड़ सकता हूँ या उसको पानी में डुबाकर आगे की यात्रा कर सकता हूँ, जैसा मैं चाहूँ। जो व्यक्ति उस बेड़े के साथ ऐसा करेगा, वही करना उचित होगा। इसलिए हे भिक्षुओं! मैं उस बेड़े के समान हूँ, मैंने तुम्हें उस पार उतरने के लिए धम्म की शिक्षा दी। अब उसका उपयोग उसको ढोने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। जो एक बेड़े की उपमा को ठीक तरह से समझ सकता है, वह धम्म के साथ भी नहीं जुड़ा रहेगा। फिर अधम्म के व्यवहार के साथ तो बिल्कुल ही नहीं जुड़ा रहेगा।

स्रोत: भिक्षु ज्ञानमोली और भिक्षु बोधि, सन्दर्भ गेथिन, 1998: 71-72

वर्जित नहीं किया गया। इसका शायद कारण यह रहा हो कि बुद्ध ने किसी भी क्रिया के उद्देश्य को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना। अपने भिक्षाटन के दौरान भिक्षुओं को दिए गए किसी भी आहार को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लेना था। भिक्षुओं से यह आशा की गई थी कि वे माँसाहार को भी ग्रहण कर लें, बशर्ते उसी उद्देश्य से पशु का वध नहीं किया गया हो। हालांकि, मनुष्य, हाथी, सर्प, स्वान और अश्व के माँस किसी भी स्थिति में वर्जित थे (देखें शाइनी, 2008, बौद्धो की पर्यावरणीय नैतिकता)। बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, सदाचरण और सद्कर्म एक व्यक्ति को एक सीमा तक ही पहुँचा सकते हैं, उसके आगे नहीं। निर्वाण की प्राप्ति के लिए वे अनिवार्य तो हैं किन्तु पर्याप्त नहीं। वह अवस्था सामान्य अनुभूतियों अथवा वर्जनाओं से परे, नैतिकता और अनैतिकता के भेदभाव से कहीं ऊपर है।

बौद्ध धर्म को सामान्य रूप से एक अत्यंत व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है। बुद्ध को ज्ञान के चर्मोत्कर्ष के रूप में देखा जाता है। उन तक पहुँचने की संभावना असंभव तो नहीं किंतु नगण्य है। बुद्ध को कई बार चमत्कार करते हुए भी दिखलाया गया है। किंतु वैसा वे अपने जिद्दी प्रतिद्वंदियों को प्रभावित करने के लिए किया करते थे। बौद्ध धर्म में देवताओं और स्वर्गों को स्थान दिया गया। ब्रह्मा और इन्द्र विभिन्न अवसरों पर बुद्ध की प्रशस्ति करते हुए दिखलाए गए हैं। मनुष्य को निर्वाण की उपलब्धि कराना देवताओं की क्षमता से बाहर था। केवल बुद्ध के बताए हुए मार्ग से इस लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

बौद्ध संघ और सामान्य उपासक

बुद्ध के जीवनकाल में ही बौद्ध भिक्षुओं और अंत में, भिक्षुणियों के, संघ की स्थापना हो गई थी। बौद्ध संघ की स्थापना का मतलब यह था कि यति धर्म को मानने वाले बड़ी संख्या के लोगों के बीच बौद्ध धर्म की एक अपनी पहचान बन सके। दरअसल, बौद्ध संघ ही बुद्ध धर्म की केन्द्रीय संस्था के रूप में विकसित हुई। बौद्ध सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में इसकी सबसे महती भूमिका रही। *विनयपिटक* में संघ की स्थापना और संघ के नियमों की विवेचना की गई है, किंतु हो सकता है कि जिसकी ऐतिहासिकता हमारे दृष्टिकोण से सीमित हो। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि बौद्ध संघ का निर्माण शायद संघों के प्रारूप के आधार पर किया गया था।

विनयपिटक के दो मुख्य भाग हैं—सुत्त विभंग तथा खण्डक। इसके अतिरिक्त परिवार संज्ञा वाली एक अनुक्रमणिका भी है। सुत्त विभंग में पातिमोक्ख (प्रतिमोक्ष) की सूची दी गई है, जिनमें 227 बौद्ध भिक्षुओं के लिए तथा 311 बौद्ध भिक्षुणियों के लिए पृथक-पृथक संघीय नियमों का संकलन किया गया है। प्रत्येक नियम के साथ एक वृत्तान्त जुड़ा है जिसमें यह विवेचना की गई है कि कब और क्यों बुद्ध ने उस नियम को प्रतिपादित किया, प्रत्येक नियम के बाद एक संक्षिप्त व्याख्या भी दी गई है। प्रतिमोक्ष को अमावस्या तथा पूर्णिमा की तिथियों पर उपोसथ कहलाने वाले अनुष्ठान के अवसर पर बौद्ध भिक्षुओं द्वारा सभा में पढ़ा जाता था। खण्डक के अंतर्गत *महावग्ग* और *चुल्लवग्ग* आते हैं। संघ के लिए नियम, बुद्ध की जीवनी से जुड़ी घटनाओं के वृत्त, भिक्षुणी संघ की स्थापना तथा प्रथम और द्वितीय संगीतियों के वृत्त इसी भाग में रखे गए हैं। विनय के नियमों में वह सभी बातें आती हैं, जिसके अनुसार, किसी भिक्षु या भिक्षुणी को कब और क्या आहार लेना चाहिए, किस प्रकार संवाद करना चाहिए, क्या पहनना चाहिए अथवा किस प्रकार दूसरों से व्यवहार करना चाहिए सम्मिलित हैं। संघ के सामुदायिक जीवन से जुड़े नियमों को भी परिभाषित किया गया है। उदाहरण के लिए, संघ के आंतरिक विवाद को सुलझाने के लिए नियम भी बनाए गए हैं। सम्मिलित रूप से लेने पर विनय के नियमों का उद्देश्य—(1) भिक्षु/भिक्षुणी के आचरण का नियंत्रण, (2) संघ की एकता और अखण्डता का संरक्षण, (3) एक निगमित निकाय के रूप में संघ का संचालन तथा (4) संघ और सामान्य बौद्ध अनुयायियों के बीच सम्बंधों को परिभाषित करता है।

सुकुमार दत्त ([1924], 1984) का मानना है कि बौद्ध संघ की स्थापना के प्रारंभिक दौर में बौद्ध भिक्षु भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते थे और बाद में धीरे-धीरे बौद्ध संघ की जीवन शैली में स्थायित्व आने लगा। इस तथ्य की जानकारी हमें *विनयपिटक* के माध्यम से मिलती है। स्थायी जीवन-शैली की शुरुआत बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा वर्षावास (बरसात की ऋतु में एक स्थान पर निवास करना) के संस्थानीकरण से जोड़ा जा सकता है। दरअसल, वर्षावास का प्रचलन जैनियों एवं अन्य यतिधर्मावलम्बियों में भी प्रचलित था। एक सीमित अवधि के लिए एक स्थान पर स्थावर रहने के इस प्रचलन के कारण ही शायद कालान्तर में स्थायी बौद्ध विहारों का उद्भव हुआ होगा। हालांकि, मोहन विजयरत्ने (1990) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बौद्ध संघ के सदस्यों का जीवन बिल्कुल प्रारंभिक दौर से आंशिक रूप से यायावर और आंशिक रूप से स्थावर रहा होगा। क्योंकि ऐसा उल्लेख है कि बुद्ध के जीवन काल में ही धनाढ्य अनुयायियों के द्वारा बौद्ध विहारों के निर्माण के लिए भूमि दान दी गई थी। इसलिए विहार या आराम कहे जाने वाले स्थायी बौद्ध प्रतिष्ठानों का उद्भव शुरू से ही होने लगा था और इसलिए संघ के सामुदायिक जीवन को संचालित करने के लिए नियमों-परिनियमों की आवश्यकता प्रारंभ से ही महसूस की जा रही थी।

जब कोई भिक्षु अपने घर का परित्याग कर किसी बौद्ध आचार्य के अधीन एक परिव्राजक जीवन प्रारंभ करने का निर्णय लेता था, उस संस्कार को पबज्जा (प्रव्रज्या) कहा जाता था। इस अवसर पर वह अपने केशों का त्याग

कर गेरुए वस्त्र धारण कर लेता था। तत्पश्चात् वह बुद्ध, धम्म तथा संघ के शरणागत होने की शपथ लेता था। साथ में उसे 10 अतिरिक्त शपथ लेने पड़ते थे जिनकी सूची पहले दी जा चुकी है। भिक्षु के द्वारा बौद्ध संघ की स्थायी सदस्यता ग्रहण करने के अवसर को 'उपसम्पदा' की संज्ञा दी जाती थी, जिसके बाद उसे धर्माभिषिक्त स्वीकार कर लिया जाता था। एक भिक्षु के पास तीन वस्त्र, एक भिक्षापात्र, छुरा, सुई, कमर में बाँधने के लिए एक 'पेटी' और एक कमण्डल यही आठ व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी।

ज्येष्ठ पूर्णिमा और अमावस्या को उस क्षेत्र में रहने वाले संघ के सभी सदस्य उपोसथ नामक अनुष्ठान में एकत्रित होते थे। संघ के सभी सदस्यों की इस सभा में पातिमोक्ख के नियमों को दोहराया जाता था। प्रतिमोक्ष के अंतर्गत संघ के आचरण को भंग करने की सामान्य और गम्भीर परिस्थितियां चिन्हित की गई हैं। *विनयपिटक* में संघ के आचरण को भंग करने के विरूद्ध साधारण प्रायश्चित से लेकर संघ से पूर्ण निष्कासन का प्रावधान दिया गया। इनमें से सबसे गम्भीर चार अपराधों को 'पाराजिक' कहा गया है, जिसमें संघ से निष्कासित किया जा सकता था, वे हैं—संभोग, उसे लेना जो नहीं दिया गया हो, किसी की हत्या करना और आध्यात्मिक उपलब्धि की झूठी घोषणा करना।

बौद्ध धर्म के अनुयायियों के समक्ष दोनों विकल्प उपलब्ध थे या तो वे संघ के सदस्य रह सकते थे या संघ के बाहर सामान्य उपासकों के रूप में गृहस्थी में। दरअसल, संघ और गृहस्थ बौद्धों के बीच अन्योन्याश्रय सम्बंध था। संघ के भिक्षुओं के द्वारा उन्हें आदर्श जीवन-पद्धति के उपदेश मिलते थे, दूसरी ओर संघ अपने आहार और अन्य आवश्यकताओं के लिए गृहस्थों के द्वारा दिए गए संरक्षण पर आश्रित थे। इस संरक्षण के बदले में उन्हें संचित पुण्य और श्रेय प्राप्त होता था। बौद्ध दर्शन में इस पुण्य को काफी महत्त्व दिया गया तथा इससे सामान्य बौद्धों को भौतिक जगत से लगाव कम करने की प्रवृत्ति विकसित करने का एक माध्यम समझा गया। ऐसे बहुत सारे सन्दर्भ थे, जब बौद्ध भिक्षुओं और आम बौद्ध अनुयायियों के बीच अन्तर्संबंध का अवसर मिलता था। सबसे प्रत्यक्ष सम्बंध बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा इन गृहस्थों के समक्ष जाकर भिक्षाटन के प्रचलन में दिखलाई पड़ता है। उपासकों के द्वारा जीवन के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर इन भिक्षुओं को उपदेश के लिए आमंत्रित भी किया जाता था। स्थायी बौद्ध विहारों के विकास से निश्चित रूप से इस सम्बंध में और प्रगाढ़ता आई, फिर भी दोनों के बीच एक निश्चित दूरी बनाए रखने की व्यवस्था की गई थी।

बौद्ध मान्यता के अनुसार, बुद्ध के सबसे पहले गृहस्थ अनुयायी तपस्सु और भल्लिक नाम के दो व्यवसायी कहे गए हैं। कालान्तर में इस वर्ग के अनुयायियों की संख्या बढ़ती चली गई। इस श्रेणी के पुरुष अनुयायियों को 'उपासक' तथा महिला अनुयायियों को 'उपासिका' कहा जाता था। उपासक/उपासिका बौद्ध धर्म के वैसे सदस्य थे जो बुद्ध, धम्म तथा संघ के शरणागत होने की शपथ लेते थे। केवल संघीय शपथों से वे मुक्त होते थे। इस श्रेणी के लिए अपेक्षित आचरण सम्बंधी पाँच शपथ इस प्रकार थे—

(i) किसी जीव को हानि न पहुँचाना,
(ii) ऐसा कुछ भी न लेना जिसे दिया नहीं गया हो,
(iii) अनैतिक शारीरिक सम्बंधों से दूर रहना,
(iv) मिथ्यावचन नहीं बोलना और
(v) नशापान नहीं करना।

पूर्णिमा अथवा कई बार कुछ लम्बी अवधि तक नैतिक आचरण वाले शपथ के स्थान किसी प्रकार के शारीरिक सम्बंध से स्वयं को वंचित रखने का प्रावधान अथवा मध्याह्न के बाद भोजन नहीं करना, मनोरंजन से स्वयं को पृथक रखना, आभूषणों या सुगन्धियों का प्रयोग नहीं करना, विलासिता पूर्ण शैया का प्रयोग नहीं करना इत्यादि भी शामिल होता था। संशोधित किए गए इन आठ शपथों के आधार पर एक उपासक/उपासिका स्वयं को संघीय अनुशासन के बीच के भेद को कम करने की चेष्टा कर सकता था। ऐसे भी कुछ उदाहरण हैं, जब किसी उपासक/उपासिका को मात्र बौद्ध सिद्धान्तों का अनुशीलन करके (उदाहरणार्थ बुद्ध के पिता) संघ की सदस्यता लिये बिना अरहत की स्थिति को प्राप्त हो गई।

उपासक/उपासिका के धर्म की विवेचना 'सिगालवादसुत्त' में की गई है, इसके अन्तर्गत माता-पिता और संतान, आचार्य और शिष्य, पति और पत्नी, मित्र और साथी, स्वामी और सेवक या दास और श्रमण तथा ब्राह्मण के बीच आदर्श सम्बंधों का वर्णन भी किया गया है। *संयुत्तनिकाय* के 'महामंगलसुत्त' में एक व्यक्ति के अपने माता-पिता, पत्नी और बच्चों के प्रति दायित्व का बोध कराया गया है। इस बात पर बल दिया गया है कि एक पति को अपनी पत्नी के प्रति निष्ठा तथा सम्मान दिखलाना चाहिए तथा उसे नाखुश नहीं करना चाहिए। *अंगुत्तरनिकाय* में संकलित बुद्ध के द्वारा अनाथपिंडक के पुत्रवधू को दिए गए उपदेश के माध्यम से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध दर्शन एक पत्नी से किस प्रकार के उचित-अनुचित व्यवहार की अपेक्षा रखता है। हमारे पास संघ और उपासकों के बीच विद्यमान सम्बंध के इतिहास की जानकारी बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त, पुरातात्त्विक एवं पुरालेखीय साक्ष्यों के

माध्यम से भी उपलब्ध होती है। बाद की शताब्दियों में स्तूपों एवं बुद्ध से जुड़े पवित्र स्थानों की तीर्थयात्रा के प्रचलन से भी इन दोनों वर्गों के बीच परस्पर सम्बंध विकसित होते चले गए। फिर भी हमारे पास भिक्षुणी संघों के विषय में उतने स्रोत उपलब्ध नहीं हैं, जितने भिक्षु संघ के लिए प्राप्त हैं।

बुद्ध की शिक्षाओं का सामाजिक प्रभाव

बुद्ध को एक समाज सुधारक के रूप में चित्रित किया गया है और शायद एक ऐसे क्रान्तिकारी विचारक के रूप में भी जिन्होंने सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध एक प्रभावशाली आंदोलन किया। किंतु पालि में उपलब्ध बौद्ध साहित्य इससे कहीं अधिक जटिल सामाजिक दृष्टिकोण की संभावना प्रस्तुत करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्राह्मण मान्यताओं की अपेक्षा बौद्ध सिद्धान्त सामाजिक रूप से अधिक व्यापक दृष्टिकोण रख रहा था, किंतु ऐसा बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि उसका उद्देश्य सामाजिक असमानताओं को समाप्त करना था। बौद्ध ग्रंथों में इसके अपने पूर्वाग्रह दिखलाई पड़ते हैं और इन पूर्वाग्रहों का विस्तार बौद्ध संघों के भीतर के जीवन में भी परिलक्षित हो रहा था। हालांकि, बुद्ध का मानना था कि सभी सामाजिक सम्बंध एक प्रकार के बंधन हैं और इसलिए दु:ख के कारण भी। एक व्यक्ति की मुक्ति इन बंधनों के तोड़ने पर ही निर्भर करती है।

संघीय व्यवस्था का निर्माण एक दृष्टि से सामाजिक रूप से बहिष्कृत लोगों के लिए आश्रयस्थली बन कर प्रतिरोध का केंद्र बन सकता था, किंतु बौद्ध संघ अपनी ओर से ऐसा दिखलाने का प्रयास कर रहा था कि वह यथास्थितिवाद का समर्थक है। संघ में प्रवेश पाने के लिए निर्धारित शर्तों से ऐसा ही लगता है। सैनिक, राजा की अनुमति के बिना संघ में प्रवेश नहीं पा सकते थे, दास अपने स्वामी से मुक्ति पाए बिना प्रवेश नहीं पा सकते थे और ऋण लेने वाला व्यक्ति ऋण चुकाए बिना संघ में प्रवेश नहीं पा सकता था।

वर्ण व्यवस्था के सम्बंध में बौद्ध और ब्राह्मण मान्यताओं के बीच एक फर्क था कि जहां बौद्ध इसे एक मानव निर्मित संस्था के रूप में देखते थे, वहीं ब्राह्मणों के लिए यह ईश्वर के द्वारा निर्मित संस्था थी। *अंगुत्तरनिकाय* में बुद्ध ने अपने एक स्वप्न की व्याख्या करते हुए कहा है कि एक बार चार अलग-अलग वर्णों के (रंगों के) पक्षी उनके पैर के पास आकर बैठ गए जो चार अलग-अलग दिशाओं से आए थे, उन्होंने कहा कि ठीक उसी प्रकार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों के भिक्षु संघ में प्रवेश पाते हैं। किंतु इसी ग्रंथ में आगे कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति संघ में प्रवेश पा लेता है तब वह 'वेवन्नियन्ति' (अर्थात् वर्णविहीन) हो जाता है। इस प्रकार वर्ण और जाति को संघ में प्रवेश पाने के इच्छुक अभ्यर्थियों के लिए अर्थहीन माना गया है, किन्तु यदि हम संघ की वास्तविक सदस्यता को निकट से देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि संघ में उच्च वर्णों के सदस्यों को प्राथमिकता दी गई थी (चक्रवर्ती, 1987: 124-31)। ब्राह्मणों और क्षत्रियों की बड़ी संख्या थी, जिसमें गणसंघों से आने वाले क्षत्रिय भी थे अथवा उच्चकुल के सदस्यों की बहुलता थी। गहपति, सेट्ठी या निम्न कुलों से आने वाले सदस्यों की संख्या काफी कम मालूम पड़ती है। कई प्रसिद्ध ब्राह्मण जैसे-सारिपुत्त, महामोग्गलान और महाकस्सप जैसे भिक्षुओं का नाम आता है। प्रसिद्ध क्षत्रिय भिक्षुओं में स्वयं बुद्ध के अतिरिक्त आनन्द और अनिरूद्ध के नाम लिए जा सकते हैं। शाक्यों के उपालि नाम के एक हज्जाम का नाम भिक्षुओं के अपवाद के रूप में देखा जा सकता है।

पालि धर्मग्रंथों में ब्राह्मणवादी श्रेणीक्रम को बदलकर क्षत्रियों को ब्राह्मण से उपर रखा गया है। वैसे तो बुद्ध को कई बार ब्राह्मणों की जन्मजात सर्वोच्चता को खारिज करते दिखाया गया है, परंतु 'ब्राह्मण' शब्द का बौद्ध धर्मग्रन्थों में दो अर्थ निकाला गया है - एक तो सामाजिक श्रेणी के पारंपरिक अर्थ में और दूसरा उस व्यक्ति के संदर्भ में जिसने अपने आदर्श जीवन शैली के द्वारा एक दृष्टांत प्रस्तुत किया हो। कई बार बुद्ध को भी ब्राह्मण के रूप में संबोधित किया गया है। 'सोनदण्डसुत्त' में यह स्पष्ट किया गया है कि ब्राह्मणत्व का आधार जन्म नहीं होता। एक सच्चा ब्राह्मण वह नहीं है जो वेदों का ज्ञाता है, बल्कि वह है जो सच्चे ज्ञान को धारण करने वाला है। जहाँ एक ओर ब्राह्मणों की आलोचना करने में पालि ग्रंथों ने कभी कंजूसी नहीं दिखलाई, वहीं वैसे अवसरों को जब किसी प्रसिद्ध ब्राह्मण ने बौद्ध धर्म अथवा संघ की सदस्यता स्वीकार की, खूब बढ़ा-चढ़ाकर लिखा। इससे संघ की प्रतिष्ठा बढ़ती थी।

इसलिए एक रोचक प्रश्न यह उठता है कि बौद्ध संघ अथवा बुद्ध के सामान्य अनुयायियों के रूप में ब्राह्मणों की उतने बड़े स्तरों पर सहभागिता क्यों देखी गई, जबकि बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण कर्मकाण्डों अथवा ब्राह्मणीय श्रेष्ठता को सदैव चुनौती दी? इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि ब्राह्मणीय बौद्धिक परिधि के भीतर भी कर्मकाण्डीय आडम्बरों का विरोध किया जा रहा था। साथ में ब्राह्मणों का एक बड़ा वर्ग यज्ञ-अनुष्ठानों का विशेषज्ञ नहीं था और इसलिए बौद्ध आलोचना के दायरे से स्वयं को अलग समझता था। अग्गनसुत्त में जब बुद्ध वशिष्ठ और भारद्वाज से पूछते हैं कि उनके संघ से जुड़ने पर अन्य ब्राह्मणों की क्या प्रतिक्रिया थी, तो उनके उत्तर से सिद्ध होता है कि यह प्रतिक्रिया आलोचना और निन्दा युक्त थी। भिक्षाटन के सन्दर्भ में किसी वर्ग या जाति से जुड़ी कोई बाध्यता नहीं थी, जो एक प्रकार से उस काल के सामाजिक प्रचलित व्यवहार का प्रत्यक्ष विरोध कहा जा सकता है। बुद्ध ने स्वयं भी धनाढ्य गहपतियों और श्रेष्ठियों से लेकर निचले सामाजिक तबके के लोगों का

आतिथ्य स्वीकार किया था। ऐसा कहा गया है कि अपनी मृत्यु के पहले बुद्ध ने चुण्ड नामक एक लोहार के घर पर अन्तिम भोजन किया था। फिर भी पालि ग्रन्थों के विश्लेषण के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म उच्च-नीच की अपनी धारणा रखता था। *विनयपिटक* में उच्च और नीच 'सिप्पों' का भेद किया गया है (यहां शिल्प का अभिप्राय व्यवसाय से था)। उच्च 'सिप्पों' के अन्तर्गत मुद्रा विनिमय, लेखाकारी तथा निम्नतर शिल्पों में चर्म कार्य, कुम्हार का कार्य, चित्रकारी, वस्त्र निर्माण इत्यादि आते थे। किंतु सामान्य रूप से कृषि, पशुपालन और वाणिज्य उच्च शिल्पों के अन्तर्गत आते थे। बौद्ध उपासकों के लिए अस्त्र-शस्त्र, माँस, नशा और ज़हर से सम्बंधित व्यवसाय वर्जित था।

संयुत्तनिकाय में एक प्रसंग आता है कि सुन्दरीक नामक एक ब्राह्मण से बुद्ध के कुल के विषय में पूछे जाने पर उन्होंने उत्तर दिया कि जाति के विषय में प्रश्न के स्थान पर व्यवहार के विषय में प्रश्न पूछना चाहिए। क्योंकि जिस

प्राथमिक स्त्रोत

अम्बट्ठ सुत्त

एक बार बुद्ध 500 भिक्षुओं के साथ कोसल देश की यात्रा पर निकले थे। इसी क्रम में वे इच्छानकाल नामक एक ब्राह्मणों के गाँव के निकट पहुँचे; जहाँ बाहर के जंगल में उन लोगों ने अपना डेरा डाला। उस गाँव में पोखरसादी नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जिसे प्रसेनजित ने ब्रह्मादेय भूमि अनुदान के रूप में दी थी। उसने अपने शिष्य अम्बट्ठ से कहा कि वह बुद्ध के पास जाए और देखे कि क्या उनमें एक महान व्यक्ति में पाए जाने वाले 32 शारीरिक लक्षण मौजूद हैं। अम्बट्ठ भिक्षुओं से मिलने चल पड़ा। किंतु उसमें शालीनता और शिष्टाचार का अभाव था। उसके इस व्यवहार पर बुद्ध ने उसको डाँट पिलायी। इस पर अम्बट्ठ ने कहा कि ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ होते हैं। उसने बुद्ध के वंश का अपमान करते हुए कहा कि शाक्य लोग नीच थे। इसके प्रमाण में उसका तर्क था कि जब वह एक बार कपिलवस्तु गया था, तब शाक्यों की सभा ने उसका उचित सम्मान नहीं किया था, बल्कि उसकी खिल्ली उड़ायी थी।

इस प्रसंग ने बुद्ध को विमर्श के लिए एक बढ़िया मुद्दा दे दिया। उन्होंने अम्बट्ठ से उसके कुल के विषय में पूछा। अम्बट्ठ ने उत्तर दिया कि वह कान्हायन गोत्र का है। तब बुद्ध ने शाक्यों और कान्हायनों की उत्पत्ति के विषय में यह वृत्तान्त दिया—बहुत पहले की बात है कि ओकक नाम के एक राजा थे। अपने प्रिय रानी के पुत्र को उत्तराधिकार दिलाने के लिए उसने अपनी अन्य संतानों को बाहर निकाल दिया। उसकी वे संतानें हिमालय में स्थित एक झील के किनारे रहने लगीं। उन्होंने अपने वंश की शुचिता को बरकरार रखने के लिए अपनी बहनों से ही विवाह कर लिया। यही शाक्यों की उत्पत्ति की कहानी है। ओकक की दिशा नाम की एक दासी भी थी, जिसने राजा से एक बच्चे को जन्म दिया। कान्हायन उसी बच्चे की संतानें हैं। बुद्ध ने अम्बट्ठ को अपनी वंशीय श्रेष्ठता सिद्ध कर दी थी, जिसको स्वीकार करने के लिए अम्बट्ठ बाध्य हो चुका था। हालांकि, बुद्ध ने कड़वाहट को कम करने के लिए यह भी बतलाया कि कान्हा नाम के अम्बट्ठ के पूर्वज एक महान सन्त थे। ऐसा माना जाता है कि बुद्ध ने इस बिन्दु पर सनत् कुमार (ब्रह्मा के पाँच मानस पुत्रों में से एक) का एक श्लोक भी उद्धत किया—

> क्षत्रिय वर्णों में श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे अपने वंश में दृढ़ आस्था रखते हैं। किंतु सदाचार और विवेक में परम स्थिति के लिए जन्म या वंश का कोई स्थान नहीं होता। उस स्थिति की प्राप्ति के लिए ऐसा दंभ नहीं होता कि 'तुम भी उतना ही श्रेष्ठ हो, जितना कि मैं अथवा तुम मेरे समान श्रेष्ठ नहीं हो' ऐसी बातें शादी विवाह के अवसरों तक ही शोभा देती हैं। क्योंकि हे अम्बट्ठ जो अपने जन्म या कुल से बंधा हो या जो अपनी सामाजिक अवस्था का दंभ करता हो या अपने वैवाहिक सम्बंधों पर घमण्ड करता हो, वह सत्कर्म और बुद्धि विवेक की श्रेष्ठ स्थिति से बहुत दूर रहता है। इस प्रकार के बंधनों से मुक्त होने के बाद ही वह श्रेष्ठ, विवेकपूर्ण सदाचरण को प्राप्त कर सकता है।

बुद्ध ने अम्बट्ठ से कहा कि चाहे पोखरसादी क्यों नहीं स्वयं को एक महान ब्राह्मण समझें, वह राजा प्रसेनजित के सामने कुछ भी नहीं हैं, जिन्होंने उन्हें अपनी भूमि दी है। यह सही है कि ब्राह्मण ऋषियों के द्वारा तैयार की गई ऋचाओं का पाठ या मनन करते हैं, किंतु उनकी विलासितापूर्ण जीवन शैली, उन प्राचीन महर्षियों के आचरण के बिल्कुल विपरीत हैं। अम्बट्ठ ने बुद्ध में एक महान व्यक्ति में पाए जाने वाले 32 लक्षणों को देख लिया था और उसने इसकी सूचना जाकर पोखरसादी को दे दी। पोखरसादी ने स्वयं जाकर बुद्ध से मिलने का निश्चय किया। उसने भी बुद्ध में वे सारे लक्षण पाए। उसने बुद्ध और उनके शिष्यों को भोजन पर आमंत्रित किया। उस अवसर पर बुद्ध ने एक उपदेश दिया जिससे प्रभावित होकर पोखरसादी ने स्वयं अपने परिवार और शिष्यों के साथ बुद्ध का अनुयायी बन जाने की घोषणा कर दी।

स्त्रोतः रीस डेविड्स, 1899: 112-33

प्रकार किसी भी लकड़ी से अग्नि उत्पन्न की जा सकती है, ठीक उसी प्रकार एक संत का जन्म निम्न कुल में भी हो सकता है। एक व्यक्ति अपने जन्म से नहीं, बल्कि अपने कर्म से ब्राह्मण बनता है। हालांकि, उच्च अथवा निम्नकुल में जन्म के पीछे पूर्व जन्मों के कर्मों को आधार बतलाया गया, किन्तु निर्वाण प्राप्त करने के लिए सभी को समान अधिकार दिया गया। दीघनिकाय के अम्बट्‌ठ सुत्त जैसे ग्रन्थों में वर्ण और कुल से सम्बंधित बौद्ध दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है। सामाजिक सोपानीकरण में क्षत्रिय को ब्राह्मणों से ऊँचा स्थान दिया गया। किंतु निर्वाण प्राप्त व्यक्तियों को सबसे श्रेष्ठ स्वीकार किया गया।

यह स्पष्ट है कि बुद्ध के धम्म ने सामान्य उपासकों के बहुत बड़े वर्ग को आकृष्ट किया, क्योंकि उसमें प्रचारित की जा रही सामाजिक आचार-संहिता समयानुकुल थी। उभरते हुए नए-नए धनाढ्य वर्गों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने के कारण इसकी लोकप्रियता में इज़ाफा हुआ। उच्च कुल और नीच कुल के तथाकथित दायरे से हटकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, गहपति सभी बौद्ध संघ को खुलकर दान दे रहे थे। बिम्बिसार, अजातशत्रु और प्रसेनजित जैसे शक्तिशाली शासक बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण क्षत्रिय संरक्षकों में से थे। बौद्ध ग्रन्थों में गहपतियों को विशेष सामाजिक महत्त्व प्रदान किया गया। गहपतियों का यह वर्ग संघ के समर्थकों का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक था। बुद्ध तथा कई प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा मृत्युशैया पर पड़े गहपतियों से मिलने का उल्लेख आता है जो सामान्य रूप से केवल संघ के सदस्यों के लिए सुरक्षित माना जाता था। इससे भी गहपतियों के महत्त्व का पता चलता है।

बौद्ध धर्म और नारी

प्रारंभिक बौद्ध धर्म की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं यह थीं कि—(1) स्त्रियों के लिए भी निब्बान प्राप्ति की संभावना तथा (2) भिक्षुणियों के लिए पृथक संघ का निर्माण। अन्यथा बौद्ध ग्रन्थों में नारियों के सम्बंध में आज्ञाकारिणी जैसे पूर्व प्रचलित आदर्शों को स्वीकार किया गया, जिनका जीवन अपने पतियों और पुत्रों के ऊपर आश्रित होता था। स्त्री को वासना की वस्तु या उपासना में विघ्न डालने वाली बाधाओं के रूप में भी चित्रित किया गया है। कई स्थानों पर इनकी तुलना काले जहरीले साँप अथवा आग से भी की गई। दरअसल, ऐसी नकारात्मक धारणाओं का प्रचार उस धर्म के लिए स्वाभाविक था, जिसमें ब्रह्मचर्य और शुचिता को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा था, जिन आदर्शों के समक्ष नारी सबसे बड़ा खतरा थी। भिक्षुओं को जितना स्त्रियों से दूर रहने के लिए कहा जा रहा था भिक्षुणियों को भी उतना ही पुरुषों से।

ऐसी बौद्ध मान्यता है कि प्रारंभ में भिक्षुणी संघ की स्थापना के प्रति बुद्ध बिल्कुल अनिच्छुक थे किंतु अपने शिष्य आनन्द और उनको पालने वाली महाप्रजापति गोतमी के दबाव में आकर उन्होंने स्वीकृति दी। *विनयपिटक* बुद्ध द्वारा निराशाजनक भविष्यवाणी का उल्लेख करता है कि स्त्रियों को संघ में शामिल करने के सिद्धांत से संघ 1000 वर्षों की बजाय 500 वर्षों में ही पतन का शिकार हो जाएगा।

संघ में गर्भधारण करने वाली विद्रोही स्त्रियों के लिए संघ में प्रवेश वर्जित था इसके अतिरिक्त संघ में प्रवेश के लिए माता-पिता अथवा पति की औपचारिक अनुमति भी अनिवार्य थी। भिक्षुणियों के नियमों के अन्तर्गत भिक्षुओं के नियमों के साथ-साथ कई अतिरिक्त नियम भी आते थे। बुद्ध ने भिक्षुणी संघ को भिक्षुओं के एक अधीनस्थ संस्था के रूप में ढालने के लिए आठ विशेष नियमों का प्रतिपादन किया था। किंतु विद्वानों का मानना है कि ये नियम बुद्ध के जीवन के बाद जोड़े गए थे। एक स्त्री में निर्वाण प्राप्त करने की क्षमता थी, किंतु बुद्धत्व की स्थिति की प्राप्ति के लिए उसे पहले पुरुष के रूप में जन्म लेना आवश्यक समझा गया।

वैसे बौद्ध ग्रंथों में अनेक विदुषी भिक्षुणियों का उल्लेख है। *संयुत्तनिकाय* में खेमा नाम की एक बौद्ध भिक्षुणी का प्रसंग है, जिसके उपदेश से प्रसेनजित इतना प्रभावित हुए कि उपदेश की समाप्ति पर राजा ने अपने स्थान से उठकर भिक्षुणी को सम्मान दिया। *अंगुत्तरनिकाय* में एक दूसरा प्रसंग उद्धृत है जिसके अनुसार, विशाखा नाम की एक उपासिका द्वारा पूछे गए प्रश्न के धम्मदीना थेरी द्वारा दिए गए उत्तर को सुनकर बुद्ध ने यही कहा कि विशाखा, भिक्षुणी धम्मदीना वास्तव में विदुषी है। यदि ये प्रश्न तुमने मुझसे पूछे होते, मैंने भी तुम्हें बिल्कुल यही उत्तर दिया होता।

थेरीगाथा (ज्येष्ठ भिक्षुणियों के गीत), 73 गीतों का संग्रह है जिसमें 522 कवित्त हैं। इनकी रचना आध्यात्मिक रूप से विकसित भिक्षुणियों ने कि थी। इनमें से कई भिक्षुणियों के विषय में यह प्रचलित था कि ये तेविज्जा (तिविज्य) की ज्ञाता हैं जो केवल अरहतों की विशेषता होती है। कुछ गीतों के भाव से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ भिक्षुणियों को भी निब्बान की स्थिति की अनुभूति हुई थी। उन्होंने संघ से जुड़ने के पहले अपने जीवन के अनुभवों को भी अभिव्यक्त किया है। इनमें से असफल विवाहों से लेकर संतान की मृत्यु तक के संताप की बातें लिखी हुई हैं। इनमें से एक कथा चन्दा नामक एक ब्राह्मण युवती की है जो महामारी में अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद बिल्कुल असहाय हो गई थी। पतचारा नाम की एक भिक्षुणी ने उसको सहारा दिया और बौद्ध सिद्धान्तों में दीक्षित करके उसे संघ में प्रवेश दिलाया।

प्राथमिक स्रोत

पटाचारा का गीत

पटाचारा का जन्म श्रावस्ती के एक पूँजीपति परिवार में हुआ था। विवाह के बाद उसके दो बच्चे हुए, किंतु दुर्भाग्यवश दोनों की मृत्यु हो गई। वह इधर-उधर भटकने लगी और अन्त में जाकर उसने संघ में शरण ली। उसके द्वारा रचित गीत के कुछ अंश निम्नलिखित हैं जो उसके निर्वाण की चाहत तथा उसकी अनुभूतियों को प्रतिबिम्बित करते हैं।

जब वे हलों से अपने खेतों को जोतते हैं,
और धरती के गर्भ में बीजों को रोपते हैं,
जब वे अपनी पत्नियों को कई प्रकार से
प्रसन्न करते हैं,
और अपने बच्चों को भी
युवा ब्राह्मणों को सारी संपत्ति मिल जाती है।
किंतु मैंने भी तो कभी कोई त्रुटि नहीं की,
अपने बड़ों के सिखाए मार्ग का अनुसरण किया,
मुझमें दीर्घसूत्रता भी नहीं है और न ही मैं घमण्डी हूँ,
क्यों कर मुझे शान्ति मिली नहीं?
मैंने अपने पाँवों को धोया,
धुलते पाँवों के नीचे पानी को बहते हुए देखा
ढलाँव के साथ बह रहे थे वे
चित्त को एकाग्र किया मैंने
जैसे तुम प्रशिक्षित करते हो अपने अश्व
तब मेरे हाथों में था एक दीया,
गई जिसे लेकर मैं अपने कक्ष में
बिस्तर को कर निरिक्षित
जाकर बैठ गई उसके ऊपर।
सुई की नोंक से
बुझा दिया, दीया की बाती को
दीया बुझ चुका था
मेरा चित्त भी हो चुका था
किंतु मुक्त, तब तक।

स्रोत: मरकॉट, 1991: 33-34

अन्यान्य परिचर्चा

भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य आठ शर्तें

विनयपिटक के अनुसार, बौद्ध संघ में प्रवेश पाने वाली भिक्षुणियों को अपने जीवन भर अधोलिखित 8 शर्तों का अनिवार्य रूप से पालन करना अपेक्षित है:

1. कोई भिक्षुणी क्यों नहीं सैकड़ों वर्षों से बौद्ध संघ में अभिषिक्त हो चुकी हों, उन्हें किसी भी बौद्ध भिक्षु के समक्ष जाने पर सम्मानपूर्वक अभिवादन करना चाहिए, चाहे क्यों नहीं वह बौद्ध भिक्षु संघ में मात्र एक दिन पहले अभिषिक्त हुआ हो। भिक्षु के उपस्थित होने पर भिक्षुणी को अपने स्थान से उठकर खड़ा होना चाहिए तथा दोनों हाथ को जोड़कर उनका नमन करना चाहिए।
2. एक भिक्षुणी को किसी ऐसे स्थान पर वर्षा ऋतु के प्रवास सत्र में नहीं व्यतीत करना चाहिए, यदि उस दौरान उस क्षेत्र में किसी एक भी बौद्ध भिक्षु की उपस्थिति न हो।
3. महीने के प्रत्येक पक्ष में एक भिक्षुणी को भिक्षुओं से दो बातें जाननी चाहिए —उपोसाथ की तिथि कौन-सी है तथा उसे भिक्षु से किस बौद्ध सिद्धान्त का उपदेश लेना चाहिए।
4. प्रत्येक मॉनसून सत्र के अंत में एक भिक्षुणी को भिक्षु संघ एवं भिक्षुणी संघ द्वारा आयोजित पृथक-पृथक 'त्रिपक्षीय निमंत्रण' को संबोधित करना अनिवार्य था। जिन अवसरों पर उन्हें यह पूछना होता था कि क्या किसी ने भी उनके विषय में कुछ अवांछित देखा है, सुना है, अथवा संदेह किया है।
5. यदि किसी भिक्षुणी ने कोई गंभीर अनुशासनहीनता दिखलाई हो तो उसे दोनों संघों के समक्ष मनत्ता अनुशासन से गुजरना अनिवार्य होता था, जिसे एक प्रकार के अस्थायी प्रशिक्षण काल के रूप में देखा जा सकता है।
6. जब एक प्रवेशार्थिनी दो वर्षों तक छः नीति वचनों का पालन करती थी (उपासकों द्वारा पालन योग्य 5 व्रतों के अतिरिक्त दोपहर के बाद भोजन न करने का छठा व्रत) तभी वह दोनों संघों के समक्ष अपने संघाभिषेक के लिए अनुमति माँग सकती थी। जबकि एक भिक्षु को किसी भी समय नियुक्त किया जा सकता था, यदि उसने 20 वर्ष की उम्र पार कर ली हो।
7. किसी भी परिस्थिति में कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु की निंदा नहीं कर सकती थी।
8. एक भिक्षु कभी भी किसी भिक्षुणी को डाँट सकता था या सलाह दे सकता था, जबकि भिक्षुणी किसी भिक्षु को ऐसा नहीं कर सकती थी।

स्रोत: विजयरत्ने, 1990: 135-36, 159-60

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के बीच किसी न किसी प्रकार का सम्पर्क होना एक प्रकार की बाध्यता थी। ऐसा आदेश था कि बौद्ध भिक्षुणियों का स्थायी अथवा वर्षा ऋतु के दौरान अल्पकालिक निवास बौद्ध भिक्षुओं के निकटवर्ती उपस्थिति में ही हो सकता था। उपोसथ की तिथि पर उन्हें अनिवार्य रूप से बौद्ध भिक्षुओं को संबोधित करना होता था। किंतु फिर भी ऐसा प्रयास किया गया था कि इनके बीच के संपर्क और अन्तर्सम्बंधों को समुचित रूप से नियंत्रित एवं परिनियमित किया जा सके। उदाहरण के लिए, किसी बंद कक्ष में एक भिक्षु और एक भिक्षुणी को किसी भी स्थिति में अकेले रहने की अनुमति नहीं थी। इसी प्रकार एक बौद्ध भिक्षु किसी बौद्ध भिक्षुणी को कम से कम एक तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति में ही उपदेश दे सकता था और वह व्यक्ति उन दोनों के बीच हुए वार्तालाप को भली प्रकार समझ सकता था। हालांकि, किसी सुनसान मार्ग पर एक बौद्ध भिक्षुणी की रक्षा के लिए सहयात्री के रूप में एक बौद्ध भिक्षु का रहना वांछित था।

किसी भी परंपरा में निहित प्रगतिशीलता को उस काल और स्थिति के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जाना चाहिए। छठी/पाँचवीं शताब्दी सा.सं.पू. के संदर्भ में बुद्ध के द्वारा एक स्त्री की आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण आयाम का निर्माण किया था। उनके समकालीन किसी भी अन्य सांप्रदायिक परंपराओं की तुलना में बौद्ध ग्रन्थों में नारी का अस्तित्व महत्त्वपूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होता है। बाद की शताब्दियों में बौद्ध स्तूप और विहारों के संदर्भ में भिक्षुणी और उपासिकाओं के बढ़े हुए सामाजिक महत्त्व को उनके द्वारा निर्गत किए गए दान अभिलेखों से भी समझा जा सकता है। इन सबके बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षुणी संघ के उद्भव के साथ ही ग्रंथों में इनके अस्तित्व से सम्बंधित कई भ्रांतियां भी विकसित होती गईं।

प्राथमिक स्रोत

सात प्रकार की पत्नियां

अंगुत्तरनिकाय (3) में एक कथा संकलित है—एक बार बुद्ध श्रावस्ती के प्रसिद्ध गहपति अनाथपिंडक के घर पर ठहरे हुए थे। उन्होंने पाया कि घर में बहुत हंगामा मचा हुआ था। उनके पूछने पर यह पता चला कि पूरे हंगामें के जड़ में घर की बहू सुजाता का हाथ था। वह भी एक धनाढ्य परिवार से आती थी, लेकिन वह उदण्ड और उच्छृंखल थी। न तो वह अपने पति का कहना मानती थी और न ही अपने सास-श्वसुर अथवा किसी अन्य का। अनाथपिंडक ने बुद्ध से उसे समझाने का अनुरोध किया।

बुद्ध ने सुजाता से कहा कि सात प्रकार की पत्नियां होती हैं, जिनमें से कुछ स्वीकार्य श्रेणी में आती हैं, अन्य नहीं:

1. वधिक (कातिल जैसी) पत्नी, जो क्रूर, दयाविहीन, हत्यारिन प्रवृत्ति की होती है। वह रात में अपने पति को छोड़, दूसरों के साथ समय गुजारती है, उसे पैसे से खरीदा जा सकता है।
2. चोरसम (चोर जैसी) पत्नी, जो अपने पति के पैसे चुराती है और उसे गरीब बनाकर उसका नाश देखना चाहती है।
3. अय्याशम (उपपत्नी जैसी) पत्नी, जो आलसी होती है, भोग-विलास में लिप्त रहना चाहती है, अनावश्यक गप करती है और जोर-जोर से बोलती है तथा कटु भाषिणी होती है। उसको देखकर पति निराश और हताश हो जाता है।
4. मातृसम (माँ जैसी) पत्नी, जो अपने पति के जान-माल की रक्षा उस प्रकार करती है, जिस प्रकार एक माँ अपने बच्चे की रक्षा करती है।
5. भग्निसम (बहन जैसी) पत्नी, जो अपने पति के साथ उसी प्रकार सम्मान से पेश आती है जिस प्रकार एक छोटी बहन अपने बड़े भाई का आदर करती है।
6. मित्रसम पत्नी, जो अच्छे कुल से आती है, अपने पति के प्रति निष्ठावान रहती है और उससे मिलने पर उसी प्रकार आनन्दित होती है जिस प्रकार एक मित्र बहुत दिनों बाद दूसरे मित्र से मिलने पर आनन्दित होता है।
7. दासीसम (गुलामों जैसी) पत्नी, जो शांत स्वभाव वाली, धैर्यवान, आज्ञाकारिणी होती है और पति से पीटे जाने पर भी कुछ नहीं बोलती।

इनमें से पहले तीन प्रकार की पत्नियां मृत्यु के बाद नरक में जाती हैं, जबकि बाकी चार प्रकार की पत्नियां मरने के बाद स्वर्ग जाती हैं। बुद्ध से इस प्रकार के प्रवचन सुनने के बाद सुजाता ने दासीसम पत्नी बनने का निर्णय लिया।

यह घटना वास्तव में हुई हो अथवा नहीं, यह महत्त्व नहीं रखता, किंतु यह कहानी वास्तव में पति और पत्नी के बीच विभिन्न प्रकार के संभावित सम्बंधों का वर्णन करती है। सुजाता आरंभ में एक आदर्श पत्नी नहीं थी, यह दर्शाता है कि उस समय समाज में उस कोटि की अन्य नारियों का अस्तित्व था। सुजाता द्वारा पत्नी के सर्वाधिक अधीनस्थ प्रकार की पत्नी बनना स्वीकार करना, शायद इन ग्रन्थों के रचनाकारों के मन में बैठे पत्नी के आदर्श को प्रतिबिम्बित करता है। इस कथा में पति और पत्नी के बीच कई प्रकार के रोचक सम्बंधों की कल्पना की गई है।

स्रोत: वाग्ले, 1966: 91

एक मूलभूत प्रश्न यह भी उठता है कि क्या 'बौद्ध धर्म' अथवा 'बौद्ध धर्मावलम्बी' जैसे शब्दों का प्रचलन इस प्रारंभिक दौर में प्रासंगिक कहा जा सकता है? यह तो तय है कि उस काल के वैराग्यमार्गी समुदायों के बीच बौद्ध संघ का निश्चित रूप से एक पृथक तथा स्वतंत्र अस्तित्व रहा होगा। किंतु सामान्य उपासकों की दृष्टि से बुद्ध ने केवल एक वैकल्पिक जीवनशैली का प्रस्ताव रखा। उनके सामान्य अनुयायियों को समाज के बाकी हिस्से से पृथक रूप से दिखाने का कोई विशेष प्रावधान नहीं प्रतीत होता है। जीवन से जुड़े तथाकथित ब्राह्मण संस्कारों के लिए बुद्ध ने कोई विकल्प नहीं तैयार किया। यही कारण है कि इस काल में किसी प्रकार से बौद्ध धर्म में धर्मांतरण या धर्मपरिवर्तन जैसी बातें भ्रामक लगती हैं। एक गृहस्थ के लिए बुद्ध के अनुयायी होने का सिर्फ इतना मतलब था कि उसने औपचारिक रूप से बुद्ध, धम्म और संघ के शरणागत होने की घोषणा की थी और बुद्ध के बताए हुए मार्ग पर चलने का वह सहज प्रयास कर रहा था।

प्रारंभिक जैन धर्म

(Early Jainism)

वर्द्धमान महावीर और अन्य जैन तीर्थंकर

यह तय है कि जैन सिद्धान्तों का उद्‌भव बौद्ध धर्म के कहीं पहले हो चुका था, किंतु यह तय कर पाना कठिन है कि यह कितना प्राचीन है। बुद्ध और महावीर लगभग समकालीन थे और उनकी शिक्षाओं में बहुत सारी समानताएं भी हैं। दोनों ने वेद को ज्ञान के सर्वोच्च स्रोत के रूप में नहीं स्वीकार किया। दोनों के निरीश्वरवादी सिद्धान्त थे। दोनों ने वैराग्य और मानवीय प्रयासों को मुक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण माना और दोनों ने पुरुष और स्त्री के लिए संघ-व्यवस्था की स्थापना की। फिर भी दोनों के दार्शनिक विचारों में कई भिन्नताएं भी थीं।

जैन का अर्थ है, किसी जिन का अनुगामी होना। जिन का शाब्दिक अर्थ विजेता है, किंतु यहां पर जिन का अभिप्राय एक ऐसे व्यक्ति से है जिसे अनन्त ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है और जो दूसरों को 'मोक्ष' की प्राप्ति का मार्ग बतलाता है। मोक्ष का अर्थ जीवन चक्र से मुक्ति है। जिनके लिए दूसरे शब्द 'तीर्थंकर' का भी प्रयोग हुआ है। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ 'घाट' बनाने वाला है अर्थात् वह जो संसार के महासमुद्र से पार उतरने के लिए घाटों का निर्माण करता है। जैन अवधारणा के अंतर्गत काल को 'उत्सर्पिणी' एवं 'अवसर्पिणी' के अनन्त चक्रों की श्रृंखला में बांटा गया है। इन चक्रीय महाअवधियों में से प्रत्येक को पुनः छः चक्रों में बांटा गया है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में 24 तीर्थंकरों का प्रादुर्भाव होता है। वर्तमान समय एक अवसर्पिणी का है (प्रत्यावर्ती (लौटने वाले) आनन्द का चक्र) जिसके पहले तीर्थंकर ऋषभदेव हुए। सभी तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता का निर्धारण करना असम्भव है। 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म शायद गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र में हुआ था। पार्श्वनाथ 23वें तीर्थंकर थे जो बनारस के निवासी थे। वर्द्धमान 24वें तीर्थंकर हुए, जिन्हें महावीर के नाम से भी जानते हैं। ऐसी मान्यता है कि सभी तीर्थंकरों ने एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

जिन वैसे महामानव को कहते हैं जिनके पास असाधारण ज्ञान और अन्तर्दृष्टि होती है। जैन मान्यता यह भी है कि इनका जन्म असाधारण लक्षणों के साथ ही हुआ करता है, जिनके आधार पर इनके विषय में भविष्यवाणी की जाती है। उदाहरण के लिए, इनका शरीर हीरे के समान कड़ा और दैदीप्यमान होता है। इनको अवधि ज्ञान होता है (वैसा अन्तर्ज्ञान जिसके माध्यम से दूरस्थ वस्तुओं को आदमी देख सकता है तथा भविष्य की घटनाओं को भी)।

ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग 300 सा.सं.पू. के दौरान जैन संघ दो हिस्सों में बँट गया 'श्वेताम्बर' तथा 'दिगम्बर' संप्रदायों में। श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के द्वारा वर्द्धमान महावीर के जीवन के पृथक-पृथक संस्करण निर्गत किए गए। कई बिन्दुओं पर तो इनमें सामंजस्य है, किंतु कई बिंदुओं पर मतान्तर भी। महावीर के जीवन चरित के इन धार्मिक संस्करणों में से महावीर के जीवन से जुड़ी ऐतिहासिक सामग्रियों को निकालना कठिन है।

वर्द्धमान, जो बाद में महावीर कहलाए, का जन्म 599 सा.सं.पू. में विदेह की राजधानी, वैशाली नगर के नजदीक कुण्ड ग्राम में हुआ था।[4] बुद्ध के समान महावीर की भी कुलीन क्षत्रिय कुल की पृष्ठभूमि थी। उनके पिता सिद्धार्थ, ज्ञात्री जन के मुखिया थे और उनकी माँ त्रिशला, विदेह के शासक की बहन थी। जैन मान्यताओं में क्षेत्रीय कुलीनता की पृष्ठभूमि बौद्ध स्रोतों से अधिक परिलक्षित होती है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार, वर्द्धमान को ऋषभदत्त नाम के एक ब्राह्मण की पत्नी देवनंदा ने अपने गर्भ में धारणा किया था। किंतु शक्र (इन्द्र) ने इस गर्भ को त्रिशला के गर्भ में हस्तांतरित कर दिया, क्योंकि एक सम्भावित तीर्थंकर का जन्म किसी ब्राह्मण या नीचस्थ कुल में होना योग्य नहीं समझा गया।

4. यदि बुद्ध से जुड़ी तिथियां आगे बढ़ेंगी, तब महावीर के संदर्भ में भी तिथियों को आगे बढ़ाना होगा।

वर्द्धमान के विषय में यह मान्यता है कि अपने जन्म के पहले से ही उन्होंने अहिंसा के प्रति असाधारण रुझान का प्रदर्शन किया। त्रिशला के गर्भ में उन्होंने पूर्ण रूप से स्थिरता दिखलाई ताकि उन्हें किसी प्रकार की असुविधा न हो। अपनी परामानवीय क्षमता के द्वारा उन्होंने त्रिशला को केवल इतना आभास करवाया कि उनके गर्भ में आने वाले शिशु को मृत समझकर वे चिन्तित न हो जाएं। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार, ही वर्द्धमान ने उसी क्षण यह भी प्रार्थना की कि वह अपने माता-पिता के जीवित रहने तक संसार का परित्याग नहीं करेंगे, जो माता-पिता के लिए संताप का एक कारण हो सकता था।

आचारंग सूत्र में वर्णन किया गया है कि वर्द्धमान के माता-पिता जिन-पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। श्वेताम्बरों का मानना है कि वर्द्धमान ने यशोदा से विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया और प्रियदर्शना नाम की उनकी एक बेटी थी। जबकि दिगम्बरों के अनुसार, उन्होंने कभी विवाह नहीं किया। ऐसी मान्यता है कि वर्द्धमान ने 30 वर्ष की उम्र में सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। जबकि श्वेताम्बरों के अनुसार, उन्होंने अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् ऐसा किया। दिगम्बर यह मानते हैं कि ऐसा उन्होंने अपने माता-पिता के जीवन रहते हुए उनकी अनुमति के बाद किया।

दोनों परम्पराओं के अनुसार, वर्द्धमान ने 12 वर्ष तक कठिन साधना और उपवास करते हुए यत्र-तत्र घूमते रहे। ऋजुपालिक नदी के तट पर, जृंभिकग्राम नगर के पास, समग नाम के एक गृहस्थ के खलिहान में उन्हें 'केवलज्ञान' (अनन्त ज्ञान, सर्वज्ञ) की प्राप्ति हुई।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार, महावीर ने ज्ञान प्राप्ति के साथ ही भूख-प्यास, निद्रा, भय और व्याधि जैसी मानवीय अस्तित्व से जुड़ी सामान्य त्रुटियों से मुक्ति पा ली। इसके बाद सांसारिक क्रिया-कलापों से मुक्त होकर पद्मासन की मुद्रा में देवताओं के द्वारा निर्मित एक सभागार में स्थायी रूप से बैठ गए। उनके शरीर से एक दिव्य ध्वनि का प्रसारण होने लगा, जिसे देवताओं, दिव्य आत्माओं, मनुष्यों और पशुओं ने ध्यानपूर्वक सुना। उनकी शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार का दायित्व गणधरों (मुख्य शिष्यों) को सौंपा गया। ब्राह्मण इन्द्रभूति, गौतम तथा उनके दो भाइयों को सबसे पहले गणधरों के रूप में स्वीकार किया जाता है और जो जैन संघ के सबसे पहले स्वरूप भी थे। शीघ्र ही गणधरों की संख्या बढ़कर 11 हो गई और संयोगवश ये सभी ब्राह्मण थे। इस प्रकार तीर्थंकर ने भिक्षु-भिक्षुणियों तथा उपासकों की एक स्वतंत्र व्यवस्था अप्रत्यक्ष रूप से स्थापित कर दी। दूसरी ओर श्वेताम्बरों का यह मानना है कि महावीर ने स्वयं घूम-घूम कर चारों ओर अपने सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया। दोनों परंपराओं के अनुसार, उनकी मृत्यु पापा या पावा (पटना के निकट पावापुरी) में 72 वर्ष की आयु में हुई, जिसके बाद वे सिद्ध हो गए अर्थात् शरीर से स्थायी रूप से मुक्ति प्राप्त कर ली। उनकी मृत्यु की पारंपरिक तिथि 527 सा.सं.पू. मानी जाती है, जिस वर्ष से वीर-निर्वाण संवत शुरू होता है।

यथार्थ के विषय में जैन दर्शन

अन्य दर्शनों के विषय में जैन आलोचना यह है कि वे सभी यथार्थ के प्रति एकांत, आंशिक और अतिवादी दृष्टिकोण रखते हैं। अन्य दर्शनों को पूर्ण रूप से निरस्त करने के स्थान पर जैन दर्शन उन्हें आंशिक रूप से सत्य दर्शन के रूप में देखता है जो पूर्ण रूप से प्रामाणिक होने का दावा नहीं कर सकते। जैन दर्शन इस बात पर जोर देता है कि यथार्थ 'अनेकान्त' है अर्थात् एक यथार्थ को कई आयामों से देखा जा सकता है (जैन सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए देखें जैनी [1979], 2001)। किसी भी वस्तु का यदि अस्तित्व है तो उससे जुड़ी तीन बातें कहीं गई हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार, यथार्थ की जटिल और बहुआयामी संरचना होती है। अनेकान्तवाद और 'स्यादवाद' के सिद्धान्तों में सभी ज्ञानों की सापेक्षता पर बल दिया गया है। स्यादवाद के अनुसार, हम जब भी किसी वस्तु के विषय में कोई निर्णय लेते हैं, तब किसी वस्तु के विषय में लिया गया निर्णय, उस वस्तु पर निर्णय लेने की दृष्टि तथा उस वस्तु के किसी विशेष पक्ष के दृष्टिकोण के सापेक्ष होती है। कोई भी निर्णय शर्तों के साथ ही सत्य हो सकता है। दरअसल, स्यादवाद या अनेकान्तवाद के सिद्धान्त यह बतलाना चाहते हैं कि किसी भी सत्य या यथार्थ को उसकी सम्पूर्ण जटिलताओं के साथ पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता है। संभव है कि किसी भी सत्य के बारे में एकाधिक आंशिक सत्यों को चिन्हित किया जा सकता है। इसलिए किसी भी यथार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रस्तावित कथनों में 'स्यात्' उपशब्द का उपसर्ग के रूप में प्रयोग होना चाहिए (स्यात् का अर्थ है 'हो सकता है' अथवा इस सन्दर्भ में अधिक उपयुक्त अर्थ यह होगा कि 'कुछ मायने में')। इस प्रकार के कथनों में हरेक स्थिति में एक और शब्द का प्रयोग होता है—'एव' ('सच तो यह है कि')। इस प्रकार स्यात् और एव उपशब्दों के प्रयोग के द्वारा इन सभी कथनों में यह स्पष्ट करने का प्रयास होता है कि वे सभी यथार्थ के किसी विशेष पक्ष के किसी विशेष दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यदि 'जीव' (आत्मा) शाश्वत् है—इस कथन में 'स्यात् एव' को जोड़ दें तब ऐसा माना जाएगा कि यह कथन विशेष दृष्टिकोण से आंशिक रूप से सत्य है। किंतु दूसरा कथन कि जीव शाश्वत् नहीं है, के प्रारंभ में स्यात् एव उपसर्गों को जोड़ दिया जाए, तब इस कथन को भी किसी दूसरे दृष्टिकोण से, आंशिक रूप से एक सत्य कथन के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। यथार्थ के किसी भी पक्ष के विषय में दिए गए कथन की चार अहर्ताएं होती हैं—

(1) स्व-द्रव्य, (2) स्वक्षेत्र, (3) स्व-काल तथा (4) स्वभाव (उपरोक्त अहर्ताओं में स्व का अभिप्राय 'विशिष्ट' से है। इन विचारों के आधार पर सप्तभंगीनय सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया।

यदि किसी यथार्थ का अस्तित्व है तो उसके तीन प्रकार हो सकते हैं—(1) संवेदी, (2) भौतिक, और (3) न तो संवदी और न ही भौतिक। संवेदी श्रेणी का प्रतिनिधित्व जीव (जिसका अनुवाद संचेतनता, चित्र या आत्मा विविध रूपों में किया जा सकता है) करता है। भौतिक श्रेणी के सत्य के अन्तर्गत पुद्गल (अणु) से निर्मित वैसे सत्य आते हैं जिनका रूप, रंग, स्वाद, सुगन्ध होता है और जिनका स्पर्श या अनुभव किया जा सकता है। तीसरी श्रेणी अरूपी अजीव कहलाती है। इसके अन्तर्गत चार द्रव्य आते हैं—(1) आकाश (2) धर्म (गतिशीलता का सिद्धान्त), (3) अधर्म (जड़ता का सिद्धान्त) तथा (4) समय (काल)।

जीव का अपना स्वरूप नहीं होता। जिस प्रकार एक दीपक की रोशनी किसी कमरे को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार जीव भी उस शरीर के आकार और रूप को ग्रहण कर लेता है जिसमें वह निवास करता है। उसके अनुसार, जीव का सहविस्तृत अस्तित्व हो जाता है। जीव के तीन प्रमुख गुण होते हैं—(1) चैतन्य, (2) सुख तथा (3) वीर्य (ऊर्जा)। जैन सिद्धान्त के अनुसार, कर्म के आधार पर जीवों का देहान्तरण होता है, किंतु जैन दर्शन में पुनर्जन्म और कर्म के विषय में दिए गए विचार अद्वितीय हैं। कर्म को वैसे भौतिक पदार्थों के रूप में समझा जाता है, जो स्वतंत्र रूप से आकाश में तैरते हैं। कार्मिक द्रव्य या पदार्थ अलग-अलग प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ का जीवों पर सीधा दुष्प्रभाव पड़ता है, जबकि कुछ का नहीं। इनमे से सबसे अधिक चिन्ता का कारण मोहनिया (भ्रमोत्पादक) कर्मों को माना गया है। कर्मों के द्वारा जीव की चेतना, सुख और ऊर्जा तीनों बाधित हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार धूलकणों से किसी दर्पण की परावर्तन क्षमता बाधित हो जाती है। जीव की तरफ कर्मों का आकर्षण—वासना, तृष्णा या घृणा इत्यादि के सम्पर्क में आने से होता है। वह स्थिति जब कर्म आकर्षित होकर जीव की ओर प्रवाहित होती है, उसे 'आश्रव' कहते हैं। कर्मों से जुड़ा हुआ जीव, जीवबन्ध की अवस्था में होता है।

कुछ जीवों में विशेष गुण होते हैं जो 'भव्यत्व' कहलाते हैं। ऐसे जीवों में स्वतंत्र रहने की क्षमता होती है और इसलिए वे कर्मों से प्रभावित नहीं होते। सही ज्ञान और प्रयासों के द्वारा जीव के प्रति कर्मों के प्रवाह को रोका जा सकता है जिसे 'सम्वर' कहते हैं। इसके बाद की अवस्था निर्जरा की है। इसके बाद की स्थितियों से गुजरने के बाद जीव कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाता है तथा इन प्रक्रियाओं में चेतना और व्यवहार के रूपांतरण की विभिन्न अवस्थाएं आती हैं। ज्यों ही जीव से जुड़ा कर्म का अन्तिम कण जीव से पृथक होता है, त्यों ही अज्ञान का लोप हो जाता है और जीव अपनी सर्वज्ञ आदर्श स्थिति को प्राप्त कर लेता है। संसार का चक्र टूट जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अनभिज्ञता से सर्वज्ञता की ओर बढ़ने के क्रम में शुद्धिकरण के 14 सोपानों को पार करना होता है, जिन्हें गुणस्थानों की संज्ञा दी गई है। इन सोपानों में से 13वाँ सोपान केवल ज्ञान का है, जिस स्थिति में व्यक्ति 'अरहत' कहलाता है। एक अरहत जिसने सिद्धान्त की शिक्षा देने की क्षमता को भी पहले से हासिल कर लिया हो, वह तीर्थंकर कहलाता है। एक अरहत के द्वारा 14वाँ सोपान अपनी मृत्यु के ठीक पहले के क्षणों में प्राप्त कर लिया जाता है, जब वह सभी गतिविधियों और कर्म के अन्तिम कणों से भी मुक्त हो जाता है। मुक्त आत्माएं जिस लोक में निवास करती हैं, उसे सिद्ध लोक कहा गया है।

जैन अनुशासन

सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र जैन धर्म के 'त्रिरत्न' कहे गए हैं। जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के पाँच व्रत—(1) अहिंसा, (2) सत्य/सुनरिता, (3) अस्तेय (अचौर्य), (4) ब्रह्मचर्य तथा (5) अपरिग्रह (संग्रह नहीं करना) हैं। इन पाँच महाव्रतों का उद्देश्य अंत: का परिष्करण है।

'अहिंसा' जैन धर्म के केन्द्र में है जो भिक्षु और उपासक दोनों के लिए समान रूप से मान्य है। अहिंसा से जुड़ा जैन सिद्धांत, जीवन के विभिन्न रूपों से जुड़ा हुआ है। जैन संकल्पना के साथ सहविस्तृत जैन दर्शन में—(1) देव, (2) मनुष्य, (3) नरकी तथा (4) तिर्यंच (पेड़-पौधे और जीव-जन्तु)—अस्तित्व के इन चार रूपों को स्वीकार करता है। अस्तित्व के तिर्यंच रूपों को पुन: छोटी-छोटी उपश्रेणियों में बांटा गया है और ऐसा विभाजन उनकी संचतन क्षमताओं के आधार पर किया गया है। इनमें सबसे निचले स्तर पर एकेन्द्रीय शरीर आते हैं और इनमें से भी सबसे निचले स्तर पर वैसे जीवन आते हैं जो केवल स्पर्श इन्द्रिय से युक्त होते हैं, जो निगोद कहे जाते हैं। इनका जन्म समूहों में होता है और इनका अस्तित्व क्षणभर में समाप्त भी हो जाता है। निगोद श्रेणी के जीवों से कुछ ऊपर के स्तर पर वैसे एकेन्द्रीय जीवों के अस्तित्व की कल्पना की गई है जो सभी स्थावर तत्त्वों में पाए जाते हैं। इन्हें तत्त्वों के आधार पर क्षीति-शरीर, जन-शरीर, अग्नि-शरीर और वायु-शरीर, चार तत्त्वों में बांटा गया है। जैन दर्शन के इस सोपानीकरण में एकेन्द्रीय होने के बावजूद वनस्पति को ऊँचा स्थान दिया गया है।

क्योंकि शायद उनकी आयु अधिक होती है और संरचना जटिल। वैसे शरीरों को जिनकी पाँचों इन्द्रियां जागृत होती हैं, उन्हें दो श्रेणियों में बांटा गया है—(1) जो पूर्ण रूप से अपनी सहजवृत्ति या स्वाभाविक ज्ञान पर आश्रित होते है तथा (2) जिनके पास तर्क और विवेक की क्षमता होती है।

किसी जीव के प्रति हिंसा को दो दृष्टिकोणों से पतनोन्मुखी बतलाया गया है—(1) उनको पीड़ा होती है जिन पर हिंसा की जाती है तथा (2) उनको हानि होती है जो हिंसा करते हैं। जैन संकल्पना में हिंसा का तात्पर्य केवल हिंसक कर्म से नहीं है, बल्कि हिंसा के मनोभावों अथवा उद्देश्यों को भी हिंसा की ही श्रेणी में रखा गया है। हिंसा के कारण जो हिंसक उन्माद् और प्रवृत्ति पैदा होती है, वह मोक्ष की प्राप्ति के समक्ष एक बड़ी बाधा है। इसलिए जैनों के आहार सम्बंधी नियमों में कठोर शाकाहारिता पर अधिक बल दिया गया है। वे ऐसा मानते हैं कि मीठे और खमीर में निगोद श्रेणी के जीव उपस्थित होते हैं, इसलिए मधु और मदिरा दोनों का सेवन वर्जित है। यदि किसी जन्तु का भोजन के लिए वध नहीं भी किया गया हो उसकी स्वाभाविक मृत्यु हुई हो तब भी उसका माँस वर्जित है, क्योंकि निगोद स्तर के जीवों के लिए शव प्रजनन का अच्छा आधार बन जाता है। हालांकि, श्वेताम्बरों ने कुछ अपवाद की स्थितियों की कल्पना की है। उनके अनुसार, अकाल पड़ने पर या किसी व्याधि में औषधि के रूप में माँस का उपयोग किया जा सकता है।

जैन भिक्षुओं को अहिंसा के और अधिक कठोर स्तरों का अनुपालन करना होता है। जहाँ अयाजक वर्ग को द्विइन्द्रीय या उससे अधिक इन्द्रियों की क्षमता से युक्त जीवों के प्रति हिंसा से बचने के लिए कहा गया है, वहीं एक जैन मुनि के द्वारा एकेन्द्रीय और स्थावर तत्त्वों के प्रति भी हिंसा का भाव निषिद्ध करने का आदेश दिया गया है। उनसे यह

प्राथमिक स्रोत

एक मुक्त मनुष्य

एक मुक्त मनुष्य अपने क्रोध, अहंकार, छल और लोलुपता पर विजय पाता है। ये सिद्धान्त उस तपस्वी के लिए है, जिसने कभी किसी जीव को हानि नहीं पहुंचायी और जिसने सभी कर्मों तथा संसार से मुक्ति पा ली। पाप नहीं करने की प्रवृत्ति से पिछले कर्मों का नाश होता है, वह जो एक बात जानता है वह सभी कुछ जानता है और जो सब कुछ जानता है वह एक ही बात जानता है। जो सभी चीजों के प्रति लापरवाह है, वह खतरे में है, और जो सभी चीजों के प्रति लापरवाह नहीं है, वह खतरे के बाहर है।

वह जो एक वासना पर विजय पा लेता है वह कई वासनाओं पर विजय पा लेता है; और वह जो कई वासनाओं पर विजय पाता है वह एक पर विजय पा लेता है। संसार के दुर्भिक्ष को जानने के बाद संसार से सभी प्रकार के सम्बंध को तोड़ने वाले वीर महान् यात्रा की ओर अग्रसर हो जाते हैं; धीरे-धीरे उनका उत्थान होता है, वे जीजिविषा नहीं रखते। जो एक वासना के प्रति अनिच्छा रखता है, वह कई वासनाओं के प्रति अनिच्छा रखता है और वह जो बहुत वासनाओं के प्रति अनिच्छा रखता है, वह एक के प्रति अनिच्छा रखता है। तीर्थंकरों के द्वारा दिए गए धर्मादेशों के प्रति निष्ठापूर्वक आचरण करने वाले विवेकवान पुरुष, और इन धर्मादेशों के अनुसार, संसार को समझने वाले— ऐसा पुरुष कहीं से भी होने वाले खतरों से बाहर है। हिंसापूर्ण कर्मों के कई स्तर हैं, परंतु नियंत्रण का कोई स्तर नहीं।

वह जो क्रोध को जानता है वह अहंकार को जानता है; वह जो अहंकार को जानता है, वह छल और प्रपंच को जानता है; वह जो छल ओर प्रपंच को जानता है, वह लोलुपता को जानता है; वह जो लोलुपता को जानता है वह प्रेम को जानता है; वह जो प्रेम को जानता है वह घृणा को जानता है; वह जो घृणा को जानता है, माया को समझता है; वह जो माया को समझता है, वह धारणा को समझता है; वह जो धारणा को समझता है, वह जन्म को समझता है; वह जो जन्म को समझता है, वह मृत्यु को समझता है; वह जो मृत्यु को समझता है, वह नरक को समझता है; वह जो नरक को समझता है, वह पाश्विक अस्तित्व को समझता है; वह जो पाश्विक अस्तित्व को समझता है, वह क्लेश को समझता है।

इसलिए एक विवेकपूर्ण मनुष्य को क्रोध, अहंकार, प्रपंच, लोलुपता, प्रेम, घृणा, माया, धारणा, जन्म, मृत्यु, नरक, पाश्विक अस्तित्व और क्लेश से वंचित रखना चाहिए। यह उस महात्मा का सिद्धान्त है, जो किसी भी जीव के प्रति हिंसा नहीं करते और जिन्होंने अपने कर्मों का और संसार का अन्त कर दिया है। पाप नहीं करने की प्रवृत्ति से पिछले कर्मों का नाश हो जाता है। क्या इस महात्मा में किसी प्रकार की सांसारिक दुर्बलता है? कोई दुर्बलता नहीं है, किसी दुर्बलता का अस्तित्व नहीं है। ऐसा मैं कहता हूँ।

स्रोतः *आचारंग सुत्त*, 1.3.4; जैकोबी ([1884], 1968: 33-35)

अपेक्षित है कि वे हरीतिमा युक्त वनस्पति को भी स्पर्श न करें और वनस्पति तत्त्वों के प्रति हिंसा से बचें। दिगम्बर और श्वेताम्बर मुनियों के बीच व्यावहारिक दृष्टिकोण से बिल्कुल प्रत्यक्ष भेद उनके वस्त्र को लेकर ही है। दोनों सम्प्रदायों का मानना है कि महावीर एवं उनके प्रारंभिक अनुयायी निर्वस्त्र ही भ्रमण किया करते थे। दिगम्बर उस परंपरा को कठोरता से मानते हैं। उनका कहना है कि मुनि को सभी प्रकार की सम्पत्तियों का त्याग कर देना चाहिए, वस्त्रों का भी। एक मुनि अपने साथ कीटाणुओं को दूर रखने के लिए एक रजोहरण तथा शौचादि क्रिया के लिए एक कमण्डलु रख सकते हैं। दूसरी ओर श्वेताम्बरों के द्वारा सफेद वस्त्र धारण किए जाते हैं क्योंकि उनका मानना है कि निर्वस्त्र रहने का प्रचलन अब अप्रासंगिक हो चुका है, इसलिए अब आवश्यक नहीं है। जैनियों का अयाजक वर्ग या जनसामान्य वर्ग जिन व्यवहारों का अनुपालन करता है उन्हें 'अनुव्रत' की संज्ञा दी गई है। ये जैन मुनियों एवं साध्वियों के द्वारा धारण किए जाने वाले महाव्रतों के संशोधित रूप हैं। इनमें से पहले तीन व्रत तो दोनों के लिए समान हैं, किंतु अन्तिम दो व्रतों के स्थान पर ब्रह्मचर्य के स्थान पर शुचिता और अस्तेय के स्थान पर सीमित इच्छाओं का अनुपालन वांछनीय बतलाया गया। सैद्धांतिक रूप से एक अयाजक कैवल्य के लिए योग्य पात्र नहीं है, किंतु व्यवहारिक दृष्टिकोण से जैन धर्म ने मुनि धर्म और गृहस्थ जीवन के बीच सामंजस्य का मार्ग ढूँढ़ निकाला। ऐसा कहा जा सकता है कि जैन धर्म में प्रारंभिक काल से ही मुनियों ओर अयाजकों के बीच एकीकृत सम्बंध विकसित हो चुका था।

जैन दर्शन में जीवों के प्रति हिंसा की स्वीकार्य एवं अस्वीकार्य सीमाओं का निर्धारण किया गया, किंतु आखेट या पशुपालन जैसे व्यवसायों को पूर्ण रूप से वर्जित माना गया, जिसमें हिंसा अपरिहार्य है। जैन ग्रंथों में

प्राथमिक स्रोत

पृथ्वी निकायों की हत्या न करने का उपदेश

यह संसार उनसे भरा है जो आहत हैं, दयनीय स्थिति में हैं। जिनको समझा पाना कठिन है और जो विवेकशून्य हैं। यह संसार जो उनके विभिन्न कर्मों के कारण पीड़ा और क्लेश से भरा है। देखो! अनभिज्ञ लोग महान् पीड़ा का कारण बनते हैं। देखो! धरती से जुड़े हुए बहुत सारे जीवों का अस्तित्व है। देखो! वैसे लोग भी हैं जो स्वयं पर नियंत्रण करते हैं, जबकि अन्य केवल घर छोड़ देने का स्वांग रचते हैं (यहां बौद्ध भिक्षुओं की ओर इशारा किया गया है, जिनका आचरण गृहस्थों से बहुत अलग नहीं दिखलाई पडता है—मिट्टी के बने इस शरीर को जो बुरे और हिंसक कर्मों से नष्ट करते हैं और जो साथ में अन्य जीवों को हानि पहुँचाते हैं, जिन्हें मिट्टी से जुड़े कार्यों के माध्यम से हानि पहुँचती हैं, मिट्टी से जुड़े कर्मों से हानि पहुँचती है। इसके विषय में सम्मानित महानुभाव (महावीर) ने सत्य की शिक्षा दी है—इस जीवन की विलासिता, ऐश्वर्य और सम्मान के लिए; जन्म, मृत्यु और अन्तिम मुक्ति के लिए; पीड़ा से मुक्ति के लिए; व्यक्ति भूमि के प्रति पापपूर्ण कर्म करता है अथवा दूसरों को ऐसा करने की अनुमति देता है। वह स्वयं को आनंद और सर्वोच्च विवेक से वंचित कर लेता है। इसकी जानकारी उसे तब होती है, जब किसी जिन या आचार्य से वह आस्था रखने योग्य धर्म के विषय में समझता है या सुनता है। ऐसे कुछ ही लोग हैं, जो सचमुच इस हिंसा को बंधन, माया, मृत्यु और नरक के रूप में जानते हैं। इस व्यक्ति के लिए मिट्टी के बने इस शरीर को बुरे कर्मों, हिंसक कर्मों से हानि पहुँचाने तथा मिट्टी से जुड़े कर्मों के कारण कई अन्य जीवों को हानि पहुँचती है। ऐसा मैं कहता हूँ।

कोई व्यक्ति किसी अंधे व्यक्ति को जो अपना घाव नहीं देख सकता, उसको काट या मार सकता है, कोई उसके पाँव पर प्रहार कर सकता है, कोई उसके हाथों पर, कोई घुटनों पर, कोई जांघों पर, कोई कमर पर, कोई नाभि पर, कोई पेट पर, कोई पीठ पर, कोई छाती पर, कोई हृदय पर, कोई स्तन पर, कोई गर्दन पर, कोई कोहनी पर, कोई अंगूली पर, कोई नाखून पर, कोई आँख पर, कोई भौंह पर, कोई ललाट पर और कुछ खुलकर, कुछ गुप्त रूप से, हत्या कर सकते हैं। इस प्रकार मिट्टी के बने जीव काटे जाते हैं, प्रहार किए जाते हैं और हत्या किए जाते हैं जबकि वे अपने भावों को दिखला नहीं सकते।

जो मिट्टी के बने इन जीवों के प्रति हिंसा करते हैं वे न तो पापपूर्ण कर्मों को समझते हैं और न ही उनका त्याग करते हैं; वह जो इनके प्रति हिंसा नहीं करते, पापपूर्ण कर्मों को समझते हैं और उनका त्याग करते हैं; ऐसा जान लेने के बाद एक विवेकपूर्ण व्यक्ति को मिट्टी के प्रति पापपूर्ण कर्म नहीं करना चाहिए, न ही दूसरों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करना चाहिए और न ही ऐसा करने के लिए दूसरों को अनुमति देनी चाहिए। वह जो मिट्टी से जुड़े इन पापों के कारण को समझता है, वह फल जानने वाला संत कहलाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

स्रोत: *आचारंग सुत्र*, 1.3.4; जैकोबी ([1884], 1968: 3-5)

जिन छः व्यवसायों को धार्मिक मान्यता दी गई है वे हैं—(1) असी (प्रशासन), (2) मसी (लेखन), (3) कृषि, (4) विद्या (कला), (5) वाणिज्य और (6) शिल्प। इनमें से असी और कृषि दोनों व्यवसायों को हेय दृष्टि से देखा गया है, क्योंकि इन दोनों में हिंसा की अत्यधिक सम्भावना निहित है। जैन मान्यता में वाणिज्य में सबसे कम हिंसा का समावेश संभावित है, इसलिए आज भी जैनियों में वाणिज्य ही सबसे लोकप्रिय व्यवसाय है। अयाजकों को दी गई शिक्षा में दान पर हमेशा अधिक बल दिया गया है। जैन मुनि एवं अन्य योग्य पात्रों को दान दिया जाना चाहिए। जैन मान्यता के अनुरूप मृत्यु की सर्वाधिक वांछित विधि के अन्तर्गत एक मुनि अथवा अयाजक के द्वारा निर्जला, उपवास एवं ध्यान करते हुए मृत्यु को प्राप्त करना माना गया है।

जैन मुनियों एवं अयाजकों की सामाजिक पृष्ठभूमि

जैन ग्रंथों में वर्ण व्यवस्था में क्षत्रिय वर्ण की श्रेष्ठता प्रतिबिम्बित होती है। पूर्व मध्ययुग के जैन ग्रंथ आदि पुराण के अनुसार, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की सृष्टि प्रथम तीर्थंकर ऋषभ से जुड़ी हुई है। जिन्होंने जिनत्व की प्राप्ति के पहले एक राजन् की शक्तियों का निष्पादन किया था। ब्राह्मण वर्ण की स्थापना ऋषभ के पुत्र भरत ने की थी जो पहले चक्रवर्ती सम्राट थे। बौद्ध ग्रंथों की तरह जैन धर्म ग्रंथों ने भी ब्राह्मणों के यज्ञ प्रयोजन, जीवन शैली और उनके अहंकार की आलोचना की है। उन्होंने भी एक सच्चे अथवा आदर्श ब्राह्मण को परिभाषित करने के क्रम में जन्म के स्थान पर आचरण की महत्ता को स्वीकार किया है। इस प्रकार पुनर्परिभाषित होने के बाद केवल एक जैन मुनि या परिवार्जक ही ब्राह्मण कहलाने के योग्य कहा जा सकता है।

जैन संघ में सभी वर्णों तथा सामाजिक पृष्ठभूमि के लोगों को प्रवेश पाने की अनुमति दी गई थी। *उत्तराध्यायन सुत्र* में संकलित एक कथा के अनुसार, हरिकेशीय नाम के एक परिव्राजक श्वपाक (चण्डाल) कुल से आते थे। बहुत दिनों तक उपवास रखने के पश्चात् जब भोजन के लिए वे एक स्थान पर पहुँचे, उस स्थान पर ब्राह्मणों के द्वारा एक यज्ञ किया जा रहा था। अहंकारी ब्राह्मणों ने उनका उपहास किया और भोजन में कुछ भी देने से इंकार कर दिया, जब हरिकेशीय ने तर्क के द्वारा उनको समझाने का प्रयास किया तब ब्राह्मणों ने उनकी जमकर पिटाई की। ऐसा तब तक चलता रहा जब तक कि एक यक्ष ने हस्तक्षेप करके उसको बचाया। ब्राह्मणों ने अपनी गलती को स्वीकार किया और हरिकेशीय से क्षमा माँगी। उन्होंने ब्राह्मणों को क्षमा कर दिया। उन्होंने देवताओं के लिए किए जाने वाले यज्ञों की व्यर्थता बतलाते हुए एक जैन परिव्राजक के अनुशासन के रूप में सच्चे यज्ञ के विषय में उन्हें सलाह दी।

किंतु जैन धर्म के सैद्धांतिक पक्ष अथवा उनके धर्म ग्रंथों में दिए गए इन प्रसंगों के बिल्कुल विपरीत महावीर के सभी प्रमुख शिष्य (गणधर) मगध क्षेत्र के ब्राह्मण ही थे। ऐसा माना जाता है कि इन्हीं गणधरों ने अपने सैकड़ों शिष्यों के साथ जैन संघ में प्रवेश लिया। भद्रबाहु, सिद्धसेन दिवाकर, पूज्यपाद, हरिभद्र तथा जिनसेन जैसे प्रसिद्ध जैन आचार्य, ब्राह्मण समुदाय के प्रतिनिधि थे। जैन धर्म को नगरीय व्यवसायियों के धनाढ्य वर्ग का संरक्षण प्राप्त हुआ।

बौद्ध ग्रन्थों की तरह जैन धर्म ग्रंथों में भी नारी को मुनियों के ब्रह्मचर्य के समक्ष खतरे के रूप में भी देखा गया है। वे परिव्राजकों को स्त्री के सम्पर्क में आने से मना करते हैं, किंतु दूसरी ओर जैन धर्म ने जैन साध्वियों के लिए जैन संघ की भी स्थापना की। जहाँ तक महावीर के जीवन काल में हुए जैन संघीय व्यवस्था के विकास का प्रश्न है, तो उस संदर्भ में यदि पारंपरिक जैन वृत्तांतों को मानें तो स्त्रियों की ही प्रधानता दिखलाई पड़ती है। *कल्पसूत्र* के अनुसार, जिस समय महावीर की मृत्यु हुई, उस समय 14,000 परिव्राजक, 36,000 जैन-साध्वी, 159,000 जैन अयाजक पुरुष तथा 318,000 जैन अयाजक स्त्रियां मौजूद थीं। उनके जीवन काल में जहाँ 1400 स्त्रियों ने निर्वाण प्राप्त किया वहीं केवल 700 पुरुषों ने। सामान्य स्त्री वर्ग को जैन धर्म की ओर आकर्षित करने में जैन साध्वियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

जैन धर्म में चल रहे लिंग संवेदी तथा निर्वाण सम्बंधी बिन्दुओं पर बहस के केंद्र में वस्त्र का प्रश्न जरूर रहा होगा (जैनी [1991], 1992)। पहले भी चर्चा हो चुकी है कि दिगम्बर जैनों ने संघ के सदस्यों के लिए निर्वस्त्र रहना अनिवार्य माना। उनके अनुसार, वस्त्र भी संपत्ति के अन्तर्गत आते हैं और उनका सम्बंध कामवासना और लज्जा से है। किंतु सार्वजनिक रूप से स्त्रियों के निर्वस्त्र घूमने पर लगायी जाने वाली सामाजिक वर्जनाओं के वे प्रतिकूल नहीं मालूम पड़ते। इसलिए एक स्त्री का शरीर उसके द्वारा निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में स्वयं बाधक समझा गया। जैन परिव्राजिकाओं को आर्यिका या साध्वी के रूप में सम्मानपूर्वक संबोधित किया जाता था, किंतु उनकी स्थिति शायद ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली एक सामान्य स्त्री से केवल इसलिए अलग थी क्योंकि उन्होंने कुछ हद तक आध्यात्मिक प्रगति कर ली थी।

श्वेताम्बरों के द्वारा वस्त्र पहनना या नहीं पहनना वैकल्पिक था। श्वेताम्बर यह स्वीकार करते थे कि एक स्त्री के द्वारा उसके जीवन काल में ही मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। एक जैन भिक्षु और साध्वी को एक ही प्रकार के व्रत का पालन करना था और सैद्धांतिक रूप से वे एक-दूसरे के बिल्कुल बराबर थे। किंतु बौद्ध संघ की ही तरह जैन संघ में भी लिंग संवेदी विभेद के तत्त्व मौजूद थे। कोई भी जैन परिव्राजक चाहे कितना भी कनिष्ठ क्यों न हो उसके

प्राथमिक स्रोत

सच्चा ब्राह्मण

उत्तराध्ययन सूत्र (25) में जयघोष नाम के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण की कथा संकलित है, जिसने जैन व्रतों को धारण किया तथा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की। अपने आध्यात्मिक संघर्ष के दौरान वह एक बार बनारस नगर के बाहर पहुँच गया। एक महीना वहीं तप करने के बाद, वह विजयघोष नाम के एक ब्राह्मण के घर जा पहुँचा जो वेदों में निपुण था। उसके घर में उस दौरान कोई यज्ञ चल रहा था। उसने जयघोष को भिक्षा देने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उसका मानना था कि जयघोष भिक्षा का योग्य पात्र नहीं है। विजयघोष ने उसको कहीं और जाकर भिक्षा मांगने को कहा। जयघोष इससे विचलित नहीं हुआ और उसने वार्तालाप करने की ठान ली। उसने ब्राह्मात्व, यज्ञ और वर्ण के विषय में बातें की:

अनभिज्ञ पुराहित जो यज्ञ के बारे में सब कुछ जानने का स्वांग करते हैं, जिनकी ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता उनके मिथ्याविज्ञान में सन्निहित हैं; वे स्वयं को अध्ययन-अनुष्ठानों में इस प्रकार ढक लेते हैं, जिस प्रकार अग्नि, राख में ढक जाती है।

वे जो लोगों के द्वारा ब्राह्मण कहलाते हैं, किंतु उसी आग की तरह उनकी पूजा होती है, वे वास्तविक ब्राह्मण नहीं हैं। हम उन्हें सच्चा ब्राह्मण मानते हैं जो ज्ञानी पुरुषों के द्वारा ब्राह्मण कहे जाते हैं। वह जो सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर संघ में प्रवेश करता है, और जो मुनि बन जाने का पश्चाताप नहीं करता, जो सम्यक शब्द में आनंद पाता है, उसे हम एक ब्राह्मण कहते हैं।

एक पतले-दुबले शरीर वाला, विनम्र सन्यासी जिसने अपने हाड़-माँस को गला दिया हो, जो सदाचारी हो और जिसने निर्वाण को प्राप्त कर लिया हो, उसे ही हम एक ब्राह्मण कहते हैं। जो सभी जीवों को सचमुच में जानता हो, चाहे वे जड़ हों या चेतन, जो उनके प्रति मनसा, वाचा या कर्मणा कोई हिंसा नहीं करता, हम उसे ही एक ब्राह्मण कहते हैं। वह जो क्रोध से या मजाक से या लालच में आकर या भय से कभी झूठ नहीं बोलता, उसे ही हम एक ब्राह्मण कहते हैं।

वह जो दिव्य, मनुष्य या पशु से शारीरिक प्रेम नहीं करता और न ही मन से, वचन से या कर्म से ऐसा करता है उसे ही हम एक ब्राह्मण कहते हैं। वह जो भोज-आनंद से भ्रष्ट नहीं होता, जिस प्रकार पानी में रहकर भी कमल नहीं भीगता है हम उसे ही ब्राह्मण कहते हैं।

वह जो प्रेम, घृणा और भय से मुक्त है, जिसके पास कोई घर या सम्पत्ति नहीं होती, जिसका गृहस्थों के साथ कोई नाता नहीं रहता है, उसे हम एक ब्राह्मण कहते हैं।

वह जिसने अपने सगे-सम्बंधियों और नातेदारों से सब सम्बंध तोड़ लिया है और जो भोग-आनंद में नहीं लिप्त है, हम उसे एक ब्राह्मण कहते हैं।

बलि के खम्भों में, पशुओं को बाँधने से सभी वेद और यज्ञ, पाप का कारण बनते हैं और वे पापियों का कल्याण करने में असमर्थ हैं क्योंकि उनके कर्म बहुत बलवान होते हैं। अपने सिर मुंडवा लेने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, वैसे ही ओम् का उच्चारण करने से कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता और न ही जंगलों में रहने से कोई मुनि, न ही कुश और छाल पहन लेने से कोई तपस्वी बन जाता है।

समचित्तता को प्राप्त करने के बाद ही कोई श्रमण बनता है, शुचिता और ब्रह्मचर्य से ही कोई ब्राह्मण बन सकता है, ज्ञान से ही कोई मुनि बन सकता है और त्याग से ही तापस बनता है।

अपने कर्मों से ही कोई ब्राह्मण अथवा एक क्षत्रिय अथवा एक वैश्य या शूद्र बनता है।

स्रोत: जैकोबी ([1884], 1968: 136–38)

उपस्थित होने पर जैन परिव्राजिका को औपचारिक सम्मान देना बाध्यता थी। जैन साध्वियों को अपनी अनुशासनहीनता के प्रायश्चित के लिए जैन मुनियों के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था, किंतु जिसका उल्टा नहीं हो सकता था।

प्रश्न यह उठता है कि क्या एक स्त्री एक तीर्थंकर बन सकती थी? दिगम्बर मान्यता के अनुसार, मोक्ष की प्राप्ति के लिए एक स्त्री को पुरुष के रूप में पुनर्जन्म लेना अपरिहार्य था, किंतु श्वेताम्बरों के द्वारा स्त्रियों के जिनत्व की प्राप्ति को स्वीकार किया गया। उनकी 19वीं तीर्थंकर मल्ली एक नारी थी। दोनों संप्रदायों ने यह स्वीकार किया कि स्त्री के द्वारा अवांछित यातनाओं के भयानक स्वरूपों को सहन करने की क्षमता नहीं है, इसलिए उनका जन्म सातवें तथा सबसे निचले श्रेणी के नरक में नहीं हो सकता है। किंतु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि धूर्तता, लोलुपता, छल जैसी दुष्प्रवृत्तियों और दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप किसी का जन्म स्त्री के रूप में होता है। यहां तक कि श्वेताम्बर, जो यह मानते हैं कि मल्ली एक स्त्री तीर्थंकर थीं, उनके अनुसार, भी पूर्व जन्म में किए गए छल के कारण ही उनका जन्म स्त्री के रूप में हुआ था।

अन्यान्य परिचर्चा

मल्ली या मल्लीनाथ?

श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार, मल्ली की आत्मा ने एक पिछले जन्म में महाबल नाम के एक राजा के रूप में जन्म लिया था। इस राजा ने अपने सात मित्रों के साथ इस संसार का परित्याग किया और सभी जैन मुनि हो गए। आठों मुनियों ने मिलकर यह तय किया कि अपनी तपश्चर्या के क्रम में वे बराबर-बराबर संख्या में व्रतों का पालन करेंगे। महाबल, जो प्रकृति से चालाक था, उसने अलग-अलग बहाने कर के औरों से अधिक आहारों का त्याग किया, जिसके परिणामस्वरूप उसने औरों की अपेक्षा तय किए गए व्रतों की संख्या से अधिक व्रत रखे। फिर भी इस छल को छोड़कर उसके आचरण में कोई त्रुटि नहीं थी। जैन मार्ग में किए गए इन प्रयासों के फलस्वरूप वह जिन बनने के योग्य हो गया। किंतु अपने एक छलपूर्ण कर्म के कारण स्वर्ग में एक लंबी अवधि बिता लेने के बाद उसका जन्म एक पुरुष नहीं बल्कि एक स्त्री के रूप में हुआ, मल्ली नाम की एक सुंदर राजकन्या के रूप में (मल्ली का अर्थ चमेली का फूल)। अन्य सातों मुनियों का जन्म पड़ोसी राज्यों में क्षत्रिय योद्धाओं के रूप में हुआ। वे सभी मल्ली से शादी करना चाहते थे और उसके लिए आपस में लड़ाई करने लगे। मल्ली उनके इस व्यवहार से इतनी रूग्ण हो गई कि उसने इस संसार का परित्याग कर दिया। ऐसा करने पर तुरन्त ही उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई (सर्वज्ञान) और वह 19वीं तीर्थंकर बनी। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार, मल्ली उस सिद्धान्त की एकमात्र अपवाद थी, जिसके अनुसार, एक पुरुष ही जिन बन सकता है।

दिगम्बर परंपरा, इस मान्यता को पूर्ण रूप से अस्वीकृत करती है। उनकी मान्यता के अनुसार, 19वें तीर्थंकर मल्लीनाथ नाम के एक पुरुष थे, जिनका जन्म एक राजपरिवार में राजकुमार के रूप में हुआ था न कि एक राजकन्या के रूप में। एक दिगम्बर मुनि के व्रतों को धारण करने के बाद अंत में वे एक तीर्थंकर बने।

स्रोत: जैनी ([1991], 1992: 14-15)

दरअसल, मल्ली कभी भी जैनियों के लोकप्रिय उपासना की पात्र नहीं रही। नवीं शताब्दी की उनकी एक विच्छिन्न प्रतिमा प्राप्त होती है। जैनी ([1991], 1992: 26-27) का मानना है कि मोक्ष की संभावनाओं से स्त्री को पृथक रखने के कारण दिगम्बर संप्रदाय में परिव्राजिकाओं की संख्या उत्तरोत्तर घटती चली गई। किंतु ऐसा भी कहना कठिन है कि स्त्रियों का कोई संघ केवल इस आधार पर विकसित होता गया, क्योंकि उस सम्प्रदाय ने स्त्रियों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की संभावना को स्वीकार किया था। यदि ऐसा रहा होता तो श्रीलंका और दक्षिण पूर्व एशिया की थेरवाद समुदायों के बौद्ध भिक्षुणी संघों का पतन ही नहीं हुआ होता। स्पष्ट रूप से कई अन्य कारकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही होगी।

निष्कर्ष

ल. 600-300 सा.सं.पू. के बीच का काल उत्तर भारत में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल का था। इस काल के दौरान पूर्व की कुछ शताब्दियों में शुरू हुई विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाएं जटिलतर हुईं और जिसकी परिणति नगरों के अभ्युदय के रूप में दिखलाई पड़ती है। फिर भी अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास कर रही थी। नगरीकरण ने नवीन सामाजिक-आर्थिक विभाजनों का मार्ग प्रशस्त किया। नगरों में रहने वाले एक कुलीन वर्ग का अभ्युदय हुआ। इसी काल से जाति-व्यवस्था ने संस्थानीकृत स्वरूप ग्रहण करना शुरू किया। गृहस्थी के भीतर पितृसत्तामक नियंत्रण का दबदबा बढ़ा, जो सार्वजनिक स्तर पर नारी की अधीनस्थ स्थिति के रूप में दिखलाई पड़ने लगी। इन शताब्दियों में ही यति धर्म और परिव्राजकों की प्रवृत्ति का अभूतपूर्व उन्नयन हुआ। यह काल दार्शनिक बहस और गहन दार्शनिक चिन्तन तथा गतिविधियों का काल भी था। उस समय जिन दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें बौद्ध और जैन धर्म भी थे, जिन्होंने स्थायी ऐतिहासिक महत्त्व वाले परिव्राजक संघों का निर्माण किया तथा इसी क्रम में अपने अनुयायियों का महान् जनसमुदाय भी तैयार किया। राजनीतिक स्तर पर दो प्रतिद्वंदी व्यवस्थाओं का अस्तित्व देखा गया—गणसंघ तथा राजतंत्र। यह मगध साम्राज्य के उत्कर्ष का काल था, जिस प्रक्रिया के अधीन अन्य सभी राज्य हाशिये पर चले गए। एक कदम के बाद मगध का नंद राज्य, मौर्यों के अखिल भारतीय साम्राज्य में परिणत होने वाला था।

अध्याय 7

राजसत्ता और धम्मसत्ता—मौर्य साम्राज्य ल. 324 – 187 सा.सं.पू.

अध्याय संरचना

सन् 1905 में तंजौर तहसील के एक ब्राह्मण ने मैसूर ओरिएंटल राजकीय पुस्तकालय के लाइब्रेरियन आर. शामशास्त्री को 168 पन्नों की एक पाण्डुलिपि लाकर दी। आलेख संस्कृत भाषा तथा ग्रंथ लिपि में थी। मूल आलेख के साथ भट्टस्वामी नामक टीकाकार की टिप्पणी भी थी। संपूर्ण आलेख पंद्रह अध्यायों तथा कई उपखंडों में अंतर्विभाजित था। मूल विषय का निष्पादन संक्षिप्त सूत्रों में हुआ था जिसको समझना उतना सरल भी नहीं था। पाण्डुलिपि को सावधानीपूर्वक उतारा गया था, किन्तु कुछ स्थानों पर त्रुटियां भी देखी जा सकती थीं। आलेख के प्रारंभ में ओम् अंकित था तथा शुक्र एवं बृहस्पति क्रमशः दानव एवं देव के आचार्यों की स्तुति की गई थी। आगे लिखा था कि *अर्थशास्त्र* वस्तुतः पूर्व के आचार्यों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन है जिनके द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को अर्जित कर उसकी रक्षा की जा सकती है। तत्पश्चात्, अध्ययन किए गए विषयों को सूचीबद्ध किया गया था। प्राक्कथन में यह निवेदित था कि विचार तथा अर्थ के सहज निरूपण की दृष्टि से सरलता से ग्राह्य इस आख्यान के संकलनकर्त्ता कौटिल्य हैं।

शामशास्त्री ने पाण्डुलिपि की प्राचीनता को सौ–दो–सौ वर्षों से अधिक नहीं आँका किन्तु यह सहज अनुमान लगाया कि पाण्डुलिपि की विषयवस्तु कहीं अधिक पुरातन है जो प्राचीन राज्यशास्त्र की एक परिष्कृत परंपरा का निर्वाह करती है। सन् 1905 के उपरांत इस दुर्लभ ग्रंथ को कई किस्तों में *इंडियन एन्टिक्वेरी* नामक शोध पत्रिका में प्रकाशित किया गया। सन् 1909 में पहली बार सम्पूर्ण ग्रंथ का भाषांतर उपलब्ध हुआ तथा 1915 में इसका पहला अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ। शामशास्त्री के अनुवादों के प्रकाशन से प्रेरित इस जिज्ञासा के परिणामस्वरूप कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* की अन्य पाण्डुलिपियां और टीकाओं को एकत्र किया जाने लगा। इस कृति का अंग्रेज़ी भाषा के अतिरिक्त बंगला, हिन्दी, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, मराठी, उड़िया, तमिल, जर्मन, इटालियन तथा रूसी भाषाओं में अनुवाद किया गया। किन्तु प्रमाणिकता की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण संस्करण आर.पी. कांग्ले द्वारा 1960–63 में अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ प्रकशित किया गया जो *अर्थशास्त्र* की पाण्डुलिपियों तथा उस पर की गई पूर्व मध्यकालीन टीकाकारों की व्याख्या पर आधारित है।

अर्थशास्त्र के लेखक तथा उसकी कालावधि के विषय में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही विवाद रहा है। जहाँ कुछ विद्वानों का मत है कि यह मौर्यकाल की रचना है, जिसको कौटिल्य अथवा चाणक्य ने लिखा था तथा जिसने चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण में मुख्य भूमिका निभायी थी, शेष इतिहासकार इसे बहुत बाद की रचना बतलाते हैं।

मौर्यों (ल. 324–187 सा.सं.पू.) ने एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण किया जो पूरे उपमहाद्वीप में तथा उत्तर पश्चिम में कुछ और दूर तक विस्तृत था। वंशावली से जुड़े इतिहास लेखन के द्वारा राजनीतिक इतिहास का कुछ आधारभूत ज्ञान तो हो जाता है, किन्तु सामाजिक, आर्थिक अथवा धार्मिक इतिहास की समझ नहीं बन पाती है। इस अध्याय को मौर्य साम्राज्य से सम्बंधित विषयों पर केन्द्रित किया गया है, परंतु इन शताब्दियों से परे विषद् ऐतिहासिक संरचनाओं से जुड़ी परिचर्चा पृथक रूप से अध्याय आठ में दी गई है।

दरअसल, मौर्य काल के अध्ययन के लिए उपलब्ध स्रोत, इसके पहले के किसी भी काल की अपेक्षा अधिक वैविध्य रखते हैं। पुराणों में दी गई वंशावलियों में मौर्य शासकों की भी सूची है। किन्तु विभिन्न पुराणों में इस सम्बंध में एकरूपता का अभाव है। किसी पुराण में मौर्य के 13 राजाओं की सूची है, जिन्होंने 137 वर्षों तक शासन किया, वहीं किसी दूसरे पुराण में केवल 9 राजाओं की सूची दी गई है। हेमचन्द्र के *परिशिष्टपर्वन्* जैसी रचनाओं के द्वारा चन्द्रगुप्त का सम्बंध जैन धर्म से बतलाया गया है। विशाखदत्त द्वारा 5वीं सदी में लिखे गए ऐतिहासिक नाटक *मुद्राराक्षस* का कथानक चन्द्रगुप्त के चाणक्य नाम के मंत्री और नंद सम्राट के मंत्री राक्षस के बीच हुए संघर्ष के इर्द–गिर्द घूमता है। फिर भी इस कथा की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। चाणक्य–चन्द्रगुप्त की कथा बौद्ध साहित्य के अंतर्गत *महावंश* तथा उस पर लिखी गई 10वीं शताब्दी की *वंसत्थपकासिनी* नामक टीका में संरक्षित

◄ **अशोक के सारनाथ खम्भे के शीर्ष का शेर**

है। चन्द्रगुप्त की जानकारी मिलिन्दप्रश्न (*मिलिन्दपन्ह*) तथा *महाभाष्य* में उपलब्ध है। तमिल कवि ममूलनार की कविता में मौर्यों के दक्षिणवर्ती विस्तार की परोक्ष रूप से चर्चा की गई है।

बौद्ध साहित्य में अशोक को सबसे अधिक प्रधानता मिली है और उसे एक अभूतपूर्व सम्राट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मिथक के रूप में इस सम्राट के विषय में *दीपवंश, महावंश, अशोकावदान, दिव्यावदान, वंसत्थपकासिनी* जैसे ग्रंथों में संकलित है। मौर्यों के विषय में सबसे मिथक वृतान्त 17वीं शताब्दी में, लामा तारानाथ द्वारा लिखे *भारतीय बौद्ध धर्म के इतिहास* में मिलता है। मौर्य तथा उनके काल के पाठ्यात्मक स्रोतों में कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* और मेगस्थनीज की *इण्डिका* का विशेष महत्त्व है। इन दोनों स्रोतों की विवादास्पद प्रकृति के कारण इनका विस्तारपूर्वक विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है।

मौर्य काल के प्रमुख स्रोत

(The Major Sources for the Maurya Period)

कौटिल्य का *अर्थशास्त्र*

कौटिल्य का *अर्थशास्त्र*, राज्यशास्त्र पर लिखी एक विषद् रचना है। इस ग्रंथ में अपने विषय पर लिखी गई प्रारंभिक रचनाओं की विवेचना की गई है जिनमें से अब कोई भी उपलब्ध नहीं है। अर्थ एक सामान्य शब्द है। पुरुषार्थ (मानवीय अस्तित्व के शास्त्र सम्मत उद्देश्य) में से एक, यह शब्द अस्तित्त्व से जुड़े भौतिकतावादी पक्ष का द्योतक है। *अर्थशास्त्र*, धर्म (आध्यात्मिक अस्तित्त्व) तथा काम (वासना और शारीरिक सुख) की अपेक्षा अर्थ की श्रेष्ठता को सिद्ध करता है, क्योंकि अन्य दो उस पर आश्रित हैं। अर्थ की व्याख्या जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में की गई है, जिसका स्रोत सम्पूर्ण धरती और उस पर निवास करने वाले लोगों को बताया गया है। *अर्थशास्त्र* ज्ञान की वह विधा है जो धरती को अर्जित करने तथा उसको सुरक्षित रखने के साधनों की विवेचना करती है तथा ये साधन ही जीविकोपार्जन के स्रोत हैं (*अर्थशास्त्र* 1.1–2)। दी गई इस परिभाषा के आधार पर *अर्थशास्त्र*, राज्य का विज्ञान है। *अर्थशास्त्र* के 15 अधिकरण (पुस्तक) हैं। इनमें से प्रथम पांच आंतरिक प्रशासन तंत्र, इसके बाद के आठ अंतर्राज्यीय सम्बंध (अवाप) तथा अंतिम दो मिश्रित विषयों से सम्बंधित हैं।

अर्थशास्त्र को ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में स्वीकार करने में सबसे बड़ी समस्या इसके काल और लेखक के सम्बंध में विभिन्न विचारों के कारण उपस्थित होती है (देखें कांग्ले, 1965: 59–115)। इस रचना के विषय में पारंपरिक मान्यता है कि इसे चौथी शताब्दी सा.सं.पू. में कौटिल्य ने लिखा था जिसे चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से भी जाना जाता है, जो चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा नंदों को अपदस्थ किए जाने के पश्चात् उसका प्रधानमंत्री बना। *अर्थशास्त्र* में दो सूत्र ऐसे हैं जो इस दृष्टिकोण को मजबूत करते हैं। *अर्थशास्त्र* 1.1.19 में लिखा है कि सीखने और समझने में आसान, सैद्धांतिक दृष्टि से पूर्णत: केन्द्रित, अर्थ और शब्द के अभिप्राय की दृष्टि से बिल्कुल सटीक, इस रचना को कौटिल्य ने लिखा है। सूत्र संख्या 15.1.73 में लिखा है कि इस शास्त्र की रचना उसने की है जिसने क्रोध में आकर नंद शासन के अधीन भूमि को स्वतंत्र करने के लिए शास्त्र तथा शस्त्र का सृजन किया। कामन्दक का *नीतिसार*, दण्डिन का *दशकुमारचरित*, विशाखदत्त का *मुद्राराक्षस* तथा बाणभट्ट की *कादम्बरी* जैसी बाद की रचनाएं *अर्थशास्त्र* के काल और लेखक के विषय में पारंपरिक मान्यता का समर्थन करती हैं।

बाद के वर्षों में इस पारंपरिक मान्यता की आलोचना की जाने लगी। उपरोक्त सूत्रों के सम्बंध में कहा जाने लगा कि इन्हें बाद में जोड़ा गया है। ऐसा तर्क दिया जाता है कि पुस्तक में कौटिल्य के नाम का प्रयोग प्रकाशक के चिह्न अथवा नाम के स्थान पर उद्धृत है जिसका अधिक से अधिक यह अर्थ लगाया जा सकता है कि ऐसा कौटिल्य ने कहा है। पतंजलि के *महाभाष्य* में, (जिसमें मौर्यों तथा चन्द्रगुप्त की सभा का उल्लेख है) कौटिल्य का उल्लेख नहीं किया गया है। मेगस्थनीज ने अपनी *इण्डिका* में कौटिल्य का जिक्र नहीं किया, जबकि वह चन्द्रगुप्त के समय राजदूत था। किन्तु *महाभाष्य* व्याकरण पर लिखा गया है, एक ग्रंथ है, जिसमें ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व या घटना की चर्चा केवल संयोगवश हुई है। मेगस्थनीज की *इण्डिका* बाद के यूनानी लेखकों के द्वारा यत्र-तत्र संयोगवश उद्धृत हुई है अन्यथा उसका कोई अवशेष नहीं बचा। इसी प्रकार *अर्थशास्त्र* किसी विद्वान की रचना मात्र है, जिसकी सक्रिय राजनीति में कोई भूमिका नहीं मालूम पड़ती, इस तर्क को भी मान लेना उचित नहीं लगता।

अर्थशास्त्र में वर्णित अंतर्राज्यीय सम्बंध किसी छोटे राज्य से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। मौर्य सदृश्य किसी बड़े साम्राज्य से नहीं। इस संदर्भ में साम्राज्यवादी आदर्श अथवा महत्त्वाकांक्षा को कोई स्थान नहीं मिला। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस सम्पूर्ण राज्यशास्त्र को ही एक विजिगिशु अर्थात् सम्भावी सम्राट के दृष्टिकोण से

लिखा गया है जो सम्पूर्ण उपमहाद्वीप को जीतने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। *अर्थशास्त्र* में एक व्यापक प्रशासनिक संरचना की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है तथा प्रशासनिक अधिकारियों को देय वेतन की बड़ी राशि जैसे तथ्यों के द्वारा यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखक के मस्तिष्क में एक बड़े राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना थी।

अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज की *इण्डिका* में तुलना करने से नगर प्रशासन, सैन्य प्रशासन, राजस्व प्रशासन जैसे बहुत सारे विषयों में विरोधाभास प्रकट होता है। इन मतांतरों के आधार पर यह तर्क दिया जाता है कि मेगस्थनीज चूंकि चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था, इसलिए निश्चित रूप से चाणक्य उसके पहले या किसी बाद के काल का रहा होगा। इस तर्क को भी बहुत सारे कारणों से नहीं स्वीकार किया जा सकता है। मेगस्थनीज अवलोकन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नहीं था क्योंकि उसका ये कथन कि सम्पूर्ण भूमि राजा की संपत्ति है, यहां पर कोई दास नहीं है अथवा भारतीय लिखना नहीं जानते, सभी तर्कहीन हैं। इससे अधिक मेगस्थनीज के वृतान्त बाद के लेखकों के लेखन में केवल द्वितीयक स्रोत के रूप में यत्र-तत्र उद्धृत है। इन कारणों से *इण्डिका* को *अर्थशास्त्र* के काल को जानने के लिए एक अच्छा आधार नहीं माना जा सकता।

अर्थशास्त्र में मौर्यों की, उनके साम्राज्य की, चन्द्रगुप्त अथवा पाटलिपुत्र की कहीं भी चर्चा नहीं की गई है। इसका कारण यह है कि *अर्थशास्त्र* पूर्ण रूप से एक सैद्धांतिक ग्रंथ है, न कि अपने काल की वर्णनात्मक कृति।

प्राथमिक स्रोत

अर्थ में प्रयुक्त शब्दों की पुनरावृत्ति के आधार पर सांख्यिकीय विश्लेषण

थॉमस आर. ट्राउटमैन ने *अर्थशास्त्र* के विभिन्न अध्यायों में प्रयुक्त सामान्य शब्दों यथा 'च' तथा 'वा' (अथवा) की पुनरावृत्ति को आधार बनाकर एक रोचक सांख्यिकीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका ऐसा मानना है कि विविध शब्दों की पुनरावृत्ति की विविधता पृथक-पृथक रचनाकारों के योगदान का द्योतक है। अध्ययन के आधार पर उन्होंने अनुमान किया है कि प्रायः तीन अथवा चार लेखकों ने *अर्थशास्त्र* के संकलन में अपना योगदान किया है जो अधोलिखित है—

1. प्रथम लेखक का सम्बंध *अर्थशास्त्र* के द्वितीय अध्याय से है (जिसमें राजतंत्र के आंतरिक प्रशासन की चर्चा की गई है)। प्रथम अध्याय भी द्वितीय अध्याय से परस्पर संबद्ध प्रतीत होते हैं।
2. तृतीय अध्याय का सम्बंध दूसरे लेखक से है (जिसमें विधि एवं न्याय की चर्चा है)। चतुर्थ अध्याय (दण्डनीति तथा न्याय का वर्णन करता है) भी तृतीय अध्याय से जुड़ा हुआ है तथा पंचम अध्याय (गुप्तचर व्यवस्था तथा अप्रत्यक्ष आचार) भी इन दोनों से सादृश्य रखता है।
3. सप्तम अध्याय का संकलन एक पृथक विशेषज्ञ के द्वारा किया गया है जिसमें विदेश नीति तथा अंतर्राज्यीय सम्बंधों की आचार संहिता है। नवम् तथा दशम् अध्याय विषय सादृश्य के कारण सप्तम अध्याय के अनुषांगिक प्रतीत होते हैं।
4. द्वादश एवं त्रयोदश अध्याय, एकादश तथा चतुर्दश अध्याय विशिष्ट विषयवस्तु के परिप्रेक्ष्य में एक पृथक समूह का निर्माण करते हैं।

ट्राउटमैन यह मानते हैं कि कौटिल्य *अर्थशास्त्र* के कुछ अंश के मूल रचयिता हो भी सकते हैं, किन्तु सम्पूर्ण *अर्थशास्त्र* के सृजनकर्त्ता के रूप में उनको स्वीकार नहीं किया जा सकता है। द्वितीय अध्याय को 150 सा.सं. में लिखा गया है। सम्पूर्ण रचना का अंतिम संकलन 250 सा.सं. के पहले नहीं किया गया होगा। इस प्रकार उन्होंने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि *अर्थशास्त्र* का संकलन एक ही व्यक्ति द्वारा अवश्य किया गया होगा, किन्तु वर्णित विषयों की विविधता और विशिष्टता के अनुरूप सम्पूर्ण कृति का प्रतिपादन मूल रूप से एकाधिक विद्वानों ने किया है, जिस दृष्टिकोण से *अर्थशास्त्र* प्राचीन भारत के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों, जैसे—*कामसूत्र*, *मनुस्मृति* अथवा *चरक संहिता* से भिन्न नहीं हैं। यदि *कामसूत्र* के विषय में विश्लेषण के उपरोक्त निष्कर्ष को स्वीकार कर लेते हैं तदुपरान्त *अर्थशास्त्र* का प्रयोग मौर्यकाल के अध्ययन के ऐतिहासिक स्रोत के रूप में नहीं किया जा सकेगा।

ट्राउटमैन के प्रस्तावों की आलोचना भी हुई है। एस.एन. मित्तल ने पाया है कि 'च' अथवा 'वा' जैसे शब्दों की पुनरावृत्ति *अर्थशास्त्र* के एक ही विभाग के अन्तर्गत् उपलब्ध उन अध्यायों में भी एक समान नहीं है। पुनरावृत्ति की ऐसी असमानता उस अध्याय विशेष में विवेचित विषयवस्तु पर निर्भर करती है। वैसे अध्यायों में जहाँ विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में अनेक नीतिगत विकल्पों की चर्चा की गई है (उदाहरण-स्वरूप अन्तर्राज्यीय सम्बंध पर की गई विवेचना), वहाँ स्वाभाविक रूप से 'वा' शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। जबकि वैसे अध्यायों में जहाँ अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक सामान्य तथ्यों की पुनरावृत्ति की आवश्यकता का अनुभव किया गया है यथा प्रशासनिक अधिकारियों के वेतन अथवा प्रासाद के अंतःकर्मियों के अपेक्षित आचरण के संदर्भ में 'च' शब्द की पुनरावृत्ति को देखा जा सकता है।

स्रोतः ट्राउटमैन, 1971: मित्तल, 2000

केवल इस तथ्य के आधार पर *अर्थशास्त्र* के काल और उसके लेखक के विषय में प्रतिपादित पारंपरिक मान्यता को उपरोक्त किसी भी आलोचना के आधार पर काटा नहीं जा सकता। *अर्थशास्त्र* किसी शासक के लिए लिखा गया एक ग्रंथ है, जिसमें एक सैद्धांतिक राज्य की कल्पना की गई है, इसलिए किसी वास्तविक राज्य से इस शास्त्र का कोई सम्बंध नहीं है। कांग्ले (1965: 78-109) के अनुसार, *अर्थशास्त्र* के विषय में दिए गए पारंपरिक दृष्टिकोण, कि वह कौटिल्य के द्वारा लिखी गई मौर्य काल की एक रचना है, के समर्थन में बहुत सारे तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रचना शैली की दृष्टि से इस ग्रंथ को वात्सायन के *कामसूत्र* से पहले का माना जाता है। इसे *याज्ञवल्क्य स्मृति* अथवा *मनुस्मृति* के भी पहले का माना जा सकता है। इसमें उद्धृत अजीविक सम्प्रदाय (30.20.16) भी इसे मौर्य काल से जोड़ती है और इसी प्रकार संघ तथा बहुत बड़े पैमाने के कृषि से जुड़ी बस्तियों का वर्णन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। *अर्थशास्त्र* में प्रतिबिम्बित प्रशासनिक ढाँचे की तुलना मौर्यों को छोड़कर किसी भी दूसरे राज्यवंश से नहीं की जा सकती है। कांग्ले के अनुसार, विष्णुगुप्त लेखक का नाम, कौटिल्य उसके गोत्र का नाम तथा चाणक्य (चणक का पुत्र) उसका पैतृक उपनाम हो सकता है। कांग्ले का सुझाव है कि कौटिल्य ने नंद शासक के द्वारा अपमानित होने के पश्चात् तथा चन्द्रगुप्त से जुड़ने के पहले इस ग्रंथ की रचना की थी।

एक सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में *अर्थशास्त्र* के विभिन्न अंतर्वेशन के बीच एकरूपता के अभाव को देखा जा सकता है। यह भी संभव है कि बहुत सारे सूत्रों तथा संदर्भों को कालान्तर में जोड़ दिया गया हो, किन्तु इस ग्रंथ के लेखक और काल से जुड़े विवाद अथवा ग्रंथ की सैद्धान्तिक प्रकृति को ध्यान में रखते हुए क्या इसका उपयोग एक ऐतिहासिक स्रोत के रूप में किया जा सकता है? ऐसा समुचित आधार नहीं बनता कि पूरे तरह से यह अस्वीकृत कर दिया जाए कि इस ग्रंथ के कुछ भाग की रचना मौर्य काल में कौटिल्य नामक किसी लेखक के द्वारा नहीं की गई हो। चूंकि *अर्थशास्त्र* की जड़ें मौर्य काल में स्थित दिखाई देती हैं, इसलिए इसका उपयोग उस काल के विषयों को समझने के लिए किया जा सकता है। फिर भी यह सावधानी तो बरतनी ही होगी कि इस ग्रंथ की रचना का उद्देश्य मौर्य राज्य अथवा समाज का वर्णन करना नहीं था।

मेगस्थनीज की इण्डिका

मौर्य काल में पश्चिमी दुनिया से वाणिज्य बढा और आदान-प्रदान भी बढ़ा। इसलिए आश्चर्य नहीं होता कि ग्रीको-रोमन वृत्तांतों में सैन्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) तथा अमित्रोकेटीस (अमित्रघात या बिन्दुसार) जैसे सम्राटों तथा उनकी राजधानी पालिमबोथरा (पाटलिपुत्र) का उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज, अरकोसिया के गवर्नर सिविरटियोस के राज्य में सेल्युकस निकेटर का (अफगानिस्तान का कांधार क्षेत्र) प्रतिनिधि था। चन्द्रगुप्त और सेल्युकस में हुई संधि के पश्चात् उसे मौर्य दरबार में राजदूत के रूप में भेजा गया। ऐरियन ने उल्लेख किया है कि वह पोरस के दरबार में भी गया था। राजदूत के रूप में स्वाभाविक है कि भारतीय समाज से उसके सम्बन्ध की सामाजिक और भौगोलिक सीमाएं रही होंगी। मौर्य दरबार में उसकी व्यक्तिगत उपस्थिति तथा वहाँ व्यतीत किए गए कुल समय की कोई सुनिश्चित जानकारी भी नहीं मिलती है।

मेगस्थनीज ने भारत की यात्रा और उससे जुड़े अनुभव के आधार पर *इण्डिका* नाम की एक पुस्तक लिखी। मूल पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है। उसके कुछ अंश डियोडोरस, स्ट्राबो, एरियन तथा प्लिनी जैसे बाद के ग्रीक तथा लैटिन लेखकों की रचनाओं में पाए जाते हैं। डियोडोरस सिसिलस एक इतिहासकार था जिसका जन्म सिसली के एगिरियस नगर में हुआ था। उसका काल पहली शताब्दी सा.सं.पू. के उत्तरार्द्ध को बताया गया है। उसके द्वारा लिखित 40 पुस्तकों *बिब्लियोथेका हिस्टॉरिका* (ऐतिहासिक पुस्तक संग्रह) में 1-5 तथा 11-20 किताबें ही बची हैं। शेष कृतियां परवर्ती रचनाओं में आंशिक रूप में उपलब्ध होती हैं। उपलब्ध पुस्तकों में प्रमुख रूप से सिकन्दर के भारत अभियान का वर्णन है और इसके अतिरिक्त मेगस्थनीज की *इण्डिका* जैसे स्रोतों के आधार पर भारत में किया गया सामान्य वर्णन है। स्ट्राबो भूगोलवेत्ता और इतिहासकार दोनों था। उसका जन्म लगभग 63 सा.सं.पू. में पश्चिमी ईरान के पॅन्टस स्थित अमासिया नामक स्थान पर हुआ था। उसकी *ज्यॉग्रफी* नामक कृति में 17 अध्याय हैं जिनमें से 15 भारत तथा ईरान के विषय पर लिखे गये हैं। एरियन (फ्लेवियस एरियानस) (96-180 सा.सं.) एक राजनयिक, सेनानी, दार्शनिक और इतिहासकार था। जिसका जन्म बिथइनिया के निकोमेड़िया नामक स्थान पर हुआ था। उसका *एनाबेसिस*, सिकन्दर के एशिया अभियानों का वृत्तांत है तथा *इण्डिका* इसी पुस्तक का अगला भाग है। प्रथम भाग में भारत का वर्णन है जो मुख्य रूप से मेगस्थनीज ओर एराटोस्थनीज के वृत्तांतों पर आधारित है। दूसरे भाग नियारकस के सिन्धु नदी तक की यात्रा का वृत्तांत है (जिसकी यात्रा की व्यवस्था सिकन्दर के आदेश पर की गई थी)। सिन्धु नदी के तट तक वह फारस की खाड़ी तथा बेबीलोन के दजला-फुरात नदियों के मार्ग से पहुँचा था। तीसरे भाग में उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उपरोक्त स्थानों के बाद संसार का दक्षिणी हिस्सा गरम मौसम की वजह से विरान क्षेत्र है। जहाँ कोई नहीं रहता है। गेयस प्लीनियस सेकन्डस (23-79 सा.सं.), जो प्लिनी द एल्डर के नाम से जाना जाता है, एक रोमन विद्वान था। उसकी पुस्तक *नेचुरलिस हिस्टॉरिया* (नेचुरल हिस्ट्री) में 37 अध्याय हैं जिनमें भूगोल, नृवंशवर्णन (एथ्नोग्राफी), शरीर विज्ञान तथा जन्तु

प्राथमिक स्रोत

मेगस्थनीज के विषय में ग्रीक लेखकों की धारणा

मेगस्थनीज की विश्वसनीयता के सम्बंध में परवर्ती ग्रीक-रोमन लेखकों में काफी मतभेद रहा है। जहाँ स्ट्राबों और प्लीनी ने मेगस्थनीज के वृत्तांत को कड़ी आलोचना की दृष्टि से देखा है, वहीं एरियन का दृष्टिकोण उसके प्रति अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। डियाडोरस ने मेगस्थनीज के वृत्तांत के विषय में कोई विशेष आलोचनात्मक टिप्पणी नहीं की है किन्तु उनमें से भारत और वहाँ के निवासियों के विषय में कुछ विचित्र और आश्चर्यजनक कथाओं को अपनी लेखनी में संकलित किया है।

स्ट्राबो:

लेकिन यह आवश्यक है कि हम उनके विषय में पूर्ण रुचि के साथ सुनें, केवल इसलिए नहीं कि वे काफी दूर रहते हैं, इसलिए भी कि हममें ज्यादातर लोगों ने उनको देखा भी नहीं है, और उनके विषय में जो कुछ भी हम जानते हैं उसे हमने केवल वैसा सुना है और हममें से जिन्होंने उनको देखा भी है वह किसी सैनिक अभियान के दौरान जल्दबाजी में थोड़ा बहुत उनसे सम्पर्क में आए। इसलिए उन्होंने जो भी उनके विषय में कहा, वह एक ही घटना का बयान अलग-अलग ढंग से करते हैं। उनमें से कुछ लोगों ने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध भी किया है तथा अपनी लेखनी से उनकी पुष्टि भी की है। ऐसे लेखकों में से कुछ एक ही अभियान पर साथ-साथ थे जैसा कि जिन्होंने सिकन्दर के एशिया को जीतने के दौरान एक साथ यात्राएं की, फिर भी बहुत बार उनके द्वारा दिये गये वृत्तांत एक-दूसरे के विपरीत मालूम पड़ते हैं। यदि उनके द्वारा देखी गई बातों में इतना विरोधाभास है तो सुनी-सुनाई बातों की सच्चाई के बारे में क्या कहा जा सकता है।

स्ट्राबो पुनः लिखता है

मैं मानता हूँ कि सामान्य रूप से जिन्होंने भारत के विषय में लिखा है वे झूठ ही लिखते आए हैं। इस सूची में डेइमाइकस का नाम सबसे पहले आएगा, मेगस्थनीज का नाम उसके बाद आता है। इस श्रेणी के ओनेसिक्राइटस और नियरकस जैसे इक्के-दुक्के लोग होंगे जिन्होंने सहमते हुए कुछ बातें (सच्ची बातें) संयोग से लिख डाली हैं। इस सच्चाई के प्रति हम सबसे अधिक रूबरू तब होते हैं जब सिकन्दर का इतिहास लिखा जाता है। इनमे से डैमेकस और मेगस्थनीज पर तो बिल्कुल ही विश्वास नहीं किया जा सकता है, उन्होंने मिथक गढ़ने के क्रम में यहां तक लिख दिया गया कि कुछ मनुष्य के कान इतने बड़े हैं जिनमें आराम से सोया जा सकता है। ऐसे लोग हैं जिनके मुख नहीं हैं, नाक नहीं हैं, या केवल एक आँख है, कुछ के मकड़ी के समान पाँव हैं और कुछ की उंगलियां पीछे की ओर मुड़ी हुई हैं। उन्होंने होमर की मिथक कथाओं को फिर से हरा-भरा कर दिया है जिसमें सारस पक्षी और बौनों के बीच लड़ाई का वर्णन है तथा वैसे बौनों का कद केवल तीन अंगुल बतलाया है। उन्होंने उन चींटियों के बारे में लिखा जो सोना खोजने के लिए खुदाई करती हैं तथा पान नामक सिंह वाले देवों का वर्णन किया, ऐसे सांपों के विषय में लिखा जो हिरणों और बैलों की सीधा निगल जाते थे। इन्हीं के बीच जैसे कि इराटोस्थनीज ने पाया कि सभी एक-दूसरे पर मिथ्यावादी होने का दोषारोपण करते रहे। इन दोनों को राजदूत के रूप में पालिमबोथरा भेजा गया। मेगस्थनीज को सैन्ड्रोकोटस के दरबार में तथा डेमाकस को उसके पुत्र अमिट्रोकेडीस के पास जिनके विदेशों में किए गए प्रवास का एक ऐसा वृत्तांत उपलब्ध है जिनके विषय में मैं अभी तक नहीं जान सका कि क्या समझकर उन्होंने ऐसा लिख छोड़ा था।

एरियन:

लेकिन जहाँ तक ऐसा लगता है कि मेगस्थनीज तक ने भारत की दूर तक कभी यात्रा नहीं की। फिर भी उसने फिलिप के पुत्र सिकन्दर के साथ आए लोगों से तो कहीं अधिक जरूर देखा, क्योंकि उसने जैसा कि हमें बतलाया कि उसने सैन्ड्रोकोटस के राजदरबार में प्रवास किया, जो भारत का महानतम सम्राट था। उसने टिप्पणियों की विश्वसनीयता स्वीकार नहीं की। फिर भी वैसे लेखक जिन्होंने सिकन्दर के अभियान से जुड़े रहते हुए हाइफेसिस के पहले तक के भारत का वृत्तांत लिखा है वे बहुत हद तक विश्वास करने योग्य भी हैं। उसकी सीमा के बाद हमें उस देश का कोई वास्तविक ज्ञान नहीं है। उनमें से अधिकांश वृत्तांत मेगस्थनीज के द्वारा किए गए किसी नदी के वर्णन के सदृश्य हैं। उसका नाम सिलास है, वह एक झरने से प्रस्फुटित होती है जिसको इस नदी के नाम से ही जानते हैं। इस नदी के जल की अद्‌भुत विशेषता यह है कि ऐसा कुछ भी नहीं जिसको वह प्लावित कर सकती और ऐसा कोई भी नहीं जो उसको तैर कर पार कर सकता है या ऐसा कुछ भी नहीं जो उस पर तैर सकता है। प्रत्येक वस्तु उसके जल में निमग्न होकर उसके तल में पहुँच जाती

है, इसलिए इस जल से सूक्ष्म और अवास्तविक इस संसार में कुछ भी नहीं है।

प्लिनी:

भारत हमारी जानकारी में, अन्य यूनानी लेखकों के द्वारा आया, जो मेगस्थनीज और डियोनिसियस के समान भारतीय सम्राटों के साथ रह चुके थे। उनसे हमें इस देश के लोगों की क्षमता का ज्ञान हो सका। हालांकि, उनके द्वारा दिये गए वृत्तांतों को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनमें परस्पर विरोधाभास है और विश्वसनीय बिल्कुल नहीं हैं।

स्रोत: ए.एल. जोन्स, मजुमदार द्वारा उद्धृत (1960) 1981: 244: मैकग्रिन्डल, 1877: 20-21, 194, 196-97, 21

विज्ञान जैसे विविध विषयों की चर्चा की गई है। इनके अतिरिक्त मेगस्थनीज के अवलोकन को क्लॉडियस एलियनस (द्वितीय-तृतीय सा.सं.) नामक रोमन विद्वान ने भी जन्तु विज्ञान पर लिखी अपनी पुस्तक *ऑन द पिक्युलियेरिटीज ऑफ एनिमल्स* (पशुओं की विचित्रताएँ) में भी उद्धृत किया है।

इस प्रकार मेगस्थनीज के संदर्भ अधिकांशत: उन रचनाओं में सम्मिलित किए गए हैं जिनकी विषय-वस्तु का दायरा भारत से अधिक विस्तृत रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में एरिन ने अपनी *इण्डिका* में स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'और चूंकि मेरे इस वृत्तांत का उद्देश्य भारतीयों की जीवनशैली और व्यवहार का वर्णन करना नहीं है, बल्कि ऐसा सिकन्दर द्वारा अपनी सेना के भारत से ईरान भेजने की घटना को लिखने के क्रम में एक सम्बद्ध अध्याय के रूप में हुआ है'। इन लेखकों के लिए, भारत सिन्धु नदी से परे अवस्थित एक देश मात्र है। हमें यह भी नहीं पता कि इन लेखकों को मेगस्थनीज की पुस्तक सीधे उपलब्ध थी अथवा उन्होंने द्वितीयक स्रोतों से उसकी लेखनी की जानकारी प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा लिखे गए सभी तथ्य अनिवार्य रूप से केवल मेगस्थनीज की *इण्डिका* पर आधारित नहीं थे बल्कि एराटोस्थनीज, टेसियस, ओनेसिक्रिटस तथा डाइमेकस जैसे लेखकों के विचार का भी उल्लेख है। उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि स्ट्राबो, डियाडोरस अथवा एरियन के विवरणों में परस्पर विरोधाभास क्यों था?

वस्तुत: सभी लेखक दूसरी जाति के लोगों के विषय में लिखने की उस यूनानी परंपरा की कड़ी हैं जो इनके बहुत पहले से चली आ रही थी। उनकी रचनाएं एक प्रबुद्ध यूनानी पाठक वर्ग को ध्यान में रखकर की गई जिसका उद्देश्य सूचना देने के अतिरिक्त रुचिपूर्ण सामग्री का प्रस्तुतिकरण भी था। इसलिए परवर्ती लेखकों ने मेगस्थनीज़ की पुस्तक के उन संदर्भों का चयन किया जो उन्हें रोचक लगा और इस क्रम में नीरस वृत्तांत को छोड़ दिया गया (उस भाग को जो शायद इतिहासकारों के लिए अत्यंत महत्त्व के थे)। उन्होंने यूनान से सादृश्य रखने वाले प्रसंगों का चयन किया अथवा विचित्रताओं और विविधताओं से जुड़े संदर्भों का। इस क्रम में सामान्यत: उन्होंने मिलते-जुलते विषयों का चयन किया, किन्तु एक ही विषय पर उनके वृत्तांत परस्पर मेल नहीं खाते। *इण्डिका* की विषयवस्तु का चयन अलग-अलग लेखकों की रुचि, व्याख्या और शैली के आधार पर पृथक-पृथक संदर्भों में किया गया। शायद इसलिए अन्य तीनों लेखकों के बाद लिखी प्लीनी की रचना अधिक वास्तविक किन्तु नीरस कही जा सकती हैं।

मेगस्थनीज की *इण्डिका* में देश, उसका आकार, भूगोल, नदियां, मिट्टी, मौसम, वनस्पति, पशु, उत्पादन, प्रशासन, समाज और किवदन्तियों सभी का समावेश किया गया है। यूनानी लेखक विशेष रूप से भारत के जन्तु जगत की विविधता के प्रति आकृष्ट हुए और इसलिए हाथी, बन्दर, अश्वों का प्रशिक्षण, हाथियों के आखेट इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। अपने देश से उन्होंने भारत में पाई गई समानताओं का वर्णन किया। उन्होंने पाया कि भारत में मूल रूप से पुरातन जनजातियां निवास करती थीं तथा कला और वैसी अन्य विधाएं जिनसे जीवन के स्तर में सुधार होता है उनको धीरे-धीरे विकसित किया गया।

यूनानियों द्वारा भारतीयों को दिए गए नाम डायोनिसस तथा हेराक्लीज (उनके द्वारा वासुदेव कृष्ण को दिये गये नाम) हैं। उन्होंने ब्राह्मणों के दृष्टिकोण की तुलना यूनानियों के संसार और आत्मा से सम्बंधित विचारों से की। उन्होंने भारत का आदर्शवादी चित्रण प्रस्तुत किया जब उन्होंने माना कि युद्ध के दौरान यहां किसान के साथ छेड़-छाड़ नहीं की जाती है। यहां दास प्रथा है ही नहीं और चोरी की घटनाएं नहीं के बराबर होती हैं। बहुत से बिन्दुओं पर उनकी अनभिज्ञता दृष्टिगोचर हो जाती है। आयलियन ने मेगस्थनीज का हवाला देते हुए कहा कि भारतीय न तो उधार लेते हैं और न ही सूद पर धन देते हैं। इसी प्रकार स्ट्राबो ने कहा कि भारत में लिखने की कला का विकास नहीं हुआ है, वे मिश्रित धातु नहीं बना सकते। वे यज्ञ जैसे अवसरों को छोड़कर मदिरा का सेवन कभी नहीं करते।

उनके लेखन में मिस्र और यूरोप से भी तुलना की गई है। गंगा और सिन्धु की तुलना नील और डैन्यूब से हुई है। उन्होंने पाया कि वैसे सभी पशु जिनको यूनानियों ने पालतू बना लिया है वे भारत में अब जंगली हैं। इनमें बहुत-सी अविश्वसनीय कथाएं

भी सम्मिलित हैं, जैसे एक सींग वाले अश्व जिनके सिर हिरण, विशाल सर्प जैसे थे अथवा सिलास नदी जिसकी सतह पर कुछ भी तैर नहीं सकता। विचित्र प्रथाओं का भी विवरण है, प्लीनी ने मेगस्थनीज को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वहाँ लोग नूलो नामक किसी पर्वत पर रहते हैं जिनके पाँव पीछे की ओर मुड़े हुए हैं और जिनको प्रत्येक पाँव में आठ उंगलियां हैं। उसने आगे लिखा है कि अन्य पर्वतों पर मनुष्य की ऐसी प्रजातियां निवास करती हैं जिनके सिर कुत्ते के समान हैं, जो शिकार कर खाते हैं तथा भूंककर संवाद करते हैं। उत्तर-पश्चिम के पर्वतों में स्वर्ण-खनन करने वाली चींटियां रहती हैं। डियोडोरस ने इस प्रकार के अनेक चौका देने वाले आख्यान छोड़े हैं।

इस प्रकार यूनानी लेखकों द्वारा उद्धृत मेगस्थनीज की *इण्डिका* के अंशों को दोहरे फिल्टर से गुजरना पड़ा। पहला मेगस्थनीज की अपनी व्याख्या जो स्वयं देखा या सुना तथा दूसरा परवर्ती, ग्रीको-रोमन लेखकों द्वारा की गई मेगस्थनीज के वृत्तांत की पुनर्व्याख्या। *इण्डिका* से जुड़ी बातें भारत के विषय में महज यूनानी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती हैं, चौथी शताब्दी सा.सं.पू. के भारतीय प्रायद्वीप का इतिहास नहीं बतलाती है।

अशोक का अभिलेख

मौर्य काल के पहले, ब्राह्मी लिपि के प्रयोग के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रमाण श्रीलंका के अनुराधापुर से प्राप्त चौथी शताब्दी के पूवार्द्ध के मृद्भाण्डों पर अंकित लघु अभिलेखों के रूप में पाया गया। कुछ इतिहासकार पिपरहवा मंजूषा अभिलेख और सोहगौरा एवं महास्थान अभिलेख को मौर्य-पूर्व अथवा प्रारंभिक मौर्यकाल का मानते हैं, जबकि कई इतिहासकार इन्हें अशोककालीन या मौर्योत्तर काल का मानते हैं। सांची से प्राप्त एक विच्छिन्न अभिलेख में बिन्दुसार का नाम अंकित है जो शायद इसी मौर्य शासक के समय का होगा, किन्तु अभिलेख के निर्गत करने की राजकीय परम्परा अनिवार्य रूप से अशोक के काल से जुड़ी है।

जब जेम्स प्रिंसेप द्वारा अशोक के ब्रह्मी लिपि को पढ़ लिया गया, उस समय यह नहीं ज्ञात हो सका था कि ये अभिलेख किस सम्राट से जुड़े हैं क्योंकि इनमें से अधिकांश अभिलेख में अशोक का उल्लेख दो उपनामों से किया जा रहा था—देवानंपिय (देवताओं को जो प्रिय है) तथा पियदसी (मांगलिक है दर्शन जिसका)। *दीपवंश* और *महावंश*, जिनमें अशोक के लिए इन अलंकरण का प्रयोग हुआ था, उन्हीं में रहस्योद्घाटन का इशारा भी मौजूद है। बाद के दशकों में सबसे पहले मास्की तत्पश्चात् उडेगोलम्, निट्टुर तथा गुर्जर से प्राप्त हुए लघु शिलालेख संख्या-1 के विभिन्न संस्करणों में सम्राट के व्यक्तिगत नाम अशोक का उल्लेख किया गया था।

अधिकांश अभिलेख प्राकृत भाषा तथा ब्राह्मी लिपि में निर्गत की गई थी। केवल मानसेहरा एवं शाहबाजगढ़ी में प्राकृत भाषा के साथ खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है। कुछ अभिलेख के ग्रीक तथा अरमेइक संस्करण भी हैं। दक्षिण पूर्वी अफगानिस्तान में कांधार के निकट शर-ए-कुना ग्रीक अरमेइक द्विभाषीय अभिलेख भी पाए गए। लघमन (पूर्वी अफगानिस्तान) से दो तथा तक्षशिला से एक अरमेइक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। कांधार तथा लम्पक के निकट प्राकृत-अरामेइक द्विभाषीय अभिलेख भी मिले हैं।

दिल्ली-तोपरा स्तंभ अभिलेख

अशोक के अभिलेखों को दो पृथक समूह में बांटा गया है। इनके अंतर्गत 14 प्रमुख शिलालेख तथा छः स्तंभ अभिलेख (एक जगह में सात अभिलेख) आते हैं। शिलालेख तथा स्तंभ अभिलेख सूक्ष्म संशोधनों के साथ विभिन्न स्थानों में लगाए गए हैं। इनके अतिरिक्त विविध लघुशिलालेख लघुस्तंभ अभिलेख तथा गुफा अभिलेख भी उपलब्ध हैं। इसमें से लघुशिलालेख सबसे पुराना तथा इसी क्रम में प्रमुख शिलालेख एवं स्तंभ अभिलेखों की उत्तरोत्तर तिथि निर्धारित की गई है।

कुछ अभिलेखों में घटनाओं को अशोक के अभिषेक के बाद व्यतीत वर्षों से जोड़ा गया है। अशोक के अभिलेख, बाद में निर्गत किए गए किसी भी राजकीय अभिलेख से इसलिए भी अलग है क्योंकि अशोक के अभिलेख सम्राट के व्यक्तिगत विचार और उद्देश्यों को प्रस्तुत करते हैं। जबकि किसी भी अन्य राजकीय अभिलेख में सामान्य रूप से एक पारंपरिक प्रारूप और शब्दावली का अनुसरण किया गया है।
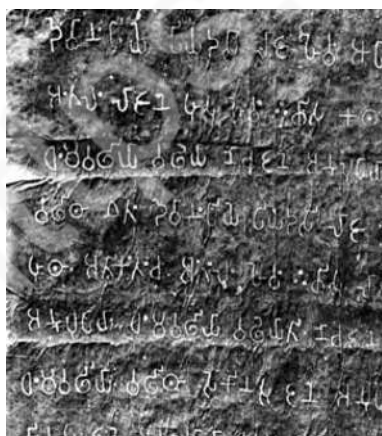
प्राथमिक स्रोत

अशोक के अभिलेखों की विविध श्रेणियां और उनकी भौगोलिक स्थिति

अशोक के 14 मुख्य शिलालेखों का समूह (अथवा अपने अंशात्मक में) अधोलिखित स्थानों पर उपस्थित हैं:

1. कांधार (कांधार जिला, दक्षिणी अफगानिस्तान) (यहां प्रस्तर अभिलेख 12 और 13 का कुछ भाग उपलब्ध है)
2. शाहबाजगढ़ी (नॉर्थ वेस्ट फ्रंटीयर प्रोविन्स, पेशावर जिला, पाकिस्तान)
3. मानसेहरा (हजारा जिला, नॉर्थ वेस्ट फ्रंटीयर प्रोविन्स, पाकिस्तान)
4. कलसी (देहरादून, जिला, उत्तराखण्ड)
5. गिरनार (जूनागढ़ जिला, गुजरात)
6. मुम्बई-सोपारा (मूलतः ठाणे जिला, महाराष्ट्र के सोपारा में अवस्थित; वर्तमान में मुम्बई के छत्रपति शिवाजी महाराज वास्तु संग्रहालय में स्थित हैं) (यहां प्रस्तर अभिलेख 8 तथा 9 के विच्छिन अंश उपलब्ध हैं)
7. धौली (पुरी जिला, उड़ीसा) यहां प्रथक प्रस्तर अभिलेखों 1 तथा 2 के मुख्य प्रस्तर अभिलेखों (11-13) को प्रतिस्थापित किया गया है।
8. जोगढ़ (गंजम जिला, उड़ीसा) यहां पृथक प्रस्तर अभिलेखों 1 तथा 2 के द्वारा मुख्य प्रस्तर अभिलेखों (11-13) को प्रतिस्थापित किया गया है।
9. एरागुड़ी (कुरनूल जिला, आन्ध्र प्रदेश)
10. सन्नति (गुलबर्गा जिला, कर्नाटक) यहां मुख्य प्रस्तर अभिलेख 12 तथा 13 के अतिरिक्त पृथक प्रस्तर अभिलेख 1 तथा 2 के अंश उपलब्ध हैं जो मध्ययुगीन देवी मंदिर के एक ग्रेनाइट पट्ट पर प्राप्त हुए थे।

छह स्तम्भ लेखों (तथा एक स्थान पर सात) का समूह (अथवा अपने अंशात्मक अस्तित्व में) अधोलिखित स्थानों पर उपलब्ध है:

1. कान्धार (कान्धार जिला, दक्षिण अफगानिस्तान) यहां शिलालेख 7 के कुछ अंश उपलब्ध हैं।
2. दिल्ली, दिल्ली-तोपरा शिलालेख मूलतः तोपरा (अम्बाला जिला, हरियाणा) में अवस्थित था। इस शिलालेख में सात अभिलेख हैं।
3. दिल्ली, दिल्ली-मेरठ शिलालेख मूलतः मेरठ (मेरठ जिला, उत्तर प्रदेश) में अवस्थित था।
4. इलाहाबाद, इलाहाबाद-कोशम शिलालेख मूलतः कोशम में अवस्थित था। कोशम कौशाम्बी (इलाहाबाद जिला, उत्तर प्रदेश) को ही कहते हैं।
5. लौरिया-अरेराज (चम्पारण जिला, बिहार)
6. लौरिया-नंदनगढ़ (चम्पारण जिला, बिहार)
7. रामपूर्वा (चम्पारण जिला, बिहार)

लघुशिलालेख अधोलिखित स्थानों पर अवस्थित हैं:

1. बाहापूर (श्रीनिवासपुरी, नई दिल्ली) (उपशिलालेख संख्या-1)
2. बैराट (जयपुर जिला, राजस्थान) (उपशिलालेख संख्या-3)
3. अहरौरा (मिर्जापुर जिला, उत्तर प्रदेश) (उपशिलालेख संख्या-1)
4. सासाराम (रोहतास जिला, बिहार) (उपशिलालेख संख्या-1)
5. गुज्जरा (दतिया जिला, मध्यप्रदेश) (उपशिलालेख संख्या-1)
6. रूपनाथ (जबलपुर जिला, मध्यप्रदेश) (उपशिलालेख संख्या-1)
7. पंगुरड़िया (शिवहर जिला, मध्यप्रदेश) (उपशिलालेख संख्या-1)
8. मस्की (रायपुर जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1)
9. गविमठ (रायपुर जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1)
10. पलकीगुंडू (रायपुर जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1)
11. नित्तुर (बेल्लारी जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1 तथा 2)
12. उड़ेगोलम (बेल्लारी जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1 तथा 2)
13. राजुला-मांडागिरी (कुरनूल जिला, आन्ध्र प्रदेश) (उपशिलालेख संख्या-1 तथा 2)
14. एरागुड़ी (कुरनूल जिला, आन्ध्र प्रदेश) (उपशिलालेख संख्या-1 तथा 2)
15. ब्रह्मगिरी (चित्रदुर्गा जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1 तथा 2)
16. सिद्धापुरा (चित्रदुर्गा जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1 तथा 2)
17. जतिंग-रामेश्वर (चित्रदुर्गा जिला, कर्नाटक) (उपशिलालेख संख्या-1 तथा 2)

संघभेद धर्मादेश के नाम से प्रसिद्ध अशोक द्वारा निर्गत लघुशिलालेख सांची (रायसेन जिला, मध्यप्रदेश), सारनाथ (वाराणसी जिला, उत्तर प्रदेश) और कौशाम्बी (इलाहाबाद जिला, उत्तरप्रदेश) से प्राप्त हुए हैं। निगलई सागर और रूमिंदई (भैरव जिला, नेपाल) से स्मृति लेख प्राप्त हुए हैं। एक विच्छिन्न अभिलेख अम्रावती (गुंटुर जिला, आंध्रप्रदेश) से प्राप्त हुआ है। बराबर की पहाड़ियों (गया जिला, बिहार) में अशोक कालीन तीन गुफालेख हैं। दानात्मक प्रकृति का एक राजादेश इलाहाबाद-कोशम स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसे अशोक की किसी रानी ने खुदवाया था।

इसका सहज अनुमान लगाना कठिन है कि साम्राज्य के विभिन्न भागों में अशोक ने कितनी संख्या में अभिलेख उत्कीर्ण करवाए। फ़ा श्यैन और श्वैन ज़ंग ने विभिन्न स्थानों पर अशोक के स्तम्भ की चर्चा की जो आज उपलब्ध ही नहीं है। वर्तमान में उपलब्ध प्राय: सभी प्रमुख शिलालेख अशोक के साम्राज्य के सीमान्त प्रदेशों में अवस्थित हैं। सभी प्रमुख शिलालेख उत्तर भारत में (अपवाद के रूप में अमरावती का अंशात्मक अभिलेख है) अवस्थित हैं। उपशिलालेख भौगोलिक उपस्थिति की दृष्टि से अधिक विस्तृत हैं। आन्ध्र-कर्नाटक क्षेत्र में इसकी सघन उपस्थिति नोटिस की जा सकती है। प्राचीन व्यापार मार्ग तथा तीर्थों के मार्ग पर इन अभिलेखों को स्थापित करने का प्रयास किया गया था। सांची जैसे कुछ स्थानों पर इसकी उपस्थिति बौद्ध विहार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होगी।

अशोक के अभिलेख में प्राय: धम्म की व्याख्या की गई है (धम्म की प्रवृत्ति और विषय वस्तु की चर्चा अन्यत्र की गई है)। धम्म के प्रसार के लिए सम्राट द्वारा किए गए प्रयास तथा धम्म की सफलता के विषय में सम्राट का व्यक्तिगत आकलन अशोक के अभिलेख अनिवार्य रूप से बौद्ध संघ को संबोधित करते हैं। अन्यथा अशोक के अभिलेख में, उसके स्वयं की दृष्टि में सम्राट के रूप में दायित्व के सम्बंध में विचार का साक्षात्कार किया जा सकता है। मौर्य काल के सामाजिक, आर्थिक अथवा विशिष्ट प्रशासनिक संदर्भ का उल्लेख अप्रत्यक्ष एवं संयोगवश प्रतीत होता है।

मानचित्र 7.1: **अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति स्थल**

प्राथमिक स्रोत

महास्थान तथा सोहगौरा अभिलेखों में आपदा नियंत्रण के प्रशासनिक संदर्भ

सन् 1893 में गोरखपुर तहसील के सोहगौरा गाँव के एक निवासी को 1.6 मि.मी. मोटाई और 6.4 × 2.9 से.मी. आकार का एक ताम्र पट्ट मिला। खुददुरे सतह वाले इस पट्ट को दीवार में टाँगने के उद्देश्य से इसके चार कोनों पर छिद्र बने हुए थे। ताम्र पट्ट पर प्राकृत भाषा तथा ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण चार पंक्तियों का एक अभिलेख था। जिसके ऊपरी भाग में सात प्रतीकात्मक चिह्न सजाए गए थे। यह वस्तुत: श्रावस्ती के महामात्रों (शासकीय अधिकारियों का एक वर्ग) द्वारा पारित मानवस्ति नामक स्थान से प्रेषित आदेश था। इसमें आदेश था कि त्रिवेणी, मथुरा, चनछू, मोडमा तथा भद्र में अवस्थित अनाजगृहों का उपयोग सूखा तथा अकाल की परिस्थिति में किया जाएगा। इन अन्नागारों से वितरण प्रतिबन्धित नहीं होगा।

सोहगौरा अभिलेख का विभिन्न विद्वानों ने अध्ययन किया और इसके निर्गत होने की तिथि को कभी अशोक के पूर्व और कभी उत्तर-मौर्य काल के संदर्भ में निर्धारित करने की चेष्टा की गई है। अधिकांश तिथियां उत्तर-मौर्य काल के संदर्भ में प्रस्तावित हैं। के.पी. जायसवाल ताम्र पट्ट के ऊपरी हिस्से में उद्धृत चन्द्राकार चिह्न के आधार पर अपनी प्रस्तावना में स्वीकार करते हैं कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य का शासकीय प्रतीक है तथा अभिलेख में वर्णित विषयवस्तु चन्द्रगुप्त के शासनकाल में हुए उस प्रसिद्ध अकाल से सम्बंध रखती है जिसकी चर्चा जैन स्रोतों में की जा रही है। परंतु यह निष्कर्ष अप्रमाणिक कल्पना पर आश्रित है।

कई वर्षों बाद 1931 में बंगलादेश के बागुड़ा जिला के महास्थानगढ़ नामक ग्राम के निवासी बारू फकीर ने स्थानीय टिले के समीपस्थ एक पोखर (तालाब) से एक रोचक सामग्री की खोज की। 8.9 × 5.7 से.मी. आकार का चूनापत्थर के टुकड़े पर उत्कीर्ण सात पंक्तियों का अभिलेख था जिसके ऊपरी हिस्से उपलब्ध नहीं थे और अंतिम पंक्ति नष्ट हो चुकी थी। भाषा और लिपि अशोककालीन अभिलेखों के सादृश्य थी। किन्तु विद्वानों में इसके पूर्व-अशोक, अशोककालीन अथवा उत्तर अशोककालीन तिथि के विषय पर सामंजस्य नहीं बैठ रहा था।

महास्थान अभिलेख सम्राट द्वारा प्रेषित पुण्ड्रनगर (वर्तमान में महास्थानगढ़ गाँव) जिसमें यह आदेश पारित किया गया था कि सम्वंगीय समुदाय के लोगों को जो अकाल पड़ने से पीड़ित हैं उनको शीघ्र राहत प्रदान की जाए। इस समुदाय के लोग कदाचित उक्त नगर के ही निवासी थे। राहत कार्य के अंतर्गत उन्हें ऋण प्रदान का प्रस्ताव रखा गया था। ऋण 'गंदक' नाम के प्रचलित सिक्कों के स्वरूप में गलादान नामक व्यक्ति के नाम से निर्गत करना था, जो संभवत: उक्त समुदाय का प्रतिनिधि था। राहत कार्य के द्वितीय चरण में अन्नागार से धान्य उपलब्ध कराने की बात की गई थी। अभिलेख के माध्यम से यह प्रशासनिक आश्वासन दिया गया था कि वर्तमान राहत कार्य के माध्यम से समुदाय वर्तमान आपदा से परित्राण पाने में सक्षम होगा। धान्य और गन्दक सिक्कों से कोष पुन: परिपूर्ण हो जाएगा। अन्तिम पंक्ति में कदाचित यह उल्लेख किया गया होगा कि अकाल की स्थिति पर नियंत्रण पाने के पश्चात् समुदाय ऋण के रूप में प्राप्त सहायता राशि तथा अनाज को राजकोष में वापस कर देगी।

स्रोत: जायसवाल, 1933–34; हाज़्रा, 2002: 43–8

इस स्थान पर कुछ परवर्ती अभिलेखों का संदर्भ देना प्रासंगिक रहेगा जैसे कि 150 सा.सं. के रुद्रदामन द्वारा निर्गत जूनागढ़ या गिरनार अभिलेख में उल्लेख किया गया है कि सुदर्शन झील का निर्माण कार्य चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में प्रारंभ किया गया और अशोक के शासन काल में सम्पन्न किया गया। पांचवीं से 15वीं शताब्दियों के बीच कर्नाटक के श्रवणबेलगोल क्षेत्र में पाए जाने वाले अभिलेखों में चन्द्रगुप्त नाम के मुनि तथा भद्रबाहु नाम के जैन संत का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त का सम्बंध चन्द्रगुप्त मौर्य से बताया जाता रहा है किन्तु ऐसा मानना विवाद से परे नहीं है।

पुरातात्त्विक प्रमाण और सिक्के

पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की स्थिति सराहनीय नहीं कही जा सकती। तिथि निर्धारण के सम्बंध में ठोस समाधान उपलब्ध नहीं है। इस काल के संदर्भ में पुरातात्त्विक स्रोतों का अभाव है और प्राय: यही स्थिति तिथि निर्धारण की प्रमाणिकता के सम्बंध में है। हमारे पास गंगा नदी घाटी क्षेत्र में नॉर्दन ब्लैक पॉलिश मृद्भाण्ड संस्कृति की मध्य तथा अंतिम चरणों की कुछ सूचना उपलब्ध है, जो मौर्यकाल की समकालीन संस्कृति मानी जाती है। किन्तु इस संस्कृति का अन्य क्षेत्रों में पर्याप्त सर्वेक्षण नहीं किया जा सका है।

पाटलिपुत्र में कुम्रहार तथा बुलन्दीबाग से प्राप्त पुरातात्त्विक सूचनाएं महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल से जुड़े अन्य स्थल में तक्षशिला, मथुरा और भीटा से आते हैं। पहले के किसी भी काल की अपेक्षा मौर्यकाल की भौतिक संस्कृति के अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं। इनमें अशोक के स्तम्भ के अतिरिक्त मूर्तिकला और स्थापत्य के पर्याप्त अवशेष बचे हैं। जिसका निर्माण प्रत्यक्ष रूप से राजकीय योजनाओं के अंतर्गत किया गया था। नगरीय स्तर पर लोक कला का प्रतिनिधित्व करने वाली पत्थरों की मूर्तियों और टेराकोटा (मिट्टी की मूर्तियाँ) बहुतायत मात्रा में प्राप्त की गई हैं।

मौर्य काल में भी चाँदी के पंचमार्क सिक्कों का प्रचलन बना रहा। मेहराब में अर्धचन्द्र, चहारदीवारी में वृक्ष तथा मयूर और अर्धचन्द्र जैसे कुछ प्रसिद्ध प्रतीक मौर्य राजाओं से जुड़े हुए हैं। इन प्रतीकों के अभिप्राय और महत्त्व के विषय में केवल अनुमान लगाया जा सकता है। इनमें से कुछ प्रतीक एक बड़े सांस्कृतिक परिवेश का हिस्सा हैं तथा सूर्य जैसे अन्य प्रतीक राजसत्ता का परिचायक है। कुछ धार्मिक प्रतीकात्मकता के प्रचलित उदाहरण हैं। चहारदीवारी के अंदर वृक्ष, बुद्ध के बोध गया में ज्ञान-प्राप्ति से जुड़ा है। अर्धचन्द्राकार आकृतियां स्तूप का प्रतीक हो सकती हैं। फिर प्रतीक चिह्नों की इस व्याख्या में अनुमान ही लगाया जा सकता है। सिक्कों पर खुदवाये गये प्रतीक चिह्नों का स्पष्ट रूप से राजनीतिक महत्त्व है। *अर्थशास्त्र* में विविध मूल्यों वाले चाँदी के सिक्कों को पण तथा ताम्र सिक्कों को माषक कहा गया (कुछ मिश्रित सिक्कों का भी उल्लेख है)।

बाहापुर/ श्रीनिवासपुरी स्तंभ अभिलेख, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली (ऊपर); दिल्ली-मेरठ स्तंभ (नीचे)

मौर्य वंश

मौर्य साम्राज्य का निर्माण नंद शासकों द्वारा डाली गई नींव पर हुआ था। इस वंश के पहले तीन शासक क्रमशः चन्द्रगुप्त (324/32–297 सा.सं.पू.), बिन्दुसार (297–273 सा.सं.पू.), तथा अशोक (268–232 सा.सं.पू.), (मजूमदार एवं अन्य [1951], 1968: 54–94; रायचौधरी [1923], 2000: 234–326; थापर [1963], 1987: 12–54)। परवर्ती मौर्यों का शासन 187 सा.सं.पू. तक चला।

दीघनिकाय, *महावंश* और *दिव्यावदन* जैसे मौर्य ग्रंथों में मौर्यों को मोरिय वंश के क्षत्रिय कहा गया है जो पिपहलीवन में राज्य करते थे। दूसरी ओर *परिशिष्टपर्वन* के अनुसार, चन्द्रगुप्त की माता मयूर पोषकों के किसी गाँव के मुखिया की पुत्री थीं। *मुद्राराक्षस* के अनुसार, चन्द्रगुप्त समाज की निचली जाति से आता था। क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव जैसे पूर्व मध्यकालीन लेखक ने उसे पूर्व नंदसुत (नंद का वैधानिक पुत्र) की संज्ञा दी है। *विष्णुपुराण* के एक टीकाकार या धुण्डिरामा के आधार पर चन्द्रगुप्त नंद शासक सर्वार्थसिद्धि के पुत्र मौर्य तथा उसकी मुरा नाम की पत्नी (जो एक वृषला अथवा आखेटक की बेटी थी) से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र था।

चन्द्रगुप्त ने सबसे पहले अपने को पंजाब क्षेत्र में स्थापित किया तथा यहां से पूरब की ओर बढ़ते हुए अंततः मगध पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया। पुराणों के अतिरिक्त *मिलिन्दपन्ह*, *मुद्राराक्षस*, *महावंशटीका* तथा *परिशिष्टपर्वन* जैसे ग्रंथों में उसके तथा नंद शासकों के बीच हुए

संघर्ष की चर्चा की गई है। एक परम्परा के अनुसार, चन्द्रगुप्त ने तक्षशिला के चाणक्य, कौटिल्य अथवा विष्णुगुप्त नाम के किसी ब्राह्मण की मदद से नंद सम्राट को अपदस्थ कर दिया।

इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में मेसीडोन के सिकन्दर द्वारा भारत के उत्तर-पूर्व पर किए गए आक्रमण (327-326 सा.सं.पू.) को माना जा सकता है। यूनानी स्रोतों में दर्ज है कि वास्तव में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर के बीच एक मुलाकात हुई थी। इन स्रोतों में ही चन्द्रगुप्त एवं सेल्युकस के बीच हुए युद्ध का भी उल्लेख है जो सिकन्दर के साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों का उत्तराधिकारी था। युद्ध 301 सा.सं.पू. में लड़ा गया तथा दोनों के बीच हुई एक संधि के द्वारा युद्ध की समाप्ति हुई। इस संधि द्वारा चन्द्रगुप्त ने अरकोसिया (दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान का कांधार क्षेत्र), जेड्रोसिया (दक्षिण बलुचिस्तान) तथा पारोपोमिसदाई (भारतीय उपमहाद्वीप और अफगानिस्तान के बीच की भूमि) को प्राप्त किया और बदले में 500 हाथी भेजे। इससे जुड़ी किसी वैवाहिक संधि के सम्पन्न होने अथवा यूनानियों और भारतीयों के बीच अंतर्विवाह के सामान्य अधिकारों की स्वीकृति मिलने जैसे तथ्यों की पुष्टि नहीं की जा सकी है।

चन्द्रगुप्त के विषय में एक मात्र अभिलेखीय साक्ष्य रुद्रदामन की जूनागढ़ अभिलेख (सा.सं.पू. दूसरी शताब्दी) से प्राप्त होता है, जिसमें उल्लेख किया गया है कि वहाँ बने जलाशय का निर्माण कार्य, जो सुदर्शन झील के नाम से विख्यात है, चन्द्रगुप्त के शासनकाल में प्रारंभ किया गया। अशोक के सत्तारूढ़ होने तक मौर्य साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में कर्नाटक तक हो चुका था। यह मान लेना तर्कसंगत होगा कि साम्राज्य विस्तार के क्रम में हुए सभी बड़े संघर्ष चन्द्रगुप्त के शासनकाल में ही सम्पन्न किए जा चुके थे। अकनानुरु (अकम 251) में संगम कवि मामूलनार की एक कविता में एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया गया है:

कोषारों ने अपने सभी शत्रुओं को पराजित कर दिया केवल मोकुरों ने उसके सामने घुटने नहीं टेके। मौरियो ने मोकुरों की सहायता के लिए अपनी सेना भेजी थी। मोरियो को रथों के द्वारा पर्वत के एक घुमावदार मार्ग को रौंदते हुए आगे बढ़ने का सजीव चित्रण किया है। मामूलनार की एक दूसरी कविता (अकम 281) में वादुगार सैनिकों के नेतृत्व में मौर्य के दक्षिणावर्ती अभियान का वर्णन मिलता है। वादुगार शब्द का अर्थ 'उत्तर से आए' होता है जो आन्ध्र-कर्नाटक क्षेत्र के सैनिकों के लिए प्रयुक्त हुआ होता है। (तमिल क्षेत्र के ठीक पर्वतीय उत्तर में स्थित)। यदि इन संदर्भों का कोई ऐतिहासिक आधार है तब यह सिद्ध होता है कि मौर्यों को उत्तरी कर्नाटक की कोषारों के साथ सैन्य संधि थी तथा उनकी दक्कनी सेना मौर्य सेना का एक हिस्सा थी।

उतरोत्तर काल के अभिलेखों एवं जैन साहित्य में चंद्रगुप्त, जैन धर्म और कर्नाटक में सम्बंध होने का बोध होता है। श्रवणबेलगोल की पहाड़ियों में स्थित, उनके स्थान के नाम से 'चन्द्र' शब्द जुड़ा है। जैन परंपरा में चन्द्रगुप्त और जैन संत भद्रबाहु के बीच सम्बंध होने की स्पष्ट मान्यता है। उनके अनुसार, एक संत की भविश्यवाणी थी कि मगध क्षेत्र में 12 वर्ष के लिए भयंकर सूखा और अकाल होने वाला है, इस कारण मौर्य शासक भद्रबाहु के साथ कर्नाटक चला गया, अत्यन्त प्रचलित है। यह भी वर्णन है कि मौर्य समूह ने 'सल्लेखना' (अन्न-जल त्याग कर मृत्यु को वरन करने का संस्कार) विधि से शरीर का त्याग कर दिया। 10वीं सदी की हरिसेन रचित *बृहतकथाकोश* तथा 19वीं सदी की *राजवली-कथे* जैसी परवर्ती रचनाओं में भी इस कथा का उल्लेख है। श्रवनवेलगोल की पहाड़ियों से प्राप्त 5वीं-15वीं शताब्दियों के बहुत सारे अभिलेखों में चन्द्रगुप्त तथा भद्रबाहु की चर्चा की गई है। जैनियों की इस सशक्त परंपरा के अनुसार, चंद्रगुप्त तथा कर्नाटक के बीच एक घनिष्ठ सम्बंध था, जिसकी पुष्टि अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों से नहीं की जा सकी है।

चित्र 7.1: **मगध के आहत सिक्कों पर बने कुछ प्रतीक चिह्न**

चन्द्रगुप्त द्वारा विन्ध्य पर्वत शृंखला के दक्षिण में किए गए अभियानों की सूचना ग्रीको-रोमन स्रोतों से भी मिलती है। प्लूटार्क के अनुसार, सैन्ड्रोकोटस ने अपनी 600,000 वाली सेना के साथ समूचे 'इण्डिया' पर अधिकार कर लिया। जस्टिन ने भी पूरे 'इण्डिया' को चन्द्रगुप्त के नियंत्रण में बतलाया है, परंतु यह निश्चित नहीं है कि 'इण्डिया' से इन लेखकों का तात्पर्य क्या था। रुद्रदमन की जूनागढ़ अभिलेख से यह स्पष्ट है कि गुजरात में सौराष्ट्र भी चन्द्रगुप्त के अधीन था। उपरोक्त स्रोत अप्रत्यक्ष रूप से ही सही किन्तु स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि विशाल मौर्य साम्राज्य का मुख्य निर्माणकर्त्ता चन्द्रगुप्त ही था।

चन्द्रगुप्त के बाद उसके पुत्र बिन्दुसार ने मौर्य शासन का भार संभाला तथा 297-273 सा.सं.पू. तक राज किया। जैन परम्परा के अनुसार, चन्द्रगुप्त ने अपने सिंहसेन नामक पुत्र के लिए अपनी गद्दी छोड़ दी। जबकि *महाभाष्य* में चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी का नाम अमित्रघात बतलाया गया है और यूनानी स्रोतों में भी उसे अमिट्रोकेटीस अथवा अलिट्रोकेटीस कहा गया है। *दिव्यावदान* में तक्षशिला में हुए एक विद्रोह का संदर्भ आता है जिसको अशोक के द्वारा दबा दिया गया। उपरोक्त घटना बिन्दुसार के शासनकाल के दौरान घटित हुई होगी। तारानाथ के वृत्तांत में कुछ भिन्न सूचना दी गई है। उसके अनुसार, चाणक्य ने बिन्दुसार के काल में अपने अधिपति की ओर से 16 नगरों के सामंत और राजाओं को परास्त किया तथा पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों की बीच की संपूर्ण भूमि को अपने अधिपति के लिए समर्पित कर दिया। कुछ इतिहासकार इस वृत्तांत के आधार पर स्वीकार करते हैं कि दक्कन को बिन्दुसार के काल में ही साम्राज्य में मिलाया गया, जबकि कुछ अन्य विद्वान इसे किसी विद्रोह के दमन की व्याख्या समझते हैं।

बिन्दुसार के सम्बंध में सामान्यत: बौद्ध स्रोत मौन है (एक कथा में किसी भविष्यवक्ता का उल्लेख है जो आजीविक सम्प्रदाय का था, तथा जिसने बिन्दुसार के पुत्र अशोक के विषय में घोषणा कर दी थी कि वह भविष्य में एक महान सम्राट बनेगा। इस कथा के आधार पर कहा जा सकता है कि अशोक ने आजीविक पंथ को प्राश्रय दिया था जबकि ग्रीक स्रोतों में पश्चिमी राज्यों के साथ उसके अच्छे राजनयिक सम्बंध की खूब चर्चा की है। स्ट्राबो ने लिखा है कि सीरिया के शासक एंटियोकस ने बिन्दुसार के दरबार में डैमेकस को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। प्लीनी के अनुसार, मिस्र के शासक टॉलेमी द्वितीय फिलडेल्फॉस ने बिन्दुसार के दरबार में डायोनिसियस को भेजा था। एक प्रचलित कथा के अनुसार, बिन्दुसार ने एंटियोकस से आग्रह किया कि उसे क्रय करके मीठा वाइन (अंगूर की शराब), सूखे अंजीर के अतिरिक्त एक सोफिस्ट (शास्त्रार्थ तथा व्याख्यान की विधाओं का एक विषेशज्ञ दार्शनिक) भेजे। इस पर एंटियोकस ने शायद उत्तर भेजा कि यूनान का कानून किसी सोफिस्ट के क्रय की अनुमति नहीं देता किन्तु वाइन और अंजीर निश्चित रूप से भेज दिये जाएंगे। सांची के एक आंशिक अभिलेख जिसका सम्बंध बिन्दुसार से बतलाया जाता है उसमें सम्राट का सम्बंध उस बौद्ध संस्थान से बतलाया गया है। बिन्दुसार की 273 सा.सं.पू. में मृत्यु के बाद 4 वर्षों तक उत्तराधिकार के लिए संघर्ष चला। *दिव्यावदान* के अनुसार, बिन्दुसार अपने पुत्र सुसीम को गद्दी पर बैठाना चाहता था किन्तु उसका मंत्रिपरिषद् अशोक के पक्ष में प्रयास कर रहा था। राधगुप्त नाम का एक मंत्री विशेष रूप से इन प्रयत्नों के पीछे था। *दीपवंश* और *महावंश* दोनों में अशोक द्वारा अपने 99 भाइयों के वध करने का उल्लेख किया है। केवल तीस्स को छोड़कर उसने सभी को मार डाला।

वैसे तो बौद्ध साहित्य में अशोक (268-232 सा.सं.पू.) के विषय में बहुत कुछ कहा सुना गया है लेकिन घटनाओं के अध्ययन के संदर्भ में इनकी स्वाभाविक प्रकृति के कारण काफी सावधानी की आवश्यकता है। बौद्ध धर्म से निकटता के कारण अशोक को एक आदर्श सम्राट, महान शासक के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु उसके व्यक्तित्व और शासनकाल से सम्बंधित बौद्ध वृत्तांत न तो वस्तुनिष्ठ हो सकते हैं और न ही पूर्वाग्रह से वंचित।

अशोकावदान कहता है कि अशोक की माँ एक रानी थी, जिसका नाम शुभद्रंगी था, वह चम्पा के एक ब्राह्मण की बेटी थी। महल में चल रहे एक षड्यंत्र के अंतर्गत उसका एक प्रकार से निष्काषन हो चुका था। निष्काषन की स्थिति खत्म होने के पश्चात् उसे महल में बुला लिया गया और उसने एक पुत्र को जन्म दिया। ऐसी सुखद घटना के बाद उसने सहज ही कह दिया कि अब मुझे कोई शोक नहीं है, कदाचित इस कथन के आलोक में बच्चे का नाम अशोक पड़ा। *दिव्यावदान* में भी लगभग यही कहानी कही गयी है, किन्तु उसके एक संस्करण में रानी का नाम जनपद कल्याणी था। *वंसत्थपकासिनी* में अशोक की माँ को धर्मा कहा गया है। अपने पिता बिन्दुसार के शासनकाल में अशोक उज्जियनी का गवर्नर था और शायद उसके पहले तक्षशिला का (अथवा विद्रोह के दमन के उद्देश्य से उसने तक्षशिला की यात्रा की थी)। *दीपवंश* और *महावंश* में अशोक के देवी नाम की स्त्री से प्रेम-प्रसंग का वर्णन है जो विदिशा के एक वैश्य की बेटी थी। अशोक के महिन्द एवं संघमित्रा नाम के बच्चे इसी पत्नी से हुए। बाद में दोनों बौद्ध संघ से जुड़ गए। अशोक की अन्य पत्नियों की भी चर्चा हुई है। असन्धिमित्ता, तिस्सरखिता तथा पद्मावती मुख्य हैं। इलाहाबाद-कोसम स्तम्भ अभिलेख में उसकी पत्नी कारूवकी के द्वारा दिए गए दान का उल्लेख है।

मौर्य साम्राज्य के विस्तार का अनुमान अशोक के अभिलेखों की उपस्थिति से भी लगाया जा सकता है जो उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान के कान्धार तक फैला था, जिससे सटा हुआ पश्चिमी क्षेत्र सीरिया के सम्राट एंटिओकस द्वितीय के साम्राज्य का हिस्सा था और उड़ीसा साम्राज्य का पश्चिमी सीमांत था। वस्तुत: सुदूर दक्षिण के एक छोटे हिस्से को छोड़कर संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत आता था। सुदूर पूर्व का यह हिस्सा चोल तथा पांड्य (शिलालेख-13) तथा केरलपुत्र और सतियपुत्र (शिलालेख-2) के अधीन था। अशोक की लोकप्रियता, उसके बौद्ध धर्म से सम्बंध और उसकी जनकल्याण की अवधारणा से जुड़ी हुई है। दोनों विषय पर बौद्ध साहित्य और उसके द्वारा निर्गत अभिलेख प्रकाश डालते हैं।

सम्बंधित परिचर्चा

अशोक से जुड़ी कथाएं

जब तक सम्राट अशोक के अभिलेखों की खोज नहीं हुई थी और उन्हें पढ़ा नहीं जा सका था, अशोक की ख्याति *अशोकावदान* सदृश्य बौद्ध साहित्य में वर्णित उससे जुड़ी कथाओं से बनी हुई थी। *अशोकावदान* वस्तुतः *दिव्यावदान* नामक मिथक कथाओं के एक वृहद् संग्रह का अंग है। किन्तु इस संकलन का एक स्वतंत्र अस्तित्व भी है। यह द्वितीय शताब्दी की रचना है, किन्तु इसमें सम्मिलित अधिकांश कथाएं इसके पहले के काल की प्रतिनिधि कथाएं हैं। प्रीजील्सकी मानते हैं कि मूल सामग्री का संकलन मथुरा क्षेत्र में बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा किया गया था (ग्रंथ में मथुरा नगर के भिक्षुओं, बौद्ध-विहारों की विशेष प्रशंसा की गई है)। मथुरा बौद्ध धर्म तथा उसके सर्वस्तिवाद विचारधारा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

अशोकावदान की कथाओं में, अशोक के पूर्व जन्म की एक रोचक घटना का वर्णन है। इस जन्म में अशोक का नाम जय था। कभी बालक जय सड़क के किनारे क्रीड़ा कर रहा था तभी बुद्ध वहाँ पहुँचे। नन्हे शिशु ने बुद्ध के भिक्षा पात्र में एक मुठी धूल डाल दी। बुद्ध ने आशीर्वाद दिया (प्रानिधान) कि पवित्र दान के कारण वह शिशु एक सम्राट बनेगा और बुद्ध का अनुयायी होगा। शिशु की भिक्षा से बुद्ध के मुखारविन्द पर प्रसन्नता बिखर गयी। कुछ क्षणों के लिए सारा ब्रह्मांड प्रकाशित हो उठा। वह दिव्य प्रकाश बुद्ध के बायीं हथेली में वापस प्रवेश कर गई जो इस तथ्य की द्योतक थी कि बालक अपने अगले जन्म में एक महान सम्राट बनेगा। तत्पश्चात् बुद्ध ने आनन्द को संबोधित करते हुए यह भविष्यवाणी की कि उनके परिनिर्वाण के 100 वर्ष बाद यह बालक जिसने उनके भिक्षा पात्र में एक मुट्ठी धूल का दान दिया है, वह एक महान चक्रवर्ती सम्राट बनेगा जो साम्राज्य पर अपनी पाटलिपुत्र से शासन करेगा।

अशोकावदान की एक दूसरी कथा में वर्णित है कि अशोक अपनी कुरूपता के कारण अपने पिता बिन्दुसार का प्रिय नहीं था। अशोक ने बिन्दुसार द्वारा चयनित उत्तराधिकारी को अपदस्थ कर शासन की बागडोर संभाल ली। वास्तविक उत्तराधिकारी को जलते कोयले की खाई में डलवा दिया। अपने क्रूर स्वभाव और नृशंस व्यवहार के कारण उसने 'चंडाशोक' की उपाधि प्राप्त कर ली। सत्ता में आने के बाद उसने मंत्रियों की विश्वसनीयता की परीक्षा ली। उनमें से 500 की हत्या करवा दी गई जो उसकी अपेक्षा पर खरे नहीं उतर सके। एक बार राजप्रासाद की अंतःपुर की किसी स्त्री के व्यवहार से अशोक ने स्वयं को अपमानित महसूस किया, उसने प्रतिरोध में वहाँ की सभी स्त्रियों को जिन्दा जलवा दिया। यातनाएं उसे अभिभूत करती थीं। उसने एक 'नरक' का निर्माण करवाया था। यह वस्तुतः एक यातना कक्ष था जिसके दृश्यों से वह आनंदित होता था। वहाँ दुर्भाग्यशाली बंधकों को प्रताड़ना दी जाती थी। एक बार किसी दिव्य बौद्ध भिक्षु से उसका साक्षात्कार हुआ, उसके दर्शन ने अशोक के जीवन को रूपांतरित कर दिया। जीवन की इस घटना के पश्चात् ही अशोक का एक आध्यात्मिक सम्राट के रूप में अवतार हुआ। ज़ुआन-ज़ांग जो 7वीं सदी में भारत आया था, उसने अपने यात्रा वृत्तांत में अशोक के इस 'यातना' स्थल की चर्चा भी की है।

अशोकावदान में अशोक के जीवन के अंतिम वर्षों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। ऐसा कहा गया है कि अशोक ने राज्य के संसाधनों को संघ को दान देना प्रारंभ कर दिया। ऐसा लगने लगा सम्राट सम्पूर्ण राजकोष को ही खाली कर देगा। भयभीत होकर उसके मंत्रियों ने सम्राट द्वारा राजकोष के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया। विवश होकर उसने निजी संपदा को ही दान देना शुरू कर दिया। अंत में सम्राट के पास मात्र एक आँवला बचा और उसने उसका भी दान दिया। उसके पास जो कुछ भी था उसने सर्वस्व संघ को अर्पित कर दिया और अंत में उसने शांतिपूर्ण प्राणों का त्याग किया।

जॉन एस. स्ट्रांग ने इन किवदंतियों के संदर्भ में अनेक बिन्दुओं की ओर इंगित किया है जो उनके विश्लेषण के क्रम में विचारणीय हैं। इनके लेखकों ने अपने समक्ष उपलब्ध पूर्वोक्त कथाओं और परंपराओं का पुनः उपयोग किया है। उनमें से बहुत सारी बातें श्रुति परम्परा में थीं जिनको पहली बार लिपिबद्ध किया गया होगा। यह तथ्य ध्यान में रखना होगा कि ऐसी कृतियां बौद्ध अनुयायियों को ध्यान में रखकर लिखी गई थीं। इन कथाओं के माध्यम से मानवीय अस्तित्व से जुड़े दुःख निवारण का सहज मार्ग समझाने का प्रयत्न किया गया है अथवा कर्म और पुनर्जन्म जैसी बौद्ध अवधारणाओं के महत्त्व को सुगमता से ग्राह्य बनाया गया है। इनके द्वारा बुद्ध के प्रति समर्पण की महत्ता को अभिव्यक्ति मिली है। अप्रत्यक्ष रूप से यह भी रेखांकित किया गया है कि राजसत्ता किस प्रकार बौद्ध संघ को संरक्षण दे सकती है।

अशोकावदान जैसे बौद्ध स्रोतों के कारण ही एक बौद्ध सम्राट के रूप में अशोक की ख्याति भारतीय उपमहाद्वीप तथा पूर्वी एशिया में फैल सकी, जिसका चरित्र केवल प्रशस्ति योग्य नहीं वरन् अनुकरणीय बन गया और अशोक एक कालजयी सम्राट के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

स्रोतः प्रजीलुस्की, 1967; स्ट्रांग, 1983

नवीन शोध सामग्री

कनगनहल्ली से प्राप्त अशोक की प्रस्तर प्रतिमा

सन् 1993 के उत्तरार्द्ध में पुरातत्त्व की टीम कर्नाटक के गुलबर्गा जिला के चीतापुर तालुक में सर्वेक्षण कर रही थी। इस स्थान पर भीमा नदी पर एक बांध बनने जा रहा था तथा पर्यावरणीय अनुमति प्राप्त करने के क्रम में अनिवार्य सर्वेक्षण का यह हिस्सा था। इस सर्वेक्षण के दौरान पुरातात्त्विक महत्त्व के बहुत सारे स्थल प्रकाश में आए किन्तु इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण खोज कनगनहल्ली स्थान पर की गई।

यह स्थल भीमा नदी के उत्तरी तट पर सन्नति के चन्द्रलम्बा मंदिर से तीन कि.मी. पूर्व में स्थित है। पुरातत्त्वविदों ने पाया कि यहां के एक खेत में धनुषाकार रूप से बहुत सारे पत्थर अवस्थित हैं। के.पी. पुनाचा के निर्देशन में एक आरंभिक सर्वेक्षण (1994-95) सम्पन्न हुआ। यह पाया गया कि वहाँ अवस्थित अवशेष एक स्तूप का हिस्सा है जिस पर चूना पत्थर के अलंकरित स्लैब के आवरण थे। यहां चूना पत्थर के स्लैब, खम्भे, रेलिंग और मूर्तियों का पता लगा। सातवाहन शासकों के नाम जड़े 60 से भी अधिक सिक्कों के अतिरिक्त 200 दान अभिलेखों को यहां चिन्हित किया जा सका। कनगनहल्ली स्तूप (जिसको महाचैत्य के नाम से जाना जाता है) की तिथि प्रथम से तृतीय शताब्दी के बीच निर्धारित की जा सकती है।

इस स्थल पर प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रियों में से एक प्रतिमा-दृश्य किसी बड़े पैनल का टुकड़ा भी है। इसमें परिचारिकाओं से घिरे एक राजा को देखा जा सकता है। इनमें से दो परिचारिकाओं के हाथों में शंख तथा छत्र देखा जा सकता है जो सार्वभौमिक सत्ता की प्रतीक थीं। ब्राह्मी लिपि के संक्षिप्त अभिलेख में 'रान्यो अशोक' (राजा अशोक) पढ़ा जा सकता है। अतः मुख्य प्रतिमा की पहचान में कोई संदेह नहीं रह जाता है।

इस खोज के बहुत पहले मध्यप्रदेश के सांची से प्राप्त एक रिलीफ पैनल में उत्कीर्ण प्रतिमा भी इसी शासक की थी। किन्तु किसी भी अभिलेख के अभाव में उसकी पहचान नहीं की जा सकती थी। कनगनहल्ली की सामग्री के माध्यम से अब प्राचीन भारतीय इतिहास के इस सर्वाधिक प्रसिद्ध सम्राट को चिन्हित किया जा सकता था।

इन आरंभिक प्रयोगात्मक सर्वेक्षण के बाद 1996-97 में कनगनहल्ली के पुरातत्त्व का व्यवस्थित रूप से सर्वेक्षण किया गया। इन सर्वेक्षण प्रतिवेदनों में उपलब्ध सामग्रियां ईसवीं की प्रारंभिक शताब्दी में ऊपरी कृष्णा नदी में बौद्ध धर्म के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं।

स्रोत: पूनाचा, 2011
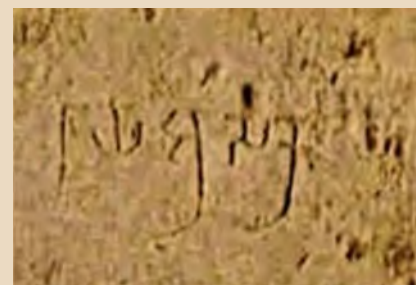
अशोक के पश्चात् मौर्य साम्राज्य का शीघ्रता से पतन हो गया। पुराणों में परवर्ती मौर्य राजाओं की सूची दी गई है तथा उनके राज्य काल की अवधि भी दी गई है। इनमें एकरूपता नहीं होने के बाद भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इन शासकों की राज्यावधि अल्पकालिक रही होगी। साम्राज्य काफी कमजोर हो गया और उत्तरोत्तर उसका विभाजन भी होने लगा। उसे बैक्ट्रीया के यूनानी शासकों का एक आक्रमण भी झेलना पड़ा। मौर्य साम्राज्य बृहद्रथ के बाद समाप्त हो गया, जिसकी हत्या उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने 187 सा.सं.पू. में कर दी और शुंग राजवंश की स्थापना की।

पाठ्यात्मक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों पर आधारित नगरीकरण का पार्श्व चित्र

कृषि विस्तार और नगरीकरण की प्रक्रिया पिछली शताब्दियों से अनवरत् चल रही थी, उसकी गति तीसरी और दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में भी यथावत् बनी रही। नगरीकरण के आयाम वृहद् होने लगे और प्रक्रियाएं जटिल होने लगीं। नगरीय सभ्यता का विस्तार कश्मीर, पंजाब के मैदान, निचली गंगा घाटी, ब्रह्मपुत्र नदी घाटी और उड़ीसा जैसे नए क्षेत्रों में होने लगा। नगरीय विकास का उदय सुदूर दक्षिण में भी इसी समय हुआ। नगरीय विकास के संदर्भ में मौर्य साम्राज्य का सुनिश्चित प्रभाव पड़ा होगा परन्तु ऐसा भी कहना उचित नहीं होगा कि मौर्य साम्राज्य के विस्तार के कारण ही भारत के विभिन्न हिस्सों में नगरीय सभ्यता का विकास हुआ।

नगरीकरण की प्रक्रिया से शिल्प उद्योग की विशिष्टताएं बढ़ी, व्यापार तथा श्रेणी संगठनों का विस्तार हुआ। विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का प्रचलन बढ़ा। मेगस्थनीज का यह कथन कि भारतीय सूद पर पूँजी का लेन-देन नहीं करते, बिल्कुल अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि इसके कहीं पहले से सूद के प्रचलन का साक्ष्य है। अनुराधापुर और कोडुमनल प्राप्त अभिलेख मौर्य काल के पहले के हैं, किन्तु राजकीय अभिलेखों को निर्गत करने की परम्परा मौर्य सम्राटों ने ही प्रारंभ की। इसके अतरिक्त, लेखन कला का प्रयोग, व्यापारिक क्रिया-कलापों में किया जा रहा था। इसके पर्याप्त साक्ष्य मध्य तथा उत्तर कृष्ण-मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति के विभिन्न स्थलों पर देखे जा सकते हैं।

नगरीय केन्द्रों से प्राप्त वैसे साक्ष्य दिये जा सकते हैं जिनके द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मौर्यशासन की शताब्दियां ही नगरीय विस्तार की शताब्दियां भी थीं। किन्तु नगरीय विस्तार की इस प्रक्रिया को यदि
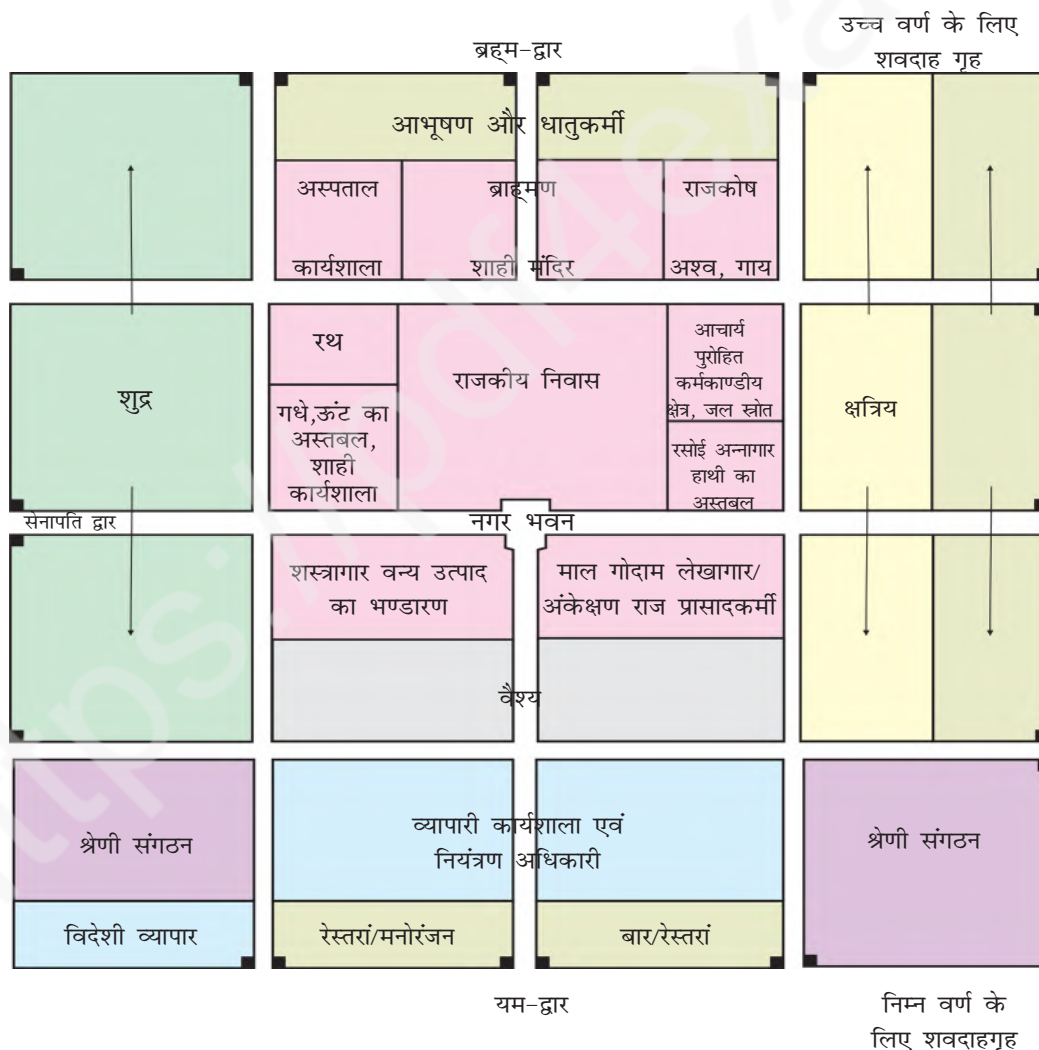
चित्र 7.2: ***अर्थशास्त्र* पर आधारित, एक आरक्षित नगर-दुर्ग का आन्वित आरेख**

200 सा.सं.पू. के बाद की नगरीय विस्तार की निरंतरता से जोड़ दिया जाए तो अधिक तर्क संगत निष्कर्ष निकाले जा सकेंगे (जो अगले अध्याय में वर्णित हैं)।

यूनानी स्रोतों में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र की खूब चर्चा हुई है। ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से मेगस्थनीज के वृत्तांत का यही हिस्सा सबसे विश्वसनीय है और पुरातात्त्विक साक्ष्य उसके लेखन के इस संदर्भ की बहुत हद तक सम्पुष्टि भी करते हैं। मेगस्थनीज ने इस नगर का वर्णन करते हुए कहा है कि इसके चारों ओर लकड़ी की चारदीवारी थी जिसमें स्थान-स्थान पर पर्यवेक्षक मीनार और तीर चलाने के लिए झरोखे बने थे तथा उसके बाहर खाई खुदी हुई थी।

प्राचीन पाटलिपुत्र के स्थान निर्धारण के सम्बंध में सोन और गंगा नदियों की प्रवाह को आधार बनाकर पुरातात्त्विक साक्ष्यों की प्राप्ति की दृष्टि से एक विवाद हमेशा बना रहता है। आधुनिक पटना शहर के बहुत सारे स्थानों पर प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष मौर्यकालीन पाटलिपुत्र से सम्बंधित हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य

प्रारंभिक स्रोत

पाटलिपुत्र और पाटलिपुत्र का राजमहलः एरियन तथा एलियन

उनके (हिन्दुस्तानियों के) इतने सारे शहर हैं कि उनकी गिनती नहीं की जा सकती है फिर सभी नगर नदियों के किनारे हैं अथवा सागरतटों पर हैं, वे काठ के बने हैं या ईंटों से बने हैं, इसलिए आने वाले बहुत समय तक नहीं टिकेंगे। इतनी विनाशकारी बरसात होती है, और जब नदियों में बाढ़ आती है तो अपने किनारों को डुबो देती है। फिर उनके जो बड़े और भव्य नगर हैं जिनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैली हुई है, वे मिट्टी के गिलावे पर ईंटों से बने हुए हैं। भारत का जो सबसे बड़ा शहर है वह पालिमबोथरा कहलाता है, यह प्रशियनो के क्षेत्र में पड़ता है जहाँ एरनोबोआस (सोन) तथा गंगा मिलती है। गंगा सभी नदियों में श्रेष्ठ है तथा एरनोबोआस भारत की सभी नदियों से तो कहीं अधिक बड़ी है, फिर भी गंगा से जरूर छोटी है जिसमें आकर यह मिलती है। मेगस्थनीज ने इस नगर के बारे में आगे लिखा है कि नदी के दोनों किनारों पर 80 'स्टेडिया' (9 मील से अधिक) में बसा हुआ है, जबकि शहर की चौड़ाई पंद्रह स्टेडिया है (1 मील) नगर के चारों ओर छः प्लेथोरा चौड़ी (माप) और 30 क्यूबिट (माप) गहरी खाई खुदी हुई है, नगर को घेरने वाली चहारदिवारी में 570 टावर बने है और चार एवं 60 द्वार थे। (एरियन, *इण्डिका*, 10)।

भारत के उस राजप्रसाद में जहाँ पर देश का महानतम राजा निवास करता है, वहाँ अन्यतम सराहनीय विशेषताओं के अतिरिक्त, जिनसे मेमनोमियन सूसा की समस्त समृद्धियां भी फीकी पड़ती हैं ओर एकबतना की समस्त भव्यता भी बराबरी नहीं कर सकती है (मेरे विचार से, किसी लेखक के द्वारा ही फारस की भव्यता से ऐसी समकालीन तुलना की गई होगी)। इस शहर में चमत्कृत कर देने वाली और बहुत सी विशेषताएं हैं और उन सभी का वर्णन करना मैं प्रस्तुत अध्ययन की परिधि से बाहर समझता हूँ। यहां बागों में पालतू मयूर रखे जाते हैं और घरों में कबूतर भी पाले जाते हैं। बगीचे में उगाये जाने वाले पौधों में कुछ राजा के परिचारकों द्वारा उनका विशेष भोग करते हैं, उनमें छाएदार झुरमुट और चरागाह में लगाए गए छायादार वृक्ष हैं जो खुशनुमा मौसम की वजह से सदैव हरे-भरे रहते हैं और खिले रहते हैं इनमें कुछ तो स्थानीय प्रजातियां हैं जबकि कुछ बाहर से लाया गया है जिनकी बड़ी सावधानी से देख-रेख की जाती है। इनकी खूबसूरती से धरती की सुन्दरता में भी चार चाँद लग जाते हैं। यहां उगाई जाने वाली वनस्पतियों में जैतून नहीं देखा जाता है क्योंकि यह वृक्ष न तो भारतीय की स्थानीय प्रजाति हैं और बाहर से लाकर लगाने पर भी यहां नहीं पनपता है। यहां बहुतायत परिन्दे और जानवर स्वच्छन्द घूमते हुए देखे जा सकते हैं जो स्वयं अपने-अपने घोंसलों और बसेरों में आकर उनमें रहते हैं। तोता तो भारत का नागरिक पक्षी है जिनको राजा की सवारी के इर्द-गिर्द चक्कर काटते हुए देखा जा सकता है किन्तु उतनी बड़ी संख्या में होने के बाद भी भारत के लोग तोते को कभी मारकर नहीं खाते हैं। इसका मुख्य कारण है कि लोग इनको पवित्र पक्षी मानते हैं तथा यहां के ब्रेकमन (ब्राह्मण) इनको अन्य चिड़ियों से सबसे अधिक सम्मान देते हैं। ऐसा मानने के पीछे एक रोचक कारण भी बताया जाता है कि सुग्गा ही ऐसा पक्षी है जो अपने अद्‌भुत स्वर तंत्र के कारण मनुष्य की बोली की नकल कर सकता है। राजमहल के परिसर में बहुत सारे सुन्दर जलाशय बनाए गए हैं जिनमें बड़ी-बड़ी मछलियों को पाला जाता है। इन मछलियों को मारने का अधिकार किसी को नहीं है। केवल राजकुमार अपने छुटपन में अनभिज्ञता के कारण ऐसा कर सकते हैं। राजप्रसाद के बच्चे बिना डूबने के भय से निर्भीक होकर इन शांत तड़ागों में मछली पकड़ते हुए अपनी छोटी नौकाओं को खेना भी सीखते हैं। (एलियन, *पशुओं की विचित्रता*, 13.18)

स्रोतः मैक ग्रिन्डल, मजुमदार उद्धृत (1960), 1981: 223-24; 414-15

कुम्रहार और बुलन्दीबाग से प्राप्त हुए हैं। कुम्रहार में स्तम्भों से भरे एक कक्ष का अवषेश मिला है जिसमें 8 स्तम्भों की 10 पंक्तियां देखी जा सकती हैं। कुम्रहार के उत्तर-पश्चिम में बुलुंदीबाग से काठ के एक गढ़ का अवशोष मिला है जिसके चारों ओर 3.75 मी. के अंतर पर काठ की ही दो समांतर किलेबंदी को भी देखा जा सकता है (इन अवशेषों पर पृथक रूप स्थापत्य के संदर्भ में आगे चर्चा की गई है)। स्तरीकरण और सम्बद्ध कालनिर्धारण के अभाव में भी इतना स्पष्ट है कि ये मेगस्थनीज द्वारा वर्णित पाटलिपुत्र के काष्ठीय राजप्रसाद के अवशोष हैं।

बहुत सारे पुरातात्त्विक स्थल मौर्य साम्राज्य के नगरीय जीवन के प्रमाण देते हैं। तक्षशिला स्थित भीटा के स्तर-II के अवशेष (मार्शल, 1951) तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. के नगर का प्रतिनिधित्व करते हैं। नगर योजना की दृष्टि से यह बेतरतीब है। चार सड़कों और पाँच गलियों को घरों की कतारों के साथ चिन्हित किया जा सका है। 6.70 मी. चौड़ी सड़क को उत्खननकर्त्ताओं द्वारा फर्स्ट स्ट्रीट (मुख्य सड़क) की संज्ञा दी गई है, जो बिल्कुल सीधी नहीं कही जा सकती है। अन्य सड़कों की चौड़ाई 3 से 5 मी. तक है जो अपेक्षाकृत कम चौड़ी होते हुए भी अधिक सीधी है। इसी प्रकार इन सड़कों से जुड़ी गलियाँ, पतली होते हुए भी अधिक व्यवस्थित हैं। ढकी नालियों के प्रमाण भी कुछ स्थानों पर मिले हैं। किन्तु इनमें से कोई भी मुख्य सड़क के साथ नहीं जुड़ी हुई है। खुले चौराहों और सड़कों पर वृत्ताकार कूड़ेदान भी एक विकसित नगर योजना की ओर इंगित करते हैं। प्रायः एक मीटर के पत्थर के स्तम्भ घरों के कोने पर बाहर पाए गए हैं जो बैलगाड़ियों या रथों के आवागमन से सुरक्षा की दृष्टि से खड़े किये गये थे। सामान्य रूप से एक खुले आंगन के चारों तरफ कमरे बने हुये थे और आंगन में पत्थर लगे हुये थे। बड़े घरों में दो आंगन भी आम बात थी। नहाने के स्थान अथवा गलियारों पर भी पत्थर की जमीन थी। घरों से निकलने वाली नालियां पत्थर की बनी होती थीं और खपड़ीली नालियों के सहारे से सोक-पिट (सोख्ता) में गिरती थी। खुदाई से प्राप्त कुछ कक्ष दरअसल, दुकानें रही होंगी। ऐसे एक कमरे में शंख के टुकड़े और मोती बिखरे पाये गए, जो किसी शिल्पकार की दुकान हो सकती है। मार्शल ने 60 × 23 मी. आकार के एक भवन के विषय में उसके किसी प्रकार के धार्मिक स्थल होने की संभावना व्यक्त की है। इस आकृति के दो भाग थे। इसके उत्तरी भाग में 30 कमरे और 2 आंगन थे तथा स्तम्भ संयुक्त एक विशाल कक्ष था। कक्ष के मलबे में अनेक मिट्टी की प्रतिमा-पटल के अवषेश मिले। इनमें स्थित एक आकृति अनेक दैवीय प्रतीक होने की सम्भावना बताती है जिसमें एक स्त्री और पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़े हैं। मार्शल मानते हैं कि इन्हें श्रद्धालुओं को बिक्री के लिए बनाया गया होगा।

पुराना किलाः छल्लेदार कूप; भण्डारन जार

सिंधु और गंगा नदी घाटियों की विभाजन रेखा पर स्थित रोपड़ से प्राप्त अवशेष गाँव से शहर में रूपांतरित होने की प्रक्रिया के साक्ष्य उपलब्ध कराते हैं। इस स्थल का स्तर-III 600-200 सा.सं.पू. काल का है, यहां से उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृद्भाण्ड, आहत सिक्के और ढाले गए ताँबे के अनुत्कीर्ण सिक्के मिले हैं। यहां से प्राप्त एक मुहर पर मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि का अभिलेख मौजूद है। घरों का निर्माण मिट्टी के गिलावों से पत्थरों को जोड़कर किया गया था, जबकि कुछ घरों में पक्की ईंटों तथा कच्ची ईंटों का प्रयोग काफी मिलता है। पक्की ईंटों से बनी एक 12 फुट चौड़ी दिवाल मिली है, तो पानी को जमा करने के बने एक टैंक तक जाती थी। स्तर-III की ऊपरी सतह से ईंट भट्टा पनसोख गढ़ा मिला है जिसमें पक्की मिट्टी के छल्ले लगे हुए थे। मौर्यकाल के अवशेष दिल्ली के पुराना किला से भी प्राप्त हुए हैं।

ऊपरी गंगा मैदान में स्थित भीट (मार्शल, 1915) से मौर्यकाल का एक गढ़ (किलाबंद नगर) मिला है। मार्शल ने इस स्थल के दक्षिण पूरब में खुदाई की थी जहाँ उसे दो सड़कें मिलीं

जिन्हें उन्होंने क्रमशः हाइस्ट्रीट और वेंस्टीयन स्ट्रीट नाम दिया। हाइस्ट्रीट की चौड़ाई 9.14 मी. थी जो पर्यवेक्षक स्तम्भों से युक्त चारदीवारी के साथ जुड़ी थी। इस सड़क के उत्तर-पूरब में वेस्टीयन स्ट्रीट स्थित था जो अपेक्षाकृत कम चौड़ा था। चारदीवारी की चौड़ाई 3.4 मी. थी, जिसका आकार वृत्ताकार था और एक बड़े द्वार पर जाकर खत्म होता था। उत्खनन से प्राप्त अवशेषों में से एक रोचक प्राप्ति के रूप में एक भवन को कहा जा सकता है। मार्शल ने इस भवन के अवशेष को 'हाउस ऑफ द गिल्ड' (श्रेणी भवन) का नाम दिया है, क्योंकि वहाँ पर एक मुहर मिला था, जिस पर 'निगम' खुदा हुआ था। इस भवन के आयताकार खुले आंगन के चारों ओर 12 कमरे थे। ऐसा भी अनुमान लगाया गया है कि एक-दो मंजिला इमारत थी जिसका एकाधिक बार पुनर्निर्माण हुआ था। दरअसल, इस प्रकार के बहुत सारे भवन के अवषेश वहाँ से मिले हैं, सड़क के किनारे एक कमरा और बरामदे वाले घरों के कतार को देखा जा सकता है। कनिंघम ने, भीट की जैन साहित्य में वर्णित भटभ्यपट्टन के रूप में पहचान की थी। दूसरी ओर मार्शल का मानना है कि यह स्थान विचया (विचिग्राम) था जो वहाँ से प्राप्त मुहर पर खुदा हुआ मिला है। अब इस की पहचान अलग-अलग विद्वानों के अनुसार, भिन्न हो सकती है किन्तु एक बात तय है कि भीट मौर्य काल का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसायिक केन्द्र रहा होगा।

दोआब क्षेत्र के मथुरा और सोंख में भी मौर्यकालीन पुरातात्त्विक प्रमाण मिले हैं। मथुरा में स्तर-II से नगरीकरण के प्रमाण मिलते हैं जो चौथी से दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के बीच के काल से सम्बंधित हैं। उत्तरी कृष्ण, चमकीले मृद्भाण्ड बहुतायत उपलब्ध है। इस नगर का आकार 3.9 वर्ग कि.मी. में विस्तृत हो गया था और तीन ओर मिट्टी की चारदीवारी थी और पूरब में यमुना बहती थी। मुद्राओं का प्रचलन, शिल्प विशिष्टताओं का विकास, मृणमूर्तियों का निर्माण, ताँबा और लौह के उत्पादन तथा मणिका उपयोग (आभूषण में प्रयुक्त चमकीले रंग-बिरंगे पत्थर का दाना/मनका) सभी की उपस्थिति देखी जा सकती है। मथुरा के समीप सौंख के स्तर-II के प्रारंभिक स्तरों में भी उपयुक्त प्रमाणों के साथ चाँदी के पंच (आहत), मार्का वाले सिक्के, टकसाल में बने हुए रंगीन सिक्के प्राप्त हुए हैं।

इन पुरातात्त्विक स्थलों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण अतरंजिखेड़ा (एटा जिला, उत्तर प्रदेश) से प्राप्त हुए हैं (गौड़, 1983), जिसके उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति के स्तर-IV सी का काल ल. 350-200 सा.सं.पू. चिन्हित किया गया है। आधारभूत संरचनाओं के विकसित होते हुए आयामों का यहां अवलोकन किया जा सकता है। चारदीवारी के ऊपर मुंडेर की परंपरा इसी काल से जुड़ी हुई है। लेखन कला की शुरुआत के प्रथम प्रमाण यहीं मिलते हैं। मृणमूर्तिकला (टेराकोटा) तथा सिक्का निर्माण के क्षेत्र में स्पष्ट विकास हुआ। स्तर-IV सी में पाँच संरचनात्मक चरणों को चिन्हित किया गया है। मिट्टी के गिलावे की चारदीवारी तथा मिट्टी के लेप वाली भूमि, एक छल्लादार कुआँ और एक वृत्ताकार मुसौरा (मूसाघर) प्रथम संरचनात्मक स्तर से जुड़ा है। द्वितीय स्तर से मिट्टी के गिलावे से जोड़कर बने पत्थर की चारदीवारी तथा पाँच स्तरों की मिट्टी की छल्लों से घिरा एक मुसौरा जुड़ा है। तीसरे संरचनात्मक स्तर को स्थापत्य की दृष्टि से विस्तार का काल कहा जा सकता है। इस स्तर से बहुत-सी दीवारें तथा कार्यशाला प्राप्त हुईं। जिनमें एक कक्ष और एक अन्नागार भी सम्मिलित हैं। अन्नागार के उत्खनन किए गए हिस्से में कक्षों को टाट की दीवारों से विभाजित किया गया था जिन पर मिट्टी का मोटा लेप का प्लास्टर किया गया था। इस अन्नागार के निकट ही किसी कमरे की दो मिट्टी की दीवारों को देखा जा सकता है। उनसे जुड़ी संरचनाएं फूस-टाट और काठ की बनी हुई होंगी। इनमें से एक दीवार मिट्टी के गिलावे से ईंटों को जोड़कर बनी था। सभी दीवारों पर मिट्टी का मोटा प्लास्टर देखा जा सकता है।

यहां से चूल्हा मिला है जिस पर मिट्टी का स्टैंड मौजूद था जिसके मुख्य छिद्र को अपेक्षाकृत समतल पाया गया जिस पर शायद रोटी पकाई जाती होगी। बहुत से घड़े तथा तवा भी पाए गए और जमीन में गड़ा हुआ एक

भीटा का पुरातात्त्विक टीला (उत्तर प्रदेश)

मिट्टी का जार भी मिला है। वहाँ पर बड़ी मात्रा में जले हुए अनाज प्राप्त हुए, साथ में कुछ जले हुए मिट्टी की ईंटें भी मिली हैं, जो कि अनुमान है कि अन्नागार में आग लग जाने से नष्ट हुआ था। IV स्तर में 9 दीवारें मिली हैं जिनमें कच्ची और पक्की ईंटों के क्रमवार उपयोग को देखा जा सकता है। जमीन मिट्टी की लेप से बनी है। IV सी के पाँचवे स्तर में दो दीवार मिले हैं, एक मिट्टी के गिलावे से ईंटों को जोड़कर बनी है जबकि दूसरी सिर्फ मिट्टी की दीवार है। दोनों दीवारों में भुंसा को मिट्टी में मिलाकर प्लास्टर किया गया हैं एक गोलाकार अग्निकुण्ड भी प्राप्त हुआ है। V स्तर की संरचना में भी आगजनी के साक्ष्य मिले हैं। मिट्टी की बाहरी चहारदीवारी की मरम्मत की गई थी, जो शायद बाढ़ के कारण टूटी होगी।

अतरंजीखेड़ा के IV सी स्तर की मृणमूर्तियों में (टेराकोटा) एक स्त्री का धड़, एक मिट्टी के पटल पर आभूषणों से अलंकृत महिला की खण्डित मूर्ति (ग्रीवा से ऊपर का भाग लुप्त है) तथा साँचे में ढले मृदापटल में मानवीय आकृतियां बनी हुई हैं। पशुओं की आकृतियों में वृषभ, अश्व (?), हाथी, बकरी (?) तथा कुछ अज्ञात पशु हैं। पक्षी में चील, बत्तख और मोर पहचान में आते हैं। टेराकोटा के चक्के, पीसने वाली चक्की (जांता), छापा (सतह पर छाप के लिए) जैसी वस्तुएं भी पायी गयी हैं। टेराकोटा के 32 की संख्या में ऐसे गेंद मिले हैं जिन पर गहरी रेखा उभारी गई थी, 40 की संख्या में तश्तरी मिली हैं जिनकी परिधि पर डिजाइन उत्कीर्ण हैं। टेराकोटा के अनगिनत मनके भी पाए गए हैं। एक रोचक प्राप्ति के रूप में टेराकोटा के बने साँचे को लिया जा सकता है जो शायद कपड़ों पर छापाकरी के लिए प्रयोग में आता था। टेराकोटा की दो भट्टियां भी मिली हैं जो धातु गलाने के काम में आती होगी। एक अत्यंत लघु लोटा प्राप्त हुआ है जिसका उपयोग खिलौने अथवा पूजा-पाठ में किया जाता होगा। दो जलाशयों का अवशेष है, एक अभिलेख पर ब्राह्मी लिपि में कुछ अंकित है। एगेट, कार्नेलियन, क्वार्ट्ज, जैसे कीमती पत्थर, नग और मनके बहुत संख्या में प्राप्त हुए हैं। शीशे का भी एक मनका मिला है। पत्थर से बनी वस्तुओं में मूसल (कूटना), जांता तथा चक्की पाया गया है। हाथी के दांत ओर हड्डी से बनी चीजों में तीराग्र, मनका, कान की बाली इत्यादि मिली हैं। लौह उपकरणों की दृष्टि से IV बी (79) की अपेक्षा IV बी (70) के स्तर से कम वस्तुएं उपलब्ध हुई। IV बी में 21 ताँबे की वस्तुओं की अपेक्षा IV बी से 25 की संख्या में ताम्र वस्तुओं की प्राप्तियां हुई हैं। एक चाँदी का पंचमार्क सिक्का मिला किन्तु दोनों का क्षय हो चुका था। हड्डी का एक मुहर मिला जिसमें ब्राह्मी अक्षर और स्वास्तिक चिह्न देखा जा सकता है।

मध्य गंगा मैदान के श्रावस्ती से प्राप्त दीवारों के अवशेष ल. 250 सा.सं.पू. के हैं जबकि वैशाली और तिलौरा. कोट के अवशेष की तिथि दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. निर्धारित की गई है। निचली गंगा नदी घाटी में महास्थानगढ़ का दृढ़ीकृत नगर (बंगलादेश के बेगुरा जिले के प्राचीन पुण्ड्रवर्धन) में एक किलाबंद गढ़ था जहाँ से अशोक का ब्राह्मी अभिलेख प्राप्त हुआ है। बानगढ़ (प्राचीन कोटिवर्ष) के ईंटों की तिथि दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. आंकी गयी है। चंद्रकेतुगढ़ के मिट्टी की चारदीवारी भी प्रायः इसी काल की है। इस स्थल से पूर्व-मौर्यकाल सभ्यता के अवशेष चिन्हित किए गए हैं। विशेष रूप से यहां की श्रेष्ठ टेराकोटा प्राप्तियां उल्लेखनीय हैं। किन्तु पुरातात्त्विक विश्लेषण अभी ढंग से नहीं किया जा सका है। उत्तरापथ नामक प्रसिद्ध वाणिज्य मार्ग तामलुक में समाप्त होती थी और यह प्राचीन काल का अत्यंत महत्त्वपूर्ण बंदरगाह भी था। इस स्थान की प्राचीनता यहां के उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड, टेराकोटा तथा अन्य पुरातात्त्विक सामग्रियों के आधार पर आँकी जा सकती है।

उड़ीसा में शिशुपालगढ़ और जौगड दो महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल है। भुवनेश्वर के समीप स्थित शिशुपालगढ़ ही प्राचीन तोशाली थी। यहां दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. की जो मिट्टी की दीवारें प्राप्त हुई हैं वे प्रायः वर्गाकार हैं और प्रत्येक किनारा 3/4 मीटर का है। किले के बंद हिस्से के बाहर भी एक प्राचीन बस्ती के अवशेष हैं जिसकी तिथि 300 सा.सं.पू. से 350 सा.सं. के बीच की आंकी जाती है। ऋषिकुल्य स्थित जौगड के स्तर I से स्तम्भ के लिए गोलाकार गड्ढे और बजरीवाली मिट्टी को जमीन के हिस्से में देखा जा सकता है। इसकी तिथि तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. निर्धारित की जा सकती है।

राजस्थान में प्रारंभिक नगरीकरण बैराट, रेह तथा साम्भर में चिन्हित किया जा सकता है। बैराट ही मत्स्य महाजनपद की राजधानी विराटनगर था। इस स्थल का आकार $2^1/_2$ मील है। यहां पर 400 × 190 फीट क्षेत्र में किए गए पुरातात्त्विक सर्वेक्षण से मौर्य तथा मौर्योत्तर काल के अवशेष पाए गए हैं। इन अवशेषों में बौद्ध बिहार, स्तम्भ इत्यादि प्रमुख हैं। रेह से तीसरी दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी शताब्दी सा.सं. के बाद तक के अनवरत सभ्यता के भौतिक उपादान मिले हैं। संरचनात्मक प्राप्तियों में समांतर दीवारों वाली संरचना तथा टेराकोटा के छल्लों से बना ईंट सोक-पिट भी सम्मिलित है। सांभर से प्राप्त पुरातात्त्विक संस्कृति तीसरी/दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से पहले की नहीं, किन्तु अभी विश्लेषणात्मक अध्ययन पूर्ण रूप से संपन्न नहीं हुआ है।

गुजरात में प्रारंभिक इतिहास भरुच (ब्रोच), नागल, प्रभास पाटन तथा अमरेली जैसे स्थानों पर उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति से ही जुड़े हुए है। जिनकी तिथि प्रारंभिक तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. आंकी गई है किन्तु अभी व्यवस्थित जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकी है। नर्मदा के किनारे भरूच के निकट खुदाई से 25 फीट का

कौशाम्बी का विहंगम दृश्य (उत्तर प्रदेश)

पुरातात्त्विक स्थल चिन्हित किया गया है। यहां ब्राउन एण्ड रेड मृद्भाण्ड के साथ ही उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति के अवशेष मिले हैं (स्तर-I के ऊपरी हिस्से में)। मिट्टी की चहारदीवारों के बाहर खाई खुदवायी गयी थी, जिसके भीतर पाँच छल्लेदार कुँए के अवशेष हैं।

यहां पर उपस्थित कीमती चमकीले पत्थरों के नग और मनके इसके व्यावसायिक उत्पादन का केन्द्र होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। मौर्योत्तर काल में हुए वाणिज्यिक विकास के क्रम में गुजरात के इन बंदरगाहों का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

उज्जयनी (उज्जैन) मध्य भारत के मौर्य प्रान्त की राजधानी भी थी। यहां के स्तर-II से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड, ताम्र सिक्के, हाथी के दाँत के बारीक औज़ार तथा टेराकोटा छल्लों का कुँओं में प्रयोग देखा जा सकता है। हाथी दाँत के दो छोटे मुहरों पर उनको निर्गत करने वाले का नाम ब्राह्मी अक्षरों में अंकित है। यह मौर्यकालीन स्तर माना जा सकता है। बेसनगर जो प्राचीन विदिशा था, वहाँ से दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में बनी चारदीवारी के अवशेष मिले हैं। इस चारदीवारी के भीतर 240 एकड़ की भूमि थी।

महाराष्ट्र से भी प्रारंभिक नगरीकरण के चिह्न प्राप्त किए गए हैं। तगाड़ा (ठेर) के प्रारंभिक स्तर में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड तथा भट्ठी में पकी ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड मिले हैं, जिनकी तिथि तीसरी-दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. आँकी जा सकती है। सोपारा में अशोक के शिलालेख की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि मौर्यकाल का यह महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था, किन्तु सोपारा इसका पुरातात्त्विक सर्वेक्षण अधूरा है।

दक्षिण में बढ़ने पर सन्नति, कोण्डापुर तथा माधवपुर जैसे स्थलों पर सर्वेक्षण के अनुसार, मौर्यकाल से ही सभ्यता का आरंभ बतलाया जाता है। अशोक के अभिलेख मस्की और ब्रह्मगिरी में अवस्थित थे किन्तु इनसे जुड़ी नगरीय या ग्रामीण बस्ती यहां पाई गई है, इसकी कोई सूचना नहीं है। अमरावती (प्राचीन धान्यकटक) कृष्णा नदी के किनारे है जहाँ मौर्य ब्राह्मी में उत्कीर्ण अभिलेख पाए गए हैं। अमरावती का स्तर-I कम से कम चौथी शताब्दी सा.सं.पू. से संबद्ध है। उसके स्तर-I ए से ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड तथा उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड मिले हैं। यहां से प्राप्त ब्राह्मीलिपि श्रीलंका के अनुराधापुर से प्राप्त ब्राह्मीलिपि से सादृश्य रखती है। स्तर-I बी तक उपरोक्त मृद्भाण्ड संस्कृति मिलती है जबकि इसी समय बौद्ध स्तूप दिखने शुरू हो जाते हैं। एक पत्थर का स्लैब (पट्ट) मिला है जो अनुत्कीर्ण है। उरयिपुर की संस्कृति तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. में प्रारंभ होती है।

ग्राम्य और नगरीय जीवन की एक झलक

(Some Aspects of Rural and Urban Life)

सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं में होने वाले परिवर्तन की गति सूक्ष्म और धीमी होती है जिनका विश्लेषण राजवंशों के उत्थान-पतन के दायरे में नहीं संभव है। किन्तु इस स्थान पर शुद्ध रूप से मौर्य काल के ऐसे आधारभूत पहलुओं पर विचार किया जा रहा है।

कौशाम्बी का विहंगम दृश्य (उत्तर प्रदेश)

मेगस्थनीज ने अपने अवलोकन में पाया कि भारतीय समाज स्तरों में विभाजित है। डियोडोरस तथा स्ट्राबो ने यूनानी शब्द 'मेरे' तथा एरियन 'जने' शब्द का प्रयोग इस विभाजन के संदर्भ में किया है। इनकी व्याख्याओं के आधार पर सात विभाजन इस प्रकार हैं—दार्शनिक, खेतीहर, पशुपालक और आखेटक, शिल्पकार और व्यवसायी, सेनानी, कर्मचारी और राजा के पार्षद्। उनके द्वारा व्यवसाय के आधार पर किये गये उपरोक्त विभाजन की तुलना वर्ण अथवा जाति, दोनों में किसी से भी नहीं की जा सकती है। यह मेगस्थनीज द्वारा अविष्कृत लगता है जो शायद हेरोडोटस द्वारा किये गये मिस्र के समाज के सात विभाजन के मॉडल पर उसने किया था। पूर्णतः सदृश्य नहीं होते हुए भी इन दोनों के द्वारा किए गए विभाजन में बहुत समानता दिखलायी पड़ती है। मेगस्थनीज के अनुसार, भारत में विवाह अपने जीनॉस (जन्म के आधार पर कुल अथवा अन्य सम्बंधों को व्यक्त करने वाला एक यूनानी शब्द) के बाहर नहीं हो सकता और न ही कोई व्यक्ति अपने समुदाय के व्यवसाय को छोड़कर दूसरे समुदाय के व्यवसाय को अपना सकता है। थापर (1984) ने मेगस्थनीज द्वारा प्रयोग में लाए गए यूनानी शब्दों के निहितार्थ पर गौर करने का सुझाव दिया है और उनके अनुसार, मेगस्थनीज ने सामाजिक वर्गों की संख्या निर्धारित करने में त्रुटि की किन्तु उसने जाति व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को चिन्हित किया—जन्मगत व्यवसाय और अंतर्जातीय विवाह।

फिलॉसफोई (शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दार्शनिक) की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा कि भारत में उन्हें अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। स्ट्राबो ने इनको ब्राकमेन (ब्राह्मण) तथा गार्मनीज (श्रमण) दो भागों में बांटा है। डियोडोरस ने खानाबदोश, पशुपालकों और गडेरियों की चर्चा की है। उसने आगे लिखा है कि शिल्पकार (टेक्नीटाई) पर कर नहीं लगाया जाता था और वे राज्य के कर्मचारी थे। स्ट्राबो को मानना था कि सम्राट को छोड़कर कोई भी हाथी या घोड़ा नहीं रख सकता था। उनके अनुसार, शिल्पकार के अतिरिक्त शस्त्र बनाने वाले कारीगर, जहाज के निर्माण करने वाले कारीगर की नियुक्ति भी राज्य करती थी और उनको मिस्थॉस (वेतन के लिए यूनानी शब्द) देती थी। इस विवरण की तुलना *अर्थशास्त्र* के राज्य द्वारा अधिकृत योजना और निर्माण कार्य से की जा सकती है। दरअसल, मेगस्थनीज ने भारतीय समाज के विषय में ऐसा कुछ भी नहीं कहा है जिन्हें हम समकालीन भारतीय स्रोतों के द्वारा नहीं जान सकते।

अर्थशास्त्र में वेतनभोगी मजदूर, बंधुआ मजदूर और दास मजदूर का उल्लेख किया गया है। 'कर्मकार' शब्द का प्रयोग वैसे मजदूर के लिए किया गया है जिसके बदले में उसे मजदूरी मिलती है। कौटिल्य ने मजदूरी के दर की एक तालिका उपलब्ध करायी है, किन्तु यह मानना कठिन होगा कि मौर्य राज्य ने मजदूरी की दर के निर्धारण पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया था। कौटिल्य ने कर्मचारी और उसके नियोजक के कर्त्तव्य पर भी टिप्पणी की है। इन नियमों के उल्लंघन पर कार्यवाही करने का निर्देश भी दिया गया है। *अर्थशास्त्र* (3.14, 12-17) में कर्मचारियों के संघ की भी बात कही गई है जो नियोक्ता या प्रबंधन के साथ वार्ता कर सकता था। यह मानना भी कठिन है कि मजदूरों के ऐसे संघ का कोई सार्थक अस्तित्व रहा होगा।

मेगस्थनीज ने अपने वृत्तांत में भारत की सराहना की है कि यहां दास प्रथा नहीं है। जबकि *अर्थशास्त्र* में दास और अहितक (जिसने ऋण नहीं चुकाने की स्थिति में स्वयं को गिरवी रखा हो) के विषय में विस्तृत जानकारी दी गई है। दासों के प्रकार, दासता की अस्थाई तथा स्थाई परिस्थितियां सभी कुछ वर्णित है। राज्य के अधीन दास और गैर-सरकारी व्यक्तियों के अधीन दास दोनों प्रकार के दासों का उल्लेख है। कौटिल्य ने पुरुष और स्त्री

दास के लिए पृथक-पृथक नियम बनाए हैं जिनके उल्लंघन पर सजा का निर्देश भी दिया गया है, जैसे यदि कोई नियोक्ता गर्भवती महिला दासी की बिक्री करता है या उसे गिरवी रखता है तथा उसकी प्रसूति की उचित व्यवस्था नहीं करता है अथवा वैसी परिस्थिति में गर्भ की क्षति हो जाती है तो उसके लिए कठोर दण्ड का प्रावधान हैं। इसके अतिरिक्त धन का भुगतान कर दासता से मुक्ति के भी प्रावधान है। कौटिल्य यह भी कहता है कि यदि किसी दासी से नियोक्ता का बच्चा होता है तो उस बच्चे को नियोक्ता का वैधानिक पुत्र स्वीकार किया जाएगा। अशोक के शिलालेख संख्या 9 में दास तथा भतक (भृतक या नौकर) के प्रति अच्छा व्यवहार भी धम्म का ही अनुशीलन है।

अर्थशास्त्र में अस्पृश्यता के प्रति कठोर होती हुई ब्राह्मण व्यवस्था का आभास मिलने लगता है। इसमें (1.14. 10) उल्लेख है कि चंडाल के द्वारा उपयोग किये जा रहे कुएं का प्रयोग कोई अन्य नहीं कर सकता है। चंडाल के द्वारा किसी आर्य स्त्री का स्पर्श कर लेने पर कठोरतम् दण्ड मिलता है (3.20.16)। कांग्ले के अनुसार, शारीरिक सम्बंध की घटना में यह बात कही गई है। चंडाल तथा श्वपाक (कुत्ते पालने वाली जाति) को अंतवासयी कही जाने वाली सामान्य श्रेणी में रखा गया है, वैसे लोग जो बस्ती के बाहर ही रह सकते हैं।

मौर्य साम्राज्य की संरचना और प्रकृति

(The Nature and Structure of the Maurya Empire)

मौर्यकाल के अध्ययन के लिए उपलब्ध स्रोतों में सामंजस्य के अभाव से मौर्य साम्राज्य की संरचना और प्रकृति को समझने में और भी समस्या खड़ी हो जाती है। *अर्थशास्त्र* एक सैद्धांतिक ग्रंथ है और उससे भी अधिक गंभीर तथ्य है कि इस ग्रंथ के सभी अधिकरणों की रचना मौर्यकाल में नहीं हुई है। इसमें एक सम्भावित राज्य के लिए आदर्श राज्यशास्त्र और सिद्धांतों का विद्वतापूर्ण प्रतिपादन हुआ है। इसलिए *अर्थशास्त्र* के राज्य सिद्धांतों का मौर्य राज्य में किस सीमा तक अनुसरण किया गया यह अलग प्रश्न हो जाता है। दूसरे महत्त्वपूर्ण स्रोत मेगस्थनीज की *इण्डिका* के आंशिक रूपों में बहुत सारे संस्करण उपलब्ध हैं। इसमें वर्णित तथ्य त्रुटियों और विरोधाभासों से परिपूर्ण है। अशोक के अभिलेख तीसरे सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। सौभाग्य से ये अशोककालीन हैं, किन्तु इसकी विषयवस्तु शुद्ध रूप से अशोक के धम्म पर आधारित है और प्रशासनिक तथ्यों के विषय में प्राप्त जानकारी संयोग मात्र है। इस काल के सिक्कों का विश्लेषण अथवा अन्य पुरातात्त्विक स्रोतों का विश्लेषण अभी तक निर्णयात्मक नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न वास्तव में यह नहीं है कि मौर्य राज्य एक साम्राज्य था कि नहीं, बल्कि यह है कि यह किस प्रकार का साम्राज्य था? जिन क्षेत्रों अथवा जनसमूहों को अपनी सीमा में मिला लिया, उनके लिए इसका क्या अर्थ था? साम्राज्य के विस्तृत क्षेत्र पर किस सीमा तक नियंत्रण किया जा सका और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किन रणनीतियों की सहायता ली गई? यह नियंत्रण कितना प्रभावशाली था। उपरोक्त तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत विश्लेषण के इन संदर्भों को पूरी तरह से दिग्भ्रमित करने में सक्षम है क्योंकि उपरोक्त सभी स्रोत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्राट के दरबार सें सम्बंधित है। इन स्रोतों में किसी न किसी रूप में उस समय के राजनीतिक-दार्शनिक आभिजात्य वर्ग के दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिली है जिससे केन्द्रीय नियंत्रण के यथार्थ को अधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है।

मौर्य साम्राज्य की अति केन्द्रीयकृत प्रकृति उस सैद्धांतिक अवधारणा पर आधारित है जिसके अनुसार, साम्राज्य और केन्द्रीकरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कुछ हद तक ऐसी धारणा *अर्थशास्त्र* की सीधे की गई व्याख्या के कारण भी बनी क्योंकि *अर्थशास्त्र* ऐसे सैद्धांतिक राज्य की परिकल्पना करता है जिसमें मानवीय संसाधन, उत्पादन और आर्थिक संसाधनों पर राज्य का एकाधिकार है तथा राज्य तमाम सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। दूसरी ओर मौर्य राज्य पर प्रकाशित कुछ आधुनिक अध्ययनों में बिल्कुल विपरीत परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। जेरार्ड फुसमान (1987-88) का मानना है कि मौर्य साम्राज्य के भौगोलिक विस्तार और उस समय की संचार-यातायात व्यवस्था की अवस्था को देखते हुए मौर्य साम्राज्य को अत्यंत केन्द्रीकृत राज्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। दरअसल, मौर्य शासन उस समय अस्तित्व में आए वैसे बहुत सारे राजनीतिक इकाईयों पर एक औपचारिक नियंत्रण रखता था तथा इन राजनीतिक इकाईयों पर एक क्षेत्र में कमोबेश स्वायत्ता प्राप्त थी। अशोक ने केवल धम्म प्रसार सम्बंधी विषय को अपने व्यक्तिगत नियंत्रण में रखा था, सामान्य प्रशासनिक दिनचर्या के सम्बंध में वह अपेक्षाकृत निर्पेक्ष था। प्रांतीय तथा स्थानीय प्रशासन के अस्तित्व के विषय में उनके द्वारा निर्गत अभिलेखों की लिपि, भाषा, विषय वस्तु और उनकी उपस्थिति के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे

उत्तर पश्चिम में मिले ग्रीक-अरामेइक अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि ये अशोक द्वारा निर्गत इस श्रेणी के अन्य अभिलेखों की यथावत् पुनरावृत्ति नहीं है बल्कि स्थानीय अधिकारियों ने अपने स्तर से संशोधन भी किया है जो उनके द्वारा लिये जा सकने वाले स्वतंत्र निर्णय तथा पहल की तरफ इशारा करता है।

रोमिला थापर ([1963], 1987) ने अपने प्रारंभिक लेखों में केन्द्रीय नियंत्रण और योजनाबद्ध प्रशासन के आधार पर मौर्य साम्राज्य के सत्ता के एक नवीन स्वरूप के उद्भव की बात कही थी, किन्तु उन्होंने इस पत्र का पुनरावलोकन (1984) किया तथा स्वीकार किया कि मौर्य साम्राज्य पूर्ण रूप से एकीकृत व्यवस्था का पोषक नहीं था, बल्कि उसके अधीन स्वतंत्र रूप से भी आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विविधताएं फल-फूल रही थीं। थापर ने विश्व व्यवस्थाओं के आधुनिक सिद्धांत का उपयोग मौर्य साम्राज्य के सम्बंध में किया है जिसके अनुसार, महानगरीय केन्द्र तथा परिधीय केन्द्रों के मध्य अंतर्सम्बंध के आधार पर मौर्य राज्य की प्रकृति की व्याख्या की जा सकती है। मगध राज्य को महानगरीय केन्द्र के रूप में देखा गया है। क्रोड क्षेत्र के अंतर्गत, उस काल के अन्य प्रांत अथवा वैसे केन्द्र जहाँ राज्य निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हो रही थी अथवा वाणिज्य के महत्त्वपूर्ण केन्द्र आते थे। परिधीय क्षेत्र में उन समाजों को देखा जा सकता है जहाँ राज्य की अवधारणा अभी विकसित नहीं हुई थी। महानगरीय केन्द्र तथा क्रोड क्षेत्र और परिधीय क्षेत्र के बीच सम्बंध का कोई सुनियोजित प्रारूप नहीं था, किन्तु ऐसे सम्बंध की प्रकृति का सुस्पष्ट आधार था जिसे मूलतः आर्थिक शोषण कहा जा सकता है। इसलिए मौर्य साम्राज्य को केन्द्रीकृत अथवा विकेन्द्रीकृत दोनों में से किसी एक श्रेणी में नहीं डाला जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि मौर्य साम्राज्य में केन्द्रीकरण के तत्व मौजूद थे, किन्तु उसके विस्तार को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि केन्द्रीय सत्ता प्रांतीय स्तर या जिला अथवा स्थानीय स्तर पर केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारियों में निहित थी।

राजनीतिक, सामाजिक अथवा आंतरिक प्रक्रियाओं की निरंतरता, मौर्य काल में बाधित नहीं हुई किन्तु मौर्यकाल की बहुत सारी नई परिस्थितियों के शुरुआत के रूप में भी देखा जा सकता है। नंद साम्राज्य विशाल था किन्तु मौर्य साम्राज्य कहीं अधिक विशाल हो गया जिसमें संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम का बहुत बड़ा भाग सम्मिलित था। इस साम्राज्य के साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा और स्वरूप की अभिव्यक्ति अत्यंत उन्नत वास्तु और स्थापत्य की साकार योजनाएं भी दिखलाई पड़ती हैं। अशोक के स्तम्भ शिलालेखों से सम्राट अपनी प्रजा से सीधा सम्प्रेषण करने की स्थिति में है। दूसरा सत्य यह है कि अपने पूर्ववर्ती शासकों की भांति मौर्य सम्राट वैदेशिक प्रदेशों से सम्बंध बनाने की दिशा में अंतर्मुखी नहीं थे। इसके विपरीत मौर्य सम्राटों ने भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर भी ध्यान देना शुरू किया। इसका सबसे अच्छा प्रमाण है कि मौर्य सम्राटों ने अपने दरबार में अनेक यूनानी राजदूतों को आमंत्रित किया। अशोक ने बौद्ध धर्म तथा अपने धम्म नीति के प्रचार-प्रसार के लिए शिष्ट मण्डल भेजे और अन्य राज्यों पर धम्म-विजय प्राप्त करने का दावा किया।

यदि कौटिल्य ने आत्मकथा लिखी होती तब हमारे समक्ष मौर्य प्रशासन की आँखों-देखी प्रत्यक्ष सूचनाएं मिल सकती थीं। परंतु राज्य-शास्त्र पर उपलब्ध उस विद्वतापूर्ण ग्रंथ से ऐतिहासिक महत्त्व की सूचनाओं को प्राप्त करते समय सावधानी बरतनी पड़ती है। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि *अर्थशास्त्र* जैसी रचना मौर्यकाल में लिखी गई (कम से कम उसके कुछ अंश को इसी समय लिखा गया)। क्योंकि जिस स्तर के साम्राज्य की अवधारणा *अर्थशास्त्र* के लेखक अथवा एकाधिक लेखकों को अत्यंत विलक्षण और मौलिक प्रतिभा संपन्न मान भी लें तब भी यह स्वीकार करना कठिन होगा कि राजनीति और उसकी अर्थव्यवस्था तथा समाज के बीच जटिल सम्बंध के विषय में इतनी विकसित समझ की कल्पना ऐतिहासिक शून्यता में की जा सकी होगी। निश्चित रूप से किसी वास्तविक साम्राज्य के अस्तित्व और अनुभव से प्रेरणा ली गई होगी तथा लेखक ने समकालीन राजनीतिक और राजनयिक संस्थाओं को स्रोत के रूप में समझा होगा। मौर्यकाल प्रशासनिक परिवर्तनों और नवीन राजनीतिक प्रयोग का युग था। इसके अंतर्गत विशेष रूप से अशोक के काल में प्रशासन की प्राथमिकताओं में बहुत बदलाव आया इसलिए मौर्य साम्राज्य की प्रकृति और संरचना को समझने के लिए इन तीन प्रमुख स्रोतों से प्राप्त तथ्यों को सामने रखकर यह विश्लेषण करना श्रेष्ठ होगा कि किस सीमा तक वे आपस में इत्तिफाक रखते हैं अथवा उनके बीच किन तथ्यों के सम्बंध में विरोधाभास मौजूद है।

अर्थशास्त्र भारत का सर्वप्रथम ग्रंथ है जिसमें राज्य को परिभाषित किया गया है (कांग्ले, 1965)। राज्य का 'सप्तांग सिद्धांत' राज्यों के सात अंगों (अथवा प्रकृति) की चर्चा करता है (हालांकि, 'सप्तांग राज्य' शब्द योजना यहां नहीं मिलती।)। एक-दूसरे से जुड़े हुए अंग हैं—स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्रिपरिषद् के सदस्य), जनपद (भौगोलिक क्षेत्र और उसमें निवास करने वाली जनता), दुर्ग (सुरक्षित राजधानी)। कोश (खजाना), दण्ड (न्याय और सजा का प्रयोग) तथा मित्र (सहयोगी राज्य)। सप्तांग राज्य के सिद्धांत का अल्प संशोधनों के साथ धर्मशास्त्र, पुराण और *महाभारत* में भी वर्णन किया गया है। राज्य की उत्पत्ति जैसे विशुद्ध सैद्धांतिक विषयों को *अर्थशास्त्र* में अधिक महत्त्व नहीं मिला है। *अर्थशास्त्र* प्रशासन के व्यावहारिक पक्षों पर केन्द्रित है।

प्राथमिक स्रोत

कौटिल्य प्रस्तावित राजा की दिनचर्या

कौटिल्य के अनुसार, यदि राजा ऊर्जावान है तब उसकी प्रजा भी ऊर्जावान होगी। जब राजा लचर होगा तब उसकी प्रजा भी आलसी हो जाएगी तथा उसके संसाधनों का निरर्थक उपयोग करने लगेगी। एक प्रभावपूर्ण राजा सरलता से शत्रुओं का शिकार नही बन सकता है।

अर्थशास्त्र 1.19.16 में निवेदित है कि राजा को अपने रात तथा दिन की दिनचर्या को आठ-आठ भागों में बांट देना चाहिए। इस प्रकार उसके समक्ष डेढ़ घंटे की 16 इकाई उपलब्ध होगी। प्रत्येक को विशिष्ट क्रियाकलापों की से जोड़ा गया है। कौटिल्य के अनुसार, सूर्योदय के साथ राजा को अपने दिन के आठ भागों को इस प्रकार उपयोग करना चाहिए:

1. सुरक्षा सम्बंधी प्रतिवेदन तथा वित्तीय प्रतिवेदनों पर दृष्टि।
2. नगर तथा ग्रामीण प्रजा की लोक समस्याओं पर विचार।
3. स्नान-परिष्कार, भोजन तथा स्वाध्याय।
4. नगद राजस्व का अधिग्रहण एवं विभागों के शीर्ष अधिकारियों को निर्देश।
5. मंत्रिपरिषद् के साथ संवाद एवं गुप्त सूचनाओं की प्राप्ति।
6. विश्राम एवं विलास अथवा परामर्श।
7. सैन्य निरीक्षण।
8. सेनापति के साथ सैन्य नीतियों पर विमर्श।

कौटिल्य ने राजा के लिए रात्रि को आठ भागों में इस प्रकार बांटा है:

1. गुप्तचर अधिकारियों का साक्षात्कार और प्रतिवेन प्राप्ति।
2. स्नान-परिष्कार, भोजन एवं स्वाध्याय।
3. संगीत और वाद्य श्रवण के मध्य विश्राम।
4. शयन (इस प्रकार शयन एवं विश्राम के निमित्त राजा के समक्ष चार घंटे उपलब्ध है)।
5. वाद्य यंत्रों की ध्वनि के मध्य जागश्त होने की प्रक्रिया तथा राज्यशास्त्र एवं राजनीति पर मनन-चिन्तन तथा अपेक्षित कार्यों-दायित्वों का स्मरण।
6. सलाहकारों के साथ विमर्श एवं गुप्तचरों को कार्यादेश।
7. ब्राह्मणों द्वारा आशीर्वाद प्राप्ति, वैद्य, प्रमुख बावर्ची और ज्योतिषी से आदान-प्रदान।

किरण फुटते राजा को गाय, उसके बछड़े तथा वृषभ की परिक्रमा करना चाहिए। तत्पश्चात् राजा को राजदरबार की तरफ प्रस्थान करना चाहिए।

इस प्रकार कठोर दिनचर्या का अनुपालन किसी अत्यंत सक्षम सम्राट के लिए भी निश्चित रूप से कठिन रहा होगा। इसलिए कौटिल्य ने यह भी टिप्पणी दी कि यदि राजा उपरोक्त समय-सारिणी का अनुसरण करने की इच्छा नहीं रखता है तब उसे अपनी क्षमताओं के अनुरूप दिन और रात को विभिन्न भागों में बांट लेना चाहिए तथा तदनुसार अपने कार्यों का निष्पादन करना चाहिए। *अर्थशास्त्र* में जो भी प्रस्तावना है, उसके साथ वैकल्पिक प्रस्तावों की प्रस्तुति यह इंगित करती है कि शास्त्र में पर्याप्त लचीलापन भी है।

स्रोत: कांग्ले (1963) 1972: 46-47

मौर्य राज्य वस्तुत: एक राजतंत्र था जिसके केन्द्र में एक शक्तिशाली सम्राट का अस्तित्व है। *अर्थशास्त्र* में राजतंत्र को ही सामान्य राजनीतिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है तथा इसकी रचना का उद्देश्य सम्राट को संबोधित करते हुए उसके समक्ष आदर्श प्रस्तुत करना है। ग्रंथ राज्य की अन्य प्रकृति के बीच सम्राट के सर्वोपरि होने की उद्घोषणा करता है। अशोक के अभिलेखों से भी कोई संदेह नहीं रह जाता कि सम्राट में ही राज्य की सभी शक्तियां निहित हैं। अशोक ने एक उपशिलालेख में स्वयं को मगध के राजा के रूप में संबोधित किया है। किन्तु सामान्यत: अन्य अभिलेखों में उसके लिए देवानंपिय अथवा पियदसी का प्रयोग हुआ है। अप्रत्यक्ष रूप से देवानांप्रिय अशोक द्वारा दैवीय सत्ता के मध्य सम्बंध से प्रभावित करने का प्रयत्न था।

अर्थशास्त्र का राजा एक संशय से भरे वातावरण में रहता है जिसे अपने जीवन और सत्ता की रक्षा करने के लिए सदैव चौकस रहना पड़ता है। कौटिल्य ने राज प्रासाद में एकाधिक गुप्त निकासी आपातकालीन द्वार तथा महल में वस्तुओं के आवागमन पर गहन निरीक्षण के सम्बंध में विस्तृत निर्देश दिये हैं। राजा के द्वारा लिये जाने वाले भोज्य एवं पेय सामग्रियों का पूर्व परीक्षण भी अनिवार्य बतलाया है। उसकी सुरक्षा के लिए स्त्री धनुर्धारियों की अंगरक्षक के रूप में नियुक्ति तथा केवल अत्यंत विश्वासपात्र लोगों को राजा के इर्द-गिर्द उपस्थिति का निर्देश दिया गया है। राजा की विष, अग्नि और सर्पवंश से सुरक्षा के लिए विशेष प्रबंध किया गया है। गुप्तचरों की छद्मवेश में सर्वव्यापी उपस्थिति की बात कही गई है जो किसी भी क्षण विद्रोह की हल्की आशंका की भी सूचना राजा को उपलब्ध कराते हैं। यहां तक कि राजा के सर्वाधिक निकटस्थ संबंधियों अर्थात् पत्नी और पुत्रों के प्रति भी शंका की गई है जो राजा की हत्या के षड्यंत्र में भागीदार हो सकते हैं। उस सम्बंध में कौटिल्य ने ऐसे बहुत सारे उदाहरण भी दिए हैं जिनमें पुत्र, पत्नी या भाइयों के द्वारा राजा की हत्या का षड्यंत्र रचा गया था।

अर्थशास्त्र मूल रूप से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने, उसे सुरक्षित रखने तथा उत्तरोत्तर राजनीतिक सत्ता का विस्तार करने के उद्देश्य से संकलित किया गया राज्यशास्त्र है। ग्रंथ में राजत्व के नैतिक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है और जिसके निमित्त राजा के कर्त्तव्य और नैतिक दायित्व पर विस्तारपूर्वक निर्देश दिया गया है। इसके अंतर्गत प्रजा का रक्षण और पालन तथा उसके योगक्षेम एवं लोककल्याण के लिए आवश्यक निर्देश दिये गए हैं। प्रजा का सुख ही राजा का सुख है और प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण है। राजा को वैसे सुख से अभिभूत नहीं होना चाहिए जो उसे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त होता है, बल्कि वह उसी में अपना कल्याण समझे जिससे उसकी प्रजा सुखी हो रही है (*अर्थशास्त्र* 1.19-34)। *अर्थशास्त्र* 2.1.18 में पितृसत्तात्मक सत्ता को आदर्श का प्रतिबिम्ब मिलता है, जिसमें लिखा गया है कि राजा पिता की तरह अपनी वैसी प्रजा का विशेष ध्यान रखता है जो अन्य दृष्टि से वंचित होते हैं। कंटकशोधन अध्याय में निर्देश है कि राजा को अपनी प्रजा की हर सूरत में बेईमान शिल्पकार, व्यवसायी, चोर, हत्यारों तथा प्राकृतिक आपदाओं से रक्षा करनी है। *अर्थशास्त्र* 2.1.26 राजा द्वारा असहाय बच्चे, वृद्ध लोग, बांझ महिला तथा विपत्ति में पड़े लोगों को संरक्षण देना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था की वर्णाश्रम धर्म के संदर्भ में व्याख्या करते हुए, उसे सुरक्षित रखना भी राजा का ही महत्त्वपूर्ण दायित्व बतलाया गया है।

अशोक का राजत्व से जुड़ा आदर्श कदाचित *अर्थशास्त्र* में प्रतिपादित आदर्शों से मेल खाता है, किन्तु अशोक का अपना विशिष्ट छाप सुनिश्चित रूप से उसके अभिलेखों में प्रतिबिम्बित होता है। इसमें सर्वजनहिताय का स्पष्ट संदेश है। अपनी प्रजा का धरती ही नहीं स्वर्ग में भी, उनके कल्याण को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। अशोक के पितृसत्तात्मक आदर्श शिलालेख संख्या-1 तथा 2 में प्रतिबिम्बित हैं। जिसके अनुसार, सभी प्रजा उसकी संतान है। जिस प्रकार अपनी संतान के लिए मैं कामना करता हूँ कि उनका इस लोक में तथा परलोक में कल्याण हो, उसी प्रकार मैं अपनी समस्त प्रजा के लिए भी कामना करता हूँ। अशोक सभी जीवों के प्रति अपने ऋणी होने की भी बात रखता है (शिलालेख संख्या-6) तथा उनके कल्याण की भी कामना करता है जो उसके सीमांत प्रदेश से बाहर निवास करते हैं (पृथक शिलालेख संख्या-2)। उसने जनकल्याण के लिए सड़कों के किनारे वृक्षारोपण, कूप निर्माण, मनुष्य और पशु चिकित्सालय के साथ सर्वोपरि लोगों को धम्म का निर्देश दिया, जिसके संदर्भ में उसने यह अनुग्रह करना कभी नहीं छोड़ा कि धम्म के अनुपालन से धरती और स्वर्ग दोनों में कल्याण होगा। उसकी पितृसत्तात्मकता में लोक-कल्याण तो निहित था ही किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसके अनुसरण के लिए अनिवार्यता और बाध्यता का भी स्वर दिखलाई पड़ता है—जैसा कि शिलालेख संख्या-2 में प्रत्यक्ष हो जाता है। उसमें सीमांत प्रवेश के उन अविजित समुदायों को संबोधित करते हुए उसने कहा है कि उन्हें यह बात अच्छी तरह से समझ में आ जानी चाहिए कि उनके वही अपराध क्षमा किये जा सकेंगे जो क्षम्य हों।

कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में वर्णित सप्तांग सिद्धांत की दूसरी प्रकृति (या अंग) अमात्य वर्ग है। यह वस्तुत: राज्य के सभी उच्चस्थ अधिकारी, पार्षद् तथा विभागीय अध्यक्षों के लिए प्रयुक्त होने वाला एक सामान्य शब्द है। जबकि मंत्री शब्द का विशिष्ट प्रयोग देखा जा सकता है जिससे सम्राट के विशेष पार्षद् अथवा सलाहकार का बोध होता है। ऐसा लगता है कि सम्राट के सलाहकारों की एक छोटी और एक बड़ी समिति का अस्तित्व था। *अर्थशास्त्र* सम्राट के विशेष सलाहकारों के एक छोटे समूह की चर्चा करता है जिसे मंत्रिपरिषद् की संज्ञा दी है। इसके साथ ही अनिर्धारित संख्या वाली एक बड़ी इकाई की चर्चा की गई है जिसे मंत्री परिषद् कहा गया है जिसके सदस्यों में कार्यपालिका के विभागावार अध्यक्ष भी होते थे। पतंजलि के *महाभाष्य* में इंगित चन्द्रगुप्त की सभा के रूप में शायद इसी बड़ी समिति का उल्लेख किया गया है। मेगस्थनीज ने 'सुमबोउलाई (का प्रयोग इस समिति के लिए ही किया है। अशोक के शिलालेख संख्या-3 में उल्लेख है कि युत (युक्त) काडर के अधिकारियों को निर्देश देने का कार्य पलिसा/परिसा (अर्थात् परिषद्) करती है। इस संदर्भ में परिषद् की छोटी इकाई का उल्लेख है। अशोक की शिलालेख संख्या-6 में स्पष्ट आदेश है कि यदि परिषद् की कार्यवाही के दौरान इसके सदस्यों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाए, तब उसी क्षण इसकी सूचना सम्राट को दे देनी चाहिए। इस संदर्भ में निश्चित रूप से परिषद् की छोटी इकाई की बात कही जा रही है। मेगस्थनीज के 'सुनेड्रॉई' से इसकी तुलना की जानी चाहिए (जिसका शाब्दिक अर्थ है 'एक साथ बैठना' जो परिषद् के सदृश्य है) (बोंगाई–लेविन, 1971)।

मौर्य काल में उच्चस्थ अधिकारियों के राजनीतिक प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि बिन्दुसार के मंत्रियों में से एक राधागुप्त ने अशोक के सफल राज्यारोहण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। मेगस्थनीज ने भी ऐसा अनुभव किया कि सम्राट व्यक्तिगत रूप से सर्वदा उपलब्ध रहता है क्यों न वह उस समय शरीर की मालिश करवा रहा हो। अशोक के शिलालेख संख्या-6 में भी अधिकारियों के लिए प्रति पल सम्राट की उपलब्धता का आश्वासन दिया गया है। ये *अर्थशास्त्र* के उस निर्देश से मेल खाते हैं कि सम्राट को अपने अधिकारियों के लिए हर समय उपलब्ध रहना है।

सम्राट और उसकी सलाहकार समितियों के अतिरिक्त वैसे बहुत सारे अधिकारी थे जिनके अधीन महत्त्वपूर्ण संविभाग दिया जाता था। *अर्थशास्त्र* में 'समाहर्तृ' (राजस्व वसूलने वाला प्रधान अधिकारी जिसके द्वारा आय-व्यय का ब्यौरा

प्राथमिक स्रोत

मेगस्थनीज के अनुसार, राजा का जीवन (स्ट्राबो के माध्यम से)

राजा की निजी दिनचर्या का दायित्व अत्यंत प्रतिबद्ध परिचारिकाओं पर है, जिन्हें उनके अभिभावकों से मूल्य देकर क्रय किया जाता है जबकि अंगरक्षक और सैन्य बल की तैनाती राजद्वारों के बाहर होती है। शराब के नशे में राजा की हत्या करने वाली परिचारिका को उपहार के रूप में गद्दी पर बैठने वाले शासक के साथ सहवास का विशेषाधिकार प्राप्त होता है। उसी स्त्री से हुए बच्चे राजगद्दी के उत्तराधिकारी होते हैं। पुन: राजा दिन में शयन नहीं करता और रात्रि में कुछ समयांतराल अपना बिस्तर बदल लेता है क्योंकि अपने विरूद्ध होने वाले षड्यंत्रों का भय सदा बना रहता है। गैर-सैनिक उद्देश्य से राजा अपने अंत:पुर से जिन अवसरों पर बाहर निकलता है उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण उसका दरबार में जाना सम्मिलित है, जहाँ वह सारा दिन व्यतीत करता और अंत तक फरियादों को सुनता है। इस दौरान उसकी सेवा की जरूरत पड़ती है। राजा की शारीरिक सेवा के लिए लकड़ी की बनी छड़ी का भी प्रयोग होता है, उस समय भी जब वह सुनवाई में होता है। उसके शरीर की मालिश के लिए चार सेवक जुटे रहते हैं। दरबार के बाद दूसरा ऐसा अवसर उन यज्ञों के दौरान होता है जब वह उनमें सम्मिलित होता है। ऐसा तीसरा अवसर आखेट के दौरान देखा जा सकता है। जो वस्तुत: एक उच्छृंखलतापूर्ण उत्सव के रूप में आयोजित किया जाता है जिसकी तुलना यूनानी मिथकों में वर्णित सुराजान के बेकस देवता से जुड़े बेकनेलिया उत्सव से की जा सकती है। आखेट में भी राजा की सुरक्षा महिला प्रहरियों द्वारा की जाती थी जो चौकसी सें उसे चारों ओर से घेरे रहती थी। उनके बाद भाला लिए सुरक्षाकर्मी काफिले को घेरकर रखते हैं। मार्ग के दोनों ओर रस्सी का घेरा डाला होता है। घेरे के भीतर महिला प्रहरियों के निकट अनाधिकृत प्रवेश वाले को मृत्युदंड दे दिया जाता है। राजा की सवारी के सामने नगाड़ा बजाने वाले लोग और छत्र ढोने वाले लोग रहते हैं। राजा एक सीमांकित परिधि के भीतर ही आखेट करता है। वह दूर से ही रथ पर बने प्लेटफॉर्म से निशाना साधता है।

दो से तीन सशस्त्र स्त्री अंगरक्षक उसके इर्द-गिर्द होती हैं। जब ऐसे आयोजन सुरक्षित आखेट भूमि के बाहर होते हैं तब राजा हाथी पर बैठता है। सशस्त्र महिलाएं रथों और अश्वों पर चौकस रहती हैं। वे उन सभी अस्त्र-शस्त्रों से लैस होती हैं जो किसी सैन्य अभियान के दौरान सेना के द्वारा उपयोग में लाई जाती है। यह रोचक है कि कौटिल्य और मेगस्थनीज दोनों ने सम्राट के महिला अंगरक्षकों की चर्चा की है। इतनी ही रोचक मेगस्थनीज के द्वारा दी गई यह जानकारी है कि हत्या के षड्यंत्र से बचने के लिए रात्रि काल में सम्राट के बिस्तर को कई बार बदला जाता था। यह संदर्भ कौटिल्य के द्वारा सम्राट की हत्या के से बचने के लिए लिये गए पूर्वाविधानों की पुष्टि करता है।

स्रोत: मजुमदार (1960), 1981: 271-72

रखा जाता था तथा 'सन्निधातृ' (कोषाध्यक्ष जो राजकीय भण्डार का प्रधान होता था) इन दो अधिकारियों का उल्लेख है। इसमें 'दौवारिक' (महल के कर्मचारियों का प्रधान) तथा 'अंतर्वंशिक' (राजप्रसाद के सुरक्षाकर्मियों का प्रधान) के अतिरिक्त अनेक अध्यक्ष (विभागीय प्रधान) की भी चर्चा की गई है। राजधानी में स्थित अक्षपटल का कार्यालय महालेखागार के सदृश्य था। अशोक के अभिलेखों में इनके सम्बंध में प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है किन्तु इन अधिकारियों और कार्यालयों के अस्तित्व का उनसे अनुमान लगाया जा सकता है।

अर्थशास्त्र राजकीय पुरोहित के पद को गरिमामण्डित करता है। उसके विषय में यह अपेक्षा की जाती है कि वह अति उच्च चरित्र वाला तथा उच्चकुल का व्यक्ति होगा जो वेदों और वेदांगों का ज्ञाता तथा शगुन-अपशगुन का सूक्ष्म परीक्षण करने वाला एवं राजनीति विज्ञान (*अर्थशास्त्र*) को जानने वाला हो, साथ ही अथर्ववेद के आधार पर नैसर्गिक और मानवीय आपदाओं को नियंत्रित करने में सक्षम हो। कौटिल्य (1.9.9) में राजा को सुझाव दिया गया है कि पुरोहित से उसी प्रकार का सम्बंध रखें जैसा शिष्य अपने गुरू से, पुत्र अपने पिता से तथा नौकर अपने मालिक से रखता है। किन्तु धार्मिक मान्यताओं के वैविध्य से ओत-प्रोत जैसा कि प्राय: मौर्य सम्राटों के विषय में प्रमाण उपलब्ध हैं, यह संभव है कि पुरोहित की कोई महती उपस्थिति नहीं रही होगी (यह भी संभव है कि ऐसा कोई पद भी नहीं होगा)।

अशोक के अभिलेखों में अनेक 'महामात्तों' की चर्चा है (*अर्थशास्त्र* में इन्हें महामात्र कहा गया है) कुछ विशिष्ट श्रेणी के महामातों में 'अंत-महामात्त' (सीमांत प्रदेश के महामात्य) तथा 'इतिझक्क महामात्त' (महिला कल्याण के लिए नियुक्त महामात्त) का उल्लेख किया जा सकता है। 'धम्म-महामात्त' अशोक द्वारा सृजित किया गया महामात्रों का नया कैडर था, जिसकी स्थापना उसने अपने राज्यारोहण के 9 वर्ष बीत जाने पर की थी। उनकी नियुक्ति साम्राज्य में धम्म के प्रसार के लिए की गई थी।

अभिलेखीय स्रोतों के आधार पर यह स्पष्ट है कि मौर्य साम्राज्य प्रांतों में विभाजित था। दक्षिणी प्रांत की राजधानी स्वर्णगिरी, उत्तरी प्रांत की राजधानी तक्षशिला, पश्चिमी प्रांत की राजधानी उज्जयनी और पूर्वी प्रांत की राजधानी तोशली थी। रुद्रदमन के गिरनार अभिलेख से यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के काल में सौराष्ट्र का राष्ट्रीय गवर्नर पुष्यगुप्त था। बिंदुसार के शासनकाल में उज्जयनी का 'राष्ट्रीय' (गर्वनर) अशोक था। 'राष्ट्रीय' के अतिरिक्त इन गवर्नरों को कुमार या आर्यपुत्र से संबोधित किया जाता रहा। इससे यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि सामान्यत: जो राजकुमार होते थे, वे ही 'राष्ट्रीय' (गवर्नर) के रूप में बहाल किये जाते थे। जनपद के स्तर पर, अशोक के अभिलेखों के अनुसार, ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त ये तीन महत्त्वपूर्ण अधिकारी थे।

शिलालेख संख्या-3 के अनुसार, कुछ अधिकारियों को प्रत्येक पांच वर्ष पर राजकीय दौरे के लिए भेजा जाता था। इस क्रम में वे लोगों को धम्म के विषय में प्रशिक्षित करते थे। बोंगार्ड-लेविन (1971: 115) का मानना है कि अभिलेखों में वर्णित रज्जुक वो अधिकारी थे जिनकी तुलना मेगस्थनीज के वृत्तांत में उद्धृत् एग्रोनोगॉई नामक अधिकारी से की जा सकती है। रज्जुक मूलत: भू-राजस्व से जुड़े अधिकारी थे। रज्जुक शब्द ही 'रज्जु' से लिया जान पड़ता है जिसका अर्थ होता है 'रस्सी'। जिनके द्वारा भूमि की माप ली जाती थी। हो सकता है मूल रूप से रज्जुक भूमि के नाप से जुड़े हुए अधिकारी हों किन्तु अशोक के काल से रज्जुक उच्चस्तरीय अधिकारी के रूप में बहाल किए जाने लगे जो लोककल्याण के कार्यों से जुड़ गए। अशोक के काल से इनको न्यायिक अधिकार भी दिये गये और ये धम्म के प्रचार-प्रसार से भी जुड़ गये। *अर्थशास्त्र* में युक्त संभाग या काडर के अधिकारी का उल्लेख मिलता है किन्तु रज्जुक का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में एक विस्तृत प्रशासनिक संरचना का वर्णन मिलता है। ग्रामीण प्रशासन के विषय में कौटिल्य का सुझाव है कि सम्राट को स्थानीय स्तर पर एक अधिकारी जिसे स्थानीय कहा जाए, नियुक्त करना चाहिए जो प्राय: 800 गांवों की देख-रेख कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'द्रोणमुख' एक दूसरी प्रशासनिक इकाई है जिसमें 400 गांवों का प्रशासन, कर-वाटिका 200 गांवों के प्रशासन 'संग्रहण' दस गांवों के प्रशासन से जुड़ी इकाई है। इस आधार पर ग्रामीण संगठन का उल्लेख मिलता है। स्थानिक नामक प्रशासनिक अधिकारी के अधिकार क्षेत्र में 'स्थानिक' नामक प्रशासनिक इकाई थी। उसकी तुलना आधुनिक जिला या जनपद से की जा सकती है। पाँच से दस गांवों के ऊपर एक गोप नियुक्त किया जाता था जो स्थानिक के अधीनस्थ अधिकारी होते थे। *अर्थशास्त्र* के ग्रामीण प्रशासन को ध्यान से देखें तो गांव का मुखिया ग्रामिक कहलाता था। ग्राम-वृद्धों की ग्रामीण प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

प्राथमिक स्रोत

शिलालेख संख्या-6 (गिरनार संस्करण)

देवानंपियदसी ऐसा निवेदित करते हैं:

मुझसे पहले राज्य कार्यों का निष्पादन एवं अन्य प्रतिवेदनों पर कार्यवाही हर समय नहीं की जाती थी, किन्तु अपने आने के बाद मैंने अग्रलिखित व्यवस्था की है—प्रतिवेदकों की नियुक्ति प्रत्येक स्थान पर की गई है। उनको निर्देश दिया गया है कि जनता से जुड़े किसी भी विषय को किसी भी समय किसी स्थान पर मेरे समक्ष रखा जा सकता है—क्यों नहीं मैं भोजन करता रहूँ, अपने अंत: पुर में विश्राम करता रहूँ, अथवा गोशाला में रहूँ, पालकी में रहूँ या बगीचे में रहूँ। अब मैं प्रजा के कार्यों के निष्पादन के लिए हर जगह उपलब्ध हूँ। मेरे द्वारा प्रदत्त दान या मौखिक उद्घोषणाओं के रूप में प्रेषित किये गए अन्य आदेश परिषद् के सदस्यों के बीच कोई विवाद या अनिर्णय की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो उनको तत्क्षण मुझको प्रतिवेदित किये जाने का आदेश है। किसी भी जगह किसी भी क्षण। ऐसे मैंने आदेश दे रखे हैं।

राजकार्यों के निष्पादन की दिशा में किये गए अपने प्रयासों से मैं कभी संतुष्ट नहीं होता हूँ क्योंकि लोक कल्याण की दिशा में समस्त प्रजा का उद्धार करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक मनुष्य के कल्याण से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई कर्त्तव्य नहीं है। और इस दिशा में मैं जो भी प्रयत्न करता हूँ वह इसलिए कि सृष्टि के सभी जीवों का मेरे ऊपर एक ऋण है कि शायद उनको इस जीवन में कुछ खुशी दे सकूँ और इस जीवन के बाद भी उन्हें स्वर्ग में स्थान मिल सके।

धम्म के इस अभिलेख को निर्गत करने के पीछे मेरा उद्देश्य अधोलिखित है— मेरे पौत्र और प्रपौत्र, आने वाली संततियों की पीढ़ी लोक कल्याण के कार्यों के लिए प्रतिबद्ध रहें, किन्तु बिना महान प्रयत्नों के इनकी उपलब्धि कठिन है।

स्रोत: हुल्ट्ज (1926), 1969: 12-73

अशोक के अभिलेखों में प्रतिवेदक और पुलेषनी का उल्लेख भी मिलता है जिनका सम्बंध सम्राट के विषय में बनती-बिगड़ती जन-धारणा पर नज़र रखने से था। प्रतिवेदक सामान्य रूप से वैसे प्रतिवेदन लाते थे जो गोपनीय शाखा से जुड़े होते थे। जबकि पुलिसानि बड़े अधिकारी कहे जा सकते हैं। मेगस्थनीज के आधार पर डियोडोरस ने एपिस्कोपई तथा एरियन और स्ट्रॉबो ने एफोरोइ इन दो अधिकारियों की चर्चा की है जिनकी तुलना हम पुलेषनी से कर सकते हैं। कौटिल्य के राज्य में दरअसल, गुप्तचर तंत्र की विस्तृत व्यवस्था की कल्पना की गई है। गुप्तचरों के दो प्रकार कहे जा सकते हैं एक 'संस्थ' जो एक स्थान पर टिके होते थे और एक 'संचार' जो घूम-घूमकर गुप्त जानकारी एकत्र करते थे।

मेगस्थनीज ने जिस नागरिक नगरीय प्रशासन का वर्णन किया है वह विशेष रूप से पाटलिपुत्र से जुड़ी हुई थी। वह पाँच सदस्य वाले छः समितियों की चर्चा करता है जो औद्योगिक, शिल्प, मनोरंजन तथा विदेशियों पर नजर रखना, जन्म तथा मृत्यु का रिकार्ड रखना, व्यवसाय व वाणिज्य पर नजर रखना विशेष रूप से माप-तौल पर तथा सामानों के क्रय विक्रय पर सार्वजनिक नियंत्रण रखना। छठा बाजार में बिकने वाले सामानों के क्रय की वसूली करना। अशोक के अभिलेखों में 'नगल-वियोहालक-महामात्त' की चर्चा भी है जो निश्चित रूप से नगरीय प्रशासन से जुड़े अधिकारी थे। *अर्थशास्त्र* इसके स्थान पर नगरक नामक अधिकारी का उल्लेख करता है जिसके अधीन स्थानिक और गोप कार्य करते थे।

अर्थशास्त्र के अनुसार, सप्तांग राज्य के पांचवे तत्व कोष को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए। कोष के अंतर्गत कृषि, पशुपालन और व्यवसाय तीनों आते थे। राज्य के कोष के लिए भूमि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। मेगास्थनीज के आधार पर डियोडोरस और स्ट्राबो ने भूमि का स्वामित्व सम्राट के अधीन माना है जो बहुत हद तक सही प्रतीत नहीं होता, क्योंकि *अर्थशास्त्र* स्पष्ट रूप से निजी स्वामित्व वाली भूमि और राजकीय स्वामित्व वाली भूमि की पृथक-पृथक चर्चा करता है। राजकीय स्वामित्व वाली भूमि का अधिकार 'सीताध्यक्ष' के अंतर्गत रखा गया है।

भूमि या क्षेत्र चूंकि सबसे कीमती वस्तु माने गए इसलिए उनके क्रय-विक्रय पर विशेष परिनियम लागू होते थे। क्षेत्रिक जहां भूमि का स्वामी होता था वहीं उपवश उसका भाड़ेदार। यदि भूमि से सम्बंधित विवाद में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जाता तो भूमि राज्य की हो जाती थी। लेकिन किसी भी स्रोत में यह चर्चा नहीं की गयी है कि कर नहीं देने की स्थिति में किसी की भूमि को राज्य ने अपने अधीन कर लिया हो। कौटिल्य के अनुसार, अर्धवटैया पर जिनको भूमि दी जाती थी वे अर्धआस्तिक कहलाते थे जबकि स्ववीरीयोजीवी वैसे किसान थे जो अपनी सेवा के बदले एक चौथाई या एक पांचवा भाग (कुल उपज का) रख लेते थे। ऐसा अंदाजा लगाया जा सकता है कि राजकीय भूमि पर अथवा निजी स्वामित्व वाली भूमि पर भी इस तरह 'वटैया' पर खेती देने की प्रथा थी।

मेगस्थनीज के लेखन के आधार पर बाद में जिन लोगों ने लिखा उनमें कर के सम्बंध में काफी मतभेद देखे जा सकते हैं। डियोडोरस के अनुसार, चूंकि सम्पूर्ण भूमि का स्वामी सम्राट था इसलिए किसानों को 'मिस्थौस' नामक कर देना पड़ता था। इसके अलावा वे उपज का एक चौथाई हिस्सा अतिरिक्त कर के रूप में राज्य को देते थे। स्ट्राबो के अनुसार, भी किसानों को मिस्थौस (भाड़ा) नामक कर देना पड़ता था और अपनी उपज का चौथाई भाग सम्राट को देना पड़ता था। एरियन के अनुसार, किसानों को 'फोरोस' नामक कर सम्राट को देना पड़ता था। यही स्थिति उसके अनुसार, स्वशासित नगरों अथवा पशुपालकों, शिल्पकारों, व्यवसायियों की भी रही होगी। *अर्थशास्त्र* तथा अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य में सम्राट को उपज का जो भाग देना पड़ता था उसे 'भाग' कहते थे जो कुल उपज का 1/6वाँ हिस्सा था। कौटिल्य ने और दूसरे तरह के करों का भी जिक्र किया है, जिसमें कर, बाली और उदकभाग प्रमुख थे। उदक वह कर था जो सिंचाई की सुविधा के बदले लिया जाता था। अशोक के रूमिन्दई स्तंभ लेख में यह लिखा गया कि लुम्बिनी के लोगों को बलि नहीं देना है और भाग का 1/6वाँ भाग के स्थान पर केवल 1/8वाँ भाग ही कर के रूप में देना है। इससे यह लगता है कि मौर्य साम्राज्य में स्थान-स्थान पर भूमि से जुड़े करों की भी चर्चा है जो राज्य के कोष कम हो जाने पर वसूला जा सकता था। वैसी स्थिति में नृत्य-संगीत से जुड़े व्यावसायिक लोगों तथा वेश्यालयों से भी कर वसूला जा सकता था। नगर से जुड़े करों में शुल्क प्रमुख था जो नगर में आने वाले सामानों तथा यहां से बाहर जाने वाले सामानों पर लगाया जाता था इसके अतिरिक्त स्थानीय निर्माताओं से उत्पाद कर भी लिया जाता था। कौटिल्य ने एक जगह सुझाव दिया कि कर के रूप में जो अनाज इकट्ठा होता है उसका भंडारण भी रखना चाहिए जो आपदा की स्थिति में काम आए। कौटिल्य ने किसानों और कृषि योग्य भूमि की सुरक्षा पर बहुत बल दिया है। *अर्थशास्त्र* 2.1.36 में कहा गया कि शत्रुओं के मारण या महामारी, अकाल जैसी स्थिति में प्रभावित होने के चलते प्रभावित भूमि को कर से मुक्त रखा जाना चाहिए। कौटिल्य ने वन क्षेत्र, चरागाह योग्य भूमि और धातु एवं अन्य खाद्यान्नों को राजकीय संपत्ति के रूप में अधिकृत किया है। खानों के अधिकारी को आकराध्यक्ष कहा गया है जो काफी महत्त्वपूर्ण पद प्रतीत होता है।

अर्थशास्त्र 2.2.1 के अनुसार, वैसी भूमि जो खेती के लिए उपयुक्त नहीं है उसे वेदों के अध्ययन के लिए, सन्यासियों एवं ब्राह्मणों को तथा सोम यज्ञ के सम्पादन के लिए दे देना चाहिए। *अर्थशास्त्र* 2.1.7 के अनुसार,

वंशानुगत भूमि दान वैसे ब्राह्मणों और पुराहितों को किया जाना चाहिए जो ऋत्विज, आचार्य या पुरोहित श्रेणी के हैं। वैसे अध्यक्ष, लेखाकार गोप, स्थानिक, घोड़े एवं हाथी के प्रशिक्षक इत्यादि के लिए भी भूमि दान की व्यवस्था *अर्थशास्त्र* में की गयी है। इस प्रकार के दान की भूमि का अन्यथा उपयोग नहीं किया जा सकता था। हालांकि, मेगस्थनीज के लेखन के आधार पर भूमि दान की कोई चर्चा नहीं देखी जाती किन्तु कम से कम स्ट्रॉबो का ऐसा मानना है कि ब्राह्मणों से भूमि कर या कोई अन्य कर नहीं लिया जाता था। अशोक ने अपने अभिलेखों में कभी भूमि दान की चर्चा नहीं की है लेकिन स्तंभ लेख संख्या-7 में उसके द्वारा तथा राज परिवार के अन्य सदस्यों के द्वारा कुछ दानों की चर्चा है जिसकी प्रकृति स्पष्ट नहीं है। लघुशिलालेख या लघुस्तंभलेख संख्या-3, जो इलाहाबाद-कोसम स्तंभ पर अंकित है, चर्चा है। इसके अतिरिक्त अशोक और उसके उत्तराधिकारी दशरथ के द्वारा बाराबार और नागार्जुनी पहाड़ियों पर आजीविक को दिए गए दानों की भी चर्चा है।

अर्थशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह कही जा सकती है कि उसमें राज्य के अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण और आर्थिक प्रक्रिया में उसकी सहभागिता की विशद कल्पना की गयी है (कांग्ले, 1965: 166-94)। हो सकता है कि मौर्य राज्य इस प्रकार अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने की स्थिति में न रहा हो फिर भी ऐसी कल्पना समकालीन साहित्य में निश्चित रूप से आकर्षक प्रतीत होती है। पहली बार किसी क्षेत्र में कृषि करना, या उसको बसाना यह राज्य का प्रमुख कार्य था। *अर्थशास्त्र* में ऐसे कार्य को 'शून्य निवेश' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार की नयी भूमि में *अर्थशास्त्र* के अनुसार, 100-500 परिवार को बसाया जाना चाहिए जिनमें से अधिकांश शूद्र परिवार हों। *अर्थशास्त्र* में राज्य के द्वारा विष्टि का भी उल्लेख किया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ यह माना जा सकता है कि श्रम, शुल्क रहित कर से बलपूर्वक मुफ्त में ली गयी सेवा। हालांकि, मौर्य काल में विष्टि और इस प्रकार के बंधुआ मजदूरों की कल्पना ठीक नहीं लगती। कौटिल्य ने बाजार और वाणिज्य पर राज्य के सख्त नियंत्रण की कल्पना की है। 'पण्याध्यक्ष' नामक अधिकारी वाणिज्य पर नियंत्रण रखता था और वह सरकार या राज्य के द्वारा उत्पादित वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर भी नियंत्रण रखता था। बाजार पर नियंत्रण रखने वाला अधिकारी—संस्थाध्यक्ष, सिक्कों पर नियंत्रण रखने वाला अधिकारी—रूपदर्शक और माप-तौल की मानक स्थिति को बनाए रखने वाला अधिकारी—पौतवाध्यक्ष कहलाता था। *अर्थशास्त्र*, शिल्पकारों की श्रेणी संगठन पर भी सख्ती से राजकीय नियंत्रण की पैरवी करता है। कौटिल्य का जो राज्य है वो एक प्रकार का उद्यमी भी है।

राज्य के द्वारा उत्पादित वस्त्र-सूत्राध्यक्ष के नियंत्रण में थे और रथों का निर्माण–रथाध्यक्ष के अधीन होता था। इस प्रकार कौटिल्य ने अर्थव्यवस्था अथवा समाज पर राज्य के जिस हद तक नियंत्रण की कल्पना की है वो किसी भी प्राचीन राज्य के लिए बिल्कुल नया प्रतीत होता है। यदि हम मान लें कि ऐसा सख्त नियंत्रण राज्य के द्वारा नहीं रखा गया हो फिर भी कौटिल्य के द्वारा जिस राज्य की कल्पना की गई है वह मौर्य साम्राज्य निश्चित रूप से काफी शक्तिशाली तो होगा ही। दरअसल, *अर्थशास्त्र* में वास्तविक स्थिति की अपेक्षा उस आदर्श राज्य की कल्पना की है जो इस प्रकार का नियंत्रण रखने में सक्षम हो सके।

सप्तांग राज्य के अंतर्गत दुर्ग चौथा तत्व है। राज्य के सीमांत प्रदेशों में अवस्थित दुर्गों का अधिकारी अंतपाल कहलाता था। उसने राजधानी तथा मुख्य नगरों में बनाये जाने वाले मुख्य दुर्गों के विषय में भी काफी विस्तृत दर्शन प्रस्तुत किया है। इन दुर्गों से जुड़े आपदाकालीन निकासी द्वारों की चर्चा रोचक है। दुर्गों की रक्षा के लिए अश्वसेना, पैदल सेना, रथ सेना और हस्ति सेना चारों मुख्य थीं। कौटिल्य ने स्थायी सैन्य संरचना की कल्पना की है जो पूरी तरह से राज्य के द्वारा नियुक्त किया जाता हो और राज्य के द्वारा ही जिसका भरण-पोषण किया जाता हो। पत्याध्यक्ष, रथाध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्त्याध्यक्ष चार प्रमुख सैन्य टुकड़ियों के अधिकारी कहलाते थे। सेनापति और नायक सेना के उच्चाधिकारी थे। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि सेना में चारों वर्ण के लोगों को भर्ती किया जाना चाहिए। अस्त्र-शस्त्र के प्रशिक्षण के अतिरिक्त जादुई, धार्मिक प्रवृत्तियों और उनके प्रशिक्षण पर भी कौटिल्य ने प्रकाश डाला है। प्रश्न यह भी है कि क्या कौटिल्य ने जिस प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था और सैन्य प्रशासन की बात कही है क्या उसकी पुष्टि अन्य स्रोतों में मिलती है। मेगस्थनीज ने सैन्य संगठन के विषय में वैसी ही कल्पना की है जैसा कि उसने नगर प्रशासन के सम्बंध में किया था। मेगस्थनीज के अनुसार, छः समितियां और प्रत्येक समितियों में पांच सदस्यों वाली सैन्य प्रशासनिक संरचना थीं। पैदल सेना, रथ सेना, अश्व सेना या हस्ति सेना के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने एक नौसेना और सैन्य यातायात से जुड़ी एक विशेष टुकड़ी का भी उल्लेख किया है। कौटिल्य ने नौ सेना की बात नहीं की थी। अशोक के अभिलेखों में कहीं भी सैन्य प्रशासन के विषय में कुछ नहीं कहा गया है और यह आश्चर्य की बात है। अशोक के अभिलेखों में निश्चित रूप से मौर्य राज्य के सैन्य नीति के सम्बंध में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ देखा जा सकता है। अशोक के शिलालेख संख्या-13 के अनुसार, कलिंग के युद्ध के बाद केवल एक तरह के युद्ध के विजय की कल्पना की जाने लगी, वह थी धम्म विजय की नीति। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि दरअसल, सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में कलिंग युद्ध के पश्चात् या कलिंग विजय के पश्चात् कुछ भी नया जीतने को नहीं बचा था। उनका ऐसा मानना है कि अशोक से जुड़ा शांति का मार्ग या सैन्य

व्यवस्था पर बल नहीं देना जैसी बातों को काफी बढ़ा-चढ़ाकर रखा गया है क्योंकि अशोक ने कभी भी सेना को निरस्त करने या उसे प्रभाव शून्य बना देने की चर्चा नहीं की है। शिलालेख-13 में ही अशोक ने सीमांत प्रदेशों के वनवासियों को संबोधित करते हुए उनके हठधर्मिता के विरूद्ध कड़ी चेतावनी दी है। ऐसा माना जा सकता है कि अशोक के द्वारा युद्ध की नीति का परित्याग एक महत्त्वपूर्ण नैतिक विकल्प था और इस बात से भी पूरी तरह

सम्बंधित परिचर्चा

मौर्य राज्य और वनवासी

जनजातियों तथा वनवासियों के इतिहास को जिन स्रोतों से उद्धृत किया जाता है उन स्रोतों का दृष्टिकोण सामान्य रूप से उनके प्रति बहुत सहानुभूति नहीं रखता। डी.डी. कोशाम्बी द्वारा मौर्य सम्राटों के अधीन साम्राज्य एवं कृषि के विस्तार के सम्बंध में किये गये अवलोकन को आगे बढ़ाते हुए अलोक पराशर सेन का अध्ययन है कि प्राचीन भारत का चाहे कितना भी शक्तिशाली साम्राज्य क्यों न हो उसे जनसंख्या की जातीय विविधताओं के बीच सामंजस्य की स्थापना करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनका मानना है कि मौर्य काल में वन्य प्रदेशों में रहने वाले जनजातियों को पहली बार जिस प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक और वैचारिक व्यवस्था की परिधि में सम्मिलित किया गया वह उनके लिए बिल्कुल नया अनुभव था। दूसरी ओर राज्य ने भी अपनी नयी अनिवार्यताओं को देखते हुए वनवासियों को अनुशासित करने तथा मुख्य धारा में सम्मिलित करने का निर्णय लिया जो पहले से चली आ रही राज्य द्वारा वनवासियों को साम्राज्य की क्षेत्रिय परिधि से पृथक करने की नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था।

अर्थशास्त्र में, वन में रहने वाली जनजातियों के लिए भी एक अर्थापकर्शक अथवा निंदात्मक सामान्य शब्दावली–मलेच्छ जाति का प्रयोग हुआ है। किन्तु इनके अन्तर्गत विद्यमान विभिन्न समुदायों के लिए विविध सम्बोधनों का प्रयोग किया गया है। वन में रहने वाली असभ्य जनजातियों के लिए 'आटविक' शब्द का प्रयोग हुआ है जो राज्य के लिए एक समस्या के रूप में देखी जाती थी। उनके विषय में ऐसा वर्णन किया गया है कि वे स्वतंत्रताप्रिय, सुसंगठित तथा साहसी लोग हैं तथा हत्या और लूट-मार जिनका व्यवसाय है। इसी प्रकार अरण्यचर शब्द से बिल्कुल पृथक धारणा का बोध होता है। *अर्थशास्त्र* में ऐसी प्रस्तावना है कि सीमान्त प्रदेश के प्रान्तों में अवस्थित किलों का नेतृत्व सीमान्त प्रदेश के अधिकारियों के हाथों में ही दिया जाना चाहिए तथा सीमान्त प्रदेश के ऐसे किलों और राज्य की सीमा के बीच सुरक्षा का दायित्व चाण्डाल, वगुरिक अथवा शाबर पुलिन्द तथा अन्य अरण्यचर को दिया जाना चाहिए। कौटिल्य ने बाहरिकों की भी चर्चा की है जो उनके अनुसार, आपराधिक रूझान रखने वाली आक्रामक जनजातियां हैं। *अर्थशास्त्र* में यह सुझाव दिया गया है कि वन्य प्रदेशों में रहने वाली जनजातियों पर चौकसी रखने के लिए सन्यासियों के वेश में गुप्तचरों को नियुक्त किया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर इन जनजातियों के सरदारों को रिश्वत आदि देकर वश में रखने का प्रयास भी किया जाना चाहिए।

एक ओर जहाँ कौटिल्य अरण्यचर को आदर्श जनपद का अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं वहीं वन्य संसाधनों को विशेष महत्त्व भी देते हैं। वन्य उत्पादों पर राज्य का एकाधिकार माना गया है। लकड़ी तथा लोहा, तांबा तथा अभ्रक जैसे संसाधन द्रव्यवन के अंतर्गत आते हैं। हस्तिवन अथवा ऐसा जंगल जहाँ से हाथियों को प्राप्त किया जाता है, उनका विशेष महत्त्व है। *अर्थशास्त्र* में यह भी स्वीकृति दी गई है कि राज्य के हित में अरण्यचरों का अटविबल (वन्य सैनिक), गुप्तचर अथवा पेशेवर हत्यारों के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

अशोक के अभिलेखों में ऐसे अनेक संदर्भ उद्धरित हैं, जिसमें आम राज्य और इन जनजातियों के बीच संबध का वर्णन है। 13वें शिलालेख में वन प्रदेश में रहने वाली जनजातियों को चेतावनी दी गई है कि उनको अपने किए के लिए प्रायश्चित करना चाहिए क्योंकि वे ऐसे कृत्यों के लिए क्षमा की अपेक्षा नहीं कर सकते जो क्षम्य नहीं हो। ऐसी चेतावनी उन उपद्रवी जनजातियों को संबोधित करते हुए दी गई है जो साम्राज्य के अधीन रहने वाले पितिनिकों तथा आंध्रों जैसे उन जनजातियों से भिन्न हैं, जिनकी इसी शिलालेख में धम्म का अनुपालन करने वाले समाज समुदायों के रूप में प्रशंसा की गई है। एक पृथक अभिलेख में राजा ने अपील किया है कि सीमान्त प्रदेश में रहने वाले अविजित समुदाय उससे भयभीत नहीं हो तथा वे धम्म का अनुपालन करें। धम्म महामात्रों के कर्त्तव्यों में यह भी वांछित है कि वे सीमान्त प्रदेश के समुदायों में राज्य के प्रति विश्वास तथा उनको धम्म के प्रति प्रेरित करें। 5वें शिलालेख में बहुत प्रकार के वन्य प्रजातियों को मारने तथा जंगलों में आग लगाने पर भी प्रतिबंध लगाया गया है। यह अशोक द्वारा उनके संरक्षण के प्रति उसकी चेतना का बोध कराता है। अशोक की अहिंसात्मक नीतियां वनों में रहने वाली जनसंख्या को किस प्रकार प्रभावित करती होगी यह अलग विषय है, क्योंकि सामान्य रूप से ऐसे लोग मछली मारकर तथा शिकार करके अपना जीविकोपार्जन करते थे। ऐसी परिस्थिति में अशोक द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों के वास्तविक क्रियान्वयन की अपनी सीमाएं रही होंगी।

स्रोत: पराशर-सेन, 1998

इंकार नहीं किया जा सकता कि अशोक के द्वारा बनायी गई नयी नीतियों से सेना पर कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ा ही होगा।

दण्ड राज्य की छठी प्रकृति है। दण्ड को राज्य की शक्ति या न्याय, व्यवस्था से जोड़ा जा सकता है। *अर्थशास्त्र* में न्यायिक प्रशासन पर विस्तृत चर्चा की गयी है। *अर्थशास्त्र* में धर्मस्थ न्यायपालिका के अधिकारी थे तथा प्रदेष्टृ वैसे अधिकारी थे जो अपराध को रोकने के लिए जिम्मेदार थे। कौटिल्य का न्याय अपराध की प्रकृति और उसकी गंभीरता और वस्तुस्थिति पर निर्भर करता था तथा दण्ड वर्ण के आधार पर भी प्रभावित होता था। उदाहरण के लिए, यदि किसी क्षत्रिय ने किसी ब्राह्मण स्त्री के साथ कोई अपराध किया तो उसको कड़ी सजा दी जा सकती थी। यदि वही अपराध ब्राह्मण स्त्री के साथ किसी वैश्य ने किया तो उसकी पूरी संपत्ति को जब्त किया जा सकता था। जबकि वही अपराध किसी शूद्र के द्वारा किये जाने की स्थिति में उसको जीवित जला दिया जा सकता था (*अर्थशास्त्र*, 4.13.32)। हालांकि, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि *अर्थशास्त्र* द्वारा वर्णित सभी तथ्य व्यवहार में आते हों ऐसा मान लेना उचित नहीं होगा क्योंकि यह एक निर्देशात्मक शास्त्र है।

अशोक के अभिलेखों में 'धर्मास्थ' की कहीं चर्चा नहीं है। नगरों में न्यायिक प्रशासन महामातों के हाथ में था। अशोक ने इस बात पर बल दिया कि जो न्याय व्यवस्था है वह निश्चित रूप से बेकार के अपराध या निरर्थक कारणों से किसी को दण्डित नहीं कर सके। अशोक ने यह भी चर्चा की है कि प्रत्येक पांच वर्ष बाद उसके द्वारा अपेक्षित न्याय व्यवस्था के निरीक्षण के लिए एक ऐसे अधिकारी को राजकीय दौरे पर भेजा जाना है जो अपने स्वभाव से दूसरों के प्रति सहानुभूति रखता हो और काफी कड़ा (सख्त) न हो। अशोक ने उज्जैनी के राष्ट्रीय या गवर्नर से यह अपेक्षा की है कि उसे प्रत्येक तीन वर्ष पर, इस प्रकार के राजकीय दौरे पर अपने अधिकारी को भेजना चाहिए। स्तंभ राज्यदेश संख्या 4 में रज्जुक नामक अधिकारी के न्यायिक कार्य क्षेत्र के विषय में प्रकाश डाला गया है।

अशोक के पांचवे स्तंभ लेख में यह उद्धृत किया गया है कि प्रत्येक वर्ष बहुत बड़ी संख्या में कैदियों को रिहा किया जाता था और उसके राज्यकाल में ऐसा 25 बार किया गया। उसके स्तंभ लेख संख्या चार में यह उल्लेख है कि अशोक ने न्यायिक प्रक्रियाओं में समता की नीति को बहाल किया। इसकी व्याख्या करते हुए कुछ विद्वानों का मानना है कि उसने वर्ण के आधार पर किए गए या अपनाए गए भिन्नताओं को निरस्त कर दिया और सम्पूर्ण राज्य में एक प्रकार की समान न्यायनीति का अनुपालन प्रारंभ किया। हालांकि, समता के विषय में सबसे सरल व्याख्या यह होगी कि न्याय-व्यवस्था में काफी सुधार लाया गया और समान रूप से एक प्रकार की अच्छी व्यवस्था स्थापित की गई। इसी राज्यादेश में सम्मिलित है कि मृत्युदंड की स्थिति में दंडित व्यक्ति को तीन दिनों की अवधि प्रदान की जानी चाहिए जिस अवधि में वह उपवास कर सके और उसके बदले उसके परिवार वाले दान इत्यादि कर्म कर सकें ताकि उस अपराधी का दूसरा जीवन सार्थक हो जाए। हालांकि, इसी तथ्य के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मृत्युदंड समाप्त नहीं किया गया था।

सप्तांग राज्य में मित्र सातवां तत्व है। कौटिल्य ने विजीगिशु के दृष्टिकोण से अंत:राज्य की नीति या विदेश नीति पर विचार किया है। उसने एक राजा मण्डल की चर्चा की है जिसमें विजिगीषु ('विजय का इच्छुक') अरि अथवा शत्रु, मध्यम और उदासीन चार प्रकार के तत्वों का उल्लेख किया गया है। विभिन्न परिस्थितियों से जूझने के लिए उसने सम्राट के द्वारा 6 नीतियों या षड्गुण का उल्लेख किया है। यदि शत्रु मजबूत हो तो उसके साथ संधि कर लेनी चाहिए और अगर शत्रु कमजोर हो तो विग्रह या दुश्मनी की नीति का अनुपालन किया जा सकता है। यदि शत्रु बराबर शक्ति वाला हो तो आसन्न की नीति का निर्वाह होना चाहिए अर्थात जिसमें कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए। यदि शत्रु बहुत कमजोर हो तो यान अथवा सैन्य अभियान की नीति का पालन उचित होता है। यदि शत्रु से बहुत कमजोर हों तो संश्रय नीति या उसके आश्रय में चले जाने की नीति का अनुपालन किया जाना चाहिए। यदि किसी शत्रु को किसी संधि मित्र की सहायता से देखना है तो उस नीति को द्वैधीभाव अर्थात् एक राजा के साथ संधि और दूसरे राजा के साथ विग्रह की नीति का अनुपालन किया जाता है।

कौटिल्य ने तीन प्रकार के विजेताओं की कल्पना की है—(1) असुर-विजयी, (2) लोभ-विजयी और (3) धर्म-विजयी। जिसमें केवल धर्म विजय करने वाले राजा अपनी प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए और यश के लिए युद्ध करते हैं। दूसरे विजय में राजा लोभ अथवा विनाशकारी प्रवृत्तियों से प्रेरित होते हैं।

मौर्य ने कौटिल्य द्वारा दिये गए सैद्धांतिक विमर्शों का कितना पालन किया यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। चन्द्रगुप्त मौर्य जिसने सबसे ज्यादा सैन्य विजय किया उसके सैन्य अभियानों के विषय में बहुत कम मालूम है और विशेष रूप से पराजित लोगों के साथ उसने कैसा व्यवहार किया इसके विषय में भी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। अशोक ने युद्ध नीति को बदल दिया। अशोक की नीति *अर्थशास्त्र* में वर्णित राजा की नीतियों से बिल्कुल विपरीत है क्योंकि *अर्थशास्त्र* में और अशोक के अभिलेखों में जिस धर्म या धम्म विजय की बात कही गयी है, दोनों के समझ में काफी अंतर है। *अर्थशास्त्र* के अनुसार, युद्ध में विजय एक महत्त्वपूर्ण कार्य है और धर्म-विजय इसका

सबसे श्रेष्ठ रूप है। अशोक के अनुसार, धम्म विजय पूरी तरह से युद्ध की नीति का परित्याग करना हो जाता है। कौटिल्य ने विभिन्न स्तर के राज्य प्रतिनिधियों की चर्चा की है। हमको ज्ञात है कि हेलेनियस राजाओं ने अपने-अपने राजनायकों को मौर्य दरबार में भेजा। डैमेकस, एंटीओकस सीरिया के शासक का राजदूत था। मेगस्थनीज सेल्यूकस निकेटर का राजदूत था। अशोक ने धम्म के प्रचार-प्रसार के लिए तथा बौद्ध भिक्षुओं को कई राज्यों में भेजा और विशेषकर के निकटवर्ती राज्यों में उसने अपने लोगों को भेजा।

अशोक और बौद्ध धर्म

(Ashoka and Buddhism)

अशोक का बौद्ध धर्म के साथ सम्बंध बौद्ध ग्रंथों में, बौद्ध साहित्य में और अशोक के अभिलेखों में प्रतिबिंबित होता है। बौद्ध परंपरा के अनुसार, अशोक एक महान सम्राट था और उसके साथ वह एक बौद्ध उपासक भी था। अशोक का संघ के साथ गहरा सम्बंध तो था ही और साथ ही साथ अपने समकालीन सभी प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं के साथ भी उसका सम्बंध था जिसमें उपगुप्त भी सम्मिलित है जो कई बौद्ध किवंदतियों में मिलती है। बुद्ध के स्मृति अवशेषों के पुनः वितरण का और उनके स्तूपों में स्थापना का श्रेय अशोक को जाता है। अशोक को 84,000 स्तूपों और विहारों के निर्माण का श्रेय दिया गया है। अशोक के बारे में बौद्ध साहित्य में यह वर्णित है कि उसने बुद्ध के जीवन से जुड़े सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों का परिभ्रमण किया और उन स्थानों पर स्मारकों का निर्माण किया। जिससे भविष्य में आने वाले बौद्ध यात्री उससे लाभान्वित हो सकें। बुद्ध की शिक्षा का दूर-देशों तक प्रचार अशोक ने करवाया। जैसा कि हम देखेंगे कि अशोक ने भारतीय उपमहाद्वीप में अनेक बौद्ध संरचनाओं के निर्माण में महती भूमिका का निर्वहन किया है। हम अशोक के अभिलेखों में प्रतिबिंबित धम्म तथा बौद्ध धम्म दोनों के सम्बंध का

प्राथमिक स्रोत

लघु शिलालेख (रूपनाथ संस्करण)

देवानांप्रिय ऐसा निवेदित करते हैं:

अभी ढाई वर्ष बीते हैं जब मैं संकल्पित रूप से एक शाक्य (बुद्ध का सामान्य अनुयायी) बना हूँ। प्रारंभ में मैं बहुत समर्पित नहीं था, किन्तु एक वर्ष से कुछ अधिक बीतने पर मैं संघ के काफी निकट आ गया और उसके प्रति पूरी तरह समर्पित हो गया। उस समय जम्बू द्वीप के लोगों में बहुत सारे देवताओं की लोकप्रियता नहीं थी। मेरे प्रयासों से अब उनको सभी ने स्वीकार कर लिया है। यह मेरे प्रयासों का परिणाम है।

ऐसे परिणामों की प्राप्ति केवल बड़े पदों पर आसीन लोगों के द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती बल्कि एक दरिद्र मनुष्य, जिसमें समर्पण की भावना हो वह स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है।

यह उद्घोषणा निम्नलिखित प्रयोजनों से निर्गत की जा रही है—दरिद्र तथा सम्पन्न दोनों ही समर्पित हो सकते हैं तथा मेरे साम्राज्य की सीमाओं के बाहर रहने वाले लोग भी इसकी अनुभूति कर सकते हैं। यदि संकल्प के साथ दीर्घ अवधि तक वे समर्पित रह सकें। मेरे द्वारा उपलब्ध कराए गए मार्ग से इस दिशा में डेढ़ गुना कम अवधि में ही प्रगति की जा सकती है।

और आप (मेरे अधिकारीगण) इस तथ्य को अवसर आने पर पत्थरों में अवश्य उत्कीर्ण करें। मेरे साम्राज्य में जहाँ कहीं भी पत्थर की शिलाएं उपलब्ध हैं उन शिलाओं पर इसको अवश्य उत्कीर्ण कराएं तथा इस उद्घोषणा के निर्देशों के अनुरूप अपने अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र में सभी स्थानों पर एक अधिकारी को इसके प्रचार के लिए नियुक्त करें।

अशोक के हर उद्घोषणा के विभिन्न संस्करणों में सम्राट को 'शाक्य' बुद्ध अथवा उपासक के रूप में संबोधित किया गया है। इस अभिलेख में प्रयोग की गई संघम् उपेति वाक्य की अलग-अलग व्याख्या अशोक द्वारा संघ में सम्मिलित होने के रूप में की गई है, किन्तु ऐसा समझना अधिक उपयुक्त होगा कि अशोक निश्चित रूप से संघ की ओर आकृष्ट हुए। इस अभिलेख की अंतिम पंक्ति काफी रोचक है। इस अभिलेख के अहरौरा संस्करण में एक अतिरिक्त जटिल वाक्यांश है: अम मामचे बुद्धसा शरीर आलोढ़। कुछ विद्वानों की व्याख्या के अनुसार, इस वाक्यांश से इंगित होता है कि बुद्ध के किसी स्मृति चिह्न की स्थापना (स्तूप निर्माण) के क्रम में अशोक ने 256 रातें भ्रमण में बितायी हैं। किन्तु इस पुस्तक में पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि इस वाक्यांश की व्याख्या बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद विगत् वर्षों की संख्या के रूप में भी की जा सकती है।

स्रोतः हुल्ट्ज (1925), 1969: 167-69; सरकार, 1966

भी परीक्षण करेंगे। यह तय है कि अशोक बुद्ध की शिक्षाओं से अत्यंत प्रभावित था। इसके साथ बौद्ध संघ पर भी उसका गहरा प्रभुत्व था किन्तु इसकी चर्चा कहीं नहीं है कि वह बौद्ध संघ का एक सदस्य था।

अशोक ने अपने कुछ अभिलेखों में संकेत दिया है कि वह बुद्ध की शिक्षाओं का अनुयायी था। लघुशिला लेख संख्या 1 में अशोक का कथन है कि दो-ढाई साल से वह सामान्य बौद्ध उपासक का जीवन जी रहा था। उसने स्वीकार किया है कि पहले साल उसने धम्म की दिशा में कोई विशेष प्रयास नहीं किया किन्तु विगत् एक वर्ष से वह संघ के काफी निकट आया है और बौद्ध धर्म के उपासक के रूप में वह और आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। अशोक का लघुशिलालेख 3 केवल बैराट या भाबरू से प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख में अशोक संघ का अभिवादन करता है। वह बुद्ध, धम्म तथा संघ के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा को अभिव्यक्त करता है तथा बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों तथा सामान्य उपासकों से आग्रह करता है कि वह बुद्ध धर्म से जुड़े छः साहित्यों को अवश्य पढ़ें। उसके द्वारा बताए गए छह बौद्ध ग्रंथ बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण रचना है। अशोक का संघ के साथ निकट सम्बंध उसके द्वारा निर्गत किए गए स्किज़्म एडिक्ट (धर्म विभाजन राजादेश) से भी पता चलता है। इस धर्मविभाजन एलिकूट में वह बौद्ध संघ के वैसे अनुयायियों को चेतावनी देता है जो मूल बौद्ध धर्म से थोड़ा हटकर चलने का प्रयास कर रहे थे।

किन्तु बौद्ध साहित्यों में अशोक को एक क्रूर व्यक्ति के रूप में तब तक दर्शाया गया है जब तक उसने बौद्ध धर्म को स्वीकार नहीं कर लिया और बौद्ध धर्म में 'धर्मान्तरण' की घटना लगभग आकस्मिक परिस्थितियों में हुई ऐसा भी बतलाया गया है। यहां 'धर्मान्तरण' शब्द को इसलिए घेरा गया है क्योंकि उस काल में इस शब्द का अभिप्राय अलग-अलग धार्मिक या सांप्रदायिक अस्तित्व के रूप में नहीं देखा जा सकता जिनके बीच कोई एकदम स्पष्ट पृथक रेखाएं खींची जा सकती हो। *महावंश* और *दीपवंश* के अनुसार, अशोक ने बौद्ध धर्म को अपने एक भतीजे निग्रोध के प्रभाव में स्वीकार किया जो सात वर्ष की आयु में बौद्ध भिक्षु बन चुका था। उसी ने अशोक को बौद्ध धर्म की शिक्षा दी। जबकि *दिव्यादान* में, जिसका समर्थन श्वैन ज़ंग का वृत्तांत भी करता है। यह कहा गया है कि बौद्ध धर्म में धर्मान्तरण अशोक ने समुद्र नाम के एक व्यापारी से भिक्षु बने हुए व्यक्ति के प्रभाव में किया। जिसको अशोक के यातना कक्ष में काफी यातनाएं दी गईं तब भी वह शांत और स्थिर बना रहा था। *अशोकावदान* इन दोनों कथाओं को मिलाकर कहता है कि अशोक बौद्ध धर्म में परिवर्तित हुआ एक समुद्र नाम के 12 वर्षीय व्यापारी के पुत्र के प्रभाव में। इस प्रकार बौद्ध ग्रंथों में भी अशोक के बौद्ध धर्म में परिवर्तित बौद्ध धर्म को स्वीकार करने में अलग-अलग कहानियां प्रचलित हैं।

अशोक के अभिलेखों में इस प्रकार की घटनाओं की चर्चा ही नहीं की गयी है। अशोक का प्रसिद्ध 13वां शिलालेख कलिंग युद्ध का वर्णन करता है। जबकि किसी भी बौद्ध ग्रंथ में इस युद्ध की चर्चा नहीं की गयी है। यह युद्ध अशोक के राज्याभिषेक के नौ वर्ष बाद लड़ा गया। अशोक के अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस युद्ध के भीषण परिणामों के कारण अशोक ने अपनी युद्ध नीति का परित्याग कर दिया और शांति के पथ को स्वीकार किया। अशोक के लघु शिलालेख संख्या 1 से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का बौद्ध धर्म की तरफ खिंचाव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी बल्कि यह धीरे-धीरे विकसित हुआ। वैसे भी जब सम्राट अशोक स्वयं इन तथ्यों को महत्त्व दे रहा है तो किसी भी बौद्ध ग्रंथ की अपेक्षा उसका आधिकारिक महत्त्व अधिक हो जाता है।

बौद्ध धर्म में ही अशोक की व्यक्तिगत आस्था रही थी। इस बात का प्रमाण हमें रूमिनदई और निगली सागर अभिलेखों से भी मिलता है। रूमिनदई शिलालेख में यह कहा गया है कि अपने राज्याभिषेक के बीस वर्षों बाद अशोक ने लुम्बिनी की यात्रा की और वहां पर उपासना की। इस स्थान पर उसने एक प्रस्तरीय प्राचीर का निर्माण करवाया और एक स्मारक के रूप
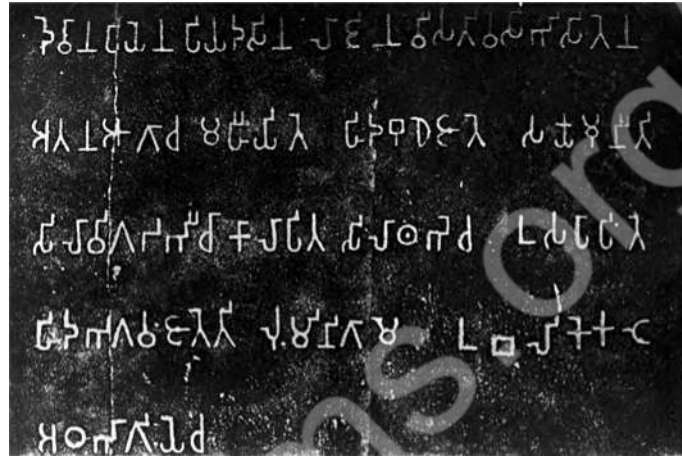
पाठ्यः देवानांपियेन पियदसिन लजिन
विशति-वसभिसितेन
अतन अगछ महियिते हिद बुधे जाते
शाक्यमुनि ति
शील विगदभि च कलपित शील-थभे च
उसपपीते।
हिद भगवम जाते ति लुम्मिनि गामे
उबालिके कटे
अथ-भागयिये च

अनुवादः जब राजा देवानां प्रिय पियदसि के राज्याभिषेक के बीस वर्ष बीत चुके थे, वे स्वयं यहां आए और अर्चना की, क्योंकि यहां बुद्ध शाक्यमुनि का जन्म हुआ था। उन्होंने यहां एक प्रस्तरीय अहाता तथा एक स्तंभ शिलालेख दोनों की स्थापना की ताकि लोग जान सकें कि यहां धन्य बुद्ध का जन्म हुआ था। उन्होंने लुम्मिनि गांव को बलि से मुक्त कर दिया तथा भाग का केवल 1/8 वां हिस्सा देय कर दिया।

रूमिनदेई स्तंभ अभिलेख (हुल्ड्ज [1925], 1969: 164–65)

में एक स्तंभ का भी निर्माण करवाया। इसमें यह भी चर्चा की गयी है कि लुम्बिनी के लोगों को अशोक ने करों से राहत दिलायी। निगली सागर स्तंभ अभिलेख अशोक के राज्याभिषेक के 14 वर्षों बाद निर्गत किया गया। अशोक ने यहां पर कोनगमन बुद्ध के स्मृति अवशेषों के लिए बने स्तूप का विस्तार किया। लगभग उसके आकार को दो गुणा कर दिया और अपने राज्याभिषेक के बीस वर्षों बाद उसने इस स्थान की व्यक्तिगत रूप से यात्रा की और एक स्तंभ का निर्माण करवाया।

पालि साहित्य में यह वर्णित है कि अशोक ने पाटलिपुत्र में एक विशाल बौद्ध संगीति का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता मोग्गलीपुत्त तिस्स ने की। इस संगीति का मुख्य उद्देश्य था कि बौद्ध संघ से जुड़े कुछ अस्वीकार व्यवहारों से बौद्ध संघ को मुक्त कराया जा सके। पहली बौद्ध संगीति राजगीर में हुई थी जो बुद्ध की मृत्यु के तुरंत बाद बुलायी गयी थी। दूसरी संगीति बुद्ध की मृत्यु के सौ वर्षों बाद वैशाली में आयोजित की गयी थी। इस प्रकार पाटलिपुत्र में आयोजित बौद्ध संगीति तीसरी बौद्ध संगीति थी। किन्तु यह भी आश्चर्य है कि इतने महत्त्वपूर्ण बौद्ध संगीति की चर्चा अशोक ने अपने अभिलेखों में नहीं की। इसकी एकाधिक व्याख्याएं की जा सकती हैं। पहला तो यह कि अशोक के काल में इस प्रकार की किसी भी संगीति का आयोजन नहीं किया गया था और पालि साहित्यों में इसकी दी गयी सूचना बिल्कुल निराधार है। दूसरा यह कि यह एक सामान्य बौद्ध सम्मेलन था जो मोग्गलीपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में बुलायी गयी थी तथा अशोक का इससे कोई विशेष लेना-देना नहीं था। एक तीसरी व्याख्या यह भी हो सकती है कि ऐसी दो संगीतियां या बौद्ध सम्मेलन बुलाए गए जिन्हें बाद की बौद्ध परंपराओं में एक साथ मिला दिया गया। अशोक के धर्म-विभाजन राज्यादेश (स्किज़्म एडीक्ट) में भी ऐसे अप्रत्यक्ष संकेत मिलते हैं कि अशोक के काल में किसी प्रकार के बौद्ध सम्मेलन को अवश्य बुलाया गया था। हेन्ज बैशैर (1982) का मानना है कि अशोक के प्रयासों से संघ के उन भिक्षु ओर भिक्षुणियों को निष्काषित किया गया जिन्होंने संघ के अनुशासन की अवहेलना की थी। उनका मानना है कि इस प्रकार की घटना के बाद बौद्ध संगीति के उपरांत कई बौद्ध मिशन को दूर क्षेत्रों के लिए भेजा गया। मज्झिम, कस्सपगोत, धुन्दीबिसर, सहदेव, मूलकदेव, इत्यादि बौद्ध भिक्षुओं को हिमालय क्षेत्र में भेजा गया। इनमें से दो के नाम सांची के स्तूप संख्या दो के स्मृति अवशेष कास्केट के ऊपर अंकित हैं। उत्तर-पश्चिम के योन क्षेत्र में महारक्खित को भेजा गया; मझान्तिक को कश्मीर और गांधार क्षेत्र में भेजा गया। महादेव को मध्य भारत के महिषमण्डल क्षेत्र में भेजा गया; यौनधम्मरखित को पश्चिम मालवा के अपरांतक क्षेत्र में भेजा गया; रखित को वनवासी तथा महाधर्मरखित को महारट्ठ (पश्चिम दक्कन) भेजा गया; सोना और उत्तर को सुवर्णभूमि (शायद दक्षिण पूर्वी एशिया के म्यांमार क्षेत्र) में भेजा गया तथा महिंद को श्रीलंका भेजा गया।

अशोक का धम्म

(Ashoka's Dhamma)

अशोक के अधिकांश अभिलेख धम्म अभिलेख हैं ('धम्म' शब्द 'धर्म' का प्राकृत रूप है)। स्तंम्भ अभिलेख संख्या छः के अनुसार, धम्म अभिलेखों का व्यवहार जिसे अशोक धम्मलिपि कहते हैं, उसके राज्याभिषेक के 12 वर्षों के बीत जाने के बाद शुरू हुआ। प्रायः इस समय से लेकर अपने राज्यकाल के अंत तक अशोक ने बड़े गहन और रुचि के साथ धम्म का प्रचार-प्रसार किया, उसकी व्याख्या की। धम्म के प्रति उसकी इस असाधारण आस्था के सम्बंध में केवल कल्पनाएं की जाती हैं क्योंकि ये सामान्य राजकीय कर्तव्यों से काफी हटकर हैं। हालांकि, धम्म के अभिलेखों में धम्म के विषय में काफी संक्षिप्त एवं सटीक व्याख्याएं उपलब्ध हैं, किन्तु इतिहासकारों ने इनके विषय में अलग-अलग संकल्पनाएं और धारणाएं प्रस्तुत की हैं। विशेषरूप से इतिहासकारों में यह मतभेद रहता है कि 'धम्म' का स्वरूप क्या था? अशोक के व्यक्तिगत आस्था के साथ उसका क्या सम्बंध था?

अशोक के धम्म के प्रमुख तत्वों में अहिंसा को निश्चित रूप से अथवा विशेष रूप से व्याख्यायित किया गया है। अशोक के शिलालेख संख्या एक में पशुवध पर निषेध की बात कही गयी है। विशेषकर कुछ विशेष अवसरों और उत्सवों पर पशुवध को निषिद्ध कर दिया है। इसके अतिरिक्त अशोक ने राजकीय रसोई घर में भी पशुओं के वध पर काफी प्रतिबंध लगाया है। अशोक के राज्याभिषेक के 26 वर्ष पश्चात् निर्गत किए गए स्तंभ अभिलेख संख्या पांच में पशुवध के निषेद्ध तथा अहिंसा से जुड़े अन्य तथ्यों का व्यापक प्रचलन दिखलाई पड़ता है। हालांकि, अहिंसा के जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य की इस स्तंभ अभिलेख में चर्चा या कल्पना की गयी है वह मौर्य साम्राज्य के विस्तृत क्षेत्र में पालन किया जाता होगा इसमें घोर संदेह है।

अच्छे नैतिक आचार और सामाजिक दायित्व धम्म के दो मूल तत्व प्रतीत होते हैं। शिलालेख 9 की शुरुआत विभिन्न उत्सवों की आलोचनाओं के साथ होती है, विशेष रूप से बीमार पड़ने की अवस्था में अथवा शादी-विवाह, जन्मोत्सव, यात्रा प्रारंभ करने इत्यादि में मनाए जाने वाले उत्सव और विशेष रूप से उसमें स्त्रियों की सहभागिता

प्राथमिक स्रोत

पांचवां शिलालेख (दिल्ली-तोपरा स्तंभ)

राजा देवानांप्रिय प्रियदर्शी ऐसा निवेदित करते हैं:

मेरे अभिषिक्त होने के 26 वर्षों पश्चात्, मेरे द्वारा अधोलिखित पशुओं के वध को प्रतिबंधित किया जाता है। तोता, मैना, अरूण, लाल हंस, नन्दिमुख, भूरे बंदर, चमगादड़, रानी चींटी, छोटे कछुए, बिना कांटों वाली मछली, वेदवायक, गंगा के पुपुतक, स्काट-मछली, स्थल कच्छप, साही मछली, गिलहरी, श्रृमर, स्वच्छंद घूमते साँप, इगुआना, गैंडा, सफेद पण्डुक, घरेलू कबूतर तथा वैसे चौपाएं जो या तो अनुपयोगी हैं या खाने योग्य नहीं हैं।

बकरी, दूध देने वाली गाय, दूध देने वाली सुअरी तथा उसके छ: महीने से कम उम्र वाले बच्चे भी वधनीय नहीं हैं। मुर्गों का कभी बधियाकरण नहीं हो सकता। पशुओं के लिए बने फूस के घरों को नहीं जलाया जा सकता।

निरर्थक कारणों से अथवा उसमें रहने वाले जीवों की हत्या के उद्देश्य से वनों को नहीं जलाया जा सकता। पशुओं को मारकर भोजन के रूप में दूसरे पशुओं को नहीं दिया जा सकता। चतुर्मास के तीन महिनों में तथा तिष्य पूर्णिमा के चतुर्दशी तथा उपवास के दिन इन तीन दिनों में तथा किसी भी उपवास की तिथि पर मछली पकड़ना और बेचना वर्जित है। उपरोक्त तिथियों में हस्ति वन के किसी भी श्रेणी के पशुओं को अथवा मछुआरों के द्वारा मछली मारे जाने पर रोक लगा दिया गया। कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि को तथा तिष्य और पुनर्वसु की पूर्णिमा और चतुर्दशी को, चतुर्मास के तीन महीने में तथा अन्य पर्वोत्सवों की तिथि को बैल अथवा बकरे, भेड़, सुअर और वैसे किसी भी पशु का जिसका वधियाकरण किया जाता है, उपरोक्त तिथियों में उनका वधियाकरण वर्जित है।

मेरे अभिषेक के बाद अब तक बीते 26 वर्षों में मैंने 25 बार बंधकों की रिहाई के आदेश निर्गत किए हैं।

स्रोत: हुल्ट्ज [1925], 1969: 127-128

की आलोचना की गयी है। इन कर्मकाण्डों और उत्सवों के संबंध में अशोक का मानना है कि इनके आयोजित करने के परिणाम अनिश्चित हैं और हो सकता है कि उनका कोई भी महत्त्व न हो। अशोक इनकी तुलना धम्म के उत्सवों से करता है जिनके निश्चित परिणाम न केवल इस संसार में प्राप्त होने वाले हैं बल्कि अगले जन्म में भी जिसके परिणाम सुनिश्चित हैं। धम्म के उत्सव के अंतर्गत अपने अनुचरों के प्रति अच्छा व्यवहार, अपने बुजुर्गों के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार, तथा किसी भी जीव के प्रति सहिष्णुता के भाव की चर्चा की गयी है। इसके अतिरिक्त श्रमण और ब्राह्मणों को दान देने के पक्ष में अशोक ने अपील की है। शिलालेख 11 में धम्मदान को सर्वोत्तम दान बताया गया है, जिसमें शामिल हैं, दास-भृतकों के प्रति सौजन्य; माता-पिता के प्रति आज्ञाकारिता; मित्रों, सम्बंधियों, ब्राह्मणों व श्रमणों के प्रति उदारता; और सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा। स्तंभ अभिलेख संख्या 2 में वर्णन किया गया है कि धम्म के निर्वहन में पाप का समावेश प्राय: नगण्य है और इसके विपरीत सहिष्णुता, सहानुभूति, शुचिता, सत्यपराणता जैसे अनेक भावों का उसमें विशद् समावेश है।

अशोक के धम्म में एक महत्त्वपूर्ण तत्व है विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच सहअस्तित्व व सहिष्णुता का भाव रखना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धम्म के द्वारा अशोक ने किसी संप्रदाय विशेष के प्रचार-प्रसार पर बल नहीं दिया। धम्म के इस पक्ष को ज्यादातर धार्मिक सहनशीलता के रूप में देखा गया है, जो गलत है। अशोक के शिलालेख संख्या-12 में सम्राट ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि लोगों को दूसरे संप्रदायों की आलोचना नहीं करनी चाहिए और न ही अपने धर्म के प्रति विशेष बढ़ावा देने का प्रयास करना चाहिए। राजा अपनी प्रजा से यह अपील कर रहा था कि दूसरे संप्रदायों और धर्मों को समझने का प्रयास करें, उनका सम्मान करना सीखें। अशोक का मानना था कि उसकी धम्म-नीति के द्वारा इन सभी संप्रदायों और धर्मों के उत्कृष्ट तत्वों को अपने जीवन में उतारा जा सकता है।

शिलालेख संख्या 6 में अशोक ने अपने धम्म के आदर्शों और उसके उद्देश्यों की चर्चा की है। इसके अंतर्गत जनकल्याण के साथ-साथ वह उन सभी जीवों के प्रति अपनी ऋण की चर्चा करता है जो उसके दायित्व हैं। इनसे इस संसार में सुख की प्राप्ति होगी और इसके साथ ही अगले जन्म में भी सुखी होने का वह दावा करता है। अशोक के शिलालेख संख्या 2 में सम्राट ने अपने धम्म के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की चर्चा की है। इसमें वर्णित है कि सम्राट ने आर्युवैदिक औषधियों तथा उससे जुड़े चिकित्सीकीय उपयोग वाले फल-फूल, कन्द-मूल इत्यादि का रोपण करवाया है। इसके साथ ही लोगों के उपयोग के लिए कुएं खुदवाए हैं। हो सकता है कि अशोक

के द्वारा किये गए इन कार्यों की तुलना राजा के किसी भी अन्य राजधर्म में वर्णित परंपरा से की जा सकती है, किन्तु अशोक के धम्म को जो और सबसे बिल्कुल पृथक करती है और श्रेष्ठ बनाती है वह यह है कि उसने इन सूचियों में न केवल जन कल्याण बल्कि जन्तुओं की चिकित्सा और उनकी सुरक्षा की भी चिंता की है। स्तंभ संख्या सात में न केवल अपने साम्राज्य में बल्कि अपने पड़ोसी राज्यों में भी वह धम्म के प्रचार प्रसार की बात करता है। धम्म के प्रचार के संदेश उत्तर-पश्चिम में एण्टीओकस और सुदूर दक्षिण में चोल तथा पांड्य के पास भी भेजे गए।

अशोक के अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह धम्म के आदर्शों का वह वैचारिक स्तर पर और व्यावहारिक स्तर पर अनुपालन कर रहा था। अशोक ने एक सम्राट के रूप में अपने आपको इन धम्म अभिलेखों में धम्म के प्रधान शिक्षक और संरक्षक के रूप में वर्णित किया है।

हालांकि, भारतीय परंपरा में वर्णाश्रम धर्म या पारंपरिक धर्म के संरक्षक के रूप में राजा की भूमिका रही है, किन्तु एक सक्रिय शिक्षक, संरक्षक, उद्घोषक के रूप में अशोक का धम्म अविस्मरणीय है। अशोक के शिलालेख संख्या 4 से यह पता चलता है कि अन्य किसी भी कर्म की अपेक्षा सम्राट अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को सबसे अधिक महत्त्व देता है। अशोक के धम्म सम्बंधी विचारों में एक और रोचक बात यह है कि वह इनके द्वारा युद्ध विजय का परित्याग करता है और धम्म-विजय की नीति का अवलम्बन करता है। *अर्थशास्त्र* में भी धर्म-विजय की चर्चा की गयी है और अशोक के धम्म विजय से इस धर्म विजय की तुलना पहले की जा चुकी है। दोनों एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। बौद्ध परंपरा के चककवत्ती धम्मिको धम्मराज के आदर्श का प्रतिबिंब अशोक के धम्म में मिलता है। अशोक इन धम्म मार्गों से अपने साम्राज्य की चारों दिशाओं पर नियंत्रण रखता है जिसमें हिंसा या दण्ड की प्राय:

प्राथमिक स्रोत

13वां शिलालेख (शाहबाजगढ़ी संस्करण)

जब राजा देवानांप्रिय प्रियदर्शी के राज्याभिषेक के आठ वर्ष बीत चुके थे तब उनके द्वारा कलिंग देश पर विजय प्राप्त की गई। उस समय 150 हजार संख्या में लोगों को निर्वासित कर दिया गया था। लगभग 100 हजार की संख्या में वहीं पर लोगों का वध कर दिया गया था तथा इतनी ही संख्या में और लोग मारे गए थे। अब जब कलिंग के राज्य को विजित किया जा चुका है, तब देवानांप्रिय स्वयं को धम्म के मार्ग पर समर्पित करते हैं। धम्म के प्रति श्रद्धा और लोगों में धम्म की शिक्षा का प्रसार, यही उनका ध्येय है। कलिंग राज्य पर किए गए आक्रमण के पश्चात् देवानांप्रिय का यही पश्चाताप है। देवानांप्रिय के द्वारा एक स्वतंत्र राष्ट्र पर आक्रमण कर उसे पराजित करने के क्रम में हुए लोगों के वध, मृत्यु और निष्कासन की घटना से देवानांप्रिय अत्यन्त आहत हैं और इस घटना की भर्त्सना करते हैं।

किन्तु इस घटना से भी अधिक निंदनीय देवानांप्रिय के लिए जो बातें हैं वे अधोलिखित हैं:

वहाँ के ब्राह्मण और श्रमण अन्य पंथों के अनुयायी अथवा वैसे गृहस्थ जो वहाँ निवास करते हैं तथा जो अपने से बड़े व्यक्तियों का आदर करते हैं, अपने माता-पिता के प्रति समर्पित हैं, अग्रजों का सम्मान करते हैं, अपने मित्रों, परिचितों, सहकर्मियों, रिश्तेदारों, नौकरों तथा दासों के साथ समुचित निष्कासन तथा अन्य आघातों से पीड़ा पायी हैं। वे शारीरिक रूप से क्षतिग्रस्त नहीं भी हुए, तब भी अपने प्रियजनों से विरह के क्लेश से वे संतप्त हैं। उनकी पीड़ा के प्रति सभी को सहानुभूति है और देवानांप्रिय विशेष रूप से उनके प्रति सहानुभूति रखते हैं।

पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ के लोग किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय से नहीं जुड़े हैं। इसलिए देवानांप्रिय वहाँ पर वध किए गए अथवा मृत्यु को प्राप्त हुए अथवा निष्कासित हुए लोगों के 100वें या 1000वें हिस्से की हुई क्षति की भी भर्त्सना करते हैं। और देवानांप्रिय यह भी मानते हैं कि यदि किसी ने उनके साथ गलत भी किया है, वह सभी कुछ क्षमा करते हैं जो क्षम्य है। देवानांप्रिय के साम्राज्य में निवास कर रहे आटविकों को भी वह क्षमा करते हैं जिनको पश्चाताप हो चुका है और जो शांति के लिए इच्छुक हैं। इसके अतिरिक्त उनको दंडित करने की उस शक्ति का भी आभास दिलाया जाता है जो देवानांप्रिय में निहित है। जो वे अपने पश्चाताप् के बाद भी उनकी वह शक्ति विद्यमान है और इसलिए अपने अपराधों का प्रायश्चित उन्हें कर लेना चाहिए, जिससे उनकी वध की स्थिति उत्पन्न न हो। क्योंकि देवानांप्रिय यह अपेक्षा रखते हैं कि सभी दूसरों को क्षति पहुँचाने से दूर रहें तथा आत्मनियंत्रण रखें क्योंकि हिंसा के संदर्भ में वे निष्पक्ष रहें। अब देवानांप्रिय धम्म विजय को सभी विजयों से अधिक श्रेष्ठ मानते हैं।

स्रोत: हुल्ट्ज [1925], 1969: 68-70

भूमिका नगण्य है। उसके प्रतिद्वंदी उसके साथ संघर्ष नहीं करते बल्कि उसकी सार्वभौमिक सत्ता को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। यह क्षेत्र विस्तार की बात नहीं है बल्कि धम्म के स्वीकार करने की बात है। *दीघनिकाय* के महासुदस्सन सुत्त में भी जो आदर्श सम्राट का वर्णन है उसमें दण्ड की छाया के प्रमाण मिलते हैं क्योंकि जब चक्रवर्ती सम्राट सुदर्शन का चक्र आगे बढ़ता है तो उसके साथ उसकी चतुरंगिनी सेना भी साथ होती है। किन्तु अशोक ने बौद्ध धर्म के धम्म विजय की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए धम्म अभियानों द्वारा सम्राट के युद्ध अभियानों को स्थानान्तरित कर दिया है या उनके स्थान पर इनका अवलम्बन किया है। इसकी व्याख्या अशोक के शिलालेख संख्या 13 में की गयी है। इस अभिलेख में अशोक के कलिंग युद्ध का वर्णन है जो उसके राज्याभिषेक के आठ वर्षों बाद लड़ा गया। युद्ध के परिणामों ने सम्राट को बहुत गहरा दु:ख पहुंचाया। इसके परिणामों पर विचार करते हुए अशोक ने युद्ध की आलोचना की और यह कहा कि युद्ध द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी को हानि ही होती है सभी को दु:ख पहुँचता है। इसलिए सम्राट ने धम्म विजय की नीति की शुरुआत की और उसके आधार पर यवनों, कंबोजों, नाभकों, नाभपंक्तियों, आंध्रो, भोजकों, पितिनिकों, चोलों, पांड्यों और पुलिंदो जैसे सभी राज्यों पर अपना प्रभाव बढ़ाया। उपमहाद्वीप के बाहर भी धम्म विजय के द्वारा एण्टीओकस-II, टोलेमी-II, फिलाडेल्फस (मिस्र), उत्तरी अफ्रीका के साइरिन राज्य के मगस तथा मैसीडोनिया के एण्टीगोनस के साथ उसने सम्बंध बनाया। इसके अतिरिक्त एपिरस या कोरिंथ के एलेक्जेन्डर को भी उसने अपने धम्म से प्रभावित किया। अपने अभिलेखों के अंत में अशोक एक सम्राट के रूप में आशा करता है कि उसके उत्तराधिकारी इसी तरह धम्म का अनुपालन करते रहेंगे और शस्त्रों के द्वारा युद्ध की नीति का फिर से सहारा नहीं लेंगे। यदि परिस्थितियोंवश उनके उत्तराधिकारों को युद्ध का सहारा लेना भी पड़े तो भी हारे हुए अपने शत्रुओं के प्रति वे सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे इसकी वह अपेक्षा करता है। लेकिन इन्हीं अभिलेखों में अपनी शांतिवादी राजादेशों के बीच सीमांत प्रदेश में स्थित उपद्रवी वनवासी लोगों के विरूद्ध अशोक ने ठोस चेतावनियां भी दी हैं। इसी प्रकार की चेतावनी शिलालेख संख्या 2 में जो धौली और जोगढ़ में पृथक रूप से स्थापित किए गए हैं उनमें भी चर्चा की गयी है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अशोक के स्तंभलेख छ: में कहा गया है कि अशोक के राज्याभिषेक के 13 वर्षों बाद धम्म लिपि को उत्कीर्ण करने का प्रचलन प्रारंभ किया गया, ऐसा लगता है कि चूंकि उस समय बहुत कम लोग पढ़ना और लिखना जानते होंगे अत: अशोक ने इनके मौखिक प्रचार-प्रसार की विस्तृत व्यवस्था जरूर की होगी। इन अभिलेखों में सम्राट अपनी प्रजा से संवाद करता है और कुछ अभिलेखों में इस प्रकार शुरुआत की जाती है कि देवानांप्रियदर्शी ऐसा कहते हैं। इससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि इनके मौखिक व्याख्या का प्रबंध किया गया होगा। पृथक शिलालेखों में यह कहा भी गया है कि धम्म अभिलेखों को सुनने और उनकी व्याख्या करने की विशेष व्यवस्था की गयी है। विशेष रूप से पूर्णिमा अथवा आषाढ़ कार्तिक फाल्गुन और तिष्य मुर्हूतों के अवसरों पर इनसे जुड़े प्रवचन और व्याख्या की व्यवस्था की जाती थी। अशोक के धम्म के संवाद को कुमार, युत, रज्जुक, महामात्त, अंतमहामात्त, पुलिसिनी तथा परिषद् के सदस्यों के द्वारा भी मौखिक रूप से प्रचारित किया जाता था। शिलालेख संख्या तीन में यह लिखा गया है कि रज्जुक और प्रादेशिक इन अधिकारियों को प्रत्येक पाँच वर्षों पर साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में घूम-घूम कर अन्य कार्यों के साथ धम्म के प्रचार-प्रसार का दायित्व भी सौंपा गया था।

अशोक ने अपने राज्याभिषेक के तेरह वर्षों के पश्चात् धम्ममहामात्त का दर या संभाग की स्थापना की। शिलालेख संख्या पाँच में यह कहा गया है कि वे धम्म के प्रचार-प्रसार से जुड़े अधिकारी हैं जो साम्राज्य में तथा सीमांत प्रदेशों में रहने वाले योन, कंबोज, गांधार, पितीनिक, रिस्तिक जैसे समुदायों में भी धम्म का प्रचार-प्रसार करेंगे। उनसे यह अपेक्षा की गयी है कि वे सभी संप्रदाय के सभी सदस्यों से मिलना-जुलना करेंगे और लोक कल्याण के लिए तथा अनुचरों, व्यापारियों, ब्राह्मणों, कैदियों, वृद्धों, किसानों, असहाय लोगों के अतिरिक्त राजा के रिश्तेदारों सभी में धम्म का अच्छा संदेश पहुंचाएंगे।

धम्म के संवाद का सबसे प्रमुख वाहक स्वयं सम्राट अशोक ही था। उसके शिलालेख 8 में यह लिखा गया है कि जहां पहले के सम्राट आखेट जैसे विलासितापूर्ण यात्राओं में समय व्यतीत करते थे, उसके स्थान पर सम्राट अशोक ने धम्म यात्राओं पर बल दिया है। अपने

वैशाली स्तंभ

अभिषेक के दस वर्षों बाद उसने बोध गया की तीर्थयात्रा की। उसके बाद से जो राजकीय विलासिता की यात्राएं होती थीं जिन्हें विहार यात्रा कहा गया है, उनके स्थान पर धम्म यात्राओं का अनिवार्य प्रचलन शुरू कर दिया गया। धम्म यात्राओं में ब्राह्मणों और श्रमणों में मिलना-जुलना और उनको दान देना, आम जनता से मिलना, उनको स्वर्ण इत्यादि दान देना ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों से मिलना और उनको धम्म में प्रशिक्षित करना तथा उनकी धम्म से जुड़ी जिज्ञासा को शांत करना इत्यादि सम्मिलित हैं। अशोक ने यह घोषणा की कि किसी भी अन्य कर्म की अपेक्षा उसे धम्म यात्रा में अधिक सुख प्राप्त होता है। अशोक के ग्रीक लिपि के अभिलेखों में धम्म के स्थान पर 'यूसेबिया' (पवित्र) का प्रयोग किया गया है जबकि अरामेइक लिपि के अभिलेखों में 'क्सित' (सत्य) अथवा 'दात' (विधि) का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः ग्रीक अथवा अरामेइक अभिलेख अशोक के राजादेशों के या अभिलेखों के शुद्ध अनुवाद नहीं है। बी.एन. मुखर्जी (1984) ने यह सुझाव दिया है कि अशोक के धम्म अभिलेखों में प्रायः सभी स्थानों पर एक समरूपता और समानता का बोध होता है किन्तु ग्रीक एवं अरामेइक अभिलेखों में कुछ रोचक भिन्नताएं भी निदर्शित होती है, जैसे कंधार के ग्रीक अभिलेख में यह कहा गया है कि प्रजा को सम्राट की रुचि के प्रति विशेष भक्ति या आसक्ति होनी चाहिए जो धम्म का प्रमुख हिस्सा है। इसके अतिरिक्त ग्रीक अथवा अरामेइक अभिलेखों में स्वर्ग की प्राप्ति धम्म के उद्देश्यों में सूचीबद्ध नहीं की गयी है जोकि प्रायः सभी प्राकृत अभिलेखों में अनिवार्य रूप से उल्लिखित है। ऐसा लगता है कि अशोक के राजनयिक परिपक्वता के साथ धम्म के प्रचार-प्रसार के प्रति उसकी आसक्ति भी बढ़ती गयी, क्योंकि बाद के ग्रीक और अरामेइक अभिलेखों में अथवा अन्य स्तंभ अभिलेखों में अशोक ने धम्म के द्वारा अपेक्षित रूपान्तरण को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखना शुरू किया है।

इसलिए अशोक के धम्म की अवधारणा और उसके स्वरूप के सम्बंध में विद्वानों और इतिहासकारों में काफी मतभेद देखा जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार, यह एक वैश्विक धर्म था जिसमें विभिन्न संप्रदायों के अच्छे तत्वों का समावेश किया गया था। कुछ लोगों ने इसे राजधर्म के रूप में व्याख्यायित किया है जिसमें अशोक के सम्राट के रूप में राजनीतिक एवं अन्य नैतिक सिद्धांतों पर बल दिया गया है और यह सिद्धांत ब्राह्मण और बौद्ध दोनों परंपराओं से प्रभावित मालूम पड़ते हैं। कुछ लोगों ने इसे बौद्ध धर्म के उपासकों के द्वारा अनुपालन किये जाने योग्य धर्म के रूप में वर्णित किया है। अन्य विद्वानों ने इन तीनों सिद्धांतों के समेकित रूप में धम्म को देखने का प्रयत्न किया है।

प्राथमिक स्रोत

अशोक द्वारा अपनी सफलता का मूल्यांकनः शर-ए-कुना ग्रीक–अरामेइक अभिलेख

ग्रीक संभाग

अपने राज्यारोहण के 10 वर्ष बाद, राजा पियोडोसेस ने अपने धर्म के सिद्धांत का लोकार्पण किया और उस क्षण से ही उसने अपनी प्रजा को आध्यात्मिक बना दिया तथा तब से इस संसार में सभी कार्य अबाध गति से चल रहे हैं। राजा ने जीव हत्या को निषिद्ध कर दिया है तथा राज्य के शिकारी तथा मछुआरों ने अपनी ओर से ही शिकार करना बंद कर दिया है। जो लोग असंयमित और उच्छृंखल थे उन्होंने जहाँ तक संभव हो सका अपनी उच्छृंखलता को नियंत्रित कर लिया और अब वे अपने माता-पिता तथा बड़ों का आदर करने लगे हैं। यह उनके अतीत के आचरण के विपरीत है फिर भी वे भविष्य में ऐसा ही करेंगे और प्रत्येक अवसर पर अपने सदाचरण से अधिक प्रसन्नतापूर्वक और बेहतर जीवन व्यतीत करेंगे।

अरामेइक संभाग

10 वर्ष के बीत जाने के बाद (राज्यारोहण से) हमारे अधिपति राजा प्रीडीस ने सत्य की स्थापना की है। तब से सभी मनुष्यों के लिए दुराचरण का ह्रास हुआ है और उनके कारण द्वंदपूर्ण परिस्थितियां अदृश्य हो गई हैं, तथा सम्पूर्ण धरा पर आनन्द का अभ्युदय हो चुका है। इससे भी अधिक ऐसा हुआ है कि हमारे अधिपति सम्राट के भोजन के निमित्त की जाने वाली जीव हत्या केवल नाम की बची है। ऐसा देखकर और लोगों ने भी पशुओं का वध करना बंद कर दिया है और जो लोग मछली पकड़ते थे उन्होंने भी ऐसा करना बंद कर दिया है। इसी प्रकार से जो लोग संयमित नहीं रहते थे उन्होंने अपने असंयम पर अंकुश लगा दिया है। अब लोग अपने माता-पिता तथा वृद्ध लोगों का आदर करने लगे हैं जैसा कि नियति सभी पर प्रभावी है। नियति सभी धार्मिक व्यक्तियों के अनुकूल है। सभी इससे लाभान्वित हुए हैं और भविष्य में भी लाभान्वित होते रहेंगे।

स्रोतः जी.पी. काराटेली एवं अन्य, उद्धृत–मुखर्जी, 1984: 33

रोमिला थापर (1963 1987: 136-81) ने धम्म के प्रचार-प्रसार को राजनीतिक आवश्यकता के पृष्ठभूमि में देखने की कोशिश की है। बौद्ध धर्म के अनावश्यक प्रभाव को कम आंकते हुए उनका यह मानना है कि किसी भी राजनयिक की व्यक्तिगत आस्था और उसके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक सिद्धांतों के बीच में हो सकता है कि कोई सीधा सम्बंध नहीं हो। उनके अनुसार, धम्म दरअसल, अशोक के द्वारा उपयोग में लाया गया एक सैद्धांतिक और वैचारिक माध्यम था जिसके द्वारा उसने अपने विस्तृत साम्राज्य को एक सूत्र में पिरोने का आधार निर्मित किया। चूंकि अशोक के प्रारंभिक शासन के दौरान उसको सभी वर्गों से सहायता नहीं मिली थी इसलिए उसने गैर ब्राह्मणवादी या गैर रूढ़ीवादी तत्वों की सहायता ली और धम्म के व्यावहारिक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए धम्म का प्रचार-प्रसार किया। इसलिए धम्म में व्यक्ति और समाज के बीच आदर्श सम्बंधों पर विशेष बल दिया। रोमिला थापर के अनुसार, अशोक अपने इन महती उद्देश्यों में बहुत हद तक सफल नहीं हो सका। (थापर, 1984-22)।

यह सच है कि अशोक के अभिलेखों में बौद्ध धर्म से जुड़े मौलिक संदेश जैसे दु:ख, अष्टांगिक मार्ग, नश्वरता (अस्थायित्व) का सिद्धांत या निब्बान मौजूद नहीं है फिर भी अशोक के धम्म में एक सुनिश्चित बौद्ध प्रभाव का बोध हमें प्राप्त होता है। अहिंसा पर दिए गए विशेष बल को हम इसी संदर्भ में देखते हैं, हालांकि, अहिंसा का वर्णन *अर्थशास्त्र* (1.3.8) में भी किया गया है जहां पर सत्य, अहिंसा कदाचार से मुक्ति, सहिष्णुता जैसे सभी तथ्यों का वर्णन है जो सभी वर्णों और आश्रम धर्म का निर्वाह करने वालों के सम्बंध में अपेक्षित है। *अर्थशास्त्र* में भी (2.26) जन्तुओं के कल्याण का उल्लेख है लेकिन केवल उल्लेख ही नहीं, बल्कि उस पर अत्याधिक जोर देना उसके विस्तृत परिकल्पनाओं को आत्मसात करना महत्त्वपूर्ण है। दरअसल, तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. में प्रचलित सभी संप्रदायों में मुख्यत: बौद्ध धर्म और जैन धर्म में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया जो संघों एवं आम जनता दोनों के लिए स्वीकार योग्य थे।

अशोक के धम्म में प्रतिबिंबित संदेशों और सिगालवाद सुत्त जैसे बौद्ध ग्रंथों में उपासक धम्म अर्थात् आम बौद्ध जनता के लिए प्रस्तावित धार्मिक जीवन शैली में काफी समानता देखी जा सकती है। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि भाबरू के लघु शिलालेख में अशोक ने बौद्ध उपासकों को छ: प्रमुख बौद्ध ग्रंथों को पढ़ने तथा उनके अनुशीलन करने की सलाह दी है जो धम्म के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म का सम्राट के धम्म से एक सम्बंध यह भी लगता है कि जैसा कुछ सम्बंध इस तरह से परिलक्षित होता है जैसा कि शिलालेख संख्या छ: में अशोक ने शुचिता और मानसिक अनुशासन की बात कही है। शिलालेख संख्या 7 में भी इसी तरह के राजादेशों को दोहराया गया है। शिलालेख संख्या आठ में अशोक ने धम्म से जुड़ी यात्राओं को और बौद्ध गया की तीर्थयात्रा का वर्णन किया है।

ये सभी तथ्य बौद्ध धर्म से अशोक के धम्म का सम्बंध जोड़ते हैं। अशोक के धम्म का जो विश्लेषण किया गया है (सिंह 1997-98) उसमें बुद्ध धर्म से अप्रत्यक्ष सम्बंध का बोध अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त अशोक के धम्म का सम्बंध बौद्ध धर्म से सम्बंध अशोक के शिलालेखों में, स्तंभलेखों में प्रयुक्त प्रतीक चिह्नों के आधार पर भी देखा जा सकता है। सभी प्रतीकों का वृहत परिप्रेक्ष्य है किन्तु कहीं न कहीं उनमें बुद्ध धर्म से कोई सातत्व परिलक्षित होता है, जैसा कि गिरनार के विभिन्न स्तंभ में सफेद हाथी का प्रयोग किया गया है जो बौद्ध धर्म में संपूर्ण संसार के कल्याण का प्रतीक है। कलसी में भी एक हाथी को दिखलाया गया है जिसमें जो संक्षिप्त अभिलेख में 'गजतमे' (सर्वश्रेष्ठ हाथी) उत्कीर्ण है। धौली में भी हाथी का प्रतीक है जहां 'सेतो' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका संकेत सफेद हाथी की ओर है।

इस प्रकार अशोक की जो व्यक्तिगत आस्था है वह गिरनार, धौली और कलसी के बौद्ध प्रतीक हाथी से चिन्हित किया जा सकता है। सफेद हाथी का बौद्ध धर्म में अभिप्राय है कि संभावी बुद्ध को सफेद हाथी से दर्शाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि जब बुद्ध गर्भ में आए तो वे सफेद हाथी के रूप में प्रवेशित हुए थे। घोष (1967) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सुझाव दिया है कि अशोक के जितने शिलालेख चार स्तंभलेखों से प्राप्त हुए हैं उस परिसर में स्तूप तथा अन्य विहारों की संरचना का अस्तित्व भी रहा होगा। यह भी शायद धम्म और बौद्ध धर्म के बीच सम्बंध को बतलाता है।

यद्यपि अशोक का धम्म जहां एक ओर बौद्ध धर्म में वर्णित उपासक धम्म से प्रेरित है किन्तु दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। अशोक दरअसल, एक अत्यंत विस्तृत परिप्रेक्ष्य और संदर्भ के दृष्टिकोण से अपने धम्म की कल्पना कर रहा था। अशोक ने जिस स्तर पर परस्पर सम्मान और सहिष्णुता पर बल दिया है और अपने व्यक्तिगत आस्थाओं को एक सामाजिक कोड के रूप में रेखांकित किया है वह उस काल के धार्मिक संप्रदाय अथवा धार्मिक भावनाओं में नहीं दिखलाई पड़ता। किसी भी दृष्टि से अशोक के धम्म को किसी सांप्रदायिक संकीर्णता या सांप्रदाय विशेष के संदर्भ में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। उसने जिस धम्म महामत्त काडर की स्थापना की जो धम्म और धम्म के प्रचार-प्रसार के लिए अधिकारी नियुक्त किये गये थे वे सभी धर्म और संप्रदाय की देखरेख के लिए नियुक्त किये गये थे। अशोक के शिलालेख संख्या 12 में यह स्पष्ट रूप से व्याख्यापित किया गया है

कि सभी संप्रदाय तथा धर्मों का सम्मान करना चाहिए न केवल अपने धर्म का। बराबर की पहाड़ियों में मिले अभिलेखों से पता चलता है कि अशोक ने आजीविक संप्रदाय के उपासकों तथा ऋषियों को भी दान दिया था। उसके धम्म विजय की जो परिकल्पना है वह बौद्ध साहित्य में वर्णित धम्म विजय की अवधारणा से कहीं अधिक विस्तृत है। जहां एक ओर चक्रवर्ती सम्राट सुदस्सन बौद्ध धर्म का एक मिथकीय शासक था वहीं अशोक एक वास्तविक सम्राट था जो राजकीय, राजनैयिक तथा प्रशासनिक संदर्भ में व्यावहारिक समस्याओं से जूझ रहा था। इस प्रकार जो नवीनता हमें अशोक के धम्म की अवधारणा में दृष्टिगोचर होता है, वह उसकी व्यक्तिगत आस्थाओं से जुड़ी हुई थी, और एक अत्यंत विस्तृत और शक्तिशाली साम्राज्य का संचालन करने के अनुभव से।

सारनाथ स्तंभ शीर्ष

मूर्तिकला, वास्तुकला एवं स्थापत्य

(Sculpture and Architecture)

पत्थर की बड़ी संरचनाओं और उत्कृष्ट कला का अस्तित्व भारतीय उपमहाद्वीप में हड़प्पा सभ्यता के धोलावीरा में पहली बार दृष्टिगोचर होता है। पत्थरों पर उकेरी गई कला और पत्थरों से बनी भव्य संरचनाओं को एक लम्बे समयांतराल के पश्चात् पुनः मौर्य काल में विकसित अवस्था में देखा जा सकता है। भव्य धरोहरों का उद्भव शायद बड़े साम्राज्य के अभ्युदय और उसकी राजनीतिक जटिलताओं का परिचायक है। इस काल में एक बार फिर नगरों के कुलीन वर्ग के हाथ में अधिशेष सम्पदा का नियंत्रण और धार्मिक गतिविधियों के बढ़ते हुए संस्थानीकरण से भी ये रचनात्मक प्रवृत्तियां जुड़ी हुई हों। मौर्य काल की कला की तुलना वैसी कलाधर्मिता से नहीं की जा सकती जिसे हम आज समझते हैं। मौर्यकला वस्तुतः अपने काल के राजनैतिक एवं धार्मिक प्रभाव क्षेत्रों से जुड़ी हुई थीं। यह उस काल की कला के स्वरूप और उसको दिए जाने वाले संरक्षण के आधार पर स्पष्ट हो जाता है।

उस काल की अधिकांश कलाकृतियों और स्थापत्य के अवशेषों का सीधा सम्बंध मौर्य शासकों के द्वारा दिए गए संरक्षण और उसमें भी विशेषकर अशोक की राजनीतिक-सांस्कृतिक संकल्पनाओं का परिणाम थीं। इसलिए उन्हें राजकीय कला की संज्ञा दी गई है। किन्तु राजकीय कला के समानान्तर लोक कला का भी अस्तित्व इस काल के कुछ प्रस्तरीय कला कृतियों तथा टेराकोटा की कला वस्तुओं के द्वारा भी परिलक्षित होता है। मौर्य कला से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए जाते रहे हैं। इस काल की प्रस्तरीय कलाकृति और वास्तु के उद्भव को किस प्रकार समझा जा सकता है? क्या इसके विकास में पश्चिम और विशेष रूप से ईरान का प्रभाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण था? मौर्य काल के राजकीय कला के अल्पकालीन प्रकृति की किस प्रकार व्याख्या की जा सकती है? विगत् वर्षों में किए गए कुछ शोधों में जैसे एस. सेट्टार (2003) ने अशोक के अभिलेखीय स्तम्भों के निर्माण से जुड़े विशेषज्ञों के विषय में जानने का प्रयास किया है। इस प्रकार के एक विशेषज्ञ का नाम चप्पड़ था, जिसने अपने हस्ताक्षर ब्रह्मगिरी, जलिंग-रामेश्वर और सिद्धपुर में छोड़ रखे हैं।

पटना नगर के विभिन्न क्षेत्रों में किए गए पुरातात्त्विक उत्खननों के दौरान लकड़ी की बनी दीवारों के बहुत सारे अवशेष पाए गए हैं। 1915-17 में डी.बी. स्पूनर ने यहां के बुलन्दीबाग क्षेत्र में विधिवत् उत्खनन कार्य किया जिनके आधार पर पाटलिपुत्र के चारों ओर किए गए किलेबंदी के विषय में काफी कुछ जानकारी मिली। 6.6 मीटर की गहराई में 38 × 57 से. मी. के लकड़ी के आयताकार सिल्लों से दो सामानांतर दीवारें बनी हुई मिलीं, जिनके बीच 3.7 मीटर चौड़ी सुरंग जैसी खाली जगह मौजूद थी। लकड़ी के सिल्ले 1.5 मीटर की गहराई तक धंसे थे और उनके नीचे कंकर भरा गया था। जमीन के ऊपर सिल्लों की उंचाई 2.7 मीटर थी। इनके बीच के फर्श को काठ की तख्तों को बिछाकर बनाया गया था जो अन्त में सॉकेटों से जुड़े हुए थे। इस उत्खनन में 7.2 मी. दीवार और 105 मी. फर्श के अवशेष मिले थे। मनोरंजन घोष ने 1926-27 में जो उत्खनन कार्य किया, उसमें इन संरचनाओं के पश्चिम में 250 मीटर के लकड़ी की दीवार का अवशेष मिला। हो सकता है कि इन समांतर काठ की चारदीवारियों को मिट्टी से भर दिया गया होगा। लकड़ी की प्राचीर पर कुछ उंचाई तक मिट्टी

दिल्ली-तोपरा स्तंभ, फिरोजशाह कोटला, नई दिल्ली

का लेप चढ़ाया गया था और मूल संरचना में इन काष्ठीय प्राचीरों के ऊपर लकड़ी के बीमों के सहारे शायद छत भी बने हुए थे। इनसे जुड़ा एक प्रवेश द्वार भी पाया गया। पश्चिमी छोर से 200 फीट की दूरी पर 40 फीट लंबा और 1.8 इंच-2.4 इंच चौड़ा एवं मौजूदा सतह से 32 फीट नीचे लकड़ी की बनी हुई नालियां देखी जा सकती हैं। जल निकासी की यह विशेषकाष्ठीय प्रणाली काफी विकसित मालूम पड़ती है, क्योंकि लकड़ी की नालियों के निर्माण में लकड़ी के बने बीम और उनको कसने के लिए लोहे की 60 से.मी. लंबी कीलों का प्रयोग किया गया था। लोहे की 7 सेंमी चौड़ी पट्टियों के द्वारा इनको 'वाटरप्रूफ' बनाया गया था। गोसाईंखण्ड, रामपुर और बहादुरपुर जैसे बुलन्दीबाग के समीपवर्ती स्थानों पर भी लकड़ी के बने इन विशिष्ट सुरक्षा प्राचीरों के अवशेष पाए गए। बुलन्दीबाग में ही लकड़ी के बने रथ का स्पोक वाला पहिया भी मिला है, जिसका रीम लोहे का बना हुआ था। वाडेल के द्वारा 1892-99 के दौरान किए गए उत्खननों में सोन नदी पर स्थित रामपुर से लकड़ी की बनी एक ऐसी संरचना को देखा गया, जिसका प्रयोग शायद जेट्टी (नावों को बाँधने के लिए एक प्रकार का लंगर) के लिए किया जा सकता है।

वाडेल के द्वारा ही 1903 में कुम्रहार (पटना) से एक स्तम्भ का ध्वंसावशेष पाया गया। 1912-13 में डी.वी. स्पूनर ने वहाँ पर शतरंज के बोर्ड के आधार पर व्यवस्थित 72 स्तम्भों की खोज की। बाद में ए.एस. अल्तेकर और बी.के. मिश्र ने आठ अन्य स्तम्भों को खोजा। अल्तेकर और मिश्र (1959) ने कुम्रहार क्षेत्र में उत्खनन के दौरान ईंट से बनी बहुत सारी संरचनाएं चिन्हित कीं। किन्तु ये संरचनाएं मौर्योत्तर काल की थीं। कुम्रहार में मिला स्तम्भ चुनार के पत्थर से बना था और इसकी सतह चमकीली और पॉलिश की हुई थी। स्तम्भों का आधार लगभग 75 सेमी. तथा शीर्ष लगभग 55 सेमी. का था। हालांकि, ये स्तम्भ भी आकार और रचना के आधार पर अशोक के स्तम्भों से बिल्कुल मिलते-जुलते थे। केवल इनका आकार अपेक्षाकृत छोटा और कम मोटाई वाला था। सभी स्तम्भों के ऊपरी सिरों पर एक छिद्र था जो स्पष्ट रूप से उनके ऊपर बनी छत से जोड़ने के लिए था। इन स्तम्भों में से कई स्तम्भों के निचले हिस्से में छोटी पठारी पर अर्धचन्द्र के निशान छोड़े गए थे जो उस काल के आहत सिक्कों में भी पाए जाते हैं। स्तम्भों वाली इस भव्य संरचना का फर्श और छत दोनों काष्ठ से बना हुआ था। इस स्थल से मिली राख और लकड़ी के जले टुकड़ों से अग्निकांड की किसी घटना का आभास होता है। ऐसा संभव है कि लकड़ी के छत के ऊपर ईंट और सूखे चूने का प्लास्टर किया गया था। स्तम्भों वाले इस भव्य कक्ष के दक्षिणपूर्वी हिस्से में साल की लकड़ियों से बनी सीढ़ियों के प्रमाण मिले हैं। सोन नदी से इस संरचना तक आनेवाली एक नहर का भी अवशेष देखा जा सकता है। स्पूनर ने इस स्तम्भों वाले कक्ष की तुलना कुम्रहार और डेरियस के 'पर्सीपोलिस' (ईरान में स्थित) प्रसिद्ध सभागार से की है। किन्तु मौर्यकालीन संरचनाएं ईरान के राजप्रासादों की अपेक्षा काफी कम अलंकृत हैं। चारों ओर से खुले हुए 80 स्तम्भों वाले इस कुम्रहार के कक्ष के प्रयोजन का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

अशोक के स्वतंत्र रूप से स्थापित स्तम्भों को स्वर्ग और धरती को विभाजित करने वाली ध्रुवीय रेखा के प्रतीक के रूप में देखा जाता था। इन स्तम्भों पर अशोक के राजादेश तथा कुछ स्तम्भों पर बौद्ध संघ को संबोधित धर्मादेश उत्कीर्ण किए गए। रूमिन्दई और निगलई सागर में प्राप्त स्तम्भों में उत्कीर्ण अभिलेख की प्रकृति स्मारक के स्वरूप थी। सांची के स्तम्भ अभिलेख में धर्मभेद, राजादेश उत्कीर्ण था। बहुत सारे स्तम्भों में कोई अभिलेख नहीं पाया गया है जिनमें से एक रामपुरवा स्थित सांड़ के प्रतीक वाला स्तम्भ शीर्ष भी है। वैशाली का स्तम्भ शीर्ष सिंह की आकृतिवाला है और कोसम से प्राप्त स्तम्भ में स्तम्भ शीर्ष है ही नहीं। आज भी उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में स्तम्भों के अनेक

नवीन शोध संदर्भ

चुनार की प्राचीन और आधुनिक खानें

सन् 1990 में पी.सी. पंत और विदुला जायसवाल के नेतृत्व में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पुरातत्त्वविदों की एक टीम बड़ागाँव (पूर्वी उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर और वाराणसी जिलों की सीमारेखा पर स्थित एक गाँव) में महापाषाण संरचनाओं से सम्बंधित अध्ययन कर रही थी जहाँ उनको समीपवर्ती चुनार की पहाड़ियों से प्राचीन खानों के प्रमाण मिले। इस स्थल पर बेलनाकार काटे गए पत्थर भी उन्हें प्राप्त हुए।

जायसवाल द्वारा बाद में चुनार तथा वाराणसी-सारनाथ क्षेत्र में पत्थर की खानों तथा पत्थरों के उपयोग पर पृथक रूप से विस्तृत अध्ययन सम्पन्न किया गया तथा इसी संदर्भ में अन्य शोध परिकल्पनाओं का भी विधिवत परीक्षण किया गया। उनके समक्ष उप. लब्ध प्रस्तर सामग्रियों तथा इस क्षेत्र से प्राप्य अभिलेखों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकला कि चुनार की पहाड़ियों का उत्खनन चूना पत्थर की प्राप्ति के उद्देश्य से प्रायः तीसरी शताब्दी सा.सं. पू. से मध्ययुग तक होता रहा है। इसके अतिरिक्त उनके अध्ययन से बहुत सारे रोचक किन्तु महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सके, जो अधोलिखित हैं:

1. बड़गाँव के समीपवर्ती चुनार पहाड़ी के निचले हिस्सों को प्राचीन काल में पत्थर खदानों के प्रधान उत्खनन क्षेत्र के रूप में चिन्हित किया गया। केवल 15 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में ही प्रायः 450 से अधिक प्राचीन उत्खनन स्थलों को ढूंढ निकाला गया। ऐसा शिलाखण्डों के निष्कर्षण, छेनी से काटे गए पत्थरों के मलवे, बेलनाकार पत्थरों के तराशने की तैयारी तथा काटकर निकाले गए पत्थरों पर अंकित की गई संख्या जैसे तथ्यों के आधार पर किया गया। वहाँ मौर्य तथा प्रारंभिक उत्तर मौर्य काल की ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि तथा 13वीं/14वीं शताब्दियों के नागरी पुरालेखों से पत्थर काटने की कालावधि का अनुमान लगाया जा सकता है।
2. चुनार में ही शिलाखण्डों को छेनी से काटकर बेलनाकार रूप दिया गया था। इस स्थान से वैसे शिलाखण्ड बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इस आकार में उनको सामान्य ढलान वाली पहाड़ियों से लुढ़का कर गंगा के किनारे पहुँचाया जाता था। वहाँ से उन गंतव्य स्थानों तक पहुँचा दिया जाता था जहाँ इन चूना पत्थरों की मांग होती थी।
3. सारनाथ, गंतव्य स्थानों में जहां चुनार के पत्थरों का उपयोग करने वाला एक प्रमुख केन्द्र था जबकि वाराणसी से इन पत्थरों के प्रयोग का कोई विशेष प्रमाण हमें नहीं मिलता है।
4. चुनार से सारनाथ के बीच के जलीय मार्ग में पत्थरों पर नक्काशी कार्यशालाएं अवस्थित थीं। गंगा की उपनदी राजापुर नाला के किनारे कोटवा इसी श्रेणी का केन्द्र था जहाँ प्रस्तरीय शिल्प के ठोस प्रमाण मिले हैं। किये गए उत्खनन के दौरान वहाँ एक बस्ती के अवशेष मिले जिनसे छेनी से काटे गए मलबे, नक्काशी किये गए पत्थरों के टुकड़े तथा एक छेनी भी शामिल है। उत्खनन के पूर्व इस स्थान पर बेलनाकार पत्थर का एक बड़ा ब्लॉक भी मिला था। वहाँ उपलब्ध मृद्भाण्डों की शैली और पत्थरों पर की गई नक्काशी के आधार पर कोटवा प्रस्तरीय क्रिया कलापों की अवधि दूसरी/पहली इ.पू. से 11वीं/12वीं शताब्दी के बीच निश्चित की गयी है। जलमार्ग पर अवस्थित इन स्थलों के कारण पत्थर के भारी ब्लॉक और तैयार किये गए क्योंकि प्रस्तरीय सामग्रियों का सरलता से आवागमन संभव हो सकता था।
5. इलाहाबाद के निकट पबोसा की पहाड़ी अथवा बिहार के डेहरी-ऑन-सोन जैसे पत्थर के अन्य स्रोतों की अपेक्षा चुनार पत्थरों को इसलिए प्राथमिकता मिली क्योंकि नदी के निकट अवस्थित उसकी अनुकूल भौगोलिक स्थिति आवागमन को सुविधाजनक बना देती थी।
6. चुनार पत्थरों के ब्लॉक की सामान्य लम्बाई 1 से 2 मीटर के बीच थी। इस तथ्य के आधार पर जायसवाल ने अशोक के शिलालेखों का सूक्ष्म अध्ययन करना प्रारंभ किया जिससे यह पता चल सके कि क्या अशोक के अभिलेखों की शिलाएं एक पत्थर को काट कर बनाई गईं थीं। उन्होंने वैशाली, लौरिया-अरेराज तथा लौरिया-नंदनगढ़ की शिलाओं का परीक्षण किया। इस क्रम में उन्हें पता चला कि इन सभी का निर्माण कई पत्थरों को जोड़कर हुआ था। उपरोक्त अंतिम दो शिलाओं में पत्थर के पाँच ब्लॉक का प्रयोग किया गया था। लौरिया-नंदनगढ़ की शिला के एक घिसे हुए भाग के अवलोकन से स्पष्ट हुआ कि पत्थर को छेनी से काटकर बराबर किया गया था, उसकी पॉलिश नहीं की गई थी। पत्थर की ऊपरी सतह पर गुलाबी चूनापत्थर को चूरकर हेमाटाइट के बुरादों के साथ मिलाकर एक मोटी परत (1सेमी.) चढ़ाई गई थी। इस परत की निचली सतह खुरदरी थी, किन्तु ऊपरी सतह को देखने से प्रतीत होता था कि चमकीली पॉलिश की गई है।

स्पष्ट रूप से प्राचीन तथा पूर्व मध्ययुगीन काल की गंगा नदी घाटी में मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला के लिए प्रयोग में लाई गई चूनापत्थर की प्राप्ति

का मुख्य स्रोत चुनार ही था। जायसवाल की रिपोर्ट के अनुसार, आज भी बड़ागाँव के लोगों का मुख्य रोजगार पत्थर की कारीगरी है। चुनार की पहाड़ियों से आज भी पत्थर निकाले जा रहे हैं किन्तु आधुनिक प्रस्तर-शिल्पकार प्राचीन खानों का उपयोग नहीं करते हैं। इस शिल्पकारों द्वारा इसका कारण बताया गया है कि इन शिल्पकारों द्वारा प्राचीन खानों के पत्थरों की लंबे समय तक खुले रहने के कारण अब शिल्प के लिए उपयुक्त नहीं रहे। कारीगर द्वारा पुरातन पत्थरों को मरा पत्थर (मृत पत्थर) कहा जाता है जबकि नूतन पत्थरों को वे जिन्दा पत्थर (जीवित पत्थर) मानते हैं। ***स्रोतः*** जायसवाल, 1998

ध्वंशावशेष पाए जाते हैं जो सम्भवतः अशोक के द्वारा निर्मित स्तम्भ श्रृंखला के ही हिस्से रहे होंगे।

अशोक के सभी स्तम्भों में आकार और आयामों की समानता पायी जाती है। प्रायः सभी स्तम्भ चुनार के पत्थरों से बने हैं और शायद प्रत्येक स्तम्भ को किसी बड़े पत्थर को तराशकर बनाया गया था। हालांकि, जायसवाल (1998) ने इसे एक ही पत्थर को काटकर बनाने की संभावना पर प्रश्न चिह्न लगाया है। सभी स्तम्भों की सतह चिकनी, चमकदार और उत्कृष्ट पॉलिश की हुई दिखलाई पड़ती है। केवल दिल्ली-मेरठ स्तम्भ जैसे कुछ उदाहरणों में पॉलिश की चमक कुछ फीकी पड़ गई है क्योंकि इनका स्थान परिवर्तन किया गया था। इन स्तम्भों की सामान्य ऊँचाई 12-14 मीटर है। स्तम्भशीर्ष उलटकर रखे हुए कमल या घंटाकार (बेल कैपिटल) की तरह बने हुए हैं। इनके ऊपर एक प्लेटफार्म की आकृति बनाई जाती थी। सबसे ऊपर पशु या पशुओं की प्रतीकात्मक प्रतिमा स्थापित की जाती थी। अशोक के शुरुआती स्तम्भों में, प्रतीकों को रखा जाने वाला प्लेटफार्म वर्गाकार तथा अल्प अलंकृत होता था, जो बाद के स्तम्भों में वृत्ताकार तथा अधिक अलंकृत बनाए जाने लगे।

गज स्तंभ-शीर्ष, संकिसा

अशोक के स्तम्भों में प्रयुक्त स्तम्भशीर्षों पर बनी आकृतियों का प्रतीकात्मक अर्थ तत्कालीन भारतीय संस्कृति की एकाधिक परम्पराओं से प्रेरित मालूम पड़ता है। वैशाली, लौरिया-नन्दनगढ़ और रामपूरवा के स्तम्भशीर्षों पर एक सिंह की आकृति; सांची और सारनाथ के स्तम्भों पर चार सिंहों की आकृति और रामपूर्वा शीर्ष के एक अन्य स्तम्भ पर बैल की आकृति देखी जा सकती है। संकिसा में हाथी की आकृति वाला स्तम्भशीर्ष स्तम्भ नहीं मिला है। सांची और सारनाथ स्तम्भशीर्षों पर चक्र बने हैं। सांची के स्तम्भ शीर्ष पर बने प्लेटफार्म पर हँसों का अंकन देखा जा सकता है, जबकि सारनाथ के स्तम्भ के ऊपर चक्रों से पृथक किये गये बैल, हाथी, घोड़े और सिंह की आकृतियां बनी हैं। सारनाथ के स्तम्भशीर्ष पर बनी आकृतियों को ही भारत के राष्ट्रीय चिह्न के रूप में अधिकृत कर लिया गया है।

स्पष्ट रूप से अशोक के स्तम्भों पर बनाई जाने वाली प्रतीकात्मक आकृतियों का चयन उसके धम्म संदेश के साथ तारतम्यता रखता है। इनका चयन काफी सोच-विचार कर शायद स्वयं सम्राट के द्वारा किया गया था। भारतीय परम्परा में कमल शुचिता और उज्जवलता का चिह्न है। बाद के बौद्ध ग्रंथों में ऐसा वर्णित है कि जन्म के शीघ्र पश्चात् बुद्ध ने सात कदम चले और उस स्थान पर उसी समय कई कमल प्रस्फुटित हुए। वैदिक ग्रंथों में भी चक्रों को सृष्टि और काल का प्रतीक माना गया है। किन्तु अशोक के स्तम्भों पर चक्रों की उपस्थिति को धर्मचक्र प्रवर्तन (बुद्ध के द्वारा बोधित्व प्राप्ति के बाद दी गई प्रथम शिक्षा) से जोड़ा जाता है। बौद्ध संकल्पना में चक्र सार्वभौम सत्ता का चिह्न भी है। महासुद्दसन सुत्त के चक्रवर्ती सम्राट की सप्त सम्पत्तियों में घोड़ा, हाथी के चक्र भी सम्मिलित है। बहुत सारी प्राचीन सभ्यताओं में सिंह को सूर्य (सौर तत्व) से जोड़ा जाता था लेकिन बुद्ध को साक्य-सिंह की उपाधि भी दी गई है। बौद्ध मान्यता है कि बुद्ध ने गर्भ में एक सफेद हाथी के रूप में माता के गर्भ में प्रवेश किया था जिसे माता ने स्वप्न में देखा था। जैन परम्परा के अनुसार भी महावीर की माता त्रिषला ने स्वप्न में जो 14 पवित्र स्थान देखे उनमें एक सफेद हाथी, एक सफेद बैल और एक सिंह भी थे। ब्राह्मण मान्यता के अनुसार, हाथी इन्द्र और लक्ष्मी की सवारी है। इसी प्रकार सांड़ प्राचीन संस्कृतियों में उर्वराशक्ति और प्रजनन क्षमता का प्रतीक है। इसे ऋषभ नक्षत्र के प्रतीक के रूप में भी लिया जा सकता है, जिसमें बुद्ध का जन्म हुआ था। परवर्ती बौद्ध मूर्तिकला में घोड़े को सिद्धार्थ के गृहत्याग के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। एक अन्य बौद्ध मान्यता के अनुसार, हिमालय क्षेत्र में अनोतत्त नाम की एक मिथकीय झील है जिसके समीप की चट्टानों का आकार एक अश्व, एक सांड़, एक सिंह और एक हाथी का है। इस प्रकार अशोक के स्तम्भों में बनी सभी आकृतियों का बौद्ध मान्यताओं से सीधा सम्बन्ध

सम्बंधित परिचर्चा

अशोक के शिलालेख का मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास

प्राचीन शिल्प और स्थापत्य का उत्तरोत्तर काल में काफी रोचक इतिहास रहा है। अशोक के दो शिलालेख जो वर्तमान में दिल्ली में हैं, उपरोक्त तथ्य का सटीक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:

शम्स शिराज अफीफ ने 14वीं शताब्दी की अपनी पुस्तक तारीख-ए-फिरोजशाही में इन दो शिलालेखों का वर्णन किया है जो आज दिल्ली-तोपरा तथा दिल्ली-मेरठ शिलालेखों के नाम से विख्यात हैं। अफीफ बताते हैं कि अपने सैन्य अभियानों के दौरान सुल्तान फिरोजशाह तुगलक को ये शिलालेख क्रमशः तोपरा (आधुनिक हरियाणा) तथा मेरठ (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में दिखलाई पड़े। इन शिलालेखों ने उसे इतना अधिक प्रभावित किया कि उसने इनको दिल्ली मँगवाने का निश्चय कर लिया। तोपरा शिलालेख के दिल्ली यात्रा का वर्णन अफीफ ने इस प्रकार किया है—तोपरा गाँव के निवासियों को तथा सेना को आवश्यक आदेश दे दिए गए। उनको आवश्यक औज़ार तथा रेशम और कपास के वृक्षों से रेशमी-सूती वस्त्र साथ में लेकर शिलालेख के पास एकत्रित होने का निर्देश दिया गया। शिलालेख को सरकंडे और खालों में सावधानीपूर्वक लपेटकर 42 चक्कों वाली एक वाहन में लाया गया। चक्कों वाले वाहन में रस्सी लगाकर उसे लोगों ने खींचकर यमुना तक पहुँचाया, जहाँ से आगे की कार्यवाही सुल्तान ने व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर अपने निर्देशन में सम्पन्न करवाई। बहुत सारे नावों को एक साथ बाँधकर उन पर शिलालेख रखा गया तथा नदी के मार्ग से उसे दिल्ली स्थित अपने नए घर में लाया गया। फिरोजाबाद में स्थित राजमहल के परिसर में अत्यन्त सावधानी के साथ उस शिलालेख को स्थापित किया गया जहाँ वे आज भी मौजूद हैं। उस समय अशोक की ब्राह्मी लिपि को कोई पढ़ नहीं सकता था, किन्तु अफीफ बतलाते हैं कि कुछ ब्राह्मणों ने उसको पढ़ लेने का दावा किया। उन्होंने घोषणा की कि

14वीं सदी में अशोक स्तंभ के तोपरा से दिल्ली स्थानांतरण का सीरत-ए-फिरुजशाही में उद्धृत आरेख (पृष्ठ संख्या, 1937)

इस अभिलेख में एक भविष्यवाणी की गई थी कि शिलालेख को अपने मूल स्थान से तब तक नहीं हटाया जा सकेगा, जब तक सुल्तान फिरोज नाम का एक महान् राजा का आविर्भाव नहीं होगा।

फिरोजाबाद (आधुनिक फिरोज शाह कोटला) स्थित सुल्तान के महल में इस शिलालेख की स्थापना की गई तथा इसको मीनार-ए-जरीन अथवा स्वर्ण स्तंभ के नाम से जाना गया। सीरत-ए-फिरोजशाही नाम की किसी अज्ञात लेखन के द्वारा तैयार की गई पाण्डुलिपि में तोपरा शिलालेख के दिल्ली लाने तथा उसको अपने नए स्थान पर खड़ा करने के दृश्यों को चित्रित किया गया। मेरठ का शिलालेख फिरोजशाह के कुरक-ए-शिकार अथवा शिकार महल (जो दिल्ली विश्वविद्यालय के निकट नॉर्दन रीज पर स्थित वाड़ा हिन्दू राव अस्पताल के सामने स्थित है) में स्थापित किया गया।

बहुत सारे अशोक के शिलालेखों पर कालान्तर में पृथक रूप से अभिलेख उत्कीर्ण किया गया है। इनमें बहुत सारे लोगों ने अपने नाम खुदवाए हैं, जिससे पता चलता है कि सैलानियों द्वारा ऐसे सांस्कृतिक धरोहरों पर इस प्रकार लिखने की प्रथा कोई नयी बात नहीं है।
दिल्ली-तोपरा शिलालेख पर 12वीं शताब्दी के चौहान शासक विग्रहराज चतुर्थ के तीन अभिलेख उत्कीर्ण हैं। यह बतलाता है कि 1000 वर्ष पहले जिस शिलालेख का प्रयोग अशोक के धम्म तथा मौर्य साम्राज्य की भव्यता की उद्घोषणा करने के लिए हुआ था, उसी शिलालेख का प्रयोग मध्यकाल के एक राजपूत शासक द्वारा अपनी विजय और महानता को दर्शाने के लिए भी किया गया। इसके अतिरिक्त भी 13वीं-16वीं शताब्दियों के संस्कृत तथा फारसी में लिखे गए अभिलेखों को इस शिलालेख पर देखा जा सकता है। दिल्ली-मेरठ शिलालेख पर पूर्व मध्यकाल के तीन अभिलेखों को चिन्हित किया गया। इसी प्रकार लौरिया-नन्दनगढ़ में औरंगजेब काल का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसके अतिरिक्त उस पर अंग्रेजी में लिखे रियूबेन बरो 1792 को भी पढ़ा जा सकता है। रियूबेन बरो एक सर्वेक्षक थे, जिसने स्पष्ट रूप से 18वीं शताब्दी में इस स्थान का दौरा किया था।

इलाहाबाद-कोसम शिलालेख में कौशाम्बी के महामात्तों की चर्चा हुई है जिससे पता चलता है कि बाद के किसी काल में उसे कौशाम्बी से इलाहबाद लाया गया है। इस शिलालेख पर अशोक के विच्छिन्न आज्ञापत्र (स्किज़्म एडिक्ट) के अतिरिक्त गुप्त सम्राट की प्रसिद्ध इलाहाबाद प्रशस्ति को भी देखा जा सकता है। इस पर मुगल सम्राट जहाँगीर की वंशावली भी उत्कीर्ण है। इस प्रकार इलाहाबाद-कोसम शिलालेख पर तीन सम्राटों के अभिलेख उद्धरित हैं जो 2000 वर्षों के इतिहास का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से इस शिलालेख का अन्यतम महत्त्व है। इस शिलालेख पर यत्र-तत्र बहुत सारे नामों को पढ़ा जा सकता है, जिनको विभिन्न कालावधि में उकेरा गया है।

अशोक के शिलालेख के टुकड़ों को हरियाणा के हिसार और फतेहाबाद में भी चिन्हित किया गया है। हिसार में अवस्थित शिलालेख के टुकड़े फिरोजशाह तुगलक द्वारा निर्मित मस्जिद के सामने पाए गए जो मूल शिलालेख का सबसे निचला हिस्सा है। फतेहाबाद स्थित विच्छिन्न शिलालेख एक इबादतखाना के बीच में स्थित है जो उत्तर मुगल काल का है। इस पर फिरोजशाह के वंशावली को उत्कीर्ण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में हिसार और फतेहाबाद इन दोनों स्थानों पर पाए गए टुकड़े मूल रूप से अशोक के किसी एक ही शिलालेख के घटक हैं।

ऐसी भी रिपोर्ट है कि अशोक के शिलालेख के विभिन्न भागों की पूजा शिवलिंग के रूप में की जाती थी। अशोक के शिलालेखों और उसके विच्छिन्न भागों को बहुत स्थानों पर भीम की लाठ या भीम का डंडा के रूप में देखने की स्थानीय मान्यता बन गई है।

इस प्रकार इस तथ्यों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार ऐतिहासिक धरोहर के मौलिक अर्थ और महत्त्व कालान्तर में रूपांतरिक स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं।

स्रोतः सिंह (1999), 2006: xxx-xxxii, 58–62; सिंह, 1997–98

है। किन्तु इन प्रतीकों का इनसे कहीं व्यापक और गहरा सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र है। इनमें से कई प्रतीक भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास के बिल्कुल प्रारंभिक काल से आहत सिक्कों, पत्थर की तश्तरीनुमा आकृतियों पर दिखलाई पड़ते रहे हैं।

मौर्य साम्राज्य के तथाकथित राजकीय कला पर अधिकांश विद्वानों के अनुसार, विदेशी कला और विशेषकर ईरानी कला के प्रभाव पर बल देते हैं। उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट कराया कि डेरियस के सार्वजनिक राजादेशों में 'डिपि' या 'लिपि' शब्द का प्रयोग हुआ है जो अशोक के अभिलेखों में भी मिलते हैं। उनके अनुसार, अशोक को स्तम्भों पर राजादेश उत्कीर्ण करवाने की प्रेरणा अखमणी साम्राज्य से मिली। डेरियस और अशोक दोनों के राजादेश अभिलेखों की शुरुआत तृतीय पुरुष से होती है और बाद में ये पाठक अथवा श्रोताओं को सीधा सम्बोधित करते हैं। अशोक के स्तम्भों की सतह पर किये चमकीले पॉलिश और उनके स्तम्भशीर्षों पर बनी पशुओं की विभिन्न प्रतीकात्मक आकृतियों को यूनानी तथा विशेषरूप से ईरानी कला से प्रभावित माना जाता है। अशोक स्तम्भों पर अंकित सिंह की प्रतिमा अपनी भंगिमा के आधार पर पाश्चात्य स्वाभिमान को प्रभावित बताई जाती है। इस संदर्भ में कुमारस्वामी ([1927], 1965: 13) का मानना है कि सुदूर अतीत में भारत एक वृहत् प्राच्य सांस्कृतिक क्षेत्र का हिस्सा था जो भू-मध्यसागर से लेकर गंगा के मैदानी क्षेत्र तक फैला हुआ था। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में सांझा संस्कृति के बहुत से तत्व विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त ईरान और भारत के बीच प्राचीन काल से सांस्कृतिक और व्यापारिक आदान-प्रदान होता रहा, बल्कि ईरान के साम्राज्य का आधार क्षेत्र भी एक लम्बे काल तक हिस्सा बना रहा। अशोक के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में स्थित कुछ अभिलेखों में अरामाईक लिपि का प्रयोग हुआ तथा इसी लिपि से खरोष्ठी लिपि का भी विकास हुआ। दरअसल, ये तथ्य पश्चिम एशिया और भारत के बीच परस्पर सम्बंधों का सीधा परिणाम थे।

वृषभ स्तंभ-शीर्ष रामपूरवा

दूसरी ओर निहाररंजन रे (1975: 24-26) जैसे विद्वानों ने मौर्य और ईरानी स्तम्भ अभिलेखों के बीच की भिन्नताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। कुम्रहार के स्तम्भों के स्तम्भशीर्ष अनुपस्थित हैं, जबकि परसिपोलिस के स्तम्भ अपने विषद् अलंकरण के कारण जाने जाते हैं। ईरानी स्तम्भों के आधार उल्टे कमल या घंटाकार आकृति के हैं जबकि मौर्य स्तम्भों में यह आकृति शीर्ष पर अवस्थित होती है। मौर्यों के इस घंटाकार आकृति में एक स्पष्ट उभार देखा जाता है जो ईरानी स्तम्भों की समान आकृतियों में नहीं दिखलाई पड़ते। अधिकांश ईरानी स्तम्भों की सतह पर डिजाइन बने हैं, जबकि मौर्य स्तम्भों की सतह समतल और चिकनी है। ईरानी स्तम्भशीर्षों पर बैल या सिंह दो की संख्या में है जिनके पार्श्व जुड़े होते हैं जो मौर्य प्रतीकों से काफी अलग हैं। मौर्य स्तम्भशीर्षों पर आकृतियों को जिस प्लेटफार्म पर स्थापित किया गया, वह ईरानी स्तम्भों में नहीं बने हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि यदि दोनों प्रकार के स्तम्भों में कुछ विशिष्ट समानताएं देखने को मिलती भी हैं, तब भी दोनों के प्रभाव अपनी सम्पूर्णता में एकदम पृथक हैं। वस्तुतः अशोक ने इन स्तम्भों के अध्ययन से अपने धम्म संदेशों की स्थापना के द्वारा, इनके सांस्कृतिक महत्त्व को अद्वितीय आभास प्रदान कर दिया।

वैसे भी किसी कला में सन्निहित प्रेरणा और प्रभाव का विषय जटिल है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कलात्मक प्रतीक, कलाकार और शैलियां सुदूर क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में लोकप्रिय कलात्मक प्रतीक एक-दूसरे से बिल्कुल समानता रख सकते हैं। बहुत बार दो

अलग-अलग क्षेत्रों की शैलियां एक-सी होती हैं किन्तु किसी स्थान पर इनमें पूर्ण रूप से नवीन प्रयोग किये जा सकते हैं। एक ही डिजाइन का दो भिन्न क्षेत्रों में पृथक-पृथक अभिप्राय और प्रयोजन हो सकता है। एक ही कलात्मक प्रतीकों का निरूपण भिन्न-भिन्न कला-शैली के माध्यम से हो सकता है जो संबद्ध क्षेत्र में उन प्रतीकों से जुड़े निहितार्थों की भिन्न शैलियों को दर्शाते हैं। ऐसा हो सकता है कि अशोक के स्तम्भों की प्रेरणा इसी महाद्वीप में विद्यमान पूर्व से चली आ रही स्तम्भों की स्थापना की प्रथा से मिली हुई हो न कि ईरानी स्तम्भों से। शायद उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में काष्ठ स्तम्भों की स्तम्भ परंपरा रही हो जो कालांतर में नष्ट हो गए। लेकिन वैसी संभावना होने पर भी मौर्यकालीन कला में काष्ठ से प्रस्तरीय माध्यमों में रूपांतरण एक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना ही कही जाएगी, जिसमें मौर्य सम्राटों के साम्राज्यवादी संकल्पनाएं परिलक्षित होती हैं।

स्तम्भों के अतिरिक्त मौर्य राजकीय कला की अभिव्यक्ति पत्थरों के अन्य माध्यमों में भी हुई है। सारनाथ से मिले पॉलिशदार प्राचीर के ध्वंसावशेष मौर्य काल के माने गए हैं। बोध गया के महाबोधी मंदिर के प्रांगण में बोधीवृक्ष के नीचे बना वज्रासन, एक पत्थर का स्लैब लगा है। यह वज्रासन चुनार पत्थरों से बना है, जिसकी मोटाई 16.5 सेमी. है। इसकी ऊपरी सतह पर ज्यामितीय आकृतियां उत्कीर्ण हैं, जो एक-दूसरे को काटने वाली वृत्तों के समान दिखलाई पड़ती हैं। अशोक के स्तम्भों पर अंकित पुष्पीय डिजाइन और हंसों के सदृश्य, वज्रासन के किनारे चित्र अंकित हैं।

धौली (भुवनेश्वर जिला, ओडिशा) में पत्थरों को तराशकर हाथी का अग्र भाग बनाया गया है। इसकी विशालकाय सूंड पीछे की ओर मुड़ी है। दाहिना अगला पाँव बाहर की ओर मुड़ा है। अपनी सम्पूर्णता में इसे देखने से प्रतीत होता है कि वह हाथी पत्थरों से बाहर कूच कर रहा है। दरअसल, मौर्यकाल से ही चट्टानों को काटकर स्थापत्य निर्माण का युग प्रारंभ होता है। बोधगया के उत्तर में बराबर और नागार्जुनी की पहाड़ियां हैं। बराबर की पहाड़ियों में अशोक के तीन दान अभिलेख तथा नागर्जुनी में दशरथ (अशोक का पुत्र) के तीन दान अभिलेख मिले हैं। इन गुफाओं की बाह्य संरचना बिल्कुल सादगी भरी है किन्तु आंतरिक गुफा की सतहें पॉलिश की हुई हैं। गुफा बाहर हिस्से के साथ-साथ भीतर से लम्बवत् जाता है। समीपस्थ लोमश ऋषि गुफा का द्वार चित्रांकनों से अलंकृत है। गुफा के द्वारों को काष्ठ द्वारों के मॉडल पर बनाया गया है। प्रवेश द्वार के ऊपर तराशी गई आकृतियाँ, इतिहासकारों के अनुसार, चैत्य या गवक्ष आकृति के प्रारंभिक उदाहरण हैं। गवक्ष आकृति के बीच स्तूप की ओर कूच करते हाथियों का एक झुण्ड अंकित है। चित्रांकन के दोनों सिरों पर मकर (मिथकीय मगरमच्छ) का चित्र उत्कीर्ण है। लोमष ऋषि गुफा के अंदर में दो परस्पर जुड़े हुए चैम्बर हैं। इनमें से आयताकार चैम्बर के बाद एक अधूरा बना हुआ कक्ष है। इसमें कोई अभिलेख नहीं है। इस गुफा के बगल वाली गुफा का भीतरी भाग इसी के समान है, केवल दूसरी गुफा का प्रवेशद्वार अलंकृत नहीं है, किन्तु इसमें पाई गई अभिलेख पर अंकित है कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के 12 वर्ष बाद इस गुफा को आजीविकों को अर्पित किया। इस प्रकार लोमश ऋषि गुफा का भी लगभग वही काल है।

धौली का गज (ऊपर); लोमस ऋषि गुफा का अग्र भाग (नीचे)

स्तूप संख्या-1, सांची

स्तूप निर्माण की प्रथा सम्भवतः बुद्ध के पूर्वकाल से प्रचलित थी इसलिए प्रारंभिक दौर में स्तूपों को अनिवार्यतः बौद्ध संस्कृति का अंश नहीं कह सकते। महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार, बुद्ध के दाह-संस्कार के पश्चात् उनकी अस्थियों पर आठ स्तूपों का निर्माण किया गया तथा अस्थिकलश एवं अन्य अन्त्येष्टि सामग्रियों पर दो अन्य स्तूपों का भी निर्माण किया गया। कुछ पुरातत्त्वविदों का मानना है कि पिपरहवा और वैशाली में मिट्टी के बने स्तूप, बुद्ध के अवशेषों पर बने मौलिक स्तूप थे। कालान्तर में रखे गए अवशेषों की उपासना के बजाय स्वयं स्तूप ही उपासना की वस्तु बन गईं, चाहे उनमें अवशेष रखे हों, अथवा अनुपस्थित हों। इस प्रकार स्तूप बुद्ध के धम्म एवं बौद्ध संघ का महत्त्वपूर्ण प्रतीक बन गया। अवदान साहित्य के अनुसार, अशोक ने बुद्ध के अवशेषों को फिर से वितरित करने का कार्य किया तथा विभिन्न क्षेत्रों में इन पुनर्वितरित अवषेशों पर स्तूप निर्माण का आदेश दिया। निगली सागर अभिलेख में उल्लेख है कि कनक मुनि बुद्ध के स्तूप का विस्तारीकरण किया गया तथा अपने राज्याभिषेक के 14 वर्ष बीत जाने पर अशोक ने इस स्थान की यात्रा भी की। इस प्रकार ऐसे पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे पता चलता है कि अशोक ने स्तूप निर्माण की प्रथा को लोकप्रिय बनाने का कार्य किया।

बौद्ध स्तूपों की वास्तुकला के इतिहास में अशोक के काल में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। वैशाली और पिपरहवा के पूर्व स्थित मिट्टी के स्तूपों पर ईंटों के विशालकाय स्तूप बनाए गए। अमरावती से प्राप्त अशोक के अभिलेख के एक विच्छिन्न हिस्से से यह पता चलता है कि यहां पर स्थित स्तूप और विहार का निर्माण उसके शासन काल में ही हुआ था। सारनाथ में अशोक स्तम्भ स्थित है और यहां के धर्मराजिक और धमेख स्तूपों का निर्माण लगभग इसी काल में हुआ था। राजगीर के पुरातात्त्विक टीले के पश्चिमी हिस्से में मौर्य शैली की ईंटों की प्राप्ति के आधार पर से स्तूप का अवशेष समझा जाता है। इसी प्रकार उत्तर पश्चिम में तक्षशिला के धर्मराजिक स्तूप का उद्‌भव मौर्य काल से ही जोड़ा गया है।

मध्य प्रदेश के रायसेन जिला में स्थित सांची के प्रसिद्ध स्तूप का निर्माण अशोक के शासन में ही किया गया। यह प्राचीन विदिशा (बेसनगर) के बाहरी हिस्से में स्थित है, जो अशोक के साम्राज्य के महान नगरों में से एक था। बौद्ध स्रोतों के अनुसार, यह अशोक की पत्नी देवी का जन्म स्थान था। हालांकि, सांची में अनेक स्तूप, मन्दिर व विहार देखे जा सकते हैं, लेकिन इनमें से स्तूप संख्या-1 महास्तूप का निर्माण अशोक के काल में हुआ था। इसकी पुष्टि वहीं से प्राप्त अशोक के धर्मविभाजन राजादेश वाले स्तम्भ की उपस्थिति से भी होती है। स्तूप की आधार परिधि 60 फीट की थी और अर्धगोलाकार गुंबद निम्न उंचाई का था, जो निम्न बेलनाकार संरचना के ऊपर टिका हुआ था। शायद इस स्तूप के चारों ओर काष्ठ की दीवारों से घेराबन्दी की गई थी, जिसके चारों दिशाओं में मुख्य स्थानों पर प्रवेश द्वार बनाए गए थे। दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में इस स्तूप को पत्थरों से आच्छादित कर दिया गया। अगली कुछ शताब्दियों में अतिरिक्त निर्माण कार्य भी होते रहे। हालांकि, स्तूप संख्या-7 कहे जाने वाले विशाल स्तूप से कोई भी अवशेष नहीं मिला है।

उपरोक्त राजकीय कला के समान्तर मौर्य काल में एक समृद्धशाली लोककथा का अस्तित्व भी देखा जा सकता है। पटना, मथुरा और अन्य स्थानों से पत्थरों पर तराशी गई विशालकाय मानवीय आकृतियां पाई गई हैं। इनमें से कुछ आकृतियों को यक्ष और यक्षी की संज्ञा दी जाती है। दरअसल, ये लोकधर्म का प्रतिनिधित्व करते

अद्यतन खोज

देउरकोठार में अशोक के एक स्तूप की खोज

1982 में रींवा जिला (म.प्र.) के टोंस घाटी में फणी कांत मिश्रा के द्वारा प्रारंभिक बौद्ध स्थलों के संदर्भ में तहकीकात की जा रही थी। टोंस के दाहिने किनारे पर स्थित पैरा गांव में, उन्होंने कुछ ठीकरों, दीवार के भग्नावशेष तथा ईंट से बनी एक छोटे स्तूप को देखा। ग्रामीणों के द्वारा उन्हें पैरा से 3 कि.मी. दक्षिण-पूर्व में ईंटों के कुछ और पुरातात्त्विक टीलों की जानकारी दी गई। गांव के सरपंच अजीत सिंह ने अनुसंधानकर्त्ताओं की टीम को देउरकोठार पहुंचाया, जो नदी के किनारे एक चित्रात्मक स्थल था। ईंटों से बने इन टीलों के सम्बंध में प्रचलित किवदन्ती यह थी कि प्राचीन काल में एक सम्राट यहां एक राजप्रासाद बनाना चाहता था। किंतु उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गई और उसका सपना इन ईंटों में सिमट कर रह गया। 1999-2000 के अनुसंधानों और उत्खननों के दौरान यह स्पष्ट हो गया कि देउरकोठार, मौर्यकालीन एक स्तूप सहित पुरातात्त्विक अवशेषों की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्थल है।

देउरकोठार के अवशेषों में शैल आश्रय, शैलचित्र बहुत सारे स्तूप और विहार तथा अभिलेख शामिल हैं। प्रारंभिक खुदाई के दौरान ईंट से बने चार स्तूप तथा पत्थर से बने 29 स्तूप चिन्हित किए गए। 63 शैल आश्रयों में से छह में शैलचित्र पाए गए, जिनमें अधिकांश प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के थे। इनमें से एक में वेदिका से घिरे एक स्तूप और वृक्ष का चित्रांकन हुआ था।

स्तूप-1 (9 मी से अधिक ऊंची) सबसे प्रभावशाली संरचना है। तीन अन्य ईंट वाले स्तूप, भिन्न ऊंचाई और आयाम के थे। स्तूप-2, स्तूप-1 से दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम में 400 मी. की दूरी पर था, तथा चार अलग-अलग आकार वाली ईंटों का बना था। पॉलिशदार सतह वाले एक विशाल स्तंभ के कारण इसके मौर्य सम्बंध का बोध होता है। ब्राह्मी अक्षरों में छः पंक्तियों के एक अभिलेख से इसकी तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. तिथि के होने की पुष्टि होती है। अभिलेख से यह प्रतीत होता है कि एक भिक्षु और उसके शिष्य के द्वारा इस स्तम्भ की स्थापना करवाई गई थी।

स्तूप-1 के समीप ही एक टूटी वेदिका के अवशेष मिले। कुछ टुकड़ों पर सामान्य, छिछले नक्काशी थे, जिनमें अर्धकमल, पूर्ण कमल तथा अधलिखे कमल की आकृतियां भी शामिल हैं। ये नक्काशियों को सांची या भारहुत के पहले की मालूम पड़ती है, और इसलिए संभावना बनती है कि देउरकोठार के स्तूप-1 के चारों ओर बनी वेदिका मौर्यकाल की थी। ऐसा लगता है कि मध्य द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. में इस स्तूप को जान-बूझकर क्षतिग्रस्त किया गया था।

स्रोत: मिश्रा, 2001

शैल प्रतिमा, लोहानीगंज

हैं, जिनकी उपासना उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में आज भी प्रचलित है। ऐसी अधिकांश प्रतिमाओं के साथ कोई अभिन्नेखीय साक्ष्य नहीं मिला है। केवल इनके पॉलिश किए गए सतहों के आधार पर इन्हें मौर्यकालीन घोषित किया जाता रहा है, किन्तु यह ज्ञात हो चुका है कि मौर्योत्तर काल में प्रायः प्रारंभिक शताब्दियों तक प्रतिमाओं को उसी प्रकार चमकीला पॉलिश किए जाने की प्रथा प्रचलित रही। इसलिए इनकी भंगिमाओं को समझना महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पहले परखम से प्राप्त यक्ष की प्रतिमा को मौर्यकालीन बताया जाता था, इसकी कला शैली के सूक्ष्म विश्लेषण के बाद इसकी तिथि पहली शताब्दी सा.सं.पू. तय की गई, किन्तु इस मूर्ति के आधार पर मौर्य-ब्राह्मी लिपि के अक्षरों की उपस्थिति से उक्त विवाद बना रह जाता है।

इस काल के पत्थर की प्रतिमाओं में लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त एक नग्न पुरुष का उदाहरण उपलब्ध है। चुनार के पत्थर से बनी इस प्रतिमा की सतह पॉलिश की गई है। प्रतिमा प्राप्ति के स्थान पर भी पॉलिश किए गए मौर्यकालीन दो स्तम्भ भी मिले हैं। ऐसी संभावना है कि किसी जैन तीर्थंकरों को नग्न दिखलाया गया है, किन्तु प्राचीन भारतीय कला के लिए प्रतिमाओं में नग्नता का निरूपण सामान्य रूप से प्रचलित था।[1] दीदारगंज यक्षी (पटना) भी इस काल की महत्त्वपूर्ण प्रतिमा है। हालांकि, यह किसी यक्षी की अपेक्षा किसी परिचारिका की मूर्ति अधिक लगती है। कुछ विद्वानों ने पॉलिश किए गए सतह के आधार पर इसे मौर्यकालीन बताया है। किन्तु शारीरिक उभारों के निरूपण की दृष्टि से अन्य विद्वानों ने इसकी तिथि दूसरी शताब्दी में निर्धारित की है। पटना से एक पुरुष प्रतिमा का केवल धड़ मिला है जो

1. सामान्य रूप से प्राचीन भारतीय कला शरीर शोष्ठव के निस्संकोच और उन्मुक्त निरूपण की अभिवृत्ति रखती है, बल्कि अधिकतर उसके सौंदर्य को अनुष्ठानित करती है। जबकि दिगम्बर जैन परम्परा में, नग्नता तीर्थंकर के पूर्ण परित्याग का एक स्वरूप है।

सम्बंधित परिचर्चा

परखम यक्षः तब और आज

यक्ष वैसे देवता थे, जिन्हें जल, उर्वरा शक्ति, वृक्ष तथा वन से जुड़ा हुआ माना जाता है। उर्वरा शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली उनके स्त्री रूप को यक्षी कहते थे। यक्ष और यक्षी की पत्थर और मिट्टी की बनी हुई प्रतिमाएं सम्पूर्ण भारतीय प्राय:द्वीप में पाई जाती हैं जिससे पता चलता है कि इनकी उपासना प्राचीन भारत के लोक धर्म का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थी।

मथुरा क्षेत्र में बहुत सारी यक्ष प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे विख्यात धूसर रंग वाली चूना पत्थर की विशाल प्रतिमा है जो मथुरा नगर के दक्षिण में परखम गाँव के तालाब के निकट मिली थी। कुछ इतिहासकार शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसकी तिथि दूसरी-पहली सा.सं.पू. आंकते हैं। अभिलेख में उल्लेख है कि इस पत्थर की मूर्ति का निर्माण कुनिक के शिष्य गोमितक ने किया था तथा इसकी स्थापना आठ भाइयों द्वारा करवाई गई थी जो मणिभद्र युग (या पंथ) के सदस्य थे। अभिलेख से स्पष्ट था कि यह यक्ष मणिभद्र की प्रतिमा थी। विभिन्न अभिलेखों और ग्रन्थों में इनका उल्लेख, व्यापारियों एवं यात्रियों के रक्षक देवता के रूप में हुआ है, और महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक केन्द्रों में इनकी विशेष रूप से पूजा का प्रचलन था।

बहुत वर्षों पहले यक्ष मणिभद्र की विशाल प्रतिमा को परखम गाँव से हटाकर मथुरा संग्रहालय में ले आया गया था, किन्तु वर्तमान में भी माघ (जनवरी) महीने में इस गाँव में जखईया मेला (यक्ष मेला) धूमधाम से लगता है। जब आसपास के गाँवों के सैकड़ों लोग जुटते हैं और जखई या (यक्ष) की पूजा करते हैं। इस अवसर पर तालाब के बगल में एक अस्थायी मंदिर बनाकर मौलिक यक्ष प्रतिमा की एक कामचलाऊ वैकल्पिक प्रतिमा की पूजा की जाती है।

यक्ष की विशालता उसके गुरूत्व और अपार शक्ति को प्रदर्शित करती थी। विच्छिन दाहिना हाथ कदाचित् अभय मुद्रा में रहा होगा जो यक्ष द्वारा प्रदत्त सुरक्षा का प्रतीक है। यक्ष की अपेक्षाकृत छोटी और आधुनिक प्रतिमा में यक्ष को प्रसन्न मुद्रा में दिखलाया गया है जिसके उठे हुए बाएं हाथ भय की अपेक्षा मित्रता का संदेश देते हैं। फिर भी जनवरी महीने के तीसरे रविवार को शायद मणिभद्र यक्ष अपनी उस महत्ता को कुछ समय के लिए प्राप्त कर लेते हैं जो मथुरा क्षेत्र में उन्हें 2000 वर्ष पहले प्राप्त था।

स्रोतः सिंह, 2004a

उद्भृत शैल छल्ले

शैलीगत दृष्टिकोणों से दीदारगंज यक्षी के बिल्कुल सदृश है। इसे भी एक यक्ष अथवा उसके किसी अनुचर की प्रतिमा के रूप में देखा जाता है। यदि पत्थरों में प्रचलित इन मूर्तिकला के उदाहरणों को मौर्यकालीन मान लिया जाए तब यह भी मानना होगा कि राजकीय संरक्षण के बाहर विभिन्न केन्द्रों में कला को दूसरे वर्गों से भी संरक्षण प्राप्त हो रहा था। सूजन हनटिंगटन (1985: 52) मानती हैं कि पत्थरों में निरुपित उपरोक्त मूर्ति कला भारतीय कला के इतिहास में मानवीय आकृतियों की अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण काल था। हालांकि, पॉलिश किए गए सतहों जैसे तथ्य लम्बी अवधि तक प्रचलन में नहीं रहे। किन्तु मानवीय आकृतियों का निदर्शन, उनके परिधानों का निरुपन तथा कई अन्य विशेषताएं भारतीय कला पर दीर्घकालिक प्रभाव छोड़ गईं।

उत्तरी भारत में तीसरी और दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के काल के 'रिंग स्टोन' तथा 'डिस्क स्टोन' (वृत्ताकार पत्थरों की समतल आकृतियाँ) विभिन्न स्थानों से बड़ी संख्या में प्राप्त हुई है (जोशी, 1987)। पटना, तक्षशिला, मथुरा, दिल्ली का पुराना किला, कोशाम्बी, राजघाट, वैशाली जैसे स्थानों पर अधिक पायी गई हैं। पत्थर की इन वृत्ताकार आकृतियों का सामान्य व्यास 5-6 सेमी. था। जिन पर एकाधिक सकेन्द्रीय वृत्तों की परिधि के भीतर कुछ विशिष्ट प्रतीक उत्कीर्ण किये गये थे। इनमें सिंह, अश्व, हिरण, पक्षी, मगर, स्त्री, वृक्ष, पुष्प के अतिरिक्त ज्यामितीय डिजाइन प्रमुख हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पत्थर की इन आकृतियों का धार्मिक या आनुष्ठानिक महत्त्व रहा होगा। कला की इन अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त मौर्यकालीन नगरों में टेराकोटा को भी कला का महत्त्वपूर्ण माध्यम बनाया गया था। टेराकोटा कला की शैली, निरूपण तथा संभावित उपयोगिता के आधार पर इन्हें लोक-व्यवहार, आस्था और लोक-कला जैसे विषयों से जोड़ा जाता रहा है। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि टेराकोटा में अभिव्यक्त कलाकृतियां खिलौनों से लेकर उपास्थ या अर्पित महत्त्व वाली प्रतीक कुछ भी हो सकती हैं। इनके विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अभिलेखीय उदाहरणों के अभाव में इनको प्राप्ति के पुरातात्त्विक स्तर विन्यास के समग्र अध्ययन के आधार पर ही वर्णित किया जा सकता है।

मौर्य साम्राज्य का पतन

(The Decline of the Maurya Empire)

प्रथम उपमहाद्विपीय साम्राज्य के रूप में मौर्य साम्राज्य का अत्यंत महत्त्व रहा है। इसके पतन के विषय ने भी सदैव विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। प्रथम तीन मौर्य सम्राटों के गौरवशाली शासनकाल की लंबी अवधि के बाद, बहुत सारे मौर्य राजाओं ने छोटी-छोटी अवधियों तक शासन किया। बाद के मौर्य राजाओं में से केवल दशरथ द्वारा निर्गत अभिलेख उपलब्ध है। अन्य मौर्य राजाओं की जानकारी हमें सिर्फ बौद्ध, जैन अथवा पौराणिक गाथाओं से प्राप्त होती है। बैक्ट्रीया के यूनानी शासकों द्वारा किये गये एक आक्रमण ने साम्राज्य को काफी कमजोर कर दिया।

बहुत से विद्वानों ने मौर्यों के पतन के लिए अशोक की नीतियों को जिम्मेदार ठहराया। अन्य इतिहासकार इस सिद्धांत का विरोध करते हैं। हरप्रसाद शास्त्री ने अशोक द्वारा अपनायी गई ब्राह्मण-विरोधी नीतियों तथा मौर्यों के द्वारा दिये गए गैर-ब्राह्मण सम्प्रदायों को संरक्षण के विरूद्ध पुश्यमित्र शुंग के विद्रोह को ब्राह्मण क्रान्ति की संज्ञा दी है। ऐसा हो सकता है कि जहाँ ब्राह्मण वर्ग यज्ञ एवं पशुबलि की प्रथा के संचालन से अपनी आजीविका चलाते थे, वहीं अशोक द्वारा अहिंसा और पशुवध पर लागू की गई पाबन्दियों से उनमें असंतोष फैला होगा। अशोक के काल में धम्म महामात्यों द्वारा सामाजिक नैतिकता पर नियंत्रण का दायित्व सौंपा गया, जो ब्राह्मण वर्ग का अधिकार क्षेत्र था। हालांकि, शास्त्री ने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के क्रम में अशोक के शिलालेखों की गलत व्याख्या भी कर दी। शिलालेख संख्या 1 के अनुसार, अशोक के धम्म सम्बंधी प्रयासों से संसार इतना अच्छा हो गया है कि मनुष्य और देवता वहाँ साथ-साथ रहने लगे हैं। जिसकी हरप्रसाद शास्त्री ने गलत व्याख्या करते हुए कहा कि अशोक के अनुसार, ब्राह्मण इतने अहंकारी हो गए हैं कि वे स्वयं को ईश्वर समझने लगे हैं। इसके विपरीत अशोक ने अपने अभिलेखों में हमेशा लोगों को श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों

वर्गों का सम्मान करने का आग्रह किया है। यह कहना बिल्कुल तर्कसंगत नहीं है कि किसी प्रकार की क्रान्ति के परिणामस्वरूप मौर्यवंश का अंत हो गया।

अशोक के युद्ध-विराम की नीति को भी मौर्य साम्राज्य के पतन का एक कारण बताया गया है। अशोक ने कभी भी अपनी मजबूत सेना को किसी भी प्रकार से कमजोर न करने की बात की है। इसके अतिरिक्त मृत्युदण्ड पर भी अशोक ने रोक नहीं लगायी। उसके अभिलेखों में उपद्रवी समुदायों को परिणाम भुगतने की कड़ी चेतावनी भी दी गई है। हो सकता है कि इतने लंबे शासन काल के दौरान केवल प्रारंभिक वर्षों में एक ही युद्ध लड़ा गया, जिससे सैन्य तैयारियों में ढीलापन आना स्वाभाविक था। शायद यूनानी आक्रमण की सफलता के पीछे ऐसी स्थिति उत्तरदायी रही हो।

मौर्य साम्राज्य के विषय में अधिकांश विद्वान इसे एक केन्द्रीकृत, राजनैतिक व्यवस्था समझते थे और इसलिए अयोग्य उत्तराधिकारियों को राज्य के पतन के लिए जिम्मेदार ठहराना आसान था। हालांकि, बाद के अध्ययनों के आधार पर अतिकेन्द्रीकरण वाले सिद्धांत की आलोचना की जाने लगी। यदि मौर्य साम्राज्य की उतनी केन्द्रीकृत राजनैतिक व्यवस्था नहीं थी, जितना उसके विषय में पहले समझा जाता था, तब अयोग्य सम्राटों के सिद्धांत को स्वीकार कर पाना कठिन होगा। ऐसी भी दलील दी जाती रही है कि मौर्य साम्राज्य वित्तीय संकट से जूझ रहा था, अथवा मौर्य साम्राज्य को किसी बड़े पैमाने के आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था, किन्तु इस प्रकार के संकट से जुड़े कोई विशेष साक्ष्य नहीं दिये जा सकते।

रोमिला थापर ([1963], 1987) जैसे कुछ विद्वानों ने मौर्य साम्राज्य के पतन के जिन कारणों पर बल दिया है वे उस काल के परिप्रेक्ष्य में बहुत अग्रगामी संभावनाओं से ओत-प्रोत लगते हैं। प्राचीन राज्यों के सम्बंध में ये तर्क कुछ बेतुके प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ तर्क इस प्रकार हैं—राष्ट्रवाद का अभाव था, लोगों की निष्ठा राज्य के प्रति नहीं थी बल्कि सम्राटों के प्रति थी तथा प्रतिनिधि संस्थाओं का अभाव था। इसी प्रकार मौर्य प्रशासन के अधिकारियों का चयन, चीन के प्रचलित विधिवत परीक्षा-व्यवस्था के आधार पर नहीं किया जाता था। इनमें से कोई भी तर्क मौर्य साम्राज्य के पतन की व्याख्या नहीं करता। दरअसल, मौर्य साम्राज्य एक अत्यन्त विस्तृत साम्राज्य था जिसके घटकों में इतनी विविधताएं थीं कि उनको एकीकृत करना तो दूर, एक साथ जोड़कर रखना भी कठिन था। लेकिन यह कल्पना करना कि मौर्यों के द्वारा केन्द्र तथा केन्द्रतर प्रदेशों के लिए पृथक रूप से आर्थिक पुनर्संरचना के लिए कोई कारगर रणनीतियां नहीं बनाई गईं अथवा राजकीय हस्तक्षेप नहीं किया गया (थापर, 1984: 28–29) आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों की विशिष्टताएं हो सकती हैं। उस काल में राजनीतिक या आर्थिक व्यवस्था काफी भिन्न थी।

साक्ष्यों की जो प्रकृति है, उनके आधार पर मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए केवल कुछ तथ्यों एवं प्रवृत्तियों को रेखांकित किया जा सकता है। साम्राज्य अपने क्षेत्र, संसाधन और जनसंख्या पर नियंत्रण और उनके समन्वयीकरण के लिए अपने तंत्र का विकास करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सैन्य शक्ति, प्रशासनिक आधारभूत संरचना तथा वैचारिक अवधारणाओं की आवश्यकता होती है। मौर्य साम्राज्य के विस्तृत अस्तित्व के कारण इन तीनों का अधिकतम सम्भावनाओं तक उपयोग किया जा चुका था। इसलिए केवल समय आने की देरी थी कि इसके केन्द्रतर प्रदेश स्वयं को पृथक और स्वतंत्र करने में सफल हो गए।

निष्कर्ष

मौर्यकाल में प्रथम उपमहाद्विपीय साम्राज्य की स्थापना की गई। इस विस्तृत साम्राज्य के प्रशासनिक नियंत्रण के लिए नवीन रणनीतियों की स्थापना की गई। जितनी प्रसिद्धी मौर्यशासकों को एक महान साम्राज्य के निर्माण के लिए मिली उतनी अकेले मौर्य सम्राट अशोक को धम्मनीति के व्यापक एवं प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित करने के लिए और इस निमित्त अपनी सैन्य महत्त्वाकांक्षाओं का सैद्धान्तिक परित्याग की घोषणा के लिए उसे विश्व के महानतम सम्राटों की श्रेणी में रखा गया है। उसका धम्म, बौद्ध धर्म में सामान्य उपासकों के लिए प्रतिपादित उपासक धम्म पर आधारित था, किन्तु एक सम्राट द्वारा अपनी प्रजा को सम्बोधित राजादेश के कारण उसका प्रभाव कहीं अधिक व्यापक रहा होगा। साम्राज्यवादी मौर्यों के अधीन पत्थर पर भव्य संरचनाओं और कलात्मक धरोहरों का निर्माण हुआ, पत्थरों को काटकर स्थापत्य तथा स्तूप निर्माण योजनाओं की शुरुआत की गई। मौर्यों के इस तथाकथित राजकीय कला के समांतर मौर्य काल में लोककला का भी विकास हुआ। पिछली कुछ शताब्दियों से कृषि के आधारों का विस्तृत प्रसार हो रहा था तथा नगरीकरण की प्रक्रिया जोर पकड़ रही थी। इन परिवर्तनों से जुड़ी सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाएं मौर्यकाल में और भी सुदृढ़ हुईं। नगरों का निर्माण, व्यापारिक तंत्र का विकास एवं मुद्रा प्रणाली की सुव्यवस्थित स्थापना इस काल की विशेषताएं हैं। इन प्रक्रियाओं पर मौर्य राज्य के विशेष दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है। किन्तु सामाजिक व आर्थिक प्रक्रियाएं राजनीतिक इतिहास की परिधि से अधिकतर बाहर हैं, और इनकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

अध्याय 8

अभिनव परिवर्तन व पारस्परिक प्रभावः ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं.

अध्याय संरचना

प्राचीन वस्तुओं के एक उत्साही संग्रहकर्ता पंडित राधाकृष्ण ने 1911 में मथुरा के नजदीक माट नाम के गांव में खेतों के बीच स्थित टोकरी टीला पर से एक असामान्य पत्थर की मूर्ति खोज निकाली। इस मूर्ति के सिर और हाथ नहीं थे फिर भी मानव आकार की इस प्रतिमा में इतना कुछ बचा था जिसके अधार पर यह कहा जा सके कि यह किसी योद्धा शासक की मूर्ति रही होगी। प्रतिमा के दाहिने हाथ में एक लंबा राजदंड और बायें हाथ में एक अलंकृत तलवार का हत्था देखा जा सकता है। प्रतिमा में प्रदर्शित व्यक्ति सामान्य वस्त्रों में था उसके कवच उसके घुटने की लंबाई तक थे। कमर में एक बेल्ट कसा था। इसके ऊपर एक अंगवस्त्र देखा जा सकता था। उसके पैर काफी बड़े थे और पैरों में भारी बूट था। उसके पैर जमीन पर दृढ़तापूर्वक जड़े हुए दिखलाई पड़ते थे। उसके व्यक्तित्व से स्थायित्व के साथ-साथ एक सतर्कता का प्रदर्शन हो रहा था। अपने जीर्ण-शीर्ण अवस्था में भी प्रतिमा दृढ़शक्ति और सत्ता का प्रतिनिधित्व कर रही थी। प्रतिमा के आधार पर ब्राह्मी लिपी में लिखा था कि यह प्रतिमा कनिष्क की है। कनिष्क कुषाण वंश का था। कुषाण वंश सामान्य संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित कई राजवंशों में से एक था।

माट, मथुरा से प्राप्त कनिष्क की प्रतिमा

ल.200 सा.सं.पू. से 300 सा.सं. के बीच के काल को इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सबसे पहले तो उत्तर भारत में उत्तर-पश्चिम दिशा से इतने आक्रमण हुए कि राजनीतिक सत्ता मगध क्षेत्र से पश्चिमवर्ती क्षेत्र में हस्तांतरित हो गई। इसी काल में दक्कन और सुदूर दक्षिण में पहली बार राज्य और राज्य आधारित समाज की ओर संक्रमण का अनुभव किया।[1] उपमहाद्वीप के नए क्षेत्रों में नगरीय जीवन का प्रसार हुआ। शिल्पकार पहले की अपेक्षा और अधिक संख्या में और अधिक प्रकार के उत्पादन में व्यस्त दिखे। इन सबसे भी अधिक उपमहाद्वीप के भीतर और उपमहाद्वीप के बाहर के क्षेत्रों के बीच समृद्धशाली व्यापार तंत्र का विकास हुआ। मुद्रा प्रणाली ने विनिमय के माध्यम का मुख्य रूप धारण कर लिया। बाहरी आक्रमणों के कारण नयी संस्कृतियों का प्रभाव बढ़ने लगा। यह प्रभाव बढ़ते हुए वाणिज्य का भी परिणाम था। उत्तर-पश्चिमी भारत को सांस्कृतिक आदान-प्रदान का केन्द्र बनाया गया। धर्मिक जीवन मंदिरों में स्थापित प्रतिमाओं के प्रति भक्ति के भाव से ओत प्रोत हो गया। प्राय: सभी सम्प्रदाय और पंथ इस नयी धार्मिक व्यवस्था से प्रभावित हुए। इस काल के धार्मिक ग्रंथों में बढ़ते हुए धार्मिक गतिविधियों के बढ़ते हुए संस्थानीकरण का प्रतिबिंब देखा जा सकता है। धार्मिक संस्थानीकरण इस काल के स्थायी धार्मिक संरचनाओं और अभिलेखों में भी प्रतिबिंबित होता है। एक ओर स्तरीय प्रतिमा कला थी जो एक प्रकार से कुलीन वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी, तो दूसरी ओर समृद्धशाली टेराकोटा कला, जनसामान्य में प्रचलित कलात्मक प्रवृतियों के नये शिखर प्रदर्शित कर रहे थे।

वस्तुत: इन शताब्दियों के इतिहास के लिए हमारे पास स्रोतों की विविधता और वृहत् परिमाण दोनों देखा जा सकता है। जातक कथाओं में जन सामान्य व्यापारी और कारवां में चलने वाले लोगों का चित्रण मिलता है। *मिलिन्दपन्ह* और *ललितविस्तार* जैसी बौद्ध रचनाओं में कहीं कहीं इतिहास की ठोस सामग्री भी मिल जाती है। इसी प्रकार जैन ग्रंथ में जैन धर्म के इतिहास के साथ साथ ऐतिहासिक महत्त्व की भी कई सूचनाएं देखी जा सकती है। पुराणों में इस काल का वृहत् राजनीतिक इतिहास उपलब्ध है। हालांकि, पुराणों में दी गयी सूचनाएं आपस में मेल नहीं खाती। फिर भी पुराण और महाकाव्य प्रारंभिक हिन्दू संप्रदायों और धार्मिक व्यवहारों के विषय में पर्याप्त सूचनाएं देते है। मानव धर्मशास्त्र (जिसे सामान्यत:

1. के. राजन (व्यक्तिगत संवाद) तथा दिलिप के. चक्रवर्ती (2006: 312–13) का मानना है कि साक्षरता और राज्य की ओर सुदूर दक्षिण के संक्रमण के कालानुक्रम में संशोधन करने की आवश्यकता है तथा इन तिथियों को कम से कम चौथी शताब्दी सा.सं.पू. या शायद और भी पीछे ले जाने की आवश्यकता है।

◄ **लाल चूना पत्थर की यक्षी, संघोल (पंजाब)**

मनुस्मृति के रूप में जानते है (200 सा.सं.पू.–200 सा.सं.) तथा *याज्ञवल्क्यस्मृति* (ल. 100–300 सा.सं.) जैसे बाद के धर्मसूत्र और स्मृति साहित्यों में ब्राह्मणवादी वर्चस्व से ओत प्रोत मान्यताओं के साथ साथ उस काल के समाज का भी चित्रण उपलब्ध है।

पाठ्यात्मक स्रोतों का विश्लेषण करने के लिए एक रास्ता तो यह है कि विभिन्न पाठों में उपलब्ध ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामाग्रियों को एक साथ एकत्रित कर लिया जाए लेकिन दूसरा बेहतर मार्ग यह है कि उन पाठों को उनकी संपूर्णता में अध्ययन किया जाए। उनके रचयिताओं के उद्देश्यों का विश्लेषण किया जाए और उनमें लिखे गए शब्दों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझकर एक इतिहास के महत्त्व की विषय वस्तु तैयार की जाए। उदाहरण के लिए, अभी हाल में किये गए पैट्रिक ऑलिवेल के द्वारा *मानव धर्मशास्त्र* के अध्ययन से यह अनुमान लगाया गया कि संपूर्ण ग्रंथ दूसरी तीसरी शताब्दियों में एक ही रचनाकार के द्वारा संकलित किया गया क्योंकि इस ग्रंथ की संरचना बिल्कुल अद्वितीय थी। उनके अनुसार, उत्तर भारत में कहीं रहने वाले किसी ब्राह्मण के द्वारा यह लिखा गया था या अधिक से अधिक एक छोटे समूह के सदस्यों ने इसकी रचना की थी। उनका मानना है कि इस ग्रंथ का उद्देश्य ब्राह्मण, शूद्र और मलेच्छ के रूप में चिन्हित प्रतिद्वंदियों के मध्य ब्राह्मण महत्ता को स्थापित करना था। इसके साथ-साथ पहले से चली आ रही राजसत्ता और ब्राह्मण के बीच के सम्बंध की पुन: स्थापना करना था। (ऑलिवेल [2005], 2006: 5-41)।

संस्कृत में लिखे गये काव्य की शुरुआत इस काल के साहित्य की महत्त्वपूर्ण पहलू कही जा सकती है। संस्कृत नाट्य के क्षेत्र में अश्वघोष रचित सारिपुत्र प्रकरण सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ कहा जा सकता है जिसमें कथानक मौदगलायन और सारिपुत्र का बुद्ध के द्वारा रूपांतरण मुख्य रूप से दिखलाता है। अश्वघोष ने ही दो अन्य प्रमुख बौद्ध ग्रंथों की रचना की—*सौंदरनन्द* और *बुद्धचरित*। बुद्ध चरित प्रमाणिक बौद्ध ग्रंथ है। भास इस युग के दूसरे सबसे सामर्थ्यवान नाटककार थे। इन्होंने *मध्यमव्यायोग*, *दूतघटोत्कच*, *दूतवाक्य*, *बालचरित* तथा *चारुदत्त* जैसी रचनाओं का सृजन किया। इस काल से जुड़ी कोई विज्ञान अथवा तकनीकी की रचना उपलब्ध नहीं है। चरक और सुश्रुत के चिकित्सा शास्त्र इस दृष्टि से अपवाद कहे जा सकते हैं। किन्तु बाद के ग्रंथों से यह पता चलता है कि इस काल में खगोलशास्त्र, गणित और चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत ही संभावना विकसित हो चुकी थी।

तमिल भाषा और साहित्यकी प्राचीनतम कृतियां संगम काव्य के रूप में हमारे पास उपलब्ध है। अध्याय एक में हमने चर्चा की थी कि संगम साहित्य तीन साहित्यिक संघतियों में संकलित की गयी थी। किन्तु इन संघतियों की ऐतिहासिकता प्रमाणित नहीं की जा सकी है। संघतियों साहित्य में कविताओं के आठ संग्रहों में से छ: *ऐत्तुतोकई* के नाम से उपलब्ध हैं तथा *पत्तुपाट्टु* के दस गीतों में से नौ काव्य उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त *तोलकापियम* के प्रारंभिक दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। संगम काव्य की दो श्रेणियां हैं 'अकम' (प्रेम प्रसंग पर आधारित काव्य) तथा 'पुरम' (वीर गाथाओं के काव्य)। इन काव्यों के रचयिता भिन्न भिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि से मालूम पड़ते हैं और इनकी रचनाएं पहले से चली आ रही भाट श्रेणी के प्रशस्ति लोक गीतों पर आधारित हैं, किन्तु तमिलकम (तमिल देश) का तीसरी शताब्दी ईसवी के बीच का समाज इनमें परिलक्षित होता है।

ग्रीक-रोमन स्रोत (जिन्हें संयुक्त रूप से शास्त्रीय वृत्तांत कहते हैं) इस काल के इतिहास को जानने के लिए हमारे पास उपलब्ध महत्त्वपूर्ण स्रोतों में से एक है। इनमें एरियन, स्ट्राबो और प्लिनी द इलडर की रचनाएं प्रसिद्ध हैं। मिस्र में रहने वाले एक यूनानी व्यवसायी के द्वारा लिखी गयी *पेरिप्लस मारीस एरिथ्रयी* में रचनाकार का नाम नहीं दिया गया है, किन्तु निश्चित रूप से इस व्यक्ति ने लाल सागर से लेकर भारत तक की यात्रा की और अपने अनुभवों और अवलोकनों को इस ग्रंथ में संकलित किया। इस ग्रंथ के माध्यम से उस समय के वाणिज्य का इतिहास हमें उपलब्ध होता है। चियन-हान-शू और हाऊ-हान-शू जैसे चीनी ग्रंथों के द्वारा इस काल में हो रहे मध्य एशियाई लोगों के आपर्वजन की गतिविधियां हमें देखने को मिलती हैं। इन गतिविधियों का सीधा प्रभाव उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर पड़ रहा था।

इन पाठ्यात्मक स्रोतों के साथ-साथ इस काल के आवासीय स्वरूप शिल्प विशिष्टकरण और वाणिज्य से सम्बंधित जानकारियां पुरातात्त्विक स्रोतों से भी हमारे पास उपलब्ध है। नगरीय केन्द्रों के विषय में वृहत् जानकारी तो नहीं उपलब्ध है किन्तु उपलब्ध सामाग्रियों से इनके प्रारूप का स्पष्ट चित्रण हमें मिल जाता है। उत्तर भारत में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड और उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड का पर्याप्त विस्तार हुआ था। पुरातात्त्विक लेखनों में इस काल के सांस्कृतिक स्तरों को 'शुंग-कुषाण' काल की लोकप्रिय संज्ञा दी गयी है। नगरीय केन्द्र अकसर सुरक्षा प्राचीर से घिरे होते थे। इनकी संरचनाओं से एक प्रकार की सुनिश्चित नगर योजना का भी पता चलता है। इस काल के नगरों में पकी हुई ईंटों का भरपूर उपयोग होने लगा था। इस काल के मृद्भाण्डों में चाक पर बने हुए लाल मृद्भाण्ड होते थे, जिनकी मोटाई सामान्य होती थी और इन पर अधिकांशत: उत्कीर्ण डिजाइनों या मुहर को देखा जा सकता है। मृद्भाण्डों की संख्या और आकार में बहुत विस्तार हुआ। मृद्भाण्डों के लघु पात्र, लंबी गर्दन वाले छिड़काव के उपकरण, टोटीदार पात्र, बेसिन तथा अंदर की ओर मुड़े हुए रिम वाले पात्र बहुतायात मिलते हैं।

यौधेयों के ताम्र सिक्के, अयोध्या और कुनिन्दों के सिक्के

इन शताब्दियों से प्राप्त होने वाली वस्तुओं में सील, मुहर, सिक्के और टेरकोटा के उत्कृष्ट उत्पादन सबसे प्रसिद्ध हैं। पुरातात्त्विक स्तरों के तिथि निर्धारण में सिक्कों से बहुत सहायता मिलती है। दक्कन और दक्षिण भारत के विभिन्न केन्द्रों से उपलब्ध पुरातात्त्विक जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह काल महापाषाण युग से नगरीय युग तथा प्रारंभिक ऐतिहासिक युग की ओर रूपांतरण का काल था। फिर भी ऐसे बहुत सारे नगरीय केन्द्रों का इस काल में उदय हुआ जिनसे नवपाषाण, ताम्रपाषाण अथवा महापाषाण प्रारंभिक सामग्रियां नहीं मिली हैं। ग्रामीण बस्तियों के बारे में बहुत पुरातात्त्विक जानकारी उपलब्ध नहीं है। पुरातात्त्विक सूचनाओं के आधार पर भौतिक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का पता तो चलता ही है किन्तु साथ साथ इनसे इस काल की धार्मिक गतिविधियों और संस्थाओं के इतिहास पर भी प्रकाश डाला जा सकता है।

ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं. के बीच में अभिलेखों की संख्या, श्रेणी और प्रकार में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। उत्तर भारत के राजकीय अभिलेखों में प्राकृत से संस्कृत की ओर प्रयास दिखलायी पड़ता है। सबसे प्रारंभिक तमिल अभिलेख दक्षिण भारत में इसी काल से उपलब्ध होने लगे। उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में पाए जाने वाले हजारों अभिलेखों में से राजकीय अभिलेखों के आधार पर इस काल के राजवंशों के इतिहास की वृहत जानकारी उपलब्ध हो जाती है, किन्तु जनसामान्य के द्वारा अर्थात् आम पुरुषों और महिलाओं के द्वारा खुदवाए गये दान अभिलेखों की संख्या इन राजकीय अभिलेखों की तुलना में कहीं अधिक हैं जो उनके सामाजिक पृष्ठभूमियों की जानकारी देते हैं। इस प्रकार अभिलेख वैसे स्रोत हैं जो सामाजिक इतिहास की सूचना तो देते हैं और साथ-साथ धार्मिक संस्थाओं को दिए गये संरक्षण की पृष्ठभूमि पर भी प्रकाश डालते हैं। प्राचीन ग्रंथों के तिथि निर्धारण में तो कठिनाई होती है। दूसरी ओर इनके द्वारा केवल सामाजिक, धार्मिक एवं कुलीन वर्ग के नैतिक दृष्टिकोण का पता चलता है जबकि अभिलेख ऐसे स्रोत हैं जिनसे प्राचीन काल में लोगों के द्वारा की गई गतिविधियों की वास्तविक जानकारी का पता चलता है।

राज्य और नगरीय केन्द्रों के विकास के साथ-साथ वाणिज्य का जो विकास हुआ उसके परिणामस्वरूप मुद्रा प्रणाली का लोकप्रिय प्रचलन शुरू हुआ। इन्डो-ग्रीक शासकों ने दो भाषा तथा दो लिपि वाले सांचों में बने सिक्कों को निर्गत किया। यह भी रोचक तथ्य है कि इन शासकों के विषय में हमारे पास उपलब्ध जानकारी इनके द्वारा निर्गत सिक्कों के आधार पर है। कुषाणों ने बड़ी संख्या में स्वर्ण सिक्के ढलवाये। इसके साथ साथ तांबे के सिक्के भी निर्गत किये जो निम्न मूल्यवर्ग के थे। भारतीय रोमन वाणिज्य अंतर्संबंधों के कारण विशेष रूप से प्रायद्वीपीय भारत में रोम से बड़ी संख्या में स्वर्ण सिक्के आयातित हुए। इन रोम से आए स्वर्ण सिक्कों की स्थानीय प्रतिकृतियां भी निर्गत हुई और इनका इस्तेमाल भी किया गया। दक्षिण भारत से प्राप्त आहत सिक्कों में से बहुत सारे सिक्के विभिन्न राजवंशों के द्वारा निर्गत किये गये जिनको उनके प्रतीकों से चिन्हित किया जा सकता है। चोल, चेर और पांड्य शासकों के द्वारा निर्गत सिक्कों में उनके प्रतीक स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ते हैं।

इसके अतिरिक्त तांबे और कांसे के बने बहुत से सिक्कों के द्वारा उस काल की राजनीतिक और अर्थिक संस्थाओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस कोटि के अधिकांश सिक्के गैर राजतांत्रिक राज्यों के द्वारा निर्गत किये गये, इनमें अर्जुनायन, उद्देहिक, मालव और यौधेय प्रमुख हैं। त्रिपुरी, उज्जैनी, कोशाम्बी, विदिशा, वाराणसी, आयरीकिना, महिषमति, माध्यमिका और तक्षशिला से नगरीय सिक्के भी निर्गत किये गये जो वहां के नगरीय प्रशासन के द्वारा निर्गत किये गये थे। वाणिज्यक श्रेणी संगठनों की सत्ता और अधिकार क्षेत्र का अंदाज निगम श्रेणी के सिक्कों के द्वारा लगाया जा सकता है।

उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास

(The Political History of North India)

शुंग

हर्षचरित के अनुसार, मौर्यों के सेनापति पुष्यमित्र ने अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या कर दी जब वह अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था।[2] इस प्रकार 187 सा.सं.पू में मौर्य राज्य का अंत हो गया। पुराणों में कहा गया है कि पुष्यमित्र शुंग वंश से आता था। वैदिक साहित्य में शुंग आचार्यों की काफी चर्चा की गयी है। बृहद् आरण्यक उपनिषद में भी सौंगीपुत्र नाम के एक आचार्य का उल्लेख है। पाणिनी के अनुसार, शुंग भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण थे। कालिदास ने *मालविकाग्निमित्र* में कहा है कि अग्निमित्र पुष्यमित्र का बेटा था जो बैमबिक कुल और कश्यप गोत्र का था। विस्तार की दृष्टि से इन स्रोतों में मतभेद है किन्तु सभी मानते हैं कि शुंग ब्राह्मण थे।

पुष्यमित्र का साम्राज्य मौर्य साम्राज्य के एक हिस्से भर में सीमित था। इस साम्राज्य के अंतर्गत पाटलिपुत्र (जो अब भी राजधानी थी) अयोध्या और विदिशा आते थे। *दिव्यावदान* और तारानाथ के वृत्तांत के अनुसार, शुंगों के अधीन पंजाब के जालंधर और शाकल क्षेत्र भी थे। पुष्यमित्र ने अपने साम्राज्य के कुछ हिस्से में अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये थे। *मालविकाग्निमित्र* में, अग्निमित्र विदिशा का गवर्नर था। इस नाटक में पुष्यमित्र और यज्ञसेना विदर्भ के शासक (पूर्वी महाराष्ट्र) के बीच संघर्ष तथा अंत में शुंगों की विजय की चर्चा है।

प्राथमिक स्रोत

हेलियोडोरस का बेसनगर स्तंभ अभिलेख

प्राचीन विदिशा नगर में स्थित बेसनगर स्तंभ पर शुंग काल का एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख उत्कीर्ण है। यह अभिलेख प्राकृत भाषा में है (संस्कृत के केवल एकाध अक्षरों का प्रयोग हुआ है) तथा इसकी लिपि ब्राह्मी है। छह पंक्तियों के इस अभिलेख का इस प्रकार अनुवाद हो सकता है:

वासुदेव का गरुड़ स्तम्भ देवताओं के देवता का निर्माण भागवत हेलियोडोरा (हेलियोडोरस) ने यहां करवाया, तख्खिला के दिया (डियोन) के पुत्र यूनानी राजदूत जो महान राजा अमतलकित (एंटीयालकिडास) के पास से राजा कासीपुत्र (काशीपुत्र) संरक्षक भागभद्र के 14वें शणवर्श में आए थे।

स्तम्भ के दूसरी ओर एक संक्षिप्त अभिलेख है जिसका अनुवाद इस प्रकार हो सकता है: (ये?) अमरता के तीन कदम हैं जिनका यदि सही सही पालन किया जाए स्वर्ग का मार्ग खुलता है: नियंत्रण, उदारता और एकाग्रता। बेसनगर स्तम्भ अभिलेख से यह संकेत मिलता है कि शुंगों के काल में भी यूनानी राजदूतों को आमंत्रित करने की मौर्य परम्परा जारी थी। काशीपुत्र भागभद्र या तो पांचवें शुंग शासक भद्रक या नौवें शासक भागवत रहे होगें। अमतलकित प्राय: एण्टीआलकिडस नामक इण्डोग्रीक शासक था जिसे हम उसके द्वारा निर्गत सिक्कों के द्वारा भी जानते हैं। किन्तु सबसे रोचक तथ्य यह है कि यूनानी राजदूत हेलियोडोरस स्वयं को एक भागवत अर्थात वासुदेव कृष्ण का उपासक कहता है तथा इस देवता के सम्मान में उक्त स्तम्भ की स्थापना करता है। पक्षीराज गरुड़ विष्णु के सवारी हैं। स्तम्भ के नजदीक में पाया गया संरचनात्मक अवशेष बताता है कि निश्चित रूप से वह एक प्राचीन मन्दिर रहा होगा जिसके समक्ष यूनानी राजदूत ने अपनी आस्था को प्रकट करने के लिए यह अभिलेख उत्कीर्ण कराया था।

स्रोत: सैलोमन 1998: 265 – 67

2. इस खंड में उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास की अधिकांश जानकारी हेमचन्द्र राय चौधरी ([1923], 2000.327-427) की पुस्तक पर आधारित है तथा बी. एन मुखर्जी के द्वारा उनकी इस पुस्तक पर की गयी टीका पर आधारित है।

शुंगों का बैक्ट्रियाई यूनानियों से भी संघर्ष हुआ। पातंजलि ने उल्लेख किया है कि यवन साकेत (अयोध्या क्षेत्र फैजाबाद जिला उत्तर प्रदेश) तथा माध्यमिक (चित्तौड़, राजस्थान के निकट) तक आ पहुंचे थे। पातंजलि की रचना दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. की है। दरअसल, इस काल में यवन संज्ञा पश्चिम से आने वाले सभी विदेशियों के लिए प्रयुक्त होती थी जिनमें यूनानी भी सम्मिलित थे। इसलिए कहा जा सकता है कि पातंजलि ने बैक्ट्रियाई यूनानियों की ही चर्चा की थी। पातंजलि से यह भी सूचना मिलती है कि पुष्यमित्र ने बहुत सारे यज्ञ अनुष्ठानों का आयोजन किया। *मालविकाग्निमित्र* में वसुमित्र (अग्निमित्र का पुत्र) तथा यवनों की एक सेना के बीच सिंधु के किनारे हुए युद्ध की भी चर्चा है। हालांकि, कुछ इतिहासकार इसे सिंधु नदी के स्थान पर मध्य भारत की किसी नदी का उल्लेख मानते हैं। यह संघर्ष उस समय हुआ जब पुष्यमित्र के द्वारा किये गये अश्वमेघ यज्ञ के दौरान यवनों ने इस राजकुमार की सेना को चुनौती दी। कालिदास ने कहा है कि यवनों की हार हुई और अश्वमेघ का घोड़ा घर वापस आ गया। यह तय नहीं कि किस बैक्ट्रियाई यूनानी के विरुद्ध यह संघर्ष हुआ किन्तु इनमें मेनानन्दर डिमेट्रियस और यूक्रीटाइडीस का नाम आता है। फिर भी अधिक लोग यह मानते हैं कि वह शासक डिमेट्रियस रहा होगा। अयोध्या में पाए गए घान नाम के शासक के अभिलेख से पता चलता है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेघ युद्धों का

मानचित्र 8.1: **भारत और मध्य एशिया के राजवंश, ल. 200 सा.सं.पू.- 300 सा.सं.**

आयोजन किया। *दिव्यावदान* की कहानियां में पुष्यमित्र की क्रूरता और बौद्ध धर्म के प्रति उसकी प्रतिद्वंदिता की कहानी है।

शुंगों के दस उत्तराधिकारियों ने लगभग 112 वर्षों तक शासन किया। पुराणों के अनुसार, इस वंश का अंतिम शासक देवभूति या देवभूमि था। *हर्षचरित* की माने तो इस वंश का अंत उनके ब्राह्मण मंत्री वासुदेव के द्वारा किये गये षड्यंत्र के द्वारा हुआ, जिसने कण्व वंश का सूत्रपात किया। ऐसा लगता है कि शुंगों की एक शाखा ने मध्य भारत पर कुछ और समय तक राज्य किया और तब तक उस क्षेत्र में सातवाहनों का उदय नहीं हुआ। मगध में कण्वों के बाद ल. 30 स.स.पू. में मित्रों के राजवंश की स्थापना हुई। मित्र राजवंश शकों के द्वारा उन्मूलित हुआ।

इन्डो-ग्रीक

बैक्ट्रिया, ऑक्सस नदी के दक्षिण और हिन्दू कुश पर्वत श्रृंखला के उत्तर-पश्चिम के बीच में फैले हुए भूभाग का प्राचीन नाम है। यह आधुनिक अफगानिस्तान का उत्तरी हिस्सा कहा जा सकता है। बैक्ट्रिया के ग्रीक पश्चिम एशिया के सेल्यूसीड साम्राज्य के मूलतः क्षत्रप (अधीनस्थ शासक) थे। तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. के मध्य में डियोडोट्स-I ने सेल्यूसीड साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया। बैक्ट्रियाई ग्रीक राज्य की स्थापना की। बैक्ट्रियाई शासकों ने बाद में अन्य क्षेत्रों पर भी अपना नियंत्रण फैलाया। दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के शुरुआत में ये हिन्दू कुश पर्वत श्रृंखला के दक्षिण तक आ पहुंचे। 145 सा.सं.पू. के लगभग में इन्होंने बैक्ट्रिया स्थित अपने सारे प्रदेशों से हाथ धो लिया, लेकिन उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी हिस्से में इनका राज्य कुछ दशकों तक चलता रहा। उत्तर-पश्चिमी भारत के इन हिस्सों में जिन बैक्टियाई-ग्रीको ने राज्य किया उनकी अवधि दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से पहली शताब्दी सा.सं. के बीच मानी जाती है। इन्हें ही इन्डो-ग्रीक या इन्डो-बैक्ट्रियन के नाम से जानते हैं।

तक्षशिला स्थित सिरकप का क्षेत्र इन्डो-ग्रीक काल से ही उपयोग में लाया गया, किन्तु इस स्थान से हमारे पास जो भी समग्रियां उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश शक-पार्थियन काल की हैं। अफगानिस्तान के अमु दरिया और कोकचा नदी के संगम स्थल पर अलखानु नामक एक स्थल है। इसका उत्खनन 1965-78 के बीच एक फ्रांस की पुरातात्त्विक टीम के द्वारा किया गया। यहां से बैक्ट्रियाई-ग्रीकों के द्वारा 280 सा.सं.पू. में स्थापित एक महान नगर के अवशेष मिलते हैं जिसे 145 सा.सं.पू. में नष्ट कर दिया गया। इस नगर के स्थापत्य और यहां से प्राप्त उपादानों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रीकों का नगर था।

अधिकांश इन्डो-ग्रीक शासकों के नाम हमें उनके सिक्कों के द्वारा मिले हैं। इसलिए उनके राजकाल के सम्बंध में अन्य सभी सूचनाएं जैसे उनकी तिथियां अथवा उनके राजनीतिक नियंत्रण का स्तर इत्यादि अस्पष्ट है। ऐसा लगता है कि बहुत सारे इन्डो-ग्रीक शासकों ने बहुत कम समय में शासन कर लिया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनमें से बहुत से शासकों ने साथ-साथ राज किया हो। सिक्के के ऊपर फिर से उत्कीर्ण की गयी लिपियों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि या तो उक्त शासकों के बीच प्रतिद्वंदिता रही हो या इनमें से एक पहले का उत्तराधिकारी रहा हो। हिन्दू कुश पर्वत श्रृंखला के दक्षिण में स्थित भारत के उत्तर-पश्चिम हिस्से में डिमेट्रियस-I, डिमेट्रियस-II, अपोलोडोटस, पेंटालियोन तथा अगाथोक्लीस जैसे बैक्ट्रियाई शासकों के द्वारा इंडो-ग्रीक राज्य की स्थापना की गई। डिमेट्रियस-I के शासन काल के बाद यूथीडेमस और यूक्रीटाइडीस के राजघरानों के बीच एक लम्बा संघर्ष चला। यूक्रीटाइडीस राज घराने से अमिन्टस, एंटियाल्किडस, आरकेबियस और हर्मियस आते थे। बेसनगर स्तंभ अभिलेख से यह पता चलता है कि अंटीयालकिडस का शासन तक्षशिला तक फैला हुआ था और उसका राजदूत हेलियोडोरस इसी नगर का निवासी था।

अपोलोडोटस-I का रजत सिक्का

इन्डो-ग्रीक शासकों में से सबसे प्रसिद्ध शासक मिनान्डर है। *मिलिंदपन्ह* में मिनान्डर ही प्रतीत होता है जिसकी बौद्ध भिक्षु नागसेन के साथ काफी प्रश्नोत्तर का पता चलता है। मिनान्डर का शासन बैक्ट्रिया के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिमी भारत के बड़े हिस्से में था। पाकिस्तान के नार्थ वेस्ट फंर्टियर प्रोविंस में स्थित बजौर नामक स्थान पर बुद्ध के एक

प्राथमिक स्रोत

इंडो-ग्रीक शासकों द्वारा निर्गत सिक्के

हिन्दु कुश के उत्तर में जिन ग्रीक बैक्ट्रियाई सिक्कों का प्रचलन था वे स्वर्ण, ताम्र, रजत और निकेल के बने थे। उनका निर्माण प्राचीन एथेन्स माप तौल पद्धति पर किया गया था। इन पर यूनानी लेख उत्कीर्ण थे। सिक्कों के अग्रभाग पर शाही छवि चित्र और पार्श्वभाग पर पियस अपोलों तथा एथेना जैसे यूनानी देवताओं के चित्र बने होते थे। साथ में शासक का नाम और उसकी पदवी लिखी होती थी।

किन्तु जिन इण्डो-ग्रीक सिक्कों का प्रचलन हिन्दू कुश के दक्षिण में हुआ वे रजत और ताम्र सिक्के थे तथा ये अधिकांशत: वर्गाकार होते थे। इन पर ग्रीक तथा खरोष्ठी और कभी-कभी ब्राह्मी भाषा में अभिलेख होता था। ये भारतीय माप तौल पद्धति पर आधारित थे। इनके अग्रभाग पर शाही छवि के चित्र तो होते थे किन्तु पृष्ठ भाग पर बने प्रतीक चिह्न यूनानी न होकर भारतीय धार्मिक प्रतीकों से प्रेरित होते थे।
अगाथोक्लीस नामक शासक ने सिक्कों की एक श्रृंखला निर्गत की थी जिसके अग्रभाग पर संकर्षण बलराम, पृष्ठभाग पर वासुदेव कृष्ण के छवि चित्र बने थे।

अफगानिस्तान में वैसे तीन महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल हैं जहां से ग्रीको बैक्ट्रियाई तथा इण्डो-ग्रीक सिक्के पाए गए हैं—(1) गरदेज के निकट मीर जकाह संग्रह, (2) कुनदूज के निकट क्षिश्त टेपे का संग्रह और (3) अय खानूम से प्राप्त सिक्कों के संग्रह। मीर जकाह संग्रह में 13,083 सिक्के मिले जिनमें से 2757 सिक्के ग्रीको बैक्ट्रियाई तथा इण्डो-ग्रीक सिक्के हैं। शेष सिक्कों में भारतीय आहत सिक्के तथा इण्डो-सीथियन, इण्डो-पर्थियन और कुषाण सिक्के सम्मिलित हैं। कुनदूज संग्रह में 627 रजत सिक्के हैं इनमें से 624 ग्रीको बैक्ट्रियाई सिक्के हैं तथा शेष 3 सेल्युसिड सिक्के हैं। इस स्थान से उत्खनन के दौरान पूर्व सेल्युसिड, सेल्युसिड ग्रीको बैक्ट्रियाई, इण्डो-ग्रीक भारतीय आहत सिक्के और कुछ कुषाण सिक्के भी मिले हैं। अय खानूम में इण्डो-ग्रीक शासन अगाथोक्लीस के छ: सिक्के मिले हैं जबकि 677 भारतीय आहत सिक्के मिले। ये सभी प्राप्तियां राजप्रासाद क्षेत्र में उत्खनन के दौरान मिलीं। नगर के उत्तरी प्रवेश द्वार के बाहर एक बड़े भवन के रसोईघर से 63 ग्रीक तथा ग्रीको बैक्ट्रियाई सिक्कों का एक संग्रह मिला। अय खानूम के संग्रहों में कुछ ऐसे सिक्के की प्राप्तियां हुई हैं जो अन्य किसी स्थान से प्राप्त सिक्कों से मेल नहीं खाती। 10 अनुत्कीर्ण कांस्य सिक्कों की प्रतिकृतियां यह संकेत देती हैं कि अय खानूम में सिक्कों को ढाला जाता था।

इण्डो-ग्रीक सिक्कों को समझने से जुड़ी कठिनाइयों में उनमें से कुछ सिक्कों पर बने मोनोग्राम तथा कुछ अतिरिक्त अक्षर और अंको के अनसुलझे रहस्य भी शामिल हैं। मोनोग्राम सामान्यत: टकसाल या उसके संचालक के नाम चिह्न या गुंफाक्षर को कहते हैं। लेकिन जब सिक्कों के अग्रभाग पर एक ही प्रतीक बने हो किन्तु पार्श्वभाग पर पृथक पृथक मोनोग्राम देखें जाएं तब ये ढालने वाली सत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं करते। जहां तक उत्कीर्ण अंको का प्रश्न है ये न तो तिथियों को इंगित करते हैं और न ही किसी क्रमसूचक संख्या को। केवल अतिरिक्त अक्षरों के विषय में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये उत्कीर्णकर्त्ता के हस्ताक्षर रहे होंगे। 42 ग्रीको बैक्ट्रियन तथा इण्डो-ग्रीक शासकों में से 34 को हम केवल उनके सिक्कों से जानते हैं। शक पार्थियन और क्षत्रप शासकों ने जो सिक्के निर्गत किए उनमें भी मूलत: इण्डो-ग्रीक सिक्कों की मूलभूत विशेषताओं को यथावत रखा गया जिनमें दो भाषा और दो लिपी के लेख भी शामिल हैं।

स्रोत: गीयोम, 1991

यूक्रीटाईडीस-I (अग्र); डायोस्कूरी (पृष्ठ)

हिप्पोस्ट्रेटस (अग्र); अश्व पर शासक (पृष्ठ)

हर्मेइअस अपनी पत्नी केलीयोप के साथ (अग्र); अश्व पर शासक (पृष्ठ)

मिनेन्डर (अग्र); देवी पल्लास (पृष्ठ)

अवशेष (स्मृति चिह्न) की स्थापना मिनेन्द्र नामक एक राजा के काल में की गयी थी, यह भी मिनान्डर ही रहा होगा। प्लूटार्क का मानना है कि मिनान्डर की मृत्यु के बाद इस शासक के अस्थि (दाह संस्कार के बाद बचे अवशेष) को लेकर संघर्ष हुआ था।

पार्थियन या पहलवों के द्वारा दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के अंतिम चरण में हर्मेइयस की हार हुई और इसके साथ ही हिन्दू कुश पर्वत के निकटवर्ती दक्षिणी हिस्से में और बैक्ट्रिया क्षेत्र से बैक्ट्रियाई शासन का अंत हो गया। फिर भी इंडो-ग्रीक शासकों ने उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी हिस्से में कुछ और समय तक शासन किया। इन इंडो-ग्रीक शासकों में अगाथोक्लीया नाम की रानी और उसके पुत्र स्ट्राटो की चर्चा होती है जिन्होंने संयुक्त सिक्के निर्गत करवाए थे। अगाथोक्लीया मिनानन्डर-I की अनेक पत्नियों में से एक पत्नी हो सकती है, शायद जिसने नाबालिग बेटे स्ट्राटो के बदले में कुछ समय तक शासन किया हो। पहलवों और शकों के आगमन के साथ साथ गंधार क्षेत्र से भी इंडो-ग्रीक शासकों का राज्य समाप्त होने लगा। ऐसा लगता है कि पहली शताब्दी सा.सं.पू. या पहली शताब्दी सा.सं. के प्रारंभ में इंडो-ग्रीक शासकों का नियंत्रण झेलम नदी के पूर्वी हिस्से पर से भी समाप्त हो गया। इनकी हार क्षत्रप शासक राजुवुल के हाथों हुई। इन्डो-ग्रीक शासन का सबसे प्रमुख प्रभाव सांस्कृतिक स्तर पर पड़ा। गंधार कला की शुरुआत इन्होंने ही की जिसकी चर्चा हम आगे की खंडों में करेंगे।

शक-पह्लव या सीथो-पार्थियन

छठी शताब्दी सा.सं.पू. में शक जनजाति के लोग सीर दरिया (Jaxartes) के मैदानी इलाको में रहते थे। तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. जब चीन के सम्राट किन-शी-ह्वांग ने अपने साम्राज्य को संगठित किया उसके परिणामस्वरूप मध्य एशिया में जनजातीय गतिविधियां काफी तेज हो गयी। दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में जब यू-ची जनजाति ने शको को उनके इस क्षेत्र से हटा दिया तब शक जनजाति के लोग दक्षिणवर्ती दिशा में अफगानिस्तान में प्रवेश कर गए और बाद में उत्तरी-पश्चिमी भारत के विभिन्न हिस्सों में बसने लगे। पहली शताब्दी सा.सं.पू. में उत्तर-पश्चिम भारत में प्रवेश पाने वाले बहुत सारे आक्रमणकारी समुदायों को शक-पह्लव या सीथो-पार्थियन के नाम से जाना जाता है ।

भारत में शक-पह्लव शासन की जानकारी हमें उनके द्वारा निर्गत अभिलेखों और सिक्कों से मिलती है। तक्षशिला में पाए गए एक अभिलेख में मोग नाम के एक शक राजा का उल्लेख है और साथ में उसके क्षत्रप पतिक का। मोग को मावस या मोआ के रूप में चिन्हित किया गया है जिसका नाम, उसके द्वारा निर्गत बहुत सारे तांबे और चांदी के सिक्कों पर मिलता है। उसके द्वारा निर्गत सिक्कों की शृंखला पर यूनानी देवता जूस का चित्र अंकित मिलता है जिनके बायें हाथ में एक राजदंड देखा जा सकता है और दायीं हथेली पर नाइक नाम की विजय की देवी को। ऐसा संभव है कि मौस ने इंडो-ग्रीक के हाथों से गंधार क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त कर लिया लेकिन बाद में इंडो-ग्रीक लोगों ने इस क्षेत्र पर अपना पुनः अधिकार प्राप्त किया।

शक-पह्लव राजाओं के जो नाम उनके द्वारा चलाए गए सिक्कों से हमें ज्ञात हैं उनमें वोनोनेस, स्पलीराइजेस, एजेस-I एजिलिसेस तथा एजेस-II प्रमुख हैं। कुछ सिक्कों से यह भी पता चलता है कि दो राजाओं के संयुक्त शासन के व्यवहार का भी प्रचलन था। उदाहरण के लिए, स्पलीराइसिस अपने प्रारंभिक दौर में वोनोनेस के अधीनस्थ एक सहयोगी शासक था, बाद में वह एक स्वतंत्र शासक बना। स्पलीराइसिस तथा एजेस-I कुछ काल तक संयुक्त शासक थे, और इसी प्रकार एजेस और एजिलाइसिस भी संयुक्त शासक रहे। पहले यह माना जाता था कि विक्रम संवत् जो 58-57 सा.सं.पू. से शुरू होता है (भारत में जिसका अब भी प्रयोग होता है) वह वोनोनस के राज्यारोहण से जुड़ा था किन्तु वानोनेस पूर्वी ईरान का पहला स्वतंत्र पह्लव शासक था, किन्तु अब विक्रम संवत् की शुरुआत एजेस-I के राज्यारोहण से मानी जाती है। मालव (जो मूल रूप से पंजाब के निवासी थे और शको के अधीनस्थ थे) लोगों ने इस संवत् का प्रचलन उत्तर-पश्चिम होते हुए राजस्थान तथा आसपास के इलाकों में बस जाने के बाद जारी रखा। वोनोनेस तथा स्पलीराइसिस ने अफगानिस्तान के विभिन्न हिस्सों में शासन किया जबकि एजेस-I पहला शासक था जिसने भारतीय उपहाद्वीप के पश्चिमी हिस्से में अपना नियंत्रण बनाया। एजिलाइसिस का नियंत्रण मथुरा क्षेत्र तक जा पहुंचा।

शक-पह्लव शासकों के जिस दूसरे समूह को हम जानतें है उसका प्रतिनिधित्व गोंदोफर्निस के द्वारा होता है। उसे ही शायद गुडुवहर कहा जाता था जिसकी चर्चा तख्त-ए-बही से प्राप्त की गयी अभिलेख में हुई है, और उस आधार पर उसका शासन पहली शताब्दी ईसवी के मध्य में निर्धारित किया जा सकता है। अपने सिक्कों में गोंदोफर्निस के साथ उसके भतीजे अब्दागेसिस तथा उसके गवर्नर सपादान तथा सतवस्त्र, तथा उसके सेनापतियों अश्पवर्मन और सस के नाम भी लिखें हैं। गोंदोफर्निस के उत्तरधिकारियों में से किसी को कुषाणों ने उत्तर-पश्चिमी भारत से अपदस्थ कर दिया। शक तथा सीथो-पार्थियन शासकों ने अपने अधीनस्थ गवर्नरों और शासकों के माध्यम से शासन को जारी रखा जिन्हें हम क्षत्रप अथवा महाक्षत्रपों के रूप में जानते हैं। इन्होंने साम्राज्य के विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए, सीथो-पार्थियन शासक एजिलाइसिस के पूर्ववर्ती दिशा में किये गए मथुरा क्षेत्र तक विस्तार में

हुविष्क का स्वर्ण सिक्का

उसका सहयोग रजुवुल ने किया था। रजुवुल को पहले क्षत्रप कहा गया और बाद में उसने महाक्षत्रप की उपाधि ग्रहण की, किन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा क्षेत्र में वह प्रायः स्वतंत्र शासक के रूप में स्थापित हुआ। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र षोड्स बना। अन्य महाक्षत्रपों के विषय में हमें उनके अभिलेखों और सिक्कों से जानकारी मिलती है।

कुषाण

चियन-हान-शू तथा *हाऊ-हान-शू* में मध्य एशिया में होने वाले जनजातीय गतिविधियों के प्रभाव का वर्णन मिलता है। जब हियूंग-नू ने यू-ची को पराजित किया तो बाध्य होकर यू-ची को पश्चिम की ओर हटना पड़ा। इस क्रम में उन्होंने उन-सुन को इलि बेसिन से बाहर कर दिया। लगभग इसी बिंदु पर यू-ची दो भागों में विभक्त हो गया। इनमें से छोटा वाला हिस्सा जिसे हम लघु यू-ची के नाम से जानते हैं, ने दक्षिण की ओर गमन करते हुए अंत में उत्तरी-तिब्बत में शरण ली जबकि ता-यू-ची अथवा महान यू-ची का विस्तार पश्चिम की ओर हुआ। इस क्रम में उन्होंने सीर दरिया क्षेत्र से शकों को बाहर निकाल दिया, किन्तु थोड़े समय बाद ही उनको हियूंग-नू के सहयोग से वू-सुन ने इस क्षेत्र से बाहर कर दिया। बाहर होकर उन्हें ऑक्सस नदी घाटी में आकर बसना पड़ा और अन्ततः वे अफगानिस्तान में बसे।

ता-यू-ची लोग पांच राजघरानों में बंटे थे इनमें से ही एक राजघराना क्वे-शांग या कुषाणों का था। सैद्धांतिक रूप से ये पांचों राजघराने केन्द्रीय ता-यू-ची सत्ता के अधीन थे। यदि हाल में प्राप्त किए गए प्रमाणों को ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि एक क्वे-शांग शासक जिसका नाम मियाउस या एराउस था, उसने ऑक्सस नदी के उत्तरी भाग में अपने राज्य का विस्तार किया और पहली शताब्दी सा.सं.पू के उत्तरार्द्ध में उसने एक स्वतंत्र क्यू-शांग राजघराने की नींव डाली। जबकि पहली शताब्दी सा.सं. के प्रारंभ में कुजुल कडफिसेस (जिसे कडफिसेस-I के नाम से भी जानते हैं) ने पांचों राजघरानों को मिलाकर कुषाण साम्राज्य की नींव रखी। उसके सिक्के हिन्दू कुश पर्वतश्रृंखला के दक्षिणी हिस्से में मिलते हैं और इससे यह पता चलता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में कुषाणों का प्रवेश इसी समय हुआ था। विम कडफिसेस कुजुल कडफिसेस का पुत्र था, और उसने अपने पिता के साथ एक संयुक्त शासक के रूप में अपने जीवन की शुरुआत की, बाद में उसने स्वतंत्र राज्य की नीवं रखी। अपने पिता के राज्यकाल में ही उसने पहलवों से गंधार क्षेत्र को अपने हाथों में ले लिया था। इसके बाद कुषाणों ने पूर्व की ओर अपना विस्तार प्रारंभ किया और इसी क्रम में सिन्धु नदी घाटी से लेकर मथुरा क्षेत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। जहां कडफिसेस-I के सिक्कों से यह प्रतीत होता है कि उसका जुड़ाव बौद्ध धर्म से था, वहीं विम कडफिसस स्वयं को शिव का एक भक्त मानता है।

कुषाण साम्राज्य कनिष्क के शासनकाल में अपनी पराकष्ठा पर जा पहुंचा। कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि को लेकर एक लंबी बहस चली आ रही है। आज लगभग सभी विद्वान इससे सहमत हैं कि उसका राज्यारोहण 78 सा.सं. में हुआ था तथा उसके उत्तराधिकारियों ने इसी तिथि से एक नए संवत् की शुरुआत करते हुए अपने अभिलेखों को निर्गत किया। (कुछ विद्वान, हालांकि, ऐसा मानते हैं कि इस संवत् की शुरुआत कारदमक क्षत्रप शासक चष्टन के राज्यारोहण से प्रारंभ हुई थी)। कालांतर में जब इस संवत् के शुरुआत से जुड़ी बातें अस्पष्ट होने लगी तब से इस संवत् को सामान्य रूप से शक संवत् के नाम से जाना जाने लगा। कनिष्क के काल में कुषाण साम्राज्य का विस्तार पूर्व में गंगा नदी घाटी में तथा दक्षिण में मालवा क्षेत्र तक हुआ। कुषाणों का प्रभाव पश्चिमी भारत और मध्य भारत पर भी दिखलायी पड़ता है। इस क्षेत्र में शक क्षत्रपों ने कुषाणों की अधीनस्थता स्वीकार कर ली। कुषाणों के सिक्के बंगाल और उड़ीसा तक सुदूर पूर्व में भी मिले हैं किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इनका राजनीतिक नियंत्रण पूर्व में इतनी दूर तक स्थापित था।

बी.एन. मुखर्जी (1970) का मानना है कि आकरा (पूर्वी मालवा) क्षेत्र में हीरों की खदानें थी। इसके अतिरिक्त निचली सिन्धु नदी घाटी वाणिज्यिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था। इन कारणों से कुषाणों ने इन क्षेत्रों पर अपने राज्य का विस्तार किया। होउ-हान-शू के अनुसार, कुषाणों की समृद्धि और शक्ति इस कारण बढ़ी क्योंकि उनका नियंत्रण शेन-तु (निचली सिन्धु नदी घाटी क्षेत्र) पर था। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंद महासागर में होने वाली वाणिज्यिक गतिविधियों के कारण मकरान तटीय क्षेत्र में स्थित बंदरगाहों का महत्त्व बहुत बढ़

गया था। मुखर्जी के अनुसार, व्यापार के पतन से ही कुषाण साम्राज्य का पतन भी जुड़ा हुआ है। कनिष्क का साम्राज्य शायद अफगानिस्तान के संपूर्ण भाग को (सेइस्तान को छोड़कर) तथा चीन के सुदूर पूर्वी हिस्से में पड़ने वाले जिन जियांग क्षेत्र तक और मध्य एशिया में ऑक्सस नदी के उत्तरी हिस्से तक फैला हुआ था। उसके साम्राज्य के अधीन इतने विस्तृत क्षेत्रों के होने के कारण इन क्षेत्रों में वाणिज्य को निश्चित रूप से काफी बढ़ावा मिला। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अपने लंबे शासन काल के अंतिम दौर में कनिष्क ने मध्य एशिया में चीन के विरुद्ध एक सैन्य अभियान किया, जिसमें वह असफल रहा। उसकी हार चीनी सेनापति पन-चाओ के हाथों हुई और वह चीनी सम्राट हो-ति को मुआवजा देने के लिए बाध्य हो गया।

सोटेर मेगस का ताम्र सिक्का; कनिष्क-II का स्वर्ण सिक्का

बौद्ध ग्रंथों में कनिष्क को बौद्ध धर्म का एक महान संरक्षक कहा गया है। ऐसी मान्यता है कि उसने पुरुषपुर में एक स्तूप की स्थापना करके वहां बुद्ध के अवशेषों को सुरक्षित किया। इस स्थान पर कालांतर में एक बौद्ध विहार की स्थापना हुई। यह भी माना जाता है कि कनिष्क के काल में एक विशाल बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया। इस संगीति के स्थान के विषय में विवाद है जिसे कश्मीर, गंधार अथवा जालंधर जैसे स्थानों पर घटित हुआ बतलाते हैं। यह भी माना जाता है कि वसुमित्र और अश्वघोष जैसे बौद्ध विद्वानों को कनिष्क का संरक्षण प्राप्त था। उसने काश्गर, यूनान तथा चीन में बौद्ध मिशनों को भेजा। किन्तु हुविष्क की तरह कनिष्क के सिक्कों में भारतीय, यूनानी और पश्चिम एशियाई धार्मिक परंपराओं के प्रतीक सम्मिलित किए गए। बुद्ध और शिव के प्रदर्शन के अतिरिक्त इसके द्वारा निर्गत सिक्कों में ईरानी देवता अतश (एक अग्नि के देव) तथा मिथिर (एक सौर देव) तथा यूनानी देवता जैसे हेलियोस (एक सौर देवता) तथा सेलिनी (एक चंद्रमा से जुड़ी देवी) इत्यादि का भी प्रदर्शन देखने को मिलता है। इसके द्वारा निर्गत सिक्कों में पाए जाने वाली धार्मिक प्रतीकों की विविधताओं के आधार पर कई बार यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि वह व्यक्तिगत रूप से सर्वधर्म समभाव तथा धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धांत में विश्वास रखता था। जबकि राज्य की नीति के स्तर पर कनिष्क के विस्तृत साम्राज्य में इन सिक्कों के माध्यम से विभिन्न धर्मों के अस्तित्व को स्वीकार किया जा रहा था। इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों में प्रचलित धर्मों के प्रति आदर प्रकट करके ये शासक स्वंय को इस क्षेत्र से जुड़े होने का संदेश दे रहे थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुषाण साम्राज्य की शुरुआत एक मध्य एशियाई राज्य के रूप में हुई। बाद में इस साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान और उत्तरी-पश्चिमी भारत में हुआ। इस विशाल साम्राज्य का केन्द्र बैक्ट्रिया था। इसका प्रमाण हमें कनिष्क के सिक्कों तथा अभिलेखों में प्रयुक्त बैक्ट्रियाई भाषा से मिल जाता है। *हाउ-हान-शू* की मानें तो कुषाणों की राजधानी पूर्वी बैक्ट्रिया में स्थित लान-शी नामक स्थान पर थी। भारत में कुषाणों के दो प्रमुख राजनीतिक केन्द्र थे—(1) पुरुषपुर (पेशावर) तथा (2) मथुरा। उत्तरी भारत के कई स्थलों पर तथा मध्य एशिया के कारा टीप और डलवर्जिन टीप तथा अफगानिस्तान के सुर्खकोतल जैसे स्थलों पर हुए उत्खनन के आधर पर इस काल के विषय में हमारी जानकारी काफी बढ़ी है।

कनिष्क के तुरंत बाद जो उत्तराधिकारी हुए उनमें वसिष्क, हुविष्क, कनिष्क-II तथा वासुदेव प्रमुख हैं। हुंजा नदी और काराकोरम राजमार्ग के बीच में हुंजा के निकट एक विशाल चट्टान अवस्थित है? इस चट्टान पर खरोष्ठी लिपि में बहुत सारे अभिलेख हैं जिनमें केड फिसस, कनिष्क, हुविष्क तथा विभिन्न क्षत्रपों और महाक्षत्रपों के नामों का उल्लेख हुआ है। साम्राज्य का पतन वासुदेव प्रथम के काल में प्रारंभ हो गया (दूसरी शतब्दी सा.सं. के मध्य भाग से), तथा वासुदेव द्वितीय कुषाणों का अंतिम सम्राट था। तीसरी शताब्दी सा.सं. के पूर्वाद्ध में ही उत्तर-पश्चिमी भारत से कुषाणों को सासानिद साम्राज्य के कारण हट जाना पड़ा, किन्तु कुषाण शासकों के कुछ नाम चौथी शताब्दी सा.सं. तक इस क्षेत्र में मिलते रहें है।

कुषाण राजाओं ने 'देवपुत्र' की उपाधि ग्रहण की थी। विद्वानों का मानना है कि इस आधार पर राजा के 'दैवत्व का सिद्धांत' की अवधारणा को प्रचलित किया जा रहा था जो कि कई प्राचीन कालीन साम्राज्यों की विशेषता रही है। मथुरा के निकट माट नामक स्थल से एक मंदिर के अवशेष मिले हैं और यह माना जाता है कि इस मंदिर में राजाओं की पूजा की जाती थी। फिर भी राजा की उपासना के व्यवहार के विषय में अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुषाण साम्राज्य का प्रशासन कई स्तरों से नियंत्रित होता था। साम्राज्य का

अद्यतन खोज

रबातक अभिलेख

अफगानिस्तान के बघलान प्रांत के रबातक नामक स्थान पर 'काफिर का किला' के नाम से प्रसिद्ध एक पहाड़ी पर 1993 में एक शैल पट्टिका पाई गई जिसपर एक अभिलेख उत्कीर्ण था। यहां से लौह प्रतिमाओं और एक प्राचीन मंदिर के अवशेष भी मिले। उस प्रांत के के तत्कालीन गवर्नर सैय्यद जाफर ने एक गैर सरकारी संस्था में कार्य कर रहे टिम पोर्टर को इस कार्य को करने के लिए निमंत्रित किया और उनसे यह भी दरख्वास्त किया कि उनमें से एक तस्वीर को ब्रिटिश संग्रहालय भेजें। पोर्टर ने जिस तस्वीर को ब्रिटिश संग्रहालाय भेजा वह 90 से.मी. चौड़ी 50 से.मी. उंची और 25 से.मी. मोटाई वाली एक आयताकार शैल पट्टिका पर लिखें अभिलेख का था।

यह अभिलेख 23 पंक्तियों का था जिसे बैक्ट्रियाई भाषा तथा ग्रीक लिपि में उत्कीर्ण किया गया था। यह कनिष्क के काल का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज था। इस अभिलेख में कनिष्क को एक महान उद्धारक धर्मपरायण सम्राट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक देवता के रूप में उपास्य इस सम्राट ने नाना (पश्चिम एशिया में पूज्य एक देवी) के द्वारा राज्य प्राप्त किया तथा अन्य सभी देवताओं ने उसे सम्राट के रूप में अधिकृत किया। उसे सम्राटों के सम्राट और देवपुत्र के रूप में भी सम्बोधित किया गया था। कनिष्क के विषय में यह भी लिखा था कि उसने आयोनियन (यूनानी) भाषा के स्थान पर बैक्ट्रियाई आर्य भाषा को प्रचलित किया।

रबातक के अभिलेख के अनुसार, कनिष्क ने अपने शफर नाम के एक अधिकारी को एक 'बागो लग्गो' (मंदिर) के निर्माण का आदेश दिया जहां नाना देवी तथा कई अन्य देवी देवताओं की प्रतिमाओं की स्थापना की गई। सम्राट ने यह भी निर्देश दिया कि उसके परपितामह कुजुल कडफिसेज, पितामह सद्दाशकना, पिता विम कडफिसेज और स्वयं कनिष्क की प्रतिमाओं को स्थापित किया जाए। शफर ने उसके निर्देशानुसार एक मंदिर का निर्माण कराया जहां मोकोनजोका नाम के किसी व्यक्ति की देखरेख में पूजा की जाने लगी जैसा कि शाही आदेश था। कनिष्क के स्वास्थ्य और विजयों को सुनिश्चित करने के लिए इस अभिलेख में भी अनेक देवताओं का आह्वान किया गया। इस अभिलेख में यह भी उल्लेख है कि कनिष्क ने मंदिर में स्थापित देवी देवताओं की अर्चना पूजा की। यह भी लिखा है कि अपने राज्यारोहण के वर्ष से कनिष्क ने नए संवत् की शुरुआत की।

कुषाण वंश के शासकों की सूची पर इस अभिलेख से काफी जानकारी मिलती है। एन. सिम्स विलियम्स एवं जो क्रिब ने 13 वी पंक्ति के आधार पर यह बतलाया कि उससे अब तक अज्ञात एक कुषाण राजा वीमा टक्टो का पता चलता है जो कुजुल कडफिसेज का एक पुत्र था। हालांकि, बी.एन. मुखर्जी के अनुसार, यह नाम असलियत में सद्दश्कना पढ़ा जाना चाहिए जो कुजुल कडफिसेज का एक पुत्र था। इस अभिलेख से यह भी स्पष्ट होता है कि विम कडफिसेज और कनिष्क पिता पुत्र थे।

इस अभिलेख के अनुसार, कनिष्क के साम्राज्य में कौन्डिन्य, उज्ज्यनी, साकेत, कौशाम्बी, पाटलीपुत्र तथा चंपा भी आते थे। अतिश्योक्ति ही सही लेकिन लिखा है कि सम्पूर्ण भारत ही कनिष्क का राज्य था। पूरब में उसका साम्राज्य पाटलीपुत्र और चम्पा तक फैला था। कौन्डिन्य या कुन्डिन को महाराष्ट्र के अमरावती जिले में वर्धा नदी के किनारे स्थित कौन्डिन्यपुरा से चिन्हित किया गया है और यह कनिष्क के साम्राज्य का दक्षिणी सीमांत हो सकता है।

कनिष्क द्वारा प्रतिपादित राजत्व के सिद्धांत पर भी यह अभिलेख महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। कनिष्क अपने राज्य को नाना देवी तथा कई अन्य देवी देवताओं के द्वारा प्रदत्त बतलाता है। इनमें से प्रायः सभी देवी देवता जरथुस्ट्र के धर्म से सम्बद्ध लगते है। सम्राट तथा सम्राट के पुरखों की प्रतिमाओं को भी उसके निर्देश पर बने मंदिर में स्थापित किया गया था। कनिष्क की शैल प्रतिमाएं अफगानिस्तान के सुर्ख कोटल और मथुरा के निकट माट नामक स्थान से प्राप्त हुई है। रबातक में भी इस प्रतिमा के होने की प्रबल सम्भावना है। एक अनसुलझा प्रश्न यह है कि क्या सम्राट की प्रतिमाएं मात्र अन्य देवी देवताओं की अनुपुरक प्रतिमाओं के रूप में बनाए गए थे अथवा सम्राटों की प्रतिमाओं की स्थापना के लिए ही मंदिर का निर्माण किया गया था। क्या कुषाण सम्राट अपने को दैवत्व से सीधे जुड़ा हुआ मान रहे थे अथवा वे स्वयं को देवता का दर्जा दे रहे थे।

स्रोतः मुखर्जी, 1995

कुछ हिस्सा सम्राट के द्वारा सीधे नियंत्रित होता था जबकि कुछ हिस्सों पर क्षत्रप या महाक्षत्रप कहे जाने वाले अधीनस्थ शासकों का नियंत्रण होता था। ऐसा लगता है कि उसके अधीनस्थ कुछ शासक नाममात्र का कुषाणों की अधीनस्थता स्वीकार करते थे। चष्टन जैसे क्षत्रप कुषाणों की अधीनस्थता स्वीकार तो करते थे परंतु व्यावहारिक दृष्टि से वे बिल्कुल स्वतंत्र शासक मालूम पड़ते हैं।

कुषाणों के पतन के बाद बहुत सारे राज्यों का उदय हो गया जो उनके द्वारा तात्कालिक रूप से दबे हुए थे। पश्चिमी और मध्य भारत में शक क्षत्रपों का शीघ्र ही उदय हो गया। इस काल

के सिक्कों, मुहरों और अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर भारत के विभिन्न हिस्सों में गणों तथा कई राजतंत्रों का अस्तित्व था। इनमें आर्जुनायन भी थे, जो भरतपुर और अलवर क्षेत्र में केंद्रित थे। पहली शताब्दी सा.सं.पू. के अंतिम चरण के ब्राह्मी लिपि में 'अर्जुनायानाम् जय:' (अर्जुनायनों की विजय) से युक्त कई सिक्के मिले हैं। मालवों का मूल स्थान पंजाब था किन्तु यहां से मालवों के एक बड़े हिस्से का प्रवर्जन राजस्थान क्षेत्र में हुआ। उनकी राजधानी मालवनगर थी जिसे आधुनिक नगर से चिन्हित किया जाता है। इस नगर के इर्द-गिर्द बड़ी संख्या में ऐसे सिक्के मिले हैं जिनपर 'मालव जनपद' उत्कीर्ण था। इनमें से कई पर 'जयो मालवानाम्' अथवा 'मालवानाम् जय:' उत्कीर्ण है। रायगढ़ से एक लेड (सीसा) का मुहर मिला है जिसपर दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के ब्राह्मी में मालवा जनपद उत्कीर्ण है।

यौधेय नामक गण का क्षेत्र पूर्वी पंजाब और आसपास के उत्तर प्रदेश और राजस्थान के इलाके थे। इनके द्वारा निर्गत सिक्के मुल्तान से सहारनपुर तक के बीच में मिलते हैं। लुधियाना के निकट सुनेत नामक स्थान से इन्हीं का एक मुहर मिला है जिसपर बैल का प्रतीक बना हुआ था और 'यौधेयानाम् जय-मंत्र-धारणम्' (यौधेय जो विजय का मंत्र धारण करने वाले थे) खुदा हुआ है। यहां से प्राप्त सिक्कों और सिक्कों को ढालने के लिए बने सांचों पर यौधेयों के कार्तिकेय देवता के भक्त होने की सूचना मिलती है।

उत्तर और मध्य भारत में इस काल में अवस्थित राजतंत्रों से कई राजाओं को संयुक्त रूप से नाग शासकों के रूप में देखा जाता है क्योंकि इनके नामों के साथ 'नाग' जुड़ा हुआ था। दरअसल इनके नामों के अतिरिक्त साहित्यिक एवं प्रतिमाओं से मिले प्रमाणों के आधार पर इस क्षेत्र में नागों की उपासना की लोकप्रियता का पता चलता है। बहुत सारे सिक्के, मुहरों तथा अभिलेखों से नाग राजाओं की सूचनाएं मिलती हैं। पुराणों में नाग राजाओं के नौ उत्तराधिकारियों की एक श्रृंखला का पता चलता है जो पद्मावती से शासन कर रहे थे। पद्मावती को मध्यप्रदेश के ग्वालियर जिले में स्थित पवया नामक स्थान से जोड़ा जाता है। कुछ सिक्कों पर गणेन्द्र या गणप नामक एक महाराजा का उल्लेख है जो पद्मावती से मिले हैं। इस नाम के उत्कीर्ण सिक्के मथुरा और विदिशा से भी मिले हैं। इन क्षेत्रों में अन्य नाग राजाओं के नाम वाले सिक्के भी मिलते रहे हैं। पुराणें में मथुरा क्षेत्र से शासन करने वाले सात नाग राजाओं की भी एक सूची मिलती है। इस समय से मथुरा क्षेत्र से प्राप्त अधिकांश सिक्कों में राजाओं के नाम के साथ मित्र या दत्त जुड़ा हुआ है। अभिलेखों और सिक्कों से हमें अहिच्छत्र, अयोध्या और कौशाम्बी से राज्य कर रहे कई स्थानीय राज्यतंत्रों के भी नाम ज्ञात होते हैं।

पश्चिम भारत के शक क्षत्रप

(The Shaka Kshatrapas of Western India)

यह पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि सीथो-पर्थियाई शासकों ने अपने क्षत्रपों (अधीनस्थ शासकों) के माध्यम से शासन किया। ऐसा लगता है कि कुषाण काल में भी पश्चिमी भारत के एक क्षत्रप घराने की चर्चा *पेरिप्लस* के द्वारा मांमब्रू राजवंश के रूप में मिलती है। ईसवी सन् के प्रारंभिक सदियों में क्षत्रप शासकों के दो प्रमुख राजवंशों का अस्तित्व था—क्षहरात तथा कारदमक।

यौधेयों का ताम्र सिक्का; उज्जैन का एक स्थानीय सिक्का (ऊपर); नहपाण का सिक्का (नीचे)

क्षहरात राजवंश के अंतर्गत भूमक और नहपाण जैसे शासकों का नाम सम्मिलित है। ऐसा लगता है कि भूमक की निष्ठा मूल रूप से कनिष्क के प्रति थी। ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों में उत्कीर्ण संक्षिप्त अभिलेखों वाले सिक्के गुजरात के तटीय क्षेत्र से मिले हैं जिन पर भूमक का नाम अंकित है। मालवा और अजमेर क्षेत्र से भी उसके कुछ सिक्के मिले हैं। हम नहपाण (119-125 सा.सं.) के विषय में अधिक जानते हैं। उसके द्वारा निर्गत सिक्कों के अतिरिक्त उसके द्वारा निर्गत बहुत सारे अभिलेख भी मिलें है। जिन पर शायद शक संवत् 78 सा.सं. तिथियां अंकित हैं। प्रारंभिक अभिलेखों में नहपाण की उपाधि क्षत्रप से की गई थी किन्तु बाद के अभिलेखों में उसका उल्लेख महाक्षत्रप या राजन् के रूप में होने लगा। उसके द्वारा निर्गत स्वर्ण एवं रजत सिक्कों में केवल राजन् उल्लिखित है। उसके द्वारा निर्गत अभिलेखों में किसी अन्य शासक की अधीनस्थता के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया

प्राथमिक स्रोत

एक झील, एक तूफ़ान और एक सम्राट

गुजरात के जूनागढ़ में स्थित एक चट्टान पर अशोक के अभिलेखों की एक सम्पूर्ण शृंखला, कारदमक शासक रुद्रदामन का एक अभिलेख और गुप्त सम्राट स्कंदगप्त का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। अशोक के अभिलेखों में तो उसकी धम्म सम्बंधी नीतियां वर्णित की गई हैं, किन्तु अन्य दो अभिलेखों में एक जलाशय के निर्माण व्यवस्था और जीर्णोद्धार से जुड़ा 1000 वर्षों का अद्वितीय इतिहास संकलित है। रुद्रदामन का अभिलेख 20 पंक्यिों का है और चट्टान के शीर्ष पर उत्कीर्ण है। उसमें लिखी गई बहुत सारी पंक्तियां अब पढ़ी नहीं जा सकतीं। अभिलेख की भाषा संस्कृत है और लिपि ब्राह्मी। शैली अत्यंत साहित्यिक और अलंकृत है। सच तो यह है कि संस्कृत में लिखा गया यह प्राचीनतम विस्तृत अभिलेख है।

इस अभिलेख का उद्देश्य महाक्षत्रप रुद्रदामन के द्वारा सुदर्शन नामक एक जलाशय के पुनर्निर्माण के कार्य को जनसामान्य के लिए प्रतिवेदित करना था। इस जलाशय का निर्माण कार्य चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रान्तीय गवर्नर वैश्य पुष्यगुप्त के द्वारा शुरू करवाया गया। जलाशय का निर्माण कार्य अशोक के प्रान्तीय गवर्नर यवन तुशअस्प के समय में पूरा हुआ। अभिलेख में आगे कहा गया है कि बहुत वर्षों बाद रुद्रदामन के शासन काल में वर्ष 72 (निश्चित रूप से शक संवत् 150 सा.सं.) की सदी में एक भयंकर तूफान आया। जैसा की हमें बतलाया गया है (पंक्ति 6) कि जल से भरे मेघों ने सम्पूर्ण धरती को आच्छादित कर दिया। इतनी घमासान वर्षा हुई कि सारी भूमि एक महासागर में परिवर्तित हो गई। उरजयत (गिरनार) पर्वत से निकलने वाली सुवर्णासिकता, प्लासीनी तथा अन्य नदियों में विकराल बाढ़ आ गयी। इस प्रलंयकारी तूफान से लग रहा था कि युग का अंत होने वाला है जिसने पर्वतों को, वृक्षों को, कंगूरों को, किनारों को, दो मंजिलें भवनों को, प्रवेश द्वारों को, ऊंचाई पर बने प्रासादों को और सभी आश्रयों को ध्वस्त कर दिया। शिलाएं, वृक्ष, झाड़ी और लताएं चारों ओर अस्तव्यस्त हो गईं। यद्यपि, जलाशय के निर्माण में सावधानी बरती गई थी, तथापि इस तूफान ने 420 क्यूबिट लम्बे और चौड़े तथा 75 क्यूबिट गहरे हिस्से को उखाड़ दिया, जिससे जलाशय का सम्पूर्ण जल बाहर आ गया और झील बालूका राशि वाली मरूभूमि के सदृश्य दिखलाई पड़ने लगी। सूदर्शन झील दुर्दर्शन हो गयी।

लोगों ने इस प्रलयंकारी घटना के बाद बहुत विलाप किया। विनाश के आयाम इतने भयंकर थे कि रुद्रदामन के सलाहकारों और प्रधान अधिकारियों ने यह सोच लिया कि अब झील का पुनर्निर्माण कदापि संभव नहीं है। किन्तु रुद्रदामन इस विकट घड़ी में उठ खड़े हुए और जलाशय के पुनर्निर्माण का आदेश दिया। पुनर्निर्माण कार्य अनर्ता और सुराष्ट्र के प्रान्तीय गवर्नर अमात्य सुविशाखा की देखरेख में शुरू हुआ। सुविशाखा एक पहल्व और कुलायप के पुत्र थे। एक योग्य अधिकारी के रूप में उनका दृष्टांत दिया जाता था धैर्यपूर्ण, आत्मसंयमित, पूर्णत: ईमानदार व अहंकार से परे। झील की लम्बाई व चौड़ाई को सभी ओर से अत्यंत अल्प समय में तीन गुणा मजबूत बनाया गया। इसके लिए नगरों और गांवों की जनता का किसी प्रकार से शोषण नहीं किया गया। कोई भ्रम नहीं आरोपित किया गया, न ही किसी प्रकार का कराधान थोपा गया। अभिलेख में यह स्पष्ट किया गया है कि रुद्रदामन ने यह सब कुछ आने वाले 1000 वर्षों तक और ब्राह्मणों के कल्याण के लिए तथा धर्म और कृति के लिए सम्पन्न करवाया।

इस अभिलेख में रुद्रदामन की एक अलंकारिक प्रशस्ति भी संकलित की गई है। उसके वंश की सूची में उसके पिता जयदामन तथा पितामह चष्टन के नाम भी दिए गए। यह वर्णन किया गया है कि अपने व्यक्तिगत शौर्य से वह अकरा, अवन्ति, अनूपदेश, अनर्ता, सुराष्ट्र स्वभ्र, मरू, कच्छ, सिन्धु, सौवीर, कुक्कुर, अपरान्त, निषाद तथा अन्य देशों का अधिपति बना। उसने यौधेयों का नाश कर दिया क्योंकि वे सभी क्षत्रियों को पराजित करने का दम्भ भर रहे थे। उसने दक्षिणापथ के अधीपति सातकर्णी को युद्ध में दो बार पराजित किया। दोनों बार उसने उसे प्राणदान दिया क्योंकि वह उसका निकट का सम्बंधी भी था। यह भी बतलाया गया है कि उसके शहर गांव और बाजार लुटेरों, सर्पों, जंगली जानवरों और महामारियों से पूर्णत: मुक्त थे।

अपनी योग्यता के कारण वह अत्यंत जनप्रिय शासक था जिसने धर्म अर्थ और काम के आदर्शों का पूर्ण रूप से अनुपालन किया। रुद्रदामन के विषय में अत्यंत काव्यात्मक शैली में वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि माँ के गर्भ से ही वह शाही जीवन का अधिकारी था, जिसको सभी वर्णों ने अपनी रक्षा के लिए अपने अधीपति के रूप में चयनित किया था, जिसने युद्ध को छोड़कर किसी भी स्थिति में किसी की हत्या न करने का संकल्प लिया था, जो सहानुभूति और सहिष्णुता के वशीभूत थे, जिसने पराजित राजाओं को उनके राज्य लौटा दिए, जिसने धर्म की स्थापना के लिए ही अपने वरद्हस्त उठाए। ज्ञान तथा व्याकरण, संगीत, तर्कशास्त्र तथा अन्य महान विज्ञानों के लिए जिसकी चारों ओर ख्याति फैली थी, जो अश्व, हाथी, रथ, तलवार और ढाल के प्रयोग में दक्ष थे तथा आमने सामने के युद्ध में महारथी था, जिसने दूसरों को सदा उपहार व सम्मान देने की परम्परा बनायी, जिसने सभी का सम्मान किया किसी का तिरस्कार नहीं, जिसके राजकोष उपहार

शुल्क और लाभांशों के धर्मसम्मत संग्रहण से अर्जित; स्वर्ण, रजत हीरक, लाजवर्द, तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं से सदा परिपूर्ण थे जिसके द्वारा लिए गए संस्कृत के काव्य और गद्य शब्दों के उत्कृष्ट चयन के कारण सौंदर्य और जीवंतता से ओत प्रोत हैं, जिसके शरीर पर सर्वश्रेष्ठ मंगलकारी चिह्न उपस्थित हैं तथा जिसके स्वर, वर्ण, भुजवल शरीर सौष्ठव के आयाम सभी कुछ अद्वितीय हैं तथा जिसके गर्दन में कई स्वयंवरों में राजपुत्रियों ने माला डालकर उसे सुशोभित किया है। अब इनमें से कितने गुण वास्तव में रुद्रदामन के व्यक्तित्व के हिस्से रहे होंगे, यह तो केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। लेकिन प्रशस्ति में उसके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए सम्राट से जुड़े समकालीन आदर्शों का निरूपण हुआ है। स्कंदगुप्त ने जो अभिलेख उत्कीर्ण करवाया उसके अनुसार, एक बार फिर सुदर्शन झील 455-56 सा.सं. में बाँधों के टूटने के कारण नष्ट हो गया था स्कंदगुप्त ने उसका पुनर्निर्माण कराया।

स्रोत: कीलहॉर्न, 1905-06

है, जिससे यह पता चलता है कि वह लगभग स्वतंत्र रूप से शासन कर रहा था। नहपाण के सिक्के राजस्थान के अजमेर क्षेत्र और महाराष्ट्र के नासिक क्षेत्र से भी मिले हैं। आर्यामन नाम के उसके एक अमात्य के द्वारा निर्गत अभिलेख पूणे जिले के जूनाड़ नामक स्थान से मिला है। ऐसा लगता है कि नहपाण का शासन अपनी पराकाष्ठा के दौर में मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र, उत्तरी महाराष्ट्र और राजस्थान की निचली सिंधु नदी घाटी के कुछ हिस्सों तक फैला हुआ था। उसकी राजधानी मिन्नगर को दोहा से चिन्हित किया जाता है, जो उज्जैन और भड़ौच मार्ग के बीच स्थित है। नहपाण के शासनकाल में उसके राज्य के दक्षिणी प्रांत का गवर्नर उसका दामाद उसवदात था। नासिक और कार्ले की गुफाओं से उसके द्वारा निर्गत कई दान-अभिलेख पाए गए हैं।

शक क्षत्रपों का सातवाहनों के साथ लंबा संघर्ष चला। सातवाहन दक्कन में केंद्रित एक शक्तिशाली राजवंश था। ऐसा लगता है कि इस काल में पश्चिमी तटीय क्षेत्र पर नियंत्रण के लिए बराबर संघर्ष होता रहा। जैसे नासिक और पूणे का इलाका सातवाहनों के द्वारा या तो नहपाण के द्वारा जीता गया या उसके किसी पूर्वजों के द्वारा। किन्तु 124-125 सा.सं. में सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्णी के द्वारा नहपाण एक युद्ध में मारा गया। सातकर्णी ने क्षहरात राज्य के दक्षिणी हिस्सों को अपने नियंत्रण में ले लिया। इसका प्रमाण हमें गौतमीपुत्र सातकर्णी के द्वारा निर्गत नासिक और पूणे जिले से प्राप्त अभिलेखों से मिलता है। उसने नहपाण के सिक्कों पर अपने नाम खुदवाए। गौतमीपुत्र की मां गौतमी बालश्री के द्वारा निर्गत अभिलेखों के कथनों से भी ये बातें सिद्ध होती हैं।

जिस दौरान क्षहरात राजवंश का पतन हो रहा था, उसी दौरान पश्चिमी भारत में शक क्षत्रपों का एक नया राजवंश कारदमक उभर कर सामने आ रहा था। कारदमक राजवंश का संस्थापक चष्टन था। इसके सिक्कों में भी पहले क्षत्रप उत्कीर्ण था। बाद में महाक्षत्रप की उपाधि उत्कीर्ण हुई किन्तु राजन उपाधि इसके सभी सिक्को में देखी जा सकती है। ऐसा लगता है कि मूल रूप से चष्टन ने कुषाणों के अधीनस्थ शासक के रूप में सिंध क्षेत्र में शासन किया। नहपाण की मृत्यु के बाद कुषाण साम्राज्य के दक्षिण पश्चिमी प्रांतो का वह गवर्नर बना। कारदमकों के राज व्यवहारों में ज्येष्ठ और कनिष्ठ शासकों का प्रचलन था जिनकी उपाधियां क्रमशः क्षत्रप और महाक्षत्रप होती थीं। उदाहरण के लिए, चष्टन जब महाक्षत्रप था उस समय उसके पुत्र जयदामन और बाद में उसके पौत्र रुद्रदामन-I का नाम क्षत्रपों के रूप में अंकित है। लगभग 130-131 सा.सं. में चष्टन के बाद रुद्रदामन-I ने महाक्षत्रप की उपाधि धारण की। इन शासकों ने गौतमीपुत्र सातकर्णी द्वारा नहपाण से छीने हुए इलाकों को वापस जीतने में सफलता पायी।

कारदमक शासक रुद्रदामन-I को हम उसके सिक्कों से तो जानते ही हैं किन्तु उससे कहीं अधिक जूनागढ़ अभिलेख के कारण जानते हैं जो शक् संवत् 71 (150-151 सा.सं.) में निर्गत किया गया था। इस अभिलेख में यह दावा किया गया है कि उसने मालवा, सौराष्ट्र, गुजरात, उत्तरी कोंकण और नर्मदा में स्थित माहेश्वर क्षेत्र पर नियंत्रण कर लिया। इसमें यह भी उल्लेख है कि उसने दक्षिणापथ के स्वामी सातकर्णी को दो बार पराजित किया किन्तु सातकर्णी को इसलिए नहीं मारा गया क्योंकि वह उसका निकट का सम्बंधी भी था। इस अभिलेख में जिस सातकर्णी का उल्लेख है वह गौतमी पुत्र सातकर्णी ही हो सकता है। रुद्रदामन की बेटी का विवाह गौतमीपुत्र सातकर्णी के पुत्र वशिष्ठीपुत्र पुलुमवि से हुआ था। रुद्रदामन के साम्राज्य के अंतर्गत क्षहरात राज्य के सभी हिस्से आते थे। केवल नासिक और पूणे का इलाका उसके राज्य से बाहर था।

रूदसिंह-I का रजत सिक्का, कारदमक वंश

वशिष्ठीपुत्र पुलुमवि का ताम्र सिक्का, सातवाहन वंश

दूसरी शताब्दी सा.सं. के उत्तरार्द्ध में कारदमकों के दक्षिणी प्रांतों पर सातवाहन शासक यज्ञसातकर्णी ने नियंत्रण कर लिया। कारदमकों के राज्य के उत्तरी प्रांतों पर अगली शताब्दी में मालवों और आभीरों ने नियंत्रण कर लिया। चष्टन के द्वारा स्थापित राजवंश का अंतिम क्षत्रप शासक विश्वसेन था जिसने तीसरी शताब्दी सा.सं. के अंत तक राज्य किया। इसके बाद क्षत्रप शासकों का एक नया राजवंश रुद्रसिंह द्वितीय के द्वारा स्थापित किया गया।

दक्कन में सातवाहनों का साम्राज्य

(The Satavahana Empire in the Deccan)

अशोक के अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्यों का दक्कन के साथ सीधा संपर्क था। यह संपर्क विशेष रूप से दक्षिणी दक्कन से था। बी.डी. चटोपाध्याय ([1987] 2003) ने इस संदर्भ में सिक्कों से उपलब्ध प्रमाण पर जोर दिया है। दरअसल इन सिक्कों के आधार पर दक्कन में उन छोटे छोटे राजघरानों का पता चलता है जिनका अस्तित्व मौर्य साम्राज्य के पतन और सातवाहनों के उदय के बीच के काल में था। इन स्थानीय शासकों को उनके सिक्के में महारथी के रूप में चित्रित किया गया है। इनकी प्राप्ति वेरापुरम से भी हुई है जो सातवाहनों के पहले और सातवाहन काल के दौरान के पुरातात्त्विक स्तर विन्यासों में पाए गए है। सातवाहनों के पूर्व के काल से ब्रह्मपुरी नामक स्थान पर कूरा शासकों के बहुत से सिक्के मिले हैं। कोटालिंगल नामक स्थान से मिले सिक्कों के पुरातात्त्विक संदर्भ का पता नहीं लगाया जा सका है, किन्तु इन पर उत्कीर्ण स्थानीय शासकों के नाम में गोभद्र, सामिगोप, चिमुक, कामवय और नरना इत्यादि प्रमुख हैं। भट्टीप्रोलु नामक स्थान से एक बौद्ध स्तूप के अवशेष मंजूषाओं पर दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के अभिलेख पर खुबिरक नामक एक राजा का जिक्र है। ये सभी इस ओर इशारा करते हैं कि दूसरी-पहली शताब्दी सा.सं.पू. में इस क्षेत्र में स्थानीय कुलीन वर्गों का अभ्युदय हुआ था। अशोक के अभिलेखों में जिन रथिकाओं और भोजों का उल्लेख है वे सातवाहन काल के पहले ही क्रमशः महारथी और महाभोज कहलाने लगे थे।

सातवाहनों को पुराणों में आन्ध्र के रूप में वर्णित किया गया है। *मत्स्य* और *ब्रह्माण्ड पुराणों* में सातवाहन राजाओं में से 30 की सूची दी गयी है जिन्होंने 460 वर्षों तक शासन किया, जबकि वायु पुराण में 17 सातवाहन राजाओं की सूची उपलब्ध है जिन्होंने 300 वर्ष तक शासन किया। कुछ सिक्कों और अभिलेखों में जिन सातवाहन शासकों के नाम दिए गए हैं, पुराणों में दिए गए वे सूची में सम्मिलित नहीं हैं।

इतिहासकारों में सातवाहनों के कालनुक्रम को लेकर मतभेद बना हुआ है। कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि सातवाहनों का शासन 271 सा.सं.पू. से शुरू हुआ, जबकि कुछ इतिहासकार इसे ल. 30 सा.सं.पू. मानते हैं। किन्तु अधिक संभावना यह है कि सातवाहनों का उदय पहली शताब्दी सा.सं.पू. के मध्य में कभी हुआ होगा और इनका पतन तीसरी शताब्दी सा.सं. के प्रारंभ में हो गया। इतिहासकारों में इस विषय को लेकर भी मतभेद है कि सातवाहनों ने अपने साम्राज्य की शुरुआत पूर्वी दक्कन से शुरू की अथवा पश्चिम दक्कन से। पुराणों में उनको आंध्र कहा गया है इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मूल रूप से ये आंध्र क्षेत्र के निवासी रहे होगें अथवा ये आन्ध्र जाति जनजाति के सदस्य रहे होंगें। पुराणों में 'आंध्रभृत्य' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ कुछ इतिहासकारों ने यह लगाया है कि सातवाहनों के पूर्वज मौर्य सम्राटों के अधीनस्थ रहे होंगें। (भृत्य का अर्थ अधीनस्थ या परिचारक से है।) हालांकि, आन्ध्र भृत्य का अर्थ आन्ध्रों के भृत्य या आन्ध्रों के परिचारक भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि आन्ध्र भृत्य का प्रयोग सातवाहनों के उत्तराधिकारियों के लिए किया गया था। उनके नाम के साथ आन्ध्र जुड़े होने के अलावा सातवाहनों के सिक्के करीमनगर जिला (आंध्रप्रदेश) के कोटलिंगल और संगारेड्डी नामक स्थानों से मिले। इन प्रारंभिक सातवाहन सिक्कों के आधार पर भी उन्हें पूर्वी दक्कन का मूल निवासी माना जाता है, जबकि दूसरी और नानेघाट और नासिक गुफाओं से प्राप्त अभिलेखों के आधार पर सातवाहनों को शक्ति का केंद्र पश्चिमी दक्कन कहा जा सकता है। इसके आधार पर कुछ इतिहासकारों ने भी यह मान लिया है कि सातवाहनों ने अपने राज्य की शुरुआत पश्चिमी दक्कन के प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठन)

प्राथमिक स्रोत

नानेघाट की शाही छविचित्रों की एक दीर्घा

महाराष्ट्र के पुणे जिले के नानेघाट पहाड़ियों में स्थित एक गुफा की पार्श्व वीथिका में आठ मानवाकार छविचित्रों को पत्थरों पर उकेरा गया। इन प्रतिमाओं के अवशेषों में अब मात्र इनके चरण ही देखे जा सकते हैं और कुछ प्रतिमाओं के तो पाँव भी नष्ट हो चुके हैं। इन प्रतिमाओं के शीर्ष पर ब्राह्मी लिपि के बड़े बड़े अक्षरों में उनके नाम खुदे हैं जिनके अभाव में इन प्रतिमाओं की शिनाख्त करना लगभग असम्भव होता। नाम अभिलेखों के आधार पर उन व्यक्तियों के नाम जिनके छवि चित्र उत्कीर्ण हैं इस प्रकार हैं:

1. (रायासी) सिमुक सातवाहन
2,3. रानी (श्रीमातो देवी) नयनिका/ नागनिका तथा (राञो) राजा सातकर्णी
4. (कुमार) भयाला
5. पाँचवें व्यक्ति का नाम मिट चुका है।
6. महारथी त्राणकईरा
7. (कुमार) हकू श्री
8. (कुमार) सातवाहन

गुफा के इस पार्श्व दीवार के दायीं और बायीं ओर वाली दीवारों में इसी भाषा और लिपि में एक लम्बा अभिलेख उत्कीर्ण है। बहुत जगहों पर अभिलेख को पढ़ा नहीं जा सकता। यह अभिलेख एक रानी के द्वारा उत्कीर्ण करवाया गया है जिसका नाम भी मिट चुका है जिसने अपने पति की मृत्यु के पश्चात अपने पुत्र वेद श्री के शासन काल में उक्त अभिलेख को उत्कीर्ण करवाया। अभिलेख में इस रानी को एक सातवाहन शासक (अर्थात सिमुक) की बहु बतलाया गया है जो अंगीय कुल के एक महान नागयोद्धा शासक की बेटी थी, सातकर्णी की पत्नी थी और वेद श्री की माता थी। अभिलेख में यह स्पष्ट किया गया है कि यह महिला अपना वैधव्य जीवन का शास्त्रोचित ढंग से व्रतों और उपवासों के साथ निर्वाह कर रही थी। इसमें 18 यज्ञों का आयोजन किया जिनमें से दो अश्वमेघ यज्ञ और एक राजसूय जैसे यज्ञों में निश्चित रूप से अपने पति के जीवन काल में ही उसकी सहभागिता रही होगी तथा अन्य यज्ञों को उसने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् कुल पुरोहित की सहायता से सम्पन्न करवाया। यह रानी निश्चित रूप से नयनिका (अथवा नागनिका) रही होगी जिसका नाम उपरोक्त छवि चित्रों की शाही दीर्घा में एक चित्र पर अंकित है। अभी हाल ही में नानेघाट के निकट जुन्नार से प्राप्त एक रजत सिक्के पर सातकर्णी और नागानिका के नाम अंकित मिले हैं।

भास के द्वारा लिखे गए प्रतिमानाटक नामक नाट्य में यह वर्णन आया है कि जब राम के अनुज भरत ने एक प्रतिमा गृह में अपने पिता दशरथ की प्रतिमा तीन अन्य पुरखों की प्रतिमाओं के साथ देखी, तो उन्हें यह तुरन्त आभास हो गया कि उनके पिता की मृत्यु हो चुकी है क्योंकि ऐसे स्थानों पर केवल मृत शासकों की प्रतिमाएं ही स्थापित की जाती हैं। इस उदाहरण को आधार बनाते हुए कुछ इतिहासकारों का मानना है कि नानेघाट छवि चित्रों की शाही दीर्घा के निर्माण के पहले ही सिमुक और सातकर्णी जैसे राजाओं के साथ-साथ इस रानी का भी देहान्त हो चुका था। जबकि वी.वी. मिराशी ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सुझाव दिया है कि इस शाही दीर्घा में प्रतिमाओं की स्थापना दो चरणों में की गई थी। इनमें पहले के छः प्रतिमाओं को सातकर्णी स्थापित किया गया था। उनका मानना है कि कुमार हाकु श्री तथा सातवाहन की प्रतिमाएं इस गुफा में उनके मृत्युपरान्त बनायी गई थीं, किन्तु किसी भी इतिहासकार ने इन प्रतिमाओं के निर्माण के समय नागानिका के जीवित न होने की चर्चा नहीं की है। नानेघाट अभिलेखों के कई पहलूओं पर अभी भी विवाद होता रहा है, किन्तु इस रानी की प्रतिमा भी इस शाही दीर्घा में सम्मिलित है तथा इस रानी के द्वारा इसी दीर्घा के पास दीवारों पर एक लम्बा अभिलेख उत्कीर्ण करवाया गया, जिस अभिलेख में रानी ने अपने पैतृक घराने के गौरव की भी चर्चा की तथा उसे सिक्कों पर अपने पति के साथ भी दर्शाया गया। इन सब तथ्यों से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नागनिका अपने काल की एक अति संपन्न और अत्यंत सम्मानीय शाही महिला थी।

स्रोतः मिराशी, 1981: 17-20

से शुरू की और बाद में इन्होंने पूर्वी दक्कन आन्ध्र तथा पश्चिमी तटीय क्षेत्र तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। सातवाहन साम्राज्य के अंतर्गत आधुनिक आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्र आते थे। समय-समय पर उनका नियंत्रण उत्तरी कर्नाटक, पूर्वी और दक्षिणी मध्यप्रदेश और सौराष्ट्र पर भी बना रहा। प्लीनी के अनुसार, आंध्र देश में असंख्य गांव थे और कम से कम 30 प्राचीर वाले नगर थे। उसने यह भी कहा है कि सातवाहनों की 100,000 पैदल सेना, 2000 घुड़सवार सेना और 1000 हाथी की सेना थी।

अब जब सातवाहन राज्य के उदय की तिथि को लेकर ही विवाद बना हुआ है तब इस राजवंश के विभिन्न शासकों के कालानुक्रम की सटीक तिथियां निकालना तो और भी मुश्किल है। इसके बावजूद सातवाहन शासकों का वंशानुक्रम लगभग तय है। सातवाहन राज्य का संस्थापक सिमुक था उसका उत्तराधिकारी उसका भाई कन्ह हुआ

सातकर्णी के ताम्र सिक्के

जिसने साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में कम से कम नासिक तक किया। राजवंश का तीसरा सम्राट सातकर्णी हुआ जिसका 56 वर्ष का लंबा शासन काल था।

कलिंग के चेदि शासक खारवेल ने यह दावा किया है कि उसने सातकर्णी नाम के एक शासक को अपने राज्यभिषेक के बाद दूसरे वर्ष में पराजित किया था। उसने हाथीगुम्फा अभिलेख में ही यह भी दावा किया है कि दो वर्षों बाद उसने रथिकों को तथा मराठा देश को पराजित किया, इसके अलावा विदर्भ के भोजो को भी। भोज भी सातवाहनों के अधीनस्थ शासक मालूम पड़ते है। कुछ विद्वानों का तो यह मानना है कि ये सभी घटनाएं सातकर्णी के काल की हैं, किन्तु कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि ये घटनाएं सातकर्णी-I के परवर्ती किसी सातकर्णी के ही शासनकाल में घटी होगी। सातकर्णी-I ने शायद पश्चिमी मालवा पर नियंत्रण स्थापित किया। नानेघाट गुफाओं में स्थित नागनिक के द्वारा निर्गत किये गए अभिलेख में उसे दक्षिणापथ का स्वामी कहा गया है। परवर्ती सातवाहन शासकों में हाला का नाम उल्लेखनीय है जो सातवाहन वंश का 17 वां राजा था। ऐसा माना जाता है कि उसने 700 कामुक काव्य सूत्रों का एक संग्रह *गाथा-सत्तसई* का महाराष्ट्री प्राकृत में तैयार किया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहनों और शकों के बीच एक लम्बा संघर्ष चला। इन दोनों के बीच चल रहे संघर्ष के केन्द्र में भृगुकच्छ (भड़ौच या भड़च), कल्याण तथा सोपरक (सोपारा) के बंदरगाह थे जिनका वाणिज्यिक महत्त्व अत्याधिक था। दूसरी ओर क्षहरात क्षत्रपों के राज्य विस्तार का प्रारंभिक चरण सातवाहनों के मूल्य पर भी हुआ होगा। सातवाहनों की तकदीर को गौतमीपुत्र सातकर्णी ने बदल दिया। इसके काल में सातवाहन साम्राज्य अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुंचा। उसकी उपलब्धियों को उसकी माता गौतमी बलश्री के द्वारा निर्गत किए गए नासिक अभिलेख में वर्णित किया गया है। इस अभिलेख को पुलमयी-II के राज्यकाल के दौरान निर्गत किया गया था जो गौतमी पुत्र सातकर्णी का बेटा था। उसका वर्णन शकों, पह्लवों और यवनों के नाशकर्त्ता के रूप में किया गया है। उसने क्षहरात क्षत्रपों को भी अपदस्थ किया और इस प्रकार उसने सातवाहनों की खोई हुई गरिमा को पुनःस्थापित किया। गौतमी पुत्र सातकर्णी ने नहपाण को पराजित करके शकों द्वारा सातवाहनों के ले लिए गए पुराने राज्यों को अपने नियंत्रण में ले लिया। नासिक के एक अभिलेख में, जिसको गौतमी पुत्र सातकर्णी के राज्यारोहण के 18 वर्ष बाद निर्गत किया गया था, लिखा है कि उसने नहपाण के दामाद उसवदत्त के अधिकार वाली एक भूमि को वापस लेकर एक बौद्ध संघ को दान में दिया। कार्ले में पाए गए एक अन्य अभिलेख में जिक्र है कि उसने काराजिक ग्राम को भी भूमि दान में दिया (यह गांव पूणे जिला में पड़ता है)। इससे पता चलता है कि गौतमीपुत्र सातकर्णी का नियंत्रण पूणे क्षेत्र पर भी था। नासिक जिले के जोगलथम्बी से पाए गए सिक्कों से पता चलता है कि नहपाण के इन सिक्कों को गौतमी पुत्र ने पुनः उत्कीर्ण करवाया। गौतमीपुत्र के सिक्के पूर्वी दक्कन में भी मिलते हैं। गौतमी बलश्री के नासिक अभिलेख के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गौतमीपुत्र सातकर्णी का साम्राज्य उत्तर में मालवा और सौराष्ट्र तक, दक्षिण में कृष्णा नदी तक, पूर्व में बेरार जिला तक तथा पश्चिम में कोंकण तटीय क्षेत्र तक फैला हुआ था। इस अभिलेख में दिये गए एक कथन के अनुसार, उसके घोड़े तीनों महासागरों का पानी पीते थे जिससे पता चलता है कि विंध्य पर्वत शृंखला के पार भी उसने एक बड़े क्षेत्र को अपने नियंत्रण में ले लिया था, किंतु ऐसा संभव है कि अपने राज्यकाल के अंतिम दिनों में, गौतमीपुत्र को अपने राज्य के उन हिस्सों को कारदमक क्षत्रपों को सौंप देना पड़ा, जिन्हें उसने क्षहरात क्षत्रपों से हासिल किया था।

गौतमी पुत्र सातकर्णी के उत्तराधिकारी वशिष्ठीपुत्र पुलमवि के सिक्के आन्ध्र प्रदेश के विभिन्न हिस्सों से पाए गए हैं। ऐसा लगता है कि पुलमवि का ज्यादा ध्यान पूर्व की ओर केंद्रित रहा जिसके कारण शकों ने अपनी खोई हुई भूमि को वापस लेने में सफलता पा ली। यज्ञश्री सातकर्णी सातवाहनों में दूसरा प्रमुख शासक था। उसने जो सिक्के निर्गत किए। उनमें से कई पर एक पाल वाले और दोहरे पाल वाले बड़े जहाजों का चित्रांकन किया गया है। उसने शायद शकों से चल रहे संघर्ष को पुनः जीवित किया और सातवाहन वंश का वह शायद अंतिम शासक रहा होगा जिसका पूर्वी और पश्चिमी दक्कन दोनों पर नियंत्रण था। यज्ञश्री सातकर्णी के बाद प्रमुख सातकर्णी शासकों में गौतमीपुत्र विजय सातकर्णी, चन्द सातकर्णी, वशिष्ठीपुत्र

विजय सातकर्णी, तथा पुलमावि थे। बहुत सारे परवर्ती सातवाहन शासकों के नामों का उल्लेख पुराणों में दिए गए सातवाहन राजाओं की सूची में नहीं आते हैं। इनकी जानकारी हमें केवल सिक्कों से मिलती है। लगभग मध्य तीसरी शाताब्दी सा.सं. में सातवाहन साम्राज्य का पतन हो गया। दक्कन में सातवाहन साम्राज्य के पतन ने वाकाटकों के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसके अतिरिक्त मैसूर में कदंबों ने तथा महाराष्ट्र में आभीरों ने और आंध्र क्षेत्र में इक्ष्वाकुओं ने उनके द्वारा छोड़े गए स्थानों को भर दिया।

सातवाहनों ने अपने विषय में ब्राह्मण होने का भी दावा किया है। उन्होंने ब्राह्मण वैदिक परंपराओं का समृद्धशाली ढंग से पालन किया। गौतमी बलश्री की प्राकृत नासिक अभिलेख में गौतमी पुत्र सातकर्णी को 'एकबम्हन' (एक अद्वितीय ब्राह्मण) तथा 'खतीय दप्प मानमद' (क्षत्रीय दर्पमानमर्दक) के रूप में वर्णित किया है। नागनिक के द्वारा नानेघाट अभिलेख में यह वर्णन किया गया है कि सातकर्णी-I ने महान वैदिक यज्ञ अनुष्ठानों का आयोजन किया था। यह स्पष्ट है कि इनका सातवाहन शासकों ने, राजनीतिक वैधता प्राप्त करने के माध्यम के रूप में प्रयोग किया। सातवाहन राजाओं के द्वारा अपने मातृ नामों का प्रयोग करना महत्त्व रखता है। लेकिन यह उनके मातृसतात्मक या मातृ कुलात्मक होने का पर्याप्त प्रमाण भी नहीं है।

चट्टोपध्याय ([1987], (2003) ने उनके द्वारा रखे गए दक्षिणापथ के स्वामी जैसे बड़े उपाधियों के विषय में कहा है कि सातवाहन संपूर्ण दक्षिण भारत को तो दूर प्रशासनिक रूप से संपूर्ण दक्कन को भी एकीकृत करने में सक्षम नहीं रहे। शकों और कुषाणों द्वारा अपनायी गयी परंपरा के सदृश सातवाहनों के अधीनस्थ शासकों ने उनकी सत्ता को स्वीकार किया था जो बदले में उनकी राजनीतिक सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि महारथी और महाभोज कहलाने वाले सातवाहन काल के पहले के स्थानीय शासकों का सातवाहन राजनीतिक व्यवस्था में एकीकरण हो गया, किन्तु सातवाहनों के शासनकाल में भी उनका महत्त्व बना रहा। इस काल में दक्कन से प्राप्त कुछ सिक्कों से कुरो, आनंदो और महारथी हस्ती जैसे राजपरिवारों का दक्कन के विभिन्न भागों में स्थापित राजनीतिक महत्त्व का भी अंदाजा लगाया जा सकता है। सातवाहन अभिलेखों में जिन महारथियों और महाभोजों का उल्लेख है वे पश्चिमी दक्कन में स्थित अनेक बौद्ध गुफा स्थलों में दानकर्ता के रूप में भी रेखांकित किए गए हैं। दरअसल, इन परिवारों का सातवाहनों के साथ भी वैवाहिक सम्बंध का पता चलता है। सातवाहनों का साम्राज्य कई बड़े राजनीतिक विभागों में बंटा था, जिनको आहार कहा जाता था। सातवाहनों के राजकर्मियों में अमात्य, महामात्र, महासेनापति तथा लेखाकार जैसे नाम आते हैं। ग्रामीको के द्वारा उस क्षेत्र में गांवों का प्रशासन देखा जाता था।

इतिहास की दृष्टि से एक रोचक तथ्य यह है कि सातवाहनों और क्षत्रपों के द्वारा पहली बार किए जाने वाले भूमि दानों में राजस्व एवं अन्य करों से मुक्ति के प्रावधान भी रखे गए थे। नागनिका के द्वारा पहली शताब्दी सा.सं.पू. में निर्गत नानेघाट अभिलेख में यह उल्लेख आता है कि श्रोत यज्ञों के पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में गाँव दिए गए थे। नागनिक के पति सातकर्णी-I ने अश्वमेघ यज्ञ करवाया था, उसमें भी पुरोहितों को भूमि दान दी गयी थी। दूसरी शताब्दी सा.सं. में उसवदात के द्वारा निर्गत किए गए नासिक गुफा अभिलेख में वर्णित है कि दानकर्ता ने देवताओं और ब्राह्मणों के लिए 16 गांवों को दान में दिया था। इस अभिलेख में यह भी कहा गया है कि उसवदत ने उस गुफा आश्रयणी में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था के लिए एक खेत दान में दी थी। लगभग इसी काल का गौतमी पुत्र सातकर्णी द्वारा निर्गत नासिक गुफा अभिलेख भी है जिसमें यह उल्लेख किया गया है कि उसने बौद्ध भिक्षुओं के लिए गांव के निकट स्थित एक खेत को दान में दिया जो पहले उसवदत के नियंत्रण में था। वस्तुत: यह पहला अभिलेख है जिसमें भूमि दान के साथ शुल्क मुक्ति और अन्य विशेषाधिकारों की चर्चा की गयी है। इसमें उद्धृत है कि सैन्य अभियानों के दौरान शाही सेना के द्वारा इन खेतो में हस्तक्षेप नहीं किया जएगा। इनका नमक निकालने के लिए प्रयोग नहीं होगा तथा ये राजकीय अधिकारियों के नियंत्रण से मुक्त रहेंगे और इसके अतिरिक्त कई प्रकार के परिहारों अथवा सुविधाओं का उपभोग कर सकेंगें।

सुदूर दक्षिण के राजे रजवाड़े: चेर, चोल और पांड्य

(King and Chieftains in the Far South: The Cheras, Cholas and Pandyas)

दक्षिण भारत का प्रारंभिक ऐतिहासिक युग सामान्य रूप से तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से शुरू होता है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हाल में उपलब्ध किए गए पुरातात्त्विक सूचनाओं के अनुसार, कोडुमनल के पुरातात्त्विक साक्ष्य यह कहते हैं कि प्रारंभिक ऐतिहासिक काल दक्षिण भारत में चौथी शताब्दी सा.सं.पू. से ही शुरू हुआ था। तमिलकम तिरूपति, पहाड़ियों (वेंगडम) से लेकर प्रायद्वीपीय भारत के बिल्कुल दक्षिणी बिंदु तक के क्षेत्र को कहा जाता है। यह समृद्धशाली कृषि संभावना से युक्त धान की खेती के क्षेत्र के रूप में विकसित हुआ और इसी क्षेत्र में प्रारंभिक राजतंत्रों का दक्षिण भारत में उदय हुआ। कावेरी की निचली घाटी में स्थित आधुनिक तंजौर और त्रिचिनापॉली जिला (तमिलनाडु),चोलों का क्षेत्र था। इनकी राजधानी उरैयूर थी। ताम्रपरनी और वयगायी नदी घाटियों में स्थित आधुनिक तिरूनेलवेली, मदुरई, रामनाड जिला तथा दक्षिण त्रावनकोर पांड्यों का क्षेत्र था। इनकी राजधानी मदुरई थी। चेरों की राजधानी करूवुर या वंजि थी, जो केरल के तटीय हिस्से में राज कर रहे थे। ये सभी क्षेत्र उस काल के फलते-फूलते वाणिज्य में बढ़ चढ़ कर हिस्सा भी ले रहे थे। चोलों का प्रमुख बंदरगाह पुहार (कावेरीपट्टिनम) पांड्यों का प्रमुख बंदरगाह कोरकई तथा चेरों का प्रमुख बंदरगाह तोडी तथा मुचीरी थे।

इस काल के राजनीतिक इतिहास की सूचनाओं का सबसे प्रमुख स्रोत प्रशस्ति काव्य है जिसमें स्वभावत: शासकों की उपलब्धियों और विशषताओं को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करने का प्रचलन था। हालांकि, तमिल ब्राह्मी अभिलेखों के द्वारा इन काव्यों में उद्धृत कई शासकों की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। चेर, चोल और पांड्य राजाओं को वेंडार (मुकुटधारी राजा) कहा गया है। मृदंग, ढोल, छत्र इत्यादि के रूप में इन सभी महान शासकों के विशेष शाही चिह्न थे। चोलों का शाही चिह्न बाघ, चेरों का शाही चिह्न धनुष तथा पांड्यों का शाही चिह्न मछली था। वेण्डार के अतिरिक्त वेल्लिर कहे जाने वाले कई स्थानीय मुखियाओं का भी अस्तित्व था। उस काल की प्रमुख राजनीतिक विशेषता, उनके बीच होने वाले परस्पर सांघातिक युद्धों के रूप में देखा जा सकता है। महान राजाओं और मुखियाओं के बीच का युद्ध, परोक्ष रूप से, पारस्परिक संधियों के बनने और टूटने के रूप में भी परिलक्षित होता है। अपेक्षाकृत छोटे शासकों को अपने से उच्च शासकों को लगान के रूप में मुआवजा देना पड़ता था।

आन्ध्र और पांड्य के पंच-चिन्हित सिक्के

सबसे पहले जिस चेर राजा[3] के बारे में हम जानते हैं, उनका नाम उदियनजेरल है, उसके पुत्र नेदुनजेरल अडन के विषय में कहा गया है कि उसने सात मुकुटधारी राजाओं को पराजित किया और अधिराज की उपाधि ग्रहण की। काव्यों की अतिश्योक्ति ही कहें, तब भी उनके अनुसार, इस शासक ने हिमालय तक के क्षेत्र पर विजय प्राप्त किया और हिमालय पर चेरों के राजचिह्न धनुष को अंकित करवाया। मालाबार तट पर भी उसने किसी शत्रु को पराजित किया और कई यवन व्यवसायियों को अपने कब्जे में ले लिया, जिनको बाद में मुक्ति-धन या फिरौती लेकर छोड़ा गया। उसने एक चोल शासक के विरुद्ध भी युद्ध लड़ा जिसमें इन दोनों राजाओं को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। कुत्तुवन, निदुनजेराल अदन का छोटा भाई था। उसके बारे में कहा गाया है कि उसने कोंगु पर कब्जा किया और चेर शक्ति को पूर्वी और पश्चिमी महासागरों तक पहुंचाया। अदन के एक बेटे को भी अधिराज की उपाधि दी गयी थी, जिसके गले में भी सात मुकुट शोभित होते थे। तगादुर के एक मुखिया, अंजि के विरूद्ध, उसने एक सफल सैन्य अभियान चलाया। उत्तरी मालाबार क्षेत्र के एक नन्नान नाम के एक शासक के विरुद्ध भी उसने विजय प्राप्त की।

अडन का दूसरा बेटा सेनगुत्तुवन था। उसने मोकुर के मुखिया को हराया था। *शिलप्पदिकारम*, संगम साहित्य के बाद का ग्रंथ है। इससे यह जानकारी मिलती है कि सेनगुत्तुवन ने नन्नन की

3. दक्षिण भारत के राजनीतिक इतिहास की निम्नलिखित चर्चा शास्त्री ([1955], 1975 : 118 - 29) पर आधारित है।

चोल (ऊपर) और पांड्य (नीचे) के अवर्णित तांबे के सिक्के

भूमि में स्थित वियालूर पर आक्रमण किया और उसने कोंगु क्षेत्र में स्थित कोदुकुर के दुर्ग पर कब्जा किया। उसके बारे में यह भी कहा जाता है कि चोल राज परिवार में चल रहे उत्तराधिकार के लिए एक संघर्ष में उसने सफलतापूर्वक एक दावेदार का साथ दिया। इस उत्तराधिकार के युद्ध में अन्य नौ प्रतिद्वंदी मारे गए। उसके विषय में यह भी प्रचलित है कि उसने किसी आर्य शासक के विरुद्ध युद्ध किया जिसका उद्देश्य कन्नकी (*शिलप्पदिकारम* की मुख्य नायिका) की प्रतिमा बनाने के लिए पत्थर उपलब्ध करना था। उस क्षेत्र से पत्थर लाने के पहले उसने गंगा में स्नान भी किया। संगम काव्यों में जिस अंतिम चेर शासक का नाम दर्ज है वह कुदको इलनजेरल इरमपोरई है। उसने चोलों और पांड्यों के विरुद्ध सफल युद्ध किए। एक अन्य चेर शासक जिसका नाम मंदारन जेरालइरम पोरई था। वह तीसरी शताब्दी सा.सं. में राज्य कर रहा था। एक बार किसी पांड्य शासक के द्वारा वह पकड़ा गया लेकिन वह स्वतंत्र होकर घर लौटने में सफल रहा।

लगभग एक ही तरह के दो अभिलेखों को पुगलुर से प्राप्त किया गया है। वे दूसरी शताब्दी सा.सं. के हैं। इनमें इरमपोरई वंश के तीन चेर शासकों की पीढ़ीयों के नाम अंकित हैं। इस अभिलेख में किसी जैन मुनि के लिए एक गुफा आश्रयणी के निर्माण का उल्लेख है, जिसे अडन चेर इरमपोरई के पौत्र और पेरूनकतुनकोन के पुत्र इलनकतुनको के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में बनाया गया था। अंतिम शासक जिसका नाम ऊपर उद्धृत है उसे इलनजेराल इरमपोरई के रूप में देखा जा सकता है। एडकल (केरल) से प्राप्त दो संक्षिप्त अभिलेखों के द्वारा चेर राजाओं के एक समान्तर वंश का पता चलता है जिनकी तिथि पुरातात्त्विक स्रोतों के अनुसार, तीसरी शताब्दी सा.सं. आंकी गयी है।

चोल सम्राट करिकाल सबसे प्रसिद्ध है। *पत्तुपाट्टु* में संग्रहित एक पद्य में यह वर्णन किया गया है कि अपने राज्यारोहण के कुछ समय बाद ही उसे किस प्रकार अपदस्थ किया गया और कारागार में डाल दिया गया, किंतु वह अपने को छुड़ाने में सफल हुआ और बाद में फिर से राजगद्दी पर बैठा। वेन्नी के युद्ध में करिकाल ने पांड्य, चेर और उनके अन्य सहयोगी शासकों के संघ को पराजित किया। इसमें कहा गया है कि इस युद्ध में 11 शासकों को अपने राजकीय सत्ता के चिह्न 'ढोल' को खो देना पड़ा तथा इस युद्ध में जिस चेर शासक के पीठ पर वार किया गया था उसने निर्जला उपवास रखकर आनुष्ठानिक आत्महत्या कर ली। करिकाल को वहाई-परण्डलाई के युद्ध में मिली सफलता का भी श्रेय जाता है। इस युद्ध के बाद उल्लेख किया गया है कि कई शासकों को अपने राजकीय सत्ता के प्रमुख चिह्न 'छत्र' से हाथ धो लेना पड़ा था। इन विजयों के उल्लेख से यह पता चलता है कि करिकाल ने निश्चित रूप से अपने समकालीन शासकों को अपनी शक्ति से प्रभावित किया होगा। संगम काव्यों में जिस दूसरे महत्त्वपूर्ण चोल शासक का नाम आता है वह तोंडईमान इलनदिरायन है, उसने कांची से शासन किया। उसने या तो स्वतंत्र रूप से या कारिकाल के अधीनस्थ एक शासक के रूप में अपने जीवन की शुरुआत की। वह एक कवि भी था जिसके चार गीत अभी भी सुरक्षित हैं। इनमें से एक गीत में यह नैतिक शिक्षा दी गयी है कि सुशासन के लिए राजा के चरित्र की बड़ी भूमिका होती है। चोल राजवंश में इसके बाद का इतिहास दो प्रमुख राजगद्दी के दावेदार नलनगिल्ली और नेदुनगिल्ली के बीच चले लंबे संघर्ष के कारण जाना जाता है।

प्रारंभिक पांड्य शासकों में नेडियोन, पालशलई मुदुकुडुमी और नेदुनजेलियन के नाम प्रमुख है। *शिलप्पदिकारम* के नायक कोवलन की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु शायद नेदुनजेलियन के काल में ही हुई थी और ऐसी मान्यता है कि घटना के विषय में सही जानकारी मिलने के बाद

प्राथमिक स्रोत

शाही ढोल

काले जगमगाते किनारों से युक्त
लम्बे पट्टों से त्रुटिहीन कसे हुए,
चमकती थी जिसपर मयूर पंखों
से बनी मालाएं।
नीलम से गहरी नीली,
उलिनई के अंकुरों के
स्वर्णिम आभा वाले चिह्न बने।
ऐसा ही है शाही ढोल, रक्त की
पिपासा लिये।
इसके पहले कि स्नान कराकर
लाते वे उनको,
बेखबर मैं चढ़ गया
उस ढोल की विस्तार पर।
तेल की धारा के समान कोमल
था अनुभव।
तब भी नाराज नहीं हुए आप,
आपने नहीं निकाली म्यान से
धारदार तलवार।
तमिल भूमि के लोग करेंगे
आपका अनुकरण।
यही नहीं आपने फैलाया
अपने मजबूत भुजाओं का आलिंगन
ढोल को भी घेर ले जो
आपने पंखा झला
मुझे पहुँचाई शीतलता।
हे सर्वसम्पन्न अधिपति
आपने किया यह सबकुछ
जिनका नहीं यश होता है व्याप्त
विस्तृत धरती पर
नहीं पाते हैं स्थान
ऊँचे स्वर्ग में वे लंबे समय तक।

यह उन अनेक संगम कविताओं में से एक है जिसमें संरक्षक, शासक और संरक्षित कवियों के बीच के अन्योन्याश्रय सम्बंध को दर्शाया गया है। शाही ढोल (मुरचु) को सुबह में राजा को नींद से जगाने के लिए बजाया जाता था, युद्ध के दौरान भी और कई विशेष अवसरों पर। उन्हें विशेष वृक्षों की लकड़ी और छालों से बनाया जाता था। उनके विषय में मान्यता थी कि इनमें पवित्र शक्ति निहित हैं। इसलिए ढोल का अपमान करना एक गंभीर अपराध माना जाता था। इस कविता में मोचीकीरनरीन नामक कवि ने चेरमान तकतुरेरिनता पेरूनचेरलीरूमपोरई की प्रशंसा की है। कवि ने बतलाया है कि वह अनजाने में गलती से शाही ढोल के ऊपर जाकर सो गया था किन्तु जब राजा ने उसे इस हालत में देखा तो गुस्से में आकर हत्या की बजाय प्रेम से उसके जागने तक उसको पंखा झला।

स्रोतः पुरनानुरु 50; हार्ट, 1979: 148–49

प्रायश्चित के रूप में उसने आत्महत्या कर ली। नेदुनजलियन के बाद इसी नाम का एक दूसरा शासक पांड्य गद्दी पर बैठा। उसके नाम कई सफल सैन्य अभियान सम्मिलित हैं। तलइयालंगनम के प्रसिद्ध युद्ध में उसने चोल, चेर और अन्य पांच स्थानीय शासकों के एक संघ को पराजित किया। उस समय उसकी उम्र काफी कम थी (यही वह युद्ध है जिसमें चेर शासक को बंदी बनाया गया था)। इसके अतिरिक्त उसने कई अन्य स्थानीय शासकों से उनके राज्य छीने। मंगुलम में स्थित दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के दो तमिल ब्राह्मी अभिलेखों में एक में जैन मुनियों को दिए गए दान से सम्बंधित जानकारी मिलती है। यह दान नेदुनजेलियन के एक अधीनस्थ शासक और सम्बंधी के द्वारा दिया गया था। महादेवन का मानना है कि नेदुनजेलियन की तिथि इसी नाम के अन्य दो शासकों से पहले की होनी चाहिए जिनके नाम भी संगम काव्यों में आते हैं। आलगरमलाई अभिलेख जो पहली शताब्दी सा.सं.पू. का है, इसमें कलू(कटू)मार नाटन नामक जिस व्यक्ति की चर्चा है, वह भी या तो पांड्य राजकुमार था या कोई अधीनस्थ शासक।

संगम काव्यों में कई स्थानीय शासकों जैसे अइ, अंदिरन तथा पारी इत्यादि के नाम आते हैं जो अपनी वीरता और दानशीलता के कारण प्रसिद्ध हैं। पांड्य राज्यों के अधीन को कोंदुगुनरम या पिरनमलाई की पहाड़ियों के क्षेत्र में परी का शासन बतलाया जाता है। कपिलर ने पारी की प्रशस्ति में बहुत सारी कविताएं लिखीं और वह उसका निष्ठावान समर्थक प्रतीत होता है। इस काल के अन्य शासकों में अदिगइमान (जो निदुमान अंजी के नाम से भी जाना जाता है) तगादुर का शासक था। इसकी प्रशस्ति में अउवइयार नामक एक कवयित्री ने कई काव्यों की रचना की थी। पांड्य एवं चोल शासकों के समर्थन के बावजूद वह चेर शासक पेरूनजेराल इरुमपोरई के हाथों पराजित हुआ और अंत में उसकी अधीनता उसे स्वीकार करनी पड़ी। नन्नन की राजधानी पाली में चेरों के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसकी मृत्यु हुई। जंबई से प्राप्त पहली शताब्दी सा.सं. के एक अभिलेख में इस प्रसिद्ध स्थानीय शासक की चर्चा की गई है। पुगलुर और कनिमन के तमिल-ब्राह्मी अभिलेखों में भी इस तरह के अन्य स्थानीय शासकों की चर्चा हुई है।

दक्षिण भारत में जो तमिल-ब्राह्मी अभिलेख पाए गए हैं उनमें शासकों के लिए 'को' तथा स्थानीय शासकों के लिए 'को' अथवा 'कोन' का उल्लेख किया गया है। राजपरिवार से जुड़े व्यक्तियों के नाम के साथ भी 'को' या 'कोन' प्रत्यय जुड़ा हुआ था। पुगलुर अभिलेख में वर्णित राज्यभिषेक समारोह महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार मंगुलम से प्राप्त अभिलेख में किसी पांड्य शासक के अधीनस्थ स्थानीय शासक का उल्लेख है। मंगुलम अभिलेख में ही दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. एक कलतिक (मोती वाणिज्य से जुड़े एक अधिकारी) की चर्चा है। यह व्यक्ति किसी

व्यवसायिक श्रेणी संगठन का भी सदस्य था। पहली शताब्दी सा.सं.पू. से प्राप्त आलागरमलाई अभिलेख में 'कनतिकन' (सर्वोच्च लेखाकर) का उल्लेख है। इस तरह के कुछ तमिल-ब्राह्मी अभिलेखें अप्रत्यक्ष रूप से पांड्यों के प्रशासनिक संगठन के विषय में कुछ सूचनाएं प्राप्त हो जाती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत के प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में राजनीतिक सत्ता की वैधता का सबसे प्रामाणिक स्रोत कवियों की प्रशस्ति में इन शासकों या स्थानीय शासकों के नाम का स्थान पाना था। तमिलकम के इन प्राचीन कवियों और उनके संरक्षको के बीच अन्योन्याश्रय सम्बंध था (कैलाशपथी [1968] 2002, 55-93); शुलमैन 2001: 74-75)। इन प्रशस्ति कवियों को उनके संरक्षक आश्रय देते थे। लेकिन महत्त्वपूर्ण रूप से इन कवियों की कृतियों पर इन संरक्षको के शासन की वैधता आश्रित थी। जब तक इन संरक्षको की दानशीलता और उनकी वीरता की गाथा इन प्रशस्ति कवियों के लेखन में समाविष्ट नहीं होती थी, तब तक उन्हें प्रसिद्धी भी नहीं मिलती थी। ऐसा भी होता होगा कि संरक्षको के प्रति नाराज होने पर कवि उनकी आलोचना करके उनके राजनीतिक अस्तित्व पर खतरा पैदा कर सकते थे। इस प्रकार इनके बीच परस्पर निष्ठा और यहां तक कि इनका सम्बंध मित्रता पर भी आधारित था।

हालांकि, संगम काव्यों में राजकीय प्रतिष्ठा और वैधता के लिए कुछ नए आधार भी तैयार हो रहे थे—(1) ब्राह्मण यज्ञ अनुष्ठानों का निष्पादन, (2) उत्तर भारत के महाकव्य परंपरा से सम्बंध की स्थापना, (3) कुछ देवी देवताओं की उपासना और उनके मंदिरों को संरक्षण देना तथा (4) जैन मुनियों को संरक्षण देना। संगम साहित्य में वैदिक यज्ञों के विभिन्न शासकों द्वारा संपादन का बहुधा उल्लेख मिलता है। पांड्य शासक मुडुकुडुमी को 'पालशालाई' की उपाधि दी गयी है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'जिसने बहुत सारे कक्षों का निर्माण किया है'। हो सकता है कि जिन कक्षों की ये चर्चा कर रहे थे, वे यज्ञ या उपासनाा से सम्बंधित बड़े कमरे हों। इनमें से कई स्थानीय शासकों ने दावा किया कि उत्तर भारत के किसी संत ऋषि के यज्ञ के दौरान अग्निकुंड से उनका उद्भव हुआ है इसके अतिरिक्त उन्होंने अगस्त्य ऋषि और भागवान विष्णु से अपना सम्बंध जोड़ने का प्रयास किया। अदिगइमन नाम के स्थानीय शासक के बारे में उल्लेख करते हुए यह प्रसंग आता है कि उसका जन्म एक ऐसे कुल में हुआ था जिसमें ईश्वर की पूजा उपासना की जाती थी और यज्ञ अनुष्ठान इत्यादि संपन्न किए जाते थे। बाद में लिखे गये कुछ स्रोतों के आधार पर चेर राजा सेनगुत्तवन को दक्षिण भारत में पट्टिनी देवी के सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय दिया गया। कन्नकी को एक पतिव्रता पत्नी के मूर्त रूप में आराध्य देवी के रूप में स्वीकार किया गया। चोल शासक सेंगनन के विषय में यह प्रचलित था कि वह शिव भक्त था और *महाभारत* काल के अवसर पर उसने सेना की दो टुकडियों को अपने यहां भोजन कराया था। तमिल-ब्राह्मी अभिलेखों में कई जगह चर्चा की गयी है कि कई स्थानीय शासकों एवं अन्य लोगों ने जैन मुनियों के लिए गुफा आश्रयणियों का निर्माण करवाया था।

चम्पकलक्ष्मी (1996: 92-93) का मानना है कि संगम काल में वर्णित नगरीकरण, राजतंत्र के उदय से पहले के काल का है। यह समय जनजातीय कुलीन तंत्र का था, अधिक से अधिक इसे संभावी राजतंत्रों का युग कहा जा सकता है। उनका मानना है कि वेण्डार, राजस्व के स्रोत के लिए कृषि पर बहुत सीमित रूप से निर्भर थे। उनके राजस्व का मुख्य स्रोत लूट और भेंट-उपहार इत्यादि रहा होगा। किंतु तमिल-ब्राह्मी अभिलेखों के साक्ष्यों अथवा संगम साहित्य के रूप में उत्कृष्ट लेखन, नगरों का उल्लेख, शिल्प का विशिष्टीकरण, लंबी दूरी का समृद्ध व्यापार—ये सब बातें उपरोक्त दृष्टिकोण पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। इन संगम सहित्य में राजाओं के द्वारा स्वर्ण आभूषण, अश्व, हाथी, मसलिन जैसे सामग्रियों को दान में दिया जाना इस ओर इशारा करता है कि संसाधनों पर श्रेणीकृत नियंत्रण था। राजा विलासिता से जुड़ी मंहगी वस्तुओं के उपभोक्ता के रूप में और अपने बंदरगााहों में एक समृद्धशाली वाणिज्य तंत्र स्थापित करने की चेष्टे करते दिखते हैं। राजवंशों के द्वारा सिक्के निर्गत किए जाने के भी साक्ष्य मिलते हैं। चोल, चेर और पांड्य जैसे राजतंत्रों के उदय की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि राज्य की कम से कम एक प्रारंभिक संरचना का अस्तित्व था, हालांकि भूमि पर पूर्ण राजस्व, एक विस्तृत कर व्यवस्था और केन्द्रीकृत प्रशासनिक तंत्र का आभाव था।

देवनागरी लिपि में लिप्यांतरण
कनि-ई नट-सिरि-इ कुवन
वेल-अरई-इ निकमटु
कवििति-आई कलिटिका अंतई
असुटन पीन-उ कोटुपिटज

अनुवाद

सेवा में, नन्त-सिरि कुवन, कनि, अंतई, असुतन मुक्ताधयक्ष तथा वेल्लरई के श्रेणी संगठन के कविति, जिन्होंने गुफा को दान में दिया (?)

स्रोत: महादेवन, 2003: 318-19

मंगुलम में एक तमिल-ब्राह्मी शिलालेख

मानचित्र 8.2: **तमिल-ब्राह्मी और प्रारंभिक वट्टेलुत्तु अभिलेख (सौजन्य: महादेवन, 2003)**

गाँव और शहर

(Villages and Cities)

ल. 200 सा.सं.पू.-300 सा.सं. के बीच की अवधि के शहरों के बारे में हमारे पास अधिक जानकारी है, बजाय कि गांवों और कृषि के विषय में। जातक कथाओं में ऐसे गांवों की चर्चा है जिसमें 30 से लेकर 1000 कुलों तक का निवास रहता था। नलकार (सरकंडे का काम करने वाले), लोनकार (नमक बनाने वाले) जैसे व्यावसायिक समुदायों के पृथक-पृथक स्वतंत्र गांवों के अस्तित्व का भी उल्लेख है। इसी तरह कुम्हारों, बढ़ई, लोहारों, जंगल में निवास करने वाले आखेटकों, मछुआरों के गांवों का भी वर्णन मिलता है। इनमें से कुछ गांवों की स्थिति शहरों के बिल्कुल निकट मालूम पड़ती हैं।

प्रारंभिक तमिल-ब्राह्मी अभिलेखों में तमिलकम् क्षेत्र में ग्रामीण जीवन के विषय में सूचना उपलब्ध होती है। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के वरिचयूर नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में 100 कलाम चावल के दान की चर्चा की गयी है। अलगरमलई के एक पहली शताब्दी ईसा पूर्व से प्राप्त अभिलेख में कोलूवनिकन (हलों के व्यापारी) समुदायों का उल्लेख है। लकड़ी के बने हलों के ऊपर लोहे के बने फाल को 'कोलू' कहते हैं। मुदलईकुलम से प्राप्त

अद्यतन खोज

संघोल से प्राप्त वनस्पतिक अवशेष

भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के कृषि अर्थव्यवस्थाओं के विषय में उपलब्ध पुरातात्त्विक सूचनाएं, प्रारंभिक कालों से प्राप्त सूचनाओं की तुलना में नगण्य है, किन्तु इस सच के कुछ अपवाद भी हैं। ए.के. पोखरिया और के.एस. सारस्वत कुषाण काल (100-300 सा.सं.) के पुरातत्विक स्तर विन्यास से संघोल (लुधियाना जिला पंजाब) नामक स्थान में कटे गए 28 ट्रेंचों से 300 वनस्पतियों का अध्ययन किया। इन्होंने 17 फसलों के कार्बनीकृत अवशेष चार गरम मसालों एवं 11 जंगली और उगाए गए फलों तथा एक रंजित पौधों को चिन्हित किया जो निम्नलिखित हैं:

अनाज

चावल (ओरिजा सटाइवा), दो प्रकार के जौ (होरेडियम वल्गारी, बाउडेन नुनडम), गेहूँ (ट्रिटिकम), ज्वार (सोरघम बाइकलर मेंच)

दाल

चिक पी (सिसर एरिटिनमों), फील्डपी (पाइसम अरवेन्स), लेंटिल (लेन्स कुलिनारिस भेडिक), ग्रास पी (लाथिरस सटाइवस), ग्रीन ग्राम (विगना रेडियाटा विलचेक), काला चना, (डॉलिचांस बाइफ्लोरस)

तिलहन

फील्ड ब्रसिका (ब्रासिका जुनसिया जर्न और कास.), तिल (सिसेमम इंडिकम तिल)

रेशेदार पौधे

कपास (गांसीपियिम आबोरियम जी. हर्वेसियम)

मसाले

मेथी (ट्रइगोनेला फीनम ग्रेसियम), धनिया (कोरिएंड्रम सटाइवम), जीरा (क्यूमिनम साइमिनम), काली मिर्च (पाइपर निग्रम)

फल

खजूर (फीनिक्स स्पे.), आंवला (एम्बलीका ऑफिसिनालिस), झारवेरी (ज़िज़िफ़स नुमुलेरिया), शरीफा (अनोना स्क्वामोसा या सीता फल), अखरोट (जुगलांस रेजिया), बादाम (प्रुनस एमिग्डेलास बाटुस्च), अंगूर (वाइटिस विनीफेरा), जामुन (साइजिमीयम क्युमिनी), फालसा (ग्रेविया), रीठा (सपिन्डस एमार जिनेटस वहल ट्राइफोलियेटस लॉरिफोलियस वहल.), हर्रे (टर्मिनेलिया चेबुल रिट्ज)।

रंजक पौधे

हीना (लांसोनिया इनरमिस मेहंदी)

जंगली पौधों और खर पतवारों की 28 प्रजातियां भी पायी गईं। इस अध्ययन के द्वारा प्रारंभिक शताब्दियों में रहने वाले संघोल के लोगों के भोजन व्यावहार और कृषि व्यवस्था की विस्तृत जानकारी मिलती है। बहुत सारे पौधे इस क्षेत्र के पहले से चले आ रहे सांस्कृतिक सन्दर्भ की निरन्तरता को रेखांकित करते हैं जो प्राय: आद्य ऐतिहासिक काल से प्रचलित था। इस काल में कुछ नई विशेषताएं भी जुड़ीं। लोगों ने इस काल में अपने भोजन में मसालों का प्रयोग शुरू कर दिया था। मेहंदी के उपयोग के विषय में महज अनुमान ही लगाया जा सकता है। सीताफल के बीजों की प्राप्ति आश्चर्यजनक कही जा सकती है क्योंकि सामान्य रूप से यह माना जाता है कि इस फल को 16 वीं शताब्दी में पुर्तगालियों द्वारा दक्षिण अमरीका से भारत लाया गया था।

स्रोत: सारस्वत और पोखरिया, 1997-98

अभिलेख में जो द्वितीय शताब्दी सामान्य संवत् पूर्व का है, वेंपिल गांव के उर समई के द्वारा एक जलाशय के निर्माण का वर्णन मिलता है (महादेवन 2003: 140, 125)। यदि महादेवन के द्वारा की गयी यह व्याख्या सही है तो यह भारतीय उपमहाद्वीप में किया ग्रामीण सभा स्थानीय अथवा स्थानीय स्वायत्त प्रशासन का पहला अभिलेखीय साक्ष्य होगा।

ल. 200 सा.सं.पू.-300 सा.सं. का काल भारतीय उपमहाद्वीप में नगरीय समृद्धि का काल कहा जा सकता है। दुर्भाग्यवश प्रारंभिक ऐतिहासिक स्थलों के विषय में ये बहुत कम जानकारी देते हैं। यदि देते भी हैं, तो केवल वहां के दुर्गप्रधान प्रकृति के नगरों का। कुछ स्थानों की खुदाई उर्ध्वाधर रूप से की गयी है, इन स्थानों के क्षैतिजीय सांस्कृतिक विन्यास के विषय में हमारे पास सूचनाएं उपलब्ध हैं ही नहीं। इससे भी अधिक चिंताजनक स्थिति यह है कि प्रारंभिक नगरों की खुदाई बहुत कम स्थलों पर की गई है। दूसरी समस्या यह है कि पुरातात्त्विक साहित्य में जिन प्रारंभिक नगरों के विषय में वर्णन भी मिलता है, तो उनका काल निर्धारण, इंडो-ग्रीक, कुषाण, शुंग और सातवाहन जैसे राजवंशों के आधार पर किया गया है। अधिक से अधिक इस तरह की काल-गणना या नामकरण को एक कामचलाऊ, अल्पकालिक कालगणना के रूप में देख सकते हैं, जो उस समय के व्यापक नगरीकरण के परिप्रेक्ष्य को देखने में सक्षम नहीं है। उदाहरण के लिए, 'शुंगकालीन' नामकरण कई बार ऐसे स्थानों के लिए किया गया है, जहां शुंगों का नियंत्रण कभी नहीं था।

इस अध्याय में जिन बातों की चर्चा की गयी है उनमें से कुछ को अध्याय सात में दिए गए तथ्यों का विस्तार कहा जा सकता है। एक प्रश्न यह भी चर्चा योग्य है कि मौर्य साम्राज्य का उस साम्राज्य के सीमांतवती क्षेत्रों पर या परिधि के क्षेत्रों पर क्या प्रभाव पड़ा; अथवा मौर्य साम्राज्य के साथ इन क्षेत्रों के अर्तसम्बंध से क्या इन क्षेत्रों

में द्वितीयक स्तर के राज्य निर्माण की प्रक्रिया में किसी प्रकार की सहायता मिली? यहां द्वितीयक राज्य निर्माण की प्रक्रिया को हम वैसे राज्य निर्माण की प्रक्रिया से समझ सकते हैं, जिनका उद्भव पहले से अवस्थित/निर्मित राज्यों के आधार पर किया गया था। किंतु हमारे पास जो तथ्य उपलब्ध हैं उसके आधार पर न तो मौर्यो के प्रभाव को अनावश्यक रूप से बढ़ा चढ़ा कर देखा जा सकता है और न ही उनको पूरी तरह से दरकिनार किया जा सकता है। यदि हम नगरीय केन्द्रों के विकास के व्यापक परिप्रेक्ष्य का अध्ययन करें तो हमें कृषि उत्पादन के विस्तार, शिल्पों के विशिष्टकरण, तथा वाणिज्य और व्यापार के आंतरिक तथा बाह्य तंत्रों के विकास को ध्यान में रखना होगा।

उत्तर-पश्चिम के नगर

प्राचीन काल की पुष्कलावती को वर्तमान के चारसदा पुरातात्त्विक टीले से चिन्हित किया गया है जो चार वर्ग मील में फैला हुआ है।[4] ग्रीको-रोमन वृत्तांतों में पुष्कलावती को प्यूस्लावटिस या प्रोक्लेस कहा गया है। एरियन के अनुसार, इस शहर में फिलिप को एक मेसीडोनियाई सेना को कैंप कराना पड़ा था क्योंकि इस शहर ने सिकंदर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इंडो-ग्रीक शासन काल में इस स्थान की बड़ी महत्ता रही होगी, किंतु कुषाणों के काल में एक प्रकार से उनका पतन होने लगा क्योंकि उन्होंने पुरुषपुरा (आधुनिक पेशावर) को प्राथमिकता देनी शुरू कर दी। फिर भी राजनीतिक दृष्टिकोण को छोड़ दें तो वाणिज्य के दृष्टिकोण से इसका महत्त्व इस काल में भी कभी कम नहीं हुआ। चारसद्दा से प्राप्त बाला, हिसार का पुरातात्त्विक टीला छठी शताब्दी सा.सं.पू. से सभ्यता के दायरे में था। चौथी शताब्दी सा.सं.स. तक इस क्षेत्र का नगरीकरण होने लगा और सुरक्षा दुर्ग इत्यादि बनाए जाने लगे।

चारसद्दा के शेखान पुरातात्त्विक टीले के आकाशीय चित्र के आधार पर ऐसा पता चलता है कि उसकी योजना आयताकार रही होगी जिसमें समांतर सड़कें बनी थी। भवनों के समूह बड़े कायदे से बने थे, और इस नगर के केंद्र में एक बड़ी संरचना प्रतीत होती है जो एक बौद्ध स्तूप हो सकता है। इस केंद्र में दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के मध्य से लेकर तीसरी शताब्दी सा.सं. तक के बीच, सभ्यता के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। योजनाबद्ध ढंग से बनी हुई जल निकासी की व्यवस्था, अवकर-निक्षेप और चहबच्चे प्रत्येक गलियों के साथ लगी नालियों में देखे जा सकते हैं। इस स्थान से प्रप्त होने वाली प्रारंभिक संरचनाएं 'डइपर मेसनरी' कहलाने वाली तकनीक के आधार पर बनी थी। इस तकनीक के अंतर्गत पत्थरों से बनायी जाने वाली स्थापत्य से युक्त ऐसी रूप सज्जा से है जिसमें पत्थर के बड़े ब्लाक पत्थर के बड़े समूहों को विभाजित करने के लिए पत्थर की पतली पट्टिकाएं दी जाती हैं। किंतु कुषाण काल तक आते आते इस स्थान से मिट्टी के ईटों का प्रयोग प्रमाणित होने लगता है।

यहां से प्राप्त कक्षों में से एक में आग तापने के लिए बनी संरचना पायी गयी है। एक घर के आंगन के तीन तरफ कक्ष बने हुए थे। इसी घर से एक स्मृति अवशेष मंजूषा प्राप्त हुई जिस पर 'हरदखा' खुदा हुआ था। हो सकता है कि यह उस भवन के या स्थान के वर्तमान या निवर्तमान स्वामी का नाम हो। आंगन में ही एक स्नानागार बना हुआ था। जिसकी जल निकासी सटे हुए गली के पत्थर की नाली के माध्यम से होती थी। ऐसा लगता है कि इस भवन का जीर्णोद्धार कई बार किया गया। जीर्णोद्धार के अंतिम चरण में बुद्ध की एक प्रतिमा इसमें स्थापित की गयी।

किन्तु इस काल के राजनीतिक उथल पुथल और सांस्कृतिक प्रभावों को तक्षशिला (मार्शल 1951) में और अधिक स्पष्ट रूप से महसूस किया जा सकता है। यहां दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में एक नये नगर का निर्माण किया गया। इस नए नगर वाले स्थान को सिरकप के नाम से जानते हैं जो भीर के पुरातात्त्विक टीले के उत्तर-पूर्व में अवस्थित है। हालांकि, यहां से प्राप्त होने वाली नगर योजना किसी भी काल में मौलिक रूप से बदली नहीं, लेकिन इंडो-ग्रीक काल से सिरकप में काफी कम साक्ष्य प्राप्त हुए हैं जो भी साक्ष्य उपलब्ध है वो उत्तरोत्तर शक पार्थियाइ काल के हैं। इस नगर की योजना को शतरंज की बिसात के आधार पर समझा जा सकता है जिसे स्थापत्य की दृष्टि से ग्रीड संरचना भी कहते हैं। पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों के दौरान यहां पर सभ्यता के सात स्तरों को चिन्हित किया गया है जो इंडो-ग्रीक काल के पहले से लेकर शक-पार्थियाइ काल तक विस्तृत हैं। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व तक इस स्थान पर जो भी संरचनाएं थी उनके चारों ओर सुरक्षा दुर्ग या सुरक्षा प्राचीर का निर्माण नहीं देखा जा सकता है जो बाद के कालों में जोड़ीं गयीं। पहली शताब्दी सा.सं.पू. तक जाते जाते इस नगर का विस्तार दक्षिण की ओर होने लगा और यह हथियाल की पहाड़ियों तक पहुंच गया। इस काल में इस नगर की परिधि प्रायः 5 किमी. लंबी थी और इस दूरी में पत्थरों से बनी सुरक्षा प्राचीरों और बुर्जों को देखा जा सकता है। इस स्थान का उत्तरी भाग काफी मजबूत सुरक्षा प्राचीरों से रेखांकित था जो शायद दोहरी मंजिल वाले थे। इस उत्तरी दीवार में सुरक्षा कर्मियों के चार कक्ष बने हुए थे और यहां पर दो कुँए भी पाए गए थे।

4. दलीप के. चक्रवर्ती (1995b: 170-262; 2006: 322-48) ने इस काल के नगरों से संबंधित काफ़ी पुरातात्त्विक आंकड़ों का मिलान किया है।
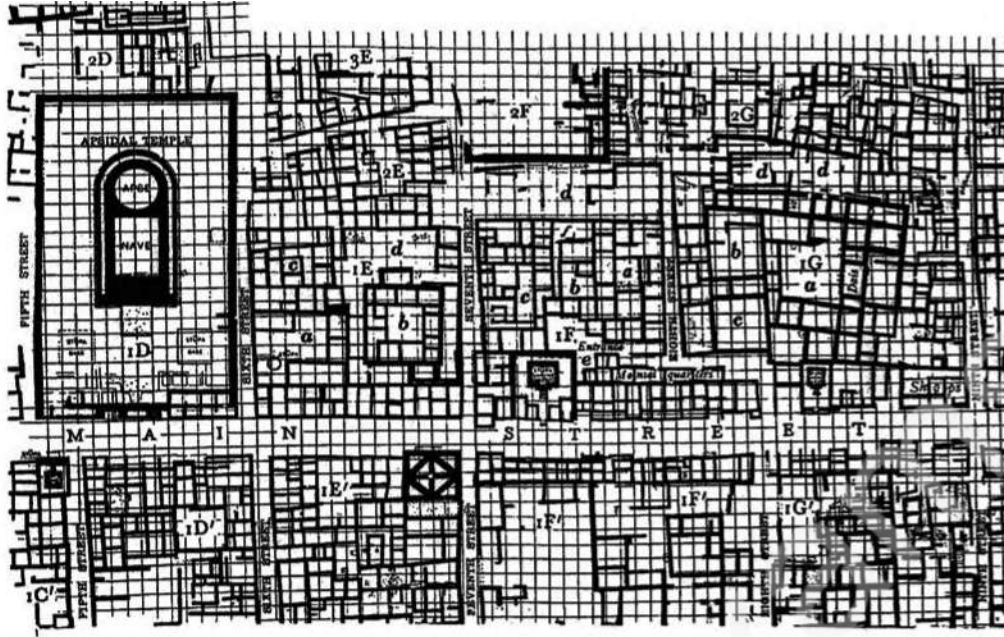
सिरकप के नगर का मुख्य सड़क दो हिस्सों में बंटा हुआ था। संरचनाओं में काफी संख्याओं में मकानों को देखा जा सकता है। बीच बीच में छोटे-छोटे स्तूपों के प्रमाण भी मिलते हैं। कम से कम दो धार्मिक स्थल की संरचना भी चिन्हित की गयी है। रबल मिशनरी तकनीक से बने घरों के दीवारों पर मिट्टी का लेप लगाया जाता था। प्राय: सभी घर काफी फैले हुए थे (जिनका सामान्य आकार 1,395 वर्ग मीटर आंका गया है) और इन भवनों के भीतर कक्षों का निर्माण एकाधिक आंगनों के किनारे किया गया था। विशेषरूप से एक भवन को रेखांकित किया जा सकता है जिसमें चार आंगन थे और तीस से अधिक कक्ष थे। ऐसा प्रतीत होता है कि नगर के इस भाग में काफी धनाढ्य लोग रहा करते थे जो आभूषणों और धातु की बनी वस्तुओं से प्रमाणित होता है। मार्शल का मानना है कि नगर के दक्षिण-पूर्वी हिस्से में जो बड़ी संरचना के अवशेष मिले हैं वह सिरकप का एक राजप्रसाद था।

पहली शताब्दी के अंत में कुषाणों ने तक्षशिला में एक नये नगर की स्थापना की जिसे 'सिरसुख' के नाम से जानते हैं जो सिरकप के उत्तर-पूर्व में अवस्थित है। हालांकि, इस स्थान का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण अभी अपूर्ण है। यहां पर पत्थरों की बनी सुरक्षा प्राचीर के बीच-बीच में ऐप्साइडल बुर्ज बने हुए थे। दुर्गीय क्षेत्र के भीतर दो बड़े आंगन देखे जा सकते हैं जिनसे कई कक्ष जुड़े हुए थे और निश्चित रूप से यह किसी बड़े भवन का अवशेष प्रतीत होता है।

उत्तर-पश्चिम के अन्य नगरों की, जिनकी चर्चा साहित्यिक स्रोतों में भी की गई है उनमें सागल या शाकल प्रमुख हैं (आधुनिक सियालकोट) जो पंजाब के मैदानी भाग में है। यह इंडो-ग्रीक शासक मिनान्डर की राजधानी थी और उस समय अस्तित्व में रहे प्रमुख वाणिज्यक मार्गों के रास्ते में पड़ता था। पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) की गहन पुरातात्त्विक जानकारी हमारे पास उपलब्ध नहीं है। अपवाद के रूप में एक स्मृति अवशेष 'मंजूषा युक्त स्तूप' को कहा जा सकता है जो कनिष्क काल के शाह-जी-की-ढेरी में अवस्थित थी। यह कनिष्क के काल का है। ग्रीक इतिहासकारों ने सिंध के डेल्टाई क्षेत्र में पटाला नामक बंदरगाह की काफी चर्चा की है जिसको मोटे तौर से बहमनाबाद से चिन्हित किया जाता है।

चित्र 8.1: **सिरकप: गजपृष्टाकार मंदिर एवं समीपस्थ हिस्से की योजना; पहली शताब्दी सा.सं.पू. से मध्यकाल के बीच की प्रस्तरीय सज्जाकारी (मार्शल के अनुसार, 1951)**

सिंधु-गंगा विभाजन रेखा और ऊपरी गंगा नदी घाटी

सिंधु-गंगा विभाजन रेखा क्षेत्र और ऊपरी गंगा नदी घाटी क्षेत्र में कई ऐसे स्थल हैं जो ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं. के बीच के हैं। सुनेत (प्राचीन सुनेत्र, लुधियाना जिला पंजाब),

हस्तिनापुरः छल्लेदार कुंआ (ऊपर) पुरातात्त्विक टीले का उत्खनित काट का रेखांकन (नीचे)

नामक स्थान से हमें उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल से इस काल तक लगातार सभ्यता के प्रमाण मिले हैं। सुनेत का कालखंड-IV ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं. के बीच का है। इस स्थान से एक पकी हुई ईंटों के मकान के अवशेष मिले हैं जिसके बीच में आंगन हुआ करता था। पीछे दो कमरे थे और इसके साथ एक रसोईघर, स्नानागार और अन्नागार इत्यादि के भी अवशेष मिले। सीढ़ियों की उपस्थिति यह बतलाती है कि यह संरचना दो मंजिली रही होगी। इस भवन में एक जल निकासी की भी एक सुनियोजित व्यवस्था के अवशेष देखें जा सकते हैं। इस भवन की तीन दिशाओं में मिट्टी के बने झोपड़ियों के भी अवशेष मिले हैं जो शायद परिचारकों के क्वार्टर रहे होगें। सुनेत से हमें 30,000 यौधेय सिक्कों का संग्रह मिला है, जो सांचे में ढले हुए थे। इसके साथ बहुत सारी मुहरें भी मिली हैं। पंजाब के लुधियाना जिले में ही स्थित संघोल से इस काल की सभ्यता का प्रमाण मिला है। यहां पर एक स्तूप का अवशेष मिलता है जो प्रारंभिक ईसवी शताब्दियों में बनायी गयी थीं। मथुरा कला की 117 प्रतिमाएं यहां से प्राप्त हुई हैं।

हरियाणा के हिसार जिला के अग्रोहा नामक स्थान से प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के अवशेष मिले हैं। यहां पर जो ईंट की बनी संरचनाएं हैं उसकी तिथि तीसरी-चौथी शताब्दियों की बतलायी गयी है। हरियाणा का ही कर्ण-का-किला पुरातात्त्विक स्थल से कालखंड-I में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (NBPW), संस्कृति और कालखंड-II से प्रारंभिक सा.सं. शताब्दियों के अवशेष मिले हैं। हस्तिनापुर (मेरठ जिला, उत्तरप्रदेश) का कालखंड-IV दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से तीसरी शताब्दी सा.सं. के बीच का है। इस काल से चाक पर बनाए गए लाल मृद्भाण्ड, जिनके ऊपर कभी-कभी चिकनी मिट्टी का घोल चढ़ा होता था पाए गए हैं। पात्रों के कई प्रकार पाए गए हैं जिनमें टोटी दार बेसिन, बटन की घुंडी वाले ढक्कन, स्याही-दान प्रकार के ढक्कन, छिड़काव करने के लिए बोतल की गर्दन नुमा पात्र तथा पात्रों की लघु प्रतिकृतियां पायी गयी हैं। इस स्थान से प्राप्त किए गए मृद्भाण्डों पर मुहर लगे थे या पत्ते, मछली, पुष्प, स्वास्तिक, त्रिरत्न, वृत्त और अन्य ज्यामितीय डिजाइन उत्कीर्ण किए गए थे। कुछ पात्रों पर काले रंग से भी डिजाईन बनाए गए थे जो अपेक्षाकृत बाद के मृद्भाण्ड हैं। इस स्थान की संरचनाओं में एक प्रकार की योजना दृष्टिगोचर होती है। संरचनाओं के सात सोपानिक स्तर चिन्हित किए गए है। यहां के घर पकी हुई ईंटों के बने हुए थे। एक छल्लों वाला कुंआ प्राप्त हुआ है। लोहे की उपस्कर, तांबे की सामग्रियां, पत्थर के बने गोल जाते, हाथी दाँत के बने हत्थे तथा कई प्रकार की टेराकोटा मृणमूर्तियां यहां से पायी गयी हैं। टेराकोटा मूर्तियों में कूबड़ वाले बैल के अतिरिक्त पहिए गाड़ी और तथाकथित आनुष्ठानिक जलाशय प्रमुख है। बाद के स्तरों से बोधिसत्व मैत्रयी की टेराकोटा की बनी मूर्ति भी पायी गयी है। कारनेलियन, जैस्पर और टेराकोटा के छल्ले और मनके पाए गए हैं, जिनमें काफी परिष्कृत शिल्प कौशल का प्रमाण मिलता है। एक मुहर के अतिरिक्त मृद्भाण्ड के दो
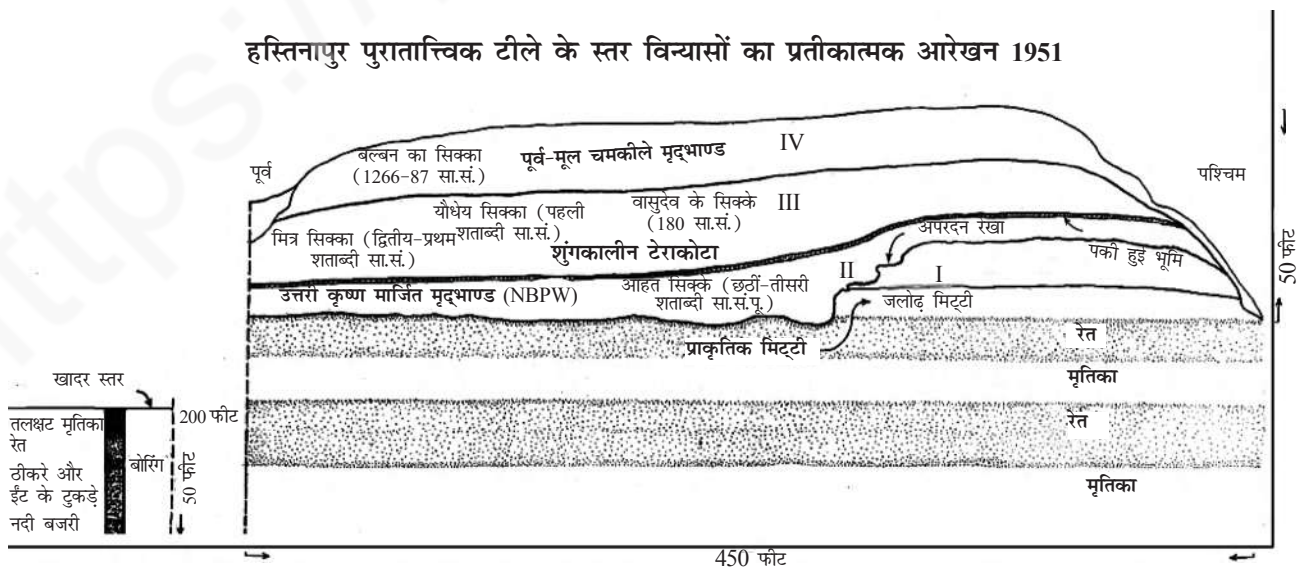
उत्कीर्ण ठीकरे भी मिले हैं। मथुरा के शासकों और यौधेयों के सिक्के मिले हैं तथा कुषाण शासक वासुदेव के सिक्कों की नकली प्रतिकृतियां भी मिली हैं।

दिल्ली का पुराना किला का सांस्कृतिक स्तर-I दूसरी-तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. और सांस्कृतिक स्तर-II पहली-तीसरी शताब्दी सा. सं. के काल का है। इन दोनों काल में नगरीय समृद्धि के भौतिक प्रमाण स्पष्ट होते हैं। प्रारंभिक चरण में क्वार्टनाइट के टुकड़ों को मिट्टी के गिलावे पर जोड़कर घर बनाए जाते थे। बाद में मिट्टी के ईंटों के और फिर पकी ईंटों के घर बनाए जाने लगे। घरों की फर्श को मिट्टी के गिलावे से प्लास्टर किया जाता था अथवा कभी कभी मिट्टी के ईंटों को सजाकर उसको समतल किया जाता था। यहां से प्राप्त होने वाले उपादानों में उत्कीर्ण किए हुए और मुहर से डिजाइन बनाए हुए लाल मृद्भाण्ड सबसे प्रमुख हैं। संख्या और गुणात्मकता की दृष्टि से टेराकोटा की बनी वस्तुओं में अत्याधिक प्रगति देखी जा सकती है। टेराकोटा की बनी पशु आकृतियां और मानव आकृतियां, मनके, आनुष्ठानिक जलाशयों के अवशेष कई प्रकार के पात्र प्रमुख हैं। टेराकोटा की बनी पट्टिकाओं और यक्ष-यक्षी अथवा दंपति नारी की प्रतिमाएं, एक वीणा बजाती हुई स्त्री तथा हाथियों पर चढ़े हुए उनके महावत इत्यादि चित्रांकित हैं। हड्डी के बने नोक और हाथी दांत के बने हत्थे भी पाए गए हैं। यहां के एक मुहर से तथा कई अन्य मुहरों पर अलग अलग व्यक्तियों के नाम अंकित है जो ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण किये गए थे (जैसे पतिहक, स्वातिगुत, उषासेन तथा थिया)। कुषाणों और यौधेयों द्वारा निर्गत कुछ ताम्र सिक्के भी मिले हैं। ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं. के बीच दिल्ली क्षेत्र के माण्डोली और भोरगढ़ नामक स्थान से भी कई प्रमाण मिले हैं।

पहले के अध्याय में यह कहा जा चुका है कि उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (NBPW) कालखंड-IV को अतिरंजीखेड़ा में पुनः चार उपखंडों में विभाजित किया गया है—IV ए, IV बी, IV सी तथा IV डी। यहां पर हम IV बी (ल. 350-200 सा.सं.पू.) तथा IV डी (ल. 200-50 सा.सं.पू.) पर अधिक चर्चा करेंगें क्योंकि इसी काल में बस्तियों ने नगरों का रूप लेना शुरू कर दिया था। निर्माण की गतिविधियों को स्पष्ट रूप से बढ़ा हुआ देखा जा सकता है और इस काल में पकी हुई ईंटों का व्यापक स्तर पर उपयोग भी शुरू हो गया। मिट्टी के ईंटों की बनी दीवारें, फर्श और जलनिकासी के लिए नालियां, अन्नागार, टेराकोटा का छल्लेदार कुआँ इत्यादि भी पाए गए हैं। यहां पर बने दुर्ग और सुरक्षा प्राचीरों को उपकालखंड-IV बी के दौरान बनाया गया था, तथा कालांतर में चार चरणों में इनका जीर्णोद्धार हुआ और इनको उत्तरोत्तर मजबूती प्रदान की गयी। उपखंड-IV के महत्त्वपूर्ण संरचनात्मक अवशेषों में एक गज पृष्ठाकर मंदिर का अवशेष भी प्राप्त हुआ है जिसमें गज लक्ष्मी की एक भंगित पट्टीका पायी गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थान पर अनेक बार बाढ़ आई थी।

पुराना किलाः विभिन्न काल की दिवारें; टेराकोटा की पट्टिकाएं

मथुरा, शिल्प गतिविधियों (विशेषकर वस्त्र निर्माण) तथा वाणिज्य का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा था। इसके अतिरिक्त बौद्ध, जैन और प्रारंभिक हिंदू धर्म से जुड़ा भी यह प्रमुख धार्मिक केंद्र रहा। कुषाण साम्राज्य के दक्षिणी प्रांतो की राजधानी होने के कारण यह एक राजनीतिक केन्द्र के रूप में भी विकसित हुआ। मथुरा के सांस्कृतिक स्तर विन्यास में चिन्हित कालखंड-III (दूसरी-पहली शताब्दी सा.सं.पू.) के बीच का कालखंड है। इस काल में नगरीय विशिष्टताओं को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यहां से प्राप्त मृद्भाण्ड-संयोजन में लाल मृद्भाण्ड और कुछ हद तक धूसर मृद्भाण्ड का वर्चस्व दिखलाई पड़ता है। यहां स्पष्ट संकेत मिलता है कि इस काल से पकी ईंटों से बनी संरचनाओं में बढ़ोत्तरी होने लगी। टेराकोटा तथा अन्य शिल्प गतिविधियों में शैलीगत परिष्करण दृष्टिगोचर होता है। उत्कीर्ण सिक्के और मुहर भी बहुतायात पाए गए है। कालखंड-IV (पहली-तीसरी शताब्दी सा.सं.) में मथुरा के चारों ओर बना सुरक्षा प्राचीर जो शायद इसके पहले के काल में टूट चुका था, उसको मजबूती प्रदान की गयी, उसका विस्तार

किया गया और अनुपूरक अंत: प्राचीर का निर्माण किया गया। किन्तु यह अनुपूरक अंत: प्राचीर पहले की अपेक्षा निम्न कोटि का था। लाल मृद्भाण्ड के अतिरिक्त लाल पॉलिश किए उत्कृष्ट कोटि के मृद्भाण्ड कुछ संख्या में ही प्राप्त हुए हैं जिनमें छिड़काव करने वाले उपकरण भी हैं। नगरीय जटिलताओं का विकास और शिल्पों में शैलीगत परिष्करण के संकेत मथुरा के बगल में स्थित सोंख नामक स्थान पर भी स्पष्ट होते हैं।

अयोध्या (फैजाबाद जिला, उत्तरप्रदेश) में हुए उत्खननों के दौरान इस कालखंड से जुड़ी संरचनात्मक अवशेषों को पाया गया है उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (NBPW) संस्कृति के काल में, पकी मिट्टी के ईंटों की बनी संरचनाएं और टेराकोटा के छल्लेदार कुंए पाए गए हैं। चौथी/ तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. की तिथि में यहां से एक धूसर रंग की टेराकोटा की बनी एक जैन संत की प्रतिमा मिली है जो शायद कहीं भी मिलने वाली जैन प्रतिमाओं में से सर्वाधिक प्राचीन हो सकती है। यहां पर प्राप्त कुछ मृद्भाण्डों की शैली यह बतलाती है कि आयोध्या का संपर्क पूर्वी-भारत से रहा होगा, क्योंकि रालेट मृद्भाण्ड कहलाने वाले ऐसे मृद्भाण्ड बड़ी संख्या में पूर्वी-भारत में प्रयोग में आते थे। दूसरी-पहली शताब्दी सा.सं.पू. (कालखंड-II) से प्राप्त आयोध्या में किए गए उत्खनन के दौरान प्राप्त मृद्भाण्डों में काले मिट्टी का लेप लगा घोल वाले मृद्भाण्ड, और लाल तथा धूसर मृद्भाण्ड के कई पात्र पाए गए हैं। टेराकोटा की वस्तुओं में मानव आकृतियां, पशु आकृतियां, चूड़ी का एक टुकड़ा, गेंद, पहिया तथा ब्राह्मी लिपि में 'सा' पढ़े जाने वाली अक्षर से युक्त मुहर, पत्थर का सिलबट्टा व ढक्कन का टुकड़ा, शीशे के मनके तथा हाथी दांत का बना एक चौसर या पासा पाया गया है। पत्थर और मिट्टी की ईंटों की बनी संरचनाएं, दोनों पाई गयी हैं। पहली-तीसरी शताब्दी सा.सं. (कालखंड-III) के स्तर से लाल मृद्भाण्ड, टेराकोटा के मानव और पशु आकृतियां, चूड़ी का एक टुकड़ा, टेराकोटा का बना एक आनुष्ठानिक जलाशय, एक शीशे का मनका तथा ताँबे का बना एक कजरौटा पाया गया है। 22 श्रेणियों में बनी एक भव्य ईंट से बनी संरचना को भी देखा जा सकता है।

उत्तर-प्रदेश के इलाहाबाद जिले में स्थित श्रृंगवेरपुर में दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के दौरान नगर या बस्ती का आकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा। ईसा पूर्व की अंतिम शताब्दियों में बने एक विशालकाय ईंटों के बने जलाशय का अस्तित्व यहां बरकार है। बी.बी. लाल (1993) के अनुसार, इस जलाशय के निर्माण में कुशल अभियांत्रिकी का प्रयोग किया गया है और शायद इसका उपयोग पीने योग्य पानी जमा करने के लिए किया जाता होगा क्योंकि इस काल तक गंगा इस स्थान से कुछ दूर हट कर बहने लगी थी (पूर्वी भाग से हट कर) गंगा के पानी को नहर के माध्यम से इस जलाशय में लाया जाता था। यहां पर कुषाण काल का निर्मित एक विशालकाय संरचना का अस्तित्व भी देखा जा सकता है जिसमें दो हिस्से हैं जो एक गलियारे के माध्यम से पृथक होते हैं। यहां इस संरचना के एक कक्ष से तांबे का बना एक छोटा सा पात्र मिला है, जिसमें कुछ बीज और दाल मिले थे।

पिछले एक अध्याय में हमने इरदोसी (1988) के द्वारा इलाहाबाद जिले में किये गए अध्ययन के विषय में चर्चा की थी। विशेष रूप से कालखंड-I तथा II के विषय में। यहां पर हम कालखंड-III और IV पर चर्चा करेंगें। कालखंड-III पहले ल. 350-100 सा.सं.पू. तक निर्धारित किया गया था तथा कालखंड-IV ल. 100-300सा.सं. के बीच का। बाद में इरदोसी ने कालखंड-III की तिथि को संशोधित करते हुए कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (NBPW) काल के मध्य और अंतिम चरण समीप तय किया तथा बाद में बेचर्ट के द्वारा बुद्ध के परिनिर्वाण की संशोधित तिथि के आधार पर इसका निर्धारण किया गया। खंड-III में वे सभी विशेषताएं मौजूद थीं जो कालखंड-II में देखी गईं। निश्चित रूप से कालखंड-III में इस क्षेत्र में नगर का विस्तार निकटवर्ती जंगलों तक और पहाड़ियों तक फैला और जो इसके पूर्व नदी के तट तक ही सीमित था। आकार की दृष्टि से पांच श्रेणियों की नई बस्तियों का उद्भव हुआ जिसका आकार 3.46 से 5.15 हेक्टेयर के बीच था। कालखंड-II में छोटे-छोटे शहरों का जाल सा बिछ गया, जिसमें से कम से कम दो के विषय में हमारे पास जानकारी उपलब्ध है। कौशाम्बी स्पस्ट रूप से सबसे बड़ा पुरातात्त्विक स्थल कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सात अन्य नगरों का आकार 19-50 हेक्टेयर के बीच था। इनमें कारा, श्रींगवेरपुर, झूंसी, भीटा, रेह, लच्छगिरी तथा तुसारनविहार प्रमुख है। अधिकांश बस्तियां नदियों के किनारें बसी थीं और इनके बीच की सामान्य दूरी 31 किमी. थी। किन्तु जो सबसे प्रमुख विशेषता इस काल की हम कह सकते हैं वह यह कि ग्रामीण तथा नगर दोनों प्रकार के केंद्रों का अत्यधिक विस्तार हुआ और ग्रामीण तथा शहरी आवसीय स्वरूप के बीच विभाजन भी स्पष्ट होने लगा। इसी काल में कौशाम्बी एक बड़ा सुरक्षा प्राचीर से घिरा हुआ एक बड़े नगर के रूप में विकसित हुआ। ऐसा अनुमान है कि इस काल में सुरक्षा प्राचीर के भीतर 150 हेक्टेयर में फैला नगर था जिसकी आबादी 24,000 अनुमानित की गयी है। किंतु इस सुरक्षा प्राचीर के बाहर भी कई बस्तियों के प्रमाण मिलते हैं जो 50 हेक्टेयर में फैले हुए थे और यदि इन संपूर्ण क्षेत्र को एक साथ मिला दें तो यहां कि आबादी 32,000 थी।

इलाहाबाद जिला के कालखंड-IV (100 सा.सं.पू.-300 सा.सं.) के बीच भी पांच स्तरों वाले आवासीय श्रेणीकरण को चिन्हित किया गया है। इसी काल के दौरान नगरीय समृद्धि अपनी पराकष्ठा पर देखी जा सकती है। कौशाम्बी का नगरीय विस्तार होता चला गया। जनसंख्या में वृद्धि होती गयी। सुरक्षा प्राचीर के भीतर के नगर का

आकार 200 हेक्टेयर तक पहुँच गया जो बत्तीस हजार की आबादी को अपने में समेट सकता था। दरअसल, सुरक्षा प्राचीर के बाहर स्थित बस्तियों को भी नगर में मिला दिया गया और बाहरी नगरों का लगभग पतन हो गया। इस समय सुरक्षा प्राचीर के भीतर 226 हेक्टेयर तक नगरीय विस्तार देखा जा सकता है। जिसकी आबादी 32,000 अनुमानित की गयी है, किन्तु उत्खनन के दौरान दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के स्तर से तीराग्रों और नरकंकालों की उपस्थिति यह बतलाती है कि यहां पर युद्ध और विध्वंस हुए होंगे। इस नगर के पूर्वी द्वार के बाहर ईंटों की बनी एक यज्ञ वेदिका देखी जा सकती है जिसका आकार उड़ते हुए चील के समान है। जिसका रूख दक्षिण-पूर्व की ओर है। यहां से पशु और मानव की हड्डियां प्राप्त हुई हैं। इनमें एक नरकंकाल का कपाल भी मिला है। जी.आर. शर्मा (1960) का मानना है कि यह पुरुषमेध यज्ञ के लिए प्रयोग में लाई गई वेदिका थी। इस काल में नदियों से दूर भीतर की ओर पहाड़ियों तक भी नगरीय संस्कृति और ग्रमीण सभ्यता का विकास होता चला गया। जहां एक ओर कौशाम्बी की जनसंख्या में वृद्धि हुई वही कानपुर जिला में जनसंख्या की वृद्धि की दर अचानक धीमी हो गई और शहरी तथा ग्रामीण इलाकों के बीच दिखने वाला विभाजन और भी गहराने लगा।

पुराना किलाः मुहरयुक्त तथा उत्कीर्ण ठीकरे; मानवाकृति वाली सुराही

मध्य और निचली गंगा नदी घाटी तथा पूर्वी भारत

साहेत-माहेत (प्राचीन श्रावस्ती) का कालखंड-II प्रारंभिक शताब्दियों का है। मिट्टी और पत्थर की बनी दीवारें इस काल की हैं जिस स्थान को जेतवन विहार से चिन्हित किया गया है। वहां पर मौर्यकाल के स्तूप, विहार और चैत्यों के अवशेष उपलब्ध हैं। इनमें से एक स्तूप से प्राप्त स्मृति अवशेष मंजूषा के भीतर अस्थि, स्वर्ण पत्र तथा चांदी के आहत् सिक्के मिले। कुषाण काल का बना एक आयताकार जलाशय इन विहारों के बीच में खोजा गया है। राजघाट के कालखंड-II को ल. 200 सा.सं.पू. पहली शताब्दी सा.सं. के बीच आंका गया है। इस काल के प्रारंभिक रचनात्मक चरण से दो कक्षों वाला एक घर पाया गया जिसमें द्वार, मंडप, स्नानागार और एक कुआँ भी देखा जा सकता है। एक टेराकोटा का छल्लादार कुआँ बाद के काल का है। कालखंड-III को पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी सा.सं. के बीच का निर्धारित किया गया है और यही काल राजघाट का पुरातात्त्विक दृष्टि से अत्यंत समृद्धशाली काल कहा जा सकता है।

खैराडीह, बलिया जिला (पूर्वी उत्तर प्रदेश) में सरयू नदी के किनारे एक पुरातात्त्विक स्थल है। यहां से भी दो कक्षों वाला एक घर, कुछ गलियां और जमीन के नीचे संरचनाएं पायी गयी हैं, जो प्रारंभिक शताब्दियों की हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही बस्ती जिला के गंवारिया नामक स्थान से कालखंड-III तथा IV क्रमशः शुंग और कुषाण कालों से चिन्हित किए गए हैं। बसाढ़ (प्राचीन वैशाली), बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में अवस्थित है। यहां पर किए गए उत्खनन कार्यों से विशाल दुर्ग एवं बुर्जों के अवशेष मिले हैं। कालखंड-I द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. का है जबकि कालखंड-II पहली शताब्दी सा.सं.पू. का है। कालखंड-III का 'कुषाण-गुप्त काल' की संज्ञा दी गई है (तीसरी-चौथी शताब्दी सा.सं.)। एक बड़े जलाशय को लिच्छवियों के राज्याभिषेक से संबद्ध जलाशय के रूप में माना जाता है। यहां से प्राप्त सिक्के और टेराकोटा की बनी वस्तुएं जो इस जलाशय के इर्द-गिर्द अवस्थित हैं द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. में बनी थीं। मुजफ्फरपुर जिला में ही कटरागढ़ नामक स्थान से 'शुंग काल' का बना एक सुरक्षा प्राचीर पाया गया है, जिसके निर्माण के तीन चरणों को भी रेखांकित किया जा सकता है। पहले और तीसरे निर्माण-चरणों में बाहरी दीवारें बनाई गयी थी जबकि द्वितीय चरण में इन दीवारों के बीच में एक मिट्टी के गिलावे पर बना अनुपूरक अंतः प्राचीर बनाया गया था।

बिहार के चंपारण जिला के लौरियानंदनगढ़ से पहली शताब्दी सा.सं.पू. और दूसरी शताब्दी सा.सं. के बीच का बना एक टेराकोटा स्तूप पाया गया है। यहां भी सुरक्षा प्राचीर के अवशेष देखें जा सकते हैं। बलिराज गढ़, दरभंगा जिला में है यहां पर भी सुरक्षा दीवारों के भीतर एक बड़ी बस्ती के अवशेष मिले हैं। इस स्थान पर किये गए उत्खनन के दौरान मिट्टी के ईंटों का बना एक अतिरिक्त सुरक्षा प्राचीर भी देखा जा सकता है, जो शायद दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में बनाया गया था।

भागलपुर जिला में प्राचीन चंपा अवस्थित है। यहां पर पहले से अवस्थित सुरक्षा दीवारों को ईंटों की बनी दीवारों से मजबूती प्रदान की गयी थी। मिट्टी के ईंटों से बने घर और जल

निकासी के लिए बनी नालियां 'कुषाण-गुप्तकाल' की हैं। पटना से ल. 100-300 सा.सं. के बीच का एक गज पृष्ठाकार मंदिर प्राप्त हुआ है।

तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. के एक अभिलेख के अनुसार, महास्थानगढ़ को प्राचीन पुण्ड्रवर्द्धन प्रांत की राजधानी पुण्ड्रनगर से चिन्हित किया गया है, जो बंगलादेश के बोगरा जिला में पड़ता है। यह पुरातात्त्विक केन्द्र प्रायः 185 हेक्टेयर में फैला हुआ है और यहां से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति से लेकर बारहवीं/तेरहवी ईसवी तक के काल के बीच की सभ्यता के अनवरत पुरातात्त्विक अवशेष पाए गए हैं। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में यह नगर 5000 × 4500 फीट के लगभग आयताकार दायरे में विस्तृत था और इसके तीन ओर खाइयां खुदी हुई थीं और चौथी ओर करातोया नदी इसकी सीमा रेखा थी। यह नदी इसके पश्चिमी भाग और उत्तरी भाग के कुछ हिस्से को घेरती थी। इस स्तर से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड के अतिरिक्त आहत सिक्के और सांचे में ढले ताम्र सिक्के पाए गए हैं। चक्रवर्ती (2006: 324) के अनुसार, वारिबटेश्वर का वाणिज्यक सम्बंध दक्षिणी-पूर्वी एशिया के साथ था। उनका यह भी मानना है कि महास्थान की, करातोया नदी के पश्चिमी किनारे में अवस्थिति यह संकेत देती है कि इसका सम्बंध एकाधिक व्यापार मार्गों से रहा होगा, जिसमें पश्चिम बंगाल के बारिंद और भागीरथी के अतिरिक्त बिहार के मैदानी भाग, तिब्बत और आसाम के ब्रह्मपुत्र नदी घाटी शामिल थे। दूसरी ओर असम के द्वारा स्थल मार्ग से यह वर्मा होते हुए दक्षिणी चीन तक से सम्बंधित रहा होगा।

बानगढ़, पश्चिमी बंगाल के दक्षिणी दिनाजपुर जिला में स्थित पूर्णभवा नदी के तट पर स्थित है और यहां से 1800 × 1000 फीट के सुरक्षा प्राचीर में घिरी हुई एक नगरीय बस्ती का अवशेष मिलता है, जिसके तीन भागों में गड्ढे खोदे गए थे। यहां से प्राप्त पांच सांस्कृतिक स्तर विन्यासों में मौर्य काल से लेकर मध्य युग तक, सभ्यताओं के अनवरत संकेत प्राप्त हुए हैं। यहां ल. 200 सा.सं.पू. से 300 सा.सं. के काल के बीच नगरीय समृद्धि को देखा जा सकता है। पहले सुरक्षा प्राचीर मिट्टी के गिलावे पर बनी हुई दीवारों की थी। बाद में इसको ईंटों की दीवारों से बदला गया। यहां पकी हुई ईंटों से बने घरों में जल-निकासी के लिए नालियां और शोषक-गहबर इत्यादि पाए जाते हैं। बनगढ़ को कोटिवर्षा से चिन्हित किया गया है जो बाद के काल में एक प्रमुख प्रशासनिक केन्द्र रहा था।

सारनाथ के कुषाण-गुप्त कालीन स्तर से प्राप्त लाल टोंटीदार लोटा और फुहारा

बंगाल के अन्य ऐतिहासिक स्थलों में तामलुक और चन्द्रकेतुगढ़ आते हैं। तामलुक ही प्रचीन ताम्रलिप्ती था जो मिदनापुर जिले में रूप नारायण नदी के तट पर है और प्राचीन भारत के प्रमुख बंदरगाहों के रूप में इसका वर्णन ग्रीको-रोमन तथा चीनी स्रोत में बतलाते हैं। यहां काल खंड-II (तीसरी/ दूसरी शताब्दी सा.सं.पू.) तथा कालखंड-III (पहली-दूसरी शताब्दी सा.सं.) के कालों से एक ईंटों का बना जलाशय तथा टेराकोटा के कई कुंए मिले है। प्रारंभिक सा.सं. शताब्दियों में पकी हई ईंटों की संरचनाएं पायी जाने लगी। राउलेट मृद्भाण्ड तथा टेराकोटा की उत्कृष्ट मूर्तियाँ, सिक्के, मुहर, मनके, इत्यादि भी पाए गए। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी खरोष्ठी और शायद इन दोनों लिपियों की मिश्रित लिपि के प्रमाण भी पाए गए।

बीरभूम जिला, बंगाल के कोटासुर नामक स्थान से भी, सुरक्षा प्राचीर से घिरे हुए बस्ती के प्रमाण मिले हैं जो मयूराक्षी नदी के किनारे बसा था। बांकुड़ा जिला के पोखन्ना नामक स्थान पर दामोदर नदी के किनारे बसा एक दूसरा प्राचीन नगरीय केन्द्र रहा होगा। बर्दवान जिला में मंगलकोट नामक स्थान कुनुर और अजेय नदी के संगम पर स्थित है। यह भी एक बड़ा नगरीय केन्द्र था। वारीबटेश्वर ब्रह्मपुत्र नदी की एक पौराणिक धारा पर स्थित है। यहा से भी उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड तथा सामान्य लाल मृद्भाण्ड पाए गए हैं। इस क्षेत्र में लौह अवशेष की उपस्थिति के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां लोहा गलाने के कार्य को किया जाता था। यहां से प्राप्त कुछ मनके कुछ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। बीच में शीशे भरे मनके भी मिले हैं, जो शायद मिस्र और भूमध्यसागर के क्षेत्र से लाए गए थे। यहां रोम से शायद लाए गए शीशे के कुछ स्वर्ण परत चढ़े हुए मनके भी मिले हैं। इन्डो-प्रशांत मोनोक्राम (एक रंग वाला) शीशे के मनके तमिलनाडु क्षेत्र में बनाए जाते थे और इनका व्यापार दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न हिस्सों में होता था।

सम्बंधित परिचर्चा

चन्द्रकेतुगढ़

पंचचूड़ा

चन्द्रकेतुगढ़ गंगा के डेल्टा में अवस्थित है। यह दरअसल कोलकाता से 25 मील उत्तर पूर्व में पश्चिम बंगाल के चौबीस परगना जिला में स्थित कुछ गाँवों का समूह है। बेड़ाचम्पा (ढेउलिया), रनखोला, घोड़पोता, चुपरीझाड, शानपुकुर झिकरा, सिंगेरती, मठबाड़ी, हादीपुर तथा गाजीतला जैसे गाँवों में भी पाए जाते हैं। इस स्थान का नाम, इसी नाम के एक मध्ययुगीन शासक से जुड़ी जनश्रुति पर पड़ा है।

प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में चन्द्रकेतुगढ़ विद्याधारी नदी के द्वारा गंगा से जुड़ा हुआ था। यह निश्चित रूप से व्यपार का एक प्रमुख केन्द्र था और शायद राजनीतिक केन्द्र भी। ग्रीको रोमन वृत्तान्तो में जिस गंगारीडे नामक स्थान की चर्चा हुई है वह चन्द्रकेतुगढ़ हो सकता है।

20 वीं सदी की शुरुआत से ही चन्द्रकेतुगढ़ और इसके आस पास के इलाके से महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक सामाग्रियां प्राप्त होती रही हैं। अभी भी इस स्थान का समुचित पुरातात्त्विक सर्वेक्षण नहीं हुआ है। सन् 1906 में तारक नाथ दास और इस क्षेत्र के कुछ अन्य निवासियों ने सरकार को इस क्षेत्र के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के लिए गुजारिश किया। भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के के.एच. लांगहटेस ने इस स्थान का दौरा किया और कहा कि यह स्थान पुरातात्त्विक महत्त्व की दृष्टि से कुछ विशेष नहीं है। आर.डी. बनर्जी ने 1909 में इस स्थान का दौरा किया और पाया कि यहां पुरातात्त्विक महत्त्व की कुछ वस्तुएं हैं। सन् 1956-57 से 1967-68 के बीच कोलकाता विश्वविद्यालय के आशुतोष संग्रहालय के द्वारा चंद्रकेतुगढ़ के पांच अलग-अलग स्थलों का सर्वेक्षण करवाया गया। इन उत्खननों के दौरान यहां से द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. के कुछ अवशेष प्राप्त हुए। किन्तु कभी भी कोई सिलसिलेवार प्रतिवेदन नहीं प्रस्तुत किया गया। सन् 1967-68 और 1972-73 में यहां पर पुनः कुछ सतही सर्वेक्षण करवाए गए। पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों के कुछ प्रारंभिक प्रतिवेदनों में चन्द्रकेतुगढ़ के सांस्कृतिक विन्यासों के प्रति कुछ संक्षिप्त प्रतिवेदन प्रस्तुत किए गए। हालांकि, चन्द्रकेतुगढ़ से प्राप्त पुरातात्त्विक सामाग्रियों की कुछ सामान्य विशेषताओं को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अधोलिखित राजवंशीय सूचकों के अंतर्गत रखा गया है (जिस क्रम में चन्द्रकेतुगढ़ से प्राप्तियां हुई हैं):

कालखंड-I पूर्वमौर्य 600-300 सा.सं.पू.
कालखंड-I मौर्य 300-185 सा.सं.पू.
कालखंड-III शुंग 185-50 सा.सं.पू.
कालखंड-IV कुषाण 50-300 सा.सं.
कालखंड-V गुप्त 300-500 सा.सं.
कालखंड-VI उत्तर गुप्त 500-750 सा.सं.
कालखंड-VII पाल-चन्द्र-सेन 750-1250 सा.सं.

इस पुरातत्विक स्थल से विगत वर्षों में ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्रियां मिलती रही है जिनमें सिक्कों मृद्भाण्ड मुहरों के अतिरिक्त हाथी दाँत, लकड़ी और कांस्य की आकर्षक प्रतिमाएं इत्यादि ढेर सारी चीजें हैं। एक और भी रोचक विशेषता यह है कि ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों के संयोजित अभिलेख मृद्भाण्ड, मुहर और पट्टिकाओं पर पाए गए हैं, किन्तु इस स्थल को पुरातत्त्व में मुख्यतः टेराकोटा की बनी वस्तुओं के कारण जाना जाता है जिनमें से अधिकांश की निर्माण तिथि 200 सा.सं.पू.-300 सा.सं. के बीच की आंकी गई है। निश्चित रूप से चन्द्रकेतुगढ़ टेराकोटा की वस्तुओं के उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

इनामुल हक ने चन्द्रकेतुगढ़ से प्राप्त 963 टेराकोटा की बनी प्रतिमाएं और पट्टिकाएं भी हैं। स्त्रियों की प्रस्तुतियों में अद्भुत विभिन्नता है। कई स्त्री प्रतिमाओं के आभूषणों और पुष्पीय डिजाइन वाली केश सज्जा देखते बनती है। इनमें से कुछ प्रतिमाएं यक्षी अथवा मातृ देवियों के रूप में पूजनीय भी थी। पंचचूड़ा श्रेणी की कुछ टेराकोटा प्रतिमाओं में केश सज्जा के रूप में पाँच अस्त्र शस्त्रों—तलवार, तीर, कुठार त्रिशूल और गजबांक के प्रतीक बने थे। कभी केशों में एक ओर, कभी-कभी दोनों ओर व्यवस्थित देखें जा सकते हैं। टेराकोटा की अन्य प्रतिमाओं में पुरुष आकृतियां, पशु, पंखों वाले मानव, मोटे, बौने, बैलगाड़ियां इत्यादि बहुत कुछ हैं।

टेराकोटा की कुछ पट्टिकाओं को पत्थर के समान लाल अथवा लालिमायुक्त भूरा दोनों देखा जा सकता है। कुछ टेराकोटा धूसर रंग की थीं।

प्रारंभिक चरण में बनी टेराकोटा की वस्तुओं को हाथों से बनाया गया था। बाद में इन्हे एकहरे और दोहरे दोनों प्रकार के साँचों में ढाला जाता था। साँचों में ढले टेराकोटाओं का सार्वजनिक उत्पादन बड़े स्तर पर किया जाने लगा। टेराकोटा की बनी वस्तुओं की सटीक तिथि का निर्धारण करना संभव नहीं है। जिन टेराकोटाओं को किसी विशेष सांस्कृतिक विन्यास के सन्दर्भ में उत्खनन के दौरान पाया गया, उनकी तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है अथवा टेराकोटा की कुछ वस्तुओं की उष्मादीप्ति तिथि निर्धारण विधि के आधार पर तिथियां ज्ञात की गई हैं। कई बार इनमें प्रयुक्त कला शैली के आधार पर इनके काल निश्चित कर दिए जाते हैं किन्तु ऐसे अनुमानों के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि एक ही काल में कई प्रकार के कला शैलियों के सहअस्तित्व की संभावना को नजरअंदाज कर दिया जाता है।

बड़े पैमाने पर किए जा रहे टेराकोटा का सार्वजनिक उत्पादन ग्रामीण शिल्पकारों के द्वारा ग्रामीण उपभोक्ताओं के लिए नहीं किया जा रहा था। टेराकोटा उत्पादन का निश्चित रूप से शहरी प्रविप्रेक्ष्य था जो एक विशिष्ट शहरी वर्ग के मांग की पूर्ति कर रहे थे। जहां एक ओर ये अपने समय के उत्कृष्ट शिल्प और कलात्मक रूझान का प्रतिनिधित्व कर रहे थे वहीं दूसरी ओर इनके द्वारा हमें उस काल के सामाजिक जीवन और धार्मिक लोक व्यवहार की महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं।

स्रोत: इनामुल हक, 2001

चंद्रकेतूगढ़ टेराकोटा

उड़ीसा में लगभग तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से ऋषिकुल्या नदी के किनारे स्थित जौगढ़ नामक स्थान एक उन्नत बस्ती के रूप में विकसित हो चुका था। इसके भी चारों तरफ सुरक्षा प्राचीर बनी हुई थी। यहां से मनके बनाने के प्रमाण मिलते हैं। हमारे पास शिशुपालगढ़ के सम्बंध में ज्यादा जानकारी प्राप्त है जो शायद अशोक के अभिलेखों में वर्णित तोशली या खारवेल राज्य की राजधानी कलिंग नगर से चिन्हित की जा सकती है। यहां पर तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर चौथी शताब्दी सा.सं. तक सभ्यता के प्रमाण मिले हैं। कालखंड-I से कोई संरचना नहीं मिली है। उस काल से केवल धूसर और लाल सामान्य कोटि के मृद्भाण्ड मिले हैं। कालखंड-II (ल. 200 सा.सं.पू.-100 सा.सं.) शायद सबसे समृद्ध काल था। दस मीटर से भी अधिक चौड़े मिट्टी के दीवार के बने अवशेष पाए गए हैं जो 8 मीटर ऊंचे थे और इनके बीच बीच में द्वार, बुर्ज और सुरक्षाकर्मियों के लिए कक्ष इत्यादि पाए गए, जो शायद दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के प्रारंभिक दौर में बनाए गए थे। बाद में मिट्टी के बनी इन दीवारों के ऊपर पत्थर के छोटे टुकड़ों से इनको मजबूती प्रदान की गयी थी। कालांतर में दो अनुपूरक ईंट की बनी दीवारें, इस दीवार के ऊपर बनायी गई, और इनके बीच के स्थान को मिट्टी और पत्थरों से भर दिया गया। यह नगर योजनाबद्ध तरीके से बना हुआ मालूम पड़ता है। प्रत्येक दिशा में यह प्राय: एक कि.मी. लंबाई का है जिससे इसकी योजना वर्गाकार मालूम पड़ती है। घर मिट्टी की ईंटों के और पत्थरों के बने हुए थे। घरों में दो-तीन कक्षों के अतिरिक्त एक बड़ा बरामदा हुआ करता था। गलियां और सड़कें काफी योजनाबद्ध तरीके से बनायी गयी थीं जो सब एक दूसरे को 90^0 के कोण पर काटती थी। यहां पर नगर के बीचों-बीच एक अनेक स्तंभों वाला कक्ष भी पाया गया है। इस काल से प्राप्त उपादानों में लाल मृद्भाण्ड पाए गए हैं। इनमें से कुछ पर पॉलिश किए गए थे। इसके अतिरिक्त ब्लैक-एंड-रेड मृद्भाण्ड भी पाए गए हैं। टेराकोटा के आभूषण, लोहे के उपस्कर तथा अर्धबहुमूल्य पत्थरों के बने मनके भी पाए गए हैं। कालखंड-II (100 सा.सं.) में इस नगर का पतन होने लगा था। इस काल में मृद्भाण्ड सामान्य कोटि के लाल मृद्भाण्ड हैं जिनपर सामान्य कोटि के ही डिजाइन बने हुए थे और लगभग अनाकर्षक कहे जा सकते हैं। शीशे की चूड़ियां, तांबे तथा चांदी के एक-एक सिक्के और टेराकोटा के आभूषण भी पाए गए हैं। यहां से प्राप्त मिट्टी के बने सीलों पर पशुमुख वाले मानवाकृतियां को देखा जा सकता है, जिनसे इस क्षेत्र का रोम साम्राज्य के साथ सम्बंध प्रतीत होता है। कालखंड-III (200-350 सा.सं.) में और भी पतन के प्रमाण देखें जा सकते हैं। इस काल के मृद्भाण्ड लाल या पीलापन लिये हुए लाल रंग के थे और जो बिल्कुल सामान्य कोटि के थे। टेराकोटा के आभूषण और सिक्के इस काल में भी पाए गए। यहां से सिक्कों को बनाने के लिए दो सांचे भी पाए गए।

मध्य और पश्चिमी भारत

राजस्थान के रैढ़ नामक पुरातात्त्विक स्थल से तीसरी/दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर दूसरी शताब्दी सा.सं. और कुछ हद तक उसके बाद के भी पुरातात्त्विक साक्ष्य मिले हैं। यहां पर

टेराकोटा के छल्लेदार कुएं और दीवारों के अवशेष प्राप्त हुए है। सांभर से भी तीसरी/दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के पुरातात्त्विक प्रमाण मिले हैं। नागरी से प्राप्त अवशेषों की तिथि लगभग ल. 400 सा.सं.पू. तय की गयी है।

मध्य भारत में बेसनगर, बेस और बेटवा नदियों के संगम स्थल पर बना है जो शुंगों के पश्चिमी प्रांत की राजधानी हुआ करती थी। यह स्थान उत्तर भारत और दक्कन तथा पश्चिमी तटीय बंदरगाहों के वाणिज्यक मार्ग पर स्थित था। यहीं से हेलियोडोरस का स्तंभ प्राप्त हआ है जिस पर अभिलेख मिले हैं। स्तंभ के आस पास के क्षेत्र के उत्खनन से वहां पर एक वासुदेव मंदिर होने का साक्ष्य मिला है।

उज्जैन का कालखंड-III ए दूसरी शताब्दी सा.सं. से पांचवी शताब्दी सा.सं. के बीच का है। यहां से लाल मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं जो मध्यम कोटि के हैं। बड़ी संख्या में अर्धबहुमूल्य पत्थरों के मनके, टेराकोटा, हाथी दांत, हड्डी के मनके और टेराकोटा की चूड़ियाँ, शीशे, शंख, और तांबे की बनी वस्तुएं इत्यादि भी मिली हैं। टेराकोटा और पत्थर के आभूषण भी प्राप्त होते हैं। हाथी दांत और तांबे के बने कजरौटे भी मिले हैं। हाथी दांत की बनी कंघी, क्लिप इत्यादि भी प्राप्त हुए हैं। मिट्टी की वैसी सील प्राप्त हुई है जिन्हें ग्रीक या रोमन सांचे में ढाला गया था। टेराकोटा और हाथी दांत के बने पासे या चौसर भी मिले हैं। मानवकृतियां, पशु की आकृतियां, आनुष्ठानिक जलाशय, इत्यादि टेराकोटा के बने मिले हैं। देवताओं की प्रतिमाएं पत्थर की बनी होती थीं। क्षत्रपों, कुषाणों तथा बाद के कुछ अन्य स्थानीय राजवंशों के द्वारा निर्गत सिक्के प्राप्त हुए हैं। रोमन सम्राट आंगस्टस हेडरीयानस (117-34 सा.सं.) के सिक्कों को बनाने वाला सांचा भी मिला है। ऐसा प्रमाण उपलब्ध है जिससे पता चलता है कि यह मनको का एक निर्माण केन्द्र था। ये मनके विशेष रूप से काल्सीडॉनी के बनाए जाते थे। टेराकोटा के एक स्मृति मंजूषा की वृत्ताकार घुंडी पर प्राकृत भाषा में पहली शताब्दी सा.सं. के ब्राह्मी लिपि में लिखा एक संक्षिप्त अभिलेख भी मिला है।

सिंधु और पार्वती नदियों के संगम स्थल पर पवइया (प्राचीन पदमावती) नामक स्थान है जहां प्रारंभिक शताब्दियों के नगरीय जीवन के अवशेष मिले हैं। यह स्थान अपने टेराकोटा और शैल प्रतिमाओं की विशिष्टता के कारण जाना जाता है। इनमें यक्ष मणिभद्र की एक प्रतिमा तथा एक नाग की प्रतिमा काफी महत्त्वपूर्ण है। पहली शताब्दी सा.सं.पू. के स्तंभ शीर्ष मिले हैं, इनमें से एक विशेष रूप से संकर्षण नामक देवता से संबद्ध था।

दक्कन के नगर और नगरीय क्षेत्र

दक्कन में प्रारंभिक ऐतिहासिक नगरीय जीवन की ओर रूपांतरण का इतिहास केवल पुरातत्त्व के आधार पर लिखा जा सकता है क्योंकि इस क्षेत्र के लिए इस सम्बंध में कोई भी साहित्यिक स्रोत उपलब्ध नहीं है। अलोका पराशर (1992) ने इस ओर संकेत दिया है कि सामान्य रूप से इतिहासकारों में यह धारणा रही है कि दक्कन उत्तर और दक्षिण भारत के बीच एक सेतु मात्र है और यहां पर होने वाले सांस्कृतिक विकास को आस-पास की सभ्यताओं से आने वाले सांस्कृतिक प्रभावों के मिश्रण के आधार पर ही समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए, मौर्य साम्राज्य का दक्कन पर प्रभाव अथवा भारत और रोम के बीच वाणिज्य के कारण दक्कन में नगरीयकरण की शुरुआत हुई। इस बात पर काफी बल दिया गया है जबकि दूसरी ओर दक्कन में होने वाले क्षेत्रीय स्तर में होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तनों की स्थानीय प्रेरणाओं को अधिकांशत: नजरअंदाज किया गया है। इसके अतिरिक्त दक्कन में भी केवल कुछ ही क्षेत्रों के साथ न्याय किया जा सका है विशेषकर वैसे केन्द्रों के साथ जहां पर अशोक के अभिलेख पाए गए अथवा जहां पर बौद्ध संरचनाएं पायी गईं। दूसरे क्षेत्रों को ज्यादातर हाशिए पर रखा गया है।

वास्तव में दक्कन को कई उपक्षेत्रों में बांटा जा सकता है, जैसे—उत्तरी, मध्य, पूर्वी और दक्षिण। पराशर ने दक्षिणी और मध्य दक्कन क्षेत्रों की सांस्कृतिक प्रक्रियाओं तथा सांस्कृतिक अनुक्रमों की विविधताओं को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है। यह एक रोचक तथ्य है कि दक्षिणी दक्कन (ब्रह्मगिरी जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर) के ताम्र-पाषाण या प्रारंभिक ऐतिहासिक स्थलों से मिलने वाली भौतिक संस्कृति के अवशेष काफी आकर्षक नहीं हैं। हल्लूर उसका एक अच्छा उदाहरण है। इसके विपरीत बड़ी संख्या में ऐसे प्रारंभिक स्थल हैं जहां ताम्रपाषाण-नवपाषण या प्रारंभिक लौह युगों के कोई चिह्न या अवशेष नहीं मिले हैं। दक्षिणी दक्कन में ऐसे प्रारंभिक ऐतिहासिक स्थलों में चन्द्रवल्ली, वनवासी, वडगांव, माधवपुर तथा सन्नति आते हैं।

मध्य दक्कन में वस्तुत: मौर्य उपस्थिति के कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहे जा सकते, किंतु पेडाबाकुर, कोटालिंगल, पोलाकुंडा, धुलीकट्टा और कदम्बपुर जैसे कुछ प्रारंभिक ऐतिहासिक स्थल हैं जहां से सातवाहन के पहले के काल की बस्तियों के साक्ष्य मिले हैं और इनमें से सभी महापाषाणीय संस्कृतियों से संबंद्ध नहीं हैं। कोटालिंगल 50 हेक्टयर में फैला हुआ एक पुरातात्त्विक स्थल है जो पड्डावगू तथा गोदावरी नदियों के संगम पर स्थित है। इस प्राचीन केन्द्र के चारों ओर भी सुरक्षा प्राचीर के अवशेष देखें जा सकते हैं। यहां से चार स्तरों में सांस्कृतिक स्तर विन्यास उपलब्ध हुए हैं, जिसमें दूसरा प्रारंभिक शताब्दियों का है। पूर्व-सातवाहन तथा सातवाहन काल के सिक्के इस स्थल से प्राप्त हुए हैं। धूलिकट्टा का पुरातात्त्विक टीला हुसानीवगू नदी के दक्षिण किनारे पर

पड़ता है और यह लगभग 18 हेक्टेयर का केन्द्र था। इस नगरीय केन्द्र के चारों ओर दीवारें थीं और प्रवेश द्वार थे। इसी पुरातात्त्विक टीलों के प्रायः मध्य में एक राजप्रासाद के अवशेष मिले हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य लोगों के निवास स्थान तथा अन्नागार भी यहां से मिले हैं। तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. का एक बौद्ध स्तूप बगल में ही मिला है। पेड्डाबांकुड 30 हेक्टेयर में फैला एक पुरातात्त्विक टीला है जो धूलिकट्टा से 10 किमी. पूर्व में स्थित है। इस केन्द्र के चारों ओर सुरक्षा प्राचीर के अवशेष नहीं मिले हैं। यहां से प्राप्त होने वाली आवासीय संरचनाएं ईंट की भी बनी थी और इनकी आधार शिला मिट्टी में पत्थर के टुकड़ों को सान कर बनायी गई थी। जल निकासी के लिए काफी विस्तृत व्यवस्था यहां पर देखी जा सकती है। जिसमें शोषक गहवर, नालियां, कुँए सभी कुछ मौजूद हैं। संरचनात्मक गतिविधियों के दो काल को रेखांकित किया गया है। कालखंड-I ल. 250-100 सा.सं.पू. तथा कालखंड-II 50 सा.सं.पू. से 200 सा.सं. के बीच का है। इस केन्द्र से सातवाहनों के सिक्के बहुतायात संख्या में मिले हैं, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां पर सातवाहनों के द्वारा सिक्के ढलवाए जाते थे। ऑगस्टस की एक स्वर्ण मुद्रा भी यहां से मिली है। 22 कुँओं के अतिरिक्त लोहार का एक निर्माण केन्द्र भी मिला है। कोण्डापुर भी एक ऐसा केन्द्र था जिसके चारों ओर सुरक्षा प्राचीर शायद नहीं बनायी गई थी। ईंट और पत्थर के टुकड़ों से बने घरों के अवशेष देखें जा सकते हैं। यह मनके और टेराकोटा की वस्तुओं को बनाने का निर्माण केंद्र रहा होगा। यहां से प्राप्त धार्मिक संरचनाओं में एक स्तूप विहार तथा दो चैत्य देखें जा सकते हैं।

बड़ी संख्या में रोमन सिक्कों और उनकी प्रतिकृतियों की उपलब्धि से ऐसा अनुमान लगाना सहज है कि दक्कन का नगरीय विकास मुख्य रूप से वाणिज्य पर आधारित रहा होगा। इसके अतिरिक्त दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण दक्कन से जुड़ी विशेषता यह है कि यहां प्रायः सभी पुरातात्त्विक स्थलों से लोहे की बनी सामग्रियां तथा लौह निर्माण के साक्ष्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। धूलिकट्टा से 15 सेमी. व्यास वाली एक लोहे की कुठाली मिली है, जिसमें जली हुई लकड़ियां, कुछ पत्तियों के अवशेष, मिट्टी और टेराकोटा के केक पाए गए। यह प्रक्रिया शायद लोहा गलाने से जुड़ी थी। पेड्डाबांकुड से भी टेराकोटा का एक साँचा मिला है जिसका व्यास 20 सेमी. था। यहां लोहे के निर्माण के लिए फर्श पर कुछ उपस्कर भी मिले हैं। लोहे के अवक्षेप और स्लैग से तथा कांटी, हंसिया, छूरी, छल्ला, इत्यादि के निर्मित लौह उपस्करों की प्राप्ति से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि यह निश्चित रूप से किसी लोहार का निर्माण केंद्र रहा होगा।

औरंगाबाद जिले में भोकरदान (महाराष्ट्र) को प्राचीन भोगवर्द्धन के रूप में चिन्हित किया गया है। यह उज्जैनी से प्रतिष्ठान जाने वाले प्राचीन वाणिज्यक मार्ग पर अवस्थित था और मध्य भारत के कई बौद्ध स्थल जैसे सांची और भरहुत में ऐसे दान अभिलेख मिले है जहां पर यहां के निवासियों के नाम खुदे हुए थे। संरचनात्मक गतिविधियों की दृष्टि से इस केन्द्र को दो कालों में बांटा गया है—(देव 1974) कालखंड-I ए सातवाहनों के पूर्व के काल का था या प्रारंभिक सातवाहन काल का था जबकि कालखंड-I बी सातवाहन काल के अंतिम चरण का था। कालखंड-I ए के आवासीय क्षेत्र से राख वाले गड्ढे मिले हैं, एक चूल्हा मिला है। स्नानागार क्षेत्र भी मिला है। चूना और पत्थर से लिपा हुआ फर्श मिला है। कालखंड-I ए संरचनात्मक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इस काल में हुए संरचनाओं के गुणात्मक विकास को रेखांकित किया जा सकता है। ईंट की बनी दीवारें, फर्श तथा गिरे हुए छतों के अवशेष, एक छल्लेदार कुआँ इत्यादि इस काल से जुड़े हुए हैं। सामुदायिक भोजन निर्माण के लिए बड़े चूल्हों को भी देखा जा सकता है। वैसे एक रसोईघर और एक घरेलू चूल्हा भी मिला है। भोकरदान से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेषों में आहत सिक्के, सातवाहन और क्षत्रप शासकों के द्वारा निर्गत किए गए ताम्र सिक्के, तथा टेराकोटा के कुछ मुहर इत्यादि मिले हैं। कलाखंड-Iए के मृद्भाण्ड काले और लाल चमकीले थे, सामान्य कोटि के लाल मृद्भाण्ड, लाल रंग के मिट्टी के घोल चढ़े मृद्भाण्ड, तथा हाथ के बने हुए कुछ अत्यंत निम्न कोटि के मृद्भाण्ड भी मिले है। कालखंड-I बी में भी उसी प्रकार के मृद्भाण्ड बनाए जाते रहे लेकिन उनकी गुणवत्ता में कुछ बढ़ोतरी देखी जा सकती है। काले मृद्भाण्ड भी इस काल से प्राप्त हुए हैं। ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड के कई प्रकार भी मिले हैं। लगभग दो हजार की संख्या में अगेट, कारनेलियन, काल्सीडॉनी, क्रिस्टल, जैस्पर इत्यादि से बने मनको का यहां उपयोग किया जा रहा था। हालांकि, लाजवर्द जेड और हाथी दांत के बने कुछ मनके भी मिले हैं। मनके बनाने के सांचे तथा कुछ अर्धनिर्मित मनकों की उपलब्धि यह स्पष्ट संकेत देती है कि यह स्थान मनका निर्माण का एक प्रमुख केंद्र रहा होगा।

अन्य विकसित शिल्पों में शंख की बनी चूड़ियां और हाथी दांत की बनी वस्तुओं का स्थान था। टेराकोटा की बनी सैकड़ों वस्तुएं यहां से उपलब्ध हुई हैं जिनमें तश्तरी, पहिए कई प्रकार के पात्र तथा मानव और पशु की मूर्तियां सम्मिलित हैं। मानव आकृतियों से अंकित टेराकोटा की पट्टिकाएं या तो हाथ से बनाए गए थे अथवा इन्हें दोहरे सांचे में ढाला गया था। कुछ विशिष्ट प्रकार के कान के आभूषण यहां से पाए गए हैं। आनुष्ठानिक जलाशयों की संख्या 22 है। इसके अतिरिक्त बहुत सारे टेराकोटा पात्रों के टुकड़े एव ठीकरे भी मिले हैं। एक मानवाकृति के ही रूप में टेराकोटा का बना टुकड़ा मिला है जिसपर तीन स्त्रियों के चित्र उत्कीर्ण किए गए थे। इसके अतिरिक्त लोहे और तांबे की बहुत सारी सामग्रियां खोजी गयी हैं। लोहे की बनी वस्तुओं में बहुत से उपस्कर रसोईघर में

उपयोग में आते होंगे। इसके अतिरिक्त उपकरण में, युद्ध के अस्त्र-शस्त्र और बढ़ई के काम में आने वाले औज़ार भी सम्मिलित हैं। तांबे की बनी वस्तुओं में आभूषणों के अतिरिक्त घड़े, कजरौटे इत्यादि प्रमुख हैं। हाथी दांत की बनी वस्तुओं में पासा, चूड़ी, कान के आभूषण, नोकाग्र, एक कंघी, तथा सुंदर ढंग से अलंकृत आइना का एक हत्था मौजूद है। हड्डी के भी कई सामान मिले हैं। शंख की चूड़ियां, शीशे की चूड़ियां, तथा क्ले के कई पात्र थे। यहां से भी कुछ मिट्टी की बनी वस्तुएं और विशेष प्रकार की रोमन सुराही की मौजूदगी यह बतलाती है कि इनका सम्बंध भी इंडो-रोमन व्यापार से रहा होगा। वानस्पतिक अवशेषों के अध्ययन से यहां पर उपयोग में लाए जाने वाले अनाजों और दालों का पता चला है। हड्डियों के अध्ययन से यहां पर उपलब्ध 17 प्रकार के पशुओं का अंदाज लगाया जा सकता है जिनमें मानव के अतिरिक्त घरेलू जानवर और जंगली जानवरों की हड्डियां भी थीं।

इस काल में दक्कन में रह रहे लोगों के सांस्कृतिक जीवन और भौतिक संस्कृति के विषय में अच्छी जानकारी हमें महाराष्ट्र के नागपुर जिला के आदम नामक स्थान से प्राप्त होती है (नाथ, 1999)। यहां से रोमन स्वर्ण मुद्रओं का संग्रह मिला है। इस स्थान पर एक दुर्गीय दीवार के मध्य में मिली बस्ती का अवशेष भी है और यहां पर मिट्टी का बना एक स्तूप भी पाया गया। सन् 1988-92 के बीच यहां पर पुरातात्त्विक उत्खनन कार्य संपन्न किया गया जिसके आधार पर यहां से पांच स्तरीय सांस्कृतिक विन्यास को रेखांकित किया जा सकता है जो मध्य पाषाण युग से लेकर ल. 300 सा.सं. तक प्राप्त होती हैं। इनमें से प्राप्त सामग्रियों का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा प्रारंभिक शताब्दियों का है। यहां से सातवाहन काल के 6000 सिक्के पाए गए हैं जिनमें 86 सिक्के भी हैं जिनपर शासकों के छविचित्र अंकित थे। सिक्कों को ढालने वाली सांचों की मौजूदगी से यह पता चलता है कि यह भी सिक्कों को ढालने वाला नगर था। यहां से बहुत सारे मुहर प्राप्त हुए हैं जिनपर उपस्थित संक्षिप्त अभिलेख, उपाधि, व्यक्ति, और कार्यालय इत्यादि को इंगित करते थे। एक मुहर पर आसक (आश्मक जनपद) लिखा हुआ पाया गया। 70 मुहरों का एक रोचक संग्रह भी यहां से प्राप्त हुआ, जिनमें से एक पर बालू-शीशे वाली घड़ी का डिजाइन मौजूद था। इन मुहरों का शायद कभी प्रयोग नहीं हुआ।

आदम से उपलब्ध बहुत बड़ी संख्या में टेराकोटा की बनी वस्तुओं में भी मानवकृतियां, पशु आकृतियां, पहिए, आनुष्ठानिक जलाशय इत्यादि सम्मिलित हैं। प्रतिमाओं को यहां भी या तो हाथ से बनाया गया था अथवा एकहरे या दोहरे सांचे में बनाया गया था। हड्डी की बनी वस्तुओं में नोकाग्र, खुदाई करने वाले उपकरण, पासे, तथा अलंकृत कंघी प्रमुख हैं। हाथी दांत की बनी वस्तुओं में आभूषण मुख्य हैं, जिनपर डिजाइन बनाए हुए थे। मिट्टी, शीशा, पत्थर, फायंस तथा धातु के हजारों मनके भी मिले हैं। कार्नेलियन, अगेट, जैस्पर, चर्ट्स, क्वाट्र्ज, काल्सीडॉनी और जमुनिया जैसे पत्थरों का उपयोग किया जाता था। मनको को पाँलिश करने बाली सामग्रियां भी मिली हैं और बहुत सारे ऐसे मनके मिले हैं जिनपर डिजाइन बनाए गए थे। बहुत बड़ी संख्या में अर्धनिर्मित अवस्था में मनके भी पाए गए हैं। इन निर्माणाधीन मनको की उपस्थिति से यह स्पष्ट है कि यह मनको का बड़ा निर्माण केंद्र रहा होगा। लोहा, तांबा, चांदी और लीड जैसी धातुओं का प्रयोग हो रहा था। लोहे के बने उपकरणों में भालाग्र, तीराग्र, तलवार, हंसिया, छुरा, फाल, कुल्हाड़ी, कांटी, छल्ला, इत्यादि प्रमुख हैं। सोने के भी कुछ मनके मिले हैं और कुछ आभूषण भी। यहां पर स्वर्णकार के द्वारा प्रयोग में आने वाला पत्थर का एक सांचा मिला है जिससे यहां पर विकसित स्वर्ण शिल्प का पता चलता है। पत्थर के बटखरे, जाते तथा एक मानवमुख की टूटी हुई प्रतिमा भी मिली है। आदम में पाए जाने वाले शिल्प और वस्तुओं की विविधता सचमुच रोचक है।

दक्कन के दक्षिणी हिस्से में पूर्वी पठारीय भाग पर स्थित नागार्जुनकोंडा (गुंटुर जिला, आंध्रप्रदेश) महत्त्वपूर्ण है। यह कृष्णा नदी घाटी में स्थित है और इसके चारों ओर नल्लामलाई की पहाड़ियां फैली हुई हैं (सरकार और मिश्रा, 1972; सौंदरराजन एवं अन्य, 2006)। वह इक्ष्वाकु राजवंश की राजधानी थी। पेड्डाकुंडेलगुट्टा की पहाड़ी की चोटी पर एक दुर्ग मिला है जिसके पूर्वी द्वार पर कुछ बैरक बने हुए थे। स्तबल तथा पत्थर की बनी जल निकासी का माध्यम भी देखा जा सकता है। इस दुर्ग के पश्चिमी प्रवेश द्वार के निकट जो संरचनाएं उपलब्ध हुईं उनका शायद आनुष्ठानिक महत्त्व रहा होगा जिसमें चार सीढ़ियों वाला एक जलाशय मिला है जो नालियों और जल निकासी के माध्यम से जुड़ा हुआ था। इस जलाशय कुंड के बाहर घोड़े अथवा बकरी की हड्डियां मिली हैं जिसके कारण इस जलाशय को अश्वमेघ कुंड की संज्ञा दी गई है। कुंड के दक्षिण में दो स्तरों वाला एक दूसरा जलाशय भी मिला है जो लगभग कछुए के आकार का है। इन संरचनाओं के बगल में भवनों के अवशेष मिले हैं जो यहां का राजप्रासाद हो सकता है। दुर्ग के पूर्वी हिस्से में सामान्य लोगों के रहने का स्थान था, जिनमें गलियां मौजूद हैं। घरों में अन्न के भंडारण के लिए बड़े जार पंक्तिबद्ध ढंग से सजाए गए थे। उपकरणों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि इनमें से एक भवन स्वर्णकार का 'वर्कशाप' था। दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण खोज एक स्टेडियम के जैसे संरचना की है जिसमें चारों ओर से सीढ़ियां पवेलियन तक जाती थीं जो इस स्टेडियम के पश्चिमी हिस्से में थी। इस स्थान से एक नहर के अवशेष भी मिले हैं। नदी के किनारे शमशान घाट था और इस में सीढ़ियां, बनी हुई थीं। इसके अतिरिक्त लगभग 18 मंदिरों की खोज की गयी है जिनमें एक कार्तिकेय को

समर्पित था। हालांकि, नागार्जुनकोंडा के सम्बंध में जो भी हमारे पास पुरातात्त्विक प्रतिवेदन उपलब्ध हैं वे बौद्ध विहार, चैत्य और स्तूपों पर केंद्रित है। इसी जिला में अमरावती भी अवस्थित है।

अमरावती ही प्रचीन धान्यकटक था जो दक्कन का एक प्रमुख नगर और उत्तर सातवाहनों की राजधानी भी थी। जैसा कि अनेक अभिलेखों से जानकारी मिलती है। बौद्धों का यह एक बड़ा केंद्र प्रतीत होता है। दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी/ तीसरी शताब्दी सा.सं. तक यहां पर छः स्तर के सांस्कृतिक विन्यास उपलब्ध हैं। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह पता चलता है कि बौद्ध केन्द्र के रूप में इस स्थान का विकास मौर्य काल में हुआ था। दुर्ग के चारों तरफ मिट्टी का मजबूत सुरक्षा प्राचीर बनाया गया था। यहां से सोख्ता गड्ढे और जल निकासी की व्यवस्था के प्रमाण भी मिले हैं। जल यातायात के लिए नहरों की प्राप्ति हुई है जिन्हें विभिन्न संरचनात्मक चरणों में बार बार मजबूत किया जाता रहा। स्वर्णकार का सांचा, शीशे की चूड़ियां, कान के आभूषण अनेक महत्त्वपूर्ण प्राप्तियों में से हैं। रालेट मृद्भाण्ड और टेरासिगीलाटा कहलाने वाले रोमन उपादान भी यहां से उपलब्ध हुए है।

सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक ऐतिहासिक नगर

दक्षिण भारत में नगरीकरण का पहला चरण ल. 300 सा.सं.पू. – 300 सा.सं. के बीच माना गया है, किन्तु हाल में किए गए अनुसंधानों के आधार पर स्थिति को कम से कम एक सौ साल पहले बढ़ाया जा सकता है। ग्रीको-रोमन स्रोतों में ऐसे कई नगरों और छोटे कस्बों का वृत्तांत मिलता है, उनमें विदेशी व्यापार से जुड़े तटीय बंदरगाह-नगरों को इम्पोरियम कहा गया है। तमिल शब्द पट्टिनम् का अर्थ बंदरगाह होता है, जैसे कावेरीपट्टिनम् जिसे पुहार भी कहा जाता था। संगम काव्यों में प्रारंभिक ऐतिहासिक दक्षिण भारतीय नगरों का वर्णन मिलता है। किन्तु इन

मानचित्र 8.3: **सुदूर दक्षिण के प्रारंभिक ऐतिहासिक नगर (चम्पकलक्ष्मी, 1996)**

साहित्यिक स्रोतों में दिए गए नगरीय विवरण का तारतम्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों के साथ नहीं बैठता। हालांकि, ऐसा अपर्याप्त उत्खनन अनुसंधानों के कारण भी हो सकता है। मदुरई ओर कांचीपुरम् जैसे कुछ स्थल तब से आज तक अनवरत रूप से बसे हुए हैं और इसलिए क्षैतिजीय उत्खनन कार्य करना लगभग असंभव हो जाता है। चंपकलक्ष्मी (1996: 117-40) ने प्रारंभिक दक्षिण भारतीय नगरों के विषय में विस्तृत अनुसंधान प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है। इनमें से कुछ का विवरण यहां दिया जा रहा है।

वंजि या कुरवुर/ करूर चेरों की राजधानी थी। लगभग ग्यारह संगम कवि इस स्थान के निवासी थे। अमरावती नदी (कावेरी नदी की एक सहायिका) के किनारे करूर बसा था जो तिरुचिरापल्ली जिला में पड़ता है। साहित्यिक पुरातात्त्विक और अभिलेखीय स्रोतों के माध्यम से वंजि/कुरवर को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक केन्द्र और साथ साथ शिल्प और वाणिज्य का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र कहा जा सकता है। इस स्थान पर किए गए उत्खनन के दौरान ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड (जिनमें से कुछ पर भित्ति चित्र उत्कीर्ण थे) तथा रोमन ऐम्फोरे कहे जाने वाले प्रसिद्ध दुहत्थी सुराही और स्थानीय रूप से बने रालेट मृद्भाण्ड पाए गए हैं। रोमन शासक क्लौडियस के काल का एक ताम्र सिक्का यहां से उपलब्ध हुआ है। हालांकि, इस स्थान के आस पास के क्षेत्रों में रोमन सिक्के बड़ी संख्या में पाए गए हैं। ऐसे स्थानों में वेलावुर (अमरावती नदी के ही किनारे) का नाम लिया जा सकता है। इस स्थान से चेरों का राजचिह्न धनुष और तीर तथा कई चेर शासकों के छविचित्र उत्कीर्ण किए गए सिक्के मिले हैं। इससे अंदाज लगाया जाता है कि यहां पर चेरों के द्वारा सिक्के ढाले जाते थे। साहित्यिक स्रोतों में कुरवुर को आभूषण निर्माण का प्रमुख केंद्र कहा जा सकता है। पुरातात्त्विक दृष्टि से भी यहां से अंगुठियां मिली हैं जिनमें कुछ पर ग्रीको रोमन शैली के प्रतीक चिह्न पाए जाते हैं और कई व्यक्तियों के संक्षिप्त नाम भी हैं। करूर से निकट ही प्रारंभिक तमिल ब्राह्मी लिपि में लिखे गए दान अभिलेख पुगलुर और अरच्चलुर से प्राप्त हुए हैं जिनमें चेर शासकों तथा स्थानीय शिल्पकारों और व्यवसायों के द्वारा निर्गत दान अभिलेख प्रमुख हैं।

मुजाइरिस या ग्रीको रोमन वृत्तांतों का मुजाइरिस, चेरों का सबसे प्रमुख बंदरगाह था। पेरिप्लस ने अरब और मिस्र से आने वाले सामानों से लदे हुए जहाजों का इस बंदरगाह पर डाले गए पड़ाव की चर्चा की है। प्लीनी के अनुसार, यह स्थान समुद्री लुटेरों के कारण असुरक्षित था इसलिए व्यावसायिक जहाजों का इस स्थान से कुछ दूर हटकर सुरक्षित स्थान पर लंगर डाला जाता था। वियन्न पप्यर्स कहे जाने वाले एक प्रसिद्ध प्राचीन दस्तावेज (दूसरी शताब्दी सा.सं.) के अनुसार, एलेक्जेन्ड्रिया और मुजाइरिस के बीच अस्तित्व में रहे एक अच्छे व्यापरिक सम्बंध का उल्लेख मिलता है।

आधुनिक मदुरई (जिला तमिलनाडु पांड्य की राजधानी थी और तमिल परंपरा के अनुसार, तीसरा संगम इसी स्थान पर आयोजित किया गया था। पत्तुपाट्टु के एक अंश *मदुरईकांची* में मदुरई के विषय में विस्तृत विवरण मिलता है। इसके अनुसार, इस शहर के तीन दिशाओं में सुरक्षा प्राचीर बने हुए थे और चौथी दिशा से वैगाई नदी बहती थी। इस स्थान के राजप्रासाद, मंदिरों, बड़े भवनों और दो बड़े बाजारों का भी विवरण मिलता है। साहित्यिक स्रोतों के अनुसार, मदुरई शिल्प का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। विशेष रूप से स्वर्णकारी, हाथी दांत की बनी वस्तुएं, चूड़ियों के निर्माण केन्द्र के लिए यह प्रसिद्ध रहा। ऐसा भी उल्लेख है कि यहां के व्यापारियों द्वारा किस प्रकार मोती और अन्य अर्धबहुमूल्य पत्थरों का व्यापार किया जाता था। *अर्थशास्त्र* में मदुरई के विषय में कहा गया है कि यह उत्कृष्ट सूती वस्त्र उद्योग का केन्द्र था। इसके आस पास के इलाकों से कई सिक्के प्राप्त होते हैं। जिनमें पांड्यों के द्वारा निर्मित सिक्के मुख्य हैं। प्रारंभिक तमिल ब्राह्मी अभिलेखों की उपस्थिति यहां तथा इसके आस पास के क्षेत्रों में देखी जा सकती है। अलगारमलाई अभिलेख में मदुरई के व्यवसायों के द्वारा दिए गए दानों की चर्चा की गई है।

कोरकई पांड्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था और संगम काव्यों एवं ग्रीक वृत्तांतो में इस स्थान को मोतियों के व्यापार से जोड़ा गया है। *अर्थशास्त्र* भी पांड्य देश में मोतियों के व्यापार का जिक्र करता है। आज कोरकई गांव निरूनावली जिले में वैगाई नदी के मुहाने पर तो है लेकिन यह समुद्र से छः किमी दूर है, किंतु निश्चित रूप से प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में यह समुद्र तट पर ही बसा हुआ होगा। उत्खननों के दौरान ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड के अतिरिक्त स्थानीय रूप से बनने वाले रोलेट मृद्भाण्ड प्रमुख प्राप्तियां हैं। ल. 200 सा.सं.पू.-200 सा.सं. के बीच की ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण कई मृद्भाण्ड के अवशेष मिले हैं और ल. 14 तिथि निर्धारण के अनुसार, वहां सभ्यता की शुरुआत 8वीं शताब्दी सा.सं.पू. बतलायी जाती है। मोतियों के उत्पादन की पुष्टि कोरकई में किए गए पुरातात्त्विक अनुसंधानों के प्रत्येक सांस्कृतिक स्तर से मिली है।

चोलों की पुरानी राजधानी उरायूर थी। आज यह तिरुचिरापल्ली नगर का एक अंश है। संगम काव्यों में इसे एक महान् दुर्ग के रूप में चित्रित किया गया है जिसमें अनेक भव्य भवन निर्मित थे। इन काव्यों में यहां के कब्रगाहों के चारों ओर सजाए गए बड़े बड़े पत्थरों की चर्चा की गयी है जो निश्चित रूप से महापाषाण कब्रों की ओर संकेत देता है। तमिल तथा ग्रीको रोमन वृत्तांतो में यहां के उत्कृष्ट वस्त्रों का वर्णन मिलता है। रोलेट मृद्भाण्ड को चक्रण या बेलनाकार मृद्भाण्ड भी कह सकते हैं। पुरातात्त्विक उत्खननों के आधार पर इस स्थान से तीन सांस्कृतिक चरणों को रेखांकित किया जा सकता है। कालखंड-I ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्ड तथा चित्रित मृद्भाण्ड और चक्रिण

प्राथमिक स्रोत

मदुरईक्कांची में मदुरई

मदुरईक्कांची में मदुरई का वर्णन एक लम्बी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूप में संकलित है। इस वर्णन का एक अंश यहां प्रस्तुत है:

गगन को चूमते नगर के सुरक्षा प्राचीर
मनोरम बालूका राशि वाले सैलानी
समुद्री कछार
प्राचीन किन्तु वज्र प्रवेश द्वार
द्वार की चौखटों पर विराजमान
मनोरमा लक्ष्मी के मंगलकारी स्वरूप
कृष्णरंजित फाटकों में
होता जहां घी का तर्पण
शिखर हैं जो कच्छ के और द्वार के
मेघाच्छादित पठार का हैं आभास देते
जनसैलाब उमड़ता जिन पथों पर
वैगाई की धारा बहती हो जैसे प्रखर
विविधता कक्षों की भवन में

भवन जो छूते आसमान को
वातायन जिनकी और चौड़ी और फैली
जिनमें प्रवेश करती दक्षिण
से बहने वाली हवाएं
सड़क जिसके नदियों के पाट जैसे
शोर करती धारा जिसकी
बढ़ती है भीड़ जिसमें
बातें विविध रोजगार वाली
बोलियां विविध प्रकार वाली
ये बाजार का है प्रभात
भीड़ बेचती और खरीदती है
होता है कोलाहल
करते शोर हैं जो
ढोल नगाड़े और मृदंग बजते
सिन्धु की गर्जना
करती हुंकार जैसे
व्याप्त होता हो यथा
उत्सवों का माहौल

जैसे सरकती उँगलियां वीणा की तारों पर
सहज इतना कि थिरकते
पानियों के प्राणी जिस पर
सुबह और शाम का है
यह उल्लास और कोलाहल
कोलाहल क्रय और विक्रय का
बनाता जो जनसैलाब
वीथियों का है यही आकर्षण
अद्भुत दृश्य नयनाभिराम
उत्सवों में लहराती पताकाएं
और विजयध्वज
उन शूरमाओं के नाम
दुर्ग और दुर्ग को जीतते जाना
है जिनकी अभिन्न फितरत।

स्रोत: चेल्लैया, 1962: 251

बेलनाकार मृद्भाण्ड एवं एरेटीन मृद्भाण्ड (शायद रोमन प्रभाव वाला) मिलता है। पहली और दूसरी शताब्दियों की ब्राह्मी लिपि में यहां से उपलब्ध मृद्भाण्डों के ठीकरों पर कई चित्रण पाए गए हैं। कालखंड-II में ब्लैक एंड रेड मृद्भाण्डों के स्थान लाल घोल वाले मृद्भाण्ड मिलते हैं। उरायूर का कालखंड-III पूर्व मध्य युग का है।

कावेरीपट्टीनम् ऐतिहासिक काल से संबद्ध कई ग्रीक रोमन वृत्तांत इसे ख्वेलिस या कम का नाम देते हैं। संगम काव्यों का एक संपूर्ण संग्रह *पट्टिनपल्लई* इस स्थान के वर्णन से जुड़ा हुआ है। इस नगर के दो हिस्सों में अस्तित्व में रहे दो बड़े बाजारों की चर्चा मिलती है। इन बाजारों की सुरक्षा का दायित्व राजा के अधिकारियों के हाथों में था और यहां पर अनेक भाषा भाषी लोग रहा करते थे। कावेरीपट्टिनम् को आज कावेरी पहिनम् गांव से चिन्हित किया जाता है जो कावेरी नदी के मुहाने पर अवस्थित है। सौंदरराजन (1994) में उत्खननों के आधार पर तैयार किए गए प्रतिवेदन के द्वारा इस स्थान का इतिहास पुन: निर्मित किया गया है जो तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर बारहवीं शताब्दी सा.सं. तक के बीच का इतिहास है। इस इतिहास में उन्होने यह दिखलाया है कि किस प्रकार एक छोटा सा ग्रामीण बंदरगाह जिसके बाहर लकडियों का बना एक छोटा सा डौक्यार्ड (गोदी) हुआ करता था बाद में एक बड़े बंदररगाह नगर के रूप में विकसित हुआ। इस स्थान के आस पास के कई गांवों में भी उस काल के पुरातात्त्विक अवशेष मिले हैं। वनगिरि में एक कृत्रिम नहर की उपस्थिति बतलाई जाती है जो कावेरी से लेकर शायद सिंचाई प्रारंभिक शताब्दियों में बतलाया जाता है। किलयुर नामक सटे हुए एक स्थान पर बड़ी नावों के लंगर डालने के प्रमाण मिलते हैं पल्लावनेस्वरम् में एक बौद्ध चैत और विहार पाया गया है जो तीसरी शताब्दी सा.सं. का है। हालांकि, प्रारंभिक मध्य युग में कावेरी पट्टिनम् से चोलों के द्वारा निर्गत अनेक सिक्के मिले है जिसमें पता चलता है कि कालांतर में भी यह महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र बना रहा।

संगम काव्यों में वर्णित काच्ची (कांची) कालंतर में पल्लवों की राजधानी के रूप में एक प्रसिद्ध मंदिरों वाला शहर बना। इसके शंकर मठ इलाके में उत्खनन के दौरान प्रारंम्भिक ऐतिहासिक काल के महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले। निचले स्तर में कालखण्ड-I ए से ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड तथा ऊपरी स्तरों से चक्रिल मृद्भाण्ड (रांलेट) कोनिय जार टेराकोटा की मूर्तियां तथा दूसरी शताब्दी सा.सं. काल से सातवाहनों का एक सिक्का मिला। कामाक्षी मंदिर क्षेत्र में उत्खनन के आधार पर त्रिस्तरीय स्तर विन्यास को चिन्हित किया जा सकता है। कालखण्ड-I ए के निचले स्तर पर ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड कालखण्ड-I बी से ब्लैक एण्ड रेड चक्रिल रांलेट मृद्भाण्ड मुद्रांकित मृद्भाण्ड मनके

टेराकोटा तथा लौह उपादानों की प्रप्ति हुई है। एक संरचना कोई बौद्ध चैत्य हो सकता है। हालांकि कांची से कोई रोमन सिक्के नहीं मिले हैं किन्तु आस पास के इलाके से कई रोमन सिक्के मिले हैं। पलार नदी के मुहाने पर स्थित वासावसमुद्रम (चिंगलपट जिला) शायद कांची क्षेत्र को समुद्र से जोड़ता हैं। यहां पर किए गए पुरातात्त्विक उत्खनन से रोमन दुहत्थी सुराही चक्रिल रांलेट मृद्भाण्ड और मनके मिले हैं। किन्तु ब्लैक एण्ड रेड मृद्भाण्ड नहीं पाए गए। इसके अतिरिक्त यहां से ईट की बनी संरचनाओं दोहरे दूल्लेदार टेराकोट कूपों तथा शंख और मनको के ढेर भी मिले। ऐसा सम्भव है कि वर्तमान का निरपेययारू ही स्रोतों में उद्धृत वसावसमुद्रम का बंदरगाह था।

कृष्णा और कावेरी नदी घटियों में विशेष रूप से प्रमुख वाणिज्यिक मार्गों पर बड़ी संख्या में महापाषाणीय स्थल मिले हैं। कावेरी नदी की सहायिका नोयल के उत्तरी तट पर स्थित कोडुमनल इनमें सबसे प्रासिद्ध है (राजन 1990, 1991) संगम कव्यों में उद्धत आभूषणों के लिए प्रसिद्ध नगर प्राचीन कोडुमनल ही था। कोगू क्षेत्र जहां यह अवस्थित है आज भी बेरिल कोटि के बेशकीमती पत्थरों और लोह अयस्क की प्राप्ति हेतु प्रसिद्ध है। लौह स्लैग तथा लौह भट्टी कीमती पत्थरों कटाई वस्त्र निर्माण और शंख की चूड़ियों की उपलब्धि से स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह एक प्रमुख औधोगिक केन्द्र रहा होगा। तमिल-ब्राह्मी लिपि युक्त भाण्ड ठीकरे भी यहां मिलते हैं।

कोडुमनल के आवासीय क्षेत्र के पूर्व और उत्तर पूर्व दिशा में 150 से भी अधिक संख्या में कब्र मिले हैं। प्रारम्भिक कब्रों में विच्छिन्न शवों को बड़े पत्थर के जारों में रखा गया है। परवर्ती काल में घरों के अंदर ही गड्ढों में शवों को दफनाया गया था, जो घर की सतह के स्तर पर ही थे। कब्र सामग्रियों में बड़ी संख्या में मिट्टी के पात्र हैं जिन्हें पकाने के बाद शायद ब्राही लिपि वाले अभिलेखों से उत्कीर्ण किया गया तथा। अधिकांशत: तमिल भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग हुआ है। 100 से भी अधिक संख्या में उत्कीर्ण मृद्भाण्डों की प्राप्ति हुई है। पुरा चुम्बकीय तिथि निर्धारण तिधि से इन ठीकरों की तिथि ल. 300 सा.सं.पू. से 200 सा.सं. के बीच खुदे हैं। इनमें निकम या निगम शब्द का भी प्रयोग दखा जा सकता है जो श्रेणी के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार कोडुमनल से हमें दक्षिण भारत में हो रहे प्रारंम्भिक ऐतिहासिक काल की ओर संक्रमण की रूपरेखा की एक झलक दिखलाई पड़ती है। विशेषकर यह परिवर्तन सामारता और शिल्प विशिष्टीकरण के रूप में दृष्टिगोचर होता हैं कोडुमनल के तिथि निर्धाण के सम्बन्ध में के राजन ने अपने आकलन में कुछ संशोधन किया है। व्यक्तिगत संवाद उनके अनुसार, 2 मीटर मोटाई वाले स्तर विन्यास को पहले भागों में महापाषाण (ल. 300 सा.सं.पू. 100 सा.सं.) तथा प्रारम्भिक इतिहास काल (ल. 100- 300 सा.सं.) बांटा गया था किन्तु इसके निचले स्तर से उपलब्ध भाण्ड ठीकरों पर पाए जा रहे लिपि के प्रमाण संशोधन की पर्याप्त गुंजाइश पैदा करते हैं। दरअसल सम्पूर्ण पुरातात्त्विक साक्ष्य 400 सा.सं.पू. के पहले के हो सकते हैं और इसलिए दक्षिण भारत में इतिहास का प्रारम्भ निश्चित रूप से इससे जुड़ा है।

चम्पकलक्ष्मी (1996: 92) का मानना है कि सुदूर दक्षिण में प्रारम्भिक नगरीकरण सामाजिक आर्थिक परिवर्तन की अपेक्षा इण्डो-रोमन व्यापार अन्तर-क्षेत्रीय वाणिज्य (विशेष रूप से गंगा नदी घाटी तथा आन्ध्र प्रदेश और तमिल के तटीय व्यापार तथा बाद में दक्षिण पूर्वी एशियाई व्यापार) से उत्प्रेरित था। उन्होंने तर्क दिया है कि वाणिज्यिक गतिविधियों से जो नगरीय परिस्थितियां उभरीं उनका तीसरी सदी तक वाणिज्य के साथ ही पतन हो गया। किन्तु हमारे लिए सामाजिक आर्थिक प्रक्रियाओं को पूर्ण रूप से नजरअंदाज करना तर्क संगत नहीं प्रतीत होता है। साहित्यिक और पुरातात्त्विक स्रोत धातुशिल्प आभूषण उद्योग वस्त्र निर्माण पुहार और मदुरई के समृद्ध बाजार तथा दानकर्ता धनाढय व्यापारियों और मुद्रा प्रणाली के शुरुआत के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इनका स्पष्ट संकेत दक्षिण भारत में हो रहे मूलभूत सामाजिक और आर्थिक रूपांतरण की ओर है।

शिल्प और श्रेणी संगठन

(Crafts and Guilds)

पिछले अध्यायों में दी गई पुरातात्त्विक प्रमाण भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से जुड़ी शिल्प गतिविधियों की विशिष्टतापूर्ण जानकारी देती है। दूसरी ओर साहित्यिक स्रोतों के माध्यम से विशेष रूप से बौद्ध ग्रन्थों यथा *अंगविज्ज, ललितविस्तार, मिलिदपन्ह* तथा *महावस्तु* में उत्तर भारत के शिल्पकारों के श्रेणी संगठनों के पर्याप्त संदर्भ हमारे समक्ष उपलब्ध है। केवल *मिलिन्दपन्ह* से ही लगभग 60 प्रकार के शिल्पों की जानकारी मिलती है। जातक कथाओं में वर्णित विशेष शिल्पों पर आधारित गाँवों के नाम इत्यादि से इनके स्थानीकरणों के गाँवों का उल्लेख मिलता है। विभिन्न नगरों में भी विविध प्रकृति के यिरल्नरें से जुड़े लोगों के पृथक पृथक मुहल्ले होते थे। दक्षिण भारत के संदर्भ में इस प्रकार की जानकारी हमें संगम साहित्य से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

जातक कथाओं में सामन्य रूप से जुड़े व्यक्तियों के लिए कुल या पुत्त (पुत्र) उपसर्ग जुड़ा होता है। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि शिल्प व्यवसाय पिता के माध्यम से पुत्र को वंशगत रूप से हस्तांतरित

हो रहा था। उदाहरणतः सथवाहकुल, कम्मारकुल (धातु शिल्प), सेट्ठीकुल (धनाढ्य व्यवसायी), धन्नवनिजकुल (अनाज बेचने वाले) पन्निककुल (सब्जी बेचने वाले), निषादपुत्त (आखेटक), वधकीपुत्त (बढ़ई) जैसे अनेक नामों का उल्लेख है। मथुरा स्थित जमालपुर से एक नाग मंदिर का हिस्सा मिला है। इस शैल पट्टिका पर अंकित है कि मंदिर का निर्माण छांदक बंधुओं के द्वारा कराया गया जो शैललक पेशे में थे पत्थरों की साज सज्जा, यों तो व्यवसायों के सम्बन्ध में वंशगत सिद्धांत मान्य था किन्तु इसके वावजूद सामाजिक गतिशीलता और लचीलेपन की पर्याप्त गुंजाइश मालूम पड़ती है। शिल्प सम्बंधी विशिष्टकरण की प्रक्रिया का अनुमान उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में उपलब्ध समकालीन अभिलेखों के माध्यम से भी लगाया जा सकता है। तमिल ब्राह्मी अभिलेखों में बढ़ई प्रस्तरीय साज सज्जाकार स्वर्णकार इत्यादि शिल्पकारों का पता लगता है। सांची, भारहुत और मथुरा जैसे धार्मिक केन्द्रों में कुम्हार बुनकर स्वर्णकार बढ़ई मूर्तिकार हाथी दाँत के शिल्पकार जैसे अनेक शिल्प विशेषज्ञों द्वारा दिये गए दान अभिलेखों की प्राप्ति हुई है। पश्चिमी दक्कन से प्राप्त दान अभिलेखों को निर्गत करने वाले मणिकार स्वर्णकार कमार (लुहार) लौह वनिज गाधिक (सुगंधी से जुड़े व्यवसायी) पत्थर रूप सज्जाकार जैसे अनेक व्यवसायी समुदायों का पता चलता है। ऐसे दान अभिलेख इन समृद्धशाली शिल्पकारों की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा धार्मिक केन्द्रों से इनके प्रभावशाली ताल्लुकात की ओर इशारा करते हैं।

ल. 200 सा.सं.पू. -300 सा.सं.पू. वह काल था जब श्रेणी संगठनों की संख्या में काफी अभिवृद्धि हुई तथा के.के. थपलियाल (1996) ने अपने लेखनों में इस सम्बन्ध में पर्याप्त ऐतिहासिक साक्ष्य एकत्रित किए हैं। हालांकि, जातक कथाओं में पारंपरिक रूप से 18 शिल्पों का जिक्र है किन्तु नाम से चार शिल्पों का विशेष रूप से वर्णन करते हैं—(1) वधकी (बढ़ई) कम्मार (धातु) से जुड़े शिल्पकार चर्मकार तथा चित्रकार ऐसा हो सकता है कि अलग अलग समय में अलग अलग स्थानों पर शिल्पों का सापेक्षिक महत्त्व बड़ता घटता रहा। *महावस्तु* में कपिलवस्तु में प्रचलित शंख, स्वर्ण, हाथी दांत, आभूषण, शैल मूर्तिकारी, सुगंधी, रेशम के वस्त्र, तेल पेरने वाले, दही बेचने वाले, मिठाई बनाने वाले हलवाई, अनाज पीसने वाले, फल बचने वाले तथा मदिरा निर्माण करने वालों का उल्लेख किया गया है।

श्रेणी संगठन के विषय में जानकारी देने वाले कई अभिलेखीय साक्ष्य भी उपलब्ध हैं। पश्चिमी दक्कन से उपलब्ध अभिलेखों में मृद्भाण्ड, अनाज, तेल उत्पादक, बांस के काम करने वाले तथा कई अन्य व्यवसायिक श्रेणी संगठनों का उल्लेख मिलता है। जुन्नार से प्राप्त एक अभिलेख में सात कक्षों वाले एक गुफा आश्रयणी का दान देने वाले एक धनिक श्रेणी संगठन का वर्णन मिलता है। तीसरी शताब्दी के एक नासिक से प्राप्त अभिलेख में अभिर शासक ईश्वर सेन के काल से सम्बंधित उस नगर से जुड़े व्यवसाय शिल्प तथा श्रेणी संगठनों की बात कही गई है। प्रारंभिक दूसरी शताब्दी के नासिक से ही प्राप्त एक अन्य अभिलेख में गोवर्द्धन (अधुनिक नासिक) के बुनकरों से जुड़े दो श्रेणी संगठनों का संदर्भ आता है। मदुरई के निकट मंगुलम से तमिल-ब्रह्मी लिपि के दो अभिलेखों में वैल्लारी के व्यवसायिक संगठनों (निकम) का उल्लेख मिलता है (महादेवन 2003: 319, 323)। इनमें से एक अभिलेख में यह वर्णन मिलता है कि उक्त श्रेणी संगठन के द्वारा सामूहिक रूप से एक गुफा आश्रयजी में जैन मुनियों के लिए प्रस्तरीय बिस्तर बनावाए गए थे। मंगुलम के निकट स्थित वेल्लारी पट्टी नामक आधुनिक गांव को वेल्लारी के रूप में चिन्हित किया गया है। मंगुलम से प्राप्त दूसरे अभिलेख में इसी श्रेणी संगठन का एक सदस्य अंतइ अस्सुतन को 'कविति' की उपाधि दी गई है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि श्रेणी संगठन के सदस्यों को किस प्रकार की सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त रही होगी। दरअसल कविति एक सम्मान सूचक पदवी थी जो राजा के द्वारा अपने मंत्री समेत अथवा महत्त्वपूर्ण व्यवसायियों को भी दी जाती थी। पाण्ड्य प्रशासन में मोती से जुड़े व्यापार के अध्यक्ष पद पर बहाल किए गए अधिकारी का उल्लेख है जो शायद इसी श्रेणी संगठन का एक सदस्य था। काडुमनल से प्राप्त मृद्भाण्ड के एक ठीकरे पर उद्धत निकम शब्द भी इस संदर्भ में एक प्रामाणिक साक्ष्य कहा जा सकता है। जातक कथाओं में विभिन्न शिल्पों से जुड़े श्रेणी संगठनों के मुखिया को जेठक या प्रमुख कहा गया है। मालाकार जेठक कर्मकार जेठक वधकी जेठक अथवा सार्थवाह जेठक इत्यादि का वर्णन मिलता है। सार्थवाह दरअसल कारवां व्यापारियों के संगठन को कहा जाता था। व्यवसायिक श्रेणी संगठन के मुखिया को सेढी की भी संज्ञा दी गई। मनु सवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में श्रेणी संगठनों का जो वर्णन मिलता है वह जातक कथाओं में दिए गए वर्णन से अधिक जटिल है। *याज्ञवल्क्य स्मृति* में श्रेणी के अधिकारियों की शक्ति श्रेणी से जुड़े नियम अथवा श्रेणी में प्रवेश पाने की विशिष्ट शर्तो का वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ में श्रेणियों की न्यायायिक भूमिका का भी संदर्भ दिया गया है। अभिलेखों से यह जानकारी मिलती है कि कई श्रेणियां बैंक की हैसियत जैसे काम कर रही थीं।

यह पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि श्रेणी संगठनों का राजतंत्र के साथ प्रत्यक्ष सम्बंध बना हुआ था। मुगपक्ख जातक में यह संदर्भ आया है कि राजा के शाही कारवां में 18 श्रेणी संगठनों के मुखियाओं की सहभागिता होती थी। सूची जातक में लोहारों के गांव के मुखिया को राज वल्लभ अर्थात राजा का प्रिय पात्र की संज्ञा दी गई है। यदि नीग्रोध जातक की मानें तो भण्डागारिक पद वाले राजकीय अधिकारी शायद श्रेणी संगठनों पर किसी प्रकार

प्राथमिक स्रोत

बैंकर की भूमिका में श्रेणीसंगठन

इस काल में लोगों ने श्रेणीसंगठन के माध्यम से अपने धन का निवेश किया करते थे, जिनसे मिलने वाली ब्याज की राशि को ब्राह्मणों, बौद्ध संघों तथा अन्य आस्था सें जुड़ी गतिविधियों में उपयोग किया जाता था। इस प्रकार के निवेशों की सूचना इस काल के अनेक अभिलेखों में सुरक्षित है। श्रेणी संगठन आधुनिक बैंकरों की भूमिका निभा रहे थे। छोटे स्तरों पर भी इनके साथ पूँजी का निवेश होता होगा किन्तु वैसे निवेशों का अभिलेखन नहीं किया जाता था। कुषाण शासक हुविष्क के राज्यारोहण के बाद 28 वें वर्ष (106 सा.सं.) के मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख में दो स्थायी निवेशों (अक्षयनिवि) की चर्चा की गई है - समितकारों शायद अनाज पीसने वाले के एक श्रेणीसंगठन के साथ 550 पुराणों का तथा एक अन्य श्रेणीसंगठन के साथ 500 पुराणों का (श्रेणीसंगठन का नाम स्पष्ट नहीं) निवेश किया गया है। अक्षयनिवि के दानकर्ता का नाम कनसरूकमन दिया गया है जो शायद कुषाणों का एक अधीनस्थ था। इससे मिले ब्याज का उपयोग प्रत्येक महीने में एक दिन 100 ब्राह्मणों को भोज कराने के लिए तथा प्रतिदिन भूखे प्यासे गरीब लोगों में भोजन वितरित करने के लिए किया जाना था।

जुन्नार से प्राप्त एक अभिलेख में अदुथुम नाम के किसी व्यक्ति के द्वारा उसके वडालिक स्थित दो खेतों से प्राप्त आय का निवेश कोनाचिक के एक श्रेणीसंगठन के साथ करन्ज और बरगद के पेड़ लगाने के उद्देश्य से किया जाना था। जुन्नार से ही प्राप्त एक दूसरे अभिलेख में बाँस के कारीगरी और ठठेरों के श्रेणीसंगठनों के साथ किए गए पूँजी निवेशों का उल्लेख किया गया है।

क्षत्रप शासक नहपाण के काल में निर्गत नासिक के एक अभिलेख में इस शासक के दामाद उसवदात के द्वारा 3000कार्षापणों के एक स्थायी निवेश की चर्चा की गई है। बुनकरों के एक श्रेणीसंगठन के साथ 2000 कार्षापण का निवेश 1% की दर से और बुनकरों के ही एक दूसरे श्रेणी संगठन के साथ 3/4% प्रति माह की ब्याज दर से निवेश किया गया था। पहले निवेश से प्राप्त ब्याज के द्वारा नासिक के बगल के किसी बौद्ध संघ के 20 बौद्ध भिक्षुओं को 12 कार्षापण मूल्य का परिधान प्रत्येक को दिया जाना था जबकि दूसरे निवेश से प्राप्त ब्याज का उपयोग उनके जलपान की व्यवस्था के लिए किया जाना था। इन निवेशों की घोषणा बकायदे एक निगम सभा में की गई थी और एक प्रस्तरीय अभिलेख में इनको स्थायी रूप से रिकार्ड किया गया था। थपलयाल का मानना है कि प्राचीन भारत का यह एक मात्र अभिलेख है जिसमें किए गए पूँजी निवेशों से प्राप्त होने वाले ब्याज दर का स्पष्ट निर्धारण किया गया है। इसके आधार पर मासिक ब्याज दर 12 तथा वार्षिक ब्याज दर 9 प्रतिशत निकाला जा सकता है। *अर्थशास्त्र* अथवा स्मृतियों में $1^1/_4$% प्रतिमाह के जिस आदर्श ब्याज दर की चर्चा की जाती रही है उनसे ऊपरोक्त दर काफी कम हैं। यह भी रोचक प्रतीत होता है कि एक ही शहर के दो बुनकरों के श्रेणीसंगठन किए जा रहे निवेशों पर अलग अलग ब्याज दर दे रहे थे। थपलयाल का मानना है कि नासिक क्षेत्र में $^3/_4$ % प्रतिमाह कर ब्याज दर प्रचलित था। जो श्रेणीसंगठन बौद्ध भिक्षुओं के लिए परिधान मुहैया करवाने वाला था वह निवेश पर ज्यादा ब्याज दे रहा था क्योंकि (क) चूँकि भिक्षुओं को साल में केवल एक बार परिधान उपलब्ध कराना था इसलिए प्रतिमाह ब्याज की बढ़ोतरी होने की सम्भावना थी। ऐसी सम्भावना प्रतिदिन भिक्षुओं को जलपान की व्यवस्था कराने वाली श्रेणी संगठनों की स्थिति में नहीं थी (ख) दूसरी बात यह कि कपड़ा उपलब्ध कराने वाले श्रेणीसंगठन के जिम्मे भिक्षुओं को वही वस्तु उपलब्ध कराना था जिसके उत्पादन से वह जुड़ा था।

258-59 सा.सं. के नासिक के आभीर शासक ईश्वरसेन के समय के एक अभिलेख में विष्णुदत्ता नाम की एक स्त्री के द्वारा शहर के चार अलग अलग श्रेणी संगठनों को स्थायी पूँजी निवेश किए जाने की चर्चा की गई है। इन निवेशों का उद्देश्य त्रिरश्मि पहाड़ी पर बने एक बौद्ध संघ के बौद्ध भिक्षुओं को औषधियां मुहैया कराना था। आभीर शासक ईश्वर सेन के शासन काल में निर्गत इस अभिलेख में जिन श्रेणी संगठनों की चर्चा की गई हैं उनमें किए गए निवेश इस प्रकार हैं कुलारिक (कुम्हार) के श्रेणी संगठन के साथ 1000 कार्षापण ओदयन्त्रिक (द्रवचालित अभियांत्रिकी जल घड़ी इत्यादि को बनाने वाले कारीगरों के श्रेणी संगठन के साथ 2000 कार्षापण, तिलपसिक श्रेणी संगठन (जिसके साथ निवेश की गई राशि स्पष्ट नहीं है) तथा 5000 कार्षापण का निवेश एक चौथे श्रेणी संगठन के साथ जिसका नाम स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक के बजाय भिन्न भिन्न श्रेणी संगठनों के साथ निवेश किया जा रहा था। शायद इससे इनके दिवालियापन की स्थिति में भी राशि सुरक्षित रहने की संभावना अधिक बनती थी।

स्रोत: थपलयाल, 1996: 90-92, 176-79

का नियंत्रण रखते थे। उरग जातक में एक संदर्भ आया है जब किसी श्रेणी संगठन के प्रमुख को महामात्र पद पर नियुक्त किया गया। *अर्थशास्त्र* में भी यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि श्रेणी संगठन की व्यवस्था का लेखा जोखा सरकार को रखना चाहिए। उसमें यह भी सुझाव दिया गया है कि विभिन्न श्रेणी संगठनों को इनके उत्पादन एवं कार्य के लिए नगरों में पृथक क्षेत्र आवंटित करना चाहिए। *अर्थशास्त्र* में श्रेणी बल का उल्लेख है। यह शायद पेशेवर योद्धाओं के किसी निगम के लिए प्रयोग में आया है न कि श्रेणियों के द्वारा स्थायी रूप से रखी जा रही किसी सैन्य इकाई के लिए।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रों ने भी विशेष परिस्थितियों में श्रेणियों के कार्यकलाप में राजकीय हस्तक्षेप के अधिकार का समर्थ किया है। *मनुस्मृति* में कहा गया है कि यदि श्रेणी संगठन का कोई सदस्य लोभवश श्रेणीधर्म का उल्लंघन करता है तो उसे राज्य द्वारा सजा मिलनी चाहिए याज्ञवल्क्य स्मृति में भी श्रेणी सदस्यों के बीच हुए विवादों को निपटाने के लिए श्रेणी धर्म के अनुरूप राजकीय हस्तक्षेप का समर्थन किया गया है। यह भी कहा गया है कि यदि राजकीय हिस्से को देने में कोई श्रेणी हेरा फेरी करे तो राज्य को उस श्रेणी से आठ गुणा वसूल करना चाहिए। धर्मशास्त्रों की दूसरी रोचक अवधारणा यह है कि स्थान परिवर्तन करने पर भी श्रेणियों को दण्डित किया जाना चहिए। किन्तु जैसा कि प्रसिद्ध मन्दसौर अभिलेख के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बिना किसी राजकीय दण्ड की संभावना के श्रेणी संगठन अपना कर्य और क्षेत्र बदल सकते थे।

श्रेणियों का महत्त्व इनके स्वयं के द्वारा निर्गत सिक्कों और से भी पता चलता है। तक्षशिला से कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनके पृष्ठ भाग पर तीसरी दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. की ब्राहमी लिपि में 'नेगम' शब्द अंकित है। जबकि अग्रभाण पर उनसे जुड़े स्थानों के नाम लिखें हैं यथा त(र)लिमाता दुजक दोजक, अतका और कदारे। कुछ सिक्कों पर पंचनेकमे और हिरनसमे अंकित हैं। विद्वानों का मानना है कि ये सिक्के नगरीय प्रशासन के द्वारा निर्गत किए गए होंगे जबकि अन्य विद्वानों का मानना है कि ये विभिन्न निगमों के द्वारा निर्गत किए गए थे। पंचनेकमे पाँच श्रेणियों के संगठन का नाम रहा होगा। इसी प्रकार हिरनसमे हिरण्यस्वामी का प्राकृत रूपांतर हो सकता है शायद ऐसा श्रेणी संगठन जो सिक्कों के निर्गत से जुड़ा होगा। कौशाम्बी से प्राप्त दो ताम्बे के सिक्कों पर गधिककानम उत्कीर्ण है। दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. की लिपि में अंकित ये सिक्के शायद इत्र सुग्रंधी निर्माण से जुड़ी श्रेणी के रहे होंगे। इसी काल के कई अन्य सिक्कों पर कौशाम्बी, वाराणसी, एराकिन (एरन), उज्जैनी, महिष्मति इत्यादि नगरों के नाम अंकित हैं। ऐसे सिक्के या तो नगर प्रशासन की ओर से निर्गत हुए थे या उन नगरों के प्रभावशाली श्रेणी संगठनों के द्वारा। राजघाट, भीटा, हरगांव, झुसी और अहिच्छत्र जैसे स्थलों से भी निगम निगमस्य या इनसे मिलते जुलते मुहरों को प्राप्तियां हुई हैं। सिक्कों पर उत्कीर्ण अभिलेखों की लिपि 300 सा.सं.पू. 200 सा.सं. के बीच की हैं। इन सिक्कों पर प्रतीक चिह्न या सम्बद्ध व्यक्यिों के नाम भी देखें जा सकते हैं। राजघाट से प्राप्त एक मुहर पर स्वास्तिक का चिह्न बना है तथा गवयक (ग्वालों की श्रेणी) भी उत्कीर्ण है। लिपि पहली शताब्दी ईसा पूर्व की है। दूसरी शताब्दी के ब्राहनी लिपि में *शुलफलयीकनम* अंकित है जो भीटा से मिला है। यह तीराग्र या भालाग्र बनाने वाले किसी श्रेणी संगठन का मालूम पड़ता है। अहिच्छत्र से प्राप्त एक मुहर पर 'कुम्हार सेनीय' लिखा है। इसकी लिपि पहली शताब्दी ईसवी की हैं।

व्यापार और व्यापारी

(Trade and Traders)

ल. 300 सा.सं.पू. – 300 सा.सं. के बीच के काल में वाणिज्यक गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण विस्तार हुआ यह विस्तार उपमहाद्वीप के भीतर और उपमहाद्वीप के बाहर के क्षेत्रों के साथ समान रूप से बढ़ा। मुद्रा प्रणाली के प्रचलन से भी वाणिज्य के विस्तारीकरण में काफी सहायता मिली। जब कुषाणों और सातवाहनों ने छोटे मूल्य वाले सिक्कों को निर्गत करना प्रारंभ किया तो स्थानीय विनिमय में भी सिक्कों का प्रयोग शुरू हो गया। इस काल के साहित्यिक स्रोतों में स्वर्ण मुद्रा के लिए दीनार चांदी के सिक्के के लिए पुराण तथा एक तांबे के सिक्के के लिए कर्षापण शब्द का प्रयोग शुरू हुआ। सुदूर दक्षिण में जहां एक ओर उत्तर भारत के सिक्के प्रचलित थे वहीं दूसरी ओर स्थानीय रूप से निर्मित अहत सिक्के तथा रोमन दिनारी और चेर चोल तथा पांड्य शासकों के क्षरा निर्गत सांचों में ढले सिक्के राज्यों के द्वारा ही निर्गत किए गए किन्तु नगरों के द्वारा अथवा निगमों के द्वारा निर्गत सिक्कों के भी कई उदाहरण देखें जा सकते हैं। फिर भी विनिमय के एक लोकप्रिय माध्यम के रूप में वस्तु विनिमय और कौड़ियों का प्रयोग जारी रहा। ये कौड़िया अधिकांशत: मालदीव से मंगायी जाती थीं।

धर्मशास्त्रों में शुल्क लाभांश, ब्याज की दर, उधार की व्यवस्था आदि सबके लिए नियम परिनियम बनने लगे हालांकि, ये तत्कालीन अर्थव्यवस्था के सैद्धांतिक स्वरूप कहे जा सकते हैं और हो सकता है कि व्यापार और

बाजार की जो वास्तविक स्थिति हो ये उसका प्रतिनिधित्व नहीं करते हो उदाहरण के लिए, *याज्ञवल्क्य स्मृति* में कहा गया है कि एक शासक को विदेशी सामानों पर 10% का शुल्क लगाना चाहिए और राज्य के भीतर के सामानों पर 5% का शुल्क लगाना चाहिए और साथ में यह भी कहा गया कि इन दरों को निर्धारित करते समय उपभोक्ता और व्यापारी दोनों के हितो को ध्यान में रखना चाहिए। *मनुस्मृति* ने इस दिशा में एक कदम आगे बढ़ते हुए यातायात एवं सामानों के रख रखाव को भी ध्यान में रखते हुए कर निर्धारण की बात पर जोर दिया। उसके अनुसार, व्यापारियों को उसके लाभांश पर कर देना चहिए न कि उसके मूल पूंजी पर। उसमें सामान्य रूप से 5% के शुल्क के निर्धारण की बात कही गयी। इन ग्रंथों में निलसह पर और बाजार से जुड़े अन्य चोर बाजारी जैसी घटनाओं को रोकने के लिए विशेष दंड का सुझाव दिया गया। निश्चित रूप से इनके द्वारा सुझाए गए कर काफी ऊंचा मालूम पड़ता है। *मनुस्मृति* में व्यापार पर कर निर्धारण के सम्बंध में अन्य बातों को भी ध्यान में रखने के लिए सुझाव दिया गया जैसे कि ऋण लेने वाले के वर्ण अथवा उस व्यापार से जुड़े जोखिम इत्यादि तथ्यों का जातक कथाओं में लंबी दूरी के कारवां व्यापार का सजीव चित्रण किया गया है। ऐसे व्यापार में यातायात के लिए प्रयोग में आ रहे बैलगाड़ियों अथवा धनाढ्य व्यवसायियों के द्वारा उपयोग में आ रहे रथों

सम्बंधित परिचर्चा

यात्राओं के प्राचीन संदर्भ

आज की तरह ही प्राचीन काल में भी लोग अलग अलग उद्देश्यों से यात्राएं करते थे। व्यवसायियों के अतिरिक्त आर्चाय, विद्यार्थी, भिक्षु और मुनि, मनोरंजन करने वाले लोग सभी भ्रमणशील थे। लोग नई जगहों को देखने भी जाते थे रिश्तेदारों से मिलने जाते जाते थे, दूसरे स्थानों पर जाकर नए जीवन की शुरुआत करते थे अथवा केवल जिज्ञासावश भी भ्रमण किया करते थे। मोतीचंद्र ने जातक कथाओं में दिए गए यात्री एवं यात्राओं के अनेक संदर्भों का रोचक संकलन किया है। उनमें से कुछ संदर्भ यहां दिए गए हैं।

एक अश्वविक्रेता की कथा दी गई है जो उत्तरापथ से होकर 500 अश्वों के साथ वाराणसी पहुँचा। एक बोधिसत्व की अनुमति से उन घोड़ों का मूल्य लगया जाने लगा। राजा ने इस अवसर का फायदा उठाते हुए कुछ पैसे की लालच में बिक्री के लिए अपना घोड़ा भी भेज दिया। दुर्भाग्यवश राजा के घोड़े ने दूसरे घोड़ों को दांत काट दिए और जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी घोड़ों का दाम अप्रत्याशित रूप से कम हो गया। दरीमुख जातक में कुमार दरीमुख की कथा दी दी गई है जिसने तक्षशिला से अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों की संस्कृति और व्यवहार को समझने के उद्देश्य से अनेक यात्राएं की। इन यात्राओं के दौरान उसने अपने एक मित्र को सहयात्री बनाया जो शाही पुरोहित का बेटा था। एक जातक में चार बहनों की कथा है जिन्होंने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात शास्त्रार्थ के उद्देश्य से अनेक नगरों की यात्राएं कीं। यात्राओं के दौरान वे अपने साथ जामुन वृक्ष की टहनियों लेकर चलती थीं। प्रवेश द्वार के सामने गाड़ दिया और यह ऐलान किया कि जो भी इनको उखाड़ने का प्रयास करेगा उन्हें सार्वजनिक रूप सें उनके साथ शस्त्रार्थ करना पड़ेंगा ।

एक अन्य जातक कथा में 500 भ्रमणकारी नटों की कहानी हैं जो प्रत्येक वर्ष राजगृह आते थे और अपने करतब दिखाकर बहुत से पैसे कमाकर जाते थे। एक बार एक नटी युवती ने ऐसे ऐसे अनोखें करतब दिखलाए कि किसी महाजन के बेटे को उससे प्रेम हो गया और उसने शादी के लिए प्रस्ताव रख दिया। शादी के प्रस्ताव पर नटी ने सहमति तो दी किन्तु एक शर्त रखी कि युवक को भी नट बनकर उनके समूह में शामिल होना पड़ेगा। युवक ने उसकी इस शर्त को स्वीकार कर लिया। शंखाजतक में शंखा नामक एक ब्राह्मण की कथा कही गई है जिसने अपने खर्चे को चलाने के लिए उसने व्यापार करने का निश्चय किया। एक जहाज को बनवाकर उसने उसपर माल लादे। उसने अपने सभी सगे सम्बंधियों से विदा ले ली और अपने परिचारको के साथ वह जहाज से सुवर्णद्वीप (दक्षिण पूर्व एशिया) के लिए रवाना हो गया। समुद्वनिज जातक में बढ़ईयों के 1000 परिवारों के बारे में लिखा है जो वाराणसी के निकट रहते थे। एक बार उन्होंने बड़े पैमाने पर फर्नीचर बनाने के लिए अग्रिम राशि ले ली किन्तु उपस्करों को समय पर नहीं बना सके। क्रुद्ध ग्राहकों के भय से उन्होंने वाराणसी को छोड़ देने का निश्चय किया। शीघ्रता से उन्होंने जहाजों को बनवाया और अपने परिजनों के साथ एक रोमांचक क्षेत्र पर जा पहुँचे जो फलों के वृक्ष तथा धान और ईख की खेती से परिपूर्ण था। यहां उनकी मुलाकात एक टुटे हुए जहाज के भटके हुए यात्री से हुई जो उस द्वीप पर सुख व चैन के साथ निवास कर रहा था।

यह सही है कि ये जातक कथाएं ऐतिहासिक तथ्यों पर नहीं भी आधारित हो सकती हैं फिर भी इन कथाओं को जिन चरित्रों और परिस्थितियों में गूँथ बनाया गया है वे भारत के प्रारंभिक इतिहासकालीन यात्री और यात्राओं पर रोचक प्रकाश डालते हैं।

स्रोतः चंद्रा, 1977: 56-57, 61, 64

और पालकियों का भी वर्णन मिलता है। इनमें यह भी वर्णन मिलता है कि यातायात मार्गों पर या व्यापार मार्गों के किनारे जलाशयों की व्यवस्था थी। व्यापारियों के ठहरने के लिए सराय की व्यवस्था थी। इनमें लिखा है कि रात्रि में सुरक्षा की दृष्टि से नगर के द्वार को बंद कर दिया जाता था। जातक कथाओं में बोधिसत्वों के सार्थवाह होने की बात भी कही गयी है जो कारवां व्यापारियों का नेतृत्व करते थे और इस क्रम में उन्होंने अपने शांतचित्त और विवेक का अभूतपूर्व परिचय दिया था। ज्यादातर इस काल के बंदरगाह स्वंय में बड़े निर्माण केन्द्र भी हुआ करते थे और ऐसे बंदरगाह बड़े पृष्ठ प्रदेश और परिवृत्त से संबद्ध होते थे। जातको में विभिन्न व्यवसायियों और श्रेणियों के बीच हुई औपचारिक संधि की भी बात कही गयी है। जातक कथाओं में और अन्य साहित्यिक स्रोतों में भी साझेदारी वाले व्यापार का जिक्र किया गया है। संगम साहित्य तमिलकम क्षेत्र में अवस्थित बाजार और व्यवसायिक जीवन का सजीव चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इन कथाओं में यह वर्णन मिलता है कि पुहार और मदुरई में किस प्रकार फूल वेचने वाले मालाकार, सुगंधी के व्यवसायी, पान बेचने वाले, शंख की चूड़ियां बेचने वाले, आभूषण, कपड़े, कीमती वस्त्र, मदिरा और कांसे की बने बर्तनों का व्यापार हो रहा था। घुमंतू सौदागरों को तमिल में चट्टू व्यापारी कहा गया है जो फेरी वालों की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान तक धान, नमक, गरम मसाले इत्यादि ले जाया करते थे। शायद पृष्ठ प्रदेशों से अन्य सामग्रियों को भी ला कर बेचा करते थे। उमनक चट्टू या नमक के सौदागरों का कारवां चलता था और उनके सामान बैलगाड़ियों पर लदा कर मार्गों पर चला करते थे। इन कारवां व्यापारियों की सुरक्षा के लिए तीर धनुष और भाले लेकर सुरक्षाकर्मी भी साथ में चला करते थे। संगम साहित्य में तटीय क्षेत्र में रहने वाले लोगों को परवतार कहा गया है जो शुरू में ज्यादातार मछुआरे समुदाय के लोग थे या वैसे लोग थे जो नमक और ताड़ी इकट्ठा करते थे। बाद में इन लोगों ने समुद्र की गहराइयों से मोतीयां निकालना शुरू किया और मोतियों के व्यापार से ये काफी तरक्की करने लगे। मछली बेशकीमती पत्थर और घोड़े के व्यापार में यही लोग बाद में संलगन हुए और एक धनाढय व्यापारिक समुदाय के रूप में इनका उद्भव हुआ। ऐसे बहुत सारे तमिल ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख मिलते हैं जिनमें वस्त्र नमक तेल हल गुड़ स्वर्ण जैसी वस्तुओं के विनिमय का वर्णन मिलता है। ध्यान से हम देखें तो पाएंगे कि व्यापार उत्तरापथ और दक्षिणापथ के इर्द-गिर्द घूमता रहा (अध्याय-5 में इस पर विस्तार से चर्चा की गयी है।) उत्तरापथ वस्तुतः उत्तरपश्चिम में तक्षशिला से लेकर गंगा के डेल्टा क्षेत्र में स्थित ताम्रलिप्ति तक के क्षेत्र को जोड़ने वाला मार्ग था।

गुजरात और सिंध के बीच सामुद्रिक व्यापार मार्ग काफी लोकप्रिय था। राजस्थान से दक्कन को जोड़ने वाला मार्ग अरावली पर्वत शृंखला के तराई से होकर गुजरता था। मथुरा से एक महत्त्वपूर्ण मार्ग चंबल घाटी होते हुए मालवा क्षेत्र में उज्जैन तक जाता था और यहां से नर्मदा घाटी में महिष्मति तक महिष्मति से सतपुरा के जंगलों और पहाड़ियों से होते हुए तथा तापी नदी घाटी होते हुए एक मार्ग पश्चिमी घाट में स्थित सूरत तक जाता था और दूसरा मार्ग दक्कन की ओर चला जाता था। मालवा में स्थित उज्जैनी से भरूकच्छ और सुपारक नामक पश्चिमी तटीय बंदरगाहों तक के मार्ग भी थे। एक दूसरा महत्त्वपूर्ण मार्ग कौशाम्बी से पूर्वी मालवा में स्थित विदिशा तक जाता था। दक्षिण भारत का प्रमुख मार्ग और सबसे लंबा मार्ग इस क्षेत्र की नदी घाटियों से होकर गुजरता था। मनमाड से मसुली-पट्टम्, कांचीपुरम से गोवा तथा तंजावूर से नागपट्टिनम तत्पश्चात् केरल और चोल मंडल तक के क्षेत्र को जोड़ता था।

उत्तर भारत के प्रमुख गन्तव्यों में उत्तर-पश्चिम में पुष्कलावती, पाटल, तथा भृगुकच्छ (पश्चिम में) तथा पूर्व में ताम्रलिप्ति थे। *पेरिप्लस* के द्वारा पश्चिमी भारत के पैठान, तगाड (टेर), सुप्परा (सौपारा) तथा केलियना (कल्याण) का जिक्र है। स्ट्राबो ने समुद्र से लेकर गंगा नदी के माध्यम से पाटलिपुत्र तक के यातायात की चर्चा की गयी है। दक्षिण में मुजाइरिस (मुचायरी) नामक बंदरगाह काफी महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ता है। तटीय व्यापार क्षेत्र काफी जीवंत रहा होगा। पहली और दूसरी शताब्दियों में पूर्वी भारत के तटीय क्षेत्र भारत भूमध्यसागर सामुद्रिक व्यापार के लिए काफी महत्त्वपूर्ण हो गया। साहित्यिक स्रोतों में विभिन्न प्रमुख वस्तुओं के व्यापार के क्रम में उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों के योगदान का चित्रण किया गया है जैसे पूर्वी, पश्चिमी और सुदूर दक्षिणी भारत में सूती वस्त्र उद्योग पश्चिम में अपरांत से लोहे के बने अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार (इनके लिए पूर्वी भारत के भी कई केंद्र महत्त्वपूर्ण थे), उत्तर-पश्चिम क्षेत्र से घोड़े और ऊंट लाए जा रहे थे। पूर्वी और दक्षिणी भारत से हाथी प्राप्त किए जा रहे थे। जातक कथाओं की मानें तो वाराणसी रेशम, उत्कृष्ट मसलिन, और चंदन की लकड़ी के लिए विख्यात था जबकि गंधार लाल रंग के कंबलों के लिए, पंजाब ऊनी वस्त्रों के लिए और मदुरई की चर्चा उत्कृष्ट सूती वस्त्रों के लिए की गई है। *पट्टिनपल्लई* में कहा गया है कि उत्तर से दक्षिण भारत में अश्व मंगाए जाते थे। गोलमिर्च इस काल के व्यापार में काफी महत्त्वपूर्ण होने लगा था हमारे पास जो पुरातात्त्विक साक्ष्य विद्यमान हैं। उससे उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में व्यापार तथा उक्त वस्तुओं के निर्माण के केंद्र के महत्त्व का अच्छा वर्णन मिल जाता है। *अर्थशास्त्र* में भी दक्षिण के वस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

लंबी दूरी का व्यापार

आद्य ऐतिहासिक काल से लगातार भारतीय उपमहाद्वीप हिन्द महासागर के विशाल संसार का एक अभिन्न हिस्सा बना रहा। एच.पी. रे (2003) के अनुसार, सामुद्रिक व्यापार के इतिहास को और विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। एक ऐसा परिप्रेक्ष्य जिसमें समुद्री विज्ञान के सामाजिक पृष्ठभूमि का भी अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण में न केवल सामुद्रिक व्यापार मार्गों और ऐसे व्यापार में प्रयुक्त हो रही सामग्रियों का महत्त्व है बल्कि इसके साथ साथ नौका निर्माण, नववहन तकनीक, जहाजरानी का संगठन, मछुआरे और नाविक समुदाय तथा व्यापारियों के विषय में बहुत कुछ समझा जा सकता है। सामुद्रिक गतिविधियों के राजनीतिक आर्थिक सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की वृहत्तर संरचनाओं पर होने वाले प्रभावों को भी रेखांकित किया जा सकता है।

ल. 200 सा.सं.पू. - 300 सा.सं. के बीच होने वाले समृद्धशाली लंबी दूरी के व्यापार का सजीव चित्रण उस काल के कई ग्रंथों में हमें मिलता है। इसके साथ साथ इसकी पर्याप्त जानकारी हमें पुरातत्विक के माध्यम से भी मिलती है। समुद्र के गर्भ में समा गए प्राचीन तटीय नगरों से सम्बंधित महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हमें सामुद्रिक पुरातत्त्व विज्ञान के द्वारा उपलब्ध होते हैं। गुजरात तटीय क्षेत्र पर स्थित द्वारिका और बेट द्वारिका जैसे स्थलों से हमें उस काल की संरचनाओं स्तरीय प्रतिमाओं तांबे। कांसे से बनी सामाग्रियां लोहे के लंगड़ लौर टूटे हुए जहाजों के अवशेष मिलते हैं जिनकी तिथि ल. 200 सा.सं.पू.-200 सा.सं. के बीच निर्धारित की गई है। निश्चित रूप से यह स्थल उस काल के सामुद्रिक व्यापार के बिल्कुल केन्द्र में रहे होंगे।

जातक कथाओं में न केवल नदी मार्ग और स्थल मार्ग से होने वाली लंबी दूरी के व्यापारों का वर्णन मिलता है बल्कि सामुद्रिक मार्ग से हो रहे लंबी दूरी के व्यापारों का भी वर्णन मिलता है। भारतीय व्यापारी स्वर्णद्वीप (दक्षिण पूर्व एशिया), रत्नद्वीप (श्रीलंका) तथा बवेरू (बेबीलोन) जैसे क्षेत्रों के साथ व्यापार कर रहे थे। पश्चिमी

प्राथमिक स्रोत

पट्टिनपल्लई में वर्णित कावेरीपट्टिनम

पट्टिनपल्लई पत्तुपाट्टु का एक अंश है जिसमें कावेरीपट्टिनम के विषय में जीवन्त वर्णन देखने को मिलता है। वनिगर (बनियों) समुदाय के लोगों के विषय में दिया गया आदर्श चित्रण यहां उद्धृत किया जा रहा है:

ईश्वर अपनी असीम अनुकम्पा से समूचे नगर की रक्षा करते हैं। यहां मजबूत और फुर्तीले घोड़े जहाजों में लदकर आते हैं, साथ में बैलगाड़ियों पर आती हैं, कालीमिर्च की लदी बोरियाँ। हिमालय से आते हैं सोने और बेशकीमती पत्थर। जबकि कुश की पहाड़ियों से लाए जाते हैं चन्दन और अखिल। दक्षिण के सागर से मोती आते हैं और पूरब के सागर से लाल मूँगे। गंगा और कावेरी से सींची शस्य श्यामला धरती की उपज यहाँ पहुँचती है। श्रीलंका से खाद्यान आता है और म्यांमार से भी कुछ दुर्लभ उत्पाद पहुँचते हैं। आयात की गई दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुओं के अम्बार यहां की विशाल वीथिकाओं में ऐसे बिखरे होते हैं जैसे किसी असमंजस में हों। जहां ये वनिगर निवास करते हैं, वहाँ मछलियां समुद्रों में सुरक्षित रहती हैं और पशु भूमि पर निरापद घूमते हैं। जिनका जीवन स्वतंत्र और खुशहाल है। इन सबके बीच बसते जा रहे है इनके परिवार। इन्हें किसी से वैर नहीं। मछलियां मछुआरों की बस्तियों में निर्भय हो खिलवाड़ करती हैं और कसाईखानों के सामने मवेशियों की संख्या बढती जाती है।

इस प्रकार ये वनिज इनके वध का तिरस्कार करते हैं। लेकिन वे चोरी के अपराध को क्षमा भी नहीं करते। देवताओं के प्रति इनकी दृढ आस्था है जिन्हें वे नित्य तर्पण देते हैं। अच्छे वृषभ और गायों को वे सम्मान देते हैं। पुरोहितो का आदर करते हैं जो चारों वेदो की शिक्षा देते हैं। अपने अतिथियों को पक्के कच्चे भोजन देकर उन्हें सन्तुष्ट करते हैं। वे उदारता पूर्वक दान दिया करते हैं और शान्ति तथा सम्मान के साथ अपना जीवन यापन करते हैं। घुमावदार हलों और लम्बे जुए जिस प्रकार केन्द्रीय धुरी पर संतुलित होते हैं उसी प्रकार ये हृदय से बिल्कुल सन्तुलित और न्यायप्रिय हैं। ये सच बोलते हैं और झूठ से लज्जित होते हैं। व्यापार में अपनी वस्तुओं की जितनी फिक्र इन्हें होती है उतनी ही दूसरों की वस्तुओं के लिए भी। अपनी वस्तुओं को बेचकर ये बहुत लाभ भी कमाना नहीं चाहते न ही बहुत सस्ते में ये दूसरों की वस्तुओं को खरीदते हैं। व्यापार की सभी वस्तुओं के उचित मूल्य इन्होंने तय कर दिए हैं। इस प्रकार उन्होंने पुरातन काल से सम्पत्ति अर्जित की है। ऐसे रहते है यहां वनिज और उनका लम्बा चौड़ा समुदाय।

स्रोत: चेल्लैया, 1962: 39-40

तटों पर स्थित भरूकच्छ सुपारक और सुवर जैसे बंदरगाह और पूर्वी तट पर स्थित करमबिया गंभीर और सेरिवा जैसे बंदरगाहों का वर्णन मिलता है। सामुद्रिक यात्राओं उनसे जुड़ी हुई आपदाओं और जहाजों के दुर्घटनाग्रस्त होने की बहुत सारी कथाएं इनमें संकलित हैं, जातक कथाओं में सामुद्रिक व्यापारियों के संगठित श्रेणीयों का भी वर्णन मिलता है जिसके मुखिया को नियामक जेट्ठ कहा जाता था।

संगम काव्यों में यह कई स्थानों पर वर्णित है कि किस प्रकार यवनों के द्वारा बड़े बड़े जहाजों में सामानों को दक्षिण भारत में लया जाता था। कोरोमंडल तट पर स्थित बंदरगाह विशेषज्ञ रूप से दक्षिण पूर्वी एशिया के व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण थे। ऐसा वर्णन है कि कावेरीपट्टिनम में रहने वाले व्यापारी कई विविध भाषाओं को बोलने वाले थे, पेरिमूल अथवा पेरिमूद नामक एक दूसरे बंदरगाह की भी चर्चा है, शायद यह रामेश्वरम के निकट वेगायी नदी के मुहाने पर स्थित थे। इस स्थान पर किये गए उत्खनन के दौरान रोमन मृद्भाण्ड और सिक्के तो मिले ही हैं। साथ ही साथ रोमन सिक्कों और मृद्भाण्डों की स्थानीय प्रतिकृतियां भी मिली हैं। इस काल के अंतर्क्षेत्रीय और अंतर्महादेशीय व्यापार के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण उद्दीपन भूमध्यसागर क्षेत्र में चीनी रेशम की मांग बना रहा था। इस काल के व्यापार में निश्चित रूप से कुषाणों के साम्राज्य का विशेष महत्त्व रहा क्योंकि इन्होंने न केवल रेशम मार्ग के एक बड़े भाग पर अपना नियंत्रण बनाया बल्कि अपने काल में उद्देश्यपूर्ण रूप से सामुद्रिक व्यापार को सुरक्षा प्रदान की तथा स्थल मार्ग से होने वाले व्यापारियों के लिए शुल्क में भी कटौती की, पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि आद्य ऐतिहासिक काल से ही पश्चिमी तटीय क्षेत्र का सीधा संपर्क फारस की खाड़ी के साथ बना हुआ था। किन्तु प्रारंभिक ईसवी शताब्दियों में इस व्यापार का महत्त्व और बढ़ गया क्योंकि तब हिंद महासागर के माध्यम से सामुद्रिक व्यापार करने वाले व्यवसायियों को दक्षिण-पश्चिम मानसून हवाओं का स्पष्ट ज्ञान हो चुका था। एक रोचक प्रश्न यह है कि सामुद्रिक व्यापार में प्रयोग में लाये जाने वाले भारतीय जहाज किस प्रकार के होते थे? जातक कथाओं में जहाजों का वर्णन मिलता है जो लकड़ी के बड़े-बड़े तख्तों को जोड़ कर बनाए जाते थे। इनमें तीन से अधिक बड़ी-बड़ी पालें हुआ करती थीं और बड़े लंगर इत्यादि भी उपलब्ध थे। ऐसे जहाजों के कर्मी सदस्यों के रूप में शासक, चालक, निरियामक के अतिरिक्त रस्सी और लंगर से जुड़े अधिकारी तथा जहाज से अतिरिक्त पानी को निकालने वाले अधिकारियों की भी सूचना मिलती है। ऐसा भी उल्लेख है कि फोनेशियन और बेबीलोनियन प्राचीन समुद्रीय व्यवसायियों, कर्मियों की भांति भारतीय नाविक भी विशेष प्रकार के पक्षियों का इस्तेमाल करते थे। इन पक्षियों को छोड़ दिया जाता था और यदि कोई स्थल आस पास होता था तो ये पक्षी वहीं रूक जाते थे अन्यथा ये लौट कर जहाज पर आ जाते थे। प्राचीन यूनानी लेखको ने भारतीय जहाजों और भूमध्य क्षेत्र के जहाजों के बीच अंतर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ओनेसिक्रिटीस नाम के एक नाविक ने, जिसने शायद सिकंदर के अभियान के दौरान सिंधु नदी के मुहाने तक की समुद्र यात्रा की थी, उसका उल्लेख स्ट्राबो वृत्तांत में मिलता है। उसके अनुसार, भारतीय जहाजों की कुछ विचित्र संरचना हुआ करती थी और उसने इनके सामुद्रिक योग्यता पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया। हालांकि, प्लीनी ने भी भारतीय जहाजों के भिन्नतर संरचना का वर्णन किया है। किन्तु उसका मानना है कि भारतीय जहाज समुद्र यात्राओं के लिए काफी उपयुक्त थे। भारतीय जहाजों की शायद सबसे बड़ी विशिष्टता यह थी कि इनमें लकड़ी के तख्तों को कीलों के सहारे नहीं जोड़ा जाता था बल्कि इनको नेवार के रस्सियों से सिल दिया जाता था। शायद सिले हुए जहाज समुद्र के बड़े-बड़े थपेड़ों को बर्दाश्त करने के लिए तथा लंगर पर टिकने के लिए अधिक उपयुक्त हुआ करते थे।

भारतीय उपमहाद्वीप का व्यापारिक सम्बंध मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया और भूमध्यसागरीय यूरोप के साथ विभिन्न व्यापारिक मार्गो से जुड़ा हुआ था और इसमें चीनी रेशम के अतिरिक्त कई अन्य सामग्रियों का पैमाने पर और लंबी दूरी से लाए जा रही सामग्रियों का व्यापार किया जा रहा था। वैसे व्यापार में कई व्यापारी समुदायों जो अलग-अलग प्रदेशों से आते होंगे उनकी सहभगिता थी।

पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ व्यापार

ल. 200 सा.सं. पूर्व – 300 सा.सं. का काल भारतीय उपमहाद्वीप ओर पूर्वी तथा दक्षिण पूर्णी एशिया के बीच बढ़ते हुए व्यापारिक सम्पर्क का काल था। मध्य एशिया चीन के हान सम्राटों के काल में काफी महत्त्वपूर्ण हो गया। शुरू में राजनीतिक और सामरिक गतिविधियों पर आधारित यह सम्बंध कालान्तर में वाणिज्य और धार्मिक आदान प्रदान के कारण प्रगाढ़ होता चला गया (चीन और भारतीय उपमहाद्वीप के बीच का सम्बंध)। रेशम का व्यापार निश्चित रूप से दूसरा वाणिज्यिक विनिमय का केन्द्र बन गया।

जिनरियू ल्यू (1988) ने प्राचीन भारत और प्राचीन चीन के बीच होने वाले प्रारंभिक वाणिज्य के इतिहास और प्रकृति का अध्ययन किया है। भारत चीन के महान रेशम मार्ग के द्वारा मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और यूरोप से जुड़ा था। चीन के हवांग हो (येलो रिवर) नदी पर स्थित लोयांग से पश्चिम एशिया में टिगरिश नदी के किनारे स्थित टेसीफोन नामक केन्द्रों को जोड़ने वाला यह मार्ग 4,350 मील लम्बा था। लोयांग से यह मार्ग चांग और

तुनहवांग तक जाता था जहां से हवांग हो नदी का उद्‌गम हुआ है। इस स्थान से यह मार्ग उत्तर और दक्षिणी हिस्सों में विभाजित हो जाता था। उत्तरी मार्ग तकला मकान मरूभूमि के उत्तरी छोर तथा टीयन शान पर्वत शृंखला के मध्यभूमि के बीच स्थित मरूधानी क्षेत्र से होकर गुजरता था। जबकि दक्षिण मार्ग मरूभूमि के दक्षिणी छोर को छूता हुआ तथा कुनलुन की पहाड़ियों से होता हुआ जाता था। ये दानों मार्ग कासगर में एक दूसरे से मिल जाते थे किन्तु कासगार से ही पुन: दो मार्ग प्रस्फुटित हो जाते थे। कोकण्ड तथा तजकिस्तान के समरकन्द और उज्बेकिस्तान से होते हुए कैस्पियन सागर तक जाने वाला उत्तरी मार्ग ईरान को जाने वाला मुख्य मार्ग था। दक्षिणी मार्ग बैक्ट्रीया (उत्तरी अफगानिस्तान) से होकर तुर्कमेनिस्तान के भर्व नामक स्थान पर उत्तरी मार्ग से पुन: जुड़ जाता था अफगानिस्तान से एक महत्त्वपूर्ण मार्ग कपिसा और काबुल घाटी से होकर उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग में स्थित पुरुषपुर पुशकलावती तथा तक्षशिला जैसे महत्त्वपूर्ण नगरों को जोड़ता था और भारत के भीतरी भाग में प्रवेश करता था। कासगर से एक मार्ग कश्मीर के गिलगित तक जाता था। इस प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत चीन और रोमन साम्राज्य के बीच होने वाले महान व्यापार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गया। चीनी शिल्प के लिए स्थल और सामुद्रिक मार्गों का प्रयोग हो रहा था उनकी लम्बी दूरी और यातायात से जुड़े खर्च और जोखिम चीनी रेशम के मूल्य को स्वाभाविक रूप से काफी बढ़ा रहे थे।

प्रारंम्भिक शताब्दियों में मूँगा और शीशा की मांग चीन में काफी अधिक थी। किन्तु चीन में पहुंचने वाले वाले रोमन कांच के बर्तनों से जुड़े पुरातात्त्विक साक्ष्यों की बहुत कमी है। शायद पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के अभाव के चलते ही चीन में रोमन सामग्रियों को पर्याप्त रूप से नहीं पाया गया है। फ्रैंकीन्सेन्स तथा स्टीरैक्स दो प्रसिद्ध खुशबुओं का नाम है जिन्हें चीन पश्चिम एशिया से प्राप्त करता था और यूरोप में उसका निर्यात करता था। किन्तु चीन और मध्य एशिया की ऐसी वाणिज्यिक महत्त्व की वस्तुएं पहले भारत में आयात की जाती थीं तत्पश्चात बैरीगाजा (नर्मदा के मुहाने के निकट) तथा बर्बरीकौन (सिन्धु नदी के ममुहाने के पास) जैसे बन्दरगाहों से इनको फिर यूरोप में निर्यात किया जाता था। मध्य एशिया से प्राप्त की जाने वाली सामग्रियों में उच्च कोटि की पशुओं की खालें भी थीं। चीन को भारत के द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मोती मूंगा, शीशा और खुशबू प्रमुख थी।

भारत में चीन से रेशम का आयात किया जाता था। तीसरी और चौथी शताब्दियों में कई राजनीतिक कारणों से चीन तथा यूरोप के बीच का व्यापार दुष्प्रभावित हुआ। 220 सा.सं. में हान वंश की समाप्ति के बाद चीन कई राजनीतिक टुकड़ों में बांट गया। किन वंश के काल में प्राप्त किया गया अल्पकालिक एकीकरण केवल एक अपवाद के रूप में देखा जा सकता है। दरअसल यही वह काल था जब बाइजेंटियम साम्राज्य रोम से पृथक हो गया और उधर भारत में कुषाण साम्राज्य का भी पतन हो गया। ऑक्सस नदी के किनारे स्थित कई नगरों का भी पतन हो गया। किन्तु ऐसे समय में भी भारत और चीन के बीच व्यापारिक संम्बंध बना रहा। केवल कुछ यातायात मार्गों में फेरबदल हुआ होगा।

भारत और पश्चिम एशिया के सम्बंध के विषय में भारतीय इतिहासकारों ने बहुत समय से यह अवधारणा बना ली है कि यह क्षेत्र राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का एक उपनिवेश था। फिर भी भारत और दक्षिण पूर्वी एशिया के बीच अस्तित्व में रहे परस्पर सांस्कृतिक संवाद को भी बहुत सारे इतिहासकारों ने तरजीह दिया है। हालांकि इन दोनों क्षेत्रों के बीच के सम्बंध के पुनर्आकलन की काफी गुंजाइश बनी हुई है। प्राचीन संस्कृत और पालि ग्रन्थों में सुवर्ण द्वीप या सुगन्धी का जिक्र किया गया है। *मिलिन्दपन्ह* में भी सुवर्णमूभि के बन्दरगाह नगरों कर उल्लेख है। जातक कथाओं में वाराणसी और भरूकच्छ से इस प्रदेश में जाने वाले व्यापारियों की कथाएं हैं।

भारत और दक्षिण एशिया के बीच सामुद्रिक सम्पर्क के पुरातात्त्विक प्रमाण ल. 500/ 400 सा.सं.पू. के काल से ही मिलते हैं (रे 1994)। 500 सा.सं.पू. - 1500 सा.सं. के बीच की भारतीय सामग्रियां जो दक्षिण पूर्वी एशिया से प्राप्त की गई हैं। उनमें रंगीन शीशे, फलकित कार्नेलियन, और तराशें हुए अगर प्रमुख हैं। थाइलैन्ड के यू थंग और क्रवी से भारत के बने तराशें हुए कार्नेलियन के मनके पाए गए हैं। पश्चिम मध्य थाइलैन्ड में डंन ता फेट नामक स्थान से प्राप्त प्राचीन कब्रों से ऐसे मनके मिले हैं। मलेशिया के कुआला शेलिनसिंग में किए गए उत्खनन के दौरान भी ऐसे मनके प्राप्त हुए हैं। 300 सा.सं.पू. - 1700 सा.सं. के बीच की तिथि वाले शीशे के रंगीन मनके दक्षिण भारत एवं अन्य हिस्सों में बनाए गए थे।

पहली शताब्दी सा.सं. में भारत से दक्षिण पूर्वी एशिया को निर्यात की जाने वाली सामग्रियों में काफी अभिवृद्धि हुई। दरअसल इसी समय दक्षिण पूर्वी एशिया के केन्द्रीय भूभागों में राजतांत्रिक व्यवस्थाओं का उदभव हुआ तथा साथ में एक सोपानीकृत समाज की रूपरेखा भी तैयार हुई। इन परिवर्तनों के साथ साथ शिल्प उत्पादन का विस्तार हुआ और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का भी। डांन ता फेट, खुआन लुकपद (मलाए प्रायद्वीप) और छैया थाइलैण्ड का दक्षिण पूर्वी तटीय क्षेत्र) जैसे स्थानों पर लौह युग से जुड़े कब्रों में भारतीय मूल के बने कई उपादान मिलते हैं। छावफ्रया इरावदी और मेकांग नदी घाटियों में विकसित हो रहे नगरीय केन्द्रों से भी भारतीय मूल के कई भौतिक संस्कृति से जुड़े साक्ष्य मिलते हैं। किन्तु 500 सा.सं.पू. के मध्य से पहले दक्षिण पूर्वी एशिया में मुद्रा प्रणाली की स्थापना नहीं हुई थी। इसलिए ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि इस क्षेत्र से किया जाने वाला व्यापार वस्तु विनिमय या कौड़ी शंखों
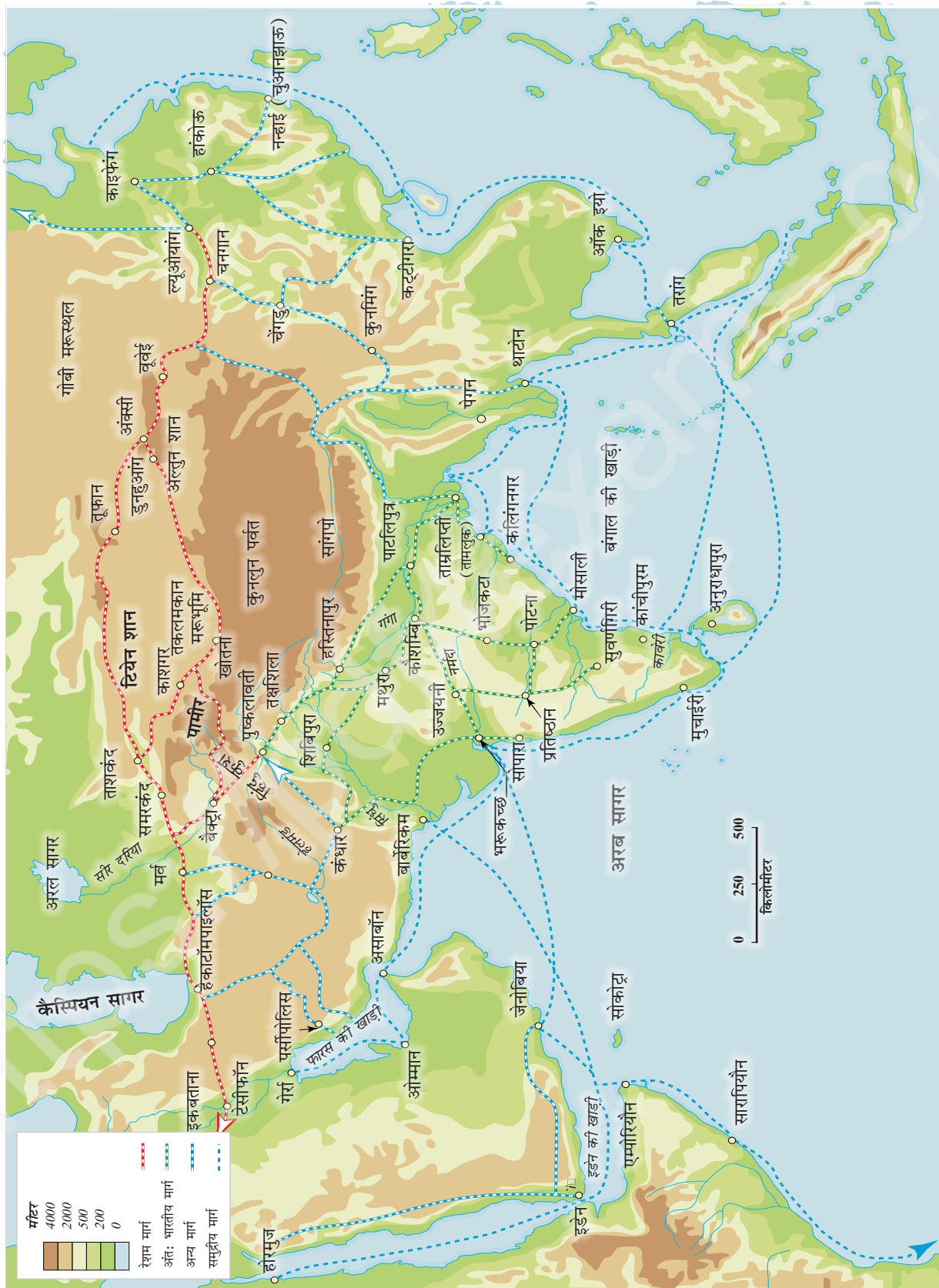
मानचित्र 8.4: एशिया, यूरोप और अफ्रीका को जोड़ने वाले प्रमुख मार्ग

मानचित्र 8.5: **भारत और दक्षिणपूर्व एशिया**

के आधार पर होता था। पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर दक्षिण-पूर्वी एशिया से भारत को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की सूची में स्वर्ण, लौंग, इलायची जैसे गर्म मसाले, चंदन, कपूर इत्यादि प्रमुख हैं। मलाए प्रायद्वीप से उपमहाद्वीप में टिन के आयात की संभावना भी दिखलाई पड़ती है। दूसरी ओर भारत से दक्षिण पूर्व एशिया को सूती वस्त्र चीनी मनके और कई प्रकार के मृद्भाण्ड निर्यात हो रहे थे। यह स्पष्ट है कि इनके बीच का व्यापार केवल उच्च स्तर या विलासिता पूर्ण वस्तुओं तक सीमित नहीं था।

रे (1994: 7) ने यह सुझाव दिया है कि तीसरी और चौथी शताब्दियों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप में कुछ मूलभूत परिवर्तन हुए। लम्बी दूरी के व्यापार मार्गों का क्षेत्र एवं स्थानीय स्तरों पर परिसीमन होने लगा था। रोमन व्यापार का रूझान अब दक्षिण की ओर होने लगा। भारत और पश्चिम एशिया के बीच चल रहे व्यापार का विस्तारीकरण हुआ। चीन और श्रीलंका के बीच सीधें सामुद्रिक व्यापार मार्ग के विकास के चलते श्रीलंकाई बंदरगाहों का व्यापारिक महत्त्व बढ़ गया।

इण्डो-रोमन व्यापार

जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में यूनानियों के लिए यवन सम्बोधन प्रयोग किया जाता था किन्तु कालन्तर में उपमहाद्वीप के पश्चिम से आने वाले किसी भी विदेशी के लिए इसका उपयोग किया जाने लगा। अशोक के अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि मौर्य साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश से परे रहने वाले लोग यवन कहलाते थे। 200 सा.सं.पू. - 300 सा.सं. के बीच पश्चिमी प्रदेश के सभी व्यवसायियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। प्रारम्भिक तमिल साहित्य में भी इसी प्रकार का प्रयोग देखने को मिलता है। संगम काव्यों में पेरियार नदी से आने वाले बड़े जहाजों का जिक्र है जो स्वर्ण और विदेशी शराब लाते थे तथा यहां से गोलमिर्च ले जाते थे। *पत्तुपाट्टु* की एक कविता में मदुरई के बुनकरों के द्वारा किए जाने वोल शोरगुल की तुलना मध्यरात्रि में यवन जहाजों से माल चढ़ाने उतारने के क्रम में आने वाली ध्वनि से की गई है। नक्कीरर नाम के कवि की एक कविता में पांड्य राजा नानमरान के द्वारा यवनों के द्वारा लायी गयी सुगंधित उण्डी मदिरा के पान का वर्णन किया गया हैं।

प्राथमिक स्रोत

पेरिप्लस मारीस एरिथ्रई (एरिथ्रियन सागर का पेरिप्लस)

प्राचीन यूनानी और रोमन भूगोलवेताओं ने हिन्दमहासागर लालसागर और फारस की खाड़ी को एरिथ्रीयन सागर कहा है। पेरिप्लस मारीस एरिथ्रई एक अद्वितीय हस्तपुस्तिका है जो मिश्र, पूर्वी अफ्रीका दक्षिण अरब और भारत में व्यापार करने वाले यूनानी व्यवसायियों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। समुद्री व्यापारियों के लिए निश्चित रूप से प्राचीन काल में इस पुस्तक का बड़ा महत्त्व रहा होगा। आज इतिहासकारों के द्वारा हिन्दमहासागर के व्यापार से जुड़े विस्तृत इतिहास के अध्ययन के लिए यह महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

यह पुस्तक 10 वीं शताब्दी के एक पान्डुलिपि के स्वरूप में हिडेलवर्ग में सुरक्षित है (जिसकी एक प्रति ब्रिटिश संग्रहालय में भी है)। इस पाण्डुलिपि में बहुत सारे काट छांट और अशुद्धियां देखी जा सकती हैं। कई स्थानों पर त्रुटियों को सुधारा गया है और मूल पाठ में भी परिवर्तन किया गाया है। लियोबेल केसोन जिन्होंने हाल में इसका एक अनुवादित संस्करण तथा व्याख्या प्रकाशित करवायी, इनका मानना है कि ऐसी अशुद्धियां मूल पाण्डुलिपि में ही रही होंगी जिसकी प्रतिलिपि तैयार की गई। इसके अतिरिक्त प्रतिलिपि करने वाले की समझ में पेरिप्लस के द्वारा वार्णित बहुत सारे स्थानों तथा तथ्यों की जानकारी नहीं थी।

हालांकि, बहुत सारे विद्वानों ने पेरिप्लस को तीसरी शताब्दी सा.सं. का माना है किन्तु अधिक संभावना है कि वह पहली शताब्दी सा.सं. का रहा होगा।

स्पष्ट रूप से यह एक ही लेखक की कृति है जिसका नाम हम नहीं जानते। लेकिन हम निश्चित रूप से कह सकते है कि वह मिश्र में रहने वाला एक यूनानी होगा और क्योंकि उसका 'मिश्र में हमारे पास जो वृक्ष उपलब्ध हैं' कथन है और उसके द्वारा रोमन महीनों के मिश्र में प्रचलित समायतनों का प्रयोग किया है। इसके पाठयसामग्री के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न सन्दर्भो की विस्तृत जानकारी लेखक ने अपने प्रत्यक्ष अनुमान के आधार पर दी है सुनी सुनाई बातो को नहीं लिखा है। लेखक की रुचि और लेखन शैली से यह भी लगता है कि वह एक व्यवसायी रहा होगा। लेखन में साहित्यिक अलंकरण का लगभग नहीं प्रयोग हुआ है। वह एक व्यापारी था जो दूसरे व्यापारियों की जानकारी के लिए लिख रहा था। उसकी इस पुस्तक में समुद्री यात्राओं के मार्ग बन्दरगाह व्यापार और व्यापार की जा रही वस्तुओं की विस्तृत जानकारी दर्ज है। बन्दरगाहों का वर्णन करते समय लेखक ने संयोगवश उन शासकों से जुड़ी सूचनाएं भी दी हैं जिनके नियंत्रण में वे बन्दरगाह आते थे। वह जिज्ञाओं से परिपूर्ण एक अन्वेषक था और समय समय पर उसने जन्तु और वनस्पति, लोगों के जीवन, पहनावे और परम्पराओं के बारे में बहुत कुछ लिखा। एक विषय जिस पर उसने चुप्पी साध ली वह था धर्म और आस्था का विषय। पेरिप्लस ने मिश्र के लाल सागर के बन्दरगाहों से होने वाले व्यापार के दो प्रमुख मार्गो का वर्णन किया है। इनमें से एक समुद्री मार्ग अफ्रीका के तट से गुजरता था और दूसरा मार्ग भारत पहुंचाता था। इस पुस्तक में उपलब्ध जानकारी के आधार पर हिन्दमहासागर के व्यापार तंत्र में उपयोग में लाई जाने वाली विभिन्न बंदरगाहों पर व्यापार किए जाने वाले वस्तुओं की सूचियां तैयार की हैं।

स्रोत: केसोन, 1989

दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी शताब्दी सा.सं. के बीच निश्चित रूप से भारत और रोमन साम्रान्य के बीच होने वाले व्यापार में काफी बढ़ोतरी हुई। भारत के द्वारा न केवल भारतीय वस्तुओं का निर्यात किया जा रहा था अपितु चीन और रोमन साम्राज्य के बीच होने वाले प्रसिद्ध रेशम व्यापार में भी उसकी बड़ी हिस्सेदारी थी।

प्राय: रोमन सम्राट ऑगस्टस (27 सा.सं.पू. - 14 सा.सं.) के शासन काल से ही रेशम मार्ग के उस हिस्से का प्रयोग नहीं किया जा रहा था जो मध्य एशिया के पार्थिया वाले इलाके से होकर गुजरती थी क्योंकि यह हिस्सा अप्रत्याशित रूप से असुरक्षित हो चुका था। इस व्यापार मार्ग को भारत के आंतरिक व्यापार मार्ग में आंशिक रूप से जोड़ दिया गया। पुन: भारतीय बंदरगाहों से सामूहिक मार्ग के माध्यम से रोमन साम्रज्य तक सामानों को भेजा जाने लगा। ऐसा लगता है कि दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से इस प्रकार के व्यापार के परिमाण में प्राय: मारकस अरिलियस के काल से काफी गिरावट आ गई। व्यापार में हुए इस गिरावट का एक मुख्य कारण रोमन साम्राज्य के आंतरिक विघटन को माना जा सकता है। किन्तु इस व्यापार का अस्तित्व पूरी तरह से खत्म नहीं हो गया।

पेरिप्लस ने सिन्धु के डेल्टा क्षेत्र और गुजरात के बंदरगाहों से रोमन साम्राज्य में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की सूची प्रस्तुत की है। प्लीनी और डियो क्रिसॉस्टॉम ने तो यहां तक कहा है कि रोमन सोने का भारत में प्रवाह हो रहा था। वियना पैपीरस नामक प्रसिद्ध दस्तावेज में एलेक्जेन्ड्रीया और मुजाइरिस के दो सामुदायिक व्यवासायियों के बीच नार्ड (गरम मसाला) हाथी दांत और वस्त्र के आयात निर्यात के लिए व्यापारिक सन्धि के मसौदे को उधृत किया गया है। भारत में बड़ी संख्या में रोमन सिक्के मिले हैं। ऐसे 170 सिक्के 130 स्थानों से प्रप्त किये गए है (सुरेश, 2004 27-88, 153-59)। इनमें से अधिकांश सिक्के रोमन सम्राट ऑगस्टस (31 सा.सं.पू. - 14

सा.सं.) तथा टिबेरियस (14-37 सा.सं.) के काल के है। रोमन सिक्कों की स्थानीय प्रतिकृतियां भी बड़ी संख्या में पाई जाती हैं। चांदी के ये रोमन सिक्कों को दिनारी और स्वर्ण सिक्कों को ऑरेई कहा जता था। स्पष्ट रूप से भारत और रोमन में चाँदी के सिक्कों का अधिक प्रचलन था। रोमन सिक्कों की सर्वाधिक प्राप्तियां तमिलनाडु के कोयम्बटूर क्षेत्र और आंध्र प्रदेश के कावेरी नदी घाटी प्रदेश से हुई हैं। हालांकि, पश्चिमी भारत के कुछ स्थानों में सेमी रोमन सिक्के मिले हैं। जैसे शोलापुर वगहोड़ा वदगांव माधवपुर और कोडापुर से किन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। यदि तक्षशिला मनिक्याला और मथुरा से मिले कुछ सिक्कों को छोड़ दें तो उत्तर भारत से रोमन सिक्कों की प्राप्ति प्रायः नगण्य है। यदि यह मान भी लें कि कुषाणों ने रोमन स्वर्ण मुद्राओं को एकत्र कर उन्हें गलवा कर अपने नाम से पुनर्मुद्रित किया तब भी चाँदी के सिक्कों की अनुपस्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकेगी। स्वर्णमुद्रा औरेई के मात्र एक संग्रह का हमारे समक्ष प्रतिवेदन उपलब्ध है वह सिंहमूक झारखण्ड से मिला है। भारत में आए स्वर्णमुद्राओं में से कई सिक्कों पर स्लेंश डंट कर्व या तारांकित है। ऐसे चिह्नों के विषय कुछ स्पष्ट रूप से नहीं का जा सकता। हो सकता है कि व्यावसायिक स्वामित्व के ये परिचायक रहे हों।
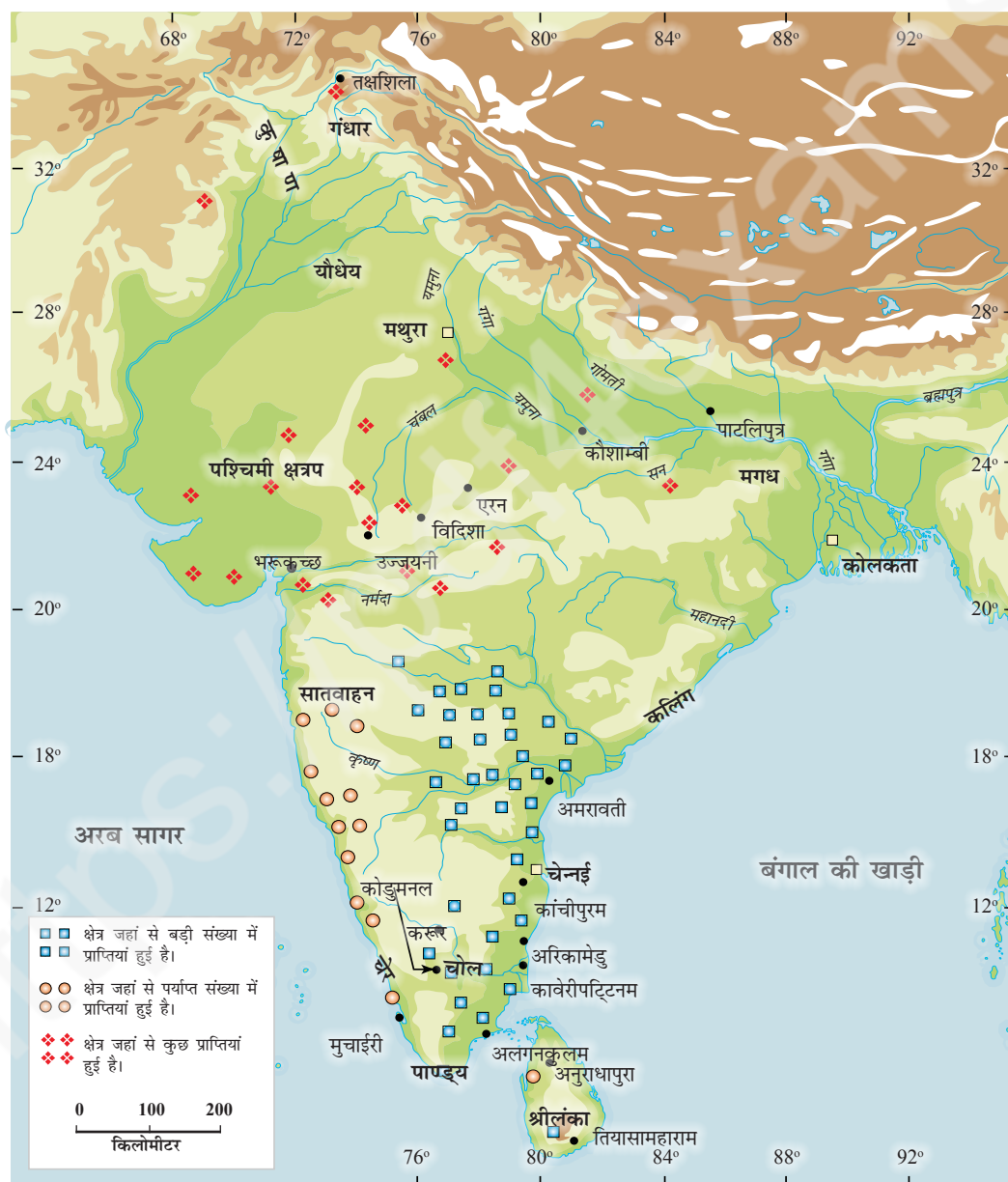
मानचित्र 8.6: **भारत में रोमन सिक्कों के प्राप्ति स्थल (सौजन्यः सुरेश, 2004)**

कुषाण और सातवाहनों की मुद्रा प्रणाली की अपनी स्वतंत्र रूप से स्थापित परम्परा थी। सम्भावना है कि इन राज्य क्षेत्रों में रोमन स्वर्ण सिक्कों का पुनर्मुद्रण किया गया। किन्तु पूर्वी दक्कन के राज्यों में जहां मुद्रा प्रणाली स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हुई थी उनके द्वारा रोमन सिक्कों को ही राजकीय मुद्रा के रूप में प्रयोग में लाया जाने लागा। पी बर्घोज (1991) ने इस संदर्भ में तृतीय शताब्दी सा.सं. के उत्तरार्ध में गुजरात में किये जा रहे रोमन सिक्कों के उपयोग का संदर्भ दिया है। भारत के विभिन्न हिस्सों से विशेष रूप से तमिलनाडु में रोमन कांस्य सिक्कों की प्राप्ति हुई है। ये सिक्के प्राय: चौथी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध से है। श्रीलंका से तो रोमन कांस्य सिक्के हजारों की संख्या में मिले हैं। इण्डो रोमन व्यापार के दक्षिणवर्ती स्थानांतरण का यह स्पष्ट संकेत है। सिक्कों के साथ साथ भारत और भूमध्यसागरीय प्रदेश के सुदृढ़ व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि मृद्भाण्ड से जुड़े साक्ष्यों के द्वारा भी होती है। भारत में दो प्रकार के रोमन मृद्भाण्ड विशेष रूप से प्राप्त हुए हैं – उत्कृष्ट दुहत्थी रोमन एम्फोरा जार और मुद्रांकित मृद्भाण्ड जिन्हें टेरा सिगिलाटा कहा जाता है। एम्फोरा जार विशाल आकार वाले अण्डाकार जार हैं। इनकी गर्दन पतली और दो हत्थे होते थे। जब कि टेरा सिगिलाटा आयताकार किया हुआ चमकीला मृद्भाण्ड था जिन्हे सांचे में ढाला जाता था। इस प्रकार के मृद्भाण्ड का प्रमुख केन्द्र एरेजो हुआ करता था और इस आधार पर इन्हें एरेटाइन मृद्भाण्ड की संज्ञा दी गई। हालांकि इस कोटि के सभी मृद्भाण्ड जो अरिकामेडु में पाए गए एरेजो

अद्यतन खोज

अरिकामेडु में किए गए अद्यतन पुरातात्त्विक उत्खनन

अरिकामेडु का पुरातात्त्विक पुनर्सर्वेक्षण 1989–1992 के बीच सम्पन्न हुआ। इन उत्खननों से कुछ नई जानकारियां मिली तथा साथ में पहले हुए सर्वेक्षणें से प्राप्त साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन किए गए, नए निष्कर्ष सामने आए।

1. पहले हुए पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के अधार पर यह मान लिया गया था कि अरिकामेडु को पहली शताब्दी ईसा पूर्व में इण्डो रामन व्यापार के संदर्भ में बसाया गया था। किन्तु हाल के उत्खनन के आधार पर यह पता चला कि उक्त व्यापार के प्रारम्भ के बहुत पहले से यह स्थान एक बसा बसाया क्षेत्र था।
2. पूर्व के सर्वेक्षण के आधार पर उत्तरी हिस्से को बंदरगाह तथा दक्षिणी हिस्से को मनके और वस्त्र उद्योग के क्षेत्र के रूप में चिन्हित किया गया था। किन्तु अब पता चलता है कि यहां की गतिविधियां इतने सहज विभाजन के अनुरूप नहीं संचालित हो रही थी। व्यवसायी और नाविक समुदायों के लोग दोनों हिस्सों में रहा करते थे।
3. उत्तरी छोर पर और अधिक विदेशी मृद्भाण्डों की प्रप्ति हुई। जिससे यह अनुमान लगाया गया कि इस हिस्से में विदेशी जनसंख्या निवास करती थी।
4. जलाशय कुण्डों को जो दक्षिणी हिस्से में पाए किसी भी दृष्टि से वस्त्र रंगाई के लिए प्रयोग में नहीं लया गया था। इन संरचनाओं का उपयोग खानपान और अन्य समग्रियों के भण्डारण के लिए किया जा रहा था।
5. पहले ऐसा स्वीकार कर लिया गया था कि द्वितीय शताब्दी ईसवी में इण्डो रोमन व्यापार का पतन हो गया और जिसके बाद अरिकामेडु का पतन हो गया था। हाल के साक्ष्य यह बतलाते है कि व्यापार का पतन अवश्य हुआ होगा किन्तु यह पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ था। यहां तक की सातवीं शताब्दी ईसवी तक कुछ हद तक इस व्यापार का अस्तित्व बना रहा था।
6. चोल शासकों द्वारा निर्गत सिक्कों, मध्य युगीन दीपों और अन्य परवर्ती काल की वस्तुओं की प्राप्ति के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अरिकामेडु कुछ एक संक्षिप्त कालों को छोड़ कर आधुनिक काल तक लगातार बसा हुआ था। पूर्वी एशिया के मृद्भाण्डों की प्राप्ति से यही लगता है कि व्यापार की दिशा और स्वरूप में परिवर्तन हुआ था।

ऐसे और भी कई प्रश्न है जिनका कोई निश्चित समाधान नहीं ढूढा जा सका है जैसे रोमन हत्थे वाले जारों का क्या। उपयोग था? क्या इनमें मदिरा था जैतून की तेल जैसी चीजें रखी जाती थी? इस व्यापार का उपभोक्ता वर्ग कौन था? विदेशी व्यापारी धनाढय भरतीय या दोनों? क्या वास्तव में रोमन साम्राज्य से आने वाले व्यापारी अरिकामेडु में बड़ी संख्या में निवास कर रहे थे? साहित्यिक स्रोतों और पुरातात्त्विक साक्ष्यों की पहले जो व्याख्या की गई उनके आधार पर दक्षिण भारत में रोमन बस्तियों के अस्तित्व की बात को स्वीकार किया जाता था। हो सकता है कि रोमन एम्फोरा में लाई जाने वाली शराब का उपभोग दक्षिण भारत का कुलीन वर्ग कर रहा था, न कि इन केन्द्रों पर आकर रहने वाले विदेशी उपभोक्ता। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि इण्डो रोमन व्यापार भारत और रोमन साम्राज्य के बीच होने वाला कोई सीधा व्यापार नहीं था। बल्कि मिश्र में बसे अरब और यूनानी व्यापारी जैसे कई क्षेत्रों के मध्यस्थ इस व्यापार में केन्द्रीय भूमिका का निर्वाह कर रहे थे।

स्रोत: बेगले, 1996
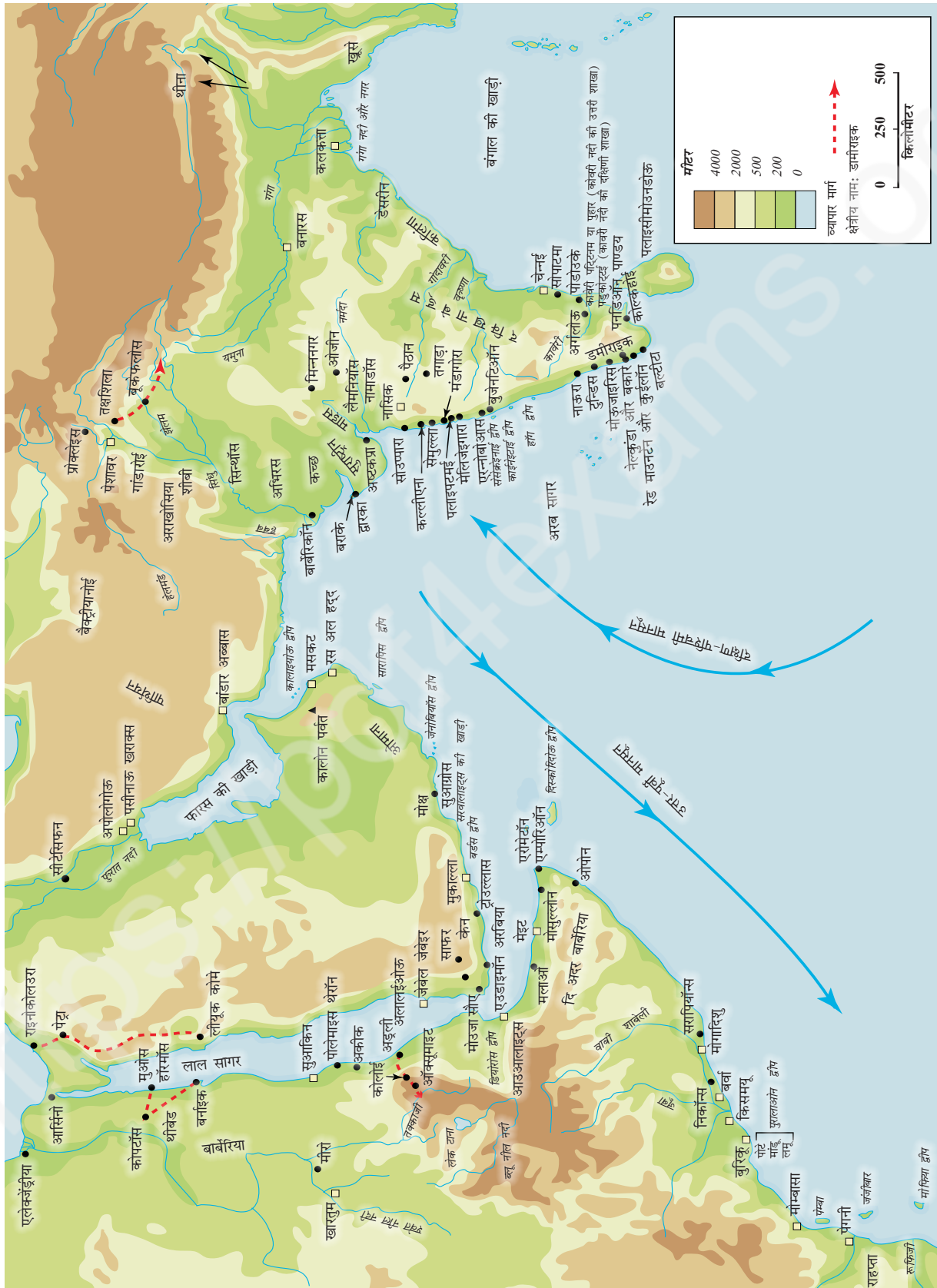
मानचित्र 8.7: : दि एरिथ्रियन सी, पेरिप्लस के अनुसार, (सौजन्य: हंटिंगफोर्ड, 1980)

में नहीं बने थे। इसलिए इन्हें टेरा सिगिलसटा की सामाय संज्ञा दी गई जिसमें अलंकृत अथवा अनलंकृत सांचे में बने था चाक पर बने इटली से बने अथवा इन मृदभाण्डों की प्रतिकृतियों को रखा जा सकता है। रॉलेट या चक्रिल बेलनाकार मृद्भाण्ड समतल और चमकीली पांलिशदार सतह वाले मृद्भाण्ड की एक श्रेणी है जिनपर केन्द्रीय वृत्तों वाली डिजाइन बनी होती थी। इस कोटि के मृद्भाण्ड बड़ी संख्या में पूर्वी और दक्षिण पूर्वी भारत में पाए गए हैं (तटीय क्षेत्रों तथा पृष्ठ प्रदेशें में इनकी प्राप्ति होती रही है)। इन्हें कभी विदेशी मूल का मृद्भाण्ड समझा जाता था। किन्तु अब यह सामान्य रूप से स्थापित तथ्य है कि ये स्थानीय रूप से निर्मित मृद्भाण्ड है। लाल पांलिशदार मृद्भाण्ड जो विशेष रूप से गुजरात से पाए गए हैं। इन्हें भी कभी विदेशी मृद्भाण्ड के रूप में देखा जाता था। अब इन्हे स्थानीय रूप से निर्मित मृद्भाण्डों के रूप में स्वीकार किया जाता है।

पॉण्डीचेरी से 4 कि. मी. पर अवस्थित कोरोमण्डल तट का अरिकामेडु नाम का स्थल भारतीय सामुद्रिक व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यह अरियनकूपम नदी के मुहाने पर स्थित है। 1945 में किए गए पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के बाद यहां से पहली शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर पहली दूसरी शताब्दी ईसवी तक के जनजीवन के पुरातात्त्विक साक्ष्य एकत्र किए गए। इस स्थल से उत्तरी और दक्षिणी दो विभाजनों को चिन्हित किया जा सकता है। उत्तरी हिस्से में मिली ईटों से बनी एक संरचना को कारखाना कहा गया है। दक्षिणी हिस्से में स्थित दीवारों से घिरे दो बड़े आंगनों में वस्त्रों की रंगाई होती थी। जहां जलाशयों और जलनिकासी की समुचित व्यवस्था उपलब्ध थी। यहां पर स्थानीय रूप से निर्मित मृद्भाण्डों के अतिरिक्त एम्फोरा और एरेटाइन मृद्भाण्ड (जिन्हे अब सामन्य रूप से टेरा सिगिलटा की संज्ञा दी जाती है) पाए गए हैं। एम्फोरा श्रेणी के दुहत्थी जारों का रंग पीला होता था। रॉलेट मृद्भाण्डों में से काले रंग वाले मृद्भाण्डों पर विदेशी प्रभावों को रेखांकित किया गया है। यहां से 200 की संख्या में शंख हड्डी स्वर्ण टेराकोटा तथा कई बहुमुल्य पत्थरों के मनके भी मिले हैं। यहां से प्राप्त एक ग्रीको रोमन रत्न पर उत्कीर्ण आकृति सम्राट ऑगस्टस के द्वारा निर्गत बताई जा रही है। लाल भाण्ड से निर्मित एक रोमन लैम्प के टुकड़े भी मिले है। मॉर्टिमर व्हीलर ने इन साक्ष्यों के आधार पर पोड्डके को अरिकामेडु के रूप में चिन्हित किया है जो यवनों का एक व्यापार केन्द्र (एम्पोरिया) था। इसका वर्णन यूनानी वृत्तांतो में किया गया है। किन्तु हाल में हुए पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों के आधार पर इन विचारों में कुछ संशोधन की गुंजाइश दिखलाई पड़ने लगी है।

अरिकामेडु के अतिरिक्त भूमध्य सागरीय संसार के एम्फोरा और टेरा सिगिलटा की प्राप्ति उरईयुर कांचीपुरम और वसावसमुद्रम (दोनों चिंगलेपुट जिला में पड़ते हैं) जैसे दक्षिण भारत के अन्य केन्द्रों से भी हुई है। पश्चिम भारत में गुजरात के द्वारका प्रभासपाटन, अजबपुरा, सठोड़, जलात नगर से भी इनकी प्रप्तियां हुई हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य प्रकार के टेराकोटा की वस्तुओं, शीशे के उपादान, धातु की बनी वस्तुएं तथा आभुषणों पर भी रोमन प्रभाव कहा जा सकता है। सम्पूर्ण महाद्वीप में मिट्टी के वैसे सांचे मिलते है। जिनमें रोमन मुद्राओं की प्रतिकृतियां तैयार की जाती थी। बुली कही जाने वाली मुद्राओं में छिद्र होता था और शायद इन्हे गले में पहनने का प्रचलन था। कोल्हापुर का ब्रहापुरी नामक पश्चिमी हिस्सा (महाराष्ट्र) भी रोमन कांस्यों के एक बडे संग्रह की प्राप्ति के कारण जाना जाता हैं। इसी संग्रह में रोमन समुद्र देवता पीडंन की एक प्रतिमा भी मिली है। सुरेश (2004: 153-55) का मानना है कि रोमन साक्ष्यों के उपमहाद्वीप में वितरण को आधार माना जाए तब ऐसा लगता है कि इण्डो रोमन व्यापार अपने प्रारम्भिक चरण में पश्चिमी तट पर और शीघ्र ही कोरोमण्डल तट में केन्द्रित रहा। मिश्र के बेरेनिका तटीय क्षेत्र में हुए उत्खनन के आधार पर जो साक्ष्य मिले हैं कि वहाँ चौथी शताब्दी ईसवी में यहां दक्षिण भारत और श्रीलंका से गोलमिर्च और मनके आयात किये जा रहे थे। यह भी पूर्व पश्चिम के बीच अस्तित्व में रहे समृद्धशाली वाणिज्यिक सम्बंध की पुष्टि करता है।

वाणिज्य और व्यवसायियों की वृहत्तर भूमिका

इस काल में भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से प्राप्त होने वाले दान अभिलेखों में बड़ी तादाद में दानकर्ता के रूप में व्यवसायी वर्ग उभर कर सामने आया। दरअसल व्यवसायिक समुदायों की बढ़ती हुई समृद्धि और धार्मिक समुदायों के संस्थानीकृत और सुसंगठित स्वरूप का विकास साथ साथ होने वाली घटनाएं थीं। व्यवसायी वर्ग के लिए वित्तीय सहायता द्वारा ऐसी धार्मिक संस्थाओं को संरक्षण देना जहां एक ओर उनके व्यक्तिगत आस्था की अभिव्यक्ति थी वहीं दूसरी ओर इनके द्वारा अपने स्वयं के सामाजिक स्तर के प्रतिस्थापन करने का एक प्रयास भी था।[5] इस काल के विभिन्न धार्मिक केन्द्रों के विकसित प्रतिमाशास्त्र, समकालीन सामुद्रिक व्यापारी समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतहुत में उत्कीर्ण एक शैलचित्र पट्टीका पर एक समुद्री दैत्य के द्वारा एक बड़े नाव और उसमें सवार लोगों को निगल लेने का दृश्यांकन किया गया है। इस दृश्य से सम्बद्ध एक अभिलेख से सूचना मिलती है कि यह जातक कथाओं में वर्णित वसुगुप्त नाम के एक व्यापारी की कथा पर आधारित है जिसके जीवन की रक्षा बुद्ध का ध्यान करने से संभव हो सकी। मथुरा के एक प्रतिमा पर टूटे हुए जहाज के नाविकों की यक्षियों से

5. इस विषय पर चर्चा इस अध्याय में बाद में की जाएगी।

रक्षा करते हुए एक बोधिसत्व का चित्रण किया गया है। सामुद्रिक व्यापार से जुड़ी आपदाओं का और भी सटीक चित्रण कोंकण तट में पाए जाने वाले वीरागल पत्थरों में उत्कीर्ण शैल चित्रों के द्वारा होता है। इनमें समुद्री युद्धों के दौरान शहीद हुए नाविकों को स्मृति और सम्मान के रूप में चित्रित किया गया है।

यह तर्क दिया जा रहा है कि बौद्ध संघ व्यापारी वर्ग तथा श्रेणी संगठनों के बीच धीरे-धीरे गहरा सम्बंध विकसित हो गया। ल्यू (1998: 122-123) ने यह तर्क दिया है कि बौद्ध संघों को मिलने वाले प्रचुर दानों के फलस्वरूप वे वस्तुत: विभिन्न प्रकार की वित्तीय गतिविधियों में संलिप्त होने के लिए बाध्य थे। इसलिए बौद्ध भिक्षुओं और व्यापारी वर्ग के बीच धीरे धीरे एक अन्योन्याश्रय संम्बंध विकसित हो गया। व्यापारी वर्ग संघ को प्रचुर दान देने लगे और बदले में संघ व्यापारियों को विशेष आध्यात्मिक सुविधा मुहैया करने लगा। लियू ने अपने विचार की संपुष्टि के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। गुजरात के देवनीमोरी बौद्ध संघ कहे जाने वाले स्थान से दुहत्थी सुराही के टुकड़ों से जो द्रव्य मिला है वह या तो किसी प्रकार के मदिरा का अवशिष्ट है या किसी औषधि का। शैखानदेरी जो प्राचीन पुष्कलावती था से एक बौद्ध संघ के परिसर में मदिरा निर्माण केन्द्र का अवशेष मिला है। इन उदाहरणों के आधार पर ल्यु ने तर्क दिया कि बौद्ध संघ मदिरा निर्माण और व्यापार में संलिप्त था। हालांकि, पूजन पद्धति में जिन सुगंधियों और वेशकीमती पत्थरों का उपयोग हो। रहा था उसमें भी वाणिज्य और लाभांश की सम्भावनाएं थी हो सकता है कि ऊपरोक्त उदाहरणों से वाणिज्यिक गतिविधियों में बौद्ध संघों की प्रत्यक्ष गतिविधि स्पष्ट नहीं होती है। विभिन्न संघ और विहारों का प्रमुख व्यापारिक मार्गों पर अवस्थित होना, हो सकता है केवल संयोग न हो, फिर भी इनसे व्यापारिक सम्बंधों की कोई स्पष्ट रूप से पुष्टि नहीं हो सकती। ऐसी सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि बौद्ध संघ और प्राचीन भारत के श्रेणी संगठनों के बीच, जिस प्रगाढ़ सम्बंध की चर्चा की जाती रही है वह कालान्तर में हुए पूर्वी एशिया में विकसित इस प्रकार के सम्बंध के आलोक में देखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक संरचना के माध्यम के रूप में वाणिज्य की भूमिका का विश्लेषण करना भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। लियु ने अपने अध्ययन में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि लम्बी दूरी के व्यापार नगरीकरण बौद्ध धर्म सिद्धान्तो का विकास और चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार के बीच गहरा संम्बंध रहा है। भारत से बौद्ध स्मृति अवशेष चिह्न बौद्ध प्रतिमाएं और अन्य बौद्ध आनुष्ठानिक उपादानों की तलाश भारत चीन व्यापार के विकास में अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध हुई। रे (1994) ने भी इस काल के लिए बौद्ध धर्म और वाणिज्य के बीच अन्योन्याश्रय सम्बंध पर प्रकाश डाला है। उन्होंने दिखलाने का प्रयास किया है कि इसी क्रम में मुद्रा मुहर और मृद्भाण्डों पर सम्भावित बौद्ध प्रतीक चिह्नों का समावेश किया गया और यही नहीं बोधिसत्व अवलोकितेश्वर समुद्र यात्राओं के प्रतिनिधि संरक्षक देवता के रूप में उभर कर सामने आए। उन्होंने तर्क दिया है कि भारतीय उपमहाद्वीप और दक्षिण पूर्वी एशिया के बीच वाणिज्यिक माध्यमों के विस्तार की आधारशिला पर ही दक्षिण पूर्वी एशिया में बौद्ध धर्म की स्थापना हुई। निश्चित रूप से सांस्कृतिक प्रसारण का व्यापार एक महत्त्वपूर्ण साधन जरूर था लेकिन इसके साथा साथ कई उत्तरदायी कारक भी मौजूद थे। चीनी और भारतीय बौद्ध यात्रियों ने चीन में बौद्ध धर्म के विकास में कम महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं की। भारत के राजदरबारों के अनुरूप प्रारंभिक दौर में उत्तर पूर्वी एशिया के राजदरबारों में भी ब्राह्मण व्यवहारों का वर्चस्व था जो इन राजदरबारों में ब्राह्मण पुरोहितों की उपस्थिति और प्रमाण की ओर इशारा करती है।

उत्तर भारत और दक्कन में सामाजिक परिवर्तन: वर्ण, जाति और लिंग भेद

(Aspects of Social Change in North India and the Deccan : Varna, Caste, Gender)

वैसे तो इस अध्याय में अभी तक विमर्श किए गए सभी तथ्यों का किसी न किसी रूप में सामाजिक निहितार्थ था, फिर भी सामाजिक इतिहास के कुछ पहलुओं की पृथक विवेचना करना भी वांछित है। इसलिए यहां पर सामाजिक इतिहास के कुछ पक्षों का पृथक विश्लेषण किया जा रहा है। ब्राह्मणवादी समाज की आधारशिला चार वर्णों और आश्रमों पर अभी टिकी हुई थी और इस काल के धर्मशास्त्र इन ब्राह्मण आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जहां प्रारंभिक चरण में आश्रमों को वैकल्पिक जीवन शैलियों के रूप में देखा जाता था। यह धारणा अब जीवन चक्र के उत्तरोतर विभाजन के रूप में स्थापित हो गई। यवन जैसे विदेशियों को हिन्दू समाज में समाविष्ट करने के लिए वर्णसंकर सिद्धान्त का सूत्रपात किया गया। प्रारंभिक धर्मसूत्रों में यवनों का वर्णन क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्रियों की संतानों के रूप में किया गया है। *महाभारत* में इनके सम्बंध में विभिन्न व्याख्याएं दी गई। ययाति के पुत्रों के रूप में वशिष्ठ के कामधेनु गाय से उत्पन्न तथा विश्वामित्र की सेना को परास्त करने के लिए पह्लव द्रविड़ और शकों के साथ इनकी सह उत्पति के रूप में वगैरह वगेरह। *मनुस्मृति* में उनका उल्लेख व्रात्य क्षत्रियों के रूप में हुआ है अर्थात वैसे क्षत्रिय जिन्हें यज्ञ अनुष्ठानों के नियमित निष्पादन के अभाव में पदच्युत कर दिया गया। इन सन्दर्भों में उनके सामाजिक समावेशन एवं उनके अस्तित्व के प्रतिबहिष्करण की वृति के बीच एक प्रकार की विसंगति देखने को मिलती है।

जाति, वंश और व्यवसाय सामाजिक परिचय के प्रमुख आधार बने रहे। जाति व्यवस्था के प्रकार्यात्मक पहलुओं के विषय में समकालीन ग्रन्थों के अन्तर्गत विशद् मूल्यांकन उपलब्ध नहीं है। फिर भी अन्तर्जातीय विवाह और व्यवसायों के वंशानुगत प्रसारण की धारणाओं को प्राथमिकता दी गई। ऐसे बहुत सारे सन्दर्भ आते हैं जिसमें एक ही व्यवसाय के लोगों को विशेष आवासीय क्षेत्र आवंटित किया जाता रहा। आहार नियमों एवं प्रतिबंधों के सम्बंध में सामाजिक सोपानीकरण के सर्वोच्च स्तर पर ब्राह्मण तथा दूसरी ओर सामाजिक हासिए पर स्थित चण्डालों की स्थिति का संज्ञान लिया गया है।

मनुस्मृति में पहले के किसी भी धर्मग्रन्थ की अपेक्षा चण्डालों के सामाजिक स्थिति पर अधिक विमर्श उपलब्ध हैं। इनके सम्बंध में कुछ तथ्य तो पहले के धर्मवेत्ताओं के कथनों के विस्तार कहे जा सकते हैं। किन्तु जो एक तरह से बिल्कुल नई बात इनके सम्बंध में देखने को मिलती है, वह है इनका पूर्ण सामाजिक बहिष्करण। चाण्डालों का आवास अब गाँव से बिल्कुल बाहर होना चाहिए (10.51)। गाँव या नगर में उनका प्रवेश अब केवल उनके द्वारा निष्पादित किए जा सकने वाले अनिवार्य कर्मों की परिस्थिति में ही संभव हो गया (10.55)। उन्हें 'अपपात्र' कहा गया अर्थात उनको दिया गया भोजन केवल भूमि पर परोसा जा सकता था, किसी के द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले पात्रों में नहीं (3.92)। कई जातक कथाओं के आधार पर भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके लिए *मनुस्मृति* में प्रस्तावित अस्पृश्यता सम्बंधी ये नियम उस समय के प्रचलित सामाजिक व्यवहार के यथार्थ को ही प्रतिबिम्बित कर रहे थे। इन कथाओं में भी चण्डालों के घर सामान्य आवासीय परिधि के बाहर एकान्त में दिखलाये जा रहे थे। सामाजिक लचीलेपन को निर्देशित करने वाले कई तथ्यों को भी ढूंढा जा सकता है। उदाहरण के लिए, प्रतिलोम या अनुलोम विवाहों से उत्पन्न सम्पत्ति सम्बंधी अधिकारों की सैद्धांतिक स्वीकारोक्ति की जा रही थी। भद्रसाल जातक की उस कथा की पहले भी चर्चा की जा चुकी है जब कोसल के राजा प्रसेनजित को यह ज्ञात हुआ कि शाक्यों ने छलपूर्वक किस प्रकार उसका विवाह एक दासी कन्या से करवा दिया था। उसने तुरन्त अपनी पत्नी और पुत्र का परित्याग कर दिया। स्थिति फिर से तभी सामान्य हो सकी जब बुद्ध ने हस्तक्षेप करते हुए उसे समझाया कि संतान अपनी माता की नहीं बल्कि पिता के परिवार से समाज में जानी जाती है। एक दूसरी जातक कथा में यह रोचक वर्णन मिलता है कि किस प्रकार एक राजकुमार ने अपने प्रेम प्रसंग को सफल बनाने के लिए कुम्हार, टोकरी बनाने वाला, मालाकार और बावर्ची की भूमिका निभाई। अन्य जातक कथाओं में किसी राजकुमार के व्यापारी बनने और एक अन्य राजपरिवार के सदस्य के धनुर्धर के रूप में नौकरी करने की कहानी कही गई है। इन कथाओं में ब्राह्मणों के द्वारा व्यापार का पेशा अपनाने या आखेटक कृषक अथवा गड़ेरियों के रूप में जीवन यापन करने के प्रसंग आते हैं। हालांकि, ऊपरोक्त सभी उद्धरण उच्च सामाजिक स्थिति के लोगों के द्वारा अपनाए गए निम्नतर व्यवसायों से संम्बंधित है। उर्ध्वाधर सामाजिक गतिशीलता को निर्देशित करने वाली कथाएं बहुत कम हैं।

पहले के एक अध्याय में उस तथ्य का विश्लेषण किया गया था जिसमें परिवार के अधीन लिंग संवेदी सम्बंधों का वृहत्तर जातिगत एव सामाजिक निहितार्थों के बीच प्रत्यक्ष सम्बंध होने की बात कही गई है। किन्तु इस काल में नारी के सम्बंध में विशेष रूप से प्रतिकूल धारणाओं के विकास को देखा जा सकता है। *मनुस्मृति* नारी को सम्मानित तो करता है परन्तु उसकी अवहेलना भी करता है। ऑलीवेल ([2005], 2006: 29–36) का अवलोकन है कि नारी के विषय में ऐसे विरोधाभाषी कथन सम्बद्ध कथनों को ध्यान में रखते हुए कहे गए हैं। जिस प्रसंग में यह विचार रखा गया है कि पुरुषों को किस प्रकार अपनी पत्नी को पूर्ण नियंत्रण में रखना है (9.14–16), वहाँ नारी को वासना की एक वस्तु, क्रूर स्वभाव वाली तथा पूर्णतः अविश्वसनीय बताया गया है। जब पुरुषों के द्वारा नारी का सम्मान करने का सुझाव दिया गया है (9.26–28) तब नारी के साथ इतने विशेषण लगाए गए है कि उनकी तुलना श्री लक्ष्मी से कम नहीं आंकी गई है। एक स्थान पर जहां मनु यह कहना चाहते हैं कि पुरुष द्वारा नारी का अपमान नहीं होना चाहिए (3.53–58) वहां तत्र समयन्ते देवता नारी यत्र पूज्यते की बात कही गई है। *मनुस्मृति* में पत्नी और उसकी संपत्ति पर पति के नियंत्रण को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है किन्तु साथ में यह भी आदेश दिया गया है कि किसी भी परिस्थिति में पत्नी को बेचा या उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। यह भी कहा गया है कि उसे चल सम्पत्ति के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि जोड़ियां स्वर्ग में बनती हैं न कि मवेशी या स्वर्ण की तरह बाजार से उन्हें खरीदा जाता है (9.95)। यदि वह पति के प्रति निष्ठावान हो तो प्रत्येक परिस्थिति में पति को उसे सुरक्षा देने का आदेश दिया गया है (9.95)।

इतिहासकारों के लिए यह आवश्यक है कि पृथक पृथक कथनों और उनके सन्दर्भों से परे सामाजिक और पारिवारिक भूमिकाओं एवं संरचनाओं का वृहत्तर पक्ष रेखांकित करने का प्रयास करें। यह अध्ययन *मनुस्मृति* जैसे समकालीन ग्रंथों के सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा संभव है। ऐसा लगता है कि परिवार की पितृसतात्मक प्रकृति और भी सुदृढ़ होती चली गई। ऐसी अवस्था इस काल के सभी धर्मशास्त्रों में प्रतिबिम्बित होती है। सार्वजनिक जीवन से स्त्री का लोप होने लगा और ज्ञान के साधनों पर नारी की पकड़ कमजोर हो गई। नारी की पुरुषों पर निर्भरता का

प्रमाण काफी बढ़ गया। पुत्री की अपेक्षा पुत्र प्राप्ति की प्राथमिकता और गहराती चली गई। नारी की भूमिका नेपथ्य के घरेलू जीवन तक सीमित होने लगी और नारी की सतीत्व पर दिया जाने वाला अत्यधिक बल इसी परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया जा सकता है। नारी की कामुकता पर और अथक नियंत्रण का प्रयास किया जाने लगा। मासिक धर्म शुरू होने के पहले लड़की की शादी भी इसी दिशा में किया जा रहा प्रयास था।

विजय नाथ (1993-94) ने ऋगवैदिक काल से 5 वीं/ 6ठीं शताब्दी ईसवी के बीच ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर स्त्री के सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकार के बदलते हुए परिदृश्य का विश्लेषण किया है। उनका अवलोकन है कि स्मृति और पुराणों के समय तक नारी की सैद्धांतिक अधीनस्थता पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। उनकी स्थिति चल सम्पत्ति तथा शूद्रों के समकक्ष मानी जाने लगी थी। प्रारम्भिक धर्मसूत्रों में सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में महिला को न्यूनतम प्राथमिकता दी गई है। लेकिन नाथ ने यह अनुभव किया है कि दूसरी शताब्दी ईसवी के पश्चात स्त्री के सम्पत्ति सम्बंधी अधिकार को स्वीकार किया जाने लगा। किन्तु ऐसी स्वीकृति केवल स्त्रीधन के संबंध में मान्य थी। *मनुस्मृति* (9.94) के अनुसार, स्त्रीधन के अंतर्गत छ: प्रकार के उपहारों को सम्मिलित किया गया है—(1) विवाह के पहले प्राप्त किया गया उपहार (2) विवाहोत्सव के उपलक्ष पर प्राप्त उपहार (3) सास ससुर द्वारा स्नेहवश दिया गया उपहार (4) माता पिता और भाइयों द्वारा दिये गए उपहार। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस स्त्री धन की सूची में उत्तराधिकार के माध्यम से प्राप्त सम्पत्ति को तो नहीं ही सम्मिलित किया गया बल्कि स्त्री के स्वयं के श्रम द्वारा अर्जित सम्पत्ति का अनुमोदन भी नहीं किया गया। सम्पत्ति सम्बन्धी सामान्य अधिकार अनिवार्य रूप से पितृपक्ष से वंशानुगत हस्तांतरण के सिद्धांत पर आधारित रहे। नाथ का मानना है कि गुप्त तथा उत्तर गुप्त काल में स्त्री द्वारा अचल सम्पत्ति के उत्तराधिकार को शायद इसलिए प्रोत्साहित किया गया क्योंकि इस माध्यम से सम्पत्ति पर परिवार का नियंत्रण बना रह सकता था और उसे राज्य द्वारा अधिगृहित पर परिवार का नियंत्रण बना रह सकता था और उसे राज्य द्वारा अधिगृहित किये जाने से बचाया जा सकता था।

स्मृति ग्रन्थों में विवाह से जुड़े अनुष्ठानों पर विस्तार से चर्चा नहीं की गई किन्तु इनमें विवाह से सम्बन्धित सामान्य तथ्यों का वर्णन मिल जाता है। *मनुस्मृति* (3.4) में प्रस्तावित है कि एक द्विज पुरुष को विद्याध्ययन पूर्ण करने के पश्चात अपने वर्ण की किसी गुणवान कन्या से विवाह बन्धन में बंध जाना चाहिये। नारी शुचिता और संतानोत्पति के प्रति अतिसंवेदनशीलता का परिणाम यह हुआ कि लड़की के अतिशीघ्र विवाह करने के व्यवहार को पूर्ण समर्थन मिल गया। कई स्मृति ग्रंथ यह मानने लगे कि प्रत्येक मासिक धर्म का मतलब होता है गर्भधारण करने के एक महत्त्वपूर्ण अवसर को गंवा देना और इसलिए इसे भ्रूणहत्या के बराबर समझा जाना चाहिए। प्रारम्भिक धर्मसूत्रों में तो लड़की के मासिक धर्म शरू हो जाने के बाद शादी करने का प्रस्ताव रखा गया किन्तु बाद के धर्मसूत्रों में मासिक धर्म शुरू होने के पहले ही लड़की के विवाह का प्रावधान प्रचलित किया। *मनुस्मृति* (9.94) में कहा गया कि 30 वर्ष की आयु वाले पुरुष का विवाह 12 वर्ष की कन्या से और 24 वर्ष की आयु वाले पुरुष का विवाह 8 वर्ष की कन्या से होना चहिए। इस प्रकार कम उम्र में लड़की के विवाह के साथ साथ वर और कन्या के बीच बहुत आयु अंतर की ओर भी ये बातें इशारा करती हैं। अन्य धर्मशास्त्रों के अनुरूप *मनुस्मृति* भी वर्ण के अंतर्गत ही विवाह पर बल देता है किन्तु यह अंतरवर्णीय विवाह के अस्तित्व को स्वीकार करता है एवं अनुलोम विवाह की कुछ हद तक अनुमति भी देता है। *मनुस्मृति* (9.2.2) में कहा है कि जैसे नदी सागर में समाहित हो जाती है वैसे ही एक नारी विवाह के बाद अपने पुरुष के गुणों को आत्मसात कर लेती है। किन्तु प्रतिलोम विवाह के द्वारा उत्पन्न वर्णसंकर की स्थिति की भर्त्सना की गई है राजा को ऐसे विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाने का दायित्व सौंपा गया है। *बौधायन धर्मसूत्र* के विपरीत *मनुस्मृति* ने ममेरे फुफेरे भाई-बहनों के बीच विवाह को पूर्णत: प्रतिबंधित क्षेणी में रखा है। इसमें पुत्री के विक्रय (यथा वधु-मूल्य) की घोर निन्दा की है, किन्तु ऐसे यथार्थ के लिए कुछ नियम-कायदे भी बनाए हैं। उदाहरण के लिए (8.204) इसमें लिखा है कि किसी पुरुष को कोई कन्या दिखलाई जाए किन्तु विवाह किसी और कन्या से करवा दिया जाए तब पुरुष को यह अधिकार होगा कि उसी वधु-मूल्य पर दोनों से विवाह कर लें।

पुरुष कई स्थितियों में अपनी पत्नी का त्याग कर सकता है कुख्यात हो, रोग से पीड़ित हो, मदिरा की आदत हो, क्रूर हो, परपुरुष गमन करे, बाँझ हो, कंजूस हो, आज्ञा का उल्लंघन करे, अथवा कटु भाषिणी हो। यह भी निर्दिष्ट है कि उपरोक्त अवगुणों के होने पर एक पुरुष कितने समय तक संयम बरत सकता है। बांझ स्त्री को 8 वर्ष बाद छोड़ा जा सकता है यदि संतान नष्ट हो जाए तो 10 वर्ष बाद, यदि केवल एक कन्या को जन्म देने वाली हो तो 11 वर्ष बाद, किन्तु कटु भाषिणी को यथाशीघ्र त्याग दिया जा सकता है। दूसरी ओर *मनुस्मृति* यह भी कहता है कि यदि कोई पतिव्रता स्त्री रूग्नावस्था में होकर भी अपने पति के प्रति सेवा भाव रखे उसे कभी भी अपमानित नहीं करना चाहिए और नहीं त्यागना चाहिए। उसकी अनुमति लेने पर ही दूसरी पत्नी को लाना चाहिए। *याज्ञवल्क्य स्मृति* (1.74) पहली पत्नी को त्याग कर दूसरा विवाह करने के बाद भी पहली पत्नी की देखभाल करना पति का कर्तव्य होता है इसके अभाव में वह पाप और अपभ्रंश का भागीदार होता है। धर्मशास्त्रों में इस

प्रकार के अप्रत्यक्ष प्रसंग और भी हैं जो बहुपत्नी प्रथा की ओर संकेत देते हैं। जैसे एक पुरुष के विभिन्न पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों की सम्पत्ति के बंटवारे की बात कही गई है।

दूसरी ओर स्त्री के लिए जीवन पर्यन्त एक पति के आचारण पर अत्याधिक बल दिया गया है। *मनुस्मृति* विधवा पुनर्विवाह की अवहेलना करता है। इसमें (9.47) कहा गया है कि किसी भी बेटी का केवल एक बार कन्यादान होता है। लेकिन किसी एक अन्य प्रसंग में (9.175) यही ग्रंथ कहता है कि पौनरभव स्त्री का वैसा पुत्र है जो उसके द्वारा दूसरा विवाह करने पर उत्पन्न हुआ हो जब वह विधवा हो जाए तो उसे त्याग दिया गया हो या वह ऐसा करना चाहती हो। प्रारम्भिक धर्मसूत्रों में जहां किसी स्त्री के वैधव्य से अल्पकालिक ब्रह्मचर्य तथा आत्मनियंत्रण जुड़ा होता था वहीं *मनुस्मृति* में इनके स्थायी अनुपालन की प्रस्तावना की गई है। अपने पति के मर जाने पर कंद मूल फल खाकर अपने शरीर को गला देना चाहिए किन्तु जीवनपर्यन्त किसी पर पुरुष

सम्बंधित परिचर्चा

सामाजिक इतिहास के स्त्रोत के रूप में जातक कथाएं

जातक कथाओं का उपयोग आम आदमी की जिन्दगी से विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए किया जा सकता है। इनमें जाति और वर्ग के आधार पर विभाजित एक समाज प्रतिबिम्बित होता है। जातक कथाओं में सामाजिक सोपानीकरण के साथ साथ अनुष्ठानिक प्रदूषण और निषेधों से जुड़े कई व्यवाहार दिखलाई पडते हैं। उमा चक्रवर्ती ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि इन कथाओं का सामाजिक परिप्रेक्ष्य बौद्ध दर्शन की गंभीर बातो को नहीं रखता किन्तु कथा का संदेश निश्चित रूप से बौद्ध संसार के मूल्यों को समझाने का प्रयास करता है। बौद्ध भिक्षु उस काल में प्रचलित लोक कथाओं की ख्याति का उपयोग कर रहे थे तथा उनको बौद्ध अमली जामा पहनाकर जनसामान्य को परोस रहे थे।

जातक कथाओं के भीतर भी कई कथाएं होती थीं। प्रत्येक कथा का दरअसल चार हिस्सा होता था। एक प्रवेश कथा होती थी जो बुद्ध के जीवन से जुड़ी रहती थी। इसके बाद मुख्य कथा का स्थान आता था। इसका कथानक मिथकीय अतीत से जुड़ा होता था और बुद्ध कहीं न कही साक्षी के रूप में कथा से जोड़े जाते थे। तीसरा हिस्सा पद्यात्मक होता था और कथा का सारांश निष्कर्ष अथवा संदेश प्रस्तुत करता था। चौथा और अंतिम हिस्सा अतीत से उस वर्तमान के बीच कड़ी का काम करता था। लोक कथाओं की तरह ही जातकों का मुख्य विषय-वस्तु मानव समाज होता था। कभी कभी मानव समाज को दिखलाने के लिए जीव जन्तुओं को माध्यम बना लिया जाता था। जातक कथाओं में जन्तुओं का समाज भी मानव समाज की तरह ही विभाजित था। कभी कभी निम्नतर श्रेणी के जन्तु के अस्तित्व की तुच्छता श्रेष्ठ जन्तुओं के सापेक्ष में वर्णित की जाती थी। उदाहरण के लिए, वराह की एक कथा को ले सकते हैं जिसे एक शेर ने चुनौती दी थी। वराह अच्छी तरह से अवगत था कि वह शेर के समक्ष कहीं खड़ा नहीं हो सकता। तब साथी वराहों ने एक योजना बनाई। उन्होंने वराह मित्र को सलाह दी कि सात दिनों तक वह गोबर में लोटता रहे। सफाई परस्त शेर घिन्न से युद्ध करने को तैयार नहीं होगा। वराह सही थे। शेर ने गोबर की दुर्गन्ध के कारण पराजय स्वीकार कर लिया। इस प्रकार तुच्छ जन्तु भी कूटनीति की सहायता से श्रेष्ठ जन्तुओं से जीत जाते थे।

सेतकेतु जातक की एक कथा में एक चण्डाल के द्वारा एक ब्राह्मण की आनुष्ठानिक प्रदूषण सम्बन्धी धारणा को चूर होते दिखलाया गया है। एक प्रसिद्ध आचार्य का एक ब्राह्मण शिष्य था जिसे अपनी उच्च जाति का होने का बहुत गुमान था। एक दिन इस ब्राह्मण शिष्य के सामने एक चण्डाल पड़ गया। ब्राह्मण शिष्य को भय हुआ कि चण्डाल को छू कर आने वाली हवा उसको प्रदूषित कर देगी। ब्राह्मण ने चण्डाल को आदेश दिया की वह सड़क के उल्टी दिशा में चला जाए ताकि वह आने वाली हवा उससे होकर नहीं आ सके। ब्राह्मण स्वयं आनेवाली हवा की दिशा में चला गया। किन्तु चाण्डाल ने ऐसा नहीं किया। बल्कि उसने ब्राह्मण को चुनौती दी कि वह वैसा तब करेगा जब उसके प्रश्न का उत्तर ब्राह्मण दे देगा। ब्राह्मण ने चुनौती को स्वीकार कर लिया। किन्तु वह चणडाल के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। परिणाम स्वरूप ब्राह्मण को सार्वजनिक रूप से एक चण्डाल के द्वारा अपमानित होना पड़ा।

बहुत सी जातक कथाओं में स्त्री के विरुद्ध सामाजिक पूर्वाग्रहों का भी चित्रण हुआ है। ये पूर्वाग्रह बौद्ध ग्रन्थों में निहित पूर्वाग्रहों को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। उच्च वर्णों की स्त्रियों के चरित्र को कई बार विश्सनीय और पाकीजा नहीं बतलाया गया है। बंधन मोक्ष जातक में एक कथा है जिसमें एक रानी ने राजा से अन्यागामी नहीं होने का वचन लिया किन्तु स्वयं प्रत्येक उस दूत के साथ सम्बन्ध बनाया जिसे राजा उसके कुशल क्षेम की जानकारी लेने भेजता रहा। किन्तु आम आदमी के घरों में उनको सहगामिनी स्त्रियों के सान्निध्य में जीवन की छोटी छोटी खुशियों को बांटते हुए दिखलाया गया हैं।

स्रोत: चक्रवर्ती, [1993], 2004

का नाम उसकी जिह्वा पर नहीं आना चाहिए। अपनी मृत्यु तक उसे पूर्ण आत्मनियंत्रण रखते हुए अन्यान्य व्रतों को धारण करना चाहिए, बल्कि एक पतिव्रता स्त्री के लिए प्रस्तावित सर्वमान्य आचरण संहिता की कठोरता से अनुपालन करनी चाहिए। ऐसा करने पर वह स्त्री स्वर्ग की अधिकारणी होती है चाहे वह पुत्रविहिन ही क्यों न हो।

मनुस्मृति नियोगप्रथा की पशुधर्म के रूप में भर्त्सना करता है। फिर भी यदि ऐसा करना अनिवार्य प्रतीत हो रहा हो तब उसके लिए वह अपेक्षित नियमों का सुझाव भी देता है। *मनुस्मृति* (9.69–70) में हालांकि, यह कहा गया है कि यदि किसी स्त्री की कन्यादान के शीघ्र बाद उसके पति की मृत्यु हो जाए तब उसका विवाह उसके पति के अनुज के साथ किया जा सकता है जो प्रत्येक महीने में एक बार तब तक संभोग कर सकता है जब तक कि उस स्त्री से एक पुत्र उत्पन्न न हो जाए। इस ग्रन्थ में (9.67) नियोग से उत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज (खेत आर्थात् स्त्री से जन्मा) की संज्ञा दी गई है। किन्तु धर्मशास्त्रों में नारी की भूमिकाओं से जुड़े जो भी आदर्श रखें गए हैं वे समाज के कुलीन वर्ग की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि अन्य समकालीन साहित्य समाज के विभिन्न तबको और विभिन्न व्यवसायों में सम्मिलित आम औरत के जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं। जातक कथाओं में रानियों, भिक्षुणियों, नगर वधुओं के साथ साथ टोकरी बनाने वाली, कपड़ों की रंगाई करने वाली नारियों का भी चित्रण मिलता हैं।

पाठ्यात्मक स्रोतों से विशेष रूप से उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से प्राप्त किए गए अभिलेखीय साक्ष्यों के जरिए (शाह, 2001) हमें लिंग संवेदी सम्बंधों पर और अधिक प्रकाश डालने की सम्भावनाएं मिलती हैं। इनमें से अधिकांश अभिलेख शाही परिवार की स्त्रियों से सम्बंध रखते हैं। इस दिशा में विशेष रूप से सातवाहनों के शाही परिवार के स्त्रियों की चर्चा की जा सकती है जिनके द्वारा स्वतंत्र रूप से दान अभिलेखों को निर्गत किया गया। सातवाहन शासकों का नामकरण भी उनकी माताओं के नाम पर किया गया। गौतमीपुत्र तथा वशिष्ठीपुत्र जैसे नामों से यह पता चलता है कि इन शासकों ने अपने मातृगोत्रों का अनुसरण किया जबकि सामान्य रूप से ब्राह्मणवादी व्यवस्था में पितृकुल के गोत्र को ही अपनाया जता था। मातृकुल के गोत्रीय नामों का सातवाहनों द्वारा धारण किया जाना महत्त्वपूर्ण जरूर है। परन्तु उसे मातृसतात्मक समाज या मातृवंशानुगत परिपाटी के प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। बहुपत्नीवाद की परिस्थितियों में मातृ नाम का प्रचलन शायद वास्तविक अभिभावक की पहचान के लिए उपयोगी हो सकता था। इसके साथ ही एक ही मातृ नाम का दो या दो से अधिक शासकों के द्वारा अपनाया जाना शायद उस कोटि के वैवाहिक सम्बंधों को प्रतिबिम्बित करता होगा जिसको ब्राह्मण समाज में बहुत आदर से नहीं देखा जा सकता जैसे ममेरे फुफेरे भाई-बहनों के बीच वैवाहिक सम्बंध। इस सम्बंध में नासिक अभिलेखक का सन्दर्भ दिया जा सकता हैं जिसका लेखन लोता नाम की एक प्रतिहारी (द्वारपाल) द्वारा निर्गत अभिलेख की एक प्रतिलिपि प्रतीत होती है। नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त बड़ी संख्या में अभिलेखों का श्रेय इच्छवाक वंश के राजपरिवारों की महिलाओं को जाता है।

अभिलेखीय साक्ष्यों में राजपरिवारों के बाहर समाज के अन्य तबको की महिलाओं की गतिविधियों का प्रतिबिम्ब भी मिल जाता हैं बौद्ध केन्द्रों पर असंख्य दानकर्त्ता महिलाओं के उद्धरण देखे जा सकते हैं। जैन केन्द्रों में भी ऐसी ही स्थिति होने की प्रबल संभावना है किन्तु उनका अध्ययन अभी तक नहीं के बराबर हुआ है। यह सही है कि इन साक्ष्यों के द्वारा समाज में नारी के सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बंधी तथ्यों का कोई निर्णायक विश्लेषण नहीं किया जा सकता फिर भी ऐसे साक्ष्य निश्चित रूप से यह संकेत देते है कि समाज में ऐसी प्रभावशाली महिलाओं का अस्तित्व था जो अपनी गृहस्थियों के आर्थिक संसाधनों पर किसी प्रकार का नियंत्रण रख रही थीं। स्त्री और स्त्रीत्व से जुड़े कई पहलुओं की अभिव्यक्ति इस काल की असंख्य प्रतिमाओं में भी दिखलाई पड़ती है।

दक्षिण भारत का प्रारंभिक ऐतिहासिक समाज

(Society in Early Historical South India)

उत्तर-भारत की संस्कृतनिष्ठ संस्कृतियों और दक्षिण भारत की प्रारंभिक तमिल संस्कृतियों के बीच चल रहे जीवन्त संवाद का प्रतिबिम्ब इस काल के प्राचीन तमिल ग्रन्थों में मिलता है। संगम काल के कवि *महाभारत* और *रामायण* जैसे संस्कृत महाकाव्यों से भली भाँति परीचित थे। यहां तक कि चोल, चेर और पांड्य शासकों के द्वारा यह किंवदन्ती प्रचलित की गई कि उन्होंने *महाभारत* के युद्ध की सेनाओं को अपने यहां भोजन कराया। ऐसी चर्चाओं को इन शासकों के द्वारा स्वयं को महाकव्यों की परम्परा से जोड़ने के प्रयास के रूप में देखना चाहिए। *तोलकापियम* में यह दावा किया गया है कि दक्षिण भारत में वैवाहिक अनुष्ठान की प्रतिस्थापना आर्यों के द्वारा की गई। हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि किस प्रकार विष्णु और शिव की उपासना अथवा बौद्ध तथा जैन धर्म

का प्रसार दक्षिण भारत में हुआ होगा। संस्कृत और द्रविड़ भाषाओं के बीच हुए सांस्कृतिक विनिमय की समृद्ध परम्परा को प्रारंभिक तमिल साहित्य में रेखांकित किया जा सकता है।

महाकाव्य और पुराणों में अगस्त्य और परशुराम के विंध्यपर्वत शृंखला के दक्षिण से जुड़ी किंवदन्तियों के बहुतेरे प्रसंग देखने को मिलते हैं (शास्त्री, 1975: 70-74)। इतिहासकारों के द्वारा इन प्रसंगों की व्याख्या दक्षिण भारत में उत्तर भारतीय ब्राह्मण संस्कृति के विसरण के रूप में की जाती है। *ऋग्वेद* में ऋषि अगस्त्य के कुम्भ (घड़ा) में जन्म का संदर्भ आता है। महाकव्यों में उनके बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। *महाभारत* में एक कथा कही गई है कि अगस्त्य का विवाह विदर्भ की राजकुमारी लोपामुद्रा से हुआ था। अगस्त्य ऋषि बिना अपने ब्रह्मचर्य को भंग किए लोपामुद्रा को सभी विलास वैभव से तृप्त करना चाहते थे। अगस्त्य ने इस समस्या के समाधान ढूँढने के लिए तीन आर्य राजाओं से सहायता मांगी किन्तु उन्हे कोई सफलता नहीं मिली। इन राजाओं के साथ अगस्त्य मणिमति के राजा इलवाल की शरण में पहुँचे। इलवाल असल में एक छद्मवेषी दैत्य था। ब्राह्मणों से वह घृण करता था क्योंकि एक बार किसी ब्राह्मण ने उसको इन्द्र के तुल्य बनाने की इच्छा को ठुकरा दिया। प्रतिशोध लेने के लिए उसने एक योजना बनाई। उसने अपने छोटे भई वटापी को भेंड़ में रूपांतरित कर दिया और उसका मांस एक ब्राह्मण को परोस दिया। फिर अपनी शक्तियों से बाह्मण के पेट में वटापी को उसका वास्तविक रूप दे दिया। वटापी ब्राह्मण का पेट फाड़कर अट्टहास करता हुआ बाहर आ गया। यह खेल उसने कई ब्राह्मणों के साथ खेला। जब अगस्त्य तीन आर्य राजाओं के साथ इलवाल के पास पहुँचे तब इन्हें भी उसने अपने भाई का माँस परोसा। अगस्त्य ने उसका सेवन कर लिया। किन्तु इस बार जब इलवाल ने अपने भाई का आहवान किया तब केवल कुछ हवा बाहर निकली। अपनी अद्‌भुत पाचन क्षमता के द्वारा अगस्त्य ने वटापी को पहले ही पचा लिया था। इलवाल ने हार मानते हुए अपनी सारी सम्पदा अगस्त्य को दे दी। और ऋषि ने इस प्रकार लोपामुद्रा को संतुष्ट कर दिया।

महाभारत में एक दूसरी कथा दी गई है जिसके अनुसार, अगस्त्य ने दक्षिण की यात्रा करते समय विंध्य को यह आदेश दिया कि वह अपने उत्थान को तब तक रोक कर रखें जब तक कि वे लौट कर नहीं आते और अगस्त्य कभी लौट कर नहीं आए। *रामायण* में अगस्त्य के आश्रम पहुँचने से पहले राम अपने भाई लक्ष्मण को यह बतलाते है कि किस प्रकार इस ऋषि ने असुरों को युद्ध में पराजित कर दण्डक वन को आर्यों के निवास करने योग्य बनाया। तमिल परम्परा में भी अगस्त्य को काफी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। *मणिमेकलई* में उनके कुम्भ से उत्पन्न होने की चमत्कारी घटना का वर्णन है तथा उन्हें दो चोल राजाओं के साथ जोड़ा गया हैं पूर्वमध्ययुगीन परम्परा के अनुसार, यह माना जाता है कि अगस्त्य पहले दो संगमों में शामिल हुए। अगतियम नाम के तमिल व्याकरण के विषय में माना जाता है कि उसकी रचना अगस्त्य के द्वारा पहले संगम में की गई थी।

दक्षिण भारत और परशुराम के बीच के मिथक की मूल कथा इस प्रकार से है। अपनी पत्नी रेणुका के चरित्र के विषय में शंका करते हुए जमदाग्नि ऋषि ने अपने पुत्र परशुराम को अपनी माता का वध कर देने का आदेश दिया। परशुराम ने अपने पिता की आज्ञा का पालन किया किन्तु प्रायश्चित के रूप में उन्होंने ब्राह्मणों के शत्रु क्षत्रियों का नाश कर देने का निर्णय लिया। उन्होंने मातृ हत्या के प्रायश्चित के रूप में ऐसा कर भी दिया। इसके पश्चात विश्वामित्र के निर्देश पर इन्होंने समूची पृथ्वी को ब्राह्मणों को दान में दे दिया। अब अपना कहने के लिए उनके पास रत्ती मात्र भी जमीन नहीं बची थी। उन्होंने अत्यंत कठोर तपस्या प्रारंभ की और अंततः वरुण ने उन्हे एक वरदान दिया। इसके अनुसार, परशुराम को प्रायद्वीप के सबसे दक्षिणी छोर कन्याकुमारी पर खड़ा होना था। वहाँ से उत्तर दिशा में जितनी दूर तक वे अपनी परशु को फेंक सकते थे उतनी भूमि उनकी हो जाती। परशुराम ने ऐसा किया और उनका कुठार गोकर्ण में जाकर गिरा। वहाँ तक की भूमि उनकी हो गई। उन्होंनें उत्तर से ब्राह्मणों को लाकर अपनी भूमि में उन्हे गाँवों में बसाया और इस क्रम में उन्होंने इस क्षेत्र के लिए एक आचार संहिता की स्थापना की।

प्राचीन भारत में उत्तर भारत और प्रायद्वीपीय भारत के बीच स्थापित हुए सम्पर्कों की अलग अलग विवेचनाएं की हैं। किन्तु हमेशा यह ध्यान देना आवश्यक होगा कि यह सम्बंध दो तरफा था। दक्षिण भारत के इतिहास को सहज रूप से आर्यकरण का इतिहास कह देना अनुचित है। उत्तर भारतीय संस्कृतनिष्ठ संस्कृतियों ने एक निष्क्रिय दक्षिण भारत के साथ अपना सम्पर्क नहीं साधा था। पूर्व के अध्यायों में हमने दक्षिण भारत के समृद्धशाली नवपाषाण ताम्रपाषाण और प्रारंभिक लौहयुगीन संस्कृतियों का वर्णन किया है। इस अध्याय में हम संगम सहित्य में प्रतिबिम्बित प्रमाणों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। इसके साथ ही सुदूर दक्षिण के उत्तर महापाषाण संस्कृति से जुड़े पुरातात्त्विक साक्ष्यों का भी यथासंभव अपनी व्याख्या में समावेश करेंगें।

संगम साहित्य जिस समाज को प्रतिबिम्बित करता है उसकी अपनी स्पष्ट सांस्कृतिक धाराएं हैं जो मुख्यतः युद्धभूमि और प्रणय के प्रसंग से जुड़ी हैं। पहले भी चर्चा की गई थी कि पुरम काव्यों में राजा और प्रशस्ति कवियों के बीच चोली दामन का साथ था और इनमें राजाओं की उदारता दानशीलता भी उनके पराक्रम के साथ साथ बखान की गई है। दूसरी ओर अकम कोटि की रचनाएं पुरुष और स्त्री के बीच के सहज आकर्षण का सौन्दर्य बिखेरती हैं। कवि पाठक या श्रोता से सीधे संवाद नहीं करता बल्कि किसी नायिका या उसकी सहेली उसकी धाई

प्राथमिक स्रोत

तमिल का एक पुरातन प्रणय गीत

ढूँढ रही हो अम्मा तो ढूँढने दो
खुले छोर वाली विथिका यह आकर्षक
सुनता है हमारे शोर तो सुनने दो
भंवरों में पुहार के देवता के समक्ष
करती मैं दावा कि हुआ बस यही
वनों में सागर की तरंगों में
वनमालाओं को पहने खेलतीं हम सखी
घरौंदों को बनाया धान का खेलते खेल
मिटाने अपनी थकान
सुस्ता रहे थे हम कतिपय।
एक पथिक आया तभी
कोमल बाँस सी हाथों वाली
लड़कियां, तुम अबोध, कहा उसने
दिवस का हो गया है अवसान
और हूँ मैं थका हुआ,
क्या बुरा होगा गर जो
मिल जाए भोजन इस अतिथि को?

पथिक पा लेगा उसे,
कोमल खुली पत्तियों पर
और क्या फिर मिल जाएगा
इस कोलाहल भरे
गाँव में ठहरने?
देख उसे छुपा लिया हमने
चेहरों को ढक कर,
कहा हमने विनम्र हो उसे
यह तुम्हारे योग्य नहीं
सीझी मछली है, जिसे
पाते केवल हम नीच कुल के।
तभी कहा किसी ने
क्या नहीं दीख पड़ती तुम्हें
पताकों से सज्जित उँची पालों
वाली नौकाएं आ रहीं?
ढहा दिया पैरों से
हमने अपने बालु के भवनों को

भाग कर जाते हुए
टिकी थी उसकी नजर
मुझी पर
और कहा था उसने
ओं सुन्दर चेहरे वाली
क्या मैं चला जाऊं?
मुझे एक बार लगा कि
उजड़ गया है मेरा सब कुछ
मैंने कह दिया बस
जा सकते हैं आप
घूरता रहा वह मुझे ही
रथ के लगाम थामे
ऊंचाई से आज भी उसका हृदय
कौंधता है मेरी आँखों के सामने।

स्रोत: *अकनानूरु* 110; कवि पोंटैप पकलइयार; हार्ट 1979: 110

माता या नायक जैसे चरित्रों के माध्यम से प्रसंग को रखता है। आकम काव्यों की एक अत्यन्त रोचक परम्परा है जिसमें विविध भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्थायी उपमाओं का प्रयोग किया जाता है। ये स्थायी उपमाएं किसी न किसी भौगोलिक संरचना से जुड़ी होती है जिन्हें *तिनाई* कहा गया है और प्रत्येक का नामकरण किसी फूल के नाम पर किया गया है। कुरिन्जी या पर्वतीय क्षेत्र प्रेमी युगल जोड़ियों के मिलन से जुड़ी हुई हैं। पलाई या शुष्क क्षेत्र विरह से, मुल्लई या चारागाह मिलन के आरजू और इन्तजार से, नेयतल या समुद्रतट आस्था से मरूतम या नदी का इलाका रूठने से जुड़ी साहित्यिक स्थापनाएं हैं। इन रचनाओं में जीवंत दृश्यांकन को पद्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है। गहरी संवेदनाओं के सम्प्रेषण के लिए सहज और अप्रत्यक्ष भावों का प्रयोग किया गया है।

संगम कविताओं में भौतिक संस्कृति का अनायास उद्घाटन देखने को मिल जाता है। जो अधिकतर रचना के नेपथ्य के पर्यावरण उपमा और अलंकारों के प्रस्तुतिकरण के क्रम में दिखाई पड़ता है। कृषि (चावल और जौ की खेती) पशुपालन तथा मत्स्य पालन का वर्णन यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। लोहे के उपयोग तो बहुत स्थानों पर दिखलाई पड़ेगें। *कुरून्तोकई* 16 में लौहजड़ित तीराग्र का जिक्र है। अकनानूरु 72 में वर्णन मिलता है कि एक भालू दीमकों के बांम्बी से एक कंधी निकाल रहा है और बाहर जुगनुओं की तुलना होहा पीटते समय निकलने वाली आग से की जा रही है। पुरनानूरु 116 में नायक परी युद्ध के लिए आए राजाओं की सेना के घमंड में चूर होने तथा घोड़ों और लोहे के अस्त्र शस्त्रों का वर्णन है। पुरनानूरु 21 में वर्णन मिलता है किस किस प्रकार कनप्पर का किला उस तरह ध्वस्त हो गया जैसे गर्म लोहे को पानी में डालने से भाप निकलता है।

संगम कवियों को वर्ण व्यवस्था के बारे में जानकारी थी। अरशर (राजा), वैश्यार (व्यवसायी) और वेल्लार (कृषक) वर्गों का उल्लेख मिलता हैं ब्राह्मणों के विषय में कहा गया है कि उनमें से कई को राजदरबार और शाही कुलीनतंत्र का संरक्षण प्राप्त था। उनके द्वारा सम्पादित यज्ञ अनुष्ठानों का भी उल्लेख है जिसमें युद्धभूमि पर विजय को सुनिश्चित करने के लिए किया गया यज्ञ भी सम्मिलित है। *पड़िड़रापट्टु* में प्रसंग आया है जब कपिल ऋषि राजाओं को सुझाव देते है कि ब्रहमण की राजकीय सलाहकार जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति की जानी चाहिए। फिर भी यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन तमिल समाज में चार वर्णों में विभाजन की अवधारण लागू नहीं थी। न ही इस समाज में जाति व्यवस्था का विकास हुआ था। बल्कि सामाजिक विभाजन का व्यवहारिक आधार कुटी कहा जा सकता है। 'कुटी' प्रारम्भिक तमिल कृषि समाजों में संयुक्त परिवार और वंशानुगत रिश्तो पर आधारित समुदाय हुआ करते थे। किन्तु कुटी समुदायों में भोजन सम्बन्धी नियम या सामाजिक प्रदूषण

की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी, तथापि ये वैश्य और पैतृक पेशें से जुड़े समूह हुआ करते थे। दक्षिण भारत में किस प्रकार जाति प्रथा ने अपनी जड़ें जमा ली इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। कुछ विद्वानों का मानना है कि कुटी व्यवस्था ने स्वतंत्र रूप से जाति का रूप लेना शुरू कर दिया। राजन गुरूक्कल (1997) का विचार है कि ब्राह्मणों को दिये गए भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप बंधु बांधववादी प्रारम्भिक तमिल समाज ने नए कृषि व्यवस्था और जाति जैसी संस्थाओं पर अधारित नए समाजिक सम्बन्धों को मार्ग दे दिया।

संगम रचनाओं में अनंकु संज्ञा वाली आध्यात्मिक और चमत्कारिक शक्तियों की अवाधारणा परिलक्षित होती है जिसके विभिन्न वस्तुओं में अस्तित्व की बात कही गई है। परियन, तुतियन, पानन और वेलन कहे जाने समूहों के द्वारा वैसे अनुष्ठान और कर्मकाण्ड किये जाते थे जिनसे अनंकु शक्ति को नियंत्रित किया जाता था। इनके द्वारा अनुष्ठानिक गान, नृत्य, तंद्रा इत्यादि के माध्यम से तथा चिता की अग्नि अथवा स्मृति पत्थरों की सहायता से पूजा उपासना निष्पादित की जाती थी। इसी आधार पर ज्यॉर्ज एल. हार्ट (1976: 43) निष्कर्ष निकालते हैं कि निम्नतर जातियों से जुड़े अनुष्ठानिक प्रदूषण का उद्‌भव दक्षिण भारत में हुआ। अनंकु कई बार औरतों पर सवार हो जाती थी। यदि सम्बद्ध स्त्री पवित्र हो तो माना जाता था कि अनंकु नियंत्रित है तथा उसकी प्रकृति शुभंकर है। औरतों को मासिक धर्म तथा संतानोत्पति के बाद लम्बे समय तक अपवित्र माना जाता था। विधवाओं को अत्यन्त अशुभ तथा अहितकारी मानते थे तथा उनके लिए अत्यन्त सादगीपूर्ण जीवन अपेक्षित था।

संगम कविताओं में युद्ध से जुड़ी नैतिकता कूट कूट कर भरी पड़ी है। पुरम काव्य के नायकों का ध्येय यश और गरिमा था। वीरगति की प्राप्ति को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा गया हैं। यह विश्वास था कि वीरगति प्राप्त योद्धा को स्वर्ग में स्थान मिलता हैं *पुरनानूरु* की एक कविता में कहा गया है कि यदि किसी योद्धा की मृत्यु युद्ध के मैदान में नहीं हुई हो तो अंत्येष्टि क्रिया के पहले उसके शरीर को तलवार से काट दिया जाता था। वतकिरूतल नामक परम्परा के अंतर्गत पराजित राजा अपने जीवनकाल के निकट सम्बधियों के साथ अनुष्ठानिक आत्महत्या करते थे (उपवास के द्वारा)। नटुकल (स्मृतिपत्थर) का प्रचलन नायकों के इसी आदर्श का एक पहलू कहा जा सकता है। इनकी स्थापना बहादुरी के साथ लड़ाई के मैदान में खेत आने वाले वीरों की याद में थी। इन पत्थरों में उन वीरों की आत्माओं के वास होने की मान्यता थी। इन कविताओं से अंत्येष्टि व्यवहारों की विविधताओं का भी पता चलता हैं। *पुरनानूरु* 228 में कवि कुम्हार से हठ करता है कि वालवन नाम के मृत व्यक्ति की अंत्येष्टि के लिए उसे एक घड़ा बनाना ही पड़ेगा। दाह संस्कार का कई स्थानों पर उल्लेख है। *कुरूंतोकई* 231 में नायिका अपने प्रेमी की आलोचना करते हुए कहती है कि वह उससे उसी प्रकार दूरी बनाता है जिस प्रकार कोई अनजान व्यक्ति चिता की अग्नि से। *पुरनानूरु* 363 कवि कहता है कि महल राजाओं का अंतिम गंतव्य चिता ही होती है। *अकनानुरु* 77 तथा *पुरनानूरु* 231 में भी इसी प्रकार का अंत्येष्टि वर्णन हैं।

विजया रामास्वामी ([1989], 1999) में महिलाओं के द्वारा किये जाने वाले कार्यों की ओर ध्यानाकृष्ट किया है जो संगम तथा कुछ बाद की रचनाओं पर आधारित है। यह अध्ययन शहर की अपेक्षा ग्रामीण औरतों से जुड़ा है। इन कविताओं में औरतों द्वारा धान बोने और खरपतवार हटाने जैसे कृषि कार्यों के किये जाने का वर्णन है। धान रोपने और तैयार होने के बाद धान को ओसाने जैसे कुछ कार्य तो केवल औरतें ही करती थीं, छोटी बच्चियां पक्षी

प्राथमिक स्रोत

एक वीर की मौत

जीवन के अवसान में
उस वृद्धा पर लगा दिया
आरोप लोगों ने, झुर्रियों में दिख रही थी
नसें जिसकी,
झूल चुकी थीं हाथों की अस्थियां भी
पद्मपत्र सा उदर जिसका हो चला था
भाग गया है उसका बेटा
युद्ध में दिखाकर पीठ
युद्ध से डरकर, असहय था आरोप यह,
और कहा उसने व्यथित होकर

यदि भाग गया हो लाल उसका
युद्ध के मैदान से तो
मै काट लूंगी ये स्तन
पिलाया था जिससे दूध उसको
लिये खडग वह दौड़ पड़ी
बिखरे हुए लाशों पर
खून से लाल सनी
भूमि को खंगालते
पा लिया उसने अपने
लाल के टुकड़ों में बिखरे शव को

वह खुश हुई
उससे भी ज्यादा खुश
जिस दिन जाना था उसने
अपने जिगर के टुकड़े को।

पुरनानूरु 278: काक्काई पटिनियार नाच चेलियार के गीत। वीरगति के गरिमामंडिता/क्रूरतायह गीत एक स्त्री कवि के द्वारा लिखा गया है।

स्रोत: हार्ट 1979: 199

और जानवरों से खेतो की रखवाली करती थीं। पशुपालन और दुग्ध उत्पादन के कार्यों में भी औरतें संलग्न थीं। भेड़ चराने वाली औरतों को अइच्चियर, कोविच्चियर, इडैच्चियर सा इत्यादि कह कर बुलाते थे। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से आज तक सूत कातने का काम पूर्ण रूप से स्त्रियों के द्वारा ही किया जाता रहा है। संगम ग्रंथों में सूत काटने वाली स्त्रियों को परुट्टी पेन्टुकल कहा जाता था। लेकिन कपड़े बुनने वाली स्त्रियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। औरतें कपड़ों की धुलाई और कलफ से जुड़े कार्य भी करती थीं। पुरानानुरू में वेन्नी (वेन्नीकुयाटियार) की एक कुम्हारिन का रोचक प्रसंग आता है। इसने वेन्नी के युद्ध में कारिकाल की विजय की स्तुति में एक कविता भी लिखी थी। मछुआरिन औरतें मछली पकड़ने, मछली बेचने, मछली का तेल निकालने और मछली का तेल बेचने जैसे कार्यों को करती थीं। तटीय प्रदेश में रहने वाले स्त्री पुरुष दोनों ही नमक बनाकर बेचते थे। अकनानूरु में यह वर्णन मिलता है कि किस प्रकार समुद्र के किनारे रहनेवाली सुन्दर स्त्रियां खेतिहर स्त्रियों के साथ नमक के बदले धान का विनिमय करती थीं। चावल को सड़ाकर शराब बनाने और उनको बेचने का काम भी औरतो के द्वारा किया जाता था। इसके अतिरिक्त माला गूँथने और फल बेचने का काम भी स्त्रियां करती थीं। संगम कविताओं में चेवीलिट्टई या चमइनों का उद्धरण मिलता है जो परिवार के सदस्यों की तरह उनसे जुड़ी होती थीं। वीरलियार चारण काव्य को वाचने और नृत्य करने वाली स्त्रियों को कहते थे जो पनार समुदाय से आती थीं। दक्षिण के शासकों के द्वारा महिला अंगरक्षक रखने का भी उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार प्रचीन तमिलकम के उच्चस्तरीय साहित्यिक संस्कृति के अस्तित्व का बोध संगम कविताओं के माध्यम से होता है। द्वितीय शताब्दी सा.सं. में निर्गत मन्नारकोइल अभिलेख में कटकई शब्द आता है। यह शब्द संस्कृत के घटिका का तमिल रूप है। ऐसी सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि यह विद्वानों के किसी संगम का वर्णन करती है अथवा वैसे स्थान का जहां पर विद्वानों का संगम हुआ हो।

चम्पकलक्ष्मी (1975-76) मानती हैं कि संगम काल तमिल क्षेत्र में महापाषाणीय संस्कृति का अन्तिम चरण था। उन्होंने महापाषाणीय समुदायों और उनकी कृषि के साथ साथ वेलीर (मुखिया) तथा वेल्लालर (कृषक) वर्गों के संगम साहित्य में वर्णन की ओर संकेत किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि संगम साहित्य में वर्णित वेलीर वर्ग की आवासीय भूमि और महापाषाणीय संस्कृति के केन्द्रों में सीधा सम्बंध था। इन विशिष्ट समरूपताओं के अतिरिक्त संगम कविताओं और सुदूर दक्षिण की महापाषाणीय संस्कृतियों में सांस्कृतिक समानता को मोटे तौर पर रेखांकित किया जा सकता है। कृषि पशुपालन और मछली दोनों स्थिति में जीवन निर्वाह का आधार थी। दोनों में लोहा महत्त्वपूर्ण था। अस्त्र शस्त्र और युद्ध का वर्चस्व दोनों में देखा जा सकता है। संगम कविताओं में विविध महापाषाणीय अंत्येष्टि व्यवहारों से मिलती जुलती शवकर्म प्रक्रियाओं का वर्णन है। महापाषाणीय संस्कृति की स्मृति पत्थरों के समान ही संगम कविताओं में विरागल पत्थरों का उल्लेख हैं।

दर्शन का विकास आस्तिक और नास्तिक विचारधाराएं

(Philosophical Developments : *Astika* and *Nastika* Schools)

प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में धर्म और दर्शन के बीच वैसा अंतर स्पष्ट नहीं किया जा सकता जिस रूप में हम आधुनिक काल में इन शब्दो को देखते हैं भारतीय दार्शनिक परंपराओं ने सत्य और ज्ञान की प्रकृति के विषय में अलग अलग व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। इन सभी दार्शनिक विचारधाराओं का एक उद्देश्य निर्माण या कैवल्य की प्राप्ति भी था जिसे हम जीवन मृत्यु चक्र से मुक्ति के रूप में समझ सकते हैं और इसी कारण से बहुत सारी दार्शनिक विचारधाराएं धार्मिक परंपराओं का रूप ग्रहण करती चली गयीं। दर्शन से जुड़ी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा है अन्विक्षिकी जिसका अर्थ हुआ दृष्टिकोण। इस शब्द का व्यावहारिक स्वरूप अंततः तर्क शक्ति के रूप में होता चला गया किंतु प्रारंभिक भारतीय दार्शनिक परंपराओं को आंतरिक रूप से दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक संप्रदाय वैसे संप्रदाय थे जिन्होंने वेदो की सर्वोच्चता को स्वीकार किया। इस कोटि की विचारधाराओं ने कालांतर में भारतीय दर्शन के छह (षड्) दर्शनों का रूप ले लिया। दूसरे छोर पर वैसी दार्शनिक विचराधाराओं को स्वीकार नहीं किया। बौद्ध और जैन धर्म के प्रारंभिक इतिहास की चर्चा पहले के अध्यायों में की जा चुकी है। इस अध्याय में इन धर्मों में होने वाले विकास को परखने का हम प्रयास करेंगे। इस काल तक अजिविक जैसे संप्रदाय मजबूती से बने रहे।

चार्वाक दर्शन को लोकायत भी कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ हुआ लोक से जुड़ा हुआ। इस मत के दार्शनिक विचार सूत्रों के रूप में संकलित किए गए है और जिसके रचयिता वृहस्पति थे। किंतु इनका कोई भी साहित्य आज हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। चार्वाक मत के विषय में जो भी हमारे पास आज जानकारी

उपलब्ध है वह इनके संदर्भ में प्रतिद्वंदी संप्रदायों के द्वारा कहे गए विचारों से प्राप्त होते है। इस दर्शन को मानने वालों ने भी वेदों और ब्राह्मणों की सत्ता को अस्वीकृत कर दिया था। उन्होंने यज्ञ, बलि और आनुष्ठानिक कर्मकाण्डों के विषय में आलोचना की। उदाहरण के लिए, उन्होंने तर्क दिया कि यदि पितरों को दिया जाने वाला तर्पण उन तक पहुंच सकता है तब लंबी दूरी की यात्रा में चल रहे भूखे यात्रियों को भी भोजन पहुंचाया जा सकता है। दरअसल चार्वाक मत एक नास्तिक मत था। चार्वाक दर्शन में आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म और पुण्य जैसी अवधारणाओं को भी कोई स्थान नहीं दिया गया। इनका दर्शन भौतिकवादी कहा जा सकता है। और इन्होंने यह जोर देकर कहा कि शरीर और चेतना विभिन्न तत्वों के संयोग से निर्मित होती है। चार्वाक दर्शन में ज्ञान के केवल एक आधार को स्वीकार किया और वह आधार था वैसा ज्ञान जो इंद्रियों के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। इन्होंने अच्छे कर्म और बुरे कर्म के बीच अंतर के अंतर पर प्रश्न चिह्न लगाया। चार्वाक दर्शन का मानना था कि सभी प्रकार के भोग ऐश्वर्य का आनंद उठाना चहिए। कम से कम चार्वाक दर्शन के विषय में ऐसे ही विचार इसके प्रतिद्वंदी संप्रदायों ने हम तक पहुंचाए हैं। बाद के ग्रंथों ने चार्वाक संप्रदायों को दो धाराओं में बंटा हुआ बतलाया जिन्हें धूर्त और सुशिक्षित कहा जाता था। किंतु इस विषय में अधिक जानकारी नहीं दी गयी। धूर्त दर्शन के अनुसार, पृथ्वी, जल, आकाश और अग्नि इन्हीं चार तत्वों का अस्तित्व है। उनका मानना था कि यह शरीर अणुओं के संयोग से बना हुआ है लेकिन उन्होंने आत्मा के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाया। दूसरी ओर सुशिक्षित चार्वाक दर्शन में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया। उन्होंने आत्मा और शरीर के बीच एक अंतर को माना, किंतु इनके अनुसार भी आत्मा शाश्वत नहीं थी। आत्मा शरीर के साथ नष्ट हो जाती है ऐसा उनका मानना था।

जहां तक आस्तिक परंपरा से सम्बंधित छह दर्शन या षड् दर्शन की अवधारणा का सवाल है, वह बहुत बाद में मध्यकाल में विकसित हुई। षड-दर्शन को सामान्यतः तीन परस्पर सम्बंधी दर्शनों में एक साथ देखा जाता रहा है। ये है पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा (वेदांत)। (II) न्याय और वैशेषिक (III) सांख्य और योग। निश्चित रूप से इन दर्शनों का विकास काफी पहले हो चुका था। इतना पहले कि इसके विषय में बहुत कुछ नहीं कहा जा सकता। इन सभी के प्रारंभिक साहित्य जो हमारे पास उपलब्ध हैं, वो सूत्रों के रूप में हैं और इसलिए इन संक्षिप्त सूत्रों की अलग अलग व्याख्याएं और टीकाएं लिखी जाती रहीं। इन दर्शनों ने एक दूसरे के विषय में काफी कुछ कहा और विशेषकर इन्होंने एक दूसरे के द्वारा किए गए दावों को अस्वीकृत करने के क्रम में ऐसा किया। यह संपूर्ण विद्वत जगत में चल रहे दार्शनिक वाद विवाद के संदर्भ का परिचायक है। इन दार्शनिक संप्रदायों के पुरोधाओं के विषय में बहुत कम जानकारी है किंतु उससे भी कम जानकारी उन लोगों के विषय में है, जो इन दार्शनिक विचारों के हिमायती थे अथवा उनके शास्त्रार्थकर्ता थे, या उनके संरक्षक थे।

मीमांसा का अर्थ है विश्लेषण करना या व्याख्या करना और मीमांसा का व्यावहारिक अर्थ है कि ये वैदिक ज्ञान की व्याख्या करती है। इस दर्शन ने वैदिक साहित्य को आनुष्ठानिक कर्मकाण्डों के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस विचारधारा के सबसे पुराने ज्ञात प्रणेता जैमिनी थे, जिन्होंने मीमांसा-सूत्र की रचना दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में की थी। मीमांसाकारों का मानना है कि वेद शाश्वत सत्य है और वही धर्म की अंतिम सत्ता भी है। जैमिनी ने वैदिक कर्मकाण्डों को धर्म के रूप में स्वीकार किया जिसमें यज्ञ सबसे मुख्य स्थान रखते थे। उन्होंने व्याकरणों के द्वारा निष्पादित नियमों एवं कथनों के आधार पर यज्ञ से जुड़े कर्मकाण्डों की व्याख्या करने का प्रयास किया। इनके विचारों को हम पूर्व मीमांसा के रूप में जानते है जो उत्तर-मीमांसा या वेदांत से थोड़ा भिन्न है। पूर्व मीमांसाकारों ने ईश्वर की सत्ता पर बहुत अधिक बहस नहीं किया केवल यज्ञ को केद्र में रखा। जबकि उत्तर मीमांसाकारों ने सर्वोच्च ईश्वर की संकल्पना पर अधिक बल दिया। पूर्व मीमांसा ने जहां या अनुष्ठानों को ध्यान में रखा वहीं वेदांत ने उपनिषद की व्याख्या करते हुए ज्ञान की संकल्पनाओं पर ज्यादा जोर दिया। बदरायन का *ब्रह्मसूत्र* या *वेदांत सूत्र* लगभग उसी काल का है जिस समय मीमांसा सूत्र की रचना की गयी थी। *वेदांत सूत्र* का लक्ष्य ब्रह्म के विषय में अन्वेषण करना है। यही ब्रह्म उपनिषदों का केंद्र बिन्दु रहा था। इसमें यह जोर देकर कहा गया है कि सभी कछ ब्रह्म का एक अंश हैं। मीमांसा और वेदांत दोनों ही वेदो को ज्ञान का सबसे प्रमुख आधार मानते है। उनके अनुसार, इनकी सत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती। उन्होंने प्रमाणों को ज्ञान का आधार बताया। मीमांसा से हटकर वेदांत ने ज्ञान मार्ग को कर्म से बिल्कुल अलग रखा। वेदांत का मानना था कि यज्ञ या अनुष्ठान के परिणाम शाश्वत नहीं होते जबकि ब्रह्म शाश्वत होता है। अपरिवर्तनीय होता है। वेदांत में भी तीन धाराएं थी। इन्होंने ब्रह्म और संसार के सम्बंध को अलग अलग दृष्टि से देखा। वेदांत दर्शन का ब्रह्मांड विज्ञान बहुत हद तक सांख्य विचारधारा में यथावत ले लिया गया। वेदांत के सबसे सशक्त प्रणेता के नाम पर एक धारणा को शंकर वेदांत कहा गया उनके अनुसार, ब्रह्म ही सत्य था और जगत मिथ्या (ब्रह्मसत्यम जगत मिथ्या)। वेदांत दर्शन भी अन्य दर्शनों की तरह एक लक्ष्य ही रखता था और वह था मोक्ष अर्थात संसार से मुक्ति।

दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से पहली शताब्दी सा.सं. के बीच कभी उलूक कनाद *वैशेषिक सूत्र* की रचना की। यह ग्रंथ दावा करता है कि उसका मूल पाठ धर्म के इर्द-गिर्द घूमता है। फिर इसके अनुसार, वेद इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह धर्म की व्याख्या करता है। *वैशेषिक सूत्र* का दर्शन बहुलवादी, यर्थाथवाद या अनेकत्व यर्थाथवादी कहा

जा सकता है। वैशेषिक शब्द की उत्पत्ति विशेष से हुई है और इसलिए शायद इस दर्शन के अनुसार, प्रत्येक वस्तु के भीतर सात मूलभूत पदार्थों का अस्तित्व होता है। ये हैं—द्रव्य, गुण, क्रिया, सर्व-विद्यमानता विशिष्टता अंतर्निहित सम्बंध तथा नकारात्मकता या अनुपस्थिति। द्रव्य को पुनः नौ प्रकार के अंगों में बांटा गया है जिसमें आकाश, जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी, दिशा, समय, आत्मधारणा और वृद्धि आते हैं। इनमें भी प्रथम चार अंगों का अस्तित्व भौतिक है और शेष पराभौतिक। किसी एक व्यक्ति में मूलतः केवल बुद्धि का केवल एक अणु विद्यमान रहता है जो एक आत्माधारणा के अणु के साथ संयुक्त होता हैं। यह दर्शन मानता है कि प्रत्येक अणु या तो वे भौतिक हो या अभौतिक अथवा पराभौतिक, सभी शाश्वत हैं और अनश्वर हैं। हम इस संसार में जिन भी वस्तुओं या किसी को देखते हैं वे इन्ही मूलभूत अणुओं के विविध संयोजनों के परिणाम हैं। वैशेषिक दर्शन के द्वारा की गयी यर्थाथ की व्याख्या के क्रम में 17-24 प्रकार के गुणों तथा पांच प्रकार की क्रियाओं को चिन्हित किया गया है जो द्रव्य के साथ संबद्ध हैं। गुण और द्रव्य एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। एक लाल गुलाब का उदाहरण दिया जाता है जिस प्रकार वह गुलाब अपनी लालिमा या लाल रंग के गुण के बिना अस्तित्व हीन है उसी प्रकार उस गुलाब से परे स्वतंत्र रूप से उस लाल रंग का भी कोई अस्तित्व नहीं है।

वैशेषिक दर्शन बहुत निकटता के साथ न्याय दर्शन से संबद्ध है। न्याय दर्शन मूलतः तर्क के प्रथम प्रेरणा के रूप में अक्षपादगोतम का नाम लिया जाता है जो तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. में रहे थे। न्याय ने वैशेषिक दर्शन के बहुत सारे विचारों को सीधे ग्रहण किया और उसमें अपनी कुछ और विशेषताएं और विचार जोड़ दिए। इस दर्शन ने तर्क करने के लिए एक औपचारिक पद्धति का सृजन किया, जिसका उद्देश्य वैशेषिक अनेकत्ववादी व्याख्या का यर्थाथ के सम्बंध में औचित्य सिद्ध करना था। अक्षपादगोतम के साथ जुड़ा हुआ *न्याय सूत्र* की तिथि पहली शताब्दी सा.सं. से पहले की नहीं जान पड़ती। यह दर्शन सबसे पहले यह मानता है कि केवल उन्हीं वस्तुओं का (तथ्यों का) अनुसंधान करना चहिए जिनके विषय में कोई संदेह हो। अनुसंधान के बाद एक निश्चित निष्कर्ष की भावना पर पहुंचने की संभावना हो, तीसरी और अंतिम शर्त यह रखता है कि यह जीवन मृत्यु के चक्र से मुक्ति देने में अनुसंधान सहायक सिद्ध हो। अनुसंधान के लिए यह दर्शन एक शर्त यह भी रखता है कि अनुसंधान पूरा करने के लिए आवश्यक या पर्याप्त साक्ष्य और प्रामाण भी उपलब्ध हो तभी अनुसंधान किया जा सकता है। न्याय दर्शन के द्वारा सृजित औपचारिक तर्क शास्त्र के पांच चरण रेखंकित किए जा सकते हैं—(1) अनुसंधान के लिए एक कथन जिसको सिद्ध करना है (2) अनुसंधान के कथन को सिद्ध करने के लिए तर्क (3) उस अनुसंधान की व्याख्या करने के लिए एक उपयुक्त उदाहरण (4) जिसके आधार पर तर्क को कथन के साथ जोड़ा जा सके (5) सिद्ध किए गए तर्क का कथन। न्याय सूत्र में इन पांच चरणों को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है—(क) पहाड़ी पर आग है। (ख) हम ऐसा इसलिए कह सकते है क्योंकि वहां पर धुँआ है। (ग) जहां धुँआ है वहां आग होगी (घ) जो धुँआ है वह आग से जुड़ा हुआ है और वह पहाड़ी पर है (ड.) इसलिए पहाड़ी पर आग है। न्याय दर्शन में इस प्रकार तर्क प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रत्यक्ष बोध के साथ साथ तर्क और अनुमान पर आधारित है। दूसरे शब्दो में यह ज्ञानात्मक अथवा बोधात्मक अनुमान का दर्शन है।

सांख्यकारिका नामक कृति ईश्वरकृष्ण द्वारा लिखी मानी जाती है जो चौथी शताब्दी या पांचवी शताब्दी सा.सं. के बीच के है। हालांकि, सांख्य मौलिक रूप से पुराना दार्शनिक ज्ञान है जो उपनिषदो के समकालीन बतलाया जाता है। कपिल इसके मिथकीय जन्मदाता माने जाते हैं। सांख्य आस्तित्व के सिद्धांत की विशद विवेचना करता हैं। यह ज्ञान मीमांसा या ज्ञान शास्त्र भी है। यह दर्शन मानता है कि जिस संसार को हम अपने इर्द-गिर्द देखते है उसका वास्तव में अस्तित्व है। सांख्य दर्शन की मूलभूत अवधारणा दो आधारशिलाओं पर टिकी हुई है—(क) पुरुष और (ख) प्रकृति। इसके अनुसार, बहुत सारे पुरुषों का अस्तित्व है और सभी पुरुष शाश्वत, अपरिवर्तनशील, निष्क्रिय, किंतु चैतन्य साक्षी है। दूसरी ओर प्रकृति शाश्वत और अपरिवर्तनशील तो है किन्तु यह सक्रिय और अचेतन हैं। इसके तीन गुण हैं सत्व, रजस, और तमस। यह दर्शन पुरुष और प्रकृति के बीच में स्थित सम्बंध के विषय में व्याख्या करता है कि यह सम्बंध उसी प्रकार का है जिस प्रकार एक निष्क्रिय अवलोकनार्थी किसी नृत्य का अवलोकन करता है। पुरुष के द्वारा प्रकृति से पृथकता का बोध ही मुक्ति है। सांख्य दर्शन में बुद्धि, अहंकार और मन के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। सांख्य दर्शन के अनुसार, प्रत्यक्ष ज्ञान या प्रत्यक्ष बोध और विश्वसनीय साक्ष्य या प्रमाण ही ज्ञान के विधिमान्य आधार हो सकते हैं। और यह अनुमान को भी बहुत महत्त्व देता है।

विचार और व्यवहार के संतुलन से जुड़ा हुआ एक प्राचीन दर्शन योग है। योग सूत्रों के रचयिता के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किंतु जो योग से सम्बंधित मौलिक पाठ्य हमारे पास उललब्ध है यह माना जाता है कि वह पातंजलि के द्वारा लिखे गए हैं। दरअसल पातंजलि का योगसूत्र यौगिक क्रियाओं की एक मानक नियम पुस्तिका है। यह अष्टांगिक योग की व्याख्या करता है जिनमें से से पांच सिद्धांत शरीर को योग के लिए तैयार करने के लिए होते है और अन्य स्वयं को या आत्मा को सिद्धहस्त बनाने के लिए जिनके द्वारा सिद्धियां प्राप्त होती है। योग सूत्र की शुरुआत ही चित्त-वृत्ति -निरोध के कथन से हुई है अर्थात जिनके द्वारा चित्त की गतिविधियों को विराम लगाया जा सके। इन गतिविधियों में धारणा, कुधारण, अवधारणा, निद्रा और स्मृति इत्यादि आती है। योग का उद्देश्य

प्राथमिक स्रोत

भगवद्गीता

भगवद्गीता (भगवान का गीत) इस काल में दर्शन और धर्म पर लिखी शायद सबसे प्रसिद्ध कृति है। *महाभारत* के भीष्म पर्व के तृतीय खण्ड में संकलित गीता भगवान कृष्ण के द्वारा अर्जुन को युद्ध भूमि पर दिया गया उपदेश है। सामान्य रूप से यह स्वीकार किया गया है कि इस खण्ड को *महाभारत* में 200 सा.सं.पू. के लगभग शामिल किया गया। यह ग्रन्थ एक नए युग का प्रतिनिधित्व करता है और इस नए दृष्टिकोण से पुरातन युग का अवलोकन करता है। युद्ध का परिप्रेक्ष्य इसकी महत्ता के समक्ष धुंधला हो जाता है। इसमें ईश्वर की अवधारणा अपना विराटतम स्वरूप ग्रहण कर लेती है। जिसके सन्मुख शरणागत होने मात्र से जीवन मृत्यु के संसार चक्र से मोक्ष मिल जाता है। जब जब भक्त उनका स्मरण करते है वह प्रकट होते है। धर्म की स्थापना के लिए और भक्तो के कल्याण हेतु उनका अवतरण होता है।

गीता दार्शनिक दृष्टि से बहुत सशक्त ओर जटिल भी। योग मोक्ष कर्म और संन्यास से जुड़ी दार्शनिक मान्यताओं की यह व्याख्या करता है। यहीं रूकता नहीं बल्कि उनको नया आयाम देता है। यह वर्णाश्रम धर्म के औचित्य को सिद्ध करता है। वर्णाश्रम धर्म के पालन करने के महत्त्व का वर्णन करता है। यह आत्मा के निरंतर और शाश्वत अस्तित्व की वकालत करता है और मृत्यु की निरर्थकता को सिद्ध करता है। उसका कर्म योग कर्म को त्यागने की बात नहीं करता वरन परिणााम की चिन्ता को त्यागने का आग्रह करता है। कर्म का निष्पादन उसके फल की बिना चिन्ता किये किया जाना चाहिये । कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश का एक अंश यहां दिया जा रहा है:

भगवान ने कहा:

तुम्हारे जैसा विवेकपूर्ण पुरुष उन लोगों के लिए विलाप कर रहा है जिनके लिए उसे करना नहीं चाहिए। क्योकि विवेकवान पुरुष न किसी जीवित व्यक्ति के लिए विलाप करता है न ही किसी मृत के लिए। ऐसा कोई समय नहीं था जबकि मेरा अस्तित्व नहीं रहा हो अथवा तुम्हारा अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। ठीक उसी तरह जिस तरह एक व्यक्ति के जीवन में शैशवास्था, किशोरावस्था और वृद्धावस्था आती है। उसी तरह एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तन हो जाता है। इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत की गई ठंढक या गर्मी आराम और तकलीफ जैसी संवेदनाएं आती और जाती हैं हे कौन्तेय।

हे भारत। उनमें सममाव रखो। वैसा विवेकवान पुरुष जो सुख और दु:ख दोनों अवस्थाओं में तटस्थ रहता है वही अमरत्व प्राप्ति के योग्य है। न तो कुछ ऐसा सृजित होता है जिसका अस्तित्व पहले से नहीं रहा हो और न ही कुछ ऐसा विनष्ट होता है जिसका पहले से अस्तित्व है। जो इन सिद्धन्तों को देख सकता है वह इन दोनों के बीच के अंतर को भी समझ सकता है। लेकिन तुम्हे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि इस संसार के आधार में जो है वह नश्वर है कोई भी उस अविनाशी अस्तित्व का नाश नहीं कर सकता। उस शाश्वत अविनाशी अपरिसीम आत्मा को धारण करने वाले शरीरों का ही नाश हो सकता है आत्मा का नहीं। इसलिए हे भारत। तुम युद्ध करो। जो ऐसा सोचता है कि उसने उसकी हत्या कर डाली अथवा जो ऐसा सोचता है कि उसका वध हो चुका है दोनों ही उसे नहीं समझते। न तो उसका वध होता है और न ही वह किसी का वध करता है।

अजन्मा है जो और जो है अमर भी,
न कभी था अस्तित्व जिसका और
न कभी भी अजन्मा अनन्त शाश्वत
और पुरातन। हनन नहीं होता जिसका,
होता शरीर का हनन ही।

जो पुरुष यह जानता है कि वह
अविनाशी शाश्वत अजन्मा और
अनन्त है हे पार्थ। वह कैसे किसी
को मार सकता है अथवा उसे कौन
मार सकता है?

जिस तरह पुराने कपड़ों को उतार
कर धारण करते है नए कपड़े को,

जीर्ण शीर्ण हो गए शरीर को उसी
प्रकार छोड़कर धारण कर लेता है
वह नया शरीर

शस्त्र जिसको काट नहीं सकते,
अग्नि जिसको जला नहीं सकती,
जल जिसको भीगा नहीं सकता, वायु
जिसको सुखा नहीं सकता।

वह न तो कटता है, न जलता है,
न ही भीगता है और न ही सूखता
है क्योंकि वह शाश्वत है, सर्वज्ञ है,
स्थायी है, और नश्वर है, अवयक्त
है।

वह विचारों से परे है और उसे
रूपांतरण से भी परे कहा गया है।
यदि तुम उसे इस प्रकार से जानते
हो तब तुम्हारे पास विलाप करने का
कोई कारण नहीं है।

स्रोत: *भगवद्गीता* 24[2] 10-25; वान बुइटेनन, 1981: 75-77

चित्त को इस प्रकार से एकाग्र करना है जिससे कि पूर्ण नियंत्रण और शांति की प्राप्ति की जा सके। इसके अनुसार, उच्चतर आत्मज्ञान ही पुरुष है और दूसरी ओर जो व्यक्त और दृश्य है वही प्रकृति है।

वादों के दायरे से परे धर्मों के इतिहास का अध्ययन

(Looking at the History of Religions Beyond the Framework of 'ISMS')

ल. 200 सा.सं.पू. - 300 सा.सं. के बीच धार्मिक सिद्धांतो और व्यवहारों के क्षेत्र में पिछली शताब्दियों की निरंतरता तो प्रतिबिंबित होती ही है किंतु साथ साथ बिल्कुल नये परिवर्तनों को भी रेखांकित किया जा सकता है। इनमें सबसे पहले बौद्ध और जैन धर्म के भीतर भक्ति की नयी धाराओं का समावेश और प्रारंभिक हिंदू धर्म के अभ्युदय को नयी धाराओं का समावेश और प्रारंभिक हिंदू धर्म के अभ्युदय को चिन्हित किया जा सकता है। धर्म गान की नयी परंपरा और साथ साथ कई धार्मिक मिथको और किवंदतियों का विकास उपासना की नयी विधियों के साथ साथ ही विकसित होती चली गई। मंदिरों के भीतर संत गुरूओं और देवी देवताओं की प्रतिमाओं कि स्थापना की जाने लगी। मंदिर जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि किसी चिन्हित किए गए पवित्र स्थान को कहते हैं। और ऐसा माना जा सकता है कि यह धार्मिक प्रचलन इस काल से कही पहले से चला आ रहा था किंतु इस दिशा में पूर्ववत संरचनाओं की अपेक्षा प्रस्तरीय संरचनाओं के निर्माण के शुरुआत से इनमें स्थायित्व आया और इनकी महत्ता भी बढ़ी। मंदिर केवल एक पवित्र स्थान के रूप में सीमित नहीं रहा। यह सामाजिक गतिविधियों का केंद्र बन गया जहां लोग सामुदायिक उपासना के लिए जुटते थे और एक दूसरे के साथ संवाद करते थे। मंदिरों को दिया जाने वाला संरक्षण केवल भक्ति के उद्देश्य से नहीं था बल्कि इससे सामाजिक और कभी कभी राजनीतिक मान्यता की प्राप्ति भी की जाती थी।

अभी तक धर्मों के इतिहास की जो भी पुर्नरचना की गयी है वह उन धर्मों के द्वारा प्रतिपादित धर्म ग्रंथों के आधार पर की गयी है किंतु ऐसा संभव है कि ये ग्रंथ लोकप्रिय स्तर पर व्यवहार में आने वाले धार्मिक व्यवहारों का सही ढ़ंग से प्रतिनिधित्व नहीं करते। इनकी रचना निश्चित रूप से एक कुलीन तंत्र के द्वारा की गयी और इसके साथ ही इन ग्रंथों की प्रकृति उपदेशात्मक है। इनमें से कई कृतियों की तिथि के विषय में सही ढंग से कुछ नहीं कहा जा सकता। जिन व्यवहारों और विचारों को यहां संकलित किया गया है हो सकता है कि उनका विकास काफी पहले हो चुका हो। इसके अतिरिक्त प्रभुत्वशाली धार्मिक परंपराओं के द्वारा अन्य अन्य धर्मिक परंपराओं को हाशिए पर दिखलाने का प्रयास किया जाता रहा है और साथ साथ उनके महत्त्व को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करने की कोशिश भी रही है। जैसा कि हम पहले भी आजीविक संप्रदाय के बारे में देख चुके हैं कि बौद्ध और जैन ग्रथों में इनकी काफी आलोचना की जाती रही किन्तु निश्चित रूप से ऐसा लगता है कि उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में लंबे समय तक इसकी संप्रदाय का काफी प्रभाव बना रहा था।

इन धार्मिक ग्रंथों के विषय में दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इनमें स्थानीय स्तर पर या क्षेत्रीय स्तर पर धार्मिक व्यवहारों में विधमान भिन्नताओं को महत्त्व नहीं दिया गया। इनमें कुछ अत्यंत प्रचलित व्यवहारों का कहीं जिक्र तक नहीं किया गया है। इसलिए धर्मों के इतिहास के स्रोत के रूप में ये धार्मिक ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है किंतु इनके साथ साथ यदि पुरातात्त्विक अभिलेख और सिक्कों से प्राप्त साक्ष्यों और जानकारियों को भी समाविष्ट कर लिया जाए तो इन धर्मों के इतिहास को और तर्कसंगत बनाया जा सकता है बल्कि और संपूर्णता प्रदान की जा सकती है।

एक दूसरा मसला यह भी है कि विभिन्न धर्मो का इतिहास पृथक रूप से पढ़ा जाता है। इन धर्मो के बीच के अंतरसंबंध या इनकी समकालीनता पर हम ध्यान नहीं देते। भारत में ऐसे अधिकांश धार्मिक केन्द्र हैं जो केवल एक धर्म के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं बल्कि एक ही धार्मिक केन्द्र पर अनेक धर्म एवं संप्रदायों के लिए अलग पुरातात्त्विक साक्ष्यों को हम देखें या इन केन्द्रों में उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों को हम देखें या इन केन्द्रों के आस पास के क्षेत्रों में उपलब्ध अनेक स्तरों पर संवाद कर रहे थे। उनके बीच होने वाले आदान प्रदान तथा उनकी समकालीनता को हम लगभग नजरअंदाज करते आए हैं। यदि प्राचीन धार्मिक प्रतिष्ठानों से जुड़ी प्रतिमाओं और अन्य सामग्रियों में निर्देशित प्रतीक चिह्नों का अध्ययन करे तो पता चलेगा कि इन मंगलकारी चिह्नों को एकाधिक संप्रदायों के द्वारा एक सा ही महत्त्व दिया जा रहा था। इन धर्मो के मंदिर एक ही प्रकार के स्थापत्य शैली और वस्तु का प्रतिपादन कर रहे थे। वस्तुत ऐसी सभी धार्मिक परंपराएं अथवा इनको मानने वाले लोग लगभग एक ही संस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की उपज थे। विभिन्न धर्मो के द्वारा या उनके अनुयायियों के द्वारा प्रदर्शित या मान्य लोक व्यवहार उस धर्म विशेष या उस संप्रदाय विशेष तक सीमित नहीं थे। बल्कि ये लोकप्रिय धार्मिक व्यवहार या

यक्ष ऋष्यश्रृंग, चौबर टीला, मथुरा

सांस्कृतिक व्यवहार के अंग थे जो सदियों से चले आ रहे थे। इसके साथ साथ विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच विद्यमान संघर्ष और प्रतिद्वंदिता को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

उदाहरण के लिए, मथुरा का क्षेत्र वैविधपूर्ण धार्मिक परिदृश्य का प्रतिनिधित्व करता है जबकि यह कृष्ण से जुड़े मिथकों का केन्द्र माना जाता है। लेकिन ल. 200 सा.सं.पू. और 300 सा.सं. के बीच यहां के धार्मिक वैविध को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता (सिंह 2004 ए)। यहां से प्राप्त प्रतिमाएं संरचनात्मक अवशेष और अभिलेखीय साक्ष्य इस ओर इशारा करते हैं उदाहरण के लिए, कटरा में एक बौद्ध विहार था। जमालपुर का पुरातात्विक टीला बौद्ध संरचनाओं से भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त यहीं पर नागदेवता दधिकर का भी मंदिर है। कंकाली टीला में बहुत सी जैन प्रतिमाएं प्राप्त की है। मथुरा की तरह ही दक्षिण भारत में आंध्र प्रदेश के गुंटुर जिला में स्थित नागार्जुनकोंडा से भी इसी प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं हालांकि, इसका अधिकांश हिस्सा नागार्जुन सागर बांध के कारण पानी में डूब चुका है फिर भी यहां के धार्मिक वैविध को पुरातात्त्विक साक्ष्यों के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। यहां पर 30 से अधिक बौद्ध सरंचनाए और 19 हिन्दू मंदिर अवस्थित थे इसके साथ साथ मध्यकाल के बहुत सारे जैन मंदिर भी यहां देखे जा सकते हैं। रीमा हूजा (2004) ने राजस्थान के प्रारंभिक हिंदू धर्म के अध्ययन के संदर्भ में बैरात, नगरी, रैड़, नागर, सांभर और रंगमहल जैसे केन्द्र में बहुत सारी उपासना पद्धतियों और संप्रदायों के सहअस्तित्व को प्रमाणित करने की चेष्टा की है।

यक्ष और यक्षी, नाग और नागी लोकप्रिय उपासना

आनंद के. कुमारस्वामी ([1928–31], 1980: 36) ने काफी प्रभावशाली ढंग से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भक्ति की धारा जिससे आज तमाम भारतीय धार्मिक संप्रदाय जाने जाते हैं, इस धारा का स्वाभाविक स्रोत वही यक्ष, यक्षी, नाग, नागी और मातृदेवियों की भक्तिपूर्ण उपासना रही है। भारतीय जनमत में सदियों से चली आ रही है। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि यक्ष और यक्षी की उपासना में प्रारंभ से ही मंदिर पूजा और उपासना पद्धति का विकास लौकिक स्तर पर हो चुका था। यक्षों की पूजा प्रजनन क्षमता, वृद्धि, वृक्ष, वन, जल और एकांत से जुड़ी रही है। साहित्यिक और प्रतिमाशास्त्रीय प्रमाण यह विस्तार से दिखाते हैं कि किस प्रकार यक्ष की एक मंगलकारी और उदार छवि धीरे-धीरे विकृत और विध्वंसकारी दानवीय शक्ति के रूप में रूपांतरित होने लगी थी। समृद्धि के स्थान पर ये प्रजनन शक्ति के प्रतीक मात्र बन गए (सदरलैंड, 1992; मिश्र, [1979], 1981) यक्षी या यक्ष्नी यक्ष के साथ दंपति के रूप में पूजित होने वाली देवियां थी मूल रूप से ये भी मंगलकारी उपास्य प्रतीक थी जो पुन: प्रजनन से जुड़ी मान्यताओं के लिए आराध्य थी। संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में अनेक धार्मिक प्रतिष्ठानों में कामुकता से ओत-प्रोत एक नारी प्रतिमा वृक्ष की डाल के साथ लिपटी हुई दिखलाई पड़ती है। दरअसल ये यक्षी की प्रतिमाएं ही है जिन्हें सामान्य रूप से लोग शाल भंजिका की संज्ञा देते हैं। ब्राह्मण बौद्ध और जैन ग्रंथों में यक्ष और यक्षी दानवी और भयाक्रांत करने वाले चरित्रों के रूप में दिखलाए गए हैं। प्रभुत्वशाली धार्मिक परंपराओं में इनको समाविष्ट कर लिया गया और इनका आस्तित्व हाशिए पर आ गया। किंतु इनकी सभी धर्मो में महत्त्वपूर्ण उपस्थिति यह स्पष्ट रूप से संकेत देती है कि मूर्ति प्रथा और सार्वजनिक पूजा प्रणाली के विकसित रूप में इनका महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रहा होगा।

वास्तव में यह पता लगाना काफी कठिन है कि यक्ष और यक्षियों की उपासना कब से की जा रही है किंतु फिर भी ल. 300 सा.सं.पू. 200 सा.सं. के बीच के काल में ये धार्मिक पर्यावरण के बहुत जीवंत उपासतत्व बने रहे इसमें कोई संदेह नहीं है। हमारे इतिहास में ऐसा माना जाने लगा कि इनकी उपासना करने वाले संप्रदाय अधिकांशत: ग्रामीण परिवेश से तालुक रखते है लेकिन यर्थाथ कुछ और ही है। यदि हम मथुरा और कई अन्य धार्मिक केन्द्रों से प्राप्त हुए यक्ष और यक्षियों की भव्य प्रतिमाओं का अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका निर्माण नगरीय समुदायों के लिए नगरीय केन्द्रों में बड़ी संख्या में हो रहा था। इससे लंबे समय से चली आ रही मूर्ति पूजा और सार्वजनिक उपासना पद्धति तथा मंदिरों के प्रयोग का भी साक्ष्य जुड़ा हुआ है। मध्यप्रदेश के बेसनगर और पवैया जैसे स्थानों में यक्षों की प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। इनके बाये हाथ में एक मंजूषा देखी जा सकती है, जिससे पता चलता है कि ये समृद्धि तथा संपत्ति से जुड़े हुए देवता थे। मथुरा के निकट परखम से प्राप्त विशालकाय

मणीभद्र यक्ष की प्रतिमा का जिक्र पिछले अध्याय में किया जा चुका है। मणिभद्र यात्रियों और व्यवसायों के कुल देवता के रूप में पूजित हो रहे थे, ऐसा साहित्यक और अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध है। विशेष रूप से मणिभद्र की उपासना महत्त्वपूर्ण धार्मिक केद्रों में की जा रही थी।

आज भी संपूर्ण भारतवर्ष में जनसामान्य के स्तर पर प्रजनन और शिशु तथा कई प्रकार की बीमारियों करे दूर भगाने के लिए मातृदेवियों की उपासना अत्यंत लोकप्रिय है। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में यक्षियों की पूजा इसी निमित्तकी जा रही थी। इस काल से उपमहाद्वीप के विभिन्न स्थानों से यक्षियों की प्रतिमाओं की विशालता को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये सार्वजनिक उपासना और सामुदायिक पूजन पद्धति से जुड़े हुए थे। किंतु घरेलू स्तर पर छोटे छोटे पत्थर और टेराकोटा के यक्ष यक्षियों की प्रतिमाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि इनका पूजन व्यक्तिगत स्तर पर भी किया जाता था। मथुरा क्षेत्र में यक्ष और यक्षियों की विशालकाया प्रतिमाओं का प्राय: सामान्य संवत के प्रारंभिक शताब्दी में ही लोप हो गया, परे इनकी लघु प्रतिमाएं अत्यंत लोकप्रिय बनी रही और इसलिए यह सिद्ध होता है कि घरेलू स्तर पर लंबे समय तक उनकी उपासना की जाती रही।

इसी प्रकार से नाग और नागी या नागिन का पूजन भी सभी धार्मिक संप्रदायों को मानने वाले लोगों में अत्यंत लोकप्रिय रहा। नाग और नागी मूलत: जल और प्रजनन से जुड़े रहे। यक्ष और यक्षियों की भांति मूल रूप से इनकी पूजा स्वतंत्र रूप से की जाती थी, किंतु बाद में प्रभुत्वशाली धार्मिक संप्रदायों ने इनको अपनी परिधि में ले लिया। विशालकाया नागों की प्रतिमाएं कई स्थानों से प्राप्त होती हैं। इन प्रतिमाओं का शिल्प और तकनीकी उत्कृष्टता यह स्पष्ट कर देती है कि इनकी उपासना का स्वरूप कोई बहुत सामान्य नहीं था। ये मात्र लोकजीवन से अथवा ग्रामीण जीवन से जुड़े हुए नहीं थे। मथुरा में द्वितीय शताब्दी सा.सं. की एक अत्यंत भव्य नाग प्रतिमा पायी गयी है जिसके सात फण थे। मथुरा के जमालपुर पुरातात्त्विक टीले में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। जिससे पता चलता है कि उससे जुड़ा मंदिर दधिकर्ण को समर्पित था, जो नागों के देवता थे। इस मंदिर के लिए छांडक बंधुओं ने दान दिया था जो मथुरा के प्रस्तरीय सज्जाकारी से जुड़े एक परिवार के सदस्य थे।

मथुरा के निकट सोंख का ऐप्साइडल (अर्धगोलाकार) मंदिर संख्या-2 यह प्रमाणित करता है कि यहां पर ईंट और पत्थरों से बना एक बड़ा नाग मंदिर था। पहली शताब्दी सा.सं.पू. से दूसरी शताब्दी सा.सं. के बीच इस मंदिर का कई बार पुर्ननिर्माण हुआ।

राजगीर के निकट मनियार मठ से दूसरी / पहली शताब्दी सा.सं.पू. का एक नाग मंदिर प्राप्त हुआ है। नागों की प्रतिमाएं उपमहाद्वीप के सभी हिस्से में पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए, मध्य दक्कन में पेडा बाकुर और कोटालिंगल जैसे स्थानों पर किसी भी हिंदू या ब्राह्मण मंदिर या प्रतिमाओं की प्राप्ति नहीं हुई है लेकिन यहां यक्ष और नागों की प्रतिमाएं तथा इनसे जुड़ी अनेक देवियों की प्रतिमाएं इनके सांप्रदायिक महत्त्व का प्रमाण प्रस्तुत करती है। प्रडाबाकूर में सर्प की एक लौह प्रतिमा भी मिली है। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि अनेक अभिलेखों में जिन ग्रामीणों का नाम अंकित है वे नाग और यक्षों के नाम पर आधारित नाम थे।

यक्ष और यक्षियों की भांति नाग और नागियों की उपासना भी धीरे धीरे नगरीय उपासना के केंन्द्र बिन्दु से हाशिए पर चली गयी किंतु, व्यक्तिगत और घरेलू स्तर पर इनका पूजन किया जाता रहा और इसके अनेक प्रमाण इनकी पत्थर और टेराकोटा की बनी लघु प्रतिमाओं से मिलता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के द्वारा कालिया नाग का मंथन वैष्णव धर्म की इस सांप्रदायिक उपासना पद्धति पर बनाये गए वर्चस्व का ही एक साहित्यक रूपांतर हैं।

मथुरा: छड़गांव से प्राप्त नागराज की प्रतिमा (ऊपर) टेराकोटा मृण्मूर्ति (नीचे)

मातृ देवियाँ, देवस्थल और मनौती कुण्ड

पिछले अध्यायों में हमने कई बार यह चर्चा की है कि प्राग् ऐतिहासिक काल से ही हमारे पास टेराकोटा की नारी प्रतिमाएं बहुतायात संख्या में प्राप्त होती रही । यह व्यक्ति परक निर्णय हो जाता है कि इन प्रतिमाओं के धार्मिक या सांप्रदायिक महत्त्व को हम उजागर करते है या उसे गौण रखते है। इनके आकार और स्वरूप से कहीं अधिक यह समझना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इनकी प्राप्ति का क्या संदर्भ रहा। जिन प्रतिमाओं के सम्बंध में सांप्रदायिक महत्त्व के होने की बात कही जाती है, वहां यह पता लगाना महत्त्वपूर्ण है कि इनका उपयोग घरेलू

अनुष्ठानों में अथवा मनौती के रूप में या इनके मातृत्व सम्बंधी गुणों के परिचायक होने के कारण इनका महत्त्व था। पहले भी हमने कहा है कि मातृ देवियां अथवा केवल देवी कहने से किसी एक आकार और स्वरूप की प्रतिमाओं का बोध ही होता। यह दरअसल विविध प्रकार की देवियों की प्रतिमाओं का प्रतिनिधित्व करती है जिसका नाम हम स्पष्ट रूप से नहीं जान सकते है। सभी प्रतिमाओं को मातृत्व के गुणों से नहीं जोड़ा जा सकता। प्राचीन मातृ देवियों को प्रजनन क्षमता के लिए समृद्धि के लिए शिशु के जन्म के लिए अथावा बच्चों की सुरक्षा के लिए या बीमारियों से रक्षा के लिए आहवान किया जाता रहा।

ल. 200–300 सा.सं. के काल के बीच में मातृदेवियों से जुड़ी उपासना पद्धति और संप्रदायों के पर्याप्त पुरातात्त्विक प्रमाण विभिन्न पुरातात्त्विक केंद्रों से प्राप्त होते रहे है। उदाहरण के लिए, मथुरा क्षेत्र से मातृ देवी कही जाने वाली प्रतिमाएं अनेक पुरातात्त्विक स्तर विन्यासों से उत्खनन के दौरान प्राप्त हुई है। इनसे पहले इनकी प्राप्ति चौथी दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के स्तर विन्यास संदर्भ-II में देखी जा सकती है। बाद की शताब्दियों में इन देवियों की प्रतिमाओं का निर्माण अत्यंत उत्कृष्ट तकनीक से जुड़ गया और इनकी संख्या और प्रकार में भी काफी बढ़ोतरी हुई। इनके स्तन और कमर के उभार में भी काफी अंतर आया। अब वे हार, चूड़ी, कान के आभूषण, कमरधनी जैसे कई आभूषणों से लदी हुई दिखलायी पड़ने लगीं। अनेक प्रतिमाओं के मुकुट और केशसज्जा देखने लायक है।

कई बार इन मातृदेवियों को एक विशेष प्रकार के टेराकोटा से बने उपादानों के साथ जुड़ा हुआ पाया जाता है। जिनको पुरातात्त्विक साहित्य में वोटिभ टैक या मनौती कुंड और देवस्थल कहते हैं। उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला से लेकर पूर्व में चिरांद और, दक्षिण में कोल्हापुर तक तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से तीसरी शताब्दी सा.सं. के बीच के काल संदर्भ में इनकी असंख्य प्राप्तियां हुई हैं। मथुरा के निकट सोंख एक ऐसा स्थान है जहां तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर मध्य युग तक लगभग एक हजार साल तक इन प्रतिमाओं का सूक्ष्म और लघु रूप घरेलू पूजन पद्धति के अंग के रूप में प्रचलित रहा। सोंख के उत्खननों के दौरान ऐसे मनौती कुंड अथवा देवस्थल के टुकड़े 266 की संख्या में प्राप्त हुए हैं। (हार्टेल, 1993: 195 ff)। अधिकांश प्रतिमाओं की तिथि दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के पहली शताब्दी सा.सं.पू. के बीच आंकी गयी है। इन प्रतिमाओं के साथ दीया अथवा पात्र या पक्षी और दीया जैसी अन्य संरचनाएं भी पायी जाती हैं। इन देवी स्थानों को कुछ ऊंचे चबूतरों पर पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनायी गई हैं। कई मातृ देवी की प्रतिमाएं आंगन के बीच में बनायी गयी हैं। इन मनौती कुंड के बीच में कमल के फूल का आकार भी बना हुआ है। उनके चारों ओर सर्प, मेंढक, मछली इत्यादि बने हुए हैं या इस तथाकथित जलाशय के बीच में किसी नारी को बैठे हुए अवस्था में दिखाया गया है, जिसके हाथों में एक शिशु है और एक पात्र उसकी गोद में रखा हुआ है। इन मन्नत कुंडों में पानी भरा रहता होगा और ऐसे मन्नत कुंड या देवस्थली की लघु प्रतिकृति कई प्रसिद्ध मंदिरों में भी देखी जा सकती है। निश्चित रूप से ये देवियों और नागों जैसे उपास्य चरित्रों से जुड़ी रही होंगी।

टेराकोटा का बना एक आनुष्ठानिक कुंड

वैदिक कर्मकाण्ड

ल. 200 सा.सं.पू. 300 सा.सं. के काल में वैदिक कर्मकाण्डों के पूर्ववत प्रचलन के बने होने के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। पुष्यामित्र शुंग तथा कई सातवाहन और इक्ष्वाकु शासकों ने वैदिक कर्मकाण्डों के सफल निष्पादन का श्रेय लिया है। इस काल के कई सिक्कों पर बलि की वेदिका और यूप (खम्भे) का अंकन देखने को मिलता हैं। सांभर में हुए उत्खनन के दौरान एक यौधेय सिक्का मिला है, जिसपर वेदिका में स्थापित एक यूप के समक्ष खड़े एक वृष को दिखलाया गया है। आर्जुनायनों के ताम्रसिक्कों पर भी ऐसे दृश्य देखने को मिलते हैं। सांभर से ही ऊपरोक्त दृश्य वाला एक टेराकोटा मुहर पया गया जिसके नीचे द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. की ब्राहमी में किसी व्यक्ति का नाम अंकित या तृतीय शताब्दी सा.सं. से बलि के कई शैल खम्भों के नीचे संस्कृत के अभिलेख देखने को मिलते हैं (विशेष रूप से राजस्थान में)। नागरी से प्राप्त एक अभिलेख पर पराशर गोत्र के किसी सर्वतात नामक व्यक्ति के द्वारा किए गए अश्वमेघ यज्ञ का उल्लेख हैं।

मथुरा की आवासीय संरचनाओं में किए गए उत्खनन कार्यों के दौरान खोदे गए गड्ढों में राख, पशुओं की हड्डियां और मृद्भाण्ड पाए गए हैं जो शायद बलिप्रथा के प्रचलन की सूचना

देते हैं। यमुना के बाएं तट पर मथुरा के निकट ईसपुर नामक स्थान से जो सूचनाएं मिली हैं वह और भी रोचक हैं। यहां पर पत्थर के बने दो ऐसे यूप पाए जिसपर पाश के साथ मेंखलाएं बनी हुई थीं जिसे पशुओं को बाँधने का चिह्न कहा जा सकता है। इनमें से एक स्तम्भ के नीचे कुषाण शासक वशिष्ठ के राज्यारोहण के 24 वें वर्ष में निर्गत संस्कृत का एक अभिलेख उत्कीर्ण है इसके अनुसार, इस स्तम्भ का निर्माण द्रोणल नामक एक ब्राह्मण के द्वारा संपादित 12 रातों में संपन्न किसी यजमान के द्वारा करवाए गए बड़े पैमाने पर एक यज्ञ के आयोजन का संकेत करते हैं।

पहले भी यह उल्लेख किया जा चुका है कि कौशाम्बी के पूर्वी द्वार के निकट किए गए उत्खनन के दौरान ईंटों का बना एक ऐसा हवन कुण्ड पाया गया जिसका आकार दक्षिण पूर्व दिशा में उड़ रहे एक चील के समान था। इस कुण्ड में मानव कपाल के साथ साथ मनुष्य और पशुओं की हड्डियां भी पायी गईं। जी. आर शर्मा (1960) ने इसको पुरुषमेघ (नरबलि) के साक्ष्य के रूप में दिखलाने का प्रयास किया। उत्तराखण्ड के उत्तरकाशी जिले में स्थित पुरोला नामक स्थान पर पुरातत्त्ववेताओं ने पक्की हुई ईट के बने गरुड़ के आकार के एक हवनकुण्ड का शिनाख्त किया है जिसका अग्रभाग पूर्व की ओर तथा पार्श्वभाग पश्चिम की ओर बना हुआ है। इस हवन कुण्ड को द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. से पहली शताब्दी सा.सं. के बीच के वैदिक कर्मकाण्डों से जुड़ा हुआ बतलाया गया है। उत्तराखण्ड के ही कलसी के निकट जगतग्राम नामक स्थान से मिले अभिलेखों पर शीलवर्मन नामक एक शासक के द्वारा आयोजित अश्वमेघ यज्ञों की चर्चा की गई है। उत्खनन के दौरान भी यज्ञों के लिए बने ईंट के हवन कुण्डों के साक्ष्य मिले हैं।

पंजाब के लुधियाना जिला के संघोल नामक स्थान से भी कई महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। इस गाँव के दक्षिण पूर्वी हिस्से में उत्खनन के दौरान कई हवन कुण्डों से युक्त एक धार्मिक संचरना के अवशेष मिले जो प्रारंभिक सा.सं. शताब्दियों के हैं। इन संरचनाओं से प्राय: एक दर्जन से अधिक वर्गाकार और आयताकार कुण्डनुमा गड्ढ़े मिले जिनमें राख मिट्टी लकड़ी का कोयला, जले हुए अनाज, बीज और फल के अवशेष भी पाए गए। इसी स्थान पर ब्राह्मी में लिखें अभिलेख और प्रतीकों से युक्त कई मुहरे भी प्राप्त हुए। के. एस सारस्वत और ए. के. पोखरिया (1997-98) ने यहां से प्राप्त वानस्पतिक अवशेषों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उन्होंने यहां से चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, उड़द, मसूर और तिल सहित सात प्रकार के अनाजो को चिन्हित किया है। इसके साथ साथ चिलकोजा, पिसता, गुलर, अखरोट, खजूर जैसे कई प्रकार के जंगली तथा उगाए गए फलों के अवशेष भी देखें गए। आँवला, हरितकी, जायफल, तुलसी, गोलमिर्च और फोक जैसे आयुर्वेदिक गुणों वाले वनस्पतियों के भी अवशेष देखें गए। पीपल, गुलर, पलास, कत्था, तमाल, देवदार और चन्दन की लकड़ियां भी पायी गईं जिनका हवन में ईंधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता था।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि 200 सा.सं.पू. -200 सा.सं. के बीच के काल में वैदिक कर्मकाण्डों का महत्त्व बना रहा। राजनीतिक सत्ता की वैधानिक पुष्टि के अन्य साधनों की तरह इनका महत्त्व बना रहा। किन्तु निश्चित रूप से लोक जीवन में यज्ञ पर आधारित वैदिक धर्म के स्थान पर भक्ति और आस्था पर आधारित आचरण अधिक महत्त्वपूर्ण हो चुके थे।

पुराणों पर आधारित हिंदू धर्म

अंग्रेजी में 'हिंदूइज्म' का प्रयोग बहुत हाल में शुरू हुआ। बल्कि इसका सबसे पहले प्रयोग राजा राम मोहन राय ने 1816 -17 में किया। परिचयात्मक अध्याय में यह कहा गया था कि हिंदू शब्द अत्यंत प्राचीन है और यह सिंधु नदी के नाम पर प्रचलित हुआ । मूलत: इसका प्रयोग एक भौगोलिक शब्दावली के रूप में हुआ जो प्राचीन फारसी अभिलेखों में सिंधु नदी से परे भूमि के लिए किया जाता था। मध्ययुगीन संदर्भ में इस शब्द ने धार्मिक व सांस्कृतिक अर्थ ग्रहण करना प्रारंभ किया। आधुनिक युग का हिंदू धर्म संसार के अन्य सभी महत्त्वपूर्ण धर्मों से कई मामलों में भिन्न है। सबसे पहले कि इसका कोई एक निश्चित जन्मदाता नहीं है। दूसरा कि इसके तमाम आस्था और व्यवहारों को किसी एक ग्रंथ में संकलित नहीं किया गया है। इसका कोई सुनिश्चित पुरोहित वर्ग नहीं है। इसके भीतर ही विविध प्रकार की आस्थाएं, धार्मिक व्यवहार, संप्रदाय और धार्मिक परंपराएं मौजूद हैं। कुछ विद्वानों ने अपना मत दिया है कि हिंदू धर्म एक धर्म नहीं है, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहारों का एक समूह है। कुछ विद्वान इसके जाति प्रथा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं जबकि अन्य विद्वानों ने हिंदू धर्म के अनेक संप्रदायों को बहुवचन के रूप में देखना पसंद किया है वनिस्पत कि किसी धर्म के लिए प्रयुक्त एकवचन के। बावजूद इसके कि इस शब्द का इतिहास काफी हाल का है अथवा इसको परिभाषित करने में कठिनाइयां होती हैं या इसमें आंतरिक दृष्टि से अत्याधिक विविधताएं है, हिंदूवाद या हिंदू धर्म के रूप में ही इसको देखा जाना अत्याधिक उपयुक्त है, क्योंकि [लौरेनजेन ([1999], 2006)] ऐसा कोई विशेष कारण नहीं है कि हिंदूवाद को एक स्वतंत्र धर्म या धार्मिक विचारधारा के रूप में नहीं देखा जाए।

ऐसे पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है जिनके आधार पर 200 सा.सं.पू. - 300 सा.सं. के बीच के काल में हिंदू धर्म के भीतर भक्ति अनुष्ठान के बढ़ते हुए प्रभाव को सिद्ध किया जा सकता है। कुछ देवी देवता वैदिक ग्रंथों के काल

से ही ज्ञात हैं। परंतु इन शताब्दियों में सर्वोच्च देवता या देवी के रूप में अवधारणा विकसित हुई, जिनकी प्रतिमाएं मंदिरों में स्थापित की गईं। घरों में उनको पूजा जाने लगाा ओर वे भक्ति के केन्द्र के रूप में उभर कर सामने आए।

आस्था की नई प्रवृतियां जो इस काल में मुख्य धारा के रूप में उभर कर सामने आयीं उनकी नींव उपनिषदों की अंतिम रचनाओं में ढूंढी जा सकती है। *रामायण* और *महाभारत* में यह प्रवृति और भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। भक्ति पर आधारित अध्यात्म भगवत गीता और पुराणों में और उभर कर सामने आता है।

पाठ्यात्मक स्रोतों के अतिरिक्त पुरातात्त्विक केन्द्रों प्रतिमाशास्त्र, सिक्के और अभिलेखीय साक्ष्य ऐसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध कराते हैं जिनसे यह अनुमान लगया जा सकता है कि भक्ति पर आधारित धार्मिक व्यवहारों के प्रारंभिक साहित्यक उल्लेखों में *बौधायन गृह्यसूत्र* 2.3.13 भी सम्मिलित है जिसमें शिशु के जन्म के बाद पहली बार बाहर निकलने के क्रम में देवताओं के प्रतिमापूजन का वर्णन मिलता है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश के शीघ्र पश्चात् पालन करने योग्य नियमों में *गौतम धर्मसूत्र* (9.12-13, 45) के अंतर्गत देवताओं की प्रतिमा का संदर्भ आता है। पातंजलि के महाभाष्य में शिव स्कंध और विशाखा की प्रतिमाओं का उद्धरण आया है। *अर्थशास्त्र* (2.4.17, II .4.19) में यह मत व्यक्त किया गया है कि नगर के अभिभावक देवताओं को समर्पित मंदिर तथा सम्राट के कुल देवता और नगर के संरक्षक देवता के मंदिरों को शहर के बिल्कुल केन्द्र में होना चाहिए। *अर्थशास्त्र* यह भी सुझाव देता है कि चार दिक्पालों की स्थापना नगरों के चार प्रवेश द्वारों पर अवश्य की जानी चाहिए। इस ग्रंथ में कई समुदायों के अधिष्ठात्री देवताओं के मंदिरों की तथा ऐसे देवताओं के प्रतिमा की भंडार गृह में स्थापना के विषय में कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है (2.5.6, II. 4.18)। *अर्थशास्त्र* में ही (4.10.16) मंदिर की संपत्ति के अंतर्गत प्रतिमाएं, खलिहान, पशुधन, दास, खेत, घर, धन, स्वर्ण और सिक्कों को रखा गया है।

हिंदू मंदिरों के प्राचीनतम अभिलेखीय संदर्भ और पुरातात्त्विक प्रमाण ल. 200 सा.सं.पू. - 300 सा.सं. के बीच के ही हैं। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि बेसनगर की हेलयोडोरस के बेसनगर स्तंभ अभिलेख में एक विष्णु मंदिर की स्थापना की चर्चा की गयी है और उक्त मंदिर की आधारशिला के अवशेष अभी भी वहां देखें जा सकते हैं। नागरी लिपि में लिखें गये द्वितीय शताब्दी के एक अभिलेख में संर्कषण और वासुदेव के एक मंदिर का उल्लेख है। सोंख में सप्तमातृकाओं का एक मंदिर, अतिरंजीखेड़ा में लक्ष्मी का एक मंदिर तथा गुड्डीमलम में एक शैव मंदिर तथा नागार्जुनकोंडा में शिव और विष्णु को समर्पित मंदिर इत्यादि को हिंदू उपमहाद्वीप के हिंदू मंदिरों के प्रारंभिक उदाहरणों के रूप में रखा जा सकता है। मथुरा में पाए जाने वाले प्रस्तर की प्रतिमाओं और टेराकोटा की प्रतिमाओं के विकास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि यक्ष, यक्षी, नाग और नागिनों से जुड़े लोकप्रिय संप्रदायों को उभरते हुए ब्राह्मणवादी परंपरा ने देवी देवताओं के हाशिए पर डाल दिया था। निश्चित रूप से शिव विष्णु और दुर्गा से जुड़े हुए संप्रदायों ने जनता में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया।

हालंकि ल. 200 सा.सं.पू. - 300 सा.सं. के बीच ऐसे देवी या देवता को सर्वोच्च शक्ति के रूप में स्वीकार करने वाले सांप्रदायिक पंथों का विकास हुआ, लेकिन इसके समांतर चलने वाली प्रक्रिया के अंतर्गत हिंदू देवताओं में सामंजस्य स्थापित करने तथा उनके कार्यों को एक दूसरे के पूरक के रूप में दिखलाने का प्रयास भी किया जा रहा था। ब्रह्मा विष्णु और महेश के रूप में त्रिदेव की अवधारणा *महाभारत* में भी प्रस्तुत कर दी गई थी और इसका विस्तार पुराणों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ब्रह्मा सृष्टि के, विष्णु संसार के पालनकर्ता के रूप में और शिव संसार के संहारकर्ता के रूप में स्थापित होने लगे। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा को रजस्व या क्रियाशील रचनात्मकता विष्णु को सत्व या अलिप्त, अक्रियाशीलता तथा शिव को तमस अर्थात अंधकार और विध्वंश की अवधारणाओं से जोड़ा गया। देवताओं के श्रम विभाजन के आधार पर अपने अपने क्षेत्र के दायित्व का निर्वहन करते हुए दिखलाया गया है, किंतु कहीं कहीं इन्हें एक ही दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में भिन्न भिन्न देवताओं के स्वरूप के अंतर्गत भी दिखलाया गया है।

किसी एक देवता को समर्पित मंदिर में उस मुख्य देवता के साथ साथ अन्य देवताओं की प्रतिमाओं की स्थापना भी यह स्पष्ट कर देती है कि किसी एक सर्वोच्च देवता को स्वीकार करते हुए भी अन्य सभी देवताओं के प्रति सम्मान की प्रवृति को बढ़ावा दिया जा रहा था। एक देवोपासना का अभिप्राय किसी एक सर्वोच्च देवता में आस्था से है। हिंदू धर्म को ऐसे एक देवोपासक धर्म के रूप में देखा जा सकता है जिसमें अन्य देवताओं के सहअस्तित्व का कभी भी निषेध नहीं किया गया।

शैव धर्म

पशुपति मुहरों के आधार पर विद्वानों के द्वारा यह बतलाया गया है कि शिव उपासना प्रथा की जड़े हड़प्पा सभ्यता में निहित हैं। *ऋग्वेद* में शिव शब्द का प्रयोग मंगलकारी के पर्याय के रूप में हुआ है, एक ईश्वर के नाम के रूप में नहीं किंतु *ऋग्वेद* में रुद्र का कभी-कभी उल्लेख किया गया है जो प्रचंड, घोर, उग्र, उत्कट देवता थे जिनका

भय लोगों में व्याप्त था। रुद्र के गुणों की तुलना बाद के हिंदू धर्म में शिव की अवधारणा के विकास से बहुत मिलता जुलता है। उत्तर वैदिक ग्रंथों में एक ऐसे देवता का अनेक बार उल्लेख हुआ है जिन्हें शिव, रुद्र, इशान, महादेव, महेश्वर, पशुपति, या सर्व के नाम से जानते हैं। शतरुद्रीय ऋचा *वाजसनेयी संहिता* में संकलित है जो रुद्र-शिव को संबोधित करती है इसमें उन्हें एक शक्तिशाली किंतु अग्रदेवता के रूप में वर्णित किया गया है। उत्तर वैदिक ग्रंथों में बाद में इस देवता को सर्प, विष तथा शमशान जैसे तथ्यों से जोड़ दिया गया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उन्हें देवताओं के देवता के रूप में दिखलाया गया है। *अष्टाध्यायी* में भी शिव के अनेक नामों का उल्लेख किया गया है। ग्रीको-रोमन वृत्तांतों में सिकंदर के आक्रमण के दौरान पंजाब में रहने वाले 'सिबे' लोगों की चर्चा है। ऐसा माना जाता है कि यह समुदाय शिव के ही उपासक थे। *महाभाष्य* में रुद्र-शिव के विषय में कहा गया कि ये जड़ी-बूटियों से जुड़े देवता हैं और उनके समक्ष पशुबलि भी दी जाती थी। इसी ग्रंथ में शिव भगतो की भी चर्चा है जो लोहे के त्रिशूल लेकर मृगछाला धारण करके घूमते थे। शैव संप्रदायों में सबसे प्रारंभिक संप्रदाय पाशुपत प्रतीत होता है जिनमें योगी और सन्यासियों का वर्चस्व था और इसे एक गूढ़ रहस्यवादी संप्रदाय के रूप में देखा जाता है। *लिंग पुराण* और बाद के कुछ अभिलेखों ने इस संप्रदाय की स्थापना का श्रेय लकुलिन या नकुलिन नामक संत को दिया है, किंतु अन्य ग्रंथों में इस संप्रदाय की स्थापना का श्रेय श्री कंठ नामक व्यक्ति को दिया गया है।

शिव को दी गयी पौराणिक उपाधियों में उनके बहुआयामी गुणों और रूपों को दर्शाने का प्रयास किया गया है, उदाहरण के लिए-शिव चन्द्रशेखर है जिनके जटाओं में चन्द्रमा विराजमान है, शिव गंगाधर है जो गंगा को धारण करते हैं। शिव वैद्यनाथ है जो वैद्यों के अधिपति देव हैं। शिव काल संहारक है जो काल का भी नाश करते हैं। शिव पशुपति है जो पशुओं के ईश्वर हैं, शिव शंकर भी है जो मंगलकारी हैं। इनके जुड़े रूपों में अर्धनारीश्वर काफी आकर्षक है। क्योंकि इसमें ईश्वर को आधा स्त्री, आधा पुरुष दिखलाया गया है। शिव के इन रूपों को पुराणों में वर्णित किया गया और इन रूपों को प्रतिमाओं में उतारा गया।

आज लिंग रूप मंदिरों में शिव की स्थपना सबसे लोकप्रिय बन चुकी है जिसमें उन्हें प्रजनन शक्ति का पुरुष प्रतीक स्वीकार किया जाता है। निश्चित रूप से लिंग पूजन की प्रथा कम से कम हड़प्पा काल में तो जरूर लोकप्रिय थी। किंतु शिश्नदेवों की पूजा करने वाले समुदायों को *ऋग्वेद* में तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया है। ल. 200 सा.सं.पू. - 200 सा.सं. के बीच में लिंग पूजन करने वाला यह संप्रदाय शिव की उपासना से जुड़ गया। लिंग उपासको के इस संप्रदाय में बाद में योनि के प्रतीक के रूप में नारी प्रजनन शक्ति को भी जोड़ दिया गया। पुराणों में लिंगोद्भव या लिंग के उद्भव की कहानी दी गयी है। *रामायण* में यह वर्णन मिलता है कि रावण रुद्र की पूजा लिंग रूप में ही करता था। *महाभारत* में भी कहा गया है कि ऋषियों और देवताओं के द्वारा लिंग की पूजा सदैव की जाती थी।

द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. में प्रस्तर के बने शिव लिंग पहली बार प्रकट हुए। प्रतिमा के रूप में किसी संरचनात्मक अवशेष का सबसे पहला उदाहरण मथुरा के भूतेश्वर मंदिर से प्राप्त होता है जो द्वितीय शताब्दी सा.सं. पू. की थी। इसमें एक पीपल वृक्ष के नीचे वेदिका में घिरे हुए एक स्थापित लिंग को दिखलाया गया है। जिसकी अर्चना दो पंख वाले प्राणी कर रहे हैं। इस लिंग पर एक मुंह या एकाधिक मुंह बने होते थे, जिन्हें मुखलिंग कहा गया और इस काल में यहां मुखलिंगों की लोकप्रियता काफी बढ़ी। इसी काल में मुखलिंग और विग्रह लिंगों की संयुक्त स्थापना का भी प्रमाण मिलने लगा। दूसरी/पहली शताब्दी सा.सं.पू. में आंध्र प्रदेश के गुड्डीमलम् गाँव में शिव की प्रतिमा बनायी गयी थी। शिव के मानव रूपों में स्थापित प्रतिमा कला के वैविध्यपूर्ण आधार की ओर इशारा करती है।

तक्षशिला और उज्जैन से प्राप्त कुछ सिक्कों में भी लिंग प्रतीक देखें जा सकते है। उज्जैन से प्राप्त कुछ सिक्कों में शिव और ऋषभ को अग्रभाग में दिखलाया गया है जबकि अनेक पृष्ठ भाग में एक वृक्ष की आकृति देखी जा सकती है। कुषाण सम्राट वीम केडफिसेज के सिक्कों में शिव ऋषभ और त्रिशूल को दिखलाया गया है यौधेयों के द्वारा निर्गत आहत् सिक्कों में कार्त्तिकेय, (शिव के पुत्र), का प्रचलन कार्त्तिकेय संप्रदाय की लोकप्रियता को दर्शाता है। इस काल से प्राप्त एक स्वर्ण टुकड़े का भी उल्लेख करना उचित होगा जिसमें अग्र भाग पर शिव के ऋषभ को दिखलाया गया है और उसके पृष्ठ भाग पर शिव की पत्नी अंबा को दिखलाया गया है जो एक पुष्प लिए हुए है। संक्षिप्त अभिलेख में नगर को इसी देवी के नाम से पुष्कलावती कहा जाता था।

महाकाव्यों तथा *भागवत पुराण* में एक लोकप्रिय कथा दक्ष प्रजापति के यज्ञ से जुड़ी हुई है इसमें शिव के स्वरूप को दिखलाया गया है। शिव के ससुर दक्ष प्रजापति ने अपने द्वारा आयोजित एक विशाल यज्ञ में शिव को आमंत्रित नहीं किया क्योंकि शिव का पारंपरिक स्वरूप नहीं था। सती ने अपने पिता के द्वारा आयोजित इस यज्ञ में शिरकत तो की लेकिन स्वयं को अपने पिता के द्वारा अपने पति के विषय में दुर्व्यवहारपूर्ण शब्द सुनने पर नष्ट कर दिया। क्रोधित होकर शिव ने संपूर्ण विश्व का विध्वंस किया। *भागवत पुराण* में दक्ष, सती को शिव के विषय में कहते हैं कि शमशान में भूतों के साथ वह घूमते हैं और मुण्डमाल पहनते हैं। उनके शरीर पर अस्थि

लिंग पूजन करते पंख वाले प्राणियों की उद्‌भृत आकृतियां, मथुरा

का विभूत होता है जो दाह संस्कार के बाद प्राप्त किया जाता है (बैनर्जी, 1966: 84)। शिव के स्वरूपों में एक योगी और उनसे जुड़ी पुरुष ऊर्जा को अधिक प्रधानता दी गयी (ओ. फ्लेहर्टी, 1973), इस ईश्वर की तपस्या से उत्पन्न अथाह ऊष्मा से संसार हिल उठता है और इसी तरह उनके पुरुष ऊर्जा से भी संसार भयाक्रांत हो उठता है। पुराणों में कई कथाएं हैं जिनमें शिव की तपस्या को भंग करके उनके पुरुष ऊर्जा को जागृत करने के उद्देश्य से पार्वती और काम देवता का उपयोग किया गया। इसके साथ-साथ ऐसी भी कथाएं हैं जिनमें शिव और पार्वती के बीच होने वाले दैवीय संभोग में हस्तक्षेप करने के लिए अग्नि का उपयोग करना पड़ा ताकि शिव अपनी पुरुष ऊर्जा का प्रयोग बंद कर पुन: तपस्या की ओर प्रवृत्त हों। इस प्रकार शिव से जुड़ी हुई सभी कथाएं अनेक विरोधाभासों और अतिवादों से ओत-प्रोत हैं।

उत्तर भारत में शिव और विष्णु की लोकप्रियता का वर्णन तमिलकम् के संगम साहित्य में भी मिलता है *अकनानूरु* में शिव को तीन नेत्रों वाले भगवान के रूप में वर्णित किया गया है जो कोनराय के फूल अर्धचन्द्र, जटाएं इत्यादि धारण करते हैं। और उमा जिनकी पत्नी हैं। नक्किरर नामक कवि ने एक पांड्य राजा की तुलना शिव, विष्णु, बलराम और सुब्रह्मण्य (कार्त्तिकेय) से की है। उसने शिव को कुर्रम कहा है अर्थात जो मृत्यु और विध्वंस के देवता हैं। दक्षिंण भारत के सबसे लोकप्रिय देवता मुरूगन बाद में शिव के पुत्र स्कंद-कार्त्तिकेय से जोड़ दिए गये। नागार्जुनकोंडा से मिले मंदिरों में एक मंदिर कार्त्तिकेय को भी समर्पित था।

वैष्णव पंथ का विकास

ऋग्वेद में एसी पाँच ऋचाएं हैं जिन्हें विष्णु के लिए संबोधित किया गया है। उन्हें सौर देवों के समूह में रखा जाता था और उनके विषय में कहा गया है कि ये पहाड़ों में रहने वाले एक शक्तिशाली देवता थे। वेदो में यह भी वर्णन किया गया है कि किस प्रकार तीन पगों में विष्णु ने ब्रह्मांड को लांघ लिया। उत्तर वैदिक ग्रंथों में जैसे *तैत्तिरीय संहिता*, *शतपथ ब्राह्मण* इत्यादि में उनके वामन अवतार की चर्चा की गयी है।

दरअसल वैष्णव धर्म का इतिहास नारायण, वासुदेव, कृष्ण और लक्ष्मी जैसे कई स्वतंत्र देवताओं के इतिहासों का संयुक्त होना कहा जा सकता है। (जयसवाल [1967], 1981) किंतु विष्णु की जो महत्ता अभी के हिन्दू धर्म में है वह बाद का विकास है, जब इन संप्रदायों का ब्राह्मणीकरण पूरी तरह से हो चुका था। किंतु इन विभिन्न संप्रदायों के समन्वयीकरन से जुड़ी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का कोई स्पष्ट इतिहास नहीं उपलब्ध है, वैष्णव उन लोगों को कहते हैं जो विष्णु की पूजा करते हैं और लगता है कि पहली बार इसका प्रयोग *महाभारत* के बाद के अध्याय में हुआ है।

नारायण से जुड़ा संप्रदाय वैष्णव धर्म में समन्वित हो जाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण घटक प्रतीत होता है। *ऋग्वेद* और '*शतपथब्राह्मण*' में नारायण का उल्लेख किया गया है। उनसे जुड़ा एक लोकप्रिय यज्ञ पंचरात्र सत्र कहलाता था, जिसमें व्रत का पालन करने से सभी जीवों पर श्रेष्ठता हासिल हो जाती थी और उनमें एकात्मता की प्राप्ति हो जाती

थी। इस देवता का योगियों से भी सम्बंध था। *महाभारत* में उन्हें महायोगी कहा गया है और नारायण को पहली बार विष्णु के पर्याय के रूप में देखा गया है, किंतु फिर भी *महाभारत* में विष्णु के स्थान पर नारायण का अधिक बार प्रयोग हुआ है। मथुरा में पायी गई नारायण की विशालकाय प्रतिमा विष्णु की सबसे प्रारंभिक प्रतिमाओं में से एक है।

वासुदेव कृष्ण की भक्ति का प्रचलन सबसे पहले मथुरा क्षेत्र में शुरू हुआ। *अष्टाध्यायी* यह व्याख्या करता है कि वासुदेव की भक्ति करने वाले लोगों के लिए वासुदेवक शब्द का प्रयोग किया गया है, किंतु इस काल तक भक्ति की वैसी व्याख्या नहीं की जा सकी थी जिसे अब हम जानते हैं। मेगास्थनीज के वृत्तांत में यह कथन आता है कि मथुरा क्षेत्र में रहने वाले सौरसेनोयी, हेराक्लीस नामक देवता की पूजा करते थे। इस देवता को निश्चित रूप से वासुदेव कृष्ण के विषय में कहा गया है, क्योंकि वासुदेव कृष्ण ग्रीक देवता हेराक्लीस से गुणों में सबसे ज्यादा समानता रखते हैं।

वासुदेव कृष्ण की उपासना का जटिल इतिहास मूल रूप से कई स्वतंत्र परम्पराओं के समावेशीकरण और पदसौपानीकरन से जुड़ा प्रतीत होता है। *छान्दोग्य उपनिषद्* में एक ऋषि का उल्लेख किया गया है जिसका नाम कृष्ण देवकी पुत्र था। वे घोर अंगिरस नाम ऋषि के शिष्य थे। *महाभारत* में वासुदेव कृष्ण को पांडवों के सखा और सलाहकार के रूप में दिखलाया गया है। *भगवत्गीता* में वे अर्जुन के रथ के सारथी हैं और इस धर्मयुद्ध को करने के लिए वे अर्जुन को अपने तर्कों से संतुष्ट करते हैं। इसके लिए उन्होंने विष्णु के अवतार के रूप में स्वंय को प्रकट किया। कृष्ण के जीवन की कथा सबसे पहले विस्तृत रूप से हरिवंश में देखने को मिलती है। यह *महाभारत* की एक अनुप्रमाणिका है। 'हरिवंश' में कृष्ण के जन्म उनका यशनंद और वृंदावन के नंद और यशोदा के यहां पालन पोषण तथा दुष्ट मामा कंस से उनके संघर्ष की घटनाएं वर्णित हैं। *विष्णु पुराण, पद्म पुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण तथा भागवत पुराण* में वृंदावन में बिताए गए कृष्ण के जीवन की और घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। किंतु कृष्ण का राधा के साथ जुड़ना एक बाद की घटना प्रतीत होती है। प्राय: ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की। दसवीं शताब्दी के 'भागवत पुराण' में राधा की कहीं चर्चा नहीं मिलती जबकि बारहवीं शताब्दी के जयदेव रचित *गीत गोविंद* में राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंग को गरिमा मंडित किया गया है।

ऐसा हो सकता है कि वासुदेव कृष्ण से जुड़ी घटनाओं का आधार मथुरा क्षेत्र में निवास करने वाले वृष्णि कुल के एक ऐतिहासिक पुरुष के जीवन से लिया गया है। मथुरा क्षेत्र में रहने वाले वृष्णियों के द्वारा जिन पंच वीरों की पूजा की जाती थी उसमें वासुदेव कृष्ण भी एक था। इसके अलावा संकर्षण जिनको बलराम या बलदेव के रूप में भी जानते हैं जो वासुदेव और रोहणी के पुत्र थे। इसके अलावा वासुदेव और देवकी के पुत्र प्रदुम्न वासुदेव के और रूक्मणी के पुत्र साम्ब, वासुदेव और जाम्बवंती के पुत्र अनिरूद्ध (प्रद्युम्म के पुत्र) भी सम्मिलित हैं। ईस्वी सन की प्रारंभिक शताब्दियों में वासुदेव कृष्ण उनके भाई बलदेव और बहन एकनम्शा को एक साथ वर्णित किया गया और इसके भी प्रमाण मथुरा क्षेत्र से ही उपलब्ध हुए हैं। इनकी एक साथ रखी गयी प्रतिमा को देखने से ऐसा लगता है कि प्रारंभिक चरण में बलदेव का महत्त्व कृष्ण से भी अधिक था। मथुरा जिला के मोरा नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में षोडस नामक शासक के काल में तोशा नामक युवती के द्वारा पंच वीरों की प्रतिमाओं की स्थापना का उल्लेख है। (पहली शताब्दी सा.सं.पू. का उत्तरार्द्ध-पहली शताब्दी सा.सं. का पूर्वार्द्ध) इस अभिलेख में उल्लिखित प्रतिमाओं में से दो के अवशेष इस स्थान से उपलब्ध हुए हैं। एक दूसरी प्रतिमा जो मूल रूप से मोरा से ही प्राप्त हुई थीं, में उत्कीर्ण किया गया है कि षोडस के ही शासन काल में एक तोरण द्वार का निर्माण किया गया तथा साथ में वेदिका का भी निर्माण किया गया। यह तोरण और वेदिका वासुदेव के बड़े मंदिर का अंग थी, इस स्थान को महास्थान कहा गया है।

अभिलेखीय साक्ष्यों से ही मथुरा क्षेत्र के बाहर वासुदेव कृष्ण की लोकप्रियता को हम विश्लेषित कर सकते हैं। हेलियोडोरस के बेसनगर स्तंभ अभिलेख में उसने स्वयं को एक भागवत कहा है अर्थात् वासुदेव कृष्ण का भक्त। यह सिंध के राजा के दरबार में एक ग्रीक राजदूत था। राजस्थान के नागरी नामक स्थान से द्वितीय शताब्दी सा.सं. पू. क एक अभिलेख मिला है जिसमें संकर्षण और वासुदेव के मंदिरों की स्थापना की चर्चा की गई है। राजस्थान के चित्तौड़गढ जिला के गोसुन्डी नामक स्थान से पहली शताब्दी सा.सं.पू. का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसमें संकर्षण और बलराम के सम्मान में पूजा-शील-प्रकार के निर्माण की चर्चा की गयी है। इसका निर्माण एक भागवत् के द्वारा करवाया गया था जिसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था।

सामान्य संवत की प्रारंभिक शताब्दियों में मथुरा क्षेत्र में वैष्णव प्रतिमाओं की एक तरह से बाढ़ सी आ गयी थी। उनमें सबसे अधिक प्रतिमाएं वासुदेव कृष्ण की थी। किंतु विष्णु (चतुर्भुजी विष्णु), गरुड़ पर सवार विष्णु तथा वराह रूप में विष्णु की छोटी प्रस्तरीय प्रतिमाएं भी बहुत बड़ी संख्या में बनायी जा रही थी। यह भी उल्लेखनीय है कि द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. के इंडो-ग्रीक शासक अगथॉक्लीस ने अफगानिस्तान के अलखानुम में अपने सिक्कों पर कृष्ण-बलराम का चित्र उत्कीर्ण करवाया था।

प्राथमिक स्रोत

अगथॉक्लीस के सिक्कों पर कृष्ण तथा बलराम

अइ-खानुम से प्राप्त सिक्कों में इण्डो-ग्रीक शासक अगथॉक्लीस के 6 द्रम वाले सिक्के भी थे। इन साँचों में ढले सिक्कों का आकार अनियमित वर्ग के समान था। उनका भार (2.328 तथा 3.305 ग्राम के बीच) भारतीय आहत सिक्कों के बराबर था।

इन सिक्कों के अग्र और पृष्ठ भाग पर पुरुषों की आकृतियां उत्कीर्ण थी। दोनों ओर के पुरुषों का चेहरा लम्बा और गोल है। इनकी बड़ी-बड़ी गोल आँखें हैं। दोनों एक ही मुद्रा में खड़े दिखलाई पड़ते हैं, जिनके दोनों पैरों के बीच में थोड़ा फासला है। पैर एक क्षैतिजीय सतह पर कुछ मुड़े हुए मालूम पड़ते हैं। ये कमर पर अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं जो तहों वाले स्कर्ट के समान दिखता है ऊपरी हिस्से में कंधों से एक वस्त्र ओढ़ाया गया है जो कमर तक पहुँचता है किन्तु इनकी छाती खुली है। कानों में बड़ी-बड़ी बालियां हैं। बाएं कमर के साथ एक म्यान लटका हुआ है। इनके भारी भरकम जूतो को देखा जा सकता है। जिनका नुकीला ऊपरी किनारा पीछे की ओर मुड़ा हुआ है। लौहटोप के आकार का इनके सिर पर मुकुट है जिसके ऊपर एक लहरदार कलंगी देखी जा सकती है। छत के समान केश के ऊपर रखें इस शिरस्त्राण से रीबन के आकार का कुछ लहराता हुआ भी देखा जा सकता है किन्तु इन समानताओं से कहीं अधिक इन पुरुष आकृतियों के बीच भेद करने वाली विशेषताएं सिक्के के अग्र भाग पर बनाए गए पुरुष के बाएं हाथ में एक हल की लघु प्रतिकृति है, जिसके आधार पर इन्हें बलराम के रूप में सरलता से चिन्हित किया जा सकता है, जिनका दूसरा नाम हलधर भी है। आकृति के दाएं हाथ में मूसल भी है। सिक्के के पृष्ठ भाग पर खड़े पुरुष के बाएं हाथ में छः आरे वाला एक बड़ा सा चक्र है, जो प्रायः कवच की भांति प्रतीत होता है। चक्र वासुदेव कृष्ण का अस्त्र है इनके दाहिने हाथ में एक अस्पष्ट वस्तु है जो शंख हो सकता है। सिक्के के अग्र भाग पर बनी पुरुष कि आकृति दो रेखाओं के मध्य है जिस पर उर्ध्वाधर ग्रीक लिपि में अगथॉक्लीस नाम अंकित है। सिक्के के पृष्ठ भाग पर प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में अगथॉक्लीस लिखा हुआ है।

बलराम और वासुदेव कृष्ण की उपासना के इतिहास को जानने के लिए इन सिक्कों का अन्यतम महत्त्व है। सबसे पहले तो अगथॉक्लीस के द्वारा निर्गत किए जाने के कारण इसकी तिथि सुनिश्चित है (180-170 सा.सं.पू.)। द्वितीयतः इन दो आकृतियों को इनके विग्रह से जुड़ी विशिष्टताओं के स्पष्ट निरूपण के कारण सुनिश्चित रूप से चिन्हित किया जा सकता है। जो भारतीय आहत सिक्कों में स्पष्ट रूप से चिन्हित करने योग्य नहीं है। वस्तुतः इन देवताओं की उपलब्ध आकृतियों में इन्हें प्राचीनतम कहा जा सकता है। तीसरी बात यह कि इन सिक्कों से यह भी संकेत मिलता है कि इन देवताओं की उपासना क्षेत्र की परिधि मथुरा से परे दूर-दूर तक फैल चुकी थी। हमें यह ज्ञात है कि पाँच वीर पुरुषों से जुड़े संप्रदाय का उद्भव सर्वप्रथम मथुरा क्षेत्र में ही हुआ था, जिनमें से दो बलराम और कृष्ण थे। यह सही है कि इन पुरुष आकृतियों का परिधान भारतीय था, किन्तु इनमें दिखलाए गए शिरस्त्राण, म्यान और भारी' भरकम जूते भारतीय नहीं प्रतीत होते, बल्कि इनमें स्पष्ट रूप से यूनानी प्रभाव दृष्गोिचर होता है। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि किसी इंडो-ग्रीक शासक के सिक्कों में इनको स्थान दिया जाना इस तथ्य का संकेत है कि उस काल तक इन देवताओं की लोकप्रियता इतनी बढ़ चुकी थी कि इनसे जुड़े संप्रदाय को शाही संरक्षण और मान्यता दिया जा रहा था।

कश्मीर के सिलास नामक स्थान पर जो गिलगित की घाटी के एक प्रमुख प्राचीन व्यापार मार्ग में पड़ता था, वहाँ से भी एक पुरुषयुग्म की आकृतियां चट्टान पर तराशी गई मिली हैं, जिनके हाथों में भी एक चक्र और एक हल है। इन आकृतियों में जिस प्रकार का कोट दिखलाया गया है, वह स्पष्ट रूप से कुषाण काल का परिधान मालूम पड़ता है। इसी इलाके में खरोष्ठी लिपि के एक अभिलेख से इनका शिनाख्त बलराम और कृष्ण के रूप में किया जा चुका है।

स्रोत: आर. आंडुइन एवं पी. बर्नार्ड, गियोम, 1991: 81-116

पशुपालन की पृष्ठभूमि में कृष्ण की बचपन की कथाएं शायद आभीट जनजाति के लोगों के द्वारा पूजित एक देवता के चरित्र पर आधारित थी। आभीर एक विदेशी जनजाति प्रतीत होते हैं जो लगभग पहली शताब्दी सा.सं.पू. में भारत में आ कर बस गई। शुरू में आभीर जाति के लोग पंजाब में बसे बाद में इनका विस्तार निचली सिंधु नदी घाटी में और तत्पश्चात् पश्चिमी दक्कन के सोराष्ट्र क्षेत्र तक हुआ। *पद्म पुराण* में यह कहा गया कि विष्णु का आठवां अवतार आभीर जाति में कहा गया। *हरिवंश* और *विष्णु पुराण* में कृष्ण और गोपियों के साथ जो वासनात्मक कथाएं संकलित हैं उनका मूल स्रोत यही रहा होगा। इस प्रकार मथुरा क्षेत्र में लोकप्रिय संकर्षण बलराम से जुड़ा सम्प्रदाय बाद

में उनके छोटे भाई वासुदेव कृष्ण की बढ़ती लोकप्रियता के साथ दब सा गया। *महाभाष्य* में भी बलराम के मंदिरों का उल्लेख है। *अर्थशास्त्र* में यह वर्णन मिलता है कि संकषर्ण मदिरा पान करते थे और ऐसा भी कहा गया है कि उनके भक्तो के द्वारा भी आनुष्ठानिक रूप से मदिरा पान किया जाता था। संकर्षण के व्यक्तित्व से जुड़ी इस पहलू की चर्चा पुराणों में भी की गई है। इस देवता का चरित्र कहीं न कहीं सर्प पूजन से भी जुड़ा हुआ है। *महाभारत* में संकर्षण को शेषनाग का अवतार माना जाता है। शेषनाग वह महान नाग है जिसकी शैय्या पर विष्णु शयन करते हैं। संकषर्ण का दूसरा अर्थ हल चलाना भी होता है। इसलिए निश्चित रूप से संकर्षण कृषि से जुड़े देवता भी थे। हलधर और मुसलिन भी उनकी अन्य उपाधियां हैं। पुराणों में जैसे विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण और भागवत पुराण में यह कथा काफी लोकप्रिय है जिसके अनुसार, संकर्षण बलराम ने अपने हल के द्वारा यमुना की धारा की दिशा को बदल दिया।

वैष्णव विग्रह में श्री लक्ष्मी को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। श्री सूक्त जो *ऋग्वेद* के साथ जुड़ा हुआ है, वर्णन करता है कि श्री चन्द्रमा के समान स्वर्ण वर्ण वाली मृग अलंकृत तथा स्वर्ण और रजत के आभूषणों से लदी हुई देवी है जिनको लक्ष्मी के रूप में भी आह्वान किया गया है। किंतु *वाजसनेयी संहिता* और *तैत्तिरीय आरण्यक्* जैसे उत्तर वैदिक ग्रंथों की मानें तो श्री और लक्ष्मी प्रारंभ में दो अलग-अलग देवियां थीं। 'श्री' का अर्थ होता है समृद्धि जबकि प्रारंभ में ऐसा माना जाता है कि ये प्रजनन शक्ति से जुड़ी हुई ही देवी थी। लक्ष्मी का अर्थ होता है चिह्न या प्रतीक और प्रारंभ में लक्ष्मी भी समृद्धि और भाग्यवर्द्धन से जुड़ी हुई देवी थी। इस प्रकार इन गुणों के प्रतीक रूप में वह सम्पत्ति की देवी हुई। तीसरी-चौथी शताब्दी सा.सं. तक श्री लक्ष्मी वैष्णव विग्रहवाद में विष्णु की पत्नी के रूप में स्वीकार कर ली गयी। *महाभारत* और *रामायण* में उन्हें इसी रूप में जाना जाता है पुराणों में बाद में विष्णु और लक्ष्मी के सानिध्य पर और भी कथाएं सृजित की गई हैं।

जैसा कि हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं कि प्रतिमाओं में निरूपण की दृष्टि से श्री लक्ष्मी का गजलक्ष्मी स्वरूप सबसे लोकप्रिय रहा है। इसमें वह कमल के आसन पर बैठी रहती हैं और दो गजों के द्वारा कलश से उनपर जल का छिड़काव होते रहता है। सोंख में स्थापित एक अवशेष पर लक्ष्मी की ऐसी प्रतिमा के टुकड़े प्राप्त हुए हैं और यह अवशेष कुषाण कालीन पुरातात्त्विक स्तर से पूर्व का मालूम पड़ता है। लक्ष्मी का निरूपण प्रस्तरीय प्रतिमाओं में इस काल में बड़े पैमाने पर किया जा रहा था। टेराकोटा की पट्टिकाओं में भी इनका अंकन हो रहा था और अतिरंजीखेड़ा के उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्‌भाण्ड स्तर से अर्थात कालखंड-IV डी (ल. 200-50 सा.सं.पू.) के स्तर से ऐसी पट्टिकाएं प्राप्त हुई हैं। एक पट्टीका अतरंजीखेड़ा के गजपृष्ठकार मंदिर के अवशेष से भी प्राप्त हुई है।

गजलक्ष्मी का दृश्य कई सिक्कों में भी सामने आया है। शुंग, शासक ज्येष्ठमित्र तथा सीथीयन-पार्थियन शासक एजेस-II तथा एजिलस के सिक्कों में यह स्वरूप देखा जा सकता है। पहली शताब्दी सा.सं.पू. के अयोध्या के राजाओं के सिक्कों में भी यह रूप देखा जा सकता है ये सिक्के वासुदेव विशाखदेव और शिवदत्त के द्वारा निर्गत किए गए थे। मथुरा क्षेत्र में रजुल के सिक्कों के अतिरिक्त षोडस और तोरनदास के सिक्कों में भी गजलक्ष्मी प्रतीक का प्रयोग हुआ है, जैन से प्राप्त पहली शताब्दी सा.सं.पू. के सिक्कों में भी इस देवी का निरूपण हुआ है। सांची, भारहुत और बोधगया जैसे बौद्ध केन्द्रों से भी प्रतिमाओं में कमल पर बैठी लक्ष्मी से मिलती-जुलती देवी की प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह रहस्य अनसुलझा ही रहेगा कि क्या यह श्री लक्ष्मी या गजलक्ष्मी का चित्रण था अथवा इसी देवी को नये अर्थों में प्रस्तुत किया गया था शायद बुद्ध को जन्म देती माँ मायादेवी के लिए *पत्तुपाट्टु* जो एक संगम तमिल ग्रंथ है उसमें यह वर्णन मिलता है कि घरों के दरवाजे पर लक्ष्मी के रूप को बनाया जाता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत में भी समृद्धि और मंगलकारी देवी के रूप में ये लोकप्रिय हो चुकी थी।

अवतारवाद वैष्णव सिद्धांत का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। अवतार अवत्री शब्द का रूप है जिसका अर्थ होता है उतरना। *ऋग्वेद* में इंद्र जैसे कुछ देवताओं के विषय में बतलाया गया है कि ये विभिन्न स्वरूप ग्रहण करने की क्षमता रखते थे किंतु अवतारवाद का वैष्णव सिद्धांत विष्णु के द्वारा विभिन्न रूपों को धारण करने की क्षमता से कुछ और विस्तृत है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विशिष्ट प्रयोजन से और उद्‌देश्य से धर्म की पुनर्स्थापना के लिए विष्णु अवतार लेते हैं।

पारंपरिक रूप से विष्णु के दस अवतार कहे गये हैं किंतु इनके नामों में कई अलग-अलग स्रोतों में भिन्नता देखी जा सकती है। *वायु पुराण* में नारायण, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेयी, मान्धाता, राम जामदग्नेय, राम, वेदव्यास कृष्ण और कलकि ये अवतार कहे गये हैं। मथुरा क्षेत्र से प्राप्त इस काल की प्रतिमाओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अवतार बाद की अवधारणा थी, अभी अपना पूर्ण रूप ग्रहण नहीं कर सकी थी। इस समय यह शैशव अवस्था में कही जा सकती है। विष्णु के चार प्रकटीकरण या चतुर्भुज की अवधारणा कुषाण काल के अंत से देखी जा सकती है।

शक्ति की उपासना

हम लोग पहले यह देख चुके हैं कि प्रजनन से जुड़ी मातृदेवियों की अवधारणा उपमहाद्वीप के धार्मिक व्यवहारों की सबसे पुरानी परंपराओं में से एक रही है। पहली सहस्त्राब्दी से पुराणों में ऐसी विभिन्न मातृदेवियों से जुड़े गुणों को और उनके विभिन्न स्वरूपों को शक्ति के रूप में एक स्त्रीवादी दैवीय सिद्धांत के तहत विकसित और एकत्रित करने का प्रयास किया। (बनर्जी 1966: 115–23) *तैत्तिरीय आरण्यक* 10.1 पहला ग्रंथ है जिसके दुर्गा गायत्री भाग में शक्ति उपासना से जुड़ी देवियों के नाम का प्रचलन देखा गया। इनमें कात्यायनी, दुर्गा और कन्याकुमारी प्रमुख थीं। दुर्गा का वर्णन ऊर्जा की देवी के रूप में हुआ। वह सूर्य की अथवा अग्नि की पुत्री थी और उनका रंग भी अग्नि के वर्ण का ही था। वह तप की अग्नि में जलती है और उनकी आराधना अनुष्ठानों के फल की प्राप्ति के लिए की जाती थी। कृष्ण यजुर्वेद के *मैत्र्यानीय संहिता* में संकलित शतरुद्रीय खंड में गिरिसुत गौरी जो पर्वत की पुत्री समेत विभिन्न पौराणिक देवी-देवताओं से जुड़े गायत्री मंत्रों का संकलन किया गया है। *मुण्डक उपनिषद्* में काली और कराली को अग्नि के सात जिह्वाओं में से दो के रूप में दिखलाया गया है। इन देवियों को पुराणों में काफी उग्रस्वरूप दिया गया है। उत्तर वैदिक साहित्य में भवानी अर्थात भव्य या शिव की शक्ति तथा भद्रकाली अर्थात काली के शांत एवं मंगल काली स्वरूप की चर्चा की गयी है। पेरिप्लस ने कौमारी नामक स्थान पर एक अधिष्ठात्री देवी का जिक्र किया है। यह कन्याकुमारी का संदर्भ हो सकता है।

महाभारत में युधिष्ठिर और अर्जुन ने एक दुर्गा स्त्रोत् का दो अलग अलग स्थानों पर पाठ किया। यह संदर्भ विराट पर्व 4.6 और भीष्मपर्व 6.23 में देखें जा सकते हैं। *हरिवंश* के विष्णु पर्व (अध्याय-तीन) में आर्यसत्व नामक भजन में दुर्गा का आह्वान किया गया है। इस ऋचा में देवी को भिन्न-भिन्न नामों से संबोधित किया गया है जिनमें आर्या, नारायणी, त्रिभुवनेश्वरी, श्री, रात्रि, कात्यायनी और कौशिकी प्रमुख हैं। इन्हें अपर्णा और नग्न-शबरी भी कहा गया है। यह विंध्य से जुड़ी देवी है। अनेक नदियों से गुफाओं से, जंगलों से, बगीचों पशुओं से जुड़ी देवी हैं। शबर, बर्बर और पुलिंद जैसी जनजातियां इनकी उपासना करती थी। इनका वर्णन नंद गोप की पुत्री और बलदेव की बहन के रूप में भी हुआ है। कई बार ये मदिरा, मांस और बलि से प्रसन्न होने वाली देवी के रूप में दिखती है। यह गायत्री मंत्र की जननी भी हैं। ये जहां एक ओर किशोरियों के कौमार्य का मूर्त्त रूप है वहीं विवाहिताओं के सौभाग्य का भी। ये ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापी हैं और विभिन्न प्रकार के संकटों से लोगों को उबारने वाली हैं। युद्ध, अग्नि, नदी के कछारों पर, चोरों से वीरान भूमि में, प्रदेश में, राजद्रोह, विद्रोह के कारण, कारावास से अथवा शत्रु संकट से सभी संकटों से उबारने वाली देवी के रूप में इनकी अर्चना की जाती थी।

महाकाव्यों में दुर्गा की लोकप्रियता पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है। लगभग सातवीं शताब्दी सा.सं.पू. के दौरान मार्कण्डेय पुराण में देवी-महात्म्य को जोड़ा गया है। इनमें कई कथाएं हैं जिनके अनुसार, जब देवता अन्य राक्षसों से परेशान हो जाते थे तब इनकी शरण में जाते थे। ऐसा बतलाया गया है ऐसी ही एक कथा महिषासुर से जुड़ी हुई है जिसने सभी देवताओं को पराजित कर दिया था। अंत में सभी देवताओं की शक्तियां उनमें एकीभूत हो गईं और उन्होंने इस दैत्य का संहार किया। देवी-महात्मय कलांतर में जोड़ा गया खंड है, किन्तु भिन्न ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त दुर्गा महिषासुरमर्दिनी के रूपों की अभिव्यक्ति प्रतिमाओं में की जाती रही जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कहीं पहले से इस स्वरूप की पूजा की जा रही थी। मथुरा क्षेत्र में ही दुर्गा की कई प्रतिमाएं स्थापित की गई थीं जिसमें महिषासुरमर्दिनी का रूप भी लोकप्रिय था जो 200 सा.सं.पू. – 300 सा.सं. के बीच है। सोंख से प्राप्त एक शैल पट्टिका जिसकी तिथि पहली शताब्दी सा.सं.पू. से पहली शताब्दी सा.सं. के बीच तय की गयी है उसमें भी दुर्गा के महिषासुर मर्दनी रूप को देखा जा सकता है। बाद के काल में तो दुर्गा की प्रतिमाएं काफी लोकप्रिय होती चली गयीं। सोंख के ऐप्साइडल मंदिर संख्या-1 में मिली प्रस्तरीय मातृका पट्टिका उस मंदिर की अधिष्ठात्री देवी रही होगी। और इसी मंदिर के आस-पास दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी रूप को दिखलाने वाली बहुत सी प्रतिमाएं भी पायी गईं।

बौद्ध धर्म में महायान का उद्भव

ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं. के बीच, भारतीय बौद्ध धर्म का इतिहास, महायान संप्रदाय के उदय से जुड़ा हुआ है। 'महायान' और 'हीनयान' इन दो अवधारणाओं का प्रचलन महायानियों के द्वारा ही किया गया था, क्योंकि यह निश्चित है कि स्वयं गैर महायानियों के द्वारा किसी निम्नतर मार्ग का अनुगाम होने का दावा नहीं किया गया होगा। महायान के उद्भव में बौद्ध धर्म के प्राचीन महासांधिको के मत की विशेष भूमिका बतलायी जाती है। यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि उपमहाद्वीप के किस हिस्से में महायान की अवधारणा सबसे पहले विकसित हुई। अभी हाल तक महायान के उदय को बौद्ध संघ में हुए एक महत्त्वपूर्ण मत विभाजन की रचना के रूप में देखा जाता था, किन्तु हाल के अध्ययनों से इस दृष्टिकोण की पुर्नमूल्यांकन करने की आवश्यकता महसूस होने लगी है। सबसे

पहले प्रश्न यह उठता है कि बौद्ध परंपरा में मत विभाजन (स्किजम) का क्या अभिप्राय है? हाइन्ज बेशेर (1982) ने तर्क दिया है कि संघभेद का बौद्ध धर्म के लिए जो निहितार्थ है वह ईसाई धर्म के इतिहास में हुए *स्किज्म* से काफी भिन्न है। बौद्ध संघ में सैद्धांतिक पक्षों में मतभेद की अपेक्षा संघ के अनुशासन सम्बंधी पहलुओं में मतभेद होने की बात अधिक तर्कसंगत मालूम पड़ती है।

दरअसल महायान के उदय के तुरंत बाद संघ में कोई विभाजन देखा भी नहीं गया। गेथिन (1998: 225) का मानना है कि उपासको के भक्ति मार्ग की ओर रूझान से प्रेरित एक आंदोलन से कहीं अलग महायान संघ के अधीन भिक्षुओं के एक समूह में विकसित हुई वैचारिक और उपदेश सम्बंधी विशेष शाखा के रूप में देखी जा सकती है। वैसे भी *विनयपिटक* के सिद्धांतो के अनुसार, बौद्ध भिक्षुओं को सैद्धांतिक अथवा व्यवहारिक मतभेद के आधार पर एक साथ एकसंघीय समुदाय के रूप में रहने से रोकने वाली कुछ भी बात सिद्ध नहीं होती है। यह तर्क फ़ा श्येन और श्वैन ज़ंग के क्रमश: चौथी/पांचवी तथा सातवीं शताब्दियों में की गई यात्राओं के वृत्तांत से भी सिद्ध होता है। इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि महायान और गैर महायान भिक्षु एक साथ संघों में निवास करते थे। उनके बीच मुख्य अंतर यही था कि जहां एक ओर महायान बोधिसत्व की प्रतिमाओं की उपासना करते थे। गैर महायानी ऐसा नहीं करते थे। इस प्रकार निश्चित रूप से महायान अपने प्रारंभिक चरण में एक सांप्रदायिक आंदोलन नहीं था अथवा ऐसा आंदोलन नहीं था जिसके कारण संघ में कोई धर्म विच्छेद की घटना घटी हो।

द्वितीय शताब्दी सा.सं. में कई महायान सूत्रों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया हालांकि, ऐसा सबसे प्राचीन अनुवाद द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू में ही होने लगा था। किंतु इन सूत्रों में स्पष्ट किया गया है कि ये बुद्ध के उपदेश पर आधारित हैं न कि इनसे किसी भी प्रकार से बौद्ध धर्म की प्राचीन परंपरा से पृथक होने की कोई चर्चा की गई है। बल्कि शुद्ध रूप से यह मौलिक बौद्ध परंपरा से ही प्रेरित है। उदहारण के लिए *ललितविस्तार* में पाली बोद्ध स्रोतों को ही मूल रूप से ले लिया गया है। यह सच है कि महायान ग्रंथों में संस्कृत भाषा का प्रयोग अधिक लोकप्रिय होने लगा। महायान के महत्त्वपूर्ण सूत्रों में *प्रज्ञापारमिता सूत्र* सबसे लोकप्रिय है और इनमें सबसे प्राचीन *अष्टसहस्त्रिका* मालूम पड़ती है। महायान सिद्धांतो ने नागार्जुन, आर्यदेव, असंग और वसुबंधु के लेखनों में अपना विकास पाया। चीनी यात्रियों के वृत्तांतो में भी भारत में महायान के इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध विहारों में भी और अन्य अभिलेखीय और पुरातात्त्विक साक्ष्यों से महायान अवधारणाओं के विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रारंभिक बौद्ध धर्म में भी बोधिसत्व की अवधारणा ज्ञात थी। स्वयं गौतम का जन्म पहले कभी मेघ या सुमेध नामक ऋषि के रूप में हो चुका था ऐसा माना जाता है। ऐसा वर्णन आता है कि उन्होंने बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए दीपांकर नाम के एक बुद्ध के अधीन प्रयत्न करने का शपथ लिया था इसलिए कि उनका उद्देश्य था कि अपने परिनिर्वाण के पहले वे दूसरों के प्रति सहानुभूतिपूर्वक उनकी मुक्ति का प्रयास करेंगें। प्राचीन बौद्ध धर्म में बौद्ध भिक्षु के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बुद्धत्व की निर्वाण की प्राप्ति है तथा एक अरहत का पद ग्रहण करना है। महायान में इस लक्ष्य को उतना महत्त्व नहीं दिया गया। महायान का मुख्य उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्व के मार्ग पर चलना है। अरहत और बोधिसत्व की अवधारणाओं में मूलभूत अंतर है। अरहत वह है जो निर्वाण के लिए प्रयास

नागार्जुनकोंडा की उभरी हुई नक्काशी: नाग अपलाल का आधिपत्य (बाएं) और हाथी नलगिरि (दाएं)

करता है। निर्वाण की प्राप्ति के बाद वह जीवन और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है या संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है। दूसरी ओर बोधिसत्व वह है जो महान ज्ञान की प्राप्ति करता है, किन्तु वह निर्वाण से स्वयं को तब तक पृथक रखता है जब तक वह निर्वाण की प्राप्ति या मुक्ति के लिए अन्य उपासको और भिक्षुओं की सहायता न कर सके। बोधिसत्व का सर्वोच्च आदर्श महाकरूणा है जो महायान का एक प्रमुख लक्ष्य है।

किंतु बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए रखें गए आदर्श, आचरण और व्यवहार प्रारंभिक बौद्ध धर्म के द्वारा प्रतिपादित आदर्शों से बहुत भिन्न नहीं है। बोधिसत्व अपने बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग में कई चरणों को प्राप्त करता है। इन्हें ही 'पारमिता' कहा गया है। प्रारंभिक दौर में ऐसी छह पारमिताएं थीं, बाद में इनका विस्तार दस तक हो गया। दान, शील, शांति या धैर्य, वीर्य या बौद्धिक बल, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल, परिनिधान या दृढ़संकल्प, बल और ज्ञान ये सभी इनके गुणों में आते हैं।

प्रारंभिक बौद्ध परंपरा में जिसका प्रतिनिधित्व पाली स्रोत करते हैं, बुद्ध को एक सामान्य व्यक्ति के रूप में देखा गया है जिन्हे ज्ञान प्राप्ति के बाद अरहत के स्थान की उपलब्धि हुई, किंतु यह भी बतलाया गया है कि वे सामान्य पुरुष से ऊपर एक महापुरुष थे। एक ऐसे महान् उपदेशक और शिक्षक थे जिन्होंने मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। किसी भी काल में एक समय में केवल एक बुद्ध हो सकते थे। दूसरे बुद्ध का आगमन तभी होता था जब पहले बुद्ध के द्वारा दिये गए उपदेश का संदर्भ अप्रासांगिक हो गया हो। प्रारंभिक चरण में बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति या संसार के जीवन चक्र से मुक्ति के पश्चात् की अवस्था अस्पष्ट कही जा सकती है। किंतु इन विषयों पर महायान का परिप्रेक्ष्य ही अलग है। महायान के सिद्धांतो में अरहत की अवस्था की प्राप्ति और एक बुद्ध के बीच में काफी फासला है। इसमें इंद्रियाति बुद्ध और बोधिसत्वों की संकल्पना को प्रस्तुत किया गया जो निर्वाण और संसार के बीच खड़े थे। मैत्रयी, अवलोकितेश्वर और मंजुश्री जैसे कई बुद्धों और बोधिसत्वों की संकल्पना की गयी। ये सभी एक साथ एक ही समय उपासको और आम लोगों की मुक्ति के लिए विविध बुद्ध क्षेत्रों में क्रियाशील थे।

महायान के धार्मिक सिद्धांत दो बौद्ध विचारधाराओं में सबसे मजबूती से विकसित हुए हैं। ये हैं माध्यमक और योगाचार। माध्यमक विचारधारा का प्रतिपादन द्वितीय शताब्दी सा.सं. में नागार्जुन के द्वारा किया गया। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति *मूल-माध्यमक-कारिका* है अर्थात माध्यमक के मौलिक सूत्र इस ग्रंथ की सबसे मुख्य विशेषता शून्यता की अवधारणा कही जा सकती है। शून्यता का यह अर्थ नहीं कि किसी चीज का भी अस्तित्व नहीं होता। इसका अभिप्राय है कि बाह्य स्वरूप काफी भ्रामक हो सकते हैं और किसी भी वस्तु का कोई शाश्वत् तत्व नहीं होता अथवा शाश्वत् अस्तित्व नहीं होता। अभिधर्म ग्रंथों में धर्मों की व्याख्या की गयी है। धर्म का अभिप्राय बुद्धि और पदार्थ के मूलभूत तत्वों से है जिनके संयोजन से यह ब्रह्मांड बना है। नागार्जुन का यह विश्लेषण है कि बुद्ध की शिक्षाओं का अंतिम सत्य यह है कि धर्म भी शून्य है। इनका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। बाद के माध्यमिक विचारको में आर्यदेव, बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्ति और शांतिदेव प्रमुख हुए। दूसरी ओर योगाचार विचारधारा के प्रमुख सूत्र ग्रंथों में *संधि निर्मोचन* और *लंकावतार* आते हैं। इस विचारधारा को योगचार इसलिए कहा गया है क्योंकि इसमें योग को अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति का मुख्य साधन माना गया है। योगाचार विचारधारा के अंतर्गत चेतना की विशद् विवेचना की गई है। प्रारंभिक बौद्ध विचारों के अनुरूप छः प्रकार की चेतनाओं का भी यह प्रतिपादन करता है। इंद्रिया अनुभूतियों के साथ-साथ चैतन्य विचारों से व्यक्ति को जो भी प्रेरणा मिलती है सभी उनमें सम्मिलित हैं। योगाचार इन्हें चेतना की सक्रिय अवस्थाओं के रूप में देखता है इसके अतिरिक्त यह दो अन्य स्तरों को भी चिन्हित करता है। इनमें से पहला स्तर क्लिष्ट मानस का है जिसके अंतर्गत मानस अहंकार, और भ्रम जैसे तत्वों के कारण कलुषित हो जाता है। योगाचार चेतना के दूसरे स्तर के रूप में अलयविज्ञान को लेता है यह क्रियाशील चेतना के कलुषित होने से जिन भ्रष्ट विचारों का बीजारोपण होता है वे ही अलय-विज्ञान के रूप में एकत्रित होते जाते हैं। उसके अनुसार, एक व्यक्ति का साधारण अनुभव उसके चेतना के द्वारा इस संसार को देखने की प्रक्रिया पर आधारित है। बोधिसत्व के मार्ग पर चलने से दृष्टता और भ्रम दूर होते जाते हैं और पूर्णत: के साथ-साथ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। योगाचार इस प्रकार चेतना के विश्लेषण को अत्यधिक महत्त्व देता है और यह घोषणा करता है कि सांसारिक अनुभूतियां मूल रूप से बुद्धि के द्वारा निर्मित रचनाएं हैं। ऐसा माना जाता है कि इस विचारधारा के संस्थापक मैत्रयीनाथ नामक एक भिक्षु थे किंतु असंग और वसुबंधु (दोनों चौथी शताब्दी सा.सं.) स्थिरमति (छठीं शताब्दी सा.सं.) तथा धर्म कीर्ति (सातवीं शताब्दी सा.सं.) प्रमुख है।

महायान विचारधाराओं का जो लौकिक व्यवहार के स्तर पर सीधा प्रभाव पड़ा वह था चैत्यों में बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं की उपासना। प्रारंभिक बौद्ध धर्म में या प्राचीन बौद्ध धर्म में स्तूप और स्मृति अवशेषों की उपसना को निश्चित रूप से कल्याणकारी माना जाता था किंतु इन्हें अनिवार्य नहीं किया गया। दूसरी ओर महायान ने बुद्ध और बोधिसत्वों के प्रति आस्था और भक्ति को बहुत महत्त्व दिया। शाक्यमुनि बुद्ध के प्रतीकों से बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं की उपासना प्रथा का प्रचलन धीरे-धीरे हुआ। यह विकास विभिन्न बौद्ध केन्द्रों में स्थापित

प्रतिमाओं के आधार पर रेखांकित की जा सकती है। ऐसा पहले भी कहा जा चुका है कि पुरातत्त्व में ऐसे पर्याप्त साक्ष्य है जिससे धर्मों के इतिहास की और सार्थक पुष्टि की जा सकती है।

लार्स फोजेलिन (2006) ने थोटलकोंडा के उत्तरी और आंध्र प्रदेश के उत्तरी तटीय क्षेत्र में स्थित एक वन विहार स्थापत्य और पर्यावरण के विषय में अध्ययन किया है। उन्होंने पुरातात्त्विक साक्ष्यों कें आधार पर धार्मिक व्यवहार के वृहत्तर सामाजिक परिदृश्य का विश्लेषण किया है। इस बौद्ध विहार के अध्ययन के दौरान यह पाया कि यह भीतर

अनुसंधान की दिशाएं

ग्रंथों में वर्णित संघ एवं उपासकों का जीवन बनाम अभिलेखीय साक्ष्य

बौध धर्म के इतिहास की जानकारी के लिए पुरातत्त्व एवं अभिलेखीय प्रमाणों का बहुत महत्त्व है। गेगरी शोपन ने जोर देकर कहा है कि ज्यादातर विद्वान ग्रंथों पर आधारित धारणाओं के खतरे को नजरअंदाज करते हैं और मानते हैं कि वे काफी प्रचलित और सर्वमान्य रहे होंगे। किन्तु उसके विपरीत ऐसी सम्भावना है कि इनमें से कम से कम कुछ ग्रन्थों के विषय में अधिकांश बौद्ध भिक्षु या उपासक अनभिज्ञ रहे होंगे। स्कोपेन ने ऐसे बहुत बिन्दुओं की ओर हमारा ध्यानाकृष्ट किया है, जहां साहित्य में प्रतिबिम्बित दृष्टिकोण और लोगों के द्वारा वास्तव में किए जा रहे व्यवहार के बीच कोई तारतम्य नहीं था। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक लोकप्रचलित व्यवहारों का बौद्ध ग्रन्थों में जिक्र तक नहीं किया गया है, उनका विस्तृत विवरण तो दूर की बात। अभिलेखीय साक्ष्यों एवं साहित्यिक स्रोतों के बीच की असामंजस्यता के कुछ उदाहरण यहां दिए जा रहे हैं:

1. बौद्ध संघ में प्रचलित अंत्येष्टि व्यवहार के विषय में बौद्ध ग्रन्थों ने लगभग चुप्पी साध रखी है। जबकि स्मृतिशेष चिह्नों के साथ अथवा स्मृतिशेष चिह्नों से रहित स्तूपों की लोकप्रियता एक विकसित अंत्येष्टि व्यवहार की ओर इशारा करती है जो स्तूपों की स्थापना पर आधारित है। वास्तविकता तो यह है कि न केवल बुद्व से जुड़े स्मृति अवशेषों की स्तूपों में स्थापना हो रही थी, बल्कि प्रमुख बौद्ध भिक्षुओं के अवशेषों को भी स्तूपों में स्थापित किया जा रहा था। मनौती वाले स्तूपों की लघु प्रतिकृतियों का निर्माण बड़े स्तूपों के आस-पास किया जा रहा था। जिनमें प्रमुख बौद्ध अनुयायियों से जुड़े अंत्येष्टि व्यवहारों का ज्ञान पूर्ण रूप से पुरातत्त्व और अभिलेखीय सूचनाओं पर आधारित है।
2. बौद्ध ग्रन्थों की मानें तो यही पता चलता है कि बौद्ध संघ में प्रवेश करने के पहले एक बौद्ध भिक्षु अपनी संपत्ति के साथ-साथ अपना सब कुछ परित्याग कर देता था। किन्तु इसके विपरीत हमारे पास पर्याप्त अभिलेखीय साक्ष्य मौजूद हैं जो विशेष रूप से बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के द्वारा स्तूप-विहारों को दिए जाने वाले दानों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसी परिस्थिति यह स्पष्ट संकेत देती है कि संघ के सदस्यों का अपनी संपत्ति पर कुछ हद तक नियंत्रण बरकरार था। संघ से जुड़ने के बाद भी संपत्ति पर अपने उस नियंत्रण का उपयोग किया जा सकता था।
3. बौद्ध ग्रंथों से एक और धारणा भी बनती है कि संघ के सदस्यों के द्वारा मुद्रा का प्रयोग प्राय: वर्जित था, जबकि साँची और अन्य बौद्ध संघारामों से बौद्ध भिक्षुओं के आवासीय कक्षों के फर्श के नीचे न केवल सिक्के पाए गए हैं, बल्कि अर्ध कीमती पत्थर और आभूषण भी। यही नहीं नागार्जुनकोंडा के एक बौद्ध विहार से लीड के बने सिक्के बड़ी संख्या में पाए गए और साथ में सिक्कों को ढालने वाला मिट्टी का बना एक साँचा भी पाया गया। निश्चित रूप से वैध या अवैध तरीके से बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा सिक्कों का निर्माण किया जा रहा था।
4. कर्म एवं दान की अवधारणाएं बौद्ध ग्रन्थों में भी महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं किन्तु पुण्य के हस्तांतरण की अवधारणा जो विभिन्न बौद्ध स्थलों से प्राप्त सैकड़ों दान अभिलेखों में वर्णित हैं, जिसका जिक्र प्रारंभिक बौद्ध ग्रन्थों में बिल्कुल नहीं किया गया है। इस मान्यता के अनुसार, एक व्यक्ति अपने द्वारा अर्जित पुण्य को दूसरे व्यक्ति के प्रति समर्पित कर सकता था। साँची और भ. ारहुत ङ्कजैसे स्थलों से प्राप्त दान अभिलेखों में किसी व्यक्ति के द्वारा अपने माता-पिता या सम्पूर्ण जगत के कल्याण के लिए दिए गए दानों का वर्णन मिलता है। दरअसल यह अवधारणा हीनयान संप्रदाय से जुड़े अभिलेखों में भी प्रतिबिम्बित हो रही थी।

अभिलेखीय प्रमाणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संघ के सदस्यों और आम बौद्ध उपासकों के सामाजिक-धार्मिक व्यवहारों में बहुत अन्तर नहीं था। दान, संघ के सदस्यों के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना आम उपासको के लिए। इसी प्रकार स्तूप संप्रदाय के विकास में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के साथ-साथ आम बौद्ध उपासक भी बढचढ़कर हिस्सा ले रहे थे।

स्रोत: शोपन, 1997

की ओर केंद्रित विहार था और उसके भोजनालय एवं कक्ष गुप्त थे। इसके आधार पर उनका निष्कर्ष है कि संघ का चरित्र एकाकीपन भरा था। दूसरी ओर इस विहार का सार्वजनिक उपासना क्षेत्र यहां फैले हुए मनौती वाले स्तूपों की स्थापना अथवा महत्त्व भिक्षुओं से जुड़े स्मृति चिह्नों की स्थापना के रूप में दिखलायी पडता है। ठाठलकुंडा के पुरातात्त्विक विशेषताओं में यहां पायी गयी। 231 स्मृति कोटि के महापाषाणों की यहां उपस्थिति है जो इस बौद्ध विहार के ठीक बाहर स्थापित किये गये हैं। यहां से बौद्ध विहार को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। ये महापाषाण उपासको और सामान्य भिक्षुओं की अस्थियों को शायद गाड़ कर बनाये गए थे।

एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग यह होगा कि इन शताब्दियों में बौद्ध धर्म में स्त्रियों की क्या भूमिका रही? डायना वाई पौल (1979) ने अपने अध्ययन में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि प्राचीन बौद्ध ग्रंथों की तरह ही महायान ग्रंथों में स्त्री और स्त्रीत्व के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू उपस्थित हैं। इन ग्रंथों में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि नारी के सापेक्ष पुरुष स्वयं का किस प्रकार आकलन कर रहे थे। कुछ स्थानों पर नारी का चित्रण कामुक, खतरनाक और बुद्धि तथा शरीर से निरीह जैसे लक्षणों से युक्त किया गया है। दूसरे स्थानों पर उनका चित्रण उनके मातृत्व, उनकी सहानुभूति, सहिष्णुता, रचनात्मकता, बुद्धिमता जैसे गुणों के साथ है। स्त्री की कामुकता को आध्यात्मिक लक्ष्य के समक्ष संदेह और शंका से देखा गया है। स्त्रियों के द्वारा कई भिक्षुओं के आध्यात्मिक जीवन के अंत होने की कथाएं लिखी गई हैं, किन्तु फिर भी महायान में स्त्री के लिए निर्वाण के मार्ग को अवरूद्ध नहीं किया। गृहस्थ जीवन में स्त्री की भूमिका को प्रोत्साहित किया गया किंतु गृहस्थी त्याग कर भिक्षुणी का जीवन स्वीकार करने के परिणामों के प्रति अविश्वास का भाव भी परिलक्षित होता है। नारी के द्वारा बोधिसत्व के मार्ग के अवलम्बन के प्रति भी महायान के ग्रंथों में आपसी मतभेद दिखलायी पड़ता है। कुछ ग्रंथों का तो मानना है कि पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व दोनों बोधिसत्व की दृष्टि से भ्रामक और अप्रांसगिक श्रेणियां है। किंतु अधिकांश ग्रंथों ने एक स्त्री के द्वारा एक बोधिसत्व की अवस्था की प्राप्ति के मार्ग के लिए दो विकल्पों को रखा है। कुछ सूत्रों में ऐसा कहा गया है कि एक स्त्री इस मार्ग पर तब तक नहीं चल सकती है जब तक एक पुरुष के रूप में उसका पुर्नजन्म न हो जाए। दूसरे प्रसंगों में स्त्रियों के रहस्यमय लिंग परिवर्त्तन से जुड़ी कथाएं मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, *सद्धर्म-पुण्डरीक सूत्र* में एक कथा कही गयी है जिसके अनुसार, आठ वर्ष की एक लड़की को बोधिसत्व की स्थिति की प्राप्ति हो गयी जो नाग राजा सागर की पुत्री थी, किंतु उसके संभावित बोधिसत्व की ज्यों ही भविष्यवाणी की गयी त्योंहि उसका लिंग परिवर्त्तन हो गया।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि बौद्ध संघों के विषय में इन शताब्दियों की जो भी सूचनाएं हमारे पास उपलब्ध हैं वे बौद्ध भिक्षुओं के संघ से जुड़ी हैं। भिक्षुणी संघों के विषय में जो भी उल्लेख आया है वह भिक्षुणियों के द्वारा निर्गत किये गए पुराण अभिलेखों से हमें प्राप्त होता है। भिक्षुणियों ने व्यक्तिगत स्तर पर और सामूहिक स्तर पर दान दिए जहां पर भिक्षुणियों के द्वारा सामूहिक स्तर पर दान देने की बात कही गयी है वे स्थान निश्चित रूप से भिक्षुणियों के संघों के स्थान रहे होंगे। इस प्रकार भिक्षुणी संघों का अस्तित्व तो था किंतु न तो उनको बहुत ख्याति मिली और न ही हम इनमें से किसी का नाम जानते हैं। जितने भी महान् बौद्ध विहारों अथवा संघारामों की जानकारी हमारे पास है। वे बौद्ध भिक्षुओं से जुड़े हैं। रोचक तथ्य तो यह है कि भिक्षुणियों ने व्यक्तिगत या सामूहिक स्तर पर जो भी दान दिए वे बौद्ध भिक्षुओं से जुड़े केन्द्रों को दिए। ऐसा एक भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है जिसमें बौद्ध भिक्षुणी संघ को दिए जाने वाले किसी जात-पुराण का उल्लेख आता है। इस प्रकार निश्चित रूप से बौद्ध भिक्षु संघ को मिलने वाले संरक्षण तथा बौद्ध भिक्षुणी संघ को मिलने वाले संरक्षण में आसमान-जमीन का अंतर था। ऐसी परिस्थिति में बौद्ध भिक्षुणी संघों का अवसान अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। 200 सा.सं.पू.-300 सा.सं. के काल में बौद्ध स्तूप विहार संघारामों का उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में काफी विस्तार हुआ। इनकी चर्चा हम इस अध्याय के स्थापत्य और कला से जुड़े खंड में करेगें।

जैन धर्म में दिगम्बर और श्वेताम्बर मत विभाजन

पहले के एक अध्याय में दिगम्बर-श्वेताम्बर मत विभाजन की चर्चा हम जैन संघ के संदर्भ में कर चुके हैं। ऐसा कब हुआ यह कह पाना काफी कठिन है, लेकिन ऐसा लगता है कि ल. 300 सा.सं. में ऐसा हुआ होगा। दिगम्बर परंपरा इस मत विभाजन के बारे में व्याख्या करता है कि आने वाले किसी भयंकर अकाल के भय से जैन संघ का एक बड़ा हिस्सा दक्षिण की ओर पलायन कर गया। दक्षिण की ओर जाने वाले इस समूह का नेतृत्व भद्रबाहु ने किया और जैन संघ के दक्षिण जाने वाले भिक्षुओं ने कर्नाटक क्षेत्र में बारह वर्ष बिताए, किंतु बाद में भद्रबाहु की मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायियों ने वापस मगध के पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान कर दिया। जब वे वहां पहुंचे तो उन्होंने पाया कि काफी कुछ बदल चुका है, तब तक उत्तर के जैन मुनियों ने स्थूलभद्र के नेतृत्व में अपने धार्मिक आचार संहिता को लिपिबद्ध कर लिया था। उन लोगों ने वस्त्र भी पहनने शुरू कर दिए थे। दक्षिण से आने वाले मुनियों के लिए यह स्वीकार्य नहीं था क्योंकि उनके अनुसार, यह लज्जा को स्वीकार करने का प्रतीक था जो

अस्तेय के संधीय अनिवार्यता के विरुद्ध था। दक्षिण से लौटे हुए मुनियों के समूह को बाद में दिगम्बर कहा गया जबकि उत्तर के मुनियों को जिन्होंने परिधान धारण करना स्वीकार किया था उन्हें श्वेतांबर कहा गया दिगम्बरों ने स्थूलभद्र के द्वारा तैयार की गयी आचार संहिता को पूरी तरह से अस्वीकृत कर दिया और उत्तर के जैनियों को 'जैनाभास' या छदमजैनी कह दिया।

दूसरी ओर श्वेताम्बरों के द्वारा एक स्वयंभू भिक्षु शिवभूति के द्वारा जैन सम्प्रदाय की उत्पत्ति का सिद्धांत दिया गया है। ऐसा कहा गया है कि संधीय नग्नता का व्यवहार महावीर के बाद से लुप्त हो चुका था जिसको शिवभूति ने पुर्नजागृत कर दिगम्बर संप्रदाय का सूत्रपात किया। दरअसल दिगम्बर अथवा श्वेताम्बरों के द्वारा दिये गए ऐसे कोई भी वृत्तांत ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। किन्तु फिर भी ऐसा लगता है कि जैन मुनियों का दक्षिणावर्ती पलायन लगभग चौथी शताब्दी सा.सं.पू. में हुआ था।

डनडास (1992: 42, 43) ने पुरातात्त्विक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जैन मुनियों के द्वारा पूर्ण नग्नता से वस्त्रों को धारण करने की प्रक्रिया एक क्रमिक विकास का परिणाम थी। उनके अनुसार, दिगम्बर और श्वेताम्बर मत विभाजन की कोई आकस्मिक घटना नहीं घटी थी। मथुरा से प्राप्त सभी प्रारंभिक तीर्थंकरों की मूर्तियां नग्न हैं। पहली बार पांचवी शताब्दी सा.सं.पू में बनी ऋषभदेव की एक प्रतिमा में उन्हें अधोवस्त्र पहने हुए दिखलाया गया है। श्वेताम्बरों में पूर्ण रूप से परिधानों से प्रयुक्त जैन मुनियों या तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का प्रचलन काफी बाद की घटना मालूम पड़ती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि पांचवी शताब्दी सा.सं. में दक्षिण भारत के किसी शासक के द्वारा निर्गत एक भूमि अनुदान में जो जैन मुनियों के लिए दिया गया था। उसमें श्वेताम्बरों का तो उल्लेख किया गया किंतु नग्न मुनियों के लिए निग्रंथ शब्द का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार दिगम्बर शब्द उस काल तक प्रचलित नहीं हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वल्लभी की संगति को श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदायों के विभाजन के लिए एक निर्णायक घटना माना जा सकता है। दरअसल यह शुद्ध रूप से श्वेताम्बरों का एक सम्मेलन था जिसमें कोई भी दिगम्बर मुनि उपस्थित नहीं थे। पूर्व मध्य युग में विकसित हुए जैन धर्म के अंतर्गत यापनिय विचार धारा को इन घटनाओं के मध्यस्थ घटना के रूप में देखा जा सकता है। इस विचारधारा में भी समान्यत: नग्न रहा करते थे। किंतु ये अपने गुप्तांगों को भिक्षाटन के दौरान ढ़क लिया करते थे, अथवा सामान्य उपासको की उपस्थिति में ये ऐसा कर लिया करते थे। कालांतर में श्वेताम्बरों का वर्चस्व पश्चिमी भारत में हो गया और दिगम्बरों का वर्चस्व दक्षिण भारत में।

श्रावकाचार या जैन उपासको के लिए आचार संहिता के सम्बंध में चालीस से अधिक ग्रंथ उपलब्ध हैं। इस आचारसंहिता का विकास कुंडकुंड के *चरित्र प्रभृत* (द्वितीय शताब्दी सा.सं. से लेकर सत्रहवीं शताब्दी) के यशोविजय द्वारा रचित *धर्म संग्रह टीका* होता रहा। इन श्रावक आचार ग्रंथों में विभिन्न कथाओं के द्वारा और निर्देशों के द्वारा यह कहा गया है कि जैनियों को कौन-कौन से व्रत रखने चाहिए और उन व्रतो को तोड़ने के लिए किस प्रकार के प्रायश्चित करने चाहिए। इन्हीं ग्रंथों में 'श्रावक-प्रतिमा' का भी उल्लेख किया गया है। श्रावक प्रतिमा उन सोपानों को कहते हैं। जिनके सहारे एक सामान्य उपासक व्यवस्थित रूप से पूर्ण संन्यास की ओर प्रगति कर सकता है इस प्रकार के ग्रंथों की तुलना थेरवाद बौद्ध ग्रंथ *उपासक ज्ञान अलंकार* से की जा सकती है, जिसकी रचना आनंद के द्वारा बारहवीं शताब्दी में की गयी थी। बौद्धों की तरह जैनियों ने भी लम्बे समय तक ब्राह्मण संस्कारों का यथावत पालन किया। जीनसेन ने पूर्व मध्ययुग में पहली बार स्वतंत्र रूप से जैन संस्कारों को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया अैर इन्होंने पृथक जैन संस्कारों के सैद्धांतिकरण के प्रयास के कर्म में मूल रूप से ब्राह्मण संस्कारों की केवल जैन व्याख्या की। सामान्य संवत् की प्रारंभिक शताब्दी में जैन मंदिरों और जैन संस्कारों के विकास की शरूआत हुई जो महत्त्वपूर्ण घटना थी। पटना के निकट लोहानीपुर में एक सिरविहीन मूर्ति मिली है जो मौर्य काल की है और उसे एक जैन तीर्थकर के रूप में स्वीकार किया जाता है।

यदि यह शिनाख्त सही हैं तब उपमहाद्वीप की यह सबसे पहली जैन प्रतिमा रही होगी। 200 सा.सं.पू. के बाद से विभिन्न स्थानों पर जैन प्रतिमाएं बड़ी संख्या में मिलने लगी। फोल्कर्ट (1993) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जैन मंदिरों की प्रथा जैन संघ व्यवस्था के बाहर विकसित हुई। यदि यह बात सही है तो यह बौद्ध संघ की तुलना में बिल्कुल विपरीत है जहां बौद्ध मिक्षुओं ने ही चैत्यों में उपासना की प्रथा विकसित की। आज दिगम्बर जैन मंदिरों में सामान्यत: पुरोहितो के द्वारा ही पूजा की जाती है। जब कि श्वेताम्बर मंदिरों में आम लोग ऐसा करते हैं। सामान्यत: जैन धर्म में मुनियों या किसी विशेष पुरोहित वर्ग की बहुत भूमिका नहीं देखी जाती। इस काल के बहुत से जैन केन्द्रों को चिन्हित किया गया है।

पहली शताब्दी सा.सं.पू. के कलिंग शासक खारवेल के प्रसिद्ध हाथीगुम्फा अभिलेख में एक जीन की प्रतिमा को लगाने की बात कही गयी है। जैन धर्म में प्रतिमा पूजन के लिए यह सबसे प्राचीन अभिलेखीय साक्ष्य होगा। जैन मुनियों के संघ की दृष्टि से उड़ीसा के उदयगिरि और खंडगिरि गुफाओं को सबसे प्राचीन कहा जा

सकता है। मथुरा में पायी गयी असंख्य जैन प्रतिभाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि यह सम्प्रदाय उस क्षेत्र में काफी महत्त्वपूर्ण रहा होगा। मथुरा के कंकाली टीला से एक जैन स्तूप के अवशेष मिले हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि स्तूपों की परंपरा बौद्धों तक सीमित नहीं थी। बाद के साहित्यिक स्रोतों में इस स्तूप को देव निर्मित स्तूप की संज्ञा दी गयी है।

दक्षिण में जैन धर्म के प्रारंभिक विकास का उल्लेख चौथी शताब्दी सा.सं.पू. में श्रीलंका के अनुराधापुर से प्राप्त पांडुक्भय नामक शासक के द्वारा निर्गत अभिलेख में निग्रंथों के लिए मंदिरों और भवनों के निर्माण से हमें ज्ञात होता है। *मदुरईकांची* में मदुरई में बने निग्रंथों के लिए एक भव्य मंदिर की चर्चा की गयी है। तमिलनाडु और केरल के तमिल-ब्राम्ही अभिलेखों में जैन मुनियों और जैन और भिक्षुणियों के द्वारा राजनीतिक और सामाजिक कुलीन वर्ग के संरक्षण की प्राप्ति के स्पष्ट प्रमाण मौजूद है।

धार्मिक स्थापत्य और प्रतिमाशास्त्र

(Religious Architecture and Sculpture)

प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के कला और स्थापत्य का इतिहास संकल्पनात्मक विविधताओं की प्रस्तुति करता है (चंद्रा 1975, मित्तर 1977, पाण्डय धर 2008)। प्राचीन भारतीय स्थापत्य और कला का विधिवत अन्वेषण 19 वीं शताब्दी में शुरू हुआ जिसे औपनिवेशिक शक्ति संतुलन की स्थापना की दिशा में किए जा रहे प्रयासों के एक हिस्से के रूप में देखा जा सकता है।[6] पश्चिमी विद्वानों के द्वारा किए गए इन आरंभिक लेखनों में दो प्रवृतियां स्पष्ट हैं—(1) विदेशी प्रभाव की अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या करने का प्रयास तथा (2) भारतीय कला और स्थापत्य के इतिहास को पतनोन्मुखी कला और स्थापत्य के इतिहास के इतिहास के रूप में दिखलाने का प्रयास। किन्तु बाद के लेखनों में वर्णनात्मक शैली में की गई व्याख्याओं के साथ साथ आनंद कुमारस्वामी और स्टेला क्रैम्रिश जैसे विद्वानों के द्वारा भारतीय कला के गम्भीर आध्यात्मिक पक्षों को समझने का प्रयास किया गया और साथ साथ कला शैलियों के विकास और इनकी कलात्मक विशिष्टताओं के वर्णन को केन्द्र में रखकर ऐसा किया गया। विगत कुछ दशको से कला को देखने की प्रवृति तथा पुरुष और नारी शरीर के निरूपण की विविधताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय कला के लिंग संवेदी पहलुओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है (देहेजिया, 1997 सा.सं.)।

पहले भी चर्चा की गई थी कि मन्दिर या चैत्य वैसी पवित्र भूमि को कहते हैं जिसके दायरे में उपासना की जाती है। उपमहाद्वीप के प्रचीनतम मन्दिर सहजरूप से खाली जगह अथवा वृक्ष को घेरकर बनाए गए स्थान थे। भारत के प्राचीनतम मन्दिरों में यक्ष तथा पक्षी नाग तथा नागी की स्थापना हुई थी। महापरिनिर्वाण सूत्र में वैशाली के अनेक चैत्यों का वर्णन है। अमरावती में पाए गए दो विच्छिन स्तम्भों का उल्लेख यहां प्रासंगिक है। इनमें से एक पर द्वितीय शताब्दी सा.सं. पूर्व. के ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख के अतिरिक्त एक घेरे में खड़े वृक्ष का दृश्य भी अंकित है। अभिलेख से यह पता चलता है कि यहां बहुपुत चैत्य था। द्वितीय स्तम्भ पर वृक्ष की उपासना का एक दृश्य तथा बुद्ध का पदचिह्न अंकित था। अभिलेख के आधर पर यहां चपाल चैत्य था।

ल. 200 सा.सं.पू. 300 सा.सं. के बीच धार्मिक गतिविधियों के बढ़ते हुए संस्थानीकरण और समाज के विभिन्न तबको के द्वारा प्राप्त संरक्षण के आधार पर भव्य और स्थायी धार्मिक संरचनाओं की निर्माण की प्रथा का सूत्रपात हुआ। इस काल के अधिकोश स्थापत्य और कलात्मक अभिव्यक्तियों का स्वरूप धार्मिक था। प्रस्तुत अध्याय में केवल महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जा रहा है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि स्थापत्य शैली और प्रतिमा अलंकरण की दृष्टि से धार्मिक या सांप्रदायिक सीमाओं को चिन्हित नहीं किया जा सकता।

प्रारंभिक हिन्दू मन्दिर और प्रतिमाएं

प्रारंभिक हिन्दू मन्दिर और पुरातात्त्विक साक्ष्य अधिकांशत: इन मन्दिरों की भूमि योजना के रूप में उपलब्ध है। उनका उपरी ढाँचा उपलब्ध नहीं है। द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. की विदिशा मध्यप्रदेश में स्थित हेलियोडोरस का स्तम्भ एक विष्णु मन्दिर के परिसर में अवस्थित है। इस विष्णु मन्दिर की तिथि तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. तय की कई है। इस मन्दिर का भीतरी दीर्घ वृत्त (8.10 × 3 मीटर), उसके बाहरी दीर्घ वृत्त से 2.5 मीटर की दूरी पर स्थित है। बाहरी दीर्घ वृत्त में 7 × 4.85 मीटर का एक आयताकार उभार से ही प्रवेश द्वारा जुड़ा हुआ है मन्दिर का पादांग खण्ड (प्लीन्थ) ईंटों का बना है और निश्चित रूप से इसकी बाहरी संरचना लकड़ी, छप्पर और मिट्टी

6. इस विषय पर हुए विशद बहस के उदाहरणस्वरूप जेम्स फर्ग्यूसन और राजेन्द्रलाल मित्रा में हुई बहस का संदर्भ देखें, सिंह 2004 बी: 332-34।

की गिलाओं पर बनी होगी। कालान्तर में शायद बाढ़ से क्षतिग्रस्त हो जाने के कारण मिट्टी का चबूतरा बना कर मन्दिर को ऊँचा किया गया।

इसी प्रकार की दो अन्य दीर्घ वृत्तकार संरचनाएं मध्य भारत के दंगवाड़ा नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं, जो लगभग उसी काल की हैं। इनमें से एक का पादांग खण्ड पत्थर के रोड़ों से बनाया गया है। मिट्टी के प्राप्त हुए एक मुहर पर उत्कीर्ण अभिलेख से पता चलता है कि यह एक शिव मन्दिर रहा होगा। दूसरे मन्दिर का प्लीन्थ मिट्टी का बना था तथा एक अन्य उत्कीर्ण मुहर के आधार पर इसके विष्णु मन्दिर होने का पता चलता है। राजस्थान के चित्तौड़ जिला में स्थित आधुनिक नागरी में ही माध्यमिक नाम की प्राचीन नगरी स्थित थी। यहां से पहली शताब्दी सा.सं.पू. के आधार पर यह जानकारी मिली है कि पत्थर की संरचना के बीच यहां एक विष्णु मन्दिर बनाया गया था। पत्थर की इस घेराबंदी के नीचे खुदाई करने से तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. की एक इससे भी प्राचीन संरचना का प्रमाण मिलता है। इस संरचना में दो दीर्घवृत्तों को देखा जा सकता है। अन्तिरिक दीर्घ वृत्त 10 मीटर लम्बा और 3.5 मीटर चौड़ा था। जबकि बाहरी दीर्घ वृत्त की लम्बाई 14 मीटर थी। बाहरी और भीतरी दीर्घ वृत्तों के बीच 1.8 मीटर का रिक्त स्थान शायद प्रदक्षिणा पथ के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। यह संरचना भी छप्पर लकड़ी और मिट्टी के गिलावे पर बनी हुई थी तथा टूटे हुए ईंटों और चूनों के द्वारा फर्श बना हुआ था।

अतरंजीखेड़ा (एटा जिला उत्तर प्रदेश) के मुख्य पुरातात्त्विक टीले की परिधि में स्थित लघुतर पुरातात्त्विक टीलों में से एक के उत्खनन के दौरान पुरातत्त्ववेताओं ने उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड काल कालखण्ड-IV डी (ल. 200-50 सा.सं.पू.) में निर्मित एक ऐप्साइडल मन्दिर का अवशेष प्राप्त किया (गौड़ 1983: 256 - 57)। मन्दिर का प्रवेश पूर्व दिशा से था और इसका निर्माण एक उंचे उठे हुए चबूतरे पर किया गया था जिसके चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ भी था। यहां से टूटी फूटी अवस्था में तथा संक्षारित अवस्था में एक शैल पट्टिका मिली जिस पर गजलक्ष्मी की प्रतिमा है। इस सपट्टिका में सूंड उठाए हुए दो हाथियों को लक्ष्मी पर जल छिड़कते हुए देखा जा सकता है और जिसके आधार पर इसे स्पष्ट रूप से लक्ष्मी का मन्दिर मथुरा में स्थित सोंख अनेक मन्दिरों वाला एक नगर था (हार्टेल 1993)। इनमें से ऐप्साइडल मन्दिर संख्या-01 मुख्य मन्दिर रहा होगा जिसके चारों ओर सड़को और संरचनाओं का निर्माण किया गया था। यह मन्दिर पूर्व पश्चिम दिशा में बना हुआ
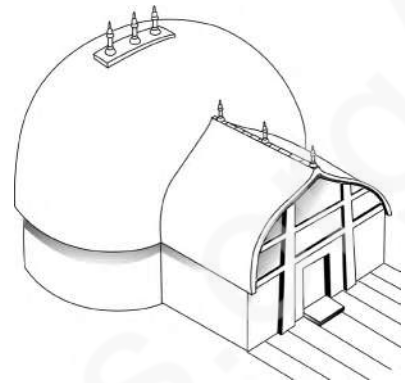
चित्र 8.2: **विदिशा मंदिर का पुनर्निर्माण (ऊपर) नागमंदिर और उसका दक्षिणी प्रवेशद्वार, सोंख (सौजन्यः हार्टेल, 1993) (नीचे)**
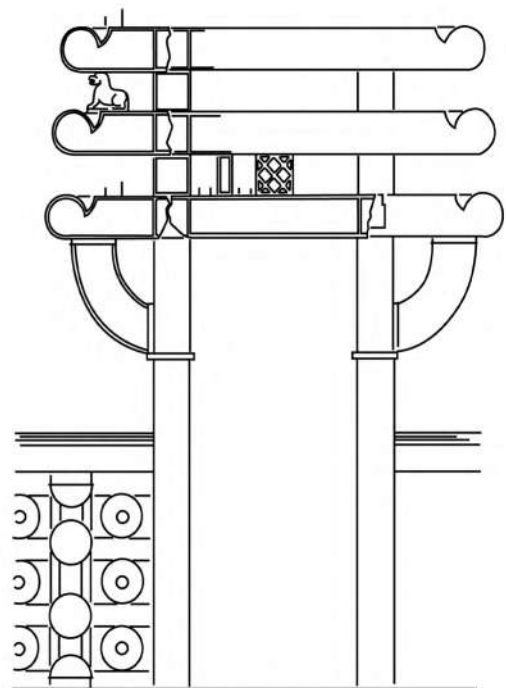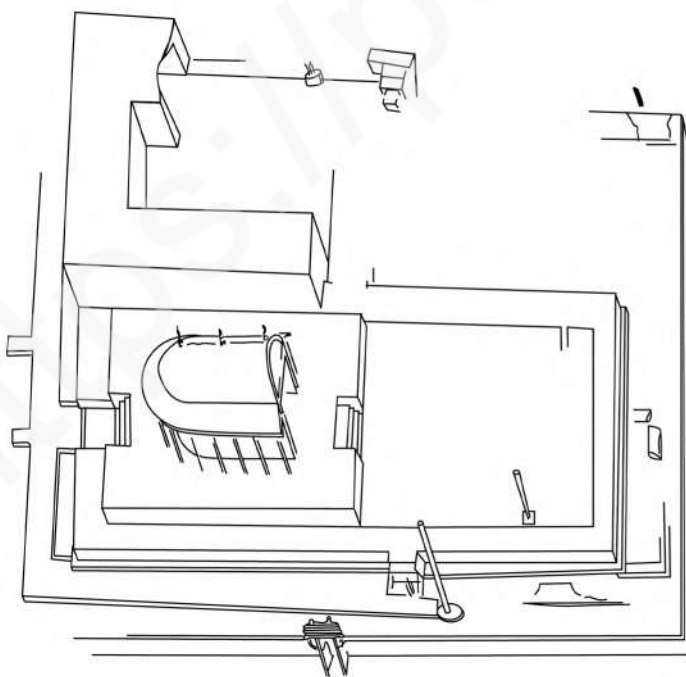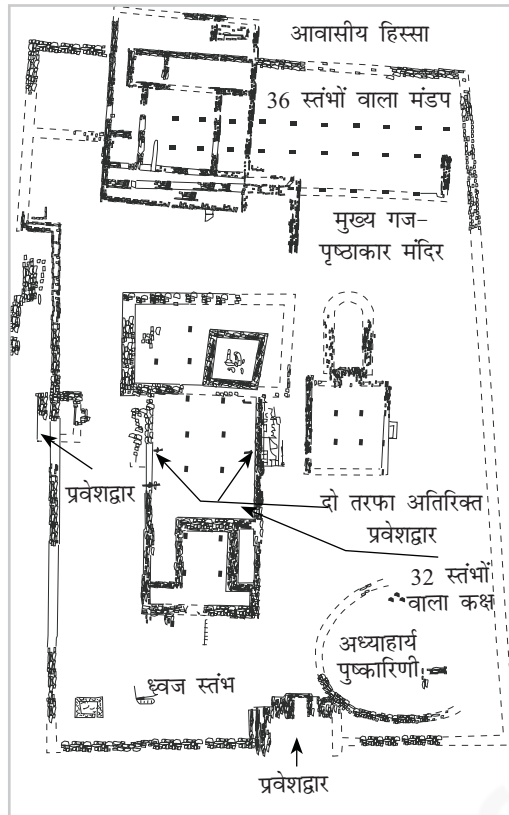
चित्र 8.3: **अष्टभुजस्वामिन मंदिर की योजना (सौजन्यः सौन्दराराजन एवं अन्य, 2006)**

था जो शुरू में एक छोटी संरचना के रूप में निर्मित था जिसे कालांतर में वृहत्तर आकार दिया गया। पहली और दूसरी शताब्दी सामान्य संवत के बीच इस संरचना से जुड़ी लगभग नौ (9)। संरचनात्मक निर्माण के चरणों को रेखांकित किया गया है। इस मन्दिर की मूल संरचना 3.05 × 3.30 मीटर की लगभग वर्गाकार संरचना थी। बाद में इसमें 9.70 × 8.85 मीटर आकार वाले एक ऐप्साइडल संरचना का रूप ग्रहण किया। अपने अन्तिम चरणों में इसका निर्माण एक ऊंचे चबूतरे पर किया गया। यह तीन दिशाओं से मोटी दीवारों के द्वारा घिरा था जिसके पूर्व में स्थित प्रवेश द्वार पर एक कक्ष निर्मित था। ऐप्साइडल संरचना का फर्श एक 60 से.मी. ऊंचा पदांग खण्ड था जिसे प्रस्तर की पट्टिका से आच्छादित किया गया था। इसी पट्टिका का उपयोग प्रतिमा रखने की वेदी के रूप में किया जाता होगा। लाल चूना पत्थर की बनी एक मात्रिका दृश्य पट्टिका फर्श पर पई गई और शायद यही मुख्य उपास्य प्रतिमा रही होगी जिसका प्रत्येक संरचनात्मक चरणों के अनंतर पुनर्स्थापित किया जाता रहा। इस मंदिर के इर्द-गिर्द महिषासुरमर्दिनी के रूप में दुर्गा की प्रतिमा अंकित अनेक पट्टिकाएं भी पाई जाती रही हैं। अंतिम संरचनात्मक निर्माण चरण में इस मंदिर को इसका मूल वर्गाकार स्वरूप फिर से प्रदान किया गया और शायद इसके कुछ समय बाद ही मंदिर का उपयोग भी समाप्त हो गया।

सोंख के केन्द्रीय उत्खनन क्षेत्र से 400 मीटर उत्तर में ऐप्साइडल मंदिर संख्या 2 प्राप्त हुआ जो पहले की अपेक्षा कही अधिक अंलकृत था। अपने चरमोत्कर्ष के काल में यह मंदिर 15 × 11.50 मीटर ऊंचा ईटों के बने एक प्लेटफार्म पर खड़ा था और इसके पूर्व में एक जलाशय स्थित था। ऐप्साइडल गर्भगृह का गुम्बदाकार छत था तथा एकाधिक शिखर शायद चमकदार हरे रंग के थे। प्रवेश द्वार के ऊपर का मेहराब त्रिकोण के आकार पर था और उस पर अलंकरण किया गया था मन्दिर के उत्तर में एक आकार पर था और उस पर अलंकरण किया गया था। मन्दिर के उत्तर में एक बड़े आंगन के किनारे तीन ओर कक्ष बने हुए थे। मन्दिर का परिसर मजबूत पत्थर के दीवारों से घिरा था। पत्थर के इस चारदिवारी का अधिकांश हिस्सा अलंकरण किया हुआ था। इस मन्दिर का एक अलंकृत प्रवेश द्वार अभी भी सुरक्षित है। जिसमें दो स्तम्भों के सहारे वलयाकार जिपान वाले तीन तोरण चाहरदीवारी के दक्षिणी हिस्से में अभी भी देखें जा सकते हैं। इसी मन्दिर परिसर में प्रवेश द्वार के सिरदल या लिंटल के ठीक नीचे नाग और नागी का सिंहासनारूढ़ दृश्य एक पट्टिका पर अंकित है। इस पट्टिका दृश्यांकन के अतिरिक्त पत्थर और टेराकोटा की बनी अन्य मूर्तियां प्राप्त हुए अभिलेखों तथा मन्दिर के उपरि हिस्से में सात सिरों वाले नाग की प्रतिमा इत्यादि से यह स्पष्ट हो जाता है कि एपसीडल मन्दिरसंख्या II एक भव्य नाग मन्दिर रहा होगा।

आंध्रप्रदेश के चित्तूर जिले में गुडीमल्लम के परशुरामेश्वर मन्दिर के उत्खनन के द्वारा दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. से अस्तित्व में रहे एक शिव मन्दिर का पूरा इतिहास उपलब्ध हो जाता है (शर्मा 1994)। अपने प्रारम्भिक चरण में पत्थर के एक अलंकृत शिवलिंग को 1.25 मीटर के वर्गाकार प्रस्तरीय चहारदीवारी के भीतर स्थापित किया गया था। पालतू भेड़ों की हड्डियों पर कटाव का निशान के साथ यहां मिलना पशु बलि की प्रथा की ओर इशारा करते हैं। इस मन्दिर के संरचनात्मक निर्माण का दूसरा चरण पहली से तीसरी शताब्दी सा.सं. के बीच का है। इसी काल के दौरान शिवलिंग के ऊपर एक ऐप्साइडल मन्दिर का निर्माण किया गया। पूर्व मध्ययुग में इस मन्दिर का स्थापत्य की दृष्टि से व्यापक अलंकरण किया गया। सबसे रोचक तथ्य यह है कि जीर्णोद्धार तथा पुनर्निर्माण के कई चरणों से गुजरने के बावजूद मूल शिवलिंग को यथावत रखा गया। नागार्जुनकोंडा इक्ष्वाकु राजवंश (225-325 सा.सं.) राजधानी विजयापुरी थी। नल्लमलई की पहाड़ियों तथा कृष्णा नदी की घाटी में बसे इस भव्य नगर में अनगिनत शाही आवास स्नान के लिए बने घाट जलाशय तथा स्मृति पत्थर हिन्दू मन्दिर बौद्ध स्तूप और बिहार मौजूद थे (सरकार और मिश्रा 1972, सौंदरराजन एवं अन्य 2006)। नागार्जुनसागर बांध बनने के बाद इनमें से अधिकांश संरचनाएं पानी में डूब गईं। कालान्तर में नौ हिन्दू मन्दिरों का मुख्य पुरातात्त्विक टीले के आसपास ढूंढा गया तथा अन्य 10 मन्दिर कृष्णा नदी के किनारे किनारे मिले। इनमें से कुछ मन्दिरों के निकट महत्त्वपूर्ण अभिलेखों की प्राप्ति हुई जिनके आधार पर इनकी तिथि इत्यादि की जानकारी मिलती है। इनमें से पाँच मन्दिर शिव कार्तिकेय और देवसेना (कार्तिकेय की पत्नी) को समर्पित

थे जबकि एक मन्दिर विष्णु को समर्पित था। इनमें से एक मन्दिर का अवशेष देवी मन्दिर का मालूम पड़ता है। एक विशाल मन्दिर परिसर सर्वदेव या सभी देवताओं को समर्पित था। नागार्जुनकोण्डा में प्राप्त इन मन्दिरों की स्थापत्य शैली में एकरूपता नहीं है। इनमें से कुछ मन्दिर परिसरों में एक से अधिक मन्दिर विद्यमान हैं तथा प्रत्येक से जुड़े हुए कई स्तम्भों वाले मण्डप भी बने हुए हैं। अधिकांश मन्दिरों का प्रवेश द्वार पूर्व में खुलता है। ईंट को इन संरचनाओं में प्रयुक्त मुख्य सामग्री कहा जा सकता है। जबकि मण्डपों के स्तम्भ पत्थरों से बने हुए हैं। इनमें से एक मन्दिर लकड़ी का बना हुआ था। मण्डपों में प्रयुक्त हुए चूना पत्थर के स्तम्भों पर किए गए अलंकरण को देखा जा सकता है। इन मण्डपों के छत समतल हुआ करते थे। ऐप्साइडल मन्दिरों के ढोलाकार गुम्बद रहे होंगे जबकि दीर्घ आयताकार और वर्गाकार मन्दिरों के छत समतल बनाए गए थे। मन्दिरों के निकट वास्तुमूर्तिकला के बहुत कम अवशेष मिले हैं जिनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि मन्दिरों की दीवारे सामान्यत: अलंकृत नहीं रही होंगी।

देबल मित्रा, भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की डायरेक्टर जनरल (1975-83), जिन्होंने अनेक बौद्ध स्थलों की खोज की और उनका उत्खनन करवाया

बौद्ध स्थापत्य और मूर्तिकला

बौद्ध संघ से जुड़ी आवासीय सह उपासना स्थलों को संधाराम विहार या लेन जैसे नामों से जाना जाता है। इन परिसरों में ही बौद्ध स्तूप और चैत्य इत्यादि भी अवस्थित होते हैं। चैत्य का अभिप्राय पवित्र स्थान से है किन्तु विशेष रूप से यह बौद्ध उपासना स्थलों के प्रयोग के लिए लिया जाता है। बहुत सारे प्रारम्भिक गुफा चैत्यों में बौद्ध स्तूपों की स्थापना की गई थी। बाद में बौद्ध संधारामों के परिसर में स्वतंत्र रूप से विशाल स्तूपों का निर्माण किया जाने लगाा। ल. 200 सा.सं.पू. –300 सा.सं. का काल बौद्ध स्थापत्य के विस्तारीकरण का काल भी कहा जा सकता है।

स्तूप से जुड़े बौद्ध परम्परा के बहुत सारे निहितार्थ हैं। बौद्ध जगत में इन्हे ब्रह्मांड की धुरी या *एक्सिस मुंडाय* के रूप में देखा जाता है। इसके अतिरिक्त यह बुद्ध के परिनिब्बान का भी प्रतीक है। बुद्ध तथा अन्य प्रमुख बौद्ध भिक्षुओं के स्मृति शेष या स्मृति चिह्न इन स्तूपों में संग्रहित किए जाते थे। बाद में ये बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध उपासको के लिए उपासना के केन्द्र बन गए। महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार, बौद्ध धर्म के विकास के पहले से शासकों और महत्त्वपूर्ण व्याक्तियों के शारीरिक अवशेषों पर स्मारक खड़ा करने की प्रथा प्रचलित थी। किन्तु बौद्धिक साहित्य में इस प्रकार के व्यवहार की कोई चर्चा नहीं की गई है। आज जो भी स्तूप मौजूद है उनमें सर्वाधिक प्राचीन स्तूप बौद्ध स्तूप केन्द्रित उपासना पद्धति के विस्तार में मौर्य सम्राट अशोक की स्तूप ही है।

पूर्व के एक अध्याय में केवल बुद्ध से जुड़े अवशेष चिह्नों को ही स्तूपों में स्थान दिया गया। दूसरे चरण में बुद्ध के प्रमुख शिष्यों और सहयोगियों के स्मृतिशेषों पर स्तूप बनवाए गए। शीघ्र ही स्मृतिशेष की उपासना के स्थान पर स्तूप ही उपास्य वस्तु बन गए। ल. 300 सा.सं.पू. – 200 सा.सं. के दौरान स्तूप बौद्ध संधारामों के अन्योन्यश्रय अंग बन गए।

बौद्ध विहार और स्तूपों की स्थापना प्रमुख नगरों और व्यवसाय मार्गो के निकट ही की गई है। बुद्ध के जीवन से जुड़ी प्रमुख घटनाएं जिन स्थानों पर हुई वहां भी बौद्ध विहार और स्तूप स्थापित किये गए। उस समय के महान नगरों के निकट ही सभी प्रसिद्ध बौद्ध विहार स्तूप स्थापित किए गए थे मृगदाव काशी के निकट धर्मराजिक स्तूप तक्षशिला के निकट सांची विदिशा के निकट अमरावती धरणीकोटा (सातवाहनों की राजधानी) के निकट तथा नागार्जुनकोंडा विजयापुरी (इक्ष्वाकुओं की राजधानी)। भारहुत भी स्पष्ट रूप से एक बड़े नगर से सटा हुआ है किन्तु इस नगर की पहचान प्राचीन ग्रंथों में वर्णित किसी भी नगर से नहीं की जा सकी।

बौद्ध स्थापत्य केन्द्रों से जुड़े इन नगरों का विकास कई शताब्दियों में हुआ है। इन केन्द्रों के विशिष्ट स्थापत्य और मूर्तिकला के क्रमिक विकास के साथ साथ इन केन्द्रों से जुड़े धार्मिक व्यवहार और विचारधारा की प्रगति को भी रेखांकित किया जा सकता है। इस काल के स्तूपों से जुड़ी स्थापत्य कला और प्रतिमाशास्त्र की सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त विशिष्ट क्षेत्रीय परम्पराओं को भी चिन्हित किया जा सकता है। कुछ महत्त्वपूर्ण बौद्ध स्थापत्य और प्रतिमाशास्त्र के लिए जाने जाने वाले केन्द्रों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

चित्र 8.4: **एक बौद्ध महाविहार की योजना, तख्त-ए-बही (सौजन्य हंटिंगन, 1985)**

उत्तर-पश्चिम के स्तूप विहार

गंधार क्षेत्र में यूनान और भारत के स्थापत्य और प्रतिमाशास्त्र के विभिन्न तत्वों के सम्मिलन से एक विशिष्ट परम्परा विकसित हुई (हंटिगटन 1985 130-133)। गंधार और उत्तरी अफगानिस्तान में सा.सं. सन की प्रारम्भिक शताब्दियों में बौद्ध विहारों का महत्त्वपूर्ण विस्तार हुआ। परन्तु इन संरचनाओं की उत्तरजीविता के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। तख्त-ए-बही (पाकिस्तान) और गुलदारा (अफगानिस्तान) दो बौद्ध विहार स्तूप की खोज की गई। यहां बड़े बड़े आंगनों के किनारे बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए कक्ष बनाए गए थे। ऐसे ही किसी एक आंगन में कभी एक स्तूप अवस्थित था जिसकी वर्गाकार आधारशिला अभी देखी जा सकती है।

किन्तु तक्षशिला से बौद्ध चैत्य और स्तूपों की प्राप्ति अधिक महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। इण्डोग्रीक शासकों के द्वारा सिरकप स्थित स्थापित नगर शको और पार्थियनों के शासन काल में भी महत्त्वपूर्ण बना रहा। आज उपलब्ध अधिकांश संरचनाएं दूसरे काल से सम्बंधित हैं। इन संरचनाओं में सबसे प्रमुख संरचना एक ऐप्साइडल बौद्ध मन्दिर है जो पुरातात्त्विक ब्लॉक D में स्थित है। ऐप्साइडल गर्भगृह और सभागार के बीच एक चाप्पट्टिका (स्क्रीन) बनी हुई थी। भारत और यूनानी मिश्रित शैली में अनेक प्रतिमाएं यहां से इस चैत्य के सामने प्रवेश द्वार के दोनों ओर स्तूपों के वर्गाकार आधार देखे जा सकते हैं। सिरकप में स्थित दूसरी महत्त्वपूर्ण संरचना दो चीलों का मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्लॉक F में बने इस मन्दिर को शायद पहली शताब्दी सा.सं. पू. के उत्तरार्ध में बनाया गया था। इस संरचना के अवशेषों में केवल एक स्तूप का आधार बचा हुआ है। इस संरचना के स्तम्भों और अर्धस्तम्भों पर उत्कीर्ण अलंकरण तथा स्तम्भ शीर्षों पर किया गया कण्टकीपरनक अलंकरण स्थापत्य कला का बेहतरीन नमूना रहा होगा। अलंकरण के आधार पर प्रवेश द्वारों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है - (1) दो पादांगखण्डों से युक्त एक तोरण द्वार जो सांची के प्रवेश द्वार के स्थापत्य के सिद्धान्त पर बना हुआ (2) चैत्य चाप युक्त एक प्रवेश द्वार (इस चाप को औगी चाप भी कहा जाता है।) तथा (3) त्रिकोण शीर्ष युक्त गृहमुख चाप जो यूनानी प्रवेश द्वार की सीधी प्रतिकृति कही जा सकती है। चैत्य चापों में दोहरे मुख वाले चील बनाए गए थे जबकि तोरणों में एक मुख वाले चीलों को अलंकृत किया गया था। सिरकप के आवासीय क्षेत्र में आधें दर्जन से अधिक स्तूपों की स्थापना हुई थी जो उपासको की श्रद्धा के केन्द्र रहे होंगे।

तक्षशिला के इर्द-गिर्द प्रारम्भिक शताब्दियों में बने अनेक स्तूप विहार संरचनाओं का अस्तित्व था। इनमें से धर्मराजिक स्तूप (स्थानीय लोग इसे चिरतोप कहते हैं) सबसे बड़ा है जिसका निर्माण शायद मौर्यकाल में हुआ था। माणिक्याला और जमलगढ़ी गंधार के अन्य स्तूपों वाले स्थल हैं यहां के स्तूपों को अपेक्षाकृत कम उंचाई वाले वृत्ताकार पादांगखण्ड पर बनाया गया था। स्तूप का अंड अर्धगोलाकार था। इस स्तूप के उत्तर में बौद्ध विहार अवस्थित था। पहली शताब्दी सा.सं.पू. में ही धर्मराजिक स्तूप के चारों ओर छोटे छोटे चैत्यों का निर्माण किया गया। पहली शताब्दी सा.सं. में स्तूप का पुनर्निर्माण किया गया। इसके मौलिक गर्भगृह के स्थान पर एक पहिए की स्थापत्य योजना पर आधारित नए गर्भगृह का निर्माण हुआ। दूसरी शताब्दी सा.सं. में स्तूप के चारों दिशाओं में सीढियां बनायी गयी। जबकि तक्षशिला के अन्य सभी स्तूपों में केवल एक तरफ से सीढ़ियां देखी जा सकती हैं। लगभग पहली शताब्दी सा. सं. से धर्मराजिक स्तूप के चारों ओर बिखरे पड़े चैत्यों में प्रतिमाओं को स्थापित किया गया। तक्षशिला के अन्य स्तूप विहारों में तब से प्रतिमा स्थापित करने की परम्परा शुरू हो गई।

मध्य भारत के स्तूपों और उत्तर-पश्चिम के स्तूपों में मूलभूत अंतर यह है कि उत्तर-पश्चिम के प्राय: सभी स्तूपों का आकार टावर के समान दिखलाई पड़ता है तथा स्तूपों

स्तंभ पर यक्षी, भारहुत
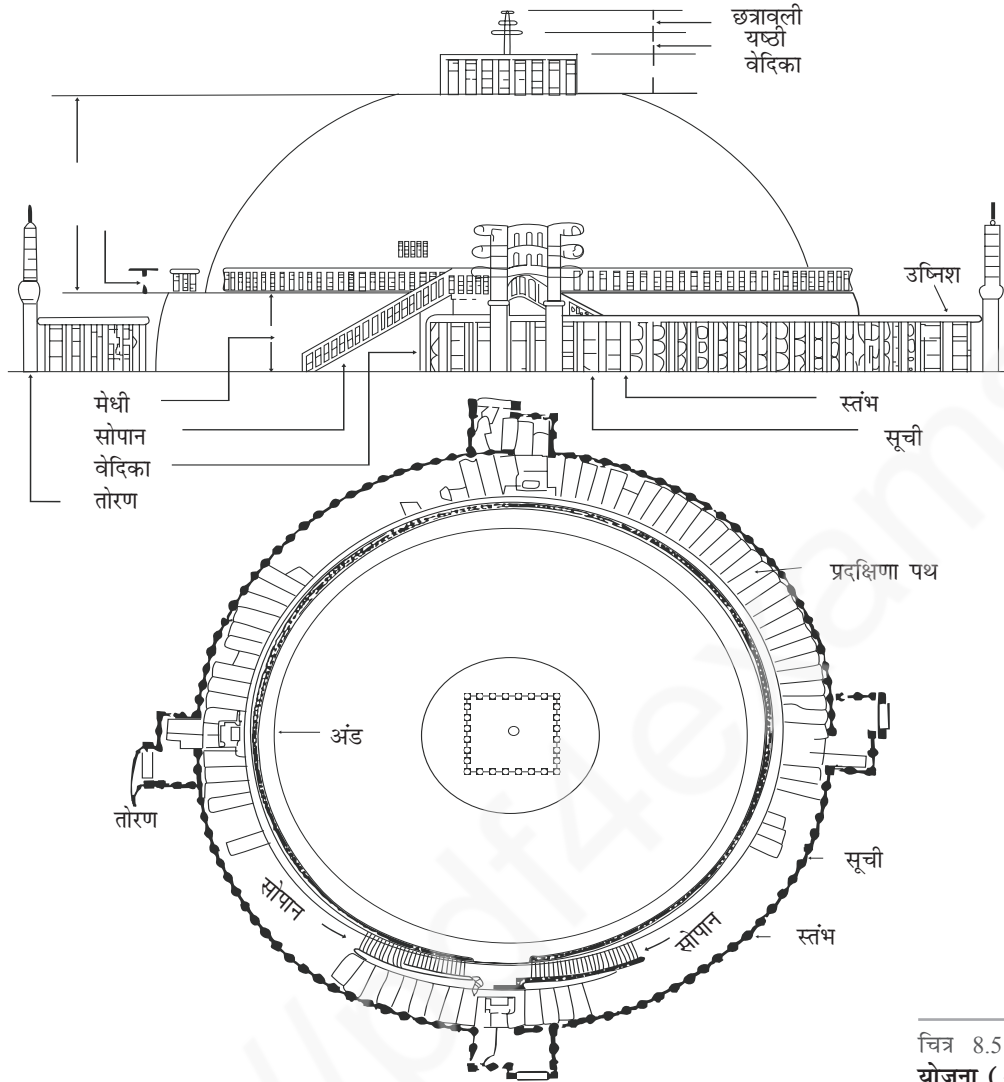
चित्र 8.5: **सांची स्तूप संख्या-१ की योजना (आभार: मित्रा, 1971)**

के अंड और पादांगखण्ड विशेष रूप से अलंकृत होते हैं। दूसरी शताब्दी सा.सं. के गुलदारा स्तूप का आधार वर्गाकार है और इसके पूर्व की दिशा में सीढ़ियां बनी हुई हैं। इस स्तूप के गृहमुख चाप की संरचना पतली और समतल अवसादी शैलों से बनी पट्टिकाओं के विशेष नियोजन से बनी हुई है जिसे सतरंजी फुलकारी कहा जाता है। डाईपर सज्जाकारी की यह तकनीक भारत में पार्थियनों के द्वारा लाई गई। चाप का अंदरूनी हिस्सा कंकड़ और गिट्टी से भरा होता था। स्तूप के अंड पर अर्धस्तम्भ देवली तथा गच्चकारी इत्यादि के द्वारा सजाया जाता था। उन पर तोरण भी बने होते थे। अर्धस्तम्भों के ऊपर बने अर्धशीर्ष और देवली कौरिन्थियन स्तम्भ शीर्षों से मिलते जुलते थे जबकि चैत्य के चापों पर भारतीय स्थापत्य का स्पष्ट प्रभाव था। देवलियों में कुलरूप से गक्षकारी की गई होगी।

मध्य भारत के स्तूप साँची और भारहुत

भारहुत, सांची, सतधारा, आंधेर, सोनारी और भोजपुर मध्य भारत के प्रमुख बौद्ध स्थल हैं। इनमें से भारहुत और सांची ने विशेष रूप से विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। भारहुत में स्थित प्रतिमाएं तीसरी और दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के दौरान उत्कीर्ण कि गई हैं। समय के साथ साथ भारहुत का स्तूप पूरी तरह विनष्ट हो गया तथा इसके विच्चिछन अंश यत्र तत्र भारत विनष्ट

भारहुत चित्रफलक (वेदिका)
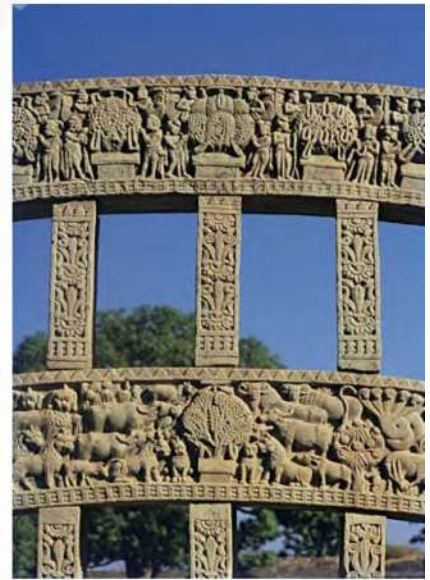
सांची स्तूप संख्या-1: स्तूप; प्रवेश द्वार; वेदिका और प्रवेशद्वार की प्रतिमाओं का विस्तृत दृश्यांकन

संग्रहालयों में विखरे पड़े हैं। मुख्य रूप से कोलकाता के भारतीय संग्रहालय में। सांची बेहतर संरक्षित है। इसलिए यहां पर सांची की विस्तार पूर्वक चर्चा की जा रही है।

मध्य प्रदेश के रायसेन जिलों में स्थित सांची से प्राप्त प्रारंभिक ब्राह्मी अभिलेखों में इसे काकानव या काकानय कहा गया है। (सिंह 1996) चौथी शताब्दी सा.सं. में यह काकानदबोत कहलाता था जबकि सातवीं शताब्दी के अंत में निर्गत एक अभिलेख में इसे बोट श्रीपर्वत कहा गया है। यह स्थान बुद्ध के जीवन की किसी घटना से नहीं जुड़ा हुआ है। किन्तु यह मौर्य साम्राज्य के महानतम नगरों में से एक विदिशा के नजदीक है। यह देवी का जन्मस्थान भी है। मान्यता के अनुसार, अशोक का देवी के साथ प्रेम सम्बंध था। सांची में तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर 12 वीं शताब्दी सा.सं. के बीच के स्तंभ, स्तूप, चैत्य और प्रतिमाओं के प्रर्याप्त अवशेष मिले हैं। एक प्रकार से यहां बौद्ध धर्म से जुड़ा 15 शताब्दियों का इतिहास पत्थरों पर गड़ा हुआ है।

नागार्जुनकोण्डाः बुद्ध प्रतिमा

वैसे तो सांची में अनेक स्तूप हैं किन्तु स्तूप संख्या-I में ईंटों का बना मूलभूत हिस्सा अशोक के काल का है। दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. में इस स्तूप को स्थानीय रूप से उपलब्ध गहरे बैंगनी धूसर चूना पत्थरों से आच्छादित कर दिया गया। अगली कुछ शताब्दियों में और भी स्तूप चैत्य और विहारों का निर्माण किया गया। स्तूपों में सामान्य रूप से शैल निर्मित प्रदक्षिण पथ बने हुए है। स्तूपों के पदागखण्ड में दोनों ओर से सीढ़ियां (सोपान) बनी हुई हैं। इसके चारों ओर शैल निर्मित वेदिकाएं चहारदीवारी बनाई गई हैं। अंड और पादांग खण्ड पर एक छत्र बना हुआ है। शैल वेदिका के चार प्रधान बिन्दुओं पर तोरणद्वार बने हुए हैं। स्तूप संख्या 1 में कोई भी स्मृति मंजूषा शेष नहीं है। स्तूप संख्या 2 में 10 बौद्ध भिक्षुओं की अस्थियां एक मंजूषा में संग्रहित हैं। स्तूप संख्या 3 की स्मृति शष्ठ मंजूषा में प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु सरिपुत्र और महामोगलन की अस्थियां संग्रहित हैं।

मध्यभारत के स्तूपों को प्रतिमाओं से नहीं सजाया गया है। स्तूप के चारों ओर बनी वेदिका तथा तोरण द्वारों पर अलंकरण देखा जा सकता है। तोरणों के आकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये काष्ठ निर्मित तोरणों की प्रतिकृतियां हैं। स्तूप संख्या-I में कुछ स्थानों पर प्लास्टर और लाल रंग के अवशेष मिलते हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कभी इनपर लाल रंग का प्लास्टर किया गया था। स्तूप के वेदिका की सतह पर उद्भृत नक्काशी यह संकेत देती है कि प्राचीन काल में सांची के स्तूप काफी अलंकृत और सुसज्जित थे। 200 सा.सं.पू. – 200 सा.सं. काल के सांची स्थित अन्य अवशेषों में स्तम्भों वाला एक कक्ष एक ऐप्साइडल चैत्य तथा कई टूटे हुए स्तम्भ हैं। हाल में किए गए पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों के दौरान सांची में मिट्टी और पत्थर के बने टुकड़ों द्वारा निर्मित कई प्राचीन बांध और जलाश्य पाए गए हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन जलाशयों का उपयोग बौद्ध भिक्षुओं द्वारा बरसात के पानी को इक्कठा कर पीने और आसपास के खेतो की सिंचाई के काम में लाया जाता था। (शौ और सटक्लिफ, 2001)।

नागार्जुनकोण्डाः आयक स्तंभों के साथ स्तूप के अवशेष; स्टेडियम

मानचित्र 8.8: **आंध्र प्रदेश के प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के बौद्ध विहार**

गोल-पहिये की योजना वाला स्तूप, नागार्जुनकोण्डा

आंध्रप्रदेश के स्तूप

अमरावती, जग्गयापेट और नागार्जुनकोंडा पूर्वी दक्कन के प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र हैं। इनमें से पहले दो का संरक्षण नहीं किया जा सका है और तीसरा नागार्जुन सागर जलाशय में जलमग्न हो चुका है। इसलिए विधमान अवशेषों के आधार पर ही इन विहारों की संरचनात्मक विशेषताओं का अनुमान लगाया जा सकता है। सातवाहनों की अन्तिम राजधानी धान्यकटक के ही नजदीक अमरावती स्थित है। यहां से प्राप्त अशोककालीन अभिलेख के आधार पर इस केन्द्र का मौर्यकालीन उद्‌भव बताया जाता है। आंध्रप्रदेश में अमरावती सबसे बड़ा स्तूप था और प्राचीन अभिलेखों में इसे महाचैत्य की संज्ञा दी गई थी। 18वीं सदी से इस स्थल का अनुभव विहीन लोगों के द्वारा उत्खनन होते चला गया और इसलिए शायद स्तूप के कुछ ईंटों प्रदक्षिणा पथ के कुछ अंश और वेदिका के विच्छिन हिस्सों के अलावा यहां कुछ भी नहीं बचा। दूसरी ओर नागार्जुनकोंडा में तीसरी चौथी शताब्दियों में प्राय: 30 बौद्ध विहार थे। यहां से उपलब्ध अभिलेखों में चार बौद्ध संप्रदायों की चर्चा मिलती है (1) महाविहारवासी (2) महिशासक (3) बहुश्रुतिय तथा (4) अपरमहाविनसेलीय। इनमें से अन्तिम संप्रदाय की चर्चा सर्वाधिक
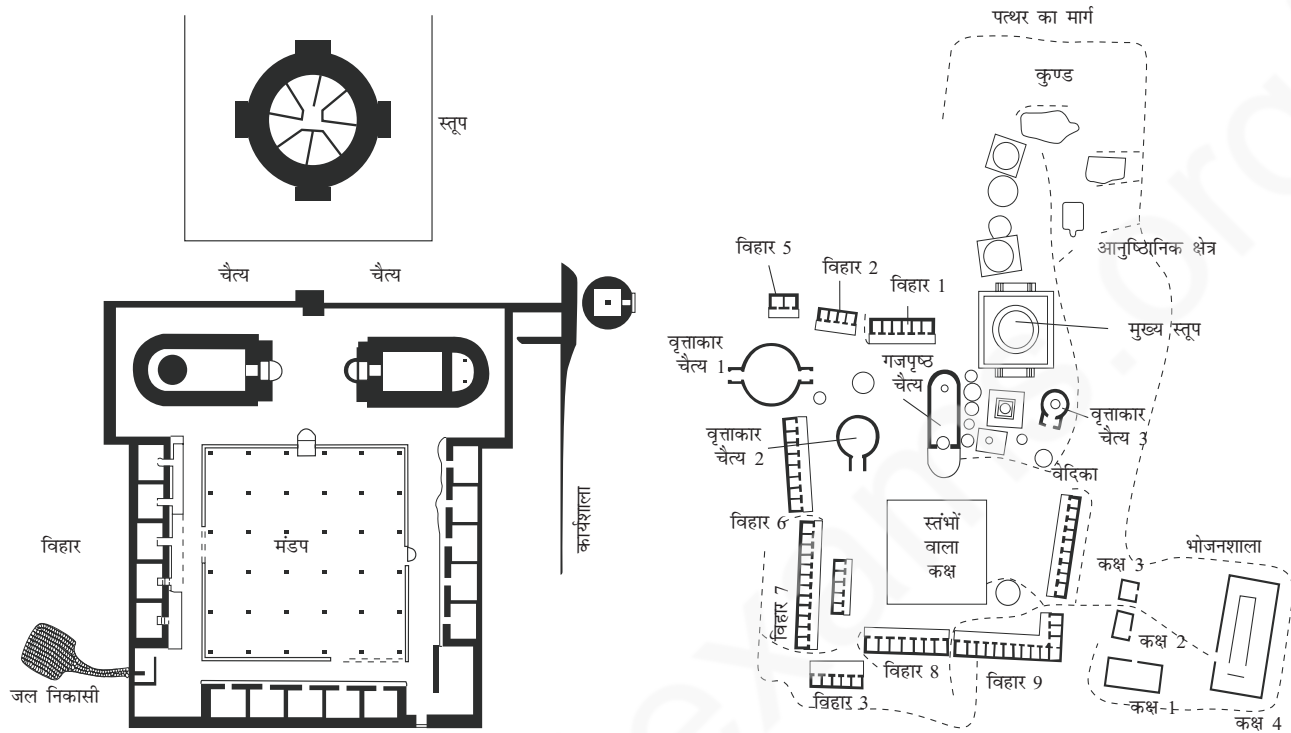
चित्र 8.6: **स्तूप-विहार कॉम्प्लेक्स की योजना (सौन्दरराजन एवं अन्य, 2006); घोटलकोंड विहार (सौजन्य, फॉजलिन, 2006)**

अभिलेखों में मिलती है। यहां के बौद्ध स्थापत्यों में बहुत विविधताएं थी। कुछ में स्तूप और विहार थे, कुछ में स्तूप, विहार और चैत्य तीनों थे जबकि कुछ में केवल विहार और चैत्य थे स्तूप नहीं। स्वतंत्र रूप से भी कई स्तूप तथा मनौती वाले स्तूपों की सूक्ष्म प्रतिकृतिया थी। एच सरकार (1996) ने इन बौद्ध अवशेषों के विश्लेषण के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि नागार्जुनकोंडा में एक समय में प्राय: 150 बौद्ध भिक्षुओं का समुदाय रहा करता होगा।

आंध्रप्रदेश के कुछ स्तूप उसे पत्थर या ईंटों से निर्मित हैं, जबकि ईंटों से निर्मित कुछ स्तूप आरा वाले पहियों की योजना पर आधारित थे जिनके बीच के रिक्त स्थान को मिट्टी से भरा गया था। शायद यह प्रमुख बौद्ध प्रतीक चक्र का वास्तु रूपांतर था। हालांकि इस योजना पर बनी संरचना को अतिरिक्त मजबूती भी मिल जाती होगी किन्तु अमरावती स्तूप का केन्द्रीय हिस्सा ठोस ईंटों से निर्मित हैं। भट्टीप्रोलू स्तूप (दूसरी शताब्दी सा.सं.पू.) आंध्र में बौद्ध स्थापत्य के संक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करता है। स्तूप का गर्भगृह का अधिकांश भाग ठोस है लेकिन केन्द्रीय हिस्से को आरा वाले पहिए की योजना पर बनाने का प्रयास किया गया है। तक्षशिला के धर्मराजिक स्तूप 2 शाह जी की ढेरी और मथुरा में भी चक्र योजना पर आधारित स्तूपों का निर्माण किया गया था। नागार्जुनकोन्डा स्थित लगभग सभी स्तूप ईंट के बने थे। कुछ का निर्माण पत्थर की गिट्टियों को मिट्टी के प्लास्टर में मिलाकर हुआ था। प्राय: सभी पहिए वाले स्तूपों में आरों की संख्या 4 – 10 तक थी जो स्तूप के आकार पर निर्भर था। बड़े स्तूपों में आरों की अधिक संख्या थी। कुछ स्तूपों में पहियों की जगह स्वस्तिक के आकार वाला आधार देखा जा सकता है।

आंध्र प्रदेश के कुछ स्तूपों की चार प्रधान दिशाओं में ऊंचे चबूतरें बनाए गए जिन पर पांच ऊंचे ऊंचे स्तम्भों को बनाया गया है। इन्हें आयक स्तम्भ कहते हैं। आयक स्तम्भ बुद्ध के जीवन से जुड़ी पांच महत्त्वपूर्ण घटनाओं का प्रतीक है। बुद्ध का जन्म, महाभिनिष्क्रमण, ज्ञान प्राप्ति, धर्मचक्र प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण। हालांकि, शालिहुण्डम और रामतीर्थम जैसे स्थानों पर बने स्तूपों में अथवा नागार्जुकोण्डा के कई स्तूपों में भी आयक स्तम्भ अनुपस्थित हैं। आंध्र प्रदेश के बाहर केवल वैशाली में आयक स्तम्भ प्रतिवेदित हैं। प्रारंम्भिक शताब्दियों में इस क्षेत्र के कई स्तूपों के पादांगखण्ड तथा अंड में चूना पत्थर के अलंकृत पट्टिकाओं को स्थापित किया गया है। उदाहरण के लिए, अमरावती स्तूप के गुम्बद वेदिका और तोरण द्वारों पर उद्भूत की गई सुन्दर नक्काशी देखी जा सकती है। जबकि नागार्जुनकोंडा में उद्भूत नक्काशी पर वेदिका के साथ स्तूपों को दिखलाया गया हैं किन्तु वेदिका के वास्तविक

'सीथियन प्रतिमा', नागार्जुनकोण्डा

टुकड़े बहुत कम ही मिले हैं। वेदिका के जो अंश मिले उन पर नक्काशी नहीं की गई थीं। ठोटलाकोण्डा, बावीकोंडा, पबुरालाकोंडा, शंकरम और धारापलेम जैसे प्रारम्भिक ऐतिहासिक बौद्ध स्थल आंध्र प्रदेश के ऊतरी तटीय क्षेत्र में अवस्थित हैं। इनमें से पहले तीन केन्द्रों पर हाल में ही उत्खनन कार्य किया गया है। ठोटलाकोण्डा में अनेक विहार चैत्य स्तूपों के अवशेष हैं। (शास्त्री, सुब्रमण्यम एवं राव 1992)। इन संरचनाओं की तिथि तीसरी दूसरी शताब्दी सा. सं.पू. तथा दूसरी तीसरी शताब्दी सा.सं. के बीच आंकी गई है।

बौद्धस्तूपों की प्रारम्भिक उद्भृत नक्काशी (रिलीफ कार्विंग)

कला इतिहासकार निहार रंजन रे (1975: 58-66) ने मौर्य कालीन तथा उत्तर मौर्यकालीन के बीच अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मौर्य काल की कला अनिवार्य रूप से संभ्रान्त और कुलीन वर्ग की कला थी। कलाकृतियों को इस प्रकार से स्थापित किया जा रहा था कि देखने वालों का ध्यान सभी ओर से उसी पर केन्द्रित थे। पशुओं की कलात्मक प्रस्तुति पर विशेष आकर्षण था जबकि उत्तरमौर्य कालीन कला के माध्यम से कला के सामान्य संरक्षको को अपने सृजनात्मक रूझान की अभिव्यक्ति का माध्यम मिल सका। अधिकांशतः मौर्योतर कालीन कला में उद्भृत नक्काशी को प्राथमिकता दी गई। किन्तु कला को समझने के लिए कलाकृति के समक्ष जाकर देखना पड़ता था क्योंकि मौर्यकालीन कला के समान अब इनका त्रिआयामी निरूपण नहीं हो रहा था। पशुओं की जगह अब मानवीय आकृतियों को तरजीह मिलने लगी। यदि उदयागिरी और खाण्डगिरी के गुफा चित्रों को छोड़ दें जिनकी जैन पृष्ठ भूमि थी तब ल. 200 सा.सं.पू. – 300 सा.सं. के बीच की अधिकांश उद्भृत नक्काशियां बौद्ध कला कही जा सकती हैं।

इस काल में बनायी गई अधिकांश कलाकृतियां कलाकार और प्रयुक्त माध्यमों के अन्तर के कारण अलग अलग हो सकती हैं किन्तु दृश्यों के कथानक में सामान्य रूप से एकरूपता देखी जा सकती है। प्रतिमाशास्त्र की शैली और कलात्मक निरूपण में भी मूलभूत समानता को रेखांकित किया जा सकता है। सतहों का विशद् और जटिल अलंकरण तथा उद्भृत दृश्यांकनों की कम गहराई वाले उभार जैसा कि सांची, भारहुत व अमरावती में देखने को मिलता है काष्ठकला के प्रस्तर कला में किए जा रहे सीधे अनुकरण को दर्शाता है। मानव शरीर को उस दौर में पत्थरों पर पहली बार इस प्रकार उतारा जा रहा था कि कम से कम सामने से देखने पर वे बिल्कुल जीवंत दिखलाई पड़ने लगे थे। किन्तु मानव शरीर के पार्श्व अथवा अगल बगल के हिस्सों का स्पष्ट निरूपण नहीं हो रहा था। सांची, भारहुत, अमरावती और नागार्जुनकोंडा की उद्भृत नक्काशी प्रतिमाशास्त्रीय परिपक्वता की दिशा में प्राप्त की जा रही उत्तरोतर प्रगति के चरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अमरावती की कला समकालीन मध्य भारतीय कला केन्द्रों से अधिक परिपक्व प्रतीत होती हैं। यहां किए गए दृश्यांकन अपेक्षाकृत अधिक साफ सुथरे कम भीड़ भाड़ वाले हैं तथा इनमें अग्रभाग पर दिए जा रहे अत्यधिक महत्त्व को भी नियंत्रित किया गया है। वैसे भी आंध्र प्रदेश के बौद्ध केन्द्रों में पहले की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक कलात्मक निरूपण देखने को मिलता हैं। स्टैला क्रैमरीच ([1921],1994:127) का मानना है कि प्रारंभिक बौद्ध कला में प्राकृतिक दृश्यों को केवल पृष्ठभूमि के रूप में अंकित नहीं किया जा रहा था, बल्कि ये स्वाभाविक रूप से और संयोगवश इन्हें कला प्रसूति के अभिन्न अंग के रूप में स्थान मिल रहा था।

प्रारम्भिक बौद्ध कलाओं में बुद्ध के जीवन से जुड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाओं और जातक कथाओं के दृश्यों को पहली बार पत्थरों में उकेरा जा रहा था। इन नक्काशियों में दो प्रकार से आख्यानों का दृश्यांकन हुआ हैं। (1) एक दृश्यात्मक प्रस्तुति और (2) आख्यानों का अनुक्रमिक दृश्यांकन (दहेजिया, 1997 a: 4-6)। एक दृश्यात्मक आख्यान प्रस्तुति के अन्तर्गत किसी ऐसे दृश्य को चित्रित करने का प्रयास होता है जिसके माध्यम से सम्पूर्ण आख्यान का बोध दर्शक को हो जाए। दूसरी ओर अनुक्रमिक दृश्यांकन के अन्तर्गत किसी आख्यान से जुड़ी घटनाओं को क्रमबद्ध रूप से अलग अलग प्रस्तुत किया जाता है। तथा सामान्यतः दृश्यों के माध्यम से घटनाओं की निरंतरता को बरकरार रखने की कोशिश की जाती है। वस्तुतः पहला दृश्य दूसरे दृश्य में स्वाभाविक रूप से विलिन हो जाता है। यह कलाकृतियां महत्त्व के आधार पर निर्धारित की जा रही थी। भारहुत, पवनी और अमरावती

माया का स्वप्न (गर्भाधान), अमरावती (ऊपर बाएं); बुद्ध का जन्म, नागार्जुकोण्डा (ऊपर दाएं); गांधार कला (मध्य बाएं); नागार्जुनकोण्डाः महाभिनिष्क्रमण (मध्य दाएं); प्रथम उपदेश (नीचे बाएं); अलंकृत स्तूप (नीचे दाएं)

में जातक कथाओं को प्रस्तुत किया गया है। जिसके आधार पर उद्‌भुत प्रतिमाओं का अर्थ निर्धारण करना आसान हो सका।

इन कलाकृतियों में बुद्ध के जीवन से जुड़ी घटनाओं को महत्त्वपूर्ण रूप से स्थान मिला [मार्शल, फूशे और मजुमदार (1940,1982)]। प्रारंम्भिक चरण में कलाकारों ने बुद्ध को सशरीर चित्रित नहीं किया है। उनकी उपस्थिति प्रतीकों के माध्यम से दिखलाई जाती थी। इन प्रतीकों में जाति (बुद्ध का जन्म), सम्बोधि (बुद्ध की ज्ञान प्राप्ति), धर्मचक्र प्रवर्तन (बुद्ध का पहला उपदेश) तथा महापरिनिर्वाण (बुद्ध की मृत्यु), इन चारों की प्रधानता कही जा सकती है। हालांकि, इस सूची में दो और घटनाओं को जोड़ा जा सकता है (1) अवक्रान्ति (बुद्ध का गर्भ में आना) और महाभिनिष्क्रमण (बुद्ध का महान गृह त्याग)। सांची में बुद्ध के जन्म को विशेष रूप से कमल पर बैठी माया के प्रतीक से दर्शाया गाया है। ऐसी कुछ प्रतिमाओं में कमल पर बैठी माया के अगल बगल दो हाथियों को सूंढ़ में कलश लिए दिखलाया गया है। यह दृश्य गजलक्ष्मी की प्रतिमा से इतना मेल खाता है कि कुमारस्वामी ने इनको लक्ष्मी की प्रतिमा के रूप में ही चिन्हित किया था। किन्तु इन दृश्यों में तोरण द्वारों को जिस प्रकार का महत्त्व दिया गया है, उससे यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कलाकारों के द्वारा इस प्रतीक को बौद्ध अर्थ प्रदान किया जा रहा था। बुद्ध की ज्ञान प्राप्ति के लिए बोधिवृक्ष को प्रतीक बनाया गया। बोधिवृक्ष के साथ कभी कभी एक छत्र अथवा वृक्ष के समक्ष रखा एक सिंहासन या बोधि वृक्ष के चारों ओर वेदिका जैसे प्रतीकों को भी बनाया गया। महापरिनिर्वाण के लिए स्तूप को प्रतीक बनाया गया। बुद्ध की अवक्रान्ति को दिखलाने के लिए शयन कर रही माया के दृश्य के शीर्ष भाग में एक सफेद हाथी को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया गया। बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के प्रतीक के रूप में एक घोड़े की लगाम को थामें हुए एक व्यक्ति अपने दूसरे हाथ में एक छत्र लिए एक अदृश्य घुड़सवार के साथ चल रहा है।

दरअसल बौद्ध केन्द्रों पर इस समय जो भी कलाकृतियां बनाई जा रही थीं उनमें विशेष रूप से केवल बौद्ध विशिष्टताएं आरोपित नहीं की गई थीं। बल्कि वे उस काल में प्रचलित साझा संस्कृति के लोकप्रिय प्रतीक थे जिनका बौद्ध स्थापत्य और कला में भी प्रयोग किया जा रहा था। उदाहारण के लिए सांची के बौद्ध स्थापत्य में यक्ष, यक्षी, नाग और नागी अभिन्न अंग के रूप में इस्तेमाल किया गया, किन्तु सांची की कलाकृतियों में बन्दर आश्चर्यजनक रूप से गायब हैं। हाथी के सिर वाला हिरण, पंखों वाला सिंह, चील के मुख वाला सिंह, मानव मुख बाला सिंह, अथवा समुद्र के कुछ विचित्र प्राणी भी बनाए गए। इनमें से कुछ प्रतीकों को पश्चिम एशियाई प्रभावों का परिणाम कहा जा सकता है। हंसों का जोड़ा पक्षियों में सबसे लोकप्रिय रहा हालांकि, बगूले, मोर और तोते भी देखे जा सकते हैं। मत्स्य, कछुए और सर्पों का भी दृश्यांकन हुआ है। वृक्षों में पीपल को सबसे अधिक प्रधानता मिली। आम के वृक्ष के अतिरिक्त एकाध नारियल के वृक्ष भी बनाए गए। फूलों में पूर्ण विकसित कमल और अर्धकमल को प्रधानता दी गई। अन्य पुष्पीय डिजायनों में हवा में झूलती मालाएं, लतिकाएं और आभूषण के डिजायन भी लोकप्रिय थे। किन्तु इन दृश्यों में मानवीय आकृतियों का यथार्थवादी चित्रण नहीं किया जा सका। उनके दृश्यांकन में एक प्रकार की भाव शून्यता और नीरसता देखी जा सकती है।

इनमें से कुछ सम्बंधित दानकर्ताओं की प्रतिमाएं रही होगी। इस काल में बहुत बार प्रयुक्त हुए कई प्रतीकों के अर्थ की व्याख्या करना कठिन है। ऐसे प्रतीकों में एक वृषभीय प्रतीक भी है। जो वृषभ के दो सिंगों के समान त्रिकोणीय दिखलाई पड़ती हैं। इन्हें कभी कभी नंदीपद की संज्ञा दी जाती है। वह शायद इसलिए कि मुंबई के निकट पडना की पहाड़ी में बने इस प्रतीक के निकट नंदीपद लिखा हुआ पाया गया था। यह दरअसल मात्र संयोग था अन्यथा मवेशी के खुरों के निशान जो पडना की पहाड़ी पर पाए गए या ऊपरोक्त अभिलेख का इस बौद्ध प्रतीक चिह्न से कोई लेना देना नहीं लगता। अन्य विहार अग्नि के प्रतीक वेदो में वार्णित वज्र या शिव के त्रिशूल के रूप में इसकी व्यख्या करते हैं। बौद्ध संदर्भ में इस प्रतीक की व्याख्या त्रिरत्न के रूप में की गई है जो बौद्ध धम्म और संघ का प्रतिनिधित्व करता है। श्रीवत्स भी प्रतीक के रूप में बनाया जाता रहा जिसके अर्थ की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकी है। किन्तु ध्यान देने वाली बात यह है कि यह प्रतीक ताम्र पुंजों में पाई जाने वाली मानवकृति से बहुत मेल खाती है।

प्राय: दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसवी से उदभृत नक्काशियों में या स्वतंत्र रूप से बुद्ध की प्रतिमा बनाई जाने लगी। आंध्र क्षेत्र में निर्मित बुद्ध प्रतिमाएं विशालकाय थी तथा इनमें स्पष्ट मोडोवाले परिधान में उन्हें दिखलाया गया हैं। किन्तु बुद्ध की प्रतिमाओं के निर्माण शुरू हो जाने से बुद्ध की उपस्थिति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की परम्परा समाप्त नहीं हो गई। नागार्जुनकोंडा में तो उद्‌भृत शैल प्रतिमाओं में बुद्ध की सशरीर प्रस्तुति के साथ साथ प्रतीकात्मक प्रस्तुति भी की जाती रही।

पश्चिमी घाट की गुफाओं में बौद्ध वास्तु कला

पश्चिमी घट में गुफाओं को काट कर बौद्ध विहारों के निर्माण की परम्परा ल. 100 सा.सं.पू. –200 सा.सं. के बीच की कही जा सकती है विद्या दहेजिया (1972) स्थपत्य निर्माण के दो स्पष्ट चरणों को चिन्हित किया है (1)
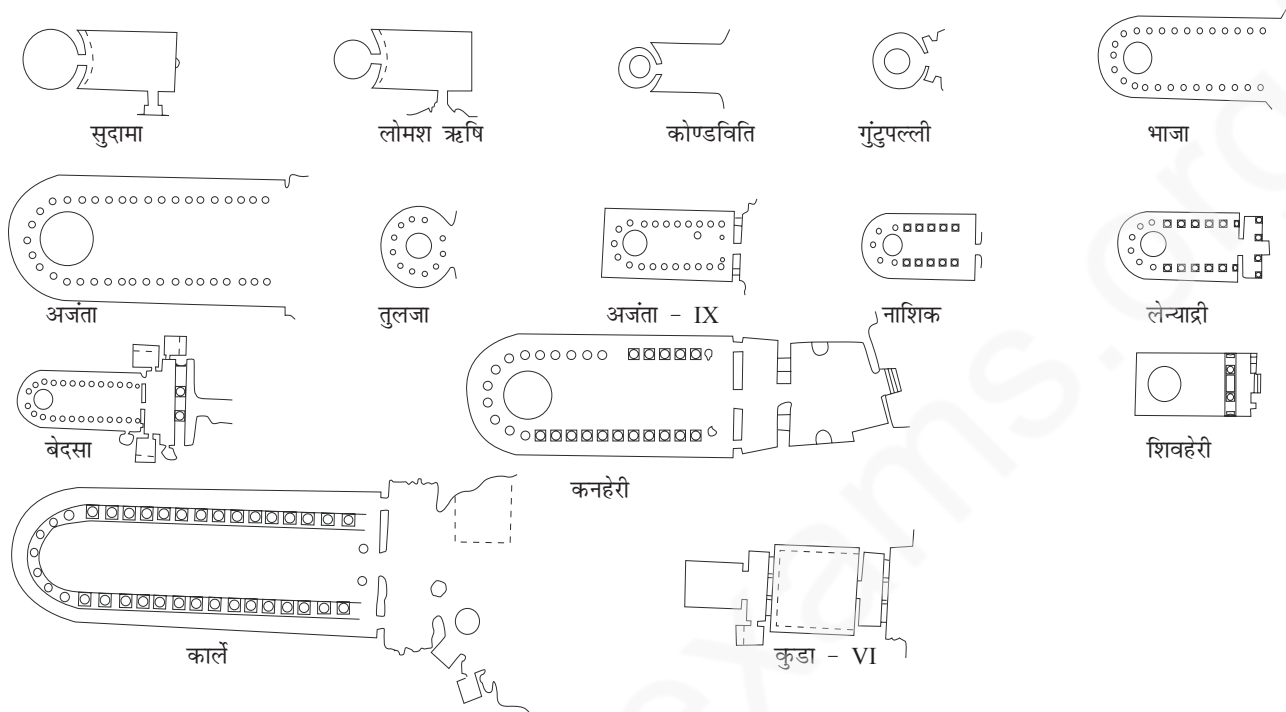
चित्र 8.7: **बौद्ध चैत्यस्थापत्य का विकास (सौजन्य, दहेजिया, 1972)**

ल. 100 सा.सं.पू. - 20 सा.सं.पू. तथा (2) ल. 50-200 सा.सं.। कोडीव, नदसुर, भाजा, तुलजा, पितलखोड़ा, कोडने, अजन्ता, नाशिक और बेदसा पहले चरण के स्थल हैं। जबकि दूसरे चरण में जहां नाशिक और जुन्नार जैसे पहले चरण के स्थलों के नए निर्माण किये गए वहीं कार्ले, कुडा, महाड़, करढ़, शेलारवादी और कनहेरी जैसे नूतन स्थानों पर बौद्ध विहारों का निर्माण किया गया। लोमस ऋषि और सुदामा गुफाएं गया के निकट बराबर पहाड़ियों में हैं। उनकी चर्चा भारत के प्रारम्भिक गुफा स्थापत्य के विकास के क्रम में कुछ हद तक अध्याय-7 में की जा चुकी है। गुफा स्थापत्य के उस चरण में जो चैत्य बनाए जा रहे थे वे शैल चट्टानों के समानांतर बने थे और चैत्य के अन्तर्गत एक आयताकार प्रकोष्ठ से जुड़ा हुआ एक अपेक्षाकृत छोटे आकार वाला वृत्ताकार कक्ष होता था। लोमस ऋषि और सुदामा गुफाओं की बनावट स्पष्ट रूप से काष्ठ स्थापत्य की अनुकृतियां थी।

पश्चिमी घाट में स्थित कोण्डीविते गुफा (ल. 100 सा.सं.पू.) अगले चरण का प्रातिनिधित्व करती है। यहां भी वृत्ताकार स्तूप कक्ष में पहुंचने के लिए एक बड़ा आयताकार कक्ष बनाया गया था। स्तूप के चारों ओर एक संकीर्ण प्रदक्षिणा पथ भी देखा जा सकता हैं किन्तु अब चैत्यों को गुफा द्वार के लम्बवत काटकर तैयार किया जाने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि अब उपासक चैत्य में प्रवेश करने के बाद उपास्य उपादान के समक्ष खड़ा हो सकता था। इसके अतिरिक्त बाहर से आने वाला प्रकाश स्तूप सहित सम्पूर्ण कक्ष में पहुंचने लगा था। बौद्ध गुफा स्थापत्य के विकास के अगले चरण में स्तम्भों की दो पंक्तियां बनायी जाने लगी जो चैत्य की दीवारों की सीध में स्तूप तक जाती थी। स्तूप का आकार ऐप्साइडल ही बना रहा। इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप ऐप्साइडल स्तूप की प्रदक्षिणा करने के लिए एक ऐसी पार्श्ववृतिका का निर्माण हो गया। पश्चिम भारत के बौद्ध चैत्यों की यह सबसे बड़ी विशेषता है। भाजा (ल. 100-70 सा.सं.पू.) का उदाहरण लिया जा सकता हैं जिसके प्रवेश द्वार पर घोड़े की नाल वाला एक आकर्षक मेहराब काटकर बनाया गया है। इसके मुख्य कक्ष में गुम्वदाकार छत काटा गया हैं जबकि पार्श्ववृतिकाओं का छत अर्धगुम्बदाकार बनाया गया है। गुफा की छत से लकड़ी के लिंटरों को जोड़ा गया था। कक्ष में बनायी गई स्तम्भों की पक्तियां थोड़ी झुकी हुई है। स्तम्भों के इस कृत्रिम झुकाव से स्पष्ट रूप से काष्ठ स्थापत्य की छाप परिलक्षित होती है। पश्चिम भारत की प्रतिनिधि बौद्ध गुफाओं में पीतलखोरा की गुफा संख्या 3 को भी लिया जा सकता है। बेदसा में स्तम्भ युक्त ऐप्साइडल चैत्य के साथ साथ तीन तरफ बने हुए कक्षों को जोड़ता है। ये कक्ष भिक्षुओं के आवास रहे होंगे।

पश्चिमी भाग के प्रारम्भिक विहारों की संरचना जटिल नहीं है। इनमें एक मुख्य कक्ष के चारों ओर भिक्षुओं के निवास करने के लिए छोटे छोटे सेल बनाए गए थे। सामने में खुला बरामदा अवस्थित होता था। कुछ विहारों में ऐसी दो

मानचित्र 8.9: **पश्चिमी घाट की बौद्ध गुफाएं**

मंजिल वाली संरचनाएं थी। भिक्षुओं के लिए बने सेल में सोने के लिए पत्थर का चबूतरा और सिर रखने के लिए कभी कभी पत्थर का तकिया भी बनाया गया है। कक्ष की दीवारों में दीप जलाने के लिए ताखा भी काटकर बनाया गया है। कुछ गुफा चैत्यों में उदभृत नक्काशी के भी प्रमाण मिलते हैं। ऐसी नक्काशियों में सबसे प्रारम्भिक उदाहरण भाजा के विहार संख्या 19 का उदाहरण लिया जा सकता है जहां प्रवेश द्वार और बरामदे पर उत्मृत किया गया है जबकि मुख्य चेम्बर के प्रवेश द्वार के पृष्ठ भाग में सूर्य और इन्द्र देवताओं को दर्शाया गया हैं। पीतलखोरा के विहारों में भी आकर्षक नक्कशियां देखने को मिलती हैं। बौद्ध गुफा स्थापत्य की दृष्टि से तीसरा चरण दूसरी और तीसरी शताब्दी सा.सं. का हैं कुछ गुफाओं का निर्माण सीधे सातवाहन तथा क्षत्रप राजाओं के द्वारा किया गया था। उदाहरण के लिए, कार्ले स्थित चैत्यकक्ष में एक अभिलेख पाया गया है जिसमें क्षहरात शासक नाहपन्ह का उल्लेख है और इस आधार पर इसकी तिथि 120 सा.सं.पू. है। वेदसा जैसे गुफा विहारों में बौद्ध स्थापत्य से जुड़ी पिछली विशेषताओं को अक्षुण रखा गया किन्तु निश्चित रूप से इस काल में अधिक व्यापक स्तर पर निर्माण कार्य हुआ। बाहरी दीवारों को भी नक्काशियों से अलंकृत किया गया। मिथुन
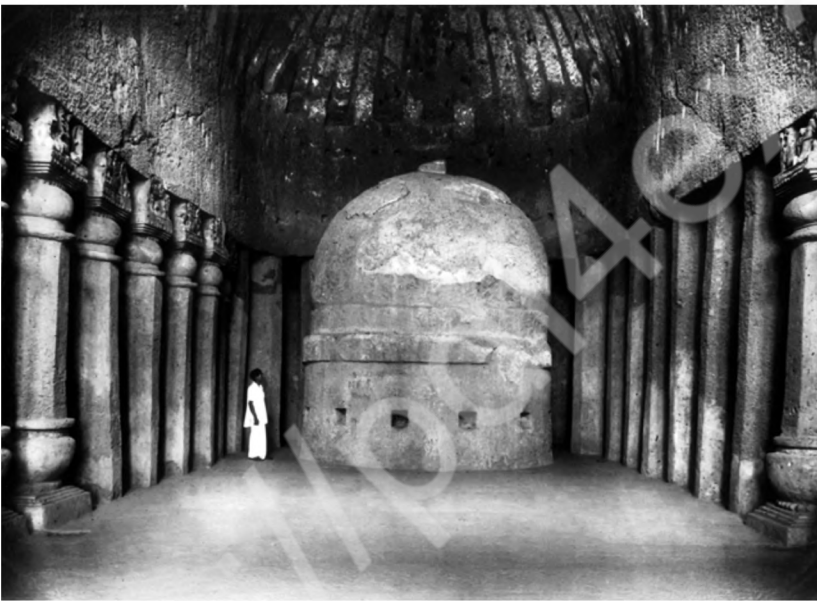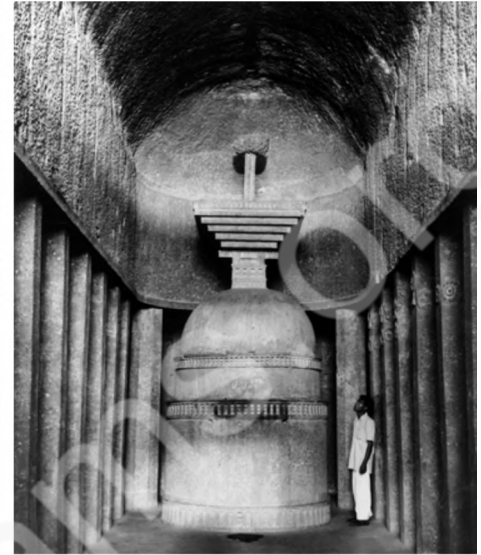
चैत्य कक्षः कार्ले; बेदसा (ऊपर); कनहेरी (मध्य बाएं); भाजा चैत्य कक्ष प्रवेश (मध्य दाएं); भाजा की गुफाएं (नीचे)

दम्पति के निरूपण की बहुलता और वैविध्य में खासी बढ़ोतरी हुई। मिथुन दम्पति की उपस्थिति मंगलकारी मानी जाती थी। चैत्य के अभ्यंतर में स्तूपों की उपासना की जाती थी। स्तम्भशीर्षों का खूब अलंकरण हुआ है। मुख्य कक्ष के ऊपर का छत गुम्बदाकार है जोकि पार्श्व वृतिकाओं के ऊपर का छत समतल है।

नाशिक का विहार संख्या 3 कुछ समय बाद का है यह गौतमीपुत्र गुफा कहलाता है क्योंकि इसी शासक द्वारा निर्गत अभिलेख यहां पाया गया था। यहां भी मुख्य कक्ष के चारों ओर भिक्षुओं के लिए बने छोटे छोटे कक्ष हैं। बाहरी दीवार और प्रवेश द्वार पर उद्भृत नक्काशियां काफी आकर्षक हैं। मुख्य कक्ष के पृष्ठ भाग वाले दीवार पर एक स्तूप तथा दो स्त्री उपासिकओं के साथ दो दिव्य आकृतियां बनी हैं। कन्हेरी स्थित छोटा चैत्य कक्ष अंतिम शाक्तिशाली सातवाहन शासक यज्ञश्री के काल का है। कक्ष के प्रवेश द्वार पर मिथुन का प्रतीक दृश्य बना हुआ है। किन्तु यह कार्ले की तुलना में अपेक्षाकृत कम परिष्कृत और इन्द्रियाग्राहय है। अजन्ता में बने प्राचीनतम चैत्य संख्या 9 और 10 में बने भितिचित्र इसी काल के हैं। चैत्य संख्या 10 के भिति चित्र में अपने परिचारकों सहित एक शासक को बोधिवृक्ष की उपासना करते दिखलाया गया है। भितिचित्र के अन्य कथानक श्यामाजातक और क्षद्दंत जातक से लिए हुए है। चैत्य संख्या 9 के प्रारंभिक भितिचित्र में दो अलग अलग दृश्य चित्रित हैं। एक में पशुपालको और मवेशियों को दिखाया गया है जबकि दूसरे में एक स्तूप के इर्द गिर्द नागों को दिखलया गया है।

उदयगिरि और खाण्डगिरि की जैन गुफाएं

उदयगिरि और खण्डगिरि की पहाडियां ओड़िसा के पुरी जिला में भुवनेश्वर से 6 किलोमीटर पश्चिम में स्थित हैं। ये पहाड़ियां शिशुपाल गढ़ के काफी निकट हैं। ये जैनियों के प्रचीनतम गुफा स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। चूना पत्थर की इन पहाड़ियों को काटना आसान है किन्तु इन पर बारीक नक्काशी करना कठिन है। शैलों की भंगुरता के कारण इनका काफी अपरदन हो चुका है। गुफा संख्या 14 में हाथीगुम्फा अभिलेख उत्कीर्ण है। इस आधार पर इन्हें पहली शताब्दी सा.सं.पू. में कलिंग के महामेघवाहन या चेदी वंश के काल का कहा जा सकता हैं गुफा संख्या 9 जिसे मंचापुरी गुफा भी कहते हैं में, इसी वंश के अन्य दो शासक कुदेपसीरी और वडुक के दान अभिलेख मिलें हैं। इन पहाड़ियों पर आज तक जैनियों का प्रभुत्व बना हुआ है।

उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में पश्चिमी घाट की बौद्ध गुफाओं की तरह सभागर कक्ष अथवा चैत्यों को नहीं बनाया गया था (मित्रा 1992)। किन्तु कालान्तर में यहां काटकर बनाए गए कुछ कक्षों का उपयोग मन्दिरों के रूप में किया गया । इन कक्षों का निर्माण बेतरतीब योजना के अधीन किया गया था, क्योंकि सभी पत्थरों को सरलता से काटना कठिन था। इन कक्षों को जोड़ने के लिए कई जगह चट्टानों को काटकर सीढ़िया बनायी गई थीं। कक्षों का आकार बहुत कम है। जैन मुनियों के द्वारा बनाए गए छत इतने नीचे थे कि उनमें कोई व्यक्ति खड़ा नहीं हो सकता था और न ही फैलकर रह सकता था। कक्षों में प्रवेश करने के लिए मुनियों को झुककर जाना पड़ता होगा। कुछ कक्षों में ताखा जैसा कुछ बना हुआ है। कक्षों के फर्श ढ़लाऊं हैं जिसका प्रयोग मुनियों के द्वारा तकिया के समान किया जा सकता था। किन्तु हो सकता है कि ऐसा कक्षों में वर्षा के पानी को घुसने से रोकने के लिए किया गया हो। कक्ष भीतर से तो बिल्कुल सादगी वाले हैं किन्तु बाहर के गृहमुख चाप और दीवारों पर कुछ नक्काशी देखने को मिलती है।

नाशिक गुफा 18 (ऊपर); **उदयगिरि-खण्डगिरि, गुफा-1, रानीगुम्फा** (नीचे)

इन पहाड़ियों पर काटी गई गुफाओं के दो प्रकार हैं। कुछ में स्तम्भों से युक्त बरामदा है और कुछ में नहीं। स्तम्भों और अर्धस्तम्भों का आकार निचले और ऊपरी वर्गाकार हिस्से जहां बीच वाले षटकोणीय हिस्से से जुड़ते हैं वहां वर्गो के कोणें निर्मित किए गए हैं जो परिणामवश अर्धचित्रफलक का रूप ले लेते हैं। कुछ गुफाएं दो मंजिली हैं। इनमें से रानीगुम्फा सबसे बड़ा और सबसे संरक्षित है जिसमें एक विशाल आयताकार आंगन बनाया गया था

जिसके चारों ओर आवासीय कोठरियां बनी थीं। इस गुफा में एक छोटा कक्ष बनाया गया था जिसमें किसी अधिष्ठात्री चरित्र की छवि उत्कीर्ण है। इसकी बाहरी दीवारों पर प्रतिमाएं उकेरी गई हैं।

मित्रा (1992: 9-10) का मानना है कि इन गुफाओं की गुम्बदाकार छतों की तुलना पूर्वी भारत के मिट्टी के गिलावों पर बने ग्रामीण आवासों से की जा सकती है। बरामदे के छतों के नीचे उसी प्रकार के स्तम्भों बने थे जिस प्रकार पूर्वी भारतीय झोपड़ों में लकड़ी या बांस के खम्मों का प्रयोग होता है। छतो के पादांगखण्ड में तोरण सज्जा की गई है। गुफा के बरामदो के छत भी ओलती या छज्जों के रूप में बाहर की ओर निकले हुए हैं। जैसा कि खपड़ों की टाली वाले झोपड़ियों में देखा जाता है। गुफा की कुछ जलाशयों में सीढ़ी का निर्माण भी किया गया था। चट्टानों को काटकर कुछ जलाशयों का निर्माण भी किया गया था जिनमें से कुछ को नीचे तक जाने के लिए उपयोग में लाया जाता होगा। उदयगिरि पहाड़ी के शिखर पर ऐप्साइडल योजना पर बना एक मन्दिर भी हैं। जिसे लैटेराइट चट्टानों से बनाया गया था। पूर्वी भारत में ऐप्साइडल मन्दिर स्थापत्य का शायद यह प्राचीनतम उदाहरण होगा। प्रारम्भिक बौद्ध अलंकरण में प्रयुक्त कई प्रतीकों को खण्डगिरि एवं उदयगिरि की गुफाओं में भी देखा जा सकता हैं। नन्दीपद, श्रीवत्स और स्वास्तिक जैसे प्रतीकों के अतिरिक्त वृक्ष, कमल, सर्प, मधुमालती लता वाली डिजाइन या उड़ने वाले पशु इत्यादि इन पहाड़ियों पर भी उकेरे गए हैं। अर्धस्तम्भों पर अश्व, सिंह, हाथी और शायद वृषभ जैसे प्रतीक देखें जा सकते हैं। सच तो यह है कि इन उद्भृत नक्काशियों में ऐसा कोई भी दृश्य चिन्हित नहीं किया जा सकता है जिनके द्वारा उन्हें तीर्थंकरों की जीवन की घटनाओं अथवा जैन परम्परा से जोड़ा जा सके। रानीगुम्फा स्थित बरामदे की दीवारों पर उद्भृत नक्काशियों में कुछ को शाही क्रियाकलाप से जोड़ा जा सकता है। इनमें से एक दृश्य में किसी सम्राट के विजय अभियान को दिखलाने का प्रयास किया गया है जो निश्चित रूप से खारवेल के अभियान का दृश्यांकन रहा होगा। मंचपुरी गुफा में उद्भृत एक दृश्य में कई लोग सामूहिक रूप से उपासना कर रहें है तथा एक दूसरे दृश्य में चार व्यक्ति हाथी पर बैठकर एक स्थान पर पहुंचे हैं और तत्पश्चात करबद्ध प्रार्थना कर रहे हैं।

गुफा-10 का बरामदा, उदयगिरि-खण्डगिरि (ऊपर); गंधार शीर्ष (नीचे)

गांधारशैली की प्रतिमाएं

उत्तर-पश्चिम क्षेत्र संस्कृतियों की संगम भूमि थी और प्रतिमा शैलियों की भी (हंटिंग्टन 1985: 133-49)। वर्तमान का बेग्राम ही प्राचीन कपिशा नगर था। यह उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से आने वाले मार्गो तथा पूरब और पश्चिम जाने वाले मार्गो का जंक्शन था। इस स्थल से विपुल पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध हुए है। यहां से एक ऐसे धनाड्य व्यक्ति का विशाल खजाना भी मिला है जिसका सौन्दर्य बोध उत्कृष्ट मालूम होता है। इस खजाने में यूनानी रोम और ऐलिक्जेंड्रिया से मंगाई गई प्रतिमाएं, चीन की लाक्षाकर्म सामग्रियां तथा भारत में हाथी दांत के बने 1000 से अधिक उपादानों की लम्बी सूची है। हाथी दांत की बनी वस्तुओं का यह संग्रह बेग्राम संग्रह के नाम से चर्चित है जिनमें पहली शताब्दी सा.सं.पू./ पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी सा.सं. के बीच की बनी वस्तुएं है। कुछ उद्भृत पट्टिकाओं पर तोरणद्वार के नीचे खड़ी दो स्त्रियों वाले सांची से मिलती जुलती तोरण सज्जा की प्रतिकृतियां हैं। हाथी दांत की बनी एक बड़ी प्रतिमा को देवी गंगा की प्रतिमा बताया जाता है। पहलवों की दोहरी रेखाओं वाली शैली में हाथी दांत पर उत्कीर्ण कुछ आखेट दृश्य भी हैं। अन्त: फलक पर उत्कीर्ण द्वितीय शताब्दी सा.सं. के नक्काशी के बार्डर पर ग्रीको-रोमन और शुद्ध भारतीय शैली का मिश्रण है। हाथी दांत के इस बेग्राम संग्रह की तुलना कालांतर में अमरावती और नागार्जुनकोंडा से की जा सकती है। श्रीलंका के अनुराधापुर स्थित जेतवन स्तूप से मिले एक खजाने से प्राप्त हाथी के दांत की बनी वस्तुओं और बाद में बौद्ध स्थलों पर बनायी गई प्रतिमाओं में और भी आश्चर्यजनक समानताएं देखने को मिलती हैं।

गांधार शैलीः बुद्ध; खड़ी प्रतिमा

अफगानिस्तान के इस कपिशक्षेत्र से प्राप्त पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुओं में बामियान में मिले माणिक्य जड़ित स्वर्णनिर्मित एक पुनरावशेष मंजूषा या अस्थिमंजूषा की तिथि पहली शताब्दी सा.सं.पू. निश्चित की गई है। पुनरावशेष मंजूषा पर दो सेट में तीन आकृतियां बनी हैं– बीच में खड़े बुद्ध के अलग-बगल इंद्र और ब्रह्मा की ये आकृतियां हैं।

बुद्ध की प्राचीनतम छवियों में से यह एक रहा होगा। पाकिस्तान की स्वात घाटी से भी बड़ी संख्या में बौद्ध प्रतिमाएं मिली हैं। इनपर स्पष्ट रूप से ईरान की पार्थियन शैली का प्रभाव है। जबकि समकालीन गंधार कला पूर्णरूप से ग्रीको रोमन कला से प्रभावित हो रही थी। आभामण्डल के साथ बुद्ध की एक उद्भृत प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बैठे हुए इस बुद्ध की प्रतिमा के अगल-बगल ब्रह्मा और इन्द्र को खड़ा दिखलाया गया है। यह कलाकृति पहली शताब्दी सा.सं. की हैं। गहरी उकेरी गई रेखाएं प्रतिमा के चेहरे की भावमंगिमा तथा शैली पार्थियन कला के स्पष्ट प्रभाव को दिखलाती है। हंटिंगटन (1985, 120-121) ने इस प्रतिमा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध की सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमा कुषाण काल के पहले की हैं। तथा कुषाण काल के पूर्व की प्रतिमा शास्त्रीय परम्पराओं में से कुछ की स्थापना हो चुकी थी।

कुषाणकाल (पहली शताब्दी - तीसरी शताब्दी सा.सं.) में अफगानिस्तान का गंधार क्षेत्र और उत्तर भारत में मथुरा कलात्मक गतिविधियों के दो प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरकर आ चुके थे। इस काल में पहली बार प्रतिमाओं में शाही आकृति चित्रों को उकेरा जा रहा था। किन्तु फिर भी अधिकांश प्रतिमाओं की पृष्ठभूमि धार्मिक ही बनी रही। प्रतिमाओं का निर्माण अलग अलग शिल्पशालाओं में हो रहा था जिनकी शिनाख्त इनकी शैलीगत समानताओं और विभिन्ताओं के आधार पर की जा सकती है। किन्तु कुछ कला इतिहासकारों की यह धारणा है कि गंधार कलाशैली में लम्बे समय के दौरान कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हंटिंगटन गंधार शैली को बैक्ट्रों-गंधार शैली कहना पसन्द करते हैं। किन्तु हमारा मानना है कि इस लम्बे काल में जो शैलीगत परिवर्तन हुए होंगे उनका अभी तक सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया जा सका है।

गांधार शैली पहली से पांचवी शताब्दी के बीच पल्लवित एवं पुष्पित हुई तथा काश्मीर एवं अफगनिस्तान के कुछ हिस्सों में यह शैली सातवीं शताब्दी सा.सं. तक लोकप्रिय बनी रही। वैसे तो इस शैली का विकास इण्डो-बैक्ट्रियन काल में ही हो चुका था। किन्तु गंधार कला का परिपक्व कला ईस्वी सन की प्रारम्भिक दो शताब्दियों को कहा जा सकता हैं गंधार शैली की अधिकांश शैली मूर्तियां प्रारंभिक दौर में शिल्पकारों ने नीले शिष्ट और हरे पाइलाइट पत्थरों का इस्तेमाल किया। पहली शताब्दी सा.सं. से चूना के प्लास्टर से गच्चकारी को जाने लगी जो तीसरी शताब्दी सा.सं. में सर्वमान्य शैली के रूप में स्थापित हो गई।

गांधार शैली कुषाण सिक्कों की तरह शिल्पगत समन्वय के सिद्धान्त का प्रतिपालन करती है। गंधार कला के विषय भारतीय थे किन्तु शैली ग्रीको-रोमन थी। बुद्ध एवं बोधिसत्व की प्रतिमाओं की लोकप्रियता के कारण कभी कभी गंधार को ग्रीको-बौद्ध कला भी कहते हैं। चेहरे की भावभंगिमा धुंधराले बाल मांसल शरीर तथा परिधानों के गहरे सुव्यवस्थित मोड़दार निरूपण ग्रीको-रोमन प्रभाव का प्रतिनिधित्व करते हैं। खड़े हुए बुद्ध की प्रतिमाओं की प्रमुख विशेषता इस प्रकार से है। बुद्ध नंगे पैर ही दिखलाई पड़ते है तथा एक पैर हल्का मुड़ा हुआ दिखलाई पड़ता है। उनके दोनों कंधें भारी परिधान से ढके होते हैं। अपने बाएं हाथ से वस्त्र के एक छोर को पकड़े हुए दिखलाया गया है जबकि दहिना हाथ अभयमुद्रा में होता है। सिर पर घुंघराले बाल एक विशेष प्रकार की गांठ में गुथे होते है जिसे उष्णीष कहते हैं। बुद्ध के विशाल कानों से लदे आभूषण उनके शाही पृष्ठभूमि का परिचायक है। सिर के पीछे एक आभामण्डल भी बनाया जाता था। बुद्ध की बैठी हुई प्रातिमाएं भी है। बुद्ध को धर्मचक्रमुद्रा और ध्यान मुद्राओं में भी दिखलाया गया है। बुद्ध की कुछ प्रतिमाओं में उनकी मुछें बनायी गई हैं। गंधार शैली में ध्यान मुद्रा में बैठे बुद्ध की प्रतिमाओं की अधिकता है।

उपवास करते सिद्धार्थ, गांधार शैली (ऊपर)

बुद्ध के अतिरिक्त गंधार कला में बोधीसत्वों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हुआ है। सभी बोधिसत्वों की पहचान तो नहीं की जा सकी है किन्तु मैत्रेय बुद्ध की सर्वाधिक प्रतिमाएं है। अवलोकितेश्वर (पदमपाणि) भी गंधार शैली के लोक प्रिय बोधिसत्व है। मैत्रेय अपने हाथ के पत्र से और पदमपाणि कमल के फूल से पहचाने जाते हैं। बुद्ध की प्रतिमाओं से भिन्न बोधिसत्वों को आभूषणों से लदा हुआ दिखलाया गया है। इनके सिर पर पगड़ी या विस्तृत केशसज्जा तथा पैर में खड़ाऊं होता है। बड़ी संख्या में बोधिसत्वों की मूछें हैं।

स्वतंत्र प्रतिभाओं और उद्‌भृत शैल नक्काशियों में बुद्ध के जीवन से जुड़ी घटनाओं के दृश्य और जातक कथाओं के दृश्यों को चित्रित किया गया है। प्रारंभिक बौद्ध स्थलों में तराशी जा रही प्रतिमाओं की विषय वस्तु गंधार शैली में भी तराशी गई किन्तु इनकी अपनी शैलीगत विशिष्टताएं बनी रही। उदाहरण के लिए, बुद्ध के जन्म को प्रस्तुत करने के लिए माया को साल वृक्ष की टहनी पकड़े देखा जा सकता है जहां एक शिशु का अवतरण उनकी दाईं दिशा में दिखलाया गया है, अथवा उनके पांव के समीप शिशु को खड़ा पाया जा सकता है। इन्द्र शिशु को गोद में लेने के लिए कई अन्य परिचारको के साथ तत्पर खड़े है। इसी प्रकार गांधार शैली की अन्य विषय वस्तुओं में यक्षों के अधिपति पंचिक को उनकी सहगामिनी हारीति के साथ देखा जा सकता है। ऐसी बौद्ध मान्यता है कि समृद्धि के देवता पंचिक और हारीति का बुद्ध के सान्निध्य के कारण शिशुओं का भक्षण करने वाले राज्य के शिशुओं की रक्षा करने वाले देवता के रूप में रूपांतरण हो गया।

गोविंद नगर, मथुरा से प्राप्त बुद्ध की प्रतिमा

गांधार कला में धातु की प्रतिमाएं भी बनाई गई थीं। शाहजी की ढेरी (पेशावर के नजदीक) स्थित स्तूप में धातु की बनी एक अस्थि मंजूषा पाई गई है। यही कनिष्क की राजधानी कनिष्कपुरा थी। अब यह विशाल स्तूप पूरी तरह से ध्वस्त हो चुका है। मंजूषा पर कमल पर बैठे बुद्ध के दोनों ओर इन्द्र

नागराज, मथुरा

और ब्रह्मा की आकृतियां अंकित है। साथ में बनी एक खड़े हुए व्यक्ति की आकृति कनिष्क की हो सकती है। इस धातु की पुराशेष मंजूषा पर कनिष्क का नाम भी अंकित है जिसे कभी कनिष्क के इस भव्य नगर के उक्त विशाल स्तूप में स्थापित किया गया होगा।

विदिशा और मथुरा की प्रारम्भिक शैल प्रतिमाएं

इस अध्याय में अध्ययन किये जा रहे काल में विदिशा एवं मथुरा प्रतिमाशास्त्र की दृष्टि से दो प्रमुख केन्द्र कहे जा सकते हैं (हंटिंगटन 1985: 150-62)। विदिशा में ही हेलियोडोरस की दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के अभिलेख वाला प्रसिद्ध बेसनगर स्तम्भ पाया गया है। प्रारम्भिक मौर्य स्तम्भों से इस स्तम्भ को बिल्कुल अलग कहा जा सकता है। न तो यह बहुत ऊंचा है और नहीं इसकी सतह पॉलिश की हुई है। स्तम्भ चार भिन्न भिन्न आकार वाले हिस्सों में बंटा है। इसका निचला हिस्सा 8 फलको वाला है। उससे ऊपर वाला हिस्सा 16 फलको वाला है तथा उससे ऊपर वाले भाग के 32 फलक हैं। चौथा सबसे ऊपरी हिस्सा गोलाकार है। दूसरे और तीसरे हिस्सों के बीच पुष्प की माला की प्रतिकृति है। विलोम कमल की आकृति वाला स्तम्भ शीर्ष है। स्तम्भ शीर्ष के ऊपर पतो के आकार वाला अंलकरण है। स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार, निश्चित रूप से कमल के ऊपर एक वर्गाकार ब्लॉक पर (जिस पर हंस और मधुमालती की लताओं का अलंकरण बना था) गरुड़ प्रतीक रखा हुआ था। विदिशा में पाई गई कुछ प्रतिमाएं शुंग काल (दूसरी शताब्दी सा.सं.पू.) से पहली शताब्दी सा.सं. के बीच की हैं। इनमें एक ऐसा स्तम्भशीर्ष भी सम्मिलित है जो बरगद वृक्ष के जैसा लगता है। हो सकता है कि यह सभी कामनाओं को पूरा करने वाले कल्प वृक्ष का निरूपण हो। विशाल प्रतिमाओं में तीन मीटर उंची कुबेर की एक प्रतिमा है जिसके बांए हाथ में धन की थैली है। कुबर यक्ष का राजा और धन के देवता माने जाते हैं। इस प्रतिमा से बिल्कुल मिलती जुलती एक देवी प्रतिमा है जिसके बाएं हाथ में फल और फूलों का गुच्छा झूल रहा है तथा दूसरे हाथ में एक वस्तु है जिसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता है हालांकि, कुबेर की प्रतिमा से यह कुछ छोटे आकार की हैं।

मथुरा उत्तर भारत के सबसे उत्कृष्ट नगरों में एक था। यह कुषाणों की दूसरी राजधानी थी। मथुरा व्यापार केन्द्र तथा विविध शिल्पों के केन्द्र के रूप में जाना जाता था। मथुरा धार्मिक केन्द्र और उत्कृष्ट कलात्मक गतिविधियों के लिए भी प्रसिद्ध था। शिल्पकारों के द्वारा यहां से निकट स्थित सीकरी की खदानों से निकले गए लाल चूना पत्थर की खदानों से निकाले गए लाल पत्थरों का इस्तेमाल किया जा रहा था। उत्तर पशिचम में विकसित प्रतिमाशास्त्र से यहां की कला प्रभावित तो थी किन्तु इसकी अपनी शैलीगत विशिष्टताएं थी। बल्कि यह कहा जा सकता है कि मथुरा कला पर कोई भी विदेशी प्रभाव नहीं था। बेसनगर सांची और भारहुत में विकसित हो रही कलात्मक परम्पराओं का इसे और भी परिष्कृत स्तर के रूप में देखा जा सकता है। यक्ष, यक्षी, नाग, नागी, बुद्ध और बोधीसत्व, जैन तीर्थंकर, हिन्दू देवी-देवता जैसी विषय वस्तुओं का वैविध्य यहां दिखलाई पड़ता है।

मथुरा शैली में बनी बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमाएं प्रसिद्ध है। सामान्य रूप से इनमें सिहांसन पर सुखसन में बैठे बुद्ध को अभयमुद्रा में दिखलाया गया है। तो केशविहीन या घुंघराले बाल वाले बुद्ध के केश उषनिष युक्त है। उपनिष शंखनुमा दिखलाई पड़ता है। उनके पारदर्शी धोती का एक छोर उनके वक्ष को लपेटता है तथा बांए काधें के ऊपर रखा होता हैं उनके पीछे नखाकार प्रभामडल को भी देखा जा सकता है। प्रतिमा के शीर्ष पर पीपल का एक वृक्ष भी बनाया जाता था। इनके दोनों ओर दो बोधिसत्वों की लघु प्रतिमाएं या इन्द्र और ब्रह्मा की प्रतिमाएं होती थी। बोधिसत्वों की स्वतंत्र प्रतिमाएं ही बनायी गई है जिनमें विशेष रूप से मैत्रेय वज्रपाणि और अवलोकितेश्वर बोधिसत्वों की प्रतिमाएं उल्लेखनीय हैं। मथुरा के शिल्पकारों ने बुद्ध के जीवन को पत्थरों की नक्काशी में भी उतारा है। बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा जो सारनाथ में पायी गई है वह पूर्ण रूप से मथुरा शैली का प्रतिनिधित्व करती है ।

मथुरा के कंकाली टीला से बड़ी संख्या में जैन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक स्तम्भ का टूटा हुआ अवशेष भी मिला है जिस पर लम्बी भुजाओं वाले चार तीर्थंकरों की खड़ी प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं। एक बैठे हुए तीर्थंकर की प्रतिमा भी है जिसका सिर टूटा हुआ है। दरअसल तीर्थंकर की प्रतिमाओं और बुद्ध की प्रतिमाओं में बहुत सी समानता है। बुद्ध की

कंकाली टीला, मथुराः बैठे हुए तीर्थंकर; सूर्य; कार्तिकेय

प्रतिमाओं की तरह तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में भी बड़े बड़े कान बनाए गए हैं तथा दोनों के (भौंहों) भ्रूकेन्द्र पर उर्ण संज्ञा से जाने जाने वाले मंगलकारी चिहन को देखा जा सकता है। इनके बीच का अन्तर केवल इनकी नग्नता तथा वक्ष पर बने भिन्न भिन्न प्रतीकों के आधार पर की जा सकती है।

सामान्य संवत की प्रारम्भिक शताब्दियों में कई हिन्दू देवी-देवताओं से जुडे प्रतिमाशास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था। मथुरा क्षेत्र में शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा और लक्ष्मी की प्रतिमाएं बनायी जा रही थीं। कंकाली टीला से प्राप्त किए गए एक सूर्य की प्रतिमा की मूंछ पैरों के बूट और सिर के मुकुट को देखने से पश्चिमी शैली के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। शिव की प्रतिमाएं मानवकृति और लिंगरूप दोनों तरह की बन रही थी। शिव के लिए मुखलिंगों और विग्रहलिंगों का भी निर्माण किया जा रहा था। मथुरा के निकट भूतेश्वर में स्थित स्थापत्य अवशेषों की पहले कभी चर्चा की गई है जिसमें वृक्ष के नीचे स्थापित एक शिवलिंग का दृश्य है जिसे वेदिकाओं के द्वारा घिरा दिखलाया गया है तथा कुछ पंखों वाले पशुओं को उपासना करते हुए दिखलाया गया है। इस प्रकार शैव प्रतिमाओं के विग्रह की मजबूत आधारशिला तैयार हो चुकी थी। कभी नंदी बैल के साथ कभी स्वतंत्र रूप से कभी पार्वती के साथ तो कभी चतुर्व्यूह (शिव के तीन प्रकटीकरण) अर्धनारीश्वर तथा हरिहर (शिव और विष्णु के संयुक्त रूप में) इन विविध रूपों में प्रतिमाएं बनायी जा रही थीं।

इन प्रारम्भिक शताब्दियों में मथुरा क्षेत्र में तो वैष्णव प्रतिमाओं की बाढ़ सी आ गई थी। डेरिस एम श्रीनिवासन (1989) ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया है कि मथुरा इस समय वैष्णव प्रतिमा विग्रह शैली के विसरण का एक केन्द्र बन चुका था। वासुदेव कृष्ण उनके भाई बलदेव तथा उनकी बहन एकनम्श की संयुक्त प्रतिमाएं बनायी जा रही थी। वासुदेव कृष्ण के अतिरिक्त चतुर्भुजी विष्णु की प्रतिमा गरूड पर बैठे विष्णु की प्रतिमा और वाराहरूप की प्रतिमाएं भी बनायी जाती थी। यह स्पष्ट है कि अवतारवाद की अवधारणा अभी अपने प्रारम्भिक चरण में थी किन्तु कुषाण काल के अन्त तक चतुर्व्यूह (विष्णु के चार प्रकटीकरण) की अवधारण स्पष्ट हो चुकी थी। मथुरा से प्राप्त नारायण की विशाल प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। मथुरा में मातृदेवियों मातृकाओं और यक्षियों की प्रतिमाएं तो लोकप्रिय थीं ही, किन्तु लक्ष्मी और दुर्गा के विग्रहों का निरूपण भी अब विशेष होते जा रहा था। एक अत्यंत सुन्दर प्रतिमा को श्रीलक्ष्मी की प्रतिमा माना जाता है। इसमें देवी को कमल की दो कलियों पर खड़ा देखा जा

टेराकोटा स्त्री मृण्मूर्ति, मथुरा

टेराकोटा पट्टिकाएं, चंद्रकेतुगढ़

सकता हे जो एक पूर्ण घट से प्रकट हो रहे हैं। देवी के दाहिने हाथ में एक फल है जबकि बाएं हाथ से दाहिने वक्ष पर हल्का दबाव पड़ रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह दूध समर्पित कर रही है। लक्ष्मी की प्रतिमा से अधिक यह किसी मातृदेवी की प्रतिमा दिखलाई पड़ती है। उत्तर भारत की कलाशैलियों का मथुरा उद्भव केन्द्र प्रतीत होता है और यहां पर बनायी जा रही मूर्तियां को कौशाम्बी, अहिच्छत्र, सारनाथ और पूर्व में महास्थानगढ़ तक भेजी जा रही थी।

टेराकोटा कला

टेराकोटा कला या मृण्मूर्तियों की कला बहुत बार कला विशेषज्ञों के द्वारा ग्रामीण हस्तशिल्प समझकर उनका ध्यानाकृष्ट नहीं करती । देवांगना देसाई (1978) ने यह स्वीकार किया है कि नगरीय जीवन शैली के उद्भव के साथ साथ टेराकोटा कला का भी उदभव हुआ और उत्कृष्ट मृण्मूर्तियों का सार्वजनिक पैमाने पर उत्पादन भी स्पष्ट रूप से एक नगरीय शिल्प कहा जा सकता है। 200 सा.सं.पू.-300 सा.सं. का काल भारतीय टेराकोटा शिल्प का उत्कर्ष काल था जिसमें उच्चकोटि की टेराकोटा कलाकृतियों का बड़े पैमाने पर निर्माण शुरू हुआ। हंटिंगटन (1985: 88-89) का मानना है कि प्रारंभिक शैल प्रतिमाओं के निर्माण के समक्ष टेराकोटा कला में ही शैलीगत प्रतिमान प्रस्तुत किए होंगे। हालांकि, प्रारंभिक शैलप्रतिमाओं का सतही अलंकरण समकालीन टेराकोटा मॉडलों की बराबरी नहीं करता।

चन्द्रकेतुगढ़, मथुरा, कौशम्बी और अहिच्छत्र इस काल के कुछ ऐसे केन्द्र है जहां टेराकोटा की बनी प्रतिमाओं का समुचित विकास देखा जा सकता है। इन प्रतिमाओं में क्षेत्रीय विविधता और प्रतीकात्मक अलंकरण का वैविध्य स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता हैं कुछ क्षेत्रों में सांचों के प्रयोग के कारण बड़े पैमाने पर उनका उत्पादन संभव हो सका। प्रारंभिक शताब्दियों में विभिन्न आकार वाली मृण्मूर्तियों ने सांचों में ढले टेराकोटा पट्ट पर बनी कलाकृतियों का मार्ग प्रशस्त किया जिन्हें सांचों में ढले टेराकोटा ढाला जाने लगा था। टेराकोटा प्रतिमाओं में देवी प्रतिमाओं की अधिकता देखी जा सकती है। पूर्वी भारत की टेराकोटा प्रतिमाओं में निरूपित नारी प्रतिमाओं के उभार काफी स्पष्ट थे, जिन्हें सामान्य रूप से पारदर्शी परिधानों और आभूषणों से लदा हुआ दिखलाया गया है। उनकी केशसज्जा भी विस्तृत कही जा सकती है। पंचचूड़ा कहलाने वाली प्रतिमाओं में पांच शस्त्रों को दिखलाया गया है। ऐसे प्रतिमाओं की अधिष्ठात्री देवी का नाम तो हमें ज्ञात नहीं है किन्तु निश्चित रूप से उत्तर भारत में इस देवी की उपासना का लोकप्रिय प्रचलन था। वनस्पति, पुष्प इत्यादि से जुड़ी देवी प्रतिमाएं शायद प्रजनन और समृद्धि से सम्बंधित देवियां रही होंगी। यक्षी, नाग, नागियों की प्रतिमाएं भी बहुत प्रचलित थीं। टेराकोटा कला में लक्ष्मी की मृण्मूर्तियां विशेष

रूप से उल्लेखनीय है। प्रजनन और मंगलकारी देवी वसुधारा की प्रतिमाएं भी लोकप्रिय थी किन्तु टेराकोटा का धर्मनिरेपक्ष पहलु अधिक लोकप्रिय मालूम पड़ता है। कामुकता पूर्ण भंगिमा में दम्पति की मृण्मूर्तियां पशुओं के बीच युद्ध कुश्ती लड़ते पहलवान या खिलौनों से खेलते बच्चे भी महत्त्वपूर्ण विषय वस्तु बने रहे। टेराकोटा कला का विकास क्षेत्रीय शैलियों के विकास के साथ साथ रेखंकित किया जा सकता है। मथुरा, कौशाम्बी, चन्द्रकेतुगढ़ और तामलुक में टेराकोटा कला का विशेष परिष्करण देखने को मिलता है। टेराकोटा पर की गई नक्काशियां पहले से अधिक यथार्थपूर्ण दिखलाई पड़ती हैं। उत्तर-पश्चिम में टेराकोटा कला का विकास इस क्षेत्र में बढ़ते हुए नए सांस्कृतिक प्रभावों का घोतक हैं। इनमें दोहरे सांचे में बनी मृण्मूर्तियां और पहले से चली आ रही हाथ से आकार

अद्यतन खोज

प्राचीन गंधार में जलघटों की दान परंपरा

प्राचीन धार्मिक प्रतिष्ठानों के प्राप्त संरक्षण अथवा बौद्ध संघ के अंतरवासियों और सामान्य बौद्ध उपासकों की जीवन शैली के विषय में बौद्ध ग्रन्थों से कोई जानकारी नहीं मिली है और न इनके ऊपर अभिलेखीय प्रमाण ही प्रकाश डालते हैं, किंतु इनके विषय में उस काल की भैतिक संस्कृति के उपादानों से जानकारी मिलती है। इस संदर्भ में कुछ रोचक साक्ष्य कुम्भ घटकों और मृद्भाण्ड के ठीकरों पर और भूर्ज पत्र पर अंकित प्राचीन ग्रन्थों के अंश से मिले है। इन घटों पर लिखी पाण्डुलिपियों के पुरालेखीय अध्ययन और भाषा शैली के विश्लेषण से पता चलता है और साथ में इन विशेष कुम्भों की शैलीगत विशेषताओं के आकलन के आधार पर भी कि, इनका निर्माण पहली और दूसरी शताब्दी में हुआ होगा। रिचर्ड सैलोमन ने इन विशिष्ट खोजों को अपने प्रारम्भिक प्रतिवेदन में प्रस्तुत किया है। मूल रूप से इनका निर्माण पूर्वी अफगानिस्तान में किया गया था।

सामान्य संवत की प्रारम्भिक सादियों में गंधार भारतीय उपमहाद्वीप के सबसे प्रधान बौद्ध केन्द्र के रूप में स्थापित हो चुका था। यही नहीं गंधार से बौद्ध धर्म का प्रसार उपमहाद्वीप से बाहर अन्य क्षेत्र में हो रहा था। जिन पाण्डुलिपियों का यहां जिक्र किया जा रहा है उनमें काली स्याही से भुजा पत्रों पर लेखन किया गया है। इनके संरक्षण की स्थिति काफी नाजुक हैं। अधिकांश पाण्डुलिपियां गंधारी और खरोष्ठी लिपियों में लिखें गए बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अंश हैं। ब्रहमीलिपि तथा संस्कृत भाषा में चिकित्सा पर लिखा ग्रन्थ एक अपवाद है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ये पाण्डुलिपियां किसी बौद्ध विहार के एक पुस्तकालय की अनुपयोगी प्रतियां रही होगीं, शायद इनकी बेहतर पाण्डुलिपियां तैयार कर ली गई थीं। एफ.आर. ऑलचिन ने इन कुम्भों/घटों और भूर्ज पत्र पाण्डूलिपियों के अध्ययन के आधार पर अधोलिखित प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है। चार पूर्ण कुम्भ पाए गए तथा एक कुम्भ की गर्दन और ऊपरी किनारा नष्ट हो चुका था। इनकी सतह समतल और कुछ हद तक चमकीली कही जा सकती है। इनके ऊपर हल्के सफेद रंग का घोल लिया गया था। इन घटों का आकार गोल था या लगभग गोलाकार कहा जा सकता हैं। सामान्यत: इस कोटि के कुम्भों का उपयोग पानी रखने या अन्य घरेलू कामों के लिए किया जाता था। इनमें से तीन घटों पर गुलाबवट रचना मुहर से उभारी गई थी। घट को आग में पकाने के बाद अभिलेखों का यौग किया गया अनुवाद अधोलिखित है :

घट 'क' – यह जल घट सुसोम की पत्नी वासवदता के द्वारा अपने स्वास्थ्य की कामना से दिया गया पवित्र उपहार है। इसमें पति सुहसोभ की यथोचित भागीदारी हो बन्धु बान्धव और सम्बान्धियों की यथोचित भागीदारी हो।

घट 'ख' – यह वैश्विक समुदाय को समर्पित जल घट जो पुरनाग वन के सर्वस्तिवादी आचार्यो की सम्पत्ति हैं।

घट 'ग' – यह जलघट सर्वहियम की पत्नी विराटता के द्वारा वैशेषिक समुदाय के लिए रायगहा में दिया गया दान सरवस्तिवादी आचार्यो की सम्पत्ति है जो क्रिया का ज्ञान देते हैं। जो ऊर्जा का ज्ञान देते हैं जो कर्म का ज्ञान देते हैं।

घट 'घ' – धर्मगुप्तकों के अधीन, वैश्विक समुदाय के लिए।

घट 'ङ' – यह जलघट तेयवर्मन की पत्नी हस्तदाता का दिया पवित्र उपहार है जो अपने स्वास्थ्य की कामना के लिए वैशेषिक समुदाय को समर्पित हैं इसकी मुख्य भागीदारी (?) संघ के परिचारक (?) तेवर्मन भिक्षुणी की? सुदसना की गुहदत की? की ? की? संजेय में (?) सभी जीवों के (?) और भ्राता के सम्मान में ।

इस प्रकार घट अभिलेख दान अभिलेख ही हैं। घटों के टूटे ठीकरों पर पाए गए अभिलेख भी इसी प्रकृति के हैं। इन दान अभिलेखों से पता चलता है कि इस प्रकार के जल घट बौद्ध विहारों के लिए दान में दिये जा रहे थे। एक जल घट किसी भिक्षु विशेष को दिया गया था जिसका नाम कुम्भ पर भी अंकित था। निश्चित रूप से स्तूपों और विहारों के प्रस्तरीय दान अभिलेखों की तुलना में ऐसे दान काफी तुच्छ प्रतीत होते हैं। कालांतर में अफगानिस्तान के हड्डा नामक स्थन पर पाए गए साक्ष्यों से यह पता चलता है कि इन पत्रों का प्रयोग भिक्षुओं की अस्थियों को संजोने के लिए किया जाने लगा। ब्रिटिश संग्रहालय में संकलित इन पाण्डुलिपियों ओर कुम्भों के संग्रह से यह सूचना भी मिलती है कि अनुपयोगी पाण्डुलिपियों को बौद्ध विहारों में इसी प्रकार पत्रों में रखा जाता था।

? = एक दृश्य किन्तु अपठनीय अक्षर

स्रोत: सैलोमन, 1999

दीजा रही मृण्मूर्तियां दोनों सम्मिलित हैं। गंधार क्षेत्र में और गंगाघाटी क्षेत्र में निर्मित हो रहे मानव मृण्मूर्तियों में जटिल भाव भंगिमाओं का निरूपण इस कला की पराकाष्ठा का परिचायक है। कुषाणकाल के अंतिमम चरण में सांचों में ढली गई खोखली किन्तु विशालकाय टेराकोटा मूर्तियां का प्रचलन शुरू हुआ। भक्ति संप्रदायों के विकास के साथ साथ टेराकोटा कला के विकास में नए अध्याय जुड़ गए। कौशाम्बी में लक्ष्मीहरिते और कुबेर की मानव आकार वाली मृण्मूर्तियां मिली हैं।

दक्कन में कोण्डापुर, नागार्जुनकोंडा, येल्लेसवरम, सन्नति, टेर, पैठान और नेवासा जैसे स्थलों पर प्रारंभिक सा.सं. शताब्दियों में बनी टेराकोटा की अनेक प्रतिमाएं मिली हैं। इनमें से कुछ को कावलिन नाम के परिष्कृत सफेद मिट्टी से बनाया गया था। दोहरे सांचों में बनी पशुओं की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। मानव भंगिमाओं के विशिष्ट निरूपण के कारण दक्कन की मृण्मूर्तियों को उत्तर तथा पूर्वी भारत की मृण्मूर्तियों से पृथक किया जा सकता है। हाथी, वृषभ और भेड़ों की मूर्तियां बहुतायत पाई गई हैं। टेराकोटा के बने अश्वों को लगाम और जीन के अतिरिक्त आभूषणों के साथ दिखलाया जाता था। आभूषणों से लदे संभ्रात दम्पति, बच्चे तथा घुड़सवार भी बनाए जाते थे। नेवासा, नागार्जुनकोण्डा, टेर और येल्लेसवरम में कुछ टेराकोटा की बनी देवी प्रतिमाओं का आनुष्ठानिक महत्त्व रहा होगा। सामान्य रूप से इन्हे टेराकोटा पट्टिकाओं पर बनाया गया है। उनकी फैली टांगों से पता चलता है कि ये प्रजनन से जुड़ी कोई प्रतीक रही होंगी। गुजरात के पाद्री में अभी हाल में हुए उत्खनन के दौरान लज्जागौरी नाम की देवी के रूप में चिन्हित दो टेराकोटा और एक पत्थर की पट्टिका पर बनी प्रतिमा प्राप्त हुई है। पहली शताब्दी सा.सं.पू. पहली शताब्दी सा.सं. के एक मन्दिर के संदर्भ में ये प्राप्तियां हुई हैं (शिंदे 1994)।

धार्मिक संस्थानों को मिलने वाले संरक्षण का स्वरूप

इस काल में धार्मिक संस्थानों को अभूतपूर्व समृद्धि उपलब्ध हुई। धार्मिक संस्थानों के स्थापत्य और कला में जो अप्रत्याशित विकास देखने को मिला वह इन संस्थानों को मिलने वाले संरक्षण तथा स्थायी स्रोतों पर निर्भर थे। धार्मिक प्रतिष्ठानों में उपलब्ध अभिलेखीय साक्ष्य न केवल दानकर्ताओं के नामों का उल्लेख करते हैं बल्कि अपने संरक्षकों के सामाजिक व नैतिक अस्तित्व का कुछ हद तक वर्णन भी करते हैं। इन संस्थानों के प्रति संरक्षकों की धार्मिक आस्था केवल एक पक्ष था उनके द्वारा प्रदत्त ऐसे संरक्षण के द्वारा उनकी राजनीतिक और सामाजिक वैधता को प्राप्त करने का एक जरिया भी ढूंढा जा रहा था। धार्मिक ग्रन्थों में और संबद्ध साहित्य में उनको मिलने वाले संरक्षण के प्रायोजकों की सामाजिक पृष्ठभूमि का अंदाजा मिल जाता है। किन्तु इनसे भी अधिक महत्त्व अभिलेखीय साक्ष्यों का है जो इनके विषय में अधिक प्रत्यक्ष और वास्तविक सूचनाएं देने में सक्षम हैं।

लोग किस प्रकार से दान दे रहे थे? हिन्दू मन्दिरों में प्रतिमा विग्रहों का दान किया जा रहा था अथवा मन्दिरों के निर्माण और उनसे जुड़े जलाशयों और कक्षों जैसी संरचनाओं के निर्माण के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध करायी जा रही थी। बौद्ध प्रतिष्ठानों में स्तूप, चैत्य, विहार, स्तूपों की प्रतिकृति भिक्षुओं के आवास इत्यादि के निर्माण के लिए आर्थिक संसाधन उपलब्ध कराए जा रहे थे। इनके संरक्षकों के द्वारा विकसित किए जा रहे वित्तीय कोष से प्राप्त ब्याज का उपयोग बौद्ध विहारों एवं संधारामों के रख-रखाव के लिए किया जा रहा था। जैन उपासकों के द्वारा दिए जा रहे दान राशि से आधिकांशतः जैनमुनियों के लिए गुफा आश्रयनियां विकसित की जा रही थीं।

दान अभिलेखों में कई बार में समकालीन धार्मिक संप्रदायों का वर्णन भी मिल जाता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सभी समकालीन धार्मिक प्रतिष्ठानों को मिलने वाले संरक्षण का स्वरूप लगभग एक ही प्रकार का था। उदाहरण के लिए मथुरा से प्राप्त बौद्ध दान अभिलेख अक्सर दान के उद्देश्य के संबंध में यह बतलाते हैं कि यह संपूर्ण जीवों के कल्याण और खुशहाली के लिए दिया जा रहा है। ऐसा कहा गया है कि पुण्य की अवधारणा का हस्तांतरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को किया जा सकता है। मथुरा से ही प्राप्त जैन दान अभिलेखों में बिल्कुल इससे मिलते-जुलते विचार व्यक्त किए गए हैं। उदाहरण के लिए चार तीर्थंकरों से अंकित एक स्तंभ के अंश पर उत्कीर्ण दान अभिलेख यह कहता है कि इस स्तंभ की स्थापना समस्त जीवों के कल्याण के लिए की जाती है। नागों के देवता दधिकर्ण के मंदिर से जुड़े अभिलेख में भी उपरोक्त विचार ही व्यक्त किए गए हैं।

धार्मिक संस्थानों को राजनीतिक कुलीन वर्ग का भी संरक्षण प्राप्त था। किंतु इन शाही अभिलेख दानकर्ताओं की सामाजिक पृष्ठभूमि में बहुत विविधताएं परिलक्षित होती हैं। शुंग, कण्व, मित्र, सातवाहन और इक्ष्वाकु जैसे राजवंशों के द्वारा अपने बाह्मण स्वाभिमान का प्रदर्शन किया गया है। दूसरी ओर शाही दान अभिलेख, इण्डो-ग्रीक,

सम्बंधित परिचर्चा

बांधोगढ़ के पवित्र दान अभिलेख

बांधोगढ़ गुफा से बाहर निकलता एक बाघ

बांधोगढ़ मध्यप्रदेश के रीवा जिले में स्थित है। इस स्थल पर चूना पत्थर की चट्टानों में बनाई गई कृत्रिम गुफाओं से लगभग 20 दान अभिलेख प्राप्त किए गए हैं। पुरालेखीय दृष्टि से इन अभिलेखों की तिथि द्वितीय शताब्दी सा.सं. निर्धारित की गई हैं पुरालेखीय दृष्टि से इन अभिलेखों की तिथि अंकित है। पुरालेखीय विश्लेषण के आधार पर इन्हें 129 सा.सं.और 185 सा.सं. के बीच निर्गत किया गया किन्तु 129 सा.सं. और 154 सा.सं. के बीच निर्गत किए गए अभिलेख प्रायः नगण्य हैं। रणबीर चक्रवर्ती के द्वारा किए गए बांधोगढ़ अभिलेखों के अध्ययन से दान की अवधारणा से जुड़े कुछ रोचक प्रसंग सामने आए हैं। इनमें से दो दान अभिलेख मंत्रियों के द्वारा प्रदत हैं। एक दान अभिलेख में एक गोष्ठी या समिति के द्वारा दिए गए दान की चर्चा है। इस समिति में व्यवसायी श्रेणीसंगठन के कुछ व्यवसायी सदस्य एक स्वर्णकार एक बड़ई सहलोहार के नामों का उल्लेख है। अधिकाश दान अभिलेख वणिज्को तथा निगमों के द्वारा निर्गत किए गए हैं। बांधोगढ के दान अभिलेखों में दानकर्ताओं की वर्ण तथा जाति का उल्लेख नहीं किया गया है बल्कि उनके व्यवसाय बतलाए गए हैं। प्रारंभिक पाली साहित्य में जिन सेठ्ठी और गहपतियों की इतनी अधिक चर्चा की गई है, दानकर्ताओं में इनका कहीं उल्लेख नहीं है। यह स्थिति सांची और अन्य बौद्ध केन्द्रों में भी परिलक्षित होती है। किन्तु आश्चर्य यह है कि सांची और अन्य बौद्ध केन्द्रों में जहां महिला दानकर्ताओं की बहुलता है, बांधोगढ़ में महिला दानकर्ता नहीं मिलती हैं। बांधोगढ़ के दान अभिलेखों में दानकर्ताओं का समुचित परिचय दिया गया है, तथापि यह प्रश्न उठता है कि इस निर्जन और एकाकीपन वाले क्षेत्र में इन कृत्रिम गुफाओं के निर्माण का क्या उद्देश्य रहा होगा? दान अभिलेखों में सामान्यतः गुफा आश्रयणियों के दान का उल्लेख है। जिनके सम्बंध में लता घर लता और लतानी (जहां ये उत्कीर्ण हैं) वापी (जलाशय) और आराम (बगीचा) का वर्णन किया गया है। एक अभिलेख में व्यायामशाला निर्माण का तथा दूसरे पर सार्थीकलात (कारवा व्यवसायियों की गुफा) का उल्लेख किया गया है। किसी भी अभिलेख से इनके भिक्षु भिक्षुणियों के प्रति समर्पण का कोई जिक्र नहीं है। केवल एक अभिलेख में शिव भक्त शब्द का उल्लेख है, अन्यथा किसी भी अभिलेख का आशय दानकर्ता के किसी धर्म या व्यवसाय से जुड़े होने की बात नहीं कहता। धर्म और पुण्य की अभिवृद्धि इन गुफाश्रेयणियों के दान के निमित उद्देश्य रूप में वर्णित हैं।

द्वितीय शताब्दी सा.सं. में बांधोगढ़ निश्चित रूप से पठारों और जंगलों वाला एक दुर्गम इलाका रहा होगा। यहां कृषि शिल्प या व्यवसाय से जुड़े कोई साक्ष्य नहीं दिखलाई पड़ते न ही यह कोई धार्मिक केन्द्र प्रतीत होता है, किन्तु ऐसा हो सकता है कि यह मध्यगंगा घाटी के श्रावस्ती से मध्य दक्कन के प्रतिष्ठान को जोड़ने वाले व्यापारिक मार्ग पर अवस्थित था। इस व्यापारिक मार्ग से गुजरने वाले कारवां व्यापारियों ने इस स्थन पर अपने समान अन्य व्यपारियों के विश्राम के उद्देश्य से उक्त सुविधाओं का सृजन किया होगा। इस प्रकार बांधोगढ़ से उपलब्ध साक्ष्य एक प्रकार से पंथ निरपेक्ष दान की अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में ऐसी गतिविधियों को पुर्त्तधर्म कहा गया है (जनकल्याण के कार्य)।

स्रोतः रणबीर चक्रबर्ती, 2002

सीथीयन-पार्थियन, शक और कुषाण जैसे विदेशी राजवंशों के द्वारा भी निर्गत किया जा रहा था। इनकी सामाजिक पृष्ठभूमि में काफी अंतर होने के बावजूद, धार्मिक अनुष्ठानों के संदर्भ में इनकी संरक्षण नीतियों में बहुत समानताएं भी थीं। अपनी सार्वभौम शक्ति का निरूपण, इनके द्वारा ढूंढी जा रही, सत्ता की वैधता, सामाजिक, सामंजस्य का प्रयास, जैसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एकाधिक साधनों का उपयोग किया जा रहा था। पहले भी यह चर्चा की जा चुकी है कि कुषाणों ने राजा की सार्वभौम सत्ता की स्थापना के लिए उद्देश्यपूर्ण प्रयत्न किया। कुछ लोगों ने कुषाणों द्वारा देवपुत्र की उपाधि के ग्रण करने को राजत्व के दैवीय सिद्धांत के प्रतिपादन के साथ जोड़ा है। कम से कम इसे दैवत्व के सिद्धांत का समर्थन तो कहा ही जा सकता है। कुषाणकाल में राजा की प्रतिभाओं को मंदिरों में स्थापित किया गया। मथुरा के निकट माट नामक स्थान से इसके पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। हालांकि मंदिर के गर्भगृह में ऐसे किसी भी मूर्ति की स्थापना नहीं की गई थी। यह मंदिर एक बड़ी आयताकार संरचना थी, जिसके पश्चिमी हिस्से में गोलाकार गर्भगृह बना था। अध्याय की शुरुआत में कनिष्क के जिस मुखविहीन प्रतिमा का वर्णन किया गया, उसे इसी परिसर से प्राप्त किया गया था। वृत्ताकार गर्भगृह के लगभग केंद्र में कवच और बूट पहन कर सिंहासन पर बैठे हुए एक व्यक्ति की मुखविहीन प्रतिमा थी। नीचे पाए गए अभिलेख में एक 'देवकुल' (मंदिर) के निर्माण के साथ-साथ, बागीचे, जलाशय, कुंआ, सभागार गृह तथा एक प्रवेशद्वार के निर्माण का भी वर्णन था। कुषाण राजा जिसने इसका निर्माण कराया उसका नाम स्पष्ट नहीं था। संस्कृत में लिखा एक दूसरा अभिलेख किसी कुषाण राजकुमार की एक टूटी प्रतिमा के साथ मिला है जिसको कुषाण शासक हुविष्क के शासन काल में निर्गत किया गया था, जो शायद इस मंदिर के हुए जीर्णोद्धार का वर्णन करता है। उक्त अभिलेख की अंतिम पंक्ति में ब्राह्मणों की लिए की गई कुछ विशेष व्यवस्था का जिक्र है जो इस परिसर में शायद अक्सर आया करते थे। यह प्रश्न बना हुआ है कि क्या देवकुल एक ऐसा मंदिर था जहां मृत कुषाण शासकों की देवताओं के रूप में पूजा की जा रही थी – एक ऐसा ही देवकुल जिसका उललेख नाटककार भास ने अपनी *प्रतिमा नाटक* नामक कृति में किया है अथवा किसी अन्य उपास्य देवता के लिए बने मंदिर के परिसर में मात्र इन कुषाण शासकों की मूर्तियां भी रखी गई थी? अफगानिस्तान के सुर्ख कोटल में भी कुषाण शासकों प्रतिमाएं मिली है और यहां भी गर्भगृह के बजाय इनको परिसर में ही स्थापित किया गया था। वी. एस. अग्रवाल (1999: 126-27, 152) का मानना है कि देवकुल एक शिव मंदिर रहा होगा, क्योंकि यहां से शिव और दुर्गा की दो मानवाकार विच्छिन्न प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। कुषाण शासकों ने शाही मन्दिरों का निर्माण करवाया, जिनमें राजाओं को देवता के रूप में या किसी अन्य मुख्य देवता के मन्दिर में शासकों के रूप में, कुषाण राजाओं की मूर्तियों की स्थापना की गई। इस आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि कुषाणों के द्वारा राजत्व के सिद्धान्त को एक नया व्यवहारिक आयाम दिया गया था।

कनिष्क को हम बौद्ध धर्म के एक महान संरक्षक के रूप में जानते हैं किन्तु उसके द्वारा निर्गत सिक्कों में भारतीय, ग्रीको-रोमन और ईरानी सभी सांस्कृतिक परम्पराओं की छाप दिखलाई पड़ती है। सीथो-पार्थियन सिक्कों और उससे भी ज्यादा कुषाण सिक्कों में 'विभिन्न दर्शन ग्राहयता' और धार्मिक उदारवाद प्रतिबिम्बित होता है। ये दरअसल वैसे राजनयिक सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जिसका परिप्रेक्ष्य उस काल के भारत के उत्तर-पश्चिमी हिस्से में विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवाहों के संगम के रूप में देखा जा सकता है। विदेशी भूमि से नए प्रदेश में आकर बसने वाली शाही शक्तियां वहां के सभी प्रचलित धार्मिक सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ स्वाभाविक रूप से एक प्रकार का प्रतीकात्मक सामंजस्य बनाना चाह रही थी। उन्हेंने ब्रह्मणों को भी संरक्षण दिया और साथ-साथ संस्कृत भाषा को भी। क्षत्रपों और प्रारंभिक कुषाण शासकों के काल में संस्कृत अभिलेखों की भाषा के रूप में उभर कर सामने आई। समय के साथ-साथ संस्कृत भाषा का प्रयोग निजी स्तर पर स्वतंत्र रूप से निर्गत किए जाने वाले दान अभिलेखों में भी होने लगा अश्वमेघ जैसे स्रोत यज्ञों और अनुष्ठानों का आयोजन करने वाले सबसे पहले राजवंशों में सातवाहनों का नाम लिया जा सकता है। किन्तु क्षत्रपों की तरह उन्होंने भी ब्राह्मनों के साथ साथ बौद्ध भिक्षुओं को भी संरक्षण दिया।

विभिन्न परिहारों के साथ दिए जाने वाले भूमि अनुदानों की शुरुआत करने का श्रेय सातवाहनों को जाता है। सातवाहनों के काल में शुरू की गई यह परम्परा कालान्तर में व्यापक रूप लेती चली गई और जिसका भारतीय इतिहास पर अत्यंत दूरगामी प्रभाव पड़ा। यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ सातवाहन और इक्ष्वाकु राजवंशों के शाही परिवार की महिलाओं ने बौद्ध विहारों को अधिक दान दिए, वहीं इन राजवंशों के शाही पुरुषों के द्वारा मुख्य रूप से ब्राह्मणों एवं हिन्दू मन्दिरों को संरक्षण दिया।

नागार्जुकोण्डा एक ऐसा प्राचीन केन्द्र है जहां इक्ष्वाकु राजाओं और उनकी धार्मिक आस्थाओं का उनके द्वारा सृजित स्थापत्य के द्वारा निरूपण होता है। यहां अवस्थित शाही परिसर में शाही भवनों, बौद्ध विहारों, हिन्दू मन्दिरों एवं 22 छाया स्तम्भों को चिन्हित किया गया है। छायास्तम्भ वैसे स्मृति स्तम्भों को कहते हैं जिसपर किसी मृत व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का दृश्यांकन किया जाता था। इन स्तम्भों में राज परिवार की 30

महिला सदस्यों के द्वारा इक्ष्वाकु शासक छंतमूल की स्मृति में खड़ा किया गया छाया स्तंभ भी सम्मिलित है। इन छायास्तम्भों को शासकों और कुलीन व्यक्तियों के अतिरिक्त शहीद हुए योद्धाओं एक सेनापति एक शिल्पकार तथा कई धार्मिक व्यक्तित्वों के लिए बनवाया गया था। नागार्जुनकोण्डा के अभिलेखों में इक्ष्वाकुओं के द्वारा हिन्दू मन्दिरों तथा बौद्ध भिक्षुओं को दिए गए दान की सूचनाएं संकलित हैं। इक्ष्वाकुओं के द्वारा श्रौत यज्ञों का आयोजन भी किया गया।

भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में धार्मिक क्षेत्र आ रहें वित्त का मुख्य हिस्सा गैर राजनीतिक जनता के द्वारा उपलब्ध कराया जा रहा था। एच. ल्यूडर्स (1963) ने ल. 125-175 सा.सं.पू. के बीच के 222 अभिलेखों का अध्ययन किया जो भारहुत से उपलब्ध किए गए थे। इन अभिलेखों में दानकर्ताओं के रूप में भिक्षु भिक्षुणी और आम नागरिक सभी सम्मिलित थे। आश्चर्य की बात है कि केवल ऐसे चार दानकर्ताओं का उल्लेख मिला जो शाही परिवारों से जुड़े थे। इन नामों के विश्लेषण से पता चलता है कि लोगों के नाम नक्षत्र ब्रह्मण देवी देवता यक्ष भूत और नागों के नाम पर रखें जाते थे। पूर्व में पाटलिपुत्र से लेकर पश्चिम में नासिक तक के लोगों ने दान दिया था। जिससे पता चलता है कि भारहुत के धार्मिक संरक्षक मध्य भारत तक ही सीमित नहीं थे।

केवल सांची से 800 अभिलेख उपलब्ध हुए हैं (सिंह, 1996)। इनमें अशोक के 'स्किजम' अभिलेख से लेकर 9वीं शताब्दी सा.सं. तक के अभिलेख सम्मिलित हैं। किन्तु अधिकांश अभिलेख द्वितीय शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर द्वितीय शताब्दी सा.सं. के बीच के हैं। सांची का बौद्ध विहार अशोक के काल में स्थापित किया गया होगा। किन्तु इसके उत्तरोत्तर विकास में राजकीय संरक्षण ने मुख्य भूमिका नहीं निभायी। यहां से प्राप्त दान अभिलेखों को नाम, सामाजिक सम्बंध, व्यवसाय, मूल निवास स्थान, भिक्षु अथवा उपासक जैसे विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया गया है। आश्चर्य की बात है कि पुरुष और महिला दानकर्ताओं की संख्या लगभग बराबर है। इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि महिलाओं की धार्मिक सक्रियता को समकालीन धार्मिक ग्रन्थों ने समुचित स्थान नहीं दिया। महिला दानकर्ताओं की संख्या कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थी। व्यवसायों के आधार पर कुछ अभिलेखों में गहपति (4 अभिलेख), सेट्ठी (12), लेखक (4), वनिज (6), कमिक (शिल्पकार) (2), अवेसनि (शिल्पकार का प्रमुख: 1), दन्तकरेही (हांथीदात के शिल्प: 1), वधकी (पत्थर के सज्जाकार: 2), पवारिक (वस्त्र विक्रेता: 1), सेतिक (बुनकर: 1), और रज्जुक (1) के उल्लेख हैं। सेट्ठी और गहपतियों का अभिलेखीय साक्ष्यों के अनुसार, उतना महत्त्व नहीं है जितना साहित्यिक स्रोतों ने उनको दिया है। भिक्षु और भिक्षुणी दानकर्ताओं की बड़ी संख्या यह बतलाती है कि इस समुदाय का वितीय स्रोतों पर अब तक कुछ नियंत्रण निश्चित रूप से बचा हुआ या। कहीं कहीं किसी स्थान विशेष के समस्त उपासक और उपासिकाओं के द्वारा दिए गए सामूहिक दान का उदाहरण मिलता है अथवा कई बार एक परिवार के समस्त सदस्यों ने सामूहिक रूप से दान दिया। सम्पूर्ण गांव के द्वारा दिए गए दान भी उद्धृत हैं। यद्यपि सांची अभिलेखों के अधिकांश दानकर्ता मध्यभारत के ही थे, किन्तु राजस्थान, महाराष्ट्र और उत्तर भारत के भी कुछ दानकर्ताओं का उल्लेख है। बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं के दान के पहले प्रमाण सा.सं.सन की प्रारंम्भिक शताब्दियों के हैं।

मथुरा से प्राप्त जैन संस्थानों को दान देने वाले लोगों में महिला दानकर्ताओं की बड़ी संख्या है। धनाढय व्यवसायियों की पत्नियां, गृहिणी, स्वर्णकार, महाजन, गांव के मुखिया सभी श्रेणी के दानकर्ताओं का उल्लेख है। इनमें से बहुत सारे दान जैन भिक्षुणियों की प्रेरण से दिए जा रहे थे। तमिलनाडु और केरल के प्रारंभिक तमिल ब्राह्मी अभिलेखों में विविध सामाजिक पृष्ठभूमि के लोगों के द्वारा जैन भिक्षु भिक्षुणियों के रहने के लिए गुफा आश्रयणियों के निर्माण हेतु दी जाने वाली वित्तीय सहायता के विस्तृत रिकार्ड उपलब्ध हैं। चेर ओर पांड्य शाही परिवारों के सदस्य दानकर्ताओं में है किन्तु इनसे अधिक शिल्पकारों तथा उप्पुवनिकम (नमक व्यापारी), पनित वनिकम (ताड़ी बेचने वाले), कोलुवनिकम (लोहा बेचने वाले), अरूवईवनिकम (वस्त्र के व्यापारी), पोनवनिकम (स्वर्ण व्यापारी) जैसे दानकर्ताओं ने दान दिया था। श्रीलंका के प्रारंभिक ब्राह्मी अभिलेखों में तमिल व्यापारियों द्वारा बौद्ध विहारों को दिए गए दान का उल्लेख हैं।

विभिन्न स्थलों से प्राप्त अभिलेखों से मिलने वाली रोचक जानकारी यह है कि धार्मिक गतिविधियों में यवनों की भी सक्रिय सहभागिता थी। वासुदेव के यवन उपासक, हेलियोडोरस की चर्चा हम इस अध्याय में पहले भी कई बार कर चुके हैं। सांची तथा नाशिक, जुन्नार, कार्ले जैसे पश्चिमी घाट में अवस्थित बौद्ध केन्द्रों में यवन दानकर्ताओं की जानकारी उपलब्ध है। कार्ले से यवन दानकर्ताओं के बारे में जो जानकारी मिली है उसमें अधिकांश धेनुकाकट के निवासी थे। नागार्जुनकोण्डा से चौथी शताब्दी सा.सं. के एक अभिलेख में यह वर्णन मिलता है कि आभीर शासक वसुसेन ने विष्णु की एक प्रतिमा की स्थापना के उपलक्ष्य में कोंकण तट पर स्थित संजान नामक स्थान के एक यवन राजा को आमंत्रित किया था।

निष्कर्ष

ल. 200 सा.सं.पू.–300 सा.सं. के बीच भारतीय उपमहाद्वीप के कई नए हिस्सों ने राज्य की स्थिति को प्राप्त किया और कई नए क्षेत्रों में नगरीकरण की पहली बार नींव पड़ी। मौर्यकाल की अपेक्षा राजनीतिक नियंत्रण और राजकीय संरचनाओं की नई श्रृंखलाएं उभर कर सामने आईं। दो शासकों के संयुक्त शासन की प्रथा अथवा समकालिक अधीनस्थ शासकों की प्रथा जैसी नवीन राजनैतिक परम्पराओं का प्रचलन देखा गया। राजा की प्रतिष्ठा में काफी इजाफा हुआ। राजनीतिक गतिशीलता के उस युग में सभी प्रमुख धर्मों को मिल रहे संरक्षण में अप्रत्याशित बढ़ोतरी हुई ब्राह्मणों और वैदिक अनुष्ठनों को भी। नगर शिल्प और वाणिज्य का बहुआयामी विकास हुआ। धार्मिक परिधि में सैद्धांतिक तर्क वितर्क और भक्ति से प्रेरित उपासना पद्धतियों का वर्चस्व बढ़ा। स्थायी धार्मिक संरचनाओं के विकास से धार्मिक संस्थाओं के बढ़ते हुए संस्थानीकरण की प्रवृति का पता चलता हैं। स्थापत्यकला और प्रतिमाशास्त्र ने नई ऊंचाइयों को प्राप्त किया जो इन शताब्दियों की बहुआयामी और जीवन्त सांस्कृतिक परम्परा को प्रतिबिम्बित करते हैं। समाज के बड़े तबके ने दान परम्परा में सहभागिता दिखलाई। इन दानों से जहां एक ओर उनके वित्तीय संसाधनों तक पहुंच के साथ साथ अपने सामाजिक और राजनीतिक अध्ययन को वैधता प्रदान करने की इच्छा का भी पता चलता है।

अध्याय 9

सौन्दर्य-बोध और साम्राज्यः ल. 300 – 600 सा.सं.

अध्याय संरचना

1500 वर्षों से भी पहले की बात है, जब लाट (गुजरात) से रेशम व्यवसाय से जुड़ा एक श्रेणी-संगठन अपने-अपने परिवारों के साथ एक लंबी यात्रा पर निकल पड़ा। हमें यह जानकारी नहीं है कि किन परिस्थितियों ने उन्हें अपना मूल स्थान छोड़ने के लिए बाध्य किया। फिर भी हमें यह मालूम है कि वे मध्य भारत स्थित दासपुरा नामक नगर में पहुँचे और वहीं पर बस गए। कुमारगुप्त-1 के शासनकाल में इस नगर का प्रशासक बंधुवर्मन था। इसी समय इस श्रेणी संगठन ने नगर में एक सूर्य मंदिर के निर्माण के लिए वित्तीय सहायता दी। इस मंदिर की भव्यता और ऊँचे शिखर देखते बनते थे। इस मंदिर में देवता की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा 437-38 सा.सं. में हुई। ऐसा लगता है कि शायद वज्रपात के कारण बाद में इस मंदिर को काफी क्षति पहुँची। इस अवसर पर एक बार फिर वही श्रेणी संगठन सामने आया और उन्होंने उस मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए वित्त उपलब्ध कराया। जीर्णोद्धार का यह काम 473-74 सा.सं. के वसंत ऋतु में शुरू हुआ। इन सभी बातों की जानकारी हमें मंदसौर से प्राप्त एक अभिलेख से मिलती है। प्राचीन दासपुरा नगर आधुनिक मंदसौर है, जहां से वह अभिलेख प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख के पाठ्य को वत्सभट्टी नाम के एक सूर्यभक्त ने तैयार किया है। यह वही व्यक्ति था, जिसे उस श्रेणी संगठन ने उक्त मंदिर के निर्माण और पुन: जीर्णोद्धार की जिम्मेवारी सौंपी थी।

300-600 सा.सं. के बीच अनेक पुरालेख निर्गत किए गए और मंदसौर अभिलेख इनमें से एक है। इस काल को बहुधा गुप्त काल के रूप में जानते हैं। इतिहासकारों ने राजवंशों के 'लेबल' को तरजीह देना अब तो कम कर दिया है। यदि इनका उपयोग किया भी जाए तब भी इस काल के संदर्भ में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वैसे तो निश्चित रूप से इन शताब्दियों में गुप्तों का उत्तर भारत में वर्चस्व रहा, किंतु उपमहाद्वीप के अन्य हिस्सों में इनके समकालीन कई राजवंशों का अलग-अलग नियंत्रण था। उदाहरण के लिए, पश्चिमी दक्कन में वाकाटकों ने एक विशाल राज्य की स्थापना की थी और वे इस क्षेत्र में इनकी सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता बनी रही। राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान साम्राज्यवादी सत्ता के विरोध में जो राष्ट्रवादी इतिहास लिखा जा रहा था, उनमें गुप्त काल को स्वर्णयुग के रूप में देखने का प्रयास किया गया। इनके द्वारा स्वर्णयुग के पक्ष में जो तर्क रखे गए उनमें उपमहाद्वीप के बड़े हिस्से का उनके अधीन राजनीतिक एकीकरण, गुप्तों का केंद्रीकृत प्रशासन, संस्कृत साहित्य की उनके अधीन अभूतपूर्व समृद्धि, प्रस्तरीय मूर्ति कला और स्थापत्य का उद्भव जैसे बिंदुओं को प्रस्तावित किया जा रहा था और उनका मानना था कि इस प्रकार के विकास के पीछे आर्थिक समृद्धि और सामाजिक सौहार्द्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

गुप्त काल को राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की प्रतिक्रिया में आवश्यकता से अधिक महिमामंडित किया, किंतु 1960-70 के दशकों में गुप्तकाल के विषय में इस प्रचलित धारणा में बहुत अधिक संशोधन हुआ। दरअसल, राष्ट्रवादी इतिहासलेखन से जुड़े पूर्वाग्रहों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा था। इसे इतिहासलेखन में मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा लाए जा रहे वृहत्तर इतिहास लेखन का एक हिस्सा भी कहा जा सकता है। अब राजनीतिक आख्यानों के बदले आधारभूत राजनीतिक सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के विश्लेषण पर बल दिया जा रहा है। हालांकि, पहले भी वी.एन. दत्ता तथा डी.डी. कोसाम्बी सरीखे प्रारंभिक मार्क्सवादी विद्वानों ने भारतीय इतिहास के सामंतवादी युग के विषय में बहुत कुछ लिखा था। उनके विचारों को आर.एस. शर्मा ([1965], 1980) ने आगे बढ़ाया। उनके अनुसार, गुप्त काल में भी सामंतवाद से जुड़ी सभी विशेषताओं का अस्तित्व था, आने वाली शताब्दियों में इनका समुचित विकास हुआ। शर्मा के अनुसार, सामंतवाद के अंतर्गत राजतंत्रों का प्रशासनिक संगठन भूमि पर आधारित हो गया। सामंतवादी विष्टि या बेगार या अनिवार्य श्रम के संस्थानीकरण पर आश्रित थी। किसान भूमि पर स्वामित्व रखने वाले मध्यस्थों के साथ बंध गए, जिनको लगान के रूप में वे अपना श्रम और उपज देने लगे। अर्थव्यवस्था अनिवार्य रूप से स्वावलंबी होती चली गई। उत्पादन स्थानीय उपभोक्ताओं के लिए किया जाने लगा, बाजार की दृष्टि से नहीं। आर.एस. शर्मा ने सामंतवाद से जुड़ी कई विशेषताओं को रेखांकित किया, जिनमें लंबी दूरी के व्यापार का पतन, मुद्रा प्रणाली का ह्रास, अधिकारियों को वेतन के स्थान पर भू-राजस्व

◄ **अजन्ता के गुफा-1 में महाजनक जातक की बांसुरीवादक प्रतिमा**

प्राप्त करने का अधिकार तथा सामंतवादी निष्ठाओं का अनुपालन इत्यादि सम्मिलित है। भूमि अनुदान के साथ राजस्व और न्यायिक अधिकारों का भी हस्तांतरण करने की परंपरा बन गई। भूमि-दान के साथ-साथ कृषकों, शिल्पकारों और व्यावसायियों पर भी अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं का अधिकार हो गया। इन परिवर्तनों के कारण बेगार के परिमाण में वृद्धि होना स्वाभाविक था। 300 सा.सं. से लेकर आने वाले 700 वर्षों तक का काल राजनीतिक विकेंद्रीकरण तथा नगरीय अर्थव्यवस्था के पतन का काल कहा जा सकता है। वैसे तो भारतीय सामंतवाद की संकल्पना की बहुत आलोचना होती रही है, लेकिन फिर भी 300-1200 सा.सं. की अवधि के इतिहास की मूलभूत दृष्टि सामंतवाद के इर्द-गिर्द ही घूमती है।

1970 और 1980 के दशकों के दौरान बी.डी. चट्टोपाध्याय ([1983], 1997) तथा हरमन कुल्के (1982) जैसे विद्वानों ने इतिहास लेखन के वैकल्पिक प्रतिमान खड़े किए थे। उनका मानना था कि राजनीतिक विघटन के बिल्कुल विपरीत पूर्व मध्य युग क्षेत्रीय और उपक्षेत्रीय स्तर पर राज्य निर्माण की सघन प्रक्रिया के सूत्रपात का काल था। शासकों द्वारा अपनी वैधता को स्थापित करने के लिए भूमि-दान अनेक माध्यमों में से एक था, जिसने इस काल की राजनीतिक और सामाजिक समन्वयीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से उपलब्ध किए गए पुरालेखों के सूक्ष्म विश्लेषण से इस बात की पुष्टि भी हो जाती है (सिंह, 1994; सिन्हा कपूर, 2002)। (पूर्व मध्य युग की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं पर चल रहे बहस की प्रकृति कुल्के, 1997; मुखिया, 1999; और झा, 2000 इत्यादि के लेखनों में देखी जा सकती है।)[1]

300-600 सा.सं. के इतिहास के स्रोतों के अंतर्गत साम्राज्यवादी गुप्तों के अतिरिक्त वाकाटक, कदम्ब, वर्मन और हूण जैसे समकालीन राजवंशों के द्वारा निर्गत किए गए प्रस्तरीय पट्टिका का ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण अभिलेख महत्त्वपूर्ण है। (गुप्ता [1974, 1979, खंड-1: 1-166])। प्रशस्तियों के शाही अभिलेखों को सार्वजनिक संवाद के लिए प्रयुक्त जनसंपर्क माध्यम के रूप में भी देखा जा सकता है। हालांकि, इनमें राजनीतिक विजयों का ही उल्लेख होता था, राजनीतिक पराजयों का नहीं। शासकों के लिए प्रयुक्त उपाधियों एवं वि322वरणों से उस युग में विद्यमान शक्ति के सोपानीकरण का प्रतिबिम्ब मिलता है और राजस्व के नए आदर्शों का भी। शाही भूमि अनुदान अभिलेखों से इस युग के महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं का भी प्रतिनिधित्व होता है। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक संरचनाओं और भूमि सम्बंधों के विषयों में भी सूचनाएं मिलती हैं। निजी क्षेत्र में निर्गत व्यक्तिगत दान अभिलेखों के द्वारा उस काल के—(1) सामाजिक इतिहास विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है और (2) धार्मिक प्रतिष्ठानों को उपलब्ध लोकप्रिय संरक्षण की जानकारी मिलती है।

एक घट में मिले ताम्र पत्र (ऊपर)
ताम्र पत्र मुद्राएं (नीचे)

सिक्के और मुहर भी सार्वजनिक संवाद के लिए प्रयुक्त जनसंपर्क के माध्यम थे और साथ में विनिमय और प्राधिकरण के प्रतिनिधि भी। गुप्त शासकों ने दीनार कहे जाने वाली स्वर्ण मुद्राओं को बड़ी संख्या में निर्गत किया। रोमन भाषा में डिनेरियस—ये राजा के नाम और उपलब्धि को दर्शाते थे। अग्रभाग में शासक और पृष्ठभाग में किसी देवता का चित्रांकन होता था। चंद्रगुप्त-II, कुमार गुप्त, स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त ने पश्चिमी क्षत्रपों द्वारा निर्गत सिक्कों के सदृश्य चांदी के सिक्कों को निर्गत किया। अग्रभाग पर शासक का चित्र और कभी-कभी तिथि भी अंकित होती थी। पृष्ठभाग में वृत्ताकार अभिलेखों के घेरे में कोई प्रतीक (यथा—एक गरुड़ या मयूर) अंकित होता था। गुप्तों के ताम्र सिक्के बहुत कम हैं। कदम्ब, इक्ष्वाकु, विष्णुकुण्डिन तथा नाग जैसे समकालीन राजवंशों ने भी सिक्के चलवाए। अभी हाल में ही वाकटकों द्वारा निर्गत किए गए बड़ी संख्या में ताम्र बाहुल्य परिणाम वाले सिक्के, वर्धा क्षेत्र से मिले हैं। नागपुर जिला में रामटेक के निकट मानसर नामक स्थान से उत्खनन के दौरान इसी प्रकार के सिक्के मिले हैं। बसाढ़ (वैशाली), भीत और नालंदा से भी बड़ी संख्या में मुहर और सील प्राप्त हुए हैं।

300-600 सा.सं. के बीच संस्कृत भाषा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। पुराणों और महाकाव्यों को इसी काल में अंतिम रूप दिया गया। इनसे इस युग की महत्त्वपूर्ण धार्मिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंदाज लगाया जा सकता है। *नारद*, *विष्णु*, *बृहस्पति* और *कात्यायन*

1. ऐसे अनेक संकलन उपलब्ध हैं, जिनमें पूर्व मध्ययुगीन भारत की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की प्रकृति पर चल रही बहस में महत्त्वपूर्ण योगदान किया गया है। संदर्भ के लिए कुल्के (1997), मुखिया (1999) तथा झा (2000) को देखा जा सकता है।

स्मृति इसी काल में संकलित किए गए हैं। चौथी शताब्दी में, एक शासक को राजनीति के विषय में संबोधित करते हुए कामंदक का *नीतिसार* लिखा गया। मंजूश्री नामक एक महायान बौद्ध ग्रंथ का एक अध्याय भारत के इतिहास पर है, जिसमें गौड़ और मगध के इतिहास को प्राथमिकता दी गई है। ईसवी सन् की प्रारंभिक सदियों से लेकर पूर्व मध्ययुग तक का इतिहास संकलित किया गया है। जैनों के *हरिवंश पुराण* (8वीं सदी) और *तिलोयपन्नति* में भी राजनीतिक कालानुक्रम उपलब्ध होता है। भोज के श्रृंगार-प्रकाश की एक पाण्डुलिपि में विशाखादत्त के लुप्त नाटक *देवी-चंद्रगुप्त* का एक अंश मिलता है जो गुप्तों के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से उपयोगी है। दरअसल, संस्कृत काव्य का इस काल के सामाजिक इतिहास के स्रोत के रूप में अभी तक बहुत कम इस्तेमाल किया जा सका है। यही स्थिति *कथासरित्सागर* जैसे लोकप्रिय जनसाहित्य की भी है। चिकित्सा और खगोलशास्त्र की रचनाएं इस युग में इन विज्ञानों की विकसित स्थिति की साक्षी है। *कामसूत्र* (विलासिता पर आधारित और *अमरकोष* (एक शब्दकोष) जैसी कृतियाँ विशेषज्ञता के इस युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। *शिलप्पदिकारम* और *मणिमेकलई* जैसे तमिल महाकाव्यों को दक्षिण भारत के 5वीं/6ठीं सदियों के इतिहास का समृद्ध स्रोत कहा जा सकता है।

तीसरी और आठवीं शताब्दियों के बीच में बड़ी संख्या में चीनी चात्रियों ने भारत आकर बौद्ध ग्रंथों का संग्रह किया और बौद्ध महत्त्व के स्थानों का भ्रमण भी। 5वीं शताब्दी को इन चीनी बौद्ध यात्रियों की दृष्टि से पराकाष्ठा का युग कहा जा सकता है, किंतु इनमें से केवल तीन चीनी बौद्ध भिक्षुओं के वृतांत अपनी सम्पूर्णता में उपलब्ध हैं—फ़ा श्यैन, श्वैन ज़ंग तथा इत्सिंग। फ़ा श्यैन भारत में लगभग एक दशक (337-422 सा.सं.) तक रहा। इस क्रम में उसने उत्तर पश्चिम से लेकर गंगा के मैदानी इलाकों का भ्रमण किया, बंगाल की खाड़ी में स्थित ताम्रलिप्ति बंदरगाह तक। यहां से समुद्री मार्ग के माध्यम से वह सिंहल (श्रीलंका) तथा दक्षिण-पूर्व एशिया होते हुए वापस चीन चला गया। चीन लौटकर वह जीवनपर्यंत भारत से संग्रह किए गए बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद करता रहा। उसने अपनी यात्राओं का एक वृतांत भी लिखा, जिसे *गावोसेंग फ़ा श्यैन झुआन* (बौद्ध राजतंत्रों का एक वृतांत, जिसे चीनी भाषा में फो-क्यो-की) कहा जाता है। उसने अपने वृतांत में कहीं भी भारतीय शासक के नाम का उल्लेख नहीं किया है, किंतु निश्चित रूप से वह चंद्रगुप्त-II का काल रहा होगा। इसमे लोगों के जीवन के बारे में उसके द्वारा किया गया अवलोकन कुछ सही भी है और कुछ गलत भी। वैसे तो इस दौरान बहुत सारे भारतीय बौद्ध भिक्षु भी चीन गए, किंतु उनके द्वारा लिखा गया कोई अनुभव हमारे पास उपलब्ध नहीं है।

इस काल में बहुत सारे पश्चिम के विद्वानों ने भी अपने वृतांत लिख छोड़े हैं। 6ठी शताब्दी सा.सं. में लिखा गया कौसमस इण्डिकोप्लूस्टस का *क्रिश्चियन-टोपोग्राफी*, इनमें से एक है। इसका लेखक एक व्यवसायी था, जिसने भारत सहित कई क्षेत्रों की लंबी-लंबी यात्राएं कीं। अंत में वह एक परिव्राजक बन गया। सीजेरिया के प्रोकॉपियस की लेखनी के माध्यम से उस काल में हो रहे भारत-बाइजैंटाइन साम्राज्य के बीच व्यापार की जानकारी मिलती है।

वैसे तो इस काल की बहुत सारी प्रतिमाएं और स्थापत्य संरचनाओं के अवशेष उपलब्ध हैं, किंतु इनमें से अधिकांश धार्मिक प्रकृति के हैं। इस काल के वैसे पुरातात्त्विक साक्ष्यों का बहुत कम दस्तावेजीकरण हुआ है, जो लोगों की दिनचर्या से जुड़ी बातों पर प्रकाश डाल सकें। फिर भी पुराना किला, अहिच्छत्र, बसाढ़, भीट तथा कावेरीपट्टनम से महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्राप्त किए गए हैं।

चंद्रगुप्त-I के 'सम्राट और सम्राज्ञी' कोटि के सिक्के; पृष्ठ में सिंह पर बैठी दुर्गा

राजनीतिक इतिहास

(Political History)

गुप्त राजवंश

300-600 सा.सं. के बीच का राजनीतिक इतिहास मुख्य रूप से अभिलेखों और सिक्कों के आधार पर तैयार किया गया है। गुप्तों के कुल अथवा सामाजिक पृष्ठभूमि की कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है। केवल इस आधार पर कि *मनुस्मृति* और *विष्णु पुराण* में इन शासकों के नाम के साथ गुप्त प्रत्यय जुड़ा हुआ है, इन्हें वैश्य वर्ग का माना जाता रहा है, किंतु

कुछ विद्वानों का मानना है कि ये क्षत्रिय थे। उनके ऐसा मानने का आधार यह है कि उनका वैवाहिक सम्बंध लिच्छवियों (जो क्षत्रिय थे) तथा नाग राजपरिवार (जिन्हें क्षत्रिय माना जाता है) के साथ था। प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटक राजवंश में हुआ था, जो ब्राह्मण थे। वैसे भी धर्मशास्त्र में स्वीकार्य अनुलोम विवाह के अंतर्गत ऐसा हो सकता था। लेकिन कभी-कभी वाकाटकों के साथ हुए उनके सम्बंध और कदम्बों के ब्राह्मण राजपरिवार में हुए किसी गुप्त शासक के विवाह को आधार बनाकर उन्हें ब्राह्मण भी कहा जाता है। प्रभावतीगुप्ता (चंद्रगुप्त-II की बेटी और वाकाटक शासक रुद्रसेन की पत्नी) के अभिलेख में उसने स्वयं को धरणी गोत्र का बतलाया है। चूंकि ऐसा माना जाता है कि वाकाटक, विष्णुवृद्ध गोत्र के थे इसलिए हो सकता है कि धरणी गुप्तों का गोत्र रहा होगा। इस आधार पर एस.आर. गोयल (2005: 84) का मानना है कि इन शासकों ने अपने गोत्रों का संबोधन केवल इसलिए नहीं किया, क्योंकि वे अपने उक्त आचार्यों के शिष्य रहे होंगे, बल्कि यह गुप्तों के ब्राह्मण होने का स्पष्ट संकेत देता है।

गुप्तों ने अपने वंशावली में प्रथम दो गुप्त शासकों के रूप में महाराजगुप्त और महाराज घटोत्कच का उल्लेख किया है। यह स्पष्ट नहीं होगा कि वे स्वतंत्र शासक थे अथवा किसी शासक के अधीनस्थ शासक थे। यदि

मानचित्र 9.1: **गुप्त, वाकाटक और कुछ समकालीन राजवंशों के राज्य**

अलबरूनी के *तहकीक-ए-हिंद* की मानें तब गुप्त अभिलेखों में तिथियों के लिए जिस सम्वत् का प्रयोग किया गया है, वह 319-320 सा.सं. से शुरू होता है। निश्चित रूप से यह तृतीय गुप्त शासक चंद्रगुप्त-I (319-335/336 सा.सं.) के राज्यारोहण का वर्ष था और ऐसा प्रतीत होता है कि इसने ही गुप्त साम्राज्य की नींव रखी थी। अभिलेखों में उसे महाराजाधिराज की उपाधि दी गई है जो बाद में साम्राज्यवादी सम्राट का परिचायक बनी।

ब्राह्मी लिपि, इलाहाबाद प्रशस्ति

इस सम्राट से जुड़ी केवल एक घटना प्रसिद्ध है, वह उसका लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह है। इस विवाह की स्मृति में जो सिक्के निर्गत किए गए वे या तो स्वयं चंद्रगुप्त-I के द्वारा करवाए गए थे अथवा उसके पुत्र समुद्रगुप्त के द्वारा। इन सिक्कों के अग्रभाग पर सम्राट और रानी का चित्रांकन है तथा पृष्ठभाग पर सिंहारूढ़ एक देवी का, जिसके नीचे 'लिच्छवयः' उद्धृत है। समुद्रगुप्त को लिच्छवी-दौहित्र (लिच्छवियों के नाती) कहा गया है (इलाहाबाद-प्रशस्ति)। लिच्छवियों का क्षेत्र नेपाल के तराई में स्थित था और गुप्तों के साथ उनका वैवाहिक सम्बंध यह बतलाता है कि उस समय तक उनका कुछ न कुछ राजनीतिक महत्त्व रहा होगा।

विष्णु पुराण में एक प्रसंग आता है, जिसके अनुसार, गुप्तों का साम्राज्य गंगा के साथ-साथ प्रयाग (इलाहाबाद) तक के क्षेत्र में था और साकेत तथा मगध पर भी उनका नियंत्रण था, किंतु इस पुराण की कुछ पाण्डुलिपियों के अनुसार, प्रयाग तक स्थित गंगा के मैदानी क्षेत्र पर गुप्तों और मगध का अधिकार था, किंतु *विष्णु पुराण* के इन दोनों संस्करणों में एक शासक की जगह गुप्तों का बहुवचन में प्रयोग हुआ है, इसलिए इसमें चंद्रगुप्त-I के साम्राज्य के अधीन आधुनिक बिहार तथा उत्तर प्रदेश और बंगाल का कुछ हिस्सा रहा होगा।

समुद्रगुप्त (350-370 सा.सं.) (शायद उसके भाई काचगुप्त ने उसके पहले कुछ साल तक शासन किया था), चंद्रगुप्त-I का उत्तराधिकारी था, जिसकी जानकारी हमें अभिलेखों और सिक्कों से मिलती है। इस सम्राट की प्रशस्ति का एक हिस्सा एरण से प्राप्त किया गया, जो लाल बलुआही पत्थर के एक टुकड़े के रूप में है। गया और नालंदा से समुद्रगुप्त के राज्यकाल में अंकित दो ताम्रपट्टिकाएं मिली हैं, किंतु अधिकांश विद्वान इसको नकली प्रतिकृति मानते हैं। समुद्रगुप्त के शासनकाल की जानकारी का सबसे प्रसिद्ध स्रोत इलाहाबाद स्तंभ पर उत्कीर्ण एक पुरालेख के रूप में उसकी प्रशस्ति है। इसी इलाहाबाद स्तंभ की सतह पर मौर्य सम्राट अशोक और मुगल सम्राट जहांगीर के अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। गुप्त अभिलेख पद्य और गद्य का मिला-जुला रूप है, जिसमें समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व, विजय और उपलब्धियों का गुणगान किया गया है। प्रशस्ति को हरिषेण नाम के किसी व्यक्ति ने लिखा है, जिसको संधिविग्रहिक (युद्ध और संधि का मंत्री), कुमारामात्य (उच्च-अधिकारियों का एक काडर और महादंडनायक (न्यायिक या सैन्य सम्बंधी एक अधिकारी) की उपाधियाँ प्राप्त थीं। इनसे यह पता लगता है कि यह राजदरबार का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व रहा होगा। इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को एक असाधारण व्यक्तित्व से सम्पन्न पुरुष तथा आदर्श सम्राट के रूप में चित्रित किया गया है। इसके साथ ही उसकी सैन्य उपलब्धियों और साम्राज्य विस्तार के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रशस्ति में जिन शासकों एवं स्थानों का उल्लेख किया गया है, उनमें से कई के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता (गुप्ता, [1979, 1979 खंड-1: 258-82]), किंतु फिर भी इलाहाबाद प्रशस्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त साम्राज्य उस समय अस्तित्व में रहे, जटिल राजनैतिक सम्बंधों के वैविध्य के बिल्कुल केंद्र में था।

समुद्रगुप्त ने जिस समय राज्य संभाला, उस समय गुप्त साम्राज्य के अधीन बिहार का मगध और उसके सटे हुए उत्तर प्रदेश तथा बंगाल का एक बड़ा हिस्सा भी सम्मिलित था। उत्तर में यह हिमालय के तराई तक विस्तृत था। इसलिए समुद्रगुप्त के प्रारंभिक सैन्य-अभियान इस क्रोड़ क्षेत्र के समीपवर्ती क्षेत्रों को नियंत्रण में लेने के उद्देश्य से प्रेरित रहे होंगे। अभिलेख की पंक्ति 14 में पुष्पनगर पर किए गए कब्जे का उल्लेख है, जहां कोत परिवार का एक शासक राज्य कर रहा था। (यह नगर पाटलिपुत्र या कन्नौज हो सकता है)। संभावना है कि यह उपरी गंगा नदी घाटी का कोई राज्य रहा होगा। पंक्ति 21 के अनुसार, समुद्रगुप्त ने आर्यवर्त के अनेक शासकों का विनाश कर दिया तथा अन्य प्रदेश के शासकों को अपना परिचायक (अधीनस्थ) बना लिया। आर्यावर्त के शासकों में रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन और बलवर्मन के नामों का उल्लेख है। रुद्रदेव के विषय में यह

समुद्रगुप्त के 'व्याघ्रवध' कोटि का सिक्का; पृष्ठ में कमल धारण किए मकर पर आसीन गंगा

अनुमान लगाया जाता है कि या तो वहां वाकाटक शासक रुद्रसेन-I या पश्चिमी क्षत्रप शासक रुद्रवर्मन-II या उसका पुत्र रुद्रसेन-III रहा होगा। हो सकता है, यह वही रुद्र हो, जिसके सिक्के कोसाम्बी में मिले हों। मतिल का नाम बुलंदशहर जिला (उत्तर प्रदेश) से मिले एक मुहर पर अंकित है, किंतु इस नाम के साथ कोई ऐसी उपाधि नहीं दी गई है, जिससे उसके शाही पृष्ठभूमि का अंदाज लगाया जा सके। चंद्रवर्मन बंगाल का कोई स्थानीय शासक हो सकता है, जिसके अभिलेख बाँकुड़ा के निकट सुसुनिया नामक स्थान से मिले हैं या यह भी हो सकता है कि मध्य भारत में मंदसौर से प्राप्त एक अभिलेख में उद्धृत चंद्रवर्मन को हराया गया था। गणपतिनाग के सिक्के मध्य भारत में पवया नामक स्थान से मिले हैं। *हर्षचरित* में नागसेन नाम के पद्मावती से शासन कर रहे एक शासक का नाम आता है। अच्युत नाम के एक शासक के सिक्के उत्तर प्रदेश के बरेली जिला के रामनगर (प्राचीन अहिच्छत्र) से मिले हैं। पंक्ति 14 और पंक्ति 21 में उल्लेख किए गए शासकों के क्षेत्रों को मिलाने से गुप्त साम्राज्य का विस्तार गंगा-यमुना नदी घाटी में मथुरा तक और पश्चिम में पद्मावती तक कहा जा सकता है।

'अश्वमेध' प्रकार का सिक्का, समुद्रगुप्त; रानी (?) पृष्ठ में कमल पर खड़ी

गुप्त साम्राज्य ने इस क्षेत्र के बाहर के शासकों को अधीन करने के लिए वैकल्पिक माध्यमों का प्रयोग किया। प्रशस्ति के पंक्ति 22 में उन राजाओं के नामों का उल्लेख है, जो गुप्त सम्राट के अधीनस्थ थे और नियमित रूप से उसे भेंट इत्यादि देकर उसके प्रति अपना सम्मान प्रकट करते थे। इनमें समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल और कतृपुर जैसे सीमांत प्रदेशों के राजा सम्मिलित थे। समतात, बंगाल का दक्षिणीपूर्वी हिस्सा था। डवक असम के नवगाँव जिला के डवोक और गौहाटी के निकट कामरूप को कहते थे। नेपाल आधुनिक नेपाल को कहा गया है। कतृपुरा के अंतर्गत जालंधर जिला का करतारपुर तथा कुमायूँ, गढ़वाल और रोहिलखंड के कटुरिया राज्य का क्षेत्र हो सकता है। इस प्रकार से अधीनस्थ की गई राजनीतिक सत्ताओं में मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, अभीर, प्रार्जुन, सन्कनिक, काक और खड़परिक जैसे गणसंघों के भी नाम हैं। इस काल में मालव दक्षिण पूर्वी राजस्थान में बसे हुए थे। अर्जुनायन राजस्थान के भरतपुर, अलवर क्षेत्र में तथा यौधेय पंजाब और राजपूताना के अलग-अलग हिस्सों में। सन्कनिकों का क्षेत्र पूर्वीमालवा या उपमहाद्वीप का उत्तर पश्चिमी हिस्सा हो सकता है। काक क्षेत्र के विषय में यह अनुमान लगाया जाता है कि यह मध्य प्रदेश के रायसेन जिले का सांची रहा होगा, जिसका प्राचीन नाम काकनादबोट था अथवा यह भी उत्तर पश्चिम में स्थित कोई स्थान रहा होगा। मूल रूप से मद्रकों की राजधानी पंजाब का आधुनिक सियालकोट था। इस काल में अभीरों का क्षेत्र उत्तरी कोंकण था। प्रार्जुनों का भी स्थान शायद उत्तर पश्चिम में ही था। गुप्त सम्राट और इन सभी समुदायों का सम्बंध शायद एक दृष्टि से सामन्तवाद पर आधारित था, किंतु ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है कि इनमें से किसी ने कभी सम्राट को सैन्य सहायता दी हो। इस सम्बंध को आज्ञा-करण कहकर अभिव्यक्त किया गया है।

इलाहाबाद प्रशस्ति की 19 और 20 पंक्तियों में दक्षिण के कई राजाओं को समुद्रगुप्त के द्वारा कब्जे में लेकर मुक्त कर दिए जाने की बात कही गई है। ऐसे राजाओं में कोसल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, कईराल अथवा कौराल के मन्तराज, पिष्टपुर के महेन्द्र, कोट्टूरा पहाड़ी के स्वामिदत्त, एरन्डपल्ल के दमन, काँची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तिवर्मन, पल्लाक के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुबेर, कुस्थलपुर (सभी पूर्वी मध्यप्रदेश में) तथा पश्चिमी ओड़ीसा से चिन्हित किया गया है। महाकान्तार विंध्य क्षेत्र में स्थित कोई अरण्यराज रहा होगा, जो कोसल, मध्यभारत या ओड़ीसा का हिस्सा पड़ता है। कईराल को आधुनिक केरल क्षेत्र मान सकते हैं, किंतु यदि कौराला को यथावत् लें तब वह आंध्र प्रदेश के पूर्वी तटीय क्षेत्र में कहीं पड़ता था। कोट्टुर ओड़ीसा के गंजम जिला में महेन्द्रगिरी के निकट आधुनिक कोठुर को मान सकते हैं। पिष्टपुर आंध्रप्रदेश के गोदावरी जिला का आधुनिक पीठपुरम था। एरन्डपल्ल ओड़ीसा के गंजम जिला या आंध्रप्रदेश के विशाखापटनम जिला में स्थित था। विष्णुगोप काँची का एक पल्लव शासक था, जो चिंगलेपुट जिला क्षेत्र पर राज्य कर रहा था। हस्तिवर्मन वेंगी के शालनकायन राजवंश का एक राजा था, जिसका क्षेत्र आंध्र के कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच पड़ता था। देवराष्ट्र को विशाखापत्तनम जिला के येल्लममञ्चिलि से चिन्हित कर सकते हैं। कुस्थलपुर तमिलनाडु के उत्तर आरकॉट जिला के कुट्टल्लुर से पहचान की जा सकती है, किंतु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

पंक्ति 23 में उन शासकों के नाम आते हैं, जिन्होंने समुद्रगुप्त को किसी भी प्रकार की सेवा देने का वचन दिया। उन्होंने गुप्तों के गरुड़ चिह्नों वाले राजकीय मुहर के प्रयोग

की अनुमति मांगी तथा वैवाहिक सम्बंध बनाने की अपनी इच्छा प्रकट की। इन शासकों के नाम के साथ दैवपुत्र, शाही या शाहानुशाही जैसी उपाधियाँ जुड़ी थीं, जो शायद कुषाणों के अंतिम वंशज रहे होंगे। इसी संदर्भ में शकों और मुरुण्डों का नाम भी लिया गया है, किंतु 'शक-मुरुण्ड' को वैकल्पिक रूप से 'शक-स्वामी' के रूप में पढ़ा जा सकता है। इसी क्रम में सिंहल (श्रीलंका) तथा अन्य सभी द्वीपों के लोगों को शामिल कर लिया गया है। एक चीनी ग्रंथ में यह उल्लेख किया गया है कि श्रीलंका के शासक मेघवर्ण अनेक उपहारों के साथ एक राजनयिक प्रतिनिधिमंडल समुद्रगुप्त के पास भेजा और उससे बोधगया में श्रीलंकाई बौद्ध तीर्थयात्रियों के रहने के लिए एक विहार और विश्रामागार बनाने की अनुमति मांगी। निश्चित रूप से यह अनुमति दे दी गई और एक भव्य विहार बनाया गया। क्योंकि सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री श्वैन ज़ंग ने इसकी भव्यता की बातें लिखी हैं।

ऐसा लगता है कि समुद्रगुप्त के शासन के अंत तक उसके साम्राज्य में कश्मीर, पश्चिम पंजाब, राजस्थान, सिंध और गुजरात को छोड़कर संपूर्ण उत्तर भारत को सम्मिलित कर लिया गया था। इसमें मध्य भारत में जबलपुर के पूर्व स्थित पठारी क्षेत्र, छत्तीसगढ़, ओड़ीसा तथा पूर्वी तटीय क्षेत्र में चिंगलेपुट जिला तक का क्षेत्र आता था। प्रत्यक्ष रूप से अधीनस्थ बनाए गए इस क्रोड़ क्षेत्र के बाहर पड़ने वाले सभी समीपस्थ क्षेत्र उसकी अधीनता को स्वीकार कर रहे थे। उत्तर पश्चिम के शकों और कुषाणों पर भी समुद्रगुप्त की राजनीतिक सर्वोच्चता स्थापित होने की बात कही गई है। इनके दक्षिण में दक्षिणापथ के वैसे शासक थे, जिन्हें पराजित तो किया गया था किंतु न तो उनके राज्यों को साम्राज्य में मिलाया गया था और न ही उन्हें अधीनस्थ सामंतों के रूप में रखा गया था। इससे भी दक्षिण में पड़ने वाले श्रीलंका द्वीप पर भी समुद्रगुप्त के प्रत्यक्ष प्रभाव का दावा किया गया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि गुप्तों ने प्रत्यक्ष नियंत्रण के अधीन एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना नहीं की थी, किंतु अपने सफल सैन्य अभियानों के बल पर उन्होंने राजनीतिक सर्वोच्चता एवं अधीनस्थता पर आधारित रिश्तों का एक ऐसा जटिल तंत्र कायम किया, जिससे संपूर्ण उपमहाद्वीप प्रभावित था।

इलाहाबाद प्रशस्ति के आधार पर समुद्रगुप्त एक अथक साम्राज्यवादी सम्राट के रूप में चित्रित होता है, किंतु हरिषेण अपने सम्राट के लिए जो छविचित्र तैयार करना चाहता था, ये सफल सैन्य अभियान उसका केवल एक हिस्सा थे। उसका वर्णन एक योग्य एवं सहिष्णु प्रशासक के रूप में भी किया गया, जो अपनी प्रजा के लोक कल्याण के प्रति पूरी तरह से जागरूक था, किंतु जहां एक ओर एक सामान्य प्रशस्ति की तरह अपने संरक्षक के लिए पारंपरिक श्रेष्ठता की बातें कही गई हैं, वहीं दूसरी ओर सम्राट की कुछ ऐसी नवीन विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार की प्रशस्तियों के लिए काफी भिन्न कहा जा सकता है। हो सकता है कि ये समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व से जुड़ी वास्तविक एवं अद्वितीय विशिष्टताओं के कारण परिलक्षित हुई हों। उदाहरण के लिए, समुद्रगुप्त के तीक्ष्ण बौद्धिकता की उपमा देने के लिए लिखा गया है कि उसके समक्ष बृहस्पति (देवताओं के आचार्य) भी लज्जित हो जाते थे। समुद्रगुप्त की संगति प्रतिमा के समक्ष तुम्बरू और नारद भी अचम्भित रहते थे। उसे कविराज (कवियों का सम्राट) कहा गया, जिसकी रचनाएं श्रेष्ठ कवियों में भी श्रेष्ठतम थीं।

'गीतिकार' प्रकार का सिक्का, समुद्रगुप्त; पृष्ठ में बैठी हुई लक्ष्मी

समुद्रगुप्त के सिक्कों में भी उसकी विविध विशिष्टताओं की झलक देखने को मिलती है। एक धनुर्धर के रूप में उसके दाएं हाथ में धनुष तथा बाएं हाथ में तीर है; अपने हाथों में परशु लिए वह खड़ा है तथा एक वामन उसको देख रहा है, अथवा एक व्याघ्र को परास्त कर उसे मारते हुए दिखलाया गया है। उसके 'अश्वमेध श्रेणी' के सिक्कों में अश्वमेध का घोड़ा एक अलंकृत 'युप' के समक्ष खड़ा है, जबकि उसके मानक सिक्कों में जो बहुधा देखने को मिलते हैं, उसे अग्नि में होम करते हुए दिखलाया गया है, जबकि उसके बाएं हाथ में एक लंबा राजदंड अवस्थित है। इस दृश्य के बायीं ओर एक गरुड़ की आकृति भी बनी है। चंद्रगुप्त-I और उसकी रानी को आमने-सामने दिखलाया गया है। समुद्रगुप्त के दूसरी कोटि के सिक्कों में आसन में बैठकर उसे वीणा बजाते हुए दिखाया गया है। इस सम्राट के कुछ सिक्कों में कभी-कभी आरदॉक्षो देवी को दिखलाया गया है, जिसके बाएं हाथ में एक अक्षय पात्र तथा दाहिने हाथ में एक पाश है; अथवा हाथी की मुख वाले मछली पर खड़ी एक देवी को दिखलाया गया है, जिनके बाएं हाथ में एक पूर्ण कमल है, जबकि उसका दाहिना

हाथ ऊपर उठा हुआ है और खाली है। सिक्कों के कुछ उदाहरणों में, हाथ में चक्र लिए एक नारी खड़ी है (शायद कोई नारी)। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसके लिए प्रयुक्त कुछ उपाधियां उत्कीर्ण हैं, जिनमें पराक्रम:, अप्रतिरथ:, अश्वमेध-पराक्रम:, व्याघ्र-पराक्रम: इत्यादि अंकित हैं। कुछ सिक्कों पर पाए जाने वाले अभिलेख इतने संक्षिप्त नहीं हैं, जैसे—'वह सैकड़ों युद्धभूमियों में शत्रुओं को पराजित करने वाला, स्वर्ग का भी विजेता है' अथवा सम्राटों के सम्राट जिसने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया, तथा धरती की रक्षा की, स्वर्ग का विजेता है। गुप्त राजवंश के लिए दी जाने वाली सामान्य सूचियों में समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी के रूप में चंद्रगुप्त-II को दिखलाया गया है, किंतु पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं, जो यह सूचना देते हैं कि रामगुप्त नाम के एक सम्राट ने 370–375 सा.सं. तक शासन किया था।

क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से गुप्त साम्राज्य की पराकाष्ठा समुद्रगुप्त तथा दत्तदेवी से हुए पुत्र एवं उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त-II का शासनकाल (376–413/415 सा.सं.) कहा जा सकता है। इसी सम्राट को परमभागवत एवं विक्रमादित्य की उपाधि प्राप्त है। दिल्ली के मेहरौली में अवस्थित एक लौहस्तंभ पर उत्कीर्ण एक संस्कृत अभिलेख में चंद्र नाम के एक राजा का उल्लेख है। मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त, गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त-I या समुद्रगुप्त, नाग शासक चंद्राश,

अन्यान्य परिचर्चा

क्या रामगुप्त का अस्तित्व था?

कालांतर के दो प्रमुख ग्रंथों में विशाखदेव (सामान्य रूप से विशाखादत्त के रूप में लब्ध प्रतिष्ठित नाटककार) विरचित *देवी-चन्द्रगुप्त* नाम के एक लुप्तप्राय नाटक के अंश पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त हुए—(I) भोज के *श्रृंगार-प्रकाश* की पाण्डुलिपि में तीन खंड तथा (II) रामचंद्र और गुणाचंद्र के *नाट्यदर्पण* की पाण्डुलिपि में उक्त नाटक के छह खंड प्राप्त किए गए। इन पाण्डुलिपियों में उपलब्ध नाटक के हिस्सों को संकलित करने से जो कथानक बनता है, वह इस प्रकार से है:

रामगुप्त नाम का एक शासक था। उसके राज्य पर एक शक्तिशाली शक राजा ने आक्रमण किया। अपने एक मंत्री के सुझाव पर उसने आक्रमणकर्त्ता का सामना करने की बजाय अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को आक्रमणकर्त्ता को सौंप दिया और उससे संधि कर ली। सम्राट का छोटा भाई कुमार इस अपमानजनक संधि से अत्यंत विक्षुब्ध हो गया। उसने ध्रुवदेवी का भेष बनाकर शकों के खेमे में प्रवेश किया और शत्रु राजा का वध कर दिया। बाद में उसने अपने भाई की भी हत्या कर दी और ध्रुवदेवी के साथ विवाह कर लिया। इस कथा की धाराएं कालांतर के प्रमुख ग्रंथों में सशक्त रूप से बहती रही। बाणभट्ट के *हर्षचरित* में और शंकर आर्य के द्वारा लिखी गई उसकी टीका में भी यह कहानी आई है। अबुल हसन अली की फारसी कृति *मजमत-उल-तवारिख* 11वीं सदी की रचना है। इसमें कथा को और भी बढ़ाया गया है। इसके अनुसार, चंद्रगुप्त के द्वारा शक राजा की हत्या की घटना ने चंद्रगुप्त की लोकप्रियता को और अधिक बढ़ा दिया। चंद्रगुप्त की बढ़ती लोकप्रियता से रामगुप्त को काफी ईर्ष्या हुई और रामगुप्त की हत्या करने के पहले चंद्रगुप्त ने स्वयं के विक्षिप्त होने का स्वांग रचा। 9वीं/10वीं शताब्दियों के राष्ट्रकूट अभिलेखों में भी इस कथा को उद्धृत किया गया। स्पष्ट है कि भारत की साहित्यिक स्मृति में यह कथा लंबे समय तक जीवित रही। राजस्थान के बयाना से प्राप्त कुछ सिक्कों पर 'काच' या 'राम' लिखा हुआ पाया जाता है। बाद में मध्य भारत के भीलसा से प्राप्त ताम्र सिक्के पाए गए, जो निश्चित रूप से रामगुप्त के द्वारा निर्गत किए गए थे। इन सिक्कों पर गरुड़ का चिह्न अंकित है।

आकार, शैली और भार की दृष्टि से ये सिक्के चंद्रगुप्त के सिक्कों से बिल्कुल मिलते जुलते हैं। इसके अतिरिक्त मध्य भारत के विदिशा के निकट दर्जनपुरा नामक स्थान से तीन जैन-तीर्थांकरों की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। इन पर उत्कीर्ण अभिलेख में यह लिखा है कि इनका निर्माण महाराजाधिराज रामगुप्त के द्वारा करवाया गया। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह अभिलेख उत्तरगुप्तों में से किसी शासक का है, किंतु अन्य बहुत से विद्वान इसे चंद्रगुप्त द्वितीय के भाई रामगुप्त की ऐतिहासिकता का साक्ष्य के रूप में देखते हैं। इस प्रकार सिक्के और अभिलेख दोनों *देवी-चंद्रगुप्त* की कथा की सच्चाई की वकालत करते हैं। गुप्त अभिलेखों में यह सूचना उपलब्ध है कि चंद्रगुप्त की एक पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था, जिससे कई संतानें भी हुईं, किंतु इनमें रामगुप्त का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अभिलेखों में रामगुप्त का नहीं होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है, क्योंकि राजवंशों की वंशावलियों में केवल उन शासकों का नाम सूची में दर्ज किया जाता था, जो प्रत्यक्ष रूप से सत्तारूढ़ शासक के वंश से जुड़े होते थे। चूंकि गुप्त राजसत्ता चंद्रगुप्त के बाद उसकी संतति में हस्तांतति होती चली गई, इसलिए स्वाभाविक रूप से रामगुप्त के नाम को सूची में नहीं रखा गया। ऐसी घटना बाद के गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त से भी जुड़ी है, जब स्कन्दगुप्त के बाद राजसत्ता उसके भाई पुरुगुप्त के हाथों में चली गई। इसलिए इस नए वंश के उत्तराधिकारियों के द्वारा वंशावली के अभिलेखीय निरुपण में स्कन्दगुप्त को नजरअंदाज कर दिया गया।

मालवा के चंद्रवर्मन या सुसुनिया में पाए गए इस नाम के एक राजा, इनमें से कोई के चंद्र होने का अनुमान लगाया जाता रहा है (जोशी, 1989), किंतु ऐसे अनेक तर्क दिए जा सकते हैं, जिसके आधार पर यह नाम चंद्रगुप्त-II हो सकता है—(1) चंद्रगुप्त-II के सिक्कों में उसका चंद्र नाम अंकित है। (2) उदयगिरि गुफा अभिलेख के अनुसार, उसने दिग्विजय किया था। (3) दिल्ली क्षेत्र उसके साम्राज्य का एक हिस्सा था तथा (4) वह एक वैष्णव था। एक और बात साथ में उठती रही है कि क्या मेहरौली का अभिलेख सम्राट के जीवित रहते हुए या उसके मरणोपरांत निर्गत किया गया। डी.आर. भंडारकर का मानना है कि इस सम्राट के जीवन काल में ही यह अभिलेख उत्कीर्ण किया गया होगा, किंतु डी.सी. सरकार का मानना है कि मेहरौली का स्तंभ चंद्रगुप्ता-II के राज्य के अंतिम वर्षों में ही तैयार किया गया, किंतु यह अभिलेख उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त के द्वारा उत्कीर्ण करवाया गया था।

मेहरौली स्तंभ अभिलेख के अनुसार, चंद्रगुप्त ने बंगाल में शत्रु शक्तियों के एक संघ से युद्ध किया तथा पंजाब पर किए गए गुप्त आक्रमण का नेतृत्व भी किया। उसके सिक्कों और अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मालवा और पश्चिमी भारत पर भी उसका नियंत्रण था। निश्चित रूप से उसके शासनकाल में शकों को मुँह की खानी पड़ी होगी। शकों द्वारा निर्गत अंतिम अभिलेख की तिथि 310 सा.सं. (शक संवत् 388 सा.सं.) है; इसके बाद गुप्तों ने उनके क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। इस चंद्रगुप्त-II का साम्राज्य बंगाल के उत्तर-पश्चिम तक और हिमालय की तराई से नर्मदा तक फैला हुआ था। गुप्तों का दक्कन के वाकाटकों के साथ वैवाहिक सम्बंध था। चंद्रगुप्त तथा उसकी रानी कुबेरनाग की बेटी, प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटक शासक रुद्रसेन-II के साथ हुआ था।

कश्मीर के गिलगित जिला के हुन्जा के एक चट्टान पर प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के कुछ खरोष्ठी लिपि में अभिलेख हैं तथा गुप्तकाल के दौरान का संस्कृत अभिलेख बाहरी लिपि में उत्कीर्ण किए गए हैं। बाद के अभिलेखों में चंद्र नाम के एक शासक का नाम आता है, जिसके साथ विक्रमादित्य की उपाधि जुड़ी है। कुछ अभिलेखों में हरिषेण नाम के एक व्यक्ति का भी उल्लेख है। कुछ इतिहासकारों ने इन दोनों व्यक्तियों को चंद्रगुप्त-II तथा इलाहाबाद प्रशस्ति के लेखक हरिषेण से चिन्हित किया है। उनका मानना है कि इन अभिलेखों को गुप्तों के अधीन चल रहे इस क्षेत्र में सैन्य अभियान के दौरान उत्कीर्ण किया गया है, किंतु ऐसा भी हो सकता है कि चंद्र नाम का कोई स्थानीय शासक भी रहा हो।

चंद्रगुप्त-II के बाद गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकार कुमार गुप्त को मिला। इसने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया था। उसके सिक्कों पर भगवान कार्तिकेय के चित्र अंकित हैं। कुमारगुप्त के शासनकाल के अंतिम चरण में उत्तर-पश्चिम से आक्रमण होने लगे थे। इनके विरुद्ध राजकुमार स्कन्दगुप्त ने सफल कार्यवाही की। स्कन्दगुप्त के शासकाल में ही गुप्त सेना ने हूणों के एक आक्रमण को निरस्त कर दिया। गिरनार अभिलेख के अनुसार, स्कन्दगुप्त के एक सैन्य प्रतिनिधि पर्णदत्त ने अपनी देख-रेख में सुदर्शन झील की मरम्मत का कार्य करवाया। गुप्त राजवंश के परवर्ती शासकों की सूची में पुरुगुप्त, कुमारगुप्त-II, बुधगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त-III तथा विष्णुगुप्त के नाम आते हैं। गुप्तों की सर्वोच्चता परिव्राजक महाराजाओं तथा मध्यभारत के उच्छकल्प के महाराजाओं ने भी स्वीकार की थी। जब गुप्त साम्राज्य कमजोर होने लगा तब अधीनस्थ शासक धीर-धीरे स्वतंत्र होने लगे। गुप्त साम्राज्य के पतन के अनेक कारणों में, उनकी वाकटकों के साथ प्रतिद्वंदिता, मालवा में यशोधर्मन का उदय और हूणों द्वारा किए गए आक्रमण भी सम्मिलित थे।

'सिंह हंता' प्रकार का सिक्का, चंद्रगुप्त-II, कमल पर बैठी हुई अम्बिका देवी (ऊपर); 'धनुर्धर' प्रकार का सिक्का, कुमारगुप्त-I कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी (नीचे)

5वीं सदी के मध्य में, ये-था जिन्हें हेपथलाइट या सफेद हूण भी कहा जाता है (यूनानी स्रोतों में), ऑक्सस नदी घाटी में शक्तिशाली होने लगे थे। इन्होंने ईरान और भारत में घुसपैठ आरंभ कर दिया। सबसे पहले इन्होंने हिंदूकुश को पार कर गंधार क्षेत्र पर अपना कब्जा जमा लिया। ऐसा लगता है कि इस समय स्कन्दगुप्त के अधीन किए गए सैन्य कार्यवाही के कारण इनका विस्तार कुछ समय के लिए स्थगित हो गया, किंतु 5वीं सदी के उत्तरार्द्ध में या 6ठी सदी के पूर्वार्द्ध में तोरमाण नाम के एक हूण योद्धा के नेतृत्व में हूणों ने पश्चिमी भारत के एक बड़े हिस्से पर अपना कब्जा जमा लिया, जिसमें एरण और उसके इर्द-गिर्द के क्षेत्र भी सम्मिलित थे। यदि सिक्कों के साक्ष्यों को मानें तो इनका प्रभाव उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब और कश्मीर पर भी पड़ा। 8वीं सदी के एक जैन ग्रंथ, *कुवलयमाला* के अनुसार, तोरमाण ने जैनधर्म को

प्राथमिक स्रोत

चंद्र का अभिलेख और एक स्तंभ से जुड़ी अनुश्रुतियां

वह जिसकी भुजाओं पर कृपाण से यश उत्कीर्ण की गई थी, जब उसने वंग देश के युद्ध के दौरान अपने वक्ष से शत्रुओं का दमन किया जो एक साथ मिलकर उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए थे; वह जिसने सिंधु के सात मुहानों को पार कर वाह्लिकों को युद्ध में पराजित किया; जिसके शौर्य से दक्षिणी सागर से आने वाली हवाएं आज भी सुगंधित हैं।

वह जो प्रजा का अधिपति था, जिसका क्लांत शरीर आज इस संसार से दूसरे संसार (स्वर्ग) में चला गया है, जिस पर उसने अपनी कीर्ति से विजय पा ली है, आज भी वह अपनी ख्याति के कारण इस जगत में विद्यमान है; अपने शत्रुओं के विनाश के परिणामस्वरूप आज भी इस जगत् से जिसके यश का लोप नहीं हुआ—महान् वाड्वाग्नि की बुझी ऊष्मा (सुलगते अंगारों के समान) उस सम्राट ने जिसने अपने शौर्य से इस जगत् पर सार्वभौम सत्ता को एक लंबे समय तक स्थापित किया (और) अपने नाम चन्द्र के समान जिसका मुखमंडल पूर्णमासी की चन्द्रमा के समान ही था, जिसका चित्त विष्णु के प्रति भक्ति में लीन था, उसने विष्णुपद की पहाड़ी पर भगवान विष्णु के इस उत्तंग ध्वज को स्थापित किया।

इस प्रकार अनुदित किया गया संस्कृत अभिलेख दिल्ली के कुतुब कम्पलेक्स के जामी मस्जिद में विद्यमान एक लौह स्तंभ पर उत्कीर्ण है। इस ठोस स्तंभ जिसका शरदंड क्रमशः ऊपर की ओर कुछ पतला होता जाता है। 7.16 मीटर ऊँचा है। शरदंड के शीर्ष पर विलोम कमल प्रतीक बना है तथा जिसके ऊपर एक वर्गाकार पीठिका तीन आमलकों पर आश्रित हैं। निश्चित रूप से इस स्तंभ का स्तंभ शीर्ष कोई वैष्णव प्रतीक रहा होगा, शायद गरुड़। इतने लंबे लौहस्तंभ का निर्माण असाधारण धातुशिल्प के अस्तित्व का परिचायक है। यह लौहस्तंभ असाधारण इसलिए भी है कि इतने सदियों के बाद भी इस पर उत्कीर्ण अभिलेख अभी भी सुस्पष्ट है और इस लौह स्तर का प्रायः क्षरण नहीं हुआ है।

रासायनिक विश्लेषण से यह पता चला है कि इस लौह स्तंभ का निर्माण शुद्ध पिटवां लोहा से हुआ था, जिसमें 99.7 प्रतिशत लोहा तथा अत्यंत अल्प परिणाम में सल्फर और अधिक परिमाण में फॉस्फोरस मौजूद था। दरअसल, स्तंभ के उन हिस्सों में ही जंग लगा, जहां पानी के कुछ ठहराव की गुंजाईश थी, जैसे—जमीन के भीतर स्थित स्तंभ का हिस्सा तथा स्तंभ का सबसे ऊपरी हिस्सा। यह निश्चित रूप से नहीं तय किया जा सकता है कि मूलरूप से यह लौहस्तंभ यहां खड़ा था? अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि यह लौहस्तंभ वहाँ नहीं था, जहां आज है। अभिलेख में विष्णुपद पहाड़ी का उल्लेख है, किंतु आज इस स्थान पर दूर-दूर तक कोई पहाड़ी के निशान नहीं हैं, किंतु हो सकता है कि बहुत शताब्दियों पहले इस क्षेत्र में कोई पहाड़ी भी रही हो।

डी.आर. भण्डारकर ने ब्यास नदी के उद्गम के निकट हिमालय में विष्णुपद की अवस्थिति बतलाई है। दूसरी ओर फ्लीट ने अपने विश्लेषण के आधार पर यह पाया कि इस स्तंभ की नींव में धातुओं के छोटे-छोटे बहुत सारे टुकड़े
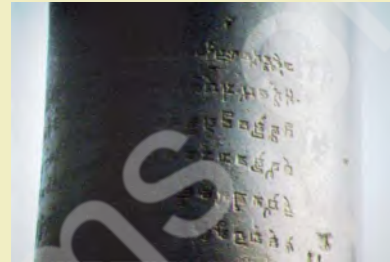
मौजूद हैं, जो इसके मौलिक नींव का अभिन्न हिस्सा प्रतीत होते हैं। बाहर से लाए जाने पर इनका अस्तित्व नहीं रहा होता। इसलिए उनका मानना है कि यह स्तंभ मूल रूप से वहीं पर खड़ा था या इसके बिल्कुल इर्द-गिर्द।

इतिहास के किसी बिंदु पुर, इस गुप्त लौह स्तंभ से दिल्ली के नामकरण की कुछ अनुश्रुतियाँ लोकप्रिय हो गईं। ऐसी अनुश्रुतियों का एक संस्करण *पृथ्वीराजरासो* में इस प्रकार उपलब्ध है— एक बार राजपूत शासक बिलनदेव या अनंगपाल तोमर को एक विद्वान ब्राह्मण ने बतलाया कि यह लौह स्तंभ पूर्ण रूप से स्थावर है और इसका आधार सर्पराज वासुकी के फण पर खड़ा है, और अनंगपाल का शासन तब तक बना रहेगा, जब तक यह स्तंभ खड़ा रहेगा। अनंगपाल ने जिज्ञासा के वशीभूत होकर इस स्तंभ को उखड़वाने का प्रयास किया, किंतु इसके नीचले हिस्से पर साँप का रक्त मिला। जब राजा को अपनी गलती का एहसास हुआ तब उसने लौहस्तंभ की पुनः स्थापना करवाई, किंतु अनेक प्रयासों के बावजूद स्तंभ 'ढीली' ही रही। इस कथा के निष्कर्ष में स्तंभ के ढीली होने से दिल्ली नाम की उत्पत्ति की बात कही गई है।

इस लौह स्तंभ में और भी कई छोटे-छोटे अभिलेख उत्कीर्ण किए गए। इन अभिलेखों में से एक में अनंगपाल तोमर के द्वारा 11वीं शताब्दी में दिल्ली की स्थापना की चर्चा की गई है।

स्रोत: सिंह [1999]; 2006: 76-83

स्वीकार किया तथा वह चेनाब नदी के किनारे पवईया नामक स्थान पर बस गया। मिहिर कुल, तोरमान का बेटा और उत्तराधिकारी था। उसका एक अभिलेख ग्वालियर में मिला है। श्वैन ज़ंग के अनुसार, उसकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी। *राजतरंगिणी* ने मिहिरकुल की क्रूरताओं का वर्णन किया है। उस स्रोत के अनुसार, इसने गंधार, और कश्मीर क्षेत्र में शासन किया, किंतु दक्षिण भारत और श्रीलंका पर उसकी विजयों की कहानी अतिश्योक्तिपूर्ण लगती है। यद्यपि, उसने उत्तर भारत के एक बड़े हिस्से पर अपना प्रभाव जमा लिया, लेकिन ऐसा लगता है कि मालवा के यशोधर्मन, नरसिंह गुप्त और मौखरियों के हाथों उसे पराजित होना पड़ा। उसके बाद हूणों की शक्ति का पतन हो गया।

दक्कन के वाकाटक

वाकाटकों का इतिहास (शास्त्री, 1997; मिरासी, 1963) अभिलेखों और पुराण जैसे साहित्यिक स्रोतों पर आधारित है। उनका मूल निवास स्थान अभी तक विवाद के दायरे में है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वे दक्षिण भारत के थे। इस सिद्धांत के पीछे आंध्र प्रदेश के अमरावती से प्राप्त एक विच्छिन अभिलेख पर उत्कीर्ण 'वाकाटक' तथा वाकाटक अभिलेखों और पल्लव शासक शिवस्कन्दवर्मन के द्वारा हीरेहदगल्ली तथा माइडावोलू से प्राप्त अभिलेखों में प्रयुक्त होने वाली कुछ शब्दावलियों के बीच समानता पर आधारित है। इसके अतिरिक्त विंध्यशक्ति-II के बासिम पट्टिकाओं में प्रवरसेन-I के लिए हारीतिपुत्र और सर्वसेन-I के लिए धर्ममहाराज जैसी उपाधियों का प्रयोग किया गया। ऐसी उपाधियाँ दक्षिण भारत में पल्लव, कदम्ब तथा बादामी के चालुक्यों के लिए भी प्रयोग में आती थीं। हरिषेण (वत्सगुल्म वंश का अंतिम ज्ञात वाकाटक शासक) के कुछ अभिलेखों में उल्लेख किया गया है कि उनके मंत्रियों में से किसी एक का परिवार वल्लुर का निवासी था। मिरासी ने इस स्थान को आंध्र प्रदेश के हैदराबाद से 30 मील की दूरी पर स्थित वेल्लुर नाम के स्थान से चिन्हित किया है। इन सभी संदर्भों के आधार पर वाकाटकों के दक्षिण भारत के होने की बात कही जाती रही है।

अजय मित्र शास्त्री (1997) का मानना है कि अभिलेखों और पुराणों में दी गई सूचना के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस राजवंश का प्रारंभिक क्षेत्र नर्मदा नदी के उत्तर में स्थित विंध्य का इलाका रहा होगा। पुराणों ने इस राजवंश को विंध्यक नाम से संबोधित किया है। प्रारंभिक वाकाटक शासकों में से एक प्रवरसेन-I को पुराणों ने कञ्चानक नाम के एक नगर के संदर्भ में उल्लेख किया है, जिसे मध्यप्रदेश के पन्ना जिले के नाचना या नाचना-की-तलाई गाँव के रूप में चिन्हित किया गया है। इस स्थान से वाकाटकों के कई प्रारंभिक अभिलेख और संरचनाएं मिली हैं। इन सब तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि वाकाटकों ने सबसे पहले स्वयं को विंध्य क्षेत्र में स्थापित किया, जिसमें बुंदेलखंड तथा बहोलखंड का बड़ा हिस्सा भी पड़ता था। यहां स्थापित होने के बाद उन्होंने दक्षिण की ओर विस्तार करना शुरू किया और अंततः दक्कन की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरे। वाकाटकों का शासन तीसरी शताब्दी सा.सं. के मध्य से लेकर पांचवी शताब्दी के अंत/छठी शताब्दी की शुरुआत तक रहा। वाकाटकों का वैवाहिक सम्बंध साम्राज्यवादी गुप्तों, पद्मावती के नाग शासकों, कर्नाटक के कदम्बों और आंध्र के विष्णुकुण्डिनों के साथ था।

विंध्यशक्ति-I इस राजवंश का संस्थापक था। हरिषेण के समय निर्गत किए गए अजन्ता अभिलेख में उसकी सैन्य शक्तियों का काव्यात्मक चित्रण किया गया है। युद्धों में उसके घोड़ों के खुर से उड़ी धूल की आंधियों ने सूर्य को ढक लिया था। उसने अपनी भुजा की शक्तियों से संपूर्ण धरती को जीत लिया। उसकी महानता की तुलना पुरंदर (इन्द्र) तथा उपेन्द्र (विष्णु) जैसे देवताओं से की गई है। विंध्यशक्ति को द्विज कहा गया है और वाकाटक अभिलेखों में इस राजवंश के शासकों को विष्णुवृद्ध गोत्र का ब्राह्मण बतलाया गया है।

प्रवरसेन (पुराणों में वर्णित प्रवीर) इस राजवंश का दूसरा शासक था, जिसने राज्य का विस्तार दक्षिण में विदर्भ और दक्कन के जुड़े हुए क्षेत्रों तक किया। उसकी राजधानी काञ्चानक आधुनिक नाचना थी। उसके पुत्र गौतमीपुत्र और एक नागशासक भवनाग की बेटी के बीच हुए विवाह को एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक संधि के रूप में देखा जाता है। पुराणों में प्रवीर के द्वारा सम्पन्न किए गए वाजपेय और वाजिमेध यज्ञों का उल्लेख है, जिनमें अपार सम्पत्ति दान में दी गई। अभिलेखों में भी उसके द्वारा किए गए चार अश्वमेध यज्ञों तथा अन्य ब्राह्मण अनुष्ठानों की चर्चा है। वाकाटक शासकों में केवल प्रवरसेन-I को सम्राट की उपाधि दी गई अन्यथा अन्य सभी शासकों ने मात्र महाराजा की उपाधि ली थी।

प्रवरसेन-I के बाद वाकाटक दो भागों में बंट गए (पुराणों के अनुसार, चार)। ऐसा वाकाटकों के दो राजनीतिक केंद्रों के अस्तित्व के आधार पर कहा जा सकता है—(1) पद्मपुर-नन्दिवर्द्धन-प्रवरपुर वंश और (2) वत्सगुल्म वंश। ऐसा लगता है कि प्रवरसेन के जीवन काल में ही वाकाटक साम्राज्य का दो भागों में विभाजन हो गया था। पद्मपुरा-नन्दिवर्द्धन-प्रवरपुरा वंश का प्रतिनिधित्व रुद्रसेन-I ने किया, जो प्रवरसेन-I का उत्तराधिकारी था। बाद के वाकाटक अभिलेखों में उसे भावनाग का नाती और महाभैरव का उपासक कहा गया है। यदि समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रशस्ति में उल्लेख किए गए रुद्रदेव को रुद्रसेन नहीं भी माने तब भी गुप्त सम्राट के सैन्य अभियानों के द्वारा निश्चित रूप से रुद्रसेन-I प्रभावित हुआ होगा और उसे गुप्त सम्राट की सर्वोच्चता स्वीकार करनी पड़ी होगी।

रुद्रसेन-I का उत्तराधिकारी पृथ्वीशेन-I था, जिसे वाकाटक अभिलेखों में एक महान् विजेता कहा गया है। अपनी सत्यवादिता, सहिष्णुता, धैर्य, बुद्धि की शुचिता जैसे गुणों के कारण उसकी तुलना महाभारत के नायक युधिष्ठिर से की गई है। नाचना और गंज के अभिलेखों में व्याघ्रराज के द्वारा उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया है। पद्‌मपुर उसके काल में एक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक केंद्र के रूप में विकसित हुए। पृथ्वीशेन-I के राज्यकाल के अंतिम चरण में उसके पुत्र रुद्रसेन-II का विवाह, गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त-II की बेटी प्रभावती के साथ सम्पन्न हुआ। ऐसा लगता

प्राथमिक स्रोत

राजमाता का एक अनुदान

प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपत्र से प्रसिद्ध उत्कीर्ण ताम्रपत्रों का संरक्षण पूना के एक ताम्रकार बलवंत भाऊ नागरक के पारिवारिक धरोहर के रूप में किया जाता रहा था। यह परिवार मूल रूप से महाराष्ट्र के ही अहमदनगर से यहां आकर बसा था। $9^1/_4$ इंच लंबा तथा $5^3/_4$ इंच चौड़े ये दो ताम्रपत्र अण्डाकार मुहर वाले सील से एक छल्ले के रूप में जुड़ा है। इस पर उत्कीर्ण लिपि ब्राह्मी है, जिस पर उत्तर और दक्षिण दोनों की लिपियों का प्रभाव मालूम पड़ता है। अक्षरों के शीर्ष विलोम रूप से त्रिभुजाकार हैं। यह अभिलेख वाकाटकों के प्रचलित लिपि से भिन्न है। जिनमें त्रिभुजाकार शीर्षवाले अक्षर नहीं देखे जाते हैं। भाषा संस्कृत में है। अधिकांश लेखन गद्यात्मक हैं। केवल अंतिम पंक्तियाँ और मुहर पर लिखे कुछ अभिलेख पद्यात्मक हैं। मुहर पर किए लेखन का अनुवाद कुछ इस प्रकार है: [यह] युवराज की माता के द्वारा शत्रुओं को चेतावनी के रूप में यह निर्गत किया गया है, जो वाकाटकों की आभूषण हैं, जिनकी संपदा उनको उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए हैं; अभिलेख का अनुवाद कुछ इस प्रकार से है:

दृष्टिगोचर है। सफलता! भागवत के द्वारा यह विजय प्राप्त कर ली गई है। आते हैं जो! नन्दिवर्द्धन से—गुप्तों के प्रथम राजा यशस्वी घटोत्कच महाराज हुए। उनके ख्यातिलब्ध पुत्र भी महाराजा हुए, यशस्वी चंद्रगुप्त-I उनके दैदीप्यमान पुत्र समुद्रगुप्त, महाराजाधिराज हुए जो लिच्छवी प्रमुख की पुत्री महादेवी कुमारदेवी के पुत्र थे और जिन्होंने अनेक यज्ञों का सम्पादन किया। उनके यशस्वी पुत्र महाराजाधिराज चंद्रगुप्त-II जो उनके [समुद्रगुप्त] सर्वाधिक प्रिय थे, एक भागवत थे [वासुदेव कृष्ण के परमभक्त], जो इस धरती के अद्वितीय योद्धा हुए; जिन्होंने सभी राजाओं का दमन किया, जिनकी कृति ने चार महासागर के जल का रसास्वादन किया, जिन्होंने हजारों करोड़ गाएं और स्वर्ण दान में दिए।

उनकी बेटी यशस्वी प्रभावतीगुप्ता धारण गोत्र की थीं, जो महादेवी कुबेरनाग की बेटी थीं, जिनका जन्म यशस्वी नागवंश में हुआ और जो स्वयं एक परम भागवत भक्त थीं; जो वाकाटकों के महाराज यशस्वी रुद्रसेन-II की महारानी थी; जो यशस्वी दिवाकरसेन, युवराज की माँ हैं; जो अपने अच्छे स्वास्थ्य में यह घोषणा करती हैं कि दनडुना गाँव के बासिंदों, ब्राह्मणों, यह गाँव जो सुप्रतिष्ठ आहार के अंतर्गत आता है, जिसके पूरब में विलवनक, दक्षिण में शीरिषग्राम, पश्चिम में कड़पिंजना और उत्तर में सिद्धिविवारक है, उनके लिए यह घोषणा है—सबको ज्ञात हो कि शुक्ल पक्ष द्वादशी को कार्तिक महीने में, हम अपने धार्मिक पुण्य की अभिवृद्धि के उद्देश्य से इस गाँव को चनालस्वामी आचार्य को दान में देते हैं, जो भगवत उपासक हैं, दान जो पहले नहीं दिया गया, भगवत् चरण में समर्पित है। आप सभी उनके (दान प्राप्तकर्त्ता) इच्छाओं का सम्मानपूर्वक पालन करें।

हम एक अग्रहार अनुदान से जुड़े सभी परिग्रहों के साथ चतुर्विधों को यह प्रदान करते हैं, जो पूर्वज राजाओं के द्वारा अनुमोदित था—[इस गाँव में] सेना और आरक्षियों का प्रवेश वर्जित है; घास, लगाम बनाने के लिए खाल, कोयला [अधिकारियों के लिए], [शाही आवश्यकताओं के लिए प्रदत्त] मदिरा, खनन [नमक]; खनन और खदिरा वृक्ष [के अधिकारी], फूल और दूध [आपूर्ति] तथा यहां से भविष्य में प्राप्त होने वाले धरोहरों पर [अधिकार] तथा सभी प्रकार के छोटे-बड़े करों से मुक्त करते हैं।

आने वाले शासकों को भी इस अनुदान की रक्षा करनी है, जो भी हमारे इस आदेश का उल्लंघन करता है या इनके उल्लंघन के लिए किसी को प्रेरित करता है, यदि इसकी शिकायत ब्राह्मणों ने की, तब उन्हें दंडित किया जाएगा और उनपर आर्थिक दंड भी लगेगा। इसके पश्चात् व्यास विरचित यह पद्य भी अंकित है—जो अपने द्वारा दिए गए दान को या किसी और के द्वारा दिए गए दान की भूमि को वापस लेता है, तब वह 100,000 गायों के वध के बराबर पाप का भागीदार होता है।

यह ताम्रपत्र राज्यरोहण के तेरहवें वर्ष बीतने पर निर्गत किया जा रहा है। चक्रदास के द्वारा [इसे] उत्कीर्ण किया गया है।

स्रोत: मिराशी, 1963: 8-9

है कि रुद्रसेन की शीघ्र मृत्यु के समय उसके पुत्र दिवाकरसेन, दामोदर सेन और प्रवरसेन नाबालिग थे और इसलिए प्रभावतीगुप्ता को एक लंबे समय तक प्रशासन की बागडोर संभालनी पड़ी।

प्रभावतीगुप्ता के अभिलेखों में उसकी पैतृक वंशावली और सम्बंधों पर अधिक जोर दिया गया है। उसका धारण गोत्र बतलाया गया है, जो विष्णुवृद्ध गोत्र से भिन्न है, जिसमें उसकी शादी हुई। इस काल में वाकाटकों की राजधानी नन्दिवर्द्धन थी, जिसे नागपुर से 28 किलोमीटर की दूरी पर स्थित नंदर्धन या नागर्धन गाँव के रूप में चिन्हित किया गया। मिरेगाँव पट्टीगाँव में प्रभावती के मुहरों पर उसे दो शासकों की माता बतलाया गया है। शायद ऐसा इसलिए कहा गया है कि दिवाकरसेन की राजगद्दी पर बैठने के पहले मृत्यु हो गई और उसके दोनों छोटे भाई दामोदर सेन और प्रवरसेन-II गद्दी पर बैठे।

प्रवरसेन-II के शासनकाल के दौरान सर्वाधिक वाकाटक अभिलेख निर्गत किए गए। प्रारंभिक अभिलेखों को नन्दिवर्द्धन से निर्गत किया गया और बाकी को प्रवरपुरा (वर्द्धा जिला में स्थित पवनार) से। प्रभावतीगुप्ता ने स्वतंत्ररूप से इस दौरान भी अपने अभिलेखों को निर्गत करना जारी रखा। शायद उसकी मृत्यु उसके बेटे के शासनकाल के अंतिम दिनों में हुई। *सेतुबंध* या *रावणवहो* नाम की एक प्राकृत कृति जो राम की लंका यात्रा और रावण विजय पर आधारित है, प्रवरसेन-II द्वारा लिखित बतलाया गया है। यह सिद्ध कर पाना कठिन है कि वास्तव में उसने लिखा या नहीं।

प्रवरसेन-II की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए शायद संघर्ष चला। इस संघर्ष में अंततः नरेन्द्र सेन को सफलता मिली। इस शासक के द्वारा किया गया यह दावा कि कोसल, मेकल और मालव के शासक उसकी आज्ञा का अनुपालन करते थे, निश्चित रूप से एक अतिश्योक्ति है। वास्तविकता यह थी कि उसकी सत्ता को वत्सगुल्म शाखा के उसके अपने सम्बंधी ही चुनौती दे रहे थे। नरेन्द्रसेन ने कुन्तल की राजकुमारी से विवाह किया था, जो कदम्ब की राजकुमारी हो सकती है। हाल में हुए उत्खनन में पवनार से दो ताम्र सिक्के मिले हैं, जो इस शासक से जुड़े हो सकते हैं। वाकाटकों के इस वंश का अंतिम ज्ञात शासक पृथ्वीशेन-II था। अभिलेखों में उसके विषय में लिखा है कि उसने अपने राजवंश को घोर संकट से दो बार उबारा। पवनार से ही प्राप्त एक सिक्का इस शासक का हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाकाटकों की नन्दिवर्द्धन शाखा का पतन वाकाटकों की ही वत्सगुल्म शाखा की प्रतिद्वंदिता अथवा दक्षिण कोसल के नलों के साथ हुए संघर्ष के कारण हुआ।

पहले के अध्यायों में, जूनागढ़ के सुदर्शन झील की चर्चा की गई है। इस झील की इतनी लोकप्रियता बढ़ी कि उत्तरी दक्कन के अन्य झीलों और तालाबों को सुदर्शन नाम से ही जाना जाने लगा। प्रभावतीगुप्ता के संतानों के द्वारा निर्मित अपनी माता की स्मृति में बनाए गए एक जलाशय का नाम भी सुदर्शन ही रखा गया। राजा देवसेन के एक अधिकारी स्वामिल्लदेव के द्वारा बनाए गए सुदर्शन नाम के एक अन्य जलाशय की चर्चा हिस्से-बोरला शिलालेख में की गई है।

वत्सगुल्म वाकाटकों के दूसरी शाखा की राजधानी थी, जिसको अलोका जिला के आधुनिक वाशिम के रूप में चिन्हित किया गया है। वत्सगुल्म शाखा का संस्थापक सर्वसेन-I था। इसने धर्ममहाराज की उपाधि धारण की थी। उसके द्वारा लिखी गई रचना *हरिविजय* के विषय में कालांतर के आलोचकों ने काफी प्रशंसा की है, जिससे पता चलता है कि वह प्राकृत का एक प्रसिद्ध कवि था। यह रचना अब उपलब्ध नहीं है, किंतु इसके कुछ अंश *गाथा सत्सई* में उद्धृत हैं। उसके उत्तराधिकारी विंध्यशक्ति-II के राज्य में संभवतः मराठवाड़ा क्षेत्र भी पड़ता था। हरिषेण के अजन्ता अभिलेख में विंध्यशक्ति-II द्वारा वनवासी के कदम्बों पर विजय का उल्लेख है, जो कुंतल के शासक थे। आज कुंतल, कर्नाटक का उत्तरी हिस्सा है। दरअसल, कदम्बों जैसे उसके उत्तराधिकारी शासकों के काल में अधिक बढ़ा। देवसेन की एक पुत्री का विवाह विष्णुकुण्डिन शासक माधववर्मन-II जनाश्रण से हुआ था।

वत्सगुल्म शाखा का अंतिम ज्ञात शासक हरिषेण था, जिसने अपने राज्यरोहण के बाद तीसरे वर्ष में थालनेर पट्टिकाओं को निर्गत किया। अजन्ता गुफाओं की बहुत सारी रचनाएं उसके शासनकाल की हैं। गुफा संख्या-16 तथा निकटवर्ती घटोत्कच गुफा में उत्कीर्ण अभिलेख उसके एक मंत्री वाराहदेव के आदेश से निर्गत किए गए थे। गुफा संख्या-17 से प्राप्त अभिलेख को उसके अधीनस्थ एक स्थानीय शासक ने उत्कीर्ण करवाया था। अजन्ता गुफा अभिलेख में वाराहदेव के अनुसार, हरिषेण ने कुन्तल, अवन्ति, कलिंग, कोसल, त्रिकूट, लाट और आंध्र क्षेत्रों में अपने शासन का विस्तार किया था। इन अभिलेखों से हमें वाकाटकों की वत्सगुल्म शाखा के राजनीतिक इतिहास की जानकारी मिलती है।

प्रायद्वीपीय भारत के अन्य राजवंश

300–600 सा.सं. के इतिहास में संघर्ष और युद्ध के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और वैवाहिक संधियाँ होती रहीं। भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में विविध प्रकार की राजव्यवस्थाओं का सामंजस्य एक सोपानीकृत शक्ति

संतुलन के अंतर्गत होता चला गया। इनका राजनीतिक अस्तित्व, सर्वोच्चता और अधीनस्थता की बहुत स्तरीय प्रणाली के राजनीतिक अस्तित्व सर्वोच्चता और अधीनस्थता की बहु-स्तरीय प्रणाली के रूप में उभरकर सामने आया।

चौथी शताब्दी सा.सं. के ओड़ीसा में बहुत सारे छोटे-छोटे राजघरानों का अस्तित्व था। इनमें से कुछ गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे। दक्षिण ओड़ीसा में जिन राजवंशों का उदय हुआ, उनमें पितृभक्त, माठर और वशिष्ठ प्रमुख थे। पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण कलिंग में पूर्वी गंग राजवंश का उदय हुआ। ऐसा संभव है कि ये पश्चिमी गंग राजवंश की ही एक शाखा थी। जिनका इस क्षेत्र में कर्नाटक से आप्रव्रजन हुआ था। इनकी राजधानी कलिंगनगर थी, जिसकी आधुनिक गंजम जिला के मुखलिंगम से पहचान की जाती है। उत्तरी और मध्य ओड़ीसा में पाए जाने वाले अभिलेखों के आधार पर विग्रह और मुद्गल/मानस जैसे राजघरानों को रेखांकित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त शुभकीर्ति और दत्ता नाम के राजवंश बंगाल के शासक शशांक के सामंत कहे गए हैं। दक्षिण कोसल जिसमें पश्चिमी ओड़ीसा और पूर्वी मध्य प्रदेश के क्षेत्र आते थे, के प्रमुख राजवंशों में नल, शरभपुरिया और पाण्डुवंशियों का नाम प्रमुख है।

पश्चिमी दक्कन के राजवंशों में भोज मूल रूप से बेरार क्षेत्र में स्थापित हुए। इस राजघराने की एक शाखा शायद कोंकण के गोवा क्षेत्र में जाकर बस गई, क्योंकि इस क्षेत्र में सातवीं शताब्दी सा.सं. की तिथियों के कई ताम्र पट्टिकाएं और अभिलेख पाए गए हैं, जो भोजों को समर्पित हैं। त्रैकूटकों का क्षेत्र कन्हेरी से लेकर सूरत तक के बीच के पश्चिमी तटीय किनारे पर अवस्थित था। इनके पहले यह क्षेत्र अमीरों के नियंत्रण में था। अभिलेखों और सिक्कों के आधार पर पाँचवीं शताब्दी के तीन त्रैकूटक शासकों के नाम रेखांकित किए जा सकते हैं। छठी शताब्दी सा.सं. के उत्तरी महाराष्ट्र, गुजरात और मालवा के कुछ हिस्सों में कालचुरियों का उदय हुआ।

पश्चिमी दक्कन में कदम्ब, बाण और अलूप राजघरानों का अस्तित्व था। चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मैसूर क्षेत्र में पश्चिमी गंगा राजवंश का उदय हुआ। इस राजवंश का संस्थापक कोंगुनीवर्मन या माधव था जो कोलार से शासन किया करता था। छठी शताब्दी के मध्य में कर्नाटक क्षेत्र में बादामी के चालुक्य प्रमुख शक्ति के रूप में उभरकर सामने आए।

पूर्वी दक्कन में आधुनिक आंध्र प्रदेश के गुंटूर क्षेत्र में एक राजवंश के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, जो स्वयं को आनन्द नामस्रोतीय पूर्वज का वंशज बतलाते थे। कृष्णा और गोदावरी नदियों के डेल्टाई क्षेत्रों के बीच शासनकायन राजवंश का वर्चस्व था। उनकी राजधानी वेंगी थी। विष्णुकुण्डिन मूलरूप से कृष्णा नदी के दक्षिण में कुर्नुल क्षेत्र से आते थे।

300 सा.सं. और 600 सा.सं. के बीच सुदुर दक्षिण का राजनीतिक इतिहास अस्पष्ट है। काँची के पल्लव उत्तरी पेन्नार और वेल्लार के बीच के क्षेत्र में स्थापित थे, इस क्षेत्र को ताण्डईमण्डलम् कहा गया है। प्राकृत और संस्कृत में लिखे गए कई शिलालेख और ताम्रपत्र अभिलेखों में इस राजवंश के शासकों का उल्लेख है। पुरातात्विक आधार पर इन अभिलेखों का काल तीसरी और सातवीं शताब्दियों के बीच तय किया गया है। प्राकृत अभिलेखों में उद्धृत शासकों के नामों में शिवस्कन्दवर्मन का भी नाम आता है, जिनका शासनकाल चौथी शताब्दी सा.सं. के प्रारंभ में था। समुद्रगुप्त के द्वारा दक्षिणापथ के पराजित शासकों में विष्णुगोप का भी नाम आता है। संस्कृत के अभिलेखों में वीरकुर्चा स्कन्दशिष्य, सिंहवर्मन-I तथा सिंहवर्मन-II जैसे राजाओं का नाम आता है। छठी शताब्दी के अंत में सिंहवर्मन के द्वारा पल्लवों के अभूतपूर्व राजनीतिक विस्तार के युग का सूत्रपात किया गया।

पाण्ड्य, पल्लव और चालुक्य अभिलेखों में राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल के एक संक्षिप्त काल का वर्णन है, जिसके मूल में कालाभ्र लोगों की भूमिका थी। यह स्पष्ट नहीं होता कि कलभ्र कहे जाने वाले लोग कौन थे। विभिन्न स्रोतों में उनके विषय में अलग-अलग अनुमान लगाया गया है, जिसमें कोड्डुमबल्लुर के मुत्तरैयार शासक, वेल्लाल समुदाय के कार्लप्पलार अथवा संगम साहित्य में वर्णित कलवर इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐसा लगता है कि कुछ शताब्दियों तक तमिल क्षेत्रों में कलभ्रों का उत्पाद रहा, किंतु बाद में पाण्ड्य, पल्लव और चालुक्यों के हाथों इनको दबा दिया गया।

गुप्त और वाकाटक राज्यों की प्रशासनिक संरचना

(The Administrative Structure of the Gupta and Vakataka Kingdoms)

300 सा.सं. के बाद से शासकों के द्वारा धारण की गई उपाधियों के आधार पर इस काल के राजनीतिक सोपानीकरण को रेखांकित किया जा सकता है, जिसमें सर्वोच्चता और अधीनस्थता का राजनीतिक व्यवहार प्रतिबिम्बित होता है। गुप्त सम्राटों ने महाराजाधिराज, परमभट्टारक और परमेश्वर जैसी उपाधियाँ धारण कीं, जिनको हम साम्राज्यवादी उपाधियों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने देवताओं से सम्बंध को प्रदर्शित करने वाली उपाधियाँ भी धारण कीं, जैसे—परदैवत (देवता के सर्वोपरि उपासक) तथा परमभागवत (वासुदेव कृष्ण

के सर्वोपरि उपासक)। इनके आधार पर कुछ इतिहासकारों का मानना है कि गुप्त राजाओं ने राजस्व के दैवीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उदाहरण के लिए, इलाहाबाद प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को धरती पर रहने वाले देव अथवा पुरुष, धनाढ्य (कुबेर), वरूण, इंद्र, अन्तक (यम) जैसे देवताओं के समकक्ष वर्णन किया है। दरअसल, इनके द्वारा सम्राट की हैसियत को सबसे ऊँचा दिखलाने का प्रयास किया जा रहा था न कि राजा के दैवीय सिद्धांत को स्थापित किया जा रहा था। मुहरों और अभिलेखों में राज्य के जिन प्रशासक और अधिकारियों का उल्लेख किया गया है, उनका सटीक अर्थ निकाल पाना मुश्किल है। वैशाली से प्राप्त छः मुहरों पर कुमारामात्य की चर्चा की गई है, जो किसी सर्वोच्च अधिकारी, जिसका स्वतंत्र अधिकार क्षेत्र (अधिकरण) रहा हो, को प्रतिबिम्बित करता है। भीटा से प्राप्त मुहरों पर अमात्य नाम के अधिकारियों का जिक्र है। इसलिए कुमारात्य, अमात्यों के प्रधान तथा शाही परिवार के किसी व्यक्ति की उपाधि मालूम पड़ती है। हो सकता है कि चयनित उत्तराधिकारी अथवा राजस्व विभाग के प्रमुख या किसी प्रांत के प्रमुख इत्यादि के रूप में ये सम्राट से प्रत्यक्ष रूप से सम्बंधित रहे होंगे। वैशाली के एक मुहर पर किसी कुमारामात्य का नाम अंकित है, लिच्छवियों के प्रसद्धि राज्याभिषेक जलाशय की देखरेख, जिसकी दायित्व थी।

कई बार, कुमारामात्य पद के अधिकारियों के साथ अतिरिक्त उपाधियाँ भी लगी होती थीं और यह पद वंशानुगत भी प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, इलाहाबाद प्रशस्ति का रचयिता, एक कुमारामात्य संधिविग्रहिक और महादण्डनायक भी था और वह महादण्डनायक ध्रुवभूति का पुत्र था। कुमार गुप्त के द्वारा प्रेसित करमदंड शिलालेख में मंत्री—कुमारामात्यों की दो पीढ़ियों का उल्लेख है—शिखरस्वामी जो चन्द्रगुप्त-II के काल में था और शिखर स्वामी का पुत्र पृथ्वीशेन, जो कुमारगुप्त-I के काल में था। पृथ्वीशेन को महाबलाधिकृत भी बतलाया गया है।

गुप्त साम्राज्य प्रांतों में बँटा था, जिन्हें देश या भुक्ति कहा जाता था। जिसका शासन गवर्नर के अधीन था, जिन्हें उपरिक कहा गया है। उपरिक नामक अधिकारी की नियुक्ति सीधे सम्राट के द्वारा की जाती थी। वैशाली से प्राप्त एक मुहर में तीर भुक्ति के उपरिक की चर्चा की गई है। दामोदरपुर ताम्रपत्रों में से एक पर (गुप्त संवत् 124 और 129) पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के उपरिक चिरातदत्त का उल्लेख है, जिसकी नियुक्ति सम्राट (कुमारगुप्त-I) ने की थी। इसमें आगे लिखा गया है कि चिरातदत्त ने कुमारामात्य वेत्रवर्मन को कोटिवर्ष के अधिष्ठान अधिकरण (जिला कार्यालय) के प्रमुख के रूप में नियुक्त किया। एक दूसरे दामोदरपुर ताम्रपत्र (तिथि अज्ञात) में उल्लेख है कि कुमारगुप्त-I ने महाराज जयदत्त की नियुक्ति इसी प्रांत के उपरिक के पद पर की। जयदत्त ने आयुक्त भंडक को कोटिवर्ष के अधिष्ठान अधिकरण के प्रमुख के रूप में नियुक्त किया। विष्णुगुप्त के शासनकाल में निर्गत एक अन्य दामोदरपुर ताम्रपत्र (गुप्त संवत् 224) में एक उपरिक की चर्चा है, जिसका नाम मिट गया है, किंतु उसकी उपाधियाँ महाराज, भट्टारक तथा राजपुत्र दी गईं हैं तथा जिसने स्वयंभू देव की नियुक्ति विषयपति के पद पर की। इसमें यह भी उल्लेख है कि उपरिक घोड़े, हाथी और सैनिकों से युक्त प्रशासनिक अधिकारों का उपभोग करता था। इससे उपरिकों के सैन्य नियंत्रण सम्बंधी अधिकारों का भी संकेत मिलता है। दामोदरपुर ताम्रपत्रों के इन तीनों संस्करणों में उपरिक के साथ महाराजा की उपाधि भी दी गई है, जिससे प्रशासनिक सोपानीकरण में उसकी उच्चस्थ स्थिति का स्पष्ट संकेत मिलता है। बुधगुप्त के एरण स्तंभ अभिलेख (गुप्त संवत 165) में महाराज सुरश्मिचंद्र को एक लोकपाल कहा गया है, जिसके अधीन कालिंदी और नर्मदा नदियों के बीच का क्षेत्र था। यहां लोकपाल का अर्थ प्रांतीय गवर्नर प्रतीत होता है।

सौराष्ट्र गुप्त साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रांत था। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में सुदर्शन झील के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है कि किस प्रकार मौर्य काल में बने इस जलाशय का जीर्णोद्धार रुद्रदमन के काल में किया गया। इस अभिलेख में उद्धृत है कि स्कन्दगुप्त ने पर्णदत्त को सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) के गोप्तृ (राज्यपाल) नियुक्त किया। पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को उस नगर के प्रशासक के रूप में नियुक्त किया, जिस नगर में यह अभिलेख उत्कीर्ण था। गुप्त संवत 136 (455-56 सा.सं.) में अत्याधिक वर्षा के कारण सुदर्शन झील का बाँध टूट गया। चक्रपालित के द्वारा दो वर्षों के निर्माण कार्य के बाद इसे पुनः संवत 137 (456-57 सा.सं.) बाँधा गया। इस अभिलेख से पिता के द्वारा पुत्र को प्रशासनिक दायित्वों के हस्तांतरण अथवा जलाशयों के निर्माण कार्यों में प्रांतीय शासन की भूमिका जैसे प्रशासनिक व्यवहारों का अंदाज लगाया जा सकता है।

गुप्त साम्राज्य के प्रांत, जिलों में बंटे थे, जिसे विषय कहा जाता था। यह प्रशासनिक इकाई विषयपतियों के अधीन होती थी। सामान्य रूप से विषयपतियों की नियुक्ति प्रांतीय राज्यपालों के द्वारा की जाती थी। हालांकि, गुप्त संवत 146, स्कन्दगुप्त के शासनकाल में निर्गत, इंदौर ताम्रपत्र अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती। इसमें यह वर्णन मिलता है कि अंतरवेदी (इंदौर या कन्नौज) के विषयपति शर्वनाग की नियुक्ति के पीछे स्वयं सम्राट की प्राथमिकता थी। हूण शासक तोरमाण के समय के एरण स्तंभ अभिलेख में ऐरकिन विषय का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गुप्तोत्तर काल में भी गुप्तकालीन प्रशासनिक इकाइयों का अस्तित्व बना हुआ था।

प्राथमिक स्रोत

एक पुरातन पंचायत?

मध्य भारत के सांची बौद्ध विहार स्थल पर 300-600 सा.सं. के बीच के आठ अभिलेख मिले हैं। इनमें से 11 पंक्तियों वाला एक पुरालेख, स्तूप संख्या एक के पूर्वी प्रवेशद्वार के बाहर मिला है। पुरालेख कई स्थानों पर नष्ट हो चुका है और विद्वानों के बीच इसके पढ़ने और व्याख्या करने में काफी मतभेद रहा है। इस पर गुप्त संवत् 93 अंकित है। अत: यह 412-13 सा.सं. में निर्गत हुआ और इसकी 7वीं पंक्ति में देवराज के रूप में महाराजाधिराज चंद्रगुप्त का उल्लेख है। निश्चित रूप से यह चंद्रगुप्त द्वितीय की ओर इशारा करता है।

अभिलेख की शुरुआत ककनादबोट महाविहार के बौद्ध संघ की प्रशस्ति से होती है। अभिलेख में सुकुली क्षेत्र के निवासी उनदान के पुत्र आम्रकाद्र्दव का परिचय कराया गया है, जो चंद्रगुप्त-II का सेनापति था। अभिलेख में ईश्वरसाक (शायद एक गाँव) के भूमि अनुदान और 25 दिनारों के दान की बात कही गई है। अनुदान की प्रकृति स्थायी है। इस अनुदान के आधे हिस्से को पाँच बौद्ध भिक्षुओं के रख-रखाव के लिए और संघ के रत्नगृह में एक अहर्निस दीप जलाने की व्यवस्था के लिए, चंद्रगुप्त की ओर से खर्च किया जाना था। जबकि शेष आधे हिस्से को, जो शायद वित्तीय अनुदान से प्राप्त होने वाला लाभांश था, उसे अम्रकरद्दव की ओर से पाँच भिक्षुओं के रख-रखाव और रत्नगृह में दीप जलाने के लिए खर्च किया जाना था।

अभिलेख की पंक्ति संख्या 5 और 6 की व्याख्या के सम्बंध में मतभेद है। एन.जी. मजुमदार के अनुसार, यह भूमि शाही परिवार (राजकुल) के माजा, सरभंग और अम्रप्रात, नाम के सदस्यों से खरीदी गई थी। फ्लीट का भी यही मानना है, जबकि छाबड़ा और घई ने राजकुल की व्याख्या एक राजप्रसाद के रूप में की और उनके अनुसार, माजा, सरभंग और अम्रप्रात चंद्रगुप्त-II के द्वारा प्रयोग में लाए गए राजप्रसादों के नाम हैं, जिनका उपयोग उसने अपने सैन्य अभियानों के दौरान किया। इनके इस व्याख्या के आधार पर ईश्वरवासक की भूमि को उक्त राजप्रासादों के विक्रय से प्राप्त राशि से खरीदा गया। हालांकि, डी.सी. सरकार ने भी राजकुल को राजपरिवार के रूप में ही देखा है। लेकिन उन्होंने अपनी व्याख्या में इस तथ्य को भी जोड़ा कि वासक (आवासीय भूमि) के आधे मूल्य को आम्रकाद्र्दव के द्वारा चुकाया गया था, जबकि शेष आधे मूल्य को उसके मित्रों के द्वारा। छाबड़ा और घई ने यह अनुमान लगाया कि भूमि अनुदान से प्राप्त राजस्व और वित्तीय अनुदान से प्राप्त लाभांश के द्वारा एक ही प्रकार की गतिविधियों का खर्च वहन किया जा रहा था। तब दोनों प्रकार के अनुदानों का मूल्य प्राय: एक ही होगा।

अभिलेख की पंक्ति संख्या-छ: में 'पंचमंडल्या प्रणिपत्य' उद्धृत है। फ्लीट ने मंडल्य के जगह मंडल्यम को रखकर यह देखा कि इसके आधार पर जो व्याख्या की जा सकती है, उसके अनुसार, आम्रकाद्र्दव ने अनुदान निर्गत करने के समय ग्राम पंचायत के सम्मुख षाष्टांग दण्डवत किया।

दूसरी ओर एन.जी. मजुमदार ने 'पंचमंडल्य प्रणिपत्य' पंक्ति को यथावत् रखा और उसका अनुवाद इस प्रकार किया 'पाँच की समूह के साथ स्वयं भी षाष्टांग दण्डवत् किया', किंतु मजुमदार ने यह भी माना कि वे अर्थ के विषय में स्पष्ट नहीं हैं। डी.आर. भंडारकर और जी.एस. घई का मानना है कि फ्लीट की संशोधित व्याख्या का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि पंच-मंडली ग्रामस्तर की कोई सभा है, तब उस स्थिति में इस शब्द का अर्थ कर्मकारक होगा, न कि अधिकरणकारक। उनका मानना है कि इस पंक्ति के अनुसार, अम्रकरदव अपने शरीर के पाँच अंग—ललाट, भुजा, कमर, घटना और पैर के सहारे जमीन पर षाष्टांग दंडवत कर रहे हैं।

व्याख्या सम्बंधी इन मतभेदों से क्या अर्थ निकलता है? पंच-मंडली की व्याख्या के संदर्भ में ग्रामीण स्तर के पंचायत सरीखे किसी सभा का बोध होना अधिक तर्कसंगत मालूम पड़ता है। आम्रकाद्र्दव के द्वारा भूमि अनुदान निर्गत करने के दौरान षाष्टांग दण्डवत् करने का संदर्भ अन्य समकालीन भूमि अनुदान लेखों में प्रतिबिम्बित, स्थानीय स्तर के प्रशासनिक विभागों एवं अधिकारियों की सहभागिता से मेल खाता है। इसी प्रकार शाही परिवार के किसी सदस्य के द्वारा भूमि अनुदान के उद्देश्य से किसी भूमि के क्रय करने की बात भी इस काल के भूमि अनुदान लेखों के विवरणों से मेल खाती है। ऐसा लगता है कि सम्राट चंद्रगुप्त-II उक्त अनुदान के भूमि दान वाले हिस्से से और आम्रकाद्र्दव वित्तीय अनुदान वाले हिस्से से जुड़े हुए थे। ऐसा भी हो सकता है कि आम्रकाद्र्दव सम्राट के प्रति अपनी आस्था की अभिव्यक्ति करते हुए उक्त अनुदान में सम्राट के पुण्य की सहभागिता की अपेक्षा रख रहे थे। हालांकि, अभी भी इस अभिलेख के कुछ महत्त्वपूर्ण हिस्सों की व्याख्या के सम्बंध में विसंगतियाँ उपस्थित हैं, किंतु सांची बौद्ध विहार के संदर्भ में भूमि अनुदानों से सम्बंधित यह एक मात्र प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में इसका बहुत महत्त्व है।

स्रोत: छाबड़ा और घई, 1981: 251

कुमारगुप्त के शासनकाल (गुप्त संवत 124) की तिथि के एक दामोदरपुर ताम्रपत्र से बंगाल प्रांत के जिला स्तरीय प्रशासन के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। इसमें कोटिवर्ष विषय के अधिष्ठान अधिकरण के द्वारा किसी ग्राम स्तरीय अधिकारी को निर्गत भूमि हस्तांतरण के सम्बंध में दिए गए निर्देश का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उपारिक या विषयपति के साथ नगरश्रेष्ठि, सार्थवाह, प्रथम-कुलिक (मुख्य शिल्पी या व्यापारी) तथा प्रथम कायस्थ (मुख्यलिपिकार अथवा राजस्व वसूली से जुड़ा अधिकारी) का भी उल्लेख है। इस प्रकार विषयपति द्वारा जिला स्तरीय प्रशासनिक दायित्वों के निर्वाह के लिए नगर समुदाय के कई गणमान्य सदस्यों की भी सहभागिता होती थी।

जिला स्तर के नीचे कई बस्तियों को मिलाकर एक दूसरी प्रशासनिक इकाई थी, जिसे—वीथि, पट्ट, भूमि, पथक या पेठ इत्यादि के रूप में जानते थे। आयुलन और वीथि महत्तर जैसे दो अधिकारियों का उल्लेख आता है। ग्राम स्तर पर संभव है कि ग्रामिक या ग्रामाध्यक्ष जैसे अधिकारियों का चुनाव किया जाता था। ग्रामवृद्धों का भी प्रशासनिक मामलों में प्रभाव था। बुधगुप्त के शासनकाल में निर्गत (गुप्त संवत 163) दामोदर ताम्रपत्र अभिलेख अष्टकुल-अधिकरण (आठ सदस्यों वाला एक बोर्ड) की चर्चा हुई है। इस परिषद् की अध्यक्षता महत्तर करता था। हालांकि, ग्राम वृद्ध, ग्रामिक अथवा परिवार के मुखिया भी महत्तर ही कहे जाते थे। चंद्रगुप्त-II के राज्यकाल में निर्गत सांची अभिलेख में जिस पंच-मंडली का उल्लेख है वह ग्राम स्तर का एक प्रतिनिधि परिषद हो सकता है।

गुप्त सम्राट की सहायता के लिए एक सशक्त मंत्री-परिषद का अस्तित्व था। इलाहाबाद प्रशस्ति में जिस सभा का उल्लेख है, वह दरअसल इसी मंत्री परिषद् की ओर इशारा करता है। उच्चस्थ पदाधिकारियों में संधिविग्रहक और महासंधिविग्रहक का भी स्थान था, जो विदेशी तथा अन्य राज्यों से सम्बंध, युद्ध की घोषणा और समाप्ति अथवा संधियों का संचालन करते थे। इलाहाबाद प्रशस्ति के कृतिकार हरिषेण, अन्य दायित्वों के साथ-साथ सन्धिविग्रहक का दायित्व भी संभालते थे। उदयगिरि अभिलेख में चंद्रगुप्त द्वितीय के सन्धिविग्रहक वीरसेन शब के विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह एक कवि भी थे। इन दोनों अभिलेखों के आधार पर ऐसा लगता है कि सन्धिविग्रहक के पद पर बैठने वाले अधिकारी मात्र प्रारूपकार नहीं, बल्कि कहीं अधिक क्षमताओं के धनी होते थे।

300-600 सा.सं. के बीच के अनेक अभिलेखों में दण्डनायक और महादण्डनायक का उल्लेख है, जो उच्चस्थ न्यायायिक तथा सैन्य अधिकारी थे। वैशाली से प्राप्त एक मुहर पर अग्निपुत्र नाम के एक महादण्डनायक का उल्लेख है। इलाहाबाद प्रशस्ति में तीन महादण्डनायक का जिक्र आया है। प्रशस्ति के लेखक हरिषेण एक महादण्डनायक के साथ-साथ संधिविग्रहक और कुमारामात्य भी थे। उनके पिता ध्रुवभूति महादण्डनायक और खाद्यतपकित के पदों पर आसीन रहे थे। इस साक्ष्य से इन उच्चस्थ पदों के वंशानुगत स्वरूप का बोध होता है। अभिलेख के अनुसार, तिलकभट्ट नाम के एक महादण्डनायक के द्वारा इसे निर्गत करवाया गया था। भीटा से प्राप्त एक मुहर पर विष्णुरक्षित नाम के महादण्डनायक का उल्लेख है। इस अधिकारी के पास महाश्वपति (घुड़सवार सेना का संचालक) का पद भी था और जिसने कुमारामात्य की नियुक्ति भी की थी।

अभिलेख तथा मुहरों पर सेना के उच्चस्थ अधिकारी के रूप में बलाधिकृत और महबलाधिकृत का वर्णन मिलता है। वैशाली के मुहर पर यक्षवत्स नाम के एक भाटाश्वपति (पैदल तथा घुड़सवार सेना) का जिक्र मिलता है। सेनापति पद का उल्लेख वाकाटकों के अभिलेखों में तो है, किंतु गुप्त अभिलेखों में नहीं। वैशाली के एक मुहर पर रणभंडारगारधिकरण का विवरण है जो सैन्य भण्डारग्रह का अधिकारी था। वैशाली के ही एक अन्य मुहर पर दण्डपाशिक के कार्यालय का उल्लेख है जो कदाचित् जिला स्तरीय आरक्षी कार्यालय हो सकता है।

प्रत्यक्ष रूप से राजा के लिए उत्तरदायी अधिकारियों में महाप्रतिहार (शाही सुरक्षा के सैनिक) और खाद्यतपकित (शाही रसोई का अधिकारी) प्रमुख थे। वैशाली के अभिलेख पर विनयशूर नामक महाप्रतिहार व तरवर के पदों पर आसीन व्यक्ति का उल्लेख है। तरवर नाम के एक उच्चस्थ पदाधिकारी का उल्लेख नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त एक प्रारंभिक अभिलेख में हुआ है। अमात्य और सचिव भी उच्चाधिकारी की सूची में है जो विभिन्न विभागों का संचालन करते थे। खुफिया जानकारी के लिए दूतक बहाल होते थे।

उच्चस्थ अधिकारियों की सूची में ही आयुक्तों का जिक्र हुआ है। अशोक के अभिलेखों में वर्णित तथा अर्थशास्त्र में उद्धृत युक्तों की तुलना गुप्तकालीन आयुक्तों से की जा सकती है। इलाहाबाद प्रशस्ति में यह वर्णन मिलता है कि पराजित शासकों की संपत्ति को वापस करने में समुद्रगुप्त के आयुक्तों की सक्रिय भूमिका थी। दामोदरपुर पट्टिकाओं में से एक में यह वर्णन मिलता है कि एक आयुक्तक कोटिवर्ष विषय के जिलास्तरीय प्रशासन का प्रमुख और एक भाण्डक भी था। वैशाली के एक मुहर पर तीरभुक्ति के विनयशीतस्थापक के अधिकरण का उल्लेख किया गया है। विनयशीतिस्थापक का अनुवाद नैतिक और सामाजिक अनुशासन की स्थापना करने वाले के रूप में किया जाता है, लेकिन इस अधिकारी से सम्बंधित विस्तृत सूचना उपलब्ध नहीं है।

वाकाटकों के अभिलेखों में उनके प्रशासनिक संरचना की जानकारी अपेक्षाकृत कम ही मिलती है। वाकाटकों का साम्राज्य प्रांतों में विभाजित था, जिन्हें राष्ट्र या राज्य कहा जाता था। उदाहरण के लिए, वेल्लोरा अभिलेख में

पक्कन राष्ट्र, चम्मक अभिलेख में भोजकट राष्ट्र और पंढुरना अभिलेख में वरुछ राज्य तथा दुधिया और पंढुरना पट्टिकाओं पर अरम्मी राज्य का उल्लेख है। उपरोक्त सभी अभिलेख प्रवरसेन-II के काल के हैं। राज्यों का प्रशासन प्रांतीय गवर्नरों के हाथ में था, जिन्हें राज्याधिकृत कहते थे। प्रांत पुनः विषयों में और विषय आहार एवं भोग अथवा भुक्तियों में उपविभाजित था। वाकाटक अनुदान लेखों में सर्वाध्यक्ष नाम के एक अधिकारी का वर्णन मिलता है जो अपने अधीन कुलपुत्र नाम के अधिकारियों की नियुक्ति करते थे और उनको निर्देश देते थे। कुलपुत्रों द्वारा विधि-व्यवस्था बनाए रखने का काम किया जाता था। क्षत्र और भट राज्य के दमनकारी शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे और इन्हें स्थायी अथवा अस्थायी सैनिकों के रूप में देखा जा सकता है। ये राज्य के भीतरी क्षेत्रों से राजस्व वसूली का कार्य करते थे और शायद विधि-व्यवस्था बनाए रखने में भी सहयोग देते थे। रज्जूक नामक मौर्यकालीन राजस्व अधिकारी की चर्चा प्रवरसेन द्वितीय के इंदौर पट्टिकाओं में मिलती है, किंतु अब के भूमि अनुदान अभिलेख के लेखाकार के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। प्रवरसेन द्वितीय के राज्यारोहण के बाद के विभिन्न वर्षों में अलग-अलग सेनापतियों का नाम आता है। अब या तो इस पद पर आसीन अधिकारियों को बार-बार बदला जा रहा था अथवा अनेक अधिकारियों को यह पदवी दी गई।

वाकाटकों के वत्सगुल्म शाखा के एक मंत्री वाराह देव के द्वारा बौद्ध संघ को प्रदत्त गुफा आश्रयणी की चर्चा अजनता के गुफा संख्या-16 के बाहर अभिलिखित है। इस अभिलेख की प्रथम 20 प्रत्यात्मक पंक्तियाँ शासनारूढ़ शासक हरिषेण की वंशावली से सम्बंधित हैं। इसी अभिलेख में हरिषेण के अधीन वाराहदेव और उसके पिता देवसेन के अधीन वाराहदेव के पिता हस्तिभोज के मंत्री होने की चर्चा की गई है। हस्तिभोज के विषय में कहा गया है कि वे चौड़े वक्ष वाले, सहिष्णु और अत्यंत क्षमतावान व्यक्ति थे, जिन्होंने शत्रुओं के संघ का विनाश कर दिया। लोक कल्याण की दृष्टि से वे अपनी प्रजा के लिए पिता-माता और मित्र के समान थे। देवसेन उन पर इतना विश्वास करते थे कि अपने राजपाट की संपूर्ण बागडोर उनको सौंपकर स्वयं भोग-विलास में लिप्त रहते थे। वाराहदेव के विषय में भी यही कहा गया है कि उसने कुशलतापूर्वक राज-काज संभाला उसमें उदारता और क्षमाशीलता के गुण थे। गुवड़ा के घटोत्कच्छ गुफा, अजन्ता से 11 मील पश्चिम में है। यहां से प्राप्त अभिलेख के निर्गतकर्त्ता का नाम नष्ट हो चुका है, किंतु अन्य साक्ष्यों के अनुसार, यह वाराहदेव का ही अभिलेख रहा होगा। अभिलेख के अनुसार, इस परिवार को उच्च कोटि का वल्लूर ब्राह्मण बताया गया है। वल्लूर इनका मूल गाँव रहा होगा, जिसे कर्नाटक के करीमनगर के वर्तमान के वेलूर गाँव से चिन्हित किया जाता है। इस परिवार की वंशावली और प्रशस्ति उत्कीर्ण है और ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी नौ पीढ़ियों ने वाकाटकों के अधीन मंत्री के पद पर सेवा दी थी।

वाकाटकों के अधीनस्थ सामंतों के द्वारा निर्गत किए गए अभिलेखों में कुछ अतिरिक्त प्रशासनिक शब्दावलियों का वर्णन भी मिलता है। मेकल के शासक भरतबल के बमहनी अभिलेख में रहसिक नाम के अधिकारी की चर्चा है। हो सकता है यह राजा का विश्वासी किंतु एक गुप्त अधिकारी रहा हो। इसी अभिलेख में ग्रामकूट या मुखिया का भी जिक्र है। देववारिक पद गाँव के आरक्षी प्रमुख का था। वाकाटकों के भाटों की तुलना गण्डक नामक अधिकारी वर्ग से की जा सकती है। द्रोणाग्रक या द्रोणमुख भी एक प्रशासनिक इकाई थी, जिसका अधिकारी द्रोणाग्रकनायक कहलाता था।

राज्यों के राजस्व स्रोत

(Revenue Resources of States)

नारदस्मृति (18.48) यह घोषित करता है कि प्रजा राजा को इसलिए राजस्व देती है क्योंकि वह उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। कामंदक के *नीतिसार* 5.84-85 में यह सुझाव दिया गया है कि राजा को राजस्व और कर के संदर्भ में एक माली या दूध दूहने वाले इंसान की तरह होना चाहिए। ठीक उसी तरह जिस तरह कभी-कभी गायों की सेवा की जाती है और कभी-कभी उनका दूध दूहा जाता है अथवा जिस तरह एक माली अपने पौधों की देख-रेख करता है, उनमें पानी देता है और कभी-कभी उनकी कांट-छांट करता है। ठीक उसी तरह राजा को धन से एवं अन्य सभी प्रकार से अपनी प्रजा की मदद करनी चाहिए और सुनिश्चित समय पर उनसे कर वसूलना चाहिए। फिर भी कामंदक यह कड़ी चेतावनी भी देते हैं कि वैसे शाही अधिकारी जो अवैध ढंग से धन इकट्ठा करके धनी हो जाते हैं, उनका रक्त उसी तरह निकालना चाहिए, जिस तरह एक पके हुए घाव को शल्य चिकित्सक चीरता है।[2] *अर्थशास्त्र* की तरह ही *नीतिसार* में शाही कोष के महत्त्व को बतलाते हुए विभिन्न प्रकार

2. प्रस्तुत खंड तथा बाद के खंडों में हालांकि, मुख्य संदर्भ 300-600 सा.सं. का लिया गया है, किंतु यत्र-तत्र कुछ प्रारंभिक और कालांतर के स्रोतों का भी संदर्भ लिया गया है, जिससे कम से कम कुछ मुद्दों को दीर्घकालीन स्थाई दृष्टिकोण से देखा जा सके।

के राजस्व स्रोतों का उल्लेख किया गया है। समुद्रगुप्त सरीखे सम्राटों की साम्राज्यवादी महत्त्वकांक्षाएं निश्चित रूप से अधिशेष राजस्व के द्वारा ही संभव हुई होंगी। गुप्त अभिलेखों में राजस्व विभाग के सम्बंध में विस्तृत जानकारी दी गई है। अक्षपटलाधिकृत वैसे अधिकारी थे, जो राजकीय लेखा-जोखा रखते थे। गया के संदिग्ध ताम्रपत्र अभिलेख में भूस्वामी का उल्लेख आता है, जो समुद्रगुप्त के अधीन अक्षपटालिधकृत था और जिसने इस ताम्रपत्र का निर्गत करने का आदेश दिया था। भूमि हस्तांतरण के सम्बंध में लेखा-जोखा रखने के लिए पुस्तपाल नामक अधिकारी हुआ करते थे। गुप्त अभिलेखों में कर, बलि, उद्रंग, हिरण्य जैसे राजस्व सम्बंधी शब्दावलियां आई हैं। वाकाटक अभिलेखों में क्लिप्त और उपक्लिप्त भी शब्द आए हैं। वाकाटक अभिलेखों में विष्टि की भी चर्चा है।

राजस्व की इन शब्दावलियों की सटीक व्याख्या करने में अनेक समस्याएं हैं (देखें झा, 1967; मैटी [1957], 1970: 74–95; सरकार 1966 ए)। 'भाग' राजा के लिए सुरक्षित उपज का हिस्सा होता था जिसे *नारदस्मृति* में कृषि उत्पाद का 1/6वां हिस्सा स्वीकार किया गया है। अपरोक्ष रूप से पहाड़पुर और बेलग्राम ताम्रपत्रों में इस बात की पुष्टि होती है, जिसके अनुसार, किसी अनुदान का 1/6वां हिस्सा जो शायद उत्पादित अनाज के अनुसार तय किया जाता था, राजा को जाना चाहिए, किंतु पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि 1/6वां हिस्से की बात एक पारंपरिक मानदंड है। यह तय नहीं किया जा सकता है कि वास्तव में प्राचीन राज्यों में किसानों से उपज का कितना हिस्सा राजा के द्वारा लिया जाता रहा। कुछ पहले समय की कृति *मनुस्मृति* (7.130–132) में राजा को 1/6वां, 1/8वां तथा 1/12वां हिस्सा जैसे अलग-अलग उपज का भाग देने की बात कही गई है।

गुप्त तथा अन्य समकालीन राजकीय अभिलेखों से भाग के साथ-साथ 'भोग' नामक कर की भी चर्चा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर राजा को ग्रामीणों के द्वारा दिए जाने वाले फल, ईंधन, पुष्प इत्यादि को भोग कहा जाता था। कर एक सामान्य शब्दावली थी, हालांकि, कई बार इसकी व्याख्या विशिष्ट कर के रूप में की जाती है, जैसे—कर को कभी-कभी संपत्ति कर या व्यावसायियों पर लगाए जाने वाले एक आपदा कर अथवा शिल्पकारों एवं अन्य व्यावसायियों पर लगाया जाने वाले कर या एक प्रकार का कृषि सम्बंधित कर इत्यादि के रूप में देखा जाता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि राजा के द्वारा पारंपरिक रूप से प्राप्त किए जाने वाले उपज के भाग के ऊपर इस कर को समय-समय पर ग्रामीणों से लिया जाता था। 'बलि' का उल्लेख कहीं पहले के समय से चला आ रहा है। इसकी भी व्याख्या कर के लिए प्रयुक्त एक सामान्य शब्द के रूप में किया जाता है, किंतु इसे राजा के द्वारा लिया जाने वाला कृषि उत्पादन पर कर (भाग के सामान) अथवा किसी भूमि पर लिया जाने वाला कर या एक प्रकार के धार्मिक कर के रूप में भी देखा जाता है। 'उपरिकर' का अभिप्राय शायद वैसे कर से है, जो उन कृषकों से लिया जाता था जिनका भूमि पर सीधा अधिकार नहीं होता था या यह कर अस्थायी कृषकों पर या अतिरिक्त कर के रूप से लिया जाता था। 'उद्रंग' के विषय में भी काफी मतभेद हैं। यह कर शायद स्थायी रैय्यतों पर से लिया जाता था अथवा *राजतरंगिणी* की माने तो यह एक प्रकार का अवलोकन कार्यालय था। इसी आधार पर यह भी व्याख्या की जाती है कि जिला में स्थानीय आरक्षी थानों के रख-रखाव के लिए एक प्रकार का आरक्षी कर था। एक दूसरे व्याख्या के अनुसार, उद्रंग को उदक से जोड़ते हुए इसे एक प्रकार का सिंचाई कर के रूप में भी देखा जाता है। 'हिरण्य' को सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि यह कृषि उत्पाद के बदले राजा के द्वारा लिया जाने वाला धन था। ऐसा हो सकता है कि यह अनाज के हिस्से के बदले ही उतनी मात्रा में दिया जाने वाला धन था या अनाज वाले हिस्से के ऊपर अतिरिक्त रूप से लिया जाने वाला कर था।

बहुधा प्रयुक्त होने वाले इन राजस्व शब्दावलियों के अतिरिक्त कई ऐसे शब्द भी आए हैं, जिनके विषय में और भी कम जानकारी है। ऐसे शब्दों में 'वात-भूत' भी शामिल लगता है। जिसके विषय में यह सुझाव दिया गया है कि वायु और आत्मा से जुड़े हुए अनुष्ठानिक कार्यकलापों के निष्पादन के लिए यह कर लिया जाता था। इसी प्रकार '*हलिक-कर*' हल पर लिया जाने वाला कर कहा गया है या वैकल्पिक रूप से इसे अतिरिक्त कर के रूप में देखा जाता है जो उस भूमि पर लिया जाता था, जिसपर एक ऋतु में एक हल के द्वारा कृषि सम्पन्न करते थे।

नगरों में लिए जाने वाले करों में शुल्क महत्त्वपूर्ण था। स्कन्दगुप्त के बिहार स्तंभ शिलालेख में जो, शौल्किक नामक अधिकारी की चर्चा है, जो शुल्क की वसूली करता था। वाकटक अभिलेखों में क्लिप्त और उपक्लिप्त शब्दों का उल्लेख है। बी.सी. सरकार के अनुसार, क्लिप्त का तात्पर्य क्रय-कर या बिक्री-कर है, जबकि मैटी के अनुसार, यह किसी प्रकार का कर नहीं था बल्कि भूमि का राजकीय अधिकार की अभिव्यक्ति मात्र थी। क्लिप्त और उपक्लिप्त के विषय में इसी प्रकार कहा जाता है कि यह कुछ अतिरिक्त एवं गौण प्रकृति के करों को कहा जाता था। राज्य के राजस्व स्रोतों में खनन, लवण-खनन, धरोहर, खजाने इत्यादि पर शाही एकाधिकार भी महत्त्वपूर्ण था। ग्रामीणों के द्वारा आंगुतक अधिकारियों को उनके जानवरों के लिए चारा, खाद, इंधन इत्यादि उपलब्ध कराया जाता था। अग्रहार के रूप में दिए जाने वाली भूमि के ऊपर इस प्रकार के कर नहीं लगाए जाते थे।

भूमि का स्वामित्व

(Land Ownership)

प्राचीन तथा पूर्व मध्ययुगीन भारत में भूमि के स्वामित्व का प्रश्न सामुदायिक-स्वामित्व, राजकीय-स्वामित्व और व्यक्तिगत-स्वामित्व के इर्द-गिर्द घूमता रहा है। (मैटी [1967], 1970: 19-33)। हालांकि, धर्मशास्त्रों में राजकोष संपत्ति के विषय में बहुत कुछ कहा गया है, लेकिन जहां तक भूमि सम्बंधी अधिकारों का प्रश्न है, उनमें आपस में ही अपने विवाद दिखलाई पड़ते हैं और एक ग्रंथ में भी कई विरोधाभास देखे जा सकते हैं। कुछ धर्मशास्त्रों के अनुसार, ग्रामीण समुदाय का भूमि सम्बंधित मामलों में विशेषाधिकार था। यद्यपि, इस कथन से उनके सामुदायिक स्वामित्व की पुष्टि नहीं होती है। उदाहरण के लिए, ग्रामीण समुदायों को खेतों की चौहद्दी सम्बंधित विवादों अथवा भूमि के विक्रय से सम्बंधित विवादों के निपटारे में महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई थी। यह राजा का दायित्व होता था कि वह ग्रामीण समुदाय को सूचित करे कि उक्त भूमि उसके द्वारा दान में दी गई है। *विष्णु स्मृति* के अनुसार, (पहले की संकलित की गई मनु नीति के अनुसार) चारागाह की भूमि सामुदायिक संपत्ति मानी जाती थी, जिसका बंटवारा नहीं हो सकता था। ग्रामीण-समुदाय जल संसाधनों पर भी अच्छा खासा अधिकार रखता था।

उसके पहले के काल के कुछ स्रोतों ने अचल संपत्ति की अविभाज्यता के विषय में कहा है, अर्थात जिसका बंटवारा नहीं किया जा सकता। *गौतम स्मृति* (28.46) के अनुसार, भूमि जो रोजगार या जीवन यापन के लिए उपयोग में आती है, उसे बांटा नहीं जा सकता। इसी प्रकार जैमनी के *मीमांसा सूत्र* (चौथी/तीसरी शताब्दी सा.सं.पू.: 6.7.3) में कहा गया है कि यह वसुंधरा सभी के लिए समान रूप से योग्य है और एक सम्राट भी अपनी संपूर्ण भूमि का दान नहीं कर सकता। कई शताब्दियों के बाद इसी विचार को शाबरस्वामिन (चौथी शताब्दी सा. सं.) ने मीमांसा सूत्र पर लिखी गई टीका में दोहराया है। कुछ पुरालेखों का संदर्भ भी दिया जा सकता है, जो इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि प्राचीन भारत में भूमि ग्राम्य समुदाय की संपत्ति होती थी।

दूसरी ओर शाही स्वामित्व या राजकीय स्वामित्व के समर्थन में भी उतने ही प्रमाणों का हवाला दिया जा सकता है। कुछ पहले के काल के संदर्भ में यूनानी वृत्तांतों में यह उल्लेख किया गया है, जिनमें मेगस्थनीज को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि भारत में संपूर्ण भूमि राजा की होती थी, तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजा के लिए सुरक्षित भूमि या 'सीता भूमि' के विषय में कहा गया है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में राजा और धरती के बीच के अन्योन्याश्रय सम्बंध का काफी वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ धर्मशास्त्रों में ऐसे विशिष्ट कथन भी उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर यह तर्क दिया जा सकता है कि राजा ही संपूर्ण भूमि का स्वामी होता था और यही आधार, कर-व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करता था। उदाहरणार्थ, *मनुस्मृति* (8.39) के अनुसार, खानों में से निकाली गई खजिन संपदा के आधे हिस्से का अधिकारी राजा होता था क्योंकि वह धरती का भी स्वामी है और वह सुरक्षा प्रदान करता है। गुप्त काल की धर्म संहिताओं में राजतंत्रीय शक्ति और अधिकार के बढ़ते प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है, और इसके आधार पर राजा के धरती पर स्वामित्व के अधिकार के लिए और मजबूत तर्क ढूंढ़ा जा सकता है, किंतु साथ-साथ इन स्रोतों में कुछ विरोधाभास भी देखे जा सकते हैं, *कात्यायन स्मृति* (श्लोक संख्या-16) कहता है कि राजा भू-स्वामी होता है, इसलिए वह कृषक की उपज का एक चौथाई हिस्सा की मांग कर सकता है, किंतु ठीक दूसरे श्लोक में यह कहा है चूंकि वे भूमि पर निवास करते हैं, इसलिए मनुष्य को उसका स्वामी भी घोषित किया जाता है। *नारद स्मृति* (11.27, 42) के अनुसार, एक राजा को यह शक्ति प्राप्त है कि वह एक किसान को उसके खेत और घर दोनों से बेदखल कर सकता है, लेकिन उसके साथ-साथ यह भी सुझाव दिया गया है कि इस तरह के कठोर उपायों का अवलंबन नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वह किसी गृहस्थ के जीवन निर्वाह का साधन भी है। राजा के भूमि पर स्वामित्व के विषय में असंदिग्ध है, जैसे नरसिंह पुराण के टीका में यह कहा गया है कि भूमि सदैव राजा की होती है, कृषकों की नहीं। 12वीं शताब्दी में भट्टस्वामी के द्वारा लिखी गई अर्थशास्त्र की टीका में भी राजा के भूमि पर स्वामित्व को ही कर-व्यवस्था के औचित्य का आधार बतलाया गया है। दूसरी तरफ प्रारंभिक काल से एक विचारधारा ऐसी थी, जिसने राजा की भूमि पर स्वामित्व के सिद्धांत का खंडन किया और यह कहा कि राजा को जो कर प्राप्त होता है, वह प्रजा को दी जाने वाली सुरक्षा के पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त होता है। जैमिनी और शबर इस विचारधारा के सबसे मजबूत प्रतिपादक प्रतीत होते हैं।

पुरालेख, विशेषकर भूमि अनुदान अभिलेखों को राजा के भूमि पर स्वामित्व के अधिकार को सिद्ध करने के प्रमाण के रूप में दिखलाया जाता रहा है। हालांकि, पुरालेखों और भूमि अनुदान अभिलेखों के आधार पर यह संकेत मिलता है कि कुछ निश्चित भूमि पर स्वामित्व राजा का होता है, लेकिन इसके आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि सभी भूमि पर राजा का स्वामित्व था। यह कि राजा भूमि का संपूर्ण स्वामित्व नहीं रखता था, अनेक पुरालेखों के माध्यम से समर्थित होता है, जिनमें यह चर्चा की गई है कि धार्मिक उद्देश्यों से दिए जाने वाले दान के लिए राजाओं

ने कई बार भूमि का क्रय किया। पूर्व के अध्याय में यह कहा जा चुका है कि उत्तर भारत में निजी संपत्ति के रूप में भूमि का प्रचलन छठी शताब्दी सा.सं.पू. से ही हो चुका था। 300–600 सा.सं. के बीच भूमि का निजीकरण एक संस्थागत रूप धारण कर चुका था। इस काल के धर्म संहिताओं में स्वामित्व भूमि पर दाखिल कब्जा या वैधानिक मान्यता, संपत्ति पर वैधानिक मान्यता जैसे विषयों के बीच भेद किया जाने लगा था। भूमि के बंटवारे, भूमि का क्रय-विक्रय, भूमि को गिरवी रखने, जैसे पहलुओं से सम्बंधित विधि संहिता भी लिपिबद्ध की जा चुकी थी। पुरालेखों में इंगित सूचनाओं तथा साहित्यिक स्रोतों में उल्लिखित निजी भूमि के क्रय-विक्रय की सूचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। ऐसे अनेकों पुरालेखों में निजी व्यक्तियों के द्वारा भूमि के क्रय का ब्यौरा मिल जाता है, जिन्होंने ब्राह्मणों अथवा धार्मिक संस्थाओं को दान देने के लिए उनका क्रय किया था।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन सभी सूचनाओं के बीच किस प्रकार सामंजस्य स्थापित कर एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाए। पुरालेखों के आधार पर नैगमिक अथवा सामुदायिक स्वामित्व के संदर्भ बहुत कम हैं और यदि हैं भी तो पहले के काल के हैं। यदि ग्राम समुदाय अथवा कम से कम ग्राम समुदाय का एक प्रभावशाली हिस्सा भूमि सम्बंधित मामलों में प्रमुखता रखता भी होगा, लेकिन इससे यह नहीं सिद्ध होता कि सामुदायिक या नैगमिक स्वामित्व की बात बिल्कुल सही थी। दूसरी ओर 300 सा.सं. के बाद में साहित्यिक और पुरालेखीय स्रोतों का उपयोग अपने-अपने मत के अनुसार, निजी एवं शाही स्वामित्व के पक्ष या विपक्ष में किया जा सकता है। यह माना जा सकता है कि साहित्यिक कथनों में उपलब्ध विविधताएं विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, किंतु इसी प्रकार का तर्क पुरालेखीय प्रमाणों के संदर्भ में नहीं दिया जा सकता। इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि 300 सा.सं. के बाद से राजा को सैद्धांतिक दृष्टि से सभी भूमि का अधिपति स्वीकार किया जाने लगा, लेकिन उसको व्यावहारिक दृष्टि से सभी भूमि का स्वामी नहीं स्वीकार किया गया। निजी संपत्ति का सिद्धांत वस्तुतः शाही नियंत्रण के सैद्धांतिक दायरे में स्वीकार किया जाता रहा है और राजा के आधिपत्य का अर्थ व्यक्तियों की भूमि पर स्वामित्व के अधिकार का खंडन नहीं करता। कुछ भूमि राजा के सीधे नियंत्रण में थी। इस प्रकार की भूमि के बाहर निजी संपत्ति का सिद्धांत लागू होता था।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन अथवा पूर्व मध्य युगीन भारत के संदर्भ में भूमि पर स्वामित्व का प्रश्न आधुनिक युग के भूमि के स्वामित्व से सम्बंधित पाश्चात्य दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है और स्रोतों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भूमि पर अधिकार के सम्बंध में एक अनुक्रमीय व्यवस्था का अस्तित्व था, न कि भूमि पर संपूर्ण अथवा बिल्कुल स्वतंत्र अधिकार का। उदाहरण के लिए, अशरफपुर ताम्रपत्र (सातवीं/आठवीं शताब्दी) जो बंगलादेश में है, की जमीन के एक हिस्से पर श्रवंतर नाम के एक व्यक्ति का अधिकार था, जिसको शिखर एवं अन्य जोतते थे और उस भूमि के हिस्से को राजा ने संघ मित्र नाम के एक बौद्ध भिक्षु को दान में दिया।

मैटी ([1957], 1970) ने धर्मशास्त्र में उपलब्ध संपत्ति सम्बंधी सभी पहलुओं का विस्तार से अध्ययन किया है। *गौतम धर्मसूत्र* (10.39) तथा *मनुस्मृति* (8.11199) यह वर्णन करते हैं कि स्वामित्व सम्बंधी अधिकारों के संदर्भ में एक भूमि स्वामी अपने संपत्ति के साथ कुछ भी करने का अधिकार रखता था और जिसका तात्पर्य उस भूमि से संपत्ति के विक्रय, दान या भेंट और गिरवी रखने जैसे विशेष अधिकारों का उल्लेख से है। गौतम धर्मसूत्र (2.5-श्लोक 39) में संपत्ति के अधिग्रहण के विभिन्न तरीकों का उल्लेख किया गया है, जिसमें उत्तराधिकार, क्रय, बंटवारा, स्वीकृति और खोज जैसे आधार शामिल हैं। *मनुस्मृति* (10.115) ने संपत्ति के अधिग्रहण के सात वैधानिक तरीकों की एक सूची बनाई है, जिसमें उत्तराधिकार, खोजना या दान में प्राप्त करना, क्रय करना, आक्रमण से प्राप्त करना, सूद पर देना तथा भेंट के रूप में स्वीकार करना शामिल हैं। *बृहस्पति स्मृति* (7.23) में अचल संपत्ति को प्राप्त करने में सात तरीकों का वर्णन किया गया है, जो उधार देना, क्रय करना, गिरवी रखना, शौर्य से प्राप्त करना, विवाह में प्राप्त करना, उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करना अथवा किसी उत्तरधिकारी विहीन सम्बंधी से संपत्ति के रूप में प्राप्त करना शामिल है। *नारद स्मृति* (1.51) की सूची में उत्तराधिकार स्नेह के आधार पर भेंट, घर, परिवार तथा पत्नी की तरफ से भेंट तथा अन्य तीन प्रकार से प्राप्त संपत्ति को सम्मिलित किया गया है, किंतु *नारद स्मृति* (1.52-54) के अनुसार, यह भी स्वीकार किया गया है कि विभिन्न चार वर्णों के सदस्यों के द्वारा संपत्ति को प्राप्त करने का तरीका भी अलग-अलग होता है, जो उनके विशेष पेशे या व्यवसाय पर निर्भर करता है।

मनुस्मृति (9.44) भूमि पर अधिकार अथवा उसके वैधानिक स्वत्वाधिकार के सम्बंधों में यह स्पष्ट रूप से कहता है कि खेत उसी का होता है जो सबसे पहले उसका खर-पतवार हटाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हिरन उसी का होता है, जो सबसे पहले उस पर बाण चलाता है। नारद और *बृहस्पति स्मृतियों* ने किसी भूमि पर लंबे अरसे तक विवादरहित कब्जे को उस सपंति पर स्वामित्व के अधिकार का आधार बनाया है। *नारद स्मृति* (11.24) के अनुसार, यदि किसी भूमि का कोई स्वामी उपलब्ध नहीं है अथवा जिसकी मृत्यु हो चुकी है या जो उस पर खेती नहीं कर सकता। उस भूमि पर यदि कोई दूसरा व्यक्ति बिना किसी विरोध के खेती करता है तो उस खेत से होने वाले पैदावार पर उसका अधिकार मान लेना चाहिए। *बृहस्पति स्मृति* (7.27-28) के अनुसार, यदि तीस वर्षों तक कोई व्यक्ति किसी भूमि पर किसी विरोध या विवाद के उसका उपयोग करता है, तब उस भूमि को

उस व्यक्ति से नहीं छीना जा सकता और उस भूमि के वास्तविक स्वामी का उस पर कोई अधिकार नहीं रह जाता, किंतु ऐसा अधिकार उस व्यक्ति पर लागू नहीं हो जाता जो उस संपत्ति का उपभोग उस संपत्ति के वास्तविक स्वामी के एक मित्र अथवा एक रिश्तेदार के रूप में कर रहा है। इसी प्रकार कोई राजा मंत्री या कोई ज्ञानी ब्राह्मण किसी भूमि पर वैधानिक स्वत्वाधिकार कवेल इसलिए नहीं रख सकता कि वह उस भूमि पर एक लंबे समय से कब्जा रखे हुए है। (*बृहस्पति* 7.44–46)। *नारद स्मृति* (1.91) और *बृहस्पति स्मृति* (7.54) दोनों के अनुसार, यदि किसी संपत्ति का उपयोग तीन पीढ़ियों के द्वारा किया जा चुका है और चौथी पीढ़ी उसका उपयोग करने लगती है, तब उस भूमि में जुड़े वैधानिक स्वायत अधिकार का कोई प्रश्न नहीं उठता और उस भूमि को उनसे नहीं छीना जा सकता।

यद्यपि, दूसरी ओर इन्हीं ग्रंथों में ऐसे कई कथन उपलब्ध हैं, जिनके अनुसार, किसी भूमि पर लंबे अर्से तक कब्जा का होना उसके व्यक्तिगत वैधानिक स्वायतता का आधार नहीं बन सकता। *याज्ञवल्क्य* और *बृहस्पति स्मृतियों* ने भूमि पर कब्जे और भूमि पर वैधानिक स्वायतक अधिकार के बीच अंतर को स्पष्ट किया है। *बृहस्पति स्मृति* (7.24–25) और *नारद स्मृति* (1.84) यह मानते हैं कि केवल किसी संपत्ति पर अधिकार होना या कब्जा होना उस संपत्ति पर व्यक्ति के स्वायत अधिकार को सुनिश्चित नहीं करता, बल्कि किसी भी संपत्ति के अधिकार की वैधानिक मान्यता ही उसे न्यायोचित ठहरा सकती है। *नारद स्मृति* (1.84–87) जैसे कालांतर के संहिताओं में अवैध कब्जे से जुड़े कानूनों को लिखा गया है और यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति संपत्ति पर अपने वैधानिक अधिकार का प्रमाण नहीं दे सकता, तो उसे एक चोर समझना चाहिए, यद्यपि, कि उसने उस संपत्ति पर सैंकड़ों वर्षों तक अधिकार क्यों न रखा हो।

भूमि के प्रकार, भूमि का माप और काश्तकारी की अवधि

(Types of Land, Land Measures and Land Tenure)

नीतिसार (2.20) में वैश्यों के द्वारा जीवनयापन के लिए अपनाए जाने वाले तीन स्रोतों का वर्णन किया गया है। यह हैं—पशुपालन, कृषि और व्यवसाय तथा राजा से यह अपेक्षा की गयी है कि इन गतिविधियों में निष्णात व्यक्तियों के लिए यह सुनिश्चित करें कि उन्हें किसी प्रकार की कमी न हो। साहित्यिक स्रोतों के अतिरिक्त अभिलेखों में भी भूमि के प्रकार, काश्तकारी की अवधि और भूमि की नाप की पद्धतियों के विषय में चर्चा की गई है। *अमरकोश* में बारह प्रकार की भूमियों की सूची दी गई है, उर्वर, उषर (बंजर), मरू (मरूस्थल) अप्रहत (परती), शाद्वल (घास वाली जमीन) पंकिल, जलप्रायानुपम (नमीयुक्त), कच्च (जल स्रोत के निकट), शर्करा (चूना पत्थर के टुकड़ों एवं कंकड़ों से युक्त), शर्करावती (बलुआही), नदीमातृक (नदी के द्वारा सिंचित) तथा देवमातृक (वर्षा के द्वारा सिंचित)। पुरालेखों में क्षेत्र शब्द का उपयोग खेत के लिए किया गया है, विशेष रूप से कृषि की जाने वाली भूमि के लिए। 'खिल' शब्द का उपयोग कृषि योग्य परती भूमि के लिए या बिना जुते हुए खेत के लिए किया गया है। 'अप्रहत' का भी अर्थ कृषि योग्य परती भूमि के लिए किया गया है। 'अप्रदा' शब्द का उपयोग बिना बंदोबस्त की हुई भूमि के लिए हुआ है। वास्तु, निवास-योग्य भूमि के लिए भी अमरकोश जैसे साहित्यिक स्रोतों में विभिन्न प्रकार के अनाजों की भी चर्चा की गयी है। वराहमिहिर की *बृहत् संहिता* में खराब फसल तथा अकाल की स्थिति से जुड़े ज्योतिषीय लक्षणों की चर्चा की गयी है। पेय जल तथा सिंचाई व्यवस्था के लिए विभिन्न प्रकार के जलछक्कन कार्यों का भी उल्लेख मिलता है, यथा—कुँआं, नहर, पोखर तथा बांध इत्यादि साहित्य स्रोतों में देखे जा सकते हैं। जूनागढ़ अभिलेख जैसे अभिलेखों में यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार के कार्यों के लिए राज्य की क्या भूमिका रही होगी।

बहुत सारे पुरालेखों में परती भूमि के लिए आवेदित करने वाले दान प्राप्तकर्त्ताओं की चर्चा की गयी है, जैसे—गुनाइगढ़ दान अभिलेख, जो वैनगुप्त के द्वारा निर्गत किया गया अथवा दामोदरपुर, पहाड़पुर तथा बेग्राम ताम्रपत्र अभिलेख इत्यादि। यह स्पष्ट नहीं होता कि ऐसे आवेदन कृषि योग्य भूमि पर बढ़ते हुए दबाव के कारण अथवा वैसी भूमि की अपेक्षा न्यूनतर मूल्यों की भूमि के कारण या इन परती भूमि के उद्धार के लिए सरलता से उपलब्ध होने वाले कर-राहत के कारण किए जा रहे थे।

साहित्य तथा अभिलेखों में विभिन्न प्रकार की भूमि माप पद्धतियों से जुड़े हुए शब्दों का उल्लेख मिलता है (मैटी [1957], 1970: 48–61)। अंगुल, भूमि का सबसे छोटा माप प्रतीत होता है (संभवत: 3/4 इंच)। हस्त या हाथ, जो केहुनी के सिरे से लेकर मध्यमा तक के बीच की दूरी के लिए प्रयोग होता था (18 इंच)। धनु, दंड और नाल जैसे भूमि माप के वृहत्र इकाइयों की भी चर्चा की गई है। उत्तर भारत में भूमि नाप के लिए आढवाप (3/8–1/2 एकड़), द्रोणवाप (1/2–2 एकड़) तथा कुल्यवाप (12–16 एकड़) जो क्रमश: एक अधक, द्रोण तथा कुल्य मात्रा में अनाज को उपजाने के लिए आवश्यक थी, का उपयोग हुआ है। पाटक भी भूमि माप की एक इकाई थी, जो शायद 60–80 एकड़ भूमि के बराबर हो सकती है। अन्य शब्दों में प्रवरतवाप भी आता है, जो शायद कुल्यवाप से कहीं छोटी इकाई थी। पदावर्त (1 फीट से कुछ अधिक) तथा भूमि इत्यादि का भी

प्रयोग हुआ है। भूमि-माप की इतनी अधिक पद्धतियों से यह संकेत मिलता है कि भूमि-माप की कोई एक मानक इकाई नहीं थी, बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में भूमि-माप के लिए विभिन्न इकाइयों का प्रयोग होता गया।

बृहस्पति और *नारद स्मृतियों* में इस बात पर जोर दिया गया है कि भूमि की चौहद्दियों को स्पष्ट रूप से सीमांकित किया जाना चाहिए। पुरालेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा संभावित विवादों से बचने के लिए किया जाता था। चौहद्दियों को सीमांकित करने के लिए स्तंभ और खाइयों का प्रयोग होता था। इसके अलावा वृक्षों, पोखर, चींटियों का टीला जैसे प्राकृतिक विशेषताओं का भी उपयोग किया जाता था। *बृहस्पति स्मृति* (19.20-22) यह सुझाव देता है कि सूखे हुए गोबर, हड्डियां, कोयले, मृद्भाण्डों के ठीकरे, ईंट, पत्थर, कपास के बीज, राख इत्यादि को घड़े में भरकर चौहद्दी को स्पष्ट करने के लिए गाड़ दिया जाता था। चौहद्दी को स्पष्ट करने वाल इन सूचकों के विषय में कहा गया है कि इन्हें अपनी संतति को तथा अगली पीढ़ी को बतला सके जब वे उम्रदराज हो जाए। इस प्रकार भूमि संपत्ति की चौहद्दी उस परिवार के सामान्य ज्ञान का हिस्सा बन जाए और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक वे सूचनाएं हस्तांतरित हो जाए।

काश्तकारी की अवधि के संदर्भ में इस काल के अभिलेखों में बहुत सारे पारिभाषिक शब्द देखे जा सकते हैं, जिनका उपयोग भूमि दान प्राप्तकर्त्ताओं को दी जाने वाली भूमि पर साथ में दिए जाने वाले अधिकारों के लिए किया गया है (मैटी, [1957], 1970: 36-45)। नीवि-धर्म के अंतर्गत दिए जाने वाले भूमि अनुदान से तात्पर्य स्थायी रूप से भोग किए जाने वाले, भूमि पर अधिकारों से है। अक्षय-नीवि, अप्रद धर्म का उपयोग वैसे भूमि अनुदान के लिए है—जिस पर मिलने वाले अधिकार अविभाज्य थे (अर्थात् वैसे भूमि को न तो भेंट की जा सकती थी, न बेचा जा सकता था और न ही किसी को दिया जा सकता था)। दूसरी ओर 'नीवि-धर्म-क्षय' शब्द का उपयोग भूमि दान प्राप्तकर्त्ता को भूमि से जुड़े सभी भोगाधिकारों की प्राप्ति होने के लिए किया जाता था, जिसके अंतर्गत वह प्राप्त की गई भूमि को हस्तांतरित कर सकता था या बेच सकता था। दूसरा महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द भूमि-छिद्र-न्याय कहा जा सकता है। इसका उपयोग गैर-कृषि भूमि या कृषि-योग्य भूमि के लिए किया जाता था। बी.सी. सरकार (1965: 367-98) ऐसा मानते हैं कि प्राचीन परंपरा के अनुसार, भूमिछिद्र-न्याय का तात्पर्य उस व्यक्ति के द्वारा भूमि पर कर-रहित भोग करने के अधिकार से था, जिस व्यक्ति ने उस परती भूमि को पहली बार कृषि के लिए उपयोग में लाया, किंतु समय के साथ-साथ भूमि-छिद्र-न्याय का उपयोग कृषि के लिए अयोग्य भूमि के लिए किया जाने लगा, किंतु यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता अन्यथा इसका उपयोग बहुधा भूमि अनुदान अभिलेखों में नहीं किया जाता। इस शब्द का उपयोग संभवत: स्थायी और व्यापक अधिकारों के साथ भूमि अनुदानकर्त्ताओं को दी जाने वाली भूमि के लिए किया जाता था।

यह तथ्य कि इस काल के विक्रय पत्र का कोई दीर्घ कालिक स्वरूप नहीं होता था, क्योंकि ये सभी क्षय हो जाने वाली सामग्रियों पर लिखे जाते थे, न कि इन्हें पत्थर या धातु पर उत्कीर्ण किया जाता था। फिर भी पूर्वी भारत के संदर्भ में ऐसे 11 अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो धार्मिक उद्देश्यों के लिए भूमि के क्रय की चर्चा करते हैं तथा जिन्हें भूमि अनुदानों में स्थानीय शासन की भूमिका स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। प्रक्रिया सामान्यत: इस प्रकार से थी कि संभावित भूमिकार, संभावित क्रेता जिला कार्यालय या नगर परिषद् में आवेदन देता था, जिस आवेदन में संभावित क्रय योग्य भूमि के विषय में पूरी जानकारी दी जाती थी। यह तर्क दिया जाता था कि भूमि का क्रय क्यों किया जा रहा है, तथा यह भी लिखा जाता था कि संभावित क्रेता उस भूमि को प्रचलित मूल्य पर खरीदने को इच्छुक है। नगर परिषद् इसके पश्चात् लेखाकारों से विचार-विमर्श करता था, आवेदक जिला कार्यालय को उस भूमि का मूल्य देता था। स्थानीय शासन उक्त भूमि का निरीक्षण करती थी फिर उसके चौहद्दियों को सीमांकित करती थी, जो प्रचलित भूमि माप पद्धति के अनुरूप होता था। इसके पश्चात् नगर परिषद्, राजकीय अधिकारियों, ग्राम प्रधान, ब्राह्मणों तथा गृहस्थों के समक्ष उस भूमि के विक्रय की घोषणा करता था और उसका लेखा तैयार करता था। भूमि का मूल्य एक क्षेत्र में अलग-अलग हो सकता था। उदाहरण के लिए, दामोदरपुर ताम्रपत्रों में जो 443-44 सा.सं. से सम्बंधित है, उल्लेख किया गया है कि एक कुल्यवाप की अप्रदा तथा अप्रहत भूमि, जो पुण्ड्रवर्धन भुक्ति अवस्थित थी, उसे तीन दीनार प्रति कुल्यवाप में मूल्य पर खरीदा गया, जबकि दूसरी ओर पहाड़पुर, ताम्रपत्रों में से एक जो 479 सा.सं. का है, उल्लेख किया गया है कि नाथशर्मा एवं उसकी पत्नी रामी ने 1/2 कुल्यवाप खील भूमि इसी पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में खरीदी जिस का मूल्य दो दीनार प्रति कुल्यवाप था।

राजकीय भूमि अनुदान

(Royal Land Grants)

जैसा कि पहले के अध्याय में कहा जा चुका है कि ब्राह्मणों को दिए जाने वाले राजकीय अनुदान का जिक्र सबसे पहले उत्तरवैदिक साहित्य में हुआ था। किंतु प्रारंभिक साहित्यों में इस संदर्भ में जिस द्वैधवृत्ति का बोध मिलता है, कालांतर के साहित्यों में स्पष्ट रूप से इस आशय की पुष्टि की जाने लगी। उदाहरण के लिए, *महाभारत* में शासकों को,

ब्राह्मणों को भूमि अनुदान देने के लिए बार-बार प्रोत्साहित किया गया है। इस ग्रंथ के अनुशासन पर्व के दान धर्म खंड (33.17) में एक बोधात्मक वाक्य आया है। इसके अंतर्गत भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि ब्राह्मण उनको भी देवत्व प्रदान कर सकते हैं, जो ईश्वर नहीं है तथा देवताओं को पदच्युत कर सकते हैं। वे सम्राटों का सृजन करते हैं तथा एक राजा तभी तक अपने पद का उपभोग कर सकता है, जब तक कि उनका समर्थन उसे प्राप्त है। दान धर्म पर्व में ही तीन मुख्य प्रकार के अनुदानों की बात कही गयी है—हिरण्य दान या स्वर्ण दान, गौ दान तथा पृथ्वी दान। इनमें पृथ्वी दान को श्रेष्ठ बतलाया गया है, क्योंकि धरती ही रत्न, पशु और अनाज का स्रोत है। धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में भी इसी प्रकार ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदान की अनुशंसा की गयी है तथा वे आश्वस्त करते हैं कि जो लोग योग्य ब्राह्मणों को उपयुक्त दान और दक्षिणा प्रदान करते हैं, उन्हें इस संसार में प्रसिद्धि मिलती है और आने वाले संसार में आनंद की प्राप्ति होती है।

अर्थशास्त्र ऐसा पहला ग्रंथ है, जिसमें सुनिश्चित रूप से राजकीय आदेशों के आधार पर बसाए गए ब्राह्मण बस्तियों की सूचना मिलती है और उनके विषय में कहा गया है कि वे राजस्व मुक्त हुआ करते थे और इन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे। धर्म शास्त्रों ने भी ब्राह्मणों को उन श्रेणी में रखा है, जिन्हें कर मुक्त रखना चाहिए तथा, उनके लिए प्रदत्त राजकीय भूमि अनुदानों की महिमा कही गयी है, किंतु सिर्फ बृहस्पति स्मृति ऐसा ग्रंथ है, जिनमें पहली बार इन दोनों तथ्यों को स्पष्ट रूप से जोड़ा जा सका। इसमें यह सुनिश्चित रूप से कहा गया कि राजाओं के द्वारा ब्राह्मणों को राजस्व मुक्त भूमि दिया जाना चाहिए, किंतु ये सारे ग्रंथ ब्राह्मणवादी परंपरा के आदेशात्मक श्रेणी के ग्रंथों में रखे जा सकते हैं, जिनकी रचना, जिनका संरक्षण और जिनका हस्तांतरण ब्राह्मणों के द्वारा किया गया। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस प्रकार के दक्षिणा एवं दानों की काफी प्रशंसा की गयी। प्रश्न यह उठता है कि ऐसे समादेशों की पुनरावृत्ति उस काल के प्रचलित व्यवहार को प्रोत्साहित करने का यह एक प्रयास मात्र तो नहीं था? अन्यायन्य स्रोतों से उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यही सूचना मिलती है कि शायद इन दोनों ही तथ्यों का ही अस्तित्व था। उदाहरण के लिए, बौद्धों के पाली ग्रंथों में मगध के बिंबिसार और कोसल के प्रसेनजीत जैसे शासकों, सम्राटों के द्वारा ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदानों की चर्चा की गयी है।

अध्याय आठ में यह चर्चा की जा चुकी है कि राजकीय भूमि अनुदानों से जुड़े सबसे प्राचीन अभिलेख जिनमें ऐसे भूमि अनुदानों के राजस्व मुक्त और सर्वविशेषाधिकार होने की बात कही गयी है, वे नानेघाट और नासिक जैसे पश्चिमी दक्कन के क्षेत्र में पाए गए हैं। ऐसे भूमि अनुदानों में चौथी शताब्दी सा.सं. के बाद काफी अभिवृद्धि हुई, पांचवी/छठी शताब्दियों से संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में शासकों के द्वारा इस प्रकार के अनुदान दिए जाने लगे थे तथा जिनके विषय में सामान्य रूप से ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण किया जाने लगा। ब्राह्मणों को दिए जाने वाले गाँवों को अग्रहार, ब्रह्मदेय या शासन कहा जाता था, किंतु इनके अतिरिक्त भट्ट-ग्राम जैसे गाँवों की भी चर्चा होने लगी, जो ब्राह्मणों के द्वारा निवास किए जाने वाले गाँव थे और इनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि ये राजकीय अनुदानों की परिणति थे अथवा नहीं। हालांकि, अन्य श्रेणियों को दिए जाने वाले शाही अनुदान में बौद्ध और जैन संघ, शैव एवं वैष्णव मंदिर इत्यादि प्रमुख थे, किंतु 10वीं शताब्दी सा.सं. तक ऐसे धर्मनिरपेक्ष अनुदानों की चर्चा कम है, क्योंकि अधिकांश राजकीय अनुदान ब्राह्मणों को ही दिए गए थे।

छल्ले और मुद्रा के साथ ताम्रपत्रों का एक सेट

साम्राज्यवादी गुप्तों को बड़े पैमाने पर इस प्रकार के विकास से नहीं जोड़ा जा सकता। केवल एक ही ऐसा अभिलेख प्राप्त होता है, जिसमें किसी एक गुप्त शासक के द्वारा दिए गए भूमि अनुदान की चर्चा की गयी। यह स्कन्दगुप्त का भितरी शिलालेख है, जिसमें किसी विष्णु मंदिर के लिए एक गाँव को अनुदान स्वरूप दिया गया, किंतु इस अनुदान में किसी प्रकार के अनुबंध की चर्चा नहीं की गयी। इसके अतिरिक्त गया और नालंदा से प्राप्त समुद्रगुप्त के द्वारा निर्गत अप्रमाणिक ताम्रपत्रों की चर्चा की जा सकती है। गया ताम्रपत्र में गया विषय के खेतिक गाँव को, किसी गोप स्वामी नाम के ब्राह्मण को अनुदान के रूप में देने की बात कही गयी है, जबकि समुद्रगुप्त के नालंदा ताम्रपत्र में क्रॉमिल विषय के भद्रपुष्करक गाँव और क्रिविल विषय के पूर्णांग गाँव को किसी जयभट्ट स्वामीनाम के ब्राह्मण को अनुदान के स्वरूप देने की चर्चा की गयी है। इन दोनों ताम्रपत्रों के विषय में कहा गया है कि इनके साथ उपरिकर

देय होगा। ग्रामीणों को यह निर्देश दिया गया है कि उन्हें अनुदान प्राप्तकर्त्ता के आदेशों का पालन करना है तथा अनुदान प्राप्तकर्त्ता को मेय और हिरण्य जैसे करों का भुगतान भी करना है। इस ताम्रपत्र में यह भी उल्लेख है कि इस अग्रहार गाँव में दूसरे गाँवों से राजस्व अदा करने वाले कृषक अथवा अन्य गाँवों में निवास करने वाले शिल्पकारों का प्रवेश वर्जित है। कुछ विद्वानों ने गया तथा नालंदा ताम्रपत्रों के अप्रमाणिक होने की बात कही है, जिसका आधार उन्होंने कुछ शब्दों में वर्तनी की अशुद्धि अथवा व्याकरण की अशुद्धि अथवा समुद्रगुप्त के लिए प्रयुक्त होने वाली संदिग्ध उपाधियों को आधार माना है। ऐसा भी सुझाव आया है कि ये ताम्रपत्र मूल ताम्रपत्रों की प्रतिलिपियां भी हो सकती है। हालांकि, छाबड़ा और घई (1981: 225-26, 229-30) यह मानते हैं कि गया ताम्रपत्रों को पुरालिपि की दृष्टि से आठवीं शताब्दी सा.सं. के प्रारंभ का माना जा सकता है। लेकिन उनके अनुसार, नालंदा ताम्रपत्र निश्चित रूप से गुप्त काल का ही है। उन्होंने यह तर्क दिया है कि भूमि अनुदान से जुड़े अभिलेखों में

प्राथमिक स्रोत

वाकाटक भूमि अनुदानों में उल्लिखित शर्तें

वाकाटक भूमि अनुदानों के साथ, दान की गई भूमि से जुड़े अनेक विशेषाधिकार और सुविधाएं प्रदान की जाती थीं। भूमि अनुदानों से जुड़ी कई शब्दावलियों का स्पष्ट अर्थ नहीं समझा जा सका है। वाकाटकों के वत्सगुल्म शाखा के विंध्यशक्ति-II के द्वारानिर्गत बासिम ताम्रपत्र अभिलेख में अथर्ववेद ब्राह्मणों को अकासपद्द गाँव दान में दिए जाने का उल्लेख है। इस अनुदान के साथ जो विशेषाधिकार और सुविधाएं प्रदान की गईं वे अधोलिखित हैं (भाषा प्राकृत और संस्कृत के मिले-जुले रूप में):

आ-चंद-अदिच्छ-कालो: जब तक सूरज और चाँद का अस्तित्व है

अ-रत्थ-सम्विनयिक: जिला आरक्षी बल का प्रवेश निषिद्ध

अ-लवण-किन्न-खनक: नमक खनन तथा मदिरा [शाही विशेषाधिकार] के दायित्व से मुक्त

अ-हिरन्न-धान्न-पननयप-देय: अनाज और स्वर्ण [राजा को] देने से मुक्त

अ-परम्परा-गो-बलि-वर्द: पारंपरिक रूप से गाय और बैल प्रदान करने के दायित्व से मुक्त

अ-चर-सिद्धिक, अ-चम्मंगलिका: चारागाह, खाल और ईंधन [आगंतुक अधिकारियों को] प्रदान करने में दायित्व से मुक्त

अ-भद्द-प्रवेश: शाही सैनिकों के आगमन से मुक्त

अ-खट्ट-चोल्लक-वेनसिक: बिस्तर, जलघट या दासों की सेवा प्रदान करने के दायित्व से मुक्त

अ-करद: करों से मुक्त

अ-वाह: यातायात के लिए मवेशी उपलब्ध कराने के दायित्व से मुक्त

स-निधि, स-उपनिधि: धरोहरों और खज. ानों के अपेक्षित प्राप्ति के उपयोग के अधिकार के साथ

स-उकुट्टपंत: बड़े और छोटे करों की वसूली के अधिकार के साथ

स-मंच-महा-करन: मंचों और बड़े खेलों पर अधिकार के साथ

सव्व-जाति-परिहार-परिहित: सभी प्रकार के परिहारों से मुक्त

प्रभावतीगुप्ता के पुणे ताम्रपत्र अभिलेख में भी अनुदान प्राप्तकर्त्ता को खनन का अधिकार और खादिर वृक्षों के उपयोग का अधिकार दिया गया। प्रवरसेन-II के जाम्ब, शिवानी और पवनी ताम्रपत्र अभिलेखों में सर्व-विष्टी-परिहार-परिहृत: का उल्लेख किया गया है, प्रभावतीगुप्ता के रिद्धापुर ताम्रपत्र अभिलेख और पृथ्वीशेन-II के महुरझरी ताम्रपत्र अभिलेख में दान की गई भूमि को विष्टि (अनिवार्य श्रम) से मुक्त रखा गया है। शिवानी और पटना संग्रहालय ताम्रपत्र अभिलेख में 'स-पंचशतक:' शब्द का उल्लेख है, जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। शिवानी ताम्रपत्रों में स-कोरात: का उल्लेख है, जिसका अनुवाद 'नारियल की खेती के साथ' 'बैलों पर अधिकार के साथ' अथवा 'लहरदार परती भूमि के साथ' इत्यादि किया गया है। प्रभावतीगुप्ता के रिद्धापुर ताम्रपत्रों में 'अभ्यंतर-निवेश-एन-सहकर्षक-निवेशानी च' (खेत के साथ एक भवन तथा किसानों की चार झोपड़ियों के साथ) का उल्लेख है, जिसका अर्थ हुआ आबादी के साथ एक गाँव का दान। कुछ अभिलेखों में अ-भट-क्षत्र-प्रवेश का उल्लेख है, जिसका अर्थ हुआ—स्थायी या अस्थायी सैन्यबलों के लिए प्रवेश निषेद्ध अथवा वैकल्पिक रूप से 'सेना या आरक्षीबल का प्रवेश निषेद्ध। प्रवरसेन-II के चम्मक ताम्रपत्रों में दानकर्त्ता के साथ जोड़ी गई वांछित शर्तों की सूची रोचक है। यह अनुदान 1000 ब्राह्मणों के तब तक उपयोग करने के लिए दिया गया जब तक वे राजद्रोह का कर्म न करें, जब तक किसी ब्राह्मण की हत्या के लिए दोषी न पाए जाएं अथवा चोरी, अनैतिकता या राजद्रोह के दोषी न पाए जाएं, जब तक वे युद्ध न करें या दूसरे गाँवों को हानि न पहुंचाएं। अभिलेख में यह घोषणा की गई कि यदि वे इन कर्मों में लिप्त हों या यदि उनकी इन कर्मों में सहभागिता हो तब राजा को यह नैतिक अधिकार होगा कि वह दान की गई भूमि को वापस ले ले।

स्रोत: मिराशी, 1963

व्याकरण सम्बंधी अशुद्धियां हो सकती हैं। विशेष रूप से वैसे अभिलेख जहां संयुक्त शब्दों या जटिल शब्दों का प्रयोग किया गया है, किंतु ये आधार पर्याप्त नहीं है कि इन अभिलेखों को जालसाजी करार दिया जा सके। बिहार शिलालेख शायद बुधगुप्त या पुरुगुप्त में से किसी के काल का है, जिसमें कुमारगुप्त के बहनोई तथा मंत्री के द्वारा बलि बेदी के लिए एक यूप के उत्थापन की बात कही गई है। इस मंत्री ने कुछ मंदिर बनवाए जो स्कंद तथा सप्त मातृक देवियों को समर्पित थे। इस अभिलेख में यह भी उल्लेख किया गया है कि दो गाँवों का कुछ हिस्सा इन मंदिरों के रख-रखाव के लिए आवंटित किया गया। यह अभिलेख विच्छिन्न अवस्था में है इसलिए अनुदान से जुड़े विशेष अनुबंधों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, जो अब पढ़ने योग्य नहीं है।

जहां हम साम्राज्यवादी गुप्तों को, ब्राह्मणों को दिए जाने वाली भूमि अनुदानकर्त्ताओं के रूप में नहीं जानते। वहीं वाकाटक अभिलेखों में अनुदान के रूप में दिए जाने वाले गाँवों की संख्या 35 है। इनमें से बड़ी संख्या में भूमि अनुदान प्रवरसेन-II के काल में दिए गए जिसके 18 या 19 अभिलेखों में 20 गाँवों के अनुदान के रूप में दिए जाने की चर्चा की गई हैं। इन अनुदानों के साथ बहुत सारे पारिभाषिक शब्द उद्धृत है, जिनके अनुसार, राजस्व-मुक्ति तथा अन्य विशेषाधिकारों की बात कही गयी है, जो भूमि अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को इन गाँवों के साथ-साथ दिए गए। राजकीय माप के अनुसार, 13 अभिलेखों में 8000 निवर्तन भूमि के दान में दिए जाने की चर्चा है। ऐसे भी कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें पूर्व में प्राप्त अनुदानों के बदले नए गाँवों को दिया गया है। प्रवरसेन-II के यावतमल अनुदान में इसी प्रकार में पूर्व से प्राप्त अनुदान के पुनः समपुष्टि का जिक्र हुआ है। प्रवरसेन-II के काल से ऐसा प्रतीत होता है कि वाकाटक राज्य में दिए जाने वाले अनुदान के रूप में गाँवों की संख्या राज्य के पूर्वी भाग की अपेक्षा पश्चिमी भाग में बढ़ गयी। विशेषकर तापी नदी घाटी में (श्रीमाली, 1987: 25)। गुप्त तथा वाकाटक सम्राटों के अधीनस्थ शासकों के द्वारा भी भूमि अनुदान निर्गत किए गए। इनमें बहोलखंड क्षेत्र के परिराजक महाराजाओं का उदाहरण दिया जा सकता है जिन्होंने गुप्तों की अधीनता स्वीकार की थी तथा मेकल राज्य के शासक भरतबल का उदाहरण दिया जा सकता है, जिन्होंने वाकाटकों की अधीनता स्वीकार की थी।

कर्नाटक क्षेत्र में ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदानों की परंपरा दूसरी शताब्दी सा.सं. से शुरू हुई, लेकिन सातवीं शताब्दी से इनकी संख्या में काफी बढोत्तरी हुई। पल्लवों के द्वारा दिए गए राजकीय अनुदानों में सबसे प्राचीन तीसरी/चौथी शताब्दी के मयदावोलू अनुदान और हीरेहदगल्ली अनुदान का उदाहरण लिया जा सकता है। दोनों प्राकृत भाषा में है। पाँचवीं शताब्दी के पुलनकुरीची अभिलेख में यह लिपिबद्ध किया गया है कि किसी ब्रह्मदेय बस्ती में अनुदान प्राप्तकर्त्ता को उच्चतर अधिकार (या मियातची) उपलब्ध थे, जबकि अधिनस्थ कृषकों को न्यूनतम अधिकार (या करन-किलामइ) उपलब्ध था।

यह सही है कि भूमि अनुदानों के निर्गतकर्त्ता अधिकांशतः शासक ही थे, लेकिन विशेष रूप से बंगाल में ऐसे बहुत सारे भूमि अनुदान अभिलेख उपलब्ध हैं, जिनमें ब्राह्मणों को निजी व्यक्तियों के द्वारा अनुदान दिया गया या ब्राह्मणों के अनुरोध पर वैसे अनुदान निर्गत किए गए या अन्य व्यक्तियों के आग्रह पर राजाओं के द्वारा अनुदान दिए गए। गुप्त वर्ष 113 (432-33 सा.सं.) में धानैदाहा ताम्रपत्र निर्गत किया गया, जिसमें कहा गया है कि किसी आयुक्तक ने (एक राजकीय अधिकारी) वराह स्वामी नाम के एक ब्राह्मण को दान देने के लिए भूमि का क्रय किया। दामोदरपुर ताम्रपत्रों में से एक (तिथि-गुप्त संवत 124) में यह चर्चा है कि कल्पपतिक नाम के एक ब्राह्मण ने पुंड्रवर्धन भुक्ति के मुख्यालय कोटिवर्ष विषय के प्रशासन से कुछ भूमि के लिए आवेदन दिया, इसी प्रकार घुगरहट्टि, ताम्रपत्र जिसे समाचार देव के शासन काल में निर्गत किया गया, उसमें सुप्रतीक स्वामी नामक ब्राह्मण के द्वारा किसी भूमि के लिए आवेदन दिया गया है। लोकनाथ के टीपेरा ताम्रपत्र में महासामंत के आग्रह पर 100 चतुर्वेदी ब्राह्मणों को दिए गए भूमि अनुदान की चर्चा है।

दरअसल, भूमि अनुदान पूर्व मध्य युगीन ऐतिहासिक प्रक्रिया की किसी भी प्राकल्पना के केंद्र में स्थित तथ्य है, जिसके सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि यह 400-1200/1300 सा.सं. के बीच लगातार दिया जाता रहा। इस पुस्तक में हम पूर्व मध्ययुगीन काल को 600-1200 सा.सं. के रूप में स्वीकार करते हैं। आगे के अध्यायों में राजकीय भूमि अनुदानों से जुड़ी प्रक्रियाओं के दूरगामी प्रभावों को विस्तार से अध्ययन किया जाएगा।

नगरीकरण के इतिहास की रूप रेखा

(Patterns of Urban History)

आर.एस. शर्मा (1987) का मानना है कि उपमहाद्वीप में प्रारंभिक ऐतिहासिक नगरीकरण की प्रक्रिया 200 सा.सं.पू. से 300 सा.सं. के बीच अपनी चरम बिंदु पर थी। इसके पश्चात् नगरों के पतन के दो चरण देखे गए—(1) तीसरी

शताब्दी के उत्तरार्द्ध और चौथी शताब्दी में तथा (2) छठी शताब्दी में। शर्मा के अनुसार, संपूर्ण उपमहाद्वीप से प्राप्त होने वाले पुरातात्त्विक प्रमाणों में नगरों के पतन की प्रक्रिया प्रतिबिंबित होती है। उन्होंने इस ओर भी इशारा किया है कि इस दौरान के पुरालेखों में शिल्पकारों अथवा व्यवसायों के संदर्भ बहुत कम आते हैं। शर्मा यह भी मानते हैं कि नगरों के पतन के विषय में साहित्यिक स्रोत मजबूत प्रमाण नहीं हैं। लेकिन इस संदर्भ में उन्होंने वराहमिहिर की *बृहत संहिता* में यह भविष्यवाणी की गयी है कि विभिन्न शहर या तो नष्ट हो जाएंगे या उनके बुरे दिन आ जाएंगे। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि *रामायण* ने राम के वनवास के दौरान अयोध्या के दुर्दशा को दिखलाया है तथा कालिदास के *रघुवंश* में नगर के अध:पतन का चित्रण किया गया है। उन्होंने नगरों के पतन की व्याख्या लंबी दूरी के व्यापार के पतन के साथ की है और उनका मानना है कि यह प्रक्रिया लगभग 700 वर्षों तक चलती रही। नगरों का आंशिक पुनर्उद्धार उपमहाद्वीप के कुछ हिस्सों में ग्यारहवीं शताब्दी में देखा गया और चौथी शताब्दी के बाद नगरीकरण एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में उभर कर सामने आयी।

वाकाटक राज्य के विशेष संदर्भ में श्रीमाली (1987: 30) ने यह तर्क दिया है कि यहां व्यापार व्यवसायों और नगरीय अर्थव्यवस्था का पतन हुआ और उनका मानना है इस काल के अभिलेखों में एक ग्रामीण अर्थव्यवस्था, ग्रामीणीकरण का विस्तार, नगरीकरण का संकुचन तथा सामंतवाद के अभ्युदय का चित्र मिलता है। इस काल में नगरीकरण के केंद्रों के विषय में काफी अल्प जानकारी है (हालांकि, यह आश्चर्यजनक नहीं क्योंकि भूमि अनुदानों का संदर्भ ग्रामीण भूमि से ही होता था)। केवल 16 बस्तियों को शुद्ध रूप से नगरीय तत्त्वों से युक्त माना जा सकता है। वो भी इनके साथ जुड़े हुए पूर्व, पूरक तथा नगर जैसे प्रत्ययों के कारण किंतु इस प्राकलन को कि 300–600 सा.सं. के बीच संपूर्ण उपमहाद्वीप में नगरों का पतन हुआ, कई दृष्टिकोण से आलोचना के घेरे में रखा जा सकता है।[3] इस काल के साहित्य, नगरों और नगरवासियों के सम्बंध में काफी काव्यात्मक रचनाओं से ओत प्रोत है। यह सही है कि इनको अक्षरश: नहीं लिया जा सकता फिर भी इनसे उन्नतिशील नगरीय केंद्रों के प्रति अभिज्ञता प्रतिबिंबित होती है। वृहत संहिता में राजाओं, राजदरबारों, राजभवनों, राजकर्मियों तथा अन्य धनाढ्य व्यक्तियों के अति समृद्ध साज-सजावट का उल्लेख मिलता है। *मृच्छकटिका* में नायिका वसंत सेना के उज्जैनी स्थित भव्य भवन के तोरण द्वारों तथा हीरों से जड़े हुए स्वर्ण द्वारों के साथ-साथ अत्यंत सुसज्जित कक्षों का सजीव चित्रण किया गया है। अमरकोश में विभिन्न प्रकार के आभूषणों और परिधानों से जुड़ी सामग्रियों का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के लिए अनेक शब्दों की सूची दी गई है। कामसूत्र में जिस नगर का वर्णन मिलता है वह धनाढ्य शिक्षित, परिस्कृत संस्कार वाला शहर में रहने वाला व्यक्ति है, जो निश्चित रूप से नगरीय परिवेश का प्रतिनिधित्व करता है। साहित्य की विभिन्न विधाओं में रची गयी परिष्कृत रचनाओं तथा वस्तुकला और मूर्तिकला के विभिन्न नमूनों से यही स्पष्ट होता है कि इस काल में नगरीय परिवेश रहा होगा और इन कलाओं को संरक्षण देने वाले स्रोत नगरीय ही होंगे।

तमिल महाकाव्यों में दिए गए नगरीय जीवन के सजीव चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में सुदूर दक्षिण में नगरीकरण एक अविरत प्रक्रिया थी। शिल्प प्रतिकरण में पुहार और मदुरई के नगरीय बाजारों के सजीव चित्रण मिलते हैं। इन बाजारों में पुष्प विक्रेता, मालाकार, पान विक्रेता, शंख की चूड़ियों के विक्रेता, मदिरा, वस्त्र, परिधान के क्रय-विक्रय इत्यादि का वर्णन मिलता है। विभिन्न प्रकार के दुकानदारों, रत्न आभूषण बनाने वालों तथा शिल्पकारों का उल्लेख किया गया है। पुहार के विषय में यह वर्णन मिलता है कि इसके दो हिस्से थे—पट्टिनप्पाक्कम या अकनगर जो निवास क्षेत्र था तथा मरुवुरपक्कम् या बंदरगाह वाला तटीय क्षेत्र था। निवास क्षेत्र वाले हिस्से में धनाढ्य लोगों के घर थे। भोजनालय बाग-बागीचे, सामुदायिक भवन, तालाब, सार्वजनिक स्नानागार और मंदिरों का अस्तित्व था। नगर के बाहर शमशान/शवदाह गृह और दफनाने के स्थान निहित थे। महाकाव्यों में हिंदू मंदिरों, बौद्ध तथा जैन चैत्यों के नगरों में होने की बात कही गयी है। *मणिमेकलई* में वंजि के एक विहार और चैत्य का उल्लेख है।

यह सत्य है कि इस काल में नगरों से जुड़े पुरातात्त्विक प्रमाण काफी अल्प मात्रा में उपलब्ध है फिर भी दिल्ली के पुराना किला में पुनर्प्रयुक्त ईंटों से बनी संरचना के प्रमाण मिले हैं, यहां से सांचे में ढले हुए मृद्भाण्ड जिनमें से एक पर किन्नर (अर्ध मनुष्य, अर्ध अश्व) का चित्रांकन मिला है तथा एक टेराकोटा की बनी स्त्री की एक टूटी हुई प्रतिमा भी मिली है। टेराकोटा के बने एक मुहर के ऊपरी हिस्से पर शंख की आकृति बनी है और निचले हिस्से पर गोपस्य (गोप का) अंकित है। एक दूसरे मुहर पर त्रितम्भाग (भागवत् अर्थात वासुदेव कृष्ण की विजय हो) अंकित है। एक तीसरे मुहर पर श्रीत्रय विद्या लिखा है, जो गुप्त काल के ब्राह्मी लिपि में है। सन् 1970-71 में हुए एक उत्खनन के दौरान एक विशाल भवन का पता चला, जिसका तीन से चार बार अलग-अलग अवधियों में पुनर्रुद्धार हुआ। इसकी मूलभूत संरचना की योजना दीर्घाकार थी, जिसमें कुछ विभाजक दीवारें बनी थी। कालांतर में एक बरामदा अथवा एक कक्ष इसके सामने जोड़ा गया, फिर बाद में फर्श

3. इस सिद्धांत को अनुक्रमिक शताब्दियों के लिए स्वीकार लेने से जो समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं, अध्याय-10 में उसकी चर्चा की जाएगी।

प्राथमिक स्रोत

एक नागरक की जीवनशैली

शिक्षा पूर्ण कर लेने के बाद एक पुरुष गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है और एक नागरक की जीवनशैली को अपनाता है। इस जीवनशैली को अपनाने के लिए वह उत्तराधिकार में प्राप्त धन का उपयोग करता है तथा दूसरी ओर अपने द्वारा अर्जित उपहार, विजय व्यवसाय या पारिश्रमिक के रूप में मिले धन का प्रयोग करता है अथवा दोनों प्रकार से मिले धन का उपयोग करता है। वह एक नगर में अथवा एक राजधानी में, एक वाणिज्यिक नगर में या ऐसी बस्ती में जहां सभ्रांत लोग निवास करते हैं, आकर बस जाता है अथवा ऐसी जगह पर बसता है, जहां उसके जीविकोपार्जन की व्यवस्था होती है। वह एक ऐसे स्थान पर अपना बसेरा बनाता है, जहां जलाशय उपलब्ध होता है, एक बागीचा होता है, परिचारकों के निवास के लिए पृथक कमरे बने होते हैं तथा उसके स्वयं का दो शयनकक्ष बना होता है। इस निवास स्थान की साज-सज्जा कुछ इस प्रकार होती है:

बाहर के शयनकक्षों में एक ऐसा आरामदेह बिस्तर होता है, जिसके बीच का हिस्सा काफी मुलायम होता है तथा बिस्तर के अगल-बगल मसनद लगे होते हैं। बिस्तर के सिरहाने एक चटाई होती है तथा एक ताखे पर रात्रि में उपयोग में आए तेल और पुष्पमाल रखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त उस ताखे पर मधु की एक शीशी, इत्र की एक शीशी, नींबू के पेड़ की छाल और पानी भी रखे जाते हैं। फर्श पर पीकदान होता है। हाथी दाँत से लटका हुआ एक वीणा रखा होता है, चित्रांकन के लिए एक पट्टिका सजी होती है तथा तूलिकाओं के लिए एक डब्बा रखा होता है। कुछ एक किताबें भी होती हैं तथा अमरंथ के फूल की मालाएं भी देखी जा सकती हैं। फर्श पर, नजदीक में ही, एक वृत्ताकार बिस्तर होता है, जिसके सिरहाने तकिया होता है। चौसर के लिए एक बिसात और जुआ खेलने के लिए एक अन्य बिसात भी होती है। बाहर में पालतू पंछियों के लिए एक पिंजड़ा होता है। बढ़ई के काम करने के लिए तथा काष्ठशिल्प के लिए तथा अन्य खेलों के लिए स्थान सुरक्षित छोड़े जाते हैं। बागीचे में छायादार वृक्षों के नीचे एक गद्दादार झूला लगा होता है। पकी हुई ईंटों से बने बेंच होते हैं, जिनपर फूल सजे होते हैं।

प्रात: में उठकर वह अपने दाँतों को साफ करता है, अल्प परिमाण में सुगंधित तेल को लगाता है। इत्र, पुष्पमाल, लाल लाह इत्यादि लेने के बाद वह अपनी दिनचर्या शुरू करता है। वह प्रतिदिन स्नान करता है, प्रत्येक दूसरे दिन वह अपने हाथों पर तेल लगवाता है, प्रत्येक तीसरे दिन वह साबुन से नहाता है, प्रत्येक चौथे दिन अपनी दाढ़ी बनाता है तथा प्रत्येक पाँचवे अथवा दसवें दिन पर शरीर के सभी बालों को साफ करता है। यह सब कुछ नियमित रूप से चलता है और वह अपने काँखों के पसीने को निरंतर पोछते रहता है। सुबह और दोपहर में वह भोजन करता है... भोजन के पश्चात् वह अपना समय तोतों और मैनों के साथ बात करके बिताता है; मुर्गों की लड़ाई देखता है; विभिन्न कला और खेलों में शरीक होता है; तथा अपना समय पीठमर्द, वीत और विदुषक (जो ज्यादातर ब्राह्मण होते हैं) इनके साथ व्यतीत करता है। थोड़ी देर वह आराम करता है। मध्याह्न के बाद वह उठता है और मनोरंजन के लिए विभिन्न गोष्ठियों में शरीक होता है।

शाम का समय संगीत और गायन से परिपूर्ण होता है, जिसके पश्चात् शयन-कक्ष में अत्यंत सुसज्जित और मधुर इत्रों से सुगंधित बिस्तर पर वह स्वयं अपने मित्रों के साथ औरतों की प्रतीक्षा करता है, जो उनसे मिलने के लिए मचलती चली आती हैं.... वह मन लगाने के लिए उत्सव, गोष्ठी, मदिरालय, वनभोज तथा सामूहिक क्रीड़ा में लीन रहता है। अमावस्या अथवा पूर्णमासी की रात्रि में, विशेष अवसरों पर आमंत्रित अतिथियों के साथ वह देवी सरस्वती के मंदिर में आयोजित गोष्ठियों में शरीक होता है। आगंतुक कलाकारों के द्वारा इस अवसर पर गायन वादन होता है, जिन्हें उत्सव के दूसरे दिन पारितोषिक के रूप में तय की गई राशि दी जाती है....

गोष्ठियों का अभिप्राय वैसे समागम से है, जब समतुल्य ज्ञान, बुद्धि, चरित्र संपति और वय वाले लोग किसी नगरवधु के घर पर अथवा किसी पुरुष के निवास स्थान पर आमंत्रित नगरवधुओं के साथ संभ्रान्त और अपेक्षित वार्तालाप के लिए जुटते हैं। इन गोष्ठियों में विभिन्न काव्यों अथवा शिल्पकलाओं का मूल्यांकन करते हैं तथा वार्तालाप के क्रम में वैसी श्रेष्ठ नारियों की प्रशंसा करते हैं, जिनके लिए सभी को चाहत होती है और ऐसे अवसरों पर उन युवतियों के द्वारा मदिरापान करवाया जाता है। जब मदिरा, मधु, अंगूर अन्य फल या चीनी, विभिन्न प्रकार के लवण, फल, हरी सब्जियां और तीखे मसालेदार व्यंजनों से निर्मित की जाती हैं। वनभोज या वनविहारों का भी इसी प्रकार से वर्णित किया जा सकता है। तड़के ही उठकर पुरुष अच्छे परिधानों में सज्जित होकर अश्वों पर सवार हो जाते हैं। उनके काफिले में अनेक परिचारक और युवतियाँ शामिल रहती हैं। दिन के कार्यक्रमों में मुर्गों की लड़ाई, जुआ का खेल, नाट्यमंचन इत्यादि सम्मिलित होता है और मध्याह्न के बाद ठीक उसी प्रकार वनभोज, आत्मश्लाघा पूर्ण मनोरंजनों से परिपूर्ण लावण्यमय तरीके से आनन्द उठाते हैं। इसी प्रकार गर्मियों में जलक्रीड़ा के कार्यक्रमों से लोग आनन्द उठाते हैं। जलक्रीड़ा मगरमच्छ पालने वाले जलाशयों में भी आयोजित की जाती है।

स्रोत: *कामसूत्र* 1.4.5-1.4.26; डॉनीगर एवं कक्कड़, 2002: 18-20

के स्तर को ऊंचा उठाया गया और कुछ सीढ़ियां जोड़ी गईं और भवन के भीतर में दो विभाजित करने वाली दीवारें जोड़ी गई। 60 से.मी. ऊंचे, ईंटों से बना, एक चबूतरे को भी जोड़ा गया, जिसके आधार से सीढ़ियां बनी हुई थी और यह प्रवेश द्वार के बगल वाली दीवार से जुड़ी थीं। अंतिम संरचनात्मक चरण में एक और बरामदा सामने में जोड़ा गया। फर्श के स्तर को और भी ऊंचा किया गया तथा और कुछ सीढ़ियां जोड़ी गई। यहां से एक प्रतिमुद्रा प्राप्त हुई है, जिसमें गुप्त काल की ब्रह्मी लिपि में एक अभिलेख है। इसके अतिरिक्त अश्वारोही कोटि का एक स्वर्ण जड़ित सिक्का भी मिला है, जिस पर श्री विक्रम अंकित है। यह सिक्का अंतिम संरचनात्मक चरण के ध्वंसावशेष से प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त मानव मुख वाले टेराकोटा, गढ़े हुए शंख की चूड़ियां, एक बलुआही पत्थर का बना टूटा हुआ मुखलिंग तथा रंगीन घंटों की प्राप्ति हुई है। यहां से प्राप्त कुछ प्रतिमुद्राओं में व्यक्तियों के नाम मुद्रांकित हैं।

ऊपरी गंगा नदी घाटी क्षेत्र में अहिच्छत्र (बरेली जिला, उत्तर प्रदेश) से प्रारंभिक गुप्त काल का एक, आंगनों वाला मंदिर प्राप्त हुआ है। हुलासखेड़ा (लखनऊ जिला) से भी गुप्त काल का एक किला प्राप्त हुआ है। मध्य गंगा नदी घाटी में स्थित राजघाट से (वाराणसी के निकट) वाराणसी के नगर प्रशासन का एक गुप्तकालीन मुहर मिला है। पटना में कुम्हरार स्थित मौर्य अवशेषों से कुछ दूरी पर एक बौद्ध विहार का अवशेष मिला है, जिससे जुड़े हुए एक टेराकोटा प्रतिमुद्रा में अंकित अभिलेख को पुरालिपि के आधार पर गुप्तकालीन बतलाया है, जिस पर 'आरोग्य विहार' अंकित है। निचली गंगा नदी घाटी में महास्थान (बागुड़ा जिला, बंगलादेश) से पके हुए ईंटों से बने एक विशाल गढ़ का अवशेष मिला है। बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से प्राप्त प्रमाण विशेष ध्यान देने योग्य है। इस स्थल से सैकड़ों मुहर और प्रतिमुद्राएं प्राप्त हुई हैं।

सन् 1903-04 में जो उत्खनन हुए (ब्लौक 1903-04) उनमें बसाढ़ के किले से (राजा विशाल का गढ़) से गुप्त और उत्तर गुप्त काल की संरचनाएं मिली हैं, जो यहां से प्राप्त मुहरों पर अंकित पुरालिपियों के आधार पर निर्धारित की गई हैं। इनमें से एक उत्खनन किए गए खड्ग से बड़ी संख्या में अभिलेख युक्त मुहर और प्रतिमुद्राएं मिली हैं, जो प्रारंभिक गुप्त शासकों से जुड़े हैं। ये मुहर एवं प्रतिमुद्राएं एक वर्गाकार अंत कक्ष से प्राप्त हुए हैं, जिसमें इनके अतिरिक्त कुछ मृद्भांड और कुछ जली हुई लकड़ियां भी मिली। ब्लौक के अनुसार, यह अंत कक्ष महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों और पत्रों को सुरक्षित रखने के लिए बनाया गया था, जिन पर मुहर लगे होते थे। ब्लौक ने यहां से 720 मुहर और प्रतिमुद्राएं प्राप्त कीं और 1100 से अधिक मुद्रांकन भी प्राप्त किए। इनमें से अधिकांश प्राप्तियाँ इसी कक्ष से हुई है। इन पर अंकित भाषा मूल रूप से संस्कृत थी, लेकिन लिपि चौथी/पांचवी शताब्दी के ब्राम्ही लिपि का एक पूर्वी संस्करण था। इन मुद्रांकनों पर कुमारामात्य का अधिकरण युवराज, महाप्रतिहार, दण्डपाशिक, महादण्डनायक, अश्वपति, तरवर तथा तीरभुक्ति का मुहर मिला है। इनमें कुलिक (शिल्पी या व्यापारी), श्रेष्ठि (बैंकर) तथा सार्थवाह (कारवा व्यवसायी) का भी उल्लेख मिलता है। एक मुहर पर श्रेष्ठि-कुलिक-निगम (बैंकरों तथा शिल्पी/व्यवसायों की श्रेणी) अंकित है। दूसरे मुहर पर 'श्रेष्टि-सार्थवाह-कुलिक-निगम' (बैंकर, कारवा व्यवसायी, शिल्पी/व्यवसायी की श्रेणी) अंकित है। स्पूनर ने 1911-12 में उत्खनन के दौरान बहुत सारे मुहर और प्रतिमुद्राएं प्राप्त कीं। (स्पूनर, 1913-14), जिनमें सोलह प्रतिमुद्राओं पर श्रेष्ठि-निगमस्य (व्यवसायी/बैंकरों) की श्रेणी का अंकित था।

देव और मिश्रा (1961) के द्वारा 1950 में जो पुरातात्त्विक उत्खनन कार्य किए गए उसके आधार पर वैशाली में चार चरणों वाले सांस्कृतिक स्तरों को रेखांकित किया गया, जो 500 सा.सं.पू. से 500 सा.सं. के बीच के है। कालखंड-I ए (500-300 सा.सं.पू.) कालखंड-I बी (300-150 सा.सं.पू.), कालखंड-II (150 सा.सं.पू से 100 सा.सं.), कालखंड-III (100 से 300 सा.सं.) कालखंड-IV (300-500 सा.सं.), में बांटा गया है। कालखंड-IV के अवशेष (जो यहां हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं) के अंतर्गत पुनर्प्रयुक्त ईंटों से बनी संरचनाएं (टेराकोटा), गुप्तकाल में ब्राम्ही लिपि में अंकित कुछ प्रतिमुद्राएं इत्यादी प्राप्त हुई हैं। सन् 1958-62 के उत्खननों के दौरान (सिन्हा तथा रॉय, 1969) में पूर्व मौर्य काल पर केंद्रित रहा। इस काल से अभिषेक तालाब तथा पुराअवशेष युक्त स्तूप की प्राप्ति हुई। उत्खननकर्त्ताओं का मानना है कि यहां निम्नलिखित सांस्कृतिक चरण रेखांकित किया जा सकता है। कालखंड-I (पूर्व उत्तरी कृष्णमर्जित मृद्भाण्ड, अर्थात् पूर्व 100 सौ सा.सं.पू.), कालखंड-II उत्तरी कृष्णमर्जित मृद्भाण्ड (600-200 सा.सं.पू.), कालखंड-III (200 सा.सं.पू.-200 सा.सं.), कालखंड-IV (200-600 सा.सं.) तथा कालखंड-V (उत्तर 600 सा.सं. या उत्तरगुप्त तथा पूर्व मुगल काल में बांटा गया है।)। कालखंड-II से बहुत कम संरचनात्मक अवशेष मिले हैं, जबकि अधिकांश संरचनाएं कालखंड-III तथा IV से उपलब्ध हैं। बहुत सारे छल्लेदार कुएं प्राप्त हुए हैं। कालखंड-IV तथा V से भी कई संरचनाओं के भग्वावशेषों की प्राप्ति हुई है। यहां पर स्थित बनिया क्षेत्र से ईंटों का बना एक आयताकार मंदिर प्राप्त हुआ है, जिससे जुड़ा हुआ एक चबूतरानुमा संरचना भी है। यह संरचनाएं कालखंड IV से है। उत्खननकर्त्ताओं ने सुझाव दिया है कि गुप्तकालीन बहुत सारी संरचनाएं हैं, लेकिन ये सभी टूटी हुई ईंटों से बनी हुई थी। उत्खनन के दौरान 98 प्रतिमुद्राएं इत्यादि प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ

तो मौर्य, शुंग और कुषाण कालों से हैं लेकिन अधिकांश गुप्त काल से हैं, जबकि कुछ पूर्व मध्यकालीन काल से भी हैं। एक प्रतिमुद्रा पर गुप्तकालीन ब्राम्ही लिपि में 'श्रेष्ठि-सार्थवाह-प्रथमकुलिक-निगमः' अंकित है। इसी स्थल से विभिन्न कालखंडों से प्राप्त अनेक टेराकोटा मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं और लगभग 157 सिक्के भी मिले हैं। इन सिक्कों में जो सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हैं, वे 68 सांचे में ढले ताम्र सिक्के हैं। इसके अतिरिक्त 15 आहत् सिक्के भी हैं। कुछ कुषाण कालीन सिक्के (9), तथा दो मध्ययुगीन सिक्के मिले हैं, लेकिन 300-600 सा.सं. के बीच के कोई भी सिक्के नहीं थे। मुहरों एवं प्रतिमुद्राओं की प्राप्ति के आधार पर वैशाली को एक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक मुख्यालय के रूप में देखा जा सकता है और एक उन्नतिशील व्यावसायिक केंद्र के रूप में भी इन मुहरों एवं प्रतिमुद्राओं पर बड़े व्यवसायों, बैंकरों तथा उच्च राजाधिकारियों का उल्लेख मिलता है और इनके आधार पर इन व्यक्तियों के बीच अंतर्सम्बंध की कल्पना की जा सकती है।

सारनाथः 'कुषाण-गुप्त' लाल मृद्भाण्ड का घट, कटोरा और ढक्कन

इलाहाबाद के निकट भीटा से 300-600 सा.सं. के बीच की बहुत सारी संरचनाओं के अवशेष मिले हैं, जो अधिकांशतः टूटी हुई पुनर्युक्त ईंटो से बने थे (मार्शल, 1915)। इस प्रकार बहुत सारी सामग्रियां अवशेष के रूप में प्राप्त हुई, जिनमें मुहर एवं प्रतिमुद्राएं प्रमुख हैं। मार्शल के द्वारा 1911-12 में जो उत्खनन कार्य किए गए उसमें 210 मुहर और प्रतिमुद्राएं प्राप्त हुई, जिनमें 120 प्रकार के अलग-अलग किस्मों को चिन्हित किया जा सकता है, जबकि 67 प्रतिलिपियां थी, 23 मुहर और प्रतिमुद्राओं को चिन्हित नहीं किया जा सका क्योंकि वे काफी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राप्त हुईं। इन मुहरों और प्रतिमुद्राओं का काल चौथी/तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर नवमी/दशमी शताब्दी सा.सं. तक के बीच का है। ये शाही परिवार, राजाधिकारी, राज्य के उच्च अधिकारी तथा नगरीय कुलीन वर्ग से सम्बंधित थे। उनमें से अधिकांश 300-600 सा.सं. के बीच के हैं और जिनमें से दो नवमी/दशमी शताब्दी के हैं। चौथी-पांचवीं शताब्दी की लिपि में अंकित एक मुद्रा पर त्रय वसुधा नामक श्रेष्ठि का उल्लेख है। एक मुहर से निगम की सूचना मिलती है।

पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध संरचनाओं का पतन हुआ जैसा कि पश्चिमी भारत के पौनी में देखा जा सकता है लेकिन दूसरी ओर इसी काल में बहुत सारे बौद्ध विहारों, चैत्यों और बौद्ध मूर्ति कलाओं का निर्माण कार्य सांची में हुआ। पूर्वी भारत के सारनाथ में भी बौद्ध गतिविधियों के प्रमाण मिलते हैं। नालंदा को एक महाविहार के रूप में एक अंतर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त हुआ। पश्चिम भारत में अजंता का बौद्ध समुदाय इसी काल में विकसित हुआ। दक्षिण भारत में नागार्जुनकोंडा का पतन इक्ष्वाकु वंश के पतन के साथ हो चुका था, लेकिन अमरावती का महाचैत्य इस काल में भी उन्नतिशील रहा। उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में बौद्ध स्थापनाओं का अस्तित्व नगरीय केंद्रों की ओर भी संकेत देता है। क्योंकि इन बौद्ध विहारों का इन नगरों के साथ परोपजीवी सम्बंध रहा है।

शिल्प उत्पादन, श्रेणी संगठन और व्यापार

(Craft Production, Guilds and Trade)

शिल्पकारों, व्यवसायों और श्रेणी संगठनों के विषय में व्यापक रूप से उल्लेख करने वाले अभिलेखों और मुहरों के आधार पर एक उन्नतिशील नगरीय शिल्प और व्यवसाय का अंदाज लगाया जा सकता है। वाकाटक अभिलेखों में शिल्पकारियों, व्यापारियों तथा व्यावसायिक समुदायों के विषय में अनेक संदर्भ आते हैं। प्रवरसेन-II के इंदौर अभिलेख में चंद्र नामक एक वनिजक (व्यापारी) का उल्लेख हुआ है, जिसने किसी गाँव के आधे हिस्से को खरीदकर ब्राह्मणों को दान में दिया। प्रवरसेन-II के चम्मक ताम्रपत्रों में वर्णित चर्मांक नाम के गाँव का अनुदान शायद चर्मकारों के किसी गाँव से जुड़ा था। थालनेर ताम्रपत्रों में वर्णित कांस्यकार तथा स्वर्णकार नामक गाँवों से इनके कांस्यकारों तथा स्वर्णकारों से जुड़े गाँवों के होने का पता लगता है। पट्टन अभिलेख के उत्कीर्णकर्त्ता का नाम ईश्वरदत्त स्वर्णकार के रूप में अंकित है। पनधूर्ण अभिलेख में उल्लेख किए गए कल्लार तथा पटना संग्रहालय अभिलेख में उल्लेख किए

गए मधुकझरी नामक गाँवों के विषय में इनके मदिरा निर्माण से जुड़े होने का अनुमान लगाया जा सकता है। मंढाल अभिलेखों में वर्णित इष्टकपल्ली गाँव के निवासी ईंट बनाने के विशेषज्ञ थे। इष्तकपल्ली, हिरण्यपुर, लवण्यतैलक, लोहानगर जैसे स्थानों के निवासी क्रमशः ईंट बनाने, स्वर्ण का काम करने, लवण बनाने तथा लौह कार्य से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं (श्रीमाली, 1987: 29)।[4]

कामसूत्र में 64 कलाओं के अंतर्गत धातु से जुड़े कार्यों को भी रखा गया है। *अमरकोश* में धातुओं के विषय में दी गई सूची में स्वर्ण, रजत, लौह, ताम्र, पीतल तथा कुछ निम्न धातुओं का उल्लेख है। बहुत सारे पुरातात्त्विक स्थलों से प्राप्त लोहे की बनी वस्तुओं के अतिरिक्त महरौली में लौह स्तंभ से उस काल के उच्चस्तरीय धातु विज्ञान से प्रतिबिंबित होता है। सिक्के ढालना, धातु पर उत्कीर्ण करना, मृद्भाण्ड बनाना, टेराकोटा का कार्य करना तथा काष्ठकला विशेष शिल्पों में गिने जाते थे। कलात्मक अवशेषों के आधार पर भवन निर्माणकर्त्ता, वास्तु शिल्पी, स्थापत्य, निर्माणकर्त्ता, ईंटों से काम करने वाले मूर्तिकार, चित्रकार और श्रमिकों के अस्तित्व का पता चलता है। अजंता की चित्रकलाओं में राजप्रासादों तथा धनाढ्य व्यक्तियों के बड़े भवनों का प्रतिनिधित्व हुआ है। *अमरकोश* में सूती वस्त्र उद्योग से जुड़े कई शब्दों का उल्लेख हुआ है, जैसे बुनाईकर्त्ता, चरखा, धागों के नाम, महीन और बारीक कपड़ों के नाम, इत्यादि। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों से ही भारतीय मूर्तिकला में सिले हुए परिधानों के प्रमाण चिन्हित किए जा सकते हैं। अजंता की चित्रकला में जो परिधानों की विशेषता दिखलाई पड़ती है उसके आधार पर निपुण दर्जियों और कशीदाकारी करने वालों का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार इस काल के साहित्य में सुंदर आभूषणों का वर्णन मिलता है तथा इनको प्रतिमाओं में तथा अजंता की चित्रकला में भी भली प्रकार दिखलाया गया है। अमर कोश में कीमती और अर्धबहुमूल्य रत्नों के अनेक प्रकारों के सूची दी गई है। मूंगे और शंख से भी कई प्रकार के आभूषण बनाए जा रहे थे। *कामसूत्र* तथा अन्य काव्य साहित्यों में नगरक का जो वर्णन किया गया है, उसके आधार पर मालाकारों और उबटन लेप बनाने वालों, इत्रों के निर्माणकर्त्ताओं, इत्यादि का पता चलता है। वराहमिहिर की *बृहत्त संहिता* में हीरों, माणिक्यों और मोतियों की गुणवत्ता का वर्णन मिलता है।

मंदसौर अभिलेख में रेशम के बुनकरों के एक समृद्धशाली श्रेणी संगठन का उल्लेख मिलता है, जिनका उस स्थान से दूसरे स्थान पर आप्रवर्जन हुआ और इसके साथ-साथ इनके अन्य गतिविधियों का भी वर्णन उसमें मिलता है। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। रेशम व्यापारियों के देशांतरन से जुड़े इस अभिलेख के 20 श्लोक में यह कहा गया है कि 'हे नारी जाति, यद्यपि तुम यौवन और रंग रूप से सराबोर हो (और स्वर्ण के हारों, पान के पत्तों तथा पुष्प वाले परिधान से सजी धजी हो, फिर भी रेशमी कपड़ों के एक जोड़े के बिना अनुभवातीत रूप से उत्कृष्ट सौंदर्य की प्राप्ति तुम्हें नहीं हो सकती।)'। स्कंदगुप्त के काल के इंदौर ताम्रपत्र में एक रोचक तथ्य अंकित है, जिसमें कहा गया है कि तेलियों की एक श्रेणी संगठन को अपने देशांतरन के बाद भी किसी सूर्य मंदिर के लिए तेल की आपूर्ति करती रहनी होगी। इनसे यह पता चलता है कि शिल्पकारों के श्रेणी संगठनों का देशांतरन एक यर्थाथ था।

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में शिल्प उत्पादन और व्यापार से सम्बंधित साझेदारी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। उनमें दक्ष शिल्पकारों के सानिध्य में नवदीक्षितों की प्रशिक्षुता का भी उल्लेख मिलता है। गोपचंद्र के फरीदपुर अभिलेख में शायद बड़े व्यापारियों का (प्रधान-व्यापारिन) संदर्भ आया है। साहित्यिक स्रोतों में यातायात के साधनों जैसे— बैलगाड़ी, नाव, बोझ उठाने वाले पशुओं को भाड़े पर प्राप्त करने से सम्बंधित नियमों का उल्लेख किया गया है। इनमें व्यापारिक गतिविधियों से जुड़ी विभिन्न पहलुओं का जैसे बिके हुए माल को वापस करने इत्यादि का भी संदर्भ आया है। व्यापारियों और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा से जुड़े नियमों अथवा मिलावट या माल छुड़ाने के समक्ष खड़ी की गई बाधा के लिए दी जाने वाली सजाओं को भी लिपिबद्ध किया गया है।

नारद तथा *बृहस्पति स्मृतियों* में श्रेणियों के संगठन और उनकी गतिविधियों का वर्णन मिलता है। इनमें श्रेणी संगठन के प्रमुख के अतिरिक्त दो, तीन या पांच कार्यकारी अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, श्रेणी धर्म के नियमों को निश्चित रूप से लिखित दस्तावेजों में सुरक्षित रखा जाता था। *बृहस्पति स्मृति* में यह भी उल्लेख मिलता है कि श्रेणी संगठनों के द्वारा अपने सदस्यों से सम्बंधित न्यायिक कार्यवाही भी की जाती थी तथा यह भी सुझाव मिलता है कि इसका अनुमोदन शासक को भी करना चाहिए। श्रेणी संगठनों के जनकल्याण गतिविधियों का भी उल्लेख मिलता है, उदाहरण के लिए, यात्रियों के लिए सराय बनाना, अथवा सामुदायिक भवनों का निर्माण करना, मंदिर और बागीचों का निर्माण करवाना, इत्यादि।

हम पहले यह चर्चा कर चुके हैं कि जिला स्तर के प्रशासनिक इकाईयों में व्यापारियों और शिल्पियों के श्रेणी संगठनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती थी जैसा कि कई अभिलेखों में संदर्भ आया है। यह भी चर्चा की जा चुकी है कि मुहरों में व्यापारी-बैंकर, कारवां व्यापारी अथवा शिल्पियों के संयुक्त निगमित निकायों का उल्लेख किया गया

4. श्रीमाली के उस स्थूल प्राक्कल्पना की आलोचना की जा सकती है, जिसमें नगरीय अर्थव्यवस्था के पतन तथा विशिष्ट शिल्पों तथा वाणिज्य के पतन पर बल दिया गया है।

है। मंदसौर अभिलेख से जहां समृद्धशाली, श्रेणी संगठनों का वर्णन मिलता है, ऐसे कई अभिलेख और भी हैं, जो श्रेणी संगठनों के अनुदानकर्त्ता अथवा बैंकर की भूमिका को उजागर करते हैं। इंदौर वाकाटक शासक प्रवरसेन के इंदौर अभिलेख में चंद्र नाम के एक व्यापारी का उल्लेख है, जिसने वैसे गाँव के आधे हिस्से को खरीद लिया, जो राजा के द्वारा ब्राह्मणों को अनुदान के स्वरूप दी गई थी। गढ़वा अभिलेख (गुप्त वर्ष 88 अर्थात 407 सा.सं.) जो चंद्रगुप्त-II के समय निर्गत किया गया था, उल्लेख आता है कि मातृदास नामक व्यक्ति के नेतृत्व में चल रहे एक श्रेणी संगठन में 20 दीनार निवेश के रूप में लगाया गया था, जो ब्राह्मणों के लिए समर्पित था। कुमार गुप्त-I के समय गढ़वा से प्राप्त अन्य दो अभिलेखों में तेरह और दो दीनारों में किए गए निवेशों की चर्चा है, जो सत्र (भिक्षागृह) के रख-रखाव के लिए किए गए थे।[5] स्कंदगुप्त के काल (गुप्तवर्ष 146 अर्थात् 465 सा.सं.) के इंदौर अभिलेख में देव विष्णु नामक ब्राह्मण को दी गई स्थायी निधि के विषय में कहा गया है कि यह राशि उसे इंद्रपुर के एक सूर्य मंदिर में निरंतर दीप जलाए रखने के लिए दी गई थी। यह भी कहा गया है कि इस मंदिर का निमार्ण इस स्थान के दो व्यापारी अचल वर्मन तथा त्रिकुंठ सिंह के द्वारा करवाया गया था और निवेश की गई धनराशि जीवंत के नेतृत्व में चल रहे तेलियों के एक श्रेणी संगठन के द्वारा उपलब्ध करायी गई थी। यह भी कहा गया है कि श्रेणी संगठन को यह सुनिश्चित करना है कि मंदिर में निरंतर दीप जलता रहे यदि, उनका देशांतरन ही क्यों न हो जाए।

आर.एस. शर्मा ([1965], 1980) का मानना है कि गुप्त तथा उत्तर गुप्त काल में मुद्रा प्रणाली का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ। उन्होंने यह तर्क दिया है कि गुप्तों के द्वारा बहुत-सी स्वर्ण मुद्राएं निर्गत की गई लेकिन उसकी तुलना में रजत मुद्रा या ताम्र मुद्रा काफी कम निर्गत किए गए। वाकाटकों ने कोई भी सिक्के निर्गत नहीं किए, किंतु

मानचित्र 9.2: **हिंद महासागर व्यापार तंत्र के महत्त्वपूर्ण बंदरगाह, ल. 300-600 सा.सं. (हॉरटन एवं मिडिलटन, 2000)**

5. सत्र शब्द का उपयोग ब्राह्मणों के द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले एक विशेष प्रकार के यज्ञ के लिए किया जाता है। किंतु इस शब्द को धर्मशाला के मुफ्त भोजनालयों और भिक्षा दिए जाने वाले स्थानों के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है।

पिछले दिनों की प्राप्तियों से यह धारणा गलत साबित हो चुकी है। साहित्यिक स्रोतों में महाजनी और साहूकारी पर काफी चर्चाएं मिलती हैं। उदाहरण के लिए, *नारद स्मृति* (1.46-40-47) में यह चर्चा की गई कि सूदखोरी से प्राप्त धन, 'धब्बेदार संपत्ति' तथा 'काला धन' होता है, किंतु धर्मशास्त्रीय स्रोतों में सूदखोरी से जुड़े नियमों को विस्तारपूर्वक लिपिबद्ध किया गया है। जिनमें इस तरह के समझौते करना, सूद के दर को निर्धारित करने के लिए स्थानीय प्रचलन की भूमिका तथा सुरक्षित ऋण के आवंटन के लिए विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों का उल्लेख मिलता है। सुरक्षित ऋणों के संदर्भ में 15 प्रतिशत वार्षिक दर को एक औसत दर के रूप में देखा जा सकता है, जबकि अनारक्षित ऋणों की दर काफी ऊंची थी और यहां तक कि कर्जदार या देनदार के वर्ण के अनुसार, इसमें परिवर्तन भी अपेक्षित था, जैसे निम्न वर्णों के देनदारों को उच्च दर से ऋण चुकाना पड़ता था। बृहस्पति स्मृति (10.67) में कहा गया है कि यदि कोई अचल संपत्ति का इतना भोग किया जा चुका है कि वह मूलधन से अधिक लाभ पहुंचा चुका हो, तब देनदार को उसके बदले में दी गई प्रतिभूति स्वत: प्राप्त हो जानी चाहिए। देनदार के द्वारा कर्ज नहीं अदा किए जाने की परिस्थितियां अगले जन्म में भी देनदार के साथ होंगी, ऐसी मान्यता कही गयी है। *नारद स्मृति* (1.7-8) यह कहता है कि देनदार या कर्जदार व्यक्ति को ऋण देने वाले व्यक्ति के घर में दास के रूप में जन्म लेना पड़ेगा ताकि वह अपने कर्म के द्वारा पूर्व जन्म में लिए गए ऋण को चुका सके। ऋण अदान-प्रदान से संबंधित विस्तृत चर्चाओं में संयुक्त ऋण की व्यवस्था भी सम्मिलित है, यह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि इस सम्बंध में उपयोग में आने वाली धन राशि चाहे उसका उपयोग किया जा रहा हो, या उसे ऋण के रूप में लिया जा रहा हो या उधार के रूप में चुकाया जा रहा हो। सबके पीछे उद्देश्य लाभ या मुनाफा ही होता है।

चित्र 9.1: **बौद्ध कॉम्पलेक्स, पल्लवनेश्वरम, कावेरीपट्टिनम; विहार चौथी शताब्दी तथा मंदिर छठी शताब्दी का है।**

कौस्मस ने अपने वृतांत में पश्चिमी भारत के तटीय बंदरगाहों का वर्णन किया है, जिसमें कैलिना (कल्याण), सिबोर (चोल) तथा माले का बाजार (मालाबार), परती, मंगरूथ (मैंगलोर), सोलपतन, नलोपतन (निंसिडाह) तथा पांडोपतन इत्यादि का उल्लेख है। फ़ा श्यैन के अनुसार, बंगाल में ताम्रलिप्ति, पूर्वी तटीय भारत में व्यापार का एक प्रमुख केंद्र था। ये सारे बंदरगाह और नगर एक ओर फारस, अरब और बाइजेंटियम से संबद्ध थे तो दूसरी ओर श्रीलंका, चीन और पूर्वी एशिया के क्षेत्रों से। फ़ा श्यैन ने चीन और भारत के बीच के सामुद्रिक मार्ग में पड़ने वाली अनेक बाधाओं का चित्रण किया है। भारत से चीन को मध्य एशिया के माध्यम से स्थल मार्ग से जाने वाले मार्ग की चर्चा है। भिक्षुओं के द्वारा कदाचित वही मार्ग अपनाया जा रहा था, जो कारवां व्यापारियों के द्वारा।

चीन के स्रोतों में भारत से आने वाले महत्त्वपूर्ण सामग्रियों की सूची दी गई है, जिनमें रत्न, मोती, मसलिन जैसे बारीक वस्त्र, केसर, मसाले, जिसमें गोलमिर्च और कांतिवर्धक सामग्रियां भी सम्मिलित थीं। जिन रूलिया (1996: 50-56) के अनुसार, यद्यपि भारत में देशी-रेशम का उत्पादन किया जाता था किंतु भारत इस दौरान चीन के रेशमी सूत और रेशमी वस्त्रों का आयात कर रहा था। इसके अतिरिक्त भारत चीनी रेशम को भू-मध्य सागर तक ले जाने वाले व्यापारिक तंत्र का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। इस प्रकार के चीनी रेशम की भारत में मांग का शायद मुख्य कारण यह था कि भारत के शिल्पी प्राकृतिक रूप से प्राप्त रेशम के कीड़ों के कृमि कोश से रेशम बना रहे थे। ये प्राकृतिक रूप से प्राप्त रेशम के कीड़ों से कृतिम को एकत्रित करते थे और उनमें से टूटे हुए कृमि कोशों से निकाले गए सूतों का रेशम बनाने में उपयोग करते थे। शहतूत से प्राप्त रेशम के कृमि कोशों के द्वारा सिल्क बनाने की तकनीक अभी तक विकसित नहीं की गई थी, जिसमें रेशम के धागे कृमि कोशों को उबाल कर निकाल लिया जाता था। यह तकनीक मध्य एशिया से आए हुए प्रवासियों के द्वारा तेरहवीं शताब्दी में

भारत में विकसित की गई। यही कारण है कि भारतीय रेशम चीनी रेशम के समान मुलायम और चमकीले नहीं होते थे। अतः भारत से सूती वस्त्र तो निर्यात किए जा रहे थे, लेकिन भारतीय रेशम प्राचीन काल में निर्यात की महत्त्वपूर्ण सामग्री नहीं थी। दरअसल, भारतीय सिल्क उत्पादन में हुए तकनीकी परिवर्तनों के बाद भी मध्य काल में चीनी रेशम, भारतीय निर्यात की महत्त्वपूर्ण सामग्री बनी रही, जिसकी काफी मांग थी। यह चीनी सम्राटों के द्वारा विदेशी राजदूतों को दिए जाने वाले भेटों में एक प्रमुख सामग्री बनी रही। कालिदास ने चीनी रेशम या चीनांशुक के बारे में कहा है कि यह धनाढ्य व्यक्तियों के द्वारा परिधान के रूप में प्रयोग में आता था।

सामान्य संवत के पहले सहस्राब्द में जावा, सुमात्रा और बाली में राजतंत्रों का अभ्युदय हुआ और इस क्षेत्र के आर्थिक जीवन में सामुद्रिक व्यापार एक महत्त्वपूर्ण पहलू बना रहा। (रे, 1994: 87) 500 सा.सं. के आस-पास से दक्षिण पूर्व एशिया के प्रायद्वीपीय हिस्से में और प्रारंभिक शासकों की वंशावलियों में उनके भारतीय पूर्वजों के विषय में चर्चा की गयी है। उदाहरण के लिए, म्यानामार के पारंपरिक इतिहासों में इरावदी घाटी के प्राचीनतम् राज्य की स्थापना भारत के एक निर्वासित राजकुमार के द्वारा की गई मानी जाती है। कंबोडिया की परंपरा के अनुसार, कौडिण्य नामक एक ब्राह्मण ने कंबोडिया की राजकुमारी के साथ विवाह किया। डोंग-डयोंग से प्राप्त नवीं शताब्दी के एक अभिलेख के अनुसार, इस क्षेत्र के शासक महाभारत में वर्णित भृगु ऋषि की संतति हैं। पहले सहस्राब्द के दौरान ही इन क्षेत्रों में बौद्ध तथा हिंदू प्रतिमाशास्त्र और स्थापत्य कला प्रवेश पा चुकी थी। यूप अभिलेख तथा बुद्ध तथा विष्णु की स्वर्ण मुद्राएं बोर्नियो के कुतेई नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं। आंध्र क्षेत्र की बौद्ध कला ने हिंद-चीन के प्रतिमाशास्त्रीय शैलियों को काफी प्रभावित किया।

दक्षिण भारत के बंदरगाहों ने दक्षिण पूर्व एशिया और चीन के साथ हो रहे सामुद्रिक व्यापार में महती भूमिका निभाई। तमिल महाकाव्यों की कथाएं, मदुरई, कावेरी कुम्पहिनम्/कावेरी पट्टनम्, तंजि तथा कांचीपुरम के नगरों की पृष्ठभूमि में लिखी गई है। *शिलप्पदिकारम* में कन्नकी के पिता मनायकन पुहार नामक प्रसिद्ध नदी-बंदरगाह के निवासी थे और एक जहाज के कप्तान भी। कोवलन एक कारवां व्यापारी का पुत्र था। *शिल्पदिरकम्* में मदुरई के कपड़े के व्यापारियों की एक गली की चर्चा है जहाँ सूती और रेशमी धागों से बने वस्त्रों का अंबार लगा रहता था। बुनकर (करूक) कावेरीपट्टिनम् के बाजार के लिए विभिन्न प्रकार के सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र एवं उत्कृष्ट रेशम के वस्त्र लाते थे। *मणिमेकलई* की कथाओं में श्रीलंका और जावा तक जाने वाले सामुद्रिक व्यापारियों का उल्लेख है। जातक कथाओं में दरअसल *मणिमेकलई* एक देवी का नाम है, जो तटीय लोगों की रक्षा करने वाली देवी थी। *शिलप्पदिकारम* में यवन शिल्पकारों के नगरों में उपस्थिति का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पुहार में यवनों के निवास के लिए बने पृथक मोहल्ले का और तमिल राजाओं के द्वारा अपने किलों के द्वारपाल के रूप में यवनों की नियुक्ति की चर्चा की गई है। इन महाकाव्यों में भारतीय व्यापारियों के समृद्धशाली जीवन शैली का भी वर्णन मिलता है।

गोलमिर्च और इलायची जैसे मसाले केरल क्षेत्र में होने वाले उत्पादों एवं निर्यातों में सबसे प्रमुख बने रहे किंतु इसकी बढ़ती हुई मांग को देखते हुए इन्हें दक्षिण पूर्व एशिया से भी आयातित किया जाने लगा। जहां से इन्हें पश्चिमी देशों में भेजा जाता था। सूती वस्त्र दक्षिण से होने वाले निर्यातों में प्रमुख स्थान रखता था तथा *शिलप्पदिकारम* में 32 प्रकार के सूती वस्त्रों की चर्चा की गई है। इसमें यह भी वर्णन आया है कि राजाओं के द्वारा बड़े-बड़े सामूहिक नावों में भरकर चंदन की लकड़ी, मसाले, रेशम, कपूर इत्यादि जाड़े के मौसम में प्रारंभिक काल में निर्यात किए जाते थे। तमिल स्रोतों में रेशम को पट्टू कहा जाता था। कावेरीपट्टिनम् में किए गए उत्खनन (सौंदरराजन्, 1994) में यह स्पष्ट होता है कि इस स्थान पर तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. से लेकर बारहवीं शताब्दी सा. सं. तक के सतत् सांस्कृतिक प्रमाण उपलब्ध हैं। यहां के निकट स्थित पल्लावनेश्वरम् में ईंटों से बने एक बौद्ध विहार और एक विशाल मंदिर के अस्तित्व का पता चलता है। यह मंदिर छठी शताब्दी का था जबकि विहार चौथी शताब्दी का। इनके आहाते से बुद्ध की दो कांस्य प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। श्रीलंका के उत्तरी हिस्से में मंतई तथा दक्षिणी हिस्से में किरिंडा और गोदवय जैसी समृद्धशाली बस्तियां दरअसल इसी तटीय और सामुद्रिक व्यापार की पुष्टि करती है।

लिंग भेद, श्रम के प्रकार, दास प्रथा तथा अस्पृश्यता: सामाजिक संरचना के कुछ पहलू

(Aspects of Social Structure : Gender, Forms of Labour, Slavery and Untouchability)

फ़ा श्यैन जैसे धर्म यात्रियों का मुख्य उद्देश्य यह था कि वे चीन के बौद्ध आस्थावानों को ऐसा अवसर प्रदान कर सके जिसके माध्यम से वे स्वयं को बुद्ध के जीवन से जुड़ी घटनाओं और स्थानों से जोड़ सके। (सेन 2006:

प्राथमिक स्रोत

फ़ा श्यैन का वृत्तांत

भारत में बौद्धस्थलों के वर्णन और बौद्ध व्यवहारों के संदर्भ में सबसे पहली और प्रमाणिक पुस्तक फ़ा श्यैन की *गावोसेंग फ़ा श्यैन झुआन* (बौद्ध राजतंत्रों का एक दस्तावेज) कहा जा सकता है, जिसने भारत के विषय में चीनी धारणा के निर्माण और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। फ़ा श्यैन उस वक्त 60 वर्ष का था, जब उसने चांगान की धरती को छोड़कर स्थलमार्ग से भारत की लंबी यात्रा की शुरुआत की और तब वह 77 वर्ष का था जब वह चीन वापस लौटा। उसके इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य संघ नियमों से जुड़े पिटकों के मूल ग्रंथों को चीन लाना था। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उत्तर भारत के विभिन्न बौद्ध विहार, उसके वृतांतों के केंद्र में रहे। इसके अतिरिक्त बौद्ध तीर्थों का वर्णन किया, उनसे जुड़ी अनुश्रुतियों का दस्तावेजीकरण किया। उसने आम आदमी के जीवन के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा और यदि कहा भी तो आदर्श परिस्थिति का ही वर्णन किया। उसके वृतांत के दो उद्धृत अंश यहां प्रस्तुत हैं:

[मथुरा]: यहां से दक्षिण में सभी कुछ मध्य राज्य कहलाता है। यहां गर्मी और ठंडक दोनों संतुलित रहता है, और यहां न तो पत्थर पड़ता है और न ही बर्फ। यहां बड़ी संख्या में खुशहाल लोग रहते हैं; जिन्हें न तो अपने घरों को पंजीकृत कराना पड़ता है और न ही अधिकारियों के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है; केवल वैसे लोग जो शाही जमीन पर खेती करते हैं, उन्हें अपनी उपज का एक हिस्सा देना पड़ता है। यदि वे कहीं जाना चाहते हैं, तो ऐसा करने के लिए स्वतंत्र हैं; और यदि वे कहीं नहीं जाना चाहते तो भी वे ऐसा करने के लिए स्वतंत्र हैं। राजा के द्वारा सर को धड़ से अलग नहीं करवाया जाता या मृत्युदंड नहीं दी जाती। अपराधियों को उनके अपराध के मुताबिक छोटा-बड़ा जुर्माना देना पड़ता है। राजद्रोह के एकाधिक बार प्रयास करने के बावजूद उन्हें अधिकतम दाहिने हाथ को काटकर सजा दी जाती है। राजा के सभी अंगरक्षकों और परिचारकों को तनख्वाह दी जाती है। समूचे राज्य में कहीं भी लोग किसी जीव की हत्या नहीं करते, मदिरा का सेवन नहीं करते और लहसुन-प्याज भी नहीं खाते। इस संदर्भ में चाण्डाल अपवाद के रूप में देखे जा सकते हैं। ऐसा उन लोगों को कहते हैं, जिन्हें असंभ्रांत समझा जाता है और जो और लोगों से अलग-अलग निवास करते हैं। जब वे किसी नगर या बाजार के प्रवेशद्वार पर पहुँचते हैं, तब लकड़ी के एक टुकड़े के माध्यम से वे लोगों को अपनी उपस्थिति से अवगत कराते हैं और वे किसी के संपर्क में नहीं आते। इस जगह पर सुअर या पक्षियों को नहीं पाला जाता और ये लोग जीवित मवेशियों को नहीं बेचा करते; यहां के बाजारों में मदिरा की कोई दुकानें नहीं हैं और कोई कसाईखाना भी नहीं है। सामानों के खरीद-फरोख के लिए कौड़ियों का इस्तेमाल किया जाता है। मछुआरे और बहेलिए केवल चाण्डाल ही होते हैं, जो माँस बेचते हैं।

[पाटलिपुत्र में]: इस देश के नगर और महानगर पूरे मध्यदेश में सबसे महान हैं। यहां के बाशिन्दे धनाढ्य और समृद्ध हैं, तथा उदारता और धर्मपरायणता की दृष्टि से लोगों के बीच प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है। प्रत्येक वर्ष, दूसरे महीने के आठवें दिन वे प्रतिमाओं का एक जुलूस निकालकर उत्सव मनाते हैं। वे चार पहियों वाली गाड़ी बनाकर बासों के सहारे पांच मंजिली संरचना खड़ी करते हैं। उसको सहारा देने के लिए एक शाही स्तंभ भी बनाया जाता है, जिससे कई भाले और खम्भे झूलते नजर आते हैं। यह संरचना 20 हाथों से भी ऊंची होती है और एक स्तूप के समान दिखलाई पड़ती है। सफेद और रेशम के कपड़ों जैसे बालों से संरचना ढकी रहती है तथा जिनके ऊपर कई प्रकार के रंगों से रंगाई की जाती है। स्वर्ण, रजत और लाजव्रत को शानदार तरीके से मिलाकर देवताओं की तस्वीरें बनाई जाती हैं, जिनपर रेशमी पताकाएं और छत्र लहराते होते हैं। चारों ओर बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमाएं उत्कीर्ण होती हैं, जिनके नजदीक बोधीसत्व की एक खड़ी प्रतिमा बनी होती है। ऐसी बीसों गाड़ियां हो सकती हैं, सभी विशाल और भव्य, किंतु सभी एक-दूसरे से भिन्न। उपरोक्त तिथि को देशभर के सभी भिक्षु और उपासक एकत्रित होते हैं; उनके साथ कुशल गायकों और वादकों की टोली होती है; सभी पुष्प और अगरबती से अपनी आस्था प्रकट करते हैं। ब्राह्मणों के द्वारा इन बुद्धों को नगर में प्रवेश करने के लिए आमंत्रित किया जाता है। ये व्यवस्थित रूप से प्रवेश करते हैं तथा दो रात्रियों तक यथावत् उपस्थित रहते हैं। रातभर दीप जलते रहते हैं, संगीत चलता रहता है और चढ़ावा भी। यही परम्परा अन्य राज्यों में भी प्रचलित है। नगरों में वैश्य कुलों के कर्त्ताओं के द्वारा वित्तीय सहायता और चिकित्सा के लिए भवन बनवाए जाते हैं। देशभर के सभी निर्धन और असहाय, अनाथ, विधुर, बाँझ पुरुष, शरीर से विकलांग, रोगी सभी ऐसे भवनों में जाकर सभी प्रकार की सहायता प्राप्त करते हैं। यहां उन्हें आवश्यकता के अनुसार, भोजन और दवाएं मुहैया करवायी जाती हैं और उन्हें हर प्रकार से आश्वस्त किया जाता है। पूर्ण रूप से ठीक हो जाने के बाद वे अपनी इच्छा से इन भवनों को छोड़कर जाते हैं।

स्रोत: लेगी [1986], 1981: 42–43, 79

33)। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने भारतीयों के रोजमर्रे के जीवन से जुड़ी बातों का केवल संयोगवश ही वर्णन किया है। फ़ा श्यैन ने पांचवी शताब्दी के भारतीय समाज का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत किया है। उसने वर्णन किया है कि यहां के लोग सुखपूर्वक रहते थे। वे संतुष्ट थे तथा शांति और समृद्धि का जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें मजिस्ट्रेटों के समक्ष जाकर अपने निवास स्थान का पंजीकरण नहीं करना पड़ता था। वैसे किसान जो शाही भूमि पर कृषि कार्य करते थे, उन्हें उस भूमि की पैदावार का कुछ हिस्सा राजा को देना पड़ता था, किंतु इस काल के सामाजिक जीवन के विषय में अधिक सटीक जानकारी हमें अन्य स्रोतों से प्राप्त होती है। इस काल के सिक्कों और मुहरों पर शाही परिवार की महिलाओं का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। पहले भी हम 'राजा-रानी' प्रकार के सिक्कों की चर्चा कर चुके हैं, जैसे चन्द्रगुप्त-I और उसकी पत्नी कुमार देवी के सिक्के। कुछ सिक्कों के पृष्ठभाग पर रानियों का चित्रण किया गया था। कुमारगुप्त-I और चंद्रगुप्त-II के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर शंख पर बैठी दाहिने हाथ में पुष्प लिए एक रानी का चित्र दिखलाई पड़ता है। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त-I के अश्वमेध प्रकार के सिक्कों के पृष्ठभाग पर एक खड़ी हुई स्त्री है, जो अपने हाथ में चामर लिए हुए है। अश्वमेध यज्ञ में रानी ही अश्व को स्नान कराती थी और उसे पंखा झलती थी। बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से प्राप्त कुछ चन्द्राकार प्रतिमाओं पर ध्रुवस्वामिनी (चन्द्रगुप्त-II की पत्नी) को दिखलाया गया है, जिसके साथ एक बैठा हुआ सिंह भी है। एक अभिलेख भी उपलब्ध है।

उस काल की राजनीतिक जीवन में वैवाहिक सम्बंधों का वस्तुतः विशेष महत्त्व था। इसकी सूचना हमें समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रशस्ति तथा स्कन्दगुप्त के भिटारी स्तंभ अभिलेख जैसे गुप्त अभिलेखों से प्राप्त होती है। वाकटकों की वंशानुवालियों में सामान्यतः रानियों का जिक्र नहीं हुआ है। फिर भी कुछ वाकटक अभिलेखों से यह पता चलता है कि रानी प्रभावतीगुप्ता का राजनीतिक प्रभाव तीन शासकों के क्रमागत राजकाल में रहा था। शाही परिवार की कुछ महिलाओं ने भेंट-अनुदान देने की दिशा में भी पहल की। प्रभावतीगुप्ता ने कई अनुदान दिए। प्रवरसेन-II के मसौदा अभिलेखों में दिए गए अनुदान उसकी प्रधान रानी (जिसका नाम नहीं दिया गया है) के आग्रह पर निर्गत किए गए थे। रामटेक (नागपुर जिला) के केवल नरसिंह मंदिर की दीवारों से प्राप्त एक विच्छिन्न अभिलेख से यह पता चलता है कि इस मंदिर (प्रभावतीस्वामी मंदिर) का निर्माण प्रभावतीगुप्ता की पुत्री और उसके भाई प्रवारसेन-II के संयुक्त प्रयास से, प्रभावतीगुप्ता के स्मृति में करवाया गया था।

राजाओं के द्वारा अपनायी गई बहुपत्नीत्व का व्यवहार कई सूत्रों से पता चलता है। *कामसूत्र* के अनुसार, बहुपत्नीत्व, गैर-शाही कुलीन परिवारों में भी प्रचलित था। वराह देव के घटोत्कच्छ गुफा अभिलेख से दानकर्त्ताओं के एक परिवार की लंबी वंशावली का पता चलता है। इसमें सोम नामक एक व्यक्ति का भी उल्लेख है, जिसने क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनों जाति से पत्नियां रखी। उसने रवि नामक एक पुत्र की प्राप्ति की, जो क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न हुआ था तथा जिसके शरीर पर शाही लक्षण मौजूद थे तथा ब्राह्मण पत्नियों से कई विद्वान पुत्रों की प्राप्ति की।

इस प्रकार के अभिलेखों से जो सूचनाएं प्राप्त होती हैं, वे सामान्य रूप से शाही परिवार तथा कुलीन परिवारों से सम्बद्ध है, किंतु धर्मशास्त्रीय ग्रंथों से जैसे *नारद*, *बृहस्पति* और *कात्यायन स्मृतियों* से जो सूचनाएं मिलती हैं, वे अधिक सामान्य स्तर पर व्याप्त गृहस्थी और लिंग भेद सम्बंधों की चर्चा करती है। वात्सायन के *कामसूत्र* के विषय में लोकप्रिय धारणा यह है कि यह ग्रंथ कामुकता और मैथुन से जुड़ा हुआ है। दरअसल, यह एक जटिल रचना है जो इन्द्रीयनिष्ठ आनंद पर केंद्रित है। इसके सात खंड हैं—सामान्य व्यवहार और नियम, विषम लैंगिक संभोग, वधु प्राप्ति, एक पत्नी के दायित्व, दूसरे पुरुषों की पत्नियों के साथ सम्बंध तथा निपुण संभोग की सफलता के लिए गुप्त मंत्र-तंत्र (रॉय, 1998)। जब हम इस ग्रंथ को इसकी संपूर्णता में देखते हैं, तब *कामसूत्र* में प्रतिबिंबित सामाजिक आदर्श कई मायने में धर्मशास्त्रीय ग्रंथों से बहुत मेल खाता है।

इस काल में धर्मशास्त्रों में कन्या के विवाह की उम्र को कम करने की एक प्रवृत्ति देखी जा सकती है। कुछ ग्रंथों में यह निर्देश दिया गया है कि कन्या का विवाह यौवनाआरंभ के पहले होना चाहिए। वात्सायन एक स्थान पर तो इस विचार का अनुमोदन करते हैं, किंतु जब वे प्रणय निवेदन या वैवाहिक सम्बंधों की चर्चा करते हैं, तो यह पुर्वानुमान होता है कि संबद्ध वर और वधु परिपक्व हैं। दरअसल, विभिन्न ग्रंथों में दिए गए विभिन्न प्रकार के निर्देशों से यही पता चलता है कि इन मामलों में प्रचलित व्यवहार अलग-अलग रहे होंगे।

कामसूत्र यह मानता है कि किसी पुरुष को संतति, प्रसिद्धि तथा सामाजिक स्वीकृति तभी मिलती है जब वह अपने वर्ण की किसी कुंवारी कन्या से धार्मिक अनुष्ठानों के अनुरूप विवाह करे। यह उच्च वर्णें की महिलाओं के साथ तथा विवाहिताओं के साथ संभोग सम्बंधों को निषिद्ध करता है, लेकिन दूसरे स्थान पर इसे निम्न वर्णों की महिलाओं के साथ शुद्ध रूप से आनंद की प्राप्ति के लिए संभोग सम्बंध स्थापित करने में कोई आपत्ति नहीं है, जिसकी तुलना यह वेश्याओं अथवा पुनर्विवाहित विधवाओं के साथ सम्बंध से करता है। वात्सायन माता-पिता और अभिभावकों के द्वारा नियोजित विवाहों में विश्वास करते हैं, जिसका परिणाम शास्त्रों में वर्णित ब्रह्म प्रजापत्य, आर्य या दैव विवाहों में से किसी एक के रूप में होता है। इसमें कन्या के द्वारा वर का चयन और परस्पर प्रेम के आधार पर वैवाहिक सम्बंध को भी समर्थन दिया गया है। इस काल में रचे गए नाटकों में उक्त प्रकार के विवाहों की चर्चा कुलीन वर्ग के

सम्बंध में कई बार की गई है। वात्सायन ने कुलीन वर्ग की महिलाओं और राजकुमारियों को शास्त्रों में निपुण होने की बात कही गई है। स्त्रियों के द्वारा चौसठ कलाओं के ज्ञान अर्जित करने का प्रस्ताव भी रखा गया है। पहेली बुझाना, ग्रंथों का वाचन करना, अधूरी कविताओं को पूरा करना, कवित एवं काव्यछंदों तथा शब्द कोशों का ज्ञान होना इत्यादि इसमें सम्मिलित है। संस्कृत के नाटकों से यह पता चलता है कि शाही परिवार की महिलाएं पढ़ने-लिखने, वाद्य यंत्रों को बजाने, संगीत नृत्य तथा काव्य में निपुण होती थी।

कामसूत्र के अनुसार, एक योग्य पत्नी अपने पति की भली प्रकार सेवा करती है, घर को साफ-सुथरा रखती है और अपने रूप सज्जा पर ध्यान देती है। इसके अतिरिक्त वह घर के परिचारकों और घर के वित्तीय मामलों को काफी कुशलता से नियंत्रित करती है। वह अपने दायित्वों के प्रति काफी सजग और अति विनम्र होती है। वह अपने पति की प्रतीक्षा करती है। किसी भी सामाजिक उत्सव में केवल उसके अनुमति के बाद ही सम्मिलित होती है। उसके मित्रों का मनोरंजन करती है। अपने सास-ससुर की सेवा करती है और उनके शासन का आदर करती है। घर के पूजा स्थल पर वह नित्य पूजा करती है। जब उसका पति बाहर होता है, तब वह काफी सादगी भरा जीवन व्यतीत करती है। कम से कम आभूषण पहनती है तथा धार्मिक अनुष्ठान और उपवास इत्यादि का पालन करती है। घर के बाहर तभी जाती है जब अतिआवश्यक हो। वह घर के बागीचे में विभिन्न प्रकार के वृक्ष और पौधे लगाती है। उसे कृषि का, पशुओं की देख रेख करने का, कपड़ा बुनने का, सूत कातने, इत्यादि का ज्ञान होता है। वह अपने पति के पालतू पशुओं का ध्यान रखती है जब उसका पति बाहर होता है तो वह सुनिश्चित करती है कि घर का वित्त स्थिर रहे। यदि पति की सहपत्नी भी होती है तब उससे अपेक्षा की जाती है कि वह सापेक्षिक उम्र के अनुसार, उसके बहन या मां के रूप में व्यवहार करे। कात्यायन स्मृति में कहा गया है कि एक पत्नी को सदैव अपने पति के साथ समर्पित रूप से रहना चाहिए तथा गृहपत्य-अग्नि का नित्य पूजन करना चाहिए। पति के जीवनकाल में उसकी सेवा करनी चाहिए और उसकी मृत्यु के बाद सुचिता के साथ रहना चाहिए।

कामसूत्र तथा अन्य संस्कृत काव्य साहित्य में गणिकाओं का वर्णन मिलता है। कई नाट्यों में नायिका, एक गणिका होती है, जिनमें सबसे प्रसिद्ध *मृच्छकटिका* की नायिका वसंतसेना है। स्वाभाविक रूप से गणिकाओं के प्रति इन ग्रंथों में द्वैधवृत्ति देखी जा सकती है। एक ओर तो गणिकाओं की उनकी सुंदरता के लिए सराहना की गई है। दूसरी ओर उसके विषय में कहा गया है कि उसके संभोग से जुड़ी सेवाओं को धन के द्वारा खरीदा जा सकता है। इस आधार पर वह कभी भी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकती। सामान्य वेश्याओं के विषय में भी कई साहित्यिक स्रोतों में चर्चा की गई है, किंतु इनके जीवन की तुलना गणिकाओं के भव्य एवं समृद्ध जीवन के साथ नहीं की जा सकती।

कामसूत्र पुरुषों और विवाहित महिलाओं के बीच में मैथुन सम्बंधों को वास्तविक परिस्थितियों की व्याख्या करता है। हालांकि, कुछ धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के द्वारा परगमन या अन्यागमन को केवल 'उपपातक' (हल्के-फुल्के पाप) कहा गया है और उसके लिए कुछ प्रायश्चितों का भी आदेश दिया गया है, किंतु अन्य शास्त्रीय ग्रंथों में इन प्रायश्चितों को भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। बल्कि यह मान लिया गया है कि अन्यागमन से उत्पन्न दोष मासिक धर्म के पश्चात् स्वत: ही दूर हो जाते हैं। *नारद स्मृति* (स्त्रपुंस, श्लोक 91) के अनुसार, यदि कोई स्त्री परगमन की स्थिति में पकड़ी जाए तो उसके सिर के बाल मुंडवा देने चाहिए और उसे जमीन पर सुलाना चाहिए तथा साधारण आहार तथा वस्त्र पहनने को बढ़ावा देना चाहिए। उसे अपने पति के घर की साफ-सफाई में समय व्यतीत करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे अपराधों में लिप्त व्यक्तियों के सामाजिक स्थिति पर सबकुछ निर्भर करता था, उदाहरण के लिए, यदि कोई स्त्री एक शुद्र के साथ परगमन करती है या एक नीच जाति के व्यक्ति के साथ तो स्मृतियों के अनुसार, पति को उस स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए। इन ग्रंथों में एक सतीत्व पूर्ण पत्नी की काफी प्रशंसा की गई है। *नारद स्मृति* (स्त्रपुंस श्लोक 95) मानता है कि यदि ऐसी परिस्थिति में किसी स्त्री को पति त्यागता है तब उसे अपनी संपत्ति का एक तिहाई हिस्सा उस परित्यकता को देना चाहिए। इसके लिए कुछ हल्के-फुल्के प्रायश्चितों का भी आदेश दिया गया है।

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में विधवाओं के द्वारा ब्रह्मचर्य तथा सादगी भरा जीवन व्यतीत करते रहने पर बल दिया गया। *बृहस्पति स्मृति* (श्लोक 483-84) इनके लिए एक वैकल्पिक व्यवस्था का भी प्रस्ताव रखता है, जिसके अनुसार, विधवा को अपने पति की चिता-अग्नि के साथ जल जाना चाहिए। *महाभारत* में भी इस प्रकार के सहमरण या सहगमन के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे पांडु की पत्नी माद्री ने अपने पति के ही चिता-अग्नि के साथ स्वयं को भस्म कर लिया तथा वासुदेव की कुछ पत्नियों ने भी इसी प्रकार का व्यवहार किया। विधवा-पुनर्विवाह के प्रति कोई समर्थन नहीं दिखलाई पड़ता किंतु विधवा पुनर्विवाह हो रहे थे। इसकी सूचना अमरकोश से मिलती है, जिसमें विधवा पुनर्विवाह के लिए 'पुनर्भू' शब्द का प्रयोग हुआ है। *अमरकोश* में एक पुनर्भू उसके पति और एक द्विज जिसकी प्रधान पत्नी एक पुनर्भू ही थी, का वर्णन आया है। कात्यायन ने पुर्नविवाहित विधवाओं से उत्पन्न पुत्र के उत्तराधिकार सम्बंधी बातों की चर्चा की है। उन्होंने ऐसी स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के संपत्ति सम्बंधी अधिकारों की भी चर्चा की है, जिन्होंने अपने नपुंसक पति का परित्याग कर दिया हो। वात्सायन ने विधवाओं के प्रणय प्रसंगों की चर्चा की है।

अनुसंधान की नई दिशाएं

संस्कृत काव्य में गणिका और कुलस्त्री

शोनालिका कौल का मानना है कि संस्कृत काव्य के प्रति इतिहासकारों का दृष्टिकोण या तो बिल्कुल ही अनालोचानात्मक रहा है या अति अलोचनात्मक रहा है। वे या तो काव्य की शाब्दिक व्याख्या को हुबहु स्वीकार कर लेते हैं अथवा उनके प्रति रूढ़िबद्ध धारणा बना लेते हैं। वह सुझाव देते हैं कि इन दोनों दृष्टिकोणों से परे यदि संस्कृत काव्य के आद्यरूप पर आधारित विश्लेषण किया जाए, तो अधिक लाभ होगा। आद्यरूप किसी भी साहित्य में बार-बार प्रयुक्त होने वाली प्रतीकात्मक संरचना है। रुढ़िबद्ध धारणा जहां एक ओर साहित्यिक विधा का मानकीकरण करने की चेष्टा करती है, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक विधा का आद्यरूप उसको एक प्रतीकात्मक स्वरूप प्रदान करती है। यदि काव्य के इन प्रतीकात्मक आद्यरूपों का सावधानीपूर्व विश्लेषण किया जाए तब इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में काव्य का उपयोग किया जा सकता है। कौल ने गणिका और कुलस्त्री (पत्नी) के दो परस्पर विरोधाभासी चरित्रों को स्पष्ट करने के लिए पितृसत्तात्मक मूल्यों तथा सामाजिक के संदर्भ का हवाला दिया, जो नगरीय जीवन का हिस्सा थीं। हालांकि, काव्यों में सामान्य वेश्या और गणिका दोनों की चर्चा की जाती रही, किंतु स्वाभाविक रूप से काव्यों में गणिकाओं को लब्धप्रतिष्ठित स्थान दिया गया। आम वेश्याओं से बिल्कुल अलग, जो भीड़-भाड़ वाली गलियों में रहा करती थीं, धनाढ्य गणिकाएं काफी शान-शौकत के साथ भवनों में रहती थीं। गणिकाओं के आवास में उनकी माताओं के अतिरिक्त अनेक परिचारिकाएं, सूचना के लिए महिला, संवाहिकाएं, संगीतज्ञ और वादक तथा उनकी संताने रहा करती थीं। परिष्कृत मनोरंजन और संस्कृत की संवाहिका के रूप में एक गणिका को एक नागरक के स्त्री प्रतिरूप के रूप में देखा जा सकता है और इस दृष्टि से काव्य साहित्य में नगरीय जीवन की जो अवधारणा निर्धारित की गई है, गणिकाओं का उसके केंद्र में रहना स्वाभाविक है। *कामसूत्र* में प्रणय की कला के अतिरिक्त गणिका के द्वारा सीखे जाने योग्य कलाओं की एक लंबी सूची दी गई है, जिसमें शिष्टाचार, नृत्य, गायन, वादन, चित्रकला, मंदिर, परोसने के तौर-तरीके, व्यंग्य और पहेली बूझना, नाट्यकला, काव्यकला, साहित्यिक ज्ञान और जुआ खेलने की कला सभी कुछ सम्मिलित है।

गणिकाएं वैसी वांछनीय युवतियां होती थीं, जिनकी कामना उन्हें सौंदर्य के साथ-साथ उनके संभ्रांत आचरण और प्रतिभा के लिए भी की जाती थी। जहां एक ओर कुल स्त्री से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने आचरण में अत्यंत शालीन, गंभीर और संकोची दिखलाई पड़े, वहीं दूसरी ओर गणिकाएं स्वच्छंद रूप से पुरुषों के साथ मेल-जोल कर सकती थीं, उनके साथ गोष्ठी, वनभोज और उत्सवों में सम्मिलित हो सकती थीं। दूसरी ओर प्रणय के लिए पुरुषों का चयन करने में दोनों की एक-सी सीमाएं थीं। कौल का मानना है कि संस्कृत काव्य में गणिकाओं को इसलिए महिमा मंडित किया गया कि वे स्त्री आचरण के एक नूतन व आकर्षक स्वरूप का प्रतिनिधित्व कर रही थीं और जो स्त्री प्रतिभा और कामुकता के नवीन मानदंडों को प्रतिबिम्बित कर रही थीं।

काव्यों में गणिकाओं का चित्रण एक प्रकार की उभयप्रवणता को प्रतिबिम्बित करता है, जिसमें गणिका को सामाजिक विरोधाभास और द्विविधाओं के केंद्र में कहा जा सकता है। गणिका के आचरण संहिता में प्रेम के स्थान पर भृति-भोगिता, उनका लक्ष्य कहा गया है। संयोगवश, यदि कोई गणिका एक निर्धन व्यक्ति से प्रेम करने लगे तो उसे भयंकर परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता था, जिसका सजीव चित्रण वसंत सेना और चारूदत की प्रेमकथा में देखने को मिलता है। गणिका सौंदर्य से पूर्ण एवं प्रतिभासंपन्न स्त्री थी और उसमें सब कुछ होता था जो एक पुरुष किसी स्त्री से अपेक्षा रखता है। फिर भी निश्चित रूप से ऐसी स्त्री के साथ कोई पुरुष सम्बंध बनाने में संकोच करता था। पुरुष गणिकाओं के साथ अपने सम्बंध को छिपाते थे न कि उसका खुले-आम प्रदर्शन करते थे। गणिकाओं के गुण और आचरण स्वभावतः उसके द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा की अपेक्षा से उसको वंचित रखते थे।

स्रोतः कॉल, 2006

जहां एक ओर इस काल के धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के अधीनस्थ और आश्रित अवस्था पर जोर दिया जा रहा था, उसी समय इन धर्मशास्त्रों ने स्त्री धन की अवधारणा के क्षेत्र को काफी व्यापक बनाया। *कात्यायन स्मृति* में स्त्रीधन के प्रकार के विषय में इस प्रकार की सूची दी गई है। वैसा धन जो स्त्री को उसके विवाह के समय अग्नि के समक्ष फेरे लगाने के पहले दिया जाता हो, उसे अध्यग्नि स्त्रीधन कहा है। वैसी संपत्ति जो स्त्री को अपने पिता के घर से अपने पति के घर में जाने के लिए आयोजित शोभा यात्रा के दौरान दी जाए उसे 'अध्यवाहनिक स्त्रीधन' कहा गया है। स्त्री को सास या ससुर के द्वारा पैर पुजाई के समय दिए गए धन को 'प्रीतिदत स्त्रीधन' कहा गया है। स्त्री को दिया जाने वाला वैसा धन जो उसके गृह सम्बंधी बर्तनों, बोझ उठाने वाले पशुओं, दूध देने वाली गायों, आभूषणों या दासों के बदले में दी जाए, उसे शुल्क कहा गया है, जबकि विवाह-उपरांत पति के परिवार के द्वारा या स्त्री के पिता के बंधु-बांधवों के द्वारा कोई भेंट दी जाए, तो उसे 'अन्वाधेय' (अनुक्रमिक भेंट) की संज्ञा दी गई है। वैसा कोई भी धन या भेंट

जो कन्या को पति के परिवार में या पिता के घर में दिया जाए या किसी अविवाहित कन्या को उसके माता-पिता या भाइयों के द्वारा दिया जाए, उसे 'सौदायिक' कहा गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कात्यायन के द्वारा वर्णित अध्याग्नि और अध्यवाहिनक जैसे श्रेणियों में आने वाले स्त्री धन का क्षेत्र काफी व्यापक हो जाता है और इसके अंतर्गत वैसे लोगों के द्वारा भेंट को भी सम्मिलित किया जा सकता है, जो परिवार के सदस्य न भी हों। साथ ही साथ स्त्री के द्वारा अनेक अवसरों पर (शादी के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर) मिलने वाले धन को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है।

इस काल के ग्रंथों में श्रम के विभिन्न प्रकारों पर विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है। भाड़े पर प्राप्त किए जाने वाले श्रमों में कृषि कार्य के लिए, खेतों की रखवाली के लिए, फसलों को काटने के लिए, पशुधन को चारा देने के लिए, शिल्प उत्पादन के लिए तथा घरेलू कार्यों के लिए भाड़े पर मजदूरों को रखा जाता था। बृहस्पति और नारद समितियों में मुद्रा या वस्तु के रूप में श्रम के भुगतान सम्बंधी नियम और दरों की चर्चा की गयी है। वस्तु के रूप में अनाज, दूध, पालतू पशु, के रूप में मजदूरी का भुगतान किया जा सकता था। *नारद स्मृति* इस बात पर जोर देता है कि मजदूरों का इस्तेमाल करने वाले लोगों के द्वारा एक समझौते के आधार पर एक निश्चित समय सीमा के अंदर ही मजदूरी का भुगतान कर देना चाहिए। जो या तो कार्य के बीच में या कार्य के समाप्त हो जाने के बाद भी हो सकता है। यदि मजदूरी की दर कार्य के प्रारंभ में ही निश्चित नहीं की गई हो तो मजदूर को कुल पैदावार का या कुल लाभ का 1/10वां हिस्सा मिलना चाहिए। (*नारद स्मृति* 6.2-3), *बृहस्पति स्मृति* (16.1-2) के अनुसार, किसान के अधीनस्थ नौकर को ऊपज का 1/5वां हिस्सा तथा साथ में भोजन तथा वस्त्र मिलना चाहिए। अन्यथा ऊपज का 1/3 हिस्सा मिलना चाहिए। निश्चित रूप से उक्त सभी नियम एक प्रकार के निर्देश थे, ये प्रचलित व्यवहार की व्याख्या नहीं करते।

विष्टी या बंधुआ मजदूरी उस काल में निश्चित रूप से काफी प्रचलित रही होगी। विष्टी का जिक्र अन्य करों के साथ भूमि अनुदान अभिलेखों में किया गया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसे राज्य की आय के एक स्रोत के रूप में देखा जाता था, जो लोगों के द्वारा कर के रूप में भी देय होता था। मध्य प्रदेश और कठियावाड़ क्षेत्र के अभिलेखों में विष्टी से जुड़े अधिकांश संदर्भ आए हैं, जिससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इन क्षेत्रों में ही विष्टी अधिक प्रचलित थी।

नारदस्मृति में दास प्रथा पर विस्तृत विवेचना की गई है, इसमें 15 प्रकार के दासों का जिक्र किया गया है, जो *अर्थशास्त्र* या *मनुस्मृति* में दी जाने वाली सूची से कहीं अधिक है, किंतु ऐसा लगता है कि दासों के ये प्रकार पूर्व से अस्तित्व में रहे। यह दासों के प्रकार का ही विस्तार था या उनके उपप्रकार थे। इनमें युद्ध बंदियों का दास के रूप में प्रयोग या ऋण न अदा कर सकने वाले दास या स्वेच्छा से बने दासों के प्रकार भी सम्मिलित हैं। संपत्ति के साथ-साथ दासों को भी मालिक के द्वारा अपने उत्तराधिकारियों को सौंपा जाता था। ज्यादातर दासों को घरेलू नौकरों या व्यक्तिगत परिचारकों के रूप में देखा जा सकता है। एक दास महिला से उत्पन्न बच्चे भी मालिक के घर में दास का ही स्थान पाते थे। *नारदस्मृति* (5.26) के अनुसार, दासों को प्रत्याभूति के रूप में या गिरवी के रूप में भी रखा जाता था। *नारदस्मृति* में एक जगह कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने एक दास महिला का अपहरण किया हो उसके दामों को काट देना चाहिए। इसी शास्त्र में दास मुक्ति से सम्बंधित नियमों का भी वर्णन किया गया है। वैसे दास जिनका जन्मघर में हुआ हो, या जो खरीदे गए हों, या प्राप्त किए गए हों या उत्तराधिकार के रूप में जिन्हें संपत्ति के रूप में प्राप्त किया गया हो, उन्हें दास मुक्ति तभी मिल सकती थी जब उनके मालिक की वैसी इच्छा बने। दास मुक्ति के अवसर का भी वर्णन इस प्रकार किया गया है कि मालिक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह उक्त दास के कंधे पर रखे पानी से भरे एक पात्र को उठाकर तोड़ डालता था। इसके पश्चात् वह कुछ सूखे अनाज और पुष्पों को उक्त दास के माथे पर छिड़कता था और तीन बार यह दोहराता था कि 'तुम अब दास नहीं हो'।

फ़ा श्यैन के अनुसार, चण्डाल नगरों से बाहर निवास करते थे और जब वे ऐसे सार्वजनिक स्थानों पर आते थे, तो उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे एक डंडे को बजाएं, ताकि उनके मार्ग में आने वाले व्यक्ति उनके स्पर्श से बचने के लिए उस मार्ग को छोड़ सकें। दक्षिण भारत में संगम काल के अंतिम दिनों में अस्पृश्यता की धारणा का अभ्युदय हो चुका था। *आचारकोवई* नामक एक पुस्तक में यह वर्णन किया गया है कि एक पुलइया के द्वारा स्पर्श किए गए पानी को प्रदूषित मानना चाहिए और जो उच्च जाति के लिए पीने योग्य नहीं होता है। इसके अनुसार, पुलइया पर पड़ने वाली दृष्टि भी प्रदूषित कर सकती है। तमिल महाकाव्यों में भी कहा गया है कि ब्राह्मणों को अप्रतीरन का स्पर्श नहीं करना चाहिए। अप्रतीरन, ब्राह्मण-स्त्री और शुद्र-पुरुष से उत्पन्न संतान को कहा गया है, जिसका स्पर्श प्रदूषणकारी होता है।

महाकाव्य और पुराणों में कलियुग के विषय में काफी कुछ कहा गया है यह विचार कि कृतयुग के बाद धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास होता चला गया काफी प्राचीन है। ऐसा प्रश्न किया जाता है कि क्या यह 300 सा.सं. के

बाद होने वाले वास्तविक ऐतिहासिक संक्रमण काल या संक्रमण काल के दौरान उत्पन्न हुए सामाजिक संकट की व्याख्या करता है? कलियुग से जुड़े सामाजिक संकटों के विषय में महाकाव्यों और पुराणों में बहुत कुछ कहा गया है, जैसे इस युग में लोग मिथ्यावादी होंगे, चारों वर्णों के लोग अपने-अपने धर्म के अनुसार, दायित्वों का पालन करेंगे, यज्ञ, अनुदान व्रत जैसे व्यवहार समाप्त हो जाएंगे। धरती पर मलेच्छ राजाओं का राज होगा। धरती पर जंगली पशुओं, सर्पों और कीटों का साम्राज्य होगा। स्त्रियां अन्यान्य गामिनी होंगी। गायें अल्प दूध देंगी या गाय दूध नहीं देगी। सही मौसम में वर्षा नहीं होगी। व्यापारी वर्ग विभिन्न प्रकार के जालसाजी करेंगे। लोगों का उम्र कम हो जाएगा और उनके बाल उड़ने लगेंगे। कलयुग से जुड़े ब्राह्मण ग्रंथों के वर्णन सामाजिक संरचना के अस्त-व्यस्त होने की बात करते हैं। हालांकि, इस युग के शास्त्रों ने आदर्श सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के विषय में भी चर्चा की है, लेकिन उनमें पूरी तरह से अनभिज्ञता प्रतिबिंबत होती है कि यर्थाथ क्या था। धर्मशास्त्रों में विभिन्न युगों के लिए उपयुक्त धर्मों में काफी भिन्नता बतलायी गयी है। इस प्रकार चार युगों की अवधारणा के आधार पर एक लंबे काल में होने वाले सामाजिक व्यवहार के परिवर्तनों को प्रतिबिंबित किया जा सका है।

धार्मिक विकास की रूप रेखा

(Patterns of Religions Development)

300-600 सा.सं. के बीच के काल को अकसर ब्राह्मणवादी पुनरुत्थान अथवा ब्राह्मणवादी विचारधारा के सुदृढ़ीकरण के काल के रूप में देखा जाता है। राजकीय अभिलेखों की भाषा के रूप में संस्कृत की स्थापना अथवा मंदिरों पर आश्रित धार्मिक संप्रदायों की बढ़ती लोकप्रियता के रूप में यह प्रतिबिंबित हो रही थी। दरअसल, ब्राह्मणवाद एक समेकित धर्म में रूपांतरित हो रहा था, जिसे 'हिंदू धर्म' या 'स्मार्त धर्म' (स्मृतियों पर आधारित धर्म) की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रक्रिया की शुरुआत पहले की शताब्दियों में हो चुकी थी और उत्तर छठी शताब्दी सा.सं. के संदर्भ में इस प्रक्रिया के इतिहास को हम अगले अध्याय में देखेंगे।

पुराणों, धार्मिक प्रतिभावली की अभ्युदय तथा मंदिर स्थापत्य और अभिलेखों के द्वारा हिंदू धार्मिक विचारधारा और व्यवहार के विकास को रेखांकित किया जा सकता है। पुराणों में विभिन्न प्रकार के कर्मकांड, व्रत एवं तीर्थों का संदर्भ आते हैं, जो प्रचलित धार्मिक व्यवहार के अंग थे। विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के प्रतीक चिह्न मुहरों पर प्रकट हो रहे थे। उदाहरण के लिए, भीटा से प्राप्त मुहरों में शैव और वैष्णव प्रतीक चिह्नों यथा लिंग, त्रिशूल, नंदी बैल, गजलक्ष्मी, शंख, चक्र इत्यादि दिखलाई पड़ते हैं। राजकीय प्रशस्तियों में अथवा सिक्कों और मुहरों में शासकों के द्वारा संरक्षित धार्मिक संप्रदायों का जिक्र होता है। कुछ गुप्त शासकों ने स्वयं को भागवत् (या वासुदेव कृष्ण के उपासक) के रूप में उद्घोषित किया। अधिकांश वाकाटक शासकों ने स्वयं को शिव का उपासक बतलाया, तथा दो वाकाटक शासकों ने स्वयं को विष्णु का। सामान्यतः इन शताब्दियों में जो हिंदू संप्रदाय लोकप्रिय हो रहे थे, उनकी उपासना का केंद्र विष्णु, शिव और शक्ति से जुड़ा था।

साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाणों से कर्नाटक जैसे क्षेत्रों में जैन प्रतिष्ठानों का पता चलता है। इसी प्रकार उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में बौद्ध महाविहारों और बौद्ध केंद्रों को भी चिन्हित किया जा सकता है। राजकीय एवं गैर राजकीय अनुदान अभिलेखों से उन सामाजिक समुदायों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। जो धार्मिक प्रतिष्ठानों को संरक्षण दे रहे थे।

हालांकि, इन सभी के पृथक-पृथक धर्म सिद्धांत थे। उनकी अलग-अलग विशेषताएं थीं किंतु इन सभी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक परंपराओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये एक साझे सांस्कृतिक परिवेश का एक हिस्सा थीं, जिनके घटकों के बीच में सतत् संवाद चल रहा था। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इनके प्रक्षेप पथ न केवल एक दूसरे का प्रतिच्छेदन कर रहे थे, बल्कि इनमें कई समान विशेषताएं थीं। हिंदू, बौद्ध तथा जैन धर्मों के मंगलकारी प्रतीक चिह्न, प्रतिमाशास्त्रीय साजसज्जा और अलंकरण सभी कुछ एक साझे निकाय का हिस्सा प्रतीत होते हैं। इसी तथ्य के आलोक में बादामी में स्थित हिंदू एवं जैन गुफाओं को देखा जा सकता है अथवा एलोरा और ऐहोले के हिंदू, बौद्ध और जैन गुफा-मंदिरों के बीच काफी समानताएं देखी जा सकती हैं। इसी प्रकार हिंदू और जैन मंदिरों के स्थापत्य में समान विशेषताएं देखी जा सकती हैं। मंगलकारी चिह्नों एवं अलंकरणों के संदर्भ में भी एक साझे निकाय से प्रेरणा ली जा रही थी। अमरावती के बौद्ध स्थल और काफी बाद में विकसित हुए ऐहोले और पातदकल के हिंदू मंदिरों में गोलाकार फलकों पर किए गए अलंकरणों का स्वरूप बिल्कुल एक-सा प्रतीत होता है। प्रतीक चिह्नों और अभिव्यक्ति की इन समानताओं के पीछे एक बड़ा कारण यह भी रहा होगा कि इनको बनाने वाले भवन-योजनाकार और शिल्पकार एक ही सामाजिक पृष्ठभूमि से सरोकार रखते थे।

बादामी की गुफाओं में हरि-हर

हरि-हर ईश्वर की एक यौगिक अवधारणा है, जिसका आधा हिस्सा हरि (विष्णु) और आधा हिस्सा हर (शिव) का माना गया है। हरि-हर की अवधारणा की प्राचीनतम प्रतिमाशास्त्रीय अभिव्यक्ति बादामी की गुफाओं (छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) में देखी जा सकती है। इस समेकित देव का दक्षिण हिस्सा शिव का है और वाम हिस्सा विष्णु का। देवता की चार भुजाएं हैं। उनके पिछले बाएं हाथ में एक शंख है (विष्णु का प्रतीक)। मूर्ति का सामने वाला दाहिना हाथ टूटा हुआ है, जबकि सामने वाला बायां हाथ कटिहस्त मुद्रा में अवस्थित है (हल्की सी मुड़ी हुई भुजा जंघा पर है)। मुकुट के दाहिने हिस्से में शिव का जटामुकुट है और बाएं हिस्से में विष्णु का कीरिट मुकुट। कानों में भी अलग-अलग आभूषण हैं। दाहिने कान में शिव का सर्प कुण्डल है और बाएं कान में विष्णु का मकर कुण्डल। नंदी बैल और पार्वती प्रतिमा के दाहिने बाजू में हैं और प्रतिमा की बायीं ओर लंबे उदर वाला गरुड़ और लक्ष्मी खड़े हैं। इस प्रतिमा पट्टिका के निचले हिस्से में शिव के गणों की बौनी प्रतिमाएं अंकित हैं, जिनमें से कुछ नृत्य कर रहे हैं और अन्य वाद्ययंत्रों को बजा रहे हैं।

विभिन्न मंदिरों के प्रतिमाशास्त्रीय योजनाओं में हिंदू देवी-देवताओं के बीच घनिष्ठ सम्बंधों की स्थापना होने लगी थी, हालांकि, इन मंदिरों में मुख्य देवता सबसे महत्त्वपूर्ण होते थे, किंतु इनके साथ कई देवी-देवताओं की भी स्थापना इन्हीं मंदिरों में की जाने लगी। इस प्रकार की प्रक्रिया देव-परिवारों की स्थापना के रूप में देखी जा सकती है तथा यौगिक या समेकित देवी-देवताओं की अवधारणा के रूप में भी देखी जा सकती है, जैसे—हरिहर जो विष्णु और शिव के यौगिक रूप हैं। धार्मिक समन्वयवाद के एक उदाहरण के रूप में अकसर विष्णु के अवतारों में बुद्ध के प्रवेश को देखा जाता रहा है, जैसे—इंद्र, विष्णु, राम, हर और काम, इन सभी देवताओं का उल्लेख वराहदेव के अनुदान अभिलेख में किया गया है, जो वाकाटक राजा हरीश सेन के एक मंत्री थे और यह अभिलेख अजंता के बौद्ध गुफाओं में स्थापित किया गया था। दूसरा उदाहरण *शिलप्पदिकारम* में वर्णित एक जैन अरहत् के लिए प्रयोग में आयी उपाधियों के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें उन्हें शिव और ब्रह्मा के नाम जैसे शंकर, चंद्रमुख, ईशान और स्वयंभू इत्यादि उपनाम दिए गए हैं।

इस प्रकार के समायोजनों और समन्वयों की अपनी सीमाएं थीं और इनके धार्मिक समुदायों के बीच का सम्बंध सदैव इतना मधुर नहीं था, जैसे बुद्ध को विष्णु अवतारों की सूची में पुराणों ने जरूर रखा, लेकिन कभी भी बुद्ध की प्रतिमा, विष्णु मंदिरों में नहीं देखी जाती है और मुख्य देवता के रूप में तो कभी नहीं। इस काल के दार्शनिक ग्रंथों में धार्मिक समुदायों के बीच चल रहे बड़े विवादों और शास्त्रार्थो की व्यापक चर्चा की गयी है। निश्चित रूप से इनके बीच की प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष का कारण केवल धर्म सिद्धांत नहीं थे, बल्कि संरक्षण से जुड़े मुद्दे भी थे। प्रतिमाशास्त्रीय अभिव्यक्तियों में भी इनके बीच प्रतिस्पर्द्धात्मक सम्बंधों को देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, देवी की प्रतिमा को कई हिंदू देवताओं का मर्दन करते हुए दिखलाया गया है, या बौद्ध देवी-देवताओं के द्वारा हिंदू देवताओं, विशेषकर शिव को मर्दित करते हुए दिखलाया गया है।

इन महापरंपराओं के बीच न केवल आपस में अंत:क्रिया हो रही थी, बल्कि विविध स्तरों पर स्थानीय संप्रदायों मान्यताओं और धार्मिक व्यवहारों के साथ भी उनका आदान-प्रदान चल रहा था। पहले की शताब्दियों में यक्ष-यक्षी, नाग-नागी, गंधर्व, विद्याधर, अप्सरा की श्रेणी के उपदेवी-देवताओं के प्रस्तरीय और टेराकोटा की प्रतिमाएं, उपासना के लोकप्रिय केंद्र के रूप में प्रचलित थे। इन शताब्दियों तक भी स्वतंत्र रूप से यक्ष और नागों की उपासना लो. कप्रिय रही। उदाहरण के लिए, ग्वालियर के निकट पद्मावती में एक यक्ष मंदिर था और राजगीर में यक्ष मणिनाग का एक अन्य मंदिर भी था। अजंता की गुफा संख्या 16 एक नाग मंदिर से संबद्ध है, जबकि गुफा संख्या दो यक्षी को समर्पित एक मंदिर है। गुफा संख्या दो में हारीति और पंचिका का मंदिर है, किंतु पहले की शताब्दियों में इन उप देवी-देवताओं से जुड़ी जो विशाल प्रतिमाएं बना करती थी, वे लगभग लुप्त हो चुकी थीं और यक्ष, नाग तथा उनके साथ यक्षी और नागी द्वारपालों के रूप में या मुख्य देवताओं के अधीनस्थ देवों के रूप में स्थापित किए जाने लगे थे। इस तरह की प्रक्रिया के अंतर्गत प्रभावशाली धार्मिक परंपराओं के द्वारा लोकप्रिय संप्रदायों को अपने साथ अनुप्रयोजित करने तथा अपनाने की बात सिद्ध होती है। ये उन्हें अपने अधीनस्थ स्थान दे रहे थे और उनके साथ सम्बंध भी बना रहे थे।

इस काल के अनुदान अभिलेखों से जुड़ी एक रोचक बात यह है कि इनमें से कई विभिन्न सत्रों (या मुफ्त के भोजनालयों) के रख-रखाव से जुड़े थे। उदाहरण के लिए, गढ़वा (इलाहाबाद जिला, उत्तर प्रदेश) के एक नष्टप्राय शैल अभिलेख में 10 दीनार के अनुदान का उल्लेख किया गया है, तथा साथ में एक अस्पष्ट राशि वाले अन्य अनुदान का भी उल्लेख किया गया है जो, सत्रों के रख-रखाव के लिए था। इस अभिलेख के सामुदायिक अनुदानकर्त्ता मातृदास और पाटलिपुत्र की एक महिला के नेतृत्व में प्रतीत होते हैं। गढ़वा से ही प्राप्त एक दूसरा अभिलेख गुप्तवर्ष 98 में निर्गत किया गया। इसमें एक सत्र में रख-रखाव के लिए 12 दीनार की अनुदान राशि लिपिबद्ध की गयी है।

यद्यपि, इन शताब्दियों में उपासना के भक्ति मार्ग से जुड़े धार्मिक व्यवहार काफी लोकप्रिय हो रहे थे, किंतु कई राजवंशों के शासकों के द्वारा वैदिक कर्मकांडों और अनुष्ठानों का भी आयोजन किया जा रहा था, जो शायद राजकीय वैधानिकता के महत्त्वपूर्ण आधार बने हुए थे। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त के अतिरिक्त शालनकायन राजवंश के विजयदेव वर्मन, त्रयकुटक राजवंश के थारसेन, और कदम्ब राजवंश के कृष्णवर्मन ने अश्वमेध यज्ञ करवाया था। वाकाटक शासक प्रवरसेन के विषय में, अभिलेखों में वर्णन किया गया है कि उसने चार अश्वमेध यज्ञ करवाए थे और साथ में अग्निष्टोम आप्तोर्यम, उक्थ्य, षोडशिन, बृहस्पतिसव और वाजपेय जैसे यज्ञों को भी सम्पन्न करवाया था। भारशिव और पल्लवों के अभिलेखों में उनके द्वारा अनुप्रयोजित कई श्रौत यज्ञों की चर्चा की गयी है। यूप कोटि के भी कुछ अभिलेख मिलते हैं। जैसा कि पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि बिहार स्तंभ अभिलेख में एक गुप्त शासक के बहनोई के द्वारा एक यूप (बलिवेदी) की स्थापना की बात लिखी है। इन श्रौत यज्ञ परंपराओं से जुड़े होने के साथ-साथ शासकों ने स्वयं को बढ़ती हुई लोकप्रियता वाले संप्रदायों से भी दूर नहीं रखा। ऐसा उनके द्वारा अपनाए गए उपाधियों तथा उनके द्वारा निर्मित मंदिरों से स्पष्ट हो जाता है। शाही प्रशस्तियों के मंगलाचरण तथा उनमें प्रतिबिम्बित धार्मिक कल्पनाओं के साथ-साथ शाही अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं की विविध सामाजिक पृष्ठभूमि भी यही बतलाती है कि उनके द्वारा दिए गए संरक्षण की धारा केवल एक दिशा में नहीं बह रही थी। इस प्रकार के प्रचलित राजकीय व्यवहारों को अक्सर धार्मिक सहिष्णुता या धार्मिक सहनशीलता के रूप में देखा जाता है जो प्राचीन तथा पूर्व मध्य युगीन राजकीय कुलीन तंत्र में काफी लोकप्रिय धारणा प्रतीत होती है। एक राजकीय नीति के रूप में यदि अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं की श्रेणी का विस्तार और उसकी व्यापकता को देखा जाए तो इसका काफी अनुकूल राजनीतिक प्रभाव की कल्पना की जा सकती है। इसके द्वारा राजकीय तंत्र विविध श्रेणी के सामाजिक समुदायों और राजनीतिक समूहों के साथ सम्बंध बनाने में समर्थ रहा होगा। इसलिए निश्चित रूप से इस प्रकार की प्रक्रिया एक ऐसे धार्मिक परिवेश का परिचायक प्रतीत होती है, जो सदैव प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष की स्थिति में नहीं रहा होगा।

तंत्रवाद का अभ्युदय

तंत्रवाद का प्रारंभिक इतिहास, उसका कालानुक्रम उसके उद्‌गम के प्रारंभिक स्थल जैसी बातों की निश्चित जानकारी प्राप्त करना काफी कठिन है। यह जानना भी काफी कठिन है कि प्रारंभिक दौर में तंत्र के मौलिक स्रोत के रूप में कौन-कौन से विचारों और व्यवहारों का विकास हुआ। इसका मुख्य कारण है कि तंत्रवाद शुरू से ही काफी रहस्यों का विषय रहा और इसे गुप्त रखा गया। (पादू, 1987)। फिर भी तंत्र से जुड़ी कुछ मुख्य विशेषताओं को चिन्हित किया जा सकता है। इनमें शक्ति या ऊर्जा कर्मकांड यौगिक क्रियाएं, भयावह देवी-देवता और मैथुन से युक्त कर्मकांड रखे जा सकते हैं। कालांतर में तंत्र का प्रभाव न केवल शैव और शाक्त धर्मों पर पड़ा था, बल्कि बौद्ध धर्म भी इससे अछूता नहीं रहा। केवल जैन पर इसके प्रभाव काफी सीमित रहे। हिंदू और बौद्ध तंत्रवाद के बीच काफी समानताएं भी देखी जा सकती हैं, फिर भी दार्शनिक स्तर पर इनमें काफी भिन्नताएं थीं।

निश्चित रूप से तांत्रिक मार्ग पर एक गुप्त मार्ग था, जिसमें आचार्य के द्वारा सिर्फ चयनित प्रशिक्षुओं को ही दीक्षा दी जाती थी। तंत्र में ऐसी मान्यताओं और ऐसे व्यवहारों को प्रचलित किया गया था जिनके विषय में यह आस्था थी कि उनके द्वारा अलौकिक शक्तियां प्राप्त होंगी और अंततः मुक्ति की अवस्था भी। पूर्व मध्ययुगीन भारत के तंत्र की प्रेरणा के स्रोत काफी विविधतापूर्ण मालूम होते हैं, जिसने वेद मीमांसा, सांख्य, वेदांत और योग सभी से कुछ न कुछ लिया गया था, किंतु तंत्र ने अपने स्वतंत्र स्वरूप को ग्रहण किया। तांत्रिक देवी-देवताओं की उपासना के प्रमाण पांचवीं शताब्दी ईसवी से पाए जाते हैं और हो सकता है कि तंत्र से जुड़े कुछ ग्रंथ इस काल में लिखे भी गए होंगे। पूर्व मध्ययुग में निश्चित रूप से तांत्रिक संप्रदायों और व्यवहारों का उत्तरोत्तर विकास हुआ।

तंत्र में पुरुष और प्रकृति या पुरुष और नारी-शक्ति के मिलन को ही चरम स्थिति कहा गया है। ऊर्जा या शक्ति स्त्रीस्वरूपा है और वही मोक्ष तथा तांत्रिक-संसार के केंद्र में है। तांत्रिक क्रियाओं को सामान्यतः साधना कहा गया है। किसी तांत्रिक समुदाय में प्रवेश साधारणतया एक प्रकार की कर्मकाण्डीय दीक्षा होती थी, जिसमें केवल चयनित प्रशिक्षुओं को ही गुरु के द्वारा गुप्त मंत्र की दीक्षा दी जाती थी। इसे तंत्र का महत्त्वपूर्ण हिस्सा कहा जा सकता है। देवताओं से जुड़े बीजमंत्रों के विषय में यह माना जाता है कि उनके विशेष शक्ति निहित होती है। किसी भी तांत्रिक संप्रदाय में दीक्षित होने का तात्पर्य कर्मकाण्डीय दीक्षा से है। जंत्र (यंत्र) मंडल और चक्र

जैसे कुछ विशेष आरेखों का प्रयोग होता है। प्रतीकात्मक मुद्राएं भी तांत्रिक कर्मकांड में विशेष भूमिका निभाती है। हठयोग की विभिन्न मुद्राएं और ध्यान भी महत्त्वपूर्ण होता है। इन सभी क्रियाओं का उद्देश्य कुण्डलिनी ऊर्जा का जागरण होता है, जो शरीर में सर्प की कुण्डली की तरह अवस्थित होती है। इसका उर्द्धवाधर गमन और अंतत: परम शक्ति से मिलन ही इन क्रियाओं का ध्येय होता है। मैथुन क्रिया से जुड़े प्रतीक और जादू-टोना भी तंत्र के महत्त्वपूर्ण अंग है। तांत्रिक पूजा में वस्तुत: एक उपासक देवता का स्वरूप ग्रहण करता है। इसमें पंचतत्व प्रमुख होते हैं—मद्य (मदिरा), मत्स्य, मुद्रा (अक्षत), मांस तथा मैथुन (संभोग)।

तंत्रवाद कई संप्रदायों में बंटा, जिनमें से अधिकांश, विष्णु, शिव और शक्ति की उपासना में जुड़े हुए थे। विभिन्न तांत्रिक समुदायों से अपने-अपने ग्रंथ विकसित हुए। इनमें से सभी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ संस्कृत में ही लिखे गए। शैव और शक्ति तांत्रिक-समुदायों में अन्योन्याश्रय सम्बंध देखा जा सकता है क्योंकि शिव और शक्ति के बीच के अंतर्संबंध को विशेष रूप से स्वीकार किया जाता है। प्रारंभिक तांत्रिक समुदायों में सबसे महत्त्वपूर्ण वैष्णव तांत्रिक समुदाय पंचरात्र के नाम से विख्यात हुआ। बंगाल के सहजिया भी वैष्णव धर्म की तांत्रिक शाखा थी। कापालिक, कालामुख और नाथपंथी जैसे शैव तांत्रिक संप्रदायों का विकास पूर्व मध्य युग में हुआ। इन तांत्रिक संप्रदायों को तंत्र के केवल आंशिक परिणाम के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि तंत्रवाद का प्रभाव अधिकांश गैर-तांत्रिक संप्रदायों और परंपराओं पर भी समान रूप से पड़ा।

वैष्णव देवकुल का विकास

जिन देवी देवताओं का अंतत: वैष्णव देवकुल में समावेश हुआ वे 200 सा.सं.पू.-300 सा.सं. के बीच के काल में दृष्टिगत होने लगे थे। उत्तरोत्तर शताब्दियों में वैष्णव देवकुल और स्पष्ट रूप से चिन्हित किया जाने लगा। नारायण, वासुदेव कृष्ण और संकर्षण बलराम से जुड़े संप्रदाय वैष्णव धर्म के अंग बने और श्री लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी के रूप में ख्याति मिली। यद्यपि, विष्णु तत्त्व का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया, लेकिन इन संबद्ध देवी-देवताओं का स्वतंत्र अस्तित्व भी बना रहा। इसका प्रमाण इस तथ्य से लिया जा सकता है कि पुराणों में तो वैष्णव शब्द का बहुधा प्रयोग किया गया, किंतु *महाभारत* में इस शब्द का प्रयोग प्राय: नहीं हुआ है। इसी प्रकार इस काल के अभिलेखों में इस शब्द का बहुधा प्रयोग नहीं हुआ है, जबकि परम् भागवत का कई बार हुआ है।

कालांतर में विष्णु के अवतारों की लोकप्रियता काफी बढ़ने लगी। जैसा कि अध्याय आठ में चर्चा की जा चुकी है कि अन्तत: विष्णु के अवतारों की संख्या 10 निश्चित हो गई थी, किंतु अलग-अलग ग्रंथों में इनके नामों में भिन्नता देखी जा सकती है। *मत्स्य पुराण* में 10 अवतारों की सूची है—नरसिंह, नारायण, वामन ये तीन अवतार दैवीय थे। दत्तात्रेय, मंधात्री, राम (जमदाग्नि के पुत्र), राम (दशरथ के पुत्र), वेदव्यास, बुद्ध और कल्कि, ये सभी मनुष्य रूप में थे। *वायु पुराण* में बुद्ध के स्थान पर कृष्ण को रखा गया है। *भागवत् पुराण* जो काफी बाद का ग्रंथ है (शायद दसवीं शताब्दी सा.सं. का) उसमें अवतारों की सूची में तीन अलग नाम जोड़े गए। अवतारवाद के सिद्धांत की समावेशित करने वाली क्षमता का अंदाज इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि पुराणों में बुद्ध को भी अवतारों की सूची में स्थान दिया गया। *भागवत् पुराण* में भी ऐसा किया गया, लेकिन बुद्ध के कुल के विषय में कुछ अलग वर्णन किया गया है। उसके अनुसार, वे अजान के पुत्र थे और उनका जन्म मगध में हुआ था तथा बुद्धावतार के विषय में कहा गया कि ये राक्षसों को मोहित कर उन्हें नरक में भेजने का कार्य करते थे।

गरुड़ गुप्त सम्राटों का राजकीय प्रतीक चिह्न बनाया गया और चंद्रगुप्त-II के काल से गुप्त सम्राटों ने परम-भागवत् की उपाधि अपने अभिलेखों में धारण की है। प्रारंभिक चालुक्यों ने वराह को अपना राजकीय चिह्न बनाया। चालुक्यों के अधिकांश अभिलेख तथा उनके अधीनस्थ सामंतों के अभिलेख भी, विष्णु के वराह अवतार की प्रशस्ति से प्रारंभ होते हैं। कुछ प्रारंभिक पल्लव एवं गंग शासकों ने स्वयं को वासुदेव कृष्ण के उपासक के रूप में घोषित किया। भारत के अन्य हिस्सों में भी राज करने वाले शासकों ने अपने को भागवत् की संज्ञा दी। अभिलेखों के वर्णन में ऐसा प्रतीत होता है कि वासुदेव कृष्ण की उपासना और वैदिक यज्ञों-अनुष्ठानों के निष्पादन में कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी। वराह मिहिर के वृहत्संहिता में यह वर्णन आता है कि किस प्रकार विष्णु की प्रतिमा की स्थापना की जानी चाहिए। ऐसी स्थापना भागवतों के द्वारा अपने नियम के अनुसार, की जा सकती थी तथा यह भी कहा गया है कि विष्णु प्रतिमा की स्थापना के समय एक द्विज पुरोहित के द्वारा ही अग्नि में होम किया जाना चाहिए तथा इसके लिए तदनुसार मंत्रों का प्रयोग किया जाना चाहिए। लक्ष्मी की महत्ता सौभाग्य की देवी के रूप में बनी रही। साथ में, सम्राटों और नगरों की अधिष्ठात्री देवी के रूप में भी लोकप्रियता मिली। उनका गजलक्ष्मी स्वरूप बहुत सारे गुप्त सिक्कों पर अंकित किया गया है।

प्राय: सभी वैष्णव संप्रदायों में अहिंसा को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व को रूप में स्वीकार किया गया है। *महाभारत* के नारायणीय खंड में यह वर्णन आया है कि राजा वासुउपरिचर (विष्णु के एक भक्त) ने जब अश्वमेध यज्ञ करवाया तब किसी भी पशु का वध नहीं किया गया, केवल वनस्पति का होम किया गया। *विष्णु पुराण* में यह स्पष्ट रूप से लिखा

है कि विष्णु के एक उपासक को कभी भी हिंसा की घटना में लिप्त नहीं होना चाहिए। ऐसा संभव है कि बौद्ध और जैन परंपराओं का प्रभाव वैष्णव धर्म में अहिंसा के तत्त्व की महत्ता के लिए कुछ हद तक उत्तरदायी रहा होगा।

वैष्णव परंपराओं में पंचरात्र और वैखानस संप्रदायों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसमें विष्णु की भक्ति के साथ-साथ संन्यास और योग के तत्त्व भी महत्त्वपूर्ण थे। पंचरात्र संप्रदाय के कर्मकाण्ड में अहिंसा को काफी महत्त्व दिया गया। *महाभारत* का नारायणीय पर्व पृथक रूप से पंचरात्र ग्रंथ नहीं है, किंतु इसमें पंचरात्रों से जुड़े कई तत्त्वों को समाहित किया गया है। इसमें नारायण की आराधना पर बल दिया गया है, जिनको वासुदेव, विष्णु और हरि की संज्ञा भी दी गई है। इसमें वैदिक कर्मकाण्ड-अनुष्ठान की निंदा नहीं की गयी है, लेकिन सन्यास और अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया गया है तथा स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि किसी भी कर्मकांड में पशुवध नहीं होना चाहिए। योग क्रियाओं को भी महत्त्वपूर्ण बताया गया है। इस खंड में जिन दो अवधारणाओं को पंचरात्र संप्रदाय में काफी महत्त्व मिला, वे थे—विष्णु के चार प्रकट स्वरूप और पंच काल अर्थात् वैष्णवों के द्वारा अपेक्षित पूजन विधियां। विष्णु के प्रकट रूपों में वृष्णि कुल में नायकों को रखा गया। ये थे वासुदेव कृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध। विष्णु के इन चार रूपों से जुड़ा एक पृथक ब्रह्मांड विज्ञान तैयार किया गया। वासुदेव परम सत्य के रूप में संकर्षण प्रकृति के रूप में प्रद्युम्न ब्रह्मांडीय मानस के रूप में और अनिरूद्ध ब्रह्मांडीय अहंकार के रूप में देखे जाते हैं। नारायणीय पर्व में इनके लिए 'मूर्ति' शब्द का प्रयोग हुआ, किंतु बाद के ग्रंथों में 'व्यूह' शब्द का अधिक प्रचलन देखा जा सकता है। पंचरात्र अवधारणा में पंचकाल के अंतर्गत जिन विधियों को रखा गया वे है—अभिगमन (या प्रात: में ईश्वर का आह्वान करना), उपादान (पूजन के लिए सामग्री एकत्रित करना), उपासना, स्वाध्याय (धार्मिक ग्रंथों का पाठ) तथा योग (या ध्यान)।

वैखानस श्रौत-सूत्र तथा *वैखानस स्मार्त-सूत्र* (चौथी तथा आठवीं शताब्दी ईसवियों के बीच रचित) में विष्णु और नारायण के प्रति समर्पण की महत्ता बतलायी गयी है। स्मार्त-सूत्र में विष्णु प्रतिमा की घर में, मंदिर में या यज्ञ-स्थान पर स्थापना की विधियों के विषय में व्याख्या की गयी है, जो विशेष वैष्णव मंत्रों के साथ की जा सकती थी। वैष्णव संतों के लिए अपेक्षित विभिन्न प्रकार के अनुशासनों और विशेषताओं का भी वर्णन किया गया है। विष्णु के प्रति संपूर्ण समर्पण के लिए योग को अत्याधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है, जिसमें परमात्मा के साथ अंतत: जुड़ जाना ही ध्येय होता है।

इस काल की प्रतिमाओं में विष्णु से जुड़ी पौराणिकता की पर्याप्त अभिव्यक्ति हुई है। उनमें विष्णु को गरुड़ से जुड़ा बतलाया गया है, जो चार महासागरों के जल पर निवास करते हैं, जो तीनों लोकों के संरक्षक हैं, जो मधु, मुरा

वाराणसी से प्राप्त कृष्ण-गोवर्धन; शेषनाग पर विश्राम करते विष्णु, देवगढ़

और पुण्यजन जैसे राक्षसों के संहारकर्त्ता है, जो सुदर्शनचक्रधारी हैं, जिनके हाथ में गदा है, जो श्रृंग (सिंध) से बने धनुष का प्रयोग करते हैं तथा जिनके तलवार का नाम नंदक है। हालांकि, विष्णु के कई अवतारों की अभिलेखों में चर्चा की गयी है और उनकी मूर्तियां भी बनी है, लेकिन विशेष रूप से चार अवतारों को काफी लोकप्रियता मिली—वराह अवतार, नरसिंह अवतार, वामन अवतार और मनुष्य अवतार (वासुदेव कृष्ण)। इनको गुफा मंदिरों में और मंदिरों के स्थापत्य कला के अंग के रूप में उनकी दीवारों पर काफी उत्साह के साथ उकेरा गया।

गजलक्ष्मी

मथुरा में प्राप्त वैष्णव प्रतिमाओं में वराह अवतार, वामन अवतार, नरसिंह अवतार और वासुदेव कृष्ण की प्रतिमाओं को काफी महत्त्व दिया गया है। झांसी जिला के देवगढ़ में स्थित दशावतार मंदिर की दीवारों पर वासुदेव कृष्ण, नरसिंह और वामन अवतारों से जुड़ी कई गाथाओं को चित्रित किया गया है। मूल रूप से वाराणसी से प्राप्त, कृष्ण के द्वारा बिना किसी श्रम के गोवर्धन पर्वत उठाने के दृश्य वाली एक विशाल प्रतिमा काफी प्रसिद्ध है। यह इस काल की शायद स्वतंत्र रूप से खड़ी सबसे बड़ी प्रतिमा है। इस प्रतिमा का गोलाकार, पूर्ण मुख अब काफी टूट चुका है। इसलिए उसकी विशेषताओं को स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता, लेकिन कृष्ण के बाल इस प्रतिमा में कंधों तक लहराते हुए देखे जा सकते हैं। इन्हें आभूषणों से सुसज्जित किया गया है। इनके बाँहों में जो आभूषण हैं, उनको शायद बाद में जोड़ा गया। इनके गले का आभूषण और छोटा मुकुट भी देखा जा सकता है। सुनेत, भीट, बसाढ़ जैसे स्थानों पर वैष्णव प्रतीक चिह्नों और पौराणिक गाथाओं से अंकित मुहर और प्रतिमुद्राएं प्राप्त हुई है। भीट के कुछ मुहरों पर लक्ष्मी को भी अंकित किया गया था।

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता अल्वार संतों के माध्यम से बढ़ी, जिसके विषय में हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे, लेकिन *शिलप्पदिकारम* में भी कृष्ण और बलदेव के मंदिरों की चर्चा की गयी है, जो मदुरई, कावेरीपट्टिनम् तथा अन्य स्थानों पर अवस्थित थे। यही वह काल है जब वैष्णव धर्म की ख्याति, भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर कंबोडिया, मलाय प्रायद्वीप जावा और बाली जैसे दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्रों में बढ़ी।

अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव प्रतिष्ठानों को संरक्षण देने वाले स्रोत काफी विविधतापूर्ण थे। हरियाणा में तुसम, राजस्थान में एरन, मंदसौर और खोह से ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनमें वासुदेव कृष्ण तथा विष्णु को समर्पित मंदिरों के निर्माण की चर्चा की गई है। (मेहरौली के लोहे स्तंभ पर स्थित चंद्र के अभिलेख (जिसकी चर्चा पहले कर चुके हैं) में विष्णुपद नामक स्थान पर भगवान विष्णु की ध्वजा की स्थापना का उल्लेख है। विदिशा के निकट उदयगिरि गुफाओं में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसके दो अलग-अलग फलकों पर विष्णु और एक देवी की प्रतिमा उत्कीर्ण है तथा इन फलकों के अनुदानकर्त्ता का नाम 'महाराजा' अंकित है, जो शायद चंद्रगुप्त-II का एक अधीनस्थ सामंत था। स्कंदगुप्त के राजकाल में भीटारी के एक स्तंभ अभिलेख में विष्णु के सारंगी संज्ञा वाली प्रतिमा (सारंग नामक श्रृंग के बने धनुष वाले) की स्थापना का उल्लेख है। साथ में उस गाँव के अनुदान का भी उल्लेख है, जिस गाँव में यह स्तंभ स्थापित किया गया था। स्कंदगुप्त के काल के जूनागढ़ अभिलेख में यह उल्लेख है कि गुप्त वर्ष 138 (अर्थात् 457-58 सा.सं.) में चक्रपालित ने भगवान विष्णु के चक्रभीत (चक्र धारण करने वाले) नाम को समर्पित एक मंदिर का निर्माण करवाया था। हूण शासक तोरमाण के राज्यारोहण के पहले वर्ष में निर्गत एरन अभिलेख में धान्यविष्णु की चर्चा है, जो एरकिन विषय के एक उच्च अधिकारी का भाई था। इसने वराह अवतार की प्रतिमा पर एक मंदिर का निर्माण कराया था, जिस प्रतिमा की छाती पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है।

खोह (मध्यप्रदेश) से प्राप्त एकमुखलिंग

शिववाद या शैव धर्म

300-600 सा.सं. की अवधि में ही शिव की उपासना की लोकप्रियता भी काफी बढ़ी। शिव को गणेश, कार्तिकेय और नंदी-देवी गंगा के साथ जोड़ा गया। शैव-पुराणों में शिव के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया गया और शिवलिंग की मंदिरों में स्थापना के विषय में विधि विधान लिखे गए। इनसे कई प्रकार के शैव संप्रदायों के अस्तित्व का भी पता चलता है। अधिकांशत: शिव की पूजा 'स्मार्त' परंपरा की मुख्य धारा का अंग मानी जाती है। लेकिन यह स्पष्ट है कि कुछ शैव संप्रदाय मुख्य धारा के हाशिए पर थे, तथा कुछ तांत्रिक संप्रदाय निश्चित रूप से

एलिफेन्टा की गुफाओं में महादेव

एलिफेन्टा की गुफाओं में महादेव, मुंबई के तट से कुछ दूरी पर एलीफेन्टा एक छोटा-सा द्वीप है, जिसका यह नाम पूर्तगालियों के द्वारा इसलिए रखा गया था, क्योंकि कभी इस स्थान पर हाथी की एक विशालकाय प्रतिमा विद्यमान थी। इस द्वीप पर बहुत सारी गुफाएं यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। इनमें से गुफा संख्या-1 सबसे प्रसिद्ध है, जिसकी तिथि मध्य छठीं शताब्दी सा.सं. निश्चित की गई है। इस विशाल गुफा की उत्तर-दक्षिण लंबाई 40 मीटर है, जिसमें एक स्तंभों से युक्त विशाल कक्ष है। इस कक्ष के पश्चिमी छोर पर एक लिंग और योनि से युक्त वर्गाकार मंदिर बना हुआ है, जिसके चारों प्रवेशद्वारों पर चार द्व रपालों की विशाल प्रतिमाएं हैं। गुफा के विशाल कक्ष की दीवारों पर चट्टानों को काटकर सुंदर नक्कासी की गई है। तराशी गई प्रतिमाओं में लकुलिश की भी एक प्रतिमा है, जिसके आधार पर इन गुफाओं को पाशुपत संप्रदाय से जुड़ा हुआ बताया जाता है।

इस कक्ष में नक्कासी गई प्रतिमाओं में सबसे भव्य आकृति तीन मुखों वाली महादेव की पांच मीटर से ऊंची एक आकृति कही जा सकती है। महादेव के तीन मुखों में बीचवाला और दाहिना मुख शांत भाव की अभिव्यिक्ति करता है, जबकि बाएं मुख में उग्र मूर्ति के भाव देखे जा सकते हैं, जिसकी आंखें भी अधिक उभरी हुई हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि पीछे की ओर एक चौथा मुख और ऊपर की ओर एक पांचवां मुख भी रहा होगा। ऐसा शायद विष्णु धर्मोत्तर पुराण में वर्णित पंच मुखों वाले शिव के आधार पर कहा जाता है। एक व्याख्या के अनुसार, ये तीन मुख क्रमशः अघोर-भैरव, शिव तथा पार्वती का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि स्टेला क्रामरिच ने इन तीन मुखों को सद्योजत, अघोर और वामदेव के रूप में चिन्हित किया है। क्रैम्रिश ने इस मूर्ति का विस्तुत और सजीव वर्णन किया है, जिसके कुछ अंश यहां उद्धृत हैं:

> महादेव की यह महान् प्रतिमा शिव के परमस्वरूप का प्रकटीकरण है। बीच वाला मुख सद्योजत का है; संपार्श्विक मुखाकृतियां अघोर और वामदेव की हैं। केंद्रीय मुखाकृति के कंधों को संपूर्ण प्रतिमा की चौड़ाई का आधार बनाया गया है। वक्ष स्वाभाविक रूप से समतल और आकर्षक है, जिस पर कृत्रिम शिल्प नहीं किया गया है। श्वांस लेकर मानों रोक लिया गया है, जैसा कि उन्नत वक्ष पर हार के उभार से प्रतीत होता है। दाहिने और बाएं भुजाओं में वह सिमटा हुआ है। दाहिना हाथ उठा हुआ है, किंतु अब यह टूट-फूट गया है। बायां हाथ आधार पर है, जिसमें सीधा रखा एक फल है। समपार्श्विक मुखों के भी कंधे देखे जा सकते हैं, जो एक दूसरे के विपरीत हैं तथा उनकी भुजाएं पीठ पर दिखलाई गई हैं। क्रोधित मुखाकृति वाले प्रतिमा की भुजा की उंगलियों में सांप बना (दर्शक के बांई ओर वाला मुख) है, जबकि शांत भाव वाले दाहिने मुखाकृति वाली प्रतिमा के हाथ में एक कमल है, जो उसके कंधे पर रखा है। इस प्रकार प्रतीकों से सुसज्जित उनकी भुजाएं, उंगलियां धड़ के बीचों-बीच ऊपर की ओर इंगित करती है। जहां सावधानी के साथ ये कंधे पर स्थित है, वहीं इनके चौड़े शरीर के बीच के रिक्त स्थानों को देखकर ऐसा लगता है कि चढ़ावे से भरी वेदी हो।
>
> प्रतिमा का बीच का हिस्सा सशक्त रूप से उभरा हुआ है, वहीं सामने वाला हिस्सा ऊपर की ओर मजबूती से खड़ा है और ऐसा प्रतीत होता है कि कोई स्तंभ हो, जबकि चेहरा बिल्कुल शांत और मुकुट दैदिप्यमान दिखलाई पड़ते हैं। मध्यवाली मुखाकृति की उभार के अनुरूप ही दाहिने और बाएं वाली मुखाकृतियों की उभार बनाई गई है, जो समपार्श्विक उभारों से युक्त मुकुटों के माध्यम से स्थापित होती है।
>
> समेकित रूप से तीन मेहराबनुमा आकृतियाँ पृथक-पृथक भावों का निर्देशन करती दिखाई देती हैं, अपने-अपने संसार में, एक-दूसरे को नहीं देखते हुए प्रशांत मुद्राओं में, किंतु सभी उस स्थायी मूलाधार से प्रशाखा में प्रकट होती है, जहां से इन्हें गंभीर स्थायित्व प्राप्त होता है। प्रतिमा की कई सतहों में नक्काशी की गई है, जिनके संयोजन से त्रियेक प्रभामंडल एकीकृत दिखलाई पड़ता है, जिस प्रकार तिहरे मेहराबनुमा आकृति से प्रतिमा उदग्र रूप से एकीकृत दिखलाई पड़ती है। प्रत्येक मुख का अपना आकृति विज्ञान है, प्रतीक है; किंतु आकृति की एकात्मकता और प्रभाव से प्रतिमा को एकसंपूर्णता प्राप्त होती है।

स्रोतः क्रैम्रिश [1946], 1994: 142-44

ब्राह्मणवादी मुख्य धारा की परिधि के बिल्कुल बाहर थे। ब्राह्मणवादी ग्रंथों में उनकी काफी निंदा भी की गई, किंतु पाशुपत और शैव सैद्धांतिक जैसे शैव संप्रदायों ने स्वयं को वैदिक परंपरा का ही हिस्सा बतलाया जबकि कापालिक और कालामुख संप्रदाय ने अपने को इस परंपरा के बाहर रखा।

पाशुपत संप्रदाय को शैव संप्रदायों में प्राचीनतम् और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। उनके दर्शन में आत्मा (पशु), ईश्वर (पति) तथा सांसारिक बंधन (पाश) के बीच भेद बतलाया गया है। उनके अनुसार, मोक्ष एक ऐसी अवस्था है, जिसमें आत्मा का मिलन शिव से हो जाता है और इस अवस्था की प्राप्ति के लिए ईश्वर का आशीर्वाद अनिवार्य है। पाशुपत संप्रदाय में योग क्रियाओं को काफी महत्त्व दिया गया। पाशुपत संन्यासियों के शरीर में भस्म से लिपटे रहने की परंपरा थी। प्रतिमाओं और अभिलेखों से यह पता चलता है कि मथुरा और कई अन्य क्षेत्रों में पाशुपत संप्रदाय काफी लोकप्रिय रहा होगा। ओड़ीसा के प्राचीनतम् मंदिरों में जैसे लक्ष्मणेश्वर, भरतेश्वर और शत्रुघ्नेश्वर इत्यादि में लकुनिश की उपस्थिति यह बतलाती है कि ये निश्चित रूप से पाशुपत्य संप्रदाय से सम्बंधित रहे होंगे। मध्य भारत के भूमर और खोह जैसे स्थलों पर शिव मंदिरों के अवशेष पाए गए हैं। इस क्षेत्र की प्रतिमाओं और अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि और भी कई शिव मंदिर रहे होंगे, जिनका अब अस्तित्व नहीं बचा। शिव का आह्वाहन अभिलेखों में बार-बार किया गया है। कई शासक जैस वल्लभी के मैत्रक स्वयं को परममाहेश्वर (महेश्वर या शिव के परम भक्त) के रूप में घोषित करते हैं। कुमार गुप्त-I के समय के करमदंड अभिलेख में पृथ्वीश्वर नामक शिवलिंग की स्थापना का जिक्र है, जिसे पृथ्वीशेन नाम के एक मंत्री और कुमारमात्य ने बनवाया था। उदयगिरी गुफाएं (मध्यप्रदेश) के भीतरी दीवार पर उत्कीर्ण एक अभिलेख से पता चलता है कि उस गुफा को वीरसेन नाम के पाटलिपुत्र के एक निवासी और चंद्रगुप्त-II के मंत्री ने शिव-शंभू (शिव) के मंदिर के लिए अनुदान स्वरूप दिया था। वह उस स्थान पर राजा के साथ किसी सैनिक अभियान के दौरान आया था। गुप्त संवत् 61 की तिथि में निर्गत मथुरा स्तंभ अभिलेख में उदिताचार नाम के एक आचार्य के द्वारा मंदिर सह निवास के निर्माण का उल्लेख है, जो उन्होंने अपने आचार्य के आचार्य के लिए बनवाया था तथा जिसमें दो शैव प्रतिमाओं की स्थापना की गई थी। इस काल के सामान्य व्यवहार में यह था कि शिव मंदिर या शिवलिंग को अपने आचार्यो एवं संरक्षकों के नाम से घोषित किया जाता था।

महादेवी का संप्रदाय

दुर्गा की उपासना का महत्त्व महाकाव्यों और पुराणों में प्रतिबिंबित होता है। इसकी अध्याय-आठ में हम चर्चा कर चुके हैं। *रामायण* में उमा हिमावत की पुत्री और गंगा की बहन है। *हरिवंश* में देवी को विष्णु तथा इंद्र की बहन बतलाया गया है। पौराणिक गाथाओं में एकांश और भद्रा वासुदेव कृष्ण की बहन थी। *महाभारत* में नारायण और शिव की पत्नी के रूप में उनका संदर्भ आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अंततः मुख्य रूप से शिव के साथ उनका सम्बंध अधिक स्थापित हो गया। शिव ही गिरीश है (गिरी के ईश्वर) और देवी ही गिरिजा है। शैलपुत्री, उमा, हिमवती है और बाद में पार्वती है। शिव उमा पति भी है (उमा के पति) और उनकी पत्नी के रूप में देवी ही माहेश्वरी, ईशानी, महादेवी, महाकाली और शिवानी है। वस्तुतः देवी के विभिन्न नाम उनके व्यक्तित्व से जुड़े विभिन्न विशेषताओं के परिचायक हैं। अपने संहारकारी स्वरूप में उनको काली (संहार), कराली (भीषण), भीमा (भयावह) तथा चंडी/चंडिका/चामुण्डा (क्रोधित) की संज्ञा दी गई है। *मार्कण्डेय पुराण* में उन्हें महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ और निशुम्भ, चण्ड और मुण्ड जैसे राक्षसों की संहारकर्त्ता के रूप में वर्णित किया गया है। दूसरी ओर देवी का एक प्रशांत स्वरूप भी है, जो सरस्वती के रूप में अभिव्यक्त होता है। दरअसल, शिव और शक्ति के परोपकारी और भीषण स्वरूपों का संयोग विभिन्न संप्रदायों के समायोजन का एक महत्त्वपूर्ण आधार बना।

महाकाव्य और पौराणिक परंपरा की अनेक कहानियां शैव व शाक्त संप्रदायों के सम्बंध की व्याख्या करती हैं। *महाभारत* में तीन शक्ति पीठों का उल्लेख किया गया है। (ऐसे स्थल जो देवी शक्ति से संबद्ध होने के कारण पवित्र हैं) इन पीठों की भौगोलिक स्थिति शिव के द्वारा अपने कंधे पर सती मृत शरीर को लेकर घूमने के दौरान विभिन्न स्थलों पर बिखरने के कारण निर्मित हो गई थी। ऐसी मान्यता है कि सती का ही पुर्नजन्म उमा के रूप में हुआ। अपने पति की प्राप्ति के लिए उन्होंने कठोर साधना की। शिव और पार्वती के विवाह की अनेक व्याख्याएं उद्धृत हैं। उनके कैलाश पर्वत में वैवाहिक जीवन का भी उल्लेख है। ऐसी मान्यता है कि उनके संभोगरत होने के दौरान उनको विचलित करने से भीषण दुर्भाग्य की प्राप्ति होती है। मंदिर की दीवारों पर सदियों से शिल्पकारों ने इनके संभोग क्रिया के दृश्यों को अभिव्यक्त करने में विशेष उत्साह दिखाया है।

पूर्वी भारत में शक्ति और शाक्त संप्रदाय अत्यंत लोकप्रिय रहे, लेकिन यह केवल इस क्षेत्र तक सीमित नहीं था। इसका प्रमाण देश के विभिन्न हिस्सों से प्राप्त होने वाली दुर्गा की प्रतिमाएं हैं। दुर्गा की प्रतिमाओं को उग्र और सौम्य, दो श्रेणियों में, बांटा जा सकता है। दुर्गा महिषासुरमर्दिनी, देवी का एक भीषण स्वरूप है, जिसकी कलात्मक प्रस्तुति काफी लोकप्रिय प्रतीत होती है। महिषासुर मर्दनी की प्रतिमाएं इस काल में बहुत संख्या में प्राप्त होती है,

इनमें उदयगिरि और भूमर (मध्य भारत) से प्राप्त होने वाली इस काल की प्रतिमाएं प्रसिद्ध है। मध्य प्रदेश के उदयगिरि की गुफा संख्या-6 की दीवार पर दुर्गा महिषासुरमर्दनी का दृश्यांकन किया गया है, गुफा की दीवारों पर उकेरे हुए ये दृश्य अब काफी छिन्न-विछिन्न हो चुकी है फिर भी इनकी मूल-भूत विशेषताएं काफी स्पष्ट हैं। इसमें दुर्गा के बारह हाथ दिखलाए गए हैं तथा जिनमें से कई में विभिन्न देवताओं के द्वार प्रदत्त अस्त्र-शस्त्र देखे जा सकते हैं। अपने एक पैर को वह एक भैंसे को मर्दित करती हुई दिखलाई गई हैं और एक हाथ से उस भैंसे के पूँछ को पकड़े हुए हैं, दूसरे हाथ से एक त्रिशूल को उसकी गर्दन में प्रवेश करा रही हैं।

देवी से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण पहलू मातृत्व भी है। वे कार्तिकेय और गणेश की माता हैं। दुर्गा की उपासना सप्त मातृक या सात माताओं में से एक के रूप में भी की जाती हैं ये सात माताएं ब्राह्मणी, महेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वराही, इंद्राणी और यमि (चामुण्डा) हैं। पौराणिक व्याख्या के अनुसार, ये सभी विभिन्न देवताओं से जुड़ी शक्तियां हैं, जो देवी को राक्षसों का वध करने के उद्देश्य से प्रदत्त की गयी थी। मातृकाओं से जुड़े अभिलेखीय संदर्भ में पाशपुरा के शासक विश्ववर्मन के एक मंत्री कुमाराक्ष के द्वारा निर्मित एक मंदिर को उल्लेख किया जा सकता है। बिहार शैल अभिलेख में स्कंद और दिव्य माताओं का उल्लेख किया गया है। बेसनगर के काफी निकट बंदोह-पठारी की दीवारों पर उकेरी गई प्रतिमाओं में मातृकाओं को शिव के संबद्ध दिखलाया गया है। ग्वालियर के पुरातात्त्विक संग्रहालय में मातृकों की एक काफी जीर्ण-शीर्ण प्रतिमा है, जो शायद मूलतः बेसनगर में स्थापित थी। गुजरात के श्यामला जी में भी मातृकाओं की प्रतिमाएं हैं। गुप्त सिक्कों में से एक पर स्त्री को शेर पर बैठा दिखलाया गया है, जो शायद दुर्गा का ही अंकन था।

अन्य देवी-देवताओं की उपासना

ब्रह्म के विषय में *ब्रह्म पुराण* में वर्णन किया गया है। *वृहत्त संहिता* और *विष्णुधर्मोत्तर पुराण* में यह व्याख्या की गयी है कि ब्रह्मा की प्रतिमा की स्थापना किस प्रकार की जानी चाहिए। ब्रह्मा की प्रतिमाएं कई स्थानों से प्राप्त हुई हैं, किंतु अन्य लोकप्रिय देवी देवताओं की तुलना में इनकी संख्या काफी कम है। सामान्य रूप से इनके तीन मुखों को दिखलाया जाता है (चौथा मुख दीवारों पर उकेरी गयी प्रतिमाओं में दिखाई नहीं पड़ता) ये बड़ी तोंद वाले और चार भुजाओं वाले देवता हैं। इनके हाथों में एक श्रुक (यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी का बड़ा कलछुल), श्रुवा (लक्कड़ की बनी, यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली एक प्रकार की छोटी कलछी), अक्षमाल (मनकों की माला) तथा एक पुस्तक देखी जा सकती है। उनका वाहन हंस है, हालांकि, इनकी गणना पुराणों में दी गयी, त्रिदेव की पौराणिक परंपरा में होती है। प्रयाग और पुष्कर जैसे तीर्थ उनसे सम्बंधित हैं। ब्रह्मा - शिव, विष्णु और दुर्गा की तुलना में कभी लोकप्रिय उपासना के केंद्र में नहीं रहे। कालांतर में उन्हें एक अधीनस्थ देवता के रूप में देखा जाने लगा और उनकी प्रतिमाएं अन्य लोकप्रिय देवी देवताओं के मंदिरों में किसी स्थान पर बनायी जाने लगीं।

भविष्य, साम्ब, वराह, जैसे पुराणों में सूर्य उपासना के उद्भव के विषय में कथाएं हैं और सूर्य से जुड़े पुरोहित वर्ग और अनुष्ठानों का भी वर्णन है। *कूर्म पुराण* के अनुसार, राजन् वर्ग को विष्णु और इंद्र की आराधना करनी चाहिए। जबकि ब्राह्मणों को विशेषकर रूप से अग्नि, आदित्य (सूर्य) ब्रह्मा और शिव की उपासना करनी चाहिए। पुराणों में उद्धृत, सूर्य हृदय-स्त्रोत में सूर्य को महानतम् देवता के रूप में दिखलाया गया है और सभी देवता उन्हीं से प्रकट हुए हैं, ऐसा बतलाया गया है। सूर्य मंदिरों में भोजक, मग और सोमक का संदर्भ आता है तथा शाक्य द्वीप के ब्राह्मणों को विशेष रूप से सूर्य उपासना से संबद्ध बतलाया गया है। मग श्रेणी के पुरोहित ईरान से आए हुए मालूम पड़ते थे जो सूर्य और अग्नि की उपासना करते थे। सूर्य संप्रदाय के विकास के प्रारंभिक चरण में जो प्रतिमाशास्त्रीय अभिव्यक्ति हुई, उसके आधार पर सूर्य उपासना पर पश्चिमी प्रभाव को देखा जा सकता है।

उत्तर भारत की प्रतिमाएं जो इस काल की हैं, उनमें भूमर के शिव मंदिर में सूर्य की एक प्रतिमा देखी जा सकती है। इसमें सूर्य के सिर पर एक ऊंचा बेलनाकार मुकुट देखा जा सकता है। उनक लंबे कोट और कमर पर एक स्कार्फ भी देखे जा सकते हैं। वे कमल की दो कलियों को धारण किए हुए हैं, और उनके पांवों में बूट हैं। अधिकांशतः सूर्य की प्रतिमाएं अश्वचलित रथों के साथ देखी जाती हैं। पश्चिमी भारत में विशेषकर गुजरात में सूर्य मंदिरों के अभिलेखीय प्रमाण ग्वालियर, इंदौर और आश्रमक जैसे स्थलों से मिले हैं। हम लोग, मंदसौर अभिलेख की चर्चा कर चुके है, जिसके अनुसार, बासपुरा में सूर्य मंदिर के निर्माण और पुनर्द्धार कार्य को रेशम कपड़े के व्यापारियों ने करवाया था, ऐसा उल्लेख है। स्कंदगुप्त के काल में इंदौर से प्राप्त एक ताम्रपत्र में देव विष्णु के द्वारा दिए गए अनुदान की चर्चा है, जिसे एक सूर्य मंदिर में अहर्निश दीपक जलने के लिए निर्गत किया गया था। महाराजा सर्वनाग जो उच्छकल्प के शासक थे, उन्होंने आश्रमक में उपस्थित सूर्य मंदिर के लिए अनुदान दिया था। ग्वालियर के एक अभिलेख में जिसे मिहिर-कुल के काल में निर्गत किया गया था, उसमें भी सूर्य के एक मंदिर के निर्माण सम्बंधी अनुदान को लिपिबद्ध किया गया है। सूर्य की प्रतिमाएं बंगाल से भी प्राप्त हुई हैं। चित्ररथ (सूर्य) आंध्र क्षेत्र के शालनकायन राजवंश के संरक्षक देवता थे।

कार्तिकेय की प्राचीनतम् उपस्थिति, आहत सिक्कों पर कई शताब्दियों पहले देखी जा सकती है। 300–600 सा.सं. की अवधि में कार्तिकेय लोकप्रिय उपासना के केंद्र में थे। बाद में शिव के पुत्र के रूप में इन्हें शैव संप्रदाय से जोड़ दिया गया। बिल्सद स्तंभ अभिलेख (उत्तर प्रदेश) में सीढ़ियों से युक्त एक प्रवेश द्वार के निर्माण का उल्लेख है। एक सत्र (या मुफ्त भोजनालय) और एक स्तंभ के निर्माण का भी जिस पर यह अभिलेख उत्कीर्ण था। यह अभिलेख महासेना भगवान के मंदिर से सम्बंधित था (महासेना अर्थात् कार्तिकेय)। इसकी स्थापना ध्रुवश्रमण नाम के एक व्यक्ति ने की थी। कदम्ब राजवंश के शासक कार्तिकेय के उपासक थे। गुप्त सम्राट कुमारगुप्त-I (कुमार दरअसल कार्तिकेय का ही नाम है) ने मयूर को राजकीय चिह्न के रूप में उपयोग किया, जो कार्तिकेय का वाहन था। दक्षिण भारत में इस देवता की पूजा अधिक लोकप्रिय थी जहां इन्हें सुब्रह्मण्य के नाम से जाना जाता है। कार्तिकेय के उत्तर भारतीय प्रतिमाओं में उन्हें दो हाथों से युक्त दिखलाया जाता है, जिनका वाहन मयूर था और उनके हाथों में एक माला भी दिखलाया जाता था। कभी-कभी इन्हें अपनी पत्नी देवसेना और वल्ली के साथ भी दिखलाया गया है। उदयगिरि की गुफा संख्या-3 में खड़े हुए कार्तिकेय की एक प्रतिमा है।

गणपति या गणेश बड़े उदर वाले और गज मुख वाले देवता हैं, जिनकी लोकप्रियता इस काल में काफी बढ़ गयी थी। ग्रंथों में इन्हें गणनायक के रूप में कहा गया है। गण दरअसल, रुद्र-शिव के भयंकर और उपद्रवी अनुयायी थे। गणेश अपने भक्तों को उनके कार्यों में सफलता दिलाते हैं और उनके मार्ग में आ रही बाधाओं को दूर करते हैं। गुप्त तथा उत्तर गुप्त कालीन प्रतिमाओं में उन्हें अधिकांशतः बैठा हुआ, खड़े मुद्रा में या नृत्य करते हुए—इन तीन रूपों में दिखलाया गया है। भितरगाँव (उत्तर प्रदेश) के एक मंदिर में एक टेराकोटा का फलक पर गणेश को एक विचित्र मुद्रा में दिखलाया गया है, इसमें वे हवा में उड़ते हुए दिखलाए गए हैं और उनके सूंड एक पात्र में रखे हुए मोदक को छू रहे हैं, जिस पात्र को उन्होंने अपने चारों हाथों से पकड़ कर रखा है। दूसरी प्रतिमाओं में उन्हें विभिन्न वस्तुओं को हाथ से पकड़े हुए दिखलाया गया है, जैसे कभी पांडुलिपि या लेखनी या टूटा हुआ हाथी का दांत, या पाश इत्यादि के साथ। उनका वाहन चूहा है, जो उनकी प्रतिमाओं के प्रायः नीचे अवस्थित होता है।

तमिल महाकाव्यों में जिस समाज का वर्णन किया गया है वह कई धार्मिक स्तरों का बना हुआ है। *शिलप्पदिकारम* में कोबलन् और कन्नकी दोनों जैन धर्म के प्रति आसक्त दिखलाए गए हैं। जब वे मदुरई गए तो काउण्डी नाम की एक जैन भिक्षुणी उनके साथ थी। कोवलन के माता-पिता बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी बन चुके थे। कन्नकी के माता-पिता आजीविक संप्रदाय से जुड़े थे। *शिलप्पदिकारम* में वैदिक कर्मकांड और अनुष्ठानों की भी चर्चा की गयी है तथा इंद्र, शिव, विष्णु और मुरमन तथा दुर्गा सहित कई अन्य देवियों का भी उल्लेख है। अन्य दोनों तमिल महाकाव्यों में इंद्रोत्सव का विस्तृत वर्णन मिलता है। इंद्र से जुड़ा धार्मिक संप्रदाय दक्षिण के राजप्रासादों में काफी लोकप्रिय था। इन्द्र राजा और राज्य की समृद्धि से जुड़े दिखलाई पड़ते हैं। इनमें दी गई एक कथा के एक प्रसंग में जब शिव कैलाश पर्वत पर पार्वती के साथ वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब एक अवसर पर पुहार में आयोजित इंद्रोत्सव में भाग लेने आए थे। महाकाव्यों में विष्णु को संसार के संरक्षक के रूप में दिखलाया गया है और एक प्रसंग में कोवलन और कन्निकी को मदुरई जाने के दौरान एक ब्राह्मण के द्वारा विष्णु पर दिए गए एक उपदेश का वर्णन है। मदुरई में ग्वालिनों के द्वारा रास लीला के गीत में कृष्ण और पिन्नई (राधा) का जिक्र हुआ है। महाकाव्य के अंत में रोचक तथ्य यह है कि कन्निकी ने जब मदुरई को अग्नि में भस्म होने का श्राप दिया, तो ब्राह्मण को उससे सुरक्षित रहने का भी आशीर्वाद दिया।

कन्निकी, *शिलप्पदिकारम* की नायिका को पट्टिनी देवी का एक अवतार माना जाता है। पट्टनी श्रीलंका के बौद्ध और श्रीलंका के पूर्वी तट पर रहने वाले हिंदुओं की आज सबसे लोकप्रिय देवी है। ओबी सेकरे ([1984], 1987) का मानना है कि पट्टिनी मूल रूप से बौद्ध, जैन और शायद आजीविक जैसे श्रमण धर्मावलंबियों की आराध्य देवी थीं। विशेष रूप से यह दक्षिण भारत के व्यापारियों में अत्यधिक लोकप्रिय थीं। चेर शासक सेनगुतवन् के द्वारा पट्टीनी के एक मंदिर की स्थापना के वर्णन को किसी ऐतिहासिक घटना के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि यह वंजी में स्थित मुख्य पट्टीनी मंदिर की ऐतिहासिकता को उस समय प्रमाणिकता देने का प्रयास था, जिस समय तमिल महाकाव्यों की रचना की जा रही थी। निश्चित रूप से इस

बुद्ध, कन्हरी

कन्हेरी: बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाएं, गुफा संख्या-2

काल तक सुदूर दक्षिण में पट्टीनी संप्रदाय काफी मजबूत हो चुका था। बाद के समय में इस देवी का हिंदूकरण हो गया और काली संप्रदाय से इन्हें जोड़ दिया गया। पट्टीनी को एक उग्र देवी माना जाता है। उनका क्रोध दुराचारी मनुष्यों पर दिखलाई पड़ता है और शुरू में इन्हें विवेकपूर्ण न्याय की देवी के रूप में देखा जाता था, किंतु कालांतर में जब इन्हें काली संप्रदाय से जोड़ दिया गया, जब से ये अधिक दण्डात्मक और हिंसात्मक देवी के रूप में देखी जाने लगी।

बौद्ध धर्म

योगाचार और माध्यमिक दार्शनिकों का काल हमारे अध्ययन की अवधि के आस-पास का है। योगाचारियों में सबसे प्रमुख असंग और वसुबंधु (उत्तर-चौथी शताब्दी सा.सं./प्रारंभिक पांचवी शताब्दी सा.सं.) थे। माध्यमिक दर्शनिकों में प्रमुख बुद्धपालित छठी शताब्दी सा.सं., भावविवेक छठी शताब्दी सा.सं. और चन्द्रगिरी सातवीं शताब्दी ईसवी में थे। इस काल में कुछ महाविहारों का आकार और उनकी भव्यता में काफी वृद्धि देखी जा सकती है। साहित्य, अभिलेख, प्रतिमा और स्थापत्य के अवेशषों (जो बौद्ध विहारों से जुड़े हुए हैं) के अनुसार, मथुरा, सारनाथ, कोसाम्बी, बोधगया और कशिया, उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के प्रमुख केंद्र थे। अन्य बौद्ध केंद्रों में मृग शिखावन बंगाल में, गुजरात में वल्लभी और देननिमोरी, पश्चिम भारत में अजंता, मध्य भारत में सांची, आंध्र क्षेत्र में अमरावती और नागार्जुनकोण्डा, तमिलनाडु क्षेत्र में कांचीपुरम प्रमुख कहे जा सकते हैं।

बौद्ध धर्म पर भक्ति मार्ग का गहरा प्रभाव पड़ रहा था। बुद्ध और बोधिसत्वों के देवकुलों का दार्शनिक आधार-महायान् बौद्ध धर्म सिद्धांत लोकप्रिय अराधना का केंद्र बन चुका था। इसमें त्रिकाय की अवधारणा विकसित हुई थी। इस अवधारणा के अनुसार, बुद्धत्व के तीन पहलू थे—निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय। निर्माण काय का तात्पर्य परिवर्तन शरीर से था, जिसके अनुसार, बुद्ध धरती पर करूणा से प्रेरित होकर विभिन्न रूपों को धारण करते हैं और शिक्षा देते हैं, संभोगकाय (या सुख भोगने वाला शरीर) में अनंत रूपों को बुद्ध ग्रहण करते हैं और बोद्धिसत्वों को दीक्षित करते हैं। प्रत्येक संभोग में कुछ बुद्ध किसी एक बुद्ध क्षेत्र पर अधिकार रखते हैं। धर्मकाय (या धर्मशरीर) के अंतर्गत ज्ञान-काया और स्वभाव-काया, दो रूप होता है। ज्ञान-काया के अंतर्गत पूर्ण विवेक और आध्यात्मिक पूर्णता से संपन्न होकर बोधिसत्व बुद्ध का स्थान प्राप्त करते हैं। स्वभाव-काया के अंतर्गत अन्यतम् बुद्धत्व की स्थिति की कल्पना की जा सकती है।

बुद्ध की विशाल प्रतिमा, गुफा संख्या-3 का बरामदा, कन्हेरी

असंख्य बुद्ध और बोधिसत्वों में से कुछ, संघीय और सामान्य अनुयायियों की आराधना का विशेष केंद्र बिंदु बन चुके थे। इनमें स्वार्गिक बुद्ध अमिताभ (अनंत आभा) प्रमुख थे। स्वार्गिक बोधिसत्वों में मैत्रेय (दयालु बोधिसत्व) प्रमुख थे। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर (जो करूणा से अभिभूत होकर अपने से नीचे की ओर देखते हैं) अमिताभ के ही अधीनस्थ माने गए और वे प्रज्ञा के साक्षात् प्रतिमूर्ति के रूप में देखे जाते हैं। बोधिसत्व की इस स्थिति की उत्कृष्टता की पहचान इस तथ्य से होती है कि ये बुद्धत्व की परम स्थिति को प्राप्त नहीं करते, क्योंकि वो तब तक उसी स्थिति में बने रहना चाहते हैं जब तक कि प्रत्येक जीव को पूर्ण मोक्ष नहीं मिल जाए। कालांतर की प्रतिमाओं और चित्रांकन में इनका पूर्ण प्रतिमाशास्त्रीय निरूपण एक शाही परिधान के साथ दिखलाया जाने लगा। इनके पास एक मुकुट था, जिस पर अमिताभ का चित्र अंकित होता है। कमल की कली को यह हाथ में पकड़ते हैं, जो करूणा रूपी सौंदर्य का परिचायक है। (कुछ प्रतिमाओं में इनके हाथों में चिंतामणी होती है। चिंतामणि इच्छा पूर्ण करने वाला रत्न), मंजुश्री (गरिमा का सौंदर्य) स्वार्गिक बुद्ध शाक्य मुनि के देव कुल से जुड़े थे और ये प्रज्ञा के प्रतीक थे। ये एक कमल को धारण किए हुए दिखलाए जाते है, जिनकी हथेली पर *प्रज्ञापारमिता सूत्र* की एक पाण्डुलिपि होती है। इनके पास एक उज्जवल खड्ग होता है जो

मानचित्र 9.3: **फ़ा श्यैन के द्वारा प्रयोग में आया मार्ग (सौजन्य, सेन, 2006)**

अंहकार को प्रज्ञा के द्वारा काटने का प्रतीक है। बोधिसत्व का वज्रपाणि का प्रतीक वज्र है जो सर्पों का संरक्षक देवता के रूप में तथा जीवनमृत के संरक्षक के रूप में माने जाते हैं। देवी तारा करुणा की स्त्रैण प्रतिमूर्ति थी। ऐसी बौद्ध मान्यता है कि तारा का उद्‌भव अवलोकितेश्वर के अश्रु बूंद से हुआ या उनके अश्रुओं से खिले हुए कमल से। उन्हें अश्रपुरित इसलिए माना जाता है कि ये सभी सचेतन (या संवेदनशील) जीवों की मुक्ति का महती दायित्व निभाने का कार्य कर रहे हैं। देवी तारा के विषय में मान्यता थी कि ये आठ महान् भय से रक्षा करती है—सिंह, हाथी, अग्नि, सर्प, डाकू, पानी, कारागृह और राक्षस इन सभी भयों से इस तथ्य की लाक्षणिक व्याख्या भी की जाती है।

अजन्ता की प्रतिमाओं और चित्रों में असंख्य बुद्ध और बोधिसत्वों का चित्रण किया गया। सांची की प्रतिमाओं में इसी प्रकार बुद्ध और बोधिसत्व, वज्रपाणि को विशेष स्थान मिला। मध्य भारत के बाघ गुफाओं से विशेषकर गुफा संख्या-2 के बगल की और पिछली दीवारों पर बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाएं उकेरी गयीं। कन्हेरी जो शायद भारत की विशालतम गुफाओं में से है, उसके गुफा संख्या-XI में अवलोकितेश्वर को दिखलाया गया है, जिनके साथ एक बुद्ध मंडल भी अवस्थित है (बुद्ध मंडल विभिन्न दिशाओं से जुड़े बुद्धों की योजना को कहते हैं) जो त्रिकाया का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह दीवार पर अंकित है। गुफा संख्या-41 (बाघ गुफाओं में) में 11 मुख वाले अवलोकितेश्वर अपनी शक्ति, तारा और भृकुटी के साथ दिखलाए गए हैं। औरंगाबाद के गुफा संख्या-VI के बरामदे में भी अवलोकितेश्वर की प्रतिमाएं उकेरी गयी हैं, जबकि गुफा संख्या-VII में बौद्ध देवी तारा की प्रतिमा देखी जा सकती है।

फ़ा श्यैन ने उत्तर भारत के बौद्ध महाविहारों की समृद्धि के विषय में वर्णन किया है, उनके अनुसार, गंधार, कोसाम्बी, कन्नौज और बन्नु क्षेत्रों में हीनयान सिद्धांत की महत्ता थी। हीनयान और महायान दोनों विचारधाराएं अफगानिस्तान, मथुरा, पंजाब और पाटलिपुत्र में पल्लवित-पुष्पित हुई जबकि खोतान में मुख्य रूप से महायान बौद्ध भिक्षुओं का प्रभुत्व था। इस चीनी यात्री के द्वारा यह भी बतलाया गया है कि बहुत सारे बौद्ध विहार जीर्ण-शीर्ण अवस्था में आ चुके थे। इनमें गया और कपिलवस्तु के बौद्ध विहारों को भी सम्मिलित किया गया है।

चीनी यात्री ने अपने वृतांत में सारिपुत्र महामोग्गलान, आनंद तथा अन्य महान आचार्यों की स्मृति में बने स्तूपों की भी चर्चा की है। उन्होंने यह भी कहा है कि बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा विशेष रूप से आनंद के स्तूप की आराधना की जा सकती थी, क्योंकि वे ही भिक्षुणी संघ की स्थापना के लिए उत्तरदायी थीं, जबकि बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा अभिधम्म और विनयपिटक के संरक्षक राहुल के स्तूप के प्रति विशेष श्रद्धा दिखलायी जाती थी। महायान संप्रदाय के अनुयायी *प्रज्ञापारमिता*, तारा, मंजुश्री और अवलोकितेश्वर की विशेष अराधना करते थे। फ़ा श्यैन ने मथुरा में स्थित अनेक स्तूपों की चर्चा की है, जिसमें तीन अशोक के द्वारा बनवाए गए थे। इन स्तूपों में शरिपुत्र, मुद्गलपुत्र, पूर्ण मैत्रयानीपुत्र, उपालि, आनंद और राहुल के पुरावशेष स्थापित किए गए थे। इसके अतिरिक्त बोधिसत्वों के लिए समर्पित भी कई स्तूप थे।

फ़ा श्यैन ने खोतान और पाटलिपुत्र में बौद्ध प्रतिमाओं के साथ निकलने वाले दो धार्मिक जुलूसों की विशेष चर्चा की है। खोतान में इस अवसर पर दो हफ्ते तक कार्यक्रम चलता था, जिसमें रथों पर बौद्ध प्रतिमाओं को सजा कर विशेष रूप से बेशकीमती रत्नों, रेशमी ध्वजों और छत्रों के साथ महायान भिक्षुओं के द्वारा जुलूस निकाला जाता था। राजा भी इन प्रतिमाओं के सामने श्रद्धा सुमन अर्पित करते थे। रानी तथा अन्य शाही परिवार की स्त्रियों के द्वारा पुष्प का छिड़काव किया जाता था, इसी प्रकार का एक उत्सव पाटलिपुत्र में ज्येष्ठ महीने के आठवें दिन आयोजित किया जाता था, किंतु यह उत्सव केवल दो दिनों तक चलता था। बुद्ध की प्रतिमाओं तथा उनके साथ विभिन्न देवी-देवताओं और बोधिसत्वों की प्रतिमाएं जुलूस में निकाली जाती थीं, इन्हें चार पहिए वाले स्तूप के समान बने रथ पर घुमाया जाता था। स्थानीय ब्राह्मण समुदाय भी इस उत्सव में हिस्सा लेते थे। वैश्यों के द्वारा भेंट और दवाइयाँ बांटी जाती थी। फ़ा श्यैन यह भी बतलाता है कि धनाढ्य सेट्ठी समुदाय के द्वारा बौद्ध विहार बनाए जाते थे और उनके रख-रखाव के लिए कृषि भूमि, बगीचे, फलदार वृक्षों वाले बागान, मवेशी और कृषक मजदूर प्रदान किए जाते थे।

शिलप्पदिकारम और *मणिमेकलई* से बौद्ध और जैन धर्म की दक्षिण भारत में लोकप्रियता सिद्ध की गई है। पुहार, वंजि और मदुरई में ये संप्रदाय काफी उन्नतिशील थे और विशेष रूप से व्यापारी और शिल्पकार वर्ग में लोकप्रिय थे। *मणिमेकलई* की रचना का श्रेय सत्नार को दिया जाता है और इसके प्रस्तावना में लिखा गया है कि वे अनाज के एक धनाढ्य व्यापारी थे। *मणिमेकलई* के प्रारंभ में ही परिचय दिया जाता है कि माधवी नाम की एक गणिका की एक पुत्री *मणिमेकलई* थी और दोनों एक बौद्ध विहार में निवास करते थे। मणिमेकलई ही इस कथा की नायिका है, जिसने अंत में बौद्ध संघ की शरण ले ली। इस महान काव्य में जिस बौद्ध संप्रदाय का वर्णन किया गया है वह महायान का हिस्सा था। बुद्ध की देवता के रूप में अराधना की गयी है और कई बुद्धों की भी कल्पना के साथ-साथ त्रिकाया की अवधारणा भी स्पष्ट की गयी है। महाकाव्य में पुहार में अवस्थित चैत्यों में बुद्ध की प्रतिमा के पूजन का वर्णन है। इस कथा में संन्यास पर बल दिया गया है तथा करुणा और परोपकार की भावना को बहुत महत्त्व दिया गया है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए मणिमेकलई के द्वारा कांची में अकाल पीड़ित लोगों को अपने चमत्कारी भिक्षापात्र से भोजन कराने के प्रसंग के माध्यम से देखा जा सकता है। महाकाव्य में बोधिसत्वों के अनेक संदर्भ आए हैं। दो अध्याय में पृथक रूप से दार्शनिक बिंदुओं की व्याख्या की गई है, विशेषकर अनुमान सिद्ध तर्क और कारणत्व के बौद्ध विद्वानों के विचार लेखक बौद्ध धर्म के विभिन्न पहलुओं के बारे में अच्छी तरह से वाकिफ लगता है, विशेषकर बुद्धघोष तथा योगाचार्य के आचार्य आसंग और वसुबंधु का प्रभाव देखा जा सकता है। इस ग्रंथ में दार्शनिक विचारों का बहुत प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य में चमत्कारों और जादू-टोना से जुड़ी कथाओं का भी जिक्र है, जो शायद बौद्ध तंत्रवाद के प्रभाव का द्योतक है, निश्चित रूप से बौद्ध नैतिक शास्त्र और मूल्यों को इस महाकाव्य में तरजीह दी गई है।

मणिमेकलई के पाठ्य में यह भी स्पष्ट होता है कि उस काल के सामाजिक परिवेश में धार्मिक प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान थी। अन्य धार्मिक समुदायों के विचारों और व्यवहारों की अलोचना भी देखी जा सकती है। महाकाव्य की शुरुआत में ही एक मदिरापान किए गए व्यक्ति के द्वारा किए जैन मुनि का उपहास करते दिखाया गया है। कई स्थान पर सतनार ने जैन मुनि के कठोर हृदय और बौद्ध भिक्षु के करुणामय व्यक्तित्व की तुलना भी की है। ब्राह्मण मान्यताओं में पशुबलि की प्रथा की भी आलोचना इस कथा में देखी जा सकती है। कथा में एक प्रसंग है कि अपुत्र नाम के व्यक्ति ने पूर्वजन्म में किस प्रकार एक गाय की बलि के रूप में वध होने से रक्षा की थी। *मणिमेकलई* ने अपने जीवन में बहुत सारे दर्शनों का साक्षात्कार किया, जिनमें वैदिक, शैव, वैष्णव, अजीविक, लोकायत, वैशेषिक, सांख्य इत्यादि सभी थे, किंतु अंततः उसने बुद्ध और संघ की शरण ली।

ऐन मोनियस (2001) ने अपने शोध में यह व्याख्या की है कि *मणिमेकलई* के माध्यम से तमिल में लिखे गए कई लुप्त बौद्ध ग्रंथों के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। उनका मानना है कि इन महाकाव्यों का जो पाठक वर्ग था वह एक संभ्रांत बहुभाषी और विभिन्न स्तर वाले धार्मिक परिवेश से ताल्लुक रखता था और जिसमें बौद्ध विचारों को इस माध्यम से प्रचारित किया गया। अपने शोध में उन्होंने यह भी संकेत दिया है कि इस महाकाव्य में जिस बौद्ध संसार की कल्पना की गई है, उसका भौगोलिक क्षितिज बौद्ध धर्म के उत्तर भारतीय संदर्भों से अलग मुख्य रूप से दक्षिण भारत, श्रीलंका, चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में जड़े बना चुका था।

नालंदाः बोधिसत्व

कावेरीपट्टिनम् में कुछ बौद्ध विहारों के अवशेष प्राप्त हुए हैं तथा चौथी शताब्दी सा.सं. के बुद्ध के पद चिह्न के नाम से प्रचलित स्थान भी यहां पर पाया गया है। मिली हुई अनेक प्रतिमाओं में बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है, जो शैलीगत दृष्टि से चौथी–छठी शताब्दियों की मानी जा सकती है। यह कांचीपुरम के एक देवी मंदिर के परिसर में अवस्थित है।

कावेरीपट्टिनम से कुछ किलो मीटर की दूरी पर एक मछेरे के द्वारा समुद्र में तीसरी/चौथी शताब्दी सा.सं. की एक बुद्ध प्रतिमा भी प्राप्त हुई है। साहित्यिक मान्यताओं में बुद्ध घोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल जैसे प्रसिद्ध संतों को दक्षिण भारत का माना गया है। इन सबसे इस क्षेत्र में बौद्ध विहारों की उन्नतिशील अवस्था की कल्पना की जा सकती है। गुप्त शासकों के विषय में अधिकतर ब्राह्मण संप्रदायों के संरक्षण की बात ही कही जाती है, लेकिन निश्चित रूप से उनमें से कई ने बौद्ध धर्म को भी संरक्षण दिया था। इस काल के एक बौद्ध विद्वान परमार्थ ने लिखा है कि राजा विक्रमादित्य ने अपनी रानी और पुत्र बलादित्य को एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु और विद्वान वसुबंधु के पास शिक्षा के लिए भेजा था। यह संभव है कि यह संदर्भ स्कन्दगुप्त और नरसिंह गुप्त-I बलादित्य (पुरुगुप्त के पुत्र) से सम्बंधित है। मंजुश्री कल्प (800 सा.सं.) में स्कंदगुप्त को एक पराक्रमी और प्रज्ञावान सम्राट के रूप में दिखलाया गया है—तथा यह कहा गया है कि नरसिंह गुप्त एक बौद्ध भिक्षु बन गया था, जिसने ध्यान के द्वारा अपने जीवन से मुक्ति पायी। कुमार गुप्त-I ने नालंदा में शायद कुछ विहारों का निर्माण भी करवाया था।

बहुत सारे बौद्ध विहार शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में उभर कर सामने आए। नालंदा इसमें से सबसे प्रसिद्ध बौद्ध महाविहार कहा जा सकता है। नालंदा के विषय में साहित्यिक संदर्भ छठी/पांचवी शताब्दी सा.सं.पू. से प्राप्त होते हैं और यह संभावना बनती है कि अशोक ने शायद इस स्थान पर एक विहार का निर्माण करवाया था, किंतु बड़ा गाँव (उत्खनन का स्थल जहां नालंदा महाविहार अवस्थित था) से पूर्व गुप्तकाल के कोई अवशेष नहीं प्राप्त हुए हैं (घोष 1939, [1986])। फ़ा श्यैन ने भी नालंदा का जिक्र नहीं किया, किंतु श्वैन ज़ंग ने उसका उल्लेख किया है। श्वैन ज़ंग उस स्थान पर कुछ लंबे समय तक रहा इसलिए ऐसा माना जाता है कि इस महाविहार का निर्माण उत्तर गुप्त काल में हो चुका था, किंतु

नालंदाः संरचनाओं का दृश्य

नालंदाः स्तूप का कोना।

हाल में हुए उत्खनन से पूर्व गुप्त काल के अवशेषों के भी काफी प्रमाण मिलते है। नालंदा ने उत्तर गुप्त काल में शाही संरक्षण का उपभोग किया। विशेषकर हर्षवर्द्धन और पाल शासकों ने नालंदा को संरक्षण दिया। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में तुर्कों के आक्रमण से यह केंद्र नष्ट हो गया।

हमारे अध्ययन की अवधि में ही बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार एशिया के विभिन्न हिस्सों में हुआ। हालांकि, इस प्रक्रिया को उस काल के व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में, विशेष रूप से लंबी दूरी के व्यापार के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है, किंतु निश्चित रूप से बौद्ध भिक्षुओं ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। एशिया के विभिन्न हिस्सों से कई साहसी लोगों ने पूरे समर्पण के साथ बौद्ध स्थलों की खोज में भारत की कष्टप्रद यात्राएं कीं और वहां से वापस भी जा सके। श्रीलंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश कई शताब्दियों पूर्व हो चुका था। अशोक के काल में एक उन्नतिशील बौद्ध समुदाय की स्थापना वहां हो चुकी थी। बाद में शताब्दियों में भी श्रीलंका और भारत के बौद्ध भिक्षुओं के बीच महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान चलता रहा। पांचवी शताब्दी में बौद्ध भिक्षु बुद्धघोष ने श्रीलंका की यात्रा की। उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों और टीकाओं का पाली में अनुवाद किया और *विसुद्धीमग्ग* (शुद्धिकरण का मार्ग) नामक ग्रंथ की रचना भी की जो थेरवाद बौद्ध सिद्धांत का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है।

चीन में हजारों बौद्ध चैत्य और विहारों की स्थापना हुई। लोकप्रिय स्तर पर और सुय तथा थांग राजवंशों के संरक्षण में बौद्ध धर्म का तेजी से प्रचार-प्रसार हुआ। कई बौद्ध विचारधाराएं 'सुंग' (कुल) के नाम से विकसित हुई। प्रत्येक शुग का इतिहास अलग-अलग व्यक्तियों के द्वारा स्थापित होने की बात करता है। बौद्ध सिद्धांत और व्यवहारों के विभिन्न पहुलओं से यह विचारधाराएं जुड़ी हुई थीं, किंतु बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों को इनमें से कई के साथ जोड़ा जा सकता है। यद्यपि कि इनमें से कुछ चीनी बौद्ध सम्प्रदायों के सिद्धांतों को इनके प्रत्यक्ष भारतीय प्रति इकाइयों के समांतर देखा जा सकता है, किंतु चीन में इन्होंने अन्यतम रूप से चीनी स्वरूप ग्रहण कर लिया। चिंग तु (पवित्र भूमि) शीघ्र ही चीन के सर्वाधिक लोकप्रिय बौद्ध मत के रूप में स्थापित हो गया। भारत को बौद्ध संसार के विशेष महत्त्व वाली भूमि के रूप में स्वीकार करने के क्रम में, चीन में एक ''सीमांत भूमि समुच्चय'' (बॉर्डर लैंड कॉम्प्लेक्स) की अवधारणा विकसित हो गई, जिसका तात्पर्य था बौद्ध ब्रह्मांड में चीन कोई स्थान नहीं रखता। (सेन, 2003: 10-13, 55-57)।

प्राथमिक स्रोत

कुमारजीव 343 – 413 सा.सं.

चीनी ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी बौद्ध भिक्षुओं से जुड़ी कथाओं में अंतर्निहित इतिहास के तथ्यों को मिथकों से पूरी तरह पृथक कर पाना संभव नहीं है। कुमारजीव के पिता कुमारायन कश्मीर के एक विद्वान थे, जो गोवी मरुभूमि से सटे कुचा नामक राज्य के सुनलिंग पर्वत शृंखला के बहुत नजदीक था। कुचा एक ऐसे सांस्कृतिक पारमार्ग पर अवस्थित था, जिस पर भारत और ईरान, दोनों का मजबूत सांस्कृतिक प्रभाव पड़ रहा था। कुचा के शासक के अधीन कुमारायन को मंत्री पद पर नियुक्त किया गया था। उसका विवाह जीवा नाम की एक राजपुत्री के साथ हुआ। उनसे उत्पन्न पुत्र का नाम कुमारजीव रखा गया। कुमारजीव एक ऐसा नाम था, जो अपने आप में भी परिपूर्ण था और माता-पिता के मिश्रित नामों से बने होने के कारण दूसरे प्रकार से भी अर्थपूर्ण था।

कुमारजीव के बाल्यावस्था में ही पिता की मृत्यु हो गई। जब वह नौ वर्ष के हुए तब उनकी माता उनको लेकर शिक्षा के लिए कश्मीर चली गईं। उस समय कश्मीर क्षेत्र में सरवस्तिवाद बौद्ध मत का अच्छा प्रभाव था। कुमारजीव ने बौद्धग्रंथों एवं सिद्धांतों की शिक्षा बंधुदत के अधीन प्राप्त की। शिक्षा प्राप्ति के बाद घर को रवाना होने के क्रम में पुत्र और माता ने काशगर में पड़ाव डाला। इस स्थान पर भी कुमारजीव ने अपना समय अध्ययन में बिताया। ऐसी मान्यता है कि इसी स्थान पर कुमारजीव एक हीनयानी से एक महायानी में परिणत हुए। कुचा लौटने के बाद कुमारजीव की ख्याति एक विद्वान के रूप में काफी फैल गई, बल्कि सच तो यह है कि मध्य एशिया के एक छोटे से राज्य की सीमाओं से कहीं परे उनकी प्रसिद्धि फैली। 384 सा.सं. में चीनीयों ने कुचा पर आक्रमण कर दिया। कथा के अनुसार, चीन के सम्राट ने कुचा पर आक्रमण करने वाले अपने सेनापति को अलग से यह निर्देश दिया कि वे कुमारजीव को चीन लेकर वापस आए। सम्राट ने कुमारजीव की अतुलनीय विद्वता के विषय में सुन रखा था। इस प्रकार युद्ध में जीती हुई सामग्रियों के साथ इस बौद्ध भिक्षु को चीन ले जाया गया। जब कुमारजीव को चीन की राजधानी छांगान लाया गया, तब उनकी आगवानी के लिए चीन का सम्राट स्वयं पहुंचा।

कुमारजीव ने छांगान के महान् बौद्ध विहार में सुखपूर्वक अपने 12 वर्ष बिताए। ऐसा कहा गया है कि उनका उपदेश सुनने चीन का सम्राट वहां समय-समय पर जाता रहता था। उत्तरी चीन के लोयांग स्थित सफेद अश्व बौद्ध विहार में 300 वर्ष से भी अधिक समय से बौद्धग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद की एक महत्त्वाकांक्षी परियोजना चल रही थी। छांगान में भी इसी प्रकार की परियोजना की शुरुआत कुमारजीव की देख-रेख में शुरू की गई।

शीघ्र ही अनुवाद के विभाग के रूप में छांगान बौद्ध विहार, सफेद अश्व बौद्ध विहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुमारजीव ने बहुत सी अनुवादित पुस्तकों को अपनी अपेक्षा के अनुरूप नहीं पाया। इस परियोजना के संचालन के लिए उसके दफतर में चीनी भिक्षुओं के एक बड़े समुदाय के अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में कर्मचारियों वाला एक सचिवालय भी था। '*प्रज्ञापारमिता सूत्र*' का उसने फिर से अनुवाद करवाया। उसके पश्चात् सैकड़ों चीनी बौद्ध विद्वानों की मदद से उसने संस्कृत के अनेक ग्रंथों का अनुवाद करवाया। उसकी देख-रेख में किए गए अनुवादित ग्रंथों की संख्या 300 से अधिक बतायी जाती है। उसके कई ग्रंथों को चीनी त्रिपिटक में शामिल कर लिया गया है। ऐसा माना जाता है कि कश्मीर के एक प्रसिद्ध विद्वान विमलाक्ष ने 406 तथा 413 के बीच कुमारजीव के साथ काम किया। कुमारजीव केवल एक विद्वान और अनुवादकर्त्ता नहीं था। उसने चीनी भाषा में कई ग्रंथों की रचना भी की, जिसमें अश्वघोष का जीवन-चरित भी सम्मिलित है।

एक उद्भट बौद्ध विद्वान के अतिरिक्त कुमारजीव किस प्रकार का व्यक्ति था? इस विषय में कई किंवदन्तियां प्रचलित हैं, जिनमें से एक किन राजवंश के राजकीय इतिहास में भी संकलित है: सम्राट ने कुमारजीव के पास 10 सुंदर युवतियों को भेजा, जिनमें से किसी एक को वह अपनी पत्नी बना सके। कुमारजीव ने इस प्रलोभन के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और एक भिक्षु का जीवन त्यागकर वह गृहस्थ बन गया, किंतु शीघ्र ही उसे इसका पश्चाताप हुआ और वह वापस संघ में चला गया। ऐसा कहा जाता है कि इस घटना के पश्चात् जब भी वह कोई उपदेश देता था तब उसकी शुरुआत यह कह कर करता था 'मेरे कर्मों का अनुसरण करो, किंतु मेरे जीवन का नहीं, क्योंकि वह किसी भी दृष्टि से आदर्श नहीं है, किंतु एक कमल कीचड़ में ही खिलता है। कमल से प्यार करो; कीचड़ से प्यार मत करो।'

छांगान में कुमारजीव की मृत्यु हुई और उसका अंत्येष्टि संस्कार भारतीय रीति-रिवाज से संपन्न किया गया। उसके शिष्यों ने उसके अधूरे कार्यों को आगे बढ़ाया।

स्रोत: दत्त [1962], 1988: 303-306

इन शताब्दियों में चीन की यात्रा करने वाले बहुत से भारतीय बौद्ध भिक्षु कश्मीर के रहने वाले थे (दत्त [1962], 1988: 294-310)। इनमें संघभूति भी शामिल हैं, जिन्होंने *सर्वास्तिवाद विनय* पर एक टीका लिखा था तथा ये 381-84 सा.सं. के दौरान चीन में थे। भिक्षु पुण्यत्राता ने अपने शिष्य धर्मयशस के साथ 397 तथा 401 सा.सं. के दौरान मध्य एशिया की यात्रा की। जहां से इन्होंने चीन का मार्ग पकड़ लिया, और वहां पर 424-453 सा.सं. के दौरान निवास किया। बुद्धयशस ने कासगर होतु हुए कूचा की यात्रा की। गुणवर्मन नाम के एक कश्मीरी राजकुमार ने पूर्व की ओर भ्रमण के लिए एक दूसरे मार्ग का सहारा लिया। उसने श्रीलंका और जावा होते हुए समुद्र मार्ग से चीन के नानकिंग की यात्रा 431 सा.सं. में पूरी की। भारतीय भिक्षु अथवा भारतीय मूल के भिक्षुओं में, जिन्होंने चीन की यात्राएं की, उनमें कुमारजीव (पांचवीं शताब्दी), परमार्थ (छठी शताब्दी) तथा बोधिधर्म (छठी शताब्दी), सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। परमार्थ उज्जैनी के निवासी थे। एक गुप्त सम्राट के समय चीन के सम्राट के द्वारा जो मिशन भारत भेजा गया था, उसी के एवज में भेजे जाने वाले भारतीय प्रतिनिधि मंडल के वे हिस्सा थे। उन्होंने अपनी अनथक यात्राओं के दौरान, विविध बौद्ध विहारों में निवास किया, तथा कई पाठ्यों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, और कुछ मौलिक रचनाएं भी लिखीं। उन्होंने 23 वर्षों तक चीन में निवास किया और कभी भारत नहीं लौटे। परमार्थ के द्वारा लिखे और चीनी भाषा में अनुदित की गई अनेक रचनाओं में त्रिपिटक भी शामिल है। बोधिधर्म ने सामुद्रिक मार्ग से चीन की यात्रा की। कुछ लोगों का मानना है कि वे भारत से आए थे, जबकि कुछ चीनियों का मानना है कि वे ईरान से आए थे। वे शून्यतावाद के प्रबल समर्थक थे। एक किवदंति के अनुसार, बोधिधर्म और चीनी सम्राट के बीच में हुए एक संवाद की चर्चा की जाती है, जिसमें उन्होंने बौद्ध धर्म के विस्तार के लिए उनको श्रेय देने से इंकार किया, क्योंकि यदि सबकुछ शून्य था, तो शून्य कभी भी पवित्र नहीं हो सकता। सम्राट ने क्रोधित होकर कहा कि कौन मुझसे इस प्रकार की बात करता है। बोधिधर्म का उत्तर था कि मैं नहीं जानता। बोधिधर्म ने किसी ग्रंथ की रचना नहीं की लेकिन उसके अनुयायी ने चान बौद्ध धर्म संप्रदाय की स्थापना की, जो जापान में जेन के नाम से विख्यात हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि एशिया के विभिन्न हिस्सों में इन शताब्दियों में, जो बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ वह एक जटिल सामाजिक-राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक हिस्सा थी। चीन के अतिरिक्त बौद्ध और हिंदू दर्शन में दक्षिण पूर्व एशिया को भी काफी प्रभावित किया। सर्वास्तिवाद तथा महायान बौद्ध धर्म उत्तर म्यनामार में तीसरी शताब्दी में पहुंचा। कंबोडिया में बौद्ध और हिंदू (विशेष रूप से शैव) प्रभाव देखे जा सकते हैं, जो प्रारंभिक ईस्वी सन् से मजबूत होने लगे थे। छठी शताब्दी के बाद ये अत्यंत लोकप्रिय हुए। मलाय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया रेखांकित की जा सकती है। महायान और श्रावकयान बौद्ध धर्म, वियतनाम में भारत तथा चीन के मार्ग से होते हुए तीसरी शताब्दी में पहुंचा। बौद्ध धर्म चीन से कोरिया भी छठी शताब्दी में पहुंचा और उसने प्राय: संपूर्ण कोरिया प्रायद्वीप को प्रभावित किया। 538 सा.सं. में कोरिया का एक राजनयिक मिशन जापान पहुंचा, जिसके साथ बुद्ध ग्रंथ भी थे। बौद्ध धर्म औपचारिक रूप से जापान पहुंचा तथा स्त्रोत को (573-622 सा.सं.) नाम के शासक के राजकाल में एक राजधर्म के रूप में घोषित किया गया।

जैन धर्म

चौथी-पांचवीं शताब्दियों में श्वेताम्बरों के द्वारा मथुरा और वल्लभी में जैन महासभाएं बुलाई गई, जिनमें उनके धर्म सिद्धांतों को लिपिबद्ध किया गया। मथुरा की संगीति की अध्यक्षता खाण्डिल्य (या स्कन्दिल) ने की जबकि वल्लभी की सभा की अध्यक्षता नागार्जुन ने की। बाद में वल्लभी में एक और भी सभा बुलाई गई। श्वेताम्बर और दिगाम्बर कई उपसंप्रदायों में भी बंट गए, जिन्हें संघ या गण के रूप में जानते हैं (दक्षिण भारत में) तथा उत्तर भारत में इन्हें कुल, शाखा (या गच्छ) के नाम से जाना जाता है।

जहां तक जैन दर्शन शास्त्र का प्रश्न है, 300-600 सा.सं. के काल में इस धर्म ने तर्कवाद में विशेष योगदान दिया। अनेक निर्युक्ति तथा चूर्णीयां लिखी गईं जो वस्तुत: पूर्व के जैन साहित्य पर लिखी गयी टीकाएं थी। कुण्डकुण्ड, सामंतभद्र, सिद्धसेन, दिवाकर तथा पूज्यपाद (देवनंदी के नाम से भी जाने जाते हैं), इस काल के प्रमुख जैन मुनि और विद्वान थे। कुण्डकुण्ड एक दिगम्बर जैन विद्वान थे, जो संभवत: प्रारंभिक चौथी शताब्दी सा.सं. के हैं। संभवत: पर्वतमान के आंध्र प्रदेश के अनंतपुर जिला में स्थित कुण्डाकुण्डे नामक गाँव के वे मूल निवासी थी। उनके द्वारा लिखे गए सभी ग्रंथ प्राकृत भाषा में थे। उनके ग्रंथों में सबसे प्रसिद्ध *समयसार* तथा *प्रवचनसार* है। दूसरे दिगम्बर जैन विचारक सामंतभद्र, संभवत: चौथी शताब्दी सा.सं. के अंतिम चतुर्थांश के थे। उनके प्रमुख दार्शनिक ग्रंथों में *आप्तमीमांसा* और *युक्तानुशासन* है। उनकी लिखी गयी स्वंभू स्त्रोत और *जिनस्तुतिशतक*, तीर्थंकरों की प्रशंसा में लिखी गयी पुस्तकें हैं, जबकि उनका *रत्नाकरानंदश्रावकाचार्य* आम जैन धर्मावलंबियों के लिए अपेक्षित, नैतिक शास्त्र है। सिद्धसेन दिवाकर एक निष्णात तर्कवादी थे तथा उनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में *न्यायावतार* तथा *सम्मतितर्क सूत्र* प्रमुख हैं। इनमें अनेकांतवाद के सिद्धांत की तर्क में आधार पर व्याख्या की गयी है। दिगाम्बर और श्वेताम्बर

दोनों संप्रदाय के अनुयायियों के द्वारा इन्हें पूज्य स्वीकारा गया है। पूज्यपाद (पांचवीं शताब्दी सा.सं.), *जैनेन्द्र* नामक व्याकरण पर लिखे गए एक ग्रंथ के लेखक थे, उनकी दूसरी रचना *सर्वार्थसिद्धि* के द्वारा तर्क में उनकी सिद्धस्थताप्रमाणित होती है। यह *तत्त्वार्थधिगमसूत्र* पर लिखी गई एक टीका है। इस काल में जैन ग्रंथों ने प्राकृत से संस्कृत की ओर की यात्रा प्रारंभ कर दी थी।

असीम कुमार चटर्जी (2000) ने भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से प्राप्त जैन धर्म के इतिहास को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया है। साहित्य अभिलेख, प्रतिमाएं तथा स्थापत्य के अवशेषों के आधार पर मथुरा को श्वेताम्बर जैन संप्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र माना जा सकता है। मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख गुप्त वर्ष 113 (433 सा.सं.) (कुमार गुप्त के काल में) निर्गत किया गया था। इसमें एक जैन मुनि दतिलाचार्य के जीवन-चरित का उल्लेख है, जो विद्याधरी शाखा और कोलिय गण के एक सदस्य थे। उनके एक शिष्य समाध्य नाम के मुनि ने अपने आचार्य के निर्देश पर एक जैन प्रतिमा के लिए अनुदान दिया था। मथुरा से प्राप्त एक दूसरा अभिलेख 299 वर्ष में निर्गत की गई थी। (संवत् निश्चित नहीं है), जिसमें एक देवकुल (मंदिर) तथा महावीर की एक प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख है, जिसका श्रेय ओखा, सरीक तथा शिवदिन नामक तीन व्यक्तियों को दिया गया है। मथुरा में आए-गए जैन प्रतिष्ठानों में जुड़े असंख्य अभिलेखों में से ये केवल कुछ उदाहरण हैं।

चौथी और पांचवीं शताब्दियों में मध्य भारत से भी बहुत सारी जैन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जिनमें पन्ना और शिरपहाड़ी से प्राप्त प्रतिमाएं अधिक प्रसिद्ध हैं। संभवतः 5वीं शताब्दी सा.सं. के *वसुदेवहिन्डी* नाम के एक जैन ग्रंथ में उज्जैनी में स्थित जियंतस्वामी महावीर के एक मंदिर का उल्लेख है। ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में दासपुरा (आधुनिक मंदसौर) के अनेक श्वेताम्बर जैन मुनियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से अधिक प्रसिद्ध वैसे जैन मुनि है, जो कोसाम्बीक शाखा के थे। विदिशा के निकट उदयगिरि से प्राप्त एक अभिलेख (कुमारगुप्त के काल में) गुप्त संवत् 106 (426 सा.सं.)में निर्गत किया गया था। इसमें शंकर नाम के एक प्रसिद्ध योद्धा (जो गोर्शमा के शिष्य थे) के द्वारा पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा स्थापित करने का उल्लेख है। गोशर्मा स्वयं भद्राचार्य नामक मुनि के शिष्य थे।

मध्य गंगा नदी घाटी में गोरखपुर (उत्तरप्रदेश) के कहौम नामक स्थान पर स्कंदगुप्त के काल (गुप्तसंवत् 141 [461 सा.सं.]) में निर्गत किया गया, एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें इस स्थान पर मद्र नामक एक व्यक्ति के द्वारा पांच तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्थापना का उल्लेख मिलता है। यह व्यक्ति, द्विज गुरू और यतियों के लिए समान रूप से आदर-भाव रखता था। इस स्थान से कई जैन मंदिरों के अवशेष मिलते हैं। पूर्वी भारत में राजगीर में सबसे अधिक अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हुए हैं।

तीर्थंकर, कंकाली टीला, मथुरा

यहां के सोन भंडार गुफा में एक अभिलेख मिला है, जिसमें प्रसिद्ध जैन मुनि वैरदेव का उल्लेख है, जिन्हें आचार्य रत्न कहा जाता था। राजगीर में ही स्थित एक छोटे से जैन मंदिर के अवशेषों में से काले बसाल्ट पत्थर की बनी, नेमिनाथ की प्रतिमा भी मिली है। जिस पर एक अभिलेख है। इस अभिलेख को अब पढ़ा नहीं जा सकता। इस अभिलेख में महाराजाधिराज चंद्र का संदर्भ आता है, जो इस नाम के दो गुप्त सम्राटों में से किसी एक का रहा होगा। चौसा (भोजपुर जिला, बिहार) में भी तीर्थंकरों की धातु की बनी प्रतिमाएं मिली है।

बंगाल में भी तीर्थंकरों की धातु की बनी प्रतिमाएं मिली हैं। बंगाल में दिगम्बर जैन संप्रदाय से जुड़े कई प्रतिष्ठानों का अवशेष मिलता है। बंगलादेश के पहाड़पुर से एक ताम्रपत्र अभिलेख मिला है, जिसमें नाथशर्मन और उसकी पत्नी रमी के द्वारा जैन प्रतिष्ठान को दिए गए एक अनुदान का जिक्र है। यह अनुदान वटगाओली नामक स्थान पर स्थित एक विहार को अहर्तों की उपासना के उद्देश्य से दिया गया था। इस विहार की देख-रेख निग्रंथ आचार्य गुहनंदी के शिष्यों के द्वारा की जा रही थी, जो काशी के निवासी थे और *पंचस्तूपनिकाय*[6] से सम्बंधित थे। हरिषेण की *बृहत्कथाकोश* में भी, मथुरा में पांच स्तूपों के निर्माण का वर्णन है। पंचस्तूप निकाय मूल रूप से वाराणसी और मथुरा में फैला हुआ था। बाद में बंगाल में भी इसकी नींव रखी गई। जीनसेन नाम के मुनि जिन्होंने प्रसिद्ध ग्रंथ *आदिपुराण* की रचना की, इसी संप्रदाय के थे।

6. जैसा कि पूर्व के अध्याय में भी कहा जा चुका है कि स्तूपों के प्रति श्रद्धा केवल बौद्ध धर्म तक सिमित नहीं है।

वलभी में दो जैन महासभाओं का आयोजन यह सिद्ध करता है कि गुजरात, जैन धर्म का एक प्रमुख केंद्र रहा होगा। वल्लभी के मैत्रक वंश के एक शासक ध्रुवसेन के काल में *कल्पसूत्र* की रचना की गयी थी। ऐसी जैन मान्यता है कि ऐसा लगता है कि प्रारंभिक सातवीं शताब्दी में वल्लभी पर शासन कर रहे शिलादित्य नाम के एक शासक के काल में, जीन भद्रगणी के द्वारा रचित *विशेषावश्यकभाष्य* की रचना भी, वल्लभी में ही की गयी थी। *कुवलयमाला* और *विविधतीर्थकल्प* नामक ग्रंथों में, गुर्जर देश में स्थित जैन मंदिरों का तीर्थकल्प नामक ग्रंथों में, गुर्जर देश में स्थित जैन मंदिरों का वर्णन मिलता है। वल्लभी में कई श्वेताम्बर जैन प्रतिमाओं के अवशेष देखे जा सकते हैं। आठवीं शताब्दी में लिखे गए *हरिवंश* में नन्ना नामक राजा द्वारा पार्श्वनाथ के एक मंदिर के निर्माण का उल्लेख है, जो शायद दिगाम्बर जैन मंदिर सम्प्रदाय के थे। गिरनार के निकट शांतिनाथ के एक दिगाम्बर जैन मंदिर की स्थापना का उल्लेख, जिनसेन के द्वारा किया गया है। राजस्थान और महाराष्ट्र जैसे क्षेत्रों में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का प्रमाण साहित्यिक संदर्भों के साथ-साथ प्रतिमाओं के माध्यम से पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है।

दक्षिण भारत के कर्नाटक में दिगम्बर जैन संप्रदाय का वर्चस्व था। वज्रनंदी की अध्यक्षता में पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, मदुरई में एक जैन संगम का आयोजन किया गया था। कांची भी एक प्रमुख जैन केंद्र था। कुण्डकुण्ड, सिद्धसेन दिवाकर तथा सामंतभद्र जैसे प्रसिद्ध जैन आचार्य मुनियों को दक्षिण भारत का बतलाया जाता है। अध्याय-आठ में तमिल महाकाव्य, *शिलप्पदिकारम* में अन्तर्निहित जैन तत्त्वों के विषय में चर्चा की गयी थी। कावुंडी एक जैन भिक्षुणी थी, जिसने इस कथा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जैन दर्शन से जुड़े उपदेश पूरे महाकाव्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए, कोवलन् और कन्नकी, श्रीरंगम् में, कावुंडी नामक जैन भिक्षुणी से मिले। जहां उसने इनको एक छोटा-सा उपदेश भी दिया है। मदुरई में कादुण्डी ने इनको दूसरा उपदेश दिया, जिसमें पुनर्जन्म और सांसारिक मोह-बंधन जैसे विषयों पर चर्चा की गयी। उसने यह भी भविष्यवाणी की कि कोवलन और कन्नकी के साथ कुछ अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण होने वाला है, क्योंकि पूर्वजन्मों में उनके द्वारा संचित पुण्य अब समाप्त हो चुके हैं। महाकाव्य में जैनमंदिरों, जैन मुनियों और जनकल्याणकारी जैसी संस्थाओं के पुहार में अवस्थित होने का उल्लेख है। इसमें कावेरी पट्टिनम् में जैन निग्रंथों के एक भव्य मंदिर का वर्णन मिलता है। यह भी उल्लेख है कि इस मंदिर में चर्नार कहे जाने वाले जैन मुनियों का समय-समय पर आना होता था, विशेषकर रथ उत्सवों में। रथ-उत्सव में निश्चित रूप से जिनों की प्रतिमाओं की शोभा यात्रा निकाली जाती होगी। पंचि, उरयुर और मदुरई में भी जैन मंदिरों के अस्तित्वों का वर्णन मिलता है। *मणिमेकलई*, दूसरी ओर, एक बौद्ध प्रभावित महाकाव्य था, जिसके प्रारंभ में ही एक मदिरा पान किए हुए व्यक्ति के द्वारा किसी जैन मुनि की खिल्ली उड़ाते हुए दिखलाया गया है, जो जैन मुनि को, गंदगी से भरे शरीरवाले एक व्यक्ति के रूप में उल्लेख करता है। इन सब बातों से यह पता चलता है कि जैन और बौद्ध संप्रदायों के बीच दक्षिण भारत में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा चल रही थी।

दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों से वट्टेलुत्तु नामक लिपि के प्रारंभिक स्वरूप में लिखे, पांचवीं शताब्दी के अभिलेखों का प्रमाण मिलता है। इनमें से कुछ में जैन धर्म के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है। पुट्टुकोट्टई जिला (तमिलनाडु) के सित्तानवसल में स्थित एक गुफा में ऐसे सात अभिलेख मिले हैं, जिनमें उन अनुदानकर्त्ताओं की सूची दी गयी है, जिन्होंने इस गुफा आश्रयणियों को, जैन मुनियों के लिए समर्पित किया था। इनमें से एक सबसे लंबा अभिलेख है। वह किसी गाँव के निवासियों के द्वारा सामूहिक रूप से दिए गए अनुदान का उल्लेख करता है। इस क्षेत्र से कई 'स्मारक' अभिलेखों की भी प्राप्ति हुई है। उदाहरण के लिए, तिरूनाथरकुनरू के एक अभिलेख में चंतिरन्नति नाम के एक जैन मुनि के द्वारा 57 दिन उपवास रखने के बाद मृत्यु को प्राप्त करने का वर्णन मिलता है।

वस्तुत: जैन धर्म ने भी विभिन्न क्षेत्रों में राजकीय प्रश्रय प्राप्त किया। आठवीं शताब्दी में लिखे गए उद्योत्तनसुरी के *कुवलयमाला* नामक ग्रंथ में हूण शासक तोरमान को जैनधर्म का संरक्षक बतलाया गया है। इस अभिलेख में यह उल्लेख किया गया है कि वह हरिगुप्त नामक एक आचार्य का शिष्य था, जिनका जन्म गुप्त परिवार में हुआ था। रामगुप्त के अभिलेख में तीन तीर्थंकरों का जिक्र हुआ है। ये अभिलेख मध्य भारत में विदिशा से प्राप्त हुए हैं। इन अभिलेखों से न केवल रामगुप्त के विषय में जानकारी मिलती है, बल्कि जैन धर्म के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है। इनमें से एक में यह सूचना लिपिबद्ध की गयी है कि रामगुप्त के आदेश पर एक प्रतिमा की स्थापना की गयी, जो आचार्य सर्पसेन श्रमण के सुझाव पर उसने बनवाया था। सर्पसेन श्रमण चन्द्रक्षमाचार्य के शिष्य थे, जिनको 'पाणिपत्रिका' उपाधि दी गयी है। पाणिपत्रिका का अभिप्राय अपने चुल्लु को भिक्षाटन पात्र और जल पीने के पात्र के रूप में प्रयोग, से जुड़ा है। यह संकेत मिलता है कि चन्द्रक्षमाचार्य दिगाम्बर संप्रदाय के थे।

प्रारंभिक पल्लवों ने हिंदू तथा जैन दोनों धर्मों के प्रतिष्ठानों को संरक्षण दिया। मध्य छठी शताब्दी के एक अभिलेख में (जो सिंहवर्मन-II के काल का है) लिपिबद्ध किया गया है कि 'जिन' की उपासना के लिए वज्रनंदी नाम के एक जैन मुनि को एक गाँव अनुदान के रूप में दी गयी थी। इससे यह भी संकेत मिलता है कि कांची के निकट एक जैन तीर्थ अवस्थित था। होसकोटे (बंगलौर जिला, कर्नाटक) से इसी काल का एक और अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें अर्हन्तों के लिए एक देवायतन की स्थापना का उल्लेख है। इसका निर्माण पल्लव शासक सिंह

विष्णु की माता ने कोरिकुण्डा प्रखंड के पुलिजेरे गाँव में करवाया था। यावनिक (अर्थात् यापनीय) संघ से यह मंदिर संबद्ध, प्रतीत होता है।

पशिचम गंग शासक (जो दक्षिण कर्नाटक क्षेत्र में थे) वे भी जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे। बाद की एक परंपरा के अनुसार, जिसे अभिलेखों में भी उद्धृत किया गया है, इस वंश के संस्थापक कोंकनीवर्मन ने अपने राज्य की स्थापना के लिए एक जैन मुनि-आचार्य सिंहनदी का आशीर्वाद प्राप्त किया था। पांचवीं शताब्दी के एक अभिलेख में, जो नोनामंगल से प्राप्त हुआ है, उसमें सम्राट माधव-III के द्वारा दिए गए किसी भूमि अनुदान की चर्चा है, जो उसने मूल संघ के जैन मुनियों को एक जैन मंदिर के निर्माण के लिए दिया था। अवनीत कोंकनीवर्मन के काल का तीन अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें से एक अभिलेख को अप्रमाणिक बतलाया जाता है। इनमें जैन संघ की प्रतिस्थापना की बात कही गयी है। नोनामंगल से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार, राजा के द्वारा अपने उपध्याय, जिनका नाम विजयकीर्ति था, के सुझाव पर इस मंदिर का निर्माण किया गया था।

कर्नाटक क्षेत्र में ही स्थापित कदम्ब राजतंत्र ने भी जैन धर्म को प्रश्रय दिया। कदम्बों के अभिलेखों में भी निग्रंथ श्वेतपत्र, यापनीय तथा कुरचक जैसे जैन संप्रदायों का उल्लेख मिलता है। ककुतस्थवर्मन नामक राजा के अलसि अनुदान अभिलेख का प्रारंभ जिनेन्द्र के आह्‌वाहन से होता है। इस अभिलेख के आधार पर इस स्थान पर एक जैन मंदिर की उपस्थिति का भी पता चलता है। मृगेश्वरवर्मन के द्वारा भी कई जैन प्रतिष्ठानों के लिए अनुदान दिया गया। इस शासक के राज्यारोहण के तीसरे वर्ष में निर्गत वनवासी अभिलेख में वृहत परालुर गाँव, जो काली मिट्‌टी पर अवस्थित था, वहां पर एक जैन मंदिर के लिए अग्रलिखित गतिविधियों के निमित अनुदान निर्गत किया गया था—मंदिर की साफ सफाई, मंदिर में स्थापित प्रतिमा पर घी का लेप, पूजा-अर्चना तथा मंदिर की मरम्मत।

इसी मंदिर की प्रतिमा को फूलों से सजाने के लिए एक अतिरिक्त भूमि अनुदान का भी पता चला है। वनवासी से ही प्राप्त इस शासक के राज्यारोहण के चौथे वर्ष के निर्गत एक अभिलेख में किसी परम्पुष्कल नामक स्थान पर जिनेन्द्र के एक मंदिर, श्वेतपथ के महाश्रमण संघ के लिए अनुदान तथा निग्रंथ महाश्रमणों के लिए अनुदान—इन तीन उद्‌देश्यों के लिए निर्गत किया गया था। यह रोचक तथ्य है कि उक्त जिनेन्द्र मंदिर की दिगाम्बर और श्वेताम्बर दोनों जैन संप्रदायों की संयुक्त संपत्ति के रूप में देखी जानी थी। रविवर्मन नामक शासक के बिना तिथि वाले एक अभिलेख में पालाशिव नामक स्थान पर भगवान जीन की स्तुति में आयोजित आठ दिनों के एक उत्सव के खर्च को उठाने के लिए दिए गए एक अनुदान की चर्चा है। इस उत्सव में राजा की भी सहभागिता होती थी।

कला का एक क्लासिक युग?

(A Classical Age of Art?)

गुप्त काल को अक्सर एक 'क्लासिकी युग' के रूप में दिखलाया जाता है। इसी क्लासिकी युग की संज्ञा इस कला में होने वाले सांस्कृतिक विकास के आधार पर दी जाती है। इस प्रकार के वर्णन का आधार यह है कि 300-600 सा.सं. के बीच भारतीय उपमहाद्वीप में उत्कृष्ट सौंदर्य बोध का असाधारण प्रतिमान स्थापित हो सका था। इस काल की कला एवं साहित्य दोनों ही सौंदर्य के समानांतर आदर्शों की स्थापना करते हैं और अध्यात्म तथा इंद्रीयानिष्ठ सुख के बीच एक अद्वितीय संतुलन दिखलायी पड़ता है। इन शताब्दियों की असाधारण कलात्मक अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करते समय हमारे मन में यह प्रश्न भी उठता है कि क्या ये सचमुच भारतीय साहित्य, मूर्तिकला और स्थापत्य कला के चरम बिंदु के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं, जिसके कारण इस युग को हम 'क्लासिकी युग' कहते हैं, अथवा इस युग को भी हम भारतीय उपमहाद्वीप में समय-समय पर होने वाले अति उत्कृष्ट कलात्मक गतिविधियों की श्रेष्ठ अवधियों में से किसी एक के रूप में देख सकते हैं?

क्या सचमुच कुछ ऐसा है जिसे हम कला की गुप्तशैली के रूप में संज्ञा दे सकते हैं, जो गुप्त शासकों के शासनकाल में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ तथा उनके राज्य क्षेत्र में विकसित हुआ? बहुत सारे इतिहासकारों को कलात्मक युग के लिए राजवंशों का 'लेबल' लगाना उचित नहीं मालूम पड़ता। लेकिन दूसरी ओर कुछ कला इतिहासकारों का मानना है कि इस युग के लिए तथा कुछ अन्य कलात्मक युगों के लिए भी राजवंशों का लेबल लगाना सर्वथा उपयुक्त होता है। जे.सी. हार्ल ([1986], 1990: 89) ने यह तर्क दिया है कि प्रस्तरीय मूर्तिकला और टेराकोटा कला गुप्त साम्राज्य के संपूर्ण क्षेत्र में उच्च कोटि की समरूपता को प्रदर्शित करती है, उन्होंने ([1974], 1986: 6) कला के इतिहास की दृष्टि से इस युग को तीन उपकालों में विभाजित किया है प्रारंभिक गुप्तकाल जो कई क्षेत्रों में पांचवीं शताब्दी तक चला, दूसरा, गुप्तकाल तथा तीसरा उत्तर-गुप्त काल, जो पांचवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में ही, पश्चिमी भारत में शुरू हो गया था। लेकिन पूर्वी भारत में यह काल देर से निर्दिष्ट होता है।

दशावतार मंदिर, देवगढ़

प्रारंभिक गुप्तकाल के विषय में हरमन गट्स (1963) ने कहा है कि यह युग कई कलात्मक विरोधाभास के सह-अस्तित्व का युग था—सहज और परिष्कृत, सशक्त और कोमल, शानदार और विकृत। गुप्तकाल में इन विसंगति पूर्ण विशेषताओं में एक ऐसा सामंजस्य स्थापित हुआ, जिसे हम सर्वोत्कृष्ट कला का काल कह सकते हैं। दरअसल इन विशेषताओं का लालित्यपूर्ण सामंजस्य गुप्त काल में एक विशिष्ट शैली के रूप में सामने आया। उत्तर-गुप्त काल में मानवशरीर का प्रस्तुतीकरण और भी कलात्मक हो गया। शरीर और भी छरहरे बनाए जाने लगे तथा आकृतियों की मुद्राओं में और लचीलापन आ गया। हारले के अनुसार, पूर्व गुप्त काल और उत्तर गुप्त काल के बीच की अल्पावधि में विश्व के सर्वोत्कृष्ट कलाओं का निरुपण हुआ है। इनमें अन्य विशेषताओं के साथ-साथ कला में उच्च आध्यात्मिक आदर्शों की अन्यतम् अभिव्यक्ति भी देखी जा सकती है। जोएेना विलियम्स (1982: 3-4) का मानना है कि गुप्तों को कला के सर्वांगीण विकास और उनके प्रचार-प्रसार के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है, न कि विशिष्ट शैलीगत स्वरूपों के विकास के लिए। उनका मानना है कि इस काल की कला में एक सशक्त बौद्धिक प्रेरणा का समपुट देखा जा सकता है तथा उनके अनुसार, गुप्त काल में प्रस्तुतीकरण की प्रमाणिकता और गूढ़ निरपेक्ष कलात्मक प्रवृतियों के बीच एक उत्कृष्ट संतुलन भी देखा जा सकता है।

फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम गुप्त कला का पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग करते हैं, जो यह केवल एक सुविधाजनक संक्षेपीकरण है, जब भी इस काल के कला की मीमांसा की जाती है, तो उसमें सम्मिलित प्रतिमाओं के सभी उदाहरण साम्राज्यवादी गुप्तों के राज्यक्षेत्र के भीतर के नहीं होते। वॉल्टर स्पिंक (2006: 3) ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि वाकटकों को हम गुप्तों की अपेक्षा काफी कम तरजीह देते रहे हैं, जबकि अजन्ता, बाघ, धारशिव, घटोत्कच्छ, बनोती, और औरंगाबाद के गुफाओं की कलाएं इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वाकाटक शासक ही वास्तव में इस तथाकथित स्वर्ण युग के अंतिम और सर्वाधिक प्रबल प्रवर्तक और संरक्षक थे। स्पिंक ने अजंता की उत्कृष्ट गुफा कलाओं के लिए वाकाटक शासक हरिषेण (460-77 सा.सं.) के काल को कलात्मक अभिव्यक्ति की एक अत्यंत सशक्त और प्रेरणादायक अवधि बतलाया है। उनका मानना है कि हरिषेण की मृत्यु के साथ ही एक प्रकार से उस 'स्वर्ण युग' की समाप्ति हो गयी। इस काल के कलात्मक विकास का विश्लेषण करने के दौरान हमें निश्चित रूप से गुप्त और वाकाटकों के संरक्षण के प्रति आभार व्यक्त करना पड़ता है, किंतु इनके साथ-साथ हम इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं कर सकते हैं कि उस काल में कला को दिए जाने वाले संरक्षण के जटिल तंत्र को समकालीन कुलीन वर्ग का समर्थन भी था जो इन राजवंशों से नहीं थे। उनकी भी महती भूमिका थी। इस काल के स्थापत्य और मूर्तिकाल को देखने से यह भी पता चलता है कि सगुण उपासना की बढ़ती लोकप्रियता इनके माध्यम से प्रतिबिम्बित हो रही थी।

धार्मिक स्थापत्य

300-600 सा.सं. की अवधि भारतीय मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काल का प्रतिनिधित्व करती है। इस काल के अधिकांश मंदिर जो आज भी अस्तित्व में है, वे मध्यप्रदेश के पठारी क्षेत्र में अवस्थित हैं।
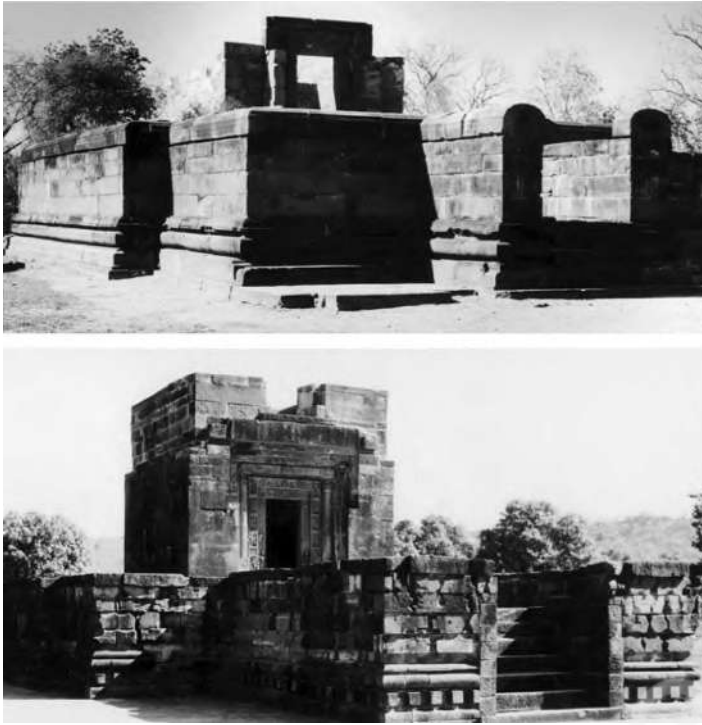
अब इनकी अवस्था काफी जीर्ण-शीर्ण हो चुकी है। तिगवा का विष्णु मंदिर, भूमर और खोह के शिव मंदिर, नचना-कुठारा का पार्वती मंदिर और सांची के बौद्ध स्तूप सभी पत्थरों से बने है। मध्यभारत के बाहर बिहार के बोधगया में बोधि मंदिर और झांसी जिला (उत्तर प्रदेश) के देवगढ़ का दशावतार मंदिर भी इसी काल का है। असम में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे दह पर्वतिया नामक स्थान पर एक मंदिर के अवशेष मिले हैं। इन पत्थर के बने मंदिरों के साथ-साथ ईंट से बने मंदिर भी इस काल में बड़ी संख्या में बनाए गए। इनमें से प्रमुख भीतर गाँव (कानपुर जिला, उत्तर प्रदेश), पहाड़पुर (राजशाही जिला, बंगलादेश) और सिरपुर (रायपुर जिला, छतीसगढ़) में अवस्थित हैं (मेइस्टर, ढाकी तथा देव, 1988)।

इस काल के प्रारंभिक दौर के बने मंदिर काफी छोटे-छोटे बनाए गए थे। 10 × 10 फीट का वर्गाकार गर्भ गृह होता था, जिसमें मुश्किल से प्रतिमा रखी जा सकती थी। द्वारमंडप भी छोटा होता था और छत समतल होता था। मंदिर की योजना तो साधारण थी, किंतु मंदिरों के प्रवेश द्वारा अधिकांशत: अत्यंत जटिल अलंकार वाले होते थे। बाद में, पांचवीं और छठी शताब्दियों से मंदिरों की संरचनाओं से मंदिरों की संरचना में हुए परिवर्तनों को महसूस किया जा सकता है। अब मंदिरों के कुरसी थोड़े ऊंचे बनाए जाने लगे थे, और मंदिरों में शिखर भी बनाए जाने लगे थे। देवगढ़ के दशावतार मंदिर और भीतरगाँव के मंदिर के शिखर वक्ररेखीय कहे जा सकते हैं। शिखरयुक्त मंदिरों के ये प्रारंभिक उदाहरण हैं। देवगढ़ मंदिर में अग्रमंडपों की संख्या चार थी और इसके शिखर की ऊंचाई 40 फीट थी। इन मंदिर की संरचनाओं में पत्थरों को एक दूसरे से गिट्टों के द्वारा जोड़ा गया था। भीतरगाँव का मंदिर पकी हुई ईंट तथा टेराकोटा से बना है। इस मंदिर की बाहरी दीवारों पर टेराकोटा की पट्टिकाएं लगी हैं, जिन पर पौराणिक गाथाओं का दृश्यांकन हुआ है। इस मंदिर में पहली बार वास्तविक तोरण या मेहराब का निर्माण किया गया था। बाद के बने मंदिरों में स्तंभों पर स्तंभशीर्ष के लिए पूर्ण कलश बनाए गए थे। मंदिरों की इन संरचनाओं को प्रारंभिक शताब्दियों में बनाए गए मंदिरों का विस्तार तो कहा जा सकता है, लेकिन बाद की शताब्दियों में जो मंदिर बनाए गए वे अत्यधिक अलंकृत और जटिल थे।

भूमर और नचना-कुठारा के मंदिर (ऊपर दाएं), लक्ष्मण मंदिर, सिरपुर (ऊपर दाएं); भीतरगांव के ईंटों का मंदिर (नीचे)

देवगढ़ के मंदिर के मुख्य प्रवेशद्वार में जो प्रतिमावली देखी जा सकती है, उनमें पक्षी, परिचारक, पूर्णघट और मिथुन के अतिरिक्त स्वास्तिक, पुष्पीय दृश्यवाले कुण्डयुक्त सज्जा पट्टियां और बौने लोगों की प्रतिमाएं प्रतीक के रूप में देखी जा सकती हैं। दाह पर्वतिया के मंदिर

अजंता की गुफाएं

में केवल पक्षियों को छोड़कर इन सभी प्रतीक चिह्नों का प्रयोग देखा जा सकता है। इस काल की अन्य प्रमुख विशेषताओं में दरवाजों के चौखटों पर शंख और कमल के चित्र अथवा उद्भृत चित्रांकन देखे जा सकते हैं। देवगढ़ का मंदिर इस तरह के प्रतीकों का एक उदाहरण है।

इस काल में जो बौद्धस्तूप, चैत्य और विहार बनाए गए, उनके प्रमुख उदाहरण जौलिया, चारसदा तथा गंधार के तक्षशिला में पाए जाते हैं। पूर्वी भारत में सारनाथ का धामेख स्तूप इस काल में विस्तृत किया गया। पत्थरों से कुण्डीयुक्त सज्जा पट्टियां जिन पर ज्यमितीय डिजाइन बने थे, इनको ऊपर से जोड़ा गया है। 128 फीट वाले इस स्तूप में चार बड़ी देवली बने है, जिनमें बुद्ध की प्रतिमाएं रखी गयी थी। गुप्त काल की सर्वोत्कृष्ट बौद्ध प्रतिमाएं इस स्थल पर पायी जाती है।

इस काल का गुफा स्थापत्य पूर्ण रूप से बौद्ध स्थापत्य कहा जा सकता है। इसके केवल कुछ अपवाद हैं। उदाहरण के लिए, उदयगिरि में एक ब्रह्मणवादी गुफा में एक अभिलेख है जो चन्द्रगुप्त-II के राज्यकाल का है। यह गुफा आंशिक रूप से पत्थरों से बनाया गया है, किंतु विशेषकर इन्हें गुफा के पत्थरों को काट कर बनाया गया है। इसके अग्रभाग में स्तंभयुक्त द्वार मंडप है और प्रवेश द्वार में उद्भृत नक्काशी है। स्तंभों पर पूर्ण घट वाले स्तंभशीर्ष देखे जा सकते है। एलिफेंटा की गुफाएं भी काफी प्रसिद्ध हैं, जिनमें सबसे विशाल प्रतिमा शिव की है, जिसके विषय में पिछले अध्याय में चर्चा की जा चुकी है।

गुफाओं को काटकर बनाए गए स्थापत्य में इस काल से अजंता और बाघ की गुफाएं सबसे प्रसिद्ध कहे जा सकते हैं (हण्टिग्टन, 1985: 239-74)। अजंता के प्रसिद्ध बौद्ध गुफाओं में से अनेक को सह्याद्रि की पहाड़ियों के एक घुमाववाले खंड में काट कर बनाया गया है, जिसके बिल्कुल नजदीक वाघोड़ा नदी बहती है। कुल मिलाकर अजंता में 28 गुफाएं हैं। अजंता की गुफाओं का स्थापत्य दो चरणों में संपन्न हुआ प्रतीत होता है। सातवाहन काल में पांच गुफाओं को बनाया गया था, जबकि अन्य 23 गुफाएं वाकाटक काल में बनायी गई थी। अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर इस निष्कर्ष तक पहुंचा गया है। इनमें से गुफा संख्या 19 और गुफा संख्या 26 चैत्य थे। अन्य सभी गुफाएं विहार थीं। अजंता गुफाओं की समृद्धशाली स्थापत्य परंपरा यह बतलाती है कि यहां पर एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बौद्ध संघ समुदाय निवास करता था, जिसको वाकाटक राजतंत्र का प्रबल संरक्षण प्राप्त था। स्पिंक (2006: 11) का मानना है कि गुफा संख्या-1 भारत में अब तक बनाए गए गुफा स्थापत्य का सबसे बेहतरीन उदाहरण है। उनका मानना है कि यह हरिषेण के संरक्षण में बनाया गया था।

पांचवीं शताब्दी के अंत और छठी शताब्दी की शुरुआत में अजंता के दो चैत्य, गुफा संख्या 19 और 26 में बनाए गए थे। प्रतिमाशास्त्रीय अलंकरण की दृष्टि से पहले के गुफा स्थापत्य की अपेक्षा इनको गुफा स्थापत्य का एक नया मोड़ माना जा सकता है। इस चैत्य में महायान देवकुल से जुड़े दृश्यांकनों की बहुतलता है। गुफा संख्या

अजंता: गुफा 19, आंतरिक मुखौटा (ऊपर बाएं); बुद्ध की प्रतिमाएं (नीचे)
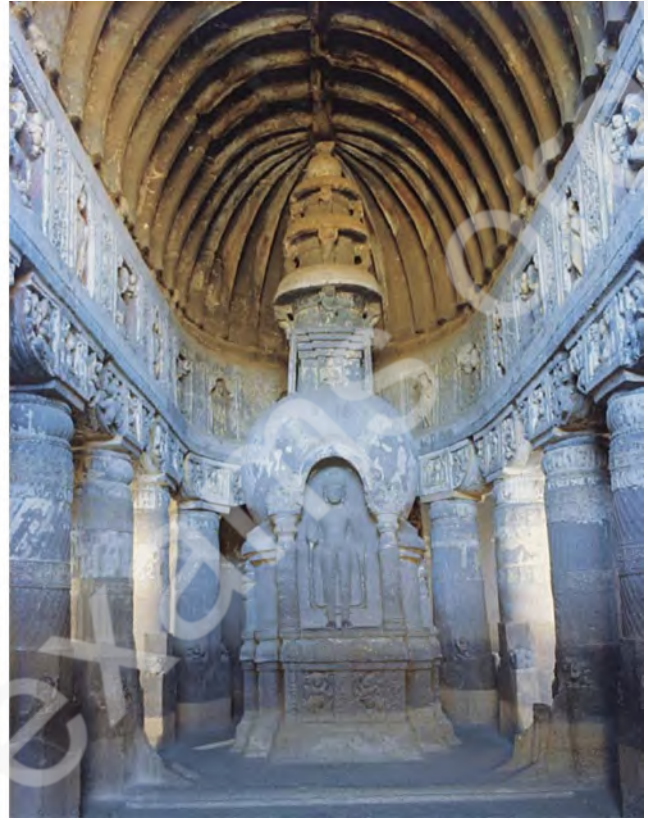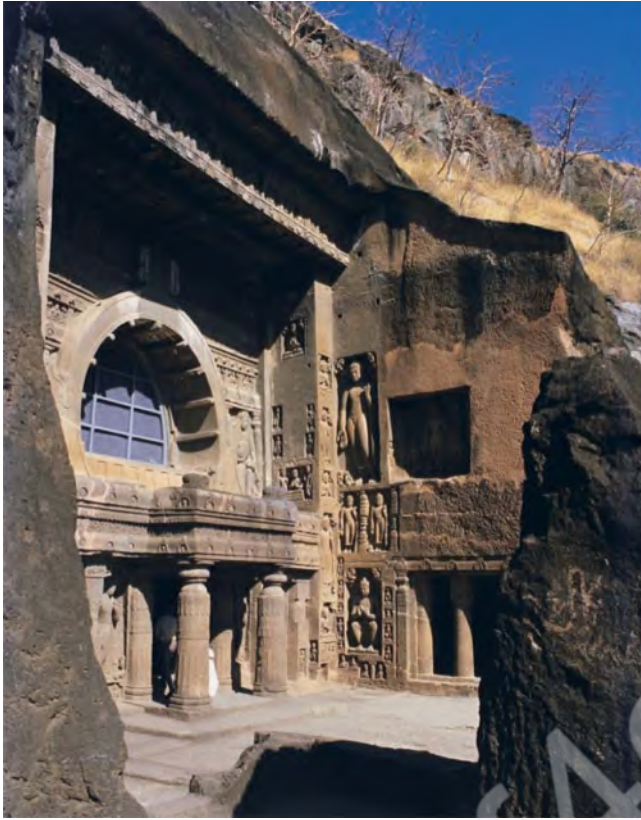
19 में एक आयताकार हॉल है, जिसके पार्श्व भाग को गजपृष्ठाकार गोलाई में काटा गया है। इस हॉल को दोपार्श्व विथियों और एक केंद्रीय खंड में कई स्तंभों के माध्यम से बांटा गया है। इन स्तंभों पर अत्यंत उत्कृष्ट प्रतिमाएं उकेरी गयी हैं। ये स्तंभ इस हॉल की समूचे लंबाई में फैले हुए हैं और मुख्य प्रतिमा के चारों ओर भी स्तंभ काट कर बनाए गए हैं। स्तूप काफी ऊंचा है और इसका अंड लगभग गोलाकार है। जिस पर एक खड़े हुए बुद्ध की प्रतिमा उद्धृत की गयी है। इसका छत गजपृष्ठाकार व पसलीदार है और ऐसा प्रतीत होता है कि लकड़ी के बने पुराने छतों की रूपरेखा पर इसे बनाया गया था। यह लकड़ी के स्थापत्य का प्रस्तरीय रूपांतरण है। गुफा का अग्र भाग विस्तृत रूप से अलंकृत किया गया है, जिस पर अलंकरण के कई उपादानों के साथ बुद्ध की प्रतिमाएं और उनके अनुयायियों को दिखलाया गया है। भीतरी हिस्से के ऊपरी भाग पर बुद्ध की अनेक प्रतिमाएं उद्धृत है, निश्चित रूप से इस गुफा के अभ्यंतर को कई रंगों से रंगा गया होगा।

गुफा संख्या 26 कुछ बाद के काल की है। प्रतिमावली की दृष्टि से यह अधिक उत्कृष्ट है। इसमें एक विशाल स्तूप है, जिसमें बुद्ध का एक अद्भुत भित्ति चित्र है। बैठे हुए इस बुद्ध के पैर नीचे लटके हुए हैं। इस गुफा की भीतरी दीवारों में विस्तृत उद्धृत भित्ति चित्र देखे जा सकते हैं। इसमें सात मीटर लेटे हुए बुद्ध की प्रतिमा दर्शनीय है, जो गुफा के बांयी दीवार पर अवस्थित है। यह बुद्ध के परिनिर्वाण का दृश्य है, जिसके चारों ओर अनुयायी विलाप कर रहे हैं।

इन चैत्यों के अनुरूप ही अजंता के विहार भी प्रतिमाओं से अलंकृत है। इनका द्वार मंडप स्तंभ युक्त है तथा मुख्य हॉल तक पहुंचने के लिए तीन प्रवेश द्वार काट कर बनाए गए है। विशाल कक्ष में स्तंभों की योजना इस प्रकार है कि एक वर्गाकार संरचना का निर्माण होता है। ये स्तंभ पार्श्व में बने एक भीतरी कक्ष तक जाते हैं, जिसके बाहर एक स्तंभयुक्त द्वार मंडप है। इस द्वार मंडप के माध्यम से अंदर के चैत्य

अजंता 'पेंटिंग्स': वेसंतर जातक के राजकुमार के दरबार का दृश्य, गुफा-१७ (ऊपर बाएं); बोधिसत्व पद्मपाणि (ऊपर दाएं); बुद्ध (मध्य बाएं); चित्रों का विस्तार (मध्य दाएं, नीचे)

कक्ष में जाया जा सकता है। विहारों के भीतर उपासना कक्ष का निर्माण इस काल का एक नवीन प्रयोग कहा जा सकता है। मुख्य हॉल के चारों ओर भिक्षुओं के लिए छोटे-छोटे कक्ष काट कर बनाए गए थे। कुछ भिक्षुओं के कक्ष मुख्य हॉल के सामने भी बने हैं। विहारों के स्तंभ और प्रवेश द्वारा विविधतापूर्ण हैं। कुछ तो साधारण प्रतीत होते हैं, लेकिन कुछ प्रतिमाओं के द्वारा अलंकृत है। नाली युक्त स्तंभों का निर्माण भी स्थापत्य की दृष्टि से एक नवप्रवर्तन कहा जा सकता है।

अजंता की उत्कृष्ट प्रतिमावली के साथ-साथ यहां की भित्ति चित्रकला संपूर्ण गुफा स्थापत्य को चार-चांद लगा देती है। अजंता की गुफाओं की दीवारें, छत, चौखट, दरवाजे और स्तंभ सभी पर भित्ति चित्र भी बने हुए हैं। मूल रूप से अजंता की प्रायः सभी गुफाओं में भित्ति चित्र बने थे, किंतु आज केवल गुफा संख्या 1, 2, 9, 10, 16 और 17, इन छह गुफाओं में भित्ति चित्र के अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें से गुफा संख्या 9 और 10 के भित्ति चित्र दूसरी/पहली शताब्दी ईसापूर्व के प्रतीत होते हैं। भित्ति चित्र निर्माण का दूसरा चरण वाकाटक काल का है। भित्ति काल के इस प्रकार को फ्रेस्को (भित्ति चित्रण) या फ्रेसको बुओन कहा जाता है। मिट्टी के एक मोटे स्तर को वनस्पति सामग्रियों के साथ मिलाकर गुफा की चट्टानों की सतह पर लेप किया जाता था। इस लेप के ऊपर पतला प्लास्टर भी चढ़ाया जाता था। भित्ति चित्र इस प्रकार तैयार किए गए सतह पर बनाए गए हैं। इन पर प्रयोग होने वाले रंग या वर्णक में गोंद भी मिलाया जाता था। इस प्रकार का फ्रेस्को भित्ति चित्रकला वास्तविक फ्रेस्को या फ्रेस्को बुओन से भिन्न है, जिसमें चूर्ण किया गया वर्णक पानी में मिलाकर नमी वाले चूना के साथ दीवारों पर प्लास्टर किया जाता था। इनमें रंगों को सुखाकर प्लास्टर के साथ मिला दिया जाता है। कलाकारों के द्वारा पशुओं के बाल से बने ब्रशों का प्रयोग किया जाता था। इनमें छह प्रकार के रंगों का प्रयोग हुआ है—चूना, काओलिन और जिप्सम से सफेद रंग, लाल तथा पीला रंग पांडुर से; काला रंग कजली से; हरा रंग ग्लौकोनाइट नामक एक खनिज से तथा नीला रंग लापिस लजुली या लाजव्रत से बनाया जाता था। इनमें से सभी सामग्रियां (केवल लाजव्रज को छोड़कर) अजंता के आस-पास ही प्राप्त होती हैं।

बुद्ध, बोद्धिसत्व और जातक कथाओं के दृश्यांकन के साथ-साथ अजंता के फ्रेस्को में यक्ष, गंधर्व और अप्सराओं को भी चित्रित किया गया है। इन पौराणिक चित्रों के साथ-साथ शहरों और गाँवों के दिनचर्या से जुड़े दृश्यों को भी बनाया गया है। प्रकृति के विषय में कलाकारों की गंभीर और सहानुभूतिपूर्ण समझ परिलक्षित होती है। वृक्षों, पुष्पों और हाथी, बंदर, हिरण, खरहे जैसे पशुओं के चित्रांकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारों की विविधता भी देखने में बनती है। आख्यान या कथा चित्रण की कला में घटनाओं तथा प्रकरणों का प्रासंगिक वृत्त दिखलायी नहीं पड़ता। उपाख्यानों का चित्रांकन बिना स्पष्ट सीमा के विभिन्न दिशाओं में बढ़ते हुए देखे जा सकते हैं। क्रैम्रिश ने अजंता चित्रों के विषय में वर्णन करते हुए कहा है कि यहां के कलाकार चित्रकला की गहराई में नहीं जाते, बल्कि दर्शक के साथ सीधा संवाद करते हैं। अजंता के कलाकार दृश्यांकनों के अग्रसंक्षेपण की तकनीक से पूर्ण रूप से परिचित थे और उनके चित्र विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रदर्शन करते हैं। इन चित्रों को आंखों के सीध में या ऊपर अथवा नीचे से कहीं से भी देखा जा सकता है। (क्रैम्रिश, [1937] 1994: 273, 277) इन भित्ति चित्रों में भौतिकवाद और आध्यात्म के बीच एक अद्भुत सामंजस्य देखा जा सकता है।

बुद्धा का सिर, मथुरा

मानव आकृतियां समानुपातिक, छरहरे और सौंदर्य बोध से युक्त है। स्त्रियां, पतली कमर वाली और पूर्ण स्तनों वाली हैं, उनके चेहरों पर ऊंची चापदार भृकुटियां है। आंखें कमलनयनी के समान हैं या पद्माअलंकरन से युक्त हैं। उनके परिधान, आभूषण और केश सज्जा भी चित्रात्मक परिष्करण का परिचायक हैं। छायात्मक तकनीक का अद्भुत प्रदर्शन हुआ है, जिससे इन चित्रों की शैलीगत विविधताओं का अनुभव किया जा सकता है, जो यह बतलाता है कि ये अलग-अलग कलाकारों के द्वारा चित्रित की गयी थीं। *विष्णु पुराण* की अनुक्रमणिका *विष्णुधर्मोत्तर* की रचना का काल 7वीं शताब्दी है। इसी काल में अजंता के भित्ति चित्र भी बनाए गए थे। (क्रैम्रिश [1928] 1994: 264)। इस ग्रंथ में चित्रकला के सिद्धांत और व्यवहार का विस्तृत विवरण किया गया है तथा इसमें पहले के चित्रकला की शैलियों का विवरण भी संकलित है। अजंता के भित्ति चित्र का सौंदर्य निश्चित रूप से भारत में भित्ति चित्र कला के समृद्धशाली परंपरा की पराकाष्ठा कही जा सकती है।

बाघ की गुफाएं, अजंता की गुफाओं के उत्तर-पश्चिम में लगभग 150 मील की दूरी पर अवस्थित हैं। इस स्थल का गुफा स्थापत्य 500-600 सा.सं. के बीच का है। बाघ की गुफाओं

पृथ्वी के उद्धारकर्त्ता विष्णु

विष्णु पुराण में वर्णित कथा के अनुसार, धरती को बचाने के लिए, विष्णु ने गहरे सागर में गोता लगाया। प्रतिमाशास्त्र में इस कथावस्तु की बहुत लोकप्रियता है। दुर्गा महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमाओं की भांति शिल्पियों ने तथाकथित प्रतिमाशास्त्रीय मानकीकरण के अधीन रहते हुए अपने स्तर पर रचनात्मक प्रयोग किए और इन प्रयासों के परिणाम असाधारण प्रतिमाशास्त्रीय निरूपण के रूप में देखे जा सकते हैं। विदिशा के निकट इस काल की 20 ऐसी गुफाएं है जिन्हें पत्थरों को काटकर बनाया गया है। इनके विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल तक हिन्दू प्रतिमाशास्त्र की आधारभूत संकल्पनाएं स्थापित हो चुकी थीं। गुफा संख्या 5 में पत्थरों को तराशकर जलनिमग्न धरती का परित्राण करते हुए विष्णु का 7 × 4 मीटर आकार का एक विशाल उद्‌भृत दृश्य बना हुआ है। इस कथावस्तु को गुफा के बीच वाले फलक में तराशा गया है, किन्तु कथा से जुड़ी हुई प्रतिमाओं का विस्तार मुख्य फलक के बाजू वाले दोनो शैल फलकों पर भी हुआ है। भगवान को नृ-वराह के रूप में दिखाया गया है, शरीर मानव का और मुखवराह का है, और यही प्रतिमा सम्पूर्ण कलाकृति के केंद्र में है। ऐसा प्रतिमा के आकार के साथ-साथ इस हिस्से को तराशने के क्रम में दिये गए महत्त्व के आधार पर कहा जा सकता है। वराह का शरीर सशक्त, समतल और पुरुषत्व से परिपूर्ण है। वराह एक वनमाला धारण किये है तथा इसके शीर्ष पर एक कमल है। प्रतिमा का बांया घुटना थोड़ा मुड़ा हुआ है, दाहिना हाथ कमर पर विराजमान है जब कि बायां हाथ वराह के घुटने पर है। वाराह अपने नेसों में बिना किसी श्रम किए हुए, पृथ्वी को उठाए हुए है जो पृथ्वी को महासमुद्र के गर्त से निकाल लाने का प्रतीक है। वाराह की प्रतिमा के आसपास ऋषियों एवं अलौकिक प्राणियों को ऐसी मुद्रा में दिखाया गया है मानो वे स्तुति कर रहे हों। तरासी गईं दीवारों में तीनों फलकों पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं और कमलों के द्वारा पानी का अस्तित्व बताया गया है। वराह के दाएं पैर के नीचे नाग को दिखलाया गया है जिसकी अंजलि मुद्रा समर्पण भाव को अभिव्यक्त करती है। गुफा की दीवारों पर मगरमच्छ पर बैठी गंगा और कछुए पर बैठी यमुना का दृश्यांकन भी हुआ है।

वर्तमान में सागर विश्वविद्यालय के संग्रहालय में नृ-वाराह की एक स्वतंत्र प्रतिमा उपलब्ध है, जो शायद मूलरूप से एरन (प्राचीन एराकीना) में अवस्थित थी। इसमें भी मानव शरीर और वाराहमुख का प्रदर्शन है। उदयगिरि की अपेक्षा यह प्रतिमा और अधिक शक्तिशाली प्रतीत होती है। एरन के निकट ही भगवान के वाराह अवतार को प्रदर्शित करने वाली एक विशाल प्रतिमा पायी गयी है, किन्तु यहां पर पूर्ण रूप से वाराह के मुख और शरीर का प्रदर्शन किया गया है। वाराह के शरीर पर ऋषियों की अत्यंत लघु प्रतिमाओं की अनेक शृंखलाएं बनायी गई हैं, जो वाराह भगवान के कड़े शूकों में मानो आश्रय पा रहे हों। पृथ्वी इनके नेसों को जकड़े हुए है। प्रतिमा पर पाए गए अभिलेख से यह अनुमान लगाया गया है कि इसका निर्माण हुण शासक तोरमाण के काल में हुआ था।

स्रोत: हार्ल [1974], 1996

उदयगिरि गुफाओं का दृश्य; उदयगिरि की उद्‌भृत प्रतिमाएं

की योजना और स्थापत्य का निरूपण अजंता से बिल्कुल मिलता-जुलता है, किंतु बाघ की गुफाओं की कला अधिक साधारण और सादगी युक्त मालूम पड़ती है। इन गुफाओं में अवस्थित विहारों में से एक के साथ बने एक विशाल कक्ष की उपस्थिति का उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। इनमें से कुछ गुफाओं के मुख्य हॉल के साथ छतों को सहारा देने के लिए अतिरिक्त स्तंभ भी बनाए गए हैं। बाघ की गुफाओं में भी भित्ति चित्रकला का अस्तित्व था, जो अब लुप्त हो चुका है। कन्हेरी और औरंगाबाद में बौद्ध गुफा स्थापत्य के अन्य उदाहरण मौजूद हैं।

मूर्तिकला

300-600 सा.सं. के बीच का काल मथुरा तथा गंधार कला की शैलीगत प्रवृत्तियों के विस्तार के रूप में देखा जा सकता है। वहीं दूसरी ओर इस काल को मूर्तिकला में कई नव प्रवर्त्तनों का युग भी कहा जा सकता है। इस पूरे दौर में बनायी गई मूर्तिकलाओं की प्रेरणा हिंदू, बौद्ध और जैन परंपराओं से प्राप्त की गयी। धार्मिक प्रतिमाओं की प्रतिमाशास्त्रीय मानदंडो को एक प्रकार से सुनिश्चित स्वरूप की प्राप्ति हुई। इस काल की मुर्तिकला काफी समृद्ध है। इस पर अंलकृत डिजाइन और विशेष कर कुण्डलित सज्जा पटियाँ दर्शनीय हैं।

विष्णु की प्रतिमाओं में काफी विविधता देखी जा सकती है। विष्णु की प्रतिमाओं में नर पशु आकृति और मानव आकृति दोनों का निरूपण देखा जा सकता है, जो विशेष रूप से विष्णु के बराह अवतार अभिव्यक्तियों में परिलक्षित होता है। इनके दूसरे स्वरूप में जो मथुरा और गढ़वा जैसे स्थानों से प्राप्त होती है, उनमें विष्णु को मनुष्य रूप में दिखाया गया है जिसके चारों ओर मुखाकृतियाँ आभामंडल के रूप में प्रस्फुटित हो रही है। विष्णु के शंख तथा चक्र को वामनाकृति वाले आयुध पुरुषों के रूप में मानवीकृत स्वरूप दिया जाने लगा। बुद्ध की प्रतिमाओं में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक मुद्राओं का निरूपण देखा जा सकता है। बुद्ध की प्रारंभिक प्रतिमाओं के चारो ओर जो साधारण सा आभामंडल देखा जाता था, अब उनमें व्यापक अलंकरन दिखलायी पड़ने लगा। बुद्ध के शरीर को पारदर्शी उत्कृष्ट परिधानों में भी देखा जा सकता है। मथुरा और सारनाथ में इस काल में मूर्तिकला की विशिष्ट शैलियों का विकास देखा जा सकता है जो विशेषकर बुद्ध से जुड़ी प्रतिमाओं में प्रतिबिंबित होती है।

मध्य भारत में उदयगिरि की एक जैन गुफा को छोड़कर सभी अन्य गुफाएं हिंदू देवी देवताओं की प्रतिमाएं प्रदर्शित करती हैं। यहां पर अधिकांश प्रतिमाशास्त्रीय निरूपण गुफाओं

सारनाथ: धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा में बैठकर उपदेश देते बुद्ध (ऊपर बाएं); अभयमुद्रा में खड़े बुद्ध (ऊपर दाएं); पत्थर के स्लैब पर उद्‌भृत बुद्ध की प्रतिमाएं (नीचे)

के बाहर उद्‌भृत किया गया था। इनमें चार हाथों वाले विष्णु (गुफा संख्या-6) कुमार (गुफा संख्या-3) तथा एकमुखी लिंग (गुफा संख्या-4), प्रतिहार (द्वारपाल) (गुफा संख्या-6) तथा दुर्गा महिषासुरमर्दनी (गुफा संख्या 4 और 6) देखे जा सकते हैं। विशेष रूप से वराह अवतार के द्वारा धरती को जब से परित्राण दिलाया जा रहा है, महत्त्वपूर्ण है। एरन में पाए गए एक उत्कृष्ट वराह अवतार की प्रतिमा के नीचे हूण शासक तोरमाण का अभिलेख प्राप्त हुआ है। इस काल की सांची में बनी बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं में मथुरा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश की मूर्तिकला का प्रभाव या उनसे समानता देखी जा सकती है। बेसनगर से प्राप्त प्रमुख प्रतिमाओं में विष्णु का एक शीर्ष तथा सप्तमातृकाओं की प्रतिमाएं प्रमुख है।

मथुरा, इस काल में भी प्रतिमाशास्त्रीय निरूपण का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बना रहा। यहां पर कुमार गुप्त के काल के कुछ तीर्थंकरों की बैठी हुई प्रतिमाएं है जिनमें एकाधिक प्रतिमाओं के सिर नहीं है। ये प्रतिमाएं अधिकांशतः अलंकृत सिंहासनों की पृष्ठभूमि में बनायी गयी हैं जिसके चारों तरफ चंवर हिलाते हुए परिचारक भी दिखलाई पड़ते हैं। मथुरा के कंकाली टीला से 432-33 सा.सं. का एक तीर्थंकर की प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसे अब लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में रखा गया है। बैठे हुए तीर्थंकरों की इन प्रतिमाओं में पहले की शताब्दियों में बनी इस प्रकार की प्रतिमाओं से काफी अंतर आया है जिनका शरीर काफी मजबूत, कमर ऊंचे और पुष्ट है, वे पैर को पद्मासन की मुद्रा में रखे हैं और ऐसा लगता है कि पैर नीचे की तरफ लटके हुए हैं। कुषाण काल में बने जिनो की प्रतिमाओं की अपेक्षा इन प्रतिमाओं के नीचे बने आसन या पीठिकाएं लंबी और पतली हैं। इनके पादपीठिका के मध्य भाग में एक चक्र भी बनाया जाने लगा था। इस चक्र के दायीं ओर पुरुष अनुयायी तथा बायीं ओर महिला अनुयायियों को दिखलाया गया है। इन अनुयायियों की प्रतिमाओं का तीन हिस्सा दर्शक को दिखाई पड़ता है जो करबद्ध प्रार्थना में जुटे हुए है। पादांग के दोनों शिरों पर मुड़े हुए सिर वाले सिंहो को बैठा हुआ दिखलाया गया है। मथुरा के शिल्पकारों ने इस काल में बुद्ध की काफी उत्कृष्ट प्रतिमाएं बनायी है, मथुरा में विष्णु की ओर मुखलिंगों की प्रतिमाएं भी बहुतायत मिलती है।

नर्तकी और संगीतज्ञ, औरंगाबाद की गुफाएं (ऊपर); तक्षशिला से प्राप्त स्तुको शीर्ष (नीचे)

अपनी गंभीर आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से इस काल में बन रहीं पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की प्रतिमाएं पहले की शताब्दियों में बन रही बुद्ध की प्रतिमाओं से काफी उत्कृष्ट मालूम पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमाओं को कला इतिहासकारों के द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास के संपूर्ण काल में बनायी गयी सभी प्रतिमाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाता रहा है। बुद्ध की दो खड़ी हुई प्रतिमाएं और बुद्ध की एक बैठी हुई प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमा में यह पद्मासन की मुद्रा में हैं। इनके हाथ धर्म-चक्र मुद्रा में हैं। अर्थात् जो शिक्षा देने का द्योतक है। दोनों हाथ इनके छाती को स्पर्श करते हैं, इनके सिर के पीछे बना आभामंडल अत्यंत अलंकृत है। उनके सिंहासन के नीचे एक चक्र है और करबद्ध प्रार्थना कर रहे मुद्रा में बौद्ध भिक्षु भी है।

गंगा और यमुना की टेराकोटा प्रतिमाएं, अहिच्छत्र

सारनाथ में बनायी जा रही बुद्ध की प्रतिमाएं मथुरा की बुद्ध की प्रतिमाएं से कई मामले में भिन्न हैं। इनके वस्त्रों में मोड़ नहीं है केवल पारदर्शी परिधानों का छोर दिखलायी पड़ता है। सारनाथ में कई बोधिसत्व की प्रतिमाओं के साथ-साथ बुद्ध के जीवन से जुड़े कथाचित्र भी प्रदर्शित किए गए हैं। मथुरा से खड़े हुए बुद्ध की कई प्रतिमा अब जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। एक को मथुरा के संग्रहालय में रखा गया है तथा दूसरा राष्ट्रपति भवन में है। दोनों ही प्रतिमा काफी विशाल हैं, जिनकी ऊंचाई 2 मी. से अधिक है और इनके मजबूत पैर हैं। इनके सिर के पीछे का विशाल आभामंडल अपने अंलकरण और सौंदर्य के लिए जाना जाता है। संघती की संज्ञा से विभूषित इनके बाहरी परिधान में करीने से दिये गए मोड़ देखे जा सकते हैं जो बिल्कुल स्पष्ट है और इनमें एक आरेखीय संतुलन निर्दिष्ट होता है। प्रतिमा का दाहिना हाथ उपस्थित नहीं है, किंतु यह संभावना व्यक्त की गयी है कि यह अभयमुद्रा में रही होगी। हिंदू प्रतिमाओं में इस क्षेत्र से प्राप्त एक सिरदल पट्टिका पर विष्णु, सूर्य, चन्द्र की प्रतिमाओं के साथ-साथ संगीतज्ञों की एक शोभायात्रा, युवतियों और भोजन पात्र लिए कुछ लोग देखे जा सकते हैं। वाराणसी से गोवर्धन पर्वत उठाए कृष्ण की एक अद्‌भुत भित्ति कला उल्लेखनीय है।

हमने पूर्व के खंड में जहां अजंता की गुफाओं के प्रतिमाशास्त्रीय विशेषताओं का विशेष वर्णन किया था, वहीं इन शताब्दियों में ही कन्हेरी और औरंगाबाद में बनायी गयी बौद्ध प्रतिमाओं पर विशेष चर्चा नहीं की गयी थी। कन्हेरी गुफाओं में प्रतिमाशास्त्रीय निरूपण अपेक्षाकृत काफी सामान्य कहा जा सकता है, किंतु बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिनिधि प्रतिमाएं और इनके साथ जुड़ा हुआ मंडल उल्लेखनीय है। अजंता के ही निकट औरंगाबाद में बौद्ध गुफाओं का उत्खनन पांचवीं-छठी शताब्दियों में किया गया। यहां के प्रतिमाशास्त्रीय निरूपण में भी बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाएं प्रमुखता रखती हैं। हंटिंगटन (1985: 267) का मानना है कि इस स्थल से प्राप्त प्रतिभाओं में स्त्री-प्रधान प्रतिभावली की बहुलता तथा विशेष रूप से परिचारिकाओं के रूप में बोधिसत्वों के पार्श्व में उनको दिखलाया जाना, बौद्ध धर्म पर पड़ रहे तांत्रिक प्रभाव का परिणाम रहा होगा या यह वज्रयान का प्रभाव कहा जा सकता है। यहां की सबसे सुंदर उद्‌भूत प्रतिमाएं गुफा संख्या 7 के मुख्य प्रवेश द्वार के बायीं ओर पायी जाती हैं। इनमें तारा की एक उत्कृष्ट प्रतिमा दो सह देवियों की प्रतिमाओं के साथ है। जिनके विषय में कहा जाता है कि ये तारा की ही प्रतिस्वरूप की देवियों के रूप में निरूपण है, सह देवियों के अतिरिक्त बौने व्यक्तियों का भी अंकन किया गया है। इसी गुफा चैत्य के बायीं दीवार पर एक नर्तकी की उत्कृष्ट अद्‌भुत प्रतिमा अवस्थित है जिसके पार्श्व में छः महिला संगीतज्ञों को भी देखा जा सकता है। 300-600 सा.सं. के बीच की अन्य उल्लेखनीय प्रतिमाओं में एक अश्व की विशाल प्रतिमा खैरागढ़, उत्तर प्रदेश से प्राप्त हूई है जो मटियाले चूना पत्थर पर बनायी

गयी थी और वर्तमान में इसे लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में रखा गया है। अब यह प्रतिमा काफी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। एक संस्कृत अभिलेख इस पर पाया गया है जो शायद समुद्रगुप्त अथवा कुमार गुप्त-I से संबद्ध रहा होगा। ऐसी मान्यता है कि यह अश्व समुद्रगुप्त के द्वारा करवाए गए अश्वमेध यज्ञों में से किसी एक का अश्व था लेकिन इस व्याख्या का कोई सुनिश्चित आधार नहीं हो सकता है।

इस जगह पर उत्तर पश्चिम क्षेत्र में होने वाले कलात्मक विकास का उल्लेख करना अप्रसांगिक नहीं होगा। अफगानिस्तान के हड्डा जैसे स्थलों पर पत्थर के स्थान पर गचकारी का अधिक प्रयोग हो रहा था। यहां की उद्भूत भित्ति आकृतियों में गंधार शैली का उत्तरोत्तर विकास प्रतिबिंबित होता है। इस क्षेत्र की सबसे उत्कृष्ट प्रतिमाएं बामियान नामक स्थान की पहाड़ियों में बनायी गयी थी। इनमें से 55 मी. ऊंचे एक विशालकाय बुद्ध प्रतिमा का दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से कुछ वर्षो पहले तालिबान समर्थकों के द्वारा विस्फोट से नष्ट कर दिया गया।

जहां तक धातु की प्रतिमाओं का प्रश्न है, सर्वप्रथम बिहार के सुल्तानगंज से प्राप्त बुद्ध की ताम्रप्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है। यह प्रतिमा सारनाथ की प्रस्तरीय प्रतिमाओं से काफी सादृश्य रखती है लेकिन निश्चित तौर पर यह कह सकते हैं कि इसे काफी बाद में बनाया गया था। बुद्ध और बोधिसत्वों की छोटी-छोटी प्रतिमाएं भी मिली हैं जो गंधार से लेकर गंगानदी घाटी तक, कई स्थानों से प्राप्त होती हैं। चौसा से धातु की प्रतिमाओं को एक संग्रह मिला है जो शैलीगर दृष्टिकोण से इसी काल की प्रतीत होती हैं। इनमें जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ की एक प्रतिमा है।

इस काल की टेराकोटा कला के अंतर्गत लघु मुर्तियां और टेराकोटा की पट्टिकाओं पर बनी प्रतिमाएं विशेष महत्त्व रखती हैं जिन्हें कोसाम्बी, राजघाट, भीटा और मथुरा से प्राप्त किया गया है। इनमें पशुओं, सामान्य मनुष्यों देवताओं-देवियों जिनमें दुर्गा, कार्तिकेय, सूर्य इत्यादि सम्मिलित हैं, पाए गए हैं। कश्मीर के अखनूर नामक स्थान से पकी ईटों की या टेराकोटा की बनी कई सिर (शीर्ष) पाए गए हैं। कश्मीर के ही हरवाँ नामक स्थान से टेराकोटा की पट्टिकाओं पर मुद्रांकित शीर्ष और मूर्तिकाएं पायी गयी हैं। गुजरात के देवनिमोरी में स्थित बौद्ध स्तूप के ईर्द-गिर्द टेराकोटा की पट्टिकाओं पर बनी भित्ति कला काफी दर्शनीय है। स्तूप के निचले हिस्से में बनी देवलियों में बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमाएं भरी हुई हैं। स्तूप में टेराकोटा कला का अलंकरण भी किया गया है इनके अंतर्गत अंलकृत अर्धस्तंभ, दरवाजों के चौखट, द्वार पक्ष, चित्रफलक, चैत्य के मेहराब, वनस्पतीय सज्जा पट्टिका और विरूप चित्रण वाले मुख इत्यादि टेराकोटा के बने हैं। भीतर गाँव में ईटों से बने मंदिर के भीतर भी टेराकोटा की पट्टिकाओं पर किए गए अलंकरण पाए जाते हैं। हालांकि, इनमें से बहुत कम बचे हुए है। अहिच्छत्र में गंगा और यमुना देवियों की मानवाकार टेराकोटा प्रतिमाएं विशेष महत्त्व रखती हैं। इन टेराकोटा प्रतिमाओं को भी मंदिरों की देवलियों में रखने का भी प्रचलन था।

संस्कृत साहित्य

(Sanskrit Literature)

300-600 सा.सं. के बीच के काल को अक्सर संस्कृत साहित्य का 'क्लासिकी युग' कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इस अवधि में संस्कृत साहित्य में सर्वोच्च मानदंड स्थापित किया और आने वाले युग के लिए साहित्यिक मानक का कार्य किया।

संस्कृत भाषा ने गद्य में भी और पद्य में भी, शास्त्र सम्मत् स्वरूप को ग्रहण किया। काव्य को सामान्य तौर पर कविता के रूप में समझते हैं, किंतु वास्तव में इसका कहीं व्यापक अर्थ है। यह साहित्य की सम्पूर्णता का निरूपण करता है। यह गद्य और पद्य दोनों का स्वरूप धारण करता है और कभी-कभी दोनों के सांमजस्य से नयी साहित्यिक अभिव्यक्तियों से भी परिचय कराता है। काव्य को अन्य विधाओं से यथा आगम (धार्मिक या शास्त्रीय ग्रंथ), इतिहास (पारंपरिक इतिहास) अथवा शास्त्रों से जो विशिष्ट विषयों पर लिखे जाते थे इनसे पृथक किया जा सकता है (वार्डर 1972: 1-2)।

जैसा कि पिछले अध्याय में हम चर्चा कर चुके हैं कि पहली शताब्दी में अश्वघोष संस्कृत भाषा के पहले कवि थे। इलाहाबाद प्रशस्ति में गद्य और पद्य दोनों विधाओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। इस काल में संस्कृत साहित्य में गद्य विद्या में लेखन के प्रयोग की लोकप्रियता काफी बढ़ी। इस काल में जो भी शाही प्रशस्तियों लिखी गयीं, इन राजकीय अभिलेखों की भाषा प्राकृत के स्थान पर पूर्ण रूप से संस्कृत हो गई। ईसा पूर्व के पहले शताब्दी के मध्य में प्राकृत बोलियों में भी रूपांतरण हुआ। प्राकृत की अन्य बोलियां विकसित हुई, जैसे, महाराष्ट्री, सौरसेनी और मागधी। इस काल में इन प्राकृत की बोलियों का रूपांतरण नयी भाषाओं में होने लगा। जिन्हें हम सामान्य तौर पर अपभ्रंश या देशी के रूप में जानते हैं। *नाट्यशास्त्र* में, एक रोचक सिंद्धात संस्कृत नाटकों के संबद्ध में दिया गया है, कि संस्कृत नाटकों में 'उच्च' चरित्रों यथा सम्राट, मंत्री इत्यादि को संस्कृत भाषा का तथा 'निम्नतर' चरित्रों को

जैसे स्त्री (रानियों को भी सम्मिलित किया गया है) तथा नौकरों को सामान्यत: प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए। सच्चाई तो यह है कि संस्कृत नाटकों में इस सिद्धांत को अधिकांशत: स्वीकार भी किया गया है।

हालांकि, इन शताब्दियों के साहित्य की अद्वितीय रचनाओं के कालजयी लेखकों के विषय में हम बहुत कम जानते हैं। उनके वास्तविक जीवन चरित्र के वर्णन के स्थान पर उनसे जुड़ी किंवदतियां अधिक प्रचलित हैं। वे कब और कहां रहते थे इसके विषय में भी कई भ्रांतियां है। उदाहरण के लिए, शुद्रक को एक मान्यता के अनुसार, विदिशा का राजा मानते हैं जबकि दूसरी मान्यता यह है कि यह अभीर जनजाति का एक शासक था। कालिदास को सामान्य रूप से उज्जैनी नगर से जुड़ा हुआ माना जाता है और परंपरा के अनुसार, यह विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त-II ही था, इस बारे में विश्वसनीयता के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कालिदास निश्चित रूप से इस काल के श्रेष्ठतम नाटककार थे। लेकिन यह तय नहीं किया जा सका है कि इनका काल कब था तथा इनके लेखन की निश्चित अवधि क्या थी। *अभिज्ञानशाकुन्तल*, *मालविकाग्निमित्र*, *विक्रमोर्वशीय* इनके प्रमुख नाटक हैं। *रघुवंश*, *कुमारसंभव* और *मेघदूत* छन्दबद्ध काव्यात्मक रचनाएं हैं। इन सभी को संस्कृत साहित्य का अनुपम धरोहर माना जाता है। इन्होने प्रणय के सौंदर्य बोध का पूर्ण रूप से वर्णन किया है। इनकी रचनाओं में कई स्थानों पर हास्य और व्यंग्य का पुट भी देखने को मिलता है। इनकी शैली को कई बार वैदर्भी शैली के नाम से जानते हैं। अर्थात् विदर्भ में प्रचलित शैली। बाद में बाणभट्ट और दण्डिन जैसे महान लेखकों ने कालिदास की रचनाओं के माधुर्य की बहुत प्रशंसा की है। हालांकि, अपने समय के कई लेखकों के

प्राथमिक स्रोत

मेघदूत

कालीदास की *मेघदूत* में कुबेर के द्वारा रामगिरि की पहाड़ी में निष्काषित, एक प्रियाप्रेक्षित यक्ष के द्वारा, उस ओर गुजरते हुए मेघ से, अपनी प्रियतमा के संदेश भेजने की अनुनयपूर्ण याचना की है। इस रचना में 100 से कुछ अधिक पद्य होंगे। प्रत्येक पद्य मंदाक्रांता छन्द में है, जिसकी प्रत्येक पंक्ति में 17 अक्षर हैं। यक्ष, मेघ को अलका की दिशा बतलाता है, जिस स्थान पर उसकी प्रेयसी रहती है। वह मेघ को अपना संदेश भी देता है, जिसे उस तक पहुंचाना है।

कविता का अधोलिखित अंश, यद्यपि, मूल संस्कृत से अंग्रेजी भाषा में किया गया अनुवाद है, फिर भी एक सशक्त भावात्मक उद्बोधन की अनुभूति कराने में सक्षम है। भामा नाम के एक आलोचक की चर्चा करना यहां प्रासंगिक होगा, जो कालीदास के समकालीन थे। उनके द्वारा वैसे कवियों की निंदा की गई है जो मेघ, पक्षी, वायु, चंद्रमा तथा भौरों जैसे उपमाओं का प्रयोग अपनी कविताओं में संदेशवाहक के रूप में करते हैं। उनका कहना है कि ऐसा तभी किया जा सकता है, जब सम्बद्ध चरित्र लालसा के यक्ष की शायद यही यथातथ्य अवस्था भी है:

उसे मेरा दूसरा जीवन जाना
अब वह एकाकी है किंतु
वाग्मिता भी अल्प हो चुकी जिसकी,
चक्रवाकी के समान विलाप करती
सखियों से रहती अलग-अलग।
दीर्घतर दिवसों को व्यतीत करती,
उत्कट लालसा में व्याकुल,
यौवन उसका अबरूपांतरित
मेरी यही कल्पना है।
मुरझा चुकी कमलिनी सी
धवल-तुषार के प्रकोप में ज्यों
व्यथा में रूदन से नयन उसके
सूजन से उभरे हुए हैं,
कुम्हलाए हुए अधर उसके
ऊष्णता की आह भरते;
बाहों की हथेलियों में
मुख छिपाए मेरी प्रियतमा,
लटक रही उसकी खुली वेणियों से
झलक कभी दीख पड़ता
मलिन चन्द्रमा की व्यथा जैसी।
वैसी वह अब प्रतीत होती
और भी निष्तेज-निष्प्रभ हो जाएगा वह
जब पड़ेगा छाया तेरा,
आएगी तुम्हारी दृष्टिपथ में, जब
अंतर्लीन होगी अपनी दैनिक उपासना में,
अथवा होगी मेरी लालसा में लीन;
विरह की निरर्थकता में क्षीण
पिंजड़े में बंद गीत गाते पंछियों से
पूछती होगी वह, प्रिये
क्या तुम्हें स्मरण नहीं मेरे स्वामी?
स्नेह पात्र थी तुम जिनकी;
अथवा होगी वह नीरस वस्त्रों में
वीणा को अंक में लिए,
मधुर कोई गीत गाने का प्रयास करती
मेर नाम को व्यक्त करते;
गीत के वे शब्द होंगे
फिर भी क्या मिलेगा सुर वीणा की तारों से
क्योंकि हे, मेरे भद्र मित्र!
बारंबार विस्मृत होंगे
सुरों के वैसे अनुक्रम
जिनको स्वयं रचा था
कभी उसी ने।
या विरह के प्रथम दिवस से ही,
विरह के शेष महीनों की गणना करती,
फर्श पर निढाल लेटी, देहली पर
कुसुमों को सजाकर, या
हृदय में अपने संजोए
प्रणय के सुख की कल्पना को,
पति से विरह के वियोग में, ऐसे ही
स्त्रियां अपना ध्यान लगाती....

स्रोत: *मेघदूत*, 82-86;
राजन 1989: 156-157

प्राथमिक स्रोत

नाट्यशास्त्र

दैनिक जीवन की समस्याओं, संघर्षों और त्रासदियों से ध्यान हटाने और आनन्द की प्राप्ति के उद्देश्य से क्रीड़ानीयक के रूप में नाट्य का सृजन हुआ। इस कृति के पहले अध्याय में ऐसा वर्णन है कि देवताओं के द्वारा कुछ आनन्दायक या क्रीड़ानीयक के सृजन का अनुरोध किया गया। ऐसा कहा गया है कि पहली नाट्य प्रस्तुति स्वर्ग में इंद्रोत्सव के अवसर पर देवों और दानवों के समक्ष की गई थी। इस ग्रंथ के अनुसार, ब्रह्मा ने पहली बार *नाट्यशास्त्र* को पांचवें वेद के रूप में भरत नामक ऋषि को सौंपा ताकि कुत्सित वासनाओं से संसार की रक्षा की जा सके या यह वह माध्यम था जो जनमानस के लिए उपलब्ध था, और इस दृष्टि से यह चारों वेदों से भिन्न है। नाट्यशास्त्र के उद्भव से जुड़ी इस कथा का स्पष्ट उद्देश्य होगा कि इस ग्रंथ को वैधानिकता प्रदान की जा सके।

नाट्यशास्त्र एक समेकित कृति है, जिसमें संभवत: वैसी सामग्रियों का संकलन किया गया है, जो सदियों से कलाकारों के बीच लोकप्रिय हो रही होंगी। यह भी संभव है कि पहले यह श्रुति परम्परा के रूप में उपलब्ध रहा होगा, बाद में इसे गद्यात्मक सूत्रों का स्वरूप प्रदान किया गया और कालांतर में पद्यात्मक सूत्रों एवं टीकाओं को इस शास्त्र के साथ जोड़ दिया गया। *नाट्यशास्त्र* पर अभिनवगुप्त के द्वारा लिखी गई टीका में इस ग्रंथ के तीन संशोधित संस्करणों की बात कही गई है, किंतु इनमें से केवल एक उपलब्ध है और जिसके दो संस्करण उपलब्ध हैं।

नाट्य प्रस्तुतियों से जुड़ी हर पहलुओं का विश्लेषण *नाट्यशास्त्र* में मिल जाता है। इसमें अभिनय की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है। अभिनय वह विधा है। जिसमें कलाकार किसी नाटकीय अनुभूति को अपनी वाणी से, अपने भावों से अथवा अपने शरीर की विभिन्न गतिविधियों से दर्शक तक पहुंचाता है। इस क्रम में परिधान और आभूषणों का भी यथावत उपयोग किया जाता है। इसमें किसी रंगालय के निर्माण, नाटकों का वर्गीकरण, नाटकों की संरचना और उनका कथानक, नाटकों के चरित्र, संवार, प्रस्तुतीकरण की मानक बेला से लेकर कलाकार और दर्शक में वांछनीय आदर्श गुणों तक की चर्चा की गई है। यवनिका का प्रयोग कहीं भी नहीं बतलाया गया है। गीत एवं नृत्य को नाट्य प्रस्तुतीकरण के महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में बतलाया गया है। नुक्कड़ नाटकों की भी चर्चा की गई है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित केंद्रीय अवधारणाओं में रस को विशेष स्थान दिया गया है (छठा अध्याय पूरी तरह से रसों की व्याख्या के लिए समर्पित है)। नाट्य कलात्मकता एवं नाट्य के प्रभाव को दिखलाने के लिए पाकशास्त्र की उपमा दी गई है। इस प्रकार विभिन्न भोज्य पदार्थों, शाक-सब्जियों, विभिन्न प्रकार के मधुरकों और विविध गरम मसालों से भोजन में स्वाद और खुशबू आती है और जिसके फलस्वरूप सुख और संतुष्टि का अनुभव होता है, उसी प्रकार किसी नाट्य में संवेदनाओं के कारण और प्रभावों के योग से एक विशिष्ट रस अथवा सौंदर्यपरक अनुभूतियों का सृजन दर्शक में होता है, जिससे आनन्द और संतुष्टि की प्राप्ति होती है। ग्रंथ में आठ प्रकार के रसों की सूची दी गई है, जो तद्नुरूप आठ प्रकार के मूलभूत संवेदनाओं से जुड़े होते हैं:

1. प्रणय से जुड़ा शृंगाररस
2. हास्य रस
3. वेदना से जुड़ा करुण रस
4. क्रोध से जुड़ा रौद्र रस
5. ओज से जुड़ा वीर रस
6. भय से जुड़ा भयानक रस
7. घृणा से जुड़ा बीभत्सा रस
8. आश्चर्य और अचम्भा को प्रकट करने वाला अद्भुत रस।

रस और भाव के बीच भेद भी बतलाया गया है। कलाकार किसी विशेष भाव का अभिनय के माध्यम से निरूपण करता है और जिसके तद्नुरूप अनुभूति दर्शक को होती है, जिसे रस कहते हैं। कलाकार अपने द्वारा अभिनीत चरित्रों के भावों का चित्रण करता है, और दर्शक में उस चरित्र-चित्रण से जुड़ी एक प्रतिक्रिया होती है। उदाहरण के लिए, यदि कलाकारों के द्वारा प्रणय के भाव का अभिनय किया जा रहा है, तब दर्शक प्रणय के उस प्रसंग का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करते, बल्कि उनमें श्रृंगार-रस से जुड़ी संवेदनाओं का संचार होता है। इसी प्रकार यदि कलाकार संताप को अनुभूति नहीं होती, बल्कि करुणा के भाव का संचार होता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार, मंच पर कभी मृत्यु का चित्रण नहीं होना चाहिए, अथवा मृत्यु की सूचना भी प्रत्यक्ष रूप से प्रतिवेदित नहीं करना चाहिए। *नाट्यशास्त्र* की अन्य वर्जनाओं में मंच पर भोजन करते हुए, मार-धाड़, चुम्बन दृश्य अथवा स्नान दृश्य इत्यादि सम्मिलित हैं। ऐसी अपेक्षा की गई है कि नाटक के अंत में नायक की सदा जीत होती है। यूनानी नाटकों में जहां दुखांत नाटयों (ट्रैजडी) की परंपरा रही है, वह संस्कृत नाटकों में अवांछनीय है। चाहे नाटकों में त्रासदी और उत्पीड़न भरा पड़ा हो, किंतु अंत सदा सकारात्मक ही होता है।

स्रोत: भट, 1975; वॉर्डर 1972: 21–24

द्वारा इनकी आलोचना भी की गई। उदाहरण के लिए, *काव्य प्रकाश* के लेखक ममत्त ने कुमार संभव के आठवें सर्ग में शिव और पार्वती के प्रणय को अनैतिक साहित्य की श्रेणी में रखा है।

शूद्रक की *मृच्छकटिका* और भारती का *किरातार्जुनीय* इस युग की अन्य प्रमुख कृतियाँ है। भट्टी कवि का रावण वध (सातवीं शताब्दी) राम कथा के साथ-साथ व्याकरण के सिद्धांतो की सोदाहरण व्याख्या भी करता है। इस युग के अन्य नाटकाकारों में मेन्था का नाम लिया जा सकता है जिनकी रचना *हेयग्रीववध* का उद्धरण बाद के कई लेखकों की साहित्यिक आलोचनाओं का विषय रहा है।

इस युग में काव्य साहित्य के साथ-साथ काव्य क्रियाकल्प तथा नाट्यशास्त्र जैसी रचनाएं लिखी गयीं, जो काव्यपरंपरा या नाट्यपरंपरा का सैद्धांतिक विश्लेषण हैं। अपनी विधाओं के ये मानक ग्रन्थ हैं। इन दोनों विषयों में अनेकों अंग एक समान है। भामा का *काव्यालंकार* और दण्डिन का *काव्यदर्श* मुख्य रूप से काव्य सिद्धांतों की व्याख्या करता है। काव्य का मुख्य उद्देश्य शास्त्र सम्मत् दृष्टिकोण से आनंद अतिरेक की अनुभुति कराना है। नाट्य शास्त्र, नाटक और प्रस्तुतिकरण की कला पर लिखा जाने वाला प्राचीनतम मानक ग्रंथ है। दरअसल, ऐसा लगता है कि इस काल के वास्तविक कवियों तथा काव्य के सिद्धांतकारों के बीच निरंतर संवाद हो रहा था।

वॉर्डर (1972: 200.04) का मानना है कि काव्य का मुख्य उद्देश्य एक कुलीन वर्ग जिसमें सम्राट और धनाढ्य साहित्यक संरक्षक सम्मिलित थे उनकी बौद्धिकता का तुष्टिकरन करना था। लेकिन काव्य के चयनित प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा नाटकों के माध्यम से इनको शायद सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। जिनका प्रस्तुतीकरण्लोकप्रिय उत्सवों और आयोजनों के उपलक्ष्य में किया जाता था। नाटकों का प्रस्तुतीकरण राजप्रसाद में होता था और इस काल के कई शासक स्वंय काफी निपुण कवि भी थे। नगरकों के बारे में यह वर्णन किया गया है कि इनके द्वारा गोष्ठियों और उत्सव आयोजित किए जाते थे, जिन्हें समाज की संज्ञा दी गई थी। इनमें नाट्य प्रस्तुतीकरण भी सम्मिलित था। एक रोचक तथ्य यह है कि इस काल के जिन कवियों को हम आज जानते हैं उनमें से अधिकांश ब्राह्मण थे।

वस्तुत: 300–600 सा.सं. के बीच संस्कृत साहित्य के कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए। इनमें प्राय: सभी प्रमुख पुराण—*रामायण*, *महाभारत* सभी कुछ सम्मिलित हैं।

व्याकरण की दृष्टि से भर्तृहरि ने पांचवीं शताब्दी में पतंजलि के *महाभाष्य* पर एक प्रसिद्ध टीका की रचना की। इस युग में संस्कृत व्याकरण ने भाषा विज्ञान को एक औपचारिक विज्ञान का दर्जा दिया (स्टाल, 2003)। इस अध्याय के शुरू में भी चर्चा की जा चुकी है कि *याज्ञवल्क्य*, *नारद*, *कात्यायन* और *बृहस्पति* की *स्मृतियां* इसी काल में लिखी गयी जो धर्मशास्त्र की सवोत्कृष्ट कृतियां हैं। कामंदक का *नीतिसार*, राज्यशास्त्र पर लिखा गया एक प्रमुख ग्रंथ है, जो इसी काल का है। *कामसूत्र* इंद्रियनिष्ठ आनंदानुभूति पर लिखा गया एक अद्वितीय शास्त्र है। इस काल की प्रतिभा शास्त्र पर लिखी गई कोई भी प्रमुख रचना उपलब्ध नहीं है, किंतु प्रतिमाशास्त्रीय मानकीकरण और उत्कृष्टता के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि इस सम्बंध में कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए होंगे। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के लिए खंड में चित्रकला पर विश्लेषण उपलब्ध है।

पंचतंत्र निदर्शन शास्त्र का एक उदाहरण है। निर्दशन एक ऐसी विधा है, जिसके अंतर्गत सोदाहरण यह बतलाया जाता है कि क्या नीति संभव है और क्या नहीं। हालांकि, इस कृति के रचनात्मक और लेखक के विषय में कोई विश्वसनीय जानकारी नहीं उपलब्ध है, लेकिन सामान्य तौर पर ऐसा माना जाता है कि *पंचतंत्र* की कथाओं की रचना विष्णुशर्मा नामक एक ऋषि ने की थी। इन कथाओं में तीन राजकुमारों को नीति और राज्यशास्त्र का ज्ञान दिया गया है, जिसका माध्यम कई रोचक कथाओं को बनाया गया है। इन राजकुमारों के नाम के साथ शक्ति उपसर्ग जुड़ा हुआ है, जिसके आधार पर कई लोग अनुमान लगाते हैं कि यह वाकाटक साम्राज्य से संबद्ध रहा होगा। इस ग्रंथ के पांच खंड हैं, जिनमें संधि विग्रह, हितों की दृष्टि से संधि-विच्छेद, संधि करना, युद्ध की घोषणा करना, मूर्खों से दूर रहना और बिना योजना के क्रिया करने के दुष्परिणामों से सम्बंधित कई रोचक कथाएं हैं। पंचतंत्र की अधिकांश कथाएं व्यांग्यात्मक शैली में लिखी गई हैं, जिनमें पशुओं की भूमिका अहम होती है। पंचतंत्र एक गद्यात्मक रचना है, लेकिन बीच-बीच में कुछ अत्यंत लोकप्रिय श्लोक भी पाए जाते हैं।

इस युग के दार्शनिक ग्रंथों में सभी संप्रदायों के बीच चल रहे बौद्धिक प्रतिस्पर्द्धा का निरूपण होता है। इस अध्याय में पहले भी बौद्ध और जैन दर्शन के बीच चल रही प्रतिस्पर्द्धा की झलक दिखलाई गई है। इस काल में *ब्रह्मसूत्र*, *योगसूत्र* और *न्यायसूत्र* के माध्यम से बौद्ध और जैन विचारधाराओं को ब्राह्मणवाद ने एक बार फिर से चुनौती दी। इस काल में लिखी गयी रचना *सांख्यकारिका* के लेखक ईश्वर कृष्ण है, जिन्होंने सांख्य दर्शन का विशुद्ध विश्लेषण किया है। यह रचना चौथी/पांचवीं शताब्दी की है। पातंजलि के *योगसूत्र* पर इस काल में व्यास की टीका उपलब्ध है। पक्षिलस्वामी वात्सायन नाम के विद्वान न्याय दर्शन से संबद्ध थे, जो चौथी शताब्दी के बीच के काल में थे। प्रशस्तपाद की रचना *पदार्थ धर्मसंग्रह* तथा कन्नड़ की रचना *वैशेषिक सूत्र* का काल पांचवीं शताब्दी बतलाया जाता है। मीमांसा के प्रकांड विद्वानों में प्रभाकर और कुमारिल भट्ट का नाम आता है जो थोड़े बाद के काल के थे (सातवीं शताब्दी)।

गणित और खगोल शास्त्र

(Astronomy and Mathematics)

इस युग में प्राकृति विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ प्रगति के विषय में अनुसंधान और विश्लेषण की आवश्यकता है। उनको गरिमा मंडित करने की अपेक्षा इस काल के महत्त्वपूर्ण योगदानों को स्वीकार करना और उनका अनुशीलन करना अधिक अपेक्षित है। भारतीय खगोल विज्ञान के प्राचीनतम् प्रमाण ज्योतिष श्रेणी के वेदांग ग्रंथों में उपलब्ध है। इस काल में ज्योतिष का मुख्य उद्देश्य यज्ञों एवं अनुष्ठानों के लिए उपर्युक्त मुर्हुत का चयन करना था। राशियों के विषय में दिए गए संस्कृत नाम यूनानी मूल के प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि भारतीय ग्रंथों में विभिन्न ग्रहों के आधार पर सप्ताह के सातों दिन निर्धारित किए गए, उन पर भी यूनानियों का प्रभाव था। संस्कृत ग्रंथ *यवनजातक* के माध्यम से खगोलशास्त्र में आने वाले यूनानी विचारधारा की लोकप्रियता को देखा जा सकता है, फिर भी निश्चित रूप से स्वतंत्र तौर पर भारतीय विद्वानों ने भी खगोल शास्त्र के क्षेत्र में अद्भुत योगदान दिया। वराहमिहिर की *पंचसिद्धांतिका* (छठी शताब्दी) में पहले की शताब्दियों में प्रचलित खगोल शास्त्रीय ज्ञान को एक जगह संकलित किया जा सका है। पूर्व के इन विषयों की रचना का श्रेय इस ग्रंथ में देवताओं और दैवीय व्यक्तियों को दिया गया है।

भारत के पहले ऐतिहासिक खगोल शास्त्री आर्यभट्ट-1 थे, जिन्होंने कम से कम दो ग्रंथ लिखे—पहला, *आर्यभट्टीय* जो ग्रंथ आज भी हमारे पास उपलब्ध है और मुख्य रूप से गणित तथा खगोल शास्त्र पर लिखा गया है और दूसरा, *आर्यभट्ट-सिद्धांत* जिसके विषय में हम अन्य लेखकों के द्वारा दिए गए उद्धरणों से जानते हैं। ऐसा लगता है कि आर्यभट्ट अश्मक क्षेत्र (गोदावरी क्षेत्र) के निवासी थे। इसकी आर्यभट्टीय की एक टीका, जिसको भास्कर-1 ने सातवीं शताब्दी में लिखा था, के आधार पर संपुष्टि करते हैं। इसका नाम *अश्मकतंत्र* या आश्मकीय दिया गया था। आर्यभट्ट के अनुयायियों को आश्मकीय कहा गया है। आर्यभट्टीय में लिखे गए एक कथन के आधार पर आर्यभट्ट को कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) का निवासी भी कह सकते हैं। उनके लेखन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने पूर्व में लिखे गए खगोल शास्त्रीय विद्वानों को भली प्रकार से जानते थे, किंतु उन्होंने स्वयं कहा कि मैंने खगोल शास्त्रीय सिद्धांतों के गहरे समुद्र में गोता लगाया, जिसमें कुछ सत्य थे और कुछ असत्य/तथा मैंने सत्य-ज्ञान के डूबे हुए रत्न को अपनी बौद्धिकता की नांव से उबारा (*आर्यभट्टीय*, 4.49)।

आर्यभट्ट का ब्रह्मांड के विषय में पृथ्वी केंद्रित दृष्टिकोण था। उनका मानना था कि सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार परिधि में चक्कर काटते हैं। फिर भी वे पहले खगोलशास्त्री थे, जिसने ग्रहण के विषय में वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने स्थापित किया कि ग्रहण राहु और केतु नामक राक्षसों के प्रभाव से नहीं घटते, बल्कि चंद्रमा के पृथ्वी की छाया में आ जाने से या चंद्रमा के पृथ्वी और सूर्य के बीच में आ जाने से घटित होते हैं। उन्होंने यह भी निश्चित तौर पर विश्लेषण किया कि चंद्रमा का कौन-सा भाग ग्रहण के समय अदृश्य होगा। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती रहती है। उनकी अन्य उपलब्धियों में 'साइन' फंक्शन या 'ज्या' (संस्कृत में) का प्रयोग भी खगोल शास्त्र को महत्त्वपूर्ण योगदान है, उन्होंने एक ग्रह की परिधि की गणना करने के लिए एक निश्चित समीकरण की स्थापना भी की। उन्होने एक वर्ष की अवधि का बिल्कुल सटीक निर्धारण किया (365.2586805 दिन), किंतु यह दुर्भाग्य है कि हम उन प्रयोगों और प्रविधियों के बारे में नहीं जान सके, जिसके आधार पर आर्यभट्ट इन महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंच सके।

वराहमिहिर छठी शताब्दी सा.सं. के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी खगोलशास्त्री और गणितज्ञ थे, जो अवंति (पश्चिम मालवा) के निवासी थे। *पंचसिद्धांतिका* का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इस ग्रंथ में उस काल में प्रचलित पांच खगोल शास्त्रीय विचार धारओं का वर्णन किया गया है। उनकी *बृहतसंहिता* एक प्रकार का विश्वकोश है, जिसमें खगोल शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कई महत्त्वपूर्ण धातुओं और रत्नों का मूल्य निकालना, बिना ऋतु के वृक्षों में फलों का विकास करना, पशुओं के अच्छे नस्लों को विकसित करना, दैवीय विधि से भूमिगत जल की स्थिति का पता लगाना इत्यादि है। इस ग्रंथ में ऋतुओं और मौसमों के विषय में वैज्ञानिक व्याख्या दी गयी है तथा बादल, हवा और वर्षा की मात्रा के बीच के अंतर्संबंध को भी व्याख्यायित किया गया है।

ब्रह्मगुप्त छठी शताब्दी के अंत तथा सातवीं शताब्दी के शुरुआत के एक खगोलशास्त्री और गणितज्ञ थे जिन्होंने *ब्राह्मस्फुटसिद्धांत* (628 सा.सं.) की रचना की तथा *खंडखाद्यक* (665 सा.सं.) की भी रचना की। ये ग्रंथ भारत में प्रचलित तो थे ही, लेकिन अरब में इनके अनुवाद के माध्यम से भारतीय खगोल शास्त्र अरबों तक जा पहुंचा। *ब्राह्मस्फुटसिद्धांत* न केवल वैसा भारतीय ग्रंथ है, जो खगोल शास्त्र में प्रयोग होने वाले उपकरणों के व्यवस्थित उपयोग के अतिरिक्त खगोलशास्त्रीय तत्त्वों की गणना की विधि की भी व्याख्या करता है। (सर्मा, 1986) समय की गणना के लिए उपयोग में आने वाले खगोलशास्त्री उपकरण, खगोलीय पिंडों के अवलोकन के लिए प्रयोग में आने वाले उपकरण, ऐसे उपकरण जो दिन भर की कालावधि की गणना करें तथा ऐसे उपकरण जो सतत् रूप से अपनी

प्राथमिक स्रोत

प्राचीन गणितीय तथा चिकित्सीय पाण्डुलिपियां

1881 सा.सं. में तक्षशिला से 70 मील की दूरी पर एक विच्छिन्न पाण्डुलिपि मिली। यह 70 बुर्जपत्रों से बना था। आज यह बक्शअली पाण्डुलिपि के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी भाषा गाथा (प्राचीन प्राकृत का एक परिष्कृत संस्करण) है तथा लिपि शारदा है। यह पाण्डुलिपि तीसरी या चौथी सदी की हो सकती है। दरअसल, यह एकमात्र उपलब्ध साक्ष्य है, जो उस काल के गणितीय अवधारणाओं से अवगत कराती है। भिन्नांक, वर्गमूल, अंकगणितीय तथा ज्यामितिय आरोहण, सामान्य समीकरण, वैसी संख्याओं के वर्गमूलों का तार्किक सन्निकटन, जिन संख्याओं का पूर्ण वर्ग नहीं होता, जैसे विषयों की चर्चा की गई। इसके अतिरिक्त जटिल शृंखलाओं तथा युगपत् संरेखीय समीकरणों के संकलन फल को ज्ञात करने जैसे उच्च स्तरीय गणित की भी विवेचना की गई है।

सन् 1890 में हेमिल्टन बॉवर नाम के एक ब्रिटिश सैन्य अधिकारी ने गोबी मरूभूमि के उत्तरी छोर में स्थित कूका नामक स्थान में डेरा डाल रखा था। वे किसी स्कॉटिस व्यापारी के अफगान हत्यारे की तलाश में थे। उसी दौरान एक व्यक्ति उनके पास आया, जिसने उनके समक्ष कुछ प्राचीन पाण्डुलिपियों को बेचने का प्रस्ताव रखा, जो शायद नजदीक के किसी स्तूप से प्राप्त हुए थे। बॉवर ने उन्हें खरीद लिया, जिनके माध्यम से वह अंततः ए.एफ. रुडॉल्फ होर्नली नाम के एक पुरालेखविद् के पास कोलकाता पहुँचा। होर्नली ने इसके महत्त्व का अनुमान लगा लिया तथा उनके द्वारा पाण्डुलिपियों के मूल-पाठ तथा उसके अनुवाद का प्रकाशन करवाया। इन पाण्डुलिपियों को तब से बॉवर पाण्डुलिपि के नाम से जाना गया। बॉवर पाण्डुलिपि, दरअसल, बहुत सारी बिखरी पड़ी पाण्डुलिपियों का एक संग्रह था, जो मूल रूप से यशोमित्र नाम के एक बौद्ध भिक्षु के थे, जो कुमतुरा बौद्ध विहार (कूका के नजदीक) में निवास करते थे तथा इन पाण्डुलिपियों को उनकी मृत्यु के पश्चात् इसी स्तूप में स्मृति-चिह्न के रूप में गाड़ दिया गया था। इनमें सात निबंधों का संकलन था-जिनमें तीन आयुर्वेद पर थे, दो पासे के शगुन-विचार/भविष्य कथन उपयोग से जुड़े थे तथा दो सांप काटने के झाड़-फूंक से जुड़े थे। यह पाण्डुलिपि चौथी शताब्दी के अंत या पांचवीं शताब्दी के शुरुआत की थी। इसे प्राचीन भारतीय चिकित्सा के इतिहास के एक अमूल्य स्रोत के रूप में देखा जाता है।

धुरी पर चक्कर लगाते रहें, इत्यादि की व्याख्या इस पुस्तक में मिलती है। खगोलशास्त्रीय संसाधनों की भी जानकारी इस ग्रंथ में है, जिसमें पाणि ब्रह्म (कम्पस का एक युग्म), अवलंब, कर्ण, छाया, दिनार्ध, सूर्य तथा अक्षांस इत्यादि की व्याख्या भी की गई है। इस ग्रंथ में नौ खगोलशास्त्री उपकरणों का वर्णन है, यह है—चक्र (360^0 पर घूमने वाला एक वृताकार काठ की तश्तरी), धनुष (अर्धवृताकार तश्तरी), तुर्यगोल (चतुर्थांश पट्टिका), यष्ठी, शंकु, घटिका, कपाल, (क्षैतिज रूप से रखा गया वृत्ताकार प्लेट), करतरी (दो भिन्न स्तरों पर एक साथ जुड़ा हुआ अर्धवृत्ताकार प्लेट) तथा पीथ (क्षैतिज रूप से रखा गया चक्र) सम्मिलित है। एस.आर. सर्मा ने यह अंदाज लगाया है कि काष्ठ या बांस के बने हुए उपकरणों में अत्यंत उच्च कोटि की माप और गणना करने की क्षमता नहीं होती थी, इसलिए उस काल के खगोलशास्त्रियों के द्वारा अपने मौलिक गणना क्षमता का अधिक उपयोग किया जाता है। हालांकि, ब्रह्मगुप्त यंत्र अथवा स्वचालित जटिल यंत्रों के निर्माता के रूप में जानते हैं, लेकिन यह विशेष रूप से उनके द्वारा गति और सतत् गमन की प्रक्रिया की अच्छी समझ का परिचायक थी।

भारतीय गणित की जड़ों की तलाश *शुल्वसूत्र* नामक रचनाओं में की जाती है, जो दरअसल श्रौतसूत्रों की अनुक्रमणिकाएं थीं, (हयासी, 2003)। शुल्व का अर्थ है माप और *शुल्वसूत्र* वैसी सुविधाजनक पुस्तकें हैं, जो पूर्व में वैदिक अनुष्ठानों एवं कर्मकांडों के संपादक के लिए स्थल की तैयारी की जानकारी देती थीं, विशेष रूप से ईंटों की बनी अग्निवेदिकाओं का निर्माण इनके आधार पर किया जाता था। *शुल्वसूत्रों* में उन सिद्धांतों का प्राचीनतम अभिव्यक्ति पाए जाते हैं, जिन्हें बाद में हम पाइथागोरस का प्रमेय के नाम से ज्यामिति में जानते हैं। प्राचीन बेबीलोन में भी इस सिद्धांत से लोग परिचित थे। *शुल्वसूत्रों* में ही किसी वृत्त के वर्ग रूपांतरण की विधि भी बतलायी गयी है अर्थात किस प्रकार केवल रूलर और कम्पास की सहायता से एक वृत्त के बराबर एक वर्ग तैयार किया जा सकता है। बाद के काल में गणित विज्ञान को लोकप्रिय रूप से गणित शास्त्र के रूप में जाना जाने लगा। निश्चित रूप से प्राचीन भारतीय गणितज्ञों ने गणितीय संकेत की दशमलव पद्धति का विकास किया, जो प्रथम नौ अंकों के स्थान मान पर आधारित था। इन्होंने ही शून्य के स्थान पर बिंदु को प्रतीक बनाया (सर्मा 1988; बेग और सर्मा, 2003)। इस पद्धति के प्रयोग ने अंक गणितीय गणना को काफी सरल बना दिया। स्थानमान का प्रस्तुतीकरण, दशमलव पद्धति में पहली बार तीसरी शताब्दी के ज्योतिष पर लिखे हुए एक ग्रंथ *यवनजातक* में देखी जा सकती है, जिसकी रचना स्फुजीध्वजा नामक व्यक्ति ने की थी (हयासी 2003: 366)। यह दशमलव पद्धति का प्राचीनतम ऐतिहासिक प्रमाण है। हालांकि, इस ग्रंथ में शून्य के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, शून्य के स्थान पर बिंदु प्रतीक का प्रयोग पिंगल

के छन्द *सूत्र* में छन्दों के लिए किया गया था, वह रचना दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के पहले की है। वराहमिहिर की *पंचसिद्धांतिका* पुस्तक में शून्य को एक प्रतीक और एक आंख के रूप में पहली बार दर्शाया गया है।

स्थानमान के दशमलव पद्धति का प्रयोग वराहमिहिर ने किया और आर्यभट्ट के आर्यभट्टीय में भी इसका संदर्भ आता है। आर्यभट्ट ने वर्गमूल और धनमूल निकालने की विधि को भी लिखा है, जो निश्चित रूप से दशमलव पद्धति के ज्ञान की पूर्ण कल्पना पर आधारित है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि पांचवी शताब्दी में भारतीय गणितज्ञों के द्वारा इस पद्धति का नियमित रूप से प्रयोग किया जाने लगा था, जबकि यूरोप में बारहवीं शताब्दी तक पुरानी जटिल पद्धति से अंक गणितीय गणना की जाती रही। यूरोपवासियों को नयी पद्धति का ज्ञान अरबों के द्वारा तब जाकर हुआ। अरब लेखक इम्नवसिया, अल-मसूदी और अल-बरूनी अपनी पुस्तकों में 'हिंदुओं' को दशमलव पद्धति के ज्ञान का जन्मदाता स्वीकार करते हैं।

आर्यभट्ट की *आर्यभट्टीय* दरअसल खगोलशास्त्र पर लिखी गयी एक रचना है, जिसमें गणितीय संदर्भ केवल संयोग-वश आते हैं। इस ग्रंथ में विकास और प्रतिविकास के सिद्धांत के साथ-साथ अंकों के अंक गणितीय आरोहण का सिद्धांत और वर्गमूल तथा धनमूल निकालने की विधियां दी गयी हैं। ज्यामिति के क्षेत्र में आर्यभट्ट ने एक वृत्त के गुण-धर्म की विस्तृत व्याख्या की है तथा पाय (π) का चार दशमलव स्थान तक सटीक गणना निकाला है (3.1416)। आर्यभट्ट को बीजगणित का भी जनक माना जाता है। उन्होंने अंकों के जटिल युगपद समीकरणों का भी समाधान निकाला। खगोलशास्त्रीय गणनाओं के लिए साइन या ज्या का उपयोग त्रिकोणमिति के ज्ञान की पूर्व कल्पना करता है। साइन अनुपात को संस्कृत में ज्या के नाम से जानते हैं। आर्यभट्ट ने इस अनुपात की त्रिकोणमितीय तालिका दी है, जिसमें 0 से 90 अंश तक के तीन पूर्णांक तीन बटा चार अंशों के अंतराल पर सभी कोणों के लिए त्रिकोणीय अनुपात की तालिका है। *सूर्य सिद्धांत* नामक ग्रंथ में भी उक्त त्रिकोणमितीय तालिका उपलब्ध है। आर्यभट्ट ने ही कई अन्य समीकरणों के लिए पूर्णांक निकालने की विधि का इजाद किया। कालांतर में ब्रह्मगुप्त और भास्कर-II जैसे गणितज्ञों ने इस दिशा में और भी योगदान दिया। प्राचीन यूनानी ज्यामितीय विशेषज्ञों की तरह प्राचीन भारतीय गणितज्ञों ने समीकरणों के साथ-साथ निर्देशात्मक व्याख्या और सत्यापन नहीं, प्रस्तुत किए हैं।

यहां पर बाद की शताब्दियों में इस दिशा में हुए विकास की चर्चा करना अप्रसांगिक नहीं होगा। सातवीं शताब्दी के साथ भारतीय गणित दो प्रमुख भाग में बंट गया—(1) क्षेत्रमिति के साथ अंकगणित तथा (2) बीज गणित। भास्कर-I (प्रारंभिक सातवीं शताब्दी) ने आर्य भट्टीय पर एक प्रमाणिक टीका लिखा, जिसमें उन्होंने बीजगणित के सूत्रों के लिए रोचक ज्यामितिय समाधान प्रस्तुत किए हैं। ब्रह्मगुप्त (सातवीं शताब्दी) ने ज्यामिति के क्षेत्र में बहुमूल्य योगदान दिया। वे पहले गणितज्ञ थे, जिन्होंने परिमेय भुजाओं वाले एक चक्रीय चतुष्कोण को विश्लेषित किया। उन्होंने एक चक्रीय चतुष्कोण का क्षेत्रफल निकालने की विधि भी बतलायी। उन्होंने एक त्रिकोण के परिधि निकालने के भी अपने सिद्धांत दिए। उन्होंने परिमेय भुजाओं वाले एक चक्रीय चतुष्कोण के विकर्ण निकालने की भी विधि का भी इजाद किया। महावीर (नवीं शताब्दी) कर्नाटक के एक महान गणितज्ञ थे, जो राष्ट्रकुल शासक अमोघवर्ष नृपतुंग के दरबार में रहते थे। अमोघवर्ष मान्यखेत का शासक था। उसने *गणितसारसंग्रह* नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें कई प्रकार के गणितीय प्रश्नों का समाधान किया गया था। उसने दीर्घवृत के क्षेत्र और परिधि निकालने के लिए एक सूत्र भी प्रस्तावित किया। क्षेत्र निकालने का सूत्र तो गलत साबित हुआ परंतु परिधि का सूत्र ठीक निकला। भास्कर-II (12वीं सदी) जो *लीलावती* नामक ग्रंथ के लेखक थे, एक और महत्त्वपूर्ण गणितज्ञ थे, जिनके लेखन में कलन-गणित (कैलकुलस) के कुछ महत्त्वपूर्ण विचार निहित थे।

चिकित्सीय ज्ञान

(Medical Knowledge)

वैसे तो निश्चित रूप से प्राचीन भारत में चिकित्सा के ज्ञान के अनेकों साधन रहे होंगे, लेकिन उनमें से जिस चिकित्सीय विधि के ग्रंथ और परंपराएं आज हमारे पास उपलब्ध हैं, यह आयुर्वेद ही है। आयुर्वेद का शाब्दिक अर्थ आयु बढ़ाने का ज्ञान है (वुजास्टिक, [1998], 2001)। *चरक* और *शुश्रुत संहिता* चिकित्सा शास्त्र और आयुर्वेद के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है। हमारे पास वैसा कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है, जो आयुर्वेद की इस मान्यता को सिद्ध कर सके कि उसकी जड़ें वेदों में निहित है। यद्यपि, वेदों में औषधि और चिकित्सा के कई तथ्य संकलित है, लेकिन इनमें से आयुर्वेद से कोई मेल नहीं खाता। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि आयुर्वेद की शब्दावली में यूनानी शब्द का कहीं भी समावेश नहीं मिलता है। देवी प्रसाद चटोपाध्याय ([1977]; 1979) ने यह तर्क दिया है कि प्रारंभिक चरण में चिकित्सा शास्त्र से सम्बंधित साहित्य और धार्मिक व्यवहारवादी परंपरा का अंग रहा होगा जो कालांतर में किसी समय

प्राथमिक स्रोत

चरक के अनुसार आदर्श अस्पताल

चीनी यात्री फ़ा श्यैन ने उत्तर भारत में अवस्थित सहायता केंद्रों और औषधालयों की चर्चा की है। *चरक संहिता* में एक औषधालय को किस प्रकार सुसज्जित रहना चाहिए, इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

श्रद्धेय ऐतरेप ने कहा 'अब हम उस अध्याय की शुरुआत करते हैं, जिसमें किस प्रकार की तैयारी करनी चाहिए, यह लिखा है।'

औषधालय का निर्माण:

अब मैं विभिन्न प्रकार की वांछनीय आपूर्तियों के विषय में संक्षेप में विवरण देता हूं। इस प्रकार किसी वास्तु-विज्ञानी को सबसे पहले एक उपयुक्त भवन का निर्माण करना चाहिए। इसे काफी मजबूत होना चाहिए, ताकि हवा से बचाव हो सके और साथ में इसके एक हिस्से को हवादार होना चाहिए। इसका प्रवेश सरल होना चाहिए तथा इसे ढलान में नहीं होना चाहिए। इसे धुंआ, धूप, पानी और धूल से सुरक्षित होना चाहिए और साथ में अवांछनीय ध्वनि, अनुभूति, स्वाद, दृश्य और महक से दूर होना चाहिए। यहां जल की आपूर्ति होनी चाहिए, खल्ल-मूसल होना चाहिए, एक शौचालय होना चाहिए, स्नान के लिए पृथक क्षेत्र होना चाहिए तथा एक रसोई होना चाहिए।

कर्मचारी-गण:

इसके बाद शोरबा और चावल बनाने के लिए रसोइए, स्नानागार के परिचारक, अंगमर्दक, मरीज को उठाने-बैठाने वाले परिचारक तथा जड़ी-बूटी को पीसने वाले लोग का चयन किया जाना चाहिए। इन कर्मचारियों को अच्छे स्वभाव वाला, साफ-सुथरा रहने वाला, अच्छा बर्ताव करने वाला, निष्ठावान, व्यवहारिक तथा धर्मात्मा होना चाहिए। इन्हें सेवा सुश्रूषा में दक्ष तथा सभी प्रकार के इलाजों का जानकार होना चाहिए। इन्हें कामचोर नहीं होना चाहिए। इन सहायकों को गाना, वाद्य बजाना, कविता पाठ करना के अतिरिक्त पद्य, गीत, किंवदन्ती और प्राचीन लोक-गाथाओं का भी जानकार होना चाहिए। इन्हें खुशहाल दिखना चाहिए और इनमें अनुमान करने की योग्यता होनी चाहिए। इनका सामान्य ज्ञान अच्छा होना चाहिए और उन्हें सामाजिक भी होना चाहिए।

आपूर्ति:

औषधालय में सोहन चिड़िया, घूसर, तीतर, खरहे, काला हिरण, चौसिंगा, चिंकारा, भेड़ के साथ-साथ बछड़े के संग एक अच्छी गाय और इनके चारा, आश्रय और पीने के पानी की व्यवस्था होनी चाहिए।

यहां पर थाली, कप, पीपा, जग, मटका, तावा, बड़े और छोटे जार, कटोरे, चम्मच, चटाई, बाल्टी, मथनी, चमड़ा, वस्त्र, धागा, रूई, ऊन इत्यादि भी उपलब्ध होना चाहिए। यहां पर कुर्सी और बिस्तर इत्यादि भी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यहां फूलदान और पुष्पघर इत्यादि अगल-बगल होना चाहिए। इनके साथ पलंगपोश, रजाई, अच्छा गद्देदार तकिया भी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त मरीजों को लिटाकर रखने, बैठाने, उनको तेल लगाने, मालिश करने, मलहम लगाने, स्नान करने तथा मालिश के लिए मलमह इत्यादि की व्यवस्था होनी चाहिए। साथ में, उल्टी कराने, पेट की सफाई करने, वस्तिकर्म के लिए काढ़ों, तैलीय वस्तिकर्म तथा मलमूत्र आदि की सफाई की व्यवस्था होनी चाहिए। चिकने, रूखड़े और मध्यम कोटी के जातें, छूरी और सहायक उपस्कर भी उपलब्ध होने चाहिए। नाक और मुँह से धुआं खींचने के लिए पीपा, वस्तिकर्म के लिए पाइप, एक ब्रश, मापने के लिए स्केल का जोड़ा और यंत्र इत्यादि की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

औषधालय में घी, तेल, वसा, मज्जा, मधु, ईख की चाशनी, पानी, नमक, चैलियां, गुड़ का शिरा, मदिरा, जौ का पानी, भूसा, दही, नमकीन चावल, 60 दिनों वाला शाली चावल, दाल, हरा चना, जौ, तिल, खेसारी, बेर, अंगूर, सफेद सागवान, फलसा, हरीतकी, आंवला, बहेड़ा, तेल लगाने तथा पसीना निकलने के समय उपयोग आने वाले साधन भी होने चाहिए। ऊपर चढ़ाने और शांत करने की दवाइयां तथा दोंनो का संयोग रखने वाली दवाइयां भी उपलब्ध होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त कब्जियत की आम दवाइयां, पाचन में सहायता करने वाली दवाइयां, पाचक और गैस निकालने वाली दवाइयां होनी चाहिए। इन सामान्य आपूर्तियों के अतिरिक्त किसी आपदा में प्रयुक्त होने वाले साधन की जानकारी और ईलाज की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। दवा के रूप में प्रस्तावित भोजन अतिरिक्त अन्य भोज्य पदार्थों का भी उपलब्ध होना अपेक्षित है।

स्रोतः *चरक संहिता*, 1.15.1-7; वुजस्टीक [1998], 2001: 77-78

ब्राह्मणवादी शास्त्र का अंग बन गया। दूसरी ओर केनथ जी. जाइस्क (1991) यह मानते हैं कि आयुर्वेद का विकास बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाला चिकित्सीय ज्ञान कालांतर में बौद्ध विहारों की सीमाओं से बाहर निकल आया, किंतु इन सबसे अधिक रोचक तथ्य यह है कि आयुर्वेद ने सांख्य योग और वैशेषिक जैसे दार्शनिक विचारों का अपने चिकित्सीय ग्रंथों में समावेश किया है।

चरक संहिता के अंतर्गत कई कालानुक्रमिक स्तरों को चिन्हित किया जा सकता है। इसके प्राचीनतम अंश तीसरी/दूसरी शताब्दी सा.सं.पू. के प्रतीत होते हैं। बोअर पांडुलिपि कही जाने वाली पुरालेख में *चरक संहिता* का अधिकांश साहित्य भी मिलता है, जिससे यह पता चलता है कि पांचवी शताब्दी तक चरक एक चिरपरिचित हस्ताक्षर रहे होंगे। इस पांडुलिपि के प्रत्येक अध्याय के अंत में दी गयी पुष्पिका पर चरक का नाम उद्धृत है, जबकि इस ग्रंथ के मुख्य पाठ्य में ऐसा प्रमाण मिलता है, कि वह ज्ञान अग्निवेश नामक किसी आचार्य को ऐत्रेय नामक ऋषि के द्वारा प्राप्त हुआ था। इसलिए यह चिकित्सीय शास्त्र, दरअसल, अग्निवेश की प्रणाली थी। चरक ने केवल अग्निवेश के पाठ्य को संशोधित किया। चौथी-पांचवी शताब्दी सा.सं. में दृढ़बल नाम एक अन्य व्यक्ति ने इस ग्रंथ का पुनर्संपादन किया।

चरक संहिता को 120 अध्यायों में तथा आठ खंडों में बांटा गया है। इसका सूत्र ग्रंथ औषधि ज्ञान से सम्बंधित है। इसके अतिरिक्त, इसमें भोज्य सामग्री कुछ बीमारी और उसका उपचार अप्रमाणिक चिकित्सक तथा कुछ दर्शन सम्बंधी मुद्दे संकलित हैं। 'निदान' नामक दूसरे खंड में आठ महत्त्वपूर्ण बीमारियों के कारण की व्याख्या की गयी है। 'विमान' नामक तीसरे खंड में स्वाद, पौष्टिकता, चिकित्सीय जांच और चिकित्सीय अध्ययन संकलित है। 'शरीर' नामक चौथे खंड में मानव का शरीर विज्ञान, भ्रूण विज्ञान और दर्शन सम्मिलित है। अन्य खंडों में बीमारी के लक्षण इंद्रिय चिकित्सा कल्प और सामान्य उपचार या सिद्धि जैसे विषय लिए गए हैं।

सुश्रुत संहिता के अधीन भी कई कालानुक्रमिक स्तर विद्यमान है। इसका मूल पाठ्य शल्य चिकित्सा से सम्बंधित था और जिसकी रचना ईसा पूर्व अंतिम शताब्दियों में की गयी थी। लेकिन बाद में पांचवीं शताब्दी तक लगातार इसमें संशोधन किया जाता रहा। इस संहिता पर लिखी गई टीकाओं में नागार्जुन नामक एक संपादक का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। आज जो हमारे पास यह शास्त्र उपलब्ध है, उसके छह खंड हैं। प्रथम खंड 'सूत्र' के अंतर्गत चिकित्सा का उद्भव और चिकित्सा के अन्य विभाग, एक चिकित्सक का प्रशिक्षण, चिकित्सा से जुड़े अन्य अवयव, भोजन, शल्य चिकित्सा, पूर्वानुमान और लक्षण, घावों का उपचार, टूटे हुए अंगों का निष्कासन इत्यादि सम्मिलित हैं। दूसरे खंड 'निदान' के अंतर्गत बीमारी के लक्षण उनसे जुड़ा जांच पूर्वानुमान और शल्य चिकित्सा है। 'शरीर' खंड के अंतर्गत भ्रूण विज्ञान, शरीर विज्ञान और दर्शन है। चिकित्सा के अतिरिक्त कल्प और विश्व उपचार इत्यादि भी सम्मिलित है। उत्तर खंड में नेत्र, दांत, बच्चों की बीमारी और नजर-जादू-टोना इत्यादि से उत्पन्न बीमारियों के लक्षण दिए गए हैं।

आयुर्वेद की मौलिक अवधारणा दोष धातु और मल पर आधारित है। दोष अर्धतरल अवयव है जो तीन है—वात्, पित्त और कफ या श्लेषमा। ये अर्धतरलीय पदार्थ समूचे शरीर में घूमते रहते हैं। इनमें वात् मुख्य रूप से बड़ी आंत में केंद्रित हैं, पित्त नाभि केंद्र में तथा कफ छाती में। ये तीन दोष शरीर के सात तत्त्वों के साथ अंत:क्रिया करते रहते हैं, उनके अतिरिक्त ये रक्त, मांस, वसा, हड्डी, वीर्य तथा शरीर से निकलने वाले उत्सर्ज पदार्थों के साथ प्रतिक्रिया करते हैं। शरीर में उपस्थित द्रव असंख्य पाइप, नलिकाओं, तंत्रिकाओं के माध्यम से सारे शरीर में घूमता रहता है। तंत्रिकाओं के कार्य प्रणाली की व्याख्या सुश्रुत ने रोचक उपभागों के आधार पर की है। उन्होंने पत्ते के संकुचन और विस्तार के माध्यम से सारे शरीर मे पौष्टिकता में समानता बतलायी है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नालियों के माध्यम से एक खेत में पानी से सिंचाई की जाती है। शरीरिक प्रक्रिया के केंद्र में पाचनतंत्र को रखा गया है।

आयुर्वेद यह मानता है कि शरीर में व्याधियां तब आती हैं जब तीनों दोषों में से कोई एक दोष का अन्यत्र विकास हो जाता है अथवा दोष अपने नियत स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। व्याधियों को तीन प्रकार का बतलाया गया है—(1) वैसी व्याधियां जिनका उपचार हो सकता है, (2) वैसी व्याधियां जिनके प्रभाव को कम किया जा सकता है तथा (3) वैसी व्याधियां जिनका उपचार नहीं हो सकता है। व्याधियों के कारण के विषय में विवेकविहीन व्यवहार अथवा प्राकृतिक इच्छाओं का दमन, कर्म तथा महामारी के विषय में विमर्श करते हुए खराब मौसम, खराब पानी, चूहे, मच्छर इत्यादि के प्रकोप पर भी विचार किया गया है।

व्याधि पता लगाने के चिकित्सीय विधियों में अनुभूति और अनुमान दोनों का महत्त्व बतलाया गया है। सुश्रुत ने सुझाव दिया है कि चिकित्सक को मरीज का स्पर्श, चिकित्सक की दृष्टि और मरीज से पूछे गए प्रश्नों जैसे तीन प्रणालियों पर निर्भर रहना चाहिए, किंतु साथ में उनका मानना है कि चिकित्सक को अपने पांचों इंद्रियों का उपयोग करना चाहिए। आयुर्वेद के द्वारा निर्देशित उपचारों में पथ और अपथ भोजन पर बहुत बल दिया गया है।

इसके साथ-साथ मालिश करना, शरीर से उत्सर्ज पदार्थों की प्रक्षालन करना, विभिन्न प्रकार के लेप तथा शल्य चिकित्सा इत्यादि उपचार के रूप में प्रस्तावित किए गए हैं। आयुर्वेद में भोजन योगिक क्रिया और चिकित्सा तीनों के समायोजन को स्वस्थ शरीर का आधार बतलाया गया है।

सुश्रुत संहिता शल्य चिकित्सा के विषय में बतलाते हुए यह कहते हैं कि प्राचीन भारत में विभिन्न शल्य चिकित्सा की तकनीक और सूचनाएं विकसित थीं। सुश्रुत ने एक शल्य चिकित्सक के प्रशिक्षण के विषय में काफी कुछ कहा है और उसके द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले उपकरणों का भी विवरण दिया है। मोतियाबिंद की शल्य चिकित्सा, पथरी और ब्लैडर का निष्कासन, अंगभंग का उपचार, प्रवेश कर गए तीर को बाहर निकालना, इत्यादि शल्य चिकित्सा के साथ-साथ टांका लगाने की भी विधि बतलायी गयी है। इस ग्रंथ में प्लास्टिक शल्य चिकित्सा पर भी संक्षेप में वर्णन मिलता है। शरीर के किसी हिस्से के त्वचा को नाक को ठीक करने के लिए ग्राफ्ट विधि का उपयोग भी बतलाया गया है, जिसे आज की भाषा में 'राइनो प्लास्टी' के नाम से जानते हैं, कटे हुए कानों के लिए भी शल्य चिकित्सा बतलायी गयी है। इस संहिता में किसी शव का मानव शरीर के अध्ययन के लिए किए जाने वाले उपयोग पर भी चर्चा की गयी है।

प्राचीन आयुर्वैदिक ग्रंथों में वागभट्ट की लिखी हुई *अष्टांगहृदय* या चिकित्सा का हृदय एक अत्यंत विस्तृत आर्युर्वैदिक चिकित्सीय ज्ञान का ग्रंथ है जो 600 सा.सं. के लगभग का बतलाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसी रचनाकार की एक और पुस्तक *अष्टांग संग्रह* भी चिकित्सा को समर्पित है। प्राचीन आयुर्वैदिक शास्त्रों में पाश्वक के द्वारा लिखा गया तथा संग्रहित किया गया आख्यान भी महत्त्वपूर्ण है, जो मुख्यत: स्त्रियों और बच्चों की व्याधियों के विषय में लिखा गया है। यह सातवीं शताब्दी का ग्रंथ है, हालांकि, इस ग्रंथ के कुछ भाग पहले के मालूम पड़ते हैं। चौदहवीं शताब्दी की *शार्गधारासंहिता* से भी आर्युर्वैदिक कंपनियों के द्वारा इस ग्रंथ में दिए गए दवाओं के नुस्खों का प्रयोग किया जा रहा है।

भारतीय आयुर्वेद का प्रभाव उपमहाद्वीप के बाहर भी पड़ा। भारतीय आयुर्वैदिक ज्ञान का तथा ग्रंथों का अरबी, फारसी और तिब्बती भाषाओं में अनुवाद किया गया। ऐसा प्रमाण मिलता है कि यूरोप के वनस्पति शास्त्र के ज्ञान में भारतीय आयुर्वेद के विचारों का योगदान रहा है। भारतीय आयुर्वेद आज पुन: लोकप्रिय हो रहा है और आधुनिक एलोपैथिक चिकित्सा के एक विकल्प के रूप में खड़ा हो रहा है। भारत में वेटेरेनरी विज्ञान या पशु चिकित्सा का विज्ञान भी काफी उन्नत था। *हस्त्यायुर्वेद* पालकप्य के द्वारा लिखा गया है, जिसमें 160 अध्याय हैं यह हाथियों के प्रमुख व्याधियों और उनसे जुड़े उपचारों का विश्लेषण करता है। इसमें दवा और शल्य चिकित्सा दोनों के उपाय बतलाए गए है।

निष्कर्ष

300-600 सा.सं. के काल के सम्बंध में की गई व्याख्याएं ऐतिहासिक विरोधाभासों से परिपूर्ण हैं। क्योंकि जहां एक ओर इसे स्वर्ण युग माना जाता है, जो चहुमुखी विकास और समृद्धि का काल था, वहीं दूसरी ओर इसे राजनीतिक विकेंद्रीकरण तथा आर्थिक पतन का काल भी माना जाता है। सामंतवाद के पतनोन्मुखी काल के रूप में भी इस युग में को देखा जाता है, किंतु उपरोक्त दोनों ही दृष्टिकोण वस्तुपरक नहीं कहे जा सकते। यह सही है कि गुप्त और वाकाटक साम्राज्य शक्तिशाली राजतंत्र नहीं थे, किंतु अभिलेखीय साक्ष्य इनके जटिल प्रशासनिक और राजस्व प्रणाली के अस्तित्व की ओर इशारा करते हैं। भूमिदान अभिलेख कृषि सम्बंधों में होने वाले परिवर्तनों का बोध कराते हैं। इन परिवर्तनों की प्रक्रिया पूर्व मध्य युग में पूर्ण परिणति को प्राप्त करने वाली थी। नगरीय केंद्र शिल्प या व्यवसायी के पूर्ण अवसान जैसी बातों के प्रमाण सशक्त नहीं हैं। इस काल के स्थापत्य और कला में मूर्ति कला की लोकप्रियता और धर्मों का व्यापक संस्थानीकरण प्रतिबिंबित होता है। संस्कृत साहित्य और प्रस्तरीय प्रतिमाशास्त्र की यह चरमोन्नति का काल था। इन शताब्दियों की सांस्कृतिक सृजनात्मकता कुलीन नगरीय समुदाय का संरक्षण का द्योतक है। खगोल शास्त्र, गणित और चिकित्सा के ज्ञान में महत्त्वपूर्ण इजाफा हो रहा था और इन क्षेत्रों में विकास की प्रक्रिया पूर्व मध्य युग में फलीभूत होने वाली थी।

अध्याय 10

उभरता क्षेत्रीय विन्यास: ल. 600 – 1200 सा.सं.पू.

अध्याय संरचना

पट्टदकल, कर्नाटक के बागलकोट जिला में मालप्रभा नदी के एक घुमाव पर स्थित एक ऊंघता हुआ गांव है। यह अपने अत्यंत उत्कृष्ट मंदिरों के कारण प्रसिद्ध है, जिनका निर्माण प्रारंभिक पश्चिमी चालुक्य शासकों के काल में हुआ था तथा जिनमें नागर (उत्तर) एवं द्राविड़ (दक्षिण) दोनों स्थापत्य शैलियों के तत्वों का समावेश देखने को मिलता है। इनमें विरूपाक्ष मंदिर को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इसका निर्माण रानी लोकमहादेवी के आदेश से, अपने पति विक्रमादित्य–II के द्वारा कांचीपुरम पर विजय की स्मृति में करवाया गया था। स्मारकों को ज्यादातर उन व्यक्तियों के नाम से जाना जाता है, जिन्होंने उनका निर्माण करवाया है, किंतु यहां पर उन वास्तुकारों, जिन्होंने इन इमारतों की योजना की अथवा उन शिल्पकारों की जिन्होंने इनका निर्माण किया, उनके हस्ताक्षर भी देखने को मिलते हैं। यहां लिखा है कि गुण्डा, जो वार्तालाप में पूर्ण रूप से निपुण है, जिन्होंने रत्नजड़ित मुकुटों और किरीटों, भवनों, वाहनों, आसन और पलंगों का डिजाईन तैयार किया, उन दक्षिण देश के सूत्रधारी (वास्तुकार) को त्रिभुवनाचार्य (तीन लोकों के निर्माता) की उपाधि दी गई थी। मंदिर के कई उद्भृत दीवारों पर उन शिल्पकारों के हस्ताक्षर उत्कीर्ण हैं, जिन्होंने इनकी नक्काशी की।

इस गांव के दक्षिण–पूर्वी हिस्से में पापनाथ मंदिर अवस्थित है। इस मंदिर की मूलभूत योजना विरूपाक्ष मंदिर से मिलती–जुलती है, लेकिन इसका शिखर उत्तर भारतीय शैली में निर्मित है। इस मंदिर के बाहरी दीवारों को *रामायण* के चरित्रों और कथादृश्यों से अंकित पट्टिकाओं के द्वारा अंलकृत किया गया है, साथ में नामांकित अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। मंदिर के पूर्वी दीवार पर कन्नड़ भाषा का एक संक्षिप्त अभिलेख है, जिस पर रेवडी ओवज्ज का नाम अंकित है। जिस वास्तुकार ने इस मंदिर की स्थापत्य योजना बनाई थी, वह सर्वसिद्धी आचार्यों की श्रेणी संगठन का एक सदस्य था। विरूपाक्ष मंदिर के वास्तुकार भी इसी श्रेणी के सदस्य थे। इस अभिलेख के पास में छेनी की आकृति भी उकेरी गई है। मंदिर की दीवारों पर बलदेव और देवार्थ जैसे शिल्पकारों के नाम भी उत्कीर्ण हैं। पट्टदकल के मंदिर पूर्व मध्यकाल में स्थापत्य और मूर्तिकला के क्षेत्र में होने वाले दर्शनीय विकास के अनेक उदाहरणों में से कुछ का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'पूर्व मध्य' शब्द, प्राचीन युग तथा मध्य युग के अंतर्वर्ती काल का द्योतक है। एक पारिभाषिक शब्द के रूप में इसे लोकप्रिय स्वीकृति मिल चुकी है, किंतु इस काल के सम्बंध में सबसे बड़ी चुनौती है कि किस प्रकार संस्कृत, फारसी और आंचलिक भाषाओं में उपलब्ध प्रमाणों को अभिलेख, सिक्के और पुरातत्त्व से मिल प्रमाणों के बीच सामंजस्य बनाया जाए। पूर्व मध्यकाल से जुड़ी व्याख्याएं कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों से जुड़ी हैं यथा इसे भारतीय संस्कृति और सभ्यता की समझ से अथवा उन आधारों से जिनके द्वारा भारतीय इतिहास की निरंतरता और परिवर्तनों को चिन्हित किया जा सकता है। यह विशेष रूप से इतिहासकारों के द्वारा गुप्तकाल और दिल्ली सल्तनत की स्थापना से जुड़े विश्लेषणों की व्याख्या करने में एक कड़ी का काम करती है।

जैसा कि अध्याय–नौ में चर्चा कर चुके हैं कि इतिहासकारों के बीच पूर्व मध्ययुग के समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था की प्रकृति को लेकर एक लंबी बहस छिड़ी हुई है। अक्सर इस युग के साथ संकट, पतन और अवनति की धारणा जुड़ी होती है। प्रारंभिक इतिहासों में 'मुस्लिम शासन' के आगमन को इस पतन के कारण के रूप में देखा (उक्त वाक्यांश को उद्धरण चिह्न के अंतर्गत इसलिए रखा गया है कि 'मुस्लिम' शब्द का अत्यंत व्यापक अनुप्रयोग है, तथा गजनवी या घोरी शासन को तुर्कों की विशिष्ट संज्ञा देना अधिक उचित है), बाद के सामंतवादी विचारधारा के समर्थकों ने राजनीतिक विकेंद्रीकरण, कृषकों का बंधुआ मजदूरों में रूपांतरण तथा नगरीय केंद्रों और मुद्रा प्रणाली के पतन के रूप में, इस युग का वर्णन किया है। सामंतवाद की प्राक्कल्पना को उत्तर तथा दक्षिण भारत, दोनों के संदर्भ में स्वीकार किया गया। दक्षिण भारत के संदर्भ में विखंडित राज्य की वैकल्पिक अवधारणा है, जिसके अंतर्गत इस युग के शासकों को केवल अनुष्ठानिक व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया, जिनमें राजकीय शक्ति से जुड़ी

◄ मनिकवचाकार की कांस्य प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

वास्तुविद का हस्ताक्षर और तक्षणी से उत्कीर्ण आकृतियां, पापनाथ मंदिर, पट्टदकल

दो तथ्यों का अभाव था—एक राजस्व की आधारभूत संरचना और दूसरी स्थायी सेना। पूर्व मध्ययुग के संदर्भ में एक तीसरी वैकल्पिक व्याख्या भी दी गई कि इन शताब्दियों में क्षेत्रीय स्तर पर राज्यों की स्थापना हुई और उनका विस्तार हुआ। इस अवधारणा को पूर्व मध्ययुग से जुड़ी उस विशिष्ट प्राक्कल्पना से जोड़ा जा सकता है कि यह युग नगरीय परिवर्तन का था, न कि नगरीय पतन का। इस विषय से जुड़े प्रारंभिक इतिहास लेखन ने अखिल भारतीय या कम से कम अंतर्क्षेत्रीय प्रतिमानों पर बल दिया, जबकि हाल के इतिहास लेखन में क्षेत्रीय तथा उप-क्षेत्रीय विशिष्टताओं और विविधताओं की ओर ध्यानाकृष्ट किया जा रहा है।

दशकों से चले आ रहे बहस का सार्थक प्रभाव यह पड़ा कि इनके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं से जुड़े प्रश्नों का महत्त्व बढ़ा है। लेकिन इतिहासकारों के द्वारा स्रोतों और प्रमाणों को अपनी-अपनी व्याख्याओं की पुष्टि करने के प्रयास में एक गतिरोध की स्थिति बन गई है और इससे बाहर निकलने का मार्ग यही होगा कि हम विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर निर्मित व्याख्या के प्रतिमानों के बंधन से मुक्त होकर शोध को आगे बढ़ाएं। वैसे इतिहासकार जो इस युग के संदर्भ में एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहते हैं, उन्होंने वर्ग और जातिगत क्रम परंपरा पर तथ्यों को केंद्रीत करने का प्रयास किया है और साथ में सत्ता की वैधानिकता की प्रक्रिया को भी महत्त्वपूर्ण बताया है। सार्वजनिक जीवन या गृहस्थी के दायरे में, लिंग भेद सम्बंधों और महिला इतिहास को लगभग नजरअंदाज किया गया है। केवल राजनीति और धर्म से जुड़े कुछ विशेष पहलुओं के संदर्भ में रुचि रखने वाले कुछ विद्वानों ने पूर्व मध्य युगीन परिप्रेक्ष्य में लिंगभेद सम्बंधों की चर्चा की है, किंतु आवश्यकता है कि इन अध्ययनों को वृहत्तर आख्यानों से जोड़ा जाए तथा लिंगभेद सम्बंधों को इस युग के सामाजिक इतिहास के एक समेकित हिस्से के रूप में देखा जाए। इस अध्याय में इन पहलुओं को राजनीति, समाज तथा धर्म के व्यापक दायरे में अधीन देखने का प्रयास किया गया है।

यह संभव नहीं है कि 600-1200 सा.सं. के बीच के सभी ऐतिहासिक पहलुओं का संपूर्ण और व्यापक विवरण यहां प्रस्तुत किया जा सके, इसलिए इस अध्याय में इतिहास लेखन से जुड़े महत्त्वपूर्ण बहसों और दक्कन तथा सुदूर दक्षिण में होने वाले ऐतिहासिक गतिविधियों पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

पाठ्यात्मक और पुरातात्त्विक स्रोत

(Sources, Literary and Archaeological)

शेल्डन पोलॉक ([2006], 2007: 1) का मानना है कि पूर्व-आधुनिक भारत में संस्कृति और शक्ति के रूपांतरण के दो महानकाल आए हैं। पहला काल सामान्य संवत की प्रारंभिक शताब्दियों में जब संस्कृत भाषा, जिसका एक पवित्र भाषा के रूप में एक लंबा इतिहास था, किंतु उसका प्रयोग धार्मिक व्यवहारों तक सीमित था, उसका साहित्य और राजनीतिक अभिव्यक्ति की भाषा के रूप में 'पुन: आविष्कार' हुआ और अंतत: इसका प्रसार भारत उपमहाद्वीप की सीमाओं से बाहर चारों ओर हुआ। रूपांतरण का दूसरा काल द्वितीय सहस्राब्दि के प्रारंभिक दौर में देखा गया, जब क्षेत्रीय भाषाओं ने साहित्यिक भाषाओं का स्वरूप ग्रहण किया और इस रूप में उन्होंने संस्कृत को चुनौती दी, बल्कि अंतत: उसका स्थान भी ले लिया।

प्रारंभिक मध्ययुगीन संस्कृत साहित्य के विषय में यह सामान्यत: आलोचना की जाती है कि अत्याधिक अलंकार और अस्वाभाविक कृत्रिमता, इसकी विशेषता बन गई। प्रारंभिक मध्यकालीन संस्कृत में दार्शनिक टीका, कथा साहित्य, धार्मिक शास्त्र, भाण (एकांकी) स्रोत तथा काव्य संग्रह उपलब्ध हैं। काव्य में इतिहास, महाकाव्य और पुराणों से जुड़े विषय अधिक लोकप्रिय थे। छन्द, व्याकरण, काव्यशास्त्र, संगीत, वास्तुशास्त्र, चिकित्सा तथा गणित जैसे विषयों पर विशिष्ट साहित्य भी उपलब्ध है।

क्षेत्रीय राजतंत्रों के विकास के साथ-साथ दरबारी कवियों के द्वारा राजकीय प्रशस्तियों की रचना भी की जाने लगी। बाणभट्ट का *हर्षचरित* इसी विधा की एक प्रसिद्ध कृति है। संध्याकर नंदी का *रामचरित* एक श्लेष काव्य (द्विअर्थी) का उदाहरण है, जिसमें महाकाव्य के नायक श्रीराम और पाल शासक रामपाल की कथाएं साथ-साथ कहीं गई हैं। पद्मगुप्त का *नवसहसांकचरित* जैसी कुछ रचनाएं अर्ध-ऐतिहासिक विषयों और चरित्रों पर आधारित है, जिसमें मालवा के एक शासक सिंधुराज नवसहसांक के द्वारा शशिप्रभा नाम की एक राजकन्या को हासिल करने की कथा कही गई है। बिल्हण ने कल्याणी के चालुक्य शासक विक्रमादित्य-IV की प्रशस्ति में *विक्रमांकदेवचरित* की रचना की। हेमचंद्र के *कुमारपालचरित* (संस्कृत और प्राकृत मे) में अनहिलवाड़ा के शासक कुमारपाल की कथा के माध्यम से व्याकरण के नियमों को सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। *पृथ्वीराजविजय* नाम की एक अधूरी रचना के लेखक के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, जिसमें पृथ्वीराज चौहान के द्वारा मुहम्मद घोरी पर विजय का प्रसंग है। इसी चौहान राजा की कीर्तियों के बखान करने वाले महाकाव्य *पृथ्वीराजरासो*

के लेखक चन्द बरदाई है। कल्हण की *राजतरंगिणी* कश्मीर के शासकों का एक इतिहास वृत्त है, जिसमें प्रारंभ से 12वीं सदी तक के काल को लिया गया है।

पूर्वमध्य युग में लिखे गए पुराणों में उस काल में सगुन उपासना की बढ़ती हुई लोकप्रियता प्रतिबिम्बित होती है। इनमें *भागवत पुराण* (10वीं शताब्दी), *ब्रह्मवैवर्तपुराण* (10वीं से 16वीं शताब्दियों के बीच) तथा *कलिका पुराण* (10वीं/11वीं शताब्दी) प्रमुख हैं। पहले के पुराणों में भी तीर्थों की महिमा, प्रायश्चित, दान तथा व्रतों की महत्ता, स्त्रियों के लिए धर्म इत्यादि विषयों को इस काल में जोड़ा गया। अधिकांश उपपुराणों की रचना, पूर्वी भारत में की गई है। उनमें इस काल के लोकप्रिय आस्थाओं, परंपराओं और उत्सवों की जानकारी उपलब्ध है। इस काल में ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर विचारधाराओं के बीच प्रत्येक स्तर पर आदान-प्रदान चल रहा था। इस आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप ही क्षेत्रीय तथा स्थानीय संस्कृतियों स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण कर सकीं।

ए.डी. माथुर (2007) ने तर्क दिया है कि प्रारंभिक मध्यकाल में ही हिंदू लॉ (व्यवहार) ने भी धर्म के शिकन्जे से बाहर निकलकर, अपना स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण किया। इसके साथ-साथ कानून निश्चित रूप ले रहा था तथा कानूनी प्रक्रियाएं भी औपचारिक रूप लेने लगी थीं। इस काल में राज्य की शक्ति को बढ़ावा देने की प्रवृति देखी जा सकती है, जिसके अंतर्गत वह प्रजा के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप कर सके, उनके वैवाहिक सम्बंधों जैसे विषयों में भी। इस काल में महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली धर्मशास्त्रों के संकलन, सार-संग्रह और टीकाएं लिपिबद्ध किए गए। इन संकलनों में *चतुर्विंशतिमत* महत्त्वपूर्ण है, जिसमें 24 धर्मशास्त्र के आचार्यों के मतों को एक साथ प्रस्तुत किया गया। जिमूतवाहन ने *व्यावहार मात्रिका* नाम की पुस्तक न्यायिक प्रक्रियाओं पर लिखीं तथा उत्तराधिकार से जुड़े कानूनों का एक सार-संग्रह तैयार किया, जिसे '*दायभाग*' के नाम से जाना जाता है। इसका सर्वाधिक प्रभाव बंगाल पर पड़ा। प्रसिद्ध टीकाओं में मेधातिथि (9वीं शताब्दी), गोविंदराज (11वीं/12वीं शताब्दी) तथा कूल्लूक (12वीं शताब्दी) का स्थान आता है, जिन्होंने *मनुस्मृति* पर टीका लिखा है। विज्ञानेश्वर (11वीं-12वीं शताब्दी) तथा अपरार्क (12वीं शताब्दी) ने *याज्ञवल्क्य स्मृति* पर टीकाएं लिखीं। विज्ञानेश्वर की टीका का नाम *मिताक्षरा* है, जिसे हिंदू कानन के विभिन्न विषयों पर प्रमाणिक स्रोत माना जाता है। लक्ष्मीधर की *कृत्यकल्पतरु* (12वीं शताब्दी) तथा देवनभट्ट की *स्मृतिचंद्रिका* (11वीं/12वीं शताब्दी), धर्मशास्त्र की कुछ अन्य प्रमुख कृतियां थीं।

इस काल की अधिकांश प्राकृत भाषा की रचनाएं जैन ग्रंथ है तथा महाराष्ट्री बोली में लिखे गए हैं। भाषा में अत्यधिक अलंकरण और कृत्रिमता परिलक्षित होती है। पाली भाषा के कुछ ही ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिन पर संस्कृत भाषा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। अपभ्रंश को प्राकृत भाषाओं की विकास के क्रम में अंतिम चरण कहा जा सकता है, जिनसे उत्तर भारत की विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ। इस काल में अपभ्रंश में कई जैन सिद्धांतों पर ग्रंथ लिखे गए तथा संतों के जीवन चरित, महाकाव्य, कविताएं, लघुकथाएं और दोहा भी उपलब्ध हैं।

तमिल साहित्य में आलवार और नायनमार संतों के गीतों के अतिरिक्त कुछ धार्मिक जीवन-चरितों की रचना उपलब्ध है। किसी अज्ञात लेखक के द्वारा लिखी गई *नन्दिक्कलम्बकम* की प्रशस्ति 80 पद्यों वाली एक कविता है, जिसे पल्लव शासक नन्दिवर्मन-III के राज्यकाल की प्रशस्ति में लिखा गया है। राष्ट्रकूटों, होयसालों और चालुक्यों के राजकीय संरक्षण में जैन संप्रदाय से जुड़े कई कन्नड़ ग्रंथों की रचना भी हुई।

साहित्यिक स्रोतों में अपने काल का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वर्णन मिलता है। अज्ञात लेखक की *लेखपद्धति* नाम की रचना का उदाहरण लिया जा सकता है, जिसे 13वीं शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत की मिली-जुली भाषाओं में लिखा गया है। इस ग्रंथ में विभिन्न प्रकार के वैधानिक दस्तावेजों के मानक उदाहरण लिपिबद्ध किए गए हैं। प्रारंभिक मध्यकाल में बंगाल में लिखी गई *कृषि पराशर* नामक रचना एक दूसरा दृष्टांत है, जिसमें कृषि से जुड़े विषयों पर चर्चा की गई है। कइ बार कुछ ऐसी रचनाओं से भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएं उपलब्ध हो जाती हैं, जो प्रथमदृष्टया पूर्णतः इतिहासेत्तर रचनाएं प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिम भारत की जैन लोककथाएं (धर्म-कथा), जो सामान्यतौर पर व्यापारी समुदायों में लोकप्रिय थीं, किंतु समकालीन व्यापार और व्यापारी वर्ग से जुड़ी सूचनाओं के लिए उपयोगी माना जाता है। 9वीं सदी में महावीराचार्य की रचना *गणितसार संग्रह* और 12वीं सदी में भास्कराचार्य की *लीलावती* नाम की कृति, जैसी गणित पर लिखी गई रचनाओं में तत्कालीन मूल्य, माप-तौल, पारिश्रमिक तथा सिक्कों इत्यादि की जानकारी मिल जाती है।

भारतीय स्रोतों के अतिरिक्त चीनी और अरब यात्रियों के पूर्व मध्यकालीन वृत्तांत इस काल की ऐतिहासिक सूचनाओं के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। चीनी वृत्तांतों में श्वैन ज़ंग (600-64 सा.सं.) तथा यीजिंग/इत्सिंग (635-713 सा.सं.) दोनों सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा दोनों ने भारत की यात्रा की। यीजिंग ने बौद्ध धर्म सिद्धांतों तथा भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति का वर्णन किया है। इत्सिंग ने वैसे 56 बौद्ध भिक्षुओं का संक्षिप्त जीवन चरित संकलित किया है, जिन्होंने 7वीं शताब्दी में भारत की यात्रा की। अरब स्रोतों के अंतर्गत 9वीं-10वीं शताब्दियों के सुलेमान, अल-मसूदी, अबुजैद, अल-बिदुरी तथा इब्नहॉकल जैसे अरब यात्रियों और भूगोलशास्त्रीयों के वृत्तांत आते हैं।

अद्यतन खोज

वांग श्वांस के भारतीय मिशनों से सम्बंधित नए प्रमाण

जिन चीनी यात्रियों ने चीन से भारत तथा वापस चीन की कठिन यात्राएं की उनमें बौद्ध भिक्षु और राजनयिक दोनों श्रेणी के लोग थे। 7वीं शताब्दी में थांग सम्राटों के द्वारा भारत भेजे गए अनेक अधिकृत राजनयिकों में से वांग श्वांस भी एक था। वांगवेई वांग ने विभिन्न स्रोतों के आधार पर बतलाया है कि उसने भारत की तीन बार यात्राएं की। दाओशी नामक एक भिक्षु ने किसी बौद्ध विश्वकोश का सम्पादन किया, जो संयोगवश वांग श्वांस से व्यक्तिगत रूप से परिचित था। उसका कथन है कि 'थांग राजदूत वांग श्वांस वहां (भारत) तीन बार गया था। जब मैं श्वांस से मिला तब उसने यह कहा था' वस्तुत: श्वांस ने अपने लेखन में दो अन्य प्रसंगों में भी इसी कथन को दोहराया है। सम्राट को दिए गए एक प्रतिवेदन में वांग श्वांस ने स्वयं लिखा है कि 'चूंकि बौद्ध धर्म का जन्म भारत में हुआ, इसलिए आपका एक अनुचर (महानुभाव के) होने के नाते मुझे तीन बार वहां भेजा गया, तथा मैंने बहुत कुछ देखा और सुना है।'

वांग को सम्राट ताइजोंग के द्वारा साम्राज्यिक राजदूत ली लिबियाओ के सहयोगी के रूप में पहली बार भारत भेजा गया। इस शिष्टमंडल के सदस्यों ने तिब्बत और नेपाल होते हुए 643 में भारत की यात्रा की। मगध में उन्होंने राजा हर्ष से मुलाकात की तथा बौद्ध धर्म से जुड़े अनेक तीर्थों के दर्शन किया। वांग श्वांस ने अपने अनुभवों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है: 'यह मेरा अप्रत्याशित सौभाग्य था कि मैं पूज्य के पदचिह्न (बुद्ध के) देख सका। कभी विषाद, कभी आनंद। मैं अपनी संवेदनाओं पर नियंत्रण नहीं रख सका।' प्रतिनिधिमंडल 645 में चीन वापस आ गया। एक या दो वर्ष बाद (646 या 647 में) वांग एक बार फिर भारत के लिए रवाना हुआ, किंतु इस बार प्रतिनिधि मंडिल के प्रमुख की हैसियत से। इस मिशन ने भी उसी मार्ग को चुना, जिस मार्ग से पहला प्रतिनिधि मंडल आया था। चीनी स्रोत के अनुसार, इस राजदूतावास पर अरुणाश नाम के सेनापति के नेतृत्व में किसी सेना ने आक्रमण कर दिया। आक्रमण में वांग श्वांस और प्रतिनिधिमंडल का द्वितीय प्रमुख जियांग शिरेन को छोड़कर सभी या तो मार डाले गए या फिर बंदी बना लिए गए। विद्वानों में वांग श्वांस के तीसरे अभियान को लेकर मतभेद है, जिसकी तिथि निश्चित रूप से 657 और 661 सा.सं. के बीच की रही होगी।

बांगवेई वांग ने तिब्बत के स्कादग्रौंग नाम के स्थान से हाल ही में खोजे गए एक अभिलेख की ओर ध्यानाकृष्ट किया है, जिसमें इस तीसरे मिशन के बारे में जानकारी मिलती है। एक चट्टान की सतह पर प्राप्त यह अभिलेख काफी कुछ नष्ट हो चुका है, विशेषरूप से इसका निचला हिस्सा। बचे हुए अभिलेख का आकार चौड़ाई में 81.5 से.मी. तथा लंबाई में 53 से.मी. है। इसमें पढ़े जा सकने योग्य 222 अक्षर हैं, जो 24 पंक्तियों में नियोजित है, अभिलेख के बड़े हिस्से को पढ़ा नहीं जा सकता है। फिर भी इस अभिलेख का अभिप्राय समझा जा सकता है। इसमें लिखा है कि सम्राट ने जियांग जिंग (अर्थात् 658 सा.सं.) के तृतीय वर्ष के छठे महीने में वांग और उसके साथियों को भारत के लिए रवाना किया। किसी वर्ष के गर्मियों के 5वें महीने में (शायद 659 सा.सं. में) यह प्रतिनिधि मंडल किसी निश्चित स्थान पर पहुंचा, शायद बिल्कुल उसी जगह जहां यह अभिलेख उत्कीर्ण है। इस अभिलेख में वांग के नेतृत्व में भेजे गए, उस प्रतिनिधिमंडल के कुछ ऐसे व्यक्तियों के नाम भी हैं, जिनका पहले कभी उल्लेख नहीं मिलता है। इस अभिलेख से यह भी सूचना मिलती है कि इस प्रतिनिधि मंडल ने जिस मार्ग का प्रयोग किया था, वह स्काइड-ग्रौंग और नेपाल होकर गुजरता था।

अभी हाल ही में लुओयांग के लॉंग मेन ग्रोटो से एक अन्य अभिलेख की प्राप्ति हुई, जिसमें वांग श्वांस का उल्लेख है। इसमें उसके द्वारा बिंगयान ग्रोटो के दक्षिणी कक्ष के लिए लिंग्दे के द्वितीय वर्ष (अर्थात् 665 सा.सं.) में मैत्रेय बुद्ध की भेंट की गई एक प्रतिमा का उल्लेख है, जो यह प्रमाणित करता है कि यह राजनयिक एक बौद्ध उपासक भी रहा होगा।

वांग श्वांस ने अपने भारत की यात्राओं पर *जौंग तियांजहुगुओ जिंग जी* (मध्य भारत की यात्राओं का उल्लेख) नाम से ज्ञात एक डायरी लिखा है, जिसमें स्पष्ट रूप से भारत का मानचित्र और बौद्ध उपादानों के आरेख भी सम्मिलित है। दुर्भाग्यवश यह डायरी अब उपलब्ध नहीं है।

स्रोत: वांग 2002; सन 2003: 23, 40, 205, 261

कालांतर के अरब लेखकों में अल-बिरूनी, अल-इदर्सी, मुहम्मद ऊफी तथा इब्न बतूता के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके वृत्तांत प्रमुख रूप से व्यापार सम्बंधी सूचनाओं के लिए महत्त्वपूर्ण है।

पिछली शताब्दियों की तरह, 600-1200 सा.सं. के बीच के काल की ऐतिहासिक सूचनाओं के लिए अभिलेखों का महत्त्व यथावत् बना रहा। सच तो यह है कि इस काल से जुड़े प्रमुख बहस इन पुरालेखीय सूचनाओं की व्याख्या के इर्द-गिर्द ही घूमते हैं। धार्मिक प्रतिष्ठानों के लिए प्रदत्त गैर-राजकीय तथा शाही अनुदानों से सम्बंधित पुरालेखीय

साक्ष्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्व मध्य काल के मुद्राशास्त्र/सिक्काशास्त्र के प्रमाणों का विश्लेषण भी बहस का आधार रहा है। पिछले अध्याय में भी हम देख चुके हैं कि यह प्राक्कल्पना कि 400 सा.सं. के बाद भारतीय उपमहाद्वीप में मुद्राप्रणाली का पतन हुआ, इस धारणा को चुनौती दी जा सकती है। पूर्व मध्यकाल से सम्बंधित पुरातात्त्विक सूचनाओं का सर्वथा अभाव है। व्यवस्थापन (बस्ती से जुड़े) इतिहास से जुड़ी प्राक्कलपनाओं के निर्माण और परीक्षण के समक्ष यह स्थिति अनेक समस्याएं खड़ी करती है।

राजनीतिक आख्यान और राजनीतिक संरचना

(Political Narrative and Political Structure)

पूर्व मध्ययुग का राजतंत्रीय सीमांकन परिवर्तनशील था और जिनको परिभाषित करना कठिन है। राजतंत्रों के केवल नाभिकीय क्षेत्रों और राजनीतिक केंद्रों को चिन्हित किया जा सकता है, इनकी सीमाओं को नहीं। इन शताब्दियों के राजनीतिक आख्यानों से कुछ बड़े तथा अपेक्षाकृत दीर्घकालिक राजतंत्रों की जानकारी मिलती है, जिनमें चोल, राष्ट्रकूट, पालवंश तथा प्रतिहारों का नाम लिया जा सकता है। वैसे अल्पकालिक अस्तित्ववाले राजतंत्रों की संख्या कहीं अधिक थी, जिनका नियंत्रण छोटे-छोटे क्षेत्रों में सिमित था। विभिन्न राजघरानों के बीच का सम्बंध युद्ध और संघर्ष से लेकर सैन्यसंधि या वैवाहिक संधि का रूप ग्रहण कर लेता था। इन राजघरानों ने भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में किस प्रकार राजनीतिक आधार तथा कृषि संसाधनों को विकसित किया, इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। बी.डी. चट्टोपाध्याय ([1983], 1987: 205-08) का मानना है कि पूर्व मध्यकालीन भारत में स्वशाखीय वंशजों और राज्यों के बीच बहुत भेद नहीं किया जा सकता। दरअसल, राजनीतिक संरचनाओं के केंद्र में स्वशाखीय वंशजों का अस्तित्व था।

राजनीतिक कुलीन वर्ग की स्थानिक गतिशीलता और उच्चस्तरीय सामरिक शक्ति का निर्माण, राजकीय समाज के विस्तार के साथ-साथ विकसित होते चली गई। इस युग में होने वाले अहर्निश युद्धों से यह स्पष्ट होता है कि दमनात्मक शक्ति और समकालीन राजनीति से सामरिक शक्ति के महत्त्व का पता चलता है। केंद्रीय सैन्य संगठनों के साथ-साथ सम्राटों के झगड़े सैनिकों पर भी आश्रित थे। उदाहरण के लिए, विहार और बंगाल से प्राप्त होने वाले पाल शासकों द्वारा निर्गत अभिलेखों में गौड़, मालव, खास, कुलिक, हूण, कर्णाट तथा लाट के बहाल किए गए सैनिकों का भी उल्लेख है। *राजतरंगिणी* में भी कश्मीर के शासकों के द्वारा अन्य क्षेत्रों से बहाल किए गए भाड़े के सैनिकों का भी वर्णन मिलता है। स्थायी तथा भाड़े पर बहाल किए गए सैनिकों के अलावा समय की मांग के अनुसार, सहयोगी और अधीनस्थ शासकों से भी सैन्य सहायता ली जाती थी।

कई बार ऐसा देखने को मिलता है कि राज्यनिर्माण की प्रक्रिया के क्रम में कई जनजातीय समुदायों का विस्थापन और संगठन भी हुआ। जनजातीय तथा ब्राह्मण संस्कृतियों के बीच चल रहा आदान-प्रदान, इस काल के अभिलेखों में अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत होता है, हालांकि, दोनों शब्दों के सटीक अभिप्राय को परिभाषित करना कठिन है। उदाहरण के लिए, असम के संस्कृत अभिलेखों में यत्र-तत्र, खासी, बोडो जैसे गैर-संस्कृत शब्द बिखरे पड़े हैं (लाहिरी, 1991: 101)। दक्षिण-पूर्व राजस्थान में गुहिया राजवंश का विस्तार झीलों के आखेटक-संग्राहक अवस्था से कृषक अवस्था में संक्रमण की प्रक्रिया के साथ-साथ हो रहा था। राज्य स्थापना से जुड़ी राजा गुहदत्त के द्वारा झील सरदार माण्डलिक की हत्या की किवदंती, गुहिलाओं और झीलों के बीच सता के लिए चल रहे खूनी संघर्ष का परिचायक है (सिन्हा कपूर, 2002: 38-39)। उड़ीसा में जनजातीय तत्वों के दृष्टिगोचर होने के दूसरे संदर्भ चिन्हित किए जा सकते हैं (सिंह, 1994: 287-88)। साम्राज्यवादी गंग शासक अनंतवर्मन चोडगंग के अभिलेखों में उनके एक पूर्वज कमारनव के द्वारा शबरादित्य को पराजित करने का उल्लेख आता है। स्पष्ट है, कि वह शबर राजनीति से सम्बंधित होगा। दूसरी ओर, कुछ राजवंशों के नाम, उनके अभ्युदय से जुड़ी किवंदतियों का विस्त्रग्नृत वर्णन, उनके द्वारा पूजित स्थानीय देवी-देवताओ के संदर्भ (जैसे स्तम्भेश्वरी की उपासना) इत्यादि यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि इनमें से कुछ शासक निश्चित रूप से वैसे सफल जनजातीय सरदार रहे होंगे, जिन्होंने राजनीतिक शक्ति हासिल किया तथा उनका हिंदूकरण हुआ। उड़ीसा के इतिहास में जनजातीय तत्वों की महत्ता का सर्वमान्य उदाहरण जगन्नाथ संप्रदाय के द्वारा प्रतिबिम्बित होती है। स्पष्ट रूप से जिसके उद्भव का जनजातीय परिप्रेक्ष्य था।

राजकीय अभिलेखों की प्रशस्तियों से प्रचलित राजनीतिक पदानुक्रमों का अनुमान लगाया जा सकता है। अधीनस्थ शासकों के द्वारा निर्गत अभिलेखों में अकसर उनके अधिपति शासकों का उल्लेख होता है और ठीक उसी प्रकार कई बार अधिपतिशासकों के द्वारा अभिलेखों में अपने अधीनस्थ शासकों का जिक्र किया गया है। यद्यपि, सामंतवादी प्राक्कल्पना को संपूर्ण रूप से विश्लेषित करने पर अनेक विवाद सामने आते हैं, फिर भी अधीनस्थ सामंतों को मोटे तौर पर वैसे अधीनस्थ शासकों के रूप में देख सकते हैं, जिन्हें अपने अधिपति के प्रति निष्ठापूर्ण समर्पण और आवश्यकता पड़ने पर सैन्य सहायता देनी पड़ती थी, किंतु आधिपत्य की इस श्रृंखला का भूमि अनुदानों से कोई

अन्यान्य परिचर्चा

ओडिशा के अभिलेखों में आदर्श शासक की छवि

साहित्यिक स्रोतों के आधार पर ही प्राचीन भारतीय राजतंत्रों के विश्लेषण करने की परिपाटी रही है। हालांकि, इस विषय के लिए अभिलेख भी सूचना के उतने ही महत्त्वपूर्ण स्रोत हो सकते हैं। राजतंत्रीय आदर्श की सूचना के लिए राजकीय प्रशस्तियों का विशेष महत्त्व है। विभिन्न क्षेत्र और काल के संदर्भ में राजा की आदर्श छवि प्रस्तुत करते हैं।

प्रारंभिक मध्यकालीन ओडिशा के राजकीय प्रशस्तियों में, उनकी वीरता, उनकी सैन्य उपलब्धियां और उनका शारीरिक सौंदर्य जैसी विशेषताओं की पुनरावृत्ति देखी जा सकती है। *महाभारत* के नायकों से, विशेषकर युधिष्ठिर से, अथवा पुरु, दिलिप, नल, नहुष, मंधाता, भरत तथा भागीरथ जैसे पौराणिक राजाओं से उनकी की गई तुलना की पुनरावृत्ति देखी जा सकती है। बहुधा, राजा की तुलना विविध देवताओं से भी की गई है, उन देवताओं से भी जिनके वे उपासक थे, अधिकांशतः शिव अथवा विष्णु से। परम-माहेश्वर, परम-भागवत तथा परम-वैष्णव जैसी उपाधियों से उनकी धार्मिक संबद्धता की सूचना मिलती है।

कुछ अभिलेखों में प्रजा के पालनकर्त्ता, धर्म के संरक्षक तथा वर्णों और आश्रमों के संस्थापनकर्त्ता के रूप में राजाओं की श्रुति की गई है। कलियुग के कलुष से परित्राणकर्त्ता के रूप में की गई उनकी स्तुति की भी पुनरावृत्ति देखी जा सकती है। उनकी धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक संबद्धता से परे, इन अभिलेखों में ऐसे संदर्भों की पुनरावृत्ति देखी जा सकती है। भौम-करस राजवंश के शासकों द्वारा निर्गत अभिलेखों में भी,ऐसे संदर्भ विद्यमान हैं, जबकि वे बौद्ध थे।

शैलोद्भव अभिलेखों में राजत्व वैदिक यज्ञ-अनुष्ठानों के आयोजनों से जुड़ा है। इनकी प्रशस्तियों में राजाओं के द्वारा सम्पन्न किए गए अश्वमेध और वाजपेय यज्ञों को रेखांकित किया गया है। कुछ पुरालेखों में इन आयोजनों का लोप भी दिखलाया गया है। शायद प्रारंभिक मध्यकालीन ओडिशा के किसी भी अन्य राजवंशों ने स्वयं को इस रूप में इतना अधिक प्रचारित नहीं किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन तथा पूर्व मध्ययुगीन ओडिशा में वैदिक यज्ञों का आयोजन, राजत्व के सिद्धांत और आदर्श से जुड़ा कोई बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं था।

वैसी प्रशस्तियां बहुत कम हैं, जिनमें शासकों के द्वारा निर्मित किए गए मंदिरों, मठों या विहारों की चर्चा की गई है। उनकी तुलना कल्प-वृक्ष से की गई है। कुछ पुरालेखों से उनके द्वारा प्रदत्त अनुदानों के स्वरूपों को निर्दिष्ट किया गया है, जिससे भूमि, स्वर्ण, अनाज, गो और हाथियों का उल्लेख सम्मिलित है। भूमि अनुदान अभिलेखों में आशीर्वचन युक्त तथा शापवाचक श्लोकों की शृंखला उपलब्ध है। राजा के द्वारा ब्राह्मणों को दिए गए अनुदानों की प्रशस्ति के रूप में इन्हें देखा जा सकता है। कुछ में संबद्ध राज्य को परम-ब्राह्मण्य (ब्राह्मणों के प्रति अत्यंत समर्पित) कहा गया है। इन संदर्भों के अतिरिक्त, दान विशेष रूप से भूमि अनुदानों से जुड़े सैकड़ों आलेखों के प्रमाण यह सूचना देते हैं कि ब्राह्मणों तथा धार्मिक प्रतिष्ठानों को दिए जाने वाले दान, विशेषरूप से भूमि अनुदानों को पवित्र कृत्यों की श्रेणी में रखा गया था, जो विशेष रूप से राजाओं से अपेक्षित था।

स्रोतः सिंह, 1994: 114-16

भी सीधा सरोकार दिखलाई नहीं देता। सैनिक सहायता की एवज में पूर्व मध्यकालीन शासकों के द्वारा भूमि अनुदान निर्गत करने के कुछ प्रमाण अवश्य हैं, लेकिन निश्चित रूप से यह कोई प्रचलित प्रवृति नहीं कही जा सकती।

राजनीतिक सर्वोच्चता का दावा तीन उपाधियों के प्रयोग से प्रतिबिम्बित होते हैं और सामान्यतौर पर अभिलेखों में इन तीनों को एक साथ उद्धृत किया जाता था–महाराजाधिराज, परमेश्वर और परमभट्टारक। सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न शासक के विषय में कई बार यह वर्णन उपलब्ध होता है कि इन्हें सामंतों अथवा अधीनस्थ शासकों के किसी समूह का समर्थन प्राप्त था। महाराज, सामंत, महासामंत राणक तथा महासामंताधिपति इत्यादि अधीनस्थ शासकों के लिए उपयुक्त उपाधियां थी। वैसे शासकों के सम्बंध में अक्सर यह वर्णन मिलता है कि उन्हें पांच महान शब्दों की उपलब्धि है (समधिगत-पंच-महाशब्द)। प्रत्यक्ष तौर पर उन्हें पांच वाद्ययंत्रों का संगीत सुनने का विशेषाधिकार प्राप्त था। उनके द्वारा अधिपति सम्राट के राजवंशीय सम्वत् का प्रयोग तथा अधिराज के चरणकमलों में समर्पण का वर्णन, उनके अधीनस्थ अवस्था की सूचना देता था।

राजकीय प्रशस्तियों में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग, अलंकारिक वाक्यांश तथा अतिशयोक्तिपूर्ण चाटुकारिता का उपयोग देखा जा सकता है, किंतु निर्गत किए गए मुहरों और संबोधन मंगलाचरणों के माध्यम से राजतंत्र से जुड़े प्रचलित आदर्श और व्यवहारों का पता चलता है। शासकों के लिए प्रयुक्त धार्मिक उपाधियों से उनकी धार्मिक संबद्धता के अतिरिक्त, उनकी राजकीय नीतियां भी प्रतिबिम्बित होती हैं। भूमि अनुदान अभिलेखों में दी गई उपाधियां और पदवियां, राजतंत्रों की प्रशासनिक संरचना में उपस्थित पदानुक्रम, कार्यकारी समुदाय इत्यादि का वर्णन करते हैं।

हालांकि, कई बार उनके सटीक अर्थ और अभिप्राय को हम नहीं समझ पाते। पूर्व मध्ययुग के पहले की अपेक्षा राजनीतिक शक्ति का उर्ध्वाधर और क्षैतिजीय समीकरण कहीं अधिक दृष्टिगोचर होता है। इस काल में जिस नवीन राजनीतिक कुलीन वर्ग का अभ्युदय हुआ था, उसका भूमिपति समूहों के साथ जबरदस्त सरोकार था। इनमें से एक बड़े भूमि पति वर्ग ने राजकीय भूमि अनुदानों से जन्म लिया था और उन्हीं के द्वारा वह पोषित भी हो रहा था।

यद्यपि, पूर्व मध्ययुगीन समाज की प्रकृति पितृसत्तात्मक थी, लेकिन इस काल का भारतीय इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा है, जिसमें रानियों को राजगद्दी का उत्तराधिकार सौंपा गया है। दिद्दा, यशोवती और सुगंधा कश्मीर की तीन प्रसिद्ध रानियां हुईं। चन्द्रादित्य की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी विजयामहादेवी को पूर्वी चालुक्यों के शासन की बागडोर दी गई। अपने राज्यारोहण के पांचवें वर्ष में उसने ब्राह्मणों के लिए एक भूमि के अनुदान को निर्गत किया। दिवाबरसी नाम की एक कदम्ब राजमाता ने तब तक राज्य चलाया जब तक युवराज बालिग नहीं हुआ। उसने

शोध की नई दिशाएं

रुद्रमादेवी, एक महिला राजा

रुद्रमादेवी, वारंगल के काकतीय राजवंश की चौथी स्वतंत्र शासक थी। सिंधिया टालबॉट ने, उसकी कथा का उपयोग मध्यकालीन भारत में महिला शासकों के विषय में उठाए गए कई प्रश्नों के संदर्भ में किया है। रुद्रमादेवी के राज्यारोहण के पहले, काकतीय राजवंश की परंपरा के अनुसार, उत्तराधिकार पिता से पुत्र, अथवा अग्रज से अनुज को हस्तांतरित होता रहा। रुद्रदेव (1163-1195) के बाद उनके भाई महादेव (1195-1198) ने सिंहासन संभाला। महादेव के बाद शासन उसके पुत्र गणपति (1199-1261) के हाथों में गया। गणपति के कोई पुत्र नहीं थे और शायद तब तक उसके सभी भाई भी चल बसे थे। उसने अपनी पुत्री रुद्रमादेवी को अपना उत्तराधिकारी चुना और शायद कुछ वर्षों तक दोनों ने संयुक्त रूप से शासन भी किया। बाद में रुद्रमादेवी ने स्वतंत्र रूप से शासन की बागडोर संभाली। सन् 1262 के उपरांत के काकतीय राजवंश के अभिलेखों में रुद्रमादेवी का ही उल्लेख राजा के रूप में किया गया है। इस रानी का लंबा शासन काल 1289 में उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हुआ।

रुद्रमादेवी ने दक्षिण तमिलनाडु के पाण्ड्य, उड़ीसा के पूर्वी गंग शासक तथा देवगिरि के सेउना शासकों को पराजित किया। सिर्फ रानी को कायस्थ परिवार के अम्बादेव द्वारा किए गए विद्रोह को दबाने में कम सफलता मिली। विद्रोह करने वाले काकतीय राजवंश के अधीनस्थ सामंत थे। रानी ने युद्ध के मैदान में पुरुष वेश धारण कर अपने सैनिकों का नेतृत्व किया, किंतु शायद युद्ध के दौरान ही उनकी मृत्यु हो गई। उसके आदेश पर निर्मित एक मंदिर के स्तंभ पर लगी पट्टिका पर उसे दुर्गा के समान एक स्त्री योद्धा के रूप में दिखलाया गया है, जिसके हाथों में खडग और ढाल दिखाया गया है। उसे राया-गज-केसरी की उपाधि दी गई है। रुद्रमादेवी केवल जैविक दृष्टिकोण से एक स्त्री थी, अभिलेखों में उन्हें किसी भी शूरवीर पुरुष शासक से कमतर नहीं दर्शाया गया है।

रुद्रमादेवी के राजशासन में निर्गत अधिकांश अभिलेखों में उन्हें महाराजा के रूप में संबोधित किया गया है, तथा उनके नाम के पुरुष रूपांतर रुद्रदेव का ही प्रयोग किया गया है। *प्रतापरुद्रीय* नामक 14वीं सदी की एक कृति में यह स्पष्ट किया गया कि रुद्रमा के स्थान पर उन्हें रुद्र संबोधित करने का निर्णय, उनके पिता गणपति के द्वारा ही लिया गया था। यहां रानी के दामाद चेल्लना के द्वारा निर्गत एक ताम्रपत्र अभिलेख का उल्लेख प्रासंगिक है, जिसमें उसके नाम के पुरुष तथा स्त्रैण रूपांतर को प्रत्येक पद्य में बदल-बदलकर प्रस्तुत किया गया है। रुद्रमादेवी का विवाह स्रोतों के अनुसार, एक अस्पष्ट छवि वाले व्यक्ति, वीरभद्र से हुआ था, जो पूर्वी चालुक्य राजवंश का था। इनके कोई पुत्र नहीं थे, केवल पुत्रियां थीं। रुद्रमादेवी की मृत्यु के पश्चात् शासन का उत्तराधिकार उसकी बेटी मुम्मम्मा के पुत्र प्रतापरुद्र को दिया गया, जो काकतीय राजवंश का अंतिम शासक था।

टालबॉट का मानना है कि इस युग की विकेंद्रीकृत राजनीतिक शक्ति भी एक ऐसा कारण थी, जिसके चलते रुद्रमादेवी जैसी महिलाओं का सफलतापूर्वक राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करना संभव हो सका। यद्यपि, कि इस समय औपचारिक रूप से सत्ता पर पुरुषों के वर्चस्व का सिद्धांत सर्वमान्य तथ्य था। दूसरा कारण इस काल की वैसी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था थी, जिसमें परिवार की भूमिका काफी अहम थी। एक महिला सत्तारूढ़ हो सकती थी, यदि केवल उसी माध्यम से सत्ता परिवार के निकटतम सम्बंधी को हस्तांतरित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त विवाह और कुल परंपरा की द्राविड़ मान्यता के अंतर्गत स्वजन समुदायों में अंतर्गोत्रीय विवाह की पुनरावृत्ति प्रचलन में था, जिसके परिणामस्वरूप एक ऐसा सामाजिक परिवेश था, जिसमें एक महिला का अपने मायके से विवाह के बाद भी मजबूत सम्बंध बना रहता था।

स्रोत: टालबॉट, 1995

भी भूमि अनुदान दिए। ओडिशा के भौम-कारा राजवंश के इतिहास में एकाधिक महिलाओं के शासन की बागडोर संभाली। सामंतों के आग्रह पर पृथ्वी महादेवी, जिसे त्रिभुवन महादेवी के नाम से भी ख्याति मिली थी, ने राजगद्दी संभाली थी। भौमकर महारानियों में दण्डिमहादेवी, धर्म महादेवी तथा वल्कुल महादेवी के नाम भी आए हैं, जिन्होंने राजगद्दी संभाली थी। इन महिलाओं ने अधिकतर, पुरुष उत्तराधिकारियों के अभाव में शासन की बागडोर संभाली थी, लेकिन पृथ्वी महादेवी के विषय में उसके सोमवंशी राजघराने की बेटी होने तथा उनके हस्तक्षेप के कारण उसे राजगद्दी मिलने की संभावना दिखलाई पड़ती है। भौमकर रानियों के लिए साम्राज्यिक पदवियों का स्त्रैण रूपांतर प्रयोग में लाया गया—परम-भट्टारिका तथा महाराजाधिराजा (दोनों के अंत में अतिरिक्त 'अ' को उपसर्ग के रूप में जोड़ा गया) और परमेश्वरी। रुद्रमादेवी, 13वीं शताब्दी के आंध्र देश की एक काकतीय रानी थी, जिसको उसके पिता ने अपने उत्तरधिकारी के रूप में मनोनीत किया। उपरोक्त सभी उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि, यद्यपि, पूर्व मध्यकालीन भारत में शक्ति सामान्य रूप से पुरुषों के हाथों में निहित थी, लेकिन विशेष परिस्थितियों में महिलाओं को भी शक्ति हस्तांतरित की जा सकती थी।

पूर्व मध्यकालीन इतिहास की पुनर्रचना के समक्ष एक बड़ी समस्या यह है कि विभिन्न राजवंशों ने अपनी-अपनी राजनीतिक सफलता का अतिशयोक्तिपूर्ण दावा किया है और कई बार उनके प्रतिस्पर्द्धी राजवंशों ने इन दावों का पूर्ण रूप से खंडन भी किया है। फिर एक आधारभूत आख्यान की पुनर्रचना की जा सकती है (मजूमदार [1955], 1964; [1957], 1966)। यहां पर विस्तृत वर्णन करना अपेक्षित नहीं है, किंतु प्रस्तुत विमर्श के द्वारा हम एक संक्षिप्त रूपरेखा तैयार कर सकते हैं, जिसमें 600–1200 सा.सं. के बीच के कुछ महत्त्वपूर्ण राजवंशों पर केंद्रित किया जा सकेगा।

दक्कन

600–900 सा.सं. के बीच प्रायद्विपीय भारत का राजनीतिक इतिहास, बादामी के चालुक्य (जिन्हें पश्चिमी चालुक्य के नाम से जानते हैं), कांची के पल्लव और मदुरई के पाण्डयों के मध्य हुए परस्पर संहार युद्धों के द्वारा चिन्हित किया जा सकता है। तीनों शक्तियों का उदय छठी शताब्दी में हुआ, केवल 8वीं शताब्दी के मध्य में मान्यखेट के राष्ट्रकूटों ने चालुक्यों का स्थान ग्रहण कर लिया। बादामी के चालुक्यों के अतिरिक्त उनकी दो शाखाएं थीं, जो स्वतंत्र रूप से शासन करते थे–लाट के चालुक्य और वेंगी के पूर्वी चालुक्य। मैसूर के पूर्वी गंगा तथा पूर्वी चालुक्यों के द्वारा पश्चिमी चालुक्यों, पल्लवों और पाण्डयों के बीच चल रहे संघर्ष में बीच-बीच में हस्तक्षेप किया जाता रहा।

पश्चिमी चालुक्य स्वयं को मानव्य गोत्र के हरितिपुत्र के रूप में ब्राह्मण मूल का मानते थे। एक स्वतंत्र राजवंश के रूप में इसकी स्थापना पुलकेसिन-I (535–66) ने की थी। उसने वतापी (बादामी) में एक विशालगढ़ की नींव रखी तथा अश्वमेध समेत, बड़ी संख्या में श्रौत यज्ञों को सम्पन्न करने का श्रेय उसको दिया जाता है। पुलकेसिन-I के पुत्र कीर्तिवर्मन-I (566/67–597/98) ने बनवासी के कदम्ब शासकों, कोंकण के मौर्यों और बस्तर क्षेत्र के नल शासकों को पराजित किया तथा राज्य का विस्तार किया।

कीर्तिवर्मन के शासन के अंतिम चरण में उत्तराधिकार के लिए उसके भाई मंगलेश और उसके भतीजे पुलकेशिन-II के बीच एक संघर्ष हुआ। पुलकेशिन-II (610/11–642) इस संघर्ष में विजयी हुआ और उसने महत्त्वपूर्ण सैन्य सफलताएं प्राप्त कीं। बनवासी के कदम्ब, अलप और मैसूर के गंग शासकों को उसने पराजित किया। उसने पूर्वी दक्कन, दक्षिण कोशल और कलिंग के विरुद्ध भी अभियान किया। उसकी सबसे अविस्मरणीय विजय नर्मदा के तट पर हर्षवर्धन के विरुद्ध हुए युद्ध को माना जाता है। पुलकेशिन-II ने पल्लवों पर भी सफल आक्रमण किया, लेकिन कुछ ही काल पश्चात पल्लवों की एक सेना ने उसको मार कर बादामी पर कब्जा कर लिया। बादामी तथा चालुक्य साम्राज्य के दक्षिणी हिस्से पर लंबे समय तक पल्लवों का नियंत्रण बना रहा। 8वीं सदी के मध्य में राष्ट्रकूटों के पश्चिमी चालुक्यों को पराजित कर दिया।

आठवीं शताब्दी में ही आंध्र के वेंगी में पूर्वी चालुक्यों ने अपने स्वतंत्र राजवंश की स्थापना की। इस वंश के प्रारंभिक शासकों में विष्णुवर्द्धन-I प्रमुख कहा जा सकता है, किंतु विजयादित्य-II इस राजवंश का सबसे विख्यात सम्राट था। अपने शासक की शुरुआती दौर में राष्ट्रकूटों से उसकी हार हुई, किंतु शीघ्र ही न केवल उसने राष्ट्रकूटों को पराजित किया बल्कि गंग शासक तथा गुजरात के विरुद्ध उसे सफलता मिली। राष्ट्रकूट अभिलेखों में शक्ति संतुलन में हुए परिवर्तन का यथार्थ वर्णन मिलता है, जिसमें स्वीकार किया गया है कि चालुक्यों के महासमुद्र में उनका राजवंश डूब गया, किंतु थोड़े ही समय बाद राष्ट्रकूटों ने अपनी खोई शक्ति वापिस पा ली तथा पूर्वी चालुक्यों को उनकी सर्वोच्चता स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। दोनों राजपरिवारों के बीच वैवाहिक सम्बंध भी स्थापित हुए।

पूर्वी चालुक्य शासक विजयादित्य-III (848–92) ने दावा किया है कि उसने पल्लवों और पाण्ड्यों को पराजित किया तथा एक चोल शासक को आश्रय दिया। उसने गंगा, राष्ट्रकूट, कालचुरि तथा दक्षिण कोशल के एक शासक को पराजित करने का दावा किया है। भीम-I (892–922) के काल में भी चालुक्यों का राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष चलता रहा।

प्राथमिक स्रोत

पुलकेशिन का ऐहोले अभिलेख

ऐहोले (बागल कोट जिला, कर्नाटक) का मेगुती मंदिर एक पहाड़ी पर अवस्थित है। यहां के मनोरम दृश्य के साथ-साथ महापाषाणों को भी नीचे देखा जा सकता है। इस जैन मंदिर के पश्चिमी दीवार पर 19 पंक्तियों वाला संस्कृत में एक पद्यात्मक अभिलेख है, जिसमें 7वीं सदी में प्रचलित दक्षिण भारतीय लिपि का प्रयोग किया गया है। इस अभिलेख की तिथि शक संवत् 556 (634-35 सा.सं.) दी गई है। इस अभिलेख के लेखक और इस मंदिर के निर्माता का नाम रवि कीर्ति उत्कीर्ण है। यह चालुक्यों की और विशेषकर सिंहासनरूढ़ सम्राट पुलकेशिन की प्रशस्ति है, जिसे सत्याश्रय (सत्य जहां आश्रय पाता है) से संबोधित किया गया है। इसमें राजवंश का विस्तृत इतिहास उपलब्ध है, किंतु इनसे भी अधिक अभिलेख की साहित्यिक उत्कृष्टता है। इसलिए जब 37वें पद्य में रविकीर्ति ने अपनी तुलना कालीदास और भास के साथ की है, तो यह अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगता। इस प्रशस्ति के अनुदित उद्धरण यहां उपलब्ध है, जिसमें उनके जैसे सर्वनामों का प्रयोग पुलकेशिन-II के लिए हुआ है।

पवित्र जिनेन्द्र की जय हो—जन्म, जरा और मृत्यु से जो मुक्त है—जिनके ज्ञानरूपी सागर में यह संसार एक द्वीप के समान अवस्थित है। उसके बाद, असीम महासमुद्र के समान विशाल चालुक्य परिवार की जय हो, जिसने उन रत्नों को जन्म दिया है, जो पृथ्वी के मुकुट के आभूषण हैं। फिर सत्याश्रय की जय हो, जिन्होंने वीरों एवं विद्वानों के सम्मान के संदर्भ में कभी भी संगति के नियमों की संख्या नहीं देखी....

इसके पश्चात् चालुक्य वंश के प्रारंभिक शासकों का एक संक्षिप्त वर्णन दिया गया है, जिसमें पुलकेशिन-II के चाचा मंगलेश तक का राज्य काल सम्मिलित है।

... उस शासन में (मंगलेश के) जब शत्रुओं के प्रभाव का अंधियारा फैला हुआ था, तब उनके (पुलकेशिन-II के) अप्रतिरोध्य वैभव के सम्मोहन की चमकदार किरणों के आक्रमण ने संपूर्ण धरती को एक बार फिर से प्रकाशित कर दिया अथवा गरजते हुए मेघ और मानो मधुमक्खियों की झुंड से आच्छादित आकाश की कालिमा को चीरती हुई, उनकी बिजली की चमक ऐसी दिखलाई पड़ रही थी, मानो आकाश में ध्वजाएं लहरा रही हों या जिनका धारदार किनारा प्रचंड तूफान से टकरा रहा है।

अवसर मिलते ही, वह जो अपायिक के नाम से जाना था तथा गोविंद ने अपने-अपने गज सेना के साथ भैमरथी के उत्तर देश को अधीन करने के लिए आगे बढ़े, तब उनकी (पुलकेशिन-II) सेना ने एक को यह अहसास करा दिया कि भय क्या होता है, जबकि दूसरे को उसके द्वारा प्रदान की गई सेवाओं के बदले उसे तत्क्षण पुरस्कृत किया। जब वे (पुलकेशिन-II) वनवासी को घेर रहे थे, वहां वरदा की ऊंची लहरों पर क्रीड़ा करते हंस पक्षी, करधनी के समान शृंखलाबद्ध दिखलाई पड़ते हैं, जिस नगर की समृद्धि, देवलोक की समृद्धि के साथ प्रतिस्पर्द्धा करती है, भूमि पर जो दुर्ग है, जिसकी संपूर्ण धरा पर सैनिकों का मुद्र आच्छादित है, जो देखनेवालों को क्षणभर के लिए जलमग्न दुर्ग में रूपांतरित होता प्रतीत होता है।

यद्यपि, गंग और अलूप वालों ने पिछले दिनों अपने सातों पापकृत्यों का प्रायश्चित कर लिया था और अपने लिए संतोषजन स्थिति भी प्राप्ति कर ली थी, तथापि उनके (पुलकेशिन-II) आधिपत्य को स्वीकार कर लेने के पश्चात ही वे उनके सान्निध्य का अमृतपान कर वे अभिभूत हुए। कोंकण के मौर्यों को किसी पोखर में उठ रही तरंगिका के समान उनके (पुलकेशिन-II) की नेतृत्व के प्रचंड वेग ने अतिशीघ्रता से बहा डाला।

जब पुर के संहारकर्त्ता (अर्थात् शिव) के समान देदीप्यमान होकर उन्होंने (पुलकेशिन-II) पश्चिमी सागर पर अवस्थित पुरी को घेर लिया। तब ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उनके सैंकड़ों जहाजों ने मदमस्त हाथियों के व्यवस्थित झुंड के साथ व्यहू-रचना बनाई है। गहरा नीला आसमान किसी खिले हुए कमल के समान दिखलाई पड़ रहा था, जिस आसमान में विशालकाय बादलों के अनेक स्तर दिख रहे थे। आकाश, समुद्र सा दिखलाई पड़ रहा था और समुद्र आकाश की तरह।

उनके (पुलकेशिन-II) वैभव से दभित होने के पश्चात लाट, मालव और गुर्जर वैसा ही व्यवहार करने लगे थे, जैसा कि दभित होने के बाद सामंतों को शिक्षित करने वाले आचार्यों को करना चाहिए।

हर्ष, जिसके चरण कमलों में असीम शक्ति संपन्न सामंतों के मुकुट के रत्नों की व्यवस्थित आभा सुसज्जित रहती थी, उनके (पुलकेशिन-II) कारण उसका आनंदातिरेक, भय में रूपांतरित हो गया और उसकी अवस्था इतनी विभत्स हो गई, जितनी युद्ध के मैदान में गिरे हुए हाथियों की हो जाती है, जिस कालवधि में अपनी विशाल सेना के साथ वे (पुलकेशिन-II) धरती पर शासन कर रहे थे, उस

समय पड़ोस का विंध्य, पर्वतों से प्रतिस्पर्धा करने वाले उनके हाथियों के झुंड के भय से स्वयं को सुरक्षित करने में ही अपनी भलाई समझता था। यद्यपि, रेवा के बलुआही तटों की अपनी चमक कम नहीं थी, किंतु देश उनके (पुलकेशिन-II) की व्यक्तिगत पराक्रम के आलोक से और अधिक चमकने लगा था।

इंद्र के समतुल्य उसने (पुलकेशिन-II) त्रिशक्ति को नीतिसम्मत माध्यम से अर्जित किया था, उच्च कुल में जन्म तथा अन्यान्य सर्वोत्तम विशेषताओं से सम्पन्न, उन्होंने तीन महाराष्ट्रकों पर और साथ में उनके नौ तथा नब्बे हजार गांवों पर अपनी सम्प्रभुता स्थापित की थी।

जीवन के तीन उद्देश्यों की प्राप्ति में लगे सर्वोत्कृष्ट गृहस्थों के संरक्षक और धरती के अन्य शासकों का दर्पदमन करने वाले, उनकी (पुलकेशिन-II) सेना का भय कलिंग और कोशल में व्याप्त था। उनके दबाव (पिष्ठ) से पिष्ठपुरा अब अभेद्य दुर्ग नहीं रहा, जबकि वे स्वयं कलियुग के व्यवहारों के लिए अभेद्य बने रहे।

कुणाल के पानी को उनका क्रोध झेलना पड़ा–विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों से मारे गए लोगों के रक्त से उसका रंग लाल हो गया तथा उसके आस-पास की भूमि को आभूषणों से अंलकृत हाथियों ने रौंद डाला–ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो मेघाच्छादित आकाश में गोधूली की लालिमा का उदय हो गया हो।

उनकी षट्वाहिनी सेना, वंशानुगत स्थायी सेना और अन्य जो विशुद्ध चौरिसों, सैकड़ों ध्वजाओं, छत्रों के वाहक थे, उन्होंने उन सभी शत्रुओं की वीरता और ऊर्जा के उन्माद को धूल-धूसरित कर दिया। पल्लव अधिपति जिसने उनके राज्यारोहण का विरोध किया था। उनकी भी उसकी (पुलकेशिन-II) सेना के द्वारा उड़ाए गए धूल की आंधी ने धूमिल कर दिया, तथा वे कांचीपुरा की दीवारों के पीछे ही लुप्त हो गए। जब उसने (पुलकेशिन-II) चोल विजय के लिए प्रयास किया, तब कावेरी की छिद्रान्वेषण करने वाली कम्पायमान आंखे बरछे फेंक रही थी। मदकाल में मस्त हाथियों ने, जिनके द्रव्य झड़ रहे थे, उन्होंने उसकी धारा को रोककर पक्की नदी पथ का मानो निर्माण कर दिया, और महासागर से मिलन के उसके मार्ग को अवरुद्ध कर दिया।

वह (पुलकेशिन-II) जहां एक ओर चोल, केरल और पाण्ड्यों की असीम समृद्धि का कारण बने, वहीं दूसरी ओर धवल-तुषार रूपी पल्लव सेना के लिए प्रचंड सूर्य की किरण।

सत्याश्रय को ऊर्जा, निपुणता तथा श्रेष्ठ सलाहाकरों की शक्ति प्राप्त थी–उन्होंने सभी दिशाओं को जीत लिया, अतिसमर्थ शासकों को पदच्युत कर दिया, ब्राह्मणों और ईश्वर को श्रद्धासुमन अर्पित किए। जब उन्होंने वटापी नगर को सुशोभित किया, तब सारी पृथ्वी उस नगर से शासित हो रही थी, उस नगर में खंदकों के स्थान पर उमड़ते हुए सागर का गहरा नीला पानी दिखलाई पड़ता था। जिनेन्द्र का यह शैल भवन, सभी महानताओं का भवन है, जिसका निर्माण रविकीर्ति ने करवाया है, जिसे सत्याश्रय का उच्चतम अनुग्रह प्राप्त हुआ, वह (पुलकेशिन-II) जिसका राज्य तीन और से महासागरों द्वारा घिरा हुआ है।

स्रोतः कीलहॉर्न, 1900-01

भीम को एक बार शत्रुओं ने बंदी बनाया, किंतु उसे रिहा कर दिया गया। विजयादित्य-IV के राज्यकाल से ऐसे कई उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हुए, जिसमें राष्ट्रकूटों का हस्तक्षेप था। कुछ शासकों ने बहुत अल्प काल के लिए गद्दी संभाली–इनमें विजयादित्य-IV ने छह महीनों के लिए, ताल ने एक महीने के लिए तथा विजयादित्य-V ने केवल 15 दिनों के लिए शासन किया। भीम-II और अम्बा-II के शासनकाल में कुछ समय के लिए राजनीतिक स्थायित्व की पुनर्स्थापना हुई, किंतु राजवंश के पतन की प्रक्रिया को वे नहीं रोक सके। 999 सा.सं. में राजराज चोल ने वेंगी पर नियंत्रण कर लिया।

ब्राह्मी लिपि, ऐहोले अभिलेख

753-975 सा.सं. के बीच, दक्कन का राजनीतिक इतिहास राष्ट्रकूटों के उद्भव में रेखांकित किया जाता है। अपने कुछ ताम्रपत्र अभिलेखों में राष्ट्रकूटों ने स्वयं को यदु का वंशज बताया है (महाकाव्यों में यदु, ययाति के पुत्र तथा पुरू एवं तुर्वसु के भाई थे; कृष्ण को यदु का वंशज माना जाता है)। विभिन्न अभिलेखों में उनकी उत्पत्ति के पौराणिक गाथाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनके अनुसार, राष्ट्रकूट, यदुवंश की सत्यिकी शाखा के थे, जिनमें उनके पूर्वज के मूलनाम का उल्लेख था।

'राष्ट्रकूट' का अभिप्राय एक राष्ट्र के मुखिया से है (प्रमंडल या राज्य, जो संदर्भ के अनुसार, उपयोग में आता है)। यह शब्द चौथी शताब्दी के बाद, कई राजवंशों के अभिलेखों में उद्धृत है। सामान्यतः इसका प्रयोग प्रांतीय अधिकारियों के एक वर्ग के लिए हुआ है। इसलिए संभव है कि राष्ट्रकूट भी मूल रूप से उसी वर्ग के अधिकारियों का एक समूह रहा होगा। कुछ इतिहासकारों ने राष्ट्रकूटों को अशोक के अभिलेखों में वर्णित रथिकों से अथवा कन्नड़-तेलुगु

मानचित्र 10.1: **प्रायद्विपीय भारत के प्रमुख राजवंश, ल. 700-1300**

और रेड्डी जाति के साथ जोड़ने का प्रयास किया है, जो विश्वसनीय नहीं है। इस राजवंश की उत्पत्ति कन्नड़ भाषी क्षेत्र के साथ जोड़ी जा सकती है। इस राजवंश की मुख्य शाखा तथा सह-शाखाओं ने लतालुर-पुरवेश्वर की उपाधि का प्रयोग किया है (लतालुर नामक महानगर के अधिपति)। लतालुर को महाराष्ट्र–कर्नाटक सीमा पर स्थित लातुर से चिन्हित किया गया है। राष्ट्रकूटों ने उत्तर तथा दक्षिण भारत में अभूतपूर्व सैन्य सफलताएं हासिल कीं। किसी न किसी काल में उनके द्वारा उनकी सभी प्रमुख समकालीन शक्तियां—यथा प्रतिहार, पाल, पूर्वी चालुक्य तथा चोल, उनके हाथों पराजित हुए, किंतु उत्तर में प्राप्त की गईं उपलब्धियों को वे बहुत दिनों तक संभाल नहीं सके।

ऐसा प्रतीत होता है कि 625 सा.सं. में राष्ट्रकूटों का लातुर क्षेत्र से इलिचपुर (आधुनिक मध्य प्रदेश में तापी नदी के उद्गम के निकट) में स्थानांतरण हो गया। यहां उन्होंने अपनी जागीर तैयार की और कई पीढ़ियों तक चालुक्यों के सामंतों के रूप में राज किया। दंतीदुर्ग के काल में उन्होंने स्वतंत्र राज्य की नींव डाली। (दंती दुर्ग

वीरगल पत्थर, कर्नाटक

अर्थात जिसका हाथी ही उसका दुर्ग है)। उसका राज्यारोहण 733 सा.सं. में हुआ। दंती दुर्ग को अनेक सैन्यविजयों का श्रेय जाता है तथा उसने साम्राज्यिक उपाधियां धारण कीं।

दंतीदुर्ग के उत्तराधिकारियों के अधीन राष्ट्रकूट साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ। विशेषरूप से कृष्ण-I और गोविंद-III और अमोघवर्ष उल्लेखनीय है। उन्होंने उत्तर भारत में हस्तक्षेप किया और प्रायद्विपीय भारत में भी, किंतु पश्चिमी चालुक्यों, पूर्वी चालुक्यों, पूर्वी गंगा और पल्लवों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों की विजयलीला अल्पकालिक रही। एलोरा के भव्य कैलाशनाथ मंदिर का निर्माण राष्ट्रकूट शासक कृष्ण-I के काल में हुआ। अमोघवर्ष (814-878) ने मान्यखेट (आधुनिक मालखेट के रूप में चिन्हित) के रूप में अपनी नई राजधानी का निर्माण किया। वह साहित्य का संरक्षक था और स्वयं भी एक विद्वान था। काव्य पर कन्नड़ की प्राचीनतम रचना कविराजमार्ग के लेखन का श्रेय उसी को जाता है। बाद के राष्ट्रकूट राजाओं ने भी साधारण सफलताएं अर्जित की—जैसे इंद्र-III के काल में उन्होंने कन्नौज पर कब्जा किया, तथा चोलों को भी उन्होंने पराजित किया, किन्तु उन्हें अनेक विफलताएं भी मिलीं। 10वीं शताब्दी के अंत में परमारों ने मान्यखेट पर कब्जा कर लिया और इसके बाद राष्ट्रकूटों का पतन सुनिश्चित हो गया।

प्रायद्विपीय भारत के विभिन्न हिस्सों के उत्कीर्ण तथा अनुत्कीर्ण स्मारक-पत्थर पाए जाते हैं (सेत्तर, ए.डी.) जो उस काल के समाज में विद्यमान हिंसा और संघर्ष के अलग-अलग स्वरूपों को प्रतिबिम्बत करते हैं। ये मृतकों की प्रस्तरीय स्मारकों के निर्माण की व्यापक और लंबे समय से चली आ रही परम्परा का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। कर्नाटक में पाई जाने वाली विशाल संख्या में इन स्मारक पत्थरों के रूप, शैली और सामग्री की विविधता भी देखी जा सकती है। कालानुक्रम की दृष्टि से ये 5वीं से 19वीं शताब्दियों के बीच के हैं, जिनमें सर्वाधिक पत्थर 10वीं-13वीं सदियों के बीच स्थापित किए गए थे। इनमें वीरगल (नायकों के स्मारक) पत्थरों की बहुलता है, तथा उनमें भी अधिकांश पशुओं के आक्रमण के दौरान हुई मृत्यु के उपलक्ष्य में लगाए गए थे।

हालांकि, केम्बलु में एक रोचक स्मारक पत्थर पाया गया, क्योंकि यह किसी रानी की स्मृति में स्थापित किया गया था, जिसने इस प्रकार के किसी युद्ध में पुरुषों का नेतृत्व किया था। शत्रुओं के हाथों पड़ी असहाय नारियों के बलात्कार से रक्षा करते हुए, अपने मित्र और परिजनों की मदद या उनको बचाने के दौरान तथा अपने अधिपति और उसकी भूमि की रक्षा करने के क्रम में मृत्यु को प्राप्त किए वीरों के लिए, ऐसे स्मारक पत्थर लगाए जाते रहे। राजाओं, राजकुमारों, लुटेरों और दमनकारियों अधिकारियों से अपने गांवों और शहरों की रक्षा करते हुए शहीद वीरों की स्मृति में लगाए गए स्मारक पत्थरों को दखा जा सकता है। हाथियों, गायों, जंगली सुअर, बाघ और यहां तक कि घोड़ों से संघर्ष करते हुए मृतकों की स्मृति में भी स्थापित किए गए स्मारक पत्थरों को देखा जा सकता है। कभी-कभी केवल संबद्ध वीरों के नाम पाए जाते हैं, उनकी मृत्यु की परिस्थितियों का कोई उल्लेख नहीं होता।

सुदूर दक्षिण

तमिलनाडु में वीरगल पत्थरों की बहुलता सटे हुए कर्नाटक की दक्षिणी सीमा में देखी जा सकती है, जिनमें से अधिकांश 5वीं/6वीं—12वीं शताब्दियों के बीच स्थापित किए गए थे। इस काल के बाद इनकी संख्या में कमी आ गई। इस क्षेत्र में पाए जाने वाले प्राचीनतम स्मारक पत्थरों की भाषा तमिल और लिपि वट्टेलुत्तु है, जबकि बाद में स्मारक पत्थरों की भाषा तमिल और लिपि भी तमिल ही है। कर्नाटक की तरह, तमिलनाडु के अधिकांश वीरगल पत्थरों को पशुधन से जुड़े युद्धों से संबद्ध कहा जा सकता है। कुछ में हिंसा की अन्य घटनाओं, यथा—युद्ध, लुटेरों का आक्रमण या जंगली पशुओं के आक्रमण प्रतिबिम्बित होते हैं। इस क्षेत्र के वीरगल पत्थरों की तुलना किसी भी अन्य क्षेत्र में पाए जाने वाले ऐसे पत्थरों से की जा सकती है। सामान्य रूप से इन पर हाथों में अस्त्र के साथ वीरों की खड़ी, एकल उद्भृत फलक देखे जाते हैं। ज्यादातर उनके दाएं हाथ में खड्ग तथा बाएं हाथ में एक तीर, धनुष या ढाल होती है, साथ ही उनके कंधे पर तीरों से भरा एक तरकश भी दिखलाया जाता है। उनका चेहरा, पार्श्व में होता है और धड़ सामने; तथा आमतौर पर उनका बायां पैर, उनकी सक्रियता को दर्शाने के उद्देश्य से ऊंचा उठा होता है। साथ में एक पादांगखंड या स्मारक मंदिर भी समीप में उद्भृत् होता है।

इस काल में सुदूर दक्षिण के राजनीतिक इतिहास में पल्लव, पाण्डय, चेर, चोल का प्रभुत्व देखा जा सकता है (शास्त्री [1955], 1975: 146-215)। पल्लवों का क्षेत्र

तोण्डईमंडलम् कहा जा सकता है, जो उत्तरी पेन्नार और उत्तरी वेल्लार नदियों के बीच की भूमि है। अभिलेखों में इस वंश के शिवस्कन्दवर्मन जैसे प्रारंभिक राजाओं का उल्लेख है, जिसका काल प्रारंभिक चौथी शताब्दी निर्धारित किया गया है, किंतु छठी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में जिस शासक को पल्लवों के अभ्युदय का श्रेय दिया जा सकता है, वह सिंह विष्णु था। कलभ्रों के द्वारा फैलाए राजनीतिक उपद्रवों का अंत कर, उसने कावेरी तक के क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया। जिस क्रम में उसका पाण्ड्य तथा श्रीलंका के शासकों के साथ संघर्ष हुआ।

सिंहविष्णु का उत्तराधिकारी महेन्द्र वर्मन-I (590-630) था, जो कला के संरक्षक तथा स्वयं एक कवि और संगीतज्ञ के रूप में विख्यात है। उसके काल में पल्लवों तथा पश्चिमी चालुक्यों के बीच संघर्ष का सिलसिला शुरू हुआ। पुलकेशिन-II की सेना पल्लवों की राजधानी कांचीपुरम के बिल्कुल निकट तक पहुंच गई थी और राज्य का उत्तरी हिस्सा उसके कब्जे में चला गया। बाद में नरसिंह वर्मन-I महामल्ल (630-68) के काल में पल्लवों ने चालुक्यों को श्रीलंका के एक राजकुमार मानवर्मा की सहायता से कई बार पराजित किया (मानवर्मा बाद में श्रीलंका द्वीप का राजा बना)। इस नए दौर की परिणति तब हुई, जब नरसिंह वर्मन ने चालुक्यों पर आक्रमण कर उनकी राजधानी बादामी पर कब्जा कर लिया। पल्लव शासकों के द्वारा चोल, चेर और कलभ्रों को पराजित करने का दवा किया गया है। मानवर्मा की सहायता के लिए दो नौसैनिक अभियान भी सफल हुए, किंतु शीघ्र ही इस श्रीलंका के राज्य ने अपना राज्य खो दिया और उन्हें पल्लवों के राजनीतिक आश्रय में जाना पड़ा। नरसिंहवर्मन को स्थापत्य के एक अतिउत्साही संरक्षक के रूप में भी जाना जाता है। मामल्लपुरम के बंदरगाह और रथों के नाम से प्रसिद्ध पांच मंदिरों के निर्माण का श्रेय उसे जाता है।

इसके बाद के दशकों तक पल्लव-चालुक्य संघर्ष चलता रहा, केवल बीच-बीच में युद्ध विराम का काल आया। पल्लवों का संघर्ष दक्षिण में पाण्ड्यों से और उत्तर में राष्ट्रकूटों से भी हुआ। 9वीं शताब्दी की शुरुआत में ही, पल्लवशासक दंतीवर्मन के काल में राष्ट्रकूट शासक गोविंद-III ने कांची पर आक्रमण कर दिया। दंतीवर्मन के पुत्र नंदीवर्मन-III ने पाण्ड्यों को हराने में सफलता पाई। साम्राज्यवादी पल्लव शासकों में, अपराजित अंतिम सम्राट था। पश्चिमी गंग और चोलों की सहायता से उसने श्रीपुरमबियम के युद्ध में पाण्ड्यों को पराजित किया। 893 सा.सं. में चोल शासक आदित्य-I के द्वारा पल्लवों का अंत हो गया, जिसके पश्चात तोण्डईमंडलम् का नियंत्रण चोलों के हाथों में हस्तांरित हो गया।

प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से ही पाण्ड्य वंश के शासकों को जाना जाता है, किंतु उनका प्रारंभिक मध्य युगीन पाण्ड्य शासकों के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बंध स्पष्ट नहीं होता। प्रारंभिक मध्ययुग में पाण्ड्य वंश के प्रथम दो शासकों में कदुनगोन (560-90) तथा उसके पुत्र भारवर्मन अवनिशूलमणि (590-620) का नाम आता है, जिसे कालाभ्रों की शक्ति से नष्ट करने तथा पाण्ड्य शक्ति के पुनरुत्थान करने का श्रेय दिया गया है। पाण्ड्यों का पल्लवों तथा अन्य समकालीन राजतंत्रों के साथ परस्पर विध्वंसकारी युद्ध चलता रहा। राजसिंह-I (735-65) ने पल्लव-भंजन (पल्लवों को तोड़ने वाले) की उपाधि ली थी। उसके काल में तथा उसके उत्तराधिकारियों में जटिल परांतक नेंदुनजदियन (756-815) और श्रीमारा श्रीवल्लम् (815-862) के शासनकाल में साम्राज्य का विस्तार हुआ। 10वीं शताब्दी में चोलों ने पाण्ड्यशक्ति पर पूरी तरह अंकुश लगा दिया।

ताम्र मुद्रा, पल्लव राजवंश (ऊपर); चोल शासक कुलोतुंग-I की स्वर्ण मुद्रा (नीचे)

यद्यपि, पल्लवों, पाण्ड्यों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने इस क्षेत्र में अपनी-अपनी सैन्य सफलताओं का दावा किया है, फिर भी केरल के तटीय प्रदेश पर चेर पेरूमाल का वर्चस्व बना रहा। चेर इतिहास के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस वंश का अंतिम प्रमुख शासक चेरामन पेरूमाल था, जिससे जुड़ी कई लोक गाथाएं हैं। अलग-अलग स्रोतों में उसे एक जैन, ईसाई, शैव या मुस्लिम कहा गया है, तथा संभवतः उसने अपने परिजनों और अधिनस्थ सामंतों के बीच अपने राज्य को बांट कर सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। उसके शासन का अंत 9वीं शताब्दी में हुआ।

चोल शासक भी दक्षिण भारत के प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से विख्यात हैं, किंतु संगमकाल के उपरांत उनका इतिहास अस्पष्ट है। प्रारंभिक मध्यकाल में तंजौर के चोल राजवंश का संस्थापक विजयालय था। उसने उरययुर के आस-पास के क्षेत्र में अपने राज्य की स्थापना की

तथा मुतरियार सरदारों से तंजौर को छीन लिया, तथा निचली कावेरी प्रदेश तक अपने राज्य का विस्तार किया। विजयालय ने पल्लवों का आधिपत्य स्वीकार किया था।

विजयालय के उत्तराधिकारी आदित्य–(871-907) ने महत्त्वपूर्ण सैन्य सफलताएं हासिल की और चोल साम्राज्य का विस्तार किया। उसने श्रीपेरूमबियम के युद्ध में पाण्ड्यों को हराने में पल्लवों का साथ दिया और बदले में तंजौर के कुछ हिस्से को हासिल कर लिया। 893 सा.सं. में उसने अपने पल्लव अधिपति अपराजित को पराजित कर उसकी हत्या कर दी। तत्पश्चात् उसने कोंगुदेश (कोयम्बटुर और सलेम जिले का क्षेत्र) पाण्ड्यों से छीनकर अपने नियंत्रण में ले लिया। शायद इसमें उसे चेरों ने सहायता दी। उसने पश्चिमी गंगा की राजधानी तालकड पर कब्जा करने का भी दावा किया है। आदित्य-I ने पल्लव राजकन्या से विवाह कर पल्लवों के साथ वैवाहिक संधि की स्थापना की।

परान्तक-I (907-953) ने आदित्य-I से उत्तराधिकार लिया। उसने पश्चिमी गंगा, कोदुमबलूर सरदारों और केरल के शासक की सहायता से अनेक युद्धों में विजय हासिल किया। वह मदुरई पर कब्जा करने में भी सफल हुआ। जिसके पश्चात् उसने मदुरांतक तथा मदुरईकोण्डा की उपाधियों को धारण किया। वेल्लुर के युद्ध में उसने पाण्ड्यों तथा श्रीलंका के शासक की संयुक्त सेनाओं को पराजित किया। पाण्ड्यों के एक बड़े भू-भाग पर चोलों का नियंत्रण हो गया, किंतु इन सफलताओं के बावजूद 949 सा.सं. में वह राष्ट्रकूटों से बुरी तरह पराजित हुआ। कृष्णा-III की सेना ने चोल सेना को तक्कोलम के युद्ध में हराया था। राष्ट्रकूटों ने तोण्डईमंडलम को रौंद डाला तथा कृष्ण-III ने कच्च (कांची) और तंजइ (तंजौर) के दमनकर्त्ता की उपाधि ली। सुंदर चोल प्रांतक-II (957-73) जैसे शासकों के काल में चोल शक्ति फिर से लौटने लगी, जिसने पाण्ड्य–श्रीलंका की संयुक्त सेना को पराजित किया तथा उस द्वीप राज्य पर आक्रमण भी किया। जिस समय उत्तम चोल राजगद्दी पर बैठा (973) उस समय तक राष्ट्रकूटों से तोण्डईमंडलम् को मुक्त करा लिया गया था।

चोल शक्ति का चरमबिंदु, अरूमोलीवर्मन का काल कहा जा सकता है, जिसने राज्यारोहण के पश्चात अपना नाम राजराज रख लिया। राजराज के शासन काल (985-1014) से लेकर 13वीं शताब्दी तक चोल, दक्षिण भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बना रहा। उसके द्वारा चलाई गई सफल सैन्य अभियानों की एक लंबी शृंखला ने पाण्ड्य और केरल तथा श्रीलंका के शासकों का मजबूत संघ नष्ट कर दिया। उसके द्वारा संचालित एक सफल नौसैनिक अभियान के द्वारा अनुराधापुर का पतन हो गया तथा इस द्वीप के उत्तरी हिस्से में एक चोल प्रांत का गठन किया गया। राजराज ने पश्चिमी चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों को भी पराजित किया। उसके शासन के अंतिम दौर में मालदीव भी उनके हाथों में चला गया।

राजेन्द्र चोल (ऊपर); राजराज चोल (नीचे) के स्वर्ण सिक्के

चोलों के क्षेत्रीय विस्तार का सिलसिला राजराज के पुत्र और उत्तराधिकारी राजेन्द्र-I के नेतृत्व में भी चलता रहा। उसके शासन काल में श्रीलंका के शासक महिन्द-V, पाण्ड्य और केरल के शासकों और पश्चिमी चालुक्यों को पराजित किया गया। उसने गंगई कोण्डचोलपुरम के रूप में चोलों की एक नई राजधानी की स्थापना की। 1025 सा.सं. में मलाय प्रायद्वीप के श्रीविजय शासकों के विरुद्ध एक सफल नौसैनिक बेड़ा भेजा गया, जिसका हिंद महासागर के व्यापार में सामरिक महत्त्व था। अनुवर्ती चोल शासकों के काल में भी छिट-पुट सैन्य अभियान चलाए जाते रहे, किंतु चोलों का वर्चस्व कुलोतुंग-I (1070-1122) के बाद खत्म हो गया। उसके लंबे शासनकाल में व्यापारियों का एक प्रतिनिधिमंडल चीन भेजा गया तथा उस दौरान श्री विजय राज्य के साथ समृद्धशाली व्यापार सम्बंध बना रहा। कुलोतुंग की एक उपाधि शुंगम-तविर्त (शुल्क/चुंगी के निषिद्ध कर्त्ता) भी है, जो अभिलेखों में उद्धृत है। यद्यपि, उसके लंबे शासनकाल में अपेक्षाकृत शांति-व्यवस्था बनी रही, लेकिन शासनकाल के उत्तरार्द्ध में उन्हें चालुक्यों और होयसालों की शत्रुता का सामना करना पड़ा। विक्रमचोल के काल में राज्य का एक बार फिर पुनरुत्थान देखा गया, जो वेंगी पर चोलों के नियंत्रण की पुनर्स्थापना करने में सफल रहा। कुलोतुंग-II, राजराज-II तथा कुलोतुंग-III चोलों के प्राय: अंतिम शासकों में गिने जाते हैं। 13वीं शताब्दी में चोल राजवंश का पतन हो गया।

चोल अभिलेखों में राजा के लिए *को* (राजन), पेरूमाल या पेरूमन आदिगल (महान) संबोधन का उपयोग किया गया है। उनके लिए प्रयुक्त अतिश्योक्तिपूर्ण उपाधियां उनकी सम्प्रभुता के द्योतक हैं, यथा—राज-राजाधिराज तथा को-कोनमई—कोण्डन, दोनों का अर्थ

अन्यान्य परिचर्चा

तंजावुर मंदिर का धार्मिक और राजनीतिक प्रतीकवाद

त्रिपुरांतक शिव

तंजावुर या तंजई, साम्राज्यवादी चोलों का राजनीतिक एवं आनुष्ठानिक केंद्र था। यह नगर उर्वर कावेरी डेल्टा के दक्षिण-पश्चिमी छोर पर अवस्थित था, जो इस राजतंत्र के लिए कृषि संसाधनों का विपुल आधार था। राजराज के शासनकाल में निर्मित शिव को समर्पित भव्य वृहद्देश्वर मंदिर, तंजावुर का भौतिक एवं एवं प्रतिकात्मक केंद्र कहा जा सकता है। इसके एकाधिक प्रमाण उपलब्ध हैं, जो यह सिद्ध कर सकें कि शासनाधीन राजवंश इस साम्राज्यिक मंदिर से सन्निकट सम्बंध रखता था। उदाहरण के लिए, शासक के नाम से इसे राजराजेश्वर मंदिर के नाम से भी जाना जाता था। मंदिर को अलंकृत करने वाली अनेक प्रतिमाओं और चित्रावलियों में भी यह तथ्य प्रतिबिंबित होता है।

बृहदेश्वर मंदिर की दीवारों पर शिव के अनेक रूप-भंगिमाओं का निरूपण हुआ है, जिनमें नटराज, हरिहर, लिंगोद्भव, अर्धनारीश्वर तथा भैरव भी सम्मिलित हैं। इनमें गज-लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, विष्णु तथा गणेश जैसे अन्य देवी-देवताओं का भी प्रतिनिधित्व हुआ है। फिर भी शिव के त्रिपुरांतक स्वरूप का निरूपण, कई दृष्टियों से अन्यतम है। यह स्वरूप उस पौराणिक कथा का सांकेतिक प्रस्तुतिकरण है, जिसके अनुसार, ईश्वर ने एक ही बाण से असुरों के तीन नगरों अथवा दुर्गों को नष्ट कर दिया।

चोल काल के पूर्व मंदिर-प्रतिमा संयोजन में त्रिपुरांतक शिव को प्रसिद्धी नहीं मिली थी। बृहदेश्वर मंदिर में, हम उन्हें विमान के दीवार के संपूर्ण ऊपरी हिस्सों में उत्कीर्ण देख सकते हैं। मंदिर के आंतरिक प्रदक्षिणापथ में बने एक प्रभावशाली भित्तिचित्र और दो प्रतिमा गढ़े फलकों पर भी इनकी उपस्थिति दृष्टिगोचर होती है। चार भुजाओं वाली एक कांस्य प्रतिमा जो मूलत: इसी मंदिर की थी, शायद शिव के इस स्वरूप को दर्शाती है–इसमें शिव एक धनुर्धर की मुद्रा में खड़े हैं, किंतु धनुष और बाण अदृश्य हैं।

आर. चम्पकलक्ष्मी के अनुसार, तंजावुर के इस मंदिर में शिव के त्रिपुरांतक स्वरूप के महत्त्व को मंदिर की वृहत्तर प्रतिमाशास्त्रीय योजना के एक भाग के रूप में समझने की आवश्यकता है। चूंकि यह मंदिर राजराज की शक्ति का प्रतीक थी, इसलिए त्रिपुरांतक शिव के स्वरूप का राजनीतिक महत्त्व भी था। इस प्रतिमा का सम्बंध असुरों पर विजय से था और यही तथ्य शासक को आकर्षित करती थी, जो स्वयं को एक महान विजेता के रूप में प्रस्तुत करना चाहता था।

किंतु इस सम्बंध में कुछ अन्य दृष्टिकोण भी हो सकते हैं। शिव भक्ति की प्रमुख कृति–तीवरम में त्रिपुरांतक शिव की कथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में एक थी। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस उपाख्यान में ब्रह्मा को शिव के रथ के सारथी के रूप में तथा अग्नि को बाण के रूप में वर्णित किया गया है। वेदों को शिव के रथ के पहिए और मंदार पर्वत का शिव के धनुष के रूप में वर्णन हुआ है। विष्णु मायामोह का रूप धारण कर असुरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं। अन्यथा वे शिव के प्रति अपनी उपासना में लीन हैं। तीन नगरों को नष्ट करने के बाद उनमें से दो को शिव ने अपने द्वारपालों के रूप में और एक को ढोल बजाने के लिए नियुक्त कर लिया। अन्य पौराणिक कथाओं की तरह इस प्रसंग से जुड़ा एक पाठ्य भी है, जो इस संदर्भ में अन्य देवताओं को शिव के अधीनस्थ दर्शाने का कार्य करता है। इस दृष्टि से शिव के त्रिपुरातंक स्वरूप को, राजराज के द्वारा शैव संप्रदाय को अपने साम्राज्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने के उद्देश्य की पूर्ति के साधन के रूप में भी देखा जा सकता है।

मंदिर के दक्षिणी दीवार के चेम्बर संख्या-5 में बने भित्ति चित्र पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए, जिसमें स्वयं राजराज चोल को दक्षिणमूर्ति शिव के प्रधान उपासक के रूप में दर्शाया गया है, जिस रूप में शिव ने विभिन्न संतों को सर्वोच्च ज्ञान प्रदान किया था।

स्रोत: चम्पकलक्ष्मी, 1996: 424-41

राजाओं का राजा है। अभिलेखों में राजाओं के आकर्षक भौतिक स्वरूप का बखान किया गया है। उन्हें महान योद्धा और विजेता, वर्णाश्रमधर्म के संस्थापक कलियुग के कलुष के हरणकर्त्ता, अतिउदार दानकर्त्ता (विशेषकर ब्राह्मणों को) तथा कला के महान संरक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। राजाओं की तुलना अक्सर देवताओं से की गई है, कभी बिल्कुल प्रत्यक्ष रूप से और कभी श्लेष अलंकारों के माध्यम से, जैसे—राजराज का उल्लेख उल्कालांद पेरूमाल (राजा जिसने धरती को नाप दिया) के रूप में हुआ है। ऐसा उस शासक के विषय में भी कहा जा सकता है, जिसने राजस्व के संदर्भ में व्यापक भूमि सर्वेक्षण कराया। यह विष्णु का वर्णन भी हो सकता है, क्योंकि प्रचलित पौराणिक गाथा के अनुसार, उन्होंने अपने तीन पग में संपूर्ण धरती को लांघ दिया।

प्रारंभिक मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राजवंशों ने यहां तक कि उन राजवंशों ने भी जो किसी प्रकार से नाममात्र भी प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से सम्बंध जोड़ सकते थे, उन्होंने अपनी उत्पत्ति के लिए नवीन मिथकों का सृजन किया (वेलुथट, 1993: 30-50)। इन मिथकों के माध्यम से उन्होंने महाकाव्यों-पुराणों के सूर्यवंश और चंद्रवंश से अपनी जड़ें जोड़ दीं। कई बार उत्पत्ति से जुड़े इन मिथकों में संयुक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय वंशपरंपरा का सृजन किया, जिन्हें ब्रह्मक्षात्र वंश के रूप में जाना गया, किंतु क्षत्रिय कुल पर विशेष बल दिया गया। उनके द्वारा धारण किए गए उपाधियों में भी उनका क्षत्रिय मूल प्रतिबिम्बित होता है, जैसे राजराज को क्षत्रिय-शिखामणि भी कहा जाता

मानचित्र 10.2: **भारत के कुछ राजवंश, ल. 550-700**
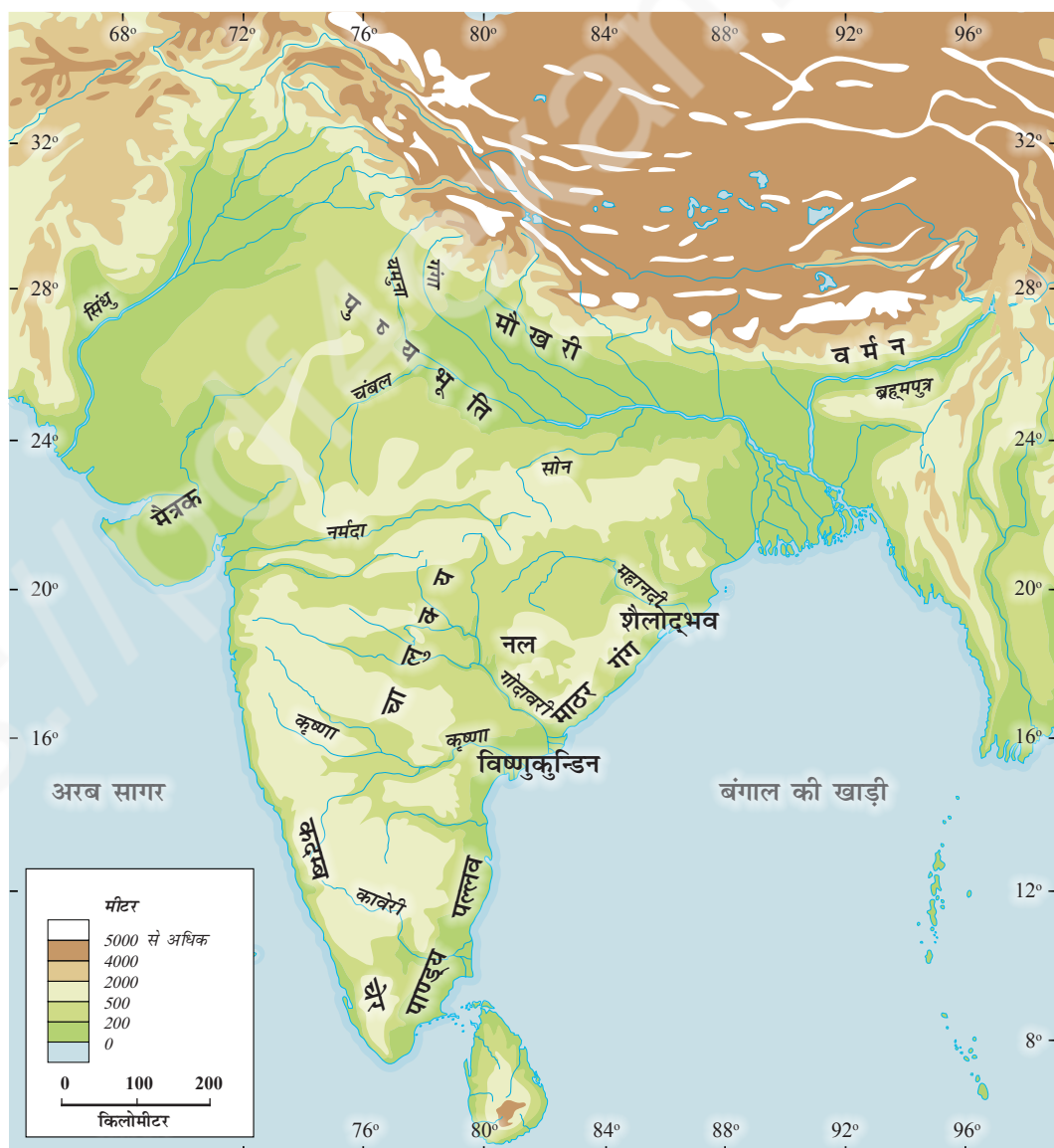
है। बहुतेरे शासकों के नामों के साथ 'वर्मन' जुड़ा था, जिस प्रत्यय को मनुस्मृति जैसे शास्त्रों ने क्षत्रियों के लिए प्रस्तावित किया है। पाण्ड्य स्वयं को चंद्रवंशी तथा चोल सूर्यवंशी मानते थे। पल्लव स्वयं को भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण मानते थे। इस क्रम में वे स्वयं को ब्रह्मा की उत्पत्ति बतलाते थे, जिनके वंश की सूची अंगिरस, बृहस्पति, शम्यू, भारद्वाज, द्रोण, अश्वत्थामा तथा प्रथम पल्लव पूर्वज के नाम से विभूषित होती थी।

चेर अभिलेखों में प्रशस्ति और वंशावली का अभाव देखा जा सकता है। इस सम्बंध में यह तर्क दिया गया जाता है कि चेरों द्वारा मातृकुलात्मक वंशपरम्परा को स्वीकार किया गया था, किंतु यह तर्क पूरी तरह से स्थिति की व्याख्या नहीं करता। परवर्ती साहित्यिक परंपराओं में बाह्मणों और मंदिरों के महत्त्व का वर्णन उनके राजवंशों की उत्पत्ति के संदर्भ में किया गया है। उदाहरण के लिए, *पेरियपुराण* में राजा चेरामन पेरूमाल को एक मंदिर में बैठा हुआ वर्णित किया गया है, और तब लोगों द्वारा उसे नगर में स्वयं लाकर राज्याभिषेक सम्पन्न किया गया। 16वीं सदी की एक कृति *केरलोल्पत्ती* में लिखा है कि ब्राह्मणों के प्रतिनिधिमंडल के द्वारा राजा को राजगद्दी संभालने के लिए आमंत्रित करने की प्रथा थी।

पूर्व मध्यकालीन राजकीय अभिलेखों के माध्यम से उत्तर भारत की ब्राह्मणवादी परंपराएं अखिल भारतीय स्तर पर सर्वमान्य रूप से प्रचलित थीं, किंतु पाण्ड्य अभिलेख में स्थानीय तमिल परंपराओं को भी स्थान मिला। उदाहरण के लिए, इनकी राजकीय मान्यता थी कि इनके राजकीय प्रतीक चिह्न, जुड़वां मछलियों, को इन्होंने मेरू पर्वत या हिमालय की चोटी पर उत्कीर्ण कराया था। उनकी यह भी मान्यता थी कि इनका राज्याभिषेक स्वयं अगस्त्य ऋषि ने करवाया और उनसे ही इन्हें तमिल भाषा का ज्ञान भी मिला, तथा उन्होंने मदुरई नगर की स्थापना की और संगम का आयोजन करवाया। उनके द्वारा निर्गत अभिलेखों की भाषा भी उल्लेखनीय है। पाण्ड्यों के द्वारा निर्गत ताम्रपत्रों में संस्कृत में लिखित अंश के बाद तमिल भाषा का प्रयोग हुआ है। दोनों भाषाओं के अंश एक नहीं हैं, तमिल में दिए गए अंश में तथ्यों का कई बार विस्तार से वर्णन मिलता है। चोल तथा पल्लव अभिलेखों में सामान्य रूप से राजकीय प्रशस्तियाँ संस्कृत में हैं और अन्य अभिलेख तमिल भाषा में।

स्वयं को महाकाव्य-पुराण परंपरा से संबद्ध बताने के अतिरिक्त, दक्षिण भारतीय शासकों ने अश्वमेध और राजसूय जैसे यज्ञों के माध्यम से भी अपनी सत्ता को वैधानिकता प्रदान किया। हिरण्यगर्भ और तुलापुरुष जैसे अनुष्ठानों की चर्चा भी अभिलेखों में उपलब्ध है। राजकीय सत्ता की वैधानिकता की दृष्टि से ब्राह्मणों को तथा मंदिरों को दिया जाने वाला भूमिदान एवं अन्य अनुदानों का भी महत्त्व था।

चेर, पल्लव और चोल राज्यों की परिधि में अनेक स्थानीय शासक भी सम्मिलित थे। (इस श्रेणी के प्रमुखों की भूमिका पाण्ड्य राज्य में प्रायः नगण्य प्रतीत होते है, मात्र अयस प्रमुखों का उल्लेख है)। एक दृष्टिकोण के अनुसार, ऐसे प्रमुख, शासकों के द्वारा राज्य के विभिन्न प्रमंडलों के गवर्नरों के रूप में नियुक्त किए जाते थे, किंतु यथार्थ में ये अधीनस्थ सामंत प्रतीत होते हैं, जिनको प्रारंभिक ऐतिहासिक युग से ज्ञात स्थानीय मुख्या और सरदारों की कोटि में रखा जा सकता (तथा कुछ दृष्टांतों में ये वस्तुतः उन्हीं के वंशज रहे होंगें)। अवसर आने पर सैन्य आपूर्ति की अपेक्षा इनसे की जाती थी। इसकी प्रबल संभावना है कि ये अधिपतियों को नजराना पेश करते थे और उनके दरबारों की शोभा बढ़ाते थे। इस श्रेणी के प्रमुख अधिपति के साथ वैवाहिक संधियां संपन्न होती थीं और इनमें आपस में भी वैवाहिक सम्बंध होता था।

चोल साम्राज्य के अंतर्गत चोल मंडलम् उनके प्रत्यक्ष अधिकार क्षेत्र में था। चोल मंडल में आधुनिक तंजौर तथा तिरूचिरापल्ली के कुछ हिस्से पड़ते थे। चोल राज्य के इस प्रत्यक्ष नियंत्रण वाले क्षेत्र के बाहर पलुवेतरियार, कोदुम्बलुर का वेल, मिलाडु, बाण तथा गंग जैसे सामंतों का नियंत्रण था। राजा की शक्ति और सामंतों से जुड़े अभिलेखीय संदर्भों के बीच विपर्यस्त सम्बंधा प्रतीत होता है। प्रारंभिक 11वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कुलोत्तुग-। (1070–1122) के शासनकाल के बाद इनसे जुड़े अभिलेखीय संदर्भों में वृद्धि होने लगी, जो चोल राजतंत्र की घटती हुई शक्ति का द्योतक है।

उत्तर भारतः पुष्यभूति, हर्षवर्धन

पुष्यभूति राजवंश के विषय में जानकारी के लिए दो मुख्य स्रोत हैं—हर्षवर्धन के दरबारी कवि बाणभट्ट की प्रशस्ति, *हर्षचरित* और चीनी तीर्थयात्री श्वैन ज़ंग का वृत्तांत। मूलरूप से पुष्यभूतियों का निवास स्थान स्थानेश्वर (पंजाब के अंबाला जिले का आधुनिक थानेश्वर) प्रतीत होता है। इस राजवंश के प्रारंभिक तीन शासकों के बारे में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। राजवंश का चौथा शासक प्रभाकरवर्द्धन था, जिसे एक महान सेनापति के रूप में, *हर्षचरित* में चित्रित किया गया है, जिसने कई युद्ध जीते। राजकुमारी राज्यश्री का विवाह मौखरी शासक ग्रहवर्मन से हुआ। पुष्यभूतियों का मौखरी राजवंश के साथ बने इस वैवाहिक सम्बंध को महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जो इनके पूर्व में स्थित कान्यकुब्ज क्षेत्र के पड़ोसी शासक थे।

इसके पश्चात पुष्यभूतियों की नियति में नाटकीय परिवर्तन हुए, जिनका वर्णन बाणभट्ट ने किया है। प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राज्यवर्द्धन 605 सा.सं. में राजगद्दी पर बैठा। लगभग इस घटना के साथ-साथ मालव शासक ने गृहवर्मन की हत्या कर दी और राज्यश्री को बंदी बना लिया गया। राज्यवर्द्धन ने राज्य की बागडोर अपने भाई हर्षवर्धन के हाथों में देकर, स्वयं कान्यकुब्ज (कन्नौज) की ओर कूच कर गया, तथा रास्ते में ही मालवों की सेना को पराजित कर दिया। उसकी अगली मुठभेड़ गौड़ (बंगाल) के शासक शशांक से हुई। *हर्षचरित* में दी गई कथा के अनुसार, शशांक ने षड्यंत्र के द्वारा राज्यवर्द्धन को मार डाला। इस प्रकार हर्षवर्धन शासक बन गया। उसकी प्रारंभिक कार्यवाहियों में से एक थी, कान्यकुब्ज की ओर कूच करना तथा अपनी बहन को सुरक्षित करना, जो सती होने जा रही थी। तत्पश्चात कन्नौज पुष्यभूतियों की हाथों में आ गया।

हर्षवर्धन का शासनकाल, जिसे हर्ष के नाम से जानते हैं, अनेक सैन्य विजयों से परिपूर्ण है। हर्ष ने शायद शशांक को भी पराजित किया तथा ओडिशा के कोनगोड़ा के कुछ हिस्सों पर उसका नियंत्रण था। उत्तर-पश्चिम में उसने सिंध के शासक को हराया और पश्चिम में वलभी को। कश्मीर पर उसका वर्चस्व था। फिर भी उसे पश्चिमी चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय के हाथों बुरी तरह पराजित होना पड़ा। हर्ष के साम्राज्य से जुड़ी कई

अन्यान्य परिचर्चा

श्वैन ज़ंग का जीवन और उनकी यात्राएं

श्वैन ज़ंग, हुई के चार बेटों में सबसे छोटा था, जिसने अपने बौद्धिक जीवन के पक्ष में उच्च पदों को अस्वीकृत कर दिया था। जब उसकी उम्र 12 वर्ष की थी तब उसके एक भाई ने उसका बौद्ध संघ से परिचय कराया और शीघ्र वह बौद्ध प्रशिक्षु बन गया। वह समय, अकाल और नगरीय अराजकता के कारण राजनीतिक उथल-पुथल का काल था। श्वैन ज़ंग शुरुआती दौर में एक बौद्ध संघ से दूसरे बौद्ध संघ में घूमता रहा और अंत में चेंग-ते बौद्ध संघ में उसे एक बौद्ध भिक्षु के रूप में दीक्षित कर दिया गया।

चीन में कुछ और अवधि तक अध्ययन तथा भ्रमण में समय व्यतीत करने के बाद, उसने भारत जाने का निश्चय किया। उसने 629 सा.सं. में अपनी यात्रा की शुरुआत की तथा 13 वर्षों तक (630-44 सा.सं.) वह उपमहाद्वीप में भ्रमण करता रहा। इस दौरान उसने सैकड़ों पाण्डुलिपियां एकत्रित कर लीं, किंतु दुर्भाग्यवश उनमें से कुछ पाण्डुलिपियां उसकी वापसी यात्रा के दौरान सिंधु नदी में आई बाढ़ से बह गई। चीन पहुंचाने के पश्चात् उसने दा तांग सी यू जी (जिसकी वर्तनी सी-यू-की के रूप में ही प्रचलित हुई) शीर्षक से अपना यात्रा-वृतांत लिखा।

यद्यपि, कि एक बौद्ध भिक्षु था, फिर भी वह श्वैन ज़ंग राजनीति का भी एक तीक्ष्ण पारखी था। कुछ मायने में शायद यह उसके पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण भी था। उसके कई पूर्वजों ने न केवल अपनी विद्वता के कारण अपनी पहचान बनाई थी, बल्कि उनमें से कई ने प्रशासन में उच्च पदों को सुशोभित भी किया था। लेखन में कई स्थानों पर उसने भारत के विषय में कुछ अधिक आदर्शात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए, एक स्थान पर वह लिखता है कि भारत में जो लोग पुत्रोचित अथवा संतानीय निष्ठा का उल्लंघन करते हैं, उनके कान, नाक, हाथ या पैर काट दिया जाता है अथवा उनका निष्काषण हो जाता था, या उन्हें बहिष्कृत कर दिया करते थे। डी. देवाहुति के अनुसार, एक अवलोकनकर्त्ता के रूप में श्वैन ज़ंग पूर्वाग्रहों से नहीं ग्रसित थे, जैसा कि कुछ लोगों द्वारा अरोप लगाया जाता रहा है। उन्होंने कई बार गैर-बौद्ध शासकों की भी प्रशंसा की है और कई बार बौद्धों की आलोचना की है। देवाहुति का यह भी मानना है कि श्वैन ज़ंग ने अपनी भारतीय यात्राओं का वृतांत, हर्ष के दरबार से कहीं दूर, चीन लौटकर लिखा है, जहां उनके द्वारा प्रशस्ति लेखन के लिए कोई व्यावहारिक दबाव नहीं था। तानसेन ने यह रेखांकित किया है कि श्वैन ज़ंग की कृति प्राचीन काल के अंतर्सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किए गए अध्ययन का एक अद्वितीय स्रोत है, जो एक साथ बौद्ध भिक्षुओं तथा थांग सम्राटों, दोनों के लिए उपयोगी है। बौद्ध भिक्षुओं की सैद्धांतिक और व्यावहारिक जीवनशैली, स्तूपों, बौद्ध विहारों, बौद्ध तीर्थों के वर्णन के साथ-साथ इसमें 7वीं सदी के

भारत के विषय में विवेचन भी उपलब्ध है, जिसके अंतर्गत यहां का भू-दृश्य, मौसम, उत्पादन, नगर, जाति-व्यवस्था तथा लोक-परंपराएं सभी कुछ वर्णित हैं। शुआन जांग ने कन्नौज तथ राजा हर्ष का वर्णन किया है, जिसे उसने न्याय प्रिय एवं साहसी राजा कहा है, जो बौद्ध धर्म में आस्था रखता था। उसने राजा से हुई मुलाकात का भी वर्णन किया है, जिसके परिणामस्वरूप कन्नौज और थांग दरबार के बीच राजनयिक सम्बंध स्थापित हो सका। चीन लौट जाने के बाद भी, श्वैन ज़ंग ने भारत और चीन के बीच धार्मिक तथा राजनयिक आदान-प्रदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

स्रोतः देवाहुति [1970], 1983; सेन, 2006

व्याख्याएं की गई हैं। थानेश्वर, कन्नौज, अहिच्छत्र, श्रावस्ती और प्रयाग उसके प्रत्यक्ष शासकीय नियंत्रण में थे, जबकि उसका साम्राज्य मगध और ओडिशा तक विस्तृत था। नर्मदा उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा थी। पूर्व में भास्कर वर्मन (कामरूप राजा) और ध्रुवभट उसका अधिपत्य स्वीकार करते थे, जैसा कि पश्चिम में वल्लभी के शासक, विन्ध्य क्षेत्र के जनजातीय शासक भी उसे अपना अधिपति मानते थे। आधिपत्य का तात्पर्य शायद भेंट अदायगी और सैन्य सहायता दोनों से था। राजा, सामंत और महासामंत उपाधियों को रखने वाले कई अधीनस्थ शासक हर्ष संवत् 606 सा.सं. (हर्ष के राज्यारोहण का वर्ष) का प्रयोग अपने अभिलेखों में कर रहे थे। हर्षवर्धन के काल में चीन के साथ राजनयिक प्रतिनिधियों का आदान-प्रदान हुआ।

श्वैन ज़ंग (श्वैन ज़ंग) ने कन्नौज के वैभव, सौन्दर्य और समृद्धि का जीवंत चित्रण किया है, जो हर्ष के साम्राज्य की राजधानी थी। सम्राट के बारे में उसने लिखा है कि उसने दिन को तीन हिस्से में बांट दिया था–एक में वह प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह करता था, जबकि दूसरे और तीसरे हिस्से को उसने धार्मिक क्रियाकलापों के लिए दिया था। हर्ष के विषय में वह उल्लेख करता है कि संपूर्ण राज्य में वह नियमित रूप से दौरा किया करता था। उसके समय-समय पर बुलाई जाने वाली सभाओं में अधीनस्थ शासक अपनी नियंत्रित उपस्थिति दर्ज कराते थे, जिनमें प्रतिहार प्रमुख थे। हर्ष, धार्मिक भूमि अनुदानों के कारण जाना जाता है। श्वैन ज़ंग ने संकेत किया है कि शायद मंत्रियों और अधिकारियों को भी भूमि अनुदानों के द्वारा भुगतान किया जाता था।

हर्ष के प्रशासन के विषय में हमारे पास बहुत जानकारी उपलब्ध नहीं है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में भी गुप्तकालीन आधिकारिक पदों व परंपराओं को जारी रखा गया। बाण ने वनपालों (वनरक्षक) का उल्लेख किया है। सर्व-पल्ली पति (सभी गांवों का प्रमुख) नाम के एक अधिकारी का भी उल्लेख आया है। श्वैन ज़ंग ने लिखा है कि प्रजा पर उदारतापूर्वक कर लगाया जाता था तथा राजा किसानों से अनाज उत्पादन

मानचित्र 10.3: **श्वैन ज़ंग द्वारा चयनित मार्ग**
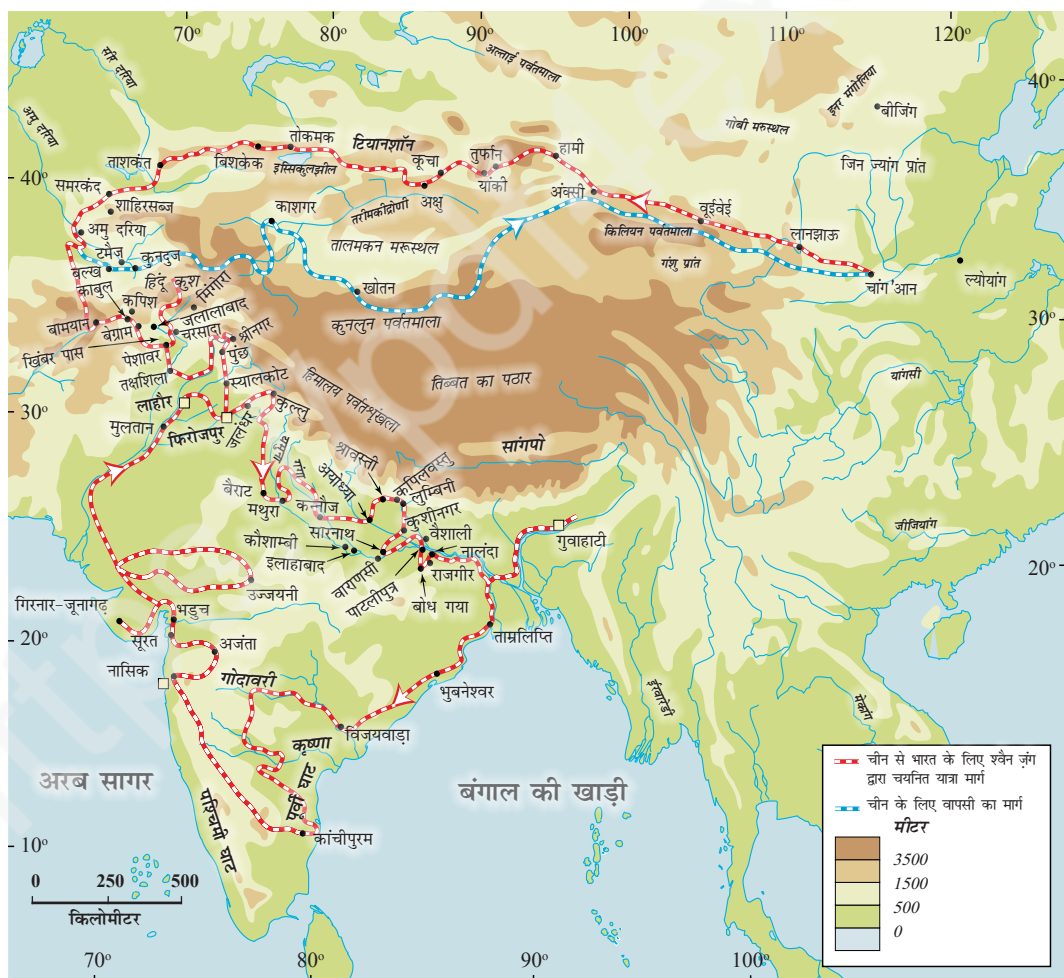
का छठा भाग कर के रूप में ले लेता था। अभिलेखों में भाग, भोग, कर तथा हिरण्य इत्यादि का उल्लेख हुआ है–जिनका उल्लेख पहले के अभिलेखों में भी होता रहा है। श्वैन ज़ंग ने सैन्य संगठन का बिल्कुल रूढ़िबद्ध वर्णन किया है, जिसमें पैदल सेना, अश्व सेना, रथ सेना और हाथियों की सेना का उल्लेख है। बंसखेड़ा और मधुबन अभिलेखों में राजा के विजय स्कन्धावरों का वर्णन है, जहां नाव, हाथी और घोड़े भी होते थे।

अभिलेखीय प्रमाणों से पता चलता है कि प्रारंभिक पुष्यभूति शासक सूर्य के उपासक रहे होंगे। राज्यवर्द्धन, बुद्ध का उपासक था। हर्ष शिव का उपासक था, लेकिन बौद्ध धर्म के प्रति भी उसका रूझान था। उसने कन्नौज में शायद एक महान सभा बुलाई थी, जिसमें श्वैन ज़ंग सहित कई विद्वानों ने महायान सिद्धांतों पर अपने आख्यान दिए थे। इस भव्य सम्मेलन में श्रमणों और ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य कई संप्रदायों के विद्वानों ने हिस्सा लिया था। असम और वल्लभी, सहित कई अधीनस्थ शासकों की भी उपस्थिति थी।

हर्ष, ज्ञान और कला का संरक्षक था, तथा स्वयं अनेक प्रतिभाओं का धनी था। उसको तीन नाटक लिखने का श्रेय जाता है। साथ में व्याकरण पर एक पुस्तक, और कम से कम सूत्र पर दो रचना का भी श्रेय जाता है। जिन तीन नाटकों के लेखन का उसे श्रेय जाता है वे हैं—*रत्नावली*, *प्रियदर्शिका* और *नागानंद*। *नागानंद*, बोधिसत्व जिमूतवाहन पर लिखी रचना है तथा *रत्नावली* और *प्रियदर्शिका* हास्य प्रेम-प्रसंग हैं। ऐसा संभव है कि सम्राट ने स्वयं ही मधुबन और बंसखेड़ा अभिलेखों का पाठ्य तैयार किया था। बंसखेड़ा अभिलेख में सम्राट का हस्ताक्षर भी है तथा जिससे उसकी सुलेखन कुशलता भी प्रमाणित होती है। बाण ने लिखा है कि सम्राट एक कुशल बांसुरी वादक भी था। बाण, मौर्य तथा मातंग दिवाकर जैसे सिद्धस्थ लेखक उसके दरबार से जुड़े थे।

648 सा.सं. में हर्ष की मृत्यु के बाद, यशोवर्द्धन (741–45 सा.सं.) के उदय तक का काल राजनीतिक अस्थिरता की अवधि थी। उसके बाद कई राजवंशों के बीच कन्नौज पर नियंत्रण के लिए संघर्ष चला। इस काल के राजनीतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता, राष्ट्रकूट पाल और गुर्जर-प्रतिहारों के बीच चला त्रिपक्षीय संघर्ष रहा।

पूर्वी भारत

637 सा.सं. में शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल में लगभग एक शताब्दी तक राजनीतिक अस्थिरता का दौर रहा (मजूमदार [1955], 1964: 44–57)। कन्नौज के यशोवर्मन, कश्मीर के ललितादित्य तथा चीन की एक सैन्य टुकड़ी ने इस क्षेत्र पर आक्रमण किया। बंगाल का अधिकांश हिस्सा, असम के शासक, भास्करवर्मन के हाथों में चला गया, जबकि बिहार और ओडिशा के क्षेत्र हर्ष के अधीन चले गए। धर्मपाल के खलिमपुर ताम्र पत्र अभिलेख में वर्णन मिलता है कि पालवंश के संस्थापक गोपाल को जनता ने शासक के पद पर निर्वाचित किया और इस क्षेत्र में व्याप्त मत्स्य–न्याय (अराजकता) की स्थिति समाप्त हो गई।

गोपाल के उत्तराधिकारी धर्मपाल (770–810) को प्रारंभिक दौर में प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के हाथों हार का सामना करना पड़ा, किंतु बाद में उसने एक दरबार लगवाया तथा अपने अधीन एक कठपुतली शासक चक्रायुद्ध को वहां गद्दी पर बैठाया। इस प्रकार अपनी प्रभुसत्ता को सिद्ध किया। इस दरबार में कई अधीनस्थ सामंत शासक सम्मिलित हुए। धर्मपाल के साम्राज्य का नाभिकीय क्षेत्र बंगाल और बिहार था। यह क्षेत्र उसके प्रत्यक्ष नियंत्रण में रहा। इसके बाहर कन्नौज का राज्य उसके अधीनस्थ प्रभाव में था। इसके अतिरिक्त पश्चिम तथा दक्षिण में पंजाब के शासक पश्चिमी पर्वतीय राज्यों के शासक, राजपूताना, मालवा तथा बेरार ने उसकी संप्रभुता को स्वीकार किया था। *स्वयंभू पुराण* में संकलित तथ्यों के अनुसार, नेपाल भी उसका एक अधीनस्थ राज्य था। तिब्बत के स्रोत की मानें, तब विक्रमशिला के बौद्ध महाविहार (अंतीचक भागपुर जिला, बिहार) का संस्थापक धर्मपाल ही था। उसने वारेन्द्र के सोमपुरी महाविहार की भी स्थापना की थी, जिसके पुरावशेष, राजशाही जिला के पहाड़पुरा में चिन्हित किए गए हैं। ओदंतपुरी महाविहार (बिहार में) की स्थापना का श्रेय भी तिब्बती स्रोत धर्मपाल को ही देते हैं। हालांकि, अन्य स्रोतों के अनुसार, इसकी स्थापना देवपाल या गोपाल ने की थी।

देवपाल (810–850), धर्मपाल के उत्तराधिकारी ने साम्राज्य का विस्तार किया, जिसने हिमालय से विंध्य तक तथा पश्चिमी तट के पूर्वी तट तक संपूर्ण उत्तर भारत में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की। उसके अभिलेख यह दावा करते हैं कि उसके सैन्य अभियान पश्चिम में कम्बोज तक, दक्षिण में विंध्य तक चलाए गए। उसने उत्कल को नष्ट कर दिया, प्रागज्योतिष पर विजय हासिल की, हूणों का दर्प-दमन किया, तथा द्राविड़ और गुर्जरों के अहंकार को दमन कर दिया। देवपाल भी बौद्ध धर्म का संरक्षक था।

नवीं सदी के अंत तक पाल शक्ति का भी पतन हो गया, क्योंकि उनके कमजोर उत्तराधिकारियों को राष्ट्रकूटों तथा प्रतिहारों के हाथों पराजित होना पड़ा। असम तथा ओडिशा के अधीनस्थ शासक ने अपनी-अपनी स्वतंत्रता घोषित कर

दी। चंदेलों और कालचूरी शासकों ने दावा किया कि उनकी सेनाओं ने गौड़, राढ़, अंग तथा बंग को पराजित किया। यद्यपि, 10वीं सदी के अंत में महीपाल-1 के नेतृत्व में पालों का पुनरोदय हुआ, तथा 11वीं सदी में भी एक संक्षिप्त अवधि में उनकी शक्ति बढ़ी, किंतु 12वीं सदी में अंततः उनका पतन हो गया।

देवपाल के काल में कुछ समय तक असम (जिसे कामरूप या प्राग्ज्योतिष के नाम से जानते थे) पालों के अधीन रहा। प्रायः 800 सा.सं. में कामरूप के एक स्थानीय शासक हर्जारा वर्मन ने पालों के आधिपत्य को अस्वीकृत करते हुए, अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। यह उसके द्वारा धारण की गई उपाधियों से अथवा उसके उत्तराधिकारियों के द्वारा अभिलेखों में पालों का उल्लेख नहीं मिलने से सिद्ध होता है। सालम्ब नाम से ज्ञात इस राजवंश ने 800 तथा 1000 सा.सं. के बीच शासन किया। लौहित्य अर्थात ब्रह्मपुत्र के किनारे स्थित हरूपेश्वर उनकी राजधानी थी। पारंपरिक रूप से काराताया नदी कामरूप की पश्चिमी सीमा थी।
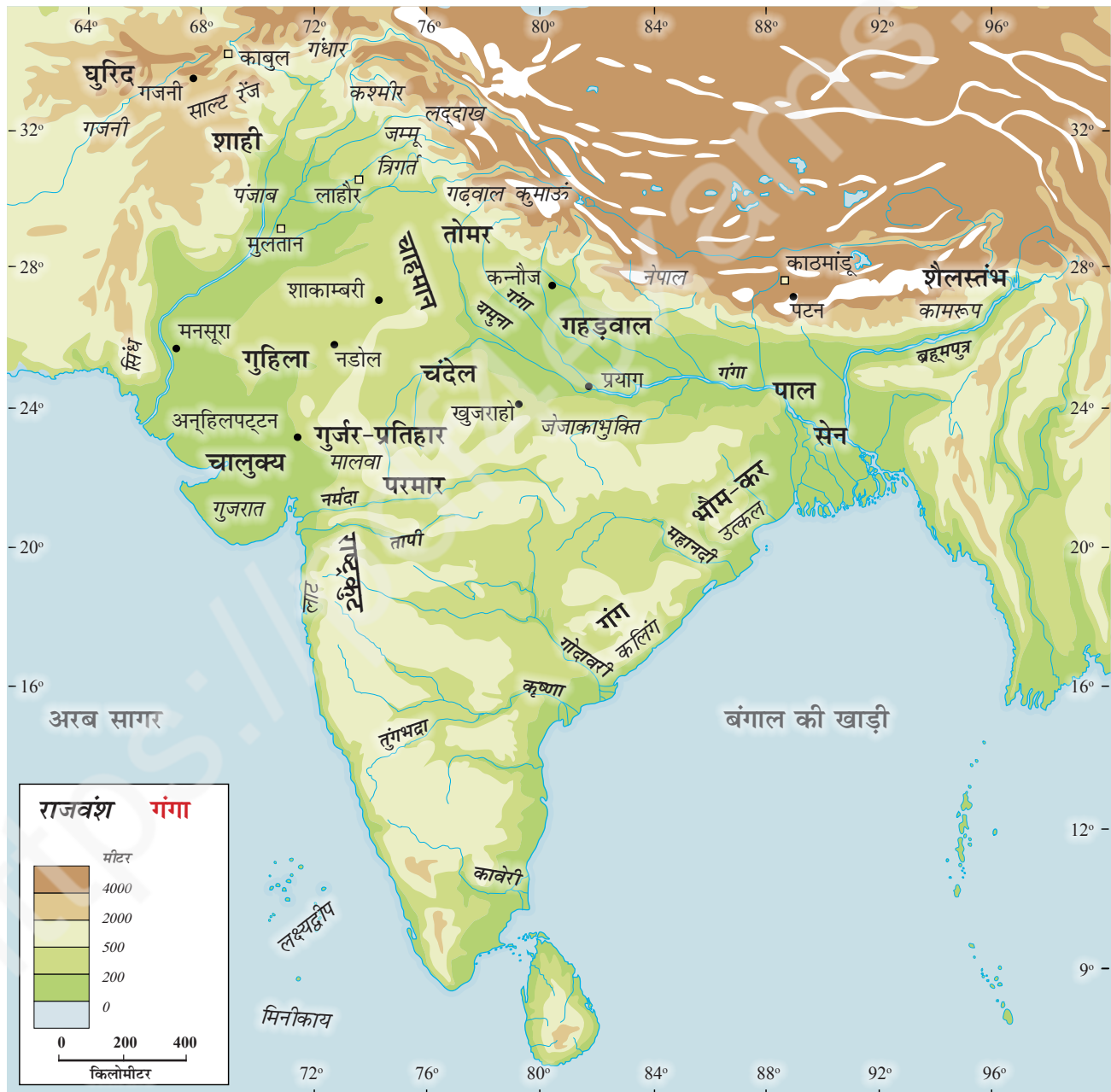
मानचित्र 10.4: **उत्तर, मध्य तथा पूर्वी भारत के प्रमुख राजवंश, ल. 700-1100 सा.सं.**

छठी सदी के उत्तरार्द्ध में ओडिशा के कोनगोड़ा क्षेत्र (आधुनिक पुरी और गंजय जिला)में शैलोद्भवो ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। जबकि प्रारंभिक दौर में ये शशांक के अधीन थे। 8वीं सदी में शैलोद्भवो के पतन के साथ-साथ श्वेतक के गंग राजवंश का अभ्युदय हुआ, जो कर्नाटक से आप्रवर्जित हुए थे, तथा इन्होंने स्वयं को उत्तर गंजम क्षेत्र में स्थापित किया। कलिंग नगर के गंग शासक भी मूलत: कर्नाटक से आए थे। 5वीं सदी के प्राय: अंत में इन्होंने ओडिशा में प्रवेश किया तथा दक्षिण ओडिशा के वंशधारा और नागवली नदी घाटियों में अपने राज्य की स्थापना की। उन्होंने अपने अभिलेखों में यह दावा किया है कि उन्होंने अपने तलवारों की प्रखर धार से संपूर्ण कलिंग को अपने अधीन कर लिया। 8वीं/9वीं सदी से 10वीं सदी के बीच उत्तरी ओडिशा में भौम-करों का प्रभुत्व रहा।

दसवीं से बारहवीं सदी के बीच ओडिशा में कई नए राजवंशों का अभ्युदय हुआ। उत्तर और मध्य ओडिशा में ऐसे कई राजवंशों का राज्य रहा, जिनके नाम के साथ 'भंज' प्रत्यय/उपसर्ग जुड़ा हुआ था, जिनमें खिन्जली मंडल

अन्यान्य परिचर्चा

ओडिशा के राजवंशों की उत्पत्ति से जुड़े मिथक

ओडिशा में 7वीं सदी के पश्चात् राजवंशों की उत्पत्ति से जुड़ी गाथाएं सुपरिष्कृत होती चली गईं। स्वाभाविक रूप से इन गाथाओं में उपलब्ध विस्तृत तथ्यों को ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, किंतु इनमें संबद्ध राजवंशों की उत्पति से जुड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएं अंतर्निहित होती हैं। इससे भी अधिक सत्ताधारी राजवंशों के द्वारा अपनी सत्ता को वैधानिकता प्रदान कराने के लिए अपनायी गई एक रणनीति के रूप में इनका उपयोग किया गया। अत: यह महत्त्वपूर्ण है कि इनका सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाए तथा उन परंपराओं को चिन्हित करने का प्रयास किया जाए, जिनसे जुड़ने की उनकी अपेक्षाएं थीं।

शैलोद्भवों के अभिलेखों में पुलिंदसेन नाम के एक व्यक्ति का उल्लेख आता है, जो कलिंग की जनता में ख्यातिलब्ध था। यद्यपि, उनमें धर्मपरायणता, शक्ति तथा महानता सभी कुछ विद्यमान थी, उन्होंने स्वयं प्रभुसत्ता की कभी आकांक्षा नहीं की, इसके स्थान पर उन्होंने स्वयंभू भगवान की उपासना की, कि वे एक ऐसे व्यक्ति का सृजन करें जो धरती पर शासन करने के योग्य हों। ईश्वर ने उसे वरदान दिया तथा पुलिंद सेन को यह दृष्टिगोचर हुआ कि चट्टानों को तोड़ता हुआ एक व्यक्ति प्रकट हो रहा है। यही शैलोद्भव महाराज थे, तथा जिन्होंने एक उत्कृष्ट राजवंश का बीजारोपण किया, जो उन्हीं के नाम से जाना गया। शैलोद्भव अभिलेखों में से एक में दो पद्यांश जोड़े गए, जिनमें शैलोद्भव की चमत्कारिक उद्भव का श्रेय हर या शंभू को दिया गया है (अर्थात् शिव)।

पुलिन्दों की प्राचीन जनजाति थी, जिनकी चर्चा विभिन्न प्राचीन साहित्यों में प्राप्त होती है, तथा पुलिंदसेन को दी गई प्रमुखता, शैलोद्भव, राजवंश के जनजातीय सम्बंधों को प्रतिबिम्बित करती है। चट्टान से उत्पत्ति के अनुरूप विकसित प्रतीकात्मकता यह संकेत देती है कि शायद अपने प्रारंभिक चरण में इस राजवंश का क्षेत्र पठारी रहा होगा। शिव को दी जाने वाली महत्ता यह स्पष्ट करती है कि इस राजवंश के लोग शैव उपासक रहे होंगे। उनके अधिकांश अभिलेखों पर नंदी बैल का शैव प्रतीक देखा जा सकता है, जबकि बहुत सारे अभिलेख शिव की स्तुति से प्रारंभ होते हैं तथा सम्राटों को परम-माहेश्वर महा गया है। शैलोद्भव अभिलेखों में महेन्द्र पर्वत की स्तुति की गई है, जिसे कुल-गिरि के रूप में संबोधित किया गया है अर्थात् एक अधिष्ठाता पर्वत।

भंजों की उत्पत्ति गाथाएं भी रोचक हैं। क्योंकि भंज शासकों के विभिन्न समूह दरअसल सगोत्रीय शाही परिवारों के समूह का अथवा साझे गोत्र सम्बंधों वाले विविध राजपरिवारों का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि विस्तृत वर्णनों में मिलने वाली भिन्नता के बावजूद ये सभी स्वयं को किसी अंडे से उत्पन्न मानते हैं, जैसा कि इनके अभिलेखों में अभिव्यक्त है। खिजली मंडल के प्रारंभिक भंजों ने स्वयं को अण्डजवंशप्रभव कहा है। आदिभंजों के अभिलेखों में इस कथा का विस्तार देखा जा सकता है। इसके अनुसार, गणदंड, वीरभद्र, आदि-भंज कुल के पुरोधा, कोट्याश्रम के महान आश्रम में एक मयूरी के अंडे से प्रस्फुटित हुए थे। वहीं ऋषि वशिष्ठ ने इनका पालन-पोषण किया। स्पष्ट रूप से मयूर पक्षी का भंजों की विविध शाखाओं में विशेष महत्त्व है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि आदि-भंज अभिलेखों में इनके आदि पूर्वज के चमत्कारिक जन्म को ब्राह्मण-पृष्ठभूमि, वशिष्ठ के आश्रम, में दिखलाया गया है। इस कथा के एक अन्य संस्करण में रामदेव का उल्लेख, जो स्पष्ट रूप से *रामायण* के ही राम से इन्हें जोड़ता है।

जहां शैलोद्भव और भंज उत्पत्ति गाथाओं में ब्राह्मण एवं जनजातीय तत्वों का मिश्रण दिखलाई पड़ता है, वहीं सोमवंशी तथा गंग शासकों ने महाकाव्य-पौराणिक परंपराओं से स्वयं को जोड़ने का प्रयत्न किया है। सोमवंशी स्वयं को चंद्रवंशी स्वीकार करते हैं। गंग शासक अनंतवर्मन चोडगंग के कोर्नी और विशाखापट्नम अभिलेखों में सबसे अतिशयोक्तिपूर्ण उत्पत्ति वृतांत उद्धृत है जिसमें राजपरिवार के आदि पुरखों को सीधे विष्णु से जोड़ा गया है।

स्रोत: सिंह 1994, 120-22

के भंज, खिंजिंग-कोट्टा (मयूरभंज तथा केयोंझर क्षेत्र में) के आदि भंज तथा बौद्ध (फूलबनी जिला क्षेत्र) के भंज भी सम्मिलित थे। 9वीं-11वीं सदी के बीच ढ़ेकानल क्षेत्र में शुल्की और तुगों ने, तथा ढ़ेकानल और इससे सटे हुए पुरी एवं कटक क्षेत्रों में नंदोभवो ने अपने राज्यों की स्थापना की।

दसवीं सदी में ही, दक्षिण-कोशल के सोमवंशियों ने एक साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें उत्तर और मध्य ओडिशा का बड़ा हिस्सा सम्मिलित था। दसवीं सदी में गंग राजय का बहुत विस्तार हुआ, जिसको उत्तर और दक्षिण ओडिशा के एकीकृत होने में देखा जा सकता है। 12वीं सदी की शुरुआत में गंग शासक अनंतवर्मन चोड़गंग को निचले ओडिशा से सोमवंशियों को अपदस्थ करने का श्रेय जाता है। गंग शासकों के साम्राज्यवाद को उनकी चोलों के साथ हुई संधि का शायद भरपूर समर्थन मिला। अनंतवर्मन की माता तथा उसकी रानियों में से एक चोल राजकन्याएं थीं। हालांकि, इस संधि के बावजूद उनके बीच संघर्ष भी हुए। कुलोतुंग-1 ने कलिंग के विरुद्ध अपनी सेना भेजी थी। अनंतवर्मन ने बंगाल में भी हस्तक्षेप किया था।

कभी-कभी वंशों के नाम तथा उनकी वंशावलियों से उनकी उत्पत्ति के विषय में, भी सूचना मिलती है। कुछ वंशों के विषय में, यथा—शैलोद्भव, कुलिक, शुल्की तथा भौमकरों के जनजातीय मूल का भी अनुमान ङ्कलगाया जा सकता है। अन्य राजवंशों, यथा—तुंग, सोमवंशी तथा गंग शासकों के द्वारा अपने गोत्रों का उल्लेख किया गया है, जिससे उनके ब्राह्मण होने का बोध होता रहा है।

कई राजवंशों के स्थान परिवर्तन के भी प्रमाण उपलब्ध हैं। पहले भी गंग राजवंश के एकाधिक उपवंशों के आप्रवर्जन की चर्चा की जा चुकी है, जो मूलत: कर्नाटक के थे। हो सकता है कि भौम-करों का असम से, सोमवंशियों का दक्षिण कौशल (पूर्वी मध्यङ्क प्रदेश और पश्चिमी ओडिशा में) से तथा तुंगों का रोहितागिरि (बिहार के शाहाबाद जिला के रोहतासगढ़ के रूप में चिन्हित) से आगमन हुआ है।

राजपूत वंश

विशेष वंश एवं कुलों के लिए अथवा सम्मिलित रूप से इन वंशों एवं कुलों के लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग 12वीं शताब्दी में शुरू हुआ। अग्निकुल सिद्धांत के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि इसमें से कुछ वंशों की उत्पत्ति ऋषि वशिष्ठ के द्वारा माउंट आबू में सम्पन्न किए गए एक महान यज्ञ की अग्नि से हुई है, किंतु यह सिद्धांत भी काफी बाद का प्रतीत होता है। अग्निकुल राजपूतों के अंतर्गत प्रतिहार, चौलुक्य, परमार तथा चाहमानों का नाम आया। राजस्थान की मध्ययुगीन लोकगाथाओं में 36 राजपूत वंशों की सूची उपलब्ध है। हालांकि, इनमें हूण, प्रतिहार, चाहमान, गुहिला और तोमर को भी शामिल किया गया है। फिर भी सूचियों में समरूपता नहीं है। इसका तात्पर्य है कि राजपूत वर्ग की दावेदारी इस समय तक सुनिश्चित आधार पर तय नङ्कहीं थी।

बी.डी. चट्टोपाध्याय ([1976], 1997: 57-80) ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि राजपूतों का अभ्युदय, पूर्व मध्कालीन भारत में वंश-आधारित राज्यों की प्रचलित प्रक्रिया का एक हिस्सा थी। उन वंशों को जो बाद में राजपूत के रूप में प्रतिष्ठित हुए, उनके अभ्युदय को अनेक प्रकार के कारकों के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है, जिसमें कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था का विस्तार, भूमि वितरण की नूतन व्यवस्थाएं (जिसमें शाही परिवारों के सदस्यों के बीच भूमि वितरण भी सम्मिलित था), विभिन्न कुलों के बीच राजनीतिक और वैवाहिक संधियों के आधार पर बन रही सहकारिता तथा अभूतपूर्व स्तर पर किए जा रहे किलों/गढ़ों का निर्माण इत्यादि सभी कुछ शामिल थी।

गुर्जर-प्रतिहार का रजत सिक्का, राजा भोज-1 (ऊपर); गुर्जर-प्रतिहार रजत सिक्का (नीचे)

गुप्त साम्राज्य के विघटन के बाद उत्तर भारत में नवोदित अपने राजवंशों में से गुर्जर-प्रतिहार भी एक थे (मजूमदार [1995] 1964: 19-43)। इस राजवंश की स्थापना हरिचंद्र नाम के एक ब्राह्मण के द्वारा राजपूताना के जोधपुर के आस-पास के इलाकों में की गई थी। इस क्षेत्र के पूर्व और दक्षिण के हिस्सों में कई गुर्जर वंशों ने छोटे-छोटे रजवाड़ों की स्थापना की, जो शायद मुख्य राजवंश के नातेदार रहे होंगे। गुर्जर-प्रतिहार राजवंश की उत्पत्ति के विषय में विवाद बना हुआ है। प्रतिहार का अर्थ द्वारपाल होता है। प्रारंभिक जोधपुर और मुख्य प्रतिहार राजवंशों में एक ही मान्यता प्रचलित थी कि उनका नाम उनके पूर्वज लक्ष्मण से जुड़ा है, जिन्होंने अपने भाई, राम के द्वारपाल के रूप में कार्य किया था। कुछ इतिहासकारों का मानना

चंदेल शासक मदनवर्मा का आधारच्युत सोने का सिक्का

है कि गुर्जर विदेशी थे, जिन्होंने हूण आक्रमणों के प्रभाव में भारत में प्रवेश किया, किंतु इस सम्बंध में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है। एक दूसरा दृष्टिकोण है कि गुर्जर एक क्षेत्र का नाम है, किसी समुदाय का नहीं, किंतु प्राचीन काल में जन-जातियों और वंशों के आधार पर किसी क्षेत्र का नाम दिया जाता था, क्षेत्र के आधार पर इनका नाम नहीं आता। कुछ विद्वान गुर्जरों और प्रतिहारों को दो पृथक जन-जाति या परिवार के रूप में देखते हैं। कुछ का मानना है कि प्रतिहार, गुर्जर जन-जाति का ही एक वंश था। उत्तर-पश्चिम, पश्चिम राजस्थान, गुजरात तथा उत्तर प्रदेश के आधुनिक गुज्जर जिनकी संतति हो सकते हैं।

गुर्जर-प्रतिहार 8वीं सदी के दूसरे चतुर्थांश में लोकप्रिय हुए, जब उन्होंने नागभट्ट-I के शासनकाल में अरबों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया। प्रतिहार कुलों में इसी शासक का राजवंश सबसे महत्त्वपूर्ण हो गया, जिससे जोधपुर वंश हाशिये पर चला गया। नागभट्ट ने मालवा, राजपुताना तथा गुजरात में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया। बाद के गुर्जर-प्रतिहार शासकों में नागभट्ट-II ने कन्नौज क्षेत्र में हस्तक्षेप किया। गुर्जर-प्रतिहार राजतंत्र के विस्तार से पालों और राष्ट्रकूटों जैसी समकालीन शक्तियों के साथ अनवरत संघर्ष जुड़ा हुआ था।

गुर्जर-प्रतिहार शासकों में भोज सर्वाधिक प्रचलित हुआ, जो नागभट्ट-II का पौत्र था। उसका 836 सा.सं. या इससे पहले ही राज्यारोहण हुआ। उसने 46 वर्षों तक शासन किया। उसके द्वारा प्रथम अभिलेख बराह ताम्रपत्र इसी वर्ष महोदय स्कन्धावर से निर्गत किया गया था। महोदय, कन्नौज का ही दूसरा नाम हो सकता है। अपने शासनकाल के प्रारंभिक चरण में भोज को पाल, उसने अपनी प्रतिष्ठा वापस प्राप्त कर ली। इसने पालों पर विजय प्राप्त की और शायद राष्ट्रकूटों पर भी। इन अभियानों में चेदी और गुहिला सामंतों ने उसका साथ दिया। 9वीं शताब्दी के व्यापारी सुलेमान के अरबी वृत्तांत में जुज्र नाम के शासक के ताकत और समृद्धि की चर्चा की है, आमतौर पर इसे भोज के रूप में चिन्हित किया जाता है।

कालांतर में गुर्जर-प्रतिहारों को कई अवसरों पर मुंह की खानी पड़ी। 10वीं सदी के प्रारंभ में, महीपाल के शासनकाल के दौरान राष्ट्रकूट शासक इन्द्र-III ने कन्नौज नगर को पूरी तरह धूल में मिला दिया। 963 सा.सं. में राष्ट्रकूटों का दोबारा आक्रमण हुआ, इस बार कृष्ण का शासनकाल था। गुर्जर-प्रतिहारों के सामंतों और प्रांतीय गवर्नरों ने धीरे-धीरे अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। उनका साम्राज्य कन्नौज के आस-पास के क्षेत्र में सिमट रहा था। गुर्जर प्रतिहारों का अस्तित्व क्षीण होने लगा और 11वीं सदी में गजनी आक्रमण के पश्चात् राजनीतिक मानचित्र से वे ओझल हो गए। पश्चिम भारत और मध्य भारत में इनके शक्तिशाली उत्तराधिकारी शक्तिशाली राज्यों में राजपुताना के चाहमान या चौहार, गुजरात के चालुक्य या सोलंकी तथा मालवा के परमार या पवार, शामिल थे। चूंकि अग्निकुल सिद्धांत से जुड़ी गाथा से प्रतिहारों के साथ इन राजवंशों की उत्पत्ति भी जुड़ी हुई थी, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सभी एक-दूसरे से जन-जातीय या नातेदारी के स्तर पर आपस में सम्बंधित रहे होंगे।

चंदेल, जिन्होंने स्वयं को बुंदेलखंड में स्थापित किया, भी 36 राजपूत वंशों में से एक थे। अपने अभिलेखों में उन्होंने अपनी उत्पत्ति, चन्द्रत्रेय (चन्द्रमा से जन्मा) नामक एक मिथकीय व्यक्तित्व से जोड़ा है। इस राजवंश के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम नन्नुक था। जिसका काल 9वीं सदी का पहला चतुर्थांश था। इनके अभिलेख राजवंश के प्रारंभिक शासकों को खर्जुरवाहक (खजुराहो) से जोड़ते हैं, जो नन्नुक की राजधानी थी। चन्देल भी कन्नौज के प्रतिहारों के सामंत थे, किंतु इनका पालों और राष्ट्रकूटों के साथ-साथ प्रतिहारों से भी संघर्ष हुआ। जयशक्ति तथा विजयशक्ति जैसे प्रारंभिक शासकों के अधीन और बाद में हर्ष (900-925 सा. सं.) जैसे कुछ शासकों के अधीन चन्देल राज्य का आशातीत विस्तार भी हुआ। हर्ष ने प्रतिहार शासक महीपाल को उसका राज्य वापस दिलाने में मदद भी किया, जिसे 914 सा.सं. में राष्ट्रकूट इंद्र-III ने कब्जा कर लिया था। चंदेलों ने प्रतिहारों और पालों के पतन का लाभ उठाया और स्वतंत्र सत्ता की स्थापना कर ली। चंदेलों के प्रथम स्वतंत्र शासक धांग ने महाराजाधिराज की उपाधि ली। खजुराहों के अनेक मंदिरों का निर्माण उसी के शासन काल में हुआ है।

चंदेल राज्य के दक्षिण में चेदी प्रदेश के कालचुरियों ने सत्ता स्थापित की थी, जिस क्षेत्र को दहाल-मंडल के नाम से भी जानते हैं। चेदी राज्य की राजधानी त्रिपुरी को आधुनिक जबलपुर से 6 मील पश्चिम से स्थित तीवर से चिन्हित किया गया है। इस राजवंश के सर्वप्रथम शासक कोकल-I का राज्यारोहण 945 सा.सं. में हुआ था, किंतु शीघ्र ही उसे प्रतिहारों और

उनके सामंतों से जूझना पड़ा। शंकरगण, युवराज तथा लक्ष्मणराज बाद के मुख्य शासक हुए। गुर्जर-प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल और उसके उत्तराधिकारी महीपाल के दरबार से जुड़े कवित राजशेखर का समकालीन कालचुरी दरबार से निकटस्थ सम्बंध था। राजशेखर के *विद्धशालभंजिका* का मंचन युवराज के दरबार में राष्ट्रकूटों के विरुद्ध प्राप्त सफलता के उपलक्ष्य में किया गया था। युवराज-II के शासनकाल के दौरान कालचुरीयों को, चालुक्य तैल-III तथा मालवा के परमार शासक मंजू के हाथों पराजित होना पड़ा, किंतु कोकल-II के राज्यकाल में इनकी खोई प्रतिष्ठा वापस हुई जब इन्होंने चौलुक्य, चालुक्य और गौड़ राजतंत्र को पराजित कर दिया। कालचुरियों का एक खूंट सरयू नदी के किनारे एक समांतर राज्य चला रहा था।

मालवा के परमारों का राज्य कालचुरियों से सटा हुआ था। यह राजवंश मूल रूप से राजस्थान के माउण्टआबू से संबद्ध मालूम पड़ता है। यह अनुमान कुछ साहित्यि स्त्रोतों और बाद के परमार अभिलेखों के आधार पर लगाया जाता है। इस कथा के अनुसार, ऋषि विश्वामित्र ने वशिष्ठ की कामधेनु गाय को चुरा लिया। वशिष्ठ ने कामधेनु गाय को वापस प्राप्त करने के लिए माउण्ट आबू में एक यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ की अग्नि से एक महानायक प्रकट हुआ, जिसने बलपूर्वक विश्वामित्र से गाय को छीन लिया। वशिष्ठ ने इस नायक का नाम परमार (शत्रु को मारने वाला) रखा तथा उसे राजा बना दिया। कथा के अनुसार, परमारों का प्राचीनतम ज्ञात शासक उपेन्द्र का जन्म इसी नायक के वंश में हुआ, किंतु परमारों के प्रारंभिक अभिलेखों में इस कथा का उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि उनमें इस राजवंश के शासकों को राष्ट्रकूट परिवार में जन्मा बताते हैं।

परमारों की मुख्यधारा वाले राजवंश की राजधानी धार थी (आधुनिक मध्यप्रदेश का धार)। शुरुआती दौर में परमार, राष्ट्रकूटों के अधीन सामंत थे। उपेन्द्र संभवत: 9वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में शासक बना, जिसे मालवा पर सफल अभियान के बदले में गोविंद-III ने दक्कन का शासक बनाया था। परमारों को कुछ समय के लिए नेपथ्य में जाना पड़ा, जब उन्होंने मालवा को प्रतिहारों के हाथों में जाने दिया, किंतु 10वीं सदी के मध्य में वैर सिंह-II तथा सीयक-II (जिसे हर्ष के नाम से भी जाना जाता है) के अधीन इनकी शक्ति फिर से काफी बढ़ी। अपने शासन के उत्तरार्द्ध में सीयक ने राष्ट्रकूटों की अधीनता को अस्वीकृत कर दिया। नर्मदा के तट पर कालीघट्टा के युद्ध में राष्ट्रकूट सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। सीयक ने राष्ट्रकूट सेना का, उनकी राजधानी मान्यखेट तक पीछा किया। हालांकि, बाद में वह लौट गया। उसके उत्तराधिकारी मूंज (या उत्पल अथवा वाकपतिराज-II) ने साम्राज्य का विस्तार किया, कालचुरी सेना को पराजित कर त्रिपुरी को तहस-नहस कर दिया। राजपूताना में भी उसने कई अभियान किए तथा हूणों को पराजित किया। नदुला के चाहमान से कुछ हिस्सों, तथा चाहमानों से ही माउण्ट आबू और जोधपुर के दक्षिणी हिस्सों पर तथा मेदपत के गुहिलाओं की राजधानी अगहट पर उसका कब्जा था। इन विजित क्षेत्रों को उसने अपने बेटों और भतीजों के अधीन कर दिया। मूंज ने अनहिलपातक और लाट के चालुक्यों पर भी आक्रमण किया। अंतत: चालुक्य शासक तैल-II के हाथों उसकी पराजय हुई। मुंज एक कुशल सेनानायक के साथ-साथ कवि तथा कला और साहित्य का संरक्षक भी था। उसको अनेक तालाबों और मंदिरों के निर्माण का भी श्रेय दिया जाता है। मुंज के उत्तराधिकारी सिंधुराज, ने चालुक्यों के द्वारा छीने गए कुछ हिस्सों को वापस पाने में सफलता पाई।

चौलुक्य राजवंश (चालुक्यों से पृथक) की तीन धाराएं थीं। इनमें से सबसे प्राचीनवंश, मध्य भारत के मत्तमपुर से शासन करता था तथा इस खूंट के प्रारंभिक शासकों में सिद्धवर्मन, सधन्व और अवनीवर्मन का नाम आता है। मूलराज-I ने एक दूसरे खूंट की नींव रखी तथा अनहिलपालक (जिसे अनहिलवाड़ा भी कहते हैं) को अपनी राजधानी बनाई। बरप्पा ने लाट में इस वंश के तीसरे खूंट की नींव रखी, जिसका राजनीतिक केंद्र दक्षिण गुजरात का भृगुकच्छ (ब्रोच) था। अनहिलपालक के मूलराज-I ने आभीरो के विरुद्ध सौराष्ट्र और कच्छ में अभियान चलाया, किंतु चाहमानों और लाट के चालुक्यों के आक्रमणों ने उसके प्रभाव को क्षीण कर दिया। परमारों के हाथों पुन: पराजित होने के बाद मूलराज को राष्ट्रकूट शासक धवल की शरण में जाना पड़ा। अंतत: उसने अपने खोए हुए राज्य को वापस प्राप्त तो कर लिया, किंतु उसके उत्तराधिकारी कालचुरियों और परमारों से संघर्षरत रहे।

चाहमान शासक पृथ्वीराज-II का बुलियन सिक्का

दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में, 7वीं सदी में गुहिलवंश की दो खूंटें नागदा, आहद और किष्किंधा से राज्य करती थीं तथा गुहिलों का धवागर्त में भी एक छोटा-सा राज्य था। 10वीं सदी तक प्रमुख गुहिल राजघरानों में नागदा-आहद, चत्सु, उन्स्त्र, बगोडिया, नदोल तथा मंगरोल आते

अन्यान्य परिचर्चा

गाथाओं और अभिलेखों में तोमर तथा दिल्ली

तोमर राजपूतों का दिल्ली क्षेत्र से विशेष सम्बंध था। पिछले अध्याय में मेहरौली के लौह स्तंभ की चर्चा की जा चुकी है। इस स्तंभ पर राजा चंद्र का एक अभिलेख है, तथा साथ में कई और संक्षिप्त अभिलेख भी हैं, जिसमें 11वीं सदी का भी अभिलेख है, जिसके अनुसार, दिल्ली की स्थापना अनंगपाल तोमर के द्वारा की गई थी।

मध्यकालीन गाथाओं में तोमरों और उनका दिल्ली से सम्बंध प्रतिबिम्बित होता है। इनमें से एक गाथा, लौहस्तंभ से जुड़ी हुई है तथा यह उन एकाधिक कथाओं में से एक है, जो यह व्याख्या करती है कि दिल्ली को इसका नाम कैसे मिला। *पृथ्वीराज रासो* में उद्धृत कथा में एक संस्करण के अनुसार, एक ब्राह्मण ने बिलनदेव या अनंगपाल तोमर को बताया कि इस स्तंभ को स्थानांतरित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसकी नींव वसुकी नाग के फण पर टिकी हुई है, जो सर्पों का अधिपति है तथा अनंगपाल का शासन तब तक बना रहेगा, जब तक यह स्तंभ टिकी रहेगी। राजा ने उत्सुकतावश, स्तंभ की खुदाई करवाई, किंतु स्तंभ के नींव को सर्प के रक्त से शोषित पाया गया। राजा को अपनी भूल का अहसास हुआ और उसने स्तंभ को फिर से स्थापित करने का आदेश दिया, किंतु सभी प्रयासों के बावजूद स्तंभ को ठीक से स्थापित नहीं किया जा सका, वह ढीली ही खड़ी की जा सकी। कथा के अंत में यह निष्कर्ष है कि स्तंभ के ढीलेपन से ही ढिलिका का नाम जुड़ा है (जिससे हमें दिल्ली या डेल्ही का नाम मिला)।

स्पष्ट है कि यह एक किवदंती ही है, किंतु तोमरों की दिल्ली से संबद्ध होने के पुरातात्त्विक प्रमाण भी मौजूद हैं। अनंगपुर (जिसे अध्याय-2 में एक प्रमुख पुरापाषण कालीन केंद्र के रूप में बताया गया), बदरपुर इलाके में है और यहां से कई पूर्व मध्यकालीन केंद्र, गढ़ों और संरचनाओं के अवशेष मिले हैं। इस गांव का नाम तोमर राजाओं में एक अनंगपाल से जुड़ा है। गांव के निकट पत्थरों से बने बांध का निर्माण शायद उसी ने करवाया था। मेहरौली के इलाके में लालकोट किले की स्थापना अनंगपाल-II ने करवायी थी तथा उसी ने अनंगताल नाम के तालाब को भी बनवाया था। सूरजकुंड के निर्माण का श्रेय तोमर राजा सूरजपाल को दिया जाता है। इस प्रकार दिल्ली के इलाके के प्राचीनतम जलनिकाय कार्यों का श्रेय इन्हें जाता है, जिनका आज भी अस्तित्व है।

इस इलाके में शासकों की सूची प्रस्तुत करने वाले अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं। राजस्थान के एक छोटे से नगर बिझोलिया में 12वीं सदी का एक अभिलेख मिला है, जिसमें चौहान शासन विग्रहराज के द्वारा ढिल्लिका (दिल्ली) को जीतने की बात कही गई है। 13वीं सदी के पालम बाओली अभिलेख (पालम गांव के एक कुंए से प्राप्त) में ढिल्ली को किसी उधारा नाम के व्यक्ति के द्वारा निर्मित बतलाया गया है। इस अभिलेख की तीसरी पंक्ति में

अंनगपुर बांध (ऊपर); सूरज कुण्ड (नीचे)

हरियाणक क्षेत्र का उल्लेख है, जिस पर सबसे पहले तोमरों ने शासन किया और बाद में चौहानों तथा और बाद में शकों का शासन रहा। यहां 'शकों' का तात्पर्य दिल्ली के सुल्तानों से है। इस अभिलेख में मुहम्मद घोरी से बलबन तक के 'शक' सुल्तानों की सूची दी गई है। सोनीपत से प्राप्त 13वीं सदी के अभिलेख (जिसे दिल्ली संग्रहालय शिलालेख के नाम से जानते हैं) में सुवर्णप्रस्थ गांव में निर्मित किसी कुंए का उल्लेख है, तथा यह कहा गया है कि हरियाणक क्षेत्र में ढिल्लिका पर, तोमरों, चाहमानों और शकों का उत्तरोत्तर शासन रहा। सरबन गांव (नई दिल्ली के रायसीना रोड के निकट) से प्राप्त 14वीं सदी के एक अभिलेख में खेतल और पैतल नाम के दो व्यापारियों के द्वारा सर्वाल गांव में बनवाए गए एक कुंए का उल्लेख है। इसके चार छंदों में दिल्ली का इतिहास उद्धृत है, तथा उपरोक्त अभिलेखों में वर्णित अनुक्रम के अनुरूप ही शासकों की सूची दी गई है। केवल दिल्ली सुल्तानों के लिए 'शक' से अधिक सटीक शब्द तुरुष्क (तुर्क) का प्रयोग हुआ है।

स्रोत: सिंह [1999], 2006: 81–83, 89–97

थे। नागदा-आहद के गुहिलों के प्राचीनतम अभिलेख में इन्हें गुहिलवंश का हिस्सा बतलाया गया है। 10वीं सदी के एक स्थानीय राज्य से उप-क्षेत्रीय राज्य में परिणत होने की तथा 13वीं सदी में मेवाड़ के एक क्षेत्रीय राज्य के रूप में वर्णित किया गया है। बाद के अभिलेखों में भिन्न वृत्तांत उपलब्ध हैं, जिसमें बप्पा रावल को राजवंश का संस्थापक कहा गया है। इस प्रकार उनकी ब्राह्मण-क्षत्रिय संयुक्त उत्पत्ति सिद्धांत का संकेत मिलता है। दरअसल, इन वृत्तांतों में गुहिलों के नागदा-आहद वंश का 10वीं सदी के एक स्थानीय राज्य से उपक्षेत्रीय राज्य में परिणत होने की, तथा 13वीं सदी में मेवाड़ के एक क्षेत्रीय राज्य के रूप में परिणत होने की जटिल प्रक्रिया प्रतिबिम्बित होती है (सिन्हा कपूर, 2002)।

चाहमानों के कई घरानों में प्राचीनतम राजघराना 8वीं सदी के मध्य में लाट क्षेत्र में स्थापित हो चुका था। इनके एक अन्य घराने की स्थापना लक्ष्मण के द्वारा दक्षिण माड़वाड़ के नद्दुल में की गई। वासुदेव के द्वारा इनके एक तीसरे घराने की स्थापना प्रारंभिक 7वीं सदी में शाकम्भरी क्षेत्र में की गई थी, जिसकी राजधानी शाकम्भरी थी (इसे जयपुर में सांभर के निकट चिन्हित किया गया है)। शाकम्भरी के चाहमान मूल रूप से प्रतिहारों के अधीन सामंत थे, जिसके साथ वैवाहिक सम्बंध भी था। सिंहराज के काल में उन्होंने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली।

तोमर राज्य, चाहमानों से सटा था। तोमर, हरियाणा देश में ढिल्लिका (दिल्ली) को अपनी राजधानी बना कर राज कर रहे थे तथा प्रारंभ में उन्होंने भी प्रतिहारों का आधिपत्य स्वीकार किया था। 10वीं सदी में उनका शाकम्भरी के चाहमानों के साथ संघर्ष हुआ। 12वीं सदी के मध्य तक इनका हरियाणा क्षेत्र पर शासन बना रहा, जब चाहमान शासक विग्रहराज-II के द्वारा इनको निष्काषित कर दिया गया। पृथ्वीराज-III जो राय पिथोड़ा के नाम से भी विख्यात हैं, विग्रहराज का भतीजा था। चंद वरदाई के पृथ्वीराज रासो सहित कई लोककथाओं में उसके युद्धों का वर्णन मिलता है। इनमें तराइन की पहली लड़ाई में तुर्क आक्रमणकर्त्ता, मुहम्मद घोरी पर 1191 में विजय तथा इसी युद्ध स्थल पर तराईन के द्वितीय युद्ध (1192) में इसी आक्रमणकर्त्ता के हाथों हुई पराजय का भी वर्णन मिलता है।

कश्मीर और उत्तर-पश्चिम क्षेत्र

8वीं सदी में कश्मीर में राज्य की स्थापना करने वाले कारकोटा राजवंश के प्रारंभिक शासकों में ललितादित्य भी था। वज्रादित्य के शासनकाल के दौरान कश्मीर पर अरब आक्रमण हुए। कारकोटा शासकों में जयपीढ़, सबसे शक्तिशाली शासकों में था, जिसने पूर्वी प्रदेश में त्रि-वर्षीय महत्त्वाकांक्षी अभियान चलाया तथा उसने दावा किया कि उसने गौड़ प्रदेश के पांच सरदारों को पराजित किया। इस अभियान से लौटते हुए उसने शायद कान्याकुब्ज के शासक को भी पराजित किया। 855-56 सा.सं. में कारकोटा राजवंश का पतन हो गया। इनके बाद अवंतीवर्मन के द्वारा स्थापित उत्पल राजवंश का उत्थान हुआ। महापद्म (वुलर झील) से आने वाली बाढ़ से फसल को बर्बाद होने से बचाने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाने का श्रेय उसे दिया जाता है। इनके एक अन्य शासक शंकरवर्मन ने पंजाब और गुजरात में सैन्य अभियानों का नेतृत्व किया। राजवंश का अंतिम चरण राजनीतिक षडयंत्रों और संक्षिप्त अंतरालों में सत्ता परिवर्तनों की घटनाओं से भरा था। उत्पल राजवंश के उत्तराधिकारियों में यशस्कर और पर्वगुप्त जैसे शासकों का नाम शामिल है।

पूर्व मध्यकालीन कश्मीर के राजनीतिक इतिहास में तंत्रिन (पैदल सेना का निकाय), एकंग (शाही अंग रक्षकों का एक निकाय) तथा डामर कहे जाने वाले स्थानीय अधिकारियों की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका दृष्टिगोचर होती है। इस प्रदेश के इतिहास से शक्तिशाली रानियों की एक राजनीतिक परंपरा भी दृष्टिगत होती है। इनमें दिद्दा, सबसे विख्यात है, जिसने 10वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर की राजनीति को अपनी नियंत्रण में रखा था।

शहिया नामक तुर्की राजवंश का आधार काबूल घाटी और गंधार क्षेत्र में था। 9वीं सदी के उत्तरार्द्ध में, राजा लगतुरमान के एक ब्राह्मण मंत्री कल्लार ने शहिया शासक को अपदस्थ कर दिया तथा शाही राजवंश की आधारशिला रखी। कल्लार ही *राजतरंगिणी* का राजा लल्लिया हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अधिक

शोध की नई दिशाएं

दिद्दा

12वीं सदी के कश्मीर के इतिहास का वर्णन करते हुए तीन रानियों का उल्लेख राजतरंगिणी में किया गया है—गोनंद राजवंश की रानी यशोवती का, उत्पल राजवंश की सुगन्धा का और यशस्कर राजवंश की रानी दिद्दा का। इनमें दिद्दा (आज भी कश्मीरी पंडितों में बड़ी बहन को आदर से दिद्दा कहा जाता है।) का सबसे लंबा और महत्त्वपूर्ण शासन काल रहा, जिसने प्राय: 50 वर्षों तक अपना राजनीतिक प्रभाव कायम रखा। इसमें उसके पति क्षेमगुप्त का राज्यकाल, अपने नाबालिग पुत्र अभिमन्यु के संरक्षक के रूप में निष्पादित काल, तथा 980-81 सा.सं. से स्वतंत्र प्रभाव में कश्मीर की शासिका के रूप में व्यतीत राज्यकाल, सम्मिलित है।

राजतरंगिणी के छठे तरंग में दिद्दा का उत्कर्ष वर्णित है। कल्हण ने यह भी वर्णन किया है कि किस प्रकार नरवाहन नाम के एक निष्ठावान मंत्री ने, इस रानी के राज्यारोहण में समर्थन दिया, जिसने साम्राज्ञी की सत्ता को संपूर्ण साम्राज्य में स्थापित किया और उसे इंद्र के समतुल्य बताया। इस तथ्य का वर्णन करते हुए कि उसने किस प्रकार शत्रु के खेमे में दरार उत्पन्न कर दिया, कल्हण का अवलोकन है कि जिस पर किसी को भरोसा नहीं था, उसने अकेले, मवेशियों के मार्ग को पवन के पुत्र की तरह, संयुक्त शक्तियों के महासमुद्र की तरह रौंद डाला (6.226)। उसने वर्णन किया है कि किस प्रकार उसने राज्यारोहण के पहले अपने पुत्र और तीन पौत्रों की निर्मम हत्या कर दी। दिद्दा का तुग नाम के एक गड़ेरिए के साथ अवैध सम्बंध था, जो शीघ्र ही उसका विश्वासपात्र बन गया। रानी ने अपने भतीजे संग्रामराजा को अपने उत्तराधिकारी के रूप में चयनित किया और इस प्रकार राज्य को अपने मायके के लोहरा परिवार के हाथों में सुपुर्द कर दिया। कल्हण ने दिद्दा के द्वारा स्थापित नगरों, मंदिरों और विहारों की भी चर्चा की है। इनमें दिद्दापुरा और कंकनपुरा जैसे नगर एवं दिद्दास्वामिन मंदिर भी शामिल हैं। इस रानी को अनेक मंदिरों के जीर्णोद्धार का भी श्रेय दिया गया है।

यद्यपि, कल्हण ने दिद्दा के राज्यारोहण तथा उसके शासनकाल से जुड़े कई तथ्यों की विस्तृत जानकारी दी है, उसने उसका तिरष्कार भी किया है। उसने उसके चारित्रिक दुर्बलताओं, क्रूरतापूर्ण प्रवृत्तियों तथा दूसरों से शीघ्र प्रभावित हो जाने वाले स्वभाव का भी चित्रण किया है। इससे भी ज्यादा कल्हण के लिए वह स्त्रीत्व की दुर्बलताओं का प्रतिनिधित्व करती थी।

यद्यपि, स्त्री, जिनका जन्म कुलीन परिवारों में हुआ है, नदियों की तरह, उनका स्वाभाविक झुकाव नीचे की ओर होता है (6.316)। जैसा कि पहले भी हम देख चुके हैं कि अन्य क्षेत्रों ने भी महिला शासकों को दिया है। देविका रंगाचारी ने कश्मीर की महिला शासकों तथा आंध्र की महिला शासकों (विशेष रूप से रुद्रमादेवी) के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् उनके बीच के अंतर को रेखांकित किया है। उदाहरण के लिए, दिद्दा ने शाही उत्तराधिकार को यशस्करों से प्राप्त कर उसे अपने पैतृक वंश से इसलिए भी चयनित किया जाता था कि उत्तराधिकारी इनके हाथों में ही शाही परिवार की दृष्टि से अधिक सुरक्षित रहेगा, लेकिन एक बार रानी ने अपनी सत्ता को सुरक्षित कर लिया और उसने सत्ता को अप्रत्याशित मोड़ दे दिया।

रंगाचारी ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि कल्हण ने अपने पूर्वाग्रहों के बावजूद शाही महिलाओं और शाही परिवार से दोनों श्रेणी की महिलाओं की ऐतिहासिक प्रासंगिकता को चित्रित किया है। राजनीतिक सत्ता के गलियारे में, महिलाओं ने संप्रभु शासक के रूप में और सत्ता के नेपथ्य में वास्तविक शक्ति के रूप में कार्य किया है, तथा इनमें से कुछ ने राजवंशों के सृजन और विनाश दोनों में महत्ती भूमिका निभाई। *राजतरंगिणी* में गणिकाओं तथा हरम की 'नीच' महिलाओं के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभाव को भी प्रकाश में लाया गया है। कश्मीर में अन्य क्षेत्रों की तरह, पितृसत्तात्मक संरचना की सीमाओं के अधीन राजनीतिक सत्ता पर कसे हुए पुरुष शिकंजे में कभी-कभी सेंधमारी भी हो सकी।

स्रोत: पंडित [1935], 1968: 244-60; रंगाचारी, 2002

समय तक काबुल घाटी पर नियंत्रण नहीं रख सका। अरब आक्रमणकारी सररिद याकुब इब्न लइथ से 870 सा.सं. में पराजित होने के बाद, उसे उदमाण्ड (रावलपिंडी जिला, पाकिस्तान का वर्तमान में उण्ड नामक गांव) में अपनी राजधानी स्थानांतरित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। गजनी आक्रमणों के बाद शाही राजवंश का वजूद समाप्त हो गया।

पश्चिम भारत में अरब आक्रमण की शुरुआत, मुम्बई के निकट ठाणे में, नौसैनिक अभियान के रूप में 637 सा.सं. में हुई। इनके अनुवर्ती अन्य अभियान भड़ौच (ब्रोच) और सिंध के एक बंदरगाह देबल में हुए, किंतु इन प्रारंभिक अभियानों के परिणामस्वरूप उन्हें कोई क्षेत्रीय उपलब्धि नहीं प्राप्त हुई, क्योंकि इसके शीघ्र बाद ही अरबों का अफगानिस्तान के जाबुल और काबुल प्रदेशों से लंबा संघर्ष चला। अनेक अभियानों के पश्चात् उन्होंने मकरान पर अपना कब्जा बना लिया। अंततः सिंध पर उन्हें अपने पांव जमाने में सफलता मिली, जिस समय हज्जाज,

ईराक का गवर्नर था और उसने अपने भतीजे और दामाद मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में इस उद्देश्य से एक सेना भेजी। देबल के पश्चात् उन्होंने नेहरून (हैदराबाद) तथा शिविस्तान (सहवान) पर कब्जा किया। राओर किले पर दाहर नाम के शासक के विरुद्ध उन्होंने निर्णायक सफलता हासिल की, जो उसकी राजधानी, आलोर से अधिक दूरी पर नहीं था। बाद में आलोर, ब्राह्मणवाद तथा मुल्तान पर भी कब्जा कर लिया गया। इन सभी घटनाओं की चर्चा *चचनामा* में की गई है, जो 13वीं सदी की शुरुआत में बिन कासिम के सिन्ध-विजय के अरबी वृत्तांत का फारसी भाषा में किया गया अनुवाद है। सिंध-विजय को जुनैद ने पूर्ण किया, किंतु अरबों का सिंध पर नियंत्रण अगली कुछ शताब्दियों तक अनिश्चितताओं से भरा हुआ रहा। जुनैद ने मालवा तक पहुंच बनाने का प्रयास किया, जिस प्रयास को प्रतिहार नागभट्ट-I, चालुक्य पुलकेशिन-II तथा शायद यशोवर्मन ने विफल कर दिया।

9वीं और 10वीं शताब्दियों में अफगानिस्तान का अधिकांश हिस्सा समानिदों के अधीन रहा। अल्पतगिन नाम के समानिदों के एक गुलाम ने बल्ख के गवर्नर का पद प्राप्त कर लिया तथा उसने अफगानिस्तान के गजनी में एक स्वतंत्र तुर्क राजवंश की स्थापना की। अल्पतगिन के एक गुलाम और दामाद सुबुक्तगिन ने 977 सा.सं. में गजनी की गद्दी संभाल ली। गजनी के इस तुर्क रातजंत्र का पड़ोसी गंधार और पंजाब क्षेत्र के शहिया राजवंश के साथ काफी संघर्ष हुआ। सुबुक्तगिन के पुत्र और उत्तराधिकारी, महमूद के शासनकाल में यह संघर्ष और भी घमासान हो गया। उसने 27 वर्षों (1000–27) में भारतीय उपमहाद्वीप में 17 बार सैन्य हस्तक्षेप किया। इन अभियानों में शहिया, मुल्तान, भटिंडा, नारायणपुर, थानेश्वर, कन्नौज, मथुरा, कालिंजर तथा सोमनाथ के विरुद्ध अभियान भी शामिल है। महमूद का अंतिम भारतीय अभियान जाटों के विरुद्ध था। उसके अभियान विजय की बजाए लूट के उद्देश्यों से प्रेरित थे।

दो शताब्दियों के बाद तुर्कों ने उत्तर भारत में अपनी जड़ें मजबूत कर लीं, यह काल घोर के मुहम्मद घोरी का था। घुरिद (घोरी) राजघराने का उत्कर्ष एक छोटे से पहाड़ी राज्य के रूप में शुरु हुआ, जो गजनी के शासकों के अधीन थे। अंतत: उन्होंने गजनी पर आक्रमण कर उसे भी अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद मुहम्मद घोरी ने भारत में अपने सैन्य अभियानों की शुरुआत की। मुल्तान, उच्छ और दक्षिण सिंध में हासिल किए गए प्रारंभिक सफलताओं के बाद उसे गुजरात के सोलंकी शक्ति से पराजित होना पड़ा। पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध तराईन की पहली लड़ाई (1191) में हार का सामना करने के बाद उसने पंजाब को अपने अधीन कर लिया। तराईन के द्वितीय युद्ध (1192) में घोरी की सेना ने राजपूतों की एक संयुक्त सेना को पराजित कर दिया। घोरी के सेनापति, कुतुबुद्दीन ऐबक ने बड़ी सफाई से दिल्ली, रणथम्भौर, कन्नौज, ग्वालियर, तथा कालिंजर को अपने नियंत्रण में ले लिया, जबकि बख्त्यार खलजी नाम के उसके दूसरे सेना नायक ने बिहार और बंगाल पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार घोरी की प्रभुसत्ता औपचारिक रूप से संपूर्ण भारत पर स्थापित हो गई, किंतु ऐसी तमाम भारतीय उपलब्धियां एक तरह से अस्थाई थीं और घोरी साम्राज्य का ही एक हिस्सा थीं। ऐबक (1206-10) तथा इल्तुतमिश (1211-36) के शासनकाल में, दिल्ली सल्तनत एक मजबूत शक्ति के रूप में स्थापित हुआ और अंतत: उन्होंने गजनी से अंतत: सम्बंध विच्छेद कर लिया।

शाही राजा सपलपति देव के सिक्के

राजकीय भूमि अनुदान

(Royal Land Grants)

राजकीय भूमि अनुदान मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के प्रमुख स्रोत रहे हैं तथा इस युग से जुड़े बहस के केंद्र में इन्हें रखा गया है। 600-1200 सा.सं. के बीच शासकों के द्वारा ब्राह्मणों को दिए जाने वाले अनुदानों की प्रक्रिया में अत्याधिक बढ़ोत्तरी हुई। इस प्रक्रिया से जुड़ी सामान्य विशेषताओं तथा क्षेत्रीय विशिष्टताओं को रेखांकित किया जाना संभव है।

ब्रह्मदेय (ब्राह्मणों को दिया जाने वाला भूमि अनुदान) अनुदानों के राजनीतिक आयाम थे। इन बस्तियों का सृजन राजकीय आदेश के आधार पर होता था तथा ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं के अधिकारों की संपुष्टि भी राजकीय पत्र के रूप में निर्गत की जाती थी। सामंतवादी संकल्पना के अनुसार, ब्रहमदेय अनुदान की व्याख्या राजनीतिक विकेंद्रीकरण के कारण और प्रतीक, दोनों के

रूप में की जाती है, किंतु इस परिकल्पना को कई कारणों से स्वीकार कर लेना कठिन है। शासक वर्ग स्वयं अपनी सत्ता का विखंडन क्यों करेगा? फिर क्या यह सचमुच राजनीतिक विकेंद्रीकरण का काल था? उपरोक्त खंड में प्रस्तुत राजनीतिक आख्यान से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि पूर्व मध्यकाल को क्षेत्रीय, उप-क्षेत्रीय और अंतर्क्षेत्रीय स्तर पर राज्य निर्माण की अभूतपर्व प्रक्रिया के काल के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। यह प्रक्रिया कृषि विस्तार के व्यापक आर्थिक परिप्रेक्ष्य का एक हिस्सा थी। दरअसल, ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदानों को राजनीतिक विखंडीकरण या विशक्तिकरण की घटना के स्थान पर शासकों के द्वारा राज्यनिर्माण की दृष्टि से एकीकरण और वैधानिकता प्रदान करने की नीति के रूप में देखा जा सकता है।

राजतंत्रों के द्वारा सत्ता की स्थापना और उनको वैधतापूर्ण अस्तित्व प्रदान करने के दृष्टिकोण से ब्राह्मणों को दिया जाने वाला संरक्षण महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि ब्राह्मण एक ऐसा सामाजिक वर्ग था, जिसे सामाजिक-धार्मिक विशेषाधिकार पारंपरिक रूप से प्राप्त थे और उनको दिए गए अनुदानों का परिमाण किसी दृष्टि से अत्याधिक वित्तीय क्षति या नियंत्रण में कमी का परिचायक नहीं था। वास्तविकता यह भी कि शासक जिस भूमि को अनुदान के रूप में दे रहे थे, उनसे राजस्व उगाहना ज्यादातर कठिन हो रहा था। जहां तक विशाल तथा स्थापित राज्यों का प्रश्न था, तो इतने परिमाण में दिया जाने वाला अनुदान कहीं से राजकीय राजस्व को प्रभावित नहीं कर रहा था। सच तो यह है कि अधिकांश भूमि अनुदान या प्रायः सभी बड़े अनुदान जो ब्राह्मणों या धार्मिक संस्थानों को दिए जा रहे थे, वे सबसे प्रभावशाली राजतंत्रों अथवा शासकों के द्वारा निर्गत किए गए। इस प्रकार राजकीय भूमि अनुदानों की बढ़ोत्तरी, इस काल में पिछले किसी भी काल की अपेक्षा, उत्पादन के साधनों पर शासकों के बढ़ते हुए नियंत्रण का द्योतक है। समाज के विशेषाधिकार प्राप्त समुदायों पर नियंत्रण, सहयोग और सहकारिता की रणनीतियां इस युग की राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थीं। ब्राह्मणों के एक वर्ग की संपत्ति और शक्ति में बढ़ोत्तरी अथवा मंदिरों जैसी संस्थाओं का उत्कर्ष राजतंत्र की शक्ति मूल्य पर नहीं हो रहा था (सिंह, 2006: 203-4)।

दिल्ली के सुल्तानों को छोड़कर, संपूर्ण उपमहाद्वीप के राज दरबारों का ब्राह्मणीकरण हो रहा था, अभिलेखों के द्वारा इसकी पुष्टि होती है। ब्राह्मण, राजवंशों की वंशावलियों के सृजन के माध्यम से तथा प्रतिष्ठापूर्ण यज्ञों और कर्मकांडों के माध्यम से, राजनीतिक शक्ति को सैद्धांतिक तथा वैधानिक आधार प्रदान करने में सक्षम थे। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि विभिन्न राजवंशावलियों को महाकाव्य-पुराण की परंपराओं से जोड़ा जा रहा था। उत्पत्ति-गाथाएं परोक्ष रूप से समुदायों और संस्थाओं के बीच के वास्तविक सम्बंधों को प्रतिबिम्बित करती हैं। उदाहरण के लिए, केरल के कालांतर के साहित्यिक स्रोतों में समावेशित मिथकों में राजतंत्र के उत्कर्ष में ब्राह्मणों और मंदिरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका की व्याख्या की गई है, जो शासक, ब्राह्मण और मंदिरों के बीच की समीपता को प्रतिबिम्बित करती है। चेरकाल में ब्राह्मणों की प्रत्यक्ष राजनीतिक भूमिका का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि, ब्राह्मण बस्तियों के प्रभावशाली ब्राह्मण महोदयपुरा के नलुताली (राज्यमंत्री परिषद) के सदस्य भी थे।

पूर्व मध्ययुग में ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदान, 10वीं सदी के बाद मंदिरों को दिए जाने लगे। धर्मनिरपेक्ष अनुदानों की संख्या में भी वृद्धि हुई। कर्नाटक से हमें सैन्य सेवा के बदले दिए गए भूमि अनुदानों के अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। ओडिशा में भी, गंग शासकों के द्वारा नायकों (सेना नायकों) को दिए जाने वाले अनुदान की सूचना मिलती है, किंतु महाद्विपीय स्तर पर सैन्य सेवा या अन्य धर्मनिरपेक्ष सेवाओं के बदले दिए जाने वाले अनुदानों की तुलना में ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थाओं को दिए गए अनुदानों की संख्या कहीं अधिक थी।

ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ता

यद्यपि, कि पूर्व की शताब्दियों में भी ब्राह्मण भूमिपतियों का अस्तित्व रहा है, किंतु पूर्व मध्यकाल में निश्चित रूप से ब्राह्मणों के द्वारा भूमि पर नियंत्रण महत्त्वपूर्ण रूप से विस्तृत हुआ। पूर्व के अध्याय में निजी और गैर-राजतांत्रिक व्यक्तियों के द्वारा ब्राह्मणों को प्रदत्त भूमि अनुदानों के संदर्भ आए हैं। इनमें से कुछ अनुदान ब्राह्मणों के आवेदन पर निर्गत हुए जबकि अन्य अनुदानों की कुछ व्यक्तियों के आग्रह पर शासकों के द्वारा निर्गत किया गया। कालांतर के अभिलेख में प्रारंभिक चरण के अभिलेखों में परिलक्षित जटिलताएं काफी कम हैं, किंतु ऐसे कई संकेत अंतर्निहित हैं, जिससे यह संकेत मिलता है कि प्रत्यक्ष रूप से शासकों के द्वारा दिए जाने वाले अनुदानों के पीछे अन्य व्यक्तियों की भी भूमिका होती थी। 13वीं सदी के विश्वरूपसेन के द्वारा निर्गत कोलकाता साहित्य परिषद् ताम्रपत्र अभिलेख, राजा के द्वारा हलायुध नाम के एक ब्राह्मण को दिए गए अनुदान का रिकार्ड है। इस ब्राह्मण को दिए गए 11 भूखंडों में से पांच भूखंड, हलायुध के द्वारा पहले ही खरीदा जा चुका था, तथा एक दृष्टि से खरीदे गए भूमि को केवल औपचारिक शाही अनुमोदन दिया जा रहा था। ओडिशा के अभिलेखों में भौमकर और गंग शासकों के द्वारा निर्गत अभिलेखों में उनके सामंतों अथवा परिवार के सदस्यों का संदर्भ विज्ञाप्तियों के रूप में आया है (वैसे व्यक्ति जिनके आग्रह पर सम्बंधित अनुदान दिए गए)। ऐसे प्रमाण डी.सी. सरकार (1969: 7)

के उस सुझाव की संपुष्टि करते हैं कि भूमि अनुदान अभिलेख सामान्यतया उन व्यक्तियों के परिचय को छिपा देते हैं, जो उक्त अनुदानों के लिए उत्तरदायी थे तथा कई बार उक्त कार्यवाही को भी छिपाने का कार्य करते हैं।

व्यावहारिक समझ से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण जिन्हें भूमिअनुदान दिए जा रहे थे, वे शाही दरबार से सम्बंधित थे। बंगाल के कुछ पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों में यह वास्तविकता उजागर होती है कि अनुदानों के प्राप्तकर्त्ता शांतिवारिक या शान्त्यागारिक यानि राजा के धार्मिक अनुष्ठानकर्त्ता थे। इसी क्षेत्र से प्राप्त अन्य अभिलेखों में इन अनुदानों को दक्षिणा के रूप में निर्गत किए जाने की सूचना मिलती है, जो उन्हें अनुष्ठानों के पश्चात् दिया गया था। ओडिशा में कुछ ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ता शाही दरबारों से जुड़े पुरोहित, पुण्यवाचक, ज्योतिषी या प्रशासक थे। देश के अन्य हिस्सों से भी इसी प्रकार की सूचनाएं उपलब्ध होती हैं, किंतु अधिकांश अभिलेखों में ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ता और शाही दरबार के बीच का सम्बंध स्पष्ट नहीं होता है।

शाही अनुदानों में ब्राह्मण लाभुकों के वंश, गोत्र, प्रवर, शाखा तथा मूलग्राम इत्यादि सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। गोत्र, ब्राह्मणों की एक बहिर्विवाह सिद्धांत पर आधारित सामाजिक संस्था है। गोत्र, गणों में विभाजित होते हैं, जिनमें से प्रत्येक का अपना प्रवर होता है। प्रवर के अंतर्गत पूर्वज ऋषियों के नामों की श्रृंखला (1, 2, 3 एवं 5) निहित होती है। चरण, वैदिक शिक्षा की विशेष शाखा को कहते हैं, तथा शाखा वेद के विशेष पाठ से संबद्धता बताती है। अभिलेखों में चरण और शाखा का पर्यायवाची प्रयोग देखा जा सकता है। इससे ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं के वैदिक ज्ञान की सूचना मिल जाती थी, इसके लिए उनकी उपाधियों यथा आचार्य, उपाध्याय तथा पंडित का जिक्र रहता था।

यह पता चलता है कि उनमें से कई ब्राह्मणों का उस क्षेत्र में हाल ही में आप्रवर्जन हुआ था और ब्राह्मणों के एक वर्ग की क्षेत्रीय गतिशीलता महत्त्वपूर्ण स्तर पर देखी जा सकती है। प्रारंभिक भारतीय इतिहास में ब्राह्मणों के प्रवर्जन की प्रक्रिया के कई चरणों को रेखांकित किया जा सकता है। उनके प्राचीनतम प्रवर्जन की प्रक्रियाओं का विवरण, जो शायद 800 सा.सं.पू. में ही शुरू हो चुका था, मिथकों से प्रभावित मालमू पड़ता है। प्रारंभिक ब्राह्मण साहित्यों में पूर्वी क्षेत्र के मिलने वाले वर्णन के आधार पर उनके प्रारंभिक पूर्ववर्ती प्रवर्जनों का अनुमान लगाया जा सकता है। आर्यावर्त शब्द के विस्तृत अर्थ के द्वारा उनके द्वारा पूर्ववर्ती विस्तार के यथार्थ को उन्होंने, अनिच्छापूर्वक किंतु धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया। अगस्त्य तथा परशुराम से जुड़ी गाथाएं उनके दक्षिणवर्ती विस्तार को प्रतिबिंबित करती हैं, जिनकी चर्चा हम 8वें अध्याय में कर चुके हैं। संगमकाल अर्थात् दक्षिण भारत का प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से दक्षिणवर्ती प्रवर्जन की प्रक्रिया के दूसरे महत्त्वपूर्ण चरण को चिन्हित किया जा सकता है।

ब्राह्मणों की गतिशीलता का बाद में बेहतर दस्तावेजीकरण किया गया है। 16वीं सदी के *केरलोल्पत्ति* में मूल रूप से केरल के 32 बस्तियों का उल्लेख किया गया है, जो संभवत: पूर्व मध्ययुग की परिस्थितियों से अवगत कराती है। बंगाल के उत्तर-मध्ययुगीन कुलाजी पाठ्य में बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों को पांच कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की संतति बताया गया है, जिन्हें राजा आदिसुर के द्वारा बंगाल के ब्राह्मणों को परिष्कृत वैदिक अनुष्ठानों के परिष्कृत निष्पादन हेतु प्रशिक्षित करने के लिए आमंत्रित किया गया था। यद्यपि, कि इस कथा के पात्रों और घटनाओं के विवरण को ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता, तब भी इमें निर्दिष्ट तथ्यों की पुष्टि अन्य स्रोतों से की जा सकती है। विशेषरूप से इन तथ्यों की पूर्व मध्यकाल में भी ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा उनके वैदिकज्ञान पर आश्रित थी और ब्राह्मणों का मध्य-देश (मध्य गंगा नदी घाटी क्षेत्र) से पूर्वी क्षेत्रों में प्रवर्जन हो रहा था।

साहित्यिक स्रोतों के अतिरिक्त 5वीं सदी के बाद से, हमारे पास पर्याप्त अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि मध्य-देश से ब्राह्मणों का महाराष्ट्र, बंगाल, मध्य प्रदेश, तथा ओडिशा में आप्रवर्जन हो रहा था। इनमें से कई ब्राह्मण टकारी, श्रावस्ती, कोलन्या और हस्तिपद जैसे ब्राह्मण शिक्षा के विख्यात केंद्रों से आ रहे थे। आठवीं सदी में ब्राह्मणों की यह गतिशीलता पराकाष्ठा पर थी। उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में ब्राह्मणों की आवश्यकता, इन क्षेत्रों में उभरकर आ रहे समुदायों को यथोचित सामाजिक वैधानिकता हासिल करने के लिए पड़ रही थी। 10वीं सदी तक इनके दो विभाजन प्रमुख रूप से अस्तित्व में आ चुके थे—पंचगौड़ (उत्तरी विभाजन) तथा पंच-द्राविड़ (दक्षिणी विभाजन)। पंच-गौड़ के अंतर्गत सारस्वत, गौड़, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल ब्राह्मण थे। पंच-द्राविड़ की सूची में—गुर्जर, महराष्ट्रीय, कर्नाटक, त्र्यलिंग तथा द्राविड़ ब्राह्मण थे।

किंतु ब्राह्मण क्यों स्थानांतरण को स्वीकार कर रहे थे? राजनीतिक अस्थिरता तथा भूमि पर बढ़ते हुए दबाव को संभावित कारणों में रखा जाता रहा है (दत्ता 1989: 224), किंतु इन्हें पूर्ण रूप से तर्क-सम्मत नहीं माना जा सकता है। इनके स्थानांतरण को उस विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में आजीविका के बेहतर अवसरों की तलाश के रूप में भी देखा जा सकता है। शुरुआती दौर में ब्राह्मणों का पूर्व तथा दक्षिण भारत में हुआ स्थानांतरण, उत्तर भारत में बलि-प्रथा पर आश्रित धार्मिक कर्मकांडों के पतन से जुड़ा हुआ मालूम पड़ता है। ब्राह्मण समुदायों के सदस्य जिनकी आजीविका यज्ञ-अनुष्ठानों पर आधारित थी, विशेष रूप से उन्हें बाध्य होकर अपने मूल स्थान का त्याग, वैकल्पिक अध्यावसायों की तलाश में बाहर जाना पड़ रहा था। इस तथ्य के आधार पर छठी सदी के पश्चात् के साहित्यों में ब्राह्मणों के द्वारा अपनाए जा रहे व्यवसायों की विविधताओं के वर्णन की व्याख्या भी की जा सकती है।

पूर्व मध्यकालीन स्थानांतरण की प्रक्रिया, उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में राजतंत्रों के विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ चल रही थी और हो सकता है कि इसके पीछे, दबाव के विपरीत नई संभावनाअें की प्रेरणा निहित थी। उभरते हुए कुलीन वर्ग को प्रशासनिक संरचना के साथ-साथ वैधानिकता भी प्राप्त करनी थी, जो विद्वान एवं योग्य ब्राह्मणों के लिए उनकी उपयोगिता के नए आयाम प्रस्तुत कर रहा था। इस समय तक आम आदमी के धार्मिक व्यवहार भक्ति-मार्ग से महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित होने लगे थे, जिसमें वैदिक अथवा श्रौत अनुष्ठानों के लिए अत्यंत सीमित उपयोगिता बची हुई थी। फिर भी रोचक तथ्य है कि जहां इन शताब्दियों के लोकप्रिय स्तर पर वैदिक धार्मिक व्यवहार लगभग अप्रासंगिक हो चुके थे, किंतु फिर भी अभिलेखों में ब्राह्मणों का परिचय मुख्य रूप से वैदिक कर्मकांडों के आचार्यों के रूप में ही दिया जा रहा था, अथवा कम से कम उनके प्रारंभिक वैदिक अस्तित्व को महत्त्व दिया जा रहा था, तथा शासकों के द्वारा इन्हीं ब्राह्मणों को संरक्षण दिया जा रहा था। इस प्रकार संस्कृत-वैदिक परंपरा तथा प्रचलित लोकव्यवहार के बीच बहुत बड़ा फासला बन चुका था और दरअसल यही फासला कुलीन वर्गों के द्वारा इनके वैधानिकता प्रदान करने वाले तत्वों के रूप में उपयोग में लाने का आधार बन रही थी, जो इनके लिए भव्य वंशावलियों का सृजन कर जन सामान्य से इनको दूर कर रहे थे। यह महज संयोग नहीं है कि स्थानांतरण के दो महत्त्वपूर्ण चरण और राज्य निर्माण की प्रक्रिया का दो महत्त्वपूर्ण काल, साथ-साथ घटित होने वाली प्रक्रियाएं थीं।

कई अभिलेखों में ब्राह्मणों के संस्कृत्तेर नामों का उल्लेख मिलता है और हो सकता है इनमें से कई जन-जातीय पृष्ठभूमि से ब्राह्मण व्यवस्था में स्थान प्राप्त कर रहे थे। उदाहरण के लिए, पूर्वी चालुक्यों के कुछ अभिलेखों में बोया ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है, जो मूल रूप से बोया जनजाति के पुरोहित रहे होंगे, तथा समय के किसी बिंदु पर इनका ब्राह्मणीकरण हो गया। कई अभिलेखों में ब्राह्मणों के जिन गोत्रों का उल्लेख हुआ है, उन्हें पहले कभी नहीं सुना गया था, तथा कई बार इनके गोत्र और प्रवर मेल नहीं खाते। दरअसल, ये वैसे ब्राह्मण थे, जिन्होंने आर्थिक व सामाजिक मान्यता की आशा में अपने लिए ब्राह्मण परिचय का वस्तुतः आविष्कार किया था।

ब्रह्मदेय बस्तियों का स्वरूप

जब हम ब्रह्मदेय बस्तियों के स्वरूप की चर्चा करते हैं, तो उनसे जुड़े वास्तविक तथ्यों को सैद्धांतिक ढांचे से पृथक नहीं कर सकते, जिनकी आधारशिला पर उनका निर्माण हो रहा था, किंतु हम पहले भी देख चुके हैं कि सैद्धांतिक ढांचों के बीच परस्पर विरोधाभास बना रहता है। इनके सम्बंध में कुछ सामान्य विशेषताओं को संपूर्ण उपमहाद्वीपीय स्तर पर चिन्हित किया जा सकता है, किंतु साथ-साथ इनके क्षेत्रीय, स्थानीय तथा अलग-अलग कालावधियों की विशिष्टताओं के अस्तित्व को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। यह भी सत्य नहीं कि ऐसी सभी ब्रह्मदेय बस्तियां, राजकीय अनुदानों का ही परिणाम थी। यद्यपि हमारे पास सटीक सांख्यिकीय सूचना उपलब्ध नहीं है, फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि इस कोटि की बस्तियां प्रायः सभी क्षेत्रों, अन्य श्रेणी की बस्तियों की तुलना में काफी कम संख्या में थीं।

पहले भी कहा जा चुका है कि राज्य की दृष्टि से ब्रह्मदेय अनुदानों का अभिप्राय उस क्षेत्र से वास्तविक या संभावित राजस्व की हानि के रूप में भी देखा जा सकता है। भूमि अनुदान अभिलेखों में कई बार यह भी लिखा होता था कि उस भूमि को सभी संपदा तथा गड़े हुए खजाने इत्यादि के साथ दिया जा रहा है, जिसमें जंगल अथवा उत्तराधिकार विहीन संपत्ति भी शामिल होते थे। यदि साहित्यिक स्रोतों को देखें तब पाएंगे कि इन संपदाओं को सैद्धांतिक रूप से राजा के अधिकार क्षेत्र में होना चाहिए था और यदि इन विशेषाधिकारों का भी हस्तांतरण हो रहा था, तब निश्चित रूप से राज्य के विशेषाधिकार प्रभावित हो रहे थे। अभिलेखों में यह भी उद्धृत है कि ब्रह्मदेय अनुदानों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, उसके अधिकारी या सैनिक उनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। चोल साम्राज्य में कुछ महत्त्वपूर्ण ब्रह्मदेय अनुदानों को उस नाडु (स्थानीय क्षेत्र) के अंतर्गत तनियूर की हैसियत दी गई थी अर्थात् वह उस नाडु के अधिकार क्षेत्र से बाहर होता था। इन सभी तथ्यों से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि संपूर्ण ग्राम्य परिदृश्य में इन ब्रह्मदेयों के अस्तित्व को स्वायत्त द्वीपों के रूप में देखा जाना चाहिए। जहां ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ता राज्य के अधिकारों से मुक्त, स्वेच्छा से सभी कुछ कर सकते थे, किंतु उनकी दिखाई पड़ने वाली यह स्वायत्तता, उनके राजा के साथ निकटस्थ सम्बंध होने के कारण स्वतः सीमित हो जाती है।

कुछ उदाहरणों में यह निर्देश दिया गया था कि ब्राह्मण बस्तियां, पूर्व से अस्तित्व में रहे क्षेत्र के बाहर स्थापित किए जाएंगे, जिससे कृषि के अधीन नए क्षेत्रों को लाने में सफलता मिली होगी, किंतु अधिकांश भूमि अनुदान जो इस श्रेणी में दिए गए वे पहले से आबादी वाले क्षेत्र थे और जहां कृषि कार्य पूर्ण रूप से चला रहा था। यह स्थिति अनुदान में दिए गए भूमि के विवरणों से स्पष्ट होती है, तथा अन्य विस्तृत सूचनाओं से भी। उदाहरण के लिए, 12वीं शताब्दी के पश्चात् निर्गत किए गए बंगाल के भूमि अनुदानों में उक्त भूमि से प्राप्त होने वाले वार्षिक राजस्व की सूचना दी गई है और यह भी अंकित है कि अनुदान के अधीन पड़ने वाले वास्तु-भूमि (निवास क्षेत्र) पर भी अधिकार दिया गया है। स्पष्ट हो जाता है, कि भूमि अनुदानों के माध्यम से ब्राह्मण अनुदानकर्त्ता को पूर्व से अस्तित्व में रहे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में थोपा जा रहा था।

ब्रह्मदेय अनुदान जमीन के एक छोटे टुकड़े से लेकर, एक गांव या अनेक गांवों का हो सकता था। इसी प्रकार एक विशेष ब्रह्मदेय के अनुदान प्राप्तकर्त्ता की संख्या एक से लेकर सैकड़ों तक हो सकती थी। एक अनुदान प्राप्तकर्त्ता के द्वारा कई अनुदान प्राप्त करने के संदर्भ भी आए है। दसवीं शताब्दी का श्रीचंद्र के द्वारा निर्गत पश्चिम भाग प्लेट (बंगाल से प्राप्त) एक ऐसा ही उदाहरण है, जिसमें एक विशाल भूमि अनुदान बड़ी संख्या में ब्राह्मणों को दिया गया। इसमें एक अनुदान 6000 ब्राह्मणों को दिया गया तथा साथ में ब्रह्मा के मठ से तथा विष्णु के मंदिर से जुड़े कई सेवार्थी भी लाभुकों में थे। श्रीहट्ट मंडल (पुण्ड्रवर्धन भुक्ति) के तीन विषयों (जिलों) को अनुदान में देकर उन्हें एक ब्रह्मपुरा में रूपांतरित कर दिया गया तथा राजा के नाम पर उसका नया नाम श्रीचंद्रपुरा रखा गया। ब्रह्मदेयों के सीमांकन का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि इनकी सीमाएं कई बार एक-दूसरे से सटी हुई थी, एक तथ्य जो प्रतिबिम्बित करता है कि कुछ स्रोतों में ब्राह्मण बस्तियों की संख्या और घनत्व दोनों अधिक था।

अभिलेखों में प्रयुक्त जटिल शताब्दियों का स्पष्ट अर्थ निकालना कई बार कठिन हो जाता है, किंतु यह स्पष्ट है कि अधिकांश अनुदानों में ब्राह्मण बस्तियों को स्थायी रूप से राजस्व-मुक्त हैसियत प्रदान की जाती रही। इससे

अन्यान्य परिचर्चा

कर-शासन और क्रय-शासन

जहां तक राज्य के दृष्टिकोण का प्रश्न था, अधिकांश भूमि अनुदानों में विशेषरूप से स्पष्ट किया गया कि उन्हें राजस्वकरों से मुक्त रखा जाएगा, किंतु इनके अपवाद भी मौजूद थे। राजस्व का भुगतान करने वाले अनुदानों को कर-शासन के रूप में जानते हैं। ओडिशा, बंगाल तथा आंध्र प्रदेश से कर-शासनों के उदाहरण मिलते हैं। ओडिशा के कुछ उदाहरण यहां दिए गए हैं। चन्द्रवर्मन राज्य के बॉबली अभिलेखों में निर्दिष्ट है कि गांव के द्वारा अग्रिम के रूप में 200 पण प्रतिवर्ष भुगतेय होगा, जैसा कि 36 अग्रहारों (अन्य सभी) के लिए भुगतेय है।

प्रभंजनवर्मन के निन्गोण्डी अभिलेख में भी 200 पणों को अग्रिम भुगतान निर्धारित किया गया है।

श्वेतक गंगशासक पृथ्वीवर्मादेव गंजम अनुदान अभिलेख में स्पष्ट कहा गया है कि स-करिकृत्य अनुदान किया जा रहा है अथवा जिसे करों का भुगतान करना होगा तथा वार्षिक किराया रजत के चार पालों तक निश्चित किया गया।

कलिंगनगर के गंगशासकों के अनुदानों में एक एक वज्रहस्त के कालाहांडी अनुदान में यह अपेक्षित था कि भुगतेय करों का फाल्गुन महीने में भुगतान किया जाएगा। अनंतवर्मन के चिकाकोले अनुदान में 10 मशक का राजस्व भुगतान तय किया गया था (यहां तात्पर्य 10 सिक्कों या 10 मशकों के बराबर चांदी से है)।

भौमकर रानी धर्ममहादेवी के अंगुल अभिलेख में जहां शकेमवा गांव का राजस्व मुक्त रखा गया, वहीं देशल गांव में दिए गए 10 मालाओं वाले अनुदान से चांदी के 3 पालों का वार्षिक भुगतान अपेक्षित प्रतीत होता है।

नेट्टभंज राज्य के जुराडा अनुदान में चांदी के 4 पालों का वार्षिक राजस्व निर्धारित किया गया, तथा साथ में 4 अतिरिक्त पालों का भुगतान 'खंडपालमुण्डमोल' के रूप में किया जाना था (शायद यह कर खंड नाम के उस क्षेत्रीय इकाई के पदासीन अधिकारी को भुगतान करना था।)

शुल्की अभिलेखों में से एक तालचर अभिलेख त्रिन-ओदक (या कर) का निर्धारण किया गया है, जो चांदी के दो पालों का था, यद्यपि, इसमें राजस्व मुक्त अनुदानों में प्रयुक्त शब्दावलियों का भी उल्लेख किया गया है। कुलस्तंभ के पुरी प्लेट में कर के रूप में चांदी के 10 पालों का निर्धारण किया गया है। तुंग शासक गयदतुंग के तालचर प्लेट में चांदी के 4 पाले करके रूप में सुनिश्चित किए गए हैं। इसी शासक के एशियाटिक सोसायटी प्लेट में भूमि को कर-शासन का दर्जा दिया गया और चांदी की नौ पालों का कर निर्धारित किया गया।

सोमवंशी शासक महाभवगुप्त के पटना प्लेट के दो संस्करणों में क्रमशः आठ तथा पांच रजन पालों का वार्षिक कर निर्धारण देखा जा सकता है। साम्राज्यवादी गंगशासकों के भूमि अनुदानों में राजस्व कर मुक्त अनुदानों की कोई चर्चा नहीं है और इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये राजस्व मुक्त नहीं थे।

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भूमि अनुदानों की कम से कम दो श्रेणियां थी–एक राज्य के द्वारा रियायती कर लगाया जाता रहा, किंतु भूमि अनुदानों के अधिकांश उदाहरण पहली श्रेणी में ही आते हैं।

कर-शासनों के अतिरिक्त, पूर्व मध्ययुगीन भारतीय अभिलेखों को धर्म निरपेक्ष कोटि में रखा जा सकता है। इन्हें क्रय-शासन की संज्ञा दी गई है। डी.सी. सरकार ने हमारा ध्यानाकृष्ट किया है कि इन दोनों श्रेणियों के अभिलेखों में सामान्य भूमि अनुदानों में प्रचलित प्रशस्ति तथा मंगलाचरण श्लोकों को स्थान दिया जाता रहा।

स्रोतः सिंह, 1994: 66, 246: सरकार, 1952

तात्पर्य यह था कि संबद्ध भूमि अब राज्य के दृष्टिकोण से राजस्व मुक्त थी। कर का वह हिस्सा, जिसे राज्य को जाना चाहिए था, अब वह अनुदान प्राप्तकर्त्ता को प्राप्त हो रहा था। इस प्रकार ब्रह्मदेय भूमि का राजस्व की दृष्टि से एक विशेष दर्जा या, राजस्व वसूलने और प्राप्त करने का सारा अधिकार अब लाभुको के हाथों में था।

वैसे कथनों से जिनके अनुसार, कहा गया है कि ऐसे अनुदान तब तक वैध रहेंगे, जब तक सूर्य, चंद्रमा या तारे रहेंगे, अनुदान के स्थायी स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। इसका अर्थ यह भी था (तथा जिसे कई बार स्पष्ट रूप से लिपिबद्ध भी किया गया है) कि अनुदान प्राप्तकर्त्ता की मृत्यु के बाद अनुदान का अधिकार स्वतः उसके वंशजों को हस्तांतरित हो जाएगा। कुछ अभिलेखों में ऐसी सूचना भी उपलब्ध है कि गांवों का हस्तांतरण नए अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को कर दिया गया। हालांकि, इससे यह भी अंदाजा लगता है कि प्रस्ताव और व्यवहार के बीच काफी अंतर होने की संभावना थी, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि कम से कम अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं के द्वारा शुरुआती दौर में अनुदानों को सरलता से अपने उत्तराधिकारियों में हस्तांतरित किया जा सका।

वस्तुतः राजकीय भूमि अनुदानों ने अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को सम्बंधित भूमि की संपदा पर सर्वांगीण अधिकार प्रदान कर दिया। यद्यपि, भूमि अनुदानों का स्वरूप स्थायी और वंशानुगत था, तथा सभी अनुदान राजस्व मुक्त थे, किंतु क्षेत्रीय दृष्टिकोण से इनके विस्तृत निष्पादन में पर्याप्त विविधताएं मौजूद थीं। 8वीं-12वीं सदी के बीच बिहार और बंगाल पर शासन करने वाले पालों के भूमि अनुदान अभिलेखों में स्व-सीमा-त्रिणयुति-गोचर-पर्यंत, स-तल, स-ओद्देश, स-आम्रमधूक, स-जल-स्थल, स-गर्त-ओशर, होने का उल्लेख किया गया है, अर्थात् भूमि के स्वामित्व, चौहदी, घास, चारागाह, आम और मधुक के वृक्ष, जल और थल, बंजर और ऊसर भूमि, गड्ढे सभी कुछ हस्तांतरित किया गया था। भूमि अनुदान अकिंचित प्रग्राह्य अर्थात सभी करों से मुक्त तथा समस्त-भाग-भोग-कर-हिरण्य-आदि-प्रत्यय-समेत, उक्त करों के अधिकार के साथ दिया गया था। पाल अभिलेखों में अ-चाट-भट-प्रवेश्य या राजा के स्थायी अथवा अस्थायी सैनिकों के प्रवेश निषेध के साथ अनुदान को देने की बात कही गई है।

जहां तक इन ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं के अनुदान क्षेत्र में न्यायिक अधिकार का प्रश्न है, इसकी पुष्टि 'सदशापराध' अथवा 'सचौराद्धरण' जैसे प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या पर निर्भर करती है। पालों के अतिरिक्त कुछ अन्य राजतंत्रों के द्वारा निर्गत अभिलेखों में इनका या इनसे मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग हुआ है। सदशापराध की तीन व्याख्याएं की गई हैं। एक व्याख्या के अनुसार, यह संकेत देता है कि अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को कुछ निश्चित आपराधिक कर्मों के अभियुक्तों पर आर्थिक दंड वसूलने का अधिकार था। दूसरी व्याख्या के अनुसार, इन्हीं अपराधों के आरोपी होने पर उन्हें दंड से मुक्ति पाने का अधिकार प्राप्त था। तीसरी व्याख्या यह है कि उन्हें उक्त अपराधों के अभियुक्तों पर न्यायिक मुकद्दमा चलाने का अधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्द स-चौरोद्धरण की व्याख्या इस प्राकर की जा सकती है कि या तो इससे यह संकेत मिलता है कि चोरी करने वाले अपराधी को दंडित करने का अधिकार था या चोरी करने वाले अपराधियों पर आर्थिक जुर्माना लगाने का अधिकार था।

उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से प्राप्त होने वाले भूमि अनुदान अभिलेखों के माध्यम से अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को प्राप्त होने वाले विस्तृत अधिकारों की जानकारी मिलती है। उदाहरण के लिए, ओडिशा से प्राप्त होन वाले कुछ अभिलेखों में स-प्रद-अरण्य शब्द के आधार पर अनुदान के साथ भूमि और जंगलों के उपभोग का अधिकार भी निहित था। यह 12वीं सदी के बाद के बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में सदृश्य था, जिनमें वास्तु-भूमि (निवास क्षेत्र) के हस्तांतरण और अधिकार का भी उल्लेख मिलता है। 9वीं सदी के बाद ओडिशा के अभिलेखों में (विशेषकर भौम-कर, शुल्की तथा तुंग राजतंत्रों से निर्गत) में स-खेट-घट्ट-नदी-तर-स्थान-आदि-गुल्मक, अंकित हैं। इनसे यह सूचना मिलती है कि इन स्थान-विशेष से शुल्क वसूली का अधिकार तथा सैन्य छावनी या गुल्मक पर भी अधिकार का हस्तांतरण किया जा रहा था। भौमकर, आदि भंज, शुल्की तथा तुंगों के द्वारा निर्गत अभिलेखों में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य जोड़ा जाने लगा स-तन्त्रवाय-गोकुट-शौंडिक-आदि प्राकृतिक, अर्थात् बुनकर, गड़ेड़िये, शराब बनाने वाले तथा अन्य प्रजा पर भी उनको अधिकार प्रदान किया गया। यहां कर्नाटक के कुछ भूमि अनुदानों की भी चर्चा की जा सकती है, जिनमें भूमि के साथ-साथ अद्धिक या बंटाई-दारों के अधिकारों को भी हस्तांतरित किया जाने लगा।

किंतु, अधिकांश भूमि अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को एक महत्त्वपूर्ण अधिकार से वंचित रखा गया–वे भूमि की बिक्री या हस्तांतरण का अधिकार नहीं रखते थे। जैसा कि अध्याय-9 में भी उल्लेख किया जा चुका है कि निविधर्म, अक्षय-निविधर्म या अप्रदा-धर्म जैसी श्रेणियों में दिए गए अनुदानों के साथ अहस्तंतरणीय की शर्त जुड़ी थी। इसी प्रकार ओडिशा के कई अभिलेखों में अ-लेखनी-प्रवेशतया अंकित होता था। इसका अर्थ था कि उक्त भूमि किसी अन्य दस्तावेज का हिस्सा नहीं बन सकती अथवा उन्हें बेचा नहीं जा सका। इस दृष्टिकोण से ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं के अधिकारों के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे एक जमींदार से अधिक थे, लेकिन जमीन के मालिक से कम।

ब्रह्मदेयों का कृषि सम्बंधों पर प्रभाव

राजकीय संरक्षण ने ब्राह्मणों के एक वर्ग को आर्थिक शक्ति सम्पन्न बना दिया तथा इसके माध्यम से ब्राह्मण भूमिपतियों के एक कुलीन वर्ग का विकास संभव हो सका। इस कुलीन वर्ग के सदस्यों को फिर भी ब्राह्मण सामंत कहना उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि वे सामान्य सामंतों अथवा अधीनस्थ शासकों की भांति अपने अधिपतियों को किसी प्रकार की सैन्य सेवा देने के लिए प्रतिबद्ध नहीं थे। ब्राह्मण मध्यस्थों को वसूल किया गया कर अथवा भौतिक संसाधनों को हस्तांतरित करने का भी दायित्व नहीं था।

अधिकांश इतिहासकारों के द्वारा पूर्व मध्ययुग को कृषि विस्तार के एक महत्त्वपूर्ण काल के रूप में देखा गया है। जिस प्रक्रिया में भूमि अनुदानों की महती भूमिका को स्वीकार किया जाता है, किंतु इस काल में कृषि सम्बंधों के विषय में धारणाओं की विविधता काफी अधिक देखने को मिलती है। ब्रह्मदेयों की स्थापना से ग्रामीण समुदाय के विभिन्न घटकों पर क्या प्रभाव पड़ा–विशेषकर छोटे-बड़े कृषकों पर, बंटाईदारों पर, अथवा भूमिहीन कृषि मजदूरों पर? क्या अधिकांश भूमि अनुदानों के निहित परिहारों (छूटों) का क्या कृषि समुदाय पर शोषणात्मक प्रभाव पड़ रहा था? इस तरह के प्रश्नों के उत्तर विभिन्न दृष्टिकोणों से दिए गए है। सामंतवाद की प्रस्थापना रखने वाले विद्वानों का कहना है कि भूमि अनुदानों के द्वारा ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं ने ग्रामीण समुदायों को अधीनस्थ बनाया और उनका शोषण किया। जबकि बर्टन स्टाईन (1980: 63-84) ने पूर्व मध्य कालीन दक्षिण भारत के संदर्भ में ब्राह्मण-कृषक संधि के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। 'एकीकरण' या 'प्रक्रियात्मक' मॉडल के प्रवर्तकों ने कृषि सम्बंधों के स्वरूप के विषय को सीधे सम्बोधित नहीं किया है।

निश्चित रूप से, ग्रामीण समुदाय में ब्राह्मणों के अनुदान भोगी के हैसियत से किए गए प्रवेश से, कृषि सम्बंधों में नवीन तत्वों का भी प्रवेश हुआ। जैसा कि दक्षिण भारत के ब्रह्मदेय के विषय में पहले भी कहा जा चुका है, राजन गुरुकल मानते हैं कि ऐसे अनुदानों ने नातेदारी के बाहर से कृषि मजदूरों से कार्य कराने का प्रचलन शुरू किया, जिसके फलस्वरूप उत्पादन सम्बंधों के नातेदारी का आधार प्रभावित हुआ। अधिकांश भूमि अनुदानों के साथ राजस्व-मुक्त हैसियत भी जुड़ी थी, जिसका तात्पर्य यह था कि अब राजस्व का वह हिस्सा अुनदान प्राप्तकर्त्ताओं के कोष में जा रहा था। कभी-कभी अभिलेखों में राजस्व या कर के सम्बंध में बहुत ही सामान्य टिप्पणियां की गई हैं। अनुदानभोगियों को आमतौर पर जल संसाधान, वृक्ष, जंगल अथवा वास्तुभूमि का भी स्वामित्व दिया जा रहा था, स्वाभाविक है कि ये पहले ग्रामीण समुदाय के सहकारी नियंत्रण में थे, जो इन अधिकारों से वंचित होने लगा था। पहले अधिकांश ग्रामीण विवादों का निपटारा, ग्रामीण समुदाय के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता था, वहीं अनुदानों की मानें तब इन न्यायियक अधिकारों अथवा अपराधिक मामलों में आर्थिक दंड देने जैसे अधिकारों के हस्तांतरण से ग्रामीण समुदाय के अधिकार छीने जा रहे थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रह्मदेय अनुदानों में निहित शब्दावलियों के अर्थनिरूपण में काफी भिन्नता की संभावना है, किंतु निश्चित रूप से इनके द्वारा एक ऐसे ब्राह्मण वर्ग का अविर्भाव हो चुका था, जिनके पास ग्रामीण समुदाय और संसाधनों पर नियंत्रण के अवसर विकसित हो चुके थे। इसलिए आर्थिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ता और अन्य ग्रामीण समूहों के बीच वर्चस्व और अधीनस्थता का सम्बंध स्थापित हो चुका था। राज्य के द्वारा शोषण की अपेक्षा प्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण वर्ग का शोषण आम कृषकों को अधिका प्रभावित कर रहा था। फिर भी यूरोप की मेनर व्यवस्था के सर्फ प्रथा से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

यद्यपि, ग्रामीण स्तर पर सामाजिक और आर्थिक विभाजन गहराते जा रहे थे, किंतु विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे विभाजनों के परिमाण में पर्याप्त विविधताएं मौजूद थीं। अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं के द्वारा स्थापित की गई आर्थिक वर्चस्वता, पर्यावरण, उपजाऊ भूमि की मात्रा, ब्राह्मणों के बीच का संगठनात्मक ताल-मेल, प्रतिद्वंदिता सामाजिक था। वाणिज्यिक समुदायों की उपस्थिति या अनुपस्थिति, जैसे अनेक तथ्यों पर निर्भर करती थीं। असम में, जहां कृषि योग्य भूमि की कोई कमी नहीं थी, तथा जहां गैर-ब्राह्मण समुदायों के पास भी पर्याप्त मात्रा में भूमि मौजूद थी, वहां सामाजिक और आर्थिक विभाजन का स्वरूप भी उतना प्रत्यक्ष नहीं, जैसा कि अन्य क्षेत्रों में प्रतीत होता है। दक्षिण भारत में ब्राह्मणों की 'सभा' कही जाने वाली स्थानीय संगठनों के माध्यम से ब्राह्मण अनुदान लाभुकों की वर्चस्वता को और अधिक मजबूती मिली। केरल में अन्य संगठनात्मक निकायों के अभाव में ब्राह्मण सभाओं के शक्ति और प्रभाव को कोई चुनौती देने वाला भी नहीं था। बढ़ते हुए ग्रामीण विभाजन की वजह से सामाजिक-आर्थिक संघर्ष की संभावना भी बढ़ने लगी, किंतु ऐसे संघर्षों के वास्तविक संदर्भ नहीं प्राप्त होते हैं। केवल कर्नाटक के कुछ अभिलेखों में ऐसे संघर्षों का प्रत्यक्ष संदर्भ आया है, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

वृहतत्तर सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत भूमि अनुदानों की भूमिका

बी.डी. चट्टोपाध्याय (1994)[1997: 16] ने जोरदार ढंग से यह तर्क दिया है कि पूर्व मध्यकाल सहित भारतीय इतिहास में ऐतिहासिक प्रक्रिया की महती धारा प्रभावित होती रही है, उसे स्थानीय स्तर पर राज्य निर्माण की प्रक्रिया

के द्वारा राज्य आधारित समाज के विस्तार के रूप में रेखांकित किया जा सकता है, तथा जिसके अंतर्गत जनजातियों का कृषक एवं जाति के रूप में रूपांतरण और सम्प्रदायों या पंथों में विनियोजन हो रहा था।

भूमि अनुदानों ने ग्रामीण क्षेत्रों में ब्राह्मणों के एक वर्ग की स्थिति को काफी मजबूत कर दिया। पहले से ही ब्राह्मण उच्च सामाजिक स्थिति को अब अतिरिक्त राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बल ने, भूमि संसाधनों और लोगों पर और भी प्रभुत्व स्थापित करने में सहयोग दिया। ब्रह्मदेय गांवों में ब्राह्मण प्रभुत्वशाली जाति बन चुकी थी। जनजातीय समुदायों के समीपस्थ ब्रह्मदेयों के प्रभाव से, इन जनजातीय लोगों ने कृषि कार्य में अपना सहयोग देना शुरू कर दिया। कई जनजातियां अब जाति व्यवस्था के दायरे में आ गईं, अन्य जनजातियों को अस्पृश्य या अन्त्यजों के रूप में देखा जाने लगा। भूमि अनुदानों की प्रथा ने जाति व्यवस्था के विकास को अन्यान्य तरीकों से भी प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, भूमि से जुड़े क्रियाकलापों में बड़े पैमाने पर लेखाकारों की आवश्यकता पड़ रही थी और इस प्रकार इनसे जुड़ा कायस्थ समुदाय, एक जाति के रूप में रूपांतरित हो गया।

भूमि अनुदानों की बढ़ती संख्या और दायरे ने स्वयं ब्राह्मणों को भी महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि किस प्रकार ब्राह्मणों का क्षेत्रीय आधार पर वर्गीकरण हो रहा था तथा उनमें भी श्रेणीबद्ध संगठन का विकास हो रहा था। अब जैसा कि उनकी सहभागिता नए प्रकार की गतिविधियों तथा सामाजिक सम्बंधों की दिशा में बढ़ रही थी, ब्राह्मणों में भी कई उप-जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। स्थानांतरित ब्राह्मणों ने भी नए क्षेत्र में नवीन उप-जातियों के रूप में अपना वर्चस्व बनाने लगीं। तमिलनाडु और कर्नाटक क्षेत्र में मंदिर धर्म के साथ उनके सरोकार से शिव ब्राह्मणों का आविर्भाव हुआ–जो शिव मंदिरों से जुड़ी ब्राह्मणों की उप-जाति थी।

स्थानीय समाज से उनके सम्बंधों से वैवाहिक प्रथा में भी परिवर्तन होने लगा। केरल में जहां अधिकांश ब्राह्मणों ने अपनी पितृवंशानुगत प्रथा को जारी रखा, वहीं पय्यनुर के ब्राह्मणों ने मातृवंश परम्परा को स्वीकार कर लिया। नंबूदरी ब्राह्मण में एक रिवाज है (यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह कब से शुरू हुआ) कि घर का सबसे बड़ा लड़का एक ब्राह्मण स्त्री से शादी करता है, जबकि अन्य पुत्रों का नायर स्त्रियों के साथ 'सम्बंदम' सम्बंध बनाया जाता है। इस प्रथा का निश्चित रूप से संपत्ति को सुरक्षित रखने के साथ सम्बंध है। फिर इसका विकास नायरों में प्रचलित मातृ वंशगत व्यवस्था से प्रभावित मालूम पड़ता है। पूर्व मध्यकाल में मंदिरों के केंद्र में रखकर लोकप्रिय संप्रदायों का विकास हुआ। दसवीं सदी के बाद के अभिलेखों से पता चलता है कि मंदिरों को मिलने वाले राजकीय संरक्षण में अत्याधिक विकास हुआ। क्या ब्रह्मदेयों के साथ इस प्रक्रिया का कोई सम्बंध था। कुछ ब्राह्मणों ने अपने कार्यक्षेत्रों को मंदिरों के प्रबंधन से जोड़ दिया, जबकि अन्य ब्राह्मणों को मंदिर में पुरोहित बनकर संतुष्ट होना पड़ा। दक्षिण भारत के संदर्भ में पर्याप्त अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं कि मंदिरों के प्रबंधन में ब्राह्मणों और ब्राह्मण सभाओं की प्रत्यक्ष भूमिका थी। केरल में तो प्राचीनतम अभिलेखों के निर्गत किये जाने के समय से ही स्पष्ट रूप से मंदिरों को केंद्र में रखकर ही ब्राह्मण बस्तियों का विकास हो रहा था। हम कह सकते हैं कि ब्रह्मदेय से जुड़े ब्राह्मणों ने मंदिरों पर केंद्रित धर्म के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, यद्यपि अभिलेखों में इन पुरोहितों ने वैदिक सम्बंधों को अधिक महत्त्व दिया, तथा संप्रदायों के अस्तित्व को छिपाने का प्रयास किया।

जहां ये जनजातीय समुदायों के समीप अवस्थित थे, ब्रह्मदेयों ने ब्राह्मण तथा जनजातीय धर्मों के बीच सेतु का काम किया। वैसे स्थानों पर विविधतापूर्ण धार्मिक समन्वय की घटनाएं देखने को मिलीं। जनजातीय समुदायों का ब्राह्मणधर्म के साथ जो आदान-प्रदान हुआ, उससे न केवल जनजातीय परम्पराओं का भी ब्राह्मणधर्म पर प्रभाव पड़ा और उसमें परिवर्तन हुए। स्थानांतरण के पश्चात्, ब्राह्मणों और स्थानीय स्त्रियों के बीच वैवाहिक सम्बंध स्थापित हुए, यह भी ब्राह्मण और जनजातीय संसार के बीच सरोकार का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बना। यह आदान-प्रदान निश्चित रूप से दो-तरफा था, लेकिन इनका परस्पर एक-समान प्रभाव नहीं पड़ रहा था, क्योंकि अंततः ब्राह्मण धर्म प्रभुत्वशाली बना रहा। ओडिशा का जगन्नाथ पंथ, एक जनजातीय देवता के ब्राह्मणीकरण का अच्छा उदाहरण है। इस प्रक्रिया का अध्ययन (इशमान, कुल्के तथा त्रिपाठी, 1978) जैसे विद्वानों के द्वारा विस्तारपूर्वक किया गया है। आर.एस. शर्मा (1974) ने अपने विश्लेषण में पाया है कि भूमि अनुदानों के माध्यम से ब्राह्मण तथा जनजातीय संस्कृतियों के बीच जो आदान-प्रदान हुआ, उसके तंत्र के उद्भव और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

यह केवल संयोग नहीं हो सकता कि पूर्व मध्य युग में ब्राह्मणों को दी जाने वाली भूमि अनुदानों की महती प्रक्रिया का काल, संस्कृति साहित्य के विस्तृत और विपुल संप्रेषण का भी काल था। हम देख चुके हैं कि इस युग में विद्वान ब्राह्मणों का उभरते हुए राजतंत्रों में व्यापक रूप से स्वागत किया जा रहा था। इन राजदरबारों में ब्राह्मण विद्वानों, कवियों और नाटककारों को संरक्षण मिल रहा था। इस प्रकार ब्राह्मण ज्ञान को जीवंत बनाए रखने में भूमि अनुदानों के द्वारा दिए जाने वाले, ब्राह्मणों को संरक्षण का, निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। भूमि पर प्राप्त नियंत्रण तथा संस्कृति के निष्णात ब्राह्मणों को ब्रह्मदेयों के माध्यम से, विभिन्न क्षेत्रों में स्थायी रूप से

निवास करने की प्रक्रियाओं से ब्राह्मण विद्वानों का एक समृद्धशाली वर्ग खड़ा हो रहा था, जो उनके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक गतिविधियों के संरक्षण एवं विकास को संभव बनाने में सक्षम थी।

ग्रामीण समाज: क्षेत्रीय विशिष्टताएं

(Rural Society: Regional Specificities)

उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के सामान्य विश्लेषण के पश्चात्, जिन्होंने उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के ग्रामीण जीवन को प्रभावित किया, अब हम विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान ग्रामीण समाजों और कृषि सम्बंधों की विशिष्टताओं का विश्लेषण करेंगे। इस काल के ग्रामीण जीवन पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालने वाले प्रत्यक्ष साहित्यिक प्रमाणों का सर्वथा अभाव है, किंतु कम से कम एक स्रोत ऐसा अवश्य है, जो पृथक रूप से कृषि सम्बंधित गतिविधियों की ही व्याख्या करता है। यह ग्रंथ *कृषि-पराशर* (मजूमदार और बनर्जी, 1960) है, जिसे 950 और 1100 सा.सं. के बीच संभवत: बंगाल क्षेत्र से लिपिबद्ध किया गया। पराशर नाम के लेखक को समर्पित यह पाठ्य संस्कृत के श्लोकों के रूप में संकलित है, जिसकी भाषा और शैली सरल तथा स्पष्ट है। कहीं-कहीं मंत्रों का गद्यात्मक अंश भी मिलता है। *कृषि-पराशर* किसी प्रकार के सिंचाई के स्वरूप का वर्णन नहीं करता, केवल वर्षा के ज्ञान को कृषि के आधार के रूप में स्वीकार करता है। इस संदर्भ में, नक्षत्रों की गति, मौसम, वायु की दिशा तथा वर्षा के बीच सम्बंध को स्थापित करने वाली लोकोक्तियों की एक श्रृंखला उपलब्ध है। एक स्तंभ में ध्वज-युक्त वातसूचकों के प्रयोग की अनुशंसा की गई है। इसमें कृषकों को खाद (सार) का महत्त्व समझाया गया है, जो धान के विपुल उपज के लिए अनिवार्य है। चावल की खेती के लिए उपयुक्त विधियों का निर्देश दिया गया है। हल के प्रकार और भारवाही पशुओं के प्रयोग सम्बंधी सुझाव भी दिए गए हैं। एक हल में प्रयुक्त आठ हिस्सों की विवेचना की गई है। नौ हाथों की माप वाले हल, जिसे 'मदिक' कहा गया है, को सभी कार्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त बतलाया गया है।

बीजों को संरक्षित करने की विधि को बतलाने के बाद, कृषि-पराशर बीजारोपण की प्रविधियों का वर्णन करता है। इस कार्य के लिए वैशाख (अप्रैल-मई) को सबसे उपयुक्त माना गया है, किंतु धान के पुनर्रोपण के लिए शुचि (मई-जुलाई), को श्रेष्ठ कहा गया है। बीज रोपण के बाद 'मयिक' (धान की खेतों को पाटने के लिए उपयोग में आने वाला एक सीढ़ीनुमा यंत्र) के उपयोग की सलाह दी गई है अन्यथा बीजों का समानुपातिक अंकुरण नहीं हो सकेगा। तत्पश्चात रोपणविधि का विश्लेषण किया गया है, तथा धानों को रोपने के बीच की दूरी को ग्रहों की स्थिति के आधार पर निर्धारित करने की बात कही गई है। धान कटनी के लिए भी आवश्यक निर्देश दिए गए हैं। कटनी, निस्तृणी करनम् (तृण को हटाने का कार्य) तथा आवश्यकतानुसार पानी की मात्रा भी बतलाई गयी है। पौष (दिसंबर-जनवरी) को कटनी का समय बताया गया है। 'मेधी', अर्थात एक स्तंभ जिसे दौनी के स्थान पर बीच में खड़ा किया जाता है, तथा जिससे बैलों को बांधा जाता है, इसके स्थापना की विस्तृत प्रक्रिया बतलाई गई है। फसल काटने और दौनी करने के बाद पराशर कहता है कि किसान को 'अधक' (अनाज तोलने का एक पात्र) से तोल कर लेनी चाहिए।

कृषि प्रक्रिया से जुड़े सुझावों, विशेषकर धान की फसल से जुड़े, कृषि-पराशर में पूर्व मध्यकालीन कृषि से सम्बंधित अनुष्ठानों और उत्सवों की भी जानकारी देता है, जो विशेषकर उस काल के पूर्वी भारत में प्रचलित थे। गो-पर्व के दौरान कार्तिक महीने में गो-पूजन से वर्ष भर के लिए मवेशियों का अच्छा स्वास्थ्य सुनिश्चित हो जाता है। उस किसान को कृषि का फल नहीं प्राप्त होता है, जो हल—प्रसारण या प्रथम हल चलाने का उत्सव नहीं सम्पन्न करता। उर्वरता से जुड़ी आस्थाओं के विषय में पराशर का निर्देश है कि संचय किए बीजों का मासिक-धर्म से गुजरती स्त्री अथवा वैसी स्त्री जो बांझ हो या जो तुरंत प्रसूति से गुजरी हो, उनका स्पर्श वर्जित होना चाहिए। असाढ़ के तीन दिनों के दौरान 'अम्बुवाची' की अवस्था आती है, जब धरती, मासिक-धर्म से गुजरती है, और इस समय बीजारोपण को वर्जित बताया गया है। कृषि-पराशर में खेत को पक्षियों और पशुओं से सुरक्षित रखने के लिए तथा धान के फसल को रोगमुक्त रखने के लिए जो मंत्र दिए गए हैं, उनमें तांत्रिक पुस्तकों से लिए बीजाक्षर भी हैं। पौष के एक शुभ दिन में, धान कटनी के पहले, पराशर ने पुष्य-यात्रा निकालने का निर्देश दिया है। इस उत्सव में भोज-भात, नृत्य, संगीत और सूर्य की पूजा का विधान बताया गया है। कृषि कार्यों से जुड़े देवताओं में प्रजापति (जिनकी स्तुति से ही इस पाठ्य की शुरुआत की गई है), सची, इंद्र, मरुत तथा वसुधा को विशेष स्थान दिया गया है। हालांकि, कृषि प्रक्रियाओं के सम्पन्न होने के बाद, अंतिम स्तुति लक्ष्मी की की गई है, तथा पराशर सुझाव देता है कि इस स्तुति को अनाज भंडारों में समृद्धि के लिए उत्कीर्ण करना चाहिए।

जहां तक ग्रामीण जीवन के चित्रण का प्रश्न है, समकालीन साहित्य की अपेक्षा अभिलेख, इस संदर्भ में कहीं अधिक साक्ष्य उपलब्ध कराते हैं। पूर्व मध्ययुगीन बंगाल और बिहार के अभिलेखों में गांवों को 'ग्राम' या

प्राथमिक स्रोत

पूर्व मध्ययुगीन बंगाल की कृषि सम्बंधित प्रचालित लोकोक्तियां

यद्यपि, 1000 सा.सं. तक बंगला भाषा का पूर्ण रूप से विकास हो गया था।, फिर भी 1300 सा.सं. के पहले का इस भाषा में कोई भी महत्त्व का साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। प्राचीनतम कृतियों में डाक तंत्र का नाम लिया जा सकता है, जो 'डाकार बचन' के नाम से लोकप्रिय है। यह बौद्धतंत्र पर लिखी पुस्तक है, जिसमें प्राचीन बंगला भाषा में सुक्तियां और उपदेश संकलित हैं। इसी प्रकार की एक दूसरी कृति भी है, जिसमें समय के साथ काफी परिवर्तन हुए हैं–'खानार बचन'। लोकप्रिय मान्यता के अनुसार, खाना, प्रसिद्ध खगोलशास्त्री, वराहमिहिर की बेटी थी। डाकार बचन का 'डाक' जनश्रूति के अनुसार, एकग्वाला था और जिसके नाम से ये लोकोक्तियां जुड़ी हुई हैं।

इन दो कृतियों में संकलित लोकोक्तियां अधिकांशतः कृषि से सम्बंधित हैं, हालांकि, इनमें ज्योतिष, चिकित्सा तथा घरेलू बातों का भी यत्र-तत्र संदर्भ आया है। डाकार बचन तथा खानार बचन की संक्षिप्त सुक्तियां बंगाल की मिट्टी और जलवायु से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। आज भी इस क्षेत्र में कृषकों के द्वारा निर्देशिका के रूप में इनका प्रयोग होता है। डाक और खाना की लोकोक्तियों में से कुछ का अनुवाद यहां दिया जा रहा है:

अगहन (नवंबर-दिसंबर) में वर्षा होने पर राजा को भीख मांगना पड़ सकता है। पौष (जनवरी-फरवरी) में वर्षा होने पर भूसी बेच कर भी पैसा लाना पड़ा सकता है। माघ (जनवरी-फरवरी) में वर्षा होने पर राजा और उसका देश खुशहाल होता है। फाल्गुन (फरवरी-मार्च) में वर्षा होने पर चिनका बाजरे की अच्छी फसल होती है। खाना कहती हैं कि धान, धूप में, और पान, छावं में खूब उगते हैं। यदि धान को दिन में प्रचूर धूप तथा रात में वर्षा प्राप्त हो तो वे तेजी से उगते हैं। खाना का कहना है कि कार्तिक (अक्टूबर-नवंबर) महीने में वर्षा होने पर धान के लिए काफी अच्छा होता है।

किसानों के पुत्र, सुनो, धान की कुछ बालियों को बांस के झुरमुट के नीचे फैला दो, यदि ऐसा करोगे, वे शीघ्र ही, दो 'कूदों' (लगभग 174 वर्ग हाथों में) फैल जाएंगे)

ऐ, किसान के पुत्र, पटल (परवल) को बलुआही मिट्टी में रोप दो, तुम्हारी अभिलाषा पूरी हो जाएगाी।

सरसों की बीज को सटाकर, किंतु राई के बीजों को कुछ दूरी पर रोपना। कपास के पौधों को एक-दूसरे से एक-दो हाथ की दूरी पर रोपना और पटसन को उनके पास कभी नहीं रोपना, क्योंकि पटसन की खेती के पानी से कपास नष्ट हो जाएगा। यदि चैत्र (मार्च-अप्रैल) में आकाश में कुहासा (कुहरा) है तथा भाद्र (अगस्त-सितंबर) में काफी धान हुआ है, तब जरूर धरती पर महामारी और अन्य आपदाएं आएंगी।

यदि असाढ़ (जून-जुलाई) में दक्षिण से हवा चल रही है, तब उस साल बाढ़ आएगी।

यदि पौष में कड़ी धूप है और वैशाख (अप्रैल-मई) में ठंड है, तब उस वर्ष असाढ़ की शुरुआत से बरसात शुरू होगी।

यदि बादल ऐसे रूप में हो, मानो उसे कुदाल और कुल्हाड़ी से काटा गया हो तथा हवा चलती है और रुकती है, तब समझना चाहिए कि बरसात एक-दो दिन में होने वाली है, ऐ मेरे कृषक मित्र ऐसे मौसम में समय नहीं गवाओ, बल्कि अपने खेत में वर्षा के पानी को रोकने के लिए मेड़ बांधों।

यदि रात्रि में आकाश बादल से घिरा हुआ हो, तब दिन भर बारिश होने वाली है, ऐ मेरे किसान भाई, तुम खेत में जाकर केवल अपना वक्त जाया करोगे।

स्रोत: सेन, 1954: 17-27

'पातक' की संज्ञा दी गई है। किसी भी ग्रामीण परिदृश्य के केंद्र में वास्तु भूमि (ग्रामीणों का निवास क्षेत्र) होती थी। नदियों, वडांवर भूमि, तालाब, मवेशियों के खुर से निर्मित मार्ग, खजूर या वट वृक्ष तथा पड़ोस के गांवों की चौहद्दी के निर्धारण के लिए उपयोग में लाया जाता था। कभी-कभी गांवों के चारों ओर चार-दीवारी और सुरक्षा स्तंभ भी विद्यमान होते थे। अभिलेखों में आम, कटहल, कसैली, नारियल तथा मधुक जैसे वृक्षों के नाम भी आए हैं। चावल मुख्य फसल थी तथा कुछ अभिलेखों में धान के फसल की भी चर्चा आई है। सेन राजवंश के प्रायः सभी भूमि अनुदान अभिलेखों में, दी गई भूमि के सभी आयामों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है, जिनमें भूमि की सतह की माप (नाल, पाटक, भू-पाटक आदि) तथा अनाज की तौल (द्रोण, भू-द्रोण, अढवाप आदि) दोनों को दर्ज किया जाता था, और शायद धान की फसल के लिए ही इनका उपयोग होता था। पुराण, कपर्दक-पुराण तथा चूर्णी जैसी मौद्रिक इकाइयों के द्वारा सेन अनुदानों में वार्षिक राजस्व आय को लिपिबद्ध किया गया है। इस प्रकार राज्य के द्वारा राजस्व का विस्तृत लेखा-जोखा रखा जा रहा था।

बंगाल और बिहार के अधिकांश भूमि अनुदान, राजकीय अधिकारियों के अतिरिक्त किसान (क्षेत्रकार) और गांववासी (प्रतिवासिन) को संबोधित करते हैं। ब्राह्मणों और ब्राह्मणों में मुख्य (ब्राह्णोत्तरः) का अनिवार्य रूप से जिक्र किया जाना, उनकी ग्रामीण परिदृश्य में महत्ता को बताता है। कुछ अभिलेखों में अन्य समुदायों का भी जिक्र हुआ है। उदाहरण के लिए, नयपाल के इर्दा अभिलेख में कृषकों और ग्रामवासियों के साथ-साथ व्यापारियों और लेखाकारों को भी संबोधित किया गया है। ईश्वरघोष के रामगंज अभिलेख में अन्य के साथ कर्मकारों (कृषि मजदूर) को भी संबोधित किया गया है। कुछ पाल अभिलेखों में पुरोग यानि गांव के प्रमुख का भी उल्लेख हुआ है। किसान के लिए ज्यादातर 'कुटुम्बिन' शब्द का प्रयोग हुआ है।

नयनजोत लाहिरी (1991) ने असम के पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों पर किए गए अपने अध्ययन में पाया कि कृषि कार्य और ग्रामीण बस्तियां ब्रह्मपुत्र तथा अन्य नदी घाटियों में केंद्रित थीं। तेजपुर और गुवाहाटी क्षेत्र में इन्हें विशेष रूप से देखा जा सकता है। गांवों के सीमाकरण के वर्णन के दौरान, नदी-नालों के निरंतर उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामीण बस्तियां, नदीय स्रोतों के आस-पास ही अवस्थित थीं। असम घाटी के सन्निकट अवस्थित पठारों, यथा—मिकिर, खासी, गारो, सिंघोरी, हाजी तथा सुआलकुची पठार—की अभिलेखों में अनुपस्थिति कुतुहल का विषय है। नदियां और स्थानीय धाराओं के अतिरिक्त गांवों की सीमाओं को खेत, बांध, तालाब, वृक्ष, सड़क तथा अन्य गांवों के द्वारा भी इंगित किया गया था। कृषि गांवों में धान की खेती सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गतिविधि कही जा सकती है। निवास क्षेत्र (वास्तु) बांसों की झुरमुटों और फल के वृक्षों से घिरे होते थे, तथा जिनके चारों ओर खेती होती थी। खेतों की सीमाओं से सटे हुए चारागाह होते थे, जिनमें कई बार वैसे खेत भी सम्मिलित थे, जो कई वर्षों से परती पड़े हुए थे। जल को रोकने और खेतों तक पहुंचाने के लिए बांधों का निर्माण होता था। चावल के अतिरिक्त विभिन्न प्रकारों के फल (कटहल, खजूर, आम, बादाम तथा शकरकंद) तथा वृक्ष (बट, सप्तपर्णा, झिंगनी, बांस तथा बेंत) अभिलेखों में वर्णित है। वाणिज्यिक महत्त्व के वृक्षों में सुपारी, चंदन की लकड़ी, रेशम और कपास भी थे, किंतु इनकी खेती नहीं की जाती थी।

अन्य क्षेत्रों की तरह असम ने भी शासकों के द्वारा ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिए जा रहे थे। ग्रामीण समुदाय की विभिन्न श्रेणियों में ब्राह्मण, जनजातियां तथा अन्य समूह शामिल थे। इनमें 'कैवर्त' (पारंपरिक रूप से मछली पकड़ने और नाव खेने का कार्य करने वाले) के साथ-साथ अन्य व्यवसायी समुदाय यथा कुम्हार और बुनकर भी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि गतिविधियों के साथ-साथ शिल्प विशेषज्ञता का संयोजन था। गृहस्थी को कृषि श्रम का आधार कहा जा सकता है। नौवीं सदी के बाद धान की खेती पर आश्रित कृषि बस्तियों के विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है। यह जनसंख्या वृद्धि में एक कारक भी बना।

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में कृषि के विस्तार में सिंचाई व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी (चट्टोपाध्याय, [1973], 1997)। तालाब और कूप, कृत्रिम, सिंचाई के प्रमुख साधन थे, विशेष रूप से 12वीं-13वीं शताब्दियों में पश्चिमी राजस्थान के संदर्भ में इनका उल्लेख हुआ है, जहां पानी की सर्वाधिक कमी थी। इन संदर्भों में विभिन्न प्रकार के कूप (धिमड़/धीबड़ा, वापी, अरघट्टा/अर्घट/अरहट), तालाब और बांध (तडाग, तटकिनी, पुष्करिणी इत्यादि) का नाम आता है। कुछ तालाबों के नाम उनके निर्माणकर्त्ताओं के नाम पर रखे गए थे।

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में 'पर्शियन वील' के प्रयोग के विषय में विवाद है। दरअसल, इस विवाद की गुत्थी अरघट्टा नामक यंत्र की व्याख्या से सुलझ सकती है। इस विवाद से जुड़े मुख्य प्रश्न ये हैं कि संकेत 'पर्शियन वील' की ओर है अथवा नोरिया नाम के दूसरे जल-यंत्र की ओर है तथा क्या 13वीं-14 सदी के पूर्व भारत में 'पर्शियन वील' का उपयोग हुआ था। नोरिया एक चक्रीय यंत्र है, जिसमें नेमिसे घड़े या बाल्टियां लगी होती हैं, किंतु सिकड़ी नहीं होती है, गियर (दंती चक्र) यांत्रिकी के माध्यम से जल के निरंतर प्रवाह को सुनिश्चित किया जाता है। इसका उपयोग जल स्रोत या नदी से बिल्कुल निकटस्थ परिस्थिति में ही की जा सकती है, जबकि 'पर्शियन वील' में सिकड़ी और दंतीचक्र के द्वारा घड़े जुड़े होते हैं और इनका प्रयोग कूप (कुंआ) से पानी निकालने के लिए होता है। अरघट्टा को साधारण कूप (धीमड़) या सीढ़ीदार कूप (वापी) से अलग कहा जा सकता है, जो अधिकांश इतिहासकारों के मतानुसार 'पर्शियन वील' से बिल्कुल मिलता-जुलता है, यदि बिल्कुल वही नहीं भी हो।
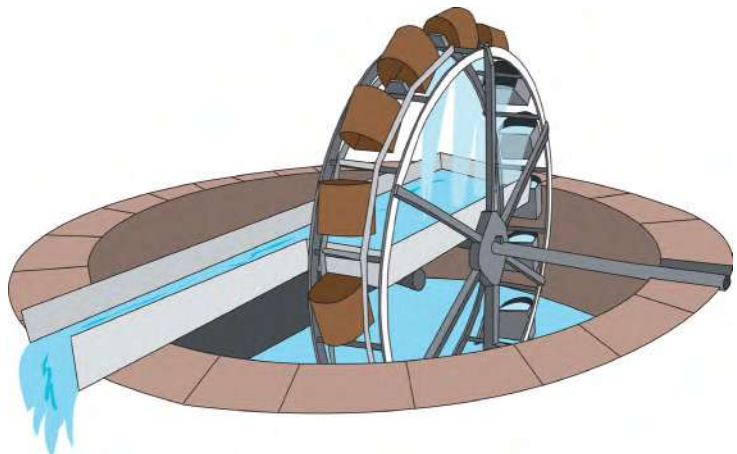
एक पर्शियन वील/रहट

राजस्थान के अभिलेखों में चर्चित फसलों में चावल, गेहूं, जौ, ज्वार, बाजरा और मूंग है। तिल और ईख व्यावसायिक फसल थे। खेतों में फसल की तालाब और कूप के द्वारा की जा रही सिंचाई का भी उल्लेख है, तथा देबोक अभिलेख (644 सा.सं.) के अनुसार, वर्ष में दो फसल उपजाए जाते थे। सिंचाई के साधनों पर राजा, राजकीय अधिकारी, निकाय, यथा गोष्ठी तथा निजी खेतिहरों का नियंत्रण था।

उत्तर गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ तथा दक्षिण राजस्थान जैसे अल्पवृष्टि वाले क्षेत्रों में सिंचाई के साधनों का विकास और विस्तार होने लगा था (वी.के. जैन, 1990: 24-34)। 12वीं सदी में पश्चिमी भारत के एक वास्तुशास्त्र की कृति, *अपराजितपृच्छ*, जिसके लेखक भुवनदेव थे, में खेतों की सिंचाई के लिए नदी, झील, कूप, तालाब और अरहट्टों के उपयोग का उल्लेख है। 7वीं-8वीं सदी से 11वीं-13वीं सदियों के बीच सिंचाई के संदर्भ में अभिलेखीय प्रमाणों की बढ़ोत्तरी देखी जा सकती है। 12वीं-13वीं शताब्दियों के बीच शासकों, कुलीनवर्ग तथा व्यापारियों के द्वारा बड़ी संख्या में तालाब, कूप, सीढ़ीदार कूप (वापी) का निर्माण करवाया गया। अनहिलवाड़ा के चालुक्यों ने सिंचाई के साधनों के निर्माण में पहल किया तथा संभवत: उनका एक पृथक सिंचाई विभाग भी था। सिंचाई के साधनों के विस्तार से वर्ष में दो फसलों को उपजाने में सहायता मिली होगी। पश्चिम भारत के अभिलेखों में जौ, बाजरे, चावल, गेहूं और दलहन के सिंचित खेतों का उल्लेख है। ईख, तिलहन, कपास और सन जैसे वाणिज्यिक फसलों की खेती के बढ़ोत्तरी में सिंचाई के साधानों का महत्त्वपूर्ण योगदान था, जो 11वीं-13वीं सदियों के बीच व्यापार के महत्त्वपूर्ण वस्तु थे।

ओडिशा के अभिलेखों में (सिंह, 1994: 238-39, 241, 196) में टिम्पीर, मुरज, नल, हल तथा माला जैसे भूमिनाप की इकाइयों का उल्लेख है। भूमि की चौहद्दी को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत, उड़िया और तेलुगु के मिले-जुले शब्दों का उपयोग किया गया है। गांवों के सीमांकन के लिए वृक्ष, पत्थर, चिंटीयों की बांबी, गड्ढे, नदी, पहाड़, बांधा-तालाब, कूप तथा समीपस्थ गांवों की सीमाओं का उपयोग किया जाता था। जल संसाधन की दृष्टि से नदियां और तालाब सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे, फिर भी कई अभिलेखों में कूपों का भी उल्लेख मिलता है। इंद्र वर्मन के अच्युतपुरम अभिलेख में निर्देश दिया गया है कि यदि कोई अनुदान प्राप्तकर्त्ता तालाब से पानी की नाली निकालता है, तब किसी के द्वारा उसे बाधित नहीं किया जा सकता है। यह संदर्भ शायद राजा-तटाक (शाही तालाब) के विषय में आया है, जो अनुदान भूमि के बीच में पड़ता था।

दक्षिण भारत के ग्रामीण जीवन और कृषि सम्बंधों के विषय में अध्याय के अगले खंड में चर्चा करेंगे।

पूर्व मध्यकालीन भारत में नगरीकरण की प्रक्रियाएं

(Urban Processes in Early Medieval India)

भारतीय सामंतवाद की संकल्पना के साथ नगरों का पतन, नगरीय शिल्प, व्यापार और मुद्रा प्रणाली जैसी अवधारणाएं जुड़ी हुई हैं। पिछले अध्याय में आर.एस. शर्मा के नगरीय पतन के दो चरणों के सिद्धांत की चर्चा की गई है, जिसमें पहले चरण की शुरुआत तीसरी या चौथी शताब्दियों के मध्य से हुई, तथा दूसरे चरण की शुरुआत छठी शताब्दी सा.सं. से हुई (शर्मा, 1987)। आर.एस. शर्मा ने अपने सिद्धांत की संपुष्टि के लिए विभिन्न क्षेत्रों के पुरातात्त्विक प्रमाणों का संदर्भ दिया है। उनका मानना है कि नगरीय पतन के सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त साहित्यिक स्रोत उपलब्ध नहीं हैं, किंतु उन्होंने श्वैन ज़ंग और अरब यात्रियों के वृत्तांत प्रस्तुत किए हैं। नगरीय पतन के सिद्धांत की, उनके द्वारा की गई व्याख्या लंबी-दूरी के व्यापार के तथाकथित पतन पर केंद्रित है। नगरीय पतन से नगरों पर आश्रित शिल्पकारों और व्यापारियों की दुर्दशा हो गई; शिल्पकारों को बाध्य होकर गांवों की ओर पलायन करना पड़ा; व्यापारी वर्ग शुल्क देने की स्थिति में नहीं रहा; वस्तुत: नगरों और गांवों के बीच कोई अंतर नहीं रहा।

जहां नगरों का संकुचन हो रहा था, वहीं ग्रामीण क्षेत्र का विस्तार हो रहा था। किसी दूसरे संदर्भ में शर्मा ([1965], 1980: 102-5) ने अभिलेखीय संदर्भों के आधार पर यह कहा है कि बाजार का नियंत्रण भी अनुदान के लाभुकों को हस्तांतरित किया जा रहा था, व्यापारियों के द्वारा अपना कुछ लाभांश मंदिरों को दान के रूप में दिया जा रहा था। इस आधार पर उन्होंने वाणिज्य और व्यापार के सामंतीकरण की बात की है।

उन्होंने स्वीकार किया है कि 11वीं सदी में उपमहाद्वीप के कुछ हिस्सों में छोटे पैमाने पर नगरों का पुनरुत्थान देखा गया, तथा 14वीं सदी से नगरीकरण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से संस्थापित हो गई। इस नगरीय पुनरुत्थान के पीछे उन्होंने व्यावसायिक फसलों की खेती में वृद्धि, सिंचाई की उन्नत तकनीक, उपभोक्ताओं द्वारा वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग, जहाजरानी का विकास तथा आंतरिक व्यापार में प्रगति और इनसे विदेशी व्यापार में फिर से हुई वृद्धि जैसे कारकों को महत्त्वपूर्ण बताया है। बल्कि नगरीय पुनरुत्थान के साथ-साथ सामंतवादी व्यवस्था के पतन के लिए इन्हीं कारकों को उत्तरदायी माना है।

जैसा कि अध्याय-9 में उल्लेख है कि नगरीय पतन की प्राक्कल्पना को कई आधार पर चुनौती दी जा सकती है। चट्टोपाध्याय ([1986], 1997) के अनुसार, पूर्व मध्ययुग में कुछ नगरीय केंद्रों का निश्चित रूप से पतन हो गया, किंतु अधिकांश नगर अस्तित्व में बने रहे और यही नहीं बल्कि कई नवीन नगरीय केंद्रों का उदय भी हुआ। श्वैन ज़ंग ने कौशाम्बी, श्रावस्ती, वैशाली तथा कपिलवस्तु की जीर्ण-शीर्ण होती अवस्था का वर्णन किया है, किंतु उसी ने थानेश्वर, वाराणसी तथा कान्यकुब्ज जैसे नगरों की समृद्धि का भी वर्णन किया है। इस काल के संदर्भ में इन केंद्रों से जुड़े पुरातात्त्विक प्रमाण भी अस्पष्ट है, किंतु अहिच्छत्र, अतरंजीखेड़ा, राजघाट और चिराद जैसे कुछ प्रारंभिक ऐतिहासिक नगरों का अस्तित्व पूर्व मध्यकाल में भी प्रमाणित हुआ है। चट्टोपाध्याय ने सिंधु-गंगा विभाजन रेखा, ऊपरी गंगा नदी घाटी तथा मालवा पठार, एवं इनमें से पृथुदक (आधुनिक पेहोआ, करनाल जिला, हरियाणा), तत्तानंदपुर (आहर, निकट बुलंदशहर, उत्तर प्रदेश), सियादोनी (निकट, ललितपुर, झांसी जिला, मध्य प्रदेश) और गोपगिरी (ग्वालियर) से प्राप्त अभिलेखीय प्रमाणों का संदर्भ दिया है। हो सकता है कि पृथुदक की स्थिति एक चिट्टी या बाजार तक की रही हो, लेकिन अन्य तीनों केंद्र 9वीं-10वीं शताब्दियों में निश्चित रूप से नगर थे। नगरीय जीवन के समर्थन में बड़ी संख्या में उपलब्ध समकालीन साहित्यिक सामग्रियों, प्रतिमाओं और वास्तुशिल्प के उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनको यदि पूर्ण रूप से नहीं भी तो बड़े स्तर पर नगरीय कुलीन वर्ग का संरक्षण प्राप्त रहा होगा।

जहां तक मौद्रिक इतिहास का प्रश्न है, जॉन एस. डेयल (1990: 4-7) ने तर्क सम्मत ढंग से प्रमाणित किया है कि पूर्व मध्यकालीन भारत में मुद्राओं की कमी नहीं थी और न ही समकालीन राज्य किसी गंभीर वित्तीय संकट की स्थिति से गुजर रहे थे। यह सही है कि सिक्कों के प्रकार में कमी थी, तथा सिक्कों की भौतिक गुणवत्ता भी बेहतरीन नहीं कही जा सकती, लेकिन इस काल के सिक्कों के यथार्थ को पूर्व की कुछ शताब्दियों से जोड़कर देखना अधिक तर्कसंगत होगा। क्योंकि इस युग में सिक्कों की संख्या में कोई अप्रत्याशित कमी नहीं देखी गई। डेयल का इस संदर्भ में किया गया अध्ययन उत्तर–1000 सा.सं. के काल पर आधारित है। उनका मानना है कि सिक्कों की गुणवत्ता में कमी अनिवार्य रूप से किसी वित्तीय संकट अथवा किसी सामान्य आर्थिक संकट का द्योतक नहीं है। यह उस स्थिति का भी परिचायक हो सकता है, जब सिक्कों की मांग के अनुरूप श्रेष्ठ धातुओं की उपलब्धता में कमी आ गई हो। उपलब्धता में कमी आने के कई अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसा कि समय-समय पर विश्व के कई हिस्सों में देखा गया है। हम जानते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप के लिए अफ़गानिस्तान, चांदी का प्रमुख स्रोत रहा है। डेयल का तर्क है कि उत्तर भारत 1000 सा. सं. में चांदी की प्रबल अनुपलब्धता का अनुभव कर रहा था। (बल्कि कुछ स्थानों पर यह कमी 750 सा.सं. से ही महसूस की जाने लगी थी।), और यह एक मुख्य वजह हो सकती है कि शासकों को चांदी के सिक्कों के संदर्भ में मिलावट करना पड़ रहा था।

उपमहाद्वीप का व्यापारी वर्ग, अफ़्रीका, यूरोप तथा एशिया के अन्य क्षेत्रों के बीच चल रहे वृहत्तर व्यापारिक आदान-प्रदान का एक हिस्सा था। 7वीं सदी के बाद से अरबों ने अपने राजनीतिक नियंत्रण का विस्तार उत्तरी अफ़्रीका, भू-मध्य सागर क्षेत्र, मध्य एशिया और सिंध में कर लिया था। मिश्र, ईरान और सिंध पर किए गए क्षेत्रीय विस्तार के परिणामस्वरूप उन्होंने हिंदमहासागर के व्यापार पर अपनी मजबूत पकड़ बना ली थी। अरबों की राजनीतिक सफलता का इस्लाम के विस्तार तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा था। अरब विजयों तथा उम्मयद खलीफ़ाओं और बाद में अबासीद खलीफ़ाओं के उत्कर्ष से यूरोप और पूर्वी एशिया के बीच चल रहे स्थल मार्ग और सामुद्रिक मार्ग के व्यापार पर अरब व्यापारियों का नियंत्रण भी बढ़ा था।

9वीं सदी के *अहबर अस-सिन वलहिन्द* में अरब व्यापारियों के द्वारा ओमान से कुइलॉन (कोल्लम, केरल) तक किए जा रहे लंबी-दूरी के व्यापार तथा वहां से कलह-बर बंदरगाह (संभवतः सिंगापुर के उत्तर में स्थित) और मलक्का होते हुए चीन तक किए जा रहे व्यापार का वर्णन किया गया है। के.एन. चौधरी (1985: 37-41) ने दिखलाया है कि किस प्रकार 11वीं सदी तक हिंद महासागर का व्यापार कई हिस्सों में बंट गया था। लाल सागर और फारस की खाड़ी से गुजरात और मालाबार तक; भारतीय बंदरगाहों से इंडोनेशिया द्वीप समूह तक; तथा दक्षिण-पूर्व एशिया से पूर्वी एशिया तक। इन तीन उप-विभागों के मिलन-स्थलों पर विशाल व्यापारिक केंद्रों का निर्माण हो चुका था, जहां व्यापारियों को सामग्री, जहाजरानी सेवाएं तथा सुरक्षा मुहैया करवाई जा रही थीं। इन केंद्रों में अदन, होरमुज, खम्बात, कालीकट, सतगांव, मलक्का, गुआंग झाऊ और कुआन झाऊ शामिल थे। चौधरी ने मध्ययुगीन एशियाई व्यापार में रेशम, चीनी मिट्टी के बर्तन, चंदन की लकड़ी तथा काली मिर्च के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। इनके बदले सुगंधित इत्र, घोड़े, हाथी दांत, सूती वस्त्र तथा धातु के उपादानों का विशेष रूप से आयात किया जा रहा था। भारत के सामुद्रिक व्यापार का तंत्र पूर्वी दिशा में अधिक महत्त्वपूर्ण था, चीन और पूर्वी एशिया की ओर था। श्रीलंका हिंद महासागरीय व्यापार का महत्त्वपूर्ण केंद्र था।

रणबीर चक्रवर्ती (2002: 187-219) ने पूर्व मध्ययुगीन भारत के व्यापार के मंडपी को भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रकाश डाला है। यह हट्ट या हट्टिका कहे जाने वाले छोटी मंडियों तथा पट्टन जैसे बड़े वाणिज्य केंद्रों के

बीच के स्थानीय बाजार थे। मंडपिकों का निकटस्थ गांवों के साथ सम्बंध था, तथा विशेष रूप से अनाजों और व्यावसायिक फसलों की मंडी का कार्य करते थे। इन्हीं केंद्रों पर शुल्क और चुंगी भी वसूली जाती थी। दक्कन में इस प्रकार के केंद्रों को 'पेंठ' तथा सुदूर दक्षिण में 'नगरम' कहा जाता था। चक्रवर्ती ने राज-श्रेष्ठी (या शाही व्यापारी) की परम्परा का भी उल्लेख किया है। यद्यपि, इस परम्परा का अस्तित्व चौथी/तीसरी शताब्दी सा.सं.पू. में भी था, पूर्व मध्यकाल में ये अधिक प्रचलित हुए, विशेष रूप से दक्कन और सुदूर दक्षिण में। संभवतः इन शाही व्यापारियों के द्वारा शासक वर्ग के लिए कीमती सामग्रियां और शाही पशुओं को उपलब्ध कराया जाता होगा। यह स्पष्ट नहीं है कि राजा के प्रतिनिधियों के रूप में अन्य व्यापारियों से राजस्व वसूलने का दायित्व इन पर था अथवा नहीं।

वी.के. जैन (1990) ने 'दि एनलिसिस ऑफ लिटररी एंड एपिग्राफिक सोर्सेज ऑफ वेस्टर्न इंडिया' (1000-1300 सा.सं.) [पश्चिमी भारत के साहित्यिक तथा पुरालेखीय स्रोतों का विश्लेषण], से इस क्षेत्र के व्यापारियों द्वारा किए जा रहे कीमती वस्तुओं के व्यापार के अलावा अनाज, दलहन, नमक, तेल, घी, गुड़, नारियल, पान, सुपारी, गरम-मसाला, वस्त्र, मृद्भाण्ड, मवेशी, इत्र-खुशबू (यथा चंदन की लकड़ी, कपूर, सुगंधित तेल तथा केसर), हाथी दांत और स्वर्ण के व्यवसाय का वर्णन किया गया है। जैन का यह मानना है कि पश्चिम भारत के भारतीय व्यापारी अपनी गतिविधियों को तटीय तथा आंतरिक व्यापार तक ही सीमित रख रहे थे तथा इसके बाहर का व्यापार अरबों तथा अन्य व्यापारियों के हाथ में था। पश्चिम भारत में मुख्य रूप से कीमती और साधारण धातुओं, रेशम, रत्न, गरम-मसाले, शराब, सुगंधी तथा घोड़ों का आयात किया जा रहा था। जहां तक यहां से निर्यात होने वाली वस्तुओं का प्रश्न है तब 11वीं-13वीं शताब्दियों के बीच काफी बदलाव देखा जा सकता है। दरअसल, इसके पहले भारत से अधिकांशतः कीमती वस्त्र, रेशम और गरम-मसालों का निर्यात हो रहा था। 11वीं सदी में इन बहुमूल्य सामग्रियों का निर्यात जारी रहा, लेकिन इनके अतिरिक्त बहुत सी वस्तुओं के निर्यात में विस्तार हुआ, जिनमें चीनी, सूती वस्त्र, फ्लेक्स, बकरम, चमड़ा, चमड़े का सामान तथा तलवार एवं भाले जैसे अस्त्र-शस्त्र इत्यादि शामिल थे। 7वीं-12वीं सदियों के बीच गदहिया/ गधयिया सिक्कों के ढेर, पश्चिम भारत के कई हिस्सों से प्राप्त हुए, जो इस तथ्य का संकेत है कि मुद्रा का प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप में हो रहा था। बड़े पैमाने पर होने वाले व्यापार के लिए हुण्डिका और विनिमय-विपत्रों का प्रयोग हो रहा था, जिसमें मुद्रा की आवश्यकता नहीं थी। अभिलेखों में कई बार शुल्क-मण्डपिकों का उल्लेख हुआ है तथा वाणिज्य कर राजस्व का महत्त्वपूर्ण स्रोत था।

चौलुक्यों के प्रशासनिक संगठन में व्यापारियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इनकी नियुक्ति महामात्य तथा दण्डाधिपति जैसे महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक और सैन्य पदों पर हो रही थी। पश्चिम भारत में व्यापारियों की बड़ी संख्या जैनियों की थी। जिनेश्वर सूरी (11वीं शताब्दी) के *'षट्स्थानक प्रकरण'* जैसे जैन ग्रंथों में जैन व्यापारियों के लिए अनुकरणीय नैतिक आचार संहिता की प्रस्तावना की गई है। गुजरात के व्यावसायी न केवल ज्ञान के संरक्षक थे, बल्कि काव्य, दर्शन तथा व्याकरण के श्रेष्ठ ग्रंथों के रचनाकार भी थे। हेमचंद्र जिन्होंने कई महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथों की रचना की बल्कि व्याकरण, छंद और दर्शन पर भी महत्त्व के ग्रंथ लिखे, धनधुक नाम के एक व्यापारी के पुत्र थे। गुजरात के व्यापारियों के द्वारा मंदिर, कूप तथा तालाबों के निर्माण के लिए लोकल्याणार्थ दान दिया जा रहा था। माउण्टआबू और गिरनार के मंदिर इस प्रकार के संरक्षण को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस क्षेत्र के अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि व्यापारियों के द्वारा देय करों और शुल्कों को धार्मिक संस्थानों के रख-रखाव के लिए अथवा उत्सवों के आयोजन के लिए हस्तांतरित किया जा रहा था।

पूर्व मध्यकाल में भारत के चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ किए जा रहे व्यापार में काफी विकास हुआ। दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ होने वाले व्यापार की चर्चा पृथक रूप से दक्षिण भारत की नगरीकरण की प्रक्रिया के संदर्भ में की जाएगी। तानसेन सेन (2003: 236-37) ने यह तर्क दिया है कि 7वीं तथा 15वीं शताब्दियों के बीच, भारत-चीन के बीच चल रहे आदान-प्रदान के स्वरूप में काफी परिवर्तन आया। बौद्ध धर्म के आधार पर स्थापित सम्बंधों के स्थान पर व्यापार-केंद्रित आदान-प्रदान की अधिक प्रगति हुई। इस समय तक चीन स्वयं में बौद्ध धर्म का एक उन्नत केंद्र बन चुका था। चीनी बौद्ध धर्म में चीन का स्थानीय प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण हो चुका था और चीन की स्थानीय बौद्ध विचारधारा और व्यवहार का प्रभाव बढ़ने लगा था। इसके परिणामस्वरूप भारत से चीन की ओर सांस्कृतिक सम्प्रेषण का महत्त्व अब घटने लगा था। 10वीं तथा 11वीं शताब्दियों में भारत और चीन के बीच बौद्ध भिक्षुओं का आवागमन बना रहा, और भारतीय ग्रंथों की चीनी भाषा में अनुवाद करने की परियोजनाएं चलती रहीं। लेकिन अब चीन के बौद्ध धर्म के विकास के लिए भारतीय बौद्ध धर्म पर निर्भरता, बाध्यता नहीं रही, बल्कि औपचारिकता बन गई। पूर्व मध्युगीन भारत-चीन व्यापार के तीन चरणों को रेखांकित किया जा सकता है—(1) 7वीं-9वीं शताब्दियों के बीच पूर्व की भांति आनुष्ठानिक महत्त्व के बौद्ध सामग्रियों की मांग बनी रही, (2) 9वीं-10वीं शताब्दियों के बीच भारत और चीन के बीच स्थल-मार्ग से होने वाले व्यापार में, मध्य एशिया और म्यनामार के राजनीतिक अस्थिरता की वजह से कमी आई और (3) 10वीं शताब्दी के

उत्तरार्द्ध में आनुष्ठानिक तथा व्यावसायिक महत्त्व वाले दोनों व्यापार का पुनरुत्थान देखा जा सकता है तथा स्थल और सामुद्रिक मार्ग से होने वाले वाणिज्य में महत्त्वपूर्ण बढ़ोत्तरी हुई।

श्वैन ज़ंग ने भारत के परिधानों में रेशम की सर्वाधिक लोकप्रियता का उल्लेख किया है। रेशम के लिए संस्कृत के शब्दों में एक 'कौशेय' शब्द भी है। यह शायद स्थानीय रूप से निर्मित रेशम के लिए प्रयोग में लाया जाता था। चीन-पट्ट या चीनांशुक, वैसे रेशमी वस्त्र के लिए प्रयुक्त होता था, जो या तो चीन में निर्मित रेशमी वस्त्र थे या चीन से आयातित रेशम के द्वारा भारत में बने रेशमी वस्त्र थे (लियू, 1996: 49-72)। जैसा कि अध्याय-9 में कहा जा चुका है कि भारत में बनने वाले रेशमी वस्त्र की गुणवत्ता चीनी रेशमी वस्त्र की अपेक्षा काफी कम थी, इसलिए चीनी रेशम की मांग, भारत में, बनी रही। चीन से आने वाले राजनयिक प्रतिनिधि मंडलों तथा बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा लाई जाने वाली भेंटों, चीनी वस्त्र और परिधान महत्त्वपूर्ण बने रहे। चीनी मिट्टी से बने बर्तनों का भारतीय व्यापारियों के द्वारा फारस की खाड़ी और लालसागर से सटे क्षेत्रों में ले जाया जा रहा था। चीन से भारत में जानवरों की खाल, सिंदूर, फल (यथा सतालू और नाशपाती), कपूर, लाह तथा पारद भी आयातित किया जा रहा था। स्वर्ण, रजत और तांबा जैसे धातु भी चीन से लाए जाने का उल्लेख है। 11वीं सदी से भारत से चीन को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की श्रेणी में वृद्धि देखी जा सकती है–इनमें इत्र, घोड़े, चंदन की लकड़ी, घारू की लकड़ी, सपन की लकड़ी, गरम-मसाले, सल्फर, कपूर, हाथी दांत, सिंदूर, गुलाबजल जैसी वस्तुओं को फारस की खाड़ी से पहले भारत के बंदरगाहों में और फिर चीन में भेजा जा रहा था। कुछ निर्यातों का भारत ही उद्गम बिंदु था। 13वीं सदी के अंत तक भारतीय वस्त्र ही चीन को निर्यात की जाने वाली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री बन चुकी थी (सेन, 2003: 182-185)।

चीन और भारत के बीच में बढ़ते हुए व्यापार के परिप्रेक्ष्य में व्यापार-मार्गों में भी परिवर्तन देखने को मिले। 8वीं सदी से ही भारत और चीन के बीच स्थल मार्गों के स्थान पर सामुद्रिक मार्गों का प्रचलन बढ़ने लगा था। इनमें से एक सामुद्रिक मार्ग अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह से होकर जाता था, तथा दूसरा मार्ग बंगाल की खाड़ी के बंदरगाहों से सुमात्रा होते हुए दक्षिण चीन सागर तक जाता था। सामुद्रिक मार्गों को प्राथमिकता दिए जाने के पीछे जहाजरानी के तकनीक में होने वाला परिवर्तन भी एक कारण हो सकता है, विशेषकर सिले हुए जहाजों की जगह कील ठोककर जहाजों के आवरण बनाए जा रहे थे।

व्यापार किए जाने वाली सामग्रियों का बढ़ता दायरा और व्यापार सम्बद्धता के विस्तृत होते आयाम, पूर्व मध्ययुगीन भारतीय व्यापार की प्रमुख विशेषताएं कही जा सकती हैं। मीरा एब्रहैम (1988) ने अय्यवोले श्रेणी संगठन के अभिलेखों में दी गई व्यापार-सामग्रियों की सूची का विश्लेषण किया है, जिससे ऐसा संकेत मिलता है कि कुलीन व्यापारिक स्वरूप के स्थान पर ठोस और मूलभूत आवश्यताओं की वस्तुओं, यथा—वस्त्र रंगाई के साधन, संसाधित लोहा, गोलमिर्च तथा घोड़ों का व्यापार बढ़ रहा था। एब्रहैम ने इस तथ्य पर भी जोर डाला है कि 12वीं सदी के मध्य में अभिलेखों में पश्चिम एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा चीन से दक्षिण भारत में बड़े पैमाने पर किए जाने वाले आयातित सामग्रियों का उल्लेख किया गया है। इन आयातों में बहुमूल्य रत्न, मोती, इत्र सुगंधी, हरीतकी, मधु, मोम, रेशमी तथा अन्य वस्त्र, गरम-मसाले, घोड़े-हाथियों को भी सूची में शामिल किया गया है। दक्षिण भारतीय श्रेणी संगठनों के द्वारा निर्यातित सामग्रियों में सूती वस्त्र, गोल मिर्च, जैस—गरम-मसाले, लोहा, रंग, हाथी दांत, सुपारी इत्यादि शामिल था। 13वीं शताब्दी से पश्चिमी तट के बंदरगाहों का महत्त्व बढ़ने लगा। कुडुलॉन (कोल्लम) एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था, चीन के युआन सम्राटों ने यहां अपने कई प्रतिनिधि मंडलों को भेजा था। दक्षिण भारत और श्रीलंका के बंदरगाहों से गुरुत्वाकर्षण का केंद्र पश्चिमी तट के बंदरगाहों की ओर मुड़ रहा था, जो इस तथ्य का संकेत है कि इस युग में भारत का व्यापारिक सम्बंध मिश्र और पश्चिम एशिया के साथ मजबूत हो रहा था।

पूर्व मध्य कालीन सामुद्रिक व्यापार की चर्चा में गुजरात और दक्षिण भारत के बंदरगाहों पर अधिक प्रकाश डाला गया है, किंतु बंगाल की खाड़ी के बंदरगाहों का भी अपना महत्त्व था, बावजूद इसके कि इन बंदरगाहों में मालाबार, कोरोमंडल या गुजरात के बंदरगाहों की तुलना में गतिविधियां कम हो रही थी। 8वीं सदी तक, ताम्रलिप्ती (तामलुक, मेदिनीपुर जिला) ही बंगाल का सबसे महत्त्वपूर्ण बंदरगाह बना रहा। समंदर, जो शायद चिट्टगांव के समीप था, 8वीं सदी के बाद अधिक प्रचलित हुआ और अरबों ने इसकी चर्चा अपने वृत्तांतों में की है।

ओडिशा के तटीय क्षेत्र का सम्बंध श्री लंका, दक्षिण पूर्व, एशिया तथा पूर्वी एशिया के साथ था। खलक पटना (पुरी जिलों में खुशभद्रा नदी के वामतट पर) तथा मानिक पटना (चिल्का झील को बंगाल की खाड़ी से जोड़ने वाली धारा पर) में हुए उत्खनन से महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। चीनी सेलेडॉन (समुद्र की लहर के रंग) के बर्तन, चीनी मिट्टे के बर्तन, चीन के दो ताम्र सिक्के तथा कुछ चमकीले मृद्भाण्ड, खलक पटना से प्राप्त हुए, जिनको पश्चिम एशिया का माना जा रहा है। खलक पटना 11वीं से 14वीं शताब्दियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह रहा होगा। खलक पटना में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से अनवरत 19वीं शताब्दी तक सांस्कृतिक स्तरों का अस्तित्व प्रमाणित हुआ है। चीनी मृद्भाण्ड, चीनी सेलेडॉन (समुद्र की लहर के रंग) (शायद उनके स्थानीय अनुकरण भी), चीनी ताम्र सिक्के यहां से प्राप्त हुए हैं (साहू, 1994-95)।

पूर्व मध्युग में व्यापार से जुड़े अनेक समुदायों का स्थानांतरण भी हुआ। ऐसे स्थानांतरणों में सबसे प्रारंभिक अरब और ईरानी व्यापारियों का हुआ, जो कोंकण, गुजरात तथा मालाबार तटीय क्षेत्रों में बस गए। 875 सा.सं. के एक अभिलेख में यह उत्कीर्ण है कि मदुरई के राजा ने अरबों को आश्रय दिया। यह कोरोमंडल तट पर अरबों के बसने का प्राचीनतम उल्लेख है। खम्बात, प्रभासपट्टन (सोमनाथ), जूनागढ़ तथा अनहिलवाड़ा के अरब अभिलेखों से यह संकेत मिलता है कि अरब व्यापारियों और जहाजों के मालिक 13वीं शताब्दी में गुजरात के इन हिस्सों में बस चुके थे। मालाबार क्षेत्र में यहूदियों का एक समुदाय भी अपनी जड़ें जमा रहा था। पश्चिम एशिया में होने वाली राजनीतिक घटनाओं का भी उपमहाद्वीप पर प्रभाव पड़ रहा था। पश्चिम एशिया में अरबों के विस्तार से ईसाई, पारसी (ईरान के जरथुष्ट्र अनुयायी) केरल के तटों में आकर बसने लगे थे।

पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत में ऐतिहासिक प्रक्रियाएं

(Historical Processes in Early Medieval South India)

दक्षिण भारतीय राज्यों का स्वरूप

अब हमें दक्षिण भारत पर विशेष रूप से केंद्रित होना चाहिए। पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत के एकाधिक स्पष्ट चरणों से गुजरा है। नीलकंठ शास्त्री जैसे अग्रणी विद्वानों के द्वारा पहली बार इस दिशा में सार्थक प्रयास किए गए, जिन्होंने यत्र-तत्र बिखरे हुए स्रोतों को एकत्रित कर, उन्हें एक वृहत्तर ऐतिहासिक आख्यान में संजोने का कार्य किया। हालांकि, ऐसा आख्यान राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के उत्साहपूर्ण प्रेरणाओं से ओत-प्रोत रहा, उदाहरण के लिए, चोल राज्य को अत्याधिक गरिमा मंडित करना, जिसे पूर्ण रूप से एक केंद्रीयकृत साम्राज्य के रूप में चित्रित किया गया। 1960 के दशक में इस प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना हुई, जब बर्टन स्टाईन [1975], 1976) ने शास्त्री टी.वी. महालिंगम तथा एक अप्पादोराई जैसे विद्वानों की 'पारंपरिक इतिहास लेखन' की प्रखर आलोचना प्रस्तुत की। स्टाईन के अनुसार, इनके द्वारा प्रस्तुत की गई दक्षिण भारतीय पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राजनीति की, की गई व्याख्या में राज्य को समाज तथा अर्थव्यवस्था से जोड़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया, विशेष रूप से कृषि व्यवस्था के साथ। उन्होंने ऐसी व्याख्या में विद्यमान विसंगतियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया, जहां एक ओर चोल राज्य को एक शक्तिशाली, केंद्रीकृत, अधिकारी-तंत्र युक्त राजतंत्र के रूप में दिखलाने का प्रयास किया गया, वहीं चोल राज्य के मजबूत स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं की परंपरा की व्याख्या, विसंगतिपूर्ण थी। स्टाईन के अनुसार, ऐसी विसंगति उनकी अर्थव्यवस्था की समझ के कारण नहीं, बल्कि राज्य की विशेषताओं की समझ से जुड़ी थी।

स्टाईन ने जिस वैकल्पिक मॉडल को प्रस्तावित किया, उनमें से आनुष्ठानिक राजतंत्र, खंडित राज्य, कृषि समाज तथा कृषि राज्य जैसी अवधारणाएं महत्त्वपूर्ण थीं। स्टाईन के अनुसार, दक्षिण भारत में राजतंत्र, सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से, अधिकारी तंत्र अथवा संवैधानिक राजतंत्र के स्थान पर पवित्र या आध्यात्मिक राजतंत्र को प्रतिबिम्बित करते हैं। शासकों का प्रजा अथवा संसाधनों पर प्रभावशाली नियंत्रण केवल उनके राजनीतिक केंद्रों की नाभिकीय परिधि तक सीमित था तथा इन केंद्रों के बाहरी परिधि में इन शासकों का केवल आनुष्ठानिक महत्त्व था। भूमि पर लगाया गया राजस्व केवल एक सीमित क्षेत्र से नियमित रूप से वसूल किया जा रहा था, अन्यथा ये राज्य लूटी हुई संपदा पर आश्रित थे। स्टाईन ने चोल साम्राज्य में एक विकसित अधिकारी तंत्र के अस्तित्व पर भी प्रश्नचिह्न लगाया, जिसके माध्यम से राज्य अपनी उपस्थिति और नियंत्रण को स्थानीय स्तर तक महसूस करा सकता था। किसी भी महत्त्व के अधिकारी तंत्र, राजस्व वसूलने के तंत्र अथवा स्थायी सेना के अभाव में, केंद्रीकृत चोल साम्राज्य की प्राक्कल्पना ही बेमानी हो जाती है।

यह सही है कि पूर्व के विद्वानों के द्वारा जिस सर्वशक्तिमान चोल साम्राज्य का आख्यान प्रस्तुत किया जा रहा था, वह अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है, किंतु स्टाईन के द्वारा इस संदर्भ में प्रस्तुत किए गए वैकल्पिक मॉडल भी त्रुटिपूर्ण है। स्टाईन के द्वारा पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राज्यों की पूर्णतया आध्यात्मिक और पवित्र राज्य की संकल्पना को सहज स्वीकार कर लेना कठिन होगा। इस प्रकार के वर्णन में चोल जैसे राजतंत्रों की महत्ती सत्ता और सैन्य सफलताओं को बिल्कुल नजरअंदाज कर दिया गया है। स्टाईन ने प्राचीन भारतीय राजतंत्रों को लूट अभियानों पर आश्रित होन की संभावना को सिद्ध करने के क्रम में समुद्रगुप्त के विराट सैन्य अभियानों की तुलना दक्षिण भारत के स्थानीय मवेशी योद्धाओं से की है। जबकि निश्चित रूप से ये दो बिल्कुल पृथक राजनीतिक व्यवस्थाओं के हिस्से थे। युद्ध और लूट को प्राचीन एवं पूर्व मध्ययुगीन राजतंत्रों की राजनीति का अविभाज्य अंग माना जा सकता है, लेकिन मौर्य, गुप्त, सातवाहन तथा चोल जैसे महती साम्राज्यों के उद्भव और विकास को लूट अभियानों पर आश्रित

मूलभूत अवधारणाएं

साऊथौल और स्टाईन के अनुसार विखंडित राज्य की अवधारणा

विखंडित राज्य की अवधारणा, मानवशास्त्री आइडन डब्ल्यू साऊथौल की पुस्तक, 'अलुर सोसाइटी: ए स्टडी इन प्रोसेजेज एंड टाइप्स ऑफ डॉमिनेशन' (1953) में विकसित की गई है। साऊथौल ने पाया कि अफ्रीका की अलुर जनजाति की राजनीतिक व्यवस्था में वंशागत विभाजन और राजनीतिक विशिष्टीकरण दोनों जुड़ा हुआ है। साऊथौल ने उस प्रक्रिया का वर्णन किया है, जिसके अंतर्गत इस जनजाति ने जिनका आप्रवर्जन हुआ था तथा उन्होंने किस प्रकार अनेक मुखिया विहीन समाजों को, बिना शक्ति के प्रयोग से, अपनी प्रभुसत्ता के अधीन कर लिया। उनका मानना है कि विश्व के अधिकांश हिस्सों में अधिकांश इतिहास, एकीकृत राजनीतिक व्यवस्था की बजाय विभाजित राजनीतिक संगठन का इतिहास रहा है।

साऊथौल ने एक एकीकृत राज्य तथा एक विभाजित राज्य के बीच एक मूलभूत अंतर को रेखांकित किया है। एकीकृत राज्य एक राजनीतिक व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत सत्ता का केंद्रीय एकाधिकार होता है, जिसका नियंत्रण एक विशेष प्रशासनिक तंत्र के हाथों में होता है, जो एक निर्धारित क्षेत्रीय सीमा के भीतर अपनी सत्ता का प्रयोग करती है। विभाजित राज्य की राजनीतिक संरचना इससे अलग होती है। इस स्थिति में एक पिरामिडीय विभागों की शृंखला के अधीन विशेष राजनीतिक सत्ता का उपयोग किया जाता है, जिनमें विभागों के बीच एक स्तर सरोकार होता है, जबकि ऊपरी स्तरों से ये विरोध की स्थिति में रहते हें, किंतु अंतत: इन्हें समीपस्थ असम्बंधित समूहों से संयुक्त विरोध की स्थिति में रहने के रूप में पारिभाषित किया जाता है (साऊथौल, 1953: 260) इसके अतिरिक्त:

1. क्षेत्रीय प्रभुसत्ता को संज्ञान में लिया जा सकता है, लेकिन यह सीमित और सापेक्षिक होती है। राजनीतिक सत्ता, राजनीतिक केंद्र के निकट सबसे मजबूत होती है, जबकि परिधि के निकट सत्ता, विलीन होती जाती है। जहां अधिक से अधिक यह आनुष्ठानिक सत्ता का स्वरूप ले लेती है।
2. केंद्रीय सरकार का अस्तित्व होता है, किंतु परिधि में कई प्रशासनिक केंद्र भी अवस्थित होते हैं, जिन पर केंद्र की केवल सीमित सत्ता होती है।
3. केंद्र में विशेष श्रेणी के प्रशासनिक अधिकारियों का तंत्र होता है तथा परिधि में अवस्थित अन्य केंद्रों में इस तंत्र का लघु प्रतिरूप स्थापित होता है।
4. शक्ति के सफल प्रयोग का एकाधिकार, केंद्रीय सत्ता के द्वारा, सीमित विस्तार क्षेत्र में प्रयोग में लाई जाती है, किंतु परिधि के केंद्रों में इनका वैधानिक प्रतिरूप सीमित स्तर पर प्रयोग में लाया जाता है।
5. अधीनस्थ शक्ति केंद्रों के कई स्तर अस्तित्व में होते हैं। केंद्रीय सत्ता के सापेक्ष में पिरामिडीय सम्बंधों में संगठित होते हैं। प्रत्येक स्तर पर लगभग सदृश्य शक्तियों का अस्तित्व होता है, किंतु ये घटते हुए अनुपात में होती हैं। परिधि की सत्ताएं, केंद्रीय सत्ता की ही संक्षिप्त छाया चित्र कही जा सकती है।
6. अधीनस्थ सत्ताएं, परिधि के जितनी बाहरी संवृत में होती है, उनके पास एक पिरामिडीय शक्ति तंत्र के दूसरे तंत्र में निष्ठुर स्थानांतरित करने का उतना ही विकल्प मौजूद होता है। इस प्रकार विभाजित राज्यों में, लचीलापन, अस्थायित्व और अंत:पाशन होती हैं।

बर्टन स्टाईन (1980) ने साऊथौल के विवरण में कुछ अतिरिक्त बिंदुओं को जोड़ा है। उनका सुझाव है कि विभाजित राज्यों की प्रभुसत्ता का दोहरा स्वरूप होता है, जिसमें एक तो वास्तविक राजनीतिक नियंत्रण होता है और दूसरा आनुष्ठानिक प्रभुसत्ता होती है। इनमें बहुसंख्यक केंद्र हो सकते हैं, एक आनुष्ठानिक प्रभुसत्ता का स्रोत होती है, तथा अन्यकेंद्रों से क्षेत्रीय विभागों पर रा. जनीतिक नियंत्रण स्थापित किया जाता है। स्टाईन के अनुसार, केंद्रस्थ प्रशासनिक तंत्र के तदनुरूप, निचले स्तरों पर भी विशेष प्रशासनिक स्टाफ प्रभावशाली होता है। विखंडित राज्यों को दो अर्थों में पिरामिडीय कहा जा सकता है–पहला, कि केंद्र और परिधीय शक्ति केंद्रों के बीच का सम्बंध, प्रत्येक परिस्थिति में एक समान होता है। दूसरा, कि राज्य के अंतर्गत विरोध के तत्व संपूर्ण राज्य के परिप्रेक्ष्य में सभी भागों में अनुपूरक होते हैं, तथा ऐसा ही राज्य के घटक विभागों के संदर्भ में भी सत्य होता है।

समस्या यह है कि विभाजित राज्य, अवधारणा की श्रेणी में आता है, जो अपने अंतर्गत उन राज्यों को भी अंतर्निहित करता है, जो आपस में कोई विशेष समानता नहीं रखते, सिवाय शक्ति के विभागीकरण के–उदाहरण के लिए, आलुरों की जनजातीय व्यवस्था और मध्यकालीन यूरोप के सामंतवादी राज्यों के बीच के विरोधाभासी परिस्थितियों को साऊथौल ने दरअसल, विभाजित राज्यों की सभी श्रेणियों को अवधारणा के दायरे में रखा, जिनमें आलुर जैसी राज्य व्यवस्थाएं, निचले पादान पर थीं, तथा प्रस्तावित किया कि विभाजित राज्यों की विविध श्रेणियों को चिन्हित करना चाहिए।

विभाजित राज्यों की सर्वव्यापी श्रेणियों के स्वरूप को देखते हुए इसे राज्य व्यवस्थाओं को समझने के लिए उपयोगी वैचारिक माप-दंड के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

व्यावहारिक साक्ष्यों के आधार पर, पूर्व मध्यकाल के दक्षिण भारतीय राज्य, साऊथौल या स्टाईन की अवधारणा के अनुरूप नहीं दिखलाई पड़ते हैं। विभागीकरण की प्रक्रिया पर केंद्रित होने के कारण एकीकरण की प्रक्रिया को नजरअंदाज कर दिया गया है। साऊथौल एवं स्टाईन के द्वारा विभिन्न विभागों के बीच सम्बंधों की अव्यावहारिक परिकल्पना स्पष्ट नहीं कही जा सकती।

मान लेना, बिल्कुत तर्कसंगत नहीं होगा। इन राज्य व्यवस्थाओं के किसी न किसी प्रकार के प्रशासनिक संरचना और राजस्व वसूलने की आधारभूत संरचना के अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता। दरअसल, दीर्घ कालीन तथा स्थाई स्तर पर सैन्य सफलताएं, राज्य के द्वारा जनता और संसाधनों के सक्रिय सहभागिता को सार्थक बनाने की क्षमता पर निर्भर करता है। स्टाईन ने आनुष्ठानिक प्रभुसत्ता और वास्तविक सत्ता के बीच एक कृत्रिम दुविधा को दिखलाने का प्रयास किया है। वस्तुत: स्टाईन वास्तविक सत्ता और दमनात्मक शक्ति को केंद्रीकृत सत्ता से भ्रमित कर रहे थे।

काराशीमा (1984) के शोध से स्पष्ट होता है कि चोल अभिलेखों में अनेक ऐसी उपाधियों का उल्लेख हुआ है, जो पदाधिकारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा यह भी कि चोल शासकों के द्वारा प्रशासन के केंद्रीकरण का प्रयत्न किया जा रहा था। (सुब्बरयलु (1982) तथा शान मुगन (1987) के द्वारा कर सम्बंधी शब्दावलियों के अध्ययन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। हीट्जमैन ने भी चोल अभिलेखों में वर्णित कर सर्म्बंधित शब्दावलियों तथा कार्यकारी पदवियों का अध्ययन किया है। इस अध्ययन से संकेत मिला है कि 1000 सा.सं. से, संपूर्ण चोलमंडलम् में राजकीय भू-राजस्व अधिकारियों का एक व्यवस्थित कुनबा, ग्रामीण परिदृश्य में अपनी नियमित उपस्थिति दर्ज कराने लगा था। चोल शासकों के द्वारा भूमिकर व्यवस्था को दिशा देने और पुनर्व्यवस्थित करने में व्यक्तिगत रुचि दिखलाई जा रही थी (हाइट्समैन, 1997: 227)।

स्टाईन जिस ढांचे को पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत के संदर्भ में सबसे उपयुक्त समझते हैं, वह विभागीकृत राज्य की अवधारणा है। बाद में भी हम चर्चा करेंगे, कि किन कारणों से इस मॉडल की पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राज्यों के विषय में स्टाईन का यह मानना कि ये कृषि व्यवस्था पर आधारित राज्य थे और भी त्रुटिपूर्ण संकल्पना है, जो शायद उन्होंने अति केंद्रीकृत राजतंत्र की अवधारणा की अतिवादी आलोचना की है। ग्रामीण स्तर पर निगमों जैसे संगठनों का अस्तित्व कतई यह संकेत नहीं देता कि कृषकवर्ग उच्च स्तरीय राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कर रहा था।

केशवन वेलुथट (1993) तथा आर.एन. नन्दी (2000) जैसे विद्वानों ने पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत के सम्बंध में सामंतवादी मॉडल की प्रस्तावना की है। जबकि अन्य विद्वानों ने विभाजित राज्य और सामंतवादी मॉडल दोनों को अस्वीकृत करते हुए विशेष घटनाओं पर स्वयं को केंद्रित किया है। उदारहण के लिए हीट्जमैन ने उत्पादन के साधनों की चर्चा की है तथा भूमि श्रम तथा राज्य संरचना के बीच सरोकार ढूंढने का प्रयास किया है। इसी प्रकार विशद अभिलेखीय प्रभागों की विवेचना करने के बाद काराशिमा (1984: xxiv – xxvi) ने सामंतवादी और विखंडित राज्य मॉडलों को नहीं स्वीकार किया तथा यह माना कि चोल काल में केंद्रीकृत राज्य सत्ता का अभ्युदय हुआ, किंतु उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि किसी व्यापक सैद्धांतिक संरचना के स्थान पर उनका प्रयास विशेष घटनाओं का विश्लेषण करना है।

पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राज्य और समाज से सम्बंधित स्रोतों में व्यापक अभिवृद्धि हुई है। हालांकि, अधिकांश संदर्भ चोल राज्य से जुड़े रहे हैं। विश्लेषण के दृष्टिकोण से दक्षिण भारत को किसी समरूप इकाई के रूप में नहीं देखा जा सकता है। न ही इस पूर्व मध्ययुगीन इतिहास को चोल राज्य तक सीमित कर देना उचित है। कावेरी नदी घाटी के चोलमंडलम की एतिहासिक प्रक्रियाएं केरल, कर्नाटक या आंध्र जैसे अन्य क्षेत्रों में घटित होने वाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से भिन्न थीं। इस तथ्य को आगे के विश्लेषण में यथासंभव समझाने का प्रयास किया गया है।

प्रशासनिक संरचनाएं

पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारतीय राज्य न तो उतने शक्तिशाली और केंद्रीकृत थे, जैसा शास्त्री सिद्ध करना चाहते हैं और न ही उतने प्रभावविहीन जितना स्टाईन उनके विषय में समझते हैं। राजदरबारों से जुड़े महत्त्वपूर्ण अधिकारियों में सलाहकारों और पुरोहितों को गिना जा सकता है। चोल अभिलेखों में ब्राह्मण पुरोहित और राजगुरू का उल्लेख मिलता है। पल्लवों और चेरों के पास मंत्री परिषद् हुआ करता था, और पाण्ड्य अभिलेखों में मंत्रियों (मंत्रिण) की चर्चा की गई है, जो एक परिषद् के रूप में संगठित हो सकते थे। पूर्व मध्ययुगीन दरबारों में राजा के साथ निकटस्थ रूप से सहयोग देने वाले अधिकारियों के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है, किंतु इनमें अधिकारी, वईल केतपर, तथा तिरूमंदिर–ओलई (वेलुथट, 1993: 75-86) का उल्लेख हुआ है।

कारशिमा, सुब्बरयलु और मातसुई (1978) ने जिन व्यक्तिगतनामों, उपाधियों और पदवियों के संदर्भ में सहमति दिखलाई है, उनमें से कई पदाधिकारी केंद्रीय प्रशासन से जुड़े हुए थे। कार्यालयों और अधिकारियों की संख्या में पल्लवों, पाण्ड्य और चेरों की तुलना में, चोल अभिलेखों में काफी अंतर है, विशेष रूप से राजराज-I (985-1016) के बाद इनमें अत्याधिक विस्तार हुआ है। कुलोतुंग-I (1070-1122) के राज्यकाल के पश्चात्, ऐसे संदर्भों में कमी देखी जा सकती है, जो पतन का परिचायक है। प्रशासनिक अधिकारियों के लिए आराइयन, उपाधि, सम्मानित व्यक्तियों को दी जाती थी। उडईयन, वेलन तथा मुवेंदवेलन जैसी उपाधियां भी दरबार से जुड़े अधिकारियों को दिया जाता था।

नाडु (स्थानीय स्तर पर) ये अधिकारियों में नाडु-वगाई, नाडु-काकनी-नायकम, नाडु-कुरू तथा कोट्टम-वगाई शामिल थे। इनमें से सभी अधिकारियों के दायित्व स्पष्ट नहीं है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि इनके कार्य एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं थे। सरकारी नियुक्तियों में वंशानुगत प्रभार का सिद्धांत भी परिलक्षित होता है।

चोलों का भूमि राजस्व विभाग काफी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, जो विशेषरूप से राजस्व का लेखा-जोखा रखता था। उर, नाडु, सभा तथा नगरम में जैसे निगम राजस्व निर्धारण और उनके वसूली का कार्य करते थे, तथा कई बार स्थानीय मुखिया, केंद्र के प्रतिनिधि के रूप में इन दायित्वों का निर्वहण करते थे। 11वीं सदी की शुरुआत में, राजराज-1 के शासनकाल के दौरान, चोलराज्य ने सरकारी स्तर से भूमि सर्वेक्षण और कर निर्धारण की परियोजना चलाई तथा साम्राज्य को वलनाडु नामक इकाईयों में पुनर्संगठित किया गया। कुलोतुंग-I के शासनकाल में भी ऐसे दो सर्वेक्षण हुए। राजराज के शासनकाल के पश्चात् राजस्व विभाग को पुरवू-वरी-तिनईक्कलम् या श्री-करणम् के नाम से जाना जाता था।

अभिलेखों मे कुछ शब्दावलियों का बारम्बार उल्लेख हुआ है, जिनसे कृषकों से लिए जाने वाले राज्य के हिस्से का अनुमान लगाया जा सकता है। इक्कोरू से ग्रामीणों के द्वारा राज्य कर्मचारियों को देय खाद्यान्नों का पता चलता है। 'मुत्तईयल' और 'वेट्टी' का तात्पर्य जैसे शब्द भूमिराजस्व से जुड़े मालूम पड़ते कडमाई, चोल काल के उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त होने वाला राजस्व से जुड़ा सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द था। इसका सुनिश्चित दर स्पष्ट नहीं है (जो कुल उपज का 40 से 50 प्रतिशत भी हो सकता है) जिसे अनाज या उपज के रूप में प्राप्त किया जाता था, अभिलेखों में राजस्व शब्दावलियों में उत्तरोत्तर वृद्धि होते चली गई, जिसको चरमोत्कर्ष राजेन्द्र-II (1052-63) के समय कहा जा सकता है, तथा इनमें कुलोतुंग-I के काल से ह्रास होना शुरू हो गया।

पूर्व मध्यकाल में दक्षिण भारत के शासकों के सैन्य अभियानों से एक प्रभावशाली सैन्य संगठन का अनुमान लगाया जा सकता है, किंतु इस सम्बंध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। शासकों और सरदारों के अंगरक्षकों की व्यक्तिगत निष्ठा के आधार पर बहाली होती थी। उनके चयन में वंशानुगत निष्ठा के तत्व परिलक्षित होते हैं तथा उनकी सेवा के बदले उन्हें भूमि राजस्व वसूलने का अधिकार दिया जाता था। राज्य के द्वारा नियुक्त और पोषित एक स्थायी सेना का गठन अवश्य होता होगा तथा सेनापति और दंडनायकम, महत्त्वपूर्ण सैन्य अधिकारी थे। चोल अभिलेखों में अनेक सैन्य टुकड़ियों की चर्चा है। मुखिया सरदारों के द्वारा आवश्यकता पड़ने पर समय-समय सैन्य सहायता ली जाती थी। राजराज-I के काल के श्रीलंका अभियान तथा राजेन्द्र-I के काल के श्रीविजय अभियान के संदर्भ में चोल नौसेना का बहुधा उल्लेख हुआ है। यह स्पष्ट नहीं है कि किस परिवहन के क्रम में इनका उपयोग हुआ था? जहां तक न्याय प्रशासन का प्रश्न है, शास्त्री जैसे विद्वानों ने धर्मासन की संज्ञा से प्रसिद्ध शाही न्यायालय या केंद्रीय न्यायालय के अस्तित्व की चर्चा की है, किंतु यह उस सिद्धांत से प्रेरित तथ्य हो सकता है, जिसके अनुसार, सैद्धांतिक रूप से राजा ही सर्वोपरि न्यायिक अपीलीय अधिकारी था। दैनिक जीवन से जुड़ा न्याय प्रशासन, सभा जैसी स्थानीय इकाइयों के अधीन था।

ग्रामीण समाज

बर्टन स्टाईन (1980: 67-68) ने पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत के समाज का वर्णन एक 'कृषक समाज' के रूप में किया है। उसका तात्पर्य यह था कि अधिकांश लोग उस काल में कृषि पर आश्रित गांवों में निवास करते थे; कृषि और कृषि से सम्बद्ध व्यवसाय ही जीवन-निर्वाह और सम्पत्ति के स्रोत थे; सामाजिक सम्बंधों की संरचना, अन्य कृषि समाजों के सदृश्य थी तथा उनका शक्ति संतुलन उनकी तुलना में अपूर्ण था, जो उनसे उनके पैदावार का एक हिस्सा हासिल कर सकते थे); निगम संगठन उन्नत स्थिति में थे तथा इन नैगमिक निकायों के बीच प्रभावशाली समन्वय था। स्टाईन ने यह दावा किया है कि उनका उद्देश्य चोल तथा उत्तर-चोल काल के दक्षिण भारतीय इतिहास के कृषि आधार की व्याख्या करना है, किंतु कृषि के सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व को सिद्ध करने के प्रयास में उन्होंने शासकों, मुखिया, व्यावसायी वर्ग तथा अन्य नगरीय समुदायों को नजरअंदाज कर दिया।

स्टाईन ने स्वीकार किया है कि पादनुक्रम और असमानता के सिद्धांतों ने भारतीय कृषि समाज को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया, किंतु उन्होंने इस आधार पर इसे कृषि समाज का दर्जा देने से वंचित नहीं किया। वियोजन,

आंतरिक पदानुक्रम तथा शोषण के बावजूद, भारत में, संसार के अन्य हिस्सों की तरह, कृषकों का जीवन, सामाजिक, आनुष्ठानिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता और सहकारिता से परिपूर्ण था। स्टाईन ने यह भी दावा किया है कि भारतीय किसान की गृहस्थी, जाति-आधारित श्रम-विभाजन तथा व्यावसायिक विशिष्टीकरण के बाद भी अन्य कृषि समाजों की भांति, बहु-आयामी थी। स्टाईन ने जिस प्रकार कृषक समुदाय को, अनुगामी और प्रभावशाली वर्गों के अस्तित्व को छोड़कर, लगभग एकीकृत निकाय के रूप में देखने का प्रयास किया है, जो त्रुटिपूर्ण है। स्टाईन की दूसरी प्राक्कल्पना जिसकी आलोचना की जा सकती है, वह ब्राह्मणों और कृषकों के बीच की सहकारिता से जुड़ी है।

उन्होंने ब्राह्मणों को व्यवस्था और वैधानिकता का आधार बताया है, तथा उनके कृषक वर्ग के साथ सम्बंध को पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय कृषक समाज की प्राथमिक सांस्कृतिक समन्वय का आधार बताया है। जबकि ब्राह्मण-कृषक सम्बंध एक सोची-समझी संधि का परिणाम प्रतीत होता है जिसमें उनका स्वार्थ निहित था। नगरीय केंद्रों में बौद्ध और जैन धर्म की लोकप्रियता को देखते हुए, ब्राह्मणों ने ग्रामीण क्षेत्र में स्वयं को स्थापित करने का अवसर तलाश किया। स्टाईन का मानना है कि अपने सतत् शत्रु-पहाड़ी जनजातियों के विरुद्ध, कृषकों ने इनके माध्यम से अनुष्ठानिक एकजुटता को प्राप्त करने का प्रयास किया। ये सभी तर्क स्वीकार्य नहीं प्रतीत होते।

जहां तक दक्षिण भारतीय ग्राम्य जीवन की विशिष्टताओं का प्रश्न है, यह स्पष्ट हो जाता है कि उर ही ग्रामीण समाज की आधारभूत इकाई थी। इस शब्द का प्रयोग गांवों के लिए तथा ग्राम सभाओं के लिए हुआ है। इन्हें गैर-ब्रह्मदेय गांव, या वेलनवगाई गांवों की संज्ञा दी जाती थी। अभिलेखों के अनुसार, इनके अंतर्गत खेतों के अतिरिक्त निवास क्षेत्र, पेयजल के स्रोत, सिंचाई के साधन, चारागाह तथा शमशान घाट इत्यादि आते थे। निवास क्षेत्र के अंदर 'उर-नट्टम' या 'उर-इरूक्कई', भूमिपतियों का आवास स्थान कहलाता था, शिल्पकारों का निवास 'कम्मनचेरी' कहलाता था, और कृषि मजदूरों का निवास क्षेत्र, 'परईचेरी' कहलाता था।

ग्रामीण स्तर पर अधिकार और सामाजिक स्तर का पदानुक्रम विद्यमान था। इसमें सामाजिक तथा भौतिक रूप से बहिष्कृत समुदाय भी आते थे, जो आनुष्ठानिक दृष्टिकोण के 'अशुद्ध-परईयार' कहलाते थे। कृषक समूहों को 'वेल्लालर' कहा जाता था, जिनके अंतर्गत–भूमिपति वर्ग (कनियुदईयार) तथा बंटाईदार (उलुकुडी) की दो श्रेणियां थीं। वेल्लाल, शुद्र वर्ण के अंतर्गत आते थे, किंतु उत्तर भारत के शुद्रों की तरह ये नीच सामाजिक हैसियत के या बहिष्कृत नहीं थे। इसका कारण था कि वेल्लाल, आर्थिक दृष्टि से मजबूत स्थिति में थे, जो संपति के आधार भूमि पर अधिक रहते थे। इसकी वजह से उनके सामाजिक स्थिति की तुलना ब्राह्मणों से भी की जा सकती थी। लोहार और बढ़ई जैसे शिल्पी समुदायों के पास भी कुछ भूमि होती होगी। चोल काल के अंतिम चरण में भूमि हस्तांतरण प्रक्रिया के विश्लेषण से आर्थिक दृष्टि से सबल और स्थानीय रूप से प्रभावशाली भूमिपतियों का अभ्युदय हुआ था।

कर्नाटक अभिलेखों जैसे ग्रामों का संदर्भ रोचक है, जिनकी मुखिया महिलाएं थीं (नंदी 2000: 217)। उदाहरण के लिए, 902 सा.सं. के एक अभिलेख में बिट्टइया नाम के किसी व्यक्ति की पत्नी का भरंगुर नामक गांव की मुखिया के रूप में उल्लेख है। 1055 सा.सं. के एक-दूसरे अभिलेख में चंडीयाबि नाम की स्त्री को गवुण्डी (ग्राम मुखिया) और जक्कीयाबि नाम की दूसरी महिला का मंत्रकी (सलाहकार) के रूप में उल्लेख किया है। शिकारपुर ताल्लुका के एक पुरालेख में जिला-प्रमुख की पत्नी के द्वारा उस पद पर पति के मृत्यु के बाद बैठने का उल्लेख मिलता है।

दक्षिण भारत में ब्राह्मणों को दिए जाने वाले राजकीय भूमि अनुदानों का इतिहास तीसरी/चौथी शताब्दी से शुरू होता है, जिस प्रचलन की लोकप्रियता पूर्व मध्ययुग तक जाते-जाते बहुत बढ़ गई। काराशिमा (1984: XX-XXI) का मानना है कि ब्रह्मदेय तथा गैर-ब्रह्मदेय गांवों में भूमिस्वामित्व के स्वरूप में काफी अंतर था। ब्रह्मदेय गांवों में निजी व्यक्तियों के अधीन भूमि का स्वामित्व था, जबकि गैर-ब्रह्मदेय गावों में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व का अस्तित्व था। फिर भी ऐसा नहीं था कि गैर-ब्रह्मदेय गांवों में निजी स्वामित्व पूर्ण रूप से अनुपलब्ध था। सामान्य रूप से पूर्व मध्यकाल में व्यक्तिगत संपत्ति अधिकारों को अधिक मान्यता मिलने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है, तथा भूमि स्वामित्व के आकार में बड़े फासले को भी देखा जा सकता है।

चोल कालीन अभिलेखों में विक्रय या दान के माधयम से भूमि हस्तांतरण के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें कानी अधिकारों के हस्तांतरण के उदाहरण भी शामिल हैं। कानी से तात्पर्य भूमि पर दखल-कब्जा से है तथा कभी-कभी इस अधिकार के साथ इसके अधिकारों के साथ कुछ कर्तव्यों के निर्वहण का भी दायित्व सम्मिलित होता था। चोल और पाण्डय भूमि अनुदानों में दो प्रकार के भूमि-अधिकारों का संदर्भ आता है–करनमई (खेती करने का अधिकार) और मितातची (अधिक व्यापक अधिकार)। जब इन दोनों का एक-साथ उल्लेख हुआ है, तब उसका तात्पर्य खेती करने के साथ खेती करवाने के अधिकार का भी बोध होता है। कुटिमई (दाखिल-कब्जा का अधिकार) का उल्लेख हुआ है। करनमई के भी दो भेद थे–कुट्टी-निक्की और कुडी-निंगा। कुडी-निक्की का अर्थ था कि उन लोगों को जो उस गांव के निवासी थे, उनको या तो बेदखल कर दिया गया था, उनको उनके अधिकारों से

वंचित कर दिया गया। कुडी-निंगा का तात्पर्य था कि लोगों के अधिकारों को अक्षुण्ण रहने दिया गया। कुछ भूमि अनुदानों के साथ यह निहित होता था कि भूमि के साथ जुड़े श्रमिकों का अधिकार भी हस्तांतरित कर दिया गया।

पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय इतिहास में नगरीय और ग्रामीण परिप्रेक्ष्य के निगम निकायों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेल्लानवगई गांवों का निगम 'उर' कहलाता था। इस निकाय के सदस्य गांव के भूमिपति हुआ करते थे। इनकी संख्या निश्चित नहीं होती थी, लेकिन सामान्य रूप से 10 से अधिक सदस्य नहीं होते थे। भूमि प्रबंधन से जुड़े विषयों यथा, भूमि का विक्रय, दान तथा कर-मुक्ति इत्यादि उर के द्वारा निर्धारित होते थे। ब्रह्मदेय गांवों के ब्राह्मण सभाओं को सभा कहते थे। भूमि का स्वामित्व, पारिवारिक इतिहास, विद्वता तथा अच्छा आचरण, सदस्यता की शर्तों में प्रमुख थीं।

सभा का मुख्य दायित्व भूमि प्रबंधन से था, जिसमें मंदिरों की भूमि भी सम्मिलित थी। वह राजस्व प्राप्त करता था और उसका लेखा-जोखा रखता था। मंदिर की धार्मिक गतिविधियों का निर्देशन भी वह करता था। सभा

प्राथमिक स्रोत

कर्नाटक के एक गांव का इतिहास

कनकट्टी, दक्षिण कर्नाटक के हासन जिला के अरसिकेरे ताल्लुक का एक गांव है। बी.डी. चट्टोपाध्याय ने इस स्थान से प्राप्त 15 अभिलेखों का विश्लेषण किया है तथा इस गांव से जुड़े 100 वर्षों के इतिहास की पुनर्रचना की है। अभिलेखों में इस गांव को कालीकट्टी कहा गया है।

प्राचीनतम अभिलेख आराकेरे के एक वीरगल पत्थर पर उत्कीर्ण पाया गया है। इसकी तिथि 890 सा.सं. है और यह गंग शासक सत्यवाक्य परमानदी रचभल्ला के शासनकाल का है, जिसमें श्री मुत्तर नाम के किसी सामंत की मृत्यु का वर्णन है। श्री मुत्तर ने नोलाम्बो के विरुद्ध लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त किया था। हमें ज्ञात है कि उसके मरणोपरांत उसे दो गांवों का अनुदान मिला था–अरिकेरे (जहां से इस अभिलेख की प्राप्ति हुई है) तथा कालीकट्टी। निश्चित रूप से इन अनुदानों का लाभ श्री मुत्तर की संतानों को मिला होगा।

दो शताब्दियों के बाद, होयसाल शासक विष्णुवर्द्धन (1108-42 सा.सं.) के शासनकाल के दो अभिलेख मिले हैं। स्पष्ट रूप से यह महत्त्वपूर्ण स्थान बन चुका था क्योंकि 'मगरे 300' के नाम से विख्यात क्षेत्र में इसे सबसे प्रसिद्ध गांव के रूप में स्वीकार किया गया है।

एक अभिलेख की तिथि 1130 सा. सं. दी गई है, जिसमें कहा गया है कि अरसिकेरे में महासामंत सिंगरस ने काली कट्टी को सभी बाधाओं से मुक्तकर उस पर शासन किया। वहां उसने सिंगेश्वर नाम से एक देवालय की स्थापना की तथा इस शिवालय की देख-रेख के उद्देश्य से कालामुख सम्प्रदाय के किसी पुरोहित को शुष्क तथा सिंचित भूमि का अनुदान दिया। इनमें से भूमि का एक हिस्सा हिरिया-करे (बड़ा बांध) से निकली नहर पर स्थित था। 1132 सा.सं. के एक अभिलेख में वर्णित है कि सिंगरस को अपने मुख्यालय अरसिकेरे से बेदखल कर दिया गया और उसे कालीकट्टी में स्थानांतरित होना पड़ा। इस गांव में सिंगरस ने 'बेट्टाडकलिदेव' नाम से विख्यात शिवलिंग की स्थापना की तथा गांव के बड़े तालाब के निकट की कुछ भूमि को मंदिर के रख-रखाव के लिए दान में दिया।

1189 सा.सं. के एक अभिलेख में, जिसे होयसाल शासक बल्लाल-II के शासनकाल में निर्गत किया गया था, तथा जिसमें यह वर्णन मिलता है कि कालीकट्टी एक समृद्धशाली गांव (उर) था, जहां कूपों से भरे तालाब, सुपारी के वृक्ष, धान के खेत तथा अनेक श्रेष्ठ मंदिर थे। कालीकट्टी के बहुतेरे अभिलेखों में गांव के बड़े तालाब का जिक्र है, और कुछ में उससे जुड़ी नहरों का भी जिक्र है। अन्य तालाबों का भी उल्लेख है जिनमें से एक का नाम 'अदुव-गेरे' का भी है। हरियोजा का तालाब, मंगेय का तालाब, बोविति का तालाब तथा बिहेय्या का तालाब, जैसे तालाब, उनके स्वामियों के नाम से प्रसिद्ध थे। हरियोजा के योजा प्रत्यय से उसके किसी वास्तुकार से जुड़े होने का अनुमान लगा सकते हैं। विभिन्न कालावधियों से तालाबों के निर्माण की तिथियां जुड़ी होने के कारण यह प्रतीत होता है कि सिंचाई की आधारभूत संरचना के विकास के लिए अनेक प्रयास किए गए थे। इनसे निश्चित रूप से गांव की उपज क्षमता भी बढ़ी होगी।

12वीं सदी के अभिलेखों से विभिन्न सामंतों और महासामंतों के नाम उद्धृत है, जिन्होंने कालकट्टी पर शासन किया। इनमें से कुछ ने मंदिरों की स्थापना की और उनके रख-रखाव के लिए भूमि अनुदान दिए। 13वीं सदी के अभिलेखों में कालीकट्टा को एक स्थल या एक नदी के रूप में वर्णित किया गया है। इसमें यहां के हल्लियां (मोहल्ला) के नाम, दो नए तालाब तथा मंदिरों में स्थापित दो नए देवताओं को वर्णन किया गया है। यहां प्राचीन हिरिया–केरे का भी उल्लेख किया गया है, किंतु इस काल में एक बड़ा परिवर्तन भी हुआ–इस गांव को एक अग्रहार के रूप में परिणत कर दिया गया तथा जिसका नाम 'विजय-नरसिंहपुर' रखा गया। अभिलेखों की विस्तृत विवेचना से इस गांव के सामाजिक परिदृश्य में समय के साथ हुए परिवर्तनों का भी उल्लेख मिलता है।

स्रोत: चट्टोपाध्याय, 1990

की इच्छा के विरुद्ध जाना, गंभीर अपराध की श्रेणी में आता था, जिसके बदले समाज से बहिष्कृत भी किया जा सकता था। शुरुआती चरण में कर्नाटक क्षेत्र में ब्राह्मण सभाओं का आकार बहुत छोटा हुआ करता था, किंतु 11वीं-12वीं शताब्दियों के अभिलेखों में विशाल आकारों वाली सभाओं का उल्लेख होने लगा, जिसमें 300, 500, 1000, 2000, 3000 और यहां तक कि 12,000 तक सदस्यों की संख्या थी। यह उन गांवों में बढ़ती हुई ब्राह्मण जनसंख्या की ओर इशारा करता है।

कुछ ब्राह्मण सभाओं और चोल दरबार के बीच सीधा सम्बंध मालूम पड़ता है। उत्तरमेरूर से प्राप्त दो अभिलेखों में ऐसा वर्णन है कि सभा का गठन राजा के द्वारा विशेष रूप से नियुक्त किए गए अधिकारी की उपस्थिति में हुआ था। तंजावुर के दो अभिलेखों में और स्पष्टरूप से उद्धृत चोलमंडलम सभाओं को आदेश निर्गत किए गए। चोल साम्राज्य के कुछ प्रमुख सभाओं को तनियुर का दर्जा प्राप्त था। तनियुर का अर्थ 'पृथक गांव' हो सकता है। इन गांवों का संबद्ध नाडु के अधीन स्वतंत्र अस्तित्व था।

कर्नाटक क्षेत्र से प्राप्त अनेक अभिलेखों से ग्रामीण समुदायों के बीच संघर्ष की स्थितियों के संकेत मिलते हैं (नंदी 2000: 125-27)।[1] (इनमें से कुछ अभिलेख 12वीं सदी की बाद के हैं, किंतु फिर भी इस पुस्तक में वर्णित अवधि से इनकी तारतम्यता कही जा सकती है) ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्ता के गांव में प्रवेश से भी कभी-कभी तनाव की स्थिति दिखलाई पड़ती है। उदाहरण के लिए, 13वीं सदी के मध्य के एक पुरालेख में कहा गया है कि उक्त गांव को एक ब्रह्मदेय में रूपांतरित किए जाने का स्थानीय गौड़ (कृषक) वर्ग ने विद्रोह कर दिया और जिसे दबाने के लिए वहां सैन्य अभियान का आदेश दिया। गांव के संसाधनों को लेकर भी संघर्ष हो सकते थे। जल संसाधन इनमें सबसे विवादित संसाधन था। 1080 सा.सं. के इसी ताल्लुक से प्राप्त अभिलेख में गांव के एक तालाब को लेकर गांव के किसी ब्राह्मण और एक किसान के बीच हुए संघर्ष का उल्लेख है। प्रारंभिक 13वीं सदी के एक अभिलेख में सिंचाई के लिए बने एक तालाब को लेकर, गांव के मुखिया और किसानों के बीच हुए विवाद का उल्लेख हैं। इस संघर्ष में मुखिया की हत्या कर दी गई और उसकी स्मृति में होयसाल शासक के द्वारा वीरगल पत्थर की स्थापना की गई।

राजराज-III के शासकाल में 1231 सा.सं. के मन्नारगुड़ी से प्राप्त एक अभिलेख में कृषकों पर अनिवार्य श्रम की बाध्यता का जिक्र आया है। इसमें वर्णन मिलता है कि नट्टार (उस स्थान के प्रभुता संपन्न नागरिक) वर्ग के प्रतिनिधियों ने राजराजधिराज–चतुर्वेदी मंडलम् नाम के तनियुर गांव के ब्राह्मण सभा और महासभा को उन पर थोपे गए अनिवार्य श्रम की असह्य बाध्यता के विरुद्ध शिकायत किया। समस्या सिर्फ इस प्रकार के अनिवार्य श्रम की नहीं थी, बल्कि इसी प्रकार के श्रम की मांग एकाधिकार सत्ताधारियों के द्वारा मांग की जाने की थी। इनमें से करा रोपण करने वाली कुछ इकाईयां सैन्य शक्ति का प्रयोग कर रहीं थीं। इस अभिलेख में राजधानी, राजराजपुरम, में चल रहे मरम्मत के कार्यों के लिए अनवार्य श्रम (नेट्टाल) का भी आरोप लगाया गया है। सुब्बरयलु (2000: 92-4) का कहना है कि मन्नारगुड़ी से इस नगर की दूरी 35 किमी. थी और जिसके चलते श्रम सेवा प्रदान करने के लिए इस लंबी दूरी को पैदल तय करना, अतिरिक्त मशक्कत का कार्य रहा होगा। इस गांव की सभा और महासभा ने इन प्रभावशाली नागरिकों की शिकायत पर सुनवाई के लिए बैठक बुलाया और लगाए गए कर प्रणाली को सुव्यवस्थित किया।

विगत वर्षों में किए गए अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि नाडु जिसके अंतर्गत अनेक नगरीय और ग्रामीण बस्तियां आती थीं, वह गांव की अपेक्षा पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत के सदंर्भ में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण इकाई थी। स्थानीय सभाओं को कई बार नाडु के रूप में संबोधित किया जाता था। चोल राज्य में नाडुओं की सुनिश्चित संख्या को जानना कठिन है। सुब्बारायलु की गणना के अनुसार, चोल मंडलम् में इनकी संख्या 140 थी और इसके उत्तर में 651। इनकी संख्या कभी भी पूर्ण रूप से स्थिर नहीं थी तथा 9वीं सदी के बाद इनकी संख्या में निश्चित रूप से बढ़ोत्तरी हुई। नाडुओं के आकार में काफी भिन्नता थी और इस तथ्य के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये राज्य के द्वारा कृत्रिम रूप से गठित की गई प्रशासनिक इकाइयां नहीं थीं। पल्लव तथा पाण्ड्य राज्यों में भी नाडुओं के समान ही, बस्तियों के समूह को एक इकाई के रूप में देखा जाता था। पल्लव अभिलेखों में इन्हें कोट्टम कहा गया है। चेर राज्य में शायद ऐसी इकाइयां नहीं थीं।

नाडु सभाओं के सदस्यों को नट्टार कहा जाता था। ये प्रभावशाली निगम के रूप में सामुहिक इकाई के रूप में कार्य करते थे, जिनके सदस्यों का उल्लेख बहुधा शाही अभिलेखों में मिलता है। नाडु राजस्व की आधारभूत इकाई थी, तथा राजस्व सम्बंधी मामलों में नट्टारों की अहम भूमिका थी। भूमि निर्धारण और राजस्व वसूलने का दायित्व इन्हीं पर था, जो राजा के नाडु स्तर पर नियुक्त अधिकारियों को हस्तांतरित हो जाता था। सिंचाई

1. यद्यपि कि इनमें से कुछ अभिलेख 12वीं शताब्दी के बाद के हैं, लेकिन कालावधि की दृष्टि से इस पुस्तक की सीमा में हैं

अनुसंधान की नई दिशाएं

प्रारंभिक मध्ययुगीन तमिलनाडु के सिंचाई यंत्र

जेम्स हाइट्स्मन ने मध्य तमिलनाडु के पांच ताल्लुकों–कुम्बकोनम, तिरूचिरापल्ली, तिरूक्कोईलुर, तिरूतुरईपुण्डी तथा पुडुकोट्टई, से प्राप्त चोल अभिलेखों के संदर्भों का अध्ययन, तथा उनके आधार पर चोल काल में सिंचाई सुविधाओं के वितरण और तकनीक में होने वाले परिवर्तनों को रेखांकित किया। तालाब, कूप, नगर, नाले–जैसे सिंचाई के साधनों के संदर्भ में अनुदान में दिए भूमि की चौहदी को चिन्हित करने के संदर्भ में अंकित किए जाते थे।

इन संदर्भों की पुरुक्तियों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि तिरूचिरापल्ली और कुम्बकोनम ताल्लुकों में नहरों की अधिक लोकप्रियता थी। अभिलेखों में इन ताल्लुकों के लिए सिंचाई संसाधन के रूप में नहरों के उपयोग के क्रमशः 84 और 85 प्रतिशत संदर्भ आते हैं। कुम्बकोनम ताल्लुका जहां कावेरी नदी की निचली घाटी में स्थित है, वहीं तिरूचिरापल्ली ताल्लुका नदी घाटी के ऊपरी हिस्से में। अभिलेखीय संदर्भों में तालाबों का मात्र 7 प्रतिशत हिस्सा है। तिरूतुरईपुण्डी ताल्लुका में नहरों के 79 प्रतिशत संदर्भ हैं और तालाबों के 15 प्रतिशत। पुडुक्कोट्टई ताल्लुका में संदर्भों का अनुपात नहरों के लिए 49 प्रतिशत और तालाबों के लिए 38 प्रतिशत। तिरूकोईलुर ताल्लुका में 60 प्रतिशत नहरों के लिए और 23 प्रतिशत तालाबों के संदर्भ हैं। नालों का हिस्सा मात्र 4.7 प्रतिशत है। कूप के संदर्भों का हिस्सा 5.4 प्रतिशत का है।

सिंचाई संसाधनों के उपयोग में उप-क्षेत्रीय स्तर पर देखी जाने वाली इन विविधताओं के पीछे तथा इस विवेक पर भी कि कौन-सा सिंचाई तकनीक क्षेत्र विशेष के लिए अधिक उपयुक्त थी, पर्यावरणीय कारकों की भूमिका प्रतीत होती है। रोचक तथ्य यह है कि आधुनिक काल में इन क्षेत्रों में जिन सिंचाई साधनों का प्रचलन है, वह अभिलेखीय संदर्भों से पूरी तरह मेल खाता है।

पूर्व मध्यकालीन तमिलनाडु में नहरों और तालाबों को सिंचाई का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन कहा जा सकता है, किंतु समय के साथ होने वाले परिवर्तनों का भी अवलोकन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कुम्बकोनम तथा तिरूक्कोईलुर ताल्लुकों में, समय के साथ, सुनियोजित स्तर पर नहरों के संदर्भों में वृद्धि हुई और तालाबों के संदर्भों में कमी देखी गई। जबकि पुडुकोट्टई में नहरों के संदर्भों में समय के साथ कमी देखी जा सकती है।

सभी सांख्यिकी को समेकित रूप से देखने पर कुछ इस प्रकार का चित्र सामने आता है–कुम्बकोनम ताल्लुका में सिंचाई क्षेत्र का विकास चोल काल के पहले हो चुका था तथा चोल काल में उक्त परिस्थितियों में कोई विशेष अंतर नहीं आया। तिरूक्कोइलुर ताल्लुका में पहले तालाबों की सिंचाई साधन के रूप में अधिक अहमियत थी, किंतु समय के साथ-साथ नदी से निकाले गए नहरों का महत्त्व बढ़ता गया। पुडुकोट्टई ताल्लुका में नहरों का विकास 11वीं शताब्दी में अपनी पराकाष्ठा पर था, जिसके बाद यथास्थिति बनी रहीं। तिरूचिरापल्ली ताल्लुका में 11वीं सदी में नहरों के विकास के लिए किए जाने वाले निवेश में कमी थी, जो 12वीं सदी में बढ़ा।

स्रोतः हाइट्स्मन, 1997: 38-54

संसाधनों के प्रबंधन में भी नट्टारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वे मंदिरों को भूमिदान करते थे, तथा अन्य स्रोतों से दिए गए अनुदानों का संचालन भी करते थे। शुरू में इनके सदस्य सिर्फ प्रभावशाली भूमिपति हुआ करते थे, लेकिन 12वीं तथा 13वीं शताब्दियों से भूमि सम्पन्न शिल्पकार और व्यापारी भी नाडुसभाओं की सदस्यता पाने लगे थे।

कृषि और सिंचाई

कृषि अर्थव्यवस्था के विस्तार के पीछे कई कारकों को रेखांकित किया जा सकता है, यथा—नई भूमिका में कृषि के लिए अधिग्रहण, सिंचाई संसाधनों का विस्तार तथा फसलों के प्रकार में अभिवृद्धि। कभी-कभी अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को विशेष रूप से आस-पास के वन-संपदा का भी अधिकार दे दिया जाता था, इन्हें अनुदान के अतिरिक्त निकट के जंगल और परती या बंजर भूमि पर भी नियंत्रण का अधिकार दिया जाना उद्देश्यपूर्ण था और इस परिप्रेक्ष्य में अतिरिक्त भूमि पर खेती की बढ़ती संभावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। इस संदर्भ में कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण भी उपलब्ध हैं। कदंबों (गोआक्षेत्र) के द्वारा छठी शताब्दी में निर्गत एक अभिलेख में ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्त्ता को यह अधिकार दिया गया है कि वे श्रमिकों के द्वारा जंगल के एक हिस्से को साफ कर उसे कृषि योग्य बनाएं। इसमें तटीय भूमि के कुछ हिस्से को बांधकर उसे धान की फसल के योग्य बनाने की बात का भी उल्लेख मिलता है।

अरघट्टा (पर्शियन वील) का उपयोग दक्षिण भारत में पूर्व मध्ययुग से शुरू हुआ। अभिलेखों में नहरों तथा तालाबों के पानी के वितरण के लिए नालों का वर्णन निकलता है। नंदी (2000: 91-94) ने कर्नाटक क्षेत्र में कृषि तकनीकों में हुए विकास का विश्लेषण किया है। इस क्षेत्र में तालाबों के जल को नालों के माध्यम से वितरित करने का संदर्भ सबसे पहले 8वीं शताब्दी से प्राप्त होता है। बाद की सदियों में इन संदर्भों में वृद्धि होती गई। 890 सा.सं. के हिरियुर ताल्लुका से प्राप्त एक अभिलेख में वर्णन है कि वहां के किसानों ने एक गांव में चार नहरों से युक्त एक विशाल तालाब का निर्माण किया। नदियों को नहरों के माध्यम से तालाबों से जोड़ने का प्रचलन भी शुरू हुआ। तालाबों के निर्माण के प्रचलन में भी अभिवृद्धि हुई।

चोल अभिलेखों में तालाब, नहर, कूप, नाले जैसे नाना प्रकार के सिंचाई साधनों का वर्णन उपलब्ध है। कुछ चोल शासकों का तालाबों और नहरों के निर्माण का श्रेय जाता है। उदाहरण के लिए, राजेन्द्र-I को चोलगंगा तालाब और नहर निर्माण की शुरुआत करने का श्रेय जाता है। ग्रामीण समुदाय के सदस्य, ब्राह्मण, शासक तथा मुखियाओं ने सिंचाई संसाधनों के रख-रखाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, किंतु जहां तक छोटे स्तर पर सिंचाई संसाधनों के निर्माण और रख-रखाव का प्रश्न है, वहां ग्रामीण समुदाय की भूमिका सबसे अहम मालूम पड़ती है। आवश्यकता पड़ने पर नट्टार वर्ग का हस्तक्षेप भी महत्त्वपूर्ण था। तालाबों के रख-रखाव के लिए समितियों (एरिवरिय) के पुरालेखीय संदर्भ उपलब्ध हैं। कभी-कभी किसानों को बगल के खेतों में बीज बोने के अधिकार दिए गए थे, जिसके बदले वे तालाबों के गहरीकरण का दायित्व लेते थे।

कृषि योग्य भूमि के विस्तार, सिंचाई साधनों में विस्तार और बाजार की बढ़ती मांग के परिणामस्वरूप भूमि के उपयोग का परिदृश्य भी परिवर्तित होने लगा। कर्नाटक क्षेत्र में चावल के अतिरिक्त प्रियंगु (पेनीकम इटालिकम), रागी (इलुसाइन कोराकाना), ज्वार (सोरघम वलगेर) तथा बाजरा (बलरश मिलेट) जैसे अनाजों की खेती भी बढ़ रही थी। श्यामक, निवार, कंगु, कोदरव तथा करदुश जैसे निम्न किस्म के चावलों का भी प्रचलन बढ़ा था। ईख, पान-पत्ता तथा सुपारी, नारियल, नारंगी तथा कालीमिर्च और अदरख जैसे व्यावसायिक फसलों की खेती भी बढ़ रही थी।

नगरीकरण की प्रक्रियाएं

पूर्व मध्ययुग, दक्षिण भारत में नगरीकरण का दूसरा महत्त्वपूर्ण काल था। इस क्षेत्र के लिए नगरीय पतन के सिद्धांत को मान्यता नहीं दी जा सकती। नगरों की विभिन्न, प्रायः अनेक भूमिकाएं थीं–राजनीतिक केंद्र, उत्पादन और व्यापार के केंद्र तथा पवित्र अनुष्ठानों के केंद्र के रूप में।

बाजार और वाणिज्यिक केंद्रों को 'नगरम' कहा गया। नगरम का स्वरूप नगरीय होता था, जहां स्थानीय अंतक्षेत्रीय या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन और व्यापार किया जाता था। यह कृषि उत्पादों के व्यापार के केंद्र भी थे। किसी 'नाडु' में एक या एकाधिक नगरम हो सकते थे। महत्त्वपूर्ण ब्रह्मदेयों की तरह कुछ नगरम को भी तनियुर का दर्जा प्राप्त था, जो उन्हें नाडु से स्वतंत्र हैसियत प्रदान करता था। नगरम में व्यापारियों के निगम निकायों का अस्तित्व होता था, जिन्हें 'नगरट्टार' कहा जाता था। यह समूह भूमि प्रबंधन का दायित्व भी निभाता था। इनके अधीन 'नगरक्कनी' भूमि होती थी, जिसका राजस्व इन्हें मिलता था।

चोल काल में नगरमों के बढ़ते महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है, जबकि अभिलेखों में अनुदानकर्त्ताओं के रूप में अक्सर नगरट्टारों का उल्लेख आता है (चम्पकलक्ष्मी, 1996: 45-46)। उनके द्वारा दिए जाने वाले

अन्यान्य परिचर्चा

पान-पत्ता और सुपारी

पान चबाना (यह शब्द संस्कृत के पर्ण अर्थात् पत्ता से लिया गया है।) दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया की लंबी परंपरा रही है। सुपारी (अरिका नट/अरिका कैशियु) के टुकड़ों को पान के पत्ते (पाइपर बेटल) में चूना और कत्थे के लेप के साथ मोड़ा जाता है। पान पत्ते और सुपारी का प्रारंभिक प्रयोग, दक्षिण-पूर्व एशिया में किया गया। थाईलैंड के स्पीरिट गुफा में 10000-7000 सा.सं.पू. स्तर में सुपारी के अवशेष मिले हैं। फिलीपींस में 3000 सा.सं.पू. के एक मानव खोपड़ी के दांतों में इसके उपयोग के दाग देखे गए, किंतु विशेष रूप से सुपारी का प्रयोग मध्य मलेशिया में शुरू हुआ। प्रारंभिक शताब्दियों में इनका प्रचलन दक्षिण भारत में प्रारंभ हुआ। संस्कृत में पान-पत्ते और सुपारी को क्रमश: ताम्बुल और गुवक कहा गया है।

जातक कथाओं में पान पत्ते का प्रचलन उद्धृत है, साथ ही चरक और सुश्रुत संहिताओं वराहमिहिर के बृहत्तसंहिता, और मंदसोर अभिलेख में भी। कालीदास के रघुवंश में इसके प्रचलन को दक्षिण भारत से जोड़ा गया हे। शुद्रक के मृच्छकटिका में वर्णन है कि वसंतसेना के भवन में पान के पत्ते को कपूर के साथ चबाया जाता था। *शिलप्पदिकारम* में मदुरई के लिए घर छोड़ने के पूर्व कन्नकी ने कोवलन को भोजन के बाद पान और सुपारी खिलाया था।

दक्षिण भारत में प्राय: 5वीं शताब्दी से इनकी खेती प्रारंभ हो गई थी। पट्टू-पट्टू में सुपारी के वृक्षों की खेती, ईख, अदरख तथा नारियल इत्यादि के साथ वर्णित है। गुब्बी ताल्लुका से प्राप्त 812 सा.सं. के एक अभिलेख में जैन मंदिर को दिए गए एक गांव की चार-दीवारी की जगह पानपत्तों के लताओं की उपस्थिति बतलायी गई है। बंगाल में भी पान और सुपारी की खेती का काफी प्रचलन था।

11वीं तथा 12वीं सदी के स्रोतों में पान और सुपारी के संदर्भों का प्रचलन काफी अधिक था, जहां दक्षिण भारत के अभिलेखों में मंदिरों को दिए गए अनुदानों में पान और सुपारी के बगीचे भी शामिल थे। अरसिकेरे ताल्लुका से 11वीं सदी के एक अभिलेख में सुपारी के फसल की काटने और साफ करने की प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन है। सुपारी की फसल को काटने वाले श्रमिक 'कोमलासी' कहे गए हैं तथा मोटकरों के द्वारा बाजार में बिक्री के लिए इनकी सफाई की प्रक्रिया सम्पादित की जाती थी। अभिलेखों में इनके निरंतर उल्लेखों से इनकी मांग का अनुमान लगाया जा सकता है। विशेषकर मंदिर परिसरों में और कुलीन वर्गों के संदर्भ में पान और सुपारी के प्रचलन ने सहज ही मंदिरों के आनुष्ठानिक क्रियाओं में अपना स्थान बना लिया। पूर्व के काल में मंदिरों में भात, सुगंधी और चंदन का लेप प्रमुख था। इस सूची में पान और सुपारी शामिल कर लिए गए। प्रारंभिक 10वीं सदी के एक अरब चोल के एक अभिलेख में भी पान-पत्तों के आदान-प्रदान की प्रथा का उल्लेख है। चाऊ-जकुआ नाम के चीनी यात्री के 12वीं सदी के एक वृतांत में राजाओं और कुलीनों में पान की लोकप्रियता का वर्णन है।

पश्चिम भारत के व्यापार में पान और सुपारी महत्त्वपूर्ण वस्तु प्रतीत होती है। 1145 सा.सं. के मंगरोल से प्राप्त एक अभिलेख में सौराष्ट्र तट पर स्थित किसी बंदरगाह में ऊंटों और बैलगाड़ियों से लाए जाने वाले पान-पत्तों पर शुल्क लगाया जा रहा था। शायद पान-पत्तों को दक्षिण भारत से लाया जा रहा था। इस अभिलेख के अनुसार, पान-पत्तों को रखने के लिए विशेष गोदाम उपलब्ध थे और इनके विक्रय के लिए विशेष दुकानें थीं।

शीघ्र ही उपमहाद्वीप के कई हिस्सों में पान की लोकप्रियता बढ़ गई। हेमचंद्र के *द्वाश्रयकाव्य* में कुलीनों में प्रचलित इनके सेवन का वर्णन इस प्रकार है कि शायद किसी दिन गरीबों के लिए भी पान एक आवश्यकता बन जाएगी। *राजतरंगिणी* में उद्धृत राजा अनंत की कथा में उसके पद्मराज नाम के पानविक्रेता के अतिऋणी होने का वर्णन है, इससे यह भी संकेत मिलता है कि पान विक्रेता अच्छा मुनाफा कमा रहे थे।

प्राचीन चिकित्सा शास्त्र के ग्रंथों में पान-पत्ते और सुपारी के औषधीय गुणों का वर्णन है। अलबरूनी ने लिखा है कि भारतीय पान-पत्ते के साथ चूने का सेवन इसके पाचन में सहायक होने के कारण किया करते है। उसके अनुसार, सुपारी का सेवन दांत, मसूढ़े तथा पेट के लिए अच्छा है, क्योंकि इससे मजबूती आती है, किंतु इन तथाकथि चिकित्सीय गुणों के अतिरिक्त इसका सेवन उनमें ही प्रचलित था, जो इनके खर्च का वहन कर सकते थे। पान-सुपारी की बढ़ती लोकप्रियता की तुलना, कालांतर में, चाय, कॉफी और तम्बाकू जैसे नशीले आदतों की बढ़ती लोकप्रियता से की जा सकती है।

स्रोत: आचार्य, 1998: 48, 214; नंदी, 2000: 101-2

अनुदानों, (अधिकांशत: धन, स्वर्ण और रजत) का परिमाण मध्य चोल काल से काफी व्यापक होने लगा। इसी काल से विशिष्ट श्रेणी संगठनों का भी उद्‌भव हुआ, जैसे—'सलिया–नगरम' तथा 'सत्तुम परिशत् नगरम', जो वस्त्र व्यापार से जुड़े थे; शंकरप्पदी नगरम, जो घी एवं तेल आपूर्तिकर्त्ताओं का संगठन था; पारग नगरम्, जो सामुद्रिक व्यापारियों का संगठन था; तथा वनिय नगरम, तेल व्यापारियों का एक शक्तिशाली संगठन था।

शिल्प तकनीक में भी महत्त्वपूर्ण विकास हो रहा था। उदाहरण के लिए, हाथ से तेल पेरने वाले मिलों का स्थान बैलों से तेल पेरने वाले मिलों ने ले लिया था। वस्त्र उद्योग में भी नई तकनीकों की शुरुआत हुई थी। चल्लेकरे ताल्लुका से प्राप्त 11वीं सदी के एक अभिलेख में सूत कातने के यंत्र लगाने के लिए आवंटित किए गए स्थल का उल्लेख था। हस्तशिल्प उत्पादन के विभिन्न केंद्रों को चिन्हित किया जा सकता है, जो प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से बनी हुई एक अनवरत् परंपरा को रेखांकित करते हैं। कांचीपुरम, प्रमुख, कपास-उत्पादन क्षेत्र में स्थित होने के कारण, प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से सूती, वस्त्र उद्योग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केंद्र था, इसके चारों ओर वस्त्र उद्योग के कई छोटी-बड़ी इकाइयों का उदय हो रहा था, और ऐसी ही स्थिति तंजावुर और दक्षिण आरकॉट जिला के इलाके में देखी जा सकती है। 12वीं-13वीं शताब्दियों में बुनकरों और व्यापारियों ने भूमिक्रय में पर्याप्त निवेश किया और उनकी भूमिपति कुलीन वर्ग के रूप में नई भूमिका देखने को मिली।

दक्षिण भारत में नगरों, शासकों तथा मंदिरों के बीच एक घनिष्ट सम्बंध की कल्पना की जा सकती है। इन सम्बंधों की पृष्ठभूमि में चोल राज्य की बढ़ती शक्ति, वैष्णव और शैव भक्ति संतों की आपार लोकप्रियता तथा नगरीय परिदृश्य में मंदिर का सर्वाधिक धार्मिक संस्थानों के रूप में अभ्युदय, जैसे कारकों को उत्तरदायी माना जा सकता है। पल्लवकाल के अंतिम चरण और चोल काल के प्रारंभिक चरण में, ब्राह्मणों के स्थान पर मंदिरों को

मानचित्र 10.5: **तमिलनाडु के नगरीय केंद्र, ल. 1000 सा.सं. (सौजन्यः चम्पकलक्ष्मी, 1996)**

संरक्षण दिया जाना, एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कही जा सकती है। दक्षिण भारत के प्रारंभिक राजतंत्रों ने मंदिरों के निर्माण और उनको संरक्षण देने का कार्य शुरू किया, किंतु चोल शासकों ने व्यापक स्तर पर नए मंदिरों का निर्माण तथा प्राचीन मंदिरों के विस्तृत पुनरुद्धार की परियोजनाएं शुरू की। इनकी मंदिर निर्माण परियोजनाएं वास्तुशास्त्र के दृष्टिकोण से भी अत्यंत भव्य कही जा सकती हैं। तंजावुर और गंगईकोण्डचोलपुरम के भव्य मंदिर निर्माण परंपरा में राजनीति और धर्म के बीच उभरते समन्वय का व्यापक प्रमाण देखने को मिलता है।

तंजावुर, कृषि सम्पन्न कावेरी डेल्टा के दक्षिण-पश्चिम छोर, पर वदावरू नदी के दक्षिणी छोर पर स्थित है। गंगईकोण्डचोलपुरम इस डेल्टा के उत्तरी हिस्से में अवस्थित है। यहां पहले से तंजई नाम की बस्ती अवस्थित थी, किंतु राजराज-। के शासनकाल में इसका एक महान राजकीय एवं मंदिर केंद्र में रूपांतरण हो गया (चम्पकलक्ष्मी, 1996: 62-64)। वृहदेश्वर मंदिर नगर के केंद्र में स्थित मुख्य आकर्षण बना। इस मंदिर से सटा इलाका नगर का केंद्रीय हिस्सा कहा जा सकता है। इसी इलाके में नगर का कुलीन और पुरोहित वर्ग निवास करता था। इस केंद्रीय हिस्से से सटा इलाका नगर का बाहरी केंद्रीय हिस्सा था, जहां व्यापारी वर्ग जैसे प्रमुख नगरीय समुदाय निवास करते थे। नगर में चार बाजार (अंगादि) थे। मंदिर में घी, दूध, तथा फूलों की आवश्यकता थी, तथा साथ ही पुरोहित, देवदासी, संगीतज्ञ, धोबी, तथा चौकीदार जैसी सेवाओं की मांग भी थी। शाही परिवार में हुए जन्मोत्सवों का आयोजन मंदिर परिसर में विशेष रूप से किया जाता था। राजा के साथ-साथ शाही परिवार के अन्य सदस्यों के द्वारा भी मंदिर में भव्य अनुदान दिया जाता था। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि बृहदीश्वर मंदिर के प्रतिभा अलंकरण और चित्रकारी में प्रभावपूर्ण राजनीतिक अर्थों का निरूपण भी ढूंढा जा सकता है।

बृहदीश्वर मंदिर एक विशाल भवन निर्माण परियोजना थी, जिसे पूरा होने में 7-8 वर्ष लगा होगा। मंदिर के आर्थिक तंत्र के अधीन, क्षेत्र के विभिन्न समुदाय जुड़े हुए थे। अभिलेखों के अनुसार, चोल राज्य के विभिन्न हिस्सों से 600 कर्मचारी मंदिर की सेवा में नियुक्त किए गए थे। इसके रख-रखाव के लिए श्रीलंका के कुछ हिस्सों के साथ-साथ, दूर-दूर के गांवों का राजस्व सुनिश्चित किया गया था। वित्तीय संसाधनों का प्रबंधन कई गांवों की ब्राह्मण सभाओं के द्वारा संचालित किया जाता था। तंजावुर के किसान, गड़रिये और शिल्पकार इसकी कई मांगों की आपूर्ति में संलग्न थे।

इस काल के दूसरे प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय नगरीय तंत्र में कुडमुक्कु तथा पलाईयराई, के दो लगभग सटे हुए केंद्रों का नाम आता है, जो कावेरी डेल्टा के सर्वाधिक उर्वर क्षेत्र में अवस्थित थे (चम्पकलक्ष्मी, 1996: 331-55)। कुडमुक्कु एक धार्मिक केंद्र था, और चोलों की राजकीय संरचनाएं पलाइयराई में अवस्थित थीं। इन नगरद्वय का भी प्राचीनतर इतिहास है, किंतु चोल काल में इन्हें प्रसिद्धी मिली। कुडमुक्कु में अनेक मंदिर बनाए गए तथा इस स्थान की चर्चा आलवार और नायनमार संतों ने अपने भक्ति गीतों में की है। शाही परिवार के सदस्यों, अधिकारियों, व्यापारियों, शिल्पकारों तथा अन्य नागरिकों के अनुदानों से मंदिर, परिसरों का शीघ्र ही विकास होने लगा, तथा विशेष रूप से नागेश्वर मंदिर ने भव्य स्वरूप ग्रहण किया। कुडमुक्कु, प्रमुख व्यापार मार्गों के केंद्र में था। यह क्षेत्र पान-पत्ता और सुपारी की उन्नत फसल का क्षेत्र था, साथ में यह धातु, शिल्प और वस्त्र उद्योग का भी केंद्र था। चोलों का एक टकसाल भी शायद यहां था पलाइयराई का इतिहास 7वीं सदी से रेखांकित किया गया है, किंतु इसे ख्याति चोलों के एक प्रमुख प्रशासनिक केंद्र और आवासीय राजधानी के रूप में मिली।

राजनीतिक केंद्रों, उत्पादन केंद्रों (विशेषकर सूती वस्त्र निर्माण के लिए) तथा धार्मिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में मदुरई और कांचीपुरम की ख्याति, प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से रेखांकित की जा सकती है। पूर्व मध्ययुग में इनका आकार व्यापक हो गया और इनकी प्रसिद्धी भी बढ़ी। कांचीपुरम वस्त्र उद्योग और वाणिज्य का प्रसिद्ध केंद्र था, जिसे अभिलेखों में 'मानगरम' (बड़ा नगर) कहा गया है। यह शुरू में पल्लार नदी पर स्थित निरपेथ्यरू नामक बंदरगाह से जुड़ा हुआ था। बाद में इस नगर का मुख्य बंदरगाह मामलपुरम बना। भूमि अनुदानों के बाहुल्य और मंदिर से जुड़ी विशाल अर्थव्यवस्था कांचीपुरम के प्रभावक्षेत्र में व्यापक अभिवृद्धि हुई। अपनी आर्थिक भूमिका के साथ-साथ, कांचीपुरम का सांस्कृतिक महत्त्व भी था, जो बौद्ध धर्म, जैन धर्म, वैष्णव धर्म और शैव धर्म का केंद्र बन चुका था।

पूर्व मध्ययुगीन घटनाक्रमों का प्रतिबिम्ब जाति व्यवस्था में दृष्टिगोचर होता है। कर्नाटक (नंदी, 2000: 158-80) में गरवारे जैसी व्यावसायी जातियों का उदय हो रहा था। ये उत्तर से 10वीं-11वीं शताब्दियों में, दक्षिण में आकर बसने वाले व्यापारी थे। गौवड़ा और हेगड़े जैसे व्यावसायिक समुदायों का जातियों में रूपांतरण हो रहा था। गौवड़ा या गवुंडा, मूल रूप से कृषक और ग्राम मुखिया थे, जबकि हेगड़े, राजस्व अधिकारी। कायस्थों के अतिरिक्त प्रशिक्षित लेखाकारों में करणों का भी जाति के रूप में उदय हुआ।

पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत का एक महत्त्वपूर्ण आयाम, इडंगई (वाम हाथ) और वडंगई (दक्षिण हाथ) जाति समूहों में जाति व्यवस्था का एक अतिरिक्त विभाजन भी था। दक्षिण हाथ समूह में आने वाली जातियां अधिकांशतः

अन्यान्य परिचर्चा

पूर्व मध्यकालीन तमिलनाडु के बुनकर एवं बुनाई कार्य

विजय रामास्वामी के द्वारा 10वीं तथा 17वीं शताब्दियों के बीच दक्षिण भारत के बुनकरों पर किए गए अध्ययन के आधार पर, उस काल के वस्त्र उद्योग केंद्रों की तुलना वर्तमान समय से सम्बंधित केंद्रों के साथ की जा सकती है। पूर्व मध्यकालीन तमिलनाडु में 'सलियार' तथा 'कैईक्कोलार', दो सबसे महत्त्वपूर्ण बनुकर समुदाय थे। चोल काल में ऐसा प्रतीत होता है कि कैईक्कोलारों के द्वारा बुनाई कार्य के साथ-साथ, सैन्य सेवाएं भी दी जा रही थीं। सभी नगरों में बुनकरों का पृथक आवासीय क्षेत्र हुआ करता था। यह हिस्सा सामान्य रूप से मंदिर परिसर की परिधि से सटा होता था, जैसा की तंजावुर में देखा जा सकता है।

साहित्यिक तथा पुरालेखीय स्रोतों में वस्त्रों के प्रकार और वस्त्र निर्माण में प्रयुक्त तकनीकों की जानकारी पाई जाती है। मसलिन (या सेल्ला) तथा चिंट्ज (या विचित्र) की मांग काफी अधिक थी। लाल कुसुम्भ, नील तथा मैदा का वनस्पतीय रंगों के रूप में इस्तेमाल होता था। 12वीं सदी के द्वारा दक्षिण भारत में ब्लॉक छपाई की तकनीक प्रचलित हो चुकी थी। उर्ध्वाधर और क्षैतिजीय दोनों किस्मों में करघों का प्रयोग होता था, ऐसा प्रतीत होता है कि 11वीं सदी के करघों की प्रतिकृतियों का भी प्रचलन हो चुका था। वस्त्र उद्योग काफी संगठित था और आंतरिक तथा बाह्य व्यापार में वस्त्र महत्त्वपूर्ण थे। बुनकरों के द्वारा स्थानीय मेलों में वस्त्र बेचे जाते थे, किंतु बड़े पैमाने पर वस्त्र व्यापार पर शक्तिशाली श्रेणी संगठनों का नियंत्रण था। बुनकरों के श्रेणी संगठनों को, समय पट्टागार, 'सलीय समयांगल' तथा 'सेनिय पट्टागार' जैसे विभिन्न नामों से जाना जाता था। रामास्वामी ने दक्षिण भारत में बुनकरों द्वारा किए गए स्थान परिवर्तनों पर भी प्रकाश डाला है। ऐसे स्थानांतरण मुख्य रूप से विजय नगर काल (15वीं –16वीं शताब्दियों) में हुए होंगे, जो बुनकर उद्योग का उत्कर्ष काल था।

चोलों ने अपने राज्य में बुनकर उद्योग के विकास पर विशेष ध्यान दिया और इस उद्योग से राजस्व उगाही भी की। अभिलेखों में 'तरीईरई' या 'तरीकदमई' (करघा कर) जैसे करों का उल्लेख है। 'अच्छुतरी' (प्रतिकृति करघों पर लगाया गया कर), 'तरी पुडवई' (कपड़ों पर लगाया गया कर), 'पंजुपीली' (सूती धागों पर कर), 'परूट्टी कदमई' (कपास पर लगा कर), 'नुलयम' (सूती धागों पर लगाया गया कर) तथा 'काईबन्ना' और 'बन्निगे' (रंगरेजों से लिया जाने वाला कर)। 'पटडई नुलयम', रेशम धागों पर लगाया जाने वाला कर था। दूसरी ओर नए इलाके में एक नियत समयावधि के लिए बुनकरों को करों में छूट या कर-मुक्ति के माध्यम से उन्हें प्रोत्साहन दिए जाने के भी प्रमाण हैं। कुलोतुंग-I की एक उपाधि–सुगम तविर्त चोलन (सीमाशुल्क हटाने वाला चोल) थी। यह उसके द्वारा व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए सीमा शुल्क समाप्त करने का संकेत देता है।

पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत में बुनकरों के द्वारा मंदिरों को प्रदत्त अनुदानों से उनकी सुदृढ़ सामाजिक–आर्थिक स्थिति और मंदिरों की दृष्टि में उनके सम्मानजनक हैसियत का ज्ञान होता है। इन अनुदानों में धन, मवेशी (गाय, भेड़) तथा वस्त्र या भूमि शामिल थे। अनुदान, मंदिर निर्माण, प्रतिभाओं की स्थापना सतत् दीप प्रज्जवलन, सिले हुए परिधान तथा उत्सवों के आयोजन के लिए दिए गए थे। अपराधों के प्रायश्चित के उद्देश्य से भी कुछ अनुदान दिए जाने के उदाहरण भी हैं। मंदिरों और ग्राम सभाओं के द्वारा बनुकरों को उनकी सेवा के बदले भूमि दिए जाने के भी दृष्टांत हैं।

बुनकरों के द्वारा भूमिक्रय में निवेश किया जा रहा था और वे सूद पर धन भी लगाते थे। उत्तम चोल के मद्रास संग्रहालय ताम्रपत्रों में राजा के द्वारा बुनकरों के समुदाय के पास कांचीपुरम स्थित उरगम के मंदिर में आयोजित होने वाले किसी उत्सव के लिए धन जमा किए जाने का उल्लेख है। कुछ बुनकरों को मंदिर प्रबंधन का दायित्व दिया गया था और मंदिर के वित्त का हिसाब रखने का भी। इन महत्त्वपूर्ण दायित्वों के निर्वाह के बदले उनसे कर नहीं लिया जाता था।

स्रोत: रामास्वामी, 1985

कृषिकार्यों से जुड़ी थी। वाम हाथ जातिगत समूह अधिकांशत: शिल्प और व्यापार से सम्बद्ध समुदाय थे। शुरू में इनके बीच संघर्ष के तत्व नहीं थे, जो कालांतर में विकसित होने लगा।

व्यापार और व्यापारी

पूर्वी तट के बंदरगाहों पर एकाधिक व्यापार मार्गों का मिलन देखा जा सकता है। दक्षिण भारत के पल्लवों के काल में मामल्लपुरम का विकास हुआ तथा चोल काल में नागपट्टिनम को प्रसिद्धी मिली। कावेरीपट्टिनम भी महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था, लेकिन 11वीं सदी से नागपट्टिनम की प्रधानता अधिक हो गई। तिरूप्पलईवनम और मयिलर्प्पिल तटीय नगर थे, जो कांचीपुरम के उत्तरी हिस्सों के लिए महत्त्वपूर्ण थे। कोवलम और तिरुवदन्दई मामल्लपुरम के उत्तर में अवस्थित थे, जबकि सदरस और पुडुपट्टिनम, उसके दक्षिण में। पल्लवपट्टिनम, कुड्डालोर,

तथा तिरूवेंदीपुरम, अन्य महत्त्वपूर्ण तटीय नगर थे। इन बंदरगाह नगरों में सीमा शुल्क का दायित्व मुख्य रूप से श्रेणी संगठनों के व्यापारियों का था। कुईलॉन (कोल्लम), पश्चिमी तट का प्रमुख बंदरगाह था, जहां मणिग्रामम्, श्रेणी संगठन, विदेशी व्यापारी और शासक के बीच शुल्क, कारखाने तथा व्यापारियों की सुरक्षा जैसे विषयों पर की गई संधि का अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त हुआ है।

दक्षिण भारत के बंदरगाह और नगरीय बाजार केंद्र एक समृद्ध संक्रमित व्यापार और लंबी दूरी के प्रत्यक्ष व्यापार में संलग्न थे। आवश्यकता की सामग्रियों और मूल्यवान वस्तुओं का व्यापार समान रूप से हो रहा था। 11वीं शताब्दी के अभिलेखों में व्यापार हो रही सामग्रियों में–चावल, दाल, तिल, नमक, गोल मिर्च, तेल, वस्त्र, पान-पत्ता, पूगी फल (सुपारी) तथा धातुओं की लंबी सूची उद्धृत है। 12वीं शताब्दी के अभिलेखों में सामग्रियों की संख्या में वृद्धि स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जैसे—गेहूं एवं अन्य अनाज, दाल, मूंगफली, तिल, गुड़, चीनी, कपास, जीरा, सरसों, धनिया, अदरख, हल्दी, हाथी दांत और रत्नों का उल्लेख है। शिकारपुर (शिमोगा जिला, कर्नाटक) के 12वीं सदी के एक अभिलेख में यह वर्णन है कि किस प्रकार स्थल मार्ग और जल मार्ग, दोनों मार्गों का प्रयोग व्यापारियों के द्वारा नौभारों के आवागमन के लिए किया जा रहा था, जिनमें हाथी, घोड़े, चंदन की लकड़ी, कपूर, कस्तूरी, केसर तथा बहुमूल्य रत्न व यूनस्टोन, माणिक्य, हीरे, मोती, लाजव्रत, ऑनिक्स, टोपाज तथा मानिक, जैसे सामग्रियों का व्यापार शामिल था। पिरनमलाई (रामानाथपुरम जिला, तमिलनाडु) में अगर की लकड़ी, चंदन की लकड़ी, रेशम, गुलाबजल, कपूर, तेल, इत्र, हाथी तथा घोड़ों के आयात का उल्लेख है। इनमें से बहुत-सी वस्तुओं का आयात दक्षिण पूर्व एशिया से किया जा रहा था। घोड़ों का अरब से, रेशम चीन से, हाथी म्यानमार से तथा पश्चिम एशिया से गुलाबजल आयतित हो रहे थे।

चोल शासकों ने अनेक प्रकार से व्यापार को प्रोत्साहित किया, जिनमें 'ऐरिवीरपट्टनों' की संस्थापना भी शामिल है। ये सुरक्षित वाणिज्यिक नगर थे, तथा जिनका व्यापार के महत्त्वपूर्ण केंद्रों के रूप में विकास हुआ। 1080 सा.सं. के दशक में श्रीलंका के विरुद्ध तथा 1025 और 1070 के दशकों में मलेशिया द्वीप समूह और इंडोनेशिया द्वीप समूह के विरुद्ध चोलों के सैन्य अभियान, मात्र संपदा लूटने के लिए नहीं बल्कि व्यापारिक केंद्रों पर नियंत्रण के उद्देश्य से चलाए गए अभियान थे। श्रीलंका में चलाए गए अभियान का एक उद्देश्य मनतई (मन्नार) जैसे सामुद्रिक व्यापार के केंद्र और मन्नार की खाड़ी की समृद्धशाली मोती उत्पादन पर नियंत्रण प्राप्त करना था।

दक्षिण भारत और दक्षिण-पूर्ण एशिया के बीच बढ़ते हुए सम्बंध का दायरा अभिलेखों और प्रतिभाओं में प्रतिबिम्बित होता है (एब्रहैम, 1988: 29-31)। राजेन्द्र चोल-I के तंजोर अभिलेख में मडमलिंगम् नाम के एक राज्य का जिक्र है, जिसे क्रा भू-संधि (थाईलैंड और मलेशिया के बीच का स्थल संयोजक) के निकट ताम्ब्रलिंगा से चिन्हित किया जा सकता है, जो सामुद्रिक व्यापार मार्ग का एक केंद्र है। तकुआपा से बंनडन की खाड़ी को जोड़ने वाला एक महत्त्वपूर्ण मार्ग था। चौथी शताब्दी से यहां पर हिंदू प्रतिमाओं की प्राप्तियां दर्ज की गई हैं। वियेंग स्रा में दो चोल कालीन प्रतिमाएं और जईया में चोल शैली की एक सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुई है। तकुआपा नदी के मुहाने पर स्थित को काओ

बोरोबुर का स्तूप, जावा
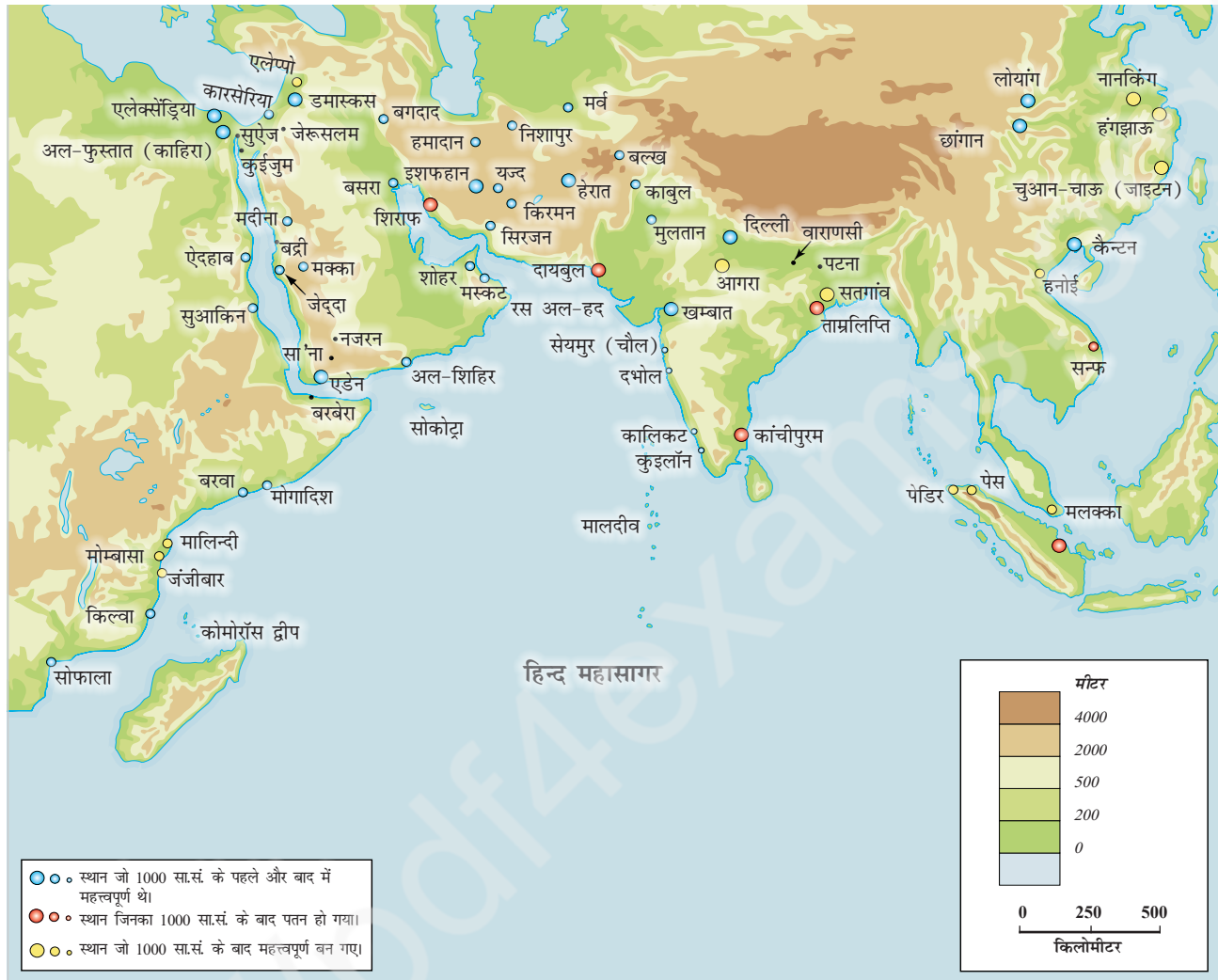
मानचित्र 10.6: **हिन्द महासागर व्यापार तंत्र में बंदरगाह और नगर ल. 600-1500 (सौजन्य: चौधरी, 1985)**

द्वीप से बड़ी संख्या में शीशे की वस्तुओं और मृद्भाण्डों की प्राप्ति हुई है। इनमें कई सामग्रियां चीन की थीं, किंतु साथ में पश्चिम एशिया और भारतीय मूल की भी।

दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम तथा पूर्वी एशिया के कुलीन समुदायों में सम्बंध था। वृहत्तर लीडन अनुदान में संदर्भ आया है कि श्रीविजय और कदारम के शासकों के द्वारा नागपट्टिनम में एक बौद्ध विहार के निर्माण के लिए अनुदान दिया गया था। राजराज ने भी इसी बौद्ध विहार के लिए भरपूर समर्थन दिया था। नागपिट्टनम के मंदिरों में स्थापित देवताओं के प्रति श्रीविजय और कदारम के शासकों द्वारा समर्पित किए गए अनुदानों की पर्याप्त चर्चा अभिलेखों में उद्धृत है। खमेर शासक ने राजेन्द्र-I को भेंट दिए थे। 1015 सा.सं. में राजराज चोल ने चीन के लिए एक व्यावसायिक प्रतिनिधिमंडल रवाना किया था। चीनी स्रोतों में चोलों के द्वारा प्रेषित 1015 से 1077 के बीच के चार प्रतिनिधिमंडलों का वर्णन उपलब्ध है। इनके साथ हाथी दांत, गैंडा के सींग, मोती, लोबान, गुलाबजल, पुटयक, कपूर, जरी, अपारदर्शी शीशे तथा आलुबुखारा भी भेंट स्वरूप भेजे गए थे। इन सामग्रियों की चीन में व्यापक मांग थी, इनमें से कुछ पश्चिम एशिया और कुछ भारत के थे।

जे.सी. वैन लीयुर ([1934], 1955: 133-37, 197-200) के द्वारा प्रस्तावित सिद्धांत में भारत-दक्षिण पूर्व एशिया के बीच का व्यापार मुख्य रूप से छोटे-फेरीवालों के हाथों में था, उन प्रमाणों के समक्ष खरा नहीं उतरता, जिससे निर्विवादित रूप से यह सिद्ध होता है कि पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत में विशाल श्रेणी संगठनों का अस्तित्व था, जिनका न केवल आंतरिक व्यापार, बल्कि लंबी दूरी के व्यापार, विशेष रूप से दक्षिण पूर्व एशिया पर भी

पर्याप्त नियंत्रण था। 10वीं सदी के बाद ये व्यापारियों के ये श्रेणी संगठन काफी प्रभावशाली हो चुके थे। अभिलेखों में इनको 'समया' की संज्ञा से संबोधित किया गया है, जिसका तात्पर्य समझौते या अनुबंध के आधार पर स्थापित संगठनों से है। इन संगठनों के सदस्य एक विशिष्ट आचार संहिता का अनुपालन करते थे, जिसे 'बननजु-धर्म' कहा गया है। अय्यवोले (पांच शतक) सर्वाधिक शक्तिशाली श्रेणी संगठन था, जिसे 'ऐन्नुरूवर' के नाम से भी जाना जाता था। मूलरूप से इसकी स्थापना कर्नाटक के ऐहोले में हुई, किंतु शीघ्र ही इसका अंतर्क्षेत्रीय प्रभाव स्थापित हो गया। तमिल क्षेत्र में सक्रिय मणिग्रामम, दूसरा अत्यंत शक्तिशाली व्यापारी श्रेणी संगठन था, जो प्रायः 13वीं शताब्दी में अय्यवोले में सम्मिलित हो गया। श्रेणी संगठनों की स्थापना व्यवसाय और आर्थिक हितों को केंद्र में रखकर हुई थी, जिनकी सदस्यता जातिगत या धर्मगत विभाजनों को काटती थी। बुनकरों जैसे शिल्प विशेषज्ञों के संगठनों तथा व्यापारी संगठनों के बीच निकट का सम्बंध था। अंजुवन्नम, विदेशी व्यापारियों का संगठन था, जिसने केरल तटीय क्षेत्र से शुरुआत कर, अन्य क्षेत्रों में अपनी पहुंच बनाई।

श्रेणी संगठनों के अधिकांश अभिलेख, दक्षिण भारत से प्राप्त हुए हैं, किंतु कुछ अभिलेख, श्रीलंका और पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में भी मिले हैं। (एब्रहैम, 1988: 29-33, 60)। श्रीलंका के पडविया से एक अभिलेख मिला है, जिसमें अय्यवोले का उल्लेख है। इस अभिलेख में अय्यवोले की प्रशस्ति गाथा है, तथा इसके विभिन्न घटकों का वर्णन किया गया है। 1088 सा. सं. में सुमात्रा के लोबो टोएवा से निर्गत एक अभिलेख में भी इस श्रेणी संगठन का वर्णन मिलता है।

संभवतः मणिग्रामम का थाईलैंड के तकुआपा नामक स्थान पर एक केंद्र था। इस तथ्य की पुष्टि इसके नजदीक ही प्राप्त हुई, 9वीं सदी के एक अभिलेख से, साथ में यहां मिली पत्थर की कुछ भारतीय प्रतिभाओं से जो किसी मंदिर से सम्बंधित लगती है, होती है। पुरालेख के अनुसार, किसी तालाब को सशस्त्र सुरक्षा प्रदान की गई थी, जिससे यह भी संकेत मिलता है कि व्यापारियों के साथ सैन्य प्रहरी भी रहते थे। अभिलेख में पल्लवशासकी की उपाधि उद्धृत है तथा यह संकेत मिलता है कि तमिल व्यापारियों के आवास के लिए उनकी एक स्वायत्त बस्ती थी। चीन के फूजियान प्रांत के क्वानझाऊ नामक स्थान से 300 हिंदू प्रतिमाएं एवं अन्य उपादान मिले हैं। यहीं तमिल-चीनी भाषाओं का एक द्विभाषीय अभिलेख भी मिला है। इस तथ्य से वहां तमिल व्यापारियों की एक कालोनी की संभावना का संकेत मिलता है, जो 13वीं/14वीं शताब्दियों के किसी श्रेणी संगठन के सदस्य हो सकते हैं।

12वीं शताब्दी में चोल शक्ति के पतन के बाद दक्षिण भारत के श्रेणी संगठन स्वायत्त होने लगे और राजकीय संरक्षण पर आश्रित नहीं रहे। कारवां व्यापारियों के समूहों के साथ सशस्त्र सुरक्षा की व्यवस्था रहती थी। इन श्रेणी संगठनों पर लगाया जाने वाला शुल्क पूर्व-निर्धारित होता था। इनके द्वारा चित्तिरामेली तथा पंडिनेन विषयों के साथ (जो शायद कृषकों की

12वीं शताब्दी का विष्णु मंदिर, अंगकोर वाट, कम्बोडिया, भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच सांस्कृतिक सम्बंध का एक उदाहरण; मंदिर का दृश्य (ऊपर), बाएं); महाभारत का एक उत्कीर्ण दृश्य (नीचे दाएं); अपसराएं (ऊपर)

अन्यान्य परिचर्चा

ऐहोले और अय्यवोले

पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत के श्रेणी संगठनों की जानकारी का प्रमुख स्रोत अभिलेखों में उपलब्ध है। इनमें से अधिकांश पत्थरों पर मिलते हैं, और कुछ ताम्रपत्रों पर। पत्थरों पर उत्कीर्ण अभिलेख ज्यादातर मंदिरों में मिले हैं और सामान्यतया उनमें श्रेणी संगठन के सदस्यों के द्वारा दिए गए अनुदानों को रिकार्ड किया गया है। कुछ में उनके द्वारा सम्पादित सार्वजनिक कार्यों की सूचना मिलती है, अथवा शासकों और व्यावसायियों के बीच वाणिज्यिक नगरों के निर्माण को लेकर हुए अनुबंधों का उल्लेख मिलती है। श्रेणी संगठनों के अभिलेखों में कई बार श्रेणी संगठन के लिए प्रशस्ति लिखा होता है, जिनसे उनके और राज्य एवं अन्य संगठनों के बीच के संबंधों तथा श्रेणी संगठनों के सदस्यों के धार्मिक सम्बंधों पर प्रकाश डाला होता है।

ऐहोले, कर्नाटक के बीजापुर जिले में, उर्वर रामचूर दोआब में महाप्रभा नदी के किनारे स्थित है, जो चालुक्य कालीन भव्य मंदिरों के कारण जाना जाता है। अय्यवोले नाम के श्रेणी संगठन की उत्पत्ति इसी नगर से हुई प्रतीत होती है, जिसकी स्थापना शायद इसी स्थान के ब्राह्मण व्यापारियों के एक समूह के द्वारा लगभग आठवीं शताब्दी में हुई थी। इस श्रेणी संगठन का उल्लेख करने वाला सबसे प्राचीन अभिलेख ऐहोले के लड़खान मंदिर से प्राप्त हुआ है। 8वीं से 12वीं शताब्दियों के बीच के ऐहोले के अन्य बहुत से अभिलेखों में भी इसका उल्लेख है। ऐहोले नगर को अय्यवोले, आर्यपुरा तथा अहिच्छत्र जैसे अन्य नामों से भी जाना जाता था। अय्यवोले श्रेणी संगठन के सदस्यों का उल्लेख, ''अहिच्छत्र नगर, रूपी महान स्त्री, के श्रृंगार के आभूषण'' अथवा ''भव्य अय्यवोले नगर के 500 स्वामियों'' जैसे उपादानों से हुआ है। अय्यवोले से सम्बंधित अभिलेखीय संदर्भ 8वीं/9वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के बीच में मिलते हैं। विस्तृत होते वाणिज्य और नगरीय बस्तियों की पृष्ठभूमि में, पूर्व मध्ययुग के दौरान, इस श्रेणी संगठन की गतिविधियां भी बढ़ीं। अय्यवोले के अत्यंत विस्तृत कार्यक्षेत्र (कर्नाटक, तमिलनाडु, दक्षिणी आंध्रप्रदेश तथा केरल के कुछ हिस्से), को देखते हुए अक्सर यह प्रश्न उठता है कि क्या यह अनेक इकाइयों के एक ढुल-मुल संघ के रूप में कार्य करता था अथवा उसकी एक केंद्रीकृत संगठनात्मक संरचना थी। इस विषय में अपार मत भिन्नता मौजूद है। मीरा एब्रहैम यह मानती हैं कि इस संगठन को इकाइयों के एक संघ के रूप में देखा जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक इकाई काफी व्यापक क्षेत्रों में कार्य करती थीं।

अय्यवोले के विविध शासकीय कुलीनों के साथ सम्बंध थे तथा अनेकों शासकीय संरक्षण भी प्राप्त थे। चोल शासकों का इस श्रेणी संगठन के साथ निकट का सम्बंध था। परम्परा के अनुसार, पाण्ड्य शासकों के द्वारा अय्यवोले के सदस्य नट्टुकोहई चट्टियारो को कावेरी पट्टिनम से अपने क्षेत्र में स्थानांतरित होने के लिए आमंत्रित किया था। अय्यवोले के साथ अन्य लघुत्तर व्यापारी संस्थाओं यथा वलनजियार का सम्बंध था, साथ ही अग्रहारों और अग्रहार ब्राह्मणों से भी सम्बंध था।

स्रोत: एब्रहैम, 1988

सहकारी समितियां थी तथा जिनका कृषि उत्पादन और विनिमय पर नियंत्रण था।) मंदिरों को दिए गए संयुक्त अनुदानों का उल्लेख है।

धार्मिक परिदृश्य

(The Religious Sphere)

पूर्व मध्ययुगीन भारत में धार्मिक विकास की प्रक्रिया, पूर्व की शताब्दियों की कड़ी प्रतीत होती है, जिसकी पुनर्रचना, धार्मिक ग्रंथों, अभिलेखों, वास्तुकला और प्रतिमाओं के अवशेषों के आधार पर की जा सकती है। लोकप्रिय स्तर पर, मंदिरों में भक्ति उपासना और तीर्थाटन को प्रमुखता मिली। शिव, शक्ति और विष्णु से जुड़े सम्प्रदाय अत्याधिक महत्त्वपूर्ण बन चुके थे। तांत्रिक उपासना पद्धति का प्रभाव हिंदू, बौद्ध और कुछ हद तक जैन परमंपराओं पर भी पड़ रहा था। जहां हिंदू सम्प्रदाय संपूर्ण उपमहाद्वीप में फैले हुए थे, बौद्ध तथा जैन धर्म कुछ विशेष क्षेत्रों में संकुचित कहे जा सकते हैं। जैन धर्म का पश्चिम भारत और कर्नाटक में मजबूत पकड़ बना रहा, वहीं बौद्ध धर्म का सर्वाधिक प्रभाव पूर्वी भारत और कश्मीर पर रहा। प्राचीन नाग सम्प्रदायों का अस्तित्व कश्मीर के नीलमत नाग सम्प्रदाय जैसे रूप में देखा जा सकता है।

विभिन्न संप्रदायों के बीच के सम्बंध, एक निश्चित स्तर तक सहकारिता और सह-अस्तित्व की ओर प्रवृत्ति दिखा रहे थे। उदाहरण के लिए, *भागवत पुराण* में जैन तीर्थंकर ऋषभ को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया। पहले कहा जा चुका है कि कई पुराणों में बुद्ध की गिनती विष्णु के अवतारों में की जा चुकी थी। जयदेव के *गीत-गोविंद* के एक छंद में बुद्ध का केशव (विष्णु) के 9वें अवतार के रूप में उल्लेख किया गया है। तंजोर के बृहदीश्वर मंदिर के मुख्य प्रवेशद्वार पर दाहिने हिस्से में बैठे हुए बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा स्थापित की गई थी तथा बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमाएं यत्र-तत्र दीवारों पर उत्कीर्ण देखी जा सकती हैं, किंतु दूसरी ओर, इन धार्मिक पंथों और सम्प्रदायों के बीच के संघर्ष की स्थिति को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, इनमें दक्षिण भारत में शैव सम्प्रदायों एवं जैन-धर्म के बीच का संघर्ष एक ज्वलंत उदाहरण है। ऐसे संघर्ष कई बार प्रतिमाशास्त्रों में निरूपित हुए हैं, विशेषकर जब प्रतिद्वंद्वियों को पद्दलित करती हुई प्रतिमाएं देखने को मिलती हैं।

कई पूर्व मध्ययुगीन स्थलों पर एकाधिक धार्मिक संरचनाएं बिल्कुल सटकर बनी हुई देखी जा सकती हैं। एलोरा इस संदर्भ में सबसे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है (औरंगाबाद जिला, महाराष्ट्र)। यहां छठी सदी से ही शिल्पकारों के द्वारा दक्षिणी हिस्से में लावा के ब्लास्ट पत्थरों पर बौद्ध प्रतिमाएं तथा उत्तरी हिस्से में हिंदू प्रतिमाओं को उत्कीर्ण किया जा रहा था। एलोरा के मंदिर में शायद कैलाशनाथ मंदिर सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसे 8वीं-9वीं सदी में निर्मित किया गया था। लगभग इसी समय उत्तरी हिस्सों में जैन प्रतिमा और संरचनाएं बनाई गई थीं। इसी प्रकार बादामी (बागलकोट जिला, कर्नाटक) गुफाओं में हिंदू, बौद्ध और जैन प्रतिमाओं को सन्निकट की गुफाओं में देखा जा सकता है।

पूर्व मध्ययुग में ही उपमहाद्वीप में इस्लाम का प्रवेश हुआ। पश्चिम भारत के विभिन्न हिस्सों में अरब व्यापारियों के स्थायी रूप से बसने के संदर्भ उपलब्ध हैं। 13वीं शताब्दी से ऐसे पुरालेखीय तथा साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं, जो यह बतलाते हैं कि इन नगरों और बंदरगाहों में रहने वाली मुस्लिम जनसंख्या केवल अरब व्यापारियों या जहाजों के मालिकों की नहीं थी, बल्कि स्थानीय तेली और वास्तुकार मुस्लिम समुदायों का भी अस्तित्व था। धनाढ्य व्यापारियों द्वारा मस्जिद बनवाने के अभिलेखीय प्रमाण भी पर्याप्त रूप से उपलब्ध हैं, किंतु दिल्ली सल्तनत की स्थापना के सदियों बाद महाद्वीप में मुस्लिम आबादी महत्त्वपूर्ण रूप से बढ़ी है।

धार्मिक संस्थानों को समाज के विविध तबकों का संरक्षण मिल रहा था। कुछ मंदिरों को दिया जाने वाला राजनीतिक संरक्षण, विशेषकर 10वीं सदी के पश्चात्, भव्य शाही मंदिरों का रूप ग्रहण करने लगा। दरअसल, क्षेत्रीय संस्कृतियों के अभ्युदय में धार्मिक संप्रदायों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। क्षेत्रीयता को इन शताब्दियों तथा आने वाली शताब्दियों में स्पष्ट अस्तित्व प्राप्त होने लगा। उदाहरण के लिए, जैसा कि डेविड लॉरेन्जेन ([1999], 2006) ने तर्क दिया है कि हिंदू अस्मिता ने मध्यकाल में स्वरूप ग्रहण किया, जिस काल में इस्लाम के साथ उसका सह-अस्तित्व रहा। चूंकि संपूर्ण उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के धार्मिक इतिहासों का विस्तृत विवरण यहां प्रस्तुत किया जाना संभव नहीं है, इनमें से केवल कुछ का सार गर्भित संदर्भ दिया जा रहा है, जिसके बाद दक्षिण भारत में वैष्णव एवं शैव भक्ति के विकास का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पूर्व मध्ययुग में बौद्ध धर्म

श्वैन ज़ंग ने मगध क्षेत्र के कई विशाल और समृद्ध बौद्ध विहारों का वर्णन किया है, जिनमें नालंदा, तिलोदक तथा बोध गया के विहार भी सम्मिलित हैं, किंतु दूसरी ओर, अन्य हिस्सों में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े बौद्ध विहारों का भी उल्लेख किया है। इस चीनी यात्री ने नालंदा में योगाचार दर्शन की शिक्षा के लिए पांच वर्ष नालंदा में बिताए थे। यीजिंग ने भी बोध-गया और तिलोदक, नालंदा, बिहार की यात्रा की थी, जिसके विषय में उसने कहा कि वहां कोई 1000 बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। श्वैन ज़ंग ने समकालीन बौद्ध विहारों का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया है। उसने इनकी उत्कृष्ट बनावटों की चर्चा की है तथा इनके प्रत्येक भाग में तीन मंजिले मीनारों के विषय में वर्णन किया है, दरवाजों-खिड़कियों के सघन चित्रांकन की चर्चा की है तथा उनके कम ऊंची दीवारों पर लिखा है। इन विहारों के मध्य में ऊंचे और विशाल सभा कक्षों का भी उल्लेख है और साथ में कई मंजिलों वाले चैम्बरों, विभिन्न ऊंचाई वाले बुर्जों तथा पूर्व दिशा में खुलने वाले द्वारों का भी उल्लेख किया है। साहित्यिक स्रोतों तथा अभिलेखों में मध्ययुगीन विहारों की भौगोलिक स्थिति का विवरण मिलता है, तथा इनमें से कई विहारों के पुरावशेषों को चिन्हित भी किया जा चुका है।

सांची और भारहुत के बौद्ध विहार 12वीं-13वीं शताब्दियों तक फलते-फूलते रहे। *चचनामा* में उत्तर-पश्चिम के सिंध क्षेत्र में समृद्धशाली बौद्ध परंपरा का उल्लेख किया गया है। कश्मीर में श्रीनगर के जयेन्द्र विहार का तथा परिहास पुर के राजा विहार का 11वीं सदी में पतन हो चुका था, किंतु अनुपमपुरा के रत्नगुप्त विहार और रत्न-रश्मि विहार, 11वीं और 12वी शताब्दियों में भी अस्तित्व में रहे। बंगाल और बिहार के पाल, बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। उनके राज्य में नालंदा, ओदन्तपुर (नालंदा के निकट), विक्रमशिला (मांगलपुर जिला, बिहार में अंतिचक नामक स्थान से चिन्हित), तथा सोमपुरी (पहाड़पुर में स्थित) जैसे महाविहारों का उन्नयन काल था। इन केंद्रों के साथ तिब्बती बौद्ध भिक्षुओं का गहरा सम्बंध था। ओडिशा में ललितगिरि और रत्नगिरि से पूर्व मध्ययुगीन बौद्ध विहारों की स्थापना हुई

प्राथमिक स्रोत

प्रज्ञादेव को श्वैन ज़ंग का एक पत्र

चीन लौटने के पश्चात् श्वैन ज़ंग ने छांगान के जुएन विहार में रहकर संस्कृत में लिखे बौद्ध ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद करने के कार्य में स्वयं को व्यस्त कर लिया। इसी दौरान उसने कुछ वैसे भारतीय बौद्ध भिक्षुओं से पत्राचार भी किया, जिनसे भारत यात्रा के दौरान उसकी मुलाकात हुई थी। प्रज्ञादेव इनमें से एक था, जो बोध गया के महाबोधि विहार का एक वरिष्ठ भिक्षु था। प्रज्ञादेव ने श्वैन ज़ंग को अपनी लिखी ऋचाओं की एक पुस्तक और सूती कपड़े के दो थान भेंट की थी। उसने चीन भिक्षु को आश्वासन भी दिया था कि यदि उन्हें बौद्ध ग्रंथों के प्रतिलिपियों की आवश्यकता होगी, तो वह उनकी सहायता करेगा। 654 सा.सं. में श्वैन ज़ंग ने, जो पत्रोत्तर दिया वह, यहां प्रस्तुत है (निश्चित रूप से बोध गया में, उस काल में ऐसी व्यवस्था उपलब्ध होगी, जो चीनी भाषा का अनुवाद कर सके।):

महान थांग साम्राज्य के भिक्षु श्वैन ज़ंग महाबोधि विहार के आदरणीय त्रिपिटकाचार्य प्रज्ञादेव को निवेदनपूर्वक यह संबोधित करते हैं –

हे परम श्रद्धेय, हम लोगों की भेंट को एक लंबा अर्सा गुजर चुका है और इस दौरान आपके प्रति मेरी जिज्ञासा और श्रद्धा और भी बढ़ी है। हम दोनों के बीच की संवादहीनता ने इस पिपासा को और भी जगा दिया है। भिक्षु धर्मदीर्घ आपके पुत्र के साथ यहां पहुंचे, जिससे मुझे अपार हर्ष हुआ। साथ में उत्कृष्ट सूतीवस्त्र के दो थान और श्लोकों की एक पुस्तिका भी थी। बल्कि मैंने लज्जित-सा महसूस किया, क्योंकि मेरी पुण्य-पिपासा इस प्रकार की दया के योग्य नहीं है। अब मौसम गर्म होने लगा है और मुझे मालूम नहीं है कि पत्र लिखने के बाद आप कैसे हैं। मैं अनुमान लगा सकता हूं कि किस प्रकार आपने सभी विचारधाराओं के समन्वय को स्थापित करने का प्रयास किया, किस प्रकार आपने सभी धर्म ग्रंथों पर मनन-चिंतन किया है, जिज्ञासुओं को सही मार्गदर्शन प्रदान किया है, तथा धर्मान्ध उपदेशकों को सबक सिखाया है। आप राजन्यों और कुलीनों के समक्ष भी अपनी मर्यादा को कायम रखते हैं तथा प्रतिभावान महानुभवों की महासभा में भी स्वच्छंद रूप से प्रशंसा और निन्दा करने में सक्षम हैं। ये सभी गुण आपके अत्यंत सुखद व्यवहार में चार चांद लगाते हैं। जहां तक मेरा प्रश्न है, मेरी शारीरिक बल के पतन से मेरी सीमाएं और गंभीर होती जा रही हैं। ऐसी परिस्थिति में महाशय, आपका स्मरण मेरी जिज्ञासाओं को और भी जागृत करता है।

आपके देश में प्रवास के दौरान मुझे आप जैसे महानुभाव के दर्शन करने का अवसर मिला। कान्यकुब्ज की सभा में राजन्यों और हजारों श्रद्धालुओं के समक्ष हमें वाद-विवाद करने और अपने-अपने मतों को रखने का अवसर मिला। जहां हम लोगों में से कुछ ने महायान विचारों की व्याख्या की, वहीं दूसरों ने हीनयान के उद्देश्यों को स्पष्ट किया। वाद-विवाद के क्रम में हम लोगों के बीच कड़वाहट का आना स्वाभाविक था। सत्य की रक्षा के लिए व्यक्तिगत भावनाओं को तिलांजलि दे दी गई। इसलिए वहां संघर्ष हुआ, लेकिन शास्त्रार्थ की अवधि के समाप्त होते ही हम लोगों ने आपस की रंजिश को भुला दिया। अब, आप उस अतीत के लिए पत्रवाहक के माध्यम से पश्चाताप् प्रकट कर रहे हैं। आप कितने विवेकवान हैं।

आप, महानुभाव पावन हैं, आपकी विद्वता काफी गहरी है, आप वाक्पुट में अलंकारिक हैं, आपकी आस्था प्रबल है, तथा आप सृजन में अद्वितीय हैं। आप (महानता में) अनवटप झील से भी विशाल हैं तथा शुद्धता में मणि से भी अधिक शुद्ध हैं। आप महानुभाव ने, आने वाली पीढ़ी के लिए अनुकरणीय उदाहरण स्थापित किए हैं, जिनके बीच आप विराट रूप में अडिग हैं।

मैं अपनी ओर से आपके द्वारा पुण्य परम्पराओं की स्थापना तथा सच्चे धर्म को प्रसारित करने के प्रयास के लिए शुभकामना प्रेषित करता हूं।

महायान बौद्धधर्म अन्य सभी शाखाओं से, तर्क की संपूर्णता और तर्क की सर्वोत्कृष्टता के कारण अधिक सक्षम हैं। यह सोचनीय है कि आप जैसे महानुभाव को इस संदर्भ में संशय है। यह बैलगाड़ी की जगह भेड़ अथवा हिरण के द्वारा खिंची जाने वाली गाड़ी को प्राथमिकता देने के समान है, या बेरिल (वैदुर्य) की जगह स्फटिक को महत्त्व देने के समान है। आपके जैसे प्रबुद्ध महानुभाव के द्वारा अविश्वास के प्रति अध्यवसाय क्यों? हमारा सांसारिक जीवन तो क्षणभंगुर है। आपके समान महानुभाव के लिए यही अभीष्ट होगा कि आप शीघ्र ही अलंकारक-सद्धर्म [महायान मार्ग] को अपना लें, ताकि जीवन के अंत में कोई पछतावा नहीं रहे।

अब जब एक पत्रवाहक भारत वापस जा रहे हैं, मैं उनके माध्यम से, आपको सादर प्रणाम भेज रहा हूं तथा साथ में आपके प्रति अपनी कृतज्ञता के प्रतीक के रूप में एक छोटा-सा स्मृति चिह्न भी भेज रहा हूं। आप महाशय के प्रति मेरी भावना की अभिव्यक्ति के लिए यह बिल्कुल अपरिपूर्ण है। मैं आशा करता हूं कि महाशय, आप मेरी भावना की कद्र करेंगे।

जब मैं भारत से लौट रहा था, मैंने एक घोड़े पर लदे धर्मग्रंथों की बोझ को सिंधु नदी में खो दिया। मैं इस पत्र के साथ उनकी सूची संलग्न कर रहा हूं, तथा आग्रह करता हूं कि उन्हें मेरे पास भेज दिया जाए, अभी इतना ही।

आपका
भिक्षु श्वैन ज़ंग

स्रोत: तान चुंग, देवहुति द्वारा उद्धृत 2001: 282

थी। लद्दाख, लहुल और स्पीति में भी। इन अधिकांश संघीय केंद्रों में तांत्रिक बौद्ध धर्म का वर्चस्व बना हुआ था।

पूर्व मध्यकाल की बौद्ध प्रतिमाओं की प्रतिमाशास्त्रीय विविधता, भक्ति उपासना की लोकप्रियता का संकेत देती है। शांतिदेव (8वीं शताब्दी) के *बोधिचर्यावतार* में महायान उपासना और अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। मूर्ति को सुगंधित जल से नहलाना, भोग लगाना, पुष्प तथा वस्त्र, हिलाने वाली धूपदानी, अगरबत्ती तथा गायन और वाद्य संगीत की प्रस्तुति, इनमें शामिल है। वल्लभी के मैत्रकों के दान अभिलेखों में धूप, दीप, तैल और पुष्प के खर्च उठाने का उल्लेख है।

पूर्व मध्य काल में तांत्रिक बौद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ, जिसने अनुष्ठान, जादू और ध्यान का संयोग देखा जा सकता है। *मंजूश्री-मूलकल्प* और *गुह्यसमाज* (पांचवीं-छठी शताब्दी) इस परंपरा के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ हैं। तांत्रिक बौद्ध धर्म वज्रयान के नाम से प्रसिद्ध है (शब्दिक अर्थ वज्र या हीरकयान)। वज्र और हीरा दोनों ही शक्ति के बल के प्रतीक थे, जो सिद्धि प्राप्त उपासकों के लक्षण हैं। वज्रयान के कर्मकांड में वज्र तलवार और घंटी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तांत्रिक बौद्ध धर्म की दूसरी शाखा का नाम मंत्रयान था। आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए मंत्रों को महत्त्वपूर्ण माध्यम माना गया। अवलोकितेश्वर के हृदय के नाम से प्रसिद्ध षडाक्षरी मंत्र– 'ओम् मणि पद्मे हुम्', सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मंत्र था। ओम् और हुम् पवित्र ध्वनि थे। 'मणि पद्मे' का शाब्दिक अर्थ कमल में रत्न (मणि) होता है, या 'मणि पद्म' नाम के एक बोधिसत्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध तंत्र में इस मंत्र की जटिल प्रतीकात्मक व्याख्या की गई हे। यह मंत्र असीम संभावनाओं का मंत्र था। वज्रयान की प्रतिमा व्यवस्था में स्त्री शक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। तारा इनमें सबसे लोकप्रिय थी। तांत्रिक बौद्ध धर्म के आचार्यों को सिद्ध या तांत्रिक गुरूओं के रूप में जानते थे। 16वीं सदी के तिब्बती यात्री ने प्रसिद्ध सिद्धों का विवरण दिया है।

'*हेवज्र तंत्र*' में सुसुप्त यौन ऊर्जा के द्वारा निर्वाण प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है। यौन योग अनुष्ठानों को निचली जातियों की स्त्री के साथ शमशान में रात्रि काल में करने का विधान बतलाया गया है, जिन्हें मांस और मदिरा के सेवन के बाद सम्पन्न किया जाता था। दूसरी ओर, महासिद्ध सरह द्वारा प्रतिपादित सहजयान में न तो कर्मकांड और न ही मंत्रों को महत्त्व दिया गया है। इसमें गुरुकृपा पर अधिक बल दिया गया और सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए निर्वाण का सुलभ, मार्ग दिखलाया गया। सहजिया सम्प्रदाय में जटिल दर्शन और भक्ति उपासना, दोनों को ही स्वीकृति नहीं दी गई, तथा निर्वाण की प्राप्ति के लिए अंतर्ज्ञान को प्राथमिकता दी गई। यह सम्प्रदाय विशेष रूप से बंगाल में लोकप्रिय था।

स्पिति घाटी (हिमाचल प्रदेश): के बौद्ध विहार (ऊपर, बाएं); टाबो बौद्ध विहार (ऊपर दाएं); मृत्तिका प्रतिमाएं, सभागार कक्ष में मृत्तिका प्रतिमाएं (मध्य); अल्ची, लद्दाख: मंदिर का चित्रांकन (नीचे)

बौद्ध धर्म का उपमहाद्वीप में लोप नहीं हुआ, लेकिन इसका पतन हुआ और यह भौगोलिक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक हाशिए पर चला गया। इसके लिए कई कारणों को उत्तरदायी बतलाया गया है, जैसे—हिंदू सम्प्रदायों के सापेक्ष अपने पृथक अस्तित्व को कायम रखने में बौद्ध धर्म की विफलता, तांत्रिक प्रभाव में आकर बढ़ती हुई विकृतियां, तथा शंकर जैसे अत्यंत प्रभावशाली हिंदू चिंतकों का उद्भव। तुर्क आक्रमणों के कारण अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्ध विहार नष्ट हो गया, जिन्हें आसानी से चिन्हित होने वाला निशाना बनाया जा सकता था। फिर भी पूर्व मध्यकालीन बौद्ध

धर्म के इतिहास के बारे में बहुत कुछ नहीं पता है, विशेषकर उन कारणों के विषय में जिनसे बौद्ध धर्म को मिलने वाले समर्थन और संरक्षण में कमी आई। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इनकी शताब्दियों में तिब्बत और पश्चिम हिमालय में स्थापित होने वाले बौद्ध विहारों का वर्तमान एवं एक निरंतर इतिहास विद्यमान है।

कुछ इतिहासकारों ने तांत्रिक बौद्ध धर्म के सामाजिक पहलुओं का विश्लेषण किया है। मिरैंडा शॉ (1994) ने तांत्रिक बौद्ध धर्म में महिलाओं की भूमिका का अध्ययन किया है। उनके अनुसार, स्त्री और पुरुष, दोनों को शोषण-रहित, दमन-रहित तथा परस्पर प्रबुद्ध सम्बंधों के सृजन की क्षमता है, तथा वे संयुक्त रूप से मुक्ति के सहभागी बन सकते हैं। इसे उदाहरण के रूप में, संबोधि के प्रतीक के रूप में स्त्री और पुरुष बुद्ध की प्रतिमा के स्वरूप में तथा तांत्रिक प्रतिमाशास्त्र में योगिनियों की प्रतिमाओं के प्रभावशाली निरूपण में देखा जा सकता है। शॉ का मानना है कि तांत्रिक बौद्ध धर्म के विकास में महिलाओं की अहम भूमिका रही होगी, तथा इन सम्प्रदायों में आचार्य, शिष्य, अनुयायी और परिवर्तनकर्त्ता के रूप में इनकी सक्रियता रही थी, किंतु यह दृष्टिकोण कुछ अतिश्योक्तिपूर्ण मालूम पड़ता है।

रोनल्ड एम. डेविडसन् (2002) ने तांत्रिक बौद्ध धर्म को पूर्व मध्यकालीन, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के वृहतर परिप्रेक्ष्यों से जोड़ने का प्रयास किया है। हालांकि, इस विश्लेषण की अपनी सीमाएं हैं, क्योंकि इसमें सामंतवाद के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को आधार बनाया गया है, फिर भी तांत्रिक बौद्ध धर्म के सामाजिक पहलुओं पर यह अध्ययन महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

तारा

वैसे तो पूर्व की शताब्दियों में भी बोधिसत्व तारा की जानकारी थी, लेकिन पूर्वमध्ययुगीन काल में इनका महत्त्व बढ़ता ही गया। *मंजूश्रीमूलकल्प* में इनके विभिन्न नामों की सूची दी गई है—भृकुटी, मामकी, लोचना, श्वेता, पंडारवासिनी तथा सुतारा। कालांतर के ग्रंथों में इनके अनेक रूपों का वर्णन है, जिनमें हरे और सफेद वर्णों वाली तारा की अधिक लोकप्रियता मालूम पड़ती है। इनकी सृष्टि अवलोकितेश्वर की अश्रु-धारा से बनी, कही गई है, जब उन्होंने नरक की विभत्स स्थिति का अवलोकन किया था। तारा में लोगों को उनकी त्रासदी से राहत दिलाने की महान क्षमता कही गई है। महाप्रत्यंगिरा-धारणी में इन्हें सर्वश्रेष्ठ देवी के रूप में चित्रित किया गया है। उनके वर्णन में, उनके श्वेतवर्ण, गले में वज्रों की माला तथा उनके मुकुट में वैरोयन के चित्र, को दिखलाया गया है। सातवीं सदी से अनेक तारा-स्तोत्रों की रचना की जाने लगी थी। आठवीं सदी के स्रगधरा-स्तोत्रों में वर्णन किया गया है कि वे कमजोर को शक्ति देती हैं, विपत्ति में पड़े लोगों को प्राणदान दिलाती है तथा त्रासदी में दबे सभी लोगों का परित्राण करती हैं। पूर्व मध्य काल के स्तोत्रों में तारा की पदोन्नति अवलोकितेश्वर की शक्ति के रूप में देखी जा सकती है, साथ में उन्हें सभी बुद्धों की माता का दर्जा दिया गया, जिससे वे मैत्री और करुणा की देवी के रूप में देखी गईं। तांत्रिक बौद्ध धर्म में तारा को बुद्ध की शक्ति (ऊर्जा) के रूप में देखा गया, अथवा विविध बुद्धों में एक के सृजन के रूप में।

उत्तर और पूर्वी भारत के प्रतिमा शास्त्रीय निरूपण में तारा को सर्वाधिक, खादिरवाणी अथवा श्याम तारा के रूप में दर्शाया गया है तथा जिन्हें ध्यानी बुद्ध अमोघ सिद्ध की सृष्टि के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्हें सौम्यरूप में खड़े या बैठे हुए दिखाया गया है, जिनकी दाहिने हाथ को वरदमुद्रा में और बाएं हाथ में लंबे डंठल वाले कमल को देखा जा सकता है। उनकी दो सहयोगी हैं—दाहिने और अशोककांता मारीची और बांई ओर एकजटा। कई बार इनके दाहिने और बाएं ओर देवियों की आठ लघु प्रतिमाओं या दृश्यों को भी देखा जा सकता है। महाचीन तारा और उग्र तारा, तारा का दूसरा स्वरूप है, जो अक्षोभ्य की सृष्टि हैं। यह उनका उग्र स्वरूप है, जिनमें उनको चारों हाथों के साथ एक शव पर खड़ा दिखलाया जाता है। इनके दाहिने हाथों में तलवार और ढाब तथा बाएं हाथों में एक कमल और एक खोपड़ी होती है।

डेविडसन ने देवताओं के 'सामंतीकरण' की ओर इशारा किया है, जिसके अंतर्गत, देवतओं को भी राजाओं की तरह आधिपत्य और अधीनस्थता के आधार पर संगठित होता हुआ देखा जा सकता है। वे राजनीतिक प्रतिध्वनि में पाते हैं, जब तांत्रिक बौद्ध दर्शन के पारिभाषिक उपमा के रूप में किसी व्यक्ति के राजा के पद पर उत्थान तथा अपनी सत्ता की स्थापना का हवाला दिया जाता है। दरअसल, बौद्ध धर्म के नवीन स्वरूपों को समर्थन के प्राचीन आधारों के लोप होते हुए परिदृश्य का सामना पड़ रहा था, तथा उनके स्थान पर नवीन सामाजिक सम्बंधों को ढूंढना पड़ रहा था। सिद्धों ने राजनीतिक संरक्षण के नूतन तंत्रों को विकसित किया और जनजातीय समूहों तथा सामाजिक रूप से बहिष्कृत तबकों को संबोधित किया। कुछ विहारों का रूपांतरण महाविहारों में हो चुका था, जो विशाल भूमि संपदा के स्वामी भी थे। संघ और सामान्य स्तरों पर महिलाओं की सहभागिता में अचानक पतन होने लगा, जो उपमहाद्वीप के सभी हिस्सों में उनकी अनुपस्थिति से स्पष्ट होता है।

जैन धर्म के प्रमुख केंद्र

राजस्थान, गुजरात, बंगाल, ओडिशा, मध्य प्रदेश, उत्तर-प्रदेश तथा कर्नाटक के विभिन्न हिस्सों में जैन धर्म लोकप्रिय था (चटर्जी 1984)। श्वैन ज़ंग के वृत्तांत से स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर संप्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर संप्रदाय अधिक विस्तृत था। गुजरात के छाप और परमार राजाओं से जैन प्रतिष्ठानों को राजकीय संरक्षण मिल रहा था।

श्रवण बेलगोल में गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा

श्रवण बेलगोल, कर्नाटक के हासन जिला के चन्नारयपाटन ताल्लुका में एक छोटा कस्बा है, और एक महत्त्वपूर्ण जैन तीर्थ है। श्रवण शब्द की व्युत्पति संस्कृत के श्रमण शब्द से हुई है, जिसका अर्थ परित्यागी होता है तथा बेल-कोला, कन्नड़ में श्वेत तालाब को कहते हैं। यह शहर दो पथरीली पहाड़ियों—चन्द्रगिरी या चिक्कबेट्टा तथा विन्ध्यगिरि या इंद्रगिरि (दोहा बेट्टा) के बीच स्थित है। आठवीं से 18वीं शताब्दियों के बीच श्रवण बेलगोल में 37 जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। यहां के एक जैन विहार में 17वीं-18वीं शताब्दी के बने भित्ती चित्र हैं। इस स्थान का इतिहास यहां से मिले 500 अभिलेखों में अंकित है। लेकिन श्रवण बेलगोल की वास्तविक ख्याति एक ही पत्थर को तराश कर बनाई गई। 17.5 मीटर ऊंची संत गोम्मटेश्वर या बाहुबली की विशाल प्रतिमा के कारण है। इसे स्वतंत्र रूप से खड़ी एक चट्टान की बनी विश्व की सबसे बड़ी प्रतिमा कहा जाता है।

जैन परंपरा के अनुसार, गोम्मट या बाहुबली आदिनाथ के पुत्र थे (प्रथम जैन तीर्थंकर)। प्रतिमा के निचले हिस्से में कन्नड़, तमिल और मराठी भाषाओं के अभिलेख उत्कीर्ण हैं, जिनसे पता चलता है कि इसका निर्माण चामुण्ड राजा या चावुण्ड राय के आदेश पर हुआ था। चामुण्ड राजा, गंग शासक रचमल्ल (राजामल्ल) का एक मंत्री था, जिसका शासन काल 974 से 984 सा. सं. के बीच था।

बाहुबली की प्रतिमा हल्के धूसर ग्रेनाइट पत्थर को तराश कर बनी है, जिसे पहाड़ी की चोटी पर 10 किमी. की दूरी से भी देखा जा सकता है, किंतु इस पहाड़ी के ठीक निचले हिस्से से नहीं। इस नग्न प्रतिभा के घुटने तक का हिस्सा तराशा गया है, जहां से शेष प्रतिमा मूल चट्टान के साथ जुड़ी हुई है। प्रतिमा की सतह उत्कृष्ट रूप से पॉलिशदार है। बाहुबली की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है, जिसके हाथ और पैर बिल्कुल सीधे हैं तथा हाथ, शरीर को स्पर्श नहीं करते। प्रतिमा के पैर, पूर्ण विकसित कमल पर टिके हैं। इस प्रतिमा के मजबूत शरीर में, कंधे-ऊंचे और चौड़े बने हैं। कमर पतले तथा कूल्हे चौड़े हैं। बाल घुंघराले तथा चेहरा चौड़ा है, जिसमें ठुड्डी और नाक अच्छे आकार में हैं। उसके शरीर में एक महापुरुष के लक्षण हैं, जैसे बड़े कान, तथा अत्याधिक लंबे हाथ। उसकी हाथों और परों में लताएं चढ़ी हुई हैं तथा जंघाओं में चींटीयों की बाम्बियां बनी हैं, जो उसके कठिन तप-साधना को दर्शाते हैं। उसकी दृष्टि सौम्य है किंतु दृढ़ भी, होठों पर गंभीर मुस्कान, आंतरिक शांत अवस्था का द्योतक है। बाहुबली के आजू-बाजू, यक्ष और यक्षी भी बने हैं।

प्रत्येक 12 वर्षों में बाहुबली का महामस्ताभिषेक आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर श्रद्धालुओं के द्वारा दूध, पुष्प तथा रत्नों से विशाल प्रतिमा के मस्तक पर अभिषेक किया जाता है। 2006 में अंतिम महामस्ताभिषेक हुआ है।

स्रोतः नागराज, 1980
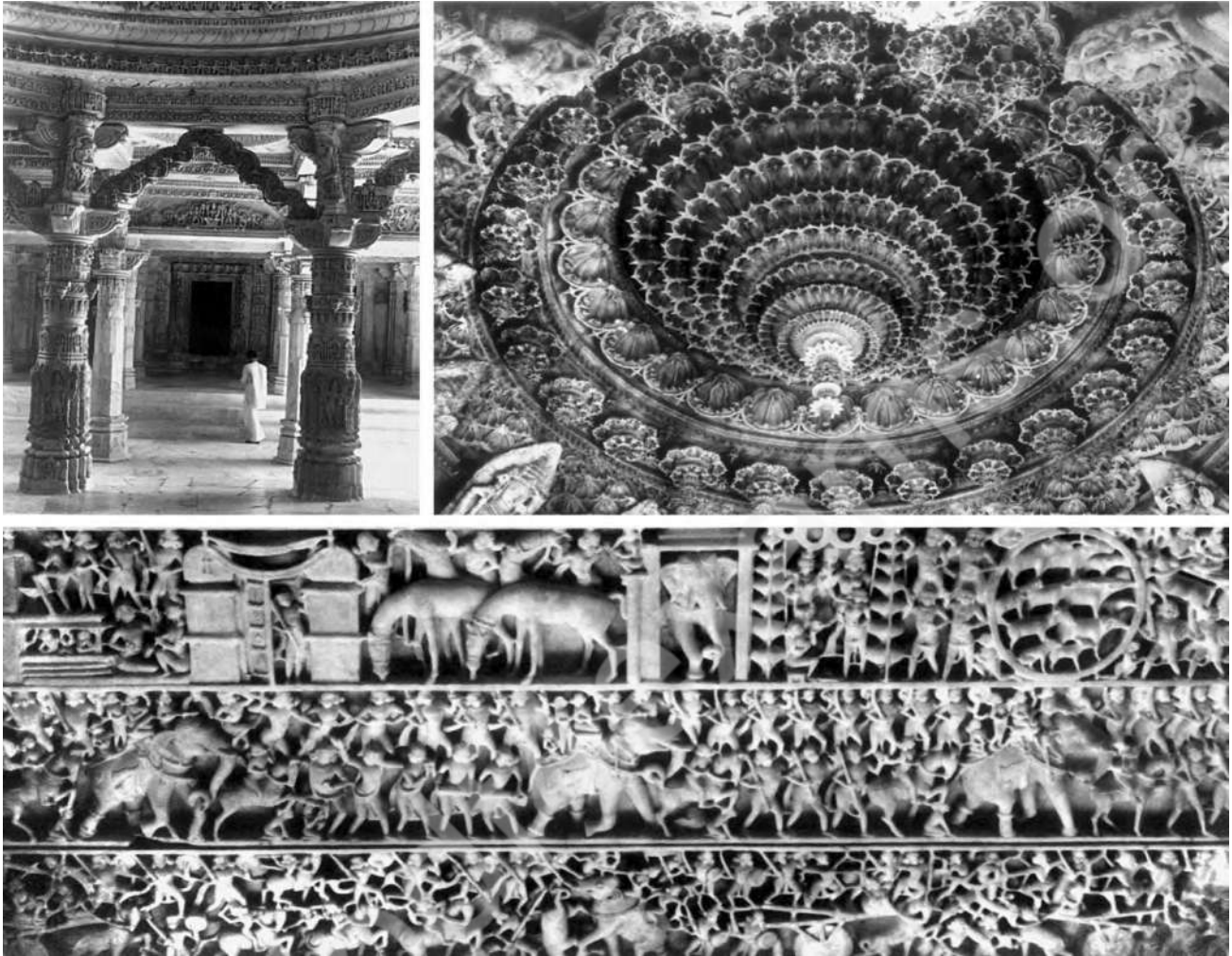
दिलवाड़ा मंदिर का विस्तृत चित्रांकन, माउण्ट आबू

प्रायद्विपीय भारत में कुछ गंग, राष्ट्रकूट, पूर्वी और पश्चिमी चालुक्य तथा कदम्ब शासकों के द्वारा जैन विद्वानों और प्रतिष्ठानों को संरक्षण प्राप्त था।

इस काल में अनेक जैन ग्रंथों की रचना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश कन्नड़ तथा तमिल भाषाओं में लिखे गए। इस काल के महान जैन दार्शनिकों में अकलंक, हरिभद्र तथा विद्यानंद का नाम आता है। अकलंक, *तत्वार्थराजवर्तिका* के लेखक और एक कुशल तर्कशास्त्री थे, जो 8वीं सदी के थे। हरिभद्र भी एक तर्कशास्त्री थे, जिनकी रचनाओं में दिन्नाग के *न्यायप्रवेश* पर लिखी एक टीका भी शामिल है। उनके *अनेकांतजयपताका* में बौद्ध और ब्राह्मण सिद्धांतों का खंडन किया गया है। विद्यानंद 9वीं सदी के थे और पाटलीपुत्र के निवासी थे। उनकी रचनाओं में *आप्तमीमांसालंकृत* शामिल है, जिसमें तर्कशास्त्र के सिद्धांतों की विस्तृत चर्चा की गई है। *आदिपुराण* (8वीं शताब्दी) में जिनसेन और गुणभद्र ने संस्कारों (जीवन-चक्र से जुड़े अनुष्ठान) की सूची दी है, जिसका स्वरूप ब्राह्मण संस्कारों से मिलता-जुलता है, किंतु इनका विशेष जैन अर्थ निष्पादित हुआ है। ब्राह्मण ग्रंथों में निहित पूर्वाग्रहों के समान ही, *आदिपुराण* भी निर्देश देता है कि शुद्रों को भिक्षु बनने सहित कुछ उच्च स्तरीय धार्मिक व्यवहारों से निषिद्ध रखा जाना चाहिए।

आधुनिक उत्तर प्रदेश के देवगढ़ और मथुरा सहित कई स्थानों पर पूर्व मध्यकालीन जैन मंदिर अवस्थित हैं। बंगाल के समतट और पुण्ड्रवर्द्धन के दिगम्बर सम्प्रदाय की सक्रियता थी। चितौड़ के अतिरिक्त राजस्थान के अन्य स्थानों में जैन तीर्थ अवस्थित हैं। माउंट आबू का दिलवाड़ा जैन मंदिर इस काल के मंदिरों में सबसे प्रसिद्ध है। भृगुकच्छ, गिरनार और वल्लभी सहित अनेक जैन केंद्र, गुजरात में फल-फूल रहे थे, जो चन्द्रप्रभा मंदिर और

महावीर को समर्पित मंदिर के लिए विख्यात था। मध्य भारत के सोनागिरि और खजुहारों में जैन केंद्र थे। पश्चिम भारत के मुख्य जैन केंद्र नासिक तथा प्रतिष्ठान में देखे जा सकते है। एलोरा में जैन गुफाएं हैं। ओडिशा में उदयगिरि और खंडगिरि जैसे जैन केंद्र पूर्व मध्यकाल में भी फलते-फूलते रहे।

जैन धर्म का कर्नाटक क्षेत्र में मजबूत पकड़ था। पुलकेशिन-II के ऐहोले अभिलेख की शुरुआत जिनेन्द्र (जिनों के स्वामी) के मंगलाचरण से होती है। जिस मंदिर की दीवार पर यह अभिलेख उत्कीर्ण था, उस मंदिर का निर्माण रविकीर्ति नाम के कवि ने करवाया था। श्रवण बेलगोल, कोप्पन और हालेबिद में जैन मंदिर अवस्थित है। आंध्र प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में भी जैन मंदिर पाए गए हैं। तमिलनाडु के विभिन्न हिस्सों से पल्लव, चोल तथा पाण्ड्य राजाओं के दान-अभिलेख मिले हैं, जिनमें जैन आचार्यों का उल्लेख है। इनमें अज्जनंदी का नाम कई बार आता है, जो शायद 9वीं शताब्दी में मदुरई में रह रहे थे। इंदुसेन और भल्लिसेन, अन्य दो समकालीन जैन आचार्यों का भी उल्लेख हुआ है। श्रवण बेलगोल जैसे स्थानों से प्राप्त कुछ जैन अभिलेखों में सदियों तक के विस्तृत उत्तराधिकारी जैन आचार्यों की सूची मिलती है। पूर्व मध्ययुग की समाप्ति तक, गुजरात, राजस्थान तथा कर्नाटक में जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति देखी जा सकती है।

शंकर और अद्वैत वेदांत

पूर्व मध्यकाल में विभिन्न दर्शनशास्त्रों पर व्यापक दार्शनिक लेखन किया गया। इस काल के सर्वाधिक प्रभावशाली विचारकों में शंकर का नाम आता है, जिनका काल 8वीं सदी के अंत और 9वीं सदी की शुरुआत माना जाता है। शंकर के पवित्र जीवन चरितों से जुड़े मिथकों में से ऐतिहासिक तथ्यों को पृथक रूप से निकाल पाना संभव नहीं है, क्योंकि सभी का रचना काल प्राय: 14वीं सदी के बाद का है (पाण्डे [1994], 1998)। इनमें सबसे लोकप्रिय माधव विरचित *शंकर-दिग्विजय* है। इसमें शंकर द्वारा किए गए देश भर के भ्रमण का वर्णन है तथा उनके द्वारा विरोधी-दार्शनिकों के साथ किए गए शास्त्रार्थ का विवरण, जिनमें उन्होंने सभी को पराजित किया। शंकर, वेदांत के सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतिपादक थे। वेदांत का उनका संस्करण अद्वैत वेदांत कहलाता है।

जैसा कि आठवें अध्याय में चर्चा की जा चुकी है कि उपनिषदों से ही वेदों का अंत होता है। इसलिए उन्हें तथा उन पर आधारित दर्शन को ही वेदांत (जिन्हें उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है) कहा गया है। पिछले अध्याय में उपनिषदों पर आधारित वेदांत दर्शन की चर्चा की गई थी, जिनमें बद्रायण का *ब्रह्मसूत्र* तथा *भगवद्गीता* भी शामिल है। औपचारिक रूप से अद्वैत वेदांत की व्याख्या सर्वप्रथम 7वीं या 8वीं शताब्दी में गौड़पाद के *माण्डूक्य-करिका* में मिलती है, जो *माण्डूक्योपनिषद्* पर लिखी गई एक पद्यात्मक टीका है। गौड़पाद, माध्यमिक तथा विज्ञानवाद बौद्ध धर्म से प्रभावित मालूम पड़ते हैं। उनका मानना था कि संसार की घटनाएं एक स्वपन के समान हैं। सत्य एक हैं (अ-द्वैत) तथा अनेकत्व का बोध, माया (भ्रम) से उत्पन्न होता है।

गौड़पाद के विचारों ने शंकर में पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त की, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों का दर्शन व्यवस्थित और एकीकृत है। उनकी मुख्य रचना, ब्रह्मसूत्रों पर लिखा गया भाष्य है। शंकर के अनुसार, वैदिक यज्ञों को सम्पन्न करना उनके लिए आवश्यक था, जिन्हें भौतिक और सांसारिक वस्तुओं की चाह थी, जबकि उपनिषदों में परम ज्ञान का मार्ग निहित है। उनके अद्वैतवादी सिद्धांत के अनुसार, ब्रह्म ही अंतिम सत्य है। जो निर्गुण है, वह शुद्ध चेतना है, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। सभी परिवर्तन और अनेकत्व केवल बाह्य तौर पर दृश्य है। शंकर ने सत्य के दो स्तरों को रेखांकित किया—पारंपरिक यथार्थ तथा परम सत्य। इस विचार की व्याख्या करते हुए उन्होंने एक व्यक्ति द्वारा पड़ी हुई रस्सी को सांप समझने के भ्रम का उदाहरण दिया। यद्यपि, रस्सी असली सांप के समान दिखलाई पड़ती है, पर वह है नहीं। इस पारंपरिक सत्य को पूर्ण सत्य समझने की भूल अविद्या (अनभिज्ञता) के कारण होती है। अद्वैत वेदांत का उद्देश्य जीवन-चक्र से मुक्ति है, जब आत्मा और ब्रह्म का एकाकार हो जाता है।

कुछ विद्वानों के द्वारा भारत में बौद्ध धर्म के पतन के पीछे, शंकर द्वारा वैदिक परम्परा में निहित ज्ञान के आधार पर विकसित किए गए दर्शन को बतलाया जाता है। जबकि रोचक तथ्य यह है कि उनके विरोधियों ने उन पर 'अप्रत्यक्ष बौद्ध' होने का आरोप लगाया है। इसका कारण यह है कि उनके द्वारा महायान दर्शन के सादृश्य, संसार को मिथ्या और भ्रम कहा गया, किंतु हमें ध्यान में रखना होगा कि उपनिषद् के सिद्धांतों की वकालत करते हुए शंकर ने अन्य दर्शनों और विचारधाराओं के द्वारा की गई आलोचनाओं का खंडन किया, जिस क्रम में उनके द्वारा बौद्ध दर्शनों के साथ-साथ सांख्य, न्याय और मीमांसा जैसे हिंदू दर्शनों की भी ठोस आलोचनाएं प्रस्तुत की गईं।

शंकर को दशनामी संप्रदाय के संस्थापक तथा अमनय मठों की संज्ञा से प्रसिद्ध चार-पांच मठों के संस्थापक के रूप में स्वीकार किया जाता है। (कुल्के [1993], 2001)। यद्यपि, इसमें कोई संदेह नहीं है कि शंकर के उपदेशों के संरक्षण और प्रसार के लिए निश्चित रूप से कुछ संगठनात्मक स्वरूप, काफी पहले ही तैयार हो चुका

था, फिर भी कुछ इतिहासकारों का मानना है कि शृंगेरी तथा कांची सहित अन्य मठों का विकास बाद की शताब्दियों में हुआ, जिन्हें प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए शंकर द्वारा स्थापित बतलाया गया। उदाहरण स्वरूप, ऐसा लगता है कि शृंगेरी मठ की स्थापना 14वीं सदी में विजयनगर के काल की गई थी।

हिंदू सम्प्रदाय

यद्यपि, शंकर को भक्ति मार्ग से जोड़ा जाता रहा है, अद्वैत वेदांत अनिवार्य रूप से ईश्वरवादी दर्शन व्यवस्था नहीं है लेकिन लोकप्रिय स्तर पर ईश्वरवादी उपासना सर्वोपरि सिद्ध हुई, जिसके साथ-साथ भक्ति उपासना पद्धति भी विकसित होती गई, किंतु परंपरा के अंतर्गत, यद्यपि, अनेक देवताओं (जैसे सूर्य, गणेश, कार्तिकेय तथा ब्रह्मा) से जुड़े सगुण उपासना प्रणालियों का विकास हुआ, किंतु जो सबसे लोकप्रिय हुए, वे वैष्णव, शैव और शाक्त संप्रदाय थे। इस काल में मंदिरों की स्थापना का भौगोलिक परिदृश्य काफी व्यापक हो गया। मंदिरों की प्रतिमाओं में देवताओं के विविध स्वरूपों का निरूपण होने लगा, और साथ-साथ अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिमाशास्त्रीय मानकीकरण की भी स्थापना हो गई। इन सम्प्रदायों से जुड़ी उपाधियां, राजकीय अभिलेखों में प्रचलित हो गईं। शासकों ने मंदिरों का निमार्ण करवाया और कई मंदिरों को उनके शाही संरक्षकों के नाम से ही जाना जाने लगा। फिर भी राजकीय संरक्षण न तो संरक्षण का एकल स्रोत था और न ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्रोत। पहले की शताब्दियों की भांति इस काल में भी गैर-राजकीय व्यक्तियों के द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों को दिए जाने वाली अनुदानों की परम्परा जारी रही।

जहां एक स्तर पर विष्णु, शिव और शक्ति जैसे देवताओं को केंद्र में रखकर, पृथक-पृथक उपासकों का संगठन तैयार हो रहा था, जो उनकी परमेश्वर के रूप में उपासना कर रहे थे, वहीं दूसरे स्तर पर ये सभी सम्मिलित रूप से वृहत्तर देव-समुदाय के सदस्यों के रूप में भी देखे जा रहे थे। हिंदू धर्म में 'मोनोलैट्री' का स्वरूप काफी महत्त्वपूर्ण है, जिसमें एक परमेश्वर को स्वीकार करते हुए भी अन्य देवताओं के समुचित अस्तित्व को अस्वीकृत नहीं किया जाता। यही कारण है कि हिंदू मंदिरों में एक प्रमुख देवता के साथ-साथ अन्य कई देवताओं की भी उपासना की जाती है।

दुर्ग मंदिर, ऐहोले: नंदी बैल के साथ शिव (ऊपर); पृथ्वी को उठाते वराह (नीचे)

वैष्णववाद और शैववाद

साहित्यिक साक्ष्यों और मंदिरों की प्रतिमाओं से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि विष्णु के दशावतार की अवधारणा पूर्व मध्ययुग तक प्रायः सर्वमान्य रूप से स्थापित हो चुकी थी। पंचरात्र ग्रंथों में विष्णु से जुड़ी व्यूह (अंश) की अवधारणा का विस्तृत स्वरूप प्राप्त होता है। इस समय तक व्यूहों की संख्या 4 से बढ़कर 24 हो चुकी थी। वैष्णव उपासना पद्धति से जुड़ी कुछ तथ्यों की चर्चा नवें अध्याय में की जा चुकी है, तथा इनसे जुड़ी अन्य बातों की चर्चा हम दक्षिण भारत में भक्ति के संदर्भ में कर सकेंगे।

दैवीय गोपालक कृष्ण का अभ्युदय वैष्णव सम्प्रदाय की भक्ति उपासना के केंद्र के रूप में हो चुका था। महाभारत के एक परिशिष्ट *हरिवंश* में, कृष्ण के बाल्यावस्था और युवावस्था से जुड़े अनगिनत गाथाओं का वर्णन मिलता है। *भागवत पुराण* एक अन्य महत्त्वपूर्ण वैष्णव ग्रंथ है। इसे संभवतः 9वीं-10वीं शताब्दियों में दक्षिण भारत में लिखा गया था। इस पुराण का दशम खंड *कृष्ण-चरित* है, जिसमें कृष्ण के जीवन से जुड़ी सभी महत्त्वपूर्ण बातों को संकलित किया गया है। उनका जन्म, उनका पालन-पोषण करने वाले माता-पिता नन्द-यशोदा के संग बीता बचपन, ब्रज में एक ग्वाले का जीवन तथा पूतना और कालिया नाग का वध जैसे अद्‌भुत करतब तथा उनका गोपियों के साथ सम्बंध जैसी अनेक लीलाओं का वर्णन है। कृष्ण की सर्वाधिक प्रिय गोपियों और कृष्ण के बीच का प्रेम-प्रसंग, उनके द्वारा कृष्ण की लालसा तथा उनके विरह की वेदना की उपमा भक्त और भगवान के बीच सम्बंध के लिए दी जाती है।

मत्स्य, वराह और लिंग पुराण जैसे प्रारंभिक ग्रंथों में यत्र-तत्र, राधा का संदर्भ आया है, किंतु *हरिवंश* अथवा *विष्णु* और *भागवत पुराणों* में उनका प्रत्यक्ष नाम नहीं उद्धृत है। 12वीं सदी में जयदेव के गीत काव्य *गीत-गोविंद* के द्वारा राधा को सर्वाधिक ख्याति मिली है। इस रचना को उच्च कोटि की साहित्यिक रचना और शक्तिशाली कामशास्त्रीय रचना के कारण जाना जाता है। उपमहाद्व ीप के विभिन्न हिस्सों से विष्णु के विभिन्न अवतारों का प्रतिमाशास्त्रीय प्रतिनिधित्व हुआ है। लक्ष्मी

ऐहोले का दुर्ग मंदिर

ऐहोले के दुर्ग मंदिर का नाम समीप के दुर्ग पर आधारित है, तथा यह देवी का मंदिर नहीं है। इसका निर्माण संभवत: 725-30 सा.सं. में चालुक्य शासक विजयादित्य के शासन काल में हुआ था। इस मंदिर का आकार गजपृष्ठीय है और गजपृष्ठ के संपूर्ण बाह्य हिस्से में प्रदक्षिणा पथ बना हुआ है। मंडप और बरामदे का निर्माण द्राविड़ शैली में हुआ है, जबकि शिखर, नागरशैली का एक संस्करण है। गोलाकार पृष्ठवाले छोटे से गर्भ-गृह में वृत्ताकार वेदी बनी हुई है। मुख्य प्रतिमा को किसी काल में हटा दिया गया, और इस घटना की अवधि अज्ञात है।

दुर्ग मंदिर एक रहस्यमय संरचना कही जा सकती है। विद्वानों में कई बिंदुओं पर मतभेद बना रहा है—मंदिर स्थापत्य के इतिहास में इस स्थान के महत्त्व को लेकर अथवा इस बात को लेकर कि इस मंदिर के शिखर को क्षेतिजीय मंदिर के छत पर बाद में जोड़ा गया था; यह मुख्य मंदिर का अभिन्न हिस्सा था अथवा प्रदक्षिणा पथ में बनी प्रतिमाओं का लेकर कि ये मूलरूप से विद्यमान थीं या बाद में इन्हें उत्कीर्ण किया गया, किंतु इस मंदिर से जुड़ी सबसे बड़ी जिज्ञासा इस मंदिर की मुख्य प्रतिमा से जुड़ी है। इस लंबे अर्से के दौरान शिव, विष्णु, ब्रह्मा, आदित्य (सूर्य) की प्रतिमा को लेकर अटकलें लगाई जाती रही हैं। ऐसा भी तर्क दिया जाता है कि यह एक बौद्ध मंदिर रहा होगा, जिस समय के किसी बिंदु पर शैवों ने हस्तगत कर लिया। इस दृष्टिकोण को अब अस्वीकृत कर दिया गया है, क्योंकि यह उस धारणा पर आधारित था कि गजपृष्ठीय आकार वाले सभी स्थापत्य अनिवार्य रूप से बौद्ध धर्म से जुड़े हैं। जबकि स्थापत्य के इस स्वरूप का प्रयोग अजिविकों, जैन और हिंदू संप्रदायों के द्वारा धड़ल्ले से किया गया था।

इस मंदिर का प्रदक्षिणा-पथ, मंदिर के बाहर-बाहर जाने वाले बरामदे के गलियारे के साथ-साथ बनाया गया था। गलियारे की बाहरी परिधि के साथ-साथ मुंडेर बना था और 28 वर्गाकार स्तंभ बनाए गए थे जिनसे प्रचूर हवा और प्रकाश उपलब्ध हो जाता था। इस गलियारे की अंत: दिवारों पर 11 ताखा उत्कीर्ण है, जो एक-दूसरे से भित्ती-स्तंभों के द्वारा पृथक होते हैं। इन ताखों में भिती-प्रतिमाओं की शृंखला है। इनमें से केवल सात बचे हैं। ये संभवत: चालुक्य काल की सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा शृंखलाएं हैं। इनमें, शिव और नंदी; महिषासुरमर्दिनी दुर्गा, तथा हरि-हर (विष्णु और शिव की संयुक्त प्रतिमा) प्रमुख है। एक ताखे में, जो अब रिक्त हो चुका है, उसमें भिक्षाटन करते शिव की प्रतिमा है।

उपलब्ध प्रतिमाओं की विविधता इस मंदिर से जुडे मुख्य संप्रदाय को चिन्हित करना कठिन बना देती है। इस क्षेत्र के शैव मंदिरों में अधिकांशत: अनेक प्रकार की प्रतिमाएं विद्यमान हैं, किंतु उनमें अनिवार्य रूप से नन्दी-मंडप होता है (नंदी की प्रतिमा युक्त मंडप), जो यहां उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह शिव मंदिर नहीं हो सकता। चूंकि इन प्रतिमाओं में देवी की प्रतिमाओं की प्रमुखता नहीं है, इसलिए इसे देवी मंदिर भी नहीं कह सकता। दूसरी ओर इस क्षेत्र के विष्णु मंदिरों में अनिवार्य रूप से केवल वैष्णव प्रतिमाओं की प्रमुखता देखी जाती है, इसलिए इसे विष्णुमंदिर भी नहीं माना जा सकता।

आज अधिकांश कला-इतिहासकारों का मानना है कि यह आदित्य का मंदिर रहा होगा। मंदिर के प्रवेश द्वार के ऊपर इस देवता की प्रतिमा बनी हुई है और एक द्वार पर मिले अभिलेख में इस मंदिर को आदित्य का मंदिर कहा गया है। इस मंदिर के कई हिस्सों में भी सूर्य देवता का प्रदर्शन हुआ है। हो सकता है कि यह सूर्य मंदिर ही रहा हो, फिर भी ऐहोले के दुर्ग मंदिर की स्वरूप और शैली अन्यतम है।

स्रोत: तार्ताकोव, 1997

ललितपुर से प्राप्त वराह प्रतिमा, 10वीं/11वीं शताब्दी

सरस्वती तथा भू-देवी अक्सर उनके साथ देखी जाती है। वैष्णव भक्तिमार्ग का दक्षिण भारत में मजबूत पकड़ बना, मुख्य रूप से आलवार संतो के भक्ति काव्यों के द्वारा, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। अनेक वैष्णव मंदिरों और प्रतिभाओं का तिथि निर्धारण पूर्व मध्ययुग से सम्बंध रखता है।

शिव उपासना की बढ़ती हुई लोकप्रियता, विभिन्न शैव दार्शनिक मतों के विश्वास के साथ जुड़ी मालूम पड़ती है, जिनके विचारों में परस्पर समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। शैव सिद्धांत, कश्मीर शैवधर्म तथा वीरशैव परम्परा के अनुयायियों में सबसे प्रामाणिक ग्रंथ आगमों को माना जाता है। उन्हें प्रत्यक्ष रूप से शिव के आदेश के रूप में स्वीकार किया गया है तथा सिर्फ योग्य चयनित अनुयायियों को इनकी शिक्षा दी जा सकती है। संभवत: इन आगमों की रचना 400 तथा 800 सा.सं. के बीच तमिल-भाषी क्षेत्र में की गई थी। यद्यपि, इनमें ज्ञान, क्रिया, योग तथा चर्या को भी महत्त्व दिया गया है, सर्वाधिक प्रधानता भक्ति को भी मिलती है। इनमें वैदिक परंपरा को मान्यता दी गई है, फिर भी शैव भक्ति को वैदिक यज्ञों के निष्पादन से सर्वोपरि माना गया है। गृहस्थाश्रम या मंदिरों में किए जाने वाले कर्मकांडों को शैव मंत्रों के साथ संपन्न किया जाता है, हालांकि, इनमें कुछ वैदिक मंत्र भी शामिल है। इन ग्रंथों में धार्मिक प्रतिमाओं तथा मंदिरों के निर्माण की प्रामाणिक विधियों का वर्णन भी किया गया है।

शैव सिद्धांत, दक्षिण भारत का प्रमुख शैव दर्शन था। इसमें तीन शाश्वत सिद्धांतों को प्रधानता दी गई है—ईश्वर (शिव), ब्रह्मांड तथा आत्मा। ऐसा माना जाता है कि शिव ने अपनी इच्छा और शक्ति से संसार का सृजन किया। शैव सिद्धांत में वेद, आगम तथा संतों की रचना को स्वीकार किया गया, लेकिन वैदिक परंपराओं की व्याख्या शैव भक्ति के दृष्टिकोण से की गई। प्रभावशाली कश्मीर शैव धर्म, अद्वैतवाद दर्शन से प्रभावित था, जिसके अनुसार, आत्मा और संसार, शिव ही हैं। ऐसा माना गया है कि ब्रह्माण्ड का निर्माण शिव की सृजनात्मक शक्ति से हुआ है, जिसकी तुलना किसी दर्पण में गांव या शहर के प्रतिबिम्ब से की जा सकती है। कश्मीर शैव धर्म के विचार, *शिवसूत्रों* में संकलित है। ऐसी मान्यता है कि स्वयं शिव ने इसका ज्ञान वसुगुप्त नाम के एक ऋषि को दिया, जिनका काल 8वीं-9वीं शताब्दी माना जा सकता है। उनके कल्लत और सोमानंद, नाम के शिष्यों ने दार्शनिक सिद्धांतों का अग्रेतर विकास किया। अभिनवगुप्त, उत्पल तथा रामकंठ, इस संप्रदाय के अन्य प्रमुख प्रणेता हुए।

कापालिक और कालामुख, इस समय के दो महत्त्वपूर्ण शैव संप्रदाय थे। इनके जुड़ा कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इनके इतिहास की पुनर्रचना अभिलेखों तथा इनके समकालीन विरोधी सम्प्रदायों के द्वारा इनके विषय में दी गई विभत्स आलोचनाओं की आधार पर ही किया जा सकता है। इन सम्प्रदायों के अपने मठ थे तथा इनकी पृथक आचार्य परंपरा थी। लॉरेन्जेन ([1972], 1991) के अध्ययन से पता चलता है कि इनका अपना संघीय समुदाय था, किंतु इनसे पृथक सामान्य अनुयायियों की कोई सूचना नहीं मिलती। कापालिक, तांत्रिक संयासी थे, जो वनों में रहते थे। इनके पास भिक्षाटन के लिए मानव खोपड़ी होती थी और इन्हें महाव्रत लेना होता था। इनके विषय में ऐसा वर्णन मिलता है कि ये व्रतों के साथ पशु और मानव बलि भी देते थे और कभी-कभी आत्म-बलि भी। कालामुखों को पाशुपतों की एक शाखा कह सकते हैं, जो 11वीं तथा 14वीं शताब्दियों के बीच विशेष रूप से कर्नाटक क्षेत्र में सक्रिय थे। ऐसे कई अभिलेख मिले हैं, जो इन संप्रदाय के मंदिरों और मठों से संबद्ध अनुदानों से जुड़े हैं। वी.एस. पाठक (1960) ने पूर्व मध्ययुगीन शैव सम्प्रदायों से जुड़े अभिलेखीय संदर्भों का विश्लेषण किया है।

शैव भक्ति विशेष रूप से दक्षिण भारत में लोकप्रिय हुई, जिसके पीछे नायनमार संतों के विचारों और व्यवहारों का मुख्य योगदान रहा, जिसके विषय में इस अध्याय में अन्यत्र चर्चा की गई है। शैव प्रतिमाशास्त्र और वास्तुशास्त्र की चर्चा भी आगे की गई है।

अन्यान्य परिचर्चा

महिषासुरमर्दिनी के रूप में देवी

मार्कण्डेय पुराण के 700 श्लोकों में दुर्गासप्तसती संकलित है, जिसमें देवी के विजयों का वर्णन किया गया है। एक स्थान पर कहा गया कि किस प्रकार देवी ने महिषासुर पर कूद कर प्रहार किया, उसे अपने एक पांव से दबा डाला और उसकी गर्दन को भाले से भेद डाला। इसलिए उन्हें दुर्गा महिषासुर-मर्दिनी कहा गया।

वस्तुत: दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी वाला स्वरूप ही प्रतिमाओं में सर्वाधिक दिखलाई पड़ने वाला रूप है, जिसका प्रतिमाशास्त्रीय निर्धारण प्रारंभिक शताब्दियों में हो चुका था। फिर भी इस निर्धारित प्रतिमाशास्त्रीय मानक स्वरूप के अंतर्गत, प्राचीन मूर्तिकारों ने विस्तार के क्रम में व्यक्तिगत शिल्प का व्यक्तिगत निरूपण किया है। दुर्गा महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमाओं में से कुछ सर्वश्रेष्ठ प्रतिमाएं पूर्व मध्युगीन हैं।

देवी के प्रतिमाशास्त्री निरूपण के क्रम में मूल कथ्य में भी कुछ विविधताएं देखने को मिलती हैं। उनके हाथों की संख्या में अंतर देखा जा सकता है; कभी सिंह को उनके सवारी के रूप में देखा जा सकता है, जबकि कुछ प्रतिमाओं में सिंह को उनके बगल में दिखलाया गया है। कई बार महिषासुर को केवल पशुरूप में दिखाया गया है तथा अन्य स्थानों पर अर्ध-पशु, अध -मनुष्य रूप में। कुछ प्रतिमाओं में देवी की शक्ति और क्रोध दिखलाई पड़ती है, कहीं-कहीं शिल्पकार ने साथ-साथ देवी के स्त्रीत्व और सौम्यता को भी दिखलाने में सफलता पाई है

दुर्गामहिषासुरमर्दिनी की सर्वश्रेष्ठ प्रतिमाशास्त्री निरूपण का एक उदाहरण ऐहोले के विरूपाक्ष मंदिर की दीवारों पर उत्कीर्ण है। यह नक्काशी काफी गहरी है और लगभग गोलाकार है, जो प्रतिमा को त्रि-आयामी प्रभाव देती है। असुर मनुष्य-रूप है, जिसके भैंसों वाले सींग है।

उसका सिर देवी के बाएं चरणों के नीचे दबा हुआ है। उनके हाथों में एक लयात्मक गति प्रदर्शित होती है। उनकी तलवार बिना प्रयास के असुर के शरीर को भेदता मालूम पड़ता है। मूर्तिकार ने इस प्रतिमा में एक साथ अत्याधिक सौम्यता, यथार्थ और शक्ति के प्रभावशाली संप्रेषण में सफलता पाई है।

शाक्त सम्प्रदाय

आठवें अध्याय में देवी-महात्म्य का उल्लेख किया गया है, जिसे 7वीं सदी में *मार्कण्डेय पुराण* में संकलित किया गया था। इसमें देवी की संतुति में लिखे गए श्लोक हैं तथा उनके द्वारा महिषासुरमर्दन सहित उनकी लीलाओं का वर्णन है। देवी-महात्म्य में दी गई कथाओं की साथ-साथ देवताओं द्वारा की गई देवी स्तुतियां भी दी गई है। नारायणी-स्तुति में उनकी संसार की संरक्षण करने वाली नारायणी-शक्ति का वर्णन है। इनमें नवमात्रिक रूपों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उनके लक्ष्मी, सरस्वती, कात्यायनी, नारायणी, दुर्गा, भद्रकाली तथा अम्बिका जैसे रूपों की घोषणा की है, आने वाले युगों में जिनका प्राकट्य होगा—योगमाया (नंद और यशोदा की पुत्री के रूप में), रक्तदंतिका, शताक्षी, शाकम्भरी, दुर्गा, भीमा तथा भ्रामरी। अंतिम छंद में, भगवद्गीता के दर्ज पर भविष्यवाणी करते हुए वह घोषणा करती है, कि असुरों और अधर्म का नाश के लिए उनका समय-समय पर संसार में अवतार होगा।

उपमहाद्वीप से प्राप्त स्थापत्य और प्रतिमाओं के अवशेषों से दुर्गा की उपासना के व्यापक विस्तार का पता चलता है। साथ में मातृकाओं से जुड़े सम्प्रदायों का भी (सामान्यत: जिनकी संख्या सात या आठ दिखाई जाती है) और योगिनियों का भी (भट्टाचार्य, 1974: 100-5)। नवम् अध्याय में मातृकाओं की चर्चा की जा चुकी है। योगिनियों की संख्या 64 बतलायी जाती है। जिनका जिक्र दुर्गा की सहायिकाओं या रूपों के रूप में शुम्भ-निशुम्भ के विरुद्ध युद्ध के संदर्भ में हुआ है। मुख्य योगिनियां, मातृकाओं से भिन्न नहीं है। पूर्वी भारत में विशेष रूप से अनेक भुजाओं वाली दुर्गा की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। इनकी उपस्थिति तमिलनाडु में भी देखी जा सकती है, किंतु यहां इनके साथ बारासींगा भी बनाए जाते थे। चोल कालीन उद्भुत प्रतिमाओं में इनके निशुम्भमर्दिनी रूप का कई बार निरूपण हुआ है। पूर्वी भारत में सतत्-मातृकाओं और योगिनियों की उपासना लोकप्रिय थी। ओडिशा के जाजपुर (अन्य स्थानों में भी) क्षेत्र में मातृकाओं की प्रतिमाएं, शिखर-विहीन योगिनियों की प्रतिमाएं (रानीपुर झरियाल और हिरापुर) से प्राप्त होती है।

योगिनी प्रतिमा, चौंसठ योगिनी मंदिर, भेड़ाघाट (मध्य प्रदेश)

योगिनी मंदिर, दुधई, ललितपुर (ऊपर); चौंसठ योगिनी मंदिर, खजुराहो (मध्य); सप्त मातृका प्रतिमा (राष्ट्रीय संग्रहालय) (नीचे)

महिषासुरमर्दिनीः शिवाडोल मंदिर, शिवसागर; वीरूपक्ष मंदिर, पात्तदकल; नटराज मंदिर, चिदम्बरम

पूर्व मध्यकाल के अभिलेखों में अनेक स्थानीय देवियों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए, ओडिशा में विरजा एवं स्तम्भेश्वरी, असम में कामाख्या ऐसी ही देवियां है। पौराणिक परंपरा में बहुत सारे देवी संप्रदायों को इस सिद्धांत के द्वारा एकीकृत करने का प्रयास किया गया कि वे सभी एक ही महादेवी का रूप है। कुणल चक्रबर्ती (2001) ने अपने अध्ययन में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि बंगाल में किस प्रकार ब्राह्मण धर्म और स्थानीय देवी उपासना की सशक्त परंपराओं के समन्वय के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय सांस्कृतिक एकीकरण संभव हो सका, जिसमें देवी उपासना को सर्वाधिक मान्यता मिली। *मत्स्य पुराण* में महादेवी के 108 नामों का उल्लेख है, जबकि *कूर्म पुराण* में उनके 1000 नामों का आह्वान किया गया है। *कालिका पुराण,* पूर्व मध्यकाल का एक महत्त्वपूर्ण शाक्त-ग्रंथ है (वान कूज, 1972)। इसका संकलन असम क्षेत्र में या निकटवर्ती बंगाल क्षेत्र में हुआ था, जिसमें देवी के विविध उपासना पद्धतियों का वर्णन है। देवी के रौद्र एवं सौम्य, दोनों स्वरूपों का वर्णन मिलता है। शांत स्वरूप में उनकी सशक्त वासनात्मक अभिव्यक्ति की गई है। रौद्र रूप में इनकी उपासना श्मशानों में होने दिया गया है। कालिका-पुराण में देवी उपासना के दक्षिण-भाव तथा वाम-भाव, स्वरूपों का विवरण है। यद्यपि, दोनों उपासना तंत्र से प्रभावित है, किंतु वाम-भाव का तांत्रिक रूझान अधिक है। दक्षिण-पद्धति में सामान्य अनुष्ठानों-कर्मकांडों का उल्लेख, जिनमें पशु और नर बलि का भी विवरण है। वाम पद्धति में मदिरा, मांस एवं संभोग से जुड़े कर्मकांड़ों का विवरण है। पुराण में लोकप्रिय दुर्गा पूजा के संपादन का विस्तृत वर्णन मिलता है।

पुराणों में देवी के विभिन्न रूपों से जुड़े पवित्र तीर्थों का विवरण मिलता है (सरकार, 1973, भट्टाचार्य 1974)। *देवीभागवत* में प्रमुख 'पीठों' का विवरण है। *कालिका पुराण* में उन सात पीठों का विवरण है, जहां सती के शरीर के विभिन्न अंग गिरे थे। कालांतर में पीठों की संख्या काफी बड़ी है, जो देवी उपासना से संबद्ध पवित्र तीर्थों के भौगोलिक विस्तार का परिचायक है। *कुलार्णवतंत्र* में 18 पीठों का उल्लेख है, जबकि *कुब्जिकातंत्र* में 42 पीठों का। शाक्त पीठों में तीर्थ यात्रा पूर्व मध्य काल में अत्यंत लोकप्रिय हो चुकी थी।

दक्षिण भारतीय भक्ति आलवार तथा नायनमार

पूर्व मध्यकाल में, आलवार और नायनमार (नायनमार के नाम से भी प्रसिद्ध) संतों ने दक्षिण भारत में वैष्णव और शैव भक्ति को एक नया आयाम और सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की। यह प्रवृत्ति तमिल भूमि, भाषा तथा लोक व्यवहार की जड़ों में जन्म ले रही थी। जैसा कि पहले के एक अध्याय में बताया जा चुका है कि भक्ति शब्द का मूल संस्कृत के 'भंज' शब्द से है, जिसका अर्थ सहभागिता या आदान-प्रदान होता है। इसी क्रम में कहा जा सकता है कि भक्त वह है, जो दैवत्य के साथ सहभागिता या आदान-प्रदान करता है। आलवार और नायनमारों के द्वारा भक्ति के लिए प्रयोग में लाया गया तमिल शब्द अन्बु है, जिसका अर्थ प्रेम होता है। भक्ति या तमिल का पत्ती, काफी बाद में प्रयोग में आया। भक्त और भगवान के बीच द्विपत्रीय सम्बंध की कल्पना की गई। भगवान के द्वारा भक्त के प्रति प्रेम के लिए 'अरुल' शब्द का प्रयोग हुआ।

दक्षिण भारतीय भक्ति की जड़ों को संगम काव्य के कुछ विशिष्टताओं में तलाशा जा सकता है, साथ में *'परिपाटल'* और *'पत्तुपाट्टु'* के कुछ तत्वों में भी। उदाहरण के लिए, *तिरुमुरुकरुप्पटई* नाम के एक काव्य में (मुरुगन भगवान की ओर मार्गदर्शन) मुरूगन भगवान के लिए प्रयुक्त उन नामों का संदर्भ आया है, जिनमें उनसे जुड़ी गाथाओं का बोध हो जाता है। ऐसी भी प्रवृत्ति देखी जा सकती है, जिसके अनुसार, मुरूगन के अनेक निवास स्थानों का बोध होता है। भक्तों से आग्रह किया कि वे उन स्थानों की यात्रा करें। ज्वेलबिल (1977) ने संकेत दिया है कि औपचारिक मान्यता के अनुसार, भक्ति काव्य के पूर्वज के रूप में *तनिप्पातल* को देखा जाता है। आकम और पुरम दोनों श्रेणी के काव्यों में उपलब्ध लोककाव्य पाटन नाम के वीर रस काव्य से भी इनकी कड़ी जोड़ी जा सकती है, जिनमें अपने संरक्षक के लिए प्रशस्ति लिखकर भेंट में अपेक्षा की जाती थी। पाटन तथा भक्ति काव्य दोनों में अत्यंत व्यक्तिगत स्पर्श का अनुभव किया जा सकता है। इस संदर्भ भक्ति गीतों में राजा के स्थान पर केंद्र में ईश्वर होते हैं, उनकी स्तुति की जाती है और बदले में उनसे आशीष की अपेक्षा होती है।

परम्परा के अनुसार, 12 आलवार और 63 नायनमार संत हुए हैं। इन संतों के गीतों को आज भी देवालयों में गाया जाता है। स्वयं इन संतों की पूजा की जाती है, एक ऐसी परम्परा जिसकी शुरुआत चोल काल में हो चुकी थी। नायनमार संतों की तस्वीरें मंदिरों में गर्भ-गृहों के बाहर चित्रित हैं और उनकी भी पूजा होती है। विष्णु मंदिरों में तो अवतार संतों के लिए पृथक मंडपों का भी निर्माण किया जाने लगा। वैसे कुछ संतों की ऐतिहासिकता में विद्यमान हैं, क्योंकि इनके पवित्र जीवन चरितों में गाथा को यथार्थ से अलग करना अधिकतर कठिन हो जाता है। ऐसे पुरुष संत, सन्यासी या त्यागी नहीं थे। इन्होंने समाज में ही जीवन व्यतीत किया और इनमें से अधिकांश गृहस्थ थे, किंतु महिला संतों की स्थिति भिन्न थी, जैसा हम आगे पाएंगे।

आलवार और नायनमार काव्यों में भक्ति प्रतिबिम्बित होती है, जो स्वत: अंतरंग, घनीभूत और आह्लाद से परिपूर्ण है। कवियों ने ईश्वर की अनेक स्वरूपों में कल्पना की है—एक मित्र, माता, पिता स्वामी, गुरू तथा पति के रूपों में। कई पुरुष संतों ने महिला के स्वर में एक प्रेयसी या पत्नी के रूप में ईश्वर मिलन की लालसा अभिव्यक्त की। उदाहरण के लिए, मणिक्कवाचकर ने ईश्वर की कल्पना एक शाश्वत पतिपरमेश्वर के रूप में किया। नाम्मालवार ने ईश्वर में इतने सशक्त पुरुषत्व का साक्षात्कार किया कि भक्त को अपने पुरुषत्व की विस्मृति हो जाए। भक्ति के केंद्र में पुरुषत्व की प्रधानता थी, जो लिंगभेद आधारित भूमिका का यथार्थ था, इसलिए स्त्री स्वर की स्वाभाविक रूप से पूर्ण प्रेम और संपर्ण के लिए उयुक्त था (हालांकि, कुछ महिला संतों के द्वारा पुरुष स्वर के प्रयोग के भी उदाहरण उपलब्ध हैं)।

नायनमार एक सम्मान सूचक शब्द है। शैव संत स्वयं के लिए इनका उपयोग नहीं करते थे। वे स्वयं को 'अटियार' (नौकर) या 'टोंटार' (दास) कहते थे अर्थात् वे अपने को शिव के नौकर और दास के रूप में देखते थे। 63 नायनमारों में 3 को 'मुवार' (तीन सम्मानित संत) से संबोधित किया गया है—सम्बन्दार, अप्पर तथा सुन्दरर—जिन्हें विशेषतौर पर महत्त्वपूर्ण माना गया है तथा जिनकी प्रतिमाओं की मंदिरों में विशेष रूप से स्थापना की गई है। इनके साथ कभी-कभी मणिक्कवाचकर की भी एक प्रतिमा होती थी। शैव कवि-संतों के समुदाय की अवधारणा, प्रारंभिक 8वीं सदी से शुरू हुई, जब सुदंरर ने तिरूट्टोनदार टोकई (पवित्र दासों की सभा) शीर्षक काव्य में 62 नायनमारों की सूची दी। 10वीं सदी की शुरुआत में नम्बी अंडार नम्बी ने *तिरुत्तोंटर तिरुवन्ताति* (पवित्र दासों का पावनगीत) की रचना की, जिसमें उन्होंने सुदंरर सहित इन 62 संतों का संक्षिप्त जीवन-चरित प्रस्तुत किया। उन्होंने, संतों के गीतों का 12वीं शताब्दी के मध्य में सभी संतों की रचनाओं का *पेरियपुराणम* के नाम से संकलन किया। यह इस कोटि के 12वें तथा अंतिम कृति के रूप में *तिरुमरई* के नाम से सामने आया। इन पद्यों का एक संकलन-तीवरम इसी वृहत्तर कृति का एक हिस्सा है।

शैव भक्ति में भगवान और भक्त के बीच के सम्बंध को सामान्यत: स्वामी और दास के बीच के सम्बंध के रूप में देखा गया है। मणिक्कवाचकर ने अक्सर ईश्वर के समक्ष 'द्रवीभूत' हो जाने की अभिव्यक्ति की है। दैहिक एवं भौतिक अवस्था को देय दृष्टि से देखा गया है। उपासना के दौरान आनंदातिरेक की स्थिति का वर्णन मिलता है, जब भक्त की वैखरी में असंतुलन हो जाता है, अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, वह उमंग में चिरकने लगता है और वस्तुत: भक्ति में विलीन हो जाता है। कवि के स्वर में उन्माद के लक्षण होते हैं तथा वह अपनी कमियों के लिए अपनी निंदा करता है। वह ईश्वर से घरेलू तौर पर संवाद करता है। उदाहरण के लिए, एक गीत में मणिक्कवाचकर ने शिव को उन्मादी (पिट्ट) कह कर निंदा करते हुए धमकी दी है, यदि शिव उसको त्याग देंगे।

आलवार का अर्थ है कि जो गहराई में गोता लगाता है अथवा वह जो दिव्यता में विलीन हो गया हो। बारह आलवारों के भजनों को 10वीं शताब्दी में *नलयिरा दिव्य प्रबंधम* (चार हजार पवित्र भजन) के नाम से नाथमुनी ने संग्रहित किया, जो वैष्णवों का प्रामाणिक धर्म संग्रह है। आलवार संतों के जीवन चरितों का पहला महत्त्वपूर्ण संकलन, गरुड़वाहन के द्वारा 12वीं शताब्दी में *दिव्य सुरिचरितम* संग्रहित किया गया। आलवार भक्ति परंपरा के भक्त और मायोन या भाल (कृष्ण) के बीच, प्रेमी-प्रेयसी सम्बंध की अभिव्यक्ति हुई है। कुछ प्रकरणों में माता-पुत्र के बीच के सम्बंध

प्राथमिक स्रोत

नायनमार संत अप्पर के गीत

शिव भक्ति परः

क्यों करना गंगा और कावेरी में स्नान
या कि कुमारी में लगाना पवित्र डुबकी?
क्यों करना स्नान वहां, जहां
जलधियों का जल है मिलता?
तुम्हारी रक्षा केवल तभी होगी,
जब आओगे
और देखोगे सर्वत्र तुम परमेश्वर को।
वेदों का पाठ क्यों, वैदिक कर्मकांड क्यों?
धर्म ग्रंथों का नित्यदिन पाठ क्यों
तुम्हारी रक्षा केवल तभी होगी
जब ध्यानोगे
सदैव तू परमेश्वर को।
क्यों भटकना वनों में, और
क्यों नगर-नगर भटकना?
ग्रंथों में लिखे कठोर तपों को
उनको क्यों है करना?
क्यों उपवास कर तड़पना, और
नीले आसमान को क्यों निहारना
तुम्हारी रक्षा केवल होगी तब,
जब होगी आस्था सद्ज्ञान में तुम्हारी।
हजारों तीर्थों का जल लाकर
करते कौन-सा व्यर्थ अनुष्ठान?
वह ऐसा है कि किसी फूटे घट में
लाकर जल को भरकर
वह मूर्ख जो करता रखवाली
तुम्हारी रक्षा केवल होगी तब,
जब प्रेमार्पण
करोगे तुम मंगलकारी ईश्वर को।

भक्त समुदाय के लिए अप्पर के वचनः

वो जो भी हो,
वो जहां भी हो
नवाते हैं शीश यदि शिव के समक्ष
शिव, धारते जो गंगा को
जटाओं में अपनी
ईश्वर है मेरे लिए वो–
क्यों न वे कोढ़ी हो
गल चुका हो मांस क्यों न,
निम्नतम कोटि क्यों न हो जिनकी
गोचर्म का भी क्यों नहीं
करते हों कार्य जो
नवाते हैं शीश यदि शिव के समक्ष,
मैं नवाता हूं शीश अपना उनके समक्ष,
मैं अर्पित करता
उनको अपना पूजन।

स्रोतः *तिरुमुरई* 5, अप्पर के भजन 99, संख्या 1, 2, 4, 6, 8 तथा 10; दहेजिया, 1988: 13–14; तिरूमुरई 6, भजन 95, पद्य संख्या 10; दहेजिया, 1988: 38

का आह्वान किया गया। भगवान के भक्त के लिए अनुष्ठानों और कर्मकांडों का संपादन धर्म परायणता की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखता था। संपूर्ण ध्यान अनिवार्य रूप से केवल भगवान से प्रीति पर था।

फ्रीडहेल्म हार्डी (1983) ने तिरूवंतिस में विद्यमान पौराणिक संदर्भों का विश्लेषण किया है, जो आलवार धार्मिकता की प्रारंभिक अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है तथा इसमें कृष्णावतार की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। भक्तों को भगवान की सेवा करते, अराधना करते, स्तुति करते तथा श्रृंगार करते हुए वर्णित किया गया है। स्पष्ट है कि ऐसा वर्णन किसी मंदिर के संदर्भ में कृष्ण की प्रतिमा-पूजन से जुड़े अनुष्ठान प्रतीत होते है। भक्त में ही भगवान के अस्तित्व की अवधारणा भी प्रतिपादित की गई है। हार्डी ने आलवार गतिविधियों के केंद्र में वेंकटम-कांची क्षेत्र से दक्षिण तमिलनाडु और दक्षिण केरल की दिशा में होने वाले स्थानांतरण को और अंततः उकनी श्रृंगम में हुई स्थापना को, वेंकट्म से कोट्टियुर तट के बीच विस्तृत मंदिरों की उपस्थिति के आधार पर रेखोंकित करने का प्रयास किया है। भक्ति के संपूर्ण आयाम की भौतिक संरचना 95 मंदिरों के आधार पर खड़ी है।

नाम्मालवार की काव्यशैली नवीन प्रतीकों के साथ प्राचीन अकम काव्य शैली पर आधारित है। भक्त और देवता के बीच का सम्बंध प्रेमी-प्रेयसी सम्बंध से उपमेय है। कृष्ण से जुड़ी गाथाएं तथा उनका गोपियों के साथ सम्बंध विशेष रूप से पिन्नई नाम की गोपी के साथ, एक साथ भावुकता और कामुकता का बोध कराता है। कामुकता के तत्व सर्वाधिक रूप से स्त्री-संत कोडई के काव्यों में अभिव्यक्ति पाते हैं, जो अंडाल के नाम से प्रसिद्ध हुई (आंडाल का शाब्दिक अर्थ है वह जो शासन करता है)। आंडाल के भजन के विरह की पीड़ा और ईश्वर के साथ मिलन की उत्कंठा से ओत-प्रोत है। भक्ति-संत विविधा सामाजिक, पृष्ठभूमि से सम्बंध रखते थे। सर्वाधिक अनुपात (लगभग दो तिहाई) ब्राह्मणों का था, जिनमें सर्वाधिक लोकप्रिय संत भी थे। लेकिन साथ में अन्य सामाजिक पृष्ठभूमि के भी संत थे–राजन्य, मुखिया, असैनिक और सैनिक अधिकारी, व्यापारी और भूमि-पति। संतों में कुछ गोपालक, धोबी, बुनकर, कुम्हार, पासी, बहेलिया, मछुआरे या राहगीरों को लूटने वाले डाकू भी थे।

दो संत–शैव संत नंदनार और वैष्णवसंत तिरूप्पन आलवार–'अस्पृश्य' कहे गए हैं। नंदनार, ढोल या अन्य तारों वाले वाद्य यंत्रों के लिए चमड़े का कार्य, जीवन-यापन के लिए करते थे। उनके पवित्र जीवन चरित के अनुसार, एक बार शिव ने चिदम्बरम मंदिर के पुरोहित को मंदिर के समक्ष प्रज्जवलित करने का आदेश दिया, जिसमें से

मणिक्कवाचकर की कांस्य प्रतिमा (राष्ट्रीय संग्रहालय)

नंदनार बिना क्षति के बाहर आ गए। अपने ईश्वर के दर्शन की उनकी अभिलाषा पूरी हुई तथा ऐसी मान्यता है कि इसके बाद वे नृत्य करते शिव की प्रतिमा के पैरों के नीचे लुप्त हो गए। तिरुप्पन आलवार की अभिलाषा श्रीरंगम में अपने आराध्य के दर्शन की थी। उनके पवित्र जीवन चरित के अनुसार, भगवान ने मंदिर में एक ब्राह्मण को स्वप्न में निर्देश दिया कि वह तिरुप्पन को अपने कंधे पर बैठाकर मंदिर के गर्भ-गृह में ले जाए। इस प्रकार आलवार संत का मंदिर में प्रवेश और अपने आराध्य का दर्शन संभव हो सका।

ऐसा होने पर उन्होंने एक भजन गाया, अपना अंतिम भजन और फिर विष्णु की प्रतिमा में विलीन हो गए। नंदनार और तिरुप्पन आलवार की कथाओं को समझने के दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक ओर तो यह संदेश मिलता है कि भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला है, उनके लिए भी जिन्हें समाज अस्पृश्य कहता है। दूसरी ओर, यह भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि इन भक्त संतों के लिए भी भगवान के मंडप में प्रवेश आसान नहीं था, इसके लिए दैवीय हस्तक्षेप आवश्यक था और इसकी परिणति मृत्यु थी।

भक्ति से स्त्री के जुड़ाव के जटिल आयाम हैं। पेरियार पुराणम जैसे कुछ शैव ग्रंथों में स्त्री के विषय में निन्दात्मक प्रवृत्ति देखी जा सकती है। भक्ति-संतों में महिलाओं की संख्या अत्यल्प कही जा सकती है। नायनमार संतो में तीन का नाम आता है—कारइक्काल अम्मईयार, मंगईयरक्करसियार, तथा इसइनानियार। आंडाल, आलवार संतों में एक मात्र महिला संत है। यह महत्त्वपूर्ण है कि कुछ महिलाएं, भक्ति संत हुईं, किंतु नेतृत्व निर्विवादित और अनिवार्य रूप से पुरुष भक्ति-संतों के हाथों में कहा जा सकता है। जहां तक उनकी सदस्यता वर्जित थी और केवल रामानुज (11वीं शताब्दी) काल से और वैष्णव आंदोलन के बढ़ते हुए प्रभाव से, 12वीं सदी के बाद शैव भक्ति में महिला भक्तों की सहभागिता बढ़ी।

पहले के अध्यायों में भी हम देख चुके हैं कि स्त्री और मुक्ति/निर्वाण के बीच का सम्बंध प्राय: सभी धार्मिक परंपराओं में जटिलताओं से परिपूर्ण रहा है। दक्षिण भारतीय भक्ति के संदर्भ में उमा चक्रवर्ती ([1989], 1999) ने भक्त संतों की पवित्र जीवन चरितों और भक्ति के भजन के विश्लेषण के बाद यह पाया है कि महिला और पुरुष भक्ति-संतों की भक्ति की अनुभूतियों में एक मूलभूत अंतर देखा जा सकता है। पुरुष भक्ति संतों में ईश्वर के प्रति भक्ति और उनके गृहस्थ जीवन के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं प्रतीत होता, जबकि भक्तिनों का शरीर भक्ति के मार्ग में प्रत्यक्षय रूप से अतिक्रमण करता मालूम होता है। यौवन और सौंदर्य बोझ मालूम पड़ता है तथा प्रतीत होता है कि महिलाओं से विवाह और परिवार का अपनी भक्ति से समन्वय नहीं बनाया गया। विजय रामास्वामी (1997) ने भी इस तथ्य को रेखांकित किया है

प्राथमिक स्रोत

आंडाल के गीत

I

विवाह मंडप सजा है
सेज सजा मोतियों की हार से
स्वर्ण का पूर्ण कुम्भ तैयार है
मैं देखती हूं कि एक पुष्ट सौष्ठव
सांढ़ के वेग से
होता प्रवेश है माधव का
देवताओं की उपस्थिति में
करते हैं पाणिग्रहण मेरा
फिर करते परिक्रमा अग्नि का
संग मेरे
यह स्वपन देखा मैंने, हे सखी।

II

कितना सौभाग्यशाली है शंख
कान्हा होठों पर अपने लगाते जिसे
अण्डाल की लिप्सा है जानने का
स्वाद उनका
क्या कपूर का है सुवास उनमें?
या कि कमल का सुंगध?
प्रवाल वाले वे सुमुख
मैं मरी जा रही, जानने को
माधव का कैसा है मुख
जिन्होंने तोड़े थे हाथी के दंत
कैसा स्वाद, कैसा सुगंध उनमें
हे, सागर के रूपहले शंख!

स्रोत: वरनमइयरम, नचियार, तिरूमोझी, श्रीवत्सन्; रामास्वामी, 1997: 125; के.सी. कमलईया, रामास्वामी, 1997: 126 में उद्धृत

प्राथमिक स्रोत

कारइक्काल अम्मइयार–उनका जीवन और उनके गीत

कारइक्काल अम्मइयार के पवित्र जीवन चरित में अधोलिखित कथा दी गई है: युवती पुनीतावती का पति तब भयभीत और हत्प्रभ हो गया जब उसने उसकी अस्वाभाविक शक्तियों को अनुभव किया जो उसकी शिव की प्रति अटूट भक्ति के कारण प्राप्त हुई थी। उसने उसका परित्याग कर दूसरा विवाह कर लिया।

पुनीतावती ने शिव की कठिन आराधना की और कहा कि उसे अब सौंदर्य की कोई आवश्यकता नहीं। उसने स्वयं को एक राक्षसी (पेय) में रूपांतरित कर देने की याचना की। शिव ने उसकी इच्छा पूर्ण करते हुए उसे एक जीर्ण-शीर्ण, कुरुप स्त्री में रूपांतरित कर दिया। तब से लोग उसे कारइक्काल अम्मइयार के नाम से जानने लगे। उसने कैलाश पर्वत की तीर्थयात्रा की। वह कैलाश जाने वाले मार्ग को अपने पैरों से अपवित्र नहीं करना चाहती थी, इसलिए उसने भगवान के पास की यात्रा हाथों पर चलकर किया। शिव ने उसका स्वागत किया और उसने शिव को अप्पा (पिता) कहकर संबोधित किया।

कारइक्काल अम्मइयार ने शिव को तिरूवलन कटु के बरगद-वन में तांडव नृत्य करते हुए देखकर, अपने स्वप्न को भी साकार किया। इस दृश्य को उसने अपने एक गीत में इस प्रकार वर्णित किया है:

ढलते स्तन और उभरी नसें
बाहर निकल चुकी आंखें, दन्त विहीन
अस्थियों या पांव और घुटने घुर्मित
हो चुके हैं अब, इस नारी के
वह बिलखती, करती रूदन और
विलाप
निरूद्देश्य विचरण करती इन वनों में
वहां, अग्नि को धारण किए, फिर भी
शांत
खड़ी है जटाएं, जिसकी सब दिशाओं
में
वहीं, शिव ने नृत्य किया तांडव का
इसी वन में
इसी पवित्र अलंकुट में
निवास है, हमारे परमेश्वर का

कारइक्काल के गीत, मंदिरों में गाने-बजाने के लिए नहीं परिलक्षित थे। शायद उन्हें काफी अंधकारमय और निषेधात्मक समझा जाता था। नयनमार संत की प्रतिमाएं, केवल 12वीं शताब्दी के बाद से ही मंदिरों में स्थापित की जाने लगी।

स्रोतः *तिरुवलनकडु मुथा तिरुपदिकरम,* पद्य-1, तिरुमुरई 11; दहेजिया, 1988: 118

कि स्त्री के द्वारा सन्यास, पुरोहिताई, तथा मोक्ष के लिए किए गए दावों को हमेशा चुनौती दी गई। इतिहास साक्षी है कि सामान्यतः स्त्रियों ने अपने आध्यात्मिक जिज्ञासा के लिए पारिवारिक बंधनों का परित्याग किया है तथा इस क्रम में विद्रोही और विपथगामी कहलाने का जोखिम उठाया है।

भक्ति परंपरा के सामाजिक महत्त्व और प्रभाव को समझने के लिए यह आवश्यक है कि नेतृत्व से हटकर समीक्षा की जाए। भक्ति भजनों में अभिव्यक्त, विचारों और भक्ति के परिणामस्वरूप धार्मिक स्थानों की विस्तृत सामाजिक संभावनाओं की समीक्षा करना भी जरूरी है। यह सच है कि नेतृत्व सदा कुलीनों के हाथों में रहा, विशेषकर ब्राह्मण के और भक्ति के विद्यमान सामाजिक सम्बंधों में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं आया। फिर भी भक्ति ने ऐसा धार्मिक समुदाय तैयार किया, जिसके अंतर्गत सामाजिक विभेदों को नजरअंदाज करना संभव नहीं लगा था, कम से कम भक्त/मजिन के अपराध के बीच में सम्बंध के संदर्भ में यह बिल्कुल संभव हो गया। इस प्रकार के भाव भक्ति संतों के गीतों में प्रभावपूर्ण ढंग से विस्तीर्ण है, जिसे भक्त कुलम अथवा टोंडई कुलम (भक्तों के समुदाय) में स्वीकार किया गया है।

डी.डी. कोसाम्बी (1962: 31-32) ने वर्षों पहले यह प्रस्तावित किया था कि भक्ति जो निष्ठा और आस्था की धुरी पर टिकी है, एक ऐसी विचारधारा थी, जो सामंतवादी राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। इस तर्क को बाद में कई इतिहासकारों का समर्थन मिला, जिनका मत था कि विशाल भू-संपदा के स्वामी के रूप में मंदिरों का उदय, उन्हें सामंतवादी व्यवस्था का अभिन्न अंग बना दिया। चूंकि भक्ति आंदोलन मंदिर-केंद्रित आंदोलन था, इसलिए उस पर सामंतवादी अमली-जामा ओढ़ा दिया गया और यह भी सुझाव दिया गया कि यह आंदोलन न केवल सामंतवादी सामाजिक सम्बंध को प्रतिबिम्बित करता था, बल्कि उन्हें वैधता प्रदान करने का भी कार्य किया। (झा, 1974; नारायण तथा वेलूथट (1978), किंतु हमने पाया है कि पूर्व मध्ययुग को पूर्ण रूप से या मंदिरों की भूमिका को विशिष्ट रूप से 'सामंतवादी' करने में अनेक समस्याएं हैं। इसके अतिरिक्त भक्ति को सामंतवादी विचारधारा से प्रेरित होने के तथ्य को मानने से, हम उस तथ्य को बहुत हद तक नजर अंदाज करते हैं कि भक्ति ने विद्यमान सामाजिक पदानुक्रम पर न केवल प्रश्न चिह्न लगाया, बल्कि धार्मिक परिधि के सामाजिक दायरे का विस्तार किया।

दक्षिण भारतीय भक्ति और कालांतर में हुए विकास का दार्शनिक आधार

आलवार वैष्णव भक्तों के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन वैष्णव आचार्यों के द्वारा किया गया। इनमें से प्राप्त नाथमुनि हुए, जो श्रीवैष्णव संप्रदाय के संस्थापक थे। इनका काल 10वीं सदी के अंत और 11वीं सदी की शुरुआत में था। इनका जन्म वीरनारायणपुर में हुआ, और इनका जीवन श्रीरंगम में बीता। अपनी *न्यायतत्व* नामक कृति में इन्होंने प्रपत्ति–ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण, की अवधारणा का प्रतिपादन किया। अन्य प्रमुख श्रीवैष्णव आचार्यों में–यामुनाचार्य (10वीं शताब्दी), रामानुज (11वीं-12वीं शताब्दी) तथा माधव (12वीं/13वीं शताब्दी) हुए।

रामानुज शुरू में कांचीपुरम में रहते थे, बाद में श्रीरंगम आकर बस गए। ऐसा कहा जाता है कि इस शैव भक्त को चोल शासक के द्वारा प्रताड़ित किया गया, इसलिए उन्होने एक होयसल शासक के यहां आश्रय ले लिया। रामानुज की अनेक कृतियों में *वेदांतसार, वेदार्थसंग्रह* और *वेदांतदीप* शामिल हैं। उन्होंने *भगवद्गीता* और *ब्रह्मसूत्र* पर टीकाएं भी लिखीं। उनका दर्शन विशिष्टाद्वैत कहलाता है, जो वैष्णव भक्ति और उपनिषदीय एकेश्वरवाद का संगम है। इस दर्शन के अनुसार, ब्रह्म सगुण है, तथा इस रूप में भक्त अपनी भक्ति से ईश्वर तक पहुंच सकता है। ब्रह्म और आत्मा के बीच के सम्बंध की उपमा गुलाब और उसकी लालिमा से की गई है। आत्मा के सिवा ब्रह्म का अस्तित्व नहीं है, जिस तरह अपनी लालिमा के बिना गुलाब का अस्तित्व नहीं है। आत्मा और ब्रह्म, एक-दूसरे से अलग नहीं हैं और न ही वे एक हैं। दोनों का अपना अस्तित्व है, किंतु एक-दूसरे से अविभाज्य हैं।

मध्व ने ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर टीका लिखा और *भारततात्पर्यनिर्णय* नाम का एक ग्रंथ भी, जो पुराणों और महाकव्यों पर आधारित है। उन्होंने इस विचार का खंडन किया कि ईश्वर की इच्छा, संसार की सृष्टि का भौतिक कारण है। उनका मत था कि ईश्वर, व्यक्तिगत आत्मा और संसार से बिल्कुल अलग है। उनका मानना था कि व्यक्तिगत आत्माओं में बहुत त्रुटियां होती हैं, किंतु ईश्वर की आराधना और सेवा से वह पूर्णता के समीप पहुंच सकता है। ईश्वर और आत्मा के बीच मालिक-नौकर का सम्बंध होता है।

शैव सिद्धांत (पहले उल्लेख किया जा चुका है।) शैव धर्म का ही एक सम्प्रदाय था, जो पूर्ण मध्यकालीन दक्षिण भारत में लोकप्रिय था। इस संप्रदाय के द्वारा, शैव भक्ति को दार्शनिक और आध्यात्मिक आधार दिया गया। शैव सिद्धांत के सबसे प्रमुख दक्षिण भारतीय आचार्यों में मेयकाण्डदेव, अरुलनंदी शिवाचार्य, मरईज्ञान सम्बंधर तथा उमापति शिवाचार्य हुए। मेयकाण्डा रचित 13वीं सदी की *शिवज्ञानबोधम* में इस सम्प्रदाय के सिद्धांत संकलित हैं।

पूर्व मध्यकाल में वीरशैव या लिंगायत संप्रदाय की बढ़ती लोकप्रियता का अनुभव किया जा सकता है। इस सम्प्रदाय का उद्भव 12वीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम कर्नाटक में हुआ था। यद्यपि, इसके नेतृत्वकर्त्ता अधिकांशत:

प्राथमिक स्रोत

बसवण्ण की वाचनाएं

धनाढ्य बना लेंगे मंदिर शिव को
मैं निर्धन करूंगा क्या
मेरे पांव ही स्तंभ
शरीर ही मंदिर
शीश ही शिखर का मंगल-कलश
स्वर्ण का
सुनो, हे नदियों के संगम के देव*
चीजें जो खड़ी हैं, वे गिरेंगी
केवल जो चलायमान है टिकेंगी

यहां देखो, मेरे बंधु
मैं पुरुषों का पहनती परिधान
केवल तुम्हारे लिए
कभी मैं पुरुष हूं
कभी मैं नारी हूं

हे, नदियों के संगम के देव
मैं करूंगी, युद्ध तुम्हारे लिए
लेकिन रहूंगी आपके भक्त की
अर्द्धांगनी,

किंतु नहीं खेलना इससे
जिसे कहते हैं भक्ति
यह आरे की तरह
काटती है जब जाती है, वह
फिर काटती है जब
वह फिर आती है
यदि नाग के घड़े *
में डालोगे हाथ अपने
क्या वह जाने
देगा तुम्हें यूं ही।

* कुडालसंगम देव (नदियों के संगम देव) के नाम से ही, बसावन्ना शिव को अक्सर संबोधित करती है। कुडालसंगम उत्तरी कर्नाटक में दो नदियों के संगम पर स्थित स्थान हैं, जिस स्थान पर बसावन्ना ने मोक्ष प्राप्त किया।

**सांप से भरे घट में हाथ डालना, विष पान करना, या आग पर चलना, कुछ वैसे प्रायश्चित हैं, जो किसी पुरुष/स्त्री के द्वारा स्वयं को निर्दोष या पवित्र सिद्ध करने के लिए प्रस्तावित हैं।

स्रोत: बसवण्ण 820, 703 तथा 212; रामानुजन, 1973: 88, 87, 79

ब्राह्मण थे, इसकी सामाजिक पृष्ठभूमि शिल्पकार, व्यापारी और कृषक वर्ग से तैयार हुई थी। इसकी प्रवृत्ति जाति-विरोधी तथा ब्राह्मण-विरोधी थी। इसने वैदिक परंपरा, यज्ञ, कर्मकांड, सामाजिक रिति-रिवाज तथा अंध विश्वासों को अस्वीकृत कर दिया।

हालांकि इन्होंने भी अहिंसा पर बल दिया, फिर इन्होंने जैन धर्म की आलोचना की, जो कर्नाटक क्षेत्र में अत्यंत प्रभावशाली था। संप्रदाय के द्वारा अपनी उत्पत्ति पांच महान आचार्यों की परंपरा में स्वीकार करता है–रेणुक, दारुक, घंटकर्ण, धेनुकर्ण तथा विश्वकर्ण, किंतु इन्होंने कर्नाटक क्षेत्र में जो लोकप्रियता हासिल की उसका मुख्य कोष बसवण्ण के प्रयासों को जाता है। अक्का महादेवी नाम की महिला-संत भी इसी संप्रदाय की थीं। कर्नाटक क्षेत्र से ही वीर शैव परंपरा का प्रसार दक्षिण भारत के अन्य हिस्सों में हुआ। महिला और पुरुष दोनों कोटि के सदस्यों द्वारा अपने शरीर पर लिंग धारण किया जाता था, जो इष्टलिंग कहलाता था। इनकी मंदिरों में ईश्वर अराधना में आस्था नहीं थी। सभी के प्रति दया ही संतों की शिक्षा में महत्त्वपूर्ण था, किंतु सर्वाधिक बल शिव की भक्ति पर दिया गया। वीर शैवों ने अन्य शैव मतों के सिद्धांतों को स्वीकार किया, लेकिन इनकी प्रेरणा का केंद्रीय स्रोत *वचन* नाम से प्रसिद्ध मुक्त छंद काव्यों में निहित थी, जो संतों की ही रचनाएं थीं।

मंदिरों को मिलने वाला संरक्षण

धार्मिक प्रतिष्ठानों का निर्माण और उनका अलंकरण, विभिन्न स्रोतों के द्वारा प्रदत्त संरक्षण का परिणाम प्रतीत होता है। हरमन कुल्के ([1993], 2001) ने सुझाव दिया है कि पूर्व मध्य युगीन शासकों ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए, प्रमुख धार्मिक स्थानों का संरक्षण, मंदिरों को विशाल अनुदान तथा साम्राज्यीय मंदिरों के निर्माण का कार्य किया। कुछ विशेष मंदिरों के संदर्भ में राजकीय संरक्षण की महती भूमिका रही, जो शासक के द्वारा देवताओं और विशिष्ट मंदिरों से सम्बंध बनाने के प्रति उत्साह का परिचायक है। तंजावुर (तंजोर स्थित बृहदेश्वर मंदिर) इसका एक उदाहरण है, जिसकी चर्चा कई संदर्भों में की जा चुकी है। ऐसे मंदिरों का निर्माण शासकों के निर्देश पर करवाया गया तथा इन मंदिरों के रख-रखाव के लिए राजा और राज परिवार के सदस्यों के द्वारा दिए गए अनुदानों की विशेष भूमिका रही।

ओडिशा में राजकीय रूप से समर्थित मंदिरों के अनेक उदाहरण हैं। भुवनेश्वर का सबसे विशाल मंदिर लिंगराज है। मान्यता के अनुसार, कृतिवास (जैसा कि उस काल के लिंगराज जाने जाते थे) के मंदिर को बनाने में सोमवंशी शासकों की तीन पीढ़ियां लगीं। 12वीं सदी तक ओडिशा, अनिवार्य रूप से शैव क्षेत्र था। तब 12वीं शताब्दी में, पुरुषोत्तम (बाद में जगन्नाथ के नाम से प्रसिद्ध) देवता के संप्रदाय को साम्राज्यिक सम्प्रदाय के स्तर तक ऊंचाई प्राप्त हो गई, जब गंग शासक अनंतवर्मन चोड़गंग ने पुरी में पुरुषोत्तम मंदिर की स्थापना की। मान्यता के अनुसार, अनंतवर्मन की आकांक्षा थी कि वह तंजावुर के बृहदीश्वर मंदिर से भी भव्य एक मंदिर की स्थापना करे। 1230 सा.सं. में अंगनमीन-III ने अपने साम्राज्य को पुरुषोत्तम के प्रति समर्पित कर दिया तथा स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया। लेकिन इस श्रेणि के कुछ अन्यतम उदाहरणों को छोड़कर ओडिशा में मंदिर निर्माण और स्थापत्य का प्रक्षेप-पथ प्राय: राजनीतिक इतिहास और राजनीतिक संरक्षण से परे रहा है।

दक्षिण भारत में बड़ी संख्या में अभिलेख मिलते हैं, जिनमें स्वर्ण, भूमि, पशुधन या धान जैसी वस्तुओं के राजकीय अनुदान, मंदिरों को दिए जाने का उल्लेख है। पल्लव काल से लेकर चोल काल तक, ऐसे अनुदानों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, तिरूपति के दान अभिलेखों में, 11 पल्लव काल के हैं तथा 31 चोल काल के। मंदिरों को दिए जाने वाले राजकीय अनुदानों की प्रकृति शाश्वत हुआ करती थी तथा इनको अनेक प्रकार के करों से मुक्ति और विशेषाधिकार दिए गए थे। मंदिरों के द्वारा मांडे पर भूमि दी जा रही थी। उदाहरण के लिए, सुंदर चोल (957-73) के शासनकाल में निर्गत एक अभिलेख में उद्धृत है कि मंदिर, प्रबंधन के द्वारा 124 वेलि (भूमि की एक माप) की देवदान भूमि को किसी व्यक्ति को दिया गया, जिससे अपेक्षा की गई थी कि वह प्रति वर्ष 2,880 कलम (अनाज की एक माप) चावल, 120 कलम प्रतिवेलि की दर से मंदिर को देगा।

लिंगराज मंदिर, भुबनेश्वर (ओडिशा)

अनेक मंदिरों का विस्तार अत्यंत उदार राजकीय संरक्षण के परिणामस्वरूप संभव हो सका। भुक्तेश्वर मंदिर अपने 54 कर्मचारियों के साथ विशालतम पल्लव मंदिर था जबकि तंजावुर

जगन्नाथ मंदिर, पुरी (ओडिशा)

के बृहदीश्वर मंदिर में 600 कर्मचारी कार्यरत थे। इनमें नृत्यांगनाएं, मृदंगवादक, दर्जी, स्वर्णकार तथा लेखाकार भी शामिल थे। मंदिर कर्मचारियों को अनाज विशेषकर चावल के रूप में वेतन मिलता था। चोल काल में, इनमें से कुछ को राजस्व भूमि भी दी जा रही थी।

डी.एन. झा (1974) जैसे कुछ विद्वानों का मानना है कि दक्षिण भारत में मंदिरों का उदय भूमिपति वर्ग के रूप में हो चुका था। परिहारों की बढ़ती संख्या किसानों के बढ़ते शोषण का द्योतक है और सामंतवादी कृषि सम्बंधों में विकास का भी। झा का यह भी मानना है कि मंदिर, राजनीतिक शक्ति के केंद्र बन चुके थे। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक शक्ति का विकेंद्रीकरण भी हो रहा था। लेकिन एक बात तो बिल्कुल तय है कि शासक और मंदिर के बीच संघर्ष नहीं, संधि का सम्बंध था। राजनीतिक वैधता की प्राप्ति और उसको बरकरार रखने का मंदिरों को दिया जा रहा संरक्षण एक सशक्त जरिया बन चुका था।

मंदिरों के संरक्षक मुखिया, भूमिपति, व्यापारी, ग्रामीण समुदाय तथा नगर सभाएं भी थीं। व्यापारियों के द्वारा सामान्य रूप से मुद्रा और पशुधन तथा कभी स्वर्ण और रजत के गहनों का अनुदान मंदिरों को दिया जाता था (झा, 1976)। बहुत सारे अनुदान मंदिरों में अहर्निश दीप जलाने के प्रयोजन से भी दिए गए थे। उदाहरण के लिए, तंजावुर के एक अभिलेख में 30 काशु (जो शायद रजत सिक्के थे) का अनुदान परांतक-1 के राज्यकाल में, किसी व्यापारी के पत्नी द्वारा, किसी मंदिर में अहर्निश दीप जलाने के उद्देश्य से दिए जाने का उल्लेख है। इसी शासक के काल निर्गत एक-दूसरे अभिलेख में एक व्यापारी के द्वारा तंजावुर जिले के वेदारण्यम मंदिर को, 90 भेड़ और वहां एक अहर्निश दीप जलाने के उद्देश्य से दिए गए अनुदान का उल्लेख है। तिरूचिरापल्ली जिला से प्राप्त 1055-56 सा. सं. के एक अभिलेख में किसी मंदिर में एक प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए और दो स्वर्ण कलंजु (कलंजु या तो स्वर्ण सिक्का था या 32 रत्ती की तौल को कहते थे) व्यापारियों द्वारा अनुदान में दिए जाने का उल्लेख है। व्यापारियों के द्वारा मंदिरों को भूमि अनुदान दिए जाने का भी उद्धरण आता है। कुछ अभिलेखों में अनुदान के पहले भूमि क्रय किए जाने का उल्लेख मिलता है।

व्यापारी श्रेणी संगठनों के द्वारा भी चोल काल में अनुदान दिए जा रहे थे। उदाहरण के लिए, कोडमबलुर के मणिग्रामम तथा तेन्नीलंगई के धर्मवनियर और वलनजियर के द्वारा दिए गए अनुदानों के अभिलेख मिले हैं। ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध हैं जिनसे कुछ शिल्पकार समुदायों के मंदिर प्रबंधन में सहभागिता का पता चलता है। उदाहरण के लिए, उत्तम चोल (970-85) के मद्रास संग्रहालय अभिलेख से संकेत मिलता है कि कांची पुरम के एक स्थानीय मंदिर के वित्तीय एवं अन्य कार्यों की देख-रेख वहां के बुनकरों के हाथ में थी।

सामाजिक इतिहास के दृष्टिकोण से धार्मिक अनुष्ठानों को दिए जाने वाले अनुदानों की प्रवृत्ति से स्त्रियों के धार्मिक जीवन की प्रवृतियों का भी अनुमान लगाया जा सकता है। लेसली ऑर (2000 बी) ने पाया 700 तथा 1700 के बीच तमिलनाडु में हिंदू, जैन और बौद्ध धर्मों को महिलाओं के द्वारा दिए गए संरक्षण से जुड़े प्रमाण तथा अभिलेखों का सर्वथा अभाव है, क्योंकि इस क्षेत्र में इनकी लोकप्रियता का काफी ह्रास हो चुका था, जबकि हिंदू मंदिरों से जुड़े प्रमाणों की विस्तृत सूचनाएं उपलब्ध हैं। फिर भी, इन तीनों धर्मों के संदर्भ में महिला अनुदानकर्त्ताओं का उद्धरण दिया जा सकता है। उन महिलाओं की सामाजिक पृष्ठभूमि में समरूपता है, जिनके द्वारा अनुदान दिया जा रहा था।

'धार्मिक महिलाओं' (भिक्षुणी, मंदिर स्त्रियां इत्यादि) के अतिरिक्त रानियां, राजन्य वर्ग की स्त्रियां, भूमिपतियों की पत्नियां, व्यापारियों, ब्राह्मणों की पत्नियां भी महत्त्वपूर्ण थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि विहारों और मठों से कहीं अधिक अनुदान की प्रवृत्ति मंदिर सेवाओं से जुड़ी थी। मंदिरों के निर्माण, प्रतिमाओं के निर्माण, दीपों की व्याख्या, पुष्प, देवताओं के भोग तथा मंदिर के कर्मचारियों के पालन-पोषण के लिए अनुदान किए जा रहे थे और इस बिंदु पर जोर देते हैं कि महिला पुरोहित, सन्यासी, या भिक्षु (स्त्री जिन भूमिकाओं से वंचित थी) की अपेक्षा धार्मिक गतिविधियां के लिए दिए जाने वाले अनुदानों के महत्त्व पर ध्यान देना अधिक उपयुक्त होगा। यदि इस दृष्टि से देखें तो पाएंगे विभिन्न धार्मिक परंपराओं में महिलाओं के द्वारा प्रदत्त अनुदानों का बाहुल्य था, जो उनकी सक्रिय सहभागिता की ओर इशारा करती है, साक्ष्यों में उनकी अनुपस्थिति की ओर नहीं।

अनुसंधान की नई दिशाएं

चोल अभिलेखों में मंदिर की स्त्रियां

लेसली ऑर ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया है कि चोल काल मंदिरों की स्त्री की दशा 20वीं सदी देवदासियों से बिल्कुल भिन्न थी। हो सकता है इस शब्द का प्रयोग कुछ-एक बार पहले भी हुआ हो, किंतु 20वीं सदी की शुरुआत से ही वास्तव में देवदासी शब्द का प्रचलन देखा गया है।

चोलकाल में मंदिरों की परि-चारिकाओं को 'तेवरतियार' (ईश्वर की भक्ति), 'तेवनार माकल' (ईश्वर की पुत्री) तथा 'तैलियिलार' या 'पतियिलार' (मंदिर की स्त्री) कहा जाता था। इन स्त्रियों का परिचय इनके जन्म, जाति, व्यावसायिक कुशलता या आनुष्ठानिक दायित्व के आधार पर नहीं था। उनका परिचय संबद्ध मंदिर, देवता या स्थान के आधार पर दिया जाता था।

इन स्त्रियों का सामान्यतः आनुष्ठानिक या कर्मकांडीय निष्पादन अथवा मंदिर प्रबंधन में कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी। मंदिरों के लिए इनके द्वारा केवल कुछ स्तर की कुछ सेवाओं का उल्लेख है। वैसे स्त्रियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हो रही थी, जो मंदिरों के संदर्भ में प्रायः दासियों की भूमिका निभा रही थी। फिर मंदिर की स्त्रियों का मंदिरों से सम्बंध, अनुदानों के माध्यम से था और उन्हीं मंदिरों से जो इनके गांव या नगर में अवस्थित थे। अनुदानकर्त्ता की हैसियत से अभिलेखों में इनकी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति देखी जा सकती है, विशेषकर 12वीं और 13वीं शताब्दियों के अभिलेखों में, और विशेषतौर पर तमिलनाडु के सबसे उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में। संपूर्ण तमिलनाडु में मंदिर स्त्रियों का अस्तित्व था। हालांकि, उनका कांचीपुरम जैसे नगरों से निकटस्थ सम्बंध था, लेकिन सामान्य तौर पर ये छोटे स्तर के मंदिर प्रतिष्ठानों से अधिक जुड़ी हुई थीं। चोल काल के अंतिम दौर में अनुदानों के परिणामस्वरूप, इन स्त्रियों के सम्मान और विशेषाधिकारों में अभिवृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, शोभा-यात्राओं में देवताओं के बिल्कुल समीप रहने का सम्मान या देवता के समक्ष भजन के कुछ हिस्सों की प्रस्तुति का अधिकार। ऐसे सम्मानीय अधिकार वंशानुगत हस्तांतरित किए जाने की संभावना भी दिखलाई पड़ती है। चोल काल में इन स्त्रियों को संभवतः वैवाहिक जीवन का अधिकार नहीं था।

प्रारंभिक चोल काल में स्त्रियों के द्वारा प्रायः मंदिरों में अहर्निश द्वीप जलने के खर्च वहन करने हेतु अनुदान दिए जा रहे थे, जबकि चोल काल के अंतिम चरण में इनके द्वारा मंदिरों से जुड़ी, दैनिक सेवाएं या विशेष अवसरों के उपलक्ष्य में सम्पन्न की जाने वाली सेवाओं, मंदिरों के परिचारकों के जीवन यापन, नए मंदिरों के निर्माण या प्रतिमाओं की स्थापना जैसे अनेक कार्यों के लिए अनुदान दिए जाने लगे थे। इस दृष्टिकोण से उनमें और समकालीन पुरुष अनुदानकर्त्ताओं के बीच भेद नहीं किया जा सकता। अभिलेखों से संकेत मिलता है कि चोल कालीन महिलाओं को अपनी गृहस्थी के आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण था। ऑर ने ध्यानाकृष्ट किया है कि, यद्यपि, चोल अभिलेखों में महिला अनुदानकर्त्ताओं का उल्लेख कम ही हुआ है, मंदिर स्त्रियों की उपस्थिति सदैव उपलब्ध है।

देवदासी प्रथा अपने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वंशानुगत रूप से हस्तांतरणीय दिखलाई पड़ती है, साथ में व्यावसायिक कार्यकुशलता और मंदिर के प्रति समर्पण से परिपूर्ण दिखलाई पड़ती है। इनमें से कोई तथ्य चोल कालीन मंदिर स्त्रियों के संदर्भ में लागू होता दिखलाई नहीं पड़ता। ये स्त्रियां न तो मंदिर की नर्तकी थी और न ही वेश्याएं। इनका देवताओं से कोई वैवाहिक सम्बंध नहीं था, न ही कोई ऐसा संकेत है कि इनकी कामुकता मंदिर के संदर्भों में सीमित थी। चोल काल में इनके अस्तित्व को किसी प्रकार से पतनोन्मुखी नहीं का जा सकता–बल्कि इनकी अवस्था, समय के साथ सुदृढ़ होती चली गई।

स्रोतः ऑर, 2009

पूर्व मध्यकालीन स्थापत्य और मूर्तिकला

(The Architecture and Sculpture of Early Medieval India)

मंदिर स्थापत्य की नागर, द्राविड़ और वेसर शैलियां

पूर्व मध्ययुग में कला और स्थापत्य के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण विकास हुए। कश्मीर, राजस्थान तथा ओडिशा सहित अन्य क्षेत्रों में स्थापत्य और मूर्तिकला की विशिष्ट क्षेत्रीय शैलियां विकसित हुई। प्रायद्विपीय भारत में राष्ट्रकूट, पश्चिमी चालुक्य, पल्लव, होयसल तथा चोलों के संरक्षण में विशाल स्तर पर निर्माण कार्य देखा गया। पूर्व की शताब्दियों से भिन्न, जब अधिकांश स्थापत्य सम्बंधी अवशेषों की प्रकृति बौद्ध थी, इस काल में हिंदू मंदिरों का निर्माण कार्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

नागर शैली के शिखर, लिंगराज मंदिर, भुवनेश्वर; द्राविड़ शैली के शिखर, बृहदीश्वर मंदिर, तंजावुर

शिल्पशास्त्रों (वास्तु और स्थापत्य पर लिखे ग्रंथ) की पर्याप्त संरचना पूर्व मध्य युग में की गई है। (प्राचीन तथा पूर्व मध्ययुगीन संरचनाओं में विशेषकर प्रतोलि, गोपुर तथा तोरण के संदर्भ में, शास्त्र और प्रयोग के बीच वास्तविक सम्बंध को ढूंढने का प्रयास किया गया है, (पाण्ड्या धर, 2006)। इनमें तीन मुख्य मंदिरों में स्थापत्य शैलियों का वर्णन मिलता है–नागर, द्राविड़ तथा वेसर। हिमालय से विन्ध्य के बीच की भूमि नागर शैली की है कृष्णा तथा कावेरी नदियों के बीच की भूमि द्राविड़ शैली की उत्कर्ष भूमि है, जबकि वेसर शैली का क्षेत्र विन्ध्य से कृष्णा नदी के बीच का है। मंदिर शैलियों का अध्ययन तत्कालीन मंदिरों के विद्यमानों अवशेषों के अध्ययन द्वारा किया जा सकता है। हार्डी (1995: 7-9) के अनुसार, नागर और द्राविड़ को स्थापत्य की भाषाओं के रूप में समझा जाना चाहिए। क्योंकि वे उन संरचनाओं के समूहों को एक निश्चित शब्दावली प्रदान करने में सक्षम हैं, अन्यथा जिनकी कई भिन्न व्याख्याएं की जा सकती थी। उनका मानना है कि दक्कन के चालुक्य मंदिरों के लिए 'वेसर' की अपेक्षा 'कर्नाट-द्राविड़' शब्दावली का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा।

नागर मंदिर की आधारभूत योजना वर्गाकार होती है, जिसके प्रत्येक हिस्से के मध्य में अनेक उभार होते हैं, जो इन्हें स्वास्तिकार स्वरूप देते हैं। मंदिर का उत्थान इनके शक्वाकार या उत्तल शिखर से रेखांकित होता है, जिस क्रम में उत्कीर्ण स्तरों का अस्तित्व होता है, जिनके ऊपर अधिकतर आमलक (अलंकृत वलयित पत्थर) देखे जा सकते हैं। ये दो विशेषताएं–स्वस्तिक आकार की योजना और वक्ररेखीय शिखर–उत्तर भारत में छठी शताब्दी (उत्तर गुप्त काल) से प्रकट होने लगे, जैसे देओगढ़ के दशावतार मंदिर में और भितरगांव में ईंट के बने मंदिर में (दोनों उत्तर प्रदेश में)। नचना कुठारा (7वीं शताब्दी) के महादेव मंदिर में लक्ष्मण मंदिर में शुद्ध नागर शैली के शिखर के प्राचीनतम उदाहरण मिलते हैं। 8वीं शताब्दी में नागर शैली का संपूर्ण विकास हुआ।

द्राविड़ शैली के मंदिरों की सबसे बड़ी विशेषता इनके सूचीस्तंभीय (पिरामिडी) शिखर हैं, जिनका उत्थान उत्तरोत्तर छोटी-छोटी मंजिलों के रूप में होता है, जो अंत में पतले शीर्ष का रूप ले लेती है, तथा इसके ऊपर स्तूपिका बनी होती है। बाद के चरण में, दक्षिण भारत की मंदिरों के विशाल गोपुरम (प्रवेश द्वार) अनेक स्तंभों वाले मंडप और गलियारे बनने लगे। इस प्रकार की प्राचीनतम संरचनाएं गुप्तकाल से देखी जा सकती हैं और इन्हें सुदूर दक्षिण के स्थापत्य तक ही सीमित नहीं कहा जा सकता है। इनके उदाहरण उत्तर भारत, मध्य भारत और दक्कन में भी मिलते हैं। ये नचना कुठारा के पार्वती मंदिर, ऐहोले के लड़खना, कोंट गुड़ी तथा मेगुटी मंदिरों में भी देखे जा सकते हैं। द्राविड़ शैली में बने मंदिरों में वर्गाकार अंत: गर्भगृहों के चारों ओर से छतोवाले विशाल

मंडप घिरे होते हैं। बाहरी दीवारें अर्धस्तंभों के द्वारा अलग-अलग ताखों में बंटी होती है।

वेसर शैली एक संकर शैली है। वेसर का शाब्दिक अर्थ खच्चर होता है, जिसने उत्तर तथा दक्षिण दोनों शैलियों के तत्व लिए हैं। इन्हें परिभाषित करना अधिक कठिन है, क्योंकि उत्तर अथवा दक्षिण भारतीय शैलियों से ली गई विशेषताओं का कोई निश्चित अनुपात नहीं है। कल्याणी के चालुक्यों और होयसलों के समय बने दक्कन के मंदिर, इस शैलों में बने मंदिरों के उदाहरण हैं। फिर भी दक्कन के मंदिरों की शैली को मात्र उत्तर और दक्षिण भारत के मंदिर स्थापत्य शैलियों के मिश्रण के रूप में देखने से इनकी अपनी विशिष्टओं को हम नजरअंदाज कर देते हैं।

जगह की कमी के कारण यहां उपमहाद्वीप के सभी हिस्सों के स्थापत्य और मूर्तिकला की शैलियों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करना संभव नहीं है। (इसके लिए देखें–हटिंगटन, 1985: अध्याय 11-22)। इसलिए यहां केवल इनके कुछ प्रतिनिधि उदाहरणों को दिया जा रहा है, जिसमें दक्कन और सुदूर दक्षिण के भारतीय मंदिरों के स्थापत्य का विवरण भी शामिल है, विशेषकर चोल कालीन धातु के प्रतिमाओं का।

पश्चिम भारत और दक्कन

एलोरा की गुफाएं (7वीं-8वीं शताब्दी) पश्चिम भारत में बौद्ध गुफा स्थापत्य के अंतिम चरण का प्रतिनिधित्व करती है (हंटिंगटन, 1985: 268-81)। इनकी वास्तु और मूर्तिकला, कुछ हद तक पहले की कुछ शताब्दियों में चल रही प्रक्रियाओं की निरंतरता प्रदर्शित करता है (जैसे अजन्ता, बाघ तथा कन्हेरी गुफाओं से), परंतु इनमें कुछ नए परिवर्तन भी हुए। जिनमें 34 मंदिरों के आकार में वृद्धि तथा प्रस्तरीय मंचों के दो कतारों का निर्माण (गुफा सं. 5) भी शामिल हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिमाओं की संख्या और अलंकरण में बढ़ोत्तरी, भी दृष्टिगोचर होती है। जैसा कि गुफा सं. 12 (जिसे तिनथाल कहते हैं) में देखा जा सकता है। इसकी तीन मंजिलें हैं तथा यह एलोरा उत्खनन के चरमोत्कर्ष, साथ ही समाप्ति का भी प्रतिनिधित्व करता है। एलोरा की इस प्रतिमाशास्त्रीय योजना में अनेक बुद्ध तथा बोधिसत्वों का भी स्थान है। कहीं-कहीं आठ बोधिसत्वों के एक समूह को मंडल के अंतर्गत समायोजित किया गया है (उदाहरण के लिए, गुफा सं. 12 में)।

खजुराहो मंदिर (ऊपर); मार्तण्ड मंदिर के त्रिपर्ण चाप, कश्मीर (मध्य में); कैलाशनाथ मंदिर, एलोरा (नीचे)

उत्कृष्ट बौद्ध और जैन गुफाओं के अतिरिक्त एलोरा गुफाओं को भव्य कैलाशनाथ मंदिर के कारण भी जाना जाता है। इस शिव मंदिर को राष्ट्रकूटों के संरक्षण में पथरीली पहाड़ी को तराश कर 8वीं शताब्दी में बनाया गया था। वास्तव में, यह मंदिर एकाधिक संरचनाओं का एकसमुच्चय कहा जा सकता है, जिनमें मुख्य मंदिर की निचली और ऊपरी मंजिलें हैं, एक नदी मंडप है, उप-मंदिरों का समूह है, दीवारें, प्रवेश द्वार और मठ के समान संरचनाएं हैं। मंदिर की बाह्य संरचना द्राविड़ शैली की कही जा सकती है। प्रायः इन मंदिरों की संपूर्ण सतहों पर उत्कृष्ट प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं। ये शैव प्रतिमाएं हैं, लेकिन विष्णु की प्रतिमाओं को भी स्थान मिला है। दरअसल, प्रवेश द्वारा के बाईं ओर की सभी प्रतिमाएं शैव हैं, जबकि दाईं ओर की प्रतिमाएं वैष्णव हैं। इसी प्रकार की प्रतिमाशास्त्रीय योजना मंदिर के चारों ओर बने गलियारे की पृष्ठ दीवारों पर देखी जा सकती है। प्रतिमाशास्त्रीय निरूपण में शिव, शिव और पार्वती, कैलाश पर्वत को हिलाता रावण, दुर्गा, सप्त-मातृकाएं, गणेश, तथा गंगा, यमुना और सरस्वती देवियों को भी स्थान मिलता है। वस्तुतः कैलाशनाथ मंदिर को उपमहाद्वीप के गुफा स्थापत्य का चरमोत्कर्ष कहा जाता है।

एलोरा: कैलाशनाथ मंदिर, कैलाश पर्वत को उठाता रावण (ऊपर बाएं); अलंकृत स्तंभ (ऊपर दाएं); जैन तीर्थंकर (नीचे बाएं); गंगा देवी (नीचे दाएं)

एलोरा: गुफा की आंतरिक संरचना और मंदिर (ऊपर); मानुषी बुद्ध, तीन थाल गुफा (नीचे)

बादामीः गुफा का बाहरी हिस्सा; छत के कोष्ठों में मिथुन प्रतिमाएं

दक्कन में, कर्नाटक के कई स्थानों पर मंदिरों के गुफा स्थापत्य और स्वतंत्र संरचनाओं के पूर्व मध्य युगीन उदाहरण मिलते हैं। बादामी और ऐहोले, प्रारंभिक स्थापत्य काल (छठी से आठवीं सदी के शुरुआती वर्षों तक) का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्थापत्य काल में दूसरे और अपेक्षाकृत भव्य चरण का प्रतिनिधित्व 8वीं सदी में पट्टदकल मं बने मंदिरों के द्वारा होता है। बादामी, पश्चिम चालुक्यों की राजधानी वाटापी थी। दक्कन के मंदिर स्थापत्य में उत्तर और दक्षिण दोनों की स्थापत्य विशिष्टताएं दिखलाई पड़ती हैं, किंतु इन शताब्दियों में दक्कन के स्थापत्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी तैयार हो गया।

ऐहोले में दो प्रभावशाली गुफा मंदिर विद्यमान हैं—एक जैन तथा दूसरा शैव, और दोनों की अंतः दीवारें अत्याधिक अलंकरित हैं। शैव गुफा, रावणफाड़ी गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें एक केंद्रीय कक्ष, मंदिर के दो स्पष्ट हिस्से तथा पृष्ठ भाग में लिंग के साथ गर्भ-गृह बना है। प्रतिमाएं दीवारों पर बनी हैं और छत के कई

बादामीः गुफा का आंतरिक हिस्सा; नृत्य करते शिव

पट्टदकलः विरूपाक्ष मंदिर (ऊपर बाएं); पापनाथ मंदिरः प्रवेश (ऊपर दाएं); छत पर उत्कीर्ण गज-लक्ष्मी (मध्य बाएं); बाहरी दीवार पर राम, सीता और लक्ष्मण (मध्य दाएं) मंदिर का दृश्य (नीचे)

अद्यतन खोज

पट्टदकल के निकट एक पूर्व मध्यकालीन खुली खदान की खोज

एस.वी. वेंकटेशईया, भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण धारवाड़ सर्किल के अधीक्षक, पुरातत्त्वविद ने अभी हाल में ही एक रोचक खोज किया–उस स्थल का जहां के खुली खदानों से उन पत्थरों को निकाला गया था, जिनसे पट्टदकल के मंदिर बने थे।

खुली खानों वाला यह स्थल पट्टदकल से 5 किमी. उत्तर में अवस्थित है, जो वस्तुत: 300 फीट से अधिक ऊंचाई वाली बलुआही पत्थर की एक पहाड़ी है, जिसे स्थानीय तौर पर मोटरा मराडी तथा शंकरालिंगन गुण्डु के नाम से जानते हैं। योजनाबद्ध ढंग से पत्थरों की कटाई से व्यवस्थित चबूतरे बन गए हैं, साथ में चट्टानें और पत्थर के अप्रयुक्त टुकड़े भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यहां पर नियमित आकार वाले हासिये के निशान बने हैं, जिन्हें श्रमिकों ने काटे जाने वाले चट्टानों पर बनाए थे, साथ में नियमित आयामों वाले चट्टानों के ब्लॉक, अनिश्चित आकार वाले चट्टानों के टुकड़े तथा इन गतिविधियों में उपयोग में आने वाले औज़ार मौजूद हैं। पत्थरों में कुछ प्रखंडों के आयाम और आकार, पट्टदकल के मंदिरों में प्रयुक्त होने वाले पट्टिकाओं से मेल खाते हैं। चट्टानों के खंड को कतारबद्ध तरीके से सजा हुआ भी पाया गया है, जिन्हें निश्चित रूप से मंदिर के स्थल तक स्थानांतरित किया जाना था। यहां उत्कीर्ण तथा अंकित किए गए कुछ अभिलेख भी हैं, जिनकी पुरालेखीय तिथि 8वीं सदी के मध्य में तय की गई है।

ऐहोले, पट्टदकल तथा बादामी के मंदिरों में वास्तुकारों और मूर्तिकारों के श्रेणी संगठन भी अंकित हैं, तथा उन व्यक्तियों के भी जिन्होंने शिल्पकारों के रूप में इनके निर्माण, निर्माण-स्थल पर कार्य किया था। चट्टान की इन खुली खानों के स्थल पर भी व्यक्तियों के नाम अंकित हैं, शायद जिनकी इन चट्टान की खानों की गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण सहभागिता रही होगी। अधिकांश अभिलेख चट्टानों की उन सतहों पर उत्कीर्ण है, जहां से प्रस्तरीय प्रखंडों को काटा गया था। ऐसा संभव है, इनके माध्यम से उन स्थानों को चिन्हित किया गया था, जहां श्रमिक, कठिन परिश्रम के पश्चात् विश्राम करते थे। इनमें से एक अभिलेख में गणपति की एक अस्पष्ट रूप से उत्कीर्ण प्रतिमा के नीचे तीन पंक्तियां उत्कीर्ण हैं, जिसमें प्रतिमा के दाहिने हिस्से में ऊंटनुमा आकृति है और बांए हिस्से में एक मयूर की आकृति उकेरी गई है। इनको पढ़ने से ऐसा लगता है कि इनमें धर्मापापक और अंजुव नाम के दो व्यक्तियों का संदर्भ है, जो खान-कर्मियों के किसी श्रेणी संगठन (संघत) के सदस्य थे, जो शिव के भक्त थे। अन्य अभिलेख अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं तथा इनमें भृभृगु, श्रीनिधि पुरुष, श्रीओवजरस तथा वीर विद्याधर नाम के व्यक्तियों का नाम आया है।

संगतराशो द्वारा अंकित अनेक चिह्न पाए गए हैं। इन चिह्नों का सटीक अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। इनमें से शंख और त्रिशूल जैसे कुछ चिह्न, विशिष्ट शिल्पकारों या श्रेणी संगठनों के परिचयात्मक चिह्न हो सकते हैं। अन्य चिह्न जैसे वृत्त के अंदर जोड़कर चिह्न या वृत्त के अंदर उर्ध्वाधर या क्षैतिजीय रेखाएं, कुछ विशिष्ट वास्तु संकेतों की द्योतक हो सकते हैं, यथा–स्तंभ, स्तंभ-शीर्ष, बीम इत्याद–जिनके लिए उक्त प्रखंडों को चयनित किया गया होगा। पट्टदकल के मंदिरों में इनके सादृश्य चिह्न कई स्थलों से मिले हैं।

यहां चट्टानों की सतहों पर 2.5 से. मी. से 3.5 से.मी. वाले छोटे किंतु चौड़े उर्ध्वाधर और क्षैतिज चिह्न मिले हैं, जो रोचक प्रतीत होते हैं। क्योंकि इसी प्रकार के चिह्न बादामी गुफाओं और ऐहोले

में भी मिले हैं। चट्टान की खानों में इन रेखाओं के अंत में एक प्रतीक भी अंकित है, जो संभवतः शिल्पकार की पंक्तियां हैं और ये सात-सात की संख्या में हैं, शायद सात कार्य-दिवसों का संकेत हो। मोटे तौर पर इन्हें 'उपस्थिति चिह्न' के रूप में देखा गया है, जिन्हें इन स्थलों पर कार्य करने वाले श्रमिकों ने अंकित किया था, निश्चित रूप से जब उनको पारिश्रमिक दिया जाता होगा।

चट्टानों की सतह पर कई जगह, विविध आकार वाले गणेश, महिषासुर-मर्दिनी, शिवलिंग तथा नंदी बैल, उकेरे गए हैं। सिंह, मयूर तथा ऊंट के जैसी आकृति वाले पशुओं को भी बनाया गया है। इन आकृतियों का पट्टदकल के मंदिरों में तराशी गई आकृतियों से सादृश्य ध्यान देने योग्य है, फर्क इतना है कि ये अस्पष्ट थे, जबकि मंदिरों में इन्हें उत्कृष्ट रूप से उकेरा गया था। चैत्य के मेहराब, स्तंभ तथा पूर्ण-घट, शंख, एक स्वास्तिक तथा त्रिशूल जैसी कई प्रतिमाशास्त्रीय प्रतीकों की आकृतियां भी यहां अंकित हैं।

यहां से प्राप्त होने वाले इस्पाती औज़ार भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये सैकड़ों वर्ष पहले यहां कार्य करने वाले कारीगरों के द्वारा उपयोग में लाए गए थे। इनमें टूटा हुआ एक त्रिकोणीय हसिया तथा एक हथौड़ा भी शामिल है। इन्हें सतह से 15-20 से.मी. नीचे चट्टानों के फलकों और मिट्टी के नीचे मलबे से पाया गया। इस औजार के फान का आकार, स्थल पर बने फान के चिह्न से मेल खाती है। छोटी नालियों के आकार के पत्थर की आकृतियां भी प्राप्त हुई हैं, जिनका उपयोग तपे हुए फानों को शीघ्रता से ठंडा करने के लिए किया जाता होगा।

स्रोतः वेंकटेशईया (प्रकाशनाधीन)

हिस्सों पर भी इनमे नटराजशिव तथा सप्तमातृकाओं का भी प्रतिनिधित्व हुआ है। एलोरा और बादामी की तुलना में ये प्रतिमाएं छरहरी हैं तथा इनके मुकुट ऊंचे हैं। प्रवेशद्वार के बाहर कुछ बौनों और शकशैली के परिधान में द्वारपालों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

बादामी की गुफाएं लाल बलुआ पत्थरों की पहाड़ी के उस हिस्से को काटकर बनाया गया है, जिसका रूख एक तालाब की ओर है। तीन प्रमुख गुफाओं में सबसे बड़ी गुफा वैष्णव है, जबकि अन्य में एक शैव और दूसरा जैन। गुफा स्थापत्य की योजना सरल है—एक बरामदा, स्तम्भों वाला एक कक्ष जो गुफा के पृष्ठ दीवार से सटे छोटे वर्गाकार गर्भगृह को जाता है। दीवारें और छतें तराशी हुई हैं। गुफा संख्या-3 में विष्णु के विविध अवतारों की प्रभावपूर्ण प्रतिमा उदभृत है। इनमें वराह, नृसिंह, तथा वामन अवतार के भी दृश्य हैं। यह स्मरण होगा कि वराह, ही पश्चिमी चालुक्यों का राजकीय चिह्न भी था। गुफा संख्या-3 में ताखों में उत्कीर्ण प्रतिमाएं अधिकांशतः मिथुन की हैं और अपनी विविधता तथा उत्कृष्ट नक्काशी के लिए दर्शनीय है।

इस काल के मंदिरों की संरचनाएं मुख्य रूप से पत्थरों के विशाल ब्लॉक जोड़कर बने हैं तथा खल्ली का इनमें प्रयोग नहीं हुआ है। अंतः दीवारों और छतों को अलंकृत किया गया है। सभी प्रमुख मंदिर ऐहोले में अवस्थित हैं। मेगुटी मंदिल का पहले उल्लेख किया जा चुका है, जिसमें पुलकेशिन-II का प्रसिद्ध अभिलेख पाया गया था। ऐहोले के अधिकतर मंदिर हिंदूओं के हैं तथा इनकी योजनाओं में काफी विविधता देखी जा सकती है। इनमें गजपृष्ठीय दुर्गा मंदिर भी हैं, जिसकी विस्तृत चर्चा पहले की जा चुकी है। जबकि लड़खान मंदिर में स्तंभों वाला आंगन है, जो दो सकेंद्रीय वर्गों में व्यवस्थित है, जिनके अंत में मंदिर का छोटा भाग है। महाकूट बादामी से अधिक दूरी पर स्थित नहीं है। यहां प्रारंभिक चालुक्य काल के कोई 20 मंदिर हैं, जिनमें से प्रायः सभी के साथ उत्तर की शैली में बने वक्ररेखीय शिखरों को देखा जा सकता है।

पट्टदकल, बादामी से 16 किमी. पर स्थित है। इस स्थान पर बने मंदिरों में दक्कनशैली के स्थापत्य और मूर्तिकला के विकास का दूसरा चरण देखा जा सकता है। अध्याय के शुरू में विरूपाक्ष मंदिर का उल्लेख किया गया था, जो पट्टदकल का विशालतम और सर्वाधिक अलंकृत मंदिर है। यह शिव को समर्पित है, तथा जिसका निर्माण चालुक्य शासक विक्रमादित्य-II की महारानी लोकमहादेवी के आदेश पर करवाया गया था। द्राविड़ शैली में बने मंदिरों की तरह यह भी अनेक मंडपों का एक समुच्चय है, जिनमें आयताकार घेरे में बना नंदी मंडप भी है। मुख्य मंदिर के स्तंभवाला एक कक्ष है, तीन आंगन, एक बाह्यकक्ष तथा प्रदक्षिणा पथ से घिरा गर्भ-गृह है। इस शैली को सांधार शैली कहते हैं। शिखर द्राविड़ शैली में है। बाहरी दीवारों की सतहों पर नक्काशी की गई तथा अधिकांश प्रतिमाएं शिव की हैं। मंदिर की आंतरिक सतहें भी उद्भृत प्रतिमाओं से अलंकृत है। दुर्गा की अन्यतम नक्काशी की चर्चा पहले की गई थी। लिंग युक्त गर्भ-गृह में खुलने वाले प्रवेश द्वारा में द्वारपालों सहित अन्य प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

दक्कन में मंदिर स्थापत्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण होयसल राजवंश से जुड़ा है, जिन्होंने दक्षिण कर्नाटक में अपनी राजधानी डोरसमुद्र (आधुनिक हालेबिद) से शासन किया। इस काल के मंदिरों के अवशेष हालेबिद, बेलूर तथा सोमनाथपुर से मिले हैं। ये मंदिर अपने अत्यंत परिष्कृत और विस्तृत नक्काशी के लिए विख्यात हैं, जिन्हें मंदिर की दीवारों और छतों पर क्लोराइट के सपाट चट्टानों पर उत्कीर्ण किया गया था। इनमें सबसे भव्य मंदिर 12वीं

होयसलेश्वर मंदिर, हालेबिदः पूर्वी प्रवेश द्वार; अलंकृत स्तंभ

सदी में हालेबिद में बना होयसलेश्वर मंदिर है। यह दरअसल, दो पृथक मंदिर हैं, जिनकी योजना स्वस्तिककार है, जिन्हें स्वस्तिककार-आधारशिलाओं पर खड़ा किया गया है। दोनों मंदिर बिल्कुल मिलते-जुलते हैं तथा एक-दूसरे से आच्छादित पथ के द्वारा जुड़े हुए हैं। दोनों के सामने नंदी मण्डप बने हैं, जिनमें अत्यंत अलंकृत, किंतु अत्यंत वास्तविक दिखने वाले नंदी बैल स्थापित हैं। दोनों मंदिरों में शिखर अनुपस्थित है। बेलूर स्थित केशव मंदिर एक विशाल आंगन में बने अनेक मण्डपों का समुच्चय है। मुख्य मंदिर 12वीं सदी का है। स्तंभयुक्त मंडप स्वस्तिककार है जो इसी आकर के आधार पर खड़ा है। इस मंदिर का शिखर अब नष्ट हो चुका है। मंदिर की भीतरी और बाहरी दीवारों, स्तंभों, पट्टिकाओं तथा कोष्ठकों की अत्यंत उत्कृष्ट नक्काशी दर्शनीय है।

सोमनाथपुर में 13वीं सदी का केशव मंदिर, होयसल कालीन मंदिर स्थापत्य और मूर्तिकला का चरम बिन्दु कहा जा सकता है। पहले के मंदिरों की तुलना में इस मंदिर की योजना अधिक जटिल है। यहां तीन मंदिर हैं तथा तीन मंदिरों में तीन हिस्सों में तारे के आकार की अतिरिक्त संरचनाएं हैं। मंदिर का आधार भी ऊपरी संरचना के अनुरूप है। शिखर सामान्य ऊंचाई का है जिसे शैलीगत दृष्टिकोण से नागर और द्राविड़ शिखरों के मध्य में रखा जा सकता है। मंदिर की दीवारें और छतों पर जटिल नक्काशी है, जैसा कि अन्य होयसल मंदिरों में होता है, किंतु यहां के दृश्य कामुकतापूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं। तीन मंदिरों में केशव (मुख्य प्रतिमा) वेणुगोपाल रूप में कृष्ण तथा जनार्दन विष्णु की प्रतिमाएं हैं।

पल्लव राज्य

दक्षिण भारत में प्रस्तरीय स्थापत्य का इतिहास 7वीं शताब्दी के भक्ति की बढ़ती लोकप्रियता से जुड़ा हुआ है। पल्लव शासक विशेषकर महेन्द्रवर्मन-I (600-625), नरसिंहवर्मन-I (625-670) तथा नरसिंहवर्मन-II राजसिंह (700-728), कला के महान संरक्षक थे। पल्लव कालीन स्थापत्य के अधिकांश अवशेष मामल्लपुरम और कांचीपुरम में मिलते हैं। (माइस्टर और ढाकी, 1983: 23-80)। इनमें गुफा मंदिर, एक ही चट्टान को तराश कर बनाए गए मंदिर और स्वतंत्र रूप से खड़े मंदिर शामिल हैं। पल्लव मूर्तिकला की अपनी विशेषताएं हैं, जो गुप्तकालीन
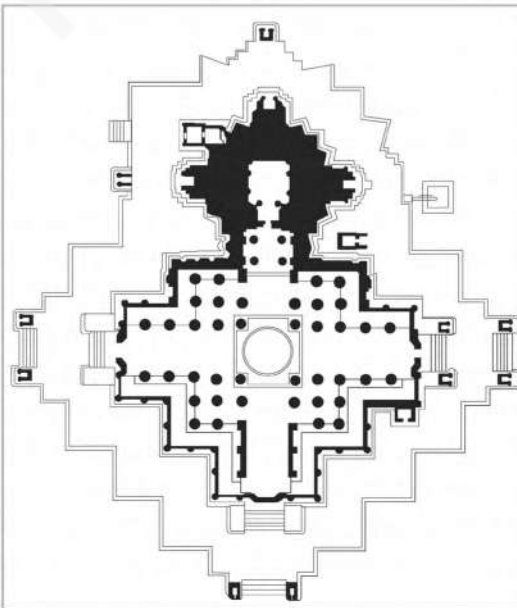
होयसलेश्वर मंदिर, हालेबिद: नंदी (ऊपर बाएं); गणेश (ऊपर दाएं); केशव मंदिर, बेलुर: आरवेटिका (मध्य बाएं); शिव और पार्वती (मध्य); कैलाश उठाता रावण (मध्य दाएं); हनुमान (नीचे बाएं)

चित्र 10.1: **केशव मंदिर की योजना, बेलुर**

शेषनाग पर शयन करते विष्णु, मामल्लपुरम गुफा

उत्तर-भारत की मूर्तिकला से भिन्न है। मानव आकृतियों के चेहरे गोलाकार हैं और ठुड्डियां ऊंची हैं, शरीर पतले और अंग क्रमशः पतले बनाए गए हैं।

पल्लवों के गुफा मंदिर, योजना की दृष्टि से अजन्ता और एलोरा की अपेक्षा छोटे और कम जटिल हैं। अपेक्षाकृत समतल गुफा मंदिर, मंडगापट्टु का लक्षितायतन मंदिर, तिरुचिरपल्ली की ललितांकुर गुफा मंदिर तथा मामल्लपुरम (या महाबली पुरम) की कुछ गुफा मंदिरों में देखने को मिलता है। इन गुफा मंदिरों के विशाल स्तंभ निचले और ऊपरी हिस्से में वर्गाकार हैं तथा तिरछे कोनों वाले षट्कोणीय आकार स्तंभ के मध्य में है। गुफाओं के मुख्य द्वार अलंकृत नहीं हैं, उनके दोनों सिरों पर द्वारपाल बने हैं। बड़ी गुफाओं में गर्भाहट तक पहुंचने वाले मार्ग में स्तंभ तराशे गए है, जिन पर द्वारपाल और द्वारपालिकाएं उद्भृत हैं। गर्भगृह में शिवलिंग अथवा शिव, विष्णु या ब्रह्मा की प्रतिमाएं हैं, इनकी तथा अन्य देवताओं की प्रतिमाएं कक्ष की दीवारों पर बनी हैं। कोष्ठकों में भी अलंकरण किया गया है, जैसे तिरुचिरपल्ली गुफा की, गंगा को सिर पर ग्रहण करते शिव की कोष्ठक प्रतिमा असाधारण है।

पल्लव काल की श्रेष्ठ संरचनाएं मामल्लपुरम के बंदरगाह नगर में देखी जा सकती हैं, जिस नगर का नाम पल्लव शासक नरसिंह-। के नाम पर रखा गया है, जो मामल्ल (महानायक) के रूप में विख्यात था। इन गुफाओं के स्तंभ अपेक्षाकृत पतले हैं। इनमें अनेक आकारों के अर्धस्तंभ भी बने हैं। कभी पतले और गोलाकार, कुशन आकार वाले शीर्ष-स्तंभ और बैठे सिंह की आकृति के आधार भी इनमें देखे जा सकते हैं। कुछ गुफाओं जैसे आदिवराह गुफा मंदिर के सामने तालाब है। मामल्लपुरम के चट्टानों को काटकर निर्मित गुफाओं के कोष्ठकों में पौराणिक गाथाओं के दृश्य उत्कीर्ण हैं। धरती का उद्धार करते विष्णु, विष्णु के तीन डग, गज-लक्ष्मी और दुर्गा (आदि-वराह गुफा में), दुर्गा गुफा में महिषासुरमर्दिनी, गोवर्द्धन पर्वत उठाते कृष्ण (पंच-पांडव गुफा में) जैसे दृश्य बनाए गए थे। दक्कन की नक्काशी की तुलना में पल्लव गुफा मंदिरों की नक्काशी कुछ छिछली है। मुख्य आकृतियां छरहरी, बारीक और सौम्य प्रतीत होती हैं। उनकी केशसज्जा तथा मुकुट सादगीपूर्ण हैं, तथा इनको कम गहने पहनाए गए हैं, या आभूषण नहीं भी हैं।

इस काल की अन्यतम आकृतियां मामल्लपुरम की स्वतंत्र रूप से खड़ी 15 मीटर ऊंची और 30 मीटर लंबी, दो शिलाखंडों पर उत्कीर्ण आकृतियां हैं। चट्टान की सतह पर बनी इन आकृतियों में मानवाकृतियां, हाथियों जैसे पशुओं की आकृतियां प्रायः अपने वास्तविक आकार में है। विशेष अवसरों पर संभवतः शीर्ष तक नलिकाओं के माध्यम से जल पहुंचता था, जहां प्राकृतिक ढलान बना है, यहां नाग और नागिनी की आकृतियां भी बनी हैं। इन आकृतियों के विषय की वस्तु की दो प्रकार से व्याख्या की गई है—गंगा के अवरोह और अर्जुन के तपस्या के रूप में। अर्जुन की यह कथा *महाभारत* का हिस्सा है तथा *किरातार्जुनीय* की कथा-वस्तु। इस कथा के अनुसार, अर्जुन ने शिव से शस्त्र पाने के लिए कठिन तप किया। असुरों के द्वारा उन्हें मारने के लिए एक वराह भेजा गया। शिव ने अर्जुन की रक्षा के लिए एक किरात (शिकारी) के भेष में हस्तक्षेप किया। दोनों ने ही वराह को मार देने का दावा किया। शिव इस संघर्ष को जीते और अर्जुन को अपना वास्तविक रूप दिखलाया।

मामल्लपुरम के अन्य महत्त्वपूर्ण स्थापत्य अवशेषों में चट्टानों को तराश कर बनाए गए नौ मंदिर हैं, जिनमें से पांच एक ही स्थान पर बने हैं। पल्लव शासकों में महान निर्माणकर्त्ता मामल्ल के नाम को कालांतर में पांच पांडव नायकों से भ्रमित कर दिया गया और मामल्लपुरम के पांच मंदिरों को पांडवों तथा उनकी पत्नी द्रौपदी के नाम पर रख दिया गया। इन मंदिरों को सामान्यतः पांच रथों के रूप से जानते हैं। इस विचार के पीछे संभवतः यह सोच रही होगी कि देवता अपने स्वर्ग में रथों पर भ्रमण करते हैं। रथों को धर्मराज, भीम, द्रौपदी, अर्जुन और सहदेव के नामों से जानते हैं। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि, यद्यपि, ये रथ एक-दूसरे के बिल्कुल समीप स्थित हैं, इनकी वास्तुशास्त्रीय विशेषताओं में काफी अंतर है।

धर्मराज रथ की योजना वर्गाकार हैं। इसमें खुले आंगन है ओर एक सीढ़ीपर पिरामीड मीनार है। स्तंभ के आधार को मजबूती देने के लिए बैठे हुए सिंह बन हैं। भीम रथ का आकार लंबवत है, अर्धबेलनाकार छत है। द्रौपदी रथ एक छोटी सी वर्गाकार संरचना है, जिसका वक्र रेखीय छत, फूस की झोपड़ी के आकार का है। अर्जुन
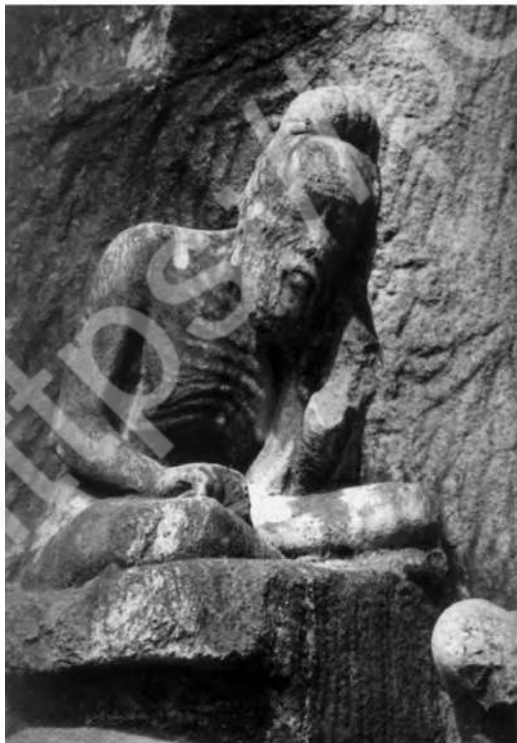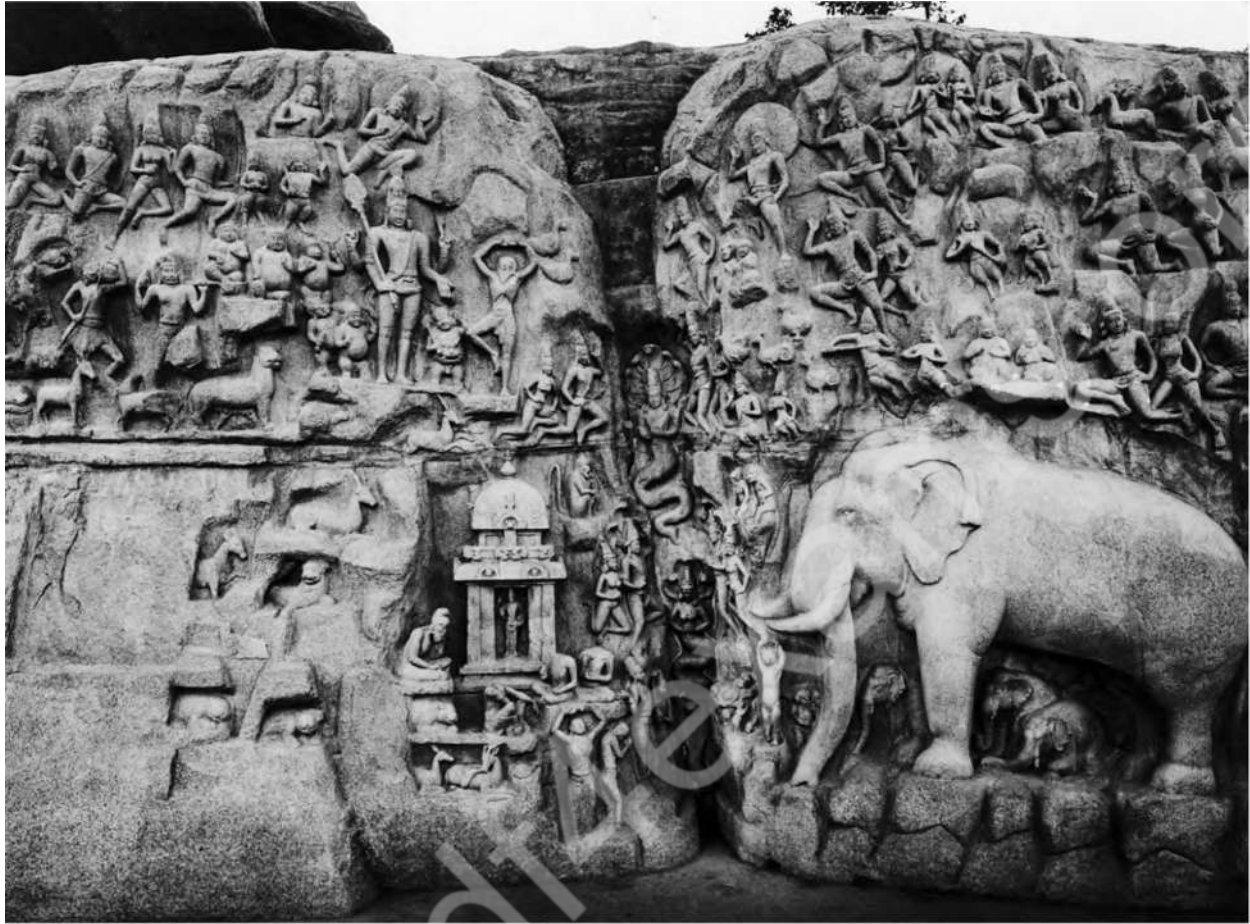
मामल्लपुरमः स्वतंत्र उत्कीर्णित प्रतिमाएं (ऊपर); तपस्वी, हाथियों के विस्तृत दृश्य; उद्भृत के निकट बंदरों की जोड़ी (नीचे)

मामल्लपुरम के रथ: धर्मराज (ऊपर बाएं); भीम (ऊपर दाएं); अर्जुन एवं द्रौपदी (नीचे बाएं); नकुल-सहदेव (नीचे दाएं)

रथ अधूरा है, शायद की जा रही नक्काशी के दबाव को प्रयुक्त चटटानें नहीं संभाल सकीं। सहदेव रथ भी अधूरा है। मामल्लपुरम मंदिरों की दीवारों पर हिंदू पौराणिक गाथाओं के दृश्य उत्कीर्ण हैं। धर्मराज रथ के दक्षिणी हिस्से में संभवत: बनी तस्वीर नरसिंहवर्मन मामल्ल-। की है।

नरसिंहवर्मन-II राजसिंह के शासकाल में चट्टानों को काटकर बने मंदिरों का स्थान स्वतंत्र संरचनात्मक मंदिरों ने ले लिया। मामल्लपुरम का प्रसिद्ध तटीय मंदिर के निर्माण का श्रेय राजसिंह के काल को दिया गया है, किंतु संभवत: अतिरिक्त संरचनाएं कालांतर में निर्मित हुई थीं। इनमें तीन मंदिर हैं–एक में शिवलिंग, दूसरे में सोमस्कन्द (शिव के साथ उमा और स्कन्द, पल्लव काल में काफी लोकप्रिय) तथा अनंतसर्प पर विश्राम करते विष्णु हैं। दोनों शिखर, स्तरित हैं तथा पतले भी। समुद्री हवा और बालुका राशि से मंदिर की दीवारों पर बनी प्रतिमाएं क्षरित हो चुकी हैं।

कांचीपुरम का राजसिंहेश्वर या कैलाशनाथ मंदिर भी नरसिंहवर्मन-II राजसिंह के काल का है। विशाल आयताकार घेरे में अवस्थित मंदिरों के इस समूह में एक मुख्य मंदिर के साथ प्राय: 50, 34 मंदिर, परिसर के भीतर ही बने हुए हैं। मुख्य मंदिर का गर्भगृह वर्गाकार है, जिसमें शिवलिंग स्थापित है, तथा जिसके चारों ओर छत आच्छादित प्रदक्षिणा पथ बना है। स्तंभ युक्त कक्ष और गर्भगृह के समक्ष बरामदे को कालांतर में जोड़ा गया था। मंदिर परिसर को घेरने वाली चहार दीवारी के साथ गोपुरम भी हैं। कैलाशनाथ मंदिर में पल्लवकाल के किसी

भी मंदिर की अपेक्षा अधिक अलंकरित कहा जा सकता है। सोमस्कन्द मंदिर की चार-दीवारी की सतह पर प्रतीक के रूप में अनेक स्थानों के सिंह बने हैं। इस मंदिर को दक्षिण भारत के मंदिर स्थापत्य का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव कहा जा सकता है।

समुद्र तट मंदिर, मामल्लपुरम

चोल मंदिर

जहां अधिकांश पल्लव मंदिर कांचीपुरम के आस-पास के इलाके में केंद्रित है, वहीं अधिकांश चोल मंदिर इसके दक्षिण में तंजोर के इलाके में स्थित हैं (हंटिंगटन, 1985: 509-39: माइस्टर एवं ढाकी, 1983: 223-64, 289-330)। इनके मंदिर स्थापत्य के विकास के विषय में यह सरलता से नहीं कहा जा सकता है कि वे पल्लव मंदिर स्थापत्य की अगली कड़ी हैं, क्योंकि इनमें अत्याधिक नूतन परिवर्तन हुए। अभिलेखों से पता चलता है कि पल्लवकाल के ईंट के बने कई मंदिरों को इस काल में पत्थरों से पुनर्निमित किया गया। राजवंशीय शिनाख्तों के आधार पर चोल स्थापत्य को कम से कम दो स्पष्ट काल में विभाजित किया जा सकता है। प्रारंभिक स्थापत्य काल (9वीं सदी के मध्य से 11वीं सदी की शुरुआत तक) और उत्तर स्थापत्य काल (प्रारंभिक 11वीं सदी से 13वीं सदी तक)। कुछ काल इतिहासकार चोल स्थापत्य को तीन कालों में बांटना पसंद करते हैं—प्रारंभिक (850-985), मध्य (985-1070) तथा उत्तरकाल (1070-1270) तथा पुन: इन कालों को उप-कालों में विभाजित करते हैं।

प्राचीनतम चरण का प्रतिनिधित्व नात्र्तामलई का शिव मंदिर करता है, जिसका निर्माण 9वीं सदी के मध्य में चोल शासक विजयालय अथवा किसी मुत्तरईयर मुखिया ने कराया था। इस मंदिर में विमान (गर्भगृह और उसके ऊपर की संरचना), एक अर्धमंडप (गर्भगृह के सामने का कक्ष) से जुड़ा है। अर्धमंडप में स्तंभों की दो कतारें हैं। मुख्य मंदिर चारों ओर से छह उपमंदिरों से घिरा हुआ है। (मूलरूप से इनकी संख्या आठ रही होगी), जिन्हें परिवाराथालय कहते हैं। गर्भगृह, गोलाकाकार है और इसमें लिंग तथा योनि है। बाहरी दीवारों की सतह पर नक्काशी कम है, किंतु पश्चिमी प्रवेशद्वार पर दो द्वारपाल बने हैं। दीवारों में भिति-स्तंभ बने हैं, किंतु दीवारों पर देवताओं के दृश्य उत्कीर्ण नहीं हैं, जो बाद के चोल मंदिरों की विशेषता बनी।

चोल मंदिर स्थापत्य का दूसरा चरण, आदित्य-। (871-907 सा.सं.) और परांतक-I (907-55 सा.सं.) के काल को कह सकते हैं, जिसमें पुलमंगई का ब्रह्मपुरेश्वर मंदिर, कुम्बकोनम का नागेश्वरस्वामी मंदिर तथा श्री वासनल्लुर का कोरंगनाथ मंदिर बने थे। ब्रह्मपुरेश्वर मंदिर में भी विमान अर्धमंडप से जुड़ा है। बाद में एक मुखमंडप (या द्वार मंडप) जोड़ा गया। मंदिर का निर्माण पत्थर से ढके एक छिछले गड्ढे में हुआ था, जिसमें कभी पानी भरा रहा होगा। बाहरी दीवारों के निचले हिस्से में बने उल्टे कमल, इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। मंदिर के आधार के पास उत्कीर्ण सिंहों की उत्कीर्ण प्रतिमाएं, चोल मंदिरों की विशेषता है। दीवारों पर स्थित भिति स्तंभों के कारण तारवों जैसी आकृति बनी है, जिन्हें देवकोष्ठ कहा जाता है, जिनमें गणेश, दुर्गा महिषासुरमर्दिनी तथा ब्रह्म जैसे देवताओं की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। ये आकृतियां छरहरी और स्वाभाविक हैं, इनके मुकुट ऊंचे हैं और बाहरी दीवारों पर देवताओं और पौराणिक दृश्यों का प्रदर्शन हुआ है, जिनमें *रामायण* से भी कई दृश्य लिए गए हैं।

नागेश्वर मंदिर की मूल संरचना में भी अर्धमंडप और विमान जुड़े हैं। भित्ति स्तंभों के बीच बने कोष्ठकों में देवताओं की आकृतियां, गहराई से उत्कीर्ण हैं। कोरंगनाथ मंदिर की मूल संरचना भी ऐसी ही है, केवल विमान और अर्धमंडप के बीच अंतराल (ब्राह्य मंडप) बना हुआ है, जो अन्य में नहीं थे। बाहरी दीवारों के आधार वाली सतह पर उल्टे कमल की कतारें बनी हैं, साथ में कतारबद्ध सिंह और हाथी भी उत्कीर्ण है। पहले के अपेक्षा अलंकरण को अधिक सघन कहा जा सकता है।

चोल मंदिर स्थापत्य का तीसरा चरण शेम्बियन महादेवी (एक रानी जिसने अपने पति गण्डरादित्य (949-57) तथा अपने पुत्र उत्तम-I (969-89) के राज्यकालों में मंदिर स्थापत्य क्षेत्र की गतिविधियों को महत्त्वपूर्ण संरक्षण दिया तथा राजराज-I के शासन काल के शुरुआती दौर को कहा जा सकता है। पूर्व के ईंट से बने मंदिरों का इस काल में पत्थरों से पुननिर्माण का कार्य, बड़े स्तर पर किया गया। इस काल का मुख्य परिवर्तन उत्कीर्ण प्रतिमाओं के क्षेत्र में कहा जा सकता है, जो अब अधिक भावशून्य और अकड़े हुए बनने लगे। अनंगपुर का अगस्त्येश्वर मंदिर, शेम्बियन महादेवी द्वारा बनाए गए एक मंदिर में एक है।
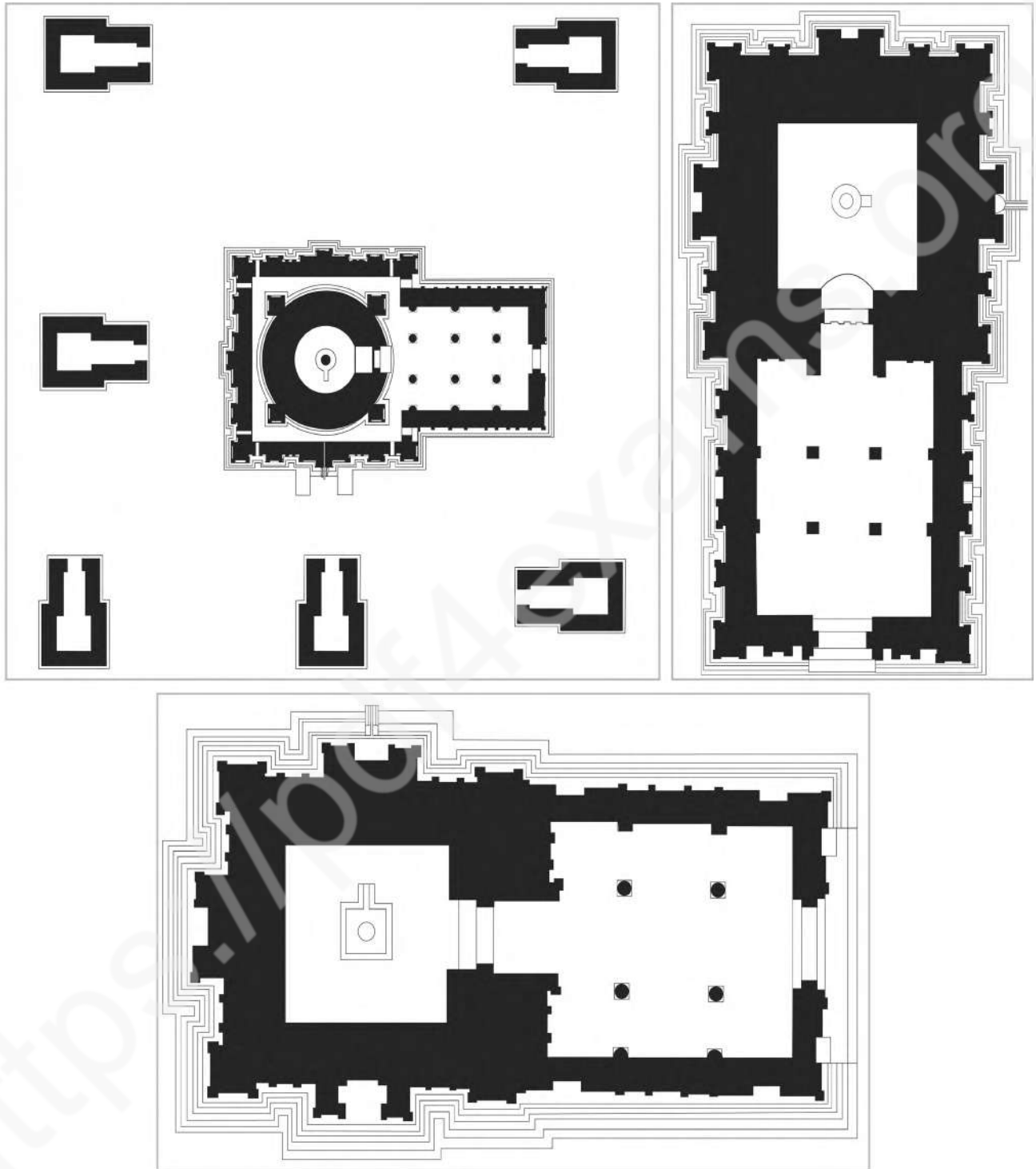
चित्र 10.2: शिव मंदिर की योजना, नत्तामलई (ऊपर बाएं); ब्रह्मपुरेश्वर मंदिर, पुलमंगई (ऊपर दाएं); नागेश्वरस्वामी मंदिर, कुम्बकोनम (नीचे) (सौजन्य: हंटिंगटन, 1985)

बृहदीश्वर मंदिर, तंजावुरः मंदिर का दृश्य (ऊपर); बृहदीश्वर मंदिर, तंजावुरः प्रतिमाशास्त्रीय विस्तार (नीचे)

चोल मंदिर स्थापत्य का उत्कर्ष, तंजावुर के बृहदीश्वर (या राजराजेश्वर मंदिर) में देखा जा सकता है। इसका विमान 60 मीटर लंबा है तथा इसके शिखर अत्यंत विशाल हैं। इस शिव मंदिर को अपने काल का सबसे भव्य मंदिर कहा जा सकता है, जिसमें स्थापत्य की कई-नई विशेषताएं दिखलाई पड़ती हैं। मुख्य मंदिर में स्तम्भयुक्त बाह्यमंडप या डयोढ़ी, स्तंभयुक्त मुखमंडप और अर्धमंडप, एक अंतराल तथा गर्भगृह हैं। पहले के किसी भी मंदिर की तुलना में नक्काशी अधिक सघन और उत्कृष्ट है। उत्कीर्ण आकृतियों को गोलाकार कोष्ठों में बनाया गया है, निचले हिस्से के कोष्ठकों में शिव से जुड़े विभिन्न रूपों का प्रदर्शन है, जिनमें नटराज भी शामिल हैं। ऊपरी हिस्से में शिव के त्रिपुरांतक (तीन नगरों का संहार करने वाले) रूप के 30 प्रतिनिधि दृश्य हैं। गर्भगृह के चारों ओर बने प्रदिक्षणापथ की दीवारों पर शिव की तीन विशाल प्रतिमाएं तथा अनेक चित्रित दृश्य उपस्थित हैं। मंदिर के सामने प्रायः 6 मी. लंबे नंदी बैल की स्थापित प्रतिमा को एक ही चट्टान को काट कर बनाया गया है, इसे घेरा बाद में गया है। यह मंदिर एक विशाल आयताकार चाहरदीवारी के भीतर है, जिसके पूर्वी हिस्से में दो विशाल गोपुर हैं। गोपुरों का निचला हिस्सा पत्थर का है, जबकि ऊपरी हिस्से ईंट के बने हैं। गोपुरों पर उत्कीर्ण प्रतिमाएं भी, पहले के मंदिरों की तुलना में अधिक है।

राजेन्द्र-I (राजराज का पुत्र) ने अपनी नई राजधानी गंगईकोण्डचोलपुरम में भी बृहदीश्वर नाम के मंदिर का निर्माण किया। यह पूरा नहीं हो सका और आज जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। फिर भी बचे हुए अवशेष यही बतलाते हैं कि तंजोर के बृहदीश्वर मंदिर की तुलना में इसकी कारीगरी काफी फीकी रही होगी। गंगईकोण्डचोलपुरम मंदिर का विमान कम ऊंचा है, इसके शिखर भीतर की ओर मुड़े हैं, तथा इसकी दीवारों में अधिक अलंकरण देखा जा सकता है।

बृहदीश्वर मंदिर, तंजावुर: गोपुर (बाएं); प्रतिमाशास्त्रीय विस्तार (दाएं)
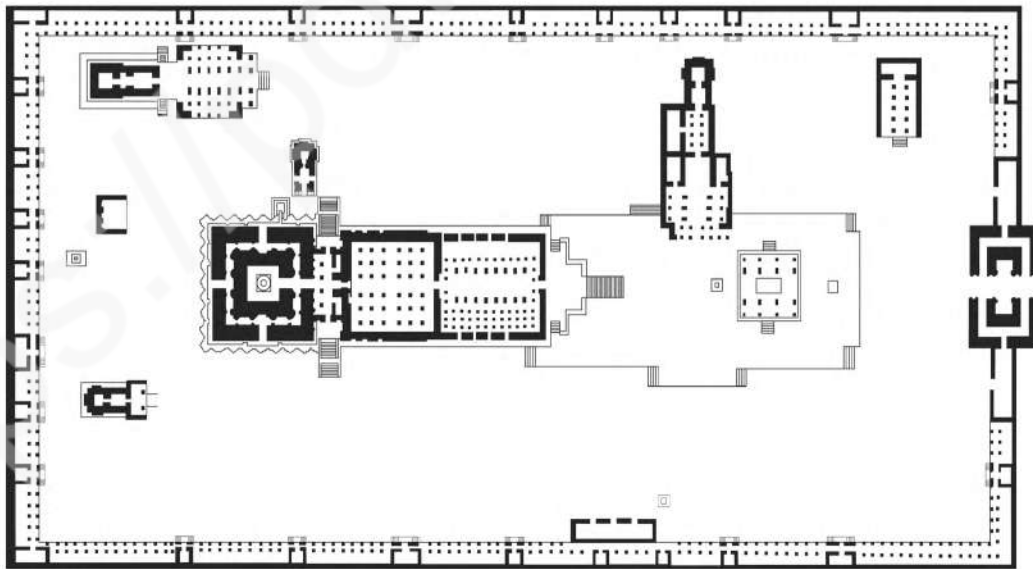
चित्र 10.3: बृहदीश्वर मंदिर की योजना

उद्भृत फलक, बृहदीश्वर मंदिर तंजावुर

चोल मंदिर स्थापत्य का अंतिम चरण 12वीं-13वीं शताब्दियों का था। इस चरण में विमान की तुलना में गोपुर अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए। चिदम्बरम के शिव मंदिर में इस तथ्य को अवलोकन किया जा सकता है जिसका अधिकांश निर्माणकार्य कुलोतुंग-I (1070-1122) तथा उसके उत्तराधिकारियों के काल में हुआ। मंदिर की बाहरी दीवारों से पहिए और घोड़ों की आकृतियां जोड़ी गई हैं, जो इसे रथाकार स्वरूप देता है।

चोल कालीन धातु मूर्तिकला

चोल कालीन धातु मूर्तिकला अपने सौंदर्य बोध और तकनीकी श्रेष्ठता के लिए विख्यात है। तंजावुर इस कोटि की मूर्तिकला के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। उत्तर भारत की धात्विक मूर्तियां भीतर से खोखली होती थीं, लेकिन दक्षिण भारत की धात्विक मूर्तियां ठोस होती थीं। हालांकि, दोनों के निर्माण में पिघले हुए मोम (लॉस्ट वैक्स) की तकनीक का उपयोग किया जाता था। परमंपरागत रूप से उत्तर भारतीय प्रतिमाएं, अष्टधातु (स्वर्ण, रजत, टिन, लीड, लौह, पारा, जिस्ता तथा तांबा) की बनती थी, किंतु वास्तविक प्रतिमाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक बार इस सिद्धांत का पालन नहीं किया गया है। प्रतिमाशास्त्रीय तथा अन्य शैलीगत विशेषताओं के आधार पर धातु की प्रतिमाएं, प्रस्तरीय प्रतिमाओं के सदृश्य थीं। ये प्रतिमाएं सामान्यत: परिधानयुक्त और आभूषणों से सुसज्जित होती थीं और मंदिर के अनुष्ठानिक संभाग का ही हिस्सा होती थीं। दक्षिण भारत की ऐसी अनेक मूर्तियों को धार्मिक शोभा यात्राओं में निकाला जाता था। चोल धातु प्रतिमाओं में नटराज शिव की प्रतिमाएं सबसे लोकप्रिय प्रतीत होती हैं। (शिवराममूर्ति [1974], 1994) ने भारतीय कला और साहित्य नटराज के महत्त्व का विस्तृत अध्ययन किया है। अन्य लोकप्रिय प्रतीकों में कृष्ण और आलवार एवं नायनमार संत आते हैं।

दक्षिण भारत के कई शिव मंदिरों में नटराज की प्रतिमा की स्थापना के लिए नटन-सभा हुआ करती थी। चिदम्बरम का मंदिर भी एक ऐसा ही उदाहरण है। नृत्य करते शिव की दो प्रवृति है—रौद्र और शांत। शिव का ताण्डव नृत्य, ब्रह्मांड के चक्रवत सृजन और विनाश का प्रतीक है। इसके तत्वों को अनेक व्याख्याएं उपलब्ध हैं। आनंद ताण्डव की मुद्रा में शिव चार भुजाओं के साथ होते हैं। सर्प उनका आभूषण होता है। ऊपर का दायां हाथ, दंड-हस्त या गज-हस्त मुद्रा कहलाता है। पिछले बाएं हाथ में वह ज्वाला की लपट को, पिछले दाएं हाथ में डमरू को तथा सामने वाला दायां हाथ मोक्षदायिनी अभयमुद्रा में होता था। डमरू सृजन का प्रतीक है, अग्नि संहार का। गज-हस्त मुद्रावाला हाथ उनके उठे हुए पांव की ओर इंगित करता है, जहां इस संसार को आश्रय मिलेगा। शिव का बायां पैर इनके शरीर को काटते हुए मुड़ा होता है। वह सामान्यत: मूयलक, नाम के एक बौने पर चढ़कर नृत्य करते हैं, जो अज्ञान और खल का प्रतीक है। भगवान की जटाएं, जो गंगा को धारण करती हैं, बाहर की ओर अग्नि की नेमि के समान लहराता है। दक्षिण भारत के नटराज की ये विशेषताएं उपमहाद्वीप के अन्य हिस्सों में पाई गई नृत्य करते शिव की उतनी ही प्रभावशाली प्रतिमाओं से भिन्न है, जैसा कि एलोरा या बादामी जैसे स्थानों से प्राप्त

शोध की नई दिशाएं

नटराज की प्रतिमाओं का पुरातत्त्वमितीय विश्लेषण

प्राचीन भारतीय धातु की बनी हिंदू मूर्तियों के साथ शायद ही अभिलेख होते हैं और इस लिए विद्वानों के द्वारा उनके सदृश्य प्रस्तरीय मूर्तियों के साथ मंदिरों के अभिलेखों के तिथि निर्धारण के आधार पर उनकी तिथियों का निर्धारण किया जाता रहा है। पत्थर की बनी नटराज की त्रिआयामी प्रतिमा चोल रानी शेम्बीयन महादेवी के काल की है, जैसे 10वीं शताब्दी के मध्य में बनी कैलाशस्वामी मंदिर की प्रतिमा। कुछ विद्वानों के अनुसार, नटराज की कांस्य प्रतिमाएं भी इसी काल में बननी शुरू हुईं। जबकि शारदा श्रीनिवासन ने पुरातत्त्वमितीय प्रतिमाशास्त्रीय और साहित्यिक स्रोतों के विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि शिव के आनंद-तांडव मुद्रा की प्रतिमाएं 7वीं तथा 8वीं शताब्दी के मध्य में, पल्लव काल में पहली बार बनाई गई।

धातु के उपादानों के सटीक तिथि-निर्धारण के लिए हमारे पास अभी कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। हालांकि, लीड के समस्थानिक अनुपात विश्लेषण तथा तत्व अन्वेषण विधि (ट्रेस एलिमेंट विश्लेषण) का प्रयोग धातुओं के समान या भिन्न स्रोतों को जानने के लिए किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रतिमा की शैलीगत विशेषताओं के अध्ययन के आधार पर यह अतिरिक्त प्रतिमा शैलीगत विशेषताओं के अध्ययन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह प्रतिमा किस समूह विशेष से सम्बंधित रही होगी। श्री निवासन ने 130 धातु की प्रतिमाओं के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला की पल्लव तथा चोल कालीन प्रतिमाओं के पुरातत्त्वमितीय विश्लेषण का अलग-अलग प्रतिफल प्राप्त होता है। इस आधार पर उनका मानना है कि नटराज की दो कांस्य मूर्तियां—जिनमें से एक तंजोर जिला के कुन्नियार नामक स्थान से प्राप्त हुआ है तथा दूसरा वर्तमान में ब्रिटिश संग्रहालय में अवस्थित है, जिन्हें हम सामान्यत: चोल की कांस्य प्रतिमाओं (चोल ब्रान्जेज) के रूप में जानते हैं, वे सभी दृष्टिकोण से पल्लव कालीन कांस्य प्रतिमाएं हैं।

पल्लवों की प्रारंभिक कांस्य की नटराज प्रतिमाएं वस्तुत: काष्ठ प्रतिमाओं की कांस्य रूपांतरण थीं। हाथ पांव पास-पास सटे हैं, और कमरबंद नीचे की ओर झूलता दिखता है, अग्नि के वृत अंडाकार हैं। बाद में चोल कालीन शिल्पकारों ने काष्ठ की अपेक्षा धातु की तनाव क्षमता का उपयोग किया। इसलिए चोल कालीन कांस्य प्रतिमाओं में हाथ-पैर, कमरबंद तथा जटाएं वृताकार नेमि से जुड़ा हुआ देखा जा सकता है।

श्रीनिवासन के अनुसार, शेम्बियन महादेवी के काल में नटराज की प्रतिमाएं अच्छी तरह से गोलाई के साथ बनने लगीं, जो पल्लवों के समय बनी धातु की प्रतिमाओं के सैंकड़ों वर्ष बाद संभव हो सकीं। ऐसा चट्टानों की अल्प तनाव क्षमता (तन्यता) के कारण कठिन था (धातु की तुलना में), जैसे नृत्य करते हुए शिव के उठे हुए बाएं हाथ को बनाना पत्थर को काटकर प्रतिमा बनाने वाले शिल्पकारों के लिए कठिन था।

मूर्तिकारों ने शिव के चमक्तकारी नृत्य भंगिमाओं को पत्थर तथा धातु की प्रतिमाओं में उतारा है, जैसा कि कवियों इस नृत्य का काव्यों में चमत्कारिक वर्णन किया है। उदाहरण के लिए, मणिक्कवाचकर ने *तिरुवचकम* में कहा है कि 'आओ हम उस नर्तक की स्तुति करें जो तिल्लई के कक्ष में अग्नि के साथ नृत्य करते हैं, जो धरती और अन्य सभी कुछ के सृजन और संहार की क्रीड़ा करते हैं।'

स्रोत: श्रीनिवासन, 2004

हुआ है। इनके बीच अभिव्यक्ति अलंकरण, भुजाओं की संख्या तथा अधीनस्थ प्रतिमों के स्वरूप में काफी अंदर देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

पूर्व मध्यकाल का राजनीतिक इतिहास, उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में राज्य व्यवस्था के अभ्युदय और विकास के द्वारा रेखांकित है। ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदानों ने राजनीतिक शक्तियों को वैधानिकता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा इनका कृषि सम्बंधों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में कृषि का विस्तार हुआ तथा ग्रामीण समुदाय का अधिकाधिक स्तरीकरण हुआ। यह नगरीकरण के पतन का काल नहीं था। दक्षिण भारत के संदर्भ में यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, जहां नगरीय शिल्प, नगर, व्यापार तथा श्रेणी संगठन पूर्ण रूप से पल्लवित-पुष्पित हुए। चीन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापार में बृहद विकास हुआ। भक्ति मार्ग की उपासना की लोकप्रियता इस काल के धार्मिक जीवन और दर्शन की विशेषता बनी। मंदिर न केवल आध्यात्मिक व धार्मिक जीवन के केंद्र थे, बल्कि नगरीय केंद्रों और राजनीतिक प्रतीकों के रूप में भी इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। जिस स्तर का संरक्षण इन्हें प्राप्त था, उनके कारण ये समाज के विविध वर्गों की आकांक्षा और गतिविधियों का केंद्र बन गए। सांस्कृतिक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषा में व्यापक लेखन कार्यों को भी रखा जा सकता है। मंदिर स्थापत्य तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिष्करण और अलंकरण देखा गया तथा क्षेत्रीय शैलियों का स्वतंत्र विकास हुआ। 600-1200 सा.सं. के बीच की शताब्दियों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर चल रही गतिविधियों के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय प्रतिमानों का निर्माण संभव हो सका।

लिप्यन्तरण तालिका (A Note on Diacritics)

संस्कृत

स्वर

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ए	ऐ	ओ	औ	ं	ः
a	ā	i	ī	u	ū	ṛ	e	ai	o	au	ṁ	ḥ

व्यंजन

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ka	kha	ga	gha	ṅa	ca	cha	ja	jha	ña
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
ṭa	ṭha	ḍa	ḍha	ṇa	ta	tha	da	dha	na
प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	
pa	pha	ba	bha	ma	ya	ra	la	va	
श	ष	स	ह						
śa	ṣa	sa	ha						

तमिल

स्वर

அ	ஆ	இ	ஈ	உ	ஊ	எ	ஏ	ஐ	ஒ	ஓ	ஔ
a	ā	i	ī	u	ū	e	ē	ai	o	ō	au
[ʌ]	[a:]	[i]	[i:]	[u,w]	[u:]	[e]	[e:]	[ʌy]	[o]	[o:]	[ʌu]

व्यंजन

க	k	த	t	ல	l
ங	ṅ [ŋ]	ந	n	வ	v [u]
ச	c	ப	p [p, b]	ழ	ḻ
ஞ	ñ	ம	m	ள	ḷ
ட	ṭ [t,d]	ய	y [j]	ற	ṟ, R
ண	ṇ [ɲ]	ர	r	ன	N

पारिभाषिक शब्दावली (Glossary)

अशुलियन औजार: प्रस्तरीय औजार बनाने के एक संग्रह-स्थल के नाम से जुड़े पत्थर के पुरापाषण कालीन औजार, इनमें तेज सम्मितिकृत हस्तकुठार और विदारणी जैसे औजार शामिल हैं, जिन्हें निचले पुरापाषण काल से लेकर पाषणकाल तक बताया गया

अग्रहार: राजा के द्वारा अनुदान में दी गई भूमि या गांव

अहिंसा: किसी को हानि अथवा क्षति नहीं पहुंचाने का भाव

आजीविक: मक्खली गेसाल के नाम से जुड़ा एक प्राचीन धार्मिक सम्प्रदाय

अकम: संगम साहित्य के प्रणय काव्य

एम्फोरे: एक प्रकार के रोमन मृदभांड, जिनमें पतले बेलनाकार गर्दन और दो हत्थे वाले बड़े जार शामिल हैं

अनेकांतवाद: सत्य की बहुआयामी प्रकृति की व्याख्या करने वाला एक जैन सिद्धांत

अंतराल: मंदिर के समक्ष बना कक्ष या द्वार मंडप

आन्विक्षिकी: शाब्दिक अर्थ 'को देखना' का तार्किक विवेक

अपभ्रंश: प्राकृत से विकसित होने वाली एक रूपांतरित भाषा, जिसका प्रयोग पहली सहस्राब्दि में अंतिम चरण तक हुआ

अरघट्ट: पर्सियन व्हील या इससे मिलता-जुलता एक यंत्र

अरमेइक: एक भाषा और लिपि; अरमेइक या नॉर्थ सेमिटिक लिपि, असीरिया, बेबीलोन तथा अखमिणी साम्राज्यों की सरकारी लिपि थी; भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम इलाकों में अवस्थित अशोक के शिलालेखों में इस भाषा और लिपि का प्रयोग देखा जा सकता है

आरण्यक: शाब्दिक अर्थ 'वन की पुस्तकें'; वैदिक साहित्य का एक हिस्सा

पुरावनस्पतिशास्त्र (आर्कियोबॉटनी): प्राचीन वानस्पतिक अवशेषों का अध्ययन

पुरातात्त्विक स्रोत: सभी भौतिक अवशेष जिनका स्पर्श किया जा सकता है

पुरातत्त्व (आर्कियोलॉजी): भौतिक अवशेषों पर आधारित मानवीय अतीत का अध्ययन

पुरातत्त्वमिति (आर्कियोमेट्री): प्राचीन पुरातात्त्विक सामग्रियों के अध्ययन और विश्लेषण के दौरान उनकी माप लेने के लिए प्रयुक्त वैज्ञानिक तकनीक

अर्ध-मागधी: पूर्वी भारत में प्रचलित प्राकृत की एक शाखा, प्राचीनतम जैन ग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए थे

अर्ध-मंडप: मंदिर के गर्भगृह के सामने की ड्योढ़ी या कक्ष

अर्हत: पुरुष जिसे मोक्ष की प्राप्ति हो चुकी है

अरिय सच्चानी: दु:ख से जुड़े चार आर्य सत्य, जो बुद्ध के उपदेशों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा है

आर्टिफैक्ट (हस्त-कृति): मानव निर्मित या रूपांतरित हस्त कृतियां; शिल्प तथ्य जो स्थानांतरणीय हों

आश्रम: मानव जीवन-चक्र के चार सैद्धांतिक पड़ाव ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास

एसेम्बलेज (संग्रह-स्थल): किसी स्थान पर पाई गई समूची इंडस्ट्रीज

आस्तिक सम्प्रदाय: दर्शन या दार्शनिक विचारधाराएं जो वेदों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। बाद में, यह क्लासिकल हिन्दू षड्दर्शन कहलाने लगे

आत्मा: उपनिषदों में वर्णित, शरीर में स्थित परम और अंतिम सत्य

ऑस्ट्रेलोपिथेकस: मानव प्रजाति से मिलती-जुलती एक प्रजाति

अवतार: विष्णु के विविध रूप

अय्यवोले: पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत का एक शक्तिशाली श्रेणी-संगठन

बैंड: नातेदारी के सम्बंधों से जुड़े छोटे तथा घमुक्कड़ समुदाय

भागवत: वासुदेव कृष्ण के उपासक

भिक्खु: संस्कृत के 'भिक्षु' का पालि अनुवाद; बौद्ध भिक्षु जो भिक्षाटन पर आश्रित हैं

भिक्खुनी: बौद्ध सन्यासिन

बाइफेस: द्विमुखी हस्तकुठार

ब्लैक एंड रेड मृदभांड: वैसे मृदभांड जिनका कुछ हिस्सा काला और कुछ हिस्सा लाल रंगा हो, अनेक कालानुक्रमों और संदर्भों से प्राप्त

ब्लेड: शल्क वाले औजार, जिनकी लंबाई चौड़ाई से दोगुनी होती है

बोधिसत्व: एक संभावी बुद्ध

बूस्ट्रूफिडॉन: लेखन की एक शैली, जिसमें प्रत्येक अगली पंक्ति विपरीत दिशा से प्रारंभ होती है

ब्रह्मचर्य: आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत अविवाहित विद्यार्थी जीवन वाला चरण

ब्रह्मदेय: ब्राह्मणों को दिया गया भूमि अनुदान; अधिकांशत: राजा द्वारा प्रदत्त

ब्रह्मन्: उपनिषदों में वर्णित, ब्रह्मांड का अक्षय परम सत्य

ब्राह्मण: ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था का सर्वोच्च वर्ण; वैदिक संहिताओं की गद्य व्याख्या

ब्राह्मी: भारत की एक प्राचीनतम लिपि

ब्यूरिन (तक्षणी): स्क्रू डाइवर (पेंच) के समान नोक वाले शल्क पर बने पत्थर के छोटे औजार

बर्निश्ड भांड (वेयर): वैसे मृदभांड जिनको अग्नि पर पकाने के पहले पॉलिश किया जाता था, जिससे बाद में भी उनका चमकीलापन बरकरार रहता था

दर्शन: शाब्दिक अर्थ 'दृष्टि'; फ़िलॉसोफ़ी

धम्म: एक पाली शब्द (संस्कृत 'धर्म'); समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिए अनुकरणीय आदर्श व्यवहार

धम्म-चक्क-पवत्तन: शाब्दिक अर्थ – धम्म के चक्र का घूमना; बनारस के निकट मृगवन में दिया गया बुद्ध का पहला उपदेश

धम्म-महामात: अशोक के द्वारा सृजित अधिकारियों की एक विशेष श्रेणी जिसका कार्य धम्म का प्रसार करना था (धर्म महामात्य)

धर्म: एक संस्कृत शब्द जिसका अनुवाद करना कठिन है; समाज में रहने वाले व्यक्ति का आदर्श आचरण; एक ऐसी जीवन शैली जिससे मानव जीवन के लक्ष्य की पूर्ति होती है

धर्मशास्त्र: संस्कृत ग्रंथों का एक समूह जो विशेष रूप से धर्म की व्याख्या करता है

धर्मसूत्र: धर्मशास्त्र के प्राचीनतम ग्रंथ, जो सूत्र शैली में लिखे हैं

डिफ्फ्युजनिस्ट सिद्धांत/ परासरण सिद्धांत: सिद्धांत जो वह व्याख्या करते हैं कि सांस्कृतिक नवीनीकरण और परिवर्तन, मूल रूप से अपने एक केंद्र से प्रभावित और प्रेरित होती है

दिगम्बर: शाब्दिक अर्थ 'दिशा है अम्बर जिसका'; एक जैन संप्रदाय

डिस्कॉइड क्रोड तकनीक: तैयार किए गए क्रोड की तकनीक के उपयोग से पत्थर के औजार बनाने की तकनीक

डॉलमेनॉइड सिस्ट: चेम्बर युक्त एक महापाषाणीय कब्र, जो आंशिक रूप से सतह के नीचे होता है

डॉलमेन: चेम्बर युक्त महापाषाणीय कब्र जो पूरी तरह सतह से ऊपर होता है

द्रविड़ भाषाएं: भाषा-परिवार जिनमें तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ शामिल है

द्विज: शाब्दिक अर्थ 'दूसरा जन्म', जिनको उपनयन संस्कार का अधिकार है, ऊपर के तीन वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य

प्रारंभिक हड़प्पा काल: हड़प्पा संस्कृति का प्रारंभिक आद्य-नगरीकरण का काल

अष्टांगिक मार्ग: दुःख से मुक्ति के लिए बुद्ध के द्वारा बतलाया गया मार्ग

एलिमेंट्री फेमिली: विवाहित दम्पति और उनकी संतानें, जो एक साथ या अलग-अलग रहते हों

एपिग्राफी/पुरालेखीय अध्ययन: अभिलेखों का अध्ययन (प्राचीन)

एपि-पेलियोलिथिक: पत्थर के औजार-निर्माण का एक संक्रमण काल, जिस काल के औजार ऊपरी पुरापाषण कालीन औजरों से छोटे, किंतु सूक्ष्मपाषाण औजारों से बड़े बनाए जा रहे थे

एथ्नो-आर्कियोलॉजी: पुरातत्त्व की वह शाखा जो वर्तमान के समुदायों के जीवनशैली का अध्ययन करती है, तथा उसके माध्यम से अतीत में रहने वाले समुदायों के पुरातात्त्विक प्रमाणों का अध्ययन करता है

केयर्न स्टोन सर्कल: महापाषाणीय कब्र का एक प्रकार, जिन्हें पत्थरों के वृत्ताकार सजावट तथा विशाल चट्टान प्रखंडों को एक के ऊपर एक कर रखा हुआ देखा जा सकता है

कार्बुराइजेशन: लोहे को कार्बन की उपस्थिति में गर्म कर इस्पात बनाने की प्रक्रिया

सेल्ट: नवपाषाण कालीन औजार, पॉलिशदार हस्तकुठार

सेनोजोइक: 'स्तनधारियों का युग', 100 मिलियन वर्ष पूर्व, टर्शीएरी और क्वाटरनरी युगों से सम्बद्ध

चैत्य: एक बौद्ध मंदिर

चेम्बर टूम्ब: चेम्बर युक्त एक महापाषाणीय कक्ष, चट्टानों के दो अथवा चार उर्ध्वाधर प्रखंडों के ऊपर एक क्षैतिजीय रूप से व्यवस्थित चट्टान प्रखंड वाली व्यवस्था

चरण: वैदिक शिक्षा की एक शाखा

चार्वाक: एक भौतिकतावादी नास्तिक दर्शन, लोकायत के नाम से भी प्रसिद्ध

चौपर: एक फलक वाला, एक बड़ा औजार

चौपिंग टूल: क्रोड या सूक्ष्म पाषाण पर बना एक गंडासा औजार, दोनों हिस्सों में फलकित होने के कारण लहरनुमा धार प्रदर्शित करता है

सिस्ट: सतह के नीचे बना एक महापाषाणीय कब्र, उर्ध्वाधर और क्षैतिजीय रूप से व्यवस्थित चट्टानों के प्रखंड

क्लैन: माता या पिता में किसी एक के वंश के आधार पर वंशानुगत समूह, जो अपनी उत्पत्ति किसी एक वास्तविक या मिथकीय पूर्वज से मानते हैं

क्लीवर: एक चौड़े आयताकार या त्रिकोणीय फलक पर बना, एक फैला हुआ औजार; विदारणी, जिसकी एक छोर चौड़ी और सीधी धार वाली होती है

कॉगनिटिव आर्कियोलॉजी: पुरातत्त्व की वह शाखा जो विचार, आस्था तथा धर्म से जुड़े प्रमाणों का अध्ययन करती है

कॉपर होर्ड: ताम्र पुंज; आद्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से प्राप्त विशिष्ट प्रकार की ताम्र-सामग्रियां, जो दोआब तथा उपमहाद्वीप के अन्य हिस्सों से मिली है

कोर औजार: सामान्यतः बड़े आकार वाले, क्रोड पर बनाए गए पत्थर के औजार

कौड़ी: समुद्री शंख, जिनका अतीत में विश्व के कई हिस्सों में मुद्रा के रूप में उपयोग किया गया; भारत में मालदीव से प्राप्त कौड़ियों का प्राचीन काल से औपनिवेशिक काल तक मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया

क्रेनियल क्षमता: मस्तिष्क का विस्तार

कल्चर/संस्कृति: अनेक अभिप्रायों वाला एक शब्द, समाज में रहकर सीखे गए विचार और व्यवहार; पुरातत्त्व के एक विशिष्ट

संदर्भ में यह कुछ भौतिक लक्षणों के बार-बार अनेक स्थलों पर प्रकट होने वाले समुच्चय से जुड़ा है

दक्षिणा: अनुष्ठान सम्पन्न कराने का शुल्क

दक्षिणापथ: दक्षिण भारत का महान व्यापार मार्ग

दान: आनुष्ठानिक भेंट

एक्सटेंडिड बरियल (कब्र में दफनाना): दफनाने की वह विधि जिसमें शव को लिटाकर रखते हैं

एक्सटेंडिड फेमिली: संयुक्त रूप से दो या दो से अधिक प्रारंभिक परिवार

फैक्ट्री साइट (स्थल): स्थल जहां औजार बनाए जाते थे

फौनल एनलिसिस (विश्लेषण): पशु-अस्थियों का विश्लेषण

फील्ड आर्कियोलॉजी: किसी पुरातात्त्विक स्थल का अन्वेषण और उसका उत्खनन

फीयूड्लिज्म स्कूल: पूर्व मध्ययुगीन भारत के संदर्भ में वह विचारधारा जो राजनीतिक और आर्थिक विकेंद्रीकरण के सिद्धांत को स्वीकार करता है

फूड प्रोड्यूसिंग सोसायटी: ऐसा समाज जो अपनी खाद्यान्न आवश्यकता के कम से कम आधे हिस्से की पूर्ति, वर्ष के कम से कम कुछ हिस्से में पशु तथा/अथवा वनस्पति के कृषिकरण के द्वारा करता है, जहां पशु अथवा वनस्पति अपने प्राकृतिक संदर्भ से बाहर अवस्थित होते हैं; खाद्य उत्पादक समाज

आरिय-सच्चानी: बुद्ध की शिक्षा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा: दु:ख है, दु:ख का कारण है, दु:ख का निवारण है तथा दु:ख के निवारण के लिए अष्टांगिक मार्ग है

फ्रेक्शनल बरियल: हड्डियों को तोड़ने के बाद शव को दफनाना

गहपति: संस्कृत के 'गृहपति' का पालि अनुवाद; एक गृहस्थ, एक धनाढ्य, और सम्पत्ति का स्वामी

गज-लक्ष्मी: भगवती लक्ष्मी का एक लोकप्रिय रूप, जिनके दोनों ओर हाथी होते हैं, कभी-कभी जिनके सूंढों में कलश होते हैं

गण: एक शब्द जिसके कई अर्थ हैं, जिनमें कुलीनतंत्र भी एक है

गर्भ-गृह: मंदिर का केंद्रीय हिस्सा, जहां मुख्य देवता की प्रतिमा स्थापित होती है और उनकी पूजा की जाती है

गरुड़: एक काल्पनिक पक्षी, विष्णु की सवारी

जीनस: सम्बद्ध प्रजातियों का समूह

गोत्र: ब्राह्मणों का कुल समुदाय, गैर-ब्राह्मणों में भी प्रचलित

ग्रंथ लिपि: संस्कृत लेखन के लिए उपयोग की जाने वाली दक्षिण भारत की लिपि

गृहस्थ: आश्रम व्यवस्था में गृहस्थी की अवस्था

हेजियोग्राफी: पवित्र जीवन-चरित

हैण्डएक्स (हस्त कुठार): लगभग तिकोना पत्थर का औजार, क्रोड तथा फलकित सतह के दोनों ओर बनाया जाता है

हेनोथीज़म/कथेनोथीज़म: मैक्स मुलर के द्वारा प्रचलित एक शब्द, जिसके द्वारा *ऋग्वेद* की उस अवधारणा का वर्णन किया गया, जिसके अंतर्गत उसी देवता को सर्वोपरि बताया जाता है, जिसका आह्वान किया जा रहा हो

हीनयान: शाब्दिक अर्थ 'छोटा यान'; बौद्ध सम्प्रदायों में से एक

हिस्टॉरियोग्राफी: इतिहास लेखन और पुनर्रचना

हिस्ट्री (इतिहास): मानवीय अतीत का अध्ययन, विशेषत: अतीत के साक्षर समाजों का अध्ययन

होलोसीन/रिसेंट: सेनोजोइक युग का सातवां चरण, 10,000 वर्ष पूर्व से वर्तमान तक

हॉमिनिड: मनुष्य से मिलती-जुलती प्रजातियां

होमो इरेक्टस: वैसी हॉमिनिड प्रजाति, जो पूर्ण रूप से उद्‌ग्र खड़ी हो सकती थी

होमो हेबिलिस: शाब्दिक अर्थ 'हाथों का उपयोग करने वाला मानव'; एक हॉमोनिड प्रजाति

होमो सेपियन्स नियनडरथलिस: होमो सेपियन्स की एक प्रजाति जो लुप्त हो गई

होमो सेपियन्स: 'सोचने वाला मानव'; शारीरिक दृष्टिकोण से आधुनिक मानव

हाउसहोल्ड्स: लोग, जो एक ही निवास स्थान का उपयोग करते हैं

हुण्डिका: पूर्व मध्य युगीन भारत में व्यापारियों के द्वारा उपयोग किए गए विनिमय प्रपत्र

इण्डो-यूरोपियन/यूरोपीय: एक भाषा परिवार, जिसमें संस्कृत सहित उत्तर भारत की अनेक भाषाएं, तथा एशिय एवं यूरोप की अनेक भाषाएं आती हैं

इण्डो-आर्य: इंडो-यूरोपीय भाषा परिवार की इंडो-ईरानी शाखा की एक उप-शाखा

इन सिटु: अपने मौलिक स्थान पर

इंडस्ट्री: एक ही पदार्थ के बने समान प्रकार के आर्टिफैक्टस/हस्तकृतियां

इनह्यूमेशन: दफनाना

जनपद: शाब्दिक अर्थ 'जनजाति के पैर'; एक क्षेत्रीय राज्य, ग्राम्य और नगरीय बस्तियों वाला एक क्षेत्र तथा उसमें निवास करने वाले लोग

जातक: खुद्दक निकाय की 15 पुस्तकों में एक, जिसमें बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएं संकलित हैं

स्क्रिप्ट/लिपि: लिखावट; दृश्य संवाद की एक व्यवस्था, जिसमें उन प्रतीक और चिन्हों का उपयोग किया जाता है, जिनकी विशिष्ट अर्थ और ध्वनि होती है, इन्हें किसी प्रकार की सतह पर लिखते हैं

सेकण्ड्री बरियल: वैसा व्यवहार जिसके अंतर्गत शव को कुछ समय तक कब्र में रखने के बाद दूसरे कब्र में रख दिया जाता है

सेकण्ड्री स्टेट (राज्य): एक राज्य जिसके समक्ष पूर्व से अस्तित्व में रहे किसी राज्य का प्रतिमान उपलब्ध हो, तथा उस राज्य का अस्तित्व पूर्व-अवस्थित राज्य से प्रभावित रहा हो

सेकण्ड्री/मेसोजोइक: चार भू-गर्भ शास्त्रीय युग में दूसरा युग (द्वितीयक युग)

सेग्मेण्ट्री स्टेट (राज्य): एक राज्य जिसमें शक्ति का विखंडीकरण देखा जा सकता है, सबसे पहले साउथौल के द्वारा अफ्रीका के अलूर जनजाति के संदर्भ में प्रयोग किया गया, बाद में स्टाईन ने इस शब्दावली का प्रयोग पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत के संदर्भ में किया

सेट्ठी: पालि (संस्कृत में श्रेष्ठिन); व्यापार और उधार में धन देने वाला एक उच्च स्तरीय व्यावसायी

शाखा: किसी एक वेद का संस्करण

शिववाद (शैव मत): सर्वोच्च देवता के रूप में शिव की उपासना

शूद्र: चौथा वर्ण, जिससे ऊपर के तीन वर्णों की सेवा अपेक्षित थी

श्रुति: शाब्दिक अर्थ 'वह जो सुना गया है'; वेद

श्वेतांबर: शाब्दिक अर्थ 'सफेद वस्त्रों में'; एक जैन संप्रदाय

सिद्धमातृका: एक प्राचीन लिपि, छठीं शताब्दी से ज्ञात, कुटिल के नाम से भी प्रचलित

साइट (स्थल): वैसा स्थान जहां से हस्त-कृतियों या अतीत के मानवीय गतिविधि के कोई प्रमाण उपलब्ध हो

स्लिप: मृदभांड पद चढ़ा कोई परत

स्मृति: शाब्दिक अर्थ 'स्मरण किया गया पाठ'; संस्कृत ग्रंथों की एक कोटि, जिसमें वेदांग, पुराण, महाकाव्य, धर्मशास्त्र तथा नितिशास्त्र शामिल हैं

स्पीशीज: जीव जो शारीरिक गुण और व्यवहार में परस्पर साम्य रखते हैं, तथा आपस में सहवास और प्रजनन कर सकते हैं

स्टेट सोसाइटी (समाज): एक स्तरित और पदानुक्रमित समाज, जिसकी राजनीति राज्य के अस्तित्व पर आश्रित होती है

स्ट्रैटिग्रैफिक कॉन्टेक्स्ट (स्तर विन्यास संदर्भ): पुरातात्त्विक स्तर जिसमें वस्तु की प्राप्ति हुई है

स्त्री-धन: स्त्री की सम्पति, जीवन के विभिन्न अवसरों पर एक स्त्री को दी जाने वाली चल संपत्ति, माता से पुत्री को हस्तांतरित

स्यादवाद: शाब्दिक अर्थ 'संभवत: का सिद्धांत'; सत्य से जुड़े कथनों की आंशिक प्रकृति का जैन सिद्धांत

तमिल-ब्राह्मी: दक्षिण भारत की एक प्राचीन लिपि, ब्रह्मी लिपि का एक रूपांतर जिससे तमिल भाषा को लिखा जा सके

तानियुर: पूर्व मध्यकाल के ब्रह्मदेयों को दिया गया, विशेष दर्जा, उनके अपने नाडु से स्वतंत्र स्वायत्त हैसियत प्रदान करना

टेर्रा सिगिलाटा: सांचे में ढले अलंकृत भांड अथवा चाक पर बनाए गए सादे मृदभांड, इटली में निर्मित या उनकी स्थानीय प्रतिकृतियां पहले, इन्हें अर्रेन्टाइन भांड भी कहते थे

टर्शियरी (तृतीयक): चार भू-गर्भशास्त्रीय युगों में तीसरा

तेवरम: भजनों का संग्रह, दक्षिण भारतीय शैव भक्ति का अंग

थर्मोल्यूमिनिसेन्स (ताप संदीप्ति): पुरातत्त्व में प्रयुक्त अकार्बनिक वस्तुओं यथा मृदभांड की तिथि-निर्धारण की एक वैज्ञानिक विधि

तिपिटक: पालि, शाब्दिक अर्थ 'तीन पिटारे' या 'तीन संग्रह'; बौद्ध धर्म की धर्म संहिता, थेरवाद सम्प्रदाय की

तीर्थंकर: शाब्दिक अर्थ 'घाट निर्माता', एक जैन संत

तिरुमुरई: दक्षिण भारतीय शैव भक्ति की धर्म संहिता

तिरुतोंटर तिरुवन्तातिः नम्बी अंडार नम्बी की एक कृति, जिसमें नायनमार संतों का संक्षिप्त जीवन-चरित दिया गया है

तिरुतोंटर-टोकई: सुंदरर की कृति, जिसमें 62 नायनमार संतों की सूची दी गई है

तोरण: किसी मंदिर का प्रवेश द्वार

ट्रांसेप्ट: चट्टानों के उर्ध्वाधर प्रखंड, जो किसी चेम्बरयुक्त महापाषणीय कब्र को विभाजित करते हैं

ट्राईब (जनजाति): इस शब्द की सटीक परिभाषा देना कठिन है, कई संबद्ध कुल वंशों से निर्मित

त्रिरत्न: शाब्दिक अर्थ 'तीन रत्न'; जैन धर्म में सम्यक आस्था, सम्यक ज्ञान और सम्यक आचरण के लिए प्रयुक्त

चेम्बरविहीन कब्र: एक महापाषाणीय कब्र जिसमें चेम्बर अनुपस्थित होता है

यूनीलिनियल किनशिप व्यवस्था: वैसी नातेदारी व्यवस्था जो माता या पिता में से किसी एक की वंश परंपरा को स्वीकार करती है

उपनिषद्: वैदिक ग्रंथों का हिस्सा, दार्शनिक ग्रंथ

उपासक: बुद्ध शिक्षा को मानने वाला पुरुष अनुयायी

उपासिका: बुद्ध की शिक्षा को मानने वाली स्त्री अनुयायी

अपर पेलियोलिथिक (ऊपरी पुरापाषण काल): पुरापाषण काल का अंतिम चरण, 40,000 वर्ष पूर्व से 10,000 वर्ष पूर्व के बीच

उत्तर मीमांसा: वेदांत के रूप में भी जाना जाता है, ज्ञान मार्ग को स्वीकार करने वाला दर्शन जो कर्मकांड का विरोधी है

उर: एक गैर-ब्राह्मण गांव (दक्षिण भारत का); उस गांव की सभा

उत्तरापथ: उत्तर भारत का महान अंतर्क्षेत्रीय व्यापार मार्ग

वैशेषिक: सत्य के बहुआयामी दृष्टिकोण को मानने वाला दर्शन

वैश्य: कृषि, पशुपालन और व्यापार से जुड़ा वर्ण

वानप्रस्थ: आश्रम व्यवस्था में आंशिक सन्यास की अवस्था

वराह: विष्णु का वराह अवतार

वर्ण: शाब्दिक अर्थ 'रंग'; चार वर्गों की अवधारणा–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र

वर्ण-संकर: अंतर-वर्ण विवाहों से उत्पन्न मिश्रित वर्ण

वस्सावास: बौद्ध भिक्षुओं द्वारा वर्षा ऋतु का विश्राम

वट्टेलुत्तु: तमिल लिखने की एक प्राचीन दक्षिण भारतीय लिपि

वेदांग: शाब्दिक अर्थ 'वेदों का अंग' वेदों से जुड़े सहयोगी पाठ्य

वेलिर: दक्षिण भारत के स्थानीय प्रमुख

वेल्लाल/वेल्लालर: दक्षिण भारत का कृषक वर्ग

वेल्लानवगई: उर की तरह ही दक्षिण भारत के गैर-ब्राह्मण गांव

वेण्डार: प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में दक्षिण भारत के तीन ताजपोश शासक–चोल, चेर तथा पाण्ड्य

वेसर: मंदिर स्थापत्य की एक शैली, जिसमें नागर और द्राविड़ दोनों शैलियों की विशेषताएं देखी जा सकती है; कर्नाट-द्राविड़ शैली के नाम से भी जानी जाती है

विहार: एक बौद्ध मठ

विमान: मंदिर का गर्भ-गृह और उसकी ऊपरी संरचनाएं

विरगल: तमिल नाडु क्षेत्र में 'नायक पत्थर' के लिए प्रयुक्त शब्द

विष्णुवाद (वैष्णव मत): विष्णु की सर्वोच्च देवता के रूप में उपासना

यजमान: व्यक्ति जिसके लिए कोई अनुष्ठान सम्पन्न होता है, जो उसके खर्च को वहन करता है

यज्ञ: अनुष्ठान

यक्ष: जल, उर्वराशक्ति, वृक्ष, वन तथा बंजर भूमि के देवता

यक्षी: यक्ष की शक्ति देवियां, उर्वरा शक्ति से जुड़ी देवियां

यवन: यूनानी, पश्चिम से आए विदेशी

योग: दर्शन जो मन पर पूर्ण नियंत्रण का मार्ग बतलाता है

योगाचार: महायान बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण शाखा, जिसने सर्वोच्च आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ध्यान को सर्वाधिक महत्व दिया

यूप: बलि वेदी से जुड़ा स्तंभ

अतिरिक्त पाठ्य सामग्री (Further Readings)

Introduction

Ali, S. M. 1966. *Geography of the Puranas*. New Delhi: People's Publishing House.

Chakrabarti, Dilip K. 1988. *A History of Indian Archaeology from the Beginning to 1947*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 2003. *Archaeology in the Third World: A History of Indian Archaeology Since 1947*. New Delhi: D. K. Printworld.

Chakravarti, Uma. 2006. *Everyday Lives, Everyday Histories: Beyond the Kings and Brahmanas of 'Ancient' India*. New Delhi: Tulika.

Chakravarti, Uma and Kumkum Roy. 1988. 'In Search of Our Past: A Review of the Limitations and Possibilities of the Historiography of Women in Early India.' *Economic and Political Weekly* 23: WS2–10.

Gadgil, Madhav and Ramachandra Guha (eds). 1992. *This Fissured Land: An Ecological History of India*. New Delhi: Oxford University Press.

Kosambi, D. D. 2002. *Combined Methods in Indology and Other Writings*. Compiled, edited, and introduced by B. D. Chattopadhyaya. New Delhi: Oxford University Press.

Law, B. C. 1954. *Historical Geography of Ancient India*. Paris: Société Asiatique de Paris.

Mukherjee, B. N. 1998. *The Concept of India*. Kolkata: Sanskrit Pustak Bhandar and the Centre of Indology, Jadavpur University.

Philips, C. H. (ed.). 1967. *Historians of India, Pakistan and Ceylon*. Rep. edn. London: Oxford University Press.

Rangarajan, Mahesh (ed.). 2007. *Environmental Issues in India: A Reader*. Delhi: Pearson Longman.

Singh, Upinder. 2004. *The Discovery of Ancient India: Early Archaeologists and the Beginnings of Archaeology*. Delhi: Permanent Black.

Thapar, Romila. 1978. 'Interpretations of Ancient Indian History.' In Romila Thapar, 1979, *Ancient Indian Social History: Some Interpretations*. New Delhi: Orient Longman.

Chapter 1

Allchin, Bridget (ed.). 1995. *Living Traditions*. Rep. edn. Delhi: Oxford University Press and IBH.

Badam, G. L. and Vijay Sathe. 1995. 'Palaeontological Research in India: Retrospect and Prospect.' *Memoirs of the Geological Society of India* 32: 473–95.

Chattopadhyaya, B. D. 1977. *Coins and Currency Systems in South India c. 225–1300*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Cribb, Joe. 2005. *The Indian Coinage Tradition: Origins, Continuity and Change*. Nashik: Indian Institute of Research in Numismatic Studies.

Goyal, S. R. 1995. *The Coinage of Ancient India*. Jodhpur: Kusumanjali Prakashan.

Gupta, P. L. [1969] 1996. *Coins*. 4th edn. New Delhi: National Book Trust.

Kailasapathy, K. 2002. *Tamil Heroic Poetry*. Rep. edn. Colombo and Chennai: Kumaran Book House.

Kshirasagar, Anupama, Bhaskar Deotare, and Vishwas Gogte. 1995. 'Archaeometry: A Source of Buried Information.' *Memoirs of the Geological Society of India* 32: 466–72.

Mahadevan, Iravatham. 2003. *Early Tamil Epigraphy: From the Earliest Times to the Sixth Century* AD. Chennai: Cre-A and the Department of Sanskrit and Indian Studies, Harvard University.

Mittal, Sushil and Gene Thursby (eds). 2005. *The Hindu World*. Indian rep. New York and London: Routledge.

Mugali, R. S. 1975. *History of Kannada Literature*. New Delhi: Sahitya Akademi.

National Museum Coins' Collection: From Courier to Credit Card. CD, New Delhi: National Museum.

Pathak, V. S. 1966. *Historians of Ancient India: A Study in Historical Biographies*. Bombay: Asia Publishing House.

Pollock, Sheldon. 2003. *Literary Cultures in History: Reconstructions from South Asia*. Delhi: Oxford University Press. Introduction.

———. [2006] 2007. *The Language of the Gods in the World of Men: Sanskrit, Culture and Power in Premodern India*. Delhi: Permanent Black.

Rao, Velcheru Narayana and David Shulman (eds and trans.). 2002. *Classical Telugu Poetry: An Anthology*. Delhi: Oxford University Press. Introduction, pp. 75–122.

Ray, Himanshu Prabha (ed.). 2006. *Coins in India: Power and Communication*. Mumbai: Marg Publications.

Ray, H. P. and C. Sinopoli (eds). 2004. *Archaeology as History in Early South Asia*. New Delhi: Indian Council of Historical Research and Aryan Books.

Renfrew, Colin and Paul Bahn. 1991. *Archaeology: Theories, Methods, and Practice*. London: Thames and Hudson.

Richman, Paula (ed.). 1992. *Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia*. Delhi: Oxford University Press.

Salomon, Richard. 1998. *Indian Epigraphy: A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit, Prakrit, and the other Indo-Aryan Languages*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Sircar, D. C. 1965. *Indian Epigraphy*. Delhi: Motilal Banarsidass.

———. 1968. *Studies in Indian Coins*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Thapar, Romila. 2000. 'Society and Historical Consciousness: The *Itihasa-purana* Tradition.' In Romila Thapar, *Cultural Pasts: Essays in Early Indian History*. New Delhi: Oxford University Press, pp. 123–54.

Thomas, P. K. and P. P. Joglekar. 1995. 'Faunal Studies in Archaeology.' *Memoirs of the Geological Society of India* 32: 496–514.

Trigger, Bruce G. 1990. *A History of Archaeological Thought*. Rep. edn. Cambridge: Cambridge University Press.

Varadarajan, Mu. 1988. *A History of Tamil Literature*. E. Sa Viswanathan (trans. from Tamil). Delhi: Sahitya Akademi.

Winternitz, M. 1985–1993. *History of Indian Literature*. 3 Vols. Rep. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

Zvelebil, K. V. 1975. *Tamil Literature*. Leiden/Koln: E. J. Brill.

Chapter 2

Allchin, Raymond and Bridget Allchin. 1997. *Origins of a Civilization: The Prehistory and Early Archaeology of South Asia*. New Delhi: Viking. Chapters 3–5.

Bhattacharya, D. K. 1972. *Prehistoric Archaeology*. Delhi: Hindustan Publishing Corporation, pp. 24–46.

Chakrabarti, Dilip K. 2006. *The Oxford Companion to Indian Archaeology: The Archaeological Foundations of Ancient India, Stone Age to AD 13th Century*. Delhi: Oxford University Press. Chapters 2, 3–5.

James, Hannah V. A. and Michael D. Petraglia. 2005. 'Modern Human Origins and the Evolution of Behaviour in the Later Pleistocene Record of South Asia.' *Current Anthropology* 46 (Dec.), S5 (Also available on Petraglia's Web site: http://www.human-evol. cam. ac. uk/Members/Petraglia/Petraglia. htm).

Kennedy, Kenneth A. R. 2000. *God-Apes and Fossil Men: Palaeoanthropology of South Asia*. Ann Arbor: University of Michigan Press.

Klein, Richard G. 1999. *The Human Career: Human Biological and Cultural Origins*. 2nd edn. Chicago and London: University of Chicago Press.

Mathpal, Yashodhar. 1974. *Prehistoric Rock Paintings of Bhimbetka in Central India*. New Delhi: Abhinav Publications.

Misra, V. D. and J. N. Pal (eds). 2002. *Mesolithic India*. Allahabad: Allahabad University.

Neumayer, Erwin. 1983. *Prehistoric Indian Rock Paintings*. Delhi: Oxford University Press.

Settar, S. and Ravi Korisettar (eds), n.d. *Prehistory: Archaeology of South Asia*. Archaeology and Interactive Disciplines. Vol. 3. New Delhi: Indian Council of Historical Research and Manohar.

Chapter 3

Chakrabarti, Dilip K. 2006. *The Oxford Companion to Indian Archaeology: The Archaeological Foundations of Ancient India, Stone Age to AD 13th Century*. New Delhi: Oxford University Press. Chapters 6, 7.

Jarrige, Catherine, Jean–François Jarrige, Richard H. Meadow, and Gonzague Quivron (eds). n.d. *Mehrgarh: Field Reports from Neolithic Times to the Indus Civilization*. Karachi: Department of Culture and Tourism, Government of Sindh, Pakistan, in collaboration with the French Ministry of Foreign Affairs.

Korisettar, Ravi, P. C. Venkatasubbaiah, and Dorian Q. Fuller. 2003. 'Brahmagiri and Beyond: The Archaeology of the Southern Neolithic.' In S. Settar and Ravi Korisettar (eds), *Indian Archaeology in Retrospect*, Vol. 1: *Prehistory: Archaeology of South Asia*. New Delhi: Indian Council for Historical Research and Manohar, pp. 151–237.

Sharma, G. R., V. D. Misra, D. Mandal, B. B. Misra, and J. N. Pal. 1980. *From Hunting and Food Gathering to Domestication of Plants and Animals: Beginnings of Agriculture (Epi-Palaeolithic to Neolithic: Excavations at Chopani-Mando, Mahadaha and Mahagara)*. Allahabad: Abinash Prakashan.

Singh, B. P. 2003. *Early Farming Communities of Kaimur: Excavations at Senuar.* 2 Vols. Jaipur: Publication Scheme.

Valuable details and case studies of the sites mentioned in this chapter (and others too) can be found by browsing through the various volumes of *Indian Archaeology—A Review*, *Man and Environment*, *Puratattva,* and *Pragdhara*.

Chapter 4

Chakrabarti, Dilip K. 1990. *The External Trade of the Indus Civilization*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 2006. *The Oxford Companion to Indian Archaeology: The Archaeological Foundations of Ancient India, Stone Age to AD 13th Century*. Delhi: Oxford University Press. Chapters 8–11.

Chakrabarti, Dilip K. (ed.). 2004. *Indus Civilization Sites in India: New Discoveries*. *Marg* 55(3). Mumbai: Marg Publications.

Dales, George F., J. M. Kenoyer, and the staff of the Harappa Project. 1991. 'Summaries of Five Seasons of Research at Harappa (District Sahiwal, Punjab, Pakistan), 1986–1990.' In R. H. Meadow (ed.), *Harappa Excavations. 1986–1990: A Multidisciplinary Approach*. Monographs in World Archaeology. Vol. 3. Madison: Prehistory Press.

Kenoyer, Jonathan Mark. 1998. *Ancient Cities of the Indus Valley Civilization*. Karachi: Oxford University Press and American Institute of Pakistan Studies.

Lahiri, Nayanjot. 1992. *The Archaeology of Indian Trade Routes (up to c. 200 B.C.)*. Delhi: Oxford University Press.

———. 2005. *Finding Forgotten Cities: How the Indus Civilization was Discovered*. New Delhi: Permanent Black.

——— (ed.). 2000. *The Decline and Fall of the Indus Civilization*. Delhi: Permanent Black.

Lal, B. B. 1997. *The Earliest Civilization of South Asia (Rise, Maturity and Decline)*. New Delhi: Aryan Books International.

——— and S. P. Gupta (eds). 1984. *Frontiers of the Indus Civilization*. New Delhi: Books and Books.

Mughal, M. R. 1997. *Ancient Cholistan: Archaeology and Architecture*. Lahore: Ferozsons.

Possehl, Gregory L. 2003. *The Indus Civilization: A Contemporary Perspective*. New Delhi: Vistaar Publications.

——— (ed.). 1979. *Ancient Cities of the Indus*. New Delhi: Vikas Publishing House.

——— (ed.). 1982. *Harappan Civilization: A Contemporary Perspective*. New Delhi: Oxford University Press and IBH.

——— (ed.). 1993. *Harappan Civilization: A Recent Perspective*. New Delhi: American Institute of Indian Studies, Oxford University Press, and IBH.

Ratnagar, Shereen. 1991. *Enquiries into the Political Organization of Harappan Society*. Pune: Ravish.

———. 2001. *Understanding Harappa: Civilization in the Greater Indus Valley.* New Delhi: Tulika.

Settar, S. and Ravi Korisettar (eds). 2002. *Indian Archaeology in Retrospect,* Vol II: *Protohistory: Archaeology of the Harappan Civilization*. New Delhi: Indian Council of Historical Research and Manohar.

WEB SITES

www.harappa.com

http://asi.nic.in (The official Web site of the Archaeological Survey of India)

CHAPTER 5

Bryant, Edwin. 2002. *The Quest for the Origins of Vedic Culture: The Indo-Aryan Migration Debate*. Delhi: Oxford University Press.

Chakrabarti, Dilip K. 1992. *The Early Use of Iron in India*. Delhi: Oxford University Press.

———. 2006. *The Oxford Companion to Indian Archaeology: The Archaeological Foundations of Ancient India, Stone Age to* AD *13th Century*. Delhi: Oxford University Press. Chapter 14.

Chakravarti, Uma. 2003. *Gendering Caste through a Feminist Lens*. Calcutta: Stree.

———. 2006, *Everyday Lives, Everyday Histories: Beyond the Kings and Brahmanas of 'Ancient' India*. New Delhi: Tulika.

Dasgupta, Surendranath. [1922] 1975. *A History of Indian Philosophy*. Vol. 1. Rep. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

Deshpande, Madhav. 1997. 'Vedic Aryans, Non-Vedic Aryans, and Non-Aryans: Judging the Linguistic Evidence of the Veda.' In George Erdosy (ed.), 1997, *The Indo-Aryans of Ancient South Asia: Language, Material Culture and Ethnicity*. New Delhi: Munshiram Manoharlal, pp. 67–84.

Dhavalikar, M. K. 1979. 'Early Farming Communities of Central India' and 'Early Farming Cultures of Deccan.' In D. P. Agrawal and Dilip K. Chakrabarti (eds), *Essays in Indian Protohistory*. Delhi: B. R. Publishing Corporation, pp. 229–45, 247–64.

Dhavalikar, M. K., H. D. Sankalia, and Z. D. Ansari. 1988. *Excavations at Inamgaon*. Vol. 1, Parts I and II. Pune: Deccan College.

Erdosy, George (ed.). 1997. *The Indo-Aryans of Ancient South Asia: Language, Material Culture and Ethnicity*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Gaur, R. C. 1983. *Excavations at Atranjikhera: Early Civilization of the Upper Ganga Basin*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Hooja, Rima. 1988. *The Ahar Culture and Beyond: Settlements and Frontiers of 'Mesolithic' and Early Agricultural Sites in South-Eastern Rajasthan c. 3rd–2nd Millennia* BC. BAR International Series 412. Oxford.

Jamison, S. W. and Michael Witzel. 1992. *Vedic Hindusim* (available on Michael Witzel's homepage: http://www.people.fas.harvard. edu/~witzel/vedica.pdf).

Korisettar, Ravi, P. P. Joglekar, Dorian Q. Fuller, and P. C. Venkatasubbaiah. 2001. 'Archaeological Re-investigation and Archaeozoology of Seven Southern Neolithic Sites in Karnataka and Andhra Pradesh.' *Man and Environment* 26(2): 46–66.

Lal, Makkhan. 1984. *Settlement History and Rise of Civilization in Ganga-Yamuna Doab (from 1500* BC *to 300* AD*)* Delhi: Orient Book Distributors.

Lukacs, J. R. and S. R. Walimbe. 1986. *Excavations at Inamgaon*, *Vol. 2. The Physical Anthropology of Human Skeletal Remains*. Pune: Deccan College.

Moorti, U. S. 1994. *Megalithic Culture of South India*. Varanasi: Ganga Kaveri Publishing House.

Nandi, R. N. 1989–90. 'Archaeology and the *RgVeda*.' *Indian Historical Review* 16(1–2): 35–79.

Parasher, Aloka. 1991. *Mlecchas in Early India: A Study in Attitudes towards Outsiders upto* AD *600*. Delhi: Munshiram Manoharlal.

Roy, Kumkum. 1994. *The Emergence of Monarchy in North India: Eighth–fourth Centuries* BC *as Reπlected in the Brahmanical Tradition*. Delhi: Oxford University Press.

——— (ed.). 1999. *Women in Early Indian Societies*. New Delhi: Manohar.

Sahu, Bhairabi Prasad (ed.). 2006. *Iron and Social Change in Early India*. Oxford in India Readings: Debates in Indian History and Society. Delhi: Oxford University Press.

Sali, S. A. 1986. *Daimabad 1976–79*. Memoirs of the Archaeological Survey: 83. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Sankalia, H. D., Bendapudi Subbarao, and Shantaram Bhalchandra Deo. 1958. *The Excavations at Maheshwar and Navdatoli 1952–53*. Poona and Baroda: Deccan College Research Institute and M. S. University Publication No. 1.

Sastry, V. V. Krishna. 1983. *The Proto and Early Historical Cultures of Andhra Pradesh*. Hyderabad: The Government of Andhra Pradesh.

Sharma, R. S. 1980. *Sudras in Ancient India: A Social History of the Lower Order Down to circa* AD *600*. 2nd rev. edn. Delhi: Motilal Banarsidass. Chapters 2, 3.

———. 1983. *Material Culture and Social Formations in Ancient India*. Delhi: Macmillan India.

———. [1959] 1996. *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Shinde, Vasant. 1998. *Early Settlements in the Central Tapi Basin*. Delhi: Munshiram Manoharlal.

Singh, H. N. 1979. 'Black and Red Ware: A Cultural Study.' In D. P. Agrawal and Dilip K. Chakrabarti (eds), *Essays in Indian Protohistory*. Delhi: B. R. Publishing Corporation, pp. 267–83.

Singh, Purushottam. 1994. *Excavations at Narhan (1984–89)*. Varanasi: Banaras Hindu University; Delhi: B. R. Publishing Corporation.

Sundara, A. 1975. *The Early Chamber Tombs of South India*. Delhi: University Publishers.

Thapar, Romila. 1990. *From Lineage to State: Social Formations in the Mid-First Millennium BC in the Ganga Valley*. Delhi: Oxford University Press.

Trautmann, Thomas R. (ed.). 2005. *The Aryan Debate*. Oxford in India Readings: Debates in Indian History and Society. Delhi: Oxford University Press.

Witzel, Michael. 1995. 'Early Sanskritization Origins and Development of the Kuru State.' *The Electronic Journal of Vedic Studies* 1–4: 1–26.

———. 1997. 'Rgvedic History: Poets, Chieftains and Polities.' In George Erdosy (ed.), *The Indo-Aryans of South Asia*, pp. 307–52.

——— (ed.). 1997. *Inside the Texts, Beyond the Texts: New Approaches to the Study of the Vedas.* Harvard Oriental Series Opera Minora Vol. 2. Cambridge: Department of Sanskrit and Indian Studies, Harvard University, pp. 257–345.

Chapter 6

Basham, A. L. [1951] 2003. *History and Doctrines of the Ajivikas: A Vanished Religion*. Indian edn. London: Luzac & Co.

Chakrabarti, Dilip K. 2001. *The Archaeology of Ancient Indian Cities*. Delhi: Oxford University Press. Chapters 5, 6.

———. 2006. *The Oxford Companion to Indian Archaeology: The Archaeological Foundations of Ancient India, Stone Age to AD 13th Century*. Delhi: Oxford University Press. Chapters 15–18.

Chakravarti, Uma. 1987. *The Social Dimensions of Early Buddhism*. Delhi: Oxford University Press.

Dutt, Sukumar. [1962] 1988. *Buddhist Monks and Monasteries of India: Their History and their Contribution to Indian Culture*. Rep. edn. Part I. Delhi: Motilal Banarsidass.

Erdosy, George. 1988. *Urbanization in Early Historic India*. BAR International Series 430. Oxford.

Gaur, R. C. 1983. *Excavations at Atranjikhera: Early Civilization of the Upper Ganga Basin*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Gethin, Rupert. 1998. *The Foundations of Buddhism*. Oxford and New York: Oxford University Press.

Gupta, Dipankar (ed.). 1992. *Social Stratification*. Delhi: Oxford University Press. Especially M. N. Srinivas, '*Varna* and Caste', pp. 28–34, and G. S. Ghurye, 'Features of the Caste System', pp. 35–48.

Jha, Vivekanand. [1986–87] 2004. 'Candala and the Origin of Untouchability.' In Aloka Parasher-Sen (ed.), *Subordinate and Marginal Groups in Early India.* Delhi: Oxford University Press, pp. 157–209.

Jaini, Padmanabh S. 1979. *The Jaina Path of Purification*. Berkeley: University of California Press.

Jaiswal, Suvira. [1998] 2000. *Caste: Origin, Function and Dimensions of Change*. Delhi: Manohar.

Kane, P. V. [1941] 1974. *History of Dharmasastra.* Vol. 2, Part 1. 2nd edn. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

———. [1946] 1973. *History of Dharmasastra*. Vol. 3. 2nd edn. Poona. Bhandarkar Oriental Research Institute.

Lahiri, Nayanjot. 1992. *The Archaeology of Indian Trade Routes up to c. 200 BC: Resource Use, Resource Access and Lines of Communication*. Delhi: Oxford University Press, pp. 367–87.

Lal, B. B. [1954] 1955. 'Excavation at Hastinapura and Other Explorations in the Upper Ganga and Sutlej Basins, 1950–52.' *Ancient India* 10,11: 5–151.

Lal, Makkhan. 1984. *Settlement History and Rise of Civilization in Ganga-Yamuna Doab (from 1500 BC to 300 AD)*. Delhi: B. R. Publishing Corporation.

Quigley, Declan. [1999] 2002. *The Interpretation of Caste*. Oxford Studies in Social and Cultural Anthropology. 4th rep. New Delhi: Oxford University Press.

Sarao, K. T. S. [1990] 2007. *Urban Centres and Urbanization as Reπlected in the Pali Vinaya and Sutta Pitaka.* 2nd rev. edn. Delhi: Department of Buddhist Studies, University of Delhi.

Sharma, J. P. 1968. *Republics in Ancient India c. 1500 B.C.–500 B.C.* Leiden: E. J. Brill.

Sharma, R. S. [1958] 1980. *Sudras in Ancient India: A Social History of the Lower Order Down to circa AD 600*. 2nd rev. edn. Delhi: Motilal Banarsidass. Chapter 4.

Thaplyal, K. K. 1996. *Guilds in Ancient India: A Study of Guild Organization in Northern India and Western Deccan from circa 600 BC to circa 600 AD*. New Delhi: New Age International Ltd. Publishers.

Wagle, Narendra. 1963. *Society at the Time of the Buddha*. Bombay: Popular Prakashan.

Wijayaratne, Mohan. 1990. *Buddhist Monastic Life According to the Texts of the Theravada Tradition*. Claude Grangier and Steven Collins (trans. from French). Cambridge: Cambridge University Press.

———. 2001. *Buddhist Nuns: The Birth and Development of a Woman»s Monastic Order*. Colombo: Wisdom.

Chapter 7

Barua, B. M. [1946] 1955. *Asoka and His Times*. 2nd edn. Calcutta: New Age Publications.

Chakrabarti, Dilip K. 1995. *The Archaeology of Ancient Indian Cities.* Delhi: Oxford University Press. Chapter 5.

Devahuti. 1977. 'Asoka's Dissent from the Hindu and the Buddhist Goals and Methods of Chakravarti, the Great Conqueror.' In S. C. Malik (ed.), *Dissent, Protest, and Reform in Indian Civilization*. Simla: Indian Institute of Advanced Studies.

Fussman, Gerard. 1987–88. 'Central and Provincial Administration in Ancient India: The Problem of the Mauryan Empire.' *Indian Historical Review* 14(1–2): 43–72.

Ghosh, A. 1967. 'The Pillars of Asoka: Their Purpose.' *East and West*, n.s., 17(3–4): 273–75.

Gupta, S. P. 1980. *The Roots of Indian Art (A Detailed Study of the Formative Period of Art and Architecture: Third and Second centuries B.C.–Maurya and Late Maurya*. Delhi: B. R. Publishing Corpn.

Hultzsch, E. [1925] 1969. *Corpus Inscriptionum Indicarum,* Vol. 1, *Inscriptions of Asoka.* Rep. edn. Delhi: Indological Book House.

Huntington, Susan. 1985. *The Art of Ancient India: Buddhist, Hindu, Jain*. New York, Tokyo: Weather Hill. Chapter 4.

Jayaswal, Vidula. 1998. *From Stone Quarry to Sculpturing Workshop: A Report on the Archaeological Investigations around Chunar, Varanasi and Sarnath*. Delhi: Agam Kala Prakashan.

Joshi, M. C. 1987. 'Aspects of Mauryan and Early Post-Mauryan Art.' *Journal of the Indian Society of Oriental Art,* n.s., 16, 17: 15–22.

Kangle, R. P. 1960–65. *The Kautiliya Arthasastra* (Part I): 1960. *A Critical Edition with a Glossary;* (Part II): 1963. *English Translation with Critical and Explanatory Notes;* (Part III): 1965. Bombay: University of Bombay.

Marshall, John. 1915. 'Excavations at Bhita.' *Annual Report 1911–12*. New Delhi: Archaeological Survey of India, pp. 29–94.

———. 1951. *Taxila, An Illustrated Account of Archaeological Excavations Carried out at Taxila under the Orders of the Government of India between 1913 and 1934*. 3 Vols. Cambridge: Cambridge University Press.

Mukherjee, B. N. 1984. *Studies in Aramaic Edicts of Asoka*. Calcutta: Indian Museum.

Norman, K. R. 1985. 'Guide to the Asokan Inscriptions.' *South Asian Studies* 1: 43–49.

Parasher-Sen, Aloka. 1998. 'Of Tribes, Hunters and Barbarians: Forest Dwellers in the Mauryan Period.' *Studies in History*, n.s., 14(2): 173–91.

Poonacha, K. P. 2007. *Excavations at Mahastupa, Kanaganahalli, Chitapur Taluk, Gulbarga District, Karnataka (1997–2000)*. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Ray, Niharranjan. 1975. *Maurya and Post-Maurya Art: A Study in Social and Formal Contacts*. New Delhi: Indian Council of Historical Research.

Singh, Upinder. 1997–98. 'Texts on Stone: Understanding Asoka's Epigraph-Monuments and their Changing Contexts.' *Indian Historical Review* 24 (1–2): 1–19.

Thapar, Romila. [1963] 1987. *Asoka and the Decline of the Mauryas*. 7th rep. Delhi: Oxford University Press.

———. 1984. *The Mauryas Revisited*. Sakharam Ganesh Deuskar Lectures on Indian History. Centre for Studies in Social Science. Calcutta: K. P. Bagchi & Co.

Chapter 8

Bacus, Elizabeth A. and Nayanjot Lahiri (eds). 2004. *The Archaeology of Hinduism*: *World Archaeology* 36(3).

Banerjea, J. N. 1966. *Pauranic and Tantric Religion (Early Phase)*. Calcutta: University of Calcutta.

Begley, Vimala. 1996. *The Ancient Port of Arikamedu: New Excavations and Researches 1989–1992. Memoires Archaeologiques*, 22, Vol I. Pondicherry: L'école Française d'Extreme-Orient.

Begley, Vimala and Richard Daniel de Puma. 1992. *Rome and India: The Ancient Sea Trade*. Delhi: Oxford University Press.

Bhandarkar, R. G. [1913] 1982. *Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems*. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Boussac, Marie-Françoise and Jean-François Salles. 1995. *Athens, Aden, Arikamedu: Essays on the Interrelations Between India, Arabia and the Eastern Mediterranean*. New Delhi: Manohar, Centre de Sciences Humaines.

Chakrabarti, Dilip K. 1995 'Buddhist Sites Across South Asia As Influenced by Political and Economic forces.' *Buddhist Archaeology: World Archaeology* 27(2): 185–202.

———. 2001. 'The Archaeology of Hinduism.' In Timothy Insoll (ed.), *Archaeology and World Religion*. London and New York: Routledge, pp. 33–59.

———. 2006. *The Oxford Companion to Indian Archaeology: The Archaeological Foundations of Ancient India, Stone Age to AD 13th Century*. New Delhi: Oxford University Press. Chapters 17, 18.

Chakravarti, Ranabir (ed.). [2001] 2005. *Trade in Early India*. Oxford in India Readings: Themes in Early India. New Delhi: Oxford University Press.

Chakravarti, Uma. 1993. 'Women, Men and Beasts: The Jatakas as Popular Tradition.' *Studies in History,* n.s., 9(1): 43–70. Reprinted in Aloka Parasher-Sen. 2004. *Subordinate and Marginal Groups in Early India*. Delhi: Oxford University Press, pp. 210–42.

Champakalakshmi, R. 1975–76. 'Archaeology and Tamil Literary Tradition.' *Puratattva* 8: 110–22.

———. 1996. *Trade, Ideology and Urbanization: South India 300 BC to AD 1300*. Delhi: Oxford University Press.

Chandra, Moti. 1977. *Trade and Trade Routes in Ancient India*. New Delhi: Abhinav Publications. Chapters 3–7.

Coningham, Robin. 2001. 'The Archaeology of Buddhism.' In Timothy Insoll (ed.), *Archaeology and World Religion*. London and New York: Routledge, pp. 61–95.

Coomaraswamy, Anand K. [1928–31], 1980. *Yakshas*. 2nd edn. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Dehejia, Vidya. 1972. *Early Buddhist Rock Temples: A Chronological Study*. London: Thames and Hudson.

Gethin, Rupert. 1998. *The Foundations of Buddhism*. Oxford and New York: Oxford University Press. Chapter 9.

Gurukkal, Rajan. 1997. 'From Clan and Lineage to Hereditary Occupations and Caste in Early South India.' In Dev Nathan (ed.), *From Tribe to Caste*. Shimla: Indian Institute of Advanced Studies, pp. 205–22.

Hart, George L. 1979. *Poets of the Tamil Anthologies: Ancient Poems of Love and War*. Princeton: Princeton University Press.

Huntington, Susan. 1985. *The Art of Ancient India: Buddhist, Hindu, Jain.* New York and Tokyo: John Weatherhill Inc. Chapter 5–9.

Jaiswal, Suvira. 1981. *The Origin and Development of Vaisnavism: Vaisnavism from 200 BC to AD 500*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Jha, V. 1986–87. 'Candala and the Origin of Untouchability.' *Indian Historical Review* 13: 1–2: 1–36.

Kane, P. V. [1946] 1993. *History of Dharmasastra.* Ancient and Mediaeval Religious and Civil Law. Vol. 3. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Liu, Xinriu. 1988. *Ancient India and Ancient China: Trade and Religious Exchanges*. Delhi: Oxford University Press.

Lorenzen, David N. [1999] 2006. 'Who Invented Hinduism?' In David Lorenzen, *Who Invented Hinduism? Essays on Religion in History*. New Delhi: Yoda Press, pp. 1–36.

Marshall, John. 1951. *Taxila, An Illustrated Account of Archaeological Excavations Carried Out at Taxila under the Orders of the Government of India between the years 1913 and 1934*. 3 Vols. Cambridge. Cambridge University Press.

Marshall, John, Alfred Foucher, and N. G Majumdar. [1940] 1982. *Monuments of Sanchi*. Vol. I. Rep. edn. Delhi: Swati Publications.

Misra, Ram Nath. 1981. *Yaksha Cult and Iconography*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Mukherjee, B. N. 1995. 'The Great Kushana Testament.' *Indian Museum Bulletin*. On the Rabatak inscription.

———. 2004. *Kushana Studies: New Perspectives*. Kolkata: Firma KLM.

Olivelle, Patrick (ed.). 2006. *Between the Empires: Society in India 300 BCE to 400 CE*. Oxford and New York: Oxford University Press.

Ramanujan, A. K. [1985] 2006. *Poems of Love and War: From the Eight Anthologies and the Ten Long Poem of Classical Tamil.* Delhi: Oxford University Press.

Ray, Amita. 2006. '*The Stupa*.' In Kapila Vatsyayana (ed.), *The Cultural Heritage of India*. Vol. 7, Part 1: The Arts. 2nd rev. edn. Kolkata: The Ramakrishna Mission, pp. 36–73.

Ray, Himananshu Prabha. 1986. *Monastery and Guild: Commerce Under the Satavahanas*. Delhi: Oxford University Press.

———. 2003. *The Archaeology of Seafaring in Ancient South Asia*. Cambridge: Cambridge University Press.

Ray, Niharranjan. 1975. *Maurya and Post-Maurya Art: A Study in Social and Formal Contacts*. New Delhi: Indian Council of Historical Research.

Sarkar, H. 1966. *Studies in Early Buddhist Architecture of India.* New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Shastri, Ajay Mitra (ed.). 1999. *The Age of the Satavahanas*. Great Ages of Indian History. 2 Vols. New Delhi: Aryan Books International.

Singh, Upinder. 1996. 'Sanchi: The History of the Patronage of an Ancient Buddhist Establishment.' *The Indian Economic and Social History Review* 33: 1–35.

Soundararajan, K. V. (ed.) with R. Subrahmanyam et al. 2006. *Nagarjunakonda (1954–60)*. Vol. II (The Historical Period). New Delhi: Archaeological Survey of India.

Suresh, R. 2004. *Symbols of Trade: Roman and Pseudo-Roman Objects Found in India*. New Delhi: Manohar.

Thapar, Romila. 1992. 'Patronage and Community. In Barbara Stoller Miller (ed.), *The Powers of Art: Patronage in Indian Culture*. Delhi: Oxford University Press, pp. 19–34.

Thaplyal, K. K. 1972. *Studies in Ancient Indian Seals: A Study of North Indian Seals and Sealings from Circa Third Century CE. to Mid-Seventh Century AD*. Lucknow: Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad.

———. 1996. *Guilds in Ancient India: A Study of Guild Organization in Northern India and Western Deccan from Circa 600 BC to Circa 600 AD*. New Delhi: New Age International Ltd. Especially see Appendices 4, 5, and 6.

Chapter 9

Bakker, Hans. 1997. *The Vakatakas: A Study in Hindu Iconology*. Groningen: Egbert Forsten.

Banerjea, J. N. [1956] 1975. *The Development of Hindu Iconography*. 2nd rev. edn. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1966. *Pauranic and Tantric Religion: Early Phase*. Calcutta: University of Calcutta.

Chatterjee, Asim Kumar. 2000. *A Comprehensive History of Jainism. Vol 1: From the Earliest Beginnings to AD 1000*. New Delhi: Munshiram Manoharlal. Chapters 7, 8.

Chattopadhyaya, B. D. [1994] 1997. *The Making of Early Medieval India*. Delhi: Oxford University Press.

Chattopadhyaya, Debiprasad. [1977] 1979. *Science and Society in Ancient India*. Calcutta: Research India Publication.

Flood, Gavin (ed.). *The Blackwell Companion to Hinduism*. New Delhi: Blackwell.

Goyal, S. R. 2005. *The Imperial Guptas: A Multidisciplinary Political Study.* Jodhpur: Kusumanjali Book World.

Gupta, P. L. [1974] 1979. *The Imperial Guptas*, 2 Vols. Varanasi: Vishwavidyalaya Prakashan.

Kulke, Hermann (ed.). 1997. *The State in India 1000–1700*. Oxford in India Readings: Themes in Indian History. New Delhi: Oxford University Press.

Liu, Xinru. 1996. *Silk and Religion: An Exploration of Material Life and the Thought of People, AD 600–1200*. Delhi: Oxford University Press.

Maity, S. K. [1957] 1970. *Economic Life in Northern India in the Gupta period (c. AD 300–550)*. 2nd rev. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

Meister, Michael W. 2006. 'Indian Temple Architecture (early phase up to 750 A.D.).' In Kapila Vatsyayana (ed.), *The Cultural Heritage of India*. Vol. 7, Part 1: The Arts. 2nd rev. edn. Kolkata: The Ramakrishna Mission, pp. 103–14.

Meister, Michael W., M. A. Dhaky, and Krishna Deva. 1988. *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture. North India:*

Foundations of North Indian Style c. 250 B.C–A.D. 1100. Vol. 2, Parts 1 and 2. Delhi: American Institute of Indian Studies, Oxford University Press.

Parasher-Sen, Aloka (ed.). 2004. *Kevala-Bodhi: Buddhist and Jaina History of the Deccan* (BSL Commemorative Volume). 2 Vols. Delhi. Bharatiya Kala Prakashan.

Sen, Tansen. 2003. *Buddhism, Diplomacy, and Trade: The Realignment of Sino-Indian Relations, 600–1400*. Honolulu: Association for Asian Studies and University of Hawaii Press.

Sharma, R. S. [1965] 1980. *Indian Feudalism*. Madras: Macmillan.

———. 1987. *Urban Decay in India (c. 300–c.1000)*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Shastri, Ajay Mitra. 1997. *Vakatakas: Sources and History.* Great Ages of Indian History. New Delhi: Aryan Books International.

Shrimali, Krishna Mohan. 1987. *Agrarian Structure in Central India and the Northern Deccan (c. AD 300–500): A Study of Vakataka Inscriptions*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Thaplyal, K. K. 1996. *Guilds in Ancient India*. New Delhi: New Age International. Especially chapters 2, 5.

Warder, A. K. 1972. *Indian Kavya Literature*. Vol 1 and 3. Delhi: Motilal Banarsidass.

Williams, Joanna. 1982. The *Art of Gupta India: Empire and Province*. Princeton, New Jersey: Princeton University Press.

Chapter 10

Abraham, Meera. 1988. *Two Medieval Merchant Guilds of South India*. New Delhi: Manohar.

Berkson, Carmel. 1992. *Ellora: Concept and Style*. New Delhi: Abhinav Publications and Indira Gandhi National Centre for the Arts.

Bhattacharyya, N. N. 1974. *History of the Sakta Religion*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. [1982] 1999. *History of the Tantric Religion: An Historical, Ritualistic and Philosophical Study*. New Delhi: Manohar.

Chakrabarti, Kunal. 2001. *Religious Process: The Puranas and the Making of a Regional Tradition*. Delhi: Oxford University Press.

Chakravarti, Uma. [1989] 1999. 'The World of the Bhaktin in South Indian Traditions—The Body and Beyond.' In Kumkum Roy (ed.), *Women in Early Indian Societies*. New Delhi: Manohar, pp. 299–321.

Champakalakshmi, R. 1996. *Trade, Ideology and Urbanization: South India 30 BC to AD 1300*. Delhi: Oxford University Press.

Chattopadhyaya, B. D. [1994] 1997. *The Making of Early Medieval India*. Delhi: Oxford University Press.

Chaudhuri, K. N. 1985. *Trade and Civilisation in the Indian Ocean: An Economic History from the Rise of Islam to 1750*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Dehejia, Vidya. 1988. *Slaves of the Lord: The Path of the Tamil Saints*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Devahuti, D. [1970] 1983. *Harsha: A Political Study.* 2nd edn. Delhi: Oxford University Press.

Deyell, John S. 1990. *Living Without Silver: The Monetary History of Early Medieval North India*. Delhi: Oxford University Press.

Eschmann, Anncharlott, Hermann Kulke, and Gaya Charan Tripathi (eds). 1978. *The Cult of Jagannath and the Regional Tradition of Orissa*. New Delhi: Manohar.

Goyal, S. R. 1986. *Harsha and Buddhism*. Meerut: Kusumanjali Prakashan.

Hardy, Adam. 1995. *Indian Temple Architecture: Form and Transformation: The Karnata Dravida Tradition 7th to 13th Centuries*. New Delhi: Indira Gandhi Centre for the Arts, Abhinav Publications.

Heitzman, James. 1997. *Gifts of Power: Lordship in an Early Indian State*. Delhi: Oxford University Press.

Huntington, Susan. 1985. *The Art of Ancient India: Buddhist, Hindu, Jain*. New York, Tokyo: John Weatherhill Inc. Chapters 11–22.

Jain, V. K. 1990. *Trade and Traders in Western India*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Karashima, Noboru. 1984. *South Indian History and Society: Studies from Inscriptions AD 850–1800*. Delhi: Oxford University Press.

Kulke, Hermann. [1993] 2001. *Kings and Cults: State Formation and Legitimation in India and Southeast Asia.* New Delhi: Manohar.

——— (ed.). 1997. *The State in India 1000–1700*. Oxford in India Readings: Themes in Indian History. New Delhi: Oxford University Press.

Lahiri, Nayanjot. 1991. *Pre-Ahom Assam: Studies in the Inscriptions of Assam between the Fifth and the Thirteenth Centuries AD*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Liu, Xinru. 1996. *Silk and Religion: An Exploration of Material Life and the Thought of People, AD 600–1200*. Delhi: Oxford University Press.

Mathur, Ashutosh Dayal. 2007. *Medieval Hindu Law: Historical Evolution and Enlightened Rebellion*. New Delhi: Oxford University Press.

Meister, Michael W. (ed.) and M. A. Dhaky (co-ordinator). 1983. *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture. South India. Lower Dravidadesa 200 B.C.–A.D. 1324*. New Delhi: American Institute of Indian Studies and Philadelphia: University of Pennsylvania Press.

Meister, Michael W., M. A. Dhaky, and Krishna Deva (ed.). 1988. *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture, North India: Foundations of North Indian Style c. 250 B.C.–A.D. 1100*. Vol. 2, Part 1. Delhi: American Institute of Indian Studies, Oxford University Press.

Mukhia, Harbans (ed.). 1999. *The Feudalism Debate*. New Delhi: Manohar.

Nandi, R. N. 2000. *State Formation, Agrarian Growth and Social Change in Feudal South India c. AD 600–1200*. New Delhi: Manohar.

Pande, G. C. [1994] 1998. *Life and Thought of Sankaracarya*. Rep. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

Ramanujan, A. K. 1973. *Speaking of Siva*. Harmondsworth: Penguin.

Ramaswamy, Vijaya. 1985. *Textiles and Weavers in Medieval South India*. Delhi: Oxford University Press.

———. 1997. *Walking Naked: Women, Society, Spirituality in South India*. Shimla: Indian Institute of Advanced Studies.

Sahu, Bhairabi Prasad (ed.). 1997. *Land System and Rural Society in Early India*. Readings in Early Indian History. B. D. Chattopadhayaya (gen. ed.). New Delhi: Manohar.

Sastri, K. A. Nilakanta. [1955] 1975. *A History of South India from Prehistoric Times to the Fall of Vijaynagar*. 4th edn. Madras. Oxford University Press.

Sharma, R. S. [1965] 1980. *Indian Feudalism*. Madras: Macmillan.

———. 1987. *Urban Decay in India (c. 300–c.1000)*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Singh, Upinder. 1994. *Kings, Brahmanas and Temples in Orissa: An Epigraphic Study AD 300–1147*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Sinha Kapur, Nandini. 2002. *State formation in Rajasthan: Mewar during the Seventh–Fifteenth Centuries*. New Delhi: Manohar.

Srinivasan, T. M. 1991. *Irrigation and Water Supply: South India, 200 B.C.–1600 A.D.* Madras: New Era Publications.

Stein, Burton. 1980. *Peasant State and Society in Medieval South India*. Delhi: Oxford University Press.

Subbarayalu, Y. 1982. 'The Chola State.' *Studies in History* 4(2): 265–306.

Veluthat, Kesavan. 1993. *The Political Structure of Early Medieval South India*. New Delhi: Orient Longman.

Yadava, B. N. S. 1973. *Society and Culture in Northern India in the Twelfth Century*. Allahabad: Central Book Depot.

संदर्भ ग्रंथ सूची (References)

Abraham, Meera. 1988. *Two Medieval Merchant Guilds of South India*. New Delhi: Manohar.

Acharya, K. T. 1988. *Indian Food: A Historical Companion*. Delhi: Oxford University Press.

Agrawal, D. P. 1982. *Archaeology of India*. London and Malmo: Curzon Press.

Agrawala, V. S. 1949. 'A Catalogue of the Images of Brahma, Vishnu, and Shiva in Mathura Art.' *Journal of the UP Historical Society* 22: 102–210.

———. 1953. *India as Known to Panini (A Study of the Cultural Material in the* Ashtadhyayi*)*. Lucknow: University of Lucknow.

Allchin, Bridget and Raymond Allchin. 1997. *Origins of a Civilization: The Prehistory and Early Archaeology of South Asia*. New Delhi: Viking.

Altekar, A. S. [1938] 1991. *The Position of Women in Hindu Civilisation: From Prehistoric Times to the Present Day*. Rep. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

——— and V. K. Misra. 1959. *Report on the Kumrahar Excavations, 1951–55*. Patna: K. P. Jayaswal Institute.

Apte, Usha M. 1978. *The Sacrament of Marriage in Hindu Society from Vedic Period to Dharmashastras*. Delhi: Ajanta Publications.

Ardeleanu-Jansen, Alexandra. 2002. 'The Terracotta Figurines from Mohenjodaro: Considerations on Tradition, Craft and Ideology in the Harappan Civilization (*c.* 2400–1800 BC).' In S. Settar and Ravi Korisettar (eds), *Indian Archaeology in Retrospect, Protohistory: Archaeology of the Harappan Civilization, Vol II*. New Delhi: Indian Council of Historical Research and Manohar, pp. 205–22.

Atre, Shubhangana. 1985–86. 'Lady of the Beasts—The Harappan Goddess.' *Puratattva* 16: 7–14.

Banerjea, J. N. 1966. *Pauranic and Tantric Religion: Early Phase*. Calcutta: University of Calcutta.

Basham, A. L. [1951] 2003. *History and Doctrines of the Ajivikas: A Vanished Religion*. Indian edn. London: Luzac & Co.

Bechert, Heinz. 1982. 'The Importance of Asoka's so-called Schism Edict.' In L. A. Hercus, F. B. J. Kuiper, T. Rajapatirana, and E. R. Skrzypczak (eds), *Indological and Buddhist Studies: Volume in Honour of Professor J. W. de Jong on his Sixtieth Birthday*. *Bibliotheca Indo-Buddhica No. 27*. Delhi: Sri Satguru Publications, pp. 61–68.

———(ed.). [1991] 1995. *When Did the Buddha Live? The Controversy on the Dating of the Historical Buddha*. Selected Papers Based on a Symposium Held Under the Auspices of the Academy of Sciences in Gottingen. Delhi: Sri Satguru Publications.

Bednarik, Robert G. 1997. 'The Archaeological Significance of Beads and Pendants.' *Man and Environment* 23(2), July–Dec.: 87–99.

Begley, Vimala. 1996. *The Ancient Port of Arikamedu: New Excavations and Researches 1989–1992, Vol. I* (*Memoires Archaeologiques*, 22). Pondicherry: L'école Française d'Extrème-Orient.

Behera, Pradeep K. 1991–92. 'Sulabhdihi: A Neolithic Celt Manufacturing Centre in Orissa.' *Puratattva* 22: 125–31.

Berghaus, P. 1991. 'Roman Coins from India and Their Imitations.' In A. K. Jha (ed.), *Coinage, Trade and Economy*. Nashik: Indian Institute for Research in Numismatic Studies, pp. 108–21.

Beteille, Andre. [1960] 1977. 'The Definition of Tribe.' In Romesh Thapar (ed.), 1977, *Tribe, Caste and Religion in India*. Delhi: Macmillan, pp. 7–14.

Bhagat, M. G. 1976. *Ancient Indian Asceticism*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Bhandare, Shailendra. 2006. 'A Tale of Two Dynasties: The Kshaharatas and the Satavahanas in the Deccan.' In H. P. Ray (ed.), *Coins in India: Power and Communication*. *Marg* 57(3): 24–32. Mumbai: Marg Publications.

Bhat, G. K. 1975. *Bharata-Natya-Manjari: Bharata on the Theory and Practice of Drama–A Selection from Bharata's Natyasashtrra*. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Bhattacharyya, N. N. 1974. *History of the Sakta Religion*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Binford, Lewis R. 1968. 'Post-Pleistocene Adaptations.' In Sally R. Binford and Lewis R. Binford (eds), *New Perspectives in Archaeology*. Chicago: Aldine.

Bloch, T. 1903–04. 'Excavations at Basarh.' *Annual Report of the Archaeological Survey of India*: 81–122.

Boivin, N. 2004. 'Rock Art and Rock Music: Petroglyphs of the South Indian Neolithic.' *Antiquity* 78(229): 38–53.

Bökönyi, Sándor. 1997. 'Horse Remains from the Prehistoric Site of Surkotada, Kutch, Late 3rd Millennium B.C.' *South Asian Studies* 13: 297–306.

Bongard-Levin, G. M. 1971. 'Megasthenes' "Indica" and the inscriptions of Asoka.' In *Studies in Ancient India and Central Asia*. Calcutta: Indian Studies Past and Present, pp. 109–22.

Braidwood, Robert J. 1960. 'The Agricultural Revolution.' *Scientific American* 203(3): 130–48.

Brockington, J. L. 1984. *Righteous Rama: The Evolution of an Epic*. Delhi: Oxford University Press.

Bryant, Edwin. 2002. *The Quest for the Origins of Vedic Culture: The Indo-Aryan Migration Debate*. New Delhi: Oxford University Press.

Casson, Lionel. 1989. *The Periplus Maris Erythraei: Text with Introduction, Translation, and Commentary*. Princeton: Princeton University Press.

Chakrabarti, Dilip K. 1984. 'Origin of the Indus Civilization: Theories and Problem.' In B. B. Lal and S. P. Gupta (eds), *Frontiers of the Indus Civilization*. New Delhi: Books and Books.

———. 1990. *The External Trade of the Indus Civilization*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1992. *The Early Use of Iron in India*. Delhi: Oxford University Press.

———. 1995. *The Archaeology of Ancient Indian Cities.* Delhi: Oxford University Press.

———. 2001. 'The Archeology of Hinduism.' In Timothy Insoll (ed.), *Archaeology and World Religion*. London and New York: Routledge, pp. 33–59.

———. 2006. *The Oxford Companion to Indian Archaeology: The Archaeological Foundations of Ancient India, Stone Age to AD 13th Century*. New Delhi: Oxford University Press.

——— and Nayanjot Lahiri. 1986. 'A Preliminary Report on the Stone Age of the Union Territory of Delhi and Haryana.' *Man and Environment* 11: 109–16.

Chakrabarti, Kunal. 2001. *Religious Process: The Puranas and the Making of a Regional Tradition*. New Delhi: Oxford University Press.

Chakravarti, Ranabir. 2002. *Trade and Traders in Early Indian Society*. New Delhi: Manohar.

Chakravarti, Uma. 1987. *The Social Dimensions of Early Buddhism*. Delhi: Oxford University Press.

———. 1993. 'Women, Men and Beasts: The Jatakas as Popular Tradition.' *Studies in History,* n.s., 9(1): 43–70.

———. [1989] 1999. 'The World of the Bhaktin in South Indian Traditions—The Body and Beyond.' In Kumkum Roy (ed.), *Women in Early Indian Societies*. New Delhi: Manohar, pp. 299–321.

———. 2006. *Everyday Lives, Everyday Histories: Beyond the Kings and Brahmanas of 'Ancient' India*. New Delhi: Tulika.

Champakalakshmi, R. 1975–76. 'Archaeology and Tamil Literary Tradition.' *Puratattva* 8: 110–22.

———. 1996. *Trade, Ideology and Urbanization: South India 300 BC to AD 1300*. Delhi: Oxford University Press.

Chanda, Ramaprasad. 1926. 'The Indus Valley in the Vedic Period.' *Memoir of the Archaeological Survey of India 31*. Calcutta: Government of India Central Publications Branch.

Chandra, Moti. 1977. *Trade and Trade Routes in Ancient India*. New Delhi: Abhinav Publications.

Chandra, Pramod (ed.). 1975. 'The Study of Indian Temple Architecture.' *Studies in Indian Temple Architecture: Papers Presented at a Seminar Held in Varanasi, 1967*. New Delhi: American Institute of Indian Studies, pp. 1–46.

Chatterjee, Asim Kumar. 1984. *A Comprehensive History of Jainism*. 2 Vols. Calcutta: Firma KLM.

———. 2000. *A Comprehensive History of Jainism. Vol 1: From the Earliest Beginnings to AD 1000*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Chattopadhyaya, B. D. 1977. *Coins and Currency Systems in South India c. 225–1300*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1990. *Aspects of Rural Settlements and Rural Society in Early Medieval India*. Calcutta and New Delhi: K. P. Bagchi and Co.

———. [1973] 1997. 'Irrigation in Early Medieval Rajasthan.' In *The Making of Early Medieval India*. Delhi: Oxford University Press, pp. 38–56.

———. [1976] 1997. 'The Origin of the Rajputs: The Political, Economic, and Social processes in Early Medieval Rajasthan.' *The Indian Historical Review*, 3: 57–88.

———. [1983] 1997. 'Political Process and Structure of Polity in Early Medieval India.' In *The Making of Early Medieval India*. Delhi: Oxford University Press.

———. [1986] 1997. 'Urban Centres in Early Medieval India: An Overview.' In *The Making of Early Medieval India*. Delhi: Oxford University Press, pp. 155–82.

———. [1994] 1997. *The Making of Early Medieval India*. Delhi: Oxford University Press.

——— (ed.). 2002. *Combined Methods in Indology and Other Writings*. New Delhi: Oxford University Press.

———. [1987] 2003. 'Transition to the Early Historical Phase in the Deccan: A Note.' In *Studying Early India.* New Delhi: Permanent Black, pp. 39–47.

———. [1997] 2003. 'The City in Early India: Perspectives from Texts.' In *Studying Early India*, Delhi: Permanent Black, pp. 105–34.

Chattopadhyaya, Debiprasad. [1977] 1979. *Science and Society in Ancient India*. Calcutta: Research India Publication.

Chattopadhyaya, Umesh C. 1996. 'Settlement Pattern and the Spatial Organization of Subsistence and Mortuary Practices in the Mesolithic Ganges Valley, North-Central India.' *World Archaeology* 27(3) Feb., *Hunter-Gatherer Land Use*: 461–76.

Chaudhuri, K. N. 1985. *Trade and Civilisation in the Indian Ocean: An Economic History from the Rise of Islam to 1750*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Chelliah, J. V. 1962. *Pattupattu: Ten Tamil Idylls*. Tirunelveli: The South India Saiva Siddhanta Works Publishing Society.

Chhabra, B. and G. S. Gai (eds). 1981. *Corpus Inscriptionum Indicarum. Vol. 3: Inscriptions of the Early Gupta Kings*. Revised by D. R. Bhandarkar. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Childe, V. Gordon. 1950. 'The Urban Revolution.' In Gregory L. Possehl (ed.), 1979, *Ancient Cities of the Indus*. New Delhi: Vikas Publishing House, pp. 12–17.

———. 1952. *New Light on the Most Ancient East*. New York: Praeger.

Choksi, Archana. 1995. 'Ceramic Vessels: Their Role in Illuminating Past and Present Social and Economic Relationships.' *Man and Environment* 20(1): 87–108.

Claessen, Henri J. M. and Peter Skalnik (eds). 1978. *The Early State*. The Hague: Mouton.

Clark, J. D. and Martin A. J. Williams. 1986. 'Palaeoenvironments and Prehistory in North Central India: A Preliminary Report.' In Jerome Jacobson (ed.), *Studies in the Archaeology of India and Pakistan*. Delhi: Oxford University Press and IBH, pp. 19–42.

Cohen, Ronald. 1978. 'State Origins: A Reappraisal.' In Henri J. M. Claessen and Peter Skalnik (eds), *The Early State*. The Hague: Mouton.

Conningham, R. A. E. and T. L. Sutherland. 1997. 'Dwellings or Granaries? The Pit Phenomenon of the Kashmir-Swat Neolithic.' *Man and Environment* 22(2): 29–34.

Coomaraswamy, Ananda K. [1927] 1965. *History of Indian and Indonesian Art*. New York: Dover Publications.

———. [1928–31] 1980. *Yakshas*. 2nd edn. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. [1942] 1993. *Spiritual Authority and Temporal Power in the Indian Theory of Government*. Keshavan N. Iengar and Rama P. Coomaraswamy (eds). New Delhi and Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts and Oxford University Press.

Cowell, E. B. and F. W. Thomas (trans.). 1993. *The Harsha-Charita of Bana*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Cribb, Joe. 2005. *The Indian Coinage Tradition: Origins, Continuity and Change*. Nashik: Indian Institute of Research in Numismatic Studies.

Cunningham, Alexander. 1871. *Four Reports Made During the Years 1862–65*. Archaeological Reports. Vol. 2. Simla.

Dales, George F. 1964. 'The Mythical Massacre at Mohenjo Daro.' *Expedition* 6(3): 36–43.

———. 1966. 'The Decline of the Harappans.' *Scientific American* 241(5): 92–100.

Dales, George F., J. M. Kenoyer, and the staff of the Harappa Project. 1991. 'Summaries of Five Seasons of Research at Harappa (District Sahiwal, Punjab, Pakistan), 1986–1990.' In R. H. Meadow (ed.), *Harappa Excavations, 1986–1990: A Multidisciplinary Approach*. Monographs in World Archaeology. Vol. 3. Madison: Prehistory Press.

Datta, Swati. 1989. *Migrant Brahmanas in Northern India: Their Settlement and General Impact, c. A.D. 475–1030*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Davidson, Ronald M. 2002. *Indian Esoteric Buddhism: A Social History of the Tantric Movement*. New York: Columbia University Press.

Dehejia, Vidya. 1972. *Early Buddhist Rock Temples: A Chronological Study*. London: Thames and Hudson.

———. 1988. *Slaves of the Lord: The Path of the Tamil Saints*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1997a. *Discourse in Early Buddhist Art: Visual Narratives of India*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

——— (ed.). 1997b. *Representing the Body: Gender Issues in Indian Art*. New Delhi: Kali for Women and The Book Review Literary Trust.

Deo, S. B. 1974. *Excavations at Bhokardan (Bhogavardhana) 1973*. Nagpur: Nagpur University; Aurangabad: Marathwada University.

Desai, Devangana. 1978. 'Social Background of Ancient Indian Terracottas (*c.* 600 BC–AD 600).' In D. P. Chattopadhyaya (ed.), *History and Society: Essays in Honour of Professor Niharranjan Ray*. Calcutta: K. P. Bagchi, pp. 143–65.

Devahuti, D. [1970] 1983. *Harsha: A Political Study*, 2nd edn. Delhi: Oxford University Press.

———. 2001. *The Unknown Hsuan-tsang*. Delhi: Oxford University Press.

Devaraja, D. V., J. G. Shaffer, C. S. Patil, and Balasubramanya. 1995. 'The Watgal Excavations: An Interim Report.' *Man and Environment* 20: 57–74.

Deyell, John S. 1990. *Living Without Silver: The Monetary History of Early Medieval North India*. Delhi: Oxford University Press.

Dhavalikar, M. K. 1979a. 'Early Farming Communities of Central India.' In D. P. Agrawal and Dilip K. Chakrabarti (eds), *Essays in Indian Protohistory*. Delhi: B. R. Publishing Corpn, pp. 229–45.

———. 1979b. 'Early Farming Cultures of Deccan.' In D. P. Agrawal and Dilip K. Chakrabarti (eds), *Essays in Indian Protohistory*, pp. 247–64.

———, H. D. Sankalia, and Z. D. Ansari. 1988. *Excavations at Inamgaon*. Vol. 1, Parts I and II. Pune: Deccan College.

Doniger, Wendy and Sudhir Kakar (trans). 2002. *Vatsyayana's Kamasutra*. Oxford World's Classics Series. Oxford: Oxford University Press.

Dundas, Paul. 1992. *The Jainas*. London and New York: Routledge.

Dutt, Sukumar. [1924] 1984. *Early Buddhist Monachism*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. [1962] 1988. *Buddhist Monks and Monasteries of India: Their History and their Contribution to Indian Culture*. Rep. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

Enzel, Y., L. L. Ely, S. Mishra, R. Ramesh, R. Amit, B. Lazar, S. N. Rajaguru, V. R. Baker, and A. Sandler. 1999. 'High-resolution Holocene Environmental Changes in the Thar Desert, Northwestern India.' In Nayanjot Lahiri (ed.), 2000, *The Decline and Fall of the Indus Civilization*. Delhi: Permanent Black, pp. 226–38.

Erdosy, George. 1988. *Urbanisation in Early Historical India*. BAR International Series 430. Oxford.

———. 1995. 'City States of North India and Pakistan at the time of the Buddha.' In F. R. Allchin, *The Archaeology of Early Historic South Asia*. Cambridge: Cambridge University Press, pp. 99–122.

Eschmann, Anncharlott, Hermann Kulke, and Gaya Charan Tripathi (eds). 1978. *The Cult of Jagannath and the Regional Tradition of Orissa*. New Delhi: Manohar.

Fairservis, Walter A. 1967. 'The Origin, Character and Decline of an Early Civilization.' In Gregory L. Possehl (ed.), 1979, *Ancient Cities of the Indus*. New Delhi: Vikas Publishing House, pp. 66–89.

Fentress, Marcia A. 1984. 'The Indus Granaries: Illusion, Imagination and Archaeological Reconstruction.' In Kenneth A. R. Kennedy and Gregory L. Possehl (eds), *Studies in the Archaeology and Palaeoanthropology of South Asia*. New Delhi: Oxford and IBH Publishing Co. and The American Institute of Indian Studies.

Flannery, Kent. 1969. 'Origins and Ecological Effects of Early Domestication in Iran and the Near East.' In Peter J. Ucko and G. W. Dimpleby (eds), *The Domestication and Exploitation of Plants and Animals*. London: Gerald Duckworth.

Fogelin, Lars. 2006. *Archaeology of Early Buddhism*. Lanham: Alta Mira Press.

Folkert, Kendall W. 1993. *Scripture and Community: Collected Essays on the Jains.* John E. Cort (ed.). Atlanta: Scholars Press.

Francfort, H. P. 1992. 'Evidence for Harappan Irrigation System in Haryana and Rajasthan.' *Eastern Anthropologist* 45: 87–103.

Fried, Morton H. 1968. 'The State, the Chicken, and the Egg; or What came First.' In Ronald Cohen and Elman R. Service (eds), *Origins of the State: the Anthropology of Political Evolution*. Philadelphia: Institute for the Study of Human Issues.

Fussman, Gerard. 1987–88. 'Central and Provincial Administration in Ancient India: The Problem of the Mauryan Empire.' *Indian Historical Review* 14(1–2): 43–72.

Gaur, R. C. 1983. *Excavations at Atranjikhera: Early Civilization of the Upper Ganga Basin*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Gethin, Rupert. 1998. *The Foundations of Buddhism*. Oxford and New York: Oxford University Press.

Ghosh, A. 1965. 'The Indus Civilization: Its Origin, Authors, Extent and Chronology.' In V. N. Misra and M. S. Mate (ed.), *Indian Prehistory: 1964*. Poona: Deccan College, pp. 113–56.

———. 1967. 'The Pillars of Asoka: Their Purpose.' *East and West*, New Series 17(3–4): 273–75.

———. [1939] 1986. *Nalanda*. New Delhi: Archaeological Survey of India.

———. 1989. *An Encyclopaedia of Indian Archaeology*. 2 Vols. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Goetz, H. 1963. 'The Gupta School.' In *The Encyclopaedia of World Art*. Vol. 6. London: McGraw-Hill.

Goyal, S. R. 2005. *The Imperial Guptas: A Multidisciplinary Political Study.* Jodhpur: Kusumanjali Book World.

Guillaume, Olivier (ed. and comp.). 1991. *Graeco-Bactrian and Indian Coins from Afghanistan*. French Studies in South Asian Culture and Society V. Osmund Boppearachchi (trans.). Delhi: Oxford University Press.

Gupta, P. L. [1974] 1979. *The Imperial Guptas*. 2 Vols. Varanasi: Vishwavidyalaya Prakashan.

Gurukkal, Rajan. 1997. 'From Clan and Lineage to Hereditary Occupations and Caste in Early South India.' In Dev Nathan (ed.), *From Tribe to Caste*. Shimla: Indian Institute of Advanced Studies, pp. 205–22.

———. [1981] 2006. 'Aspects of Early Iron Age Economy: Problems of Agrarian Expansion in Tamilakam.' In Bhairabi Prasad Sahu (ed.), 2006, *Iron and Social Change in Early India.* Oxford in India Readings: Debates in Indian History and Society. Delhi: Oxford University Press, pp. 220–31.

Halbfass, Wilhelm. 1991. *Tradition and Reflection: Explorations in Indian Thought*. New York: State University of New York Press.

Haque, Enamul. 2001. *Chandraketugarh: Treasure-house of the Bengal Terracottas.* Studies in Bengal Art Series, No. 4. Dhaka: The International Centre for the Study of Bengal Art.

Hardy, Adam. 1995. *Indian Temple Architecture: Form and Transformation: The Karnata Dravida Tradition 7th to 13th Centuries*. New Delhi: Indira Gandhi Centre for the Arts and Abhinav Publications.

Hardy, Friedhelm. 1983. *Viraha-bhakti: The Early History of Krsn Devotion in South India*. Delhi: Oxford University Press.

Hargreaves, H. 1929. *Excavations in Baluchistan, 1925*. Calcutta: Government Printing Press.

Harle, J. C. [1986] 1990. *The Art and Architecture of the Indian Subcontinent*. The Pelican History of Art series. New York: Penguin Books.

———. [1974] 1996. *Gupta Sculpture of the Fourth to the Sixth Centuries AD*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Hart, George L. 1976. 'Ancient Tamil Literature: Its Scholarly Past and Future.' In Burton Stein (ed.), *Essays on South India*. New Delhi: Vikas, pp. 41–63.

———. 1979. *Poets of the Tamil Anthologies: Ancient Poems of Love and War*. Princeton: Princeton University Press.

Hartel, H. 1993. *Excavations at Sonkh: 2500 Years of a Town in Mathura District*. Berlin: Dietrich Reimer Verlag.

Hayashi, Takao. 2003. 'Indian Mathematics.' In Gavin Flood (ed.), *The Blackwell Companion to Hinduism*. Blackwell.

Hazra, K. L. 2002. *Buddhism and Buddhist Literature in Early Indian Epigraphy*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Heesterman, J. C. 1957. *The Ancient Indian Royal Consecration*. The Hague: Mouton.

Heitzman, James. 1997. *Gifts of Power: Lordship in an Early Indian State*. Delhi: Oxford University Press.

Hiltebeitel, A. 2001. *Rethinking the Mahabharata: A Reader's Guide to the Education of the Dharma King*. Chicago: Chicago University Press.

Hooja, Rima. 2004. 'Icons, Artefacts and Interpretations of the Past: Early Hinduism in Rajasthan.' In Elisabeth A. Bacus and Nayanjot Lahiri (eds), *The Archaeology of Hinduism: World Archaeology* 36(3): 360–77.

Hultzsch, E. [1925] 1969. *Corpus Inscriptionum Indicarum.* Vol. 1, *Inscriptions of Asoka.* Rep. edn. Delhi: Indological Book House.

Huntingford, G. W. B. 1980. *The Periplus of the Erythraean Sea*. London: Hakluyt Society.

Huntington, Susan. 1985. *The Art of Ancient India: Buddhist, Hindu, Jain*. New York, Tokyo: Weather Hill.

Jacobi, Hermann. [1884] 1968. *Jaina Sutras.* Vol. 1. Delhi: Motilal Banarsidass.

Jacobson, Jerome 1986. 'The Harappan Civilization: An Early State.' In Jerome Jacobson (ed.), *Studies in the Archaeology of India and Pakistan*. Delhi: Oxford University Press, IBH, and The American Institute of Indian Studies, pp. 137–73.

Jain, V. K. 1990. *Trade and Traders in Western India*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Jaini, Padmanabh S. [1979] 2001. *The Jaina Path of Purification*. Berkeley: University of California Press.

———. [1991] 1992. *Gender and Salvation: Jaina Debates on the Spiritual Liberation of Women*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Jaiswal, Suvira. [1967] 1981. *The Origin and Development of Vaisnavism*. New Delhi: Munshiram Manoharlal, pp. 198–228.

———. [1998] 2000. *Caste: Origin, Function and Dimensions of Change*. Delhi: Manohar.

Jansen, M. 1989. 'Water Supply and Sewage Disposal at Mohenjo-Daro.' *World Archaeology* 21(2): 177–92.

Jarrige, Catherine, Jean-François Jarrige, Richard H. Meadow, and Gonzague Quivron (eds). n.d. *Mehrgarh: Field Reports from Neolithic Times to the Indus Civilization*. Karachi: Department of Culture and Tourism, Government of Sindh, Pakistan, in collaboration with the French Ministry of Foreign Affairs.

Jayaswal, K. P. 1933–34. 'The Text of the Sohgaura Plate.' *Epigraphia Indica* 22: 1–3

———. 1943. *Hindu Polity: A Constitutional History of India in Hindu Times*. Parts I and II. Bangalore: Bangalore Printing and Publishing Co.

Jayaswal, Vidula. 1998. *From Stone Quarry to Sculpturing Workshop: A Report on the Archaeological investigations around Chunar, Varanasi and Sarnath*. Delhi: Agam Kala Prakashan.

Jha, D. N. 1967. *Revenue System in Post-Maurya and Gupta Times*. Calcutta: Punthi Pustak.

———. 1974. 'Temples as Landed magnates in Early Medieval South India (*c.* AD 700–1300).' In R. S. Sharma (ed.), *Indian Society: Historical Probing*. D. D. Kosambi Commemoration Volume. New Delhi: People's Publishing House.

———. 1976. 'Temples and Merchants in South India: *c.* AD 900–1300.' In Barun De et al. (eds), *Essays in Honour of Professor S. C. Sarkar*. New Delhi: People's Publishing House, pp. 116–23.

———. (ed.). 2000. *The Feudal Order: State, Society and Ideology in Early Medieval India*. New Delhi: Manohar.

Joshi, M. C. 1987. 'Aspects of Mauryan and Early post-Mauryan Art.' *Journal of the Indian Society of Oriental Art*, n.s., (16–17): 15–22.

——— (ed.). 1989. *King Chandra and the Mehrauli Pillar*. Meerut: Kusumanjali Prakashan.

Kailasapathy, K. [1968] 2002. *Tamil Heroic Poetry*. Rep. edn. Colombo and Chennai: Kumaran Book House.

Kak, Subhash. 2001. 'On the Chronological Framework for Indian Culture.' *Journal of the Indian Council of Philosophical Research*. Special Issue: Chronology and Indian Philosophy: 1–24.

Kane, P. V. [1941a]. *History of Dharmasastra (Ancient and Medieval Religious and Civil Law)*. Vol. 1, Part 2. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

———. 1955. Extract from Presidential Address, Indian History Congress, *Proceedings of the Sixteenth Session, Waltair 1963*. Calcutta: Indian History Congress Association, pp. 12–17. Reprinted in Nayanjot Lahiri (ed.), 2000, *The Decline and Fall of the Indus Civilization*. Delhi: Permanent Black.

———. [1946] 1973. *History of Dharmasastra*. Vol. 3. 2nd edn. Poona. Bhandarkar Oriental Research Institute.

———. [1941b] 1974. *History of Dharmasastra*. Vol. 2, Part 1. 2nd edn. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Kangle, R. P. 1960–65. *The Kautiliya Arthasastra* (Part I) 1960; *A Critical Edition with a Glossary* (Part II) 1963; *English Translation with Critical and Explanatory Notes* (reprinted in 1972); Part III (1965). Bombay: University of Bombay.

Karashima, Noboru. 1984. *South Indian History and Society: Studies from Inscriptions* AD *850–1800*. Delhi: Oxford University Press.

———, Y. Subbarayalu, and Toru Matsui. 1978. 'A Concordance of the Names in the Chola Inscriptions.' 3 Vols. Madurai: Sarvodaya Ilakkiya Pannai.

Kaul, Shonaleeka. 2006. 'Women About Town: An Exploration of the Sanskrit Kavya Tradition.' *Studies in History*, n.s., January–June, 22 (1): 59–76.

Kennedy, K. A. R. 1997. 'Have Aryans been Identified in the Prehistoric Skeletal Record from South Asia? Biological Anthropology and Concepts of Ancient Races.' In G. Erdosy (ed.), *The Indo-Aryans of Ancient South Asia*. Berlin and New York: Walter de Gruyter, pp. 46–66.

Kenoyer, Jonathan Mark. 1998. *Ancient Cities of the Indus Valley Civilization*. Karachi: Oxford University Press and American Institute of Pakistan Studies.

———, Massimo Vidale, and Kuldeep K. Bhan. 1995. 'Carnelian Bead Production in Khambhat, India: An Ethnoarchaeological Study.' In Bridget Allchin (ed.), *Living Traditions: Studies in the Ethnoarchaeology of South Asia*. New Delhi: Oxford University Press and IBH, pp. 281–306.

Khanna, Gurcharan S. 1993. 'Patterns of Mobility in the Mesolithic of Rajasthan.' *Man and Environment* 18(1): 49–55.

Kielhorn, F. 1900–01. 'Aihole Inscription of Pulakesin II, Saka-Samvat 556.' *Epigraphia Indica* 6: 1–12.

———. 1905–06. 'Junagadh Rock Inscription of Rudradaman; the Year 72.' *Epigraphia Indica* 8: 36–49.

Korisettar, Ravi, P. C. Venkatasubbaiah, and Dorian Q. Fuller. 2003. 'Brahmagiri and Beyond: The Archaeology of the Southern Neolithic.' In S. Settar and Ravi Korisettar (eds), *Indian Archaeology in Retrospect*. Vol. 1: *Prehistory: Archaeology of South Asia*. New Delhi: Indian Council for Historical Research and Manohar, pp. 151–237.

———, P. P. Joglekar, Dorian Q. Fuller, and P. C. Venkatasubbaiah. 2001. 'Archaeological Re-investigation and Archaeozoology of Seven Southern Neolithic Sites in Karnatak and Andhra Pradesh.' *Man and Environment* 26(2): 46–66.

Kosambi, D. D.. 1962. *Myth and Reality: Studies in the Formation of Indian Culture*. Bombay: Popular Prakashan.

———. [1956] 1998. *An Introduction to the study of India History*. Rep. edn. Bombay: Popular Prakashan.

Kramrisch, Stella. [1921] 1994. 'The Representation of Nature in Early Buddhist Sculpture (Bharhut-Sanchi).' In Barbara Stoler Miller (ed.), *Exploring India's Sacred Art: Selected Writings of Stella Kramrisch*. New Delhi: Indira Gandhi Centre for the Arts; Delhi: Motilal Banarsidass, pp. 123–29.

———. [1928] 1994. 'Introduction to the Vishnudharmottara.' In Barbara Stoler Miller (ed.), *Exploring India's Sacred Art: Selected Writings of Stella Kramrisch*. New Delhi: Indira Gandhi Centre for the Arts and Delhi: Motilal Banarsidass.

———. [1937] 1994. 'Ajanta.' In Barbara Stoler Miller (ed.), *Exploring India's Sacred Art: Selected Writings of Stella Kramrisch*, pp. 273–307.

———. [1946], 1994. 'The Image of Mahadeva in the Cave-Temple on Elephanta Island.' In Barbara Stoler Miller (ed.), *Exploring India's Sacred Art: Selected Writings of Stella Kramrisch*, pp. 141–47.

Kulke, Hermann. 1982. 'Fragmentation and Segmentation Versus Integration? Reflections on the Concepts of Indian Feudalism and the Segmentary State in Indian History.' *Studies in History* 4(2): 237–63.

———. [1993] 2001. *Kings and Cults: State Formation and Legitimation in India and Southeast Asia*. New Delhi: Manohar.

——— (ed.). 1997. *The State in India 1000–1700*. Oxford in India Readings: Themes in Indian History. New Delhi: Oxford University Press.

Lahiri, Nayanjot. 1991. *Pre-Ahom Assam: Studies in the Inscriptions of Assam between the Fifth and the Thirteenth Centuries AD*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1992. *The Archaeology of Indian Trade Routes (up to c. 200 BC)*. Delhi: Oxford University Press.

———. 2005. *Finding Forgotten Cities: How the Indus Civilization was Discovered*. Delhi: Permanent Black.

——— (ed.). 2000. *The Decline and Fall of the Indus Civilization*. Delhi: Permanent Black.

Lal, B. B. 1954–55. 'Excavation at Hastinapura and other Explorations in the Upper Ganga and Sutlej Basins, 1950–52.' *Ancient India* (10–11): 5–151.

———. 1993. *Excavations at Sringaverapura (1977–86)*. Vol 1. New Delhi: Archaeological Survey of India.

———. 1997. *The Earliest Civilization of South Asia (Rise, Maturity and Decline)*. New Delhi: Aryan Books International.

Lal, Makkhan. 1984. *Settlement History and Rise of Civilization in Ganga-Yamuna Doab (from 1500 BC to 300 AD)*. Delhi: Orient Book Distributors, pp. 20–66.

Lamberg-Karlovsky, C. C. 1972. 'Trade Mechanisms in Indus-Mesopotamian Interrelations.' In Gregory L. Possehl (ed.), 1979, *Ancient Cities of the Indus*. New Delhi: Vikas Publishing House, pp. 130–37.

Lambrick, H. T. 1967. The Indus Flood Plain and the "Indus"Civilization.' *Geographical Journal* 133(4): 483–95.

Legge, James. [1886] 1981. *The Travels of Fa-Hien: A Record of Buddhistic Kingdoms, being an account by the Chinese monk Fa-hien of his travels in India and Ceylon (AD 399–414) in search of the Buddhist Books of Discipline*. Rep. edn. New Delhi: Master Publishers.

Lerner, Gerda. 1986. *The Creation of Patriarchy*. New York: Oxford University Press.

Leshnik, L. 1968. 'The Harappan "Port" at Lothal: Another View.' *American Anthropologist* 70(5): 911–22.

Liu, Xinriu. 1988. *Ancient India and Ancient China: Trade and Religious Exchanges*. Delhi: Oxford University Press.

———. 1996. *Silk and Religion: An Exploration of Material Life and the Thought of People, AD 600–1200*. Delhi: Oxford University Press.

Lorenzen, David N. [1972] 1991. *The Kapalikas and Kalamukhas: Two Lost Saivite Sects*. 2nd rev. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

———. [1999] 2006. 'Who Invented Hinduism?' In David Lorenzen, *Who Invented Hinduism? Essays on Religion in History*. New Delhi: Yoda Press, pp. 1–36.

Luders, H. (ed.). 1963. *Bharhut Inscriptions*. Revised and supplemented by E. Waldschmidt and M. A. Mehendale. *Corpus Inscriptionum Indicarum*. Vol. II, Part 2. Ootacamund: Government Epigraphist for India.

Lukacs, J. R. 1985. 'Dental Pathology and Tooth Size in Early Neolithic Mehrgarh: An Anthropological Assessment.' In J. Schotsman and M. Taddei (eds), *South Asian Archaeology, 1983*, pp. 121–50.

Lukacs, J. R. and S. R. Walimbe. 1986. *Excavations at Inamgaon*. Vol. 2. *The Physical Anthropology of Human Skeletal Remains*. Pune: Deccan College.

Mahadevan, Iravatham. 1977. *The Indus Script: Texts, Concordance and Tables.* New Delhi: Archaeological Survey of India.

———. 2003. *Early Tamil Epigraphy: From the Earliest Times to the Sixth Century AD* Chennai: Cre-A and the Department of Sanskrit and Indian Studies, Harvard University.

Maity, S. K. [1957] 1970. *Economic Life in Northern India in the Gupta period (c. AD 300–550)*. 2nd rev. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

———. 1975. *The Imperial Guptas and their Times (c.AD 300–550)*. New Delhi. Munshiram Manoharlal.

Majumdar, G. P. and S. C. Banerji (eds and trans). 1960. *Krsiparasara*. Calcutta: The Asiatic Society.

Majumdar R. C. (Gen. ed.). [1955] 1964. *The Age of Imperial Kanauj*. 2nd edn. The History and Culture of the Indian People. Vol. 4. Bombay: Bharatiya Vidya Bhavan.

———. (Gen. ed.). [1957] 1966. *The Struggle for Empire*. 2nd edn The History and Culture of the Indian People. Vol. 5. Bombay Bharatiya Vidya Bhavan.

——— (ed.). [1960] 1981. *The Classical Accounts of India*. Calcutta: Firma KLM.

——— et al. (eds). [1951] 1968. *The Age of Imperial Unity.* The History and Culture of the Indian People. Vol. 2. 4th edn. Bombay: Bharatiya Vidya Bhavan.

——— et al. (eds). [1951] 1971. *The Vedic Age.* The History and Culture of the Indian People. Vol. 1. Bombay: Bharatiya Vidya Bhavan.

Malik, S. C. 1968. *Indian Civilization: The Formative Period—A Study of Archaeology as Anthropology*. Simla: Indian Institute of Advanced Study.

Marshall, John. 1915. 'Excavations at Bhita.' *Annual Report, 1911–12*. Delhi: Archaeological Survey of India, pp. 29–94.

———. 1951. *Taxila, An Illustrated Account of Archaeological Excavations Carried out at Taxila under the Orders of the Government of India between 1913 and 1934*. 3 Vols. Cambridge: Cambridge University Press.

———, Alfred Foucher, and N. G Majumdar. [1940] 1982. *Monuments of Sanchi*. Rep. edn. Vol. I. Delhi: Swati Publications.

Mathpal, Yashodhar. 1974. *Prehistoric Rock Paintings of Bhimbetka in Central India*. New Delhi: Abhinav Publications.

Mathur, A. D. 2007. *Medieval Hindu Law: Historical Evolution and Enlightened Rebellion*. New Delhi: Oxford University Press.

Mauss, Marcel. [1954] 1980. *The Gift: Forms and Functions of Exchange in Archaic Societies*. Ian Cunnison (trans.) with an Introduction by E. E. Evans-Pritchard. Rep. edn. London and Henley: Routledge and Kegan Paul.

McC. Adams, Robert. 1966. *The Evolution of Urban Society*. London: Weidenfeld and Nicolson.

———. 1968. 'The Natural History of Urbanism.' In Gregory L. Possehl (ed.), 1979, *Ancient Cities of the Indus*. New Delhi: Vikas Publishing House, pp. 18–26.

McGrindle, J. W. 1877. *Ancient India as described by Megasthenes and Arrian; being a translation of the fragments of the Indica of Megasthenes collected by Dr. Schwanbeck, and of the first part of the Indica of Arrian*. London: Trubner and Co.

Meadow, Richard H. and Ajita Patel. 1997. 'A Comment on "Horse Remains from Surkotada" by Sándor Bökönyi.' *South Asian Studies* 13: 308–18.

——— and Jonathan Mark Kenoyer. 2001. 'Recent Discoveries and Highlights from Excavations at Harappa: 1998–2000.' *Indo Koko Kenkyu* 22: 19–36. Tokyo: Indian Archaeological Society.

Mehta, R. N. and K. M. George. 1978. *Megaliths at Machad and Pazhayannur, Talppally Taluka, Trichur District, Kerala State (A Report of the Excavations conducted from 18th April to 12th May 1974)*. Baroda: University of Baroda.

Meister, Michael W. (ed.) and M. A. Dhaky (co-ordinator). 1983. *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture. South India. Lower Dravidadesa 200 BC–AD 1324.* New Delhi: American Institute of Indian Studies; Philadelphia: University of Pennsylvania Press.

———, M. A. Dhaky, and Krishna Deva (ed.). 1988. *Encyclopaedia of Indian Temple Architecture, North India: Foundations of North Indian Style c. 250 BC–AD 1100*. Vol. 2, Part 1. Delhi: American Institute of Indian Studies, Oxford University Press.

Mirashi, V. V. (ed.). 1963. *Corpus Inscriptionum Indicarum. Vol. 5, Inscriptions of the Vakatakas.* Ootacamund: Archaeological Survey of India.

———. 1981. *The History and Inscriptions of the Satavahanas and the Western Kshatrapas*. Bombay: Maharashtra Board for Literature and Culture.

Mishra, Phani Kanta. 2001. 'Deorkothar Stupa: New Light on Early Buddhism.' *Marg* 52(1): 64–74.

Misra, Ram Nath. [1979] 1981. *Yaksha Cult and Iconography*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Misra, V. N. 1974. 'Archaeological and Ethnographic Evidence for the Hafting and Use of Microliths and Related Tools.' *Puratattva* 7: 3–12.

——— and S. N. Rajaguru. 1985. 'Palaeoenvironments and Prehistory of the Thar Desert, Rajasthan, India.' *South Asian Archaeology*: 296–320.

Mital, S. K. 2000. *Kautiliya Arthasastra Revisited*. Delhi: Centre for Studies in Civilization.

Mitchiner, Michael. 1973. *The Origins of Indian Coinage*. London: Hawkins Publications.

Mitra, Debala. 1971. *Buddhist Monuments*. Calcuta: Sahitya Samsad

———. 1992. *Udayagiri and Khandagiri*. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Mittal, Sushil and Gene Thursby (eds). 2005. *The Hindu World*. Indian rep. New York and London: Routledge.

Mitter, Partha. 1977. *Much Maligned Monsters: History of European Reactions to Indian Art.* Oxford: Clarendon Press.

Mohanty, R. K. 1999. 'Significance of a Bead Manufacturing Centre at Mahurjhari, District Nagpur, Maharashtra, India.' *Man and Environment* 24(2): 79–89.

Monius, Anne E. 2001. *Imagining a Place for Buddhism: Literary Culture and Religious Community in Tamil-Speaking South India*. Oxford: Oxford University Press.

Mughal, M. R. 1977. 'The Early Harappan Period in the Greater Indus Valley and North Baluchistan.' Unpublished Ph. D. dissertation, University of Pennsylvania.

———. 1997. *Ancient Cholistan: Archaeology and Architecture*. Lahore: Ferozsons.

Mukherjee, B. N. 1970. *The Economic Factors in Kushana History*. Calcutta: Pilgrim Publisher.

———. 1984. *Studies in Aramaic Edicts of Asoka*. Calcutta: Indian Museum.

———. 1995. 'The Great Kushana Testament.' *Indian Museum Bulletin*. Kolkata: Indian Museum.

Mukhia, Harbans (ed.). 1999. *The Feudalism Debate*. New Delhi: Manohar.

Murcott, Susan. 1991. *The First Buddhist Women: Translations and Commentaries on the Therigatha*. Berkeley, California: Parallax Press.

Murty, M. L. K. 1985. 'The Use of Wild Plant Foods by Aboriginal Communities in Central India.' In V. N. Misra and P. Bell-

wood (eds), *Recent Advances in Indo-Pacific Prehistory*. Delhi: Indo-Pacific Prehistory Association, pp. 329–36.

Mushrif, V., N. Boivin, R. Korisettar, and S. R. Walimbe. 2002–03. 'Skeletal Remains from the Kudatini Sarcophagus Burial.' *Puratattva* 33: 74–85.

Nagaraj, Nalini. 1980. *Sravanabelagola*. Bangalore: Art Publisher of India.

Nandi, R. N. 1989–90. 'Archaeology and the *RgVeda*.' *Indian Historical Review* 16(1–2): 35–79.

———. 2000. *State Formation, Agrarian Growth and Social Change in Feudal South India c.* AD *600–1200*. New Delhi: Manohar.

Narain, A. K. 1993. 'A Clinching Evidence of the Date of Gotama the Buddha.' In *Dr. K. Isukamoto Felicitation Volume, Chino-Kaika: Bukkyo-to-Kaguka*. Tokyo: Felicitation Committee, pp. 59–78.

Narayanan, M. G. S. and Keshavan Veluthat. 1978. 'The Bhakti Movement in South India.' In S. C. Malik (ed.), *Indian Movements: Some Aspects of Dissent, Protest and Reform*. Simla: Indian Institute of Advanced Studies.

Nath, Amarendra. 1999. 'Satavahana Antiquities from Adam.' In Ajay Mitra Shastri, *The Age of the Satavahanas*. Great Ages of Indian History, Vol. 2. New Delhi: Aryan Books International, pp. 260–66.

Nath, Vijay. 1993–94. 'Women and Property and Their Right to Inherit Property up to the Gupta Period.' *Indian Historical Review* 20(1–2): 1–15.

Neumayer, Erwin. 1983. *Prehistoric Indian Rock Paintings*. Delhi: Oxford University Press.

Nyberg, Harri. 1997. 'The Problem of the Aryans and the Soma: The Botanical Evidence.' In George Erdosy (ed.), *The Indo-Aryans of ancient South Asia: Language, Material Culture and Ethnicity*, pp. 382–406.

O'Flaherty, Wendy Doniger. 1973. *Asceticism and Eroticism in the Mythology of Siva*. London, New York: Oxford University Press.

———. 1986. *The Rig Veda: An Anthology*. Middlesex: Penguin.

Obeyesekere, Gananath. [1984] 1987. *The Cult of the Goddess Pattini*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Olivelle, Patrick. 1993. *The Ashrama System: The History and Hermeneutics of a Religious Institution*. Indian edn. New York and Oxford: Oxford University Press.

———. 1998. *The Early Upanishads: Annotated Text and Translation.* New York, Oxford: Oxford University Press.

———. [2000] 2003. *Dharmasutras: The Law Codes of Apastamba, Gautama, Baudhayana, and Vasishtha*. Rep. edn. Delhi. Motilal Banarsidass.

———. [2005] 2006. *Manu's Code of Law: A Critical Edition and Translation of the Manava-Dharmsastra*. New Delhi: Oxford University Press.

Orr, Leslie C. 2000a. *Donors, Devotees, and Daughters of God: Temple Women in Medieval Tamilnadu*. New York, Oxford: Oxford University Press.

———. 2000b. 'Women's Wealth and Worship: Female Patronage of Hinduism, Jainism, and Buddhism in Medieval Tamilnadu.' In Mandakranta Bose (ed.), *Faces of the Feminine in Ancient, Medieval, and Modern India*. Delhi: Oxford University Press, pp. 124–47.

Paddayya, K. 1982. *The Acheulian Culture of the Hunsgi Valley (Peninsular India): A Settlement System Perspective*. Pune: Deccan College.

———. 1985. 'The Acheulian Culture of the Hunsgi Valley, South India: Settlement and Subsistence Patterns.' In V. N. Misra and P. Bellwood (eds), *Recent Advances in Indo-Pacific Prehistory*. Delhi: Indo-Pacific Prehistory Association, pp. 59–64.

———. 1993. 'Ash Mound Investigations at Budihal, Gulbarga District, Karnataka.' *Man and Environment* 18(1): 58–87.

———, Richa Jhaldiyal and Michael D. Petraglia. 1999–2000. 'The Significance of the Acheulian Site of Isampur, Karnataka, in the Lower Palaeolithic of India.' *Puratattva* 30: 1–24.

Padoux, Andre. 1987. 'Tantrism.' In Mircea Eliade, *The Encyclopaedia of Religion*. Vol. 14. New York: Macmillan Publishing Co. and London: Collier Macmillan Publishers, pp. 272–80.

Page, J. A. 1937. *A Memoir on Kotla Firoz Shah*. Memoirs of the Archaeological Survey of India No. 52. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Pande, G. C. [1994] 1998. *Life and Thought of Sankaracarya*. Rep. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

Pandit, R. S. (trans.). [1935] 1968. *Kalhana's Rajatarangini: The Saga of the Kings of Kasmir*. New Delhi: Sahitya Akademi.

Pandya Dhar, Parul. 2006. 'Text, Context and Architectural Practice, with Reference to Entryways in Ancient and Medieval India.' In *Vanamala: Festschrift A. J. Gail*. Berlin: Weidler Buchverlag, pp. 59–66.

———. 2008. 'Historiography of Indian Temple Architecture: Some Methodological Concerns.' In Gautam Sengupta and Kaushik Gangopadhaya (eds), *History of Archaeology in India: Ideas, Institutions and Individuals*. New Delhi: D. K. Printworld.

Pant, P. C. and Vidula Jayaswal. 1991. *Paisra: The Stone Age Settlement of Bihar*. Delhi: Agam Kala Prakashan.

Pant, R. K. 1979. 'Microwear Studies on Burzahom Neolithic Tools.' *Man and Environment* 3: 11–18.

Pappu, Shanti, Yanni Gunnell, Maurice Taieb, Jean Philippe Brugal, K. Anupama, Raman Sukumar, and Kumar Akhilesh. 2003. 'Excavations at the Palaeolithic Site of Attirampakkam, South India.' *Antiquity*: 77(297). Also available on http://antiquity.ac.uk

Parasher, Aloka. 1991. *Mlecchas in Early India: A Study in Attitudes towards Outsiders upto* AD *600*. Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1992. 'Nature of Society and Civilization in Early Deccan.' *The Indian Economic and Social History Review* 29(4): 437–77.

Parashar-Sen, Aloka. 1998. 'Of Tribes, Hunters and Barbarians: Forest Dwellers in the Mauryan Period.' *Studies in History,* n.s., 14(2): 173–91.

Pathak, V. S. 1966. *Ancient Historians of India: A Study in Historical Biographies*. Bombay: Asia Publishing House.

Parpola, Asko. 1994. *Deciphering the Indus Script*. Cambridge, Cambridge University Press.

Paul, Diana Y. 1979. *Women in Buddhism: Images of the Feminine in Mahayana Tradition*. Berkeley: Asian Humanities Press.

Pollock, Sheldon. [1984] 1991. *The Ramayana of Valmiki: Aranyakanda*. Vol. 3. Rep. edn. Princeton: Princeton University Press.

Pollock, Sheldon. 2003. *Literary Cultures in History: Reconstructions from South Asia*. New Delhi: Oxford University Press.

———. [2006] 2007. *The Language of the Gods in the World of Men: Sanskrit, Culture and Power in Premodern India*. Delhi: Permanent Black.

Poonacha, K. P. 2007. *Excavations at Mahastupa, Kanaganahalli, Chitapur Taluk, Gulbarga District, Karnataka (1997–2000)*. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Possehl, Gregory L.. 2003. *The Indus Civilization: A Contemporary Perspective*. New Delhi: Vistaar Publications.

———. (ed.). 1979. *Ancient Cities of the Indus*. New Delhi: Vikas Publishing House.

Postel, Michel and Zarine Cooper. 1999. *Bastar Folk Art: Shrines, Figurines and Memorials*. Vol VIII. Mumbai: Project for Indian Cultural Studies Publications.

Przyluski, J. 1967. *The Legend of Emperor Asoka in Indian and Chinese Texts*. Dilip Kumar Biswas (trans. with additional notes and comments). Calcutta: Firma KLM.

Quigley, Declan. [1999] 2002. *The Interpretation of Caste*. Oxford Studies in Social and Cultural Anthropology. 4th rep edn. Delhi: Oxford University Press.

Raikes, Robert L. 'The End of the Ancient Cities of the Indus.' *American Anthropologist* 66(2): 284–99.

Rajan, Chandra. 1989. *Kalidasa: The Loom of Time—A Selection of His Plays and Poems*. Translated from the Sanskrit and Prakrit with an Introduction. New Delhi: Penguin.

Rajan, K. 1990. 'New Light on the Megalithic Culture of the Kongu Region, Tamil Nadu.' *Man and Environment* 15(1): 93–102.

———. 1991. 'Iron and Gemstone Industries as Revealed from Kodumanal Excavations.' *Puratattva* 20: 111–12.

———.1998a. 'Archaeology of the South Arcot Region with Special Reference to Megalithic Burial Complexes.' *Man and Environment* 23(1): 93–105.

———. 1998b. 'Further Excavations at Kodumanal, Tamil Nadu.' *Man and Environment* 23(2): 65–76.

———. 2003. 'Archaeology of the Pudukottai Region, Tamil Nadu.' *Man and Environment* 28(1): 41–56.

Ramanujan, A. K. 1973. *Speaking of Siva*. Harmondsworth: Penguin.

———. 1999. 'Form in Classical Tamil Poetry.' In Vinay Dharwadker (ed.), *The Collected Essays of A. K. Ramanujan*. Delhi: Oxford University Press, pp. 197–218.

Ramaswamy, Vijaya. 1985. *Textiles and Weavers in Medieval South India*. Delhi: Oxford University Press.

———. [1989] 1999. 'Aspects of Women and Work in Early South India.' In Kumkum Roy (ed.), *Women in Early Indian Societies*. New Delhi: Manohar, pp. 150–71.

———. 1997. *Walking Naked: Women, Society, Spirituality in South India*. Simla: Indian Institute of Advanced Studies.

Rangachari, Devika. 2002. 'Kalhana's *Rajatarangini*: A Gender Perspective.' *The Medieval History Journal* 5(1): 37–75.

Rangarajan, L. N. (ed. and trans.). 1992. *The Arthashastra*. New Delhi: Penguin.

Rao, L. S., Nandini B. Sahu, Prabhash Sahu, Samir Diwan, and U. A. Shastry. 2004–05. 'New Light on the Excavation of Harappan Settlement at Bhirrana.' *Puratattva* 35: 60–75.

Ratnagar, Shereen. 1981. *Encounters: The Westerly Trade of the Harappa Civilization*. New Delhi: Oxford University Press.

———. 1991. *Enquiries into the Political Organization of Harappan Society*. Pune: Ravish.

Ray, Himanshu Prabha. 1986. *Monastery and Guild: Commerce Under the Satavahanas*. Delhi: Oxford University Press.

———. 1994. *The Winds of Change: Buddhism and the Maritime Links of Early South Asia*. Delhi: Oxford University Press.

———. 2003. *The Archaeology of Seafaring in Ancient South Asia*. Cambridge: Cambridge University Press.

——— and Daniel T. Potts (eds). 2007. *Memory as History: The Legacy of Alexander in Asia*. New Delhi: Aryan Books International.

Ray, Niharranjan. 1975. *Maurya and Post-Maurya Art: A Study in Social and Formal Contacts*. New Delhi: Indian Council of Historical Research.

Raychaudhuri, Hemachandra. [1923] 2000. *Political History of Ancient India: From the Accession of Parikshit to the Extinction of the Gupta Dynasty*. With a commentary by B. N. Mukherjee. Delhi: Oxford University Press.

Renou, Louis. 1971. *Vedic India. Classical India*. Vol. 3. Delhi, Varanasi: Indological Book House.

Rhys Davids, T. W. 1899. *Dialogues of the Buddha*. F. Max Muller (ed.), *Sacred Books of the Buddhists*. Vol. 2. London: Henry Frowde.

———. [1910] 1951. *Dialogues of the Buddha*. Part II. Sacred Books of the Buddhists Series, Pali Text Society. 3rd edn. London: Luzac and Co.

Richman, Paula (ed.). 1992. *Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia*. Delhi: Oxford University Press.

Ross, E. J. 1946. 'A Chalcolithic Site in Northern Baluchistan.' *Journal of Near Eastern Studies* 5: 284–316.

Roy, Kumkum. 1994a. 'Marriage as Communication: An Exploration of Norms and Narratives in Early India.' *Studies in History* 10(2), July–Dec.: 183–98.

———. 1994b. *The Emergence of Monarchy in North India: Eighth–fourth Centuries BC As Reflected in the Brahmanical Tradition*. Delhi: Oxford University Press.

———. 1998. 'Unravelling the *Kamasutra*.' In Mary E. John and Janaki Nair (eds), *A Question of Silence? The Sexual Economics of Modern India*. New Delhi: Kali for Women, pp. 52–74.

Roy, T. N. 1986. *A Study of Northern Black Polished Ware Culture: An Iron Age Culture of India*. New Delhi: Ramanand Vidya Bhawan.

Ruben, Walter. [1966] 1969. 'Some Problems of the Ancient Indian Republics.' In Horst Kruger (ed.), *Kunwar Mohammad Ashraf: An Indian Scholar and Revolutionary, 1903–1962*. Delhi: People's Publishing House, pp. 5–29.

Sachau, Edward C. 1964. *Alberuni's India*. Delhi: S. Chand & Co.

Sahni, M. R. 1956. 'Bio-geological Evidence Bearing on the Decline of the Indus Valley Civilization.' *Journal of the Palaeontological Society of India* 1(1): 101–07.

Sahni, Pragati. 2008. *Environmental Ethics in Buddhism*. London: Routledge.

Sahu, Bhairabi Prasad. 1994–95. 'Situating Early Historical Trade Orissa.' *Social Science Probings*: 24–34.

——— (ed.). 2006. *Iron and Social Change in Early India*. Oxford in India Readings: Debates in Indian History and Society. Delhi: Oxford University Press.

Sali, S. A. 1986. *Daimabad 1976–79*. Memoirs of the Archaeological Survey: 83. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Salomon, Richard. 1998. *Indian Epigraphy: A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit, Prakrit, and the other Indo-Aryan Languages*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1999. *Ancient Buddhist Scrolls from Gandhara: The British Library Kharoshthi Fragments*. London: British Library.

Sankalia, H. D. [1964] 1982. *Stone Age Tools: Their Techniques, Names and Probable Functions*. 2nd rep. Poona: Deccan College.

———, Bendapudi Subbarao, and Shantaram Bhalchandra Deo. 1958. *The Excavations at Maheshwar and Navdatoli 1952–53*. Poona and Baroda: Deccan College Research Institute and M. S. University Publication No. 1.

Sarao, K. T. S. [1990] 2007. *Urban Centres and Urbanization as Reflected in the Pali Vinaya and Sutta Pitaka*. 2nd rev. edn. Delhi: Department of Buddhist Studies, University of Delhi

Saraswat, K. S. 1996–97. 'Plant Economy of Barans at Ancient Sanghol (*c*. 1900–1400 BC) Punjab.' *Pragdhara* 7: 97–114.

——— and A. K. Pokharia. 1997–98. 'On the Remains of Botanical Material Used in Fire-Sacrifice Ritualized During Kushana Period at Sanghol (Punjab).' *Pragdhara* 8: 149–81.

——— and A. K. Pokharia. 2001–02. 'Harappan Plant Economy at Ancient Balu, Haryana.' *Pragdhara* 12: 153–71.

Sarkar, H. 1966. *Studies in Early Buddhist Architecture of India*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

——— and B. N. Misra. 1972. *Nagarjunakonda*. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Sarma, I. K. 1994. *Parashuramesvara Temple at Gudimallam*. Nagpur: Dattsons.

Sarma, Sreemula Rajeswara. 1986. 'Astronomical Instruments in Brahmagupta's *Brahmasputasiddhanta*.' *Indian Historical Review* 13(1–2): 63–74.

———. 1988. 'Sunya: Mathematical Aspect.' In *Kalatattvakosa: A Lexicon of Fundamental Concepts of the Indian Arts*. New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts; Delhi: Motilal Banarsidass, pp. 400–11.

———. 2003. 'Sunya in Pingala's Chandahsutra.' In A. K. Baig and S. R. Sarma (eds), *The Concept of Sunya*. New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, Indian National Science Academy, Aryan Books International, pp. 126–36.

Sastri, K. A. Nilakanta. [1955] 1975. *A History of South India from Prehistoric Times to the Fall of Vijaynagar*. 4th edn. Madras: Oxford University Press.

Sastry, V. V. Krishna, B. Subrahmanyam, and N. Rama Krishna Rao. 1992. *Thotlakonda: A Buddhist Site in Andhra Pradesh*. Hyderabad: Department of Archaeology and Museums, Government of Andhra Pradesh.

Schopen, Gregory. 1997. *Bones, Stones, and Buddhist Monks: Collected Papers on the Archaeology, Epigraphy, and Texts of Monastic Buddhism in India*. Honolulu: University of Hawaii Press.

Sen, D. C. 1954. *History of Bengali Language and Literature*. Calcutta: University of Calcutta.

Sen, Tansen. 2003. *Buddhism, Diplomacy, and Trade: The Realignment of Sino-Indian Relations, 600–1400*. Honolulu: Association for Asian Studies and University of Hawaii Press.

———. 2006. 'The Travel Records of Chinese Pilgrims Faxian, Xuanzang, and Yijing: Sources for Cross-Cultural Encounters between Ancient China and Ancient India.' *Education About Asia* 11(3): 24–33.

Service, Elman R. 1975. *Origins of the State and Civilization: The Process of Cultural Evolution*. New York: W. W. Norton.

Settar, S. 2003. 'Footprints of Artisans in History: Some Reflections On Early Artisans of India.' Proceedings of the Indian History Congress, 64th Session. Mysore 2003. General President's Address, pp. 1–43.

———. n.d. 'Memorial Stones in South India.' In S. Settar and Gunther D. Sontheimer (eds), *Memorial Stones: A Study of Their Origin, Significance and Variety*. Institute of Indian Art History: Karnatak University, Dharwad and South Asia Institute, University of Heidelberg, Germany.

——— and Gunther D. Sontheimer (eds). n.d. *Memorial Stones: A Study of their Origin, Significance and Variety*. Dharwad and Heidelberg: Institute of Indian Art History, Karnataka University and South Asia Institute, University of Heidelberg.

Shaffer, J. G. 1982a. 'Harappan Culture: A Reconsideration.' In Gregory Possehl (ed.), *Harappan Civilization: A Contemporary Perspective*, pp. 41–50.

———. 1982b. 'Harappan Commerce: An Alternative Perspective.' In S. Pastner and L. Flam (eds), *Anthropology in Pakistan: Recent Socio-cultural and Archaeological Perspectives*. Ithaca, New York: Cornell University, pp. 166–210.

———. 1992. 'The Indus Valley, Baluchistan and Helmand Traditions: Neolithic through Bronze Age.' In R. W. Ehrich (ed.), *Chronologies in Old World Archaeology*. Vol. 2 (3rd edn.). Chicago: University of Chicago Press, pp. 425–46.

Shah, A. M. [1964] 1998. 'Basic Terms and Concepts in Study of the Family in India.' In A. M. Shah. *The Family in India: Critical Essays*. Delhi: Orient Longman, pp. 14–51.

Shah, Kirit K. 2001. *The Problem of Identity: Women in Early Indian Inscriptions*. New Delhi: Oxford University Press.

Shanmugan, P. 1987. *The Revenue System of the Cholas, 850–1279*. Madras: New Era Publications.

Sharma, D. V., A. Pradhan, V. N. Prabhakar, A. K. Bhargav, and K. A. Kabui. 2001–02. 'A Report on Excavation at Madarpur: A Copper Hoard Site.' *Puratattva* 32: 33–53.

———, K. C. Nauriyal, and V. N. Prabhakar. 2005–06. 'Excavations at Sanauli 2005–06: A Harappan Necropolis in the Upper Ganga–Yamuna Doab.' *Puratattva* 36: 166–79.

Sharma, G. R. 1960. *The Excavations at Kausambi (1957–59)*. Allahabad: Department of Ancient History, Culture and Archaeology, University of Allahabad.

Sharma, G. R., V. D. Misra, D. Mandal, B. B. Misra, and J. N. Pal. 1980. *From Hunting and Food Gathering to Domestication of Plants and Animals: Beginnings of Agriculture (Epi-Palaeolithic to Neolithic: Excavations at Chopani-Mando, Mahadaha and Mahagara)*. Allahabad: Abinash Prakashan.

Sharma, J. P. 1968. *Republics in Ancient India c. 1500 BC–500 BC* Leiden: E. J. Brill.

Sharma, R. S. 1974. 'Material Milieu of Tantricism.' In R. S. Sharma (ed.). *Indian Society: Historical Probings (Essays in Memory of D. D. Kosambi)*. Delhi: People's Publishing House.

———. [1958] 1980. *Sudras in Ancient India: A Social History of the Lower Order Down to c. AD 600*. 2nd rev. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

———. [1965] 1980. *Indian Feudalism*. Madras: Macmillan.

———. 1983. *Material Culture and Social Formations in Ancient India*. Delhi: Macmillan India.

———. 1987. *Urban Decay in India (c. 300–c.1000)*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. [1959] 1996. *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Shastri, Ajay Mitra. 1997. *Vakatakas: Sources and History.* Great Ages of Indian History. New Delhi: Aryan Books International.

Shaw, Julia and John Sutcliffe. 2001. 'Ancient Irrigation Works in the Sanchi Area: An Archaeological and Hydrological Investigation.' *South Asian Studies* 17: 55–75.

Shaw, Miranda. 1994. *Passionate Enlightenment: Women in Tantric Buddhism*. Princeton: Princeton University Press.

Shinde, Vasant. 1994. 'The Earliest Temple of Lajjagauri? The Recent Evidence from Padri in Gujarat.' *East and West* 44 (2–4): 481–85.

Shrimali, Krishna Mohan. 1987. *Agrarian Structure in Central India and the Northern Deccan (c. AD 300–500): A Study of Vakataka Inscriptions*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Shulman, David. 2001. 'Poets and Patrons in Tamil Literature and Literary Legend'. In David Shulman, *The Wisdom of Poets: Studies in Tamil, Telugu, and Sanskrit*. New Delhi: Oxford University Press, pp. 63–102.

Singh, B. P. 2003. *Early Farming Communities of Kaimur: Excavations at Senuar.* 2 Vols. Jaipur: Publication Scheme.

Singh, Gurdip. 1971. 'The Indus Valley Culture.' *Archaeology and Physical Anthropology in Oceania* 6(2): 177–89.

Singh, H. N. 1979. 'Black and Red Ware: A Cultural Study.' In D. P. Agrawal and Dilip K. Chakrabarti (eds), *Essays in Indian Protohistory*, pp. 267–83.

Singh, Purushottam. 1994. *Excavations at Narhan (1984–89)*. Varanasi: Banaras Hindu University and Delhi: B. R. Publishing Corpn.

Singh, S. B. 1979. *Archaeology of Panchala Region*. Delhi: Agam Kala Prakashan.

Singh, Upinder. 1994. *Kings, Brahmanas and Temples in Orissa: An Epigraphic Study AD 300–1147*. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

———. 1996. 'Sanchi: The History of the Patronage of an Ancient Buddhist Establishment.' *The Indian Economic and Social History Review* 33: 1–35.

———. 1997–98. 'Texts on Stone: Understanding Asoka's Epigraph-Monuments and their Changing Contexts.' *Indian Historical Review* 24 (1–2): 1–19.

———. 2004a. 'Cults and Shrines in Early Historical Mathura (*c.* 200 BC–AD 200).' *World Archaeology* 36(3): 378–98.

———. 2004b. *The Discovery of Ancient India: Early Archaeologists and the Beginnings of Archaeology*. Delhi: Permanent Black.

———. [1999] 2006. *Ancient Delhi*. New Delhi: Oxford University Press.

———. 2006. 'Early Medieval Orissa: The Data and the Debate.' In Martin Brandtner and Shishir Kumar Panda (eds), *Interrogating History: Essays for Hermann Kulke*. New Delhi: Manohar.

Sinha Kapur, Nandini. 2002. *State formation in Rajasthan: Mewar during the Seventh-Fifteenth Centuries*. New Delhi: Manohar.

Sinha, B. P. and Sita Ram Roy. 1969. *Vaisali Excavations 1958–1962.* Patna.

Sinha, Prakash. 1989. 'Economic and Subsistence Activities at Baghor III, India: A Microwear Study.' In J. M. Kenoyer (ed.), *Old Problems and New Perspectives in the Archaeology of South Asia.* Wisconsin.

Sircar, D. C. 1952. 'Some Kara-Sasanas of Ancient Orissa.' *Journal of the Royal Asiatic Society*, pp. 4–10.

———. 1965. *Indian Epigraphy.* Delhi: Motilal Banarsidass.

———. 1966a. *Indian Epigraphical Glossary*. Delhi: Motilal Banarsidass.

———. 1966b. 'Ahraura Inscription of Asoka.' *Epigraphia Indica* 36: 239–48.

———. 1969. *Landlordism and Tenancy in Ancient and Early Medieval India as Revealed by Epigraphical Records*. Lucknow: University of Lucknow.

———. 1973. *The Shakta Pithas*. 2nd rev. edn. Delhi: Motilal Banarsidass.

Sivaramamurti, C. [1974] 1994. *Nataraja in Art, Thought and Literature*. Rep. edn. New Delhi: Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting.

Sjoberg, Gideon. 1964. 'The Rise and Fall of Cities: A Theoretical Perspective.' In Nels Anderson (ed.), *Urbanism and Urbanization*. Lieden: E. J. Brill.

Smith, Brian K. 1994. *Classifying the Universe: The Ancient Indian Varna System and the Origins of Caste*. New York and Oxford: Oxford University Press.

Smith, Frederick M. 1991. 'Indra's Curse, Varuna's Noose, and the Suppression of the Woman in the Vedic Srauta Ritual.' In Julia Leslie (ed.), *Roles and Rituals for Hindu Women*. Rutherford: Fairleigh Dickinson University Press, pp. 17–45.

Soundararajan, K. V. 1994. *Kaveripattinam Excavations 1963–73 (A Port City on the Tamilnadu Coast)*. Memoirs of the Archaeological Survey of India No. 90. New Delhi: Archaeological Survey of India.

——— (ed.) with R. Subrahmanyam et al. 2006. *Nagarjunakonda (1954–60)*. Vol. II (The Historical Period). New Delhi: Archaeological Survey of India.

Southall, Aidan W. 1953. *Alur Society: A Study in Process and Types of Domination*. Cambridge: W. Heiffer & Sons.

Spink, Walter M. 2006. *Ajanta: History and Development*. 3 Vols. Leiden, Boston: E. J. Brill.

Spooner, D. B. 1912–13. *Mr. Ratan Tata's Excavations at Pataliputra*: *Annual Report of the Archaeological Survey of India*, pp. 53–86.

———. 1913–14. 'Excavations at Basarh, 1911–12.' *Annual Report of the Archaeological Survey of India*. Delhi: Archaeological Survey of India, pp. 98–185.

Srinivasan, Doris M. 1989. 'Vaishnava Art and Iconography at Mathura.' In Srinivasan (ed.), *Mathura: The Cultural Heritage*. New Delhi: Manohar, pp. 383–92.

Srinivasan, Sharada. 2004. 'Shiva as Cosmic "Dancer": On Pallava Origins for the Nataraja Bronze.' In Elisabeth A. Bacus and Nayanjot Lahiri (eds), *The Archaeology of Hinduism*: *World Archaeology* 36(3): 432–50.

Srivastava, K. M. 1996. *Excavations at Piprahwa and Ganwaria*. Memoirs of the Archaeological Survey of India No. 94. New Delhi: Archaeological Survey of India.

Staal, Fritz. 2003. 'The Science of Language.' In Gavin Flood (ed.), *The Blackwell Companion to Hinduism*. Blackwell.

Stein, Burton. [1975] 1976. 'The State and the Agrarian Order in Medieval South Asia: A Historiographical Critique.' In Burton Stein (ed.), *Essays on South India*. Honolulu: University of Hawaii, pp. 64–91.

———. 1980. *Peasant State and Society in Medieval South India*. Delhi: Oxford University Press.

Strong, John S. 1983. *The Legend of King Asoka: A Study and Translation of the Asokavadana*. Princeton: Princeton University Press.

Subbarayalu, Y. 1982. 'The Chola State.' *Studies in History* 4(2): 265–306.

———. 2002. 'State and Society During the Chola period.' In R. Champakalakshmi, Kesavan Veluthat and T. R. Venugopalan (eds), *State and Society in Pre-Modern South India*. Thrissur: Cosmobooks, pp. 84–95.

Sundara, A. 1975. *The Early Chamber Tombs of South India*. Delhi: University Publishers.

Suresh, R. 2004. *Symbols of Trade: Roman and Pseudo-Roman Objects Found in India*. New Delhi: Manohar.

Sutherland, G. H. 1992. *Yaksha in Hinduism and Buddhism: The Disguises of the Demon*. New Delhi: Manohar.

Talbot, Cynthia. 1995. 'Rudrama-devi, the Female King: Gender and Political Authority in Medieval India.' In David Shulman (ed.), *Syllables of Sky: Studies in South Indian Civilization in Honour of Velcheru Narayan Rao*. Delhi: Oxford University Press, pp. 391–430.

Tartakov, Gary Michael. 1997. *The Durga Temple at Aihole: A Historiographical Study*. Delhi: Oxford University Press.

Thapar, Romila. 1984. *The Mauryas Revisited*. Sakharam Ganesh Deuskar Lectures on Indian History. Centre for Studies in Social Science. Calcutta: K. P. Bagchi & Co.

———. [1963] 1987. *Asoka and the Decline of the Mauryas*. 7th rep. Delhi: Oxford University Press.

———. 1990. *From Lineage to State: Social Formations in the Mid-first Millennium* BC *in the Ganga Valley*. Delhi: Oxford University Press.

———. 2000. 'Society and Historical Consciousness: The *Itihasa-purana* Tradition.' In *Cultural Pasts: Essays in Early Indian History*. New Delhi: Oxford University Press, pp. 123–54.

———.[1991] 2007. 'Forests and Settlements.' In Mahesh Rangarajan (ed.), *Environmental Issues in India: A Reader*. Delhi: Pearson Longman.

Thaplyal, K. K. 1996. *Guilds in Ancient India: A Study of Guild Organization in Northern India and Western Deccan from circa 600* BC *to circa 600* AD. New Delhi: New Age International Ltd. Publishers.

Thomas, P. K. and P. P. Joglekar. 1995. 'Faunal Studies in Archaeology.' *Memoirs of the Geological Society of India* 32: 496–514.

———, P. P. Joglekar, Arati Deshpande-Mukherjee, and S. J. Pawankar. 1995. 'Harappan Subsistence Patterns with Special Reference to Shikarpur, A Harappan Site in Gujarat.' *Man and Environment* 22(2): 33–41.

Tiwari, Rakesh, R. K. Srivastava, and K. K. Singh, 2001–02. 'Excavation at Lahuradeva, District Sant Nagar, Uttar Pradesh.' *Puratattva* 32: 54–62.

Trautmann, Thomas R. (ed.). 2005. *The Aryan Debate*. Oxford in India Readings: Debates in Indian History and Society. New Delhi: Oxford University Press.

———. 1971. *Kautilya and the Arthasastra: A Statistical Investigation of the Authorship and Evolution of the Text*. Leiden: E. J. Brill.

Tripathi, Vibha. 1984–85. 'From Copper to Iron—A Transition.' *Puratattva* 15: 75–79.

———. 2002. 'The Protohistoric Cultures of the Ganga Valley.' In K. Paddayya (ed.), *Recent Studies in Indian Archaeology*. New Delhi. Munshiram Manoharlal, pp. 189–215.

Tyagi, Jaya S. 2002. 'Brahmanical Ideology on the Ritual Roles of the Grhapati and his Wife in the Grha: A Study of the Early Grhyasutras (*c.* 800–500 BC).' *Studies in History*, n.s., 18 (2), July–Dec.: 189–208.

van Buitenan, J. A. B. 1981. *The Bhagavadgita in the Mahabharata*. Bilingual edn. Chicago and London: University of Chicago Press.

van Kooij, Karel Rijk. 1972. *Worship of the Goddess According to the Kalikapurana*. Part 1. Leiden: E. J. Brill.

van Leur, J. C. [1934] 1955. *Indonesian Trade and Society: Essays in Asian Social and Economic History*. Translated from Dutch. The Hague: Bandung.

Veluthat, Kesavan. 1993. *The Political Structure of Early Medieval South India*. New Delhi: Orient Longman.

Venkateshaiah, S. V. (forthcoming). 'Brief Report on the Preliminary Explorations and Discovery of the Ancient Quarry Site near Pattadakal, Dist. Bagalkot, Karnataka.' In Chenna Reddy (forthcoming), A. Sundara felicitation volume.

Wagle, Narendra. 1966. *Society at the Time of the Buddha*. Bombay: Popular Prakashan.

Wang, Bangwei. 2002. 'New Evidence on Wang Xuance's Missions to India.' In N. N. Vohra (ed.), *India and East Asia: Culture and Society*. Delhi: Shipra Publications.

Warder, A. K. 1972. *Indian Kavya Literature*. Vol 1. Delhi: Motilal Banarsidass.

Wheeler, R. E. M. 1947. 'Harappan Chronology and the Rig Veda.' *Ancient India* 3: 78–82.

Wijayaratne, Mohan. 1990. *Buddhist Monastic Life According to the Texts of the Theravada Tradition*. Claude Grangier and Steven Collins (trans. from French). Cambridge: Cambridge University Press.

———. 2001. *Buddhist Nuns: The Birth and Development of a Woman's Monastic Order*. Colombo: Wisdom.

Williams, Joanna. 1982. The *Art of Gupta India: Empire and Province*. Princeton, New Jersey: Princeton University Press.

Williams, Michael. 2003. *Deforesting the Earth: From Prehistory to Global Crisis*. Chicago and London: University of Chicago Press.

Witzel, Michael (ed.). 1995. 'Early Sanskritization Origins and Development of the Kuru State.' *The Electronic Journal of Vedic Studies* (1–4): 1–26.

———. 1997a. 'The Development of the Vedic Canon and its Schools: The Social and Political Milieu.' In Michael Witzel (ed.), *Inside the Texts, Beyond the Texts: New Approaches to the Study of the Vedas*. Harvard Oriental Series Opera Minora Vol. 2. Cambridge. Department of Sanskrit and Indian Studies, Harvard University, pp. 257–345.

———. 1997b. 'Rgvedic History: Poets, Chieftains and Polities.' In George Erdosy (ed.), *The Indo-Aryans of South Asia*, pp. 307–52.

Wujastyk, Dominik. [1998] 2001. *The Roots of Ayurveda: Selections from Sanskrit Medical Writings*. New Delhi: Penguin Books.

Yoffee, Norman. 2005. *Myths of the Archaic State: Evolution of the Earliest Cities, States, and Civilizations*. Cambridge: Cambridge University Press.

Zeuner, Frederick E. 1963. *A History of Domesticated Animals*. New York: Harper Collins.

Zvelebil, K. 1977. 'Beginnings of Bhakti in South India.' *Temenos* 13: 223–59.

———. 1974. 'Tamil Literature.' In Jan Honda (ed.), *A History of Indian Literature*. Vol. X. Fasc. 1. Wiesbaden: Otto Harrassowitz.

Zysk, Kenneth G. 1991. *Asceticism and Healing in Ancient India: Medicine in the Buddhist Monastery*. New York and Bombay: Oxford University Press.

अनुक्रमणिका (Index)

अ

आ

इ

ई

उ

ख

ग

घ

च

छ

ज

झ

ट

ड

त

फ

य

र

ल

व

श

स

ह

क्ष

त्र

श्र

आधार सूची (Credits)

Photograph Credits

Introduction

1 (chapter opening) photograph: Mudit Trivedi; 6 (top): © ASI; 7: courtesy: Krishna Sen; 8: courtesy: Meera Kosambi

Chapter 1

11 (chapter opening): © NM; 14: © NM; 19: © ASI; 34: © ASI; 36: courtesy: Alok Tripathi, Under Water Archaeology Wing, ASI; 39: © ASI; 41(top): © ASI, Hyderabad Circle; (bottom): © ASI;42: courtesy: Rajat Sanyal; 46: © ASI; 47: courtesy: AIIS; 49: © ASI; 50–55: © NM

Chapter 2

63: courtesy: Arun Sonakia; 70 (top): photograph copyright © Aditya Arya (bottom): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 71: © B. R. Publishing Corporation, Daryaganj, Delhi; 73 (top): photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; (bottom): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 75-76 photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 77: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 83: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI

Chapter 3

95 (chapter opening): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 113,15-16: © ASI; 125: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI

Chapter 4

135 (chapter opening): courtesy: M. R. Mughal; 136–37, 139: © ASI; 144: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 148: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 152–154: courtesy: M. R. Mughal; 156: © ASI; 157–158 courtesy: R. S. Bisht, ASI; 158 (top) © ASI; 158 (bottom): photograph copyright © Aditya Arya; 159 (top) courtesy: R. S. Bisht, ASI; 160: courtesy: R. S. Bisht, ASI; 161: courtesy: R. S. Bisht, ASI; 164–165: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 166(top: chert blades and stone gamesmen): photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; (bottom): © ASI; 167: © ASI; 168: courtesy: R. S. Bisht, ASI; 170: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 176 (top): courtesy: R. S. Bisht, ASI; 177 (top): © ASI; 177 (bottom): courtesy: R. S. Bisht, ASI; 178: courtesy: D. P. Sharma; 179: © ASI; 180 (top: figurine and games and dice): photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; (bottom): © ASI; 184: © ASI; 185: courtesy: D. P. Sharma

Chapter 5

190 (chapter opening): photograph: Mudit Trivedi; 220: courtesy: D. P. Sharma; 222: courtesy: B. S. R. Babu; 223: courtesy: D. V. Sharma, ASI; 227: © ASI; 230: © ASI; 233: courtesy: Alok Tripathi, ASI, Under Water Archaeology Wing; 240: © ASI; 242 (top); photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 242(bottom): © ASI; 243(top): courtesy: D. P. Sharma; (bottom) © ASI; 244: © ASI; 245: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 246–48: © ASI; 249: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 252: © ASI, CAC, photograph: Aditya Arya; 255: © ASI; 260: © ASI; 262: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 265: © ASI; 266: courtesy: K. Rajan; 267: © ASI

Chapter 6

271 (chapter opening): © NM; 277: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 278: © NM; 279: © NM; 280: © ASI; 287, 299: © ASI; 300: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 301: photograph: Mudit Trivedi; 302 (top): Kansai University, Osaka, Japan; (below): photograph: Mudit Trivedi; 303 © ASI; 304: photographs copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of CAC, ASI; 305: © ASI

Chapter 7

341 (chapter opening): photograph copyright © Aditya Arya; 348: © ASI; 352: photographs: Vijay Tankha; 356: courtesy: K. P. Poonacha, ASI; 359: © ASI; 360, 362–363: photograph: Mudit Trivedi; 375: © ASI; 379: courtesy: B. R. Mani; 382: photograph copyright © Aditya Arya; 383: photograph: Vijay Tankha; 385: courtesy: B. R. Mani; 386: © ASI; 387: © ASI; 388 (top): © ASI; (bottom) courtesy: AIIS; 389: © ASI; 390: courtesy: AIIS, with permission of Patna Museum, Patna; 391: (left) © ASI; (right) courtesy: Upinder Singh

Chapter 8

394 (chapter opening): photograph copyright © Aditya Arya; 395: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of Government Museum, Mathura; 397: © NM; 398: photograph copyright © Aditya Arya; 400-401, 403-404, 406-412, 413-414: © NM; 421: © ASI; 422, 424: © ASI; 425: courtesy: B. R. Mani; 426–427: photograph: Goutam Dey; 463: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of Government Museum, Mathura; 464(top): photograph copyright © Aditya Arya; (bottom) © ASI; 465: © ASI; 469: photograph: Upinder Singh; 474: © ASI; 482: © ASI; 483–484: photograph: Upinder Singh; 485: photographs copyright © Aditya Arya; 486: photograph: Upinder Singh; 487: © ASI; 489: © ASI; 490: © ASI; 494: © ASI; 495 (top): © ASI; (bottom): courtesy: AIIS; 496 (top): courtesy: AIIS; (bottom)

courtesy: AIIS, with permission of Patna Museum, Patna; 497: courtesy: AIIS; 498 (top): © ASI; (bottom): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of Government Museum, Mathura; 499: photograph copyright © Aditya Arya; 500 (top three): courtesy: AIIS; (bottom) © ASI; 501: photograph: Goutam Dey; 504: photograph copyright © Aditya Arya

Chapter 9

508 (chapter opening): photograph: Benoy Behl; 510: © ASI; 511: © NM; 513 (top): © ASI; 513 (bottom), 514–515, 517: © NM; 518: photograph copyright © Aditya Arya; 532: © ASI; 538: Upinder Singh; 549: © ASI; 552 (bottom left): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of Bharat Kala Bhavan, Varanasi; (bottom right): photograph copyright © Aditya Arya; 553 (top): © ASI; (bottom): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of NM; 554: courtesy: AIIS; 557–558: © ASI; 561 (top): © ASI; (bottom) photograph copyright © Aditya Arya; 562: © ASI; 565: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of Government Museum, Mathura; 568: photograph copyright © Aditya Arya; 569 courtesy: AIIS; 570: photograph copyright © Aditya Arya; 571–572: photographs copyright © Aditya Arya; 573: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of Government Museum, Mathura; 574: photographs copyright © Aditya Arya; 575 (top left and right): photographs copyright © Aditya Arya; (bottom): © ASI; 576 (top): © ASI; (bottom) © courtesy: AIIS; 577: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of NM.

Chapter 10

588 (chapter opening): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of NM; 589: courtesy: Barton Beebe; 598: © ASI; 600: © Bharat Kala Bhavan, Varanasi, courtesy: AIIS; 601–602: © NM; 603: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of NM; 611–612: © NM; 613: © NM; 614: photographs copyright © Aditya Arya; 617: © NM; 645: © ASI; 647: courtesy: K. P. Shankaran; 651 (top two): photograph: Raghav Tankha; (bottom two): photograph: Benoy Behl; 652: photograph: Benoy Behl; 653: courtesy: AIIS; 654: © ASI; 656–657: photograph: Upinder Singh; 658: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of Lucknow Museum; 659: photograph copyright © Aditya Arya; 660 (top two): courtesy: AIIS; (bottom): photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of NM; 661: © ASI; 664: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of NM; 667–668: © ASI; 670: © ASI; 671 (top and bottom): photographs copyright © Aditya Arya; (middle) © ASI; 672–673: photographs copyright © Aditya Arya; 674: © ASI; 675: © ASI; 676: courtesy: S. V. Venkateshaiah; 678–679: © ASI; 680: © ASI; 681 (top): 681; (bottom three) © ASI; 682–683: © ASI; 685: © ASI; 686 (top left): © ASI; (top right) © ASI; 687: © ASI; 688: photograph copyright © Aditya Arya, reproduced with permission of NM

Literary Credits

Chapter 1

24: extract reprinted from *The First Buddhist Women: Translations and Commentary on the Therigatha* (1991, 2006: 21, 81) by Susan Murcott, with permission of Parallax Press, Berkeley, California, www.parallax.org

Chapter 5

196, 204, 211, 214: Extracts reprinted from *The Rig Veda: An Anthology* (1986: 236–38, 160–62, 29–32, 25–26) translated by Wendy Doniger O'Flaherty, reproduced with permission by Penguin Books Ltd.

Chapter 6

310: Reprinted from *Dharmasutras: The Law Codes of Apastamba, Gautama, Baudhayana, and Vasistha* (2000, 2003: 137) translated by Patrick Olivelle, with permission of Motilal Banarsidass, Delhi.
325: Reprinted from *Majjhima Nikaya* 1.134–5; Translation: Bhikkhu Nanamoli and Bhikkhu Bodhi (1998: 71–72), with permission of Wisdom Books, United States.
331: Reprinted from *The First Buddhist Women: Translations and Commentary on the Therigatha* (1991: 33–34) by Susan Murcott with permission of Parallax Press, Berkeley, California, www.parallax.org 336, 337, 339: Reprinted from *Jaina Sutras* Vol. 1. by Hermann Jacobi, (1884, 1968: 33–35, 3–5, 136–38) with permission of Motilal Banarsidass, Delhi.

Chapter 8

415, 456, 457: extract reprinted from Hart, George L.; *Poets of the Tamil Anthologies: Ancient Poems of Love and War* (©1979) Princeton University Press, p. 148–49; 110, 199; with permission of Princeton University Press.
461: extract reprinted from van Buitenan, J.A.B. *The Bhagavadgita in the Mahabharata* (1981, pp. 75–77), with permission of the University of Chicago Press.
502: extract reprinted from *Indian Epigraphy*, Richard Salomon (1999), with permission of Munshiram Manoharlal.

Chapter 9

536: extract reprinted from Vatsyayana's *Kamasutra,* translated by Wendy Doniger and Sudhir Kakar (2002, pp. 18–20) Oxford World's Classics Series, with permission of Oxford University Press.
579: extract reprinted from *Kalidasa: The Loom of Time: A Selectionof His Plays and Poems* by Chandra Rajan (1989, pp. 156–57) with permission of Penguin Books Ltd.
585: extract reprinted from *The Roots of Ayurveda: Selections from Sanskrit Medical Writings* by Dominik Wujastyk (1998, 2001, pp. 77–78) with permission of Penguin Books Ltd.

Chapter 10

663: extract reprinted from *Slaves of the Lord: The Path of the Tamil Saints*, Vidya Dehejia (1988), with permission of Munshiram Manoharlal.
666: extract reprinted from *Speaking of Siva* by A. K. Ramanujan, translated from the Kannada (1973, pp. 88, 87, 79) with permission of Penguin Books Ltd.

Figure Credits

57, 86–92, 93–94: Cave art reproduced with permission of Oxford University Press India, New Delhi, from *Prehistoric Indian Rock Art* (1983) by Erwin Neumayer.